॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥ 518

कल्याण

हिंदू-संस्कृति-अंक

चौबीसवें वर्षका विशेषांक

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

कल्याण

हिंदू-संस्कृति-अङ्क

चौबीसवें वर्षका विशेषाङ्क

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवा-शिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

सं० २०७७ ग्यारहवाँ पुनर्मुद्रण ३,०००
कुल मुद्रण ३०,०००

❖ मूल्य— ₹ 380
(तीन सौ अस्सी रुपये)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

web: gitapress.org | e-mail : booksales@gitapress.org | ✆ (0551) 2334721, 2331250, 2331251

नम्र निवेदन

'हिन्दू-संस्कृति' दो शब्दोंका युग्म है—'हिन्दू' और 'संस्कृति', कई विद्वान् 'हिन्दू' शब्दका प्रयोग बहुत प्राचीन नहीं मानते, परंतु अनेक विद्वान् इसका सप्रमाण खण्डन भी करते हैं। वस्तुतः हमारे शास्त्रोंके अनुसार सृष्टिकी रचनाके समयसे भी पूर्व सदासे जो परम्परा परब्रह्म परमात्मासे अभिव्यक्त होकर कल्प-मन्वन्तर, युग-युगान्तरसे सतत प्रवहमान है, अनादि है, सनातन है—वही निगमागम धर्मसम्मत हमारी आर्ष परम्परा अर्थात् सनातन संस्कृति ही आज 'हिन्दू संस्कृति' शब्दसे जानी जाती है। इसकी एक आधारभूत विशेषता इसकी धर्मप्रधानता है। धर्म एक शाश्वत तत्त्व है; धर्मके आधारपर ब्रह्माण्ड टिका है तथा धर्मसे ही सृष्टि, पालन और प्रलयके चक्रका अनुवर्तन होता रहता है। धर्मके मूल तत्त्व जहाँ सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं, वहीं युग, देश, काल एवं परिस्थितिके अनुसार उनकी मूल भावना अक्षुण्ण रहते हुए भी उनके बाह्य रूप एवं उनके क्रियान्वयनके स्वरूपमें अनेकानेक भेद प्रतीत होते हैं, जिनका निदर्शन हमें वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, स्मृतियों, नीतियों, इतिहास-पुराण ग्रन्थों एवं धर्मशास्त्रीय निबन्ध ग्रन्थोंमें प्राप्त होता है।

आजकल 'संस्कृति' शब्दका तात्पर्य मात्र भाषा, खानपान, पहनावा, रहन-सहन और लोक-व्यवहार इत्यादि बाह्य लक्षणोंसे समझा जा रहा है जबकि यह संस्कृतिके स्थूल चिह्नमात्र हैं। ये भी महत्त्वपूर्ण हैं, परंतु हमारी संस्कृतिके कई आयाम हैं, जो उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण हैं।

हमारी संस्कृतिका दूसरा पक्ष, जिसने सारे संसारमें हिन्दुओंको सम्मान और आदरका पात्र बनाया, वह पक्ष है—हमारे जीवन-मूल्य अर्थात् माता-पिता एवं गुरुजनोंका आदर, संयुक्त परिवार, अतिथि-सत्कार, परदुःखकातरता, परोपकार, दानकी प्रवृत्ति, सामाजिक-सहकारकी भावना, पशु-पक्षी एवं पेड़-पौधोंके प्रति भी संवेदनशीलता, विश्वबन्धुत्वकी भावना इत्यादि।

हिन्दू संस्कृतिका तीसरा पक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण है, वह है हमारी आर्ष मेधा, जिसकी अभिव्यक्ति है हमारी अद्वितीय सुदृढ़ दर्शन-परम्परा और वैज्ञानिक उपलब्धियाँ, जिनसे संसार चमत्कृत हो चुका है। दुर्भाग्यसे वैज्ञानिक अनुसंधानकी परम्परा विदेशी शासनके कारण छिन्न-भिन्न हो गयी। फिर समुचित राज्याश्रय न मिलनेके कारण वह उस रूपमें पुनः नहीं पनप सकी। तथापि सौभाग्यवश भारतीय दर्शनकी परम्परारूपी बेल अविच्छिन्न रूपसे पल्लवित-पुष्पित होकर लहलहाती रही और आज भी संसारमें सिरमौर मानी जाती है। इसका कारण है आत्मसाक्षात्कारसम्पन्न ब्रह्मज्ञानी ऋषियोंद्वारा इसकी सुचिन्तित अभ्रान्त अभिव्यक्ति। इसीका परिणाम है हमारा परलोक एवं पुनर्जन्मका सिद्धान्त, हमारी जाति-व्यवस्था, हमारा गहन कर्म-सिद्धान्त, गोत्र-प्रवरयुक्त हमारी वर्णाश्रम-व्यवस्था, हमारी आस्तिकता, हमारी संस्कार-परम्परा, विवाह एवं परिवार-संस्था, गोसेवा और सबसे अनोखी और महत्त्वपूर्ण बात है जीवनका चरमोत्कृष्ट लक्ष्य—आत्मोद्धार करना अर्थात् भक्तियोग, ज्ञानयोग अथवा कर्मयोग आदि किसी भी साधनके आश्रयणसे चौरासी लाख योनियोंके जीवन-चक्रसे स्वयंको मुक्त करनेका प्रयास करना, जिससे हम आत्मोद्धारकर परब्रह्म परमात्मामें लीन हो सकें।

हमें अपनी हिन्दू-संस्कृतिके इन सभी मानस्तम्भोंके प्रति गौरवबोध होना चाहिये तथा उनका ज्ञान भी। उपर्युक्त सभी विषयोंको हम एक साथ जान सकें, इसीलिये बहुत वर्षोंपूर्व (१९५० ई०)-में कल्याणका एक बृहद् विशेषाङ्क 'हिन्दू संस्कृति अङ्क' प्रकाशित किया गया था। जिसकी विद्वानोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की। कुछने इसे 'गागरमें सागर' कहा तो कुछने 'हिन्दू संस्कृतिका विश्वकोश।' परंतु लम्बे समयसे यह अप्राप्त था, ज्ञानपिपासु प्रेमीजन इसके पुनर्मुद्रणका प्रबल आग्रह करते रहे, पर संयोगसे अब इसका सुयोग बना है। विशेषाङ्कके परिशिष्टांककी सामग्री भी समायोजित कर देनेसे यह और भी उपयोगी बन गया है।

आशा है, सर्वसामान्यसे लेकर वरिष्ठ शोधार्थियों एवं विद्वानोंतक सभीको इसमें अपने उपयोगकी सामग्री प्राप्त होगी। प्रेमी पाठकोंको इसका अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहिये।

—राधेश्याम खेमका

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

विषय	पृष्ठ-संख्या

विषय	पृष्ठ-संख्या

कविता

संगृहीत

चित्र-सूची

इकरंगे

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ — गोरखपुर, सौर माघ २००६, जनवरी १९५० — संख्या १, पूर्ण संख्या २७८

प्रार्थना

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥

(श्रीमद्भागवत १० । १० । ३८)

भगवन्! मेरी वाणी आपके गुण-कीर्तनमें लगी रहे। मेरे कान आपकी लीलाकथा सुननेमें संलग्न रहें। मेरे हाथ आपकी सेवाके कार्यमें और मन आपके चरणोंके चिन्तनमें तत्पर रहे। मेरा मस्तक आपके निवासभूत जगत्को नमस्कार करनेके लिये झुका रहे और मेरी आँखें आपके स्वरूपभूत संतजनोंके दर्शनमें निरत रहें।

वैदिक राष्ट्र-गीत

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्।
योगक्षेमो नः कल्पताम्॥

(यजु० सं० २२। २२)

(अनुवाद)

भारतवर्ष हमारा प्यारा, अखिल विश्वसे न्यारा;
सब साधनसे रहे समुन्नत, भगवन्! देश हमारा।
हों ब्राह्मण विद्वान् राष्ट्रमें ब्रह्मतेज-व्रत-धारी,
महारथी हों शूर धनुर्धर क्षत्रिय लक्ष्य-प्रहारी।
गौएँ भी अति मधुर दुग्धकी रहें बहाती धारा॥
सब······॥ १॥
भारतमें बलवान वृषभ हों, बोझ उठायें भारी;
अश्व आशुगामी हों, दुर्गम पथमें विचरणकारी।
जिनकी गति अवलोक लजाकर हो समीर भी हारा॥
सब······॥ २॥
महिलाएँ हों सती सुन्दरी सद्गुणवती सयानी,
रथारूढ भारत-वीरोंकी करें विजय-अगवानी।
जिनकी गुण-गाथासे गुंजित दिग्-दिगन्त हो सारा॥
सब······॥ ३॥
यज्ञ-निरत भारतके सुत हों, शूर सुकृत-अवतारी,
युवक यहाँके सभ्य सुशिक्षित सौम्य सरल सुविचारी,
जो होंगे इस धन्य राष्ट्रका भावी सुदृढ़ सहारा॥
सब······॥ ४॥
समय-समयपर आवश्यकतावश रस घन बरसाये,
अन्नौषधमें लगें प्रचुर फल और स्वयं पक जायें।
योग हमारा, क्षेम हमारा स्वतः सिद्ध हो सारा॥
सब······॥ ५॥

—'राम'

वैदिक सूक्त

(भाषान्तरकर्ता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

नासदीय सूक्त

(ऋग्वेद १०।१२९।१—७)

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः
किमासीद् गहनं गभीरम्॥ १॥

'असत्' नहीं उस प्रलयकालमें, 'सत्' भी नहीं रहा कारण;
हुआ भूमि-पाताल प्रभृति भुवनोंकी सत्ताका वारण।
अन्तरिक्ष भी नहीं, नहीं वे स्वर्ग आदि रह गये प्रदेश;
क्या आवरण, कहाँ, किसके हित, गहन गभीर नीर था शेष॥ १॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ २॥

मृत्यु नहीं थी, नहीं अमरता, रात-दिवसका ज्ञान नहीं;
था चेतन, बस, एक ब्रह्म ही, हैं जिसके मन-प्रान नहीं।
था मायाके साथ विराजित ब्रह्ममात्र ही सत्तावान्
विद्यमान थी वस्तु यहाँपर उससे भिन्न न कोई आन॥ २॥

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे-
ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥ ३॥

आवृत हो अज्ञान-तिमिरसे पहले यह सब था तमरूप,
दुग्धराशिमें मिलित सलिल-सा अखिल विश्व अज्ञात अरूप।
तुच्छ अविद्यासे छादित जो तमसे एकीभूत हुआ,
वही विश्व विभुके तपकी महिमासे फिर उद्भूत हुआ॥ ३॥

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ ४॥

हुआ सृष्टि-रचनाके पहले ईश्वरके मनमें संकल्प,
क्योंकि पुरातन कर्मराशि थी बीजरूपमें उदित अनल्प।
ज्ञानी पुरुषोंने मेधासे निज उरमें जब किया विचार,
'सत्'[१] के साधनभूत कर्मका हुआ 'असत्'[२] में साक्षात्कार॥ ४॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषा-
मधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥ ५॥

तना सृष्टिका सूर्यरश्मि-सा सहसा ही सब ओर वितान,
पहले मध्यलोकमें, ऊपर या नीचे—कुछ हुआ न भान।
कर्मोंके कर्ता-भोक्ता थे अगणित जीव हुए उत्पन्न,
भोग्य-स्थान महान् भूत भी, भोक्ता उच्च, अधम है अन्न[३]॥ ५॥

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा
को वेद यत आबभूव॥ ६॥

किस निमित्त, किस उपादानसे हुई प्रकट नानाविध सृष्टि—
कौन जानता, कौन बताये, किसकी वहाँ पहुँचती दृष्टि।
पैदा हुए देवगण भी तो भूत-सर्गके ही पश्चात्;
फिर किससे सब सृष्टि हुई है, यह रहस्य किसको है ज्ञात॥ ६॥

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो
अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥ ७॥

जिस विभुसे इस विविध सृष्टिका हुआ प्रकट अतिशय विस्तार,
वही इसे धारण करता है, रखता या कि बिना आधार।
जो इस जगका परम अधीश्वर रहता परम[४] व्योममय देश,
वही जानता या न जानता; नहीं अन्यका यहाँ प्रवेश॥ ७॥

---

१. जगत्। २. अव्याकृत कारण। ३. भोग्यप्रपंच। ४. 'परम व्योम' नामसे प्रसिद्ध परम धाम।

(२)
पृथ्वी-सूक्त
(अथर्व० १२ काण्ड)

अथर्ववेदके बारहवें काण्डके प्रथम सूक्तका नाम पृथ्वी-सूक्त है। इसमें कुल ६३ मन्त्र हैं। इन मन्त्रोंमें मातृभूमिके प्रति अपनी प्रगाढ़ भक्तिका परिचय ऋषिने दिया है। हिंदू-शास्त्रोंके अनुसार प्रत्येक जडतत्त्व चेतनसे अधिष्ठित है। चेतन ही उसका नियन्ता और संचालक है। हमारी इस पृथ्वीका भी एक चिन्मय स्वरूप है। यही इस स्थूल पृथ्वीका अधिदेवता है। इसीको श्रीदेवी और भूदेवी भी कहते हैं। '**श्रीश्च लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ**' इस मन्त्रमें 'श्री' पदसे इन्हीं भूदेवीका स्मरण किया गया है। ये चिन्मयी देवी इस स्थूल पृथ्वीकी अधिष्ठात्री हैं। ये ही इसका हृदय हैं। ये अमृत हैं; क्योंकि चिन्मय हैं। जडतत्त्व ही मृत्युका ग्रास बनता है। अतएव ये मृत्युलोकसे परे परम व्योममें प्रतिष्ठित हैं।

यस्य हृदयं परमे व्योमन् सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।

ऋषिने इस सूक्तमें पृथ्वीके आधिभौतिक और आधिदैविक दोनों रूपोंका स्तवन किया है। कहीं भौगोलिक दृष्टिसे इसके नैसर्गिक सौन्दर्यका चित्रण है और कहीं पौराणिक वर्णनका बीज भी उपलब्ध होता है। पुराणोंमें पृथ्वीके अधिदेवताका रूप 'गौ' बताया गया है। इस सूक्तमें भी 'कामदुघा', 'पयस्वती', 'सुरभिः', 'धेनुः' आदि पदोंद्वारा उक्त स्वरूपकी यथार्थता सूचित की गयी है। यहाँ सम्पूर्ण भूमि ही माताके रूपमें ऋषिको दृष्टिगोचर हुई है और उसने बड़ी भक्तिसे इस विश्वगर्भा वसुधाके गुण-गौरवका गान किया है। यह भूदेवी अपने सच्चे सेवकके लिये श्री एवं विभूतिके रूपमें परिणत हो जाती है। इसके ही द्वारा सबका जन्म और पालन होता है। अतः ऋषिने माताकी इस महामहिमाको हृदयंगम करके उससे उत्तम वरके लिये प्रार्थना की है।

सायणाचार्यने इस सूक्तके मन्त्रोंका अनेक लौकिक लाभोंके लिये भी विनियोग बताया है। अनेक धर्मसूत्रकारोंका भी यही मत है। आग्रहायणी कर्म, पुष्टिकर्म, कृषिकर्म तथा पुत्र-धनादि सर्ववस्तुकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले कर्ममें एवं अन्न, सुवर्ण, मणि आदिकी प्राप्ति, ग्राम-नगर आदिकी रक्षा, भूकम्प, प्रायश्चित्त, सोमयज्ञ तथा पार्थिव महाशान्ति आदिके कर्ममें भी इन मन्त्रोंका प्रयोग किया जाता है। प्रयोगविधि अथर्ववेदी विद्वानोंसे जाननी चाहिये। तात्पर्य यह कि सभी दृष्टियोंसे यह सूक्त बहुत ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। केवल इसके पाठसे भी बहुत लाभ होता है।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
स नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं
लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥ १॥

ऋत, सत्य, बृहत्, तप उग्र, ब्रह्म, मख उत्तम,
वसुधाके धारक हैं आधार अनुत्तम।
वह भूत-भविष्यत्की पालक, सुख-दाता,
दे हमको विस्तृत ठौर मेदिनी माता॥ १॥

असंबाधं मध्यतो मानवानां
यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति
पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥ २॥

उन्नत प्रदेश, उत्तुंग शिखर अति सुन्दर,
नीची वसुन्धरा, नीचे बहते निर्झर,
वे हरे-भरे मैदान मनोरम समतल,
मानवके संमुख सावकाश अगणित थल
जिसपर शोभित हैं, जो भारतकी धरती
बहु शक्तिभरी ओषधियाँ धारण करती—
वह भूमि हमारे लिये परम विस्तृत हो,
उसके आराधनसे हम सबका हित हो॥ २॥

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो
यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्
सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु॥ ३॥

जिस मातृभूमिके अंक उदधि लहराता,
सरिता करती कलगान, सलिल छबि पाता।
खेती होती है, अभिमत अन्न उपजता,
जिसपर जड-जंगम विश्व सुहाता-सजता।
यह प्राणि-जगत् भी जहाँ तृप्त है होता,
चलता-फिरता है जहाँ बैठता-सोता।
वह भूमि कृपाकर हमको वहीं बसाये,
हम जहाँ प्रथम नित मधुर पेय-रस पायें॥ ३॥

यस्याश्चतस्त्रः प्रदिशः पृथिव्या
यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्
सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥ ४॥

हैं चार दिशाएँ जहाँ, अन्नकी खेती,
जो चेष्टायुत बहु प्राणि-जगत्‌को सेती।
वह जन्म-भूमि, वह भारत-भू अविभाजित
गौओं-अन्नोंमें हमको करे विराजित॥ ४॥

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे
यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा
भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥ ५॥

पुरुषार्थ पूर्वजोंने था जहाँ सँवारा,
जिसपर देवोंने असुरोंको संहारा,
जो गौ, अश्वों, विहगोंकी आश्रयदाता—
ऐश्वर्य-तेज दे हमको वह भू-माता॥ ५॥

विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा
हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानर बिभ्रती भूमिरग्नि-
मिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु॥ ६॥

जो विश्व-भरण करती है, धरती धनको,
आश्रय बनकर देती निवास जग-जनको,
सोनेकी खान अहो जिसका वक्षःस्थल,
रखती वैश्वानरको जो निज अन्तस्तल,
हैं इन्द्र* वृषभ जिस धेनुमयी धरणीके,
वह भू देवी दे वैभव हमको नीके॥ ६॥

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं
देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो
उक्षतु वर्चसा॥ ७॥

सुर जाग्रत् रहकर, सावधानता रखकर
जिस विश्व-धरित्रीके रक्षणमें तत्पर।
प्रिय मधु-रस दुग्ध प्रदान हमें वह कर दे,
तन, मन, प्राणोंको दिव्य तेजसे भर दे॥ ७॥

सार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां
मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।

* परमेश्वर।

यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्ये-
नावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं
बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥ ८॥

था प्रथम जलधिके जलमें जिसका आसन,
जिसपर मनीषियोंका मायासे शासन,
है परम व्योममें निहित शुचि हृदय जिसका,
उर सत्य-समावृत और अमृतमय जिसका—
वह भूमि दीप्ति दे, बल दे, शक्ति-सहारा।
उद्दीप्त, सबल हो उत्तम राष्ट्र हमारा॥ ८॥

यस्यामापः परिचराः समानी-
रहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो-
दुहा मथो उक्षतु वर्चसा॥ ९॥

सब ओर जहाँ गतिशील सलिल निशि-वासर,
तजकर प्रमाद बहता समगतिसे सत्वर—
वसुधा वह बहुविध धाराओंसे भूषित
दे हमें दुग्ध-रस करे ओजसे सिंचित॥ ९॥

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः॥ १०॥

आश्विनीकुमारोंने है जिसे बनाया,
जिसपर उपेन्द्रने अपना पाँव बढ़ाया,
कर जिसे अकंटक शचीकान्त अपनाता—
मुझ सुतको दूध पिलाये वह भू-माता॥ १०॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तो-
ऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां
ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥ ११॥

ये गिरि-पर्वत हिमवंत, गहन बन तेरे,
हे मातृभूमि! हों मोद-निकेतन मेरे।
पिंगल श्यामल अरुणाभ अनूप अचंचल,
है हरिपालित बहुरूप धराका अंचल।
अविजित, अक्षत, आघात-रहित नित होकर
मैं करूँ यहाँ अधिवास त्रास सब खोकर॥ ११॥

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं
यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि: नः पवस्व माता
भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥ १२॥

जो मध्य भाग, जो नाभिदेश हैं तेरे,
तुझसे प्रकटित जो पोषक तत्त्व घनेरे,
रख वहीं, उन्हींमें मुझे, मोद उर भर दे;
निज पुत्र अपावनको अतिपावन कर दे।
हम सुत वसुधाके, वह हम सबकी माता;
जीवन-दाता पर्जन्य पिता, हो त्राता॥ १२॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां
यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्या-
मूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात्।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना॥ १३॥

जिस भूतलपर विद्वान बनाते वेदी,
जिसमें करते मख अखिल-कर्मविधि-वेदी,
आहुतिके पहले जहाँ बनाये जाते
ऊँचे, चमकीले यज्ञ-स्तम्भ सुहाते—
वह भूमि अन्नसे, वैभवसे बढ़ जाये,
हम सबको भी नित उन्नतिशील बनाये[1]॥ १३॥

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद्
योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि॥ १४॥

माँ वसुधे! जो लोग जगत्‌में रखते हमलोगोंसे द्वेष,
जो चढ़ आते सैन्य साजकर देनेके हित हमको क्लेश,
जो मनसे भी अहित चाहते, वध करनेको हैं तैयार—
रिपु-संहारिणि! पहले ही तू कर दे उन सबका संहार॥

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं
बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं
मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥ १५॥

तुझसे हो उत्पन्न मर्त्यगण तुझपर ही कर रहे विहार;
द्विपद-चतुष्पद सब जीवोंकी केवल तू है पालनहार।
भूदेवी! ये मनुज पंचविध[2] तेरे ही हैं तनुज उदार,
जिनके हित रवि उदित रश्मियोंसे करता है अमृत-प्रसार॥

ता नः प्रजाः सं दुहतां समग्रा
वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्॥ १६॥

वे दिनमणिकी स्वर्ण-रश्मियाँ दें हमको सुन्दर संतान,
और ज्ञान दें सब वाङ्मयका; मेदिनि तू! कर मधुका दान॥

विश्वस्वं मातरमोषधीनां
ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा॥ १७॥

जिसे प्राप्तकर जग होता है बहुविध वैभवसे सम्पन्न,
व्रीहि-यवादिक ओषधियोंको जो करती रहती उत्पन्न—
भूदेवी वह अचल, धर्म ही है जिसका दृढ़तर आधार—
उसी शिवा सुखदा भूपर हम करें सदा सब ओर विहार॥

महत् सधस्थं महती बभूविथ
महान् वेग एजथुर्वेपथुष्टे।
महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।
सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्थेव।
संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन॥ १८॥

तू महती, तू अखिल विश्वका, वसुधे! महानिवास-स्थान;
वेग-प्रगति, हलचल-कम्पन हैं तेरे अद्भुत और महान।
मातृभूमि! तेरी रक्षामें सावधान रहते भगवान,
ऐसी महिमामयी जननि! तू कर अपनी करुणाका दान।
हमें बना प्रिय, रुचिर स्वर्ण-सम, सबके नयनोंमें छविमान;
कोई द्वेष न माने हमसे, हमको परम सुहृद निज जान॥

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो
बिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्तः पुरुषेषु
गोष्वश्वेष्वग्नयः॥ १९॥

भूतलमें सब ओर अनल है, ओषधियोंमें व्यापक अग्नि;
जल धारण करता बडवानल, पत्थरमें भी पावक अग्नि।
पुरुष-देहके अभ्यन्तर भी जठरानलका नित्य-निवास,
गायों-घोड़ोंके भीतर भी अग्निदेव करते हैं वास॥

अग्निर्दिव आ तपत्यग्ने-
र्देवस्योर्वन्तरिक्षम्।
अग्निं मर्तास इन्धते
हव्यवाहं घृतप्रियम्॥ २०॥

१-यहाँसे आगे अनुवादका छन्द बदल गया है।

२-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद (अन्त्यज) ये पाँच प्रकारके मानव हैं।

सूर्यरूप धर अनल स्वर्गमें भी तपता रहता सब काल,
अग्निदेवताका आश्रय है अन्तरिक्ष भी परम विशाल।
मर्त्यलोकवासी मानव भी हव्यवाहको कर उद्दीप्त
घृत पीनेवाले पावकको संतत करते रहते तृप्त॥

अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञू-
स्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु॥ २१॥

वसन वह्निमयसे आवृत जो, असित जानु जिसका भाता—
प्रभापूर्ण, अतिप्रखर दीप्तिमय करे हमें वह भू-माता॥

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरं कृतम्।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु
जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु॥ २२॥

पृथ्वीपर ही नर अमरोंको देते संस्कृत यज्ञ-हविष्य,
जीवन पाते अन्न-सलिलसे यहीं मनुज ले भव्य-भविष्य।
भूमि हमारी आयु बढ़ाये, भूमि हमें दे जीवन-प्रान;
वृद्ध-अवस्थातक जीनेको करे हमें वह शक्ति-प्रदान॥

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव
यं बिभ्रत्योषधयो यमापः।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन
मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन॥ २३॥

ओ मेरी माता वसुन्धरे! है तुझमें जो व्यापक गन्ध,
ओषधियाँ, जलराशि जिसे हैं धारण करती निष्प्रतिबन्ध,
जिसका सेवन करते हैं गन्धर्व और अप्सरा अशेष—
उससे कर सौरभित हमें तू, कोई करे न हमसे द्वेष॥

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश
यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा
सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन॥ २४॥

पद्म-पुष्पमें व्याप्त हुआ, माँ! जो तेरा शुचि गंध-प्रवाह,
धारण किया जिसे अमरोंने जब सूर्याका हुआ विवाह,
आस्वादन कर चुके पूर्व ही जिस सुगन्धका देव अशेष—
उससे कर सौरभित हमें तू, कोई करे न हमसे द्वेष॥

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु।
कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ
अपि सं सृज मा नो द्विक्षत कश्चन॥ २५॥

फैली जो नर और नारिमें तेरी कान्ति, विभूति, सुगन्ध,
वीरोंमें, तुरगोंमें, मृगमें और मतंगोंमें मद-अन्ध,
कन्यामें लावण्यरूपसे उदित हुआ जो ओज विशेष—
उन सबसे कर युक्त हमें तू, करे न कोई हमसे द्वेष॥

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा
भूमिः संधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे
पृथिव्या अकरं नमः॥ २६॥

भूमि शिला है, भूमि धूल है, वह प्रस्तर, गिरि-शैल अपार;
सब रूपोंमें परिणत भू यह टिकी धर्मके दृढ आधार।
है सुवर्णकी खान मनोहर जिसका वक्षःस्थल अभिराम,
उस पृथ्वी देवीको हम सब सादर हैं कर रहे प्रणाम॥

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि॥ २७॥

अचल खड़े सब ओर जहाँपर विविध वनस्पति, वृक्ष महान,
हम उस विश्वम्भरा धराके करते गुण-गौरवका गान।

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्॥ २८॥

निज दायें-बायें पैरोंसे चलें-फिरें या हों आसीन,
अथवा खड़े रहें हम भूपर, किन्तु व्यथाके हों न अधीन।

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि
क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम्।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं
घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे॥ २९॥

जो सबका शोधन करती है ब्रह्मशक्तिसे हुई महान,
क्षमामयी उस वसुन्धराका करते हम प्रतिदिन गुणगान।
शक्ति-पुष्टिप्रद अन्नभाग, घृत, वसुधे! तू करती धारण;
तुझपर हम आसीन रहें नित, कर तू क्लेशोंका वारण॥

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु
यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः।
पवित्रेणा पृथिवि मोत्पुनामि॥ ३०॥

बरसे अनिश हमारे तनपर नीर नवल, निर्मल, नीरोग;
रिपुजनपर हम उसे डालते, हमें कष्ट देता जो रोग।
लेकर करमें भूदेवी! मैं दर्भविनिर्मित एक पवित्र,
उससे ही तव पावन जल ले अपनेको कर रहा पवित्र॥

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते
भूमे अधराद् याश्च पश्चात्।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु
मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः॥ ३१॥

तेरे ऊपर, वसुन्धरे! मैं जब करता होऊँ विचरण,
पूर्वोत्तर-दक्षिण-पश्चिम दिक् करें मुझे नित सुख-वितरण।
तेरे भुवनमध्य आश्रय ले स्वस्थ-सुखी हो मेरा तन,
सदा समुन्नतिशील बनूँ मैं, हो न कभी मम अध:पतन॥

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम्॥ ३२॥

आगे-पीछे, ऊपर-नीचेसे भी मुझपर हो न प्रहार;
माँ! कल्याणकारिणी हो तू निज करुणाका करे प्रसार।
मेरा पता न पायें हिंसक, चोर, लुटेरे या बटमार;
दूर भगा दे हत्यारोंको, हो न कहीं भीषण संहार॥

यावत् तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम्॥ ३३॥

तेरी ओर देखता जबतक पा स्नेही रविका सहयोग
दृष्टि-शक्ति हो नष्ट न तबतक, दृग प्रतिवर्ष रहें नीरोग।

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम्।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभिरधिशेमहे
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि॥ ३४॥

सोऊँ, दायीं-बायीं करवट बदलूँ या उत्तान रहूँ,
अथवा पृष्ठभागमें पश्चिमको कर निद्रावान रहूँ।
किसी अवस्थामें भी, वसुधे! कर न कभी मेरा संहार;
तू सबकी विस्तृत शय्या है, तू सबका आश्रय-आधार॥

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्॥ ३५॥

माँ! मैं तेरे कंद-मूल, फल-औषध आदि रहा जो खोद,
पुन: शीघ्र उग आये वह भी पाकर तेरा स्नेह समोद।
पावन-कारिणि जननि! न तेरे करूँ मर्मपर मैं आघात;
या जिससे तव हृदय व्यथित हो, करूँ न ऐसी कोई बात॥

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनी-रहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्॥ ३६॥

गर्मी-वर्षा, शरद-हिमानी, शिशिर और मोहक मधुमास—
भूदेवी! तेरे हित विभुने छः ऋतुओंका किया विकास।
दिवस-निशा, युग-पक्ष, मास-ऋतु, अयन युगल, अभिनव नववर्ष
करें मनोरथ पूर्ण हमारे, देवें हमें सतत उत्कर्ष॥

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो येऽप्स्वन्तः।
परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे॥ ३७॥

कँप उठती जो पावन पृथ्वी शेषनागके कम्पनपर,
जिसमें ही वह अनल प्रतिष्ठित, जिसकी स्थिति जलके भीतर,
देवद्रोही दस्यु दूरकर वरण इन्द्रका जो करती,
नहीं वृत्रका, इन्द्र-वृषभ हित जीवित धेनुमयी धरती॥

यस्यां सदो हविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे॥ ३८॥

जहाँ यज्ञमण्डप-वेदी है, खड़ा किया जाता है यूप,
जहाँ विप्र ऋक्-साम-मन्त्रसे सदा पूजते प्रभुका रूप,
यजुर्वेदके ज्ञाता ऋत्विज जहाँ कर रहे यज्ञ-प्रयोग,
और जहाँ करते सुरपतिको सोम पिलानेका उद्योग॥ ३८॥

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह॥ ३९॥

उच्चारण वैदिक मन्त्रोंका पहले जहाँ प्रजापति सात।
ऋषि करते थे ब्रह्मसत्र, मख, तपमें निरत हुए दिन-रात॥ ३९॥

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः॥ ४०॥

वही भूमि देवे हम सबको, जिस धन-वैभवकी हो चाह।
भाग्यदेवता बनें सहायक, इन्द्र चलें आगेकी राह॥

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु॥

विजय-मुदित नर नृत्य-गानरत जहाँ युद्ध करते भर जोश,
हाहाकार कहीं जिसपर है, कहीं दिव्य दुन्दुभिका घोष।
भूमि हमारे शत्रुवृन्दको वह अविलम्ब भगा दे दूर,
वैरि-विहीन बना दे हमको; हों हम सब सुखसे भरपूर॥

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे॥ ४२॥

पैदा होते जिस वसुधापर धान और जौ आदिक अन्न,
जिस वसुधासे हुए सभी ये पंचवर्ण* मानव उत्पन्न,
वर्षा ही मेदा है जिसका, जिससे पड़ा मेदिनी नाम—
उस पर्जन्य-पालिता पृथ्वीको है मेरा नित्य प्रणाम॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भा-
माशामाशां रण्यां नः कृणोतु॥ ४३॥

जिस पृथ्वीपर देवविनिर्मित शोभित नगर और पुर-ग्राम,
जिसके विपुल क्षेत्रमें क्रमशः होते विकृत देह-धन-धाम,
धारण करती सदा गर्भमें जो वसुधा यह विश्व अशेष—
उसकी दिशा-दिशा शुभ सुन्दर करें हमारे लिये प्रजेश॥

निधिं बिभ्रति बहुधा गुहा वसु
मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना
देवी दधातु सुमनस्यमाना॥ ४४॥

धरती, जो धरती निज उरमें गूढ़ विविध रत्नोंकी खान,
धन-वैभव, मणि-रत्न, स्वर्ण वह हमको सतत करे प्रदान।
वसुधा वह धन-रत्न-दायिनी देवी वरदायिनी प्रसन्न
होकर हमें अमित वैभव दे, जिससे हों हम सुख-सम्पन्न॥

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥ ४५॥

नानाविध धर्मोंके पालक, बहुविध भाषाके विद्वान,
जन-साधारणको धारण करती जो देकर वासस्थान,
धरणी वह अति शान्त-अचञ्चल रुचिर धेनु-सी हो साकार
सदा हमारे लिये बरसती धनकी रहे सहस्रों धार॥

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा
हेमन्तजब्धो भृमलो गुहाशये।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि
तन्नः सर्पन्मोप सृपद् यच्छिवं तेन नो मृड॥ ४६॥

तव ऊपर जो अहि-वृश्चिक, जिनके दंशनसे जगती प्यास,
हिम-पीडित हेमन्त-समय जो गूढ़ गुहामें करते वास,
जो विषधर कृमि पावसमें, भूदेवि! विचरते तेरी गोद,
निकट न आयें; जो शिव हों, कर हमें उन्हींसे सुखी-समोद॥

ये ते पन्थानो बहवो जनायना
रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं
जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड॥ ४७॥

माँ! जिनपर मानव चलते हैं, वे तेरे जो अध्व अनेक,
रथके और शकटके पथ जो, जिनपर चलें बुरे औ नेक,
जीतें हम उस पुण्यपंथको, जहाँ शत्रु या चोर नहीं;
मंगलमय जो मार्ग, उसीसे सुखी हमें कर, मातृ-मही!॥

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्र-
पापस्य निधनं तितिक्षुः।
वराहेण पृथिवी संविदाना
सूकराय वि जिहीते मृगाय॥ ४८॥

नीच-ऊँच, लघु-गुरु पदार्थको जो धारण करती धरती,
पुण्यात्मा-पापी जनके भी शवका भार सहन करती,
खोज रहे थे महासिन्धुमें जिसको श्रीभगवान वराह—
मृग-सूकर-तनुधारी हरिको मिली भूमि वह सहित उछाह॥

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने
हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित
ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत्॥ ४९॥

जो तेरे, भूदेवि! वन्य पशु-हरिण-व्याघ्र, हिंसक मृगराज,
नर-भक्षी बहु जन्तु विपिनमें विचरण करते-फिरते आज,
चीता और भेड़िया, भालू-राक्षस आदि जीव जो क्रूर—
उन सबको पीडा देकर, हे जननि! भगा दे हमसे दूर॥

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय॥ ५०॥

जो गन्धर्व-अप्सराएँ, जो दान-विघातक दानव क्रूर,
राक्षस-भूत-पिशाच—सभीको, भूमि! हटा दे हमसे दूर॥

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति
हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि
कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः॥ ५१॥

जिसपर दो पगवाले पंछी—हंस-गरुड़ भर रहे उड़ान,
जिसपर धूल उड़ाती आँधी और गिराती वृक्ष महान—
जब समीपसे वसुधातलपर प्रखर समीरण है चलता,
लपटोंसे अनुसरण उसीका करता हुआ अनल जलता॥

* चार वर्ण और निषाद।

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते
अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो
दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि॥ ५२॥

जिस वसुन्धरापर जब होता परम मनोरम प्रातःकाल,
मिलता श्यामरंग रजनीके संग दिवस दूलह-सा लाल—
वर्षाकी शत-शत धारासे आवृत हो वह भूमि महान
हम सबको प्रिय धाम-धाममें भद्र भावनासे दे स्थान॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः॥ ५३॥

स्वर्ग, भूमि औ अन्तरिक्षने दिया हमें विस्तृत मैदान।
अनल, सूर्य, जल, विश्वेदेवोंने है की सद्बुद्धि प्रदान॥

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाऽस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥ ५४॥

रिपुका वेग रोकनेवाला मैं भूपर वर वीर उदार।
संमुख लड़, सबपर विजयी हो दिशि-दिशि करूँ शत्रु-संहार॥

अदो यद् देवि प्रथमाना
पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानी-
मकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः॥ ५५॥

देवि! प्रथम जब फैली थीं तुम देववृन्दका कहना मान,
अद्भुत था वह—लघु कायाको क्षणभरमें कर लिया महान।
उसी समय सुन्दर भूतोंने अंक तुम्हारे किया प्रवेश,
चार दिशाओंके विभागका किया तुम्हींने तब निर्देश॥

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥ ५६॥

भूतलपर जो ग्राम, गहन वन, जनपद-सभा, समाजस्थान,
मेले या संग्राम—वहाँ हम करते तेरे गुणका गान॥

अश्व इव रजो दुधुवे वि ताञ्जनान्
य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा
वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम्॥ ५७॥

यथा अश्व निज देह हिलाकर धूल झाड़ता, हुआ प्रसन्न,
तथा हटाती तू उनको, जो तुझमें स्थित, तुझसे उत्पन्न।
तू मन्द्रा, तू अग्रगामिनी, करती सब जगका रक्षण;
ओषधियोंको और वनस्पतियोंको भी तू करती धारण॥

यद् वदामि मधुमत्तद् वदामि
यदीक्षे तद् वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्
हन्मि दोधतः॥ ५८॥

मैं जो कहता, उसे बोलता भीतर मधुका घोल मिठास;
मैं देखा करता, जैसे उस दर्शनका सबको अभिलाष।
तेजस्वी हूँ, शक्तिमान हूँ, मुझपर पर-रक्षणका भार;
मुझे कँपाने जो आता, कर देता मैं उसका संहार॥

शन्तिवा सुरभिः स्योना
कीलालोध्नी पयस्वती।
भूमिरधि ब्रवीतु मे
पृथिवी पयसा सह॥ ५९॥

सीधी, शान्त सुरभि-सी जो है जगको सुखका देती दान,
भरे अन्नसे थन जिसके, जो दुग्धदायिनी धेनु-समान—
वह वसुधा ले साथ अन्नके पुष्टिप्रद रस अन्न अशेष
सुख पहुँचाये हमें और दे सदा मानसिक शुभ उपदेश॥

यामन्वैच्छद्धविषा विश्व-
कर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।
भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा
यदाविर्भोगे अभवन् मातृमद्भ्यः॥ ६०॥

हुई विश्वकर्माको हविसे तुझे प्राप्त करनेकी चाह,
रही समायी-सी सिकतामें जब तू सागर बीच अथाह,
अवसर आया मातृमान जीवोंके जभी भोग-अनुरूप—
प्रकट हुआ तब अन्नपात्र-सा छिपा उदधिमें तेरा रूप॥

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः
कामदुघा पप्रथाना।
यत् त ऊनं तत् त आ
पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य॥ ६१॥

अन्नौषधकी क्षेत्र-भूमि, तू जग-जीवोंकी योनि महान;
तू अखण्ड विस्तृत, तू करती सबको अभिमत काम प्रदान।
जो तुझमें न्यूनता कहीं हो, जो कुछ तेरा रहा अपूर्ण,
सत्य—विष्णुके ज्येष्ठ तनय वे आदि प्रजापति करते पूर्ण॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा
अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना
वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम॥ ६२॥

मातृभूमि! उत्संगरूप जो तेरे प्रकटित द्वीप-प्रदेश,
रोगरहित हों हम सबके हित, क्षय-भयका हो वहाँ न लेश।
होवे लंबी आयु हमारी, सावधान हम जगे रहें;
तुझपर सब कुछ बलि देनेके शुभ उद्यममें लगे रहें॥

भूमे मातर्नि धेहि मा
भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे
श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥ ६३॥

स्थापित कर, हे मातृभूमि! तू मुझे भद्र भावोंके साथ;
सर्वज्ञे! स्वर्गीय भूतिकी प्राप्ति करा तू करे सनाथ।
पार्थिव सुख-सम्पत्ति-राशिमें; करुणामयि! दे मुझको स्थान;
और साथ ही, जननि! मुझे कर भागवती विभूतिका दान॥

(३)
संज्ञान-सूक्त
(ऋ० १०।१९१)

सं समिद् युवसे वृषन्नग्ने
विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे
स नो वसून्या भर॥ १॥

अग्निदेव, अभिमतफलदाता! तुम ईश्वर, तुम स्वामी;
वैश्वानर, तुम सब भूतोंमें व्यापक अन्तर्यामी।
उत्तर-वेदीपर याज्ञिकजन करते तुम्हें प्रदीपित;
धन दो हमें, ज्ञान दो हमको; है तव शक्ति असीमित॥ १॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं
सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे
संजानाना उपासते॥ २॥

सब मिलकर तुम एक रहो, हे धर्म-निरत विद्वानो!
बात एक तुम बोलो, मनसे अर्थ एक तुम जानो।
एकचित्त हो देव पुरातन ज्यों लेते निज भाग,
वैसे ही तुम भी लो, करके निज विरोधका त्याग॥ २॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ३॥

मन्त्र एक-सा हो इन सबका, होवे प्राप्ति समान;
अन्तःकरण समान सभीके; सम विचार, सम ज्ञान।
तुम सबके हित मैं अभिमन्त्रित करता मन्त्र समान,
सम हविष्यसे लिये तुम्हारे करता आहुति-दान॥ ३॥

समानी व आकूतिः
समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो
यथा वः सुसहासति॥ ४॥

तुम सबकी चेष्टा समान हो, निश्चय एक-समान;
हृदय तुम्हारे एक-तुल्य हों, हो न विषमता-भान।
एक-सदृश ही हों तुम सबके अन्तःकरण उदार;
हो सुन्दर सहवास तुम्हारा, ज्यों समता साकार॥ ४॥

(४)
ऋत-सूक्त
(१०।१९०)

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्
दिवं च पृथिवीं चाऽन्तरिक्षमथो स्वः॥ १—३॥

उग्र तपस्यासे विरंचिकी प्रकट हुए ऋत सत्य प्रथम,
हुए निशा आदिक फिर विधिसे निर्मित कालभेद अनुपम।
यह अनन्त जलराशि-संवलित लहराता जो सिंधु महान्,
उसी विधातासे इसका भी प्रादुर्भाव हुआ लो जान॥
जलसे भरे महासागरका जब हो प्रादुर्भाव गया,
हुआ विधातासे फिर संवत्सरका आविर्भाव नया।
संवत्सर वह, दिवस-रात्रिको जो धारण करनेवाला,
धृत-निमेष चर अचर विश्वको भी वशमें रखनेवाला॥
पूर्वकल्प सम परमेष्ठीने रवि-शशिको सप्राण किया,
सुखमय स्वर्ग और भूतलका, नभका भी निर्माण किया॥

(५)
धनान्नदान सूक्त
(ऋ० १०।११७)

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं
ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्य-
त्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते॥ १॥

भूख नहीं दी, वध जीवोंका देवोंने कर डाला;
दाता वही, अन्न देकर जो बुझा सके यह ज्वाला।
क्षुधा-क्षीणकी अवहेला कर जो खुद माल उड़ाता,
एक दिवस उसके प्राणोंको भी अन्तक ले जाता॥
दाताका धन कभी न घटता, देता उसे विधाता;
किन्तु कृपणको कहीं न कोई सुख-दाता मिल पाता॥ १॥

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्न-
वान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो
चित् स मर्डितारं न विन्दते॥ २॥

दुर्बल और भूखसे पीडित स्वयं द्वारपर आये,
लिये अन्नकी चाह, विकल हो संमुख कर फैलाये—
ऐसे याचकके प्रति भी जो हृदय कठोर बनाता,
अन्नवान है, किंतु नहीं देनेको हाथ बढ़ाता,
यही नहीं, तरसाकर उसको स्वयं सामने खाता—
सुखदाता उस महाक्रूरको कहीं नहीं मिल पाता॥ २॥

स इद् भोजो यो गृहवे
ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता
उतापरीषु कृणुते सखायम्॥ ३॥

कृश-शरीर है माँग रहा घर आकर दाना-पानी,
ऐसे प्रतिग्रही याचकको जो देता, वह दानी।
यज्ञोंमें पूरा-पूरा फल उसको ही मिल पाता,
शत्रु-मण्डलीमें भी वह है सबको मित्र बनाता॥ ३॥

न स सखा यो न ददाति सख्ये
सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति
पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥ ४॥

संगी, अपना अंग, सखा, जो रखता स्नेह सही है,
उसको भी जो अन्न न देता, वह तो मित्र नहीं है।
उसे छोड़ हट जाय दूर नर, उसका गेह नहीं वह;
अन्य किसी दाताका आश्रय कर ले ग्रहण कहीं वह॥ ४॥

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्
द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव
चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥ ५॥

धनका दान करे याचकको निश्चय ही धनवान,
दिखलायी देता दाताको शुभका मार्ग महान।
आवर्तित रथके चक्रों-सा होता विभव-विलास;
कभी एकके पास संपदा, कभी अन्यके पास॥ ५॥

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी॥ ६॥

व्यर्थ अन्न पैदा करता वह, जिसका मन न उदार;
सच कहता हूँ, वह संग्रह है उसका ही संहार।
देव-तृप्तिके काम न आता जो, न मित्रके काम,
जो केवल निज पेट पालता, वह केवल अघधाम॥ ६॥

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति
यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।
वदन् ब्रह्मा वदतो वनीयान्
पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्॥ ७॥

खेत जोतकर फाल कृषकको अन्न दे रहा उपकारी,
उपकृत करता आचरणोंसे पथको पाथ सदाचारी।
वक्ता ब्राह्मण सदा अवक्तासे बढ़कर आदर पाता,
दाता पुरुष कृपणसे उत्तम बन्धु-सदृश माना जाता॥ ७॥

एकपाद् भूयो द्विपदो वि चक्रमे
द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे
संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः॥ ८॥

एक अंशका धनी द्विगुणके पीछे चलता है चिरकाल,
वह भी तीन अंशवालेका अनुगम करता है सब काल।
चार अंशवाला चलता है पीछे औरोंको अवलोक,
अतः विभव-अभिमान छोड़ धन-दान करे संतत सब लोक॥ ८॥

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः
सं मातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती
चित् सन्तौ न समं पृणीतः॥ ९॥

दोनों हाथ समान यदपि हैं, करते कार्य न किंतु समान;
दो ब्यायी गौएँ भी करतीं एक सदृश क्या दुग्ध प्रदान?
जुड़वीं संतानोंमें होता सदृश शक्तिका भान नहीं,
पुरुष एक कुलके दो होते दानी एक समान नहीं॥ ९॥

(६)

श्रद्धासूक्त

(ऋ० १०।१५१)

श्रद्धयाग्निः समिद्ध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥ १॥

श्रद्धासे ही अग्निहोत्रकी होती दीपित आग,
श्रद्धासे ही अर्पित होता उसमें हविका भाग।
धन-ऐश्वर्योंके मस्तकपर श्रद्धा रही विराज,
स्तुति-वाणीसे विज्ञापन यह हम करते हैं आज॥ १॥

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि॥ २॥

श्रद्धे! दाताके हित कर तू अभिमत फलका दान,
देनेकी इच्छावालेको भी प्रिय वस्तु प्रदान।
भोग-प्राप्तिके अभिलाषी जो याज्ञिक मेरे इष्ट,
इनका भी पूर्वोक्त रूपसे कर दे पूर्ण अभीष्ट॥ २॥

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि॥ ३॥

'हम विजयी होंगे' देवोंने की श्रद्धा-विश्वास,
अतः उग्र असुरोंपर जैसे पाया जय-उल्लास—
वैसे ही श्रद्धालु हमारे जो ये याज्ञिक लोग,
भोगार्थी हैं; इनको भी दो, श्रद्धे! प्रार्थित भोग॥ ३॥

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाऽऽकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥ ४॥

देव और यजमान मनुज सब, जिनके रक्षक वायु,
श्रद्धा देवीकी उपासना करते सारी आयु।
कर उरकी संकल्प-क्रियासे श्रद्धाका आराधन,
श्रद्धासे सब धन पाते हैं; श्रद्धा धनका साधन॥ ४॥

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥ ५॥

श्रद्धा देवीको पुकारते हम प्रातः-पूर्वाह्न,
श्रद्धाके ही आवाहनमें बिता रहे मध्याह्न;
करते हैं सूर्यास्त-समय भी श्रद्धाका आह्वान,
श्रद्धे देवि! करो हम सबमें श्रद्धाका आधान॥ ५॥

वैदिक सूक्त

(भावान्तरकर्ता—डॉ० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम०ए०, डी०लिट०)

(१)

संज्ञानसूक्त

[अथर्ववेद, पैप्पलादशाखा, ५।१९]

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योऽन्यमभिनवत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ १॥

आप सबके मध्यमें विद्वेषको हटाकर मैं सहृदयता, संमनस्कताका प्रचार करता हूँ। जिस प्रकार गौ अपने बछड़ेसे प्रेम करती है, उसी प्रकार आप सब एक-दूसरेसे प्रेम करें॥ १॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवति संयतः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥ २॥

पुत्र पिताके व्रतका पालन करनेवाला हो तथा माताका आज्ञाकारी हो। पत्नी अपने पतिसे शान्ति-युक्त मीठी वाणी बोलनेवाली हो॥ २॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ ३॥

भाई-भाई आपसमें द्वेष न करें। बहिन-बहिनके साथ ईर्ष्या न रखे। आप सब एकमत और समान व्रतवाले बनकर मृदुवाणीका प्रयोग करें॥ ३॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ ४॥

जिस प्रेमसे देवगण एक-दूसरेसे पृथक् नहीं होते और न आपसमें द्वेष करते हैं, उसी ज्ञानको तुम्हारे परिवारमें स्थापित करता हूँ। सब पुरुषोंमें परस्पर मेल हो॥ ४॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्योन्यस्मै वल्गु वदन्तो यात
समग्रास्थ सध्रीचीनान्॥ ५॥

श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सब लोग हृदयसे एक साथ मिलकर रहो, कभी विलग न होओ। एक-दूसरेको प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर भारी बोझेको खींच ले चलो।

परस्पर मृदु सम्भाषण करते हुए चलो और अपने अनुरक्त जनोंसे सदा मिले हुए रहो॥५॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा
नाभिमिवाभृताः ॥६॥

अन्न और जलकी सामग्री समान हो। एक ही बन्धनसे सबको युक्त करता हूँ।

साथ मिलकर अग्निकी परिचर्या करो, जिस प्रकार रथकी नाभिके चारों ओर अरे लगे रहते हैं॥६॥

सध्रीचीनान् वः समनसः कृणोम्ये-
कश्नुष्टीन् संवननेन सहृदः।
देवा इवेदमृतं रक्षमाणाः
सायंप्रातः सुसमितिर्वो अस्तु॥७॥

समान गतिवाले आप सबको सममनस्क बनाता हूँ, जिससे आप पारस्परिक प्रेमसे समान भावोंके साथ एक अग्रणीका अनुसरण करें।

देव जिस प्रकार समान चित्तसे अमृतकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सायं और प्रातः आप सबकी उत्तम समिति हो॥७॥

(२)
एवा मे प्राण मा बिभेः
(प्राणोंकी अभयप्राप्ति)

[अथर्ववेद २।१५]

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥१॥

जिस प्रकार द्यौ और पृथिवी न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी मत डरो, मत क्षीण हो॥१॥

यथा वायुश्चान्तरिक्षं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥२॥

जिस प्रकार वायु और अन्तरिक्ष न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो॥२॥

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥३॥

जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो॥३॥

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥४॥

जिस प्रकार दिन और रात्रि न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो॥४॥

यथा धेनुश्चानड्वांश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥५॥

जिस प्रकार धेनु और वृषभ न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो॥५॥

यथा मित्रश्च वरुणश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥६॥

जिस प्रकार मित्र और वरुण न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो॥६॥

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥७॥

जिस प्रकार ब्रह्म और क्षत्र न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो॥७॥

यथेन्द्रश्चेन्द्रियं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥८॥

जिस प्रकार इन्द्र और इन्द्रियाँ न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो॥८॥

यथा वीरश्च वीर्यं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥९॥

जिस प्रकार वीर और वीर्य न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो॥९॥

यथा प्राणश्चापानश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥१०॥

जिस प्रकार प्राण और अपान न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो॥१०॥

यथा मृत्युश्चामृतं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥११॥

जिस प्रकार मृत्यु और अमृत न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो॥११॥

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥ १२॥

जिस प्रकार सत्य और अनृत न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो॥ १२॥

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥ १३॥

जिस प्रकार भूत और भव्य न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो॥ १३॥

(३)
गृह-महिमा

[अथर्ववेद, पैप्पलादशाखा, ३। २६]

गृहानैमि मनसा मोदमान
ऊर्जं बिभ्रद् वः सुमतिः सुमेधाः।
अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण
गृहाणां पश्यन्पय उत्तरामि॥ १॥

ऊर्ज (शक्ति)-को पुष्ट करता हुआ, मतिमान् और मेधावी मैं मुदित मनसे गृहमें आता हूँ।

कल्याणकारी तथा मैत्री-भावसे सम्पन्न चक्षुसे इन गृहोंको देखता हुआ, इनमें जो रस है, उसका ग्रहण करता हूँ॥ १॥

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः।
पूर्णा वामस्य तिष्ठन्तस्ते नो जानन्तु जानतः॥ २॥

ये घर सुखके देनेवाले हैं, धान्यसे भरपूर हैं, घी-दूधसे सम्पन्न हैं।

सब प्रकारके सौन्दर्यसे युक्त ये घर हमारे साथ घनिष्ठता प्राप्त करें और हम इन्हें अच्छी तरह समझें॥ २॥

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः।
अक्षुध्या अतृप्यासो गृहा मास्मद् बिभीतन॥ ३॥

जिन घरोंमें रहनेवाले परस्पर मधुर और शिष्ट सम्भाषण करते हैं, जिनमें सब तरहका सौभाग्य निवास करता है, जो प्रीतिभोजोंसे संयुक्त हैं, जिनमें सब हँसी-खुशीसे रहते हैं, जहाँ कोई न भूखा है न प्यासा है, उन घरोंमें कहींसे भयका संचार न हो॥ ३॥

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुपह्वयाम यान् ते नो जानन्त्वायतः॥ ४॥

प्रवासमें रहते हुए हमें जिनका बराबर ध्यान आया करता है, जिनमें सहृदयताकी खान है, उन घरोंका हम आवाहन करते हैं, वे बाहरसे आये हुए हमको जानें॥ ४॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः॥ ५॥

हमारे इन घरोंमें दुधार गौएँ हैं; इनमें भेड़, बकरी आदि पशु भी प्रचुर संख्यामें हैं। अन्नको अमृत-तुल्य स्वादिष्ट बनानेवाले रस भी यहाँ हैं॥ ५॥

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसन्मुदः।
अरिष्टाः सर्वपूरुषा गृहा नः सन्तु सर्वदा॥ ६॥

बहुत धनवाले मित्र इन घरोंमें आते हैं, हँसी-खुशीके साथ हमारे संग स्वादिष्ट भोजनोंमें सम्मिलित होते हैं।

हे हमारे गृहो! तुममें बसनेवाले सब प्राणी सदा अरिष्ट अर्थात् रोगरहित और अक्षीण रहें, किसी प्रकार उनका ह्रास न हो॥ ६॥

(४)
पवमान सूक्त

[अथर्ववेद, पैप्पलादसंहिता, ९। २३]

सहस्राक्षं शतधारमृषिभिः पावनं कृतम्।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १॥

जो सहस्रों नेत्रवाला, सैकड़ों धाराओंमें बहनेवाला तथा ऋषियोंसे पवित्र किया गया है, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ १॥

येन पूतमन्तरिक्षं यस्मिन्वायुरधिश्रितः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ २॥

जिससे अन्तरिक्ष पवित्र हुआ है, वायु जिसमें अधिष्ठित है, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ २॥

येन पूते द्यावापृथिवी आपः पूता अथो स्वः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ३॥

जिससे द्युलोक और पृथिवी, जल और स्वर्ग पवित्र किये गये हैं, उन सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ ३॥

येन पूते अहोरात्रे दिशः पूता उत येन प्रदिशः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ४॥

जिससे रात और दिन, दिशा-प्रदिशाएँ पवित्र हुई हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ ४॥

येन पूतौ सूर्याचन्द्रमसौ नक्षत्राणि
भूतकृतः सह येन पूताः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ५॥

जिससे सूर्य और चन्द्रमा, नक्षत्र और भौतिक सृष्टि रचनेवाले पदार्थ पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ ५॥

येन पूता वेदिरग्नयः परिधयः सह येन पूताः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ६॥

जिससे वेदी, अग्नियाँ और परिधि पवित्र की गयी हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ ६॥

येन पूतं बर्हिराज्यमथो हविर्येन पूतो
यज्ञो वषट्कारो हुताहुतिः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ७॥

जिससे कुशा, आज्य, हवि, यज्ञ और वषट्कार तथा हवन की हुई आहुति पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ ७॥

येन पूतौ व्रीहियवौ याभ्यां यज्ञो अधिनिर्मितः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ८॥

जिसके द्वारा व्रीहि और जौ (अर्थात् प्राणापान) पवित्र हुए हैं, जिससे यज्ञका निर्माण हुआ है, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ ८॥

येन पूता अश्वा गावो अथो पूता अजावयः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ९॥

जिससे अश्व, गौ, अजा, अवि [और पुरुषसंज्ञक] प्राण पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ ९॥

येन पूता ऋचः सामानि यजुर्ब्राह्मणं सह येन पूतम्।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १०॥

जिसके द्वारा ऋचाएँ, साम, यजु और ब्राह्मण पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधारके द्वारा पवमान मुझे पवित्र करे॥ १०॥

येन पूता अथर्वाङ्गिरसो देवताः सह येन पूताः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ११॥

जिससे अथर्वांगिरस और देवता पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ ११॥

येन पूता ऋतवो येनार्तवा
येभ्यः संवत्सरो अधिनिर्मितः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १२॥

जिससे ऋतु तथा ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले रस पवित्र हुए हैं एवं जिससे संवत्सरका निर्माण हुआ है, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ १२॥

येन पूता वनस्पतयो वानस्पत्या ओषधयो
वीरुधः सह येन पूताः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १३॥

जिससे वनस्पतियाँ, पुष्पसे फल देनेवाले वृक्ष, ओषधियाँ और लताएँ पवित्र हुई हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ १३॥

येन पूता गन्धर्वाप्सरसः सर्पपुण्यजनाः
सह येन पूताः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १४॥

जिससे गन्धर्व और अप्सराएँ, सर्प और यक्ष पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ १४॥

येन पूताः पर्वता हिमवन्तो वैश्वानराः
परिभुवः सह येन पूताः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १५॥

जिससे हिममण्डित पर्वत, वैश्वानर अग्नियाँ और परिधि पवित्र हुई हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ १५॥

येन पूता नद्यः सिन्धवः समुद्राः सह येन पूताः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १६॥

जिससे नदियाँ, सिंधु आदि महानद और सागर पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ १६॥

येन पूता विश्वेदेवाः परमेष्ठी प्रजापतिः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १७॥

जिससे विश्वेदेव और परमेष्ठी प्रजापति पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ १७॥

येन पूतः प्रजापतिर्लोकं विश्वं भूतं स्वराजभार।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १८॥

जिससे पवित्र होकर प्रजापतिने समस्त लोकको,

सृजन-पालन-संहार

हिन्दू-संस्कृतिमें ऋषि-आश्रम

गीताप्रेस, गोरखपुर

व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण

शरत्-पूर्णिमा

गीतोपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण

बाल-कृष्ण

श्रीश्रीमहालक्ष्मी

परम मनोहर मूर्ति बालरूप भगवान् श्रीरामचन्द्र

सिंहासनासीन श्रीसीतारामजी

गो-भक्त दिलीप

पञ्चदेव

भूतोंको और स्वर्गको धारण किया है, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ १८॥

येन पूतः स्तनयित्नुरपामुत्सः प्रजापतिः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १९॥

जिससे विद्युत् और जलोंके आश्रय प्रजापालक मेघ पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ १९॥

येन पूतमृतं सत्यं तपो दीक्षां पूतयते।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ २०॥

जिससे ऋत और सत्य पवित्र हुए हैं, जो तप और दीक्षाको पवित्र करता है, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ २०॥

येन पूतमिदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।[1]
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ २१॥

जिससे जो कुछ भूत और भविष्य है, सभी पवित्र हुआ है, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे॥ २१॥

(५)
दीर्घ आयु

[अथर्ववेद पैप्पलाद शाखा ६। १८]

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः।
सं मायमग्निः सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ १॥

मरुद्गण, पूषा, बृहस्पति और यह अग्नि मुझे प्रजा और धनसे सींचें और मेरी आयुकी वृद्धि करें॥ १॥

सं मा सिञ्चन्त्वादित्याः सं मा सिञ्चन्त्वग्नयः।
इन्द्रः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ २॥

आदित्य, अग्नि और इन्द्र मुझे प्रजा और धनसे सींचें और मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें॥ २॥

सं मा सिञ्चन्त्वरुषः समर्का ऋषयश्च ये।
पूषा समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ ३॥

अग्निकी ज्वालाएँ, प्राण, ऋषिगण और पूषा मुझे प्रजा और धनसे सींचें और मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें॥ ३॥

सं मा सिञ्चन्तु गन्धर्वाप्सरसः सं मा सिञ्चन्तु देवताः।
भगः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ ४॥

गन्धर्व एवं अप्सराएँ, देवता और भग[2] मुझे प्रजा और धनसे सींचें और दीर्घ आयु प्रदान करें॥ ४॥

सं मा सिञ्चतु पृथिवी सं मा सिञ्चन्तु या दिवः।
अन्तरिक्षं समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ ५॥

पृथ्वी, द्युलोक और अन्तरिक्ष मुझे प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें॥ ५॥

सं मा सिञ्चन्तु प्रदिशः सं मा सिञ्चन्तु या दिशः।
आशाः समस्मान् सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ ६॥

दिशा, प्रदिशाएँ और ऊपर-नीचेके प्रदेश मुझे प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें॥ ६॥

सं मा सिञ्चन्तु कृषयः सं मा सिञ्चन्त्वोषधीः।
सोमः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ ७॥

कृषिसे उत्पन्न धान्य, ओषधियाँ और सोम मुझे प्रजा और धनसे सम्पन्न करें तथा दीर्घ आयु दें॥ ७॥

सं मा सिञ्चन्तु नद्यः सं मा सिञ्चन्तु सिन्धवः।
समुद्रः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ ८॥

नदी, सिंधु (नद) और समुद्र मुझे प्रजा और धनसे सम्पन्न करें। वे मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें॥ ८॥

सं मा सिञ्चन्त्वापः सं मा सिञ्चन्तु कृष्टयः।
सत्यं समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ ९॥

जल और कृष्ट ओषधियाँ तथा सत्य हम सबको प्रजा और धनसे युक्त करें। वे हमें दीर्घ आयु प्रदान करें॥ ९॥

१-परिमितं वै भूतमपरिमितं भाव्यम्। (ऐ० ब्रा० ४। ६ भाष्यम्) २-एक देवताका नाम।

वैदिक सूक्तियाँ

(संकलनकर्ता—पं० श्रीदेवव्रतजी)

ऋग्वेद

१.अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव। (१।९४।४)
परमेश्वर! हम तेरे मित्रभावमें दुःखी और विनष्ट न हों।

२.एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। (१।१६४।४६)
उस एक प्रभुको विद्वान् लोग अनेक नामोंसे पुकारते हैं।

३.एको विश्वस्य भुवनस्य राजा। (६।३६।४)
वह सब लोकोंका एकमात्र स्वामी है।

४.यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। (१।१६४।३९)
जो उस ब्रह्मको नहीं जानता, वह वेदसे क्या करेगा।

५.सङ्गच्छध्वं संवदध्वम्। (१०।१९१।२)
मिलकर चलो और मिलकर बोलो।

६.शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः। (५।५१।१)
शुद्ध और पवित्र बनो तथा परोपकारमय जीवनवाले हो।

७.सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुः। (४।३३।६)
नरों (मर्दों)-ने सत्यका ही प्रतिपादन किया है और वैसा ही आचरण किया है।

८.न स सखा यो न ददाति सख्ये। (१०।११७।४)
वह मित्र ही क्या, जो अपने मित्रको सहायता नहीं देता।

९.सुगा ऋतस्य पन्थाः। (८।३१।१३)
सत्यका मार्ग सुखसे गमन करनेयोग्य, सहल है।

१०.ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृतः। (९।७३।६)
सत्यके मार्गको दुष्कर्मी पार नहीं कर पाते।

११.स्वस्ति पन्थामनुचरेम। (५।५१।१५)
हम कल्याण-मार्गके पथिक हों।

१२.दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते। (१।१२५।६)
दानी अमर-पद प्राप्त करते हैं।

१३.देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्। (१।८९।२)
हम देवों (विद्वानों)-की मैत्री करें।

१४.समाना हृदयानि वः। (१०।१९१।४)
हमारे हृदय (मन) एक-से हों।

१५.विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्। (१।११४।१)
इस ग्राममें सब नीरोग और हृष्ट-पुष्ट हों।

१६.सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते। (१०।१७।७)
देवपदके अभिलाषी सरस्वतीका आह्वान करते हैं।

१७.न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। (४।३३।११)
बिना स्वयं परिश्रम किये देवोंकी मैत्री नहीं मिलती।

१८.उप सर्प मातरं भूमिम्। (१०।१८।१०)
मातृभूमिकी सेवा कर।

१९.न देवानामति व्रतं शतात्मा च न जीवति। (१०।३३।९)
देवताओंके नियमको तोड़कर कोई सौ वर्ष नहीं जी सकता।

२०.सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्। (९।७३।१)
धर्मात्माको सत्यकी नाव पार लगाती है।

२१.यतेमहि स्वराज्ये। (५।६६।६)
हम स्वराज्यके लिये सदा यत्न करें।

२२.अहमिन्द्रो न पराजिग्ये। (१०।४८।५)
मैं आत्मा हूँ, मुझे कोई हरा नहीं सकता।

२३.भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि। (१।१२३।१३)
हे प्रभो! हमलोगोंमें सुख और कल्याणमय उत्तम संकल्प, ज्ञान और कर्मको धारण कराओ।

२४.उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः। (१०।१०१।१)
हे एक विचार और एक प्रकारके ज्ञानसे युक्त मित्रजनो, उठो! जागो!!

२५.इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। (८।२।१८)
देवता यज्ञकर्ता, पुरुषार्थी तथा भक्तको चाहते हैं, आलसीसे प्रेम नहीं करते।

यजुर्वेद

१. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम्। (२५।२१)
हम कानोंसे सदा भद्र—मंगलकारी वचन ही सुनें।

२. सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु। (३२।८)
वह व्यापक प्रभु सब प्रजाओंमें ओत-प्रोत है।

३. शं नः कुरु प्रजाभ्यः। (३६।२२)
प्रभो! हमारी संतानका कल्याण करो।

४. मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। (४०।१)
किसीके धनपर न ललचाओ।

५. मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। (३६।१८)
हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखें।

६. वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः। (९।२३)
हम अपने देशमें सावधान होकर पुरोहित (नेता); अगुआ बनें।

७. तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा। (३१।१९)
उस परमात्मामें ही संपूर्ण लोक स्थित हैं।

८. अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्याः। (२।१०)
हमारी कामनाएँ सच्ची हों।

९. अहमनृतात्सत्यमुपैमि। (१।५)
मैं झूठसे बचकर सत्यको धारण करता हूँ।

१०. यशः श्रीः श्रयतां मयि। (२९।४)
यश और ऐश्वर्य मुझमें हों।

११. सुसस्याः कृषीष्कृधि। (४।१०)
अच्छे सस्यसे युक्त खेती कर।

१२. तमेव विदित्वाति मृत्युमेति। (३१।१८)
उस ब्रह्म (प्रभु)-को जानकर ही मनुष्य मृत्युको लाँघ जाता है।

१३. भूत्यै जागरणम् अभूत्यै स्वपनम्। (३०।१७)
जागना (ज्ञान) ऐश्वर्यप्रद है। सोना (आलस्य) दरिद्रताका मूल है।

१४. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। (४०।२)
मनुष्य इस संसारमें कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे।

१५. ऋतस्य पथा प्रेत। (७।४५)
सत्यके मार्गपर चलो।

१६. अदीनाः स्याम शरदः शतम्। (३६।२४)
हम सौ वर्षोंतक दीनतारहित होकर जीयें।

१७. पश्येम शरदः शतम्। (३६।२४)
हम सौ वर्षोंतक देखते रहें।

१८. तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु। (६४।१)
मेरा मन उत्तम संकल्पोंवाला हो।

१९. अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः। (१९।७७)
प्रभुने झूठमें अश्रद्धाको और सत्यमें श्रद्धाको रखा है।

अथर्ववेद

१. तस्य ते भक्तिवांसः स्याम। (६।७९।३)
हे प्रभो! हम तेरे भक्त हों।

२. स एष एक एकवृदेक एव। (१३।५।७)
वह ईश्वर एक और सचमुच एक ही है।

३. एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्य। (२।२।१)
एक परमेश्वर ही पूजाके योग्य और प्रजाओंमें स्तुत्य है।

४. स नो मुञ्चत्वंहसः। (४।२३।१)
वह ईश्वर हमें पापसे मुक्त करे।

५. तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः। (१०।८।४४)
उस आत्माको ही जान लेनेपर मनुष्य मृत्युसे नहीं डरता।

६. य इत् तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः। (९।१०।१)
जो उस ब्रह्मको जान लेते हैं, वे मोक्षपद पाते हैं।

७. सं श्रुतेन गमेमहि। (१।१।४)
हम वेदोपदेशसे युक्त हों।

८. रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्। (७।११५।४)
पुण्यकी कमाई मेरे घरकी शोभा बढ़ाये, पापकी कमाईको मैंने नष्ट कर दिया है।

९. प्रियं मा कृणु देवेषु। (१९।६२।१)
हे परमात्मा! मुझे ब्रह्मज्ञानी विद्वानोंमें प्यारा बनाओ।

१०. मा जीवेभ्यः प्रमदः। (८।१।७)
प्राणियोंकी ओरसे बेपरवाह मत हो।

११. अयज्ञियो हतवर्चा भवति। (१२।२।३७)
यज्ञहीनका तेज नष्ट हो जाता है।

१२. सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। (१९।१५।६)
सभी दिशाएँ हमारे लिये हितकारिणी होवें।

१३. वयं देवानां सुमतौ स्याम। (६।४७।२)
हम विद्वान् पुरुषोंकी शुभमतिमें (उत्तम उपदेशोंके अनुसार) रहें।

१४. वयं सर्वेषु यशसः स्याम। (६।५८।२)
हम समस्त जीवोंमें यशस्वी होवें।

१५. आ रोह तमसो ज्योतिः। (८।१।८)
अन्धकार (अविद्या)-से निकलकर (ऊपर उठकर) प्रकाश (ज्ञान)-की ओर बढ़ो।

१६. यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः। (९।१०।१४)
यज्ञ ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका बाँधनेवाला नाभिस्थान है।

१७. उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। (८।१।६)

पुरुष (मर्द)! तेरे लिये ऊपर उठना है, न कि नीचे गिरना। (१२।१।२४)

१८.मा नो द्विक्षत कश्चन।

हमसे कोई भी द्वेष करनेवाला न हो।

१९.सध्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया। (३।३०।३)

समान गति, समान कर्म, समान ज्ञान और समान नियमवाले बनकर परस्पर कल्याणी वाणीसे बोलो।

२०.मा मा प्रापत पाप्मा मोत मृत्युः। (१७।१।२९)

मुझे पाप और मौत न व्यापे।

२१.अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्। (६।७८।२)

मनुष्य दुग्धादि पदार्थोंसे बढ़ें और राज्यसे बढ़ें।

२२.अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः। (५।३।५)

हम शरीरसे नीरोग हों और उत्तम वीर बनें।

२३.आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्। (५।३०।७)

उन्नत होना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीवका लक्ष्य है।

२४.ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। (११।७।१९)

ब्रह्मचर्यरूपी तपोबलसे ही विद्वान् लोगोंने मृत्युको जीता है।

२५.कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।(७।५२।८)

मेरे दाहिने हाथमें कर्म—पुरुषार्थ है और सफलता बायें हाथमें रखी हुई है।

२६.मधुमतीं वाचमुदेयम्। (१६।२।२)

मैं मीठी वाणी बोलूँ।

२७.माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। (१२।१।१२)

भूमि मेरी माता है और मैं उस मातृभूमिका पुत्र हूँ।

२८.सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम। (६।११७।३)

हमलोग ऋणरहित होकर परलोकके सभी मार्गोंपर चलें।

२९.वाचा वदामि मधुमद्। (१।३४।३)

मैं वाणीसे माधुर्ययुक्त ही बोलता हूँ।

३०.ज्योगेव दृशेम सूर्य्यम्। (१।३१।४)

हम सूर्यको बहुत कालतक देखते रहें।

३१.मा पुरा जरसो मृथाः। (५।३०।१७)

हे मनुष्य! तू बुढ़ापेसे पहले मत मर।

३२.शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर। (३।२४।५)

सैकड़ों हाथोंसे इकट्ठा करो और हजारों हाथोंसे बाँटो।

३३.परैतु मृत्युरमृतं न एतु। (१८।३।६२)

मृत्यु हमसे दूर हो और अमृत-पद हमें प्राप्त हो।

३४.सर्वमेव शमस्तु नः। (१९।९।१४)

हमारे लिये सब कुछ कल्याणकारी हो।

३५.ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। (५।१।१७)

ब्रह्मचर्यरूप तपके द्वारा राजा राष्ट्रका संरक्षण करता है।

३६.शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु। (१९।९।१३)

मुझे कल्याणकी प्राप्ति हो और किसी प्रकारका भय न हो।

३७.शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम्। (६।७१।३)

मेरे लिये अन्न कल्याणकारी और स्वादिष्ट हो।

उपनिषदोंकी सूक्तियाँ

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

(केन० २।५)

इस जीवनमें यदि परब्रह्मको जान लिया, तब तो कुशल है; नहीं तो महान् विनाश है। बुद्धिमान् पुरुष प्रत्येक प्राणीमें परब्रह्मको समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमरत्वको प्राप्त हो जाते हैं।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

(कठ० १।२।२४)

जिस मनुष्यने बुरे आचरणोंका त्याग नहीं कर दिया है, जिसका मन शान्त नहीं है, जिसका चित्त एकाग्र नहीं है तथा जिसने मन-बुद्धिको वशमें नहीं कर लिया है, उसको प्रज्ञान—सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(कठ० २।६।१४)

जब इसके हृदयमें स्थित सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मानव अमर हो जाता है और यहीं ब्रह्मका अनुभव करता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २।२।८)

कार्य-कारणरूप परात्पर ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर हृदयकी अविद्यारूप ग्रन्थि टूट जाती है, समस्त संशय-सन्देह कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।

श्रीवाल्मीकीय रामायणकी सूक्तियाँ

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाऽऽश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत्॥

(अयोध्या० १०९।१३-१४)

जगत्में सत्य ही ईश्वर है, सदा सत्यके ही आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है। सत्य ही सबकी जड़ है। सत्यसे बढ़कर दूसरी कोई उत्तम गति नहीं है।

दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद—इन सबका आश्रय सत्य है; इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये।

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः॥

(किष्किन्धा० ६४।९)

मनको विषादग्रस्त नहीं बनाना चाहिये; विषादमें बहुत बड़ा दोष है। जैसे क्रोधमें भरा हुआ साँप बालकको काट खाता है, वैसे ही विषाद पुरुषका नाश कर डालता है।

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति॥

(लंका० २।६)

जो पुरुष निरुत्साह, दीन और शोकाकुल रहता है, उसके सब काम बिगड़ जाते हैं और वह बहुत बड़ी विपत्तिमें पड़ जाता है।

महाभारतकी सूक्तियाँ

येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
तान् सेवेत्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी॥

(वन० १।२६)

जिनके विद्या, कुल और कर्म—ये तीनों शुद्ध हों, उन साधु पुरुषोंकी सेवामें रहे। उनके साथ बैठना, उठना शास्त्रोंके स्वाध्यायसे भी श्रेष्ठ है।

असतां दर्शनात् स्पर्शात् संजल्पाच्च सहासनात्।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः॥

(वन० १२।८)

दुष्ट मनुष्योंके दर्शनसे, स्पर्शसे, उनके साथ वार्तालाप करनेसे तथा एक आसनपर बैठनेसे धार्मिक आचार नष्ट हो जाते हैं; और मनुष्य किसी कार्यमें सफल नहीं हो पाते।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥

(वन० ३१३।१२८)

धर्म ही आहत (परित्यक्त) होनेपर मनुष्यको मारता है और वही रक्षित (पालित) होनेपर रक्षा करता है; अतः मैं धर्मका त्याग नहीं करता—इस भयसे कि कहीं मारा (त्याग किया) हुआ धर्म हमारा ही वध न कर डाले।

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
धर्मेण देवता ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः॥

धर्मके द्वारा ऋषिगण इस भवसागरसे पार हो गये। सम्पूर्ण लोक धर्मके आधारपर ही टिके हुए हैं; धर्मसे ही देवता बढ़े हैं और धन भी धर्मके ही आश्रित है।

श्रीमद्भागवतकी सूक्तियाँ

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(२।३।१०)

जिसके मनमें कोई कामना नहीं है या जो सब कुछ पानेकी कामनावाला है अथवा जो उदारबुद्धि पुरुष केवल मोक्षकी कामना रखता है, सबको तीव्र भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष भगवान् श्रीहरिकी ही आराधना करनी चाहिये।

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति॥

(३।२९।२३)

जो अभिमानी और भेददर्शी है, जिसने सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति वैर बाँध रखा है, अतएव जो दूसरेके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष रखता है, उसके मनको कभी शान्ति नहीं मिलती।

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥

(३।२९।३४)

इन सब भूत-प्राणियोंमें सर्वेश्वर भगवान्‌ने ही अपने अंशभूत जीवके रूपमें प्रवेश किया है—यों मानकर सब प्राणियोंको अत्यन्त आदर देते हुए सबको मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये।

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत्॥

(७।७।३२)

समस्त भूत-प्राणियोंमें सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं, यों अपने मनमें समझते हुए उन सबको इच्छानुसार वस्तुएँ देकर भलीभाँति सम्मानित करना चाहिये।

स्तवन

हैम चूड़पर स्वर्ण रश्मि प्रभ
ज्योति मुकुट जाज्वल्य शीषपर,
शत सूर्योज्ज्वल कुवलय कोमल
स्फुरत् किरण मंडित मुख सुंदर !

नयन अकूल क्षमा गरिमामय
ज्योति प्रीतिके अतल सरोवर,
अधर प्रवालोंपर चिर गुंजित
मौन मधुर स्मितिके मुरली स्वर !

सहृदय वक्ष विशाल सिन्धुवत्
विश्व भार भृत अंस धुरंधर
करुणालंबित बाहु, वरद कर,
मृत्यु कलुष हर चारु धनुष शर !

बढ़ते युग-युग चरण, छोड़ निज
अक्षय चिह्न समयके पथपर,
विश्व हृदय शतदल पर स्थित तुम
हृदयेश्वर, जगदीश, परात्पर !

सृजन नृत्य उल्लास निरत नित
चिर त्रिभंगमय, रहस रतीश्वर,
अभय इंगितोंसे जीवनकी
शाश्वत शोभा पड़ती झर झर !

जय पुरुषोत्तम, प्रणत प्राण मन
नयनोंमें भर रूप मनोहर,
चिर श्रद्धा विश्वास भक्तिका
मंगलमय, निज जनको दो वर !!

—श्रीसुमित्रानन्दन पंत

हिंदू-संस्कृति

(भगवत्पूज्यपाद अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य प्रभु श्रीज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज ज्योतिर्मठ बदरिकाश्रमका प्रसाद)

धीशं सूर्यमथाम्बिकां हरिहरौ रूपाणि पञ्चावहन्
यो नित्यं सगुणः कृतार्थयति सन्मार्गानुगान् साधकान्।
यो बुद्धेर्वरतेजसः क्रमगताच्छक्तेश्चितः सत्सतः
साहाय्यादवधार्यते स भगवान् पञ्चात्मको नम्यते॥

हिंदू-संस्कृतिके स्वरूप और उसकी विशेषताओं आदिपर विचार करनेके पूर्व यह निश्चय कर लेना आवश्यक है कि हिंदू कौन है और संस्कृतिका क्या अर्थ होता है। हिंदू कौन है, यह निश्चय करनेके लिये सर्वप्रथम जातिनिर्णयका आधार स्पष्ट हो जाना चाहिये।

जातिनिर्णयका आधार

सामान्यतया जातिनिर्णयके दो आधार प्रतीत होते हैं—'देश' और 'धर्मग्रन्थ'। कुछ जातियोंके नाम देशोंके नामके आधारपर प्रचलित हैं—जैसे जर्मन, फ्रेंच, बंगाली, पंजाबी आदि। और कुछ जातियोंके नाम धर्मग्रन्थोंके आधारपर हैं, जैसे बाइबिलको माननेवाली ईसाई जाति और कुरानको माननेवाली मुस्लिम जाति आदि।

विचार करनेपर देशके आधारपर जातिका निर्णय पूर्ण रीतिसे नहीं होता। जैसे बंगालके निवासी मुस्लिम भी बंगाली हैं और हिंदू भी बंगाली हैं; किंतु दोनों बंगाली होते हुए भी वे एक जातिके नहीं माने जाते। उनकी जातिका निर्णय उनके धर्मग्रन्थोंके आधारपर ही होता है। कुरानको माननेवाले मुस्लिम और वेदादि शास्त्रोंको माननेवाले हिंदू जातिके माने जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि स्थान या देशके नामके आधारपर जातिनिर्णयका कोई मूल्य नहीं होता; अन्ततः धर्मग्रन्थोंके (या शास्त्रके) आधारपर ही जातिनिर्णय होता है।

कोई मनुष्य चाहे कोट-पैन्ट पहनकर मांस-मदिरा सेवन करता हुआ विलायतमें रहे या धोती-कुरता पहनकर शाकाहारी होकर भारतमें रहे; किंतु यदि वह बाइबिलको मानता है तो ईसाई ही कहा जायगा और यदि कुरानको मानता है तो मुस्लिम जातिमें ही उसकी गणना होगी। इससे स्पष्ट है कि जातिनिर्णयमें धर्मग्रन्थोंकी ही प्रधानता मानी जाती है और किसी देशविशेषमें निवास करनेसे अथवा ऊपरी वेष-भूषा, खान-पान आदिसे किसीकी जातिका निर्णय नहीं किया जा सकता। यह अवश्य है कि जिस देशमें जिस जातिका प्रादुर्भाव होता है, उस देशको वह जाति अपना देश मानती है; किंतु स्पष्ट है कि जातियोंकी भिन्नताका कारण देशका भेद न होकर शास्त्रभेद ही है।

किसी एक जातिके लोगोंके भिन्न-भिन्न देशोंमें बस जानेके कारण जल-वायु आदिकी भिन्नतासे उनके वेष-भूषा, खान-पानादिमें अवश्य अन्तर पड़ जाता है और देशके आधारपर उनका नाम भी भिन्न हो जाता है; किंतु जबतक वे एक ही धर्मशास्त्रको मानते हैं, तबतक एक ही जातिके कहे जाते हैं या एक ही जातिकी विभिन्न उपजातियोंमें उनकी गणना होती है। जैसे देश या प्रान्तके आधारपर ईसाई जातिके लोग ही जर्मन, फ्रेंच, इंगलिश, अमेरिकन आदि नामोंसे और हिंदू जातिके लोग ही बंगाली, पंजाबी, गुजराती, मराठी आदि विभिन्न नामोंसे कहे जाते हैं। इसलिये जातिनिर्णयमें शास्त्रकी ही प्रधानता सिद्ध होती है।

माना जाता है कि पहले एक ही 'आर्य' जाति थी और वही विभिन्न देशोंमें बसकर विभिन्न जातियोंमें परिणत हो गयी। किंतु यदि विभिन्न देशोंमें बसे हुए आर्यलोग वेदादि-शास्त्रोंको बराबर मानते रहते तो दूर-दूर देशोंमें रहते हुए भी और जल-वायु आदिके कारण वेष-भूषा, खान-पान आदिकी भिन्नता रहते हुए भी वे एक ही 'आर्य' या 'हिंदू' जातिके कहे जाते। वेदादि-शास्त्रोंसे भिन्न बाइबिल और कुरानको अपने धर्मग्रन्थ माननेके कारण ही ईसाई और मुस्लिम आदि जातियोंकी हिंदूजातिसे भिन्न स्थिति है। इसलिये जातिनिर्णयका मुख्य आधार धर्मशास्त्र या धर्मग्रन्थ ही निश्चय होता है।

हिंदू कौन?

जातिनिर्णयके उक्त आधारसे स्पष्ट ही है कि वेदादि-शास्त्रोंको माननेवाली जाति ही हिंदू-जाति है। इस प्रकार वेदादि हिंदू-शास्त्रोंपर विश्वास करनेवाला ही हिंदू कहा जा सकता है। जो श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहास-प्रतिपादित कर्मोंके आधारपर अपनी लौकिक-

पारलौकिक उन्नतिपर विश्वास रखता है वही हिंदू है अथवा श्रुति-स्मृतिमूलक समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, शासन-व्यवस्था, धर्म-व्यवस्था आदिके द्वारा अपने जीवनके समस्त क्षेत्रोंमें लौकिक-पारलौकिक अभ्युदयपर विश्वास रखनेवाला ही हिंदू कहा जा सकता है। वैदिक सिद्धान्तानुसार मानव-जीवनके समस्त क्षेत्रोंकी विभिन्न व्यवस्थाओंका सक्रिय रूप वर्णाश्रम-धर्म-व्यवस्थामें प्राप्त होता है। इसलिये वर्णाश्रमधर्मानुकूल आचार-विचारके द्वारा जीवन व्यतीत करनेवाला ही हिंदू माना जा सकता है अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्णोंमें उत्पन्न होकर वेद-शास्त्रोंको अपना धर्मग्रन्थ माननेवाला ही हिंदू है।

संस्कृति-शब्दार्थ

'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे भूषण-अर्थमें सुट्का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय करनेसे 'संस्कृति' शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है—भूषणभूत सम्यक् कृति। इसलिये भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा ही संस्कृति कही जा सकती है। इस प्रकार भूषणभूत सम्यक् कृतियोंका सम्पूर्ण क्षेत्र संस्कृतिका क्षेत्र है।

पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि भोगयोनियोंमें जीवकी चेष्टाएँ स्वाभाविक ही हुआ करती हैं। उनमें सम्यक्-असम्यक्का भेद नहीं किया जा सकता। मनुष्ययोनिमें ही जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र माना गया है। मनुष्य सम्यक्-असम्यक् दोनों प्रकारकी चेष्टाएँ करनेमें समर्थ होता है। इसलिये सम्यक् चेष्टा या कृति—संस्कृतिका प्रयोग मनुष्यके सम्बन्धमें ही किया जा सकता है। इसलिये मनुष्यकी भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा ही संस्कृति है।

जिन चेष्टाओंके द्वारा मनुष्य अपने जीवनके समस्त क्षेत्रोंमें उन्नति करता हुआ सुख-शान्ति प्राप्त करे, वे चेष्टाएँ ही उसके लिये भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ कही जा सकती हैं अथवा मनुष्यकी आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उन्नतिके अनुकूल चेष्टाएँ ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ हैं। या मनुष्यकी वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रोंमें लौकिक-पारलौकिक अभ्युदयके अनुकूल देहेन्द्रिय, मन-बुद्धि, चित्ताहंकारकी चेष्टा ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टा या संस्कृति है। (देहेन्द्रियकी समस्त चेष्टाएँ 'आचार' के क्षेत्रमें और मन-बुद्धि-चित्ताहंकारकी चेष्टाएँ 'विचार' के क्षेत्रके अन्तर्गत कही जाती हैं; इसलिये) संक्षेपमें कहा जा सकता है कि मनुष्यके लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदयके अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति है।

संस्कृतिका आधार

ऊपर 'संस्कृति' शब्दकी व्याख्या कर दी गयी है। उससे स्पष्ट है कि कोई जाति अपनी लौकिक-पारलौकिक उन्नतिका मार्ग जिस आधारपर निश्चय करती है, उसीके आधारपर उसकी संस्कृतिका निर्णय हो सकता है।

किसी जातिके लिये लौकिक-पारलौकिक विश्वासका आधार उस जातिका दर्शनशास्त्र होता है। दर्शनशास्त्र सत्यासत्यविवेचनात्मक, ज्ञानपरक होता है। मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, कहाँ जाऊँगा—इस नाना नाम-रूपमय जगत्का सच्चा स्वरूप क्या है, इसका कर्ता कौन है, वह जड है या चेतन और परम सुख-शान्तिका क्या स्वरूप है—आदिका समाधान दर्शनशास्त्रसे होता है। कोई जाति अपने दर्शनशास्त्रके अनुसार इहलोक और परलोकका जो स्वरूप निर्णय करती है, उसीके अनुरूप लौकिक, पारलौकिक उन्नतिका मार्गप्रदर्शक उस जातिका आचारशास्त्र होता है। आचारशास्त्र या धर्मशास्त्र विधि-निषेधात्मक, कर्तव्याकर्तव्य-सम्बन्धी आज्ञाप्रदायक, कर्मपरक होता है।

किसी जातिका धर्मशास्त्र अपने दर्शनशास्त्र-प्रतिपादित लौकिक-पारलौकिक अभ्युदयमें सहायक जिन कर्मों या आचार-विचारोंका विधान करता है, वे कर्म ही उस जातिके लिये कर्तव्य होते हैं और उन्हींके द्वारा वह जाति अपनी लौकिक-पारलौकिक उन्नति मानती है। इससे स्पष्ट है कि किसी जातिके धर्मशास्त्रद्वारा प्रतिपादित आचार-विचार ही उस जातिकी संस्कृतिका स्वरूप होता है। अतएव संस्कृतिका आधार शास्त्र या धर्मग्रन्थ ही है।

हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप

हिंदू कौन है, संस्कृतिका क्या अर्थ होता है और उसका क्या आधार है—यह निश्चय हो जानेके बाद स्पष्ट ही है कि वेदादि-शास्त्रसम्मत आचार-विचार ही हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप है। मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन

श्रीराधाकृष्ण—दर्पण-दर्शन
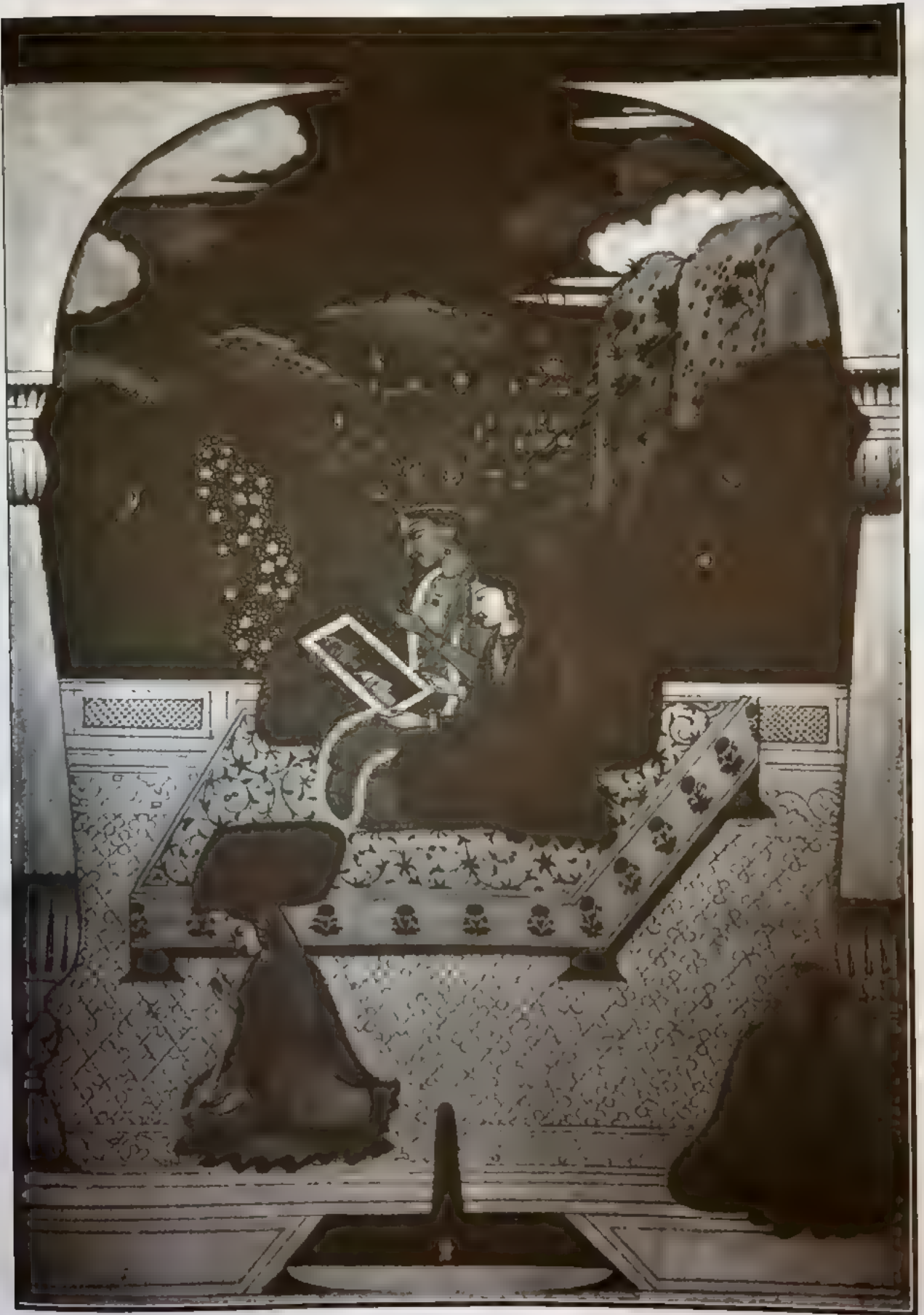
पहाड़ी चित्रशैली १८ वीं शती] [भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

श्रीराधाकृष्ण—मुरली-लीला

पहाड़ी चित्रशैली १८ वीं शती]

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

आचार-विचारमय ही होता है। इसलिये संस्कृतिके क्षेत्रमें मानव-जीवनके समस्त क्षेत्र आ जाते हैं। अतएव मानव-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें वेदादि-शास्त्रानुकूल आचार-विचार ही हिंदू-संस्कृति है। जीवनके समस्त क्षेत्रोंमें वेदादि-शास्त्रानुकूल आचार-विचारकी व्यवस्थाका सक्रिय रूप वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्थामें प्राप्त होता है। इसलिये वर्णाश्रमानुकूल आचार-विचार ही हिंदू-संस्कृतिका प्रत्यक्षरूप है और वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा कला-कौशल भाषा, वेषभूषा, उपासना आदि-सम्बन्धी समस्त हलचलें या आचार-विचार वर्णाश्रमधर्मानुकूल हों—यही हिंदू-संस्कृतिका आदर्श है।

हिंदू-संस्कृतिकी विशेषताएँ

ऊपर इस बातपर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है कि कोई जाति अपने दर्शनशास्त्रके अनुसार लौकिक, पारलौकिक सत्यासत्य-विवेचनद्वारा परम सुख-शान्ति, मोक्ष, आत्मा, ब्रह्म या स्वर्गका जो स्वरूप निर्णय करती है, उसकी प्राप्तिमें सहायक, लौकिक-पारलौकिक अभ्युदयप्रद, धर्मशास्त्र-प्रतिपादित, समस्त सम्यक् भूषणभूत चेष्टाएँ ही उस जातिकी संस्कृति कहलाती हैं। इसलिये किसी जातिकी संस्कृतिकी सबसे बड़ी विशेषता और उसकी समस्त विशेषताओंका मूल उस जातिका दर्शनशास्त्र होता है।

हिंदू-दर्शन या वैदिक दर्शनशास्त्र ही हिंदू-संस्कृतिकी समस्त विशेषताओंके मूलमें स्थित है। नानात्वमय समस्त दृश्य प्रपंचके प्रत्यक्ष बहुत्ववादसे अलक्ष्य, अगोचर, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षसे परे, निर्गुण-निराकार एक-तत्त्ववाद, अद्वैत-सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा ही हिंदू-दर्शनकी मौलिक विशेषता है। साकार-निराकारका पूर्ण समन्वय हिंदू-दर्शनोंमें ही पाया जाता है। यही कारण है कि हिंदू-संस्कृतिमें व्यावहारिक उत्तमता और पारमार्थिक श्रेष्ठता—दोनों पूर्णताकी सीमापर प्रतिष्ठित हैं। जगद्व्यवहारमें प्रतिपल व्यवहार करते हुए भी हिंदू द्वैत-प्रपंचसे उठकर अद्वैतस्वरूप-निष्ठा—जीवन्मुक्तिकी अवस्था प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। मनुष्यको मानव-विकासके उच्चतम शिखरपर पहुँचाकर जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें प्रतिष्ठित करा देना ही हिंदू-संस्कृतिकी सबसे बड़ी विशेषता है।

अद्वैतनिष्ठा या जीवन्मुक्तिकी अवस्थाको मानव-जीवनकी सर्वोत्कृष्ट अवस्था इसलिये माना गया है कि उस स्थितिमें या उसकी प्राप्तिके मार्गमें ही मनुष्य आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक क्षेत्रोंमें पूर्ण विकासको प्राप्त हो जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें वह निर्गुण-निरंजन परमतत्त्वसे एकत्व प्राप्त कर लेता है और आधिदैविक एवं आधिभौतिक क्षेत्रमें उसके लिये कुछ अप्राप्य नहीं रह जाता, इच्छामात्रसे वह सब कुछ करनेमें समर्थ हो जाता है—

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामान्……

(मुण्डक० ३।१।१०)

केवल विचारमात्रसे सब कुछ कर सकनेकी सामर्थ्यसे अधिक सामर्थ्य और हो ही क्या सकता है। इसलिये स्वरूपनिष्ठा ही मानव-जीवनके विकासकी श्रेष्ठतम अवस्था मानी गयी है और इसीकी प्राप्ति हिंदू-संस्कृतिका लक्ष्य है। मनुष्यको पूर्ण स्वातन्त्र्यमय अनन्त ज्ञानके क्षेत्रमें समासीनकर परमानन्दका अनुभव करा देनेकी सामर्थ्य हिंदू-संस्कृतिमें ही है। इसीलिये हिंदू-संस्कृति सर्वसामर्थ्यमय सर्वांगीण पूर्ण संस्कृति है।

हिंदू-संस्कृति सर्वकल्याणकारिणी है। इसके द्वारा न केवल अपने अनुयायियोंके लिये ही, अपितु समस्त ब्रह्माण्डके लिये विश्वपोषक मंगलकारी प्रभाव उत्पन्न होता है। हिंदू-संस्कृतिकी इस विश्वपोषकताका रहस्य हृदयंगम हो जानेपर उसकी समस्त विशेषताओंको समझनेके लिये एक आधार प्राप्त हो जाता है। इसलिये इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

जिस प्रकार सरोवरके जलमें पत्थर फेंकनेसे या किसी प्रकारकी हलचल करनेसे उसमें उत्पन्न हुई तरंगें समस्त सरोवरमें फैलकर सम्पूर्ण जल-राशिको प्रभावित करती हैं, उसी प्रकार समस्त जीवों और मनुष्योंकी देहेन्द्रिय आदिकी समस्त हलचलोंसे वायुमण्डलमें स्पन्दन उत्पन्न होते हैं—जो स्थूल-सूक्ष्मरूपसे समस्त वायुमण्डलमें फैलकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त हो जाते हैं और सम्पूर्ण नभोमण्डल, तेजोमण्डल, पृथ्वीमण्डल एवं सम्पूर्ण जलराशिपर अपना प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार प्राणीके प्रत्येक कर्मका प्रभाव कर्तातक ही सीमित न रहकर समस्त ब्रह्माण्डपर पड़ता है। किंतु किस प्राणीके किस कर्मका प्रभाव सृष्टिके अनुकूल और किस कर्मका प्रभाव सृष्टिके प्रतिकूल पड़ता है—

इसका पूर्णरूपसे निर्णय करना मानवी बुद्धिके परे है। मनुष्य अल्पज्ञ है, वह समस्त सृष्टिसे परिचित नहीं है और अनन्त प्राणियोंकी अनन्त कर्मराशिसे भी परिचित नहीं है; इसलिये किस प्राणीके किस कर्मका प्रभाव प्रकृतिके किस स्तरमें कैसा पड़ता है, यह निर्णय करना मनुष्यकी सामर्थ्यके बाहर है। इसका निर्णय वही कर सकता है, जो सर्वज्ञ हो। जिसने सृष्टिकी रचना की है, जिसने समस्त प्राणियोंको बनाया है और जिसने समस्त कर्मराशि एवं कर्मफल-राशिका सृजन किया है, वही सर्वज्ञ परमात्मा कर्मके सूक्ष्म शुभाशुभ प्रभावोंका पूर्णतया प्रकाश कर सकता है। इसलिये परमात्माके अंगरूप निःश्वासभूत सनातन वेद जिन कर्मोंको शुभ या उपादेय प्रतिपादन करते हैं, उनका प्रभाव पूर्णतया सृष्टि-पोषक, मंगलमय एवं सर्वकल्याणकारी होता है और जिन कर्मोंको वेद अशुभ या हेय निर्देश करते हैं, उनका प्रभाव सृष्टिके लिये अवश्य ही अमंगलकारी होता है—इसमें सन्देह नहीं। इससे स्पष्ट है कि वेद-शास्त्रसम्मत समस्त शुभकर्म कर्ताके लिये सर्वविध कल्याणप्रद फलोत्पादन करते हुए समस्त ब्रह्माण्डपर सृष्टिपोषक प्रभाव डालते हैं; इसीलिये हिंदू-संस्कृति सर्वकल्याणकारिणी मानी गयी है।

हिंदू-संस्कृतिके विभिन्न अंगोंपर दृष्टिपात करनेसे पद-पदपर उसकी महती विशेषताएँ प्रत्यक्ष होती हैं। हिंदू-संस्कृतिकी वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थाकी उत्कृष्टता, सर्वांगीण पूर्णता एवं उपादेयताके प्रतिपादनमें अनन्त-रहस्यमय कोटिशः विशाल ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। यह चार वर्णों और चार आश्रमोंकी प्राकृतिक व्यवस्था मनुष्य-योनिमें जीवकी क्रमोन्नतिका सर्वोत्कृष्ट साधन है। इसके अनुसार चलकर हिंदू व्यक्तिगत एवं सामाजिक रूपमें मानव-विकासकी पूर्णताके उत्कृष्ट शिखरपर समासीन होनेकी सामर्थ्य प्राप्त करता है। मनुष्यको अल्प शक्ति और सीमित सामर्थ्यसे अनन्त शक्ति और अपरिमित सामर्थ्यकी ओर अथवा जीवभावसे ईशभाव या ब्रह्मभावकी ओर स्वाभाविकरूपसे अग्रसर करनेवाली इस वर्णाश्रम-व्यवस्था या हिंदू-संस्कृतिकी प्रत्येक बात रहस्यपूर्ण विशेषतामय है।

ब्रह्मचर्याश्रममें गुरु-शिष्यके व्यवहारकी उत्कृष्टता और ब्रह्मचर्यव्रत-पालनद्वारा ऊर्ध्वरेतस्त्वकी प्राप्ति हिंदू-संस्कृतिकी अपनी विशेषताएँ हैं। गृहस्थाश्रममें पति-पत्नी, पिता-पुत्र, लघु-ज्येष्ठ भ्राता आदिके परस्पर आदर्श व्यवहार; पत्नीके लिये पातिव्रत्य धर्म, सतीत्वकी श्रेष्ठता और पतिके लिये पत्नीका साक्षात् गृहलक्ष्मी-स्वरूप तथा पुत्रके लिये '**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव**' का उपदेश आदि ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण हिंदू-संस्कृति अन्य संस्कृतियोंके समक्ष सदा ही उज्ज्वल-मुख और उन्नतभाल रही है।

गृहस्थाश्रमके पश्चात् तृतीय अवस्थामें अधिकारानुसार वानप्रस्थ-आश्रम और चतुर्थ अवस्थामें संन्यास-आश्रमकी व्यवस्था है। गृहस्थाश्रममें नाना प्रकारके व्यवहार सम्पादन करनेमें मनुष्यकी बुद्धि प्रायः सांसारिक अधिक हो जाती है; इसलिये जगत्प्रपञ्चसे हटकर त्याग, वैराग्य और तपके सहारे हिंदू अपने बुद्धि-कल्मषको क्रमशः हटाकर अपना मन परमानन्दमय आत्मतत्त्व या ईश्वरतत्त्वमें नियोजित करता है। इस प्रकार आश्रम-व्यवस्था प्रवृत्ति-धर्म और निवृत्ति-धर्म दोनोंसे पूर्ण है। ब्रह्मचर्याश्रममें परमार्थ और व्यवहारका परिचय कराकर प्रवृत्ति सिखलायी जाती है; गृहस्थाश्रममें प्रवृत्ति करायी जाती है; वानप्रस्थाश्रममें निवृत्ति सिखलायी जाती है और संन्यास-आश्रममें निवृत्ति करायी जाती है। इस प्रकार हिंदू-संस्कृतिमें जीवनके व्यावहारिक और पारमार्थिक सामंजस्यकी पूर्ण शक्ति है, जिसके कारण हिंदू लौकिक और पारलौकिक दोनों सुख-शान्ति प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

हिंदुओंकी उपासना-शैलीकी पूर्णता हिंदू-संस्कृतिकी बहुत बड़ी विशेषता है। अधिकारानुसार मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग एवं भक्तिकी प्रक्रियाएँ मनुष्यको शक्तिपुंजका आगार (सिद्धिसम्पन्न) बनाकर उसे अनन्तानन्दके साम्राज्य-सिंहासनपर समासीन करती हैं। इसके अतिरिक्त निरन्तर जगत्कार्यमें लगे हुए लोगोंके लिये हिंदू-संस्कृति निष्कामकर्म-योगका उपदेश देकर उनके सम्पूर्ण कार्यक्षेत्रको ही उपासनाका साधन बना देती है और उनसे भगवदर्पणबुद्धिपूर्वक कार्य कराते हुए उनके लिये लौकिक, पारलौकिक सर्वोन्नतिका मार्ग प्रशस्त करती है। इसके अतिरिक्त यज्ञ, महायज्ञों एवं अनुष्ठानोंद्वारा उपासना करके स्थूल जगत्के नियामक सूक्ष्म दैवी जगत्के पदाधिकारी विभिन्न देवी-देवताओंको प्रसन्न करके हिंदू अपने वैयक्तिक, सामाजिक एवं

विश्वकल्याणके लिये दैवी बल प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। यह हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है।

सामाजिक सर्वोन्नतिके लिये हिंदू-संस्कृतिमें प्राकृतिक-गुणानुसारी कर्मोंके आधारपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंकी व्यवस्था है। इसके मूलमें हिंदू-संस्कृतिकी बहुत बड़ी विशेषता, जन्मान्तरवादकी मान्यता है। इस जन्ममें जीव प्रधानरूपसे जो कार्य करता है, उसके संस्कार जीवके चित्तमें अंकित हो जाते हैं। उन्हीं संस्कारोंको लेकर वह अग्रिम जन्ममें उन्हीं संस्कारोंके अनुरूप शरीर धारण करता है और उन संस्कारोंके अनुसार ही उसकी आसक्ति या कर्मोंमें स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसीलिये मीमांसाका सिद्धान्त है—**'कर्मबीजं संस्कारः'** और **'तन्निमित्ता सृष्टिः।'** अर्थात् संस्कार ही कर्मका बीज है और वही सृष्टिका कारण है। जीव सर्वथा ही संस्कारोंका दास है। हिंदू-संस्कृतिमें जीवके संस्कारोंका निर्णय उसके जन्मके आधारपर किया जाता है। किसी जाति या वर्णमें किसी जीवका जन्म ही इस बातका प्रमाण है कि उसके संस्कार उसी वर्ण या जातिके संस्कारोंके अनुरूप हैं। इसलिये उसके पूर्व-संस्कारोंका निर्णय जन्मके आधारपर करके अधिकारानुसार गर्भाधानादि संस्कारोंके द्वारा उसके प्राक्तन संस्कारोंका मलापनयन (शोधन) करके, व्रतबन्धादि संस्कारोंद्वारा उसमें विशिष्ट संस्कारोंका अतिशयाधान करते हुए उसे उसी जातिके कर्मोंमें नियोजितकर हिंदू-संस्कृति क्रमोन्नतिके राजमार्गपर आगे बढ़ाती है। यही जन्मना वर्ण-व्यवस्थाका रहस्य है।

यदि किसी मनुष्यको उसके स्वाभाविक संस्कारोंसे भिन्न प्रकृतिवाले कर्मोंमें लगाया जाय तो उसे समझने और करनेमें उसको विशेष मानसिक और शारीरिक परिश्रम करना पड़ेगा और इस परिश्रममें उसकी शक्तिका व्यर्थ ह्रास होगा। उसकी मानसिक शक्ति उसके स्वाभाविक संस्कारोंसे भिन्न नवीन कार्योंको सीखनेमें लग जानेके कारण उसका आध्यात्मिक पतन भी होता जायगा। इस प्रकार शक्तिके ह्राससे समाजको बचानेके लिये और अपने प्राकृत संस्कारोंके अनुरूप जगत्कार्यमें लगे रहकर आध्यात्मिक मार्गमें भी सब लोगोंको आगे बढ़नेका अवकाश रहे—यही उद्देश्य वर्णाश्रम-शृंखलाके मूलमें निहित है।

जितने प्रकारके कार्य समाजमें होते हैं, वे सब करने ही पड़ेंगे—चाहे जो करे। एक नहीं करेगा तो दूसरेको वही करना होगा। इसलिये यदि सब मनुष्य अपने-अपने प्राकृत संस्कारोंके अनुरूप कर्म करें तो स्वाभाविकरूपसे सरलतासे ही सब कार्य होते जायँ और मनुष्यके प्राचीन-नवीन संस्कारोंमें संघर्ष बचा रहे और कर्म-सांकर्य न फैले। संस्कारोंके संघर्षसे अन्तःकरण दुर्बल होता है, जिसके कारण मनुष्यका आधिदैविक और आध्यात्मिक पतन होता है और कर्म-सांकर्यसे कर्मकी शक्ति क्षीण होती है (अर्थात् कर्म बलशाली नहीं होते), जो आधिभौतिक शक्तिके ह्रासका द्योतक है। इस प्रकार समाजके मनुष्योंको उनके प्राक्तन संस्कारोंसे भिन्न प्रकृतिवाले कर्मोंमें लगानेके कारण व्यक्ति तथा समाजकी आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक शक्तियोंका ह्रास होता जाता है। इस प्रकार शक्तिका सतत ह्रास ही ग्रीस, रोमन आदि जातियोंके ऐकान्तिक पतनका कारण हुआ और इस प्रकारके ह्राससे हिंदू-जातिको बचाये रखनेके लिये और उसे सतत शक्तिशाली तथा उन्नतिशील बनाये रखनेके लक्ष्यसे हिंदू-संस्कृतिमें जीवके प्राकृतिक संस्कारानुसारी कर्मोंका निश्चय करनेके लिये जन्मना चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाकी स्थापना है और यही हिंदू-जातिके चिरजीवी रहनेका एक प्रधान कारण है। प्रत्यक्ष भी अनुभव किया जाता है कि क्षत्रियका बालक जन्मसे ही वीर प्रकृतिका, वैश्यका बालक स्वाभाविक ही व्यवसायी दिमागका और शूद्रका बालक अपने गृहके कला-कौशलादिमें स्वभावसे ही रुचि रखनेवाला होता है और उसमें शीघ्र ही दक्ष हो जाता है। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्थामें सामाजिक कार्योंका स्वाभाविक सन्तुलन बना रहता है और अपने वर्गके कार्योंमें प्रत्येक पीढ़ी उन्नति करती जाती है। इस प्रकार समाजके प्रत्येक वर्गके लिये उन्नतिका स्वाभाविक मार्ग जन्मना वर्ण-व्यवस्थासे प्रशस्त होता है। प्रत्येक वर्ण या जातिके लिये निर्धारित शास्त्रोक्त आचार-विचारोंका विस्तारसे विश्लेषण करके और उनके सूक्ष्म रहस्योंका उद्घाटन करके यह स्पष्ट किया जा सकता है कि वर्ण-व्यवस्था सबके लिये समानरूपसे अभ्युन्नतिकारी है और प्रत्येक वर्गको सम्पूर्ण समाजकी उन्नतिके लिये सन्नद्ध रखती है।

हिंदू-संस्कृतिकी यह विशेषता है कि आधिभौतिक क्षेत्रमें (अर्थात् व्यवहारमें) वर्ण एवं आश्रम-धर्मानुसारी कार्योंकी ही मान्यता होते हुए भी किसी भी वर्णका कोई भी मनुष्य भगवान्‌की प्रगाढ़ रागात्मिका भक्ति करके सर्वत्र अपने इष्टका दर्शन करता हुआ आध्यात्मिक विकासकी उच्चातिउच्च अवस्था प्राप्त कर सकता है। यह अवश्य है कि जबतक इष्टका पूर्ण बोध नहीं हो जाता और जबतक सर्वत्र परमात्मदर्शनके द्वारा वृत्ति-भगवत्-तत्त्वमें लीन नहीं हो जाती, तबतक वर्णाश्रम-धर्मका अवलम्बन नहीं छोड़ना चाहिये। पूर्ण बोध हुए बिना अपने वर्णाश्रमानुसारी कर्मोंको छोड़ना अपने उन्नतिके प्रशस्त राजमार्गसे भ्रष्ट होना है। हिंदू-संस्कृतिकी यह विशेषता है कि वह अपने अनुयायियोंको क्रमोन्नतिके सांस्कृतिक राजमार्गपर चलाती हुई उनके लिये पूर्णोन्नतिका द्वार सदा खोले रखती है।

वर्ण या जातिके अपरिवर्तनका सिद्धान्त हिंदू-संस्कृतिकी बहुत बड़ी विशेषता है। हिंदू-संस्कृति वर्णसंकरतामें समाज एवं राष्ट्रका विनाश देखती है। हिंदू-संस्कृतिका वैदिक इतिहास बतलाता है कि (४,३२,००० वर्षका एक कलियुग होता है, इससे द्विगुण, त्रिगुण, चतुर्गुण—क्रमशः द्वापर, त्रेता और सत्ययुग होते हैं। चारों युग मिलाकर एक महायुग कहलाता है और ऐसे ७१ महायुगोंका एक मन्वन्तर होता है; एक मन्वन्तरमें कालप्रमापक मनु और देवराज इन्द्रादि बड़े-बड़े देवपदाधिकारी बदल जाते हैं और उनके स्थानपर नये पदाधिकारी आ जाते हैं; ऐसे १४ मन्वन्तरोंका एक कल्प होता है) वर्तमान कल्पके प्रारम्भमें वैवस्वत मनु नामक मनु और भृगु, अंगिरा आदि ऋषिगण उत्पन्न हुए थे और उनके द्वारा गोत्र तथा प्रवरोंकी सृष्टि हुई थी। उस समयसे लेकर अबतक हिंदू-जातिमें गोत्र और प्रवरोंका यथाक्रम अखण्ड सम्बन्ध चला आ रहा है। इस प्रकार गोत्र-प्रवरके सम्बन्धसे हिंदू-संस्कृतिमें जन्मना जातिके आधारपर विवाहादि सम्बन्धद्वारा रज-वीर्यकी शुद्धि ही हिंदू-जातिके चिरजीवी होनेका प्रधान कारण है।

शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पृश्यास्पृश्य-विवेक हिंदू-संस्कृतिकी बहुत बड़ी विशेषता है। आत्मा अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोषसे आवृत है; इसलिये उसकी अभिव्यक्तिके लिये इन समस्त कोषोंकी पवित्रता सम्पादन करनेके लक्ष्यसे अतिगम्भीर रहस्योंसे परिपूर्ण शुद्धाशुद्ध एवं स्पृश्यास्पृश्य-विवेककी मान्यता है।

जीवके आवागमन-चक्र और जन्मान्तरवादपर विश्वास भी हिंदू-संस्कृतिकी विशेषता है। इसीके आधारपर परलोकगामी जीवोंका पथ सरल रहे और उसे कष्ट न हो, इसके लिये नित्य-नैमित्तिक श्राद्ध-तर्पणादि कर्मकाण्डकी सुव्यवस्थाके लक्ष्यसे ही हिंदू-संस्कृतिमें दायभागकी विशेष व्यवस्था है और इसी लक्ष्यसे पवित्र धर्मनिष्ठ पुत्रकी प्राप्ति ही हिंदू-संस्कृतिमें विवाह-संस्कारका पवित्र उद्देश्य है।

वृद्ध-पूजा हिंदू-संस्कृतिकी बहुत बड़ी विशेषता है। यहाँका सिद्धान्त है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

नारी-जातिके महान् गौरवकी मान्यता हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है। नारीको शक्तिका प्रतीक मानकर उसकी पूजा करना हिंदू-जातिने ही स्वीकर किया है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यह हिंदू-संस्कृतिका ही सिद्धान्त है।

हिंदू-संस्कृतिमें घृणाके लिये स्थान नहीं है। यहाँ तो—

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।

—का सिद्धान्त माना जाता है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का सिद्धान्त हिंदू-संस्कृतिका ही उदात्त सिद्धान्त है। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** की दृष्टि हिंदू-संस्कृतिका उच्च आदर्श है। अतिथिसत्कारद्वारा समागत प्राणीको ईश्वर-तुल्य समझकर उसे यथासाध्य संतुष्ट करना हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है। **'मातृवत् परदारेषु'** और **'परद्रव्येषु लोष्टवत्'** की दृष्टि रखनेका आदर्श हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

—के सिद्धान्तको हिंदू-संस्कृतिने ही आदर्श माना है।

संस्कारकी अत्यधिक मान्यता हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है। हिंदू-संस्कृतिमें संस्कारोंका इतना महत्त्व है कि षोडश, अष्टचत्वारिंशत् आदि संस्कारोंके

सम्बन्धमें प्रयुक्त होनेवाला 'संस्कार' शब्द 'संस्कृति' का प्रायः समानार्थी माना जाता है। जो विभिन्न प्रकारकी मिट्टीको विधानानुसार संस्कारोंद्वारा शोधकर उससे लोहा, ताँबा, सोना आदि बहुमूल्य धातुएँ प्राप्त की जाती हैं, उसी प्रकार हिंदू-जाति अपने विशिष्ट संस्कारोंद्वारा मनुष्यका मलापनयन करके उसमें दिव्य ब्राह्म, क्षात्रादि तेजोंका अतिशयाधान करके उन्हें दैवी शक्तियोंके अवतरणानुकूल बनाती है। षोडश, अष्टचत्वारिंशत् आदि संस्कार हिंदू-संस्कृतिकी महती विशेषताएँ हैं।

हिंदू-संस्कृति सर्वांशमें विशेषतामय है। उसकी अनन्त विशेषताएँ और उनके गम्भीर रहस्योंका उद्‌घाटन करनेमें अगणित विशाल ग्रन्थोंकी सामग्री प्रयुक्त होगी। यहाँ इनका केवल सूक्ष्मरूपसे दिग्दर्शन ही किया गया है। यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि हिंदू-संस्कृतिकी समस्त विशेषताएँ और उनके लौकिक-पारलौकिक रहस्य लिखकर पूर्णतया व्यक्त नहीं किये जा सकते; क्योंकि हिंदू-संस्कृतिके क्षेत्रकी सीमा मानव-विकासकी पूर्णताकी उस सीमासे सम्बद्ध है, जिसे भगवती श्रुति—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

—कहकर मन, वाणीकी सीमाके परे निर्देश करती है। संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि चतुष्पादपूर्ण एवं चतुर्वर्गफलप्रद अपनी महती विशेषताओंके कारण ही हिंदू-संस्कृति सर्वकल्याणकारिणी है, अमर है और विश्वकी इतर संस्कृतियोंकी जननी है।

हिंदू-जातिका कर्तव्य

प्रत्येक जातिका स्वाभाविक कर्तव्य है कि वह अपनी लौकिक, पारलौकिक उन्नतिका मूल न छोड़े। हिंदू-जातिका आधार और उसकी लौकिक, पारलौकिक उन्नतिका मूल वर्णाश्रमधर्मानुसारी आचार-विचार (या हिंदू-संस्कृति) है, इसपर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। हिंदुओंके लिये यह सर्वोन्नतिका राजमार्ग है। अपने जीवनके राजमार्गपर दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर उन्नति करते जाना ही बुद्धिमत्ता है।

इतर संस्कृतियाँ हमारी चतुष्पादपूर्ण चतुर्वर्गफलप्रद हिंदू-संस्कृतिकी शाखा-संस्कृतियाँ, राजमार्गसे फूटी हुई पगडंडियोंके समान हैं। पगडंडियोंका अवलम्बन करनेवाले कुछ दूर चलकर जहाँ पगडंडी समाप्त होती है, वहीं, भटकते रह जाते हैं; राजमार्गके लिये कभी भटकनेका अवसर नहीं आता। उसका मार्ग प्रशस्त है और निश्चित है कि वह अपने लक्ष्यकी प्राप्ति करेगा। अपने दीनता-दरिद्रता-अल्पज्ञतामय जीवत्वको मिटाकर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् अनन्तानन्दमय परमात्माकी प्राप्ति करना ही जीवनका परम लक्ष्य है। जीवनके इस महान् लक्ष्यकी प्राप्ति हिंदू-संस्कृतिके प्रशस्त राजमार्ग—वर्णाश्रमधर्मानुसारी आचार-विचारके द्वारा ही हो सकती है। इसलिये हिंदू-जातिका परम कर्तव्य है कि इतर क्षुद्र संस्कृतियोंके ऊपरी चाकचिक्यसे विमोहित न होकर दृढ़तापूर्वक अपनी संस्कृतिके सहारे अपने महान् लक्ष्यकी प्राप्ति करे। अन्य संस्कृतियोंको हमारे सांस्कृतिक राजमार्गकी पगडंडियाँ इसलिये कहा गया है कि उनका क्षेत्र मनुष्यके एक जन्मतक ही सीमित रहता है। हिंदू-संस्कृतिका क्षेत्र मनुष्यके अनन्त पिछले और पूर्णब्रह्मकी प्राप्तितकके अग्रिम अनिश्चितसंख्याक जन्मोंसे सम्बन्ध रखता है।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

—यह महान् सिद्धान्त जिस संस्कृतिका हो, उसके अनुयायी यदि उन संस्कृतियोंसे प्रभावित हों, जो अपने अनुयायियोंको मृत्युके बाद 'कब्र' में सुला देती हैं, तो उनका दुर्भाग्य ही है; और क्या कहा जा सकता है।

हिंदुओ! तुम्हारा सांस्कृतिक कोष अक्षय्य है, तुम्हें टुटपूँजियोंका द्वार निहारनेकी आवश्यकता नहीं है। अपने घरका अटूट खजाना काममें लो। अपने गृहके अनन्त भण्डारकी अवहेलना कर जब तुम दूसरोंका नेत्र निहारते हो, तब तुम्हारे अन्तःकरणकी गरीबी देखकर हमें कष्ट होता है। रईसकी सन्तानको अपना गौरव और मर्यादा नष्ट नहीं करनी चाहिये। तुम्हारी संस्कृति विश्वकी समस्त संस्कृतियोंमें मूर्धन्य है। कोई ऐसी लौकिक-पारलौकिक वस्तु नहीं है, जो तुम्हारे लिये अप्राप्य हो। किंतु जब तुम बहिर्मुख होकर खोंचेवालोंकी टेरमें मुग्ध हो रहे हो तो अपने गृहके पवित्र भण्डारका रसास्वादन कैसे कर सकते हो। जैसे तुमने वर्णाश्रम-धर्मका यथासाध्य दृढ़तापूर्वक पालन करते हुए अपनी सर्वोन्नतिके सांस्कृतिक राजमार्गको आजतक सुरक्षित

रखा है और अनेकों बाह्य संस्कृतियोंके भीषण आक्रमणोंको निष्फल बनाया है, उसी प्रकार दृढ़ता बनाये रखनेका आज भी समय है। अपने वर्ण और आश्रमधर्मोंका पालन करते चलो और उसके विरुद्ध प्रचारोंको अपनी सर्वोन्नतिके राजमार्गमें उड़कर आये हुए कण्टक समझकर उनसे बचते चलो।

वर्तमान समयमें भी हिंदुओंका वही कर्तव्य है, जो सदासे उनका कर्तव्य रहा है। प्रत्येक हिंदू अपने वर्णाश्रमके अनुकूल आचार-विचार, खान-पान, वेषभूषा आदि रखे और अधिकारानुसार ईश्वरोपासनामें अवश्य ही कुछ समय लगाये। वर्णाश्रमधर्मविरोधी, हिंदू-संस्कृतिके घातक, सुधारवाद-नामधारी वर्तमान भ्रष्टाचारसे अपने समाजको बचानेके लिये सुदृढ़ रूपमें सुसंघटित होना और इस प्रकारके असत्प्रचारोंका वेग कम करनेके लिये यथासाध्य उनका खण्डन करना भी वर्तमान समयमें हिंदुओंका कर्तव्य है। शासनसत्ताका प्रभाव जीवनपर पड़ता है; इसलिये अपने देशमें हिंदू-संस्कृतिपोषक, वर्णाश्रमधर्मानुकूल शासन-व्यवस्था बनानेका प्रयत्न करना भी हिंदू-जातिका कर्तव्य है। आज भारतमें जनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था है; इसलिये हिंदू-समाजको अवसर है और उसका इस समय परम कर्तव्य है कि अपनी संस्कृतिके अनुकूल शासनप्रणाली बनाकर अपनी लौकिक-पारलौकिक उन्नतिका मार्ग निष्कण्टक बना ले।

स्वतन्त्र भारतके शासनाधिकारियोंको चेतावनी

हिंदुस्थानकी राजनैतिक स्वतन्त्रताका तभी कोई अर्थ हो सकता है, जब यहाँ हिंदू-जीवनके अनुकूल शासन-व्यवस्था हो। स्वतन्त्र भारतके शासनाधिकारियोंका यह कर्तव्य है कि विदेशियोंने हिंदू-जीवनकी सर्वोन्नतिके मार्ग हिंदू-संस्कृतिको विनष्ट करनेके लिये धर्महीन शिक्षा आदिके प्रसारद्वारा जो गम्भीर राजनैतिक षड्यन्त्र रचे थे, उन्हें निर्मूल कर भारतमें विशुद्ध भारतीय संस्कृतिके अनुकूल शासन-व्यवस्था बनायें। हिंदू-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है; क्योंकि भारत या हिंदुस्थान, जैसा कि उसके नामसे ही प्रत्यक्ष है, हिंदुओंका ही देश है।

अन्य संस्कृतियोंके अनुयायी, अन्य देशोंमें हिंदुओंकी भाँति, अतिथिरूपमें यहाँ आकर रहें तो कोई हानि नहीं। किंतु स्वतन्त्र भारतके शासनाधिकारियोंका यह कर्तव्य है कि वे इस बातपर ध्यान रखें कि हिंदुओंकी सर्वोन्नतिका सांस्कृतिक राजमार्ग निष्कण्टक बना रहे; क्योंकि किसी जातिकी लौकिक-पारलौकिक सर्वोन्नतिका मार्ग उसकी संस्कृति ही होती है—इसपर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। इसलिये यदि हिंदुस्थानकी राजनैतिक स्वतन्त्रताको सार्थक बनाना है और हिंदुस्थानकी उन्नति करनी है तो हिंदू-जीवनप्रणाली, हिंदू-संस्कृति या वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थाके अनुकूल शासन-व्यवस्था होनी अत्यावश्यक है। स्वतन्त्र हिंदुस्थानमें भी यदि हिंदू-संस्कृतिके अनुरूप शासन-व्यवस्था न हुई तो हिंदुस्थानकी राजनैतिक स्वतन्त्रताका अर्थ ही क्या और उसका मूल्य ही कितना रह जाता है।

हिंदू-संस्कृति या वर्णाश्रम-धर्मव्यवस्थाके अनुकूल शासन-व्यवस्था होनेका यही तात्पर्य है कि राजकीय नियम ऐसे हों कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमोंमें और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्णोंमें हिंदुओंको स्वधर्मपालन करनेमें कोई कानूनी अड़चन न पड़े।

वर्तमान राजनैतिक नेतृवृन्दको समझना चाहिये कि पृथ्वीके अन्य देशों और अन्य जातियों तथा हमारी इस धर्मभूमि हिंदुस्थान और हिंदू-जातिमें दिन-रात जैसा प्रबल अन्तर है। जिन-जिन विशेषताओंके कारण हिंदू-जाति करोड़ों वर्षोंसे अबतक जीवित है और उनके मूलमें जो संस्कृति विद्यमान है, उसको भली प्रकार समझकर तदनुकूल शासन-प्रणाली प्रयुक्त करनेसे ही हिंदुस्थान और हिंदू-जातिका उत्कर्ष होगा और सरकार भी दीर्घकालतक स्थायी रहेगी और सारे जगत्‌में उसका सम्मान होगा।

वर्तमान राजनैतिक नेतागण यदि किसी कारणसे हिंदू-संस्कृतिपोषक शासन-व्यवस्था बनानेमें असमर्थ हों तो उनका कम-से-कम इतना तो अवश्य ही कर्तव्य है कि शासन-प्रणालीको हिंदू-संस्कृतिके प्रतिकूल न होने दें। हिंदू-संस्कृतिघातक नये-नये कानून बनाकर वे स्वयं अपने चरणपर कुठाराघात कर रहे हैं। उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि हिंदुस्थानमें कथमपि यह सम्भव नहीं है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णोंके भेदको मिटाकर समानताके आधारपर वर्गहीन, जातिहीन समाजका निर्माण किया जा सके। इतिहास साक्षी है कि

बड़े-बड़े दूरदर्शी बौद्ध सम्राट् अशोक, कनिष्क आदिके बाद जब अदूरदर्शी परवर्त्ती बौद्ध राजाओंने समाजमें समानता फैलानेका प्रयत्न किया, तब उसका फल उलटा हुआ। बौद्ध-साम्राज्य नष्ट हो गया और बौद्ध शासकगण भारतसे भगा दिये गये। अतः स्वतन्त्र भारतके शासनाधिकारियोंको भारतीय इतिहाससे शिक्षा लेकर दूरदर्शितासे काम लेना चाहिये।

चतुष्पादपूर्ण वर्णाश्रम-व्यवस्थाके सुदृढ़ आधारपर सुप्रतिष्ठित एवं दैवी सूक्ष्म जगत्से सम्बद्ध हिंदू-संस्कृति अपनी रक्षाके लिये किसी शासन-सत्ताके पोषणकी अपेक्षा नहीं रखती। शत्रुओंसे मोर्चा लेनेके लिये उसका अपना बल इतना है कि अनादि कालसे मनुष्योंकी निम्नगामिनी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंका सतत संघर्ष और सहस्रों वर्षोंतक विरोधी संस्कृतियोंके भीषण आक्रमण तथा प्रतिकूल शासन-सत्ताओंके आन्तरिक और बाह्य प्रबल षड्यन्त्र भी उसे नष्ट नहीं कर सके। इस प्रकार सर्वसामर्थ्यवान् होते हुए भी हिंदू-संस्कृति अपने स्वतन्त्र हिंदुस्थानकी शासन-सत्तासे कम-से-कम इतनी आशा तो अवश्य ही रखती है कि वह विदेशियोंकी भाँति उसके स्वरूपपर आक्रमण न करेगी।

स्वतन्त्र भारतके वर्तमान शासनाधिकारी यह निश्चय रखें कि वे अपनी अदूरदर्शिताके कारण भारतीय संस्कृतिके विरुद्ध राजकीय नियम बनाकर वर्णाश्रम-व्यवस्थाको शिथिल करनेका प्रयत्न कर सकते हैं, पर उसकी महती उपादेयता और सर्वकल्याणकारितापर पानी नहीं डाला जा सकता। आज शासनाधिकारीगण राजकीय कानूनोंके बलपर भगवान् शंकर, विष्णु आदि देवताओंके पवित्र मन्दिरोंमें अन्त्यजों और वर्णबाह्योंका प्रवेश कराकर मन्दिरोंको भ्रष्ट कर सकते हैं; किंतु क्या वे भगवान शंकर और विष्णुके प्रसन्न होनेके दैवी विधानोंमें परिवर्तन करके देवताओंके स्वभावको बदल सकनेकी भी सामर्थ्य रखते हैं। शंकर और विष्णुको प्रसन्न करनेका जो उनके स्वभावके अनुकूल सनातन विधान है, उसीके द्वारा वे प्रसन्न हो सकते हैं। भूतलकी समर्थ शासन-सत्ताके कोटिशः कठोर राजकीय नियम भी उन नियमोंको बदल न सकेंगे। क्या गवर्नरके गृहमें प्रवेश कर लेनेमात्रसे ही कोई उनका सम्बन्धी या कृपापात्र माना जा सकता है? अनधिकारीके लिये इस प्रकारकी चेष्टा अज्ञानमूलक या भ्रष्टाचारप्रवर्तक ही मानी जा सकती है।

गवर्नरके गृहमें बलपूर्वक घुस जाना कठिन नहीं है; पर उसके परिणाममें गवर्नरके अन्तःकरणमें उत्पन्न हुए क्षोभके कारण जो राजकीय दण्ड सहन करना पड़ेगा, क्या उससे बचनेका भी कोई उपाय है? जो अपराधी है, उसे दण्ड मिलना स्वाभाविक है। यदि गवर्नर दयावश उसे दण्ड नहीं देता तो शासन-सत्ताकी दृष्टिमें वह स्वयं भ्रष्टाचारको प्रोत्साहन देनेवाला अपराधी माना जायगा। इसलिये उसे दण्ड देना ही पड़ता है। जिस प्रकार शासन-सत्ताकी कृपा प्राप्त करनेके लिये उचित रीतिसे राजकीय नियमोंका पालन करते हुए राज्यपदाधिकारियोंको प्रसन्न करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जगत्संचालिका सूक्ष्म दैवी सत्ताकी कृपा प्राप्त करनेके लिये दैवी राज्यपदाधिकारी विभिन्न देवी-देवताओंको प्रसन्न करनेके लक्ष्यसे उनके अनुकूल नियमोंका पालन करना आवश्यक होता है। विभिन्न देवी-देवताओंकी आराधनाके विधान शास्त्रोंमें इसीलिये कहे गये हैं कि उनका स्वभाव समझकर उनके अनुकूल उपासना करके मनुष्य उनकी प्रसन्नता प्राप्त करके अपनी उन्नतिका मार्ग प्रशस्त कर सके और ऐसे कार्य न करे, जिससे उनकी अप्रसन्नता होती है।

वेद-शास्त्रका अनुशासन है कि अन्त्यज आदि जातियोंके प्रवेशसे वैदिक मन्दिर दूषित हो जाते हैं, उनकी देव-प्रतिमाओंमें देव-कलाकी हानि होती है और इन देवत्वविहीन प्रतिमाओंमें भूत-प्रेत आदि आसुरी शक्तियोंका वास हो जाता है और इन भूत-प्रेतनिवासित प्रतिमाओंके पूजनसे आसुरी शक्तियाँ पुष्ट होती हैं और कलह, क्रोध, द्वेष आदि आसुरी भावोंकी वृद्धि होती है तथा बीमारी, अजारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, काल, भूकम्प आदिका प्रकोप होकर राजा-प्रजाका क्षय होता है। क्या किसी शासन-सत्ताका बल है कि इस दैवी विधानको बदल सके?

यह हो सकता है कि हिंदू-संस्कृतिके अभिमानी सत्प्रचारकोंको शासन-सत्ताके बलपर जेलोंमें बंद करके रखा जाय और शासनाधिकारी स्वच्छन्द रूपसे हिन्दू-संस्कृति, हिंदू-धर्म और भारतकी प्राचीन परम्पराओंके विरुद्ध समानताके नामपर मन्दिर आदि पवित्र स्थानोंमें

और सर्वत्र भ्रष्टाचार फैलायें; किंतु क्या इसके परिणाममें हुए दैवी प्रकोपको भी कोई रोक सकेगा? रावण भारतीय था, ब्राह्मण था, वेद-शास्त्रका ज्ञाता विद्वान् था, बलशाली था और भगवान् शंकरका कृपापात्र भक्त था; किंतु जब उसने हिंदू-संस्कृतिपर प्रहार किया, गो-ब्राह्मणोंको सताया, उनके धर्ममें हस्तक्षेप किया, महर्षियोंके दैवी यज्ञानुष्ठानोंको भ्रष्ट किया, धार्मिकोंका आचार-विचार नष्ट किया, तब उसके परिणाममें हुए दैवी प्रकोपको क्या वह रोक सका? रावण स्वयं नष्ट हो गया, पर हिंदू-संस्कृतिको वह विनष्ट नहीं कर सका। इसलिये स्वतन्त्र भारतके शासनाधिकारियोंको हम सचेत कर देना चाहते हैं कि हिंदू-संस्कृति या वर्णाश्रम-व्यवस्था दैवी जगत्से सम्बद्ध है, इसलिये इसमें छेड़छाड़ करनेका परिणाम उनके लिये और देशके लिये अच्छा नहीं होगा। उन्हें निश्चय रखना चाहिये कि इस प्रकारके उनके व्यवहारसे दैवी प्रकोप निश्चित है, चाहे वह जिस रूपमें और जब प्रकट हो।

स्वतन्त्र भारत, भारतीय शासन-सत्ता और भारतीय प्रजाके सर्वविध कल्याणकी दृष्टिसे वर्तमान शासनाधिकारियोंको इस धर्मपीठसे संक्षेपमें हमारा यही सत्परामर्श है कि—

(१) स्वतन्त्र भारतकी शासनप्रणाली हिंदू-संस्कृतिके अनुकूल रामराज्य-जैसी हो। यदि ऐसा न हो सके तो शासननीति कम-से-कम ऐसी हो, जो हिंदू-संस्कृतिकी घातक न हो।

शासनाधिकारी यदि उपनिषद्को सर्वोच्च दर्शन मानते हैं और गीतापर गौरव रखते हैं तो उनके सिद्धान्तोंका सक्रिय रूप हिंदू-संस्कृति या वर्णाश्रम-धर्मव्यवस्था भी मान्य होनी चाहिये। अन्यथा गीता और उपनिषद्के गौरवगीत गानेका क्या मूल्य है। और—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

....

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

यह गीताका ही उपदेश है। इसके अतिरिक्त शासनाधिकारियोंको यदि गीता और उपनिषद्के सिद्धान्त मान्य न भी हों तो भी जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तकी रक्षाकी दृष्टिसे उन्हें भारतदेशके निवासी बहुसंख्यक हिंदुओंकी सांस्कृतिक वर्णाश्रम-धर्मव्यवस्थाका सम्मान ही करना चाहिये। उनके द्वारा हिंदू-संस्कृतिपर आघातके प्रयत्न उनके लिये लज्जाकी बात है।

(२) राजकीय कानूनोंद्वारा अन्त्यज आदिकोंको वैदिक मन्दिरोंमें प्रवेश कराकर देशमें दैवी प्रकोप न बढ़ाया जाय।

(३) राजकीय कानूनद्वारा गोवध यथाशीघ्र बंद कराकर देशमें बढ़ता हुआ दैवी प्रकोप रोका जाय।

(४) छुआछूतका भेद मिटाने और वर्गहीन समाजका निर्माण करनेके लक्ष्यसे हिंदू-संस्कृतिके अति महत्त्वपूर्ण अंग शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पृश्यास्पृश्य-विवेकको राजकीय कानूनोंद्वारा नष्टकर हिंदू-जातिको पतनोन्मुख बनानेका प्रयत्न न किया जाय।

(५) सगोत्र-विवाह, असवर्ण-विवाह, तलाकादि पापपूर्ण कुकृत्योंको कानूनी प्रोत्साहन देकर हिंदू-संस्कृतिकी रज-वीर्य-शुद्धिमूलक व्यवस्थाको भ्रष्ट करके देशमें वर्णसंकर-सृष्टिकी वृद्धिद्वारा राष्ट्रके सर्वनाशका बीज न बोया जाय।

(६) देशमें वर्गहीन, जातिहीन समाज-निर्माणके लक्ष्यसे हिंदू-संस्कृतिको शिथिल करनेके लिये कूटनीतिमय राजकीय षड्यंत्र रचकर अपने चरणोंपर कुठाराघात न किया जाय।

(७) प्रत्यक्ष रूपसे हिंदू-संस्कृति-घातक हिंदूकोड आदि बिलोंको समाप्त कर दिया जाय और भविष्यमें ऐसी कुत्सित योजनाओंको राजकीय प्रोत्साहन न दिया जाय। इसीमें राष्ट्रकी भलाई है।

हिंदू-संस्कृतिके रक्षक भगवान्

हिंदू-संस्कृतिका मूल आधार सनातन अपौरुषेय वेद जिनका अंगरूप निःश्वासभूत तत्त्व है, वे ही कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ सर्वशक्तिमान् भगवान् हिंदू-संस्कृतिके जनक हैं और वे ही सदा इसके रक्षक रहे हैं। जब-जब हिंदू-संस्कृतिके धारक, पोषक एवं संवर्धक सनातन वैदिक धर्मका ह्रास भारतखण्ड या हिंदुस्थानमें हुआ, तब-तब किसी-न-किसी रूपमें प्रकट होकर उन्होंने अपनी इस प्रतिज्ञाका पालन किया ही है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

राम-कृष्ण-नृसिंहादि अवतारोंका इतिहास किसीसे छिपा नहीं है। बौद्धकालमें हिंदू-संस्कृतिका ह्रास होनेपर शंकरावतार भाष्यकार भगवान् आदि-शंकराचार्यका प्रादुर्भाव प्रत्यक्ष ही है। इसलिये हिंदू-संस्कृतिके रक्षक स्वयं भगवान् हैं, यह निर्विवाद सिद्धान्त है। हिंदू-जाति अतीत कालसे इसका अनुभव करती आ रही है। अन्य संस्कृतियोंसे प्रभावित मस्तिष्कोंमें यह बात भले ही संगत प्रतीत न हो; किंतु हिंदुओंके लिये यह अनुभूत सत्य है।

इसलिये धार्मिकोंके प्रति इस धर्मपीठसे हमारा यही कथन है कि वर्तमान समयमें सनातनधर्म-विरुद्ध, हिंदू-संस्कृतिघातक प्रवाहको बढ़ते हुए देखकर निराश नहीं होना चाहिये। इस प्रकारकी आँधियाँ आया ही करती हैं। ऐसे झकोरे सनातनधर्मियोंने बहुत सहे हैं। यह प्रसन्नताकी बात है कि यह प्रवाह जिन लोगों (पाश्चात्यों)-के सम्पर्कसे आया है, उनकी आचार-विचारशैलीका प्रभाव देशमें अब क्रमशः शिथिल होता जा रहा है और राजनैतिक नेतृवृन्दको भी किसी अंशमें अपनी प्राचीन संस्कृतिका गौरव स्मरण होने लगा है। कुछ समयमें व्यवस्था सुधरनेकी आशा की जा सकती है; किंतु जब आँधी आये, तब सावधान हो जाना चाहिये। जो सावधान नहीं होता, वह प्रवाहमें उड़ जाता है और कहीं खाई-खंदकमें गिरकर नष्ट हो जाता है। इसलिये सावधान होकर अपने वर्ण और आश्रमका गौरव जाग्रत् रखकर यथासाध्य तदनुकूल व्यवहार सम्पादन करते हुए और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌का भजन, पूजन, चिन्तन करते हुए समयको बिताना चाहिये।

अपना कर्तव्य पालन करते चलो। परिस्थितियोंको देखकर भय खाने और व्यग्र होनेकी आवश्यकता नहीं है। परमात्मा सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और विश्वम्भर है। वही भारतीय संस्कृतिके प्राण—धर्मका संरक्षक है। उसने सदा इसकी रक्षा की है और आगे भी रक्षा करता हुआ अपने अनुयायियोंका सर्वविध कल्याण करेगा।

भगवान्‌के भक्तका लक्षण

न चलति निजवर्णधर्मतो यः सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे।
न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः सितमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम्॥

(विष्णुपु० ३।७।२०)

यमराज कहते हैं—जो पुरुष अपने वर्णधर्मसे विचलित नहीं होता, अपने सुहृद् और विपक्षियोंमें समान भाव रखता है, किसीका धन हरण नहीं करता, न किसी जीवको मारता ही है, उस अत्यन्त रागादिशून्य और निर्मलमन व्यक्तिको भगवान् विष्णुका भक्त जानो।

हिंदू-भारतकी स्तुति

(१)

ए हो देश भारत! हमारे तुम प्यारे देव, महिमा अपार, तीन लोकसे उपरि हो;
गोदमें तुम्हारी जन्म चाहते समोद सुर, तुम भवसिन्धुसे उतारनेको तरि हो।
काशीमें वृषध्वज, पुरीमें गरुडध्वज हो; शीश-पदतलमें भी धारे सुरसरि हो;
राका-से सुगौर-धाम, श्याम त्यों अमा-से तुम; जान पड़ता है नहीं, हर हो कि हरि हो॥

(२)

अमित-महिम हिमगिरिका मुकुट माथ, सागर पखारता चरण लहराता है;
हास काशमीर, हीर-हार नदियोंकी धार, पञ्चनद-रव पाञ्चजन्य-सा सुहाता है।
नव वनमालासे अलंकृत विशाल वक्ष, गौरव गदाका लिये विन्ध्यगिरि भाता है;
चक्र चित्रभानु, शक्र मस्तक झुकाता सदा, भारत अनूप विष्णुरूप छवि पाता है॥

(३)

शारद प्रदेश मुख, अवध-बिहार उर, दायाँ हाथ सिंध, बंग बायाँ हाथ प्यारा है;
गंगा-गोमतीने, गंडकीने, गौतमीने जिसे निज जलधार-हार देकर सँवारा है।
मध्यम प्रदेश नाभिदेश है सुहाता, कटि किङ्किणी समान नर्मदाकी अम्बुधारा है;
आन्ध्र औ द्रविड, महाराष्ट्र हैं चरण; विश्व-वन्दित अखण्ड यही भारत हमारा है॥

(४)

नव घन-मण्डलके भरित कमण्डलमें गङ्गवारि पावस तुम्हें ला नहलाती है;
शरद पिन्हाकर प्रफुल्ल पंकजोंके हार, चन्द्र-रश्मियोंके चारु चन्दन चढ़ाती है।
पूजती हिमानी हिमबिन्दु-मौक्तिकोंसे तुम्हें, शिशिर पदोंमें पत्र-पुष्प बरसाती है;
मधु ऋतु आती, मधुरसका लगाती भोग; तप्त ग्रीष्म ऋतु तुम्हें तपसे रिझाती है॥

(५)

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षका निधान तू है; चार धाम, सप्त पुरियोंका तू सहारा है;
तू ही मातृभूमि, पितृभूमि और तीर्थभूमि; तूने कितनोंको यहाँ तारा है, उबारा है।
तू है धर्म-क्षेत्र, तू ही कर्मक्षेत्र भी है; तेरे अङ्कमें अजन्मा प्रभुने भी जन्म धारा है;
वन्दनीय देश! नन्दनन्दनका रूप मान तेरे चरणोंमें अभिवन्दन हमारा है॥

—'राम'

सनातन संस्कृति-रक्षा

(अनन्तश्रीविभूषित परमहंसपरिव्राजकाचार्य पूज्यपाद श्रीशंकराचार्य श्रीजगद्गुरु स्वामी श्रीअभिनवसच्चिदानन्दतीर्थजी श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर महाराजका उपदेश)

त्रयीवेद्यं हृद्यं त्रिपुरहरमाद्यं त्रिनयनं
जटाभारोदारं चलदुरगहारं मृगधरम्।
महादेवं देवं मयि सदयभावं पशुपतिं
चिदालम्बं साम्बं शिवमतिविडम्बं हृदि भजे॥
अनन्तसंसारसमुद्रतारनौकायिताभ्यां स्थिरभक्तिदाभ्याम्।
वैराग्यसाम्राज्यदपूजनाभ्यां नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम्॥

सनातन संस्कृति इतर सभी संस्कृतियोंसे श्रेष्ठ है तथा अनादि और अनन्त भी है। दूसरी संस्कृतियाँ सनातन संस्कृतिका अंश लेकर ही जीवित हैं। संस्कृतिका जन्मस्थान होनेके कारण भारतवर्षका माहात्म्य विश्वमें प्रख्यात है। ऐसी सर्वादरणीय आर्य भारतीय संस्कृतिकी रक्षा करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है। विशेषतः आज तो उसकी प्रशंसा करनेकी अपेक्षा रक्षा करनेकी आवश्यकता ही अधिक है। अतः उस सनातन भारतीय संस्कृतिकी रक्षा करनेके लिये तथा आत्मकल्याणके लिये निम्नलिखित सिद्धान्तोंपर ध्यान देना और उनका यथावत् अनुसरण करना प्रत्येक भारतीयके लिये अवश्यकर्तव्य और श्रेयस्कर है—

१. स्वधर्मपर महान् प्रेम रखो और यथाशक्ति धर्मका पालन करो। धर्मका यथावत् पालन करनेसे सुख, स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्त होते हैं। यह बात निश्चय करके मानो।

२. तुम्हारे धर्मका नाम 'सनातन धर्म' है। यह धर्म किसी मानवका चलाया हुआ मत अथवा पंथ नहीं। यह तो सनातन प्रभुका सनातन धर्म है।

३. जगत्कर्ता परमेश्वरने सूर्य, चन्द्रमा, मेघ, जल, पवन, पृथ्वी, वृक्ष, ओषधि, अन्न, पशु, पक्षी, मनुष्य आदिको बनाया तथा साथ-साथ इन सबका धर्म भी बनाया। धर्मके बिना किसीका अस्तित्व ही टिक नहीं सकता।

४. धैर्य, क्षमा, सत्यभाषण, अहिंसा, सर्वप्रकारसे पवित्रता तथा स्वच्छता, मन तथा इन्द्रियोंका नियन्त्रण, भिन्न-भिन्न विद्याओं और कलाओंका शिक्षण, विवेकपूर्वक कार्यसम्पादन, क्रोध न करना, अस्तेय (चोरी न करना), मादक वस्तुओंका त्याग, ईश्वर-भक्ति, परलोकविषयमें ध्यान, माता-पिता, गुरु तथा वृद्धोंका आज्ञापालन, जन्म-भूमिकी सेवा, परस्त्रीमात्रमें मातृबुद्धि—ये सब सामान्य धर्म हैं। विशेष धर्ममें स्त्रियोंका धर्म, पुरुषोंका धर्म, पिताका धर्म, पुत्रका धर्म, राजाका धर्म, प्रजाका धर्म, गुरुका धर्म, शिष्यका धर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, युगधर्म, देशधर्म तथा अन्य भिन्न-भिन्न आपद्धर्म आदि हैं।

५. धर्मको जाननेके लिये धर्मशास्त्रोंका अध्ययन करो अथवा सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणद्वारा धर्म-वार्ता श्रवण करो। चार वेद, दस उपनिषद्, छः दर्शन, अठारह स्मृतियाँ, अठारह पुराण, रामायण तथा महाभारत इत्यादि हमारे प्रामाणिक तथा उपादेय ग्रन्थ हैं।

६. गणेश, शिव, विष्णु, सूर्य और जगदम्बा—ये पाँच हमारे पूजनीय देवता हैं और परब्रह्म परमात्मा सर्वोपरि इष्टदेवता हैं। ये सब देवता इन परब्रह्म परमात्माके ही लीलारूप हैं एवं इन परमात्माके भी अनेक अवतार होते हैं।

७. जिस कुलमें परम्परासे जिस देवताको इष्टदेवके रूपमें माना जाता है, उस कुलमें उसी देवताकी विशेष आराधना होनी चाहिये; परंतु अन्य किसी भी देवताकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। प्रत्युत दूसरे सम्प्रदायके भक्तोंके साथ प्रेमका ही व्यवहार करना चाहिये।

८. संसारके सब कार्य एक ओर रखकर सर्वप्रथम भगवान्का भजन करना आवश्यक है। यदि तुमने विश्वमें समस्त कार्य किये, किंतु भगवान्का भजन नहीं किया, तो मानव-शरीर पाकर क्या लाभ प्राप्त किया? कुछ भी नहीं।

९. आलस्य छोड़कर आगे बढ़नेका कार्य करो। अपनी कमाईमेंसे अच्छे पात्रोंको दान करो।

१०. अपने जीवनको पवित्र एवं सुखी बनानेके लिये मादक वस्तुओं तथा अन्य दुर्व्यसनोंसे बचे रहो। बीड़ी, सिगरेट, भाँग, गाँजा, अफीम, शराब आदि धर्म, धन तथा आरोग्य आदिका नाश करनेवाले हैं; अतः

उनका त्याग करनेसे ही तुम भगवान्‌के भक्त बन सकोगे।

११. दूसरोंकी हानि न करो; परंतु तुम्हारे देश, धर्म, जाति तथा मानको यदि कोई हानि पहुँचाता हो तो उसको किसी भी धर्मसंगत उपायसे सन्मार्गपर लानेका प्रयत्न करो। स्वयं अत्याचार करना जितना पाप है, उतना ही पाप दूसरोंके द्वारा किये गये अत्याचार सहनेमें होता है; अतः धीर होकर पुरुषार्थ करो।

१२. सदा देव-दर्शन, शास्त्रश्रवण, भगवदुपासना, पितृतर्पण, अतिथि-सत्कार, सत्संग तथा स्ववर्णाश्रमोचित सन्ध्या आदि सत्कर्म किया करो।

संस्कृति-विमर्श

(अनन्तश्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके साथ भारतीय संस्कृतिकी रक्षा और उसके प्रचारकी चर्चा चल पड़ी—यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। वास्तवमें किसी देश या राष्ट्रका प्राण उसकी संस्कृति ही है; क्योंकि यदि उसकी कोई अपनी संस्कृति नहीं, तो संसारमें उसका अस्तित्व ही क्या। परंतु संस्कृतिका क्या अर्थ है और भारतीय संस्कृति क्या है—यह नहीं बतलाया जाता। अंग्रेजी शब्द 'कलचर' का अनुवाद संस्कृति किया जाता है। परंतु 'संस्कृति' संस्कृतभाषाका शब्द है, अतः संस्कृत-व्याकरणके अनुसार ही इसका अर्थ होना चाहिये। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे भूषण अर्थमें 'सुट्' आगमपूर्वक 'क्तिन्' प्रत्यय होनेसे 'संस्कृति' शब्द सिद्ध होता है। इस तरह लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदयके उपयुक्त देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादिकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ एवं हलचलें ही संस्कृति हैं।

संस्कृति और संस्कार

'संस्कार' या 'संस्करण' का भी संस्कृतिसे मिलता-जुलता अर्थ होता है। संस्कार दो प्रकारके होते हैं—'मलापनयन' और 'अतिशयाधान'। किसी दर्पणपर कोई चूर्ण घिसकर उसका मल साफ करना 'मलापनयन-संस्कार' है। तैल, रंगद्वारा हस्तीके मस्तक या काष्ठकी किसी वस्तुको चमकीला तथा सुन्दर बनाना 'अतिशयाधान-संस्कार' है। नैयायिकोंकी दृष्टिसे वेग, भावना और स्थितिस्थापक—ये ही त्रिविध संस्कार हैं। अनुभवजन्य स्मृतिका हेतु 'भावना' है। अन्यत्र किसी भी शिल्पादिमें बार-बार अभ्यास करनेसे उत्पन्न कौशलकी अतिशयता ही भावना मानी गयी है—

तत्तज्जात्युचिते शिल्पे भूयोऽभ्यासेन वासना।
कौशलातिशयाख्या या भावनेत्युच्यते हि सा॥

स्वाश्रयकी प्रागुद्भूत अवस्थाके समान अवस्थान्तरोत्पादक अतीन्द्रिय धर्म ही 'संस्कार' है—

स्वाश्रयस्य प्रागुद्भूतावस्थासमानावस्थान्तरोत्पादकोऽतीन्द्रियो धर्मः संस्कारः।

योगियोंकी दृष्टिमें न केवल मानस संकल्प, विचार आदिसे ही, अपितु देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदिकी सभी हलचलों, चेष्टाओं, व्यापारोंसे संस्कार उत्पन्न होते हैं। अतएव 'कर्मसंस्कार' या 'कर्मवासना' शब्दसे उनका व्यवहार होता है। इस दृष्टिसे सम्यक्-असम्यक् सभी प्रकारके कर्मोंसे संस्कार उत्पन्न होते हैं।

संस्कारोंका प्रभाव

संस्कारोंसे आत्मा या अन्तःकरण शुद्ध होता है। इसलिये उत्तम और निकृष्ट संस्कार—इस रूपसे संस्कारोंमें उत्कृष्टता या निकृष्टताका भी व्यवहार होता है। षोडश एवं अष्टचत्वारिंशत् संस्कारोंद्वारा आत्मा अथवा अन्तःकरणको संस्कृत करना चाहिये—यह भी शास्त्रका आदेश है—

यस्यैते अष्टचत्वारिंशत् संस्कारा भवन्ति स ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां प्राप्नोति।

यहाँ 'सम्' की आवृत्ति करके 'सम्यक् संस्कार' को ही संस्कृति कहा जाता है। इन सम्यक् संस्कारोंका पर्यवसान भी मलापनयन एवं अतिशयाधानमें होता है। कुछ कर्मोंद्वारा पाप, अज्ञानादिका अपनयन और कुछद्वारा पवित्रता, विद्या आदि अतिशयताका आधान किया जाता है। साधारणतः दार्शनिकोंके यहाँ यह सब आत्मामें होता है, पर वेदान्तकी दृष्टिसे अन्तःकरणमें। आत्मा तो सर्वथा असंग ही रहता है। मोटे तौरपर कह सकते हैं कि जैसे खानसे निकले हुए हीरक एवं मणि आदिमें संस्कारद्वारा चमक या शोभा बढ़ायी जाती है, वैसे ही अविद्या-तत्कार्यात्मक प्रपंचमग्न स्वभावशुद्ध अन्तरात्माकी

शोभा संस्कारोंद्वारा व्यक्त की जाती है। तथा च आत्माको प्राकृत निम्न स्तरोंसे मुक्त करके क्रमेण ऊपरी स्तरोंसे सम्बन्धित करने या प्रकृतिके सभी स्तरोंसे मुक्त करके उसे स्वाभाविक अनन्त आनन्दसाम्राज्य-सिंहासनपर समासीन करनेमें आत्माका संस्कार है। ऐसे संस्कारोंके उपयुक्त कृतियाँ ही 'संस्कृति' शब्दसे कही जा सकती हैं। जैसे वेदोक्त कर्म और कर्मजन्य अदृष्ट दोनों ही 'धर्म' शब्दसे व्यवहृत होते हैं, वैसे ही संस्कार और संस्कारोपयुक्त कृतियाँ दोनों ही 'संस्कृति' शब्दसे कही जा सकती हैं। इस तरह सांसारिक निम्नस्तरकी सीमाओंमें आबद्ध आत्माके उत्थानानुकूल सम्यक् भूषणभूत कृतियाँ ही 'संस्कृति' हैं।

संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति और सभ्यतामें कोई भी खास अन्तर नहीं है। सम्यक्कृति ही संस्कृति है और सभामें साधुता ही सभ्यता है। आचार-विचार, रहन-सहन, बोलचाल आदिकी सम्यक्ता या साधुताका निर्णय शास्त्रसे ही हो सकता है। वेदादि शास्त्रद्वारा निर्णीत सम्यक् एवं साधु चेष्टा ही सभ्यता है और वही संस्कृति भी है।

विभिन्न संस्कृतियाँ

विभिन्न देशों और जातियोंकी विभिन्न संस्कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। संस्कृतियोंमें प्रायः संघर्ष भी चलता है—कहीं तो संस्कृतियोंकी खिचड़ी बन जाती है और कहीं एक सबल संस्कृति निर्बल संस्कृतिका विनाश कर देती है। संस्कृतिका भूमिके साथ सम्बन्ध होनेसे ही उसमें विभिन्नता आती है। किसी देशके जल-वायुका प्रभाव वहाँके निवासियोंके आचार-विचार, वेष-भूषा, भाषा-साहित्य आदिपर पड़ता ही है। कुछ पाश्चात्त्य विद्वानोंने तो इसी प्रभावको प्राधान्य दिया है। कुछ विद्वानोंका मत है कि 'किसी राष्ट्रके किसी असाधारण बड़प्पनके गर्वको ही संस्कृति कहना चाहिये। उदाहरणार्थ—इंग्लैंडके लोगोंको सबसे बड़ा गर्व अपनी 'पार्लमेंट्री शासनप्रणाली' के आविष्कारके लिये है। अमरीकाको गर्व है कि उसने संसारमें स्वतन्त्रताकी पताका फहरायी और दो महायुद्धोंमें विश्वको स्वतन्त्रताका वरदान दिया। हिटलरने जर्मनीमें आर्यत्वके विशुद्ध रुधिरका गर्व उत्पन्न किया। अतः उनकी यह विशेषता ही उनकी संस्कृतिका आधार है।' किसी अंशमें ये सब भाव ठीक हैं; परंतु संस्कृतिकी ऐसी परिभाषाएँ अन्धोंद्वारा किये गये हाथीके वर्णन-जैसी हैं।

धर्म और संस्कृति

धर्म और संस्कृतिमें इतना ही भेद है कि धर्म केवल शास्त्रैकसमधिगम्य है और संस्कृतिमें शास्त्रसे अविरुद्ध लौकिक कर्म भी परिगणित हो सकता है। युद्ध-भोजनादिमें लौकिकता, अलौकिकता—दोनों ही हैं। जितना अंश लोकप्रसिद्ध है, उतना लौकिक है; जितना शास्त्रैकसमधिगम्य है, उतना अलौकिक है। अलौकिक अंश धर्म है, धर्माविरुद्ध लौकिक अंश धर्म्य है। संस्कृतिमें दोनोंका अन्तर्भाव है।

संस्कृतिका आधार

एक परिभाषा, लक्षण एवं आधार स्वीकृत किये बिना संस्कृति क्या है—यह समझमें नहीं आ सकता। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि संस्कृतिका लक्ष्य आत्माका उत्थान है। जिसके द्वारा इसका मार्ग बतलाया जाय, वही संस्कृतिका आधार हो सकता है। यह विभिन्न जातियोंके धर्म-ग्रन्थोंद्वारा ही बतलाया जाता है। उनके अतिरिक्त किन्हीं भी चेष्टाओंकी भूषणता-दूषणता, सम्यक्ता या असम्यक्ताका निर्णायक या कसौटी और हो ही क्या सकता है। यद्यपि सामान्यरूपसे भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके धर्मग्रन्थोंके आधारपर विभिन्न संस्कृतियाँ निर्णीत होती हैं, तथापि अनादि, अपौरुषेय ग्रन्थ वेद ही हैं। अतः वेद एवं वेदानुसारी आर्ष धर्मग्रन्थोंके अनुकूल लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयसोपयोगी व्यापार ही मुख्य संस्कृति है और वही हिंदू-संस्कृति, वैदिक संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति है। सनातन परमात्माने अपने अंशभूत सनातन जीवात्माओंको सनातन अभ्युदय एवं निःश्रेयस—परमपद प्राप्त करानेके लिये जिस सनातन मार्गका निर्देश किया है, तदनुकूल संस्कृति ही सनातन वैदिक संस्कृति है और वह वैदिक सनातन हिंदू-संस्कृति ही सम्पूर्ण संस्कृतियोंकी जननी है। डेढ़-दो हजार वर्षोंकी अर्वाचीन विभिन्न संस्कृतियाँ भी इसी सनातन संस्कृतिके कतिपय अंशोंको लेकर उद्भूत हुई हैं। यही कारण है कि विभिन्न देशोंकी विभिन्न संस्कृतियोंमें वैदिक संस्कृतिके विकृत एवं अविकृत अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। उसी सनातन संस्कृतिका पूजक हिंदू है। जैसे इस्लाम-संस्कृति और मुस्लिम जातिका आधार 'कुरान' है, वैसे ही वैदिक सनातन संस्कृति एवं हिंदू-जातिका आधार वेद एवं तदनुसारी आर्ष धर्मग्रन्थ हैं।

भारतीय संस्कृति

इसमें सन्देह नहीं कि भारतमें कई विदेशी जातियाँ आयीं और बस गयीं। भारतीयोंके आचार-विचार, रहन-सहन आदिपर उनका कुछ प्रभाव भी पड़ा। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय संस्कृतिका आधार ही बदल गया। भारत हिंदुओंका देश है, अतः उन्हींकी 'संस्कृति' 'भारतीय संस्कृति' है, जिसके मूलस्रोत वेदादि शास्त्र हैं। अतएव लौकिक-पारलौकिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, उन्नतिका वेदादि-शास्त्रसम्मत मार्ग ही भारतीय संस्कृति है। दर्शन, भाषा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, कला आदि संस्कृतिके सभी अंगोंपर वेदादि-शास्त्रमूलक सिद्धान्तोंकी ही छाप है। बाहरी प्रभाव उससे पृथक् दीख पड़ता है। इस सम्बन्धमें एक बात और विचारणीय है। संसारके प्रायः सभी देशोंकी प्राचीन संस्कृतियोंमें भारतीय संस्कृतिकी कितनी ही बातें विकृतरूपमें पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ—किसी-न-किसी रूपमें वर्णव्यवस्था सभी जगह मिलती है। विभिन्न देशोंके प्राचीन ग्रन्थोंमें यज्ञ-यागादिकी भी चर्चा आती है। दर्शनशास्त्र तो व्यापकरूपमें फैला हुआ है। ये सब बातें वहाँ कैसे पहुँचीं, यह दूसरा प्रश्न है। पर इतना तो सिद्ध ही है कि इन सबका सम्बन्ध हिंदू-संस्कृतिसे है—एतावता यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह हिंदू-संस्कृति है। भारतकी भूमिसे भी उसका सम्बन्ध है। जो बड़प्पनके गर्वकी बात कही जाती है, उसका भी अनुभव उसी संस्कृतिमें होता है। इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे यही मानना पड़ता है कि हिंदू-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। यह मान लिया जाय तो विवादका अवसर ही नहीं रहता; क्योंकि हिंदू-संस्कृतिकी सीमा हिंदू-धर्मशास्त्रोंमें निर्धारित है। उनके द्वारा हमें उसके आधारभूत सिद्धान्तों और उसके विकसित रूपका सम्पूर्ण चित्र मिल सकता है।

हिंदू

परंतु आजकल वास्तविकतासे दूर हटकर अधिकाधिक संख्या बढ़ानेकी दृष्टिसे 'हिंदू' शब्दकी परिभाषा की जाती है। अतएव कई लोग वेद न माननेवालोंको भी 'हिंदू' सिद्ध करनेके लिये—

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

—ऐसी परिभाषा करते हैं; परंतु इस परिभाषाकी भी अति-व्याप्ति होती है। इसके अतिरिक्त भावनाकी दृढ़ताका कोई आधार नहीं रहता।

गोषु भक्तिर्भवेद्यस्य प्रणवे च दृढा मतिः।
पुनर्जन्मनि विश्वासः स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

—यह परिभाषा अभीष्ट समाजोंमें अनुगत हो जाती है। गोमातामें जिसकी भक्ति हो, प्रणव जिसका पूज्य मन्त्र हो, पुनर्जन्ममें जिसका विश्वास हो—वही हिंदू है। यह सिख, जैन, बौद्ध, वैदिक—सबमें घट जाती है। परंतु वेदोंके **'सिन्धवः'**, **'सप्तसिन्धवः'** इत्यादि प्रयोगों और 'सरस्वती', 'हरस्वती' आदि प्रयोगोंकी दृष्टिसे तथा 'कालिकापुराण', 'मेदिनीकोष' आदिके आधारपर वर्तमान 'हिंदूला' के मूलभूत आधारोंके अनुसार वेद-शास्त्रप्रतिपादित रीतिसे वैदिक धर्ममें विश्वास रखनेवाला हिंदू है। हिंदू-संस्कृतिकी दृष्टिसे अनादि परमेश्वरसे अनेक प्रकारका संकोच और विकास होता रहता है। ईश्वररहित जडविकासवाद, जिसके अनुसार जडप्रकृतिसे ही चैतन्यका विकास होता है और जिस विकासवादकी दृष्टिसे अभीतक सर्वज्ञ ईश्वर और शास्त्र विकसित ही नहीं हुआ, वह सर्वथा अमान्य है। आध्यात्मिकता और धार्मिकतासे विहीन साम्यवाद, समाजवाद आदि भी हिंदू-संस्कृतिमें नहीं खप सकते।

खिचड़ी संस्कृति

आजकलके कुछ नेता कई संस्कृतियों, विशेषतः हिंदू-मुस्लिम-संस्कृतिके मिश्रित रूपको ही भारतीय संस्कृति मानते हैं। इसीको 'हिंदुस्तानी संस्कृति' का नाम भी दिया जाता है। किंतु इसे भारतीय संस्कृति कदापि नहीं कहा जा सकता। न इसका कोई आधार है और न कोई स्पष्ट रूप। प्रायः देखा तो यह गया है कि जहाँ-जहाँ भारतीय संस्कृतिके किसी अंगपर विदेशी प्रभाव पड़ा, वहीं उसमें निकृष्टता आ गयी। दर्शन, कला, साहित्य आदि सभीमें यह दिखलाया जा सकता है। नेताओंने 'इण्डियन यूनियन' (भारतसंघ) को सेक्युलर स्टेट (धर्मनिरपेक्ष राज्य) घोषित करके अनेक बार यह आश्वासन भी दिया है कि सबकी संस्कृतिकी रक्षा की जायगी, किसी संस्कृतिपर हस्तक्षेप न किया जायगा। कई नेताओंने यह भी कहा है कि 'रंग-बिरंगे पुष्पों या हीरोंद्वारा जैसे मालाकी शोभा बढ़ती है, वैसे ही अनेक धर्मों और संस्कृतियोंका यदि एक

सूत्रमें संग्रथन हो तो उससे राष्ट्रकी शोभा बढ़ेगी, घटेगी नहीं। अतः किसी पुष्प, हीरक या उसके रंगके बिगाड़नेकी अपेक्षा नहीं।' ऐसी स्थितिमें संस्कृतिकी खिचड़ी कहाँतक ठीक है? हिंदू-जाति, हिन्दू-संस्कृति हिंदू-धर्म, वेदादिशास्त्र, मन्दिर और राम-कृष्ण आदि समझमें आ सकते हैं; उसी तरह कुरान, मस्जिद, इस्लाम, अरबी-उर्दू भाषा भी समझमें आ सकती है। परंतु इन दोनोंको बिगाड़कर वेद-पुरान, कलमा-कुरान, मन्दिर-मस्जिद, अल्लाह-राम आदिको मिलाकर हिंदुस्तानी संस्कृति, हिंदुस्तानी भाषा आदि कथमपि समझमें नहीं आते। राम भी अच्छा, खुदा भी अच्छा; परंतु 'रमखुदैया' खतरेसे खाली नहीं। दीनदार, ईमानदार हिंदू या मुसलमान—दोनों ही ठीक; बेदीन, बेईमान दोनों ही खतरनाक हो सकते हैं। अपने-अपने मूल धर्मों, संस्कृतियों एवं मूल शास्त्रोंपर विश्वास न रहेगा तो कृत्रिम संस्कृतियों और उनके कृत्रिम आधारोंपर विश्वास होना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

एक संस्कृति

कुछ दिनोंसे 'एक संस्कृति' का नारा लगाया जा रहा है। यहाँ भी वही प्रश्न होता है कि कौन संस्कृति—हिंदुस्तानी खिचड़ी या विशुद्ध हिंदू-संस्कृति? तथाकथित हिंदुस्तानी संस्कृतिमें क्या सर्वसाधारण हिंदू या मुसलमानको कभी पूरी श्रद्धा हो सकती है? तब फिर यदि एक संस्कृति हिंदू-संस्कृति ही मानी जाय, तो यह कैसे आशा की जा सकती है कि मुसलमान उसे स्वीकार कर लेंगे? कुछ लोग कहते हैं कि 'मुसलमान कलमा-कुरान और मस्जिदका आदर और अपनी भाषा, वेषभूषा रखते हुए भी भारतीय संस्कृतिके रूपमें हिंदू-संस्कृतिका पालन कर सकते हैं।' फिर आचार-विचार, रहन-सहन, इतिहास-साहित्य, दर्शन-धर्म आदिसे भिन्न संस्कृति कौन-सी वस्तु होगी, जिसे मानकर मुसलमान उसपर गर्व करेगा? कुछ लोग तो यहाँतक कहते हैं कि 'एक संस्कृति हिंदू-संस्कृति ही है, वही सबको माननी पड़ेगी। जो ऐसा न करेंगे, उन्हें भारत छोड़ना होगा।' किंतु ऐसा कहना सरकारद्वारा घोषित सेक्युलर (धर्मनिरपेक्ष) नीतिके ही विरुद्ध नहीं, हिंदू धर्म एवं हिंदू-संस्कृतिके मूलभूत सिद्धान्तके ही विपरीत है। हिंदू-धर्म तो प्रत्येक जाति, प्रत्येक व्यक्तिको स्वधर्मानुसार चलनेकी स्वतन्त्रता देता है। '**स्वधर्मे निधनं श्रेयः**' उसका सिद्धान्त है। अतः उसे कभी भी अभीष्ट नहीं कि येन-केन प्रकारेण सभी हिंदू बना लिये जायँ। हिंदू-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है, इस दृष्टिसे एक संस्कृतिका नारा ठीक है; पर इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि देशमें अल्पसंख्यकोंकी संस्कृतियोंका संरक्षण न हो। यह भारतकी ही विशेषता है कि वह भिन्नतामें भी एकता देखता है। एक सूत्रमें गुँथे हुए मणियोंकी मालाका उदाहरण भी इसीमें घटता है।

कर्मणा वर्णव्यवस्था

संस्कृतिके प्रसंगमें ही 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' की बात उठती है। सोचा यह जाता है कि 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था मान लेनेसे अन्य धर्मावलम्बियोंको हिंदूसमाजमें लानेमें सुविधा होगी। मौलवी, मुल्ला, अध्यापक आदि बुद्धिजीवी ब्राह्मण बन जायँगे। सैनिक आदि बलजीवी क्षत्रिय, व्यापारी वैश्य और सेवापरायण शूद्रकोटिमें आ जायँगे। बहुतोंको इसका प्रलोभन रहेगा।' यद्यपि यह ठीक है कि भारतमें वैदिकोंका बाहुल्य होनेसे वैदिक संस्कृति ही '**बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति**' इस न्यायसे भारतीय संस्कृति कही जा सकती है। वेद और वेदानुसारी आर्ष धर्मग्रन्थोंके अनुसार आचार-विचार, उपासना-कर्म आदिका हिंदू-संस्कृतिमें समावेश है। अहिंसा, सत्य, भगवद्-उपासना, तत्त्वज्ञान आदि बीस धर्म ऐसे हैं, जिनसे प्राणिमात्रका कल्याण हो सकता है। उन धर्मोंका पालन करनेवाला कोई भी हिंदू कहला सकता है; तथापि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्ण-व्यवस्था जन्मना ही है। वर्णोंका कर्मणा उत्कर्ष अवश्य होता है; जैसे बीज और क्षेत्र दोनों ही अंकुरके कारण होते हैं, वैसे ही जन्म और कर्म दोनों वर्णके मूल हैं। प्राक्तन गुण-कर्मानुरूप जन्म लेकर वर्ण और फिर समुचित गुण-कर्मसे उसका उत्कर्ष होता है। गुण-कर्मविहीन अधम और गुणकर्मयुक्त उत्तम ब्राह्मणादि होते हैं। जन्मप्राप्तिमें भी प्राक्तन कर्म अपेक्षित होते ही हैं। जैसे जन्मना शौर्य, क्रौर्य आदि गुण-कर्मसे युक्त मुख्य सिंह होता है और गुण-कर्मके बिना जन्ममात्रसे जाति-सिंह—जन्मके बिना गुण-कर्ममात्रसे मनुष्यको भी शौर्यादि गुण-कर्मसे सिंह कहा जाता है, पर वह गौण प्रयोग है। उसी तरह जन्म और कर्मसे मुख्य ब्राह्मणादि, गुण-कर्मके बिना केवल जन्मसे जाति-ब्राह्मणादि तथा जन्मके बिना गुण-कर्मादिसे गौण ब्राह्मणादिका

व्यवहार होता है। जैसे माता, भगिनी आदिको उद्दिष्ट करके उनके कर्तव्योंका शास्त्रोंमें उपदेश है, वैसे ही ब्राह्मणादिको उद्दिष्ट करके उनके कर्तव्योंका। इसी तरह व्यवस्था भी रह सकती है। अन्यथा पत्नीका कर्म करनेसे दुहिता या भगिनी भी पत्नी हो जायगी। इसीलिये '**ब्राह्मणो यजेत्**' आदि विधान हैं—'**यः ब्राह्मणो भवितुमिच्छेत्स यजेत्**' या '**यो यजेत् स ब्राह्मणः**' ऐसा विधान नहीं है। '**पत्नी एवं कुर्यात्**' यही विधान है; '**या एवं कुर्यात् सा पत्नी**' ऐसा विधान नहीं है। कर्मणा वर्णव्यवस्था माननेपर दिनभरमें ही अनेकों बार वर्ण बदलते रहेंगे, फिर व्यवस्था क्या होगी? अतः उपनयन, वेदाध्ययन, अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान, भोजन-विवाहादि सभी सांस्कृतिक कर्म जन्मना ब्राह्मणादिके आपसमें ही हो सकते हैं। जन्मना ब्राह्मण और कर्मणा ब्राह्मण मुसलमान आदिमें भोजन-विवाहादि सम्बन्ध तथा जन्मना वर्णोंसे भिन्न लोगोंको उपनयन, अग्निहोत्रादि कर्मोंका अधिकार सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है।

संस्कृति-सम्मेलन

कुछ दिनोंसे एक अ०भा० संस्कृति-सम्मेलन स्थापित है। वह चाहता है कि भारतकी आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माणकी आधारशिला प्राचीन भारतीय संस्कृति हो। उसका यह उद्देश्य स्तुत्य है। वास्तवमें ऐसा होनेसे ही देश तथा संसारका कल्याण होगा। किंतु पहले यह निश्चित कर लेना चाहिये कि प्राचीन भारतीय संस्कृतिके मूलभूत सिद्धान्त और उसका रूप क्या है। बिना ऐसा किये केवल जंगलमें भटकना है—जिसका समय, सम्पत्ति और शक्तिके ह्रासके अतिरिक्त कोई परिणाम नहीं। उसके प्रचारसे जनतामें प्रायः बड़ा भ्रम फैलता है। शास्त्रीय विषयोंपर सम्मेलनको आचार्यों तथा पण्डितोंसे अपनी शंकाओंका समाधान कर लेना चाहिये। तब फिर उसके सहयोगसे काम चल सकता है और उसमें सफलता भी होगी। धार्मिक विषयोंमें शास्त्र और धर्माचार्योंद्वारा उनकी व्याख्या ही प्रमाण है।

एक सुझाव

हम सभीको अपनी संस्कृतिकी रक्षा, उन्नति और उसका प्रचार अभीष्ट है। इसमें सभीका सहयोग अपेक्षित है। यह तभी सम्भव है, जब पहले यह निश्चित कर लिया जाय कि भारतीय और हिंदू-संस्कृति क्या है। वस्तुतः आजकल प्रमेय, फल, साधनादिपर तो विचार किया जाता है; परंतु प्रमाणकी परवा नहीं की जाती। यदि उसके आधारपर विचार किया जाय तो सब बात स्पष्ट हो जाय। भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धमें विभिन्न मत रखनेवाले विद्वानोंको एक साथ मिलकर या लेखोंद्वारा विचार-विनिमय करना चाहिये। यदि भारतीय संस्कृतिके मूलभूत सिद्धान्त और उसका रूप निश्चित हो जाय, तो विवादके लिये अवकाश ही न रहे। अतः सभी विद्वानोंसे हमारा अनुरोध है कि वे इस ओर ध्यान दें। यह प्रश्न टाला नहीं जा सकता; क्योंकि इसीके उचित समाधानपर हमारा भविष्य निर्भर है जब एक दिन इसका निर्णय करना ही है, तो फिर विलम्ब क्यों किया जाय? '**शुभस्य शीघ्रम्।**'

संस्कृति क्या है?

(एक महात्माका प्रसाद)

प्राकृतिक विधानके अनुरूप संस्कार की हुई पद्धति ही संस्कृति है। उसी संस्कृतिके किसी एक अंशको सभ्यता कहते हैं।

संस्कृति अनुभवजन्य ज्ञानके और सभ्यता बुद्धिजन्य ज्ञानके आधारपर निर्भर है। अनुभवजन्य ज्ञान नित्य और बुद्धिजन्य ज्ञान परिवर्तनशील होनेके कारण संस्कृति नित्य और सभ्यता परिवर्तनशील होती है।

किसी देश-कालकी सभ्यता किसीके लिये अहितकारी भी हो सकती है; किंतु संस्कृति सर्वदेश, सर्वकालमें सभीके लिये सर्वथा हितकारी ही होती है। संस्कृति किसी मानवकी उपज नहीं, प्रत्युत खोज है। इसी कारण वह नित्य है। उसका निरादर पतनका मूल है, उसका आदर विकासका हेतु है।

संस्कृतिरूपी भूमिमें धर्मरूप वृक्ष शोभा पाता है। जिस प्रकार वृक्षमें फल, फूल, पत्ते, शाखा आदि अनेक अंग हैं, उसी प्रकार धर्मरूपी वृक्षके सभी सम्प्रदाय अंग हैं। सार्वभौम सार्वजनिक साधनका नाम धर्म और व्यक्तिगत साधनका नाम सम्प्रदाय है। संस्कृतियुक्त धर्म

ही वास्तवमें हिंदुत्व है, उस हिंदुत्वको अपनानेवाला हिंदू है।

हिंदुत्व अपना लेनेपर प्राणी किसीका ऋणी नहीं रहता और उसकी प्रसन्नता किसी अन्यपर निर्भर नहीं रहती। धर्म-विज्ञान, अध्यात्मविज्ञान एवं योगविज्ञान—तीनों ही हिंदुत्वके प्रधान अंग हैं। धर्मविज्ञानसे प्राणीका जीवन सुन्दर हो जाता है, अध्यात्मविज्ञानसे सब प्रकारकी परतन्त्रता मिट जाती है और योगविज्ञानसे शक्ति संचय होती है।

धर्म प्राणीको ह्राससे विकासकी तथा असत्यसे सत्यकी, सीमितसे असीमकी, जडतासे चेतनाकी और मृत्युसे अमृतत्वकी ओर ले जाता है।

धर्म अपने कर्तव्यसे दूसरोंके अधिकारोंको सुरक्षित रखनेकी प्रेरणा करता है। इस कारण धर्मात्माकी माँग सभीको है।

अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार भिन्न-भिन्न साधन करते हुए एक ही साध्यके प्राप्त करानेमें धर्म समर्थ है। साधन-भेद होनेपर भी प्रीति-भेद तथा लक्ष्य-भेद नहीं होता। यही धर्मकी महत्ता है।

दो व्यक्ति भी सर्वांशमें समान योग्यताके नहीं होते; किंतु अनेक व्यक्तियोंकी आवश्यकता अर्थात् लक्ष्य एक ही होता है। इस कारण धर्म साधनकी भिन्नता और साध्यकी एकताका प्रतिपादन करता है।

जिस प्रकार गहरी नींदमें सभी प्राणी समान होते हैं, जाग्रत् और स्वप्नमें नहीं, उसी प्रकार साध्यकी प्राप्तिमें सभी समान होते हैं, साधनकालमें नहीं।

अपना निर्माण करनेके लिये साधनका भेद और साध्यकी एकता परम अनिवार्य है।

व्यक्ति-निर्माण ही समाज-निर्माण और समाज-निर्माण ही विश्वके हितका मुख्य हेतु है। व्यक्ति-निर्माण संस्कृतियुक्त धर्म अर्थात् हिंदुत्वके बिना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

हिंदुत्व मानव-जीवनको गुणोंका विकास, सीमित उपभोग, सेवा और त्याग—इन चार भागोंमें विभाजित करनेके लिये प्रेरित करता है। प्रथम भाग और तीसरा भाग उपार्जन-काल हैं, उपभोग-काल नहीं। दूसरा भाग विषयानन्द और चतुर्थ भाग निजानन्द तथा प्रेमानन्दको प्रदान करता है। प्रथम भागमें मानव दीक्षा तथा शिक्षाद्वारा अपनेको सुन्दर बनाता है अर्थात् ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओंद्वारा सुशोभित करता है, जिससे समाज उसको स्थान देता है। द्वितीय भागमें अर्थ और कामकी वास्तविकताका अनुभव करनेके लिये धर्मानुकूल उपभोगमें प्रवृत्त होता है—अर्थात् न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थसे रोगी, बालक एवं सेवक तथा विरक्तकी सेवा करता है तथा अपनेसे योग्य सन्तान उत्पन्नकर पितृ-ऋणसे मुक्त होता है। तृतीय भागमें जितेन्द्रियतापूर्वक सेवाद्वारा समाजके ऋणसे मुक्त हो सत्यकी खोज करता है। चतुर्थ भागमें असत्यको त्याग अपनेमें ही अपने प्रीतमका अनुभव कर कृतकृत्य हो जाता है।

१. तप (धर्मार्थ कठिनाइयोंको प्रसन्नतापूर्वक सहन करना)।

२. व्रत (अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये दृढ़ संकल्प करना)।

३. प्रायश्चित्त (की हुई भूल पुनः न करना)।

४. प्रार्थना (अपनी निर्बलताओंको मिटानेके लिये व्यथित हृदयसे प्रेम-पात्रको पुकारना)।

—ये चारों ही हिंदुत्वके मुख्य अंग हैं, जिनके बिना कोई भी प्राणी—चाहे वह किसी भी देश, जाति अथवा संघका क्यों न हो—विकास नहीं कर पाता। इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मानव-विकास हिंदुत्वके बिना सम्भव नहीं है।

जिससे किसीको भय न हो अर्थात् जिसके हृदयमें केवल प्रीतिकी गंगा लहराती हो तथा जिसका शरीर विश्वके काम आ गया हो एवं जिसका अहं अभिमानशून्य हो और जिसको किसीसे भय न हो—अर्थात् नित्य जीवन, नित्य रस, नित्य प्यार सतत उपलब्ध हों, वही हिंदू है।

प्रत्येक अहिंदू हिंदू हो सकता है। क्योंकि हिंदुत्व प्राप्त करनेके लिये केवल प्राप्त योग्यताका सदुपयोग करना है, जिसके करनेमें मानव सर्वथा स्वतन्त्र है।

प्राणी परिस्थिति-परिवर्तनमें भले ही परतन्त्र हो, पर उसके सदुपयोगमें लेशमात्र भी परतन्त्रता नहीं है। इस कारण हिंदू-धर्मके अपना लेनेमें किसीको भी कठिनाई नहीं है। जो जिस अवस्थामें है, उसीके अनुरूप साधन निर्माण करके हिंदुत्व प्राप्तकर अभय हो जाओ—यही मानव-समाजके लिये हिंदू-संस्कृतिका जयघोष है।

कर्मकी भिन्नता एवं स्नेहकी एकता ही हिंदुत्वका गौरव है।

सांस्कृतिक परम्परा

(श्रीमज्जगद्गुरु श्रीरामानुजसम्प्रदायाचार्य आचार्यपीठाधिपति श्रीराघवाचार्य स्वामीजी महाराजका उपदेश)

संस्कृति है मानवकी जीवन-शक्ति, प्रगतिशील साधनाओंकी विमल विभूति, राष्ट्रिय आदर्शकी गौरवमयी मर्यादा और स्वतन्त्रताकी वास्तविक प्रतिष्ठा। इस तथ्यका चिन्तन करते हुए भारतीय परम्पराने सदा संस्कृति-निष्ठाके मंगलमय मार्गको अपनाया। फलस्वरूप संस्कृति भारतभूमिके कण-कणमें व्याप्त है, भारतीय साहित्यके पद-पदमें ओत-प्रोत है और भारतीय इतिहासके प्रत्येक पृष्ठपर अंकित है। इसके अधिष्ठान एवं अनुष्ठानको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये अपेक्षित है सांस्कृतिक आचार्योंके उन आचरणोंका अनुशीलन और अनुसरण, जिनके द्वारा संस्कृतिके तत्त्वोंकी अभिव्यक्ति होती है। कहना न होगा कि भारतीय संस्कृतिके निर्वाहक इन आचार्योंने संस्कृतिको अलंकारोंसे अलंकृत करनेकी चेष्टा न कर उसके द्वारा अपने-आपको संस्कृत करनेका ही प्रयत्न किया। इसीका सुखद परिणाम यह निकला कि विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों एवं सैद्धान्तिक मतभेदोंके रहनेपर भी सांस्कृतिक परम्पराकी अविच्छिन्न गतिमें किसी प्रकारका अन्तर न पड़ सका। आत्मकल्याणके साधनोंमें विविधता आनेपर भी सर्वभूतहितकी भावनापर किसी प्रकारकी ठेस नहीं लगने पायी। उसी परम्पराके अनुसरण करनेमें सबका हित है।

हिंदू-संस्कृति

(श्रीभारतधर्ममहामण्डलके एक महात्माद्वारा लिखित)

आर्य-संस्कृति

इधर प्रचलित भाषाओंमें अंग्रेजी 'कल्चर' शब्दके लिये 'संस्कृति' शब्द व्यवहृत होने लगा है। 'पालिसी' शब्दकी तरह 'कल्चर' शब्दका भी अर्थ बहुत व्यापक होनेपर भी उसके लिये 'संस्कृति' शब्द अच्छा गढ़ा गया है। सम्पूर्वक 'कृ' धातुसे भाव-अर्थमें 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर 'संस्कृति' शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है परम्परागत अनुस्यूत संस्कार। यह दर्शनशास्त्रका सिद्धान्त है कि संस्काररूपी बीजके ही अनुसार कर्म-रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है। हमारे जैसे पूर्व-संस्कार होंगे, वैसे ही हमारे कर्म बनेंगे। आर्योंकी प्राचीन रहन-सहन, आचार-व्यवहार, धर्म, कर्म, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था, शास्त्रीय सिद्धान्त, शिक्षा-प्रणाली आदि जिसके प्रधान-प्रधान अवलम्बन हों, वही आर्य-संस्कृति कही जा सकती है।

आर्यजातिके लक्षण

आचारोंसे ही जाति मानी जाती है। शास्त्र कहते हैं **'आचारमूला जातिः'** अर्थात् आचार देखकर जाति बनायी जा सकती है। आर्यजातिकी विशेषता यह है कि वह जीवन-यात्रा-निर्वाहमें रजोवीर्य-शुद्धिमूलक वर्ण-व्यवस्था तथा प्रवृत्तिरोधक और निवृत्तिपोषक आश्रम-व्यवस्था मानती है। इसीसे शास्त्रमें उसका लक्षण कहा गया है। **'उभयोपेता आर्यजातिः।'** अर्थात् वर्णधर्म और आश्रम-धर्मके लक्षण जिस जातिमें पाये जायँ, उसे आर्यजाति कहते हैं। आर्यजातिके शारीरिक-व्यापार-मूलक आचार पृथ्वीकी अन्य सब जातियोंसे कुछ विलक्षण हैं। हमारी संस्कृतिका विचार करनेवालोंको यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि जिस मनुष्य-जातिमें रजोवीर्य-शुद्धिमूलक जातिभेदका सिद्धान्त, सतीत्वधर्ममूलक स्त्रीजातिकी पवित्रता, प्रवृत्तिमूलक ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम और निवृत्तिमूलक वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम-ऐसे धर्मोंके लक्षण पाये जाते हों, वही मनुष्यजाति आर्यजाति कहलाती है। ये सब बातें आर्य (हिंदू)-संस्कृतिके मौलिक सिद्धान्त हैं। इसी प्रकार पुरुष-धर्म और नारी-धर्मके अधिकार आर्य-धर्ममें अलग-अलग माने गये हैं।

पुरुष और स्त्रीके विभिन्न धर्म

मनुष्य-सृष्टिमें पुरुष और स्त्री—ये दो विभाग हैं और दोनोंके धर्म भिन्न-भिन्न हैं। कैवल्य-प्राप्तिके लिये पुरुष स्वतन्त्र है; परंतु स्त्री पुरुष होनेकी अपेक्षा रखती है। वह पतिमें तन्मय होकर जब पुरुष होगी, तभी कैवल्य प्राप्त कर सकेगी। पुरुष स्वतन्त्र होनेसे

उसका धर्म यज्ञ-प्रधान है, कैवल्य प्रदान करनेवाले ज्ञानका यज्ञके साथ साक्षात् सम्बन्ध है। यज्ञ-धर्म कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीन काण्डोंमें विभक्त है। स्मृतिशास्त्रमें कहा है—

यज्ञप्रधानतामेति नृणां धर्म इति श्रुतिः।

नारी-धर्म एक विशेष धर्म है। आदिसृष्टि जब आदि-पुरुष परमात्मा और प्रकृति महामायाके सम्बन्धसे आरम्भ होती है, तब जीवकी प्रथमोत्पत्तिमें भी वे ही दो सत्ताएँ विद्यमान रहेंगी—इसमें कोई सन्देह नहीं है। उद्भिज्जादि जीवोंमें भी पुरुष और नारीकी दो स्वतन्त्र शक्तियाँ देख पड़ती हैं। मनुष्य-योनिमें पहुँचकर जीव जबतक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक नवीन संस्कार भी संग्रह नहीं कर सकता। सहज कर्म परिवर्तित भी नहीं होते, इस कारण साधारण स्त्री स्त्री होकर और पुरुष पुरुष होकर ही अग्रसर होता है। अद्वैत-भावके बिना कैवल्यकी प्राप्ति नहीं होती। वह स्थिति परमपुरुषके स्व-स्वरूपमें ही विद्यमान है। इस कारण कैवल्याधिगमके लिये पुरुषको आत्म-ज्ञानके अवलम्बनसे स्व-स्वरूपको प्राप्त करना होता है और स्त्रीको पुरुषमें तन्मयता प्राप्त करके पुरुषधारामें पहुँचनेपर आत्मज्ञानके अवलम्बनसे अद्वैत भावमय स्व-स्वरूपकी उपलब्धि करनी पड़ती है। इस प्रकार जब स्त्रीको अपनी धारा बदलनी पड़ती है, तब उसके लिये तपोधर्मका आश्रय लेना अनिवार्य है। स्मृतिशास्त्रमें कहा है—

तपःप्रधानतामेति नारीधर्मो यतः सदा।

आदिसृष्टिसे ही स्वाभाविक संस्कार और सहज कर्मके अनुसार पुरुषधारा और स्त्रीधारा दोनों पृथक्-पृथक् प्रवाहित हुआ करती हैं। परमपुरुष स्वाधीन, निःसंग तथा चेतनस्वरूप है और मूलप्रकृति जडा, संगकी अपेक्षा रखनेवाली और पराधीना है। इसी कारण कार्यरूपी सृष्टिप्रवाहमें वे ही गुण वर्तमान रहनेसे नारीका पराधीन होना विज्ञानसिद्ध है। यही कारण है कि हिंदू-जातिमें कन्यावस्थासे लेकर वृद्धावस्थातक पिता, पति, पुत्र और आत्मीय स्वजनोंके संरक्षणमें नारीके रहनेकी विधि है और यही आर्य-जातिकी प्राचीन संस्कृति है।

वैदिक दर्शनोंने यह भी सिद्ध किया है कि इस संसारके स्थूल-सूक्ष्म प्रपंचके सब अंगोंमें दो प्रकारकी शक्तियाँ देखनेमें आती हैं—एक आकर्षणशक्ति और दूसरी विकर्षणशक्ति। स्थूल प्रपंचमें परमाणुसे लेकर ग्रह-उपग्रहोंतकमें आकर्षण और विकर्षणरूपी दोनों शक्तियोंका कार्य स्पष्ट देखनेमें आता है। ग्रह-उपग्रहादिकी सृष्टि-दशामें परमाणु एकत्र होते हैं और प्रलय-दशामें पृथक्-पृथक् होकर ब्रह्माण्डका प्रलय-संसाधन करते हैं। इसी स्थूल उदाहरणके अनुसार सूक्ष्म अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें रागकी वृत्तियाँ आकर्षणजनित और द्वेषकी वृत्तियाँ विकर्षणजनित होती हैं। राग-मूलक आकर्षणशक्ति रजोगुण-समुद्भूत और द्वेषमूलक विकर्षणशक्ति तमोगुण-समुद्भूत है। इन्हीं दोनों शक्तियोंसे समस्त पिण्ड और ब्रह्माण्ड आच्छन्न हैं। दोनों शक्तियोंका विकास पुरुषशरीर और स्त्रीशरीरमें होता रहता है। पुरुष विकर्षण-शक्तिरूप और स्त्री आकर्षण-शक्तिरूप है। अन्ततः दोनोंके अधिकार और धर्म भी स्वतन्त्र हैं। आकर्षण-शक्तिसे सृष्टिक्रिया होती है और विकर्षणशक्तिसे लय-क्रिया। स्मृतिशास्त्र कहता है—

आकर्षणस्वरूपं हि शरीरं योषितामिह।
तथा विकर्षणं नृणां शरीरं स्यात्स्वरूपतः॥

जिस प्रकार अन्तर्जगत्‌में राग और द्वेष—दोनोंके समन्वयसे मुक्तिका उदय होता है अर्थात् साधक रजोगुणसंभृत राग और तमोगुणसंभृत द्वेषको जीतकर सत्त्वगुणके अवलम्बनसे द्वन्द्वातीत हो जाता है—मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार बहिर्जगत्‌में ऊर्ध्वरेता होकर वह दाम्पत्य-सम्बन्धके आकर्षण और विकर्षणशक्तिकी जय करके द्वन्द्वातीत मुक्तिभूमिमें पहुँच जाता है। इसीसे वानप्रस्थाश्रममें सस्त्रीक रहकर स्त्रीसम्बन्धी कामका जय करके मुक्तिमार्गमें अग्रसर होनेकी विधि शास्त्रोंमें पायी जाती है। पतिभक्ति और सतीत्वकी सहायतासे स्त्री मुक्तिमार्गमें अग्रसर होती है और पुरुष भी स्त्री-दुर्गद्वारा सुरक्षित रहकर मुक्तिमार्गपर विजय-लाभ करनेमें समर्थ होता है। दोनों शक्तियोंकी जहाँ सुन्दर समता होती है, वही सत्त्वगुणमय ज्ञान और आनन्दका स्थान है।

सृष्टि-कार्यमें प्रकृतिकी प्रधानता होती है, यह कहा जा चुका है। चाहे कोई दर्शनशास्त्र उसको मूलप्रकृति कहे, कोई महामाया कहे, कोई ब्रह्मशक्ति कहे—सब दर्शनशास्त्र प्रकृतिकी प्रधानता मानते हैं। यही कारण है कि वेद, पुराण और तन्त्र आदि शास्त्र एकवाक्य होकर नारीका सम्मान करने और उसको जगदम्बाका स्वरूप समझकर उसकी पूजा करनेकी आज्ञा देते हैं। आर्य-जातिके सदाचारोंमें और उसके

पूजा-प्रकारमें कुमारी-पूजा और सुवासिनी-पूजाकी सर्वमान्य विधि पायी जाती है। पश्चिमकी वर्तमान सभ्य जातियोंमें इन सब दार्शनिक सिद्धान्तोंकी कल्पना भी नहीं पायी जाती। आर्य-जाति स्त्रीजातिको जगदम्बाकी प्रतिकृति समझकर उसकी पूजा करती है; परंतु पश्चिमी सभ्य जातियाँ स्त्रीजातिको केवल भोगविलासकी एक सामग्री समझती हैं और उसकी पवित्रता और अपवित्रताका कुछ भी विचार नहीं रखतीं।

सृष्टि-प्रकरणमें स्त्री और पुरुष—इन दोनोंके पृथक्-पृथक् अधिकारके विचारका स्थान सबसे प्रधान माना गया है। क्या प्राचीन साहित्य और क्या नवीन साहित्य, क्या प्राचीन वैदिक शास्त्र-समूह और क्या नवीन अर्थादि-शास्त्रसमूह और क्या प्राचीन संस्कृतिकी विद्वन्मण्डली और क्या नवीन संस्कृतिके विद्वज्जन—इन सबोंका एकमत इस विषयमें होगा कि स्त्री और पुरुष—इन दोनोंके अधिकारका प्रश्न सब तरहके सृष्टि-प्रकरणमें सबसे प्रधान तथा परमावश्यक है; परंतु अज्ञानके कारण ऐसे बड़े आवश्यक विषयपर बहुत कम लोग ध्यान दे रहे हैं। वर्तमान समयकी राजनीतिक उथल-पुथल, सामाजिक उथल-पुथल तथा धार्मिक उथल-पुथलकी सन्धिमें सबसे पहले स्त्री और पुरुषके अधिकार-विज्ञानपर ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

वेद और वेदसम्मत शास्त्र-समूह एकवाक्य होकर बताते हैं कि सृष्टिकी आदि अवस्थामें सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्माजीने जब सृष्टिका प्रारम्भ किया, तब उस समय सबसे पहले सनक, सनन्दन आदि पूर्णावयव मनुष्यरूपी महात्माओंकी सृष्टि हुई। वे पूर्णावयव होनेके कारण उनमें सृष्टिकी वासनातकका सम्बन्ध नहीं पाया गया और न उनसे सृष्टि बढ़ानेका कार्य ही हुआ। उसके बाद भगवान् ब्रह्माजीने दुबारा सृष्टिकी इच्छा की, जिससे प्रजापतिगण पैदा हुए। ये लोग एक प्रकारके देवता थे। उनको आज्ञा देनेपर उनसे मानसिक सृष्टि उत्पन्न हुई—यह सृष्टिकी दूसरी अवस्था है। उसके बाद सृष्टिकी तीसरी अवस्थामें, जबकि सृष्टिके पूर्णावयव जीव उत्पन्न हो गये थे, उस दशामें स्त्री-पुरुषके संयोगसे बैजी सृष्टिका प्रारम्भ हुआ। यही साधारण मैथुनी (लौकिकी) सृष्टिकी पहली अवस्था है। हिंदू-दर्शनशास्त्र इसके पहलेकी अवस्थाको दैवी सृष्टिकी अवस्था मानते हैं। लौकिकी सृष्टिकी अवस्थामें स्त्री और पुरुष दोनोंके अधिकार समान रहनेपर भी नारी-जातिका स्थान प्रधान माना गया है। साधारण तौरपर देखा भी जाता है कि सृष्टि-प्रकरणमें पुरुषोंका कार्य मिनटोंका है, किंतु नारी-जातिका वर्षोंका है। क्योंकि उनको गर्भपालन और शिशुपालन आदि कार्य करने पड़ते हैं। आजकल साइंसकी उन्नतिके साथ-साथ विज्ञानके द्वारा इस बातकी भी पुष्टि हो चुकी है कि उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—इन चारों प्रकारकी जीव-योनियोंमें स्त्री और पुरुषका होना समान रूपसे पाया जाता है। निम्नश्रेणीके उद्भिज्ज जीवोंमें स्त्री-रेणु और पुंरेणु—इन दोनोंके संगमसे सृष्टि होनेके प्रत्यक्ष प्रमाण बताये गये हैं। स्वेदज, अण्डज और जरायुज पिण्डोंकी सृष्टि तथा पूर्णावयव मानव-पिण्डोंकी सृष्टि—सभीमें इस विज्ञानकी सिद्धि होती है।

पिण्ड तीन प्रकारका होता है—उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज; और जरायुज पशुका सहज पिण्ड, मनुष्योंका मानव-पिण्ड और देवताओंका देवपिण्ड। दर्शनशास्त्र, पदार्थविद्याका विज्ञानशास्त्र और लौकिक अनुभव—इन सभीसे प्रमाणित होता है कि सृष्टि-प्रकरणमें स्त्रीजातिकी जिम्मेवारी सबसे अधिक है। स्त्री भूमिरूपा है और पुरुष बीजरूप है। यही कारण है कि वेद और शास्त्रोंने एकवाक्य होकर स्त्रीजातिके लिये यज्ञमूलक आचारोंका उपदेश दिया है। दोनोंके लिये पृथक्-पृथक् धर्म और आचारका होना स्वतःसिद्ध है। इस विषयमें हिंदू-शास्त्र तो एकमत हैं ही, किंतु पृथ्वीके सब चिन्ताशील पण्डितोंको भी एकमत होना ही पड़ेगा; क्योंकि सत्य सत्य ही है।

सृष्टिकार्यको पवित्र रखनेके लिये वेद, स्मृति, पुराण, तन्त्र, हिंदुओंका ज्योतिषशास्त्र और आयुर्वेद आदि सब शास्त्र-समूह एकवाक्य होकर स्त्री-पुरुषके पृथक् अधिकार-विज्ञानकी पुष्टि करते हैं। इस अलौकिक और परमावश्यक विषयकी ओर आधुनिक शिक्षित समाजकी दृष्टि आकृष्ट नहीं हुई है।

स्त्रीजातिकी पवित्रता-रक्षा और आध्यात्मिक विज्ञानसम्मत विवाह-पद्धति

सृष्टि-प्रकरणमें स्त्रीजातिकी पवित्रताकी रक्षा और धर्मानुकूल विवाह-पद्धतिकी प्रथाको स्थायी रखना परमावश्यक है। हिंदू-जातिके अतिरिक्त पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें स्त्रीजातिकी पवित्रताकी रक्षाकी ओर विशेष

ध्यान नहीं है। उन जातियोंमें जैसे युवकोंकी स्वतन्त्रता है, वैसे ही युवतियोंकी भी स्वतन्त्रता रखी गयी है। वय:प्राप्त होनेपर स्त्रियाँ अपनी इच्छासे मनमाने पुरुषोंसे सम्बन्ध कर लेती हैं और पीछेसे उनके अपने-अपने धर्मानुकूल विवाह होता है। विवाह होते ही स्वतन्त्र रीतिसे विवाहित दम्पति आनन्दोत्सव मनानेके लिये बाहर चले जाते हैं और यथेच्छा-विहार करते हैं तथा पतिसे अनबन होनेपर एक-दूसरेसे अदालतके द्वारा विवाह-विच्छेद भी करा लेते हैं। स्त्रीके विधवा होनेपर उनके यहाँ विधवाओंका बार-बार पुनर्विवाह होता है। पृथ्वीके अन्य धर्मावलम्बियोंमें जन्मान्तरवादपर विश्वास न रहनेसे विवाहित दम्पतिके लोकान्तर होनेपर पति-पत्नीका सम्बन्ध स्थायी नहीं मानते। इन सब कारणोंसे अन्य जातियोंमें 'स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध परलोकमें भी स्थायी रहता है' ऐसा विश्वास नहीं है; किंतु वर्णाश्रमी हिंदू-जातिमें जन्मान्तर और लोक-लोकान्तरवादका सम्बन्ध पूर्णरूपसे माना गया है। आर्य स्त्रियोंमें सतीत्व-धर्मका अधिकार सर्वोपरि माने जानेसे उच्च श्रेणीकी आर्य-नारियोंमें विधवा-विवाहकी आज्ञा नहीं है। शरीरकी तो बात ही क्या है, मनसे भी परपुरुषका सम्बन्ध होना आर्य स्त्रियाँ गर्हित समझती हैं। स्वेच्छासे विवाह और विहार न होने देना ही वेद और स्मृतिकी आज्ञा है। हिंदू-जातिका विवाह एक बड़ा भारी धर्मकार्य है। हिंदूका विवाह इन्द्रिय-सुखभोगके लिये नहीं, बल्कि परलोकगत पितरोंको चिर-सहायता पहुँचानेके लिये माना गया है। हिंदू-शास्त्रके अनुसार विवाहकी आठ श्रेणियाँ बतायी गयी हैं—यथा ब्राह्म, आर्ष, दैव, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच। इन आठ श्रेणियोंके विवाहोंमेंसे ब्राह्मणजातिमें प्रथम चार श्रेणियोंके विवाह उपादेय हैं और पीछेकी चार श्रेणियोंके विवाह हेय हैं। क्षत्रियजातिके लिये अन्य विवाहोंके उदाहरण भी कहीं-कहीं पाये जाते हैं; परंतु उनके द्वारा कन्याका संग्रह होनेपर भी पीछेसे शास्त्रोक्त विवाह करनेकी विधि है, जैसे राजाओंके वहाँ गान्धर्व-विवाह हो जानेपर भी पीछेसे शास्त्रोक्त विवाह-विधिकी पूर्णता की जाती है। हिंदू-शास्त्र-समूहका सिद्धान्त यह है कि कन्यामें रजोधर्म हो जानेसे पूर्व कन्याके चित्तको पतिदुर्गद्वारा सुरक्षित कर देना चाहिये। क्योंकि रजोधर्म पूर्णवयस्काका लक्षण है और पूर्णवयस्का कन्या होनेपर उसमें कामादिकी चेष्टा होना भी स्वाभाविक है, इस कारण आध्यात्मिक-उन्नतिशील हिंदू-जातिमें वाग्दानकी प्रथा पहलेसे ही प्रचलित है और पूर्णवयस्का होनेसे पहले कन्याका चित्त पतिदुर्गद्वारा सुरक्षित हो जानेपर उसमें अपवित्रता-अनाचारका बीज पैदा ही नहीं होने पाता और सतीत्वका बीज सुरक्षित रहता है। इस कारण स्वेच्छा-विवाहका अनादर आर्य-संस्कृतिमें चिरकालसे चला आता है। आर्य-संस्कृतिमें दम्पतिके भेदका कुछ दिग्दर्शन तन्त्र और पुराणोंके आधारपर नीचे कराया जाता है। त्रिगुणसम्बन्धी भेदके अनुसार नर और नारी तीन प्रकारके होते हैं—सात्त्विक गुणमोहित, राजसिक रूपमोहित और तामसिक नर-नारी काममोहित होते हैं। नर-नारियोंकी मिथुनी-भूतकालमें भी तीन दशाएँ होती हैं—सात्त्विककी प्राकृतदशा, राजसिककी विकृतदशा और तामसिककी उन्माददशा होती है। प्राकृतदशा मुक्तिप्रद है, विकृतदशा स्वर्गप्रद है और उन्माददशा नरकप्रद है—यों समझना चाहिये। सात्त्विक स्वल्प-मैथुनसेवी, राजसिक कामुक किंतु विचारवान् और तामसिक नर-नारी घोर कामासक्त तथा अविचारी होते हैं। सात्त्विक नर-नारी ज्ञाननिरत तथा परस्परार्थी होते हैं, राजसिक भोगनिरत और स्वार्थी होते हैं तथा तामसिक नर-नारी विचाररहित, प्रमादी, कामभोगपरायण और अनर्थकारी होते हैं। सात्त्विक नर-नारी पवित्र ज्ञान-कुशल, राजसिक अद्भुत क्रियाशील और तामसिक पशुभावके सदा पक्षपाती होते हैं। सात्त्विक स्वभावत: धीर, राजसिक चंचल और तामसिक उन्मादी होते हैं। सात्त्विक नित्य प्रेमिक, राजसिक कुटिल और तामसिक निर्लज्ज होते हैं। सात्त्विक नर-नारीकी संगम-दशामें अध्यात्मकी ओर लक्ष्य और एक-दूसरेके आनन्दमें तत्परता, राजसिकका एकमात्र कामज सुखकी ओर लक्ष्य और भोगमें तत्परता तथा तामसिकका केवल अपना-अपना लक्ष्य और प्रमाद-जनित सुखमें तत्परता रहती है। सात्त्विक नर-नारियोंके चित्तमें ही आत्मज्ञान और धर्मका पूर्ण स्वरूप प्रकाशित हो सकता है। स्त्री और पुरुष यदि समान प्रकृति, प्रवृत्ति और धर्मवाले होकर सात्त्विक लक्षणोंको धारण कर सकें तो उनके लिये अभ्युदयकी तो बात ही क्या, मुक्ति भी अति सुलभ है। यदि दोनों स्त्री-पुरुष ज्ञानी भक्त होकर जन्म ग्रहण करें तो ऐसा लोकातीत मेल हो सकता है। साधारणत: शास्त्रमें पुरुष और स्त्रीकी जो

चार श्रेणियाँ बाँधी गयी हैं, उनमें उनके शरीरके लक्षण और मापका हिसाब भी दिया गया है। जिनका माप कम है, वे उत्तम समझे जाते हैं, यह विचित्रता है, जो ध्यान देनेयोग्य है। तन्त्र और पुराण आदि शास्त्रोंमें पुरुष और स्त्रीके सोलह-सोलह भेद कहे गये हैं। शश, मृग, वराह और अश्व—ये पुरुषकी चार श्रेणियाँ होती हैं। प्रत्येक श्रेणीमें प्रत्येकका अन्तर्भाव होनेसे पुरुषकी सोलह श्रेणियाँ होती हैं। पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी—ये चार श्रेणियाँ स्त्रियोंकी होती हैं। इन चारोंमें प्रत्येकमें प्रत्येकका अन्तर्भाव होनेसे स्त्रीकी भी सोलह श्रेणियाँ हुईं। यदि इन सोलह प्रकारके पुरुष और सोलह प्रकारकी स्त्रियोंमें ठीक-ठीक समान श्रेणीमें दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थापित हो तो वह दोनोंके अभ्युदय और निःश्रेयसका कारण होता है। दोनोंमें स्त्रीकी श्रेणी यदि उच्च हो तो सात श्रेणियोंतक नारीकी प्रकृति सामंजस्यकी रक्षा करती है और अभ्युदयका क्रम बना रहता है। सात श्रेणीके अनन्तर अशान्ति, रोग और दुःख होता है। पुरुषका यथाक्रम सामंजस्य बना रहता है। तदनन्तर सृष्टिकी सामंजस्य-रक्षामें बाधा होती है। स्त्रियाँ और पुरुष यदि अपने-अपने धर्मसे च्युत हो जायँ तो सृष्टिका सामंजस्य ठीक-ठीक नहीं रहने पाता। क्योंकि नारीधर्म 'तपःप्रधान' है और पुरुषधर्म 'यज्ञप्रधान' है। नारीके लिये ही श्री, मधुर वचन, त्रिविध पवित्रता, स्वार्थरहितता, पातिव्रत्य, वात्सल्यभाव, सेवापरायणता और पुरुषोंके उपयोगी भावोंमें भावित होनेमें सदा रुचि—ये आठ ही उत्तम गुण कहे गये हैं। पुरुषोंके लिये अपने वर्णाश्रमाचारका सदा प्रतिपालन ही उत्तम गुण कहा गया है। स्त्री और पुरुषकी परीक्षा बहुत ही कठिन है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा-युक्त ज्ञानी भक्त ही यथार्थ रूपसे स्त्री-परीक्षा और पुरुष-परीक्षा करनेमें समर्थ होते हैं। सामुद्रिकविद्या, स्वरोदयविद्या और ज्यौतिषविद्या आदिके द्वारा भी दोनोंकी परीक्षा की जाती है।

दाम्पत्य-सम्बन्ध करनेके लिये जिन पचीस बातोंपर ध्यान देना अभ्युदय और कैवल्यकी इच्छा रखनेवालोंको आवश्यक है, वे ये हैं—यथा कुल, शरीर, गण, योनि, ग्रह, राशि, दिन, माहेन्द्र, स्त्री-दीर्घ, राशिका अधिपति, रज्जु, वश्य, वेध, वर्णकूट, नाड़ीभूतलिंगाख्यकूट, योगिनी, गोत्र, जाति, पक्षिकूटक, तारा, भकूट, प्रवृत्ति, इन्द्रियदार्ढ्य, बुद्धि और पचीसवाँ—भाव। यदि समानाधिकारमें कल्याणकारी दाम्पत्य-सम्बन्ध हो तो अभ्युदयकी तो बात ही क्या, निःश्रेयस भी सुलभ है। ऐसा दाम्पत्य-सम्बन्ध होनेपर देवता, ऋषि और पितरोंकी प्रसन्नता होती है, कुल पवित्र होता है तथा दम्पति स्वयं ज्ञानवान् होकर एवं पूर्ण-ज्ञान-सम्पन्न सन्तान प्राप्तकर जगत्को धन्य करते हुए स्वयं भी धन्य होते हैं।

जिन दार्शनिक विज्ञान और सत्यपर वर्णाश्रमी आर्य-जातिके स्त्री-पुरुषोंका विवाह-संस्कार प्रतिष्ठित है, उसकी कल्पनातक पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें नहीं है और न उनके आचार-विचारमें हो सकती है। इस कारण पृथ्वीकी इस वर्तमान उथल-पुथलके दिनोंमें केवल इन्द्रिय-सुखको लक्ष्य करके हिंदुस्थानके नेतृवृन्दोंको बिना पूर्वापर-विचार किये विपथगामी नहीं होना चाहिये। उनको यह विचार लेना चाहिये कि आर्य-जातिका आध्यात्मिक लक्ष्य कहाँसे कहाँतक है और आर्योंके नारीधर्म और पुरुषधर्मके अधिकार निर्णय करनेमें हमारे पूर्वजोंने कितना सूक्ष्म विचार और दूरदर्शिताका काम किया है।

हिंदुस्थानके हिंदूलोग स्त्री-पुरुषोंके अधिकारविज्ञान और विवाह-पद्धतिके सिद्धान्तको परम आवश्यक धार्मिक सिद्धान्त समझते हैं; क्योंकि ये सब मौलिक विचार स्त्री-पुरुषोंके भविष्यत्को सँभालनेवाले हैं, वंशकी संस्कृति स्थिर रखनेवाले हैं और जातिको पवित्र रखनेवाले है। कन्या और वर दोनोंके स्वेच्छाचारी होकर विवाह करनेकी आज्ञा आर्यजातिमें नहीं है; क्योंकि काम पशुभावका स्वाभाविक प्रेरक है। युवती कन्या और युवक—इन दोनोंमें संसारका अनुभव नहीं होता। इस कारण उनसे बड़ी-बड़ी भूलें हो सकती हैं। पिता-माता और पारिवारिक गुरुजनोंमें अनुभव अधिक होता है। अतः उनसे प्रमाद होनेकी सम्भावना कम होती है। इस कारण विवाहप्रथामें युवक और युवतियोंको स्वाधीनता न देकर उनको नियन्त्रित किया जाय, यही आर्य-संस्कृति है। कन्या-अवस्थामें बालिकाओंको देवीरूप समझना, उनके सामने कभी काम-चेष्टाकी बातें करना भी पापजनक समझना, बाल्यावस्थासे ही उन्हें धार्मिक शिक्षा देना और धार्मिक व्रतादि कराना, तुलसी-अन्नपूर्णा आदिकी पूजा कराना, कन्याके रजस्वला होनेसे पहले ही उसका विवाहसंस्कार कर देना, प्रथम रजोदर्शनमें गर्भाधान-संस्कार कराके देवता, ऋषि और

पितरोंका संवर्धन कराते हुए गर्भाधान-संस्कारकी विधि सम्पन्न करना—ये सब बातें आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक हैं। पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें इस प्रकारकी पवित्रताके साधक संस्कारोंका नामतक नहीं है। वहाँ विवाह पशुधर्मका एक सहायक मात्र है।

संस्कार

अब गर्भाधानसे लेकर शरीरान्तपर्यन्त आर्य-जातिके आचारोंके विशेषत्व और महत्त्वके सम्बन्धमें प्रकाश डाला जाता है। साथ-ही-साथ लोककल्याण-बुद्धिसे तुलनात्मक गवेषणा की जायगी। आर्य-जातिमें विवाह-संस्कार सबसे बड़ा शास्त्रीय संस्कार है—जिसका सम्बन्ध केवल इसी लोकतक नहीं, किंतु लोक-लोकान्तरतक माना गया है। पृथ्वीकी अन्य सभ्य जातियों और विभिन्न धर्मावलम्बियोंमें विवाह स्थायी संस्कार नहीं है और न उसका सम्बन्ध शरीरान्तके उपरान्त माना ही गया है। उनमें इन्द्रिय-सुखकी चरितार्थता और इस जन्ममें सामयिक सुख-प्राप्तिके अतिरिक्त कुछ नहीं माना गया है। उनके यहाँ विवाह-विच्छेद साधारण-सी बात है; किंतु आर्य-संस्कृतिमें विवाह-विच्छेद हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि आर्य-जातिने विधवाका विवाह होना अशास्त्रीय माना है। छोटी जातियोंमें विधवाविवाह प्रचलित है; परंतु वह 'विवाह' नहीं, 'नाता' कहाता है। द्विजोंमें तो विधवाविवाह अधर्म समझा जाता है; क्योंकि विधवाविवाह प्रचलित होनेपर त्रिलोक-पवित्रकारी सती-धर्मपर आघात पहुँचता है। आर्य-जातिमें विवाह-संस्कारका सबसे बड़ा उद्देश्य यह रखा गया है कि विवाह परलोकगामी पितरोंके आवागमन-चक्रमें श्राद्धादिसे सन्तति सहायता करे और यही कारण है कि इसी सिद्धान्तके अनुसार दायभागकी व्यवस्था बाँधी गयी है। इन सब सूक्ष्म विषयोंपर आजकलके नवशिक्षित सज्जन कभी ध्यान ही नहीं देते और मनमाने विधानोंको बनानेकी चेष्टा किया करते हैं। वे यह भी नहीं सोच सकते कि कानूनद्वारा सत्यकी जड़ काटना असम्भव है। सत्य सूर्यके समान सत्य ही है। सूर्य कभी-कभी बादलोंसे ढक जाता है; परंतु वह ढँकना सामयिक होता है।

पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें विवाहका काल निश्चित नहीं किया गया है और न स्त्रीसंभोगके लिये कोई आध्यात्मिक लक्ष्य ही रखा गया है। हनीमून-जैसे वैषयिक आनन्दप्रद आचार उनमें किस प्रकार प्रचलित हैं, सभी जानते हैं। आर्य-संस्कृतिमें रजोदर्शनसे पूर्व विवाहसंस्कार करनेकी दृढ़ आज्ञा है। यदि ऐसा हो जाय कि विवाहसे पहले ही कन्यामें रजोदर्शन होने लगे तो प्रत्येक रजोदर्शनमें पिताको प्रायश्चित्त करके शुद्ध होनेकी आज्ञा है। प्रथम रजोदर्शन होनेके अनन्तर पशु-धर्मके अनुसार स्त्री-सम्बन्ध न करके ऋषि-देवता और नित्य-नैमित्तिक पितरोंका संवर्धन करते हुए एक संस्कार करनेकी आज्ञा है, जिसे 'गर्भाधान-संस्कार' कहते हैं। तदनन्तर काम-वृत्तिसे नहीं, धर्म-वृत्तिसे स्त्रीसम्बन्ध करनेकी आज्ञा आर्य-शास्त्र देते हैं। तदनन्तर पूर्णिमा, अमावास्या आदि पुण्य तिथियों तथा अशास्त्रीय वार, कुयोग, पर्वदिन, आशौचके दिन आदि दिनोंको छोड़कर धर्म-बुद्धिसे युक्त होकर स्त्री-संसर्ग करनेकी आर्य-शास्त्र आज्ञा देते हैं। इसके विरुद्ध चलनेका धर्मशास्त्र निषेध करते हैं। अपनी उम्रसे अधिक उम्रकी कन्यासे विवाह करना आर्य-शास्त्रमें निषिद्ध है। गोत्र और प्रवरका सम्बन्ध इस कल्पके प्रारम्भसे ही माना गया है और अपने गोत्र तथा प्रवरसे सम्बद्ध कन्यासे विवाह करना मातासे विवाह करनेके समान समझा गया है। जन्मसे जाति मानना, अपनी जातिकी कन्यासे विवाह करना और रजोदर्शनसे पहले विवाहसम्बन्ध करना आर्यविवाहके लक्षण हैं। कामज विवाह अन्य जातिकी स्त्रियोंके साथ दूसरे युगोंमें हो सकता था; किंतु वह भी अनुलोम विवाह हो सकता था, प्रतिलोम नहीं। अपनेसे निम्न जातिकी स्त्रीसे विवाह करना अनुलोम और उच्च जातिकी स्त्रीसे विवाह करना प्रतिलोम कहाता है। प्रतिलोम नरकका कारण होता है और उसकी सन्तति पतित समझी जाती है। अनुलोम सन्तति माताकी जातिकी होती है। ब्राह्मण यदि शूद्रासे विवाह करे, तो उसकी सन्तति शूद्र ही मानी जायगी। पृथ्वीकी किसी अन्य सभ्य जातिमें विवाहके ऐसे दूरदर्शितापूर्ण नियम नहीं पाये जाते और स्मृतिशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र एकमत होकर यह सिद्ध करते हैं कि इन्हीं सब मौलिक कारणोंसे आर्य-जाति सृष्टिके आरम्भ-कालसे अबतक अपने स्वरूपमें जीवित है। पृथ्वीकी अन्य मनुष्यजातियाँ, जिनमें रजोवीर्य-शुद्धि और वर्ण-धर्मकी शृंखला नहीं है, पतित हो गयीं और कालके कवलमें पहुँच गयीं। प्राचीन इतिहास और आधुनिक इतिहास हाथ उठाकर

इसकी साक्षी दे रहे हैं।

आर्य-संस्कृतिके अनुसार वेद, स्मृति और तन्त्रमें सब मिलाकर ४२ संस्कार पाये जाते हैं। उनमेंसे १६ मुख्य हैं, जिनकी मीमांसा वेदके 'कर्ममीमांसा' दर्शनमें की गयी है। संस्कारको भी मीमांसा-शास्त्रमें कर्मका बीज कहा है। जैसे बीजसे वृक्षकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही संस्कारसे कर्म प्रकट होता है। सुकौशलपूर्ण उपायद्वारा ये १६ संस्कार ऐसे बाँधे गये हैं कि विधिपूर्वक उनका अनुष्ठान हो तो ये ही १६ संस्कार, जिनमें अन्य सब संस्कारोंका अन्तर्भाव है, मनुष्यको प्रथम ८ संस्कारोंद्वारा प्रवृत्तिमार्गमें पूर्णोन्नति देते हैं और शेष ८ संस्कारोंद्वारा मुक्तिभूमिमें पहुँचा देते हैं। इन सोलह संस्कारोंमें प्रथम संस्कार गर्भाधान-संस्कार है और अन्तिम संस्कार संन्यास-संस्कार है। आर्य-शास्त्रोंने यह भलीभाँति सिद्ध किया है कि यदि माता और पिता दोनों सात्त्विक बुद्धिसे तथा अन्तःकरणसे इच्छा करें और विधिपूर्वक सावधान होकर संस्कार करें तो जैसी चाहें, वैसी सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। दम्पतिका साक्षात् सम्बन्ध दैवी जगत्से बाँधनेके लिये गर्भाधान-संस्कार किया जाता है। तदनन्तर कोई भी दैवी कार्य बिना स्त्री और पुरुष दोनोंके एकत्र हुए सम्पन्न नहीं हो सकता। इसीसे गठबन्धनकी प्रणाली हिंदू-जातिमें सर्वत्र प्रचलित है। इस प्रकार दोनों एकत्र होकर दैवी कार्य करें तो वहाँ एक दैवी पीठ बन जाता है। ये सिद्धान्त आर्य-संस्कृतिके मूलभूत हैं। पृथ्वीकी जो अन्य अवैदिक जातियाँ हैं, उनमें इन पवित्र सिद्धान्तोंकी गन्धमात्र भी नहीं है। ऐसे गूढ़ रहस्यपूर्ण शास्त्रीय विषयोंका विचार न करके आजकलके नेतृवृन्द जो पश्चिमी जातियोंका अनुकरणकर हिंदू-जाति, हिंदू-संस्कृति, हिंदू-धर्म और हिंदू-आचार-विचारोंमें विप्लव मचाना चाहते हैं—यह कितनी हानि और अदूरदर्शिताका कार्य है, इसे विचारशील पुरुष सुगमताके साथ समझ सकते हैं।

हिंदू-शास्त्रोंका यह सिद्धान्त है कि जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही वृक्ष होता है। अवश्य ही वृक्षोत्पत्तिमें और भी कई वस्तुओंकी आवश्यकता होती है—जैसे देश, काल, जल, भूमि आदि; किंतु सबसे अधिक महत्त्व बीजका है। वैदिक, पौराणिक, स्मार्त और तान्त्रिक संस्कारोंका तात्पर्य यही है कि द्रव्य-शुद्धि, क्रिया-शुद्धि और मन्त्र-शुद्धिसे सुकौशलपूर्ण रीतिपर इन वैदिक संस्कारोंके द्वारा अन्तर्जगत्में ऐसी शक्ति उत्पन्न की जाती है कि वही शक्ति समयान्तरमें वैसे ही वृक्ष और फलकी उत्पत्ति करती है, जैसी इच्छा बीजरोपणके समयमें संकल्पद्वारा की गयी थी। दार्शनिक विषयोंको समझनेके लिये दर्शनोंके अनुशीलनकी आवश्यकता है। इसीसे संस्कारशुद्धिके बलसे भारतवर्षमें (पृथ्वीमें) हिंदुस्थान (भारत-द्वीप) एक अनोखी भूमि है, जहाँ 'अर्थ' और 'काम' की अपेक्षा 'धर्म' और 'मोक्ष' को प्रधान माना जाता है और मनुष्य-जीवनमें आध्यात्मिक उन्नतिको ही श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। इसी अनादिसिद्ध संस्कार-शुद्धिके बलसे भारतखण्ड (हिंदुस्थान)-में अनेक प्रान्त और भाषाएँ होनेपर भी सम्पूर्ण भारत एक राष्ट्र माना गया है, जिस राष्ट्रमें निवृत्ति-परायण धन-ऐश्वर्यकी उपेक्षा करनेवाली, तपःस्वाध्यायनिरत ब्राह्मणजाति स्वाभाविक नेता समझी जाती है, जिसके शिष्ट लोगोंकी राष्ट्रभाषा संस्कृत है और जिसके सब ग्रन्थ अनादिकालसे संस्कृतमें ही बने हैं, जिसके सब शास्त्रीय संस्कार संस्कृतमें ही होते हैं। कोई कुछ भी कहे, किंतु ऐसी स्थायी और अपरिवर्तनीय अवस्था संसारकी किसी जातिमें नहीं पायी जाती।

सृष्टि होनेके सूत्रपातकी दशामें स्त्रीरूपी पीठमें दैवी जगत्से गर्भाधानके द्वारा सम्बन्ध बाँधा जाता है। तदनन्तर शुद्धाचारके द्वारा दैवी जगत्को सामने रखकर सृष्टि उत्पन्न की जाती है। पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म और नामकरण आदि संस्कार दैवी जगत्से सम्बन्ध-स्थापनके लिये ही किये जाते हैं। यथासमय 'चूडाकर्म' तो हिंदू-जातिके सब वर्णोंमें होता है। इसका कारण यह है कि बालककी शिखा रखाकर उसका दैवी जगत्से सम्बन्ध कराया जाता है और उसका उत्तमांग (सिर) देव-मन्दिरके रूपमें परिणत किया जाता है। द्विज-बालकोंका यथासमय 'यज्ञोपवीतसंस्कार' कराके उसे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शुद्धिके लिये तीन लड़ोंका जनेऊ पहनाया जाता है और आजीवन व्रत धारण कराके उसको आध्यात्मिक जीवनके लिये प्रतिज्ञाबद्ध कराया जाता है। इसके अनन्तर बालककी पाठ्यावस्था आरम्भ होती है, जिसमें गुरुका प्राधान्य रखा गया है और गुरुका अधिकार सर्वोपरि माना गया है। तदनन्तर 'विवाहसंस्कार' होता है, जो स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये प्रवृत्तिमार्गका सबसे बड़ा संस्कार है। इस संस्कारमें स्त्री और पुरुषका पृथक्-

पृथक् उत्तरदायित्व बताया जाता है और वह उत्तरदायित्व इसी जन्मतक सीमित न रहकर जन्म-जन्मान्तरतक बना रहता है। विवाहित दम्पति हिंदू-संस्कृतिके अनुसार केवल अपने ही गार्हस्थ्य-जीवनकी सुख-समृद्धिके लिये उत्तरदायी नहीं, किंतु समस्त ब्रह्माण्डकी सुख-समृद्धिके लिये उत्तरदायी होते हैं। यह महत्ता संसारकी किसी जातिमें नहीं पायी जाती। हिंदू-जातिका पंचमहायज्ञ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह स्थूल संसार दैवी जगत्की सहायतासे सुरक्षित रहता और परिचालित होता है। दैवी जगत्के संचालकोंमें ज्ञानके प्रवर्तक होनेसे भृगु, वसिष्ठ और अंगिरा आदि महर्षियोंका स्थान सबसे ऊँचा है। उनके संवर्धनके लिये नित्य यज्ञ करना प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य है। यह 'ऋषियज्ञ' है। अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, देवराज इन्द्र, धर्मराज, यम आदिके संवर्धनके लिये प्रतिदिन नियमित रूपसे 'देवयज्ञ' करनेकी आज्ञा है; क्योंकि कर्मके दाता उक्त-पदधारी देवता ही समझे जाते हैं। तीसरे महायज्ञका नाम है 'पितृयज्ञ'। पितृगण एक प्रकारके देवता हैं, जो नित्यपितृ कहलाते हैं। उनकी कृपासे कुल—वंश और मनुष्य-समाजकी सुरक्षा होती है और स्त्रीकी गर्भावस्थामें उन्हींकी कृपासे गर्भके अन्तर्गत पूर्वकर्मानुसार देह बनता है। नैमित्तिक पितृ वे कहाते हैं, जो हमारे पितर शरीरान्तके पश्चात् पितृलोकमें पहुँचते हैं और आवागमनके नियमानुसार फिर लौटकर इसी लोकमें आ जाते हैं। इनके संवर्धनके लिये जो यज्ञ किया जाता है, वह 'पितृयज्ञ' कहाता है और यह श्राद्ध-तर्पणके द्वारा भी होता है। तर्पणकी यहाँतक महिमा है कि तर्पणके द्वारा साधक मिनटोंमें पंचमहायज्ञका यजन कर सकता है। चतुर्थ महायज्ञका नाम है 'भूतयज्ञ'। मनुष्यके अतिरिक्त संसारकी अन्य जो जीव-सृष्टि है, वह चार श्रेणियोंमें विभक्त है और वे चारों श्रेणियाँ स्वतन्त्ररूपसे देवताओंद्वारा परिचालित और संवर्द्धित होती हैं। जैसे वृक्षादिकी उद्भिज्ज सृष्टि, जो रोग उत्पन्न करती और नीरोगता भी उत्पन्न करती है; उसके बादकी स्वेदज-सृष्टि—जैसे जूँ, खटमल इत्यादि; अण्डेमें उत्पन्न होनेवाली अण्डज सृष्टि—पक्षी, मछली, सर्प आदिकी सृष्टि और चौथी सृष्टिका नाम है जरायुज सृष्टि—जैसे मृग, गाय, घोड़ा और हाथी आदि। मनुष्यकी सृष्टि यद्यपि जरायुज ही है, फिर भी वह उक्त स्वाभाविक जीव-सृष्टिसे भिन्न है; क्योंकि उसको धर्माधर्मका अधिकार प्राप्त हो जाता है। हिंदू-धर्मके महत्त्व, उदारता और आचारकी व्यापकताका यह ज्वलन्त प्रमाण है कि वह कृतज्ञताके वश होकर चतुर्विध भूतसंघके कल्याणके लिये प्रतिदिन भूतयज्ञका आदेश देता है। हिंदू-जातिका पंचम महायज्ञ 'नृयज्ञ' कहाता है। अपने भोजनसे पहले किसी वर्ण, किसी आश्रमका मनुष्य हो, आर्य-अनार्य, किसी जाति या देशका हो, उसे देवता समझते हुए पहले भोजन कराकर पीछे गृहस्थको स्वयं भोजन करनेकी विधि है। अतिथि-सेवा भी इसी महायज्ञका अंग माना जाता है। जो अदूरदर्शी सज्जन हिंदुओंके ऊँच-नीचके अधिकारभेद और मनुष्योंमें स्पर्शास्पर्शविवेक और जातिभेद आदि माननेका कलंक लगाते हैं, वे यदि समाहित-अन्तःकरण होकर शान्तिसे विचार करेंगे तो देखेंगे कि भगवान्की सर्वव्यापी शक्ति तथा अनन्त प्राणियोंकी एकताका अनुभव, स्थूल और सूक्ष्म लोकोंका सम्बन्ध और मनुष्यमात्रमें भ्रातृभाव-स्थापनाका अधिकार जैसा हिंदू-जाति और हिंदू-धर्ममें है, वैसा न कहीं देखनेमें आता है, न सुननेमें ही आता है।

प्रवृत्ति-धर्मकी पूर्णता गार्हस्थ्यमें हो जाती है—वह कैसे होती है सो ऊपर बताया गया है। तदनन्तर आर्यजीवनमें निवृत्ति-धर्मका अधिकार प्रारम्भ हो जाता है। उस समय जो आश्रम आरम्भ होता है, उसका नाम वानप्रस्थ है। यह तृतीय आश्रम है। इस आश्रममें पुरुष अकेला रह सकता है और स्त्रीको भी साथ रख सकता है। सब इन्द्रियादिको वशमें लानेके लिये वह तपस्याके द्वारा प्रयत्न करता रहता है। प्राचीनकालके ऋषि-मुनिगण प्रायः वानप्रस्थ ही हुआ करते थे, जिनका विवरण पुराण आदि शास्त्रोंमें पाया जाता है। तदनन्तर अन्तमें जो आश्रम ग्रहण किया जाता है, उसका नाम है 'संन्यास'। आजकल जैसी पृथ्वीभरमें प्रथा है कि एक गृहस्थाश्रमके ढंगपर ही समस्त जीवन व्यतीत करते और निवृत्तिकी ओर ध्यान भी नहीं देते, यह अनार्यप्रथा है। प्रकृति-माता जैसा इंगित करती है, मनुष्यको उसीका अनुसरण करना चाहिये। नहीं तो जीवका नीचे गिरना स्वाभाविक है। इस कारण प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म यथासमय अवश्य पालनीय हैं। संन्यासाश्रमके चार पृथक्-पृथक् अधिकार हैं—कुटीचकधर्म, बहूदकधर्म, हंसधर्म और परमहंसधर्म। इनके अलग-

अलग साधन और आचार हिंदू-शास्त्रोंमें पाये जाते हैं, जो संन्यास-गीता और संन्यास-पद्धतिमें द्रष्टव्य हैं। इस समय यद्यपि इसमें व्यतिक्रम दीख पड़ता है, तथापि जो व्यवस्था बाँधी गयी है, वह सर्वोत्तम है।

इस प्रकार जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त संस्कारोंसे संस्कृत होकर मनुष्य कैसी नियमित उन्नति कर सकता है, इसकी विस्तृत पद्धति हिंदू-धर्ममें ही है और हिंदू-जातिके अध:पतन होनेपर भी ये सब संस्कृतिके लक्षण हिंदू-जातिमें ठीक-ठीक मिलते हैं। इस समयके नेतृवृन्दोंको सबसे पहले हिंदू-संस्कृतिका अध्ययन करके अन्य संस्कृतियोंके साथ तुलनात्मक गवेषणा करनी चाहिये। तत्पश्चात् हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा करते हुए यदि वे सामाजिक सुधारमें ध्यान देंगे, तभी वे सफल होंगे, नहीं तो ऐहिक और पारलौकिक पतनके कारण होंगे।

हिंदू-संस्कृतिके सोलह मूलाधार

आर्य-जाति जो धर्म-प्राण है, उसके प्राण-स्वरूप हिंदू-धर्मके सोलह अंग प्रधान हैं। पूज्यपाद महर्षियोंने सनातन हिंदू-धर्मको सोलह प्रधान अंगोंमें विभक्त किया है और इस धर्मको पूर्णचन्द्रकी तरह सोलह कलाओंसे पूर्ण बताया है। हिंदू-धर्मके ये ही सोलह अंग हिंदू-संस्कृतिके मूलाधार हैं—

(१) धर्मानुकूल शारीरिक व्यापार-रूपी सदाचारसमूह इसका प्रथम अंग है। (२) आत्माकी ओर ले जानेवाले यावत् विचार सद्विचार कहाते हैं। यह उसका दूसरा अंग है। एक दूसरे अंगकी पूर्तिके लिये आर्यजाति शिखा-सूत्र धारण करती है। शिक्षाके द्वारा यह शरीर देव-मन्दिर समझा जाता है। शिखा-बन्धनके समय ब्रह्मा, विष्णु और महेशका ध्यान किया जाता है। सूत्रमें जो तीन लड़ें होती हैं, वे अध्यात्मशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अधिभूतशुद्धिकी द्योतक हैं। (३) वर्ण-धर्म सनातन धर्मका तीसरा अंग है। क्योंकि रजोवीर्य-शुद्धिसे ही जातिकी शुद्धि बनी रहती है और जातिकी आधिभौतिक शुद्धि पिताके वीर्य और माताके रजकी शुद्धिपर निर्भर रहती है। (४) जातिकी इस शुद्धिका मूल माताओंके सतीत्वधर्मके पालनपर ही सम्पूर्ण रूपसे निर्भर है। इस कारण आर्यनारियोंमें सतीत्वका प्राधान्य रहता है और यह इसका चौथा अंग है। (५) हिंदू-जातिके धर्मका पाँचवाँ अंग आश्रम-धर्म है। इसके द्वारा मनुष्य-जातिका जीवन व्यवस्थित रहता है। ब्रह्मचर्याश्रममें प्रवृत्ति कैसे की जाती है, इसकी सब तरहसे शिक्षा दी जाती है। गृहस्थाश्रममें धर्मानुकूल प्रवृत्ति करायी जाती है। यहीं जीवनकी समाप्ति नहीं होती। तीसरे वानप्रस्थाश्रममें निवृत्ति सिखायी जाती और चौथे संन्यासाश्रममें निवृत्ति करायी जाती है। इन्हींके द्वारा मनुष्य-जीवनकी सार्थकता होती है। (६) दैव जगत्पर विश्वास हिंदू-धर्मका छठा अंग है। यह स्थूल जगत् सूक्ष्म दैवी जगत्के अधीन होकर सुरक्षित होता है। अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्के प्रतिनिधि होकर हमारे इस चतुर्दशलोकमय ब्रह्माण्डके सृष्टि-कार्यमें भगवान् ब्रह्मा, रक्षाकार्यमें भगवान् विष्णु और प्रलयकार्यमें भगवान् शिव नियुक्त हैं। उनके अधीन रहकर वसु नामक अनेक देवता, रुद्र नामक अनेक देवता और आदित्य नामक अनेक देवता अपने-अपने पदोंपर नियुक्त हैं। दूसरी ओर नित्य ऋषिगण ज्ञानराज्यका संचालन करते हैं और अर्यमा आदि नित्य पितृगण स्थूल राज्यकी सुव्यवस्था करते हैं। पूर्वजन्मार्जित कर्मके अनुसार सुन्दर शरीर, कुरूप शरीर, अन्धता, बधिरता आदि नित्य पितृगण ही माताके गर्भमें सृजन करते हैं। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज आदि चतुर्विध भूतसंघकी व्यवस्था भी देवतागण ही करते हैं। किसी मनुष्यको मारना अथवा बचाना—ये सब काम देवताओं और असुर आदिकी प्रेरणासे ही मनुष्य किया करता है। राजा अथवा विचारपति जब विचार करने बैठता है, तब यदि वह आस्तिक हो तो उसके हृदयमें देवता प्रेरणा किया करते हैं। यही सब दैवीराज्यकी अलौकिक क्रियाएँ हैं। (७) भगवान्की दैवी शक्तिपर स्थिर विश्वास रखकर उनके तथा देवताओं और असुरोंके अवतारोंपर विश्वास करना हिंदू-धर्मका सातवाँ अंग है। (८) योगमूलक और भक्तिमूलक हिंदू-धर्मकी जो उपासना-पद्धति है, वह इसका आठवाँ अंग है। स्थूलध्यानमूलक मन्त्रयोग, ज्योतिर्ध्यानमूलक हठयोग, बिन्दुध्यानमूलक लययोग और निर्गुणध्यानमूलक राजयोग—ये ही योगमार्गके चार भेद हैं। इसीसे हिंदुओंकी उपासना-प्रणाली बहुत विस्तृत है। (९) मूर्ति आदि सोलह प्रकारके दिव्य देशोंमें पीठस्थापन करके सर्वव्यापक भगवत्सत्ताकी उपासना करना हिंदू-धर्मका नवाँ अंग

है। (१०) शुद्धाशुद्धविवेक और स्पर्शास्पर्शविवेक इसका दसवाँ अंग है। यह अंग बहुत गम्भीर विज्ञानसे पूर्ण है। जीवात्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँच कोषोंसे आच्छादित रहता है। शुद्ध्यशुद्धि और स्पर्शास्पर्श-विचारके द्वारा उन कोषोंकी पवित्रता सम्पादन करता हुआ अन्तमें उन्नत साधक मुक्त हो जाता है। इन पाँचों कोषोंके पाँच स्वतन्त्र अपवित्र करनेवाले पदार्थ हैं। अन्नमय कोषके दोषको मल कहते हैं। इस मलका लक्षण तो स्पष्ट ही है। प्राणमय कोषके दोषको विकार कहते हैं। शवादिके स्पर्श करनेसे यह विकारशक्ति बढ़ती है; क्योंकि प्राणमय कोष अन्य कोषोंको लेकर लोकान्तरमें चला जाता है, तब भी मृतदेहमें अन्यकी प्राणशक्तिको खींचनेकी शक्ति बनी रहती है। इसी कारण अवगाहन, स्नान, सुवर्णस्पर्श, अग्निस्पर्श आदिकी विधि श्मशान-यात्राके बाद करनेकी शास्त्राज्ञा है। मनोमय बाधक शक्तिको विक्षेप कहते हैं। यह दोष आशौच, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण आदिके समय आ जाता है, जिसके निवारणके लिये शास्त्रोंमें अनेक उपाय बताये गये हैं। विज्ञानमय कोषके दोषको आवरण कहते हैं और आनन्दमय कोषके दोषको अस्मिता कहते हैं। कर्ममीमांसाशास्त्रमें इन दोषोंसे बचनेके लिये ही शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श-विवेककी विधि बतायी गयी है।

(११) यज्ञों, महायज्ञोंपर विश्वास रखना हिंदू-धर्मका ग्यारहवाँ अंग है। यज्ञ-महायज्ञके हिंदू-शास्त्रमें अनेक भेद कहे गये हैं। जो धर्मकार्य एकाधारमें श्रीभगवान्की प्रसन्नता सम्पादन करके साथ-ही-साथ दैवी राज्यके संवर्द्धनका कारण होता है, उसको यज्ञ कहते हैं। यज्ञ और महायज्ञमें भेद यह है कि साधक अपने ऐहिक और पारलौकिक कल्याणके लिये जो साधन करता है—जैसा कि पुत्रेष्टियाग और अग्निहोत्रादि, उसको यज्ञ कहते हैं और जो जगत्के मंगलके लिये किया जाता है—जैसे पंचमहायज्ञ, उसको महायज्ञ कहते हैं। ऋषियोंकी तृप्तिके लिये किये जानेवाले यज्ञको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं और देवताओंके संवर्द्धनके लिये जो यज्ञ किया जाता है, उसको देवयज्ञ कहते हैं। अर्यमा आदि नित्य पितृगण और अपने मृत पूर्वजोंकी तृप्तिके लिये किया जानेवाला पितृयज्ञ है। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—इस चतुर्विध भूतसंघके मंगलके लिये जो यज्ञ किया जाता है, उसको भूतयज्ञ कहते हैं। एक मनुष्य मनुष्य-जातिका अंग है; इस कारण कर्तव्य-बुद्धिसे भोजनसे पहले जो कोई आ जाय, उसको अन्नादिसे तृप्त करना नृयज्ञ है। ये पंचमहायज्ञ आर्य-जातिके नित्य कर्म हैं; परंतु इस समय इनको लोग बिलकुल भूल गये हैं। (१२) वेदों और वेद-सम्मत स्मृति, पुराण और तन्त्रादि शास्त्रोंमें स्थिर विश्वास रखना हिंदू-धर्मका बारहवाँ अंग है। (१३) कर्म तथा कर्मका बीज, संस्कार और उसकी क्रिया-प्रतिक्रियापर दृढ़ विश्वास रखना हिंदूधर्मका तेरहवाँ अंग है। (१४) जन्मान्तरवादपर विश्वास हिंदूधर्मका चौदहवाँ अंग है। मनुष्य मृत्युलोकमें आता है और जाति, आयु, भोग, प्रकृति, प्रवृत्ति, शक्ति और संस्कार—इन सातोंके अनुसार अपने कर्म-फलको भोगता है और भोग लेनेपर प्रेतलोक, नरलोक, पितृलोक, असुरलोक और स्वर्ग आदि लोकोंमें जाता है और घूम-फिरकर पुनः इस मृत्युलोकमें आ जाता है। इसी निरन्तर घूमनेको आवागमन-चक्र कहते हैं। इसी निरन्तर घूर्णायमान चक्रमें आत्मा या जीवको सहायता पहुँचानेके लिये नाना प्रकारकी श्राद्धविधि, तर्पणविधि और दायभागविधि स्मृतिकारोंने बाँधी है और श्राद्धादिके नाना अधिकार स्मृति-पुराणोंमें वर्णित हैं। आजकल दायभागको जैसा लोग समझते हैं, वैसी दायभागकी विधि साधारण विज्ञानसिद्ध नहीं है। वह बड़ी सद्व्यवस्थासे बाँधी गयी है। (१५) निर्गुण-उपासना और सगुण-उपासनाकी नाना विधियाँ जो हिंदू-शास्त्रोंमें बतायी गयी हैं, वह हिंदू-धर्मका पंद्रहवाँ अंग है और (१६) जीवकी कैवल्य-प्राप्ति इसका सोलहवाँ अंग है। हिंदू-संस्कृतिको समझनेके लिये सबसे पहले ऊपर लिखी इन सब बातोंकी ओर ध्यान देना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति और सूर्य

(लेखक—पू० योगिराज स्वामीजी श्रीमाधवानन्दजी महाराज)

किसी भी राष्ट्रका अस्तित्व उसकी संस्कृतिके कारण बना रह सकता है। संस्कृतिके उदयास्तसे ही राष्ट्रका उदयास्त होता है। भारतीय राष्ट्रके उत्थानका कारण भारतीय संस्कृतिका सर्वात्मना पालन ही हो सकता है और स्वकीय संस्कृतिका त्याग ही अवनतिका मूल है। इस सत्य और तथ्यको समझे बिना जो लोग भारतके उत्थानकार्यमें लगे हैं, चाहे वे बड़े-से-बड़े नेता ही क्यों न हों, वे सफल नहीं हो सकते। हो सकता है कि उन नेताओंकी मानसिक भावनाएँ भारतके कल्याणकी कामनासे प्रेरित हों और उसके लिये उन्होंने अतीतमें अनेक कष्ट भी सहन किये हों; किन्तु जिस पाश्चात्त्य मार्गसे वे अपने तथाकथित पौरस्त्य ध्येयकी ओर जाना चाहते हैं, वह मार्ग उन्हें भारतीय संस्कृतिके निकट नहीं ले जाता, वरं उससे दूर कर रहा है—भले ही इस विपरीत-दिशा-गमनको उनका बुद्धि-चक्षु, जिसपर बिलायती चश्मा चढ़ा है, न देखता हो। अतः अपने मनमें भारतको भव्य बनानेकी स्तुत्य भावना रखते हुए भी '**बलादिव नियोजितः**' की भाँति वे दिग्भ्रान्त होकर उस तरफ खिंचे जा रहे हैं, जिधर जानेमें भारतकी भारतीयताको खतरा है। भारत-भूमिकी ऋषिप्रणीत संस्कृति अथवा प्रकृतिके प्रतिकूल किये जा रहे कार्योंके फलस्वरूप जिस परिवर्तनको वे यहाँ लाना चाहते हैं, वह विकास नहीं, विनाशका कारण होगा और '**विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्**' की उक्तिको चरितार्थ करेगा। खेद है कि हमारे राजनैतिक नेताओंने अंग्रेजोंसे और कई बातें सीखकर भी उनके स्व-सभ्यता-प्रचारके आग्रहको नहीं सीखा।

विश्वमें आदान और विसर्ग, व्यष्टि और समष्टि, आध्यात्मिकता और भौतिकताके जितने सिद्धान्त प्रचलित हैं, उनमें भारतने विसर्ग, समष्टि और आध्यात्मिकताको ही क्यों अपनाया? वह आदान, व्यष्टि और भौतिकताके मनोरम मार्गसे क्यों न गया? यह एक प्रश्न है, जो आजके अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय युवकोंके हृदयमें उठता है। इसके उत्तरमें यहाँ संक्षेपमें इसपर प्रसंगोपात्त प्रकाश डाला जा रहा है। प्रतिदिन किये जानेवाले सन्ध्योपासनमें सूर्योपस्थानके चार मन्त्रोंमेंसे एक मन्त्र इस प्रकार है—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳसूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।

इस मन्त्रने सूर्यको जगत्‌की आत्मा बताकर उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर संक्षेपमें दिया है। अर्थात् जिस प्रकार आत्माका चैतन्यमय प्रकाश प्रत्येक अंगको भिन्न-भिन्न अर्थोंमें संजीवित, प्रकाशित तथा प्रेरित किये हुए है, वैसे ही सूर्यनारायण अपनी सहस्र किरणोंद्वारा हर देशकी प्रकृति और प्रवृत्तिको भिन्न-भिन्नरूपसे प्रकाशित, प्रभावित तथा प्रेरित करते हैं। पिण्डस्थित आत्मा जैसे हाथोंको कार्य करनेकी, पैरोंको चलनेकी, नाकको सूँघनेकी, आँखोंको देखनेकी और कानोंको सुननेकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रवृत्तिमय शक्तियाँ प्रदान करता है, ठीक उसी तरह ब्रह्माण्डके आत्मरूप सूर्यकी भिन्न-भिन्न प्रभाववाली किरणें पृथक्-पृथक् देशोंको भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक और भौतिक प्रवृत्तियाँ प्रदान करती हैं। हमारे शरीरका कार्य करनेवाली इन्द्रियोंको अपना-अपना कार्य करनेकी जो प्रेरणा अथवा प्रवृत्ति मिलती है, उसका प्रकट कारण देह-स्थित आत्मा होते हुए भी मूलस्रोत अथवा उद्गम-स्थान सूर्यमण्डल ही है। वहींसे आत्माके द्वारा शरीरकी सब इन्द्रियोंको अपने-अपने कार्यकी प्रवृत्ति मिलती है। तभी तो उपर्युक्त '**चित्रं देवानाम्**' इस सूर्योपस्थान-मन्त्रके आगेवाले मन्त्रमें प्रत्येक स्वधर्मरत हिंदू प्रातःकालकी पुनीत बेलामें ब्रह्माण्डके आत्मरूप सूर्यदेवसे '**पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः**' कहकर अपनी इन्द्रियोंको सत्प्रेरणा देनेकी प्रार्थना करता है।

सहस्रांशुकी सहस्र किरणोंके पृथक्-पृथक् प्रभाव हैं। सूर्यकी पहली किरण जहाँ आसुरी-सम्पत्तिमूलक भौतिक उन्नतिकी विधायक है, वहाँ उसकी सातवीं किरण दैवी-सम्पत्तिमूलक आध्यात्मिक उन्नतिकी प्रेरणा देनेवाली है। भौगोलिक स्थितिके कारण सूर्यकी सातवीं किरण भारतवर्षमें गंगा-यमुनाके मध्य अधिक समयतक पड़ती है। इसलिये यहाँ भारतवर्षमें अवतारादि और आध्यात्मिकताका प्रसार करनेवाले ऋषि-महर्षि तथा संत पैदा होकर समष्टिके हितमें विसर्गका अर्थात्

त्यागका उपदेश देते आये हैं और देते रहेंगे। यूरोपमें सूर्यकी पहली किरण अधिक समयतक पड़ती है। अत: वहाँके लोग स्वभावत: ही भौतिक उन्नतिकी ओर प्रवृत्तिशील, व्यक्तिवादी और आदानप्रिय होते हैं। उनमें आध्यात्मिकतामूलक त्यागकी भावना प्राय: उत्पन्न ही नहीं होती। उपर्युक्त तरीकेसे सूर्यकी किरणोंके पृथक्-पृथक्रूपमें पड़नेकी सम्भावना सूर्य और पृथ्वीके परस्पर गतियुक्त सम्बन्धके कारण होती है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतकी भारतीय अथवा हिंदू-संस्कृतिसे सूर्य-किरणोंका कितना और कैसा विलक्षण सम्बन्ध है। सूर्यकी इतर किरणोंके भी पृथक्-पृथक स्वभाव अथवा प्रभाव हैं, जिनका विशद विवेचन यहाँ शक्य नहीं।

जिस प्रकार सूर्यनारायण विसर्गमूलक देवता होनेसे विसर्ग अर्थात् त्यागकी शिक्षा देते हैं, उसी प्रकार वे अपने प्रकाशसे बिना किसी भेदके स्थावर-जंगम सृष्टिको प्रकाशित भी करते हैं। कविवर कालिदासने सूर्यदेवके त्यागका वर्णन रघुवंशमें रघुवंशी राजाओंके त्यागकी महिमा गाते हुए यों किया है—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥

श्लोकका तात्पर्य इतना ही है कि सूर्यदेव ग्रीष्मकालमें पृथ्वीके जिस रसको खींचते हैं या ग्रहण करते हैं, उसे चतुर्मासमें हजारगुना करके दे देते हैं। भारतने उनके इस विसर्गसे परहितके लिये त्याग करनेकी शिक्षा ली थी। अतएव भारतीय संस्कृति सूर्यवत् विसर्गमूलक बनी। वास्तवमें विसर्ग ही सब विपत्तियोंके निराकरणका एकमात्र उपाय है। इसका यह अर्थ नहीं कि आदान सर्वथा हेय है। सीमित आदान और असीमित विसर्ग (त्याग) भारतकी विशेषता है। सूर्य-प्रकाशके औदार्य गुणको भी हिंदू-धर्मने अच्छी प्रकार ग्रहण किया है। भारतीय संस्कृतिमें व्यक्तिवादको विशेष स्थान नहीं दिया गया, किंतु व्यक्तिगत आत्मोन्नतिका पूरा-पूरा अवसर दिया गया। बुद्धके अनीश्वरवादको भारतने नहीं माना, किंतु स्वयं बुद्धको दशम अवतारके रूपमें स्थान दिया।

आधुनिक भारतमें पश्चिमकी देखा-देखी आदानका जो प्राधान्य होता जा रहा है, वह उस पाश्चिमात्त्य शिक्षाकी देन है, जिसे अंग्रेजोंने स्व-सभ्यता-विस्तारकी छिपी इच्छासे यहाँ विस्तारित किया। आज कहनेको तो देशमें भारतीयोंका राज्य है, किंतु भारतीय संस्कृतिके विकासके लिये कोई सुदृढ़ प्रयास होता दिखायी नहीं देता। देशमें जबतक भारतीय संस्कृतिके अनुरूप प्राचीनकालकी भारतीय शिक्षा-पद्धतिका अथवा ऋषिप्रणीत मार्गका अनुसरण और अवलम्बन न किया जायगा, तबतक यह देश नामसे 'भारत' (अब तो नाम भी 'भारत' नहीं रहा) होते हुए भी अभारतीय भावोंका शिकार बना रहेगा। अत: भारतीय संस्कृतिके प्रेमी भारतीयोंको इस दिशामें कोई बड़ा प्रयत्न करना चाहिये। उन्हें निराश नहीं होना चाहिये। हजार प्रयत्न करनेपर भी इस देशकी अध्यात्मप्रधान प्रकृतिको बदला नहीं जा सकता; क्योंकि उसका आधारभूत कारण सूर्यकी सातवीं किरण है। अत: वह भारतको आध्यात्मिकताकी ओर खींचे बिना नहीं रह सकती। इस समय भारतकी आध्यात्मिकताका जो विकास रुका हुआ-सा दीखता है, इसका कारण यह है कि भारतको भारतकी प्रकृतिरूप सातवीं किरण जो आध्यात्मिकताकी ओर खींचती है और भारतीयोंको दी जानेवाली पाश्चात्त्य शिक्षा उन्हें पश्चिमकी ओर खींचना चाहती है। अत: भारतीय बीचमें अवरुद्ध होकर 'लटकन्तनाथ' बने हुए हैं अर्थात् संशयमें पड़े हैं; किंतु यह अवस्था अधिक समयतक नहीं रह सकती। **'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'** के अनुसार भारतकी सूर्य-किरणप्रधान प्रकृति भारतीयोंको रास्तेपर लाकर रहेगी। वे यदि स्वयं प्रयत्न करते हैं तो वह सुअवसर शीघ्र आ जायगा। यदि वे स्वयं कोई प्रयत्न नहीं करते तो थोड़ा समय अधिक लग सकता है। जैसे बकरीको गलेमें रस्सी डालकर ले जानेवाले आदमीके साथ-साथ बकरी अपने पैर जल्दी-जल्दी उठाकर चलती है तो समय थोड़ा लगता है और बकरी पग रोप-रोपकर चलती है तो ले जानेवालेको थोड़ी कठिनाई भी होती है और समय भी अधिक खर्च होता है। इसी प्रकार भारतकी सूर्यकी सातवीं किरणरूपी प्रकृति जिस आध्यात्मिकताकी ओर खींचना चाहती है, यदि हम भी उधर ही बल लगायें तो समय थोड़ा लगेगा; और हम भौतिकतापर पग रोपकर अड़ जायँगे तो समय अधिक लगेगा। अन्तमें हम भारतीयोंको जाना तो है उसी आध्यात्मिक मार्गकी ओर; क्योंकि हमारी प्रकृतिके अनुकूल, अनुरूप वही राजमार्ग है।

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

धर्मकी सीमाएँ*

(लेखक—योगिराज श्रीअरविन्द)

धर्म एक प्रधान प्रेरणा है

अनन्त सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, एकमेवाद्वितीय ईश्वर ही—एक शब्दमें भगवान् ही जीवमात्र और कर्ममात्रका गूढ़ ध्येय और लक्ष्य है; अतएव वही व्यक्ति तथा समाजके—उसके सभी अंगों और सभी प्रवृत्तियोंके सम्पूर्ण विकासका उद्देश्य है। इसीलिये तर्कबुद्धि हमारी चरम-परम पथप्रदर्शिका नहीं हो सकती। संस्कृति, अपने साधारणतः समझे जानेवाले अर्थोंमें, मार्गदर्शक ज्योति नहीं हो सकती और न यह हमारे समस्त जीवन और कर्मके नियामक एवं समन्वयकारी सिद्धान्तका पता ही पा सकती है। क्योंकि तर्कबुद्धि भगवान्से इधर ही रह जाती है तथा जीवनकी समस्याओंसे समझौताभर कर लेती है; और संस्कृतिको अगर भगवान्की प्राप्ति करनी हो तो उसे आध्यात्मिक संस्कृति बनना होगा। बौद्धिक सौन्दर्योपासक, नैतिक एवं व्यावहारिक शिक्षणकी अपेक्षा अधिक ऊँची कोटिकी वस्तु बनना होगा। तो फिर हमें पथ-प्रदर्शक प्रकाश तथा नियामक एवं समन्वयकारी सिद्धान्त कहाँ उपलब्ध होगा? इसका सर्वप्रथम उत्तर, जो हमारे मनमें आयेगा और जो एशियाके विचारकोंने दिया है, यह है कि वह प्रकाश और सिद्धान्त हमें सीधा धर्ममें उपलब्ध होगा। यह उत्तर युक्तियुक्त तथा आपाततः सन्तोषजनक मालूम पड़ता है, क्योंकि धर्म मनुष्यके अंदरकी एक ऐसी प्रेरणा, भावना, प्रवृत्ति एवं विधि-व्यवस्था है, जिसका लक्ष्य स्पष्टरूपमें भगवान् ही हैं, जबकि मनुष्यकी अन्य सभी प्रवृत्तियाँ परोक्षरूपमें ही उन्हें अपना लक्ष्य बनाती प्रतीत होती हैं और जगत्की बाह्य एवं अपूर्ण प्रतीतियोंके पीछे चिरकाल भटक-भटककर ठोकर खानेके बाद ही कहीं उनतक पहुँच पाती हैं। इस प्रकार आदर्श व्यक्ति तथा आदर्श समाजका विकास करने और मनुष्यके सम्पूर्ण जीवनको भगवान्में ऊँचा उठा ले जानेका ठीक मार्ग यही प्रतीत होगा कि समस्त जीवनको धर्ममय बनाकर सब काम-काज धार्मिक भावनाके अनुसार चलाया जाय।

यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिये कि धर्मकी यह प्रधानता और धार्मिक प्रेरणा एवं धार्मिक भावनाका अन्य सब प्रेरणाओं तथा मूल भावनाओंपर इस प्रकारका प्रभुत्व एशियाई सभ्यताओंकी ही निराली विशेषता नहीं है, अपितु यह सदा ही मानव-मन तथा मानव-समाजोंकी न्यूनाधिक सर्वसामान्य अवस्था रही है। हाँ, धार्मिक इतिहासके कुछ अपेक्षाकृत संक्षिप्त युग अवश्य इसके अपवाद हैं। आज हम स्वयं एक ऐसे ही युगमें जी रहे हैं; अवश्य ही हम इससे उबरनेके लिये शनैः-शनैः करवट बदल रहे हैं, पर अभी इससे उबर नहीं पाये हैं। अतः हमें यह मानना होगा कि साधारण मानव-समाजने धर्मको जो यह प्रमुख एवं प्रधान पद प्रदान किया है, उसमें हमारे प्राकृतिक अस्तित्वकी एक ऐसी महान् आवश्यकता एवं सचाई निहित है, जिसकी ओर हमें लंबी-से-लंबी नास्तिकताके बाद भी फिर-फिर लौटना होगा। इसके विपरीत हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि महत् कर्मण्यता, उच्च अभीप्सा, गम्भीर बीजारोपण तथा समृद्ध फलोत्पादनके युगोंमें धर्मकी इस प्रधानतापर प्रायः ही कुठाराघात किया जाता रहा है। आधुनिक युग भी एक ऐसा ही युग है। यह अपने सभी दोषों एवं अपराधोंके रहते हुए भी एक ऐसा काल है, जब मानवजातिने धर्मकी शक्तिसे नहीं, बल्कि उद्‌बुद्ध चेतना तथा मानवीय आदर्शवाद एवं सहानुभूतिके बलपर उन बहुत-सी चीजोंसे छुटकारा पा लिया है, जो क्रूर, अशुभ, अज्ञानमय, अन्धकारपूर्ण तथा घृणाजनक थीं। इस युगमें भी मानवजातिके उस भागने, जो पुनरुज्जीवन (Renascence)-के कालमें विचार तथा प्रगतिकी पताका फहरानेमें अग्रणी था—अर्थात् पुनरुज्जीवनके बादके यूरोप या आधुनिक यूरोपने धर्मके प्रभुत्वपर प्रबल आक्रमण करते हुए इनका निराकरण किया है।

इस विद्रोहने पराकाष्ठाको पहुँचकर धर्मको बिलकुल मटियामेट कर देनेका यत्न किया; निःसन्देह धर्मके विरोधियोंने यहाँतक अभिमान किया कि हमने मनुष्यके अंदरकी धार्मिक प्रवृत्तिका उन्मूलन कर दिया है। परंतु जैसा कि हम आज देखते हैं, यह अभिमान थोथा और

* Limitations of Religion as the Law of Life, "Arya."

अज्ञानपूर्ण था; क्योंकि मनुष्यकी धार्मिक प्रवृत्ति अन्य सबसे बढ़कर उसकी एकमात्र ऐसी प्रवृत्ति है, जो नष्ट नहीं की जा सकती। यह केवल अपना रूप ही बदल लेती है। इस विद्रोहने अपने अधिक नरम रूपोंमें धर्मको आत्माके एक कोनेमें अकेले एक ओर डाल दिया और बौद्धिक सौन्दर्योपासक एवं व्यावहारिक जीवनमेंसे—यहाँतक कि नैतिक जीवनमेंसे भी इसका मिश्रण निकाल फेंका और यह इस कारण कि विज्ञान, दर्शन, राजनीति एवं समाजमें तथा सामान्यतः जीवनमात्रमें धर्मके मिश्रणसे गतिरोध, अन्धविश्वास, अत्याचार एवं अज्ञानको बल मिलता था और निश्चय ही मिलेगा भी। धर्मवादी कह सकता है कि यह सब भ्रम तथा नास्तिकतापूर्ण विकार था। अथवा वह कह सकता है कि इस नश्वर संसारमें महत्तर ज्ञान, महत्तर प्रभुत्व, प्रचुरतर सुख, हर्ष तथा प्रकाशकी प्राप्तिके अनवरत प्रयत्नकी अपेक्षा परम तत्त्वके पावन विचारोंसे परिपूर्ण धर्ममूलक गतिरोध, धर्मपरायण अज्ञान, सन्तुष्ट निष्क्रिय अवस्था, यहाँतक कि व्यवस्थित गतिरोध भी कहीं अधिक श्रेष्ठ है। परंतु उदार विचारक ऐसे तर्कसे सहमत नहीं हो सकता। वह यह देखनेको बाध्य है कि जबतक मनुष्यने अपने जीवनका दिव्य तथा आदर्श तत्त्व उपलब्ध न कर लिया हो, तबतक प्रगति ही उसके जीवनका आवश्यक एवं वांछनीय नियम है, न कि गतिशून्य स्थिति—निश्चय ही नयी-नयी चीजोंके पीछे किसी प्रकारकी अंधाधुंध दौड़ नहीं, बल्कि व्यष्टि तथा समष्टि दोनोंमें तथा समाजकी भावना, आदर्श-समूह, स्वभाव एवं गठनमें, आत्मा, मन एवं प्राणके अधिकाधिक महान् सत्यकी खोज। वह यह देखे बिना भी नहीं रह सकता कि धर्मपर किये गये इस दोषारोपणके निष्कर्षमें तो नहीं, पर इसकी स्थापनामें कुछ ऐसी चीज थी। यहाँतक कि ऐसा बहुत कुछ था, जो इसे सत्य सिद्ध करता था—यह नहीं कि शुद्ध धर्म प्रगतिमें बाधक होता है, वरं यह कि इतिहास इस बातका साक्षी है और यह सच भी है कि सम्मानित धर्म तथा उनके पुरोहित एवं व्याख्याकार प्रायः गतिरोधके पृष्ठपोषक रहे हैं, उन्होंने बहुधा अन्धकार, अत्याचार एवं अज्ञानका पलड़ा ही भारी किया है और पीड़ित मानव-मन एवं हृदयके लिये यह आवश्यक हो गया कि वे इन गलतियोंको सुधारकर धर्मको सीधे रास्ते लगानेके लिये इसका निषेध एवं विरोध करें। परंतु यदि धर्म मनुष्यकी सभी प्रवृत्तियों तथा सम्पूर्ण मानव-जीवनका सच्चा तथा समर्थ पथप्रदर्शक और नियामक हो तो ऐसा होता ही क्यों।

मध्ययुगमें धर्मके नामपर अत्याचार

इस तार्किक या नास्तिक मनके पीछे चलकर हमें इसके धर्मविषयक समूचे उग्र दोषारोपणका अवगाहन करनेकी जरूरत नहीं। उदाहरणके तौरपर हमें उन अन्धविश्वासों, भूलों, हिंसाओं—यहाँतक कि उन अपराधोंपर भी अत्यधिक बल देनेकी आवश्यकता नहीं, जिन्हें गिरजों, मतों तथा सम्प्रदायोंने आश्रय, सहमति, स्वीकृति एवं सहायता प्रदान की है या जिनका अपने निजी लाभके लिये दुरुपयोग किया है। इनके निरे द्वेषपूर्ण परिगणनसे मनुष्य नास्तिक रोमन कविकी इस पुकारको गुँजानेमें ही प्रवृत्त होगा कि 'ऐसी अनगिनत बुराइयोंकी ओर धर्म मनुष्यको प्रेरित करनेमें समर्थ हुआ है।' इसी प्रकार स्वाधीनताके नामपर किये गये अपराधों और दोषोंका उद्धरण देकर कोई कह सकता है कि ये स्वाधीनताके आदर्शको दूषित ठहरानेके लिये पर्याप्त हैं। परंतु इस तथ्यपर ध्यान देते हुए कि ऐसी बुराई सम्भव थी, हमें इसका कारण ढूँढ़नेकी जरूरत है। उदाहरणार्थ हम उस रक्तरंजित एवं अग्निसंकुल पथकी उपेक्षा नहीं कर सकते, जिसपर रूढ़िग्रस्त तथा बहिर्मुखी ईसाइयत, लगभग कांस्टैंटाइन (Constantine) के दिनोंसे अर्थात् अपनी लौकिक विजयके प्रथम मुहूर्तसे लेकर बिलकुल आधुनिक कालतक, यूरोपके मध्ययुगीन सारे इतिहासमें बराबर चलती आयी है और न हम उस निष्ठुर आलोचनाकी ही अवहेलना कर सकते हैं, जो पाखण्डखण्डिनी न्यायसभा (Inquisition)-जैसी संस्थाने धर्मके इस दावेपर की है कि वह नैतिकता तथा समाजमें प्रेरक ज्योति एवं नियामक शक्ति है अथवा जो धार्मिक युद्ध-परम्परा तथा व्यापक सरकारी दमनचक्रने धर्मके इस दावेपर की है कि वह मानवजातिके राजनीतिक जीवनका मार्गदर्शक है। परंतु हमें इस बुराईकी जड़पर दृष्टि डालनी चाहिये। इसकी जड़ शुद्ध, सच्चा धर्म नहीं, बल्कि इसकी जड़ है मनुष्यका वह अज्ञानपूर्ण मतिभ्रम, जिसके कारण वह धर्मको तथा किसी विशिष्ट मत, सम्प्रदाय, सिद्धान्त, धार्मिक समाज या गिरजे-मन्दिरको एक ही चीज समझकर इनमें घपला कर देता है। इस भ्रमकी ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति

इतनी प्रबल है कि प्राचीन सहिष्णु मूर्तिपूजक पैगनधर्म (Paganism)-तकने धर्म तथा सदाचारके नामपर सुकरातका वध किया, आइसिस (Isis)-के मत तथा मिथ्र (Mithra)-के मत-जैसे अराष्ट्रिय धर्मोंको मन्द-मन्द दुःख—कष्ट दिया तथा प्रारम्भिक ईसाइयोंके जिस धर्मको यह विनाशकारी तथा समाजविरोधी समझता था, उसे इसने अत्युग्र यातनाएँ दीं। यहाँतक कि इससे भी अधिक मूलतः सहिष्णु हिंदूमतमें धर्मने पारस्परिक घृणाको जन्म दिया तथा मौके-मौकेपर बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णवपर उपद्रव ढहाये।

बुराईकी जड़ मत-सम्प्रदाय

भूतकालमें मानव-समाजके पथप्रदर्शक एवं नियामक होनेमें धर्मकी असमर्थताका सारा मूल कारण इसी बातमें निहित है। उदाहरणतः, मन्दिरों, गिरजों और मत-सम्प्रदायोंने दर्शन तथा विज्ञानके मार्गमें जबरदस्त रुकावट डाली, एक गिओर्डानो ब्रूनो (Giordano Bruno)-को जला दिया तथा एक गेलिलियो (Galileo)-को बन्दी बनाया और इस मामलेमें इन्होंने इतने सामान्य रूपमें दुर्व्यवहार किया कि दर्शन और विज्ञानको अपने उचित विकासका खुला क्षेत्र प्राप्त करनेके लिये आत्मरक्षाके भावमें धर्मपर आक्रमण कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देना पड़ा; और यह सब इसलिये कि मनुष्योंने यह निश्चित धारणा बना ली थी कि धर्म ईश्वर तथा संसारके सम्बन्धमें कुछ ऐसे स्थिर बौद्धिक विचारोंसे बँधा हुआ है, जो कसौटीपर पूरे नहीं उतर सकते। अतएव उस कसौटीको आग तथा तलवारसे दबा लेना आवश्यक था। धार्मिक भ्रान्तिके जीवित बने रहनेके लिये वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सत्यका निषेध करना आवश्यक था। हम यह भी देखते हैं कि अतिसंकीर्ण धार्मिक भावना असहिष्णु वैराग्यवश जीवनके आनन्द एवं सौन्दर्यको कुचलकर उसे ऊसर बनाती रही है। प्यूरिटन सम्प्रदायके लोगोंने धर्मका सच्चा स्वरूप न जानते हुए जीवनके सौन्दर्य एवं आनन्दको कुचलनेकी चेष्टा की। वे नहीं देख सके कि धार्मिक तप धर्मका मुख्य अंग भले ही हो, पर यह उसका सार-सर्वस्व नहीं—ईश्वरप्राप्तिका नीति-धर्ममय मार्ग एकमात्र यही नहीं; क्योंकि प्रेम, त्याग, सज्जनता, सहिष्णुता, दयालुता भी ईश्वरीय गुण हैं। इतना ही नहीं, बल्कि ये अधिक दिव्य वस्तुएँ हैं और वे भूल गये या वे कभी जानते ही न थे कि पवित्रताके समान प्रेम और सौन्दर्य भी ईश्वरका स्वरूप है। राजनीतिमें धर्मने प्रायः ही राजसत्ताका पक्षपोषण किया है और अधिक महान् राजनीतिक आदर्शोंके आविर्भावमें बाधा डाली है। क्योंकि स्वयं इसका स्वरूप राजसत्तासे पोषित धर्म-संस्थाका ही था और यह सम्प्रदाय और धर्मके अन्तरको हृदयंगम नहीं कर पाता था अथवा क्योंकि यह झूठे दैवी राज्यका प्रतिनिधि बना हुआ था, यह भूलकर कि सच्चा दैवी राज्य ईश्वरका राज्य होता है, न कि पोप तथा पुरोहित-पुजारियोंका राज्य। इसी प्रकार इसने प्रायः कठोर तथा घिसी-पिटी समाज-व्यवस्थाका समर्थन किया है; क्योंकि इसने समझा कि इसका अपना जीवन उन सामाजिक रूपोंसे बँधा हुआ है, जिनके साथ यह अपने इतिहासके दीर्घ भागमें सम्बद्ध रहा था और इसने गलतीसे यह परिणाम निकाल लिया कि समाज-व्यवस्थामें किया गया आवश्यक परिवर्तन भी धर्मका उल्लंघन होगा और इसके अस्तित्वके लिये संकट—मानो मनुष्यकी धार्मिक भावना-जैसी शक्तिशाली और आभ्यन्तरिक वस्तु सामाजिक रूपके परिवर्तन-सरीखी तुच्छ वस्तु या सामाजिक पुनर्व्यवस्था-जैसी बाहरी वस्तुसे मिटायी जा सकती हो! यह भ्रान्ति अपने नाना रूपोंमें अतीतके क्रियात्मक धर्मकी महान् दुर्बलता रही है और साथ ही इससे बुद्धि, सौन्दर्यभावना, सामाजिक एवं राजनीतिक आदर्श—यहाँतक कि मानवकी नैतिक भावनाको ऐसा अवसर और बहाना मिला है कि वे उस वस्तुके विरुद्ध विद्रोह करें, जो उनकी अपनी सर्वोच्च प्रवृत्ति और नियम-नीति होनी चाहिये थी।

प्राच्य और पाश्चात्त्य आदर्शोंका समन्वय

इस तथ्यमें प्राचीन तथा अर्वाचीन, प्राच्य और पाश्चात्त्य आदर्शोंकी विषमताका एक रहस्य निहित है और इसीमें उनके समन्वयका एक सूत्र भी। दोनों एक प्रबल न्यायसंगत आधारपर प्रतिष्ठित हैं और दोनोंके झगड़ेका कारण है मिथ्या भ्रान्ति। यह ठीक है कि धर्म जीवनमें प्रभावपूर्ण तत्त्व होना चाहिये। इसे जीवनका प्रकाश और विधि-विधान होना चाहिये; परंतु यहाँ धर्मसे हमारा मतलब धर्मके उस स्वरूपसे है जो कि उसका होना चाहिये और जो उसका अन्तरीय स्वरूप है। उसके अस्तित्वका मूल नियम है अर्थात् ईश्वरकी खोज एवं आध्यात्मिकताका सिद्धान्त। दूसरी ओर यह भी सच है कि धर्म जब अपने-आपको किसी मत,

सम्प्रदाय या मठ-मन्दिरसे या रूढ़ विधि-विधानोंकी पद्धतिमात्रसे एकाकार कर लेता है, तब वह सहज ही बाधक शक्तिका रूप धारण कर सकता है और मानव आत्माके लिये यह आवश्यक हो सकता है कि वह जीवनकी विविध प्रवृत्तियोंपरसे इसका प्रभुत्व दूर करे।

परंतु यहाँ एक जटिलता आ उपस्थित होती है, जो विषमताका अधिक गम्भीर कारण प्रस्तुत करती है! क्योंकि धर्म आध्यात्मिकताको प्रायः ऐसी चीज समझता प्रतीत होता है, जो पार्थिव जीवनसे दूरस्थ, इससे भिन्न तथा इसकी विरोधी हो। यह ऐसी घोषणा करता प्रतीत होता है कि पार्थिव जीवनका अनुसरण तथा मनुष्यकी ऐहिक आशाएँ आध्यात्मिक जीवन या मनुष्यकी पारलौकिक आशासे असंगत हैं। तब तो आत्मा एक ऐसी अलग-अलग-सी वस्तु हो जाती है, जिसे मनुष्य अपने निम्नतर अंगोंके जीवनका बहिष्कार कर देनेपर ही प्राप्त कर सकता है और सो इस प्रकार कि या तो इस जीवनको एक विशेष अवस्थाके बाद, जबकि इसका प्रयोजन पूरा हो ले, त्याग दिया जाय, अथवा इसे निरन्तर अनुत्साहित एवं पीड़ित करके नष्ट कर दिया जाय। यदि धर्मका सच्चा अर्थ यही हो तो यह स्पष्ट ही है कि न तो इसके पास सामाजिक प्रयत्न, आशा और अभीप्साके यथार्थ क्षेत्रमें मानवसमाजके लिये कोई निश्चित सन्देश है और न हमारी सत्ताके किसी भी निम्नतर अंगके लिये ही। क्योंकि हमारे जीवनका प्रत्येक तत्त्व स्वभावतः ही अपने क्षेत्रमें अपनी पूर्णता चाहता है और यदि इसे उच्चतर शक्तिका अनुसरण करना ही हो तो वह इसलिये करेगा कि वह शक्ति इसे इसके अपने क्षेत्रमें भी महत्तर पूर्णता एवं समृद्धतर तृप्ति प्रदान करती है। परंतु यदि आध्यात्मिक प्रेरणा इसकी पूर्णता-प्राप्तिकी सम्भावनासे ही इन्कार करे और अतः इसकी पूर्णताकी अभीप्साको ही निकाल फेंके, तब या तो यह आत्मविश्वास खो बैठेगा और साथ ही अपनी सामर्थ्यों एवं प्रवृत्तियोंके स्वाभाविक विस्तारके सम्पादनकी क्षमता भी, अथवा इसे अपने शील-स्वभाव तथा स्वधर्मका अनुसरण करनेके लिये आत्माकी पुकारका परित्याग करना होगा। पृथिवी और स्वर्गका, आत्मा और उसके करणोंका यह कलह हमें और भी अधिक निःसत्त्व एवं पंगु बना देनेवाला हो जाता है। यदि आध्यात्मिकता दुःख-कष्ट, कठोर यातना और संसारकी निःसारताके धर्मका रूप धारण कर ले, तो यह दुःखवाद अपने बढ़े-चढ़े रूपमें आत्माके ऐसे घोर विषाद और निराशाके दुःस्वप्नोंको जन्म देता है, जैसे मध्ययुगमें उसकी हीनतम अवस्थामें छाये हुए थे—जबकि संसारका सन्निकट और प्रत्याशित अन्त या अवश्यम्भावी एवं अभीष्ट प्रलय ही मानवजातिका एकमात्र आश्वासन दीख पड़ता था। परंतु जगद्विषयक यह निराशावादी भावना अपने कम प्रकट और कम असहिष्णु रूपोंमें भी जीवनको निरुत्साहित करनेवाले बलका काम करती है, अतएव यह जीवनका सच्चा नियम एवं पथप्रदर्शक नहीं हो सकती। समस्त दुःखवाद इतने अंशमें आत्मसत्ता तथा इसके बल-वैभव एवं ऋद्धि-सिद्धिको अंगीकार न करनेवाला, संसारमें ईश्वरकी कार्यप्रणालियोंको सहन न करनेवाला और जगत्‌की उत्पादक तथा संचालक दिव्यप्रज्ञा एवं शक्तिमें अपूर्ण विश्वास करनेवाला है। यह उस प्रज्ञा एवं शक्तिके सम्बन्धमें एक अशुद्ध विचारको अपनाता है और इसलिये यह स्वयं आत्माकी वह परम प्रज्ञा एवं शक्ति नहीं हो सकता, जिससे संसार ऐसी आशा लगा सके कि वह इसके सम्पूर्ण जीवनको पथपर चलाकर भगवान्‌की ओर ऊँचा उठा देगी।

पश्चिमकी धर्म-विमुखता एक दूसरी अति है, लटकनकी ठीक उलटी गति है। इसके अनुसार यूरोपने धर्मके दावे और आग्रहको न्यूनातिन्यून कर मध्ययुगीन धार्मिक भावनासे उठकर पुनरुज्जीवन (Renascence) और धार्मिक सुधार (Reformation)-में से गुजरते हुए आधुनिक बुद्धिवादी भावनाका विकास किया, जो भावना साधारण पार्थिव जीवनको ही अपना एकमात्र मुख्य धंधा समझती तथा निम्नतर अंगोंके अध्यात्म-जिज्ञासाशून्य धर्मसे अपनेको चरितार्थ करना चाहती है। यह एक भूल है; क्योंकि पूर्णता ऐसी सीमा एवं संकीर्णताके भीतर प्राप्त नहीं की जा सकती, जो मानव-जीवनके पूर्ण विधान, गभीरतम प्रेरणा तथा गुह्यतम आवेगसे इन्कार करे। उच्चतमकी ज्योति और शक्तिसे ही निम्नतरको परिचालित, उदात्त और चरितार्थ किया जा सकता है। मनुष्यका निम्नतर जीवन अपने बाह्य रूपमें अदिव्य है, यद्यपि इसके भीतर दिव्यताका रहस्य निहित है और उच्चतर विधान तथा आध्यात्मिक प्रकाश अधिगत करके ही इसे दिव्य बनाया जा सकता है। दूसरी ओर जब मनुष्य वर्तमान जीवनकी अदिव्यता तथा आध्यात्मिक जीवनसे इसकी असंगतिके कारण व्याकुल होकर इससे

भागता या इसके विकासको निरुत्साहित करता है तो उसकी यह व्याकुलता एवं वैराग्य भी एक गलती है। साधु या कोरा तपस्वी इससे अपना वैयक्तिक निजी मोक्ष अवश्य प्राप्त कर सकता है—जिस प्रकार जडवादी भी अपनी शक्ति और एकाग्र गवेषणाके उचित फल अधिगत कर सकता है; परंतु वह वैरागी साधु मनुष्यजातिका सच्चा मार्गदर्शक और उसका नियमोपदेष्टा शास्त्रकार नहीं हो सकता। क्योंकि इस सारे मनोभावमें जीवन और उसकी अभीप्साओंसे भय, घृणा तथा उनपर अविश्वास अन्तर्निहित है और जिस चीजसे मनुष्यको जरा भी सहानुभूति नहीं, जिसे वह न्यूनातिन्यून तथा निरुत्साहित करना चाहता है, उसका वह भला कैसे कुशलतासे संचालन कर सकता है। शुद्ध वैराग्य-भावना जीवन और मानव-समाजका परिचालन करती हुई इन्हें केवल इस योग्य बना सकती है कि ये अपने-आपको ही अस्वीकृत करने तथा अपनेसे दूर भागनेके साधन बन जायँ; यह निम्नतर प्रवृत्तियोंको सहन तो कर सकती है, पर केवल ऐसी प्रेरणा देनेके लिये ही कि वे अपने-आपको यथासम्भव कम करके अन्ततोगत्वा अपनी क्रिया बंद कर दें। जो आध्यात्मिक पुरुष मानव-जीवनको इसकी पूर्णताकी ओर ले चल सकता है, उसका आदर्शरूप 'ऋषि' के प्राचीन भारतीय विचारमें निदर्शित है। जिस ऋषिने मनुष्यका-सा जीवन बिताते हुए अतिबौद्धिक, अतिमानसिक, आध्यात्मिक सत्यका दिव्य शब्द श्रवण किया होता है, वह इन शरीर-प्राण-मनकी निम्नतर सीमाओंसे ऊपर उठ चुका होता है और सभी वस्तुएँ ऊर्ध्वस्तरसे देख सकता है; पर साथ ही उसे उनके प्रयत्नके प्रति सहानुभूति होती है और वह उनके भीतर बैठकर उन्हें भीतरसे भी देख सकता है। वह पूर्ण ज्ञान एवं उच्चतर ज्ञानसे युक्त होता है। अतः वह मानव-जगत्का उसी तरह पथ-प्रदर्शन कर सकता है, जिस तरह ईश्वर दिव्यरीतिसे इसका पथ-प्रदर्शन करते हैं; क्योंकि भगवान्के समान वह भी जगत्के जीवनमें रहता हुआ भी उससे ऊपर होता है।

धर्म और आध्यात्मिकता

अतः आध्यात्मिकताके इस अभिप्रायको हृदयंगमकर हमें मार्गदर्शक ज्योति और समन्वयकारी विधानकी खोज ऐसी आध्यात्मिकतामें ही करनी होगी और धर्ममें उसी हदतक, जहाँतक वह अपनेको इस आध्यात्मिकतासे तदाकार करता है। जबतक वह इससे दूर रहता है, तबतक वह अन्यान्य मानवी प्रवृत्तियों तथा शक्तियोंकी श्रेणीके ही अन्तर्गत होता है—भले ही वह उन सबसे अधिक मुख्य तथा अधिक प्रभावशाली ही क्यों न हो; और वह दूसरोंको पूरी तरह मार्ग नहीं दिखा सकता। यदि यह उन्हें सदा ही किसी सिद्धान्त, अपरिवर्तनीय धर्मशास्त्र तथा विशेष पद्धतिकी सीमाओंमें बाँधनेकी चेष्टा करता है तो इसे उन्हें इसके प्रभुत्वके विरुद्ध विद्रोह करते देखनेको तैयार रहना होगा। क्योंकि चाहे वे कुछ समयके लिये इसका प्रभाव अंगीकारकर इससे महान् लाभ उठा सकती हैं; तो भी अन्तमें उन्हें अपनी सत्ताके नियम (स्वभाव)-के अनुसार अधिक स्वतन्त्र क्षेत्र और कर्मकी ओर बढ़ना होगा। आध्यात्मिकता मानव-आत्माकी स्वतन्त्रताका सम्मान करती है; क्योंकि उस स्वतन्त्रतासे यह स्वयं चरितार्थता लाभ करती है। अपनी निजी प्रकृतिके नियम (स्वधर्म)-के अनुसार पूर्णताकी ओर विस्तार एवं विकास-लाभ करनेकी क्षमता ही स्वतन्त्रताका अत्यन्त गम्भीर आशय है। ऐसी स्वाधीनता यह हमारी सत्ताके सभी मूल अंगोंको प्रदान करेगी। यह दर्शन तथा विज्ञानको वह स्वाधीनता देगी, जो प्राचीन भारतीय धर्मने दी थी,—यहाँतक कि उन्हें ऐसी स्वतन्त्रता भी देगी कि यदि वे चाहें तो आत्मासे इन्कार भी कर सकते हैं,—जिस स्वाधीनताके परिणामस्वरूप प्राचीन भारतमें दर्शन और विज्ञानने धर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी कभी आवश्यकता अनुभव नहीं की, बल्कि वे इसकी ज्योतिकी छत्रच्छायामें विकसित होकर इसीमें परिणत हो गये। यह मनुष्यकी राजनीतिक एवं सामाजिक पूर्णताकी खोजको तथा उसकी अन्य सभी शक्तियों एवं अभीप्साओंको भी वही स्वाधीनता प्रदान करेगी। हाँ, यह उन्हें आलोकित अवश्य करना चाहेगी, ताकि वे आत्माके प्रकाश एवं विधानमें विकसित हो जायँ—दबाव या बन्धनके कारण नहीं, वरं अपनी महत्तम, उच्चतम, गभीरतम सम्भाव्य शक्तियोंके विस्तार तथा बहुमुखी उपलब्धिके द्वारा। क्योंकि ये सभी आत्माकी ही सम्भाव्य शक्तियाँ हैं।

श्रद्धा

(लेखिका—श्रीअरविन्द-आश्रमकी अध्यक्षा श्रीमाताजी)

बाह्य चेतना-जन्य बोध आन्तरात्मिक बोधको अस्वीकार कर सकता है। तथापि, अन्तरात्मामें सच्चा ज्ञान एवं सहज स्फुरित ज्ञान निहित है। अन्तरात्मा कहती है, 'मैं जानती हूँ; मैं युक्तियाँ नहीं दे सकती, पर मैं जानती हूँ।' क्योंकि इसका ज्ञान मानसिक अनुभवपर आश्रित या प्रमाणोंसे सत्य सिद्ध किया हुआ नहीं होता। यह प्रमाण दिये जानेके बाद ही विश्वास करती हो ऐसी बात नहीं; अन्तरात्माका ज्ञान सहज-स्फुरित एवं प्रत्यक्ष होता है और ऐसी अन्तरात्माकी क्रियाको ही श्रद्धा कहते हैं। चाहे सारा संसार इनकार करे और विरोधमें सहस्रों प्रमाण प्रस्तुत करे, तो भी उसका ज्ञान एक ऐसा अन्तर्ज्ञान एवं साक्षात् प्रत्यक्ष होता है, जो उन सबका निराकरण कर सकता है। वह होता है तादात्म्यलब्ध ज्ञान। अन्तरात्माका ज्ञान एक मूर्त्त एवं गोचर वस्तु तथा ठोस पिण्ड होता है। तुम इसे अपने मन, अपने प्राण तथा अपने शरीरमें भी ला सकते हो और तब तुममें पूर्ण श्रद्धा उदित होगी—ऐसी श्रद्धा जो सचमुच पहाड़ उठा सकती है। परंतु हमारी सत्ताके किसी भागको अविश्वासीके रूपमें प्रकट होकर यों नहीं कहना चाहिये, 'यह बात ऐसी नहीं है' और न उसे प्रमाणकी माँग ही करनी चाहिये। जरा भी अधूरे विश्वाससे तुम सब मामला बिगाड़ देते हो। यदि श्रद्धा पूर्ण एवं अटल न हो तो परम देव भला कैसे प्रकट हो सकते हैं। श्रद्धा अपने-आपमें सदा अविचल होती है—यह इसका निज स्वभाव ही है; क्योंकि अन्यथा इसे श्रद्धा कह ही नहीं सकते। परंतु, सम्भव है कि मन या प्राण या शरीर अन्तरात्माकी गतिका अनुसरण न करे। यह हो सकता है कि किसी मनुष्यमें एक योगीके पास जाकर सहसा ऐसी श्रद्धा पैदा हो कि यह व्यक्ति मुझे मेरे लक्ष्यपर पहुँचा देगा। उसे मालूम नहीं कि इस व्यक्तिको ज्ञान प्राप्त है या नहीं। उसे आन्तरात्मिक आवेगका अनुभव होता है और ऐसा जान पड़ता है कि उसे गुरु मिल गये हैं। वह बहुत देर मनमें सोच-विचारकर या अनेक चमत्कार देख लेनेपर ही विश्वास नहीं करता और केवल इसी कोटिकी श्रद्धा ही उपयोगी होती है। यदि तुम तर्क-वितर्क शुरू कर दो तो सदैव अपनी भवितव्यतासे हाथ धो बैठोगे। कुछ लोग यह सोचने बैठ जाते हैं कि आन्तरात्मिक आवेग युक्तिसंगत है या नहीं।

लोगोंके पथभ्रष्ट होनेका कारण वास्तवमें तथाकथित अन्धविश्वास नहीं होता। वे प्रायः कहते हैं, 'अहो, मैंने अमुक-अमुक व्यक्तिमें विश्वास किया और उसने मुझे धोखा दिया है।' परंतु सच पूछिये तो दोष उस व्यक्तिका नहीं, बल्कि विश्वास करनेवालेका होता है। उसके अपने अंदर ही कोई कमजोरी होती है। यदि वह अपना विश्वास अटूट बनाये रखता तो वह उस व्यक्तिको बदल देता। क्योंकि वह उसी श्रद्धामय चेतनामें स्थिर नहीं रहा, अतएव उसने अपनेको प्रवंचित अनुभव किया और उस व्यक्तिको वह जिस रूपमें देखना चाहता था, उस रूपमें नहीं देख पाया। यदि उसमें पूर्ण श्रद्धा होती तो वह उस व्यक्तिको बदलनेके लिये बाध्य कर देता। श्रद्धासे ही सदा चमत्कारोंकी सृष्टि होती है। एक व्यक्ति किसी दूसरेके पास जाता है और वहाँ भागवत-उपस्थितिका सम्पर्क प्राप्त करता है; यदि वह इस सम्पर्कको शुद्ध और सुरक्षित रख सके तो इससे भागवत चेतना अत्यन्त जड भागतकमें प्रकट होनेको बाध्य होगी। परंतु सब कुछ तुम्हारी अपनी आदर्श-मर्यादा एवं तुम्हारी अपनी सत्यतापर निर्भर है; जितना ही अधिक तुम आन्तरात्मिक तौरपर तैयार होगे, उतना ही अधिक ठीक मार्ग तथा ठीक गुरुकी प्राप्तिकी दिशामें प्रेरित होगे। अन्तरात्मा और उसकी श्रद्धा सदा सच्ची होती है; पर यदि तुम्हारी बाह्य सत्तामें छल-कपट है और यदि तुम आध्यात्मिक जीवनके बदले वैयक्तिक सिद्धियोंकी प्राप्तिका यत्न कर रहे हो तो यह चीज तुम्हें पथभ्रष्ट कर सकती है। तुम्हें भटकानेवाली चीज यही है, न कि तुम्हारी श्रद्धा। यह संभव है कि श्रद्धा, अपने-आपमें शुद्ध होनेपर भी, हमारी सत्तामें निम्न चेष्टाओंके योगसे मिलावटी बन जाय; और जब ऐसा होता है, तभी तुम गलत रास्तेपर जा पड़ते हो।

हिंदू-संस्कृति

(लेखक—श्रीमाधवराव सदाशिव गोळवलकर [पू० गुरुजी] सरसंघसंचालक, रा० स्व० संघ)

मनुष्यमात्रको परम सुखकी प्राप्ति करवा देनेका ध्येय सामने रखकर चलनेका दावा करनेवाले बहुत-से धर्म-पंथ तथा जीवन-रचनाएँ आज संसारमें विद्यमान हैं। उनके स्थूलरूपसे दो भेद किये जा सकते हैं—(१) ईश्वरका अस्तित्व मानकर उसकी उपासनाद्वारा मनुष्यको सुख प्राप्त हो सकता है, यों कहनेवाली और (२) प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले इस भौतिक जगत्‌के अतिरिक्त और कोई सत्य है ही नहीं और इस जड जगत्‌में पाये जानेवाले साधनोंको सुलभतासे प्रत्येक व्यक्तिको प्राप्त करवा देकर उसकी स्वाभाविक आवश्यकताएँ या आकांक्षाएँ पूरी करनेमें ही सब सुख है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली। शारीरिक क्षुधाओंकी पूर्तिमें सुख तथा उस पूर्तिके लिये आवश्यक वस्तुओंकी अप्राप्तिमें दुःख जीवमात्रको होता है। अतः भौतिक कामनाओंकी पूर्तिमें ही सुख है, यह बात आपाततः ठीक जँचती है। इसी बातको लेकर अनेक आधुनिक विचार-प्रणालियाँ उत्पन्न हुई हैं। मानवोंकी आर्थिक अधिष्ठानपर रचना करना, जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपने शारीरिक सुख-साधनोंको प्राप्त करे, और उस आर्थिक अधिष्ठानके अनुकूल ही मनुष्यका समाज-जीवन और राजनैतिक रचना आदिका निर्माण करना—यह बात उन विचारप्रणालियोंमें एकमात्र उद्दिष्ट है। परंतु कुछ कालके लिये होनेवाली वासनापूर्ति, जीवसाधारण-विषयप्राप्ति सुखकारक होनेपर वह आगे चलकर मनुष्यको अशान्त करती हुई दिखायी देती है। इसके दो कारण हैं। एक तो विषय-वासनाओंकी पूर्ति सर्वथा असम्भव है। उनको तुष्ट करनेकी जितनी ही चेष्टा की जाती है, उतनी ही वे बढ़ती हैं। इस प्रकार व्यक्ति या समाजके लिये वासनाओंका उत्तरोत्तर बढ़ते जाना और उसपर सदा असंतोषका बना ही रहना, यही जगत्‌में बार-बार होनेवाले भयंकर युद्धोंका प्रमुख कारण है। जगत्‌में अशान्ति तथा असुख बनाये रखनेमें यही प्रबल कारण है। इस प्रकार वासनापूर्ति असम्भव होनेके कारण मानव-जीवन दुखी होता हुआ दीखता है। दूसरे, मनुष्य केवल निर्बुद्ध प्राणी तो है नहीं। उसमें बुद्धि है, वह सोच सकता है और जीवसाधारण विकारोंके कारण तथा जगत्‌का ही प्रथम अनुभव और उससे कुछ भौतिक सुख-लाभकी सम्भावना देखनेके कारण वह उसमें कुछ काल रमण करता है परंतु आगे चलकर वह समझ जाता है कि इन आपाततः सुख देनेवाली वस्तुओंमें वास्तविक सुख देनेकी कोई शक्ति नहीं है। सुख तो अपने ही अंदर समय-समयपर उठनेवाली वासनातरंगोंकी शान्तिसे होता है। यानी सुख बाह्य वस्तुमें नहीं, वासनापूर्तिमें भी नहीं; किंतु वासनाके शान्त होनेमें है।

इस विचारके उत्पन्न होते ही मनुष्य भौतिक जीवनसे मुँह मोड़कर जगत्‌की चित्र-विचित्र रचना करनेवाली ईश्वर नामकी कोई सर्वगुणसम्पन्न सर्वसुखमयी शक्ति होनी ही चाहिये, ऐसा अनुमान करके भौतिक जीवनको केवल दुःखमय मान लेता है और उस शक्तिकी उपासना करनेसे सुख-प्राप्ति हो सकेगी, ऐसी भावना करता है। ऐसी भावना और अनुमान ही धर्म-पंथोंके जन्ममें कारण होते हैं (यहाँ निसर्गपूजा, प्रेतपूजा आदि अत्यन्त प्राथमिक स्वरूपोंकी उपासनाओंका विचार नहीं किया है)। भौतिक सुखमें सुख है ही नहीं, जीवन केवल दुःखमय है, इस जीवनके पश्चात् उस शक्तिकी उपासनासे चिरन्तन सुख प्राप्त हो सकेगा—इस भावको लेकर केवल श्रद्धाके ऊपर आधारित ये पंथ बन जाते हैं।

परंतु मनुष्य केवल श्रद्धाके भरोसे, मृत्युके पश्चात् आनेवाले ऐसे जीवनपर निर्भर रहकर, जिसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता नहीं, आजके प्रत्यक्ष जीवनके सुख-दुःखादिको भूल नहीं सकता। इन उपासनाओंमें प्रत्यक्ष मानव-जीवनकी रचना और उससे निर्मित सुखका कुछ भी प्रबन्ध नहीं होता। अतः जब प्रत्यक्ष जीवनको दुःखसे मुक्त करनेके प्रयत्नोंमें इस प्रकारकी केवल श्रद्धामूलक उपासनाएँ उसे अपर्याप्त दीखती हैं, तब उसे भयानक असमाधानका अनुभव होता है और श्रद्धाशून्य जडवादकी ओर वह झुक जाता है।

परंतु मनुष्यमें बुद्धि भी है। वह स्वयं जीवके, और सामने दीखनेवाले और दिन-प्रतिदिन अनुभवमें आनेवाले सुख-दुःखमिश्रित जगत्‌के विषयमें सोचता है। इस सारे दृश्य प्रपंचके किसी मूलभूत सत्तत्त्व (Reality)-की खोज करता है। उस सत्तत्त्वके विचारसे

प्राप्त निर्णयोंका जीवनमें उपयोग करके देखता है; किंतु सुखका मध्यविन्दु प्राप्त नहीं होता। यह स्वाभाविक भी है। किसी वर्तुलके मध्यविन्दुको खोजनेके लिये उसकी परिधिके दो ही विन्दु लेनेसे काम नहीं चलता। एक तीसरा विन्दु भी लेना पड़ता है, तभी वर्तुलका मध्य पाया जा सकता है। अन्यथा सभी सत्तत्त्व-जिज्ञासा असफल रह जाती है।

भारतीयेतर समाजोंमें, विशेषकर आजके भौतिक दृष्टिसे प्रगत पाश्चात्त्य समाजोंमें, उपर्युक्त तीनों प्रकार पाये जाते हैं। उन सबमें मनुष्यके जीवनको समाजरूपसे सुव्यवस्थितकर ऐहिक जीवनके सुखकी ओर ध्यान देनेमें समर्थ केवल प्रथमोक्त जडवादी विचार ही है। उर्वरित दोनोंका प्रत्यक्ष जीवनसे साक्षात् सम्बन्ध वे नहीं ला सके और इसीलिये उनके प्रति उनकी अधिकाधिक अश्रद्धा ही निर्माण होती जा रही है। प्रथम जडवाद ही मनुष्यमात्रके अन्तःकरणपर प्रभाव रखता हुआ दिखायी देता है। वह भी सुखका वास्तविक स्वरूप न जाननेके कारण जीवनमें एक तीव्र असमाधान और अशान्ति फैलाता हुआ प्रतीत होता है।

भारतमें इस विषयपर सब पहलुओंसे विचार किया गया है। इस शरीरके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, अतएव—

यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

—इस प्रकारके पूर्णतया जडवादी विचारसे लेकर '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**' इस पूर्णतया तत्त्व-ज्ञानात्मक सिद्धान्ततक सभी विचार अपने हिंदू-समाजके पूर्व ऋषि-मुनियोंने किये हैं। उन्होंने यह अनुभव किया कि 'सुखकी प्राप्ति किसी परलोकमें इस जीवनके अन्तके पश्चात् होगी, अभी कुछ भी नहीं मिलेगा।' इससे किसीका समाधान हो नहीं सकता। साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया कि 'ऐहिक जीवनके सुख-साधन पूर्णतया व्यर्थ न होनेपर भी वे चिरकाल सुख देनेमें समर्थ नहीं हैं। सुख वस्तुनिष्ठ नहीं, आत्मनिष्ठ है। कामपूर्तिके समस्त साधन समीप होनेपर भी मनुष्य दुःखी रह सकता है और ऐहिक सुखलाभके किसी साधनके बिना ही मनुष्य चिरन्तन शान्तिका अनुभव कर सकता है।' उन्होंने यह भी देखा कि 'कामपूर्तिके साधनोंकी विपुलता कामको पूर्णकर सुख देनेके स्थानमें कामकी वृद्धि ही करके असमाधान और तज्जन्य दुःखको जन्म देती है।' तथापि इस जीवनमें भी सुख मिले और इस शरीरके अन्तके पश्चात् भी यदि कोई जीवन हो तो वह भी सुखसम्पन्न हो, यही मनुष्य चाहता है। यही सोचकर हिंदू-तत्त्वज्ञोंने 'धर्म' की व्याख्या '**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः**' इस प्रकार करके धर्मको अभ्युदय और निःश्रेयस, ऐहिक और पारलौकिक सुख, सिद्ध करनेके लिये समाजकी धारणा करनेवाला बतलाया।

मनुष्यमात्रको सुव्यवस्थित समाजरूपसे धारणकर प्रत्येक व्यक्तिके ऐहिक सुख-लाभके साथ पारमार्थिक उन्नति करनेकी दृष्टिसे हिंदुओंकी तत्त्व-विचारणा हुई। सर्वप्रथम विचार अर्थात् सुखका वास्तविक स्वरूप निर्धारित करना रहा। अनुभवसे वह आत्मनिष्ठ है यानी जीव ही सुखमय है; अतः समस्त सृष्टि सुखमय, आनन्दमय चिरन्तन सत्यका ही व्यक्त रूप है। इस विचारको पाकर उन्होंने जीव और जगत्—इन दो विन्दुओंके साथ सत्-चित्-आनन्दमय ईश्वररूप तीसरे विंदुकी खोज की, और इन तीन विन्दुओंको परस्पर जोड़कर इस अखण्ड-मण्डलाकार विश्वका मध्य एक अद्वितीय अनिर्वचनीय जो मध्यके नाते सबको व्याप्त करता हुआ भी उससे परे और सर्वथा स्वतन्त्र है, उस महान् तत्त्वका आविष्कार किया और उसे उन्होंने '**ब्रह्म**' शब्द दिया। इस ब्रह्मका साक्षात्कार ही सुख—अखण्ड सुख दे सकता है। मनुष्य यानी जीव एक ओर जगत् और दूसरी ओर ईश्वरसे सम्बन्धित होता हुआ इस ब्रह्मको कैसे साक्षात् करे और सुखी हो, यह प्रश्न उन्होंने इसके सामने रखा और उसके मार्ग प्रस्थापित किये—कर्म, भक्ति, योग और ज्ञान। इन मार्गोंको इसके साक्षात्कारके हेतु प्रकट करके उन्होंने यह सिद्धान्त प्रस्थापित किया कि 'ब्रह्मका ज्ञान हुए बिना अन्तिम और आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति हो नहीं सकती।' किसी भी वस्तुका पूर्ण ज्ञान उससे ऐकात्म्य होनेपर ही मिलता है। इस नियमके अनुसार यह स्पष्ट है कि जीव भी ब्रह्म होकर ही उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर सुखी हो सकता है। जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है; क्योंकि सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त करता हुआ ब्रह्म ही जीवका भी स्वरूप है। अन्तर केवल इतना ही है कि जीव मर्यादित (सीमित) है और ब्रह्म अमर्याद (असीम)। अतः जीव

यदि अपनी मर्यादाओंको नष्ट कर दे तो वह ब्रह्म ही है और सुख भी।

इसपरसे यह स्पष्ट होता है कि जीव—मनुष्य अपने व्यक्तित्वको यानी मर्यादित्वको—अल्पत्वको दूरकर जितनी विशालताका अनुभव करेगा, उतना ही उसे सुख मिलेगा। यही विचार **'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'** इस श्रुतिवाक्यमें प्रकट किया गया है। मनुष्यका अल्पत्व इसी कारण है कि वह अपनेको एक शरीरधारीमात्र समझता है, अपने शरीरको ही सर्वस्व समझकर उसके सुखके निमित्त बाह्य साधन—परिवार, शरीर, भरण-पोषणके साधन इत्यादिमें ही मग्न रहकर 'मैं' और 'मेरा' इस भावनाकी अपने चारों ओर संकुचित मर्यादाएँ डाल लेता है। अतः विशालताका अनुभव कर सुखी होनेके लिये सर्वप्रथम इन मर्यादाओंको तोड़ना आवश्यक है। 'मैं' और 'मेरा' को छोड़ना जीवनको स्वार्थसे हटाकर, कामनाओंकी गुलामीको दूरकर उनपर विजय प्राप्त करना—त्यागी बनना है। हिंदू-तत्त्वज्ञ इस त्यागको सर्वप्रथम और श्रेष्ठ गुण इसीलिये बतलाते हैं कि उस गुणके बिना संकुचित मर्यादाओंको तोड़कर सुखकी प्राप्ति करना असम्भव है। त्यागकी प्रखर अग्निमें स्वार्थ, कामना और ऐहिक सुख-लोलुपताका होम करना ही सच्चा जीवन है। यही 'यज्ञ' है और यज्ञ ही नारायण—सर्वसुखमय ब्रह्मका साक्षात् स्वरूप है।

त्यागसे 'मैं' की संकुचित भावनाके भंग कर देनेपर सर्वप्रथम जो सामने आता है, वह है अपना समाज—राष्ट्र। 'मैं' कहनेवाले जीवमें जो ब्रह्म है, वही इसमें अधिक विशाल रूपमें व्यक्त है—यह भाव उत्पन्न होता है। उपर्युक्त तीन विन्दुओंका इस दृष्टिसे व्यष्टि, समष्टि और परमेष्टि—व्यक्ति, समाज और विश्वात्मा—इन नामोंसे विचार करके व्यक्ति विशाल हो जाता है और समाजके साथ तादात्म्यका अनुभव कर अन्तमें संपूर्ण विश्व और ब्रह्मका साक्षात् कर चिरन्तन सुख-लाभ करता है, यह समझना सुलभ है। इस विशालताका अनुभव इसी जीवनमें करना जगत्में सुखप्राप्तिका साधन है।

वैयक्तिक जीवनकी संकुचिततासे ऊपर उठकर समष्टिके साथ व्यक्तिके तादात्म्यका अनुभव होना समाजके व्यावहारिक जीवनमें वास्तविक सुख और शान्तिका निर्माण करता है। समाज जिन व्यक्तियोंसे बना है, उन सबमें एकात्मभावसे उत्पन्न निरतिशय प्रेमके बिना यह तादात्म्य नहीं हो सकता। अतः जब व्यक्ति संकुचितताको छोड़कर, वैयक्तिक वासनाओंपर विजय पाकर, त्यागी जीवनको अपनाकर इस बातको पहचान लेता है कि सारा समाज अपने-जैसे ही व्यक्तियोंका है, एक ही सत्तत्त्वसे प्रकट हुआ है, अपनेमें और अन्य व्यक्तियोंमें अभेदरूपसे वह सत्तत्त्व भरा हुआ है, तभी वह वास्तविक प्रेम करनेमें समर्थ होकर समाजके साथ तादात्म्यका अनुभव कर सकता है, और इस तादात्म्यसे विशाल होकर सुखी होता है। समाजके साथ अभेददृष्टि रखनेसे प्रेमका प्रादुर्भाव होते ही प्रत्येक व्यक्तिके सुख-दुःखकी अनुभूति और प्रत्येक व्यक्तिके दुःखको हटाकर उसे सुखी करनेके लिये उसकी सेवा करना तथा प्रत्येक व्यक्ति उस चिरन्तन सत्तत्त्व ईश्वरका ही रूप है—इस सद्भावसे उसकी सेवा करना स्वाभाविक होता है। इस धारणाको आत्मसात् कर समाजसेवा करनेवाले, समाजको मार्गदर्शन करनेवाले त्यागी ज्ञानी जितनी मात्रामें जिस समाजमें होंगे, वह समाज उतना ही सुखी, प्रगतिमान् तथा श्रेष्ठ होगा।

हिंदू-संस्कृतिने समाजरचनामें इस प्रकारके ब्रह्मको जाननेवाले ज्ञानी, समाजके साथ तादात्म्यका अनुभव कर सब व्यक्तियोंकी 'नारायण'-भावसे सेवा करनेवाले वासनाजयी, त्यागी व्यक्तियोंकी आवश्यकता समझी। प्रयत्नपूर्वक सब व्यक्तियोंका इस प्रकार बनना उसने वांछनीय समझा और यह अवस्था महान् परिश्रमपूर्वक सत्संस्कार-निर्माणके प्रयत्नोंसे ही प्राप्त हो सकती है। इस भावको प्रकट करनेके लिये जिस कालखण्डमें समाजकी ऐसी अवस्था होगी, उसे 'कृत' युग कहा। सम्पूर्ण समाज ही इस श्रेष्ठ चारित्र्यसे पूर्ण होनेके कारण समाजकी सुव्यवस्थित धारणाकर प्रत्येक व्यक्तिको अभ्युदय तथा निःश्रेयससिद्ध करवा देनेवाला धर्म पूर्णरूपसे वर्तमान रहता है और सब व्यक्तियोंमें परस्पर स्वार्थशून्य स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रखता है। अतः व्यक्तियोंमें अनाचारका नियमन कर समाजको स्वास्थ्य देनेवाली राजसत्ता, दण्डनियम आदि इस अवस्थामें अनावश्यक होते हैं। यही बात—

न राज्यं न च राजाऽऽसीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

—इस श्लोकमें निःसन्दिग्ध रूपसे कही गयी है।

आज भी लोग Anarchism-withering away of the State आदिका स्वप्न देख रहे हैं; किंतु उनके द्वारा उसके अधिष्ठानका—धर्मका विचार नहीं किया गया होनेके कारण वह अवस्था कैसी होगी और किस प्रकार व्यक्ति समाजरूपमें रहेंगे—इसका उन लोगोंसे समाधानकारक स्पष्टीकरण नहीं मिलता। उस अवस्थाका यथार्थ वर्णन और उसकी प्राप्तिका साधन केवल हिंदू-संस्कृतिने ही पूर्ण समाधानकारक रीतिसे बतलाया है।

परंतु जबतक यह वांछनीय अवस्था प्राप्त नहीं होती, तबतक समाजधारणा कैसे हो? तबतक तो राजसत्ताके बिना काम नहीं चलेगा। यह बात हिंदू-संस्कृतिने मान ली। राजसत्ताकी आवश्यकता होनेके बाद उन्होंने यह भी अनुभव किया कि अनियन्त्रित सत्ता समाजको स्वातन्त्र्य-सुख देनेके स्थानपर दासता और दुःख ही देगी। अतः उन्होंने सत्ताके ऊपर उपरिनिर्दिष्ट श्रेष्ठ पुरुषोंका नियन्त्रण डाला। राजसत्ताके द्वारा हो सकनेवाले अन्यायको अन्याय ही कहते हुए उसे बदल देनेका भी अधिकार उन्हें दिया; परंतु स्वयं स्वार्थनिरपेक्ष रहकर राजसत्ताके उपभोगसे उन्हें सर्वथा दूर रखा। धर्म और न्यायदाता तथा राजसत्ताको विभक्त रखकर अनिर्बन्ध हो सकनेवाली और इसी कारण अत्याचारी एवं दुःखदायक हो सकनेवाली सत्ताको नियन्त्रित रखनेका सुप्रबन्ध किया।

इस विभक्तीकरणके अनुसार राजसत्ता और द्रव्योत्पादन—इन दोनों बातोंको भी विलग रखनेकी दक्षता हिंदू-संस्कृतिमें दीख पड़ती है। धन एक शक्ति है। राजसत्ता भी शक्ति है। दोनोंके द्वारा मद उत्पन्न होकर अन्यायकी प्रवृत्ति हो सकती है। राजसत्ता और द्रव्योत्पादनके साधनोंपर अधिकार—दोनों एकत्रित होनेपर कितनी उन्मत्तता उत्पन्न हो सकती है—यह कोई भी समझ सकता है। एक ही व्यक्तिमें या व्यक्तिसमूहमें दोनों शक्तियोंके केन्द्रित हो जानेसे शेष समस्त समाजका सर्वथा दीन—गुलाम-सा होकर पतित होना या अत्याचारके नीचे पिसे जानेके कारण चिढ़कर विद्रोही बन जाना और इस प्रकार समाजकी शान्ति तथा सुखका नाश हो जाना स्वाभाविक ही है। इस विप्लवावस्थासे समाजको बचाकर चिरशान्ति देनेके हेतु राजसत्ताको धनहीन और धनयुक्त व्यक्तिको सत्ताहीन रखकर दोनोंको परस्परावलम्बी, अन्योन्याश्रित करके दोनोंके ऊपर त्यागी, स्वार्थनिरपेक्ष व्यक्तियोंका न्यायपूर्ण नियन्त्रण प्रस्थापितकर सत्ताधारी या धनवान्—कोई भी बाकीके समाजसे अन्यायपूर्ण व्यवहारकर उसे दुःखी न कर सके, अपनी समाजरचनामें हिंदू-संस्कृतिने इसके लिये सुव्यवस्था करनेकी चेष्टा की। इस प्रकार समाजमें परस्परावलम्बित्व, परस्परसहकार्य तथा परस्पर सद्भावपूर्ण स्नेह ही समाजको सुव्यवस्थित रखकर सब व्यक्तियोंको सुखका जीवन प्राप्त करा सकता है—हिंदू-संस्कृति इस सिद्धान्तको अपने सामने रखकर ही समाज-रचनाका प्रयास करती है।

व्यावहारिक जीवनमें समाजकी यह व्यवस्था करते हुए सब व्यक्तियोंको यही भावना धारण करनी चाहिये कि यह समाज अमूर्त परमात्माका ही व्यक्त रूप है। परमात्मा इस जगत्का स्वामी है—इसी दृष्टिसे यह समाजरूपी, राष्ट्ररूपी परमात्मा भी इस राष्ट्रकी सारी सम्पत्तिका स्वामी है। इस राष्ट्रका ज्ञान, सत्ता, धन, कला—सब उसीका है। व्यक्ति तो उसके पास जो शरीर, शक्ति, गुण और सम्पत्ति आदि हैं, उसके द्वारा स्वार्थनिरपेक्ष होकर इस परमात्माकी सेवा करनेका अधिकारी है। राजसत्ताधीश राज्यका उपभोगशून्य अधिपति, धन प्राप्त करनेवाला धनका उपभोगशून्य रक्षक एवं संवर्धक—इस प्रकार स्वार्थरहित होकर प्रत्येकके लिये अपने-अपने स्थानसे, गुणादिकोंके द्वारा इस समाजस्वरूपकी एकात्मता, परमात्माकी सेवा करना ही परमश्रेष्ठ कर्तव्य है। व्यक्तिके लिये विशाल होकर सुखमय परमात्मस्वरूप बननेके लिये इस व्यक्त परमात्माकी एकात्मभावसे, त्यागसे, निःस्वार्थतासे, शरीर-मन-वाणीसे—तन-मन-धनका अर्पण करके सेवा करना ही परम कर्तव्य है। इस कर्तव्यको सर्वभावसे निभानेसे ही जीवनमें सफलता प्राप्त होती है, सुख मिलता है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

हिंदू-संस्कृतिद्वारा निर्धारित समाज-रचनाके स्वरूपका अंशमात्र विचार यहाँ किया गया है। यह विषय इतना विशाल है कि इस छोटे-से प्रबन्धमें उसके सब पहलुओंका उल्लेख भी करना असम्भव है। अतः हिंदू-संस्कृतिके श्रेष्ठ पुरुषोंने ऐहिक सुखको भी दृष्टिमें रखते हुए किस प्रकारसे धर्मकी व्याख्या करनेका प्रयत्न किया एवं उसके आधारपर समाजकी सर्वांगपूर्ण रचना करनेके उनके प्रयत्न प्रत्येक व्यक्तिको ऐहिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त करवा देकर उसके

जीवनका भौतिक एवं नैतिक और आध्यात्मिक स्तर ऊँचा उठानेके हेतु कैसे रहे, इस ओर अंगुलिनिर्देशमात्र करनेके लिये ही यह लिखा गया है। आजकी अनेक समस्याएँ तथा अनेक विचारप्रवाहोंका भी अपनी सांस्कृतिक दृष्टिसे कुछ विचार स्वभावतः ही इसमें हुआ है। यदि कोई विद्वान् हिंदू-संस्कृतिका सांगोपांग अभ्यास कर उसकी सुखमयी विचारधारा तथा व्यवहारको प्रकट करे तथा आजकी अवस्थामें जगत्को भिन्न-भिन्न विचारोंसे 'यही विश्वशान्ति प्रदान करनेमें समर्थ है'—यह बात सबको सुगमतासे समझा दे तो उत्तम होगा और आज अपनी ही संस्कृतिको भूलनेवाले हिंदू-समाजका योग्य मार्ग-दर्शन होगा। मैं तो इस लेखमें कुछ अंशमें ही विचार कर सका हूँ। मेरे विचारकी जिस दिशाका निर्देश इसमें है, वह यदि किसीके लिये उपयुक्त हुआ और उससे अपनी सर्वश्रेष्ठ संस्कृतिके अध्ययन, मनन तथा आचरणकी प्रेरणा हुई तो मैं इस त्रुटियुक्त प्रयत्नको सफल ही मानूँगा।

अन्तमें हिंदू-संस्कृतिके विश्वशान्ति-महामन्त्र—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

—का स्मरण कर इस अल्प लेखको अपने हिंदुराष्ट्ररूपी परमात्माके चरणोंमें समर्पित करता हूँ।

क्या हिंदुत्व साम्प्रदायिकता है?

(लेखक—पू० महन्त श्रीदिग्विजयनाथजी महाराज)

आजके भारतके अधिकांश नागरिक और संसारके प्रमुख व्यक्ति, जो हिंदुत्वसे अनभिज्ञ हैं, प्रायः हिंदुत्वका अर्थ साम्प्रदायिकता और हिंदूका अर्थ साम्प्रदायिक समझते हैं। यह आजका एक प्रचलित नारा हो गया है और यह भी दावेके साथ कहा जा सकता है कि इसके सदृश भ्रमपूर्ण और अनर्गल नारा दूसरा हो भी नहीं सकता। यदि आजके अनभिज्ञ भारतीय और विशेषतः हिंदू यह समझ सकें कि हिंदुत्व और साम्प्रदायिकतामें उतना ही अन्तर है, जितना आकाश और पातालमें, तो इसमें सन्देह नहीं कि वे अपनी मानसिक दासताकी एक शृंखला और सबसे मजबूत शृंखलाको अवश्य तोड़नेमें समर्थ हो जायँगे। इस प्रश्नपर विचार करनेके पूर्व कि वास्तवमें हिंदुत्व साम्प्रदायिकता है या नहीं, यह उचित होगा कि हम इन दोनों महत्त्वपूर्ण शब्दों—'हिंदुत्व' और 'साम्प्रदायिकता' पर अलग-अलग विचार करें।

हिंदूकी परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकारसे की गयी है; पर सबसे विशद, प्रामाणिक और सरल परिभाषा अखिल-भारतवर्षीय हिंदू-महासभाकी ओरसे निम्नलिखित प्रकारसे हुई है—

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिंदुरिति स्मृतः॥

अर्थात् जो इस सिन्धु नदसे लेकर सागर (कन्याकुमारी)-पर्यन्त विस्तृत इस भारत-भूमिको अपनी पितृ-भूमि और पुण्य-भूमि मानता है, उसे ही हिंदू कहा जा सकता है (वह हिंदू है)।

कितनी असाम्प्रदायिक परिभाषा है यह! साम्प्रदायिकताकी तो इसमें बूतक नहीं है। यह किसी भी सम्प्रदायविशेष या धर्मविशेषकी ओर इंगित करती प्रतीत नहीं होती; न तो इसके अनुसार केवल शिवलिंगकी पूजा करनेवाला हिंदू है और न गायत्रीमन्त्र जपनेवाला ही। पर हिंदू वह है, जो इस समग्र भारतभूमिको अपनी पितृ-भूमि और पुण्य-भूमि मानता है। कितनी राष्ट्रियता है इसमें, और है कितनी देशभक्ति! जो मनुष्य इस भूमिको अपनी पितृ-भूमि और पुण्य-भूमि मानेगा, वह कभी इसको धोखा नहीं दे सकता। हिंदू हिंदुस्थानके लिये जी सकता है, मर सकता है और कर सकता है अपना सर्वस्व-समर्पण! पर एक हिंदूके लिये इस भूमिको अपनी पितृ-भूमि मानना ही पर्याप्त नहीं है, उसको इसे अपनी पुण्य-भूमि भी मानना ही पड़ेगा और तभी वह हिंदू कहला सकता है।

पुण्य-भूमिका अर्थ—उसके तीर्थ और महापुरुष इस भारत-भूमिमें ही उत्पन्न हुए हों। उसके हृदयमें भाव हो—*'फिर जन्में हम इसी भूमिमें, यही भाव उर धरे मरें'* न कि *'मेरे मौला! मदीने बुला ले मुझे'*। एक हिंदूके तीर्थ काशी और मथुरा होंगे, न कि मक्का और फिलस्तीन। हिंदू वास्तवमें शुद्ध राष्ट्रिय होगा।

पितृ-भूमि और पुण्य-भूमि माननेके पश्चात् फिर वह अपने देशके साथ किसी भी प्रकारका विश्वासघात नहीं कर सकता। एक मुसलमान या अंग्रेज यह मानता है कि भारत-भूमि उसकी पितृ-भूमि है, पर वह हिंदू तबतक नहीं कहला सकता, जबतक वह उसे पुण्य-भूमि भी न माने अर्थात् यहाँके तीर्थोंको अपना तीर्थ न माने, यहाँके महापुरुषोंको अपना महापुरुष न माने। उसे फिलस्तीन और मक्काकी याद छोड़नी ही पड़ेगी और शुद्ध भारतीय बनना ही पड़ेगा। अतएव केवल पितृ-भूमि मानकर ही कोई राष्ट्रिय नहीं हो सकता, पुण्य-भूमि भी उसके लिये स्वीकार करना आवश्यक है।

प्रत्येक मस्तिष्कमें दो प्रकारकी मनोवृत्तियाँ सुरक्षित रहती हैं—एक, जो पुण्य-भूमिकी ओर मनुष्यको आकर्षित करती है और दूसरी, जो पितृ-भूमिकी ओर। अब कल्पना कीजिये कि मक्कासे और भारतसे युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। जिनकी पुण्य-भूमिकी ओर आकर्षित करनेवाली मनोवृत्ति अधिक बलवती रही, वे निश्चय ही मक्काका पक्ष ले लेंगे। पर एक मनुष्य जो भारतका शुद्ध राष्ट्रिय व्यक्ति सिद्ध होना चाहता है, उसके लिये यह आवश्यक है कि वह इसे अपनी पितृ-भूमि भी माने और पुण्य-भूमि भी। और चूँकि भारतका एकमात्र राष्ट्रिय हिंदू है, अतः उसके लिये भी इन दो बातोंका होना आवश्यक है। यह तो हुई हिंदूकी परिभाषा। अब लीजिये सम्प्रदायकी परिभाषाको। और इस परिभाषाकी कसौटीपर हिंदूको कसकर देखना है कि क्या वह वास्तवमें साम्प्रदायिक है।

एक शब्दमें, चिरकालसे चली आनेवाली अविच्छिन्न परम्पराको सम्प्रदाय कहते हैं। अर्थात् सनातनधर्म एक सम्प्रदाय हो सकता है या बौद्धधर्मको हम एक सम्प्रदाय कह सकते हैं। क्योंकि चिरकालसे चली आ रही इनकी एक अविच्छिन्न परम्परा है। बौद्धधर्म या सनातनधर्म जिस प्रकार आज माना जाता है अर्थात् इनके पालन करनेके जो नियम आज हैं, आजके सहस्रों वर्ष पूर्व जब इन सम्प्रदायोंका प्रारम्भ हुआ था, तब भी इनके पालन करनेके नियम वे ही थे। दूसरे शब्दोंमें चिरकालसे चली आ रही इनकी एक अविच्छिन्न परम्परा है। परंतु हिंदू चिरकालसे चले आनेपर भी एक ही परम्परा, एक ही रूढ़ि, एक ही नियममें आबद्ध नहीं। वेदविरोधी चार्वाक भी हिंदू थे, भगवान् व्यास भी हिंदू थे, जिन्होंने वेदकी सत्ताको सर्वोपरि माना। शाक्त भी हिंदू हैं, जो हिंसामें दोष नहीं मानते एवं बौद्ध और जैन भी हिंदू हैं, जो **'अहिंसा परमो धर्मः'** के उपासक हैं।

ये सब भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय हैं, पर एक व्यापक रूपमें ये सभी केवल हिंदू हैं। एकत्रित होनेपर इनकी सत्ता एक राष्ट्रियताको जन्म देती है—जिसे हिंदुत्व कहते हैं। न तो ब्राह्मण अधिक हिंदू है और न शूद्र कम, दोनों हिंदू हैं; और उपर्युक्त सम्प्रदायकी परिभाषापर 'हिंदू' शब्दको कसनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो हिंदू साम्प्रदायिक है और न हिंदुत्वका अर्थ साम्प्रदायिकता है। हिंदुत्व एक सागर है, जिसमें भिन्न-भिन्न सम्प्रदायरूपी नदियाँ आकर विलीन हो जाती हैं और विलीन होनेपर वे सागरमय हो जाती हैं। वे विभिन्न तरंगोंके रूपमें लहराती हुई एकमात्र समुद्रकी ही शोभा बढ़ाती और उसकी महत्ताकी घोषणा करती हैं। ये सब मिलकर सागरका ही प्रतिनिधित्व करने लगती हैं। अतएव हिंदू एक महान् राष्ट्रका नाम है, न कि किसी फिरकेका।

तब हिंदुत्व है क्या ? हिंदुत्व एक आदर्श भारतीय-राष्ट्रिय समाजवाद (An ideal Indian national Socialism) है, जिसने समस्त भारतीय समाजको एक सूत्रमें आबद्ध कर लिया है। बौद्धधर्मके नामपर केवल बौद्ध धर्मानुयायी आगे बढ़ेंगे, सनातनधर्मके नामपर केवल सनातनी आगे आयेंगे। पर हिंदुत्वके नामपर सब एक साथ आयँगे और सम्मिलित रूपसे आयँगे; और उनमें सनातनी, आर्यसमाजी, सिक्ख, बौद्ध, जैनी—सभी रहेंगे।

अतएव हिंदुत्व साम्प्रदायिकता नहीं राष्ट्रियता है—ऐसी राष्ट्रियता, जिसका भारतके अतिरिक्त कोई अस्तित्व ही नहीं। स्मरण रखिये—कितने सम्प्रदाय नष्ट हो चुके हैं, नष्ट होंगे और हो रहे हैं; पर हिंदुत्व इन सबके ऊपर है और अमर है। वह न कभी नष्ट हुआ है, न होनेवाला है और न हो ही रहा है। यदि किसी दिन भारतकी इस राष्ट्रियता (हिंदुत्व)-के समाप्त होनेकी बात सोची जा सकती है तो उसीके साथ यह भी सोच लेना चाहिये कि उस दिन भारत ही समाप्त हो जायगा।

हिंदू कौन ?

(महात्मा श्रीविनोबाजी भावे)

यो वर्णाश्रमनिष्ठावान् गोभक्तः श्रुतिमातृकः। मूर्तिं च नावजानाति सर्वधर्मसमादरः॥
उत्प्रेक्षते पुनर्जन्म तस्मान्मोक्षणमीहते। भूतानुकूल्यं भजते स वै हिंदुरिति स्मृतः॥
हिंसया दूयते चित्तं तेन हिंदुरितीरितः॥

जो वर्णों और आश्रमोंकी व्यवस्थामें निष्ठा रखनेवाला, गो-सेवक, श्रुतियोंको माताकी भाँति पूज्य माननेवाला तथा सब धर्मोंका आदर करनेवाला है; देवमूर्तिकी जो अवज्ञा नहीं करता, पुनर्जन्मको मानता और उससे मुक्त होनेकी चेष्टा करता है तथा जो सदा सब जीवोंके अनुकूल बर्तावको अपनाता है, वही 'हिंदू' माना गया है। हिंसासे उसका चित्त दुःखी होता है, इसलिये उसे 'हिंदू' कहा गया है।

हिंदू-संस्कृति ही विश्व-संस्कृति है

(महामहिम गवर्नर जनरल श्रीयुत सी० राजगोपालाचारी महोदय)

हिंदू-संस्कृति भारतीय संस्कृति है और भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण जगत्‌की संस्कृति है। किसी भी जाति अथवा राष्ट्रके शिष्ट पुरुषोंमें विचार, वाणी एवं क्रियाका जो रूप व्याप्त रहता है, उसीका नाम संस्कृति है। विचार, वाणी एवं क्रियाके जिस आदर्शको हिंदू-संस्कृतिके नामसे पुकारा जा सकता है, उसका स्वरूप है उपनिषदों एवं इतिहासोंमें दिये हुए उपदेशोंके अनुकूल जीवन बनाना। इसका सार-तत्त्व है ज्ञान, भक्ति और अपने सम्पूर्ण कर्मोंमें भगवत्‌शरणागतिका भाव। जैसा मैंने 'कल्याणके उपनिषद्-अंक' में लिखा था—ज्ञानका अर्थ प्रचुर अध्ययनसे होनेवाला गम्भीर आध्यात्मिक ज्ञान नहीं, अपितु अनुभव तथा गुरुजनोंके उपदेश एवं आचरणपर ध्यान देनेसे प्राप्त होनेवाली सम्यक् दृष्टि है। सत् क्या है और असत् क्या है, महान् क्या है और क्षुद्र क्या है, हमें क्या स्मरण रखना चाहिये और क्या भूल जाना चाहिये—इस बातको जानना आवश्यक है। इसीका नाम ज्ञान है और यह ज्ञान हमारी समस्त क्रियाओंका सूत्रधार होना चाहिये। इससे कर्ममें अनासक्तिका भाव आता है। हम कर्तव्यसे मुँह न मोड़ें, अपितु समस्त प्राप्तकर्म अनासक्त होकर तथा इस बातपर दृष्टि रखते हुए कि किस बातमें जगत्‌का हित है और किसमें अहित है—करते रहें। हमारी क्रिया स्वार्थके लिये—अपने लाभके लिये न हो।

भक्ति संकल्पकी दृढता, विनयशीलता तथा श्रद्धाका वह समन्वित रूप है, जिसके द्वारा हमारा कर्म और हमारी उपासना दूसरोंके लिये तथा अपने लिये भी कल्याणकारक एवं सफल होती हो। भक्तिशून्य कर्म अहंकारका प्रतीक है और भक्तिरहित उपासना दम्भका नामान्तर है।

भगवान्‌के शरण हुए बिना शोक एवं विफलतासे छुटकारा नहीं मिल सकता और न चित्तकी शान्ति ही सम्भव है। आनन्दकी प्राप्ति करानेवाला वेदान्तका यही अन्तिम उपदेश है। धनी एवं निर्धन, पण्डित एवं मूर्ख—सबके लिये, चाहे वे जीवनमें कोई भी धंधा करते हों, हिंदू-संस्कृतिका वास्तविक स्वरूप यही है।

श्रीमद्भगवद्गीता और कम्यूनिस्टवाद

(लेखक—बंगदेशके गवर्नर डॉक्टर श्रीकैलाशनाथजी काटजू महोदय)

हमारी चिर-अभिलषित स्वाधीनताका द्वितीय वर्ष पूरा हो चुका है। यह जो समय अभी बीता है, बड़ी कठिनाई और चिन्ताके साथ बीता है। जिस आर्थिक अशान्तिने समस्त एशिया और यूरोपको ग्रसा है, उसीमें हमलोग भी आ फँसे हैं। नित्य ही हमलोगोंको अन्नादिके सम्बन्धमें जो कष्ट उठाने पड़ रहे हैं, उनके कारण बहुत-से लोग प्रायः भूल गये हैं कि आजसे दो वर्ष पहले कैसी दुःस्थितिसे हमलोगोंका उद्धार हुआ था। लोगोंकी अब कुछ ऐसी मनोवृत्ति बन गयी है कि स्वाधीनताको वे एक अनायास बनी-बनायी चीज माने बैठे हैं और इस बातको भुला देना चाहते हैं कि इस स्वाधीनताके लिये कितना प्रचण्ड राष्ट्रिय संग्राम करना पड़ा था। हमलोग स्पष्ट ही ऐसी कठिनाइयोंसे घिरे हुए हैं कि कुछ लोग अपनी इस महती स्वाधीनताको भी अपने सामान्य हानि-लाभकी दृष्टिसे तौलने लगे हैं। ये कठिनाइयाँ स्थायी नहीं हैं। स्वाधीनता भी कोई इतनी हल्की चीज नहीं है, जो अन्य किसी लाभसे तौली जा सके। इस महान् यशका महत्त्व हमारे देखते-देखते घटता हुआ दीख रहा है। तारतम्यबुद्धि ही मानो खो गयी है। जिन खराबियोंसे आज हमलोग दुखी हैं—उनके वास्तविक कारण क्या हैं—यह शिक्षितलोग सोचना-समझना नहीं चाहते। इन खराबियोंमेंसे कुछ तो निश्चय ही महायुद्धके परिणाम हैं—जिनसे जगत्के सभी लोग त्रस्त हैं, केवल भारतके ही लोग नहीं। इनमेंसे कुछ खराबियाँ हमारी अपनी त्रुटियों और कमियोंसे पैदा हुई होंगी। पर जैसे कोई विपद्ग्रस्त मनुष्य धीरज खो बैठता और अपने दुःखोंके लिये किसी गैरको दोषी बतलाने लगता है, कुछ वैसी ही अधीरता और निराशा लोगोंमें आ गयी है। आज जिन लोगोंके हाथोंमें शासनके सूत्र हैं, उन्हींको हमलोग अपनी सब विपत्तियोंका कारण बतलाने लगे हैं। यह बहुत ही शोचनीय मनोऽवस्था है; इससे विचारकी अपरिपक्वता और तारतम्य-बुद्धिका अभाव ही सूचित होता है। यह अनिष्टकारक भी है, क्योंकि इससे अनिष्ट विचार और अनिष्ट कर्म बन सकते हैं। हमलोग अधिकाधिक इस बातको अनुभव कर रहे हैं कि यह भूगोल यथार्थमें 'एक विश्व' है और अन्य देशोंमें अन्य लोगोंके साथ जो कुछ बीतती है, उसकी खबर हमलोगोंतक पहुँचती है—पर प्रायः कट-छटकर और अपनी असलियतको खोकर; और उससे हमलोग बहुत बेचैन हो उठते हैं। यह सच है कि एशिया आगे बढ़ रहा है और एशियाके अन्य देशोंमें जो घटनाएँ हो रही हैं, उनसे हम अछूते नहीं रह सकते। पर हमलोग इस बातको भूल जाते हैं कि हमारा देश थोड़ी-सी आबादीवाला कोई छोटा-सा ऐसा देश नहीं है, जो चारों ओरसे अन्य लोगोंद्वारा घिरा हो और इतना कमजोर हो कि अपनी आवश्यकताओंको आप पूरा न कर सके या अपने पैरोंपर खड़ा न रह सके, स्वाधीन न रह सके। चीनको थोड़ी देरके लिये छोड़ दें तो जगत्में भारतवर्ष ही जन-संख्यामें सबसे बड़ा देश है और वह एक ही एकीभूत शासनके अधीन है; इसके लोग एक ही जीवन-पद्धति, परम्परा और संस्कृतिके सूत्रोंसे एकत्वमें बँधे हुए हैं और सब सुस्थिर शासनका सुख इस समय लाभ कर रहे हैं। यह सब भूलकर हमलोग अपनी विपत्तियोंमें वैसे ही बन जाते हैं, जैसे कोई आतुर रोगी हो, जो तुरंत अच्छा हो जानेकी अधीरतामें नीम-हकीमोंके पास दौड़ जाया करता है। नीम-हकीम खतरे-जान होते ही हैं। ये जितना लाभ पहुँचाते हैं, उससे अधिक हानि करते हैं। अभी हमलोगोंने ठीक तरहसे समझा ही नहीं कि हमारी प्राचीन संस्कृति और परम्परा, हमारी भारतीय प्रतिभा और हमारे महापुरुषोंके उपदेश स्वयं इतने बड़े धन्वन्तरि हैं कि उनके आदेशोंके अनुसार चलने और उनकी देखभालमें रहनेसे निश्चय ही रोग पूरे तौरपर हट जायगा। अभी जिस व्याधिने हमें पीड़ित कर रखा है, सम्भव है इससे भी कोई महान् हित हो और राष्ट्र पहलेसे अधिक बलवान् और नीरोग होकर आगे बढ़े। इस आलंकारिक भाषाका प्रयोग मैं एक साहित्यिक युक्तिके तौरपर नहीं कर रहा हूँ। मैं अपने हृदयमें यही अनुभव कर रहा हूँ कि आज जो विपत्तियाँ हमारे सामने हैं, इनका यदि बुद्धिमानीके साथ इलाज किया जाय तो हमारे लिये ये कल्याणप्रद ही प्रमाणित होंगी। पुराना ढाँचा हमारे देखते-देखते ढहा जा रहा है। इसका ढह जाना कोई रोक नहीं सकता। प्रश्न है केवल नये ढाँचेका, उसका क्या स्वरूप होगा और वह कैसे बनेगा? अन्यत्र जो प्रयोग हो रहे हैं, उनसे हम लाभ उठा सकते हैं। इस नवीन व्यवस्थाके अंदर क्या रहेगा या इसका लक्ष्य क्या होगा—इस विषयमें कोई मतभेद नहीं है। केवल इतना ही

मतभेद है कि उस लक्ष्यके समीप हम किस मार्गसे, किस पद्धतिसे पहुँचेंगे। मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। सबसे उत्तम और सबसे कम कष्टप्रद कौन-सा मार्ग है? 'कष्टप्रद'-की बात मैं इसलिये कहता हूँ कि अन्यत्र ऐसे मार्गका अवलम्बन किया गया है, जो सबसे समीपका मार्ग जान पड़ता है, पर जिसमें लोगोंको अकथनीय दुःख, क्लेश और यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ी हैं। मनुष्य पिछली बातोंको बहुत शीघ्र भूल जाता है और आगे आनेवाली पीढ़ियोंको उन यातनाओंकी अथवा उस विषाद-नैराश्यकी कोई तीव्रता शायद ही कभी अनुभूत होती हो, जिसमेंसे होकर पहलेकी पीढ़ीको जाना पड़ा था। नेत्रोंके सामने एक महान् भव्य प्रासाद दिखायी देता है; पर वह जिस नींवपर खड़ा है, उसमें कितनी-कितनी टूटी-फूटी चीजें जुड़ी हुई हैं! पिछले कुछ वर्षोंमें कई देशोंने नवसमाज-विधानकी जो भव्य अट्टालिकाएँ खड़ी कीं, उनपर यह रूपक ठीक घटता है। क्या हम भी मृत्युकी इस घाटीमेंसे होते हुए इसी दुःखमय पथका अनुसरण करेंगे? मैं समझता हूँ, आधुनिक विचार और आधुनिक प्रगतिके नामपर हमलोगोंने बुद्धि और मनकी गुलामी करनेमें जो अति कर दी है, उससे हमने अपनी प्राचीन सांस्कृतिक सम्पत्तिको ठुकरा दिया है। हमलोग जरा भी इस बातका विचार नहीं करते कि यह संस्कृति सहस्रों वर्षोंके संगसे हमारे भौतिक शरीरका अंग बन गयी है और अब जनताको उससे अलग करनेकी चेष्टा करना जीते-जी उसकी खाल उधेड़नेके समान है। ऐसा करना सम्भव तो है; पर इससे वह शरीर जीवित नहीं रहेगा, केवल उसकी लाश रह जायगी। मेरा यह विश्वास है कि हमारी पूर्वपरम्परा तथा जातीय प्रतिभाकी किसी प्रकार उपेक्षा करनेका परिणाम बहुत ही नाशकारी होगा। उससे कोई ऐसी समाजरचना नहीं होगी, जैसी हम सब चाहते हैं कि हो; उससे केवल भयानक रक्तपात होगा और अंधेर मचेगा। पिछले छः वर्षोंमें हमलोग तीन अति भयानक रोमांचकारी दुर्घटनाओंमेंसे होकर निकले हैं—बंगालका अकाल, कलकत्तेकी मार-काट और सबसे भयानक १९४७ का पंजाबकाण्ड! इनसे हमारे दुर्भाग्य और दुःखकी सीमा हो चुकी है, यहीं यह चीज समाप्त हो जानी चाहिये।

मुझे तो नये तरीकोंकी यह अंधाधुंध ढूँढ-खोज, जिनसे हिंसा अलग नहीं की जा सकती, सर्वथा निरर्थक और मूर्खतापूर्ण मालूम होती है। हम अज्ञानवश यह समझ बैठे हैं कि हमने एक नवीन आदर्शका आविष्कार किया और उस ओर जानेका मार्ग हम बना रहे हैं। पर बात यह है कि वह आदर्श सदासे ही हमारे पूर्वजोंके सामने रहा और उसका मार्ग भी वे स्पष्टरूपसे निर्दिष्ट कर गये हैं। इससे अधिक सुनिश्चित बात और कुछ हो ही नहीं सकती कि यदि हमलोग उस पूर्व-निर्दिष्ट पथपर चलें तो हम उस आदर्शको निश्चय ही प्राप्त कर लेंगे, जो हमारे हृदयमें है। आजकल लोगोंकी ऐसी धारणा हो रही है कि राष्ट्रकी सर्वविध उन्नति तभी हो सकती है, जब नफाखोरी-की धुन या व्यापारिक लाभकी दृष्टि ही न रह जाय और अर्थमूलक प्रतिष्ठा (या प्रतिष्ठाकी अर्थमूलकता)-का ही अन्त कर दिया जाय। सम्पत्ति और साम्पत्तिक लाभकी दृष्टिसे मुक्ति मिल जाय तो तुरंत ही उस वर्गहीन समाजकी स्थापना हो लेगी, जिसमें अमीर-गरीबके विभिन्न वर्ग न रहेंगे। यही नवीन मत है। पर यही हमारे देशकी प्राचीन शिक्षा है और उसका ढंग भी अधिक आकर्षक है। हमारे यहाँकी शिक्षा स्वेच्छापूर्वक त्याग करनेकी है—कर्म या मानवी प्रयत्नका त्याग नहीं, प्रत्युत कर्मके फलका त्याग। यह एक दूसरे ढंगसे वही बात हुई कि वैयक्तिक लाभ हमारे कर्मका हेतु न होना चाहिये। जो मनुष्य अपने कर्मके फलमें आसक्त नहीं है और अपने लिये उस फलकी इच्छा नहीं करता, वह वैयक्तिक लाभके हेतुसे कुछ नहीं करता। सम्पत्तिके सम्बन्धमें यह बात है कि सम्पत्ति वैयक्तिक स्वार्थोंके संचयका ही परिणाम है। यदि हम अपने कर्मका कोई फल चाहते ही नहीं तो कोई सम्पत्ति संचित करें, यह सम्भव ही नहीं है। कर्मफलका त्याग हो, साथ ही सब प्राणियोंके सुख और सार्वत्रिक हितके लिये सतत कर्म होता रहे—ये दोनों बातें एक साथ चलती हैं। इससे अधिक और क्या चाहिये? आधुनिक तत्त्वज्ञान भी इससे अधिक क्या देता है? हाँ, दोनोंमें एक अन्तर अवश्य है। आधुनिक मतवादमें यह मान लिया गया है कि जबतक अल्पसंख्यक समुदाय भौतिक बलका प्रयोग करके बहुजनसमाजको अपने वशमें दबाकर नहीं रखता या उसे नष्ट नहीं कर डालता, तबतक यह इष्ट हेतु सिद्ध नहीं हो सकता। हमलोग एक ऐसा वर्गहीन समाज स्थापित देखना चाहते हैं, जो साम्पत्तिक लाभके हेतुसे नियन्त्रित न हो, न अर्थमूलक प्रतिष्ठासे बँधा हो। ऐसे समाजकी स्थापनामें ईसाई-मत कहाँतक सहायक हो सकता है—मैं नहीं बतलाना चाहता, न मैं यह बतलानेका अधिकारी ही हूँ। हमारे भारतवर्ष देशके साहित्यका बहुत-सा भाग कथा-कहानियोंसे भरा हुआ, बहुत-सा असम्बद्ध और बहुत-सा मेरा ख्याल

है कि किन्हींके द्वारा स्वार्थवश मिलाया हुआ है; तथापि इस पुण्यमय साहित्याकाशमें गीता निरभ्र शारदीय आकाशके पूर्ण-चन्द्रके समान प्रकाशमान है। गीता इष्टप्रदकी सिद्धिके लिये ध्यान-धारणा, पूजा-अर्चा अथवा कैवल्यमें लीन होनेकी शिक्षा नहीं देती, प्रत्युत सतत कर्म और समाज-कल्याणार्थ सत्प्रयत्न करनेको ही सर्वोत्तम मार्ग बतलाती है। यह शिक्षा मन, वचन, कर्ममें अहिंसापर ही प्रतिष्ठित है। गीता दलगत निष्ठा नहीं सिखाती, न एक दलको दूसरे दलके विरुद्ध या अल्पसंख्यकोंको बहुसंख्यकोंके विरुद्ध उभाड़ती है। इसकी शिक्षा प्रत्येक व्यक्तिको उसीकी नैतिक उन्नतिके लिये है। इस शिक्षाकी खूबी यह है कि इसमें समाजका कल्याण और व्यक्तिका कल्याण दोनों अविभाज्यरूपसे एक हो जाते हैं अथवा यों कहिये कि समाजका कल्याण स्वयं ही व्यक्तिके नैतिक और आध्यात्मिक उत्थानका साधन बन जाता है। मैं समझता हूँ, इस विषयमें गीताकी शिक्षा बिलकुल बेजोड़ है। अन्य धर्मोपदेशकोंने दीन, दुःखियों, पतितों और बीमारोंकी सेवा करनेको बहुत आग्रहपूर्वक कहा है और इसे आत्मिक उद्धारका साधन बताया है। गीताने समाजके कल्याणके लिये समाजकी सेवाको उच्चतम स्तरपर रखा है। अर्थोत्पादनके लिये प्रयत्न करनेका आदेश गीता देती है। संसारसे विरक्त होकर ध्यान-धारणामें जीवन बितानेको गीता अच्छा नहीं बतलाती। उसने अखिल मानव-समाजके कर्म, योग्यता और सहज प्रवृत्तिके भेदसे चार बड़े विभाग माने हैं। कुछ लोगोंमें विद्याकी विशेष अभिरुचि होती है, उनके द्वारा अध्यापन और नवीन पीढ़ीको तैयार करनेका काम अच्छी तरहसे हो सकता है। कुछ लोग अपने शारीरिक बल और क्षात्रतेजके कारण पर-चक्रनिवारण और देशमें शान्ति-स्थापन करनेका काम अच्छा कर सकते हैं। कुछ अपनी सहज रुचि और बुद्धिसे राष्ट्रके साम्पत्तिक उत्पादनके काममें विशेष योग दे सकते हैं। अन्तमें वह वर्ग है, जिसे श्रमजीवी या मजदूरवर्ग कहते हैं। समाजकी उन्नतिके साधनमें ये चारों वर्ग जुटकर एक ही अविभक्त समाज बन जाते हैं। गीताकी यह शिक्षा है कि संसारसे विरक्त होकर अलग हो जानेका कुछ भी फल न होगा। सबका दुःख-मोचन करने और जीवनका मान ऊँचा करनेके लिये अर्थोत्पादन आवश्यक है। आध्यात्मिक और भौतिक भावनाओंका ऐसा पूर्ण सामंजस्य अन्य किसी धार्मिक या धर्मनिरपेक्ष ग्रन्थमें न मिलेगा। गीताके प्रतिपादनका सार है वर्गहीन समाज। वर्गहीन समाजमें किसी मनुष्यकी प्रतिष्ठा उसके कर्मकी अच्छाईसे की जाती है। कर्मकी अच्छाई भी उसके अपने वैयक्तिक लाभसे नहीं, बल्कि समस्त समाजको उससे क्या लाभ हुआ—इस दृष्टिसे नापी जाती है। यह सब होना चाहिये अत्यन्त नम्रता और शुचिताके साथ— नम्रता और शुचिता ही इसका आधार है। 'अपने पड़ोसीको वैसे ही प्यार करो, जैसे अपने-आपको करते हो।' दया, क्षमा, सहानुभूति इस प्राचीन मन्त्रके मुख्य स्वर हैं।

और विशेष बात यह कि यह शिक्षा किसी सम्प्रदायके साथ बँधी नहीं है। आप चाहे ईश्वरको मानें या न मानें। आप चाहे सगुण-साकार ईश्वरको मानें या अचिन्त्य, निर्गुण-निराकारको। असल चीज यह है कि 'कर्म ही भर करनेका तुम्हारा अधिकार है;' फल जो कुछ हो, श्रीकृष्ण कहते हैं कि, मुझे अर्पण करो। श्रीकृष्णके प्रति श्रद्धा-भक्ति न हो तो उनके स्थानमें आप समाजको रखें। इससे भी पहुँचेंगे उसी जगह। कारण, श्रद्धावान्‌की दृष्टिमें समाज स्वयं श्रीकृष्णकी ही सबसे महान् विभूति है। आप चाहे जिस दृष्टिसे देखें, फल वही होगा।

कोई-कोई यह कहते हैं कि पूँजीपतियोंकी सत्ता उठा दी जायगी और उद्योग-धंधे राष्ट्रकी सम्पत्ति बना लिये जायँगे तो बड़े-बड़े उद्योगपतियों और व्यापारी वर्गोंका सारा कौशल और संचित अनुभव हमलोग खो बैठेंगे, कोई रास्ता दिखानेवाला या जानकारीके साथ मदद करनेवाला न रहेगा, समाज बड़े संकटमें पड़ जायगा। मैं समझता हूँ, ऐसा न होगा। पर यदि ऐसा हुआ तो यह बहुत शोचनीय और भयानक बात होगी। मेरे विचारमें पूँजीपतियों और उद्योगपतियोंकी असहयोगकी इस धमकीसे बढ़कर पूँजीपति-सत्ताका नाश करनेवाली और कोई चीज नहीं हो सकती। समाजके उन्नति-साधनमें यह काम अत्यन्त मूर्खतापूर्ण, नीति-विरुद्ध और देशहितविरोधी होगा। गीताके प्रकाशमें देखें तो यह काम सदाचार और धर्मके अत्यन्त विरुद्ध है। किसी व्यक्तिको जो बौद्धिक आदि गुण प्राप्त होते हैं, वे केवल अपने स्वार्थसाधनके लिये नहीं, बल्कि समाजकी सेवाके लिये होते हैं। यदि भगवत्सत्तापर उसका विश्वास है तो उसका यह परम धर्म है कि वह अपने तन-मनके सब गुणों और शक्तियोंका उपयोग अपने भगवान्‌की सेवामें करे। जन-सेवा ही जनार्दनकी सेवा है। अतः उपस्थित प्रसंगमें सहयोगसे हाथ खींच लेना एक महान् नैतिक विधानका उल्लंघन करना है। जो लोग किसी प्रकारकी भगवत्सत्ता मानते हैं, उनके लिये यह भगवदाज्ञाका ही उल्लंघन है। ऐसी अनीति सर्वथा त्याज्य है।

यह जो कुछ लिखा, कोई धर्मोपदेश या किसी धर्ममतका प्रतिपादन करनेके लिये नहीं लिखा है। जो उद्देश्य इस समय हमलोगोंके सामने है अर्थात् एक ऐसी राष्ट्रिय अर्थ-व्यवस्था स्थापित करना, जिसमें सब मनुष्य सर्वथा समान हों और कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्तिका शोषण न कर सके—उसीका यह अत्यन्त व्यावहारिक, साधनेतरोंसे अधिक अच्छा, अधिक सुविधाजनक और अधिक शीघ्र फलदायी उपाय है। मैं आग्रहपूर्वक यह कहना चाहता हूँ कि हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षियों और आचार्योंके सामने यह उद्देश्य सतत विद्यमान था और उन्हींकी शिक्षा भगवद्गीताकी विलक्षण शब्द-रचनाके अंदर संक्षिप्तरूपसे सदाके लिये भर दी गयी है। गीता केवल हिंदुओंका ग्रन्थ नहीं है। कारण, हिंदू-धर्म व्यतिरेकी धर्म नहीं है। अभीके कुछ रस्म-रिवाज हिंदू-धर्मके अंग नहीं हैं। हिंदू-धर्मकी अत्युच्च भावनामें अखिल मानव-जाति समा जाती है। अतः गीतामें फलासक्तिरहित कर्म करनेका जो उपदेश है, उसे सभी स्त्री-पुरुष अपना सकते हैं—चाहे वे कहीं रहते हों, किसी धर्म-सम्प्रदायके माननेवाले हों। यह चीज ही ऐसी है कि इसका सार्वत्रिक उपयोग किया जा सकता है। यही हमारी भारतीय संस्कृति है। मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि कम्यूनिस्टवादका यही पूर्ण उत्तर है; क्योंकि यह उससे हर बातमें श्रेष्ठ है। कम्यूनिस्टवादमें जो द्वेष और हिंसा और वर्ग-वर्गके बीच सतत संघर्षका विलक्षण आग्रह है, वह उसमेंसे निकल जाय तो गीताका ही गीत एक दूसरे रूपमें उससे सुनायी देगा।

हिंदू-संस्कृतिकी महत्ता

(लेखक—बिहारप्रान्तके गवर्नर माननीय श्रीयुत माधव श्रीहरि अणे महोदय)

हिंदू-संस्कृतिके अनुरागी सभी भारतवासी 'कल्याण' के 'हिंदू-संस्कृति-अंक' का हृदयसे स्वागत करेंगे। हिंदू-संस्कृतिका मूल वेदोंमें ही नहीं है अपितु वेदोंसे भी प्राचीन संस्कृतिमें निहित है, और इसलिये यह संस्कृति वर्तमान प्राचीनतम संस्कृतियोंमेंसे एक है। हजारों वर्षोंसे जो इसकी धारा अविच्छिन्नरूपसे चली आयी है, यही इसके सफल तथा मानव जातिके लिये उपयोगी होनेका प्रमाण है। जनताके लिये यह आवश्यक है कि वह इसके मूल-सिद्धान्तोंको समझे। इन सिद्धान्तोंको भलीभाँति हृदयंगम कर लेनेपर इस संस्कृतिका अनुगमन करनेवाले नर-नारी, चाहे जिस परिस्थितिमें रहें, उसके अनुकूल अपनेको बना सकते हैं। कालके प्रभावसे किसी भी मानव-समाजकी भौतिक अवस्थामें परिवर्तन हो सकता है; परंतु जो राष्ट्र सुसंगठित एवं बलवान् है, संस्कृतिका मुख्य उद्देश्य होता है उसके मानसिक गठनको अविकलरूपमें बनाये रखना। कालकृत विपरीत परिणामोंसे बचनेके लिये वह स्वयं ही स्वतन्त्र साधनोंकी सृष्टि कर लेती है। अतः मेरी धारणामें अपनेको हिंदू-संस्कृतिका अनुयायी कहनेवाले प्रत्येक भारतवासीको यह जानना चाहिये कि इस संस्कृतिके आधारभूत एवं मुख्य सिद्धान्त क्या हैं। उसके लिये यह उचित है कि वह मुख्य एवं गौणके भेदको भलीभाँति समझे और तब वह अपने देशकी उन्नतिमें तथा मानव-जातिको उच्चतर ध्येयकी ओर अग्रसर करनेमें समुचित भाग ले सकेगा। मैं इस अंककी महती सफलता चाहता हूँ।

सन्देश

(माननीय डा० श्रीश्यामाप्रसाद मुकर्जी महोदय, उद्योगमन्त्री, केन्द्रिय-सरकार)

लगभग पचीस वर्षोंसे 'कल्याण' भारतीय संस्कृतिके संदेशको जनतामें पहुँचानेका कार्य कर रहा है और हमारे धर्म, राजनीति, समाज-संगठन, दर्शन, कला एवं साहित्यके तत्त्वोंको समझानेका एक महत्त्वपूर्ण साधन बना हुआ है। अतः मुझे यह जानकर विशेष हर्ष हुआ कि वह अपनी आयुके चौबीसवें वर्षमें प्रवेश करनेके उपलक्षमें 'हिंदू-संस्कृति-अंक' के नामसे एक विशेषांक निकालने जा रहा है। इसमें दार्शनिक तथा सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओंसे सम्बन्धित विविध विषयोंपर लेख रहेंगे, जो अपने-अपने क्षेत्रके नामांकित विद्वानोंकी लेखनीसे प्रसूत होनेके कारण उच्च कोटिके होंगे। प्रस्तुत विशेषांक सभी लोगोंके लिये विशेष आदरकी वस्तु होगा।

संस्कृतिकी जीवन-क्षमता

(लेखक—माननीय श्रीरंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर नभोवाणी-विभागके मन्त्री, केन्द्रिय-सरकार)

केवल भारतीय संस्कृति ही आज इस बातका अभिमान कर सकती है कि सहस्रों वर्षोंसे उसका जीवन अविच्छिन्न है और युग-युगसे वह अपनी विजय-पताका फहराती चली आ रही है। नाना प्रकारकी संस्कृतियोंके आक्रमण इसपर हुए, पर सबको सहकर यह अपने स्थानपर स्थिर रही। मिस्र, बैबीलन, यूनान तथा रोमकी सभ्यताओंका अपने-अपने उत्थानका एक दिन था; पर अन्य संस्कृतियों एवं सभ्यताओंके आक्रमणके फलस्वरूप अथवा जराग्रस्त होकर वे सब या तो नष्ट हो गयीं या उनका रूप ही बदल गया। आज हमें इन संस्कृतियोंका कोई भी प्रतिनिधि काहिराकी गलियोंमें या यूफ्रेटीज (Euphar-ates) नदीके तटपर अथवा एथेन्स नगरके कुट्टिमों और रोमके प्रसिद्ध ऐप्पियन मार्गपर कहीं नहीं दिखायी देता। प्रतिमाएँ, स्तूप और चैत्य तो कई खड़े हैं, जिनको हम आज भी देख सकते हैं; पर संसारमें कहीं भी कोई ऐसे जीवित मनुष्य नहीं दिखायी देंगे, जो प्राचीन मिस्र अथवा रोमके प्रतिनिधिके नाते हमसे मिलें।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि हमारी भारतीय संस्कृति अपने मूलरूपमें न केवल अभीतक जीवित ही है वरं निरन्तर नवजीवन भी प्राप्त करती रही है। चाहे हिमालयकी ऊँची चोटियोंपर चले जाइये, या गंगाके कछारोंमें, विन्ध्याचलकी घाटियोंमें अथवा कावेरीके तटोंपर—हमें भारतवर्षमें सर्वत्र ऐसे स्त्री-पुरुष मिलेंगे, जिन्हें हम अपनी पुरानी संस्कृतिके प्रतीक और प्रतिनिधि कह सकते हैं।

हमारी संस्कृति विविधरूपिणी एवं बहुमुखी रही है। प्रत्येक मानवी कार्यक्षेत्रमें—युद्ध और शान्तिकी प्रत्येक कलामें, राजनीति एवं शासन-व्यवस्थामें, संगीत तथा साहित्यमें, स्थापत्य और प्रतिमा-निर्माणमें, नृत्य एवं चित्रकलामें—हमारी संस्कृति विकसित हुई है और उसने ऐसे आदर्श उपस्थित किये हैं, जिनकी सारा विश्व प्रशंसा करता है।

अपनी इस परम्परागत सांस्कृतिक सम्पत्तिपर गर्व करना ही आज हमारे लिये यथेष्ट नहीं है। हमें बहुत कुछ करना है। मैं विशेषकर एक बातकी ओर संकेत करना चाहता हूँ, जिसे करनेमें हम सबको तुरंत लग जाना चाहिये। वह यह है कि हम अपनी संस्कृतिमें अन्तर्निहित शक्तिके साधनों एवं उन कारणोंका पता लगायें, जिनसे यह अभीतक जीवित है और इसे नित्य नवीन प्राणशक्ति प्राप्त होती रहती है। इस प्रकारकी वैज्ञानिक खोजके परिणाम हमें वह मार्ग दिखानेमें बहुत लाभदायक सिद्ध होंगे, जिसका अनुसरण करके पूर्वजोंसे प्राप्त अपनी सांस्कृतिक निधिकी जड़ोंको हम और सुदृढ़ बना सकेंगे।

मेरी तुच्छ सम्मतिमें, कठिनाइयों तथा विपत्तिकी वेलामें हमारी संस्कृति झुकी है, पर कभी टूटी नहीं। संघर्षके प्रत्येक अवसरपर विजय इसीके हाथ रही। इसने कभी कट्टर बनने, दूसरोंको दबाने, बलप्रयोगके द्वारा दूसरोंको अपनेमें मिला लेनेकी चेष्टा नहीं की। इसके विपरीत यह सदा समयानुसार बदलनेवाली, सबके अंदर समावेश करनेवाली और सबसे बढ़कर बात यह कि सबको आत्मसात् करनेवाली रही है। इसकी यह व्यापक उदारता ही इसकी जीवनीशक्तिका मूल कारण कही जा सकती है। यह सच है कि अनेक बातोंमें यह इतनी बदल गयी है कि इसके प्राचीन रूपको पहचानना कुछ कठिन हो गया है; परन्तु इसके प्रधान दृष्टिकोणमें—सब पदार्थोंको अध्यात्ममूलक मानने तथा बाह्य रूपोंके भीतरी अर्थ देखनेमें इसकी जो आस्था है, उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

मनुष्यके अंदर जो भौतिक, जैविक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियाँ क्रियाशील हैं, मनुष्य उन्हींका संहत रूप है। इन शक्तियोंका परम सामंजस्य प्राप्त करना ही मानव-पुरुषार्थकी पराकाष्ठा है। मानवी चेतना जीवनके इन सभी स्तरोंमें विचरण करती है और वास्तवमें वह इन सभी स्तरोंकी निवासिनी है। भारतीय संस्कृतिने इन विभिन्न स्तरोंके महत्त्वभेदपर सदा विशेष ध्यान रखा है और प्रायः उच्चतर और सूक्ष्मतर स्तरको निम्नस्थ स्तरसे अधिक प्रधानता दी है। जीवनके इन उच्चतर क्षेत्रोंमें वास करनेकी यह निरन्तर और अनवरत चेष्टा वह दूसरा कारण है, जो हमारी संस्कृतिको जूझने और विजयी होनेकी शक्ति प्रदान करता है।

यहाँ मैंने उस दिशाका केवल संकेतमात्र कर दिया है, जिस दिशामें हमें खोजका प्रयत्न करना चाहिये और मुझे विश्वास है कि भारतीय संस्कृतिकी प्रबल धाराके रहस्योद्घाटनमें तथा इसकी अमर शक्तिके साधनोंका पता लगानेमें हम शीघ्र ही समर्थ होंगे।

हिंदू-संस्कृति

(लेखक—माननीय बाबू श्रीसम्पूर्णानन्दजी, शिक्षामन्त्री, युक्तप्रान्त)

'संस्कृति' शब्दका प्रचार तो आजकल बहुत है, परंतु इसके अर्थका बोध उस मात्रासे बहुत कम है। साधारणतः तो लोग इसका प्रयोग सभ्यताके अर्थमें करते हैं। सभ्यता और संस्कृति साथ-साथ कहनेपर भी बहुधा यह शब्दविन्यास आलंकारिक-मात्र होता है। अभी थोड़े ही दिन हुए श्रीपुरुषोत्तमदास टण्डनके उद्योगसे काशीमें संस्कृति-सम्मेलन हुआ था। उसमें सम्मिलित होनेवाले पण्डितोंके लिये वर्णाश्रम ही भारतीय (हिंदू या आर्य) संस्कृतिका प्रतीक है; संस्कृतिके यदि कोई और भी अंग या भेद होते हैं तो उस सम्मेलनमें किसीने उनका नाम नहीं लिया। वर्णभेद जन्मगत हो या कर्मगत; परंतु उद्देश्य यह है कि प्रत्येक व्यक्तिको समाजमें अपने गुणकर्मानुसार यथोचित स्थान मिल सके, ताकि वह अपना और समाजका अधिक-से-अधिक अभ्युदय और सम्भवतः अपना पारलौकिक कल्याण भी कर सके। आश्रम-भेदका उद्देश्य यह है कि व्यक्तिके जीवनका इस प्रकार नियमन किया जाय कि उसके सहज गुणोंके विकासको अधिक-से-अधिक अवसर मिल सके। जो स्थान समष्टिके जीवनमें वर्णभेदका है, वही व्यष्टिके जीवनमें आश्रम-भेदका है। दोनों ही सामाजिक संघटनके पहलू हैं, अतः सभ्यताके अन्तर्गत हैं।

सभ्यता और संस्कृति सर्वथा असम्बद्ध न होते हुए भी एक दूसरेसे भिन्न हैं। संस्कृति आभ्यन्तर, सभ्यता बाह्यतत्त्व है। संस्कृतिको अपनानेमें देर लगती है; परंतु सभ्यताकी सद्यः नकल की जा सकती है। अफ्रीकाका आदिम निवासी कोट-पतलून पहन सकता है, यूरोपियन ढंगके बँगलोंमें रह सकता है, कल-कारखाने चला सकता है; फिर भी उसका सांस्कृतिक स्तर अंग्रेज़-जैसा हो जाय, यह आवश्यक नहीं है। धोती-कुर्ता पहन लेने, आसनपर बैठकर दाल-रोटी खाने, फूसकी झोपड़ीमें रहने और चर्खा चलानेसे ही भारतीय संस्कृतिका रंग नहीं चढ़ जाता। संस्कृतिका सम्बन्ध निश्चय ही धार्मिक विश्वासोंसे है। एक ही धर्मके अनुयायी एक-दूसरेके बहुत निकट खिंच आते हैं; परंतु ऐसा नियम नहीं है कि ऐसे लोगोंकी संस्कृति एक हो। पूर्वी बंगालके मुसलमानकी संस्कृति सीमाप्रान्तके पठानकी संस्कृतिसे भिन्न है। वह पूर्वी बंगालके हिंदुओंसे अधिक मेल खाती है। यूरोपके रहनेवाले ईसाई, यहूदी, मुसलमान लोगोंकी संस्कृति प्रायः एक-सी है, यद्यपि वे लोग विभिन्न धर्मोंके अनुयायी हैं।

संस्कृति समष्टिगत समान अनुभवोंसे उत्पन्न होती है। एक ही जल-वायुमें पले, एक ही प्रकारके गिरि, निर्झर, नदी, सागरको देखनेवाले, एक ही प्रकारके राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सुख-दुःखको भोगे हुए लोगोंके चित्तोंका झुकाव प्रायः एक-सा ही होगा। उनकी सामूहिक आशाएँ और आकांक्षाएँ प्रायः एक-सी होंगी। वाङ्मय हृदयके उद्वेगका सूचक होता है। कवि, नाट्यकार, कथा-लेखक लोगोंके अन्तस्तलमें झंकृत होनेवाले तारोंकी स्वरलहरीको वाग्बद्ध कर देता है। यदि वह ऐसा करनेमें असफल होता है तो उसकी कृति कृत्रिम, असफल और लोकमें अप्रिय रह जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि जिन लोगोंकी अनुभूतियाँ एक-सी होंगी, उनमें वाङ्मय भी एक या एक-सा ही होगा। यही कारण है कि रहीम, जायसी, रसखान, कबीर मुसलमान होते हुए भी लोकप्रिय हो गये; परंतु नसीम या दूसरे उर्दू-कवियोंकी रचना, चाहे वे हिंदू ही रहे हों, थोड़े-से नगरवासियोंतक ही पहुँच सकी। समान अनुभूति धर्मभावमें भी समता उत्पन्न कर देती है। ईश्वर भले ही एक हो, परंतु वह रुद्र भी है और शंकर भी। राजनीतिक पराजय, दुष्काल, महामारी, युद्धसे घिरी हुई जनताको वह रुद्ररूपमें ही देख पड़ेगा; परंतु विजय, सुख-सम्पत्ति, शान्तिके समय वही शंकर हो जाता है। नित्य नये देशपर राज्य स्थापित करनेवाले, नित्य मन्दिर तोड़कर मस्जिदकी प्रतिष्ठा देखनेवाले, विदेशी और विधर्मी नरेशोंके भूलुण्ठित मुकुटोंपर पाँव रखकर उनके प्रजाजनको जजिया लेकर जीवन-भिक्षा देनेवाले अरबके लिये खुदा क़ह्हार और जब्बार और साथ ही मुसलमानके प्रति रहमान और रहीम था। परंतु उसी समय हिंदू—पराधीनताके जालमें जकड़ा हुआ, अपने मन्दिरोंका नित्य ढहना देखनेवाला, अभी स्त्रियोंकी रक्षामें असमर्थ हिंदू—निर्बलोंके बल रणछोड़ भगवान्‌के द्वारपर नाक रगड़ रहा था और रासलीलाकी ताता-थेईमें अपने हृदयकी धड़कनको दबाना चाहता था। धर्म वही, परंतु कहाँ गुप्तकालका वाङ्मय और कहाँ पठान—मुग़लकालका भक्ति और रीतिकाव्य! आज हमको स्वतन्त्र हुए बहुत दिन नहीं हुए और अभी तो हम बहुत-से कष्टोंसे अभीभूत हैं; फिर भी वह पहले-जैसी निराशा नहीं है। आत्म-निर्भरताकी मात्रा बहुत बढ़ गयी है। इसकी प्रतिच्छाया आजके वाङ्मयमें स्पष्ट देख पड़ती है। आज लोगोंके हृदयोंमें वह दैन्य नहीं है, कोई महाकवि

आज भक्तिकाल-जैसी रचना करके लोकप्रिय नहीं बन सकता। आज ऐसे भगवान्‌की खोज है, जो निर्बलोंका नहीं, वरं सबलोंका बल हो। लोकानुभूतिका प्रभाव योगियोंतकपर पड़े बिना नहीं रहता; एक ओर नानक-कबीर तथा दूसरी ओर गोरक्षकी वाणियोंको मिला लीजिये। जो याचनाभाव नानक-कबीरमें है, गोरक्ष उससे अपरिचित थे।

लोकानुभूतिका दार्शनिक विचारोंके साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। अच्छा-से-अच्छा, गम्भीर-से-गम्भीर दार्शनिक विचार हो; परंतु जनता उसे व्यापकरूपसे विशेष अवस्थाओंमें ही अंगीकार करती है। व्यक्तिवाद, समाजवाद, अध्यात्मवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, प्रधानवाद, शून्यवाद—बुद्धि-विलासके लिये सभी वाद अच्छे हो सकते हैं; परंतु कोई ऐसी परिस्थिति होती है, जिसमें किसी समाजविशेषको कोई वाद-विशेष रुचिकर प्रतीत होता है। कालान्तरमें वह विचारधारा उस स्थानको खो बैठती है। वादोंके संघर्षका इतिहास बड़ा रोचक है। उसमें मनुष्यके सांस्कृतिक विकासका इतिहास निहित है।

संस्कृति उस दृष्टिकोणको कहते हैं, जिससे कोई समुदाय-विशेष जीवनकी समस्याओंपर दृष्टिनिक्षेप करता है। यह दृष्टिकोण कई बातोंपर निर्भर रहता है। थोड़ेमें यह कह सकते हैं कि समुदायकी वर्तमान अनुभूतियों और पुरातन अनुभूतियोंके संस्कारोंके अनुरूप उसका दृष्टिकोण होता है। जो आजकी अनुभूति है, वह कल संस्कारके रूपमें अवशिष्ट रह जायगी और कलकी अनुभूति सम्भवतः दूसरे ढंगकी होगी। इसलिये दृष्टिकोण भी बदल जायगा। दूसरे शब्दोंमें यह समझ लेना चाहिये कि लकड़ी-पत्थरकी भाँति संस्कृति निश्चल, एकरस पदार्थ नहीं होती। वह बदलती रहती है। जब हम किसी देश या राष्ट्रकी संस्कृतिकी चर्चा करें तो उस कालविशेषका भी उल्लेख कर देना चाहिये, जो हमारे ध्यानमें है। अन्यथा हमारा कथन निरर्थक होगा। यूरोप तो वही है, परंतु आजसे ६०० वर्ष पहलेकी संस्कृति और आजकी संस्कृति एक दूसरेसे बहुत भिन्न हैं। १९१७ के पूर्व और उसके बादके रूसकी सांस्कृतिक अवस्थामें आकाश-पातालका अन्तर है। ऐसी दशामें यूरोपियन या रूसी संस्कृति कहनेसे किसी निश्चित भावका बोध नहीं हो सकता। ऐसे प्रयोग सुननेमें सरल लगते हैं, परंतु भ्रामक होते हैं।

परंतु इस कथनका तात्पर्य यह नहीं है कि संस्कृति जल्दीसे बदली जा सकती है। जो बातें संस्कृतिको सँवारती हैं, उनमें इतना स्थायित्व होता है कि संस्कृति भी बहुत कुछ अपरिवर्तनशील रहती है। देशका जल-वायु बदलता ही नहीं, न उसके भौगोलिक या दूसरे प्राकृतिक दृग्विषयोंमें परिवर्तन होता है। देशके राजनीतिक इतिहास और आर्थिक संघटनके बनानेमें बहुत कुछ हाथ उसकी भौगोलिक स्थितिका होता है। इसलिये घटनाओंमें उलट-फेर होते हुए भी राजनीतिक और आर्थिक जीवनकी रूप-रेखा भी बहुत कुछ एक-सी होगी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रिय स्मृति, पुरानी सामूहिक अनुभूतियोंके संस्कार भी संस्कृतिको जल्दी बदलनेसे रोकेंगे। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति भले ही हो जाय और एक बार वर्तमान और अतीतके सम्बन्धको विच्छिन्न भी कर दे; परंतु कुछ कालमें जब क्रान्तिके चण्डांशुका तेज कुछ धीमा पड़ता है, तब पुरानी स्मृतियाँ फिर जागने लगती हैं और संस्कृतिकी धाराको फिर पुराने मार्गकी ओर ले जानेका यत्न करती हैं। क्रान्तिका संस्कार मिटाया नहीं जा सकता, परंतु नयेके नयेपनमें पुरानेकी झलक आ जाती है।

इस भूमिकामें ही हम भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धमें विचार कर सकते हैं। भारतीय जनतामें हिंदुओंकी संख्या सर्वाधिक है। भारतका वह भाग, जिसके हम आज नागरिक हैं, सर्वतः हिंदूप्रधान है। वैदिक और पौराणिक कालके ही नहीं, प्रत्युत वर्तमान कालतककी प्रायः सभी ऐतिहासिक घटनाएँ इसी भूभागमें घटीं और प्रायः सभी आदरणीय व्यक्तियोंका यही कार्यक्षेत्र था और है। यहाँ रहनेवालोंको बहुत कुछ समान अनुभवोंका सामना करना पड़ा है। इन अनुभवोंसे जो संस्कार बने हैं, लोगोंके विचार जैसे साँचोंमें ढले हैं, उनका द्योतन संस्कृतमें होता है। प्रादेशिक भाषाएँ भी एक ही प्रकारके भावोंसे स्फूर्ति पा रही हैं—इसका प्रमाण इस बातसे मिलता है कि तुलसी और सूर, मीरा और कबीर, नरसी, रामदास और तुकाराम, प्रेमचन्द और रविठाकुरको सारा देश अपना मानता है। इस वेदनासाम्यके सबसे बड़े प्रतीक इस युगमें महात्मा गान्धी हुए हैं। उनकी वाणीमें भारतीय हृदय अपने स्पन्दनकी प्रतिध्वनि सुनता था।

इस हमारे देशमें हिंदुओंके अतिरिक्त ईसाई और मुसलमान भी रहते हैं। ये लोग यहींके निवासी हैं; परंतु इनके धार्मिक विचार फ़िलिस्तीन और अरबसे आये हैं। मुसलमानोंका ईरान, ईराक और अरबसे दीर्घकालतक जो सम्बन्ध रहा, उसके कारण उनके विचारोंपर उन देशोंकी छाप पड़े बिना नहीं रह सकती थी। हिंदुओंके वंशज हैं, हिंदुओंके बीचमें रहते हैं—इसलिये बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनमें हिंदुओंसे उनकी समता है। साथ ही उनका प्रभाव उनके पड़ोसी हिंदुओंपर भी पड़ा

है। इस प्रकार सैकड़ों वर्षोंमें एक मिली-जुली संस्कृति बन गयी है। इसकी प्रधान धारा तो वही है, जो आर्यजीवनके आदिपुरुषों, वेदके शब्दोंमें '**नः पूर्वे पितरः**', प्राचीन ऋषियों और मनुओंके समयसे चली आती है। बीच-बीचमें यह सूखने लगी; परंतु बुद्ध और महावीर, शंकराचार्य और चैतन्य, नानक और कबीर, तुलसी और सूर, दयानन्द और रामकृष्णने इसके पथको फिर प्रशस्त किया। इसमें कई सहायक छोटी धाराएँ मिली हैं। इसके जलमें वे बूँदें हैं, जिनके स्रोत शकद्वीप, ईरान, ईराक, अरबमें हैं। आर्य, द्रविड़, शक, पठान और मुगलने मिलकर इस प्रासादका निर्माण किया है। आज इसमें प्रबल वेगसे यूरोप और अमेरिकासे बहती हुई कई नदियाँ मिल गयी हैं।

इस मिली-जुली संस्कृतिको भारतीय संस्कृति कहना सर्वथा उपयुक्त होगा; परंतु यह निर्विवाद है कि इसका ताना वही है, जिसे आर्य या हिंदू नामसे उपलक्षित किया जा सकता है। बानेके सूत इधर-उधरसे आये हैं, पर वे सब तानेपर आश्रित हैं। गंगामें बहुत-सी छोटी-बड़ी नदियाँ मिली हैं; परंतु मिलनेपर जो पयस्विनी बनती है, वह गंगा ही कही जाती है। इस न्यायसे भारतीय संस्कृतिको हिंदू-संस्कृति भी कह सकते हैं। भारतके बाहर जब लोग 'भारतीय संस्कृति' का नाम लेते हैं तो निश्चय ही उनका संकेत इस संस्कृतिकी मुख्य धाराकी ओर ठीक उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार कि 'भारतीय दर्शन' की चर्चा करनेवालेके सामने सांख्य, योग, वेदान्तादि आर्यदर्शन होते हैं।

इस हिंदू या भारतीय संस्कृतिने अपनेको धर्म, वाङ्मय, चित्रकला, मूर्तिकलाके रूपमें व्यक्त किया है। समय-समयपर इसके स्वरूपमें हेर-फेर होता रहा है। अशोककालीन संस्कृति गुप्तकालीन संस्कृतिसे भिन्न थी, पठान और मुगलकालमें संस्कृतिने कुछ और ही रंग पकड़ा था और उसी समयमें उत्तर तथा दक्षिण भारतमें अन्तर था। फिर भी, इन सब देश-कालानुगत भेदोंके रहते हुए भी, इसमें कुछ तो विशेषता है, कुछ अपना पृथक् व्यक्तित्व है, जो भेदमें भी अभेदको बनाये हुए है। यदि ऐसा न होता तो एक नामसे पुकारना किसी भी अंशमें सार्थक न होता। यह विशेषता इसकी प्रधान धारा, आर्य या वैदिक धारासे आयी है। यही वह गुण है, जो इसको अन्य संस्कृतियोंसे भिन्नता प्रदान करता है, जो भारतका मानवके लिये सन्देश है। विश्वसंस्कृतिकी रचनामें भारतकी यही देन होगी।

यदि इसे एक शब्दमें व्यक्त करना चाहें तो वह शब्द 'आध्यात्मिकता' होगा। इस बातको बहुत दिन हुए स्वामी विवेकानन्दने यों समझाया था; यदि पश्चिमके लोगोंके सामने कोई नयी योजना रखी जाती है तो उनका पहला प्रश्न यह होता है 'क्या इससे मेरी आयमें वृद्धि होगी?' भारतीय ऐसे अवसरपर यह पूछता है 'क्या इससे मोक्ष मिलेगा?' इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यहाँ सब लोग विरक्त, तपस्वी, मुमुक्षु हैं। भाव केवल इतना ही है कि हमारी सामूहिक आत्माका झुकाव आध्यात्मिकताकी ओर है। हम प्रश्नोंको आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे देखते हैं। जो बात आध्यात्मिक स्तरपर रखी जाती है, वह हमको अधिक रुचती है। व्यक्ति-व्यक्तिकी मनोवृत्तिमें बड़ा अन्तर है; पर सब मनोवृत्तियोंका समन्वय करके उनके महत्तम समापवर्त्यके रूपमें जो समष्टि मनोवृत्ति, सामुदायिक प्रवृत्ति बनती है, उसका ऐसा ही रूप है।

इस आध्यात्मिक भावका विश्लेषण करनेसे इसमें दो-तीन मुख्य विश्वासोंका सम्मिश्रण मिलता है। सबसे पहली धारणा तो अद्वैतधारणा है। द्वैतवादी दार्शनिक भी हुए हैं; परंतु द्वैतवाद विद्वद्गोष्ठियोंतक ही रह गया। मध्वादि सम्प्रदायोंके भक्तोंने लोकभाषामें भले ही द्वैतवादका प्रतिपादन किया हो, परंतु श्रोताओंने उनके शब्दोंमेंसे भी खींच-खाँचकर अद्वैतभावकी ही पुष्टि की। विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और अद्वैतवादोंमें जो सूक्ष्म भेद हैं, उनकी ओर सामान्य जनताकी सरल बुद्धिने ध्यान नहीं दिया; उसने उन सबमेंसे सीधा-सादा 'अद्वैत' भाव—जीवात्मा और परमात्माका तात्त्विक अभेदमात्र पकड़ लिया।

अद्वैतभावनाका परिणाम कट्टरपनका अभाव है, जो इस संस्कृतिकी दूसरी विशेषता है। हिंदूके नस-नसमें यह बात भर गयी है।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

उसके लिये दूसरेके धर्मको सर्वथा मिथ्या मानना, दूसरेकी उपासनाशैलीको सर्वथा नरक ले जानेवाली समझना, असम्भव नहीं तो बहुत कठिन होता है। क्रोधकी तो दूसरी बात है, परंतु यों उसका हाथ दूसरेके देवालयको ढहानेके लिये उठता नहीं। इसीलिये वह सुगमतासे अपने उपास्योंकी सूचीमें वृद्धि कर लेता है और अपने देव-देवियोंके नामपर उस कट्टरपनसे नहीं लड़ पाता, जो और

लोग दिखला सकते हैं। परधर्मावलम्बियोंके साथ जैसा उदार व्यवहार हिंदुओंने किया है, वह वस्तुतः अप्रतिम है।

अद्वैतभावनाका दूसरा परिणाम अहिंसाभाव और दया है। हिंदू क्रोध भी करता है, क्रूरता भी दिखलाता है, मत्सर, द्वेष, निर्दयतामें नीचातिनीच गहराईतक भी पहुँच जाता है। फिर भी उसकी बुद्धि अहिंसानिम्न ही होती है। जब सभी प्राणी अपने ही रूपान्तर हैं, तब कौन किससे द्वेष करे, कौन किसका अहित करे। राग-द्वेषजनित स्वार्थके वशीभूत होकर हिंदू भी बुरे-से-बुरे काम कर बैठता है; परंतु सामान्यतः उसकी प्रवृत्ति स्वरक्षणात्मक होती है, आक्रमणात्मक नहीं। बल होते हुए भी वह अकारण, केवल अपने लिये, दूसरोंसे कम ही छेड़-छाड़ करता है। अज्ञानवश या मोहवश निर्दयता भी करता है, परंतु प्रत्यक्ष जीवदया, तिर्यक् प्राणियोंके प्रति समवेदना उसको अधिक रुचती है।

माया ऐसा शब्द है, जिसकी व्याख्या करनेमें बड़े-बड़े विद्वान् भी संकोच कर सकते हैं; परंतु भ्रम, मिथ्या, धोखा—यह सब उसके पर्याय बन गये हैं। दार्शनिक सूक्ष्मताओंसे अनभिज्ञ अपढ़ ग्रामीण भी ऐसा मानता है कि यह जगत् माया है। माया बुरी चीज है, इसको तोड़ना चाहिये। इन्द्रिय-विषयोंके पीछे दौड़नेसे मायाका बन्धन और दृढ़ होता है। अतः हमको इन्द्रियनिग्रहका अभ्यास करना चाहिये। प्रत्येक हिंदू यति नहीं होता; परंतु हिंदूके चित्तमें विषय-वासना-विरतिकी प्रतिष्ठा बैठी हुई है। वह त्यागीको भोगीसे ऊँचा मानता है, चाहे स्वयं त्यागी न हो सके। हिंदूजीवनमें इसी कारण तपस्याका थोड़ा-बहुत वातावरण रहता है। व्रत, उपवास, जागरण हिंदू घरोंमें होते ही रहते हैं। अमुक दिन मांस नहीं खाना, अमुक दिन अन्न नहीं खाना, शाकजातीय होते हुए भी अमुक वस्तुओंको त्याज्य मानना—इनसे हिंदू बचपनसे ही परिचित रहता है।

कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तपर अटल विश्वास हिंदू-संस्कृतिकी दूसरी विशेषता है। ईश्वर या अन्य उपास्यकी पूजा करते हुए और योग-क्षेमके लिये सैकड़ों देव-देवियोंकी डेवढ़ियोंपर माथा टेकते हुए भी हिंदू अन्ततोगत्वा अपनेको ही अपने सुख-दुःखका दायी मानता है। इस विश्वाससे उसमें अपूर्व शक्ति आती है। वह भले ही विपत्तियोंसे कातर हो जाय, फिर भी दुःख उसको दूसरोंकी भाँति विचलित नहीं करते। मृत्यु भी उसके लिये उतनी महत्त्वकी चीज नहीं है। वह ऐसा मानता है कि यह अनुभव उसे लाखों बार हो चुका है और अभी न जाने कितनी बार होना है। इसीलिये तो वह अपने महापुरुषोंकी देहावसानतिथि नहीं मनाता। जिसको बराबर यह उपदेश मिलता रहता है कि स्वर्ग और नरक भी अनित्य हैं, उसमें कष्ट सहनेकी अद्भुत क्षमता आ जाती है।

योगपर विश्वास भी इस संस्कृतिका एक गुण है। योगकी दार्शनिक परिभाषाएँ कुछ हों; परंतु साधारणतः यों कह सकते हैं कि आत्मसाक्षात्कारकी साधनाका नाम योग है। उसके भजन, ध्यान आदि कई पर्याय प्रचलित हैं; परंतु यों कह सकते हैं कि हिंदूको ऐसी धारणा-सी है कि किन्हीं उपायोंसे इसी जीवनमें ईश्वरसाक्षात्कार हो सकता है और मनुष्य अपनेको देवोपम बना सकता है।

इतना दिग्दर्शन पर्याप्त होना चाहिये। इससे हिंदूकी मानसिक बनावटका—और यह मानसिक बनावट ही संस्कृतिका मूल है—परिचय हो जाता है। थोड़ेमें कह सकते हैं कि इस लोकमें रहते हुए भी, हिंदूकी दृष्टि 'परलोक' को ढूँढ़ती रहती है। उसके सामने राम, कृष्ण, जनकके चरित्र रहते हैं—जिन्होंने राजपाटके साथ ज्ञान-वैराग्यको सफलतासे मिला दिया था।

आज कुछ परिवर्तन हो रहा है। पश्चिमके भौतिकता-प्रधान प्रभावने चकाचौंध पैदा कर दी है। जिस रूपमें हमारा धर्म सामने आता है, जिस प्रकारकी रूढ़ियोंको वह पुष्ट करता प्रतीत होता है, उनसे आजकी समस्याएँ सुलझती नहीं प्रतीत होतीं। हमारे विद्वान् विज्ञानसे अनभिज्ञ हैं और व्यावहारिक जगत्से दूर हैं। वे विज्ञान और मार्क्सवाद-जैसी विचारधाराओंका तर्कपूर्ण उत्तर नहीं दे सकते। फलतः पुराने विचारों और संस्कारोंकी ओरसे वैरस्य होता जाता है। पुरानी स्मृतियाँ नष्ट नहीं हुई हैं; परंतु व्यंग्य और तर्कसे उनको भुलानेका यत्न किया जाता है। हमारी आँखोंके सामने संस्कृति कलेवर बदल रही है।

रूढ़िवादिता अच्छी नहीं होती। जहाँतक कि नये सम्पर्क, नये और पुराने विचारोंके संघर्ष हमारी बुद्धिको उदार बनाते हैं—हमको उनका आदर करना चाहिये। हमारी संस्कृति नवयुगकी प्रतीक नयी विचारधारारूपी सहायक सरिताके मिलनेसे परिपुष्ट होगी। नवीन प्राचीनमें मिलकर उसकी शोभाको बढ़ायेगा। अतीत ज्यों-का-त्यों लौटाया नहीं जा सकता; संस्कृति वर्तमानके

अनुरूप होनी ही चाहिये।

परंतु यह भी न होना चाहिये कि नवीनकी खोजमें प्राचीन खो जाय। हमारी विशेषताएँ मनुष्यमात्रके लिये उपादेय हैं। अद्वैतभावना, अद्वेष, अहिंसा, दया, तपस्या, इन्द्रियनिग्रह और कर्मसिद्धान्तपर आस्थाकी आवश्यकता सबको है। इनके अभावमें संस्कृति स्वार्थमूलक पशुताका परिवर्द्धित और विकृत संस्करण होकर रह जाती है। हमारा यह सन्देश, हिंदू-संस्कृतिका यह सार, दिग्दिगन्तमें फैले; इससे जगत्‌का कल्याण होगा। यदि मानवसमाजका पुनर्निर्माण इन आधारोंके साथ आधुनिक विज्ञानके सिद्ध तत्त्वोंको मिलाकर किया जा सके तो सचमुच मनुष्यजातिका भविष्य उसके अतीत और वर्तमान दोनोंसे उज्ज्वल और श्रेयस्कर होगा।

हिंदू कौन?

(लेखक—शास्त्रार्थमहारथी पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)

यह बात अब निर्वाद हो चुकी है कि भारतीय संस्कृतिके समस्त उपासकोंको एक सूत्रमें बाँधनेके लिये 'हिंदू' शब्दके जोड़का आर्य-वाङ्मयमें अन्य शब्द नहीं है। लगभग पौन शतीसे 'हिन्दू' शब्दके विरुद्ध प्रयत्न होते आये हैं। इसे विदेशियोंकी देन, 'गुलाम' शब्दका पर्याय, असंस्कृत शब्द, अत्यन्त अर्वाचीन शब्द एवं आर्य-गौरवका अपमानसूचक शब्द सिद्ध करनेकी चेष्टाएँ की गयीं और जनगणनाके समय भी कुछ सज्जनोंने भावावेशमें हिंदूकी जगह अन्यान्य लिखवाकर हिंदुओंकी संख्याका ह्रास किया। परंतु आज अब प्रायः सभी इस बातको समझ रहे हैं—'हिंदू' नामके महत्त्वका अनुभव करने लगे हैं।

यदि सचमुच 'हिंदू' शब्द विजेता यवनोंकी ओरसे प्रदत्त गुलामीकी लानतका संसूचक होता तो महाराणा प्रताप-जैसे हिंदुत्वके प्रबल प्रतीक अपने-आपको 'हिंदू-पति' उपाधिसे गौरवान्वित न समझते। छत्रपति महाराज शिवाजीके दरबारी कविभूषण भूषण उनको—'राखी हिंदुवानी' 'हिंदुवानको तिलक राख्यो—हिंदुनकी चोटी...राखी' शब्दोंमें स्मरण न करते; गुरु गोविन्दसिंह स्वयं अपनी कवितामें—'जगै धर्म हिंदू, सभी भण्ड भाजैं' कहकर 'हिंदू' शब्दको सम्मान न देते!

'मेरुतन्त्र', 'कालिकापुराण' आदि ग्रन्थोंके अतिरिक्त पारसियोंकी प्रसिद्ध पुस्तक 'शातीर' में भी 'हिंदू' शब्दका सुस्पष्ट उल्लेख विद्यमान है। 'बृहस्पति-आगम' में तो हिंदुस्थानकी सीमा निर्धारित करते हुए इसे भौगोलिक प्रत्याहारज शब्द स्वीकार किया गया है। यथा—

हिमालयं समारभ्य यावदिन्दुसरोवरम्।
तं देवनिर्मितं देशं 'हिन्दुस्थानं' प्रचक्षते॥

अर्थात् हिमालय पर्वतके 'हि'-शब्दोपलक्षित परले किनारेसे आरम्भ करके इन्दु-सरोवर=कुमारी अन्तरीपके 'न्दु'-शब्दोपलक्षित अन्तिम प्रदेशकी समाप्तिपर्यन्त देवनिर्मित विस्तृत स्थलका नाम 'हि+न्दु=स्थान' है।

वेदमें निरुक्तके नियमानुसार सकार हकाररूपमें भी उच्चरित होता है—जैसे 'सरित्', 'सरस्वती', 'सिन्धु' आदि शब्द 'हरित्', 'हरस्वती', 'हिन्धु' भी उच्चरित होते हैं। 'केसरी' का 'केहरी' तथा भारतीय 'श्री' शब्दका आंगल 'सर' और जर्मनी 'हर' भी इसी कोटिके शब्द हैं।

अन्ताराष्ट्रिय हिंदू

कभी-कभी ऐसा विचार सामने आता है कि पाकिस्तानके साथ अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, फारस, सुदूर टर्कीतक मुसलमानोंका जाल बिछा है। पूर्वमें भी चीन और उसके निकटवर्ती प्रदेशोंमें मुसलमान रहते हैं। सब मिलाकर अन्यून पैंतालीस करोड़ मुसलमान समय पड़नेपर एक झंडेके नीचे संगठित हो सकते हैं। 'पाकेशिया' और 'पान इस्लाम' का नारा इसी आधारपर बुलंद किया जा रहा है। इसी प्रकार यत्र-तत्र सर्वत्र सत्तर करोड़ ईसाई बसते हैं। परंतु हिंदू सब मिलाकर पैंतीस करोड़के लगभग हैं। अतः संख्याबलकी दृष्टिसे यह स्थिति चिन्ताजनक है! परंतु ऐसी आशंका करनेवाले सज्जन यह भूल जाते हैं कि यदि मुसलमानोंके बहत्तर फिरके और ईसाइयोंके रोमन कैथोलिक, प्रोटेस्टैंट आदि अनेक फिरके संगठित हो सकते हैं तो फिर सनातनी, समाजी, सिक्ख, जैन और बौद्ध—हिंदुओंके ये प्रधान पाँच सम्प्रदाय संगठित क्यों नहीं हो सकते? उक्त पाँचों भाइयोंके संगठित हो जानेपर हिंदुओंकी भी सम्मिलित संख्या एक अरबसे अधिक हो जाती है, जो अन्ताराष्ट्रिय दृष्टिसे समस्त विश्वकी जनसंख्याके आधे भागसे अधिक बन जाती है। इस प्रकार अकेला हिंदू संसारके अन्यान्य समस्त फिरकोंके सम्मिलित योगसे अधिक सिद्ध होता है। उक्त पाँचों सम्प्रदायोंको संगठित करनेवाले आधार प्राकृतिक

एवं अक्षुण्ण हैं, जो इनको अहिंदुओंसे पृथक् करके एक सूत्रमें आबद्ध करते हैं। यथा—

ओंकारमूलमन्त्राढ्यः पुनर्जन्मदृढाशयः।
गोभक्तो भारतगुरुर्हिन्दुर्हिंसनदूषकः॥

(माधवदिग्विजय)

अर्थात् (१) ओंकारको मूलमन्त्र माननेवाला, (२) पुनर्जन्मविश्वासी, (३) गोभक्त, (४) जिसका प्रवर्तक भारतीय हो और (५) हिंसाको निन्द्य माननेवाला 'हिंदू' कहा जाता है।

कहना न होगा कि उक्त पाँचों लक्षण सनातनी, आर्य-समाजी, सिक्ख, जैन और बौद्ध—इन पाँचों सम्प्रदायोंमें समान रीतिसे घटित होते हैं। इसलिये हिंदूका यह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव रूप दोषत्रयशून्य सुनिश्चित लक्षण है।

(१) सनातनी प्रत्येक मन्त्रके साथ ओंकारका योग आवश्यक मानते हैं। अतः उनका यह परम पवित्र सर्ववेद-बीजभूत प्रधान मन्त्र है। आर्य-समाजी तो 'ओं' के सर्वाधिक उपासक हैं, स्वामी श्रीदयानन्दजीने सत्यार्थप्रकाशमें इसे परमात्माका निज नाम माना है। उनका ध्वज भी 'ओं' से चिह्नित होता है। सिक्खोंके धर्म-ग्रन्थमें सर्वप्रथम—'एक ओंकार सद्गुरुप्रसाद' यही मंगलाचरण मिलता है। जैनियोंका गुरुमन्त्र 'ओं नमो अरिहंताणम्' इत्यादि है, बौद्धोंका भी प्रधान मन्त्र 'ओं मणिपद्मे हुम्' है, इस प्रकार सभी 'ओं' को मूलमन्त्र मानते हैं।

(२) पुनर्जन्ममें सबका समान विश्वास है, कर्म-विपाकके तारतम्यसे ही सब—'**सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः**' को मानते हैं।

(३) सनातनी गौके लिये अब भी प्राणोंकी बाजी लगानेको तत्पर रहते हैं। स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराजके नेतृत्वमें पाँच हजार चोटीके महात्मा, विद्वान्, राजा, सेठ और सभी वर्गके लोग विगत वर्ष जेल-यातना सहन कर चुके हैं। तीन धर्मवीर प्राण भी प्रदान कर चुके हैं। आर्यसमाजमें भी गो-माताके लिये यही बात है, स्वामी दयानन्दजीने 'गोकरुणानिधि' नामक स्वतन्त्र पुस्तक लिखकर गायका महत्त्व प्रकट किया है। सिक्खसम्प्रदायके सभी गुरुओंने—खासकर दशम गुरु श्रीगोविन्दसिंहजीने—अपने 'दशम ग्रन्थ' 'विचित्र नाटक' नामक पुस्तकमें लिखा है—

यही देहु आज्ञा तुरक को मिटाऊँ। गऊ घातका पाप जग से हटाऊँ॥

प्रत्यक्षमें भी उनका समस्त जीवन ही गोरक्षामें ही व्यय हुआ है; पंजाबका सुप्रसिद्ध 'कूकाविद्रोह' गोरक्षापर ही आधारित था, जिसमें सहस्रों नामधारी सिक्खोंको अंग्रेजोंने तोपसे उड़ा दिया था। जैनी तो मुखकी साँससे भी सूक्ष्म कीटाणुओंकी हत्यासे बचते हैं। अतः गायके सम्बन्धमें उनकी विचारधाराका उल्लेख करना मानो उनका अपमान करना है। जैनकवि नरहरिके उद्योगसे ही अकबरने अपने राज्यमें गोवध-बंदीका फर्मान निकाला था। बुद्धभगवान्ने 'धम्मपद' में लिखा है—

गावो नो परमा मित्ता गावो नो परमं धनम्।

इस प्रकार ये पाँचों सम्प्रदाय परम गोभक्त हैं (आजके बौद्धोंका सर्वभक्षित्व तो अहिंदुओंके सम्पर्कका कलंक है। अतः वह उपेक्षणीय है। हम यहाँ केवल सिद्धान्त-सीमापर्यन्त चर्चा कर रहे हैं)।

(४) उक्त पाँचों सम्प्रदायोंके धर्माचार्य, धर्मगुरु, अवतार, तीर्थंकर और मूलप्रवर्तक भारतके ही सपूत हुए हैं।

(५) ये पाँचों ही मनसा, कर्मणा, वाचा हिंसासे घृणा करनेवाले हैं। इसलिये अन्यून सवा अरब हिंदुओंका यह सर्वसम्मत लक्षण है।

वर्णाश्रमी हिंदू

आदिकालमें सभी हिंदू थे; परंतु मनूक्तिके अनुसार '**ब्राह्मणानामदर्शनात्**' अनेक क्षत्रिय-जातियाँ 'वृषल' हो गयीं। इसी प्रकार अहिंदुओंके कुसंगसे उक्त पाँचों सम्प्रदायोंमें —खासकर बौद्धशाखामें—वर्णाश्रमसम्बन्धी खान-पानका अन्तर पड़ गया है। अतः अन्ताराष्ट्रिय दृष्टिसे ये सब समान हिंदू होते हुए भी वर्णाश्रमकी दृष्टिसे इनके अन्तर्गत खासकर सनातनी शाखामें विशुद्ध हिंदुत्वका अब भी दर्शन किया जा सकता है, जिसको सामने रखकर लोकमान्य तिलककृत हिंदू-लक्षण ठीक उतरता है। यथा—

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु नियमानामनेकता।
उपास्यानामनियमो हिन्दुधर्मस्य लक्षणम्॥

अर्थात् 'वेदोंमें प्रामाण्यबुद्धि रखनेवाला, नानाविध नियमोंका पालक, अनेक प्रकारसे ईश्वरकी उपासना करनेवाला हिंदू कहाता है।' इसीसे मिलता-जुलता लक्षण वीर सावरकरने किया है, यथा—

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

अर्थात् सिन्धु नदसे लेकर समुद्रपर्यन्तकी भारतभूमि

जिसकी पैतृक सम्पत्ति और पवित्रभूमि हो, वही हिंदू है।' प्रभाकर श्रीधर रोड़ेने 'वृद्धस्मृति' के नामसे हिंदूका एक सुन्दर लक्षण उद्‌धृत किया है। यथा—

हिंसया दूयते यश्च सदाचरणतत्परः।
वेदगोप्रतिमासेवी स हिन्दुमुखशब्दभाक्॥

अर्थात् 'हिंसासे दुःखित होनेवाला एवं ब्राह्मण-सदाचरणमें तत्पर; क्षत्रिय—सदा-च-रण-तत्पर=सदैव रणके लिये उद्यत; वैश्य सदा-चरण तत्पर=सदैव गमन—यात्रामें संलग्न; शूद्र—सदा-चरण-तत्पर=सदैव द्विजातिकी चरणसेवामें रत। वेद-गो-प्रतिमासेवी=ब्राह्मण—वेदवाणीके मूर्तिमान् शास्त्रोंका अनन्य सेवक; क्षत्रिय—वेदों, भूमि और देवप्रतिमाओंका विश्वासी; वैश्य—वेद, गो-जाति और देवसत्ताका सेवक; शूद्र-वेद और गौ जिस विराट् पुरुषकी प्रतिमा है, तदंगभूत वर्णत्रयका सेवक अर्थात्—वर्णाश्रम-मर्यादानुकूल आचरण करनेवाला पुरुष 'हिंदू' है।

इस प्रकार 'अन्ताराष्ट्रिय हिंदू' और 'वर्णाश्रमी हिंदू' कौन है? इस प्रश्नका विशद उत्तर उपर्युक्त पंक्तियोंमें संक्षेपतः आ जाता है।

भारतीय संस्कृति

(लेखक—श्रीशिवशरणजी)

आधुनिक लोगोंकी भाषामें 'संस्कृति', 'सभ्यता' आदि शब्दोंका बहुत प्रयोग होता है। वास्तवमें उन शब्दोंका यह नवीन प्रयोग 'धर्म', 'ज्ञान' आदि प्राचीन शब्दोंके स्थानपर होता है; परंतु यह उचित नहीं है। यदि नवशिक्षित लोग शब्दोंका ठीक अर्थ जानते होते तो इन शब्दोंका ऐसा दुरुपयोग नहीं करते।

वर्तमान पश्चिमियोंसे या उनके अनुयायियोंसे यदि पूछा जाता है कि 'संस्कृति क्या वस्तु है?' तो वे प्रश्नके अर्थपर विचार न करके तुरंत पश्चिमी सभ्यताकी प्रशंसा करने लगते हैं; परंतु यदि पुराने ढंगके पण्डितोंके सामने यही प्रश्न रखा जाय तो वे निःसंदेह 'संस्कृति' शब्दका अर्थ बतलाने लगेंगे, संस्कृतिका हर एक अवयव अलग करते हुए 'संस्कृति वास्तवमें क्या वस्तु है', इसपर विचार करनेका प्रयत्न करेंगे—जिससे विदित होगा कि संस्कृतिके कई अंग हैं। कुछ अंग सब संस्कृतियोंमें सामान्यरूपसे मिलते हैं और कुछ अंग भिन्न-भिन्न संस्कृतियोंमें अलग-अलग मिलते हैं।

इस एक प्रश्नके उत्तरसे स्पष्ट होगा कि पश्चिमी एवं भारतीय विद्वानोंकी दृष्टिमें कितना अन्तर है। तात्त्विक दर्शन भारतीय संस्कृतिके अनुपम मणि हैं। वर्तमान पाश्चात्त्य-दर्शन न्याय एवं वैशेषिकका अंश माना जा सकता है; परंतु उन दर्शनोंका पूर्ण ध्यान रखते हुए भी भारतीय दार्शनिक अपने योग, वेदान्त, सांख्य आदिके साधनोंसे उनकी त्रुटियोंको पूरा कर सकते हैं।

हर-एक युगमें हर-एक देशमें मनुष्य किसी भी रूपमें विद्याकी खोजमें लगा रहता है। कभी एक देशमें विद्या या समाजका स्वरूप पड़ी उन्नतितक पहुँचता है। परंतु उन्नत अवस्थापर ठहरनेके लिये यह आवश्यक है कि संस्कृतिके अन्य अंश भी उन्नत अवस्था प्राप्त करें। यदि कोई एक अंश उन्नत है और दूसरे अविकसित हैं, तो संस्कृतिका नाश अनिवार्य है। इसीलिये यह दिखायी पड़ता है कि अनेक देशोंमें कितनी ही सभ्यताएँ फूलीं-फलीं और नष्ट हो गयीं। भारतीय सभ्यता एक ही है, जो अनादि समयसे चली आ रही है और निःसंदेह आगे भी चलती रहेगी।

भारतीय दर्शनके अनुसार संस्कृतिके पाँच अवयव हैं; वे हैं—धर्म, दर्शन, इतिहास, वर्ण तथा रीति-रिवाज। 'संस्कृति' शब्दका यह अर्थ लगाते हुए यदि वर्तमान पश्चिमी संस्कृतिका परीक्षण किया जाय तो विदित होगा कि उसमें इतनी त्रुटियाँ हैं कि उसे संस्कृति कहनेमें भी संदेह होगा।

'संस्कृति' शब्दका लक्ष्यार्थ धर्म, विद्या आदिकी उन्नति है; परंतु वाक्यार्थ संस्कृत—शुद्ध करनेकी क्रिया है। प्राकृत वस्तु जिस रूपमें साधारणतासे प्राप्य है, उसे संस्कृत नहीं कहा जा सकता। किसी स्थूल धातुसे सूक्ष्म शुद्ध तत्त्व निकालनेकी क्रियाका नाम संस्कृति है। एक हरी मिट्टीको संस्कृत करनेसे भास्वत् ताम्र मिल जाता है। वैसे ही मनुष्य-जातिके स्थूल धातुसे संस्कृतिद्वारा उत्तम मानसिक एवं सामाजिक गुण प्रादुर्भूत होते हैं।

संस्कृतिकी उत्पत्तिके विषयमें कुछ मतभेद है। इस बातपर इतिहासकारोंको वाद-प्रतिवाद करनेका अच्छा अवसर मिलता है। फिर भी संस्कृतिका रूप और मूल्य इसकी उत्पत्तिके प्रश्नसे अलग बात है। कुछ लोगोंका कहना है कि ताम्र आरम्भमें शुद्ध रूपमें उत्पन्न हुआ और धीरे-धीरे अशुद्ध होकर हरी मिट्टी बना, जिसे फिर संस्कृत

करनेपर ताम्र पुनः अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हो गया। दूसरे लोग कहते हैं कि संसारमें शुद्ध ताम्र कहीं नहीं दिखायी पड़ता, उसका प्राकृत रूप हरी मिट्टी ही है। उस मिट्टीको संस्कृत करने प्रकृतिकी ओटमें छिपा हुआ शुद्ध ताम्र-तत्त्व निकाला जा सकता है। प्रायः दोनों दृष्टियाँ अपने प्रमाणके उपायकी सीमाओंमें सच कही जा सकती हैं। इसी तरह कहा जा सकता है कि पुरुष आरम्भमें देवताके समान था। फिर भी जहाँतक हम लोगोंका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है, हम देखते हैं कि मनुष्य-जातिके मूढ स्थूल समूहसे भी संस्कृतिद्वारा शुद्ध संस्कृत भाषा एवं विद्वान् संस्कृत पुरुष बनते हैं।

मनुष्य-जातिका इतिहास समझनेके लिये भारतखण्ड एक ही देश है; क्योंकि भारतीय संस्कृतिको छोड़कर कोई भी ऐसी दूसरी संस्कृति नहीं है, जो मनुष्यकी उत्पत्तिके समयसे आजतक अखण्ड धारासे चलती आयी हो। सब धर्मोंका आधार सनातनधर्म—भारतीय-धर्म ही है। धर्मानुसार समाजके स्वरूपकी रक्षा केवल भारतमें हुई है। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृतिमें ऐसे गुण होना अनिवार्य है, जिनसे संस्कृतिकी रक्षा होती है।

आधुनिक पश्चिमी देशोंमें लोगोंको एक विचित्र अभिमान हो गया। वे कहने लगे कि 'हमलोगोंने वैज्ञानिक आविष्कारोंसे एक नया युग पैदा कर दिया है।' परंतु इन नये आविष्कारोंका फल थोड़ा-सा भी अन्वेषण करनेसे स्पष्ट होता है कि मनुष्य इस नये विज्ञानसे अद्भुत यंत्रोंके मालिक न रहकर निर्दयी निर्विचार भयंकर यन्त्ररूप राक्षसके गुलाम बन गये हैं! किसीको पता नहीं कि वह राक्षस मनुष्य-जातिको कहाँ ले जा रहा है। बड़े-से-बड़े यन्त्रोंके चलानेके लिये अनेक देशोंके शासकोंको सारी प्रजासे काम लेना पड़ता है। इस कारणसे किसीके लिये स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। लोगोंको इस अप्रिय काममें लगाये रखनेके लिये उनकी विचारशक्तिका नाश करना पड़ता है। आजकल कई देशोंमें एक नयी चिकित्साका प्रयोग चला है, जिसके द्वारा मनुष्यके मस्तिष्कका एक छोटा अंश निकालकर असाधारण विचार करनेकी शक्ति नष्ट कर दी जाती है। यदि किसी व्यक्तिको ऐसा विचार होने लगता है, जिसमें दूसरे खतरा देखते हैं, तब छोटी-सी शल्य-क्रियासे उसको अनुकूल बना लेते हैं। ऐसी सम्भावना अवश्य ही स्वतन्त्रता एवं उन्नतिकी द्योतक नहीं है। इस नये यन्त्रराज्यमें स्वतन्त्रता, धर्म, विद्या आदिका सत्यानाश अनिवार्य है।

कुछ लोगोंका कहना है कि 'भारत वर्तमान उन्नतिसे वंचित रहा। जंगली जातियोंकी तरह भारतीयोंने वर्तमान उन्नतिके मार्गपर चलना नहीं सीखा। इसीलिये भारतीयोंको चाहिये कि अपने पुराने विचार एवं रहने-खानेके ढंग आदिको छोड़कर नवीन युगकी रीतिसे रहने लगें।' परंतु ऐसा कहनेवाले लोग प्राचीन संस्कृतिसे अपरिचित हैं। यदि वे लोग प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों संस्कृतियोंके गुणोंकी तुलना कर सकते तो कभी ऐसा विचार नहीं करते। यह प्रश्न अनुचित न होगा कि 'यदि प्राचीन संस्कृति वस्तुतः निर्मूल्य है तो अपने-आप मर ही जायगी। फिर उसका मूल्य छिपाने, उसका प्रचार रोकनेके लिये क्यों इतना प्रयत्न हो रहा है?' इसका उत्तर यह है कि यदि किसीको भारतीय सनातन विद्याके छोटे-से-छोटे अंशका लेशमात्र भी दर्शन करनेका सौभाग्य मिलता तो वह कभी भी दूसरी विद्या, दूसरी संस्कृतिको नहीं मानता।

संसारमें कोई ऐसी विद्या नहीं है, जिसकी प्राचीन हिंदुओंके विचारोंसे तुलना की जा सके। हिंदू न्याय, सांख्य, वेदान्त, व्याकरण, योग, नीति आदिके सामने समस्त वर्तमान पश्चिमी दर्शन लड़कोंके निरर्थक जल्पसे दिखायी पड़ते हैं। हिंदू-दर्शनसे परिचित किसी भी विद्वान्को वर्तमान पश्चिमी दर्शनके गुणगान करनेका साहस नहीं हो सकता।

संस्कृत-व्याकरणकी पूर्णताके सामने अन्य भाषाओंकी रचनाविधि अनुपपन्न एवं असमाप्त दिखायी पड़ती है। और अन्य समाजोंका रूप हिंदू-समाजके सामने पशुओंके समाज-जैसा विदित होता है।

हर-एक पुरुषार्थ, हर-एक उन्नतिका साधन अन्य देशोंसे अत्यन्त उत्तम रूपमें भारतकी पवित्र भूमिपर प्राप्य है। मानसिक प्रवृद्धिके साधनोंसे जीवन एक सुन्दर एवं मनोरंजक यात्रा बनता है—न कि रेल, वायुयान, रेडियो, कार आदि साधनोंसे। जीवनको सफल एवं शोभायमान करनेवाले उपायोंका खजाना भारतवर्ष ही है। इस पुण्य-देशकी विद्या-मणियोंको कौन गिन सकता है। मुझसे पूछा जाय कि 'यदि यह सच है कि इतनी अनुपम वस्तुएँ भारतमें मिलती हैं तो नमूनेके लिये कम-से-कम एक ऐसी वस्तुका नाम बताओ, जो यहाँ मिलती है और अन्य देशोंमें नहीं।' तब मैं एक बात बतलाऊँगा, एक ऐसे गुणसे पूर्ण वस्तुका नाम लूँगा, अन्य सभी गुण जिसके अन्तर्गत हैं। भारत ही एक ऐसा शुभ देश है, जहाँ सत्संगका अनुपम लाभ मिल सकता है,यह एक ही धन्य देश है, जहाँ साधुलोग रहते हैं।

हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

हिंदू-संस्कृति और रामायण

हिंदू-संस्कृतिके स्वरूपको बतलानेके लिये रामायण एक महान् आदर्श ग्रन्थ है। उसमें हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप कूट-कूटकर भरा है। हिमालयका 'हि' और सिन्धु (समुद्र) 'इन्धु' लेकर 'हिन्धू' शब्द बना है। उसीका अपभ्रंश 'हिंदू' शब्द है। हिमालयसे समुद्रतकके स्थानका नाम है हिंदुस्थान और उसमें बसनेवाली जातिका नाम हिंदू है। हिंदूजातिका ही दूसरा नाम है आर्यजाति—श्रेष्ठजाति। इस जातिका चाल-चलन, रहन-सहन, आहार-व्यवहार आदि जो स्वाभाविक कल्याणमय आचरण है, उसका नाम है 'हिंदू-संस्कृति'। आर्यपुरुषोंकी उक्त संस्कृतिको सदाचार कहा जाता है। उनका चाल-चलन, आहार-विहार, खान-पान आदि प्रत्येक आचरण श्रुति-स्मृति-विहित, अतएव आत्माका कल्याण करनेवाला होता है। इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला होनेके कारण इस सदाचारको ही हिंदू 'धर्म' कहते हैं।* यह अनादि कालसे चला आ रहा है, इसलिये इसीको 'सनातन धर्म कहते हैं। मनुजीका वचन है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ (मनु० २।१२)

'वेद, स्मृति, सत्पुरुषोंका आचार तथा जिसके कारण आत्मामें सहज प्रसन्नता प्रकट हो, वह आत्मप्रिय (परोपकार आदि) कार्य—इस तरह चार प्रकारका यह धर्मका साक्षात् लक्षण कहा गया है।'

यह सनातनधर्म ईश्वरका कानून है और सदा ईश्वरमें निवास करता है। यह सृष्टिके आदिमें ईश्वरसे ही प्रकट होता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ (४।१)

'मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा।'

तथा यह प्रलयके समय ईश्वरमें ही समा जाता है। इसलिये ईश्वर ही इसकी प्रतिष्ठा हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४।२७)

'क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।'

अतः इस शाश्वत धर्मको ईश्वरका स्वरूप ही कहा जाता है। यह सदासे है और सदा रहेगा, इसलिये इसका नाम 'सनातन-धर्म' है।

यह कभी प्रकटरूपसे रहता है, कभी अप्रकटरूपसे; किंतु इसका कभी विनाश नहीं होता। ईश्वरके अवतारकी भाँति इसका केवल प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है।

वाल्मीकीय और अध्यात्म-रामायणके समस्त श्लोक तथा तुलसीकृत रामचरितमानसके सारे दोहे, चौपाई, छन्द आदि सभी इसी शाश्वत धर्मरूप हिंदू-संस्कृतिका दिग्दर्शन करा रहे हैं। उनमें भी श्रीराम और सीताके आदर्श चरित्र एवं सभी भाइयोंका परस्पर भ्रातृप्रेम हिंदू-संस्कृतिके प्रधान निदर्शक हैं।

रामायणमें श्रीरामका आदर्श चरित्र

श्रीरामचन्द्रजीकी सारी ही चेष्टाएँ धर्म, ज्ञान, नीति, शिक्षा, गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यसे भरी हुई थीं। उनका व्यवहार देवता, ऋषि, मुनि, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभीके साथ बहुत ही प्रशंसनीय, अलौकिक और अतुलनीय था। देवता, ऋषि, मुनि और मनुष्योंकी तो बात ही क्या—जाम्बवान्, सुग्रीव, हनुमान् आदि रीछ-वानर, जटायु आदि पक्षी तथा विभीषण आदि राक्षसोंके साथ भी उनका ऐसा दयापूर्ण, प्रेमयुक्त और त्यागमय व्यवहार था कि जिसे स्मरण करनेसे ही रोमांच हो आता है। भगवान् श्रीरामकी कोई भी चेष्टा ऐसी नहीं, जो कल्याणकारिणी न हो।

वे साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा होते हुए भी मित्रोंके साथ मित्रका-सा, माता-पिताके साथ पुत्रका-सा, स्त्रीके साथ पतिका-सा, भाइयोंके साथ भाईका-सा, सेवकोंके साथ स्वामीका-सा, मुनि और ब्राह्मणोंके साथ शिष्यका-सा—इसी प्रकार सबके साथ यथायोग्य त्यागयुक्त प्रेमपूर्ण व्यवहार करते थे। अतः उनके प्रत्येक व्यवहारसे हमलोगोंको शिक्षा लेनी चाहिये।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यका तो कहना ही क्या है, उसकी तो संसारमें एक कहावत हो गयी है। जहाँ कहीं सबसे बढ़कर सुन्दर शासन होता है, वहाँ 'रामराज्य' की उपमा दी जाती है। श्रीरामके राज्यमें प्रायः सभी मनुष्य परस्पर

* यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिकदर्शन १।२)

प्रेम करनेवाले तथा नीति, धर्म, सदाचार और ईश्वरकी भक्तिमें तत्पर रहकर अपने-अपने धर्मका पालन करनेवाले थे। प्रायः सभी उदार-चित्त और परोपकारी थे। वहाँके प्रायः सभी पुरुष एकनारीव्रती और प्रायः सभी स्त्रियाँ पातिव्रत-धर्मका पालन करनेवाली थीं। भगवान् श्रीरामका इतना प्रभाव था कि उनके राज्यमें मनुष्योंकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षी भी परस्पर वैर भुलाकर निर्भय विचरा करते थे। उनके चरित्र बड़े ही प्रभावोत्पादक और अलौकिक थे। यह हमारे आर्यपुरुषोंका स्वाभाविक ही व्यवहार था। इसी आदर्शको हिंदू-संस्कृति कहते हैं। हमें उसी आदर्शको लक्ष्यमें रखकर उसका अनुकरण करना चाहिये।

रामायणमें सीताका अनुकरणीय चरित्र

हिंदू-संस्कृतिके अनुसार पतिके साथ पत्नीको कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसकी शिक्षा माताएँ श्रीसीताके चरित्रसे ले सकती हैं। जगज्जननी श्रीसीताका प्रायः सारा जीवन ही माता-बहिनोंके लिये आदर्श और शिक्षाप्रद है। सास-ससुर, माता-पिता, देवरों, सेवकों तथा अन्य सभी स्त्री-पुरुषोंके साथ—यहाँतक कि दुष्टोंके साथ भी कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसका सुन्दर उपदेश हमें श्रीसीताजीके जीवनसे विशेषरूपसे मिलता है। इसे किसी भी रामायणमें देख सकते हैं। श्रीसीताजीकी सभी क्रियाएँ कल्याणकारिणी हैं। अतः माता-बहिनोंको सीताजीके जीवनमें जो शिक्षाएँ भरी हुई हैं, उन्हें अपने जीवनमें उतारनेकी कोशिश करनी चाहिये।

रामायणमें भ्रातृ-प्रेम

हिंदू-संस्कृतिके अनुसार भाइयोंके साथ कैसा प्रेमपूर्ण व्यवहार होना चाहिये, इसकी शिक्षा हमें रामायणमें श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत एवं श्रीशत्रुघ्नके चरित्रोंसे स्थल-स्थलपर मिलती है। उनकी प्रत्येक क्रियामें स्वार्थत्याग और प्रेमका भाव झलक रहा है। श्रीराम और भरतके स्वार्थत्यागकी बात क्या कही जाय—श्रीरामचन्द्रजीका प्रत्येक संकेत, चेष्टा और प्रसन्नता भरतको राज्य दिलानेमें है और भरतकी श्रीरामको राज्य दिलानेमें। पाठकगण किसी भी रामायणके अयोध्याकाण्डमें इस विषयको विस्तारपूर्वक देख सकते हैं। द्वापरयुगमें युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंका परस्पर भ्रातृ-प्रेम आदर्श और अनुकरणीय है। यह है हिंदू-संस्कृति!

ईश्वरवाद

हिंदू-संस्कृतिमें ईश्वरवाद एक प्रधान स्थान रखता है। ईश्वरको केवल हिंदू ही नहीं, ईसाई और मुसलमान आदि सभी मानते हैं। जिसे हम हरि, ओम्, ईश्वर, परमात्मा, नारायण, राम, कृष्ण आदि अनेक नामोंसे कहते हैं, उसे ही ईसाई गॉड और मुसलमान अल्लाह, खुदा आदि नामोंसे पुकारते हैं। जैसे जल, पानी, नीर, अप्, वाटर आदि सभी जलके ही नाम हैं, उसीके पर्याय हैं—वस्तुतः सबका अर्थ एक जल है—उसी प्रकार ये सभी नाम वस्तुतः एक ही ईश्वरके हैं।

हमारे श्रुति[1], स्मृति[2], दर्शन[3], इतिहास[4],

---

१. श्रुति कहती है— ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। (यजुर्वेद ४०।१)

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, वह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है।'

२. मनुजी कहते हैं— प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः। जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥
(मनु० १२।१२२, १२४)

'जो सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म और सबका भली प्रकार शासन करनेवाला है एवं स्वर्णके समान उज्ज्वल और निर्मल तथा स्वप्नकालमें भी बुद्धिद्वारा प्रत्यक्ष होनेवाला है, उस परम पुरुष परमेश्वरको जानना चाहिये। यही सम्पूर्ण प्राणियोंको पंचभूतरूपी पाँच मूर्तियोंके द्वारा व्याप्त किये हुए है तथा जन्म, वृद्धि और क्षयके द्वारा निरन्तर समस्त प्राणियोंको चक्रकी भाँति घुमा रहा है।'

३. महर्षि वेदव्यासजी कहते हैं— जन्माद्यस्य यतः। (ब्रह्मसूत्र १।२)

'इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि जिससे होते हैं, वह ईश्वर है।' महर्षि पतंजलि कहते हैं—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। (योग० १।२४)

'क्लेश, (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश), कर्म (पाप-पुण्य), कर्मोंके फल (जाति, आयु, भोग) तथा वासनाओंसे रहित जो पुरुषोंमें विशेष है, वह ईश्वर है।'

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (योग० १।२५)

'सर्वज्ञताका बीज (कारण) अर्थात् सम्यक् ज्ञान उस परमेश्वरमें सबसे बढ़कर है, उससे बढ़कर किसीमें नहीं है।'

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (योग० १।२६)

'वह ईश्वर ब्रह्मादिकोंको भी शिक्षा देनेवाला और सबसे बड़ा है; क्योंकि उसका कालके द्वारा अन्त नहीं होता।'

४. महाभारतमें आया है—ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः। जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम्॥ (अनुशासन० १४९।१३८)

पुराण[1] आदि शास्त्रोंमें तो ईश्वरका अस्तित्व पद-पदपर अंकित है। तथा गीता[2], रामायण, भागवत[3] की तो बात ही क्या है—ये तो ईश्वरवादके प्रधान आदर्श ग्रन्थ हैं ही।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

'जिनकी मायाके वशीभूत सम्पूर्ण विश्व, ब्रह्मादि देवता और असुर हैं, जिनकी सत्तासे रस्सीमें सर्पके भ्रमकी भाँति यह सारा दृश्य जगत् सत्य ही प्रतीत होता है और जिनके श्रीचरण ही भवसागरसे तरनेकी इच्छावालोंके लिये एकमात्र नौका हैं, उन समस्त कारणोंसे परे (सब कारणोंके कारण और सबसे श्रेष्ठ) राम कहानेवाले भगवान् श्रीहरिकी मैं वन्दना करता हूँ।'

तथा अरण्यकाण्डमें श्रीलक्ष्मणजीके पूछनेपर भगवान् स्वयं कहते हैं—

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥

'जो मायाको, ईश्वरको और अपने स्वरूपको नहीं जानता, वह जीव है; और जो कर्मानुसार बन्धन और मोक्ष देनेवाला, सबसे परे, मायाका प्रेरक और कल्याणमय है, वह ईश्वर है।'

जो ईश्वरको नहीं माननेवाले नास्तिक हैं, उन्होंने अनेक प्रकारके झूठे तर्क-वितर्क करके बहुत-से अनजान लोगोंको मोहित कर दिया है, जिससे वे बेचारे भोले-भाले लोग भ्रममें पड़कर ईश्वरके सम्बन्धमें भी अनेक प्रकारके शंका-समाधान करने लगे। इससे

'समस्त ऋषिगण, पितृगण, देवगण और अन्यान्य प्राणिवर्ग तथा समस्त प्रकृतियाँ—यह सम्पूर्ण जड-चेतनात्मक जगत् नारायणसे ही उत्पन्न हुआ है।'

१. श्रीविष्णुपुराणमें आता है— स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो व्यक्तस्वरूपोऽप्रकटस्वरूपः।
सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्वविच्च समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः॥ (६।५।८६)

'वे ईश्वर ही समष्टि और व्यष्टिरूप हैं, वे ही व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप हैं; वे ही सबके स्वामी, सबके साक्षी और सब कुछ जाननेवाले हैं तथा उन्हीं सर्वशक्तिमान्‌को परमेश्वर कहते हैं।'

२. गीता कहती है— उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ (१५।१७)

'इन दोनोंसे उत्तम तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है।'

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (१८।६१)

'हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

३. श्रीभागवतकार कहते हैं—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥ (१।१।१)

'जिससे इस जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार होता है, जो अन्वय और व्यतिरेक—दोनों प्रकारसे सत्य है अर्थात् जिसकी सत्तासे ही जगत्‌की सत्ता है, परंतु जगत्‌के न रहनेपर भी जिसका अस्तित्व अक्षुण्ण रहता है; जो जगत्‌के सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्याप्त और सर्वज्ञ है तथा अखण्ड, अबाध ज्ञानसम्पन्न होनेके कारण जो स्वयंप्रकाश है; सर्गके आदिमें जिसने अपने संकल्पसे ही ब्रह्माके हृदयमें उन वेदोंका ज्ञान प्रदान किया है, जिनके सम्बन्धमें बड़े-बड़े ऋषि-मुनि मोहित हो जाते हैं; जिसके सत्य स्वरूपमें यह त्रिगुणमयी सृष्टि उसकी सत्तासे सत्य है, परंतु भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंकी दृष्टिसे असत्य भी है—जैसे तेजोमय सूर्यकी किरणोंसे काँच आदि मृत्तिकाके विकारोंमें जलकी और जलमें स्थलकी भ्रान्ति हो जाया करती है; जिसके अपने ज्ञानमय प्रकाशसे माया—छल-कपट आदि सदा ही निरस्त रहते हैं, उस परम सत्यस्वरूप परमेश्वरका हम ध्यान करते हैं।'

तथा

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः। तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः॥ (११।९।२१)

'जिस प्रकार मकड़ी अपने पेटमेंसे मुखद्वारा तन्तुओंको निकालकर उनको फैलाती है और उसके साथ विहार करके उसे पुनः निगल जाती है, उसी प्रकार सर्वेश्वर परमात्मा भी जगत्‌की रचना करके तथा उसमें विहार करके पुनः अपनेमें उसे लीन कर लेते हैं।'

हमारी हिंदू-संस्कृतिका ह्रास होने लगा, जो हिंदुस्थानके पतनमें बहुत बड़ा कारण सिद्ध हुआ। ईश्वरको माननेमें लाभ और न माननेमें अनेक हानियाँ प्रत्यक्ष ही हैं।

ईश्वरको माननेवाला मनुष्य ईश्वरके भयसे पाप नहीं करता और ईश्वरपर निर्भर हो जाता है, जिससे उसके हृदयमें निर्भयता, धीरता, वीरता, गम्भीरता आदि अनेक गुण आ जाते हैं। ईश्वरके चिन्तनसे अनायास ही सारे दुर्गुण, दुराचार और पापोंका नाश होकर उसमें सारे सद्‌गुण, सदाचार आ जाते हैं। तथा परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति होकर मरनेपर उत्तम-से उत्तम गति मिलती है।

ईश्वरको न माननेवाले नास्तिकके हृदयमें दुर्गुण, दुराचार घर कर लेते हैं। उसे ईश्वरका तो भय रहता नहीं, फिर वह क्यों पाप करनेसे रुकेगा। उसे पापोंके फलस्वरूप दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर चिन्ता, शोक, भय प्राप्त होते हैं और मरनेपर उसकी बड़ी दुर्गति होती है।

तर्कसे भी यह बात सिद्ध है। आप कहते हैं 'ईश्वर नहीं है' और मैं कहता हूँ 'ईश्वर है।' थोड़ी देरके लिये मान लीजिये, आपकी बात ही सत्य हो तो ऐसी परिस्थितिमें यदि ईश्वर नहीं है और मैंने भूलसे ईश्वरको मान लिया तो इससे मुझे क्या हानि होगी। आपकी मान्यताके अनुसार वास्तवमें ईश्वर है ही नहीं, तो चाहे जितना ही उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न किया जाय, न वह आपको मिलेगा न मुझे ही। यह तो हो ही नहीं सकता कि मुझे ईश्वर न मिले और आपको मिल जाय; जब ईश्वर है ही नहीं, तब मिलेगा क्या। हमने जो भूलसे ईश्वरको मान लिया, उसके फलस्वरूप हमें कोई दण्ड तो होना ही नहीं है। फलतः आप और हम दोनों समान कक्षामें ही रहेंगे, परंतु थोड़ी देरके लिये मान लें, यदि हमारी मान्यता सत्य हो गयी, ईश्वरका वास्तवमें होना प्रमाणित हो गया तो इसके फलस्वरूप यदि हमारे द्वारा शास्त्रानुसार साधन किया गया तो हमें तो ईश्वरकी प्राप्ति होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होगी और आप इन सबसे वंचित रहेंगे। इतना ही नहीं, इसके फलस्वरूप आपको घोर नरकोंकी प्राप्ति होगी और भारी दुःखोंका सामना करना पड़ेगा। इस तर्कके अनुसार भी ईश्वरको मानना ही सब प्रकारसे श्रेयस्कर है।

अन्य युक्तियोंसे भी ईश्वरका होना सिद्ध है। बिना ईश्वरके किसीका भी काम चलना सम्भव नहीं। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे आदि सभी ईश्वरके अस्तित्वको प्रमाणित कर रहे हैं। ये सभी जिससे उत्पन्न हुए हैं और जिससे संचालित हो रहे हैं, वही ईश्वर है; क्योंकि बिना किसी कारणके कोई कार्य नहीं हो सकता। अतः इस जगत्‌का भी तो कोई कारण होना चाहिये। यह सारा जगत् जिससे उत्पन्न हुआ है, वही सबका अभिन्न-निमित्तोपादान कारण* एकमात्र परमात्मा है। जो इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाला तथा पाप-पुण्यके अनुसार फलदाता और सबको नियममें रखकर यथायोग्य संचालन करनेवाला है, वही ईश्वर है। संसारमें बड़े-बड़े यन्त्र और कारखाने हैं; किंतु बिना किसी बुद्धिमान् चेतन संचालकके उनका चलना सम्भव नहीं, बल्कि बिना उसके वे नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।

आपकी दृष्टिमें जो कुछ देखने-सुननेमें आता है, वह सब जिससे संचालित है, वह ईश्वर है। वह है चेतन; क्योंकि जो जड प्रकृति (नेचर) है, उसमें ज्ञान न होनेके कारण वह न तो सबको यथायोग्य स्थानमें स्थापित ही कर सकती है और न उसका संचालन ही कर सकती है। किंतु इस संसारके पीछे जो शक्ति है, उसका कार्य देखनेसे मालूम होता है कि वह बहुत विलक्षण अतिशय ज्ञानमयी शक्ति है। जिससे समस्त संसारका संचालन नियमानुसार हो रहा है, उसकी इस विलक्षण कुशलताको देखिये। ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्राणी होते हैं, जो सूक्ष्मतासे देखनेसे कागजोंमें भी कभी-कभी लक्ष्यमें आते हैं। वह सफेद, लाल आदि अनेक रंगोंके होते हैं और पोस्तके दानेकी अपेक्षा भी सूक्ष्म होते हैं। उन्हें कोई 'पोस्तिया जानवर' भी कहते हैं। उनके इतने सूक्ष्म शरीरमें भी सब यन्त्र होते हैं। चलनेके लिये पैर और उड़नेके लिये पाँखें तो रहती

* जिस वस्तुसे जो चीज बनती है, वह उसका उपादान-कारण है और बनानेवाला निमित्तकारण—जैसे घड़ेका उपादानकारण मिट्टी है और निमित्तकारण कुम्हार है। किंतु संसारके उपादान और निमित्तकारण परमात्मा ही हैं। जैसे मकड़ी जाला तानती है तो उस जालेका उपादानकारण भी मकड़ी है और निमितकारण भी मकड़ी ही है, उसी प्रकार परमात्मा जगत्‌के उपादान और निमित्तकारण दोनों हैं और वे उससे अभिन्न हैं।

श्रीरामकी कांस्यमूर्ति

श्रीकृष्णकी कांस्यमूर्ति—नैपाल

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

श्रीराम-लक्ष्मण-सीतासे भरत एवं माताओंका मिलन

पहाड़ी (जम्मू) शैली १८ वीं शतीका मध्यभाग]

(पृष्ठ ८१२)

वाल्मीकि-आश्रममें नारद

पहाड़ी शैली १८ वीं शती]

(८१२)

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

ही हैं—मन, बुद्धि भी होती हैं। इनके अलावा शरीरके भीतर बहुतसे यन्त्र भी उसीके अंदर होते हैं। उनसे भी सूक्ष्म जीव होते हैं, जो देखनेमें भी नहीं आते। अब विचारिये, उसका निर्माता कितना बुद्धिकुशल होना चाहिये। यह काम जड प्रकृति (नेचर)-से सम्भव नहीं।

मनुष्योंकी प्रकृति, बुद्धि, इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न होनेसे उनके आचरण भी भिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसे उन विभिन्न मनुष्योंके पाप-पुण्यरूप आचरणोंके अनुसार यथायोग्य सुख-दुःखादिका भुगताना भी जड प्रकृतिका काम नहीं हो सकता। अतः उसका फलदाता भी कोई बुद्धिका महान् सागर चेतन ही होना चाहिये और वह है एकमात्र परमात्मा।

देखिये, संसारमें ऐसा कोई भी यन्त्र देखनेमें नहीं आता, जिसका काम बिना सँभालके चल सके। उदाहरणार्थ कपड़ेकी या गंजीकी कल है; यदि उसका संचालक कोई चेतन पुरुष नहीं होगा तो न कपड़ा ही तैयार होगा और न गंजी ही; क्योंकि तार टूटनेपर संचालकके बिना उसे कौन जोड़ेगा। बल्कि यन्त्र ही नष्ट हो जायगा। बड़े-से-बड़ा यन्त्र रेलगाड़ी है। उसके इंजन, पटरी आदिकी सार-सँभाल आदि नहीं होगी तो उसका चलना सम्भव नहीं। किसी बुद्धिशाली चेतन संचालक,संयोजकके बिना एक दिन भी काम नहीं चलेगा और सब नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है। इसी प्रकार यह सारा जगच्चक्र चल रहा है। यदि इसका निर्माता, संयोजक, संचालक तथा सँभाल-मरम्मत करनेवाला कोई बुद्धिशाली चेतन न हो तो इसकी भी वही दशा होगी।

हम, आप, कोई प्राणी अपनी सत्तामें सन्देह नहीं करते। हम हैं, साथ ही हम चेतन हैं; किंतु ज्ञानके लिये इच्छुक भी हैं। हमको और अधिक ज्ञान मिले, इस प्रयत्नमें रहते हैं। सभी ज्ञानके साथ सुख चाहते हैं और किसी-न-किसीको अपनेसे अधिक सुखी मानते हैं। इस प्रकार सत्ता, ज्ञान और सुख—सत्, चित्, आनन्दको हम मानते तो हैं और यह भी देखते हैं कि जगत्‌में ज्ञान और आनन्द कहीं पूर्ण नहीं, सब उसको पानेके ही प्रयत्नमें हैं। जिसे सभी विद्वान् पाना चाहते हैं, वह हो ही नहीं—यह कैसे होगा। अतः जहाँ सत्ता, ज्ञान और आनन्द तीनों पूर्णरूपसे हैं, वही तो सच्चिदानन्द ईश्वर है। जगत्‌में तो अकेली सत्ता ही है। जड पदार्थके परमाणुतकको तोड़ डाला गया, पर वहाँ तो ज्ञान-चेतना और सुख है नहीं; और सबसे छोटे प्राणी जो दूरबीनसे भी कठिनतासे दीखते हैं, उनमें भी सत्ताके साथ ज्ञान रहता है। वे अपने आहारको पहचानते हैं, वे भी सुख चाहते हैं; क्योंकि शत्रुसे डरकर भागते उन्हें भी देखा गया है। यह चेतना, ज्ञान और सुखकी इच्छा जब जडमें नहीं है, तब कहीं माननी पड़ेगी। जहाँ वह है, वही परमात्मा है। वह चेतन ही इस जडका संचालक है। वही सर्वेश्वर है।

इससे यही निर्णय हुआ कि इसका उत्पादक, निर्माता, संचालक, संयोजक, रक्षक—जो कोई है, वही चेतन परमात्मा है। यह हिंदुओंकी अनुभवयुक्त मान्यता सदासे चली आ रही है—इसीको हिंदू-संस्कृति कहते हैं।

अवतारवाद

भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं, यह विश्वास हिंदू-जातिमें प्रायः सदासे ही चला आ रहा है। यह युक्तियुक्त और उचित ही है। निर्गुण-निराकाररूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सगुण-साकाररूपमें प्रकट होते हैं, जैसे आकाशमें परमाणुरूपसे स्थित जल ही बादलके रूपमें आकर फिर जल और बर्फके रूपमें प्रकट होकर बरसने लगता है। सर्गके आदिमें सारे पदार्थ भी निराकारसे साकार बनते हैं—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।

(गीता ८।१८)

उस निराकाररूप ब्रह्माके सूक्ष्मशरीरसे ही सारी स्थूल व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा स्वयं ही निराकाररूपसे साकार रूपको धारण करता है। इसीका नाम अवतार लेना है।

तुलसीकृत रामायणमें अवतारवाद स्थान-स्थानपर भरा हुआ है। यहाँ संक्षेपसे कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

बालकाण्डमें श्रीशिवजी पार्वतीसे कहते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

वाल्मीकीय रामायणमें लिखा है कि जब देवता और ऋषियोंने रावणके उपद्रवोंसे दुःखित हो ब्रह्माजीसे प्रार्थना की, तब ब्रह्माजी उन्हें सान्त्वना देने लगे। उसी समय भगवान् श्रीविष्णुके प्रकट होनेका वर्णन इस प्रकार आया है—

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः॥
वैनतेयं समारुह्य भास्करस्तोयदं यथा।
तप्तहाटककेयूरो वन्द्यमानः सुरोत्तमैः॥

(वा० रा० बाल० १५।१६,१७)

'उसी समय महान् तेजस्वी जगत्पति भगवान् विष्णु, मेघपर चढ़े हुए सूर्यके समान गरुड़पर सवार हो, वहाँ आ पहुँचे। उनके शरीरपर पीताम्बर, हाथोंमें शंख, चक्र और गदा आदि आयुध एवं भुजाओंमें चमकीले स्वर्णके बाजूबंद शोभा पा रहे थे। सभी देवताओंने उनको प्रणाम किया।'

भगवान्ने देवताओंकी प्रार्थनापर दशरथजीके घरमें मनुष्यरूपसे अवतार लेना स्वीकार कर लिया—

हत्वा क्रूरं दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम्।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च॥
वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन्पृथिवीमिमाम्॥

(वा० रा०, बाल० १५। २९,३०)

'देवता और ऋषियोंको भय देनेवाले उस क्रूर एवं दुर्धर्ष राक्षसका नाश करके मैं ग्यारह हजार वर्षोंतक पृथ्वीका पालन करता हुआ मनुष्यलोकमें निवास करूँगा।'

अध्यात्मरामायणमें कथा आती है—जब विश्वामित्रजी श्रीराम-लक्ष्मणको यज्ञरक्षार्थ ले जानेके लिये आये, उस समय दशरथजीके द्वारा सलाहके रूपमें पूछे जानेपर वसिष्ठजीने कहा—

शृणु राजन् देवगुह्यं गोपनीयं प्रयत्नतः।
रामो न मानुषो जातः परमात्मा सनातनः॥
भूमेर्भारावताराय ब्रह्मणा प्रार्थितः पुरा।
स एव जातो भवने कौसल्यायां तवानघ॥

(अध्यात्म०, बाल० ४। १२,१३)

'राजन्! यह देवताओंकी गुह्य लीला सुनो, इसे किसी प्रकार प्रकट न होने देना चाहिये। ये राम मनुष्य नहीं हैं, साक्षात् सनातन परमात्मा ही (अपनी मायासे) इस रूपमें प्रकट हुए हैं। हे अनघ! पूर्वकालमें पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ब्रह्माजीने भगवान्से प्रार्थना की थी, उसे पूर्ण करनेके लिये उन परमेश्वरने तुम्हारे यहाँ कौसल्याके गर्भसे जन्म लिया है।'

चित्रकूटमें माता कैकेयीने श्रीरामसे क्षमा-प्रार्थना करते हुए कहा है—

त्वं साक्षाद्विष्णुरव्यक्तः परमात्मा सनातनः।
मायामानुषरूपेण मोहयस्यखिलं जगत्॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ९। ५७)

'आप साक्षात् विष्णुभगवान्, अव्यक्त परमात्मा और सनातन पुरुष हैं। अपने लीलामय मनुष्यरूपसे आप समस्त संसारको मोहित कर रहे हैं।'

रावणवधके अनन्तर ब्रह्मादि देवताओंसे बात-चीत करते हुए श्रीरामने कहा कि मैं तो अपनेको दशरथपुत्र राम ही समझता हूँ। वास्तवमें मैं जो हूँ, जैसा हूँ, आप ही बतलाइये। इसपर ब्रह्माजी श्रीरामका महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं—

भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
....
सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः।
....
वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम्॥

(वा० रा०, युद्ध० ११९। १३,२७,२८)

'आप साक्षात् चक्रपाणि लक्ष्मीपति प्रभु श्रीनारायणदेव हैं। सीता साक्षात् लक्ष्मी हैं और आप भगवान् विष्णु, कृष्ण एवं प्रजापति हैं। आपने रावणवधके लिये ही मानवशरीर धारण किया है।'

भगवान्के परमधाम पधारनेके प्रकरणसे यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि श्रीराम साक्षात् पूर्णब्रह्म परमेश्वर थे। उस समय ब्रह्माजीके कथनानुसार भगवान्ने अपने भाइयोंके साथ इस मानवविग्रहसे ही उस वैष्णव तेजमें प्रवेश किया—

विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः।

(वा० रा०, उत्तर० ११०। १२)

इसी प्रकार गीता[१], भागवत[२] आदि ग्रन्थोंमें भी अवतारवादका उल्लेख स्थान-स्थानपर मिलता है।

---

१. गीतामें कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ (४। ६—८)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

२. भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण माता देवकीसे कहते हैं—

अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्। अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः॥

इसके संस्कार प्रायः हिंदुओंके हृदयमें स्वाभाविक ही अंकित हैं। यह है हिंदू-संस्कृति!

परलोकवाद

बहुत-से आदमी यह शंका करते हैं कि 'मरनेके बाद आत्मा रहता है या नहीं, किये हुए कर्मोंका फल कर्ताको परलोकमें मिलता है या नहीं, मृत व्यक्तिके लिये दिया हुआ पदार्थ उसे मिलता है या नहीं और जो मृत व्यक्ति मुक्त हो गया है, उसके प्रति दिया हुआ पदार्थ किसको मिलता है?' इन प्रश्नोंका समाधान यह है कि मरनेपर आत्मा अवश्य रहता है तथा किये हुए कर्मोंका फल कर्ताको अवश्यमेव मिलता है। वह इस लोकमें भी मिल जाता है और शेष बचा हुआ परलोकमें मिलता है। मृत व्यक्तिके प्रति जो कुछ दिया जाता है, वह सब उसे प्राप्त होता है। किंतु जो मृत व्यक्ति मुक्त हो गया है, उसके प्रति दिया हुआ कर्ताके कोषमें जमा होता है।

(क) कठोपनिषद्में यमराजके प्रति नचिकेताने भी यही प्रश्न किया था कि मरनेपर आत्मा रहता है या नहीं। यमराजने यही उत्तर दिया कि अवश्य रहता है[१]। गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ (२। १२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे। और न ऐसा ही है कि इसके आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

वाल्मीकीय रामायणमें युद्धके बाद दशरथजीका आना तथा श्रीराम और लक्ष्मण आदिसे वार्तालाप करना परलोकका जीता-जागता प्रमाण है। इसके लिये वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड, १२१ वाँ सर्ग देखिये।

अन्यान्य शास्त्रोंमें भी जगह-जगह इसके अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। हिंदू-जातिके हृदयमें यह संस्कार स्वाभाविक ही अंकित है। यह युक्तिसंगत भी है। जब मनुष्य जन्मता है, तब उसके जाति, आयु, भोग और स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। तथा मनुष्यका जन्मते ही रोना, हँसना, कम्पित होना, सोना, माताके स्तनोंसे स्वयं ही दूधको आकर्षित करना आदि उसके पूर्वजन्मके अभ्यासके द्योतक होनेसे पूर्वजन्मको सिद्ध करते हैं। इसलिये आत्मा नित्य है। शरीरके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता।[२]

(ख) श्रीरामचरितमानसमें दशरथजीने कहा है—

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फलु हृदयँ बिचारी॥
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सबु कोई॥

तथा वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः।
भर्तः पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः॥

तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात्। उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः॥
तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषाथ वाम्। जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति॥ (१०। ३। ४१—४३)

''संसारमें शील, उदारता आदि सद्गुणोंमें अपने सदृश दूसरेको न देखकर मैं स्वयं ही आप दोनोंका पुत्र होकर पहले 'पृश्निगर्भ' के नामसे विख्यात हुआ था। उसके बाद जब आप दोनों कश्यप और अदितिके रूपमें प्रकट हुए, तब मैं उत्पन्न होकर 'उपेन्द्र' के नामसे विख्यात हुआ; उस समय मेरा शरीर छोटा होनेके कारण मेरा दूसरा नाम 'वामन' हुआ था। इस तीसरे कल्पमें अब मैं ही उसी शरीरसे आप दोनोंके यहाँ पुनः उत्पन्न हुआ हूँ। हे सति! मैंने यह आपसे सत्य कहा है।''

१-न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥ (कठ० १। २। ६)

'जो धनके मोहसे मोहित हो रहा है, ऐसे प्रमादी, मूढ़, अविवेकी पुरुषको परलोकमें श्रद्धा नहीं होती। यह लोक ही है, परलोक नहीं है—इस प्रकार माननेवाला वह मूढ़ मुझ मृत्युके वशमें बार-बार पड़ता है अर्थात् पुनः-पुनः जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।'

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (कठ० १। २। १८)

'नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा न तो जन्मता है और न मरता ही है। यह न तो स्वयं किसीसे हुआ है, न इससे कोई भी हुआ है। अर्थात् यह न तो किसीका कार्य है और न कारण ही है। यह अजन्मा, नित्य, सदा एकरस रहनेवाला और पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धिसे रहित है। शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता।'

२-गीतामें भी कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (२। २०)

'यह आत्मा न तो किसी कालमें जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

शुभकृच्छुभमाप्नोति पापकृत्पापमश्नुते।

(युद्ध० १११।२५,२६)

'स्वामिन्! इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि समय आनेपर कर्ताको उसके पाप-कर्मका फल अवश्य मिलता है। शुभ कर्म करनेवालेको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और पापीको पापका फल दुःख भोगना पड़ता है।'

मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसे उसका वैसा ही फल प्राप्त होता है—यह बात गीता आदि शास्त्रोंमें भलीभाँति बतलायी गयी है।[1] यह युक्तियुक्त भी है। मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसके अनुसार ही उसके हृदयमें संस्कार जमते हैं। फिर उनके अनुसार ही उसके अन्तःकरणकी वृत्ति बनती है। वृत्तिके अनुसार ही अन्तकालमें स्मृति होती है और स्मृतिके अनुसार ही भावी जन्म होता है। इस कर्मोंके भेदके कारण ही मनुष्यके जाति, आयु, भोग और स्वभावकी भिन्नता होती है। अर्थात् सब प्राणियोंमें जो बुद्धि, स्वभाव और भोगकी भिन्नता देखी जाती है, इसका मूल कारण कर्म ही है। अतः कर्मफल प्राप्त होनेकी बात बिलकुल युक्तिसंगत है और प्रत्यक्ष देखनेमें भी आती है।

(ग) श्राद्ध-तर्पणका उल्लेख रामायणमें स्थान-स्थानपर आया है। श्रीरामचरितमानसमें महाराज दशरथकी मृत्यु होनेपर भरतके द्वारा उनकी यथोचित ऊर्ध्वक्रिया करनेका उल्लेख मिलता है। यथा—

नृपतनु बेद बिदित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमानु बनावा॥
चंदन अगर भार बहु आए। अमित अनेक सुगंध सुहाए॥
सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥
एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्ही। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही॥
सोधि सुमृति सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना॥
जहँ जस मुनिबर आयसु दीन्हा। तहँ तस सहस भाँति सबु कीन्हा॥
भए बिसुद्ध दिए सब दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना॥

श्रीरामचन्द्रजी महाराजने भी पिताकी मृत्युका संवाद सुनते ही मन्दाकिनीके तीरपर जाकर तर्पण किया एवं स्वयं जैसा भोजन किया करते थे, उसीके पिण्ड बनाकर दशरथजीके निमित्त दिये—

ततो मन्दाकिनीं गत्वा स्नात्वा ते वीतकल्मषाः॥
राज्ञे ददुर्जलं तत्र सर्वे ते जलकाङ्क्षिणे।
पिण्डान्निर्वापयामास रामो लक्ष्मणसंयुतः॥
इंगुदीफलपिण्याकरचितान् मधुसम्प्लुतान्।
वयं यदन्नाः पितरस्तदन्नाः स्मृतिनोदिताः॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ९।१७—१९)

"फिर सब लोग मन्दाकिनीपर जाकर स्नान करके पवित्र हुए। वहाँ सबने जलकांक्षी महाराज दशरथको जलांजलि दी तथा लक्ष्मणजीके सहित श्रीरामचन्द्रजीने पिण्ड दिये। 'जो हमारा अन्न है, वही हमारे पितरोंको प्रिय होगा—यही स्मृतिकी आज्ञा है' यों कह उन्होंने इंगुदी फलकी पीठीके पिण्ड बना उनपर मधु डालकर उन्हें प्रदान किया।"

रामायणके सिवा श्राद्धका प्रकरण गीता[2], मनुस्मृति[3] आदि सभी शास्त्रोंमें पाया जाता है।

यह बात युक्तिसंगत भी है। जो आदमी जिस व्यक्तिके नामसे बैंकमें रुपये जमा कराता है, उसी व्यक्तिके नाम रुपये जमा हो जाते हैं और जिसके नामसे जमा होते

---

१. गीता कहती है—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्। रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ (१४।१६)

'श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है; राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है।'

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ (१८।१२)

'कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है; किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता।'

२. गीतामें कहा है—

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ (१।४२)

'वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है। लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पणसे वंचित इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त होते हैं।'

३. मनुजी कहते हैं—

यद्यद् ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः। तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम्॥ (मनु० ३।२७५)

'मनुष्य श्रद्धावान् होकर जो-जो पदार्थ अच्छी तरह विधिपूर्वक पितरोंको देता है, वह-वह परलोकमें पितरोंको अनन्त और अक्षय रूपमें प्राप्त होता है।'

हैं, उसीको मिलते हैं, दूसरेको नहीं। उन रुपयोंके बदलेमें उसे आवश्यकता होती है, वही चीज उतनी कीमतकी मिल जाती है। इसी प्रकार पितरोंके नामसे किया हुआ पिण्ड, तर्पण, ब्राह्मणभोजन आदि कर्मका जितना मूल्य आँका जाता है, उतना ही फल उस प्राणीको वह जिस योनिमें होता है, वहीं आवश्यकतानुसार प्राप्त हो जाता है। अर्थात् यदि वह प्राणी गाय है तो उसे चारेके रूपमें, देवता है तो अमृतके रूपमें, मनुष्य है तो अन्नके रूपमें और बंदर आदि है तो फल आदिके रूपमें उतने ही मूल्यकी वस्तु मिल जाती है।

यदि कहें कि जीवित व्यक्तिके लिये भी अगर कोई यज्ञ, दान, अनुष्ठान, व्रत, उपवास आदि कर्म करता है तो क्या वह उसे भी मिलता है, तो इसका उत्तर यह है कि अवश्य उसे मिलता है। नहीं तो फिर यजमानके लिये जो ब्राह्मण यज्ञ, तप, अनुष्ठान, पूजा, पाठ आदि करता है, वह किसको मिलेगा? न्यायतः वह यजमानको ही मिलेगा, कर्म करनेवाले ब्राह्मणको नहीं।

यदि वह प्राणी मुक्त हो गया है तो उसके निमित्त किया हुआ कर्म कर्ताको ही मिलता है। जैसे किसी आदमीको रजिस्ट्री चिट्ठी या बीमा भेजी जाती है और जिसको भेजी जाय, वह आदमी मर गया हो तो फिर वह लौटकर भेजनेवालेको ही वापस मिल जाती है, उसी प्रकार इस विषयमें भी समझना चाहिये।

ये सब संस्कार हिंदुओंके रग-रगमें भरे हुए हैं। इन्हींको लेकर प्रायः सभी हिंदू सदासे श्राद्ध-तर्पण आदि करते आ रहे हैं। यह है हिंदू-संस्कृति!

ईश्वरोपासन

हिंदू-संस्कृतिमें ईश्वरोपासना सदासे ही प्रधानरूपसे चली आ रही है। हिंदुओंकी तो बात ही क्या, इसको ईसाई और मुसलमान भी मानते हैं। कोई ईश्वरके साकार रूपकी, कोई निराकारकी और कोई दोनोंकी उपासना करते हैं। यह भेद उचित ही है। हिंदुओंके हृदयमें तो ईश्वरोपासनाके भाव सदासे ही अंकित हैं थोड़ी-सी विपत्ति पड़नेपर भी वे संकटनिवारणार्थ ईश्वरको ही पुकारते हैं और उन्हींका आश्रय ग्रहण करते हैं।

ईश्वरकी उपासनाका विषय श्रुति[1]-स्मृतियोंमें[2] तो

१. श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ (कठ० २।१६-१७)

'यह अक्षर (ओंकार) ही तो ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है; इसी अक्षरको जानकर मनुष्य जो कुछ चाहता है, उसको वही मिल जाता है। यही अत्युत्तम आलम्बन है, यही सबका अन्तिम आश्रय है; इस आलम्बनको भलीभाँति जानकर साधक ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।'

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः। तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥
(श्वेताश्वतर० १।१०-११)

'प्रकृति तो विनाशशील है, इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है; इन विनाशशील जड-तत्त्व और अविनाशी चेतन आत्मा—दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है। इस प्रकार जानकर उस परमेश्वरका निरन्तर ध्यान करनेसे, मनको उसमें लगाये रहनेसे तथा तन्मय हो जानेसे अन्तमें साधक उसीको प्राप्त हो जाता है; फिर समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है। तथा उस परम देव परमेश्वरका निरन्तर ध्यान करनेसे उस प्रकाशमय परमात्माको जान लेनेपर समस्त बन्धनोंका नाश हो जाता है; क्योंकि क्लेशोंका नाश हो जानेके कारण जन्म-मृत्युका सर्वथा अभाव हो जाता है। अतः वह शरीरका नाश होनेपर तीसरे लोक (स्वर्ग)-तकके समस्त ऐश्वर्यका त्याग करके सर्वथा विशुद्ध एवं पूर्णकाम हो जाता है।'

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्। उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥
(मुण्डक० ३।२।१)

'वह निष्कामभाववाला पुरुष इस परम विशुद्ध प्रकाशमान ब्रह्मधामरूप परमेश्वरको जान लेता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत होता है; जो भी कोई निष्काम साधक परमपुरुषकी उपासना करते हैं, वे बुद्धिमान् रजोवीर्यमय इस जगत्‌को अतिक्रमण कर जाते हैं।'

२. मनुजी कहते हैं— अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः। विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः। सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
(मनु० २।८४,८५,८६)

'अविनाशी तो उस अक्षर—ओंकारको जानना चाहिये, जो परब्रह्म तथा प्रजापतिका स्वरूप है। तथा (दर्शपौर्णमासादि)

आया ही है, और भी सभी शास्त्रोंमें[1] इसका उल्लेख अनेक जगह मिलता है। पूर्वकालमें जितने ऋषि, मुनि, साधु, महात्मा और उच्चकोटिके पुरुष हुए हैं, उन्होंने हमारे सामने ईश्वरभक्तिका अत्युत्तम उदाहरण और आदर्श रखा है, जो कि हमारे लिये अनुकरणीय है।

इतिहास[2], पुराणोंमें[3] तो यह विषय कूट-कूटकर भरा है। महर्षि वेदव्यासजीने स्त्री और शूद्रोंका वेदोंमें अधिकार न होनेके कारण उनके लिये ही इतिहास-पुराणोंकी रचना की। अतः अठारह पुराणोंमें ऐसा कोई भी पुराण नहीं, जिसमें ईश्वरोपासनाका विषय न हो।

पुराणोंमें श्रीमद्भागवत[4] तो भक्तिप्रधान ग्रन्थ है

विधियज्ञसे जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशुजप (जिसे दूसरे न सुन सकें, ऐसा होठोंसे किया जानेवाला जप) सौगुना श्रेष्ठ है और मानसिक जप तो हजारगुना श्रेष्ठ है। कर्मयज्ञ (दर्शपौर्णमास) सहित जो चार पाकयज्ञ (बलिवैश्वदेव, अग्निहोत्र, नित्यश्राद्ध और अतिथिपूजन) हैं, वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके भी समान नहीं हैं।'

१. महर्षि पतंजलिजीने बतलाया है— ईश्वरप्रणिधानाद् वा। (योग० १।२३)

'ईश्वरकी भक्तिसे भी मन समाधिस्थ हो जाता है।' तस्य वाचकः प्रणवः। (योग० १।२७)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग० १।२८)

'उस परमात्माके नामका जप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (योग० १।२९)

'उपर्युक्त साधनसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

२. महाभारतमें बतलाया है— तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्। ध्यायन् स्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च॥
अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम्। लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्॥
(अनुशासन० १४९।५,६)

'जो मनुष्य उस अविनाशी परम पुरुषकी सदा भक्तिपूर्वक पूजा और ध्यान करता है तथा उसीका स्तवन और उसीको नमस्कार करता है, वह साधक उस अनादि, अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वलोकमहेश्वर, अखिलाधिपति परमात्माकी नित्य स्तुति करता हुआ सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो जाता है।' एवं—

विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम्। भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम्॥ (अनुशासन० १४९।१४२)

'जो जगत्‌की उत्पत्ति और विनाश करनेवाले और समस्त संसारके एकमात्र अधीश्वर उस अजन्मा कमललोचन परमदेवका निरन्तर भजन करते हैं, वे पराभवको नहीं प्राप्त होते।'

३. विष्णुपुराणमें ऋषि पुलस्त्यने कहा है—

परं ब्रह्म परं धाम योऽसौ ब्रह्म तथापरम्। तमाराध्य हरिं याति मुक्तिमप्यतिदुर्लभाम्॥ (१।११।४६)

'जो पर—निर्गुण ब्रह्म और अपर—सगुण ब्रह्म है, वही परमधाम है; ऐसे उस हरिकी आराधना करके मनुष्य अति दुर्लभ मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है।'

तथा महात्मा और्वने भी बतलाया है—

भौमं मनोरथं स्वर्गं स्वर्गे रम्यं च यत्पदम्। प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चोत्तमम्॥ (३।८।६)

'भगवान् विष्णुकी आराधना करनेपर मनुष्य भूमण्डलसम्बन्धी समस्त मनोरथ, स्वर्ग, स्वर्गसे भी श्रेष्ठ ब्रह्मपद और परम निर्वाण-पद भी प्राप्त कर लेता है।'

४-भागवतकार कहते हैं—अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥ (२।३।१०)

'किसी भी उदारबुद्धिवाले मनुष्यको—चाहे वह किसी भी प्रकारकी कामनावाला हो, चाहे निष्काम हो और चाहे मोक्षकी कामनावाला हो—तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष परमेश्वरका आदरपूर्वक भजन-स्मरण करना चाहिये।' तथा—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः। जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम्॥ (३।३२। २३)

'भगवान् वासुदेवमें भक्ति करके किया हुआ साधन शीघ्र ही वैराग्य और उस ज्ञानको उत्पन्न कर देता है जो कि परब्रह्मका साक्षात्कार करानेवाला है।' एवं—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्। सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥ (६।२। १८)

'उत्तम कीर्तिवाले भगवान् वासुदेवके नामका कीर्तन—चाहे वह ज्ञानपूर्वक किया गया हो और चाहे अनजानमें ही किया गया हो—मनुष्यके पापोंको उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे कि अग्नि ईंधनको।'

ही, किन्तु गीतामें[१] भी उपासनाका विषय विशदरूपसे कहा गया है, यहाँतक कि प्रायः सभी अध्यायोंमें इसका उल्लेख मिलता है[२]। एवं रामायणोंमें अध्यात्मरामायण और तुलसीकृत रामचरितमानस तो उपासनाप्रधान ग्रन्थ हैं ही, वाल्मीकीय रामायणमें भी उपासनाका अनेक स्थलोंपर वर्णन है। श्रीतुलसीदासजीने तो भक्तिका ऐसा प्रवाह बहा दिया कि उसे पढ़नेपर मनुष्यका हृदय भक्ति-भावोंसे सराबोर हो जाता है।

नाम-वन्दना करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं—

नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥

भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

तथा और भी अनेक स्थलोंपर उपासनाका महत्त्व और प्रभाव वर्णित है। यथा—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥
विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥[३]

अध्यात्मरामायणमें सुतीक्ष्ण ऋषिसे भगवान् कहते हैं—

मन्मन्त्रोपासका लोके मामेव शरणं गताः॥
निरपेक्षा नान्यगतास्तेषां दृश्योऽहमन्वहम्।

(अरण्य० २। ३६-३७)

'इस लोकमें जो मेरे मन्त्रके उपासक हैं, जो मेरे शरणागत हैं, जो किसी भी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखते और जिन्हें मेरे सिवा कोई अन्य गति नहीं, ऐसे भक्तोंको मैं नित्य दर्शन देता हूँ।'

पंचवटीमें लक्ष्मणके पूछनेपर भगवान्‌ने अति गोपनीय ज्ञान-विज्ञानका वर्णन करते हुए अन्तमें कहा है—

अतो मद्भक्तियुक्तस्य ज्ञानं विज्ञानमेव च।
वैराग्यं च भवेच्छीघ्रं ततो मुक्तिमवाप्नुयात्॥

(अरण्य० ४। ५१)

'इसलिये मेरी भक्तिसे युक्त पुरुषको शीघ्र ही ज्ञान और विज्ञान तथा वैराग्य भी प्राप्त हो जाता है, जिससे वह मुक्तिको पा लेता है।'

भगवान्‌ने शबरीके प्रति कहा है—

भक्तौ संजातमात्रायां मत्तत्वानुभवस्तदा।
ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि॥

(अरण्य० १०। २१)

'भक्तिके उत्पन्न होनेमात्रसे ही तत्काल मेरे स्वरूपका अनुभव हो जाता है और जिसे मेरा अनुभव हो जाता है, उसकी उसी जन्ममें निःसन्देह मुक्ति हो जाती है।'

श्रीहनुमान्‌जीने रावणके प्रति कहा है—

विष्णोर्हि भक्तिः सुविशोधनं धिय-
स्ततो भवेज्ज्ञानमतीव निर्मलम्।
विशुद्धतत्त्वानुभवो भवेत्ततः
सम्यग्विदित्वा परमं पदं व्रजेत्॥

---

१. गीता कहती है—पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ (८। २२)
'हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है।'

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ (१२। ३-४)

'तथा जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

२. देखिये गीता अ० २। ६१; ३। ३०; ४। ११; ५। २९; ६। ४७; ७। १४; ८। ८; ९। ३४; १०। १०; ११। ५४; १२। ८; १३। १०; १४। २६; १५। १९; १६। १; १७। २३; १८। ६६ इत्यादि।

३. काकभुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं-'मैं आपसे भलीभाँति निश्चित किया हुआ सिद्धान्त कहता हूँ—मेरे वचन अन्यथा (मिथ्या) नहीं हैं—कि जो मनुष्य श्रीहरिका भजन करते हैं, वे अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरको सहज ही पार कर जाते हैं।'

अतो भजस्वाद्यहरिं रमापतिं
रामं पुराणं प्रकृतेः परं विभुम्।
विसृज्य मौर्ख्यं हृदि शत्रुभावनां
भजस्व रामं शरणागतप्रियम्॥

(सुन्दर० ४।२२-२३)

'भगवान् विष्णुकी भक्ति बुद्धिको अत्यन्त शुद्ध करनेवाली है, उसीसे अत्यन्त निर्मल आत्मज्ञान होता है। आत्मज्ञानसे विशुद्ध आत्मतत्त्वका अनुभव होता है और इस प्रकार सम्यक् ज्ञान हो जानेसे मनुष्य परमपद प्राप्त करता है। इसलिये तुम प्रकृतिसे परे, पुराणपुरुष, सर्वव्यापक, आदिनारायण, लक्ष्मीपति श्रीहरि भगवान्का भजन करो। अपने हृदयमें स्थित शत्रुभावरूप मूर्खताको छोड़ दो और शरणागतवत्सल श्रीरामका भजन करो।'

वाल्मीकीय रामायणमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणके अपनी शरणमें आनेपर जो वचन कहे हैं, वे सदा ध्यानमें रखने योग्य हैं। वे कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(युद्ध० १८।३३)

''मेरा यह व्रत है कि जो एक बार शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' यों कहकर मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ।''

तथा रावण-वधके अनन्तर ब्रह्माजीने भगवान्की स्तुति करते हुए कहा है—

ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम्।
प्राप्नुवन्ति तथा कामानिह लोके परत्र च॥

(युद्ध० ११७।३१)

'जो सदा प्रकाशमान पुराण पुरुषोत्तम आपकी भक्ति करनेवाले हैं, वे इस लोक और परलोकमें अपने सभी मनोरथ प्राप्त कर लेते हैं तथा आपको भी पा जाते हैं।'

श्रीरामचन्द्रजी तथा श्रीभरतजीका चरित्र तो कहींसे भी देखा जाय, उसमें भक्तिरस टपकने लगता है। उनके यावन्मात्र चरित्र श्रद्धा-भक्तिसे ओत-प्रोत हैं। उनकी तो बात ही क्या, उनके भाई श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्न तथा परम भक्त सुतीक्ष्ण और हनुमान् आदिके चरित्र भी श्रद्धा-भक्तिसे भरे हुए हैं। उन चरित्रोंको पढ़कर किसका हृदय द्रवीभूत नहीं होगा। भक्त निषादराज गुह, केवट, शबरी भीलनी आदि भी ईश्वरकी भक्तिके प्रभावसे परमपदको प्राप्त हो गये। इसलिये तन-मनसे तत्पर होकर भगवान्की भक्ति करनी चाहिये।

पूर्वकालमें ऋषिलोग सन्ध्या-गायत्री, अग्निहोत्र, वेदाध्ययन, पूजा-पाठ आदि ईश्वरोपासनाके आह्निक कृत्य करके ही दूसरे काममें प्रवृत्त होते थे। त्रेतायुगमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने भी स्वयं सन्ध्योपासनादि कर्म नित्य करके इसका आदर्श उपस्थित किया। द्वापरयुगमें तो महाभारत युद्धके समय भी लोग युद्ध छोड़कर सन्ध्योपासन आदि किया करते थे, ऐसा उल्लेख मिलता है।* किन्तु दुःखकी बात है कि इस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें नित्य अग्निहोत्रका तो किसी-किसी जगह ही दर्शन होता है। सन्ध्या, गायत्री, वेदाध्ययन भी ब्राह्मणजातिमें तो कुछ देखनेमें आता है; परन्तु प्राचीन कालमें तो सन्ध्योपासनरहित ब्राह्मण जाति-बहिष्कृत कर दिया जाता था। यह थी हिंदू-संस्कृति! आज वे भाव लुप्तप्राय हो गये। अतएव हमें यथाधिकार नित्य सन्ध्या, गायत्री, अग्निहोत्र, स्वाध्याय, पूजा-पाठ, भजन-ध्यान आदि ईश्वरोपासना करनेमें मनको लगानेका प्रयत्न करना चाहिये! उपासनाके लिये प्रातःकाल और सायंकाल बहुत ही उत्तम और विशेष उपयोगी हैं। ये समय स्वाभाविक ही सूर्यतापसे रहित होनेके कारण मनके लिये रमणीय और शान्तिमय होते हैं। स्नानके अनन्तर और भोजनसे पूर्व वृत्तियाँ शान्त रहती हैं, विक्षेप और आलस्य भी नहीं आते; अतः उस समय चित्त अनायास ही परमात्मामें लग सकता है। फिर श्रद्धा-भक्ति और विवेक-वैराग्यपूर्वक कोशिश करनेपर परमेश्वरकी उपासनामें चित्त स्थिर हो जाय, इसमें तो आश्चर्य ही क्या है।

अर्वाचीन कालमें श्रीतुलसीदासजी, कबीरदासजी, सूरदासजी, तुकारामजी, समर्थरामदासजी, श्रीगौरांगमहाप्रभुजी,

---

* महाभारतमें आया है—

ततो रथाश्वांश्च मनुष्ययानान्युत्सृज्य सर्वे कुरुपाण्डुयोधाः। दिवाकरस्याभिमुखं जपन्तः सन्ध्यागताः प्राञ्जलयो बभूवुः॥

(द्रोण० १८६।४)

'उस समय कौरव और पाण्डव—दोनों सेनाओंके सभी योद्धा अपनी-अपनी सवारियों—रथ, घोड़े और पालकियोंको छोड़कर सन्ध्या-वन्दनके लिये उतर पड़े और सूर्यके सम्मुख जप करते हुए हाथ जोड़े खड़े हो गये।'

परमहंस रामकृष्णजी आदि अनेक संत हो गये हैं। उन्होंने तो स्वयं ईश्वरोपासनाका बहुत ही सुन्दर आदर्श स्थापित करके विशदरूपसे उसका प्रचार किया है।

आधुनिक कालमें महात्मा गांधीजी भी ईश्वरोपासनाके पुजारी थे। वे कहते थे कि मेरे तो राम-नामका आधार है और उसीसे सारे कार्य सिद्ध होते हैं; संसारमें ऐसा कोई काम नहीं, जो रामनामसे सिद्ध न हो सके। नामकी महिमा और प्रार्थनाके विषयमें उनके बहुत-से लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

कुछ उद्धरण नीचे लिखे जा रहे हैं—

'जिसके चित्तमें तरंग उठते ही रहते हैं, वह सत्यके दर्शन कैसे कर सकता है। चित्तमें तरंगका उठना समुद्रके तूफान-जैसा है। तूफानमें जो सुकानी सुकानपर काबू रख सकता है, वह सलामत रहता है। ऐसे ही चित्तकी अशान्तिमें जो रामनामका आश्रय लेता है, वह जीत जाता है।' —(३०।११।४४)

'विकारी विचारसे बचनेका एक अमोघ उपाय रामनाम है। नाम कण्ठसे ही नहीं, किन्तु हृदयसे निकालना चाहिये।' —(२८।१२।४४)

'व्याधि अनेक हैं, वैद्य अनेक हैं, उपचार भी अनेक हैं। अगर व्याधिको एक ही देखें और उसको मिटानेहारा वैद्य एक राम ही हैं, ऐसा समझें तो बहुत-सी झंझटोंसे हम बच जायँ।' —(२९।१२।४४)

'आश्चर्य है! वैद्य मरते हैं, डॉक्टर मरते हैं। उनके पीछे हम भटकते हैं। लेकिन राम जो मरता नहीं है, हमेशा जिन्दा रहता है और अचूक वैद्य है, उसे हम भूल जाते हैं।' —(३०।१२।४४)

'मनुष्य जानता है कि जब वह मरनेके नजदीक पहुँचता है, सिवा ईश्वरके कोई सहारा नहीं है; तो भी रामनाम लेते हिचकिचाहट होती है। ऐसा क्यों!'

—(१२।३।४५)

(उपर्युक्त सभी उद्धरण 'बापूके आशीर्वाद (रोजके विचार)' से उद्धृत किये गये हैं।) महात्माजीके इस सम्बन्धमें और भी उद्गार पढ़िये—

'नामकी महिमाके बारेमें तुलसीदासने कुछ भी कहनेको बाकी नहीं रखा है। द्वादशाक्षर-मन्त्र, अष्टाक्षर इत्यादि सब इस मोहजालमें फँसे हुए मनुष्यके लिये शान्तिप्रद हैं—इसमें कुछ भी शंका नहीं है। जिससे जिसको शान्ति मिले, उस मन्त्रपर वह निर्भर रहे। परन्तु जिसको शान्तिका अनुभव ही नहीं है और जो शान्तिकी खोजमें है, उसको तो अवश्य रामनाम पारसमणि बन सकता है। ईश्वरके सहस्र नाम कहे हैं—उसका अर्थ यह है कि उसके नाम अनन्त हैं, गुण अनन्त हैं। इसी कारण ईश्वर नामातीत और गुणातीत भी है। परन्तु देहधारीके लिये नामका सहारा अत्यावश्यक है और इस युगमें मूढ़ और निरक्षर भी रामनामरूपी एकाक्षर मन्त्रका सहारा ले सकता है। वस्तुतः 'राम उच्चारणमें एकाक्षर ही है और ॐकार और राममें कोई फरक नहीं है। परन्तु नाम-महिमा बुद्धिवादसे सिद्ध नहीं हो सकती। श्रद्धासे अनुभवसाध्य है।'

(कल्याण—भगवन्नामाङ्क)

'जो शक्ति रामनाममें मानी गयी है, उसके बारेमें मुझे कोई शक नहीं है। हर एक आदमी इच्छामात्रसे ही रामनामको अपने हृदयमें अंकित नहीं कर सकेगा। उसमें परिश्रमकी आवश्यकता है, धीरजकी भी है। पारसमणिको हासिल करनेके लिये धीरज क्यों न हो। नाम तो उससे भी अधिक है।'

—(हरिजनसेवक १७ फरवरी १९४६)

'मैंने तो बचपनसे ही रामनामके जरिये ईश्वरको भजा है। लेकिन मैं जानता हूँ कि ईश्वरको ओम्‌के नामसे भजो या संस्कृत, प्राकृतसे लेकर इस देशकी या दूसरे देशकी किसी भी भाषाके नामसे उसको जपो—परिणाम एक ही होता है।'

—(हरिजनसेवक २४ मार्च १९४६)

'सब रोगोंकी रामबाण दवाके रूपमें मैं जिस रामका नाम सुझाता हूँ, वह तो खुद ईश्वर ही है, जिसके नामका जप करके भक्तोंने शुद्धि और शान्ति पायी है; और मेरा यह दावा है कि रामनाम सभी बीमारियोंकी—फिर वे तनकी हों, या मनकी हों या रूहानी हों—एक ही अचूक दवा है। इसमें शक नहीं कि डॉक्टरों या वैद्योंसे शरीरकी बीमारियोंका इलाज कराया जा सकता है। लेकिन रामनाम तो आदमीको खुद ही अपना वैद्य या डॉक्टर बना देता है, और उसे अपनेको नीरोग बनानेकी संजीवनी हासिल करा देता है।'

—(हरिजनसेवक २ जून १९४६)

'जीवनकी अगल-अलग हालतोंमें और आखिरी हालतमें राष्ट्रकी आजादी और इज्जतकी रक्षाके लिये अपने-आपको मिटा देनेकी जो भव्य और वीरतापूर्ण कला हमें सीखनी है, उसके लिये प्रार्थना पहला और आखिरी सबक है।'

'प्रार्थनाके लिये ईश्वरमें सजीव श्रद्धाकी जरूरत है। बिना ऐसी श्रद्धाके सत्याग्रहके सफल होनेकी कल्पना नहीं

की जा सकती। भगवान्‌को हम किसी भी नामसे क्यों न पहचानें, उसका रहस्य यह है कि वह और उसका कानून एक ही हैं।'

—(हरिजनसेवक १४ अप्रैल १९४६)

'भगवान् अपने ढंगसे हमारी प्रार्थना सुनता है। इन्सानोंके ढंगसे भगवान्‌का ढंग अलग होता है। इसलिये कोई उसे समझ नहीं सकता। प्रार्थनाके लिये श्रद्धाका होना जरूरी है। कोई प्रार्थना बेकार नहीं जाती। प्रार्थना भी दूसरे कामोंकी तरह एक काम ही है। हम देख सकें या न देख सकें, उसका फल तो मिलता ही है और नामधारी कर्मके फलके बनिस्बत दिलसे की जानेवाली प्रार्थनाका फल बहुत ज्यादा शक्ति रखता है।'

—(हरिजनसेवक २९ जून १९४७)

महात्माजी प्रातः-सायं नित्य नियमित ईश्वरकी प्रार्थना करते थे; इससे सिद्ध होता है कि वे ईश्वरके भक्त और आस्तिक थे। दुःखकी बात है कि आज हमलोग उनके कथनपर ख्याल नहीं कर रहे हैं। हमें चाहिये कि हम उनके कथनानुसार ईश्वरपर विश्वास करके ईश्वर-प्रार्थना और रामनामके जपमें प्रवृत्त हो जायँ।

इस प्रकार उपासनाकी परम्परा अनन्त कालसे चली आ रही है। अब भी हिंदुओंके हृदयोंमें यह भाव स्वाभाविक रूपसे अंकित है। यह शास्त्रसंगत तो है ही, युक्तिसंगत भी है।

मनुष्यकी जैसी श्रद्धा यानी जैसा भाव होता है, वही उसका स्वरूप है। उसीके अनुसार उसकी चेष्टा होती है। चेष्टाके अनुसार ही उसके हृदयमें संस्कार जमते हैं तथा संस्कारोंके अनुसार ही उसके अन्तःकरणकी वृत्ति और स्वभाव बनता है, अन्तःकरणके स्वभावके अनुसार ही उसकी श्रद्धा तथा श्रद्धाके अनुसार ही उसकी स्थिति और स्वरूप होता है। एवं उसके अनुसार ही पुनः उसके आचरण होने लगते हैं। ये आचरण ही संस्कृति हैं। हिंदुओंमें अनन्त जन्मोंके प्रवाहसे जो संस्कृति चली आ रही है, उसके प्रवाहको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये शास्त्रके उपदेश और महात्माओंके चरित्र ही प्रधानतया आदरणीय और अनुकरणीय हैं। गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर यह अनुभव होता है कि मनुष्य जैसे-जैसे आचरण करता है, उसके अनुसार ही उसके हृदयमें संस्कार जमते हैं और तदनुसार ही उसके अन्तःकरणका स्वभाव बन जाता है। जैसे एक आदमी कसाईका काम करता है तो उसके हृदयमें मारकाटके संस्कार इतने अधिक बद्धमूल हो जाते हैं कि उसे स्वप्नमें भी वैसे ही दृश्य दिखायी देने लगते हैं और उसका हृदय कठोर हो जाता है। दूसरी ओर, एक परोपकारी पुरुष हर समय जीवोंके हितके लिये ही चेष्टा करता रहता है, जिससे उसका स्वभाव बड़ा ही कोमल और दयालु हो जाता है। उससे स्वप्नमें भी जीवोंका अहित नहीं होता। उस दयालुसे कसाईका काम और कसाईसे दयालुका काम होना असम्भव-सा है। यह बात युक्तियुक्त और प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार हिंदुओंके हृदयमें स्वाभाविक ही ईश्वरमें आस्तिक भाव—श्रद्धा-प्रेम है। यह हिंदुओंकी संस्कृति है। इस ईश्वरोपासनाके प्रचारमें ही सब सफलताएँ और सबका परम हित सन्निहित है। इसलिये इसका हमें खूब प्रचार करना चाहिये।

बड़ोंका आदर-सत्कार

प्राचीन धर्मग्रन्थोंको देखनेपर मालूम होता है कि माता-पिता आदि गुरुजनोंका आज्ञापालन, वन्दन और सेवा-पूजा करना—यह भी हिंदू-संस्कृतिका एक प्रधान अंग है। इसका प्रसंग श्रुति[1], स्मृति[2],

---

१. श्रुति कहती है—मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। (तैत्तिरीय० १।११।२)

'माताको देव (ईश्वर) माननेवाला हो। पिताको ईश्वर माननेवाला हो। आचार्यको ईश्वर माननेवाला हो। अतिथिको ईश्वर माननेवाला हो।'

२. मनुजी कहते हैं—पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥ (मनु० २।२३१)

'पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि, गुरु आहवनीय अग्नि—ऐसा कहा है। और वह अग्नित्रय अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः। त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥ (मनु० २।२३०)

'वे ही तीनों लोक, वे ही तीनों आश्रम, वे ही तीनों वेद और वे ही तीनों अग्नि कहे गये हैं।'

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः। अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥ (मनु० २।२३४)

'जिसने इन तीनोंका आदर किया, उसने सब धर्मोंका आदर किया और जिसने इनका आदर नहीं किया, उसकी सब क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं।'

गीता*, रामायण, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थोंमें कूट-कूटकर भरा है। उन स्थलोंको पढ़नेसे रोमांच होने लगता है, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत, श्रीशत्रुघ्न आदि तो इसके विशेष आदर्श माने गये हैं। इस विषयमें उनके भाव बहुत ही विलक्षण, उच्चकोटिके और स्फूर्तिदायक हैं।

अध्यात्मरामायणमें वन जाते समय श्रीराम माता कैकेयीसे कहते हैं—

पित्रर्थे जीवितं दास्ये पिबेयं विषमुल्बणम्॥
सीतां त्यक्ष्येऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम्।

(अयोध्या० ३।५९, ६०)

'पिताजीके लिये मैं जीवन दे सकता हूँ, भयंकर विष पी सकता हूँ तथा सीता, कौसल्या और राज्यको भी छोड़ सकता हूँ।'

इसी प्रकार भरतका भी सेवा-पूजाका भाव बहुत विलक्षण है। वाल्मीकीय रामायणमें आता है, श्रीभरद्वाजजीने चित्रकूट जाते हुए भरत तथा उनके साथियोंका बहुत सत्कार-सम्मान किया। उन्होंने उन सबको सुख पहुँचानेके लिये अपनी शक्तिसे दिव्य विविध सामग्रियाँ और महल, राज्यासन आदि रच डाले; किंतु भरत उनमें आसक्त नहीं हुए। वे तो मनसे राज्यासनपर भगवान्‌को ही स्थापित समझकर उनकी पूजा और नमस्कार करते रहे—

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत्॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
वालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने॥

(अयोध्या० ९१।३८, ३९)

'भरतने वहाँ दिव्य राजसिंहासन, चँवर और छत्र भी देखे तथा उनमें राजा (राम)-की भावना करके मन्त्रियोंके साथ उन सबकी प्रदक्षिणा की। सिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हैं, ऐसी धारणा बनाकर उन्होंने श्रीरामको प्रणाम किया और उस सिंहासनकी भी पूजा की। फिर वे अपने हाथमें चँवर ले मन्त्रीके आसनपर जा बैठे।'

बादमें भी जब भरतजीको श्रीहनुमान्‌जीद्वारा भगवान्‌के अयोध्या लौटनेका शुभ संवाद प्राप्त हुआ, तब वे अत्यन्त हर्षके साथ भगवान्‌की चरणपादुकाओंको मस्तकपर रखकर भगवान्‌के दर्शनार्थ चल पड़े। वहाँका वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकिजी लिखते हैं—

आर्यपादौ गृहीत्वा तु शिरसा धर्मकोविदः।
पाण्डुरं छत्रमादाय शुक्लमाल्योपशोभितम्॥
प्रांजलिर्भरतो भूत्वा प्रहृष्टो राघवोन्मुखः।
यथार्थेनार्घ्यपाद्याद्यैस्ततो राममपूजयत्॥
ततो विमानाग्रगतं भरतो भ्रातरं तदा।
ववन्दे प्रणतो रामं मेरुस्थमिव भास्करम्॥

(युद्ध० १२९।१७, १८, ३५, ३७)

'धर्मज्ञ भरतने अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीकी पादुकाएँ सिरपर रखकर अपने साथ श्वेत मालाओंसे सुशोभित सफेद रंगका छत्र तथा राजाओंके योग्य सोनेसे मढ़े हुए सफेद चँवर भी ले लिये। फिर प्रसन्नवदन भरतजी श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दृष्टि लगाये हाथ जोड़कर खड़े हो गये। उन्होंने दूरसे ही बड़ी प्रसन्नतापूर्वक अर्घ्य, पाद्य आदिसे उनकी पूजा की और विनीतभावसे प्रणाम किया। (इतनेमें ही श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा पाकर वह विमान पृथ्वीपर उतर आया। भगवान्‌ने भरतको उसपर चढ़ा लिया।) भरत मेरुपर्वतपर स्थित-से दिखायी पड़नेवाले सूर्यकी तरह उस विमानमें स्थित भाई रामचन्द्रजीके चरणोंमें नमस्कार करते हुए गिर गये।'

अध्यात्मरामायणमें लिखा है—जब भरतजी तथा माताएँ आदि सब चित्रकूट पहुँचे हैं, उस समय श्रीरामचन्द्रजी सब गुरुजनोंको प्रणाम करते हैं।

रामः स्वमातरं वीक्ष्य द्रुतमुत्थाय पादयोः।
ववन्दे साश्रु सा पुत्रमालिङ्ग्याातीव दुःखिता॥
इतराश्च तथा नत्वा जननी रघुनन्दनः।
ततः समागतं दृष्ट्वा वसिष्ठं मुनिपुङ्गवम्॥
साष्टाङ्गं प्रणिपत्याह धन्योऽस्मीति पुनः पुनः।

(अयोध्या० ९।९, १०, ११)

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते। एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥ (मनु० २।२३७)
'इन तीनोंकी सेवासे पुरुषका सब कर्तव्य कर्म पूर्ण होता है। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब धर्म 'उपधर्म' (गौण धर्म) कहे जाते हैं।'

* गीता कहती है—
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ (१७।१४)
'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

'श्रीरामजीने अपनी माताको देखते ही शीघ्रतासे उठकर उनका चरणवन्दन किया और उन्होंने अत्यन्त दुःखसे नेत्रोंमें जल भरकर पुत्रको हृदयसे लगाया। फिर श्रीरघुनाथजीने उसी प्रकार अन्य माताओंको भी प्रणाम किया। तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीको आते देख उन्हें साष्टांग प्रणामकर बारंबार कहने लगे 'मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ।'

जब भरतजीकी प्रार्थनापर भगवान् उन्हें चौदह वर्षकी अवधिके आधारके लिये चरणपादुका देते हैं, तब वे उन्हें लेकर बड़े आनन्दित होते हैं और बार-बार भगवान्‌को प्रणाम करते हैं।

गृहीत्वा पादुके दिव्ये भरतो रत्नभूषिते।
रामं पुनः परिक्रम्य प्रणनाम पुनः पुनः॥

(अध्यात्म० अयोध्या० ९।५१)

'भरतजीने वे रत्नजटित दिव्य पादुकाएँ लेकर श्रीरामचन्द्रजीकी परिक्रमा की और उन्हें बारंबार प्रणाम किया।'

इसी प्रकार रामायणमें अनेक स्थलोंपर आज्ञापालन, नमस्कार और सेवाके आदर्श मिलते हैं। जब श्रीरामचन्द्रजी वनवाससे लौटकर आते हैं, तब सभी लोग परस्पर एक-दूसरेसे बड़ोंको प्रणाम करते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

धाइ धरे गुर चरन सरोरुह। अनुज सहित अति पुलक तनोरुह॥
सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धर्म धुरंधर रघुकुल नाथा॥
गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
सीता चरन भरत सिर नावा। अनुज समेत परम सुख पावा॥

तथा राजतिलकके बाद भाइयोंके सेवा और आज्ञा-पालनका भाव व्यक्त करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम चरन रति अति अधिकाई॥
प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहि कछु कहहीं॥
हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अवँराई॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥

द्वापरयुगमें पाण्डवोंका भी बड़ोंकी सेवा-पूजा, नमस्कारका भाव बहुत विलक्षण और आदर्श था। धर्मव्याध और मूक चाण्डाल आदिने भी माता-पिताकी सेवा करके ही परम गति प्राप्त की थी। वैश्य ऋषिकुमार श्रवणने तो माता-पिताकी सेवा करके ऐसी अनुपम ख्याति प्राप्त कर ली कि आज भी यदि कोई माता-पिताकी विशेषरूपसे सेवा करता है तो उसे 'श्रवण' की उपाधि दी जाती है।

शास्त्रोंमें माता-पिता आदि गुरुजनोंको—यहाँतक कि भाई, भौजाईको भी प्रणाम करनेकी बात मिलती है।[1] आजकल भी कहीं-कहीं इस प्रथाका अंश देखनेमें आता है, किंतु वह बहुत कम मात्रामें है। हमें नमस्कार आदिसे होनेवाले लाभकी ओर दृष्टि डालनी चाहिये। जब एक-दूसरेको प्रणाम करते हुए देखकर दर्शकको भी प्रसन्नता होती है; तब फिर प्रणाम किये जानेवालेको प्रसन्नता हो, इसमें तो कहना ही क्या है। बड़ोंको नमस्कार आदि करनेसे मनुष्यकी आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है[2]; तथा इससे लोकमें कीर्ति होती है, सम्मान मिलता है, लोग उसे आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये यह प्रत्यक्षमें भी महान् लाभकर है।

एवं इसमें न तो कोई परिश्रम है, न पैसे खर्च होते हैं तथा न कोई विशेष समय ही लगता है और इसका फल महान् है। जिस घरमें सब स्त्री-पुरुष अपने बड़ोंको नमस्कार करते हैं, उस घरमें परस्पर वैमनस्य कैसे हो सकता है; क्योंकि ऐसे विनयके व्यवहारसे तो पहलेका वैमनस्य भी मिट जाता है, फिर नया कैसे हो! वर्तमानमें भी हमारी हिंदू-जातिमें यह परम्परा है कि किसीका किसीके साथ वैमनस्य होता है तो अच्छे पुरुष उन्हें शिक्षा देकर वैमनस्य मिटा देते हैं और बादमें छोटोंके द्वारा बड़ोंको प्रणाम करवाकर भविष्यके लिये परस्पर प्रेम बढ़ानेका ही आदेश देते हैं। अतएव हिंदू-संस्कृतिके इस प्रणाम आदिके भावको उत्तरोत्तर वृद्धिगत करनेकी बहुत ही आवश्यकता है। सभी

१. मनुजी कहते हैं—

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि। विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः॥ (मनु० २।१३२)

'भाईकी सवर्णा भार्याके चरणोंकी नित्यप्रति वन्दना करे और परदेशसे लौटनेपर जातिकी तथा सम्बन्धियोंके घरोंकी पूज्य स्त्रियोंके चरणोंकी भी वन्दना करे।'

२. अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥ (मनु० २।१२१)

'जो मनुष्य नित्य वृद्धोंको प्रणाम करता और उनकी सेवा करता है, उसके आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं।'

माता-बहिनों और भाइयोंसे मेरी सविनय प्रार्थना है कि सबको अपने घरमें कम-से-कम एक बार प्रातःकाल प्रणाम करनेकी प्रथा तो जारी करनी ही चाहिये।

हिंदू-जातिमें यह प्रणाम करनेकी प्रथा किसी अंशमें अब भी जारी है। अपनेसे पूज्य विद्वान्, ब्राह्मण, संन्यासी आदिको देखकर प्रायः हिंदू नतमस्तक हो जाता है। यह है हिंदू-संस्कृति!

सद्गुण-सदाचारका सेवन

काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, घमण्ड, राग, द्वेष, अभिमान, अहंकार, क्रूरता, निर्दयता, अज्ञान, संशय, भ्रम, निद्रा, आलस्य, विक्षेप, चिन्ता, शोक, भय, वैर, कुटिलता, नीचता, नास्तिकता, अश्रद्धा आदि दुर्गुण तथा छल, छिद्र, झूठ, कपट, चोरी, डकैती, व्यभिचार, अनाचार, अत्याचार, मांसभक्षण, मदिरापान, मादक वस्तुओंका सेवन, जुआ, हिंसा, प्रमाद, उद्दण्डता आदि दुराचार हैं, यह आसुरी सम्पदा है। इसको राक्षसी संस्कृति समझना चाहिये। यह सर्वथा घृणित और त्याग करने योग्य है। तथा इसके विपरीत जो क्षमा, दया, शान्ति, सन्तोष, शम, दम, धैर्य, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, तेज, विनय, सरलता, धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, निरभिमानता, हृदयकी पवित्रता, आस्तिकता, श्रद्धा आदि सद्गुण तथा यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा, पूजा, आदर, सत्कार, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्यका पालन, स्वाध्याय, परोपकार, माता-पिता आदि गुरुजनोंकी और दुःखी, अनाथ आतुरोंकी सेवा आदि सदाचार हैं, ये दैवी सम्पदाके लक्षण हैं और अनन्तकालसे आर्य पुरुषोंमें स्वभावसिद्ध चले आ रहे हैं। यह है हिंदू-संस्कृति!

हिंदू-संस्कृतिके इन भावोंको खूब जोरसे जाग्रत् करके सर्वत्र प्रचार करना चाहिये। इसीसे हमारे लिये इस लोकमें गौरव और सुख-शान्ति है और मरनेपर परमगतिकी प्राप्ति हो सकती है। ये हिंदू-संस्कृतिके भाव शनैः-शनैः विधर्मी और विदेशियोंके कुसंग और शासनसे बहुत ही दब गये थे, जिससे हमलोगोंका पतन होकर पराधीनता आ गयी थी। उपर्युक्त भावोंकी पुनः जागृति होनेपर उससे असली स्वराज्यकी प्राप्ति हो जाती है; फिर हमारा इस लोक या परलोकमें कहीं कोई भी पराभव नहीं कर सकता। इसीमें हिंदू-देश और हिंदू-जातिकी इज्जत और गौरव है। इसीके सेवन, पालन और प्रचारके लिये तन, मन, धनसे प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

कानूनसे हिंदू-धर्मकी रक्षा

विवाह-संस्कार भी हिंदू-धर्मका एक प्रधान अंग है। वर्तमानमें हिंदुओंमें जो विवाह-संस्कार-पद्धति प्रचलित है, यह ब्राह्मविवाहके अनुसार है। यह चाल बहुत ही उत्तम और शास्त्रविहित है। इसके संस्कार हिंदू-जातिके हृदयमें स्वाभाविक ही अंकित हैं। वैदिक मन्त्रोंद्वारा होम, वर-कन्याको उपदेश तथा सप्तपदी आदिद्वारा विवाह-संस्कारको सम्पन्न करना हिंदू-संस्कृतिका एक महान् आदर्श आचार है। इन सब मांगलिक विवाह-कार्योंको देखकर स्वतः ही चित्तमें प्रसन्नता, शान्ति और आनन्द होते हैं। किंतु इन सबको तथा और भी हिंदुओंके धार्मिक कृत्योंको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये आज एक हिंदूकोडके नामसे कानून बनने जा रहा है। अब इससे होनेवाली हानियोंपर कुछ विचार किया जाता है—

१-दायभाग और मिताक्षरा कानून जो कि हमारे देशमें मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृतिके आशयको लिये हुए शताब्दियोंसे चले आ रहे हैं, उन सबको 'हिंदूकोड' में रद्द कर दिया गया है।

हिंदूकोडमें जो बँटवारा कायम किया गया है, वह कलह और मुकदमेबाजीका घर है। लड़कियाँ अपने माता-पिता और भाई-भौजाईसे सम्पत्तिमें बराबर हिस्सा लेकर अपनी ससुरालमें अपनी ननद और बेटियोंको उतना ही हिस्सा दें तो स्त्रीके लिये उससे कोई लाभ नहीं। जो आज सम्पत्तिके बँटवारेके लिये भाई-भाईमें लड़ाइयाँ होती हैं, वे भाई और बहिन तथा ननद-भावजमें भी हो सकती हैं। लड़कीको पीहरमें अपने हिस्सेमें मकानका कोई भाग मिलेगा तो उसे वह काममें न ला सकनेके कारण चाहे जिसे बिक्री कर सकेगी, जिससे उसके भाइयोंको महान् कष्ट और दुःख उठाना पड़ेगा, तथा उसके ससुरालमें उसकी ननद अपना हिस्सा किसी दूसरेको बेचेगी। इससे उसको भी बड़े भारी दुःखका सामना करना पड़ सकता है। इससे अनेक प्रकारकी लड़ाइयाँ और मुकदमेबाजी होकर धन अदालत और वकीलोंके हाथमें जाकर व्यर्थ बरबाद हो सकता है और घूसखोरी बढ़ सकती है। इसके परिणाम-स्वरूप धर्म, इज्जत, धन और शरीरकी महान् हानि हो सकती है। इससे बढ़कर और दुःखकी बात क्या है।

२-हमारे हिंदू-धर्ममें पुरुषोंके लिये एकनारीव्रत और स्त्रियोंके लिये पातिव्रत-धर्म परम आदर्श हैं। महाराणा प्रतापके समयमें चित्तौड़गढ़में करीब तेरह हजार स्त्रियोंने अपने पातिव्रत-धर्मको बचानेके लिये अपनेको अग्निमें होम दिया था, जिसका स्मरण करनेसे रोमांच हो उठता है। उस आदर्श पातिव्रत-धर्मको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये ही हिंदूकोडमें तलाकका विधान किया गया है, जिसका आशय यह है कि पतिमें दोष कायम करके स्त्री उसे चाहे जब त्यागकर स्वतन्त्रतासे दूसरा विवाह कर सकती है। इसका परिणाम यह हो सकता है कि एक स्त्री अपने पतिमें दोष कायम करके उसे छोड़कर दूसरेको और उसे भी छोड़कर तीसरेको—इस प्रकार कई विवाह कर सकती है।

यदि कोई विवाह अवैध सिद्ध हो जायगा तो उससे उत्पन्न सन्तान भी नाजायज मानी जायगी। ऐसी अवस्थामें उन बच्चोंका क्या होगा? उनको सम्पत्तिका भाग न मिल सकेगा और दूसरे लोग भी उन्हें घृणित दृष्टिसे देखने लग जायँगे तथा वे बच्चे मारे-मारे भटकेंगे।

यह हिंदू-संस्कृतिके लिये महान् कलंक और घातक है, एवं इस लोक और परलोकमें महान् दुःखदायी है।

३-इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हरिजन, बौद्ध, जैन, सिख, ब्रह्मसमाजी, आर्यसमाजी आदि सभी हिंदू माने गये हैं। इसमें तो कोई हर्ज नहीं; किंतु इनको परस्पर किसीके भी साथ विवाह-शादी और किसी वर्णमेंसे दत्तकपुत्र लेनेका अधिकार दिया गया है, जो बहुत ही घातक है।

ईसाई, मुसलमान, पारसी, यहूदी—इनको हिंदुओंसे अलग रखा है; किंतु इनमें भी कोई हिंदू-धर्मको स्वीकार कर ले तो वह भी हिंदू माना जा सकता है। इस तरह वह हिंदू-लड़कीसे विवाह करके सब सम्पत्ति लेकर फिर वापस अपने पूर्व धर्मको स्वीकार करके उसमें आ सकता है। इसके लिये कोई रुकावट भी नहीं है। यह बड़े दुःखकी बात है। इससे बढ़कर धर्मपर और कुठाराघात क्या हो सकता है। सचमुच हिंदू-धर्मको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये ही हिंदूकोडकी सृष्टि हुई है। इसके अनुसार एक भंगी, चमार, विधर्मी या मांसाहारी भी उच्चजातिके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि निरामिषभोजीके साथ सम्बन्ध कर सकता है—इसमें भी कोई रुकावट नहीं।

इस कोडमें लड़कीको १६ वर्षकी होनेपर बिना अभिभावककी आज्ञाके स्वतन्त्रतासे विवाह करनेकी छूट दी गयी है। इसके अनुसार पिताकी इच्छा न होनेपर भी लड़की चाहे जिससे विवाह कर सकती है और इस प्रकार यदि पिताके घरमें चार लड़कियाँ हों तो उनके यहाँ एक निरामिषभोजी और एक मांसाहारी तथा एक अछूत और एक ब्राह्मण दामादके रूपमें आ सकते हैं और हिंदूकोडके कानूनके अनुसार उन्हें कोई हटा नहीं सकता। इससे घरवालोंको कितना क्लेश और दुःख हो सकता है, जिसकी कोई सीमा नहीं। इसके अतिरिक्त इस 'कोड' में अदालतमें रजिस्ट्रीद्वारा विवाहको वैध मान लिया गया है, यह बड़ा ही अनर्थका मूल है।

४-इसी प्रकार दत्तक पुत्र भी चाहे जिस जातिका लाया जा सकता है। एक हिंदू निरामिषभोजी ब्राह्मणके परिवारमें चार भाई हों, उनमें तीनके सन्तान हो और एकके न हो तो वह निःसन्तान भाई स्वेच्छानुसार अछूत-जातिके या मांसाहारी बालकको भी दत्तक पुत्र बना सकता है। अथवा जो पहले ईसाई या मुसलमान रहा है किंतु अब जिसने हिंदू-धर्म स्वीकार कर लिया है, उसे भी ला सकता है; इसके लिये भी कोई रुकावट नहीं है। देखिये, जिसे अपने भाइयोंको दुःख पहुँचाना हो, कोई वैर-बदला लेना हो तो उसके लिये उनको तंग करनेका यह बड़ा भयंकर उपाय निकल आता है। उस दत्तकपुत्रका कोई भी कानूनन विरोध नहीं कर सकता।

सम्पत्तिके अधिकारके विषयमें भी बड़ी गड़बड़ी होगी। यदि कोई पिता सम्पत्ति हटा दे तो नाबालिग बच्चे दावा करके भी उससे क्या पा सकेंगे। इसका फल क्या होगा? वे बच्चे असहाय और अनाथ होकर भटक सकते हैं।

अतः यह हिंदूकोड हिंदू-संस्कृतिके सर्वथा विरुद्ध और घातक है।

भारतके लाखों-करोड़ों स्त्री-पुरुषोंने—जिनमें सम्मान्य आचार्य, विद्वान्, वकील, बैरिस्टर, सुविख्यात नेता और विदुषी महिलाएँ भी शामिल हैं, इस बिलका घोर विरोध किया है। फिर भी डॉक्टर अम्बेडकरने बिलको कानूनरूपमें लानेके लिये धारासभामें उपस्थित कर दिया है; किंतु वास्तवमें धर्मके विषयमें कानून बनानेका इस धारासभाको कोई अधिकार नहीं है। इस विधानसभामें ही मूलभूत सिद्धान्तके रूपमें यह स्वीकृत हो चुका है कि किसीके भी धर्ममें हस्तक्षेप नहीं किया जायगा तथा

त्रिविध तापका अभाव

तीन प्रकारके ताप होते हैं—दैहिक, दैविक, भौतिक। ये तीनों ही रामराज्यमें बिलकुल नहीं रह गये थे।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

धर्म तथा तदन्तर्गत स्वाध्यायके नियमोंका पालन करनेवालोंको भय, शोक, रोग आदि दैहिक तापोंकी पीड़ा कैसे हो सकती थी। भौतिक ताप प्रकृतिके उपर्युक्त प्रकारसे प्रभावित हो जानेके पश्चात् कैसे हो सकते थे। दैविक ताप तो स्वकर्तव्यविमुख तथा अधार्मिक व्यक्तियोंको दण्डस्वरूप मिला करते हैं, उनकी रामराज्यमें स्थिति ही कहाँ थी?

त्रिविध विषमताका अभाव

रामराज्यमें (१) आत्मिक (आन्तरिक,) (२) बाह्य और (३) आर्थिक विषमताएँ बिलकुल नहीं थीं। १-सद्भाव, सद्विचार, सद्भावना और परमार्थ ही परम लक्ष्य होनेके कारण साधनाके द्वारा सभीके अन्तःकरण शुद्ध हो गये थे और सभी लोग भगवान्‌की प्रेमभक्तिमें निमग्न होकर परमपदके अधिकारी हो गये थे। इससे उनमें 'आत्मिक वैषम्य' नहीं था। वे सबमें अपने भगवान्‌को देखते थे—'**निज प्रभुमय देखहिं जगत।**'

२-आत्मिक विषमता दूर हो जानेके कारण 'बाह्य विषमता' भी सर्वथा नष्ट हो गयी थी। किसीको किसी बातका गर्व करने अथवा छोटे-बड़ेका प्रश्न उठानेके लिये अवसर ही न था। शुद्ध अन्तःकरणवालोंको किसीसे राग-द्वेष अथवा छोटे-बड़ेका गर्व हो ही कैसे सकता था।

३-पर्वतोंके द्वारा मनोवांछित मणिमाणिक्य दिये जानेसे, समुद्रद्वारा रत्नोंके बाहर फेंक देनेसे, विलासिता एवं आरामतलबीके न रहनेसे, स्वकर्तव्यपालनकी निष्ठासे तथा मुद्राके सर्वथा न रहनेसे रामराज्यमें 'आर्थिक विषमता' भी नहीं थी। इसका अर्थ यह नहीं कि रामराज्यमें विशाल व्यापार ही नहीं था। वैश्यवर्ग अपना कर्तव्य समझकर बड़े-बड़े व्यापार करते थे। परंतु रामराज्यमें सभी वस्तुएँ बिना मूल्य बिकती थीं; जिसको जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, वह उसी वस्तुको बाजारसे जितनी चाहे, उतने परिमाणमें प्राप्त कर सकता था। इसलिये कोई विशेष संग्रह भी नहीं करता था।

राजा और प्रजाका सम्बन्ध

जिस राज्यमें पाप अथवा अपराधकी कभी स्थिति ही न हो, जिस राज्यके लिये श्रीगोस्वामीजीके अनुसार—

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज॥

—ऐसी स्थिति हो, उस राज्यमें, तथा जिसमें सम्राट् भगवान् रामचन्द्र प्रजासे कुछ आध्यात्मिक ज्ञानपर कहना चाहते हैं तो हाथ जोड़कर कहते हैं कि 'यदि आप लोगोंका आदेश हो तो मैं कुछ कहूँ। आपको अच्छा लगे तो सुनिये, अच्छा न लगे अथवा मैं कोई अनीतिपूर्ण बात कहूँ तो मुझे रोक दीजिये।'

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

—वहाँ, उस राज्यमें राजा-प्रजाके कैसे क्या सम्बन्ध हो सकते हैं—सो स्पष्ट है।

रामराज्यमें सभी व्यक्तियोंने इहलोक और परलोक दोनोंको सफल किया था। उस समयके-जैसा सर्वतोभावेन मर्यादा-मण्डित राज्य कभी स्थापित नहीं हो सका। इसीलिये आज भी, युगोंके पश्चात् भी भारतकी जनता पवित्र रामराज्यका स्मरण करती है!

हिंदू-संस्कृतिके संक्षिप्त सूत्र

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम० ए०, पी-एच० डी०)

१. हिंदूकी दृष्टिमें धर्म, संस्कृति, जीवन—तीनों क्षेत्रोंका विस्तार समान है। एकको हटाकर एक नहीं रहता।

२. हिंदू-संस्कृतिका दृष्टिकोण समन्वयप्रधान है। समन्वय हिंदुत्वकी सबसे बड़ी विशेषता है। विश्वके साथ अविरोध-भाव प्राप्त करनेकी पद्धति समन्वय है।

३. 'बहुधा' भावकी स्वीकृतिसे सहिष्णुताका जन्म होता है। हिंदू-धर्म सहिष्णुताकी प्राणवायुसे जीवित है।

४. बहुधामें एकत्वकी पहचान हिंदू-संस्कृतिका प्रयत्न रहा है। एकत्वका आग्रह बहुत्वका नाश करके हिंदू-संस्कृतिको इष्ट नहीं है। बहुधासे ही एकको महिमा प्राप्त होती है—

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'

—यह हिंदू-विचारोंका अन्तर्यामी सूत्र है।

५. अनेक संघर्षोंके बीचसे समन्वयकी प्राप्ति हिंदू-संस्कृतिके इतिहासका राजमार्ग रहा है।

६. धार्मिक स्वातन्त्र्य, सामाजिक स्वातन्त्र्य, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य हिंदू-संस्कृतिको इष्ट हैं; किंतु इनका उपभोग सत्यदर्शनके लिये होना चाहिये।

७. जड और चेतनका आपेक्षिक मूल्यांकन हिंदू-संस्कृतिकी विशेषता है।

८. चैतन्य ही महान्, नित्य, रसपरिपूर्ण और प्राप्त करनेयोग्य तत्त्व है। इस प्रकारका सचेष्ट प्रयत्न और तीव्र विश्वास हिंदू-संस्कृतिके प्रत्येक युगमें प्रकट होता रहा है।

९. संसार और उसके उपभोग अल्प, सीमित, तुच्छ और जीतने योग्य हैं—यह दृढ प्रतीति हिंदू-मनमें सदा ऊँची प्रतिष्ठाकी पात्र बनी रही।

१०. सांसारिक जीवनका उचित मूल्य तो आँक लिया गया, किंतु उसकी उपेक्षा या अवहेलना करना हिंदू-संस्कृतिको इष्ट नहीं। जो जडकी उलझनको नहीं समझ सका, वह चैतन्यको कैसे समझ सकता है? निःश्रेयसके साथ अभ्युदयकी प्राप्तिपर भी हिंदू-दृष्टिकोणने बहुत बल दिया है। लोक और परलोकका समन्वय, जड और चेतनका समन्वय प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति हिंदू-धर्मको मान्य है।

११. इसी दृष्टिकोणसे हिंदू-संस्कृतिमें साहित्य, कला, सौन्दर्य और सँवारे हुए जीवनके अनेक वरदानोंको प्रतिष्ठित स्थान दिया गया।

१२. धर्म और जीवनका मेल हिंदू-संस्कृतिके आग्रहका विषय है। धर्म धारणात्मक नियमोंकी समुदित संज्ञा थी।

'धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।' (व्यास)

सम्प्रदाय या मत-मतान्तरके लिये भी 'धर्म' शब्दका प्रयोग हुआ; परंतु नित्य धर्म-तत्त्व इन सबके ऊपर और बड़ा है। धर्म और सर्वोपरि चैतन्यका धरातल एक है।

१३. ऋत, सत्य, धर्म, ब्रह्म, चैतन्य अभिन्न और सर्वोपरि हैं। इनकी अखण्ड निष्ठा हिंदू-संस्कृतिका महान् युग-युगव्यापी श्रद्धाका विषय रहा है।

१४. हिंदू-संस्कृति चैतन्यपर आश्रित होनेके कारण व्यक्तिको बाँधकर नहीं रखना चाहती। हिंदू समाजके बन्धन स्थितिके पोषक हैं, अर्थात् अपने केन्द्रसे दाहिने-बायें, आगे-पीछे भटकनेको व्यक्तिके लिये अनावश्यक विघ्न माना गया है। किंतु ऊर्ध्वगति या अपने केन्द्रसे मानस जगत्में ऊँचे उठना प्रत्येकके लिये प्रत्येक स्थितिमें बहुत आवश्यक माना गया है।

१५. ऊर्ध्वगति ही अध्यात्मका कल्याण है। अध्यात्मकी साधना हिंदू-संस्कृतिके आग्रहका विषय है।

१६. कर्मपर हिंदू-संस्कृतिमें पूरा जोर दिया गया है; किंतु कर्म बिना धर्मके अधूरा है। जिस कर्ममें ज्ञानका भाव नहीं, वह कर्म स्वार्थमें सना हुआ होनेसे व्यक्ति और समाजके जीवनको और भी उलझनमें डाल देता है।

१७. हिंदू-धर्मकी दृष्टिमें कर्म जीवनका आवश्यक लक्षण है। कर्मके बिना जीवनकी स्थिति असम्भव है। ठीक विधिसे किये जानेवाले कर्मको योगकी पदवी दी गयी है।

१८. हिंदू-संस्कृति लौकिक विजयसे उतनी तृप्त नहीं होती, जितनी आध्यात्मिक विजयसे। आज भी हिंदूका मन अध्यात्मसे प्रफुल्लित, रसतृप्त और आकर्षित होता है। लौकिक विजयके भीतर लोभ, स्वार्थ, हिंसा छिपी रह सकती है; किंतु अध्यात्मकी जय केवल धर्मपर टिकी रहती है और चार खूँट जागीरी या सार्वजनिक स्वागत प्राप्त करती है।

१९. हिंदुओंने राजनीति और दण्डनीतिका आविष्कार तो किया किंतु सर्वापहारी राजसत्ता उनको कभी नहीं रुची। जीवनका अधिक-से-अधिक क्षेत्र राजसत्तासे किस प्रकार बचा रह सकता है, इसका उपाय हिंदू सामाजिक जीवन और पारिवारिक जीवनकी पद्धतिमें पाया जाता है। जीवनके अनेक समझौतोंके बीचमें राज्य भी एक समझौता है, उसे सबका स्थान छीनकर जीवनपर छा जानेका अधिकार हिंदू-संस्कृतिमें नहीं पाया जाता। हिंदू जीवनका अधिकतम क्षेत्र बाह्य नियन्त्रणसे जान-बूझकर अछूता रखा गया है। हिंदुओंके संस्कार जन्मसे मृत्युपर्यन्त जीवनका नियमन करनेके लिये पर्याप्त हैं, वे मनुष्यके आपसी प्रबन्धके बलसे प्रचलित और विकसित होते रहे हैं। बहुविधता उनकी विशेषता है, जो देशकालकृत भेदोंको स्वीकार करती है।

२०. हिंदूका मन हिंदू-संस्कृतिका ही एक टुकड़ा है। वह मन उदार, सहिष्णु, नूतन भावोंका जागरूकतासे स्वागत करनेवाला है। अनुशासन या अंकुशकी अपेक्षा वह उच्च आदर्श, त्यागकी भावना, स्वगत कर्म-प्रेरणासे अधिक द्रवित होता है। उस मनको दृढ़तासे लोकहितमें बाँधनेके लिये, उसमें उदात्त भावोंको भरनेके लिये त्याग, तप या यज्ञका धरातल ही एकमात्र उपाय है। त्यागकी भावनाको सामाजिक स्तरपर जो उतार सकता है, वही हिंदू-संस्कृतिकी छिपी हुई मानस निधितक पहुँच पाता है। अन्यथा भारतीय मन समाजकी ओरसे अपने तन्तु समेटे हुए पड़ा रहता है।

ब्रह्म कौन है?

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म। (तैत्तिरीय उ०)

ये सब भूतप्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसकी सत्तासे जीवित रहते हैं और विनाशके समय जिसमें प्रवेश कर जाते हैं वह ब्रह्म है।

हिंदूका सामाजिक और राष्ट्रिय आदर्श

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम० ए०)

मनुष्यके साथ मनुष्यके जितने प्रकारके संघर्ष और संग्राम होते हैं, उन सबकी उत्पत्ति होती है उनके देह, इन्द्रिय और मनके अभाव, प्रयोजन एवं आकांक्षाके क्षेत्रमें तथा बाह्य सुख-सम्पत् और प्रभुत्वके क्षेत्रमें। प्रत्येक मनुष्यको अन्न, वस्त्र और घर आदिकी आवश्यकता तथा सुख, ऐश्वर्य और प्रभुत्वकी आकांक्षा होती है और इसी क्षेत्रमें एकका स्वार्थ दूसरेके स्वार्थका प्रतिद्वन्द्वी बनता है। यदि अन्न, वस्त्र, गृह, वित्तादि और पार्थिव सुख-सम्पत् एवं प्रभुत्व ही मानव-समाजमें श्रेष्ठ पुरुषार्थ माने जायँगे, तो इस जगत्में व्यक्तिगत विरोध, श्रेणिगत संघर्ष और जातिगत संग्राम निरन्तर चलते रहेंगे। किसी प्रकारकी भी राष्ट्रनीति अथवा समाजनीति मानव-समाजकी इस अशान्तिके दावानलसे रक्षा करनेमें समर्थ न होगी। आग बुझानेकी प्रत्येक चेष्टा नयी-नयी आग सुलगाती रहेगी।

भोगको ही आदर्श माननेवाली जडवादी जाति और समाजके जीवनमें बाह्य आपातरमणीय उन्नतिके साथ-साथ अशान्तिका दुर्भोग बढ़ना अनिवार्य है। पाश्चात्त्य जातियोंकी उन्नतिके इतिहास इस विषयमें सुस्पष्ट प्रमाण देते हैं। बाह्य सम्पत्के आदर्शको केन्द्र बनाकर यदि मनुष्य अपने ज्ञान और भक्तिका विकास करता है तथा समाज और राष्ट्रका निर्माण करता है, तो उससे स्थूल दृष्टिमें कुछ समयके लिये जाति विशेष और सम्प्रदायविशेषकी आर्थिक उन्नति, विषयसुखोंकी प्रचुरता तथा राष्ट्रिय प्रभावकी वृद्धि भले ही देखनेमें आवे; परंतु उसके साथ ही उन जातियोंके भीतर एक वर्गके साथ दूसरे वर्गका, एक सम्प्रदायके साथ दूसरे सम्प्रदायका तथा एक प्रान्तके साथ दूसरे प्रान्तका संग्राम अनिवार्यरूपसे तथा स्वाभाविक नियमानुसार उत्पन्न हो जाता है। भोगके आदर्शको केन्द्र बनाकर जो उन्नति होती है, वह प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता और संघर्षके अन्तरालमें ही होती है, और इस प्रकारके संग्रामके भीतर जो उन्नति प्राप्त होती है वह कभी सर्वसाधारणकी इच्छित उन्नति नहीं होती। समस्त व्यक्तियों तथा सारे दलोंके सुख, ऐश्वर्य और प्रभुत्वकी कामनाकी पूर्ति किसी भी नीति अथवा कौशलके द्वारा सम्भव नहीं है। जो संग्राममें सुदक्ष, निर्माण और संगठन-शक्तिमें श्रेष्ठ एवं कूटनीतिका जाल फैलानेमें सुचतुर होते हैं, धन-सम्पत् और प्रभुत्वपर उन्हींका अधिकार होता है, पार्थिव भाग्यलक्ष्मी उन्हींकी अंकशायिनी होती है—अवश्य ही कुछ समयके लिये ही। संग्राममें जो पटु नहीं होते, जिनमें प्रबल शक्ति नहीं होती, बुद्धिसे जो सीधे-सादे होते हैं, प्रतियोगितामें जो पराजित हो जाते हैं, वे भीतर द्वेष, हिंसा और घृणाका पोषण करते हुए भी उन लोगोंके चरणोंमें आत्म-विक्रय करनेके लिये बाध्य होते हैं, तथा उनके आज्ञानुसार चलते और उनके जूँठे टुकड़े खाते हुए जीवन-यापन करते-करते मनमें छिपी हुई प्रतिहिंसाको चरितार्थ करनेका सुयोग ढूँढ़ते रहते हैं। शक्तिशाली सम्पत्शाली प्रभुओंके भाग्यमें भी निर्बाध शान्ति-सुखका सम्भोग सम्भव नहीं होता। वे एक ओर तो अपने प्रतिद्वन्द्वी अन्यान्य शक्तिशाली और सम्पत्शाली धनलोलुप और राज्य-लोलुपोंके भयसे अस्तव्यस्त रहते हैं और दूसरी ओर जिनको शोषित और वंचित करके उन्होंने अपने श्रेष्ठत्वको स्थापित किया है, उनके विद्रोहकी आशंकासे भी सर्वदा आतंकित रहते हैं। उनको सर्वदा ही संग्रामके लिये प्रस्तुत रहना पड़ता है। वस्तुतः बाह्य सम्पत्में जिसकी निष्ठा है, उस जाति और समाजकी सभ्यता और संस्कृति संग्रामात्मिका हो जाती है। संग्राममें पटुता ही उसकी सभ्यताका लक्षण समझा जाता है। अतएव एक संग्रामके बाद दूसरा संग्राम और एक क्रान्तिके बाद दूसरी क्रान्ति अवश्यम्भावी हो जाती है। परिणाम यह होता है कि ऐश्वर्य और प्रभुत्व निरन्तर हस्तान्तरित होते रहते हैं और जगत्में शान्तिकी कोई सम्भावना नहीं रहती।

इस उत्कट समस्याके स्थायी समाधानका एकमात्र मार्ग है समाज-विधान, राष्ट्र-विधान और अर्थ-नीतिको आध्यात्मिक भित्तिके ऊपर प्रतिष्ठित करना, मनुष्यके व्यष्टि-जीवन और समष्टि-जीवनके सारे विभागको धर्मके आदर्शद्वारा सुनियन्त्रित करनेकी व्यवस्था करना और सभी श्रेणियोंके मनुष्योंको उनके समस्त कार्योंद्वारा आध्यात्मिक कल्याणनिष्ठ बना डालनेकी प्रबल चेष्टा करना। धर्मतत्त्वके सम्बन्धमें जिनकी तनिक भी यथार्थ

अनुभूति है, वे जानते हैं कि धर्म कोई साम्प्रदायिक विशेष मतवाद नहीं है, कतिपय विशेष प्रकारके पारलौकिक कर्मकाण्ड भी नहीं हैं, कोई विशेष प्रकारकी उपासना-प्रणाली या आचार-व्यवहार भी नहीं है, एवं वास्तविक जीवनको अस्वीकार करके, किसी अवास्तविक काल्पनिक पदार्थ या आदर्शकी सेवा भी नहीं है। मनुष्यके अन्तर्जीवन, बाह्य-जीवन, व्यष्टि-जीवन और समष्टि-जीवनके सब विभागोंमें सुन्दर सामंजस्य स्थापितकर, मनुष्यकी आत्माके चरम 'सत्य-शिव-सुन्दर' स्वरूपकी उपलब्धिको लक्ष्यमें रखकर इस जगत्‌में ही सर्वांगसुन्दर मानव-जीवन, सुखशान्तिमय मानव-समाज, विश्वकल्याणव्रती मानव-राष्ट्रका निर्माण करना ही धर्मका उद्देश्य है। धर्म-साधनाकी मुख्य बात यही है कि आत्माको जीवन और जगत्‌के केन्द्रमें उपलब्धकर, आध्यात्मिक दृष्टि अवलम्बनकर, विश्व-जगत्‌के सब क्षेत्रोंके सभी प्रकारके व्यापारोंके दर्शन और उपभोग करनेका सुनियत अभ्यास हो, तथा आध्यात्मिक आदर्शके द्वारा अनुप्राणित होकर सब प्रकारके कार्योंको सम्पादित करनेका सुन्दर प्रयास हो।

आध्यात्मिक आदर्श ही मनुष्यके व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन, राष्ट्रिय जीवन और आर्थिक जीवनके सब प्रकारके विरोधोंमें सामंजस्य स्थापित कर सकता है, सब प्रकारके वैषम्यमें साम्यकी प्रतिष्ठा कर सकता है, सब प्रकारके संघर्ष और संग्रामका अन्त कर मानव-जातिमें प्रेम, शान्ति, सौहार्द और ऐक्यको सुप्रतिष्ठित कर सकता है। हिंदूका समाज-विधान, राष्ट्र-विधान और शिक्षा-विधान इस आध्यात्मिक आदर्शको केन्द्र बनाकर ही किया गया था। वर्णाश्रम-व्यवस्थाका भी यही मूलतत्त्व है। समाजके समस्त स्तरोंमें एक ऐसी शिक्षा और संस्कृतिका वातावरण सृष्ट हुआ था, तथा समाज और राष्ट्रकी कुछ ऐसी मौलिक विधि-व्यवस्था थी कि राष्ट्र-शक्ति, अर्थ-शक्ति और श्रमशक्ति—क्षत्र-शक्ति, वैश्य-शक्ति और शूद्र-शक्ति—स्वेच्छासे स्वाधीनतापूर्वक प्रेम और गौरवका अनुभव करती हुई आध्यात्मिक आदर्शका अनुसरण कर अपने-अपने कर्तव्यका निरूपण और सम्पादन करती हुई अपनेको कृतार्थ समझती थी। स्वधर्मनिष्ठ ब्राह्मण और ब्रह्मैकनिष्ठ संन्यासी हिंदू समाजमें समष्टिप्राणकी आध्यात्मिक शक्तिके प्रतीक थे। यही कारण था कि हिंदूके शिक्षा-क्षेत्रमें, राष्ट्र-क्षेत्रमें और समाज-क्षेत्रमें सर्वत्र आदर्श चरित्रवाले त्यागव्रती ब्राह्मण और संन्यासी ही नेतृत्वके पदपर प्रतिष्ठित थे। सभी स्तरोंके नर-नारी उनके सामने श्रद्धा और सत्कारपूर्वक सिर झुकाते थे। समाज और राष्ट्रमें उन्होंने जिस आदर्शको स्थापित किया तथा जिस नीतिको वे प्रवर्तित करते थे, राष्ट्रपरिचालक क्षत्रिय, अर्थोत्पादक वैश्य और श्रमजीवी शूद्रगण उसी आदर्श और नीतिका अनुवर्तन कर एक ओर जहाँ जाति और समाजका कल्याण-साधन करते थे, दूसरी ओर उसी प्रकार अपने जीवनकी पूर्णता भी सम्पादित करते थे। समाज और राष्ट्रके प्रति श्रद्धा, प्रेम और त्यागके साथ अपने-अपने निर्दिष्ट कर्मको सुचारुरूपसे सम्पादन करके ही प्रत्येक नर-नारी अपने-अपने जीवनको परम कल्याण और शान्तिके मार्गमें अग्रसर कर सकता है—यही हिंदूकी कर्मनीति है।

समाज और राष्ट्रके विभिन्न विभागोंमें विभिन्न प्रकारके कार्योंमें लगे हुए तरह-तरहकी शक्ति, सामर्थ्य, रुचि और प्रकृतिवाले नर-नारियोंके चित्तोंमें सुशिक्षाके प्रभावसे यह धारणा सुदृढ़ हो जाती है कि जीवनकी सार्थकता और गौरव राष्ट्रिय प्रभुत्व अथवा आर्थिक सम्पत्‌की प्राप्तिमें नहीं है, ऐहिक भोगोंकी प्रचुरता अथवा शक्तिकी विशालतामें नहीं है। जीवनका यथार्थ गौरव और सार्थकता सभी क्षेत्रोंमें उन्नत आदर्शका अनुवर्तन करने, चरित्रके महत्त्वको सम्पादित करने तथा आत्माका समुचित विकास-साधन करनेमें है। मनुष्य चाहे जिस कर्ममें नियोजित हो, उसके लिये चाहे जो कर्म कर्तव्यरूपमें निर्धारित हो, उसे यदि जीवनके सुमहान् आध्यात्मिक आदर्शकी ओर लक्ष्य रखकर सम्पादन किया जाय तो प्रत्येक कर्म गौरवमण्डित हो जायगा और उसके द्वारा जीवनका विकास-साधन होगा। समष्टिकी सेवामें व्यष्टिका प्रेमयुक्त आत्मनियोग ही मानवोचित सत्कार्यका यथार्थ लक्षण है। जाति और समाजके संगठन, संरक्षण, अभ्युदय और कल्याणके लिये सभी प्रकारके शुभ कर्म आवश्यक हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके द्वारा जाति और समाजकी सेवा करता है; परंतु कार्यसम्पादनके समय केवल अपनी भोगस्पृहाके द्वारा परिचालित न होकर यदि वह अपने हृदयमें सेवा-बुद्धिको ही प्रधानता देनेकी शिक्षा ले, तो उसके कर्मका महत्त्व अनन्तगुना बढ़ जाता है और वह चरित्र-विकासका प्रकृष्ट मार्ग हो जाता है।

तभी वह जीवनको सार्थक बनाता है। उसे ही हिंदू समाजमें 'यज्ञनीति' कहते हैं। सभी कर्मोंको यज्ञबुद्धिसे सम्पादन करना चाहिये। अपनी भोगस्पृहा, संचयस्पृहा, प्रभुत्वस्पृहा, आसक्ति और द्वेषभावको दबाकर, जाति और समाजकी सेवा-स्पृहासे परिचालित होकर, स्वधर्मके अनुसार कर्तव्य-कर्मोंको निरन्तर करते रहनेसे ही जीवन यज्ञमय होता है। जाति और समाजमें विश्वप्राण भगवान्‌की अभिव्यक्तिका दर्शन करते हुए यदि भगवत्सेवाबुद्धिसे कोई जाति और समाजकी सेवामें लगा रहे तो यज्ञ सर्वांगपूर्ण होगा, कर्म योगमें परिणत होगा और जीवन कल्याणमय हो जायगा। हिंदूके समाज-विधान, राष्ट्र-विधान तथा प्रत्येक कर्मक्षेत्रमें इसी यज्ञनीतिकी शिक्षा दी जाती है।

कोई मनुष्य समाजके चाहे किसी स्तरमें उत्पन्न क्यों न हुआ हो, चाहे किसी प्रकारकी शक्ति और सम्पत्‌का अधिकारी क्यों न हो, चाहे किसी प्रकारके सुख-दुःखका उपभोग क्यों न कर रहा हो—इन सबके द्वारा उसके जीवनका मूल्य निर्धारित नहीं होता, उसकी मानवोचित मर्यादाका निरूपण नहीं हो सकता। वह किस प्रकारके आदर्शकी सेवामें अपनी शक्ति और सम्पत्‌को लगाता है, किस प्रकारकी दृष्टिसे समाजमें औरोंके साथ व्यवहार करता है, किस तरह सुख-दुःखादिको वरण करता है तथा किस दृष्टिसे अपने कर्मोंको देखता है—इन्हीं बातोंपर उसके जीवनका मूल्य और मर्यादा निर्भर करती हैं। बहुत ही अल्प शक्ति, अल्प ज्ञान और अल्प धन-सम्पत्‌का अधिकारी होते हुए भी यदि कोई अपने जीवनको यज्ञमय कर डालता है और अपने समस्त कर्मोंको सेवा-बुद्धिसे सम्पादन कर सकता है तो उसका जीवन सार्थक है तथा उसके जीवनका अधिक-से-अधिक मूल्य है।

हिंदू समाजके शीर्षस्थानीय ब्राह्मण और संन्यासीगण जातिकी दृष्टिमें सत्य, प्रेम, पवित्रता, संयम, त्याग और निःस्वार्थ सेवाके जीवन्त विग्रहरूपमें सर्वत्र विचरण करते हैं। वे **'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय'** सब प्रकारके लौकिक स्वार्थोंको त्यागकर आध्यात्मिक स्वार्थसिद्धिके आदर्शको समुज्ज्वलरूपसे सामने रखते हैं तथा जाति और समाजके सब स्तरोंके नर-नारियोंके विचारों और कर्मोंपर उनकी योग्यताके अनुरूप प्रभाव डालते हैं। जब समाजमें आध्यात्मिक स्वार्थ लौकिक स्वार्थकी अपेक्षा ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेता है, मनुष्यका जीवन जब कर्मक्षेत्रमें ही क्षणभंगुर बाह्य स्वार्थको कर्मयज्ञमें आहुति देकर अनन्त कालतक रहनेवाले विराट् स्वार्थके प्रति अनुरक्त होता है, तभी स्वार्थ और परार्थका द्वन्द्व, व्यष्टि-स्वार्थ और समष्टि-स्वार्थका संघर्ष, विभिन्न श्रेणियोंके स्वार्थोंकी प्रतियोगिता अधिकांशमें तिरोहित हो जाती है तथा सर्वत्र प्रेम, शान्ति और ऐक्यका राज्य स्थापित हो जाता है।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि हिंदुओंके समाज-विधान और राष्ट्र-विधानमें जिस ब्राह्मण और संन्यासीको आदर्श स्थान प्राप्त है, उसके लिये राष्ट्रिय अधिकार अपने हाथमें लेनेकी आज्ञा नहीं है, वेतनभोगी होकर उच्च राजकर्मचारीका पद लेनेकी मनाही है, व्यवसाय-वाणिज्य, शिल्प, कृषि आदि अर्थकरी वृत्तिमें अपनेको नियोजित करना मना है, लौकिक धन-सम्पत् और प्रभुत्वपर अधिकार करनेकी चेष्टा निषिद्ध है तथा राजा या धनीके अधीन किसी प्रकारकी नौकरी स्वीकार करना वर्जित है। कोई ब्राह्मण या संन्यासी यदि राजा या शासनकर्ता, सेनापति या जमींदार होकर राष्ट्रिय सामर्थ्यके बलपर समाजके ऊपर अपना आधिपत्य जमाता है, अथवा किसी बड़ी फैक्टरी, किसी बड़े वाणिज्य-व्यवसाय अथवा कृषि-क्षेत्रका मालिक बनकर अर्थके उत्पादन और वितरणके कार्योंमें लगता है, अथवा नौकरी करके अपने स्वातन्त्र्यको खोकर जीविका अर्जन करता है तो वह पतित हो जाता है, ब्राह्मणोचित और संन्यासोचित अधिकारसे च्युत हो जाता है, जाति और समाजको आदर्शके पथपर परिचालित करनेमें अयोग्य हो जाता है। ब्राह्मण और संन्यासी स्वेच्छासे दारिद्र्य वरण करके सब प्रकारकी लौकिक पद-मर्यादा, शक्ति-मर्यादा और अर्थ-मर्यादाका लोभ त्याग करके सब प्रकारकी प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विताके क्षेत्रसे ऊपर उठकर ज्ञान-तपस्या और त्याग-व्रत तथा प्रेम-साधनाके द्वारा राष्ट्र और समाजके आध्यात्मिक आदर्शको जीवन्त रखते हैं तथा सब श्रेणियोंके नर-नारियोंको मानव-जीवनके इस आदर्शके सम्बन्धमें सर्वदा जाग्रत् रखते हैं; यही उनके लिये विहित है। जिससे उनकी आन्तरिक स्वाधीनता किसी प्रकार क्षुण्ण होनेकी सम्भावना हो, ऐसे किसी कार्यमें उन्हें लिप्त होना ठीक नहीं तथा ऐसी किसी वृत्तिका अवलम्बन करना भी उचित नहीं है। समाज और राष्ट्र उनके जीविका-संस्थान और स्वास्थ्य-विधानकी सुव्यवस्था करे; श्रद्धा,

सत्कार और कृतज्ञताके कारण नतमस्तक होकर सब श्रेणियोंके लोग उनकी सेवा करें तथा उनके प्रदर्शित मार्गमें अपने जीवनको नियन्त्रित करें। यही हिंदूकी समाज-विधि और राष्ट्र-विधिकी एक प्रधान बात है।

जिनकी आध्यात्मिकतामें निष्ठा हो, ऐसे आदर्श समाज-नेता तथा राष्ट्रनेताओंके निर्माणके लिये ही ब्राह्मणकी शिक्षा-दीक्षाकी व्यवस्था है तथा संन्यास-जीवन ही ब्राह्मण-जीवनका आदर्श है। **'आत्मनो मोक्षार्थं जगतो हिताय च'** जीवनको सर्वतोभावेन ज्ञानसे समुज्ज्वल, प्रेमसे समुदार, कर्मोंमें सुदक्ष और त्यागमें सुमहान् बना देनेके उद्देश्यसे ही ब्राह्मणको बाल्यकालसे सुशिक्षा प्रदान करनेका विशेष प्रयत्न किया जाता है। जाति और समाजमें आदर्श नेताओं अथवा आचार्योंका निर्माण होते रहनेसे ही सब श्रेणियोंके नर-नारी आदर्शके पथपर चलनेके अभ्यासी होते हैं। ऐसा होनेपर बीच-बीचमें प्रकृतिवश व्यभिचार उत्पन्न होनेपर भी जाति और समाज आदर्शसे च्युत नहीं होता। जो भविष्यमें समाजके आचार्य या जातिके नेता होंगे, उनको जीवनके प्रभातकालसे ही आध्यात्मिक आदर्शके द्वारा अनुप्राणित होकर, जिसमें वे ज्ञान, शक्ति और प्रेमका आहरण करना सीखें तथा त्याग, संयम, पवित्रता और चारित्रिक बलका अनुशीलन करनेके अभ्यासी बनें, इसी उद्देश्यसे उनके लिये सबसे प्रथम ब्रह्मचर्याश्रमका विधान किया गया है। ब्रह्मचर्यकी शिक्षाको कर्म-जीवनमें, जाति और समाजमें कार्यान्वित करनेके लिये ही गार्हस्थ्याश्रम है। वयोवृद्धिके साथ-साथ क्रमशः जीवनको पारिवारिक बन्धनसे मुक्त करके, उन्नत आध्यात्मिक स्वार्थबोधको पारिवारिक स्वार्थके घेरेसे क्रमशः मुक्त करके लौकिक स्वार्थ और परार्थके द्वन्द्व और संघर्षको चित्तसे निकालकर आत्मबोधको समाजात्मबोधके द्वारा क्रमशः विश्वात्मबोधमें परिणत करना होगा। इसीसे वानप्रस्थ-आश्रमके अंदरसे होते हुए अन्तमें सम्यक् संन्यासमें जीवनकी परिसमाप्ति होती है। इस प्रकार संन्यासादर्शसे अनुप्राणित, सम्पूर्ण समाजको आत्मस्वरूप अनुभव करनेवाले, ज्ञानतापस वेदवेदान्तविद् ब्राह्मण लोग ही हिंदूके समाज-विधान और राष्ट्र-विधानके प्रणेता हैं। वे लोग राष्ट्रके संचालकोंके भी गुरु हैं, अर्थोपार्जन करनेवालोंके भी गुरु हैं तथा धनी और श्रमिक—सभीके गुरुस्थानीय हैं। सभी विषयोंमें वे नियम-संयमके उपदेष्टा हैं, शान्ति और प्रेमके आदर्शका प्रचार करनेवाले हैं; परंतु वे स्वयं राष्ट्रशक्ति और अर्थके प्रलोभनसे ऊँचे उठे हुए हैं।

जो लोग जातिमें संघबद्धरूपमें शान्ति-व्यवस्था और साम्यको सुप्रतिष्ठित रखनेका उत्तरदायित्व अपने सिर लेते हैं, देशकी बाह्य आक्रमण और अन्तर्विप्लवसे रक्षा कर जन-साधारणको साधु-ब्राह्मणके द्वारा प्रदर्शित मार्गमें परिचालित करनेके लिये राष्ट्रिय सामर्थ्यका प्रयोग करते हैं तथा जिन्हें समष्टि-स्वार्थ और व्यष्टि-स्वार्थमें तथा विभिन्न प्रकारकी रुचि, बुद्धि, प्रवृत्ति एवं शक्तिवाले नर-नारियोंके विभिन्न प्रयोजनोंमें समन्वय स्थापित करनेके उद्देश्यसे न्याय और धर्मके अनुसार दण्डनीतिके प्रयोगका अधिकार दिया गया है, वे हिंदू समाजमें 'क्षत्रिय' नामसे कहे गये हैं। उस राष्ट्र-सेवक क्षत्रियवर्गकी मर्यादा ब्राह्मणके बाद ही पड़ती है। उनके लिये बाल्यकालसे ही देशात्मबोध और समाजात्मबोधकी शिक्षा आवश्यक होती है। वे समस्त देश, जाति और समाजके कल्याणको अपने कल्याणके रूपमें अनुभव करनेकी शिक्षा ग्रहण करते हैं। जाति और समाजकी सेवाके लिये योग्यता प्राप्त करनेके उद्देश्यसे वे शौर्य-वीर्यका अनुशीलन कर युद्ध-विद्यामें निपुणता प्राप्त करते हैं, निर्माण और संगठन-शक्तिको विकसित करते हैं, सब प्रकारकी प्रतिकूल अवस्थाओंमें आदर्शको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये चरित्रबल संचय करते हैं तथा सब प्रकारके प्रलोभनों और दुर्बलताओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये न्याय-दण्ड संचालन करनेकी शक्ति प्राप्त करते हैं। इसीका नाम क्षात्रधर्म है। वे ब्राह्मण और संन्यासीको पथ-प्रदर्शक उपदेष्टाके रूपमें मानकर चलते हैं, परंतु ब्राह्मणत्वके लिये लालायित नहीं रहते और न सामाजिक और राष्ट्रिय उत्तरदायित्व छोड़कर संन्यासका अवलम्बन करनेके लिये ही उत्सुक होते हैं। समाज और राष्ट्र उनसे जिस प्रकारकी सेवाकी आशा करता है, जिस प्रकारकी सेवाका भार उनके सिरपर दिया गया है, उसीके गौरव-बोधसे अनुप्राणित होकर वे अपनी सारी ज्ञान-शक्ति और कर्मशक्तिको अकुण्ठित हृदयसे उसी प्रकारकी सेवामें ही लगा देते हैं और उसीके द्वारा अपने जीवनको सार्थक करते हैं। इस सेवाके द्वारा ही व्यष्टि-आत्माका समष्टि-आत्मासे योग होता है, उनके प्राण प्रेमपूर्वक विश्वप्राणके साथ मिल जाते हैं। हिंदू धर्म क्षात्रभावापन्न लोगोंको इस समुज्ज्वल आध्यात्मिक कर्मयोगमें दीक्षित करता है।

हिंदू-संस्कृतिके अनुसार राष्ट्रिय शक्तिका परिचालन करनेवालोंके लिये कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि अर्थकरी वृत्तिमें लगना—अर्थके उत्पादन और वितरणमें स्वार्थ-विशिष्ट होना मना है। राष्ट्र-सेवकगण अर्थके लिये अर्थसेवकोंके ऊपर निर्भर रहते हैं; और अर्थसेवक लोग अपनेको निरापद रखनेके लिये तथा अर्थके सुनियत उत्पादन और वितरणके सुयोगके लिये राष्ट्र-सेवकोंके ऊपर निर्भर करते हैं। दारिद्र्यव्रती, स्वार्थबुद्धिरहित, व्यापकदृष्टिसम्पन्न, आध्यात्मिक आदर्शमें निष्ठा रखनेवाले मनीषी ब्राह्मण और संन्यासियोंके द्वारा निर्धारित विधानका अनुगमन करते हुए राष्ट्र-सेवक क्षत्रियों तथा अर्थ-सेवक वैश्योंके प्रेमपूर्ण सहयोगसे सारी जाति और समाजमें साम्य, शृंखला, शान्ति, समृद्धि, न्याय और धर्मका राज्य प्रतिष्ठित होता है तथा विभिन्न श्रेणियोंमें प्रतियोगिताका कटु सम्बन्ध न होकर सहयोग और पारस्परिक निर्भरताका मधुर सम्बन्ध स्थापित होता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने धर्मके आदर्शसे अनुप्राणित होनेके कारण दूसरोंके धनका लोभ नहीं करता तथा दूसरेकी मर्यादा (गौरव)-को देखकर ईर्ष्यान्वित भी नहीं होता।

अर्थके सुनियन्त्रित उत्पादन और वितरणके द्वारा समस्त जाति और समाजके कल्याणके विधानमें जो लगे हुए हैं, उनको हिंदूकी भाषामें 'वैश्य' कहते हैं। उनकी पारस्परिक प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता तीव्र न हो, उनमेंसे प्रत्येक अपने-अपने अधिकारमें अनुरक्त रहकर स्वच्छन्दतापूर्वक जातिकी बाह्य सम्पत्तिको बढ़ा सके और समाजको श्रीसमन्वित कर सके, इसकी सुव्यवस्था हिंदू संस्कृतिने की है। अर्थकी सेवा अर्थके लिये नहीं है और न भोगके लिये ही है। 'धर्म' ही अर्थका सेव्य है। धर्मके लिये ही मनुष्यको जीवन धारण कर रखनेकी आवश्यकता है, धर्मके लिये ही मनुष्यको अन्न-वस्त्रादि बाह्य उपकरणोंकी आवश्यकता है, एवं धर्मसे मानव-समाजको समुज्ज्वल और शक्तिशाली बनाये रखनेके लिये ही राष्ट्र-व्यवस्थाकी आवश्यकता है। धर्म ही मनुष्यके व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवनकी सभी अवस्थाओंमें केन्द्रस्थानका अधिकार करके स्थित है—यही हिंदूका जीवनादर्श है। मनुष्यके साथ मनुष्यका सप्रेम मिलन ही धर्मका प्रधान लक्षण है और मानव-समाजमें विरोध, संघर्ष, हिंसा, विद्वेष, घृणा और भय ही अधर्मका लक्षण है। मानव-समाजमें अर्थकी वृद्धि, ज्ञान-विज्ञानका प्रसार, राष्ट्रिय शक्तिका प्राबल्य—इनसे यदि मनुष्यके साथ मनुष्यका सौहार्दपूर्ण मिलन नहीं होता तथा वैरभाव और संघर्ष बढ़ जाता है तो वह अर्थ, वह ज्ञान-विज्ञान, वह राष्ट्रशक्ति मनुष्यकी उन्नतिकी परिचायिका नहीं बन सकती। मनुष्यके ज्ञान, वीर्य, अर्थ और कर्म बढ़कर यदि उसे सुसभ्य न बनायें, प्रत्युत क्रमशः असभ्यताके मार्गमें ले जायँ तो उसकी अपेक्षा इन सबका विकास न होना ही अधिक वांछनीय है। अतः सारा मानव-समाज तथा उसके अन्तर्गत प्रत्येक जाति, प्रत्येक श्रेणी, प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक व्यक्तिका—जिसके द्वारा वह ज्ञान, वीर्य और अर्थसे समृद्ध होकर मनुष्योचित परम कल्याणके मार्गमें अग्रसर हो सके, उसी उद्देश्यको सामने रखकर राष्ट्रशक्ति, अर्थशक्ति और ब्राह्मण्य-शक्तिके द्वारा—धर्मके आदर्शद्वारा सुनियन्त्रित होना आवश्यक है।

हिंदू-संस्कृतिकी आध्यात्मिक नीतिके अनुसार, जो देशकी बाह्य सम्पत्तिको बढ़ावेंगे, राष्ट्रिय शक्तिका संचालन उनके हाथोंमें न होगा (वे शासक नहीं हो सकेंगे) तथा जो राष्ट्रिय शक्तिके संचालनका भार ग्रहण करेंगे, शासक होंगे, वे अर्थ-सेवासे पृथक् रहेंगे। जाति और समाजके सर्वांगीण कल्याणके लिये क्षात्रशक्ति और वैश्यशक्ति दोनोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। परंतु किसी एक श्रेणीके लिये दूसरी श्रेणीके गौरव, मर्यादा एवं सुयोग-सुविधाके प्रति लोलुप दृष्टि रखना ठीक नहीं। इसीसे संघर्ष उत्पन्न होता है। प्रत्येक श्रेणी स्वधर्मके गौरव-बोधसे अनुप्राणित होकर अपने कर्मक्षेत्रमें ही उत्कर्ष प्राप्त करे तथा उसके द्वारा देशके कल्याण तथा अपने आन्तर एवं बाह्य जीवनकी सार्थकता सम्पादन करे। इसे धर्मका निर्देश मानकर सब श्रेणियोंके लोग श्रद्धा और आनन्दके साथ स्वीकार करें। हिंदूके सामाजिक और राष्ट्रिय विधानमें श्रेणीके साथ श्रेणीकी एवं सम्प्रदायके साथ सम्प्रदायकी प्रतियोगिता और संघर्षका कम-से-कम अवसर मिले, इसकी व्यवस्था करनेकी चेष्टा की गयी है।

समाजके जिस स्तरके नर-नारी स्वाधीनतापूर्वक विचार-शक्ति और कर्म-शक्तिके अनुशीलनके द्वारा देशके ज्ञान-विज्ञानकी उन्नति करने, शिक्षा-दीक्षाकी उन्नति करने, दक्षताके साथ राष्ट्रका संचालन करने, बाह्य सम्पत्तिके उत्पादन तथा जन-साधारणके सुख-स्वास्थ्यके विधानमें अपनेको लगानेमें असमर्थ हैं, जो अपने धर्मानुकूल कर्तव्योंके निरूपण और उनके भलीभाँति

सम्पादन करनेके लिये परमुखापेक्षी हैं, अपने जीवनके सम्यक् विकासके लिये जिनको श्रेष्ठतर लोगोंके आदेश और उपदेशके अनुसार चलना पड़ता है, वे ही हिंदू समाजमें 'शूद्र' नामसे कहे जाते हैं। वे ही देशके जन-साधारण हैं, सभी देशोंमें इन्हींकी संख्या अधिक होती है। स्वाधीन विचार-शक्तिसे युक्त और संगठनमें निपुण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यगण उनको विचार-शक्ति प्रदान करते हैं, उनके कर्मका नियमन करते हैं, उनके स्वार्थकी रक्षा करते हैं तथा उनकी उन्नतिमें सहायक होते हैं और वे ही उनके अभिभावक भी हैं। उनका महान् उत्तरदायित्व समाजके नीतिप्रवर्तक, शिक्षा-विधायक, राष्ट्र-संचालक और धनोत्पादक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके ऊपर होता है। समस्त जातिके कल्याणकी दृष्टिसे यह अत्यन्त आवश्यक है कि उन (शूद्रों) की सुशिक्षा, उनके सन्तोष, उनके चित्तमें धार्मिक भावोंके उद्दीपन, उनके अन्न-वस्त्र और गृहादिकी सुव्यवस्था, उनके भीतर देशात्मबोध और समाजात्मबोधके जागरण तथा उनमें समाजके उच्चतर श्रेणीके लोगोंके प्रति आत्मीयताबोधके अनुकूल आचार-विचारके प्रचारका प्रबन्ध किया जाय।

हिंदू धर्मके अपौरुषेय शास्त्र 'वेद' स्मरणातीत कालसे घोषणा करते हैं कि समस्त मानव-समाज एक अखण्ड सत्तासे सत्तावान् है, एक अनन्त प्राण-शक्तिके द्वारा संजीवित है, एक परम पुरुषका विराट् देह है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस विराट् देहके चार अवयव हैं। एक जीवित देहके अंग-प्रत्यंगकी भाँति किसी जाति, श्रेणी या सम्प्रदायको दूसरी जाति, श्रेणी या सम्प्रदायसे विच्छिन्न करके उसका कल्याण-साधन करना सम्भव नहीं है। इसका कोई भी अंग स्वार्थनिष्ठ होते ही व्याधिग्रस्त हो जाता है और समस्त देहको कलुषित करनेमें प्रवृत्त होता है। यदि कोई अंग अपनेको श्रेष्ठ समझकर दूसरे अंगोंको नीच माने तो वह अपनेको ध्वंसके मार्गमें ले जायगा और साथ ही दूसरोंको भी ध्वंसके पथमें गिरा देगा। समाजरूपी शरीरके अंग-प्रत्यंगमें विभिन्नता जिस प्रकार स्वाभाविक है, भगवान्‌की विश्वलीलामें यह विभिन्नता जिस प्रकार अवश्यम्भावी होती है, उसी प्रकार सारी विभिन्नताओंमें एक जीवन्त एकत्व ही इसका यथार्थ परिचय है। प्रत्येक अंग अपने-अपने धर्ममें निष्ठायुक्त रहकर उस अखण्ड एककी सेवामें लग जाय, तभी प्रत्येककी सत्ता सार्थक होती है। विभिन्न अंग-प्रत्यंगोंमें प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष और संग्राम ही इस विराट् देहके व्याधिस्वरूप हैं। सबकी एकप्राणतामें ही इस देहका सौन्दर्य, माधुर्य, वैभव और आनन्द प्रकाशित होता है। यह मानव-समाज भगवान्‌का विराट् विश्वमय शरीर है। इसके प्रत्येक अंग-प्रत्यंगको उन्होंने स्वतन्त्रता प्रदान की है, वैशिष्ट्य प्रदान किया है तथा पृथक्-पृथक् कर्माधिकार और शक्ति-सामर्थ्य दिया है; परंतु सबके बीचमें एकत्वको ही उन्होंने सर्वविजयी बनाकर रखा है। यदि कोई अंग एकत्वका विरोधी होगा, वैषम्यका उपासक होगा, तो वह नाना प्रकारके तापोंसे सन्तप्त होता हुआ समाजका अकल्याण करेगा। अपनी-अपनी शक्तिको विकसित करते हुए सारे समाजकी सेवा और उसके द्वारा सर्वान्तर्यामी भगवान्‌की सेवा करना प्रत्येक श्रेणीके लिये कर्तव्य है। यही हिंदू-संस्कृतिका अन्तर्निहित आदर्श है।

अब मैं अथर्ववेदके ऋषिकी एक आशीर्वाक्‌को स्मरणकर इस प्रबन्धका उपसंहार करता हूँ। इसमें हिंदू-संस्कृतिका आदर्श, राम-राज्यका आदर्श तथा साम्यवादियोंके साम्यका आदर्श कैसी सुन्दरताके साथ चित्रित किया गया है, यह देखने ही योग्य है।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ १॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥ २॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ ३॥
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ ४॥
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त
एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि॥ ५॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ ६॥
सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणो-
म्येक श्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः
सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु॥ ७॥

(अथर्व० ३।३०)

मानव-समाजकी सारी जातियोंके समस्त वर्गोंके

नर-नारियोंको लक्ष्य करके ऋषि कहते हैं कि 'मैं इस प्रकार परम अग्नि (विश्वदेवता)-की सेवा करता हूँ, जिससे तुम सबके हृदयोंमें सम्यक् मिलन हो, मनोंमें सम्यक् मिलन हो और द्वेषभाव दूर हो जाय। गाय जिस प्रकार अपने नवजात बछड़ेके प्रति आकृष्ट होती है, तुम भी उसी प्रकार एक-दूसरेके प्रति आनन्दपूर्वक आकृष्ट होओ॥ १॥ पुत्र पिताके कल्याणव्रतका अनुसरण करे, माताके साथ एकमना हो जाय, स्त्री मधुमती वाक्के द्वारा स्वामीके चित्तको शान्तिमय करे॥ २॥ भाई भाईसे द्वेष न करे, बहिन बहिनसे द्वेष न करे। सब-के-सब एक लक्ष्य-साधनमें, एक व्रत पालनमें सम्मिलित होकर सुभद्र वाक्यसे परस्पर सम्भाषण करें॥ ३॥ जिस प्रकार 'ब्रह्म' या ईश्वरभावनाके बलसे देवगण परस्पर विच्छिन्न नहीं होते, कोई किसीसे विद्वेष नहीं करते, सारे मनुष्योंके लिये उसी प्रकार एक मतिका सम्पादन करनेवाले सम्यक् ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली ब्रह्मभावनाकी विधि प्रणयन करके मैं तुम्हारे घर-घरमें प्रतिष्ठित करता हूँ॥ ४॥ एकमना होकर ज्येष्ठ-कनिष्ठ नियमके अनुसार, एक लक्ष्य-साधनके उद्देश्यसे प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने कार्यभारको वहन करे। परस्पर विच्छिन्न न होओ, परस्पर प्रिय सम्भाषण करते-करते अग्रसर होओ। मैं तुमलोगोंको एक लक्ष्यमें निबद्धदृष्टि तथा एकमना होनेके लिये आह्वान करता हूँ॥ ५॥ एक ही पौसलेमें तुम सब जल पियो, एक ही अन्नसत्रमें भाग करके अन्न भोग करो। मैं तुम सबको एक ही स्नेह-रज्जुमें एकत्र सम्बन्धित करता हूँ। एक ही लक्ष्यसे आबद्ध होकर तुम सब अग्निदेवकी परिचर्या करो। रथचक्रके अरे जिस प्रकार एक ही धुरीको केन्द्रित करके अपना-अपना कार्य करते हैं, तुम सब भी उसी प्रकारसे एक ही सुमहान् आदर्शसे अनुप्राणित होकर, एक ही परम देवताको जीवनके केन्द्रमें सुप्रतिष्ठित रखकर, अपने-अपने व्रतोंका सम्पादन करते हुए उनकी सेवा करो॥ ६॥ एक ही संवनन अर्थात् साम्यसाधक स्तोत्रके द्वारा मैं तुम सबको एक लक्ष्यके साधनमें एकमना करता हूँ। सब एकान्न-भोजी बनो। स्वर्गके अमृतकी रक्षामें जिस प्रकार सारे देवता एकमना होते हैं, उसी प्रकार अखण्ड मानवताके आदर्शकी रक्षामें तुम सबमें रात-दिन निरन्तर ऐकमत्य प्रतिष्ठित रहे॥ ७॥

भारतीय संस्कृतिकी मूलधारा

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

संस्कृति किसी देश या जातिकी आत्मा है। इससे उसके उन सब संस्कारोंका बोध होता है, जिसके सहारे वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवनके आदर्शोंका निर्माण करता है। यह विशिष्ट मानवसमूहके उन उदात्त गुणोंको सूचित करती है, जो मानव-जातिमें सर्वत्र पाये जानेपर भी उस समूहकी विशिष्टता प्रकट करते हैं और जिनपर उनके जीवनमें अधिक जोर दिया जाता है।

अपने दीर्घ अनुभव, तपःपूत ज्ञान और चिन्तनद्वारा भारतके आत्मदर्शी ऋषि इस निष्कर्षपर पहुँचे थे कि आत्मानुभव, आत्मसाक्षात्कार, आत्मदर्शन ही मानव-जीवनका परम पुरुषार्थ है। जीवन और जगत्में दो प्रकारके तत्त्व हैं। एक वह जो नित्य परिवर्तनशील है, जो प्रतिक्षण बदल रहा है; दूसरा वह जो इस परिवर्तनके मूलमें है, अव्यक्त है पर उसीके कारण और उसीको लेकर जगत्की सम्पूर्ण दृश्य वस्तुओं, सम्पूर्ण व्यक्त पदार्थोंका अस्तित्व है। जगत्के पीछे जो यह महती अव्यक्त शक्ति है, उसका उद्घाटन करने और उसे अनुभव तथा धारण करनेसे यह ऊपरसे असहाय, दुर्बल अशक्त दीखनेवाला मानव-जीवन असीम कल्याणकारी शक्ति एवं वैभवसे पूर्ण हो सकता है। हमारे पीछे शक्तिका जो अमित कोष छिपा हुआ है, उसकी खोज और सिद्धिसे ही मानव-जीवनका आदर्श पूर्ण हो सकता है। भारतीय सामाजिक जीवनकी विविध श्रेणियाँ अपनी शक्ति और मर्यादाके अनुसार इसी दिशामें, इसी गन्तव्य स्थलकी ओर परिचालित की गयी थीं।

दृष्टिदोषके कारण अथवा इस संस्कृतिके मूल अनुबन्धको न समझ सकनेके कारण अनेक छिद्रान्वेषी आलोचक यह आक्षेप करते हैं कि भारतीय संस्कृति स्वप्नों और कल्पनाओंकी अस्थिर भूमिपर खड़ी है और जगत्की ठोस भूमिसे उसका सम्बन्ध ही मिट गया है।

यह सर्वथा मिथ्या धारणा है। भारतीय संस्कृति खड़ी तो इसी भूमिपर है, परंतु उसका सिर आकाशकी ओर उठा है। मानव चलता जमीनपर है, पर देखता सामने या ऊपर है—उसका सिर ऊपरकी ओर उठा है। भारतीय संस्कृति भी जीवनके अन्तरिक्षको भेदकर उसके अनन्त रहस्योंको जाननेके लिये विकल हुई थी। यह शुद्ध वैज्ञानिक वृत्ति थी। उसने अध्यात्मविद्यामें जो उन्नति की थी, उसमें पदार्थविद्याकी उपेक्षा न थी; बल्कि उसकी मूलप्रकृतिको जाननेके लिये यह आवश्यक था। उसने पदार्थविद्या, शासन-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, अर्थविद्या, शरीरशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, वास्तुकला, युद्धविद्या, जनन-विज्ञान आदि भौतिक विद्याओंके क्षेत्रमें कुछ कम प्रगति न की थी। वह वायु-विज्ञानकी सहायतासे समय और दूरीके व्यवधानपर विजय प्राप्त कर सकी थी; वह सूर्य-विज्ञानके द्वारा वस्तुओंके रूपको तुरंत बदल देने, एक जातिके पदार्थको दूसरी जातिमें बदल देने, लोहेको सोना करने और मृत्युपर भी एक सीमातक विजय प्राप्त करनेमें समर्थ हुई थी; उसकी समाज-व्यवस्थामें व्यक्तिके विकासकी सम्पूर्ण सुविधाओंके होते हुए भी समाज या समूहके अन्तिम हितकी भावना प्रधान थी; उसकी अर्थविद्या समाजके शोषणका कारण न बनकर उसके संरक्षण और संवर्द्धनका साधन बन सकी थी; धनने जीवनपर प्रभुत्व न प्राप्त किया था। हठयोगियोंने शरीरकी अनेक ऐसी शक्तियों एवं शक्ति-संस्थानोंका पता लगाया था, जिनका ज्ञान आधुनिक शरीरशास्त्रियोंको अबतक नहीं लग सका है अथवा किसी अंशमें लगनेपर भी वे उनका उपयोग नहीं जान पाये हैं। जीवनका कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था, जो उसने अछूता छोड़ा हो। हाँ, एक बात अवश्य थी। इन सब शास्त्रों अथवा विज्ञानोंके मूलमें उसी परम पुरुषार्थ या आदर्शकी प्रेरणा थी। सब विद्याएँ उसी ओर प्रधावित थीं। सबका आधार वही था। जीवनका यह आध्यात्मिक आधार ही भारतीय संस्कृतिकी विशेषता थी।

मानवसमाजमें दो प्रकारकी प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। एकको हम केन्द्रोन्मुखी ('सेन्ट्रीपेटल') प्रवृत्ति कहते हैं और दूसरीको वृत्तोन्मुखी। पहली परिधि या वृत्तिसे केन्द्र-बिन्दुकी ओर जाती है; वह कहीं रहे, केन्द्रके साथ वह बँधी है, केन्द्रमें ध्यानस्थ है। दूसरी वह, जो केन्द्रसे परिधिकी ओर जाती है। भारतीय संस्कृति अपने मूलरूपमें केन्द्रोन्मुखी रही है। वह जगत्‌में रहकर भी आदर्शोन्मुख है; वह बाहर रहकर भी अन्तःस्थ, आत्मस्थ है। इसके विरुद्ध पाश्चात्त्य संस्कृति बाह्यप्रसारी है; वह बाहरकी ओर जाती है; केन्द्रसे दूर फैलनेकी ओर उसकी प्रवृत्ति है।

इन दो भिन्न प्रवृत्तियोंसे दो सभ्यताओंका जन्म हुआ है। जब प्रवृत्तियाँ मूलतः भिन्न थीं तो उनकी साधनाके रूपोंमें भी भिन्नता आयी। भारतीय संस्कृति आचरणप्रधान हुई; उसमें अन्तर्वृत्तियोंके उत्कर्षपर जोर दिया गया; उसमें समाजकी प्रत्येक इकाई या घटकसे आत्मशुद्धिकी आशा पहले की गयी; उसमें व्यक्तिके जीवनको त्यागकी ओर बढ़ाया गया। क्योंकि त्याग और आत्मनियन्त्रण एवं आत्मशुद्धिके बिना समाजके घटकोंमें सच्चे सामाजिक कल्याणकी भावना तथा तदनुकूल आचरणका होना कठिन है।

इसके विरुद्ध ग्रीक या पाश्चात्त्य संस्कृति मनुष्यके सामूहिक सुधारपर अधिक जोर देती है। समाज-सेवा उसका मुख्य उद्देश्य है; पर आत्मशुद्धिके मुख्य दृष्टिबिन्दुपर जोर न देनेके कारण वहाँ व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण या नीतिमें बहुत बड़ा अन्तर आ गया और धीरे-धीरे संस्कृति विकृत होकर नष्ट हो गयी। जब व्यक्ति अपने सुधार, अपने दोष-निवारणकी ओरसे आँखें मूँद लेता है, अथवा अपनी चरित्रगत दुर्बलताओंकी ओरसे उदासीन हो समाजके उद्धारका प्रयत्न करता है, तब सभ्यताका भ्रष्ट और विकृत होना स्वाभाविक है। इसके विरुद्ध जब समाजका प्रत्येक घटक आत्मशुद्धिपर ध्यान देता है, स्वार्थवृत्तिपर नियन्त्रण रखता है, तब सम्पूर्ण समाज अपने-आप निर्मल हो जाता है। लड़कपनमें मैंने बीरबलकी बुद्धिके चमत्कारके सम्बन्धमें अनेक कहानियाँ सुनी थीं। इन्हींमेंसे एक कथामें कहा गया था कि एक बार बीरबलकी सलाहसे अकबरने नगरके किनारेपर तालाब खुदवाया और प्रत्येकको आज्ञा दी गयी कि रातको एक-एक घड़ा दूध उसमें छोड़ दे। योजना यह थी कि एक दूधका तालाब दूसरे दिन तैयार हो जायगा। पर दूसरे दिन सुबह जब अकबर बीरबलके साथ वहाँ पहुँचे तो देखा कि तालाब जलसे पूर्ण है और दूधका नाम नहीं। बात यह थी कि प्रत्येकने सोचा कि सब तो दूध डालेंगे ही, यदि मैं एक घड़ा पानी डाल दूँगा तो उतने दूधमें क्या पता चलेगा। जहाँ व्यक्ति अपनी ओर नहीं देखता, आत्मशुद्धिसे प्रेरित नहीं होता, वहाँ यही स्थिति होती है।

हमारी समाज-व्यवस्थामें श्रमिकसे लेकर ज्ञानदातातक

(शास्त्रकी शब्दावलीमें शूद्रसे ब्राह्मणतक) सबकी उपयोगिता थी; सबको उचित स्थान मिला था। पर क्षत्रिय और वैश्यवर्ग (अर्थात् शासन और धनसत्ता) मिलकर भी ज्ञानदाताको उसके सर्वोच्च स्थानसे नीचे न गिरा सके थे। जिस वर्गमें त्यागकी जितनी ही क्षमता थी, उसे समाजमें उतना ही ऊँचा स्थान मिला था; उसके शब्द उसके आदेश उतने ही मान्य थे। समाजनीतिका नियन्त्रण राजाके हाथमें न था, बल्कि उन महात्माओंके हाथमें था, जो अपने सुखोपभोगकी समस्त बाह्य सामग्रियों एवं सुविधाओंका त्याग करके केवल आत्मचिन्तन तथा अपने अनुभव एवं ज्ञानसे समाजके कल्याणके लिये जीते थे; जो समाजसे कम-से-कम लेते थे और अधिक-से-अधिक देते थे; जिनको स्वयं किसी बाह्य सुविधा या अधिकारकी आवश्यकता न थी; शासन-शक्तिके लिये भी उनके पथ-प्रदर्शनकी अवहेलना सम्भव न थी। यही आत्मबलकी प्रतिष्ठा, संसारकी सम्पूर्ण शक्तियों वा शक्ति-केन्द्रोंके ऊपर साधुत्व, त्याग, तपकी प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृतिकी मुख्य विशेषता रही है। समाज जीवनके आदर्शों और उच्च प्रेरणाओंके लिये ऋषियों और तपस्वियोंकी ओर देखता था। त्याग, न कि भोग, जीवनका आदर्श या प्राप्य था।

तब क्या हमारी संस्कृति व्यष्टिधर्मी थी? क्या उसमें समाज-धर्मके प्रति उदासीनताका भाव था? नहीं। इस विषयमें भी वह मानव-प्रकृतिमें निहित सत्योंके मूलमें प्रविष्ट हुई थी। समाजका मूल मनुष्यका 'स्व' है। यह अहंताका भाव ही जीवन तथा उसकी समस्त प्रेरणाओंका आधार है। मनुष्य जो कुछ करता है, अपने इसी 'स्व' को लेकर करता है। जगत्के सारे सम्बन्ध आत्मरूपको लेकर हैं। 'स्व' में मनुष्यका जो प्रेम है, उसीसे वह टिका हुआ है। इसलिये 'स्व' का विरोध नहीं, बल्कि उसका अनुभव एवं संस्कार ही समाजके हितकी दृष्टिसे वांछनीय है। सामाजिक कल्याण या परम पुरुषार्थके लिये इस 'स्व' का संस्कार करके इसे उच्च मनोभूमिकाओंपर स्थापित करनेकी आवश्यकता पड़ती है। इसके लिये क्षुद्र 'स्व' और महत् 'स्व' को एकत्र करना पड़ता है। क्षुद्र 'स्व' महत् 'स्व'का विरोधी नहीं, बीजरूप है। जैसे जरासे बीजमें सम्पूर्ण वृक्ष समाया हुआ है, तैसे ही क्षुद्र (यानी व्यक्तिके) 'स्व' में महत् 'स्व' घनीभूत एवं अन्तर्निहित है। ज्यों-ज्यों क्षुद्र 'स्व' का शोधन एवं संस्कार होता है, उसमें महत् 'स्व' की अनुभूति बढ़ती जाती है, आदमी स्वार्थसे ऊँचा उठता है और अन्तमें यही क्षुद्र 'स्व' विराट् 'स्व' में बदल जाता है। तब प्राणिमात्रसे अभिन्नता एवं परम ऐक्यकी अनुभूति होती है। इस प्रकार विश्वप्रेमकी सिद्धि होती है। इस आध्यात्मिक भावनाद्वारा समाजकी विभिन्न श्रेणियोंमें सामंजस्य स्थापित किया गया था और व्यक्ति तथा समाजकी तात्त्विक अभिन्नताका अनुभव किया गया था।

विद्या, धन और शक्तिकी अवज्ञा हमारे यहाँ नहीं की गयी। इनकी आवश्यकता औसत दर्जेके व्यक्ति, वर्ग या समाजको है; पर इनका उपयोग मनुष्य किस प्रकार करता है, इसे देखकर ही उसकी संस्कृतिका अनुमान लगाया जाता है। रावण ब्राह्मण था, परम विद्वान् था, शक्तिमान् भी था। उसने विद्या और शक्तिका दुरुपयोग किया, इसलिये राक्षस कहलाया। जब मनुष्य धनसे पर-पीड़न करता है तो कोई भी उसे उच्च संस्कृतिका नहीं कहता। आज संसारमें विद्याकी कमी नहीं, शक्तिकी कमी नहीं, धनकी कमी नहीं; तब भी इनके द्वारा मानव-जाति और मानव-शक्तियोंका भयंकर विनाश हो रहा है। पश्चिमके बड़े-बड़े वैज्ञानिक अत्यन्त भयंकर आविष्कारोंके द्वारा मानव-जातिके भविष्यको खतरेमें डाल रहे हैं। यह विद्याका व्यभिचार है। इसे संस्कृति नहीं कह सकते। भारतवर्षमें इन साधनोंपर साधुत्वका, आत्मबलका नियन्त्रण सिद्ध करता है कि हमारी संस्कृति न केवल श्रेष्ठ थी, बल्कि व्यावहारिक दृष्टिसे भी उसने श्रेष्ठ उदाहरणों एवं प्रतीकोंको जन्म दिया था। विद्या, धन और शक्तिके उचित उपयोगके लिये ही हमारे यहाँ उसे आध्यात्मिक आधारपर प्रतिष्ठित किया गया था।

यह इसी आध्यात्मिक अधिष्ठानका परिणाम है कि मैक्समूलरके शब्दोंमें 'प्राचीन वंश विनष्ट हुए, परिवारोंका ह्रास हुआ, नये साम्राज्योंकी नींव पड़ी; किंतु इन आक्रमणों और हलचलोंसे हिंदुओंके आन्तरिक जीवनमें परिवर्तन नहीं हुआ।' युग बीतते गये हैं, क्रान्तियाँ और खण्ड-क्रान्तियाँ हुई हैं, अनेक जातियाँ बाहरसे आयी हैं; किंतु भारतीय संस्कृतिकी मूलधारा आजतक वही है—आत्मशुद्धि, त्याग और तपके जीवनद्वारा सच्ची सामाजिक सभ्यताकी सिद्धि।

हमारे धर्ममें, हमारी समाज-व्यवस्थामें, हमारे शिक्षाक्रममें, हमारे चिकित्साशास्त्रमें, हमारे साहित्य और

हमारी कलामें जीवनकी इसी उदात्त कल्पना और संस्कृतिकी धारा है—अन्धकारसे उठकर प्रकाश, असत्यसे सत्य और मृत्युसे अमरत्वके स्रोतकी ओर यात्रा करनेकी वृत्ति। जीवनकी सार्थकता त्यागमें, आत्मार्पणमें, अपनेको देनेमें है—यही सन्देश हमारी संस्कृतिका सन्देश है।

क्या इसका अर्थ निष्क्रियता है? क्या इसका अर्थ जीवनकी प्रेरणाओंकी उपेक्षा है? क्या इसका अर्थ अकर्मण्यता है? हमारे जीवनमें आज निष्क्रियता और अकर्मण्यता आ गयी है। हम जीवनकी महती प्रेरणाओंसे दूर हो गये हैं। पर इसका कारण यह है कि हम आत्म-विस्मृत, बेसुध, अपनी संस्कृतिके आदर्शोंकी ओरसे आँखें मूँदे बैठे हैं। अन्यथा उत्तरोत्तर जीवनके शोधमें आत्मार्पण, जीवनपर परम नियन्त्रणकी स्थापना, मृत्युपर विजय, स्वार्थपर लोक-कल्याणके आदर्शकी प्रतिष्ठा—यही तो हमारी संस्कृति है। पहले अपनेको निर्मल करो, फिर निर्मल अन्तःकरणको जगत्‌के हितमें लगाओ—आत्मानुभव एवं आत्म-दर्शनमें लगाओ, यही हमारी संस्कृतिकी अमर वाणी है। वही वाणी, जो शताब्दियोंसे मानवताके हृदयको पुकार रही है—'सब सुखी हों, सब निरामय हों, सब श्रेयको देखें।'

हिंदू-संस्कृति

(लेखक—म० श्रीशम्भूदयालजी मोतिलावाला)

हिंदू-संस्कृतिके गुण

हिंदू-संस्कृतिके प्रवर्तक वे महापुरुष हैं, जिन्होंने ईश्वर और प्रकृतिके रहस्यको आदिसे अन्ततक अनुभव कर लिया था, जो जीवत्वसे ब्रह्मत्वको प्राप्त कर चुके थे। इसलिये इस संस्कृतिमें जीवको परमानन्दमें लय करनेके गुण हैं।

कामना ही भले या बुरे कार्यमें ले जानेवाली है

ईश्वर महान् और आनन्दमय है। कामना ईश्वरकी ही ज्योति है, अतः कामनाका 'बड़ाई' तथा 'स्वाद' में रहना स्वाभाविक है। लेकिन जब कामना मिथ्या भोगोंमें फँसकर उन्हींमें 'स्वाद' या 'बड़ाई' का रसास्वादन करती है तो वह अपने गुणोंको मिथ्या (संसार)-में समझकर, उन मिथ्या भोगोंका अधिकाधिक निर्माण करती है और फलतः दुःख भोगती है। हिंदू-संस्कृति कामनाको इस भ्रान्तिसे बचाकर वास्तविक मार्गपर चलनेका अभ्यास कराती है। तब इसे वस्तुतः सुख प्राप्त होता है।

सत् और असत् पथोंकी व्याख्या

हिंदूधर्ममें पुण्य और पापके ये मार्ग कहे गये हैं।

पुण्यमार्गकी सीढ़ियाँ—

(१) तन, मन तथा इन्द्रियोंको प्राकृत ढंगसे भीतर-बाहरसे पवित्र रखते हुए अपने वशमें करके युक्तिपूर्वक सत्कार्योंमें लगाना।

(२) नित्य परोपकार करना।

(३) जीवोंपर दया करना और यथाशक्ति सत्पात्रको दान देना आदि...।

पापके मार्गकी सीढ़ियाँ—

(१) तन, मन तथा इन्द्रियोंको मलिन करना और अपने वशसे बाहर होने देना तथा असन्तोषको बढ़ाना।

(२) झूठ, चोरी और लूट आदि करना।

(३) हिंसा करना।

तात्पर्य यह कि जिस विचार या कार्यसे परिणाममें अपने और दूसरे प्राणियोंमें सुख-शान्तिकी वृद्धि हो, वह पुण्यमार्ग है और जिस विचार या कार्यसे अपने अथवा दूसरे प्राणियोंके दुःख एवं द्वन्द्व बढ़ें, वह पाप-मार्ग है।

सद्ग्रन्थोंमें पुण्य-पापकी विस्तारसे व्याख्या की गयी है। ऐसे बहुत अधिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इतनेपर भी जैसे वैद्यके बिना औषधका ठीक उपयोग नहीं होता, वैसे ही मर्मी व्याख्याताके बिना ग्रन्थोंकी दशा होती है। हिंदूधर्मके जिन आदेशों (आर्डिनेन्सों)-में अपराधियोंके लिये इस लोक और परलोकमें भय बताया गया है, उन आदेशोंका आजकलके लोग उपहास करते हैं और कहते हैं—'इनसे वहम (भ्रम) होता है और वास्तविकता दब जाती है।' उनको यह पता नहीं कि भ्रम होता ही अपराधीको है और ये आदेश ग्रन्थ (शास्त्र) अपराध करनेसे मनुष्यको रोकते हैं। इनसे वास्तविकता दबती नहीं, उलटे अधिक अच्छी तरह प्रकाशमें आती है। वास्तविकता मायाके आवरणमें ही पक्व होती है। पक्व होनेपर वह स्वतः आवरणको दूर फेंक देती है। जैसे शिशु गर्भाशयमें पकता है, पक्षी

अण्डेमें पकता है, अन्न फलियोंमें पकता है, इसी प्रकार ज्ञान समाधिमें पक्व होता है। वास्तविकता निरपराध स्थितिमें परिपक्व होती है और निरपराध स्थिति इन पापसे डरनेवाले (शास्त्रीय) ग्रन्थोंसे दृढ़ होती है। निरपराध अन्त:करण निर्मल हो जाता है। निर्मल हृदयमें भक्तिका प्रवाह उमड़ता है और फलत: भक्त साकार ईश्वरको प्राप्त कर लेता है। इस दुनियाके विषयी 'अहरन चोर' (छली) प्राणी भक्त नहीं हो सकते। उनकी कूपमण्डूकी बुद्धि अपने अहंकारमें घिरी हुई इस संसाररूपी कुएँमें ही चक्कर लगाती रहती है।

अनुशासन

हिंदू-संस्कृतिका अनुशासन फौजी या पुलिसका अनुशासन नहीं, वह प्रेमका अनुशासन है। प्रेममें स्वार्थ-कामना नहीं होती। प्रेममें आत्मसमर्पण किया जाता है। त्याग और उपकारकी बड़ी महिमा है इस संस्कृतिमें। त्याग—हठपूर्वक धर्म या कर्तव्यका त्याग त्याग नहीं है। त्यागका अर्थ है—मायामें फँसा जीव आसक्तिके बन्धनोंको युक्तिपूर्वक शिथिल करता हुआ कामनाओंको छोड़ दे और जिस कर्तव्यका संकल्प किया हो, उसे पूर्ण करके या उसका उचित समाधान करके नवीन संकल्पोंको प्रारम्भ न करे। जिनकी आशा अपनेसे बँधी है, उन्हें यथासम्भव निराश न करे।' इस त्यागसे भी दयाका महत्त्व अधिक है। संतवाणी है।—*'दया बिनु संत कसाई।'*

किसीकी अनुचित कामनाकी सामग्रीको बढ़ा देना दया नहीं है। ऐसी दयाका अर्थ तो है कि किसी विवश जीवके बन्धन-यन्त्रके कल-पुर्जे और बिगाड़कर उसके छूटनेमें रुकावट कर दी गयी। दया है जीवको बन्धनोंसे छूटनेकी ओर प्रेरित करनेमें।

यह अनुशासन, जो प्रेम, त्याग और दयापर स्थित है, 'हिंदूकोड' या ऐसे किसी 'बिल' की अपेक्षा नहीं करता। विदेशी सभ्यतामें रँगे लोगोंको चाहिये कि वे कामनाको बढ़ाकर इस ऋषिभूमिके निर्मल प्रेमको दूषित न करें। प्रेमके अमृत-स्वादके सम्मुख कामना-वेश्याके विषय तुच्छ हैं। भारत उस निर्मल प्रेमका आराधक है, जहाँ दो भाइयोंके प्रेममें अयोध्याका राज्य चौदह वर्षतक गेंदके समान लुढ़कता रहा। इस प्रेममें राज्य या वैभवके लोभका लेश नहीं, अपने 'स्वत्व' का प्रश्न नहीं। यह वह आदर्श है, जिसमें पतिके वियोगमें दमयन्ती अपने पिताके राजभवनमें भी जंगली फल-फूलपर निर्वाह करती है। इस प्रेमका दिव्य अनुशासन है—

'बेटा-बेटी माँ-बापके, छोटा भाई बड़े भाईका, बहू सास-श्वशुरकी, देवरानी जेठानीकी, पत्नी पतिकी, देवर तथा छोटी ननद भाभीके—इस प्रकार सब छोटे अपने गुरुजनोंके आज्ञाकारी सेवक हैं।'

कन्या माता-पिताके घरमें देवी है, पतिके घरमें लक्ष्मी है, पुत्रोंके समीप जगदम्बा है। इस संस्कृतिमें स्त्री प्रत्येक स्थानपर आदरणीया है। इस संस्कृतिमें कामनाका मुख बँधा हुआ है। पुरुषके लिये अपनी पत्नीके अतिरिक्त शेष सभी स्त्रियोंको माँ, बहिन या बेटी समझनेकी शिक्षा दी गयी है। विवाहके समय इसीलिये गोत्र, शासन आदि बड़ी सावधानीसे देखे जाते हैं कि लड़की कहीं किसी दूर सम्पर्कमें भी बहिन तो नहीं होती!

व्यवहारमें जाति-पाँतिका विचार चलनेपर भी सब गाँवभरमें चाचा, ताऊ, बुआ, बहिन कहकर पुकारते हैं। इसमें जातिका कोई भेद नहीं है। प्रत्येक जातिका वृद्ध आदरणीय होता है। सेवक अपने स्वामीको पिताके समान और स्वामी सेवकको पुत्रके समान समझता है। यही पिता-पुत्र-सम्बन्ध गुरु तथा शिष्यका चलता है। जब हिंदू-संस्कृतिका बोलबाला था, प्रेमके इस अनुशासनमें न तो 'हड़तालें' होती थीं और न 'कान्फ्रेन्स' की नौबत आती थी। श्रीरामने पिताकी आज्ञासे राज्य छोड़ दिया और प्रजाके प्रेमवश पत्नीको वनवास दे दिया। हरिश्चन्द्रने अपने सेवक-धर्मके कारण अपने ही मृत पुत्रका कफन उतरवा लिया। जिस संस्कृतिके पाये इतने दृढ़ एवं कामनारहित हों, उसे विदेशी आक्रमण कैसे मिटा सकते थे।

सब जातियाँ कर्तव्य तो अपनी जातिका पालन करती थीं, परंतु एक जातिसे दूसरी जातिका सम्बन्ध भाई-भाई-जैसा था। प्रेमके कारण छोटे-बड़ेका भाव नहीं था। न तो परस्पर द्वेष था और न एक-दूसरेकी निन्दा करता था। हिंदुत्वके अनुशासनमें कुम्भ-जैसे मेलोंपर सब एकत्र स्नान करते थे। पूँजीपति अपना सर्वस्व दीनोंको लुटाकर कंगाल बन जानेमें गौरव मानते थे। दीपावलीपर एक समान सारे घरोंपर दीपक जगमग करते थे। करवा चौथको भारतकी समस्त स्त्रियाँ चन्द्रमाको अर्घ्य देकर एक साथ एक समय अपने-अपने घरोंमें मुखमें ग्रास उठाती थीं। कितनी बड़ी जन-संख्या प्रेमके कारण एकभावमें गुँथी थी। जहाँ भावोंमें

विरोध न हो, वहाँ 'टंटा' (झगड़ा) क्या। प्रेमने सबको एक सामंजस्यके साथ अपने-अपने कर्तव्योंमें बाँध रखा था। वहाँ द्वेषके लिये अवकाश नहीं था।

तात्पर्य

यह सम्पूर्ण संसार सनातन देवता अर्थात् 'राम' की प्रकृति है, यही रामका राज्य है। इसकी गद्दीपर बैठकर ठीक-ठीक राज्य वही कर सकता है, जो रामसे अभिन्न हो चुका हो। जो ज्ञानी—आत्मानुभवी हो। उसके अधिकारी—कर्मचारियोंमें ये गुण होने चाहिये—

१. किसीसे वैरभाव न हो।
२. अपने पदका अभिमान न हो।
३. न्याय करनेमें भयभीत न होता हो।
४. प्राणिमात्रपर दयाभाव रखता हो।
५. हिंसा करनेवाला न हो।
६. सत्य सहज प्रिय हो।
७. क्रोध करनेवाला न हो।
८. त्यागी हो।
९. किसी प्रकारकी लालसा न रखता हो।
१०. ईश्वरविश्वासी और निर्मल अन्तःकरणका हो।

भारत अब स्वतन्त्र हुआ है; परंतु इसे अभी विदेशी संस्कृतियोंके प्रभावोंसे स्वतन्त्र होना है। कामनाके पीछे दौड़नेवाले देशोंकी झूठी चमकमें भारतको नहीं फँसना चाहिये। जैसे इन्धनसे अग्निकी ज्वाला शान्त नहीं होती, ऐसे ही नये-नये आविष्कारों और भोगोंसे इन्द्रियोंकी तृप्ति नहीं होगी। जो परमाणु बमसे रक्षाकी बात सोचते हैं, उन्हें ज्ञात नहीं कि बाहरी किलेबंदी कुछ नहीं कर सकती, जब कि कामनाका सर्प आस्तीनमें छिपा है। युक्त आहार-विहारकी चेष्टा ही शान्तिप्रद है। भारत सदासे शौच, स्नान, जप, तप, व्रत आदि प्राकृतिक नियमोंसे पंचतत्त्वोंका शोधन करता आया है। यही सुख-शान्ति पानेका सच्चा आविष्कार है। इसी संयमके कारण यहाँ ग्रामके शाकपातको स्वीकार करके, गायोंको चराता अखिलेश गोपाल बना पोले बाँसके छिद्रोंमें स्वतः अपना रहस्य गाया करता था—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

(गीता १४।३)

विदेशी संस्कृतिके अनुयायी अरब-खरबपति सिनेमाकी बन्द खिड़कियोंमें, मखमलकी गद्दियोंपर बैठकर इस महान् तत्त्वज्ञानका स्वप्न भी नहीं देख सकते। यह तो आज भारतके लिये सोचनेकी बात है कि सुसंस्कृत कौन है, सुसभ्य कौन है। इधर-उधर भटकनेवाली अन्य संस्कृतियोंके पीछे भटककर सम्पूर्णांग समुज्ज्वल हिंदू संस्कृतिकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये।

संस्कृतिकी समस्या

(लेखक—पं० श्रीगंगाशंकरजी मिश्र, एम०ए०)

प्रत्येक देशकी प्राचीन संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज, धार्मिक कृत्य, कला, साहित्य आदिमें कुछ ऐसी बातें अवश्य मिलती हैं, जो भारतीय-सी जान पड़ती हैं। प्रायः सभी प्राचीन धर्मग्रन्थों तथा दर्शन-शास्त्रोंमें यत्र-तत्र प्राचीन भारतीय सिद्धान्त बिखरे हुए मिलते हैं। इनके एक नहीं, अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। इसी अंकके कई लेखोंमें यही दिखलाया गया है। देखना यह है कि यह समता आयी कैसे? इस सम्बन्धमें तीन ही बातें सम्भव हैं। एक तो यह कि विभिन्न देशोंमें स्वतन्त्र रीतिसे लोगोंके मस्तिष्कमें वैसी ही बातें आयीं। दूसरे यह कि वे किसी तरह भारतसे उन देशोंमें गयीं। इसीमें या तो भारतीयोंने उन देशोंमें जाकर अपनी संस्कृतिका प्रचार किया या वहाँके लोग भारत आकर यहाँकी कुछ बातें अपने साथ ले गये। तीसरे यह कि विभिन्न देशोंसे वे बातें भारतने ही लीं। पाश्चात्त्य विद्वान् प्रायः तीसरी ही बात मानते हैं। बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखकर उन्होंने सिद्ध किया है कि प्राचीन मिस्र, चीन, यूनान आदिसे भारतने क्या-क्या सीखा। ईसाई तथा इस्लामधर्मका वह कितना ऋणी है। एकसे उसने भक्ति, तो दूसरेसे उसने अद्वैतकी शिक्षा प्राप्त की। पर यदि यह दिखाया जा सके कि भारतीय संस्कृति ही सबसे प्राचीन है और उसीके आधारपर अन्य देशोंकी संस्कृति विकसित हुई, तो इस मतका स्वतः खण्डन हो जाता है। उसके साथ ही प्रथम मत भी नहीं ठहरता, क्योंकि सबसे प्राचीन एक संस्कृति हो जानेपर अन्य संस्कृतियोंके साथ किसी-न-किसी रूपमें

उसका सम्पर्क सिद्ध हो ही जाता है। संस्कृतिके इतिहासकारोंमें एक मत ऐसा अवश्य है कि विभिन्न देशोंकी संस्कृतिका विकास स्वतन्त्र रूपसे हुआ। पर उसके माननेवाले इने-गिने विद्वान् हैं। अधिकांश विद्वानोंका यही मत है कि विभिन्न संस्कृतियोंका कुछ-न-कुछ परस्पर सम्बन्ध अवश्य है। अन्ततः केवल दूसरा ही मत रह जाता है और उसके विवेचनमें देखना होगा कि विभिन्न देशोंकी संस्कृतियोंमें भारतीय संस्कृतिका समावेश कैसे हुआ।

इसपर विचार करनेके लिये हमें अपने प्राचीन इतिहासको ही आधार मानना पड़ेगा। पाश्चात्त्य विद्वानोंद्वारा लिखे इतिहासके आधारपर हम नहीं चल सकते, क्योंकि उनका मत तथा उनकी शैली भिन्न है। प्रस्तुत विषयपर विचार करनेमें सबसे प्रथम यही प्रश्न उठता है कि क्या मानव-सृष्टि किसी एक ही स्थानपर हुई और धीरे-धीरे मनुष्य सभी भू-भागोंपर फैल गये या विभिन्न भूखण्डोंमें समय-समयपर स्वतन्त्र रीतिसे मानव-सृष्टि हुई? हमारे यहाँके इतिहासको पहला ही मत मान्य है। पुराणोंमें जो सृष्टिक्रम दिया गया है, उससे यही सिद्ध होता है कि प्रथम मानव-सृष्टि भारतमें हुई और उसका विस्तार समस्त संसारमें हुआ। पुराणोंके अनुसार पहले महाशक्तिमान् नारद, मरीचि, वसिष्ठ आदि ब्रह्माके दस मानस पुत्र हुए, पर वे सृष्टिका विस्तार नहीं कर सके। ब्रह्माजी तब इस सोचमें पड़ गये कि सृष्टिका सन्तोषजनक विस्तार किस प्रकार हो। इसी समय उनका शरीर दो भागोंमें विभक्त हो गया और उनसे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा उत्पन्न हुआ। उसमें पुरुष स्वायम्भुव मनु और स्त्री उनकी रानी शतरूपा हुईं। तबसे मैथुन-धर्मद्वारा प्रजा बढ़ने लगी। स्वायम्भुवने शतरूपासे पाँच सन्तानें उत्पन्न कीं, जिनमें प्रियव्रत और उत्तानपाद नामके दो पुत्र और आकूति, देवहूति तथा प्रसूति—तीन कन्याएँ हुईं। उनमेंसे मनुने आकूतिका मरीचि प्रजापति, देवहूतिका कर्दम प्रजापति और प्रसूतिका दक्ष प्रजापतिके साथ विवाह कर दिया। उन्हींकी उत्पन्न सन्तानोंसे समस्त संसार भरा हुआ है। भागवतके तीसरे स्कन्धमें इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। पाँचवें स्कन्धमें बतलाया गया है कि पृथ्वीपर राजा प्रियव्रतके रथके पहियेकी लीकसे किस तरह सात समुद्र और सात द्वीपोंकी रचना हुई। चतुर्थ स्कन्धमें बतलाया गया है कि राजा पृथुके पहले इस भूमण्डलपर कहीं भी पुर, ग्रामादिकी कल्पना नहीं थी। पिताके समान प्रजाओंको जीविका देनेवाले महाराज पृथुने सब पृथिवीपर जहाँ-तहाँ ग्राम, पुर, नगर, दुर्ग, वीरोंके रहने योग्य स्थान, पशुशालाएँ, छावनियाँ, खानें, किसानोंके गाँव और पर्वतोंकी तलहटीमें बस्तियाँ बसाकर सबको यथायोग्य निवासस्थान प्रदान किया—

अथास्मिन् भगवान् वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता।
निवासान् कल्पयाञ्चक्रे तत्र तत्र यथार्हतः॥
ग्रामान् पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च।
घोषान् व्रजान् सशिबिरानाकरान् खेटखर्वटान्॥

(श्रीमद्भा० ४।१८।३०-३१)

इस तरह भारतसे ही मानव-सृष्टिका विस्तार अन्य भागोंमें हुआ। भारतवर्षमें भी मानव-सृष्टिका आरम्भ ब्रह्मावर्तमें माना गया है। यह प्रदेश देवताओंसे निर्मित और आध्यात्मिक बतलाया गया है। भगवान् राम, श्रीकृष्ण आदिके अवतार इसी प्रदेशमें हुए। हिंदू-धर्म तथा संस्कृतिके आधार वेद हैं, जो अपौरुषेय तथा नित्य माने जाते हैं। पाश्चात्त्य विद्वान् भी उन्हें सबसे प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं। जिन-जिन भूमियोंपर प्राचीन हिंदू आबाद होते गये, वहाँ उनके साथ वैदिक संस्कृति भी पहुँची। पर संसारका केन्द्र या हृदय भारत ही रहा। अपने शास्त्रोंमें उसे कर्मभूमि कहा गया है। अन्य देश तो केवल भोगभूमि हैं। कालान्तरमें भिन्न-भिन्न प्रदेशोंके जलवायुकी भिन्नताके कारण वहाँ जाकर बसनेवाले भारतीयोंके वर्ण और आकृतियोंमें भी भिन्नता आ गयी। जल-वायुका आचार-विचारपर भी प्रभाव पड़ा। आने-जानेकी असुविधाओंके कारण कई देशोंका भारतसे सम्पर्क छूट गया। इसका परिणाम यह हुआ कि शुद्ध आचार-विचारोंका पोषण बंद हो गया और रूप-रंग तथा रहन-सहनमें इतना परिवर्तन हुआ कि वहाँके प्रवासी भारतीय भारतमें विदेशी तथा भिन्न जातिके प्रतीत होने लगे। जब शरीरके किसी अंगको हृदयसे शुद्ध रक्त नहीं मिलता, तब उसकी क्या दशा होती है? कुरुक्षेत्रके आसपासवाले देशके सम्बन्धमें मनुका कहना है कि इस देशमें उत्पन्न ब्राह्मणद्वारा संसारके सब मनुष्य अपने-अपने चरित्रको सीखें—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

पर कई दृष्ट तथा अदृष्ट कारणोंसे यह न हो सका। जब शुद्ध भारतीय विचारधाराका उन देशोंमें जाना

रुक गया, तब वहाँके प्रवासी भारतीयोंका पतन होने लगा। अनुलोम, प्रतिलोम विवाह चल पड़े और कितनी ही संकर जातियाँ उत्पन्न हो गयीं। मनुके दसवें अध्यायमें ऐसी कई जातियोंका वर्णन है। वहाँ स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि क्षत्रिय जातिमें उपनयन आदि क्रियाओंके लोप होनेसे, याजन, अध्ययन, प्रायश्चित्त आदिके लिये ब्राह्मणोंके दर्शनका अभाव होनेसे वे शनैः-शनैः संसारमें शूद्रताको प्राप्त हुए। पौण्ड्र, चौण्ड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, खश—इन देशोंमें उत्पन्न होनेवाले क्षत्रिय क्रिया लोप होनेसे शूद्र हो गये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इनकी क्रिया लोप होनेसे जो बाह्य जातियाँ हुईं, वे सब म्लेच्छ-भाषासे अथवा आर्यभाषासे युक्त दस्युसंज्ञक कहाती हैं—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदा पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥
मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥

इस तरह आर्य कौन थे और भारतमें कब तथा कहाँसे आये, ऐसे प्रश्न ही नहीं उठते। विदेशी इतिहासकारोंने वृथा ही ऐसे पचड़े उठा रखे हैं और भारतीय विद्वान् भी उन्हींका अन्धानुकरण करते जा रहे हैं! पहले स्वयं मैक्समूलर भी कोई आर्य-जाति नहीं मानते थे। विभिन्न भाषाओंमें उन्होंने ऐसे शब्द देखे, जो संस्कृत रूपमें ही या संस्कृत धातुओंसे बने हुए जान पड़े। इसपर उन्होंने यह अनुमान लगाया कि कोई भाषा ऐसी अवश्य रही होगी, जिसके शब्दकोषसे संसारकी विभिन्न भाषाओंने कुछ-न-कुछ उधार लिया; पर उनका दिमाग इस सीधी-सी बातकी कल्पना न कर सका कि ऐसी भाषा संस्कृत है। जो बात एक साधारण व्यक्तिको सूझ जाती है, वह बड़े-बड़े विद्वानोंको नहीं सूझती; क्योंकि उनका दिमाग अपनी बुद्धिमत्ताके गर्वमें इधर-उधर चक्कर काटकर कोई नयी बात, जिसे आजकल 'मौलिक' भी कहा जाने लगा है, ढूँढ़ निकालनेकी धुनमें रहता है। इसीका नाम तो 'अनुसन्धान' है, जिससे आजकल जगत्‌में ख्याति प्राप्त होती है। विद्वान् मैक्समूलरके दिमागने यह बात खोज निकाली कि कोई एक ऐसी भाषा अवश्य रही होगी, जिससे संसारकी अन्य प्रधान भाषाएँ निकलीं। इसका कोई अन्य नाम समझमें न आनेपर उन्होंने 'आर्यभाषा' की कल्पना कर ली। जब ऐसी भाषा हुई, तो उसे बोलनेवाली कोई जाति भी चाहिये। उसके लिये 'आर्यजाति' गढ़ ली गयी। फिर क्या था, कल्पनाओंका प्रासाद खड़ा होने लगा। आर्योंका मूल स्थान कहीं उत्तरी ध्रुव, तो कहीं जर्मनीके आसपास ढूँढ़ा जाने लगा। उसकी शाखाएँ यूरोप तथा एशियाके विभिन्न देशोंमें पहुँचने लगीं। उनकी भाषाओं, उनकी संस्कृतिमें समता स्वाभाविक हो गयी। इस तरह इतिहासकारोंने सोचा कि इतिहासकी एक बड़ी पहेली हल हो गयी।

परंतु यह तथाकथित ऐतिहासिक खोज भी भारतके लिये राजनीतिक उद्देश्यसे खाली न थी। हम यह पहले लिख चुके हैं कि कई दृष्ट तथ अदृष्ट कारणोंसे भारतका अपने दूरस्थ उपनिवेशोंसे सम्पर्क टूट गया। इस बीच इन उपनिवेशोंमें कितने ही उथल-पुथल हो गये। वैदिक संस्कार विकृत रूपमें रह गये। भाषा भी अशुद्ध होकर म्लेच्छ-भाषामें परिवर्तित हो गयी। नये अवैदिक सम्प्रदाय भी चल पड़े। पर इन सबमें लुकी-छिपी मूल वस्तु कहीं अपने शुद्धरूपमें, तो कहीं अपने विकृत रूपमें बनी रह गयी। भारतका अपने इन भूले हुए उपनिवेशोंसे फिर सम्पर्क स्थापित हुआ बौद्धकालमें। अशोकके समयसे बौद्ध प्रचारक विभिन्न देशोंमें पहुँचने लगे। विदेशोंके साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। यूनान, चीन आदिसे विद्वान् भी भारत आने लगे। कुछ दिन बाद कई एशियाई देशोंमें हिंदू राज्य भी पुनः स्थापित हुआ। इतिहासकारोंने इन्हींके आधारपर यह मत स्थिर कर लिया कि इसी कालमें भारतका विदेशोंसे सम्पर्क स्थापित हुआ। परंतु अपनी प्राचीन ऐतिहासिक दृष्टिसे यह बात बहुत पीछेकी है। वास्तवमें बौद्ध प्रचारकोंने विदेशोंमें जाकर वैदिक धर्म तथा संस्कृतिके सम्बन्धमें बहुत कुछ भ्रम फैलाया। वहाँ प्रचलित विकृत वैदिक संस्कृतिमें उन्होंने अपनी विकृत विचारधाराका समावेश कर दिया। प्रशान्त महासागरके देशोंमें बौद्धोंके पहुँचनेके बहुत पहलेसे ही वहाँ विकृतरूपमें हिंदू-संस्कृति चल रही थी।* इसी प्रसंगमें पूर्वलिखित

* 'सिद्धान्त' वर्ष ४ में प्रकाशित 'प्रशान्त महासागरके देशोंमें हिंदू-संस्कृति'।

भारतीय संस्कृति-प्रचारके तीन मतोंमेंसे दूसरे मतपर भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा। इसमें कहा गया है कि 'या तो भारतीयोंने उन देशोंमें जाकर अपनी संस्कृतिका प्रचार किया या वहाँके लोग भारत आकर कुछ बातें अपने साथ ले गये।' किसी अंशमें ये दोनों बातें अवश्य हैं, पर वस्तुस्थिति इन दोनोंसे भिन्न है। अन्य संस्कृतियोंमें जिस गहराईके साथ प्राचीन भारतीय बातें घुसी हुई हैं, उन्हें देखते हुए ऐसा नहीं जान पड़ता कि इस थोड़े-से ऊपरी सम्पर्कद्वारा ऐसा हुआ। पूर्वमें बर्मासे लेकर अमेरिकातक प्रत्येक देशकी संस्कृतिपर प्राचीन भारतीय संस्कृतिकी छाप मिलती है। मिस्टर क्यूजिनका कहना है कि "प्राय: इन देशोंकी सभी भाषाओंमें 'ईश्वर' के लिये जो शब्द आया है, वह संस्कृत 'देव' से बना हुआ जान पड़ता है।"

इसी तरह 'इंसाइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स' भाग ७ जिल्द २ में मिस्टर किंगका कहना है कि 'प्राचीन पोलिनेशियन गाथाओंमें वैदिक भावोंका आभास मिलता है। स्वर्ग-नरक, पृथ्वी-आकाश, लोक-परलोकके सम्बन्धमें इन लोगोंके विचार पढ़नेसे ऐसा जान पड़ता है कि मानो वहाँके द्वीप-द्वीपसे प्रशान्त महासागरके जलमें वैदिक मन्त्र प्रतिध्वनित हो रहे हैं।' डॉक्टर रैंडीने अपने 'पोलिनेशियन रिलिजन' नामक ग्रन्थमें इन देशोंकी कितनी गाथाओंका अनुवाद करके दिखलाया है कि 'उनमें वैदिक भावोंसे कितनी समता है।' दीवान चमनलालने अपनी 'हिंदू अमेरिका' नामक पुस्तकमें दिखलाया है कि दोनों अमेरिकाओंमें हिंदू संस्कृतिका कितना प्रचार था। इधर पश्चिममें अफगानिस्तानसे लेकर मिस्रतक प्राय: सभी देशोंमें हिंदू-संस्कृतिके बिखरे हुए चिह्न मिलते हैं। यूरोपीय दर्शन तथा विज्ञानका आदिगुरु यूनान माना जाता है। उसकी विचारधारा प्राचीन भारतीय सिद्धान्तोंसे रँगी हुई जान पड़ती है। स्कैंडिनेविया, जर्मनी, आयरलैंड आदि देशोंकी प्राचीन संस्कृतियोंमें भी भारतीय संस्कृतिसे बहुत कुछ समता पायी जाती है। यह सब कुछ केवल थोड़े कालके व्यापारिक सम्पर्क या दो-चार विद्वानोंके आवागमनसे नहीं हो सकता।

फ्रांसीसी विद्वान् सिलवाँ लेवीकी पूर्वी देशोंके सम्बन्धमें राय है कि 'सम्भवत: भारतमें आर्योंकी विजय होनेपर वहाँके आदिवासियोंने भागकर इन देशोंमें शरण ली।' यह कितना थोथा तर्क है! पहले तो भारतपर आर्योंकी विजय ही कपोल-कल्पित है, जैसा हम दिखला चुके हैं। दूसरे शरणार्थियोंकी संस्कृतिका प्रभाव उन देशोंकी संस्कृतिपर पड़े, क्या यह सम्भव है? किसी देशमें जानेवाले मुट्ठीभर शरणार्थी तो अपनी संस्कृतिका प्रभाव डालनेकी अपेक्षा उसी देशकी संस्कृतिमें रँग जायँगे। एक मत यह भी है कि 'पहले इनमेंसे कुछ देशोंका भारतसे व्यापारिक सम्बन्ध था। वहाँ जाकर हिंदू अपने धर्मका प्रचार करने लगे और वहाँके राजाओंने हिंदू-धर्म ग्रहण कर लिया।' यह मत भी तर्ककी कसौटीपर ठीक नहीं उतरता। कुछ आगन्तुक हिंदुओंके प्रचारसे प्रभावित होकर उन देशोंके राजा अपना परम्पराप्राप्त धर्म छोड़ बैठें, यह बात नहीं जँचती। कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि 'इन देशोंपर विजय प्राप्त करके हिंदुओंने अपने राज्य स्थापित किये और वैदिक संस्कृतिका प्रचार किया।' पर इस तर्कमें भी दोष है। मनु आदिने लिखा है कि 'किसी देशके विजय करनेपर वहाँके प्रचलित रीति-रिवाजोंमें विजेताको कदापि हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।' हिंदू नरेशोंने इस राजधर्मका बराबर ध्यान रखा। उन्होंने दूसरोंपर अपने धर्म या संस्कृतिके लादनेका कभी प्रयत्न नहीं किया। दूसरोंको हिंदूधर्म ग्रहण करनेकी मनाही ऐसे तर्कोंकी असत्यता सिद्ध करती है।

भारतके प्राचीन इतिहासमें म्लेच्छ, यवन आदिका जो वर्णन आता है, वे आचारभ्रष्ट हिंदू ही थे। जब भारतमें ही जैन, बौद्ध आदि वेदबाह्य सम्प्रदाय चल पड़े, तब उन देशोंका कहना ही क्या, जिनका सम्पर्क भारतसे टूट चुका था। वहाँ यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि सम्प्रदाय चल पड़े, जो बौद्ध सम्प्रदायसे भी अधिक वेदबाह्य हैं, पर जिनमें प्राचीन संस्कारोंके कारण इधर-उधर कुछ विकृतरूपमें वैदिक धर्मके सिद्धान्तोंकी झलक देख पड़ती है। पाश्चात्त्य देशोंमें रोमके साथ भारतका व्यापारिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन कालसे था। धीरे-धीरे वह व्यापार बहुत कुछ मुसलमानोंके हाथ आ गया। सोलहवीं शताब्दीमें भारतका पाश्चात्त्योंसे फिर प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हुआ। अंग्रेज, फ्रांसीसी, डच आदि कई जातियोंके पाश्चात्त्य व्यापार करने भारत आये। मुस्लिम शासनकालमें भारतकी प्रगति बहुत कुछ रुक गयी। प्राचीन विज्ञान और दर्शनका अध्ययन शिथिल पड़ गया, कलाओंपर मुसलमानी छाप आने लगी। हिंदुओंका अन्य देशोंमें आना-जाना बंद हो गया।

आदर्श वीर-चतुष्टय

भरत छीन शिशु सिंह-वधूका, मार रहा उसको अति क्रुद्ध,
करता है अभिमन्यु अकेला सप्त महारथियोंसे युद्ध।
एकाकी ककुत्स्थने रणमें रिपुदलका कर दिया सँहार,
वीर भीष्मसे समराङ्गणमें मानी परशुरामने हार॥

आदर्श भक्त-चतुष्टय

नारद, ध्रुव, प्रहलाद वर, विदुर महामतिमान।
ये चारों हरिभक्तिके हैं आदर्श महान॥

पाश्चात्योंने आधुनिक विज्ञानके अध्ययनसे युद्ध तथा अन्य क्षेत्रोंके कई नये साधन ढूँढ़ निकाले। साथ ही उन्होंने अपनी कूटनीतिको भी परिपक्व किया। भारत-जैसा समृद्धिशाली देश उन्हें अपने नये साधनोंके उपयोगका अच्छा क्षेत्र मिल गया। पाश्चात्य कूटनीतिज्ञोंने देखा कि मुसलमानोंका पतन हो रहा है, पर हिंदू फिर जोर मार रहे हैं। यदि उनके हृदयोंसे अपने धर्म, अपने देश, अपनी जातिका अभिमान हटाया जा सके और उसके स्थानपर पाश्चात्त्य सभ्यताकी श्रेष्ठता स्थापित की जा सके, तो राजनीतिक प्रभुत्व जमानेमें बड़ी सहायता मिलेगी। इसी दृष्टिसे नवीन इतिहासकी रचना और आधुनिक शिक्षाका आरम्भ हुआ। इतिहासद्वारा भारतके आदिवासी असभ्य सिद्ध किये गये और यह दिखलाया गया कि बाहरसे आर्योंने आकर सभ्यताका प्रचार किया। इसीके आधारपर इतिहास गढ़ डाले गये और हिंदू-धर्म, वर्णव्यवस्था आदिके उलटे-सीधे अर्थ कर दिये गये। बड़े-बड़े पाश्चात्त्य विद्वान् दो-चार भारतीय बातोंकी प्रशंसा करके अपनी निष्पक्षता दिखलाते हुए छिपे-छिपे अपनी रचनाओंमें विष घोलते रहे। मैक्समूलर-जैसा प्रसिद्ध विद्वान् भी इससे मुक्त न रह सका। भारतीय विचारोंकी यत्र-तत्र उसे प्रशंसा करते देखकर भारतीय विद्वान् उसपर लट्टू हो गये, पर वेदोंका अनुवाद उसने इसीलिये आरम्भ किया कि जिसमें हिंदू-धर्मकी पोल खुल जाय, जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया है।*

पाश्चात्त्योंके लिखे नहीं, अपने यहाँका इतिहास, जो पुराणोंमें उपलब्ध है, उसकी दृष्टिसे यदि देखा जाय तो कितनी ही ऐतिहासिक गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। एक प्रश्न प्रायः उठता है कि संसारमें आज भी कितनी ही असभ्य तथा जंगली जातियाँ मिलती हैं। यदि सबकी उत्पत्ति प्राचीन भारतीयोंसे ही, जिनकी सभ्यता बड़ी उच्च कोटिकी थी, मान ली जाय, तो उनकी सन्तानें इतनी जंगली तथा असभ्य कैसे बन गयीं? इस तरहके सन्देह उत्पन्न होनेका एक कारण यह है कि आजकल विद्वानोंका ऐतिहासिक काल पीछे दस हजार वर्षसे अधिक नहीं जाता। इतने ही कालमें वे सब ऐतिहासिक घटनाएँ ठूँस लेते हैं। पहले तो समझा जाता था कि जो कुछ हुआ, वह ईसवी सन्‌के भीतर ही; पर अब धीरे-धीरे बढ़कर यह दस हजार वर्षतक पहुँच गया है। परंतु भारतीयोंकी कालकी कल्पना बड़ी व्यापक है। ४ लाख ३२ हजार वर्षका एक युग माना जाता है। ऐसे १० युगोंका एक चतुर्युग या महायुग और १ हजार महायुगोंका अर्थात् ४ अरब ३२ करोड़ वर्षोंका एक कल्प होता है। इसके आगे फिर देवोंके अहोरात्रकी गणना है। एक कल्पका एक ब्राह्म दिन और ७२० कल्पोंका एक ब्राह्म वर्ष, फिर १०० ब्राह्मवर्ष अर्थात् ३१ नील, १० खरब, ४० अरब मानववर्ष ब्रह्माकी आयु मानी जाती है। ऐसी १ हजार ब्रह्मायु विष्णुकी एक घड़ी और १२ लाख विष्णुआयु रुद्रकी केवल आधी कला होती है। ये संख्याएँ देखकर बुद्धि चकराने लगती है। युगोंका चक्र बराबर चलता रहता है। उनकी अवधिके प्रचलित मानकी दृष्टिसे अन्तिम सत्ययुगके आरम्भ-कालको ३८ लाख ९३ हजार वर्ष हुए। इस तरह वर्तमान सृष्टिके आदिकालका अनुमान लगाया जा सकता है। फिर ऐसी सृष्टियाँ कितनी होती रहीं, इसका तो कुछ पता ही नहीं। इस कालका ध्यान रखते हुए ही भारतका इतिहास समझना है।

इतने वर्षोंमें मनुष्यके जीवनमें कितनी उथल-पुथल हो सकती है। इतने दिनोंमें कितनी ही बार मनुष्य सभ्यसे जंगली और जंगलीसे सभ्य बना। यह तो इतने वर्षोंकी बात है, इतिहासमें थोड़े ही कालकी ऐसी घटनाएँ देखनेमें आती हैं। दक्षिणी अमेरिकाकी मय, ऐस्टिक, इंका आदि जातियाँ किसी समय सभ्यताके शिखरपर पहुँची थीं। मय जातिकी सभ्यता १० हजार वर्ष प्राचीन बतलायी जाती है। सन् ६३० तक दक्षिणी अमेरिकामें उसका विशाल साम्राज्य था। ऐस्टिक लोगोंके सम्बन्धमें लेखिका कोराबाकरका कहना है कि 'जब यूरोप जंगली बना हुआ था, ये लोग संगमरमरके महलोंमें रहते थे। विशाल मन्दिरोंके पास सुन्दर सरोवर थे। जब यहूदी असभ्य दशामें इधर-उधर भटकते फिरते थे, इन लोगोंमें खेती तथा व्यापारकी पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी।' मिस्टर ड्रेकरके शब्दोंमें 'प्राचीन मैक्सिकोकी सभ्यताने यूरोपको शिक्षा दी होगी' (हिंदू अमेरिका)। परंतु जब स्पेनवालोंका वहाँ आधिपत्य हुआ, उन्होंने उन जातियोंको नष्ट करनेमें कोई बात उठा न रखी। उन्हीं बचे-खुचे लोगोंकी सन्तान ('रेड

* देखिये—'सिद्धान्त' वर्ष २, अंक ९, मैक्समूलर और ईसाई-धर्मप्रचार।

इंडियन्स' लाल भारतीय) कहलाते हैं, जो आजकल जंगली समझे जाते हैं। अफ्रीका, ईराक आदि देशोंमें भी यही हुआ। अब धीरे-धीरे वहाँकी प्राचीन सभ्यताका पता लग रहा है। जिन्हें आजकल असभ्य कहा जाता है, जब उनके जीवनका अध्ययन किया जाता है, उनमें कितनी ही ऐसी उच्च बातें मिलती हैं, जिनका ज्ञान सभ्यताका दम भरनेवालोंतकको नहीं। ऐसे संस्कार उनमें कहाँसे आये? भेड़ियोंकी माँदमें पले हुए मनुष्योंके बच्चे अपनी मनुष्यता भूलकर उन्हींकी तरह आचरण करने लगते हैं। तब फिर यदि इतने कालमें सभ्यताके सम्पर्कसे रहित होकर कुछ जातियाँ जंगली बन जायँ तो इसमें आश्चर्य क्या?

कहा जा सकता है कि 'पुराणोंकी कपोलकल्पनाओंके आधारपर सच्चा इतिहास नहीं लिखा जा सकता।' पर आधुनिकोंद्वारा जो इतिहास लिखा गया, वह सच्चा है—इसीका क्या प्रमाण? आँखोंदेखी घटनातक ठीक नहीं बतलायी जा सकती। दो व्यक्ति उसे भिन्न रूपमें ही देखते हैं; जो कुछ दिखायी देता है, उसमें भी प्रत्येक व्यक्तिकी कुछ-न-कुछ कल्पना रहती है। आज-ही-कल कितनी बार छनकर समाचारपत्रोंद्वारा किसी घटनाका वर्णन सामने आता है, फिर प्राचीन इतिहासका कहना ही क्या? प्राचीन लेखों, खंडहरों, मुद्रा आदिके आधारपर आजकल प्राचीन कालका इतिहास लिखा जाता है; पर इनमें क्या एक भी विश्वसनीय है? उनके द्वारा इतिहास पढ़नेमें भी बहुत कुछ लेखकका अनुमान चलता है। फिर आजकल तो जान-बूझकर इतिहास विकृत किया गया है, जैसा कि आर्योंके बाहरसे भारतमें आनेके मतके सम्बन्धमें हम दिखला चुके हैं। मिस्टर केलटेनने अपनी 'प्रास्पेक्टस ऑफ हिस्ट्री' नामक पुस्तकमें ठीक ही लिखा है कि 'यदि शैतान झूठका पिता है तो स्वदेशभक्ति माता है।' स्वदेशभक्तिके आवेशमें इतिहासको कितना तोड़ा-मरोड़ा गया है। कितने ही दिनोंसे जर्मन विद्वान् इतिहासोंमें यह दिखलानेका प्रयत्न करते रहे कि जर्मन लोग ही शुद्ध 'आर्य' हैं और उन्होंने ही सर्वत्र सभ्यता, संस्कृतिका सन्देश पहुँचाया। इस तरह 'बृहत्तर जर्मनी' की नींव सुदृढ़ करनेका प्रयत्न किया गया। तुर्कोंके इतिहासकारोंका यही तुर्कोंके सम्बन्धमें कहना है। जिन लोगोंको अपने धर्मका प्रचार करना है, वे इतिहासद्वारा यह दिखलाना चाहते हैं कि उन्हींका धर्म सबसे प्राचीन है और किसी समय वही सबका धर्म था। इस तरह कभी राजनीतिक और कभी धार्मिक दृष्टिसे इतिहास दूषित किया गया है। ऐसी दशामें आधुनिकोंद्वारा लिखे इतिहासपर ही कैसे विश्वास किया जा सकता है।

हमारे यहाँके प्राचीन इतिहासकारोंने इतिहास लिखनेमें इन दूषित साधनोंसे काम नहीं लिया। उन्होंने ईंट-पत्थरोंमें माथा नहीं फोड़ा। व्यास, वाल्मीकि आदिने जो 'दिव्य-दृष्टि' से देखा, वही लिखा। योगसे ऐसा होना असम्भव नहीं; इसलिये उन्होंने जो लिखा, उसे झूठ नहीं कहा जा सकता। पुराणोंकी बहुत-सी बातें जँचतीं नहीं, क्योंकि वे प्रायः असाधारण प्रतीत होती हैं। पर यह दोष है संकुचित दृष्टिका। जो वस्तु हम प्रतिदिन देखते हैं, उसे साधारण मानते हैं। अपने यहाँ लिखे विमानोंकी बात कुछ दिन पहले कोरी कल्पना ही प्रतीत होती थी, पर आज प्रतिदिन अपने सिरपर उड़ते हुए हवाई जहाज देखकर ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह बात दूसरी है कि इतनेपर भी कुछ लोग केवल द्वेषबुद्धिसे प्रेरित होकर प्राचीन हिंदुओंको इतिहासमें सर्वप्रथम विमान बनानेका श्रेय देनेके लिये तैयार नहीं। प्राचीन ऋषियोंने झूठा इतिहास लिखा हो, इसका कोई कारण भी नहीं जान पड़ता। व्यास, मनु, शुक्र, कौटिल्य आदिने बराबर यही राय दी है कि राजाको विजित राष्ट्रोंके गले अपना धर्म, अपनी संस्कृति, अपनी शासनपद्धति कभी ठूँसनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक देशको अपना धर्म पालन करने और अपनी संस्कृति-परम्परापर चलनेकी पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। रामायण, महाभारत तथा अन्य इतिहासोंसे पता लगता है कि अपने यहाँ बराबर इसी नीतिका अनुसरण होता रहा। राजसूय-यज्ञ होते हैं, चक्रवर्ती बननेकी राजाओंको अभिलाषा होती है; पर अभिप्राय इतना ही रहता है कि उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया जाय। विजित देशोंको अपने राज्यमें मिलाना, उनमें अपना गवर्नर नियुक्त कर देना और जैसे-तैसे अपनी शासनव्यवस्था वहाँ घुसेड़ देना हमारे प्राचीन सम्राटोंको कभी अपेक्षित नहीं रहा। इसीलिये प्राचीन भारतमें छोटे-बड़े कितने राज्य मिलते हैं। सम्राट् हुए, बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए; पर इसी नीतिके कारण वे 'साम्राज्यवाद' के दुर्गुणोंसे बचते रहे। धार्मिक दृष्टिसे तो प्राचीन हिंदुओंने दूसरोंको अपने धर्ममें लानेका कभी प्रयत्न ही नहीं किया। **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'** उनका

सिद्धान्त रहा। ऐसी दशामें रामायण, महाभारत, पुराण तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थोंमें वर्णित इतिहासपर विश्वास क्यों न किया जाय?

जैसा कि हम आरम्भमें ही कह आये हैं, विषय बड़ा जटिल है। इस लेखमें तो बहुत ही संक्षिप्त रूपमें उसका विचार किया गया है। यदि और गहराईमें घुसा जाय, तो कितनी ही ऐसी बातें मिलेंगी, जिनमें असंगति और परस्पर विरोध दिखायी देगा। पर उतनेहीसे यह अनुमान कर लेना कि सिद्धान्त ही गलत है, ठीक न होगा। ऐसा होनेपर और भी गहराईमें घुसना चाहिये, तब विरोधाभास आप ही दूर होने लगेगा। कहनेका तात्पर्य यह कि पाश्चात्त्य पद्धतियोंने जो इतिहासका मार्ग दिखला दिया है, उसका अन्धानुकरण छोड़कर हमें अपने दृष्टिकोणसे अनुसन्धान करना चाहिये। यदि ऐसा हो तो इतिहासकी सबसे बड़ी पहेली सुलझ जायगी और उसकी कितनी ही बातें समझमें आ जायँगी। खेदकी बात है कि अबतक इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। इसमें कितनी ही कठिनाइयाँ हैं, इसे हम मानते हैं। जिन्हें पौराणिक रहस्योंका ज्ञान है, उन्हें आधुनिक अनुसन्धान और लेखनशैलीका ज्ञान नहीं और जिन्हें इनका ज्ञान है, उनका शास्त्र-रहस्योंमें प्रवेश नहीं। आजकल जबतक आधुनिक ढंगसे बात न समझायी जाय, लोगोंकी समझमें नहीं आती। बुद्धि ही बिगड़ रही है, उसका विकास नहीं, एक प्रकारसे ह्रास हो रहा है। वह केवल स्थूल दृष्टिसे देखनेयोग्य रह गयी है। क्या ही अच्छा होता यदि प्राचीन शैलीके विद्वानों और आधुनिक विद्वानोंको यह काम सौंपा जाता, जिसमें दोनों एक दूसरेकी बात समझकर इस ढंगसे वस्तु-स्थिति सामने लाते, जिसे माननेको सब लोगोंको बाध्य होना पड़ता। पर इधर न तो विद्वानोंका ध्यान है और न धनिकोंका ही, फलतः झूठे इतिहास पढ़-पढ़कर हमारी बुद्धि और भी बिगड़ती जा रही है!

हिंदू-संस्कृतिके मूर्तिमान् स्वरूप

धर्म-विग्रह भगवान् श्रीरामचन्द्र

(लेखक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

आर्य-जातिके इतिहासमें अनेक धर्मप्राण ऋषि-महर्षि और राजर्षि हो गये हैं। उन सबमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका स्थान सर्वोपरि है। वेदों और धर्मशास्त्रोंमें हमें धर्मका स्वरूप और उपदेश तो प्राप्त होता है; किंतु उस धर्मका प्रयोग कैसे होना चाहिये, इसका उदाहरण भगवान् श्रीरामकी जीवनचर्यामें मिलेगा। तैत्तिरीय उपनिषद्में कहा है, जब धर्म या कर्मके स्वरूपमें सन्देह हो तो धर्मज्ञ पुरुषोंके बर्तावको देखकर उसके स्वरूपका निश्चय कर लेना चाहिये—**'यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः।'** इसके अनुसार यदि हम सम्पूर्ण धर्मों और धर्मपूर्ण बर्तावोंका आदर्श किन्हीं एक महापुरुषमें देखना चाहें तो सर्वप्रथम भगवान् श्रीरामके जीवनपर ही दृष्टिपात करना होगा। श्रीरामने जिसे धारण किया, वही आदर्श धर्म है; जिसे संस्कार प्रदान किया, वही आर्य-संस्कृति है और जिसको वे आचरणमें ले आये, वही आर्योंका आदर्श सदाचार एवं शिष्टाचार है। इसीलिये कहा गया है, **'रामो विग्रहवान् धर्मः'**—श्रीरामचन्द्रजी धर्मके साक्षात् विग्रह हैं।

श्रीरामके गुण अनन्त हैं। वे ईश्वर हैं, फिर भी उन्हें इसका अभिमान नहीं है। वे एक साधारण मनुष्यके समान अधर्मसे बचते हुए धर्मकी मर्यादामें स्थित रहते हैं; इसीलिये सबकी दृष्टिमें वे 'मर्यादापुरुषोत्तम' हैं। शतकोटि रामायणोंने उनकी महिमाका वर्णन किया, फिर भी किसीने पार नहीं पाया। तथापि अपनी लेखनी और वाणी पवित्र करनेके लिये ही यहाँ श्रीरामके धर्ममय जीवनकी यत्किञ्चित् झाँकी करायी जाती है।

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि अपने आदिकाव्यके लिये एक ऐसे नायकका अनुसन्धान कर रहे थे, जिसमें सभी सद्गुणोंकी प्रतिष्ठा हो, जिसका जीवन ही धर्म और सदाचारकी कसौटी हो तथा जो सम्पूर्ण लोकोंका एकमात्र प्रियतम हो। महर्षिने ऐसे लोकोत्तर गुणोंकी एक सूची बनायी और अपने आश्रमपर कृपापूर्वक पधारे हुए देवर्षि नारदसे पूछा—'मुने! आपकी दृष्टिमें कोई ऐसे महापुरुष हैं, जिनमें ये सभी सद्गुण मौजूद हों?' नारदजीने इसके उत्तरमें भगवान् श्रीरामका परिचय दिया और उनके अलौकिक गुणोंका भी बखान

किया। वाल्मीकि और नारदका यह संवाद ही समस्त रामायणका बीज है। आदिकविका सम्पूर्ण 'रामायण' काव्य श्रीरामके उन लोकोत्तर गुणों तथा धर्ममय आचारोंकी ही व्याख्या है।

वाल्मीकिका प्रश्न इस प्रकार है—

को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकः प्रियदर्शनः॥
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे॥

(वा० रा० बाल० १।२—४)

'इस समय संसारमें गुणवान्, पराक्रमी, धर्मज्ञ, कृतज्ञ (उपकार माननेवाला), सत्यवक्ता और दृढप्रतिज्ञ कौन है? सदाचारसे युक्त, समस्त प्राणियोंके हितका साधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली और एकमात्र प्रियदर्शन (सुन्दर) पुरुष कौन है? मनपर अधिकार रखनेवाला, क्रोधको जीतनेवाला, कान्तिमान् और किसीकी भी निन्दा नहीं करनेवाला कौन है? तथा संग्राममें कुपित होनेपर किससे देवता भी डरते हैं?'

प्रश्न सुनकर नारदजीने यों उत्तर दिया—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥
बुद्धिमान्नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः।

(वा० रा० बाल० १।८-९)

'राजा इक्ष्वाकुके वंशमें उत्पन्न हुए एक ऐसे पुरुष हैं, जो लोगोंमें राम नामसे विख्यात हैं। वे ही मनको वशमें रखनेवाले, महाबलवान्, कान्तिमान्, धैर्यवान् और जितेन्द्रिय हैं। बुद्धिमान् नीतिज्ञ, वक्ता, शोभायमान तथा शत्रुओंके संहारक हैं'

विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिन्दमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः॥
समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः॥

(वा० रा० बाल० १।९—११)

'उनके कंधे मोटे और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं, ग्रीवा शंखके समान और ठोढ़ी मांसल है। उनकी छाती चौड़ी तथा धनुष बड़ा है। गलेके नीचेकी हड्डी (हँसली) मांससे छिपी हुई है। वे शत्रुओंका दमन करनेवाले हैं। भुजाएँ घुटनेतक लटकी हैं। मस्तक सुन्दर है। ललाट भव्य और चाल मनोहर है। उनका शरीर अधिक ऊँचा या नाटा न होकर मध्यम और सुडौल है। देहका रंग चिकना है। वे बड़े प्रतापी हैं। उनका वक्षःस्थल भरा हुआ है। नेत्र बड़े-बड़े हैं। वे लक्ष्मीवान् और शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न हैं।' आकृति-विज्ञानके सर्वश्रेष्ठ लक्षणोंसे युक्त शरीरका वर्णन है इन शब्दोंमें। फिर वे—

धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्॥
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः॥
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः॥
स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः॥
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः।

(वा० रा० बा० १।१२—१९)

'धर्मके ज्ञाता, सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजाके हित-साधनमें लगे रहनेवाले हैं। वे यशस्वी, ज्ञानी, पवित्र, जितेन्द्रिय और मनको एकाग्र रखनेवाले हैं। प्रजापतिके समान पालक, श्रीसम्पन्न, शत्रुनाशक और जीवों तथा धर्मके रक्षक हैं। स्वधर्म और स्वजनोंके पालक हैं। वेद-वेदांगोंके तत्त्ववेत्ता तथा धनुर्वेदमें प्रवीण हैं। वे अखिल शास्त्रोंके तत्त्वज्ञ, स्मरणशक्तिसे युक्त और प्रतिभासम्पन्न हैं। अच्छे विचार और उदार हृदयवाले वे श्रीरामचन्द्रजी बातचीत करनेमें चतुर तथा समस्त लोकोंके प्रिय हैं। जैसे नदियाँ समुद्रमें मिलती हैं, उसी प्रकार साधु पुरुष सदा श्रीरामसे मिलते रहते हैं। वे आर्य (श्रेष्ठ) हैं और सबके प्रति समान भाव रखनेवाले हैं। उनका दर्शन सदा ही प्रिय मालूम होता है। सम्पूर्ण गुणोंसे युक्त वे श्रीरामचन्द्रजी अपनी माता कौसल्याके आनन्दको बढ़ानेवाले हैं। गम्भीरतामें समुद्र और धैर्यमें हिमालयके समान हैं। वे विष्णुभगवान्‌के समान बलवान् हैं, उनका दर्शन चन्द्रमाके समान मनोहर प्रतीत होता है।

वे क्रोधमें कालाग्निके और क्षमामें पृथ्वीके सदृश हैं। त्यागमें कुबेर और सत्यमें द्वितीय धर्मराजके समान हैं।'

उपर्युक्त गुणावलीमें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्माश्रित सभी प्रकारके गुणोंका वर्णन आ गया है। ये सभी भगवान् श्रीराममें एकत्र समवेत हैं। उनके जीवनमें कहाँ कब किस गुणका विशेष विकास दृष्टिगोचर हुआ है, इसकी समीक्षा करनेपर बहुत बड़ी पुस्तक तैयार हो सकती है। इस लेखमें विस्तारके लिये स्थान नहीं है, अतः कुछ थोड़ेसे प्रसंगोंद्वारा ही श्रीरामके धर्ममय जीवनपर संक्षेपसे प्रकाश डाला जायगा। आदिकविने सर्वप्रथम अपने प्रश्नमें 'गुणवान्' की चर्चा की है। श्रीरामके गुण अनन्त हैं।

वाल्मीकीय रामायणमें अयोध्याकाण्डके प्रारम्भमें ही श्रीरामचन्द्रजीके शील, स्वभाव तथा सद्व्यवहार आदि गुणोंका जो मनोरम चित्र प्रस्तुत किया गया है, वह मानव-मात्रके लिये पठनीय, मननीय तथा अनुकरणीय है। महर्षि लिखते हैं—'श्रीराम बड़े ही रूपवान् और पराक्रमी थे। वे किसीके दोष नहीं देखते थे। भूमण्डलमें उनकी समता करनेवाला कोई नहीं था। वे सदा शान्तचित्त रहते और मीठे वचन बोलते थे। यदि कोई कठोर बात भी कह देता तो वे उसका उत्तर नहीं देते थे। किसीके सैकड़ों अपराध करनेपर भी उसके अपराधोंको याद नहीं रखते थे। चरित्रमें, ज्ञानमें तथा अवस्थामें बड़े सत्पुरुषोंसे सदा बातचीत करते और उनसे शिक्षा लेते थे। सर्वदा मधुर और प्रिय बोलते थे। झूठी बात तो उनके मुखसे कभी निकलती ही नहीं थी। वे वृद्ध पुरुषोंका सदा सम्मान किया करते थे। प्रजाका रामके प्रति तथा रामका प्रजाके प्रति अनुराग था। वे परम दयालु, क्रोधको जीतनेवाले और ब्राह्मणोंके पुजारी थे। दीनोंपर कृपालु, धर्मका रहस्य जाननेवाले और इन्द्रिय-विजयी थे। श्रीरामचन्द्रजी बाहर और भीतरसे सदा ही शुद्ध रहते थे। शास्त्रविरुद्ध बातोंको सुननेमें उनकी कभी रुचि नहीं होती थी। वे अपने न्याययुक्त पक्षके समर्थनमें बृहस्पतिके समान एक-से-एक बढ़कर युक्तियाँ देते थे। उनका शरीर नीरोग था और अवस्था तरुण। वे असाधारण वक्ता, सुन्दर विग्रहसे सुशोभित तथा देश-कालके तत्त्वको समझनेवाले थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो विधाताने संसारमें समस्त पुरुषोंके सार-तत्त्वको समझनेवाले साधु पुरुषके रूपमें एकमात्र श्रीरामको ही प्रकट किया है। श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त राजकुमार राम अपने सद्‌गुणोंके कारण प्रजाको बाह्य प्राणोंके समान प्रिय थे। वे सम्पूर्ण विद्याओंमें निष्णात और सांग वेदके ज्ञाता थे। बाण-विद्यामें तो अपने पितासे भी बढ़कर थे। कल्याणकी तो मानो जन्मभूमि ही थे। साधु, दीनतारहित, सत्यवादी और सरल थे। धर्म और अर्थके ज्ञाता वृद्ध ब्राह्मणोंद्वारा उन्हें उत्तम शिक्षा प्राप्त हुई थी। धर्म, काम तथा अर्थके तत्त्वका उन्हें सम्यक् ज्ञान था। वे स्मरणशक्तिसे सम्पन्न और प्रतिभाशाली थे। उनको सामयिक लोकाचारोंका विशेष ज्ञान था। वे बड़े गम्भीर, अपने आकारको छिपानेवाले और मन्त्रको गुप्त रखनेवाले थे। उन्हें सत्पुरुषोंके संग्रह, दीनोंपर अनुग्रह तथा दुष्ट पुरुषोंके निग्रहके अवसरोंका ठीक-ठीक ज्ञान था। उन्होंने सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रों तथा संस्कृत-प्राकृत आदि नाना प्रकारकी भाषाओंके ज्ञानमें निपुणता प्राप्त की थी।'''''' क्रोधमें भरकर आये हुए देवता और असुर भी उनको संग्राममें परास्त नहीं कर सकते थे। दोष-दृष्टिका तो उनमें लेशमात्र भी नहीं था। क्रोधको वे जीत चुके थे। घमंड और द्वेष उनके पास भी नहीं फटकने पाते थे। किसी प्राणीके मनमें उनके प्रति अवहेलनाका भाव नहीं था। वे कालके वशमें होकर उसके पीछे चलनेवाले नहीं थे; काल ही उनके पीछे चलता था।'

(वा० रा० अयोध्या० १।१—३१)

रामको वनमें भेजनेवाली विमाता कैकेयीपर भी उनके सद्‌गुणों तथा न्यायोचित व्यवहारोंका इतना प्रभाव था कि वे कुब्जाके बहकानेपर भी रामकी प्रशंसा करती नहीं अघातीं। वे कहती हैं—'कुब्जे! तू रामके राज्याभिषेकका शुभ संवाद सुनकर जलती क्यों है? मेरे लिये जैसे भरत आदरके पात्र हैं, वैसे ही, बल्कि उनसे भी बढ़कर श्रीराम आदरणीय हैं। वे अपनी सगी माता कौसल्यासे भी बढ़कर मेरी सेवा करते हैं; यदि रामको राज्य मिल रहा है, तो उसे भरतका भी समझ ले'।* इसी प्रकार

* संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम्॥
यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः। कौसल्यातोऽतिरिक्तं च स तु शुश्रूषते हि माम्॥
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत्तदा।

(अयोध्या० ८। १५,१८-१९)

सुन्दरकाण्डमें, जब हनुमान्‌जी सीताके सम्मुख गये हैं, उन्होंने श्रीरामके अलौकिक गुण और स्वभावका बड़े विस्तारके साथ वर्णन करके अपने प्रति माता सीताका विश्वास प्राप्त किया है।

इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि और देवर्षि नारदने संसारको यह बता दिया कि तीनों लोकोंमें सबसे बढ़कर गुणवान् श्रीराम ही हैं। गुण हों और वीर्य—पराक्रम न हो तो वे गुण किस कामके! लोकमें उसीका समादर होता है, जो गुणवान् होनेके साथ ही वीर्यवान्—पराक्रमी भी हो। इस दृष्टिसे देखनेपर भी श्रीराम ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। जनकपुरके उस दिव्य धनुषको, जो देवता, मानव और असुर—किसीके हाथसे भी हिलायातक न जा सका, श्रीरघुनाथजीने अनायास ही तोड़ डाला। परशुराम-जैसे दुर्द्धर्ष वीरको, जिन्होंने इक्कीस बार इस पृथ्वीको वीर क्षत्रियोंसे सूना कर दिया था, अपने पराक्रमसे सन्तुष्ट करना रघुवीरका ही काम था। पंचवटीमें चौदह हजार राक्षसों तथा खर, दूषण और त्रिशिराका अकेले ही बिना किसीकी सहायता लिये थोड़ी ही देरमें संहार कर डालनेवाले श्रीरघुनाथजीके पराक्रमकी किससे तुलना हो सकती है? वालि-वध, समुद्र-निग्रह तथा रावण-कुम्भकर्णादिका संहार भी केवल उन्हींके पराक्रमसे सम्भव हुआ। हनुमान्‌जीने तो रावणके दरबारमें पहले ही घोषित कर दिया था—

ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा।
इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥

(वा० रा० सुन्दर ५१।४४)

'औरोंकी तो बात ही क्या, चार मुखोंवाले स्वयम्भू ब्रह्मा, त्रिपुरसंहारक त्रिनेत्रधारी रुद्र तथा देवराज इन्द्र भी रघुनाथजीके सामने युद्धमें नहीं ठहर सकते।'

गुणवान् और वीर्यवान् होनेके साथ ही धर्मज्ञ होना भी आवश्यक है, अन्यथा वह पराक्रम अधर्ममें लगानेवाला हो सकता है। भगवान् श्रीरामके लिये '**धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः**' (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके ज्ञाता और स्वामी) यह विशेषण आया है। वे धर्म और अर्थके तत्त्वको जानते थे। इसका सुन्दर उदाहरण वालि-वधका प्रसंग है। वालीने जब श्रीरघुनाथजीके कार्यको अन्याय बताते हुए धर्मकी दुहाई देनी आरम्भ की, उस समय उन्होंने उसकी प्रत्येक बातका खण्डन करते हुए बड़ी सुन्दर युक्तियोंद्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि 'वाली! तुम्हें यह तुम्हारे पापका ही दण्ड मिला है। तुमने अपने छोटे भाईकी स्त्रीको, जो तुम्हारी पुत्रवधूके समान है, बलपूर्वक रख लिया है और उसपर बलात्कार किया है। मैंने तुम्हें दण्ड देकर राजधर्म, मित्रधर्म एवं अपनी प्रतिज्ञाका पालन किया है।' उन्होंने अपनी बातकी पुष्टिमें पूर्वजोंके द्वारा अपनायी हुई नीति तथा मनुस्मृतिके मतका भी उल्लेख किया है—'**श्रूयेते मनुना गीतो श्लोकौ चारित्रवत्सलौ।**' यह प्रसंग वा० रा० किष्किन्धाकाण्डके १८ वें सर्गमें विस्तारपूर्वक वर्णित है। वहीं देखना चाहिये।

श्रीरामकी धर्मज्ञताका दूसरा उदाहरण है विभीषण-शरणागतिका प्रसंग। शरणमें आये हुए भयभीत पुरुषकी रक्षा करना प्रत्येक शक्तिशाली वीर पुरुषका धर्म है। भगवान् श्रीरामकी तो यहाँतक प्रतिज्ञा है कि 'जो एक बार भी मेरी शरणमें आकर यह कह दे कि 'प्रभो! मैं आपका हूँ' उस शरणागत जनको मैं सब प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ।'* जब विभीषण अपने मन्त्रियोंके साथ आकर यह पुकार लगाता है कि 'मैं श्रीरघुनाथजीकी शरणमें आया हूँ,' उस समय वानर-सेनापतियोंमें हलचल-सी मच जाती है। सब-के-सब चौकन्ने हो उठते हैं। किसीको यह विश्वास नहीं होता कि विभीषण सद्‌भावसे आया है। सब यही समझते हैं, विभीषणके इस तरह आनेमें मायावी राक्षसोंकी कोई गहरी चाल है। रघुनाथजीके सामने यह बात पहुँचायी जाती है। सेनापतियोंकी गुप्त मन्त्रणा होती है। भगवान् सबकी सलाह लेते हैं। वानरराज सुग्रीव तो उसे मार डालनेका ही निर्णय देते हैं। अन्यान्य सेनापति भी सन्देहकी ही दृष्टिसे देखते हैं। केवल हनुमान्‌जी ही विभीषणको विश्वासके योग्य मानते और इसीके अनुसार अपना निर्णय देते हैं। सुग्रीवको यह बात नहीं रुचती। वे बार-बार प्रतिवाद करते हुए कहते हैं—'जो अपने सगे भाईको छोड़कर आ सकता है, वह किसको धोखा नहीं देगा?' श्रीराम सुग्रीवकी इस आशंकाको यथार्थ बताते हुए उनकी बुद्धिकी सराहना करते हैं; फिर भी अपना प्रण—'शरणागतरक्षणरूपी धर्म' त्यागना नहीं चाहते। वे कहते हैं—'मन्त्रियो! यदि शत्रु भी शरणमें आये और दीनतापूर्वक हाथ जोड़कर प्रार्थना करे तो

* सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वा० रा० युद्ध० १८।३३)

उसपर चोट नहीं करनी चाहिये। शत्रु दुःखी हो अथवा अभिमानी, यदि वह अपने विपक्षीकी शरणमें आ जाय तो धर्मात्मा पुरुषको अपने प्राणोंका मोह छोड़कर उसकी रक्षा करनी चाहिये।* अतः—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

(वा० रा० युद्ध० १८।३४)

'कपिवर सुग्रीव! वह विभीषण हो अथवा स्वयं रावण ही क्यों न आया हो, मैंने उसे अभयदान दे दिया। अब तुम उसे मेरे पास ले आओ।'

यह है मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी धर्मज्ञता, धर्मपरायणता तथा शरणागतवत्सलता! कौन है त्रिलोकीमें, जो उनकी समानता कर सके। धर्मज्ञ होनेके साथ ही वे कृतज्ञ भी अनुपम हैं। उनके कृतज्ञ स्वभावका महर्षिने इस प्रकार वर्णन किया है—

न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया।
कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति॥

'मनपर नियन्त्रण रखनेके कारण वे दूसरोंद्वारा किये हुए सौ-सौ अपराधोंको भी भुला देते हैं, कभी एकको भी याद नहीं रखते। परंतु यदि कोई किसी प्रकार एक बार भी उपकार कर दे तो उसीसे सदा सन्तुष्ट रहते हैं, सर्वदा उस एक ही उपकारको याद रखते हैं।'

उदाहरणके लिये जब हनुमान्‌जी लंकासे सीताजीका पता लगाकर लौटते हैं, उस समय उनसे मिलकर भगवान् बड़े प्रसन्न होते हैं और उनके कार्योंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए यहाँतक कह डालते हैं—'आज हनुमान्‌जीने सीताका पता लगाकर धर्मानुसार मेरी, समस्त रघुवंशकी तथा लक्ष्मणकी भी रक्षा कर ली है। मैं दीन हूँ, असमर्थ हूँ, मेरे मनमें तो यही बात कसक रही है कि जिसने मुझे ऐसा प्रिय संवाद सुनाया, उसका मैं कोई वैसा ही प्रिय कार्य नहीं कर सका।' यों कहकर रघुनाथजीने हनुमान्‌जीको हृदयसे लगा लिया। केवल उसी समय ऐसा भाव, ऐसी कृतज्ञता प्रकट की गयी हो—यह बात नहीं है। राज्याभिषेकके पश्चात् जब श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्‌जीको बिदा करते हैं, उस समय भी उनके उपकारोंका स्मरण करके वे आनन्द-गद्‌गद हो उठते हैं और भावावेशमें ये उद्‌गार प्रकट करने लगते हैं—

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥
मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

(उत्तर० ४०।२३-२४)

'कपिश्रेष्ठ! मुझपर तुम्हारे ऐसे महान् उपकार हैं कि उनमेंसे एक-एकके बदले अपने प्राणतक दे सकता हूँ। फिर भी शेष उपकारोंके लिये मुझे सदा तुम्हारा ऋणी बनकर ही रहना होगा। कपिवर! तुमने जो भी उपकार किये हैं, वे सब मेरे शरीरमें ही विलीन हो जायँ—मुझे उनका बदला चुकानेका कभी अवसर न मिले। अर्थात् तुमपर कभी कोई विपत्ति आये ही नहीं। क्योंकि मनुष्य विपत्तियोंमें पड़नेपर ही प्रत्युपकारका पात्र बनता है।'

गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ और कृतज्ञ श्रीराम सत्यवादी भी हैं। वे स्वयं कहते हैं—'**अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन**'—'मैंने पहले कभी न तो झूठ बात कही है और न आगे कभी कहूँगा।' '**रामो द्विर्नाभिभाषते**'—राम दो तरहकी बात नहीं बोलता। चौदह वर्षोंका वनवास स्वीकार कर लेनेपर उन्होंने कष्ट सहकर भी उसे निबाहा। अनेक प्रलोभन आये, माताने रोका, लक्ष्मणने ओज और उत्साहभरी बातोंसे राज्यपर बलपूर्वक अधिकार कर लेनेको उत्तेजित किया। फिर स्वयं भरत उन्हें मनाने गये। अयोध्या लौट चलनेके लिये बहुत आग्रह किया गया; किंतु श्रीरामचन्द्रजी विचलित नहीं हुए। उन्होंने वनमें रहकर पिताके तथा अपने सत्यकी पूर्णरूपसे रक्षा की। ये ही बातें उनके दृढ़व्रत होनेका भी परिचय देती हैं। वे स्वयं सीताजीसे कहते हैं—

'अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न हि प्रतिज्ञां संश्रुत्य ....'

'जनकनन्दिनी! मैं अपने प्राण त्याग सकता हूँ, तुमको और लक्ष्मणको भी छोड़ सकता हूँ; परंतु प्रतिज्ञा करके उसे टाल नहीं सकता।'

---

* बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्। न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप॥
आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः। अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥
(वा० रा० युद्ध० २७-२८)

इस प्रकार महर्षिके द्वारा जिज्ञासित प्रारम्भिक छहों गुण श्रीरघुनाथजीमें पूर्णतया उपलब्ध होते हैं। ये सभी गुण हों और चरित्र-बल न हो तो इनका कोई महत्त्व नहीं रह जाता; अतः महर्षि पूछते हैं—'**चारित्रेण च को युक्तः**' ('सदाचारसे युक्त कौन है?)।' इस चारित्र्य-गुणमें भी श्रीरघुनाथजी ही अद्वितीय हैं। उनका एकपत्नीव्रत सर्वत्र प्रसिद्ध है। जनककी पुष्पवाटिकामें सीताजीकी अलौकिक शोभा देखकर उनका मन जब किशोरीजीकी ओर आकृष्ट हुआ तो वे चकित हो उठे। यह जीवनमें प्रथम घटना थी। उन्होंने अपने मनको टटोला और वहाँ कलुषित वासनाकी गन्ध भी न पाकर लक्ष्मणसे कहने लगे—भाई!

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥

वही मेरा सहज पुनीत मन आज क्षुब्ध क्यों हुआ? इसका कारण विधाता ही जानते हैं। (जान पड़ता है, सीता अनादि कालसे मेरी हैं और मेरी ही रहेंगी—मानो यही सूचित करनेके लिये) मेरे दायें अंग फड़क रहे हैं। मैं तो उस रघुकुलका हूँ, जहाँ—

'मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥'

'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी॥'

यह है श्रीरामका आत्मविश्वास! न केवल श्रीरामका, अपितु प्रत्येक रघुवंशीका ही यह स्वभाव है कि उसके मनको परायी स्त्री न लुभा सके, उसकी दृष्टि पर-स्त्रीकी ओर कभी आकृष्ट न हो।

'**नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी॥**' का आदर्श देखना हो तो शूर्पणखा-प्रसंगपर दृष्टिपात कीजिये। शूर्पणखा मायासे मनोहर रूप धारण करके आती है और मुसकाती हुई कहती है—

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह सँजोग बिधि रचा बिचारी॥
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥
तातें अब लगि रहिउँ कुमारी। मनु माना कछु तुम्हहि निहारी॥

सर्वान्तर्यामी प्रभु उस मायाविनीके कपटपूर्ण वचनको तुरंत ही ताड़ जाते हैं। कौतुकी तो वे हैं ही; सोचते हैं, यह विवाहिता होकर भी अपनेको कुमारी बताती है। यदि विवाहितको भी कुमार कहा जा सकता है, तब तो हमारा लक्ष्मण भी कुआँरा ही है। अतः कहते हैं 'जैसी तू कुआँरी है, उसी तरह हमारा छोटा भाई भी कुमार है।' यह तो उस मायाविनीकी बातका उत्तर था, जो देना ही आवश्यक था। परंतु प्रभुने एक बार भी उसके उस सुन्दर रूपकी ओर आँख उठाकर देखातक नहीं। उन्होंने सीताजीकी ओर देखते हुए वार्तालाप किया—'**सीतहि चितइ कही प्रभु बाता।**' शूर्पणखाको न तो उनका मन प्राप्त हो सका और न उनकी दृष्टि ही।

'**सर्वभूतेषु को हितः?**' समस्त प्राणियोंका हितकारी कौन है? यह महर्षिका नवाँ प्रश्न है। उत्तर एक ही है—श्रीराम। सर्वात्मा एवं सर्वेश्वर श्रीरामके सिवा दूसरा कौन सबका हित-साधन कर सकता है? उनका अवतार, उनका हँसना, बोलना, चलना, उनकी बातचीत, उनका अनुपम रूप—यह सब कुछ सबको सुख देनेके लिये ही तो था। अवतार धारण करके अपनी बाल-लीलाओंसे पहले अयोध्यावासियोंको सुख दिया—

एहि बिधि सिसु बिनोद प्रभु कीन्हा।
सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा॥

फिर जनकपुरवासियोंको परमानन्दमें निमग्न किया—

हियँ हरषहिं बरषहिं सुमन सुमुखि सुलोचनि बृंद।
जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ तहँ तहँ परमानंद॥

वनवासके समय भी वे गाँव-गाँव आनन्द बाँटते फिरते थे—

गाँव गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल कैरव चंदू॥
एहि बिधि रघुकुल कमल रबि मग लोगन्ह सुख देत।
जाहिं चले देखत बिपिन सिय सौमित्रि समेत॥

वनमें जाकर मुनियोंका हित किया—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

विद्वान्, समर्थ और प्रियदर्शन कौन है?—इन प्रश्नोंके द्वारा आदिकविने लोकोत्तर विद्वत्ता, लोकोत्तर सामर्थ्य और लोकोत्तर सौन्दर्यकी जिज्ञासा की है। ये सभी बातें श्रीरघुनाथजीमें पूर्णतः प्रकट हैं। रामगीताके उपदेशक श्रीरामकी विद्वत्ता सबके समक्ष है। सामर्थ्यका परिचय 'वीर्यवान्' पदकी व्याख्यामें दिया जा चुका है। एकमात्र प्रियदर्शन तो वे थे ही। मनुष्योंकी तो बात ही क्या है—

खग मृग मगन देखि छबि होंहीं।

आत्मवान् (मनपर अधिकार रखनेवाले) तो वे ऐसे थे कि चौदह वर्षोंतक वनमें ही रहकर सब प्रकारके सुख-दुःख झेलते रहे; पर मित्रोंके आग्रहपर भी कभी एक दिनके लिये भी ग्राम या नगरमें नहीं गये। अवसर आनेपर उन्होंने स्पष्ट कह दिया—

'पिता बचन मैं नगर न आवउँ।'

आत्मवान् होनेके कारण ही वे हर्ष-शोकसे ऊपर उठ चुके थे। राज्य पाकर वे प्रसन्न नहीं हुए और वनवास मिलनेसे उन्हें दुःख नहीं हुआ—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।

जो आत्मवान् है, वह क्रोधपर विजय पा ही लेता है। भगवान् श्रीरामने अपना अपराध करनेवालेपर भी कभी क्रोध नहीं किया। मन्थरा-जैसी दासी भी, जिसके अपराधकी कहीं तुलना नहीं थी, कभी श्रीरामके क्रोधका भाजन न बन सकी। उन्होंने कभी मन्थराके अपराधकी चर्चातक नहीं की। एक दिन वनमें लक्ष्मणने जब कैकेयीपर आक्षेप किया तो श्रीरामने तुरंत उन्हें रोक दिया और कहा—

'न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।'

'भैया लक्ष्मण! तुम मझली माताकी कभी निन्दा मत किया करो।' साथ ही भगवान् शरणागतवत्सल हैं। अतः जो लोग भक्तजनोंका या भगवदाश्रित जनोंका अपराध करते हैं, उन्हें श्रीरामचन्द्रजी अवश्य दण्ड देते हैं। जयन्त और रावण आदिको भी इसीलिये दण्ड मिला था। 'द्युतिमान्' कहते हैं कान्तिमान्को। त्रिलोकीमें कौन ऐसा देहधारी है, जो श्रीरामकी मनमोहिनी छबिपर मुग्ध नहीं होता—

कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी॥
बय किसोर सुषमा सदन स्याम गौर सुख धाम।
अंग अंग पर वारिअहिं कोटि कोटि सत काम॥

जो गुणोंमें भी दोष देखे, वह असूयक है। श्रीराम अनसूयक हैं। वे कभी किसीके दोष नहीं देखते। देखना तो दूर रहा, सुनते भी नहीं। इसीलिये तो कैकेयीकी निन्दा करते समय तुरंत ही लक्ष्मणको रोक दिया। अन्तिम प्रश्नमें महर्षिने प्रभावकी जिज्ञासा की है। संग्राममें क्रोधपूर्वक खड़े होनेपर किसके सामने जानेमें देवता भी थर्रा उठते हैं। देवता तो रावण और मेघनादसे ही डर जाते हैं। वे रावण आदि राक्षस भी जिनसे अपने प्राणोंकी रक्षा नहीं कर सके, उन भगवान् श्रीरामके अलौकिक प्रभावका पार कौन पा सकता है?

महर्षिकी जिज्ञासाके उत्तरमें देवर्षिने श्रीरामके जो अलौकिक गुण बताये हैं, वे सब इन्हीं सद्गुणोंके विस्तार हैं,

विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः।

—इत्यादि श्लोकोंमें भगवान्‌के शारीरिक शुभ लक्षणोंका वर्णन किया गया है, जो सामुद्रिक शास्त्रकी दृष्टिसे उनके महान् ऐश्वर्य, प्रभाव, सुख और सामर्थ्यके सूचक हैं।[१]

इनके सिवा भगवान् श्रीरामने माता-पिताकी अनुपम भक्तिका आदर्श उपस्थित किया है। माताकी उपयुक्त आज्ञा माननेवाले तो बहुत हो सकते हैं; परंतु विमाताकी भी कठोरतम आज्ञाको शिरोधार्य करनेवाले केवल श्रीराम हैं। जब कैकेयीने वरदानकी आड़ लेकर श्रीरामको वनमें जानेका आदेश दिया, उस समय श्रीराम उलाहना देते हुए कहते हैं—'माँ! यह काम तो मैं तुम्हारे ही कहनेसे कर सकता था, तुमने पिताको क्यों कष्ट दिया? मालूम होता है, अब तुम मुझमें इस तरहका कोई गुण नहीं देखतीं! मुझपर तुम्हारा पूरा अधिकार है। फिर भी इस बातको सीधे मुझसे न कहकर तुमने पिताजीसे कहलाया है।'[२] पिताकी आज्ञाके पालनमें उनका कितना उत्साह था—यह निम्नांकित वचनोंसे स्पष्ट है—'मैं पिताजीके कहनेसे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीव्र विषका भी पान कर सकता हूँ और समुद्रमें भी गिर सकता हूँ।'[३] कौसल्याने जब वन जानेसे रोका तो श्रीरामने विवश होकर कहा—'माँ! मुझमें पिताजीकी आज्ञाको टाल देनेकी शक्ति नहीं है; मैं वनमें जानेकी ही इच्छा रखता हूँ। तुम बाधा न डालो; तुम्हारे चरणोंपर मस्तक रखकर प्रार्थना करता हूँ।'[४]

उनका भ्रातृप्रेम भी संसारके लिये सदा अनुकरणीय बना रहेगा। उन्होंने सदा अपने भाइयोंके प्रति स्नेहका

१-जैसे कंधोंका उन्नत होना सुखदायक माना गया है—
कक्षः कुक्षिश्च वक्षश्च घ्राणस्कन्धौ ललाटिका। सर्वभूतेषु निर्दिष्टा उन्नतास्ते सुखप्रदाः॥ इत्यादि।

२-न नूनं मयि कैकेयि किञ्चिदाशंससे गुणान्। यद्राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा सती॥
(वा० रा० अ० १९। २४)

३-अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके। भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे॥
(वा० रा० अ० १८। २८-२९)

४-नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम। प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥
(वा० रा० अ० २१। ३०)

भाव रखा, उनके सुख और सुविधाका ख्याल किया। इतना ही नहीं, खेलमें हारी हुई बाजी भी उन्हें जिताते रहे—जिससे उनका मन न टूटे, उत्साह न भंग हो। चित्रकूटपर भरतके आगमनकी सूचना मिलनेपर श्रीरामने लक्ष्मणसे जो उद्गार प्रकट किया है, वह उनके अगाध भ्रातृ-स्नेहका प्रबल परिचायक है। वे कहते हैं—'लक्ष्मण! मैं सत्य और आयुधकी शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम तथा सम्पूर्ण पृथ्वी—सब कुछ तुम्हीं लोगोंके लिये चाहता हूँ। लक्ष्मण! मैं भाइयोंकी भोग्य-सामग्री और उनके सुखके लिये ही राज्य भी चाहता हूँ। भरतको, तुमको और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख मिलता हो तो उसमें आग लग जाय। वह जलकर भस्म हो जाय।'*

प्रजाजनोंपर उनका इतना अटूट प्रेम था कि उनके वनगमनके समय सारी अयोध्या उनके साथ जानेको उद्यत हो गयी थी तथा प्रजाको प्रसन्न रखनेके लिये ही वे अपनी प्राणोंसे प्यारी पत्नी सीताको भी वनमें भेज देनेके लिये विवश हुए थे। वे आदर्श राजा थे। उनके राज्यमें प्रजाको सब प्रकारका सुख था। सभी सब प्रकारकी चिन्ता और भयसे मुक्त थे। यह पृथ्वी धन-धान्यसे सम्पन्न थी। किसीकी अकाल मृत्यु नहीं होती थी। सब लोग स्वभावतः धर्मात्मा और सदाचारपरायण रहते थे। वे आदर्श पुत्र थे। बड़े-से-बड़े कष्टोंको सहकर भी गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करनेको उद्यत रहते थे। पिता उनके-जैसे पुत्रको पाकर अपनेको परम सौभाग्यशाली मानते थे। श्रीराम आदर्श पति थे, उनका एकपत्नीव्रत संसारको आज भी सदाचार और संयमका पाठ पढ़ा रहा है। वे आदर्श स्वामी थे; उनके सेवक उन्हें अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानते थे। उनका सेवकोंपर पुत्रवत् स्नेह था। इसी प्रकार वे आदर्श मित्र और आदर्श शरणागतपालक थे। श्रीरामका सारा जीवन ही धर्ममय था। वे आदर्श राजा थे, इसीलिये उन्होंने प्रजारंजनके उद्देश्यसे सीता-सरीखी सतीको भी वनवास दे दिया। वे धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप थे। आर्य-संस्कृतिका मूर्तिमान् स्वरूप कहीं देखना हो तो भगवान् श्रीरामचन्द्रमें देखना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्ण

(लेखक—स्व० साहित्याचार्य पं० श्रीशालग्रामजी शास्त्री)

अवतारोंमें श्रीराम और श्रीकृष्णका नाम सबसे अधिक श्रद्धा, भक्ति तथा आदरके साथ लिया जाता है। इनमेंसे एक 'मर्यादापुरुषोत्तम' कहे जाते हैं और दूसरे 'लीलापुरुषोत्तम'। यद्यपि ये दोनों ही भगवान्के अवतार माने जाते हैं, परंतु स्वभाव आदिमें एक-दूसरेसे नितान्त भिन्न दीखते हैं। श्रीरामको हम आदिसे अन्ततक एक समान गम्भीर मुद्रा और स्थिरभावमें देखते हैं तो श्रीकृष्णको चंचलता और हँसोड़पनकी प्रतिमूर्ति पाते हैं। यदि यह कहा जाय कि श्रीरामको किसीने कभी हँसते नहीं देखा और श्रीकृष्णको कभी रोते नहीं देखा तो अत्युक्ति न होगी। एकमें प्रसादकी कमी है तो दूसरेमें विषादका अत्यन्त अभाव है। एकने आजन्म एक रूप धारण किया तो दूसरेने क्षण-क्षणमें भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ धारण कीं और नयी-नयी लीलाएँ दिखायीं। एकने मर्यादा बाँधनेके लिये स्वयं अपनेको मर्यादाओंके बन्धनमें बेतरह जकड़ लिया तो दूसरेने त्रिलोकीका सूत्रधार बनकर प्रकृति-नटीको नचानेमें कमाल कर दिखाया। एकको अपनी लीलामें अपने वास्तविक स्वरूपका स्मरण बहुत कम हुआ तो दूसरेको उसका विस्मरण कभी हुआ ही नहीं। श्रीरामको कई बार देवताओंके याद दिलानेपर भी अपने स्वरूपका ज्ञान कठिनतासे हुआ तो श्रीकृष्णको अपने विराट्रूप और त्रिलोकनायकत्वका भान सदा अपनी आँखोंके आगे नाचता ही दीखता—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

* धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण। इच्छामि भवतामर्थे एतत्प्रतिशृणोमि ते॥
भ्रातृणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण। राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद। भवेन्मम सुखं किञ्चित् भस्म तत्कुरुतां शिखी॥
(२।९७।५, ६, ८)

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०।३९, ४१-४२)

'अर्जुन! समस्त सृष्टिका आदि कारण मैं ही हूँ। संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो मुझसे रहित हो। जगत्में जहाँ-जहाँ वैभव, तेज और लक्ष्मी दीखती है, वह सब मेरी ही विभूतिका अंश समझो अथवा बहुत-सी बातोंसे क्या मतलब; तुम संक्षेपमें यह समझो कि इस समस्त ब्रह्माण्डको मेरे एक अंशने घेर रखा है।' '**त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।**' वेदने कहा है कि भगवान्का केवल एक चतुर्थांश इस भूत-भौतिकमयी समस्त सृष्टिको व्याप्त किये हुए है और तीन अंश इससे बाहर हैं।

अर्जुनका सन्देह दूर करनेके लिये विराट्-स्वरूपका दर्शन कराते समय भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥

(गीता ११।७)

'अर्जुन! चर और अचर सम्पूर्ण जगत्को तुम मेरे इस (विराट्) शरीरमें देखो और इसके अतिरिक्त जो कुछ और देखना चाहते हो, वह भी देखो।'

कोई पूछे कि निखिल ब्रह्माण्ड (सचराचर जगत्) देखनेके बाद और बचा ही क्या, जिसे अर्जुन देखना चाहेंगे? भगवान् यह क्या कह रहे हैं? चर और अचर अर्थात् चेतन और जड अथवा प्रकृति और पुरुषके सिवा क्या कुछ और भी संसारमें है, जिसे देखनेकी आज्ञा भगवान् दे रहे हैं? जी हाँ, है। वह है अनागत वस्तु। उसीकी ओर भगवान् संकेत कर रहे हैं। उस समय संसारमें जो-जो वस्तु अपने जिस-जिस रूपमें विद्यमान थी, वह सब अर्जुनको भगवान्के विराट्रूपमें दीख सकती थी और आगे चलकर उसकी जो दशा होनेवाली है—जो उस समयतक नहीं हुई थी, संसारमें जो रूप उसका उस समयतक नहीं हुआ था, भावी या अनागत था, वह भी यदि अर्जुन चाहें तो भगवान्की देहमें देख सकते हैं। यही उक्त पद '**यच्चान्यद्**' का तात्पर्य है। आगे चलकर हुआ भी वैसा ही। अर्जुनने भगवान्के अनेक विकराल मुखोंकी भयानक दाढ़ोंके बीच भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुःशासन आदिको पिसते हुए देखा था। यह बात उस समयतक संसारमें विद्यमान नहीं थी। अनागतके गर्तमें प्रच्छन्न थी। वह भी अर्जुनको प्रत्यक्ष दीख पड़ी। इसीलिये तो अर्जुनको समझाते हुए भगवान्ने कहा था कि 'इन सबको तो मैंने ही मार रखा है, अर्जुन! तुम निमित्तमात्र होकर यशके भागी बनो।'

भगवान् श्रीरामके समान श्रीकृष्णको प्रौढ़ अवस्था प्राप्त होनेपर अपनी शक्तियोंका भान हुआ हो, यह बात नहीं है। ये तो जन्मसे ही 'हजरत' थे। यहाँ अर्जुनको विराट्रूप दिखाकर कर्तव्यका ज्ञान कराया, उधर कौरवोंकी सभामें सन्धिका प्रस्ताव करते समय जब कर्ण, दुःशासन और दुर्योधन आदिने इन्हें (भगवान् श्रीकृष्णको) अकेला समझकर बाँध लेनेकी गुप्त मन्त्रणा की तो आपने यह कहते हुए कि 'बच्चा! मुझे अकेला न समझो, मेरे साथ यहाँ भी बहुत कुछ है'—एक विकट अट्टहास करके अपने शरीरमें वह विश्वरूप दिखलाया कि विरोधियोंकी फूँक निकल गयी। शैशवकालमें जब माता यशोदाने इन्हें मिट्टी खाते देखकर डाँटा और मुँह खोलनेको कहा तो आपने मुँह खोलकर समस्त ब्रह्माण्डको अपने पेटमें दिखला दिया। वह बेचारी सीधी-सादी ग्वालिन हक्की-बक्की-सी होकर चौंधिया गयी और सोचने लगी कि 'समस्त पृथ्वी जिसके पेटमें समायी हुई है, वह यदि जरा-सी मिट्टी खा ही लेगा तो क्या विकार हो सकता है।' बात-की-बातमें आपने अपनी माया समेट ली। यशोदा सब बातें भूल गयीं और बालकृष्णको कोरा शिशु समझकर वात्सल्य-रससे परिपूर्ण हो गयीं। तात्पर्य यह कि भगवान् श्रीकृष्णको कठिन तपस्या, योगाभ्यास या वनवास आदिके द्वारा कोई सिद्धि प्राप्त हुई हो, यह बात नहीं है। विश्वामित्र या अगस्त्य आदि महर्षियोंके समान इन्हें किसीने दिव्य वस्त्र या 'बला', 'अतिबला' आदि विद्याएँ देनेकी कृपा नहीं की। इन्हें इसकी आवश्यकता भी नहीं थी। ये तो 'लीलापुरुषोत्तम' थे। इन्होंने जन्मसे ही अलौकिक लीलाएँ आरम्भ कर दी थीं। बिना सीखे-पढ़े ही शकटासुर और पूतना आदिका शिकार करना शुरू कर दिया था। जिस अवस्थामें बच्चोंको लँगोटी बाँधनेकी भी सुध-बुध नहीं हुआ करती, और शायद ये भी वैसे ही घूमा करते हों, तभीसे आपने अनेक असुरोंकी मरम्मत करना आरम्भ कर दिया था। इनका तो बिना सीखे-पढ़े ही यह हाल था।

फिर यह सीखते भी कब और कैसे। इनके जन्मसे भी बहुत पहलेसे कंसकी विकराल दृष्टि इनकी खोजमें लगी थी। क्षण-क्षणमें उसकी भीषण भृकुटी देवकी और वसुदेवका कलेजा कँपाया करती थी। यदि यह बात न होती तो आप माता-पिताको छोड़कर 'गोकुल गाँवके ग्वालन' से दोस्ती गाँठने कैसे पहुँचते? ग्यारह वर्ष तो गौएँ चराने, ग्वालबालोंमें हुरदंग मचाने और गोपकन्याओंके साथ धमाचौकड़ी मचानेमें ही बीत गये। इसी बीचमें अनेक असुरोंकी भी चटनी घोंटी गयी। अन्तमें कंसका कचूमर निकालनेकी नौबत आयी। जब उग्रसेन (कंसके पिता) राजा हुए और वसुदेव-देवकी जेलखानेसे मुक्त हुए, तब लोगोंने समझा कि अब श्रीकृष्ण-बलदेवकी जानका खतरा दूर हुआ। इसके बाद इनके क्षत्रियोचित संस्कार हुए और उज्जयिनीमें सान्दीपनि मुनिके यहाँ आप विद्याभ्यासकी रस्म अदा करने पहुँचे। वहाँ कितने दिन रहे और क्या-क्या सीखा-पढ़ा, जरा इसका हाल भी सुन लीजिये। चौंसठ दिनमें चारों वेद और उनके छहों अंग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द एवं आलेख्य, गणित, गानविद्या और वैद्यक—यह सब सीख लिया। बारह दिनमें हाथी-घोड़े आदिकी शिक्षा प्राप्त की और पचास दिनमें दसों अंगोंसहित धनुर्वेदकी शिक्षा समाप्त कर दी। महाभारतमें लिखा है—

अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या सांगान् वेदानवापतुः।
लेख्यं च गणितं चोभौ प्राप्नुतां यदुनन्दनौ॥
गान्धर्ववेदं वैद्यं च सकलं समवापतुः।
हस्तिशिक्षामश्वशिक्षां द्वादशाहेन चाप्नुताम्॥
पंचाशद्भिरहोरात्रैर्दशाङ्गं सुप्रतिष्ठितम्।
सरहस्यं धनुर्वेदं सकलं ताववापतुः॥

इसके अनन्तर गुरुदक्षिणा देनेकी बारी आयी। अगस्त्यकी भाँति अनेक विद्याओंके समुद्रको एक ही साँसमें सोख लेनेकी अद्भुत शक्ति देखकर गुरुजी भी इन्हें ताड़ गये थे। उन्होंने कसके गुरुदक्षिणा माँगी। बहुत दिन पहले उनके पुत्रको समुद्रमें एक मगर निगल गया था। उन्होंने उसीको ला देनेकी बात कही।

भगवान्‌ने गुरुको आर्त देखकर उनका पुत्र ला देनेकी प्रतिज्ञा की। महर्षि वेदव्यास कहते हैं कि जो काम प्राणिमात्रमें कोई नहीं कर सकता था, वह उस समय भगवान् श्रीकृष्णने कर दिखाया। सान्दीपनि मुनिका पुत्र आ गया, जिसे देखकर सभीको विस्मय हुआ। कहनेका मतलब यह है कि भगवान् श्रीकृष्णकी सभी बातें अलौकिक हैं। उनकी लीलाएँ जन्मसे ही आरम्भ हो जाती हैं। उनकी दिव्य शक्तियाँ तभीसे अप्रतिहतरूपसे अपना प्रसार दिखाती हैं। अघासुर, बकासुर आदि असुरों तथा ब्रह्मा, इन्द्र आदि सुरोंके साथ उन्होंने बचपनसे ही मोर्चा लिया था। उन्हें पढ़ने-लिखने या सीखनेकी परतन्त्रता नहीं थी। यदि होती तो सान्दीपनि मुनिका पुत्र कैसे आता? यह विद्या उन्होंने किससे सीखी थी? यदि सान्दीपनिजीको यह विद्या आती होती तो वे स्वयं ही अबतक अपने पुत्रको क्यों न ले आये होते? इसीसे तो लोग श्रीकृष्णको पूर्णावतार बताते हैं।

इस साधारण—अत्यन्त साधारण शिक्षाके साथ अब इनके ज्ञानका अनुमान कीजिये। 'ताण्डव' और 'लास्य' ये दो प्रकारके प्राचीन नृत्य प्रसिद्ध हैं। श्रीकृष्णने एक तीसरी नृत्यकलाकी सृष्टि की, जो शिव-नृत्य (ताण्डव) और पार्वती-नृत्य (लास्य)—इन दोनोंसे विलक्षण तथा चमत्कारी थी। जो व्यक्ति क्रोधोन्मत्त भीषण भुजंगमके फणोंपर नाच सकता हो, उसकी शरीर-साधना, चरणलाघव और लोकोत्तर कलामें किसे सन्देह हो सकता है? संगीतमें आज चार मत प्रसिद्ध हैं—१. नारदमत-संगीत, २. भरतमत-संगीत, ३. हनुमन्मत संगीत और ४. श्रीकृष्णमत-संगीत—इनमें अन्तिम सबसे कठिन और सबसे अधिक चमत्कारक बताया जाता है।

और देखिये, युद्धकी शिक्षा तो आपने सान्दीपनि मुनिके अखाड़ेमें पायी थी, परन्तु हजारों हाथियोंका बल रखनेवाले कंस और चाणूरका चूरन बनानेकी विद्या किससे सीखी थी? इन प्रबल और कुशल पहलवानोंको पछाड़नेके दाव-पेंच किसने सिखाये थे? कुवलयापीड़का पुलाव पकानेकी तरकीब किसने बतायी थी? ग्वालोंने या गोपियोंने? ये बेचारे तो इन सबके नामसे ही थर-थर काँपते थे।

संगीत तो सीखा उज्जैनके आचार्यकुलमें जाकर, परंतु कालियमथनका नृत्य किसने सिखाया? गोप और गोपियोंका हृदयाकर्षक संगीत कहाँसे आया? त्रिभुवनमोहिनी मुरलीकी शिक्षा किसने दी? गोकुलभरमें किसी दूसरे मुरलीधरकी तो चर्चा ही नहीं मिलती। घोड़े हाँकनेमें मातलि (इन्द्रके सारथि)-को भी मात करनेकी करामात इन्हें किसने दी थी? जिस समय आदित्यब्रह्मचारी भीष्मने युद्धमें प्रलय—दावानलके समान विकराल रूप

धारण करके पाण्डवोंकी सेनाका विध्वंस आरम्भ किया था, तब उनके सामनेसे इन्हींने अपने अश्वचालन-कौशलके बलपर अर्जुनको सही-सलामत बचाया था, जिसे देखकर मातलि भी दंग रह गया था। सभी महारथियोंने और खासकर भीष्मपितामहने भी—दाँतोंतले अँगुली दबाकर उस सारथित्वको दाद दी थी। भला, बताइये तो सही कि इस प्रकारकी कुशलता प्राप्त करनेके लिये श्रीकृष्णने कौन-सी सड़कोंपर घोड़े दौड़ानेका अभ्यास किया था।

अच्छा, इन सब बातोंको छोड़िये। जरा 'भगवद्गीता' की ओर तो दृष्टि उठाकर देखिये। केवल चौंसठ दिनकी पढ़ाई-लिखाईके ज्ञानका यह परिणाम कि आज संसारमें उसके जोड़की दूसरी पुस्तक ही नहीं! पाँच हजार वर्ष बीत जानेपर भी—अनेक कवि, महर्षि, आचार्य और ग्रन्थकारोंका आविर्भाव हो जानेपर भी अबतक गीताके जोड़की दूसरी पुस्तक न बन सकी। इस गीता-निर्माणके पूर्व भी कोई ऐसी पुस्तक थी, इसका भी तो प्रमाण नहीं मिलता। इसके जोड़की पुस्तक बनानेकी तो बात ही छोड़िये। जिन भगवान् शंकराचार्यको आज भी बड़े-बड़े ज्ञानी (देशी तथा विदेशी भी) संसारका अद्वितीय दार्शनिक मानते हैं, उन्होंने भी भगवद्गीताके चरणोंमें मस्तक रगड़नेमें ही अपना अहोभाग्य समझा है। जब भगवान् शंकर-जैसे दिगन्त-विश्रान्त-कीर्ति आचार्यका यह हाल है तो दूसरोंकी तो बात ही क्या? '**किं तत्र परमाणुर्वै यत्र मज्जति मन्दरः।**' औरोंने भी इन्हींका अनुकरण किया है और अपने मतको गीताके अनुकूल बतानेमें ही अपनेको कृतकृत्य समझा है। गीता वह अगाध सरोवर है कि जिसने इसमें जितनी ही गहरी डुबकी लगायी, उसको उतनी ही अधिक शान्ति और सन्तोष प्राप्त हुआ। यह वह कामधेनु है, जिसने सभी सेवकोंको सन्तोष प्रदान किया है। यह वह कल्पवृक्ष है कि जो जैसी भावना लेकर इसके आश्रित हुआ, उसे वैसा ही फल मिला।

श्रीमद्भगवद्गीता एक प्रकारसे भगवान्का प्रतिरूपक है। भगवान्ने कहा है कि 'मुझे जो जिस भावनासे भजता है, उसे मैं उसी रूपमें दीख पड़ता हूँ।'

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४। ११)

श्रीभगवद्गीताके सम्बन्धमें भी यही बात प्रत्यक्ष सत्य प्रतीत होती है। इसे जिसने जिस भावसे देखा, उसे यह वैसी ही दीख पड़ी। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाले निःस्पृह संन्यासीकी बगलमें भी गीताकी पुस्तक मिली है और बम या पिस्तौलसे अंग्रेजोंको उड़ा देनेकी हिंसावृत्ति रखनेवाले नवयुवकोंकी झोलीमें भी यह पायी गयी है। कुछ दिन पहले तो यहाँकी पुलिस राजद्रोहात्मक साहित्यके साथ गीताकी पुस्तकको भी पकड़ा करती थी। इसके भाष्य भी सैकड़ों हैं। सभीको अपने-अपने मतोंका मूल इसमें दीख पड़ा है। सांख्य, योग, वेदान्त—सभी कुछ इसमें मिलता है। ज्ञानयोग, कर्मयोग, उपासनायोग, ध्यानयोग, कर्मसंन्यास, सर्वधर्म-संन्यास, द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि मतोंके माननेवाले अनेक आचार्योंने गीतापर भाष्य लिखे हैं और सभीने इसे अपने मतका पोषक बताया है। लोकमान्य श्रीबालगंगाधर तिलक महाराजने 'गीतारहस्य' की भूमिकामें गीतापर 'पिशाचभाष्य' होनेकी बात लिखी है। हमने एक वाममार्गी सज्जनको यहाँतक कहते सुना है कि गीतामें मांस-शराबका सेवन करके भगवान्की उपासना करनेका विधान है। हमारे पूछनेपर उन्होंने कहा कि 'मद्य' और 'अज' (बकरा) खानेके बाद भगवान्को नमस्कार करना या उनकी उपासना करनी चाहिये। इसके प्रमाणमें उन्होंने गीताका यह पद्यांश उद्धृत किया—'**मद्याजी मां नमस्कुरु**'। इसका अर्थ करते समय उन्होंने 'मद्य' और 'अज' शब्दके समस्त रूपके आगे मत्वर्थीय तद्धित 'इनि' प्रत्यय बताया। '**यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्**' भी ऐसा ही वाक्य है।* मतलब यह कि गीतापर समस्त संसार मोहित है। सभी इसे अपनानेमें अपना गौरव समझते हैं। जिसे पूरा प्रकरण नहीं मिलता, वह दो एक शब्दोंसे ही अपना काम निकाल लेना चाहता है। गीतामें वह आकर्षण है कि सभी भले-बुरे, इसकी ओर आकृष्ट होते हैं और इसमें वह लोकोत्तर वैचित्र्य है कि सब प्रकारकी भावना रखनेवालोंको इसमें अपना ही मुँह दीख पड़ता है।

अब सोचना यह चाहिये कि गीताका वास्तविक स्वरूप क्या है। उसका अपना कोई असली स्वरूप भी है या कि वह एक गोरख-धंधा है, जिसमें जाकर सभी उलझ जाते हैं? उसका कुछ वास्तविक तत्त्व भी है,

* यद्यपि ऐसा अर्थ करना गीताका सर्वथा दुरुपयोग है।

या वह एक 'मोमकी नाक' है, जिसे जिसका जिधर जी चाहे उधर ही मोड़ ले?

हमें इसपर हिंदीके एक प्राचीन दोहेकी याद आती है। किसी ग्राममें एक नव-वधू आयी। उसके सौन्दर्यकी बड़ी प्रशंसा थी। सबने सुन रखा था कि वैसी सुन्दरी हजारों-लाखोंमें नहीं मिल सकती। गाँवकी स्त्रियोंमें उसे देखनेका बड़ा कौतूहल मचा। एक-एक करके सभी उसे देखने पहुँचीं, परंतु उसके रूपका मर्म किसीकी समझमें नहीं आया। जिसने देखा, उसने उसे अपनी ही सूरत-शकलका पाया। बालिका, बूढ़ी और जवान—सबने उसे अपने ही समान देखा। क्यों? इसलिये कि ये सब गँवार थीं। उसके रूपका मर्म न समझ सकीं। उसके कपोल दर्पणके समान दमकते थे और उनमें सामने बैठे मनुष्यका प्रतिबिम्ब भी पड़ता था। उनमें ये सब गँवार स्त्रियाँ अपना ही मुँह देखकर लौट आयीं। नववधूके वास्तविक स्वरूपका किसीको पता ही न चला। जरा देखिये तो कि इस जरासे दोहेमें ये सब विलक्षण भाव कितनी सुन्दरतासे सन्निविष्ट हैं—

मरम न जान्यो रूपको मुकुर कपोलन पेखि।
सबै गवारैं गाँवकी गयीं आपु सम लेखि॥

भगवद्गीताके सम्बन्धमें भी ठीक यही बात घटित होती है। जिसने इसे देखा, उसे इसमें अपना ही मुँह दीख पड़ा। दर्पणका स्वरूप समझनेके पहले आपको अपने मुँहके प्रतिबिम्बसे दृष्टि हटानी पड़ेगी और गीताका तत्त्व समझनेके पहले आपको अपना मत भुला देना पड़ेगा। यदि पहलेसे अपना कोई मत स्थिर करके आपने गीताको देखा तो फिर आपको वही दीख पड़ेगा। जलका स्वरूप जाननेके लिये आपको क्यारियोंकी शकल भुलानी पड़ेगी, अन्यथा तीन कोनेकी क्यारीमें आपको जल भी तीन कोनेका दीखेगा और गोल क्यारीमें गोल। नववधूके मुखका वास्तविक मर्म समझनेके लिये आपको अपना मुख भुला देना पड़ेगा और गीताका रहस्य जाननेके लिये आपको अपने पिछले मत और अपना काल्पनिक स्वरूप भी भुला देना होगा। अस्तु।

भगवान् श्रीकृष्णकी अलौकिक लीलाओं और अद्भुत शक्तियोंका आविर्भाव जन्मसे ही आरम्भ हो गया था। पढ़ने-लिखने या सीखनेका इनसे विशेष सम्बन्ध नहीं था। इनमेंसे 'भगवद्गीता' आज भी हमारे सामने है, जो अपने अलौकिक गुणोंसे समस्त संसारको अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। यह ठीक है कि आज जो 'भगवद्गीता' हमारे सामने है, वह इस रूपमें महर्षि वेदव्यासकी बनायी है। श्रीकृष्णने जो कुछ अर्जुनको समझाया था, उसीको महर्षिने अपनी दिव्यदृष्टिसे देखकर तद्रूप ही इन पद्योंमें निबद्ध किया है। महर्षि व्यास दूसरोंको भी दिव्यदृष्टि देनेकी सामर्थ्य रखते थे। धृतराष्ट्रसे उन्होंने कहा था कि 'यदि महाभारतका युद्ध देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूँ। इससे तुम घर बैठे ही युद्धकी समस्त घटनाएँ अपनी आँखों देख सकोगे।' इसपर धृतराष्ट्रने कहा कि 'मैं अपने सम्बन्धियोंको मरते-कटते देखना नहीं चाहता। केवल हाल सुनना चाहता हूँ।' इसपर महर्षिने वह दृष्टि संजयको थोड़े समयके लिये दी, जिससे उन्होंने महाभारतका सब हाल देखकर धृतराष्ट्रको सुनाया।

महर्षि वेदव्यास आजकलके वैसे लेखकोंकी तरह तो थे नहीं, जो इधर-उधरके सामानको लेकर धोखेसे कीर्ति कमाया करते हैं। इसीसे उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी बातोंको उन्हींके नामसे और उसी रूपमें प्रकाशित किया।

अलौकिक शक्तियोंसे सम्पन्न और त्यागी महर्षिने किसी ऐहिक लोभसे ऐसा किया होगा, इसकी तो आशंका करना ही मूर्खता है। हाँ, यह कोई कह सकता है कि उन्होंने श्रीकृष्णकी भक्तिके कारण उनकी बातोंको बड़ी श्रद्धा-आदरके साथ स्थान दिया है; परंतु जिन श्रीकृष्णमें भगवान् व्यास-जैसे महर्षि भी भक्ति रखते हों, उनकी महिमाका अनुमान करना कठिन नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्णकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उनके सम-सामयिक बड़े-से-बड़े ज्ञानी, विज्ञानी, धर्मात्मा, तपस्वी, महर्षि, शूर, प्रतापी और पराक्रमी योद्धा भी उन्हें बड़ी भक्ति-श्रद्धा और आदरकी दृष्टिसे देखते थे एवं उनके लोकातिशायी ऐश्वर्यके कायल थे। व्यास-जैसे महर्षि, युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा, विदुर-जैसे नीतिज्ञ, धृतराष्ट्र-जैसे स्वार्थी, अर्जुन और भीम-जैसे योद्धा, सहदेव-जैसे ज्ञानी, द्रौपदी और कुन्ती-जैसी ज्ञान-वयोवृद्धा स्त्रियाँ और भीष्मपितामह-जैसे अलौकिक ब्रह्म-क्षत्रबल-सम्पन्न महात्मा ईश्वरबुद्धिसे इनके चरणोंमें नत-मस्तक होकर सुखी होते थे। यह एक बात ही इनके पूर्णावतार होनेका काफीसे भी अधिक प्रमाण है।

भीष्मपितामहके पराक्रमसे कौन परिचित नहीं। ये 'इच्छा-मृत्यु' थे। इक्कीस बार समस्त पृथ्वीके क्षत्रियोंका

अकेले ही वध करनेवाले श्रीपरशुरामजी इनके शस्त्र-शिक्षक थे। सभी अलौकिक अस्त्रोंके ये ज्ञाता और प्रयोक्ता थे। एक बार परशुरामजीसे भी इनकी मुठभेड़ हो चुकी थी। बराबर तेईस दिनतक घोर संग्राम हो चुकनेके बाद जब ये हताश होने लगे तो स्वप्नमें इन्हें अपनी माता मन्दाकिनी (भागीरथी गंगा) और अष्ट वसुओंके दर्शन हुए। उन्होंने इन्हें प्रस्वापन अस्त्र दिया। युद्धमें स्मरण करते ही वह अस्त्र इनके सामने आकर उपस्थित हुआ। तब देवतालोग भी घबरा उठे और इन दोनोंका युद्ध बंद करा दिया। परशुरामने भीष्मकी विजय मान ली। इन्होंने उन्हें विजयी पुत्रके समान प्रणाम किया और उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर आशीर्वाद दिया। इसके अनन्तर वे तपस्या करने चले गये। तबसे भीष्मके पराक्रमकी धाक समस्त संसारमें जम गयी।

इन्हीं भीष्मने महाभारत-युद्धमें जब घोर कदन आरम्भ किया तो पाण्डवोंकी सेना आँधीमें पड़े तिनकोंके ढेरके समान उड़ने और बिखरने लगी। अर्जुनका पराक्रम एक बच्चेके समान दीखने लगा। बड़े-बड़े महारथी उसी तरह उड़ने लगे जैसे धुनकीके आघातसे रूईके फाहे। सब लोगोंको यह निश्चय हो गया कि अब पाण्डवोंकी खैर नहीं है। सबने यह प्रत्यक्ष देखा कि भीष्मके उस विकराल स्वरूपके आगे कालका भी ठहरना कठिन है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी चिन्तित हुए। इन्होंने यह समझा कि अब युधिष्ठिरकी सेनाका अन्तकाल उपस्थित है। यह भयानक भीष्म एक ही दिनमें देवताओं और दानवोंतकका बीज नाश कर सकता है। इसके आगे पाण्डवोंका यह तुच्छ बल किस खेतकी मूली है। जिसके सारथि बनकर आये हैं, उसे अपने सामने विनष्ट होता देखना पड़ेगा। जिस पक्षकी रक्षाका भार ग्रहण किया है, उसका अपनी आँखोंके सामने विध्वंस होते देखना पड़ेगा। इसपर भगवान्ने स्वयं पृथ्वीका भार उतारनेकी इच्छा की और सात्यकिको अपना निश्चय सुनाकर सुदर्शन चक्रका स्मरण किया। स्मरण करते ही वह आपके हाथमें आ गया। भगवान् रथसे उतर पड़े, घोड़े छोड़ दिये और बड़े वेगसे चक्र घुमाते हुए भीष्मकी ओर झपटे। इनके भीषण पदाघातसे पृथ्वी हिलने लगी और दिशाएँ काँपने लगीं।

भीष्मने जब देखा कि भगवान् चक्र घुमाते हुए हमारे ऊपर बढ़े ही चले आ रहे हैं, तब उन्होंने बिना किसी घबराहटके अपने धनुषको और कसके पकड़ा एवं उसे घोर घोषके साथ रणमें आन्दोलित करते हुए अनन्त-पौरुष भगवान्से बोले—'आइये, भगवन्! आइये, देवताओंके नाथ और जगत्के अन्तर्यामी भगवन्! आइये, हे चक्रपाणे! हे माधव! आपको प्रणाम है। हे त्रिलोकीनाथ! आज बलपूर्वक आप मुझे इस रथसे मार गिराइये, हे सर्वशरण्य! (सबको शरण देनेवाले) स्वामिन्! आज इस रणमें मेरा काम तमाम कीजिये। हे कृष्ण! आपके द्वारा मारे जानेपर मेरा दोनों लोकों (पृथ्वी तथा स्वर्ग) में कल्याण होगा। हे यदुनाथ! आज आपके इस आक्रमणसे तीनों लोकोंमें मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गयी है। सब लोग यही कहेंगे कि भीष्म धन्य हैं, जिनके लिये स्वयं भगवान्को अपनी प्रतिज्ञा (महाभारत-युद्धमें शस्त्र-ग्रहण न करनेकी) भुलाकर आगे आना पड़ा।'

कहना न होगा कि भगवान् श्रीकृष्णके रहस्यको जितना भीष्म समझते थे, उतना दूसरा नहीं समझता था। अब आप पहले तो भीष्मपितामह-जैसे आदित्यब्रह्मचारीके अलौकिक बल और ज्ञानका अंदाज लगाइये। उसके बाद उनके प्रकृत वचनोंको देखकर श्रीकृष्णके ऊपर उनकी भक्ति-श्रद्धाका पता चलाइये। इसके अनन्तर भगवान् श्रीकृष्णकी अलौकिक शक्तियोंका अनुमान लगाइये। जो भीष्म एक ही दिनमें देवताओं और दानवोंका मूलोच्छेद कर सकते हैं और जो 'इच्छा-मृत्यु' हैं, वही यह समझ रहे हैं कि क्रुद्ध भगवान्के सामनेसे जीते-जी बचना असम्भव है और साथ ही वह इस मृत्युको अपना अहोभाग्य भी मान रहे हैं। इन सब बातोंका मनन करते हुए आप भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको पहचाननेका प्रयत्न कीजिये।

श्रीभीष्मपितामहने इस प्रकरणमें भगवान्को 'सर्वशरण्य' सम्बोधन देकर बड़ी मीठी चुटकी ली है। वे कहते हैं कि आप तो 'सर्वशरण्य' (सबको शरण देनेवाले) हैं। आपकी दृष्टिमें तो मैं और अर्जुन बराबर होने चाहिये। क्या मेरी भक्ति अर्जुनसे कुछ कम है? फिर मेरे ऊपर यह विकराल रूप क्यों? क्या इसीका नाम सर्वशरण्यत्व है? साथ ही भीष्म वीर क्षत्रिय हैं। वे अपने क्षात्रधर्मके अनुसार रणमें वीरगतिको प्राप्त होना चाहते हैं। इसीसे भगवान्के ऊपर अनन्य श्रद्धा-भक्ति रखते हुए भी—उन्हें प्रणाम करते हुए भी, अपनी मृत्युको निश्चित समझते हुए भी, उसी वीरभावसे धनुष खींचे हुए युद्धके लिये सन्नद्ध खड़े हैं। यदि भगवान्ने लड़नेका ही निश्चय किया तो कसके दो-दो हाथ होंगे।

भीष्म पहले भगवान्‌के चरणोंमें और फिर उनके वक्षःस्थलमें अपने पैने बाणोंकी वीरमाला पहनाकर ही रणमें वीरगति प्राप्त करेंगे। इसीलिये प्रकृत प्रकरणमें भीष्मने अपने धनुषको आस्फालित करते हुए ही प्रणाम आदिकी सब बातें कही हैं। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण भी तो क्षत्रिय थे। यदि भीष्म शस्त्र छोड़कर एक ओर हाथ जोड़कर खड़े हो जाते तो वह उनके ऊपर आक्रमण ही कैसे कर सकते थे! न्यस्तशस्त्रके ऊपर आक्रमण करना तो क्षत्रिय-धर्म नहीं है।

युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि सबसे प्रथम किसका पूजन किया जाय और युधिष्ठिरने ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध और पराक्रमवृद्ध समझकर भीष्मपितामहसे इसका निर्णय करनेकी बात कही, तब वे थोड़ी देरतक चुप रहे और फिर सोचकर बोले कि 'यह जो सब राजाओंके तेज, बल और पराक्रमका अभिभव करते हुए नक्षत्रोंमें सूर्यके समान विराजमान हैं, वही भगवान् सबसे प्रथम पूजनीय हैं। जिस प्रकार सूर्य और वायुके कारण संसार प्रकाशित तथा आनन्दित रहता है, उसी प्रकार यह सभा भगवान् श्रीकृष्णके कारण भासित और ह्लादित है। इनके बिना इस सभाकी वही दशा हो जायगी, जो सूर्य और वायुसे हीन जगत्‌की हो सकती है।'

एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः॥
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः॥

(सभापर्व ३६। २८-२९)

इसपर शिशुपाल बिगड़ उठे, उन्होंने श्रीकृष्ण तथा भीष्मको बुरी तरह फटकारा। तब भीष्मने कहा कि 'मैंने श्रीकृष्णके बालचरितकी जो बहुत-सी अलौकिक कथाएँ लोगोंसे सुनी हैं, उन्हें देखते हुए भी आज संसारमें ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो वेद-वेदांगोंके विज्ञानमें और क्षात्रबलमें श्रीकृष्णसे बढ़कर हो। समस्त भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयके आधार श्रीकृष्ण ही हैं। समस्त जगत्‌के आधार यही हैं, प्रकृति और पुरुष यही हैं, सब भूतोंसे परे इन्हींकी स्थिति है; अतः यही सबमें पूज्यतम हैं। व्यक्त और अव्यक्त प्रकृति श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित है। सूर्य-चन्द्रमा तथा दिशा-विदिशा आदि सब इन्हींमें आश्रित हैं। यह शिशुपाल तो अब भी कोरा बच्चा है, इसीसे कुछ नहीं समझता और श्रीकृष्णकी सदा निन्दा किया करता है। आज महानुभाव राजाओंमें बच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक ऐसा कौन है, जो श्रीकृष्णको पूजनीय न मानता हो। अथवा यदि शिशुपाल हमारी इस श्रीकृष्ण-पूजाको अनुचित ही समझता हो तो जो उचित समझे, वह कर देखे। जिसे अपने प्राण भारू हों, वह रणमें श्रीकृष्णके सामने आकर अपने अनौचित्यका फल भोगनेको तैयार हो जाय।'

कर्माण्यपि च यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः।
बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूयः श्रुतानि मे॥
वेदवेदांगविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते॥
कृष्ण एव हि भूतानामुत्पत्तिरपि चाव्ययः।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्॥
एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात्पूज्यतमोऽच्युतः॥
बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या।
चतुर्विधं च यद् भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम्॥
अयं तु पुरुषो बालः शिशुपालो न बुध्यते।
सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्मादेवं प्रभाषते॥
सबालवृद्धेष्वथवा पार्थिवेषु महात्मसु।
को नार्हं मन्यते कृष्णं को वाप्येनं न पूजयेत्॥
अथवा दुष्कृतां पूजां शिशुपालो व्यवस्यति।
दुष्कृतायां यथा न्याय्यं तथायं कर्तुमर्हति॥

(सभापर्व ३८। १३, १४, १९, २३, २४, २६, ३०, ३२, ३३)

सहदेव आदि अन्य भद्र पुरुषोंने भी भीष्मका समर्थन किया, परंतु शिशुपाल न माने। कुछ और राजा भी उनके साथ हो लिये। रण छिड़ गया। और राजा तो बात समझकर पीछे हट गये; परंतु शिशुपाल बहुत कुछ उछल-कूद दिखानेके बाद सुदर्शनचक्रके घाट उतर गये।

पाण्डवोंकी ओरसे सन्धिका प्रस्ताव लेकर जब श्रीकृष्ण हस्तिनापुर पहुँचे, तब दुर्योधनने कर्ण, शकुनि और दुःशासन आदिकी सलाहसे सब बात उलट दी। वह इस प्रस्तावका अनादर करता हुआ सभासे उद्दण्डतापूर्वक उठकर चला गया और एकान्तमें जाकर श्रीकृष्णको कैद कर रखनेकी सलाह करने लगा। यह बात वृद्ध कौरवोंके कानोंतक पहुँची। धृतराष्ट्रने दुर्योधनको बुलवाया और भरी सभामें उसकी भर्त्सना करते हुए बोले कि 'तू इन अप्रधृष्य दुरासद पुण्डरीकाक्ष (विष्णु)-को अपने पापात्मा सहायकोंके साथ मिलकर पकड़ना

चाहता है ? जिन्हें इन्द्रसहित समस्त देवता भी नहीं रोक सकते, उन्हें तू रोकना चाहता है ? तेरी वही दशा है, जो हाथसे चन्द्रमाको पकड़नेकी इच्छा रखनेवाले दुधमुँहे बच्चेकी होती है। समस्त देवता, मनुष्य, गन्धर्व, असुर और उरग मिलकर भी जिनके सामने रणमें नहीं ठहर सकते, उन केशवके रूपको तू पहचानता ही नहीं। अरे मूर्ख! जिस प्रकार वायु मुट्ठीमें बंद नहीं की जा सकती, चन्द्रमा हाथसे पकड़ा नहीं जा सकता और पृथ्वी उठाकर सिरपर नहीं रखी जा सकती, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण बलपूर्वक नहीं रोके जा सकते।'

इसके अनन्तर विदुरने भी दुर्योधनको समझाते हुए तथा श्रीकृष्णके अनन्त अतीत चरितोंका स्मरण दिलाते हुए कहा कि 'भगवान् श्रीकृष्ण जगत्के कारण हैं। इनका कर्ता कोई नहीं। यह जो चाहें सो कर सकते हैं। तुम इनके घोर पराक्रमको नहीं जानते। हे दुर्योधन! तुम इनकी धर्षणा करनेसे अमात्योंसहित उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे, जैसे अग्निमें पड़कर पतंग।'

इसके पश्चात् भगवान्ने विराट रूप प्रकट किया, जिसे देखकर कर्ण-दुर्योधनादि मूर्च्छित हो गये और फिर आप सभासे उठकर चल दिये। इनके पीछे-पीछे भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर, धृतराष्ट्र, अश्वत्थामा, युयुत्सु, विकर्ण आदि महारथी लोग विनीत शिष्यकी भाँति इन्हें पहुँचाने प्रधान द्वारतक आये।

पूर्वोक्त कतिपय प्रकरणोंके उद्धृत करनेसे हमारा यह तात्पर्य है कि भगवान् श्रीकृष्णको उनके समकालीन बड़े-से-बड़े-लोग ईश्वर समझते थे और उनकी अलौकिक शक्तियोंके कायल थे। साथ ही वे स्वयं भी जन्मसे ही अपनी दिव्य शक्तियोंके ज्ञाता और प्रयोक्ता बराबर रहे। हम यह तो नहीं कहते कि उस समय श्रीकृष्णका कोई विरोधी था ही नहीं। यदि ऐसा होता तो उनके अवतारका कुछ प्रयोजन ही नहीं रह जाता। केवल मक्खन खाने और गौएँ चरानेके लिये तो वे अवतीर्ण हुए ही नहीं थे। हमारे कहनेका अभिप्राय केवल इतना ही है कि महर्षि व्यास, आदित्यब्रह्मचारी भीष्मपितामह, ब्रह्मविद्या और क्षत्रविद्याकी प्रत्यक्ष मूर्ति आचार्य द्रोण आदि महानुभावोंके आगे कंस, चाणूर और शिशुपाल आदि स्वार्थप्रधान तामस व्यक्ति किस गिनतीमें थे?

हमने यहाँ सब-के-सब उदाहरण जान-बूझकर महाभारतसे ही चुने हैं। इसके कई कारण हैं। पहले तो श्रीकृष्णचरितका पता देनेवाली पुस्तकोंमें 'महाभारत' ही सबसे प्राचीन है; फिर इसके लेखक महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासकी कही बातोंमें जितनी अक्षुण्ण प्रामाणिकता मानी जा सकती है, उतनी किसी अन्य लेखककी बातें विश्वसनीय नहीं हो सकतीं। काम और लोभसे रहित दिव्य-दृष्टिसम्पन्न महर्षिकी कही अलौकिक बातोंके आगे सिर झुकाना ही पड़ता है। सबसे बड़ी बात समसामयिकताकी है। चरित्रनायकका समकालीन निःस्पृह लेखक जितना सच्चा ऐतिहासिक विवरण दे सकेगा, उतना दूसरोंके लिये असम्भव है। फिर महर्षि व्यासमें तो प्रच्छन्न और प्रकट सभी बातें जाननेके लिये त्रिकालदर्शिनी दिव्यदृष्टि भी थी।

सारांश यह कि श्रीकृष्णको 'भगवान्' माननेवालोंकी संख्या उनके समयमें ही बहुत ऊँचे दर्जेतक पहुँच गयी थी। यह बात इतिहाससे सिद्ध है कि उनके समकालीन बड़े-बड़े महर्षि भी उनकी अद्भुत शक्तियोंको प्रत्यक्ष देखकर उन्हें ईश्वर या भगवान् मानने लगे थे। आगे यह कृष्णभक्त-परम्परा बहुत ही अधिक बढ़ी। यहाँतक कि इतनी अधिक संख्या शायद ही किसी अवतारके भक्तोंकी रही हो। इसका प्रभाव बौद्धकालके बादतक रहा। प्रसिद्ध पुस्तक 'अमरकोष'के कर्ता अमरसिंहको महाराज विक्रमकी सभाका अन्यतम रत्न बताया जाता है। इससे इनका समय आजसे लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व ठहरता है। ये बौद्ध थे। अमरकोषमें इन्होंने स्वर्ग और स्वर्गवासी देव-सामान्यका नाम निर्देश करनेके बाद सबसे पहले बुद्ध भगवान्की ही नामावली गिनायी है। रामका तो इन्होंने कहीं अन्ततक नाम ही नहीं लिया है। परंतु ये श्रीकृष्णके सम्बन्धमें यही बात न कर सके। श्रीकृष्णके नामके आगे इनका मस्तक अनिच्छापूर्वक ही जबरदस्ती झुक गया। चाहे प्रच्छन्न श्रीकृष्ण-भक्तिके कारण हो, चाहे श्रीकृष्णकी अलौकिक शक्तियोंके ज्ञानके कारण हो और चाहे उस समय विश्वव्यापिनी श्रीकृष्णभक्तिके प्रबल प्रवाहके कारण हो—कारण चाहे जो कुछ हो; परंतु यह प्रत्यक्ष है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेशका वर्णन करते हुए अमरसिंहको श्रीकृष्णका नाम झख मारकर लेना पड़ा है। केवल नाम ही नहीं, उन्होंने तो विष्णुके स्थानमें इन्हींका सांगोपांग वर्णन किया है। '**विष्णुर्नारायणः कृष्णः**' से आरम्भ करके उन्होंने उपेन्द्र (इन्द्रके छोटे भाई), कैटभजित् (मधु-कैटभके मारनेवाले), श्रीपति, स्वयम्भू, यज्ञपुरुष, विश्वरूप, जलशायीके साथ-साथ दामोदर, माधव, देवकीनन्दन और वसुदेवका

पुत्र भी कहा है। क्षीरशायी विष्णु तो देवकीनन्दन या वसुदेवसूनु हो नहीं सकते; अतः यह स्पष्ट है कि अमरसिंहने विष्णुको श्रीकृष्णके रूपमें नहीं बल्कि श्रीकृष्णको ही विष्णुके रूपमें अंकित किया है। इसीके आगे बलरामजी भी आ गये हैं। प्रद्युम्नको (कृष्णपुत्रको) कामदेवके नामोंमें स्थान मिला है, यद्यपि कामके पर्यायवाचकोंके स्थानपर 'प्रद्युम्नका' प्रयोग संस्कृत-साहित्यमें कहीं नहीं होता। सारांश यह कि श्रीकृष्णकी अलौकिक शक्तियों और लोकातिशायी प्रभावकी छाप उनके जन्मकालसे लेकर हजारों वर्ष बादतक—बौद्धधर्मके बादतक—विधर्मियोंतकपर भी अटूट बनी रही, इनके भक्तोंकी संख्या अपरिमेय रही और बराबर बढ़ती ही गयी।

× × ×

ऐतिहासिक दृष्टिसे महाभारतका श्रीकृष्णचरित ही सबसे अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है और उससे श्रीकृष्णका भगवान् होना और अवतार होना निर्विवाद सिद्ध होता है।

जहाँ श्रीकृष्ण इतने बड़े कुटुम्बी थे, वहाँ उन्होंने अपने ही कुटुम्बियोंको अन्यायी और अत्याचारी होते देखकर उनका जान-बूझकर अपनी आँखोंके सामने ही समूल संहार भी करा दिया था। इन्हीं सब बातोंको देखते हुए तो हम उन्हें प्रकृतिका वशवर्ती जीव नहीं बल्कि उसका अधिष्ठाता 'भगवान्' मानते हैं। इसीलिये तो महर्षि व्यासने उन्हें अनेक स्थानोंपर 'प्रकृति-नटीका नचानेवाला सूत्रधार' कहा है और इसी कारण उन्हें उनके समकालीन बड़े-से-बड़े ज्ञानी, विज्ञानी और पराक्रमी पुरुष 'भगवान्' कहा करते थे।

हिंदू-संस्कृतिमें ईश्वरवाद

(लेखक—श्रीबाँकेविहारीदासजी बी०एस-सी०, बी०ए०, एल-एल०बी०)

एक अंग्रेज संतकी बात याद आ गयी—'A man cannot pay a more sincere compliment to Truth than to spend his life seeking it.'

'सत्यके अन्वेषणमें ही जीवन-यापन करनेसे बढ़कर सत्य-चिन्तन अथवा सत्यके पूजनकी कोई अन्य पद्धति है ही नहीं।'

प्यारेकी खोजमें चल पड़ा हूँ। जीवनकी उलझी पहेली सुलझानेको मन आतुर हो उठा है। मेरा ज्ञान केवल इतना ही है कि 'प्यारा है', और वह असंख्य कल्याण-गुणोंका सागर है। उसकी करुणाके स्वभावमें पूर्ण विश्वास रख उसके साक्षात्कारको जीवनका लक्ष्य बनाया है। वर्षों बाद मेरे भाग्य जागे हैं। यह शरीर जिसका परिणाम भस्म, कृमि या विष्ठा है, उसे श्यामसुन्दरके पथकी रेणु बना पाया हूँ। श्यामसुन्दर कभी प्रियाजीके साथ नग्नचरण वृन्दावनके केलि-कुंजोंमें विचरते इधर आये तो उनके चरणारविन्दोंमें ऐसा चिपट जाऊँगा कि फिर छूटूँगा ही नहीं।

हमारा ईश्वरवाद तर्ककी कसौटीसे परेकी वस्तु है। अनुभूतिका विषय है। जो उसमें शंका करता है, उससे मैं दोनों हाथ उठाकर कहता हूँ—यदि सच्ची जिज्ञासा तुममें जाग गयी है तो साधनके क्षेत्रमें कूद पड़ो। मैं विश्वास दिलाता हूँ—उस ईश्वरको त्रिभंग-ललित भंगिमासे कदम्बका सहारा लेकर स्थित, मुरली-रवसे जड़को चेतन और चेतनको अचेतन करते आज भी साक्षात् देख सकोगे।

हमारा ईश्वर कल्पित नहीं, वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। राधाका प्रियतम, नन्दका लाला, यशोदाका कन्हैया रसमय वपु धारणकर नित्य वृन्दावनमें विराजता है। उसके लीला, रूप, गुण, नाम—किसीका आश्रय लो। द्रौपदीके समान, गजेन्द्रके समान आर्त होकर आश्रय लो! वह आयेगा—अपने पीताम्बरके छोरसे जन्मोंसे ढुलकते तुम्हारे अश्रु पोंछता आयेगा। अनित्य संसारमें यही चार वस्तुएँ नित्य हैं, जिनको ग्रहणकर प्यारेके चरणारविन्द प्राप्तकर मुक्त हो सकते हो।

अनेक देशोंके महापुरुषोंने अब इस 'सार' को समझा है। ईरानके सूफी संतने जब श्यामा-श्यामका आलिंगन प्राप्त किया, उनकी अनुभूति इस प्रकार व्यक्त हुई—

मियाने इस्म व मुसम्मा चू फ़र्क नेस्त बबीं
तो दर तजल्ली इस्मा जमाले खुदा बूद।
विसाले हक़ तलबी हमनशीं नामश बाश
बूवद विसाले खुदा दर विसाले नामे खुदा॥

—मुईम

'देही तथा उसके आवरण देहमें कोई भी अन्तर मत देख। तेरे देहाभिमानके द्वारपर ईश्वरीय प्रकाश प्रत्यक्ष हो गया है। ईश्वरीय मिलनके लिये निरन्तर भगवन्नामके साथ रह। भगवन्नामकी प्राप्तिसे ही भगवत्प्राप्ति होती है।'

यूरोपके प्रसिद्ध वैज्ञानिक रिकेजक (Recejac)-ने 'दास्यभाव' में आरूढ़ होकर अपना अनुभव इस प्रकार गाया है—

'I live, yet not I, but God in me.'

'मैं जीवित हूँ—पर मुझमें मेरा अहं नहीं। मुझमें मेरा ईश्वर ही ओतप्रोत है।'

हमारे ईश्वरवादकी अनुभूति असाधारण है। पश्चिम देशवालोंने उसकी गाथा यों गायी है—

Mere perceiving of Reality will not do, but participating in it, possessing and being possessed by It.

'सत्यका अनुशीलन ही पर्याप्त नहीं, सत्यमय हो जाना—भीतर-बाहर उसीसे ओतप्रोत रहना परम श्रेयस्कर है।' हम अपनी भाव-भाषामें एक शब्दमें कहेंगे—'गोपीवत्'। गोपियोंने प्रभासक्षेत्रमें अपने प्रियतमसे माँगा है—

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥

(श्रीमद्भा० १०।८२।४९)

'हे पद्मनाभ! तुम्हारे चरणारविन्द अगाध ज्ञानी योगेश्वरोंके हृदयोंमें चिन्तनीय बताये गये हैं। गृहोंमें आसक्त संसाररूपी कूपमें गिरी हम सबके उद्धारके अवलम्बरूप वे श्रीचरण सदा हमारे मनोंमें प्रत्यक्ष रहें। असुरोंके पीछे दौड़नेसे श्रान्त तथा व्रज-वनकी कण्टक-कंकड़ियोंसे व्यथित उन चरणोंको अपने हृदयमें लालनद्वारा हम पोषित करें।'

हमारे 'ईश्वर' का जिज्ञासु अपनी यात्रा जबतक समाप्त नहीं कर लेता, जबतक प्यारेको पा नहीं लेता, प्रियतमकी प्राप्तिमें साधनाके अन्तकी प्राप्ति (Journey's end with lover's meeting)-से पूर्व सन्तुष्ट नहीं होता। भक्तका स्वरूप कितना महामहिम है। श्यामसुन्दरने भक्तकी प्रशंसाका वर्णन करते हुए कहा है—

'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।'

'मैं नित्य मेरे उस अनन्य प्रेमी भक्तके पीछे-पीछे इसलिये चलता हूँ कि उसकी पवित्र चरण-रजसे अपनेको पवित्र बना लूँ।' यह उच्च स्वरूप कितना महान् त्याग नहीं माँगता, कितनी महती गुरुकृपाकी आवश्यकता नहीं रखता। रहस्यको जाननेवालोंने कबसे इस तत्त्वको कह रखा है—

The Supreme Experience demands the whole man. No man can serve two masters.

(Theologia Germanica)

'अनन्य भावसे परमात्माका ही हो जाना पड़ेगा। एक म्यानमें दो तलवारें नहीं समा सकतीं।'

इसी अनुभूतिका वर्णन रसिकवर भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्रजीने किया है—

पिया प्यारे बिना यह माधुरी मूरति औरनको अब पेखिए का।
सुख छाड़िकै संगमको तुम्हरे इन तुच्छनको अब लेखिए का॥
'हरिचंद' जू हीरन को बेवहार कै काचन को लै परेखिए का।
जिन आँखिनमें तुव रूप बस्यो, उन आँखिन सों अब देखिए का॥

हमारे ईश्वरको देखनेके लिये प्रेमका चश्मा लगाना पड़ेगा। भक्तोंकी पदधूलिमें लोटना पड़ेगा। इन नेत्रोंसे गंगा-यमुना बहा उस त्रिवेणीमें अपने आत्माको स्नान कराना होगा। प्यारेके लिये करुण पुकार करनी होगी—वैसी ही पुकार, जैसी कि स्वामी श्रीविवेकानन्दजीने अपने सर्वज्ञ गुरुदेवजीके सम्मुख रुद्ध कण्ठसे की थी। 'रुरुदुः सुस्वरं कृष्णदर्शनलालसाः' जैसी गोपियोंकी पुकारके समान ही थी वह पुकार। वह उनकी रससे ओतप्रोत भाषा—

(राग जैजैवन्ती)

कत दिने हबे से प्रेम संचार।
हये पूर्णकाम, बलबो हरिनाम, नयने बहिबे प्रेम-अश्रुधार॥
कबे हबे आमार शुद्ध प्राण मन, कबे जाब आमि प्रेमेर वृन्दावन।
संसार बंधन हइबे मोचन, ज्ञानाञ्जने जाबे लोचन-आँधार॥
कबे परशमणि करि परशन, लोहमय देह हइबे काञ्चन।
हरिमय विश्व करिब दर्शन, लुटाइब भक्तिपथे अनिवार॥
(हाय) कबे जाबे आमार धर्म-कर्म, कबे जाबे जाति-कुलेर भर्म।
कबे जाबे भय-भावना-श्रम, परिहरि अभिमान लोकाचार॥
माखि सर्व अंगे भक्त-पद-धूलि, काँधे लये चिर वैराग्येर झुलि।
पिब प्रेमवारि दुइ हात तूलि, अञ्जलि अञ्जलि प्रेम-यमुनार॥
प्रेम-पागल हये हाँसिब-काँदिब, सच्चिदानन्द-सागरे भासिब।
आपनि मातिये, सकले माताब, हरिपदे नित्य करिब विहार॥

—श्रीरामकृष्णपरमहंसकथामृत (बँगला), पहला भाग

समर्थ गुरुदेवने 'तथास्तु' कहा। एक आलिंगनद्वारा

आत्मदर्शन करा दिया। वे बोले—'नरेन्द्र! आज मैं अपनी सम्पत्ति तुम्हें देकर भिखारी हो गया।' प्रेम-मूर्च्छाद्वारा शिष्यको ईश्वरानुभूति हो गयी। वह कृतकृत्य हो गया। स्वामी श्रीविवेकानन्दजीने गुरुसे प्राप्त वह महान् सम्पत्ति देशान्तरोंमें वितरित की और कितने ही शुष्क जीवनोंको रसमय और सुरभित बनाया।

ईश्वरवाद ही एकमात्र सत्य है। उस सत्यका प्रकाश चाहे जब भी हो सकता है और चाहे जिस उद्दीपन-विभावसे हो सकता है। उसके लिये समय नहीं निर्धारित किया जा सकता—

"None can say when and how it shall come. It is not for me and you to fix the moment. After making some effort, Jacob Bochme gazed fixedly upon a "burnished pewter' and fell into an ecstasy: St. Ignatius Loyola on seeing the running water."

(In Re. Fifth Veda-Harvard University)

'कोई कह नहीं सकता कि कबतक और किस प्रकार यह प्रकाश आयेगा। नगण्य प्रयत्नके फलस्वरूप हमारे और तुम्हारे लिये उस (लक्ष्यप्राप्तिके) क्षणको निर्धारित करना सम्भव नहीं। संत इग्नाशियस लोयला बहता पानी दीखनेपर (निर्झरकी अनवरत अनन्तकालीन साधनाका संकेत समझकर) तथा जैकब चमकीली गिल्टके बर्तनको थोड़ी देरतक देखते रहनेके पश्चात् समाधिस्थ हो गया।'

किंतु वह अनुभूत होता है, हुआ है और होगा; क्योंकि एकमात्र वही सत्य है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २।१६)

'जो असत् है, उसकी भावरूपसे विद्यमानता नहीं है और सत्का कभी अभाव नहीं होता। तत्त्वदर्शियोंने इन दोनों—असत् और सत्का अन्त देख लिया है।' जो इस पथके पथिक हैं, उन सबका यही अनुभव है—

"There is a great experiment possible in this life and there is a great crown of the experiment; but in the nature of things it is not to be bought cheaply, for it demands the whole man. It has been said that the life of the mystic is one of awareness of God and as to this we must remember that we are dealing with a question of life and of a life problem........

(Lamps of Western Mysticism by A.E. Waite, p. 242)

'जीवनमें बड़ी-से-बड़ी अनुभूतिके लिये अवसर है और उसका बड़े-से-बड़ा फल भी है; परंतु है यह सौदा बड़ा महँगा। इसके लिये सर्वतोभावसे समर्पणकी आवश्यकता होती है। इस सम्बन्धमें इस बातका ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि यह जीवनका तथा जीवनभर हल करते रहने योग्य प्रश्न है।'

(वेट लिखित 'लैम्प आफ वेस्टर्न मिस्टिसिज्म')

हमारे देशके संतोंने कहा—इस अनुभूतिके लिये परम शुद्ध जीवन बिताना होगा। (Ethical life is a prelude to life spiritual.) सदाचार आध्यात्मिक जीवनकी भूमिका है। वह जीवन श्रद्धासे युक्त होगा। श्रद्धा क्या?—निरंकुश आस्तिकता। भगवान्के चाहे जिस स्वरूपका साक्षात्कार करना हो, उनके व्यापक स्वरूपकी अनुभूतिके पश्चात् ही उस परम तत्त्व (सगुण स्वरूप)-का साक्षात्कार होगा। 'ब्रह्मभूत' होनेके पश्चात् भगवत्कृपाद्वारा पराभक्ति पाकर जीव प्रभुको जानकर कृतकृत्य होता है। (गीता १८।५५-५६)

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(श्रीतुलसीदासजी)

हमारे 'ईश्वरवाद' की सत्यताका अनुभव कर जर्मन दार्शनिक शोपेनहर (Schopenhaur) पुकार उठा—

'In the whole world there is no study so beneficial and elevating as that of the Upanisads. It has been the solace of my life, it will be the solace of my death.'

'उपनिषदोंके उच्चातिउच्च कल्याणमय ज्ञानसे बढ़कर सारे संसारमें अध्ययनके लिये और कुछ है ही नहीं। मेरे जीवन एवं मृत्यु दोनोंका यही अवलम्बन है।'

जब अमेरिकन कविश्रेष्ठ इमर्सन (Emerson) संत थोरो (Thoreau)-के पास वाल्डेनमें दर्शन करने गये तो देखा संत एक वृक्षतले एक टूटी खाटपर विराजमान हैं और नीचे सर्प निर्भय विचर रहे हैं। आपने प्रश्न किया—'महाराज! आपको इनसे डर नहीं लगता?' उत्तरमें श्रीगीताजीको सिरहानेसे निकाल अश्रुजलसे प्रभुकी उस शब्दमयी मूर्तिका अभिषेक करते हुए संत बोले—'Where is fear, when Mother Gīta is

there to protect.'

'मातेश्वरी गीताजीकी गोदमें उनके अबोध बालकको भयकी सम्भावना कहाँ?'

हिंदुओंके ईश्वरवादकी यदि कोई प्रत्यक्ष मूर्ति देखना चाहता है तो उसे श्रीमद्भगवद्गीता देखना चाहिये। उस गीता-पथप्रदर्शकके ये वाक्य बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६।३०)

'जो सब कहीं मुझे देखता है और सबको मुझमें देखता है, मैं उससे तिरोहित नहीं होता और वह मुझसे तिरोहित नहीं होता।' यदि यह वाक्य हृदयमें बैठ गया तो अवश्य जीव एक दिन श्यामसुन्दरके चरणारविन्दको प्राप्त कर लेगा। यह सब श्रद्धापर निर्भर है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४।३९)

'संयतेन्द्रिय होकर ज्ञान-प्राप्तिमें लगा हुआ श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है और ज्ञान प्राप्त करके अविलम्ब परम शान्ति पाता है।' यह श्रद्धा दैन्यसे उत्पन्न होती है। दैन्य कैसा?

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

(श्रीरामचरितमानस)

इस '**नमः**' कारसे मन सदाके लिये नम्र हो जाता है। यह मन ही बन्धन तथा मोक्षका हेतु है। यह परम दुर्लभ दैन्य-सम्पत्ति, जिसके द्वारा श्यामसुन्दर वशीभूत होते हैं, जीव उन्हींकी बतलायी इस युक्तिसे प्राप्त करता है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

(गीता ९।१४)

'मेरे भक्त निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, दृढ़ नियमपूर्वक संयम करते हुए, मुझे नमस्कार करते हुए तथा नित्य मुझमें लगे हुए भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं।'

इस प्रकारका कीर्तन कैसे हो? यह श्रीचैतन्यमहाप्रभुने बतलाया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

'तृणसे भी अपनेको छोटा मानकर, वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु रहते हुए, स्वयं सम्मानसे दूर तथा दूसरोंका सम्मान करते हुए सदा श्रीहरिका कीर्तन करना चाहिये।' उन प्रभुकी अनन्त नामावलीमेंसे जो नाम अपनेको प्रिय लगे, उसीका कीर्तन करना चाहिये।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

'श्रीहरिका नाम, हरिका नाम, एकमात्र श्रीहरिका नाम ही—इसके अतिरिक्त कलियुगमें दूसरी कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं ही है।' प्यारे (प्रभु) ने स्वयं कहा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(पंचरात्र)

'नारदजी! मैं वैकुण्ठमें निवास नहीं करता और न योगियोंके हृदयमें ही। मेरे भक्त जहाँ गायन (कीर्तन) करते हैं, मैं वहीं रहता हूँ।' कीर्तनमें सात्त्विक विकारोंका प्रकाश (प्रादुर्भाव) होनेसे उन प्रभुके आगमनका अनुभव होता है।

प्रह्लादके लिये प्रेमवश पाषाण-स्तम्भसे प्रकट होनेवाले, सदा हमारे हृदयमें विराजनेवाले, श्यामसुन्दर अपने उस कमलासनको छोड़ अपनी रूप-माधुरीसे नेत्रोंको मुग्ध करते हुए अपनी ईश्वरताका अनुभव हमें क्यों नहीं करायेंगे।

न प्रेमा श्रवणादिभक्तिरपि वा योगोऽथवा वैष्णवो
ज्ञानं वा शुभकर्म वा कियदहो सज्जातिरप्यस्ति वा।
हीनार्थाधिकसाधके त्वयि तथाप्यच्छेद्यमूलासती
हे गोपीजनवल्लभ व्यथयते हा हन्त दासैव माम्॥

(श्रीचैतन्य महाप्रभु)

'मुझमें न प्रेमा भक्ति है, न श्रवणादि गौणी भक्ति है, न वैष्णव योग है, न ज्ञान प्राप्त है, न मैंने कोई भी शुभ कर्म किये हैं, मेरी जाति भी अच्छी नहीं है; इस प्रकार अत्यन्त हीन मुझ साधकको यह अच्छेद्य जड़वाली होनेके कारण माया, हे गोपीजनवल्लभ! तुम्हारे रहते ही हाय, हाय, निरन्तर कष्ट देती है।'

इस भावमें आरूढ़ हो पुकारते चलना है—

श्रीकृष्ण गोपाल हरे मुकुन्द गोविन्द हे नन्दकिशोर कृष्ण।
हा श्रीयशोदातनय प्रसीद श्रीबल्लवीजीवन राधिकेश॥

(बृहद्भागवतामृत)

बड़ी माधुरी इस साधनमें है। यहाँ साध्य-साधन अभेदको प्राप्त हो जाते हैं। अहो, प्यारेके नामकी माधुरी कोई श्रीराधिकाजीसे पूछे—

तुण्डे ताण्डविनीरतिं वितनुते तुण्डावलीलब्धये

कर्णक्रोडकडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम्।
चेतःप्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी॥

(विदग्धमाधव)

'मुखमें पहुँचकर अनेक मुखोंकी प्राप्तिके लिये (जिससे बहुत मुखोंसे एक साथ ले सकें) प्रबल उत्कण्ठा जाग्रत् करते हैं; कर्णकुहरोंमें पहुँचकर अरबों कानोंकी प्राप्तिकी स्पृहा उत्पन्न करते हैं (जिससे सबसे सुने जा सकें); चित्तमें पहुँचकर सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी कृति एकत्र कर लेते हैं (इन्द्रिय-निरोध हो जाता है)! पता नहीं 'कृष्ण' ये दो अक्षर कितने अमृतोंसे उत्पन्न हुए हैं।'

उस 'कृष्ण' नामके आस्वादनकी युक्ति श्रीरासेश्वरीसे सीखनी चाहिये—

श्याम श्यामेत्यनुपमरसापूर्णवर्णैर्जपन्ती
स्थित्वा स्थित्वा मधुरमधुरोत्तारमुच्चारयन्ती।
मुक्तास्थूलान्नयनगलितानश्रुबिन्दून् वहन्ती
हृष्यद्रोमा प्रतिपलचमत्कुर्वती पातु राधा॥

(श्रीराधासुधानिधि)

'श्याम-श्याम' इस प्रकार अनुपम रससिन्धु इन वर्णोंका जप करती हुई, रुक-रुककर अत्यन्त मधुर तारस्वरमें इन्हींका उच्चारण करती, मोतियोंके समान अश्रुबिन्दुओंको नेत्रोंसे टपकाती, हर्षसे रोमाञ्चित होती तथा पल-पलपर चौंकती हुई श्रीराधा हमारी रक्षा करें।'

जब सभी सम्बन्ध प्यारेसे सम्बद्ध हो जाते हैं, तब उसे किस वाणीसे पुकारा जा रहा है—इसकी वह चिन्ता नहीं करता। वह भावका रसिक है। मौलाना रूमीने अपनी 'मसनवी' में यह रहस्य इस प्रकार प्रकट किया है—

''मूसा पैगम्बरने एकान्त वनमें एक सरलहृदय भक्त गड़रियेको रुद्ध कण्ठसे विलाप करते सुना—

'हे स्वामी! तू कहाँ है जो मैं तेरी चाकरी करूँ? तेरा जूता सीऊँ। तुझे कँघी करूँ। हे नाथ! तू कहाँ है कि मैं तेरी सेवा करूँ, तेरे वस्त्र धोऊँ, उनकी जूँवें मारूँ? जब तू बीमार पड़े तो तेरे पास बैठकर तुझे आश्वासन दूँ। तेरे चरण चापूँ। तेरा बिस्तर लगाऊँ। यदि मैं तेरा घर देख पाऊँ तो तुझे रोज सबेरे और सन्ध्यासमय मालपूए और दूध खिलाऊँ। इन वस्तुओंको लाना मेरा काम रहा और खाना तेरा काम।'

पैगम्बर मूसाने उसे धमकाकर कहा—'ओ दरिद्र! कुफ्र मत बक! अपना मुँह बंद कर! अपने कुफ्रसे तू सारे संसारको गंदा कर रहा है। धर्मके रेशमी कपड़ोंमें चिथड़े सी रहा है।'

वह बेचारा सहम गया। लेकिन करुणासागर भगवान्से यह सहा न गया। आकाशवाणी हुई—

वही आमद सूए मूसा अज खुदा।
बंदा मारा अज मा करदी जुदा॥
तू बराए वस्ल करदन आमदी।
या बराए फ़स्ल करदन आमदी॥
मा बरूँ न निगरेम व क़ालरा।
मा दरूँरा बनिगरेम व कालरा॥
नाज़िरे कलबेम अगर खाशा बुवद।
गर चे गुफ़्ते लफ़्ज़े नाखासा बुवद॥
चंद अजो अलफ़ाजो अखमोरा मजाज़।
सोज़ खांहम सोज़ बआँ सोज साज॥
आतिशे अज इश्क दरजा बर फ़रोज़।
सर बसर फ़िक्रो इबादत राँ बसोज॥
मूसया आदाबे दाना दीगरंद।
सोखता जाना रुवाना दीगरंद॥
मिल्लते इश्क अज हमा दीनहा जुदास्त।
आशिकां रा मिल्लता मज़हब खुदास्त॥

'मूसा! तूने मेरे प्यारेको मुझसे जुदा कर दिया। तू बिछुड़े हुओंको मुझसे मिलाने आया है या मिले हुओंको जुदा करने? मैं बाहरी दशा और शब्द नहीं देखता। मैं तो अन्तःकरण परखता हूँ। मैं निष्कपट द्रवीभूत हृदयसे आकर्षित होता हूँ। मैं तड़पन चाहता हूँ—तू तड़पन उत्पन्न कर। प्रेमकी सच्ची अग्नि पैदा कर। ज्ञानियों एवं पण्डितोंके ढंगसे प्रेमियोंके ढंग न्यारे होते हैं। इनमें तू पाण्डित्य मत ढूँढ़। इनको वस्त्र सम्हालनेको कहता है, फटेको सीनेको कहता है? इनको होश कहाँ कि इन्होंने कपड़े पहने भी हैं। प्रेमका धर्म तथा कर्म एकमात्र मैं हूँ। यह पन्थ ही निराला है।'

हिंदू-संस्कृति प्रत्येक क्षेत्रमें सब देशोंकी संस्कृतियोंकी जननी है। पश्चिम देशके प्रकाण्ड विद्वान् प्रोफेसर मैक्समूलर (Maxmuller)-ने इसे मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है—

'If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power and beauty that Nature can bestow, I should point to India.

'If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some

of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant, I should point to India.

'And, if I were asked myself from what literature we here in Europe, we who are nurtured almost exclusively on the thoughts of the Greeks and Romans and of the Semetic race, the Jewish, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more universal, in fact more truly human, a life not for this life only, but a transfigured and Eternal life, again I should point to India.'

(In a letter to Queen Victoria in the year 1858)

'सम्पूर्ण विश्वमें समस्त प्राकृतिक साधनोंसे सम्पन्न, सौन्दर्य, शक्ति और सम्पत्तिसे समलंकृत देश मेरे विचारसे भारतवर्ष ही है।'

'यदि मुझसे पूछा जाय कि किस देशमें मानव-मस्तिष्कने अपनी मुख्यतम शक्तियोंको विकसित किया, जीवनके बड़े-से-बड़े प्रश्नोंपर विचार किया और ऐसे समाधान ढूँढ़ निकाले, जिनकी ओर प्लेटो और काण्टके दर्शनका अध्ययन करनेवालोंका ध्यान भी आकृष्ट होना चाहिये, तो मैं भारतवर्षकी ही ओर संकेत करूँगा।'

'यदि मैं अपने आपसे पूछूँ—किस साहित्यका आश्रय लेकर सेमेटिक, यूनानी और केवल रोमन विचारधारामें बहते हुए यूरोपीय अपने आध्यात्मिक जीवनको अधिकाधिक विकसित, अत्यन्त विश्वजनीन, उच्चतम मानवीय बना सकेंगे—जो जीवन इहलोकसे ही सम्बद्ध न हो अपितु शाश्वत एवं दिव्य हो, तो मैं फिर भारतवर्षकी ही ओर संकेत करूँगा।' (सन् १८५८ में महारानी विक्टोरियाको भेजे गये एक पत्रसे)

यह स्वाभाविक है; क्योंकि स्वयं श्यामसुन्दरका कथन है—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः। (गीता ९।१७)

'मैं ही इस जगत्का माता-पिता, रक्षक तथा पितामह भी हूँ।'

हमारे ईश्वरवादमें सभी मत-मतान्तरोंको स्थान है। यदि हम दूसरेकी वाणीका मर्म समझ लें तो विश्व-प्रेमकी अग्नि हममें धधक उठे। अपने ईश्वरवादको न समझकर ही हम खण्डन-मण्डनमें उलझते हैं। हमें प्रभुका यह वाक्य स्मरण रखना चाहिये—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

(गीता ७।१०,१३)

'धनंजय! मुझसे परे और कुछ भी नहीं है। सूतमें सूतके मणियोंकी भाँति यह सब मेरे द्वारा व्याप्त है। इन तीन (सत्त्व, रज, तम) गुणोंके भावोंसे मोहित यह सम्पूर्ण विश्व इस जगत्से परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता।'

'वाणी'—शास्त्र न समझनेसे भ्रम होता है। अत्याचारकी सम्भावना होती है। हमारा ईश्वरवाद हमें हमारे ईश्वरको सबमें दिखाता है, विशेषकर द्वेषीमें। उसे देखकर रोम-रोम पुकार उठता है—

हजारों जाँ भी हों तो कर दूँ रकीब पर कुरबान।
मेरा उद्दू ही सही, पर है आशनाँ तेरा॥

मैं तो अपने ईश्वरवादका अर्थ इतना ही जान उसको अनुभव करनेकी चेष्टा करता हूँ—

ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह
नारायणो नरसखः किल नारदाय।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां
पादारविन्दरजसाऽऽप्लुतदेहिनां स्यात्॥

(श्रीमद्भा० ७।६।२७)

'यह अत्यन्त दुष्प्राप्य निर्मल ज्ञान, जो नरके सखा भगवान् नारायणने देवर्षि नारदजीको बतलाया था, भगवान्के अकिंचन अनन्य भक्तोंके चरण-कमलोंकी धूलि सर्वांगमें लगानेवालोंको ही प्राप्त होता है।'

भक्तजन यदि अपनी चरण-रज देंगे तो मैं उस पहेलीको हल करके सफलमनोरथ होऊँगा। मेरे मनोरथका स्वरूप सूफी जलालुद्दीन रूमीने बताया है

Thy love has pierced me through and through;
Its thrill with bone and nerve entwine.
I rest a flute laid on Thy lips,
A lute on Thy breast recline.
Breathe deep in me that I may sigh, Yet strike my strings and tears shall be mine.

(Hastie's translation of Masnavi)

'मेरे रोम-रोममें पैठा, प्रियतम! प्रेम तुम्हारा।
तनके तार-तारमें धावित उसकी विद्युत्-धारा॥
मैं हूँ मुरली एक अधरपर, मोहन! धरी तुम्हारे।
मैं हूँ एक तुम्हारे उरपर पड़ा विपंची, प्यारे॥
ऐसा स्वर मुरलीमें फूँको, आह उठे अन्तरसे।
ऐसा तारोंको झनकारो, नयन हमारे बरसें॥'

उसीको एक ईसाई संतने इस प्रकार व्यक्त किया है—

Oh to be nothing, nothing!
Only to lie at His feet.
A broken and empty vessel
For the master's use made meet.
Empty that He may fill me
As forth to His service I go;
Broken that so more freely
His life through mine may flow.

'ओह, और कुछ भी बननेकी इच्छा नहीं। कुछ भी नहीं।'

बस, उनके चरणोंपर पड़ा रहूँ।
एक भग्न और रिक्त पात्र बनकर,
जो वास्तवमें मालिककी सेवाके ही लिये गढ़ा गया है।
यह रिक्त इसलिये कि वे ही इसे भरें,
जब मैं उनकी सेवाके लिये उपस्थित होऊँ।
और भग्न इसलिये कि अबाधरूपसे उनकी जीवनधारा मुझमें प्रवाहित हो सके।

हिन्दू-संस्कृति और स्वाधीनता

(लेखक—पं० श्रीजीवजी न्यायतीर्थ, एम०ए०)

हिंदू-संस्कृतिका प्रथम प्रभात किस पुण्यदिवसको दिखलायी दिया था, यह आज भी गवेषणाका ही विषय है। एक समय सिन्धुनदीके तट-प्रदेशमें फैली हुई एक विशिष्ट सभ्यताकी धारा प्रवाहित हुई थी तथा वही सभ्यता क्रमशः समस्त भारतमें फैल गयी, यह अनेकों वेद-मन्त्रों तथा मनु प्रभृति धर्मशास्त्रोंसे ज्ञात होता है।[1] सिन्धु, सरस्वती, दृषद्वती प्रभृति कुछ नद-नदियोंके सन्निहित बहनेवाली धाराओंसे प्लावित उत्तरभारतके भूखण्डमें आर्य-सभ्यता या हिंदू-संस्कृतिकी आदि जन्मभूमि है, यह बहुतोंका मत है।[2]

परवर्ती कालमें बाहरसे विदेशी जातियोंने भारतमें प्रवेश किया तथा सिन्धुनदके किनारेके प्रदेशोंपर आक्रमण करनेमें उनका जिस जातिके साथ संघर्ष हुआ, देशके नामके अनुसार उसी जातिको उन्होंने 'सिन्धु' कहकर पुकारा। सम्भवतः आक्रमणकारी लोग सेमेटिक जातिके थे, इसी कारण उनके उच्चारण-वैकल्यके कारण 'सिन्धु' 'हिंदू' रूपमें परिणत हो गया। मेरुतन्त्रमें 'हिंदू' शब्दकी व्युत्पत्ति दूसरे प्रकार दी गयी है, तथापि अन्य किसी शास्त्र-ग्रन्थमें 'हिंदू' शब्दका उल्लेख न होने तथा मेरुतंत्रमें लण्डन नगरका 'लण्ड्र' प्रभृति शब्दोंके द्वारा उल्लेख होनेके कारण इसकी प्रामाणिकताके विषयमें सन्देहको पर्याप्त अवकाश है; परंतु 'हिंदू' शब्दका व्यवहार इतना व्यापक हो गया है कि इसे माने बिना काम नहीं चल सकता। इन बातोंकी आलोचनाका प्रयोजन यही है कि किसीको यह भ्रम न हो जाय कि 'हिंदू' शब्दकी उत्पत्तिके साथ हिंदू-संस्कृति समकालीन है; बल्कि इस शब्दके उत्पन्न होनेके बहुत पहले ही हिंदू-संस्कृतिका पूर्ण विकास हो गया था, यह कहनेकी

१- दृष्टान्तरूपमें ऋग्वेद १० मण्डल ७५ सूक्त देखिये। इस प्रकारके बहुतसे मन्त्र हैं। मनुके द्वितीय अध्याय १७,१८,१९,२०,२१,२२ श्लोकमें ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल, शूरसेन, मध्यदेश तथा आर्यावर्तपर्यन्त क्रमिक सभ्यताका विस्तार दिखलाते हुए नामोल्लेख किया गया है। 'संस्कृति' शब्दका आधुनिक अर्थ प्राचीन कालमें आचार-सदाचार, चरित्र प्रभृति शब्दोंके द्वारा प्रकट किया जाता था। वर्तमानमें प्रचलित सभ्यता, कृष्टि, भावधारा—ये सारे शब्द भी आजकलके कल्पित culture शब्दके अनुवादमात्र हैं।

२- मैक्समूलर साहब अपनी 'Vedic Index' नामक पुस्तककी भूमिकामें लिखते हैं—Here the home of the Indo-Aryans of the earliest period-that of the Ṛgveda is the territory drained by the Indus river system, x x x corresponding roughly to the North-West Frontier province of the Punjab of the present day. x x x But the home of the fully developed culture of the Brahmanas lay in the territory extending in a South-Easterly direction xx between the confluence of Saraswatī and Dṛṣadvatī in the West and that of the Sadānīra and Ganges on the East etc. (Vide page XIV)

आवश्यकता नहीं है।

निश्चय ही हिंदू-संस्कृतिका काल-निर्णय करनेके लिये बहुतेरे मनस्वी पुरुषोंने बहुत परिश्रम किया है। मनस्वी बालगंगाधर तिलक, हार्मेन जेकोबि, मैक्समूलर, मैक्डॉनेल, विल्सन, वेबर प्रभृति प्राच्य विद्याविशारदोंका नाम इस विषयमें विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। परंतु खेदका विषय यह है कि इनमेंसे किसी भी मतका दूसरेके साथ ऐक्य नहीं है। सभी विशेषज्ञ हैं, सभी तर्क और युक्ति उपस्थित करते हैं; परंतु इनके मतोंमें इतनी विभिन्नता है कि किसीके मतको स्वीकार करनेकी इच्छा नहीं होती। पचीस हजार, आठ हजार, छः हजार, चार हजार और अन्ततः तीन हजार वर्ष पूर्व हिंदू-संस्कृतिका आविर्भावकाल विभिन्न विद्वानोंके मतसे है। कुछ वर्ष पूर्व सिन्धुनदके तट-भूमिस्थ प्रदेशमें 'मोहनजोदड़ो' तथा 'हरप्पा' के खण्डहरोंका अन्वेषण हुआ है। इस अन्वेषणके बाद भारतीय इतिहासमें बहुत बड़े परिवर्तनकी सम्भावना दीख पड़ती है। यह ध्वंसावशेष छः हजारसे भी अधिक पूर्वकी किसी सभ्यताका निदर्शन करता है। इसे प्रायः सभी मतके लोग स्वीकार करते हैं। आर्य-सभ्यता अथवा हिंदू-संस्कृतिके आविर्भावके विषयमें पाश्चात्त्य पण्डितोंमें अधिकांशका मत चार हजार वर्षसे अधिक पहले नहीं जाता। इस ध्वंसावशेषके समान जीवन्त प्रमाण प्राप्त हो जानेपर उनके मतका खण्डन सम्भव हो गया है। अन्तमें इस स्थानकी अनुसन्धान-समितिके परिचालकके रूपमें सर जॉन मार्शलकी नियुक्ति हुई। उन्होंने अपने लिखित विवरणमें यह मत प्रकट किया कि 'यद्यपि वर्तमान हिंदू-सभ्यताके साथ उपर्युक्त ध्वंसावशेषका निदर्शन अनेकांशमें मिलता-जुलता है, जिसका कारण यह है कि वर्तमान हिंदू-संस्कृति अनार्य-सभ्यताके साथ मिश्रित हो गयी है, तथापि यह ध्वंसावशेष प्राग्वैदिक युगकी अनार्य सभ्यताका निदर्शन है।' यों युक्ति देकर उन्होंने पूर्वप्रकाशित भारतीय इतिहासकी मर्यादाकी रक्षा करनेकी चेष्टा की है।

वस्तुतः 'मोहनजोदड़ो' और 'हरप्पा' के ध्वंसावशेषोंके सम्बन्धमें अबतक गम्भीर विवेचना सम्भव नहीं हुई है। अतएव मार्शल साहबकी उक्तिका मूल्य कितना है, इसका निर्धारण नहीं हो सकता।

इस प्रसंगमें यह उल्लेख किया जा सकता है कि कलकत्ता विश्वविद्यालयके अध्यापक डा० बेनीमाधव बरुआ एम्०ए०ने इस विषयमें मनोयोगपूर्वक गवेषणा करके एक नवीन तथ्यका पता लगाया है; परंतु दुःखकी बात है कि इस कार्यके समाप्त करनेके पहले ही उनका देहावसान हो गया। वह तथ्य यह है कि उपर्युक्त ध्वंसावशेषके चित्र-संग्रहमें एक ऐसा चित्र मिला है, जिसमें एक वृक्षकी शाखापर दो पक्षी बैठे हैं। एकके मुखके पास कुछ फल है और दूसरेके मुखके निकट कोई फल नहीं है। इस चित्रकी ओर उन्होंने विद्वानोंकी दृष्टि आकर्षित की है और अनुरोध किया है कि इसका मिलान ऋग्वेदके इस मन्त्रके अर्थके साथ करें—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(ऋ० म० १ सू० १६४)

'सख्य और सायुज्ययुक्त दो पक्षी एक ही वृक्षका आश्रय लेकर बैठे हैं; उनमें एक तो स्वादु अश्वत्थ-फलको भक्षण करता है और दूसरा बिना कुछ खाये साक्षिरूपसे अवस्थित है।' इस मन्त्रमें जीव और ईश्वर दो पक्षियोंके रूपमें वर्णित हैं। यह रूपक-चित्र मोहनजोदड़ोंमें मिट्टीके साँचेमें गढ़ा हुआ निकला है, उसीका आलोक-चित्र मोहन-जो-दड़ोके विवरणमें है।

इसके सिवा श्मशानका आलोक-चित्र भी ध्यान देनेयोग्य है। वर्तमान हिंदू-संस्कृतिके मतसे अन्त्येष्टि-क्रिया जिस प्रकार अनुष्ठित होती है, मोहन-जो-दड़ोके ध्वंसावशेषमें भी उसी प्रकारके चित्र पाये गये हैं। एक घड़ा, अधजली लकड़ी, चिता-भस्म आदि चित्रमें दिखलाये गये हैं। शवका अग्नि-संस्कार करना एक वैदिक आचार है। ऋग्वेदके दशम मण्डल १५। १६ सूक्तोंमें, अग्नि ही मृत पुरुषको पितृलोकमें ले जाती है, यह वर्णित है। परंतु असुर (अनार्य लोगों)-की संस्कृतिमें मृत देह वसन-आभूषणसे सजायी जाती है तथा वही उसका शव-संस्कार होता है, यह छान्दोग्योपनिषद् ८ प्रपाठक, ८ खण्डमें स्पष्ट उल्लिखित है। रामायणमें विराध राक्षस (अनार्य)-के अनुरोधसे ही उसकी मृत्युके बाद उसके मृतदेहको गर्तमें डाल दिया गया था और यही है मृत राक्षस-जातिका चिरन्तन धर्म। (अरण्यकाण्ड, चतुर्थ सर्ग)

अन्ततः इन दो चित्रोंके दृष्टान्तसे मोहन-जो-दड़ो और हरप्पामें वैदिक संस्कृतिका प्रभाव विद्यमान होनेकी सूचना मिलती है। अतएव यह प्रमाणित होता है कि उपर्युक्त ध्वंसावशेष प्राग्-वैदिक युगका निदर्शन नहीं है।

हिंदू-संस्कृतिके प्राथमिक काल-निरूपणके सम्बन्धमें चाहे कितना ही सन्देह और वैमत्य क्यों न हो, यह तो

निर्विवाद है कि वेदोंसे ही हिंदू-संस्कृतिका प्राकट्य और प्रसार हुआ है। पाश्चात्त्य जगत्के किसी-किसी विद्वान्ने ऋग्वेदको सर्वापेक्षा प्राचीन धर्मग्रन्थ माना है,* परंतु उन्होंने भी काल-निर्णयके लिये कोई प्रयास नहीं किया।

वैदिक भावराशि हिंदू-संस्कृतिका मूल है। धर्मसूत्र, स्मृति, पुराण, तन्त्र—सभी वेदकी छायाको लेकर धन्य-धन्य हो रहे हैं तथा ये समस्त ग्रन्थ हिंदू-संस्कृतिके काण्ड, पत्र और फल-फूल हैं।

आज स्वाधीनताके नव-प्रभातमें प्राची दिशा उद्भासित हो उठी है। पराधीनताकी अन्धकारमयी रजनीके अवसानसे स्वाधीनताकी उषःप्रभा क्या विश्वकल्याणके सुप्रभातकी सूचना देगी?

यही बात हृदयमें उठती है कि भारतकी स्वाधीनताके द्वारा जगत्का क्या कोई कल्याण हो सकता है? अन्ततोगत्वा आज पराधीन भारत स्वातन्त्र्य प्राप्तकर विश्वके प्रांगणमें मर्यादावृद्धिके सिवा दूसरा कौन-सा अभ्युदय अर्जन करेगा?

आज विश्वमें विज्ञानका एकछत्र साम्राज्य है। नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार विश्वके निवासियोंके मनको विस्मित कर रहे हैं। कहाँ तो बड़ी-बड़ी तोपें, सबमैरिन, वायुयान, जनपद-ध्वंसकारी एटम बम—और कहाँ हिंदू-संस्कृतिकी नीरव साधना, निष्पन्द गति और शान्तिमय प्रकृति! यदि आज भारतको बाध्य होकर विज्ञानके पीछे ही दौड़ना पड़े, यन्त्र-शिल्पादिके लिये पाश्चात्त्योंका ही अनुकरण करना पड़े, परानुग्रहके द्वारा प्राप्त चावल, गेहूँ, औषधादिके द्वारा ही जीवन धारण करना पड़े, पाश्चात्त्य सभ्यताके अनुसरणमें अपनी संस्कृतिको तिलांजलि देकर हिंदू-कोड बिलका आश्रय लेना पड़े, तो इस स्वातन्त्र्यकी सार्थकता कहाँतक रक्षित होगी—यह विचारणीय है।

हिंदू-संस्कृतिके भीतर छिपा हुआ स्वाधीनताका आदर्श क्या है, यही आज विचारणीय है। पराधीन भारतमें भी किसी रूपमें हिंदू-संस्कृति अवशिष्ट रह गयी थी, इसका कारण यह है कि उसकी आन्तरिक स्वाधीनताके बीजको कोई भी नष्ट नहीं कर सका था। यह स्वाधीनताका स्वरूप पृथ्वीके अन्य किसी देशमें है या नहीं, मैं नहीं जानता; परंतु भारतकी मिट्टीमें इसकी अभिव्यक्ति, दूसरे ही रूपसे हुई है। प्रथमतः स्वाधीनता दो प्रकारकी होती है—एक भौमिक (राष्ट्रिय), और दूसरी आत्मिक। यह दोनों प्रकारकी स्वाधीनता ही पूर्ण स्वाधीनता कहलाती है।

राष्ट्र अथवा भूमिकी स्वाधीनता कालवश कभी-कभी विपर्ययको प्राप्त होती है। चिरकालतक समानरूपसे राष्ट्रकी स्वाधीनता अक्षुण्ण रहेगी, इस प्रकारका निश्चय प्रदान करनेकी क्षमता किसीमें नहीं। परंतु भूमिके पराधीन होनेपर भी आत्मिक स्वाधीनतामें विपर्यय नहीं होता, यदि उस भूमिके निवासी स्वेच्छापूर्वक अपने स्वरूपको परकीय भावोंके अधीन न बनायें। जबतक आत्मिक स्वाधीनताका ज्ञान बना रहता है, तबतक किसी भी देशके निवासी अपने आहार-विहार, आचार-व्यवहार, वेश-भूषा आदि समस्त विषयोंमें सचेत रहते हैं, अर्थात् इन विषयोंपर अपने देशकी संस्कृतिके अनुसार ही विचार करते हैं।

भौमिक (राष्ट्रिय) स्वाधीनताका कुछ कालतक व्याघात भी हो तो आत्मिक स्वतन्त्रताके द्वारा उसे पुनः प्राप्त किया जा सकता है; परंतु आत्मिक स्वाधीनताका त्याग करनेपर राष्ट्रिय स्वाधीनता भी चली जाती है। फारस देशके प्राचीन अधिवासी किसी समय अग्निपूजक थे, और उनका धर्मग्रन्थ था 'जेन्दावस्ता'। जब अरबके मुसलमानोंने इस देशको जीत लिया तो सहस्रों पारसी भारतमें आत्मरक्षाके लिये भाग आये। परंतु अवशिष्ट पारसीलोग अपनी आत्मिक स्वाधीनताको खोकर चिरकालके लिये विजेताके साथ मिल-जुल गये। आज भी भारतमें उसी प्राचीन पारसी जातिके अनेकों लोग आत्म-संस्कृतिकी रक्षा करके विपुल धन और सम्मानके अधिकारी हो रहे हैं।

अनेकों जातियोंने भारतपर आक्रमण किया है, भारतके भूखण्डपर अधिकार किया है तथा उन विजेताओंने अपनी-अपनी संस्कृतिके प्रसारके लिये अदम्य चेष्टा भी की है; परंतु हिंदू-संस्कृतिको आंशिकरूपसे विकृत करनेके सिवा वे इसको विलुप्त नहीं कर सके। संस्कृतिकी महिमासे, आत्मिक स्वाधीनताके बलसे भारतकी हिंदू-जाति अजेय बनी रही। अतएव इस स्वाधीनताका उषालोक देखनेका आज सौभाग्य प्राप्त हुआ। भगवान् मनु कहते हैं—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

* The Rgvedas are the Hindu sacred writings which are probably the oldest literary compositions in the world. (Wall's 'Sex aqnd Sex-worship', page 8)

'जो कुछ पराधीन है, दुःखप्रद है और जो कुछ स्वाधीन है, वही सुखप्रद है। यही सुख-दुःखका संक्षिप्त लक्षण है, ऐसा जानना चाहिये।'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि भौमिक और आत्मिक अर्थात् बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकारकी स्वाधीनताकी रक्षा होनी चाहिये।

दिल्लीके सिंहासनपर जब सम्राट् अकबर आरूढ़ था, तब उसने दीने-इलाहीका प्रचारकर मुस्लिम-धर्म-संस्कृतिके द्वारा हिंदू-संस्कृतिपर विजय प्राप्त करनेकी चेष्टा की थी। वह था नीतिज्ञ; मुसलमानोंकी पुरातन रीति—एक हाथमें तलवार और दूसरेमें कुरान लेकर धर्मप्रसारका वह पक्षपाती न था। वह कौशलपूर्वक मधुरताके द्वारा जनचित्तको आकर्षित करनेकी चेष्टामें लगा रहा। उसका फल यह हुआ कि सर्व-साधारणके मुखसे '**दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा**' इस प्रकारके प्रशंसासूचक शब्द निकलने लगे; परंतु उसका वह कौशल भी हिंदू-संस्कृतिके सामने न चल सका। बल्कि किसी-किसी विषयमें स्वयं सम्राट् अकबर हिंदू-संस्कृतिका अनुकरण कर कूँड़ापंथी मुसलमानोंके कोपका भाजन बना। हिंदू-संस्कृति मुसलमानी भावोंसे दूर रहकर आत्मरक्षाके लिये भारतवासियोंको सचेत करती रही, बल्कि मुसलमान भी हिंदू-संस्कृतिकी आबोहवामें पड़कर बहुत कुछ हिंदू-भावापन्न हो बैठे।[1] घर-घरमें सत्यपीर और सत्यनारायणकी उपासना, गाँव-गाँवमें मानिक पीरके स्थानमें दूध चढ़ाना, पीरकी दरगाहमें हिंदू-मुसलमानोंका धरना और मनौती, औलाबीबी तथा शीतलाकी पूजा, दोनों सम्प्रदायोंके घर-घरमें इस मूर्तिकी परिक्रमा इत्यादि चल पड़े। निराकारवादी मुसलमान भी साकार उपासनामें धीरे-धीरे अग्रसर होने लगे, मानिक पीरके स्थान मिट्टीके घोड़ोंसे भर गये, औलाबीबीकी मूर्ति देखी गयी, स्थान-स्थानमें काली और दुर्गाकी पूजामें मुसलमान अपनी स्थितिके अनुसार आर्थिक सहायता प्रदान करने लगे। यदि कुछ दिन और इसी प्रकार चलता तो हिंदू-संस्कृति मुसलमानोंको अपनी सीमाके अंदर और भी खींच लाती। यह कृपाणके बलसे नहीं होता, धर्मान्तरणसे नहीं होता, यह होता आत्मिक संयोग-स्थापनके द्वारा सांस्कृतिक मिलनके पथसे। परंतु आज तो स्थिति ऐसी प्रतिक्रियात्मक हो गयी है कि हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा भी कठिन हो चली है।

भारतमें शासनाधिकार प्राप्त करनेके बाद अंग्रेजोंको भी पहले मार्गमें बाधाओंका सामना करना पड़ा था—सिपाहियोंमें १८५७ ई० में जातीयता-बोध न होनेपर भी भारतीय संस्कृतिकी प्रेरणाने ही वैदेशिक शासनके प्रति विद्रोहकी भावना पैदा की थी। उस समय मुसलमानोंके अत्याचारसे जर्जरित हिंदूलोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे; यही कारण था कि कुछ लोगोंने अंग्रेजोंका पक्ष ग्रहण किया और इसीसे अंग्रेज विजयी हुए।[2]

इस विद्रोहके बाद ही १८५८ ई० में पहली नवम्बरको महारानी विक्टोरियाने जो घोषणापत्र प्रकाशित किया, उसमें बाध्य होकर यह वचन देना पड़ा कि हिंदू-संस्कृतिके विषयमें हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। इस घोषणाके द्वारा हिंदू-जनसाधारणके चित्तमें सान्त्वना प्रदान करनेपर भी बुद्धिमान् अंग्रेज समझते थे कि हिंदू-संस्कृति हमको भारतमें बाहर-ही-बाहर रखेगी। दरवानके समान हम बाहरी शत्रुके आक्रमणसे भारतकी रक्षा करेंगे, परंतु भीतर हमारा प्रवेश न हो सकेगा। भीतर प्रवेश न करनेपर भारतका शासन और शोषण पूर्णरूपसे न हो सकेगा, अतएव अब एकमात्र उपाय रह गया है हिंदू-संस्कृतिमें परिवर्तन करना।

सिपाही-विद्रोहका धक्का खाकर अंग्रेज शासकवर्ग कुछ वर्षोंतक हिंदू-संस्कृतिको बड़े भयकी दृष्टिसे देखते रहे। मिशनरी लोगोंके ईसाई मतके प्रचारका भी समर्थन पहले उनसे नहीं हुआ; परंतु अन्तमें यही स्थिर हुआ कि यदि भारतको अधीन रखना है तो भारतको ईसाई बनानेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह सुयोग प्राप्तकर मिशनरियोंने हिंदू-संस्कृतिके विरुद्ध विराट् प्रचार प्रारम्भ कर दिया। हिंदू-संस्कृतिके विषयमें कितनी ही कविताएँ रची गयीं तथा हिंदू-संस्कृतिका विकृत चित्र बनाकर देश-विदेशमें प्रचारित किया गया।

ब्रिटिश राजत्वके समय १८३५ ई० में कलकत्ताके बन्दरगाहमें एक जहाज विलायती माल लेकर आया। वह जहाज नाना प्रकारकी लोभनीय वस्तुओंसे पूर्ण था। औषधसे लेकर सूईतक बहुतेरी व्यवहारयोग्य वस्तुएँ

1- The Mohamedans have themselves become Hinduized and have been brought into the meshes of Caste. (Rev. Sherring in "Castes and Tribes of India")

2- We were only able to vanquish a sepoy army by the aid of gallant native troops, who remained faithful to the salt. (The Duke of Argyll)

बिक्रीके लिये भारतमें भेजी गयी थीं; परंतु आश्चर्यकी बात यह है कि एक पैसेकी भी कोई वस्तु यहाँ नहीं बिक सकी। उस समयकी हिंदू जनता समझती थी कि म्लेच्छदेशकी तैयार की हुई वस्तुएँ हिंदुओंके लिये अस्पृश्य हैं, अव्यवहार्य हैं। यह संस्कार इतना दृढ़ और प्रबल था कि बहुत प्रयत्न करनेपर भी विलायती माल भारतमें न चल सका, और उस जहाजको जैसे आया था वैसे वापस लौट जाना पड़ा। उस समयके सेक्रेटरी आफ् स्टेट (भारतमन्त्री) लार्ड मैकालेने इस बातको देखकर प्रतिज्ञा की थी कि भारतमें हम अब एक ऐसी जाति पैदा करेंगे, जिसका रंग और रक्त भारतीय रहेगा, परंतु शिक्षा, दीक्षा और रुचिमें वह अंग्रेज हो जायगी।

इसी प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये लार्ड मैकालेने भारतमें अंग्रेजी शिक्षाकी नींव डाली, और उनके संकल्पित कार्यने पूर्ण सफलता प्राप्त की। चाय, चुरुट, बिस्कुट, जमा हुआ दूध, औषध आदिसे लेकर विलासकी भाँति-भाँतिकी सामग्रियाँ आज विदेशोंसे आती हैं और करोड़ों-करोड़ों रुपये विदेश चले जाते हैं।

हिंदू-संस्कृतिने एक दिन शिक्षा दी थी कि भारतकी मिट्टीमें उत्पन्न वस्तु ही पवित्र और उपकारी है। भारतके फल-फूल, भारतकी ओषधि-लता, भारतके अन्न-वस्त्र—सभी पवित्र और सुन्दर हैं, अतएव व्यवहारयोग्य हैं। प्राचीनकालमें चीन देशसे भारतमें वस्त्र आता था; परन्तु इस प्रकारकी उस समय व्यवस्था थी, जिससे उसका भी भारतमें प्रसार न हो सका।

न स्यूतेन न दग्धेन पारक्येण विशेषतः।
मूषिकोत्कीर्णजीर्णेन कर्म कुर्याद्विचक्षणः॥

'सिले हुए, जले हुए, खास करके विदेशोंमें बने हुए वस्त्रके द्वारा, चूहेके कुतरे हुए अथवा पुराने वस्त्रके द्वारा बुद्धिमान् पुरुष वैध कर्मोंको न करे।'

महाभारतके वनपर्वमें पाण्डुराजाके मृतदेहके दाह करनेके समय, लिखा है कि, उनका शरीर शुक्ल देशी वस्त्रद्वारा आच्छादित किया गया था। हिंदू-संस्कृतिके प्रति लक्ष्य रखनेपर ही समस्त विदेशी द्रव्य अमेध्य, अशुचि मानकर हिंदूके लिये अपने-आप ही वर्जनीय हो जाता है। यह दूसरोंके प्रति विद्वेषमूलक 'बायकाट' नहीं है, बल्कि स्वदेशप्रेमका एक निदर्शन मात्र है। साथ ही, देशका धन देशमें ही रखकर अपनी स्वाधीनताकी रक्षा करनेका एक उपाय है।

हिंदू-संस्कृति भारतको यही शिक्षा देती है कि परमुखापेक्षी न होकर पूर्णतः अपने भावसे अपने पैरोंके बल भारतवर्ष जिससे संसारमें खड़ा रह सके, वही सर्वापेक्षा बड़ी स्वाधीनता है। हिमालयरूपी प्राचीर तथा समुद्ररूपी परिखाके द्वारा वेष्टित हो यह भारत जिस प्रकार भौगोलिक सत्तामें सब देशोंसे विच्छिन्न होकर एक वैशिष्ट्य धारण कर रहा है, उसी प्रकार इस भारतमें उत्पन्न शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति पृथ्वीके दूसरे भागोंकी अपेक्षा एक असाधारणता रखती हैं। वह असाधारणत्व कुछ अंशोंमें विस्मृतिके आवरणसे छिप जानेपर भी अभी सर्वथा विलुप्त नहीं हुआ है। इसीलिये श्रीउडरफ साहबने कहा था कि 'भारत वैसी कोई भौगोलिक सत्ता नहीं है, और न उस प्रकारकी कोई जन-समष्टि है, जो अचानक पृथ्वीके किसी अंशमें आकर पड़ गयी हो अथवा पृथ्वीके किसी प्रान्तमें पड़ी रह सकती हो। भारत ज्ञानका प्रतीक है।'

मैजिनीने कहा था कि "स्वाधीनता-शब्दके वास्तविक अर्थका विचार न करके केवल 'स्वाधीनता' शब्दकी रट लगाना केवल पीड़ित क्रीत दासकी मनोवृत्तिका परिचायक होनेके सिवा और कुछ नहीं।"[१]

अत्यन्त दुःखके साथ प्लेटोने कहा था कि 'जो मनुष्य अपने देशकी संस्कृतिके प्रति घृणा उत्पन्न करता है, उससे बढ़कर पापी दूसरा कोई नहीं; ऐसे मनुष्यका मर जाना ही श्रेयस्कर है।'[२]

एडमण्ड बर्क महोदयने कहा था कि 'स्वाधीनता एक भाव है, और दूसरे भावोंके समान यह भी प्रत्यक्षगम्य नहीं है। स्वाधीनताका ज्ञान बहुत कुछ अनुभवसिद्ध विषयोंके साथ जुड़ा रहता है, तथा प्रत्येक जाति अपनी कतिपय प्रिय वस्तुओंकी धारणाको लेकर स्वाधीनताके रूपको गठित करती है, जिसकी पूर्णताके ऊपर सुखके मानदण्डकी कल्पना की जाती है।'[३]

---

1. Merely to spout liberty without reflecting what it is intended the word should imply, is the instinct of the oppressed slave and no more.

2. A man who brings into contempt the creed of his country is the deepest of the criminals; he deserves death and nothing else.

3. Abstract liberty, like other abstractions, is not to be found. Liberty inheres in some sensible object and every nation has formed to itself some favourite point, which by way of eminence becomes the criterion of their happiness. (Conciliation with America)

सचमुच ही स्वाधीनताका कोई निर्दिष्ट स्वरूप नहीं है। इंग्लैंडकी स्वाधीनतासे जिस प्रकार 'अपने ऊपर टैक्स लगानेका अधिकार' (Self-taxation) प्रधानतः समझा जाता है, उसी प्रकार भारतमें स्वाधीनता कहनेसे मुख्यतः 'हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा' ही समझी जाती है। सच पूछिये तो, राष्ट्र बड़ा है या संस्कृति, पार्थिव राज्य बड़ा है या मनोमय राज्य, भोग्य वस्तु बड़ी है या भोक्ता—यही संघर्ष आज संसारमें सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। भारतकी प्राचीन विचारधारामें संस्कृति बड़ी मानी जाती थी, मनोराज्यकी प्रधानता थी तथा भोक्ताका प्रभुत्व था। आधुनिक विचारमें राष्ट्र ही बड़ा हो गया है। इन दोनों धाराओंकी तुलना करनेपर ज्ञात हो जायगा कि भारतमें संस्कृतिकी प्रधानता होनेके ही कारण राष्ट्रके पराधीन होनेपर भी उसकी स्वाधीन होनेकी अभिलाषा नष्ट नहीं हो सकी; परंतु यदि राष्ट्र प्रधान होता तथा अधिकांश जनता संस्कृतिकी उपेक्षा करती, तो राष्ट्र-विपर्ययके साथ-साथ संस्कृतिका भी नाश अवश्यम्भावी हो उठता। तब भारतका जो कुछ अतीत गौरव तथा पूर्वपुरुषोंकी कीर्ति थी, सब विस्मृतिके अतुल-तलमें डूब जाते। आज मुसलमान अपने हृदयसे यह बात समझने लगे हैं कि राष्ट्रके साथ संस्कृतिको एक सूत्रमें बाँधकर मुस्लिम-संस्कृतिको प्रधान स्थान देना पड़ेगा। इसी कारण उनके राष्ट्रका नाम 'पाकिस्तान' हुआ है, उनके राष्ट्रका शासन कुरानशरीफके आधारपर हो रहा है, तथा उनके लिये स्वाधीनताका अर्थ हो गया है—'मुस्लिम-संस्कृतिकी अबाध गति'।

आश्चर्यकी बात यह है कि मुस्लिम-संस्कृतिमें जगत्को प्रदान करने योग्य बहुत ही कम सम्पत्ति है; परंतु जो कुछ है, उसीका जय-डंका बजानेके लिये वे कटिबद्ध हैं और इधर हिंदू-संस्कृतिमें जो असीम रत्नभण्डार, समस्त जगत्के लिये लोभनीय सम्पद् विद्यमान है, उसकी आज उपेक्षा हो रही है। वेद, उपनिषद्, दर्शन, तन्त्र, राजनीति, साहित्य, भागवत, रामायण, महाभारत आदि अमूल्य ग्रन्थराशिमें कितने भाव, कितने ज्ञान-विज्ञान तथा कितने उपदेश निहित हैं, उनका वर्णन करना कठिन है; परंतु आज स्वाधीन भारतमें उनकी आलोचनाके लिये कोई सुयोग ही नहीं है!

यथार्थ तो यह है कि हिंदू-संस्कृति ही हिंदूके लिये परम प्रिय वस्तु है। इस संस्कृतिके ऊपर चाहे जितने आघात, चाहे जितने आक्रमण क्यों न हों, आज भी अधिकांश जनता इस संस्कृतिके प्रति अनुरक्त है। यह मनु-याज्ञवल्क्यसे लेकर धर्मव्याधपर्यन्त सबकी कीर्तिसे समृद्ध है। इस संस्कृतिकी आदि जननी अपौरुषेय वेदवाणी है। इस संस्कृतिके साथ स्वाधीनताका सम्बन्ध अच्छेद्य है, यह कहनेमें भी अत्युक्ति नहीं है। इसी संस्कृतिकी महिमामें स्वाधीनता प्रत्येक व्यक्ति, समाज और राष्ट्रमें प्रतिष्ठित थी।

वर्णाश्रम-धर्मका स्थान इस संस्कृतिमें केन्द्रीभूत हुआ था, और वह आज भी पूर्णतः उच्छिन्न नहीं हुआ है। आश्रम-धर्ममें वैयक्तिक स्वाधीनता, वर्णधर्ममें सामाजिक स्वाधीनता तथा वर्णाश्रमधर्मके यथायथ पालनमें राष्ट्रिय स्वाधीनताकी रक्षा होती थी।

आश्रमधर्ममें चरम और परम स्वाधीनता चतुर्थ आश्रम अर्थात् संन्यासमें विकसित होती है। संसारकी और कोई भी जाति इस स्वाधीनताके स्वरूपका चिन्तन नहीं कर सकी है। जो स्वाधीन होगा, उसके लिये कोई भी बन्धन नहीं रहेगा। जो स्त्री-पुत्रके अधीन हैं, विषयके अधीन हैं, समाजके अधीन हैं, मन-इन्द्रियोंके अधीन हैं, शुभाशुभ कर्मके अधीन हैं—वे स्वाधीन कैसे कहला सकते हैं? जो काम-क्रोधादि शत्रुओंके अधीन हैं, अन्न-वस्त्रके अधीन हैं, विलास-वासनाके अधीन हैं, वे स्वाधीन कैसे हो सकते हैं? वास्तविक संन्यासीके लिये वेष-भूषाकी आवश्यकता नहीं, भोजनके लिये बाध्यता नहीं, कामना-वासनाका बन्धन नहीं—इसकी अपेक्षा स्वाधीनताका श्रेष्ठ आदर्श और क्या हो सकता है? जो सब प्रकारके बन्धनसे मुक्त हैं, वस्तुतः वे ही स्वतन्त्र हैं।

ब्रह्मचर्य-आश्रममें देह और मनका गठन, गृहस्थ-धर्ममें कतिपय कर्तव्योंका पालन और परम्परा या धाराकी रक्षा करना—ये सारी बातें नियम-तन्त्रके अधीन होनेके कारण इनके द्वारा मनुष्यकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियोंका विकास होता है। व्यक्ति-समूहसे ही समाज बनता है। व्यक्ति-समूह यदि नियमानुसार बर्तने लगें तो समाज स्वस्थ और सबल हो उठे। हिंदू-संस्कृति कभी यह शिक्षा नहीं देती कि स्वाधीनताका अर्थ अनधीनता है अर्थात् स्वेच्छाचारिता या कामाचार है। स्वेच्छाचारिताके द्वारा कभी कोई भी महान् कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। संन्यासी सर्वबन्धनमुक्त होनेपर भी स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते; उनके भी नियम हैं, संयम हैं। परंतु गृहस्थके समान वे नियमोंके अधीन

नहीं हैं। नियम स्वभावतः उनका आश्रय लेते हैं।

गृहस्थाश्रममें रहकर भगवत्-आराधना और पितृ-श्राद्धादि वैध कर्मोंके करते-करते चित्तमें जो अनासक्तिका भाव आता है, उसीसे वैयक्तिक स्वाधीनताका विकास संभव होता है। अतएव गृहस्थ-धर्मके लिये उपदेश देते हुए मनु कहते हैं—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः॥

(मनु० ४।१५९)

यद् यत् कर्म पराधीनं परप्रार्थनादिसाध्यं तत्तद् यत्नतो वर्जयेत्। यद् यत् स्वाधीनदेहव्यापारसाध्यं परमात्मग्रहादि तत्तद् यत्नतोऽनुतिष्ठेत्॥

(कुल्लूकभट्टकी टीका)

'जो-जो कर्म पराधीन अर्थात् दूसरोंकी प्रार्थनादिसे सिद्ध होते हैं, उन-उन कर्मोंको यत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये, और जो कार्य स्वाधीन हैं, दैहिक व्यापारद्वारा सिद्ध हो सकते हैं, उन परमात्मज्ञान प्रभृति कार्योंका यत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये।'

इस प्रकार स्वातन्त्र्य-शिक्षाके द्वारा गृहस्थकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठाके लिये पद-पदपर उपदेश दिये गये हैं। क्या संन्यासी और क्या गृहस्थ, सबके लिये कहा है कि 'जो सब भूतोंमें आत्माको देखते हैं तथा जिन्हें आत्मामें सब भूत उपलब्ध दीखते हैं, वही समदर्शी आत्मयाजी पुरुष स्वाराज्यको प्राप्त होता है।' स्वाराज्यप्राप्तिका अर्थ यह है कि वह परमात्माके समान स्वतन्त्र और स्वाधीन भावको प्राप्त होता है।[1]

वर्णधर्ममें सामाजिक स्वातन्त्र्यके विकासके लिये सुविधा प्रदान की गयी थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—प्रथमतः मनुष्य-जातिके इन चार प्राकृतिक विभागोंके द्वारा चार प्रधान एकाइयों (Units)-की सृष्टि की गयी थी। जो कुछ ज्ञानसम्बन्धी कार्य था, वह सब ब्राह्मणोंके उत्तरदायित्वपर निर्भर था। राष्ट्रकी रक्षा, पालनादिका समस्त उत्तरदायित्व क्षत्रियके ऊपर था। धनका आगम और वृद्धि तथा वाणिज्यादि कर्म वैश्यके हाथमें थे। शिल्प और सेवाका उत्तरदायित्व शूद्र जातिके ऊपर था। इनके बीचमें भी कितनी ही अवान्तर उपजातियोंका निर्माण कर श्रम-विभाग (Division of labour)-के द्वारा विभिन्न जातियोंमें पारस्परिक प्रतियोगिता (Competition)-का द्वार बंद कर दिया गया था। बल्कि समाजके विविध प्रयोजनोंकी सिद्धि तथा प्रत्येक उपजाति (Unit)-का जीविकोपार्जन एक ही समय एक ही कर्मके द्वारा सम्पन्न हो जाता था। कोई तेली, जुलाहा या सूत्रधार अपने निजी व्यवसायका स्वयं स्वामी था। उसकी स्वतन्त्रतामें कोई बाधा डालनेवाला न था। स्वयं मनुष्य जितना अधिक परिश्रम और योग्य कार्य करता, उतना ही वह अपना तथा समाजका उपकार करता।[2]

हिंदू-संस्कृतिमें प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक सम्प्रदायने इस प्रकार स्वाधीनताका उपभोग किया है, तथा आज भी किसी अंशमें कर रहा है। उसके साथ तुलना करनेपर वर्तमान रूसका नव-कल्पित सम्प्रदायवाद (Communism) म्लान हो जाता है। रूसके सम्प्रदायवादमें व्यक्तिगत स्वाधीनताके लिये स्थान नहीं है, तथा मुट्ठीभर व्यक्तियोंके द्वारा परिचालित स्टेटके अधीन शेष समस्त जनता दासके समान कार्य करनेके लिये बाध्य है। उनका व्यक्तित्व नष्ट हो रहा है। जबतक स्टेटके किसी प्रधान पदपर बैठनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं होता, तबतक व्यक्तिका मूल्य चने-चबैनेके समान ही रहेगा। सम्प्रदायवादका मूल-मन्त्र है—समभावमें धन-विभाग, धनी और दरिद्रके वैषम्यको दूर करना।

हिंदू-संस्कृतिमें वर्णाश्रमधर्मके द्वारा धनी-दरिद्रके वैषम्यको दूर करनेकी व्यवस्था भी पायी जाती है। समान वर्ण और समान कर्म करनेवालोंके बीच आदान-प्रदान, विवाहादि सम्बन्ध नियन्त्रित होनेके कारण एक ओर समस्त धनी और दूसरी ओर समस्त दरिद्रोंके दल नहीं हो सकते। एक ही सजातीय समाजमें धनी और दरिद्रका मिलना-जुलना होता है। धनियोंको माता-पिताके निधन, विवाह अथवा अन्यान्य संकटकालमें दरिद्रोंकी सहायता प्राप्त करनी पड़ती है; अतएव उनका गर्व खर्व हो ही जाता है। धनीलोग कहीं विलासी-व्यसनी न हो जायँ, इसके लिये पूजा-पार्वण, श्राद्ध और

१. सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥ (मनु० १२।९१)
× × × स्वे राज्ये भवं स्वाराज्यम् परमात्मवत् स्वतन्त्रः सम्पद्यते। (मेधातिथि-टीका)
यहाँ 'स्वाराज्य' स्वर्गराज्य-बोधक नहीं है, परंतु अविनश्वर स्वराज्यका बोधक है।

२. मनुसंहितामें यन्त्रशिल्पको निन्दित कहा गया है और गृहशिल्पकी प्रशंसा की गयी है। पापोंकी सूचीमें 'महायन्त्रप्रवर्तनम्' ('बड़ी-बड़ी मशीनोंका चलाना')भी एक पाप माना गया है। (अ० ११)

विवाहमें धनीका धन समाजके प्रत्येक स्तरमें वितरित हो जाय, इसकी सुव्यवस्था भी देखी जाती है। एक दिन युधिष्ठिरने नारदजीसे पूछा कि गृहस्थके धर्म क्या हैं? नारदजीने उत्तर दिया—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्भा० ७।१४।८)

'जितनेसे उदर-पूर्ति होती है, उतनेमें ही प्रत्येकका स्वत्व है। जो इससे अधिक संचय करता जाता है, वह चोर और दण्डनीय है।' सम्प्रदायवाद (Communism)-का चरम सिद्धान्त इसी एक श्लोकमें प्रकट कर दिया गया है।

हिंदू-संस्कृतिमें राष्ट्रके कल्याणकी आकांक्षा कम नहीं थी। यजुर्वेदके अ० २२ मन्त्र २२ में एक प्रार्थना है—'हे ब्रह्मन्! हमारे राष्ट्रमें यज्ञ और अध्ययनशील ब्राह्मण उत्पन्न हों; शूर, शरक्षेपपटु, शत्रुभेदकारी, महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों। इस राष्ट्रमें दुग्धप्रदा धेनु, वहनशील वृषभ तथा शीघ्रगति अश्व उत्पन्न हों। इस राष्ट्रमें पुरन्ध्री (जिसके पति-पुत्रादि जीवित हों) नारी तथा जयशील रथी उत्पन्न हों। इस यजमानके सभा-शोभाकारी, वीर, सामर्थ्यवान् पुत्र हों; हमारे इस राष्ट्रमें पर्जन्य हमारे इच्छानुसार वृष्टि प्रदान करें, ओषधियाँ (अन्न) फलवती होकर परिपक्व हों तथा राष्ट्रके योग-क्षेमका वहन करें।'

अश्वमेध, राजसूय प्रभृति यज्ञ जिनका वर्णन वेदोंमें पाया जाता है, उनसे समस्त राष्ट्रके अभ्युदयकी सूचना मिलती है।

बहुतोंकी धारणा यह है कि 'स्वाधीनताका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये देश-प्रेम (Patriotism)-को जानना और समझना आवश्यक है। पर प्राचीन हिंदू-संस्कृतिमें देश-प्रेमकी बात कहाँ सुनी जाती है?' कुछ लोग यह भी कहते हैं कि 'स्वाधीनता पंचम पुरुषार्थ है, जिसका पता प्राचीन ऋषियोंको न था। वे लोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको ही लेकर सन्तुष्ट थे।'

वस्तुतः भारत जबतक आर्षप्रज्ञामें प्रतिष्ठित था, तबतक किसी प्रकारकी पराधीनताका प्रश्न ही नहीं उठा। तथापि भारत-भूमिके सम्बन्धमें जो उनकी श्रद्धा थी, वह अत्यन्त उन्नत 'देश-प्रेम' का स्वरूप था। विष्णुपुराणमें कहा है कि 'जो लोग भारतभूमिमें जन्म ग्रहण करते हैं, वे धन्य हैं। देवतालोग भी उनका कीर्तिगान करते हैं; क्योंकि भारत कर्मभूमि है—यहाँ जन्म ग्रहण करके ही स्वर्ग या अपवर्ग प्राप्त किया जाता है। देवताओंको भी अपवर्गकी प्राप्तिके लिये इस भारतमें ही आना पड़ेगा, अतएव भारतवासी स्वर्गके देवताओंकी अपेक्षा भी अधिक भाग्यशाली हैं।'

श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि 'यह भारत वैकुण्ठका प्रांगण है; यहाँ जो मानव जन्म ग्रहण करता है, वह कितना सौभाग्यशाली है! क्योंकि इससे उसे मुकुन्द-सेवा करनेका सुयोग प्राप्त होता है।'*

रामायणका यह प्रसिद्ध श्लोक है—

नेयं स्वर्णपुरी लंका रोचते मम लक्ष्मण।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

श्रीरामचन्द्र लंकामें रावण-वधके बाद अयोध्यामें लौटनेके लिये व्याकुल हैं, अतएव आग्रहपूर्वक कहते हैं कि 'हे लक्ष्मण! यह स्वर्णपुरी लंका मुझे अच्छी नहीं लग रही है, क्योंकि जननी और जन्मभूमि स्वर्गसे भी बढ़कर है।'

इसीका अनुवाद-सा करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीके श्रीरामचरितमानसमें लंका-विजय करके पुष्पक-विमानके द्वारा श्रीअयोध्या लौटते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र अयोध्याको देखकर सुग्रीव, विभीषण और अंगदादिसे कहते हैं—

सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा॥
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥

इसके अतिरिक्त यह भारत-भूमि देवताके रूपमें वेदमें भी पूजित हुई है। 'वही स्नेहमयी माता है। सबको अपनी गोदमें स्थान देती है'—यह अनेकों मन्त्रोंमें आया है। यही मन्त्रार्थ गीता और सप्तशतीमें प्रकाशित हुआ है।

जिनकी देशमातृकाने हृदयपर इस प्रकार अधिकार किया था, वे स्वाधीनताके मूल्यको नहीं समझते थे—

* गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे। स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

(विष्णुपुराण २।३।२४)

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः। यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

(श्रीमद्भा० ५।१९।२१)

यह कहनेसे वक्ताकी मूर्खता ही प्रकट होती है। स्वाधीनताके द्वारा मनुष्य सुखी होगा, केवल इसीलिये स्वाधीनताकी कामना होती है; अन्यथा स्वाधीनता प्राप्त करके भी यदि देशवासी निरन्तर दुःख-कष्ट ही भोग करें तो उससे आन्तरिक असन्तोष और क्रमशः अशान्ति ही उत्पन्न होती है। मनुने सुख-दुःखके लक्षणमें बतलाया है कि 'जो कुछ पराधीन है, वही दुःखप्रद है तथा जो कुछ स्वाधीन है, वही सुखप्रद है।' इसका तात्पर्य यही है कि स्वाधीनताके नामपर यदि परमुखापेक्षिता और परकीय संस्कृतिका अनुकरण अथवा अपनी संस्कृतिका विसर्जन हो तो विदेशी शासनके स्थानमें केवल देशी शासनका प्रतिष्ठित होना स्वाधीनताका आभासमात्र है, यथार्थ स्वाधीनता नहीं है; और ऐसी स्वाधीनतासे कभी सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

आज भारतकी भूमिसे दूर खड़े होकर ब्रिटिशलोग इस हिंदू-संस्कृतिके विनाशकी बाट देख रहे हैं। ब्रिटिशलोग स्वयं जिस कार्यके करनेमें समर्थ नहीं हुए, आज भारतवासियोंके द्वारा वे उसी संस्कृति-विनाशके लिये चेष्टा कर रहे हैं।

एक ईसाई मिशनरीने प्रायः २५ वर्ष भारतमें वास करनेके पश्चात् सन् १९१७ ई० में एक पुस्तक लिखी थी। वह उस पुस्तकमें लिखते हैं कि 'बहुत दिनोंके बाद इंग्लैंडमें आकर पाश्चात्य धर्मनीतिके जाननेकी चेष्टा करके मुझे आश्चर्य हो रहा है कि जर्मनी, अमेरिका, यहाँतक कि इंग्लैंडके भी धर्म-जगत्में हिंदूधर्म और दर्शनशास्त्रका प्रभाव बढ़ता जा रहा है। इसका विनाशक प्रभाव इतनी दूर पहुँच गया है कि उसको समझानेके लिये मेरी अपेक्षा कई गुना अधिक बुद्धिमान् और विचक्षण लेखककी आवश्यकता है। इसका वर्तमान कालमें प्रभाव न होनेपर भी भविष्यमें जान पड़ता है कि यह ईसाई-मतका मूलोच्छेद कर डालेगा। अतएव इसका प्रतिरोध करना बहुत ही आवश्यक है।'*

महात्मा गांधीकी अहिंसानीतिको कार्यान्वित करनेके लिये जो चेष्टाएँ हो रही हैं, उनमें यथार्थ साधना—आत्मोन्नति या हिंदू-संस्कृतिविषयक शिक्षाकी कोई व्यवस्था नहीं दीख पड़ती। हिंदू-संस्कृतिको विज्ञानके चरणतले लुण्ठित करनेकी मनोवृत्ति क्रमशः बढ़ती जा रही है। इसका फल यही होगा कि भारतकी स्वाधीनता बाह्यरूपसे कुछ कालतक रहते हुए भी अन्तरकी पराधीनता क्रमशः जड़ पकड़ती जायगी और अन्तमें स्वाधीनताके नामपर स्वेच्छाचारिताका राज्य हो जायगा। प्रत्येक प्रान्त-उपप्रान्तमें लोभ और असंयम बढ़ेगा, और उसके साथ चित्तकी मलिनताके कारण प्रान्तीयता उत्पन्न होगी, और क्रमशः अन्तर्विप्लव अनिवार्य हो जायगा और अपनी स्वाधीनता विपद्में पड़ जायगी।

आज आवश्यकता यह है कि विज्ञानके ऊपर मानवताको प्रतिष्ठित करना, विज्ञानके ऊपर धर्मका स्थान निश्चित करना, विज्ञानको नियन्त्रित करनेके लिये लोगोंको परमार्थके अनुसन्धानमें लगाना। आज भारतका यही कर्तव्य है।

इस युगमें विज्ञान सर्वथा हेय नहीं माना जा सकता, यह सत्य है। पारस्परिक संघर्षसे बचनेके उद्देश्य भारतमें विज्ञानकौशल प्राप्त करनेके लिये शिक्षाकी आवश्यकता है, इसमें तनिक भी सन्देहकी बात नहीं है। परंतु इसीके साथ-साथ मध्यमार्गको ढूँढ़ना होगा। एक ऐसी योजना बनानी होगी, जिसके द्वारा विज्ञानकी अनिष्टकारिता और इष्टकारिताकी तुलनात्मक समालोचना निष्पक्षभावसे की जाय तथा विज्ञानके विनाशात्मक प्रभावको नष्ट करनेके लिये शान्ति और सन्तोषके आदर्शको विश्वके सामने उपस्थित किया जाय। इस प्रकारके आदर्शका प्रचार और प्रसार होनेसे हिंदू-संस्कृतिका अत्युच्च आसन विश्वके दरबारमें प्रतिष्ठित होगा और परस्पर विवादमें लीन पाश्चात्त्य जातियाँ आत्मविनाशरूप रोगकी ओषधिके रूपमें इस आदर्शको ग्रहण करनेके लिये बाध्य होंगी। यदि किसी दिन इस प्रकारका विश्व-कल्याण प्रतिष्ठित हो सका, तभी भारतकी स्वाधीनता सार्थक होगी।

* उड्फ-प्रणीत 'क्या भारत सभ्य है?' ग्रन्थसे उद्धृत।

हिन्दू-संस्कृतिकी कुछ विशेषताएँ

(लेखक—श्रीताराचन्द्रजी पाण्ड्या, बी०ए०)

'संस्कृति' शब्दका उद्गम 'संस्कार' शब्दसे है। 'संस्कार' का अर्थ वह क्रिया है, जिससे वस्तुके मल (दोष) दूर होकर वह शुद्ध—सिद्धिसाधक बनती है।

'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।'

द्विजका अर्थ है दुबारा जन्म लिया हुआ—रूपान्तरित हुआ। बाइबलमें भी ईसामसीहका वाक्य आया है कि 'मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि जबतक मनुष्यका दुबारा जन्म न हो, वह परमात्माके राज्यका दर्शन नहीं कर सकता' (जॉन ३। ३)। यहाँ भी दुबारा जन्मसे तात्पर्य मृत्युके बादके पुनर्जन्मसे नहीं, किंतु इसी जन्ममें आत्माकी अवस्थाको सुधार देनेसे है; और 'परमात्माके राज्य' से तात्पर्य 'सत्य और पवित्रता' के उन दिव्य तथ्योंसे है, जिनका आलोक अपनी निजकी अन्तरात्मासे ही प्रकट होता है। क्योंकि ईसामसीहके अनुसार परमात्माका राज्य स्वयं तुम्हारे ही अंदर है (सेंट-लूक १७। २१)। अतः संस्कृतिका अर्थ वह शिक्षा-दीक्षा है, जिससे मनुष्यका जीवन सुधरे। पुरातन अभ्यासों और आदतोंको भी संस्कार कहते हैं—यथा जन्म-जन्मान्तरके संस्कार। अतः किसी देश या जातिकी संस्कृतिका अर्थ उस देश या जातिकी वे पुरानी आदतें, प्रथाएँ, रहन-सहन आदि हैं, जो उस देश या जातिके मनुष्योंका चरित्र-निर्माण करती हैं या उस निर्माणमें प्रभावशाली होती हैं।

सभी संस्कृतियोंका लक्ष्य मानवात्माको उन्नत करनेका होता है। क्योंकि सभी मानव मूलतः एवं प्रकृतिसे सदृश हैं, अतः सभी देशों और जातियोंकी संस्कृतियाँ कई अंशोंमें सदृश पायी जाती हैं। लेकिन फिर भी देश, काल और पात्रकी परिस्थितियों एवं संस्कृतियोंके प्रेरकों—निर्माताओं—के आदर्शकी विभिन्न अपेक्षाओंके प्रति मुख्यता और गौणताके दृष्टि-भेदोंके कारण विभिन्न देशों तथा जातियोंकी संस्कृतियोंमें कुछ विभिन्नताओं (विशेषताओं)-का पाया जाना भी आश्चर्यजनक नहीं है।

हिंदू-संस्कृतिकी कुछ विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

(१) समस्त प्राणियोंके प्रति समानता और प्रेमका भाव—समस्त जीवोंको अपने समान समझना तथा उनके प्रति प्रेम-भाव रखना और तदनुसार आचरण करना, यह हिंदू-संस्कृतिको छोड़कर और किसी संस्कृतिमें इतने पूर्ण और सच्चे रूपमें नहीं पाया जाता। यह हिंदू-संस्कृतिका प्राण है—यह सब हिंदुओंकी नस-नसको, उनके दैनिक जीवनके पल-पलको प्रभावित करता रहता है। हम निस्संकोच यह कह सकते हैं कि इस विशेषतामें हिंदू-संस्कृतिकी अन्य सब विशेषताएँ गर्भित हैं—एकमात्र इसीको बतानेसे हिंदू-संस्कृतिका सारा और पूरा वर्णन हो जाता है।

(२) पुनर्जन्म तथा आशावाद—प्रत्येक आत्मा सभी जीवधारियोंके स्वरूपोंमें जन्म ले सकती है, यह विश्वास। यह ऊपर वर्णित भावनाका कि 'मेरी-जैसी ही आत्मा सबकी है और सबकी-जैसी ही मेरी आत्मा है' का कारण भी है तथा परिणाम भी। इससे यह भी फलित होता है कि 'मेरी आत्माकी अवस्था भूतकालमें अन्य जीवों-जैसी हुई है और भविष्यमें भी हो सकती है', और यह कि 'सभी जीव किसी-न-किसी समय मेरे माता-पिता आदि सम्बन्धी रहे हैं और रह सकते हैं।' इन सब बातोंसे सब प्राणियोंके प्रति समानता एवं प्रेम-भाव दृढ होता है। इनसे यह भी सूचित होता है कि जीवकी कोई अवस्था (योनि) शाश्वत नहीं है। हिंदू-धर्मके अनुसार परलोकमें अनन्तकालीन स्वर्ग या अनन्तकालीन नरक नहीं है—जीवके किसी जन्म या किन्हीं जन्मोंके पुण्य या पापमें ऐसी शक्ति नहीं है कि सदाके लिये उस जीवका भाग्य निश्चित कर दे। पुरुषार्थसे सुपथगामी होकर आत्मा उन्नत अवस्थाको प्राप्त कर सकती है तथा पतित होकर—कुपथगामी होकर अधःस्वरूपको भी धारण कर सकती है। इस तरह सर्वदा पुरुषार्थ, सत्प्रयत्न और आशाको प्रेरणा मिलती रहती है।

(३) ब्रह्मचर्य तथा काम-तत्त्व—ब्रह्मचर्यपर जितना जोर हिंदू-संस्कृतिने दिया है, उतना अन्य किसी संस्कृतिने नहीं। इसका कारण भी वही सब आत्माओंकी समानतावाला सिद्धान्त है, अर्थात् यह विश्वास कि वस्तुतः आत्मा लिंगादिके भेदोंके परे है, लिंगादि तो

उसकी सांसारिक अवस्थाएँ हैं जो कि परिवर्तनशील हैं। लेकिन साथ ही साधारण मनुष्योंकी योग्यताका खयाल रखते हुए काम-तत्त्वकी भी अवहेलना नहीं की गयी है, उसे परिमार्जित कर, धर्मके साथ संयुक्तकर, लौकिक तथा पारमार्थिक प्रयोजन—संयम एवं ब्रह्मचर्यके आदर्श—का साधन बना दिया गया है। इसीलिये गीतामें कामको, 'धर्मसे अविरुद्ध' कामको भगवान्‌का स्वरूप बताया गया है (१०।२८; ७।११)। विवाहप्रथाका यह उद्देश्य है कि पति-पत्नी अपनी काम-वासनाको एक-दूसरेमें सीमित करके सुसंयतरूपसे उसका उपयोग सुसन्तानोत्पत्तिके लिये पर्वदिनों आदिको छोड़कर ऋतुकालमें ही करें; क्योंकि धार्मिक समाजकी (अर्थात् धर्मकी) परम्परा सुसन्तानोंके होनेसे ही चल सकती है। परंतु पति-पत्नीका सम्बन्ध केवल काम-वासनाके लिये नहीं है। वे धर्म और अर्थ दोनोंमें परस्पर सहायक और सखा हैं; काम-सेवन तो इन दोनों सखाओंका एक धर्म-कार्यके लिये विहित कालमें पवित्र भावनासे सम्मिलन है। और फिर एक पुत्रकी उत्पत्तिके बाद तो सन्तानोत्पत्तिका भी उतना प्रयोजन नहीं रहता; क्योंकि धर्मके लिये तो एक ही पुत्र पर्याप्त है (मनु० ९।१०६-७) और उसके बाद **'आत्मा वै पुत्रनामासि'** के अनुसार स्व-स्त्रीके प्रति भी पवित्र जायाभाव रखनेका संकेत है (मनु० ९।८)। काम-वासनाको भी इतना पवित्र तथा संयममय स्वरूप दे देना अन्य संस्कृतियोंमें नहीं है।

(४) संयुक्त पारिवारिक जीवन—इसका भी उद्देश्य कुटुम्बके सब मनुष्योंको उनके धर्म, अर्थ और कामके साधनमें समुचित व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका अवसर देना और साथ ही पारस्परिक सहयोग देना है; क्योंकि प्रधान उद्देश्य यही है कि प्रत्येकको आत्माको उसकी योग्यताके अनुसार पूर्ण विकासकी ओर अग्रसर करना। पारस्परिक सहयोगके लिये परस्परके प्रति आदरका भाव रखा गया है। यदि पुत्रके लिये **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव'** है, तो पिताके लिये भी **'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्'** और **'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रत्वमाचरेत्'** है। यदि पत्नीके लिये उपदेश है कि वह पतिको देवता समझे, तो पतिके लिये भी यह है कि वह स्त्रीको देवीस्वरूपा तथा सखाके समान माने—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

(मनु० ३।५६)

'जहाँ नारियोंकी पूजा की जाती है—उनका सम्मान किया जाता है, वहाँ देवताओंकी प्रीति होती है। जहाँ स्त्रियोंकी पूजा नहीं की जाती, वहाँ सब काम निष्फल होते हैं।'

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥

(मनु० ३।५७)

'जहाँ स्त्रियाँ दुःखित होती हैं—सतायी जाती हैं, वे कुल शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। जहाँ स्त्रियाँ दुःखमें नहीं होतीं, वहाँ सदा ऋद्धिकी वृद्धि होती रहती है।'

और—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

(मनु० ३।६०)

'जिस कुलमें पत्नीसे पति प्रसन्न है और पतिसे पत्नी प्रसन्न है—दम्पति एक-दूसरेको सन्तुष्ट रखते हैं—निश्चय जानो कि उस कुलमें कल्याणका सर्वदा निवास रहता है।'

इसी प्रकार भाई-बहिन और अन्य सगे-सम्बन्धियोंके भी प्रति बर्ताव किया जाता है।

(५) आश्रम-व्यवस्था—हिंदूकी दृष्टिमें जीवनका लक्ष्य भोग नहीं, संग्रह नहीं, किंतु त्याग और परोपकार है। उसका जीवन धर्म-प्रधान है। अतः उसका प्रारम्भ धार्मिक शिक्षा और पवित्र रहन-सहन—ब्रह्मचर्याश्रमसे होता है। गृहस्थाश्रममें भी, जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, वह 'त्यागमय भोग' का जीवन बिताता है तथा अन्तमें वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमोंमें पूर्णतः उच्चतर धर्मकी ओर लगता है। इस प्रकार गृहस्थाश्रमकी भित्ति ब्रह्मचर्याश्रम है तो उसका लक्ष्य वानप्रस्थाश्रम और संन्यास है। पुत्रकी इच्छा हिंदू इसीलिये करता है कि उसे गृहस्थाश्रमका भार सौंपकर स्वयं पूर्णतः उच्च धर्मकी ओर लग सके।

(६) वर्ण-भेद—(Struggle for existence) (जीवनके लिये संग्राम) नहीं, किंतु प्रतिस्पर्द्धाका अभाव हिंदू-संस्कृतिका ध्येय है; और इसीके एक उपायस्वरूप वर्ण-प्रथाका विधान है, जिसका मतलब है—सांसारिक सम्पत्तिके लिये अपने वर्ण और जातिकी यानी पैतृक आजीविकाको अपनाकर उससे सन्तुष्ट रहना और उसके द्वारा जो सम्पत्ति प्राप्त हो, उसे समाजमें वितरण करना। प्रायः मनुष्योंके लिये पैतृक

व्यवसाय कितना उपयुक्त है और उसे अपनानेसे कितनी कठिनाइयों और अशान्तिसे त्राण हो जाता है, यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि यदि किसीमें विशेष योग्यता हो तो वह क्या करे? इसका उत्तर यह है कि अर्थ-साधनके लिये वर्ण-प्रथाका नियम है, अहिंसा आदि धर्मोंके साधनके लिये नहीं। एक व्याध तथा एक जुलाहा भी तत्त्ववेत्ता और धर्मपरायण हो सकता है; परंतु आजीविकाके लिये वह अपने वर्णका उत्तम काम ही करे।

संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्योऽध्ययने जपदानयोः॥

अर्थात् 'स्त्री, भोजन और धनमें—अर्थ और काममें— सन्तोष करे; परंतु ज्ञान-साधनमें, उपासनामें और दान करनेमें सन्तोष-वृत्ति न रखे।' यहाँ भी प्रश्न किया जा सकता है कि धनमें सन्तोष रखनेसे अर्थात् अल्प-धन या धनाभावमें भी संतुष्ट रहनेसे धनके बिना दान किस तरह किया जा सकेगा। इसका उत्तर है कि अभय-दान एवं ज्ञान-दान तथा अपनी आत्माको पापोंसे बचाकर उसकी दुर्गतिसे रक्षा करना—ये दान सबसे बढ़कर हैं और इनमें पैसेकी आवश्यकता नहीं है। धनका दान तो धनोपार्जनमें जो पाप होता है, उसके किंचित् प्रायश्चित्तस्वरूप है। इसके अतिरिक्त अपनी धनोपार्जनकी तृष्णाको कम करनेसे औरोंको धनोपार्जनका अधिकतर अवसर मिलता है—आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा कम होती है, यह भी दान ही है। इस प्रकार यदि किसीमें विशेष योग्यता हो तो सामाजिक कल्याण तथा आत्मकल्याण विशेषरूपसे करे; किंतु आजीविकाके लिये अपने वर्णानुसार कार्यसे ही सन्तुष्ट रहे। हिंदू-संस्कृति जहाँ एक ओर लौकिक आकांक्षाएँ घटाकर पूर्ण अपरिग्रहकी ओर ले जाती है, वहाँ दूसरी ओर पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द और पूर्ण शक्तिका शाश्वत भोक्ता—साक्षात् परमात्मा—बननेकी ओर प्रेरणा करती है।

(७) सादगी और शान्ति—ये हिंदू-संस्कृतिकी महान् विभूतियाँ हैं। इसके अनुसार जीवन (Standard of life)-को उन्नत करनेका अर्थ आवश्यकताओंको—सांसारिक पदार्थोंके संग्रहको—बढ़ाना नहीं है; किंतु अपने नैतिक स्तरको ऊँचा करना है, अपने सुख और शान्तिको सांसारिक पदार्थोंसे स्वाधीन बनाना है। इसलिये वर्ण-प्रथामें अपरिग्रही एवं त्यागमय जीवनको—ब्राह्मण वर्णको सर्वोच्च पद दिया गया है।

आजीविकाके अनुसार वर्ण विभिन्न होनेपर भी वे सभी समाजके अंग हैं और उनमें पारस्परिक प्रेम एवं बन्धुत्वका अभाव नहीं समझना चाहिये। यदि उपमाके तौरपर शूद्रवर्णकी उत्पत्ति परमात्माके चरणोंसे और ब्राह्मणवर्णकी मुखसे बतायी गयी है तो इससे यही सूचित होता है कि ब्राह्मणकी तरह शूद्र भी उसी देहका एक आवश्यक अंग है। चैतन्यकी दृष्टिसे मुखमें और पैरमें क्या अंतर है? और फिर उसी चरणसे गंगाजीकी भी तो उत्पत्ति है, उसी चरणको भक्तजन सबसे अधिक चाहते हैं, उसीसे तीर्थयात्रा होती है, जब कि मुखसे तो उच्छिष्टता भी आ जाती है। प्रजापति और मित्रावरुण तो पैरसे भी निकृष्टतर अंग बताये गये हैं (भागवत २।१।३२), तो क्या वे निकृष्ट हो गये? स्वयं विष्णु भी पादेन्द्रियके अभिमानी देवता हैं (भागवत ३।२६।५८), तब पैरको अधम कैसे कह सकते हैं? अतः शूद्रोंकी श्रीचरणोंसे उत्पत्ति बताना उनकी अधमताका चिह्न नहीं है।

(८) सामाजिक जीवन—जितने त्यौहार हिंदू-संस्कृतिमें हैं, उतने अन्य किसी संस्कृतिमें नहीं हैं और उन सबका धर्मसे सम्बन्ध है। जहाँ हिंदूके लिये आत्मध्यानके लिये वनमें एकान्त-साधना है, वहाँ उसके त्यौहार और सामाजिक जीवन—

'सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै' तथा **'व्यशेम देवहितं यदायुः'**

—के मूर्तिमान् उदाहरण हैं।

(९) मूर्ति-उपासना—अर्थात् अव्यक्त, इन्द्रियातीत और अवाङ्मनसगोचर बताये गये निराकार ब्रह्मकी साकाररूपमें अवतारणा और धारणा करना—उसे भक्ति तथा साधन-सुलभ बनाना। तथाकथित एकेश्वरवादियोंकी ओरसे प्रायः यह निन्दा अथवा परिहासके ढंगसे कहा जाता है कि हिंदू तैंतीस करोड़ देवताओंको मानता है। लेकिन, क्योंकि परमात्मस्वरूप आत्मा सभीमें है, अतः सर्वमें परमात्मरूपकी भावना करनेवाले हिंदूके लिये देवताओंकी तैंतीस करोड़ संख्या भी बहुत कम है। वह तो जहाँ भी सौन्दर्य, पवित्रता, महानता देखेगा, वहीं परमात्माका दर्शन करना चाहेगा।

(१०) शौच—शरीरको अपवित्र मानते हुए भी उसके अशुचित्वको साक्षात् करनेके लिये तथा 'शुचित्व' के प्रति प्रेमको जगाकर परम शुचि आत्माका प्रेमी बनानेके लिये बाह्य शौचाचारका भी हिंदू-

संस्कृतिमें विशेष विधान है।

संक्षेपमें हिंदू-संस्कृतिका मुख्य गुण विषमता, प्रतिस्पर्द्धा और अशान्तिको दूर कर समता, समानता और शान्तिका साम्राज्य स्थापित करना है और यही उसका गौरव और उसकी उपयोगिता है; और इसी महिमासे मण्डित होकर, आजकलके जगत्में और जबतक संसारमें दुःख है, अशान्ति है, भय है, तबतक एक माताके तौरपर, एक त्राताके तौरपर, हिंदू-संस्कृति अन्य सब संस्कृतियोंकी ओर निहार सकती है और निहारती रहेगी। माताके इसी गौरवकी रक्षा करना, अपने-आपको इसका सुपात्र बनाना, यह प्रत्येक हिंदूका धर्म है।

हिंदू-धर्मके भेद

(लेखक—दीवानबहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री)

हमारे धर्मग्रन्थोंमें धर्मका विचार कई दृष्टियोंसे किया गया है। इन विविध विचारोंको एकत्रकर उनका समन्वय किया जा सकता है। धर्मका समग्र और अखण्ड रूप देखनेके लिये ऐसा करना आवश्यक है। हिंदू-धर्मशास्त्रोंमें धर्मकी अनेकानेक परिभाषाएँ मिलती हैं; उनमेंसे चुनी हुई कुछ खास परिभाषाएँ यहाँ दी जाती हैं—

चोदनालक्षणार्थो धर्मः।

'भगवदाज्ञा धर्मका लक्षण है।'

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

'जिससे इस लोकमें अभ्युदय और आगे परम कल्याणकी प्राप्ति हो, वह धर्म है।'

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

'धर्मका हनन करनेसे धर्म मारता है और धर्मकी रक्षा करनेसे वह रक्षा करता है।'

यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः।

'जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, वहाँ विजय है।'

'धर्मस्तमनुगच्छति।'

'धर्म ही साथी है, जो मरनेपर भी पीछे-पीछे चलता है।'

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः॥

'धारण करनेवालेको धर्म कहते हैं, धर्म प्रजाको धारण करता है।'

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चतुर्विध पुरुषार्थोंमेंसे अर्थ और कामकी लालसा, विशेषतः इस युगमें, इतनी प्रबल है कि लोग इस बातको भूल ही जाते हैं कि इस अर्थ और कामका मूल धर्म है। केवल अर्थ अथवा केवल कामोपभोग जीवनका कोई उदात्त उद्देश्य नहीं है। इनका त्याग न करे; पर इनका ग्रहण भी वहीं उचित है, जहाँ ये धर्मके विरुद्ध न हों—बल्कि धर्मसे ही प्राप्त हों। धर्मके विपरीत जहाँ अर्थ और कामको स्वार्थमय आसुरी उपायोंसे प्राप्त करनेमें जीवन लगता है, वहाँ घृणा और द्वेष ही फैलते हैं।

धर्मार्थकामाः किल तात लोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ते तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सुपुत्रा॥
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसन्निविष्टा
धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥

(वा० रा० अयो० २१।५६-५७)

'धर्मसे प्राप्त होनेवाले सुख-सौभाग्यादिकी प्राप्तिमें जो धर्म-अर्थ-कामरूप उपाय माने गये हैं, वे एक धर्ममें ही स्थित हैं, जैसे पतिके अधीन रहनेवाली स्त्री ही प्रियाचरण करनेवाली और सुपुत्रवती होती है। इस विषयमें मुझे कोई संदेह नहीं है। जिस कर्ममें तीनों पुरुषार्थ सन्निविष्ट न हों (पर एक धर्म हो) तो जिससे धर्म बनता हो, वही कर्म करना चाहिये। (धर्मको छोड़) अर्थपरायण रहनेवाला पुरुष इस लोकमें द्वेष्य होता है। ऐसे ही कामपरायणकी कामात्मता भी निन्दनीय है।'

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥

(गीता ७।११)

भगवान् कहते हैं, 'मैं वही काम हूँ, जो धर्मके अनुकूल है।'

धर्मरहित काम, जो रावणरूपमें मूर्तिमान् है, कितना अनर्थकारी है—इसकी शिक्षा रामायणने, और

'ब्राह्मण जपसे ही निस्सन्देह सिद्धिलाभ करता है, मोक्ष-प्राप्तिके योग्य होता है। वह और कुछ वैदिक कर्म करे या न करे। कारण, मैत्र ब्राह्मण, ब्रह्मसम्बन्धी, ब्रह्ममें लीन होता है—यह आगमोंमें कहा है। यज्ञादिमें पशुबीजादिवध होनेके कारण उनकी सर्वप्राणिप्रियता सम्भावित नहीं है। अतः यागादिके बिना भी प्रणवादि जपमें निष्ठावाला पुरुष तर जाता है। यह जपकी प्रशंसा है—यागादिकोंका निषेध नहीं; क्योंकि यागादिक भी शास्त्रीय हैं।'

धर्मका और एक विभाग छान्दोग्य उपनिषद्में और भगवद्गीताके १८ वें अध्यायमें वर्णित है—यज्ञ, दान और तप। इन्हींमें ईश्वरके प्रति, मनुष्योंके प्रति और अपने प्रति सब कर्तव्य आ जाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये पावन करनेवाले हैं। किसी भी अवस्थामें इनका त्याग नहीं करना चाहिये, बल्कि अहंतायुक्त फलासक्तिका त्याग कर इन्हें अवश्य करना चाहिये (गीता १८।५)। गीताके तृतीय अध्यायमें यह वर्णन आता है कि ''यज्ञोंके साथ प्रजाओंको उत्पन्नकर प्रजापतिने उनसे कहा, इस यज्ञके द्वारा तुमलोग फूलो-फलो, यह तुम्हारी सब इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला होगा। इससे देवताओंको प्रसन्न करो, देवता तुम्हें प्रसन्न करें; इस प्रकार परस्पर प्रीति लाभकर परमश्रेयको प्राप्त करो। यज्ञसे प्रसन्न होकर देवता इष्ट भोग प्रदान करेंगे। उनके दिये हुए भोग उनका यजन किये बिना जो स्वयं भोगता है, वह चोर ही है। यज्ञ करके जो शेष भाग ग्रहण करते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त होते हैं; जो अपने ही लिये पाक करते हैं, वे पाप भक्षण करते हैं।'

(गीता ३।१०—१३)

भिन्न-भिन्न वर्ण हैं, उनकी भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ हैं। इसी प्रकार आपत्कालके आपद्धर्म हैं। उनके सम्बन्धमें यहाँ विस्तारसे लिखना सम्भव नहीं है। सामान्यतः ब्राह्मणके लिये षट्कर्मसे जीवन-निर्वाह करनेको कहा गया है। षट्कर्म हैं—यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह। गीतामें अन्य वर्णोंके लिये तो वृत्तियोंका वर्णन है, पर ब्राह्मणोंके लिये कुछ नहीं कहा गया है। समयके साथ वृत्तियोंके प्रकार बहुत बढ़ गये हैं और उनमें बहुत कुछ परिवर्तन भी हुआ है। उदाहरणार्थ, पराशरस्मृतिमें कहा है कि '**षट्कर्मसहितो विप्रः कृषिकर्म च कारयेत्**' (षट्कर्मके साथ ब्राह्मण कृषिकर्म भी करा सकता है)। (२।२)

स्वयं कृष्टे तथा क्षेत्रे धान्यैश्च स्वयमर्जितैः।
निर्वपेत् पंचयज्ञांश्च क्रतुदीक्षां च कारयेत्॥

(पाराशर० २।६)

'स्वयं जोती हुई भूमिसे जो धान्य स्वयं अर्जित किया हुआ हो, उससे पंचयज्ञ करे और क्रतुदीक्षा भी कराये।'

गीताने वैश्योंके लिये केवल '**कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम्**' कहा, पर पाराशरस्मृतिने उसमें 'लाभकर्म' और 'रत्नकर्म' और जोड़ा है। शूद्रोंके लिये गीतामें केवल 'परिचर्यात्मक-कर्म' है, पर पाराशरस्मृतिमें—

लवणं मधु तैलं च दधि तक्रं घृतं पयः।
न दुष्येच्छूद्रजातीनां कुर्यात् सर्वेषु विक्रयम्॥

'लवण, मधु, तेल, दही, घी, दूध आदि बेचनेमें शूद्रोंके लिये कोई दोष नहीं माना है।' पीछे कौटिल्यने अपने अर्थशास्त्रमें शूद्रोंका वार्त्ता (कृषि, उद्योग और व्यापार) तथा कारुकुशीलवकर्म (कारीगरी और गाने-बजानेके काम)-में अधिकार माना है।

यह कहा जाता है कि कृतयुगमें मनुस्मृतिका तथा अन्य तीन युगोंमें यथाक्रम गौतम, शंख-लिखित और पाराशरस्मृतियोंका प्रामाण्य है। सामान्यतः मनुस्मृतिकी मान्यता ही सबसे अधिक है।

कृते तु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः।
द्वापरे शङ्खलिखितौ कलौ पाराशरः स्मृतः॥

× × ×

मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते।

'मनुके अभिप्रायके विरुद्ध जो स्मृति होगी, वह न मानी जायगी।'

यद्वै किंचिन्मनुरवदत्तद्भेषजम्। (श्रुति)

'मनुने जो कुछ भी कहा है, वह औषध है।'

पाराशरस्मृतिका व्यवहार-प्रकरण लुप्त हो गया है, केवल आचार और प्रायश्चित्त-प्रकरण शेष हैं। ये सभी पुरातन स्मृतिग्रन्थ हैं और भारतवर्षमें सर्वत्र माने जाते हैं।

धर्मके मूल स्रोत वेद, वेदविदोंकी स्मृति और शील, सत्पुरुषोंके आचार और आत्मतुष्टि हैं; यथा—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

(मनु० २।६)

कुल्लूक भट्ट इस श्लोककी टीका करते हुए 'आत्मनस्तुष्टि' का अर्थ करते हैं—**साधूनां धार्मिकाणाम्**

आत्मतुष्टिश्च वैकल्पिकपदार्थविषया धर्मे प्रमाणम्।

अर्थात् 'जिस विषयमें विकल्प हो, उस विषयमें सत्पुरुषोंकी आत्मतुष्टि धर्म-निर्णयमें प्रमाण है।'

विभिन्न धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों और निबन्धग्रन्थोंका स्वरूप और कालक्रम-वर्णन मैंने विस्तारपूर्वक एक ग्रन्थमें किया है। इन धर्मसूत्रादि ग्रन्थोंमें आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त-विषय वर्णित हैं। व्यवहार-प्रकरण अब बहुत कुछ कानूनों और न्यायालयोंके निर्णयोंद्वारा बदल गया है। प्रायश्चित्त-प्रकरण भी प्रार्थना, पूजा और भक्तिके प्रभावसे बहुत क्षीण हो गया है।

प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै।
यानि तेषामशेषाणां श्रीकृष्णानुस्मरणं परम्॥

'जो-जो तपःकर्मात्मक अशेष प्रायश्चित्त हैं, उन सबमें सर्वोपरि प्रायश्चित्त श्रीकृष्णानुस्मरण है।'

वृत्तियोंके विषयमें तो बहुत परिवर्तन हो गया है। अस्पृश्यता प्रायः उठ ही गयी है। पर बहुत-से संस्कार, विशेषतः षट्कर्म, उपनयन, विवाह, तर्पण, श्राद्ध और संन्यास अभीतक जीवित हैं। विज्ञान और राष्ट्रवाद, समाजवाद और साम्यवादके इस युगमें आत्मगुणोंका, विशेषतः सत्य और अहिंसाका आग्रह महात्मा गांधीके द्वारा इतना बढ़ा—यह बात कभी भुलायी नहीं जा सकती। धर्म और मोक्षकी भावना भारतीयोंके हृदयमें इतनी बद्धमूल है कि वह न्यूनाधिकरूपमें सदा बनी रहेगी।

भारतीय धर्म-सम्प्रदायके मूलतत्त्व

(लेखक—श्रीमतिलाल राय)

भारतने धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रका गठन किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतवासियोंको धर्मविहीन होना चाहिये। इसका अर्थ है कि भारतकी राष्ट्र-शक्ति भारतके सभी सम्प्रदायोंके धर्मको निरपेक्ष दृष्टिसे देखेगी। किसी धर्मके प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टि उसकी न होगी।

जब भारतवर्ष विभिन्न धर्मोंका आश्रय-स्थल है तो राष्ट्र-शक्तिकी इस प्रकारकी दृष्टि प्रशंसनीय ही है। भारतराष्ट्र जिस प्रकार हिंदुओंके मन्दिर तथा तीर्थ-महिमाकी रक्षा करेगा, उसी प्रकार मुसलमानोंकी मस्जिदोंके प्रति भी श्रद्धावान् रहेगा। ईसाइयोंके गिरजों, बौद्धोंके विहार तथा सिक्खोंके गुरुद्वारोंकी वह समानभावसे रक्षा करेगा। इस प्रकारकी उदार और महान् हृदयशीलता भारतवासीके लिये ही सम्भव है।

हम हिंदू हैं, अतः हिंदू-धर्मकी विशेषता और स्वतन्त्रताकी हम निश्चय ही रक्षा करेंगे। हमारी जातीय शिक्षाका आधार होगी भारतकी सनातन संस्कृति और ऐतिह्य। इस स्वधर्मकी रक्षामें अग्रसर होनेपर विभिन्न सम्प्रदायोंकी सृष्टि अनिवार्य है। इस क्षेत्रमें साम्प्रदायिकताका नाम सुनते ही यदि राष्ट्र-शक्ति क्षुण्ण होती है, तो हमें कहना पड़ेगा कि इस प्रकारका राष्ट्रचक्र सर्वांगपूर्ण नहीं है। क्योंकि सम्प्रदायोंके न होनेपर भारतकी वैचित्र्यपूर्ण धर्म-भित्तिकी रक्षा कौन करेगा? बंगालमें दुर्गोत्सव कौन करेगा? कौन पिचकारी हाथमें लेकर होली खेलनेके लिये अग्रसर होगा? शिवरात्रिको उपवास करके कौन सारी रात घंटा-घड़ियाल बजाता हुआ शिवपूजामें रत रहेगा? सम्प्रदाय न रहनेपर ईद कौन मनावेगा? बकरीदमें किसका चित्त उन्मत्त हो उठेगा? मुहर्रममें झंडा उठाकर कौन जुलूसमें निकलेगा? ईसाई सम्प्रदायके बिना गुडफ्राइडे कौन मनावेगा? क्रिसमस डे मनानेका अधिकार किसको होगा? अतएव यह निश्चित है कि जबतक धर्म-वैचित्र्य रहेगा, तबतक सम्प्रदाय अवश्य रहेंगे। हम तो यह भी कहते हैं कि सम्प्रदाय अनादिकालसे चले आ रहे हैं और अनन्त कालतक रहेंगे। अतएव साम्प्रदायिकताका नाम लेकर यदि राष्ट्र-शक्ति किसीको जिम्मेवार ठहराती है तो उसकी भ्रान्तिको दूर करनेके लिये सारे सम्प्रदायोंको सिर उठाना चाहिये और उसका प्रतिवाद करना चाहिये। हम इस शास्त्र-वाणीको सनातन-वाणीके रूपमें स्वीकार करते हैं कि—

सम्प्रदायविहीना ये धर्मास्ते निष्फला मताः।

'जो धर्म सम्प्रदायविहीन हैं, वे निष्फल मत हैं।' राष्ट्रशक्ति असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति रखते हुए ही भारतके इन समस्त (ईश्वरकी ओर ले जानेवाले विभिन्न मार्गरूप) सम्प्रदायोंके महत्त्वकी रक्षा कर सकती है। यह बात अत्यन्त युक्तिपूर्ण है।

धर्मका लक्ष्य है—आत्माका अभ्युत्थान और मुक्ति। क्या विश्वमें इस प्रकारका मनुष्य आप खोज सकते हैं, जो आत्मचेतनाको समुन्नत नहीं करना चाहता, प्राकृत द्वन्द्वोंको दूरकर मुक्ति प्राप्त करना नहीं

चाहता? और यदि सभी धर्मोंका उद्देश्य और लक्ष्य एक है तो धर्मको हम अभिन्न अद्वयवस्तुके रूपमें ही ग्रहण करेंगे। परंतु यह धर्मलाभ प्रकृतिभेदसे विभिन्न आचारका आश्रय लेकर होता है। और ये विभिन्न आचार ही सम्प्रदाय-भेद लाते हैं। जिसका लक्ष्य धर्म है, वह हिंदू हो तो भी मस्जिदको दूसरे सम्प्रदायकी धर्मसाधनाका क्षेत्र समझकर मर्यादा प्रदान करनेमें कुण्ठित न होगा। इसी प्रकार यदि कोई मुसलमान या ईसाई पूर्णतः धर्मप्राण है तो वह भी हिंदूके मन्दिर और तीर्थको छोटी नजरसे नहीं देखेगा। खेद है कि आज मुसलमान-ईसाई ही क्यों, हिंदू भी इतने संकीर्ण-हृदय हो गये हैं कि सम्प्रदाय-भेदसे परस्पर द्वेषभाव उत्पन्नकर मानवताका अपमान कर रहे हैं! भारतकी राष्ट्रशक्ति यदि इस प्रकारकी विकृत साम्प्रदायिकताका प्रतिवाद करती है तो हमारे लिये आपत्तिका कोई कारण नहीं रह जाता।

धर्म, कर्म और ज्ञान सापेक्ष हैं। कर्महीन धर्म अथवा ज्ञानविहीन धर्म जिस क्षेत्रमें आश्रय लेते हैं, उसी क्षेत्रमें उत्कट साम्प्रदायिक विद्वेषका उत्पन्न होना अवश्यम्भावी होता है। इस्लामके अनुयायी यदि हिंदूको प्रतिमापूजक कहकर गाली देते हैं, और हिंदू यदि प्रतिमाशून्य मस्जिदमें मुसलमानको पश्चिमाभिमुख खड़े होकर उपासनामें रत देखकर हँसते हैं, तो उन दोनोंको ही धर्मकी महिमाका पता नहीं है—यह मानना होगा। आज कर्म हो गया है स्वार्थसिद्धिका सेतु और ज्ञान हो गया है केवल पुस्तकीय विद्या। ईश्वरीय कर्म और ईश्वरीय ज्ञानसे वंचित होकर आज भूतलमें अधिकांश लोगोंने सच्चे धर्मको खोकर सम्प्रदायकी रचना की है। इस प्रकारके सम्प्रदायोंको हेय समझकर अपनी जातिमें शुद्ध धार्मिक सम्प्रदायोंकी सृष्टि करनी होगी। भारतकी मुक्ति और अभ्युत्थान इसीके लिये हुआ है। राष्ट्र-शक्तिके धर्मनिरपेक्ष न होनेपर भारतके सब धर्मोंको मर्यादा प्रदान करनेमें बाधा आती है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस देशमें सम्प्रदायका नाम-गन्ध नहीं रहेगा। भगवान् न करें कि कभी हमारी इस प्रकारकी दुर्बुद्धि हो!

हिंदू-जाति इन सारी बातोंको अपने हृदयमें अनुभव करती है। इसी कारण उसने अपौरुषेय वेदका आश्रय लेकर स्मृति और न्यायके विधानको नतमस्तक होकर स्वीकार किया है। हिंदू धर्मको जानना चाहता है, पर अपनी कपोल-कल्पित बुद्धिके द्वारा नहीं। जो धर्म श्रुतिविरुद्ध है, जो धर्म युक्तिमूलक नहीं है, जो धर्म अनुभूतिके द्वारा ग्राह्य नहीं है, हिंदू उसे स्वीकार नहीं करता। हिंदू धर्मके लिये ही खोजता है ब्रह्मनिष्ठ गुरुको; मन्त्रका आश्रय लेकर वह भावको मूर्त बनाता है प्रतिमामें। यह तत्त्व पल्लवग्राही बुद्धिसे अवधारण नहीं किया जा सकता; इसी कारण अतीत कालमें एक श्रेणीके लोगोंने परधर्मके प्रभावसे भारतीय धर्मके इस साधन-पर्यायको अस्वीकार करना चाहा था; किंतु भारतमें सनातनधर्मका अनुसरण करते हुए ही विष्णुयशकी जाति सब धर्मोंके माहात्म्यकी रक्षा करनेमें समर्थ होगी। वेद-प्रसिद्ध वैध और निषिद्ध आचारका अतिक्रमण करके भी अनन्य चित्तसे ईश्वर-स्मरण सम्भव है, इसे हिंदू-जातिने स्वीकार किया है।

भारतमें प्रचलित विधि-निषेधके मार्गके बाहर खड़ा होकर भी यदि कोई मनुष्य ईश्वरपरायण होता है, तो वह भी भगवान्‌का मनुष्य है। जो मेरा आचार है, वह तुम्हारा नहीं भी हो सकता है। यहाँतक कि 'जो अत्यन्त दुराचारी है, वह भी ईश्वरपरायण हो सकता है'— यह भी घोषणा कर रहा है गीताका मन्त्र (९।३०)। 'केवल असाम्प्रदायिक बनो, साम्प्रदायिकता मत रखो,' यह कहनेसे ही मौलिक सत्यकी प्रतिष्ठा नहीं होती। गीताके धर्मको हृदयके द्वारा ही ग्रहण और पालन करना होगा।

हम भारतकी हिंदू-जाति हैं। हमें प्राप्त हुआ है सनातन-धर्म—सार्वजनीन धर्म। हमारा धर्ममत शाश्वत है, उदार और विराट् है, इसमें सारे धर्मों और सम्प्रदायोंको स्थान है। ऐसा कोई खास आचार नहीं है, जिसका आश्रय न लेनेसे ईश्वरपरायण होनेमें बाधा पड़ती है। आचार-भेद हैं, इसी कारण सम्प्रदाय-भेद भी अनिवार्य है। इस बातको सबसे पहले भारतकी हिंदू-जातिने ही समझा था। केवल शास्त्र ही इसकी साक्षी नहीं देते। साधक रामप्रसादके गानमें भी हम देखते हैं—

'ओ रे मन, बलि भज काली, इच्छा हय तोर जे आचारे।'

अर्थात् 'हे मन! मैं कहता हूँ—तुम कालीको भजो; फिर चाहे तुम्हारी जिस किसी भी आचारमें रहनेकी इच्छा हो।'

आचारकी भिन्नतासे सम्प्रदायकी भिन्नता होगी ही; परंतु जिस आचारमें मनुष्य ईश्वरपरायण होता है, उसी आचारको भारतने स्वीकार कर लिया है। इसी स्वीकृतिके ऊपर असाम्प्रदायिक भारत राष्ट्रकी सुप्रतिष्ठा हो, यह मेरी कामना है।

गजोद्धारका दृश्य—देवगढ़ दशावतार-मन्दिर

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

शेषशायी विष्णु—देवगढ़ दशावतार-मन्दिर
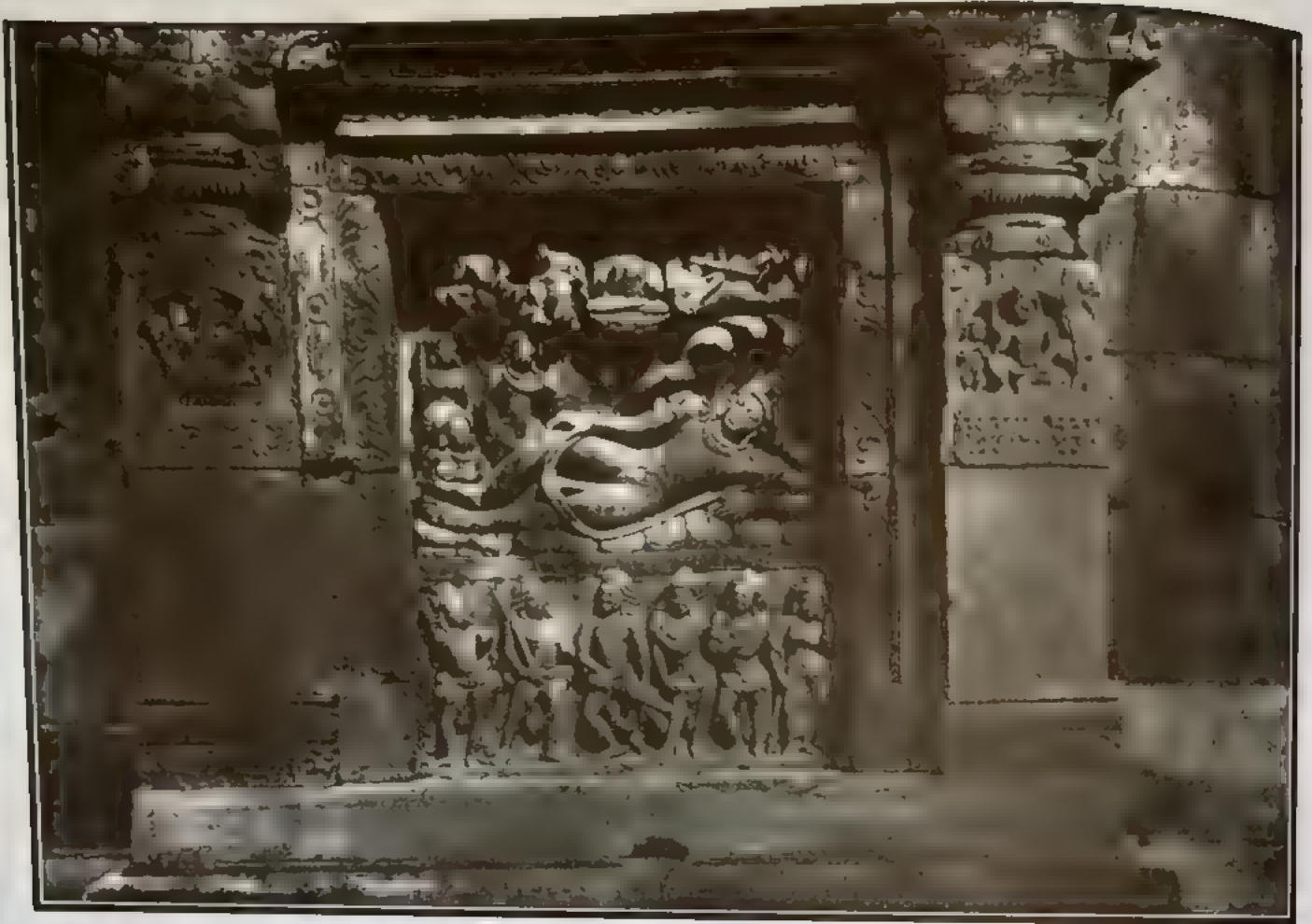
अहल्योद्धार—देवगढ़ दशावतार-मन्दिर

गुप्तकाल, लगभग ५ वीं शती]

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

हिंदू-संस्कृति और राष्ट्रियता

(लेखक—पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी)

संस्कृतिका स्वरूप—बहुसंख्यक जनता या जाति एक ही प्रकारके संस्कारोंसे परिप्लुत होती है। ये संस्कार ही उस समूहको एक 'जाति' का नाम और रूप देते हैं। वस्तुतः एक-जैसे संस्कारोंके मूर्तरूपको ही संस्कृति कहते हैं, जिसकी व्यंजना वेष, भाषा, आचार-व्यवहार तथा रीति-रिवाज आदिसे होती है। चूँकि ये संस्कार परम्परारूपसे आते हैं, इसलिये एक संस्कृति माननेवालोंके पुरखे कभी भिन्न हो ही नहीं सकते। भारतमें रहनेवाले लोग चाहे जिस मत-मजहबको मानते हों, संस्कृति सबकी एक है। बौद्ध हों या वैदिक, जैन हों चाहे वैष्णव, सिक्ख हों चाहे ब्रह्मसमाजी, श्रीराम और श्रीकृष्णको अपना पूर्वज सब मानते हैं; भले ही वे अपने उन पूर्वजोंके जीवन-वृत्तोंको अपने मत-मज़हबका रंग दें। इसलिये सब एक जातिके हैं, एक संस्कृतिके हैं। संस्कृति ही किसी जातिको दूसरी जातिसे पृथक् करती है और संस्कृति ही राष्ट्र बनाती है। सुसंस्कृत और सुशासित देशको राष्ट्र कहते हैं। एक देश या एक राष्ट्रकी जनता एक 'जाति' है। उस जातिका जो स्वरूप है—जातीयता, उसीको 'राष्ट्रियता' कहते हैं। राष्ट्रियता ही किसी राष्ट्रका जीवन है, जो संस्कृतिका नामान्तरभर है। जिस देशसे उसकी अपनी संस्कृति, जातीयता या राष्ट्रियता नष्ट कर दी जाय, वह (राष्ट्र) नष्ट हो जाता है। नष्ट होनेका मतलब यह कि उसकी आत्मा मर जाती है। 'राष्ट्र' के खोलमें दूसरे राष्ट्रकी आत्मा समा जाती है, उसका अपनापन नष्ट हो जाता है। वह निर्जीव हो जाता है। इसीलिये जब कोई धूर्त और प्रबल राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्रपर राजनैतिक विजय प्राप्त करता है, तो उस (विजय)-को स्थायित्व देनेके लिये उस (विजित) राष्ट्रकी राष्ट्रियताको, उसकी संस्कृति या जातीयताको नष्ट करनेका उद्योग करता है। वह विदेशी शासक विजित राष्ट्रकी भावनाको बदलना चाहता है। उसके चिर-प्ररूढ संस्कारोंको वह कुचलता है। संस्कृतिका उपहास करता है। किसी भी देशकी जन-भाषा पूर्णतः बदली नहीं जा सकती; भाषाकी आत्मा 'क्रिया-पद' कभी भी कोई बलात् बदल नहीं सकता। इन (क्रिया-पदों)-का तो पूर्ववर्ती भाषाओंसे विकास होता है। सो, विजेता जाति यहाँ परवश होती है। 'करता है,' 'पीता है' आदि क्रियाओंकी जगह फारसी या अरबी-अंग्रेजीकी क्रियाएँ नहीं चलायी जा सकतीं। सर्वनाम भी नहीं बदलते। यहाँ विवशता है। परंतु विजित राष्ट्रकी भाषामें विजेता विदेशी अपने देशके शब्द भरता है। अपनी लिपि भी वह विजित राष्ट्रपर थोपता है। वह विजित राष्ट्रकी भाषाको विकृत करके अपनी भाषाके शब्दोंसे भरकर अपनी ही लिपिमें लिखता है। राज्य-शक्तिके द्वारा इस तरह विजित राष्ट्रकी आत्माका हनन किया जाता है। इसी उद्योगका फल 'उर्दू जबान' है। अंग्रेजोंने भी 'रोमन' लिपिमें इस देशकी भाषा लिखनेकी प्रवृत्ति जाग्रत् की थी और फौजमें उसे 'रोमन हिंदुस्तानी' कहकर प्रचलित किया था। यह 'दूसरी उर्दू' समझिये, जो लश्कर (फौज)-में दूसरे विजेताके द्वारा चलायी गयी। संस्कृतिका मूल आधार भाषा है। सो, जन-भाषाको विकृत करके, उसमें विदेशी शब्दोंद्वारा विदेशी तत्त्व भरकर विजित राष्ट्रकी संस्कृतिका समूलोच्छेद करना विजेताका मुख्य काम है।

हमारे देशने विजेताओंके ये प्रहार दृढ़ताके साथ सहे हैं, परंतु अपनी संस्कृतिको छोड़ा नहीं। यही कारण है कि वह सदा इससे अनुप्राणित रहा, उसे बल मिलता रहा और उसका अपनापन नष्ट नहीं हुआ। राजनैतिक स्वातन्त्र्य लाभ करनेमें सांस्कृतिक चेतना मूल कारण है। सन् १८५७ का प्रथम स्वातन्त्र्य-समर मूलतः संस्कृतिसे जाग्रत् हुआ था। भारतने गौको माताके रूपमें देखा और माना है। यह राष्ट्रकी नींव है। हमारे ऋषियोंने बताया है कि यदि जीवन चाहते हो, तो गौमाताकी सेवा करो। इस (कृषक) देशका 'शिव' (कल्याण) एकमात्र वृषभपर है। यह भावना बद्धमूल होकर संस्काररूपसे हममें विद्यमान है। हम गौके लिये जान दे देते हैं—यह जानकर कि इसकी रक्षामें ही हमारी जातिकी रक्षा है। हम जिस रूपमें गौका सम्मान करते हैं, उसे देखकर मूर्खलोग हँसते हैं। परंतु वे नहीं समझते कि भावना भी कोई चीज होती है। तीन रंगोंके तीन कपड़ोंको जोड़कर बनाया गया तिरंगा झंडा क्या है? साधारण कपड़ा है। परंतु उसे हमने राष्ट्रियताका प्रतीक मान लिया है। इसकी प्रतिष्ठा राष्ट्रकी प्रतिष्ठा

और इसका अपमान राष्ट्रका अपमान समझा जाता है। इसीलिये, इस तिरंगे झंडेकी शान बनाये रखनेके लिये, आजतक लाखों भारतीय अपने प्राण दे चुके हैं। इसी बलिदानका फल है कि आज यह हमारी राष्ट्रियताका प्रतीक अपने सर्वोच्च स्थानपर गर्वके साथ फहरा रहा है।

इसी तरह इस राष्ट्रने गौको अपनी संस्कृतिका प्रतीक माना है। उसकी हत्याको हम राष्ट्रकी हत्या समझते हैं। जैन, वैष्णव, आर्यसमाजी आदि किसी भी मत-मज़हबका भारतीय इस प्रतीकका समान सम्मान करता है। इसकी रक्षाके लिये ही सन् १८५७ का वह तूफान उठा था। पर हम हार गये। जीतकर भी हार गये और फिर विदेशी शासनने हमें जबड़ोंमें कसकर दबा लिया।

फिर हमारे राष्ट्र-पितामह (लोकमान्य पं० बालगंगाधर तिलक)-ने जब राजनैतिक संघर्ष शुरू किया, तब उन्होंने भी उसे संस्कृति-मूलक ही रखा। जीवन ही संस्कृतिसे मिलता है। तिलकने महाराष्ट्रमें 'गणेश-उत्सव' तथा 'शिवजी-उत्सव' प्रवर्तित किये, जिससे जनतामें पुनः अपनी संस्कृतिके प्रति ममता जागे और उसके लिये एक प्रबल संघर्ष हो, जिसका फल राजनैतिक स्वातन्त्र्य है। राजनैतिक स्वातन्त्र्य प्राप्त होनेपर तो संस्कृतिकी रक्षा हो ही जाती है। तुर्किस्तानको जब अरब विजेताओंने दबाया, तो वहाँकी भाषा (तुर्की)-में अरबी भाषाके अनन्त शब्द भर गये, भर दिये गये। अरबवालोंने अपनी लिपि भी वहाँ जारी कर दी। सदियोंकी पराधीनतामें तुर्कलोग अपनी लिपि भूल गये; क्योंकि वहाँ ऐसा कोई राष्ट्रवादी दल था नहीं, जो सब कुछ सहकर भी अपनी लिपि आदिकी रक्षा करता। परंतु भाषाको कौन बदले? उसकी आत्मा (क्रिया, सर्वनाम आदि) कोई कैसे बदल सकता था? जब तुर्किस्तान स्वतन्त्र हुआ और मजहबके भूत (खिलाफत)-से उसकी जान छूटी, तो उसके तेजस्वी उद्धारक श्रीकमालपाशाने अपनी संस्कृतिका पुनरुद्धार किया; क्योंकि वही राष्ट्रकी आत्मा है। अपना पुराना आचार-व्यवहार चालू किया। अरब देशके जो रीति-रिवाज आ गये थे, सब हटाये। तुर्की भाषासे अरबी शब्द छाँट-छाँटकर अलग किये गये। कमालपाशाने अपने नामका एक अंश भी बदल लिया था। 'पाशा' अरबी भाषाका शब्द है; इसलिये उस महान् तुर्क-नेताने अपना नाम 'कमाल अतातुर्क' कर लिया था। अरबी भाषामें नमाज पढ़ना तथा 'अजान' देना गैरकानूनी कर दिया गया। कुरान भी तुर्की भाषामें पढ़नेकी आज्ञा हुई। यह सब इसलिये किया गया कि तुर्किस्तानकी मूढ़ जनता 'अहले अरब' के प्रति कहीं मानसिक निष्ठा (वफादारी) न ग्रहण कर ले। यदि तुर्कोंमें अरबी भाषा तथा रीति-रिवाज आदिके प्रति सम्मानकी वैसी ही भावना बनी रहती, तो निःसन्देह उस देश (अरब)-के प्रति उनका आकर्षण भी रहता और यह आकर्षण राष्ट्रियताका विघात करता। इसीलिये दूरदर्शी नेताने अपनी संस्कृतिका पुनरुद्धार किया। आज तुर्किस्तानकी गिनती संसारके प्रबल राष्ट्रोंमें है। हाँ, तुर्कलोगोंने अरबी लिपि भी त्याग दी। अपनी लिपि वे भूल ही चुके थे। फलतः रोमन लिपि स्वीकार की। परंतु अरबी लिपि न रखी; क्योंकि वह विजेता राष्ट्रद्वारा जबर्दस्ती लादी चीज थी, गुलामीका प्रतीक थी।

तिलकके बाद महात्मा गांधीने राष्ट्रके सूत्रधारका पद लिया, जो अन्ततः 'राष्ट्रपिता' के पदसे सम्मानित हुए। महात्माजीने भी राजनीतिको संस्कृतिसे प्रभावित किया, संस्कृतिके बलसे उसे बढ़ाया। वे सम्पूर्ण भारतीय संस्कृतिको 'रामराज्य' शब्दसे प्रकट करते थे। 'रामराज्य' ऐसा शब्द है, जो संस्कृतिकी व्याख्याकी अपेक्षा नहीं करता। इस शब्दने सन् १९२१-२४ के उस आन्दोलनमें जादूका काम किया, जिसने इस देशकी राजनीतिमें कांग्रेसकी जड़ें एक बार पातालतक पहुँचा दीं।

कहनेका तात्पर्य यह कि अपनी संस्कृतिसे राजनीतिको बल मिलता है और संस्कृतिको विकृत करनेसे या नष्ट करनेसे राष्ट्र मृत हो जाता है। चीनमें बौद्ध, शिन्तो तथा मुसलमान—ये तीन प्रधान मज़हब हैं। परंतु वे तीनों मज़हब एक चीनी जातिके हैं। जाति सबकी एक, संस्कृति या राष्ट्रियता सबकी एक। वहाँका बौद्ध भी 'चाङ् पूङ् नून' और शिन्तो भी 'पाङ् काङ् चाङ्' तथा मुसलमान भी 'चाङ् चू तैह!' वहाँ न तो बौद्ध 'शीलभद्र' है और न मुसलमान ही 'अल्लाबख्श' है। इसीलिये अखण्ड एकता है। वहाँ 'मज़हब नहीं सिखाता आपसमें वैर रखना!' परंतु हमारे यहाँ जहाँ हिंदू और बौद्ध ज्ञानचन्द और ज्ञानभिक्षु हैं, एक बहुत बड़ा समुदाय कुछ और है। वह अरब तथा ईरानकी संस्कृति मानता है, भारतकी नहीं। वस्तुतः वह सात सौ वर्षोंसे यहाँ रहता हुआ भी 'हिंद-प्रवासी' अरबी या ईरानी आदि है। वह अपना नाम अरबी

ढंगका रखेगा—अल्लाबख्श।' यदि उससे कहो कि भारतीय भाषामें अपना नाम 'ईश्वरदत्त' क्यों नहीं रखते तो वह बिगड़ खड़ा होगा और कहेगा कि हम अपना मज़हब छोड़ दें? उसे कौन समझाये कि 'ईश्वरदत्त' नाम रखनेसे मजहब न बिगड़ेगा? चीनी मुसलमानका मज़हब क्यों नहीं बिगड़ जाता?

सो, एक देशमें दो संस्कृतियाँ नहीं रह सकतीं। मज़हबके नामपर भारतमें अरब तथा ईरानकी संस्कृति पाली-पोसी गयी और उसीने देशके टुकड़े कराये, लाखों जन कटवाये तथा स्त्री-बच्चोंकी वह दुर्दशा करायी। यदि संस्कृति-भेद न होता तो वह सब न होता। मज़हब तो हिंदूजातिमें सैकड़ों-हजारों हैं; पर संस्कृति सबकी एक है। एक वैदिक ईश्वरवादीका मत मुसलमानसे अधिक मिलता है, जैन मतकी अपेक्षा। परंतु वैदिक हिंदू जैनसे बन्धुत्व रखता है और मुसलमानको 'पर' समझता है। क्यों? इसीलिये कि उसकी संस्कृति (भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि) भारतीय नहीं, विदेशी है; अरब या ईरान आदिका सब कुछ है। मानो भारतीय कलेवरोंमें अरब-ईरानकी आत्माएँ घूम रही हैं! तब हम उन्हें 'अपना' या 'भारतीय' कैसे समझें? यदि वे सचमुच भारतीय बन जायँ, तो हमारे भाई हैं, भारतीय हैं। मत-मजहबके बारेमें हिंदूजाति बड़ी उदार है। चाहे जो मज़हब मानो, चाहे न मानो। परंतु संस्कृति तो एक ही चाहिये न?

हिंदू-संस्कृति या भारतीय संस्कृति—अब प्रश्न यहाँ यह उठाया जायगा कि एक देशकी एक ही संस्कृति चाहिये, सो ठीक; पर वह कौन-सी संस्कृति हो? इस देशमें तो वैदिक या ब्राह्मण-संस्कृति, बौद्ध-संस्कृति, मुस्लिम-संस्कृति, सिक्ख-संस्कृति, न जाने कितनी संस्कृतियाँ हैं। इनमेंसे कौन-सी रखी जाय? किसे किस तरह मिटाया जाय? इसलिये, सबको मिलाकर एक नयी संस्कृति बनाओ, जिसे लोग 'इंडियन कलचर' कहने लगे हैं! इसी 'इंडियन कलचर' को देशी नाममें 'सर्वोदय समाज' भी कहा जाता है। इसपर हमें विचार करना है।

वस्तुतः ये सब वितण्डावाद हैं। किसी देशकी संस्कृति बनायी नहीं जाती, स्वतः बनती है। इस देशकी अपनी संस्कृति है, जिसे समस्त संसार जानता है। समय-समयपर विजेता लोग अपने साथ विदेशी संस्कृतियोंकी लहरें लाये, जो भारतीय संस्कृतिके महासागरमें लीन हो गयीं। एक ही जाति विजेताके रूपमें ऐसी आयी, जिसने अपनी संस्कृति छोड़ी नहीं और उसके फलस्वरूप एकके दो देश हुए। वहाँ उस वर्गको अपनी संस्कृतिके साथ रहनेकी स्वतन्त्रता है। शेष भारतमें तो अब एक ही संस्कृति रहेगी, जो इस देशकी अपनी संस्कृति है, जिसका नाम 'हिंदू-संस्कृति' है। हिंदू-राष्ट्रका आधार हिंदू-संस्कृति ही है। यदि यहाँ अब भी कोई दूसरी संस्कृति है, तो उसे इसीमें विलीन हो जाना होगा। यह (भारतीय संस्कृति) भारतमें ही किसी दूसरी संस्कृतिमें न मिलेगी। नदीमें नाले मिलते हैं, नालोंमें नदी मिलने नहीं जाती। वे नाले नदीके रूप-रंगको प्रभावित कर सकते हैं, पर इसके नाम-रूपको बदल नहीं सकते।

अब हम हिंदू-संस्कृति तथा भारतीय संस्कृतिके नाम-भेदपर विचार करेंगे। संस्कृति देश या जातिकी होती है, मत-मज़हबकी नहीं—यह पीछे कहा गया। इस देशमें हिंदू-संस्कृति तथा मुस्लिम-संस्कृतिकी बात बहुत दिनोंसे चल रही है, जो वस्तुतः 'भारतीय संस्कृति' तथा विदेशी (अरब या ईरान आदिकी) संस्कृति समझिये। यदि ऐसा नहीं है, तो जहाँ-जहाँ इस्लाम है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र एक ही संस्कृति होनी चाहिये। पर ऐसा है नहीं। चीनके मुसलमानकी चीनी संस्कृति है और अफगानिस्तानके मुसलमानकी अफगान-संस्कृति। कबायली पठान भी अपनी अलग संस्कृतिका गर्व रखता है। हाँ, परतन्त्र भारतमें मुसलमानोंने अरब तथा ईरानकी संस्कृति अपना ली थी। सो, भारतकी एक ही संस्कृति है, जो 'भारतीय संस्कृति' कहलाती है। भारतका नाम मुसलमानोंने 'हिंदुस्तान' रखा, यहाँकी जनताको 'हिंदू' कहा। तब यहाँकी संस्कृति भी 'हिंदू-संस्कृति' कहलाने लगी। यानी 'भारतीय संस्कृति' का ही दूसरा नाम 'हिंदू-संस्कृति' है।

'बौद्ध-संस्कृति' का भी ढिंढोरा पीटा जाता है। पाश्चात्त्य इतिहासकारोंने 'बौद्ध-संस्कृति' का राग अलापना शुरू किया। वस्तुतः 'बौद्ध दर्शन' है, 'बौद्ध मत' है; बौद्ध-संस्कृति-जैसी कोई चीज नहीं है। चीन, जापान, स्याम तथा लंका आदि देशोंकी जनता प्रायः बौद्ध है। इस दृष्टिसे इन सभी देशोंकी संस्कृति एक होनी चाहिये; परंतु ऐसा नहीं है। उन सभी बौद्ध देशोंकी संस्कृति पृथक्-पृथक् है। पृथक् जाति, पृथक् संस्कृति, जो पृथक् देश बनाती है। इसी तरह 'सिक्ख-संस्कृति'

की बात है। सिक्खोंका रहन-सहन, नाम-संस्कार, रीति-रिवाज आदि सब हिंदू-जातिके हैं। मज़हब अलग होनेसे संस्कृति अलग कैसे हो सकती है? कोई भी सिक्ख अपने लड़केका नाम 'रामसिंह', 'गंगासिंह' आदि न रखकर 'हुसेन-बख़्श' या 'खुदा शेर' आदि न रखेगा। सिक्ख भारतीय जातिके अंग हैं। उनकी संस्कृति पृथक् कैसे होगी?

वस्तुतः एक देश (भारत)-में इस तरह अनेक संस्कृतियोंकी कल्पना अंग्रेजोंने खड़ी की फूट डालनेके लिये। उन्हींसे 'मुस्लिम-संस्कृति' के नामपर देशद्रोहियोंको मदद मिली। दो संस्कृतियोंसे दो राष्ट्र! विभाजन हुआ! बिल्लीबाँटमें बन्दर मजे करता है।

संस्कृति और राजनीतिका अच्छेद्य सम्बन्ध है, यह हम कह चुके हैं। संस्कृतिसे राजनीति प्रभावित होती है। संस्कृतिके बलपर राजनीति चलती है। किसी भी देशकी राजनीतिमें शक्ति उन्हींके पास रहेगी, जो संस्कृतिको बल देंगे। जो लोग अपनी संस्कृति छोड़कर राजनीतिका महल खड़ा करेंगे, उनका वह महल नींवरहित होनेसे ढह जायगा। इसीलिये सदा विजेतालोग विजित राष्ट्रकी संस्कृतिको विकृत या नष्ट करनेका उद्योग करते हैं, जिससे वे चिरकालतक राज-सुख भोग सकें।

अरब तथा ईरान आदिकी संस्कृति यहाँ फैलानेका यही उद्देश्य था। उस अन्धकारके युगमें गोस्वामी तुलसीदास-जैसे संतोंकी वाणीने जातिको बड़ा बल दिया। जाति रामको अपनी संस्कृतिका आदर्श मानकर दृढ़ हुई। आदर्श सदा सामने रहे, इसलिये अभिवादनमें 'जय राम' चलाया गया। इसके उत्तरमें विदेशी शासकोंने उस समयके 'शिक्षित' जनोंमें अपने हाकिमोंद्वारा 'बंदगी' चलायी। अब भी गाँवोंमें 'मुंशीजी! बंदगी' आप सुन सकते हैं। परंतु मुंशीजीको 'बंदगी' करके भी आपसमें 'जय रामजीकी' ही रही। राजा मानसिंह आदि 'बंदगी' पक्षके थे और महाराणा प्रताप-जैसे लोग 'जय रामजी' वाले। फिर तो महाराष्ट्रमें 'जय-जय श्रीरघुवीर समर्थ' का नाद करनेवाले समर्थ गुरु रामदासने जादू भर दिया। रामकी जय हुई और बंदगीकी गंदगी उड़ गयी। 'जय रामजीकी' कहनेमें अपनी संस्कृतिकी मूर्ति सामने आ जाती है। इसे 'बंदगी' उड़ाने आयी थी। 'बंदगी' लेनेवाले विदेशी संस्कृतिमें डूबे हुए थे।

अंग्रेजी राज्यने अंग्रेजी भाषा तथा ईसाइयोंने प्रचारद्वारा हमारी संस्कृतिको उड़ाना चाहा। बहुत जोर लगाया गया; परंतु लोक-जागरणने उस बलको परास्त कर दिया।

फिर भी विदेशी चक्र घूमता रहा, अबतक घूम रहा है, यद्यपि वेग मन्दा पड़ता जा रहा है। दण्ड-भंग हो गया है। फिर भी, उधरके लोग हताश नहीं हुए हैं। नेताजीने सेनामें बिजली भरनेके लिये 'जय हिन्द' फौजी अभिवादन चालू किया था। उनकी फौजमें मुसलमान, ईसाई आदि सभी थे। उस सैनिक अभिवादनको उन लोगोंने नागरिक (सिविल) अभिवादनका रूप दे दिया, जिन्होंने नेताजीकी नीति कभी नहीं अपनायी और जिनका उनसे सदा 'मौलिक मतभेद' रहा। 'जय हिन्द' जारी होनेपर भी 'जय रामजी' की सर्वोपरि है। 'जय राम' में 'जय हिन्द' भी समाया हुआ है; पर 'जय हिन्द' में वह पितृ-भक्ति, वह भ्रातृ-वात्सल्य आदि कहाँ है? इसका मतलब यही कि देश अपनी चीज समझता है।

संस्कृति और राज्य—किसी राज्यका सम्बन्ध मत-मजहबसे न हो, इसीको धर्म-निरपेक्ष राज्य कहते हैं। परंतु कोई भी राज्य संस्कृति-शून्य होकर नहीं रह सकता। सांस्कृतिक आधारपर स्थित राज्य ही सुदृढ़, अजेय तथा सुख-समृद्धिसे पूर्ण हो सकता है। जिस देशका राजशासन अपने सांस्कृतिक महत्त्वकी उपेक्षा करेगा, अपनी संस्कृतिको सर्वोपरि महत्त्व न देगा, उसकी नींव बालूपर ही समझनी चाहिये। कारण, संसारकी और सब चीजें बदलती रहती हैं, पर किसी जातिके संस्कार या भावनाएँ कोई कैसे बदल सकता है? चतुर राजनीतिज्ञ इस बातको अच्छी तरह समझते हैं। यही कारण है कि मि० मुहम्मद अली जिन्नाने मुसलमानोंकी पृथक् संस्कृतिपर उतना जोर दिया था और उसीपर वे बराबर पचीस-तीस वर्षतक जोर देते रहे। यही (सांस्कृतिक पृथक्त्व) उनकी सफलताका और हमारी दुर्दशाका रहस्य है। दुःख तो इस बातका है कि यह बात हम अभीतक अच्छी तरह समझे नहीं हैं!

धर्म और संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी, काव्य-सांख्य-स्मृतितीर्थ)

धर्म और संस्कृति वास्तवमें एक ही वस्तुके दो नाम हैं। आजकल बहुधा कई चोटीके नेता एकाधिक बार यह कहते सुने गये हैं कि भारतमें धर्म अनेक रह सकते हैं पर संस्कृति एक ही रहेगी। और वह भारतीय संस्कृति होगी। हम नहीं समझते वे संस्कृतिका क्या अर्थ करते हैं; न कभी उन्होंने अबतक संस्कृतिकी कभी कोई अपनी खास व्याख्या ही जनताके सामने की है। उनके मनमें उसका क्या स्वरूप है, इसे वे ही जानते हैं। जनता अबतक उनके 'संस्कृति' शब्दके तात्पर्यावगाहनमें असमर्थ ही रही है और है।

वास्तवमें 'संस्कृति' शब्द ही आधुनिक विद्वानोंके माथेकी उपज है, सो शायद अंग्रेजीके 'कल्चर' (culture) शब्दका प्रतिनिधि है। भारतीय प्राचीन विद्वानोंने 'संस्कार' शब्दका प्रयोग अवश्य किया है जो कि संस्कृत-व्याकरणके अनुसार 'संस्कृति' शब्दका समानार्थक है। यदि इसी अर्थमें वे 'संस्कृति' शब्दको ग्रहण करते हों तो फिर किसीको कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

तब हमें भारतीय प्राचीन महर्षियोंकी एतद्विषयक विचारधारा समझनी होगी। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान्‌ने सृष्टि रचनेके पहले सृष्टिके प्राणियोंकी ऐहिक और आमुष्मिक उन्नतिका मूल तथा मोक्षप्राप्तिका साधनभूत त्रिकालाबाधित ज्ञानराशि वेद, जो भगवान्‌का श्वास-प्रश्वास है और जो नित्य है, प्रकट किया और उसके आधारपर जगत्‌की रचना पूर्वकल्पानुसार की।

सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

'भगवान्‌ने वेदशब्दोंके आधारपर जगत्‌की रचना की और उसके अन्तर्भूत विविध प्राणियोंका (देव, तिर्यक्, मनुष्य, पशु, पक्षी, अश्व, गौ, वृषभ आदि) नाम तथा पृथक्-पृथक् वर्णोंके कर्म एवं संस्था (लौकिकी व्यवस्था) निर्धारित की।' तात्पर्य यह कि भारतकी संस्कृति वेदमूलक है। वेदबाह्य जो संस्कृति (संस्कार) है, वह अभारतीय है। वेद धर्मका मूल है। वेदमूलक स्मृति, सदाचार ही धर्ममें प्रमाण हैं।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

'सम्पूर्ण धर्मका मूल वेद है। वेद जाननेवालोंकी स्मृति तथा शील (ब्रह्मण्यता, देव-पितृभक्ति, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयुता, मृदुता, अपारुष्य, मित्रता, प्रियवादिता, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्य और प्रशान्ति—यह तेरह प्रकारका शील) तथा वेदज्ञोंका आचार तथा वेदके वैकल्पिक विषयोंमें साधुओंकी आत्मतुष्टि ही धर्म है।' अर्थात् वेदमूलक स्मृति, पुराण, इतिहास आदि द्वारा प्रतिपादित सदाचार ही धर्म है; तद्विपरीत आधुनिक जितनी भी वेदबाह्य स्मृतियाँ तथा कल्पनाएँ हैं, वे निष्फल, मिथ्या तथा तमोमय एवं अकल्याणकारक हैं—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
ताः सर्वा निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥

(मनु०)

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥

(मनु०)

अर्वाचीन होनेके कारण वेदसे विपरीत जो शास्त्र हैं, वे उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। वे सब निष्फल हैं और मिथ्या हैं। इसलिये वेदको छोड़कर सन्मार्गदर्शक संसारमें अन्य कोई शास्त्र हो ही नहीं सकता। ये भारतीयोंके प्राचीन संस्कार हैं। वेदके अनुसार चार वर्ण, तीनों लोक, चार आश्रम—विशेष क्या, जो भी भूत, भविष्य, वर्तमान है, सब वेदसे ही सिद्ध होते हैं—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वार आश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥

यह सही है जब कोई कारीगर किसी मकानको बनाना चाहता है तो पहले उसके नामकी, पीछे स्थान तथा उसके उपयोगकी अपने मनमें कल्पना करता है। फिर उसको प्रत्यक्ष रूप देता है। यही नियम सृष्टिकर्ताके लिये भी लागू है। उसने अपनी सृष्टिके निर्माणकी इच्छा की (**स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय**)। फिर सबके नाम-रूप, जो त्रिकाल-नित्य वेदमें निहित थे, पूर्वकल्पके अनुसार प्रकट किये और सब प्रकारके प्राणियोंके हिंस्र, अहिंस्र, मृदु, क्रूर कर्म नियत किये।

प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव, जिसके जीवनका अन्तिम लक्ष्य परमात्मप्राप्ति है, उत्पन्न किया—

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद्यस्य सोऽदधात् सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्॥
लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥
सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥

मानवको अपने पूर्वकर्मानुसार चार वर्णोंमें विभक्त किया। सबके लिये मोक्षप्राप्तिके साधन अपने पृथक्-पृथक् कर्मका निर्देश किया, जिसको करते हुए—लोक-दृष्टिमें नीच-से-नीच कर्म करते हुए भी मनुष्य एक त्यागी, तपस्वी, संन्यासी, परमहंस महात्माकी तरह समान रूपसे मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं। यह है हिंदू-संस्कृति या भारतीय संस्कृति! भारतीय संस्कृति वेदमूलक धर्मके अनुसार आचरणके आधारपर बनी हुई है। इसमें स्त्री-पुरुष, भाई-बहिन, पिता-पुत्र, आचार्य-शिष्य, राजा-प्रजा और स्वामी-सेवक आदि विविध अधिकारियोंके विविध कर्म नियत हैं, जिनको परमात्माकी आज्ञा मानकर करता हुआ, परमात्माका स्मरण करता हुआ प्रत्येक अधिकारी निर्विशेषरूपसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है (**मामनुस्मर युध्य च**)।

इन्हीं कर्तव्योंके आधारपर बनी हुई भारतकी समस्त संस्कृति है। उसीके अनुसार मनुष्योंने जिस साहित्य, संगीत, दर्शन, कला, मनोरंजन, रहन-सहन और वेश-भूषाकी सृष्टि की है—जिसको आजकल विद्वान्‌ 'संस्कृति' कहते हैं—वही भारतीय संस्कृति है। लोग जो यह कहते हैं 'भारतमें एक ही संस्कृति रहेगी और रहनी चाहिये' सो उनकी यह बात तो समझमें आती है; परंतु साथ ही वे जो यह कहते हैं कि 'धर्म भले ही भिन्न-भिन्न हो'—यह समझमें नहीं आता; क्योंकि धर्म और संस्कृतिमें कोई मौलिक भेद देखनेमें नहीं आता। भारतमें जो विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय प्रचलित हैं—यहाँतक कि बौद्ध, जैन आदि वेद-विरोधी कहे जानेवाले धर्म या संस्कृतियाँ भी मूलतः वेदमूलक ही हैं। यह इनके आदि आचार्योंके चरित्रोंसे स्पष्ट हो जाता है। इसीलिये श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंमें उनको भगवान्‌का अवतार माना है। भला, कहीं वेदविरोधी कोई भगवान् कभी हो सकता है? भगवान् बुद्धके लिये शास्त्र कहता है—'**सम्मोहाय सुरद्विषाम्।**' भक्त जयदेव कहते हैं,—

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं
सदयहृदयदर्शितपशुघातम्।
केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे।

राक्षसी प्रवृत्तिके पुरुषोंकी यज्ञमें अश्रद्धा करानेके लिये भगवान् बुद्धको प्रयोजनवश वेदकी भी निन्दा करनी पड़ी। जैनियोंके आदिगुरु भगवान् ऋषभदेवके बारेमें श्रीमद्भागवतमें व्यासजी कहते हैं—

'**इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरितं पुंसां समस्तदुश्चरिताभिहरणम्। परममहामंगलायनमनुश्रद्धयोपचितयानुशृणोत्याश्रावयति वावहितो भगवति तस्मिन् वासुदेवे एकान्ततो भक्तिरनयोः समनुवर्तते।**'

जिनके चरित्रको सुनने एवं वर्णन करनेसे भगवान् वासुदेवमें वक्ता-श्रोताकी अविचल भक्ति होती है—जिन्हें ब्राह्मण, गौ और लोकका परम गुरु कहा गया है, जिनका चरित्रश्रवण समस्त पापोंका नाश करनेवाला माना गया है, वे क्या वेदविरोधी हो सकते हैं?

महाभारतमें कर्ण और शल्यका आपसमें कटाक्षपूर्ण संवाद पढ़नेसे यह ज्ञात होता है कि मद्र, गन्धार, बाह्लीक आदि देश जो सिन्धकी सीमासे सटे हुए हैं, वहाँके मनुष्योंमें आजसे पाँच हजार वर्ष पहले ही वर्ण-व्यवस्था ढीली पड़ चुकी थी।

महाराज मनु कहते हैं, 'धीरे-धीरे ब्राह्मणोंका संसर्ग छूट जानेसे ये क्षत्रिय जातियाँ वृषल, धर्महीन या दस्यु हो गयीं।'

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदा पल्हवाश्चीना किराता दरदाः खशाः॥
मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥

(मनु०)

'धीरे-धीरे क्रियाका लोप होनेसे, ब्राह्मणोंका संसर्ग छूट जानेसे ये सब क्षत्रिय जातियाँ वृषल तथा दस्यु बन गयीं। जैसे पौण्ड्र, ओड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, दरद, खश आदि चार वर्णोंसे रहित जो जाति हैं, वे चाहे म्लेच्छ भाषा-भाषी हों, चाहे आर्य भाषा-भाषी, सब दस्यु हैं।'

समस्त भूमण्डलमें यह आर्य व्यवस्था फैली हुई

थी, '**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**' वेदघोष था; परंतु शनैः-शनैः ब्राह्मणोंमें, जिनके ऊपर भगवान्की ओरसे आर्य-संस्कृतिकी रक्षाका भार समर्पित किया गया था, विद्या, त्याग और तपस्याका अभाव होता चला गया। इन गुणोंके अभावसे वे तेजशून्य हो गये। इसी कारण यह सभ्यता अन्य देशोंमें विलुप्त हो गयी। अब आर्यावर्तसे भी इसको बिदा करनेकी लोग तैयारी कर रहे हैं!!!

चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यधर्माः
सर्वे न स्युर्ब्राह्मणानां विनाशात्।

(महाभारत)

ब्राह्मण यदि धर्मपरायण होता है तो वह सभीको अपने-अपने धर्ममें परायण रहनेके लिये बाध्य कर देता है।

ब्राह्मणं तु स्वधर्मस्थं दृष्ट्वा बिभ्यति चेतरे।
स्वधर्मं चानुतिष्ठन्ति कृत्यं सर्वं च कुर्वते॥
नान्यथा क्षत्रियाद्यास्तु तस्माद्विप्रस्तपश्चरेत्॥

(शुक्रनीति)

ब्राह्मणेषु प्रमूढेषु धर्मो विप्रणशेद् ध्रुवम्।
धर्मप्रणाशे भूतानामभावः स्यादसंशयः॥

(महाभारत)

सारांश यह कि भारतकी संस्कृति वर्ण और आश्रम-मूलक है। इसकी रक्षाका भार ब्राह्मणों और क्षत्रियोंपर है। ब्राह्मण इसके प्रचारक और क्षत्रिय रक्षक हैं।

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा स्त्रष्टाभिरक्षिता॥

राजाके हाथमें समस्त मर्यादाओंका भार रहता है। उसका काम इस बातका निरीक्षण करना है कि कोई इस मर्यादाको नष्ट करके समाजमें कामचार, कामविहार तो नहीं फैलाना चाहता। यदि कोई फैलाता है तो वह उसको दण्ड देता है। रामराज्यकी दुहाई सब देते हैं, पर उसके आदर्शको नहीं ग्रहण करना चाहते। इस रामराज्यके संचालक वे ही मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम थे, जिन्होंने मर्यादा भंग करके तपस्या करनेवाले शूद्रको अपने हाथसे दण्ड देकर राजाओंकी मर्यादा-रक्षाका आदर्श प्रदर्शित किया था। आज भारतका राज्य उनके हाथोंमें है, जिनकी शिक्षा, दीक्षा, पालन-पोषण, आदर्श, इतिहास-ज्ञान और आचार-विचार भारतके आदर्शोंसे सर्वथा विपरीत हैं। वे अपने राज्याधिकारके बलपर इस आर्यावर्तको म्लेच्छ-देश बनानेमें उन्नतिका सुख-स्वप्न देख रहे हैं। विष्णुस्मृतिमें कहा है जिस देशमें वर्णाश्रम-विभाग नहीं, वह म्लेच्छ देश है; जिसमें वर्णाश्रम-विभाग है, वह आर्यावर्त है।

वर्णाश्रमविभागोऽयं यस्मिन् देशे न विद्यते।
स म्लेच्छदेशो विज्ञेय आर्यावर्तस्ततोऽन्तरः॥

क्या तीस कोटि आर्यसन्तानका यह देश उनके जीवित रहते ही म्लेच्छ देश बनाया जा सकता है? यदि नहीं, तो हमें एक स्वरसे यह तारस्वरमें घोषित करना होगा—

न वर्तितव्यं भवता कथञ्चन
देशे मदीये त्वमधर्मबन्धुः।
आर्यावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञै-
र्यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः॥

अर्थात् यह आर्यावर्त हमारा देश है; इसमें आर्य संस्कृतिका नाश करनेवाला अधर्मी कोई नहीं रह सकता। यहाँ यज्ञेश्वरभगवान्की वैदिक यज्ञोंसे पूजा की जाती है। भला, वहाँ खर-दूषणका क्या काम?

लेख-समाप्तिके पूर्व हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि यह आर्य-संस्कृति-प्रेम हमारा मूढाग्रह या अन्धपरम्परा-प्रेम नहीं है। इस संस्कृतिमें गूढ़तम रहस्य है, अपार आनन्द है। हजारों-लाखों वर्षोंसे जिसने अबाधगतिसे समाजका रक्षण-पालन-पोषण किया है, जिसे वीतराग, त्रिकालदर्शी ऋषियोंने राग-द्वेषशून्य बुद्धिसे समाजके हितार्थ निर्माण किया है, जिसके मधुर फल हम अनन्तकालसे चखते आ रहे हैं, उसको राग-द्वेष, भ्रम-प्रमाद, विप्रलिप्सादिदोषग्रसित बुद्धिवाले स्थूलदर्शी जीवोंके बहकावेमें आकर हम कभी नहीं छोड़ सकते।

भारतके विधानशास्त्री विधान बनानेको बैठे हैं। वे रूस, अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन आदिके विधानके आधारपर विधान बना रहे हैं। एक बार वे विधान बनानेके पहले याज्ञवल्क्यके इस विधानसूत्रपर ध्यान दे लेते तो आज भारतमें इतना असन्तोष दिखायी नहीं देता—

यस्मिन् देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदासौ वशमागतः॥

अर्थात् किसी देशपर राजा विजय करे तो उस देशमें जो आचार, व्यवहार, कुलकी स्थिति है, उसकी रक्षा करे। अपने देशके आचार, व्यवहार, कुलमर्यादा उसपर न लादे। भारतमें हजार वर्ष मुसलमान बादशाहोंने राज्य किया। जिन बादशाहोंने इस नियमको भंग किया, वे राज्य करनेमें असफल रहे। औरंगजेबने तो इस नियमका उल्लंघन करके मुस्लिम-राज्यका

उन्मूलन ही कर दिया। अंग्रेजोंके डेढ़ सौ वर्षके राज्यकालमें ऊपरसे इस नियमका पालन किया गया; परंतु उन्होंने अपनी शिक्षामें वह विष भर दिया, जिससे भारतीयोंका मस्तिष्क ही अपनी सभ्यता, संस्कृति, आचार, कुलमर्यादासे विमुख हो गया। यद्यपि उनकी संख्या अब भी अंगुलियोंपर गिनने लायक है, फिर भी वे अंग्रेजीदा हैं। अंग्रेजोंने उनके हाथोंमें शासनसत्ता सौंपी है। भारतका आज विदेशोंसे भी बहुत अधिक घनिष्ठ सम्पर्क हो गया है। अतः विदेशी-भाषाविद् नीतिशास्त्रोंके इन विद्वानोंकी एक विधानसभा निर्माण की गयी है, जो भारतका धर्मनिरपेक्ष अर्थनीतिमूलक विधान बनानेके लिये ही निर्माण की गयी थी। वह अब अपने अधिकार-क्षेत्रको छोड़कर धर्म-संस्कृतिमें भी मनमाना परिवर्तन करना चाहती है। यह नीति अत्यन्त भयावह है। इससे सुधारके बदले संहारका ही दृश्य उपस्थित होगा। हम इस बातको स्वीकार करते हैं कि हजारों वर्षोंकी पराधीनताके कारण सामाजिक व्यवस्थामें बहुत-सी कुरीतियोंने अपना घर कर लिया है। उनका सुधार अवश्य होना चाहिये; परंतु वह इसी विषयके विशेषज्ञ विद्वानोंद्वारा शास्त्रसम्मत तर्कके आधारपर ही हो, तभी समाजमें सुख-शान्ति-वैभवका प्रसार होगा। यही भारतीय संस्कृतिके पुनरुद्धारका सच्चा मार्ग है। इसके विपरीत जितने मार्ग हैं, वे कुपथ हैं, कुचिकित्सा हैं। संस्कृत भाषाका आबालवृद्ध सबमें प्रचार हो, भगवान्‌में अविचल भक्ति हो, लक्ष्मी और सरस्वती प्रत्येक भारतीयके घरमें विराजमान रहें; यही भारतकी उन्नति है, यही सच्ची भारतीयता है—यही सच्ची भारतीय संस्कृति है।

आबालाद्वदनाम्बुजे तनुभृतां सारस्वतं जृम्भतां
देवे कौस्तुभधाम्नि चन्द्रमुकुटेऽद्वैता मतिः खेलतु
वाग्देव्या सह मुक्तवैशसरसा देवी च दीव्यादियं
शेषस्येव फणाञ्चलेषु सततं लक्ष्मीः सतां सद्मसु॥

हिंदू-संस्कृति और धर्म

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

हिंदू सदासे धर्मप्राण समाज है। हिंदू-समाजका संगठन उस प्रकार अर्थको आधार मानकर नहीं हुआ है, जैसे पाश्चात्त्य समाजका। जैसे पाश्चात्त्य समाज अर्थपर अवलम्बित है, अपने प्रत्येक कार्यमें अर्थको प्रमुखता देता है, वैसे ही हिंदू-समाज धर्मपर अवलम्बित है। जीवनके प्रत्येक छोटे-बड़े कार्य यहाँ धर्मके आधारपर व्यवस्थित होते हैं। '**धारयतीति धर्मः।**' जो समाजका, व्यक्तिका धारण करे, वह धर्म है।* यह धर्मकी पहली परिभाषा है। जैसे अग्निका धर्म उष्णत्व है—उष्णता न हो तो अग्निकी सत्ता ही नहीं रह जायगी—ऐसे ही धर्म न हो तो हिंदूसमाजकी सत्ता ही नहीं रहेगी। धर्मपर ही यह संस्कृति अवलम्बित है। पाश्चात्त्य आलोचक जब अपनी ही भाँति हमारे समाजको भी अर्थपर अवलम्बित मान लेते हैं, तो उनके विश्लेषण भ्रमपूर्ण होने ही हैं। पाश्चात्त्य प्रणालीको आदर्श मानकर किया गया विश्लेषण अनर्गल कल्पनाओंमें मनुष्यको डालेगा ही।

धर्म ही मनुष्यको धारण करता है, यह बात आजके सुपठित भले न समझ सकें; परंतु यह तो प्रत्यक्ष है कि धर्मकी उपेक्षासे ही वर्तमान मनुष्य-समाजका पतन हुआ है। घूसखोरी, अनाचार, धूर्तता, चोरी, ठगी, हत्याएँ, विश्वासघात—ये सब कुकृत्य धर्मकी उपेक्षासे ही मनुष्यमें आये हैं और आते जा रहे हैं। विश्वमें विनाशकी ओर जानेकी प्रवृत्ति धर्मत्यागसे ही आयी है।

'**धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।**'

'धर्मका जो नाश करेगा, धर्म उसका विनाश कर देगा और जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।' यह प्राचीनतम सिद्धान्त जीवनमें प्रत्यक्ष है। आज बड़े गर्वसे कहा जाता है कि 'प्रगतिवाद मनुष्यको जिस प्रकार पूँजीपतियोंकी आर्थिक दासतासे मुक्त करना चाहता है, वैसे ही आसमानी शासक ईश्वरकी दासता और धर्मके बन्धनोंसे भी!' बड़ा अच्छा है—मनुष्यको दासताओंसे मुक्त होना ही चाहिये, पर फिर मनुष्य समाजकी ही दासता क्यों करे? समष्टिके स्वामी सर्वेश्वरकी दासतासे मुक्त होकर वह देश, जाति, राष्ट्रकी कल्पित दासतामें क्यों लगे? फिर वह परोपकार,

* 'धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।' (महाभारत)

संयम, त्याग, श्रम—यह सब करे ही क्यों?

आज 'दासतासे मुक्ति' यह शब्द बड़ा लुभावना लगता है; पर इसका अर्थ कितने लोग जानते हैं, यह कहना कठिन है। ईश्वर या धर्मने कभी आपसे कहा कि आप उनकी दासता करें? कभी उन्होंने आपको रोका कि आप अमुक कार्य न करें? उन्हें स्वीकार करके उनका अनुगमन करनेके लिये क्या आप सदासे स्वतन्त्र नहीं हैं? प्रश्न तो यह है कि 'मुक्ति' चाहिये किसलिये? बच्चेको माताकी गोदसे मुक्ति चाहिये लाल-लाल दीखते अंगारोंसे खेलनेके लिये, पागलको मुक्ति चाहिये शस्त्रसे आघात करनेके लिये और मनको संयमसे मुक्ति चाहिये क्रूरता, लोलुपता, कामुकताको प्रश्रय देनेके लिये। ऐसी ही मुक्ति अभीष्ट है?

प्राचीन समाजने कहा—'धर्मके अनुसार चलो। परमेश्वरके सम्मुख नम्र रहो, यह दासता कल्याणमय है। मनकी दासतासे मुक्ति पाओ। यही सच्ची मुक्ति है।' आधुनिक समाज कहता है—'धर्म और ईश्वरकी दासतासे मुक्ति पाओ। यह दुर्बलता है! नियमबन्धन व्यर्थ हैं। मनकी दासता स्वीकार करो। मन जैसा कहे, करो।' दासता तो एककी स्वीकार करनी ही है। धर्मके बन्धन सुख, शान्ति, सन्तोष देंगे; क्योंकि चंचलता, लोलुपता, संघर्षको वहाँ स्थान नहीं। मन-इन्द्रियोंकी दासता देगी शोक, चिन्ता, अशान्ति और संघर्ष; क्योंकि मन कभी तृप्त होता नहीं। विश्वमें सब मनमानी कर नहीं सकते। मनकी सब इच्छाएँ पूरी नहीं हो सकतीं और जब सबको मनचाही करनी है तो सबल दुर्बलोंका उत्पीड़न करेंगे ही। मनुष्यको यही विचार करना है कि वह कौन-सी दासता स्वीकार करेगा, धर्मकी मंगलमय अधीनता या मनकी पैशाचिक दासता?

'धर्मकी उपेक्षासे विनाश होता है' यह बात पारलौकिक दृष्टिसे आप मानें या न मानें, लौकिक दृष्टिसे ही यह प्रत्यक्ष है। रोगी, दुर्बल, दुःखी और अशान्त मानव क्या मृतप्राय नहीं है? क्या रोग, दुर्बलता, दुःख, अशान्ति—ये असंयमके ही परिणाम नहीं हैं? जहाँ भी, जितने अंशमें कोई व्यक्ति या समाज धर्मके किसी नियमकी उपेक्षा करता है, उतने अंशमें उसकी हानि होती है। उदाहरणके लिये एक व्यक्तिने चोरी या बलात् धन प्राप्त किया। देखनेमें वह धनी और सुखी हो गया, परंतु उसकी मानसिक शान्ति भंग हो गयी। वह मनकी दासतामें बद्ध हो गया। अब वह असंयमके मार्गपर जायगा और रोग, शोक आदि उसे सतायेंगे। जो जातियाँ या समूह अपने यहाँ हिंसादि तत्त्वोंको उत्तेजित करके, दूसरोंका स्वत्व अपहरण करके पुष्ट होती हैं, वे हिंसक तत्त्व स्वयं उनके विनाशक बन जाते हैं।

धर्मकी उपेक्षासे विनाशको समझ लेनेपर धर्मकी रक्षासे अपनी रक्षा होती है, यह समझना कठिन नहीं रह जाता। अपनी रक्षाका क्या अर्थ? मनुष्यका शरीर तो एक दिन नष्ट होगा ही। संसारके पदार्थ भी नष्ट होंगे। अपनी रक्षाका सच्चा अर्थ तो है मानसिक शान्ति, पवित्रता और दृढ़ताकी रक्षा। वैसे यह तो प्रत्यक्ष ही है कि धर्मकी रक्षासे, संयमसे स्वास्थ्य, बल आदिकी रक्षा होती है; किंतु ये गौण बातें हैं। इनमें अपवाद भी हो सकते हैं। दुष्ट व्यक्ति धार्मिककी सम्पत्तिको अपहरण कर सकते हैं और उसे आघात पहुँचा सकते हैं। इतनेपर भी जिसका मानसिक बल स्थिर है, वही रक्षित है। क्योंकि विनाशके जो कारण हैं—लोभ-कामादि, उनसे वह सुरक्षित है। जलसे सुरक्षाका यह अर्थ नहीं कि आप घरसे बाहर न निकलें; सुरक्षा ठीक तब जब भीगनेपर भी रुग्ण न हों। इसी प्रकार जो मानसिक दृढ़ता प्राप्त कर चुका है, वही सुरक्षित है। उसकी सुख-शान्ति अभंग है। यह सुरक्षा धर्मकी रक्षासे ही प्राप्त होती है।

आज विश्वमें राष्ट्र-धर्म, समाज-धर्म, मानव-धर्म आदि विभिन्न धर्मोंका उद्घोष किया जाता है; परंतु धर्म दस-बीस या सौ दो सौ नहीं हो सकते। अग्निका धर्म एक है—उष्णता, जलका धर्म है—रस; ऐसे ही मनुष्यका भी एक ही धर्म है। यह दूसरी बात है कि अग्निकी उष्णता जैसे गति, शक्ति और प्रकाशके रूपमें प्रकट होती है तथा उसकी आकृति तथा प्रभावमें देश, काल, पात्रके अनुसार विभिन्नता होती है, वैसे ही देश, काल, पात्रके अनुसार धर्मके भी स्वरूपमें भेद होता है। धर्मका मुख्य रूप क्या है? यह प्रश्न तब सहज ही उठता है। शास्त्रोंका कहना है कि प्राणिमात्रका प्रयत्न दुःखहीन शाश्वत सुख पानेके लिये है; अतएव दुःखहीन शाश्वत सुख पानेका भ्रान्तिहीन प्रयत्न ही वास्तविक धर्म है। वह है अन्तर्मुखता। जो प्रयत्न अन्तर्मुखताकी प्रेरणा दे, वह धर्म और जो बहिर्मुख करे, वह अधर्म—यह सार्वभौम सार्वकालिक धर्मकी परिभाषा है।

बहिर्मुखता मनुष्य और समाजको असंयमकी ओर, विनाशकी ओर ले जाती है और अन्तर्मुखता संयम तथा शान्तिकी ओर। मन भी एक भौतिक तत्त्व है, यह

सभी जानते हैं। जलको आप जितना छानेंगे, शुद्ध करने और ढक रखनेका प्रयत्न करेंगे, उतना ही वह स्वच्छ रहेगा। उसे खुला छोड़ देंगे तो विकृत हो जायगा और फिर हानिकारक होगा। समस्त पदार्थोंका यही नियम है। मन भी पदार्थ ही तो है। उसे खुला छोड़ेंगे तो विकृत होगा, हानि करेगा। ढककर रखेंगे, संयमित रखेंगे तो सुख-शान्ति देगा।

यदि अन्तर्मुखताका प्रयत्न ही धर्म है तो उससे व्यक्ति और समाजका धारण कैसे होगा? हिंदू-समाजके इतने कर्म-विस्तारका भी क्या अर्थ? अन्तर्मुखताका प्रयत्न और धारणाशक्ति—ये दो वस्तुएँ नहीं हैं। शरीर जड है। व्यक्तिमें जो चेतनता है, वह अन्तस्तलसे आती है। यह सभी जानते हैं कि जिस काममें जितनी एकाग्रता होती है, वह कार्य उतना ही भली प्रकार सम्पन्न होता है। शक्तिका स्रोत भीतर है। जो जितना ही अन्तर्मुख होगा, जितना ही एकाग्र हो सकेगा, वह उतनी ही शक्ति प्राप्त करेगा। इसी शक्तिपर उसका तथा समाजका जीवन निर्भर है। जिस समाजमें जितने अधिक अन्तर्मुख वृत्तिके पुरुष होंगे, वह समाज उनकी एकाग्रतामें प्राप्त सत्यसे उतना ही लाभान्वित होगा। उसे उतनी ही शक्ति प्राप्त होगी। वह उतना ही अधिक टिकाऊ बनेगा।

जीवनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। संसारमें भिन्न-भिन्न देशोंकी भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ हैं। मनुष्योंके पृथक्-पृथक् स्वभाव हैं। एक ही मनुष्यको जन्मसे मृत्युतक अनेक अवस्थाओंको पार करना पड़ता है। देश, काल, अवस्था, पात्र आदिके भेदसे आचार-शास्त्रका निर्माण होता है। जीवनके क्षेत्रमें एक ही प्रकारसे अन्तर्मुखताका प्रयत्न और मानसिक शक्तिकी सुरक्षा शक्य नहीं। पूजाके आसनपर जिस प्रकारका प्रयत्न शक्य है, वैसा ही प्रयत्न भोजनके आसनपर शक्य नहीं। कार्यक्षेत्रमें प्रयत्नोंके अनेक रूप हो जाते हैं। हिंदू-शास्त्रका समस्त आचार-विस्तार इसी भेदसे युक्त है। प्रत्येक समय, प्रत्येक कार्यमें अन्तर्मुखताका प्रयत्न बना रहे, मानसिक पवित्रता सुरक्षित रहे—इसके लिये इतने कर्मविस्तार हैं।

मनुष्य एक प्राणी है, अतः उसके धर्म अनेक नहीं हो सकते। विश्वमें दो या दस-पाँच धर्म हैं, यह एक भ्रान्ति ही है। विश्वके किसी धर्ममें ऐसा कोई मौलिक अन्तर नहीं, जिसके कारण उसे पृथक् धर्म कहा जा सके। अनादि सनातन धर्म ही मानव-धर्म है, यह बात अनादि कालसे इतिहासके छः या सात सहस्र वर्ष पूर्वतक विश्वमान्य थी। विश्वके शेष धर्म इन छः-सात सहस्र वर्षसे अधिक प्राचीन नहीं हैं। देश, काल, पात्रके अनुसार महापुरुषोंने धर्मके किसी विशेष अंगको कहीं प्रचलित किया और वही धर्म कहा जाने लगा। मानव-प्रकृति विश्वके पदार्थोंके समान ही विकारी है। मनुष्य बराबर आदर्शसे च्युत होता है और फिर आदर्शोंके नामपर अपने दम्भका प्रसार करता है। जब दम्भके द्वारा आदर्श आच्छन्न हो जाते हैं तो महापुरुष समाजको धर्मपर ले जानेके लिये दम्भका संशोधन करते हैं। ये संशोधन ही नूतन धर्म या सम्प्रदाय बन जाते हैं।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, त्याग आदि सार्वभौम धर्म हैं। किसी आचार्यने किसीपर बल दिया और किसी-ने किसी दूसरेपर। समाजकी तात्कालिक विकृतिको दूर करनेके लिये जिस साधनपर बल देना आवश्यक था, उन्होंने उसीको प्रमुखता दी। किसीने यह नहीं कहा कि वह नूतन धर्म चला रहे हैं। शाश्वत धर्मका उद्घाटन—पुनः-स्थापनकी घोषणा ही सब करते हैं। नवीन धर्म हो भी कैसे सकता है, जबकि मनुष्य प्राचीन प्राणी है। अग्निमें क्या कोई नवीन धर्म उत्पन्न कर सकता है? जो मनुष्यका स्रष्टा है, उसने उसे आदि कालसे ही उसका धर्म दिया है। जलका धर्म स्वादुपन जब विकृत हो जाता है; तब जलको शुद्ध करना पड़ता है। महापुरुषोंने मानवकी विकृतिको दूर करनेके प्रयत्न बार-बार किये हैं। इन सब प्रयत्नोंके परिणाम जिस स्वरूपको प्रकट करते हैं, वही वास्तविक धर्म है। इसीसे उसे सनातन धर्म कहते हैं। समस्त धर्म उसके किसी-न-किसी अंशसे ही पुष्ट होते हैं। उससे भिन्न कोई धर्म नहीं और न होना सम्भव है।

शास्त्रविहित कर्म ही धर्म

धर्मका स्वरूप व्यक्तिकी पात्रता, समय, स्थान, कार्यके अनुसार निश्चित होता है। जो कार्य एकके लिये विहित धर्म है, वही दूसरेके लिये अधर्म हो सकता है। जैसे शूद्रके लिये वेद-पाठ अधर्म है और ब्राह्मणके लिये वेद-त्याग। लौकिक दृष्टिसे जैसे एक ओषधि रोगीके लिये उपयोगी है और स्वस्थके लिये हानिकर। जल्लादके लिये निश्चित अपराधीको फाँसी देना उचित कर्म है और दूसरा यही कर्म करे तो प्राणदण्डका भागी होगा। एक व्यक्तिने अपराध किया, नियमतः उसे बेतोंका दण्ड मिलना है; पर यदि आप बेत मारेंगे तो

अपराधी होंगे। बेत मारना जिसका काम है, वही मारेगा और दण्डका निर्णय न्यायालय करेगा। इस प्रकार धर्ममें स्वधर्म और परधर्मका भेद होता है।

कौन-सा कर्म कब किसके लिये धर्म है, यह जाननेका साधन शास्त्र है। अतएव धर्मकी दूसरी परिभाषा है '**चोदनालक्षणो धर्मः**।' शास्त्रप्रेरित कर्म ही धर्म है। प्रत्येक समाज, प्रत्येक जाति, प्रत्येक पदार्थ अपने नियमोंपर चलकर ही रह सकता है। जो धर्मको नहीं मानते, वे भी समाजके लिये नियम तो बनाना ही चाहते हैं। ये प्रेरणात्मक नियम न हों तो समाजका धारण ही कैसे होगा। अतः धर्म—धारणा-शक्ति तो प्रेरणात्मक शक्ति ही है। प्रेरणा-नियम ही करणीय-अकरणीयका निर्णय कर सकते हैं।

'कुछ धर्म सार्वभौम धर्म हैं। उन्हींको नित्य धर्म कहना चाहिये।' इस प्रकार कुछ लोग अहिंसा, सत्यादिको ही धर्म कहना चाहते हैं। इसमें शास्त्रकी आवश्यकता उन्हें नहीं प्रतीत होती; परंतु ऐसे भी अवसर आते हैं, जब दो धर्मोंमेंसे एकको चुनना अनिवार्य हो जाता है। जैसे एक हिंसक किसी निरपराध दुर्बलका पीछा कर रहा है; दुर्बल कहीं छिप गया है। आप उसे जानते हैं और यदि आप कुछ नहीं बोलते तो भी उसके मारे जानेका भय है। रक्षा करने-जैसा बल आपमें है नहीं। ऐसी स्थितिमें दया या सत्यमेंसे एकको चुनना होगा।

कुछ धर्म सामान्य और कुछ विशेष होते हैं। जैसे दान सामान्य धर्म है; परंतु यदि कोई रोगी ऐसे पदार्थ आकर माँगे, जो उसे हानि करेंगे तो उस समय विशेष धर्म है उसे वह पदार्थ न देना। इसी प्रकार आततायीको क्षमा करना अहिंसा नहीं, कायरता है। वहाँ सामान्य धर्म अहिंसामें विशेष धर्म आ जाता है—आततायीको दण्ड देना।

जब भी मनुष्य अपनेको या दूसरेको पापमें लगाता है, बहिर्मुख करता है, वह अधर्म करता है। जो पापमें लगा है, पतनके पथपर है, उसे कठोरतासे भी रोक देना धर्म ही होता है। जब कोई अन्यायी दुर्बल, बालक, विप्र, गौ या नारीके साथ अत्याचार करता हो, उसे क्षमाके नामपर चुपचाप देखनेवाला अधर्म करेगा। उसे अपना प्राण देकर और आवश्यकता हो तो अन्यायीका प्राण लेकर भी दुष्कृत्यको रोकना चाहिये। इसमें अन्यायीका भी आत्मिक कल्याण निहित है।

जीवनमें ऐसे अवसर आते हैं, जब स्वधर्मके सामान्य नियमोंका पालन अशक्य हो जाता है। क्षुधार्त प्राणीसे हम आशा नहीं कर सकते कि वह प्राप्त कदन्नका त्याग करके सात्त्विक भोजनकी प्रतीक्षा करेगा। ऐसे आपत्तिकालके लिये विशेष धर्म होते हैं। सामान्य नियमोंमें एक सीमातक अपवाद स्वीकार करना पड़ता है। इन अपवादोंको आपद्धर्म कहते हैं।

स्वधर्म, परधर्म

धर्म प्रेरणा-लक्षण है। मनुष्य सामान्य पशु नहीं है। पशु तो अपने आहार-व्यवहारके नियम जन्मसे सीखे आता है। क्या भोजन करना चाहिये, क्या नहीं—यह पशुको बतलाना नहीं पड़ता। बंदरको पेड़पर चढ़ना या जलमें तैरना कोई सिखलाने नहीं जाता। पाचन-क्रियामें गड़बड़ होनेपर गायको उपवासका आदेश नहीं देना पड़ता। सन्तानोत्पादनका काल कब है, इसके लिये कुत्ते-बिल्लीको पोथे नहीं पढ़ने पड़ते। गधे-जैसे मूर्ख कहे जानेवाले पशु भी तम्बाकू नहीं चरेंगे। परंतु मनुष्य तो बिना सिखाये कोई बात सीखता ही नहीं। उसे अपने हानि-लाभका स्वतः कोई विचार नहीं। बच्चेको अभ्यास करानेपर वह अफीमची हो जायगा या नशेसे घृणा करनेवाला। ऐसी अबोध मनुष्य-जाति यदि आदिसे ही ईश्वरीय आदेशरूप शास्त्र न पाती तो नष्ट हो गयी होती। यह तर्क व्यर्थ है कि मनुष्य हानि उठाते-उठाते सीखता है। लड़के यदि मादक द्रव्य सेवन करने लगते हैं, तो दूसरोंके बतानेसे ही उन्हें हानिका ज्ञान होता है। स्वयं वे हानि नहीं समझ पाते। अतएव मनुष्यके लिये तो सम्यक् आदेश चाहिये। उसके पास पशुओंकी भाँति कोई सहज स्वभाव या धर्म नहीं है। उसका धर्म प्रेरणात्मक ही होगा। वह दूसरोंसे ही आदेश प्राप्त करेगा।

हिंदू-समाजने चार वर्ण और चार आश्रमोंमें अपनी व्यवस्था की है। यदि सूक्ष्म विचार करें तो मनुष्यका प्रत्येक समाज चार वर्णोंमें विभाजित है। अन्तर यही है कि इतर देशोंमें वर्ण स्थिर नहीं हैं, वर्णसंकर होता रहता है; पर यह सब मानते हैं कि योग्य शिक्षा-सुविधा पानेपर सैनिक कुलका व्यक्ति जितना दक्ष सैनिक हो सकता है, वैसा सैनिक दूसरा नहीं हो सकता। यही बात दूसरे व्यवसायोंके सम्बन्धमें भी है। वर्ण-व्यवस्था उन्नततम समाजकी व्यवस्था है, आजके उदार विचारक यह स्वीकार करने लगे हैं। यही बात आश्रम-व्यवस्थाकी है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ-जीवनकी उपयोगिता

सर्वविदित है और यदि मनुष्य परलोककी सत्यतामें विश्वास करता है तो उसे वानप्रस्थ और संन्यासकी महत्ता भी समझनेमें कठिनाई न होगी।

वर्णोंके भीतर भी जातियाँ हैं। व्यापार और सेवाके कार्योंमें अनेक भेद होनेसे वैश्य एवं शूद्रवर्णोंमें बहुत-सी जातियाँ हैं। इन जातियोंकी महत्ता भी वर्णके समान ही है। प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक आश्रम और प्रत्येक जातिके कर्म शास्त्रोंमें निश्चित हैं। किस अवसरपर क्या करना चाहिये, यह भी वहाँ आदेश है। इन आदेशोंका पालन करना ही धर्म है।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

अपने धर्ममें दोष भी जान पड़े तो अपने लिये वही लाभप्रद है। दूसरेका धर्म भयप्रद है। यदि नापित यज्ञ कराने लगे तो स्वर, मात्रा एवं विधिका दोष करके वह अपना और यजमानका भी अकल्याण करेगा। इसी प्रकार ब्राह्मण बाल बनाने लगे तो वह किसीको छूरेके घाव करके पिटेगा। यदि मान भी लें कि दीर्घकालीन अभ्याससे दोनों पटु हो सकते हैं, तो लाभ? समाजको तो शिक्षक और भंगी दोनोंकी आवश्यकता है। भंगीका बालक जिस सरलता, शीघ्रता और सफलतासे पिताके कार्य सीख सकता है, उसी सरलतासे शिक्षकके काम कैसे सीखेगा? श्रम, रुचि और समय—इन सबकी उपेक्षा करके वह अपना और समाजका कौन-सा कल्याण करेगा?

हिंदू-धर्म सांसारिक सफलताको महत्त्व ही नहीं देता। हम अपने वर्णाश्रम-धर्मका इसलिये पालन नहीं करते कि उससे हमें सांसारिक सुख और सम्मान प्राप्त होगा। यहाँ तो कार्यमात्र अन्तर्मुखताका प्रयत्न है—धर्म है। प्रत्येक कार्य आत्मोन्नतिके लिये किया जाता है और साधनके क्षेत्रमें अधिकार-निर्णय प्रथम कार्य है। अधिकारके विपरीत साधनमें केवल श्रम ही नहीं होता, हानिकी भी सम्भावना रहती है। साधन-क्षेत्रमें अधिकार-निर्णय गुरु या शास्त्र ही करते हैं। जिस संस्कृतिमें कार्यमात्र साधन हैं, वहाँ जिसके लिये जो कार्य निश्चित हैं, उनका पालन अनिवार्य होना ही चाहिये। स्वधर्म-पालनसे कल्याण और उसको त्यागकर दूसरेके धर्मका ग्रहण करनेसे हानि निश्चय ही वहाँ एक वैज्ञानिक सत्य है। यह तो युगका प्रभाव है कि आज सारी जातियों और वर्णोंको एक किया जा रहा है!

एक ओर कहा जाता है कि कार्य कोई छोटा-बड़ा नहीं है। किसी कार्यको करनेसे कोई हीन या श्रेष्ठ नहीं होता। दूसरी ओर वर्गविशेषको उसके कार्यसे पृथक् होनेको प्रेरित किया जाता है। जो जातियाँ अपने काम सुचारुरूपसे कर रही हैं, उन्हें दूसरी जातियोंके कर्म अपनानेको कहा जा रहा है। यदि शूद्र-जातियाँ सेवा-कार्य छोड़ देंगी, तो भी वे कार्य तो किसीको करने ही पड़ेंगे। चमार जूतेका व्यवसाय छोड़कर क्लर्कीके लिये भटकें और ब्राह्मण शू-फैक्टरी खोलें, इसमें किसीका भी क्या हित है—यह बुद्धिमें आने-जैसी बात नहीं है। समाजकी व्यवस्था तो तभी रहती है, जब सब जातियाँ अपने-अपने स्थानपर व्यवस्थित रहें। इस व्यवस्थाके भंग होनेपर अशान्ति और संघर्ष होता है। यदि समाजमें अशान्ति होगी तो व्यक्ति कैसे शान्तिसे रह पायेगा?

सामान्य धर्म, विशेष धर्म

जितनी अव्यवस्था स्वधर्म और परधर्मके एकीकरणसे होती है, उतनी ही सामान्य धर्म और विशेष धर्मके एकीकरणसे भी। यह सब जानते हैं कि हिंसा अधर्म है; परंतु प्लेग फैलनेके समय चूहोंको मारना पड़ता है। यह हिंसा एक विशेष धर्म होगी। इससे भी सरलतासे समझा जा सकता है चिकित्सकका विशेष धर्म, जब वह किसी रोगीके विकृत घावमें स्वस्थ व्यक्तिके शरीरका भाग काटकर लगा देता है। अब यदि इन विशेष धर्मोंको सामान्य धर्म मान लिया जाय और चूहे नित्य ही मारे जायँ या प्रत्येक घावपर स्वस्थ व्यक्तिके अंग ही काटकर चिकित्सक लगाये तो यह पागलपन ही होगा।

आजके अन्वेषक शास्त्रोंके सामान्य धर्मसे तो नेत्र बंद कर लेते हैं और विशेष धर्मोंको उस समयका सामान्य धर्म मानकर पृथ्वी-आकाश एक करने-जैसी कल्पनाएँ उपस्थित करते हैं। यज्ञोंके 'आलभन' कृत्यको पशुहिंसा और मांसभक्षणकी प्रथाएँ बताया जाता है, जबकि 'आलभन' का अर्थ केवल प्रोक्षण ही है। इसी प्रकार कुछ राजकन्याओंके विवाहोंको लेकर प्राचीन विवाहकी मर्यादा निश्चित की जाती है और कहा जाता है कि 'उस समय बड़ी अवस्थामें कन्याका विवाह होता था। स्वयंवर, आहरण आदि प्रथाएँ थीं। जातिबन्धन नहीं था।' यह सब कल्पना यह मानकर की जाती है कि राजा भी सामान्य पुरुष है और उसे भी एक साधारण नागरिक-जैसा ही रहना चाहिये। पर ऐसी बात नहीं है। देशका हित, सम्मान आदि सब शासनके

जिस प्रधान पुरुषपर अवलम्बित हैं, उसको सामान्य नागरिककी अपेक्षा विशेष अधिकार और सुविधाएँ देना आवश्यक हो जाता है।

समाजमें राजाके अतिरिक्त भी विशेष पुरुष होते हैं। प्रत्येक व्यक्तिके जीवनमें विशेष अवसर आते हैं। ऐसे व्यक्तियों या अवसरोंके लिये विशेष धर्म होते हैं। ये विशेष धर्म उस व्यक्ति या अवसरतक ही सीमित रहते हैं। प्राचीन परम्पराका अन्वेषण करते समय यदि विशेष धर्मका ध्यान छोड़ दिया जायगा तो समस्त आधार भ्रममें पड़ जायगा। स्मृतियों और शास्त्रोंमें सामान्य धर्मके साथ विशेष धर्मोंका भी वर्णन है। विशेष धर्म अनिश्चित नहीं है। धर्मका निर्णय घटनाएँ नहीं, नियम करते हैं। अतः घटनाओंको नियमोंसे मिलाकर ही उनका औचित्य देखना ठीक पद्धति है।

आपद्धर्म

यों तो आपत्ति भी एक विशेष स्थिति है और उस समय विवशतावश सामान्य धर्ममें जो अपवाद स्वीकार किया जाता है, वह भी एक प्रकारका विशेष धर्म ही है; परंतु विशेष धर्म और आपद्धर्ममें एक मौलिक भेद भी है। जिस विशेष व्यक्ति या विशेष अवसरके लिये जो विशेष धर्म शास्त्र-विहित है, उस समय उसीका पालन धर्म है। उस विशेष धर्मका पालन न करके सामान्य धर्मका पालन उस व्यक्तिके लिये या उस अवसरपर अधर्म होगा। आपद्धर्ममें ऐसी कोई बात नहीं है। आपत्तिकालमें सामान्य धर्मपर दृढ़ रहना और आपद्धर्मका आश्रय न लेना महत्ता है, त्याग है। आपद्धर्मका आश्रय आपत्ति-कालमें करनेपर सामान्य धर्ममें जो अपवाद स्वीकार किया गया, उसका दोष नहीं होगा। उदाहरणके लिये रघुवंशकी घटना ले लीजिये। महर्षि वसिष्ठकी नन्दिनी गौको सिंहने वनमें आक्रान्त कर लिया। महाराज दिलीपने, जो उस गौकी रक्षामें थे, गौको बचानेके लिये त्रोणसे बाण निकालना चाहा; परंतु हाथ त्रोणमें चिपक गया। महाराज विवश हो गये। अब यदि महाराज गुरुके पास लौट आते तो गो-रक्षा न करनेके पापके भागी नहीं थे; परंतु महाराजने अपना शरीर देकर गो-रक्षा करनी चाही, यह उनकी महत्ता थी।

आपद्धर्म केवल आपत्ति-कालतकके लिये होता है और वह भी उतने अंशमें, जितने अंशमें आपत्ति हो। मरणासन्न रोगीको वैद्यने लहसुन दे दिया तो अच्छे होनेपर भी लहसुन उसका खाद्य नहीं हो गया। उपनिषद्में एक ऋषिकी कथा है अकालसे पीड़ित होकर दीर्घकालके उपवासके अनन्तर उन्होंने एक शूद्रको उड़द खाते देखा। बहुत माँगने और समझानेपर शूद्रने उनको जूठे उड़द दे दिये। उड़द खानेके बाद शूद्रने जल भी देना चाहा। ऋषिने अस्वीकार किया और बतलाया कि 'मेरे प्राण क्षुधाके कारण जानेवाले थे। मैं इन उड़दोंसे शरीर-रक्षा करके अब धर्माचरणकी इच्छा करता हूँ। ये उड़द मैंने आपत्तिके कारण स्वीकार किये हैं। जल तो जाकर निर्झरोंमें पी लूँगा। तुम्हारे स्पर्शसे प्राप्त जल लेनेसे मैं धर्मभ्रष्ट होऊँगा।' आपद्धर्मके सम्बन्धमें यह उदाहरण अत्यन्त स्पष्ट है। साथ ही प्राचीन परम्पराओंके अन्वेषकोंको यह भी अपने अन्वेषणमें देख लेना चाहिये कि कहीं वे आपद्धर्मको ही सामान्य धर्म तो नहीं मान बैठे हैं।

धर्मका आधार

धर्म भावरूप और क्रियारूप दो प्रकारकी महत्ता रखता है। मुख्यतः धर्मका उद्देश्य अन्तर्मुख करना है, अतएव उसका आधार भाव ही होता है। भगवान्ने उद्धवजीको उपदेश करते हुए बताया है—

क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद् दोषोऽपि विधिना गुणः।
गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते॥

(श्रीमद्भा० ११।२१।१६)

'कहीं गुण (धर्म) भी विशेष अवस्थामें दोष हो जाता है और दोष भी विधान होनेके कारण गुण (विशेष धर्म) हो जाता है। ये गुण और दोषके नियम उन्हींको बाधा देते हैं, जो उनको जानते हैं।' जो नहीं जानते—जैसे बालक, पागल आदि, वे दोषके भागी नहीं होते।

यह बात ठीक है कि बहुत-से धर्म वस्तुके आश्रित रहते हैं और वे क्रियामात्रसे फल देते हैं। भगवन्नामोच्चारणादि उत्तम कर्म और गोहिंसादि अधर्म ऐसे ही कर्म हैं, परंतु सामान्यतया भाव इन कर्मोंके फलको भी बढ़ा देता है। विधि एवं फलको जानकर भावपूर्वक किये गये धर्म-कार्य ही पूर्ण परिणाम प्रकट करते हैं। हिंदू-शास्त्र क्रियाकी अपेक्षा उपयोग और भावको महत्त्व देता है। बिना इस बातको समझे न तो निष्काम कर्मका रहस्य समझमें आता है और न अनेक शास्त्रीय कृत्योंकी उपयोगिता और पवित्रता ही।

शस्त्रेण रक्षिते देशे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते।

—क्षात्र-धर्मका यह उपदेश अनेक बार मनुष्यकी समझमें नहीं आया। अनेक बार पूरे समाजके लिये

शस्त्रत्यागके प्रयोग हुए। अहिंसाको उसकी सीमासे विस्तृत करनेका प्रयास हुआ। जिन महत्तम पुरुषों और अवतारोंने शस्त्रद्वारा मर्यादा-रक्षा की, उन्हें अपूर्णतक कहनेकी धृष्टता की गयी; परंतु प्रत्येक बार ये प्रयोग बुरी तरह असफल हुए। ईसाई-धर्मके अनुयायी परमाणु बम बना और डाल रहे हैं। बौद्ध-धर्मके माननेवाले चीन और जापानकी हिंसाएँ छिपी नहीं हैं। अपने प्रभुत्वकालमें जैन शासकोंने जो कुछ किया है, गुजरात-काठियावाड़का इतिहास उसका साक्षी है। महात्मा गान्धीजीकी अहिंसापर हमारी सरकार जिस प्रकार चल रही है या चलना चाहती है, उसके सम्बन्धमें किसीको कुछ बताना नहीं है।

प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक व्यक्ति एक ही रुचि, एक ही प्रवृत्तिका हो जायगा—यह दुराशामात्र है। यदि गुण-साम्य हो जाय तो विश्वमें प्रलय हो जायगी। क्रिया होती ही वैषम्यमें है। जब सर्वत्र प्रकृतिमें विषमता है, तब एक ही आधार सबका संचालन नहीं कर सकता। सबको उनकी प्रकृतिके अनुरूप चलानेकी व्यवस्था करनी होगी। जहाँ जो भी धर्म अपनी सीमासे विस्तृत होना चाहेगा, वह या तो उस व्यक्तिके लिये निष्क्रियता (मोक्ष) प्रदान करेगा या विकृत हो जायगा। क्रियाकी व्यवस्था वहाँ नहीं रहेगी।

भोजन और व्यायाम अच्छी वस्तु हैं, पर सीमासे अधिक हों तो? अग्निमें उष्णत्व बढ़ता ही जाय तो क्या होगा? सब पदार्थ उसमें जल जायँगे या अग्निकी प्रतिक्रिया-रूप वृष्टि होगी और अग्नि बुझ जायगी। इसी प्रकार जैसे अग्निके धर्ममें प्रतिक्रिया या विनाश है, वैसे ही सभी धर्मोंमें है। एक धर्मको अपनी पराकाष्ठापर एक व्यक्ति पहुँचा दे तो उसका कर्माशय नष्ट हो जायगा। वह मुक्त हो जायगा। यदि उसे वह विश्वमें सीमातीत करना चाहे तो प्रतिक्रिया होगी। अहिंसा ही विश्वमें व्यापक हो तो क्या होगा? कदाचित् प्राणिमात्रको भोजन और श्वासका रोध करना पड़ेगा। सबमें हिंसा है। रोगाणुओंको मारना स्वीकार करना और दुष्टोंको दण्ड देना अस्वीकार करना—ये परस्परविरोधी बातें हैं। ऐसी अहिंसा विकृत होती है। उसकी प्रतिक्रिया होती है।

मनुष्य-समाज किस प्रकार अन्तर्मुख हो, किस प्रकारके प्रयत्न उसे अन्तर्मुख करेंगे, इस प्रयत्नकी विरोधी वृत्तियाँ कैसे क्षीण होंगी—धर्मका यही लक्ष्य है। जिस प्रकार क्रियामें ये भेद आवश्यक हैं, वैसी ही बात पदार्थोंकी है। अनेक पदार्थ हैं, जो धार्मिक कृत्योंके समय उपयोगमें आते हैं—मृगचर्म, व्याघ्रचर्म, कस्तूरी, चामर आदि। इनकी पवित्रतामें सन्देह वैसा ही है, जैसे क्षात्र-धर्मको हिंसा बताकर तिरस्कृत करना। आखेटका आज दुरुपयोग हुआ है, यह बात ठीक है; लेकिन दुरुपयोग तो आजका समाज सबका करता है। आखेट क्षत्रियोंके लिये आवश्यक कर्म है। सबसे प्रधान बात है उपयोग। आजका समाज भी मानता है कि यदि किसीकी सामान्य हानिसे, थोड़े कष्टसे दूसरोंका अत्यधिक लाभ हो तो वह हानि या कष्ट क्षम्य है। शास्त्र कहते हैं कि एक अन्तर्मुख, पूर्ण पुरुष पूरे विश्वको सात्त्विकताकी प्रेरणा और शक्ति देता है। ऐसे दिव्य पुरुषत्वका निर्माण जिस प्रकारसे हो सके, उसमें छोटी-मोटी हानियोंकी गणना नहीं की जा सकती। ध्यान, मानसिक एकाग्रता किस पदार्थके प्रभावसे कितनी प्राप्त होती है—यह जानना आजके यन्त्रोंकी शक्तिके बाहरकी बात है; परंतु जिन ऋषियोंने अन्तर्मुखताको ही प्रधान लक्ष्य माना, उनके सम्मुख यह रहस्य नहीं था। उन्होंने उन पदार्थोंको उन अवसरोंपर पवित्र बताया, जो पदार्थ जिन अवसरोंपर मनको एकाग्र करनेकी प्रेरणा देते हैं। ऐसे पदार्थ यदि उचित हिंसासे प्राप्त होते हैं तो वे अपवित्र नहीं हो सकते। क्षत्रिय नरेशोंका आखेट औचित्यकी सीमाको पार न करे, इसके लिये भी अत्यन्त कठोर आदेश शास्त्रोंमें हैं।

धर्मका प्राप्य

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जिससे लौकिक उन्नति तथा पारलौकिक कल्याणकी प्राप्ति हो, वह धर्म है। यह धर्मकी तीसरी परिभाषा है। तीनों परिभाषाएँ अभिन्न हैं। जो धारण करे—केवल इस लोकमें ही नहीं, परलोकमें भी,—जो दोनों लोकोंमें उन्नति करे, वह धर्म है और शास्त्रद्वारा ही वह जाना जाता है। यही तीनों परिभाषाओंका तात्पर्य है।

धर्मसे ही लोक और समाजका धारण होता है। अनुशासनहीन समाज या व्यक्ति पतनके गर्तमें गिरेगा ही। अतएव धर्मसे ही अभ्युदय होता है, यह बात व्याख्याकी आवश्यकता नहीं रखती। हमारे सत्कर्म ही प्रारब्ध बनते हैं और वही दूसरे जन्मके ऐश्वर्य, वैभव, सुखके कारण हैं—यह आस्तिकजन मानते हैं। जो पुनर्जन्म नहीं मानते, वे भी मानते हैं कि समाजके

कल्याणके लिये सत्य, दया, त्याग, परोपकारादि धर्म आवश्यक हैं। जिस समाजमें ये न होंगे, वह समाज निश्चय कलहपूर्ण रहेगा और नष्ट होगा। उसका अभ्युदय सम्भव नहीं।

निःश्रेयसके सम्बन्धमें धर्मको कारण माननेसे पूर्व निःश्रेयसका स्वरूप समझ लेना चाहिये। निःश्रेयसका अर्थ है आत्यन्तिक कल्याण—ऐसी स्थितिकी प्राप्ति जिसमें दुःख, शोकादि अकल्याणके भाव कहीं आयें ही नहीं। पदार्थोंके द्वारा क्या यह स्थिति सम्भव है? विश्वके भोगोंमें तो क्षय, अनपेक्षितकी प्राप्ति और विकार रहेंगे ही। ये न भी हों तो विषयोंसे सन्तोष कहाँ होता है। असन्तोष, चंचलता, अशान्ति वहाँ लगे ही रहेंगे। आत्यन्तिक कल्याण है आवश्यकतापर विजय प्राप्त कर लेनेमें—ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेनेमें, जहाँ कभी कोई आवश्यकता ही न हो।

आवश्यकता शरीरको होती है और सुख-दुःख मनको होता है। यदि शरीरको पृथक् करके देखें तो किसीको कोई आवश्यकता नहीं। सुषुप्तिमें भिक्षुक और सम्राट् एक-सी स्थितिमें रहते हैं। अतः शरीरसे छुटकारा मिल जाय तो आवश्यकता न होगी; परंतु स्वप्न-जैसा छुटकारा नहीं। स्वप्नमें भी सुख-दुःख होते हैं। यह इसलिये कि स्वप्नमें देहकी आवश्यकताकी प्रतीति रहती है। देहकी आवश्यकताकी प्रतीति भी न रहे, तब निःश्रेयस-सिद्धि हो। इसीको मोक्ष कहते हैं।

देहकी प्राप्ति क्यों होती है? इच्छाओंसे, कर्मसे। इन इच्छाओंका उपशम, कर्मका असंसर्ग ही देहकी प्राप्तिसे बचा सकता है। धर्मकी गति अन्तर्मुख है। बाह्य प्रवृत्तिके निरोध, इच्छाओंकी समाप्तिके लिये ही धर्म-विधान है। अतः निःश्रेयसकी सिद्धि धर्मके द्वारा होती है। धर्मके आचरणसे भोगवृत्तिका नाश होता है, हृदयकी शुद्धि होती है। इस क्रमसे कर्मोंमें असंगताकी प्राप्ति होती है। जहाँ कर्मोंमें असंगताकी सिद्धि हुई, मोक्ष स्वतःसिद्ध है।

कर्मोंमें असंगताका अर्थ कर्म-त्याग समझना एक भ्रम है। धर्म ऐसे कर्मोंका विधान करता है, जिनका त्याग पाप माना गया है। अतएव कर्तव्यकर्मका त्याग तो किसी प्रकार अभीष्ट नहीं होना चाहिये। कर्म दो प्रकारके होते हैं। एक किसी इच्छासे किये जाते हैं और दूसरे स्वतः होते हैं या कर्तव्यबुद्धिसे किये जाते हैं। श्वास, रक्तकी गति आदि कर्म स्वतः होते हैं। भोजन और मलोत्सर्ग ऐसे कर्म हैं, जो शरीर रहनेतक करने ही होंगे। इसी प्रकार अपने वर्ण, आश्रम, जाति, कुल अवस्थादिके अनुसार जो कर्म हमारे लिये नियत हैं, वे कर्तव्य हैं। उन्हें त्यागना नहीं चाहिये।

किसी उद्देश्यसे कर्म करना बन्धनका कारण नहीं है। उद्देश्यके बिना तो जो कर्म होगा, वह अव्यवस्थित होगा; परंतु उद्देश्यमें आसक्ति, वह पूर्ण ही हो—यह आग्रह, उसकी पूर्णतामें अपने कर्तृत्वका अहंकार—ये बाधक हैं। उद्देश्य कोई वासना—अधर्मप्रवृत्ति सकामवृत्ति नहीं होना चाहिये। उसे कर्तव्य मानकर करना और परिणामके सम्बन्धमें तटस्थ रहना, यही निष्कामता है।

धर्म हमें कर्तव्यकी प्रेरणा देता है, साथ ही फलकी ओरसे तटस्थ रहनेका आदेश भी। फलोंके विस्तृत वर्णन तो निम्न कोटिके अधिकारियोंके लिये शास्त्रोंमें हैं। शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि फलविस्तारका तात्पर्य धर्ममें प्रवृत्ति कराना है। धर्मका लक्ष्य तो अन्तर्मुखता है, त्याग है और इस प्रकार नैष्कर्म्यके द्वारा मोक्ष उसका प्राप्य है। यह पहले कहा जा चुका है कि जिस कर्म या नियमका लक्ष्य अन्तर्मुखता न होकर बहिर्मुखता है, वह विषय-प्रवृत्तिको बढ़ाकर संघर्ष, अशान्ति और असन्तोषके द्वारा विनाशका पथ प्रशस्त करेगा। वह धर्म नहीं, उसमें धारण-शक्ति नहीं। वह अधर्म है। वह नष्ट करनेवाला है।

धर्मत्याग

आज बड़े गर्वसे धर्मसे मानव-जातिको मुक्त करनेकी बात कही जाती है। आजके महापण्डित यह कहकर उल्लसित होते हैं—'मैं इस रोगसे छूट चुका हूँ!' परन्तु इसका परिणाम क्या होगा, वे कभी सोचते ही नहीं। अग्नि अपने धर्मका त्याग करके भस्म बन जाती है। मनुष्य अपना धर्म त्याग देगा तो पशु हो जायगा। पशु होकर भी उसका निस्तार नहीं। पशु तो अपने धर्मका पालन करते ही हैं। मनुष्यने धर्मत्याग जहाँ भी किया है, वहाँ वह पिशाचसे भी घृणित हो गया है। धर्मसे दूर होकर मानव-जाति विनाशकी ओर जा रही है।

धर्मत्यागका अर्थ है—उच्छृंखलताकी स्वीकृति और वह विनाशक ही होती है। शास्त्रीय कृत्योंका मर्म हमारी तुच्छ बुद्धिमें नहीं आता, इसीलिये हम उन्हें व्यर्थ या दम्भ कहकर छोड़ दें—यह वैसी ही बात है, जैसे कोई बालक दियासलाईके मसालेकी दाहकता न समझे और दियासलाई दाहक है—इस बातको दम्भ कहे। अवश्य ही दियासलाईका मसाला बिना घिसे उसका

हाथ जलानेमें असमर्थ है। इसी प्रकार शास्त्रीय आदेश अपने परिणामको तभी प्रकट कर सकते हैं, जब उनको निर्दिष्ट विधिसे सम्यक् पूर्ण किया जाय। केवल तर्क करना अज्ञानका ही परिचायक है। जो लोग कुछ प्रयत्न करते भी हैं, वे प्रयत्नकी सांगतापर ध्यान नहीं देते। दियासलाई यदि नम होगी, कम वेगसे घिसी जायगी, तो अग्नि नहीं प्रकट होगी—यह वे भूल जाते हैं। शास्त्रपर आक्षेप करके वे अपनी ही हानि करते हैं।

धर्म-परिवर्तन

धर्म-परिवर्तनका प्रश्न धर्मत्यागसे भिन्न है। प्रत्येक धर्म यदि वह सचमुच धर्म है और उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुख है तो वह स्वतः पूर्ण है। क्योंकि पूर्णता व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया या नियममें नहीं। वह तो अन्तस्तलमें है और जो भी वहाँ पहुँचेगा, उससे एक हो जायगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने आचार, रुचिके अनुसार वहाँ जानेका अधिकार रखता है। धर्म-परिवर्तनका प्रश्न जहाँ धर्मके लिये—आध्यात्मिकताके लिये उठता है, वहाँ निष्ठा एवं विचारके अभावके अतिरिक्त अन्य कोई कारण सम्भव ही नहीं है। किसी भी धर्मके आदिप्रवर्तकने दूसरे धर्मोंको हीन या अपूर्ण नहीं बतलाया है। कोई भी धर्म जो प्रवर्तित हुआ है, वस्तुतः सम्प्रदाय ही है और जहाँ उसका प्रवर्तन हुआ है, उस देश, काल तथा आचारके अनुकूल वह श्रेयस्कर है। सार्वभौम अनादि धर्म, जो ज्ञान और वाणीके साथ ही मनुष्यको प्राप्त हुआ, प्रवर्तित धर्म नहीं हो सकता। वह तो मनुष्यको सृष्टिके साथ ही मिला। वह ईश्वरीय धर्म ही सनातन धर्म है। देश-कालादिके अनुसार उसके किसी अंशको प्रमुखता देकर महापुरुषोंने दूसरे धर्मोंका प्रवर्तन किया। ऐसे प्रवर्तित धर्मोंको दूसरे देशों एवं अन्य धर्मावलम्बियोंपर बलात् लादना अहंकारकी प्रेरणाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

आज धर्म भी राजनीतिका एक साधन हो गया है। धर्मके नामपर जितनी सभाएँ, संगठन या आन्दोलन होते हैं, वे अपना राजनैतिक अधिकार-क्षेत्र ही विस्तृत करना चाहते हैं। धर्म भी दूसरे साधनोंके समान अर्थका साधन हो गया है। धर्म-परिवर्तन अपनी जन-संख्याकी वृद्धि और उससे आर्थिक लाभके लिये किया या कराया जाता है। इस प्रकारके प्रयत्न अवश्य ही जब एक पक्षसे आघातरूप होते हैं तो दूसरा पक्ष आत्मरक्षाके लिये उनका आश्रय लेता है; कुछ भी हो, ये संघर्ष वस्तुतः धर्मके क्षेत्रसे बाहर हैं। धर्म—जिसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुख है, उसीको बाह्य भोगोंका साधन बनाना; अहंकारका विनाश जहाँ अभीष्ट है, वहाँ ऐसा अहंकार कि अपने अतिरिक्त शेष धर्मानुयायियोंको पशु कहना—इससे बड़ा दम्भ और छल क्या होगा? यह वंचना अपना और समाजका भी विनाश कर रही है। धर्मका नाम लिया जाता है, उसकी दुहाई दी जाती है—उसका गला घोंटकर, उसके शवपर पैर रखकर; और तब भी मनुष्यकी मान्यता है कि वह धार्मिक है! उसका उत्थान होगा!!

सनातनधर्ममें धर्म-परिवर्तनके लिये कोई स्थान नहीं—कोई नियम नहीं, यह स्वीकार करना होगा! जो सार्वभौम धर्म है, जहाँ दूसरे धर्म उसके एक अंशसे ही उत्पन्न हुए हैं, जिस अनादि धर्मका प्रतिद्वन्द्वी ही नहीं, उसमें धर्म-परिवर्तन कैसा? कोई दूसरा धर्म हो तो परिवर्तन किया जाय। शास्त्रोंमें शुद्धि ढूँढ़नेवाले यह भूल जाते हैं कि चार सहस्र वर्ष पूर्व दूसरा कोई धर्म ही नहीं था। अपने समाज और आचारसे प्रमादवश च्युत हुए लोगोंकी शुद्धिका ही वहाँ विधान है। यह धर्म-परिवर्तन—शुद्धिका प्रश्न उठा ही उनके सम्मुख, जिन्हें नवीन धर्म चलाना था। आजके संघर्ष सनातनधर्मके लिये आपत्तिरूप हैं और आपद्धर्मका शास्त्रोंमें विस्तारसे निर्देश है। आपद्धर्मके नियमानुसार शास्त्रोंसे उनका अनुगमन करते हुए आत्मरक्षणका प्रयत्न तो अवश्य करना चाहिये, और उसको किये बिना इस समय समाजकी रक्षा कठिन ही है। परंतु शास्त्रोंका ही विपरीत अर्थ करना—यह 'कल्याणप्रद' नहीं है। धर्मको दूसरोंकी देखा-देखी अर्थका साधन हिंदू भी बना दें, यह तो हानिप्रद ही होगा।

'धर्मो रक्षति रक्षितः।'

सभा-संगठन-प्रचार

'सङ्घे शक्तिः कलौ युगे।' आज जिस प्रकार हिंदू-धर्मपर चारों ओरसे आघात हो रहे हैं, उनको देखते हुए यह स्पष्ट है कि संगठनके अतिरिक्त आत्मरक्षणका दूसरा प्रधान साधन नहीं है। समस्त मतभेदोंको भूलकर, संगठित होकर ही इस समय अपने आचार, समाजकी रक्षा की जा सकती है। इसके लिये भरपूर प्रयत्न करना हिंदू-समाजके प्रत्येक सदस्यका कर्तव्य होना चाहिये।

हमें इस समय समस्त मतभेदोंको भूलकर संगठित होना चाहिये; परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि यह संगठन आपत्तिकालिक है, आपद्धर्म है। जबतक ऐसी बात ठीक नहीं समझ ली जाती, तबतक संगठन पूर्ण
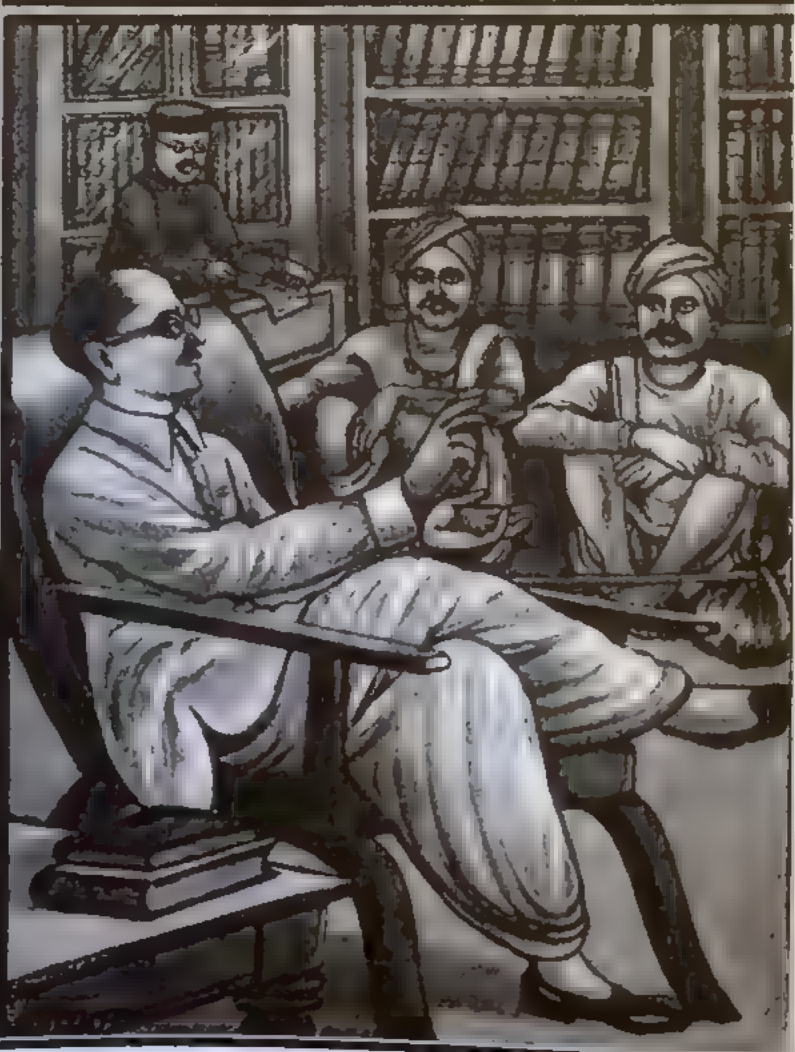
दो दृश्य (२)

चरणामृतपान — सुरापान
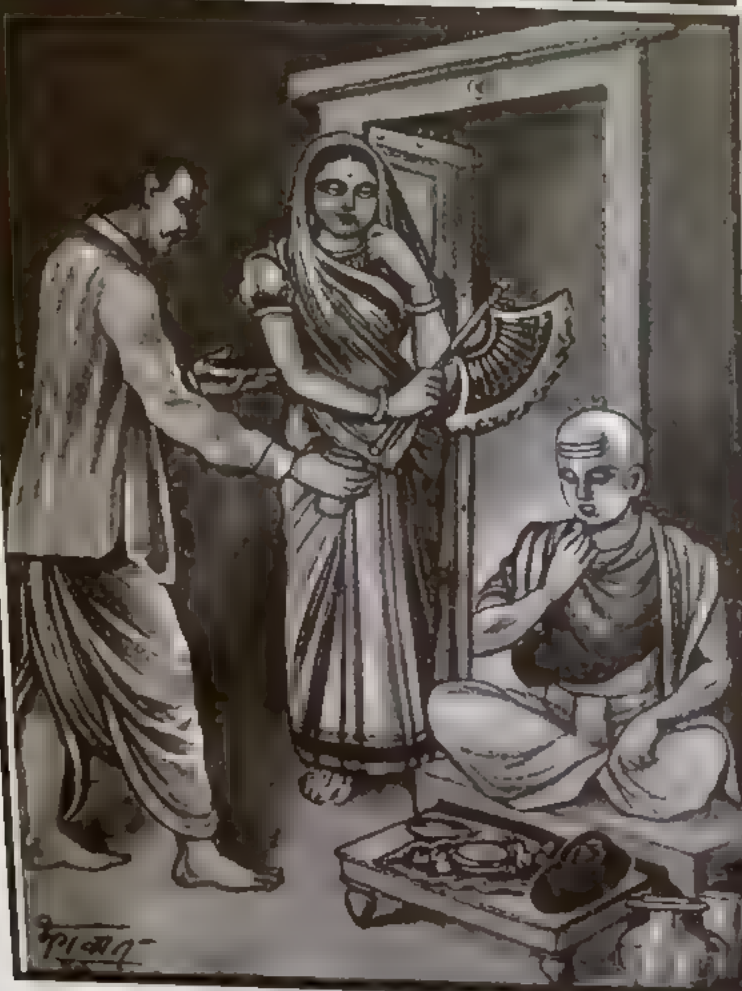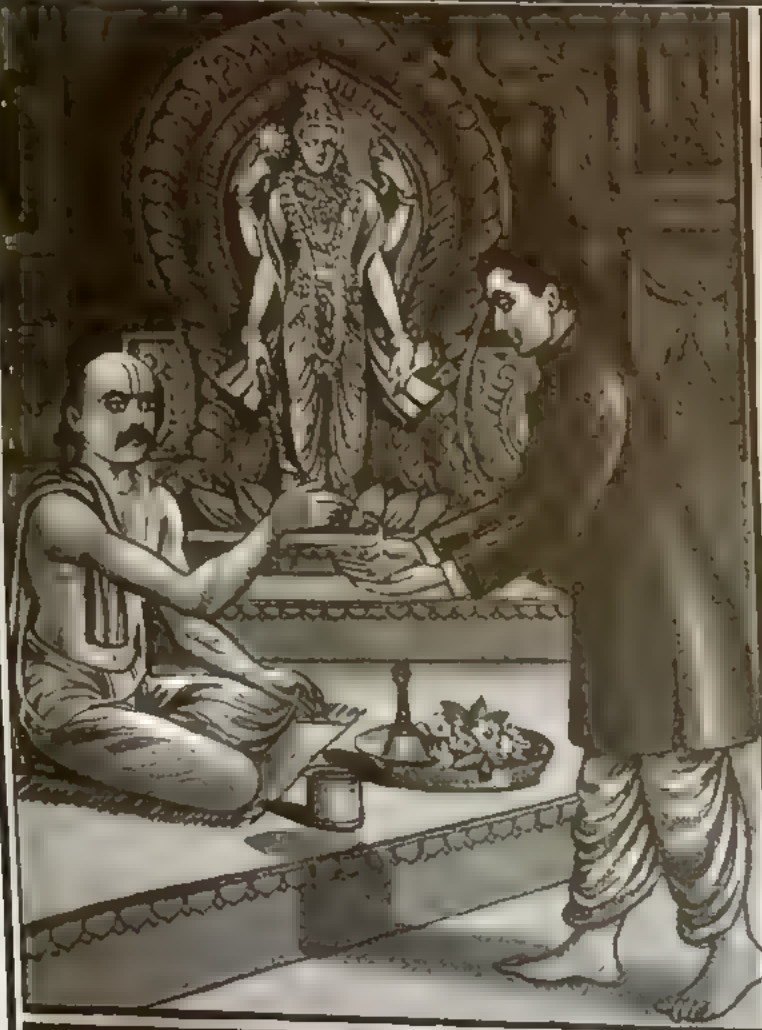
अतिथि-सत्कार — अतिथि-तिरस्कार

पहले चरणामृत पीते थे अब हो चला सुरासे प्यार।
तब होता सत्कार अतिथिका अब तो मिलती है फटकार॥

नहीं होंगे। लोग अपने-अपने संगठनोंको स्थायित्व और महत्त्व देने लगते हैं। इससे अहंकार पोषित होता है। शक्ति संगठित होनेके स्थानमें छिन्न-भिन्न हो जाती है। इस समय तो हमें शक्तिको एकत्र करना है।

हिंदू-धर्म सभा, संगठन, मंचोंपर दिये गये विशाल भाषण तथा दूसरे प्रचार-साधनोंका धर्म नहीं है। संस्थाएँ स्थापित करना और प्रचारके लिये संगठन बनाकर क्षेत्र प्राप्त करना—ये पाश्चात्य सभ्यताके शस्त्र हैं। '**कण्टकेनैव कण्टकम्**' के न्यायसे हम इस आपत्तिके समय इनका आपद्धर्मके रूपमें उपयोग तो कर सकते हैं और करना ही चाहिये; परंतु यदि हमें अपने धर्मको अविकृत रखना है तो इनके स्थायित्वका मोह छोड़ना होगा। ये हिंदू-धर्मकी मूलप्रवृत्तिके विपरीत हैं।

हिंदू-धर्म ऐकान्तिक धर्म है। अन्तर्मुखताका साधन समूहमें नहीं हो सकता। जहाँ बाहरसे अपनेको भीतर करना है, वहीं बाहरकी प्रवृत्तिको बढ़ाना कोई सामंजस्य नहीं रखता। सैनिकोंमें, पाठशालाओंमें सामूहिक प्रार्थना समझमें आनेकी बात है। जहाँ समूह है, वहाँ समूहके साथ एकाग्रताका प्रयत्न भी चल सकता है; परंतु प्रयत्नका आदर्श तो समूह और शरीरको भूल ही जाना वहाँ भी है। जहाँ समूह नहीं है, वहाँ समूह बनाकर प्रार्थना की जाय, इसका अर्थ केवल यही है कि या तो मन इतनी निम्न स्थितिमें है कि वह बाह्य प्रेरणाके बिना एकाग्र नहीं होगा, या फिर प्रार्थना ही प्रार्थनाके लिये नहीं है, वह भी एक राजनैतिक साधन है—प्रचार करने, संगठन करनेका। समस्त पाश्चात्त्य समाज अर्थको ही मुख्य मानता है, अतएव उसके प्रार्थनादि भी संगठनके ही साधन हैं। वहाँ प्रत्येक कार्यमें सैनिक वृत्ति, आर्थिक लाभकी मुख्यता रहती है; पर हिंदू-संस्कृति ठीक इसके विपरीत बाह्य भोगोंसे निवृत्तिकी प्रेरणा देनेवाली है। वहाँ प्रार्थना भी सामूहिक हो, यह एक उपहासास्पद बात है।

प्राचीन समयमें सर्वज्ञ महर्षि ही समाजके संचालक थे। शास्त्र ही नियम थे। प्रत्येक कार्य शास्त्रपर अवलम्बित थे। जनमतके बदले शास्त्रमत, आप्तमत मान्य था। अतएव किसी कार्यके लिये संस्था-निर्माणकी आवश्यकता नहीं थी। उपदेश अधिकारीको दिये जाते थे; अनधिकारी उनका दुरुपयोग करेंगे—यह बात सर्वमान्य थी। ऐसी दशामें मंचोंसे प्रचारका प्रश्न ही नहीं उठता था। सत्संग, कथा, सत्र—ये होते थे; किंतु उनकी न तो आजके समान संस्थाएँ चलती थीं और न उनका विज्ञापन होता था। किसी संतके पधारनेपर उनके उपदेश जो वे कृपापूर्वक श्रोताके अधिकारके अनुरूप दे देते, वही सत्संग थे। संतोंके, महर्षियोंके समीप उपदेश-ग्रहणार्थ दूर-दूरसे बड़े-बड़े सम्राट्तक जाते और वहाँ सेवा करते, तब कहीं सफल होते। प्राचीन कथाओंका एक रूप भागवतसप्ताह अब भी देशमें देखनेको मिल जाता है। ऐसे ही कथा-प्रसंग या यज्ञ जब दीर्घकालतक चलते तो वे सत्र कहे जाते।

आज प्रत्येक संस्थाकी एक-सी दशा है। त्यागी, परोपकारी, उद्योगी एक या अनेक व्यक्ति संस्था स्थापित करते हैं। आरम्भमें संस्था विशुद्धरूपमें चलती है। जैसे ही वह इस योग्य होती है कि उससे कुछ स्वार्थ सिद्ध हो सके, जनतामें सम्मान प्राप्त हो सके, उसमें पदलोलुप, स्वार्थी व्यक्ति घुस जाते हैं। धीरे-धीरे संस्थापर उन्हींका अधिकार हो जाता है, वे प्रमुख हो जाते हैं। जो सचमुच निःस्वार्थ, परोपकारवृत्तिसे लगे उद्योगी उसमें होते हैं, वे या तो कुछ कर नहीं पाते या पृथक् होनेको बाध्य होते हैं।

लेख लिखना, भाषण देना और अभिनय करना—ये कलाएँ हैं। यह आवश्यक नहीं कि लेखक या वक्ता जिन गम्भीर तथ्योंको प्रकट कर रहा है, उनका अनुभव भी करता हो—जो उपदेश दे रहा है, उसका आचरण भी करता हो। सभाओंमें जब कोई बोलने लगता है तो थोड़े ही वक्ता होते हैं, जो यह नहीं चाहते कि जनता उनकी बातको ध्यानसे सुने। जनता ध्यानसे सुने, इसके लिये जनताकी रुचिकी बात कहनी चाहिये। इस प्रकार वास्तविकताकी अपेक्षा कला एवं विद्वत्ताको अधिक महत्त्व मिलता है। यह भी व्यवसाय बन जाता है और जो इस प्रकारका व्यवसाय ही करते हैं, उनका जीवन अन्तर्मुख कैसे हो सकता है। यही दशा लेखककी भी है, यदि वह अपने लेखोंको व्यापक बनानेके ध्यानसे लिखता है।

धर्म भी प्रचारकी वस्तु है, यह हिंदू-समाजने स्वीकार ही नहीं किया। धर्म तो अधिकारके अनुसार प्राप्त करके आचरण करनेकी वस्तु है। अनधिकारीको उसका उपदेश ही वर्जित है। समाजका प्रत्येक क्षेत्र जहाँ धर्मपर अवलम्बित है, धर्मसे ओतप्रोत है, वहाँ किसी क्षेत्रमें प्रचारके लिये स्थान नहीं बचता। वस्तुतः प्रचार है क्या वस्तु? हम अपने विचारोंसे दूसरोंको प्रभावित

करना चाहते हैं। क्यों? इसलिये कि हम अपने विचारोंको श्रेष्ठ मानते हैं और दूसरोंका उसका आचरण करके कल्याण होगा, ऐसा हमारा विश्वास है अथवा हमें दूसरोंको अनुगामी बनाना है। अपनी यश-इच्छा या किसी दूसरी इच्छाको सार्थक करना है।

ज्ञानका मार्ग है जिज्ञासा। जबतक स्वयं जिज्ञासा न हो, किसीको उपदेश लाभ नहीं करता। उपदेशसे जहाँ जिज्ञासा उत्पन्न होती है, वहीं यह भी भय रहता है कि स्वाभाविक रुचि दबती है और मानसिक धारा अस्त-व्यस्त हो सकती है। हिंदू-संस्कृतिके अनुसार जिज्ञासा उत्पन्न होनेपर ही उपदेश देना चाहिये। हम अपने ही विचारों, विश्वासोंका प्रचार करें—यह सचाईसे हम कर सकते हैं; परंतु इसका अर्थ यह तो है ही कि हमारा अहंकार बढ़ रहा है, हमने दूसरोंको अज्ञ मान लिया है। अपनेको हम निर्भ्रान्त मानें, यहाँतक तो ठीक। परंतु दूसरोंके विचार उनके लिये ठीक नहीं, यह अहंकारकी ही प्रवृत्ति है।

हम जिन धारणाओंको भ्रान्तिहीन मानते हैं, उनका आचरण करके हमने क्या पूर्णता प्राप्त कर ली है? पूर्णता प्राप्त करनेसे पूर्व हम प्रचारमें लगते हैं—इसका अर्थ है कि या तो हम अपनेमें उन धारणाओंपर चलनेकी योग्यता नहीं पाते, या हमारे प्रयासमें पूरी शक्ति नहीं, या वे धारणाएँ वस्तुतः आचरणयोग्य हैं—इसमें हमारा विश्वास नहीं। किसी भी दशामें हम क्या प्रचारके योग्य रहते हैं? विश्वका अबतकका अनुभव यही है कि पूर्णताको प्राप्त पुरुष समाज या संगठन नहीं बनाते। जो अन्तर्मुख हो चुका, वह बाह्य प्रवृत्तिमें एक सीमातक ही लगा रह सकता है। अधिकारी, जिज्ञासुको वे प्रेरणा, उपदेश तो देते हैं; किंतु जगत्‌के व्यवस्थित करनेके सम्बन्धमें उनकी प्रवृत्ति सभा, सोसायटी आदिकी ओर कदाचित् ही होती है।

हिंदू-धर्मके इस आपत्तिकालमें हम भगवान्‌को पुकारनेके साथ-ही-साथ आपद्धर्मके रूपमें संगठन और प्रचार स्वीकार करें, इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं; परंतु धर्मका लक्ष्य अहंकारका शैथिल्य है, उसे बढ़ाना नहीं—यह स्मरण रहनेपर ही ये संगठन सफल होंगे। हिंदू-समाज धर्मपर संगठित समाज है। उसमें बाह्य प्रवृत्तिका निरोध ही श्रेयस्कर माना जाता है। जिज्ञासु ही वहाँ उपदेशका पात्र है। पाश्चात्त्य प्रभावके प्रबल प्रवाहमें इस समय इन मूल तथ्योंका विस्मरण धर्मके प्रतिकूल ही होगा। हिंदू-धर्मकी अन्तर्मुख प्रवृत्तिकी रक्षा सबसे प्रथम दृष्टिमें रखकर ही शेष प्रस्तार उचित हैं।

अपनी संस्कृति*

अपनी संस्कृतिका अभिमान,
करो सदा हिंदू-सन्तान।
सब आदर्शोंकी वह खान,
नररत्नत्व करेगी दान॥
अपनी चिरसंस्कृतिकी मूर्ति,
है मनुष्यताकी परिपूर्ति।
प्राणरूप उसका पुरुषार्थ,
साधन करता है परमार्थ॥
युग युगके संचित संस्कार,
ऋषि-मुनियोंके उच्च विचार।
धीरों, वीरोंके व्यवहार,
हैं निज-संस्कृतिके शृंगार॥

—मैथिलीशरण गुप्त

* 'हिंदू' नामक काव्यसे।

हिंदू-संस्कृति और पाश्चात्त्यवाद

(लेखक—आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ)

१-पाश्चात्त्य राष्ट्रोंमें अनेक वादोंका प्राबल्य हो रहा है और उनकी प्रतिक्रियाएँ सर्वत्र दिखलायी पड़ रही हैं। अनेक आघात-प्रत्याघात चल रहे हैं; उन क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं, आघातों-प्रत्याघातोंका कुछ-कुछ प्रभाव भारतवर्षपर भी पड़ रहा है। ब्रिटिश सरकार अपने शासनकालमें उस प्रभावको रोकनेका भरसक प्रयत्न करती रही थी। उसको मुख्य भय रूसके वर्गवाद अथवा साम्यवादसे ही रहा। कार्ल मार्क्सका समाजवाद भी भयका हेतु रहा।

२-भारतवर्षको पाश्चात्त्य रंग-ढंगके किसी वाद अथवा किन्हीं वादोंसे शंकित अथवा भयभीत रहनेकी आवश्यकता नहीं है। भारतवर्ष तो अनादिकालसे—जबसे मनुष्यनामक प्राणी संसारमें उत्पन्न हुआ, तभीसे तत्त्वज्ञानकी जन्मभूमि तथा क्रीड़ाभूमि रह चुका है। उसके सामने कोई वाद आये, वह अपने ढंगकी निरीक्षण-परीक्षण-पद्धतिद्वारा उसका मर्म जानकर यह निश्चय कर सकेगा कि वह वाद उसके लिये उपादेय है कि हेय। भारतवर्षके तत्त्वज्ञानकी परम्परा इतनी क्रमबद्ध, इतनी सुसंगत है कि उसको किसी भी वादसे किसी प्रकारकी आशंका नहीं हो सकती।

३-जब ये वाद अपना हठ छोड़कर हमारी संस्कृतिके मुख्य आदि मूलस्रोत अध्यात्मवादके साथ बहेंगे, तभी संसारको लाभ पहुँचा सकेंगे। अन्यथा ये अध्यात्मशून्य वाद संसारके लिये उपसर्ग अथवा उपद्रवके हेतु ही बने रहेंगे।

४-रूसको वर्गवाद खा रहा है। उसको केवल किसान और मजदूरोंकी ही चिन्ता है। कार्ल मार्क्सका समाजवाद केवल मिलके अथवा शहरी मजदूरोंकी चिन्ता करता है, वह गाँवके किसानोंके विषयमें उदासीन ही रहा है।

५-स्वाभाविक, ईश्वरनिर्मित पद्धति यह है कि मनुष्य-समाज गुण-कर्म-स्वभावानुसार (१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय, (३) वैश्य, (४) शूद्र—इन चार वर्णोंमें विभक्त हो—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्। (यजुः—३१)

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। (गीता ४। १३)

—और वे अपने स्वाभाविक कर्मोंमें संलग्न रहें। इसके विपरीत रूसमें एक ही वर्ग है। किसान-मजदूर एक ही माने जा रहे हैं। वहाँके राज्यचक्र-संचालनमें केवल किसान तथा मजदूर—इन्हीं दो वर्गोंका हाथ है। ब्राह्मण-वृत्तिवाला अथवा क्षात्रवृत्तिवाला एवं वैश्य-समाज इन्हीं दो वर्गोंके अधीन रहता है। अर्थात् सिर, भुजाएँ और पेट पैरोंके ही अधीन रहते हैं। यह अस्वाभाविक पद्धति चल नहीं सकती। शरीरमें पैरोंका भी स्थान है और अपने स्थानमें उसका महत्त्व भी है। पर सिर, भुजाएँ तथा पेटका भी अपना-अपना विशेष स्थान तथा महत्त्व है। जब पैर इनकी प्रेरणासे चलते हैं, तभी यथारीति मार्गका अनुगमन कर सकते हैं, अन्यथा न जाने उच्छृंखलवृत्तिसे सिर, भुजाएँ तथा पेटको कहाँ जाकर नष्ट करें और साथ स्वयं भी नष्ट हों। फिर भी यह एक विचित्रता है कि साम्यवादके नामपर सबको एक-जैसा करनेका अस्वाभाविक प्रयत्न किया जा रहा है। शरीरमें सभी अंग-प्रत्यंग एक ही प्रकारके, एक-ही-जैसे हों तो शरीरकी क्या दुर्गति होगी अथवा उस प्रकारका शरीर यथार्थरूपमें शरीर भी कहलाया जा सकेगा कि नहीं—विचार कीजिये।

६-भारतीय संस्कृतिके मुख्य अंग ये हैं—

१-ईश्वरीय सत्ता,

२-ईश्वरीय न्याय,

३-कर्मफलानुसार दण्ड,

४-गुण-कर्म-स्वभावानुसार समाज-व्यवस्था।

इन चारोंमें अध्यात्मवाद ओतप्रोत रहता है। इसीलिये अध्यात्म-दृष्टिसे सब प्राणियोंमें एक आत्मतत्त्व विद्यमान है, ऐसा मानकर हिंदू-संस्कृति चलती है और इसीलिये हमारा भारतीय समाजवाद आत्मतत्त्वकी समताके आधारपर चलता है और समाज सुखी रहे, इसलिये वर्णाश्रम-धर्मके अनुरूप प्रत्येक वर्ग अपने-अपने स्वाभाविक धर्मपर आरूढ़ रहता है।

अन्य देशवासी ईश्वरीय सत्ता, ईश्वरीय न्याय, कर्मफलकी अपरिहार्यता और आत्मतत्त्वकी समताको मानकर नहीं चलते। इसीलिये ये लोग अध्यात्मज्ञानविहीन, केवल भौतिक सत्ताके आधारपर अपने समाजको सुखी बनाना अथवा देखना चाहते हैं। यही उनकी मुख्य त्रुटि है।

७-हमारी संस्कृति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

(ईशोपनिषद् १)

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईशोपनिषद् २)

मनुष्यकी रचना त्रिगुणात्मक तत्त्व—सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंके आधारपर की गयी है। मनुष्यके कर्मफल उसकी अनन्त वासनाओंके कारण अनन्त हैं। कर्मानुरूप ही सुख-दुःख आते हैं। ऐसी दशामें अपने अज्ञानके कारण यह समझ बैठना कि हम सबको एक-जैसा धनी, एक-जैसा ऐश्वर्यवाला, एक-जैसा साधन-सामग्रीवाला, एक-जैसा सुखी बनायेंगे, हास्यास्पद ही है, व्यर्थ जलताड़न-क्रियाके सदृश ही है, असम्भव ही है।

८-यूरोपीय प्रथम महाभारतके समयमें रूसमें क्रान्ति हुई थी। तबके लेनिनके रूसमें और अबके स्टालिनके रूसमें बड़ा अन्तर हो गया है। प्राचीन समयमें राजा-राजा आपसमें लड़ते रहते थे। अब प्रजातन्त्रके नामपर युद्ध जुट जाते हैं। रूसकी जारशाही गयी तो उसके स्थानमें रूसका वर्गवाद आया। जर्मनीकी कैसरशाही गयी तो उसके स्थानमें राष्ट्रिय समाजवाद आ गया, जो नाजीवाद कहलाया। अब तो वह भी नष्ट होकर जर्मनीके चार टुकड़े हो रहे हैं। जर्मनीमें प्रजातन्त्र रहा, पर हिटलरके समयमें वह पूर्ण एकतन्त्र हो गया। रूसमें वर्गवाद रहनेपर भी स्टैलिनके समयमें सर्वथा 'एकतन्त्र' चल रहा है। इस प्रकार प्रजातन्त्रका नाम लेकर एकतन्त्र ही चलाया जा रहा है। इंग्लैंडमें प्रजातन्त्र है, पर वहाँ वह वैश्यप्रधान पूँजीवादके अधीन रहा है और अब तो समाजवाद प्रबल हो रहा है। अमेरिकाकी यही दशा है, पर वह साम्यवाद तथा समाजवादसे सतर्क रहता है और किसी-न-किसी रूपमें वहाँ भी एकतन्त्र चलता ही है। जिस प्रकारका वर्गवाद अथवा साम्यवाद रूसमें प्रचलित है, वह दोषयुक्त है, अधूरा है; वहाँ शूद्रवर्गने अन्य वर्गको दबा रखा है। जर्मनीके समाजवादमें क्षात्रशक्तिको इतनी अधिक प्रधानता दी गयी थी कि अन्य वर्ग दबे रहे, उभर न सके। इंग्लैंडमें वैश्यसमाज इतना प्रबल रहा कि अन्य वर्ग पनप न सके। इस प्रकार पाश्चात्त्य समाजमें न चारों वर्ण यथार्थरूपमें हैं, न यथार्थ रीतिपर काम कर रहे हैं। इसलिये अध्यात्मशून्य पाश्चात्त्य भौतिकवादी समाज सब प्रकारकी साधनसामग्री, ऐश्वर्य होनेपर भी सच्चे अर्थोंमें सुखी नहीं है। पाश्चात्त्य जगत् समस्त सुखोंके केन्द्र ईश्वरको भूल गया है, वह कर्मफलकी मीमांसामें विश्वास नहीं रखता, उसने ईश्वरीय न्यायदण्डको अपने हाथोंमें ले लिया है, उसको अध्यात्मतत्त्व नहीं सुहाता और वह विज्ञानपर अधिक भरोसा किये हुए है; तब उसको सच्चा सुख कैसे मिल सकता है। उसका समस्त भरोसा बिजली और भापपर है—इसीलिये यूरोप नष्ट हो रहा है। इसीलिये अमेरिका सुखी नहीं है। इसीलिये रूस हाथ-पैर पटक रहा है और इसीलिये फ्रांस नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है। इनको कोई उपाय सूझ नहीं रहा है। अब ये भारतकी ओर निहार रहे हैं।

९-यदि संसार सुख चाहता है तो उसको भारतीय संस्कृतिकी ओर आना पड़ेगा; भारतीय समाजकी रचना जिन तत्त्वोंपर हुई, उन्हीं तत्त्वोंपर समाजकी रचना करनी पड़ेगी। ऐसे समाजकी रचना करनी पड़ेगी, जिसमें सब वर्ग अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंको करते हुए परस्पर आश्रित रहेंगे। ऐसे समाजकी रचना करेंगे, जिसमें सबको उठनेका अवसर रहे और जो एक दूसरेको बाधा न पहुँचाते हुए उन्नतिशील बने रहें, परस्पर सुख-दुःखके भागी बनें। भारतीयोंका वर्णाश्रम-धर्म वह सुन्दर मार्ग बतलाता है; क्योंकि उसकी आधारशिला सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंके आधारपर रखी तथा मानी गयी है। उसमें अध्यात्मतत्त्व ओतप्रोत है। वह उपनिषद्-वर्णित भूमा, सब सुखोंके केन्द्र, महती सत्ता—ईश्वरको मानता है।

यो वै भूमा तत्सुखम्। (छान्दोग्य०)

जो सबसे बड़ा है, बृहत् है, वही सब सुखोंका केन्द्र है।

नाल्पे सुखमस्ति। (छान्दोग्य०)

इन अल्पभूतोंमें सुख कहाँ। इसलिये—

भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः। (छान्दोग्य०)

इसलिये भूमा-शक्तिको जानो और उसको जान-मानकर संसारमें विचरो, तभी सच्चा सुख पाओगे।

अतएव रूसके वर्गवाद 'Workers of the world unite' (संसारके मजदूरो! मिलकर उठो)—इसमें अन्य वर्ग मारे जाते हैं। इटलीके फासिस्टवाद 'Everything for the State' (सब कुछ अपने राज्यतन्त्रके लिये)—इसमें प्रजा दब जाती है और राज्यतन्त्रके नामपर अत्याचार चलता है। राज्यतन्त्र ही एकतन्त्र हो जाता है। जर्मनीके 'Everything for the Nation' (सब कुछ अपने राष्ट्रके लिये)—इस सिद्धान्तमें संकुचित राष्ट्रवाद

चलकर सत्ता फिर एकतन्त्रके रूपमें परिणत होकर एक वर्गके हाथमें ही आती है। इसी प्रकार इंग्लैंडमें प्रजातन्त्रके नामपर धनीवर्ग अन्य वर्गोंको दबाये रखता है। यही अस्वाभाविक है। अमेरिकाकी दशा '**जलबिच मीन पियासी**' की-सी हो रही है। इस प्रकारका पंगु, तिरछा समाजवाद कभी भी सुख नहीं दे सकता। भौतिकवाद इन्हें नष्ट कर चुका और अब भी न सँभले तो और भी नष्ट कर देगा।

१०-भारतीय समाजवाद आध्यात्मिकतासे सम्बन्ध रखता है, रखता रहा है,—इसलिये दासता, पराधीनता, परचक्र, अनर्थ-परम्पराओंमें भी यह जैसे-तैसे बचा रहा। अब तो अंग्रेजी शासनचक्रका दबाव जाता रहा, इसलिये स्वतन्त्र रहकर अपनी संस्कृतिको सँभालेगा तो फिर जगद्गुरु होकर संसारका मार्गदर्शक बन सकेगा। इसके धर्म, इसकी सभ्यता, इसकी संस्कृति, इसके अध्यात्मवादमें अब भी वह अद्भुत शक्ति है।

श्रीडॉक्टर भगवानदासजीने अपनी पुस्तक 'सायन्स ऑफ सेल्फ' (आत्मविज्ञान) में ठीक ही लिखा है—

It is the ancient socialism which some are convinced, is truly scientific because based on the science of Psychology the most important of all sciences as is being widely recognized in the west now; while modern socialism (or Communism), which calls itself scientific fails to be so, because it ignores and even goes positively against some fundamental facts and laws of human nature, and therefore will fail to realize its objective, and fail exactly in the degree in and to the extent which it violates those facts and laws.

All this world of objects, which is named by the word *"this"* is made of and by ideation and hence none who knows not the science of the self can carry action to fruitful issues.

He can knows the inner purpose of the laws of process and its orders ideated by the self-existent, he alone car rightly ascertain and enjoin the ritht and duties of the different classes of human beings, of their social Occupations (Varṇas) and Vocations and of their Āśramas, "stages in life".

न ह्यध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमपाश्नुते। (मनु०)

इसका भावार्थ यह है कि अनेकोंका यह विश्वास है कि प्राचीन समाजवाद ही वैज्ञानिक समाजवाद है; क्योंकि वह वैज्ञानिक अध्यात्मवादपर निर्भर है। वैज्ञानिक अध्यात्मवाद सब विज्ञानोंका विज्ञान है। पाश्चात्त्यदेशवासी भी अब इस बातको मानने लगे हैं।

वर्तमान समाजवाद और साम्यवाद, जो वैज्ञानिक ही समझे जा रहे हैं, असफल हो रहे हैं; क्योंकि वे आधारभूत मौलिक प्राकृतिक नियमोंके विरुद्ध हैं, मनुष्य-समाजके स्वभावके विरुद्ध हैं और उतने अंशोंमें अपूर्ण तथा असफल रहेंगे, जितना कि वे स्वभावशास्त्रसे विरुद्ध जायँगे अथवा प्राकृतिक नियमोंके विरुद्ध चलेंगे।

यह भौतिक संसार जिसको कि हम 'इदम्' (यह) इस नामसे पुकारते हैं, किसी विशिष्ट कल्पना अथवा व्यवस्थाके आधारपर स्थित है। इसलिये उसके भीतरके अध्यात्मतत्त्वको जो जानते हैं, वे ही भिन्न वर्गों अथवा वर्णोंके कर्तव्योंको भलीभाँति जान सकते हैं, उस वैज्ञानिक वर्णाश्रमधर्मको समझ सकते हैं। मनुमहाराजने ठीक ही कहा है कि जो पुरुष अध्यात्मतत्त्वको नहीं जानता, वह क्रिया-फलको नहीं प्राप्त कर सकता; वर्तमान जितने भी वाद हैं, उनकी आधार-शिला वैज्ञानिक अध्यात्मवाद नहीं है; यही सब दुःखोंका मूल है।

११-जो व्यक्ति अध्यात्मवादको जानेगा, वह ऐसे कार्य क्यों करेगा, जिससे दूसरोंको कष्ट हो। जिस समाजमें अध्यात्मवाद प्रचलित होगा, वह दूसरे समाजको, दूसरे राष्ट्र, देश, जातिको क्यों कष्ट पहुँचायेगा? हमारे प्राचीनतम पूर्वजोंने इस ऋत तथा सत्य Ethic of right good action को समझा था और वे इसी ऋत तथा सत्यका उपदेश देते रहे।

यद्यपि आर्यधर्मका पोषक, पालक आर्यराज्य सिरपर नहीं रहा, तथापि अध्यात्मवादके आधारपर भारत किसी प्रकार जीवित रहा ही। ये जो वर्णाश्रमधर्मके भव्य भग्नावशेष शेष रहे हैं, वे पुरातन समाजके भव्य भवनोंके स्मृतिचिह्न ही तो हैं। जरा सोचिये, सहस्रों वर्षोंके प्रहारोंके पश्चात् भी उनका यह वैभव है।

भारतका सब कुछ गया सो गया, पर अध्यात्म बना रहा; इसीलिये भारत बचा रहा। कर्मफल तथा ईश्वरीय न्यायसे युक्त अध्यात्मवादपर दृढ़ विश्वास

रहनेके कारण भारतीय आर्यधर्म तथा आर्य-संस्कृतिके उपासकोंपर ऐसा विपरीत प्रभाव न पड़ सका, जिससे भारत सर्वथा नष्ट हो जाता। विदेशी संस्कृतियोंका आक्रमण होते रहनेपर भी बाहर-बाहर तो वह अध्यात्मवाद दबा-सा दिखलायी पड़ा, पर भीतर वे ही आध्यात्मिक संस्कार प्रसुप्त दशामें पड़े रहे और समय-समयपर होनेवाले महापुरुष उनको प्रबुद्ध करते रहे—इसीसे संस्कृति बच गयी। अब जाग्रत् होकर फिर उभरनेको है। संसारका सब वैभव एक ओर, तथा हमारी आध्यात्मिक दैवी संपत्ति एक ओर। पाश्चात्त्योंकी आसुरी संपद् भारतीय दैवी संपद्को थोड़ी देरके लिये दबा भले ही सकती थी, पर सर्वथा नष्ट नहीं कर सकती थी। अब पूर्वजोंके पुण्य-प्रतापसे भारत स्वतन्त्र हो गया है। इसकी संस्कृतिका साम्राज्य सर्वत्र होगा। 'साम्राज्य' शब्द पाश्चात्त्य अर्थोंमें नहीं, अपितु—'**सर्वभूतहिते रतः**' सर्वभूतहितकी दृष्टिसे साम्राज्य होगा। जब संसारमें ऐसा साम्राज्य होगा, तभी संसारके भाग्योदयका दिन समझिये।

देश-कालानुरूप प्रत्येक देशकी अपनी संस्कृति तथा सभ्यता रहती है, पर भारतीय संस्कृति और सभ्यता एवं धर्म देश-कालसे बँधे हुए नहीं हैं। वे तो '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' की नीतिपर बने हुए हैं। वे संसारभरके हितकी दृष्टिसे हैं। आर्यजातिमें निम्नलिखित विशिष्ट गुणोंका जो सामुदायिक विकास हुआ, वह अबतक चला आया। इसीसे स्पष्ट है कि वह संस्कृति कितनी अपूर्व, कितनी व्यापक है, जिसमें संकुचित राष्ट्रियताका नाम नहीं, जिसमें प्रत्येक बात मानवसमाजके हितकी दृष्टिसे है, विश्वबन्धुत्वकी दृष्टिसे है, विश्वप्रेमकी दृष्टिसे है। इसी कारण आर्यजातिमें निम्न आठ गुणोंका विकास हुआ है, और ऐसा विकास हुआ कि चरम सीमाको पहुँच गया—

(१) **शान्तः** (२) **तितिक्षुः** (३) **दान्तश्च** (४) **सत्यवादी** (५) **जितेन्द्रियः**।
(६) **दाता** (७) **दयालुः** (८) **नम्रश्च आर्यः स्यादष्टभिर्गुणैः**॥

(महाभारतमें विदुर)

संसारकी किसी जातिमें समष्टिरूपमें इतने गुण नहीं मिलेंगे।

मानव-संस्कृति

(लेखक—श्रीभगवानदासजी केला)

संस्कृतिके सम्बन्धमें विचार करते समय एक शब्द हमारे सामने और आ जाता है, वह है सभ्यता। हमें यह विचार करना चाहिये कि क्या सभ्यता और संस्कृति एक ही वस्तु है; यदि नहीं तो इनमेंसे प्रत्येकका अर्थ क्या है, और इन दोनोंमें क्या सम्बन्ध है। पर इसका ठीक-ठीक विचार करना कुछ आसान नहीं है; कारण, कुछ लेखकोंने जो अर्थ सभ्यताका लिया है, दूसरोंने वही अर्थ संस्कृतिका समझा है। कितने ही विद्वानोंने दोनों शब्दोंका एक ही अर्थमें भी प्रयोग किया है। कई कोष-निर्माताओंने एकको दूसरेका पर्याय या समानार्थवाची लिखा है।

सभ्यताका अर्थ

'सभ्यता' शब्द 'सभ्य' से बना है; और सभ्यका एक अर्थ सदस्य या सभासद् है। सदस्यता किसी सभा, समूह या समाजकी होती है। इस प्रकर सभ्यता एक सामाजिक गुण है। आदमीके समाजमें रहनेके कारण ही सभ्यताका प्रादुर्भाव होता है। साधारणतया हम किसी आदमीकी सभ्यताका अंदाज इसी बातसे लगाते हैं कि सभा या समाजमें उसका उठना-बैठना, वेष-भूषा, बात-व्यवहार आदि कैसा है। जो आदमी कपड़े पहने हुए हो, जिसके कपड़े साफ-सुथरे हों, जिसका शरीर, हाथ-मुँह आदि धुले हुए हों, जिसके बाल तरतीबसे हों, जिसके बैठने-उठने तथा बातचीतमें शिष्टाचारकी झलक हो, उसे हम सभ्य कहा करते हैं। इसमें हम उसकी बाहरी बातोंकी ही ओर ध्यान देते हैं, आन्तरिक गुणोंकी ओर नहीं।

आधुनिक 'सभ्य' जेंटलमैन

जिस आदमीको हम सभ्य समझते हैं, उसमें आन्तरिक गुण हो सकते हैं, और बहुधा होते हैं। पर यह अनिवार्य नहीं है। सम्भव है, वह कुछ लिखा-पढ़ा न हो; अथवा उसकी शिक्षा ऐसी ही हो, जो केवल ज्ञानवृद्धिमें सहायक हुई हो, उससे उस आदमीकी सूक्ष्म

या उच्च भावनाओंका विकास न हुआ हो। कितने ही युवक 'बूटेड, सूटेड जेंटलमैन' होते हैं। इनके हाथमें छड़ी, मुँहमें पान तथा बीड़ी या सिगरेट और जेबमें या कलाईपर घड़ी होती है। इनके बाल फैशन-कट और मूँछें सफा-चट, सिरमें तेल-फुलेल होता है। ये नंगे सिर रहते हैं या 'हैट' लगाते हैं; अथवा अगर टोपी ही ओढ़ते हैं तो बड़े बाँके ढंगसे। इनके चाल-ढालमें अजीब अदा होती है। इन्हें अंग्रेजी भाषाका ज्ञान चाहे अधूरा ही हो, ये अपनी भाषा जान-बूझकर तोड़-मरोड़कर बोलते हैं तथा उसमें स्थान-स्थानपर अपने विदेशी शब्द-ज्ञानकी विज्ञप्ति देकर साधारण जनतापर अपना रोब जमाया करते हैं। मामूली आदमी इन्हें 'सभ्य' कहते या समझते हैं। ये भी अपने, खासकर ग्रामीण भाइयोंको 'असभ्य' माना करते हैं।

'सभ्य' आदमीका व्यवहार, भौतिक उन्नति

'सभ्य' व्यक्ति प्राय: अपनी (भौतिक) उन्नतिमें लगा रहता है। वह अपने स्वार्थ-साधनकी बात सोचता है। उसे इस बातसे विशेष प्रयोजन नहीं होता कि दूसरोंकी दशा कैसी है, उनका कष्ट किस प्रकार निवारण किया जाय। इस प्रकार सभ्य व्यक्तियोंमें रिश्वतखोरी, छीन-झपट, छल-कपट, चालबाजी, धूर्तता, दूसरोंका पीड़न या शोषण बहुत अधिक हो सकता है। हाँ, ये लोग अपने इन कृत्योंको इस प्रकार करते हैं कि इनके दोष साधारण आदमीकी समझमें नहीं आते। पर इससे वस्तुस्थितिमें अन्तर नहीं आता। अक्सर देखनेमें आता है कि रेलकी यात्रामें 'सभ्य' कहे जानेवाला व्यक्ति अपना बिस्तर लगाकर इतनी जगह घेर लेता है कि दूसरोंको बैठनेको भी स्थान नहीं मिलता; परंतु जब यह गाड़ीमें सवार होता है तो इसे किसी रोगी आदमीका लेटा रहना सहन नहीं होता। 'सभ्य' आदमीकी बात-व्यवहारका अनुभव खासकर पुलिस, रेल और अदालतोंमें काम करनेवालोंके प्रतिदिनके जीवनसे अच्छी तरह हो जाता है। अनेक बार ऐसे ऊँचे-ऊँचे सरकारी पदाधिकारी भी भ्रष्टाचारमें लिप्त पाये जाते हैं, जिनकी 'सभ्यता' सर्वमान्य होती है।

यूरोपियनोंका दृष्टिकोण

इसी प्रकार जब यूरोपियन लोग अपने-आपको एशिया-अफ्रीकावालोंसे अधिक सभ्य समझते हैं और दूसरोंको असभ्य या अर्धसभ्य कहते हैं तो उनके सामने त्याग, दया, परोपकार आदि कोमल भावनाओंकी तुलनाका प्रश्न नहीं होता। मुख्य विचार यही होता है कि सांसारिक सुख-साधन किसके पास अधिक है, भौतिक या शारीरिक शक्तिमें, सेना और युद्ध-सामग्री आदिकी दृष्टिसे कौन अधिक बलवान् है? कौन विजेता या स्वामी है और कौन पराजित या अधीन? इससे यही प्रतीत होता है कि यूरोप-अमरीकावाले प्राय: सभ्यताका अर्थ बाहरी वैभव, आचार-व्यवहार, रहन-सहन, धन-प्रभुता आदि लेते हैं। समाजमें कोई व्यक्ति या समूह आदि इन बातोंमें जितना बढ़ा-चढ़ा होता है, उतना ही वह अधिक सभ्य माना जाता है।

संस्कृति और संस्कार

संस्कृतिका अर्थ जाननेके लिये 'संस्कार' शब्द विचारणीय है। संस्कारका अर्थ शुद्ध करना, साफ करना, चमकाना, भीतरी रूपको प्रकाशित करना है। यद्यपि संस्कारोंका परिचय कुछ बाहरी बातोंसे होता है, और हिंदू-धर्मके अनुसार मनुष्यके जो संस्कार होते हैं, उनमें कुछ क्रियाएँ अनिवार्य होती हैं, फिर भी संस्कारोंका उद्देश्य विशेषतया मानसिक और आध्यात्मिक होता है। उनमें रूढ़ियाँ या बाहरी बातें गौण होती हैं; मुख्य लक्ष्य यह होता है कि जिस व्यक्तिका संस्कार किया जाय, उसके मन और आत्मापर अच्छा प्रभाव पड़े। जब हम किसी व्यक्तिके सम्बन्धमें यह कहते हैं कि वह सुसंस्कृत है, या उसके संस्कार अच्छे हैं, तब हमारा आशय उस व्यक्तिकी बाहरी बातों या व्यवहारसे इतना नहीं होता, जितना उसकी सद्भावना, सच्चरित्रता तथा मन और आत्माके विकाससे होता है, जिसकी प्रेरणासे वह व्यक्ति अपने विविध सत्कार्य करता है या अपने सद्गुणोंका परिचय देता है।

संस्कृति हमारे आन्तरिक गुणोंका समूह है, वह एक प्रेरक शक्ति है। संस्कृति हमारे सामाजिक व्यवहारोंको निश्चित करती है, हमारे साहित्य और उसकी भाषाको बनाती है, हमारी संस्थाओंको जन्म देती है। संस्कृति बतलाती है कि हम अपनी सूक्ष्म चित्त-वृत्तियोंका कितना विकास कर पाये हैं। पशु-जीवनसे हम कितना ऊँचा उठ सके हैं। ममता प्राणिमात्रका स्वाभाविक गुण है; पर एक आदमीकी ममता उसके अपने परिवारतक ही सीमित रहती है, दूसरेकी अपने परिवारसे बाहरके भी दुखी बालक या व्यक्तितक पहुँचती है और तीसरेकी अपने शत्रुसे भी सद्व्यवहार करनेकी प्रेरणा करती है। इससे अवश्य ही एकसे दूसरा और दूसरेसे

तीसरा व्यक्ति अधिक संस्कृत कहा जायगा।

संस्कृत व्यक्तिका भोजन-वस्त्र

संस्कृतिमें भौतिक आवश्यकताओंकी अवहेलना तो नहीं की जाती, पर उन्हें गौण स्थान दिया जाता है। सुसंस्कृत व्यक्ति भोजन करता है, पर केवल इसलिये कि यह कार्य शरीरयात्राके लिये, जीवित रहनेके लिये आवश्यक है। इसलिये नहीं कि खानेमें जीभका स्वाद है। इस प्रकार उसका भोजन साधारण होना स्वाभाविक है, वह अपने भोजनके प्रकार या विधिको अपने वैभव या ऐश्वर्यकी विज्ञप्तिका साधन नहीं बनायेगा। संस्कृत व्यक्ति कपड़ा तो पहनेगा; पर इसमें उसका उद्देश्य केवल लज्जा-निवारण या शरीरकी सर्दी-गर्मीसे रक्षा करना होगा, समाजमें अपनी अमीरीकी घोषणा करना या आदर-प्रतिष्ठा पाना नहीं। इसलिये वह अपने पास कई-कई जोड़ी कपड़े रखनेकी और एक बारमें अपने शरीरपर बहुत-से कपड़े लादनेकी ज़रूरत नहीं समझेगा। महात्मा गांधी-जैसा सुसंस्कृत व्यक्ति वायसराय या सम्राट्से मिलते समय 'अर्ध-नग्न' या 'अर्ध-सभ्य' रूपमें जा सकता है, और इंग्लैंड-जैसे ठंडे प्रदेशमें दो कम्बलोंमें गुजर कर लेता है।

परोपकाराय सतां विभूतयः

संस्कृत व्यक्ति शिक्षा, साहित्य, कला-कौशल आदिकी उपेक्षा नहीं करता; परंतु वह इन्हें अपनी व्यक्तिगत इच्छाओंकी पूर्ति या ख्यातिके साधनके रूपमें नहीं देखता। उसके लिये तो ये चीजें, उसके धन आदिकी तरह, समाजके हित या सुखके साधनमात्र हैं। साधारण रहन-सहनवाला आदमी सभ्यताके इन चिह्नोंसे दूर रहते हुए भी संस्कृत हो सकता है, यदि उसमें सहानुभूति, उदारता, प्रेम, परोपकार आदिकी भावनाओंका विकास हो गया हो, यदि वह दूसरोंका कष्ट निवारण करनेके लिये स्वयं दुःख झेलनेको तैयार हो, उसका हृदय मानव-सेवाके लिये बेचैन हो, वह सब प्राणियोंमें अपनी ही आत्माका अनुभव करता हो।

क्या संस्कृतिके भेद हो सकते हैं?

हम बहुधा 'संस्कृति' के साथ विविध विशेषणोंका प्रयोग होते देखते हैं। कहीं हिंदू-संस्कृति और मुस्लिम-संस्कृतिकी बात होती है, कहीं पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतिकी। भारतीय संस्कृति, चीनी संस्कृति, ईरानी संस्कृति या सोवियट संस्कृति-सम्बन्धी लेख या पुस्तकें हमारी दृष्टिमें आती हैं। तो क्या संस्कृतिके अलग-अलग भेद हो सकते हैं? क्या देश या धर्म (सम्प्रदाय) के आधारपर संस्कृतियोंका वर्गीकरण ठीक है?

वास्तवमें जब हम किसी समूहकी संस्कृतिकी बात कहते हैं तो हमारा आशय उस समूहके रहन-सहन, खान-पान, वेष-भूषा, आचार-व्यवहार आदिसे होता है। पर ये बातें तो, जैसा हमने पहले कहा है, सभ्यताके अन्तर्गत आती हैं। इन्हें संस्कृतिका अंग माननेसे, संस्कृतियोंकी संख्या असंख्य कर देनेसे तो संस्कृतिका उपहास ही होता है।

विविध जातियोंको अपनी-अपनी संस्कृतिका अहंकार

बहुत-से आदमियोंकी यह इच्छा रहती है कि अपनी जाति या धर्मकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये वे उसकी संस्कृतिको ऊँची और दूसरी संस्कृतियोंसे भिन्न कहें। प्राचीन कालमें समय-समयपर विविध जातियोंके कुछ लोग यह दावा करते रहे हैं कि उनकी ही जाति वैसी ऊँची संस्कृति रख सकती है, अन्य जातिवालोंकी संस्कृति वैसी ऊँची हो ही नहीं सकती। आधुनिक कालमें यूरोपकी गौरवर्ण जातियोंको अपनी संस्कृतिका विशेष गर्व है। ये रंगदार (काली-पीली) जातियोंको सभ्य और सुसंस्कृत बनानेका भार अपने ऊपर उठाये हुए हैं। गत वर्षोंमें जर्मनोंने 'जर्मन कल्चर (संस्कृति)'-को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया था।

संस्कृतिके स्तर हो सकते हैं, भेद नहीं

हम भूल जाते हैं कि मनुष्य सब जगह मनुष्य है। उसकी जाति, रंग-रूप आदि भिन्न-भिन्न होनेपर भी उसकी प्रकृति संसारभरमें एक-सी है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदिकी प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत सभीमें पायी जाती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह कुछ कम-ज्यादा सभीमें हैं। हर्ष और शोकसे सभी न्यूनाधिक प्रभावित होते हैं। अपने शरीरकी रक्षा करना, अपने वंशकी वृद्धि और विस्तार करना सभी चाहते हैं। सुखकी खोज सभीको होती है। इसी प्रकार संस्कृत होनेकी क्षमता सभीमें है। यह किसी जातिविशेषमें परिमित नहीं। किसी जातिके मनुष्य ऊँची संस्कृतिके एकाधिकारी नहीं हो सकते। एक जाति, रंग या देशके मनुष्य जितने संस्कृत हुए हैं, दूसरी जाति, रंग या देशके मनुष्योंमें उतने ही संस्कृत होनेकी क्षमता है। हाँ, इसके लिये उन्हें अनुकूल अवसर या परिस्थिति मिलनी चाहिये; इसके अभावमें वे कुछ समयतक निचले स्तरपर रह सकते हैं। परंतु इस दशामें

यह निष्कर्ष निकालना भ्रमपूर्ण और अज्ञानमूलक है कि एक जाति स्वभावत: ऊँची संस्कृतिवाली है और दूसरी नीची संस्कृतिवाली। सुविधाएँ मिलनेपर प्रत्येक जाति संस्कृतिमें दूसरी जातिसे प्रतियोगिता या तुलना कर सकती है। इस प्रकार संस्कृतिके ऊँचे-नीचे स्तर तो हो सकते हैं और होते ही हैं; परंतु जाति, धर्म या देशके आधारपर संस्कृतिके भेद नहीं हो सकते। निदान, हिंदू-संस्कृति और मुस्लिम-संस्कृति आदि भेद करना या भारतीय संस्कृति और चीनी संस्कृति आदिकी बात उठाना ठीक नहीं है। हाँ, इसके बजाय यदि यह कहा जाय कि मानव-संस्कृतिके विकासमें अमुक जाति या धर्मके अनुयायियोंने इतना भाग लिया, उन्होंने मानवताको ऊँचा उठानेमें इन-इन सिद्धान्तों या आदर्शोंकी खोज की और उनके अनुसार यहाँतक व्यवहार किया तो बात कुछ सार्थक भी हो सकती है।

विविध जातियोंके सांस्कृतिक स्तर समान होनेकी प्रवृत्ति

प्राचीन कालमें आमद-रफ्त या यातायातके साधन कम थे। एक जातिका दूसरी जातिसे सम्पर्क कम होता था। प्रत्येक जाति बहुत कुछ एकान्तका-सा जीवन व्यतीत करती थी। उसे इस बातका ज्ञान या अनुभव नहीं होता था कि दूसरी जातिमें कैसी विचारधारा चल रही है, कैसे सिद्धान्तोंका मनन और आदर्शोंकी प्राप्तिका प्रयत्न हो रहा है। इस प्रकार प्राय: हर एक जातिका सांस्कृतिक विकास अलग-अलग हुआ। एक जाति कुछ बातोंमें आगे बढ़ी, दूसरीने कुछ अन्य बातोंमें प्रगति की। कई जातियोंमें कुछ सिद्धान्त या आदर्शोंमें समानता भी रही। इस प्रकार हर एक जातिके सांस्कृतिक विकासका स्तर अलग-अलग रहा। पीछे ज्यों-ज्यों आमद-रफ्तके साधनोंकी वृद्धि हुई, भिन्न-भिन्न जातियों या देशोंके आदमियोंमें सम्पर्क बढ़ा, उनमें विचारोंके आदान-प्रदानकी वृद्धि हुई। अब भिन्न-भिन्न जातियोंके सांस्कृतिक स्तरमें उतना अन्तर रहनेकी सम्भावना नहीं है।

'असभ्य' जातियोंका सांस्कृतिक स्तर ऊँचा हो सकता है

इस प्रसंगमें दो बातें ध्यानमें रखनी चाहिये। पहली बात यह है कि यह आवश्यक नहीं कि जो जातियाँ असभ्य समझी जाती हैं, उनकी संस्कृतिका स्तर नीचा हो। प्राय: सभ्यताका दम भरनेवालोंने ऐसा प्रचार कर रखा है कि असभ्य जातियोंकी संस्कृति निम्न श्रेणीकी है; उनमें सदाचार नीति-नियमोंका पालन आदि बहुत कम होता है। यह बहुत कुछ अंशमें उन्होंने अपने अहंकारवश किया है। हाँ, यह भी ठीक है कि उन्हें असभ्य जातियोंके विषयमें यथेष्ट ज्ञान नहीं था। क्रमश: अन्वेषकों और यात्रियोंने इस विषयमें अनुसन्धान किया तो पता लगा कि असभ्य मानी जानेवाली जातियाँ अपनी संस्कृतिमें सभ्यलोगोंके समान तथा उनसे भी बढ़कर हो सकती हैं। संस्कृति ऊँची होनेके लिये किसी जातिका सभ्यतामें अग्रसर होना अनिवार्य नहीं है। उदाहरणके लिये निग्रो अर्थात् अमरीकाके हबशियोंको संसारमें प्राय: बहुत निम्न संस्कृतिका कहा जाता है; सभ्यलोगोंने प्रचार ही ऐसा कर रखा है। परंतु सभ्यताका दम भरनेवाले अमरीकन बहुधा उनसे कैसा अमानुषिक व्यवहार करते हैं, यह अध्ययनशील पाठकोंसे छिपा नहीं। जबतक अमरीकामें 'लिंचिंग' आदिकी कुप्रथाएँ मौजूद हैं, कौन सत्यताप्रेमी निग्रो लोगोंके सांस्कृतिक स्तरको अमरीकाके गोरेलोगोंके सांस्कृतिक स्तरकी अपेक्षा नीचे दर्जेका कहनेका दुस्साहस करेगा।

महापुरुष सब जातियोंके लिये होते हैं

अब हम दूसरी बात लें। एक जाति या देशके कुछ व्यक्तिविशेष नये सिद्धान्तों और आदर्शोंको जनताके सामने रखते हैं। आरम्भमें उसी जातिमें उनका चलन विशेषरूपसे होता है। परंतु इससे वे सिद्धान्त या आदर्श उसी जातिके नहीं हो जाते। उनमें एक सच्चाई होती है; वह सच्चाई जैसी उस जातिके मनुष्योंके लिये होती है, वैसे ही अन्य जातियोंके मनुष्योंके वास्ते होती है। सभी जातियाँ उससे लाभ उठा सकती हैं। महापुरुष चाहे जिस जातिमें जन्म लें; पर वे उस जातिविशेषके लिये ही नहीं होते, वे तो सबके लिये समान रूपसे होते हैं। कोई जाति यह गर्व भले ही करे कि उसमें पैदा हुए महापुरुषने संसारके लिये सिद्धान्तों या आदर्शों आदिके रूपमें बहुमूल्य भेंट दी; पर उसका यह दावा करना भूल है कि उस महापुरुषद्वारा निर्धारित सिद्धान्त आदिपर उसी (जाति) का अधिकार है। क्या श्रीकृष्णका निष्काम कर्म केवल हिंदुओंके ही लिये है? क्या गौतम बुद्धकी अहिंसापर केवल भारतवर्षका या बौद्ध-धर्मानुयायियोंका ही स्वत्व है? क्या न्यूटनका गुरुत्व आकर्षण सिद्धान्त केवल अंग्रेजोंकी मिलकियत मानी जा सकती है? लोकमान्य तिलकके इस वाक्यमें कि 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' प्रत्येक देशके

मनुष्योंकी राजनैतिक माँग उपस्थित है। महात्मा गांधीके सत्याग्रह और असहयोगका संदेश दूर-दूरके देशोंकी पीड़ित और दमित जनताने अपनाया है और अपनायेगी। और कौन जाने कोई देश ऐसी प्रगति कर जाय कि वहाँका औसत नागरिक महात्मा गांधीके प्रति भारतके औसत नागरिककी अपेक्षा अधिक श्रद्धालु हो जाय। अस्तु, विचारधाराएँ किसी सीमाके अंदर कैद नहीं रह सकतीं। अवश्य ही उपज तो ये किसी खास जाति या देशकी ही होंगी, परंतु मिल्कियत उसीकी न रहकर समस्त मानवजाति या विश्वभरकी हो जायँगी।

संस्कृति एक अविभाज्य वस्तु है; हम उसका विकास करें

हमें यह भी न भूलना चाहिये कि किसी खास जाति या देशको ही महापुरुष पैदा करनेका ठेका नहीं मिला है। महापुरुष कहीं भी पैदा हो सकते हैं। उनके लिये काले, गोरे या पीले—सभी रंगोंके वंश समान हैं। वे हरी-भरी भूमिको ही नहीं, रेगिस्तान और पहाड़ी या जंगली भूमिको भी समानरूपसे कृतार्थ कर सकते हैं। उनके द्वारा आविष्कृत या निर्धारित सिद्धान्त मानव-संस्कृतिके अंग हैं। अतः संस्कृतिपर हिंदू, मुस्लिम या ईसाईकी अथवा भारतीय, अंग्रेज, जर्मनकी या पूर्व, पश्चिम आदिकी छाप लगाना ठीक नहीं। सच्चाई सबके लिये सच्चाई है। उसके हिंदू सच्चाई, मुस्लिम सच्चाई आदि भेद करना गलत है। गणित या विज्ञान आदिका प्रत्येक नियम सबके लिये समान है, उसका जाति या धर्म आदिके आधारपर विभाजन नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार संस्कृतिके भी, जाति या धर्म अथवा देश आदिके आधारपर अलग-अलग भेद नहीं किये जा सकते; वह एक अविभाज्य वस्तु है। वह मानव-संस्कृति है। हमें चाहिये कि उसके विकास और प्रचारमें, मानवताको ऊँचा उठानेमें, अधिक-से-अधिक भाग लेकर अपना जीवन सफल करें।

हिंदू-संस्कृति (?)

(लेखक—पं० श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय)

'हिंदू-संस्कृति' शब्द मुझे बेमानी लगता है। 'हिंदू' शब्दका इतिहास हमें गौरवान्वित नहीं कर सकता। भले ही आज यह शब्द हमें कितना ही प्रिय हो गया हो और हमें उसपर कितना ही अभिमान भी होता हो। हाँ, 'आर्य-संस्कृति' शब्द अपने मानी रखता है और वह आसानीसे समझमें भी आ जाता है। यद्यपि 'आर्य' शब्द आगे चलकर जातिवाचक बन गया, तथापि मूलमें वह गुणवाचक था। उसी अर्थमें 'आर्य' शब्दका असली महत्त्व एवं गौरव है। आर्यका साधारण अर्थ है श्रेष्ठ, भला। संसारमें हम मनुष्य जातिके दो ही स्वाभाविक विभाग कर सकते हैं—या तो स्त्री और पुरुष या सज्जन और दुर्जन। स्त्री-पुरुषोंमें भी सज्जन-दुर्जन दोनों मिलते हैं, अतः असली भेद सज्जन-दुर्जनका ही रह जाता है। पूर्वी-पश्चिमी, काले-गोरे, हिंदू-मुसलमान-ईसाई आदि भेद सज्जन-दुर्जन भेदकी अपेक्षा अधिक परिस्थिति-जन्य हैं। सज्जन-दुर्जन-भेद चारित्रिक गुणोंसे सम्बन्ध रखता है, अतः अधिक गहरा एवं मौलिक है। अतः संस्कृतिको भी हम दो ही भागोंमें बाँट सकते हैं—सज्जन-संस्कृति, दुर्जन-संस्कृति। पुरानी भाषाका आश्रय लें तो आर्य-संस्कृति और अनार्य-संस्कृति।

अब रहा यह प्रश्न कि सज्जन कौन और दुर्जन कौन। तो इसका उत्तर गीताने और दुनियाके कई आचार्योंने एवं संतोंने बहुत संतोषजनक दे दिया है। गीताने जिसे दैवी-सम्पत्ति एवं आसुरी-सम्पत्ति कहा है, वही सज्जन-संस्कृति या दुर्जन-संस्कृति है। तुलसीदास, एकनाथ, रामदास—सभी संत-महात्माओंने संत-असंतकी या सज्जन-दुर्जनकी विशद व्याख्याएँ की हैं। सज्जनका प्रधान लक्षण है दूसरोंके सुख-दुःखका पहले खयाल करना; दुर्जनका प्रधान लक्षण है अपनी स्वार्थ-सिद्धि सबसे पहले करना—दूसरोंको दुःखी, अपमानित, शोषित करके भी, खदेड़के भी!

अतः मेरी समझमें तो हम जो 'कल्याण' के उपासक हैं, सज्जन-संस्कृतिको अपनानेकी और दुर्जन-संस्कृतिसे दूर रहनेकी सतत चेष्टा करते रहें। यदि दूसरोंको दुर्जन कहते रहनेकी अपेक्षा हम स्वयं अधिक सज्जन बननेका प्रयास करते रहें तो जिसे हम आज 'हिंदू-संस्कृति' कहते हैं, 'हिंदू-समाज' कहते हैं,

उसका गौरव अदम्य गतिसे बढ़ता रहे।

आजकी दुनियामें हमारे अकेले या एकाकी सज्जन बननेसे काम नहीं चलेगा; हमें अपने आस-पास भी सज्जन-समाज बनाना और बढ़ाना है। किंतु जो स्वयं सज्जन-संस्कृतिके या सुसंस्कृत होंगे, वही तो दूसरोंको सुसंस्कृत बना सकेंगे!

हिंदू-संस्कृति या आर्य-संस्कृतिकी यदि कोई विशेषता कही जा सकती है तो वह यही कि उसने स्वार्थ-सिद्धिकी अपेक्षा पर-सेवा, समाज-सेवा; स्वार्थकी अपेक्षा परमार्थपर अधिक जोर दिया है। उसने व्यक्तिको समाजमें, समष्टिमें, भगवान्‌में लीन होनेका उपदेश दिया है और मार्ग भी बताया है। जो मार्ग, जो विधि, जो क्रिया हमें भगवान्‌की तरफ ले जाती है, वह हिंदू-संस्कृति, आर्य-संस्कृति, सज्जन-संस्कृति, सुसंस्कृति है; जो हमें उससे विमुख बनाती है, वह अहिंदू, अनार्य, दुर्जन-संस्कृति और कुसंस्कृति है।

हिंदू-संस्कृतिके मौलिक लक्षण

आजकल हिंदू-संस्कृतिकी बहुत दुहाई दी जाती है; परंतु वास्तवमें हिंदू-संस्कृति क्या है, इसका शास्त्रीय दृष्टिसे यहाँ कुछ दिग्दर्शन किया जाता है। शास्त्रोंमें लिखा है—

आचारमूला जातिः स्यादाचारः शास्त्रमूलकः।
वेदवाक्यं शास्त्रमूलं वेदः साधकमूलकः॥
क्रियामूलं साधकश्च क्रियापि फलमूलिका।
फलमूलं सुखं चैव सुखमानन्दमूलकम्॥
आनन्दो ज्ञानमूलं च ज्ञानं वै ज्ञेयमूलकम्।
तत्त्वमूलं ज्ञेयमात्रं तत्त्वं तु ब्रह्ममूलकम्॥
ब्रह्मज्ञानं त्वैक्यमूलमैक्यं स्यात्सर्वमूलकम्।
ऐक्यं हि परमेशानभावातीतं सुनिश्चितम्॥
भावातीतमिदं सर्वं प्रकाशो भावमात्रकम्॥

अर्थात् 'जातिका मूल आचार है, आचारका मूल शास्त्र है, शास्त्रोंका मूल वेद है, वेदोंका मूल साधक है, साधकोंका मूल क्रिया है, क्रियाओंका मूल फल है, फलका मूल सुख (विषयसुख) है, सुखोंका मूल आनन्द (ब्रह्मानन्द) है, आनन्दका कारण ज्ञान है, ज्ञानका मूल ज्ञेय है, ज्ञेय वस्तुका मूल तत्त्वानुभव है, समस्त तत्त्वोंका मूल ब्रह्म है, ब्रह्मज्ञानका मूल ऐक्यभाव है और इस तरहका ऐक्य (अद्वैत) ही सब तरहकी साधनाओंका मूल है। वह ऐक्यभाव भावातीत होकर निखिल चराचर विश्वका भावप्रकाशक होता है।'

वेद और शास्त्रोंमें आर्य-संस्कृतिका विज्ञान क्या है, यह उक्त शास्त्र-वचनोंकी गवेषणासे जाना जा सकता है। आर्य-संस्कृतिका मूल आचार है। आर्यजाति जो धर्मप्राण है, उसके प्राणस्वरूप हिंदू-धर्मके सोलह अंग प्रधान हैं। पूज्यपाद महर्षियोंने सनातनधर्मको सोलह प्रधान अंगोंमें विभक्त किया है और इस धर्मको पूर्णचन्द्रकी तरह सोलह कलाओंसे पूर्ण बताया है। हिंदू-धर्मके ये ही सोलह अंग हिंदू-संस्कृतिके मूलाधार हैं।

धर्मानुकूल शारीरिक व्यापाररूपी सदाचारसमूह इसका प्रथम अंग है। आत्माकी ओर ले जानेवाले यावत् विचार सद्‌विचार कहाते हैं। यह इसका दूसरा अंग है। इस दूसरे अंगकी पूर्तिके लिये आर्यजाति शिखा-सूत्र धारण करती है। शिखाके द्वारा यह शरीर देव-मन्दिर समझा जाता है। शिखा-बन्धनके समय ब्रह्मा, विष्णु, महेशका ध्यान किया जाता है। सूत्रमें जो तीन लड़ें होती हैं, वे अध्यात्मशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अधिभूतशुद्धिकी द्योतक हैं। वर्णधर्म सनातनधर्मका तीसरा अंग है; क्योंकि रजोवीर्यशुद्धिसे ही जातिकी शुद्धि बनी रहती है और जातिकी आधिभौतिक शुद्धि पिताके वीर्य और माताके रजकी शुद्धिपर निर्भर रहती है। जातिकी इस शुद्धिका मूल माताओंके सतीत्व-धर्मके पालनपर ही सम्पूर्णरूपसे निर्भर है। इस कारण आर्य नारियोंमें सतीत्वका प्राधान्य रहता है और यह इसका चौथा अंग है। हिंदू-जातिके धर्मका पाँचवाँ अंग आश्रम-धर्म है। इसके द्वारा मनुष्य-जातिका जीवन व्यवस्थित रहता है। ब्रह्मचर्याश्रममें प्रवृत्ति कैसे की जाती है, इसके विषयमें सब तरहकी शिक्षा दी जाती है। गृहस्थाश्रममें धर्मानुकूल प्रवृत्ति करायी जाती है। यहीं जीवनकी समाप्ति नहीं होती। तीसरे वानप्रस्थाश्रममें निवृत्ति सिखायी जाती और चौथे संन्यासाश्रममें निवृत्ति करायी जाती है। इन्हींके द्वारा मनुष्य-जीवनकी सार्थकता होती है। दैव-जगत्‌पर विश्वास हिंदू-धर्मका छठा अंग है। यह स्थूल जगत् सूक्ष्म दैवी

जगत्के अधीन होकर सुरक्षित होता है। अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्के प्रतिनिधि होकर हमारे इस चतुर्दशलोकमय ब्रह्माण्डके सृष्टि-कार्यमें भगवान् ब्रह्मा, रक्षा-कार्यमें भगवान् विष्णु और प्रलय-कार्यमें भगवान् शिव नियुक्त हैं। उनके अधीन रहकर वसु नामक अनेक देवता, रुद्र नामक अनेक देवता और आदित्य नामक प्रधान देवता अपने-अपने पदपर नियुक्त हैं। दूसरी ओर नित्य ऋषिगण ज्ञानराज्यका संचालन करते हैं। सब देवता कर्म-राज्यका संचालन करते हैं और अर्यमा आदि नित्य पितृगण स्थूल राज्यकी सुव्यवस्था करते हैं। पूर्वजन्मार्जित कर्मके अनुसार सुन्दर शरीर, कुरूप शरीर, अन्धता, बधिरता आदि नित्य पितृगण ही माताके गर्भमें सृजन करते हैं। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज आदि चतुर्विध भूतसंघकी व्यवस्था भी देवतागण ही करते हैं। किसी मनुष्यको मारना या बचाना, यह सब देवताओं और असुर आदिकी प्रेरणासे ही मनुष्य किया करता है। राजा या विचारपति जब विचार करने बैठता है, तब यदि वह आस्तिक हो तो उसके हृदयमें देवता प्रेरणा किया करते हैं। यही सब दैवी राज्यकी अलौकिक क्रियाएँ हैं। भगवान्की दैवी शक्तिपर स्थिर विश्वास रखकर उनके तथा देवताओं एवं असुरोंके अवतारोंपर विश्वास करना हिंदू-धर्मका सातवाँ अंग है। योगमूलक और भक्तिमूलक हिंदू-धर्मकी जो उपासना-पद्धति है, वह इसका आठवाँ अंग है। स्थूलध्यानमूलक मन्त्रयोग, ज्योतिर्ध्यानमूलक हठयोग, विन्दुध्यानमूलक लययोग और निर्गुणध्यानमूलक राजयोग—ये ही योगमार्गके चार भेद हैं। इसीसे हिंदुओंकी उपासना-प्रणाली बहुत विस्तृत है। मूर्ति आदि सोलह प्रकारके दिव्य देशोंमें पीठ स्थापन करके सर्वव्यापक भगवत्सत्ताकी उपासना करना हिंदू-धर्मका नवाँ अंग है। शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेक इसका दसवाँ अंग है। यह अंग बहुत गम्भीर विज्ञानसे पूर्ण है। जीवात्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँच कोशोंसे आच्छादित रहता है। शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श-विचारके द्वारा उन कोशोंकी पवित्रता सम्पादन करता हुआ अन्तमें उन्नत साधक मुक्त हो जाता है। इन पाँचों कोशोंके पाँच स्वतन्त्र अपवित्र करनेवाले पदार्थ हैं। अन्नमय कोशके दोषको मल कहते हैं। इस मलका लक्षण तो स्पष्ट ही है। प्राणमय कोशके दोषको विकार कहते हैं। शवादिके स्पर्श करनेसे यह विकार-शक्ति बढ़ती है, क्योंकि प्राणमय कोश अन्य कोशोंको लेकर लोकान्तरमें चला जाता है, तब भी मृत देहमें अन्यकी प्राणशक्तिको खींचनेकी शक्ति बनी रहती है। इसी कारण अवगाहन, स्नान, सुवर्ण-स्पर्श, अग्नि-स्पर्श आदिकी विधि श्मशान-यात्राके बाद करनेकी शास्त्राज्ञा है। मनोमय कोशकी बाधक शक्तिको विक्षेप कहते हैं। ये दोष अशौच, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण आदिके समय आ जाते हैं। इनके निवारणके लिये शास्त्रोंमें अनेक उपाय बताये गये हैं। विज्ञानमय कोशके दोषको आवरण कहते हैं और आनन्दमय कोशके दोषको अस्मिता कहते हैं। कर्म-मीमांसा-शास्त्रमें इन दोषोंसे बचनेके लिये ही शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श-विवेकको विधि बतायी गयी है।

यज्ञों, महायज्ञोंपर विश्वास रखना हिंदू-धर्मका ग्यारहवाँ अंग है। यज्ञ-महायज्ञके हिंदू-शास्त्रोंमें अनेक भेद कहे गये हैं। जो धर्मकार्य एक आधारमें श्रीभगवान्की प्रसन्नता सम्पादन करके साथ-ही-साथ दैवी राज्यके संवर्धनका कारण होता है, उसको यज्ञ कहते हैं। यज्ञ और महायज्ञमें भेद यह है कि साधक अपने ऐहिक और पारलौकिक कल्याणके लिये जो साधन करता है—जैसे कि पुत्रेष्टियाग, अग्निहोत्रादि—उसे यज्ञ कहते हैं और जो जगत्के मंगलके लिये किया जाता है—जैसे पंच महायज्ञ, उसको महायज्ञ कहते हैं। ऋषियोंकी तृप्तिके लिये किये जानेवाले यज्ञको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं और देवताओंके संवर्द्धनके लिये जो यज्ञ किया जाता है, उसे देवयज्ञ कहते हैं। अर्यमा आदि नित्य पितृगण और अपने मृत पूर्वजोंकी तृप्तिके लिये किया जानेवाला पितृयज्ञ है और उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—इस चतुर्विध भूतसंघके मंगलके लिये जो यज्ञ किया जाता है, उसे भूतयज्ञ कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य मनुष्य-जातिका अंग है। इस कारण कर्तव्यबुद्धिसे भोजनसे पहले जो कोई आ जाय, उसे अन्नादिसे तृप्त करना नृयज्ञ है। ये पंच महायज्ञ आर्यजातिके नित्य कर्म हैं, परंतु इस समय इसको लोग बिलकुल भूल गये हैं। वेदों और वेदसम्मत स्मृति, पुराण, तन्त्रादि शास्त्रोंमें स्थिर विश्वास रखना हिंदू-धर्मका बारहवाँ अंग है। कर्म तथा कर्मका बीज-संस्कार और उसकी क्रिया-प्रतिक्रियापर दृढ़ विश्वास रखना हिंदू-धर्मका तेरहवाँ अंग है। जन्मान्तरवादपर विश्वास हिंदू-धर्मका चौदहवाँ अंग है। मनुष्य मृत्युलोकमें आता है और जाति, आयु, भोग, प्रकृति, प्रवृत्ति, शक्ति

और संस्कार—इन सातोंके अनुसार भोगता है। और भोग लेनेपर प्रेतलोक, नरकलोक, पितृलोक, असुरलोक, स्वर्ग आदि लोकोंमें जाता है और घूम-फिरकर पुनः इस मृत्युलोकमें आ जाता है। इसी निरन्तर घूमनेको आवागमन-चक्र कहते हैं। घूर्णायमान चक्रमें आत्मा या जीवको सहायता पहुँचानेके लिये नाना श्राद्ध-विधि, तर्पण-विधि और दायभाग-विधियाँ स्मृतिकारोंने बाँधी हैं और श्राद्धादिके नाना अधिकार स्मृति-पुराणोंमें वर्णित हैं। आजकल दायभागको जैसा लोग समझते हैं, वैसी दायभागकी विधि साधारण विज्ञान-सिद्धि नहीं है। वह बड़ी सद्व्यवस्थामें बाँधी गयी है। निर्गुण-उपासना और सगुण-उपासनाकी नाना विधि जो हिंदू-शास्त्रोंमें बतायी गयी है, वह हिंदू-धर्मका पंद्रहवाँ अंग है और जीवकी कैवल्य-प्राप्ति इसका सोलहवाँ अंग है।

हिंदू-संस्कृतिको समझनेके लिये सबसे पहले इन बातोंकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। 'सूर्योदय'

विश्वमें भारतकी भूमिका

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी)

१. पार्थिव उन्नतिकी अतिसे आधुनिक मानवका पतन

आधुनिक सभ्यताका ध्यान और ध्येय भौतिक हैं। उसने बाह्य, भौतिक प्रकृतिकी प्रचण्ड शक्तियोंसे काम लेनेमें निश्चय ही अद्भुत सफलता प्राप्त की है। साधारण मनुष्योंके लिये भी उसने भोग-विलासकी ऐसी-ऐसी सामग्रियाँ जुटा दी हैं, जो प्राचीनकालके राजाओंको भी नसीब नहीं थीं। परंतु पार्थिवताकी इस अतिसे मनुष्य अपनी पाशविक प्रकृतिकी सहज वासनाओंका दास बन गया है। जितना ही उसने बाह्य प्रकृतिको जीतकर उससे काम लिया है, उतना ही वह अपनी भीतरी प्रकृतिकी दुर्वासनाओंके सामने हतबल और असहाय होकर उसके अधीन हो गया है। निम्नगा प्रकृतिकी इन सहज वासनाओंको वह इतनी बड़ी चीज मानने लगा है कि मानो यही मनुष्य-जीवनका और इसलिये विश्वजीवनका भी सार-तत्त्व है। इससे महान् और दिव्यतर अंगोंके स्वतन्त्र अस्तित्वकी उसने सर्वथा उपेक्षा की है। इन्हें वह निम्नगा प्रकृतिकी वासनाओंके ही परिवर्तित रूप मानता है। उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व नहीं जानता। मनुष्योंके ऐहिक हितवादके आधारपर निर्मित नीतिशास्त्रसे बड़े-बड़े परिवर्तन होनेकी आशा की गयी थी। यह सोचा गया था कि आध्यात्मिक नीतिशास्त्रको हटाकर यही उसका स्थान ग्रहण करेगा; परंतु इस पार्थिव दृष्टिकोणके गर्भसे संघर्ष और संग्रामके सिवा और कुछ न निकला। इसने मानवजातिके दैन्य, दुःख और क्लेश हलके करनेके बजाय उनकी कल्पनातीत वृद्धि की है। यह अपार धनराशि, ये ऊँची-ऊँची गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, उनके बहुमूल्य साज, रेडियो, सिनेमा आदि सर्वसुलभ भोग-सामग्री—इन सबने मानवजातिके वैयक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक संतुलनको नष्ट कर दिया है।

२. मानव-प्रकृतिका विश्लेषण

मनुष्यने मानव-प्रकृतिके प्रधान अर्थात् आध्यात्मिक और नैतिक अंगोंकी बहुत ही बुरी तरहसे अवहेलना की है, ऐसा करनेसे मनुष्य पशु बन गया है। अतिसंकुचित स्वार्थपरता, संघर्ष और परापहरणको अब वह बहुत अच्छा समझता है; क्योंकि आपाततः पशु-जगत्‌की ये ही खास बातें हैं। परंतु जहाँ-कहीं मनुष्यके असली गुण चमक जाते हैं, वहाँ मेल, सुव्यवस्था, शान्ति, सहानुभूति और परस्पर सहयोग तुरंत दिखायी देने लगते हैं। व्यक्तिगत या समष्टिगत जीवनके भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक अंगोंमें परस्पर कोई विरोध नहीं है।

३. नैतिक और आध्यात्मिक नियमोंका सार्वत्रिक और वास्तविक स्वरूप

इनमेंसे प्रत्येक क्षेत्रके नियम सार्वत्रिक और वास्तविक हैं। विश्वजीवन उन्हींपर स्थित है। विश्व अनैतिक या अध्यात्महीन नहीं है; यदि ऐसा होता तो निरुद्देश्य जड विश्वसे मानव-प्रकृतिके नैतिक और आध्यात्मिक अंग कहाँसे उत्पन्न होते? इन क्षेत्रोंके नियम मनुष्यकृत नहीं हैं। कोई मनुष्य इन नियमोंको बच्चोंके खिलौनोंकी तरह बना-बिगाड़ नहीं सकता। ये उच्चतर क्षेत्रोंके उच्चतर नियम, भौतिक जगत्‌के नियमोंकी

तरह ही, इन नैतिक और आध्यात्मिक जगतोंकी प्रकृतिके अंदर ही अनुस्यूत हैं। भौतिक जगत्‌में जैसे भौतिक नियमोंको अनुसन्धान करके जानना और मानना पड़ता है, वैसी ही इन उच्चतर क्षेत्रोंकी बात है। कोई वैज्ञानिक जैसे स्वयं नियम बनाकर भौतिक जगत्‌से उनका पालन नहीं कराता, वैसे ही नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रोंमें नियमोंका नियन्ता मनुष्य नहीं है जैसा कि वह अपने-आपको कुछ दिनोंसे समझने लगा है। भौतिक क्षेत्रकी तरह इन क्षेत्रोंमें भी उसका काम इतना ही है कि वह अपने लाभके लिये इन क्षेत्रोंके नियमोंको जाने और अडिग श्रद्धाके साथ उनका पालन करे। यह सारा विधान सार्वत्रिक है, इसके लिये न कोई द्वेष्य है न प्रिय। शासक और शासित, ज्ञानी और मूर्ख, धनी और गरीब, आचार्य और शिष्य, पूँजीपति और श्रमजीवी, साम्राज्यशाली राष्ट्र और पराधीन जनता, श्वेत जाति और कृष्ण जाति, स्त्री और पुरुष, कीट और पतंग—सबके साथ इस विधानका एक-सा व्यवहार है। कहते हैं, कानून किसीका खयाल नहीं करता। कोई भी व्यक्ति या व्यक्तियोंका समूह, जो इस विधानका उल्लंघन करता है, आज या कल उसके फल अवश्य चखता है। ये नैतिक और आध्यात्मिक नियम उस पुरुषको अति भयानक लग सकते हैं, जो भौतिक जीवनको संपूर्ण जीवन मानकर उसीके तदाकार हो जाता है, शरीरको ही अपना आत्मा समझ लेता और अपने आन्तर, नैतिक और आध्यात्मिक तत्त्वको, अपने उस सदात्माको भुला देता है जो इस भौतिक ढाँचेका नियन्ता है, जो एक तरहसे जब चाहे इस शरीरको धारण कर लेता और जब चाहे छोड़ देता है।

४. आन्तर ऐक्यका दर्शन और उसका महत्त्व

परंतु जो मनुष्य इस भौतिक ढाँचेका, इसकी आवश्यकताओं और भोगोंका मोह पार कर चुका है, जिसने अपने सच्चे, आध्यात्मिक और नैतिक स्वरूपको प्राप्त कर लिया है, उसके लिये यह मूल आध्यात्मिक विधान बहुत ही रमणीय है। उसके साथ उसका एकीभाव हो जाता है। उसका अन्तःस्वरूप अन्तर्जगत्‌का ही अंश है। अतः उसे इस अन्तर्जगत्‌के आध्यात्मिक और नैतिक क्षेत्रोंके नियम विजातीय नहीं मालूम होते। इन नियमोंके साथ उसका तादात्म्य होता है। वह इन असंख्य विविध रूपोंमें सर्वत्र एकत्व और सामंजस्य देख पाता है। इस परिदर्शनसे सब झगड़े मिट जाते हैं। कारण, जितने भी परस्पर विरोध, झगड़े या संघर्ष हैं, सब इस परम सत्यकी अप्रतीतिसे ही उत्पन्न होते हैं।

५. एकत्वके परिदर्शनका महत्त्व

हमारा सच्चा, स्वरूपगत समत्व या भ्रातृभाव इसीमें है। जो संघटन, संस्थाएँ, परम्पराएँ और रीति-रिवाज इस परिदर्शनसे उत्पन्न होते हैं, उन्हींसे मानव-जगत्‌का सच्चा कल्याण हो सकता है। इन सबके अंदर आत्मसत्ताकी प्रतीति ही असली चीज है, अन्यथा वे शवोंके ढेर हैं—मानवजातिके सिरपर व्यर्थके महाभयानक बोझ हैं! जीवनके विविध रूपोंमें यही सत्य असली तत्त्व है। रूपका भी अपना एक मूल्य और महत्त्व है और वह यही है कि अन्तःस्थ आत्मा परिस्थितिकी आवश्यकताके अनुरूप वेष धारण कर लेता है। पर अन्तःस्थ आत्मासे वियुक्त होनेपर उस रूपका किसी शवके समान कोई मूल्य और आकर्षण नहीं रह जाता। कुटुम्ब, समाज, राज्य, कोई व्यापारिक संघ या विद्याप्रचारक सभा आदि अनेकविध संघटन मनुष्योंके परस्पर स्नेह और उन्नति-साधनके लिये आवश्यक होते ही हैं। पर जब इनमें एकत्वका भाव नहीं होता, तब परस्पर सहयोग हवा हो जाता है! जिस उद्देश्यसे ये संस्थाएँ बनती हैं, वह उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। इसी परम सत्यकी उपेक्षाके कारण ही आधुनिक प्रजातन्त्र, राजतन्त्र, समाजतन्त्र, साम्यतन्त्र, अधिनायकतन्त्र आदि संघटन परस्परविरोध, शोषण, परापहरण और युद्धकी ही अवस्था उत्पन्न करनेके कारण बनते हैं। जबतक राज्य अथवा अन्य किसी प्रकारके संघटनको सार्वत्रिक नीति और अध्यात्मसे दूर रखनेकी बुद्धिका ही हठ चलता रहेगा, तबतक हमारे दुःखोंकी वृद्धिका भी कोई अन्त न देख पड़ेगा। सब समयों और देशोंके साधु-संतों और ऋषि-मुनियोंने एकत्वके परिदर्शनकी साक्ष्य भरी है।

६. देशके साधनोंका समान उपयोग

देश या राज्यके सब साधन इस परम सत्यके आधारपर एक कार्यपद्धतिके अंदर लाये जा सकते हैं। विज्ञान, अध्यात्मविद्या और तत्त्वज्ञानमें, उसी प्रकार राज्य, नैतिकता या पार्थिव, आर्थिक उन्नतिमें कोई परस्पर विरोध नहीं है। सबका अपना-अपना क्षेत्र और अपना-अपना काम है। इनमेंसे किसीको अलग कर देने या किसीपर अत्यधिक बल देनेसे मानव-जातिकी प्रगति रुकेगी। आवश्यकता है केवल इन सबका सावधानीके साथ समान उपयोग करनेकी।

७. भारतकी राजनीतिक स्वाधीनता और पश्चिमका अन्ध-अनुकरण

भगवत्कृपासे हमें अपनी राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त हो गयी है। सहस्रों वर्षकी गुलामीके पश्चात् हम स्वाधीन हुए हैं। हमारा स्वाधीन होना मानवजातिके भावी कल्याणकी दृष्टिसे बहुत शुभ है। कारण, भारतवर्ष अध्यात्मविद्याका मूल उद्गमस्थान है। अध्यात्मविद्या इस धरतीकी सहज उपज है और अन्य देशों और सभ्यताओंकी तुलनामें यही हमारी विशेषता है। अब भी इस देशके लोगोंके मनोंपरसे इसका प्रभाव सर्वथा नष्ट नहीं हुआ है। परंतु तत्त्वज्ञान, धर्म और अध्यात्मके इस क्षेत्रमें केवल सर्वसाधारण लोगोंका नहीं, बल्कि सबसे बड़े नेताओंका भी दृष्टिकोण अज्ञातरूपसे पाश्चात्त्य ढंगका अर्थात् जड पार्थिव हो गया है। राजनीतिक क्षेत्रमें हमलोग निस्सन्देह स्वतन्त्र हो गये; पर मानसिक दासत्व, जो सबसे अधम दासत्व है, अभीतक यहाँ दलबलके साथ मौजूद है। राजनीतिक परिवर्तनसे राष्ट्रके सब साधनों और क्षमताओंको खुलकर खेलनेका पूरा अवसर मिला है। इससे हमारा उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। तथापि हम जिस अत्यन्त संकटमय स्थितिमें आज हैं, उसे हम अच्छी तरहसे समझ नहीं रहे हैं।

पहले पाश्चात्त्य जड सभ्यताका प्रचार हमारे विदेशी शासक इस देशमें अपने स्वार्थके द्वारा नियन्त्रित रूपमें करते थे। हमारे ऊपर एक बन्धन था; और यद्यपि हमने भी जीवनके पाश्चात्त्य आदर्शको बहुत कुछ ग्रहण कर लिया था, तथापि हम कुछ चाहते थे, कर नहीं पाते थे। पर राजनीतिक बन्धनोंके टूटते ही हम देशको सर्वथा पश्चिमके साँचेमें ढालनेके लिये अधीर हो उठे हैं। अब प्रतिदिन बड़ी-बड़ी स्कीमें बन रही हैं, बड़े-बड़े काम छेड़े जा रहे हैं। जीवनके प्रत्येक क्षेत्र और विभागमें—राजनीतिमें, जल-स्थल-वायु-सेनामें, उद्योगधंधोंमें, व्यापार, कृषि, शिक्षा और विज्ञानमें, सर्वत्र क्रान्ति करना चाहते हैं! राजनीतिक बन्धनमें इतने दीर्घकालतक पड़े रहनेके बाद हम अब यथासंभव शीघ्र अपने राज्यको बिना राजाका जनतन्त्र घोषित करना चाहते हैं।

ये सब प्रयत्न बहुत अच्छे हैं, जनहितकी इच्छासे ही प्रेरित हैं, अतः प्रशंसा, कृतज्ञता और सहयोगके पात्र हैं। पर रोगका सही निदान करनेमें अभीतक हम चूक रहे हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों और उनके सार्वत्रिक प्रयोगोंके इस युगमें हमारे जीवनपर ही महान् संकट उपस्थित है, यदि हम इन सब आधुनिक सामानोंसे लैस होकर पहलेसे तैयार न हों। पर सच्ची बात यह है कि इस जगद्व्यापी दुःख, दारिद्र्य और परस्पर अविश्वासका कारण इन सामानोंकी कमी नहीं, बल्कि अत्यधिकता है। कम-से-कम पश्चिममें तो इनकी कोई कमी नहीं है, फिर वहाँ शान्ति और मेल क्यों नहीं है? बात यह है कि किसी ऐसी वस्तुका अभाव है, जो होनी चाहिये पर है नहीं। इन सब बातोंको सोचनेका हमें कोई अवकाश ही नहीं है। पश्चिमसे जो कुछ हमको मिल जाता है, पूर्वमें मारे अधीरताके हम उसीके प्रचारमें लग जाते हैं। आज हमारे प्रत्येक कार्यक्षेत्रमें इसी अनुकरणशील उन्मादका डंका बज रहा है। हम मानते हैं किसी हदतक भौतिक आवश्यकताओंपर ध्यान देना जरूरी है। पर सबसे जरूरी चीज इस संकटकालमें नैतिक आचरण और अध्यात्मज्ञान ही है। यही हमारी सच्ची परम्परागत सम्पत्ति है, जिससे हम आज इतने उदासीन हैं! यही हमारी सभ्यताका सार-तत्त्व है। यही वह सन्देश है, जिसे हमें पीड़ित मानव-जातिके पास पहुँचाना है। यही जीवनका श्वास-प्रश्वास और हृदयकी गति है। क्या इसके महत्त्वको हमने कुछ भी हृदयंगम किया है? क्या अध्यात्मज्ञानको उसके योग्य स्थानपर बिठानेका हमने कोई भी प्रयत्न किया है?

८. हमारी राजनीतिक तत्त्वनिष्ठा

हमारी राजनीतिक तत्त्वनिष्ठामें भी पार्थिव दृष्टिकोणका वही दोष घुस आया है। हमारा राज्य 'सेक्युलर' यानी 'धर्मनिरपेक्ष' राज्य कहाता है। इसीसे पता लगता है, हमारा दृष्टिकोण क्या है। अब इस शब्दपर हम जरा गौर करें। राज्य क्या है? राज्य शासनका एक यन्त्र अथवा व्यवस्था है, जिसका मुख्य उद्देश्य है—लोगोंके लिये आवश्यक वस्तुओं, लोगोंके स्वार्थों और सम्पत्तियोंकी रक्षा करना। राज्यका सेक्युलर होना शासनकी ऐसी व्यवस्था सूचित करता है, जिसमें ईश्वरकी सत्तापर विश्वास, धर्म और परजीवनकी कोई मान्यता नहीं रहेगी। इंग्लैंडमें इस प्रकारकी राज्यपद्धतिने सब धर्मोंके विरोधका रुख ग्रहण किया था। ऐसे राज्यमें नैतिकताका आधार धर्म नहीं होता और राज्यके द्वारा चलाये जानेवाले विद्यालयोंमें धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती। 'सेक्युलर' शब्दकी ऐतिहासिक पार्श्वभूमिसे धर्मके विरोधकी गन्ध आती है। यदि इस ऐतिहासिक

अर्थको छोड़ दें, तो भी 'सेक्युलर' का अर्थ ऐहिक या सांसारिक होता है; उससे कोई पवित्र, धार्मिक या आध्यात्मिक भाव नहीं उदय होता।

९. धर्मनिरपेक्ष राज्यका भाव

धर्मनिरपेक्ष या सेक्युलर राज्य हम उसी राज्यको कहेंगे—(१) जिसके उद्देश्यमें सांसारिक चीजें, भौतिक आवश्यकताएँ, अन्न-वस्त्र-घर तथा भौतिक भोग-विलासकी सामग्रियाँ और बौद्धिक विलासकी चीजें ही आती हैं, (२) जिसका आधार धर्मनिरपेक्ष न्याय ही है, जो अध्यात्मविद्या या धर्मका कोई विचार नहीं करेगा, चाहे उनके आदेश या वचन कितने भी अविरोधी और सर्वथा सत्यमूलक क्यों न हों। अर्थात् हमारी तत्त्वनिष्ठा निरी भौतिक होगी।

१०. अपनी धरतीकी प्रकृति और आध्यात्मिक परम्पराकी उपेक्षा

इससे यह जाहिर होता है कि हमलोग अपनी धरतीकी प्रकृति और आध्यात्मिक परम्पराके सर्वथा विमुख हैं। हिंदू-घरका यह पुराना संस्कार है कि जब किसी घरमें कोई बच्चा पैदा होता है तो उसकी जीभपर सोनेकी लेखनी और शहदकी स्याहीसे 'ॐ' अक्षर लिखा जाता है और जब कोई मनुष्य इस जगत्‌से कूच करता है, तब जोर-जोरसे 'सत् नाम' की ही रट लगायी जाती है। जीवनका आरम्भ और अन्त—दोनों ही भगवन्नामके साथ होते हैं। फिर इस जगत्‌में जीवित रहते हुए हमलोग जिन नामोंसे पुकारे जाते हैं, हमारे जो नाम रखे जाते हैं, वे क्या हैं—कृष्ण, राम, मोहन, गोविन्द, राधा, सीता, सावित्री आदि। ये सब नाम इसीलिये हैं कि वे हमारी धरतीके स्वभावका हमें सदा स्मरण करायें और सांसारिक विषयोंके मिथ्या मोहमें पड़कर पाशविक आचरणपर उतारू होनेसे बचायें। इसपर भी कोई यह कह सकता है कि यह सब व्यर्थ है; क्योंकि ईश्वर और धर्मके नामपर अभी हालमें ही कितने अमानुष और भयंकर अत्याचार हुए हैं। परंतु इसमें हमारा आदर्श, हमारी शुभेच्छा, भगवन्नाम लेनेकी पद्धति कारण नहीं है। बहुत-से अन्य अन्तर्बाह्य कारण हैं, जो इस पवित्रतम वस्तुको भ्रष्ट करनेमें दीर्घकालसे लगे थे। जो वस्तु इतनी पवित्र है, इतने महत्त्वकी है और जिसके अंदर शुभकी इतनी बड़ी क्षमता है, यह यदि विपरीत रूपमें ग्रहण की जायगी तो स्वभावतः ही उसका परिणाम भी उतना ही भयंकर होगा। पर क्या इससे इस वस्तुको ही हटा देना या घटा देना उचित होगा? संसारमें कौन संस्था ऐसी है, जिसमें भ्रष्टाचार प्रवेश नहीं करता, जिसका दुरुपयोग नहीं होता?

यह सचमुच ही बड़े आश्चर्यकी बात है कि जिस देशमें भगवान्‌के नामपर मनुष्योंके नाम रखे जाते हैं, उस देशका राज्य धर्मनिरपेक्ष, सांसारिक, ईश्वरविमुख हो। हमारे लोग व्यक्तिशः देखते हैं पूर्वकी ओर, जिधरसे प्रकाश, दिव्यता, शान्ति, शक्ति और समृद्धि प्राप्त होती है। पर हमारा राज्य देखता है पश्चिमकी ओर, जहाँसे अन्धकार, अशान्ति, संघर्ष और दरिद्रताका आगमन होता है। क्या हमारा अपने देशके राज्यको धर्मनिरपेक्ष राज्य कहना भारतवर्षकी आध्यात्मिक परम्पराकी प्रतिष्ठाके विरुद्ध नहीं है?

११. धर्मनिरपेक्ष तत्त्वनिष्ठा और नामकरणका कारण

(१) भारतवर्ष बहुत कालतक अंग्रेजोंके राजनीतिक दासत्वमें रहा और अंग्रेजोंकी शिक्षापद्धतिने इसे पाश्चात्त्य आदर्श और विचार-प्रणालीकी ही दीक्षा देकर अपनी सभ्यताके विमुख कर दिया। विदेशी राज्यको स्थिर करनेके लिये इसकी आवश्यकता थी। हमलोगोंने इस तरह जीवनका पाश्चात्त्य आदर्श अपनाकर उसीका ढंग सीख लिया। भारतीय राज्यकी धर्मनिरपेक्ष तत्त्वनिष्ठा और नामकरणका एक मुख्य कारण तो यही है। पाश्चात्त्य देशोंमें धर्म और अध्यात्मको राज्यसे विच्छिन्न रखनेमें दो कारण हुए। एक, धर्मके नामपर भ्रष्टाचार और दूसरा, ईसाई-धर्मकी कुछ बातोंके साथ विज्ञानका विरोध। धर्माचार्योंद्वारा वैज्ञानिक सत्योंका दमन भी किया गया। परंतु वस्तुतः (१) राज्य और (२) अध्यात्म, नैतिक आचरण और धर्ममें परस्पर कोई मौलिक विरोध नहीं है। धर्मका अपना क्षेत्र और कार्य क्या है, इस विषयका अज्ञान और पादरियोंके अहंगत स्वार्थ—इन दो कारणोंसे पाश्चात्त्य देशोंमें उनके बीच संघर्ष रहा। इस संघर्षको मिटानेके लिये जो उपाय किया गया कि ये दोनों एक-दूसरेसे अलग किये गये, यह न तो एकमात्र समाधान था, न यह समुचित और उपकारक ही था। अतः इससे मानव-जीवनकी समस्या हल न हुई। पाश्चात्त्य जगत्‌में राजनीतिक अधःपतन और भ्रष्टाचारका यही कारण हुआ। पाश्चात्त्योंके राजनीतिक प्रभुत्वसे प्रभावित और पाश्चात्त्य शिक्षासे शिक्षित भारतीय भी इन दोषोंको समझनेमें

कार्ली गुफाका बहिर्द्वार

भाजा गुफामें इन्द्र-मूर्ति

कार्लीके गुहा-मन्दिरका भीतरी दृश्य

[पृ० ७८१

भाजाकी चैत्यगुफा

भाजाकी सूर्य-मूर्ति [पृ० ७८२
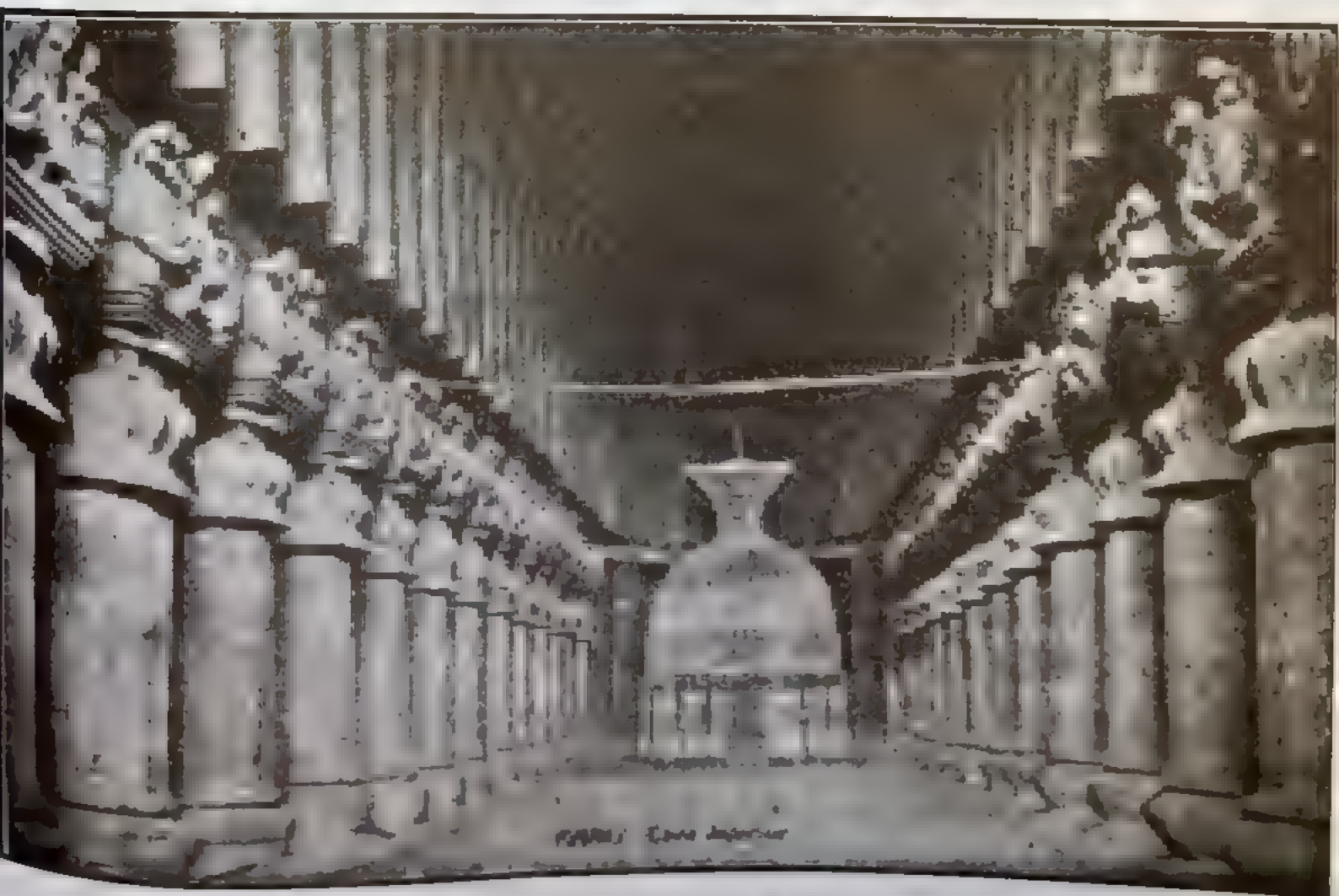
असमर्थ ही रहे।

(२) पाश्चात्त्य देशोंके ही समान भारतवर्षमें भी आध्यात्मिक विषयोंकी ओरसे उदासीनता बढ़ती जा रही है। इससे धार्मिक या आध्यात्मिक विषयोंसे राज्यकी निरपेक्षता हमें नहीं खटकती। जीवनका यह भौतिक दृष्टिकोण है। रोटीका प्रश्न और ऐसे ही अन्य प्रश्न इसमें सर्वप्रधान होकर रहते हैं।

(३) धर्मकी भित्तिपर, विभिन्न सम्प्रदायों और समाजोंके बीच होनेवाले संघर्षोंका समाधान भी हमलोग पाश्चात्त्य ढंगसे ही करना चाहते हैं। यह बहुत शोचनीय बात है कि हमें दूसरोंकी सभ्यताका सच्चा ज्ञान प्रायः नहीं होता। इतिहास, जो साधारणतया पढ़ाया जाता है या तो इस विषयमें चुप रहता है अथवा वैयक्तिक स्वार्थों और समयके चलते भावों और विचारोंके वश प्रायः कुछ-का-कुछ समझा देता है। कोई ग्रन्थ यदि भारत आदि देशोंकी संस्कृतिके उदात्त भावों और विचारोंको प्रकट भी करते हैं तो उन्हें काल्पनिक कहकर उड़ा दिया जाता है। अपनी संस्कृति और सभ्यताको भी हमलोग पाश्चात्त्योंकी आँखोंसे देखने लगे हैं!

यूरोपके धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक इतिहासमें शासितोंपर शासकोंके अत्याचार, दुर्बलों और गरीबोंपर बलवानों और अमीरोंके अत्याचार और विभिन्न स्वार्थों और संस्थाओंके परस्पर संघर्ष ही सर्वत्र वर्णित हैं। परस्पर स्नेह और सहानुभूतिके सम्बन्धोंकी कोई चर्चा उसमें नहीं मिलती। मनुष्योंकी पाशविक वृत्तियोंका ही उसमें प्राधान्य है। चोरी, खून, डाका, कर्तव्यकी अवहेलना, विश्वासघात आदि आसुरी वृत्तियोंकी कहानियाँ ही मानव-इतिहासकी विश्वसनीय घटनाएँ मानी जाती हैं। त्याग, भक्ति, अनुराग, परस्पर स्नेह आदि गुणोंके दृष्टान्त अव्यावहारिक कहकर त्याग दिये जाते हैं। अतः धार्मिक भित्तिपर होनेवाले अपने यहाँके संघर्षोंको मिटानेका यह पाश्चात्त्य उपाय कि धर्म या अध्यात्मसे राज्यका कोई सम्बन्ध ही न रखा जाय, कोई वास्तविक उपाय नहीं है; बल्कि इसके जो बुरे परिणाम पाश्चात्त्य देशोंमें हुए, वे ही यहाँ भी होंगे—यह स्पष्ट है। पाश्चात्त्योंकी नकल करनेसे काम नहीं बनेगा।

१२. (१) राज्य और (२) नैतिक आचरण, अध्यात्मज्ञान और धर्मका मूल सम्बन्ध

(१) मानव-प्रकृतिके नैतिक और आध्यात्मिक अंग सबसे प्रधान और मूलभूत अंग हैं। मनुष्यकी ये ही विशेषताएँ हैं। कोई व्यक्ति, कोई समाज, किसी प्रकारका कोई संघटन या संस्थान, जो नैतिक और आध्यात्मिक सत्यपर प्रतिष्ठित नहीं है, कोई सफलता या उन्नति-लाभ नहीं कर सकता।

(२) किसी संघटनका मूल उद्देश्य ही इन उच्चतर नियमोंका निरूपण और धारणकर उनका पालन कराना ही होता है। जंगलीपन या पशुता पशुओंके लिये ही योग्य है। मनुष्योंमें भी यह चीज है, पर वह पशुकोटिकी है। अतः राज्य अथवा अन्य किसी संस्थाका निर्माण नैतिक और आध्यात्मिक अनुशासनका ही फल है।

(३) किसी राज्य अथवा संस्थाकी उन्नति, अमोघ सहज संघर्षरहित कार्यकारिता मूलतः इसीपर निर्भर है कि लोग स्वेच्छासे इन आध्यात्मिक और नैतिक नियमोंका पालन करना सीख लें।

(४) मनुष्यके जीवनकी आवश्यकताओंमें नैतिक आवश्यकताओंका अन्न-वस्त्रादिकी भौतिक आवश्यकताओंकी अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व है; क्योंकि मानव-जीवनकी ये ही मुख्य चीजें हैं। (आजके इस अन्न-वस्त्रके अभावमें भी यदि गहराईसे देखा जाय तो अन्न-वस्त्रका वास्तविक अभाव प्रधान कारण नहीं है, बल्कि नैतिकता और धार्मिकताका अभाव ही प्रधान कारण है।) भौतिक अभावोंकी पूर्ति भी नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रोंमें उन्नति करनेके लिये ही साधनरूपसे आवश्यक है। अतः राज्यका मुख्य कर्म ही यह हो जाता है कि वह जनताकी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नतिके उपायोंकी योजना करे। अतः उसका धर्मनिरपेक्ष अथवा अध्यात्मनिरपेक्ष होना कितना अस्वाभाविक, बुद्धिविसंगत और हानिकारक है।

१३. पाश्चात्त्योंकी तर्कप्रणालीमें हेत्वाभास

पाश्चात्त्य समाधान कोई समाधान नहीं है। उससे राज्यकी सत्ता ही डिग जाती है। वैसा राज्य केवल नाम और रूपका राज्य है, वास्तविक नहीं। नैतिक और आध्यात्मिक नियम ही राज्यका एकमात्र आधार हैं। इसे न समझना पशुताके नियमोंका प्रवर्तन है। इससे राज्य राज्यहीन हो जाता है। उच्चतर नियमानुवर्तनके विकासके साथ राज्यका विकास होता है और उच्चतर नियमोंके उल्लंघनसे राज्य नष्ट होता है। आधुनिक जगत्‌की दृष्टिमें पवित्रता नामकी कोई चीज ही नहीं है। अतः यह संसार अराज्यरूप हो गया है। क्या

भारतवर्ष अपनी अत्युज्ज्वल आध्यात्मिक परम्पराके रहते हुए इससे शिक्षा ग्रहणकर पश्चिमका अन्धानुकरण करना छोड़ न देगा? इस अन्धानुकरणसे उसका सर्वनाश हो जायगा और उसके साथ जगत्‌का भी।

१४. राजनीतिक कठिनाइयोंका समाधान

हमारी धार्मिक, साम्प्रदायिक, राजनीतिक, सामाजिक—सभी कठिनाइयोंको हल करनेका एक ही बुद्धिसंगत मार्ग है। वह यही है कि इन सबका संघटन सर्वमान्य व्यापक नैतिक और आध्यात्मिक सत्यके सुदृढ़ आधारपर होना चाहिये। राष्ट्रोंके पारस्परिक युद्ध और राजनीतिक दलबंदियोंके परस्पर संघर्ष भौतिक दृष्टिकोणसे ही उद्‌भूत होते हैं। इस भौतिकताके कारण ही आज नैतिक और आध्यात्मिक सत्यकी ओर सब लोग पीठ फेरे हुए हैं। हमारे साध्य और साधन दोनों ही दूषित हो गये हैं। भौतिक भोग-विलास जीवनके अनन्य ध्येय बन गये हैं। सिनेमा-नर्तकियाँ देवियाँ बन गयी हैं। आजकी जनता उन्हींकी पूजा-भक्ति करना सीख रही है। बड़े-बड़े राष्ट्रोंके प्रधान मन्त्री जितना धन अपने जीवनभरमें नहीं कमा सकते, उतना ये नर्तकियाँ साल, दो सालमें कमा लेती हैं। विवाहकी हाटमें इन्हींको सबसे अधिक मूल्य मिलता है। लोग सर्वस्व देकर इन्हें पानेकी इच्छा करते हैं। नैतिक और आध्यात्मिक पतनका यह एक उपलक्षण है। आधुनिक मानव-सभ्यतामें सर्वत्र सब क्षेत्रोंमें इसके विभिन्न प्रकार हैं। बार-बार होनेवाले ये जागतिक युद्ध इसी भौतिकताके परिणाम हैं, यह समझानेकी कोई आवश्यकता नहीं। इस सार्वत्रिक पतनसे मानव-जातिके उद्धारका एकमात्र उपाय है—उसका नैतिक और आध्यात्मिक पुनरुत्थान। प्रजातन्त्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद अथवा सर्वराष्ट्रिय जीवनवाद—कोई भी वाद अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ-जैसे कोई भी सर्वराष्ट्रिय संघटन इन दुःखों और संघर्षोंसे हमें बचा नहीं सकते। ये केवल बाह्यरूप हैं। इनके अंदर जबतक न्याय, प्रेम, सहानुभूति आदि दिव्य भाव संचार नहीं करेंगे, तबतक इनसे क्या होनेवाला है? कोई कानून, कोई संघ अवज्ञारत, हिंसोद्यत, स्वार्थपरायण, प्रतारक बहुजन-समुदायको ठीक रास्तेपर नहीं ला सकता। केवल नैतिक और आध्यात्मिक नियमोंका जनताद्वारा पालन होनेकी स्थिति ही कुछ काम कर सकती है। हमारी सभी राजनीतिक कठिनाइयाँ आध्यात्मिक और नैतिक पुनरुत्थानसे ही हल हो सकती हैं। हमारी साम्प्रदायिक कठिनाइयाँ भी इसीसे हल हो सकती हैं। कारण, सभी सम्प्रदायोंकी यही समान आधारभूमि है। जो राज्य सर्वसामान्य धर्मतत्त्वोंके प्रचारको प्रोत्साहन करता है, उससे कोई सम्प्रदाय असंतुष्ट नहीं हो सकता। इसीसे सभी सम्प्रदायोंको पुष्टि मिलती है और परस्पर विरोधकी कल्पनाएँ नष्ट होती हैं। अतः राज्यके द्वारा इन व्यापक धर्म-सिद्धान्तों, आध्यात्मिक और नैतिक नियमोंका प्रचार हो—यही हमारी सभी राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक और आर्थिक कठिनाइयोंको दूर करनेका एकमात्र उपाय है।

१५. महात्मा गांधीका रामराज्य

पूर्ण विश्वासके साथ यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रकी स्वाधीनताके जन्मदाता महात्मा गांधीका 'रामराज्य' आध्यात्मिक आधारपर प्रतिष्ठित था। भारतीय संस्कृतिके वे प्रतीक थे। भारतके ऋषि-महर्षियों और साधु-संतोंने भारतको जो शिक्षा दी, महात्मा गांधीने उसी परम्पराकी शिक्षा दी। सभी देशों और समयोंके संत-महात्माओंके उपदेश इसीका समर्थन करते हैं। महात्मा गांधीकी विशेष बात यह रही कि वे भारतवर्षकी राजनीतिक स्वाधीनताके लिये लड़े। उनकी लोकप्रियता और दिग्दिगन्तमें उनकी कीर्तिका यही कारण है। पर उन्होंने अपने आत्मचरितके उपसंहारमें यह बताया है कि सत्य और अहिंसा ही वह मान है, जिससे मैं अपनी सफलताको मापा करता हूँ। सत्यका जो निरूपण उन्होंने किया, वह निश्चय ही भारतकी प्राचीन आध्यात्मिक संस्कृतिके अनुरूप था। पर उनका सत्य निरा ऐहिक हितवादमूलक नहीं था। उसका मूल था आध्यात्मिक परम सत्य। उनका सत्य था राम और राम था उनका सत्य। रामराज्यमें जो न्याय, समत्व आदि दैवी गुण जनतामें प्रतिष्ठित थे, उन्हींसे मुग्ध होकर महात्मा गांधी अपनी भावनाके आदर्श राज्यको रामराज्य कहा करते थे। आधुनिक राजनीतिके कायल लोग भी न्याय, समता आदि गुणोंकी प्रशंसा किया करते हैं। पर उनका दृष्टिकोण 'अध्यात्मरहित, धर्मनिरपेक्ष' हुआ करता है। महात्मा गांधीका दृष्टिकोण आध्यात्मिक था। जो कुछ वे करते थे, सब परम सत्य श्रीरामको अर्पण करते थे। रामके लिये वे जीते थे और उनके अन्तिम शब्द भी 'हे राम! हे राम!' थे। उनका समाजवाद आध्यात्मिक था। समाजवाद और निष्क्रिय प्रतिरोध जगत्‌में उनसे पहले किसी-न-किसी रूपमें वर्तमान थे। पर उनपर

महात्मा गांधीने आध्यात्मिकताकी छाप लगा दी, उन्हें भारतीय बना लिया।

१६. भारतीय संस्कृतिका आध्यात्मिक हृदय

आध्यात्मिकता भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका सारतत्त्व है। इसने भारतको अमर बना दिया है। भारतीय जनताके अन्तर्बाह्य सभी कर्मों और उद्योगोंका यही मार्गदर्शक सिद्धान्त रहा है। आहार, विहार, वस्त्र-परिधान, स्नान और निद्रा आदि सामान्य कर्मोंमें भी भारतीय संस्कृतिने आध्यात्मिकता भर दी है। गीताके १७वें और १८वें अध्यायमें तप, आहार, यज्ञ, दान, त्याग, कर्म आदिके त्रिविध भेद बतलाकर यह समझाया गया है कि किस प्रकार ये सब कर्म भी मानव-जीवनके परम लक्ष्यके साधक बनते हैं। झाड़ू देने या बर्तन माँजनेसे लेकर राजपद सँभालनेतक सब कर्मोंमें आध्यात्मिक भाव भर जानेसे उनके भौतिक भेद कोई भेद नहीं मालूम होते और सभी कर्म परम पदका मार्ग सबके लिये खोल देते हैं।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

'जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, जो इस सारे जगत्में व्याप्त हैं, स्वकर्मके द्वारा जो मनुष्य उसकी पूजा करता है, वह अपने जीवनकी सिद्धि लाभ करता है। स्वकर्मका साधन, चाहे उसमें कोई विशेष बात न हो, दूसरेके उत्तम प्रकारसे किये गये कर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। स्वधर्मका पालन करते हुए मर जानेमें भी परम कल्याण है, दूसरेका धर्म ग्रहण करनेमें भय-ही-भय है।'

इस प्रकार आध्यात्मिक समता सुप्रतिष्ठित थी। ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल—सबमें यही आध्यात्मिक समत्वदर्शन करनेकी शिक्षा गीता देती है। ऐसी आध्यात्मिक दृष्टि जीवनके इस व्यवहारोंमें परिव्याप्त होनेसे एक लँगोटी लगाये हुए साधुके सामने बड़े-बड़े राजा भी मस्तक नवाते थे। केवल भारतीय राजा ही नहीं, विदेशी राजा सिकंदरशाहने भी उन्हें अपना मस्तक नवाया है। साधु-संन्यासी या ऋषि-मुनिके आध्यात्मिक राजपदका बागी भला कौन हो सकता है, कौन उसकी अवज्ञा कर सकता है? आजके भारतवर्षमें भी यह प्राचीन आध्यात्मिक परम्परा और उसका गौरव किसी-न-किसी रूपमें वर्तमान है। प्राचीन भारतमें यह आध्यात्मिक संस्कृति सर्वथा जीती-जागती थी। तभी तो राजा अश्वपति अपने राज्यके सम्बन्धमें यह दावा कर सकते थे कि 'मेरे राज्यमें कोई चोर-डाकू नहीं है, कोई व्यभिचारी पुरुष नहीं है, फिर व्यभिचारिणी स्त्री कहाँसे होगी?' लोगोंका धर्ममें, नैतिक आचरणमें और अध्यात्मज्ञानमें पूर्ण विश्वास था। राजा-रंक सभीका कल्याण इनसे होता था। इस सम्बन्धमें रामायण और महाभारत शान्तिपर्वसे कुछ उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा—

(१) रामको चौदह वर्ष वनवास होनेके प्रसंगमें जाबालिने उनसे कहा कि आप यह वनवास स्वीकार मत कीजिये। तब राम उत्तर देते हैं—

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः॥

'हिंसारहित सत्य ही राजाका सनातनधर्म है। राज्य सत्यात्मक है, सत्यमें ही जगत् प्रतिष्ठित है।'

(२) तब राजगुरु महर्षि वसिष्ठने प्रतिज्ञा की कि राम जबतक घर नहीं लौट आयेंगे और राजसिंहासनपर न बैठेंगे, तबतक यहीं इसी कुशासनपर मैं बैठा रहूँगा। इसपर राम यह उत्तर देते हैं—

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥

'लक्ष्मी चाहे चन्द्रमाको छोड़ दे, हिमालय हिमको त्याग दे, समुद्र अपनी मर्यादाका भले ही उल्लंघन करे, पर मैं अपने पिताकी प्रतिज्ञा भंग न होने दूँगा।'

(३) राजा-प्रजाके बीच कैसा सम्बन्ध होता है, इस विषयमें शान्तिपर्व (महाभारत) में पितामह भीष्म युधिष्ठिरसे कहते हैं—

कर्तव्यं हि कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिनः।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत्॥

'धर्मानुवर्ती राजाका यह कर्तव्य है कि अपना प्रिय परित्यागकर वही करे, जिससे लोकहित हो।'

(४)—

अयुद्धेनैव विजयं वर्द्धयेद्वसुधाधिपः।
जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप॥

'राजा बिना युद्धके विजय प्राप्त करे। युद्धसे विजय प्राप्त करना कोई अच्छी चीज नहीं।'

(५)—

धर्मः सनातनस्सत्यं सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः॥

दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम्॥

'सत्य सनातन धर्म है, सत्य सनातन ब्रह्म है। वेदोंका रहस्य सत्य है, सत्यका रहस्य इन्द्रियों और मनका दमन है, दमनका रहस्य मोक्ष है। यही सबके लिये अनुशासन है।'

(६) राम अपना राज्य भरतको सौंपकर जब वनको चले हैं, तब उन्होंने भरतको राजनीतिका सिद्धान्त इस प्रकार बतलाया है—

'धर्म, अर्थ, काम—त्रिविध पुरुषार्थ हैं; इन्हें प्राप्त करना ही चाहिये। पर तीनों एक साथ जब मिलें, तब अर्थ और कामको त्यागकर धर्मको ही ग्रहण करना चाहिये।'

प्राचीन भारतकी राजनीतिक तत्त्वनिष्ठाकी यह झलक है। ऐसे ही अन्य सहस्रों दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। इससे मध्याह्नके सूर्यके समान यह स्पष्ट है कि भारतीय राजनीतिक तत्त्वज्ञान अध्यात्मज्ञान और सदाचरणपर प्रतिष्ठित है। महात्मा गांधीकी राजनीति भी अध्यात्म और सदाचारपर प्रतिष्ठित थी। यही कारण है कि वे जनताके हृदयोंको अपने वशमें कर सके। माताके दूधके साथ ही जनताने इसकी शिक्षा पायी है। भारतीय जनताके ये ही पूर्वपरम्परासे प्राप्त संस्कार हैं।

भारतकी यह राजनीतिक स्वाधीनता आध्यात्मिक स्वाधीनताके बिना अधूरी है। शरीर स्वाधीन हुआ, पर आत्मा कैद है। पश्चिममें राजनीतिक स्वाधीनताके पीछे-पीछे आर्थिक स्वाधीनताकी पुकार मचती है। कारण, यह भौतिक शरीर ही उनके लिये सब कुछ है। भौतिक शरीरकी उपेक्षा हम भी नहीं चाहते; कारण, यही **'आद्यं धर्मसाधनम्'** है। पर यह साधन है, साध्य नहीं। साध्य है आध्यात्मिक स्वाधीनता। भारतकी उन्नति आध्यात्मिकताके नापसे ही नापी जायगी। आध्यात्मिकताकी ओर हम आगे बढ़ें तो आर्थिक उन्नति आदि स्वभावतः ही पीछे-पीछे चलेंगी। पाश्चात्त्य जगत् अपने अनन्य भौतिक भावोंकी आगमें जल रहा है। पाश्चात्त्य वैज्ञानिक तत्त्वज्ञानी और राजनीतिक सभी भौतिकताके अनन्य भक्त हैं। डारविनने परस्पर संघर्षको जीवनका विधान कहकर बड़े सम्मानका स्थान दिलाया है। फ्रायडने धार्मिक श्रद्धा-भक्ति, परमार्थवाद, राष्ट्राभिमान आदि चीजोंको स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी कामके ही विकारमात्र कहकर कामको प्रोत्साहित किया है। इस तरह युद्ध, परापहार, नानाविध अत्याचार और कामके विपरीत कुत्सित प्रयोग इत्यादि बुराइयोंका मण्डन किया गया है। इन सब बुराइयोंने जगत्को प्रत्यक्ष नरक बना दिया है। अब यह भारतके तत्त्वज्ञानी, वैज्ञानिक और राजनीतिकोंका काम है कि वे इन बुराइयोंको दूर करें। भारतवर्षकी राजनीतिक स्वाधीनताकी चरितार्थता इसी बातमें है। भारतका यह आध्यात्मिक सन्देश सारे जगत्के लिये है। यह कार्य करनेके योग्य भारतसे बढ़कर और कोई देश नहीं है।

राजनीतिक पराधीनताने भारतवर्षकी आध्यात्मिक महाप्राणशक्तिको अबतक दबा रखा था। स्वाधीन भारत अब अपनी आध्यात्मिक निधिके आधारपर सब प्रकारसे उन्नत होकर जगत्को वास्तविक उन्नतिका मार्ग दिखा सकता है।

१७. भारतीय राज्यका मुख्य कर्तव्य

भारतीय राजनीतिक नेताओंको यह घोषित कर देना चाहिये कि हमारे राज्यका मुख्य आधार सार्वत्रिक सदाचार और अध्यात्म है। भारतीय विधानके मूल उद्देश्यमें स्वाधीनता, समता, न्याय और भ्रातृभावका आश्वासन दिया गया है। उसमें सदाचार और अध्यात्मकी भावना भी जोड़ देनी चाहिये। भारतीय राज्यका नाम भी 'रामराज्य' अथवा इतना ही अर्थपूर्ण कोई दूसरा नाम होना चाहिये। शिक्षा, समाचारपत्र, रेडियो, वैज्ञानिक और दार्शनिक अनुसन्धान—इन सब साधनोंके सामने आध्यात्मिक उत्थानका लक्ष्य रखा जाना चाहिये। स्कूल-कॉलेजोंमें पढ़ाये जानेवाले ग्रन्थोंको आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे सुधार लेना होगा। इतिहास, साहित्य, विज्ञान, राजनीति, दर्शन और समाजशास्त्रके द्वारा आध्यात्मिक सत्यकी शिक्षा दी जानी चाहिये। जीव, ईश्वर, पुनर्जन्म अथवा पारलौकिक जीवन इत्यादि आध्यात्मिक सत्योंके संस्कार जो पहलेसे जनतामें हैं, उन्हें जीवित ढंगसे जमाना और पुष्ट करना होगा।

यह काम दार्शनिकों, साधु-संतों, वैज्ञानिकों और राजनीतिकोंके परस्पर पूर्ण सहयोगसे साधित होगा और उससे हम अपने देशको भौतिकताका ग्रास बननेसे बचा सकेंगे और जगत्की भी रक्षा कर सकेंगे। हमें यह आशा है कि विभिन्न कार्यक्षेत्रोंके नेता इस संकटमय घड़ीका ध्यान करेंगे और अपनी जिम्मेदारी समझकर देशके आध्यात्मिक उत्थानके महत्कार्यमें अग्रसर होंगे।

आध्यात्मिक समाजवाद

(लेखक—योगी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

सातका अंक शुभ है। वेदोंने चिच्छक्तिके सात लोक गिनाये हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्। इन्हीं सात लोकोंके प्रतीकस्वरूप सात नदियाँ और सप्त सिन्धु हैं। सिन्धु शब्द ही प्रचारमें आकर 'हिंदू' बना है। 'हिंदू' शब्दका अर्थ है वह देव-मनुष्य, जो चिच्छक्तिके सातों लोकोंको प्राप्त हुआ हो। हिंदुस्थान ऐसे सत्यदर्शी देव-मनुष्योंकी पुण्यभूमि है। इसे पुण्यभूमि भारतवर्ष भी कहते हैं; कारण, यह धर्म-शक्तिकी निधि है। धर्मकी शक्ति ही दुःख और दैन्यकी छाया-मायासे मनुष्योंको बचाती है। यही इस पृथ्वीपर स्वर्ग है, सुख-समृद्धि और सौन्दर्यका धाम है। जो इस देशमें उत्पन्न हुए और जो इस पुण्यभूमिके भक्त हैं, इसे ही अपना घर मानते हैं, वे भारतीय हैं। उत्तरापथके हों या दक्षिणापथके, आर्य हों या द्रविड़, ब्राह्मण हों या हरिजन, सभी भारतीय हैं—चाहे उनका वर्ण या धर्मसम्प्रदाय कुछ भी हो—यदि वे भारतमें भारतके लिये रहते और अपनी श्रद्धा-भक्ति और जीवन भारतकी सेवा और उन्नतिमें लगाते हैं। चिच्छक्तिकी इस एकतामें हमारे देशका भावी गौरव छिपा हुआ है। इस आधारभूत एकताके अभावमें हमारे देशको बार-बार गुलामीके बन्धनोंमें जकड़ जाना पड़ा है।

भारतवर्षको देव-मनुष्योंका आशीर्वाद प्राप्त है। आध्यात्मिक ज्ञानकी अथाह सम्पत्ति उसके पास है। वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, भागवत, महाभारत, भारत-शक्ति, योगसिद्धि और संतोंके भजन—सभी सत्यानुभूति और अन्तर्ज्ञानकी दुर्लभ निधि हैं—जो आज मानवजातिको प्राप्त हैं। वैज्ञानिक संस्कृतिमें भी भारतवर्ष अकिंचन नहीं है। पूर्वकालमें उसका विज्ञान उसके लिये पर्याप्त था। आज चाहे वह बात न हो। संगीत, चित्रकला, मूर्ति-निर्माणकला, वास्तु-शास्त्र, वैद्यक-शास्त्र, अस्त्र-विद्या, फलित ज्योतिष आदिमें और कोई देश भारतके आगे नहीं बढ़ा है। योगशास्त्रमें भारतवर्ष आज भी जगद्गुरु है। जगत्के सभी देशोंसे लोग भगवान्के इस मन्दिरकी यात्रा करने आते हैं।

इन सब गौरवमयी बातोंके होते हुए भी, भारतवर्षको पिछले पाँच सौ वर्ष विदेशियोंके दासत्वमें रहना पड़ा। उसकी शक्ति क्षीण हुई, उसकी सन्तानोंको विवश होकर विदेशी मत ग्रहण करने पड़े और अपने ही देशमें विदेशी बनकर रहना पड़ा। ऐसा क्यों हुआ? कुरुक्षेत्रके युद्धके साथ भारतवर्षको एक नयी दुनियाका सामना करना पड़ा और नये अनुभवोंमेंसे होकर जाना पड़ा। भारतवर्षका ऋषिधर्म संन्यासके एक गलत रूपके सामने दबता गया, उसकी समर-शक्ति क्षीण होती गयी। इससे समाज दुर्बल हुआ, समाजके चार वर्ण सहस्रों साम्प्रदायिक टुकड़ोंमें विच्छिन्न हो गये और परस्परका अन्तर दिन-दिन अधिकाधिक चौड़ा ही होता गया। विदेशी आक्रमणोंके सामने समाजका पुराना ढाँचा ढह गया। सिकंदर अपनी यूनानी फौजके साथ इस देशमें घुस आया। स्वदेशद्रोहियोंने उसे रास्ता दिखाया। नामधारी राजा भी इतने कोमलांग थे कि उसका प्रतिरोध न कर सके। एक पुरु (या पुरुषोत्तम) उससे लड़नेके लिये सिंहकी तरह आगे बढ़ा, पर उसे हार खानी पड़ी। वह आक्रमणकारीके हाथ कैद हुआ, पीछे छोड़ दिया गया। नन्दराजवंश उस समय राज्य करता था। उसमें इतना बल नहीं था कि विदेशियोंके इस आक्रमणका सामना कर सकता। एक चतुर राजनीतिज्ञने यह सब देखा और समझा। एक नवीन शक्तिशाली हिंदू-राज्य स्थापित करनेका वह स्वप्न देख रहा था। इसका नाम था चाणक्य, जिसका 'अर्थशास्त्र' ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसने चन्द्रगुप्त मौर्यको अपने हाथका यन्त्र बनाया, उसमें अपनी शक्ति भर दी। चन्द्रगुप्तने निकम्मे नन्दको हराकर यूनानी सेनाके सेनापति सेलुकसके भी दाँत खट्टे किये और अपनी माता मुराके नामपर मौर्यराजवंशकी स्थापना की। भारतवर्षने राष्ट्रोंकी पंक्तिमें अपना गौरवमय स्थान प्राप्त किया। यह गौरव प्रियदर्शी राजा अशोकके समयमें अपने शिखरतक पहुँचा। अशोक बौद्ध थे, उन्होंने बौद्धधर्ममें कर्मकी प्रचण्ड शक्ति भर दी। बौद्ध भिक्षु भारतवर्षसे दूर-दूर देशोंमें जाकर भगवान् बुद्धके नैतिक उपदेशोंका प्रचार करने लगे। स्तूप और विहार निर्मित हुए। लंकासे गयातक समस्त देशमें बुद्ध, उनके धर्म और संघके पावन नाम गूँजने लगे। महाराज हर्षतक यह क्रम चला। अशोकके पश्चात् फिर विदेशी सेनाएँ भारतवर्षपर चढ़ आयीं और उन्होंने यहाँके राजनीतिक और सामाजिक संघटनको

विघटितकर छिन्न-भिन्न कर डाला। बहुत-से नये-नये राजवंश बरसाती मेंढकोंकी तरह निकलकर और क्षणभर जीकर विलीन हो गये। देश छोटे-छोटे राज्योंसे टुकड़े-टुकड़े हो गया और सब एक-दूसरेके उत्कर्षमें बाधक बनकर एक-दूसरेके नाशका उपाय सोचने लगे।

दक्षिण भारतमें चेर, चोल, पाण्ड्य, पल्लव, राष्ट्रकूट आदिकोंमें राजनीतिक होड़ चली। पर दक्षिण-भारतको विदेशी उतना उजाड़ नहीं सके, जितना कि उत्तर-भारतको। उत्तरमें जो आध्यात्मिक अग्नि बुझ रही थी, वह दक्षिणमें स्थिर रूपसे प्रज्वलित थी। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि समय रहते आ गये और उन्होंने आत्मज्ञान तथा भक्तिप्रदीपसे देशमें उजाला कर दिया। उनमें व्यक्तिशः कुछ सिद्धान्तोंका भेद था, पर इस विषयमें सबका एकमत था कि मनुष्यका परम लक्ष्य उस परमेश्वरको प्राप्त करना है, जो **एकमेवाद्वितीयम्** है। उन्होंने यह भी शिक्षा दी कि सब प्राणियोंके अंदर जो विशुद्ध आत्मा है, वही प्राणिमात्रका सत्तत्त्व है, वह दिव्य है और सर्वव्यापक है। पीछेके आचार्योंने इसी सत्यको दुहराया। बहुत-से लोग अवश्य ही शाब्दिक वितण्डावादमें पड़ गये और केवल निष्प्राण रूढ़ियोंके दास बने रहे। सृष्टि-सामर्थ्य रखनेवाला अन्तर्ज्ञान सुषुप्त होकर रहा। वह कड़ी, जो आत्माके साथ जागतिक जीवनकर्मको जोड़ती है, खो गयी। हमारी प्राचीन संस्कृतिमें जो कुछ सामर्थ्यवती वस्तु थी, वह उन पुरुषार्थहीन, निष्प्राण, यान्त्रिक रीतियोंके नीचे दबी रह गयी, जो किसी राष्ट्रके उन्नतिसाधनमें बिलकुल बेकार हैं। हमारे अंदर जो विश्वासघाती देशद्रोही लोग थे, वे अपने ही भाइयोंसे लड़नेके लिये विदेशियोंको बुला लाये!

इस प्रकार स्वाधीन भारतके अन्तिम नृप पृथ्वीराजके शत्रुने मुसलमान-सेनाओंके आनेके लिये रास्ता साफ किया। शस्त्रवेशी कुरानने तीन शताब्दियोंतक अपने जोर-जुल्मका राज इस देशमें कायम रखा और लाखों हिंदुओंको धर्म-भ्रष्ट किया। उस राजने अपने रक्तचिह्न आज पाकिस्तानमें रख छोड़े हैं! भारतवर्षने अपना स्वराज्य खोया; कारण, अपना स्वधर्म खो दिया। राणा प्रताप, शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह अपने राष्ट्रको फिरसे स्वाधीन करनेके लिये अद्भुत वीरताके साथ उठे; पर स्वधर्म फिर भी दूर ही रहा।

अब एक अनात्म कर्मवादकी लहर देशपर दौड़ गयी। इस समय वैज्ञानिक संस्कृतिने श्वेत जातियोंको संसारकी विजेतृ-शक्ति बना दिया था। इसके राजनीतिक और व्यापारिक संघटनसे टकराकर भारत अपनी आध्यात्मिक परम्पराकी सम्पत्ति खो चुका था। राष्ट्रमें कोई ऐसी जीवित शक्ति नहीं थी, जो अंग्रेजों और फ्रेंचोंकी कूटनीतिक चालोंका सामना कर सकती। कभी कोई नाना या टीपू अथवा बाजीराव इस विदेशी परापहरणके जालको छिन्न करनेके लिये निकल पड़ते; पर उनके त्याग और वीरत्वपर विश्वासघाती लोग आकर पानी फेरनेके लिये तैयार हो जाते। भारतवर्षमें इतनी फूट थी कि सारा राष्ट्र राजनीतिक शत्रुओंका सामना करनेके लिये एक होकर कोई प्रयत्न न कर पाता था। इस तरह दो सौ वर्षोंतक हमारा देश गुलामीकी यन्त्रणाएँ भोगता रहा।

पर भारतका आत्मा सो नहीं सकता। उसकी ज्वालाओंने उसमें युग-तेज उत्पन्न किया और अकस्मात् राष्ट्रके पुनरुज्जीवनका उदय हुआ। राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामलिंगम् आदि अनेक महान् संतोंने जन्म लेकर नये युगका मंगलगान गाया। उनकी वाणीने राष्ट्रको जगाया और जगत्को उस आध्यात्मिक सत्ताका संदेश सुनाया, जिसका ज्ञान उसे भारतवर्ष ही दे सकता है। तिलक, श्रीअरविन्द और महात्मा गान्धीने राष्ट्रकी राजनीतिक चेतनाको जगाया और उसे स्वभाग्यनिर्णयतक पहुँचाया। महात्मा गांधी स्वयं एक युग थे। भारतवर्षकी गौरव-गरिमाके शिखर, उसकी स्वाधीनताके जन्मदाता और ऐसे एकमात्र राष्ट्रविधाता थे, जिनके सामने सारा जगत् नतमस्तक हुआ। सेवा और त्यागसे परिपूर्ण अपने अद्भुत जीवनके द्वारा भारतवर्षकी प्रतिष्ठा उन्होंने फिरसे स्थापित की और स्वयं बुद्ध, ईसा और महावीर-जैसे जग-उद्धारक महापुरुषोंकी पंक्तिमें बैठनेके अधिकारी हुए।

भारत अब एक स्वाधीन देश है, पर दुःख है कि वह अब विभक्त है; उसके हृदयके दो टुकड़े हो गये हैं! स्वाधीनताकी बलिवेदीपर सहस्रों-लाखों हिंदू काटे गये। भारतवर्षकी शान्तिको राजनीतिक चरमपन्थियोंने महीनों यहाँ-वहाँ बुरी तरहसे आन्दोलित कर रखा था। गांधीजीके बलिदानके पश्चात् भी अभीतक संकट टला नहीं है। राष्ट्रने अभी एकत्वका पाठ नहीं पढ़ा।

राष्ट्रके सामने इस समय कितने ही विकट प्रश्न हैं। आर्थिक प्रश्न तो सर्वोपरि है। फिर मजदूरोंका प्रश्न है। गंगा और कावेरी जिस देशमें बहती हैं, उसे

विदेशोंसे अन्न मँगाना पड़े, यह कितनी शोचनीय अवस्था है। लाखों-करोड़ों मनुष्योंको अन्न-वस्त्र और घर बनानेके सामान देनेके लिये बड़े-बड़े कारखाने खोलकर यान्त्रिक शक्तिसे उत्पादन बढ़ानेका बहुत बड़ा काम है। स्थलसेना, जलसेना और वायुसेनाको इतना सुसज्जित और शक्तिशाली बनाना है कि वह उस जागतिक परिस्थितिका सामना कर सके, जो दिन-दिन अधिकाधिक भयानक होती जा रही है। किसानोंको सँभालना है। सामाजिक सुव्यवस्था बाँधनी है। इन सब बातोंमें भारतीय यूनियनके मन्त्रियोंका ध्यान बँटा हुआ है।

इन सब चीजोंके परे एक बहुत बड़ा काम यह है कि जिन विभिन्न घटकोंसे यह महान् विशाल राष्ट्र बना है, उनमें एकता और अखण्डता स्थापित हो। विभक्त भारतमें अब हमारा एक भारतीय यूनियन या संघ है; परंतु भारतका यह संघ पूरा नहीं बना है। हमारे राष्ट्रिय मेल और ऐक्यके विरुद्ध कई विच्छेदक और विभेदक शक्तियाँ गुप्तरूपसे अपना काम कर रही हैं। ये ही विच्छेद और विभेदकी आसुरी शक्तियाँ संसारमें सर्वत्र ही क्रियाशील हैं। विश्वव्यापी तृतीय महायुद्धके सामान इनके द्वारा जुटाये जा रहे हैं। गौरैयाएँ एक साथ रहतीं, एक साथ उड़तीं और सुखी रहती हैं। मधुमक्खियाँ एक साथ शहदके छत्तेपर चिमटती और सामाजिक मिलनका रहस्य गुनगुनाकर मनुष्यको सुनाती हैं। तारका-पुंज शान्तिके साथ व्यूह बाँधे नित्य-नवीन उष:कालकी ओर चलते हैं। पर मनुष्यने अभी अपने भाईके साथ सुख और मेलसे रहना नहीं सीखा। इसका कारण क्या है? कारण राजनीतिक उतना नहीं, जितना कि मानसिक है।

अन्त:स्थ चेतन एकतामें मनुष्यका मन ही नहीं है। वह 'मैं' और 'मेरे' के चक्करमें ही रहता है। उसे उस मूलभूत अन्त:स्थ एकताका अभी पता ही नहीं है, जो सब जीवोंको एक साथ धारण किये हुए है—जैसे मणिमालाका सूत्र मणियोंको। हृत्पुरुषकी चेतना प्राणियोंकी अनेकतामें सदा उस एकको देखती है। मनुष्य इसे भूला रहता है। वह इस बातको भूल जाता है कि वह भी मानव-समष्टिका वैसा ही एक अंगमात्र है, जैसे एक अँगुली शरीरका अंग है। मनुष्य अहंभावयुक्त विभक्त मनमें रहता है और यह मन अपने एक पृथक् व्यक्ति होनेका संकुचित रूप धारण करता है। यह व्यक्तिगत अहं कभी-कभी अपनेको ईश्वरसे भी बड़ा मान लेता है। मनुष्योंके शून्यवाद, अज्ञेयवाद और नास्तिवादका यही कारण है।

जरा सोचो, यह पृथ्वी क्या है? ऊपर आकाशके इस विशाल वितानको देखो। असंख्य नक्षत्र और ग्रह यहाँ निरन्तर घूम रहे हैं। आकाशमें परिभ्रमण करनेवाले इन असंख्य ज्योतिर्मण्डलोंमें हमारी यह पृथ्वी एक बहुत ही छोटे-से अणुके बराबर है। कोई विलक्षण गुप्त शक्ति है, जो इन्हें चलाती है। उस शक्तिको हम 'ईश्वर' कहते हैं। वह सर्वत्र व्यापक है और वही एक जड धूलिकणसे लेकर प्रज्ञावान् मनुष्यतक सब प्राणियोंका, प्रकृतिके द्वारा विकास-साधन कराता है। तरु-लता-वनस्पति, कीट, पतंग, पक्षी, पशु और मनुष्य—सब मिलकर प्राणियोंका एक ही परिवार हैं। सब एक ही वायुसे श्वास लेते, एक ही धरतीपर चलते और विश्वके वितान एक ही द्युलोकसे प्राप्त वस्तुएँ ग्रहण करते हैं। ईश्वरने मनुष्यको एक ही आकाश, एक ही पृथ्वी, एक ही आत्मा और सबके एक होनेकी ही भावना दी। ईश्वरने मनुष्यको एक हृदय दिया, जिससे वह दूसरोंके साथ मेलसे रहे, दूसरोंको अपने ही दूसरे रूप, दूसरे अहं समझे। पर अहंग्रस्त मनुष्य अपने हृदयमें छिपी हुई इन स्वाभाविक सद्वृत्तियोंका पोषण नहीं करता और 'मैं' और 'मेरे' के सिवा और कोई माप-जोख नहीं जानता। यही उस विभेदका मूल है, जिसका फल है द्वेष। द्वेषसे ही अशान्ति पैदा होती है। मनुष्य मनुष्यके लिये खतरनाक हो गया है; क्योंकि वह अपने-आपको नहीं जानता, अपने ही परिवर्तित अन्य रूपको नहीं जानता। मनुष्यको अपना पृथक्कृत व्यक्तित्व विश्वचैतन्यमें मिला देना होगा। यह जगत्की एकताके लिये उतना ही आवश्यक है, जितना कि राष्ट्रकी एकताके लिये राज्योंका केन्द्रीय सरकारके शासनमें मिलाया जाना।

जगदुद्धारक महापुरुष आये और चले गये; समाजसुधारक और क्रियाहीन तत्त्वज्ञानी बड़े-बड़े ग्रन्थ लिख गये। राजनीतिके राजतन्त्रसे लेकर अराजकतन्त्रतक और सैनिक अधिनायकवादसे लेकर जनतन्त्रात्मक समाजवादतक बड़े-बड़े प्रयोग किये जा चुके। पर संसारका रवैया जो कल था, सो आज है और यही बना रहेगा, जबतक मनुष्य यह नहीं जानेगा कि वह स्वयं क्या है और उसे क्या होना चाहिये। ऋषिका वचन है, 'आत्माको नीचे मत गिरने दो, अपने आत्माको अपने ही आत्माके द्वारा ऊपर उठाओ; आत्मा आनन्दामृतसे

सिक्त है, उसे जानो और वही बनो।' पर स्वार्थ-सुखकी स्वार्थी भूख और प्याससे ही मनुष्यका मन जब आकुल है, तब आत्माकी इस गंभीर वाणीको कौन सुनता है?

यह असंख्यशीर्ष स्वार्थपरता और स्वार्थानुसन्धान जीवनके वैयक्तिक, कौटुम्बिक, नागरिक, प्रान्तिक, राष्ट्रिक, सर्वराष्ट्रिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक—सभी क्षेत्रोंमें संचार कर रहे हैं। वर्णगत, सम्प्रदायगत और जातिगत कुसंस्कार मनुष्यकी इसी प्रचण्ड स्वार्थपरताकी सन्तान हैं। एक धर्मसम्प्रदाय दूसरे धर्मसम्प्रदायसे द्वेष करता है। क्यों? इसीलिये कि प्रत्येक धर्म यह समझता है कि ईश्वर, स्वर्ग और सद्गुणोंपर उसीका ठेका है। एक प्रान्त दूसरे प्रान्तसे द्वेष करता है। क्यों? इसीलिये कि कोई प्रान्त अन्य प्रान्तके सांस्कृतिक सौन्दर्यको देखना नहीं चाहता, केवल उसके साधनोंका शोषण कर लेना चाहता है। एक भाषा दूसरी भाषाका तिरस्कार करती है; क्योंकि उसके गुणोंको स्वीकार करनेमें वह अपनी हेठी समझती है।

यदि हम इन बातोंको भारतवर्षपर घटाकर देखें तो अच्छी तरह हमारी समझमें आ जायगा कि हम क्या हैं, क्यों हैं और हमें क्या होना चाहिये। गांधीजीके नैतिक बलने भारतकी जनताको जगाया और स्वाधीनतासे देशको विभूषित किया। पर यह स्वाधीनता, जो इतनी कठिनाईसे प्राप्त हुई, विरोधी शक्तियोंके द्वारा भीतरसे और बाहरसे भी झटका दे-देकर कमजोर की जा रही है। विधानपरिषद्ने विविधतासे परिपूर्ण इस विशाल राष्ट्रके केवल सांसारिक सुखके साधक प्रस्ताव पास किये हैं। रूसके 'सोशल कंट्राक्ट', फ्रेंच राज्यक्रान्ति और अमेरिकाकी स्वाधीनताके मूल अधिकारपत्रोंका ही इसने बहुत कुछ अनुसरण किया है। भारतवर्षके आध्यात्मिक सत्त्वको इस नवीन विधानमें कोई स्थान नहीं मिला। इसीलिये वर्तमान सरकारसे यह आशा नहीं है कि देशके आध्यात्मिक उत्थानके लिये वह कोई विशेष यत्न कर सकेगी। पर सामाजिक जीवनके लिये इसकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। राष्ट्रकी सरल उन्नतिमें सभी दलोंके दलगत कुसंस्कार बाधक होते हैं। आध्यात्मिक चेतनासे ही इन कुसंस्कारोंको हटाया जा सकता है। सामाजिक जीवनमें एकता और सुसंगति तभी होती है, जब हृदय मिलकर एक हों। यह हृत्तत्त्वके उद्घाटन और आत्मचैतन्यकी अनुभूतिसे ही हो सकता है। राष्ट्रके जीवनका मानव-समष्टिमें निवास करनेवाले भगवान्‌के साथ योग होना चाहिये। मनुष्य मनुष्यके अंदर जो भगवत्-तत्त्व है, उसे पहचाने। हर किसीका जीवन सबके लिये हो या सबका हर किसीके लिये। इसीका नामान्तर है 'आध्यात्मिक समाजवाद अर्थात् आत्मचैतन्यके अंदर मानवजातिका समष्टि-जीवन। यही परम कल्याणमय जीवन है।'

जन्म, कुल, स्थान और भाषागत भेदोंके रहते हुए भी सब मनुष्य एक परिवारकी तरह रह सकते हैं—यदि प्रत्येक व्यक्ति अन्तःस्थ आत्माको ध्यानमें रखकर सोचे और कर्म करे। एकीभाव उत्पन्न करनेवाली इस चेतनाके पोषणके लिये साधना आवश्यक है। यह साधना ऐसी हो कि उससे हमारे जीवनके भौतिक और हार्दिक अंग परिपुष्ट हों। इसके कुछ साधन नीचे दिये जाते हैं—

१. सूर्योदय और सूर्यास्तके पूर्व समूचे राष्ट्रको व्यक्तिशः अथवा संघशः सर्वथा मौन होकर ईश्वरका ध्यान करना चाहिये और मन-ही-मन ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये—

'सब प्राणियोंके हृदयमें निवास करनेवाले हे परमात्मा! हमें वह परस्पर-स्नेह, वह सदिच्छा और वे साधन दो, जिनसे हम सब वैसे ही एक हों, जैसे सूर्यकिरणें एक होती हैं और सबका समान हितसाधन करें—जैसे वायु और मेघ करते हैं।'

२. हमारे साधु-संतों और ऋषि-मुनियोंके जो ईश्वर-प्रेरित सद्ग्रन्थ हैं, उनसे संग्रह करके सबके लिये समान उपयोगी एक निबन्ध-ग्रन्थ निर्माण किया जाय। वेद, उपनिषद्, गीता, भागवत, महाभारत, रामायण आदि सद्ग्रन्थ हमारी अमूल्य निधियाँ हैं।

३. भारतवर्षके प्रत्येक गली-कूचेमें भजन और प्रार्थनाका एक स्थान नियत होना चाहिये। भजन सबके लिये समान अनुशासनका अंग होना चाहिये—प्रत्येक भारतवासी अवश्य कर्तव्य जानकर भजन करे। बहुत लोगोंके मिलकर भजन-प्रार्थना आदि करनेका प्रभाव समाजपर अच्छा पड़ता है। प्रार्थनामें ऐसी शक्ति है, जो सबके हृदयोंको मिला देती है। महात्माजी ऐसी प्रार्थनाएँ कराते हैं। यह क्रम आगे प्रत्येक नगर और गाँवमें चलाना चाहिये। सब धर्माचार्योंको एक सम्मेलनमें एकत्र होकर धर्मकी पुनः स्थापनाका सबके लिये कोई एक मार्ग ढूँढ़ निकालना चाहिये। सभी धर्मोंका एक ऐसा धर्मपीठ बनाना चाहिये, जो सबके लिये समान हो,

धनपर धूल　　　　　　　　　　　　धनके लिये नकली रजिस्टर
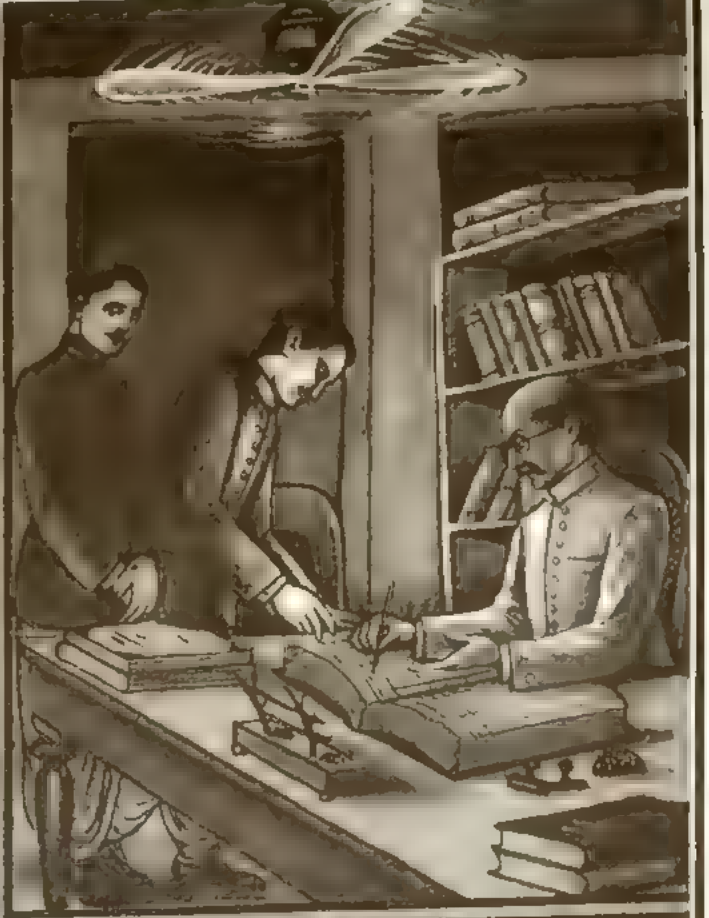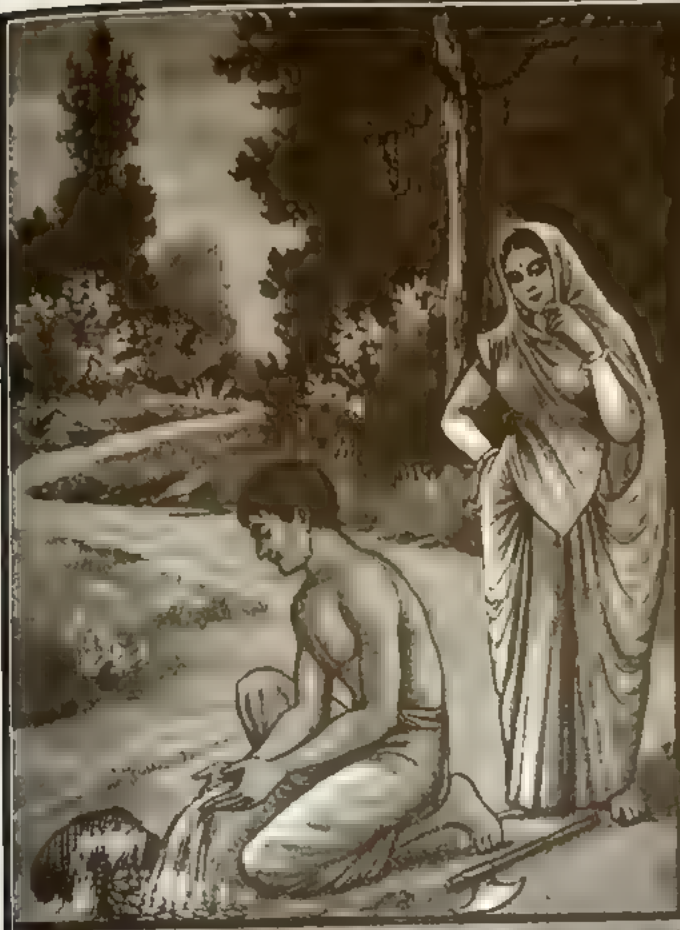
साहूकारी-ईमानदारी　　　　　　　　　　　　चोरबाजारी-रिश्वतखोरी

मिली स्वर्णमुद्राओंपर भी राँका धूल रहा है डाल

किन्तु आजके व्यवसायी लिख झूठ बहीमें रचते जाल।

विश्वासी काशी नगरीका ठीक तौलता सु-तुलाधार

आज ब्लैक मार्केट चल रहा साहबको दे घूस हजार॥

पुण्यात्माने पापी जनको करके अपना पुण्य प्रदान।
भेज दिया उत्तम लोकोंमें किया नरक भी स्वर्ग-समान॥

जहाँ सब धर्माचार्य और दार्शनिक एकत्र हो सकें और अपनी-अपनी बात कह सकें। उन्हें एक ऐसा सर्वसामान्य धार्मिक और नैतिक अनुशासन स्थिर करना चाहिये, जिसे सब लोग मानें। ऐसे साधुओं और संन्यासियोंको तैयार करें, जो स्थान-स्थानमें घर-घर घूमकर सबके समान धर्मग्रन्थ और नैतिक-धार्मिक आचारका प्रचार करें। धनका उपयोग निम्नलिखित कार्योंमें किया जाना चाहिये—

सद्ग्रन्थोंका मुद्रण, प्रकाशन और प्रचार।

धर्मके प्रचारकोंको तैयार करना और प्रचारके लिये जगत्के सब देशोंमें भेजना।

गीताकी सहस्रों प्रतियाँ छपवाकर अत्यल्प मूल्यपर उनका वितरण करना।

प्रतिवर्ष किसी मुख्य स्थानमें सर्वधर्मसम्मेलन किया जाना चाहिये। इससे सब सम्प्रदायों, विचारों और संस्थाओंके लोग एक जगह आ जायँगे और उनमें मेल और ऐक्य बढ़ेगा।

मन्दिरों और मठोंमें धार्मिक शिक्षाके उच्च विद्यालय स्थापित करने चाहिये।

इस प्रकार भारत अपने आध्यात्मिक साम्राज्यको पुनः प्राप्त होगा। उसीसे वास्तविक एकता स्थापित होगी। एकता आरम्भ होती है अंदरसे, विशुद्ध अन्तरात्मासे।

हिंदू-संस्कृति, उसकी अजेयता और आधारशिला

(लेखक—पं० श्रीमुरलीधरजी शर्मा, बी०ए०, बी०एल० काव्यतीर्थ)

"यदि मनुष्यके पास संसारकी प्रत्येक वस्तु है, पर आध्यात्मिकता नहीं है तो क्या लाभ? ×××× वे (हिंदूलोग) जानते हैं कि इस भौतिक सृष्टिके मूलमें वह सत्य और दिव्य आत्मतत्त्व निहित है, जिसे कोई पाप कलुषित नहीं कर सकता, कोई दुराचार भ्रष्ट नहीं कर सकता और कोई दुर्वासना गंदा नहीं कर सकती; जिसे अग्नि जला नहीं सकती और जल गीला नहीं कर सकता; जिसे गर्मी सुखा नहीं सकती और मृत्यु मार नहीं सकती। उनकी दृष्टिमें मनुष्यकी यह परा प्रकृति—आत्मा उतना ही सत्य है जितना कि एक पाश्चात्त्य व्यक्तिकी इन्द्रियोंके लिये कोई भौतिक पदार्थ। इसी विचारधारामें वह शक्ति निहित है, जिसने उनको शताब्दियोंके उत्पीडन और वैदेशिक आक्रमण या अत्याचारके बीच अजेय रखा है। आज भी राष्ट्र जीवित है और उस राष्ट्रमें भयंकर-से-भयंकर विपत्तिके दिनोंमें भी आध्यात्मिक महापुरुष कभी उत्पन्न होनेसे नहीं चूके हैं। सैकड़ों वर्षोंतक लहरों-पर-लहरें प्रत्येक वस्तुको तोड़ती-फोड़ती हुई देशको आप्लावित करती रही हैं; तलवार चली है और '**अल्लाहो अकबर**' के गगनभेदी नारे लगे हैं; किंतु वे बाढ़ें चली गयीं और राष्ट्रिय आदर्शोंमें परिवर्तन न कर सकीं। हजार वर्षोंके असंख्य कष्ट और संघर्षोंमें यह हिंदूजाति मर क्यों न गयी? यदि हमारे आचार-विचार इतने अधिक खराब हैं तो क्योंकर हमलोग अबतक पृथ्वीपरसे मिट न गये? क्या भिन्न-भिन्न वैदेशिक विजेताओंने हमें कुचल डालनेमें किसी बातकी कमी रखी? तब क्यों न हिंदू बहुत-से अन्य देशोंकी भाँति समूल नष्ट हो गये? भारतीय राष्ट्र मर नहीं सकता। अमर है वह और उस वक्ततक अमर रहेगा जबतक कि यह विचारधारा पृष्ठभूमिके रूपमें रहेगी, जबतक कि उसके लोग आध्यात्मिकताको नहीं छोड़ेंगे।" *

—स्वामी विवेकानन्द

'संस्कृति' शब्द संस्कृतभाषामें 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय लगानेपर निष्पन्न होता है। इसका अक्षरार्थ है संस्कार—निखरना या निखारना। राष्ट्रोंकी संस्कृतियोंका अध्ययन करनेसे उनमें दो धाराएँ मिलती हैं—एक विचारधारा (Theory) और दूसरी आचारधारा (Practice)। पहली धाराको हम संस्कृतिका आधार, सिद्धान्तवाद या आन्तरिक रूप कहते हैं और दूसरीको उसका विस्तार, कार्यवाद या बाह्यरूप। एकके बिना दूसरी अधूरी और दोषपूर्ण रहती है। आचारधाराके बिना कोरी विचारधारा दुरूह कल्पनामात्र—अस्पष्ट स्वप्नरूप है, जिसके सत्यासत्यके विषयमें भी वाद-विवाद हो जाया करता है। बिना विचारधाराके निरी आचारसृष्टि निर्जीव रूढिवाद है, जो किसी राष्ट्रके जीवनमें घुल-मिलकर समा जानेकी शक्ति नहीं रखता।

* देखिये—Complete works; Vol. IV. pp. 154—56; Vol V., p. 367.

उन्नत और सुरुचिसम्पन्न राष्ट्रके जीवनमें संस्कृतिकी उक्त दोनों धाराएँ ओतप्रोत रहती हैं। उनका समन्वय ही सौन्दर्यजनक और जीवनदायक है। उनका वियोग राष्ट्रके ह्रासका द्योतक है और जातियोंके पारस्परिक संघर्षमें हास्यका कारण बनता है। इनमें भी आद्य धारा प्राणरूप और द्वितीया देहरूप है। जिस प्रकार शारीरिक चेष्टाएँ आन्तरिक मनोवृत्तियोंकी परिचायिका होती हैं, उसी भाँति काव्य, नाट्य, गान, चित्रकला, स्थापत्यकला आदि राष्ट्रिय संस्कृतिके नमूने तत्कालीन राष्ट्रकी विचारधाराके स्थूल प्रतीक होते हैं। राष्ट्रको निखारनेवाला—मानवसे महामानव या देव बनानेवाला—उसका सिद्धान्तवाद होता है। काव्य, गीति आदि ललित कलाएँ उस संस्कृत और सुरुचिसम्पन्न राष्ट्रके कार्यवादके अंग हैं। यद्यपि हम दोनोंको ही संस्कृतिके नामसे कहते हैं, तथापि उनमें प्राणस्थानीय मूलभूत विचारधारा ही मुख्य है। दूसरी धारा उसकी छाया है। जिस प्रकार हमलोग ईश्वरकी सृष्टिके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर उस सृष्टिकर्ताको और उसकी सौन्दर्यमयी प्रतिमाको भूल बैठते हैं, ठीक उसी तरह हम ललित कलाओंके लालित्यपर दिङ्मूढ हो उनके उद्‌गम स्रोत और उसके असीम वैभवको भुला देते हैं। प्रत्येक संस्कृतिकी आन्तरिक विचारधारा ही उसकी आधारशिला है। उसीपर उसकी चिरस्थायिता और क्षणभंगुरता निर्भर करती है। नीचेकी पंक्तियोंमें हम भी जरा अपनी सनातन हिंदू-संस्कृतिकी आधारशिला—उसकी प्राणदायिनी विचारधारा—पर, जिसने अनादिकालसे इस राष्ट्रको जीवित और सुदृढ़ रखा है, थोड़ा-सा विचार कर लें।

यदि संसारमें ऐसा कोई देश है, जिसमें सभ्यताके सूर्यका सर्वप्रथम उदय हुआ, जिसमें ज्ञानमहोदधिकी उत्ताल तरंगें अनादिकालसे सुदूर कोनोंको भी आप्लावित करती रही हैं; जहाँ सदासे धर्म, त्याग और वैराग्यकी अविरल-वाहिनी धाराओंने लोगोंको मनसा, वचसा, कायेन पावन किया है; जहाँ कर्म, ज्ञान और भक्तिकी परम पवित्र त्रिवेणी पूर्वैतिहासिक कालसे दुःखदावानलदग्ध प्राणियोंके सन्तप्त हृदयोंको शान्ति-सुधा पिलाती रही है, जिसको युग-युगमें संख्यातीत संत, महापुरुष और अवतारोंको प्रकट करनेका गौरव प्राप्त है, जहाँ आध्यात्मिकता-लता खूब घनी फूली-फली है, तो वह पुण्यभूमि भारतवर्ष है। यदि समस्त विश्वमें कहीं ऐसी कोई जाति है, जिसने भूभागपर सर्वप्रथम मानव-सभ्यता और संस्कृतिको जन्म दिया, जिसने जीवनकी अत्यन्त उलझी हुई तमोमय ग्रन्थियोंको त्याग-स्नेहपूर्ण आलोकशाली ज्ञानप्रदीपके सहारे सुस्पष्ट रीतिसे सुलझाकर मनुष्य-जातिका परम कल्याण किया, जिसने गम्भीर विचारपूर्ण 'दर्शनों' की प्रौढ रचनाके द्वारा ज्ञानसागरको गागरमें भर दिया, जिसने विश्वको अठारह विद्या और चौंसठ कलाओंके आलोकसे चकाचौंध कर दिया; जिसको जीव, ईश्वर और जगत्-सम्बन्धी अशेष वादोंके प्रवर्तक होनेका अनन्यसाधारण सौभाग्य प्राप्त है; जिसको दुःख सहना सिखाया गया है, दुःख देना नहीं; जिसने सदासे अन्य धर्मावलम्बियोंके प्रति सहिष्णुताकी भावना रखी है और उनकी पीड़ित, असहाय अवस्थामें उन्हें शरण दी है; जिसमें ईश्वर-दर्शनकारी संतोंका सदा ताँता बना रहा है, जिसकी सभ्यता प्रारम्भसे आजतक चली आयी है और विधर्मी वैदेशिक शासकोंके क्रूर और कपटमय मूलोच्छेदी प्रहारोंको एक हजार वर्षतक ढकेलती हुई जीवित रही है, जो आत्माकी अमरताके गीत गाती हुई तन्मय होकर अपने लक्ष्य—आत्मा—के समान अमर हो गयी है, तो वह पुण्यभूमि भारतवर्षकी आर्य हिंदू-जाति है।

हिंदूराष्ट्र और संस्कृतिने एक हजार वर्षकी अग्नि-परीक्षाद्वारा अपनी योग्यता और अजेयताको सिद्ध कर दिया है। मुसलमानोंके अमानुषिक अत्याचारोंको सदियोंतक सहकर, क्रूर शासकोंद्वारा दिये गये भय, वैभव और जीवनसत्ताकी अवहेलना कर हिंदू-जातिने अपनी संस्कृतिकी रक्षा की; क्योंकि वह उन्हें अपने प्राणोंसे भी प्रियतर थी। उसके नामपर मरकर उसने अपने-आपको अमर माना। स्वधर्म और संस्कृतिका हिंदुओंको गौरव था और वह भी इतना अधिक कि उसके समक्ष सम्पूर्ण ऐहिक सुख-सम्पत्ति तिनकेके समान थी। मुसलमानलोग शक, हूण, यवन आदि अन्य आक्रमणकर्ताओंकी भाँति केवल लूट-खसोट और राज्य करने नहीं आये थे। उनके पास अपना निजी धर्म और संस्कृति थी, जिनका प्रचार करना उनके जीवनका चरम लक्ष्य था। हिंदू-संस्कृतिपर उनके अभूतपूर्व क्रूर और घातक प्रहार हुए, पर उसकी परम दृढ़ जड़को काटते-काटते मुसलमानोंकी तलवार भोंटी होकर जीर्ण-शीर्ण और छिन्न-भिन्न हो गयी। संस्कृतिकी इस घायल दशामें ही देशपर एक दूसरा विदेशी शासन—अंग्रेजी राज्य—आ लदा। वह और भी विचित्र था। उसके पीछे शक्ति, वैभव, सभ्यता, शिष्टाचार, कूटनीति और आधिभौतिक विज्ञानका सामर्थ्य था। अंग्रेजोंने भलीभाँति

देशकी परिस्थितिका अध्ययन कर लिया था। वे हिंदू-संस्कृतिसे सशंक थे; क्योंकि वह पहले कई दूसरी संस्कृतियोंको अपनेमें विलीन कर चुकी थी और उसे कोई न मिटा सका था। देशीय दृष्टिसे हिंदू हार चुका था। पर सांस्कृतिक विचारकोणसे वह अपने-आपको उन गौरांग महाप्रभुओंसे उत्कृष्ट मानता था। यह बात शासकोंको बहुत अखरती थी, पर वे मुसलमानोंकी गलतीको नहीं दोहराना चाहते थे। उन्होंने अपने चालाक दिमागसे ऐसा मायामय षड्यन्त्र रचा कि जिससे हिंदू-संस्कृतिपर उसीके अंदरसे आक्रमण होने लगे, हिंदू ही उसके प्रति घृणा और विरोधकी भावना रखने लगे। उन्होंने देशभरमें अंग्रेजी-शिक्षा-पद्धतिका जाल फैलाया और उसमें फँसनेवालोंको बड़े-बड़े प्रलोभन मिले, जिन्हें देखकर लोगोंका प्रवाह उस ओर चल पड़ा। शिक्षा क्या थी, सनातन भारतीय संस्कृतिके शरीरमें शिथिल-संचारी विषका इंजेक्शन था। उस मोहमयी मदिराको पीकर युवकोंके दिमाग बदल गये—उन्मत्त हो गये। उस वक्तकी स्थितिका दिग्दर्शन मैं स्वामी श्रीविवेकानन्दजीके प्रभावशाली शब्दोंमें ही नीचे करा देना उचित समझता हूँ—

"वर्तमान (उन्नीसवीं) शताब्दीके प्रारम्भमें जब कि पाश्चात्त्य प्रभाव भारतमें आने लग पड़ा था, जब कि पाश्चात्त्य विजेतालोग हाथमें तलवार ले ऋषियोंकी सन्तानोंको यह प्रत्यक्ष दिखलाने आये थे कि वे (ऋषिसन्तान) असभ्य हैं, थोथे स्वप्न देखनेवाले लोगोंकी एक जाति है, उनका धर्म कोरी दन्तकथा है; आत्मा, परमात्मा और प्रत्येक वस्तु जिसके लिये वे प्रयास करते रहे हैं, निरे निरर्थक शब्द हैं; साधना और अनन्त त्यागके हजारों वर्ष व्यर्थ रहे हैं, तब विश्वविद्यालयोंमें पढ़नेवाले नवयुवकोंके बीच यह प्रश्न उठने लगा—'क्या इस समयतकका राष्ट्रिय जीवन असफल रहा है; क्या उनको पाश्चात्त्यप्रणालीके आधारपर पुनः श्रीगणेश करना होगा, अपनी प्राचीन पुस्तकोंको फाड़ डालना होगा, दर्शनशास्त्रोंको जला देना होगा, धर्मोपदेशकोंको भगा देना पड़ेगा और मन्दिरोंको तोड़ डालना होगा?' क्या पाश्चात्त्य विजेता, जिसने अपने धर्मका तलवार और बन्दूकके द्वारा प्रदर्शन किया था, नहीं कहने लगा था—'तमाम पुरानी बातें निरा रूढ़िवाद और मूर्तिपूजा है।' पाश्चात्त्य पद्धतिके अनुसार परिचालित नये स्कूलोंमें शिक्षा-दीक्षा पाये हुए बालकोंमें ये विचार बचपनसे समाने लगे। फिर सन्देहोंके उत्पन्न होनेमें आश्चर्य ही क्या था; परंतु रूढ़िवादको दूर डाल सत्यकी खोज करनेके स्थानमें सत्यकी कसौटी यह हो गयी—'(इस विषयमें) पश्चिम क्या कहता है?' ब्राह्मण विदा हों, वेद जला दिये जायँ; क्योंकि पश्चिमने ऐसा ही कहा है।"* ओह! कितना घोर विषाक्त प्रचार और प्राणघाती प्रहार था! अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्त्य संस्कृतिने ऐसे हिंदुओंको तैयार किया, जिनको संसारमें हिंदुत्व और भारतीय संस्कृतिके अतिरिक्त सब बातें पसंद आयीं। हिंदूधर्म, धर्मग्रन्थ और आचार-विचारको तिलांजलि दे उनको विदेशी शासकोंके नक्काल बननेमें गौरवका अनुभव होने लगा। उनकी मौलिकता समाप्त हुई!

दासको अपनी दासतामें परमानन्दका अनुभव होने लगा। बस, विजेताकी विजय पूरी हुई। पतनकी पराकाष्ठा हो गयी और तो क्या, अंग्रेजी प्रणालीके अनुसार पढ़नेवाले संस्कृतके विद्वानोंने भी आजतक भारतीय रीति-नीतिके अनुरूप संस्कृत-साहित्य और हिंदू-संस्कृतिके ग्रन्थ नहीं लिखे। जो भी लिखे, उनमें अंग्रेजी, अंग्रेज और अंग्रेजी-संस्कृतिका प्रभाव ओत-प्रोत है। पश्चिमसे हमें बहुत-सी बातें सीखनी हैं; पर जिन बातोंको हम उन्हें सिखा सकते हैं, उनमें भी उनकी दासता और शिष्यता अंगीकारके गौरवका अनुभव करना अंग्रेजी-शासनकी देन है। वेद, उपनिषद्, स्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थोंके बारेमें पाश्चात्त्य विद्वान् और उनके अनुयायी भारतीयोंने ऐसे-ऐसे काल्पनिक, परस्पर-विरोधी मतोंको उपस्थित किया कि जिन्हें पढ़कर नवयुवकोंके मस्तिष्क फिर गये और धर्मग्रन्थोंके प्रति श्रद्धाके स्थानमें सन्देह और अनास्थाकी सृष्टि हो गयी। स्कूलोंमें यह बात पढ़ायी जाने लगी कि आर्य भारतमें बाहरसे आये थे, ताकि छात्रोंको भविष्यमें यह अभिमान न हो सके कि पुण्यभूमि आर्यावर्त केवल उन्हींका 'आदि देश' है। नवशिक्षितोंका यह प्रवाद हो गया कि भारतवर्ष किसीका देश नहीं है, उसमें सब जातियाँ बाहरसे आयीं। इसी भाँति 'भारतीयोंके कोई इतिहास नहीं हैं', 'धर्म लड़ाईकी जड़ है', 'ईश्वर कोई वस्तु नहीं है', 'पाप-पुण्य कोरी कल्पनाप्रसूति है' इत्यादि

* देखिये—My Master. PP 9-10

असद्वाद भारतीयोंको रात-दिन सिखाये-पढ़ाये गये। फल यह हुआ कि ऐसे हिंदुओंको अपने देशीय तथा जातीय वेष, भाषा और भावके प्रति अनास्था और विदेशी वस्तुओंके प्रति श्रद्धा हो गयी।

अंग्रेजोंने हिंदुओंके देशको ही नहीं छीना, किंतु कूट उपायोंद्वारा हिंदू-जातिको सांस्कृतिक दृष्टिसे नष्ट-भ्रष्ट कर डालनेका भगीरथ प्रयत्न किया। आज वह अंग्रेजी राज्य ही, जिसमें कभी सूर्य अस्त नहीं होता था, भारतभूमिसे मिट गया है; पर हिंदू-संस्कृति उसके भयंकर प्रहारोंको सहकर भी अपनी अमर आधारशिलापर स्थित है। क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है? इतिहासज्ञो! आप समस्त विश्वकी सम्पूर्ण जातियोंके इतिहासोंको सृष्टिकी आदिसे पढ़ जाइये और फिर बतलाइये कि भारतकी हिंदू-जातिको छोड़ क्या अन्य कोई दूसरी जाति भी है, जिसने हजार वर्षोंतक विधर्मी-विदेशी शासकोंके नृशंस और मायामय हमलोंको सहन कर अपने और अपनी संस्कृतिके जीवनकी रक्षा की है? फिर भी यदि कोई हिंदू-संस्कृतिको सदोष और निकम्मी बताकर बदनाम करे तो 'उन्मत्त प्रलाप' नहीं तो क्या है?

हिंदू-संस्कृति अमर है, वह मिट नहीं सकती। क्यों? उसका मूल अमर है, उसकी आधारशिला अमर है। हिंदू देहात्मवादी नहीं है, वह अध्यात्मवादी है। उसकी दृष्टिमें देहाध्यास अज्ञानमूलक होता है। जन्म, शिक्षा-दीक्षा, संग, संस्कार, वातावरण आदि नाना कारणोंसे हिंदू हार्दिक विश्वास रखता है—'इस दृश्यमान स्थूल जगत्‌के मूलमें—इसके अणु-अणुमें एक, अद्वितीय, पूर्ण, अपरिच्छिन्न—अनादि और अनन्त—नित्य, अविनाशी आत्मा है और वही मैं हूँ—

'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'

(यजुर्वेद ४०। १६)

वह (हिंदू) मानता ही नहीं कि मैं शरीर हूँ। उसका शाश्वत दृढ़ विश्वास है—'मैं आत्मा हूँ। शस्त्र मुझे काट नहीं सकता, आग मुझे जला नहीं सकती, जल मुझे गीला नहीं कर सकता, वायु मुझे सुखा नहीं सकता, मृत्यु मुझे मार नहीं सकती। मैं अनित्य सांघातिक शरीर नहीं हूँ, बल्कि उसका अधिपति नित्य-अद्वैत शरीरी हूँ; क्षणभंगुर देह नहीं हूँ, बल्कि उसका अविनाशी अधिष्ठाता देही हूँ। मेरा जन्म नहीं है, मेरा मरण नहीं है, मैं एक देहरूपी चोला छोड़ता हूँ और दूसरा धारण कर लेता हूँ। देहके विकार मुझमें नहीं हैं। मैं उसका द्रष्टामात्र हूँ, उससे सर्वथा भिन्न हूँ; वह क्षेत्र है, मैं क्षेत्रज्ञ हूँ। देहका ही आगम और अपाय होता है। मैं सदा निर्विकार, एकरस हूँ, सनातन हूँ, आत्मा हूँ और केवल वही हूँ। 'सृष्टिमें भेद नहीं है।' 'यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है', 'यह आत्मा ब्रह्म है।' 'मैं वही ब्रह्म हूँ।' 'सब मुझमें हैं' और 'मैं सबमें हूँ'—

'नेह नानास्ति किञ्चन' (कठ० २। १। ११)
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३। १४। १)
'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य० २)
'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यक० १। ४। १०)
'मया ततमिदं सर्वं'........'मत्स्थानि सर्वभूतानि'

(गीता ९। ४)

हिंदू सदा आशापूर्ण आस्तिक होता है, शून्यवादी नास्तिक नहीं। 'अस्ति, अस्ति'—'है, है' ही उसका श्वास है; न कि 'नास्ति, नास्ति'—'नहीं है, नहीं है'। ये केवल पुस्तकीय वाक्य नहीं हैं, न कुछ इने-गिने दार्शनिकोंके रहस्यमय बुद्धिवाद, न कोरी कल्पनाके ऊँचे उड़ान, न अव्यवहार्य विचार या विश्वासमात्र। ये हैं वे वास्तविक जीवनतत्त्व, जिनका हिंदू महर्षियोंने संख्यातीत वर्षोंकी त्यागपूर्ण साधनाके द्वारा आविष्कार किया था और जिनका अनादिकालसे हिंदू-जाति अपने व्यावहारिक जीवनमें निरन्तर बड़े चावसे प्रयोग करती रही है। हिंदुओंको 'कोरी कल्पनाएँ करनेवाली और निरे स्वप्न देखनेवाली जाति' कहकर जो उनके विरुद्ध अव्यावहारिकता और अकर्मण्यताका दोषारोप किया गया है, वह अज्ञानमूलक और द्वेषपूर्ण है। वास्तवमें हिंदुओंके समान व्यावहारिक जाति धरातलपर है ही नहीं। उन्होंने जितने भी सूक्ष्म विचार खोज निकाले हैं, उन सबको अपने निजी जीवनमें व्यावहारिकरूप दिया है। दूसरे देशोंके दार्शनिकोंको यह गौरव प्राप्त नहीं है। वे निरे स्वप्नद्रष्टा हैं। उन्होंने ही विचार और व्यवहारमें भेद किया है, हिंदू दार्शनिकोंने नहीं। 'एक आत्मा ही सत्य है, सब जगत् मिथ्या है'—**'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'**—इस विश्वासको सत्य सिद्ध करनेके लिये असंख्य हिंदुओंने भरे घरोंको छोड़ा है, समृद्ध राज्योंको ठुकराया है। उन्होंने अपने पास सामान्य व्यक्तिके लिये अनिवार्य भोजन, वस्त्र आदि सामग्रीको भी नहीं रखा! वृक्षोंके पत्ते खाकर और नदियोंका जल पीकर उसी तत्त्वकी उपलब्धिके लिये आँसुओंके झरने बहाये हैं और साधनपथमें ही अपनी हड्डियाँ दे डाली हैं। आज भी

ऐसे व्यक्तियोंका ताँता टूटा नहीं है। 'आत्मज्ञान' से हिंदूका अभिप्राय आत्मसम्बन्धी कोरी कल्पना, निरे विचार, बौद्धिक ग्रहण या शास्त्रीय ज्ञानसे नहीं है, बल्कि स्वात्मानुभवसे है, आत्मसाक्षात्कारसे है। आत्मदर्शनसे कम किसी वस्तुसे वह सन्तुष्ट होनेवाला नहीं। कई एक महापुरुष इसी जीवनमें उस अनुपम स्थितिको प्राप्तकर 'जीवन्मुक्त' हो जाते हैं। उनके हृदयकी सब गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं, सब संशय क्षीण हो जाते हैं, सब कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, प्रारब्धभिन्न सब कर्म भस्म हो जाते हैं। धर्म, ईश्वर, जीव, जगत्-सम्बन्धी बातें उनके लिये समस्याएँ न रहकर हस्तामलककी भाँति प्रत्यक्ष हो जाती हैं। आत्मदर्शी महात्माका हिंदू-समाजमें साक्षात् ईश्वरके समान सम्मान होता है। वह जो कुछ कह देता है, वही कल्याणमार्ग है। जिस पथसे वह निकल पड़ता है, उसीकी धूलि पावन और शिरोधार्य हो जाती है। ऐसे महापुरुष अपने उदयद्वारा अधर्म और अज्ञानके अन्धकारको दूरकर ज्ञानालोकसे संसारका पथ-प्रदर्शन करते रहते हैं। धर्माधर्मके निर्णयमें हिंदूलोग पाश्चात्त्य देशोंकी भाँति 'बहुमत' को कोई महत्त्व नहीं देते; क्योंकि सत्य या धर्मको 'संख्या' का पक्षपात नहीं है। एक आदमी सत्यकी राहपर हो सकता है और तमाम दुनिया अनीतिकी राहपर। उनका निश्चित मत है कि आत्मवेत्ता एक ही धर्म-निर्णयके लिये पर्याप्त है, अनात्मज्ञ हजारोंकी संख्यामें भी नहीं—

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाध्यात्मवित्तमः॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति १।९)

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥

(मनुस्मृति १२।११४)

'वैदिकधर्मके ज्ञाता चार आदमी और तीन विद्याओंके जाननेवाले बहुत-से मिलकर 'धर्मसभा' कहलाते हैं। वह (सभा) जो कहे सो धर्म है। अध्यात्मज्ञाता एक भी जो कहे, वह धर्म है।' 'व्रत और मन्त्रसे रहित केवल जाति-नामधारी हजारों ब्राह्मण मिलकर भी 'धर्मसभा' नहीं हो सकते।' आत्माकी अद्वितीयता, अमरता, व्यापकता आदि सिद्धान्त हिंदूराष्ट्रके गिने-चुने व्यक्तियोंकी ठेकेदारीके सामान नहीं रहे हैं, बल्कि राजासे रंकतक और ब्राह्मणसे चाण्डालतक फैले हुए हैं। 'आत्मा सो परमात्मा', 'वही सबमें रम रहा है', 'उसका देहान्त हो गया', 'उसका चोला छूट गया'—आदि सर्वसाधारणद्वारा प्रयोग किये जानेवाले वाक्य उसके परिचायक हैं। अपनी पंजाबयात्रामें एक ग्रामीण बालाके गीतका वह अंश, जिसका अर्थ था—"मेरे चर्खेका पहिया भी 'सोऽहं' 'सोऽहं' गाता है" सुनकर स्वामी श्रीविवेकानन्दजी आनन्दविभोर और आश्चर्यचकित हो गये थे। आत्मा ही परमात्मा है। उसके सगुण रूपको देखनेवाले भक्तों—ईश्वरदर्शनकारी संतोंका—प्रवाह भी बड़ा प्रबल है। उनका व्यवहारदर्शन बड़ा विचित्र और रोचक है। उनकी सम्पूर्ण साधनाएँ ईश्वरदर्शनके लिये, ठीक उसी तरह उसे देखनेके लिये जिस प्रकार हम एक-दूसरेको देखते हैं, बल्कि उससे भी और अधिक घनिष्ठ रूपमें अनुभव करनेके लिये, उससे बातचीत करनेके लिये, आदेश पानेके लिये—नहीं, नहीं, सुख-दुःखमें साथी बनने, घरेलू धंधोंमें भी मदद करनेके लिये उस सर्वलोकमहेश्वरका आह्वान करनेके लिये होती हैं। वहाँ कोई **'अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी', 'जित देखौ तित स्याममयी है'** आदि दर्शन-लालसाभरे गीत गाता है तो कोई पुत्र, मित्र, माता या पिताके भावमें उससे मिलकर परमाह्लादका अनुभव कर रहा है; एक अपनी बेटीके 'भात' के वक्त उसके देरीसे पहुँचनेपर उससे रूठ रहा है तो दूसरा उसे उसकी गलतीके कारण पीट रहा है; एकसे वह तिलक करवा रहा है तो दूसरेकी रूखी रोटीको कुत्तेके रूपमें लेकर दौड़ रहा है; एक माता उसे दधि-माखनका प्रलोभन दे आँगनमें नचा रही है तो दूसरीके छोटे बालकको वह जंगलमें साथी बन पाठशाला ले जाता है आदि-आदि। उन भक्तोंकी जीवनगाथाओंको पढ़-सुनकर अँखियाँ नदियाँ बन जाती हैं। वे महापुरुष वेदोंके 'नेति-नेति' रूपसे गाये हुए परम पुरुषको अपने प्रेमपाशमें बाँध दैनिक जीवनके स्थूलरूपमें ले आये। अबतक जो जीवन वैराग्यका विषय था, आनन्दभूमि बन गया।

अब जरा बतलाइये, हिंदू सपने देखनेवाला कल्पना-परायण प्राणी है या प्रयोगकुशल वैज्ञानिक? क्या उसने आत्मा और परमात्मासम्बन्धी अतिसूक्ष्म तत्त्वोंको अत्यन्त व्यावहारिकतामें लानेके लिये कुछ उठा रखा? जहाँ अन्य लोगोंको 'अस्ति, नास्ति'—'है या नहीं है' का सन्देह हो रहा है, वहाँ हिंदूने स्वयं तद्रूप होकर या उसका होकर परम तत्त्वके दर्शन कर

लिये। फिर भी पाश्चात्त्य जातियाँ और उनकी शिक्षा-दीक्षासे प्रभावित भारतीय लोग हिंदुओंको कल्पनापरायण क्यों कहते हैं? वे लोग अनित्य सांसारिक भोगोंसे चिपटे हुए हैं और उन्हें ही परमार्थ मानते हैं। उनकी दृष्टिमें उनसे ऊँची कोई वस्तु है ही नहीं। आत्मा, परमात्मा और धर्म आदि शब्दोंके लिये उनके शब्दकोषमें कोई स्थान नहीं है। उनके अनुसार वे निरर्थक काल्पनिक पद हैं और उनकी खोजमें लगे रहनेवाले लोग कल्पनाके विमानपर उड़ रहे हैं। लोक-परलोक, पाप-पुण्य व्यर्थका जाल है; क्योंकि उनको वे समझते नहीं और उनके माननेसे उनका जीवन निःसार सिद्ध होता है। नित्य आत्मतत्त्वके ज्ञानी और जिज्ञासु अनित्य वस्तुओंमें आस्था रखनेवाले लोगोंको 'बालक' कहते हैं, जिनको अपने खिलौनोंके सिवा दुनियामें कोई तात्त्विक वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। उनकी दशाका वर्णन कठोपनिषद्की श्रुति इस प्रकार करती है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

(कठ० १।२।५)

'अविद्याके बीच फँसे हुए, अपने-आपको विद्वान् और बुद्धिमान् माननेवाले मूढलोग अंधेके पीछे चलनेवाले अंधोंकी भाँति बुरी तरह भटकते रहते हैं।' यह प्राच्य और पाश्चात्त्य दृष्टिकोणका मौलिक भेद है, जिसका समन्वय हो नहीं सकता। इसीको लेकर कवि किपलिंगके शब्द याद आ जाते हैं—

'The East is East and the West is West;
And never the twain shall meet.'

'पूर्व पूर्व ही है और पश्चिम पश्चिम। दोनोंका कभी मेल हो नहीं सकता।'

पाश्चात्त्य संस्कृतिके अनुसार सर्वोच्च व्यक्ति वह है, जिसके पास दुनियाकी सबसे अधिक चीजें हैं। हिंदू दृष्टिकोण सर्वथा विपरीत है। उनकी दृष्टिमें सर्वश्रेष्ठ वह है, जिसने नित्यतत्त्वकी उपलब्धिके लिये सब अनित्य वस्तुओंको मनसा त्याग दिया—

यश्चैतान् प्राप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥

(मनुस्मृति २।९५)

'सम्पूर्ण भोगोंकी प्राप्ति और परित्याग दोनोंमें त्याग ही श्रेष्ठ है।' जहाँ पाश्चात्त्य विचारधाराकी 'इतिश्री' हो जाती है, वहाँ प्राच्य दर्शनका प्रारम्भ होता है। वहाँ भोगीको श्रेष्ठ माना है, यहाँ त्यागीको। पाश्चात्त्यों और उनके अनुयायियोंकी दृष्टिमें हिंदू कल्पनाप्रिय प्राणी है; क्योंकि वह उनके दिमागके परेकी बातोंको सोचता और करता रहता है। हिंदुओंके मतानुसार वे लोग 'बालक' हैं, जो अपनी नासमझीके कारण नित्य आत्माको छोड़ अनित्य भोगोंको परमार्थ मानकर अपनाते हैं और उन्हींमें अपने जीवनको होम देते हैं। दोनों दृष्टिकोणोंके लिये कारण स्पष्ट है।

आत्मोपलब्धि और ईश्वरसाक्षात्कारके लिये जो साधन या कर्तव्यकर्म हैं, वे व्यक्ति और समष्टिकी स्थितिको धारण करनेके कारण 'धर्म कहलाते हैं। हिंदू महर्षियोंने खाने-पीने, सोने-उठनेसे लेकर वर्णाश्रम-व्यवस्थातक सम्पूर्ण धर्माधर्म या कर्तव्याकर्तव्यका विवेचन 'आत्मानुभूति' या 'ईश्वरदर्शन' की दृष्टिसे किया है। पाश्चात्त्योंकी तरह 'अधिकार' का हो-हल्ला वहाँ नहीं है। वहाँ तो केवल 'धर्म' का बोलबाला है। हिंदूका विश्वास है कि जो धर्मपर स्थित है, उसके अधिकारकी रक्षा स्वयं 'धर्म' करता है, धर्माधिपति 'ईश्वर' करता है। उसका लेखा दुनियामें है और दुनियासे परे भी है। साध्य और साधनका अभेद मानकर वह धर्मके प्रति अटूट श्रद्धा और निष्ठा रखता है। पाश्चात्त्योंकी भाँति वह उसे 'नीतिके नियम' नहीं मानता, जिन्हें वे मोमके नाककी तरह सुविधाके अनुसार इधर-उधर कर बैठते हैं। उसका तो विश्वास है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥

(मनुस्मृति ८।१५)

'धर्मकी हत्या करनेपर वह उस हत्या करनेवालेका विनाश कर डालता है, धर्मकी रक्षा होनेपर वह रक्षककी भी रक्षा करता है; इसलिये हमें धर्मका नाश नहीं करना चाहिये। नष्ट हुआ धर्म हमारा नाश न करे।' सनातन प्रभुका धर्म भी सनातन है। उसका नाश कभी हो नहीं सकता। जब-जब उसके ह्रास या ग्लानिका और अधर्मकी वृद्धि या अभ्युत्थानका अवसर आता है, तब-तब स्वयं मायाधिपति ईश्वर उसकी रक्षा और संस्थापनाके लिये अवतार लेता है। उसकी रक्षाका भार किसी लौकिक जीवपर नहीं है, स्वयं अविनाशी ईश्वरपर है, जो उसका प्रभु है—'**धर्मस्य प्रभुरच्युतः**।'

धर्म और ईश्वरकी श्रद्धामय और निष्ठायुक्त भावनाको ही 'आध्यात्मिकता' कहते हैं। वही हिंदूका जीवन है, वही हिंदू-संस्कृतिकी आधारशिला है। उससे सब कुछ है, उसके बिना कुछ नहीं। 'हिंदू कहता है कि जीवनकी समस्याका एक ही हल है, वह है धर्म और ईश्वर। यदि ये (धर्म और ईश्वर) सत्य हैं तो जीवन सार्थक है, सह्य है, सुखद है; अन्यथा वह केवल निरर्थक भार है। यह है हमारा (हिंदुओंका) विचार' (स्वामी विवेकानन्द)। समाजके प्रत्येक वर्गका आदमी—चाहे वह विद्वान् हो या मूर्ख, योद्धा हो या व्यापारी, कृषक हो या कारीगर, कवि हो या दार्शनिक—इस अमर भावनाको किसी-न-किसी रूप या अंशमें अपने साथ लिये रहता है। इस विचारधाराको प्रारम्भमें वैदिक साहित्यने जन्म दिया; बादमें आर्ष धर्मग्रन्थोंने उसे पल्लवित किया। फिर युगपरिवर्तनके साथ पौराणिक साहित्य और महाभारत आदि ग्रन्थोंने तदनुरूप कथा-रचना और दार्शनिक वादके मिश्रित आधारपर उसे सुरक्षित रखा। मध्ययुगमें भगवद्भक्तोंकी अनन्त परम्पराने उसे रूपान्तर दे सर्वसाधारणतक पहुँचाया। हमारे जमानेके राजनीतिक आन्दोलनके पीछे भी पिछले दिनों उसी आध्यात्मिकताकी दबी आवाज थी। हिंदू-संस्कृति अमर आधारशिला—आध्यात्मिकता—पर स्थित रही है, इसलिये सब संकटोंके रहते भी सदा रही है और यदि भविष्यमें आधारशिला वही रहेगी तो सदाके लिये वह अमर रहेगी। पूर्वजोंकी अमूल्य निधि आध्यात्मिकताका उपार्जन और संरक्षण प्रत्येक हिंदूका पवित्र कर्तव्य है। उसीसे आत्मकल्याण और विश्वशान्ति होगी और उसीसे भारतभूमिका गौरव फिर पूर्ववत् होगा। ॐ शान्तिः।

आर्य हिंदू-धर्म

(लेखक—बाबू श्रीजुगलकिशोरजी बिड़ला)

भारतीय आर्य हिंदू-संस्कृतिका रक्षक 'धर्म' ही हो सकता है। सनातनधर्म ही उसका प्राण है। धर्मके बिना संस्कृतिका कोई अर्थ नहीं, कोई गौरव तथा मूल्य भी नहीं। वर्तमान समयमें अज्ञानवश बहुत-से भाई धर्मका नाम लेनेमें भी कुछ संकोच या लज्जाका अनुभव करते हैं (वास्तवमें यह बड़ी लज्जाकी बात है)। इसीलिये वे धर्मको भी संस्कृति, सभ्यता या कलचरके नामसे ही सम्बोधन करते हैं। वे भाई सनातन आर्यधर्म या उससे प्रकट हुई शाखाओंके माननेवाले बौद्ध, सिख, सनातनी आदि अपने धर्मबन्धुओंसे भी परस्परके वार्तालापमें संस्कृतिको ही आगे कर कहते हैं कि 'आपकी-हमारी संस्कृति मिली हुई है।' किंतु केवल संस्कृति-शब्द भाषा, वेष और सामाजिक आचार-व्यवहारका सूचक है, जो भारतके हिंदुओंमें ही भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ते हैं तथा समय-समयपर बदलते रहते हैं। प्रान्तीय भाषाओंका मूल संस्कृत है, परंतु तब भी बोल-चालकी भाषामें कई स्थानोंमें विशेष अन्तर पड़ गया है। पोशाक भी धोती या साड़ीके उपरान्त उत्तर, दक्षिण या पूर्वी भारतकी, देश-कालकी परिस्थितिके कारण समान नहीं रह गयी है; फिर भी धार्मिकताकी एक भावनाके कारण हम काश्मीरी, नैपाली तथा सिन्धी, बंगाली या मदरासी हिंदूको अपना भाई समझते हैं। यदि भाषा तथा पोशाक आदिसे ही एक संस्कृति या सभ्यता समझी जाती, तो हमारे पड़ोसी बलोचिस्तान, सीमाप्रान्त, काबुल आदिसे भी वही नाता होता। उनके साथ भी एक हजार वर्ष पहले वैसी ही बात थी, क्योंकि वे भी हिंदू थे; किंतु आज तो वे अपनी संस्कृति हमसे भिन्न समझते हैं। दूसरी ओर चीन, जापान, वर्मा, श्याम आदिके बौद्ध भाई दूर रहनेपर भी अपनी संस्कृति भारतसे मिली-जुली समझते हैं।

इसके मूलमें धर्म ही कारण है। यों तो वेष, भाषा तथा गृहनिर्माण, शिल्प आदिका भी बहुत महत्त्व है; क्योंकि पोशाकमें अमुक मनुष्य हिंदू या मुसलमान वा अमुक देशका जान लिया जाता है। उनमें भी पोशाकसे पण्डित, पादरी, मौलवी, साधु या सैनिक आदिको पहचाना जा सकता है। इसी भाँति विशेष प्रकारकी बनावट होनेसे मन्दिर, मस्जिद, चर्चको भी दूरसे ही जान लिया जाता है। स्वस्तिक आदिके चिह्नमें तथा मन्दिर आदि धार्मिक स्थानोंके शिल्पमें भारतसे वर्मा, श्याम, चीन, जापानतक बहुत कुछ समानता दीख पड़ती है। इन सभी देशोंमें आर्यधर्मी साधु-संन्यासियोंकी पीले रंगकी पोशाक भी प्राय: एक समान पायी जाती है; किंतु शिक्षित कहे जानेवाले लोगोंमें अब वर्तमान समयमें यूरोपियन पोशाकका प्रचार भी सभी देशोंमें बढ़ रहा है। यूरोपियन पोशाक महँगी पड़ती

है और विशेष खर्चीली होनेसे सादे जीवनके अनुकूल भी नहीं है। तब भी उनमें कुछ दो-तीन वस्तुएँ धूप तथा सर्दीसे रक्षा देनेवाली दिखायी दें तो उनको धारण किया जा सकता है; परंतु व्यर्थकी वस्तुको नकल करके धारण करना तो हानिकर ही है। अस्तु, केवल समान भाषा या लिपि या पोशाक धर्मके आधारके बिना एक संस्कृति नहीं बना सकती।

ईरानी (आर्यन्) जिनकी पारसी भाषा संस्कृत शब्दोंसे भरपूर है, अपनेको आर्य भी मानते हैं। यूरोप, अमेरिकाके लोग भी अपनेको आर्यन् मानते हैं। उनकी मूल लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओंका निकास संस्कृत भाषासे ही माना गया है। यूरोपकी तो लिपि भी अन्य आर्य लिपियोंकी भाँति मूलमें स्वस्तिकसे ही निकली मानी जाती है; परंतु धार्मिक भिन्नताके कारण यूरोप तथा ईरान, काबुल आदि देशवाले सभी अपनेको अलग मानते हैं। अतएव संस्कृतिकी एकताके लिये मूलमें धर्म ही प्रधान है।

धर्मकी रक्षासे ही संस्कृति भी टिक सकती है, देशका श्रेय हो सकता है तथा व्यक्तियोंकी आत्मिक उन्नति हो सकती है। खेद है कि इस समय धार्मिक शिक्षणके अभावमें यहाँ शिक्षित कहे जानेवाले अधिकांश लोगोंने धर्मके अर्थको ही कुछ विचित्र मान लिया है। वे देशोद्धार या सुधारके नामपर उलटे मार्गमें जा रहे हैं। कुछ वर्ष पहलेतक सनातनधर्म वा आर्यसमाज तथा अन्य जातीय संस्थाएँ धार्मिक उन्नतिके लिये कुछ सामाजिक रूढ़ियोंमें सुधार आदिकी चर्चा करती रहती थीं; परंतु आज समान अधिकारके नामपर राग-द्वेष बढ़ानेवाली, धर्मविरोधी उद्दण्डताके कार्य करनेवाली अनेकों संस्थाएँ दिखायी पड़ती हैं। आश्चर्य और खेद तो यह है कि महात्मा गांधीके सत्य, अहिंसा, त्याग और ईश्वरभक्तिके उपदेशोंको भी राष्ट्रोन्नतिके नामपर बहुत-से लोगोंने ताकपर रख दिया है, जिससे उनके आचरण 'नास्तिकता' और 'अनैतिकता' की ओर जनताको घसीट रहे हैं!

सीता, सावित्री, पद्मिनी-जैसी सतियोंके स्थानपर आज कई कुलटा और पतित स्त्रियाँ समाजसुधारके नामपर सार्वजनिक सभाओंका नेतृत्व करती दिखायी पड़ती हैं। इसी प्रकार प्राचीन महापुरुष, महात्मा तथा वीर पुरुषोंके स्थानपर चरित्रहीन और नास्तिक लोगोंका समाजमें प्रभाव बढ़ रहा है। विद्यापीठोंमें युवक और युवतियोंको एक साथ शिक्षा दी जाने लगी है, जिसका कुपरिणाम दृष्टिगोचर होने लगा है। उचित तथा धार्मिक और नैतिक शिक्षाके अभावमें विद्यार्थी शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकारसे अनेक रोगोंमें फँस जाते हैं। सामाजिक एकताके स्थानपर अनेकता बढ़ रही है। समानाधिकारके नामपर अशान्ति और विरोधकी आग यहाँतक फैल रही है कि अनेक वर्गवादोंके उपरान्त स्त्री और पुरुषवर्गके नामपर भी विरोध चल पड़ा है। यदि स्थितिको नहीं सँभाला गया तो भारतीय समाज तथा संस्कृतिके सर्वथा नष्ट होनेका डर है। इससे बचनेके लिये धार्मिक शिक्षा अर्थात् गीता आदि सद्ग्रन्थोंकी पढ़ाईकी अति आवश्यकता है। इसके लिये विद्यालयोंमें हिंदू बालकोंके अनिवार्य नियम बनाया जाना आवश्यक है। श्रीगीताके उपदेश प्राणिमात्रके लिये कल्याणकारी हैं, वे देश-कालकी सीमासे बाधित नहीं हैं तथा वे साम्प्रदायिकतासे दूर हैं—इस प्रकारकी मान्यता हमारी वर्तमान गवर्नमेंटके प्रधान मन्त्री श्रीनेहरूजी और गवर्नर-जनरल श्रीराजाजीकी भी है। कई बार अपने भाषणोंमें वे यह बात कह चुके हैं। तब क्या कारण है कि विद्यालयोंमें ये ग्रन्थ न पढ़ाये जायँ। इसी गीताको पढ़कर लोकमान्य तिलक कर्मयोगी बने तथा इसी गीतासे श्रीअरविन्द राजयोगी बन गये। श्रीगांधीजी भी गीताके प्रतापसे ही महात्मा बन गये। श्रीनेहरूजीने भी अपने भाषणमें कहा था कि 'उनके जीवनपर गीताका बहुत प्रभाव पड़ा है।' वर्तमान समयमें हमारे बड़े-बड़े सभी नेता प्रायः गीतासे प्रभावित हैं; किंतु इतना होनेपर भी यह दुर्भाग्यकी बात है कि अभीतक इस सम्बन्धमें कार्यारम्भ नहीं किया गया है। मैं एक बार फिरसे प्रार्थना करूँगा कि मनुष्यता तथा भारतीय संस्कृति या भारतीयताकी रक्षाके लिये श्रीगीताके प्रचारकी बहुत ही आवश्यकता है।

हिंदूके गुण

हिंदूलोग धार्मिक, प्रसन्न, न्यायप्रिय, सत्यभक्त, कृतज्ञ और प्रभु-भक्तिसे युक्त होते हैं।

—कवि सैमुएल जॉन्सन

हिंदू-संस्कृति क्या है?

(लेखक—कुंवर श्रीचाँदकरणजी शारदा)

ढाई वर्षके इस संघर्ष और उलट-पुलटके समयमें अब प्रत्येक भाई यह कहता है कि हम अपने देशकी संस्कृतिकी रक्षा करेंगे; परंतु उनमेंसे बहुत-से भाई यह नहीं समझते कि संस्कृति कहते किसे हैं। जब उनसे पूछा जाता है कि संस्कृतिकी रक्षाके अर्थ क्या यह हैं कि हम उस संस्कृतिकी रक्षा करें, जो छोटे-छोटे बच्चोंको मारना और स्त्रियोंको भगाकर ले जाना अपना धर्म समझते हैं? या वह संस्कृति उत्तम है कि जिस संस्कृतिके अनुसार काले-गोरोंका भेद रखकर अफ्रीकाके निवासियों तथा हिंदुस्थानियोंको मारा जाता है? अथवा संस्कृतिकी रक्षासे क्या उस पश्चिमी संस्कृतिकी रक्षा करना मानते हैं, जिसने जापानके लाखोंकी आबादीके हिरोशिमा नगरपर एटम बम गिराकर लाखों बूढ़ों, बच्चों एवं स्त्रियोंका नाश कर दिया? अथवा संस्कृतिके नामपर क्या इन अमेरिकावालोंको अच्छा मानते हैं, जो निग्रोलोगोंको खाल खींचकर मार डालते हैं? उत्तर मिलेगा—हम ऐसी संस्कृतिको कदापि नहीं चाहते। तो फिर कैसी संस्कृति चाहते हैं? उत्तर मिलता है—हम ऐसी संस्कृति चाहते हैं, जिसमें सब ईश्वरविश्वासी हों, भाई-भाईके समान एक-दूसरेको समझनेवाले हों, पीले-गोरे-कालेका भेद-भाव जहाँ न हो, अपितु प्रेम, समझ, सरलता और सुख-शान्तिका राम-राज्य हो। '**मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्**' के भाव सबके हृदयोंमें तरंगित हों। ऐसी संस्कृति हिंदू-संस्कृति ही है। राम और भरतकी सभ्यता और संस्कृति ही विश्वमें शान्ति फैला सकती है। पिताकी आज्ञासे राम राज्यको छोड़कर वन जाते हैं, किंतु भरत उसे लात मारते हैं। राज्यको 'फुटबाल' की भाँति एक भाई इधरसे किक मारता है, दूसरा भाई उधरसे। अन्तमें भरतने चौदह वर्षोंतक महलों और राजप्रासादोंमें शानसे न रहकर जमीनमें गुफा बनाकर रामके प्रतिनिधिरूपमें राज्य-संचालन किया। एक उस संस्कृतिको देखिये कि जिसमें औरंगजेबने राजपदके लिये दगा करके भाइयोंको मरवा डाला, बापको कैदमें डाला! हम ऐसी संस्कृतिको नहीं चाहते, जिसके मूलमें यह शिक्षा दी गयी है कि अन्य धर्मावलम्बीका वध करना ही धर्म है; उनके धर्मस्थानोंको तोड़ना, पुस्तकोंको जलाना और उनके स्त्री-पुरुषोंको दास-दासी बनाकर अनाचार करनेके आदेश हैं।

हमारी हिंदू-संस्कृति हमें वीर बनने एवं धर्मके मार्गपर दृढ़ रहनेकी शिक्षा देती है। धर्म और संस्कृतिकी रक्षाके निमित्त चित्तौड़के किलेमें विधर्मियोंसे बचनेके लिये चौदह हजार वीरांगनाओंने जौहरकी ज्वालामें भस्मीभूत होकर आर्य-संस्कृतिको अमर बनाया। वीर आर्यबालक हकीकतने तलवारको हँसते-हँसते चूमकर, गुरु गोविन्दसिंहने अपने पुत्रोंकी बलि देकर, महाराणा प्रतापसिंह, दुर्गादास राठौर, छत्रपति शिवाजीने वर्षों जंगलोंमें भटककर अपनी प्यारी हिंदू-संस्कृतिके गीत गाये, किंतु त्याज्य एवं परिहार्य संस्कृतियोंके आगे नतमस्तक नहीं हुए। हमारी संस्कृति अर्जुनके समान धर्मवीर उत्पन्न करनेका उपदेश देती है, जिसने उर्वशीके रूप-लावण्यपर अपनेको मोहित नहीं होने दिया अपितु उसे अपनी माता कहकर पुकारा और ब्रह्मचर्यकी रक्षा की। हमें वह गुंडागिरी नहीं चाहिये, जो अपने ही पड़ोसकी, मोहल्ले और ग्रामकी बहिन-बेटियोंको कुदृष्टिसे देखना सिखाती है। हमें तो वह शूरता और सौम्यता चाहिये, जिसमें पलकर हमारे नवयुवक न तो स्वयं गुंडे बनें न किसी दूसरेको ही गुंडावृत्ति करने दें।

हिंदुस्थान और पाकिस्तानका बँटवारा संस्कृति और धर्मके नामपर हो गया। पाकिस्तानमें उपर्युक्त मुस्लिम संस्कृतिके आधारपर देशका निर्माण होगा। उस संस्कृतिसे निर्मित देशमें हमारे धर्म, मान-प्रतिष्ठा और बहिन-बेटियोंकी क्या दशा हो सकती है—इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। भारत-विभाजन होनेपर नोआखालीमें पहले मुसलमानोंने ही स्त्री-अपहरणका नारकीय काण्ड आरम्भ किया, स्त्री और बच्चे कत्ल किये। एक उदाहरण हमारे सामने महाराणा प्रताप और राठौर दुर्गादासका है कि मुगल बादशाहोंकी बेगमोंके पकड़े जानेपर उन्हें आदरपूर्वक उनके पतियों एवं अभिभावकोंके पास भेज दिया था। यह हमारी हिंदू-संस्कृति ही है कि पाकिस्तान बन जानेके बाद भी भारतवर्षमें मुसलमान उतने ही सुरक्षित रह सकते हैं, जितने हिंदू तथा अन्यान्य-मतावलम्बी। आज भी वैदिक सभ्यताके माननेवाले भारतीय आर्य (हिंदू) सबके साथ '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' की उक्तिको

सत्य अर्थोंमें चरितार्थ करके उत्तम व्यवहार कर रहे हैं। यही अन्तर है हमारी और उनकी संस्कृतिमें। देखिये, हमारी हिंदू-संस्कृति मनुष्यको क्या उपदेश देती है—

(१) हिंदू-संस्कृति मनुष्यको आत्मसंयम तथा आवश्यकताओंकी कमीका पाठ पढ़ाती है।

(२) हिंदू-संस्कृति मनुष्यका अन्तिम ध्येय ईश्वरीय ज्ञानकी प्राप्ति बतलाती है।

(३) हिंदू-संस्कृतिका मुख्य तत्त्व परार्थ-भाव है। यह परोपकार, दान, अतिथि-सेवा तथा दूसरोंके हितके लिये अपने स्वार्थोंका त्याग सिखलाती है। वह सबके स्वार्थको ही अपना स्वार्थ माननेका पाठ पढ़ाती है।

(४) हिंदू-संस्कृति निष्कामभावसे शुभ-कार्य करना सिखाती है।

(५) हिंदू-सभ्यता स्वार्थरहित, जान-बूझकर गरीब जीवन व्यतीत करनेवाले सौम्य तपस्वी ब्राह्मणोंका आदर करना सिखलाती है।

(६) हिंदू-संस्कृति प्राकृतिक उन्नतिकी—लौकिक अभ्युदयकी, जिसको जीवनका एकमात्र ध्येय मानकर उसीके पीछे दौड़नेवाला यूरोपीय समाज विनाशकी ओर जा रहा है, सर्वथा उपेक्षा करना नहीं सिखाती; परंतु वह उसको धर्मसे संयमित और संचालित करना सिखाती है और साथ ही आध्यात्मिक उन्नतिपर भी पूरा बल देती है। ऐसा करनेसे ही मनुष्य-समाज विनाश तथा पतनसे बच सकता है।

(७) हिंदू-संस्कृति सत्य, अहिंसा, अस्तेय, तप, ब्रह्मचर्य इत्यादि नैतिक गुणोंकी शक्तियोंमें बड़ा विश्वास रखती है।

भारतवर्षमें अनार्य, शक, हूण आदि अनेकों जातियाँ आयीं, किंतु हिंदू-संस्कृतिमें घुल-मिल गयीं और उनकी पृथक् कोई सत्ता इस देशमें नहीं रही। मुस्लिम-संस्कृतिके बाद यूरोपियन संस्कृति, जिसे पाश्चात्त्य सभ्यता एवं संस्कृतिके नामसे पुकारते हैं, भारतमें आयी। भगवत्कृपा और देश-भक्तोंके प्रबल प्रयत्नसे वे पाश्चात्त्य शासक तो इस देशसे चले गये, किंतु उनकी संस्कृतिके कुछ अवशेष अभी दृष्टिगोचर होते हैं। परंतु निश्चय है कि हिंदू-संस्कृतिके सामने वे टिक नहीं सकेंगे और अंग्रेजी शासकोंकी भाँति अंग्रेजी संस्कृति, जो कि पतनकी ओर ले जानेवाली है, स्वयं पतित हो जायगी।

वैसे भारतमें अधिक टक्कर मुस्लिम-संस्कृतिवालोंसे ही रही है। पर उसके मुकाबिलेमें भी हिंदू-संस्कृति ही विजयिनी हुई। मुस्लिम सभ्यताका बोलबाला ११ सौ वर्षोंतक रहा और इस कालमें उनकी सभ्यता-संस्कृति, शिक्षा भारतके एक सिरेसे दूसरे सिरेतक व्याप्त रही और उनकी संस्कृतिका प्रभाव अमीर-गरीब सभीपर पड़ा। मुसलमान हिंदूकुशके पश्चिमसे लेकर एशिया और अफ्रीका तथा दक्षिणी यूरोप, स्पेन और फ्रांसको भी धूलि-धूसरित कर चुके थे। कुस्तुन्तुनियाँका प्रताप लूटकर वे मदोन्मत्त हाथीकी तरह इठला रहे थे। उस समय भारतीय संस्कृतिमें पले हुए राजाओंकी सैनिक शक्तिके आगे वे इधर घुसनेका साहस नहीं करते थे। किंतु पारस्परिक कलहने हिंदू-संस्कृतिका ह्रास आरम्भ कर दिया। मुहम्मदगोरीका प्रभुत्व सफल न होता, यदि हिंदुओंकी यौद्धिक शक्तिका सर्वथा क्षय न हो गया होता। यवन-साम्राज्यकी नींव अकबरके कालमें इसलिये प्रौढ़ हुई कि उसने हिंदू-संस्कृति और हिंदू-नरेश दोनोंका ही पूरा-पूरा सहयोग लिया। उसने हिंदू सरदारों और हिंदू-नीतिपर राज्य-विस्तार किया। जबतक वह जीवित रही, हिंदुओंके सहयोगसे उसकी नैया चलती रही; किंतु उसकी मृत्युके दो सौ वर्ष बाद ही प्रतापी मुगल-साम्राज्य हवा हो गया! मुगल-साम्राज्य ताशके महलकी भाँति ढह गया और उसके उत्तराधिकारी मराठोंकी कैदमें पड़े। दक्षिणमें तालिकोटके मैदानमें हिंदू-शक्तिके पुनः कुछ क्षीण होनेपर सौ वर्षके बाद फिर हिंदू-संस्कृतिके रूपमें पेशवाजी पैदा हुए और उन्होंने बड़े बाँकेपनसे पानीपतके मैदानमें ढाई लाख मराठे एकत्रित कर दिये। अकबर-से प्रतापीके सामने वीर प्रतापने पचीस वर्ष तलवार चलायी और औरंगजेबने राठौर वीर दुर्गादास एवं शिवाजीके भयसे अपने पचास वर्ष चिंता और तलवारकी धारपर काटे। यह इस बातका ज्वलन्त प्रमाण है कि भारतमें कभी भी हिंदू-संस्कृतिका मस्तक नीचा नहीं हुआ। पृथ्वीभरके इतिहासमें ग्यारह सौ वर्षोंतक अराजकतामें रहकर, अरक्षित जीकर, इतने आक्रमण, कत्ल और लूट सहकर तथा नौ सौ वर्ष विदेशी धर्म एवं संस्कृतिके मुस्लिम और अंग्रेज शासकोंके शासनमें रहकर भी किसी जातिका जीवन, उसकी सभ्यता एवं संस्कृति अक्षुण्ण बनी रही है तो वह हिंदू-संस्कृतिके मुकाबिलेमें और कौन-सी संस्कृति है?

विश्व-कल्याणका मार्ग-भारतीय नैतिक संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

आज हम देखते हैं कि समाजकी दशा उत्तरोत्तर विकृत होती जा रही है। जनता अनन्त दु:खों, क्लेशों और विघ्नोंका शिकार हो रही है। परस्परविरोधी स्वार्थोंसे प्रत्येक जाति तंग आ रही है। मन, वचन और क्रियामें समन्वय दिखायी नहीं देता। सन्मनोवृत्ति, सद्‌वचन और सत्कर्म दुर्लभ हो गये हैं। व्यष्टि-समष्टिका स्वस्थ ऐक्य भ्रष्टाचारोंसे क्षत-विक्षत हो रहा है। सर्वत्र हिंसा और उच्छृंखलताका बोलबाला है। युद्धविभीषिका प्रतिक्षण सामने दिखायी देती है। प्रीति, करुणा, सहानुभूति और न्याय-तत्परता अन्तिम साँस ले रही हैं। पोषक और रक्षक तत्त्व कलहके प्रांगण बने हुए हैं। घातक तत्त्व मुँह बाये संसारका ग्रास करनेको खड़े हुए हैं। सत्यकी कोई परवा नहीं करता। धर्म मुर्दा-सा होकर पड़ा है। मनुष्योंके क्रिया-कलाप अत्यधिक भयावह होते जा रहे हैं। विशेषतः ज्ञान, अधिकार, धन और श्रम कलहके क्षेत्र बने हुए हैं। ऐसी दशामें आर्योचित नैतिक आचरणसे ही संसारको सुखी और शान्त बनाया जा सकता है। इसीसे समाजके क्रियाकलाप सर्वतोभद्र किये जा सकते हैं। आजके दु:खी और मरणोन्मुख संसारकी यही एक सदोषधि है। इसलिये कि भारतीय नैतिक आचरणोंके कुछ ऐसे नियन्त्रण और संरक्षण हैं कि जिनसे वे कभी भी दूषित नहीं हो सकते, अनैतिक नहीं बन सकते। उनमें मुख्यतम ये हैं—

(क) निवृत्ति-योग

(ख) अनासक्ति-योग

(ग) निष्काम-योग

तात्पर्य यह है कि हिंदू-संस्कृति निवृत्तिप्रधान है। इसकी प्रवृत्ति भी निवृत्तिमय है। यह प्रवृत्तिमें निवृत्तिकी साधना है। इसकी मुक्ति इसके निवृत्ति-पथकी ही अभिव्यंजक है। यही कारण है कि इसके नागरिकोंके स्वार्थ आपसमें नहीं टकराते। वे वित्तैषणा, सन्तानैषणा और लोकैषणामें प्रवृत्तिके घातक दोषोंसे सदैव असंस्पृष्ट रहते हैं। यही निवृत्ति-योगका अभिप्राय है।

अनासक्ति-योग निवृत्ति-योगका भी प्राण है। यह सम्पूर्ण आसक्तिमूलक पापोंके नाशकी निर्दोष साधना है। निवृत्ति-योगकी कोर-कसरसे बचे-बचाये दोषोंका इससे पूर्णतः उन्मूलन हो जाता है। जैसे तृणहीन स्थानमें पड़ी अग्नि स्वयमेव बेकार हो जाती है, वैसे ही इसमें प्रवृत्तिके पापोंको मुँह दिखाने और पनपनेका अवसर ही नहीं मिलता। इसमें कर्ता, कार्य, कारण और साधक, साध्य, साधनतक प्रवृत्तिके दोषोंसे स्वभावतः विमुक्त रहते हैं।

निष्काम-योग तो साधकके अन्तःकरणको ही सर्वथा निर्दोष बना देता है, फलासक्तिजन्य सभी पापोंको नाम-शेष कर देता है। प्रत्युत उनके आघातों और प्रत्याघातोंका बाण-प्रहार भी प्रभावहीन हो जाता है। निष्कामयोगी संसारमें रहता हुआ और सब कुछ करता हुआ भी निर्लिप्त रहता है। उसे प्रवृत्तिका कोई भी दोष दूषित नहीं कर सकता।

इस तरह इस योगत्रयके प्रतापसे नैतिक आचरणोंको स्वप्नमें भी अनैतिकताकी स्पर्शजन्य बुराइयोंके ग्रास होनेका भय नहीं रहता। वे बुराइयोंके काल, स्थान और कारणजनित प्रसंगोंसे भी मुक्त रहते हैं। ऐसी दशामें राजस-तामस तत्त्वोंकी लीला-भूमि ही समाप्त हो जाती है, साधकका अन्तःकरण सात्त्विक तत्त्वोंकी विहारस्थली बन जाता है और नैतिक आचरणोंको अच्छी तरह पनपने और फूलने-फलनेका अवसर मिलता है। फिर सार्वभौम और सार्वजनीन अशान्ति तो उन्मूलित होकर ही रहती है। ऐसी दशाके सुफल होते हैं—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋग्० १०।१९१।२, ४)

किंतु इसपर भी निवृत्ति-प्राण तत्त्वोंका वातावरण व्यष्टिसमष्टि-गत नैतिक आचरणको भी हृष्ट-पुष्ट और दृढ़ बना देता है। वे तत्त्व हैं—

अ. तप (Self-denial)

आ. न्यास (Self-renunciation)

इनसे नैतिक कार्योंमें विलक्षण स्वर्गीय भावना, चिन्ता और इच्छा उत्पन्न हो जाती है। नैतिक सम्बन्धोंमें अनुभूति, जिज्ञासा और कर्मठताका वातावरण बन जाता है। ऐसी दशामें नैतिक आचरणोंमें विश्वब्रह्माण्डोंके वायुमण्डलको नीतिमय बनानेकी शक्ति उत्पन्न हो

जाती है। इस स्तरतक पहुँचकर नैतिक आचरण अति दिव्य हो जाते हैं और उनके संग-प्रसंगमें पनपनेवाले व्यक्तित्व भी ऋषिकल्प बन जाते हैं।

किंतु इतने ऊँचे स्तरपर पहुँचकर भी भारतीय हिंदू-नैतिकताने विश्राम नहीं लिया; अपितु कुछ ऐसी साधनाओंसे भी इसे अधिकाधिक दृढ़ और विकसित होनेका अवसर मिला, जो इसके लिये ईश्वरीय आशीर्वाद ही सिद्ध हुईं। वे हैं—

(क) वर्ण-व्यवस्था।

(ख) आश्रम-व्यवस्था।

वर्ण-व्यवस्थाने नैतिक आचरणोंको सर्वथा संयत कर दिया। उसके गुण-कर्मने इसे स्वाभाविक बना दिया। उसके वर्णगत स्वभावने इन्हें दैवी रूप दे दिया। वर्णसम्मत व्यष्टि-समष्टिके समन्वयने विरोधी तत्त्वोंको सदाके लिये अर्द्धचन्द्र दे दिया। विशेषतः श्रम-विभागने इन्हें सर्वाधिक सत्य, शिव और सुन्दर बना दिया, जिसका समर्थन प्रकारान्तरसे हर्बर्ट स्पेन्सरने भी इस प्रकार किया है—

'यह एक सचाई है कि वैयक्तिक और सामाजिक शरीरोंमें जब उनके व्यापारोंका विशेषीकरण हो जाता है अर्थात् उन्हें करनेवाले पृथक्-पृथक् होते हैं तो उनकी कार्य-शक्ति बढ़ जाती है। भिन्न-भिन्न कार्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और व्यक्ति-समुदायोंको सौंप दिये जानेसे प्रत्येक व्यक्ति और व्यक्ति-समुदाय अपने-अपने कार्य नियमित हो जानेसे पहलेकी अपेक्षा उन्हें उत्तमतासे करते हैं। इससे पारस्परिक सहायताकी क्षमता बढ़ जाती है। इस तरह सम्पूर्ण वैयक्तिक और राष्ट्रिय क्रियाकलाप श्रम-विभागोचित नैतिकताके वातावरणमें अत्यधिक फूलते-फलते हैं।'

आश्रम-व्यवस्थाने तो सम्पूर्ण जीवनके विधि-विधानको ही निवृत्तिप्रधान बनाकर नैतिक आचरणोंको सर्वथा निर्दोष, स्वाभाविक, विकासोन्मुख और समधिक सुन्दर बना दिया था। परंतु फिर भी हिंदू-संस्कृतिके नैतिक क्रिया-कलापको जिस वस्तुसे लोकोत्तर लाभ पहुँचा वह है—

भारतीय राजयोग[1]

राजयोगके आत्म-सम्पृक्त और पर-सम्पृक्त यम-नियमने सम्पूर्ण व्यष्टि-समष्टिको ही नैतिकताका रूप दे दिया। प्राणायामने शारीरिक और मानसिक अनैतिक तत्त्वोंको नीति-तत्त्वोंमें परिणत कर दिया; धारणा, ध्यान और समाधिने वर्णाश्रमियोंके मनको तत्त्व-साधना, आत्म-साधना और परमात्म-आराधनाप्रधान बनाकर देशके समस्त वातावरणको ही अनीति-मुक्त और नीति-भुक्त बना दिया, चरित्र-चारित्र्यमय सिद्ध कर दिया। यह वह समय था, जिसके लिये भगवान् मनुने कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः[2]॥

इसीका परिणाम छान्दोग्यके अश्वपतिके मुखसे सुनिये—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः[3]॥

वाल्मीकि मुनिकी निम्नलिखित उक्ति भी इसी नैतिक महत्त्वकी परिचायक है—

क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः।
शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः[4]॥

किंतु यहाँ यह प्रश्न होता है कि आखिर भारतीय नीति और भारतीय नैतिक-परम्परा किस दीक्षा और दक्षिणासे इतने ऊँचे विश्व-दुर्लभ स्तरको पहुँच सकी? इसका सदुत्तर आर्य-धर्माभ्यासके प्रवचन इस प्रकार देते हैं—

(अ) १.स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः। (छा० ३।१७।१)

२.अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैवेति। (छा० ३।१७।२)

अर्थात् ब्रह्मचारी जो कुछ करता है, यदि उसमें उसकी आसक्ति न हो तो वही उसकी दीक्षा है। अन्यथा वह दीक्षासे पतित होकर असत् हो जाता है।

(आ) अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः। (छा० ३।१७।४)

१. भारतीय राजयोग हिंदू-राजयोगका ही पर्याय है।

२. पृथिवीके सब मनुष्य भारतीय ब्राह्मणोंसे ही अपना-अपना चरित्र सीखें।

३. मेरे समस्त जनपद—राष्ट्रमें एक भी चोर, कंजूस, शराबी, अग्निहोत्र न करनेवाला, अशिक्षित और व्यभिचारी नहीं है; फिर व्यभिचारिणी तो हो ही कैसे सकती हैं।

४. चारों वर्ण एकतायुक्त होकर अपने-अपने व्रतों और अधिकारोंका पालन करते थे।

अर्थात् जो ब्रह्मचारी तप, तितिक्षा, दान, सरलता, अहिंसा और सत्य-भाषण-तत्पर रहता है, उसकी यही दक्षिणा है।

परंतु हम देखते हैं कि आज तो नैतिकताका भवन धराशायी होनेको है। उसमें पहलेकी-सी भारतीय नैतिकता तो शायद ही कहीं कभी दिखायी दे जाती हो। सार्वभौम और सर्वजनीन नैतिकताका तो अत्यन्ताभाव-सा ही है। आज तो बात-बातमें कपट और छल-छिद्रका बोलबाला है। म० हैवल और श्रीमती कौरेलीके शब्दोंमें तो यह भी कहा जा सकता है कि—

'जो पुरुष अज्ञानी है, वही भारतीयोंको पाश्चात्य व्यवसायवादका अनुकरण करनेके लिये कह सकता है; क्योंकि भारतमें घोर दुर्भिक्षके समय भी उतनी नैतिकताका अध:पात नहीं पाया जाता, जितना यूरोपके प्रधान नगरोंमें व्यवसायवादके कारण नित्य दिखायी देता है।'

'यूरोपके तो सभी व्यक्तियोंपर नास्तिकता, अविश्वासवृत्ति, कठोर-हृदयता, नीतिभीरुता, स्वार्थपरायणता, अभिमान, साहसहीनता और आदर्श-उदासीनताका कलंक लगाया जा सकता है।'

यह है भारतेतर देशोंके लोगोंकी अपने लोगोंपर सम्मति। चाहे इसमें अतिशयोक्ति भी हो, परंतु फिर भी सत्य अवश्य है। यद्यपि भारतकी भी दशा आज पूर्णत: इससे भिन्न नहीं है, फिर भी भाग्यवश उसके पास अपना प्राचीन सार्वभौम आदर्श मौजूद है। वह चाहे तो उससे संसारका भला कर सकता है, परंतु उसी दशामें जब कि वह पहले स्वयं अपने पूर्वजोंकी परम्पराके योग्य सिद्ध हो सके। अन्यथा वह उनके इस उपदेशको सगर्व कैसे दोहरा सकता है—

एतद्देश……पृथिव्यां सर्वमानवा:॥

अन्तमें यहाँ यह कहना भी अनिवार्य प्रतीत होता है कि भारतीय नीति-विज्ञान और नीति-कला नि:सन्देह पूर्ण हैं, साथ ही आत्म-तत्त्वकी तरह अच्छेद्य, अभेद्य, अशोष्य, अक्लेद्य और अदाह्य भी। परंतु इसका लाभ तो इसके ज्ञान और मुख्यत: आचरणसे ही हो सकता है, अन्यथा उसके गीत गाना तुस कूटना-सा ही है; किंतु फिर भी यह बात सत्य है और बिना हिचकचाहट कही भी जा सकती है कि भारतका वातावरण इस समय भी अपेक्षाकृत समधिक नैतिक है। इस क्षण भी यहाँ संख्यातीत ब्राह्मण अकारण ही षडंगसहित वेदाभ्यास-तत्पर हैं। ज्ञान-विज्ञानके धनी हैं। त्यागी, तपस्वी, वीतराग और कर्मठ हैं। साथ ही उनके अनुयायी भी न्यूनाधिक ऐसे ही हैं। हमारा तो विश्वास है कि यदि कभी विश्व-वातावरण वास्तविक नैतिक बन सका तो उसमें हिंदू-नीति-विज्ञान और हिंदू-सपूतोंका ही प्रमुख हाथ होगा। देखिये, बाहरके गण्यमान्य विद्वान् भी इस विषयमें कितने आशावादी और अनुकूल मालूम होते हैं—

(क्ष) भारतीय ब्राह्मण इतने ईमानदार और सच्चे हैं कि वे किसी भी बातके लिये झूठ बोल ही नहीं सकते।

—मार्को पोलो

(त्र) न केवल सत्य अपितु इनकी उदारता, सहिष्णुता, मुक्तकण्ठता, बुद्धिमत्ता, सुशीलता, नम्रता, वफादारी, सज्जनता, सुरा-विरक्ति, सम्मान-श्रद्धा, श्रमशीलता और विज्ञान-प्रेम इस समय भी उल्लेखनीय हैं।

—मैक्समूलर

(ज्ञ) भारतकी आदर्श किंतु अमर संस्कृति, जिसने साम्राज्योंका उत्थान-पतन देखा है, मनुष्यमात्रके लिये उपयोगी है। यही कारण है कि आजका यूरोप अपनी घातक सभ्यतासे दु:खी होकर भारतकी ओर देख रहा है —डॉ० जेम्स कजिन्स*

हिंदुओंकी निष्कपटता

हिंदुओंके चरित्रकी निष्कपटता तथा ईमानदारी उनकी मुख्य पहचान है। वे कभी अनीतियुक्त वचन नहीं बोलते। —श्रीक्रिंडिल

* ऐसी दशामें यह कहना कि हिंदू-विचार-पद्धतिमें आचार-शुद्धिका महत्त्व नहीं है, कहाँतक ठीक है?

हमारा आजका मौलिक सांस्कृतिक प्रश्न

(लेखक—डॉ० श्रीइन्द्रसेनजी)

'संस्कृति' आधुनिक युगका सर्वोच्च शब्द कहा जा सकता है। हमारे क्रियात्मक व्यवहार व्यक्तिगत और राष्ट्रिय-अन्तर्राष्ट्रिय चाहे कैसे भी तात्कालिक फलोंसे चालित हों, विचारकी दृष्टिसे उन्हें हम उनके सांस्कृतिक अर्थ और मूल्यसे ही सिद्ध-असिद्ध करनेका यत्न करते हैं अथवा उनका वास्तविक मूल्य उनके सांस्कृतिक अर्थमें ही स्वीकार करते हैं। यह शब्द और इसका भाव प्रत्यक्ष ही आज अत्यन्त प्रभावशाली हो रहे हैं।

परंतु जितना यह शब्द प्रभावशाली और प्रचलित है, उतना ही शायद इसका अर्थ अनिश्चित है। इस विषयमें पाश्चात्त्य विचारकोंके मत अत्यन्त रोचक हैं। ओस्वाल्ड स्पेंगलर इस विषयके एक विशेषज्ञ हैं और उनका ग्रन्थ 'पश्चिमका अधोगमन' जगद्विख्यात है। उनके विचारमें यूरोप अपनी culture (संस्कृति)-स्थितिका जीवन-काल यूनानी संस्कृतिके साथ समाप्त कर चुका था और अब वह civilisation (सभ्यता)-की अवस्थामें आ पड़ा है। जहाँ पहले आन्तरिक प्राण और सजीवता थी, वहाँ अब बाह्य शिल्प और यन्त्र-आयोजन है। यही सांस्कृतिक अधोगमनका प्रारम्भ है। हरमान काईजरलिंग, एक और प्रसिद्ध विचारक, सभ्यताको संस्कृतिके पतनकी स्थिति नहीं मानते। वे इसे बर्बरताके बादकी अवस्था कहते हैं, जबकि बाह्य जीवन और व्यवहारमें कुछ संगठन और नियम आ जाते हैं। परंतु प्रत्यक्ष ही दोनोंके लिये संस्कृति आन्तरिकताकी भावना रखती है और सभ्यता बाह्य परिस्थिति और व्यवहारकी। एलबर्ट स्वाईटजर इसी विषयके एक और विशेषज्ञ प्रसिद्ध हैं। वे संस्कृतिको आन्तरिक अनुशीलन मानते हुए विशेष बल नैतिक भावनाके विकासपर देते हैं। कोई मनुष्य कितना भी पढ़ा-लिखा क्यों न हो, वह कलाओंका कितना भी भावुक मर्मज्ञ क्यों न हो, उसकी चित्त-शक्ति भी कितनी ही विकसित क्यों न हो, फिर भी उसका व्यक्तित्व यदि मूलरूपमें नैतिक भाव और भावनासे प्रेरित नहीं है तो वह वास्तविक अर्थमें संस्कृत नहीं। नैतिक भाव और भावनापर आग्रह सामान्य प्राकृतिक सूचनार्थक ज्ञानके विरोधमें पैदा हुआ है। लगभग चार सौ वर्षोंसे यूरोपके प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रकृतिके नियमोंको जानने तथा उनसे व्यावहारिक लाभ उठानेका यत्न करते रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप अनेक आविष्कार हुए हैं और एक शक्ति-सम्पन्न और आडम्बरशील सभ्यताकी रचना हुई है; परंतु इस वैज्ञानिक सभ्यताकी अपरिमेय शक्तिको योग्य रीतिसे संचालित करनेके लिये आवश्यक हितभाव अथवा समाजके प्रति कर्तव्यभाव विकसित नहीं हुआ। फलतः उन शक्तियोंका विनाशकारी और अहितकर प्रयोग अधिक हो रहा है। इस संकटावस्थाको तीव्ररूपमें अनुभव करते हुए स्वाईटजर महोदय कहते हैं कि संस्कृतिमें नैतिक भाव केन्द्रीय तत्त्व है। इसके बिना किसी व्यक्ति या जातिको संस्कृत नहीं कहा जा सकता।

'संस्कृति' सम्बन्धी ये सभी पाश्चात्त्य भावनाएँ एक दूसरीसे भिन्न होते हुए भी एक ही आधारपर स्थित हैं। वह आधार है मानवी व्यक्तित्वके मन, प्राण और शरीरका संगठन। संस्कृतिका मानो ध्येय ही है मन, प्राण और शरीरकी शक्तियोंको विकसित करना, उनकी विभिन्नताओंमेंसे अपूर्व मौलिक समन्वय पैदा करना और उनके प्रयोगसे फिर परिस्थिति और समाजको संगठित और अधिकृत करना। शिल्पकला, विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदिकी रचना इस विकासका साधन भी है और ध्येय भी। वास्तवमें ये सब सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ ध्येयरूप अधिक हैं, मानवको अपने आन्तरिक भावमें उन्नत करनेकी साधना कम। इसीलिये आजका सांस्कृतिक विकास मानवचेतनाके लिये आडम्बर और भार बना हुआ है। मानवचेतना मानो उनसे परिचालित होती है, वे मानवचेतनासे अधिकृत नहीं।

'संस्कृति' और 'सुसंस्कृत-व्यक्ति' सम्बन्धी भारतीय विचार मौलिकरूपमें पाश्चात्त्य विचारसे भिन्न हैं। वहाँ इस विचारमें 'अनुशीलन' का भाव प्रधान है और यहाँ 'शोधन' का। वहाँ यत्न है अनुशीलन अथवा अभ्यासद्वारा मन, प्राण और शरीरकी शक्तियोंको अपनी-अपनी विशिष्ट पराकाष्ठातक विकसित करना। यहाँ पुरुषार्थ है मन, प्राण और शरीरके साथ आत्म-भावके सम्मिश्रणको दूर करना और वास्तविक आत्म-भावको उपलब्ध करना और फिर उस भावसे सांस्कृतिक प्रवृत्तियोंको यथार्थ आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मचरितार्थता बनाना। भारतकी सब कलाओं और विज्ञानों तथा दर्शन और

धर्मशास्त्रकी प्रधान धारा निश्चितरूपमें यही है। श्रीअरविन्द-जैसे भारतीय संस्कृतिके मर्मज्ञ तथा अन्य संस्कृतियोंके ज्ञाता बलपूर्वक कहते हैं—'आध्यात्मिकता ही भारतीय मनकी मुख्य कुंजी है; अनन्तताकी भावना उसकी सहजात भावना है। भारतने आदिकालमें ही यह देख लिया और अपने तर्क-बुद्धिके युगमें तथा अपने बढ़ते हुए अज्ञानके युगमें भी उसने वह अन्तर्दृष्टि कभी नहीं खोयी कि जीवनको केवल उसकी बाह्य परिस्थितिके प्रकाशमें ही ठीक-ठीक नहीं देखा जा सकता और न वह केवल उन्हींकी शक्तिसे पूरी तरह बिताया जा सकता है। वह प्राकृतिक नियमों तथा शक्तियोंकी महत्ताके प्रति जागरूक था, उसे भौतिक विज्ञानोंके महत्त्वका सूक्ष्म बोध था; वह साधारण जीवनकी कलाओंको संगठित करना जानता था। परंतु उसने यह देखा कि भौतिकताको अपनी पूरी सार्थकता तबतक नहीं प्राप्त होती, जबतक वह अति-भौतिकसे ठीक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर लेती; उसने देखा कि संसारकी जटिलताकी व्याख्या मनुष्यकी वर्तमान परिभाषाओंसे नहीं की जा सकती और न मनुष्यकी स्थूल दृष्टिसे समझी जा सकती है, और यह कि विश्वके मूलमें कुछ अन्य शक्तियाँ भी हैं तथा स्वयं मनुष्यके भीतर भी कुछ अन्य शक्तियाँ हैं, जिन्हें वह साधारणतया नहीं जानता।' (The Renascence in India 9-10)

परंतु आध्यात्मिकता कोई विभिन्नता और विविधता-शून्य एकरसता नहीं। यह अत्यन्त समृद्ध तथा मूर्त जीवनका एक स्तर है, मानसिक तथा बौद्धिकसे अधिक समृद्ध और विविधतापूर्ण। आध्यात्मिक जीवनकी समताका अर्थ विभिन्नता और मौलिकतारहित समानता नहीं। इसका अर्थ है, वास्तवमें रजोगुणी आवेगोंके उतार-चढ़ावसे मुक्त तथा बाह्य आग्रहशील उद्वेलनोंसे स्वतन्त्र शान्त अन्तरमें गम्भीर तथा मौलिक आत्म-प्रेरणाद्वारा जीवनकी स्थिति और गतिका निर्धारण। प्रत्यक्ष ही, साधक और सिद्ध निजी अभीप्सा तथा विकासकी विशेषतासे भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक भावोंको अभिव्यक्त और द्योतित करेंगे। इन भावोंमें जहाँ शान्ति और समता एक न्यूनतम सामान्य अंश होगा, वहाँ उनमें समृद्धतामें कम या अधिक अथवा स्तरमें ऊँच या नीचके भेद होंगे अथवा इनमें एक क्रमविकास दिखायी देगा और अनन्त भावी विकासकी सम्भावना तो सदा ही उपस्थित रहेगी।

इस दृष्टिसे यदि हम भारतीय जीवनके ऐतिहासिक विकासको विचारें तो हमें कई अपूर्व तथ्य दिखायी देंगे, जो हमें आजकी अपनी जातीय स्थितिको अधिगत करनेमें विशेष सहायक हो सकते हैं। इतना हमें यहाँ स्मरण कर लेना होगा कि हमारा प्रयोजन ऐतिहासिक छोटी या बड़ी घटनाओंसे नहीं है। हम देखना चाहते हैं उस जातीय चेतनाको, जो सब प्रकारके सुखद-दुःखद अनुभवोंसे विकसित होती आयी है। इस चेतनाकी धारा, हमारे वर्तमान ज्ञानके अनुसार, वेदकालसे शुरू होकर अबतक अनवरतरूपमें ही बहती रही है। ऐसा लंबा जीवन संसारमें हिंदूजातिकी अद्वितीय विशेषता है और यह अपने-आपमें एक गम्भीर सांस्कृतिक तथ्य है।

स्वाधीनता उपलब्ध करनेके बाद हमारी जातीय चेतनाने अपने प्रश्नोंके लिये स्वयं हल ढूँढ़ने शुरू किये। आज संसारभरकी स्थिति विषम है, उसमें अनेक विकट प्रश्नोंका बुरा उलझाव पड़ा हुआ है। भारतमें भी सामान्यतया वही स्थिति है; परंतु हम पुरानी अनुभवी जाति होते हुए भी आज इस स्थितिके लिये नये हैं। हम उत्साहपूर्वक अपने प्रश्नोंका हल कर रहे हैं, बहुतेरोंका कर भी चुके हैं; फिर भी बहुत-से अत्यन्त आवश्यक विषयोंका हल करना है और हम एक गम्भीर छटपटाहटमें हैं। स्वीकार करना होगा कि हम काफी व्यग्र और चिन्तित हैं। हम अपने-आपको अपनी स्थितिके लिये अपर्याप्त अनुभव कर रहे हैं अथवा स्थिति हमें भारी प्रतीत हो रही है और हम अपनी चेतनाकी त्रुटिको महसूस करते हैं और उसमें एक नयी सबलताकी गम्भीर माँग कर रहे हैं। अपनी वर्तमान स्थितिके प्रश्नों तथा उनके समाधानोंके बारेमें हम अनेक मत और विचार सुनते हैं। ये सब प्रायः बाह्य संगठन और नियम-कानूनद्वारा स्थितिको सुधारनेके उपाय बताते हैं। इन सबमें कुछ-न-कुछ सार्थकता है। परंतु ये उपाय मूल कारणको स्पर्श नहीं करते, ये उस चेतनासे सीधा सम्पर्क नहीं रखते, जो स्थितिके साथ संघर्ष कर रही और अपने-आपको अपूर्ण अनुभव कर रही है। इस चेतनाकी इस अपूर्णताका यथार्थ निरूपण और निदान उपायके लिये सबसे पहली आवश्यकता है और हमारी जिज्ञासा यहाँ विशेषरूपसे यही है।

अपनी वर्तमान वास्तविक चेतना-स्थितिको जाननेके

लिये एक ऐतिहासिक पुनरावलोकन अत्यन्त सहायक होगा। वैदिक कालकी जातीय चेतनाका चिन्तन करते हुए हम अपने-आपको स्वाभाविकतया एक-दूसरे जगत्‌में अनुभव करने लगते हैं। वैदिक युगका नेता 'ऋषि' था और वह अत्यन्त सरल, स्वाभाविक, शरीर और चेतनामें स्वस्थ तथा अन्तर्दृष्टियुक्त और आनन्दमय प्राणी अनुभव होता है। वह प्रकृतिके सौन्दर्यको अनुभव करनेवाला, उसका भक्त है। स्त्री, सन्तान, धन-धान्य आदिके लिये मुक्त कण्ठसे प्रार्थनाएँ करता है और उन्हें वह यथार्थ स्वीकारात्मक भावमें ग्रहण करता है। पर फिर भी वह स्थूल प्रत्यक्षवादी नहीं, वह तो गम्भीर अध्यात्मवादी है। वह अन्तर्दृष्टिसे वस्तुओंके निहित चेतन तत्त्वको जानता है और इन्हें उसकी ही अभिव्यक्ति अनुभव करता है। वेदमन्त्रोंके वातावरणमें निवास करना मानो आत्मा, परमात्मा और प्रकृतिके वास्तविक आनन्दका उपभोग करना है। वैदिक ऋषि गाता है—

'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'

'देखो इस प्रभुके सुन्दर जगत्‌को, जो न नष्ट होता है, न पुराना पड़ता है।' वह प्रार्थना करता है **'जीवेम शरदः शतम्'**—हम सौ सालतक जीयें। आँख, नाक, कान आदिके सबल रहते सौ सालतक जीयें। वह कहता है—

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ....
निधिं बिभ्रती बहुधा गुहावसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।'

'मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ, पृथ्वी मेरी माता है, वह मुझे अपनी विविध सम्पत्ति तथा गुप्त धन प्रदान करे।' साथ ही वह आध्यात्मिक चेतनाकी किन उड़ानोंका आनन्दपूर्ण वर्णन करता है। वह आध्यात्मिक जगत्‌का अथक अन्वेषक है। वह **'सत्यं ऋतं बृहत्'** सत्य, यथार्थ और बृहत्‌का उपासक है। वह अभीप्सा करता है—

'ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने'

हे अग्नि! तू ऊपर उठ, सब आवरणोंको भेद डाल और हमारे अंदर देवत्वको प्रकट कर।

कालान्तरमें स्थिति बदल जाती है और हमारी जातीय स्मृतिके चिह्न मन्द पड़ने लगते हैं। हम आन्तरिक चेतनाका बल खोकर बाह्य कर्मकाण्डमें लिप्त हो जाते हैं, हमारे व्यवहारमें दम्भ आ जाता है। कितने समय बाद फिर गौतम बुद्धके रूपमें एक उच्च कोटिका जिज्ञासु प्रकट होता है। वह संसारको दुःखरूप अनुभव करता है; रोग, जरा और मृत्युका उपाय ढूँढ़ना चाहता है। वह निर्वाण-स्थिति प्राप्त करता है और त्यागके महामन्त्रका उपदेश देता है। संसारको छोड़कर असंख्य स्त्री-पुरुष भिक्षु और भिक्षुणी बन भारतवर्ष तथा आसपासके देशोंमें अपने जीवनके दृष्टान्तसे उसी उपदेशको सुनाते हैं।

शताब्दियोंतक 'संसार तुच्छ है तथा त्याज्य है' यह भाव जनताके अन्तःकरणमें रमता चला जाता है। फिर एक और महापुरुष प्रकट होकर जातीय चेतनाको नये रूपमें उद्वेलित कर देता है। शंकराचार्य नास्तिक बौद्धधर्मके स्थानपर आस्तिक हिंदू-धर्मको प्रतिष्ठित करते हैं। जनतामें एक व्यापक चेतन-तत्त्वके लिये, ब्रह्मके लिये भावना पैदा हो जाती है। परंतु संसार पहलेके समान ही तुच्छ और त्याज्य रहता है, बल्कि माया बन जाता है। कर्ममात्र बन्धन हो जाता है तथा जीवनसे मुक्त होकर निर्गुण ब्रह्ममें लीन हो जाना पूर्णता है।

फिर अनेक बड़े-बड़े ईश्वर-भक्त स्मरण आते हैं। कैसी है उनकी भक्ति, कैसी तल्लीनता। परंतु संसार उनके लिये भी हेय है, कनक और कामिनी पापका मूल है।

अपने इतिहासके निकटभूतमें हम एक नयी भावनाका उदय देखते हैं। कई महान् मूर्तियाँ प्रकट होकर जातिके नकारात्मक भावके स्थानपर स्वीकारात्मक वृत्ति पैदा करनेका यत्न करती हैं। अपना ऐहिक जीवन सुधारनेको कहती हैं, पिछड़े हुए भाइयोंको अंगीकार करनेका आदेश करती हैं, स्त्रियोंके प्रति स्वस्थ भाव बनानेकी प्रेरणा देती हैं, वैदिक आदर्शोंका स्मरण कराती हैं, राजसत्ता अधिगत करनेके लिये संघर्षका भाव उत्तेजित करती हैं।

भारतीय चेतनाके लंबे विकासकी ये प्रधान स्थितियाँ और गतियाँ कही जा सकती हैं। ये सब आध्यात्मिक अवस्थाएँ हैं और इनमेंसे हर एककी भारतीय चेतनाके विकासमें कुछ देन है।

इनमेंसे हर एकमें अपने-अपने ढंगका आत्मा और प्रकृतिका सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध सांस्कृतिक दृष्टिसे बड़े महत्त्वका है। वैदिक चेतना आध्यात्मिक चेतना होनेसे प्रकृतिसे अपने-आपको अलिप्त और स्वतन्त्र अनुभव करती है, पर फिर भी या इसी कारण प्रकृतिपर पूरा अधिकार अनुभव करती है और स्वतन्त्रतापूर्वक उसका उपभोग करती है। बुद्धकालकी चेतना संसारके प्रति प्रत्यक्ष ही भयभीत भाव रखती है।

संसार दुःखमय है और इसका त्याग ही एकमात्र उपाय है। उस समय मानो हमारी चेतना एक ऐकान्तिक, जगत्‌से अलग, आध्यात्मिक सौम्यताके अनुभवके लिये लालायित हो उठी थी। यह गति वास्तवमें थी एक प्रतिक्रिया—बाह्य नीरस धार्मिक कर्मकाण्डके प्रति, जो उस समयकी सामान्य अवस्था बनी हुई थी।

इस प्रतिक्रियात्मक गतिको शंकराचार्यने बहुत सुधारा। आत्माके अस्तित्वको प्रतिष्ठित किया। परंतु यह धारा अपने-आपमें बौद्ध-विचारकी प्रतिक्रिया भी थी। बुद्धने आत्मा और परमात्माके विषयमें मौन धारण किया था, मानो उनका अस्तित्व है ही नहीं; शंकरने कहा 'केवल ब्रह्म ही है, और कुछ नहीं। संसार दुःखमय है, माया है, सर्वथा त्याज्य है अथवा मजबूरीका बन्धन है।' यह भाव और भावनाएँ हमारी जातीय चेतनामें लगभग ढाई हजार वर्षसे रम रही हैं। परिणामस्वरूप जहाँ हमने आध्यात्मिक अनुभवमें कुछ नयी उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, वहाँ संसार और जगत्‌के जीवनमें अनेक कष्ट भी झेले हैं, राज-पाट खोया और शक्ति तथा प्रभावसे वंचित रहे। हम कह सकते हैं—हमने एक विशेष आध्यात्मिक अनुभवकी सबलता तथा सीमा दोनोंको जान लिया। इससे हम वैदिक और औपनिषदिक आदर्शकी विशेषताको अनुभव करनेके लिये विशेष रूपसे तैयार हो गये हैं और निश्चय ही अब जो नयी चेतना विकसित होगी, वह संभवतः पूर्णतर होगी। यदि हम अपनी ऐतिहासिक उपलब्धियोंका लाभ उठाते हुए, आगे चलना चाहें तो वह कम-से-कम पूर्णतर हो सकती है।

हमारे निकटभूतके महापुरुषोंका वास्तवमें संसार और जगत्‌के प्रति एक नया स्वीकारात्मक भाव पैदा करनेका आग्रह भी रहा। इस प्रकार एकके बाद एक चेतनाके अंदर नया विश्वास, नयी शक्ति तथा संघर्षके भाव भरते रहे हैं।

परंतु सत्ता अधिगत करनेके बाद, अधिकार और राजशक्तिके प्रति जो हमारा मनोभाव एकदम ही विकसित हुआ, उसने हमें कुछ चौंका दिया। इस नयी स्थितिमें हमने यथोचितरूपमें स्वस्थ और तटस्थ अनुभव नहीं किया। हम सत्ता-लोलुप हो गये। स्वाभाविकतया चिन्ता होती है और हम अनुभव किये बिना रह नहीं सकते कि हमारी मध्ययुगीन चेतनाके पुराने संस्कार इतनी जल्दी दूर नहीं हो सकते। जो चेतना संसारसे भय मानती थी, वह अब भी या तो उस भय और अविश्वासको व्यक्त कर रही है या प्रतिक्रियारूपमें लोलुपता। इन संस्कारोंका शोधन और जगत्सम्बन्धी स्वस्थ स्वीकारात्मक भाव बनाना ही, हमारे विचारमें आजकी भारतीय चेतनाका मौलिक सांस्कृतिक प्रश्न है। आजके हमारे प्रश्न प्रथमतः इस विकासकी माँग करते हैं और यदि हम अपने प्रश्नोंके इस मौलिक रूपको देख सकें तथा इसका ऐतिहासिक कारण पहचान सकें तो आधा हल तो हमें स्वतः प्राप्त हो जायगा।

आज संसार 'संस्कृति' की पाश्चात्त्य भावनाके अनुसार मन, प्राण और शरीरके 'अनुशीलन' में लगा हुआ है और प्रकृतिमें लिप्त भावके कारण आत्मभाव और आत्मगौरवको खो बैठा है, प्रकृतिमें लिप्त भाव होनेके कारण ही आजकी पाश्चात्त्य चेतनाके लिये यह विपुल वैज्ञानिक विकास संकट बन गया है। संस्कृतिसम्बन्धी भारतीय विचार ही इसका यथार्थ समाधान है। 'संस्कृति' और 'सुसंस्कृति व्यक्ति' का अनिवार्य लक्षण है—आन्तरिक शुद्ध भाव अर्थात् आत्माका मन, प्राण और शरीरकी प्राकृतिक चेष्टाओंसे स्वतन्त्र तथा तटस्थ भाव। इसीसे मानव प्रकृतिमें स्वामी-भावसे विचर सकता है और उसका यथोचित उपयोग और उपभोग कर सकता है।

भारतकी सामान्य मानव-संस्कृतिके लिये यह भाव अमूल्य देन हो सकती है। वास्तवमें भारत अपनी यथार्थ सांस्कृतिक वृत्तिको अभिव्यक्त करके इस समय संसारको संकटसे निकाल लेनेकी भी सामर्थ्य रखता है; परंतु उसे अपने मध्ययुगीन अनुभवोंका उचित शोधन करना होगा। जगत्-त्यागात्मक भावनाको एक उच्चतर स्वीकारात्मक अध्यात्मवादमें संगठित करना होगा। जगत् अपने-आपमें, आत्माका विरोधी ध्रुव होते हुए तुच्छ भी है और त्याज्य भी। परंतु वास्तवमें तो वह ब्रह्मकी अभिव्यक्ति है, एक प्रयोजनीय चरितार्थता है। तब वह त्याज्य कैसे हो सकता है? निश्चय ही हम ब्रह्मको उसके सर्वांगीण रूपमें अंगीकार करना चाहेंगे तथा उसके साथ पूर्ण तादात्म्यके लिये अभीप्सा करते हुए उसके सगुण और निर्गुण रूपमें, उसकी स्थिति और गतिमें, उसे प्राप्त करना तथा अभिव्यक्त करना चाहेंगे।

श्रीअरविन्द-दर्शन भारतीय संस्कृतिकी वर्तमान अभीप्साका पूर्ण प्रतीक प्रतीत होता है। यह जगत्‌को भागवत अभिव्यक्तिके रूपमें केवल अंगीकार ही नहीं करता बल्कि

इसे मानवके सर्वांगीण आध्यात्मिक विकासका उपयुक्त आधार और क्षेत्र बतलाता है। श्रीअरविन्द-दर्शनके अनुसार जगत् अनिवार्यरूपमें वैश्व-विकासके क्रमसे जड प्राण और मनके क्रमिक स्तरोंद्वारा व्यापक अध्यात्माभिव्यक्तिके लिये तैयार हो रहा है और भावी विकासमें समय आयेगा जब कि ये आजके अज्ञानाच्छादित स्तर सजग और सचेतन हो उठेंगे। अतः मानवको, जो कि प्रजापतिकी सर्वश्रेष्ठ सन्तान है, इहैव—यहीं जगत्के क्रियाकलापमें भागवत इच्छाको चरितार्थ और अभिव्यक्त करना है। इसीसे मानव अपने सर्वांगीण विकासको प्राप्त करेगा।

आर्यसंस्कृतिकी तुलनात्मक गवेषणा

आर्यजातिकी संस्कृतिमें एक अद्वितीय सर्वशक्तिमान् परमात्माको माना गया है। वे ही परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण आदि नामसे अभिहित होते हैं। जैसे हमारा यह ब्रह्माण्ड है, वैसे ही अनन्ताकाशमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं। परमात्माके ईक्षणमात्रसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें सृष्टि, स्थिति और लयका कार्य नाना देहधारियोंके द्वारा व्यवस्थित-रूपसे हुआ करता है। वे परमात्मा निर्गुण-निराकार होनेपर भी भक्तोंके कल्याणार्थ सगुणरूप धारण कर लेते हैं। पृथ्वीकी अन्य मनुष्य जातियोंमें एक ईश्वरवादका विचार तो प्रचलित देखनेमें आता है; परंतु उनमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी महान् धारणाका विकास नहीं है और न वे ऐसी विचारशैलीकी ओर ध्यान देते हैं कि प्रत्येक ब्रह्माण्डका कार्य कैसे चलता है। जैसे एक राज्य चलानेके लिये अनेक श्रेणियोंके राजपदधारियोंकी आवश्यकता होती है, वैसे ही हमारे ब्रह्माण्डके सब कार्योंके संचालनके लिये अनेक देवता, ऋषि, पितृ आदि देवपदधारी सदा अपने-अपने कामपर नियुक्त रहते हैं—ऐसी विचारशैली उनमें नहीं है और जब भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, तो भक्तके कल्याणार्थ वे सगुणरूप भी धारण कर सकते हैं—ऐसी धारणा भी सबमें नहीं है। आर्यजातिकी संस्कृतिमें जैसे ब्रह्माण्डोंकी संख्या अनन्त मानी गयी है, उसी प्रकार नाना जीवोंके पिण्ड भी अनेक माने गये हैं। उद्भिज्ज पिण्ड, स्वेदज पिण्ड, अण्डज पिण्ड और जरायुज पिण्ड—ये सब सहज पिण्ड कहाते हैं। मनुष्यके स्थूल शरीरको मानव पिण्ड कहते हैं और देवता, ऋषि, पितर, यक्ष, गन्धर्व, असुर, प्रेत आदिके पिण्ड देवपिण्ड कहाते हैं। जीव उद्भिज्ज योनिसे स्वेदजयोनिमें, स्वेदजयोनिसे अण्डजयोनिमें, अण्डजयोनिसे जरायुजयोनिमें क्रमशः पहुँचता है। मनुष्ययोनि अन्य उच्चयोनियोंका माध्यम है। मनुष्ययोनिसे जीव उन्नति करता हुआ नाना योनियोंमें जा सकता है। नाना देवपदधारी देवयोनियाँ इस मृत्युलोककी सहायक हैं; देवयोनियोंका इतना विस्तार है कि उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—चार श्रेणीके जीव असम्पूर्ण शरीरधारी होनेके कारण इनमेंसे हर एक श्रेणीके जीवोंका एक-एक रक्षक और चालक अलग-अलग एक-एक देवता हैं। प्रसिद्ध पर्वत, नदी आदिके भी अलग-अलग अधिदेव हैं और ये सब दैवी राज्य-शृंखलाके अधीन रहकर सुव्यवस्थित होकर अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। पृथ्वीकी अन्य सभ्य जातियोंमें इस प्रकारकी संस्कृतिका प्रचार नहीं है। वे सामान्यरूपसे दैवी राज्यको मानते हैं।

असुरको शैतान और देवताओंको फिरिस्ता, एंजिल आदिसे अभिहित करते हैं; परंतु उनकी संस्कृतिमें दैवीराज्यके महान् विस्तारपर और दैवीपदधारियों तथा दैवी शृंखलापर विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया गया है। आर्यजातिकी संस्कृतिमें पुरुष और स्त्रीका भेद बहुत कुछ माना गया है। जैसे दिन और रातमें भेद है, जैसे बीज और बोनेकी भूमिमें भेद है और जैसे विकर्षण-शक्ति और आकर्षण-शक्तिमें भेद है, उसी प्रकार बड़ा भारी भेद समझकर आर्य-संस्कृतिमें स्त्रीजातिके मौलिक धर्म और आचारोंके सम्बन्धमें बहुत कुछ विशेषता मानी गयी है। आर्यजातिकी संस्कृतिके अनुसार पुरुषजातिकी अपेक्षा स्त्रीजातिमें आचार-विचार, रहन-सहन और शिक्षा, धर्म, आदिके विषयमें सब प्रकारसे पृथक्ता रखी गयी है। आर्यजाति यह समझती है कि श्रीभगवान्ने पुरुषजातिको और स्त्रीजातिको विशेष-विशेष शक्ति देकर सृष्टि-क्रियामें प्रवृत्त किया है। थोड़ी-सी बुद्धि जिसमें है, वह यह समझ सकता है कि जगत्की सृष्टिक्रियामें पुरुषकी पाँच-दस मिनटकी जिम्मेवारी है और स्त्रीकी कम-से-कम नौ महीनेकी जिम्मेवारी है। पुरुष यदि वेश्यागामी हो जाय, तो उसके कुल और जाति आदिको विशेष क्षति नहीं पहुँचती है; परंतु स्त्री यदि अपने जीवनमें पाँच-दस मिनटकी भूल कर बैठे

तो उस भूलके द्वारा उसका सतीत्व ही नष्ट नहीं होगा, बल्कि उसका वंश, उसकी कुल-परम्परा, उसकी जाति और उसका समाज—सब अपवित्र हो जायगा। इन थोड़े-से उदाहरणोंद्वारा ही विचारशील सज्जन समझ सकते हैं कि आर्यजातिकी पवित्रताकी रक्षाके लिये और सृष्टिकी पवित्रताकी रक्षाके लिये स्त्रीजातिकी जिम्मेवारी कितनी अधिक है। इस कारण आर्यजाति अपनी माता और कन्याओंको नाना उपायद्वारा पवित्र रखनेका प्रयत्न करती है। परंतु आज पृथ्वीकी अन्य मनुष्य-जातियाँ स्त्री और पुरुषोंको एक प्रकारकी शिक्षा देकर और एक ही रास्तेपर चलाकर मनुष्य-जातिके अकल्याणका कारण हो रही हैं! पृथ्वीकी अन्य मनुष्य-जातियोंकी दृष्टियोंमें आर्यजातिका वर्णाश्रम-धर्ममूलक समाज-विज्ञान (सोशियालॉजी) बड़ा विचित्र और कठिन प्रतीत होती है। उसकी सामाजिक अवस्थाको चारों ओरसे चार सुदृढ़ दुर्गोंके द्वारा सुरक्षित किया गया है। प्रथम दुर्ग यह है कि आर्य नारियोंमें सतीत्व-धर्मकी, पवित्रताकी रक्षा अति दृढ़तासे की गयी है। वैसी व्यवस्था पृथ्वीके अन्य किन्हीं जातियोंमें नहीं पायी गयी है। आर्यजातिकी सामाजिक पवित्रताकी रक्षाके लिये रजोवीर्य-शुद्धिमूलक वर्णधर्मकी व्यवस्था और जन्मसे जाति माननेका नियम आदि द्वितीय दुर्ग है।

पृथ्वीकी अन्य मनुष्य-जातियोंमें मनुष्यजीवनकी आयुके भेदोंके अनुसार कोई विशेष व्यवस्था नहीं बाँधी गयी है; परंतु आर्यसंस्कृतिमें अतिसुन्दर उपायोंके द्वारा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमोंकी व्यवस्था अति सुन्दर रूपसे बाँधी गयी है। यह आश्रमधर्म तृतीय दुर्ग है। इस समय सब अस्त-व्यस्त हो जानेपर भी सबको यह मानना ही पड़ेगा कि मनुष्यजीवनको प्रथमसे लेकर अन्तपर्यन्त एक ढंगसे न चलाकर ब्रह्मचर्य आश्रममें कैसी प्रवृत्ति होनी चाहिये, सो विद्याभ्यासद्वारा सिखानेकी रीति है। गृहस्थाश्रमधर्ममें प्रवृत्तिधर्मका धर्मानुकूल पालन कराया जाता है। तीसरे वानप्रस्थधर्ममें तपस्या आदिद्वारा निवृत्तिधर्मकी शिक्षा दी जाती है और चौथे संन्यास-आश्रममें निवृत्तिधर्मकी चरितार्थता करायी जाती है। एक जीवनमें मनुष्य धर्मानुकूल प्रवृत्ति करता हुआ अन्तमें निवृत्तिके राज्यमें पहुँचकर श्रीभगवान्‌के निकट पहुँच सके—इसकी व्यवस्था बाँधी गयी है। आर्यजातिकी संस्कृतिमें सामाजिक व्यवस्थाकी सुरक्षाके लिये सब समय आचार और विचारके प्रति तीव्र दृष्टि रखना चौथा दुर्ग है। इस प्रकार चार दुर्गोंके सुरक्षित धर्मोंद्वारा मनुष्यसमाजको चिरजीवी बनाने और सुरक्षित रखनेका नियम पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें नहीं पाया जाता।

हिंदू-जातिमें आचार और विचारके विस्तार और दृढ़ताकी अधिकतासे कोई-कोई अन्य धर्मावलम्बी संदेह करते हैं और कहते हैं कि जिस जातिमें इतना कठिन जाति-भेदका सिद्धान्त प्रचलित है और जो जाति शुद्धाशुद्धविवेकको इतना मानती है, उस जातिमें मनुष्य-प्रेमका सिद्धान्त कैसे चल सकता है। हिंदुओंके प्रतिदिनके करनेयोग्य 'नृयज्ञ' पर मनन करनेसे ही ऐसी निर्मूल शंकाओंका समाधान हो जाता है। नृयज्ञ-साधन सनातनी हिंदुओंका नित्यकर्म है। विधिपूर्वक अतिथि-सेवाको नृयज्ञ कहते हैं। हिंदुओंके समाज-विज्ञान (सोशियालॉजी)-में शुद्धाशुद्ध-विचार और जातिभेद-सम्बन्धी विस्तृत आज्ञाएँ रजोवीर्यकी शुद्धिके निमित्त शास्त्रोंमें पायी जाती हैं। साथ-ही-साथ धर्मशास्त्रोंमें प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करनेकी आज्ञा भी है। नृयज्ञ उनमेंसे एक यज्ञ है। नृयज्ञका सिद्धान्त यह है कि घरमें आये हुए अतिथिको परमात्माका स्वरूप मानकर उसकी पूजा करनी चाहिये। घरमें आया हुआ अतिथि चाहे हिंदू हो, चाहे मुसलमान, चाहे ईसाई हो, चाहे और किसी धर्मका हो; चाहे ब्राह्मण हो, चाहे शूद्र हो और चाहे अछूत जातिका हो, चाहे असभ्य जातिका मनुष्य हो—उसको आसन, भोजन, जल और आदरके वचनोंद्वारा तृप्त करना चाहिये। वेद और शास्त्रोंमें दृढ़ आज्ञा है कि घरमें आये हुए अतिथिको भगवान् समझकर आदर जो नहीं करता, उसका सब पिछला पुण्य नष्ट हो जाता है। मनुष्यमात्रको भाई-भाई समझनेके लिये और उस पवित्र विचारको आचारमें परिणत करनेके लिये हिंदू-जातिमें प्रचलित नृयज्ञसे अधिक क्या प्रमाण हो सकता है? आध्यात्मिक उन्नतिकी इच्छा रखनेवाली जिस मनुष्यजातिमें वर्णधर्म, आश्रमधर्म, शुद्धाशुद्ध-विचारधर्म और नारियोंमें सतीत्वधर्मका इतना विचार किया जाता है, उस हिंदू-जातिमें एक अद्वितीय परमात्माको पितारूप मानते हुए और उसकी सब श्रेणीकी सन्तानोंमें प्रेम करते हुए उनमें भ्रातृभावका संस्कार बनाये रखनेके लिये ही नृयज्ञका ऐसा दृढ़ नियम भी प्रचलित है। अतः यह मानना पड़ेगा कि मनुष्यमात्रसे प्रेम करना उनका मौलिक उद्देश्य है, इसमें संदेह नहीं। यद्यपि पृथ्वीके सब धर्ममतोंमें तथा

सभी मनुष्य-समाजोंमें किसी-न-किसी प्रकारसे मनुष्यमात्रमें भ्रातृप्रेम बनाये रखने और अतिथि-सेवा करनेके सिद्धान्त किसी-न-किसी रूपमें पाये जाते हैं, तथापि वर्णाश्रम-धर्मरूप धार्मिक समाज-विज्ञानको माननेवाली हिंदूजातिके धर्मशास्त्रमें नृयज्ञरूपी धार्मिक अतिथि-सेवा करनेकी जैसी दृढ़ आज्ञा पायी जाती है, वैसी शास्त्रीय आज्ञा अन्य किसी धर्ममें नहीं है। हिंदू गृहस्थोंके नित्य करनेयोग्य जितने धर्मसाधन बताये गये हैं, उनमेंसे नृयज्ञ एक प्रधान साधन है। इस प्रकार अलौकिक आर्यसंस्कृति तथा पृथ्वीकी अन्य मनुष्य-जातियोंकी संस्कृति—दोनोंकी तुलनात्मक गवेषणा करनेपर परस्पर दिन और रातका पार्थक्य दिखायी देगा। आर्यसंस्कृतिमें स्त्रीजातिको जगज्जननी महामायाकी प्रतिकृति मानकर कन्यावस्थासे लेकर वृद्धावस्थातक आर्य-महिलाओंकी सम्मान-रक्षा और पवित्रता-रक्षाका पूरा नियम बाँधा गया है। किंतु अन्य सभ्य जातियोंमें इस सिद्धान्तके विपरीत देखनेमें आता है। आर्यसंस्कृतिमें स्त्रियोंके लिये अन्तःपुरका बहुत कठिन नियम रखा गया है। भारतखण्डके आजकल अत्यन्त दरिद्र हो जानेपर भी आर्य-महिलाओंके शरीरको ढँके रखनेके लिये वस्त्र आदिका पहनावा कितना उत्तम है सो सब जानते ही हैं। दूसरी ओर यूरोप और अमेरिकाके शिक्षित अधिवासियोंमें किस प्रकार निर्लज्जताकी रीति प्रचलित है, उसे देखनेसे भी हिंदूजातिको लज्जित होना पड़ता है। उदाहरणकी रीतिपर दिखाया जाता है कि इन सभी जातियोंका सामाजिक उत्सव किसी भी प्रकारका हो, उसमें स्त्रियोंके पुरुषोंके साथ निर्लज्जभावसे नाचनेकी प्रथा और उस समय भोजनके साथ मद्यपान-प्रथा नियमपूर्वक प्रचलित है। ऐसे उत्सवोंके समय स्त्रियाँ लज्जारहित जैसा वस्त्र धारण करती हैं, वह कितना लज्जाजनक है—इसको जिन्होंने देखा है, वे स्वयं जानते हैं। विशेषता यह है कि कोई विवाहिता स्त्री अपने पतिके साथ नहीं नाच सकती; यह नियमविरुद्ध है। उसको परपुरुषके साथ ही नाचना होगा। ऐसे उत्सवोंमें एकान्त स्थान भी बने रहते हैं। नृत्यकारी युगल स्त्री-पुरुष रातभर नाचनेमें, स्वेच्छापूर्वक घूमने आदिमें स्वतन्त्र और निर्भय रहते हैं। यह उस देशकी साधारण प्रथा है। यदि कोई स्त्री किसी पुरुष-बन्धुसे एकान्तमें बातचीत करती है, तो उस समय उसका पति बिना उसकी आज्ञाके वहाँ जा नहीं सकता। यह उस देशका नियम है। दूसरी ओर आर्यजातिकी संस्कृतिमें इसके बिलकुल विपरीत नियम प्रचलित है, जो धर्मशास्त्रकी आज्ञाके अनुसार पालित किया जाता है। स्त्रियोंके लिये रहनेके स्थानका नाम अन्तःपुर है; वहाँ परपुरुषकी तो बात ही क्या है, अपने घरके पुरुष भी सब समय नहीं जा सकते। आर्यसंस्कृतिमें परपुरुषके साथ नाचनेकी तो बात ही नहीं, प्रत्युत परपुरुषका स्पर्श भी हिंदूशास्त्रमें निषिद्ध है। नाचनेकी प्रथा हिंदूजातिमें अवश्य है; क्योंकि संगीतशास्त्रके तीन भेद हैं—नर्तन, गायन और वादन। परंतु जिन जातियोंमें नाचनेकी प्रथा है, उनकी स्त्रियाँ अन्तःपुरमें स्त्री-मण्डलीमें ही नाचती हैं। परपुरुषोंके साथकी तो बात ही क्या है, परपुरुषके सामने भी कुलीन स्त्रियोंका नाचना आर्यसंस्कृतिके विरुद्ध है। धार्मिक उत्सव और तीर्थ आदिमें आर्यस्त्रियाँ अपने पति आदि अभिभावकोंके साथ जाती हैं। एकाकिनी जाना या परपुरुषके साथ जाना, यह आर्यसंस्कृतिके विरुद्ध है। आजकलके राजनैतिक और सामाजिक नेतृवृन्दोंको इस तुलनात्मक गवेषणाको अपने बुद्धितत्त्वके सामने रखकर समाजसंस्कारकी बात सोचनी चाहिये। यूरोपीय सभ्यताकी बहुत-सी बातें आपातरमणीय होती हैं; किंतु वे परिणाममें विषवत् भयंकर सिद्ध होती हैं, इसका भी विचार रखना चाहिये। 'सूर्योदय'

सज्जन-दुर्जन

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कार्ये चान्यद्दुरात्मनाम्। मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्॥
नारिकेलसमाकारा दृश्यन्तेऽपि हि सज्जनाः। अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः॥

दुर्जनोंके मनमें कुछ और, वाणीमें कुछ और एवं क्रियामें कुछ और होता है; परंतु सज्जनोंके वही मनमें होता है, वही वाणीमें और वही कर्ममें।

सज्जन नारियलकी भाँति अंदरसे कोमल और सुन्दर होनेपर भी ऊपरसे कठोर तथा जटिल दीखते हैं और दुर्जन बेरकी तरह अंदरसे कठोर और असुन्दर होकर ऊपरसे कोमल और मनोहर लगते हैं।

हिंदू और हिंदू-संस्कृति

(लेखक—श्रीबाबूलालजी गुप्त 'श्याम')

आजकल हिंदू और हिंदू-संस्कृति शब्द सुननेमें तो बहुत आते हैं, परन्तु उसकी परिभाषा कोई नहीं करता। बहुत-से लोगोंको तो 'हिंदू' शब्दका अर्थ अपमानसूचक होनेका भी भ्रम है तथा इस शब्दकी प्राचीनतामें भी सन्देह है। अतः अति संक्षेपमें ही इसपर कुछ निवेदन करनेकी चेष्टा की जाती है।

'हिंदू' शब्दकी व्याख्यामें विद्वानोंने कहा है—

श्रुतिस्मृत्यादिशास्त्रेषु प्रामाण्यबुद्धिमवलम्ब्य श्रुत्यादिप्रोक्ते धर्मे विश्वासं निष्ठां च यः करोति स एव वास्तवहिंदूपदवाच्यः।

अर्थात् श्रुति-स्मृत्यादि शास्त्रोंमें प्रामाण्यबुद्धिका अवलम्बन करके उनमें कहे हुए धर्ममें जो विश्वास और निष्ठा करता है, वही वास्तवमें 'हिंदू'-पद-वाच्य है। इसी प्रकार '**श्रुत्यादिप्रोक्तानि सर्वाणि दूषणानि हिनस्तीति हिंदुः**' भी कहा जाता है। अर्थात् श्रुत्यादिप्रोक्त सर्व दूषणोंका जो हनन करे, वह हिंदू है।

प्राचीन ग्रन्थोंमें भी 'हिंदू' शब्द आया है। कुछ प्रमाण देखिये। मेरुतन्त्रमें—

हिंदूधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः।
हीनं च दूषयत्येव हिंदुरित्युच्यते प्रिये॥

(प्रकाश २३)

'कितने ही चक्रवर्ती राजा हिंदूधर्मका लोप करनेवाले होंगे। प्रिये! जो हीन वृत्ति और हीन आचारको दूषित करे—निन्द्य समझकर उसका त्याग करे, वह 'हिंदू' कहलाता है। शार्ङ्गधरपद्धतिमें—

यवनैरवनिः क्रान्ता हिंदवो विन्ध्यमाविशन्।
बलिना वेदमार्गोऽयं कलिना कवलीकृतः॥

'यवनोंने इस पृथ्वीपर अधिकार कर लिया और पीड़ित हिंदू विन्ध्यगिरिकी गुफाओंमें प्रवेश कर गये। अहो! बलवान् कलिकालने इस वैदिक-मार्गको अपना ग्रास बना लिया।' इसीका रूपान्तर कालिकापुराणमें है—

बलिना कलिनाऽऽच्छन्ने धर्मे कवलिते कलौ।
यवनैरवनिः क्रान्ता हिंदवो विन्ध्यमाविशन्॥

'कलिमें बलवान् कलियुगद्वारा जब धर्मका स्वरूप आच्छादित एवं विलुप्त हो गया, तब यवनोंने इस भूमिपर अधिकार कर लिया और हिंदू विन्ध्य-प्रदेशमें चले गये।'

'शब्दकल्पद्रुम कोष' में '**हीनं दूषयति इति हिंदुः**' '**पृषोदरादित्वात् साधुजातिविशेषः**'—जो हीनको दूषित करे, वह हिंदू है। '**पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्**' इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार यह 'हिंदु' शब्द सिद्ध हुआ है। 'हिंदू' एक जाति-विशेषका नाम है। यह हिंदू शब्दकी व्याख्या की गयी है। अद्‌भुतकोषमें भी ऐसा आया है कि **हिंदुर्हिंदूश्च प्रसिद्धौ दुष्टानां च विधर्षणे। रूपशालिनी दैत्यारौ**' 'हिंदु' और 'हिंदू' शब्द दुष्टोंको हीन—तिरस्कृत करनेवालेके अर्थमें प्रसिद्ध है। सुन्दर रूपसे सुशोभित तथा दैत्योंके शत्रु—इन दोनों अर्थोंमें भी इनका प्रयोग होता है।' पारिजात-हरण नाटकमें—

हिनस्ति तपसा पापान् दैहिकान् दुष्टमानसान्।
हेतिभिः शत्रुवर्गं च स हिंदुरभिधीयते॥

'जो अपनी तपस्यासे दैहिक पापों तथा चित्तको दूषित करनेवाले दोषोंका नाश करता है तथा जो शस्त्रोंसे अपने शत्रु-समुदायका भी संहार करता है, वह हिंदू कहलाता है।'

इस प्रकार अनेक स्थलोंपर 'हिंदू' शब्दका प्रयोग हुआ है। यहाँपर विस्तारके भयसे थोड़े-से उद्धरण दिये गये हैं। वस्तुतः 'हिंदू' शब्द न तो नवीन है और न इसका अर्थ ही अपमान-सूचक है।

अब 'संस्कृति' को लीजिये। संस्कार और संस्कृति एक ही धातुसे निकले हैं। दोनोंमें 'सम्' उपसर्ग है तथा संस्कारोंकी घनीभूतरूपसे केन्द्रीभूत समष्टि—समूह ही संस्कृति है। जिस प्रकार संस्कारोंके अनुसार ही चेष्टा, व्यवहार और कर्म आदि होते हैं, उसी प्रकार संस्कृतिके अनुसार ही राष्ट्रका भी उत्थान-पतन होता है। राष्ट्ररूपी शरीरमें संस्कृति प्राणस्वरूप है। जिस प्रकार पांचभौतिक मानसपिण्डमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—त्रिविध शरीर होते हैं और उसमें स्थूल शरीरको तो देखा जाता है, किन्तु सूक्ष्म और कारण शरीरको साधारणतया चर्मचक्षुओंसे नहीं देखा जा सकता, परन्तु सभी बातोंमें प्रधान वही होता है, संस्कारोंका आधारभूत अन्तःकरण ही सारे कर्म करनेमें कारण होता है, उसी प्रकार संस्कृति भी इन आँखोंसे तो देखी नहीं जा सकती, परन्तु देश-जातिके कल्याण अथवा उन्नति-अवनति आदि सभी बातोंमें एकमेव प्रधान कारण वह संस्कृति ही है।

अब 'हिंदू-संस्कृति' की ओर ध्यान दीजिये कि वह है क्या वस्तु तथा उसका आधार क्या है। वास्तवमें किसी संस्कृतिका परिचय उसके इतिहास और साहित्यसे चलता है। अतः यहाँपर भी यह बात स्पष्ट है कि जब श्रुति-स्मृत्यादि शास्त्रोंमें विश्वास एवं निष्ठा करनेवाला 'हिंदू' पद-वाच्य है, तब श्रुति-स्मृत्यादि शास्त्र, रामायण-महाभारतादि इतिहास ही उसकी आधारशिला हैं, और उसमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि त्रिविध भावोंसे पूर्ण (त्रिविध शरीरके समान) कर्म, उपासना, ज्ञान, अभ्युदय एवं निःश्रेयसकी सिद्धि प्रदान करनेवाली वर्णाश्रमधर्मादिकी जो शिक्षा-व्यवस्था है, उसके द्वारा जो इन्द्रियोंकी हलचल होती है, उसीका समष्टि सूक्ष्म घनीभूत व्यापक संस्कार ही 'हिंदू-संस्कृति' है। उसका ज्ञान जिस व्यक्तिको होगा, उसके संस्कार भी तदनुसार बनेंगे और संस्कारोंके कारण पुनः जो कर्म होगा अथवा जो व्यवहार और चेष्टा होगी, वह उस संस्कृतिका स्थूल रूप होगा। (यद्यपि कर्मसे संस्कार तथा संस्कारसे कर्म—ये दोनों बीज-वृक्ष-न्यायसे चलते हैं, तथापि जिस प्रकार सूक्ष्म कारण बीज ही होता है, उसी भाँति संस्कार एवं संस्कृति भी मूल कारण होते हैं।) अतः इसका भी स्पष्टीकरण हो गया कि हिंदू-संस्कृतिकी आधारशिला वेदादि-शास्त्र तथा श्रुति-स्मृत्यादि ही हैं। हमारे पुराण-इतिहासमें उनका स्थूल रूप वर्णित है। उसमें अपने पूर्वजोंकी अनेक गौरवपूर्ण कथाएँ, आदर्श जीवन और ज्वलन्त उदाहरण भरे पड़े हैं।

हरिश्चन्द्र-जैसे सत्यवक्ता, धर्मराज युधिष्ठिर-जैसे धर्मनिष्ठ, कपिल, कणाद, गौतम, पतंजलि, जैमिनि तथा वेदव्यास-सदृश दर्शनशास्त्रनिर्माता, मनु-जैसे राजर्षि, कर्ण-दधीचि-से दानी, विक्रमादित्य-मान्धाताके समान महीपति, शिबिके समान शरणागत-रक्षक, भीष्म-जैसे आजन्म ब्रह्मचारी धर्मज्ञाता, भीम-जैसे बली, अर्जुन-जैसे वीर, अष्टावक्र-शुकदेव-सदृश ज्ञानी, सुतीक्ष्ण-अम्बरीष-जैसे भक्त, जनकके समान कर्मयोगी, याज्ञवल्क्य-अरविन्द-जैसे योगी, भगवान् शंकराचार्य-जैसे दार्शनिक महात्मा, तुलाधार-समाधिके समान वैश्य, नराकार रूपमें अवतरित श्रीभगवान् रामचन्द्रजी-जैसे राजा, जिनके नामपर रामराज्यका आदर्श आज भी सहसा सभी लोगोंके मुखसे निकल ही पड़ता है, उनके समान नीति, प्रीति, परमार्थ, स्वार्थका यथार्थ ज्ञाता; अनसूया-सीता-सावित्री-सी पतिपरायणा नारी, गार्गी-सी ज्ञानमूर्ति और मदालसा-सी माताओंके आदर्श चरित्र हमारे इतिहासमें भरे पड़े हैं।

जिस प्रकार हमारे यहाँके वेद अपौरुषेय हैं तथा शास्त्र भ्रमादि-दोषोंसे रहित ज्ञानके भंडार हैं और पुराण-इतिहास उसके गौरवपूर्ण आदर्श हैं, उसी प्रकार उनकी नींवपर स्थापित हमारी हिंदू-संस्कृति भी संशय तथा भ्रमसे रहित है और उसकी नींव भी बड़ी गहरी है। यही कारण है कि उसका अस्तित्व किसी प्रकार नष्ट नहीं हो सकता। (यद्यपि आजकल अज्ञानवशात् उसके छिन्न-भिन्न करनेका प्रयास अवश्य किया जा रहा है!)

वास्तवमें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, लौकिक, पारलौकिक आदि सभी प्रकारकी उन्नति अपनी हिंदू-संस्कृतिके ही अपनानेसे हो सकती है और उसके लिये शास्त्रों तथा इतिहासका ही सहारा लेना होगा। इसके अतिरिक्त और कोई साधन ही नहीं है। वेदादि शास्त्र ही हिंदू-संस्कृतिके परिचायक हैं और उसके अनुयायी हमारे पूर्वज ही उसके आदर्श नायक हैं। इतिहास इसमें साक्षी और प्रमाण है।

जो लोग विद्या, बुद्धि अथवा समय आदिके अभावसे अथवा किन्हीं अन्य कारणोंसे सभी शास्त्रोंको नहीं देख सकते, उनके लिये सर्वशास्त्रमयी निखिलज्ञानराशि एकमात्र श्रीमद्भगवद्गीता अपनी संस्कृतिके परिचायकरूपमें तथा श्रीरामचरितमानस आदर्श ज्वलन्त उदाहरणके रूपमें संस्कृतिनिष्ठ एवं कल्याणपात्र बनानेमें पर्याप्त है। यही 'हिंदू और हिंदू-संस्कृति' का सूक्ष्म और संक्षिप्त परिचय है और इसीके अपनानेसे तथा इसीके अनुसार चलनेसे हमारा और देशका कल्याण हो सकता है।

भारतीयोंकी अकृत्रिमता

भारतीयोंकी मुखाकृतिमें जीवनके प्रकृत रूपका दर्शन होता है। हम तो कृत्रिमताका आवरण ओढ़े हुए हैं। भारतीय मुखमण्डलकी सुकुमार रूप-रेखाओंमें ही कर्ताके करांगुष्ठकी छाप दिखायी पड़ती है।

—जार्ज बर्नर्डशा

अन्त्यजोंके लिये मन्दिर-प्रवेशका निषेध क्यों ?

(श्रीवर्णाश्रमस्वराज्यसंघद्वारा प्रेषित)

सबसे पहले हम यह सोचें कि हिंदू ही मूर्तिपूजा क्यों करते हैं, जब कि अन्य धर्मवाले मूर्तिपूजक नहीं हैं। हिंदुओंके मूर्तिपूजा करनेका कारण यही है कि शास्त्रोंने यह बतलाया है कि मूर्तिपूजासे वे भगवत्कृपाके अधिकारी हो सकते हैं। मुसलमान मूर्तिपूजा नहीं करते; क्योंकि कुरानने बतलाया है कि ऐसा करनेसे पाप लगेगा। हमें अपने शास्त्रोंपर विश्वास है, कुरानपर नहीं; इसलिये हमलोग मूर्तिपूजा करते हैं।

यदि शास्त्रोंपर विश्वास न हो तो मूर्तिपूजाका कुछ अर्थ ही नहीं है। शास्त्रोंके कोई वचन हमें यदि गलत मालूम होते हैं तो हमें यह मान लेना चाहिये कि हमने उन वचनोंका वास्तविक अभिप्राय समझा ही नहीं। पर यदि हम यह समझ बैठें कि शास्त्रोंके वे वचन ही गलत हैं और हम सही हैं तो यह कहना चाहिये कि शास्त्रोंपर हमें सच्चा विश्वास ही नहीं है।

जो शास्त्र मूर्तिकी पूजा करनेको कहते हैं, वे यह भी बतलाते हैं कि यह पूजा कैसे करनी चाहिये। पूजाके जो नियम हैं, उनमें एक नियम यह भी है कि किस प्रकारके लोगोंको मन्दिरोंमें प्रवेश न करने देना चाहिये। यदि हम यह सोचें कि कुछ जातियोंके साथ द्वेष होनेसे उनके लिये ऐसे नियम बने हैं, तब तो शास्त्रकारोंके सम्बन्धमें हमारी कल्पना बहुत ही थोथी है और फिर मूर्तिपूजा भी हमारे लिये निरर्थक है।

वेद बतलाते हैं कि हमारा जन्म पूर्वजन्मोंके कर्मोंसे निश्चित होता है। जो अच्छे कर्म करते हैं, वे ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णोंमें उत्पन्न होते हैं और जो बुरे कर्म करते हैं, वे चाण्डालादि योनियोंको प्राप्त होते हैं।* कोई मनुष्य जब पाप करता है, तब उससे उसका शरीर अशुचि हो जाता है और यह अशुचिता दूसरे जन्ममें भी उसके साथ चलती है। इसलिये ऐसे पुरुषका मन्दिरमें प्रवेश निषिद्ध है।

मन्दिर-प्रवेश ही ईश्वरकी उपासनाका एकमात्र साधन नहीं है। हमें ईश्वरकी उपासना अपने मनमाने ढंगसे नहीं, बल्कि शास्त्रोपदिष्ट मार्गसे ही करनी चाहिये। मन्दिरोंमें जिनका प्रवेश शास्त्रोंने निषिद्ध बतलाया, उनके लिये मन्दिरके शिखरदर्शनकी विधि शास्त्र बतलाते हैं और इससे उन्हें वही फल प्राप्त होता है, जो अंदर मूर्तिकी पूजा-अर्चा करनेवालोंको मिलता है।

ईश्वर तो सर्वत्र है। पर उसकी अभिव्यक्ति कहीं कम, कहीं अधिक है। उदाहरणार्थ—गंगाजलमें उसकी जितनी अभिव्यक्ति है, उतनी किसी नालेके पानीमें नहीं। शास्त्रविधिके अनुसार जिन मूर्तियोंकी पूजा होती है, उनमें उसका आविर्भाव सबसे अधिक होता है। यदि विग्रहकी पूजाके इन नियमोंका (जिनमें यह नियम भी है कि मन्दिरमें कौन प्रवेश करे और कौन नहीं) उल्लंघन किया जाता है तो विग्रहमेंसे देवत्व भी चला जाता है। एक नित्य परिचित वस्तुका ही उदाहरण लीजिये। विद्युत् तो सर्वत्र ही है। पर उसे व्यवहारमें लाना तभी बन सकता है, जब कोई विद्युत्-उत्पादक यन्त्र हो, विद्युत्वाहक तार हों और प्रकाशक बल्ब हों। यदि विज्ञानकी रीतिसे यह सारी व्यवस्था की जाय तो हमें उससे प्रकाश, गतिशक्ति और संदेश मिल सकते हैं। पर यदि इस यान्त्रिक व्यवस्थाके नियम तोड़ डाले जायँ तो फिर ये चीजें उससे नहीं मिल सकतीं। इसी प्रकार मूर्तिपूजाके सम्बन्धमें शास्त्रकी जो विधि है, उसका उल्लंघन करनेसे देवत्व उससे प्रकट न होगा।

मन्दिरोंमें प्रवेश करनेसे अन्त्यजोंको कोई लाभ नहीं होता। उलटे शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लंघन करनेसे पाप लगता है। शास्त्रोंमें जो विधि है, उसे करना ही पुण्य है; जिसका निषेध है, उसे करना ही पाप है। यदि वे यह समझें कि उनके लिये मन्दिर-प्रवेशका निषेध उनके पूर्वजन्मकृत पापोंके कारण है और उन पापोंपर उन्हें पश्चात्ताप हो तो इससे उनके हृदय शुद्ध होंगे और वे पारमार्थिक उन्नतिके अधिकारी होंगे। मन्दिर-प्रवेशका निषेध इस तरह उनके लिये भी कल्याणप्रद ही होता है। किसी विषयपर भिन्न-भिन्न लोगोंमें परस्पर मतभेदका होना अनिवार्य है। पर जब एक मतके लोग अन्य मतके लोगोंपर जबर्दस्ती अपना मत लादनेका

* रमणीयचरणा रमणीया योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन् श[illegible] वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा। (छान्दोग्य० ५।१०।७)

प्रयत्न करते हैं, तब शान्ति भंग होती है। सनातनियोंका सदासे एक निश्चित मार्ग है, एक विशिष्ट ढंगसे वे ईश्वरोपासना करते चले आये हैं। उनके विचारमें शास्त्र प्रमादरहित हैं। भगवान् श्रीकृष्णने भी '**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ**' (गीता १६। २४) 'कार्य-अकार्यके निर्णयमें शास्त्र ही तुम्हारे लिये प्रमाण है' यह कहकर उन्हींके पक्षका मण्डन किया है। 'शास्त्र' हैं—वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, मनुसंहिता, याज्ञवल्क्य-संहिता आदि। गीताके इस श्लोकका भाष्य करते हुए श्रीमत् शंकराचार्य और श्रीमत् रामानुजाचार्य दोनोंने ही 'शास्त्र' शब्दका यही अर्थ बताया है।

कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें हम सदा अपनी बुद्धिका ही भरोसा नहीं कर सकते। मनुष्य प्रमादशील है, उससे भूलें हो ही जाती हैं। महात्मा गांधी-जैसे मनुष्योंसे भी भूलें होती हैं। पर शास्त्रोंमें भूल नहीं हो सकती। कारण, शास्त्र हैं स्वयं वेद और वे धर्मग्रन्थ, जो वेदार्थ बतलानेके लिये ऋषियोंने बनाये। वेद किसी मनुष्यके लिखे नहीं हैं, अपौरुषेय हैं। इस कथनकी पुष्टिमें श्रीमत् शंकराचार्यने बृहदारण्यक उपनिषद्से यह वचन दिया है—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः।

'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इस महत् भूत (परमपुरुष) के निःश्वास हैं।'

महाभारत महर्षि वेदव्यासने रचा, जिसमें स्त्रियाँ, शूद्र और ऐसे ब्राह्मण जिन्होंने वेदोंका अध्ययन नहीं किया, वे वेदार्थको जानें। मनुसंहितामें वैदिक विधि-निषेधोंका संग्रह है, मनुके अपनी बुद्धिके निर्णय नहीं। मनुसंहितामें कहा है कि मनुष्यका परम ध्येय उस आत्मस्वरूपकी उपलब्धि है, जो सब प्राणियोंके अंदर है और जिसके अंदर सब प्राणी हैं[१] (मनु० १२। ९१)। ऐसे पुरुषकी दृष्टि संकुचित हो, यह सम्भव नहीं है। यदि उनके कुछ वचन कठोर और पक्षपातयुक्त मालूम होते हैं तो इसका कारण यह है कि हम उनका वास्तविक अभिप्राय समझ नहीं सके हैं। महाभारतने मनुसंहिताके कई वचन उद्धृत किये हैं और मनुसंहिताको प्रमादरहित कहा है। मनुसंहिताकी रचना भगवद्गीतासे बहुत पहले हुई है, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता और गीता (१६। २४) में जहाँ 'शास्त्र' की बात आयी है, वहाँ शास्त्रसे 'मनुस्मृति' भी अभिप्रेत है।

अस्पृश्यताके नियम द्वेषमूलक नहीं हैं। मनुस्मृतिमें जहाँ यह कहा है कि चाण्डालका स्पर्श होनेपर स्नान करना चाहिये, वहीं उसीके साथ ही यह भी कहा है कि ऋतुवती या प्रसूता स्त्रीका (वह अपनी माँ, बहिन, पत्नी—कोई भी हो सकती है) स्पर्श होनेपर स्नान करना चाहिये।[२] (मनु० ५। ८४) शरीरको शुद्ध रखनेके लिये यह विधि है।

मनुके सब वचनोंपर वेदोंकी मुहर लगी है और उनकी भगवान्‌की तरह ही स्तुति की गयी है। श्रीमत् शंकराचार्य और श्रीमत् रामानुजाचार्यने ब्रह्मसूत्रके अपने भाष्योंमें मनुस्मृतिकी श्रेष्ठता बतलाते हुए यह वेदवचन उद्धृत किया है—'**यद्वै किं च मनुरवदत् तद् भेषजम्**' अर्थात् 'मनुने जो कुछ कहा है, वह औषध है।'

शास्त्रोंने उत्तमसे अधमतक सब वर्णोंकी वृत्तियाँ निश्चित कर दी हैं। किसी वर्णको यह अधिकार नहीं है कि वह किसी दूसरे वर्णकी वृत्ति छीन ले। यदि उच्च वर्णोंने अन्त्यजोंको सताया होता तो अमेरिकाके रेड इंडियनों और आस्ट्रेलियाके हाटेनटाटोंकी तरह अन्त्यजोंका कुलक्षय हुआ होता। भारतवर्षमें आज जो करोड़ों अन्त्यज हैं, ये न होते यदि सहस्रों वर्षोंसे वे 'दलित' या 'पीड़ित' किये गये होते।

महाभारतमें धर्मव्याधकी जो कथा है, उससे पता चलता है कि प्राचीन समयमें हरिजन स्वकर्मका पालन और शास्त्रोंकी आज्ञाओंका अनुसरणकर किस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्रमें परम उन्नत हो सकते थे। धर्मव्याध इतने ज्ञानसम्पन्न थे कि किसी ब्राह्मणको भी धर्मतत्त्व जाननेके लिये उनके पास जानेमें संकोच नहीं होता था। किसी हरिजनने शास्त्रमर्यादाका उल्लंघनकर मन्दिर-प्रवेश करके वैसी उन्नति लाभ की हो, इसका तो कोई दृष्टान्त अभीतक नहीं मिला है।

श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीवेदव्यास, श्रीवाल्मीकि, श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीचैतन्य, श्रीतुलसीदास, श्रीरामकृष्ण परमहंस आदि सभीने धार्मिक विषयोंमें

१. सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥
२. दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा। शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति॥

सर्वोपरि शास्त्रको ही प्रमाण माना है। शास्त्र न माननेवालोंको हिंदू नहीं कहा जा सकता। बाइबलको न माननेवाले ईसाई कहलानेके अधिकारी नहीं। कुरानको न माननेवाले मुसलमान नहीं। उसी प्रकार जो शास्त्रोंको नहीं मानते, वे हिंदू नहीं कहला सकते। इस प्रकार जो हिंदू नहीं हैं, उन्हें हिंदुओंकी पूजा-पद्धतिमें दखल देनेका क्या अधिकार है ?

अस्पृश्यताके विषयमें मनुसंहिताके एक वचनका हम उल्लेख कर आये हैं। मन्दिर-प्रवेशके सम्बन्धमें भृगुसंहितामें यह निर्देश है कि 'चाण्डाल मूर्तिको स्पर्श नहीं कर सकता, न मन्दिरमें प्रवेश कर सकता है, न पूजा होती हो ऐसी अवस्थामें मूर्तिके दर्शन ही कर सकता है।'

इस सम्बन्धमें शास्त्रोंका निर्देश स्पष्ट है। सन्देहके लिये कोई अवकाश नहीं है। वर्णाश्रमस्वराज्यसंघकी ओरसे इस विषयकी मीमांसाके लिये सार्वजनिक सभाएँ की गयीं, जिनमें सब मतोंके पण्डितोंको बुलाया गया था। अब भी शास्त्रार्थके लिये हाईकोर्टके न्यायाधीशोंकी अध्यक्षतामें ऐसी सभाएँ की जा सकती हैं।

व्यवस्थापिका सभाओंके सदस्योंमें बहुत ही कम ऐसे लोग होंगे, जिन्होंने सद्गुरुके समीप बैठकर विधिपूर्वक वेदों और अन्य शास्त्रोंका अध्ययन किया हो। जिन्होंने इस प्रकार शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया, उन्हें क्या अधिकार है कि हिंदुओंकी उपासना-पद्धति कैसी हो और कैसी नहीं—इस विषयमें अपना वोट दें ? यह काम तो उन विद्वानोंका है, जिन्होंने विधिपूर्वक शास्त्राध्ययन किया है। हिंदुओंमें आज भी सदाचारसम्पन्न विद्वान्, कांचीकामकोटिपीठ, शृंगेरी, पुरी, द्वारिका एवं ज्योतिर्मठके शंकराचार्य, काशीके स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज-जैसे सत्पुरुष विद्यमान हैं। उनका मत इस विषयमें क्यों नहीं लिया जाता ?

ब्रिटिश पार्लमेंटमें धर्मविषयक कोई बिल नहीं पेश किया जा सकता, जबतक कि पादरियोंकी कमेटी उसे जाँच न ले और यह न कह दे कि ईसाई-धर्मके मौलिक सिद्धान्तोंका इससे कोई विरोध नहीं है। ऐसी ही एक कमेटी भारतवर्षके पण्डितोंकी हो, यह और भी अधिक आवश्यक है। कारण—

(१) ब्रिटिश पार्लमेंटमें गैर-ईसाई सदस्य बहुत ही कम हैं। पर भारतकी व्यवस्थापिका सभाओंमें अहिंदुओंकी सैकड़ावारी उससे बहुत अधिक है।

(२) हिंदुओंके उपनिषद्, धर्मशास्त्रादि शास्त्र-साहित्य ईसाइयोंके धार्मिक साहित्यकी अपेक्षा बहुत अधिक विशाल और गूढ़ हैं।

(३) आधुनिक हिंदुओंको विदेशी शिक्षा मिली है, जिससे वे अपनी धार्मिक परम्परासे विच्छिन्न हो गये हैं। शास्त्रोंके वास्तविक अभिप्रायको समझनेमें उनको भ्रम हो, यही अधिक सम्भव है।

यदि ऐसे आधुनिक सुधारक यह समझें कि सनातनियोंका पक्ष गलत है और ये सब सदाचार-सम्पन्न विद्वान्, आचार्य और सत्पुरुष गलती करते हैं तो उचित यही है कि वे जिस ढंगकी मूर्ति-पूजा ठीक समझते हों, वही ढंग अपने लिये स्वीकार करें। वे चाहें तो अपने अलग मन्दिर बना सकते हैं और अन्त्यजोंके साथ बैठकर पूजा कर सकते हैं। यदि अन्त्यज अपने लिये अलग मन्दिर चाहते हों तो सनातनी अलग मन्दिर बनवानेमें उनकी सहायता कर सकते हैं। ऐसे बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें कि अन्त्यजोंने शास्त्रोंकी आज्ञाओंका अनुसरणकर परम आध्यात्मिक उन्नति की है। महाभारतके धर्मव्याधकी बात हम पहले कह आये हैं। चिदम्बरम्के नन्द, महाराष्ट्रके चोखामेला, बंगालके हरिदास, कर्णाटकके हरिदास, युक्तप्रदेशके रैदास आदि अनेक संत भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें अंत्यज जातियोंमेंसे निकले हैं। मन्दिर-प्रवेशके निषेधने उनकी आध्यात्मिक उन्नतिमें कोई बाधा नहीं डाली।

सनातनियोंकी जो पूजा-पद्धति है, उसमें हमारे सुधारकोंको कोई हस्तक्षेप न करना चाहिये। ऐसी कोई नयी बात न चलानी चाहिये, जो सनातनियोंकी दृष्टिमें मन्दिरोंको भ्रष्ट करनेवाली है। यह कहना बिलकुल बेकार है कि 'सनातनी अंत्यजोंके प्रवेशसे मन्दिर भ्रष्ट होते हैं, यह विचार छोड़ दें। बात यह है कि वे ऐसा समझते हैं। बहुसंख्यकोंके वोटसे कुछ नहीं होता। फिर बहुसंख्यकोंको यह अधिकार नहीं है कि शास्त्रीय पद्धतिसे पूजा करनेवाले अल्पसंख्यकोंका परम्परागत अधिकार वे छीन लें।'

अंग्रेजी कानूनके इतिहासमें यह बात मिलती है कि एक नगर था, जिसमें रोमन कैथलिक संप्रदायके लोग बसते थे। वहाँ एक गिरजाघर बना। रोमन कैथलिक ढंगसे वहाँ उपासना चलती थी। पीछे उस नगरके अधिवासियोंमेंसे बहुतोंने प्रोटेस्टैंट संप्रदाय स्वीकार

कर लिया। इन लोगोंने यह आन्दोलन उठाया कि गिरजाघरमें अब प्रोटेस्टैंट संप्रदायके अनुसार उपासना होनी चाहिये; क्योंकि प्रोटेस्टैंटोंका बहुमत है। मामला कोर्टके सामने आया। कोर्टने फैसला दिया कि जबतक एक भी रोमन कैथलिक ऐसा रहेगा, जो कहे कि रोमन कैथलिक ढंगसे ही उपासना होनी चाहिये, तबतक गिरजाघरकी उपासना-पद्धतिमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

अबतक जो परिपाटी चली आती है, उससे यही निश्चित होता है कि इन प्राचीन मन्दिरोंके संस्थापकों और धन देकर उनकी सहायता करनेवालोंका यही उद्देश्य था कि इन मन्दिरोंमें शास्त्रकी रीतिसे ही पूजा-अर्चा हो और जिन लोगोंका प्रवेश निषिद्ध हो, उन्हें इनमें प्रवेश न करने दिया जाय। मन्दिरोंके प्रतिष्ठापकों और उनके सहायकोंकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम करनेका ट्रस्टियोंको कोई अधिकार नहीं है। संस्थापकों और उनके सहायकोंकी इच्छाके विरुद्ध ट्रस्टियों या जनताके बहुसंख्यकोंकी इच्छा चलने नहीं दी जा सकती।

अंत्यजोंमेंसे अधिकांश लोग मन्दिर-प्रवेश नहीं चाहते। बहुतोंने वैसा स्पष्ट कहा भी है। वे चाहते हैं, राजनीतिक अधिकार और आर्थिक सम्पन्नता। सनातनियोंको इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

मन्दिर-प्रवेशसे मन्दिरोंकी क्या गति होगी, यह भी हमें समझना चाहिये। जब मन्दिरोंमें अंत्यज घुसते हैं, तब उन मन्दिरोंको सनातनी, सुधारक और अंत्यज—तीनों ही छोड़ देते हैं। सनातनी इसलिये छोड़ते हैं कि मन्दिर भ्रष्ट हो गये। सुधारकों और अंत्यजोंको मन्दिरोंसे कुछ मतलब ही नहीं है, वे क्यों जाने लगे?

स्पर्शास्पर्श-विवेक

शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेक जो आर्य-धर्मका प्रधान अंग है, उसके विषयमें वर्तमान राजनैतिक जगत्‌में शास्त्रीय ज्ञान न होनेके कारण अनेक शंकाओं और उपद्रवोंका सामना धार्मिक जगत्‌को करना पड़ रहा है। दर्शनशास्त्रके न जाननेसे ही लोगोंको ऐसी बातोंपर सन्देह हो सकता है। वस्तुतः आर्य जातिका शुद्धाशुद्ध-विवेक तथा स्पर्शास्पर्श-विवेक दृढ़ दार्शनिक भित्तिपर स्थित है। शरीरमें पाँच कोश हैं, जिनसे आत्मा ढका रहता है। वे अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष कहलाते हैं। इन पाँचोंको साधारण रीतिसे समझनेके लिये यह इंगित किया जाता है कि अन्नके सहारे जो घटता-बढ़ता है, उसे अन्नमय कोष कहते हैं। अन्नमय कोषका जो संचालन करता है, उसे प्राणमय कोष कहते हैं; प्राणमय कोषको जो चलाता है और जो मनके द्वारा व्यवस्थित रहता है, उसे मनोमय कोष कहते हैं। मन उसका केन्द्र है। मनको जो सदसद्विचारके द्वारा पथप्रदर्शन करके चलाता है, वह विज्ञानमय कोष कहलाता है। बुद्धितत्त्वके परे आत्माकी स्थिति शास्त्रने मानी है—जैसे **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** (गीता ३। ४२) और परमात्मासे जीवात्माको अलग करनेवाला द्वैतभावोत्पादक पंचम आनन्दमय कोष कहलाता है। इन पाँचों कोषोंको मलिन करनेके स्वतन्त्र-स्वतन्त्र पाँच कारण हैं। जिन अपवित्र स्थूल पदार्थोंके द्वारा अन्नमय कोष अपवित्र होता है, उनको मल कहते हैं। प्राणमय कोषको मलिन करनेवाला विकार कहलाता है। मनोमय कोषमें जो विषमता उत्पन्न करता है, उसे विक्षेप कहते हैं। विज्ञानमय कोषमें जो अपवित्रता उत्पन्न करता है, उसे आवरण कहते हैं। आनन्दमय कोषमें जो अपवित्रता उत्पन्न करता है, उसे अस्मिता कहते हैं। अस्मिता आत्मस्वरूपको ढकती है तथा जितनी ही अस्मिताकी अभिवृद्धि होती है, उतना ही अज्ञान बढ़ता जाता है। इन पाँचों प्रकारके कोषोंमें (शरीरोंमें) पाँच प्रकारकी मलिनता न बढ़ने पाये, इसीका नाम शुद्धाशुद्ध-विवेक तथा स्पर्शास्पर्श-विवेक है। इस बातको मीमांसाशास्त्रने अच्छी तरह सिद्ध किया है। इस दार्शनिक रहस्यको विशेष स्पष्ट करनेके लिये कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

धोनेसे तथा सचैल (वस्त्रसहित) स्नानादि करनेसे अन्नमय कोषकी अपवित्रता दूर होती है। यह स्पष्ट ही है कि शव आदिके स्पर्शसे वह मलिन होता है। जब मृत देहसे प्राणमय कोष अन्य कोषोंके साथ लोकान्तरमें चला जाता है, तब स्वतः उसमें प्राणमय कोषका अभाव होनेसे शवस्पर्शकारीके प्राण खिंच जाते हैं। इसीलिये शवस्पर्शीके लिये स्नान, अग्नि-सुवर्ण आदिका स्पर्श करके अपने प्राणमय कोषको पवित्र करनेकी विधि शास्त्रोंमें वर्णित है। देवमन्दिरस्थ मूर्ति आदिमें जो पीठ

बनता है, वह प्राणमय कोषकी क्रियाका ही परिणाम है। आर्यजाति उसी पीठमें व्यापक दैवी शक्तिकी पूजा किया करती है। जहाँ चेतन शक्तिका विकास होता है, उसीको पीठ कहते हैं। जिस पीठमें जैसी संस्कारपरम्परा रहती है, विरुद्ध स्पर्शद्वारा उसको नष्ट करनेसे पीठाभिमानी देवता अप्रसन्न होता है। मनोमय कोषके मलिन होनेका उदाहरण सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, अशौचादि समझना उचित है। सूर्य और चन्द्रकी शक्तिका प्रभाव जो मनोमय कोषपर रहता है, उसमें ग्रहणसे बाधा होती है; इसलिये उसमें सामयिक मलिनता आती है। स्नान, दान, जपादिद्वारा उस मलिनताको दूर किया जाता है। अशौचादिके द्वारा मनोमय कोषमें जो अपवित्रता होती है, वह श्राद्ध आदिद्वारा दूर होती है। विज्ञानमय कोषकी अपवित्रता कुसंगादिसे होती है। इसको दूर करनेसे तथा सत्संगति करनेसे विज्ञानमय कोष पवित्र होता है। इसी कारण शास्त्रोंमें साधुसंगकी बड़ी महिमा है और अस्मिता जो जीवभावका मूल कारण है, उसकी वृद्धि होनेसे आनन्दमय कोषमें अपवित्रता बढ़ती है। निष्काम कर्म, ईश्वर तथा गुरुमें अहैतुकी भक्ति और ज्ञानके द्वारा आनन्दमय कोषकी अपवित्रता दूर होती है। ऐसे शुद्धाशुद्ध-विवेक तथा स्पर्शास्पर्श-विवेककी महिमा न समझकर अज्ञलोग स्वयं विपथगामी होते हैं तथा समाजको भी विपद्ग्रस्त करते हैं। आशा है, इन थोड़े उदाहरणोंसे विज्ञलोग सचेत होकर समाजके अमंगलका कारण न बनेंगे और दैवी जगत्को अप्रसन्न करके अपना अमंगल नहीं करेंगे। मनमाने निरंकुश होकर काम करनेसे विपत्ति अवश्य भोगनी पड़ती है और सोच-समझकर काम करनेसे सब ओर मंगल होता है।

'सूर्योदय'

वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता

(लेखक—श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवशर्मा)

इतिहासके अनुसार मेगास्थिनिस् पश्चिम एशियाके ग्रीक-सम्राट् सेल्युकसके राजदूत थे। वे ईसाके पूर्व चतुर्थ शताब्दीके शेष भागमें (अनुमानिक ३०२) मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्तकी राजसभामें आये थे। उन्होंने तत्कालीन भारतका एक सुन्दर और विशद विवरण लिखा था; परंतु दुःखका विषय है कि कालक्रमसे उसका अधिकांश लुप्त हो गया है। स्ट्रैबो, डिओडोरस (Strabo, Diodorus) इत्यादि विभिन्न लेखकोंके ग्रन्थोंमें उद्धृत उसके अंशमात्र ही आधुनिक कालमें उपलब्ध हैं।

जहाँ-जहाँ मेगास्थिनिस् सुनी हुई बातोंपर निर्भर रहे, वहाँ-वहाँ कुछ त्रुटियाँ रहनेपर भी समष्टिरूपसे उनका वर्णन विश्वसनीय है। उदाहरणस्वरूप खेदामें हाथी पकड़नेके विषयपर उनका वर्णन अत्यन्त रोचक है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे उनके विवरणका मूल्य अपरिमेय है। उसका कारण यह है कि भारतवर्षके सम्बन्धमें उनके पूर्व किसी भी विदेशीका विश्वासयोग्य लेख कम मिलता है।

मेगास्थिनिस्के लेखमें है कि भारतमें सात जातियाँ थीं—दार्शनिक, योद्धा, शिल्पी, कृषक, पशुपालक, सदस्य और परिदर्शक। इस वर्णनमें अवश्य ही भूल है। कहना नहीं होगा कि चन्द्रगुप्तके समयमें भारतवासी (कुछ बौद्धोंको छोड़कर) सनातन वैदिक-धर्मावलम्बी थे।

इतिहासके वर्तमान पाठ्य-ग्रन्थोंमें उपर्युक्त सात जातियोंका तो उल्लेख किया जाता है; किंतु आश्चर्यका विषय है कि इसके बाद मेगास्थिनिस्ने जो कुछ लिखा, उसपर तनिक भी विचार नहीं किया जाता। इसका कारण यह है कि पाश्चात्त्य विद्वान् एवं उनके अनुयायी यह बताना चाहते हैं कि भारतमें प्राचीन कालमें जन्मगत वर्ण अथवा जातिभेद नहीं था; यदि जातिभेद था तो कर्मद्वारा और विभिन्न जातियोंके बीच विवाहमें कोई बाधा नहीं थी। इस प्रकारके भ्रान्त विचार कई इतिहासों तथा अन्य ग्रन्थोंमें प्रकट किये गये हैं।

परंतु मेगास्थिनिस्का कहना है कि 'किसीको न तो अपनी जातिके बाहर विवाह करनेकी और न अपनी वृत्तिको छोड़कर अन्य वृत्ति ग्रहण करनेकी अनुमति है। उदाहरणार्थ—योद्धा कृषक नहीं बन सकता और शिल्पी दार्शनिक नहीं बन सकता।'

वे अन्यत्र लिखते हैं कि 'अपनी जातिके बाहर किसीके भी विवाहका अनुमोदन नहीं किया जाता अथवा किसीको भी अपनी वृत्ति किंवा व्यवसायका परिवर्तन नहीं करने दिया जाता अथवा कोई एकाधिक

वृत्तिको नहीं ले सकता। केवल दार्शनिकोंके लिये ही इसका व्यतिक्रम होता है। दार्शनिक धार्मिक हैं, इसलिये वे वैशिष्ट्य भोग करते हैं।'

'इस देशकी रीतिके अनुसार अन्तर्जातीय विवाह निषिद्ध है। उदाहरणार्थ—कृषक शिल्पी जातिकी किसी स्त्रीसे विवाह नहीं कर सकता। प्रथानुसार किसी मनुष्यको दो प्रकारकी वृत्तियाँ करना मना है। कोई एक जातिसे दूसरी जातिमें प्रवेश नहीं कर सकता। यथा—यदि कोई पशुपालक है तो कृषक नहीं बन सकता। सभी जातियोंके लोग त्यागी बन सकते हैं। कारण, त्यागीका जीवन सहज नहीं वरं सर्वापेक्षा कठोर ही है।"[1]

उपर्युक्त लेखसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि आजसे २२००-२३०० वर्ष पूर्व भारतमें वर्ण अथवा जाति जन्मगत थी और कर्म भी जन्मानुसार ही था। यह निर्विवाद है कि उस कालमें समाज मनुके विधानसे शासित होता था। यह एक भव्य वैदेशिकका लिखा हुआ निरपेक्ष प्राचीनतम ऐतिहासिक प्रमाण है। इसको किसी भी प्रकारसे उड़ा देना संभव नहीं है।

हमलोगोंमेंसे अधिकांशका ज्ञान नाटक अथवा उपन्यासोंमें सीमाबद्ध है। जिन लोगोंने 'चन्द्रगुप्त' नाटक या छायाचित्र देखे होंगे, वे कहेंगे कि 'क्यों, चन्द्रगुप्त मौर्यके साथ तो यवनराज सेल्यूकसकी कन्या हेलेनका विवाह हुआ था?' किंतु 'हेलेन' सम्पूर्ण कविकल्पना है। इतिहासमें सेल्यूकसकी किसी भी कन्याका विवरण नहीं है, जिससे चन्द्रगुप्तका विवाह हो सकता था। वैदिक समाजकी कठोर नीति प्राचीन युगमें उल्लंघन नहीं की जा सकती थी।[2]

मेगास्थिनिस्ने तत्कालीन वर्णाश्रमधर्मके जो चित्र अंकित किये हैं, वे चित्ताकर्षक हैं। स्थानाभावसे संक्षिप्तरूपसे ही उनकी आलोचना की जाती है।

ब्राह्मण और श्रमण

मेगास्थिनिस्ने दार्शनिकोंके ब्राह्मण और श्रमण—ये दो भाग किये हैं।

(१) *ब्राह्मण*—गर्भसे ही ब्राह्मणोंके मन्त्र-संस्कार इत्यादि होते हैं। जन्मके बाद क्रमानुसार एक गुरुके बाद दूसरे और भी गुणवान् गुरुके समीप शिक्षा होती रहती है। आचार्यगण नगरोंके बाहर तपोवनमें बहुत सरल जीवन यापन करते हैं। वे कुश अथवा अजिनपर शयन करते हैं; मत्स्य, मांस या आमिष-आहार वर्जित है। ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, गम्भीर तत्त्वोंपर उपदेश सुनते और शिक्षा देते हैं। इस प्रकार ३७ वर्ष व्यतीत करनेके उपरान्त ब्राह्मण गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते हैं; तबसे वे सूक्ष्म वस्त्र परिधान करते तथा सामान्य स्वर्णालंकार धारण करते हैं। उष्णवीर्य अथवा मसाला दिया हुआ खाद्य निषिद्ध है। एकाधिक स्त्रीसे विवाह चलता है। भारतमें दास-प्रथा नहीं है, इसलिये अधिक परिजनका प्रयोजन है।

ब्राह्मणोंकी पद-मर्यादा सर्वोच्च है, किंतु जातिके हिसाबसे उनकी जनसंख्या सबसे अल्प है; जो यज्ञ अथवा अन्य धर्म-कर्म करना चाहता है, वह उनको नियुक्त करता है।

वर्षके प्रारम्भमें तोरणद्वारके सामने राजा एक महती सभामें ब्राह्मणोंको सम्मिलित करते हैं। इस वर्ष

1. "No one is allowed to marry out of his own caste, or to exchange one profession or trade for another, or to follow more than one business. An exception is made in favour of the Philosopher, who for his virtue is allowed this privilege." (McCrindle:Megasthenes pp. 85-86)

'No one is allowed to marry out of his own caste or to exercise any calling or art except his own: for instance, a soldier cannot become a husbandman, or an artisan a philossopher." (P. 41)

"The custom of the country prohibits intermarriage between the castes: for instance, the husbandman cannot take a wife from the artisan caste, nor the artisan from the husbandman caste. Custom also prohibits anyone from exercising two trades, or from changing from one caste to another. One cannot, for instance, become a husbandman if he is a herdsman, or become a herdsman if he is an artisan. It he is permitted that the Sophist only be from any caste: for the life of the Sophist is not an easy one, but the hardest of all." (P. 218)

2- "There seems however to be no room in his (Seleucos') family circle, as we otherwise know it, for any relationship of this kind.xx What is implied is a convention, a jus connubii between the two royal families. In the land of caste, a jus connubii between the two peoples is unthinkable." (Cambridge History, p. 431)

यदि किसी पण्डितके द्वारा कामके तत्त्वपर कुछ लिखा होता है अथवा खाद्य, खेती अथवा पालतू पशुओंकी उन्नतिके विषयपर किसी नये उपायका अनुसन्धान किया गया होता है या जनसाधारणके उपकारकी किसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त हुआ होता है तो जनसाधारणके सामने सभामें उसकी घोषणा की जाती है।

ब्राह्मणगण मृत्युके विषयपर आलोचना करते हैं। मृत्यु भी एक-दूसरे जन्म-सरीखी वस्तु समझी जाती है। वे जगत्‌को माया समझते हैं। मेगास्थिनिस्‌ने जन्म, आत्माकी अमरता, पाप-पुण्यके फल प्रभृति तत्त्वोंका विशदरूपसे वर्णन किया है।

ब्राह्मणगण तपस्या करते और ब्रह्मज्योतिके दर्शन करते हैं।

वे समय-समयपर चितारोहणसे प्राणत्याग कर देते थे। स्फाइनेस (Sphines) नामक एक ब्राह्मण तक्षशिलासे माकिदनीय वाहिनीके साथ गया था। ग्रीक लोगोंने उसका नाम कलानस् (Kalanos) रखा। (मालूम होता है कि वह 'कल्याण' कहकर आशीर्वाद देता होगा।) वह जितेन्द्रिय नहीं था एवं ग्रीकोंके साथ भोजनादि करता था। इसलिये उसके देशवासियोंने उसको धिक्कार दिया। वह फारस देशमें बीमार पड़ा और उसने ग्रीकसेनाके सामने जलती हुई चितापर चढ़कर प्राणत्याग कर दिया, किंतु जलते समय उसके किसी भी यन्त्रणाका चिह्न नहीं दिखायी दिया। मालूम होता है कि वह चितापर आसन और समाधि लगाकर बैठा था।[1]

उपर्युक्त घटनासे यह स्पष्ट होता है कि आहार-विहारका नियम भारतमें उस समय भी बड़ा कठोर था। आजकल यह कहा जाता है कि 'इस समय हमारा धर्म केवल चौके-चूल्हेमें ही आ घुसा है। कभी ऐसा नहीं था, सबके साथ खानपान प्रचलित था। आजकल इस जातिभेद और छूआछूतके कारण ही हमारा पतन हुआ है।' किंतु मेगास्थिनिस्‌के वर्णनसे यह प्रमाणित होता है कि उस समय भी हर किसीके साथ खान-पान वर्जित था और भोजनमें पवित्रताकी रक्षाकी समुचित व्यवस्था थी।

मेगास्थिनिस्‌का कहना है 'और जो सब कार्य किये जाते हैं, उनका समर्थन नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ—वे (भारतीयगण) सदा ही अकेले आहार करते हैं। सहभोजके लिये कोई निर्दिष्ट समय नहीं है।'

'भारतीय जब भोजन करने बैठते हैं, तब प्रत्येकके सामने एक तिपायी चौकी रखी जाती है। उसपर एक स्वर्णपात्र रखा जाता है, जिसमें पहले सिद्ध चावल परोसे जाते हैं (चावलोंको जौकी भाँति पकाया जाता है)। तदनन्तर भारतीय प्रथासे बनायी हुई अन्यान्य खाद्य वस्तुएँ परोसी जाती हैं।[2]'

स्वर्णपात्रके उल्लेखसे प्रतीत होता है कि यह वर्णन राजा अथवा सम्पन्न लोगोंके सम्बन्धमें है; किंतु तिपायी चौकी अलग-अलग रखी जाती थी, इस बातपर लक्ष्य करना चाहिये। सब अकेले भोजन करते थे। एक ही आसनपर एक साथ बैठकर किया गया भोजन उच्छिष्ट माना जाता था। यूनान देशमें सहभोजकी प्रथा थी।

आजकल भी महाराष्ट्रादि प्रान्तोंमें आसनके सामने पाटेपर पात्र रखकर भोजन करनेका नियम है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'**उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥**' महाभारतमें भी जगह-जगह आहारके सम्बन्धमें कठोर नियमोंका उल्लेख है—

शूद्रस्य तु कुलं हन्ति वैश्यस्य पशुबान्धवान्।
क्षत्रियस्य श्रियं हन्ति ब्राह्मणस्य सुवर्चसम्॥
तथोच्छिष्टमथान्योन्यं संप्राशेन्नात्र संशयः।

(महा० अनु० १३६। २३—२६)

शूद्रके-शूद्रके साथ एक पात्रमें भोजन करनेसे उसका कुलक्षय, वैश्यके-वैश्यके साथ एक पात्रमें

1- Suddenly in Persia he (Kalanos) announced his resolution to live no longer.xxx In sight of all the army he ascended the pyre and adopted the due posture. xxx As the flames mounted and wrapped the figure of the sage, the onlookers saw it still motionless. This was the way in which Kalanos chose te take leave of the Yavanas." (Cambridge History, p. 381) (Arrian VII. 3 Strabo XV. C. 717)

2- "But other things they do, which one cannot approve: for instance, that they eat always alone, and that thay have no fixed hours when meals are to be taken by all in common.xxx" (pp. 68-69)

" When the Indians are at supper, a table is placed before each person, this being like a tripod. There is placed upon it a golden bowl, into which they first put rice, boiled as they would boil barley, and then they add many dainties prapared according to Indian recipes." (McCrindle: Ancient India, Megasthenes, p. 72)

भोजन करनेसे उसके पशु और बान्धवका, क्षत्रियके-क्षत्रियके साथ एक पात्रमें भोजन करनेसे श्रीका नाश एवं ब्राह्मणके-ब्राह्मणके साथ एक पात्रमें भोजन करनेसे उनके तेजका नाश होता है। अतएव एक-दूसरेका जूठा खाना यानी कई लोगोंका एक पात्रमें भोजन करना अत्यन्त अवांछनीय है।' आजकल तो एक-दूसरेका जूठा खानेमें लोग गौरव समझते हैं!

९०० वर्षके बाद आनेवाले प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांगने लिखा है कि 'आहारके पूर्व सब लोग स्नान करते हैं। पूर्वके भोजनावशिष्ट जूठे पदार्थोंका कभी भी व्यवहार नहीं होता। एकके पात्र दूसरेको भोजनके समय नहीं दिये जाते।'

(२) *श्रमण*—('श्रमण' का अर्थ यहाँ बौद्ध भिक्षु नहीं, संन्यासी है) श्रमणोंमें हैलोबिये (Hylobioi) श्रेष्ठ हैं। वे वनमें निवास करते हैं, कन्द-मूल-फल खाते हैं। वल्कल पहनते और अंजलिसे जलपान करते हैं। वे ब्रह्मचारी हैं, मद्यपान नहीं करते। राजालोग दूतोंके द्वारा इनसे वार्तालाप एवं परामर्श करते हैं। वे इनकी सहायतासे भगवान्‌की आराधना करते और कृपाभिक्षा माँगते हैं।

सिकन्दरने पंजाबमें बहुत-से योगी पुरुषोंको देखा था। मन्दनीस (Mandanes) नामक एक योगी बड़े जितेन्द्रिय थे। एक बार सिकन्दरने उनको अपने पास बुलाया, पर उन्होंने उसके आवाहनको अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा कि जीवन, मृत्यु या दण्ड—किसीमें भी उनका अनुराग या विराग नहीं है और न उन्हें सिकन्दरसे कोई भय ही है। सिकन्दरने उनकी बड़ी प्रशंसा की। ओनसीक्रिटस्ने भी तक्षशिलाके निकट योगियोंके दर्शन किये थे।[१]

चिकित्सकोंका स्थान इनके बाद ही है। वे अति सरल रूपसे जीवन यापन करते हैं। उनका आहार चावल और जौ है। बिना माँगे वह अपरिचितरूपसे उनको मिल जाता है। वे ओषधिके प्रभावसे वन्ध्यत्व-निवारण और इच्छानुरूप पुत्र या कन्याका निर्माण गर्भमें करा सकते हैं; किंतु वे ओषधिकी अपेक्षा आहारके संयम और पथ्यसे ही अधिक रोगोंका मोचन करते हैं। मलहम और प्रलेपकी बहुत ही उत्कृष्ट ओषधियाँ उनके पास हैं।

भारतवासी सर्पदंशन आरोग्य कर सकते हैं। सिकन्दरके शिविरमें साँपके कई ओझोंको एकत्र किया गया था।

स्त्रियाँ भी शास्त्रचर्चा करती हैं और ब्रह्मचारिणी होकर तपोवनोंमें निवास करती हैं।

क्षत्रिय और राजागण

क्षत्रिय एवं राजाओंके विषयमें मेगास्थिनिस्ने लिखा है कि 'राजाके लिये दिवानिद्राका नियम[२] नहीं है।' (पृ० ७०)

राजा दिनभर न्यायसभामें रहते हैं। वहाँका कार्यक्रम कभी भी बंद नहीं रहता। यहाँतक कि जब काष्ठके दंड (सिलिन्डर)-से राजाका गात्र-मर्दन किया जाता है, उस समय भी राजकार्य बंद नहीं रहता। इधर चार सेवक मर्दनका कार्य करते रहते हैं और राजा अभियोग सुनते रहते हैं।

यज्ञ (इससे अनुमान होता है कि संभवतः चन्द्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय थे; कई ऐतिहासिकोंका यही मत है) अथवा पूजा करनेके लिये वे महलके बाहर जाया करते हैं और इसके अतिरिक्त केवल मृगयाके लिये ही बाहर जाते हैं।

इस विवरणके साथ १८०० वर्षोंके बाद विजयनगरके प्रसिद्ध सम्राट् कृष्णदेव रायकी दिनचर्या तुलनीय है।

मेगास्थिनिस्‌का कहना है कि 'भारतीयगण इसके अतिरिक्त और कई नियमोंका अनुसरण करते हैं। इसलिये वहाँ दुर्भिक्षका निवारण होता है। अन्य देशोंके लोग युद्धके समय साधारणतया भूमि और खेतोंको उजाड़ देते हैं, जमीनको खेतीके योग्य नहीं रहने देते। परंतु यहाँ किसान भूमिका कर्षण करता है। इस कारण यहाँके निवासी उनपर कोई उपद्रव करना अनुचित समझते हैं। पड़ोसमें युद्ध चलता रहता है, परंतु किसान बिना किसी बाधा-विपत्तिके अपना काम करते रहते हैं।

1- "Onesicritus found fifteen ascetics some ten miles from the city (Texila) sitting naked and motionless in the sun so burning that one could not walk over the stones with bare feet." (Cambridge History of India, p. 358)

२- दिवानिद्रा सभीके लिये मना थी।

दोनों पक्षोंके सैनिक परस्पर रक्तपात करते हुए भी खेतीमें लगे हुए लोगोंको किसी प्रकार भी सताना नहीं चाहते; इसके अतिरिक्त वे 'शत्रुओंके देशमें कभी आग नहीं लगाते और न वृक्षोंको ही काटते हैं।'

कृषकवर्ग

कृषक द्वितीय जाति है। समाजमें इन्हींकी जन-संख्या अधिक है। इनका स्वभाव अति शान्त और भद्र है। इनको युद्धवृत्तिसे छुटकारा दिया जाता है और ये निर्भय होकर अपनी जमीनमें खेती करते हैं। वे कभी नगरमें नहीं जाते। इस कारण कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही समय एक ही स्थानमें सेना तो युद्धसज्जासे सज्जित होकर प्राणपणसे युद्ध कर रही है और उसीके निकट अन्य लोग पूर्ण निर्भय होकर अपनी रक्षाका भार सेनाके ऊपर छोड़कर खेती, खुदाई आदि कार्य कर रहे हैं।' (पृ० ८३ से ८४)

उस समय खेतीका अधिकांश कार्य शूद्रोंके हाथमें ही था। यह लक्ष्यका विषय है कि उनको युद्ध नहीं करना पड़ता था। इधर तो यह हाल था और उधर ग्रीक जाति युद्धमें किसी देशपर विजय प्राप्त करनेपर उस देशकी कैसी दुर्दशा करती थी, इसका वर्णन प्रसिद्ध अमेरिकन अध्यापक विल डुरेन्टकी भाषामें पढ़िये—'(ग्रीस देशमें) विजय किये हुए नगरोंको लूटना, घायलोंकी हत्या करना, जो लोग शुल्क नहीं दे सकते, ऐसे बन्दियोंको (चाहे वे योद्धा हों या असामरिक हों) गुलामोंमें परिणत करना, सारे घरों, फलोंके वृक्षों और तमाम खेतीको जला डालना, समस्त पालतू पशुओंका वध और अगली खेतीके बीजतकका विध्वंस कर देना ग्रीस देशके अन्तर्वर्ती युद्धोंमें भी एक नियमित व्यापार था।'*

यह कहना युक्तियुक्त है कि कूटनीतिज्ञ और अधर्मयुद्धमें प्रवृत्त विदेशियोंके साथ धर्मयुद्ध करनेसे ही वैदिक जाति बार-बार पराजित हुई है। शत्रुओंकी घुड़सवार सेनाने पीछेसे या बगलसे पैदल सेनापर भीषण आक्रमण करके उसके व्यूहको तोड़ दिया; किंतु पिछले दिनों पहलेतक भी भारतीय हिंदुओंने सम्मुख युद्धका त्याग नहीं किया। आज भी कूटनीतिकी चालबाजीमें हमलोग भूल ही करते जा रहे हैं!

मेगास्थिनिस्के वर्णनसे ज्ञात होता है कि साढ़े बाईस सौ वर्ष पूर्व भारतमें वर्णाश्रम-व्यवस्था दृढ़रूपसे प्रतिष्ठित थी। वर्ण एवं जातिभेद जन्मगत था, कर्मगत नहीं; इतना ही नहीं, कोई भी मनुष्य अपने वर्णगत कर्मका त्याग नहीं कर सकता था। दूसरी जातिमें विवाह निषिद्ध था। परंतु अनुलोम-विवाहमें बाधा नहीं थी। ब्राह्मणगण ब्रह्मचर्य-समावर्तनके बाद गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास-आश्रमका पालन करते थे। तपोवन और गुरुगृह कविके द्वारा अंकित काल्पनिक चित्र नहीं हैं। सत्य ही तपोवन और गुरुगृह भारतमें उस समय थे। वर्णसंकरता एवं कर्मसंकरताने उस समय प्रबल रूप धारण नहीं किया था। सप्तम शताब्दीमें चीनी परिव्राजक ह्वेनसांगने भारतके विषयमें जो कुछ लिखा है, उसमें भी यह बात मिलती है। स्मरण रखना चाहिये कि मेगास्थिनिस् विदेशी था और संभवत: भारतकी भाषासे अनभिज्ञ था। यहाँ एक आगन्तुकके नातेसे उसने कुछ दिनोंतक निवास किया था। और उसके लेख भी पूर्ण रूपमें नहीं मिलते। परंतु ह्वेनसांगने तो कई वर्षोंतक भारतमें निवास किया था और उसने यहाँकी भाषा एवं शास्त्रोंका भी अध्ययन किया था। उसने भारतके बहुत-से स्थानोंमें भ्रमण भी किया था। इस कारण उसके लेखोंका मूल्य सामान्य नहीं है। वह बौद्ध था। इसलिये यह भी निश्चित है कि उसने वर्णाश्रम-व्यवस्थाको पक्षपातकी दृष्टिसे नहीं देखा होगा।

ह्वेनसांगका कहना है कि 'विभिन्न जातियोंमें विवाह नहीं होता। प्रथम जाति ब्राह्मण धार्मिक पुरुष हैं; वे धर्मरक्षा करते हैं। पवित्र जीवन यापन करते हैं एवं अत्यन्त कठोर नियमोंका पालन करते हैं। द्वितीय क्षत्रिय राजाओंकी जाति है। वे युग-युगसे शासन करते आ रहे हैं। कर्तव्यपरायण एवं दानशील हैं। तृतीय वैश्य वणिक् जाति है। वे वाणिज्यमें क्रय-विक्रय करते हैं एवं देश-विदेशोंमें लाभजनक व्यवसाय करते हैं। चतुर्थ शूद्र कृषिजीवी हैं। वे खेती और खेतके कामोंमें परिश्रम करते हैं। इन चारों वर्णोंमें जातिकी शुद्धता अथवा अशुद्धतासे अपना-अपना स्थान निश्चित होता है। निकट

---

* 'It is a regular matter, even in civil wars, to sack the conquered city, to finish off the wounded, to slaughter or enslave all unransomed persons and all captured non-combatants, to burn down the houses, the fruit trees, and the crops, to exterminate the live stock, and to destroy the seed for future sowings.' (Will Durant, Life of Greece, p. 226)

आत्मीयोंमें विवाह निषिद्ध है। कोई स्त्री एक विवाहके बाद पुनः दूसरा स्वामी ग्रहण नहीं कर सकती।[१]'

'ब्राह्मणगण चारों वेद पढ़ते हैं। आचार्योंको निपुण रूपसे वेदोंके गम्भीर और गोपन तत्त्वोंको सीखना पड़ता है और उसके सूक्ष्मतम अर्थकी उपलब्धि करनी पड़ती है।'

'जब शिक्षा शेष हो जाती है और तीस वर्षकी अवस्था हो जाती है, उस समय उनके चरित्रका गठन हो जाता है एवं वे ज्ञानपक्व हो जाते हैं। किसी वृत्तिके प्राप्त करनेपर पहले वे अपने गुरुको उनके परिश्रमके लिये धन्यवाद देते हैं। कोई-कोई प्राचीन शास्त्रोंमें गम्भीर ज्ञान लाभकर उच्चस्तरकी शास्त्रालोचनाके द्वारा संसारसे पृथक् होकर जीवन व्यतीत करते हैं और चरित्रके सरल भावको अक्षुण्ण रखते हैं। वे पार्थिव व्यापारसे ऊँचे स्तरपर उठ जाते हैं और जगत्‌की प्रशंसा अथवा निन्दासे परे पहुँच जाते हैं। उनके नाम विख्यात होते हैं। राजालोग उनका समादर करते हैं, परंतु वे उन्हें राजसभामें ले जानेमें असमर्थ होते हैं। इस देशके सम्राट् उनकी प्रतिभाके लिये उनका सम्मान किया करते हैं। जनसाधारण भी उनके यशका प्रचार करते हैं। सभी लोग उनकी भक्ति करते हैं। इसलिये वे उत्साह और निष्ठाके सहित किसी भी श्रमकी परवा न करके ज्ञानालोचनामें अभिनिवेश कर सकते हैं।'[२]

ह्वेनसांगने इस देशके कई प्रान्तोंमें भ्रमण किया था; परंतु उन्होंने घुणाक्षर-न्यायसे भी कहीं यह संकेत नहीं किया कि भारतमें वर्णभेद पूर्वकालमें कभी भी जन्मगत नहीं था, परंतु कर्मगत था।

वेद एवं आर्ष शास्त्रोंमें जन्मगत जाति-भेदके ही उल्लेख मिलते हैं। वर्णाश्रम भी भारतीय वैदिक (आर्य) सभ्यता और संस्कृतिकी विशेषता है। जो लोग जाति-भेदको एक निरर्थक व्यापार एवं समाजके लिये अहितकर समझते हैं, जिनके मतमें इसका कभी भी रहना उचित नहीं था और आज भी नहीं है, उनकी बात अलग है।

किंतु ऐसे भी कई लोग हैं, जो अपनेको शास्त्र माननेवाले बताते हैं, परंतु कहते हैं कि 'आहार-विहार इच्छानुरूप चलना चाहिये, उसमें किसी भेदकी आवश्यकता नहीं; जातिभेद रह सकता है, पर वह जन्मगत न होकर कर्मगत होना चाहिये।'

आज भारतमें जातिभेद है, यह प्रत्यक्ष सत्य है और यह जन्मगत है, इसमें भी कोई संदेह नहीं। प्राचीनतम ऐतिहासिक (विदेशियोंद्वारा सन्-तारीखसहित) साक्ष्यसे यह निःसंदिग्ध और सुस्पष्ट प्रमाणित है कि तेईस शताब्दी पूर्व भी जाति और वर्ण-भेद भारतमें था और यह जन्मगत था। ऐसा कोई सामान्य प्रमाण भी नहीं मिलता, जिसके आधारपर यह कहा जाय कि किसी भी कालमें भारतमें जन्मगत जाति और वर्णभेद नहीं था। ऐतिहासिक कालके पहले अर्थात् प्रागैतिहासिक कालमें भी जातिभेद था ही।

वैदिक कालमें वर्णभेद था

जन्मगत वर्णभेद वैदिक युगमें भी था। वेद अनादि हैं। वेद-मन्त्र इतिहास नहीं हैं। पाश्चात्य

1. " The first is called the Brahmans, men of pure conduct. They guard themselves in religion, live purely and observe the most correct principles. The second is called the Kshatrias, the royal caste. For ages, they have been the governing class. They apply themselves to virtue (humanity) and kindness. The third is called Vaishyas, the merchant class: they engage in commercial exchange, and they follow profit at home and abroad. The fourth is called Shudras, the agricultural class: The labour in ploughing and tillage. In the four classes, purity or impurity of caste assigns every one to his place.xxx They do not allow promiscuous marriages between relatives. A woman once married can never take another husband." (Beal: Hiuentsang, pp. 79-80)

2. " The Brahmans study the four Vedashastras. The teachers must themselves have closely studied the deep and secret principles they contain, and penetrated to their remotest meaning."

" When they have finished their education, and have attained to 30 years of age, then their character is formed, and their knowledge ripe. When they have secured an occupation, they first of all thank their master for his attention. There are some, deeply versed in antiquity, who devote themselves to elegant studies, and live apart from the world, and retain the simplicity of their character. These rise above mundane pursuits, and are as insensible to renown as to the contempt of the world. Their name having spread afar, the Rulers appreciate them highly, but are unable to draw them to court. The Chief of the country honours them on account of their (mental) gifts, and the people exalt their fame and render them universal homage. This is the reason of their devoting themselves to the studies with ardour and resolution, whithout any sense of fatigue." (Ibid, p. 83)

रामपञ्चायत (हाथीदाँतकी मूर्ति, त्रिवेन्द्रम्)

शत्रुघ्न भरत लक्ष्मण राम सीता हनुमान्

गजासुर-संहार (प्रस्तरमूर्ति-अमृतपूर, मैसूर)

प्रसन्न गणपति (हाथीदाँतकी मूर्ति, त्रिवेन्द्रम्)

[त्रिवांकुर-कोचीन सरकारके सौजन्यसे]

अर्द्धनारीश्वर (प्रस्तरमूर्ति, मदुरा)

उमा-महेश्वर (हाथीदाँतकी मूर्ति, त्रिवेन्द्रम्, कलाविद्यालय)

अन्नपूर्णा देवी (हाथीदाँतकी मूर्ति, त्रिवेन्द्रम्)
[त्रिवांकुर-कोचीन सरकारके सौजन्यसे]

विद्वद्वर्गने अपौरुषेय वेदोंसे गवेषणाके द्वारा इतिहासके प्रमाण निकालनेका प्रयास किया है। उन्होंने वेदोपलब्धिके कालको 'वैदिक युग' की आख्या दी है और ऋग्वेदको भारत तथा जगत्‌की प्राचीनतम ज्ञानसमष्टिके रूपमें स्वीकार किया है। ऋग्वेदको हम प्रागैतिहासिक समझते हैं।

वैदिक युगमें वर्णभेदके विषयपर प्रसिद्ध धुरन्धर वेदालोचक डॉक्टर कीथ (Dr. Keith)-ने भारतके केम्ब्रिज-इतिहासमें जो कुछ लिखा है, उसका उद्धरण नीचे दिया जाता है—

"विज्ञजनों (म्यूर, जिम्नर और वेबर आदि)-के मतानुसार ऋग्वेदीय युगमें किसी प्रकारका भी जाति-भेद नहीं था; किंतु आधुनिक कालमें क्रमशः बड़े जोरोंसे (जेल्मर, न्यूबर्गके मतानुसार) यह कहा जा रहा है कि वह (जाति-भेद) था। एक दृष्टिसे देखनेपर सत्य ही ऋग्वेदमें जाति-भेदका अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।[१]"

"इस मतमें (वेदोंमें जाति-भेद नहीं है) कुछ सत्यता रहनेपर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि 'ऋग्वेद जातिसे मुक्त है' यह तत्त्व इसमें बहुत कुछ बढ़ाकर कहा गया है। प्रत्युत ऋग्वेदमें कोई भी वास्तविक प्रमाण नहीं है कि उस कालमें पुरोहित (ब्राह्मण) एक निरुद्ध और निषिद्ध-प्रवेश वंशगत जाति नहीं था। ब्राह्मण (ब्रह्मके पुत्र) शब्दसे ही वरं दिखता है कि पौरोहित्य साधारणतः पुरुषानुक्रमिक था। ब्राह्मणके अतिरिक्त और किसीने पुरोहितका काम किया हो, इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता।'[२]

'ऋग्वेदमें एक शासक क्षत्रियजातिकी कथा है, यह निःसंदेह है। एवं वैदिककालमें राजपद वंशगत था। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं विश्—इन तीन श्रेणियोंमें समाज विभक्त था, इसका उल्लेख मिलता है।'[३]

'इसपर विश्वास करनेके यथेष्ट कारण हैं कि ऋग्वेदीय युगमें पौरोहित्य (ब्राह्मण) एवं आभिजात्य (क्षत्रिय) वंशानुक्रमिक था··· सगोत्र और निकट-सम्बन्धी (पितृ-मातृवंशके) लोगोंमें विवाह नहीं होता था। प्रथानुसार पुरुषको निज जातिमें ही विवाह करना पड़ता था। और जातिके बाहर विवाह तो निम्नतर जातिमें ही हो सकता था।'[४]

'जातिका परिवर्तन करना सम्भव था कि नहीं, यह कठिन प्रश्न है। परिवर्तनके बहुत ही कम प्रमाण मिलते हैं। वैदिक शास्त्रमें ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि किसी वैश्यने उन्नति करके ब्राह्मणत्व अथवा क्षत्रियत्व प्राप्त किया हो।'[५]

'यजुर्वेदके कालमें जाति-भेद दृढ़रूपसे ही वर्तमान था।'[६]

'सम्भवतः शूद्रोंमें भी अपनी जातिमें ही विवाह-

1- "The existence of the Caste system in any form in the age of the Rigveda has been denied by high authority (Muir, Zimner, Weber), though it has been asserted of late with increasing insistence (Gelmer, Niubarg). In one sense, indeed, its presence in the Rigveda cannot be disputed." (Keith: Cambridge History, p. 92)

2- "While there is much truth in the view, it must be admitted that it exaggerates the freedom of the Rigveda from castexxxx Moreover, there is no actual proof in the Rigveda that the Priesthood was not then a closed hereditary class. The term 'Brahmana' (son of a Brahma) seems, on the contrary, to show that the priesthood was normally hereditary, and there is no instance which can be quoted of any person who is said to be other than a priest appearing to cxercise priestly practices" (Ibid., p. 98)

3- "xx The Rigveda certainly knows of a ruling class, the Kshatriya, and the Vedic kingship was normally hereditary. xx There are traces, moreover of the division of the tribe into the holy poor (Brahman), the kingly poor (Kshatriya) and the commonalty. (Viś)." (Ibid., pp. 93-94)

4- There is good reason to believe that in the period of the Rigveda the Priesthood and the Nobility were hereditary.' xx 'There shall be no marriage with agnates or cognates and they require that a man must either marry in his own caste, or if he marries out of the caste, it must be into a lower caste.' (Keith, in Cambridge History, p. 126)

5- " The question of how far change of caste was possible raises difficult problems. The evidence of any change is scanty in the extreme. xx There is no instance recorded in the Vedic texts of a Vaishya rising to the rank of a priest or prince.' (Ibid., p. 127)

6- "Caste system existed substantially in the time of Yajurveda." (Cambridge History, p. 55)

प्रथा प्रचलित थी।'

'वैदिक आर्य एवं अनार्य दोनों ही अपनी-अपनी जातियोंमें विवाह करते थे।'[१]

वेदोंमें मूर्ति-पूजा

वैदिक कालमें मूर्ति-पूजा नहीं थी, यह आधुनिक मत है; परंतु यह मत भी भ्रान्त है। वैदिक कालमें भी भगवान्‌की विभिन्न मूर्तियोंकी पूजा प्रचलित थी—यह एक स्थानमें इन्द्रकी मूर्तिकी उपासनाके उल्लेखसे प्रमाणित होता है।[२]

आधुनिक पाश्चात्त्य लेखकोंने पुरीधामस्थ श्रीजगन्नाथदेवकी काष्ठ-मूर्तिको बौद्ध-मूर्ति प्रमाणित करनेका प्रयास किया है। यह भी युक्ति बतायी जाती है कि जगन्नाथदेवकी रथयात्रा (विजय) बौद्ध-मूर्तिके रथपर परिभ्रमणसे ली गयी है। परंतु ये सब मत भ्रान्त हैं। ऋग्वेदमें दारुब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम-मूर्तिका स्पष्ट उल्लेख है—

अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्॥

(ऋग्वेद १०।१५५।३)

अदः (दूरमें), यत् (जो), अपूरुषम् (जो पुरुषद्वारा निर्मित नहीं है), दारु (काष्ठमय पुरुषोत्तमाख्य देव-शरीर), सिन्धोः (समुद्रके), पारे (तटपर), प्लवते (जलके ऊपर है), हे दुर्हण (स्तोता), तत् (वह), आरभस्व (अवलम्बन करो), तेन (उसके द्वारा), गच्छ परस्तरम् (उत्कृष्ट स्थान वैकुण्ठ) को प्राप्त हो।

'हे उपासक! दूर देशमें समुद्रके तटपर जलके ऊपर जो दारुब्रह्मकी मूर्ति है, जो किसी मनुष्यसे निर्मित नहीं है, उसकी आराधना करके उनकी कृपासे वैकुण्ठको प्राप्त हो।'

उड़ीसाप्रान्तमें भुवनेश्वरके निकट उदयगिरिकी हाथीगुफामें कलिंगराज खरवेलकी जो लिपि है, उसमें भी नीमके काष्ठसे निर्मित मूर्तिका उल्लेख मिलता है। खरवेल चन्द्रगुप्तके १५० वर्ष बाद हुए हैं।

सनातनधर्मके समग्र शास्त्र वेदमूलक हैं। वेद, स्मृति, पुराण प्रभृतिमें कहीं भी पार्थक्यका अवकाश इस कारण नहीं रह सकता। वर्णाश्रम, जातिभेद (जन्मगत) प्रभृति भी वैदिक धर्ममें और वैदिक जातिमें प्रथमसे ही है—इस विषयमें जरा भी सन्देह नहीं है।

गीतामें वर्णाश्रमके प्रमाण

आजकल कई सुविधावादी लोग शास्त्र-पुराणोंसे—कहींसे एक-आध श्लोक उद्धृत कर उसकी मनमानी व्याख्या करके अथवा अर्थका अनर्थ करके अपने आधुनिक मत अथवा युक्तिकी स्थापना करनेका प्रयत्न करते हैं।

पढ़े-लिखे लोग गीताको किसी रूपमें मानते हैं। गीताके—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।'

—इस आधे श्लोकको उद्‌धृत करके यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा की जाती है कि पूर्वकालमें गुण और कर्मभेदसे ही वर्णभेद था, जन्मगत भेद नहीं था। यहाँतक कि गीताके कुछ आधुनिक टीकाकारोंने भी इस प्रकारका अर्थ करके अंग्रेजी शिक्षाके प्रभावसे मोहग्रस्त हुए हमलोगोंके चित्तमें और भी अधिक सन्देहके बीज बो दिये हैं।

गीता महाभारतका एक अंश है। गीताके साथ महाभारतके सम्बन्धकी सम्पूर्ण अवहेलना नहीं की जा सकती। क्या महाभारतमें कहीं भी यह है कि उस समय वर्णभेद जन्मगत नहीं था, गुण और कर्मानुसार वर्ण स्थिर होता था? क्या भगवान् श्रीकृष्णने किसी भी धार्मिक शूद्रको (धर्मके अवतार विदुर) अथवा क्षत्रिय (युधिष्ठिर एवं भीष्म)-को ब्राह्मणवर्णमें अथवा किसी युद्धकुशल ब्राह्मण (द्रोण, कृप अथवा अश्वत्थामा)-को क्षत्रिय वर्णमें परिणत किया था?

भारतके समग्र शास्त्र एवं इतिहास आदिका अवलोकन करनेपर ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा, जहाँ किसी एक ही व्यक्तिका पुत्र अथवा कन्या इसी जन्मके देहके गुण-कर्मानुसार ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य अथवा क्षत्रिय हुआ हो। गुण और कर्मकी परीक्षाके ऊपर जाति स्थिर करेंगे कौन? सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हुए बिना ऐसा करना असम्भव है। शिशु

1- " It is probable enough that among the Shudras themselves there were rules of endogamy.xx The Vedic Aryans and the aborigines alike married within the tribe." (P. 129)

2- ' On the other hand, fetishism is seen in the allusion already quoted to the use of an image of Indra against one's enemies." (Cambridge History, p. 106)

"The Rigveda records that in the opinion of the poet not ten coins was adequate price for an image of Indra to be used doubtless as a fetish." (Ibid., p. 97)

जब भूमिष्ठ होता है, उस समयकी तो बात ही क्या, उसके अनन्तर कम-से-कम बीस वर्षतक उसके गुण और कर्मका साधारण विकास भी नहीं होता। स्त्रियोंके लिये गृहकर्म-सन्तानपालन आदि सभी जातियोंमें साधारण कर्म हैं। उनका जाति-विभाग कैसे किया जायगा? किस उम्रमें जातिनिर्णय होगा और उसे कौन निर्धारित करेगा? फलतः जाति-वर्णभेद जन्मसे ही हो सकता है। गुण-कर्मानुसार करना असम्भव है।

गीतामें भी जाति और वर्णके जो उल्लेख हैं, उनमें जन्मानुसार एवं वंशानुक्रमिक वर्णभेद एवं जातिभेद ही देखा जाता है। गुण एवं कर्मानुसार जाति-वर्णभेदका और कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। संकर एवं अस्पृश्य जातिका भी उल्लेख है ही।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५।१८)

इस श्लोकमें समाजके उच्च स्तरमें स्थित ब्राह्मण एवं निम्नस्तरके चाण्डाल और विभिन्न जातिके पशु—सबके प्रति ही ब्रह्मविद् समदृष्टि होते हैं, यह कहा गया है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा॥

(९।३२-३३)

यहाँपर श्रीभगवान्ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पापयोनि (अन्त्यज)—सभीका उल्लेख किया है। पापयोनि-शब्दसे जन्मगत अस्पृश्यता ज्ञात होती है, इसपर लक्ष्य करना चाहिये।

'चातुर्वर्ण्यम्' के अर्थ चार वर्ण नहीं, चार वर्णोंसे विशिष्ट वर्णाश्रमी समाज है। इस श्लोकके बाद ही—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

(१८।४१)

एवं उसके बादके सात श्लोकोंको पढ़ जानेपर तो इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं रहना चाहिये। चारों वर्णोंमें प्रत्येक वर्णके (लक्ष्य करना चाहिये कि किसी एक व्यक्ति-विशेषकी बात नहीं हो रही है) स्वभाव (पूर्वजन्म-संस्कार)—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
* * *
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः॥

(६।४३-४४)

—जाति गुणके अनुसार एक-एक कर्म निर्दिष्ट है।

श्रीभगवान्के गीताप्रवचनका उद्देश्य ही था—उनके प्रतिरूप (नर-अवतार) नरोत्तम अर्जुनको ब्राह्मणके कर्म भैक्ष्य (**श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके**) ग्रहण करनेकी इच्छासे निवृत्तकर क्षत्रियके कर्म धर्मयुद्धमें प्रवृत्त कराना एवं इस उपदेशच्छलसे जगत्को निष्काम कर्मयोगकी महान् शिक्षा देना।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

(१८।४७-४८)

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३।३५)

क्षत्रिय-कुलतिलक अर्जुनका स्वधर्म क्या था? युद्ध। **'न योत्स्य इति मन्यसे', 'स्वभावजेन (स्वभावः क्षत्रियत्वे हेतुः पूर्वकर्मसंस्कारस्तस्मात् जातेन) निबद्धः स्वेन कर्मणा।'**

मोह नष्ट होनेपर अर्जुन बोले—

'स्थितः अस्मि (युद्धाय उत्थितः अस्मि)। करिष्ये वचनं तव।'

'सहज' (सह-जन्+ड) शब्दको भी लक्ष्य करना चाहिये।

भगवान्ने गीतामें सांकर्यकी निन्दा की है—

संकरस्य (वर्ण एवं कर्मसंकरका) च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।

(३।२४)

अर्जुनने पूर्वमें कहा था—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥*

(१।४२-४३)

यदि वर्ण और जातिभेद जन्मगत एवं वंशानुक्रमिक नहीं था तो कुलके धर्म अथवा जातिधर्मकी बात कहाँसे

* लक्ष्य करना चाहिये, यहाँ 'शाश्वत' (चिरकालीन) शब्द जाति एवं कुलधर्मके लिये कहा गया है।

आती है? एक ही पिताके विभिन्न वर्णके पुत्र-कन्या होनेपर कौन उसे पिण्ड आदि देगा? फिर तो समाज, जाति, वंश, संस्कार, विवाह, अशौच, श्राद्ध आदि सभी असम्भव हो जायँगे।

उपसंहार

संक्षिप्त आलोचनासे यह निःसंदेह प्रमाणित किया गया कि भारतमें सदासे ही वर्ण और जाति जन्मगत थी, कभी भी कर्मगत नहीं थी। असवर्ण विवाह (विशेषतः प्रतिलोम) निन्दित था—इसका ऐतिहासिक प्रमाण है। प्रागैतिहासिक एवं प्राचीनतम कालसे ही जन्मगत वर्णभेदप्रथा चली आ रही है। वेदोंमें भी जातिभेदके बहुत प्रमाण मिलते हैं। गुण-कर्म-भेदसे जाति एवं इच्छानुसार वर्ण-परिवर्तनके उदाहरण नहीं हैं, ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा।

इतनेपर जो लोग यह कहना चाहते हैं कि वेद-रचनाके पहले अतिप्राचीन समयमें वर्ण-व्यवस्था नहीं थी एवं दूसरे देशोंके अनुसार स्वच्छन्द कर्म अथवा विवाह आदि भारतमें भी होते थे, वे अपने विचारानुसार सब कुछ कह सकते हैं; परंतु यह निश्चित है कि वैदिक समयके पूर्व वर्णाश्रमी वैदिक जाति अथवा सनातन धर्मका अस्तित्व भी नहीं रहा होगा—फिर तर्कका अवसर कहाँ है?

जन्मना जाति

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, एम० ए०)

कुछ आधुनिक हिंदुओंका यह कहना है कि "वर्णव्यवस्था तो हम मानते हैं; क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने भी कहा है कि चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि मैंने की है। पर चातुर्वर्ण्यसे भगवान्का अभिप्राय 'जन्मना जाति' माननेवाली वर्तमान व्यवस्था नहीं, किंतु वह व्यवस्था है जिसमें मनुष्यके गुण-कर्मानुसार उसका वर्ण निश्चित होता है। भगवान्ने स्पष्ट ही '**गुणकर्मविभागशः**' कहा है।" अतः इन लोगोंका यह मत है कि "जन्मना जाति माननेवाली वर्तमान पद्धतिको उठा देना चाहिये और कोई नयी व्यवस्था तो क्या, वही प्राचीन व्यवस्था जिसका निर्देश भगवान्ने किया है अर्थात् मनुष्यके गुण और कर्म देखकर तदनुसार उसका वर्ण निश्चित करनेवाली व्यवस्था फिरसे स्थापित की जानी चाहिये। तभी हमारे समाजके अंदर सच्चे और अच्छे लोग ब्राह्मण कहलायेंगे और ऐसी वर्णव्यवस्थासे समाजका कल्याण होगा। वर्तमान व्यवस्थामें केवल ब्राह्मणकुलमें जन्म हो जानेसे ही ऐसे-ऐसे लोग ब्राह्मण कहलाते हैं, जिनमें जरा भी कोई योग्यता नहीं है। इससे बहुत बड़ी हानि हुई है। हमलोगोंका राजनीतिक दासत्व इसीका परिणाम है और इसीसे वे सब बुराइयाँ उत्पन्न हुई हैं, जिनसे आज हिंदू-समाज त्रस्त है।" किंचित् विचार करनेसे यह समझमें आ जायगा कि भगवान् श्रीकृष्ण या श्रीमद्भगवद्गीताका यह अभिप्राय नहीं है कि किसी मनुष्यके गुण और कर्म देखकर उसका वर्ण निश्चित किया जाय; बल्कि उन्हें यही बतलाना है कि किसीकी भी जाति उसके जन्मसे ही जाननी चाहिये। हम आगे यह भी दिखायेंगे कि जन्मना जातिकी व्यवस्थापर जो अन्य आक्षेप किये जाते हैं, वे भी किस प्रकार निराधार हैं।

यदि किसी मनुष्यकी जाति उसकी वृत्ति या कर्मपर निर्भर होती तो द्रोणाचार्य क्षत्रिय कहलाते, क्योंकि उनका व्यवसाय युद्ध करना था। पर जन्मके कारण ही वे ब्राह्मण थे। इसी प्रकार उनके श्यालक कृपाचार्य योद्धा होनेपर भी ब्राह्मण थे, क्योंकि ब्राह्मणकुलमें उनका जन्म हुआ था। अश्वत्थामामें ब्राह्मणके न कोई गुण थे न कर्म ही। कर्म करते थे वे एक क्षत्रियका। गुणमें तो वे इतने क्रूर थे कि रातको पाण्डवोंके शिविरमें घुसकर सोये हुए द्रौपदीके बच्चोंको उन्होंने कत्ल कर डाला। उत्तराके गर्भस्थ अर्भकपर भी उन्होंने अति भयंकर बाण चलाया। फिर भी जब वे पकड़े गये, तब यही निश्चय किया गया कि अश्वत्थामाका वध नहीं किया जा सकता; क्योंकि अश्वत्थामा ब्राह्मण हैं। उनका सिर मूँड़ा गया और वे निष्कासित किये गये।

जित्वा मुक्तो द्रोणपुत्रो ब्राह्मण्याद् गौरवेन च।

(महाभारत, सौप्तिकपर्व १६।३२)

युधिष्ठिरका स्वभाव ऐसा था कि चाहे कोई कितना ही अपराध करे, युधिष्ठिर उसे क्षमा करनेको तैयार; और भीमको देखिये तो जरा-सी बातपर लड़नेको तैयार! यदि गुणोंको जातिका निर्णायक माना

जाता तो दोनोंकी जाति अलग-अलग हो जाती। पर दोनों ही थे क्षत्रिय, क्योंकि जन्मसे ही क्षत्रिय थे।

गुण-कर्मके अनुसार किसी मनुष्यका वर्ण निश्चित करनेमें और एक बहुत बड़ी बाधा है। प्रायः ऐसा देखनेमें आता है कि किसी मनुष्यके गुण तो उसे एक वर्णका बतलाते हैं, पर उसका कर्म किसी दूसरे ही वर्णका होता है। ऐसी अवस्थामें उसका वर्ण कैसे निश्चित किया जायगा? फिर किसी मनुष्यके असली गुणोंकी पहचान करनेका काम भी तो बहुत कठिन है। बाह्यरूपसे ठीक पता नहीं चलता—प्रायः धोखा हो जाता है। हो सकता है बाहरसे देखनेमें कोई मनुष्य बहुत उग्र या रूखा हो, पर हृदय उसका अत्यन्त कोमल हो। यह भी असम्भव नहीं है कि किसीकी वाणी बहुत मधुर हो, पर हृदय उतना ही कठोर। किस मनुष्यमें कौन-से गुण हैं, इस विषयमें लोगोंमें मतभेद भी हो सकता है। मित्रलोग कहेंगे, अमुक मनुष्य सज्जन है; शत्रु कहेंगे, महादुर्जन है। यह मान भी लिया जाय कि हर किसीके गुणोंका पता लगानेसे लग सकता है; पर इस बातका क्या भरोसा जो उसके गुण वैसे ही बने रहेंगे और बदलेंगे नहीं? वाल्मीकि अपने प्रारम्भिक जीवनमें दस्यु थे, पर पीछे महर्षि हो गये। असाधु पुरुष साधु हो सकते हैं, वैसे ही साधु भी असाधु हो सकते हैं। इन सब बातोंसे यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि गुण-कर्मानुसार जाति निश्चित करनेकी व्यवस्था अव्यवहार्य है।

कुरुक्षेत्रका महायुद्ध आरम्भ होनेसे पहले अर्जुनने कहा था 'मैं युद्ध नहीं करूँगा, भिक्षा माँगकर जीऊँगा।' गुण और कर्मसे ही जाति निश्चित करनी होती तो उसकी इस बातका खण्डन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। अर्जुनमें ब्राह्मणोचित वे सब गुण थे, जिनका गीतामें उल्लेख हुआ है—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

(गीता १८।४२)

'शम, दम, तप, शुचिता, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता—ये सब ब्राह्मणोंके स्वभावज गुण हैं।'

भिक्षावृत्ति ब्राह्मणकी है; यदि अर्जुन उसे ग्रहण करता है तो गुण-कर्मके अनुसार ही जब वर्ण निश्चित करना है, तब उसे अबसे ब्राह्मण कहना चाहिये। क्षात्रधर्म छोड़कर यदि इस तरह वह ब्राह्मणधर्म ग्रहण करता है तो इससे उसे कोई पाप न लगना चाहिये। पर श्रीकृष्ण तो उसे उलटा यह समझा रहे हैं कि 'यदि तुम युद्ध न करोगे तो तुम्हें पाप लगेगा।'

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २।३३)

'यदि तुम यह धर्मयुक्त संग्राम न करोगे तो स्वधर्म और कीर्तिसे हाथ धोकर पापके भागी बनोगे।'

यह कहना तो तभी युक्तियुक्त हो सकता है, जब जन्मना जाति माननेकी ही व्यवस्था हो। अर्जुन जन्मसे क्षत्रिय है। क्षत्रियका स्वधर्म है युद्ध करना। यदि अर्जुन युद्ध नहीं करता है तो वह अपने धर्मकी अवहेलना करता है और पापका भागी होता है। यदि जन्मजात वर्णसे धर्म निश्चित होता है तो कोई मनुष्य चाहे जो कर्म नहीं कर सकता। पर यदि कर्मसे वर्ण निश्चित हो तो वह अपना कर्म अपनी इच्छासे चाहे जो निश्चित कर सकता है।

गीताके १८वें अध्यायमें भगवान्‌ने चारों वर्णोंके कर्म बतलाये हैं और फिर कहा है कि यदि कोई मनुष्य अपने वर्णका धर्म पालन करता है तो उसीसे वह परम उत्कर्षको प्राप्त होता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(१८।४५)

'अपने-अपने कर्ममें अभिरत होनेसे मनुष्य संसिद्धि लाभ करता है।'

यह वचन जन्मना जातिकी ही व्यवस्था देता है। यदि किसीका कर्म देखकर उसकी जाति निश्चित करनी हो तो कर्मके पीछे-पीछे जाति चलेगी और सबके कर्म स्वजातिके ही कर्म होनेसे सभी, गीताके उक्त वचनके अनुसार, मोक्षके अधिकारी होंगे। परंतु यह तो एक ऐसी बात है, जिसका कुछ अर्थ नहीं।

गीतामें श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि कर्तव्याकर्तव्यके विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

(गीता १६।२४)

शास्त्रोंमें सबसे पहले हैं वेद। ये ही सब शास्त्रोंके आधार हैं। ऋग्वेद-संहिताके १०।९० (पुरुषसूक्त)-में तथा तैत्तिरीय-संहिताके ७।१।१ में बतलाया है कि चार वर्ण प्रजापति ब्रह्माके चार अंगोंसे उत्पन्न हुए। छान्दोग्योपनिषद्के ५।१०।७ में यह वर्णन है कि जो

लोग पुण्य-कर्म करते हैं, वे दूसरे जन्ममें ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय अथवा वैश्यके कुलमें जन्म लेते हैं और जो पापकर्म करते हैं, वे चाण्डालादि योनियोंको प्राप्त होते हैं—

रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।

उपनिषद् वेदोंके ही भाग हैं। अतः वेदोंके समान ही उनका प्रामाण्य है। मनुस्मृति सुविख्यात धर्मशास्त्र है। महाभारतकालसे बहुत पहले इसकी रचना हुई थी। अतः गीतामें जहाँ शास्त्रकी बात आयी है (१६।२४), वहाँ वेदोपनिषदोंके साथ मनुस्मृति भी अभिप्रेत होगी। मनु कहते हैं, एक ही जातिके माता-पितासे उत्पन्न सन्तान भी उसी जातिकी होगी—

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव हि॥

(मनु० १०।५)

'सब वर्णोंकी अक्षत-योनि तुल्य पत्नियोंमें गर्भाधान करनेसे जो सन्तान हों, उन्हें अनुलोमक्रमसे उन्हीं वर्णोंकी जानना चाहिये। अर्थात् ब्राह्मण पति-पत्नीसे उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण, क्षत्रिय पति-पत्नीसे उत्पन्न सन्तान क्षत्रिय, वैश्य पति-पत्नीसे उत्पन्न सन्तान वैश्य—इस प्रकार जानना चाहिये।'

हारीतसंहितामें है—

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैवमुत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः।

(१।१५)

'ब्राह्मणीमें ब्राह्मणसे उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण ही कहा गया है।'

अत्रिसंहितामें कहा है—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते।

(१।४०)

'जन्मसे ब्राह्मण जाना जाता है, संस्कार होनेपर उसकी द्विज-संज्ञा होती है।'

श्रीकृष्ण ही जब अध्याय १६ श्लोक २४ में शास्त्रको ही प्रमाण माननेको कहते हैं, तब यह हो नहीं सकता कि अध्याय ४ श्लोक १३ में वे जाति-निर्णयकी कोई ऐसी व्यवस्था देते हों जो वेद, उपनिषद्, मनुस्मृति, अत्रिसंहिता, हारीतसंहिता आदि शास्त्रग्रन्थोंके वचनोंके विरुद्ध हो।

अब यह प्रश्न होता है कि यदि श्रीकृष्णका अभिप्राय यही है कि जन्मसे ही वर्ण निश्चित है तो उन्होंने अध्याय ४ श्लोक १३ में '**गुणकर्मविभागशः**' क्यों कहा है। यहाँ कर्मका अभिप्राय वृत्तिसे नहीं है। कर्मका यहाँ अर्थ है कर्तव्य। कर्म-विभागका अर्थ विभिन्न वर्णोंके वे कर्तव्य हैं, जिनका उल्लेख गीता अध्याय १८ श्लोक ४२—४४में हुआ है। गुणका अभिप्राय है त्रिगुण अर्थात् सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंसे। गुण-विभागका अर्थ है, जन्मके साथ ही लगे हुए इन गुणोंके अनुसार मनुष्योंका वर्गीकरण। गीता अध्याय १८ श्लोक ४१ में भगवान् स्वयं यह गुण-कर्म-विभाग क्या है, स्पष्ट करके बतलाते हैं—

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।

'स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके अनुसार कर्मोंका विभाग हुआ है।'

'स्वभाव-प्रभव' शब्दोंसे ही यह प्रकट है कि जन्मजात गुणोंके द्वारा ही वर्ण निश्चित होता है। छान्दोग्योपनिषद्‌का जो वचन (५।१०।७) हम पहले उद्धृत कर आये हैं, उसके साथ भी इसकी ठीक संगति बैठती है। जो लोग पुण्यकर्म करते हैं, उनमें मृत्युके पश्चात् सत्त्वगुणका प्रभूत संचय होता है। अतः वे ब्राह्मण होकर जन्म लेते हैं। गीता अध्याय १८ श्लोक ४८ में जो '**सहजं कर्म**' शब्द आये हैं, उनसे भी जन्मना जाति सूचित होती है। जन्मसे जाति और जातिसे धर्म निश्चित होता है। अर्थात् जन्मके साथ ही धर्म लगा हुआ है। यही '**सहजं कर्म**' है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि जन्मसे वर्ण निश्चित होता है तो विश्वामित्र ब्राह्मण कैसे हुए। इसका उत्तर यह है कि तपका अलौकिक प्रभाव होता है, उससे शरीरके परमाणुतक बदल सकते हैं और वर्णका सम्बन्ध है जन्मजात शरीरसे ही। यह प्रसिद्ध है कि विश्वामित्रने महान् तप किया था। उनके तपःप्रभावसे उनका वर्ण बदला या नहीं, यह निश्चय करना भी वसिष्ठ-जैसे महर्षिका ही काम था। तपःप्रभावसे वर्ण बदल जानेके और भी कुछ उदाहरण हैं।

अब महाभारतके कुछ ऐसे वचनोंपर हम विचार करना चाहते हैं, जो गुण देखकर वर्ण निश्चय करनेकी बातका समर्थन करते-से मालूम होते हैं। वनपर्वके १७९ वें अध्यायमें सर्पने प्रश्न किया है—'ब्राह्मण कौन है?'

युधिष्ठिर उत्तर देते हैं—'ब्राह्मण वह है, जिसमें सत्य, दानशीलता, क्षमा, सदाचार, मृदुता और तप—ये गुण हों।' युधिष्ठिर आगे यह भी कहते हैं कि 'ये गुण यदि किसी शूद्रमें हों तो उसे ब्राह्मण कहना चाहिये और यदि ये गुण किसी ब्राह्मणमें न हों तो वह ब्राह्मण नहीं है।' 'ब्राह्मण' शब्दका प्रयोग स्पष्ट ही यहाँ दो विभिन्न अर्थोंमें हुआ है। यदि ऐसा न मानें तो यह कहना कि "जिस ब्राह्मणमें ये गुण नहीं हैं, वह 'ब्राह्मण' नहीं है" '**वदतो व्याघात**' होगा। उक्त वचनमें 'ब्राह्मण' शब्दका प्रथम प्रयोग जन्मना ब्राह्मणके अर्थमें है। 'ब्राह्मण' शब्दका दूसरा प्रयोग इस अर्थमें है कि जो गुण ब्राह्मणमें होने चाहिये, वे उसमें नहीं हैं। यह वचन सत्य, क्षमा आदि गुणोंकी प्रशंसा कर ब्राह्मणको मिथ्या जात्यभिमानसे बचानेके लिये आया है। इस वचनका अभिप्राय गुणोंको देखकर वर्ण कलित करना नहीं है। इसके विरुद्ध कई कारण हैं—(१) '**वदतो व्याघात**' होगा, जैसा कि हम पहले कह आये हैं। (२) वेद, उपनिषद्, मनुसंहिता, अत्रिसंहिता, हारीतसंहिता आदि शास्त्र-ग्रन्थोंके जो वचन हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं, जिनमें जन्मना जातिकी ही व्यवस्था है, उनके साथ इसका विरोध होगा। किसी वचनका ठीक अर्थ लगाते हुए हमें यह ध्यानमें रखना चाहिये कि अन्य वचनोंके साथ उसका कोई विरोध न हो। उपर्युक्त श्रुत्यादिके वचनोंका इसके सिवा और कोई अर्थ नहीं है कि वर्ण या जाति जन्मपर ही निर्भर है। वनपर्वके उपर्युक्त वचनका सुसंगत अर्थ यही होता है कि सत्य, दान आदि गुण वरेण्य हैं। (३) किसी मनुष्यके असली गुणोंको जान लेना बहुत ही कठिन है। (४) बहुत-से लोगोंमें सत्य, दान आदि गुण अत्यधिक परिमाणमें होते ही हैं। यह तो इस वचनमें नहीं बतलाया गया है कि किस दर्जेतक कौन-सा गुण होनेसे कोई मनुष्य ब्राह्मण वर्णका हो सकता है। (५) इस वचनमें फिर दो ही वर्गोंके नाम आये हैं—ब्राह्मण और शूद्र। क्षत्रिय और वैश्यका कोई नाम नहीं है। फिर जिनमें ये गुण हैं, वे यदि ब्राह्मण हैं और जिनमें ये गुण नहीं, वे शूद्र, तो अखिल मानव-जातिके ब्राह्मण और शूद्र—ये ही दो वर्ण-विभाग हुए, चातुर्वर्ण्य नहीं रहा। अतः इन सब बातोंसे यही स्पष्ट होता है कि उक्त वचनका हेतु वर्ण-विभागका सिद्धान्त बतलाना नहीं, बल्कि सत्य, सदाचारादि गुणोंकी श्रेष्ठता बतलाना है। वर्ण-विभागका सिद्धान्त अन्य शास्त्र-वचनोंमें निर्दिष्ट हो ही चुका है। ये शास्त्रवचन जन्मना जातिका ही निर्देश करते हैं। अतः जो वचन ऐसे हैं, जिनसे गुणों और कर्मोंके अनुसार जाति होनेकी बात सूचित होती है, उनका वास्तविक अभिप्राय कुछ और ही है। गुण या कर्मके अनुसार सब मनुष्योंकी जाति निर्धारित करना व्यवहारतः संभव भी नहीं है।

यह जो कहा जाता है कि जन्म नामकी आकस्मिक घटनापर किसीकी जाति या वर्ण निश्चित करना ठीक नहीं, यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है। कारण, जन्म कोई आकस्मिक घटना नहीं, बल्कि हमारे पूर्वजन्मोंके कर्मोंका फल है। कुछ लोग स्वस्थ और हट्टे-कट्टे पैदा होते हैं और कुछ अंधे और रुग्ण, इसका यही तो कारण है।

यह कहना भी निराधार है कि हिंदुओंका चातुर्वर्ण्य ही हिंदू-समाजमें पैदा हुई सब बुराइयोंका कारण है। गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं 'चातुर्वर्ण्य मैंने उत्पन्न किया है' (४।१३)। जो व्यवस्था भगवान्ने बना दी, वह किसी समाजके लिये कभी हानिकर नहीं हो सकती। हमारे राजनीतिक दासत्वमें हमारे ईर्ष्या-द्वेष, लड़ाई-झगड़े, भोग-विलास आदि अन्य कारण हो सकते हैं। यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि कोई भी राष्ट्र सदाके लिये अपनी स्वाधीनता बनाये नहीं रह सका है। ब्रिटेनपर रोमन और सैक्सन दखल जमाये बैठे थे। सैक्सनोंको नार्मन लोगोंने जीता था। ग्रीस, रोम, कार्थेज—पुरानी दुनियाके सभी देशोंको कभी-न-कभी पराजित और पराधीन होकर रहना पड़ा था। फ्रांस, बेलजियम, जर्मनी और जापानका पराधीन होना अभी हालकी ही बात है। हिंदू सहस्रों वर्ष स्वाधीन रहनेके बाद कुछ काल मुसलमानों और ईसाइयोंके अधीन भी होकर रहे। अब फिर वे स्वाधीन हैं। प्राचीनोंमें एक हिंदू ही हैं, जो अपनी संस्कृति और सभ्यताकी रक्षा किये हुए हैं, जब कि अन्य प्राचीन सभ्यताएँ सब नष्ट हो गयीं। यह ईश्वरकृत वर्ण-व्यवस्थाका ही सुपरिणाम है। इसीसे हिंदुओंके धर्म, शौर्य, धन और श्रमशक्तिकी रक्षा हुई है। यदि हम इस वर्ण-व्यवस्थाको उठा देंगे तो महान् अनर्थ होगा—वर्णसंकर होगा। भगवान् कहते हैं—'संकरसे प्रजाओंका सब प्रकारसे नाश होता है।' (गीता ३।२४)

हमारी मृत्युंजय संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य)

हमारी संस्कृतिकी यह एक बड़ी भारी विशेषता है कि हमारे जितने श्रद्धाके केन्द्र हैं, मान-विंदु हैं, उनके पीछे कोई-न-कोई श्रेष्ठ तत्त्व है, और अवश्य है। आज हमारे दुर्भाग्यसे वे तत्त्व सुप्तावस्थामें हैं, वे सिद्धान्त अमूर्त रूपमें हैं और इसी कारण हमारा यह ह्रास दृष्टिगोचर हो रहा है। आज आवश्यकता है उन तत्त्वोंको जाग्रदवस्थामें लानेकी। आज आवश्यकता है उन सिद्धान्तोंको मूर्तस्वरूपमें लानेकी, उनको अपने आचरणमें प्रत्यक्षरूपसे कार्यान्वित करनेकी। इसका केवल एक ही उपाय है और वह है इन तत्त्वोंको—उन सिद्धान्तोंको बोधगम्य बनाना—ऐसे रूपमें सामने रखना कि साधारण जनता उन्हें ठीक प्रकारसे समझ ले और हृदयंगम कर ले।

सांस्कृतिक रथके दो चक्र

गैरिक ध्वज पुरातन कालसे चली आयी हुई हमारी इस पुण्य-संस्कृतिकी सनातन धाराका मूर्तिमान् प्रतीक है। इस ध्वजका भगवा रंग 'ब्राह्मतेज' और 'क्षात्रबल' का परिचायक है। इन्हीं दो विशेषताओंपर हमारी संस्कृति अडिग खड़ी है। यही वह नींव है, जिसके कारण शत-शत आघात सहते हुए भी हमारी यह संस्कृतिकी इमारत अचल रूपसे स्थिर है। आपसे अपना इतिहास अविदित नहीं है। हमारे यहाँ प्रजाका पालक राजा सर्वदासे क्षत्रिय ही होता आया है। परंतु वह अकेला ही इस सारे भारको सँभालता नहीं आया है। वह सदा ब्राह्मतेजकी सहायतासे ही व्यवस्था करता आया है। राजा क्षत्रिय होता था अवश्य; परंतु उसके गुरु, उसके सलाहकार, उसको मन्त्रणा देनेवाले, उसके मन्त्री सर्वदा ब्राह्मण ही होते थे। श्रीरामचन्द्रजी, जिन्हें हम श्रद्धापूर्वक भगवान् मानते हैं, क्षत्रिय थे; परंतु उन्हें मार्ग दिखलानेवाले उनके गुरु वसिष्ठ कौन थे? ब्राह्मण ही न? यह तो हुई हमारे उस परमपवित्र गौरवशाली पुरातन स्वर्ण-युगकी बात। आजके युगको भी देख लीजिये, यही बात मिलेगी। छत्रपति शिवाजी महाराजके गुरु 'समर्थ रामदास स्वामी' कौन थे? परम शक्तिशाली पेशवाओंको तो आप जानते ही हैं, वे कौन थे? ब्राह्मतेजके बिना अकेला क्षात्रबल क्या कर सकता है? जिस प्रकार दो चक्रोंके बिना रथ नहीं खींचा जा सकता, उसी प्रकार इन दो शक्तियोंके बिना यह हमारे 'हिंदू-राष्ट्र' का रथ आगे नहीं बढ़ सकता। हमारी इस पवित्र संस्कृतिका रथ सर्वदा इन्हीं दो चक्रोंके आधारपर चलता आया है।

ब्राह्मतेज तथा क्षात्रबलके आधारपर सुचारुरूपसे चलनेवाला यह हमारा सांस्कृतिक रथ दुनियामें, सारे विश्वमें सर्वश्रेष्ठ है। इसका निर्माण संसारके ही नहीं अपितु अखिल विश्वके सर्वश्रेष्ठ तत्त्वोंके संयोगसे हुआ है। वे तत्त्व तकारसे ही प्रारम्भ होते हैं—तपस्या, त्याग तथा तपोबल। तपस्या—युग-युगकी तपस्या, ऋषि-महर्षियोंकी तपस्या, विष्णुके अंश राजाओंकी तपस्या, प्रजाकी तपस्या, सारे हिंदू-समाजकी अपने ध्येयकी ओर अग्रसर होनेकी तीव्र लगन—हमारे इतिहासमें प्रखररूपसे प्रकाशित हो रही है। त्यागके लिये तो कुछ कहनेकी आवश्यकता ही नहीं। यह तो हमारी समाज-व्यवस्थाका एक मुख्य अंग है। इसके बिना हमारी संस्कृतिका अमर होना अत्यन्त असम्भव था। तपस्या और त्यागसे कमायी हुई प्रचण्ड शक्तिका ही नाम तपोबल है। इसी बलके आधारपर हमारी संस्कृतिने सम्पूर्ण विश्वके हृदयपर विजय प्राप्त की। यह ऐतिहासिक सत्य है। इसमें शंकाके लिये स्थान नहीं। इसी बलके कारण समस्त विश्वने भारतको अपना गुरु, अपना पथप्रदर्शक माना।

हमारी मृत्युंजयता

तपस्या, त्याग तथा तपोबलके कारण स्वयं प्रकाशित ऐसी जो यह हमारी संस्कृति है, इसमें दो विशेषताएँ हैं—एक है प्राचीनता, सनातनता; दूसरी है मृत्युंजयता, अमरता। हमारी यह आर्य-संस्कृति, यह वैदिक संस्कृति, यह ब्राह्मतेज और क्षात्रबलके कारण अजेय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है। पहले लोग इसे नहीं मानते थे; क्योंकि कोई भौतिक प्रमाण उनके सामने नहीं था। परंतु आज उन्हें यह बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ रहा है। भूगर्भसे निकला हुआ मोहनजोदड़ो नगरका अवशेष हमारी इस प्राचीन संस्कृतिकी जय मना रहा है। इस खँडहर हुए नगरकी विशेषता देखिये। बड़ी-बड़ी चौड़ी गलियाँ, बड़े-बड़े प्रासाद, प्रत्येक घरमें स्नान-गृह, कूप इत्यादि व्यवस्थाएँ क्या हमारी समृद्धिकी, हमारे ऐश्वर्यकी परिचायक नहीं हैं? यह नगर (हम नहीं कहते) इन्हीं पाश्चात्त्योंके मतके अनुसार विक्रमसे, उस महान् तथा

प्रातःस्मरणीय शकारि विक्रमादित्यके समयसे, तीन हजार वर्ष अर्थात् आजसे लगभग पाँच हजार वर्षके भी पूर्वका है। आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व हम इतने वैभवशाली थे! मैं पूछता हूँ, क्या यह हमारी संस्कृतिकी प्राचीनताका पर्याप्त प्रमाण नहीं? मैं पूछता हूँ—क्या आज ऐसी कोई भी संस्कृति जीवित है, जो इतनी प्राचीन होनेका दम भर सकती है? मैं दावेके साथ कहता हूँ कि आज हमारी संस्कृतिकी प्राचीनतासे टक्कर लेनेवाली कोई भी संस्कृति जीवित नहीं है। केवल एक हमारी ही यह संस्कृति है, जो विद्यमान है। इसका क्या कारण है? क्या यही बात हमारी मृत्युंजयताको प्रमाणित नहीं करती? इतिहासके पृष्ठ उलटिये तो आपको एक प्राचीन संस्कृतिका परिचय मिलेगा—मिस्रकी संस्कृति। मिस्र देशकी वह सामर्थ्यशालिनी संस्कृति प्राचीन संस्कृतियोंमेंसे मानी जाती है। कहाँ है वह संस्कृति? क्या इस बड़े भारी भूपृष्ठपर एक भी व्यक्ति उस संस्कृतिकी परम्पराको लेकर जीवित है? क्या एक भी व्यक्ति ऐसा है, जो प्राचीन मिस्र देशमें व्यवहारमें लायी जानेवाली भाषाको अपनी भाषा कहनेका, बोलनेका, व्यवहारमें लानेका प्रमाण दे सकता है? वह मिट गयी, नष्ट हो गयी; आज उस संस्कृतिका एक भी वंशज इतने विशाल पृथ्वीतलपर जीवित नहीं है। इसके विपरीत है हमारी स्थिति। सबसे प्राचीन होते हुए भी हमारी संस्कृतिकी परम्परा अखण्डरूपसे चल रही है। अत्यन्त प्राचीन कालमें जो भाषा हमारे आदिपुरुषकी वाणीके रूपमें प्रवाहित हुई, उस देववाणी 'संस्कृत' का व्यवहार हमारे प्रतिदिनके व्यवहारमें होता है। हम उसी प्रकार सन्ध्या-वन्दन करते हैं। हमारे नित्यके व्यवहारमें, विवाहोपनयनादि संस्कारोंकी वही कर्मकाण्ड-पद्धति जीवित है, जिसे हमारे वेदकालीन पूर्वज उपयोगमें लाते थे। मैं पूछता हूँ, है कोई जो मिस्रकी प्राचीन भाषाको अपने जीवनमें प्रधान स्थान देकर उस संस्कृतिके परम्परा-दीपको प्रज्वलित रखनेका अभिमान करता हो?

तीन महान् आघात

हमारी संस्कृतिने सचमुच ही मृत्युपर विजय पायी है। न जाने इसपर कितने आघात हुए; परंतु यह अडिग रही, अचल रही, अटल रही। इन आघातोंमें सबसे बड़े ऐसे तीन आघात हुए। पहला हुआ सिकंदर (अलीकचन्द्र)-के द्वारा। उसका षड्यन्त्र कितना विकट था, यह इतिहासके विद्यार्थियोंसे छिपा नहीं है। उसने हमारी संस्कृतिका आमूल नाश करनेका तथा यवन-संस्कृतिको विश्वकी संस्कृति बनानेका प्रण किया था। परंतु एक ब्राह्मणने उससे टक्कर ली। उस महापुरुषका नाम था कौटिल्य चाणक्य। उस ऋषिस्वरूप ब्राह्मणने चन्द्रगुप्तके समान तेजस्वी शासकका निर्माण किया और गरीब बिचारा अलीकचन्द्र (अलेक्जेण्डर) अपना बोरिया-बँधना लेकर सिंधुके उस तीरपर आँसू बहाकर अपने देश लौट गया। दूसरा आघात हुआ प्रातःस्मरणीय गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक महाराज विक्रमादित्यके समयमें। महाप्रतापी रणशूर खूब लंबे-चौड़े डील-डौलवाले बलशाली शकोंने आर्यावर्तको आत्मसात् करनेकी ठानकर हमारी इस पवित्र मातृभूमिकी स्वतन्त्रतापर आक्रमण कर दिया। परंतु उस समय भी एक ब्राह्मणने जनताकी नस-नसमें आग फूँककर वीर विक्रमके नाममें कलंक नहीं लगने दिया। उसका नाम था—कालिदास। कविकुलसूर्य कालिदासका रघुवंश उठाकर देखिये, वह क्या था? ब्राह्मतेज और क्षात्रबलने फिर एक बार बर्बरताको करारी हार दी। उसी प्रतापीके नामसे आज यह संवत् चला आ रहा है। आज भी हम प्रत्येक धार्मिक कृत्यके आरम्भमें उस वीर विक्रमका नाम सादर लेते हैं, ताकि हम भी उसी प्रकार अपनी मातृभूमिकी सेवा करनेमें समर्थ हों। तीसरा आघात हुआ मुसलमानोंके द्वारा। उस समय भी एक संन्यासीने इस भारत-भूमिकी रक्षा की। उस प्रातर्वन्दनीय समर्थ रामदासको कौन नहीं जानता? उस महान् आत्माने एक महापुरुषका निर्माण किया—जिनका नाम है छत्रपति शिवाजी महाराज। क्षत्रियकुलावतंस छत्रपतिने फिर एक बार उस हत्यारी शक्तिको नाकों चने चबवाये।

सर्वाधिक कुटिल आघात

कौन-सी ऐसी संस्कृति है, जो ऐसे भीषण आघातोंके सम्मुख अपनी प्राचीनताको अमर रखनेका दावा कर सकती है? इतना ही नहीं, एक और भी प्रयत्न हमारे देशमें हुआ, जो यदि सफल हो जाता तो आज हमारी इस पवित्र भूमिका अभिमान रखनेवाला एक भी न दिखायी देता। वह प्रयत्न हुआ अंग्रेजोंके द्वारा। आपने विषकन्याका वर्णन अवश्य पढ़ा होगा। जिस प्रकार अफीमची लोग थोड़ी-थोड़ी मात्रासे प्रारम्भकर बहुत अधिक मात्रामें अफीम खानेका अभ्यास करते हैं, उसी प्रकार—उसी प्रणालीसे विषकन्या तैयार की जाती थी। बालपनसे उसे थोड़े-थोड़े परिमाणमें विष खिलाया जाता

था और धीरे-धीरे उसका प्रमाण बढ़ाया जाता था। पर्याप्त समयके बाद उस कन्याके सारे शरीरमें इस प्रकार विष व्याप्त हो जाता था कि यदि मनुष्य या पशुके शरीरपर उसके नखसे खरोंच लगकर उस मनुष्यके रक्तका उसके नखसे सम्पर्क हो जाता था तो वह मनुष्य या पशु तत्काल विषबाधासे मर जाता था। अंग्रेजोंने भी अंग्रेजी शिक्षाका प्रचारकर सारे समाजकी नस-नसमें यह विष फैला दिया। धीरे-धीरे समाजकी रग-रगमें यह विष व्याप्त हो गया और आज हम ही अपने धर्मकी—अपनी संस्कृतिकी जड़ काटनेवाली कुल्हाड़ीका बेंट बन गये। हमने उन्हींके वचनोंको दोहराना प्रारम्भ कर दिया। देखिये न? उन्होंने कहा और हमने मान लिया कि हम 'यहाँके नहीं हैं, हम बाहरसे आये हुए हैं।' चलिये, झगड़ा ही मिट गया। जब हम भी बाहरसे आये हैं तो फिर क्यों हम इस भूमिके लिये दूसरेसे झगड़ा मोल लें? परंतु हमने कभी यह विचार नहीं किया कि यदि हम बाहरसे आये हुए होते तो हमारे ही नहीं, प्रत्युत संसारके प्राचीनतम ग्रन्थ हमारे वेदोंमें इसका कहीं तो उल्लेख मिलता। यहीं वह सप्तनद प्रदेश है, जिसमें सरस्वतीका पुण्य-प्रवाह नृत्य करता है और जहाँसे आर्योंने समस्त संसारमें फैलकर उपनिवेश स्थापित किये और बर्बरोंमें सभ्यताका बीज बो दिया, ताकि वे मनुष्यताका सम्मान करें। आज वे ही, जिन्होंने हमसे ऋणरूपमें बुद्धिका बीज लिया, हमसे कहते हैं—'तुम यहाँके आदिनिवासी नहीं हो।' और हम तत्काल इसे सत्य मानकर अपनी इस मातृभूमिका अभिमान छोड़कर विचार करने लगते हैं कि यथार्थमें हमें केवल अपनेको ही यहाँका राष्ट्रिय नहीं कहना चाहिये। इतना ही नहीं, इस विषका हमारे ऊपर इतना अधिक प्रभाव हुआ है कि कुछ कहा नहीं जाता। हमारे इस युगके तथाकथित नेता लोगोंको ही देखिये। उनमें बहुत-से अपनेको हिंदू कहलानेमें भी लज्जाका अनुभव करते हैं। न जाने वह सुदिन कब आयगा, जब हम अपने अंदर हिंदुत्वका अभिमान भरकर भारतके राजकरणमें भाग लेंगे।

कहनेका तात्पर्य यह कि हमारी संस्कृति इतने प्रबल आक्रमणोंके विरुद्ध संघर्षमय जीवन बिताकर अबतक जीवित है, इसका एकमात्र कारण इसकी मृत्युंजयता है। इस मृत्युंजयताकी प्राप्ति हमें केवल हमारे ही ब्राह्मतेज तथा क्षात्रबलके द्वारा हुई है। इसी ब्राह्मतेज तथा क्षात्रबलके कारण हमारी इस संस्कृतिको, राष्ट्रको, भूमिको यह गौरव नसीब हुआ। हमारी समृद्धि देखकर देवता भी यहाँ जन्म लेनेके लिये तरसते थे। देवलोकसे देवताओंके मर्त्यलोकमें आनेकी कल्पना लोगोंको जरा विचित्र मालूम होती है; परंतु इसमें कुछ असत्य नहीं। क्योंकि देवलोक तो भोगभूमि है। वहाँ किये हुए पुण्यका कोई फल नहीं। इसीलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले देवताओंके इस मर्त्यलोकमें, इस कर्मभूमिपर अवतार लेनेकी बात विचारसंगत तथा तर्कसंगत है। यहाँ जो कुछ भी किया जाता है, उसका फल अवश्य मिलता है। परंतु इतना बड़ा यह विश्व है, फिर भी देवताओंकी इच्छा यहाँ भारतमें जन्म लेनेकी क्यों होती थी? वह केवल यहाँकी आध्यात्मिक सुख-समृद्धि देखकर ही।

तेजःपुंजका प्रतीक ध्वज

इतना समृद्धिशाली हमारा देश था; परंतु आज....? आज हमारी स्थिति अत्यन्त हीन है। इस हीन स्थितिसे निकलनेका केवल एक ही मार्ग है। वह है—अपनी संस्कृतिको पुनः गौरवशाली बनानेका दृढ़ निश्चय लेकर समस्त हिंदू-समाजको सुसंघटित करना। यह तभी हो सकता है, जब हमारी संस्कृति, हमारी परम्पराका हमें हर समय ध्यान रहे। इसीके लिये हमने अपना यह पुरातन 'भगवा ध्वज' अपनाया है। इसे देखते ही हमें अपने पूर्व गौरवका ध्यान हो आता है। अपनी परम्पराका आँखोंके सम्मुख चित्र उपस्थित हो जाता है। इसी झंडेके नीचे हुए असंख्य बलिदानोंका स्मरण हो आता है, जिनके कारण आज हम अपनेको हिंदूके रूपमें जीवित देखते हैं। यह ध्वज हमारे हिंदू-राष्ट्रकी आशाओं-आकांक्षाओं, इतना ही नहीं, वरं समस्त हिंदू-राष्ट्रका तेजःपुंज प्रतीक है। यह हमारा है, हम इसके हैं। इसीके कारण हम हम हैं। अतः इसका सम्मान-रक्षण हमारे जीवनका आद्य कर्तव्य है—यह बात प्रत्येक हिंदूके मनमें जागरित हो तथा इस ध्वजके पीछे जो हमारी संस्कृतिका अमूर्त गौरव छिपा है, उसे मूर्त स्वरूप देनेमें वह कार्यशील हो। यही जगदीशसे प्रार्थना है।

सभ्यता और संस्कृति—एक गृध्र-दृष्टि

(लेखक—स्वामीजी श्रीसत्यदेवजी परिव्राजक)

सन् १९३९ ई० के मई मासकी बात है। मैं जर्मनीके प्रसिद्ध नगर म्यूनिचके एक होटलमें ठहरा हुआ था। हिटलर महान्‌का आज साढ़े आठ बजे सबेरे रेडियोपर भाषण होनेवाला था। होटलके सभी अतिथि बड़ी उत्सुकतासे उस भाषणको सुननेके लिये, होटलके बड़े हालमें, एकत्रित हो रहे थे। मैं भी अपने मित्र डॉक्टर हासके साथ उस कमरेमें जाकर कुर्सीपर बैठ गया। ठीक आठ बजे रेडियो महाशयने व्याख्यानकी सूचना दी और जर्मनीके शेरने दहाड़ना शुरू किया—

'हमारे शत्रु हमपर दूसरे युद्धकी विभीषिका ला रहे हैं। जर्मन जाति युद्ध नहीं चाहती, लेकिन दुश्मन हमें जबरदस्ती लड़ाईमें घसीट रहे हैं। आठ करोड़ जर्मन प्रजा संगठित अवस्थामें है। वह युद्धसे बिलकुल नहीं डरती; किंतु यदि हमारे शत्रुओंने हमपर युद्ध थोप दिया तो यूरोपीय सभ्यता-संस्कृति विनाशके गढ़ेमें चली जायगी। हम जर्मनलोग सुसभ्य और सुसंस्कृत हैं। इस भयंकर युद्धसे हमारी सबसे अधिक हानि होगी। क्योंकि जर्मन जाति ही यूरोपकी सभ्यता और संस्कृतिको उत्कर्षकी ओर ले जा सकती है; इसलिये यह युद्ध यूरोपकी सभ्यता और संस्कृतिके विनाशका कारण होगा और पूर्वके जंगली कम्युनिष्ट स्लाव लोग सुशिक्षित यूरोपको दबा लेंगे।'

'सभ्यता और संस्कृति' इन शब्दोंने मुझे पकड़ लिया और मेरा मस्तिष्क इन शब्दोंकी महत्तापर विचार करने लगा। प्रायः हमारे पढ़े-लिखे लोग इन दो शब्दोंको पर्यायवाची समझकर इनका व्यवहार बोलचाल तथा व्याख्यानोंमें कर लेते हैं, परंतु इन दोनोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। इस लेखमें मैं इन्हीं दो शब्दोंपर गृध्र-दृष्टि डालनेका प्रयत्न करूँगा।

जब हम यह कहते हैं कि जर्मन जाति सभ्य है, तो इसका अर्थ यह है कि वह जाति अपने दैनिक जीवनमें सुधरे हुए साधनोंका व्यवहार करती है। अर्थात् शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये उसके पास आधुनिक वैज्ञानिक साधन हैं और वह सदा इस बातके लिये प्रयत्नशील रहती है कि शरीरको अधिक-से-अधिक सुख और मजा मिले। अमरीकन लोग बड़े सभ्य हैं; क्योंकि वे बिजलीसे खाना बनाते हैं और ट्रैक्टरोंद्वारा खेती करते हैं। उनके यहाँ इक्के-ताँगे-जैसी कोई सवारी नहीं, और उनकी आबादीके प्रत्येक चौथे व्यक्तिके पास अपनी मोटरकार है। जो जातियाँ आज वैज्ञानिक साधनोंका प्रयोग करती हुई अपने जीवन-स्तरको ऊँचा उठाती चली जाती हैं, वे जातियाँ सभ्य कहलाती हैं। अंग्रेजी भाषामें सभ्यताके लिये 'Civilization' शब्दका व्यवहार किया जाता है। इन जातियोंकी जीवन-आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं और बढ़ती रहेंगी; क्योंकि इनका मुँह सभ्यताकी ओर है। ये प्राकृतिक पदार्थों तथा भोगोंके अंदर ही सुख-शान्तिकी तलाश करती हैं, जिनका कहीं अन्त ही नहीं है।

इन जातियोंके पास संस्कृति अर्थात् 'Culture' या 'तसद्दुत' भी है, किंतु वह सभ्यताके पीछे-पीछे उसकी चेरी बनकर चलती है। वे सुन्दर चित्र बनवायेंगे, कलाकारोंको उत्साहित करेंगे, कवियोंको पुरस्कार देंगे और उत्कृष्ट कलायुक्त भवन बनाकर उसमें निवास करेंगे; अपनी बोलचालमें होटलों तथा दूकानोंमें उनकी भाषा मिष्ट और शिष्ट होगी। लेकिन उस सबका मुख्य लक्ष्य होगा सभ्यताके खुदा 'धन' को प्रसन्न करना और दूसरोंकी जेबोंमेंसे पैसा निकालना। दूसरे शब्दोंमें वे सुसंस्कृत अवश्य हैं, किंतु अपनी सभ्यताको आगे बढ़ानेके लिये—प्राकृतिक सुखोंका मजा लूटनेके लिये—उनका सारा प्रयास रहता है। उनकी वृत्ति बहिर्मुखी होनेके कारण वे सभी जातियोंको अपनी उस लपेटमें ले लेते हैं और कच्चे मालकी खोजमें पृथ्वीको रौंद डालते हैं। पक्का माल बेचनेके लिये सब प्रकारके दाँव-पेंच, छल-प्रपंच काममें लाते हैं। यहाँतक कि युद्धके रौरव नरकसे भी नहीं डरते!

अब आइये संस्कृतिकी ओर, जिसपर मानवकी मानवता पूर्णरूपसे निर्भर है। संस्कृति है आत्माकी वस्तु, आत्मिक उत्थानका चिह्न, आत्मिक उत्कर्षकी सीढ़ी और आत्मदर्शनका मार्ग। सभ्यता है अपरा विद्या और संस्कृति है परा विद्या। यदि हमें इन दो शब्दोंका लक्षण अंग्रेजी भाषामें दो टूक करना पड़े तो हम उसे इस प्रकार करेंगे—

Civilization is an expression of flesh, while culture is the manifestation of soul.

अर्थात् सभ्यता शरीरके मनोविकारोंकी द्योतक है,

जबकि संस्कृति आत्माके अभ्युत्थानकी प्रदर्शिका है। सभ्यताका उत्थान मानवको प्रकृतिवादकी ओर ले जाता है, जबकि संस्कृति मानवको अन्तर्मुखी करके उसके सात्त्विक गुणोंको प्रकट करती है। पाश्चात्त्य जातियोंने संस्कृतिको सभ्यताकी दासी बना दिया है; इसी कारण उनके यहाँ रोटीकी छीना-झपटी, सामाजिक विषमता और राष्ट्रिय अशान्तिका बाजार गरम है। चारों ओर हड़तालोंका जोर है। अमरीका-जैसे समृद्धिशाली देशमें बेकारी मुँह बाये खड़ी है। इसका कारण यह है कि अमेरिकन राष्ट्रके लोगोंने अपनी संस्कृतिको सभ्यताकी चेरी बना डाला है। यदि वहाँके लोग सभ्यताको संस्कृतिकी सेविका बनाते तो उनकी सामाजिक विषमता दूर हो जाती। उन्हें आवश्यकताओंकी वृद्धि न सताती और न धनी लोग ही धनसंग्रहकी बीमारीसे ग्रसित होते। यह जो व्यापारयुगका बुखार संसारको सता रहा है, वह केवल इसलिये कि सभ्य जातियोंने अपनी आत्माको पहचाननेके बजाय इन्द्रियसुखोंको प्रधानता देकर अपनी आवश्यकताओंको इतना अधिक बढ़ा लिया है कि मानव-जीवनकी स्वाभाविकता ही नष्ट हो गयी है। इसी कारण पाश्चात्त्य जातियोंमें जीवनकी होड़ने भयंकर रूप धारण कर लिया है।

हम आये हैं इस संसारमें सत्य ज्ञानकी प्राप्तिके लिये, इस ब्रह्माण्डके रहस्योंको समझनेके लिये, अपने-आपको पहचाननेके लिये, मृत्युकी घुंडी समझनेके लिये, आकाशके करोड़ों नक्षत्रोंकी जीवनचर्याका ज्ञान करनेके लिये और समुद्रकी तहमें छिपे हुए खजानेके अन्वेषणके लिये। हमारा ज्ञान इतना कम है, हमारी आँखें इतना कम देखती हैं, प्रकृतिके साधन इतना कम हमारी सहायता कर सकते हैं— कि यह सब सोचकर हम अपनी अज्ञानतापर आँसू बहाने लगते हैं। लाखों वर्षोंसे मानवने अबतक यह बात नहीं जानी कि मरनेके बाद मनुष्य कहाँ जाता है, किस तरह जाता है, और किस रास्तेसे जाता है। अपनी आँखोंके सामने प्रतिदिन हम मृत्युका भीषण दृश्य देखते हैं, किंतु फिर भी धनसंग्रहकी बीमारीसे हमारा पिण्ड नहीं छूटता। लाखों मनुष्य ऐसे हैं, जो पेटकी ज्वाला बुझानेके लिये अस्वाभाविक ढंगसे जीवन व्यतीत करते हैं। यदि हम व्यापार-युगके स्थानपर ज्ञान-युगके प्रवर्तक बने होते तो संसारका प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपने विकासके अनुसार विद्या प्राप्तकर सत्य ज्ञानकी खोज करता और आज सारा मानवसमाज रोटीकी छीना-झपटीसे छूटकर विश्वके ज्ञानभंडारमें अपना अंश देता। पर शोक! आवश्यकताओंकी निरन्तर वृद्धिने मानवको दानव बना दिया है और उसे चौबीसों घंटे पेट भरनेकी ही चिन्ता लगी रहती है। आज हम सुशिक्षित पशु बन गये हैं, जो अपनी शिक्षाद्वारा अधिक-से-अधिक मक्कारी, अधिक-से-अधिक बनावटीपन और धोखा देनेकी कलामें निपुण होकर पैसा बटोरनेमें लगे हुए हैं। यह सब इसीलिये है कि हमने अपनी संस्कृतिको तुच्छ स्वार्थ-सिद्धिका साधन बना लिया है!

हमें यह बात भली प्रकार जान लेनी चाहिये कि सभ्यताका शारीरिक आवश्यकताओंके साथ सम्बन्ध है और संस्कृतिका आत्माके सात्त्विक गुणोंके साथ। जितना ही हमारी सभ्यता हमें सात्त्विक बनानेमें सहायक बनेगी, उतने ही हम संस्कृतिके क्षेत्रमें आगे पग बढ़ायेंगे। हमें जाना है आत्मिक उत्कर्षकी ओर, जिसमें भौतिक आवश्यकताओंकी कमीका होना प्रधान साधन है। आवश्यकताओंकी कमी ही समाजकी विषमताको दूर कर सकती है और यही मानव-समाजमें शान्तिकी स्थापना कर सकती है। सादा जीवन और उच्च विचार हमारा लक्ष्य होना चाहिये, तभी प्राकृतिक भोगोंका न्यायपूर्वक बटवारा मानव-समाजमें किया जा सकता है। जितना ही अधिक हम सभ्यताकी ओर जायँगे, उतना ही हममें अशान्ति घर कर लेगी और हम सदा बेचैन रहकर जीवन व्यतीत करेंगे। यूरोपके दो महासमर केवल इसीलिये लड़े गये कि यूरोपकी उन्नत जातियाँ अपनी पक्का माल एशियामें खपाना चाहती थीं। उनका आपसका व्यापारिक ईर्ष्या-द्वेष भीषण युद्धका कारण बन गया। जब कारखानोंमें जरूरतसे ज्यादा माल तैयार हो जाता है और कारखाने बंद होने लगते हैं, तब उन कारखानोंके स्वामी अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये राष्ट्रोंको आपसमें लड़वानेका षड्यन्त्र रचते हैं, ताकि मजदूर लोग बेकार न हों और उनका धन तथा कारखाने बराबर उत्पादक बने रहें। यह सब अत्याचार और भीषणता सभ्यताकी वृद्धि करनेसे ही उत्पन्न होती है। विज्ञान-जैसा ईश्वरदत्त वरदान मानवसमाजके लिये भीषण अभिशापका रूप धारण कर लेता है और इसके आचार्य संसारपर स्वर्गकी रचना करनेके बजाय नरकके दृश्य उपस्थित कर देते हैं!

इन्हीं सब बातोंको ध्यानमें रखकर प्राचीन कालके ऋषि-मुनियोंने मनुष्यको शरीरके मोहसे छूटनेकी शिक्षा

दी और उसे यह सिखलाया—'तू शरीर नहीं है, आत्मा है।' हमारे यहाँकी शिक्षाका यहींसे प्रारम्भ होता है। क्योंकि लाखों वर्षोंकी शरीरकी ममता और प्राकृतिक सुखोपभोगकी इच्छा मानवकी अस्थियोंके अणु-अणुमें रमी हुई है। पशु-योनियोंमें उसमें बुद्धि या तर्कका अभाव था, इस कारण वह सीमामें रहकर शारीरिक सुख भोग लेता था। अब मानव-देह पाकर यदि उसका वही दृष्टिकोण रहे तो अपनी बुद्धि-विद्याके बलसे वह कैसा अनर्थकारी सिद्ध हो सकता है, इसका भयंकर चित्र—जीते-जागते उदाहरण—हम उन नरपिशाचोंमें देख सकते हैं, जिन्होंने पंजाब-हत्याकाण्डके समय निरपराध आबादीपर असंख्य जुल्म ढाये थे! हमारे पूर्वज यह जानते थे कि शिक्षाका महान् उद्देश्य पशुयोनियोंके बीभत्स संस्कारोंको मिटाकर इस नर-पशुको सच्चा मानव बनाना है और मानवताकी ओर बढ़ना ही संस्कृतिका मुख्य उद्देश्य है। वह मानवता अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये नहीं बल्कि विश्वमैत्रीका सन्देश देनेवाली होनी चाहिये। यह तभी हो सकेगा, जब हमारा दृष्टिकोण शारीरिक न होकर आत्मिक हो जायगा। इसीलिये हमारी प्राचीन कालकी शिक्षा संस्कृतिको मुख्य रखकर दी जाती थी। पैरोंमें जूता नहीं, सिरपर टोपी नहीं, केवल एकवस्त्रधारी आदर्श विद्वान् पुरुष चारों ओर घूमकर अध्यात्मवादका सन्देश सुनाते थे। ऐसे सात्त्विक पुरुष अमृतकी वर्षा करते हुए मनोविकारोंसे सन्तप्त जनताको शान्ति प्रदान करते थे और देशके बच्चे उन्हें अपना आदर्श मानकर उनके पद-चिह्नोंपर चलनेका प्रयत्न करते थे। संस्कृत-साहित्य समाजकी इसी विषमताको दूर करनेके लिये स्थितप्रज्ञ बननेका उपदेश बार-बार देता है और यह कहता है—'दुईको निकाल दे, तू दुईको निकाल दे।' यही ध्वनि उन स्थितप्रज्ञोंके साहित्यमें ओत-प्रोत हो रही है। यही उनके संगीतमें पायी जाती है और यही उनकी कलामें प्रदर्शित होती है। जबतक आर्य ज्ञानमार्गी बने रहे, तबतक उनकी चतुर्मुखी उन्नति होती रही और वे प्रत्येक विभागमें अमर साहित्यकी रचना कर गये; किंतु जबसे हमने वह मार्ग छोड़ दिया, हमारी दृष्टि व्यापारिक हो गयी, तबसे हमारे धार्मिक क्षेत्रमें भी पशुताने घर कर लिया और हम सात्त्विक गुणोंको बिक्रीके पदार्थ बनाकर उनके द्वारा धन-संचय करने लगे। वहींसे हमारे पतनका प्रारम्भिक इतिहास चलता है।

संक्षेपमें सभ्यता और संस्कृति दोनोंका आपसमें प्रेम-सम्बन्ध है। शरीरके बिना आत्मा अपनी शक्तियोंका प्रदर्शन नहीं कर सकता। उत्कृष्ट संस्कृतिके लोग अपनी सभ्यताके द्वारा अपने सात्त्विक गुणोंका परिचय देते हैं। वे अपने घरोंमें ताले नहीं लगाते, चोरी नामकी किसी बुराईको वे जानते नहीं; व्यभिचार और बलात्कारका कोई चिह्न उनके यहाँ दिखायी नहीं देता। उनकी भाषा अत्यन्त मधुर और उनका पारस्परिक व्यवहार सत्यतासे परिपूर्ण रहता है। चीनी और यूनानी यात्रियोंने अपनी यात्रा-कथाओंमें ऐसे ही कलापूर्ण और सुसंस्कृत भारतीय समाजका वर्णन किया है, जहाँ महँगी और भुखमरीका नामोनिशानतक नहीं था। हमारी सभ्यता संस्कृतिकी सहायक होनी चाहिये, तभी हम प्राकृतिक सुखोंका न्यायपूर्वक उपभोग करते हुए इस संसारको स्वर्ग बना सकते हैं।

तमसो मा ज्योतिर्गमय

प्रदीप यह बुझे नहीं।
घोर अन्धकारमें,
वेगमय बयारमें;
यामिनी-विभीषिका,
प्रलय-काण्ड-भूमिका;
अग्नि-गीत गा रहीं,
वज्र हैं ढहा रहीं;
परन्तु मुक्ति-द्वारका, अमन्द ज्योति-धारका;
प्रदीप यह बुझे नहीं।

ज्योतिमय प्रदीपके,
शक्ति-मय प्रदीपके;
अखण्ड ज्ञान-दीप्तिसे,
अमर्त्य-वर्ति-नीतिसे;
हो विभा-मनोहरा
कान्ति-स्निग्ध हो धरा;
असत्-प्रमाद नाशका, विमुक्त-सत्-प्रकाशका;
प्रदीप यह बुझे नहीं।

—लक्ष्मीप्रसाद द्विवेदी 'चन्द्र'

हिंदू-संस्कृति और सभ्यता

(लेखक—प्रो० श्रीदशरथजी श्रोत्रिय, एम० ए०, साहित्याचार्य, विद्याभूषण)

१-परम प्रभुद्वारा प्रकाशित स्थावर एवं जंगम सृष्टिमें प्राणधारियोंका उच्च स्थान है। प्राणधारियोंमें मानवता श्रेष्ठ निर्धारित की गयी है, वेदमें मानवमात्रको '**अमृतस्य**[१] **पुत्राः**' कहकर मानव श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है। मानवकी यह श्रेष्ठता उसकी श्रेष्ठ आचार-विचार-परम्पराके हेतु प्रभु-प्रदत्त सामर्थ्यपर आधारित है। मानव ही इस विशाल विश्वमें श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ आचार और विचार धारण करनेकी सामर्थ्यसे युक्त है। यही मानवोपार्जित श्रेष्ठ आचार-विचार-परम्परा सभ्यता और संस्कृतिकी उपादान हो जाती है। श्रेष्ठ आचार-परम्परासे संस्कृतिका और श्रेष्ठ विचार-परम्परासे सभ्यताका सृजन होता है।

२-आचार और विचारका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः इनकी परम्पराके रूपमें उपलब्ध संस्कृति और सभ्यताका भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। सच तो यह है कि 'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्द परस्पर इतने सम्बद्ध और संसृष्ट हैं कि इन दोनोंका प्रायः एक ही अर्थमें व्यवहार होने लगा है। परंतु फिर भी इनमें अन्तर है, यद्यपि वह परम्पराभूत होनेके कारण अत्यन्त सूक्ष्म है। संस्कृति (सम्+कृति) शब्दमें 'कृति' शब्द इस अन्तरको स्पष्ट बता रहा है। कृति शब्दका सहारा लेकर हम 'संस्कृति' को निर्भीक होकर 'सदाचार' कह सकते हैं। जहाँ संस्कृति-शब्दकी व्याख्या 'आचार' को दृष्टिमें रखकर की जानी ठीक है[२], वहाँ सभ्यता-शब्दकी व्याख्या 'विचार' को दृष्टिमें रखकर की जानी चाहिये[३]। क्योंकि सभ्यता-शब्दमें 'तल्' प्रत्यय भाव (विचार) वाचक है। समान विचारसे अनुप्राणित मानवसमूहको 'सभा' कहते हैं। सभामें दक्ष (साधु) पुरुषको 'सभ्य' कहा जाता है। सभ्यका भाव ही 'सभ्यता' कहलाता है। यद्यपि सभ्यता-शब्दकी व्याख्या कर्म (आचार)-परक भी की जा सकती है[४], तथापि कर्मपरक व्याख्या भी विचार (भाव)-का सर्वथा बहिष्कार नहीं कर देती। वास्तवमें सभ्यता-शब्दकी विचारपरक व्याख्या ही अत्यन्त समीचीन है।

३-हाँ तो, श्रेष्ठ आचार-परम्परासे संस्कृतिका और श्रेष्ठ विचार-परम्परासे सभ्यताका सृजन होता है। इस श्रेष्ठ आचार-विचार-परम्पराको पाश्चात्त्य विद्वान् प्राकृतिक नियमोंके अनुसार सतत विकासमान मानकर प्राचीन परम्पराओंको हेय कोटिमें फेंक देते हैं। परंतु आर्य हिंदू अखिल-धर्ममूलक अपौरुषेय वेदको इस श्रेष्ठ परम्पराका आदिस्रोत मानता एवं जानता है। इसीलिये वह प्राचीनतम परम्पराओंको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखता है। यही कारण है कि आज भी प्राचीनतम वैदिक परम्पराओंमें उसकी ममता अक्षुण्ण है; आज भी वह सम्पूर्ण मानवजातिके मध्य ऐतिहासिक दृष्टिसे अपनेको अत्यन्त गौरव और महत्त्वका पात्र समझता है, और उन्हीं परम्पराओंको मूलरूपमें अपनी सभ्यता और संस्कृति समझता है। उसका आज भी दृढ़ विश्वास है कि मानवजातिका चरम अभ्युदय उन्हीं वेदविहित आचार-विचार-परम्पराओंको अपनानेसे हो सकेगा। आज भी वह समझता है कि मानवकी सारी जटिल समस्याओंके हल वेदमें प्राप्त हो सकते हैं। तभी तो वह कहता है—

'सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति।'

अर्थात् 'सभी वेदसे सिद्ध होता है।' आज भी वह मनुस्मृतिका यह श्लोक स्मरण करते हुए आत्मगौरव अनुभव करता है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् सर्वं एव जना भुवि॥

अर्थात् 'इस भारतदेशमें उत्पन्न हुए वेदवित्

१. यजुर्वेद ११।५ मन्त्रांश-
'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥'
२. संस्क्रियते मानवः अनया इति संस्कृतिः अर्थात् सदाचारः।
'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' 'आचारः प्रथमो धर्मः॥'
३. सह भाति सा सभा। सभायां साधुः (निपुणः)
सभ्यः। सभ्यस्य भावः सभ्यता।
४. सभ्यस्य कर्म वा सभ्यता।

ब्राह्मणसे सभी देशोंके सभी मनुष्य अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें।'

४-इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद-विहित आचार-विचार-परम्परा ही 'हिंदू-संस्कृति और सभ्यता' कही और मानी जाती है।[1] इसीसे 'आस्तिक्य' हिंदू-सभ्यता और संस्कृतिका प्रधान लक्षण है।' वेदके निन्दकको मनु महाराज 'नास्तिक' कहकर पुकारते हैं—'**नास्तिको वेदनिन्दकः।**' वेदको प्रमाण माननेवाला आर्य हिंदू वेद-विधायक परमपिता परमात्माको भी मानता है।[2] वह परमपिता परमात्माको वेदका मुख्य प्रतिपाद्य विषय[3] भी तथा इस सृष्टिका आदि कारण[4] भी मानता है। यही मान्यता हिंदू-सभ्यता और संस्कृतिकी मौलिक विशेषता है। यह मान्यता कोरा विश्वास नहीं है, अपितु ऋषियोंके समाधिगत अनुभव[5] और व्युत्थानगत विचार[6]-विमर्श (तर्कबुद्धि)-पर दृढ़तासे आधारित है।

५-हिंदू-सभ्यता और संस्कृतिकी दूसरी विशेषता है—आत्मवाद। वेदमें तथा वेदानुकूल ग्रन्थोंमें इसको भिन्न-भिन्न नामोंसे उल्लिखित किया गया है; यथा—समदृष्टि, एकत्व तथा समता इत्यादि। इसी आत्मवादको दार्शनिक पद्धतिमें 'अद्वैत' कहा गया है। यद्यपि हिंदू-दर्शनमें द्वैत-सिद्धान्त भी विविध रीतियोंसे पोषित हुआ है, तथापि द्वैत-सिद्धान्त तथा अद्वैत-सिद्धान्तमें प्रतिफलित तात्त्विक निष्कर्ष एक ही है। मैं समझता हूँ कि भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक साधन-पद्धतियोंकी समीचीनता सिद्ध करनेके लिये ही भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंके प्रतिपादनमें आचार्योंने बौद्धिक श्रम किया है और इस श्रमसे अनेक छोटी-बड़ी समस्याओंके हल भी मिले हैं; परंतु यह सभी श्रम केवल एक बात हमें सिद्धान्ततः बता सका है—कि 'साधन अनेक होते हुए भी साध्य एक हो सकता है, एक स्थानतक पहुँचनेके अनेक मार्ग हो सकते हैं।' '**साधनानामनेकता**' (लोकमान्य तिलक)। आत्मवादको किसी-न-किसी रूपमें सभी हिंदू-दर्शन मानते हैं।

६-हाँ तो, आस्तिक्य और आत्मवाद हिंदू-सभ्यता और संस्कृतिके दो प्रधान स्तम्भ हैं। 'आस्तिक्य' के द्वारा हिंदुओंने 'विश्व' और 'स्व' का विश्लेषण करके चरमतत्त्वको माना और जाना तथा 'आत्मवाद' के द्वारा उन्होंने विविधरूप इस विशाल विश्वको 'मणिसूत्र-न्यायसे' संश्लिष्ट देखा और समझा। 'आस्तिक्य' से उन्हें ज्ञान मिला था और आत्मवादसे उन्हें विज्ञान। ज्ञान और विज्ञान दोनोंके मिश्रणसे उन्होंने 'कला' का विकास किया था। सम्पूर्ण ज्ञान, विज्ञान एवं कलाओंका मूलरूप वेदमें उपलब्ध है—आज भी हिंदुओंका यह विचार अडिग है। क्योंकि आधुनिकतम आविष्कारों और अनुसन्धानोंके सूत्र उन्हें किसी-न-किसी रूपमें वेदमें बराबर मिले और मिल रहे हैं। ऐसा किसी भी अन्य संस्कृति और सभ्यताके प्राचीन ग्रन्थोंमें नहीं मिलता।

७-आज प्रायः सभी देशोंके विद्वान् यह मान गये हैं कि ऋग्वेद सम्पूर्ण ज्ञात जगत्का प्राचीनतम लेखबद्ध ग्रन्थ है। वे अब यह सभी मानने लगे हैं कि ऋग्वेदमें जिस सभ्यता और संस्कृतिका वर्णन मिलता है, वह बहुत ऊँची कक्षाकी है। फिर भी कुछ दुराग्रही पाश्चात्त्य पण्डित यह माननेपर अड़े हैं कि मिस्रदेशकी सभ्यता और संस्कृति ही प्राचीनतम है। देखना यह है कि नवीनतम अनुसन्धानोंकी आँधी-वर्षामें वे अपने इस दुराग्रहरूप बालुका-दुर्गकी कबतक रक्षा कर सकेंगे। हिंदू तो आदिकालसे अपनी सभ्यता और संस्कृतिको प्राचीनतम मानता चला आया है और अब भी मानता है। वह अपनी संस्कृति और सभ्यताको प्राचीनतम ही नहीं, अपितु श्रेष्ठतम भी मानता है। उसका यह दृढ़ विश्वास आज भी नहीं हिला कि 'विश्व-प्रेम' और 'विश्व-शान्ति' का आजका स्वप्न वैदिक सभ्यता और संस्कृतिको अपनानेसे ही सत्यमें परिणत होगा। आज भी वैदिक-सभ्यता और संस्कृति डिण्डिम-घोषसे कह रही है—

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्[7]॥

(यजु० ४०।१)

१. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। (मनु० २।६)
२. ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्। (गीता ३।१५)
३. वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। (गीता १५।१५)
४. जन्माद्यस्य यतः। (ब्र० सू० १।२)
५. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। (यजु० ३१।१८)—इत्यादि
६. ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। (यजु० ४०।१)—इत्यादि
७. हे मानव! इस विशाल परिवर्तनशील विश्वमें जो कुछ गति-विधि है, उस सबपर परमेश्वरका नियन्त्रण है। (सचमुच यह जगत् उस परमपिताका अपूर्व वरदान है।) इस वरदानका तू उपभोग कर (इस वरदानपर सभीका समान अधिकार है, अतः) किसी अन्यके भागको भोगनेका लोभ न रख।

× × ×

× × × ×

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतᳪ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे[१]॥
(यजु० ४०।२)

× × × ×

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
(यजु० ४०।६)

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः[२]॥
(यजु० ४०।७)

× × × ×

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६।३०)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः[३]॥
(गीता ६।३२)

× × × ×

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथापूर्वे सं जानाना उपासते॥
(ऋ० १०।१९१।२)

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥
(ऋ० १०।१९१।३)

समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति[४]॥
(ऋ० १०।१९१।४)

८. ऊपरके उद्धरणोंसे यह समझना सरल होगा कि आस्तिक्य और आत्मवादके ऊपर टिकी हुई हिंदू-सभ्यता और संस्कृतिके अन्तर्गत जिस 'आस्तिक सर्वतः साम्य' का उपदेश हुआ है, उसके सामने आधुनिक 'साम्यवाद'[५] एवं 'समाजवाद'[६] तथा 'लोकवाद'[७] के अन्तर्गत तथाकथित विविध प्रकारका केवल 'आर्थिक साम्य'[८] कितना थोथा और अपूर्ण प्रतीत होता है। इस आधुनिक आर्थिक साम्यमें मनुष्य और यन्त्र-मनुष्यमें अन्तर ही क्या रह जायगा—यह विचारणीय है। फिर शान्ति और सुखका उद्देश्य ही क्या होगा? आज आधुनिक साम्यवाद, समाजवाद और लोकवादके नामपर जिस 'साम्य' का राग अलापा जा रहा है, उसमें 'आस्तिक्य' का स्पर्श भी नहीं। इस नास्तिक साम्यसे चिर विश्व-शान्ति किंवा विश्वप्रेमका कभी आविर्भाव होगा—हमें तो इसमें सन्देह ही है। यों तो 'हरड़ेके दस हाथ होते हैं'—ऐसा कहनेवालेके मुखको भी कोई रोक नहीं सकता।[९]

९. हिंदू आचार-परम्पराने 'लोक' को और हिंदू-

---

१. हर मनुष्यको चाहिये कि पूर्णायु भोगनेके लिये वह जबतक जिये, कर्म करते हुए ही जीनेकी इच्छा रखे। यही उपाय है; इससे अन्य कोई नहीं, जिससे ऐ मानव! तू कर्मके बन्धनमें नहीं बँधेगा।

२. जो सब भूतोंको आत्मा (अपने)-में और अपनेको सब भूतोंमें देखता है—समझता है, फिर वह किसीसे घृणा नहीं करता अर्थात् सभीसे प्रेम करता है। जहाँ एकत्व (आत्मोपमासे समता) को देखने-समझनेवाले विद्वान्‌के लिये सब प्राणी आत्मा ही हो गये, वहाँ शोक और मोह कैसा?

३. जो सबमें मुझे और मुझ (ईश्वर) को सबमें देखता है, मेरे लिये वह और उसके लिये मैं कभी नष्ट नहीं होता। आत्मोपमासे सबके दुःख और सुखको जिसने समान समझ लिया, वही योगी मुझे विशेष प्यारा है अथवा मेरे मतमें श्रेष्ठ है।

४. ऐ मनुष्यो! मिल-जुलकर प्रगति करो; मिल-जुलकर बातचीत करो; मिल-जुलकर विचार करो। तुम्हारे पूर्वज विद्वान् मिल-जुलकर विचार करते हुए ही अपने-अपने अधिकारके अनुसार सदा आचरण करते आये हैं। तुम सबके विचार, संघटन, मन और चित्त समान हों। मैं (ईश्वर) तुम सबको यही समान उपदेश देता हूँ और समान भोगाधिकारसे युक्त करता हूँ। तुम्हारा सबका अभिप्राय समान हो, हृदय समान हों, मन समान हो, जिससे तुम सब अच्छी प्रकार साथ-साथ रह सको।

५-कम्युनिज्म (Communism)

६-सोशलिज्म (Socialism)

७-डेमोक्रेसी (Democracy)

८-आर्थिक समवितरण (Equitable Distribution of wealth)

९-मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी—यह एक संस्कृतकी कहावत है।

विचार-परम्पराने 'लोकेश्वर' को सदा सर्वोच्च स्थान दिया है। इन्हीं दोनों परम्पराओंके अनुसार हिंदू-संस्कृति और सभ्यता अबसे बहुत पहले ही दृढ़ 'आस्तिक लोकतन्त्र'[1] का निर्माण कर चुकी थी। यही कारण है कि हिंदू-संस्कृति और सभ्यतामें हम पद-पदपर संस्कारों और यज्ञोंका बोल-बाला[2], धर्ममें अभ्युदय और निःश्रेयसका समावेश[3], शास्त्रमें कर्म और ज्ञानका समन्वय[4] और विधानमें क्षत्र और ब्रह्मका अटूट संयोग[5] पाते हैं।

संस्कृति और वेद

(लेखक—श्रीरामलालजी पहाड़ा)

ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ है और इसमें इस देशके निवासियोंका नाम 'भारत' है। यथा—

य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्॥

(ऋ० ३।५३।१२)

इसका साधारण अर्थ—"आकाश, पृथ्वी दोनोंके मध्य अन्तरिक्षमें स्थित इन्द्रकी मैंने स्तुति की है। विश्वामित्रका किया हुआ स्तोत्र 'भारत-जन' की रक्षा करे या करता है।" गीतामें भी देश-सम्बन्धसे अर्जुनको सम्बोधित करते हुए अनेक बार 'भारत या भरतर्षभ' कहा है। यथा—

'व्यक्तमध्यानि भारत', 'पश्याश्चर्याणि भारत', 'जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ', 'ज्ञानी च भरतर्षभ', 'सत्त्वं भवति भारत', 'तन्निबध्नाति भारत', 'रजः कर्मणि भारत।'

यह महिमायुक्त नाम उसी देशको दिया गया था, जो सबका 'भरण' करता था। मानसकार महात्माजी भी कहते हैं—

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥

अनन्तर 'आर्यावर्त' नाम हुआ। यहाँके निवासियोंने कृषिके काममें श्रेष्ठता प्राप्त की। 'ऋ' का अर्थ गति है और जो गतिशील, परमार्थकी ओर अग्रसर होता है, वह ऋषि है। ऋषिका अर्थ निर्मल-बुद्धिसम्पन्न जीवनोपयोगी मन्त्ररहस्य-द्रष्टा पुरुष है। यहाँ अनेक ऋषि हुए, इसलिये यह देश आर्यभूमि या आर्यावर्त कहलाया। बार-बार किसी काम या बातके होनेसे मनपर प्रभाव पड़ जाता है। यही प्रभाव संस्कार है, जो अमिट बन जाता है। इतना परिवर्तन होनेपर भी यहाँवालोंको 'भारत' या 'आर्य' कहलानेमें गौरव प्रतीत होता है। जब देशकी सीमा छोटी हुई, तब एक नदीको 'सिंधु' कहा। 'सीमाको धोये' वह सिन्धु है (**सीमां धौतिया सा**) इस कारण लाक्षणिक ढंगसे सिन्धुको समुद्र भी कहना आरम्भ हुआ। जो कुछ हो—इस नदीके सम्बन्धसे अपर जनोंने यहाँके निवासियोंको सिंधु अर्थात् 'हिंदू' कहना आरम्भ किया। ऐसा परिवर्तन होता ही रहता है। इसे अपनी कसौटीसे देखनेपर अभिप्राय 'हीनताको दूर करनेवाले' होता है (**हीनतां दुनोति दूरीकरोति यः सः**)। हमको अन्य जनोंकी दृष्टिसे या अर्थ (अन्य-भाषा-भाषियोंके कोषमें दिये हुए) से क्या प्रयोजन! अस्तु।

यदि प्राचीन ऋषिप्रणीत संस्कारोंको देखा जाय तो

१. आस्तिक लोकतन्त्र—वह राज्य-व्यवस्था, जिसमें शास्त्र-विधिके अनुसार अभिषिक्त राजाको प्रजा देवता समझती थी। तथा राजा प्रजा-पालनको अपना प्रधान कर्तव्य समझता था; इसी कारण उसे 'नृप भी कहा जाता था। तुलना कीजिये।'

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो 'नृप' अवसि नरक अधिकारी॥

इसीको 'रामराज्य' भी कहा गया है। यथा—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं ब्यापा॥

२. सोलह संस्कार प्रसिद्ध हैं। कहीं-कहीं चौवालीस संस्कार भी बताये गये हैं तथा उनमें यज्ञोंकी भी गणना की गयी है (देखिये-नारदपरिव्राजकोपनिषद्)। यज्ञोंके असंख्य प्रकार हैं। हिंदुओंमें यज्ञोंकी सदा प्रधानता रही है। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।' (यजु० ३१।१६)

३. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥ (वैशेषिकदर्शन १।१)

४. सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। (गीता ५।४)

५. इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्॥ (यजु० ३२।१६)

वे जीवनमें आनेवाली हीनताको दूर करनेके अमोघ उपाय हैं। इस देशमें चलाये हुए व्रत, उत्सव, नित्य-नैमित्तिक कार्य, मेले, लोकव्यवहार आदि सबका अन्तर ध्येय जीवनकी हीनताको हटाकर मनुष्योंको आनन्दमय बनाना है। संस्कारोंका ध्येय आत्मसूचना देकर जीवनको सुचारु ढाँचेमें ढालनेका है। व्रतोंका लक्ष्य ऋतु-अनुसार आहार-विहार करते हुए दुःखनाशक योगको प्राप्त करना है। ऋषियोंने वेदोंकी संस्कृतिकी रक्षाके हेतु अष्टाध्यायी 'रुद्र' का संकलन किया। वे समझने लग गये कि इतने विशाल वेदका अध्ययन-अध्यापन कठिन हो जायगा तथा लोक-व्यवहार विकृतिको पहुँच जायगा। 'रुद्र' का हेतु यह था कि लोकव्यवहारार्थ कम-से-कम इतने वेद-ज्ञानका सिंचन लोगोंके हृदयोंमें होता रहे। संस्कृतिके रक्षार्थ नित्य कर्मके नियम बनाये गये। सन्ध्या-तर्पण, वैश्वदेव, संस्कार, व्रत आदिकी योजनाएँ की गयीं। लोगोंको एकत्रितकर अपनी संस्कृतिको स्थिर रखनेके लिये मेले तथा बृहत् सम्मेलन (यथा कुम्भ आदिपर प्रयाग, नासिक, उज्जैनके मेले) किये गये। तीर्थोंका मुख्य ध्येय संस्कृतिका प्रचार करना था। लोग आकर पवित्राचारके कार्योंको देखकर अपने जीवन-सुधारकी शिक्षा ग्रहण करें। आजकल ये स्थान प्रायः भ्रष्टाचार एवं भिक्षाचारके केन्द्र बन गये हैं। प्राचीन ऋषियोंके आश्रम रहते थे, जहाँ सब उत्पादक परिश्रम करके जीवन व्यतीत करते थे। आ+श्रम=पूर्ण श्रम, जिससे उन्नति और कल्याण हो। इस तरह वे स्वावलम्बी जीवनकी शिक्षाके केन्द्र थे।

ऋषियोंकी दूर दृष्टिके प्रमाणमें चारों वेद-संहिताओंके '**अथ** और **इति**' की ऋचाओंका कुछ विचार जनताके मननार्थ दिया जाता है—

ऋग्वेद—**ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।** (१।१।१)

'अग्नि' ध्वनिसे अनेक अर्थोंकी सम्भावना होती है। इनमें कुछको लेकर विचार व्यक्त किया जाता है।

(१) भौतिक रूपमें अनेक कामोंमें लायी जाती है। इसके तीन स्थान मुख्य होनेसे गार्हपत्य, आहवनीय और दाक्षिणात्य—तीन रूप माने जाते हैं। गार्हपत्य जो घरमें, आहवनीय जो यज्ञों या कला-कौशलके कार्योंमें, दाक्षिणात्य जो विश्लेषण या श्मशानमें काम आती है। ऋषि भावना करता है कि मैं अग्निकी स्तुति करता हूँ, जो आवश्यक कार्यके सत्यफलको उत्पन्न करनेवाला, उत्तम कार्योंको संपादन करनेवाला तथा मूल्यवान् वस्तुओंको धारण करनेमें समर्थ है।

(२) दैविकरूपमें सूर्य और विद्युत् या स्वयं घर्षणसे होनेवाली है, यथा समुद्रमें बडवानल और पृथ्वीके गर्भमें ज्वलनशील स्फोटक पदार्थ हैं। यह भी पूर्वसे ही रखी है और सामने प्रत्यक्ष भी है। ज्ञान बढ़ानेमें सहायता करती है और रमणीय पदार्थोंको उत्पन्न करती है।

(३) आध्यात्मिकरूपमें परमात्मा है, जो सब यज्ञोंका कर्ता-धर्ता है और रत्नरूप मोक्षको देनेवाला है।

(४) लौकिकरूपमें पुत्र या मित्र है, जो जीवनके कार्योंको सँभालनेवाला और सम्पत्तिको धारण करनेवाला है तथा यशको फैलानेवाला है।

(५) सामाजिकरूपमें अग्रणी—नेता है, जो संस्था या समाजके कार्योंके करनेमें प्रधान पुरुष है और उत्तम ज्ञानको धारण कर समयपर तदनुकूल काम करनेवाला है।

(६) शारीरिक रूपमें वीर्य तथा जठराग्नि है, जो भोजनका सार निकालकर उत्तम गुणों या बलोंको धारण करता और शरीर-यात्रामें सहायता करता है।

(७) मानसिक (मनोविज्ञान) रूपमें विवेक है, जो जीवनके सारासारको निकालकर सदाचरण धारण करने या व्यवहारमें लानेके लिये सहायक होता है।

(८) जीवशास्त्रमें प्राण है, जो शरीरमें जीवन रखता और सबसे उत्कृष्ट वस्तु श्वास आदिको धारणकर चैतन्यको प्रकट किया करता है।

(९) अर्थशास्त्रमें सम्पत्ति, भूमि और परिश्रम है, जो जीवनोपयोगी वस्तुओंको उत्पन्नकर उत्तम साम्यको धारणकर शान्ति स्थापित करते हैं।

(१०) कामशास्त्रमें स्त्री या वधू है, जो कौटुम्बिक जीवनमें मुख्य कार्यभाग सम्पादनकर पुत्र या पुत्री-रत्नोंको धारणकर समाजकी वृद्धिमें मुख्य घटक है।

(११) धर्मशास्त्रमें सदाचार है, जो जीवनका ध्येय रख उत्तम भावोंको धारणकर समाजमें शान्ति लाता है।

(१२) वैद्यशास्त्रमें ओषधि है जो शरीरमें सत्त्व, बल देकर उत्तम धातुकी रक्षा करता और जीवननिर्वाहमें सहायक होता है।

अब '**इति**' को देखिये—

श्रीमीनाक्षी और श्रीसुन्देरेश्वरके मन्दिर—मदुरा

श्रीमीनाक्षी-स्वर्णकमल-सरोवर
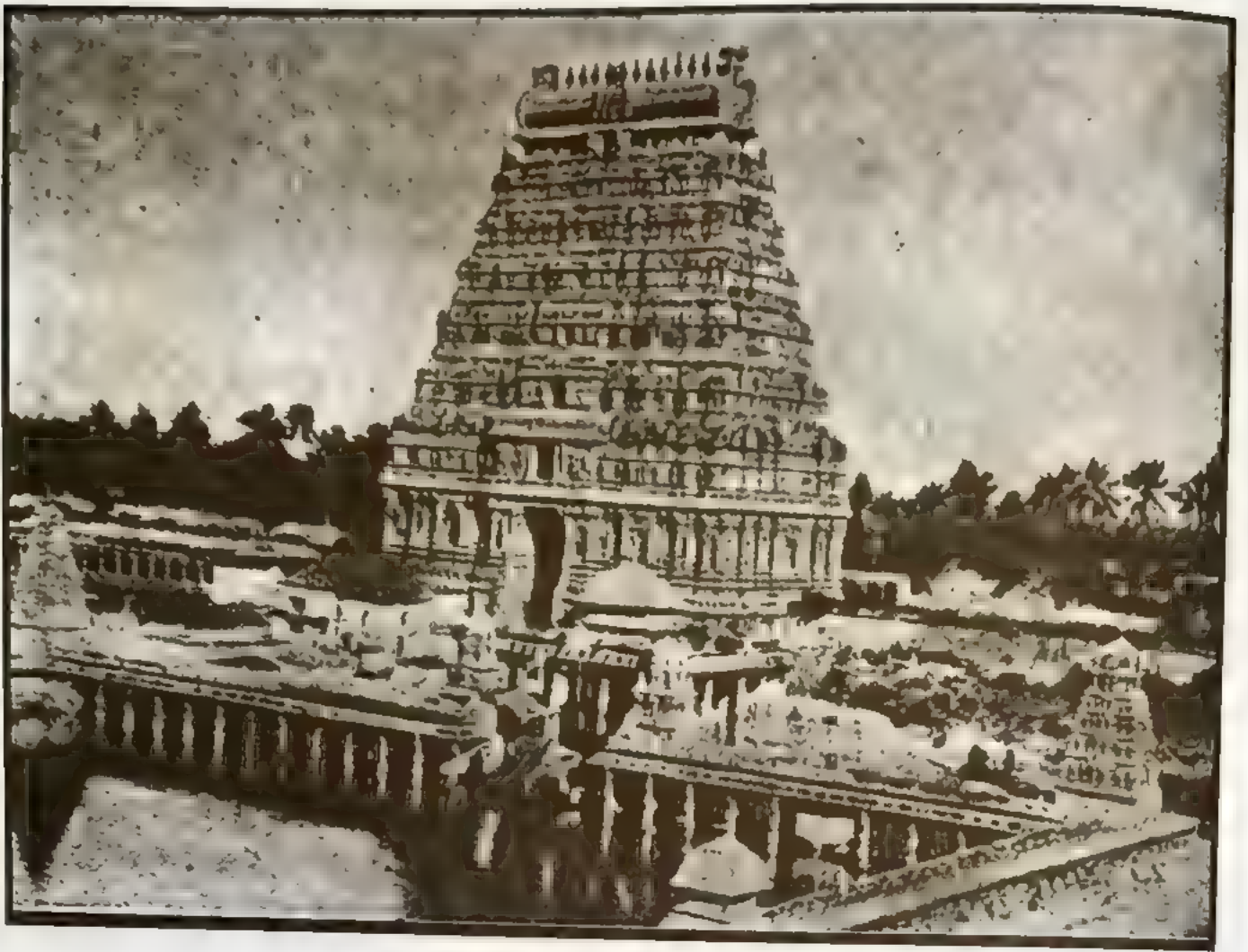
श्रीचिदम्बरम्‌के मन्दिरका गोपुर

बृहदीश्वर-मन्दिर—तञ्जौर

(१) **सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।**
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

(ऋ० १।१९१।२)

जिसे देव—सुनागरिक पहले ही अच्छी तरह स्व-मर्यादा तथा तदनुकूल कर्तव्योंको जानकर उपासना करते हैं, समीप रहकर काम करते हैं, वैसे ही तुम सब समीप रहकर समान गति करो, समान बोलो अर्थात् उन्नतिके लिये प्रयत्न करो और मन्तव्य प्रकट करो, भेदभाव मत रखो कि कोई कुछ कहे और कोई कुछ। इसलिये परस्पर समान ढंगसे सब मनोगत भावोंको जाननेका प्रयत्न करो। व्यक्तिगत विचारको सर्वोपरि बतलाकर लोगोंकी दुर्गति मत करो। सब काम अनुशासनमें रहकर करो।

(२) **समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।** (ऋ० १।१९१।३)

किसी भी काममें प्रवृत्त होनेका एक-सा मान (Standard) रहे। इसी तरह मन्त्रणा करनेका, निर्णय करनेका एक-सा ढंग रहे। सबका चित्त एक ही ओर झुका रहे। प्रत्येक व्यक्ति यही विचार रखे कि मैं निर्णीत मन्त्रका अनुसरण करूँ और समाजके कार्यमें समान रीतिसे भाग लूँ। यज्ञमें सबके साथ हवि डालूँ—समाजके काममें यथाशक्ति सुअवसरपर स्वार्थत्याग करूँ या आवश्यक कार्य-भाग लूँ। वेदका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि चाहे जिसके साथ उठो या बैठो और भक्ष्याभक्ष्यका विचार न करके खाओ-पीओ, और मर्यादाभ्रष्ट होकर कुछ भेद मत रखो। अपनी सीमामें रहकर एक-सा मान रखते हुए काम करो। विवेकसे काम लो। विवेकभ्रष्ट मत होओ।

(३) **समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।**
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋ० १०।१९१।४)

किसी बातको कूँतनेका (कीमत स्थिर करनेका) ढंग एक-सा रहे। इसी तरह सबके हृदयोंमें एक-सी विचारधारा प्रवाहित हो। (यथा—गो-वध-निवारणके सम्बन्धमें सबके हृदयोंमें एक-से विचार रहें।) सबके मन एक ही बातपर जमें, और सबका साहित्य भी एक ही मानका हो। अर्थात् आचार, विचार, पठन-पाठन, वेषभूषा आदि जीवनके कार्योंका मान (Standard) एक-सा रहे। इस तरह साम्यभावसे ईर्ष्याका प्रसार नहीं होता। देशमें सबका जीवन सुखी होता है।

ऋषियोंने इस वेदमें महावाक्य (Life-motto) यह रखा है—'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**', निश्चयपूर्वक यह सब ब्रह्म है। सबको समान जानकर सबके साथ मर्यादापूर्वक समान व्यवहार करना ही सर्वोपरि ज्ञान है या संस्कृतिका उत्तम रूप है। इसकी रक्षाके लिये इतने संस्कारादि रखे गये हैं। यही साम्यवादका सत्य स्वरूप है।

यजुर्वेद—ॐ **इषे त्वोर्जे त्वा, वायव स्थ, देवो वः सविता प्रार्पयतु, श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वम्, अघ्न्याऽ इन्द्राय भागं, प्रजावतीः अनमीवाऽअयक्ष्मा मा व स्तेनऽईशत माऽघशंꣳसः ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात्, बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि।** (यजु० १।१)

(१) हे परमेश्वर! मैं तुम्हारी ब्रह्म-तत्त्व और विवेकके लिये प्रार्थना करता हूँ।

(२) मैं यथेष्ट वर्षा और अन्नके लिये प्रार्थना करता हूँ।

(३) सुप्रजा और अभ्युदयके लिये प्रार्थना करता हूँ।

(४) स्वत्वाधिकार और उत्कृष्ट सदाचारके लिये प्रार्थना करता हूँ। क्योंकि तुम सर्वत्र गमनशील हो, सबकी चिन्ता करते हो। सबको उत्पन्न करनेवाले देव श्रेष्ठ कर्मोंके लिये प्राप्त हों और प्रेरित करें। इन्द्रके हेतु यह भाग—इन्द्रियाँ, कृषिहेतु—गौएँ और सुखहेतु—ज्ञानमयी बातें हनन करनेयोग्य नहीं हैं। ईश्वरकृपासे गायें, स्त्रियाँ, बुद्धियाँ प्रजावती, रोगरहित और क्षयरोगसे रहित होवें; इनपर चोर और दुष्टजन अधिकार न करें। हे परमेश्वर! तुम्हारे पतित्व—स्वामित्वमें प्रजा, गायें, बुद्धि—सब कुछ अचल रहें और यजमान—कर्तव्यशील मनुष्यकी इन्द्रियाँ, गायें और अन्य पशुओंकी रक्षा करो और संख्या बढ़ाओ। यजुर्वेदका अन्तिम अध्याय उपनिषद्की गणनामें आ गया है। अतएव इसके पहलेके (३९ वें) अध्यायके अन्तमें इस प्रकार है—

तपसे स्वाहा, तप्यते स्वाहा, तप्यमानाय स्वाहा, तपताय स्वाहा, घर्माय स्वाहा। निष्कृत्यै स्वाहा, प्रायश्चित्यै स्वाहा, भेषजाय स्वाहा॥ यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा, मृत्यवे स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा, ब्रह्महत्यायै स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा॥

(यजु० ३९।१२-१३)

तप तपनेवाले, तपे हुए, तप करते हुए, पसीना टपकाते हुए अर्थात् उचित और उत्पादक परिश्रम करनेवाले मनुष्य धन्य हैं। उनकी सारी आवश्यकताओंकी प्रभु-

कृपासे पूर्ति होती रहे। उचित पुरस्कार देनेवाले, प्रायश्चित्त करनेवाली ओषधियाँ भी धन्य हैं। इनका उचित उपयोग—सत्कार किया जाय। नियन्त्रण कर अनुशासन रखनेवाले, झगड़ोंका अन्त करनेवाले मृत्यु! तू भी धन्य है। ब्रह्म—सारे समाजके लिये उचित त्याग किया जाय और समाजके घातकको उचित दण्ड दिया जाय। सब देवोंकी तृप्ति की जाय और पृथ्वी और अन्तरिक्ष सुखदायक हों।

अथवा ४० वेंके अन्तमें इस प्रकार है—

अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम॥ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ॐ खं ब्रह्म॥ (यजु० ४०।१६-१७)

हे अग्नि! जानते हुए सुपथमें हमको ले चलो। देवको प्रिय सब प्रकारके धन-ऐश्वर्य हों (प्राप्त हों)। हम तुमको नमस्कार करते हैं, तुम्हारी स्तुति करते हैं। तुम (कृपाकर) कुटिल पापको दूर हटाओ। सत्यका मुँह चमकीले पात्रसे ढका है। सत्यकी खोज करते समय आरम्भमें चमकीली बातें भ्रममें डाल देती हैं (संसारकी चमक-दमकके लोभमें पड़कर या नाम-रूपकी उपाधिमें अटककर वस्तु-तत्त्वको जानना कठिन हो जाता है)। आदित्यमें जो पुरुष है, वही मैं हूँ। मैं अखण्ड पुरुष हूँ। इसलिये इसका महावाक्य 'तत्त्वमसि' है। वही (अखण्ड-पुरुषका बिम्ब) तू है। समाज तू ही है (समाजका प्रतीक तू ही है) और तू ही समाज है। तू ही समाज (ब्रह्म)-को झलकाता है। तुझपरसे ब्रह्मके भास (समाजकी संस्कृति)-का अनुमान हो जाता है। इससे समाजवादका उत्तम स्वरूप ध्यानमें आता है। समाजमें प्रत्येक व्यक्ति समाजकी स्थिर संस्कृतिका आदर करनेवाला हो। वह अपनेको समाज-संस्कृतिका रक्षक माने।

सामवेद—**अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि। त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने॥** (साम० १।१।१-२)

हे अग्नि! स्तुति करनेवाले और उचित हवि (आवश्यक सामग्री) देनेवालेके घर आकर कुशासन (उचित स्थान) पर मुख्य आराध्याराधक होकर बैठिये। तुम मेरे यज्ञोंके सम्पादन करनेवाले हो। मनुष्य-समाजमें उत्तम गुणोंद्वारा सबका हित करते हो।

अन्तमें इस प्रकार है—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ (साम० २१।१।९)

विशाल कीर्तिवाले इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें, विश्व-ज्ञानी सबके पोषण करनेवाले सूर्यदेव हमारा कल्याण करें। अकुण्ठित आयुधवाले विष्णु (विश्वकर्मा) हमारा कल्याण करें, वाणीके पति या देवोंके गुरु हमारा कल्याण करें।

इसका महावाक्य है—'**अयमात्मा ब्रह्म**'—यह आत्मा, चैतन्य व्यक्ति ही ब्रह्म है। यही ब्रह्मका (सभी समाजका) भास दे रहा है। यह भी समाजमें साम्यवाद रखनेका उत्तम ढंग है।

अथर्ववेद—**ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥** (अथर्व० १।१।१)

वाचस्पति (देवोंके गुरु) मेरे शरीरमें अब उनके बल रखें, जो सब तीन और सात या इक्कीस होकर (तीन गुण) और सात धातु—व्याहृतियाँ) या पाँच भूत, पाँच तन्मात्रा और दस अधिष्ठान इन्द्रियाँ और जीव सब रूपोंको भरते हुए चारों ओर घेरकर स्थित हैं। सब रूप इन्हींमें हैं और ये सब रूपोंमें न्यूनाधिक प्रमाणसे हैं।

अन्तमें इस प्रकार है—

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नोऽभवत्वन्तरिक्षम्। क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥ पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः। सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वाँ इत् ताँ उप याता पिबध्यै॥ (अथर्व० ९।१४३।८-९)

ओषधियाँ, द्यौ (आकाश), पानी (मेघ), अन्तरिक्ष (वातावरण), क्षेत्रपति क्रुद्ध न होते हुए हमारे लिये मधु-समान हों, हम उनका अनुसरण करते रहें। अश्विनीकुमारोंके द्वारा यह पृथ्वी, वातावरण और आकाशका मण्डल ही भंडार बनाया गया है अर्थात् थलचर, व्योमचर जीवोंके हेतु यह सुखदायक स्थान बनाया गया है। इस गोठानमें सहस्रों यहाँ आकर पानी पीयें और अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति करें। सब इकट्ठे होकर उपभोग लें।

इसका महावाक्य—'सोऽहम्' है। मैं ही वह (ब्रह्मका बिम्ब) हूँ, मुझमें ब्रह्म (समाज)-की युग-युगान्तरसे आयी हुई कृतियोंका समावेश है। मैं उन सबको प्रसंगानुसार उद्भूत किया करता हूँ।

हिंदू-संस्कृतिका आधार

(लेखक—पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी)

'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषाका है। संस्कृत-व्याकरणानुसार 'सम्' (उत्तम) उपसर्गपूर्वक 'कृञ्' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय होनेपर 'संस्कृति' शब्द निष्पन्न होता है। उसका सरल अर्थ है 'उत्तम कृति' अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदिकी उत्तम (सम्यक्) चेष्टाएँ या हलचलें। इनमें लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सभी प्रकारके अभ्युदय—उन्नतिके अनुकूल चेष्टाएँ आ जाती हैं। वैसे तो देहादिकी अच्छी-बुरी सभी चेष्टाएँ 'कृति' हैं; किंतु उनमें अच्छी, सम्यक्, उत्तम चेष्टाएँ ही 'संस्कृति' (सम्+कृति) कही जाती हैं। हिंदुओंकी कृतियोंकी सभ्यता श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहासादि ग्रन्थों तथा शिष्टानुमोदित परम्परागत सदाचारपर आधारित है। अर्थात् श्रुति-स्मृति-सदाचारादिसे अनुमोदित, उनपर आधारित कृति ही 'हिंदू-संस्कृति' है। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि वेदादि-शास्त्रप्रतिपादित उन वर्ण-आश्रमादिके यथाधिकार धर्म ही 'संस्कृति' हैं। सारांश यह कि वेदादि शास्त्रों तथा शिष्टानुमोदित परम्परागत आचार-विचारवाले समाजमें उत्पन्न, तादृश वेदादि शास्त्रोंका प्रामाण्य माननेवाला, उनपर विश्वास रखकर तदनुकूल व्यवहार करनेवाला व्यक्ति ही 'हिंदू' है और उसके उक्त आचार-विचार ही 'हिंदू-संस्कृति' हैं।

संक्षेपतः मैं यहाँ इस 'हिंदू-संस्कृति' के आधारभूत शास्त्रोंका पाठकोंकी जानकारीके लिये वर्णन उपस्थित कर रहा हूँ। शास्त्रका ही एक दूसरा नाम 'विद्या' है। साधारणतया परा और अपरा भेदसे विद्या दो प्रकारकी कही गयी है। प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मका साक्षात्कार सम्पादन करानेवाली विद्याको 'परा' और लौकिक-पारलौकिक अभ्युदयके अनुकूल विधि-विधानका उपदेश करनेवाली विद्याको 'अपरा' कहा गया है। श्रीशुक्राचार्यने 'नीतिसार' के चतुर्थ अध्यायके तीसरे प्रकरणमें बतलाया है कि वैसे तो विद्याके अनन्त भेद हैं, उनके नामतक नहीं गिनाये जा सकते; परंतु उनमें ३२ विद्याएँ मुख्य हैं। शुक्राचार्यका कहना है कि सम्पूर्ण रूपसे जिसमें वाणीका उपयोग किया जाता हो, वह 'विद्या' है—

'यद् यत् स्याद्वाचिकं सम्यक् कर्म विद्याभिसंज्ञकम्।'

पाठकगण यहाँ 'सम्यक् कर्म' इन पदोंपर ध्यान दें। 'सम्यक्' में 'सम्' छिपा हुआ है और 'कर्म' में 'कृति'। वही तो 'संस्कृति' है। इस प्रकार देखनेपर हमें ज्ञात होता है कि विद्या-पदवाच्य शास्त्र भी 'संस्कृति' के बोधक होनेके कारण 'सम्यक् वाचिककर्म' अर्थात् 'संस्कृति' कहे गये हैं। वाचिक कर्मके मूलमें मानसिक होना ही चाहिये। और वाचिकका उपयोग कायिक कर्मोंमें है; अतः वेदादि शास्त्रबोधित मानसिक, वाचिक और कायिक—तीनों प्रकारके सत्कर्म ही 'संस्कृति' कहे जा सकते हैं।

'हिंदू-संस्कृति' के आधारभूत उक्त बत्तीस विद्याओंमें ४ वेद (ऋक्, यजुः, साम और अथर्व), ४ उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व और तन्त्र), ६ वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष), ६ दर्शन (मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त और योग), इतिहास, पुराण, स्मृति, नास्तिकमत, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र, काव्य, देशभाषा, अवसरोक्ति, यवनमत और देशादि-धर्म हैं।

वेद

संक्षेपमें इन सबके लक्षण तथा परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—संहिता और ब्राह्मणभाग वेद कहा जाता है। संहिताभागमें मन्त्रोंका संग्रह है। जिनका उच्चारण करके किये हुए जप, होम, पूजन आदि देवताओंकी प्रीति-सम्पादनके कारण होते हैं; वे 'मन्त्र' हैं। मन्त्रोंका उपयोग कहाँ और कैसे किया जाता है, यह बतलानेवाला वेदभाग 'ब्राह्मण' कहा जाता है। जिस वेदमें गायत्री आदि छन्दोंके रूपमें मन्त्र अधिक संख्यामें होते हैं और जिन मन्त्रोंसे यज्ञोंमें हौत्र नामक कर्म सम्पादित होता है, वह 'ऋग्वेद' है। जिसमें अनेक मन्त्र एक साथ मिलाकर पढ़े जाते हैं और जो प्रायः किसी छन्दविशेषके रूपमें नहीं होते एवं जिनसे अध्वर्यु (यज्ञका एक ऋत्विक्) को कर्म करनेकी आज्ञा है, वह 'यजुर्वेद' है। जिसमें भिन्न-भिन्न ऋचाओंपर विशिष्ट पद्धतिसे गीतियुक्त मन्त्र हैं, वह 'सामवेद' है। उसके मन्त्रोंका उपयोग यज्ञोंमें उद्गाता आदि याज्ञिकगणके द्वारा विशिष्ट रीतिसे उच्चारणमें होता है। जिस वेदभागमें उपास्य देवताओंकी उपासनाके अनेक मन्त्र हैं, वह 'अथर्ववेद' कहा जाता है। उसका नाम 'अथर्वांगिरस' भी है। हिंदू-शास्त्र

वेदोंको अनादि, अपौरुषेय एवं स्वतः-प्रमाण मानते हैं। चारों वेदोंकी ११३१ शाखाएँ हैं, जिनमें ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १०१, सामवेदकी १००० और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ हैं। इनमेंसे अधिकतर लुप्त हो चुकी हैं। कुछ अभी उपलब्ध हैं, जिनकी अध्ययनाध्यापन-परम्परा प्रचलित है। यद्यपि कालकी महिमासे वेदोंके पढ़नेवाले कम होते जा रहे हैं; तथापि काशी, नासिक आदि कतिपय स्थानोंमें ब्राह्मणोंने इस परम्पराको अभीतक उज्जीवित रखा है। हजारोंकी संख्यामें वेदोंके मन्त्र इनको कण्ठस्थ हैं। पाठमें एक स्वर या मात्रा भी इधर-उधर होने नहीं पाती। उनके वहाँ यह परम्परा कबसे चली आ रही है, यह कहना कठिन है। इस वेद-पाठकोंकी स्मरणशक्ति देखकर आश्चर्य होता है।

उपवेद

इन चारों वेदोंमें प्रत्येकका एक-एक उपवेद है। 'आयुर्वेद' ऋग्वेदका उपवेद है। इसमें रोगोंकी पहचान, उनकी उत्पत्तिका कारण, चिकित्सा आदिका वर्णन है। इसको जानकर तदनुकूल आचरण करनेसे मनुष्यका स्वास्थ्य उत्तम रहता है और आयु बढ़ती है। इसीलिये यह आयुर्वेद कहा जाता है। [इसमें आकृति अर्थात् शरीर-रचना ('अनाटमी' तथा 'फिजियालजी') और औषध एवं चिकित्सा ('थेराप्यूटिक्स' तथा 'मेडिसन') दोनों आ जाते हैं।] धनुर्वेद यजुर्वेदका उपवेद है। इसमें युद्धसम्बन्धी सभी बातोंका वर्णन है। अनेक शस्त्र-अस्त्रोंके निर्माणकी विधि, उनके चलानेके उपाय, अनेक प्रकारकी व्यूह-रचनाएँ आदि विषय इसमें विस्तारके साथ बतलाये गये हैं। प्राचीन कालमें शस्त्रास्त्रोंमें धनुष मुख्य था, इसीलिये उसके नामपर इस उपवेदका नाम 'धनुर्वेद' है। गान्धर्ववेद' सामवेदका उपवेद है। इसमें उदात्त, अनुदात्त आदि भेदसे और वीणा तथा कण्ठसे निकलनेवाले षड्ज, ऋषभ आदि सात स्वरोंसे तालके साथ गानेकी विधि बतलायी गयी है। (इस तरह इसमें 'वोकल'—कण्ठ-सम्बन्धी और इंस्ट्रूमेण्टल)—तन्त्री-सम्बन्धी दोनों गान आ जाते हैं)। 'तन्त्र' अथर्ववेदका उपवेद है। इसमें अनेक उपास्य मन्त्रोंकी उपासनाकी विधियाँ, प्रयोग और उपसंहार (लौटाने) के साथ मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन आदि षट्कर्मोंके प्रकारका, उनके नियम आदि विशिष्ट प्रयोगोंके साथ विशद वर्णन है। (आजकलके लोग इन्हें टोना-टामन भले ही कहें, पर इनकी उपयोगिताको स्वर्गीय श्रीवुडरफ-सरीखे पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी स्वीकार किया है।)

वेदांग

उदात्त आदि स्वरभेदसे, ह्रस्व, दीर्घ आदि कालभेदसे, कण्ठ, तालु आदि स्थानभेद एवं बाह्य, आभ्यन्तर प्रयत्नोंके साथ वेदमन्त्रोंके पढ़नेकी विधि 'शिक्षा' कही जाती है। वैसी 'शिक्षा' की शिक्षा देनेवाले ग्रन्थको भी शिक्षा ही कहते हैं। शिक्षाएँ प्रत्येक वेदकी पृथक्-पृथक् एवं अनेक हैं। इसे वेदकी 'घ्राणेन्द्रिय' कहा गया है। शिक्षाके बाद 'कल्प' है। इसके दो भेद हैं—एक श्रौत, दूसरा स्मार्त। 'श्रौतकल्प' में ब्राह्मण नामक वेदभागमें कहे गये कर्मोंके प्रयोगकी विधियाँ बतलायी गयी हैं। 'स्मार्तकल्प' में उपनयनादि संस्कार एवं अन्यान्य स्मार्त कर्मोंकी विधियाँ कही गयी हैं। ये कल्प (सूत्र) प्रत्येक शाखाके जुदे-जुदे हैं। ये वेदोंके 'हाथ' माने गये हैं। 'व्याकरण' में धातु, प्रत्यय, सन्धि, समास, लिंग आदि भेदोंसे शब्दोंका साधन किया गया है। इसको जाननेसे शब्दोंकी शुद्धि-अशुद्धिका ज्ञान होता है। बोलनेमें शब्दोंकी शुद्धता एवं अशुद्धताका ज्ञान होना परमावश्यक है। व्याकरण वेदका 'मुख' है। पता चलता है कि प्राचीन समयमें ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न आदि कई व्याकरण प्रचलित थे; किंतु आज वे प्रायः नामशेष रह गये हैं, केवल पाणिनिका संस्कृत-व्याकरण ही विशेष प्रचलित है। 'निरुक्त' में शब्दोंका निर्वचन (निष्कर्षसे कथन) किया गया है और वाक्योंके अर्थोंका एकार्थरूपमें संग्रह किया गया है। यह वेदोंके शब्दोंका ठीक-ठीक अर्थ बतलाता है, इसलिये इसे वेदोंके 'कान' कहते हैं। पहले कई निरुक्त थे, ऐसा समझा जाता है; परंतु आजकल यास्काचार्यरचित निरुक्त ही उपलब्ध है। 'छन्द' में मगण आदि गणोंके भेदोंसे पद्य-रचनाकी शैलीका वर्णन है। गायत्री आदि वैदिक एवं आर्या आदि लौकिक छन्द हैं। 'छन्द' वेदका पाँचवाँ अंग है। यह वेदका 'चरण' कहा जाता है। छन्दके ग्रन्थोंमें पिंगलकृत सूत्र प्रधान है। 'ज्यौतिष' में नक्षत्र-ग्रहोंकी गतियोंसे संहिता-होरा एवं गणित आदिद्वारा पृथक्-पृथक् कालका निर्देश किया गया है। सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों तथा अश्विनी आदि ज्योति (नक्षत्रों)-द्वारा कालका बोध करानेके कारण इसको 'ज्यौतिष' कहते हैं। कालका ज्ञान यज्ञादि कर्मोंके लिये उपयुक्त है। यह शास्त्र वेदका 'नेत्र' माना जाता है। लगधाचार्यकृत वेदांगज्यौतिष ग्रन्थ

प्रसिद्ध है। ज्यौतिषका विषय बड़ा गम्भीर और साथ ही अति मनोरंजक है। इसकी सहायतासे प्राणीके भूत, वर्तमान, भविष्यके सुख-दुःखादि भोगोंका पता लग सकता है। भारतमें किसी समय यह शास्त्र बड़ी उन्नतिपर था। इसके फलितांशपर यूरोपके विद्वान् अभी कम विश्वास करते हैं। परन्तु कहा जाता है कि हिटलरको इस शास्त्रपर अधिक विश्वास था और वे ज्यौतिषियोंसे समझकर अपना कार्यक्रम निश्चित किया करते थे।

दर्शन

यहाँतक अंगोंका दिग्दर्शन कराया गया। आगे छः दर्शनोंका संक्षेपसे विवरण किया जाता है। 'मीमांसा' में अपूर्व, नियम, परिसंख्या आदि विधिभेद तथा अर्थवादादिभेदसे वेदवाक्योंके अर्थ लगानेकी पद्धति कही गयी है। इसको पूर्वमीमांसा भी कहते हैं। बिना इसकी सहायताके वेदवाक्योंका समन्वय नहीं किया जा सकता। इसके प्रधान आचार्य जैमिनि हुए हैं। ये वेदव्यास बादरायणके शिष्य थे। इन्होंने मीमांसाशास्त्रके **'अथातो धर्म जिज्ञासा'** आदि सूत्रोंका निर्माण किया है। इन सूत्रोंका शबरस्वामीने भाष्य किया है। कुमारिल भट्ट आदि और भी कई इस शास्त्रके आचार्य हुए हैं।

'न्याय' में भाव (द्रव्य, गुण आदि छः पदार्थ) तथा अभावोंका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे युक्तिपूर्वक विचार किया है। इसमें दो भेद हैं—एक न्याय और दूसरा वैशेषिक। इन दोनोंके मतोंमें कुछ अधिक अन्तर न होनेसे शुक्राचार्यने शुक्रनीतिसारमें इन दोनोंको 'न्याय' ही कहा है। न्यायके प्रधान आचार्य गौतम हुए हैं और वैशेषिकके कणाद। न्यायमतके अनुसार प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह तत्त्वोंके यथार्थ ज्ञानसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। कणाद द्रव्य, गुण आदि छः पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मुक्ति मानते हैं। गौतमके मतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—ये चार प्रमाण हैं; किंतु कणाद प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण मानकर अन्यका उन्हींमें अन्तर्भाव करते हैं। गौतमके मतमें प्रमेयादि पच्चीस तत्त्व इस प्रकार हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ (विषय), बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग (ये बारह प्रमेय हैं), संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त (यह चार प्रकारका है-सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम), अवयव (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन), तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास (इसके पाँच भेद हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत), छल (यह वाक् छल, सामान्यछल, उपचारछल—इस तरह तीन प्रकारका है), जाति और निग्रहस्थान।

कणादके मतानुसार भावरूप पदार्थ छः हैं—१. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य (जाति), ५. विशेष और ६ समवाय। इनके अतिरिक्त अभावरूप एक सातवाँ पदार्थ भी माना जाता है। उक्त पदार्थोंमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन—ये नौ 'द्रव्य' हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार—ये चौबीस 'गुण' माने जाते हैं। उत्क्षेपण (उछालना), अवक्षेपण (फेंकना), आकुंचन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना), गमन (चलना)-ये पाँच 'कर्म' हैं। पर और अपर—यह दो प्रकारका 'सामान्य' है। 'विशेष' अनन्त हैं। 'समवाय' एक है। अभाव चार प्रकारका है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव।

'सांख्य' का विषय पच्चीस तत्त्व हैं। तत्त्वों-की निश्चित संख्याकी विशेषता इसमें होनेसे इसका नाम 'सांख्य' है। इसके मुख्य आचार्य कपिल हुए हैं। इन्होंने सांख्यसूत्रोंद्वारा अपने सिद्धान्तको व्यक्त किया है। आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तापोंकी अत्यन्त निवृत्तिको ये पुरुषार्थ मानते हैं। पच्चीस तत्त्वोंमें १ पुरुष है, जो कूटस्थ होनेसे न किसीका कारण है न विकार। २ मूल प्रकृति, ३ महत्तत्त्व, ४ अहंकार, ५—९ पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-तन्मात्रा), १०—१४ पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पंचीकृत पाँच महाभूत, १५—१९ हस्त, पाद, वाणी, मलेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रिय—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, २०—२४ कान, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और २५ वाँ मन,— इस तरह सांख्यमतानुसार ये पच्चीस तत्त्व हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन प्रमाण उन्हें सम्मत हैं।

'वेदान्त' में सजातीय-विजातीय-स्वगत-सर्वविध भेदरहित, अद्वितीय, नित्य, निरतिशय, बृहत् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म ही एक सद्वस्तु प्रतिपाद्य है। ब्रह्मातिरिक्त सर्व-प्रपंच रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्पके समान मिथ्या (असत्य) है। वस्तुतः न होते हुए भी सर्वजगत्‌की

प्रतीति अज्ञानरूप मायासे होती है।

ब्रह्मैकमद्वितीयं स्यान्नाना नेहास्ति किञ्चन।
मायिकं सर्वमज्ञानाद्भाति वेदान्तिनां मतम्॥

(शुक्रनीतिसार)

इसके मुख्य आचार्य भगवान् श्रीनारायण हैं। महर्षि बादरायण व्यासके वेदान्तसूत्र सुप्रसिद्ध हैं।

'योग' में चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका उपाय वर्णित है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिके अभ्याससे अन्तःकरणकी वृत्तियोंका निरोध होता है। समाधि दो प्रकारकी है—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। योगमतानुसार समाधिद्वारा प्रकृति और पुरुषका पृथक् विवेचन हो जानेसे प्रकृतिका व्यापार बंद हो जाता है और इसीसे मुक्ति होती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं। शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच 'नियम' हैं। पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि अनेक 'आसन' हैं। पूरक, रेचक, कुम्भकके मात्राभेदसे 'प्राणायाम' भी अनेक हैं। योगकी साधनासे अणिमा आदि आठ प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे चमत्कार दिखाये जा सकते हैं। मेस्मेरिज्म, हिप्नाटिज्म आदि इसी योगकी निम्न-कोटिकी सिद्धियाँ हैं, जिनके द्वारा आजकल बहुत-से लोग तमाशा दिखलाकर पैसा पैदा करते हैं; किंतु विवेकी पुरुष सिद्धियोंके चक्करमें न फँसकर परम सिद्धि—मोक्षके लिये प्रयत्न करते हैं। सिद्धियाँ परम सिद्धिके मार्गमें बाधक हैं। बिना अच्छे जानकार गुरुकी सहायताके केवल पुस्तकोंके सहारे योगका अभ्यास करना हानिकर है।

यहाँतक वेद, उपवेद, वेदांग तथा दर्शनोंके लक्षण संक्षेपतः बतलाये गये।

इतिहासमें किसी एक राजाके चरित्र-वर्णनके व्याजसे प्राचीन घटनाओंका वर्णन रहता है। जैसे महाभारत, रामाश्वमेध आदि।

सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय), वंश (महान् पुरुषोंके कुल), मन्वन्तर (किस-किस मनुका कितने समयतक अधिकार होता है, यह) और वंशानुचरित (महान् पुरुषोंके कुल-चरित्र) का वर्णन जिसमें मुख्य रूपसे किया गया हो, वह 'पुराण' कहा जाता है। ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, श्रीमद्भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड और ब्रह्माण्ड—ये अठारह पुराण हैं। पुराणोंके रचयिता बादरायण महर्षि व्यास हैं। श्रीमद्भागवतके स्थानमें कोई-कोई देवी-भागवतको पुराण मानते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त' पुराणके मतानुसार क्रमशः पुराणोंकी श्लोक-संख्या (१ श्लोक=३२ अक्षर) इस प्रकार है—१००००, ५९०००, २३०००, २४०००, १८०००, २५०००, ९०००, १५४००, १४५००, १८०००, ११०००, २४०००, ८१०००, १००००, १७०००, १८०००, १९०००, १२०००। इस तरह सबकी सम्मिलित संख्या ४,३२,९०० होती है। कई दृष्टियोंसे पुराणोंका बड़ा महत्त्व है। अठारह पुराणोंके समान अन्यान्य महर्षियोंसे रचित कई उपपुराण भी हैं। अनेकोंका विश्वास है कि उपपुराण वैसे प्राचीन नहीं हैं; किंतु आधुनिक उपलब्ध उपपुराणोंमें कुछ प्रक्षिप्त वचन हों, तो भी मूल उपपुराण अति प्राचीन कालसे हैं—इसमें सन्देह नहीं। ईसवी ११ वीं शताब्दीके अन्तिम भागमें षड्गुरु-शिष्यने अपनी 'वेदार्थदीपिका' में नृसिंह-उपपुराणसे श्लोक उद्धृत किये हैं। उसके पहले मुसलमान विद्वान् अलबरूनीने अपनी 'भारत-यात्रा' के वर्णनमें नन्द, आदित्य, सोम, साम्ब और नरसिंह आदि उपपुराणोंका उल्लेख किया है। उपपुराणोंके नाम ये हैं—सनत्कुमार, नरसिंह, बृहन्नारदीय, शिव या शिवधर्म, दुर्वासस, कापिल, मानव, औशनस, वारुण, कालिका, साम्ब, नन्दिकेश्वर, सौर, पाराशर, आदित्य, ब्रह्माण्ड, माहेश्वर, भागवत, वासिष्ठ, कौर्म, भार्गव, आदि, मुद्गल, कल्कि, देवी, महाभागवत, बृहद्धर्म, परानन्द और पशुपति। पुराणोंकी ओर आधुनिक विद्वानोंका ध्यान नहीं गया है। ऊटपटाँग दन्तकथाएँ समझकर ही उनको छोड़ दिया गया है; परंतु उनमें समाजशास्त्र, इतिहास, संस्कृति-सम्बन्धी कितनी ही सामग्री भरी पड़ी है। अंग्रेज विद्वान् पार्जिटरने इस ओर कुछ ध्यान दिया था, परंतु संस्कार भिन्न होनेके कारण उनका प्रयत्न असफल ही रहा।

पुराणोंके बाद 'स्मृति' आती है। स्मृतिमें वेदके अविरुद्ध—वेदानुकूल—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्णोंके एवं ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास आश्रमोंके तथा वर्णेतरोंके धर्मोंका स्मरण तथा अर्थशास्त्रका वर्णन है। धर्मका निर्णय करनेमें वेदोंके बाद स्मृतियोंका ही स्थान है। स्मृतियाँ अनेक हैं। इनमें मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अंगिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वसिष्ठकी—ये बीस मुख्य हैं। इनके अध्ययनसे पता लगता है कि

अपने यहाँ कानूनका प्राचीन भाव कितना व्यापक था। पाश्चात्य विद्वानोंमें रोमके कानून-सम्बन्धी ज्ञानकी बड़ी प्रशंसा है। परंतु उनके उत्थानके सहस्रों वर्ष पूर्व अपने यहाँ कानूनकी जटिल समस्याओंपर कहीं विशद विवेचन मिलता है।

स्मृतिके आगे 'नास्तिक' मतका उल्लेख किया गया है। नास्तिक-मतमें युक्तिकी ही प्रधानता है। वह अन्य आस्तिक सिद्धान्तोंकी तरह—जैसे वे मानते हैं—जगत्‌के कर्ता ईश्वर और वेदको नहीं मानता। उसके मतमें सब वस्तुएँ स्वाभाविक ही हैं—अकस्मात् अपने-आप उत्पन्न हुई हैं। मनु वेदकी निन्दा करनेवालेको ही नास्तिक बतलाते हैं—'**नास्तिको वेदनिन्दकः**'। उनका तात्पर्य यह है कि ईश्वर, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक आदिका बोध वेदसे ही होता है। सिवा वेद या वेदानुसारी स्मृति आदिके, दूसरे प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणोंसे ईश्वर आदिका अस्तित्व ही नहीं जाना जा सकता। इसलिये वेदकी निन्दा जिसने की, उसने मानो ईश्वर, परलोक आदिका खण्डन पहले ही किया। इसके 'चार्वाक-दर्शन', 'लोकायतिक' आदि नाम भी हैं। इसके मुख्य आचार्य बृहस्पति हैं। नास्तिक-मतमें केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण माना गया है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये ही चार पदार्थ हैं। महुआ आदि पदार्थोंमें अन्यान्य वस्तुके सम्बन्धसे कालान्तरमें जैसे मादक शक्ति उत्पन्न होती है, वैसे ही पृथ्वी आदिके संयोगसे देह बनकर उसमें चैतन्य-शक्ति आ जाती है। चैतन्ययुक्त देह ही आत्मा है, देहसे अतिरिक्त आत्मा नामकी कोई दूसरी वस्तु नहीं है। मृत्यु होना ही मुक्ति है। अच्छा खाना, पीना और खूब मौज करना—बस, यही पुरुषार्थ है। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता इसी आदर्शका मूर्तिमान् उदाहरण है। उस समयकी शिक्षामें इस नास्तिक-मतका अध्ययन भी आवश्यक समझा जाता था।

'अर्थशास्त्र' में वेद और स्मृतियोंका विरोध न होते हुए राजाको अपना और राज्यका शासन किस तरह चलाना चाहिये इसका और धनोपार्जन करनेके कुशल उपायोंका वर्णन होता है। इस तरह इसमें 'पालिटिक्स' (राजनीति) और 'एकनामिक्स' (अर्थशास्त्र) दोनों आ जाते हैं। जो लोग ऐसा समझते हैं कि धर्मका राजनीति, अर्थशास्त्र आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं है, धर्म तो कुछ विशिष्ट व्यक्तियोंके आचरणकी वस्तु है, सर्वसाधारणको धर्मके पचड़ेमें पड़नेका प्रयोजन नहीं है, उन्हें शुक्राचार्यके इस लक्षण और भारतीय राजनीति, अर्थनीतिके ग्रन्थोंका कुछ मनन करना चाहिये।

'कामशास्त्र' में शशक, मृग, अश्व एवं हस्तिभेदसे पुरुषों; अनुकूल, धृष्ट, शठ आदि भेदसे नायकों; पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी आदि भेदसे स्त्रियों और स्वकीया, परकीया, साधारणी आदि भेदसे नायिकाओंका वर्णन किया गया है। उनके परस्पर अनुरागादिका लक्षण भी कामशास्त्रमें वर्णित है। इससे स्त्री-पुरुषोंके मानसिक भावोंको भी समझनेमें बड़ी सहायता मिलती है। इसकी शिक्षाकी उपयोगिताको अब पाश्चात्य विद्वान् भी स्वीकार करने लगे हैं। कामशास्त्रके श्रीहैवलाक एलिस, वेस्टर मार्क—ऐसे पाश्चात्य विद्वानोंका कहना है कि प्राचीन भारतीय कामशास्त्र कई दृष्टियोंसे बहुत उच्चकोटिका है।

'शिल्प-शास्त्र' में महल, किले, मकान, बागीचे, वापी, कूप, तालाब आदिके निर्माण और मरम्मतके प्रकारका वर्णन है। इसमें पूरी 'सिविल इंजीनियरिंग' आ जाती है, 'मूर्तिकला' का भी इसीमें समावेश है; इस तरह इस शास्त्रमें 'आर्किटेक्चर' और 'स्कल्पचर' दोनों आ जाते हैं। एक बड़ी विशेषता यह है कि किस प्रकार, किस अनुपातके मकानोंको बनानेसे क्या प्रभाव पड़ता है—इसका भी इसमें वर्णन मिलता है। इसको आजकलके लोग भले ही न मानें, पर वह होता अवश्य है। शिल्प-शास्त्रके आधारपर बने हुए मन्दिरोंको देखकर उनकी सुन्दरतापर विदेशी भी मुग्ध होते हैं। इस शास्त्रके कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं; पर बड़े खेदका विषय है कि उसके जानकारोंका प्रायः अभाव-सा हो रहा है।

इसके बाद 'अलंकृति' है। इसमें सम, न्यून, अधिकरूपमें सादृश्यादि-भेदसे परस्परके गुणोंके भूषा-वैचित्र्यका वर्णन होता है। अलंकृतिका एक नाम अलंकार है—

समन्यूनाधिकत्वेन सारूप्यादिप्रभेदतः।
अन्योन्यगुणभूषा च वर्ण्यतेऽलङ्कृतिश्च सा॥

(शुक्रनीतिसार)

जिसमें शृंगार आदि रससे युक्त, अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारोंसे सुशोभित एवं दुःश्रव आदि दोषोंसे रहित शब्द और अर्थोंका समुदाय हो, उसे 'काव्य' कहते हैं। उसके गद्य और पद्य—ये दो भेद हैं। काव्यके सुननेवालेको एक विलक्षण अलौकिक आनन्दकी अनुभूति होती है। काव्यकी रचना करनेवाला 'कवि' कहा जाता

है। काव्य-निर्माणका उद्देश्य केवल तात्कालिक मनोरंजनमात्र या उसके द्वारा यशोलाभ ही नहीं था, अपितु—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

—भी था। भारतमें संस्कृत और भाषाके प्राचीन कवियोंकी सुन्दर कृतियोंका इतना विशाल, अप्रतिम संग्रह है कि जो प्राचीन कालसे रसज्ञोंके लिये रस-वर्षण करता हुआ भी अबतक वैसा ही सरस बना हुआ है; न जाने इनमें कितना रस होगा!'

भिन्न-भिन्न देशोंमें वहाँके निवासी लोगोंके द्वारा संकेत की हुई पदार्थोंका बिना प्रयाससे ज्ञान करानेवाली वाणीको 'दैशिकी' या देशभाषा कहते हैं।

कोश या अन्यान्य शास्त्रीय परिभाषारूप संकेतके बिना अवसर देखकर उसके अनुसार अपने अभिप्रायको जिस वाणीसे व्यक्त किया जा सकता है, वह 'अवसरोक्ति' कही जाती है। इसीको 'हाजिर-जवाबी' कहते हैं, शिक्षामें इसकी बड़ी आवश्यकता है। सारे ग्रन्थोंको चाटकर भी बहुतोंको समयपर ठीक उत्तर देनेका अभ्यास नहीं होता।

इसके बाद 'यावन' मतका उल्लेख इस तरहसे किया गया है—

ईश्वरः कारणं यत्रादृश्योऽस्ति जगतः सदा।
श्रुतिस्मृती विना धर्माधर्मौ स्तस्तच्च यावनम्॥
श्रुत्यादिभिन्नधर्मोऽस्ति यत्र तद्यावनं मतम्।

अर्थात् जिसमें जगत्को चार्वाककी तरह आकस्मिक न बतलाकर उसका कारण अदृश्य—जिसका दर्शन कभी न हो सके, ऐसा ईश्वर माना जाता हो और जिसमें पाप-पुण्य भी माने जाते हों, किंतु उनके ज्ञान और उनके साधनोंके ज्ञानका वेद-स्मृतिके बिना ही होना माना जाता हो एवं जिसमें वेदविरुद्ध धर्मोंका उपदेश किया गया हो, उसे यावन—यवनोंका मत कहते हैं। यह बड़े मार्केकी बात है, जिससे उस समयके शिक्षाक्रमकी उदारताका परिचय मिलता है। दूसरोंके मतको जानना बड़ा आवश्यक है, क्योंकि उससे अपने मतमें दृढ़ निष्ठा होगी। '**अथातो धर्मजिज्ञासा**' इस जैमिनिसूत्रमें 'धर्मजिज्ञासा' और 'अधर्मजिज्ञासा' इस तरह दो प्रकारसे पदच्छेद करके धर्म तथा अधर्मकी जिज्ञासा उपक्रान्त की गयी है। वहाँ आचरणके लिये जैसे धर्मकी जिज्ञासा और परिवर्जनके लिये अधर्मकी जिज्ञासा अपेक्षित है, वैसे ही यहाँ भी आस्तिक विद्याओंका ज्ञान उनसे उपदिष्ट कर्तव्यपथका अवलम्बन करनेके लिये और चार्वाक, यावन आदि नास्तिक विद्याओंका ज्ञान उनमें उपदिष्ट कर्मादिसे बचनेके लिये अपेक्षित है। 'यवन' शब्द प्रायः विदेशियोंके लिये ही प्रयुक्त होता था। कुछ लोगोंका मत है कि 'यवन' शब्द 'आयोनियन' का ही रूपान्तर है, जिससे अभिप्राय 'यूनानियों' अर्थात् प्राचीन ग्रीकलोगों (ग्रीसनिवासियों)-से है। यह चाहे न भी हो; परंतु इतना तो अवश्य स्पष्ट है कि उस समय भी भारतीयोंका विदेशियोंसे सम्पर्क था और उनके मतको जाननेकी उनमें उत्सुकता थी।

इस तरह इकतीस विद्याओंके लक्षणोंको बतलाकर शुक्राचार्यने अन्तमें 'देशादिधर्म' को बत्तीसवीं विद्या कहा है। उसका लक्षण वे ऐसा लिखते हैं—

कल्पितः श्रुतिमूलो वामूलो लोकैर्धृतः सदा।
देशादिधर्मः स ज्ञेयो देशे देशे कुले कुले॥

अर्थात् भिन्न-भिन्न देश, कुल या जातियोंमें जो धर्म सदासे प्रचलित देखा जाता हो—चाहे उसके आधारभूत प्रमाण वेद, स्मृति आदि ग्रन्थोंमें मिलते हों या न भी मिलते हों, किंतु जो लोगोंके आचरणोंमें देखा जाता हो—उसे 'देशादि धर्म' जानना चाहिये। यहाँ 'आदि' पदसे कुल, जातिको समझना चाहिये। इन धर्मोंके आचरणपर बड़ा जोर दिया गया है और इनके त्यागकी बड़ी निन्दा की गयी है। युद्धके परिणामके विषयमें अर्जुनने भी भगवान् श्रीकृष्णसे चिन्तित होकर यह शंका की थी—

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥

मनु, याज्ञवल्क्य आदिने राजाको इस बातकी कड़ी हिदायत की है कि राजा यदि किसी अन्य देशपर अपना अधिकार करे, तो—

यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः॥

—के अनुसार उस विजित देशमें जो-जो देश, जाति, कुलके धर्म उस समय प्रचलित हों, उनके अनुसार ही वहाँके शासनकी व्यवस्था करे। शासनका यह कितना उदार भाव है! इस तरह संक्षेपमें यहाँ हिंदू-संस्कृतिकी आधारभूत बत्तीस विद्याओंका विवरण किया गया।

आर्य-वाङ्मय

(लेखक—पं० श्रीभगवद्दत्तजी)

चौदह विद्याएँ—अति विस्तृत भारतीय वाङ्मयका मूल चौदह विद्याएँ हैं। याज्ञवल्क्यने अपनी स्मृति १। ३ में इन चौदह विद्याओंका परिगणन निम्नलिखित प्रकारसे किया है—चार वेद, छः अंग, एक मीमांसा, एक न्याय, एक पुराण और एक धर्मशास्त्र।

सारा भारतीय वाङ्मय इन चौदह विद्याओंके अन्तर्गत है।

अठारह विद्याएँ—विष्णुपुराण और कई अन्य ग्रन्थोंमें सारी १८ विद्याएँ गिनायी गयी हैं। इनमेंसे चौदह विद्याएँ याज्ञवल्क्य-प्रदर्शित हैं; तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद अथवा अर्थशास्त्र—ये चार अधिक हैं। चौदह विद्याएँ माननेवाले इन चारको चारों वेदोंके अन्तर्गत मानते हैं।

सात सिद्धान्त—इन चौदह विद्याओंके अतिरिक्त सात सिद्धान्त हैं। उनका वर्णन योगि-याज्ञवल्क्य नामक पुरातन ग्रन्थमें मिलता है। योगि-याज्ञवल्क्यके प्रमाण वाचस्पतिमिश्र (संवत् ८९८)-के ग्रन्थोंमें मिलते हैं। सात सिद्धान्त ये हैं—

पांचरात्र सिद्धान्त, कापिल सिद्धान्त, अपान्तरतम-सिद्धान्त, ब्रह्मिष्ठ-सिद्धान्त, पाशुपत सिद्धान्त, हैरण्यगर्भ सिद्धान्त और शैव सिद्धान्त।

तीन सौ शास्त्र और सत्तर महातन्त्र—विद्याओंके अवान्तर ग्रन्थोंका उल्लेख महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १२२ के निम्नलिखित श्लोकोंमें पाया जाता है—

एतासामेव विद्यानां व्यासमाह महेश्वरः॥ ३३॥
शतानि त्रीणि शास्त्राणां महातन्त्राणि सप्ततिः।
व्यास एव तु विद्यानां महादेवेन कीर्तितः॥ ३४॥
तन्त्रं पाशुपतं नाम पांचरात्रं च विश्रुतम्।
योगशास्त्रं च सांख्यं च तन्त्रं लोकायतं तथा॥ ३५॥
तन्त्रं ब्रह्मतुला नाम तर्कविद्या दिवौकसाम्।
सुखदुःखार्थजिज्ञासा कारणं चेति विश्रुतम्॥ ३६॥

ये श्लोक महाभारतके सब संस्करणोंमें नहीं मिलते, पर आर्यवाङ्मयका विस्तार जाननेमें बहुत सहायक हैं।

तन्त्र और शास्त्रका भेद—महाभारतान्तर्गत पूर्वोक्त श्लोकोंमें तन्त्र और शास्त्रका भेद माना गया है। वह भेद अभी पूर्णतया हमारी समझमें नहीं आया; पर इतना प्रतीत होता है कि तन्त्र बृहदाकार और विस्तृत हैं तथा शास्त्र किंचित् संक्षिप्त हैं। मूल महातन्त्र सत्तर थे और शास्त्र तीन सौ। यह विद्या-विस्तार शिवने कहा है। यहूदी-ईसाई-प्रभावके नीचे दबे अनेक वर्तमान ऐतिहासिक शिवकी ऐतिहासिकताको अभी समझ नहीं पाये।

शिव अथवा विशालाक्षने श्रीब्रह्माजीके त्रिवर्ग-शास्त्रसे अर्थभागका पृथक्करण किया। उस महान् अर्थवेदमें अनेक विषय थे। कालान्तरमें इनपर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ लिखे गये। उनमेंसे जिन ग्रन्थोंका वर्णन हमें संस्कृत अथवा प्राकृत आदि ग्रन्थोंमें मिला है, वे आगे लिखे जाते हैं—

१. लोकायत-शास्त्र—(क)लोकतन्त्रका उल्लेख महाभारत, आरण्यकपर्व १५९। १ में तथा '**लोकतन्त्र-विचक्षणः**' पद शान्तिपर्व १७४। ४ में मिलता है।

(ख) कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें लोकायत एक शास्त्र माना गया है।

(ग) पातंजल व्याकरणमहाभाष्य ७। ३। ४५ में भागुरीकृत लोकायत-शास्त्रकी व्याख्याका उल्लेख है। पं० श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसकके मतानुसार संभावना है कि प्रसिद्ध वैयाकरण भागुरिकी बहिन भागुरी थी[1]।

(घ) तत्पश्चात् जैन अनुयोगद्वारसूत्रमें लोकायत वर्णित है।

(ङ) वात्स्यायनकृत कामसूत्र १। २। २८ में लोकायतोंका मत उद्धृत है।

(च) इनका उत्तरवर्ती बौद्ध आचार्य कमलशील अपने गुरु शान्तरक्षितके रचे तत्त्वसंग्रहके श्लोक २९४५ की टीकामें लिखता है—

मिथ्यार्थशास्त्रश्रवणाद् व्यामूढो लोकायतः

(छ) लगभग उन्हीं दिनोंका जैन विद्वान् हरिभद्रसूरि अपने षड्दर्शनसमुच्चयके अन्तमें लोकायत-शास्त्रका संक्षेप देता है।

(ज) चीनी यात्री ह्वेनसांगको एक वृद्ध लोकायत ब्राह्मण मिला था[2]।

१. संस्कृत-व्याकरणशास्त्रका इतिहास, पृ० ७०।
२. Life of Hiuentsang, Introduction, p. XVIII

(झ) जैन विद्वान् सोमदेवसूरिकृत यशस्तिलक-चम्पूमें बृहस्पति लोकायतका उल्लेख है।

(ञ) तत्पश्चात् अमरके नामलिंगानुशासनका प्रसिद्ध टीकाकार काश्मीरक क्षीरस्वामी लिखता है—

चार्वाकलोकायतिकौ। (२।७।६)

अर्थात् चार्वाक और लोकायत दो भिन्न मत थे।

लोकायतशास्त्रके रचयिता—त्रिवेन्द्रम्, रियासत ट्रावन्कोरके स्वर्गगत पण्डित गणपति शास्त्रीने पुरानी टीकाओंके आधारपर अर्थशास्त्रकी जो सुन्दर टीका रची है, उसमें वे लिखते हैं—

ब्रह्मगार्ग्यप्रणीतं लोकायतशास्त्रम्।

अर्थात् लोकायतशास्त्र ब्रह्मा और गार्ग्य आदिके द्वारा रचित था। प्रतीत होता है लोकायत-शास्त्र शुद्ध राजनीति-विषयक शास्त्र था। उत्तर-कालमें यह नास्तिक शास्त्र कहा जाने लगा।

२. धनुर्वेदसूत्र—धनुर्वेद-सूत्रोंका उल्लेख महाभारत, सभापर्व ५।११० में मिलता है।

१. **औशनस धनुर्वेद**—काव्य-उपनामधारी उशना (शुक्राचार्य) का एक अतिपुरातन धनुर्वेद था। इसके अनेक उद्धरण वीरमित्रोदयमें मिलते हैं।

२. **भारद्वाजधनुर्वेद**—भरद्वाजका धनुर्वेद-विशेषज्ञ होना महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २१२ में लिखा है—

गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्॥ ३३॥

ऐतरेय आरण्यक १।२।२ के अनुसार भरद्वाज ऋषियोंमें अनूचानतम थे। उन्होंने अवश्यमेव कोई धनुर्वेद लिखा था। धनुर्वेदके प्रसिद्ध आचार्य द्रोण इन्हींके पुत्र थे।

३. **जमदग्निकृत धनुर्वेद**—आयुर्वेदकी सुश्रुत-संहिताका टीकाकार उल्हण चिकित्सा-स्थान अध्याय १२ की टीकामें लिखता है—

रथचर्यां पदातिचर्यां च जमदग्निराह—
सर्वदिग्भागभागेषु हस्त्यश्वरथपत्तिषु।
शस्त्रास्त्रैर्यस्तु संयोगः सा चर्येति प्रकीर्त्यते। इति॥ ११॥

३. व्यूहशास्त्र—महाभारत, भीष्मपर्व ८३।२० में व्यूहशास्त्रविशारदोंका उल्लेख है।

४. रथसूत्र—महाभारत, सभापर्व ५।११० में इन सूत्रोंका नाम-स्मरण किया गया है।

५. अश्वसूत्र—महाभारत, सभापर्व ५।१०९ में ये सूत्र स्मृत हैं। नकुलका अश्वशास्त्र इस समय उपलब्ध है। मत्स्यपुराण २१७।२०-१२ में यह ग्रन्थ उल्लिखित है।

अश्वलक्षणोंके अध्येता और वेत्ताओंका उल्लेख महाभाष्य ४।२।६० में है।

६. हस्तिसूत्र—सभापर्वके पूर्वोक्त स्थानमें इस सूत्रका भी नाम मिलता है।

कर्ता—(क) लोमपाद—अंगदेशके राजा लोमपाद इस सूत्रके रचयिता थे। वायुपुराण अध्याय ६९ में लिखा है—

..त्रिदशा ददुः।
अंगाय लोमपादाय सूत्रकाराय वै द्विपान्॥ २३२॥

(ख) बुध—लोमपादसे बहुत पहले सोम देवताके पुत्र बुधने हस्तिशास्त्र रचा था। मत्स्यपुराण ३४।२ में इनके विषयमें लिखा है—

सर्वार्थशास्त्रविद्धीमान् हस्तिशास्त्रप्रवर्तकः।

७. हस्त्यायुर्वेद—इस विषयका पालकाप्य मुनिका ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध है। उसके प्रथम अध्यायमें लिखा है—

दिग्गजानां वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच पितामहः।
न विषादे मनः कार्यं व्याधीन्प्रति मतंगजाः॥ ९६॥
उत्पत्स्यत्यचिरेणाथ गजबन्धुर्महामुनिः।
आयुर्वेदस्य वेत्ता वै मत्कृतस्य भविष्यति॥ ९७॥

अर्थात् श्रीब्रह्माजीद्वारा रचित आयुर्वेदके महान् शास्त्रमेंसे पालकाप्य मुनि हस्त्यायुर्वेदका भाग पृथक् करेंगे।

मत्स्यपुराण २१७।२५ में गजवैद्य स्मृत हैं। आयुर्वेदीय चरकसंहिता, सूत्र-स्थान, अध्याय ६ की टीकामें चक्रपाणि टीकाकार '**उक्तं च हस्तिवैद्यके**' लिखकर कई श्लोक उद्धृत करते हैं।

८. शालिहोत्र (घोड़ोंकी चिकित्साका) ग्रन्थ—अमरकोषपर सर्वानन्दके टीका-सर्वस्व, भाग १, पृ० ३३, ४१ पर यह ग्रन्थ स्मृत है। नेपालके राजगुरु पण्डित हेमराज शर्माजीने जो आयुर्वेदकी काश्यपसंहिता प्रकाशित की है, उसके उपोद्घात पृ० ६९, ७०, ७१ में शालिहोत्र ग्रन्थके प्रमाण उद्धृत हैं।

९. यन्त्रसूत्र—मनुष्यमात्रके परमबन्धु भगवान् स्वायंभुव मनुने यद्यपि '**महायन्त्रप्रवर्तनम्**' को एक उपपातक माना है, तथापि साधारण यन्त्र भारतमें प्रचलित रहे, और उनपर अनेक शास्त्र रचे गये।

महाभारत, सभापर्व ५।११० में राजवर्गके लिये यन्त्र-सूत्रोंका अध्ययन आवश्यक समझा गया है। शान्तिपर्व

५८।६५ में लिखा है—

यन्त्राणि विविधान्येव क्रियास्तेषाम्……।

(क) विश्वकर्म-प्रोक्त यन्त्रमात्रिका—वात्स्यायनमुनिकृत कामसूत्र १। ३ की जयमंगला टीकामें लिखा है—

सजीवानां निर्जीवानां यन्त्राणां यानोदकसंग्रामार्थं घटनाशास्त्रं विश्वकर्मप्रोक्तम्।

वर्तमान समयमें समरांगणसूत्रधार, युक्तिकल्पतरु आदिमें यन्त्रोंका कुछ वर्णन मिलता है।

१०. वाणिज्यशास्त्र—अमरकोश २।९।७९ पर टीकासर्वस्वमें लिखा है—

विदेहेन च वाणिज्यशास्त्रं प्रणीतम्।

विदेहराजकृत वाणिज्यशास्त्रका उल्लेख कौटिल्यरचित अर्थशास्त्रकी गणपतिशास्त्रिकृत टीका, भाग १, पृष्ठ ३२ पर पाया जाता है।

११. गन्धशास्त्र—वंगीय वैद्य निश्चल अपने ग्रन्थमें लिखते हैं—

वैद्यश्रीगयदासेन गन्धशास्त्रानुसारतः।
मित्रमध्यारिभेदोऽयं यथांगेन निदर्श्यते॥

(इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग २३, संख्या २, जून १९४७, पृष्ठ १५४)

विक्रम-संवत् ८८७ में लिखे गये हरमेखला-प्रयोगमाला नामक प्राकृत ग्रन्थमें माहुकने भी गन्धशास्त्रका उल्लेख किया है।

१२. कृषिशास्त्र—अर्थशास्त्रकी गणपति-शास्त्रिकृत टीका, प्रथम भागके पृष्ठ ३२ और २८३ में पराशर और वृद्धपद्वारा प्रोक्त इस शास्त्रका उल्लेख मिलता है।

सस्यवेद—कृषिशास्त्रका ही दूसरा नाम सस्यवेद प्रतीत होता है। याज्ञवल्क्यस्मृतिकी अपरार्क-टीकाके पृ० ३९७ पर उद्धृत नन्दिपुराणके वचनमें यह नाम प्रयुक्त है।

१३. पाशुपाल्यशास्त्र—गौतममुनिकृत यह ग्रन्थ अर्थशास्त्रकी गणपतिशास्त्रिकृत टीका, पृ० ३२ पर स्मृत है।

१४. गोवैद्य—हस्त्यायुर्वेदके समान गो-आयुर्वेद भी था। गोवैद्यका वर्णन मत्स्यपुराण २१७। २५ में मिलता है।

गोलक्षण नामक ग्रन्थके अध्येता और वेत्ताओंका उल्लेख महाभाष्य ४। २। ६० में है।

१५. वृक्ष-आयुर्वेद—आग्निवेश्यमुनिकृत यह ग्रन्थ अर्थशास्त्रकी गणपतिशास्त्रिकृत टीका, पृ० २८३ पर उद्धृत है। 'वृक्ष-आयुर्वेद' शब्द अर्थशास्त्रके मूलपाठमें उपलब्ध है।

१६. तक्षशास्त्र—गार्ग्य और अगस्त्य मुनिरचित इस ग्रन्थमें आपस्तम्बीय शुल्वसूत्रकी करविन्दस्वामिकृत टीका, पृष्ठ ९६ पर इसका उल्लेख है।

शुक्रनीतिसार २। ३९९-४०० में तक्षण (खरादना) शब्द प्रयुक्त है। इसका पंजाबी अपभ्रंश तरखान है।

१७. मल्लशास्त्र—किसी पुरातन ऋषिका रचा हुआ यह ग्रन्थ महाभारत, विराट्पर्वकी नीलकण्ठ-टीकामें उद्धृत है।

१८. वास्तुशास्त्र—यह एक महान् शास्त्र था। इसके अठारह उपदेष्टा मत्स्यपुराण अध्याय २५२ में उल्लिखित हैं। यथा—

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः॥ २॥
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती॥ ३॥
अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः॥ ४॥

अर्थात् भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, विशालाक्ष, पुरन्दर, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र और बृहस्पति—ये अठारह वास्तुशास्त्रके उपदेष्टा प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे विश्वकर्माका टूटा-फूटा वास्तुशास्त्र नामक ग्रन्थ अब भी प्रसिद्ध है। मयका मयमत मुद्रित हो चुका है। उसपर अभीतक किसीने पूरी खोज नहीं की।

नग्नजित्—गन्धारराज नग्नजित् धृतराष्ट्रके श्वशुर महाराज सुबलके पिता थे।

नग्नजित्ने आयुर्वेदविषयक भी एक महान् ग्रन्थ रचा था। नग्नजित्के कारण गन्धारकी प्रस्तर-मूर्तिकला बहुत प्रसिद्ध हुई। आचार्य वराहमिहिर बृहत्संहिता ५७। ४ में प्रतिमा-लक्षण करते हुए कहते हैं—

नग्नजिता तु चतुर्दशदैर्घ्येण द्राविडं कथितम्।

तत्पश्चात् नग्नजित्का श्लोक उद्धृत है।

द्राविड लोग शुद्ध आर्य और तुर्वसुकी संतानमें हैं। वे पहले गन्धार आदि देशोंमें रहते थे। उनका गन्धार देशमें प्रचुर मान था। उत्तरकालमें वे भारतके दक्षिणमें आकर बसे।

नग्नजित्का एक नाम दारुवाह था। इसका अपभ्रंश डेरिअस (Darius) है। गन्धारके अनेक राजाओंने उत्तरकालमें इस अपभ्रंशरूप (Darius) में अपना नाम प्रसिद्ध किया। वे सब नग्नजित्की सन्तानमें थे।

विशालाक्ष—विशालाक्ष अर्थात् शिवने अर्थ-शास्त्रके अतिरिक्त वास्तुशास्त्र भी रचा। हिंदू-विश्वविद्यालयके अध्यापक सदाशिव अल्तेकरजीने लिखा है कि ईसासे लगभग सात-आठ सौ वर्ष पूर्व किसीने अर्थशास्त्रका ग्रन्थ लिखकर विशालाक्षके नामसे जोड़ दिया। अध्यापकजीका ऐसा कथन यहूदी-ईसाई प्रभावके कारण है।

पुरन्दर=इन्द्र—विष्णुके ज्येष्ठ भ्राता, देवासुर-युद्धोंके विजेता दीर्घजीवी इन्द्र भारतीय इतिहासमें सुप्रसिद्ध हैं।

इन्द्रने—

१. व्याकरणशास्त्र,

२. अर्थशास्त्र,

३. आयुर्वेदशास्त्र और

४. वास्तुशास्त्र

—रचे। छान्दोग्योपनिषद् ८।७-११ में लिखा है कि इन्द्रने अध्यात्मज्ञानके लिये १०१ वर्षोंतक ब्रह्मचर्य-पालन किया। परम सत्यवक्ता उपनिषत्कारने यह ऐतिहासिक तथ्य लिखा है।

ब्रह्मा—ये महान् जलप्लावनके पश्चात् योगजशरीरधारी आदिदेव (Adam) हैं। इनसे सब विद्याएँ संसारमें फैली हैं। इनका सत्य इतिहास वर्तमान-युगीन निःसार विकासवादकी असत्यता पदे-पदे प्रकट कर रहा है।

कुमार—कुमार शंकरजीके पुत्र श्रीकार्तिकेयजी हैं। इन्होंने कष्टमें पड़े देवोंको उनका सैनिक नेतृत्व करके तारा था।

नन्दीश—विशालाक्ष शिव अथवा महादेवजीके अनुचर नन्दी हैं। इन्होंने—

१. कामसूत्र और

२. वास्तुशास्त्र रचे।

अपने स्वामी विशालाक्षके वास्तुशास्त्रका इन्होंने पूरा मन्थन किया।

वासुदेव—भगवान् श्रीकृष्णने अनेक शास्त्र कहे थे। वास्तुशास्त्र उनमेंसे एक था।

अनिरुद्ध—श्रीकृष्णके पौत्र भी इस शास्त्रके कर्ता थे। शुक्र और बृहस्पति अतिप्रसिद्ध हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृतिकी अपरार्क-टीका पृ० ७२ पर देवलधर्मसूत्रका एक पाठ उद्धृत है। यह धर्मसूत्र भारत-युद्धसे बहुत पहले विद्यमान था। अध्यापक पाण्डुरंग वामन काणेने इसके काल-निर्धारणमें महती भूल की है।

देवलके धर्मसूत्रमें वास्तुविद्या उल्लिखित है। पाणिनीय गणपाठ ४।३।७३ में वास्तुविद्याके व्याख्यानग्रन्थोंका पता दिया है।

१९. वाकोवाक्य—शतपथ ब्राह्मण ११।५।६।८ में इस विद्याका उल्लेख है। गोपथब्राह्मणमें लिखा है—

सवितर्कं ज्ञानमयमित्येतैः प्रश्नैः प्रतिवचनैश्च यथार्थं पदमनुविचिन्त्य प्रकरणज्ञो हि प्रबलो विषयी स्यात् सर्वस्मिन् वाकोवाक्य इति ब्राह्मणम्। १।१।३॥

भट्टकुमारिलने इस वाकोवाक्यविद्याके आधारपर आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और प्रयोजन आदिका वर्णन किया है।

२०. चित्रसूत्र—प्रजापतिका 'चित्रकर्मा' ग्रन्थ तथा आदित्य अथवा विवस्वान्का आदित्यमत यशस्तिलक-चम्पूमें वर्णित हैं। विष्णुधर्मोत्तरमें चित्रशास्त्रके विषयमें लेख मिलता है। चित्र-विद्याके विषयमें देवल-धर्मसूत्रमें एक सुन्दर बात कही है—

चित्रकर्म यथानेकैरंगैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

(अपरार्कटीका, पृ० २५ पर उद्धृत)

यहाँ उन्मीलन-प्रयोग चित्रशास्त्रकी परिभाषामें बरता गया है। चित्रशास्त्रविषयक पुराने संस्कृत-ग्रन्थोंके वर्णनके लिये देखिये इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग ९, पृ० ९०५, ९०६।

२१. लिपिशास्त्र—मानव-धर्मशास्त्रकी भृगु-प्रोक्त संहितामें लिपि जाननेवालोंका उल्लेख है। बृहस्पति और नारदके धर्मशास्त्रोंमें भी लिपि जाननेवाले वर्णित हैं। महाभारत, सभापर्व ५।६२ में गणक और लेखक वर्णित हैं। मत्स्यपुराण २१५।२५ में—**सर्वदेशाक्षराभिज्ञः** पाठ है। अर्थात् राजाके पास सब देशके अक्षर जाननेवाले लेखक होने चाहिये। अनेक देशोंके अक्षरोंको बतानेवाले लिपिशास्त्र हमारे देशमें थे।

लिपिशास्त्रमें अनेक गोपनीय लिपियोंके संकेत भी थे। देखो गूढ लेख्योंका वर्णन, कामसूत्रकी जयमंगला टीका १।३ में।

२२. **मानशास्त्र**—सुश्रुत-संहिताकी उल्हण-टीका, पृ० ४५० पर '**मानविदो विदुः**' पाठ है। इस शास्त्रमें भिन्न-भिन्न देशोंके मान (तौल या बाट) उल्लिखित थे।

२३. **धातुशास्त्र**—अमरकोष २।९।१०० पर क्षीरस्वामीकी टीकामें लिखा है—**इति धातुविदः।**

२४. **संख्याशास्त्र**—महाभारत, शान्तिपर्व २३८।४७ में लिखा है—**संख्याविदः।**

२५. **हीरकसूत्र**—इस शास्त्रका एक ग्रन्थ लाहौरमें हमने देखा था।

२६. **अदृष्टशास्त्र**—महाभारत, सभापर्व ५।९३ में इस शास्त्रका नाम है।

२७. **तान्त्रिक श्रुति**—वैदिक श्रुतिके अतिरिक्त एक तान्त्रिक श्रुति थी। कुल्लूकभट्टने मनुस्मृतिके भाष्यमें हारीत-धर्मसूत्रका एक वचन दिया है। उसमें श्रुतियोंका यह पार्थक्य बताया है।

२८. **शिल्पशास्त्र**—महाभारत, सभापर्व १।८ में लिखा है—

नैपुणं दिवि शिल्पस्य संचिन्त्य मयमब्रवीत्।

इस वचनका साक्ष्य मत्स्यपुराण १३१।१ में मिलता है—

निर्मिते त्रिपुरे दुर्गे मयेनासुरशिल्पिना।

कर्ता—(क) भृगु। महाभारत, शान्तिपर्व २१२।३४ में लिखा है—

शिल्पशास्त्रं भृगुः पुनः।

(ख) मय। इसका उल्लेख हो चुका।

(ग) विश्वकर्मा। वायुपुराण ८४।१६ में लिखा है—

विश्वकर्मा सुतस्तस्य जातः शिल्पिप्रजापतिः।
कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वास्तुकृत्॥

विश्वकर्माके शिल्पोंकी खोज बहुत फलदायक हो सकती है।

शिल्पिभाण्ड—मत्स्यपुराण २१७।३४ में यह शब्द प्रयुक्त है। शिल्पशास्त्रका यह पारिभाषिक शब्द है।

२९. **माया-योग वेद**—कौटिल्य-अर्थशास्त्र, भाग २, पृ० १३३ पर मायायोगविद् प्रयोग मिलता है।

३०. **माणव-विद्या (हार बनानेकी विद्या)**—कौटिल्य-अर्थशास्त्र, भाग २, पृ० १३९ पर इस विद्याका नाम है।

३१. **सूद (पाक) शास्त्र**—इस विद्यापर नलका कोई ग्रन्थ था। सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान, ४६।४४८-५६ पर उल्हण टीकामें लिखा है—

विशेषतः सूदेभ्यो ज्ञेयाः। सट्टकस्तु—
लवंगव्योषखण्डैस्तु दधि निर्मथ्य गालितम्।
दाडिमीबीजसंयुक्तं चन्द्रचूर्णावचूर्णितम्॥
सट्टकं तु प्रमोदाख्यं नलादिभिरुदाहृतम्।

मत्स्यपुराणने २१५।२२ में इसे सूपशास्त्र कहा है।

३२. **द्रव्यशास्त्र**—सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान २।२१ पर उल्हण-टीकामें '**द्रव्यज्ञैः**' पाठ मिलता है।

३३. **मत्स्यशास्त्र**—सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान, ४६।११३ की उल्हण-टीकामें लिखा है—

कथितो मत्स्यवेदिभिः।

३४. **वायसविद्या**—पातंजल महाभाष्य ४।२।६० में इस विद्याका उल्लेख है।

३५. **सर्प-विद्या**—पातंजल महाभाष्यके पूर्वोक्त स्थानमें यह विद्या भी निर्दिष्ट है।

३६. **भाष्यग्रन्थ**—महाभारत, सभापर्व ११।२६ में '**भाष्याणि**' पदसे भाष्यग्रन्थोंका अस्तित्व माना है। याज्ञवल्क्य-स्मृति ३।१२९ में भी भाष्य विद्यमान माने गये हैं।

इनके उत्तरवर्ती शौनक, कौषीतकि और आश्वलायनके गृह्यसूत्रोंके ऋषितर्पण-प्रकरणोंमें भाष्यग्रन्थोंका अस्तित्व माना गया है। इनके समीपवर्ती पाणिनिकी अष्टाध्यायीके सूत्र ४।३।७३ के गणमें निम्नलिखित १९ ग्रन्थोंके व्याख्यानों अथवा भाष्यों आदिका संकेत है—

ऋगयन, पदव्याख्यान, छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दोविचिति, न्याय, पुनरुक्त, व्याकरण, निगम, वास्तु विद्या, अंगविद्या, क्षत्रविद्या, उत्पात, उत्पाद, संवत्सर, मुहूर्त, निमित्त, उपनिषद्, शिक्षा।

वायुपुराणमें लिखा है—

कल्पानां भाष्यविद्यानां नानाशास्त्रकृतः क्षये। (६१।१०३)

ये च भाष्यविदो मुख्याः। (८२।५२)

मत्स्यपुराण १४४।१३ में लिखा है—

ब्राह्मणं कल्पसूत्राणि भाष्यविद्यास्तथैव च।

३७. **चौरशास्त्र**—आचार्य खर्पटका चौरशास्त्र प्रसिद्ध था।

३८. **मातृतन्त्र-मातृवेद**—अपरार्क-टीका, पृ० १६ पर देवीपुराणसे उद्धृत श्लोकोंमें यह नाम पाया जाता है।

यहाँपर हमने उन कतिपय शास्त्रोंका अतिसंक्षिप्त उल्लेख किया है, जो अधिक प्रसिद्ध न थे। प्रसिद्ध वैदिक शास्त्रोंके इतिहास तो प्रकाशित हो ही चुके हैं।*

जिस जातिका वाङ्मय इतना विस्तृत, प्रशस्त और सारगर्भित था, उसकी सभ्यता कितनी ऊँची थी— पाठक इसका अनुमान स्वयं कर सकते हैं। भारतीय काव्य, नाटक, ज्यौतिष, इतिहास, पुराण, कोश आदिका जो इतिहास योरप और अमेरिकाके यहूदी और ईसाई लेखकोंने तथा यहूदी-ईसाई-गुरूपदिष्ट एतद्देशीय लेखकोंने लिखा है, वह प्रायः अशुद्ध है।

भारतीय संस्कृतिका प्राणधन—प्रेम

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे)

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

किसी जड या चेतन वस्तुके सुधार या उत्कर्ष-साधनको संस्कार कहते हैं। पथरकट्टेकी छेनीके आघातोंसे तथा वैदिक मन्त्रोंद्वारा प्राणप्रतिष्ठासे जड पत्थरमें देवत्वका आधान किया जाता है। मानव-जीवनके जितने अंग हैं—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, जीवभाव—इन सबके ही आत्यन्तिक उत्कर्षतक अनेक संस्कार होते हैं। गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टितक षोडश संस्कार प्रसिद्ध हैं। स्वाध्याय, व्रत, होम आदि अड़तालीस संस्कार भी प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त शिक्षा, संग, देश-कालकी विशेष माँग, अभ्यास आदिसे भी शरीर, मन, बुद्धि आदिपर विशेष संस्कार घटित होते हैं। कुछ पूर्वजन्मके भी संस्कार होते हैं, कुछ आनुवंशिक संस्कार भी। (कुछ संस्कार ऐसे भी होते हैं, जो उत्कर्षके बदले अपकर्ष करते हैं। उन्हें कुसंस्कार कहा जाता है।) ऐसे सब संस्कारोंके संघातको संस्कृति कहते हैं। भारतीय संस्कृतिमें सामान्य रूपसे जो मूलभूत मुख्य संस्कार हैं, उन्हींका हम यहाँ किंचित् निर्देश करेंगे। विविध भारतीय जीवनमें इनका अति मनोहर अनन्त विस्तार है।

भारतीय संस्कृतिमें मनुष्यका परम ध्येय आत्मसाक्षात्कार अथवा भगवत्प्राप्ति है। मानव-जीवनके उत्कर्षकी यही पराकाष्ठा है। भारतीय जीवनकी चरितार्थतामें चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मनुष्य अपने प्राकृतरूपमें पशुके समान ही होता है।

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।

खाना, पीना, सोना, भय और मैथुन—ये चीजें मनुष्यों और पशुओंमें समान ही होती हैं। '**धर्मो हि तेषामधिको विशेषः**'—मनुष्यकी विशेषता यह है कि वह इन तथा अन्य सब व्यवहारोंमें धर्मसे परिचालित होता है। प्राकृत मनुष्य अथवा पशु अपनी सहज वासना-कामनासे परिचालित होते हैं। मनुष्यका धर्मसे परिचालित होनेकी स्थितिमें आना एक संस्कार है। यह संस्कार उसमें माता-पिताके आचरण, उपदेश, गुरुद्वारा प्राप्त शिक्षा, सत्संग आदिसे घटित होता है। इससे मनुष्यकी विवेक-बुद्धि विकसित होती है।

सांसारिक जीवन काममय है। उसके लिये अर्थका प्रयोजन होता है। अतः अर्थ और काम भी भारतीय संस्कृतिमें पुरुषार्थ माने जाते हैं। पर पहला पुरुषार्थ धर्म है और अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष अथवा आत्मसाक्षात्कार। अतः अर्थ और काम धर्म और मोक्षसे बँधे रहते हैं। धर्मसे ही अर्थ और काम प्राप्त होते हैं। भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।

धर्मसे अर्थ और काम दोनों सिद्ध होते हैं, तब ऐसे धर्मका सेवन क्यों नहीं करते? पर धर्मसे चोरी, चोरबाजारी नहीं की जा सकती, रिश्वत नहीं ली जा सकती, अन्यायसे किसीका धन नहीं छीना जा सकता, किसीका हक नहीं मारा जा सकता, किसीको भूखों मारकर अपने आमोद-प्रमोदका साधन नहीं किया जा सकता। धर्मसे विषयभोगकी एक मर्यादा बँध जाती है। आहार-विहारपर एक नियन्त्रण हो जाता है। अर्थ और कामके स्वैराचारोंका नियन्त्रण करनेवाला धर्म ही है। धर्मके द्वारा नियन्त्रित अर्थ और काम भी पवित्र हैं।

* हमारा वैदिक वाङ्मयका इतिहास—तीन भागोंमें, भारतवर्षके इतिहासका सत्ताईसवाँ अध्याय, पं० युधिष्ठिरजीकृत संस्कृत-व्याकरणका इतिहास तथा पं० उदयवीरजीकृत सांख्यशास्त्रका इतिहास देखिये।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

धर्मसे अविरुद्ध जो काम है, वह ईश्वरकी विभूति है। महर्षि वाल्मीकिने धर्मसे अर्थ और कामकी सिद्धिमें पतिव्रता स्त्रीका दृष्टान्त दिया है, '**भार्येव वश्याभिमता सुपुत्रा**'—पतिकी अनुगामिनी स्त्री स्वयं धर्मस्वरूपा है, उसके द्वारा प्रजननेच्छा पूर्ण होती है और सुपुत्ररूप अर्थ भी प्राप्त होते हैं, जो पिता या पितृपरम्पराका व्रत आगे चलाते हैं। व्यापक परिणामकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो सर्वत्र धर्मसे ही अर्थ और काम सिद्ध होते देख पड़ेंगे—अधर्मसे प्राप्त अर्थ और काम अत्यन्त अल्पायु होते हैं।

आधुनिक समाजव्यवस्थाओं और आर्थिक योजनाओंका यही लक्ष्य है कि सम्पूर्ण मानवजाति समानरूपसे सुखी और समृद्ध हो। फिर भी ये व्यवस्थाएँ और योजनाएँ अपने लक्ष्यके समीप पहुँचना छोड़ उससे दूर ही क्यों सरकती जा रही हैं? समानरूपसे मानवजातिको आज जो कुछ मिला है, वह अन्न-वस्त्रकी कमी, आरोग्यका नाश, अकाल और सर्वसंहारी महासमरका भय है। यदि इन राष्ट्रोंमें अर्थ और कामके साथ उन्हें नियन्त्रित करनेवाला धर्म होता तो मानव-जाति आज बहुत सुखी और समृद्ध हुई होती। हमारे आदर्श-राज्यके प्रवर्तक महाराजा रामचन्द्र वनगमनके प्रसंगमें कहते हैं कि 'धर्म, अर्थ और काम एक साथ ही रहते हैं—इस विषयमें मुझे कोई संशय नहीं है। पर यदि धर्म किसी रास्तेसे जा रहा हो और अर्थ एवं काम किसी दूसरे रास्तेसे तो अर्थ और कामका साथ छोड़कर धर्मका ही साथ देना चाहिये। कारण, धर्म ही अर्थ और कामका नियामक है; अर्थ और काम धर्मके नियामक नहीं।'

भारतीय संस्कृतिमें ये ही दो चीजें सर्वोपरि मुख्य हैं—धर्म और ईश्वर। ईश्वर ध्येय है और धर्म उसका साधन। यह साधन तभी बनता है, जब धर्मके लिये ही धर्मका पालन किया जाता है, अर्थ और कामके लिये नहीं। अर्थ और काम समीप या दूरसे उसके पीछे-पीछे आप ही चलते हैं। पर धर्मका उत्तम पालन वही है, जो धर्मके लिये ही हो। उदाहरणार्थ, पिताकी सेवा करनेका जो धर्म है, उसके पालनसे मिलनेवाला संतोष-सुख क्या किसी अर्थ या विषयभोगसे प्राप्त हो सकता है? इसी प्रकार जगत्में जिसके साथ जो सम्बन्ध है, उस सम्बन्धसे निर्धारित होनेवाले धर्मका पालन स्वतः एक अलौकिक सुख है, जो किसी अर्थ और कामसे नहीं प्राप्त हो सकता।

हमारे यहाँकी सम्पूर्ण समाजव्यवस्था इसी साध्य और साधनकी नींवपर खड़ी है। यह भगवान्का एक अतिदिव्य भव्य मनोहर मन्दिर है। इसमें ऋषि-मुनि, साधु-संत और ब्राह्मण भगवान्का आराधन करते हुए उनकी इच्छा-योजना, संकेत-संकल्प जाननेका यत्न करते और उनसे मिलनेवाला प्रसाद सबको बाँटते हैं; क्षत्रिय मन्दिरकी रक्षा करनेका कार्य करते हैं; वैश्य पूजाकी सब सामग्री जुटाते हैं, शूद्र इस कार्यमें तीनोंकी सेवा करते हैं, अतिशूद्र मन्दिरके सब मार्ग स्वच्छ और पवित्र रखते हैं। सब अपने-अपने कर्मांग सम्पादन कर एक ही भगवदाराधन करते हैं—एक ही प्रसाद, एक ही फल पाते हैं।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

विभिन्न कर्मोंके होते हुए भी चित्त एक होनेसे परस्पर संघर्षके लिये कोई अवकाश नहीं रहता। चातुर्वर्ण्यात्मक इस समाजसंस्थाके विभिन्न समुदायोंमें जैसा गम्भीर परस्पर-स्नेह होता है, वैसा अन्य किसी भी समाजव्यवस्थामें नहीं होता।

मनुष्यका यह बाह्य भौतिक शरीर ही मानव-उत्कर्षका एकमात्र क्षेत्र नहीं है, न विषयभोग या भोग-समृद्धि ही मानव-जीवनकी चरितार्थता है। इससे अधिक व्यापक उसके प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं, जिनके संस्कारके बिना बाह्य संस्कार अधूरे ही रहते हैं। उन्नत मन-बुद्धिके भौतिक विकास भी सामान्य भौतिक विकाससे कहीं अधिक आकर्षक, उद्बोधक और उपकारक होते हैं। भारतीय संस्कृतिमें मानवजातिके उत्कर्षकी भावना बहुत ऊँची है। मनुष्यका आध्यात्मिक विकास और तदनुरूप भौतिक उत्कर्षका प्रयास तथा इन दोनोंका योग भारतीय संस्कृतिमें ही देखनेको मिलता है। भारतवर्ष जबतक राजनीतिक दासत्वकी शृंखलामें नहीं बँधा था, तबतक उस उत्कर्षके दृश्य इस देशमें देखनेको मिलते थे। उनके वर्णन रामायण, महाभारत और पुराण-ग्रन्थोंमें ही नहीं, 'ऐतिहासिक' कालके इतिहासग्रन्थोंमें भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ, चन्द्रगुप्तके समयकी स्थितिका वर्णन मेगास्थनीजने किया है। वीरत्वादि गुणोंके साथ ऐसी सदाचार-सम्पन्नता अन्य किसी भी देशके इतिहासमें इतनी उज्ज्वलताके साथ नहीं दिखायी देती। राजनीतिक दासत्वके बन्धनने भारतवर्षका उत्कर्ष-मार्ग कुण्ठित

कर दिया। इससे केवल भारतवर्षकी नहीं, सारे जगत्की बहुत बड़ी आध्यात्मिक और नैतिक हानि हुई।

विदेशी मुसलमान इस देशमें संस्कृतिकी शिक्षा ग्रहण करने नहीं आये थे। उनका काम था लूट-मार करना, जबर्दस्ती लोगोंको मुसलमान बनाना और अपना साम्राज्य स्थापित करना। वे भारतीय संस्कृतिका मर्म नहीं समझ सकते थे। उनमें ईश्वराभिमुख धर्मयुक्त कोई संस्कृति नहीं थी। उनके शासनकालमें हिंदुओंने अपनी संस्कृतिकी रक्षा कर ली, यही बहुत है। अंग्रेजी शासनकालमें हमारी बहुत बड़ी सांस्कृतिक हानि हुई। अंग्रेजी स्कूल-कालेजोंमें अर्थकरी विद्या पढ़नेके लिये जो लड़के भेजे गये, वे अपनी संस्कृतिके विरोधी संस्कार लेकर वहाँसे निकले। उनमें राष्ट्रवाद आया, राजनीतिक स्वाधीनताकी उत्कण्ठा उत्पन्न हुई; त्याग, धैर्य, आत्मबलिदान आदि गुण उनमें विकसित हुए; पर भारतीय संस्कृतिका जो लक्ष्य है—ईश्वर और उसका साधन धर्म, उससे वे विमुख हो गये। उनके अंदर राष्ट्रवाद और पीछे 'अन्तर्राष्ट्रियवाद' आया, संघर्ष और क्रान्तिका जोश आया। पर अपनी परम्परागत संस्कृतिके बोधके विषयमें वे कोरे ही रह गये। यदि महात्मा गांधी न आते तो भारतीय राजनीतिमें ईश्वरका कोई नाम भी न लेता। महात्मा गांधीके बाद अब क्या होगा, अभी कहना कुछ कठिन है। तात्पर्य, राजनीतिक पराधीनताका ही यह फल है कि भारतीय संस्कृतिकी समाज-व्यवस्थाका मर्म आज हमारे ही उन लोगोंकी समझमें नहीं आ रहा है, जिनके हाथोंमें ईश्वरने इस देशका भाग्यविधान सौंपा है। यदि यह मर्म उनके ध्यानमें आता और जनताकी संस्कृतिके साथ समरस होकर वे आगे बढ़ते तो भ्रष्टाचार इस देशसे अबतक जड़-मूलसमेत उखड़ गया होता।

हमलोगोंकी दृष्टि दुनियामें फैल गयी, पर अपने देशकी गहराईमें नहीं पहुँची। हमारे अंदर वह धृति और गम्भीरता नहीं आयी, वह आत्मविश्वास नहीं उत्पन्न हुआ, जिससे राष्ट्रके बल, तेज, गाम्भीर्य, धैर्य, औदार्य, परस्पर-स्नेह आदि गुणोंकी एक साथ वृद्धि होती। ऐटली, ट्रूमन और स्टालिन जितने हमें याद आते हैं, उतने अपने राम, कृष्ण और युधिष्ठिर नहीं आते। हम चाहते हैं सामाजिक क्रान्ति, क्योंकि क्रान्तियाँ करके अन्य देशोंने अपने मस्तक ऊँचे किये। हमें अपने ही देशके उन लोगोंके भावोंका ध्यान नहीं है, जिनके सन्तोषसे ही राष्ट्र बलवान् और सब प्रकारसे समर्थ हो सकता है। हमारे संस्कार बहुत बदल गये। विदेशी सभ्यताके अंदर जो जंगलीपन है, वह हमें नहीं दीख पड़ता। हम उनकी नकल उतारना चाहते हैं। समाजके विभिन्न अंग आज जिन नाते-रिश्तोंसे एक दूसरेके साथ जुड़े हैं, उन सब नाते-रिश्तोंको हम तोड़ डालना चाहते हैं। इसका परिणाम क्या होगा? लोग वृत्तियों और काम-धन्धोंके लिये भटकते फिरेंगे, बेकारीकी समस्या बढ़ेगी; जनताको आज जो सुविधा है, उसका अन्त होगा। परस्पर प्रेमका स्थान परस्पर संघर्ष ग्रहण कर लेगा। समाजवाद और साम्यवाद दोनों ही संघर्षके रथपर सवार हैं। पर क्या इस संघर्षकी कोई आवश्यकता है? जहाँ अर्थ और कामपर धर्मका नियन्त्रण नहीं रहेगा, वहाँ संघर्ष तो चलता ही रहेगा। उसकी परम्पराका कोई अन्त नहीं है।

भारतीय संस्कृतिके साध्य-साधनकी बात हम ऊपर कह चुके हैं। पर इस साध्य-साधनका नाम लेना भी संयुक्त राष्ट्रसंघसे लेकर भारतीय विधान-परिषद्तक सर्वत्र ही जडबुद्धिका लक्षण समझा जाने लगा है। पर संकटकालमें बड़े-बड़े राष्ट्रोंके भी जब छक्के छूटने लगते हैं, तब उन्हें यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उनकी विजयके लिये सब लोग ईश्वरसे प्रार्थना करें। और तो और, रूसको भी जर्मन सेनाकी अकुण्ठ गति देखकर ईश्वर और धर्मसम्बन्धी अपने नियमोंमें परिवर्तन करना पड़ा। जर्मन सेनाएँ जब मास्को और स्टालिनग्राडतक पहुँच गयीं, तब रूसके अधिनायक शासकदलको यह सोचना पड़ा कि रूसी जर्मनोंको पीछे हटानेमें समर्थ क्यों नहीं हो रहे हैं। महायुद्ध छिड़नेसे कुछ ही पहले रूसमें धर्मविरुद्ध कम्यूनिस्ट-प्रचारकी सफलता जाँचनेके लिये धर्मके सम्बन्धमें एक जनमत-गणना हुई थी। उससे यह मालूम हो चुका था कि रूसी जनतापर धर्मविरुद्ध प्रचारका कुछ भी असर नहीं पड़ा है; उसके अंदर धर्मविश्वास इतना बद्धमूल है कि उसे उखाड़नेका प्रयत्न एक तरहसे अबतक विफल ही रहा। जनतामें इस बातका असन्तोष भी था कि कम्यूनिस्ट-शासनमें उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता छिन गयी। इस कारण जर्मन सेनाओंसे जूझनेका कोई हौसला उनमें नहीं रह गया। **'कोउ नृप होउ हमहि का हानी'** वाली मनोवृत्ति-सी उनकी हो गयी। पर संकटकी इस घड़ीमें दो बातें ऐसी हुईं, जिनसे रूस पूरी ताकतके साथ खड़ा हो सका।

एक यह कि आक्रमणकारी जर्मन सेनाओंने आक्रान्त देशकी रूसी जनतापर इतने भयंकर अत्याचार किये कि उससे रूसी जनताका अन्तःकरण खौल उठा; और दूसरी यह कि रूसकी सरकारने ईश्वर और धर्मपर लगाये हुए सब प्रतिबन्धोंको हटाकर सब लोगोंको प्रोत्साहित किया कि वे रूसी सेनाओंकी विजयके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करें। रूसमें सर्वत्र जनताके धर्मोत्साहका महासमुद्र उमड़ आया। मास्कोमें जो पहली सार्वजनिक ईश-प्रार्थना हुई, उसके फिल्म रूसमें सर्वत्र एक महीनेतक बराबर दिखाये जाते थे। तबसे रूसमें धर्मविरुद्ध कोई प्रचार नहीं होता, धर्मपर कोई प्रतिबन्ध भी नहीं लगाया जाता। पर यह कोशिश की जाती है कि धर्म कम्यूनिस्ट-शासनका एक यन्त्र बनकर रहे। धर्मका इस तरह यन्त्र बनकर रहना अवश्य ही धर्मके साथ अन्याय है।

रूसके इस उदाहरणसे हमें जानना चाहिये कि जनताके संस्कारोंकी उपेक्षा करना राजनीति और रणनीतिकी दृष्टिसे भी कितना बुरा है। जनताके आध्यात्मिक, धार्मिक और नैतिक संस्कारोंको जितना ही प्रोत्साहन प्राप्त होगा, उतना ही राष्ट्रका बल, तेज, परस्पर स्नेह और ऐक्य आदि गुणोंकी वृद्धि होगी। संकटकालमें ये गुण ही काम देंगे। सम्पत्कालमें इनसे सदाचार और सदाचारसे सब सुखोंकी वृद्धि होगी। वेद, उपनिषद्, दर्शन, रामायण, महाभारत, गीता, भागवत, नाना पुराण, काव्य, नाटक, मन्त्रशास्त्र, तन्त्रशास्त्र, भक्तिशास्त्र इत्यादि ही हमारी संस्कृतिका पूर्ण परिचय देते हैं। इन्हींके उपदेशों और आदेशोंके संस्कार भारतीय जनताके अन्तःकरणपर जमे हुए हैं। इस साहित्यके पठन-पाठनको भारतके सभी प्रकारके विद्यालयोंमें प्रथम स्थान मिलना चाहिये और जनताके धर्मानुकूल विविध आचरणको पूर्ण प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। वर्णाश्रमधर्मावलम्बी समाज ही भारतीय जनताका संख्यामें सबसे बड़ा और सर्वश्रेष्ठ समाज है। यही भारतीय जनताका मेरुदण्ड है। विदेशी शासनकालमें इसपर अनेक भीषण आघात हुए। उनसे इसके कुछ अंग अवश्य जखमी हुए हैं। अब स्वदेशी शासनकालमें इसपर कोई नया प्रहार न हो। समाज-व्यवस्थामें कोई भी ऐसा परिवर्तन न किया जाय, जिसमें समस्त समाजकी अनुज्ञा न हो। सामाजिक व्यवस्था समाजके ही हाथमें रहनी चाहिये।

सारा जगत् एक है और भारत भी उससे पृथक् नहीं रह सकता, इस विषयमें तो सब एकमत हैं। पर भारतीय संस्कृतिमें इस जगत्के सिवा अन्य लोक भी हैं। यह भूलोक है। इसके साथ पितृलोक और देवलोक भी हैं। ये तीनों लोक परस्पर सम्बद्ध हैं। हमारी आर्थिक योजनाओंसे ही वसुन्धरा तृप्त होकर हमारे वाञ्छित फल नहीं प्रदान करती। देवलोकके देवताओं और पितृलोकके पितरोंको भी तृप्त करना पड़ता है। भारतीय संस्कृतिमें तीनों लोक ही नहीं, तीनों काल भी एक हैं। हम केवल वर्तमानको देखकर कह देते हैं कि भूतकाल समाप्त हो गया, अब उससे कोई मतलब नहीं। हिंदू-संस्कृतिमें तीनों काल एक साथ देखे जाते हैं। जिस मण्डपमें हम खड़े हैं, वह एक नींवपर ठहरा है। यदि उस नींवको हम वहाँसे खसका दें तो मण्डप एक क्षण भी न ठहर सकेगा। इसी प्रकार वर्तमान भूतकालपर ठहरा है। भूत और वर्तमान मिलकर ही भविष्य निर्माण करते हैं। तीनों लोक, तीनों काल इस तरह एक हैं। प्रत्येक भारत-सन्तानका यह दृढ़ संस्कार है कि हमारे धर्मशास्त्रप्रवर्त्तक महर्षि त्रिलोकदर्शी और त्रिकालदर्शी थे। तीनों लोक और तीनों कालमें व्यापक चिरन्तन महान् सत्यके आधारपर ही उन्होंने सब सामाजिक बन्धन, सबके कर्तव्य और अधिकार निश्चित किये। इसके साथ यह बात भी ध्यानमें रखनेकी है कि वर्तमानमें हम जिस मानव-जातिको देखते हैं, वह अपनी पूर्वपरम्परासे अलग नहीं है और न हमारी भावी संतति हमसे अलग रह सकती है। तीनों कालमें रहनेवाली मानव-जाति एक है। वर्तमान मानव-जातिके रूपमें ही आदिमानव जीते हैं और भविष्यमें भावी संततिके रूपमें जीते रहेंगे। मुक्त पुरुष तो सदा ही जीते रहते हैं। यही पूर्वपरम्पराका महत्त्व है। भारतीय परम्परावादी हैं, उनके परम्परावादका यही रहस्य है। कुलधर्म और जातिधर्मके सनातनत्वका भी यही रहस्य है।

भारतीय जीवनमें जीवनका तो महत्त्व है ही, पर जन्म और मृत्युका भी बहुत बड़ा महत्त्व है। मानव-जीवनके शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीवभाव—ये जो विविध अंग हैं, उनकी सात्त्विक कामनाकी यथासम्भव पूर्ति ही जीवनके स्वकर्म या स्वधर्मकी यथासम्भव पूर्णता कही जा सकती है। स्वकर्मका यह निश्चय प्रकृतिभेदसे अनेक प्रकारका होता है। इस निश्चयमें शास्त्रतः हमारा जन्म मुख्य निर्णायक माना गया है। जन्म कोई ऐक्सीडेंट या

आकस्मिक घटना नहीं है। जीवनशृंखलाकी यह एक कड़ी है, जिसे हम उस शृंखलासे अलग नहीं कर सकते। पूर्वजीवनके कृतकर्मके आगे जो कुछ करना विधेय है, उसका निश्चय हमारे वर्तमान जन्मके द्वारा होता है। इसीलिये गीतामें कहते हैं—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

जन्मके साथ जो कर्म उत्पन्न हुआ है, उसका कोई त्याग न करे। जिस कुलमें हमारा जन्म हुआ, उसका परम्परागत विहित कर्म ही हमारा कर्म होता है। कारण, वर्तमान मानव-जाति ही नहीं, त्रिकालमें व्याप्त सम्पूर्ण मानव-जाति एक है। इसीलिये भारतीय संस्कृतिमें जीवनका विचार केवल वर्तमान जीवन देखकर ही नहीं किया जाता, बल्कि पूर्वजन्म, वर्तमान जन्म और पुनर्जन्म अर्थात् त्रिकालव्यापी अखण्ड मानव-जीवनको देखकर किया जाता है। आज भी प्रत्येक भारत-सन्तानके अन्तःकरणमें यह संस्कार बद्धमूल है कि हमने पूर्वजन्ममें जैसा कर्म किया था, उसीके अनुसार हमारा वर्तमान जन्म हुआ और इस जन्ममें जैसा कर्म हम करेंगे, वैसा ही हमारा अगला जन्म होगा। मृत्यु भारतीय सन्तानके संस्कारमें जीवनका अन्त नहीं, नये जीवनका आरम्भमात्र है। भारत-सन्तान कभी मरता नहीं, मरकर भी पुनर्जीवित होता है। जो लोग जीवनरेखाके जन्म और मृत्यु—इन दो चरमबिन्दुओंका विचार नहीं करते, वे जाने-बे-जाने—

यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

—इस चार्वाकपन्थके अनुयायी बन जाते हैं। उनकी दृष्टि अत्यन्त संकुचित और वृत्ति कर्तव्यविमुख, विषयभोगरत होती है। एक बार ट्रोजकीने जगत्के कुछ प्रसिद्ध राष्ट्रोंकी दूरदृष्टिका अंदाजा लगाकर कहा था कि 'अंग्रेज तीस-चालीस वर्ष आगेतकका जमाना देख लेते हैं, रूस ६०-७० वर्षतककी बातोंको सोच लेता है। समाजवादके प्रवर्तक कार्लमार्क्सने आगे आनेवाले सौ वर्षोंतकका जमाना देखा था। पर भारतीय त्रिकालदर्शित्वके सिद्धान्तके सामने यह देखना कुछ न देखनेके बराबर है। दूरदर्शिता हमें अपने त्रिकालदर्शी पूर्वजोंसे ही सीखनी चाहिये। पूर्वजन्म और अगले जन्मका विचार करके मनुष्यमात्रका कर्तव्य उसके जन्मसे ही निर्धारित किया जाता है। इसीलिये जिस मनुष्यका जिस कुलमें जन्म होता है, उस कुलका धर्म ही उस मनुष्यका स्वधर्म हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने कुलका घटक है, प्रत्येक कुल अपने समाजका घटक है और प्रत्येक समाज अखिल मानव-जातिका घटक है। मानव-जाति अखिल जड-चेतन जगत्का घटक है। अखिल जगत् सप्तलोक और चतुर्दश भुवनोंका घटक है। इसलिये सारा जीवन एक है और वह तीनों कालमें व्याप्त है। जीवनकी यह व्यापकता भारतीय आचार-विचारोंमें सर्वत्र अनुस्यूत है। कुलधर्मसे इस व्यापक जीवनकी शिक्षा आरम्भ होती है।

कुल-धर्मकी इतनी महिमा जिस भारतीय समाजव्यवस्थामें है, उसमें छोटे-बड़ेका कोई भेद नहीं है। बड़ा वही है, जो अपने नियत धर्मका पालन करता है। जो नहीं करता, वह अपने-आपको छोटा बनाता है। धर्मसे स्नेह उपजता है और जहाँ स्नेह होता है, वहाँ छोटे-बड़ेके भेदका जो व्यवहार होता है, वह भी स्नेहयुक्त ही होता है। उदाहरणार्थ पुत्र पिताके या छोटा भाई बड़े भाईके चरण छूता और उसके सामने हाथ जोड़कर खड़ा होता है तो इसे छोटे-बड़ेका भेद नहीं कहा जाता। यों भड़कानेवाले लोग तो पतिके विरुद्ध पत्नीको भी भड़काते हैं और उसका क्या परिणाम होता है, यह 'हा राम!' कहकर प्राण त्यागनेवाले महाराज दशरथसे पूछिये। अंग्रेजी शासनने हममें फूट डालनेके लिये दो शब्द गढ़े—Depressed (दलित) और Untouchable (अस्पृश्य); और हम भड़क गये, इन्हीं शब्दोंका अनुवाद करने लग गये। यथार्थमें हमारे शास्त्रोंने किसी जातिको 'दलित' नहीं किया है; और 'अस्पृश्य' नामकी कोई जाति शास्त्रोंमें है ही नहीं।' शास्त्रोंने जन्मसे सबका कर्म माना है और कुल-परम्परा चलानेका आदेश दिया है—

येनास्य पितरो याताः येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति॥

(मनुस्मृति ४।१७८)

'पिता जिस मार्गपर चले, जिसपर पितामह चले, उसी सन्मार्गपर हर किसीको चलना चाहिये। उसीसे वह सब दुःखों और अभावोंको पार कर जायगा।' पतित वही है, जो अपने कुलको त्यागने और कुल-परम्पराको मिटानेकी इच्छा करता है। जो पुत्र केवल पैतृक सम्पत्ति पानेके लिये अपनी पूर्वपरम्परा मान लेता पर उस कुलके व्रतको त्याग देता है, उसे पतित नहीं तो और

क्या कहें? भारतीय संस्कृतिमें जन्मसे धर्म निश्चित होता है और धर्मसे ही सम्पत्ति आदिका अधिकार।

अस्पृश्यता कहकर जिस चीजकी निन्दा की जाती है, वह असलमें शौचाचार है और शौचाचार कोई निन्दनीय वस्तु नहीं। शुचि रहना, अन्तर्बाह्य स्वच्छता और पवित्रता रखना एक महान् गुण है और अन्य सब गुणोंका आश्रय-स्थान है। शुचितामें ही दैवी गुणोंका आधान होता है। जहाँ शुचिता नहीं, वहाँ कोई दैवी गुण नहीं ठहर सकते। रजस्वला स्त्रीको कोई स्पर्श नहीं करता—चाहे वह माँ, बहन, बेटी, कोई हो। स्नान किया हुआ मनुष्य अस्नातको स्पर्श नहीं करता। घर-घरमें जो देवगृह होता है, उसमें घरके लोग अत्यन्त शुचि होकर, शुचि वस्त्र पहनकर ही प्रवेश करते हैं। भारतीय संस्कृतिमें द्विजत्व एक महान् संस्कार है, जिसके अन्तर्गत उपनयनादि अनेक संस्कार हैं। इससे न केवल अन्तःकरण प्रत्युत बाह्य शरीर भी ब्रह्मप्राप्तिके योग्य साधा जाता है— **'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'**। इस महत् कार्यकी पवित्रताके लिये चाहे जिसका स्पर्श इष्ट नहीं है। संक्रामक रोगोंके समान अपवित्र विचार या पाशविक भाव भी संक्रामक होते हैं। उनसे बचना चाहिये। जो चीज जैसी है, उसे उसी रूपमें पेश करना चाहिये। लोगोंको कुछका कुछ और ही बतलाकर भड़काना उनका और सबका अपकार करना है, नेह-नाता तोड़कर द्वेष फैलाना है।

जन्ममूलक चातुर्वर्ण्यात्मक समाज-संस्थासे परस्पर सामाजिक संघर्षका कोई कारण नहीं रहता, सब वर्ण एक-दूसरेकी जीवन-समृद्धिके पूरक होते हैं, एक-दूसरेपर आश्रित रहते हैं, व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता भी यथासम्भव कम होती है, बेकारीकी समस्या उठने ही नहीं पाती, कोई बेकार नहीं रहता। समाजकी सब सुविधाएँ स्वाभाविक हो जाती हैं। उनके लिये नये-नये महकमे कायम करके विफल होनेके अवसर नहीं देखने पड़ते। युद्धकी सम्भावना भी कम होती है और आनुवंशिक संस्कारोंसे नैपुण्यकी निरन्तर वृद्धि होती है। इस संस्थाको उठा देनेकी धुनके पीछे कोई परिणामदर्शी विवेक नहीं है।

हमने बार-बार 'हिंदू-संस्कृति' शब्दोंका प्रयोग न कर 'भारतीय संस्कृति' शब्दोंका प्रयोग किया है। 'भारतीय' शब्दके व्यवहारमें अहिंदुओंका भी समावेश हो जाता है। पर यह समझना गलत है कि भारतीय संस्कृति और हिंदू-संस्कृति दो भिन्न संस्कृतियाँ हैं। यह समझना भी गलत है कि भारतीय संस्कृति हिंदू-मुस्लिम खिचड़ी संस्कृति है। मुसलमान यदि भारतीय हैं तो हिंदुओंकी संस्कृतिसे भिन्न उनकी अन्य कोई संस्कृति नहीं हो सकती। यदि उनकी संस्कृति भिन्न है (जैसा कि अधिकांश मुसलमान कहते हैं, और इसी आधारपर झगड़कर उन्होंने भारतवर्षमें ही अपना पृथक् इस्लामी राज्य कायम कर लिया) तो वह भिन्न ही है। भारतीय संस्कृतिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। पर सच्ची बात यह है कि ये उनके विदेशी संस्कार हैं, जो उन्हें यह सिखाते हैं कि तुम्हारी संस्कृति हिंदू-संस्कृतिसे भिन्न है। विदेशी मुसलमान तो इस देशमें वे ही थे, जिन्होंने इस देशपर बाहरसे आकर आक्रमण किया था। पीछे यहींके हिंदुओंको उन्होंने लोभ, भय और द्वेषसे मुसलमान बना लिया। हिंदू-संस्कृति जन्मसे ही जाति निश्चित करती है। यदि मुसलमानोंके विदेशी संस्कार नष्ट हो जायँ तो वे हिंदू ही हैं। उनके हृदयके अन्तस्तलमें आज भी हिंदू-संस्कार दबे हुए छिपे पड़े हैं। इन विदेशी संस्कारोंको सच पूछिये तो ईश्वर ही हटा सकता है अथवा ईश्वरके अनन्य भक्त; जैसे कि श्रीचैतन्यमहाप्रभु तथा अन्य अनेक संत-महात्माओंके जीवनमें हम देखते हैं कि उन्होंने कितने ही मुसलमानोंके अंदर छिपे हुए कृष्णभक्तिके भाव जगा दिये। कितने ही मुसलमान परम वैष्णव कवि हो गये। जन्म-जन्मान्तरके कुसंस्कारोंको धो डालनेकी सामर्थ्य भगवत्कृपामें ही है।

भारतीय संस्कृतिमें गौ और ब्राह्मण अत्यन्त पूज्य हैं। नवजात शिशुको गोदुग्ध पान करानेसे लेकर मरणकालीन गोदानतक सर्वत्र गौकी आवश्यकता होती है। गौसे हमारा कृषिकर्म और गौसे ही हमारा यज्ञकर्म होता है। गोहत्यासे बढ़कर कोई पातक नहीं है। पिछले महायुद्धमें गोवंशका भयानक संहार हुआ। इसीसे धान्यकी उपज कम हो गयी और घी-दूधके लाले पड़ गये। हमारी नवीन कृषि-सुधार योजनाओंमें ट्रैक्टरों और कृत्रिम रासायनिक खादोंकी विशेषरूपसे चर्चा है। पर इन नवीन प्रयोगोंके भरोसे गोवंशकी उपेक्षा करना बुद्धिमानीका काम न होगा। गोवंशकी जितनी समृद्धि होगी, यहाँकी कृषिभूमि उतनी ही धान्यादिकोंसे समृद्ध होगी और राष्ट्रके नवयुवक स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट होंगे। गो-वंशकी रक्षा और समृद्धिके आधारपर कृषिसुधारकी जो योजना बनेगी, उसकी सफलतामें कोई सन्देह नहीं

रहेगा। ब्राह्मणोंको हमलोग किसी जात्यभिमान या सम्प्रदायाभिमानसे नहीं पूजते, प्रत्युत इसलिये पूजते हैं कि ऋषि-परम्परासे अपरिग्रहपूर्वक वे ही इस व्रतके व्रती हैं कि आब्रह्म अखिल जड-चेतन जगत्का शास्त्रोक्तरीत्या मंगल-विधान करें। ब्राह्मण सब वर्णोंके आप्त (अपने) हैं।

भारतीय संस्कृतिमें यह विशेषता है कि वैयक्तिक जीवनकी चरितार्थताका विश्वके समष्टि-जीवनकी चरितार्थताके साथ कोई विरोध नहीं है। जो चतुर्विध पुरुषार्थ व्यक्तिके हैं, वे ही चतुर्विध पुरुषार्थ अखिल मानवजातिके हैं। इन चतुर्विध पुरुषार्थोंके साधनकी जो सांस्कृतिक प्रणाली है, उसका अनुसरण करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति और कुछ न करके भी अखिल विश्वहितका साधक बनता है। धर्म और मोक्षसे बँधा हुआ प्रत्येक जीवन सबके लिये अनुकरणीय होता है। संसारमें जितने ही अधिक व्यक्ति ऐसे जीवनसे समृद्ध होंगे, संसारमें सदाचार, सुख और शान्तिकी उतनी ही समृद्धि होगी। जनताको सदाचारसम्पन्न बनाना राज्यव्यवस्थाका मुख्य कर्तव्य है। अतः राजनीतिमें भारतीय संस्कृतिका आश्रय ही परम आश्रय है। भारतीय राजनीतिक संस्कार, जो हम रामायण और महाभारत तथा पुराणादि ग्रन्थोंमें देखते हैं, भारतकी काया-पलट कर जगत्को शान्तिका अमोघ सन्देश दे सकते हैं।

हमारी संस्कृतिमें कोई राष्ट्रवाद, धर्म-सम्प्रदायवाद अथवा राजनीतिक सम्प्रदायवाद नहीं है। हमारे यहाँ धर्म और तत्त्वज्ञानके अनेक सम्प्रदाय हैं। पर सबका लक्ष्य परम तत्त्वका अनुसन्धान, परमेश्वरकी प्राप्ति और धर्मका साधन है। इसीलिये इनमें परस्पर कोई संघर्ष नहीं है। संघर्ष वहीं होता है, जहाँ लक्ष्य अर्थ और काम होते हैं और साधनमें धर्माधर्मका विचार नहीं होता। जहाँ लक्ष्य ईश्वर है, साधन धर्म है और अर्थ और काम उस धर्मके द्वारा नियन्त्रित होते हैं, वहाँ संघर्षका कोई कारण नहीं रहता। जगत्का परम हित ऐसे ही परम लक्ष्य और परम साधनके द्वारा होता है। जगत्का हित किसी राष्ट्रवाद, धर्म-सम्प्रदायवाद अथवा राजनीतिक सम्प्रदायवादसे नहीं हो सकता। कारण, इनका लक्ष्य अन्य राष्ट्रों तथा धार्मिक अथवा राजनीतिक सम्प्रदायोंको दबाकर या नष्ट करके अपने ही राष्ट्रिय अथवा साम्प्रदायिक अहंकारका प्रभुत्व स्थापित करना होता है। ऐसी स्थितिमें परस्पर संघर्ष अनिवार्य है। पर जिनका लक्ष्य किसी एक राष्ट्र, समाज या सम्प्रदायका प्रभुत्व नहीं, बल्कि सारे विश्वका हित और विश्वात्माका आराधन होता है, वे अहंकारका प्रभुत्व नहीं चाहते; वे चाहते हैं इस जगत्के व्यवहारमें जगदात्माका प्रभुत्व स्थापित हो और जगत्के उसी हितका साधन हो, जो धर्मसे प्राप्त है, जो विश्वात्माकी सकल-लोक-कल्याण-कामनाके अविरुद्ध है। विश्वका हित और विश्वात्माकी तुष्टि परस्पर अविरोधी तत्त्व हैं। जहाँ विश्वात्माकी प्राप्ति ध्येय है, वहीं विश्वहित भी अनुस्यूत है। और विश्वको धारण करनेवाला धर्म ही है। वहीं धर्ममें अर्थ और काम भी स्थित हैं। इसी परम सिद्धान्तमें सब वादोंका समन्वय होता है। अधर्मसे प्राप्त होनेवाले राज्य और विषय-वैभव-भोग न केवल क्षणिक होते हैं बल्कि अपने साथ अधर्म करनेवालेको भी जड़-मूलसे उखाड़ फेंकते हैं। अतः हमारी संस्कृतिके जो दो मुख्य अंग हैं—ईश्वर और धर्म, इनके आश्रयमें रहकर ही हमारा देश और राष्ट्र परम उन्नत होगा, अन्य राष्ट्रोंको दबाकर नहीं बल्कि अपने साथ लेकर। कारण, ईश्वर और धर्मकी दृष्टिमें हमारा हित और अन्य राष्ट्रोंका हित अलग-अलग नहीं है। जिन राष्ट्रोंने जगत्-हितके विरुद्ध अपने उत्कर्षका प्रयास किया, उनमेंसे कोई भी राष्ट्र नहीं टिका और आगे भी नहीं टिक सकेगा। कारण, जगत् एक है, मानव-जाति एक है, तीनों लोक एक हैं, तीनों काल एक हैं, एक ही परमात्माके अंदर ये सब एक हैं। इस एकत्वसे अलग होकर कोई भी ठहर नहीं सकता। इस एकत्वमें सब अपने-अपने विशेष-विशेष गुणोंका उत्कर्ष कर सकते हैं। ऐसे सब उत्कर्ष सबके परस्पर सहायक होते हैं। इस एकत्वका दर्शन हमारी संस्कृतिके आचार्योंने किया था और सबको उनके विशेष-विशेष गुणोंके उत्कर्ष-साधनकी शिक्षा दी थी। इसीलिये भगवान् मनु कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनुस्मृति २।२०)

पृथ्वीके सात्त्विक जनसमूह आज भी भारतवर्षकी ओर इस आशासे ताक रहे हैं कि उन्हें उनके परम हितका मार्ग भारतवर्ष दिखायेगा। भारतीय संस्कृतिके आश्रयमें ही यह मार्ग-प्रदर्शन हो सकता है।

श्रुति-स्मृति-पुराणजनित भारतीय संस्कृतिके दो परमाराध्य नाम हैं—श्रीराम और श्रीकृष्ण। राम

धर्मके परम आदर्श हैं। श्रीकृष्ण धर्मसे प्राप्त प्रेमके स्वरूप हैं। प्रेम ही भारतीय संस्कृतिका प्राणधन है। पर यह प्रेम धर्मसे ही प्राप्त होता है। प्रेम ही वह मूल उद्‌गमस्थान है, जहाँसे धर्मकी सरिता प्रवाहित होती और प्रेमसिन्धुमें जाकर मिलती है। प्रेम ही जगत्-व्यवहारमें धर्मका रूप धारण करता है। इस तरह प्रेम और धर्म एक ही हैं। उन्हीं प्रेमधर्म भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें यह लेख समर्पित है। कारण, भगवान् ही सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान, सम्पूर्ण शाश्वत धर्म और अनन्त परमानन्दके धाम हैं।

हिंदू-संस्कृतिके आन्तरिक पक्ष

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट०)

हिंदू-संस्कृति एवं सभ्यताका बाह्य पक्ष इतने महत्त्वका नहीं है, जितना आन्तरिक पक्ष। क्योंकि भारतीय सभ्यताका मूलाधार आध्यात्मिकता है। संसारकी अन्य संस्कृतियाँ बाह्य प्रदर्शन, टीपटाप, भौतिकवाद, राजनैतिक बुद्धिमत्ता और कूटनीतिज्ञतामें विश्वास करती हैं; किंतु हिंदू-संस्कृति बाह्य रूपमें सरलता, निःस्पृहता और अहिंसामें विश्वास करती है। हिंदू-संस्कृतिकी नींव आध्यात्मिकता, त्याग, तपस्या, सत्य और विश्वप्रेमपर रखी गयी है।

हम देखते हैं—पाश्चात्त्य संस्कृतियाँ जीवनकी विलासमय आवश्यकताएँ बढ़ाकर बाह्यरूपसे मानव-जीवनको अवश्य परिष्कृत कर रही हैं, आराम और भौतिक सुखोंमें वृद्धि हुई है; किंतु उनसे मानवताका कल्याण नहीं हुआ है। उन्होंने निरन्तर एकके पश्चात् दूसरे युद्ध, विप्लव और संघर्षके बीज बोये हैं। एक युद्ध निपटने नहीं पाता, दूसरेके प्रारम्भ होनेके लक्षण प्रकट हो जाते हैं; भयंकर तनातनी, गुप्त मन्त्रणाएँ, गर्हित गुटबन्दियाँ, राष्ट्रोंके पारस्परिक संघर्ष चलते रहते हैं। आज यूरोपमें जो दूषित वातावरण फैला हुआ है, वह यूरोपीय सांस्कृतिक आदर्शोंके फलस्वरूप ही है। रूसमें सभ्यताका बाह्य पक्ष निखरा हुआ दीखता है, मानव अपना जीवन सुखसे व्यतीत करते हुए प्रतीत होते हैं; किंतु वास्तवमें उनके हृदयमें तनिक भी शान्ति, सन्तोष, विश्राम नहीं है।

संस्कृतियोंका बाह्य पक्ष इतने महत्त्वका नहीं होता, जितना आन्तरिक पक्ष। जबतक आन्तरिक पक्ष सजीव है, तबतक जातिमें बल, वीर्य, तेज, उत्साह बना रहता है। यदि शरीरका आन्तरिक पक्ष—हृदय, मस्तिष्क इत्यादि बलवान् हैं, रक्त स्वच्छ होनेका कार्य ठीक चलता है, तो शरीर भी दृढ़ होगा। इसी प्रकार यदि संस्कृतिका आन्तरिक पक्ष सुरक्षित है, तो बाह्य पक्ष सबल बना रहता है। वस्तुतः आन्तरिक पक्षकी विशेष महत्ता है।

एक विद्वान्‌के अनुसार, 'जबतक किसी संस्कृतिका आन्तरिक पक्ष रहता है, तबतक उसका बोलबाला रहता है। इसलिये आन्तरिक पक्षकी रक्षाके लिये विशेष प्रयत्न चलने चाहिये। यदि शरीर हृष्ट-पुष्ट है तो उसमें अधिक कालतक आत्माकी स्थितिकी सम्भावना है।'

हिंदू-संस्कृतिका आन्तरिक पक्ष दृढ़ आधार-शिलाओंपर रखा गया है। हिंदूका लक्ष्य मानव-समाजकी सांसारिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हुए चरम आध्यात्मिक सुख—प्रभुसे तादात्म्य प्राप्त करना, उसीमें अपने-आपको विलीन कर देना है। एक सच्चा हिंदू जीवनके प्रथम भागमें पूर्ण नैतिक जीवन व्यतीत करते हुए ब्रह्मचर्य-धर्मका पालन करता है। उसे सत्य, न्याय, प्रेम, अहिंसा, शौर्य, बल इत्यादि सब प्रकारकी विभूतियाँ प्राप्त हो जाती हैं, जिनसे वह जीवनयात्रा मजेमें पूर्ण कर सकता है। विद्या तथा दृढ़ जीवनके लिये ब्रह्मचर्य-आश्रमकी योजना प्रशस्त है। जीवनके द्वितीय भागमें वह गृहस्थ-धर्मका पालन करता है। आत्मोन्नतिके लिये गृहस्थ-धर्म एक प्राकृतिक, स्वाभाविक, आवश्यक एवं सर्व-सुलभ योग है। परिवारमें वृद्धि होनेसे हिंदू युवकके आत्मभावकी सीमा बढ़ती है—एकसे दो, दोसे तीन और चार आत्माओंमें आत्मीयता बढ़ती है। क्रमशः मर्यादा बढ़नेसे मनुष्यके स्वार्थपर अंकुश लगता है, वह आत्मसंयम सीखता है और स्त्री-पुत्र-सम्बन्धी-परिजनोंमें आत्मीयता बढ़ाता रहता है। वह क्रमशः आत्मोन्नतिकी ओर बढ़ता चला जाता है। गृहस्थ-धर्म एक छोटी-सी पाठशाला है, जिससे नागरिककी आत्मा विकसित होकर पूर्णताकी ओर पहुँचती है। तृतीय अवस्थामें यह आत्मभाव पूर्ण विकसित हो जाता है। चौथी अवस्थामें वह लौकिक

सेवा त्यागकर भगवत्-तत्त्वकी प्राप्तिकी ओर अग्रसर होता है; संयम, त्याग, ब्रह्मविद्याद्वारा वह पूर्ण नैतिक जीवन बनाकर विश्रान्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार हिंदू-संस्कृति पूर्ण नैतिक जीवनका निर्माण करती है।

हिन्दू संस्कृतिका आन्तरिक पक्ष मूलरूपसे निम्न तत्त्वोंपर आधारित है—

(१) शरीरकी अपेक्षा आत्माका अधिक महत्त्व है। हमें चाहिये कि हम अपने-आपको शरीर नहीं, आत्मा माना करें और वैसा ही उच्च आचरण करें।

(२) 'अहं' भावका त्याग करें, अर्थात् अपने-आपको स्वार्थके क्षुद्र दायरेमें न बाँधे रहें वरं कर्तव्यनिष्ठाके साथ-साथ समाज-सेवा और हितके लिये प्रयत्न करें। हमारे सब कार्य निष्काम, निःस्वार्थ भावनासे हों और वे परमेश्वरको अर्पण किये जायँ।

(३) प्रत्येक हिंदू अपने दैनिक जीवन और सामाजिक व्यवहारमें सदाचारसे कार्य ले, सद्गुणोंका प्रकाश करे, अपने चरित्रके उच्च उदाहरणद्वारा दूसरोंको वैसा ही उच्च जीवन व्यतीत करनेके लिये उत्साहित करे।

(४) अर्थ, काम और मोक्ष—इन सभीका समन्वय उचित रीतिसे किया जाय, जिससे मानव-जीवनकी सर्वांगीण उन्नति हो सके।

(५) आत्मा अमर है, केवल शरीरका परिवर्तन चला करता है। यह अमरत्वकी भावना हमें उत्साहित करे।

(६) मनुष्यसे परे एक परम सत्ता—ईश्वरत्वमें अखण्ड विश्वास।

(७) हिंदू-संस्कृतिका अन्तिम आधार है प्रकृतिके साथ सीधा सम्पर्क। प्रारम्भिक तथा अन्तिम जीवनमें हिंदू प्रकृतिके साथ सीधा सम्पर्क रखनेमें विश्वास करते हैं। प्रकृतिके साहचर्यसे उनका अन्तःकरण पवित्र रहता है; परोपकार, वैराग्य और सदाचारकी ओर प्रवृत्ति रहती है।

'प्रकृतिके साथ सीधा सम्पर्क'—इसका आशय विस्तृत है। खान-पान, विहार इत्यादिमें सदा-सर्वदा प्रकृतिके निकट रहना, भौतिकवादसे मुक्त रहना, उच्च आध्यात्मिक विचारों तथा शुद्ध चिन्तनमें तन्मय रहना—यह हमारी संस्कृतिका एक अंश है। हिंदू-संस्कृतिमें वृक्ष लगानेका भी बड़ा महत्त्व है। वृक्ष जगत्‌का कितना कल्याण करता है, यह देखकर भारतीय संस्कृतिमें वृक्षारोपण एक पुण्य-कर्म माना गया है। तुलसी, अशोक, शमी, पीपल, नीम, गूलर, आँवला आदिके वृक्ष बड़ी श्रद्धासे पूजे जाते हैं। गो-सेवा और पूजा भी इसीमें सम्मिलित है। कुछ महा नदियाँ—जैसे गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी इत्यादिका बड़ा महत्त्व है। हिंदू-संस्कृतिमें श्रीगंगाजीका विशेष महत्त्व है। विष्णुपदी, जाह्नवी, भागीरथी, त्रिपथगा, स्वर्गापगा आदि विभिन्न नाम दे-देकर गंगाकी महिमाका वर्णन किया गया है। गंगाका उद्‌गमस्थान मानसरोवर माना गया है। हमारी सब यात्राओंका महत्त्व यही है कि वे हमें प्रकृतिका साहचर्य बनाये रखनेमें सहायता करती हैं। धार्मिक यात्राओंमें पैदल पर्वतोंमें घूमते, सरिताओंमें स्नान करते, वन-जंगलोंकी प्राकृतिक शोभाका रसास्वादन करते हुए जब हिंदू यात्री आगे बढ़ते हैं, तब उन्हें दीर्घजीवनके साथ-साथ आन्तरिक पवित्रता भी मिलती है। वे ठंडे जलमें स्नान करते हैं; इससे शरीरमें स्फूर्ति रहती है, क्षुधा खुलकर लगती है, चर्मरोग दूर हो जाते हैं और शरीर नीरोग हो जाता है।

यूरोप तथा अमेरिकाकी सभ्यता एवं संस्कृति बड़े-बड़े शहरों, गगनचुम्बी अट्टालिकाओं, आमोद-प्रमोद-विलासकी सामग्रियोंमें प्रकट होती है; किंतु हिंदू-संस्कृति भौतिक आवश्यकताओंकी तृप्तिके साधनमात्रको कोई महत्त्व नहीं देती। हिंदू-संस्कृति तो तपोवनमें, प्रकृतिके अंचलमें है। हम त्यागको महत्त्व देते हैं, आन्तरिक सम्पदाओंके संग्रहमें विश्वास करते हैं। हिंदू मानता है कि उसका मानसिक पक्ष जितना शुद्ध एवं विकसित, परिपक्व रहेगा, उसके उतने ही अच्छे कर्म होंगे, और उसका उतना ही उच्च जीवन भी होगा। त्याग, संयम, ईश्वरमें विश्वास उनकी रग-रगमें समाया हुआ है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृतिका जन्म तथा विकास नगरोंसे दूर ऋषियों तथा मुनियोंके आश्रमों, तपोवनों, पुण्यारण्योंमें हुआ है। यही कारण है कि उसमें आध्यात्मिकताकी प्रधानता है। आत्मदर्शन हमारा चरम लक्ष्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदू-संस्कृति मनुष्यका विकास अचेतन मनसे प्रारम्भ करती है। जब हमारी चेतनाका विकास नैतिक वातावरणमें होता है, तब हमारी विवेकबुद्धि सत्-तत्त्वकी ओर अधिक झुकी रहती है। विवेक-बुद्धिके सम्यक् विकाससे ही एक सच्चे हिंदूमें आत्मदर्शनकी शक्तिका अभ्युदय होता है। अपने आन्तरिक पक्षकी दृढ़ताके ही कारण हिंदू-संस्कृति अन्य समस्त संस्कृतियोंसे श्रेष्ठ है।

हिंदू-संस्कृति और वेद

ज्ञानका ह्रास, विकास नहीं

संसारके प्रायः सभी धर्मोंमें अपने मूल धर्मग्रन्थके प्रति अपौरुषेयताकी धारणा है। धर्मप्रवर्तक मूल-पुरुषको ईश्वरीय ज्ञानका साक्षात् हुआ, ऐसा सभी धार्मिक विश्वास करते हैं। यहूदी, ईसाई, मुसलमान इस्लामकी इस धारणापर पूर्ण विश्वास करते हैं। यह धारणा एक सीमातक सत्य है, पर हमें यहाँ इसकी आलोचना नहीं करनी है। हमें तो देखना है कि सृष्टिके आदिमें मनुष्यको ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ और वह ज्ञान कौन-सा था। वेद, जो उपलब्ध विश्वसाहित्यमें निर्विवाद प्राचीनतम हैं, आदिज्ञानके रूपमें हैं या नहीं और यदि आदिज्ञान हैं तो पुरुषकृत हैं या अपौरुषेय?

एक बात हम स्पष्ट देखते हैं कि मनुष्य बिना सिखाये कुछ सीख नहीं पाता। यदि आपने पेड़पर चढ़ना नहीं सीखा है तो जंगलमें शेर आपको खा जायगा, परंतु उस प्राणसंकटमें भी आप पेड़पर नहीं चढ़ सकेंगे। तैरना न जाननेवालोंके जलमें डूबनेकी घटनाएँ बराबर होती रहती हैं। मनुष्यका बच्चा भूखों मर जायगा, यदि माताका स्तन उसके मुखमें नहीं दिया जायगा। वह स्वयं अपनी बंद मुट्ठियाँ खोलकर उन्हें ढूँढ़नेका यत्नतक नहीं करेगा।

हिंदू-शास्त्र कहते हैं कि सृष्टिके मनुष्येतर समस्त प्राणी भोगयोनिके जीव हैं। वे अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये उन योनियोंमें आये हैं। फलतः अपने भोगके उपयुक्त ज्ञान, स्वभाव एवं शक्ति उन्हें जन्मसे ही प्राप्त हुए हैं। मनुष्य कर्मयोनिका प्राणी है। उसे संसारमें नूतन कर्म करने हैं। वह कर्म करनेमें स्वतन्त्र बनाकर संसारमें भेजा गया है। अतएव उसे शक्ति दी गयी है कि वह समस्त ज्ञानको ग्रहण कर सके। जन्मसे कोई ज्ञान, कोई स्वभाव उसे ऐसा नहीं मिला है कि वह उसके अनुसार चलनेको विवश रहे।

अबतक मनुष्यके पास जो ज्ञानराशि रक्षित है, वह धीरे-धीरे विकसित हुई है या मूलमें ही पूर्ण प्राप्त हुई थी? यह प्रश्न बड़ी सुगमतासे सुलझाया जा सकता है। मनुष्य स्वतः कुछ सीख नहीं पाता, उसे सिखलाया जाता है। मानवीय ज्ञान तो मनुष्य ही सिखलायेगा। हम यह भी देखते हैं कि विद्यार्थीने अध्यापकसे जितना पढ़ा है, जितना समझा है, उतना सब-का-सब वह सिखला नहीं पाता। वह जितना बतलाता है, सीखनेवाला उतना ठीक-ठीक समझ नहीं सकता। इस प्रकार ज्ञानका उत्तरोत्तर ह्रास होता है। जो यह मानते हैं कि ज्ञानका धीरे-धीरे विकास हुआ है, वे यह भूल जाते हैं कि पतंगा बराबर दीपकके पास आता है और कुछ गर्मी पाकर लौट जाता है। दो-चार बार थोड़ा-बहुत जलकर भी वह कुछ नहीं सीख पाता और अन्तमें जल जाता है। मानवीय ज्ञान तो, सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि, भूलता ही है। यदि आप निरन्तर उसे स्मरण रखनेका प्रयत्न करते रहते हैं, तब तो सम्भव है कि आपका ज्ञान जाग्रत् रहे; अन्यथा वह विस्मृत हो जायगा। चीनमें, मिश्रमें, अफ्रीकाके जंगलोंमें, अमेरिकामें बड़े सुन्दर कलापूर्ण मन्दिर मिले हैं। यह सिद्ध करता है कि वहाँके लोग किसी समय वैसे भवन बनाना जानते थे, सुसभ्य थे। परंतु मिश्रके लोग पिरामिड बनाना भूल गये। अफ्रीकाके जंगली लोग तथा अमेरिकाके मूल-निवासी अपना ज्ञान भूलकर असभ्य हो गये। ये सब बातें बतलाती हैं कि ज्ञानका विकास नहीं होता, अन्यथा ज्ञानसम्पन्न जातियाँ कालान्तरमें असभ्य हुई नहीं पायी जातीं। ज्ञानका ह्रास ही होता है।

ज्ञान अपौरुषेय

जोन्स बोसनने अपने अन्वेषणके पश्चात् स्वीकार किया है कि —'ज्ञानका विकास नहीं होता, प्रत्युत ह्रास ही होता है।'—जब ज्ञानका ह्रास ही होता है, तब आदिज्ञान सम्पूर्ण होना चाहिये। उसे मनुष्यने किससे सीखा? क्योंकि मनुष्य तो सिखाये बिना कुछ सीख नहीं सकता। यहाँ हमें देखना है कि ज्ञान मनुष्य सीखता कैसे है। महात्मा सुकरातका कहना है—'कोई किसीको नया ज्ञान नहीं सिखलाता, केवल भले ज्ञानकी स्मृति कराता है।' बात ठीक है। जिसमें ज्ञान था नहीं, उसे ज्ञान दिया कैसे जा सकता है। ज्ञान आनन्दकी ही भाँति अन्तरात्मामें निहित है। वह चैतन्यका स्वरूप है। आज भी सोचनेके लिये, भूली बातको स्मरण करनेके लिये एकाग्रता आवश्यक होती है। महात्मा कबीर, संत तुकाराम आदि पढ़े-लिखे नहीं थे। इतनेपर भी उनकी वाणियोंमें गम्भीर तत्त्वज्ञान है। यह ज्ञान उन्हें किसने

सिखलाया? उसीने, जिसके द्वारा महान् आविष्कारोंके ज्ञानका उद्भव होता है। सब जानते हैं कि वैज्ञानिककी तन्मयता एवं शरीरविस्मृतिसे ही उसका ज्ञान प्रकट होता है। इसका अर्थ हुआ कि मनुष्यके लिये ज्ञानके दो मार्ग हैं। सामान्य मार्ग है, दूसरोंद्वारा सीखना और विशेष मार्ग है, मनको एकाग्र करके अन्तःकरणसे उसे प्राप्त करना। हम दूसरोंसे जो सीखते हैं, वह भी हमारे अन्तःकरणका ज्ञान ही है। दूसरे उसे जाग्रत् करनेमें निमित्तमात्र होते हैं। क्योंकि हम देखते हैं कि एक ही उपदेशको अनेक श्रोता अनेक अर्थोंमें लेते हैं। वक्ताका भाव उपदेशके शब्दोंमें क्या था, यह वक्ता ही जानता है। श्रोताओंके हृदयमें तो उपदेशके शब्द हृदयके अनुरूप ज्ञान जाग्रत् करते हैं। हृदयोंकी स्थिति विभिन्न होनेसे उपदेशके अर्थ भी भिन्न हो जाते हैं। कवि, लेखक, चित्रकारादि भी अपनी मौलिकता एकाग्रताद्वारा हृदयसे ही प्राप्त करते हैं।

आनन्दका अक्षय निवास हृदयमें है और वहीं अनन्त ज्ञान-भंडार भी है। हृदयकी एकाग्रतामें ही दोनोंको उपलब्ध किया जा सकता है। हिंदू-शास्त्र यही सदासे कहते आ रहे हैं कि 'सच्चिदानन्दघन तो एकमात्र परमात्म-सत्ता है और वह प्राणिमात्रके हृदयमें निवास कर रही है। अपनेको अन्तर्मुख बनाओ और उसे प्राप्त करो! विश्वके समस्त सुख तथा समस्त ज्ञान उसी आनन्दघन एवं चिद्घनकी एक रश्मि हैं। वे भी हृदयसे ही आते हैं। जैसे रंगीन शीशेमें सूर्यका प्रकाश रंगीन जान पड़ता है, वैसे ही हृदयके विकारोंसे वह आनन्द एवं ज्ञान विकृत होकर वैषयिक सुख तथा भ्रान्त धारणाका रूप ले लेता है।'

ज्ञानमात्र अपौरुषेय है, यह अब समझानेकी आवश्यकता नहीं रह गयी। केवल इतना स्मरण रखना चाहिये कि निर्मल हृदयमें ही ज्ञानका पूर्ण वास्तविक रूप प्रकट होता है। हृदयमें मल होंगे तो ज्ञानकी ज्योतिसे वे भी प्रकाशित हो जायँगे और भ्रम होगा कि वे ही ज्ञानके रूप हैं—जैसे रंगीन शीशेके रंगको प्रकाश प्रकाशित कर देता है और इससे प्रकाशमें ही रंगका भ्रम होता है। क्योंकि ज्ञानमात्र अपने शुद्ध रूपमें अपौरुषेय है, अतएव शुद्ध ज्ञान-भंडारको ही 'वेद' कहा जाता है। 'वेद' शब्दका अर्थ ज्ञान ही होता है।

जब विशुद्ध ज्ञानमात्र वेद है, तब शुद्धान्तःकरण महात्माओंके समस्त उपदेश वेद क्यों नहीं माने जाते? सभी आदि धर्मोपदेशकोंकी वाणियाँ क्यों वेद न स्वीकार की जायँ? इस सम्बन्धमें यह जान लेना चाहिये कि महापुरुषोंका ज्ञान विशुद्ध होनेपर भी इसलिये वेद नहीं कहा जाता कि वह वस्तुतः मूलज्ञान नहीं है। वह ज्ञानकी पुनरुक्तिमात्र है। आदिसृष्टिमें जो ईश्वरीय ज्ञान मनुष्यको प्राप्त हुआ, उस ज्ञानमें कुछ बढ़ा नहीं—बढ़ सकता भी नहीं; क्योंकि वह सर्वथा पूर्ण ज्ञान है। उसी ज्ञानको 'वेद' कहा जाता है। महापुरुषोंने चाहे उसे दूसरोंसे प्राप्त किया हो या अपने हृदयकी एकाग्रतामें स्वयं अनुभव किया हो, वह है उसी ज्ञानकी पुनरावृत्ति। प्रो० मैक्समूलर कहते हैं-'आदिसृष्टिसे लेकर आजतक कोई भी बिलकुल नया धर्म नहीं हुआ।' मैडम ब्लेवेट्स्कीने इसीको स्पष्ट किया है—'ये धर्मप्रवर्तक भी केवल धर्मके पुनरुद्धारक थे, मूलशिक्षक नहीं।' यह बात अन्वेषकोंसे छिपी नहीं है कि किस प्रकार वैदिक धर्मसे पारसी धर्म पृथक् हुआ और पारसी धर्मकी परम्परा ही यहूदी, ईसाई, इस्लामतक आयी।

महात्माओंद्वारा उपदिष्ट ज्ञान विशुद्ध होनेपर भी पुनरुक्त होता है और साथ ही वह ज्ञानका एकांश ही होता है। मनुष्यकी शक्ति सीमित है। कोई कितना भी प्रयत्न करे, कितना भी शुद्ध-चित्त हो, उसकी शक्तिकी एक सीमा है। अतएव मनुष्य चाहे जितना विशुद्ध-हृदय हो, उसके हृदयकी एकाग्रतामें उदित ज्ञान शुद्ध होनेपर भी ज्ञानका एकांश ही होगा। पात्रमें भरा गंगाजल यद्यपि विशुद्ध गंगाजल है, फिर भी वह गंगाजी नहीं है। सृष्टिके आदिमें मानव जो अनन्त ज्ञानराशि पाता है, वह मनुष्यके हृदयकी एकाग्रताका प्रयत्न नहीं है। वह ईश्वरकी ओरसे आया ज्ञान है। वह सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ ही पूर्ण ज्ञानस्वरूप है और उसीकी ओरसे पूर्ण ज्ञान आ सकता है। अतएव वेद केवल पूर्ण अपौरुषेय, ईश्वरीय ज्ञानको ही कहते हैं।

भाषा अपौरुषेय

वेद ईश्वरकी ओरसे मनुष्यको प्राप्त हुए, इसका प्रमाण भाषा है। यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रतिभासम्पन्न कलाकार मौलिक कल्पना करते हैं, वैज्ञानिक नवीन आविष्कार करते हैं, अपठित संतोंने गूढ़ तत्त्व अपनी वाणियोंमें व्यक्त किये हैं, किन्तु भाषा किसीने नवीन नहीं बनायी है। अन्तरकी एकाग्रतामें

गोदावरी-तट, नासिक

नर्मदा-तट, ओंकारेश्वर, शिवपुरी

गोमती-द्वारिका

पुष्कर तीर्थ

ज्ञानोपलब्धि तो मनुष्य कर लेता है और संतों तथा धर्मप्रवर्तकोंने विशुद्ध ज्ञान इसी मार्गसे पाया है; परंतु मनुष्य अपने ज्ञानको प्रचलित भाषामें, जो भाषा वह जानता है, उसीमें व्यक्त करता है। अपठित संतोंकी वाणियोंका अध्ययन करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके पास पर्याप्त शब्द न होनेसे उन्हें अपने भाव अनेक रूपकोंमें, अस्पष्ट रीतिसे व्यक्त करनेको बाध्य होना पड़ा है। अन्तरकी एकाग्रतामें वे शब्द नहीं पा सके हैं। यदि वे पठित होते तो उन्हें इतने गूढ़ दृष्टान्तोंका आश्रय न लेना पड़ता। मनुष्यकी एकाग्रता उसे ज्ञानानुभूति ही देती है। भाषा तो मनुष्यको सृष्टिके आदिमें ईश्वरकी ओरसे ही प्राप्त हुई थी।

भाषा-शास्त्री कहते हैं कि 'मनुष्य पहले बहुत दिनोंतक गूँगा था और संकेतोंसे अपने काम चलाता था। पीछे प्राकृतिक शब्दोंसे उसने अपनी भाषाका विकास किया।' मैक्समूलरने पूछा है कि 'मनुष्य क्या व्यर्थ ही संकेत करता था? उसने संकेतोंका अर्थ कैसे समझा?' आज गूँगे इसलिये संकेत कर पाते हैं, क्योंकि उन्हें संकेत करना सिखाया जाता है। यह सिद्ध हो चुका है कि अधिकांश गूँगे इसलिये गूँगे हैं कि वे वधिर हैं। वे कोई शब्द सुन नहीं सकते, अतः बोल भी नहीं सकते। अब ऐसा यन्त्र बन गया है और प्रचलित हो गया है, जिससे बहरे सुन लेते हैं। इस यन्त्रके फलस्वरूप गूँगे बोलने लगे हैं। उन्हें शिक्षा दी जाती है। यदि मनुष्य भाषा बनानेमें समर्थ होता तो सृष्टिके आरम्भसे अबतक गूँगोंने कोई भाषा बना ली होती। उनके मुखके बोलनेके यन्त्र तो ठीक हैं ही। इन सब बातोंसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वयं कोई भाषा नहीं बना सकता।

भाषा और अर्थका नित्य सम्बन्ध है। आप एक अर्थके एक शब्दका पर्यायवाची शब्द तो गढ़ सकते हैं, परन्तु नये अर्थमें नया शब्द नहीं बना सकते। क्योंकि जो शब्द आप बोलेंगे, उसका अर्थ यदि सुननेवाला पहलेसे न जानता हो तो आपका बोलना व्यर्थ होगा। उसे समझानेके लिये आपको अपने शब्दका पर्याय दूसरा शब्द बोलना पड़ेगा। इसका अर्थ है कि आपका शब्द नया नहीं रहा। वह केवल पुराने अर्थका ही सूचक है।

आप देखते हैं कि शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध है और बिना शब्दके आप अपना ज्ञान दूसरेतक पहुँचा नहीं सकते। अतएव मानना पड़ेगा कि ज्ञान मनुष्यको ईश्वरकी ओरसे मिला और मिला भाषाके साथ।

जडवादी वैज्ञानिकोंके इस तर्कमें भी कोई तथ्य नहीं है कि मनुष्यने भाषा हर्ष-शोकादिके स्वाभाविक उद्‌गारोंसे बनायी। गूँगेको किसीने 'हाय हाय!' या 'आह! ओह!' करते नहीं सुना। ये उद्‌गार तो वही प्रकट करते हैं, जिनके पास शब्द हैं। दूसरे, शब्दका अर्थ कल्पित करके बिलकुल नवीन शब्द बनाना शक्य नहीं—यह सिद्ध हो चुका। वाणी—भाषा मनुष्यको सृष्टिके आदिमें प्राप्त हुई और वह पूर्ण थी। भाषा और ज्ञानका नित्य सम्बन्ध है। अतएव भाषाके साथ ही पूर्ण ज्ञान भी मनुष्यको सृष्टिके आदिमें प्राप्त हुआ। हृदयकी एकाग्रतामें मानव ज्ञान तो पाता है, पर भाषा नहीं पाता। अतः मानना होगा कि सृष्टिके आदिमें मनुष्यने जो पूर्णज्ञान पूर्णभाषाके साथ पाया, वह मानव-एकाग्रताका परिणाम नहीं था। वह ईश्वरकी ओरसे उसे प्राप्त हुआ था। अतएव वही पूर्णज्ञानमयी ईश्वरीय वाणी 'वेद' नामसे कही जा सकती है।

सृष्टिके प्रारम्भमें मनुष्यने सम्यक् पूर्ण भाषा और परिपूर्ण ज्ञान कैसे प्राप्त कर लिया? भाषाके इतने धातु उनके अर्थके साथ वह सहसा कैसे जान गया? इन्हीं प्रश्नोंका समाधान न पानेके कारण भाषा-शास्त्री भाषाके सम्बन्धमें भी डार्विनका विकासवाद स्वीकार कर लेते हैं और फिर काल्पनिक विवेचनमें लग जाते हैं। ईश्वरीय सत्तापर अविश्वासके कारण वे कहीं कोई व्यवस्थित कारण दे नहीं पाते। हम देखते हैं कि मेस्मेरिज्म करनेवाला एक लड़केको मूर्छित कर देता है। चाहे लड़का उसकी भाषा न जानता हो, किंतु मूर्छित दशामें वह मेस्मेरिज्म करनेवालेकी भाषा समझता और बोलता है। यह काम संकल्प-शक्तिके द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसी प्रकार सृष्टिके प्रारम्भमें ईश्वरीय संकल्पसे मनुष्यको सम्पूर्ण भाषा और ज्ञान प्राप्त हुआ, इसमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है।

आदिभाषा

आदिज्ञान एवं आदिभाषा ईश्वरकी ओरसे मनुष्यको प्राप्त हुई और वही वेद है; क्योंकि वही पूर्ण है। वह आदिज्ञान और भाषा कौन-सी है? वह अभीतक अविकृत है या उसमें परिवर्तन और विकार हुए? अपौरुषेय वैदिक ज्ञानका निर्णय इन्हीं प्रश्नोंपर निर्भर है।

प्रोफेसर मैक्समूलर कहते हैं—'निःसन्देह मनुष्यकी

मूलभाषा एक ही थी।' जब भाषा मनुष्यको ईश्वरने दी, तब उसमें भेद कैसे हो सकता है। मनुष्यको अनेक भाषाएँ ईश्वर क्यों प्रदान करने लगा।

मूल-भाषा संस्कृतसे ही समस्त भाषाएँ निकली हैं और मनुष्य भारतसे ही विश्वमें चारों ओर जाकर बसे हैं, एक ही मानव-परिवारकी भाषाका मूल एक ही होना चाहिये—ये बातें दूसरे निबन्धोंमें स्पष्ट करनेकी हैं। यहाँ इतना ही जान लेना चाहिये कि ग्रीक, लैटिन, हिब्रू, जेंद, अरबी, चीनकी एक भाषा सामोपेडिक—इन सबमें संस्कृतकी भाँति स्त्रीलिंग, पुँल्लिंग एवं नपुंसकलिंगके भेद हैं। इनमें वचन भी तीन हैं और स्त्रीलिंग-शब्दोंसे कइयोंमें पुँल्लिंग या पुँल्लिंगसे स्त्रीलिंग भी उसी नियमसे बनते हैं, जैसे संस्कृतमें। कइयोंमें संस्कृतकी भाँति आठ विभक्तियाँ भी हैं।

मूल-भाषा एक होनेपर भी अनेक भाषाएँ विकृत होकर बनी हैं। ये विकार कई प्रकारसे होते हैं। एक तो अपठितोंके उच्चारण-दोषके कारण, दूसरे अक्षरोंकी कमीके कारण—जैसे अंग्रेज 'त' को 'ट' बोलते हैं। व्यापारके लिये, राजनैतिक कार्योंसे सांकेतिक भाषा भी बना ली जाती है। सांकेतिक भाषा किसी परम्परामें नहीं होती। आज 'कोडवर्ड' बहुत चलते हैं। महाभारतमें भी ऐसी सांकेतिक भाषाकी चर्चा है। शब्दोंके अज्ञानके कारण पदार्थों या क्रियाओंके लाक्षणिक नाम भी रख लिये जाते हैं; जैसे लेडीफिंगर (स्त्रीकी अँगुलियाँ)—यह भिण्डीका नाम है। गन्नेको शुगरकेन (चीनीकी छड़ी) कहते हैं। ऐसे सांकेतिक एवं लाक्षणिक शब्दोंको किसी परम्परामें नहीं पाया जा सकता। इन शब्दोंको छोड़ दें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल-भाषाएँ किसी एक ही परिवारकी थीं।

मुख्य मूल-भाषाओंमेंसे आदिभाषा कौन-सी है? इसके निर्णयके लिये विद्वानोंमें बहुत विवाद नहीं है। भाषा-शास्त्री बिना मतभेदके प्रायः मानते हैं कि संस्कृत (वैदिक संस्कृत)-से ही सभी मूल-भाषाएँ निकली हैं। इसे प्रमाणोंसे सिद्ध करना कुछ कठिन नहीं है। मूल-भाषामें दूसरी भाषाओंके विकृत शब्द नहीं होने चाहिये। दूसरी भाषाओंमें उसके शब्द ज्यों-के-त्यों और विकृतरूपमें भी होने चाहिये। दूसरी सभी भाषाओंके लाक्षणिक एवं सांकेतिक शब्दोंको छोड़कर शेष सभी शब्दोंके मूलरूप उसमें मिलने चाहिये। वर्तमान सभी भाषाओंकी विकृतियोंका उसमें मूलाधार होना चाहिये। वह सबसे जटिल होनी चाहिये। सबसे अधिक उसमें अक्षर होने चाहिये।

लैटिन, ग्रीक, हिब्रू आदि मूल-भाषा कही जानेवाली भाषाओंमें संस्कृतके शब्द भरे हैं। संस्कृत शब्दोंसे विकृत होकर ही उनके शेष शब्द भी बने हैं। संस्कृतमें ४७, रूसी भाषामें ३५, फारसीमें ३१, तुर्की और अरबीमें २५, स्पैनिशमें २७, अंग्रेजीमें २६, फ्रेंचमें २५, लैटिन और हिब्रूमें २० और बाल्टिकमें १७ अक्षर हैं। चीनी भाषामें अक्षरोंके बदले शब्द हैं, अतः उनकी गणना यहाँ करना ठीक न होगा। ऊपरकी भाषाओंमें कई अक्षर ऐसे हैं, जिनका उच्चारण एक ही है। अंग्रेजीके समान कुछ भाषाएँ कई भाषाओंसे बनी हैं। उनमें अनेक भाषा होनेसे अक्षर तो बढ़ गये, परन्तु उच्चारण नहीं बढ़े। उच्चारणकी दृष्टिसे संस्कृतका एक अक्षर भी व्यर्थ नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल-भाषा संस्कृत ही है।

वैदिकभाषा अविकृत

वेद विश्वके प्राप्त साहित्यमें प्राचीनतम हैं और उन्हींकी भाषासे समस्त विश्वभाषाएँ निकली हैं, इतना तो सभी भाषाशास्त्री एवं अन्वेषक स्वीकार करते हैं। मुख्य प्रश्न तो यह है कि वेद उसी रूपमें हैं, जिसमें ईश्वरीय ज्ञान मानवको मिला था—यह कैसे प्रमाणित हुआ। वेदमें विकृति नहीं आयी, यह कैसे जाना जाय?

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

अनादिकालसे ऋषियोंने यह नियम बनाया है कि वेदमन्त्र स्वरसे, वर्णसे हीन या भ्रान्तरीतिसे प्रयुक्त होनेपर यथार्थ अर्थका बोध नहीं कराता। अशुद्ध उच्चारणसे यजमानका नाश होता है।

जटा माला शिला लेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः॥

(विकृतवल्ली १।५)

जटा, माला, शिला, लेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घन—ये मन्त्र-विकृतिके आठ भेद हैं। वेदपाठकी ये आठ रीतियाँ हैं। इनमेंसे एक-एक रीति अपनी विशेषता रखती है। कौन-सा अक्षर किसके साथ है, कौन-सा किससे पृथक् है, कौन-सी मात्रा कहाँ है, कौन-सा स्वर ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत है—इन पाठ-भेदोंसे यह स्पष्ट हो जाता है। किसी भी भाषामें विकार

उच्चारण-भेदके कारण आता है। वेदोंके उच्चारणको ये पाठपद्धतियाँ नित्य परिष्कृत रखती हैं। उसमें विकारको अवकाश ही नहीं है।

'स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति'—अशुद्ध मन्त्रोच्चारण वज्रकी भाँति यजमानका नाश कर देता है—यह कोरी व्यवस्था नहीं है, यह सत्य है। वृत्रका नाश स्वरदोषसे हो गया, यह मन्त्रमें उदाहरण है। ऋषियोंका इसपर पूर्ण विश्वास था। अतएव शुद्ध मन्त्रपाठकी पूरी व्यवस्था की गयी थी। यदि मनुष्यकी मानसिक परिस्थिति चंचल हो जाय तो शुद्ध पाठ नहीं हो सकेगा। वेदपाठके अनध्यायकी व्यवस्था देख जाइये। आकाशमें बादल हों, आँधी आ जाय, कोई पशु या मनुष्य सहसा समीप आ जाय, कोई अतिथि आ जाय, कोई हर्ष या शोकका संवाद मिले—इन सब अवस्थाओंमें वेदपाठ बंद। ऐसी स्थितियोंमें अनध्याय रखनेका अर्थ ही है कि मनकी चंचल स्थितिसे पाठ अशुद्ध न हो।

वेदपाठके अनधिकारी

स्त्रियों तथा शूद्रोंको वेदपाठ करनेका अधिकार नहीं है। शूद्रोंके लिये आज्ञा है कि वेदपाठ सुनें भी नहीं। यज्ञोपवीत संस्कार जिनका नहीं होता, उनका अधिकार वेदमें नहीं है। इसको लेकर आजकी विचारधाराके लोग आक्षेप करते हैं। ऐसे लोग यह नहीं सोचते कि अशुद्ध वेदपाठसे हानि होती है और अनधिकारी वे ही बतलाये गये हैं, जो शुद्धपाठ करनेमें असमर्थ हैं। स्त्रियोंका कण्ठ कोमल होता है। उदात्त, अनुदात्त, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदिके भेद उनके कण्ठसे निकल नहीं सकते। अतएव उनके द्वारा शुद्ध वेदमन्त्रोंका उच्चारण नहीं हो सकता। एक आर्यसमाज-गुरुकुलके मन्त्रीने मुझसे साश्चर्य बतलाया था कि अन्त्यज एवं शूद्र लड़के उनके यहाँ बहुत प्रयत्न करनेपर भी सस्वर शुद्ध वेदपाठ नहीं कर पाते। भाषाका सम्बन्ध भी रक्तसे है, इस सम्बन्धमें एक लेख ७ दिसम्बर १९४९ के 'स्टेट्समैन' में डाक्टर डार्लिंगटनकी खोजपर निकला है। उसका संक्षिप्त सारांश निम्न है—

'गत महायुद्धके फलस्वरूप यूरोपमें विभिन्न देशोंके बच्चोंका स्थान-परिवर्तन हुआ। ऐसे समय प्रश्न उठा कि विश्वके समस्त लोगोंकी भाषणशक्ति समान है या नहीं? यदि चीनी बच्चा फ्रांसीसी घरमें पले तो शुद्ध फ्रेंच बोल सकेगा या नहीं? वैज्ञानिक डॉक्टर डार्लिंगटनने अनुसन्धान किया और वे इस परिणामपर पहुँचे कि भाषाका बहुत-सा सम्बन्ध रक्तसे है। रक्तोंका मुख्य विभाग सात श्रेणियोंमें होता है और मिश्रित होकर वे २० सहस्रतक भेद बनाते हैं। अँगूठेकी छापके समान स्पष्ट नहीं, पर एक सीमातक रक्तसे मनुष्य पहचाना जा सकता है। उसके कुलका पता लग जाता है। 'द' का उच्चारण 'ओ' नामक रक्तविशेष रखनेवालोंकी विशेषता है। यूरोपकी ५० प्रतिशत जातियाँ सीधे जीभ लपेटकर सहसा 'द' नहीं बोल सकतीं।'

यह अनुसन्धान कहाँतक ठीक है, कहा नहीं जा सकता; किंतु इतना तो इससे पता लगता ही है कि वेदोंके कठिनतम उच्चारण सभी रक्तवालोंके लिये शक्य नहीं। आर्यसमाज-गुरुकुलोंके अनुभव भी कुछ ऐसे ही हैं। अतः शूद्रोंको वेद-पाठका अधिकार केवल इसलिये नहीं दिया गया कि अशुद्ध पाठ करके वे अपनी ही हानि करेंगे। सुनकर वे उच्चारणका प्रयत्न—अनुकरण न करें, यही ध्यान उन्हें वेदश्रवणका अधिकार न देनेमें भी है। इसमें हेय या तिरस्कारबुद्धि नहीं है।

वेदोंका काल

वैदिकभाषा आदिभाषा है और ईश्वरकी ओरसे मनुष्यको प्राप्त हुई है। वेद ही ईश्वरीय पूर्णज्ञानके स्वरूप हैं। यह मान लेनेपर भी यह प्रश्न रह जाता है कि वेदोंको मनुष्योंने कब प्राप्त किया? यह सिद्ध हो चुका है कि मनुष्यके ज्ञानका ह्रास ही होता है। अतएव यह निश्चित है कि सृष्टिके आदिमें ही मनुष्य पूर्ण ज्ञानी था और उसे वह ज्ञान सम्पूर्ण भाषाके साथ ईश्वरकी ओरसे प्राप्त हुआ था। अतएव मनुष्यसृष्टिके प्रारम्भका ही वह ज्ञान होना चाहिये। यदि वेद मनुष्यसृष्टिके प्रारम्भके ही हों तो निश्चय वेद ईश्वरीय वाङ्मय हैं।

सृष्टि कब बनी? इसके विभिन्न उत्तर हैं। ईसाई-धर्मके अनुसार सृष्टिको हुए लगभग सात हजार वर्ष हुए। पदार्थ-विज्ञानके विशेषज्ञोंने सर्दी, गर्मी, प्रकाशादिके तारतम्य एवं परिणामका हिसाब करके सृष्टिको चालीस लाख वर्ष पुरानी माना है। भूगर्भविद्याके पण्डितोंने भूमिके स्तरोंके रचनाकालसे तथा समुद्र-जलकी बढ़ती हुई क्षारतासे गणित करके पृथ्वीकी आयु दस करोड़ वर्ष निश्चित की। रेडियमके अनुसार उसकी किरणोंसे बने तत्त्वोंके गणितपर पृथ्वीकी आयु सात अरब, पचास करोड़ वर्ष कही जाती है। वैज्ञानिक कहते हैं कि

रेडियमके गणितका यही परिणाम है, पर है आश्चर्यजनक। हमारे यहाँ पंचांगोंपर सृष्टि-संवत् होता है। यह संवत् प्रत्येक वर्ष एक-एक बढ़ता जाता है। इसके अनुसार इस समय सृष्टि-संवत् १, १५, ५८, ८५, ०५० है। अभी सृष्टिकी आयु २, १६, ००, ००, ००० वर्ष और शेष है। यह सृष्टि-संवत् वैवस्वत मनुसे प्रारम्भ होता है। इस श्वेत-वाराह कल्पके आदिमें भगवान्ने वाराहके रूपसे पृथ्वीको समुद्रसे बाहर निकाला था। पृथ्वी तो उससे पूर्व भी थी। अत: रेडियमवाली संख्या, जो पृथ्वीकी आयुके सम्बन्धमें है, हिंदू-शास्त्रोंके वर्षोंका विरोध नहीं करती। हमारा सृष्टि-संवत् मानवसृष्टिके प्रारम्भसे आरम्भ हुआ है और मनुके जल-प्रलयके समय नौकापर बच रहनेकी कथा हमारे पुराणोंके समान ही दूसरे धर्मोंमें भी ज्यों-की-त्यों है। वेदोंमें मनुकी इस जल-प्रलयकी कथाका कोई वर्णन नहीं है। पुराणोंमें ही यह वर्णन है। अतएव वेद वर्तमान सृष्टिसे भी प्राचीन है, यह विद्वान् स्वीकार करते हैं। मनुष्योत्पत्तिके समयके सम्बन्धमें हिंदू-शास्त्रकी मान्यता सार्वभौम है। यह वैदिक संवत् पारसियों, स्कन्दनेवियनों और बेबिलोनियावालोंमें एक-समान पाया जाता है।

पाश्चात्त्य विद्वानोंने वेदोंका समय पहले ईसासे दो हजार वर्ष पूर्व बताया। इनके ईसाईधर्ममें क्योंकि पृथ्वीकी आयु ही लगभग सात सहस्र वर्ष है, अत: वे सब बातें खींच-खाँच कर इसी अवधिमें चरितार्थ करना चाहते हैं। लोकमान्य तिलकने अपने 'ओरायन' ग्रन्थमें पाश्चात्त्य मतका प्रमाणपूर्ण खण्डन किया है। किंतु श्वान नक्षत्रको लेकर कालनिर्णय करनेके कारण लोकमान्यको भी भ्रम हुआ है। उन्होंने श्वानको एक नक्षत्र माना है, परंतु श्वान तो दो नक्षत्र हैं। ज्यौतिषशास्त्रमें भी उन्हें सदा दो बताया गया है।

एषा ह सांवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत्फाल्गुनी पौर्णमासी॥

(शतपथ ६। २।२।१८)

इसमें फाल्गुन पौर्णमासीसे संवत्सरका प्रारम्भ माना गया है। लोकमान्यने सप्रमाण सिद्ध किया है कि वैदिक संवत्सर वसन्त-सम्पातसे प्रारम्भ होते हैं। गणित करनेसे फाल्गुन-पूर्णिमाको वसन्त-सम्पात लगभग २२००० वर्ष पूर्व आता है; क्योंकि क्रान्तिवृत्तकी एक प्रदक्षिणामें २६००० वर्ष लगते हैं। भूगर्भशास्त्रके अनुसार उत्तरी ध्रुव-देशमें प्रत्येक दस सहस्र वर्षोंपर पृथ्वीकी केन्द्रच्युति होनेसे हिमपात होता है। प्रथम हिमपात वहाँ लाखों वर्ष पूर्व हुआ होगा। वेदोंमें प्रथम हिमपातका वर्णन है। लोकमान्यने स्वीकार किया है कि ऋग्वेदके देवता, ऋषि, सूक्त—सब कम-से-कम प्रथम हिमपातसे पूर्वके हैं, हिमोत्तर कालके नहीं। बाबू श्रीअविनाशचन्द्रदास एम० ए० ने 'ऋग्वेदिक इण्डिया', बाबू श्रीउमेशचन्द्र विद्यारत्नने 'मानवेर आदि जन्म-भूमि' और नारायण भवानराव पावगीने 'आर्यावर्तातील आर्यांची जन्म-भूमि' पुस्तकें बड़ी खोज करके लिखी हैं। सोमलता, हिंदू-संस्कृतिकी केन्द्रभूमि सरस्वती नदी आदिसे उन्होंने बताया है कि वेदोंमें लाखों वर्ष पुरानी बातें हैं।

वेदोंके समयके सम्बन्धमें खोज करनेवाले विद्वानोंका ध्यान अबतक मन्त्रोंके उस अंशपर नहीं गया है, जिसमें सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन है। वेदोंमें इस सौर जगत्के समान अनेकों ब्रह्माण्डोंकी चर्चा है, उनका संकेत है। ब्रह्मकी एकपाद विभूतिमें यह निखिल ब्रह्माण्ड और त्रिपाद्विभूतिमें शाश्वत दिव्यलोकोंका वर्णन पुरुषसूक्तमें है। ज्योतिर्विज्ञानके विशेषज्ञ जानते हैं कि आकाशगंगाके किसी-किसी तारेके प्रकाशको पृथ्वीतक आनेमें अरबों प्रकाश-वर्ष लगते हैं। इस आकाशगंगासे पीछे भी नीहारिकामण्डल हैं—एकके पीछे एक; अभी पता नहीं कि कहाँतक उनका क्रम है। उनका प्रकाश यन्त्रोंमें कितने अरब-खरब प्रकाश-वर्षोंमें पहुँचा है, यह संख्या न तो लिखी जा सकती और न सोची। और वेदोंमें इस समस्त सृष्टिके आदिका वर्णन है, इस समस्त सृष्टिके प्रलयका वर्णन है। अतएव वेदोंके कालकी चर्चा करना बालबुद्धिका प्रयत्न है। वेद अनादि और नित्य हैं—कालकी परिधिसे परे।

वेदोंका स्वरूप

शाश्वत परमात्माका ज्ञान एवं उनकी वाणी नित्य है, इसमें तो कोई सन्देह करने-जैसी बात नहीं है; परंतु १-वह मनुष्यपर कैसे प्रकट हुई? उसका मूलरूप क्या वर्तमान चारों वेद ही हैं? २-वेद तो त्रयी कहे जाते हैं; फिर वे चार कैसे? ३-वेदोंकी तो बहुत-सी शाखाएँ कही जाती हैं, उनमेंसे अधिकांश लुप्त हो गयी हैं। अतएव वेद पूर्ण ईश्वरीय ज्ञानके रूपमें विद्यमान हैं, यह किस प्रकार? इन प्रश्नोंके उत्तर क्रमश: देना ठीक होगा।

वेदोंको वेद इसलिये कहा जाता है कि 'वेद' शब्दका अर्थ ज्ञान है और वेद ईश्वरीय पूर्णज्ञान हैं।

वेद-मन्त्रोंका दूसरा नाम श्रुति है। श्रुतिका अर्थ है सुना हुआ। जो नित्य ज्ञान है, वह अनादि-परम्परासे श्रवणके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। वेद भगवान्‌के निःश्वास हैं। सृष्टिके आदिमें स्रष्टाने उन जगत्कर्ताके निःश्वासोंको सुना। स्रष्टासे आदि प्रजापतियोंने सुना और इसी क्रमसे वह ज्ञान चलता रहा। इस श्रवण-परम्पराके कारण वह 'श्रुति' कहा जाता है। आज भी शब्दमार्गी योगी कानोंको बंद करके अनाहतनाद सुनते हैं। यह अनाहतनाद ही अव्यक्त प्रणवध्वनि है। शास्त्रोंने स्पष्ट कहा है कि प्रणवसे ही गायत्री तथा गायत्रीसे समस्त वेद अभिव्यक्त हुए हैं—इसका स्पष्ट अर्थ है कि प्रणवनाद (अनहद ध्वनि)-में प्रकाण्ड संयम, दीर्घकालीन संयमसे श्रुतिका अन्तरमें श्रवण शक्य है, यद्यपि इतना विशाल संयम एवं तप मनुष्यके लिये अशक्य ही है। ऋषियोंने भी इसे स्रष्टासे ही सुना; क्योंकि ब्रह्माको सहस्रों वर्षके तपके पश्चात् हृदयमें श्रुतिका श्रवण प्राप्त हुआ था।

वेद—ईश्वरीय ज्ञान एक ही है। उसमें कोई भेद नहीं है। वेदत्रयीका अर्थ है कि उस एक ही वेदमें तीन बातें हैं—ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्ड। इस उपयोगकी दृष्टिसे ही वेदको त्रयी कहते हैं। चारों वेद यज्ञमें वेदके चतुर्धा उपयोगसे कहे गये हैं। त्रेतायुगमें जब मनुष्यका साधन तप एवं ध्यान न होकर यज्ञ हुआ, तब यज्ञकार्यकी सुविधाके लिये एक ही वेदको चार भागोंमें बाँट दिया गया। इन्हीं भागोंको ऋक्, साम, यजुः तथा अथर्व कहते हैं। ये चारों भाग अनादि हैं और एकमें ही पहले थे।

ऋग्वेदेन होता करोति यजुर्वेदेनाध्वर्युः
सामवेदेनोद्‌गाता अथर्वैर्वा ब्रह्मा।

यज्ञमें होता ऋग्वेदसे, अध्वर्यु यजुर्वेदसे, उद्‌गाता सामवेदसे और ब्रह्मा अथर्ववेदसे अपने अंशका कर्म पूर्ण करता है। जो लोग त्रयी नाम सुनकर अथर्ववेदको पीछेका मानते हैं, उन्हें 'त्रयी' का ठीक अर्थ ज्ञात नहीं है। अथर्ववेदके तीन नाम हैं—अथर्व, आंगिरस, छान्दस। और ये नाम चारों वेदोंमें आते हैं। महाभारतमें चारों वेदोंमें त्रयीविद्याका स्पष्ट वर्णन है—

त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तमथांगतः।
ऋग्सामवर्णाक्षरता यजुषोऽथर्वणस्तथा॥

(शान्तिपर्व १३५)

यहाँ चारों वेदोंका नाम लेकर उसमें त्रयीविद्या है, यह कहा गया। वेदत्रयी कहे जानेका एक कारण और है; मन्त्र तीन ही प्रकारके हैं—(१) विनियोगके, (२) गानेके, (३) गद्य। इन तीन प्रकारके मन्त्रोंके कारण तथा उपासनात्रयके प्रतिपादनके कारण चारों वेदोंको त्रयीविद्या कहते हैं। जो लोग प्राचीन साहित्यमें चारों वेदोंका नाम ही देखना चाहते हैं, उनके लिये बृहदारण्यकोपनिषद्‌का यह मन्त्र पर्याप्त होना चाहिये—

अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः।

वेदोंके मन्त्रभागको 'संहिता' कहते हैं। संहिताका अर्थ है—अत्यन्त समीपता। **'परः सन्निकर्षः संहिता'** अष्टाध्यायीकी इस परिभाषाके अनुसार पहले संहिताओंमें मन्त्राक्षर पृथक्-पृथक् नहीं थे। वे सब एकमें ही थे। सब सन्धियुक्त थे। सन्धियुक्त मन्त्रोंमें शब्दको पृथक् करनेमें जब कठिनाई होने लगी, जब एक अक्षर या एक शब्दका दूसरे शब्दके साथ पढ़े या समझे जानेका भ्रम होने लगा, तब मन्त्रोंके पदच्छेद किये गये। इस प्रकार सन्धिसहित और पदच्छेदयुक्त—इस प्रकार एक संहिताकी दो शाखाएँ हो गयीं।

जैसे-जैसे मनुष्यकी ज्ञानशक्ति दुर्बल होती गयी, ऋषियोंने मन्त्रोंके क्रमको सुगम किया। एक ऋषिने अपने शिष्योंको मूलसंहिता पढ़ायी। उसमेंसे किसीने एक देवताके सब मन्त्र एकत्र कर लिये। इस प्रकार देवताक्रमसे मन्त्रोंका क्रम रखा। किसीने ऋषिक्रमसे मन्त्र सजाये, एक मन्त्रद्रष्टा ऋषिके सब मन्त्र एकत्र करके याद किये—किसीने विषय-क्रमसे और किसीने छन्दःक्रमसे। इस प्रकार चारों वेदोंको तो पृथक्-पृथक् रखा गया, पर एक-एकमें अनेक क्रम बन गये। इनके अनन्तर पाठ-क्रमसे शाखाएँ बनीं। घन, जटा आदि वेद-पाठकी आठ पद्धतियाँ पहले बता आये हैं। एक-एक शाखा इनके कारण आठ-आठ भागोंमें बँट गयी। ये शाखा-क्रम बढ़ते गये। पुराणोंमें इसका विशद वर्णन है कि किस ऋषिके शिष्योंने किस वेदकी कितनी शाखाएँ बनायीं। इसीलिये विभिन्न ग्रन्थोंमें वैदिक शाखाओंकी संख्या एक-सी नहीं है। कूर्मपुराणके अनुसार ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १००, सामवेदकी १००० और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ—इस प्रकार वेदोंकी कुल ११३० शाखाएँ हैं।

ऊपरके वर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदोंकी

शाखाएँ वेदोंका कोई भाग या खण्ड नहीं हैं। प्रत्येक शाखामें पूरा वेद है। शाखाओंका भेद केवल मन्त्रोंके सम्पादन-क्रमके भेदके कारण है। अतएव शाखाओंके न मिलनेसे कोई वेदांश अप्राप्य नहीं हुआ है। केवल कुछ सम्पादन-क्रम अप्राप्य हो गये हैं। यदि चारों वेदोंकी एक-एक शाखा भी निर्विवादरूपमें शुद्ध प्राप्त हो तो चारों वेद मूल ईश्वरीय वाणीके रूपमें ही प्राप्त हैं—यह न माननेका कोई कारण नहीं रह जायगा। आज भी ऋग्वेदकी शाकल एवं वाष्कल शाखा, यजुर्वेदकी माध्यन्दिनीय शाखा, सामवेदकी कौथुमी शाखा और अथर्ववेदकी शौनक शाखाके मूल एवं शुद्ध रूपमें प्राप्त होनेके विषयमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं है। अतः इन शाखाओंके रूपमें चारों वेद ईश्वरीय वाणीके वास्तविक रूपमें ही आज भी उपलब्ध हैं।

वेदोंके शब्द, मन्त्र नित्य हैं, उनके अक्षर नित्य हैं; किन्तु मन्त्रोंका क्रम मनुष्यकृत है। मण्डल, अष्टक, काण्ड, अध्याय—इन क्रमोंमें सुविधानुसार ऋषियोंने फेर-फार किया है। इस सम्पादनक्रमसे ही शाखाएँ बनीं। ऐसा करनेमें भी न तो एक मात्रा घटायी गयी और न बढ़ी। वेदभाष्यकार महीधर भी यही कहते हैं कि वेदोंके छन्द और अर्थ नित्य हैं; किन्तु उनमें जो मन्त्रोंकी आनुपूर्वी है, वह शाखाभेदके कारण है।

वेदमन्त्रोंके ऋषि

प्रत्येक वेदमन्त्रके साथ उसके ऋषिका नाम होता है। **'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'**—ये ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहे जाते हैं। **'मननात् मन्त्रः'**—जिसका अर्थ मननसे स्पष्ट हो, वह मन्त्र कहलाता है। जिस ऋषिने हृदयकी गम्भीर एकाग्रतामें जिस मन्त्रके अर्थका साक्षात् किया, वह उस मन्त्रका द्रष्टा कहा गया—मन्त्र तो श्रुति हैं। वे परम्परासे सुने गये हैं। उन सुने हुए मन्त्रोंका अर्थ व्याकरण या निरुक्तसे नहीं होता। यदि व्याकरण या निरुक्तसे वेदार्थ हो सकता तो एक-एक मन्त्रके साथ उसके मन्त्रद्रष्टा ऋषिका नाम न लगा होता। मन्त्रद्रष्टा होना इतने गौरवकी बात न होती और न उसे ऋषि-मुनिगण मन्त्रके साथ स्मरण रखनेका विधान बनाते। **'परोक्षवादो वेदोऽयम्'**—वेद परोक्षवाणी है। वेदान्तके विद्वान् जानते हैं कि उच्चतम अधिकारीके लिये **'तत्त्वमसि'** महावाक्यका गुरुद्वारा श्रवण ही पर्याप्त होता है। मननके द्वारा वह स्वतः उसका तात्पर्य निकाल लेता है। भगवान्ने मनुष्यको बुद्धि दी है। अतएव उसे मनन करना चाहिये। ब्रह्माजी—आदिस्रष्टाने सहस्रों वर्ष तप करके वेदार्थका साक्षात् किया। उसीके ज्ञानसे उन्होंने सृष्टिरचना की। ऋषियोंने भी अन्तःकरणमें एकाग्र होकर मन्त्रार्थका दर्शन किया है।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभाग-संयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्।

प्रत्येक प्राणीको उसकी वाणी ईश्वरकी ओरसे ही प्राप्त हुई है। अतएव जिस प्रकारके अन्तःसंयमसे वेदवाणीका अर्थ साक्षात् होता है, उसी प्रकारके संयमसे प्रत्येक प्राणीकी भाषाका ज्ञान हो सकता है। उपर्युक्त योगसूत्रमें महर्षि पतंजलिने यही बताया है कि शब्द, अर्थ और उनके ज्ञानके पृथक्-पृथक् स्वरूपमें मनःसंयम करनेसे समस्त प्राणियोंकी भाषाओंका ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकारका संयम समस्त प्राणियोंकी भाषाका ज्ञान करा देता है, उसी प्रकारका संयम वेदमन्त्रके अर्थोंका भी दर्शन कराता है। इस प्रकारका संयम जो भी करेगा, वही मन्त्रार्थका दर्शन कर सकेगा।

इतना सब ठीक होनेपर भी मन्त्रद्रष्टाका नाम रटते रहनेसे क्या लाभ? बात यह है कि वेदार्थ तो हो सकता नहीं। वेदभाष्यकी प्रथा तो रावणसे चली और फिर खण्डन-मण्डनको लेकर उसे चलाते रहना पड़ा। इसीलिये वेदोंको देखकर जो लोग उनका अर्थ करने बैठते हैं, वे निराश होते हैं और समझ नहीं पाते कि दर्शनशास्त्रोंके निर्माता प्रकाण्ड तत्त्वज्ञ ऋषियोंने भी क्यों बार-बार वेदोंकी दुहाई दी और उनको इतना महत्त्व दिया। वेदकी जिस ऋचाके जो ऋषि मन्त्रद्रष्टा हैं, उस ऋषिके निर्मित शास्त्रोंमें उस मन्त्रका अर्थ स्पष्ट हुआ है। मन्त्रके साथ ऋषिके स्मरण रखनेका उद्देश्य यह है कि इस मन्त्रके लिये इस ऋषिके शास्त्र देखने चाहिये।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

'इतिहास तथा पुराणके द्वारा वेदमन्त्रोंका उपबृंहण—अर्थविस्तार करना चाहिये। अल्पश्रुतसे वेद डरते हैं कि यह हमें नष्ट करेगा।' वेदार्थके सम्बन्धमें यह आदेश है। ऋषियोंके निर्मित ग्रन्थोंको 'स्मृति' कहते हैं। 'स्मृति' का अर्थ है—जो स्मरण करके लिखी गयी हो। ऋषियोंने एकाग्र अन्तःकरणमें वेदमन्त्रके जिस अर्थका दर्शन किया, एकाग्रतासे उत्थित होनेपर उसका स्मरण

करके उपदेश किया। वही उपदेश 'स्मृति' कहलाया। भगवान् व्यासने महाभारत एवं पुराणोंमें ऋषियोंके उन्हीं उपदेशोंको संकलित कर दिया। इनमें पुराने उपदेश एवं चरित संकलित होनेसे ही ये ग्रन्थ 'पुराण' कहलाये। अतएव वेदोंका अर्थ या तो मन्त्रमें मन:संयम करके जाना जा सकता है, अथवा स्मृति, महाभारत तथा पुराणोंमें उसे देखा जा सकता है। ये वेदके वास्तविक भाष्य हैं। मन्त्रोंका किसी भी प्रकार अर्थ करनेके प्रयत्नमें भ्रान्त होनेका ही भय है।

मन्त्रोंके देवता

'या तेनोच्यते सा देवता।'

'सर्वानुक्रमणी' में देवताका यह अर्थ बताया गया है कि जिस मन्त्रके द्वारा जिसका वर्णन हुआ है, वह उस मन्त्रका देवता है। अर्थात् जिस मन्त्रका जो देवता है, उस मन्त्रमें उसका स्वरूप, आराधना, प्रभाव एवं स्थूल जगत्में उसका कार्य वर्णित है। निरुक्तने इस बातको और स्पष्ट किया है—

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्त तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।

ऋषिलोग जिस देवताकी जिस मन्त्रसे उस मन्त्रार्थके दर्शनकी इच्छासे स्तुति करते हैं, वही उस मन्त्रका देवता है। मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने मन्त्रार्थके दर्शनके लिये मन्त्र-देवताके ध्यानमें मनको एकाग्र किया। उस देवताके प्रसादसे मन्त्र-दर्शन हुआ। पहले कह आये हैं कि सभी पशु-पक्षियोंकी बोलीका ज्ञान शब्द, अर्थ एवं ज्ञानके स्वरूपादिमें मन एकाग्र करनेसे होता है। जिस पशुकी वाणीमें आप मन एकाग्र करेंगे, उस पशुकी भावना साथ रहेगी। यदि यह भाव न हो कि यह अमुक पशुकी वाणी है, तो ज्ञानका व्यवस्थित उदय न होगा। इसी प्रकार मन्त्रमें मन एकाग्र करते समय उसके देवताकी भावना आवश्यक है। क्योंकि मन्त्रमें देवताका ही वर्णन है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

योगदर्शनने बतलाया कि प्रत्येक मन्त्रका एक अधिष्ठाता देवता होता है। मन्त्रके गम्भीर स्वाध्यायसे उसके इष्टदेवताका सान्निध्य प्राप्त होता है। अतः मन्त्रस्वाध्यायके समय किस मन्त्रसे किस दैवत-शक्तिका साक्षात् होगा, यह सूचित करनेके लिये मन्त्रोंके देवता निश्चित किये गये हैं।

बहुत-से मन्त्र ऐसे हैं, जिनके ऋषि और देवता एक ही हैं। यह दो कारणोंसे हुआ है। कुछ मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने मन्त्रके आराध्य देवतासे एकात्मता प्राप्त कर ली—

यो यच्छ्रद्धः स एवं सः।

अतएव उनका स्वतन्त्र नाम लोकमें प्रचलित नहीं हुआ। दूसरे, अनेक बार मन्त्रको आधार न बनाकर श्रद्धालुजनोंने ज्ञान-प्राप्तिके लिये देवाराधन किया। प्रसन्न होकर देवताने उन्हें किसी मन्त्रका रहस्य उपदेश किया। अतएव वे मन्त्रके देवता ही अपने मन्त्रके द्रष्टा भी हुए।

मन्त्रोंके छन्द

ऋषि एवं देवताके समान हम वेदोंके छन्दोंको भी स्मरण रखते हैं। वेदोंके छन्द बड़े विचित्र हैं। यदि मन्त्रोंको छन्दके स्वरमें पद-पाठसहित पढ़ा जाय तो उनके सब चरण समान जान पड़ते हैं। यदि ऐसा न करके उनको सन्धिसहित पढ़ा जाय तो चरण घट-बढ़ जाते हैं। वेदपाठमें स्वरभंग भी एक बड़ा दोष है। छन्दोंके द्वारा स्वरका निश्चय हो जाता है। शाखा-भेदसे मन्त्रोंका सम्पादन-क्रम होनेके कारण कई मन्त्र एकमें मिल गये हैं। ऐसे मन्त्रोंके दो, तीन छन्द कहे जाते हैं। इसका यही अर्थ है कि विषयकी दृष्टिसे मन्त्र एकत्र कर दिये गये, परंतु उनका मूल-स्वर बना रहना चाहिये। उसका जितना भाग जिस छन्दका है, उतना उसी छन्दमें पढ़ा जाना चाहिये।

मन्त्रके स्वरात्मक रूपकी रक्षा तो छन्दसे होती ही है, छन्द मन्त्र-दर्शनके लिये भी सहायक होते हैं। यह ध्यान देनेकी बात है कि यजुर्वेदका बहुत बड़ा भाग गद्यमें है, किंतु छन्द उन मन्त्रोंके भी निश्चित हैं। बात यह है कि छन्दका अर्थ है विशेष प्रकारका स्वर। स्वर एक कम्पन-स्तर उत्पन्न करता है। यह स्वरजन्य कम्पन मनको उस भाव-स्तरमें पहुँचाता है, जो मन्त्र-देवताका भाव-स्तर है। यहीं मन्त्रार्थका दर्शन होता है। जैसे प्रणवके ध्यानके लिये—

'दीर्घघण्टानिनादवत्'

—ध्वनिमें मन एकाग्र करनेका आदेश है। कम्पन, भाव-स्तर तथा देवताका परस्पर सम्बन्ध देवतावादके प्रसंगमें विस्तृत किया जा सकता है। यहाँ इतना ही समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक पदार्थ या ध्वनिका व्यक्तरूप कम्पनका परिणाम है और प्रत्येक कम्पन एक शक्तिस्रोत रखता है तथा अव्यक्तमें एक साकार

आकृति बनाता है। यही साकार आकृतिका शक्तिस्रोत उसका अधिष्ठाता देवता है।

छन्दोंके सम्बन्धमें इतनी बात और जान लेनी चाहिये कि एक ही छन्दमें बहुत-से मन्त्र तनिक हेर-फेरसे या उसी रूपमें चारों वेदोंमें आये हैं। जहाँ कुछ परिवर्तन है, वहाँ तो वह मन्त्र कुछ विशेषता लेकर आया है—यह स्पष्ट है; किंतु जहाँ ज्यों-का-त्यों आया है, वहाँ या तो दूसरे अर्थमें आया है या उसी अर्थमें वहाँ उसे आना आवश्यक था। एक ही वाक्य या शब्द अनेक अर्थोंमें लौकिक साहित्यमें भी बार-बार आता है। गम्भीर ग्रन्थोंमें एक ही परिभाषा अनेक बार विषयको स्पष्ट करनेके लिये दुहरानी पड़ती है। ऐसे स्थलोंको पुनरुक्ति नहीं कहा जा सकता और न ऐसे मन्त्रोंको वहाँसे हटानेका प्रयत्न करना चाहिये।

वेदोंमें इतिहास-भूगोलादि

वेद अनादि एवं नित्य हैं, वे ईश्वरीय वाणी हैं; ऐसी दशामें उनमें ऐतिहासिक घटनाओं, ऐतिहासिक व्यक्तियों, भूगोलसम्बन्धी घटनाओं तथा ज्यौतिषादिका वर्णन नहीं होना चाहिये—ऐसी मान्यता लेकर कुछ लोग वेदोंमें आये इतिहास-भूगोलादिपरक शब्दोंका दूसरा अर्थ करते हैं। कुछ लोग वेदोंके इतिहास, भूगोल तथा ज्यौतिषको ठीक मानकर वेदोंको मानवकृत मान लेते हैं और उनका निर्माण कब हुआ—यह निर्धारण करनेमें लग जाते हैं। ये दोनों ही बातें इसलिये होती हैं कि वेदोंको अर्थ करनेका विषय मान लिया जाता है। मन्त्रदर्शनकी शक्ति तो रही नहीं, व्याकरणकी टाँग वहाँ अड़ायी जाती है। लेकिन यदि हम वेदार्थ न करें और मन्त्रोंको केवल यज्ञ, उपासनाके समय पाठका विषय—मन एकाग्र करके ज्ञानप्राप्तिके कारण-सूत्र मानें तो मानना पड़ेगा कि पुराणादि वेदभाष्य हैं। पुराणोंमें भी इतिहास-भूगोल हैं, यह भूला नहीं जा सकता।

पुराणोंका स्वरूप तथा उनके वर्ण्य विषयकी सत्यताका विवेचन तो स्वतन्त्र निबन्धका विषय है; किंतु हम पहले महात्मा सुकरातका यह वाक्य उद्धृत कर आये हैं कि 'कोई किसीको नवीन ज्ञान नहीं देता। ज्ञानदाता केवल विस्मृत ज्ञानकी स्मृति कराता है।' नवीन ज्ञान देना सम्भव नहीं है। तब आजके ये आविष्कार, ये भौतिक ज्ञानके अनेकों अनुसन्धान—यह सब क्या नवीन ज्ञान है? यह विस्मृत ज्ञानकी पुनः स्मृति ही है। अवश्य ही इन अनुसन्धानों और सिद्धान्तोंका भ्रमपूर्ण भाग नवीन एवं मानवके अन्तःकरणका दोष है। इनका सत्य तो पुरातन है, क्योंकि सत्य कभी नवीन नहीं होता। ज्ञानके विस्मरण एवं स्मरणका चक्र संसारमें चलता ही रहता है।

जैसे ज्ञान नवीन नहीं होता, वैसे ही विचार भी नवीन नहीं होते। विचारसे ही ज्ञान होता है। मनुष्य नित्य नवीन विचार नहीं कर सकता। विचारके कुछ निश्चित स्तर हैं। मानव-मन उनमेंसे जिस स्तरमें होता है, उसी स्तरकी विचारधारा मनमें आ जाती है। पदार्थ एवं घटनाएँ विचारके परिणाम हैं, यह आप जानते हैं। मनमें आये बिना न कोई काम होगा और न किसी पदार्थ या घटनाका निर्माण। अब इससे आगे बढ़ जाइये। इस निबन्धके प्रारम्भमें यह विस्तारसे बताया गया है कि सृष्टि स्वतः नहीं हो गयी। कोई चेतन सृष्टिकर्ता है। उसके समीप मन है। उसके मनकी गतिका तारतम्य ही सृष्टिमें लक्षित होता है। सृष्टिकर्ताका विचार ही सृष्टिके रूपमें परिणत होता है। सृष्टिकर्ता भी नये विचार नहीं करता। क्योंकि नया ज्ञान, नया विचार हो नहीं सकता। उसका मन भी मानस-स्तरोंसे ही विचार ग्रहण करता है। उन्हीं स्तरोंमें उसका मन घूमता रहता है। फलतः सृष्टि उन स्तरोंकी व्यक्त अभिव्यक्तिमात्र है।

'यथापूर्वमकल्पयत्'

स्रष्टाने सृष्टि पूर्वकी भाँति ही बनायी। श्रुतिने यह स्पष्ट कर दिया। पूर्वकी भाँतिका अर्थ क्या? समस्त पृथ्वी, उसके सब परिवर्तन, सृष्टिकी समस्त आकृतियाँ और सब घटनाएँ केवल पुनरावृत्ति करती हैं। एक तृण नवीन नहीं। एक पत्ता नवीन ढंगसे नहीं हिलता। क्योंकि नवीन विचार आ नहीं सकते—न व्यक्तिके मनमें और न समष्टि-कर्ताके मनमें।

जो अविश्वासी हैं, मैं उनकी बात नहीं करता। जो श्रद्धालु हैं, वे जानते हैं कि ज्योतिषी ग्रहोंकी स्थितिकी गणित करके सन्तानके बिना देखे उसका रूप, रंग, उसका स्वभाव, जीवनकाल तथा जीवनकी उन्नति-अवनति सब बता देते हैं और वह सत्य होता है। फलित ज्योतिष सत्य सिद्धान्त है। यदि कुछ नवीन हो सकता तो उसे पहलेसे न बताया जा पाता। यदि सब पहलेसे निश्चित न होता तो कोई सर्वज्ञ न कहलाता। क्योंकि जो अनिश्चित है, उसका ज्ञान पहलेसे नहीं हो

सकता। ईश्वर तो कम-से-कम सर्वज्ञ है ही। ज्यौतिषके ग्रह-नक्षत्र संख्या रखते हैं। अतः उनकी स्थितियोंकी संख्या है। वे एक निश्चित कालके पश्चात् पुनः उसी स्थितिकी आवृत्ति करते हैं, चाहे वह काल कितना भी लंबा हो। ज्यौतिषके अनुसार जब ग्रह-नक्षत्र एक पूरा चक्कर करके पुनः पहली स्थितिकी ठीक-ठीक आवृत्ति करने लगते हैं, विश्वकी आकृतियाँ एवं घटनाएँ भी आवृत्ति करने लगती हैं। ऐसा न हो तो फलित ज्यौतिष कभी सत्य न प्रकट कर सके।

जब इतिहास नित्य है, तब नित्य-ज्ञानस्वरूप वेदोंमें उसको होना ही चाहिये। वेदोंमें वे नित्य इतिहास एवं भूगोलादि हैं, जो परिवर्तित नहीं होते। अर्थात् इतिहासकी रूपरेखा वहाँ है। यह उसी प्रकार है, जैसे मनुष्योंकी आकृतिकी समानता या चित्रकारके चित्रकी बाह्य रेखा। वेदोंमें नित्य इतिहास-भूगोलादि न केवल आगेके हैं, भविष्यके भी हैं। अतः वहाँ इतिहास नहीं है, यह प्रयत्न या उसके अनुसार उनका कालनिर्णय— दोनों बालचेष्टा हैं। पुराण भी उन्हीं नित्य इतिहासादिको स्पष्ट करते हैं। सम्पूर्ण ज्ञानके सूत्र वेदोंमें निहित हैं। वेद ईश्वरीय मूल-ज्ञानके रूप हैं और उनके अक्षर एवं शब्द नित्य हैं। उनसे अतिरिक्त ज्ञान और है ही नहीं। इसीसे हिंदूधर्म वेदोंको परम प्रमाण मानता है।

हिंदू-संस्कृति और दर्शनशास्त्र

विश्वमें भारत अपने दर्शनशास्त्रोंके लिये अभी भी श्रद्धा एवं आदरका भाजन है। भारत विश्वगुरु था और अब भी है, तपःपूत ऋषियोंके सूक्ष्म ज्ञानकी सम्पत्तिको पाकर ही। पशुओंसे मनुष्यकी विशेषता है विचारपूर्वक प्राप्त ज्ञान। अतः मनुष्यका आदर्श स्थिर करते समय ज्ञान ही एकमात्र हमारा आधार हो सकता है। आज विश्वमें 'वाणी तथा लेखनकी स्वतन्त्रता— विचार-स्वातन्त्र्य' का आन्दोलन किया जाता है, यह केवल इसलिये कि जातियों एवं राष्ट्रोंके कृत्रिम आदर्शोंसे मनुष्यको बंदी न बनाया जाय। मनुष्यत्व विचारकी पूर्णतामें है, अतः उसे व्यक्त करनेके लिये कोई सीमाबन्धन नहीं होना चाहिये। भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ अतिप्राचीन कालसे विचार-स्वातन्त्र्य मनुष्यको प्राप्त था। इस देशमें विचारोंपर कभी बन्धन नहीं लगा था और अब लगा है तो वह पाश्चात्त्य प्रभावसे। यहाँ विचारोंके सम्बन्धमें मानव कभी असहिष्णु नहीं बना। सामाजिक नियमों—जीवनके प्रत्येक कार्यमें धर्मका कठोर नियन्त्रण होनेपर भी विचारस्वातन्त्र्यके कारण भारतमें इतने दर्शनशास्त्र और मत-मतान्तर विस्तृत हो सके।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धिके अनुसार ही विचार कर सकता है। बच्चेकी बुद्धि तथा विद्वान्की बुद्धि समान नहीं हो सकती। इसी प्रकार एक न्यायाधीश और एक कसाईके विचार अपराधके सम्बन्धमें एक-जैसे नहीं हो सकते। इसके लिये आवश्यक होता है कि अपरिपक्व एवं भ्रान्त विचारोंको कार्यरूपमें परिणत न होने दिया जाय। कोई शिशु अपनी समझसे अनुचित कार्य नहीं करता, किंतु आप उसे फाड़ने तथा फोड़नेके लिये पुस्तकें और शीशेके बर्तन नहीं दे सकते। विचारका क्षेत्र बौद्धिक क्षेत्र है। वहाँ तो हमें स्वतन्त्रता होनी चाहिये; किंतु हमारे विचारको तबतक आचरणमें नहीं आना चाहिये, जबतक वह सत्यका साक्षात् न कर ले। आज विचार-स्वातन्त्र्यकी माँग करनेवाले भी स्वीकार करते हैं कि विचार-स्वातन्त्र्य वहींतक हो, जहाँतक यह कार्यमें आकर कोई अव्यवस्था उत्पन्न न करे। हिंदू-समाजने आचारको सदा कठोर रखा। आचारमें तनिक भी त्रुटि या प्रमाद करनेवाला क्षमा नहीं किया गया। साथ ही किसीके विचारोंके सम्बन्धमें उसके प्रति असहिष्णुता नहीं प्रकट की गयी। हमारी समझमें नहीं आता, हमें व्यर्थ या हानिकर भी लगता है; तब भी हमें आचारके क्षेत्रमें किसी आचारको नष्ट करनेका अधिकार नहीं। वहाँ हमें सैनिककी भाँति अनुशासनका पालन करना है। प्रत्येक सैनिक यदि अपने विचारसे व्यवहार करने लगे तो सेनाका क्या हाल हो? यही दशा समाजकी है। हमारे लिये यह जानना पर्याप्त होना चाहिये कि नियमोंके निर्णेता हमसे विशुद्ध एवं पूर्णबुद्धि, निःस्वार्थ हैं और भारतीय ऋषियोंके त्याग, ज्ञान, सर्वज्ञतामें सन्देहको स्थान ही नहीं है।

आचरणके सम्बन्धमें शास्त्र प्रमाण हैं। शास्त्रोंका त्याग करनेवाला व्यक्ति चाहे जितना उच्च एवं तपस्वी

हो, उसकी आज्ञा पालनीय नहीं होनी चाहिये। इसके साथ ही व्यक्तिके त्याग, तप आदिका निरादर भी नहीं होना चाहिये। हिंदू-समाजकी यह मान्यता इतनी परिमार्जित है कि उसमें विकृतिके लिये अवकाश ही नहीं। जो व्यक्ति किसी प्रकार प्रसिद्ध हो जाता है, वह उन सभी विषयोंपर अपनी सम्मतियाँ देने लगता है, जिनके सम्बन्धमें वह सामान्य ज्ञान भी नहीं रखता। समाज प्रसिद्धि या त्यागसे प्रभावित होकर उसकी भ्रान्त धारणाओंको अपनाने लगता है और वह भी इसीका प्रयत्न करता है। हिंदू-समाजका आदर्श इससे सर्वथा भिन्न है। अवतार होनेपर भी भगवान् बुद्धके आदेश इसलिये मान्य नहीं हुए कि वे शास्त्रविरुद्ध थे। आदेश न मानकर भी भगवान् बुद्धकी हम जयन्ती मनाते हैं, उनकी पूजा करते हैं। जो व्यक्ति त्याग-तितिक्षादिसे उच्च है, उसका आदर होना चाहिये; किंतु उसके आदेश शास्त्रके विपरीत हों तो वे पालन करने योग्य नहीं हैं। यह हमारी संस्कृतिका आदर्श है।

आचारके सम्बन्धमें जहाँ हिंदू-समाज शास्त्रके विपरीत भगवान्के आदेश भी सुननेको प्रस्तुत नहीं, वहीं विचारके सम्बन्धमें यहाँ पूर्ण स्वतन्त्रता है। विचार करनेकी हमें स्वतन्त्रता होनी चाहिये और दूसरेको भी। हममें इतनी सहिष्णुता होनी चाहिये कि हम दूसरेके विरोधी विचारोंको सह सकें। मनुष्यका अहंकार उसे उभाड़ता है कि वह सर्वश्रेष्ठ है, उसकी जाति, धर्म, राष्ट्र, विचार सर्वश्रेष्ठ हैं। उससे भिन्न लोग निम्नकोटिके हैं, अज्ञानी हैं। यह अहंकार मनुष्यके विचारको कुण्ठित कर देता है और विचार कुण्ठित होनेपर मनुष्य पशु हो जाता है। उन्मुक्त विचार ही मनुष्यता है।

हम इतिहासके पृष्ठोंमें देखते हैं कि ईसामसीहको सूली दे दी गयी। सुकरातको विष पिला दिया गया। मंसूरकी हत्या की गयी। ये सब महापुरुष तथा ऐसे ही दूसरे उच्च कवि, वैज्ञानिक यूरोपमें मार डाले गये। यह सब इसलिये कि वहाँका समाज उनके विचारोंको सह नहीं सका और पशु बन गया। अभी पिछले वर्षोंमें जापानियोंने मान लिया था कि केवल वे ही मनुष्य हैं और शेष सभी मनुष्य पशु हैं। भारतमें भी एक वर्गने पिछले उपद्रवोंमें जापानियोंकी इस धारणाको अपना लिया। अपनेको ही मनुष्य कहनेवाले ये अहंकारसे मोहित वर्ग पशुसे भी हीन हो जाते हैं जब वे शेष मनुष्योंकी हत्या, उन्हें लूटना, उनपर अत्याचार करना अपना कर्तव्य मान लेते हैं और इस कर्तव्यका विभिन्न तर्कोंसे समर्थन करने लगते हैं। वे सब किसीकी हत्या या उसे लूटनेको उसपर दया करना बताने लगते हैं, तब कदाचित् पिशाच भी उनसे घृणा करता होगा। इस प्रकार मनुष्यका अहंकार उसे मनुष्यत्वसे गिरा देता है!

हिंदू-धर्मको छोड़कर विश्वमें जितने भी धर्म, समाज, वर्ग हैं—सबकी एक ही मान्यता है कि उनका मत, उनकी पद्धति ही भ्रान्तिहीन है, केवल उसीसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है। साम्यवादी अर्थ-पद्धतिसे लेकर अहिंसा-प्रधान धर्मोंकी भी यह दशा है। इसका परिणाम यह होता है कि वे शेष मानव-जातिके प्रति दयालु होकर उसे अपने मतमें लानेका प्रयत्न करते हैं। यह दया उपदेशतक ही रहे तो कोई बात नहीं; परंतु दयाकी प्रेरणा इतनी तीव्र होती है कि छल-कपट, प्रलोभन, बलप्रयोग तथा हिंसासे भी वे हिचकते नहीं— मनुष्य-जातिका कल्याण जो करना है! यदि अबोध मानव अज्ञानवश दुराग्रह करे तो उसके हितके लिये कठोरता भी उचित ही है। इस प्रकार सभी अपनी दृष्टिसे मनुष्य-जातिके हित-साधनमें लगे हैं। मनुष्य-जाति इन हित-साधकोंके संघर्षमें पड़ी है और प्रत्येक उसे क्रूर पशु प्रतीत होता है!

हिंदू-धर्मका हित-साधन-प्रकार ही विश्वके समस्त धर्मों एवं वर्गोंसे भिन्न है। यहाँ किसीको हिंदू तो बनाना है ही नहीं, विचारोंका प्रसार करना है। और सीधी बात है कि जो जहाँ है, वहींसे अन्तर्मुख होनेका प्रयत्न करे। साधन सब ठीक हैं, यदि वे स्वार्थसे कलुषित न हों। स्वार्थसे ऊपर उठकर साधनकी पूर्णता करनेमें सबका कल्याण है। हिंदू किसीको हिंदू तो नहीं बनाना चाहते, किंतु मनुष्य अवश्य बनाना चाहते हैं। अपने अहंकारकी परिधिमें संकुचित होकर दूसरोंको हीन मानना ही पशुत्व है। यदि मनुष्यको सचमुच मनुष्य बनना है तो उसे हिंदुत्व नहीं, हिंदुत्वकी धारणा स्वीकार करनी होगी। उसे दूसरोंके प्रति सहिष्णु बनना होगा और दूसरोंके विचारों, साधनोंकी महत्ताको स्वीकृति देनी होगी।

यह बात विश्वमें अत्यन्त स्पष्ट है कि दूसरोंपर आक्षेप, संघर्ष या दूसरोंके प्रति असहिष्णुता वही लोग प्रकट करते हैं, जो अपने सिद्धान्त तथा आचारपर भी चलते नहीं। स्वार्थ ही जिनका आचार है, उनकी बात तो छोड़ देना चाहिये; पर स्वार्थसे ऊपर उठकर जो अपने आचारका पालन जितनी दृढ़तासे करेगा, वह

दूसरेके आचार एवं विचारके प्रति उतना ही सहिष्णु होगा। असहिष्णुता उन्हीं लोगोंद्वारा प्रकट होती है, जो अपने आचार एवं सिद्धान्तकी श्रेष्ठता बड़े उच्च स्वरमें घोषित करते रहते हैं, किंतु उसपर चलते नहीं। आचार उनका स्वार्थ-प्रेरित होता है। जिस समाजमें धर्मके नियम जितने दृढ़ हैं, आचारकी च्युतिका वहाँ उतना ही कम अवकाश है। हिंदू-धर्मने पूरे जीवनको नियमोंमें सीमित कर दिया, अतः वहाँ आचारकी च्युतिका अवकाश रहा ही नहीं। फलतः विचारोंकी असहिष्णुता वहाँ उत्पन्न नहीं हुई। विचारोंकी असहिष्णुता उन्हीं देशों और जातियोंमें हुई, जहाँ जीवनको अनियन्त्रित होनेका अवकाश था।

आज कहा जाता है कि 'जाति', 'सम्प्रदाय' आदि भेद ही झगड़ोंकी जड़ हैं। सभी जातियों, वर्णों तथा धर्मोंको भी एक हो जाना चाहिये। इससे विवाद एवं संघर्ष मिट जायगा। बात देखनेमें प्रलोभनकारी होनेपर भी भ्रमपूर्ण है। संघर्षका कारण जाति या धर्म न होकर स्वार्थ है। वस्तुतः, धर्म तथा उनके आचारोंकी उपेक्षासे ही संघर्ष बढ़ा है। ये संघर्ष प्राचीन कालसे उन्हीं जातियोंमें अधिक हुए, जहाँ जाति आदि भेद नहीं थे। जहाँ आचारपर बल नहीं दिया गया, वहीं विचारोंकी असहिष्णुता उत्पन्न हुई। आचारके बन्धन नष्ट करनेसे स्वार्थ बढ़ेगा। एक प्रकारके वर्ग मिटेंगे तो दूसरे प्रकारके बनेंगे। संघर्ष तो बढ़ेगा ही। संघर्ष मिटानेके लिये तो विचारोंकी सहिष्णुता आवश्यक है और हिंदू-धर्मकी युग-युगकी सहिष्णुता इसका प्रमाण है कि वह आचारनिष्ठासे प्राप्त होती है।

हिंदू-समाजके आधारभूत शास्त्रोंको देख डालिये। वहाँ आचारकी एक-सी व्यवस्था है। आचारका मुख्य आधार स्मृति-ग्रन्थ हैं। स्मृतियोंमें युगानुरूप आचारकी व्यवस्था है। वहाँ आचारके सम्बन्धमें कहीं कोई मतभेद नहीं। साधन, उपासना एवं निष्ठाके भेदको पृथक् कर देनेपर पूरे हिंदू-समाजका आचार एक है। आचारकी मान्यताएँ एक हैं। साथ ही विचारोंका बहुत बड़ा भेद है। कोई साधन, कोई आचार, कोई कला ऐसी नहीं, जो अपना स्वतन्त्र दर्शनशास्त्र न रखती हो। व्याकरणका दर्शनशास्त्र पृथक् और ज्यौतिषका पृथक्। उपासनाका एक और योगका दूसरा। आयुर्वेद, संगीत, चित्रकला—सबके दर्शनशास्त्र हैं। कहीं ऐसा नहीं कि कल्पना विचारसे पृथक् हो गयी हो। मनुष्यकी विशेषता विचार है—वह विचारहीन होकर कार्य करे तो पशु हो जायगा। मनुष्यकी यह मनुष्यता हिंदूसमाजके प्रत्येक भागमें सतत जागरूक मिलेगी। उपासना, ज्ञान तथा योगकी बात छोड़ दीजिये; वे तो दर्शनके आधारसे ही प्रवृत्त होते हैं। परंतु भाषा, वाद्य, नृत्य, चित्र, संकेत—यहाँतक कि गृह बनाना, उठना-बैठना, विवाह आदि सब अपना दर्शन रखते हैं। बिना दर्शनशास्त्रके कहीं गति नहीं।

पाश्चात्त्य जगत्‌का दार्शनिक ज्ञान ही अभी अधूरा है और वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि उन्हें भारतसे बहुत कुछ इस विषयमें सीखना है।

पाश्चात्त्य देशोंमें धर्म, राजनीति, जीवन, दर्शनशास्त्र—ये सब परस्पर भिन्न हैं। वे केवल यही समझ सकते हैं कि भौतिक विज्ञान इन सबमें व्यापक है। वैसे ही भारतमें धर्मसे भिन्न जीवन या राजनीतिकी सत्ता नहीं। दर्शनशास्त्र सर्वत्र व्यापक है। वह स्वतन्त्र विद्या न होकर जीवनके प्रत्येक क्षेत्रका आधार है—आश्रय है।

आदिज्ञान पूर्ण था। उसीके अंशोंको लेकर आवश्यकता, काल तथा प्रमादके कारण अनेक विचारोंका प्रादुर्भाव हुआ। उपनिषदोंसे लेकर पुराणोंतकमें वह एक ही आदिज्ञान एक रूपसे विद्यमान है। पुराण तो वेदोंके भाष्य ही हैं। अतः उपनिषदोंका ज्ञान पुराणोंमें स्पष्ट हो गया है। उसीको विभिन्न दृष्टिकोणसे ग्रहण करनेके कारण अनेक दर्शनशास्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है—यह स्पष्ट है। बहुत संक्षिप्त शब्दोंमें शास्त्रोंके उस अनादि ज्ञानको इस रूपमें कहा जा सकता है—

'एक अनिर्वचनीय सच्चिदानन्दस्वरूप शाश्वत सत्ता है। उसके दो रूप हैं—एक निर्गुण, निर्विकार निराकार स्वरूप और दूसरा निखिल ऐश्वर्य, माधुर्य, आनन्द, अचिन्त्यानन्त सद्‌गुणगणोंका धाम स्वरूप। एकके ही ये सगुण स्वरूप अनेक हैं। उनके नित्य चिन्मय धाम हैं। उन धामोंमें वही व्यापक निर्गुण ब्रह्म सगुण होकर नाना रूपोंमें नित्य क्रीडा किया करता है। जैसे निर्गुण स्वरूप विभु है, वैसे ही सगुण स्वरूप भी सर्वगत है। सभी सगुण रूप, सभी लीलाएँ सदा, सर्वत्र व्याप्त हैं। देश-कालकी कल्पना वहाँ नहीं जाती।'

वह शाश्वत सत्य शक्ति एवं शक्तिमान्—उभयरूप है। शक्ति एवं शक्तिमान् परस्पर अभिन्न होकर भी भिन्न और भिन्न होकर भी अभिन्न हैं। वस्तुतः वे अभिन्न ही हैं। क्रीडाके लिये ही उनका भेद है। इसी

भेदसे व्यापक निर्गुण तत्त्वमें सत्, चित्, आनन्दका भाव है और सगुणके साथ यही शक्ति सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी शक्तिके त्रिविध रूपमें उपस्थित होती है। सगुण रूपकी ही भाँति ये शक्तियाँ भी नित्य, परस्पर अभिन्न तथा शक्तिमान्से अभिन्न हैं।

मायाशक्ति व्यापकतत्त्वके एक पादमें है और उसीमें समस्त ब्रह्माण्ड हैं। शेष तीन पादोंमें योगमायाका विस्तार है। वहाँ नित्य धाम है, जहाँ वही निर्गुण व्यापकतत्त्व अपनी ह्लादिनी शक्तिके साथ सगुण, साकार होकर क्रीडा करता है। ह्लादिनी शक्तिके ही सीता, राधा, लक्ष्मी, त्रिपुरा आदि रूप हैं।

व्यापकतत्त्वके सत्, चित्, आनन्द मायामें प्रतिच्छाया-की भाँति गृहीत होते हैं और वे क्रमशः तम, रज एवं सत्त्वका नाम पाते हैं। प्रकृति नित्य इन तीनों गुणोंसे युक्त रहती है। सत्त्वगुण निर्मल होनेसे उसीमें पहले दिव्य जगत्की अभिव्यक्ति होती है। दिव्य (सत्त्वात्मक) जगत् ही मूल सृष्टि है। जैसे सूर्यसे किरणें, किरणोंसे प्रतिबिम्ब, वैसे ही नित्य धामसे भावस्तर और उनसे दिव्य जगत्। यहाँ दिव्य जगत् मूर्त जगत्के रूपमें व्यक्त होता है।

मूर्त जगत्—यह हमारा जगत् भावरूप है, जैसे जलगत सूर्यके प्रतिबिम्बकी छाया दर्पणमें पड़ी हो। दर्पणमें सूर्यका प्रकाश, उष्णताका अंश भले हो; पर वहाँ दर्पण और जल दोनोंके दोष आये हैं। प्रभाव विकृत और अल्प हो गया है। वहाँ सूर्यकी सत्ता कल्पित है। इसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्य जगत् कल्पित है, भावरूप है। दिव्य जगत्की यह भावात्मक अभिव्यक्ति है। स्वरूपतः यहाँके देश, काल, नाम, रूप—सब मिथ्या हैं। जब हम स्थूल जगत्की ओरसे विचार करेंगे तो यह मिथ्या ही सिद्ध होगा। नित्य जगत्—भगवान्की ओर दृष्टि करनेपर सब उस नित्य सत्ताका लीलाविलास है।

जगत् मिथ्या है—रस्सीमें सर्पकी भाँति, सीपमें चाँदीकी भाँति, मरुस्थलमें जलकी भ्रान्तिकी भाँति। यहाँके सब दृश्य एवं पदार्थ स्वप्नकी भाँति मानसिक हैं, कल्पित हैं। जैसे स्वप्नके सारे दृश्योंमें भाव व्यापक है—भाव ही वहाँ मूर्तिमान् हो गया है, वैसे ही दृश्य-जगत्में दिव्य जगत् (भाव-जगत्) व्यापक है। वही यहाँ मूर्तिमान् हो गया है। वह दिव्य या भाव-जगत् भी सत्य नहीं है। ब्रह्मलोकतकके सब पदार्थ कल्पित हैं, स्वप्नकी भाँति ही हैं। वे भी प्रतीति हैं।

अज्ञान अनेकताका कारण नहीं होता। अज्ञानका धर्म भेद नहीं है। घटाभाव और पटाभावमें कोई अन्तर नहीं। अन्धकार समस्त दृश्यको एकाकार कर देता है। अतः दृश्य-जगत्का यह सब भेद केवल अज्ञानमूलक नहीं हो सकता। रस्सीमें सर्पका भ्रम तभी होता है, जब रस्सी और सर्प दोनों पदार्थोंकी सत्ता हो, दोनोंका हमें ज्ञान हो, दोनोंमें कुछ सादृश्य हो। दृश्यके नाना रूपोंका जहाँ भान होता है, वह मायाशक्ति है। नित्यलोकोंकी विभिन्न लीलाओंकी ही यहाँ भूतरूपोंमें प्रतीति है और भावरूप कुछ सादृश्य भी है। भावस्तर—दिव्य जगत्की भावरूप किरणें, यही दिव्य जगत्में मूर्त होकर देवता होती हैं। देवताओंकी हमारे मनमें अभिव्यक्ति—विचार है और बाहर वे ही भाव स्थूलरूपमें प्रकट होकर पदार्थ बन जाते हैं। पदार्थकी मूर्त सत्ता मानसिक भावका ही परिणाम है।

सत्, चित्, आनन्द—तीनों उसी व्यापकतत्त्वके अभिन्न स्वरूप हैं। उसके सगुण एवं निर्गुण रूपमें कोई भेद नहीं। जागतिक क्रियाएँ उसीके लीलाविलासकी प्रतिच्छाया हैं; अतः उस नित्य रूपकी उपलब्धिके लिये यहाँकी कोई भी क्रिया या भाव साधन हो सकता है, यदि उसे नैष्ठिक रूपसे अपनाया जाय—मन उसीमें पूर्णतः स्थित हो सके। योगके द्वारा क्रियाके स्रोतको पकड़कर, क्रियाकी शान्तिसे निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है और ज्ञानके द्वारा पदार्थ-जगत्के विवेचनसे प्रतिबिम्बोंसे बिम्बकी प्राप्ति होती है। योग तथा ज्ञान दोनोंमें मायाका विश्लेषण है, उनके द्वारा व्यापकतत्त्वसे एकात्मता उपलब्ध होती है; क्योंकि मायाके त्रिगुण तो व्यापक तत्त्वके सच्चिदानन्दकी छाया हैं। ज्ञानके द्वारा प्रतीतिका निराकरण होकर वस्तुकी प्राप्ति होती है। दृश्यकी सत्ता तो है नहीं, अतः दृश्यका विवेचन उसका निरास कर देता है। इन दोनों साधनोंमें दृश्यके कारणका विवेचन है। फलतः माया जिस नित्य ज्ञानघन सत्तासे अभिन्न है, उसकी प्राप्ति होती है। संक्षेपमें योग और ज्ञान इतना ही है।

तीसरा मार्ग उपासनाका है। भाव ही जब यहाँ मूर्त हुआ है, तब भावके सहारे अपने उस नित्य स्वरूपके दिव्यधाममें प्राप्त करना, जिसका यह वर्तमान स्वरूप प्रतिबिम्ब है—दूसरे शब्दोंमें भावके आधारपर सगुण-साकार रूपमें शाश्वतधामकी उपलब्धि उपासनाका लक्ष्य है। भाव उतने हैं, जितने भावस्तर हैं। भावसे भिन्न न

पदार्थ हो सकता है, न विचार और न देवता; क्योंकि भाव जो नित्य जगत्की किरणें हैं, वही तो मूर्त हुए हैं। अतः प्रत्येक भाव सत्य है, नित्य है, दिव्यधामसे सम्बद्ध है। प्रत्येक भावसे उसकी प्राप्ति हो सकती है।

शक्ति एवं शक्तिमान्के भेदसे उपासनाके दो भेद हुए—एक तो शक्तिको आराध्य मानकर चलनेवाला और दूसरा शक्तिमान्को प्रधान मानकर। स्वरूपभेदसे इनके भी अनेक भेद हैं। ये भेद साधनके लिये अधिकारके अनुसार हैं। सबका प्राप्तव्य एक ही है। शक्ति-शक्तिमान्के अभेदके साथ सभी स्वरूपोंका भी अभेद है। वैसे स्वरूपकी दृष्टिसे प्रत्येक स्वरूप नित्य है। उसे पानेवाला उसे शाश्वतरूपमें ही उपलब्ध करता है; किंतु जैसे रुचिके कारण कोई चीनीका हाथी पसंद करता है और कोई घोड़ा; दोनों प्रभाव, गुण—सबमें एक ही हैं, वैसे ही सम्पूर्ण सत्ता समग्ररूपसे एक ही है।

नित्य अभेद और नित्य भेद तथा अभेदमें भेद और भेदमें अभेदका यह शास्त्रीय ज्ञान ईश्वरीय वरदान है। अपौरुषेयरूपमें ही वह मनुष्यको प्राप्त हुआ है। सम्पूर्ण मानव-ज्ञान, चाहे वह कितना भी उच्च क्यों न हो, इसीके किसी-न-किसी अंशकी अस्पष्ट या स्पष्ट व्याख्यामात्र है। हिंदूसमाजका मूल दर्शनशास्त्र, जो वेदों, उपनिषदों, पुराणोंमें वर्णित हुआ है, संक्षेपमें यही है। इसके भेद उनके वर्णनोंमें आगे स्पष्ट होंगे।

नास्तिक-दर्शन

उपनिषदोंमें ही इन्द्र एवं विरोचनकी कथा है। देवराज तथा दैत्यराज दोनों लोकपितामह ब्रह्माजीके पास तत्त्वज्ञान प्राप्त करने गये। ब्रह्माजीने मननका अवसर देनेके लिये बतलाया कि 'जो जलोंमें, दर्पणोंमें, नेत्रोंमें दिखायी देता है, वही आत्मा है।' बड़ी सीधी बात थी कि शरीरका जैसे जल-दर्पणादिमें प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, वैसे ही शरीर भी प्रतिबिम्ब है। इस शरीरका जो मूल बिम्ब नित्यधाममें है, वही आत्मा है। असुरराज विरोचनकी बुद्धि इतनी सूक्ष्म नहीं थी। उन्होंने अनेक स्थानोंपर अपने शरीरके प्रतिबिम्बोंको देखकर निश्चय कर लिया कि शरीर ही आत्मा है। वे सन्तुष्ट होकर लौट आये। इन्द्र बराबर विचार करते रहे। उन्होंने कई बार शंकाएँ कीं और अन्तमें पितामहसे उन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त किया।

विरोचनने अपने तत्त्वज्ञानका असुरोंमें प्रचार किया। असुर देहात्मवादी हो गये। यद्यपि प्रह्लादादिने वस्तुतः तत्त्वज्ञान प्राप्त किया, तथापि असुरोंने उसे देवताओंका संगदोष ही माना। अधिकतर वे शरीरको मुख्यता देते रहे। कामोपभोग ही उनका लक्ष्य रहा। यही आसुरी सभ्यता पाश्चात्त्य देशोंमें विस्तृत हुई। शरीरको मरनेपर भी सुरक्षित रखनेकी प्रेरणा देहात्मवादसे ही मिली। भारतमें देहात्मवादकी एक शाखा चली और पाश्चात्त्य देशोंमें दूसरी।

सत्य सदा भ्रान्तिहीन है। विचार कभी किसीको भ्रममें नहीं डालते, यदि उन्हें कुण्ठित न कर दिया जाय। पाश्चात्त्य देशोंमें देहात्मवाद गया तो सही; किंतु उसपर बराबर विचार होता रहा। छान-बीन होती रही। यद्यपि रूसी साम्यवाद अब भी उसी '**कामोपभोगपरमाः**' की मूल आसुर भूमिपर ही है और मनुष्यका जैसे-जैसे बौद्धिक ह्रास होता जा रहा है, वैसे-वैसे वह दर्शनके उच्च विचार ग्रहण करनेमें असमर्थ होनेके कारण तथा आचारहीन होनेसे, स्थूल एवं भोगको प्रधानता देनेवाले आसुर विचारोंको अपनाता जा रहा है और इसीसे यह जडवाद संसारमें व्यापक होता जा रहा है; परंतु यूरोपमें जो सच्चाईसे अन्वेषण करते रहे हैं, उन्हें आस्तिकता स्वीकार करनी पड़ी है।

सुकरात, कांट, शेली, शोपनहॉरकी चर्चा मैं नहीं करूँगा। ये तो दार्शनिक थे और उनपर भारतीय विचारोंकी स्पष्ट ही छाया है; परंतु जडवादी डार्विन, हेंकलेकी वैज्ञानिक परम्परा अब अपने अन्वेषणसे सर ऑलिवर लॉज और आइन्स्टीनतक पहुँच गयी है। आइन्स्टीनका सापेक्षवाद जडवादके अन्वेषणकी सीमा है। जड-तत्त्वके अन्वेषणद्वारा विज्ञान चेतनके सम्बन्धमें इससे अधिक संकेत नहीं दे सकेगा। आइन्स्टीन स्वयं कहता है—'क्या है' यह जाननेका कोई मार्ग नहीं। जो कुछ दिखलायी पड़ता है या किसी प्रकार जाना जा सकता है, वह सब अपेक्षाकृत है। देश, काल, पदार्थ—सब एक-दूसरेकी अपेक्षासे इस रूपमें प्रतीत हो रहे हैं।

क्या है? यह तो अनुभूतिका विषय है। जडके अन्वेषणमें तो '**न इति, न इति**'—इस प्रकार सबका निषेध ही होगा। सब कल्पित—सब सापेक्ष, जडके सम्बन्धमें शास्त्र भी यही कहते हैं। इस प्रकार पाश्चात्त्य जडवाद अपने चरम अन्वेषणमें सापेक्षवादतक पहुँच गया है।

लोकायत-दर्शन (चार्वाक-सिद्धान्त)

पाश्चात्त्य देशोंमें मार्क्सके जिस तत्त्वज्ञानको आज बड़ा महत्त्व दिया जा रहा है, भारतमें उस देहात्मवादकी

आसुर-परम्परा भी आदि कालसे है। चार्वाक-दर्शनके नामसे कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; परंतु देहात्मवादके ये सिद्धान्त लोकमें व्यापक होनेसे इस दर्शनका नाम 'लोकायत' पड़ गया। इसके एक आचार्य बृहस्पति कहे जाते हैं। ये देवगुरु बृहस्पतिसे भिन्न हैं। चार्वाकका ही दूसरा नाम बृहस्पति है, ऐसा भी कुछ लोगोंका मत है।

चार्वाक-दर्शन केवल प्रत्यक्षको प्रमाण मानता है। इस दर्शनका कहना है कि 'जैसे गन्धकादि कुछ पदार्थोंके मेलसे गर्मी या अग्नि उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही पृथ्वी-जल-अग्नि-वायुके मेलसे चेतना उत्पन्न होती है।' यह दर्शन आकाशको तत्त्व नहीं मानता। हमें स्मरण रहना चाहिये कि पाश्चात्त्य दार्शनिक भी पहले चार ही तत्त्व मानते थे। वे इसी परम्परामें आते हैं।

चेतना शरीरसे भिन्न कोई तत्त्व नहीं। वह शरीरके साथ ही नष्ट हो जाती है। पुरुषार्थ इतना ही है कि चाहे जैसे बने—उचित या अनुचितका विचार छोड़कर शारीरिक सुख प्राप्त किया जाय। परलोक—स्वर्ग या नरक, सब मूर्खोंकी कल्पना है। ईश्वर कोई सत्ता नहीं। धर्म, कर्म, सदाचार—ये सब अज्ञानियोंको भुलावेमें रखनेके उपाय हैं। पूजा, पाठ, श्राद्धादि मूर्खताके सूचक हैं। शास्त्रोंका निर्माण पाखण्डियों, धूर्तोंने अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये किया है। **'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'**—चाहे जैसे हो, सुख भोगो! संसारमें अर्थ और काम ही मुख्य हैं। आजका प्रगतिवाद क्या इससे भिन्न कोई तर्क रखता है? आजके जडवादको मार्क्सके बदले चार्वाकका आभारी होना चाहिये। वही उनके तत्त्वदर्शकोंके आदि आचार्य हैं। आजका समाज इसी तत्त्वबोधकी ओर लुब्ध है!!

बौद्ध-दर्शन

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्।
सदय-हृदय-दर्शित-पशुघातम्॥
केशव धृतबुद्धशरीर……॥ (गीतगोविन्द)

भगवान् बुद्धके जीवनपर विचार करनेसे पता लगता है कि पिताके राजसदनमें उनके लिये सब प्रकारके सुखोपभोगकी व्यवस्था की गयी थी, किंतु निवृत्तिमूलक विचारोंसे उन्हें सर्वथा दूर रखा गया था। रोग, वृद्धावस्था तथा मृत्युके प्रभावोंको देखकर वे स्वयं जीवन-तत्त्वके चिन्तनमें प्रवृत्त हुए। उनका तपपर विश्वास था और वे तपमें ही पहले प्रवृत्त भी हुए। कठोर तपके अनन्तर उन्होंने 'युक्ताहारविहार' का मध्यम मार्ग अपनाया और उसीको सर्वश्रेष्ठ बतलाया।

भगवान् बुद्धको अपने गृहत्यागके अनन्तर जिन विद्वानोंका संसर्ग मिला, वे निरे तार्किक थे। अनुभव-जन्य आत्मबोध उनमें नहीं था। एक सच्चे आत्मशोधककी तृप्ति वहाँ नहीं हो सकती थी। इस प्रकार शास्त्रोंके प्रति आस्थाका अवकाश ही नहीं मिला। पूरे जीवनको पढ़नेसे पता लगता है कि भगवान्‌को बराबर हिंसाका विरोध करना पड़ा। उस समय राजस-तामस यज्ञोंका बोलबाला था। उनका विरोध आवश्यक था। स्वयं भगवान्‌को तप एवं चिन्तनके मार्गसे ही चलना पड़ा था; अतः उन्होंने इन्हींको प्रधान माना। शास्त्रके नामपर जो राजस-तामस कृत्य—पूजनादि प्रचलित थे, उनको शास्त्र प्रेरणा नहीं देता—यह जाननेका प्रयत्न करके उस शास्त्रीय तथ्यको प्रसारित करनेके बदले अपने अनुभूत सत्यको अपने ढंगसे प्रसारित करना सरल था। सभी इतिहासज्ञोंकी मान्यता है कि बुद्ध सदा यह मानते रहे कि वे शुद्ध सनातन धर्मका ही प्रचार कर रहे हैं।

भगवान् बुद्धने चार आर्य सत्योंको स्थिर किया था। पीछे उनके शिष्योंने उनके मतका भाष्य किया। फल यह हुआ कि बौद्ध-धर्म तीन प्रधान भागोंमें विभक्त हो गया—हीनयान, महायान और वज्रयान। हीनयान मत श्रीगौतम बुद्धको एक महापुरुष मानता था, जिन्होंने साधनद्वारा निर्वाण प्राप्त किया। यह निवृत्तिप्रधान मत था। इसका लक्ष्य एवं आराध्य 'अर्हत्' था। महायान भक्ति-प्रधान मार्ग हुआ। हीनयान मतके भावुक भक्तोंने इसका प्रसार किया। हीनयान मतके ग्रन्थ पाली भाषामें थे। महायानका संस्कृतमें विस्तृत साहित्य बना। इस मतके आराध्य 'बोधिसत्त्व' हैं। भगवान् बुद्ध सामान्य महापुरुष न होकर अवतार माने गये। बौद्ध-धर्ममें आगे तान्त्रिक साधनाएँ प्रचलित हुईं। उनको प्रधानता देनेवाली शाखा वज्रयानके नामसे प्रसिद्ध हुई।

बौद्ध-धर्मके प्रकाण्ड विद्वानोंने उसका दर्शनशास्त्र प्रस्तुत किया। भगवान् बुद्धने ही प्रत्यक्षसे आगे अनुमानको भी प्रमाण मान लिया था। बौद्धदर्शनमें यही दो प्रमाण माने गये। दर्शनोंकी दृष्टिसे बौद्ध-धर्मके चार विभाग हैं। मध्यम दर्शन, योगाचार, सौत्रान्त्रिक और वैभाषिक—ये चार बौद्धदर्शन हैं।

मध्यम दर्शन—विश्वके सभी पदार्थ क्षणिक हैं। किसीका कोई रूप स्थिर नहीं। परमाणुओंकी अविरल प्रवाहधारा ही आकृतियाँ बनाती हैं। परमाणु भी क्षणिक

हैं। क्रियाका स्वभाव ही सत्ता है। क्रियाके साथ सत्ताकी समाप्ति हो जाती है। क्षणिक होनेके साथ सब दुःखरूप है। यह दृश्य-जगत् कैसा है—यह बताना शक्य नहीं; यह स्वलक्षण है—जैसा है, वैसा ही है। इससे भिन्न समान सत्ता न होनेसे इसका दूसरा लक्षण शक्य नहीं। सब शून्य है, क्योंकि किसी पदार्थको सत्-असत् आदि कुछ भी कहना शक्य नहीं। इस मतके अनुसार बौद्धिक ज्ञान सत्य है। बाह्य जगत् शून्य है। अप्राप्तकी प्राप्तिके लिये शंका करना—'पर्यनुयोग' ही योग माना गया है। गुरुका उपदेश स्वीकार करना आचार है। शून्यत्व, क्षणिक, दुःखरूपतादिकी भावना करके शून्यमें विलीन हो जाना ही मुक्ति—निर्वाण माना गया है। यही परम प्राप्य है। शिष्यके लिये 'योग' और 'आचार' दोनों अनुष्ठेय हैं।

योगाचार—भगवान्‌के जिन शिष्योंका सन्तोष केवल आचारसे न हुआ, उन्होंने योगकी साधनाएँ कीं। उन्होंने दर्शनशास्त्रको अपना रूप दिया। यह दर्शन मानता है—'बुद्धिका ग्राह्य कोई पदार्थ नहीं। बाह्य रूपोंमें स्वयं बुद्धि ही मूर्त हुई है। वस्तुतः ग्रहण करनेवाला, ग्रहणकी क्रिया और ग्रहण होनेवाले पदार्थ (जगत्)—ये परस्पर अभिन्न हैं। सब ज्ञान-ही-ज्ञान है। बुद्धि (ज्ञान) स्वयं अनुभूत है। नानात्वकी प्रतीति भेदकी वासनाके कारण है और यह वासनाप्रवाह अविच्छिन्न है। देखा यह जाता है कि हमारा सन्तोष, हमारी तृप्ति सदा साकार पदार्थोंसे ही होती है। पदार्थके निराकार भाव (ध्यान)-से तृप्ति नहीं होती। बाहरके पदार्थ शून्य हैं, ज्ञान-ही-ज्ञान है, इसका साक्षात्कार—बाह्य जगत्से निवृत्त होकर अन्तःकरणमें उसकी उपलब्धि मुक्ति है। ज्ञानकी सत्ता माननेसे इस दर्शनको 'विज्ञानवादी' कहा जाता है।

सौत्रान्त्रिक—मध्यम दर्शनने भावस्तरसे जगत्की अभिव्यक्तिको व्यक्त किया था। योगाचारने भावस्तरेंके साथ भाव-जगत्का भी साक्षात्कार किया। तर्कके तथा योगके द्वारा इससे ऊपर जानेकी सम्भावना नहीं है। सौत्रान्त्रिक दर्शनकी प्रवृत्ति ही भिन्न हो गयी। उसमें शाक्त-दर्शनका प्रभाव आया। वह भुक्ति-मुक्ति दोनोंका साधक बनने लगा। वज्रयानका तान्त्रिक मार्ग इसी दर्शनको मानता है। इस दर्शनकी मान्यता है कि भाव-जगत्—पदार्थोंका बुद्धिस्थित रूप और बाहर स्थित दृश्यरूप दोनों सत्य हैं।

ज्ञानका शुद्ध रूप 'अहं' है। बाह्य पदार्थोंमें 'अहं' बोध न होनेसे उन्हें ज्ञानरूप अर्थात् अन्तरका ज्ञान ही बाहर मूर्त हुआ है, यह नहीं कह सकते। 'इदम्' का ज्ञान केवल जाग्रत् एवं स्वप्न-दशामें ही रहता है। सुषुप्तिमें उसका लोप हो जाता है। अतएव वह 'अहं' के समान निर्बाध ज्ञान नहीं है। अतएव 'अहं' और 'इदम्'—ये दोनों ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं। यदि बाह्यपदार्थकी सत्ता न हो तो 'इदम्' ज्ञान नहीं होगा। इस प्रकार ज्ञाता ही ज्ञेय नहीं बनता। 'इदम्' यह ज्ञान शून्य नहीं है। इसी प्रकार 'इदम्' से प्रतीयमान बाह्य जगत् भी शून्य नहीं है। 'इदम्' ज्ञानसे ही बाह्य पदार्थकी सत्ताका अनुमान होता है। आलय-विज्ञान (अहं)-के रहते हुए प्रवृत्ति-ज्ञान (इदम्) रहता है। अतः वह उससे भिन्न है; क्योंकि एक सत्ता दो रूपोंमें एक ही समय नहीं रह सकती। रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार—ये ज्ञानके पाँच स्कन्ध (अंग) हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके विषय रूप हैं। अहं-बोध तथा इदं-बोध विज्ञान हैं। इन ज्ञानोंसे उत्पन्न सुख-दुःखादि वेदना हैं। इस वेदनासे उत्पन्न राग-द्वेषादि संस्कार हैं। विश्वमें जो नाम-भेद हैं, यह संज्ञा है। इन पाँचों रूपोंमें विस्तृत ज्ञानवृक्ष ही आत्मा है। इस वृक्षके ये पाँच स्कन्ध दुःखरूप हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, उनके पाँच विषय, मन और बुद्धि—ये दुःखके द्वादश आयतन (दुःखके स्थान) हैं। राग-द्वेषादि संस्कार-समुदाय दुःखके साधन हैं। सब क्षणिक है, यह भावना ही इस दुःखसे परित्राणका मार्ग है।

वैभाषिक—बाह्य पदार्थ और आन्तर पदार्थ दोनोंकी सत्ता माननेके कारण इस दर्शनको 'सर्वास्तिवाद' कहा गया है। यह दर्शन जडवादकी ओर लौट आया। शास्त्रको छोड़कर केवल प्रत्यक्ष एवं अनुमानपर आधारित होनेसे मानवकी विकारी प्रकृति तर्कके सहारे उसे भोगोंको ही सत्य माननेके लिये प्रेरित करे, यह स्वाभाविक है। भुक्ति-मुक्ति दोनोंकी साधनामें लगनेपर सौत्रान्तिकोंका वज्रयान अन्तमें अनाचार बन गया, यह इतिहाससिद्ध बात है। चार्वाकके जडवादको ही उन्नत बौद्धिक रूपमें यह दर्शन स्वीकार करता है। इसकी मान्यता है—द्वादश आयतन (पंचज्ञानेन्द्रियाँ और मन, उनके पाँच विषय तथा बाह्येन्द्रियोंसे अग्राह्य विषय)-से भिन्न सत्ता मान्य नहीं है। आत्मा इनमेंसे कोई नहीं, अतः उसकी सत्ता मान्य नहीं। जगत्की स्वतन्त्र सत्ता प्रत्यक्षगम्य है। जगत् दो प्रकारका है—मूर्त (बाह्य) तथा चित्त (आन्तर)। दोनोंकी सत्ता स्वतन्त्र अर्थात् परस्पर निरपेक्ष है।

आर्हत (जैन)-दर्शन

यदि सब क्षणिक हो तो कर्मोंका कर्ता भी क्षणिक होगा। एक कर्मका जो कर्ता था, दूसरे क्षण वह नहीं रहा; अतः पूर्वकर्मका फल किसे मिलेगा? अतः कर्ता क्षणिक नहीं है। फलका भोक्ता स्मरण करता है कि वह अपने पूर्वकृत कर्मका फल भोग रहा है; अतः वह स्थिर है, यह सिद्ध होता है। स्मृति, अनुभव एकाधारमें होते हैं। आत्मा स्थिर है। यह जगत् अनादि है। सत् क्षणिक नहीं है। वह उत्पत्ति-विनाशसे रहित है।

जगत्‌में चित् तथा अचित्—दो तत्त्व हैं। दोनोंका ठीक-ठीक विचार ही विवेक है। अन्य वस्तुओंको अपने काममें लाना—यह चेतनका लक्षण है और इससे भिन्न अचित्—जड है। विश्वमें पाँच अस्तिकाय (सत्ता रखनेवाले तत्त्व) हैं—जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्‌गल। जीवोंकी दो कोटियाँ हैं—मुक्त और संसारी। संसारी जीवोंमें भी कुछ मनरहित (त्रस और स्थावर) तथा कुछ मनवाले प्राणी हैं। अवकाश देनेवाला तत्त्व आकाश है। मुक्तिका साधन धर्मतत्त्व है। धर्माचरणसे जीव आलोकाकाशमें जानेपर मुक्त हो जाता है। मुक्तिका प्रतिबन्धक तत्त्व अधर्म है।

स्पर्श, रस और वर्णवाला तत्त्व पुद्‌गल है। यह अणु और स्कन्धभेदसे द्विविध है। इसका अणुरूप भोगके लिये अशक्य है। पृथ्वी, जल, वायु और तेज—ये चार पुद्‌गल हैं। दूसरे जैनी सात तत्त्व मानते हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जर और मोक्ष। इनमें जीव और अजीव (आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्‌गल)-का वर्णन तो ऊपर हो चुका। जो बन्धका हेतु है, वह आस्रव है। काय, वाणी और मनमें आस्रव स्फुरित होता है। मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद और कषायके कारण जीवमें आस्रवके द्वारा उसका पुद्‌गलसे योग होता है। यह सम्बन्ध ही बन्ध है। आस्रवरूप संसार-प्रवाहको ढकनेवाला संवर है। यही संवर मोक्षका कारण है। संवरका स्वरूप है गुप्ति (अशुभसे शरीर, मन, वाणीको रोकना), समिति (अहिंसा), निर्जरण (तपसे संचित कर्मोंका नाश)। सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र, सम्यक् ज्ञान—ये तीन मोक्षके मार्ग हैं।'

जैन-धर्मका साहित्य एवं दर्शन अत्यन्त विस्तृत हैं। इतिहासज्ञ इस धर्मको बौद्ध-धर्मसे प्राचीन मानते हैं और शास्त्रके अनुसार भी इसकी परम्परा भगवान् ऋषभसे है। बौद्धधर्मके आदि दर्शन मध्यमाचारका लक्ष्य जो अर्हत्-तत्त्व है, वह जैनधर्मके नित्य आत्मा अर्हत्‌से भिन्न होकर भी साम्य रखता है। अहिंसाका जैनधर्मवाला तत्त्व ही बौद्धधर्ममें आया। जैनधर्ममें तपस्यापर बड़ा जोर दिया जाता है। आदिमें भगवान् बुद्धने भी उग्र तप किया था।

जैनधर्म बौद्धसे प्राचीन है, इसीसे हम उसमें शास्त्रोंके अधिकांश अंश ज्यों-के-त्यों पाते हैं। आलोकाकाश, दिव्य जगत् आदिके सम्बन्धमें बौद्ध दर्शनोंकी अपेक्षा यहाँ कुछ विस्तार है। वैसे बौद्धधर्म एवं जैनधर्मके सिद्धान्तोंमें क्षणिकवादका मौलिक भेद है। जैनधर्म सनातनधर्मसे इतना कम अन्तर रखता है कि वैवाहिक सम्बन्धादि भी परस्पर होते हैं। बौद्ध-धर्म उससे कुछ और दूर हुआ। अनुमानादिका विषय न होनेसे निर्गुण तत्त्व तथा दिव्य धामादि तो श्रुति-शास्त्रद्वारा ही जाननेयोग्य हैं।

आस्तिक-दर्शन

'जो वेदोंको प्रमाण न माने, वह नास्तिक है।' शास्त्रकारोंने नास्तिककी यही परिभाषा की है। इस परिभाषामें ईश्वरको या परलोकको मानने-न-माननेका प्रश्न ही नहीं आता। यह परिभाषा 'नास्तिक' शब्दके वर्तमान भावसे भिन्न है। आज नास्तिक केवल उसे कहते हैं जो शरीरसे भिन्न जीवको स्वीकार न करे। मरणोत्तर जीवनमें जिसका विश्वास न हो, वह आज नास्तिक माना जाता है। यहाँ 'नास्तिक' और 'आस्तिक' शब्दोंका पुराना भाव ही लिया गया है।

आस्तिक दर्शनोंको हम शास्त्र कहते आये हैं। षट्शास्त्रसे अभिप्राय छः दर्शनोंसे ही सदा रहा है। ये दर्शन-शास्त्र अधिकारिभेदसे तत्त्व-प्रतिपादनकी शैली निर्धारित करते हैं। सर्वज्ञ महर्षियोंके तत्त्वज्ञानमें न तो कोई अन्तर है और न भेद। श्रुति-पुराणोंके समग्र दर्शनको उन्होंने नहीं समझा हो, ऐसी भी बात नहीं; किंतु सब एक-से अधिकारी नहीं होते। सबकी बुद्धि समान सूक्ष्मग्राहिणी नहीं होती। निम्नकोटिके अधिकारीको स्थूल तर्कोंसे समझाना पड़ता है—जैसे-जैसे वह उन्नत होता है, तर्क सूक्ष्म होते जाते हैं—जैसे प्रथम कक्षासे उन्नत कक्षाओंकी पाठ्य पुस्तकोंके विषय।

दर्शनशास्त्रका उद्देश्य है जगत् एवं जीवके तत्त्वको समझा देना। यह जगत् क्या है? किसने इसे बनाया और क्यों बनाया? इसके नियम क्या हैं? हम किसलिये जगत्‌में आये? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है और न

स्वाभाविक हो तो होनी चाहिये। हम जहाँ काम करने चले हैं, उस क्षेत्रका स्वरूप और कामका उद्देश्य तो हमें जानना ही चाहिये। अब जो जैसा अधिकारी होगा, उसे उसकी बुद्धिके अनुरूप ही समझाना पड़ेगा। ऋषियोंने इस दृष्टिसे दर्शनशास्त्रोंका निर्माण किया। वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा—ये दर्शन-शिक्षाकी उत्तरोत्तर उच्च कक्षाएँ हैं। इनमें जो भेद प्रतीत होता है, वह तात्त्विक नहीं है। अतएव दूसरे दर्शनोंके भेदोंकी भाँति इनमें ह्रास-विकासकी भावना असंगत है।

दर्शनशास्त्र श्रेणी-क्रमसे अधिकारीको श्रुतियोंके समग्र दर्शनतक ले जाते हैं। अतएव उनका विवरण उनकी कक्षाके क्रमसे ही देना उचित होगा। इनमें स्थूल बुद्धिके सामान्य अधिकारीके लिये महर्षि कणादने वैशेषिक दर्शनकी योजना की है।

वैशेषिक-दर्शन

'ईश्वर और जीव—ये नित्य तत्त्व हैं। जीवका जगत्‌में कर्तव्य है कि वह धर्मका पालन करे। धर्म वही है, जो अभ्युदय एवं निःश्रेयसकी सिद्धि करे। धर्माचारका विधान वेदोंमें है। वेद ईश्वरीय वाणी है। वेद धर्मोंका वर्णन उद्देश्य (नाम-निर्देश), विभाग तथा लक्षण (वस्तु-धर्म-निरूपण)-से करते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव—ये सात पदार्थ हैं। पंचमहाभूत, काल, दिक्, आत्मा और मन—ये नौ द्रव्य हैं। ये द्रव्य ही क्रिया, गुणके आश्रय तथा समवायी कारण हैं। स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, सुख, दुःख, बुद्धि, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द—ये चौबीस गुण हैं। इनमें रूप (रंग) सात प्रकारका, रस छः प्रकारका, गन्ध दो प्रकारका (सुगन्ध-दुर्गन्ध) तथा बुद्धि दो प्रकारकी—संशयात्मिका तथा निश्चयात्मिकारूप होती है। निश्चयात्मिका बुद्धि प्रमा (विद्या) है। अनिश्चयात्मिका बुद्धि अप्रमा (अविद्या)-के तीन रूप हैं—संशय, विपर्यय (उलटा ज्ञान) और स्वप्न। प्रमा-बुद्धि प्रत्यक्ष एवं अनुमानके आधारपर रहती है। संस्कार तीन प्रकारके होते हैं—वेग, भावना और स्थितिस्थापक। कर्म पाँच प्रकारका होता है—उत्सर्पण, अपसर्पण, आकुंचन, प्रसारण और गति। सब पदार्थोंमें जो एकता है, वह सामान्य-तत्त्व है। परमाणुओंमें स्थित अतीन्द्रिय तत्त्व, जो उनकी पृथक्ताका कारण है, विशेष है। पदार्थोंका नित्य सम्बन्ध समवाय है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव—ये चार प्रकारके अभाव हैं।'

न्यायदर्शन

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान—इन सोलहकी यथार्थ प्रमा (ज्ञान) ही मुक्तिका हेतु है। ज्ञानके चार साधन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। आत्मा, आयतन (देह), इन्द्रिय, अर्थ (विषय), मन, बुद्धि, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग—इनका ज्ञान ही मोक्षका कारण है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान—ये आत्मा (जीव)-के चिह्न हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, इच्छा, बुद्धि और प्रयत्न—ये आत्मा तथा ईश्वरके गुण हैं। शरीर चेष्टा, इन्द्रियों तथा विषयोंका आश्रय है। अर्थ सब परमाणुरूप हैं। पूर्वकृत कर्मसे शरीर बना है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ पंचभूतोंके सूक्ष्मांशसे बनी हैं। मन अणुरूप अन्तरिन्द्रिय है। बुद्धि केवल ज्ञानोपलब्धिमात्र है, वह अनित्य है।

महर्षि गौतमने जल्प-वितण्डा आदिको यथार्थतः समझकर उनसे सावधान रहने योग्य बननेकी प्रेरणा दी है। पदार्थोंके स्थूलरूप और गुणोंसे उठकर उनके परमाणुरूपका विस्तार किया है।

सांख्य

महर्षि कपिलने परमाणुवादसे ऊपर उठकर प्रकृतिका प्रतिपादन किया। सांख्यमें जाकर जगत्‌की विवेचना अपनी सीमापर पहुँच गयी। आजकल सांख्यदर्शनके जो सूत्र मिलते हैं, उनको विद्वान् प्रामाणिक नहीं मानते। सांख्यदर्शनपर ईश्वरकृष्णकी कारिका ही प्रामाणिक मानी जाती है।

मूलतः दो अनादि तत्त्व हैं—प्रकृति तथा पुरुष। जगत्‌में प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति तथा उभय-भिन्न—चार प्रकारके पदार्थ हैं। प्रकृति किसीका कार्य नहीं है, अतः वह केवल प्रकृति है। प्रकृतिसे महत्तत्त्व, उससे अहंकार और अहंकारसे पंचतन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। तन्मात्राओंसे पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। महत्तत्त्व, अहंकार और तन्मात्राएँ प्रकृति-विकृतिस्वरूप हैं। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पंचमहाभूत और मन—ये केवल विकृति हैं। जीव उभयभिन्न है। वह निर्लिप्त है। पुरुष चेतन है और प्रकृति अचेतन। पुरुषके सामीप्यसे प्रकृतिमें चेतनाकी

प्रतीति होती है। प्रकृति-पुरुषके विवेकसे अपने निर्लिप्त स्वरूपका ज्ञान ही मोक्षका हेतु है।

सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति है। सत्त्वगुणका धर्म सुख, रजोगुणका दुःख और तमोगुणका मोह है। यह सम्पूर्ण जगत् प्रकृतिसे होनेके कारण त्रिगुणात्मक है। अहंकार त्रिविध होता है। उसके सात्त्विक अंशसे मनके साथ ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तथा तामस अंशसे तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। राजस अंश दोनों अंशोंका प्रेरक है। एक प्रकृति; महत्, अहं और पाँच तन्मात्राएँ—ये सात प्रकृति-विकृति; और पंचमहाभूत, दस इन्द्रियाँ तथा मन—ये सोलह विकृति—इस प्रकार सब चौबीस तत्त्व हैं। पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष है।

पुरुष अनन्त हैं। वे परस्पर भिन्न हैं। पुरुष चेतन है, भोक्ता है। वह प्रकृतिके कर्तृत्वको अपनेमें मानता है। जब पुण्योदयसे पुरुष त्रिविध दुःखोंके नाशकी इच्छा करता है, तब प्रकृति उसकी इच्छा सफल करती है। पुरुषकी भोगेच्छा न होनेपर प्रकृति स्वतः शान्त हो जाती है। क्योंकि प्रकृतिकी चेष्टा पुरुषके उपभोगके लिये ही है, अपने लिये नहीं; अतः वासना-नाश होनेपर प्रकृति बन्धन उपस्थित नहीं कर सकती।

बौद्ध-दर्शन असत्से सत्की उत्पत्ति मानता है। न्याय सत्से असत्की उत्पत्ति बतलाता है। सांख्यने सत्से सत्की ही उत्पत्तिका प्रतिपादन किया। सांख्यका मूल तर्क है कि किसी पदार्थसे विरोधी पदार्थकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जो पदार्थ जिस पदार्थसे अन्वित (व्याप्त) है, उसका कारण भी वही (व्यापक) है। पदार्थका नाश नहीं होता। उसका केवल तिरोभाव होता है।

योगदर्शन

महर्षि पतंजलिका योगदर्शन सेश्वर सांख्यदर्शन ही है। योगदर्शन सांख्यसे विचारमें कोई भेद नहीं रखता। सांख्यके पच्चीस तत्त्व योगको भी मान्य हैं। इनके अतिरिक्त पुरुषविशेष ईश्वरको छब्बीसवाँ तत्त्व माना गया है। योगदर्शन क्लेश-नाशका एक व्यावहारिक साधनमार्ग देनेके लिये प्रवृत्त हुआ है।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये जीवके पाँच क्लेश हैं। इनसे नित्यमुक्त, कर्मविपाक तथा आशय-सम्पर्कसे शून्य, अद्वितीय, ज्ञानरूप ईश्वर है। यह संसार दुःखमय एवं हेय है। चित्तकी वृत्तियोंके कारण ही संसारमें कर्मबन्धन है। चित्तवृत्तियोंके निरोधसे क्लेशोंका नाश होकर जीवात्मा-परमात्माका योग होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये चित्तवृत्ति-निरोधरूप योगके आठ अंग हैं।

पूर्वमीमांसा-दर्शन

सांख्यदर्शनका तत्त्वज्ञान तो उत्तरमीमांसा-दर्शनमें आगे बढ़ा; किंतु सांख्य, योग और उत्तरमीमांसा—तीनों ही दर्शन तत्त्वज्ञानके लिये पुण्यकर्मोंका उदय आवश्यक मानते हैं। अतः कर्मोंका विचार करनेके लिये पूर्वमीमांसा-दर्शनकी महर्षि जैमिनिने रचना की।* योगशास्त्रने कर्मके एक रूपका विकास किया। उत्तम कर्माधिकारीके लिये योग है। कामनाहीन मुमुक्षु पुरुष वैराग्य तथा साधनके अभ्याससे समाधिलाभ करके मुक्त होगा; किंतु जो विरक्त नहीं है, उसकी उधर रुचि न होगी। उसको तो उपभोग चाहिये। उसके लिये पूर्वमीमांसा-दर्शन कर्म-सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। इस पूर्वमीमांसा-दर्शनको ही लोकमें मीमांसादर्शन कहा जाता है और उत्तरमीमांसा-दर्शन वेदान्तदर्शनके नामसे प्रख्यात है।

वेद नित्य हैं। उनके मन्त्र ही देवता हैं। वेदोंके विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति और नामधेय—ये पाँच अंग हैं। शब्द नित्य है। शब्दोंमें इन पाँच ही अंगोंकी अभिव्यक्ति होती है। वेदादि किसी ग्रन्थका तात्पर्य समझनेके लिये ग्रन्थका उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—इन सात बातोंपर ध्यान देना आवश्यक है। प्रत्येक वाक्य किसी व्यापार या कर्मका बोधक होता है और उसका कुछ फल होता है। कर्म स्वयं फलोत्पादनमें समर्थ हैं।

कर्मफलका विधान, कर्मभेद आदिका वर्णन 'धर्म' के विवेचनके साथ किया गया है। पूर्वमीमांसा-दर्शनका उद्देश्य शास्त्रोंपर प्रबल निष्ठा उत्पन्न करके अधर्मकी निवृत्ति तथा धर्मकी प्रवृत्ति करना है।

उत्तरमीमांसा-दर्शन

भगवान् व्यासके इस दर्शनको वेदान्तदर्शन कहते हैं। ब्रह्मकी जिज्ञासाके लिये इसकी प्रवृत्ति है और

* महर्षि जैमिनिकृत इस पूर्वमीमांसा-दर्शनके अतिरिक्त भारतधर्म-महामण्डलके द्वारा एक श्रीभरद्वाजकृत कर्ममीमांसादर्शन और प्रकाशित हो रहा है। यह ग्रन्थ भी बहुत उपयोगी है। इसके मान लेनेपर वैदिक दर्शनोंकी संख्या सात हो जाती है।

ब्रह्मका लक्षण है **'जन्माद्यस्य यतः'**—जिससे सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं। पूरा दर्शन इसी लक्षणकी व्याख्या है। पुराणोंमें श्रुतिसे जो दर्शनशास्त्र आया है, पुराणकारने उसीको इन सूत्रोंमें व्यवस्थित कर दिया है। भगवान् व्यासके इस उत्तरमीमांसा-दर्शन (ब्रह्मसूत्र) को लेकर आचार्योंने अपने-अपने दृष्टिकोणसे उसका भाष्य किया है। सम्प्रदायोंकी प्रतिष्ठा उन भाष्योंके आधारपर ही है। ब्रह्मसूत्र (न्याय-प्रस्थान), एकादश उपनिषद् (श्रुतिप्रस्थान) तथा गीता (स्मृति-प्रस्थान)—ये तीन ग्रन्थ प्रस्थानत्रयीके नामसे विख्यात हैं। इन सबपर भाष्य करके ही सम्प्रदाय पहले चले हैं। वर्तमान समयकी भाँति कल्पित सम्प्रदाय भारतमें पहले चल नहीं सकते थे।

अद्वैतवाद

दृश्य-जगत् केवल प्रतीतिमात्र है। यह प्रतीति अज्ञानके कारण है। एक ही निर्गुण, निराकार, निर्विकार चेतन सत्ता है। दृश्य-जगत् उससे भिन्न नहीं है। वह उसी ब्रह्मसत्तामें अध्यस्त है। समस्त दृश्य परिणामी और अनित्य हैं। सबका द्रष्टा एक है। ज्ञेय भी ज्ञाताका सोपाधिक रूप है। नाम तथा रूप—ये मनकी वृत्तियाँ हैं। जगत् नाम-रूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं। नाम एवं रूपकी प्रतीति मायासे है। माया अनिर्वचनीय है; परंतु अनादि होते हुए भी ज्ञानके द्वारा उसका अन्त होनेसे उसकी सत्ता नहीं है। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। उसमें सजातीय, विजातीय अथवा स्वगत—किसी प्रकारका कोई भेद नहीं है।

भगवान् शंकराचार्यने जगत्की प्रतीति रस्सीमें सर्पके भ्रमके समान विवर्तसे बतलायी। अद्वैतवादमें दृष्टि-सृष्टिवाद और अजातवाद-जैसे कई प्रक्रियाभेद हैं। जगत्की प्रतीतिको लेकर ही ये सिद्धान्त बने हैं। इनमें बौद्धदर्शनके तर्कोंका अनेक बार प्रकारान्तरसे उपयोग हुआ है। ब्रह्मकी अद्वैत सत्ता और जगत्के मिथ्यात्वको सभी मानते हैं। अतः प्रक्रिया भिन्न होनेसे कोई मौलिक भेद उनमें नहीं होता।

जगत् प्रतीति है, मिथ्या है, अध्यास या विवर्त है—यहाँतक तो शास्त्रका पूर्वोक्त समग्र दर्शन ही है। भगवान् शंकराचार्यने व्यावहारिक एवं पारमार्थिक—दो प्रकारके सत्यका प्रतिपादन किया है। उन्होंने **'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना'** कहकर ईश्वरीय कृपा अपेक्षित मानी है एवं उपासना, भक्ति तथा आचारको महत्त्व दिया है। संसार प्रतीति है; वह कल्पना है; पर है समष्टिके संचालककी कल्पना। जीवकी कल्पना उसमें 'अहं' और 'मम' रूप ही है। अतः 'अहं' और 'मम' को छोड़ना तो हमारे वशमें है और समष्टिका लय समष्टिकर्ताके वशमें। जब पारमार्थिक सत्य किसीकी प्रतीतिको आत्मसात् कर लेता है, तब व्यावहारिक सत्यके बन्धन उसके लिये नहीं रह जाते—जैसे जो रुपयेके मोहसे ऊपर उठ गया, उसके लिये नोट कागजके टुकड़े हैं।

बौद्धधर्म अपने वज्रयानके स्तरपर उतर आया था। वामतन्त्रकी साधनाएँ भी अनाचारमें बदल गयी थीं। तर्कने दर्शनको जडवादी बना दिया था। इसी वातावरणमें भगवान् शंकराचार्यका प्रदुर्भाव हुआ। वैभाषिक बौद्धदर्शनका आधार जडको सत्य मानना था, भगवान् शंकराचार्यने प्रतिक्रिया उत्थित की। जड दृश्य जगत् केवल प्रतीति है। बौद्धदर्शनके ही मध्यमाचारसे यह मत मिलता है। बौद्ध-दर्शनसे शांकरदर्शनका भेद यह है कि उसमें श्रुति, शास्त्र एवं आस्तिकताकी प्रतिष्ठाके साथ ज्ञानको आचारकी अपेक्षा महत्ता दी गयी। उस समय जो वामाचार, कापालिक आचार आदि उच्छृंखलताएँ आचारके नामपर प्रश्रय पा गयी थीं, उनका निषेध आवश्यक ही था। मानवको उस समय रुककर शुद्ध विचार करना परमावश्यक था।

विशिष्टाद्वैतवाद

अद्वैतवाद साधन-चतुष्टय, श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे अपरोक्षानुभूतिका प्रतिपादन लेकर प्रवृत्त हुआ; किंतु मानव-प्रकृति तो अधोगामिनी है। आचारसे ज्ञानकी श्रेष्ठताके प्रतिपादनने केवल बौद्धिक ज्ञानको महत्त्व दे दिया। आचार छूट गया। इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन तो व्यवहार माना जाने लगा और बुद्धिको महत्ता मिल गयी। अद्वैतबोध भी अनुभूतिसे उठकर दूसरी विद्याओंकी भाँति एक बौद्धिक ज्ञान हो गया। जीव नित्यमुक्त शुद्ध ब्रह्म है, उसे कोई आचार बाधित नहीं करता। विषयोपभोगादि तो व्यवहार है, कल्पना है, अज्ञानकी प्रतीति है। सदाचार, उपासनादि सब अज्ञान हो गये। देहात्मवादी नास्तिक तथा बौद्धिक वेदान्तीमें केवल यह अन्तर रहा कि एक मूलतत्त्वको जड कहता है, दूसरा चेतन। शेष मान्यताएँ दोनोंकी एक हो गयीं। **'कलौ वेदान्तिनः सर्वे'**—शास्त्र ऐसे ही वेदान्तको कलिका धर्म बतलाता है। आज वह प्रत्यक्ष है।

व्यवहार एवं व्यावहारिक सुख जबतक अपेक्षित हैं, जबतक उनकी प्रतीति है, तबतक जिसकी कल्पनाने उनका सर्जन किया है, हम उसके अधिकारक्षेत्रमें हैं। यदि ये भोग हमारी कल्पना होते तो हमें उनको पानेका प्रयत्न न करना पड़ता। हम कल्पनासे उनकी सृष्टि कर लेते। जिसके कल्पना-क्षेत्रमें हम व्यवहार चलाते हैं, वह हमारा शास्ता है। हम उसकी कृपासे उस क्षेत्रसे बाहर हो सकते हैं। उसके क्षेत्रमें रहकर उसके नियमोंको भंग करनेपर दण्ड मिलेगा ही। इस सत्य एवं आचारकी प्रतिष्ठाके लिये महाप्रभु रामानुजाचार्यने विशिष्टाद्वैत-मतका प्रवर्तन किया।

चित्-अचित्-विशिष्ट समग्र तत्त्व ही ब्रह्म है। ब्रह्मके चेतन अंशसे चित् (जीव) और अचित्से जड (प्रकृति) हुई है। ब्रह्म जगत्का निमित्त तथा उपादान कारण है। जीव ब्रह्मका ही अंश है। भगवान् नारायण ही इस समस्त जड-चेतन सत्ताके स्वामी हैं। वे निखिलगुणगणैकधाम नित्यवैकुण्ठविहारी हैं। उनकी शरणमें जानेसे ही जीवकी मुक्ति होती है। प्रपत्ति (शरणागति) ही मोक्षका सर्वोत्तम साधन है। जीव ज्ञाता है। ज्ञान जीवका धर्म है। वह ज्ञानस्वरूप नहीं है। जीव और ईश्वर नित्य भिन्न हैं। यथावस्थित व्यवहारानुगुण ज्ञान ही प्रमा है। निर्विकल्प और सविकल्प दोनों प्रकारके ज्ञान विशेषतायुक्त तत्त्वके ही होते हैं। जिसमें कोई विशेषता न हो, उसका ज्ञान नहीं होता। आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा विषय-संयोग—ये ज्ञानके हेतु हैं। जो कर्म-सम्बन्धी ज्ञानसे सम्पन्न है, वही ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी है।

'ब्रह्म सगुण एवं सविशेष है, क्योंकि उसका ज्ञान होता है।' यह श्रुतिका मत है। जगत् ब्रह्मका परिणाम है। उपासनासे अज्ञानकी निवृत्ति ही जीवका प्रयोजन है। ब्रह्म श्रीनारायण अपनी योगमाया-शक्तिसे समन्वित रहकर कर्मफलदाता, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी ईश्वररूपसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, संहारके कारण हैं। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा—इन विग्रहोंमें जीवको उनकी उपलब्धि होती है। उन श्रीनारायणके अवतार कर्मके कारण नहीं होते। वे स्वेच्छासे ही अवतार धारण करते हैं। उनमें विकार नहीं होता। जीव चेतन, अणुरूप तथा ब्रह्मका शरीर है। जीव और ब्रह्ममें स्वगत-भेद है। जीव और ब्रह्म दोनों चेतन, स्वयंप्रकाश, ज्ञानाश्रय, नित्य, देहादिसे भिन्न हैं। जीव कर्ता, भोक्ता, ब्रह्मका शरीर तथा दास है। जीवकी ब्रह्मसे कभी अभिन्नता नहीं होती। अप्राकृत चिन्मय शरीरसे वैकुण्ठधाममें निवासकी प्राप्ति ही मुक्ति है। यह मुक्ति ब्रह्मकी कृपासे उनकी प्रपत्तिद्वारा ही प्राप्त होती है।

विशिष्टाद्वैतमत शरणागति—प्रपत्तिका मार्ग है। आराध्यके अनुकूलका संकल्प और प्रतिकूलका त्याग प्रपत्तिका स्वरूप माननेका यह निर्विवाद अर्थ हो गया कि शास्त्र-विपरीत समस्त कर्म त्याज्य हैं और शास्त्राचार ही विहित है; क्योंकि शास्त्र ही भगवान्के आदेश हैं। शास्त्रके अतिरिक्त हम उनकी अनुकूलता जान सकें, इसका कोई उपाय ही नहीं। नियम बड़ा उच्च है; किंतु मनुष्यका स्वभाव नियमका दुरुपयोग करना—ह्रासोन्मुख होना है। आचार्यमतके बदले यह आचारियोंका मत कहा जाने लगा। प्रपत्ति—शरणागतिका मुख्य अंश—भाव गौण हो गया और क्रिया ही प्रधान हो गयी। शास्त्रका बाह्याचार अपनी सीमाको पार कर गया और भावकी उपेक्षा हो गयी। फलतः उपासना, जो मुख्य लक्ष्य थी, विशेष प्रकारकी क्रियाओंमें बद्ध हो गयी। इस स्थितिमें शेष वैष्णव मतोंका प्रसार हुआ।

द्वैतवाद

महाप्रभु श्रीमध्वाचार्यद्वारा प्रसारित द्वैतवाद पूर्णप्रज्ञ-दर्शन कहा जाता है। इस मतका संक्षिप्त सार है—'जीव और ब्रह्म—ये दो नित्य पृथक् सत्ताएँ हैं। जीव अणु एवं दास है और ब्रह्म सगुण, सविशेष, स्वतन्त्र। जीवका परमार्थ है सालोक्यादि मुक्तियोंमें किसीकी प्राप्ति। जीव एवं ब्रह्ममें साम्यबोध भ्रम एवं अपराध है। दृश्य-जगत् सत्यसे अभिन्न है। विकारी और परिवर्तनशील होनेपर भी जगत् मिथ्या नहीं है। क्योंकि असत्यका ज्ञान नहीं हुआ करता। ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेयके आधीन है। ज्ञानकी चिन्तनसे भिन्न स्थिति नहीं है। अतः ज्ञान सदा सविकल्प ही होता है। ज्ञान आपेक्षिक है। ज्ञान ही ज्ञेयका प्रतिपादक एवं प्रधान प्रमाण है। ब्रह्म शास्त्रैकगम्य है। वह पूर्णतः वाणीका विषय नहीं होता। भाववस्तु, गुण, क्रिया, जाति, विशेषत्व, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव—ये दस पदार्थ हैं। भाववस्तु दो प्रकारकी है—चेतन और अचेतन। परमतत्त्व ब्रह्म भगवान् विष्णु हैं। भक्ति, त्याग, ध्यान—ये साधन हैं जीवके लिये, जिनसे वह मुक्त होता है।'

द्वैताद्वैतवाद

महाप्रभु श्रीनिम्बार्काचार्यने द्वैत एवं अद्वैत दोनोंका

सामंजस्य करनेवाला प्रकाश जगत्को दिया—जगत् ब्रह्मका परिणाम है। ब्रह्ममें परिणाम होनेपर भी वह विकृत नहीं होता। ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है। उसका सगुण भाव मुख्य है। जीव तथा जगत्—ये दोनों ब्रह्मके परिणाम हैं। ये ब्रह्मसे पृथक् भी हैं और अपृथक् भी। जगदतीतरूपमें ब्रह्म निर्गुण है। ब्रह्म जगत्का निमित्त-उपादान कारण है। जीव ब्रह्मका अंश है, उससे भिन्न भी और अभिन्न भी। जीवका स्वरूप अणु है। मुक्त जीव अपनी तथा जगत्की ब्रह्मसे अभिन्नताका अनुभव करता है। मुक्तिका साधन केवल उपासना है।

शुद्धाद्वैतवाद

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने जगत्के मिथ्यात्वका खण्डन करके उपासनाकी प्रतिष्ठा की है। श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। वे निर्गुण, निर्विशेष, कर्ता, भोक्ता, निर्विकार, गुणातीत, समस्त विरुद्ध धर्मोंके आश्रय, संसारके धर्मोंसे रहित तथा जगत्के उपादान हैं। जगत् सत्य है। वह कार्य है। ब्रह्मसे अभिन्न उसकी परिणति है, क्योंकि ब्रह्म अविकृत परिणामी है। जगत्में पदार्थोंका आविर्भाव एवं तिरोभाव होता रहता है। जीव शुद्ध तथा अणुरूप है। जीवके लिये ब्रह्मसे प्रीति करना ही श्रेष्ठ मार्ग है। इस प्रीतिकी चरम परिणति है श्रीकृष्णमें पतिभावकी प्राप्ति। यह भगवदनुग्रह (पुष्टि) से होती है। ब्रह्मका विवेचन शास्त्रके द्वारा ही सम्भव है।

अचिन्त्यभेदाभेदवाद

श्रीकृष्ण सत्य हैं, इतना जानना ही जीवके लिये पर्याप्त है—महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवके इस भावको श्रीगोस्वामिपादोंने अचिन्त्यभेदाभेदवादका दार्शनिक रूप दिया। महाप्रभुने श्रीमद्भागवतको ही गीता, उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्रोंका भाष्य माना था; अतः प्रस्थानत्रयीपर भाष्य न करके भागवतरूप भाष्यसे ही यह दर्शन पुष्ट हुआ है। बहुत पीछे जाकर ब्रह्मसूत्रपर भाष्य भी रचा गया।

ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म—ये पाँच तत्त्व हैं। शास्त्र वाचक हैं और ईश्वर वाच्य। ईश्वरका ज्ञान शास्त्रसे ही होता है। ब्रह्मतत्त्व सगुण सविशेष श्रीकृष्ण ही हैं। वे स्वतन्त्र, सर्वज्ञतादि समस्त गुणोंसे युक्त, जीवको भोग एवं मोक्ष देनेवाले हैं। वे निर्गुण हैं, क्योंकि उनमें कोई प्राकृत गुण नहीं। उनमें सभी अप्राकृत गुण हैं। संवित्, सन्धिनी और ह्लादिनी—ये तीन शक्तियाँ हैं उन सच्चिदानन्द ब्रह्म श्रीकृष्णकी। जगत् ब्रह्मका परिणाम है। यह सत् किंतु अनित्य है। ईश्वर, जीव, काल और प्रकृति—ये चार तत्त्व नित्य हैं। प्रकृति ब्रह्मकी शक्ति है, त्रिगुणात्मक है, नित्य है। कर्म जड है। वे ईश्वरकी शक्तिरूप हैं। जीव अणु है। वह ब्रह्मका भोग्य है। प्रेमके द्वारा श्रीकृष्णका सान्निध्य प्राप्त कर लेना ही जीवकी मुक्ति है।

अद्वैतवादके अतिरिक्त शेष सब वैष्णव दर्शन उपासनाकी सिद्धिके लिये हैं। अतः इनमें जगत्की सत्यता तथा ब्रह्मके सविशेषरूपका प्रतिपादन है। प्रस्थानत्रयीके ही ये सब भाष्य हैं, अतः भाष्यरूप दर्शनोंमें मौलिक समानता तो होनी ही चाहिये। आचार्योंने साधनोंकी पुष्टिके लिये दर्शनका विस्तार किया है। अद्वैतवाद ज्ञानयोगकी पुष्टिके लिये और वैष्णवदर्शन उपासनाकी पुष्टिके लिये हैं। इनमेंसे प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी अनादि परम्परा मानता है। आद्याचार्यका अर्थ केवल उस मतका प्रस्थानत्रयीपर भाष्य करके प्रचार करनेवाले महापुरुषसे है। उन्होंने सिद्धान्तकी सृष्टि की, ऐसा न तो वे मानते और न उनके अनुयायी। सत्य दस-बीस प्रकारका नहीं हो सकता; किन्तु जब हम वाणीमें उसे व्यक्त करते हैं, तब हमारे दृष्टिकोण एवं वाणीके भेदसे वह विविधरूप हो जाता है। अचिन्त्यरूपा माया-शक्ति, अवाङ्मनसगोचर परम-तत्त्व—ये सबको मान्य हैं। इनकी उपलब्धि, इनकी अनुभूतिके मार्ग भिन्न-भिन्न होंगे अधिकारीके अनुरूप। जिस अधिकारका प्रतिपादन होगा, उसके दृष्टिकोणसे तत्त्वका व्यक्तीकरण भी होगा। जैसे अधिकार-भेदसे बने पुराणोंमें परतत्त्व कहीं शिव, कहीं शक्ति, कहीं विष्णुके रूपमें सर्वोपरि प्रतिपादित हुआ है, वैसे ही आचार्योंके सिद्धान्तोंका भेद भी अधिकार-पुष्टिके लिये है। उनमें वस्तुतः कोई अन्तर नहीं।

शैव-दर्शन

निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले दर्शनको छोड़ देनेपर सविशेष-ब्रह्म-प्रतिपादक दर्शनोंके शैव एवं वैष्णव—दो मुख्य भेद रह जाते हैं; यों तो सौर, शाक्त, गाणपत्य—तीन और भेद हैं। इनमें वैष्णव-दर्शनोंकी चर्चा हो चुकी है। अद्वैतवाद निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादक दर्शन है। उसमें शैव एवं वैष्णव—दोनों प्रकारके उपासक हुए हैं। आजकल शिवोपासना अद्वैतवादियोंमें मुख्यता प्राप्त कर चुकी है; किन्तु आदिसे कभी भी वैष्णव उपासनाका न तो अद्वैतवादसे विरोध था और

न श्रीकृष्णके उपासकोंका अद्वैतवादियोंमें अभाव ही। शैव और वैष्णव दोनों दर्शनोंमें ब्रह्मको सविशेष माननेपर शक्तिकी महत्ता मानी गयी है।

वैष्णव-दर्शन तथा अद्वैतवादकी प्रवृत्ति वेदोंको परम प्रमाण माननेकी है। उपासनाके लिये निगम (वेदादिशास्त्रों) के साथ आगम (तन्त्रों) का दक्षिणाचार भी सर्वत्र स्वीकार किया गया है; किन्तु परम प्रमाण श्रुति ही रही है। शैव-दर्शन आगम (तन्त्र) को निगमके समान ही परम प्रमाण मानकर प्रवृत्त हुए हैं। उपासनाके क्षेत्रमें उनकी प्रवृत्ति आगमकी ओर है। वे निगमको गौण मानते हैं। आगमके दक्षिणाचारके साथ उन्होंने वामाचारको भी स्थान दिया है।

पाशुपत-दर्शन

तीन नित्य पदार्थ हैं—पति, पशु और पाश। पति परमेश्वर है। वह कर्मादि-सापेक्ष कर्ता है। जीव (पशु) को वही फल देता है। वह शरीरी तथा संसारका कारण है। ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव एवं सद्योजात—ये मन्त्र ही क्रमशः उसके सिर, मुख, हृदय, गुह्य तथा चरण हैं। वह मन्त्रमूर्ति है। पतिके इन पाँच रूपोंमें ईशानरूप क्षेत्रज्ञ एवं भोक्ता है। तत्पुरुष प्रकृतिरूप है। अघोर धर्मादि आठ अंगोंसे युक्त बुद्धि है। वामदेव अहंकार है और सद्योजात मनस्तत्त्व है।

जीव ही पशु है। वह अपरिच्छिन्न, दुर्ज्ञेय तथा कर्ता है। पाश चार हैं—मल, कर्म, माया और रोध-शक्ति। अपवित्रता मल-पाश है। इसमें बद्ध जीव विज्ञानाकल कहलाता है। असमाप्तकलुष जीव साधनासे मन्त्रेश्वर-पद प्राप्त करता है। तथा कलुष समाप्त होनेपर विद्येश्वर-पद पाता है। धर्म एवं अधर्म—ये कर्म-पाश हैं। इन पाशोंसे तथा मलपाशसे बद्ध जीव प्रलयाकल कहा जाता है। इस कोटिके जीव पाश-द्वयके पक्व होनेपर मुक्त हो जाते हैं। सभी पाशोंसे बद्ध जीवोंकी संज्ञा जीवसकल है। जिसके अंदर प्रलयमें सब कार्य समा जाते हैं और सृष्टिमें जिससे प्रकट होते हैं, वह माया तथा पुरुषकी गतिमें बाधा देनेवाले कर्म रोध-शक्ति हैं। प्रलयाकल जीवोंमें अपक्वपाशद्वय जीव पुर्यष्टक-देह धारणकर नाना योनियोंमें जन्म लेते हैं। पुर्यष्टक-देहमें अन्तःकरणचतुष्टय, पंचभूत, पंचभूतात्मा (तन्मात्राएँ), दस इन्द्रियाँ, पाँचों शब्दादि विषय, काल, नियति, विद्या, राग, प्रकृति, गुण और भोग-साधनकला—ये छत्तीस तत्त्व होते हैं।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन

काश्मीरमें श्रीअभिनवगुप्ताचार्यने शैवदर्शनका जो स्वरूप उपस्थित किया, वही प्रत्यभिज्ञादर्शन कहा गया—प्रतिजीव महेश्वरका आभिमुख्येन ज्ञान ही 'प्रत्यभिज्ञा' है। परा सिद्धि (मुक्ति) और अपरा सिद्धि (अभ्युदय)—ये देवलोक-प्राप्त्यादि बाह्य क्लेश एवं आन्तरिक क्लेशोंके बिना ही परमेश्वरताकी प्राप्तिसे सिद्ध होते हैं। परमेश्वरका दासत्व सम्पत्तिकी पराकाष्ठा है। यद्यपि ईश्वर स्वभावतः नित्य सिद्ध है, तथापि मायावश अंशतः ईश्वररूपकी अप्रकाशमानता ही उसमें जीवत्व है। शास्त्रोंकी पूर्ण सहायतासे ईश्वरकी पूर्ण शक्तिका ज्ञान होता है। पूर्णशक्ति परमात्मा जब आत्माके सम्मुख प्रकट होते हैं, तब उनकी शक्तिके प्रतिसन्धानसे ज्ञान होता है। उस ज्ञानसे ईश्वर और अपनेमें अभेद-बोध होता है।

ईश्वर निर्विकल्प एवं निर्विकार हैं। परंतु उनमें शक्तिका स्पन्दन है। निस्तरंग परमात्माकी निर्विकल्प सर्वतोमुखी वृत्ति ही स्पन्द है। ब्रह्ममें ज्ञान तथा क्रिया है। चिद्रूपत्व, अनवच्छिन्नविमर्शत्व, अन्योन्यमुखत्व तथा आनन्दघनैकत्व ही महेश्वरत्व है। वे भावात्मा तथा समस्त पदार्थोंके स्वरूप हैं। उनकी इच्छासे ही जगत्की सृष्टि हुई है।

महेश्वर निरावरण चैतन्यस्वरूप, अनवच्छिन्न, अद्वितीय, स्वानुभवैकप्रमाण, शक्तिचक्रेश्वर, आत्मचिन्तामणि, उपेय तथा अभिधेय हैं। उनकी स्वाभाविक शक्ति ही प्रकृति है। उनकी इस स्वात्मभूता प्रकृतिमें कभी व्यभिचार नहीं होता। महेश्वर कर्ता, ज्ञाता तथा अनादिसिद्ध स्वात्मा हैं। जीव चेतन, पर अनीश्वर है। वह प्रत्यगात्मा परमेश्वरसे भिन्न है। मोहाच्छन्न होनेसे कर्ममें बद्ध होकर वह संसारी होता है। जीव महेश्वरका दास है। महेश्वरके साथ एकत्व स्थापित होनेपर वह सब विषयोंको ग्रहण करनेकी पूर्ण शक्ति पाता है। सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्वरूप महेश्वरत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। ज्ञान प्रकाशस्वरूप, चित्स्वरूप, सर्वप्रकाशक, अखण्ड और एक है। प्रत्यभिज्ञा (जीवनेश्वरका अभेद-बोध) ही मुक्तिका साधन है।

शिवाद्वैत

ब्रह्म (महेश्वर) आराध्य हैं और धर्माचरण उनकी आराधना है। फलेच्छात्यागपूर्वक कर्म करनेसे पापोंका नाश होता है। पापनाशसे चित्त शुद्ध होनेपर ज्ञान होता है। कर्म एवं ज्ञानके समुच्चयसे ही मुक्तिकी सिद्धि होती

है। जीवका परम पुरुषार्थ शिवकी समानगुणतारूप मुक्ति पाना है। यह शिवकृपासे ही सिद्ध होती है। इस प्रकार मुक्ति शिवका प्रसाद है। यह प्रसाद उपासनाद्वारा प्राप्त होता है।

ब्रह्म (शिव) सगुण, सविशेष, ज्ञानानन्द-शक्तिसम्पन्न, जगत्‌रूप होनेवाले, मनके द्वारा आनन्द भोगनेवाले हैं। जीव अनादि, अज्ञानवासनाबद्ध, परवश, विभु, चेतन, शक्ति-परिच्छिन्न, कर्ता, भोक्ता है। जीवमें कर्तृत्व स्वाभाविक है। वह किसीका प्रकाश्य नहीं। मुक्त जीव भी अन्तःकरण-समन्वित रहता है। पाश नष्ट होनेसे वह अखण्ड आनन्दका उपभोग करता है। ब्रह्मकी परमाशक्ति (चिच्छक्ति—चिदाकाश) में जगत्‌का बीज है। वही प्रपंचका कारण बनती है। ब्रह्म परिणामी है और जगत् परिणाम। जन्म, स्थिति, प्रलय, तिरोभाव, अनुग्रह—ये ब्रह्मके पाँच कृत्य-प्रपंचक हैं।

शिवत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। कर्म, उपासना या ब्रह्मविद्यासे शिवत्वकी प्राप्ति होती है। शूद्रका अधिकार ब्रह्मविद्यामें नहीं है। सत्कर्माचरण तथा पुराणादि-श्रवणसे उसका पाप नाश हो जाता है।

लकुलीश पाशुपत-दर्शन

पशुपतिने बिना किसी कारण एवं साधनके ही संसारका निर्माण किया। इस संसारसे मुक्ति दो प्रकारकी होती है—एक तो दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और दूसरी पारमैश्वर्यकी प्राप्ति। पारमैश्वर्य है दृक्‌शक्ति (सर्वज्ञता) और क्रियाशक्ति—इच्छित वस्तुकी प्राप्ति। भगवद्दासत्व एक प्रकारका बन्धन है। व्रत, भस्मादि-धारण तथा उपहार—एकान्तमें शिवनाम लेकर हँसना, रोना एवं जपादि तथा द्वार (लोकमें विपरीत चेष्टा—पागलका-सा आचार)—ये साधन हैं धर्मार्थके।

शक्ति-दर्शन

पराशक्ति त्रिपुरसुन्दरीसे ही शब्द एवं वस्तुओंकी उत्पत्ति हुई है। परमतत्त्व शिव हैं। शक्तिके स्फूर्तिरूप धारण करनेपर शिवने उसमें तेजस्-रूपसे प्रवेश किया, तब विन्दुका प्रादुर्भाव हुआ। शिवमें शक्तिके प्रवेशसे नारीतत्त्व—नाद व्यक्त हुआ। ये ही दोनों तत्त्व (नाद-विन्दु) मिलकर अर्धनारीश्वर हुए। यही कामतत्त्व है। पुंतत्त्व श्वेत एवं नारीतत्त्व लाल है। दोनोंसे कलाकी उत्पत्ति हुई है। इस काम एवं कलाके तथा नाद एवं विन्दुके योगसे ही सृष्टि हुई है। मूलतत्त्व अनन्त एवं अव्यक्त है। सृष्टिके प्रत्येक विकासमें उस शिवतत्त्वका आगम है। उस शिवकी अजा आद्या-शक्ति ही प्रकृतिरूपा हैं।

जीवके उद्धारके लिये वेद, वैष्णव, शैव, दक्षिण, वाम, सिद्धान्त तथा कुल—ये सात आचार हैं। दिव्य भावके आश्रयसे देव-साक्षात्कार, वीर-भावसे क्रियासिद्धि और पशुकी प्राप्तिसे ज्ञानसिद्धि होती है। आराधनाके लिये महाशक्तिके दस महाविद्यारूप हैं—महाकाली, उग्रतारा, षोडशी (त्रिपुरसुन्दरी), भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, भैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातंगी और कमला। इन शक्तियोंके साथ परतत्त्वके दस आराध्य रूपोंकी उपासना होती है। क्रमशः उनके नाम हैं महाकाल, अक्षोभ्य पुरुष, पंचवक्त्र, रुद्र, त्र्यम्बक, कबन्ध, दक्षिणामूर्ति, एकवक्त्र रुद्र, मतंग, सदाशिव और विष्णु। जीव आचारपालन एवं आराधनासे, शक्तिकी कृपासे शिवत्वको प्राप्त करके पाशमुक्त हो जाता है।

कुछ अन्य दर्शन

इन दर्शनोंके अतिरिक्त भक्तिके स्वरूप, साधन और तत्त्वका साक्षात्कार करनेवाले नारद तथा शाण्डिल्यकृत भक्तिसूत्र भी भक्तिदर्शनके रूपमें विख्यात हैं। ये बड़े ही उपयोगी तथा भक्तितत्त्वका निरूपण करनेवाले दर्शन हैं। इनके सिवा वैद्यक-शास्त्रका अपना पृथक् दर्शनशास्त्र है। कर्म एवं प्रारब्धको मानकर उसमें चिकित्साका क्या स्थान है, यह इस दर्शनशास्त्रका विषय है। इसी प्रकार 'रसेश्वर' दर्शन है। इस दर्शनकी मान्यता है कि परमतत्त्व रसरूप है। शिव एवं पार्वतीका वह मूलभाव स्थूल जगत्‌में पारद एवं अभ्रक रूपसे व्यक्त है। पारद आनन्दकी मूर्त अभिव्यक्ति है। पारद ही रस है। सृष्टिसे पार करनेवाला होनेसे उसे पारद कहा जाता है। पारदकी सिद्धिसे शरीर जरा-मृत्युपर विजय पा लेता है। इसी प्रकार ज्यौतिषका दर्शनशास्त्र भी पृथक् है। उसका सारांश इस प्रकार है—

सम्पूर्ण जगत् और उसकी घटनाएँ नक्षत्र-जगत्‌पर अवलम्बित हैं। नक्षत्रोंकी गति, स्थिति एवं संयोग ही संसारके समस्त रूपों, क्रियाओं तथा गुणोंके कारण हैं। भावोंकी जो अभिव्यक्ति पृथ्वीपर क्रिया और पदार्थके रूपमें है, वही समष्टिमें नक्षत्रोंके रूपमें है। प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक आकृति पूर्वनिश्चित है। अवश्य ही उसमें स्थित जीव बदलता रहता है। सभी आकृतियाँ, क्रियाएँ, शब्दादि नित्य हैं। उनका बराबर आविर्भाव, तिरोभाव होता रहता है। इस प्रकार संसारका इतिहास अपनेको

बार-बार ज्यों-का-त्यों दुहराता है। प्राणीके कर्म संकल्पपूर्वक ही होते हैं। संकल्प ही कर्मका कारण है। संकल्प भावस्तरोंकी अभिव्यक्ति है। यही भाव सारे ग्रहोंके भी संचालक हैं। अतः कर्म सदा ग्रहोंके अनुसार ही होंगे। प्रारब्धवाद और ज्यौतिषमें कोई भेद नहीं है। मनुष्यका कर्म उसे फल देनेमें स्वयं समर्थ है।

ज्यौतिषकी भाँति ही व्याकरणका भी दर्शनशास्त्र है। इस दर्शनको स्फोटवाद या शब्दाद्वैतवाद कहते हैं। महर्षि पाणिनि इसके उद्भावक हैं। यह दर्शन कहता है—'शब्द अनादि और सनातन है; जितने दृश्य हैं, वे कल्पना या विचारकी छाया, उन्हींके मूर्तरूप हैं। दृश्य जगत् अवास्तविक है। शब्दके बिना ज्ञान स्वयंप्रकाश नहीं है। शब्द और ज्ञान—ये परस्पर अविभेद्य हैं। शब्दकी स्मृति ही श्वासादि समस्त क्रियाओंका कारण है। शब्द अव्याख्येय शक्तिसे युक्त है। संसार अर्थोंसे बना है। शब्द उसका ज्ञान देता है। वाचकताका अधिष्ठान प्रणव है। वही जगत्का मूल कारण है। नाम-रूपात्मक ही विश्व है। विश्व शब्दब्रह्मका परिणाम नहीं, विवर्त है। शब्दका अर्थसे कल्पित सम्बन्ध नहीं, नित्य सम्बन्ध है। व्यक्त शब्दकी वाणी मूलाधारमें परा, नाभिमें पश्यन्ती, हृदयाकाशमें मध्यमा और कण्ठमें वैखरी रूपसे प्रकट होती है। प्रणवोपासना, योग, शुद्ध एवं सत्य भाषण शब्दब्रह्मकी अनुभूतिमें सहायक हैं।'

इसी प्रकार योगके अनेक मार्गोंने शरीरको ज्ञान या सत्यका मन्दिर मानकर नेती, धोती आदि षट्कर्मसे उसकी शुद्धिका प्रतिपादन किया है। षट्चक्र-वेधका कुण्डलिनी-योग भी एक दर्शनशास्त्र ही है। ब्रह्म, विष्णु तथा रुद्र ग्रन्थियोंको वेदान्तके मल, विक्षेप, आवरणकी भाँति मानकर उनके वेधनके लिये प्रवृत्त होनेवाली तन्त्रसाधनाका भी एक दर्शन है। ये सभी आस्तिक दर्शन साधन एवं अधिकारीके भेदसे ही भिन्न हैं। वस्तुतः इनका मूल समग्र दर्शन है और वही उनका लक्ष्य भी है।

भारतीय दर्शन और व्यवहार

एकत्वमें अनेकताकी अभिव्यक्ति और अनेकतामें एकताका दर्शन, यही भारतीय दर्शनकी विशेषता है। एक हिंदीके सम्मान्य विद्वान्ने अभी कहा है—'विश्वकी नाना विभिन्नताओंमें एकताका जितना पूर्ण एवं सार्थक विवेचन भारतने किया, वैसा कोई देश और कोई जाति न कर सकी; किंतु हमारे देशमें जितना श्रेणीभेद है, उतना और कहीं नहीं है।' यह आश्चर्य आपको साम्यवादकी भ्रान्त धारणाके कारण हुआ। नहीं तो अनेकतामें एकताका दर्शन ही भारतीय परम्परा है। अनेकतामें एकत्वका वर्तन न सम्भव है और न आदर्श। पशु, मानव, वृक्षादिमें एकत्वका दर्शन करके यदि एक-सा आहार भी सबको दिया जाने लगे तो उसमें सबकी हानि होगी। लाभ किसीका न होगा। अतएव एकत्व तो बुद्धिमें व्यवस्थित होनेका भाव है। एकत्वसे बहुत्वका उत्थान भी भारतीय दर्शनने ही बतलाया है। जिस कर्म, अधिकार, भावादि भेदसे बहुत्वका उत्थान है, उसके अनुरूप व्यवहार ही व्यक्ति एवं समाजके लिये कल्याणकारी है। अतः व्यवहारमें दूसरे देशोंकी अपेक्षा बहुत अधिक श्रेणी-भेद अधिकार-निरूपणका परिणाम है। वह लाभकारी है और एकत्वका अविरोधी है। भारतीय दर्शनकी गम्भीरताके साथ उसकी यह मौलिक विशेषता समझे बिना हम उसकी व्याख्या करते समय भ्रममें पड़ते हैं। पदार्थ-विज्ञान तथा आलोचनाके क्षेत्रमें हम प्रत्यक्ष यह सिद्धान्त देखते हैं कि ज्ञान जितना सूक्ष्म होगा, पदार्थोंके उपयोग एवं श्रेणी-भेद बढ़ेंगे और अज्ञान श्रेणी-भेदोंका लोप करता है। विचार जहाँ व्यावहारिक श्रेणी-भेद बढ़ाता है, वहीं मूल एकत्वका दर्शन कराता है; पर अज्ञानमें, श्रेणियोंका लोप होनेके साथ बौद्धिक भेद बढ़ता है।

हिंदुओंकी बुद्धि और विचारशीलता

'बुद्धि और विचारशीलतामें हिंदू सभी देशोंसे ऊँचे हैं। गणित तथा फलित ज्यौतिषमें उनका ज्ञान किसी भी अन्य जातिसे अधिक यथार्थ है। चिकित्सा-विषयक उनकी सम्मति प्रथम कोटिकी होती है।'

—याकूबी (नवम शताब्दी)

हिंदू-संस्कृति और उपनिषद्

(लेखक—पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

उपनिषद् हिंदू-संस्कृतिकी अमूल्य और कहीं भी, किसी भी धर्म या भाषामें न मिलनेवाली अतुलनीय अध्यात्म-सम्पत्ति है। आज हम इससे पराङ्मुख हैं, इसीलिये परमुखापेक्षी, दीन और नाना प्रकारके संकटोंसे ग्रस्त हैं। अपने घरकी इस निधिको सम्हालें और समझ लें तो हमारे सारे दुःख-संकट आज ही दूर हो सकते हैं।

पातंजल महाभाष्य (पस्पशाह्निक) में लिखा है—'ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १००, सामवेदकी १००० और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ हैं। अर्थात् सब मिलाकर चारों वेदोंकी ११३० शाखाएँ हैं।' प्राचीन साहित्यसे यह भी पता चलता है कि जितनी शाखाएँ थीं, उतनी ही संहिताएँ थीं, उतने ही ब्राह्मण और आरण्यक थे, उतने ही कल्पसूत्र और उपनिषदें थीं; परंतु हमारे दुर्भाग्यसे इन दिनों कोई भी विभाग पूरा-का-पूरा नहीं मिलता। प्रत्येक शाखाकी एक विशिष्ट उपनिषद् थी; इसलिये ११३० उपनिषदें उपलब्ध होनी चाहिये। परंतु मिलती हैं १०८, जो उपनिषत्साहित्यकी सारभूत हैं (मुक्तिकोपनिषद् १४४)। मुक्तिकोपनिषद् (प्रथम अध्याय) से यह भी विदित होता है कि '१०८ में १० ऋग्वेदसे, १९ शुक्लयजुर्वेदसे, ३२ कृष्णयजुर्वेदसे, १६ सामवेदसे और ३१ अथर्ववेदसे सम्बन्ध रखती हैं।' हाँ, इनके अतिरिक्त पूनाके डा० बेलवलकरने पहले-पहल बाष्कल्य, छागल्य, आर्षेय और शौनक नामक उपनिषदोंको सानुवाद प्रकाशित किया है। जर्मन भाषाके अनुवादके साथ डायसनने ६० उपनिषदोंको प्रकाशित किया है। इस प्रकाशनके कई संस्करण हो चुके हैं। नारायणस्वामी और ह्यूमने अंग्रेजी-अनुवादके साथ ३०-३० उपनिषदोंको छापा है। इसी तरह कहीं १०८, कही ३८, कहीं २८, कहीं ११ और कहीं ९ उपनिषदें इकट्ठी छापी गयी हैं। शाहजहाँके बड़े बेटे दाराशिकोहने भी फारसी-अनुवादके साथ कई दर्जन उपनिषदोंको छपाया था। इधर अड्यार (मद्रास) की थियासाफिकल सोसाइटीने तो लगभग २०० उपनिषदें छापी हैं।

'उप' और 'नि' उपसर्गोंवाले 'सद्' धातुसे 'क्विप्' प्रत्यय करनेपर 'उपनिषद्' शब्द बनता है। इसका तात्त्विक अर्थ ब्रह्मविद्या है। प्रायः इसी अर्थमें यह शब्द रूढ़ है। काठकोपनिषद्के उपोद्घातमें श्रीशंकराचार्यने लिखा है कि 'जिससे मुमुक्षुओंकी संसार-बीज भूत अविद्या नष्ट होती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्मप्राप्ति करा देती है और जिससे दुःखोंका सर्वथा शिथिलीकरण हो जाता है, वही अध्यात्मविद्या उपनिषद् है।' इसका मुख्य अर्थ तो ब्रह्मविद्या ही है, गौण अर्थ ब्रह्मविद्या-प्रतिपादक ग्रन्थविशेष है। परंतु कुछ उपनिषदें योग-स्वरूपके विचारसे परिपूर्ण हैं और कुछमें विष्णु, शिव और शक्तिकी उपासनाएँ भी भरी पड़ी हैं।

उपनिषदों, श्रीमद्भगवद्गीता और व्यासकृत वेदान्त-सूत्रोंका नाम आचार्योंने 'प्रस्थानत्रयी' रखा है। प्रस्थानत्रयी ही हिंदू-धर्म और हिंदू-दर्शनकी विशेष आधारशिला है; परंतु गीता और ब्रह्मसूत्रका मूल-स्रोत उपनिषदें हैं, इसीलिये संस्कृत-साहित्यमें सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपनिषदें मानी जाती हैं। जिस सम्प्रदायकी भाष्य-टीकाएँ उपनिषदोंपर नहीं हैं, वह नगण्य माना जाता है। इसीलिये प्रायः सभी सम्प्रदायोंने उपनिषदोंपर टीकाएँ लिखी हैं।

वेदोंके जो मन्त्र और ब्राह्मण नामके दो भाग हैं, उनमेंसे ब्राह्मणभागमें मन्त्रोंका अर्थ-निर्णय किया गया है, याज्ञिक अनुष्ठानोंके विस्तृत विवरण दिये गये हैं और नाना उपाख्यान कहे गये हैं। तपोधन ब्राह्मणोंने ब्राह्मण-भागका संकलन और संस्मरण किया है; इसीलिये इस भागका नाम 'ब्राह्मण' या 'ब्राह्मण-ग्रन्थ' है। ब्रह्मका एक अर्थ यज्ञ भी है; इसलिये यज्ञप्रतिपादक होनेके कारण भी इसका नाम 'ब्राह्मण' पड़ा। जिन ऋषिने, जिनके वंशने या जिनके शिष्योंने जिस ब्राह्मण-ग्रन्थका उपदेश दिया है, उन्हींके नामपर प्रायः उस ग्रन्थका नामकरण भी हुआ है। ब्राह्मणोंके जो अंश अरण्य या विपिनमें पठित और उपदिष्ट हैं, उनका नाम 'आरण्यक' है और इन ब्राह्मणों या आरण्यकोंके जो भाग गहन-गम्भीर हैं और सूक्ष्म मनन-चिन्तनसे परिपूर्ण हैं, उनका नाम 'उपनिषद्' है।

स्थान-संकोचके कारण यहाँ उन्हीं बारह उपनिषदोंका अत्यन्त संक्षिप्त परिचय लिखा जायगा, जिनपर श्रीशंकराचार्यजीने भाष्य लिखा है। इन बारहों उपनिषदोंको वेदान्तसूत्रके शारीरिक-भाष्यमें शंकराचार्यने वेद कहकर

बार-बार पुकारा है। अन्य छः उपनिषदोंका भी शंकराचार्यने उल्लेख किया है, परंतु उनपर भाष्य नहीं लिखा है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक सबसे बड़ी उपनिषदें हैं। कुछ गद्यमें हैं, कुछ पद्यमें और कुछ उपनिषदें गद्य-पद्यात्मक भी हैं। ऋषियोंके आध्यात्मिक अनुभव सूत्ररूपसे उपनिषदोंमें ग्रथित हैं; इसलिये उपदेशोंमें कहीं-कहीं सामंजस्यका अभाव होना स्वाभाविक है। तो भी उपदेशोंकी महानतामें कोई कमी नहीं आती।

ऋग्वेदका जो कौषीतकि या शाङ्खायन आरण्यक इस समय उपलब्ध है और जिसे ए० बी० कीथने अंग्रेजीमें भी अनूदित और सम्पादित कर प्रकाशित किया है; उसमें पंद्रह अध्याय पाये जाते हैं। इसी आरण्यकके तीसरेसे छठे अध्यायोंका नाम 'कौषीतकि-उपनिषद्' है। इस उपनिषद्के प्रथम अध्यायमें चित्र गार्ग्यायणि नामके क्षत्रिय राजाने उद्दालक आरुणि नामके विद्वान् ब्राह्मणको परलोकविषयक उपदेश दिया है। दूसरे अध्यायमें महाप्राण अर्थात् परब्रह्मका और पिता-पुत्रके सस्नेह सम्बन्धका विवरण है। तीसरेमें इन्द्रने काशिराज दिवोदासको प्राण और प्रज्ञाका उपदेश दिया है, चौथेमें काशिराज अजातशत्रुने बालाकि नामके ब्राह्मणको परब्रह्मकी शिक्षा दी है।

ऋग्वेदीय 'ऐतरेय आरण्यक' में पाँच भाग या आरण्यक हैं और सबको प्रसिद्ध वेदज्ञ सत्यव्रत सामश्रमीजीने सायण-भाष्यके साथ प्रकाशित किया है। इनमें द्वितीय आरण्यक अर्थात् स्वतन्त्र द्वितीय भागके चौथेसे छठे अध्यायोंको 'ऐतरेयोपनिषद्' कहा जाता है। इसके प्रथम अध्यायमें संसारकी सृष्टि, दूसरेमें जीवोंके जन्म और तीसरेमें परब्रह्मकी समीक्षा है।

सामवेदकी कौथुमी शाखाका ब्राह्मण चालीस भागोंमें परिपूर्ण हुआ है। इसके पचीसवें भागको पंचविंश या 'ताण्ड्य ब्राह्मण', छब्बीसवेंसे तीसवें भागोंको 'षड्विंश ब्राह्मण', इकतीसवेंसे बत्तीसवें भागको 'मन्त्र ब्राह्मण' और तैंतीसवेंसे चालीसवें भागको 'छान्दोग्योपनिषद्' कहा जाता है। सत्यव्रत सामश्रमी, ए० सी० वेदान्तवागीश, के. क्लेम, एच. एफ्. एलसिंग आदिने इन ब्राह्मणग्रन्थोंको अत्यधिक व्यय करके सम्पादित और प्रकाशित किया है।

छान्दोग्योपनिषद् एक विशाल ग्रन्थ है। इसके पहले और दूसरे भाग या प्रपाठकमें ओंकार, उद्गीथ और सामकी आलोचना है। तीसरेमें परब्रह्मकी विवृति है। इसी भागमें देवकीनन्दन श्रीकृष्णकी भी कथा है। श्रीकृष्ण घोर आंगिरससे धर्मकथा सुनकर भूख-प्यास भूल गये थे। चौथेमें सत्यकाम जाबालकी कथा है। सत्यकामने बाल्यकालकी स्वाभाविक कार्यपरम्पराको ही देखकर परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त किया था। पाँचवेंमें लिखा है—श्वेतकेतु आरुणेय नामके शास्त्रज्ञाता ब्राह्मणने प्रवाहण जैबलि और अश्वपति कैकेय राजाओंसे परमात्माका उपदेश पाया था। इन्हीं श्वेतकेतुने अपने पिता उद्दालक आरुणिसे परब्रह्मका ज्ञान पाया था—यह बात भी छठे भागमें है। सातवेंमें उल्लेख है कि सनत्कुमारसे नारदजीने नाम, वाक्य, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण, आशा, प्राण और परमात्माके सम्बन्धमें उपदेश प्राप्त किया था। आठवें भाग या प्रपाठकमें परब्रह्म और प्रजापतिके सम्बन्धमें अनेकानेक जटिल और निगूढ़ आलोचनाएँ हैं।

सामवेदकी ही तलवकार शाखाकी 'केनोपनिषद्' है। यह इस शाखाका नवम अध्याय है। परंतु यह प्रचलित तलवकारोपनिषद्से भिन्न है। इसके प्रथम और द्वितीय खण्डोंमें परब्रह्मका विवेचन है। तीसरे और चौथेमें लिखा है—देवोंके सामने परमात्मा प्रकट हुए। परंतु देवोंने उन्हें पहचाना नहीं। अनन्तर हैमवती उमाने देवोंसे कहा—'ये ब्रह्म हैं। इन्हींकी शक्तिसे तुम्हें महिमा मिली है।' इस कथाके व्याजसे यह बताया गया है कि वायु, अग्नि आदि प्राकृत शक्तियाँ परमात्मशक्तिका ही विकासमात्र हैं।

कृष्णयजुर्वेदका 'तैत्तिरीय आरण्यक' दस प्रपाठकोंमें विभक्त है। इनमें सातवें, आठवें और नवें प्रपाठकोंको 'तैत्तिरीयोपनिषद्' कहा जाता है। प्रथम प्रपाठक या वल्लीमें ओंकार तथा 'भूः, भुवः, स्वः' शब्दोंका प्रकृत अर्थ बताया गया है और धर्मानुष्ठानका पवित्र सदुपदेश किया गया है। दूसरी वल्लीमें परब्रह्मका समीक्षण किया गया है। तीसरीमें वरुणने अपने पुत्रको परमात्माका उपदेश किया है। कृष्णयजुर्वेदकी ही काठक-संहिताकी 'कठोपनिषद्' है। इसमें छः वल्लियाँ हैं। इसीमें नचिकेताकी प्रसिद्ध कथा है। नचिकेताने मृत्युके मन्दिरमें जाकर मृत्युसे ही परमात्माकी शिक्षा ली है। यहाँ परमात्मा और जीवात्माके विषयमें बहुत ही सुन्दर उपदेश है। इसी वेदकी 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' है, जिसमें सांख्य, योग और वेदान्तका रहस्य भरा पड़ा है।

शुक्लयजुर्वेदकी वाजसनेयसंहिताके चालीसवें अध्यायको 'ईशावास्योपनिषद्' कहा जाता है। इसमें परमात्मविषयक एक-से-एक अद्‌भुत और अनूठे उपदेश हैं। इस वेदकी जो वाजसनेय (माध्यन्दिन) और काण्व नामकी दो संहिताएँ प्रसिद्ध हैं, उन दोनोंके ब्राह्मणोंका नाम 'शतपथब्राह्मण' है। यह सबसे बड़ा ब्राह्मण-ग्रन्थ है और इसे जे० एगलिंग, ए० वेबर (माध्यन्दिन) तथा डब्लू कैलेण्डर (काण्व) ने लाखों रुपये व्यय करके सायणभाष्यके साथ प्रकाशित किया है। माध्यन्दिन शाखाके शतपथब्राह्मणमें चौदह काण्ड हैं और इन काण्डोंमें एक सौ अध्याय हैं। इसीलिये इसका नाम 'शतपथ' रखा गया है। इसके चौदहवें काण्डको आरण्यक कहा जाता है और इस आरण्यकके अन्तिम छः अध्यायोंका नाम 'बृहदारण्यकोपनिषद्' है। इसके पहले अध्यायमें सृष्टि और सृष्टिकर्ताका परिचय दिया गया है। दूसरेमें अजातशत्रुसे गार्ग्य-बालाकिने परमात्मज्ञान प्राप्त किया है। तीसरेमें उल्लेख है—विदेहराज जनकने एक विराट् सभा की, जिसमें कुरु, पांचाल आदि प्रदेशोंके अनेकानेक वेदज्ञाता पधारे। सभामें सबको राजा जनकके पुरोहित याज्ञवल्क्यने पराजित करके राजपुरस्कार प्राप्त किया। सभामें गार्गी वाचक्नवी नामकी महाविदुषी महिला भी उपस्थित थीं; परंतु वे भी याज्ञवल्क्यसे परास्त हो गयीं। चौथेमें जनक और याज्ञवल्क्यके बीच परब्रह्मके बारेमें एक-से-एक विकट तर्क-वितर्क देखे जाते हैं। इसी अध्यायमें अपनी पत्नी मैत्रेयीको याज्ञवल्क्यने परमात्माका उपदेश दिया है। पाँचवेंमें ब्रह्म और प्रजापति, वेदत्रय और गायत्रीका वर्णन है। छठेमें कहा गया है—उद्दालक आरुणिने प्रवाहण जैबलि नामक क्षत्रिय राजासे ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त किया और उस ज्ञानसे याज्ञवल्क्यको परिचित कराते हुए उद्दालकने कहा—'सूखे काठको भी यदि ऐसा अमृतमय उपदेश दिया जाय तो उसमें भी टहनियाँ और पत्ते निकल आयें।'

अथर्ववेदकी उपनिषदें तो अगणित बतायी जाती हैं; परंतु तीन अत्यन्त प्राचीन हैं—प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् और माण्डूक्योपनिषद्। प्रश्नोपनिषद्में परमात्मविषयक छः प्रश्न और उनके उत्तर हैं। मुण्डकोपनिषद्में तीन भाग या मुण्डक हैं और सबमें परमात्मरहस्य विवृत हैं। माण्डूक्यमें ब्रह्मकी सर्वव्यापकता प्रतिपादित की गयी है।

यही उन बारह उपनिषदोंका अतीव संक्षिप्त दिग्दर्शन है, जिनपर भगवान् शंकराचार्यने अपना अपूर्व भाष्य लिखा है। इनमें भी सामवेदीय केनोपनिषद्पर आचार्यचरणने दो भाष्य लिखे हैं—एकका नाम पदभाष्य है और दूसरेका नाम वाक्यभाष्य है।

ब्राह्मणों और आरण्यकोंको कर्मकाण्ड कहा जाता है और उपनिषदोंको ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्डकी चर्चा तो इन दिनों नाममात्रकी ही है; क्योंकि इसके आधार जो यज्ञ हैं, वे या तो विलुप्त-से हो गये हैं अथवा रूपान्तर प्राप्त कर चुके हैं; परंतु ज्ञानकाण्डमें कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ है। उपनिषदोंमें जो परमात्मा, आत्मा, सृष्टि, पुनर्जन्म, स्वर्ग, धर्म आदिका विवरण दिया हुआ है, वह आजतक ज्यों-का-त्यों है; बल्कि हिंदूधर्मका आजतक वही आधार माना जाता है। इसीलिये प्रत्येक हिंदू उपनिषदोंके प्रत्येक वाक्यको मन्त्रवत् सुनकर विमुग्ध और आनन्दनिमग्न हो जाता है। उपनिषदोंपर अबतक जितने भाष्य, वृत्तियाँ और टीकाएँ लिखी गयी हैं, कदाचित् ही किसी दूसरे साहित्यपर इतनी हों। शंकराचार्य, आनन्द भट्टोपाध्याय, अनन्ताचार्य, ब्रह्मानन्द, शंकरानन्द, विद्यारण्य, सुरेश्वराचार्य, नारायण, विज्ञानभागवत, आनन्दगिरि, मुनि नित्यानन्द, रंगरामानुज, दिगम्बरानुचर, मध्वाचार्य, जपतीर्थ, व्यासतीर्थ, रघूत्तमस्वामी, ब्रह्मयोगी, नारायणमुनि, भास्करानन्द, अरविन्द घोष, महादेव शास्त्री, श्रीशचन्द्र वसु, भगवद्दत्त, भीमसेन, श्रीधरशास्त्री आदि-आदिकी जो उपनिषदोंपर भाष्य-टीकाएँ हैं, वे इस बातका समर्थन करती हैं। यही नहीं, विदेशी विद्वान् भी उपनिषदोंकी चमत्कारिता, सरलता, सुकुमारता, सुन्दरता, मृदुता और मंजुलतापर मुग्ध तथा आसक्त हैं। ऑटो श्राडर, जी० ए० जेकब, ओर्टल, मैक्समूलर, ऑटो बोट्‌लिंग, हारमन ओल्डेनबर्ग, ई० ह्यूम, राबर्ट जिमरमन, सी० ओ० हास, गोल्डस्टकर, पाल डायसन, आर्थर एवलन, एफ० टी० ब्रुक्स आदि-आदिने अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओंमें उपनिषदोंपर जो टीकाएँ लिखी हैं और उनके अनुवाद किये हैं, उनसे उपनिषदोंकी महिमा और गरिमा सारे संसारमें फैली है। विश्वविख्यात जर्मन विद्वान् शोपेनहारने लिखा है—'सारे संसारमें ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है, जो उपनिषदोंके समान उपयोगी और उन्नतिकी ओर ले जानेवाला हो। वे उच्चतम बुद्धिकी उपज हैं। आगे या पीछे एक दिन ऐसा होना ही है कि यही जनताका धर्म होगा।' मैक्समूलरने लिखा है—'उपनिषदें वेदान्तके आदि स्रोत हैं और ये ऐसे निबन्ध

हैं, जिनमें मुझे मानवीय उच्चभावना अपने उच्चतम शिखरपर पहुँची हुई मालूम पड़ती है।' सचमुच उपनिषदोंका प्रत्येक वचन वह अमर और प्रतापमयी वाणी है, जिसे पढ़कर और जिसके अनुसार आचरणकर कितने ही विद्वान् सिद्ध बन गये, कितने ही पुरुष योगी हो गये, कितने ही जीवन्मुक्त और कितने ही ब्रह्ममें विलीन हो रहे।

उपनिषदें ज्ञानभंडार हैं और इन्हींसे सारे दर्शन, सब शास्त्र, सब तर्क, अखिल युक्तियाँ, समस्त तन्त्र, समूचे पुराण, सम्पूर्ण पदार्थ, विज्ञान और निखिल विद्याएँ निकलकर मानवजातिको आनन्द और शान्तिकी विमल मन्दाकिनीमें बहा रही हैं। इस प्रपंचमय संसारके सारे दुःख-दारिद्र्य, पाप-ताप और दैन्य-हैन्यको मार भगानेके लिये उपनिषदें जादूकी झोली हैं।

उपनिषदें क्रियात्मक विद्या हैं, काल्पनिक नहीं। मनुष्य अपने जीवनमें उपनिषद्-शिक्षाको व्यावहारिक रूपमें लाकर स्वयं निरंजनको प्राप्त कर सकता है और समाजको भी उन्नतिके शिखरपर पहुँचा सकता है। उपनिषदोंके उपदेशके अनुसार मनुष्य कामादि षड्रिपुओंसे दूर रहकर, ब्रह्मचर्यव्रतका पालनकर तथा शम, दम आदि साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न होकर स्वयं आत्मज्योति पा लेता है और दिव्य तेजसे समाज, देश, जातिको भी उद्भासित कर देता है। उपनिषदें बताती हैं कि मनुष्य अमृत-पुत्र है, वह संयमी रहकर बड़ी सरलतासे अमरता प्राप्त कर सकता है और हर एक प्रजाका ऐहिक अभ्युदय और पारलौकिक उन्नयन कर सकता है। कर्मफलका त्याग करके अथवा उसे ईश्वरार्पण करके निष्काम कर्मयोगी और लोकसंग्रही बननेकी शिक्षा उपनिषदोंका प्रत्येक वचन देता है। केवल मीठा-मीठा चिल्लानेसे मुँह मीठा नहीं हो सकता; इसीलिये उपनिषदें कहती हैं—'केवल पुस्तकें रटनेसे या किसीका उपदेश सुन लेनेसे ही आत्मज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये '**श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**' अर्थात् पहले उपदेश सुनो या ग्रन्थ पढ़ो, उसके बाद उसका पूरा मनन करो, एकान्त शान्तिमें उसपर खूब विचार करो और उसके अनन्तर चित्तवृत्तियोंको समेटकर अर्थात् अन्तर्मुख करके, मनको एकाग्र करके बराबर ध्यान धरो; तभी तुम्हें महाज्योति, अखण्ड आनन्द और सनातन शान्तिकी प्राप्ति होगी। इसके सिवा उपनिषदोंका यह भी उपदेश है कि जिस किसीसे उपदेश नहीं लेना चाहिये; पूर्ण संयमी बनकर वेदज्ञाता, ब्रह्मनिष्ठ और तपोधन गुरुसे ही उपदेश लेना चाहिये।

बृहदारण्यक (५।२।१—३) में एक सुन्दर उपाख्यानके द्वारा दान, दम और दयाकी शिक्षा दी गयी है। छान्दोग्य (३।१७।४) ने दान, आर्जव, सत्य और तपको अध्यात्म-मार्गका साधन बताया है। तैत्तिरीय (१।२।१—३) ने गुरु और माता-पिताकी सेवा, स्वाध्याय और धर्माचरणका उपदेश दिया है। छान्दोग्यने एक दूसरे स्थल (४।४।१—५) पर सत्यकी शिक्षाको अनिवार्य बताया है। प्रश्नोपनिषद् (६।१) और मुण्डकोपनिषद् (३।१।६) में भी ये ही बातें हैं। बृहदारण्यकने एक स्थानपर (४।४।२३) ज्ञान-साधनके लिये विवेक और वैराग्यको आवश्यक बताया है। मुण्डक (१।२।१२) ने भी इसका समर्थन किया है। बृहदारण्यक (४।४।५) और छान्दोग्य (८।१६) ने मनुष्यको संकल्प करने और कर्म करनेमें स्वतन्त्र बताया है। मुक्तिकोपनिषद् (२।५।६) ने पुरुषार्थ करनेपर विशेष बल दिया है। कठोपनिषद् (४।११) ने बन्धनका कारण एकत्व-ज्ञानके अभावको बताया है। श्वेताश्वतर (३।८) ने जन्म-मरणके विकट चक्रको पार करनेका उपाय आत्मसाक्षात्कार बताया है। मृत्युके अनन्तर कर्मानुसार मार्ग पानेकी बात भी कही है (बृहदारण्यक ६।२; छान्दोग्य ४।१५; कौषीतकि १।२-३)। बृहदारण्यकका यह भी मत है (४।४-७) कि जिस समय मनुष्यकी सारी वासनाएँ छूट जाती हैं, उस समय इसी लोकमें वह ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। ओंकारके निरन्तर ध्यानसे 'निगूढ़-देव-दर्शन' की बात कही गयी है (श्वेताश्वतर १।१४) तथा आत्मोपलब्धिको 'भूमा' कहा गया है। 'जहाँ न तो दूसरेको देखता है, न दूसरेको सुनता है, न दूसरेको जानता है, वह है भूमा। भूमा ही अमृत है; इसके अतिरिक्त जो है, वह मर्त्य और अनित्य है।' (छान्दोग्य ८।२२)

इस तरह चाहे जिस दृष्टिसे देखिये, उपनिषदोंका प्रत्येक उपदेश अमूल्य और अनुपम है। वे हिंदू-संस्कृतिकी अमूल्य निधि हैं और हिंदूजातिके लिये तो गर्वकी वस्तु हैं ही, असलमें वे मनुष्यजातिके लिये भी गौरवकी वस्तु हैं। उपनिषदोंके उपदेशोंके अनुसार अपनेको बना लीजिये; आपको वह दिव्य और भव्य महाशक्ति प्राप्त हो जायगी, जिसकी मुट्ठीमें समूची प्रकृति आ जाती है। आप सारे सौरमण्डलकी नकेल

पकड़ लेंगे। फिर तो विज्ञान आपको खिलवाड़ जँचेगा, विद्या आपकी विरुदावली बखानेगी और मृत्यु आपकी दासी बन जायगी। आप जिसे देख देंगे, वह देवता बन जायगा; आप जहाँ पैर रख देंगे, वहाँ सोना हो जायगा; आप जिसपर कृपा कर देंगे, वह त्रिलोकध्वंसी भीम हो पड़ेगा। यदि आप उपनिषदोंके ब्रह्मद्रवमें अपनेको विलीन कर सकें, तो पृथ्वी आपका आँगन बन जायगी, आकाश आपका रंगमंच हो जायगा और आपका जीवन संगीतमय हो रहेगा। आपकी प्रत्येक गतिमें रणचण्डीका अट्टहास होगा। आपकी हर एक दृष्टिमें लक्ष्मीका सरस-सुखद आवास होगा; आपकी प्रत्येक कथामें कलाकी कमनीय काकली कूजेगी और आपकी प्रत्येक क्रियामें '**सत्यं शिवं सुन्दरम्**' का मेघमन्द्र निनाद होगा।

चर और अचर, जड और चेतनकी राई-रत्ती कथा कहनेवाली उपनिषदोंके उपदेशमें और तदनुसार आचरणमें जिन्होंने अपनेको डुबा दिया है, उनके उपदेश अमोघ महामन्त्र हैं, वे ब्रह्माण्डभालके तिलक हैं, वे ईश्वरीय दूत हैं। विश्वमें ऐसे महापुरुषोंका अवतरण और संचरण आनन्द और शान्तिकी विमल मन्दाकिनी बहानेके लिये है। ऐसे पुरुष जिधर चलते हैं, उधर ही चन्दनवाही मलयानिल बहता है, उधर ही दीपावली है, उधर ही श्री—सम्पत्ति हाथ जोड़े खड़ी रहती है, उधर ही सौन्दर्य और सौकुमार्यकी नवल-धवल ज्योत्स्ना थिरकती है। इनकी प्रत्येक गति लोककल्याणके लिये है, ये ही जगदुद्धरण और साधुसंरक्षण करते हैं, इन्हींका उद्देश्य कलियुगको सत्ययुगकी ओर ले जाना है।

हिंदू-संस्कृतिका प्राकार!

गर्भवासमें मिलती शिक्षा, होते थे सोलह संस्कार।
बाहर आते ही माता भी सिखलाती थी शौचाचार॥
सदाचारकी सत्-शिक्षा सबको मिलती थी बारंबार।
नित्य-नियमसे होता रहता देवाराधन, धर्माचार॥ १॥

सन्ध्या-तर्पण, नित्य श्राद्धकी वेदध्वनिका मधु गुंजार।
नित्य होम, स्वाध्याय हो रहा, अतिथी-अभ्यागत-सत्कार॥
अर्चा-पूजा प्रेमभावसे, करते सब सात्त्विक आहार।
व्रत-उपवास, कथामृतरसको पीते, करते तत्त्व-विचार॥ २॥

काम्य कर्म ही वे नर करते, होता जिन्हें भोग-सुख-प्यार।
किंतु विचक्षण बुद्धिमान् नर करते कामशून्य आचार॥
सत्य, दया, तप, दान, यज्ञमें रहते थे वे धर्माकार।
ज्ञान, ध्यान, हरि-गुण-गायन ही होता था उनका आधार॥ ३॥

आज्ञा-पालन, पातिव्रत ही उनका था आदर्श विचार।
एकपत्निव्रत थे वे मानव, जिन्हें सुहाता नहिं कुविचार॥
करते सबसे निश्छल, निर्मम, किंतु प्रेमपूरित व्यवहार।
दृढ़ रहकर स्वधर्मपालनमें करते रहते धर्म-प्रचार॥ ४॥

इस प्रकार होते नर-नारी, करते सदा विमल आचार।
अन्तकालमें मरकर जाते देवयानसे शुभ अविकार॥
निर्मल ब्रह्मधामको पाते अनुपम सुख अनन्त आगार।
धार्मिक पुरुषोंका शाश्वत यह हिंदू-संस्कृतिका प्राकार॥ ५॥

—वासुदेव

हिंदू-संस्कृति और पुराण

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

'इतिहास और पुराणोंके द्वारा ही वेदार्थका विस्तार करना चाहिये। जिन्होंने शास्त्रोंका सम्यक् श्रवण नहीं किया है, उनसे वेदोंको भय होता है कि ये हमपर प्रहार (आक्षेप) करेंगे।' आज यही हो रहा है। पाश्चात्त्य विद्वानोंने कहना आरम्भ किया कि वेद तो गड़रियोंके गीत हैं। हमसे एक अच्छे शास्त्रज्ञ विद्वान्ने कहा—'गीता तथा दूसरे शास्त्रोंमें वेदोंका इतना महत्त्व क्यों है, यह मैं नहीं समझ पाता। वेदमन्त्रोंमें जो दर्शनशास्त्र, भाव या विज्ञान है, उससे तो बहुत ऊँची बातें बहुत स्पष्ट ढंगसे महाभारतमें ही हैं।' इस प्रकार श्रुतिपर आक्षेप इसलिये होता है कि हम निरुक्त और व्याकरणके आधारपर मन्त्रोंका अर्थ करने लगते हैं। हम भूल ही जाते हैं कि मन्त्र उन्हें इसीलिये कहा गया कि वे मनन करनेके लिये हैं। उनके देवताके आधारपर उनके पद-प्रत्ययमें मन एकाग्र करनेसे उनके मन्त्रार्थका दर्शन होता है। मन्त्र इसलिये नहीं कि उनका अर्थ किया जाय। इतिहास और पुराणोंमें उन्हीं मन्त्रोंका अर्थ विस्तृत किया गया है; अतएव जिस मन्त्रका अर्थ जानना हो, उसको लेकर या तो मनोनिग्रह करना चाहिये, अथवा उस मन्त्रके ऋषिके ग्रन्थोंमें तथा इतिहास और पुराणमें उस मन्त्रके देवताके सम्बन्धमें जो कुछ वर्णन आया है, उस सबको उस मन्त्रका अर्थ समझना चाहिये। जैसे वेदोंमें इन्द्रके बहुत-से मन्त्र हैं। इन मन्त्रोंके अर्थके सम्बन्धमें पुराणोंमें, स्मृतियोंमें, शास्त्रोंमें इन्द्रका जितना चरित है, सब देखना होगा। जिस मन्त्रके जो ऋषि हैं, उनकी वाणी पुराणादिमें जहाँ है, वहीं इस मन्त्रका अर्थ भी है।

वेदके अध्ययनका अधिकार केवल यज्ञोपवीत-धारियोंको है। स्त्री और शूद्र सस्वर उच्चारणमें असमर्थ होनेके कारण वेदके अधिकारी नहीं हैं। वेद ईश्वरीय ज्ञान है। वह मनुष्यमात्रके लिये सर्वेश्वरकी ओरसे दिया गया है। उससे मनुष्य-जातिके एक बड़े वर्गको वंचित नहीं रहना चाहिये। यदि वेदमें उनका अधिकार नहीं है तो उन्हें ज्ञान कैसे प्राप्त हो? उन्होंने सृष्टिके आदिमें ज्ञान कैसे प्राप्त किया? क्योंकि गुण और कर्मके विभागसे चारों वर्णोंकी रचना अनादि है। भगवान्ने ही इस वर्णाश्रम-धर्मका प्रवर्तन किया है। सृष्टिके प्रारम्भसे वह चला आ रहा है। अतएव सृष्टिके प्रारम्भमें जब मनुष्योंको ईश्वरीय ज्ञान मिला, तब क्या स्त्री और शूद्रोंको भगवान्ने मूर्ख ही छोड़ दिया? ज्ञान स्वयं उत्पन्न नहीं किया जा सकता, वह दूसरेसे सीखा जाता है—यह बात वेदोंके प्रसंगमें बता आये हैं। जो वेदोंके अधिकारी नहीं हैं, उन्हें तो वेद मिले न होंगे। तो क्या जबतक मन्त्रोंका अर्थ-दर्शन करके ऋषियोंने उसे अपनी वाणीमें प्रकट नहीं किया, स्त्री-शूद्र मूर्ख और गूँगे रहे?

बात ऐसी नहीं है। नियम यह है कि जो जैसा अधिकारी होता है, उसे उसी प्रकार समझना पड़ता है। जो मनन कर सकते थे, जो मन्त्रद्रष्टा हो सकते थे, जो सस्वर उच्चारणमें समर्थ थे, उन्हें परमात्माकी ओरसे सम्पूर्ण ज्ञानके सूत्र प्राप्त हुए। ये ईश्वरीय सूत्र ही मन्त्र हैं। इन मन्त्रोंमें ज्ञान परोक्ष है—'**परोक्षवादो वेदोऽयम्।**' इस प्रकार सूत्ररूपसे ज्ञान प्राप्त होनेका कारण यह था कि ज्ञान अनन्त है। उसके सूत्र तो थोड़े ही हो सकते हैं, किंतु उसका अर्थ-विस्तार अपार है। ज्ञानसूत्रोंकी तो सम्यक्-रक्षा सम्भव है, किंतु अर्थ विस्तारकी रक्षा नहीं हो सकती। सृष्टिमें आगे अनेक बार ज्ञानका विस्मरण-स्मरण-चक्र चलेगा, यह सर्वज्ञ प्रभुसे अविदित नहीं था। ऐसी परिस्थितिमें यदि मूल सूत्र रक्षित रहे तो उनके मन्त्रद्रष्टा पुनः हो सकते हैं। अर्थ-विस्तार उन्हीं सूत्रोंसे फिर प्राप्त हो जायगा। ज्ञानका बीज नष्ट न होगा। हुआ भी यही—हम देखते हैं कि गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि 'मैंने यह ज्ञान सूर्यको दिया था। सूर्यसे मनु, इक्ष्वाकुके क्रमसे आगे बढ़कर बहुत दिनोंमें इस ज्ञानका लोप हो गया। अब मैं उसी अनादि ज्ञानका तुम्हें पुनः उपदेश कर रहा हूँ।' इसी प्रकार इतिहास और पुराणोंका पुनः संकलन द्वापरके अन्तमें भगवान् कृष्णद्वैपायन बादरायण व्यासने किया। आज महाभारत और पुराण इसी रूपमें उपलब्ध हैं। अतः जो ज्ञानसूत्रको समझने तथा उसकी रक्षा करनेके अधिकारी थे, उन्हें ईश्वरीय ज्ञान उन सूत्रोंके रूपमें प्राप्त हुआ।

जो ज्ञानसूत्ररूप मन्त्रोंमें मन एकाग्र करके मन्त्र-दर्शनमें समर्थ नहीं थे, जो सस्वर उच्चारण नहीं कर सकते थे, जिनकी बुद्धि परोक्षवाद नहीं ग्रहण कर

सकती थी, उनके लिये वेदार्थ सरल रीतिसे प्रकट हुआ। सृष्टिके आदिमें ही उन्हें इतिहास और पुराणका ज्ञान ब्रह्माजीसे—स्रष्टासे उसी प्रकार ऋषि-परम्परासे प्राप्त हुआ, जिस प्रकार द्विजातियोंको वैदिक ज्ञान। दोनोंमें कोई अन्तर नहीं था। केवल एक सूत्ररूप था और दूसरा भाष्यरूप।

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्या-नान्यस्यैवैतानि निश्वसितानि।

(बृहदारण्यक० २।४।१०)

'जैसे गीले ईंधनमें अग्नि लगानेसे धुआँ निकलता है, उसी प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आंगिरस अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या (धनुर्वेदादि), उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण तथा अर्थवाद—वे इस महद्भूत (परमात्मा) के ही निःश्वास हैं।' इस प्रकार श्रुतिने पुराणादि समस्त शास्त्रोंको अपौरुषेय, अनादि बतलाया है। यह ईश्वरीय ज्ञान ब्रह्माजीको मिला। उनसे—

इतिहासपुराणानि पंचमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥

(श्रीमद्भा० ३।१२।३९)

'इतिहास और पुराणरूप पाँचवें वेदको उन समर्थ, सर्वज्ञ ब्रह्माजीने अपने सभी मुखोंसे प्रकट किया।'

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदा अस्य विनिर्गताः॥

(मत्स्यपुराण)

'समस्त शास्त्रोंमें ब्रह्माजीने सर्वप्रथम पुराणोंका स्मरण—उपदेश किया। पीछे उनके मुखोंसे वेद प्रकट हुए।'

मत्स्यपुराणके इस वचनने स्पष्ट कर दिया कि ज्ञानकी प्राप्ति मनुष्यको ईश्वरकी ओरसे सर्वप्रथम स्पष्ट एवं विस्तृत रूपमें हुई। उस स्पष्ट रूपके सभी अधिकारी थे। पीछे उस ज्ञानके मूलसूत्र, जो सूत्र समझने और उनकी रक्षा करनेमें समर्थ थे, उनको प्राप्त हो गये।

इस प्रकार पुराण भी अनादि ईश्वरीय ज्ञान ही हैं। वेदोंकी भाँति ही पुराणोंकी भी परम्परा प्राप्त होती है और एक ही मूल पुराण अधिकारि-भेदसे शाखा-भेदके रूपमें विस्तृत हुआ, यह भी पुराणोंसे ही ज्ञात होता है। भगवान् व्यासने पुराणोंकी नवीन रचना नहीं की। अवश्य ही उन्होंने सृष्टिके प्रारम्भसे चली आती हुई पुराण-परम्पराको, जो बीचमें अस्त-व्यस्त हो गयी थी, व्यवस्थित किया—अपनी वाणीमें उसे सजाया, अष्टादश पुराणोंका उसे रूप दिया। आज जो पुराण प्राप्त हैं, वे यही द्वापरके अन्तमें भगवान् व्यासद्वारा व्यवस्थित किये पुराण हैं। वैसे हम आगे देखेंगे कि ये पुराण भी कुछ अस्त-व्यस्त हो गये हैं। उनमेंसे कितनोंके बहुत अंश अप्राप्य हैं।

वेदोंको ऋषियोंने घन-जटादि अनेक प्रकारके पाठोंकी व्यवस्था करके ज्यों-का-त्यों बनाये रखा। उनमें एक मात्रातक घटी-बढ़ी नहीं। अतः वेदवाणी अपौरुषेय है। केवल मन्त्रक्रम अर्थ तथा स्मरण-सुविधाके लिये बदला गया और क्रमको अपौरुषेय नहीं माना जाता। पुराणोंके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं रह सकी। वेदार्थ अत्यन्त विस्तृत था। उसे ज्यों-का-त्यों स्मरण रखना सम्भव नहीं था। करोड़ों वर्षोंमें वह अनेक बार विस्मृत हो गया। अनेक बार उसके अनेक अंश अज्ञात हो गये। बार-बार ऋषिगण मन्त्रोंमें मनोनिग्रह करके मन्त्रार्थविस्तारद्वारा उस मूल ज्ञानको प्रकट करते रहे। इसीसे किसी-किसी वेदमन्त्रके पुराने द्रष्टा दूसरे ऋषि थे और अब दूसरे ऋषि माने जाते हैं। द्वापरके अन्तमें भगवान् व्यासने देखा कि अनादि वेदार्थ ऋषियोंकी वाणीमें बहुत विस्तृत और अव्यवस्थित हो गया है। उन्होंने उस सम्पूर्ण ज्ञानका संकलन किया और अठारह पुराणों तथा महाभारतके रूपमें लिखा। पुराणोंमें अनेक स्थल ज्यों-के-त्यों ऋषियोंके, शास्त्रोंके रख लिये गये हैं। इस प्रकार पुराणोंकी रचना भगवान् व्यासकी है; परंतु उनका समस्त वर्णन, पूरे उपदेश तथा घटनाएँ अनादि हैं। इस प्रकार पुराणकी वाणी तो व्यासकृत है; किंतु उनका वर्णन, अनादि अपौरुषेय है, नित्य है।

पुराणोंमें वेदार्थ-विस्तार

वेदोंमें समस्त ज्ञान सूत्ररूपसे है और परोक्ष पद्धतिसे वर्णित है। पुराणोंने उसी ज्ञानको स्पष्ट एवं विस्तृत किया है। पुराणोंमें जो इतिहास-भूगोल तथा प्राणियोंके वर्णन हैं, वे पुराणोंको आधुनिक या किसी कालविशेषकी रचना नहीं बतलाते। भगवान् व्यास

अपने ज्ञात इतिहास-भूगोलको लिखने नहीं बैठे थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह॥

(श्रीमद्भा०)

'स्त्री, शूद्र तथा आचारच्युत द्विजातियोंको भी वेद-श्रवणका अधिकार नहीं है। कर्म-जगत्‌में वे 'कल्याण किसमें है', यह जाननेमें मूढ़—अज्ञ हो रहे हैं। अतएव इससे (महाभारत तथा पुराणोंसे) उनका कल्याण होगा।'

इस प्रकार महाभारत और पुराणोंमें वे वेदके अनधिकारियोंके लिये वही अनादि अपौरुषेय ज्ञान, जो लुप्त तथा बिखरा हुआ था, एकत्र करनेमें प्रवृत्त हुए थे। इसीसे पुराणोंके अर्थके सम्बन्धमें उन्होंने बताया है—

पुराणव्याख्या त्रिधा, आधिभौतिकी आधिदैविकी आध्यात्मिकी च।

पुराणोंकी तीन प्रकारकी व्याख्या होती है, अर्थात् पुराणोंमें एक साथ तीन वर्णन चलते हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। ये तीनों सत्य हैं। वस्तुतः तो आध्यात्मिक नित्य जगत्‌के अनुसार ही आधिदैविक भाव-जगत् है और उसीसे आधिभौतिक स्थूल जगत् व्यक्त हुआ है। तीनों जगत् परस्पर सर्वथा अनुरूप हैं। अतएव कोई एक व्याख्या सत्य होनेपर तीनों ही सत्य होंगी। जो लोग यह कहते हैं कि रामायण एवं महाभारत हृदयमें होनेवाले दैव एवं आसुरभावोंके संघर्षके रूपक हैं, वे भौतिक जगत्‌की घटनाएँ नहीं हैं, वे यह नहीं समझते कि अन्तर्जगत् ही स्थूल जगत्‌में व्यक्त होता है। अतएव जो अन्तर्जगत्‌का सच्चा रूपक है, उसकी घटनाएँ ठीक ऐतिहासिक ही होंगी। जो स्थूल जगत्‌की सत्य घटनाओंको छोड़कर रूपक बनाने चलेगा, वह अन्तर्जगत्‌का ठीक वर्णन कर नहीं सकता। क्योंकि अन्तर्जगत् स्थूल जगत्‌से कहीं वैसादृश्य—असमानता नहीं रखता।

वेदोंमें इतिहास है, भूगोल है, ज्यौतिष है, मनुष्य-समाजका वर्णन है, मनुष्य एवं पशु-जातियाँ हैं। जो कुछ विश्वमें हो गया, हो रहा है या होनेवाला है, वह वेदोंमें है। सभी घटनादिके मूलरूप श्रुतिमें न हों तो उसमें पूर्ण ज्ञान है, यह कहा न जा सके। नित्य इतिहास वेदमें है और नित्य भूगोलादि भी—इतिहास और भूगोलादिका वह नित्य अंश जो प्रत्येक सृष्टिमें आवृत्ति करता है। पुराणोंने वेदोंके उसी रेखाचित्रमें रंग भरकर उसकी आकृतिको स्पष्ट किया है। जैसे वेदोंमें अपरिवर्तनीय इतिहास है। पुराणोंने कल्पभेदसे उनमें जो परिवर्तन होते हैं, उनको भी स्पष्ट कर दिया है। यही दशा भूगोलादिकी है।

उदाहरणार्थ—वेदोंमें देवासुर-संग्राम, श्रीरामचरित, श्रीकृष्णचरित एवं यदु-दुष्यंत आदिका बहुत-सा वर्णन है। यह सब वर्णन वहाँ विस्तृत नहीं है। चरितोंका केवल उतना अंश है, जितना प्रत्येक कल्पमें समान रहता है। पुराणोंमें, इतिहासमें तथा दूसरे शास्त्रोंमें ये चरित अनेक प्रकारसे वर्णित हैं। एक ग्रन्थ एक या एकाधिक कल्पकी बात कहता है। इस प्रकार चरितोंका अन्तर कल्पभेदसे होता है। रामावतार तो प्रत्येक त्रेतामें होगा, लेकिन चरितमें कुछ अन्तर पड़ेगा। यह अन्तर पुराणादि शास्त्रोंमें वर्णित है। एक प्रलयके पश्चात् फिर दूसरा कल्प आता है। उसमें वही चरित अधिकांश ज्यों-के-त्यों होते हैं। अतएव उस कल्पका पुराण भी वही होता है, जो आज है। इस प्रकार पुराण भी नित्य ज्ञान हैं।

पुराणोंका स्वरूप

पुराण अठारह माने जाते हैं। ये महापुराण हैं। इनके अतिरिक्त अठारह उपपुराण भी हैं। किसी कल्पमें कोई पुराण महापुराण समझा जाता था और किसीमें वह उपपुराण माना गया। इस कारण पुराणोंमें महापुराण और उपपुराणोंका निर्णय करनेमें भेद पड़ता है। श्रीमद्भागवतके अनुसार अठारह पुराण अपनी श्लोक-संख्याके अनुसार निम्न हैं—

१ **ब्रह्मपुराण**—दस हजार श्लोक।
२ **पद्मपुराण**—पचपन " "
३ **विष्णुपुराण**—तेईस " "
४ **शिवपुराण**—चौबीस " "
५ **श्रीमद्भागवत**—अठारह " "
६ **नारदीयपुराण**—पच्चीस " "
७ **मार्कण्डेयपुराण**—नौ " "
८ **अग्निपुराण**—पंद्रह हजार चार सौ "
९ **भविष्यपुराण**—चौदह हजार पाँच सौ "
१० **ब्रह्मवैवर्तपुराण**—अठारह हजार "
११ **लिंगपुराण**—ग्यारह " "
१२ **वाराहपुराण**—चौबीस " "

१३ **स्कन्दपुराण**—इक्यासी हजार एक सौ श्लोक
१४ **वामनपुराण**—दस हजार ''
१५ **कूर्मपुराण**—सत्रह '' ''
१६ **मत्स्यपुराण**—चौबीस '' ''
१७ **गरुडपुराण**—उन्नीस '' ''
१८ **ब्रह्माण्डपुराण**—बारह '' ''

इस प्रकार सब पुराणोंको मिलानेसे चार लाख दस हजार श्लोक होते हैं। कल्प-भेदसे इनमेंसे कुछ पुराण उपपुराण माने जाते हैं और निम्न पुराणोंमेंसे कोई उनके स्थानपर महापुराण कहे जाते हैं—

१—देवीभागवत

२—वायुपुराण

इन दो पुराणोंको भी पुराण मान लें तो शेष सत्ताईस उपपुराण प्रसिद्ध हैं। ये पुराणोंके समान ही प्रामाणिक हैं। यह धारणा ठीक नहीं कि ये पुराणोंके पश्चात् रचे गये। इनमेंसे कुछ तो पुराणोंके परिशिष्ट हैं, जैसे हरिवंशपुराण महाभारतका परिशिष्ट है। कुछ उपपुराण पुराणोंके भगवान् व्यासद्वारा संकलित होनेसे पूर्वके हैं। उनके उद्धरण पुराणोंमें हैं और वे उसी प्रकार वेदार्थका विस्तार करते हैं, जिस प्रकार पुराण। इन पुराणोंके नाम हैं—१. सनत्कुमार, २. नरसिंह, ३. बृहन्नारदीय, ४. शिवधर्मोत्तर, ५. दुर्वासस, ६. कापिल, ७. मानव, ८. उशनस्, ९. वारुण, १०. आदित्य, ११. कालिका, १२. साम्ब, १३. नन्दिकेश्वर, १४. सौर, १५. पाराशर, १६. माहेश्वर, १७. वासिष्ठ, १८. भार्गव, १९. आदि, २०. मुद्‌गल, २१. कल्कि, २२. देवी, २३. महाभागवत, २४. बृहद्धर्मोत्तर, २५. परानन्द, २६. पशुपति, २७. हरिवंश। इनके अतिरिक्त पूर्वोक्त महापुराणोंमें जब किसीको उपपुराणोंमें गिनते हैं, तब कूर्मपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, भागवत, देवीभागवत, वायुपुराण—इनमेंसे कोई एक या एकाधिक उपपुराण माने जाते हैं।

पुराणोंके लक्षण करते हुए कहा गया है कि उनमें निम्न दस लक्षण होने चाहिये—

१-सर्ग (सृष्टि-विस्तार);

२-विसर्ग (विशेष सृष्टि—मानस सृष्टि, देवता, कारक-पुरुषादि);

३-स्थान (सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका संनिवेश);

४-पोषण (जीवोंका धर्म, उनके कृत्य—सदाचारादि, जिनसे उनके समाज चलते हैं);

५-ऊति (जीवोंकी कर्मवासना और उनकी स्वर्ग-नरकादि गतियाँ);

६-मन्वन्तराधिपतियोंके चरित, उनका वंशविस्तार;

७-भगवान्‌के अवतार-चरित;

८-निरोध (आत्मसंयमके शम-दम-योगादि मार्ग);

९-मुक्ति (ज्ञानयोग, दर्शनशास्त्र);

१०-आश्रय (भगवान्‌का आश्रय—भक्तिमार्ग);

अथवा

१-सर्ग (सृष्टि-विस्तार);

२-विसर्ग (विशेष सृष्टि);

३-वंश (प्रमुख वंशावली—नित्य इतिहास)।

४-मन्वन्तर।

५-वंशानुचरित।

महापुराणों और उपपुराणोंमें इनमेंसे ऊपरके दस या निम्न पाँच लक्षण होते हैं। वस्तुतः नीचेके पाँचमें ही ऊपरके दसों लक्षणोंका अन्तर्भाव हो जाता है। ये दस लक्षण पुराणोंमें व्यापक होते हैं। ऐसा नहीं कि उनके एक अध्याय या स्कन्धमें एक लक्षणका विस्तार हो। इन दस लक्षणोंके अनुसार पूरा ग्रन्थ होता है। दस लक्षणोंके भीतर सृष्टिका समस्त ज्ञान आ गया, यह स्पष्ट समझा जा सकता है।

पुराणोंका वर्तमान स्वरूप

नारदपुराणमें सभी पुराणोंकी विषय-सूची दी गयी है। उपलब्ध पुराणोंमेंसे भविष्यको छोड़कर शेष पुराण उस सूचीसे मिल जाते हैं। सूचीके अनुसार पुराणोंकी श्लोक-संख्या प्रायः कम पड़ती है। जो पुराण प्राप्त हैं, उनमें सूचीके बहुत-से विषय नहीं मिलते। इससे यही जान पड़ता है कि प्राप्त पुराणोंके बहुत अंश लुप्त हो गये हैं। बँगला 'विश्वकोष' के अनुसार महापुराणोंका परिचय इस प्रकार है—

१. **ब्रह्मपुराण**—इस पुराणकी जो प्रति बंबईसे छपी है, उसकी अपेक्षा विश्वकोषमें दी हुई सूची अधूरी है। इस पुराणमें २४५ अध्याय हैं। किन्हीं पुराणोंके मतसे इसमें १३,००० श्लोक होने चाहिये। यह वैष्णव पुराण है।

२. **पद्मपुराण**—प्राप्त पद्मपुराणमें चार खण्ड हैं—सृष्टि-खण्ड, भूमिखण्ड, पातालखण्ड और उत्तरखण्ड। इस पुराणके दो संस्करण प्राप्य हैं—गौड़ीय और दाक्षिणात्य। दोनोंकी कथाओंमें कुछ अन्तर है। दोनोंमें

समान अध्याय भी नहीं हैं। प्राप्त पद्मपुराणमें ४८,४५२ श्लोक मिलते हैं। 'स्वर्ग-खण्ड' तथा 'क्रियायोगसार' इसीके भाग बताये जाते हैं। उनको जोड़नेसे छः खण्ड और श्लोक-संख्या ५५,००० हो जाती है। पद्मपुराणसे तीर्थमाहात्म्य, पर्वमाहात्म्यकी बहुत-सी छोटी-छोटी पुस्तकें पृथक् की गयी हैं।

३. विष्णुपुराण—विष्णुपुराणका बहुत-सा भाग लुप्त हो गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा ब्रह्मोत्तरखण्डको, जो इसके अंश कहे जाते हैं, मिलानेसे इसकी श्लोक-संख्या १६,००० होती है। ७,००० श्लोक फिर भी नहीं मिलते। ब्रह्मगुप्तने ब्रह्मोत्तरसिद्धान्तकी रचनामें विष्णुधर्मोत्तरसे ज्यौतिषका अंश लिया था, पर वह अंश अब पुराणमें नहीं मिलता। बहुत-सी छोटी-छोटी पुस्तकें विष्णुपुराणकी अंगभूत बतायी जाती हैं, पर पुराणमें नहीं हैं। सम्भव है वे लुप्त अंशके भाग हों।

४. शिवपुराण—कुछ लोग शिवपुराण और वायुपुराणको एक ही बतलाते हैं; पर वायुपुराणसे भिन्न शिवपुराण उपलब्ध है और उसमें श्लोक-संख्या भी पूरी है। यह प्रति बंबईमें छपी है।

५. श्रीमद्भागवत—श्रीमद्भागवतकी प्राप्त प्रतियाँ श्रीधरी टीकाके अनुसार प्रमाण मानकर छपी हैं। श्रीधरजीकी टीका जिन श्लोकोंपर है, उनकी संख्या अठारह हजार नहीं है। 'विजयध्वज' की टीकामें जो अध्याय और श्लोक भागवतके बताये गये हैं, वे जोड़ देनेपर श्लोक-संख्या पूर्ण हो जाती है।

६. नारदीयपुराण—इस पुराणकी प्राप्त प्रतिमें १८,११० श्लोक मिलते हैं। शेष ६,८९० श्लोक लुप्त हो गये जान पड़ते हैं। बृहन्नारदीयपुराण उपपुराणोंमें है। नारदीय पुराणके लक्षण प्राप्त पुराणमें मिलते हैं।

७. मार्कण्डेयपुराण—इसमें नौ हजार श्लोक होने चाहिये, पर प्राप्त प्रतिमें केवल ६,९०० श्लोक हैं। बाकी सब बातें नारदपुराणकी सूचीसे मिलती हैं। कुछ चरित नारदसूचीके नहीं हैं। वही अंश लुप्त होंगे।

८. अग्निपुराण—यह पुराण विद्याओंका विश्वकोष है। इसमें कौमारव्याकरण बड़ा सुन्दर संस्कृत-व्याकरण है। वैद्यक, ज्यौतिष, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, स्थापत्यकला, साहित्य, दर्शन—सभी इसमें हैं और यह यथावत् प्राप्य है।

९. भविष्यपुराण—भविष्यपुराणकी चार स्थानोंसे प्रकाशित चार प्रतियाँ उपलब्ध हैं। नारदपुराणमें जो विषयसूची है, उससे कहींकी प्रति पूर्णतः नहीं मिलती। इनमेंसे एक प्रति तो नारदपुराणकी सूचीसे सर्वथा भिन्न है। शेष तीनके भिन्न-भिन्न अंश उस सूचीसे मिलते हैं। यदि नारदपुराणकी सूचीसे मिलनेवाले अंश एकत्र किये जायँ तो कदाचित् इस पुराणका कुछ व्यवस्थितरूप उपलब्ध हो। इस पुराणमें नवीन रचना खूब मिलायी गयी जान पड़ती है।

१०. ब्रह्मवैवर्त—यह पुराण नारदीय पुराणके अनुसार ठीक रूपमें उपलब्ध है; पर सावर्णि-नारद-संवाद, ब्रह्मा-वाराह-संवाद एवं ब्रह्मके विवर्तादिकी कथाएँ इसमें नहीं हैं।

११. लिंगपुराण—नवलकिशोर प्रेसकी पुस्तक नारदपुराणकी सूचीसे ठीक मिलती है; किंतु इसमें इस पुराणको ईशान-कल्पका बताया गया है और नारदपुराणके अनुसार इसे अग्निकल्पका होना चाहिये। हलायुधने 'ब्राह्मणसर्वस्व' में बृहत्-लिंगपुराणका उद्धरण दिया है; पर वह ग्रन्थ प्राप्य नहीं है।

१२. वाराहपुराण—यह पुस्तक अधूरी छपी है। इसमें केवल २१८ अध्याय हैं। इनमें दस हजारसे कुछ अधिक श्लोक हैं। प्रकाशकने स्वीकार किया है कि उसे ग्रन्थ अधूरा मिला है। एशियाटिक सोसायटीकी प्रतिमें भी इतने ही श्लोक हैं।

१३. स्कन्दपुराण—इस पुराणमें भारतके प्रायः सभी तीर्थोंका माहात्म्य है। इसकी श्लोक-संख्या अधिक है; परंतु इसका कारण कदाचित् ग्रन्थके संकलनमें हुई आधुनिक भूलें हैं। क्योंकि अनेक स्थल दो बार छपे हैं। इन पुनरुक्तियोंको निकाल देनेपर श्लोक-संख्या ८१,१०० हो जाती है।

१४. वामनपुराण—यह पुराण नारदपुराणमें दी हुई विषय-सूचीसे मिलते हुए रूपमें उपलब्ध है। कुछ श्लोक कम हैं।

१५. कूर्मपुराण—नारदादि पुराणोंमें इसकी श्लोक-संख्या सत्रह हजार बतायी गयी है, पर प्राप्त प्रतियोंमें छः हजारके लगभग श्लोक हैं। डामर, यामल आदि तन्त्रोंमें कुछ भाग इस पुराणके मिले हो सकते हैं; क्योंकि नारदपुराणकी सूचीसे तन्त्रोंके वे भाग ठीक-ठीक मिलते हैं।

१६. मत्स्यपुराण—यह पुराण अपने प्राचीन

रूपमें उपलब्ध है, ऐसा प्रायः सभी अन्वेषक मानते हैं।

१७. गरुडपुराण—गरुडपुराणकी पूर्ण पुस्तक उपलब्ध नहीं है। बँगला विश्वकोषकारको भी जो ग्रन्थ मिला था, उसमें सात हजार श्लोक कम थे। वर्तमान ग्रन्थ तो एक खण्डमात्र है। इस पुराणका प्रेतखण्ड बहुत प्रचलित है।

१८. ब्रह्माण्डपुराण—इस पुराणकी उपलब्ध प्रतिमें अध्यात्मरामायण तथा ललितोपाख्यान, जो इसीके अंश कहे जाते हैं, मिला देनेसे श्लोक-संख्या पूरी हो जाती है।

इस विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश पुराणोंके कुछ अंश ही लुप्त हुए हैं। एक भविष्यपुराण ही ऐसा है, जिसकी प्रामाणिकतामें सन्देह हो सकता है। इसमें बहुत कुछ बढ़ाया गया जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त शेष सब पुराण नारदपुराणकी विषय-सूचीसे प्रायः मिलते हैं। अतः पुराणोंके वर्तमान प्राप्त रूप प्रामाणिक हैं, इसमें सन्देह नहीं रह जाता।

पुराणोंमें वर्णन-भेदके कारण

अथर्ववेदमें आया है—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

(११।४।२४)

छान्दोग्य उपनिषद्का मन्त्र है—

स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेद-माथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्।

(७।१।१-२)

इस प्रकार अनादि अपौरुषेय श्रुतिमें पंचम वेद कहकर जिस इतिहास-पुराणकी चर्चा की गयी है, वह अनादि एवं अपौरुषेय ही होगा। उस ईश्वरीय ज्ञानका एक ही रूप होना चाहिये। पुराणोंमें एक ही कथा बार-बार आती है। किसी पुराणमें ब्रह्माजीको, किसीमें शक्तिको, किसीमें शिवको, किसीमें विष्णुको सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि माना है। यह भेद अपौरुषेय ज्ञानमें क्यों होना चाहिये?

गृह्यसूत्र, मनुस्मृति, महाभारत तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थोंको देखनेसे पता लगता है कि पुराण कभी एक ग्रन्थ नहीं थे। इनमें सदा बहुवचनमें पुराणोंका वर्णन है। अतः पुराण अनेक सदासे थे। वर्तमान पुराणोंमें कल्पभेदसे इतिहासादिमें जो अन्तर पड़ता है, उसका स्पष्टीकरण हुआ है। किन्हीं दो पुराणोंमें प्रायः एक कल्पकी कथा नहीं है। पुराणोंमें भिन्न-भिन्न कल्पोंके चरित्र हैं। प्रत्येक कल्पकी सृष्टि किसी एक ही नित्यलोकके सान्निध्यसे नहीं होती। किसी कल्पमें किसी नित्यलोकसे सृष्टि-प्रवाह चलता है और किसीमें कहींसे। जिस कल्पमें जिस नित्यलोकसे सृष्टिप्रवाह प्राप्त होता है, उस कल्पमें उस लोकके अधिष्ठाताकी प्रधानता होती है। उस कल्पका वर्णन करनेवाला पुराण उसी अधिष्ठाताकी प्रधानताका स्वभावतः वर्णन करेगा। इस प्रकार आदिमें भी जो पुराण रहे होंगे, उनमें इसी प्रकार कल्पभेदोंके चरित तथा अधिष्ठाताओंका वर्णन होगा। भगवान् व्यासने पुराणोंकी संख्या और उनके वर्णन अपनी ओरसे नहीं बदले। बदलना सम्भव भी नहीं है। क्योंकि जिस वेदार्थको स्पष्ट करनेके लिये अपौरुषेय पुराण थे, उन्हें बदला कैसे जा सकता है। सच्चा इतिहास कोई अपने शब्दोंमें भले लिख दे, पर उसमें बदलनेको क्या होता है।

वेदोंमें सभी अधिकारियोंके लिये साधन हैं। मनुष्यमात्रको उसके अनुरूप आध्यात्मिक मार्ग प्राप्त होना चाहिये। सबके स्वभाव एक-से नहीं हो सकते। अतएव सबके अधिकार भी एक-से नहीं हो सकते। ईश्वरीय ज्ञानमें किसीके लिये साधन न हो, यह शक्य नहीं। पुराणोंमें वेदार्थ-विस्तार होनेसे उन साधननिष्ठाओंका परिपाक हुआ है। कोई पुराण शैव निष्ठाका, कोई वैष्णव निष्ठाका, कोई सौर, कोई शाक्त, कोई ब्राह्म तथा कोई गाणपत्य निष्ठाका परिपाक करता है। जिस पुराणमें जिस कल्पका वर्णन है, उसमें उस कल्पकी सृष्टि जिस दिव्य लोकसे उद्भूत हुई है, उसके अधिष्ठाताकी प्रधानता तथा उनकी उपासनाका समर्थन, पोषण, वर्णन है। ये सभी अधिष्ठाता एक ही भगवान्की विभिन्न लीला-अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार पुराणोंमें न तो पुनरुक्ति हुई है और न उनकी यह संख्या तथा आकार मूल ईश्वरीय अपौरुषेय रूपसे भिन्न ही है।

पुराणोंकी उपासना-पद्धति

पुराणोंका मुख्य विषय अवतारवाद तथा देवोपासना है। वेदोंके समस्त मन्त्रोंका यज्ञमें विनियोग होना चाहिये, यह श्रुतिका मत है। यज्ञका अर्थ उपासना ही होता है। यज्ञमें देवाराधन ही किया जाता है। पुराणोंमें वेदोंकी उपासना, जो वहाँ परोक्षरूपसे वर्णित थी, विस्तृत एवं स्पष्ट हुई है। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक,

तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, छान्दोग्योपनिषद्—इन सबमें अवतारोंके पूरे चरित आ जाते हैं। ब्राह्मणादि भागोंको छोड़ दें, तो भी मूल-संहिताओंमें सभी अवतार-चरित हैं। उदाहरणके लिये श्रीकृष्ण-चरितको ले लीजिये—

'स्तोत्रं राधानां पते' (ऋग्वेद १। ३०। ५)

'त्वं नृचक्षा वृषभानु पूर्वीः कृष्णास्वग्ने अरुषो वि भाहि।' (ऋग्वेद ३। १५। ३)

'गवामप व्रजं वृधि' (ऋग्वेद १। १०। ७)

आधुनिक अन्वेषक कहते हैं कि श्रीकृष्ण-चरितमें श्रीराधाकी कल्पना जयदेवने की। श्रीमद्‌भागवतमें यह नाम न देखकर उन्हें यह भ्रम होता है; पर भागवतकारने व्रजकी किसी गोपीका नाम नहीं दिया। मूल-संहितामें श्रीराधाजीका नाम तो है ही, उनके पिता वृषभानुजीका नाम भी है; व्रजका वर्णन भी है। इस प्रकार दूसरे अवतार-चरित भी हैं।

पुराणोंमें शिव, शक्ति, गणेश, विष्णु और सूर्यकी उपासनाओंका विस्तृत वर्णन है। वेदोंमें पुरुषसूक्त तथा रुद्राष्टाध्यायी प्रसिद्ध अंश है। इनके अतिरिक्त भी इन भगवद्विग्रहोंके नाम, रूप तथा लीलाओंका वर्णन है। पुराणोंमें सूर्य, अग्नि, वायु—इन वैदिक देवताओंके पुराण ही हैं। ऐसे एक भी देवताका वर्णन पुराणोंमें नहीं है, जिसका नाम मूल-संहितामें न हो।

वैदिक अवतारचरित तथा देववर्णन उसी प्रकार पुराणोंमें स्पष्ट हुआ है, जैसे वैदिक इतिहास स्पष्ट हुआ है। अतएव वेदोंके चरितोंसे पुराणोंके चरितोंमें कुछ भिन्नता प्रतीत हो सकती है। वेदोंमें नित्यचरित है, सृष्टिके चरितकी रूपरेखामात्र है। पुराणोंमें एक-एक कल्पके चरित हैं। कल्पभेदसे चरितोंमें बहुत कुछ अन्तर भी पड़ा है।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है। पुराने समयमें जिसकी जो निष्ठा होती थी, वह उसीके अनुरूप पुराणको पढ़ता था और वैसा ही आचरण करता था। दूसरे पुराणोंसे उसे कोई मतलब नहीं था। इसका प्रमाण यह है कि बालिद्वीपमें सब शिवोपासक हैं। वे अबतक ब्रह्माण्डपुराणको ही एकमात्र पुराण जानते हैं। शेष सत्रह पुराणोंका उन्हें पता नहीं है। इस पुराणको वे अत्यन्त गुह्यशास्त्र मानते हैं, आज अधिकार एवं निष्ठामें विपर्यय होनेसे ये विविध भ्रान्त आक्षेप उठते हैं।

पुराणोंके विचित्र वर्णन

पुराणोंका सबसे अद्‌भुत भाग है उनके विचित्र वर्णन—दो, तीन, दस मस्तकोंके मनुष्य, सहस्रतक भुजाएँ, सहस्रतक नेत्र। इस प्रकारकी आकृतियोंके साथ कुम्भकर्ण-जैसी दीर्घाकृतियोंको भी गिन लेना चाहिये। आकृतिके अतिरिक्त रीछ, वानर, नाग आदि जातियाँ और इनके मनुष्योंसे सम्बन्ध—ये ऐसी बातें हैं, जिन्हें आजकलके लोग सत्य नहीं मानते। उनके मतमें ये कल्पनाएँ हैं या रूपक हैं।

पुराणोंके अनुसार द्वापरतक अतिरिक्त हाथ, पैर, नेत्र, सिरोंके लोग होते थे। समाजमें इनकी संख्या सत्ययुगमें बहुत अधिक थी, पीछे बराबर घटती गयी। इतना होनेपर भी महाभारतके पढ़नेसे ज्ञात होता है कि उस समयतक भी समाजमें ऐसी आकृतिका पुरुष होना आश्चर्यकी बात नहीं समझी जाती थी। शिशुपालके जन्मके समय चार हाथ तथा तीन नेत्र थे। बहुत दिनोंतक वह इसी अवस्थामें रहा। माता-पिताको इससे कोई आश्चर्य न हुआ। आज भी विचित्र बच्चोंके उत्पन्न होनेके समाचार आते हैं। बेल्जियमकी एक कब्रके पत्थरपर एक महिलाके एक साथ ३६० बच्चे होनेकी बात तारीखके साथ खुदी है। ऐसे बच्चोंके समाचार भी पत्रोंमें छपते हैं, जो उत्पन्न होते ही बोलने-चलने लगते हैं। प्रकृति अब इतनी विपरीत हो गयी है कि ऐसे बालक जीवित नहीं रहते। प्रकृतिमें कितनी विशेषताएँ हैं, यह मनुष्यकी बुद्धिसे परेकी बात है। शास्त्रोंमें सर्वज्ञ महर्षियोंने जो कुछ कहा है, वह अक्षरशः सत्य है। उसमें न तो रूपक है और न कल्पना ही।

राक्षस, रीक्ष, वानर, नाग जातियोंका जहाँ पुराणोंमें वर्णन आता है, उस अंशका अर्थ आजके विद्वान् करते हैं कि ये मनुष्योंकी जंगली तथा असभ्य जातियाँ थीं; लेकिन पुराणोंके वर्णन बतलाते हैं कि ये सुसभ्य, उन्नत, पठित लोग थे। वाल्मीकीय रामायणमें किष्किन्धाके लिये कहा गया है—

प्राप्ताः स्म ध्वजयन्त्राढ्यां किष्किन्धां वालिनः पुरीम्।

'वालीकी राजधानीमें ध्वजाएँ फहरा रही थीं तथा वह पुरी शतघ्नी आदि यन्त्रोंसे रक्षित थी।' यह और दूसरे वर्णन भी बतलाते हैं कि ये जातियाँ सुपठित, चतुर, बुद्धिमान् थीं।

जहाँ भी पुराणोंमें इन जातियोंका वर्णन है, वहाँ

गान-गोपाल (प्रस्तरमूर्ति, हलेविद)

स्थाणु नरसिंह (कांस्यमूर्ति, मद्रास-संग्रहालय)

योगशयन मूर्ति (हाथीदाँत, त्रिवेन्द्रम्)

[त्रिवाङ्कु कोचीन सरकारके सौजन्यसे

हयग्रीव (प्रस्तर-मूर्ति, नुग्गेहल्ली)
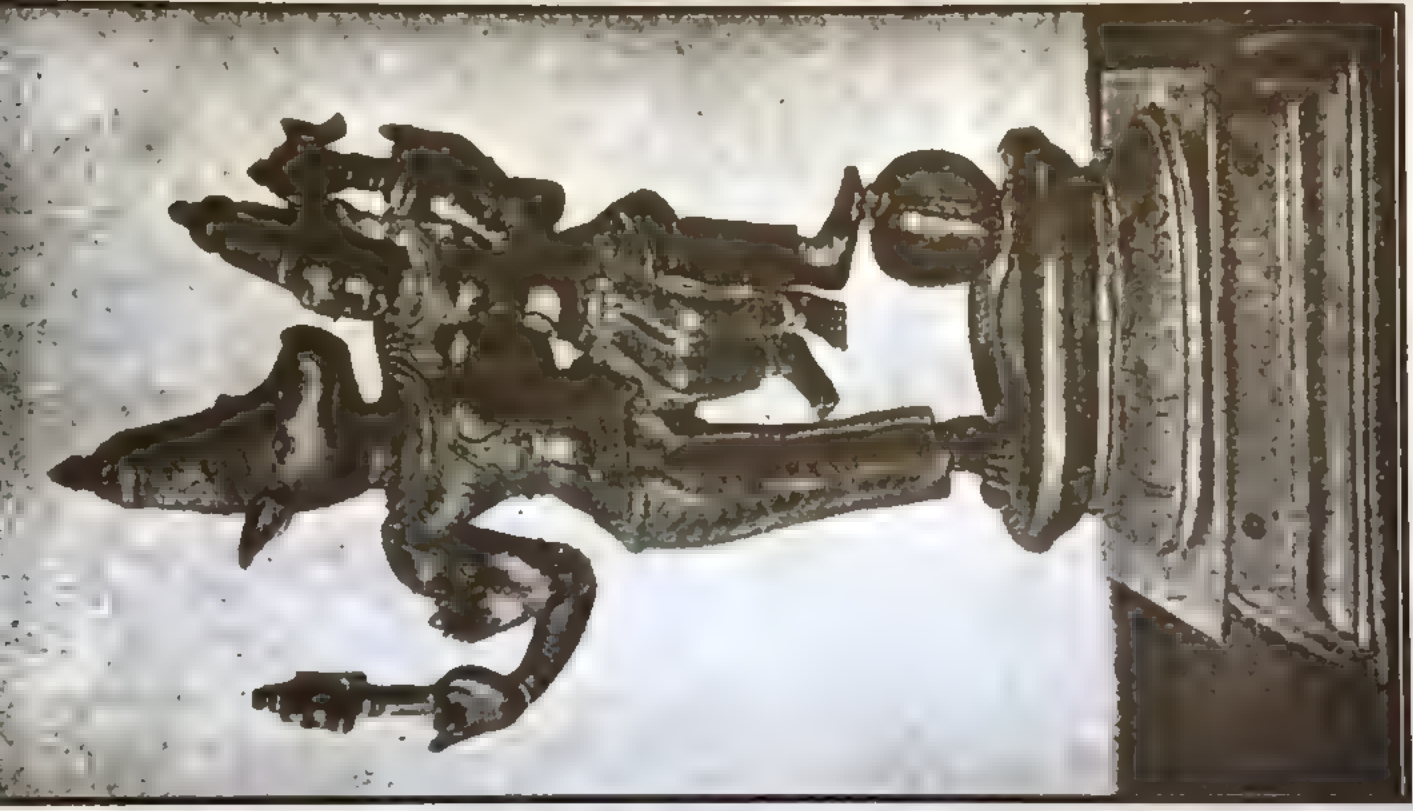
पृथ्वीयुक्त वाराह (कांस्य-मूर्ति, मद्रास)

त्रिविक्रम (प्रस्तरमूर्ति, नुग्गेहल्ली)

[त्रिवाङ्कुर-कोचीन सरकारके सौजन्यसे

ये विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं—

१-ये सब जातियाँ कामरूप थीं अर्थात् इनके लोगोंमें इच्छानुसार रूप धारण करनेकी शक्ति थी।

२-इनकी स्त्रियाँ साधारण मानवी स्त्रियों-जैसी और सुन्दरी थीं तथा इनका मनुष्योंसे वैवाहिक सम्बन्ध होता था। मनुष्योंकी स्त्रियाँ इनके यहाँ और इनकी मनुष्योंके यहाँ ब्याही जाती थीं।

३-इन जातियोंके केवल पुरुष ही रीछ, वानर, सर्प या राक्षसोंके आकारके थे। इन आकारोंमें भी वे वस्त्रादि पहनते थे; पर उनका आचार इन पशुओंका-सा था।

इन बातोंसे यही परिणाम निकलता है कि कुछ ऐसी मानव-जातियाँ थीं, जिनमें पुरुषोंकी आकृति पशुविशेषसे मिलती थी—जैसे वानरोंके पूँछें और नागोंके विषदन्त थे। इन जातियोंके पुरुषोंको उन पशुओंके आचार प्रिय थे और कामरूप होनेके कारण वे प्रायः उन पशुओंके ही आकारमें रहते थे। वैसे वे सुसभ्य मानव थे। कालक्रमसे उन जातियोंमें इच्छानुसार वेष बदलनेकी शक्ति नष्ट हो गयी। मनुष्योंके साथ उनका वैवाहिक सम्बन्ध बढ़ता गया, इससे उनकी आकृतिगत विशेषता भी नष्ट हो गयी। वे पूरे मनुष्य हो गये। द्वापरके अन्तमें इन जातियोंके जाम्बवन्त, द्विविद, उलूपी आदि गिने-चुने व्यक्ति बच गये थे। अब तो केवल उनके वंशज मनुष्य हैं। मध्यप्रान्त तथा दक्षिण भारतमें अनेक जातियोंके गोत्र वानर, रीछ आदि हैं और नागगोत्रीय आसामकी नागा जाति तो प्रसिद्ध ही है।

पुराणोंका इतिहास

आजके विद्वान् बड़ी सरलतासे कह देते हैं कि 'भारतीय लोग ठीक-ठीक इतिहास लिखना नहीं जानते थे। पुराणोंमें प्राप्त इतिहास बहुत अस्त-व्यस्त है।' लेकिन वे नहीं सोचते कि इतिहासमें प्रत्येक मानवके चरितका वर्णन सम्भव नहीं है। आज भी जिन जातियोंके इतिहास प्राप्य हैं, उनमें राजा, राजकुल, प्रसिद्ध विद्वान् तथा मुख्य-मुख्य राजनैतिक पुरुषोंके ही वर्णन हैं। इतिहासका उद्देश्य प्रत्येक घटनाका संग्रह नहीं है। उसका उद्देश्य केवल उन घटनाओंका वर्णन करना है, जो समाज और संस्कृतिको प्रभावित करती हैं। इसके अतिरिक्त जिन जातियोंके इतिहास कुछ ही सौ वर्षोंके हैं, उनके लिये राजाओं, मन्त्रियों, राजनैतिकों, विद्वानोंका पूरा वर्णन रखना सम्भव और स्वाभाविक भी है; परंतु भारतीय सभ्यता तो करोड़ों वर्ष पुरानी है। यहाँका पूरा इतिहास लिखा गया होता तो क्या दशा होती, यह स्वर्गीय प्रोफेसर रामदास गौड़के शब्दोंमें सुनना ठीक है—

'भारतका इतिहास इतना प्राचीन है कि यदि आदिकालसे आजतकका इतिहास वर्तमान होता और अत्यन्त संक्षेपसे लिखा जाता और सौ-सौ बरसके लिये केवल एक पृष्ठ लिखा जाता तो एक करोड़ छानबे लाख छिआसी हजार चार सौ इक्तीस पृष्ठ होते। यदि एक हजार पृष्ठकी एक जिल्द होती तो उन्नीस हजार छः सौ आठ मोटी-मोटी जिल्दें होतीं। यदि एक पृष्ठमें पचीस पंक्ति मान लें और यह भी मान लें कि कोई एक मिनटमें एक पृष्ठ पढ़ लेगा और पाँच घंटे रोज लगातार पढ़ना मान लें तथा यह भी मान लें कि महीनेमें पचीस दिन पढ़ना ही होगा तो पूरे ग्रन्थको पढ़नेमें दो सौ सत्रह वर्ष लगेंगे। इतनी लंबी परम्पराका उस प्रकारका इतिहास होना असम्भव है, जिस तरहकी इन परम्पराहीन राष्ट्रोंकी कल्पना है; और हो भी तो इस युग और संसारके लिये नितान्त निरर्थक है।......घटनाएँ तो प्रकृतिमें एक ही प्रकारकी बार-बार घटती रहती हैं। इतिहास अपनेको बार-बार दोहराता है।......सब प्रकारकी घटनाओंको बारंबार दोहरानेके बदले एक भारी महत्त्वकी घटनाको देकर एक सूत्र (नियम) निर्धारित कर देना पर्याप्त है।'

पुराण, इतिहास आदिमें मुख्य घटनाएँ देकर सूत्र ही निर्धारित हुआ है। इस सूत्रको निश्चित रूपसे स्पष्ट करनेके लिये प्रत्येक कल्पकी विभिन्नताको स्पष्ट करना पड़ा है। यह करनेमें भी पुराणोंमें एक ही प्रकारकी घटनाओंकी पुनरावृत्ति है। यद्यपि यह पुनरावृत्ति उनके भेदको—अन्तरको बतानेके लिये है; फिर भी यदि सम्पूर्ण घटनाका वर्णन होता तो कितनी निरर्थक पुनरावृत्ति होती, यह इनसे समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पुराणों तथा दूसरे शास्त्रोंसे इतिहास प्राप्त करते समय आजके अन्वेषक यह भूल जाते हैं कि सब ग्रन्थोंकी घटनाएँ एक ही कालकी नहीं हैं। सबको एक साथ मिला देनेसे भ्रममें पड़ना ही पड़ेगा। जो घटना जिस कल्पकी है, जो जीवन-गाथा जिस कल्पमें वर्णित है, उसे वहीं रखकर विचार करना चाहिये। एक ही

कल्पके दो ग्रन्थोंके वर्णन तो मिलाकर देखे जा सकते हैं; परंतु विभिन्न कल्पोंकी घटनाओं, चरितों, नियमोंमें सामंजस्य ढूँढ़ना व्यर्थ है। बैलका सींग घोड़ेके सिरपर रखकर संसारमें वैसा पशु ढूँढ़ना जैसे बुद्धिमानी नहीं, वैसा ही यह कार्य भी है।

पुराणोंके इतिहासको देखते समय हमें इतिहास-सम्बन्धी भारतीय परिभाषाको भी ध्यानमें रखना ही चाहिये। आज तो इतिहासका अर्थ है व्यक्तिके जन्म-मरणकी तिथि लिखकर घटनाओंको निश्चित उद्देश्यके रंग-रूपमें उपस्थित करना; निश्चित उद्देश्यके जो चरित समर्थक न हों, वे कितने भी महत्त्वपूर्ण हों, उन्हें छोड़ देना। भारतमें अंग्रेजोंने जो इतिहासके पाठ्य-ग्रन्थ रखे, वे उनके लाभकी दृष्टिसे थे। अब इतिहास 'नये' दृष्टिकोणसे बनाया जा रहा है; किंतु भारतीय 'इतिहास' की निश्चित परिभाषा है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥

(महाभारत)

'धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उपदेशसहित तथा प्राचीन चरितोंसे युक्त ग्रन्थको इतिहास कहा जाता है।'

आर्यादिबहुव्याख्यानं देवर्षिचरिताश्रयम्।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुतधर्मभुक्॥

विष्णुपुराणकी टीकामें श्रीधराचार्यजीने यह श्लोक उद्धृत किया है। इसके अनुसार ऋषियोंद्वारा कहे गये नाना उपदेश, देवता तथा ऋषियोंके चरित तथा अद्भुत धर्म-कथाओंवाला ग्रन्थ इतिहास कहलाता है।

इस परिभाषाको दृष्टिमें रखते हुए यह स्मरण रखना चाहिये कि पुराणोंका इतिहास देवलोक एवं मर्त्यलोकका सम्मिलित इतिहास है। देवलोकादिके सम्बन्धमें विवेचनका यहाँ स्थान नहीं; किंतु इतना जान लेना चाहिये कि जैसे आवागमनके साधनोंने आज यह स्थिति उत्पन्न कर दी है कि किसी महत्त्वपूर्ण घटना या व्यक्तिका इतिहास आज एक देशमें सीमित रहना शक्य नहीं, उसका कोई-न-कोई अंश दूसरे देशोंसे सम्बन्धित हो जाता है और तब वहाँकी भी सम्बन्धित घटना दिये बिना इतिहास पूर्ण नहीं होता। इसी प्रकार सत्ययुगसे द्वापरके अन्ततक मनुष्यका देवलोकसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। देवता यहाँ पधारते थे और मनुष्य देवलोककी सशरीर यात्रा कर आते थे। फलतः इतिहासमें पृथ्वी और देवलोकका मिला-जुला वर्णन है। इस भेदको न समझकर पूरा इतिहास भूमिपरका मानकर जो देवताओंको भी राजा या व्यक्तिविशेष माननेका प्रयत्न करते हैं, वे घटनाओंका समाधान न पाकर उन्हें कल्पित कहने लगते हैं। आज मानव हीनवीर्य, हीनशक्ति, हीनसंकल्प हो गया है। अतः वह देवलोककी स्थितिको ही सोच नहीं पाता; किंतु भारतीय केवल पाँच सहस्र वर्ष पूर्वतक उस दिव्यलोकके प्रत्यक्ष सम्पर्कमें रहे हैं। पुराणोंके इतिहासको यह समझकर ही देखनेसे ठीक तात्पर्य ज्ञात होगा।

एक बात यहाँ और स्मरण रखनेकी है कि भारतीय पौराणिक इतिहास या भूगोलमें वर्णन तो समस्त विश्वका है, परंतु घटना-विस्तारादि केवल भारतवर्षका ही है। दूसरे देशोंमें यहाँके लोग गये, युद्धोंमें वहाँके नरेश सेना लेकर सम्मिलित हुए—यह सब वर्णन है; परंतु घटनाएँ, कुल-परम्परादिका सविस्तार वर्णन केवल भारतका ही है। इसी प्रकार भूगोलके सम्बन्धमें वर्णन पूरे ब्रह्माण्डका है; किंतु विस्तृत वर्णन भारतका ही है। इसके दो कारण हैं। भारतसे ही विश्वमें मानव-समाज और सभ्यताका विस्तार हुआ। अतएव भारतके पूर्ण वर्णनसे सबके वर्णन आ जाते हैं। दूसरा कारण यह कि भारत ही पुण्यभूमि है। लौकिक वर्णन ऋषियोंको अभीष्ट नहीं था। वे केवल पुण्यतीर्थों और पुण्यपुरुषोंका वर्णन ही करना चाहते थे। यह बात केवल भारतमें ही उपलब्ध थी।

इतिहासके सम्बन्धमें पुराणोंकी दीर्घकालीन तपस्याएँ, दीर्घजीवन, दीर्घ आकृतियाँ, विशाल संख्याएँ भी लोगोंको उलझनमें डालती हैं। दीर्घायुके सम्बन्धमें तो कुछ कहना है नहीं। मनुष्य उत्तरोत्तर अल्पजीवी होता जा रहा है। समाचारपत्रोंमें नौ, दस तथा पाँच वर्षकी लड़कियोंके सन्तान होनेकी बातें छप चुकी हैं। आज भी डेढ़ सौ वर्षके व्यक्ति उपलब्ध हैं और तब भी समाजमें साठ-सत्तर वर्ष लंबी आयु मानी जाती है। जब सौ-पचास वर्षोंमें यह स्थिति है, तब लाखों वर्ष पूर्व क्या स्थिति रही होगी—यह श्रद्धापूर्वक अनुमान तो किया जा सकता है; लेकिन ह्रास होता है, यह देखकर भी कुतर्क करनेवालेको सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। आकृतिके सम्बन्धमें भी यही बात है। हम प्रत्येक देशमें देख रहे हैं कि मनुष्य खर्वाकार होते जा रहे हैं। यूरोपमें पुराने

मनुष्योंकी जो खोपड़ियाँ मिली हैं, वे आजके मनुष्यकी खोपड़ीसे लगभग ढाईगुनी बड़ी हैं। कुछ देशोंमें मनुष्यके सुरक्षित शरीर भी मिले हैं। दिल्लीके पास ही एक मानव-खोपड़ी मिली थी, जिसके नेत्रोंके छिद्रोंसे आजके मनुष्यका सिर सरलतासे निकल सकता था। अतः पुरानी दीर्घाकृतियाँ हमारी समझमें भले न आयें, किंतु बुद्धिके बाहरकी नहीं हैं। उनकी सत्यताका अनुमान किया जा सकता है।

संख्याके सम्बन्धमें आजकी यह मान्यता कि मनुष्यकी जनसंख्या पहलेसे बढ़ी है, नितान्त भ्रमपूर्ण है। आज जिसे पृथ्वी कहा जाता है, वह केवल क्षारसमुद्रसे घिरा पृथ्वीका लगभग सौवाँ भाग जम्बूद्वीप है। इसमें भी अफ्रिकाके वन, सहारा और मध्य एशियाके मरुस्थल तथा दक्षिणी ध्रुवप्रदेश किसी समय उन्नत नगरोंसे पूर्ण थे। वहाँ सभ्यताके अवशेष मिल रहे हैं। आज जिन्हें हम महासागर कहते हैं, जिन्होंने पृथ्वीका तीन-चतुर्थांश डुबा दिया है, वे पहले थे ही नहीं। यह सिद्ध हो गया है कि अफ्रिका, आस्ट्रेलिया, अमेरिका और यूरेशिया (यूरोप-एशिया) कभी मिले हुए थे। यह एक ही भूखण्ड था। इनके मध्यमें समुद्र नहीं था। इन सभी समुद्रोंके नीचे जलमग्न पर्वतश्रेणियाँ हैं। कहीं-कहीं नगरोंके ध्वंसावशेष हैं, जैसे जापानके दक्षिण-पूर्व। ये पर्वतश्रेणियाँ, जो जलमग्न हैं, भूमिकी पर्वतश्रेणियोंसे सम्बद्ध हैं। अतः पहले जब यह पूरा जम्बूद्वीप आजकी पृथ्वी तथा सागरके साथ जनपूर्ण था, मनुष्योंकी संख्या बहुत अधिक थी।

पुराणोंका भूगोल

सबसे बड़े आक्षेप हैं पुराणोंके भूगोलवर्णनको लेकर। सात द्वीप, सात सागर, सुमेरु, शेषके मस्तकपर अचलरूपसे स्थित पृथ्वी तथा सूर्यके द्वारा उसकी प्रदक्षिणा—ये सब वर्णन ऐसे हैं, जो नितान्त मिथ्या माने जाते हैं। यह समझा जाता है कि विज्ञानने इन बातोंकी खोज कर ली है और वैज्ञानिकोंके निर्णय ही सत्य हैं। पर सत्य बात तो यह है कि वैज्ञानिक भी अँधेरेमें टटोल रहे हैं अबतक। एक पृथ्वीकी आकृतिको ही लीजिये। पृथ्वीका आकार कैसा है? झटसे कोई भी कह देगा कि नारंगीके समान गोल; लेकिन वैज्ञानिकोंके लिये अब इसका उत्तर बहुत टेढ़ा हो गया है। उनके सामने नीचेकी बातें विकट प्रश्न खड़ा करती हैं—

१-हवाई-जहाज जब बहुत ऊपर उड़ जाता है, तब वहाँसे पृथ्वी उन्नतोदर न दीखकर नतोदर दिखलायी पड़ती है। हवाई जहाजसे शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शकोंद्वारा लिये गये चित्रोंमें भी पृथ्वीका चित्र नतोदर आता है।

२-जैसे समुद्रमें जहाजका मस्तूल (ऊपरी भाग) पहले दिखलायी पड़ता है और शेष भाग क्रमशः दीखता जाता है, वैसी बात सपाट मरुस्थलमें नहीं होती। वहाँ दूरपर आता हुआ ऊँटपर बैठा व्यक्ति धुँधला पर ऊँटके साथ पूरा ही एक साथ दिखलायी पड़ता है। अतः समुद्रमें पानीके कारण प्रकाशकिरणें तिरछी हो जाती हैं, जहाजके क्रमशः दिखलायी पड़नेका यह कारण होना चाहिये।

३-कर्क-रेखापर देशान्तर-रेखाका एक अंश लगभग ४० मीलकी दूरी रखता है और मकर-रेखापर लगभग ७५ मील। आगे यह दूरी देशान्तर-रेखाओंकी घटती नहीं, कुछ बढ़ती ही जाती है।

४-भूमध्य-रेखासे ४० अक्षांश उत्तरपर उषःकाल ९० मिनटका होता है और ४० अक्षांश दक्षिणपर केवल ५ मिनटका।

५-एक चन्द्रग्रहण ३० अगस्त सन् १९०५ को लगा था। यह कनाडा (उत्तरी अमेरिका), साइबेरिया (उत्तरी एशिया) तथा मिस्र (उत्तरी अफ्रिका) से साथ-साथ देखा गया।

६-दक्षिणी अक्षांश ७० पर शेटलैंड द्वीपमें वर्षका बड़े-से-बड़ा दिन १९ घंटे ५३ मिनटका होता है; किंतु उत्तरी अक्षांश ७० पर नार्वेके हेमरफास्ट स्थानपर वर्षका बड़े-से-बड़ा दिन पूरे तीन महीनेका होता है।

७-उत्तरी ध्रुवके यात्री बतलाते हैं कि वायुके दबावके कारण वहाँ ५० सेर भार कठिनतासे उठाया जा सकता है और बंदूकका शब्द २० फुटतक किसी प्रकार सुना जा सकता है; परंतु दक्षिणी ध्रुवमें गये यात्री कहते हैं कि वहाँ २०० सेर भार सरलतासे उठाया जा सकता है और पिस्तौलका शब्द तोपकी गर्जनाकी भाँति गूँजता है।

८-कहा जाता है कि कैप्टेन जे० रोस दक्षिणी ध्रुवमें पर्याप्त भीतरतक गये। उन्होंने लिखा है कि उन्होंने वहाँ एक बर्फकी दीवाल देखी। उसकी चौड़ाई अज्ञात है। उसका ऊपरी भाग पूरा समतल था और उसमें एक भी गड्ढा या दरार नहीं थी। उसके सहारे

पृथ्वीके चारों ओर घूमनेका उन्होंने प्रयत्न किया। वर्तमान नकशोंके अनुसार वहाँ पृथ्वीकी परिधि दस हजार आठ सौ मील होनी चाहिये, परन्तु चालीस हजार मीलकी यात्रा करके भी वे उस हिमभित्तिकी परिक्रमा न कर सके। उन्हें लौटना पड़ा।

९-पृथ्वी भी दूसरे ग्रहोंके समान एक ग्रह है। यह स्पष्ट है कि चन्द्रमाका सदा एक ही भाग पृथ्वीसे दिखायी पड़ता है। लिये हुए चन्द्रमाके चित्र यही बतलाते हैं। यदि चन्द्रमा अपनी धुरीपर चारों ओर घूमता तो उसका दूसरा भाग भी कभी-न-कभी पृथ्वीके सामने आता। इसी प्रकार पृथ्वी भी यदि ग्रह है तो उसका भी एक ही भाग चन्द्रमा या सूर्यके सम्मुख रहना चाहिये। वह धुरीपर घूमनेवाली नहीं हो सकती।

ये तो बड़े-बड़े प्रश्न हैं, जो सबकी समझमें आ सकते हैं। इनके अतिरिक्त नहरोंकी गोलाई, हवाई जहाजकी यात्रापर पृथ्वीकी गति और गोलाईका प्रभाव, ज्वार-भाटा आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले सूक्ष्म गणितके बहुत-से प्रश्न हैं, जो पृथ्वीको गोलाकार सिद्ध नहीं करते। वैज्ञानिकोंका कहना है 'भूमध्यरेखा पृथ्वीकी वास्तविक मध्यरेखा नहीं है। देशान्तर-रेखाएँ उत्तरी ध्रुवकी ओर संकुचित तथा दक्षिणकी ओर फैलती जाती हैं। पृथ्वी केन्द्रकी ओर सिकुड़ी और ऊपर फैली है।' इसका स्पष्ट अर्थ है कि पृथ्वी नतोदर है। वह तश्तरीके समान गहरी है और नीचे केन्द्रमें सिकुड़ी है।

पद्मपुराणके अनुसार पृथ्वीकी आकृति खिले पद्मके समान है। उसकी कर्णिकापर सुमेरु पर्वत है और उसपर ब्रह्माजी हैं। नियम यह है कि जैसा ब्रह्माण्ड, वैसा ही पिण्ड; जैसा सौरमण्डल, वैसे ही परमाणु बनावटमें होते हैं। इस नियमके अनुसार पृथ्वीकी आकृतिके ही सातों द्वीप होने चाहिये। हमारे जम्बूद्वीपकी आकृति भी कमलके समान हुई। नीचे केन्द्रमें संकुचित, ऊपर फैलता नतोदर आकार कमलका होता है। यही बात वैज्ञानिक भी कहते हैं। सातों द्वीप एक दूसरेके ऊपर पँखुड़ियोंके मण्डलकी भाँति हैं। उनके मध्यमें समुद्र हैं। जम्बूद्वीप अपने द्विगुणित विस्तारवाले समुद्रसे घिरा है। यह जम्बूद्वीपको घेरनेवाला क्षार समुद्र अपने द्विगुणित विस्तारवाले द्वीपसे घिरा है। इस प्रकार जम्बूद्वीप क्षार समुद्र, प्लक्षद्वीप इक्षुरससागर, शाल्मली द्वीप सुरासमुद्र, कुशद्वीप घृतसमुद्र, क्रौंचद्वीप क्षीरसमुद्र, शाकद्वीप दधिसमुद्र, पुष्करद्वीप निर्मल जल-सागर—ये क्रमशः एकसे दूसरे दुगुने बड़े हैं और एक दूसरेको घेरे हुए हैं। अन्तिम पुष्करद्वीपको छोड़कर शेष छः द्वीपोंमें सात-सात मुख्य भाग, सात-सात मुख्य पर्वत और सात-सात बड़ी नदियाँ हैं।

भूगोलका यह वर्णन ठीक कमलके समान है। मध्यमें पुष्करद्वीप कर्णिकाकी भाँति है। इसीपर सुमेरु प्रतिष्ठित है। प्रत्येक दल-मण्डलके मध्यमें सागर है। प्रत्येक दल-मण्डलमें सात-सात दल हैं। केवल कर्णिकाका द्वीप एक है। प्रत्येक कमलदलमें सात पर्वत (उनके उन्नत अग्रभागके समान) और सात नदियाँ (उनके दलोंकी मुख्य नाड़िकाके समान) हैं। यह तो मुख्य वर्णन है। इसमें अनेक छोटे पर्वत तथा नदियाँ होंगी। भूमिमें परिवर्तन भी होते रहते हैं। पुराणोंने ऐसे परिवर्तनोंका बहुत स्पष्ट वर्णन नहीं किया है। वहाँ भूगोलवर्णनमें भूमिकी नित्य आकृतिका वर्णन है। किसी द्वीपमें भूमिसम्बन्धी परिवर्तन नहीं होगा, ऐसी बात वहाँ कहीं नहीं कही गयी। इस जम्बूद्वीपमें ही तीन-चौथाई भाग डूब गया और बाहरी क्षारसमुद्र वहाँ फैल गया है, यह हम देखते ही हैं। ऐसी दशामें हम जम्बूद्वीपमें वे ही सात पर्वत और सात नदियाँ कैसे पा सकते हैं। यहाँ तो इतना बड़ा परिवर्तन हो चुका।

अबतक समुद्री या हवाई जहाजसे पृथ्वीके चारों ओर केवल पूर्वसे पश्चिम या पश्चिमसे पूर्वकी ओर ही घूमा जा सका है। यह घूमना ऐसा ही है, जैसे कुएँमें मेढक एक चक्कर लगा लेता है। कमलाकार पृथ्वीके भीतर ऐसा ही चक्कर सम्भव है। गोल पृथ्वी हो तो उसके उत्तरसे दक्षिण भी चक्कर लगाना सम्भव होना चाहिये। यह काम तभी सम्भव हो, जब उत्तरी या दक्षिणी-ध्रुव प्रदेश पार किया जा सके—विशेषतः दक्षिणी-ध्रुव देश। अभीतक कोई ध्रुव-देश पार नहीं किया जा सका और न उसकी सम्भावना ही है। उत्तरी ध्रुवदेशको पार करनेपर कदाचित् इस भूकमलकी कर्णिका मिल सके। दक्षिणी-ध्रुव प्रदेश पार करके हम उत्तरी गोलार्धमें पहुँच जायँगे, यह नितान्त भ्रमपूर्ण कल्पना है। हमें एक अन्धकारपूर्ण क्षार-सागर मिलेगा और यदि किसी प्रकार पृथ्वीसे द्विगुण विस्तारका वह समुद्र पार किया जा सके तो हम प्लक्षद्वीपमें पहुँच सकेंगे।

हम आज जिसे पृथ्वी कहते हैं, यह पृथ्वीका

सौवाँ भाग जम्बूद्वीप है। अबतक हमें इसका भी पूरा पता नहीं है। सहाराके रेगिस्तान, अफ्रिकाके जंगल, हिमालयका पर्वतीय भाग, दोनों ध्रुव-देश, समुद्र—अभी सब अज्ञात हैं। इतनेपर भी हम पौराणिक भूगोलका उपहास करने बैठते हैं। अभी तो ध्रुव-प्रदेशके बाहर वास्तविक क्षारसमुद्र है। ये समुद्र तो यहाँ द्वीपके भागमें भर आये हैं। ऐसी स्थितिमें वैज्ञानिक ज्ञान वैसा ही है, जैसे किसी जंगली ग्रामके पाँच, सात वर्षके बालककी विश्वके सम्बन्धमें धारणा। सुमेरु, क्षीरसागर और पृथ्वीके आधार भगवान् शेषको पानेके लिये अभी मण्डूकबुद्धि मानवको इस कूपसे निकलनेमें बहुत विलम्ब है। अभी तो वह इतना भी कठिनतासे समझ पा रहा है कि वह कमलाकार गहरी भूमिमें ही अबतक चक्कर काटता रहा है और उसीको गोल पृथ्वी कहता रहा है।

स्वर्गीय प्रोफेसर रामदास गौड़का, उन्हींके द्वारा सम्पादित 'विज्ञान' पत्रके फरवरी सन् १९३६ के अंकमें, 'प्राच्य और पाश्चात्त्य खगोल-विस्तार' के सम्बन्धमें एक लेख निकला था। उसमें उन्होंने शेषशय्याके विस्तार तथा पृथ्वीसे उसकी दूरीका अनुमान किया है। यहाँ उसका भाव हम दे रहे हैं—

पुराणोंके अनुसार ब्रह्माजी उत्पन्न होनेपर जिस कमलसे वे उत्पन्न हुए थे, उसके आधारका पता लगानेके लिये उसके नाल-छिद्रमें प्रविष्ट होकर ३६ हजार वर्षतक नीचे चलते गये। जब नाल समाप्त न हुआ, तब हताश होकर लौट आये। मान लीजिये कि ब्रह्माजी एक घंटेमें केवल एक मील ही नीचे उतरे होंगे। इस प्रकार ३१ करोड़ मील जाकर भी वे कमलनालका मूल नहीं पा सके थे। ब्रह्माजी एक घंटेमें कितने मील उतरे, यह अज्ञात है; परंतु उनकी शक्ति, उत्सुकतादिका ध्यान रखना होगा। इस दृष्टिसे सोचनेपर नालकी लंबाईकी संख्या बुद्धिसे बाहर हो जाती है। यदि नालकी लंबाईका शतांश भी कमलकी चौड़ाई हो तो नालकी ऊपर दी हुई कल्पित लंबाईके हिसाबसे ही उसकी चौड़ाई साढ़े आठ हजार मीलसे अधिक होती है। नालकी वास्तविक लंबाईकी कल्पना करनेपर कमलकी चौड़ाई करोड़ों योजन आयेगी। यह भी ध्यान रखनेकी बात है कि ब्रह्माजी उस कमलकी कर्णिकापर ही उत्पन्न हुए थे और उसके नालछिद्रमें प्रविष्ट हो गये थे। इस दृष्टिसे भी कमलका परिमाण बहुत विस्तृत होगा। जिसकी नाभिसे वह कमल निकला, वह तो अपनेमें अनन्त ब्रह्माण्डोंको लय कर लेता है। उसका आकार-विस्तार और उसकी जो शेष-शय्या है, उसका विस्तार यह मानव-बुद्धि सोच नहीं सकती।

नियम यह है कि आकर्षण-शक्तिके कारण छोटा ग्रह बड़े ग्रहकी परिक्रमा करता है। वैज्ञानिकोंने जब जम्बूद्वीपको ही पृथ्वी मान लिया, तब सूर्य उन्हें बहुत बड़ा ज्ञात हुआ। उन्होंने माना कि पृथ्वी सूर्यके चारों ओर घूमती है। यह मान्यता भी उनकी अपनी नहीं है। यह मान्यता उन्होंने भारतीय ज्यौतिषके सौर-सिद्धान्तसे ली है। भारतमें चान्द्र, सौर, बार्हस्पत्य, प्राजापत्य और ब्राह्म ज्यौतिषोंका वर्णन ग्रन्थोंमें आता है। इनमेंसे चान्द्र ज्यौतिष पृथ्वीको स्थिर और सूर्यको चलता हुआ मानता है। सौरसिद्धान्त सूर्यको स्थिर और पृथ्वीको चलती हुई मानता है। बार्हस्पत्यसिद्धान्तमें बृहस्पति स्थिर हैं और शेष सब गतिमान्। प्राजापत्यमें प्रजापति तारा स्थिर और ब्राह्ममें सभी गतिमान् माने जाते हैं। इन सिद्धान्तोंके गणित उत्तरोत्तर जटिल हैं। प्राजापत्य और ब्राह्मसिद्धान्तका तो नाम ही कहीं मिलता है। आइन्स्टीनने सिद्ध कर दिया है कि हम ग्रहोंकी गतिको ठीक नहीं जान सकते। हमारी ग्रह-गतिकी कल्पना अपेक्षाकृत ही रहेगी। जो पृथ्वीपर है, उसे सूर्य गतिशील दीखेगा और जो सूर्यपर है, उसे पृथ्वी। वास्तविक बात सब ग्रहोंसे पृथक् हुए बिना नहीं जानी जा सकती।

ज्यौतिषके सिद्धान्त तो परिणामकी अपेक्षासे बने हैं; किंतु पुराणकार सर्वज्ञ महर्षियोंको सत्यका वर्णन करना था। वे अपनी दिव्यशक्तिसे निरपेक्ष सत्यका साक्षात् करनेमें समर्थ थे। अतएव एक अधूरी भ्रान्तिपूर्ण खोजके आधारपर पुराणोंके किसी नियमको गलत नहीं ठहराया जा सकता, सो भी ऐसी दशामें जब कि उनके दूसरे वर्णन क्रमशः निर्भ्रान्त सत्य सिद्ध होते जा रहे हैं।

आज जब कि मनुष्य-समाजमें ऐसा पुरुष मिलना असम्भव-प्राय हो गया है, जो मनको एकाग्र करके वेदके किसी भी एक मन्त्रका अर्थ-दर्शन कर सके, समाजके लिये वेदार्थ जाननेका एकमात्र साधन पुराण ही रह गये हैं। पुराण दिव्य, अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञानके आकर हैं। वे ही हिंदू-संस्कृतिके प्रेरक, पोषक, आधार तथा भंडार हैं। उनमें न तो विकृति आयी है और न उनकी कोई बात कोरी कल्पना ही है। पुराणोंके वर्णन

जहाँ रूपक हैं, वहाँ उनको स्पष्टरूपसे रूपक बता दिया गया है—जैसे श्रीमद्भागवतका पुरंजनोपाख्यान। शेष वर्णन अक्षरशः सत्य हैं। वे रूपक नहीं हैं।

हिंदू-संस्कृतिमें महर्षियोंने कभी भौतिकताको महत्त्व नहीं दिया। भारतने मनुष्य-जीवनका एकमात्र लक्ष्य अन्तर्मुख होकर आत्मोपलब्धि करना माना। विश्वके दूसरे सब कार्य, सब चेष्टाएँ इसी लक्ष्यको प्रेरणा दें—यह ऋषियोंकी सदा इच्छा रही। प्रत्येक राष्ट्र अपना इतिहास इसी दृष्टिकोणसे लिखता है कि उसका उद्देश्य उससे पुष्ट है। महर्षियोंने भी भूगोल, इतिहास, व्यक्ति, घटना आदिका इसी दृष्टिसे वर्णन किया। जो स्थल, घटनाएँ या व्यक्ति समाजके लिये आध्यात्मिक प्रेरणा देनेमें किसी प्रकार सहायक हो सकते थे, वे चाहे साधारण दृष्टिसे कम महत्त्वपूर्ण हों, उनका वर्णन किया गया; और जो इस लक्ष्यमें प्रेरक नहीं थे, वे चाहे जितने महत्त्वपूर्ण रहे हों, उनकी चर्चा नहीं है। जैसे पुराणोंमें यह कहीं पता नहीं लगता कि जम्बूद्वीपका बड़ा भाग कब, क्यों और कैसे जलमग्न हुआ।

पुराणोंमें अनेक ऋषियों या प्रधान पुरुषोंकी चरित-सम्बन्धी त्रुटियोंके वर्णन हैं। ऐसी त्रुटियोंके करनेका कहीं आदेश तो है नहीं; लेकिन सत्यको छिपाया भी नहीं गया है। इस सम्बन्धमें साधारण दृष्टि और महापुरुषोंकी दृष्टिमें ही अन्तर होता है। महापुरुषोंका दृष्टिकोण होता है कि उनकी त्रुटियाँ प्रकट हो जानेसे समाज सावधान रहेगा। लोग समझ लेंगे कि इतनी उच्च स्थितिमें भी ऐसे विकार आ सकते हैं; वे प्रमाद नहीं करेंगे। पुराणोंमें महर्षियोंने भी इसी दृष्टिकोणसे त्रुटियोंको छिपाया नहीं है।

मनुष्यके मनमें अनन्त शक्ति है। आज मन वीर्यहीन हो गया है। इतनेपर भी मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि दृढ़ संकल्पमें स्थूल पदार्थको प्रभावित, रूपान्तरित तथा आमूल पुनर्निर्मित करनेकी शक्ति है। आरम्भिक युगोंमें मनमें शक्ति थी। संकल्प बलवान् थे। इसी प्रकार प्रकृतिकी स्थूल शक्तियोंका भी अत्यधिक ह्रास हुआ है। उस समय प्रकृतिमें भी अद्भुत अभिव्यंजक शक्ति थी। आज भी अनेक घटनाएँ ऐसी हो जाती हैं, जो तर्कसे सिद्ध नहीं हो पातीं। पूर्णशक्ति प्रकृति और पूर्णशक्ति संकल्पके समयमें विचित्र बातें होती ही रहती थीं। उस समय वे साधारण ही थीं। पुराणोंमें ऐसे वर्णन बहुत हैं। उनको देखकर उछल-कूद मचाना व्यर्थ है। वे सत्य हैं, इसमें सन्देह नहीं।

भारतीय ज्ञान, भारतीय दर्शन, भारतीय कला, भारतीय समाज-व्यवस्था—सबके आधार पुराण हैं। आधुनिक विद्वानोंको भी इनके लिये पुराणोंकी शरण लेनी पड़ती है। ऐसी दशामें उनका पुराणोंपर आक्षेप और उनकी उपेक्षा उपहासास्पद ही है। पुराणोंका आदर, उनकी रक्षा तथा उनके ज्ञानके प्रसारमें ही हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा एवं प्रतिष्ठा है।

हिंदुओंका भाग्य

(रचयिता—श्रीलक्ष्मीनारायण गुप्त 'कमलेश')

गौतम, जाबालि, व्यास, वामदेव, वाल्मीकि,
कपिल, कणाद-से महान ब्रह्मज्ञानी थे।
अर्जुन-से वीर, अम्बरीषके समान भक्त,
हरिश्चन्द्र, कर्णके समान यहाँ दानी थे॥
नारद-से संत, सती सीता-अनुसूया-सम,
सत्य-सदाचार-पूर्ण एक-एक प्रानी थे।
ऐसा था हिंदुओंके भाग्यका अतीत काल,
सुयश यहाँके देवलोककी कहानी थे॥

रामायणमें हिंदू-संस्कृति

(लेखक—श्रीशान्तिकुमार नानूराम व्यास, एम० ए०)

वाल्मीकीय रामायणमें तत्कालीन भारतीय समाजका अत्यन्त विशद एवं सर्वांगपूर्ण चित्र उपलब्ध होता है। प्रस्तुत लेखमें उस प्राचीन संस्कृतिका संक्षिप्त परिचय देनेकी चेष्टा की जाती है।

सामाजिक व्यवस्था

रामायणकालीन आर्योंकी सामाजिक व्यवस्था वर्णाश्रमकी भित्तिपर अवलम्बित थी। वर्ण चार थे। वेदोंका अध्ययन, व्रत, नियमका पालन, यज्ञोंका अनुष्ठान तथा दान—ये प्रथम तीन वर्णों (द्विजों) के साधारण धर्म थे। स्वाध्याय, अध्यापन, तपस्या और प्रतिग्रह ब्राह्मणोंके विशिष्ट कर्म थे। पुरोहित और ऋत्विक् बननेका अधिकार केवल ब्राह्मणोंको था। अपने विशिष्ट कार्योंके अतिरिक्त ब्राह्मणोंको अन्य जातियोंके कर्मोंद्वारा भी निर्वाह करनेकी स्वतन्त्रता थी। तत्कालीन ब्राह्मणोंके उनके कर्मानुसार पाँच विभाग किये जा सकते हैं—(१) देव ब्राह्मण—जो प्रतिदिन स्नान, सन्ध्या, जप, होम, अतिथि-देव-पूजा और बलिवैश्वदेव करते तथा बड़े सत्यवादी और सदाचारी थे। (२) मुनि ब्राह्मण—जो वनमें रहकर तपस्या करते, फल-मूलोंसे निर्वाह करते तथा दैनिक श्राद्ध करते थे। (३) द्विज ब्राह्मण—जो वेदान्तका अध्ययन करते और अनासक्त होकर सांख्य तथा योगका चिन्तन करते थे। (४) क्षात्र ब्राह्मण—जो क्षत्रियोंकी भाँति शस्त्र धारण करते और युद्धोंमें भाग लेते थे, उदाहरणार्थ भार्गव परशुराम। (५) वैश्य ब्राह्मण—जो कृषि और गोपालनद्वारा जीवन-निर्वाह करते थे, उदाहरणार्थ ब्राह्मण त्रिजट। कहना न होगा कि जाति जन्मसे ही थी, न कि कर्मसे। क्षात्र अथवा वैश्यवृत्तिसे रहनेवाले ब्राह्मण भी ब्राह्मण ही कहलाते थे।

ब्राह्मणोंका वध वर्जित था। दोषी ब्राह्मण भी अवध्य था। ब्राह्मणका धन हरनेवाला कठोर दण्डका भागी बनता था। ब्रह्महत्या महापातक थी। ब्राह्मणोंका व्यक्तित्व गौओं और राजाओंके समान पवित्र माना जाता था। दैनिक जीवनमें ब्राह्मणोंको सर्वदा अग्रिम स्थान मिलता था। राजालोग ब्राह्मणोंके प्रति प्रभूत सम्मान प्रदर्शित करते थे। श्रीरामको '**ब्राह्मणानामुपासकः**' कहा गया है। राजकीय समाजमें ब्राह्मण पुरोहितकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। राजाका वह अनिवार्य सहायक और परामर्शदाता था। दशरथ और श्रीरामके शासनकालोंमें वसिष्ठको जो सम्मान और महत्त्व प्राप्त था, उससे पुरोहितके महान् गौरवका पता चलता है। ब्राह्मणोंकी इस असाधारण महत्ता और अलौकिक मान-प्रतिष्ठाका रहस्य था—उनकी त्याग-भावना, ऐहिक वस्तुओंके प्रति अनासक्ति, स्वाध्याय और धर्म-सेवामें तत्परता, निःस्वार्थ राजकीय सेवा, विलक्षण बौद्धिक प्रतिभा एवं संगठन-शक्ति।

क्षत्रियका प्रमुख कर्तव्य प्रजाकी रक्षा करना था। श्रीरामके अनुसार क्षत्रिय धनुष इसलिये धारण करता है कि संसारमें 'आर्त' शब्दका अस्तित्व ही न रहे—

क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति।

(३।१०।३)

ब्राह्मण, गौ और शरणागतकी रक्षा उसका विशेष लक्ष्य था। क्षत्रिय दान लेनेका नहीं, केवल दान देनेका अधिकारी था। परशुराम और कार्तवीर्य अर्जुन, वसिष्ठ और विश्वामित्र, शुक्र और ययाति तथा वसिष्ठपुत्र और त्रिशंकु-जैसे अपवादोंके अतिरिक्त ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके पारस्परिक सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण थे। क्षत्रिय ब्राह्मणोंको शीर्षस्थानीय मानकर उन्हींका अनुगमन करते थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्ण कर-भारसे मुक्त थे।

वैश्यलोग कृषि, गोपालन और वाणिज्य-व्यवसाय करते थे। वे ही अधिकतर कर चुकाया करते थे। अयोध्या तथा अन्य नगरोंमें उनके लिये पृथक् और प्रशस्त निवासस्थान बने थे। अपनी संख्या और ऐश्वर्यके कारण वैश्य अयोध्याके सबसे प्रभावशाली नागरिक थे। वैश्योंके व्यापारिक संघ 'श्रेणी,' 'गण' और 'नैगम' कहलाते थे।

तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका विहित कर्म था। उसे यज्ञोंमें उपस्थित होनेका अधिकार था, यज्ञोंके अनुष्ठान करनेका नहीं। वेदाध्ययन और तपस्या करनेका भी वह पात्र नहीं था। चाण्डाल तत्कालीन समाजके अस्पृश्य थे। वे नीलवर्णके होते और नीले ही वस्त्र धारण करते थे। उनके शरीरमें चिताकी राख लिपटी रहती और लोहेके गहने पड़े रहते। वे योनियोंमें अधम और सारे नागरिक अधिकारोंसे वंचित थे। उन्हें मन्दिरों, राजप्रासादों और ब्राह्मणोंके घरोंमें जानेका अधिकार नहीं था।

क्षत्रिय विश्वामित्रका ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेना कुछ विद्वानोंके मतानुसार यह सूचित करता है कि उन

दिनों जाति-परिवर्तन कोई असम्भव बात नहीं थी। किंतु सच पूछा जाय तो हमें इस घटनाको मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे आँकना चाहिये। ब्राह्मणवर्ण, जो स्वभावतः सत्त्वगुणप्रधान है, रजोगुणप्रधान क्षत्रिय वर्णका विरोधी है। विश्वामित्रको अपना काम-क्रोधसंयुक्त राजसी स्वभाव सात्त्विक वृत्तिमें परिणत करनेके लिये अत्यन्त कठोर मानसिक अनुशासनका दीर्घकालतक अभ्यास करना पड़ा था। जब उनका हृदय काम और क्रोधके प्रभावसे सर्वथा विशुद्ध हो गया, तभी उस युगके सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण वसिष्ठने उन्हें 'ब्रह्मर्षि' के नामसे सम्बोधित किया। इससे जाति-परिवर्तनका नियम सिद्ध नहीं होता। यह एक अपवादमात्र है।

चारों वर्णोंके पारस्परिक सम्बन्ध सद्भावनापूर्ण थे। सभी वर्ण 'स्वकर्मनिरत' थे, अतः वर्ण-विद्वेष नामको भी नहीं था। अयोध्याके वर्णनमें कहा गया है कि क्षत्रिय ब्राह्मणोंको अपना नेता मानते, वैश्य क्षत्रियोंकी आज्ञा पालन करते और शूद्र अपने कर्तव्यका पालन करते हुए तीनों वर्णोंकी सेवामें संलग्न रहते थे। एक सर्वथा सुखी चातुर्वर्ण्य-समाजकी स्थापना और उसका धर्मपूर्वक पालन तत्कालीन राजाओंका मुख्य लक्ष्य था।

वर्ण-व्यवस्थाके सहायक रूपमें ही ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंका विधान है। वर्णाश्रमकी यह व्यवस्था व्यक्ति और समष्टि दोनोंकी पारस्परिक हितरक्षाके लिये पर्याप्त थी। वर्ण-सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्तिको एक सामाजिक प्राणी मानकर उसके कर्तव्यों और अधिकारोंका इस प्रकार निरूपण करता है कि वे उसके पारिवारिक वातावरण और सामूहिक हित दोनों दृष्टियोंसे समीचीन हों। दूसरी ओर आश्रम-सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्तिको एक अलग इकाईके रूपमें देखता है और उसे बतलाता है कि उसका आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है, उसे अपना जीवन-यापन किस प्रकार करना चाहिये तथा अपनी लक्ष्य-प्राप्तिके लिये क्या उद्योग करना चाहिये।

कौटुम्बिक स्थिति

प्राचीन भारतमें संयुक्त परिवारकी प्रणाली थी, जिसका मुखिया पिता होता था। पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की जाती थी। परिवारमें ज्येष्ठ पुत्रका अधिकारपूर्ण स्थान था। वही पिताका उत्तराधिकारी और उत्तरक्रिया करनेका पात्र था। 'पुत्' नामक नरकसे बचने और पारलौकिक सुखकी प्राप्तिके लिये पिता पुत्रकी कामना करते थे। दीर्घ तपस्या, सदाचारी जीवन तथा धार्मिक अनुष्ठानोंके परिणामस्वरूप ही सुयोग्य पुत्रकी उपलब्धि हो सकती है। स्त्रियोंद्वारा पुत्र-प्राप्तिके लिये तपस्या करनेके कई उदाहरण मिलते हैं। परम्परागत रूढ़ियों और संस्कारोंका पालन परिवारके सदस्योंका परम धर्म था।

प्राचीन आर्य-संस्कृतिकी उत्कृष्टताका रहस्य उसके पारिवारिक जीवनकी श्रेष्ठता है। इसका समुज्ज्वल उदाहरण रामायणमें चित्रित है। पिता-पुत्रमें, भाई-भाईमें, पति-पत्नीमें, देवर-भौजाईमें, सास-पतोहूमें बड़े स्नेहसिक्त और अनुकरणीय सम्बन्ध होते थे। कुटुम्बके अनुशासनमें तरुणवर्ग स्वार्थत्याग, निश्छल प्रेम और सेवाभावना-जैसे आदर्श गुणोंको हृदयंगम करता था।

विवाह

पारिवारिक स्थिरता, लौकिक सुख और पारलौकिक कल्याण (मुक्ति) की दृष्टिसे विवाह प्रत्येक प्राणीके लिये आवश्यक और वांछनीय माना जा चुका था। कन्याके लिये तो वह अनिवार्य था; पाणिग्रहण उसका द्वितीय जन्म था। कन्याका विवाह उसकी 'पतिसंयोगसुलभ' अवस्थामें और पुत्रका विवाह उसके 'समुपस्थितयौवन' हो जानेपर हुआ करता था। विवाहके पूर्व वर-वधूमें परिचय नहीं रहता था। सीता, शान्ता और मन्दोदरीने विवाहसे पूर्व अपने पतियोंके दर्शन नहीं किये थे फिर भी वे पतिपरायणा निकलीं।

कन्याओंको पति-वरणमें स्वतन्त्रता नहीं थी। इस कार्यमें वे 'पितृवशा' थीं। राजाओंमें स्वयंवरका उल्लेख होनेपर भी वह स्वेच्छासम्मत नहीं था। जब वायुने कुशनाभकी कन्याओंसे विवाहका प्रस्ताव किया, तब उन्होंने कहा कि हमारे पति वही होंगे, जिन्हें हमारे पिता हमें अर्पित करेंगे। पुत्रोंको भी विवाह पिताके आज्ञानुसार करना पड़ता था। धनुर्भंग करनेके बाद सीताका स्वयं पाणिग्रहण करनेका अधिकार होनेपर भी श्रीरामने दशरथकी आज्ञा न पानेतक सीताको स्वीकार करनेसे इनकार कर दिया था। सन्तानके विवाहमें पैतृक सत्ताका इतना अधिकार होते हुए भी केवल इसी कारण विवाहोंके दुःखमय होनेके उदाहरण नहीं मिलते। सीता और मन्दोदरीके पतियोंका चुनाव उनके पिताओंने किया है। फिर भी उन्हें पतिप्रेम पर्याप्त मात्रामें मिला। सीता श्रीरामकी प्रिया इसीलिये थीं कि वे उन्हें पिता दशरथकी अनुमतिसे प्राप्त हुई थीं—

प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति।

(१।७७।२६)

कन्याधनके रूपमें पुत्रीको बहुत-सा उपहार देनेकी प्रथा थी। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र विवाहके लिये मांगलिक माना जाता था। शास्त्रोक्त विधिसे सम्पन्न विवाह अविच्छेद्य था। इस लोकमें पिता आदिके द्वारा जो कन्या जिस पुरुषको अपने धर्मके अनुसार जलसे संकल्प करके दी जाती है, वह मरनेके बाद परलोकमें भी उसीकी स्त्री होती है। स्वामीका त्याग, चाहे वह कैसा भी हो, स्त्रीके लिये महान् अधर्म है। पर दुष्टा स्त्रियोंके परित्यागके उदाहरण मिलते हैं। राजाओं और धनी वर्गोंमें बहुविवाहकी प्रथा प्रचलित थी, पर श्रीरामने एकपत्नीव्रतके अनुकरणीय आदर्शकी स्थापना की।

प्रेमका आदर्श उत्कृष्ट होते हुए भी व्यावहारिक था। रामायणमें पारस्परिक अनुरागको ही महत्त्व दिया गया है। अतिप्रणय और अप्रणय दोनों ही अनुचित हैं। अपनी पत्नीके प्रति अन्धानुरागका रामायण समर्थन नहीं करती। कामपरायण होना कोई प्रशंसाकी बात नहीं है। विशेषकर स्त्रियोंके लिये तो 'कामवृत्त' सर्वथा अनुचित है। वाल्मीकिने अविवाहित और असंयत प्रेमको बारंबार निन्दित और दण्डित किया है। रामायणने 'स्वदारनिरत' होनेका ही आग्रह किया है। अजितेन्द्रिय व्यक्तिका नाश अवश्यम्भावी है। विवाहकी परिणति—पत्नीत्वकी सफलता—प्रणय एवं सन्तान-प्राप्तिमें ही निहित है।

स्त्रियोंकी स्थिति

कन्याके विवाहकी चिन्ता, उसके भावी जीवनको सुखी बनानेकी उत्कट लालसाके कारण 'कन्यापितृत्व' सभी मानकांक्षी लोगोंके लिये दुःखदायक था। किंतु कन्याओंसे घृणा या द्रोह करनेका कहीं प्रमाण नहीं मिलता। उनका लालन-पालन प्रेमपूर्वक किया जाता था। परिवारमें वे उपेक्षाका विषय कभी नहीं थीं। अविवाहित कन्याओंको मांगलिक और उनकी उपस्थितिको शुभ शकुन माना जाता था। रामायणके प्रमुख स्त्री-पात्रोंकी समीक्षासे यह स्पष्ट है कि विवाहके पूर्व उन्हें अपने घरोंमें समुचित शिक्षा मिल चुकी थी। क्षत्रिय-कुमारियाँ राजधर्म, पौराणिक साहित्य, ललितकला तथा विभिन्न भाषाओंसे सुपरिचित थीं।

विवाहके पश्चात् कन्या वधूरूपमें पतिगृहमें प्रवेश करती थी, जहाँ उसे पतिका प्रगाढ़ प्रेम और सास-ससुरका हार्दिक स्नेह प्रचुर मात्रामें प्राप्त होता था। पातिव्रत्य-धर्मका आदर्श अत्युच्च था। स्त्रीके लिये पति ही देवता और पति ही प्रभु है। नारीको अपने पतिके प्रिय और हितमें संलग्न रहकर सदा उसीकी सेवा करनी चाहिये, यही स्त्रीका लोक और वेदमें प्रसिद्ध सनातनधर्म है। अप्रतिम सौन्दर्य और एकनिष्ठ पातिव्रत्य ही रामायणके अनुसार आदर्श पत्नीका मापदण्ड है। नारी पुरुषकी 'सहधर्मचारिणी' थी, 'समान-सुखदुःखिनी' थी। शास्त्रोक्त यज्ञ-यागादि कर्मोंमें पति और पत्नी दोनोंका संयुक्त अधिकार होता था। वैदिक श्रुतियाँ पत्नीको पतिकी अभिन्न आत्मा बतलाती हैं। पतिपर स्त्रीके मुख्यतः तीन अधिकार थे—भरण-पोषणका अधिकार, स्त्रीधनका अधिकार तथा वैवाहिक एकनिष्ठाका अधिकार। पुरुषके पारिवारिक एवं बाह्य कार्योंमें उसकी सुयोग्य पत्नी सब प्रकारसे सहयोग देती थी। सीता, तारा और कैकेयी-जैसी तेजस्वी नारियोंने अपने समयकी राजनीतिक घटनाओंको बहुत प्रभावित किया।

नारीके पत्नीत्वकी सफलता उसके मातृत्वमें थी। गर्भकालमें आचार-विचारकी पवित्रता मनोऽनुकूल सन्तानकी प्राप्तिके लिये आवश्यक थी। गर्भकी रक्षाके लिये मन्त्रानुष्ठान किये जाते थे। भ्रूणहत्या महापातक थी। माताका अपने पुत्रोंके प्रति निश्छल ममत्व था और पुत्र भी उसका असीम आदर करते थे। यद्यपि वैधव्य स्त्रीके लिये घोरतम विपत्ति थी, तथापि विधवाएँ अनादरका पात्र नहीं थीं। दशरथकी विधवा रानियाँ सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करती हैं।

स्त्रियोंको पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उत्सवोंमें, राज्याभिषेकमें, यज्ञोंमें, सामूहिक भोजोंमें, श्राद्धकर्ममें, अन्त्येष्टिक्रियामें स्त्रियाँ सम्मिलित होती थीं। अपने पतिकी वे 'क्रीडासहाय' थीं। विविध वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हो वे अपने-अपने पतियोंके साथ देश-विदेशमें भ्रमण करतीं। न्यायालयोंमें पुरुषोंकी भाँति स्त्रियाँ भी प्रवेशकर शिकायत कर सकती थीं। श्रीरामके अनुसार स्त्रियोंके लिये न घर, न वस्त्र, न दीवारें और न राजसत्कार ही वैसी आड़ करनेवाला है, जैसा कि उनका अपना सदाचरण। स्त्रियोंके प्रति उच्च शिष्टाचारका पालन किया जाता था। उन्हें सभी प्राणियोंके हाथों अवध्य माना गया था। वाहनोंपर चढ़ते समय स्त्रियोंको पहले स्थान दिया जाता था। रथोंमें महिलाएँ आगेकी ओर बैठायी जाती थीं। परायी स्त्रियोंकी ओर देखना असभ्यता थी। स्त्रियोंके सामने अपने कोपका निवारण कर लेना चाहिये। महात्मालोग स्त्रियोंके प्रति कोई दारुण कार्य नहीं करते।

आहार-विहार

रामायणकालीन आर्य अपने आहारमें बड़े सुरुचिपूर्ण थे। वे सुस्वादु पक्वान्नोंका बहुतायतसे प्रयोग करते थे। अतिथियोंका उच्च कोटिके भोजनसे स्वागत करना उन्हें विशेष प्रिय था। भोजनके चार प्रकार थे—भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य। लोगोंका प्रमुख आहार गेहूँ और चावल था। चावलसे बने पक्वान्नोंमें हविष्यान्न (घीमें उबाला हुआ चावल), कृशर (दूधकी खिचड़ी), मोदक (चावल, दाल और चीनीके लड्डू), मृष्टान्न (चावलके मालपूए) और पायस (खीर) बड़े प्रिय थे। दूध और दूधसे बने पदार्थोंका प्रचुर व्यवहार होता था। दधि, क्षीर (खोआ या छेना), कृशर, कपित्थ (मट्ठा) और पायस (खीर) के रूपमें दूधका सेवन किया जाता था। घृतका स्थल-स्थलपर उल्लेख मिलता है। स्नेह अथवा तैल, लवण और सौवर्चल-जैसे नमक, उपदंश और मिष्ठान्न जैसे मिर्च-मसालों तथा अम्लरस-जैसी खटाईका प्रयोग भी देख पड़ता है। उस समयके रसोइये पाकविद्यामें बड़े प्रवीण थे और वे कुण्डल धारण करके भोजन परोसते थे। आम्र, बदरी, दाडिम, इक्षु, जम्बू, खर्जूर, कदली, नारिकेल और पनस-जैसे फलोंका आहार प्रचलित था। मधु और फलासव पेयके रूपमें स्वीकार किये जाते थे। ब्राह्मण प्रायः शाकाहारी थे। मांसाहारकी तुलनामें शाकाहारको ही श्रेष्ठ माना गया है। विशालरूपमें सामूहिक भोज प्रायः किये जाते थे, जहाँ असंख्य नर-नारी आकर तृप्ति पाते और जहाँ खाद्य एवं पेय पदार्थोंका अटूट भंडार प्रस्तुत रहता। ऐसे अवसरोंपर किसीका अनादर या उपेक्षा नहीं की जाती थी। भोजनका कृत्य एक यज्ञ था, एक समर्पण-क्रिया थी, जिसका उद्देश्य मुख्यरूपसे देवताओं, अतिथियों, मित्रों और सम्बन्धियोंको तृप्त करना था और गौणरूपसे अपना प्राणधारण।

जीवनका समुचित आनन्द उठानेके लिये मनोरंजनके अनेक साधन प्रस्तुत थे। आध्यात्मिक और भौतिक दोनों क्षेत्रोंमें आर्योंने समानरूपसे उन्नति की। कोसल प्रदेशको '**प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः**' (२।१००।४४) कहा गया है। गोष्ठियों और समाजोंमें मनोविनोदके विविध साधन मौजूद थे। हास्यकार और कथाकार राजाओंका विनोद करते थे। राजप्रासादोंमें पालतू पशु-पक्षी रानियोंके विनोदके साधन थे। द्यूत, शतरंज, संगीत, नृत्य और नाटक, उद्यान-विहार, मृगया, कन्दुक-क्रीडा, जलविहार तथा व्यायाम आदि आमोद-प्रमोदके अन्य साधन थे। किंतु इन सबमें सामूहिक जीवन, संयम, अहिंसा, विलासके साधनोंका सीमित उपयोग—इन आदर्शोंका ध्यान रखा जाता था।

वस्त्र और आभूषण

सूती, रेशमी, ऊनी, सुनहरे, चमकीले, रंग-बिरंगे वस्त्रोंका नागरिकोंमें बहुत व्यवहार होता था। वनवासी लोग कुश, चीर और वल्कल धारण करते। पवित्र कार्योंमें क्षौम (रेशमी) वस्त्रोंका प्रयोग होता था। स्त्री-पुरुष दो वस्त्र धारण करते थे—उत्तरीय और अधोवस्त्र। ब्रह्मचारीगण एक ही वस्त्र धारण करते थे। स्त्रियाँ अपने अधोवस्त्रको कटिभागपर रशनासे कस लेती थीं। उत्तरीय उनके कन्धों और वक्षःस्थलपर पड़ा रहता था और आवश्यकता होनेपर शीघ्रतासे उतारा जा सकता था। साड़ी पहननेकी 'कच्छ' शैलीका सम्भवतः उन दिनों व्यवहार नहीं था। सीनेकी कला परिचित थी। सिरपर साधारण लोग मुकुट धारण करते और राजागण किरीट। पगड़ी (उष्णीष) का व्यवहार भृत्यवर्गतक सीमित था। पैरोंमें लकड़ीकी पादुकाएँ या चमड़ेके उपानह धारण किये जाते थे। राजा हेमभूषित पादुकाएँ पहनते थे। नर-नारी दोनों आभूषणप्रिय थे। सैनिक युद्धमें भी आभूषणोंसे सज्जित होकर जाते। हाथियों, घोड़ों और गौओंको आभूषणोंसे सजानेकी प्रथा थी। शरीरके सभी अंग-प्रत्यंगोंमें मनोहर आभूषण धारण किये जाते थे। हीरे, जवाहरातोंका भी प्रचुर व्यवहार था। पुष्पों और मालाओंका आभूषणोंकी भाँति व्यवहार होता था। सौन्दर्यकी वृद्धिके लिये दैनिक शृंगार (प्रतिकर्म) प्रचलित था। चन्दन और अंगरागका बहुतायतसे उपयोग होता था।

शिष्टाचार

रामायण-काल सभ्यता, शिष्टता, मधुर संवाद, विनम्र व्यवहार और आदर्श शिष्टाचारका युग था। रामायणकालीन शिष्टाचार भारतीय शिष्टाचारका सदासे आदर्शभूत रहा है। पंच महायज्ञोंमें अतिथि-सत्कारका विशिष्ट स्थान था। अभ्यागतोंका पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क, गौ और आसनद्वारा स्वागत किया जाता। क्या तपस्वी और क्या राजा, आतिथ्यमें अपनी शक्तिके अनुसार सारे साधन जुटा देते थे। ऋषियोंकी अनुपस्थितिमें आतिथ्य-भार उनकी पत्नियोंपर आ पड़ता था। अतिथि-क्रियाके पश्चात् कुशल-सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाते। जहाँ राजा मुनियोंसे उनकी तपस्या, अग्निहोत्र, शिष्यगण, आश्रमस्थ पशु-पक्षी तथा वृक्ष-पुष्पोंके विषयमें कुशल-क्षेम पूछते,

वहाँ मुनिगण राजाओंसे उनके राष्ट्र, कोश, सुहृत्, बन्धु-बान्धव, मन्त्रिगण तथा शत्रुओंके दमनके बारेमें जिज्ञासा करते थे। आसन ग्रहण करते समय बड़े-छोटोंके यथान्याय बैठनेकी परिपाटी थी। प्रणाम, प्रांजलि, अंजलि-पुट, प्रणिपात, नामोच्चारण तथा प्रदक्षिणाद्वारा छोटे बड़ोंके प्रति सम्मान अभिव्यक्त करते थे। गुरुजन छोटोंका आलिंगन कर, उनका मस्तक सूँघकर और उन्हें आशीर्वाद देकर अपना स्नेह प्रकट करते थे। समवयस्क मित्रोंमें आलिंगन और हस्त-संपीडन सामान्यत: प्रचलित अभिवाद-प्रणाली थी। चलते समय बड़े आगे जाते और छोटे उनका विनीत भावसे अनुसरण करते। तत्कालीन सम्बोधन-प्रणाली बड़ी शिष्ट और गौरवपूर्ण थी। द्विजातियोंके लोग संस्कृतमें ही संभाषण करते थे। उपकारोंके लिये कृतज्ञता प्रकट करनेकी तथा अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करनेकी प्रथा प्रचलित थी।

लोकाचार या लौकिक समयका पालन वांछनीय था। लोकापवादसे सभी डरते थे। संशयकी दशामें पूर्वजों या श्रेष्ठ पुरुषोंके मार्गका अनुसरण ही श्रेयस्कर माना जाता था। साहसपूर्ण या आश्चर्यकारी कृत्योंके सम्पादनपर साधुवाद या बधाई दी जाती थी। यज्ञ या राज्याभिषेकके अवसरपर सामूहिक निमन्त्रण दिये जाते और अभ्यागतोंके स्वागत-सत्कारका सुन्दर प्रबन्ध किया जाता। विशिष्ट व्यक्तियोंके पास उपहार लेकर जानेकी रीति थी। मित्रता अग्निको साक्षी देकर की जाती थी। तत्कालीन राजकीय जुलूस बड़े सुव्यवस्थित और वैभवद्योतक थे। अपने वचनोंकी प्रामाणिकता घोषित करनेके लिये अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुकी शपथ ली जाती थी। अपने सत्य पक्षका आग्रह करनेके लिये 'धरना' देनेका रिवाज था। सार्वजनिक विरोध या दु:ख प्रकट करनेके लिये जनताकी ओरसे 'हड़ताल' की जाती थी। रथ या वाहनपर चढ़ते समय उसकी पूजा-प्रदक्षिणा की जाती थी। किसी उक्ति या मन्त्रका महत्त्व बढ़ानेके लिये उसकी तीन बार पुनरुक्ति की जाती थी। मुहूर्तोंमें, दैव अथवा भाग्यमें, शकुनोंमें, स्वप्नोंमें और मानव-जीवनकी सौ वर्षकी अवधिमें लोगोंका दृढ़ विश्वास था। प्रजापर आ पड़नेवाली विपत्तिका कारण राजाका कोई दुष्कर्म माना जाता था।

शिक्षा-दीक्षा

शिक्षाका स्तर बहुत ऊँचा था। अयोध्यामें कोई कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख अथवा नास्तिक पुरुष देखनेको भी नहीं मिलता था। शिक्षाको राजकीय प्रोत्साहन प्राप्त था। वाल्मीकिके अनुसार जन्म-जन्मान्तर्गत संस्कार ही मनुष्यको अच्छा या बुरा बनाते हैं, चाहे फिर उसे शिक्षा कितनी ही क्यों न दी जाय। रावणकी माताने विश्रवा मुनिसे बड़े कुसमयमें गर्भाधानके लिये प्रार्थना की, परिणामस्वरूप रावण और कुम्भकर्ण बड़े क्रूर और दुराचारी निकले। उनके ब्राह्मणत्व, वेदाभ्यास और कठोर तप भी उनके वास्तविक जन्मगत कुसंस्कारोंको बदलनेमें असमर्थ रहे। मुनियोंके आश्रम ही तत्कालीन पाठशालाएँ थीं। गुरुकी सन्निधिमें रहकर शिष्य वैदिक ज्ञान, शिष्टाचार, सदाचार आदिको हृदयंगम करता था। गुरुकी शुश्रूषा उसका परम धर्म था। प्रतिपदा अनध्यायका दिन था। अयोध्या नगरी शिक्षाका महान् केन्द्र थी। वहाँ उपाध्याय सुधन्वाका सैनिक शिक्षालय था, जहाँ राजकुमार शस्त्राभ्यास करते थे। वासिष्ठों, तैत्तिरीयों, काठकों, मानवों तथा अगस्त्य और कौशिक ऋषियोंके शिक्षालयोंमें परम्परागत शिक्षाकी व्यवस्था थी। सूतों और मागधोंद्वारा संचालित पौराणिक पाठशालाएँ भी अनेक थीं। यज्ञ-समारम्भोंसे शिक्षा-प्रसारमें बड़ी सहायता मिलती थी। शिक्षण-व्यवस्थाके मुख्यत: चार भाग थे—शारीरिक, मानसिक, व्यावहारिक और नैतिक। शारीरिक शिक्षामें धनुर्विद्या, मृगया, अश्वचर्या, रथचर्या, बाहुयुद्ध, गदायुद्ध तथा मल्लयुद्धका समावेश था। मानसिक शिक्षाके अन्तर्गत वेद, वेदांग, काव्य, साहित्य, इतिहास, पुराण, ललित कलाएँ, अर्थशास्त्र, राजनीति-जैसे विषय थे। व्यावहारिक शिक्षणमें व्यापार, कला-कौशल, आयुर्वेद तथा अनेक प्रकारके उद्योग-धंधोंका समावेश था। नैतिक शिक्षाद्वारा बालकको सदाचारी नागरिक बनाया जाता। अनेक प्रकारकी रहस्यमयी विद्याएँ भी प्रचलित थीं। अध्ययन-अध्यापनकी प्रणालियोंमें मौखिक प्रवचन, कण्ठाग्र अभ्यास, कथा-वार्ता, पाठ, स्वाध्याय तथा सामूहिक तर्क-वितर्क आदि प्रचलित थे। लिखनेकी कला भलीभाँति ज्ञात थी। आश्रमोंमें महिलाओंकी उपस्थिति और शिक्षाकी भी सूचना मिलती है। श्रीरामकी शिक्षा सर्वांगपूर्ण थी। शिक्षाके आदर्श ये थे—गौ, ब्राह्मण, चातुर्वर्ण्य, कुटुम्ब और देशकी रक्षाके लिये पर्याप्त शारीरिक बलका संपादन; सर्वांगीण, न कि एकांगी ज्ञानकी अपेक्षा; पुस्तकीय विद्याकी अपर्याप्तता, सांस्कृतिक उत्थान, विचार-स्वातन्त्र्य, शिक्षाके नैतिक और धार्मिक पहलुओंपर आग्रह, चरित्र-गठन, व्यक्तित्वका सर्वांगीण विकास तथा सामूहिक (सामाजिक) कर्तव्योंका पालन।

आर्थिक स्थिति

कृषि देशका प्रमुख उद्योग था। राजाको 'कृषिगौरक्ष्य-जीवियों' की सुविधाओंका विशेष ध्यान रखना पड़ता था। कृषि समृद्धिपूर्ण थी। श्रीरामके पूर्व देशपर दो दुर्भिक्ष आ पड़े थे, यद्यपि लंबे राम-राज्यमें दुर्भिक्षका नामतक नहीं था। सिंचाईके साधनोंमें प्राकृतिक साधनोंके अतिरिक्त कृत्रिम उपायोंका भी संकेत मिलता है। खेत (क्षेत्र अथवा केदार) के 'शोधन' के पश्चात् उसकी जुताई और बुवाई की जाती। सामयिक वर्षा उपजके लिये बड़ी लाभकारी थी। यव (जौ), गोधूम (गेहूँ), शालि (चावल), चणक (चना), इक्षु (ईख), कुलित्थ (कुलथी), माष (उड़द), तिल, मरीचि, मुद्ग (मूँग) की खेती बहुतायतसे होती थी। खेतीके कई औजार प्रयुक्त होते थे—जैसे हल, कुदाल, लांगल, फाल, शूल, टंक आदि। खेतीकी प्रणाली वैदिक कालकी अपेक्षा अधिक उन्नत थी। कृषिके अतिरिक्त उद्यानचर्या तथा फलोद्योग भी प्रचलित थे। गोपालन और गोसंवर्धनके अतिरिक्त घोड़ों और हाथियोंकी अच्छी नस्लें उत्पन्न करनेका भी एक व्यवसाय था। पशुपालनद्वारा दुग्ध, दुग्ध-पदार्थ, हाथी-दाँत और चमड़ेका व्यवसाय होता था। जंगलोंकी उपज मानव-उपयोगमें लायी जाती। खानोंसे खनिज पदार्थ निकाले जाते। लोहा, ताँबा, पीतल, काँसी, सोना, चाँदी, सीसा और टीन-जैसे खनिज पदार्थोंका उल्लेख मिलता। धातुओंसे बनी वस्तुओंका दैनिक जीवनमें पर्याप्त प्रचार था। वस्त्रोद्योग भी प्रचलित था। लाक्षाराग या कुसुमरससे कपड़े रँगे जाते थे। व्यापारकी स्थिति बड़ी ही समृद्ध थी। विदेशोंसे भी व्यापार होता था। समुद्री व्यापारके भी स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। सोना, चाँदी, आभूषण, हीरे-जवाहर, हाथी, कुत्ते, चावल, मिर्च, रेशमी वस्त्र तथा लाक्षा-जैसी वस्तुएँ विदेशोंको निर्यात की जातीं तथा कम्बोज आदि देशोंके घोड़े, ऊनी वस्त्र, रेशम, कस्तूरी, याक बैलके बाल आदि आयात किये जाते थे। विनिमयका माध्यम गौ थी। निष्क नामक सिक्के भी प्रचलित थे। नाप-तोलोंका व्यवहार होता था। रामायणमें लगभग ८० प्रकारके विभिन्न उद्योगोंका स्पष्टतः उल्लेख है। थल, जल और नभ—तीनों मार्गोंसे यातायात होता था। रथ, शिबिका, यान, पशु, नाव और विमान यातायातके साधन थे। देशकी आर्थिक स्थिति बड़ी ही वैभवशाली और समृद्धिपूर्ण थी। नगरों और ग्रामोंके निवासी दीर्घजीवी, नीरोग, प्रसन्न और धन-धान्यसम्पन्न थे। इस आर्थिक सुव्यवस्थाका रहस्य समाजमें धनका संतुलित बँटवारा था, जिसमें आर्योंकी वर्णाश्रम-व्यवस्था विशेषरूपसे सहायक थी।

नगर, ग्राम और आश्रम

रामायणकालीन नगर-संनिवेश स्थापत्य-कलाका सुन्दर उदाहरण है। प्रायः सभी नगरोंकी प्रतिष्ठा दुर्गोंके रूपमें होती। बाहरी आक्रमणोंसे रक्षाके लिये वे विशाल प्राकारों और दुर्गम खाइयोंसे घिरे रहते। प्राकारोंपर रक्षा और प्रत्याक्रमणके अनेक साधन प्रस्तुत रहते। सैनिकदृष्टिसे नगर अभेद्य बनाये जाते थे। फिर भी कला और सौन्दर्यकी उपेक्षा नहीं की जाती थी। नगर प्रायः नदियोंके किनारे नीरोग वातावरणमें बसाये जाते। उनका आकार कभी पद्म-दलके समान, कभी अर्धचन्द्राकार और कभी अष्टकोणात्मक होता था। सुन्दर विमानाकार भवन, चौराहे, उद्यान, तालाब, सुव्यवस्थित बाजार तथा वृक्ष नगरोंकी शोभा बढ़ाते थे। रास्तोंपर छिड़काव होता और फूल बिखेरे जाते। राजप्रासाद नगरके मध्यमें होता और वहाँसे चारों दिशाओंमें राजमार्ग जाते। नगरके बाहरी आमोद-प्रमोदके लिये आराम और विहार बने रहते। तत्कालीन सुन्दर नगरोंमें अयोध्या, लंका, किष्किन्धा, तक्षशिला, पुष्कलावती और मधुपुरीके नाम उल्लेखनीय हैं। राजा और प्रजा दोनों नगरोंकी शोभा बढ़ानेमें तत्पर रहते थे। नागरिकताकी भावनासे वे ओतप्रोत थे।

ग्रामों और नगरोंमें साहचर्य था। दोनों आवागमनके साधनोंसे जुड़े रहते, जिससे पारस्परिक विकासमें सहायता मिलती थी। किसानोंकी बस्तियाँ 'ग्राम' और ग्वालोंकी बस्तियाँ 'घोष' कहलाती थीं। उनके निवासस्थान 'ग्राम-संवास' कहलाते थे। गाँवोंके बाहर जुते हुए खेतोंके दृश्य दिखलायी पड़ते थे। बड़े गाँव 'महाग्राम' कहलाते थे। अयोध्यामें ग्रामवासियों (जानपदों) की उपस्थितिका कई बार उल्लेख मिलता है।

रामायणकालीन संस्कृति मुख्यतः तत्कालीन नगरों और आश्रमोंकी देन है। ऋषियोंके आश्रम ही उस समयके सांस्कृतिक केन्द्र थे, जहाँकी रीति-नीति नगरोंको प्रभावित करती थी। ये आश्रम प्रायः 'एकान्त' या 'विविक्त' स्थलोंमें मानव-कोलाहलसे दूर रमणीय स्थानोंमें बसाये जाते थे। बाँस, वृक्षोंकी शाखाओं, पत्तों, मिट्टी, घास और रस्सियोंसे वे बनाये जाते थे। एक आश्रममण्डल या तपोवनका अधिष्ठाता ऋषि—'कुलपति' होता था। असमयमें आने-जानेपर रास्तोंकी पहचानके लिये ऋषिलोग ऊँचे

वृक्षोंमें अपने चीर बाँध देते थे। पुण्यात्मा महर्षियोंद्वारा सेवित ये आश्रम आध्यात्मिक तेजके आगार होते थे, जहाँ मनुष्य पापाचरणकी ओर स्वभावत: ही प्रेरित नहीं होता था। वनवास कष्टपूर्ण होते हुए भी पुण्यसंचयके लिये आवश्यक माना जाता था। वनवासी मुनि अपना समय देवपूजा, सन्ध्या, तर्पण, होम, श्राद्ध, वेदघोष, स्वाध्याय और तपस्यामें व्यतीत करते। वे नियताहार और जितेन्द्रिय रहते, फल-मूलोंपर निर्वाह करते, अत्यावश्यक जीवन-साधनोंका ही उपयोग करते और नाना प्रकारके शारीरिक कष्ट स्वेच्छासे उठाकर सहिष्णु और तितिक्षु बननेका निरन्तर प्रयत्न करते थे। साथ ही भारतके प्राचीन ऋषि-मुनि केवल एकान्तवासी तपस्वी ही नहीं थे, अपितु परिभ्रमणद्वारा अनार्य राज्योंमें आर्य-संस्कृतिके प्रसारक और संस्थापक भी थे।

साहित्य और कला

रामायण एक कवि-कलाकारकी मनोहर रचना है। रामचरित्र-जैसे अलौकिक विषयको एक अनूठी, संगीतमय, छन्दोबद्ध, संवेदनशील शैलीमें प्रस्तुतकर वाल्मीकिने अपने परवर्ती साहित्यकारोंके लिये एक अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है—

मधुमयभणितीनां मार्गदर्शी महर्षिः।

रामायण महाकाव्यका तत्कालीन समाजने हार्दिक स्वागत किया। रामायण-गान उसके लिये एक नूतन, चमत्कारी और अभूतपूर्व अनुभव सिद्ध हुआ। श्रीआनन्दवर्धनाचार्यके अनुसार साहित्यमें रसकी प्रथम उद्भूति रामायणमें वर्णित क्रौंच-वध-घटनासे हुई है। काव्यके अतिरिक्त उस युगमें आख्यान, इतिहास और दर्शनका भी सेवन होता था। नक्षत्रविद्या, ज्यौतिष, आयुर्वेद, प्राणिशास्त्र, अंकगणित, रेखागणित-जैसे वैज्ञानिक विषयोंसे सम्बन्धित सामग्री भी रामायणमें यथेष्ट मात्रामें मिलती है।

वाल्मीकिकी रचना कविकी कलात्मक अभिरुचिकी परिचायक है। उसमें स्थापत्यकला, चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, नाट्यशाला और नृत्य-जैसे कलात्मक विषयोंपर परिष्कृत सामग्री उपलब्ध है। कलाका अनुशीलन करनेमें योग और भक्तिका आश्रय लिया जाता था। योगद्वारा कवि कलाकी वस्तुसे अपना तादात्म्य स्थापितकर उसके दुरूह पटलोंको हृदयंगम करता तथा भक्तिद्वारा सर्वतोभावेन उसे मूर्तरूप देनेको कटिबद्ध होता। रामायण-रचनामें कविने इसी मार्गद्वयका अनुसरण किया है।

धार्मिक जीवन

रामायणकालीन संस्कृति धर्मद्वारा पूर्णतया अनुप्राणित थी। वेदोंका प्रभुत्व सर्वव्यापी था। धार्मिक अनुष्ठानोंमें वे प्रमाणभूत थे। नये घरमें प्रवेश करनेसे पूर्व 'वास्तुशान्ति' नामक कृत्य संपादित किया जाता था। नयी फसल काममें लानेसे पहले 'आग्रयण' कृत्यद्वारा नये धानसे देवताओंको प्रसन्न किया जाता था। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ करनेके अवसरपर स्वस्त्ययन क्रिया की जाती थी। दैनिक अनिवार्य धार्मिक कार्य 'आह्निक कृत्य' कहलाते थे—जिनमें स्नान, अर्घ्य, तर्पण, मार्जन, प्राणायाम, गायत्री-जप, अग्निहोत्र और देवतार्चन सम्मिलित थे। रामायणकालके आर्य उपयुक्त समयपर सन्ध्योपासन करनेमें बड़े जागरूक रहा करते थे। अन्त्येष्टि-क्रियामें प्रेतकार्य, उदक-क्रिया, पिण्डदान, निर्वाप-क्रिया तथा श्राद्धकर्म किये जाते थे तथा १० दिनका अशौच रखा जाता था। प्रार्थनाद्वारा इष्टसिद्धिमें लोगोंकी बड़ी श्रद्धा थी। मन्दिरोंका स्थल-स्थलपर उल्लेख मिलता है। विभिन्न देवताओंके विग्रहोंकी स्थापना हो चुकी थी। सारे संस्कार यथासमय सम्पन्न हुआ करते थे। तीर्थ-स्थानोंकी यात्रा भी की जाती थी। गौकी पवित्रता सर्वमान्य थी। अनेक प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान किया जाता था, जिनमें शास्त्रीय विधिके पालनका पूर्ण ध्यान रखा जाता। अनेक देवी-देवताओंकी पूजा प्रचलित थी, जिनमें त्रिमूर्तिको विशेष स्थान प्राप्त था। शिव और विष्णुके भक्तोंमें कोई विरोध नहीं था। गंगा, यमुना आदि नदियाँ, नदियोंके संगम, वटवृक्ष, गया-जैसे स्थल, चित्रकूट और हिमालय-जैसे पर्वत पुनीत मान्य हो चुके थे। नैतिकताका स्तर बहुत ऊँचा था। अयोध्यापुरीमें निवास करनेवाले सभी मनुष्य धर्मात्मा, बहुश्रुत, निर्लोभ, सत्यवादी, अपने धनसे ही सन्तुष्ट रहनेवाले, संयमी तथा शील और सदाचारकी दृष्टिसे महर्षियोंकी भाँति विशुद्ध थे। प्रतिज्ञा-पालन, सत्यवादिता, कृतज्ञता, इन्द्रियनिग्रह तथा दानशीलताका वाल्मीकिने स्थल-स्थलपर आग्रह किया है। कर्म-सिद्धान्तमें अटूट विश्वास था। यह संसार एक कर्म-भूमि है, जहाँ मनुष्य अपने अच्छे-बुरे कर्मोंका फल पाता है। कर्मफल भोगनेके लिये जन्म-जन्मान्तर तथा स्वर्ग और नरककी प्राप्तिमें विश्वास भी अनिवार्य था। जीवनके प्रति दृष्टिकोण आशा और निराशाका सम्मिश्रण था। धर्म जीवनके समग्र उत्कर्षका मूल स्रोत था—

धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्।

(३।९।३०)

सात्त्विक और दैवी जीवनकी ओर प्रेरित करनेवाली सभी बातें धर्मके अन्तर्गत थीं। रामायणके चरित्र-चित्रणमें धर्मकी साकार मूर्तियाँ, धर्मके ज्वलन्त आदर्श विद्यमान हैं। विभीषणमें शरणागत-धर्मका, हनुमान्‌में सेवकधर्मका, सुग्रीवमें सख्यधर्मका, दशरथमें पितृधर्मका; श्रीराममें पुत्रधर्म, पतिधर्म और राजधर्मका; कौसल्यामें स्त्रीधर्मका, सीतामें पातिव्रत्यधर्मका तथा भरत और लक्ष्मणमें भ्रातृधर्मका मूर्तिमान् आदर्श सन्निहित है।

रामायणका हिंदू-संस्कृतिपर प्रभाव

हिंदू-संस्कृतिके सभी क्षेत्रोंमें रामायणका अपरिमित प्रभाव पड़ा है। वाल्मीकिके चरितनायक श्रीरामकी पूजा हिंदू-धर्मका अमिट अंग है। रामानुज, रामानन्द, कबीर और तुलसीदासने श्रीरामका एक आदर्श राजा और ईश्वरीय अवतारके रूपमें प्रचार किया, जिससे हिंदू जनता अत्यधिक प्रभावित हुई। भारतीय नैतिकताका तो रामायण उद्‌गमस्थल ही है। रामायणके आदर्शोंका अनुकरण भारतीय संस्कृतिके समर्थकों और उन्नायकोंका सदासे लक्ष्य रहा है। भारतीय काव्यों तथा नाटकोंके कथानक रामायणके पर्याप्त ऋणी हैं। मुरारिके शब्दोंमें 'समस्त कविरूपी व्यापारियोंके लिये वाल्मीकिने एक सामूहिक पूँजी प्रस्तुत कर दी है'—

अहो सकलकविसार्थसाधारणी खलु इदं वाल्मीकीया सुभाषितनीवी।

आधुनिक समयमें होनेवाली रामलीलाएँ भी रामायणके कथानकके प्रति लोकरुचिकी द्योतक हैं। भारतीय चित्रकारी रामायणद्वारा प्रभावित है। राजपूत-शैलीकी चित्रकलामें रामायण-सम्बन्धी चित्रोंका बाहुल्य है। जोधपुर-म्यूजियममें सैकड़ों वर्ष प्राचीन ९१ रामायण-सम्बन्धी चित्रोंका एक संग्रह विद्यमान है। प्राचीन भारतीय स्थापत्यकलाके उपलब्ध नमूनोंपर रामायणकी छाप देख पड़ती है। साँची, अमरावती, भारहुत, उदयगिरि, बुद्धगया, नासिक, मथुरा और भूतेश्वरके प्राचीन अवशेषोंपर रामायणमें वर्णित प्रासादों और शिखरों तथा सजावट और निर्माणकलाका प्रभाव प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है। कुमारगुप्त प्रथमकी एक उपलब्ध मुद्रापर अयोध्याकाण्ड (२।२।२२) के उस वर्णनका चित्र अंकित है, जिसमें हाथीपर सवार होकर श्रीराम राजमार्गसे जा रहे हैं, और उनके सिरपर छत्र तना हुआ है। गुप्तकालीन दशावतार-मन्दिरमें तथा विजयनगरकालीन हजारा श्रीराम-मन्दिरमें रामायणके कई दृश्य खुदे हुए हैं। पहाड़पुर (बंगाल) के आठवीं शताब्दीके मन्दिरमें रामायणकी कई घटनाएँ खुदी हुई हैं। भारतके अनेक प्राचीन शिलालेखोंमें रामायणके शब्दों, भावों तथा श्लोकार्धोंको उद्धृत किया गया है। यही नहीं, बृहत्तर भारतके देशोंकी कला, साहित्य और संस्कृतिपर भी वाल्मीकीय रामायणका प्रभाव आज भी स्पष्ट झलकता है।

हिंदुओंकी धर्मनिष्ठा और सचाई

'हिंदू-धर्मका आचार-निर्माणकारी प्रभाव इतना विशाल था कि केवल उच्चवर्णके ही लोग नहीं, वरं नीची-से-नीची जातिके लोग भी शास्त्रोपदिष्ट युद्धकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म परम्पराओंका पालन करते थे।' रातको लड़ना अथवा छिपकर आक्रमण करना लोग जानते ही नहीं थे। हिंदू लोग सच्चे वीर थे, तभी तो शत्रुके प्रति उनके मनमें लेशमात्र भी वैर नहीं रहता था। इसीलिये विश्रामकालमें वे एक ही नदीमें स्नान करते तथा एक दूसरेको पान-सुपारी देते।

'दिये हुए वचनके प्रति साधारणसे भी साधारण हिंदू-सैनिकका इतना विलक्षण आदर था कि जब युद्धके बंदियोंको प्रतिज्ञाबद्ध करके छः मासके लिये छोड़ा जाता था, तब यदि वे मुक्ति पानेके लिये माँगे हुए मूल्यकी व्यवस्था नहीं कर पाते तो अपने-आप वापस आ जाते थे। उनमें अपकीर्तिको सदा मरणसे भी अधिक बुरा माना जाता था। सत्यनिष्ठाके प्रति पूरी सावधानीका अभाव तथा शत्रुकी किसी प्रतिकूल परिस्थितिसे लाभ उठा लेना—इनको अपमानजनक समझा जाता था।

—पुर्तगाली लेखक'

हिंदू-संस्कृति और श्रीरामचरितमानस

(लेखक—मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

सम्-उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर सुट्का आगम होनेसे 'संस्कृति' शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है 'सम्यक् रूपसे अलंकृत बनावट', या यों कहिये कि 'दोषापनयनपूर्वक गुणाधान'। इसमें सन्देह नहीं कि अनेक शास्त्रोंमें इस शब्दका एकाधिक अर्थोंमें प्रयोग हुआ है; परंतु 'हिंदू-संस्कृति' शब्दका अर्थ 'हिंदुओंद्वारा गृहीत दोषापनयन-गुणाधान-परिपाटी' ही होना चाहिये।

यह जगत् गुण-दोषमय है। शुद्ध गुण या शुद्ध दोषका रूप कहीं आँखतले नहीं आता। गुणमें दोष मिला हुआ है, और दोषमें गुण मिला हुआ है—यथा *'बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना।'* मानुषी बुद्धि इसके वर्गीकरणमें सर्वथा असमर्थ है। लैबोरेटरी (रसायनशाला) में भी इनका विश्लेषण नहीं हो सकता। अतः गोस्वामीजी कहते हैं—

गनि गुन दोष बेद बिलगाए।

इस गुण-दोषसे सने हुए प्रपंचमेंसे गुणों और दोषोंका वर्गीकरण वेदादि शास्त्रोंने किया। अतः इनका निर्णेता वेदादि शास्त्र है। कहना नहीं होगा कि प्रचलित मत-मतान्तरोंने भी रूपान्तरसे उसी निर्णयको स्वीकार किया है। परंतु इस समय, जब कि ईश्वरपर विश्वास करना असभ्यता तथा बर्बरताका द्योतक माना जाता है, वेदादि शास्त्रोंकी कथा ही क्या है। आज छोटी-सी-छोटी बातें विवादास्पद हो उठी हैं, शब्द तथा उनके अनादि-सिद्ध अर्थोंमें स्वेच्छाचारिताका बोलबाला हो रहा है, रुचिके अनुसार गुण-दोषकी कल्पना की जा रही है, तदनुसार ही वेदादि शास्त्र भी निर्दयताके साथ तोड़े-मरोड़े जा रहे हैं! ऐसी स्थितिमें 'हिंदू-संस्कृति' जैसे जटिल तथा गम्भीर विषयपर विवाद उठना इस समय कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि 'हिंदू-संस्कृति क्या है? और उसके शुद्धरूपका दर्शन किस उपायसे सम्भव है?'

प्रकृत जिज्ञासुके लिये इसका उत्तर कुछ बहुत कठिन नहीं है। इस समय जितनी संस्कृतियाँ प्रचलित हैं, उनका जन्म २५०० वर्षोंके भीतरका है। इससे पहलेकी संस्कृति ही शुद्ध हिंदू-संस्कृति है, और उसके वर्णनसे संस्कृतका भंडार भरा पड़ा है। पर जनता उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठा सकती; क्योंकि व्याख्याताकी विप्रलिप्सासे उसमें भी अर्थका अनर्थ किया जा सकता है।

परंतु श्रीरामचरितमानस हिंदीमें है। वह 'नानापुराण-निगमागमसम्मत' है, उसे सभी सम्प्रदायके लोग आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। उसमें कथा भी उस समयकी है, जब कि इन विभिन्न संस्कृतियोंका गन्ध भी नहीं था, जिनके कारणसे हिंदू-संस्कृति विप्रतिपत्तिका विषय हो रही है। उसके नायक मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र हैं, जिन्हें संसार आदर्श नरपतिरूपसे स्वीकार करता है, और उसके रचयिता ऐसे वीतराग महात्मा हैं, जिनपर पक्षपात, विप्रलिप्सा तथा स्वार्थ-परायणतादि दोषोंका आरोप नहीं किया जा सकता। अतः श्रीरामचरितमानस ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें हिंदू-संस्कृतिके विशुद्ध रूपका दर्शन बड़ी आसानीसे हो सकता है।

उसमें उपादेयरूपसे जिस भाँति हिंदू-संस्कृतिका कथन है, उसी भाँति हेयरूपसे लंकाकी संस्कृतिका वर्णन तथा कलि-खल-अघ-अवगुण-कथन भी है; अतः उसकी उक्तियोंमें हिंदू-संस्कृति निखरी हुई-सी दिखायी पड़ती है, सुतरां हिंदू-संस्कृतिके सम्यक् ज्ञानके लिये मैं पाठकोंसे श्रीरामचरितमानसके अध्ययनके लिये अनुरोध करूँगा। यहाँपर तो उसका अधूरा स्थूल मानचित्र भी देना कठिन है।

श्रीरामचरितमानसमें दो समृद्ध देशोंका विशेषरूपसे वर्णन है, एक श्रीअयोध्यापुरीका और दूसरा लंकापुरीका। अयोध्यापुरीका राज्य वंशपरम्परागत है, और उसके शासक रघुवंशी क्षत्रिय हैं, जिनका प्रजापालन स्वधर्म है। उनके शासनमें आधुनिक वादोंके सभी गुण थे और दोष एक भी नहीं। उनकी प्रजा स्वतन्त्र होनेपर भी सनाथ थी। राजा प्रजाका आराधन करता था, उसके हृद्गत भावोंको दूतोंद्वारा जानकर उनकी तुष्टिके लिये अपनी प्राणप्रिया सती साम्राज्ञीको त्याग सकता था। और प्रजा राजभक्त थी, राजाके लिये अपने प्राणोंको निछावर करनेके लिये प्रस्तुत रहती थी। शासकने धर्मभावना इतनी प्रबल बना रखी थी कि लोग पापसे भयभीत रहते थे, अपराध या विरोधकी प्रवृत्ति ही उनमें नहीं थी। वहाँ एक ही आन्दोलन चलता था कि 'मनको जीतो;' अतः

जेलखाना रहनेपर भी वहाँ कैदी नहीं थे, न्यायालय रहनेपर भी मुकदमें नहीं थे। यथा—

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र के राज॥
सब नर करहिं परसपर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति रीती॥

सब लोग अपना-अपना काम ईश्वरार्पणबुद्ध्या करते थे, फलकी कामना किसीको नहीं; अतः बिना मूल्य दिये भी बाजारमें सौदा मिलता था।—*'बस्तु बिनु गथ पाइए।'*

कोई भी नया काम करनेके पहले राजा प्रजासे सम्मति ले लेता था, यहाँतक कि श्रीरामचन्द्र-ऐसे पुत्रको गद्दी देनेके लिये महाराज दशरथ प्रजाजनोंसे कहते हैं—
जौं पाँचहि मत लागै नीका। करहु हरषि हियँ रामहि टीका॥

प्रादेशमात्र कहकर अब मैं विरोधी संस्कृति (लंकाकी संस्कृति) का रूप कुछ दिखलाता हूँ। लंकाके शासक बड़े विद्वान् ब्राह्मण रावण थे, अतः राज्यशासन उनका स्वधर्म नहीं था। लंका उनकी पराक्रमार्जित थी। उन्होंने भी अपने समाजको सुखी कर रखा था। सम्पूर्ण संसारको लूटकर उन्होंने सोनेकी लंका बना रखी थी, यथा—

चाँकि राख्यौ रासि सब जाँगर जहान भो।

वे अपनी रायसे राज्य करते थे, मन्त्रीकी भी नहीं सुनते थे। राजाको मन्त्री चाहिये, इसलिये मन्त्री रख छोड़ा था। यथा—

भुज बल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न स्वतंत्र।
मंडलीक मनि रावन राज करइ निज मंत्र॥

सम्राट् रावण वेद-पुराणको विद्रोहात्मक समझते थे, अतः उनसे बहुत चिढ़ते थे; जिस भाँति धर्म निर्मूल हो, वैसी ही नित्य नयी आज्ञा निकाला करते थे। धर्मके मूल गौ, ब्राह्मण और देवताओंके विरोधमें नित्य आन्दोलन चलता था। यथा—

जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला । सोइ सब करहिं बेद प्रतिकूला॥
जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं । नगर ग्राम पुर आगि लगावहिं॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई । देव बिप्र गुरु मान न कोई॥
नहिं जप जोग धर्म ब्रत दाना । सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना॥

फल यह हुआ कि अतिशय धर्मकी ग्लानि देखकर सम्पूर्ण पृथ्वी भयभीत होकर व्याकुल हो उठी; क्योंकि शासकके धर्मविरोधी होनेसे आसुरी प्रकृतिके लोग बहुत अधिक हो गये। वे माता-पिता और देवताको नहीं मानते थे, साधुओंसे सेवा लेते थे। दूसरेके धन और परायी स्त्रीके लम्पट खल, चोर और जुआरियोंकी वृद्धि हुई; जगत्में अव्यवस्था फैल गयी।

ऐसा समय भी जिस उपायसे पलटा जा सकता है, उसका भी निर्देश श्रीगोस्वामीजीने वहीं कर दिया है। वह उपाय वेद-शास्त्रसम्मत है और सहस्रों बारका परीक्षित है, कभी व्यर्थ जानेवाला नहीं है। वह यही है कि जब-जब इस भाँति संसार संकटाकीर्ण हुआ है, तब-तब भले लोग इकट्ठे होकर भगवान्की शरणमें गये हैं, और उन्हींसे प्रार्थना की है। प्रार्थनाका महाप्रभाव अचिन्त्य है, उससे द्रवीभूत होकर परमेश्वर भक्तोंके मनोरथको पूर्ण करते हैं। सम्पूर्ण पृथ्वीने उसी उपायका अवलम्बन किया। वह देवताओंकी शरणमें गयी, उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की।

उसी प्रार्थनासे द्रवीभूत होकर भगवान्ने उक्त रघुवंशमें महाराज दशरथके घरमें अवतार धारण किया और उन्हींके द्वारा लंकावाली विरोधिनी संस्कृतिका नाश होकर विशुद्ध हिंदू-संस्कृतिकी पुनः स्थापना हुई।

भौतिक उन्नति यद्यपि उपेक्षाकी वस्तु नहीं है, फिर भी वह संस्कृति नहीं है। संस्कृति उससे कहीं ऊँची वस्तु है। भौतिक उन्नतिका सदुपयोग या दुरुपयोग संस्कृतिके हाथमें है। लंकामें जो उन्नति हुई थी, उसे पढ़कर आश्चर्य होता है। वायुयान वहाँ थे, गोले वहाँ शत्रु-सेनापर गिराये जाते थे। रणांगणमें दिनको सिनेमाके ऐसे-ऐसे दृश्य दिखाये जाते थे, जिन्हें देखकर शत्रुकी सेना युद्ध-पराङ्मुख होती थी। विज्ञान इतना बढ़ा था कि बनावटी शत्रुका सिर दिखलाकर उसकी पत्नीको विपत्ति-सागरमें डाल देते थे; पर इन सबसे संसारका हित नहीं हुआ, क्योंकि उनकी संस्कृति कुत्सित थी।

यह संसार है; एक रंगसे न कभी रहा, न रहेगा। अनेक प्रकारकी उन्नति और अवनतियाँ आया-जाया करती हैं। इसमें हिंदू-संस्कृति यही है कि किसी भी अवस्थामें स्वधर्मका परित्याग न करे; क्योंकि धर्म ही प्रभुका अग्रभाग है। यथा—

सहि कुबोल साँसति सकल अँगइ अनट अपमान।
तुलसी धरमु न छाड़िये कहि करि गए सुजान॥

रामायणमें हिंदू-संस्कृति

(लेखक—स्व० कवि-सम्राट् पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध')

मद्रास प्रान्तके लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् और वक्ता श्रीयुत शिवस्वामी ऐयरने एक बार अपने एक प्रसिद्ध व्याख्यानमें कहा था—'हमारा राज्य छिन जाय, ऐश्वर्य धूलमें मिल जाय, विभव पद-दलित हो, सम्पत्ति हर ली जाय, हम सर्वप्रकार निःसंबल हो जायँ, सर्वस्व गँवा दें, तो भी हम निःस्व न होंगे, यदि रामायण और महाभारत-जैसे हमारे अलौकिक रत्न सुरक्षित रह सकें।' इस कथनका रहस्य क्या है? वास्तवमें बात यह है कि जातिकी संस्कृति ही उसका जीवनसर्वस्व होती है। कोई जाति अपनी संस्कृति खोकर जीवित नहीं रह सकती। संस्कृति ही वह आधारशिला है, जिसके सहारे जाति-जीवनका विशाल प्रासाद निर्मित होता है। जिस दिन यह आधारशिला स्थानच्युत होगी, उसी दिन पुष्ट-से-पुष्ट प्रासाद भी भहरा पड़ेगा। संसारमें कुछ निर्जीव जातियाँ अब भी जीवित हैं; किंतु अपनी संस्कृतिको खोकर वे कण्ठगतप्राण हैं, उनको मरी ही समझिये—चाहे आज मरें, चाहे कल। कारण यह है कि संस्कृति ही किसी जातिके अस्तित्वका पता देती है; यही वह चिह्न है, जो उसके पूर्व गौरव, महान् आदर्श और लोकोत्तर कार्य-कलापद्वारा संसारकी अन्य जातियोंसे उसको पृथक् करती है। जिस समय चारों ओरसे अन्धकार होनेके कारण वह अवनति-गर्तकी ओर अग्रसर होती रहती है, उस समय उसीके आलोकसे आलोकित होकर वह उचित पथ ग्रहण करती है और उस समुन्नति-सोपानपर चढ़ने लगती है, जो उसको उत्थानके समुच्च शिखरपर आरूढ़ कर देता है। भारतमें यवन, शक, हूण आदि बड़ी-बड़ी बलवान् जातियाँ आयीं। परम पराक्रान्त वह मुसलमान जाति आयी, जिसने जहाँ शासन किया, वहीं अपने धर्मकी विजय-दुन्दुभि बजायी, जिसके द्वारा देश-का-देश उसके धर्ममें दीक्षित हो गया। किंतु रामायण और महाभारतकी पवित्र संस्कृतिके बलसे हिंदू-धर्म आज भी जीवित है। जीवित ही नहीं, उसने अपनी वह अलौकिक महत्ता दिखलायी कि जिसके बलसे संसार-विजयिनी करवाल भी टुकड़े-टुकड़े हो गयी। जिस समय भारतव्यापी मुसलमान-साम्राज्य उत्तरोत्तर वृद्धि पा रहा था और उसकी गुरु-गर्जनासे भारत-वसुन्धरा प्रकम्पित हो रही थी, जब यह अवगत हो रहा था कि अब भारतीयताकी समाप्ति हो जायगी, हिंदू-धर्म लुप्त हो जायगा, हिंदू-जाति नामशेष रह जायगी और भारतभूमिका अपार विभव मुसलमान-जातिके विशाल उदरमें समा जायगा, उस समय कतिपय महान् आत्माओंमें कुछ ऐसी संस्कृति जाग्रत् हुई, जिसने भारतवर्षकी काया ही नहीं पलट दी, हिंदू-जातिका पुनरुज्जीवन भी कर दिया। यह बात इतिहास जाननेवालोंको अविदित नहीं। यह कौन संस्कृति थी? वही रामायण-महाभारतकी— उस रामायण और महाभारतकी, जो हिंदू-संस्कृतियोंके भंडार हैं। मैं समझता हूँ, अब मद्रास प्रान्तके उपर्युक्त विद्वान्के कथनका रहस्य आपलोगोंकी समझमें आ गया होगा।

भारतमें समय-समयपर विभिन्न विचारके बड़े-बड़े प्रवाह आये, कुछ कालतक उनके प्रबल वेगके सामने वह आत्मविसर्जन करता दिखलायी पड़ा। परंतु उसके धैर्यका पाँव स्थानच्युत कभी नहीं हुआ। वह सदा सँभला और अपनी भारतीयताकी धारामें उसने सबको विलीन कर लिया। उसकी महान् संस्कृति ही उसकी इस सफलताका कारण है। कविकुल-पुंगव वाल्मीकिकी महिमामयी लेखनी जिस प्रकार इन आर्य-संस्कृतियोंका उल्लेखकर धन्य हुई है, उसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदासकी कलामयी कवितामें भी उनका अलौकिक चमत्कार दृष्टिगत होता है। गोस्वामीजीका वर्णन सामयिकता लिये है, इसलिये उन्हींकी रामायणसे कुछ ऐसी संस्कृतियोंका वर्णन यहाँ किया जाता है, जो हमारे सामाजिक जीवनकी संजीवनी शक्तियाँ कही जा सकती हैं। गोस्वामीजीकी रामायण आर्यसभ्यता और संस्कृतिका अलौकिक कोष है; जहाँ देखिये, वहीं उनकी लेखनी इस विषयमें बड़ी ही मार्मिकतासे चलती दिखलायी पड़ती है। उनकी रामायणका 'गेहे-गेहे, जने-जने' प्रचार क्यों है? इसीलिये कि हिंदू-हृदय जिन आदर्शोंको देखकर पुलकित होता है, जिन भावोंद्वारा उल्लसित और रससिक्त बनता है, उसमें उन्हीं आदर्शों और भावोंका बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण है। गोस्वामीजीकी लेखनीका चमत्कार यही है कि वह मूर्तिमन्त आर्यसंस्कृति है; यह मूर्तिमत्ता कहीं-कहीं इतनी मनोहर और सुन्दर है, इतनी प्रांजल और सरस है कि उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। उनकी

अद्‌भुत रचनाओंको पढ़ते समय कभी-कभी इतनी तन्मयता हो जाती है कि ब्रह्मानन्द-सुखका अनुभव होने लगता है। वही कविता मर्मस्पर्शिनी होती है, जिसमें वे ही दृश्य सुन्दरतासे सामने आते हैं, जिनको हम प्रायः देखते रहते अथवा जिनका अनुभव प्रतिदिन करते रहते हैं। गोस्वामीजी इसी प्रकारकी कविताओंके आचार्य हैं। वे न तो 'ख' पुष्प तोड़ते हैं न अगम-अगोचरका व्यापार करते हैं, न अधरमें प्रासाद-निर्माण ही; वे मानव-चरित्रमें ही आत्माकी महत्ताका प्रदर्शन करते हैं और नित्यके कार्य-कलापमें ही '**सत्यं शिवं सुन्दरम्**' की कल्पना। इसीलिये वे जो कुछ कहते हैं, उसको हृदय स्वीकार कर लेता है। कुछ इसी प्रकारकी कृतियाँ आपके सामने उपस्थित की जाती हैं।

पिताकी आज्ञा शिरोधार्यकर भगवान् श्रीरामचन्द्र वन-यात्राके लिये प्रस्तुत हैं, श्रीमती कौसल्यादेवीकी सेवामें उपस्थित होकर उनसे अनुनय-विनय कर रहे हैं; इसी समय व्यथितहृदया विदेहनन्दिनी वहाँ आयीं। गोस्वामीजी लिखते हैं—

समाचार तेहि समय सुनि सीय उठी अकुलाइ।
जाइ सासु पद कमल जुग बंदि बैठि सिरु नाइ॥

दोहेके द्वितीय भागमें कुल-ललनाकी कितनी मर्यादाशीलता अंकित हुई है, यह अविदित नहीं। भगवती जानकी सीधे आकर भगवान् श्रीरामचन्द्रके सामने नहीं खड़ी हो गयीं। उन्हींसे कथोपकथन नहीं प्रारम्भ किया, क्यों? इसीलिये कि इससे श्रीमती कौसल्यादेवीका तिरस्कार होता। आर्यजातिकी यह संस्कृति है कि बड़ोंकी उपस्थितिमें बहुएँ लज्जा त्यागकर पतिसे सम्भाषण नहीं करतीं, उनसे बोलतींतक नहीं। आज भी कुलीनोंमें यह परम्परा प्रचलित है। फिर आदर्श गृहिणी सीतादेवी ऐसा क्यों करतीं। वे आयीं और सासकी चरणवन्दना करके, सिर नीचा करके बैठ गयीं। कितना सलज्ज भाव है! ***'बैठि सिरु नाइ'*** लिखकर गोस्वामीजीने जो-जो मार्मिकता दिखलायी है, यही उनकी विशेषता है। यह ***'बैठि सिरु नाइ'*** जानकीजीके हृदयका प्रतिबिम्ब है। इस कार्यद्वारा उन्होंने अपनी मर्यादाशीलता, अपनी आकुलता और अपनी अशक्तताका ही प्रदर्शन नहीं किया, दैन्य दिखलाकर सहायताकी भिक्षा भी माँगी। सम्भव है, आजकलकी शिक्षिता ललनाएँ इसको पराधीनताकी कुत्सित बेड़ी समझें; किंतु यह मर्यादाशीलताकी वह मौक्तिकमाला है, जिसको धारणकर प्रत्येक कुल-बालाकी अपूर्व शोभा हो सकती है। आर्य-संस्कृतियाँ अत्यन्त उदात्त हैं, उनमें स्वार्थपरताका उतना स्थान नहीं, जितना सदाशयताका। वह अपने सुख-विलासमें ही जीवनकी सार्थकता नहीं समझतीं; वह तभी कृतकृत्य होती हैं, जब गुरुजन, आत्मीयजन, अथवा अन्य उपकार-कामुक जनोंकी सेवा कर आत्मोत्सर्ग कर पाती हैं। वे उच्छृंखलता एवं निर्लज्जतासे मर्यादाशीलताको और संकीर्णहृदयता एवं मदान्धतासे सहृदयताको उत्तम समझती हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें ऐसे आदेश हैं कि जिनसे इस प्रकारके संस्कारोंका उदय हो। कुछ नीचे लिखे जाते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २।१२१)

भगवान् मनु कहते हैं, 'जो अभिवादनशील और नित्य वृद्धसेवातत्पर हैं, उनकी आयु बढ़ती है, तथा उन्हें विद्या, यश और बल प्राप्त होता है।'

विवाहकालके समय सप्तपदीमें स्त्री यह प्रतिज्ञा करती है—

कुटुम्बं रक्षयिष्यामि सदा तं मंजुभाषिणी।
दुःखे धीरा सुखे हृष्टा द्वितीये साब्रवीद्वचः॥

'कुटुम्बकी रक्षा करूँगी, सदा मधुरभाषिणी रहूँगी, दुःखमें धीर और सुखमें आनन्दित रहूँगी।'

१-गुरुषु सखिषु भृत्ये बन्धुवर्गे च भर्तु-
र्व्यपगतमदमाया वर्तयेत् स्वं यथार्हम्।

२-भार्यैकचारिणी गूढविश्रम्भा देववत्पतिमानुकूल्येन वर्तेत तन्मतेन कुटुम्बचिन्तामात्मनि सन्निवेशयेत्।

३-श्वश्रूश्वशुरपरिचर्यां तत्पारतन्त्र्यमनुत्तरवादिता परिमिताप्रचण्डालापकरणमनुच्चैर्हासः तत्तु प्रियाप्रियेषु स्वप्रियाप्रियेष्विव वृत्तिः। (वात्स्यायन)

१-पतिके गुरुजनोंसे, सखाओंसे और बन्धुवर्ग एवं सेवकोंसे निरभिमान रहकर यथायोग्य बर्ताव करे।

२-भार्याको चाहिये—पतिको देवताके समान जाने, उसकी इच्छाके अनुकूल जीवन व्यतीत करे और उसकी सम्मतिके अनुसार कुटुम्बीजनकी चिन्तामें लीन रहे।

३-कुलवधू सास-ससुरकी सेवा करे, उनकी आज्ञामें रहे, उनकी परतन्त्र बने, उनकी बातोंका जवाब न दे, मिष्टभाषण करे, जोरसे न हँसे। उनके प्रिय-अप्रियको अपने प्रिय-अप्रियके समान समझे।

जिस समय श्रीमती जनकनन्दिनी सिर नीचा

करके चरणोंके समीप बैठ गयीं, उस समय—

दीन्हि असीस सासु मृदु बानी। अति सुकुमारि देखि अकुलानी॥

इस पद्यमें यथावसर *'मृदु बानी'* शब्दका कितना सुन्दर प्रयोग है। यदि दोहेका *'पद कमल बंदि बैठि सिरु नाइ'* श्रीमती जानकीके विनय-नम्र हृदयका सूचक है, तो यह *'मृदु बानी'* शब्द कौसल्यादेवीके कोमल वात्सल्यपूर्ण हृदयका परिचायक है। इसके उपरान्त श्रीमती कौसल्यादेवीके हृदयकी क्या अवस्था हुई, इसकी सूचना यह अर्द्धाली देती है—*'अति सुकुमारि देखि अकुलानी।'* कितनी स्वाभाविकता है! वे कितना शीघ्र अपनी पुत्रवधूके हृदयमें प्रवेश कर गयीं। श्रीजानकीजी सासके समीप सिर नीचा करके बैठ तो गयीं, परंतु मुँह न खुला; वे कुछ कह न सकीं। कैसे कहतीं, संकोचने जीभको बंद जो कर रखा था। यही नहीं, हृदयमें दुःखकी एक विचित्र घनघोर घटा उठ रही थी; वे सोच रही थीं—

बैठि नमितमुख सोचति सीता। रूप रासि पति प्रेम पुनीता॥
चलन चहत बन जीवननाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि करतबु कछु जाइ न जाना॥
चारु चरन नख लेखति धरनी। ....॥

देखा आपने, सामयिक अवस्थाकी कितनी सुन्दर वर्णना है! *'बैठि नमित मुख'* से *'चारु चरन नख लेखति धरनी'* तक कैसे भावमय शब्द-विन्यास हैं। उनसे श्रीमती जानकीदेवीकी संकोचमय दशा, उनके चिन्ता-नाट्य, उनके दृढ़ विचार, पवित्र प्रेम आदिपर कितना सुन्दर प्रकाश पड़ता है। हृदयमें जो घटा धूमसे उठ रही थी, नेत्रोंके सहारे वह बरस पड़ी। गोस्वामीजीने लिखा—

मंजु बिलोचन मोचति बारी।

कौसल्यादेवी पहले ही सब समझ गयी थीं, नेत्रोंके जलने उनको और आर्द्र कर दिया; इसलिये दूसरी अर्द्धाली यों लिखी गयी—

बोली देखि राम महतारी॥

'राम महतारी' का कितना सार्थक प्रयोग है! पुत्रपर माताका अधिकार तो सूचित हुआ ही, साथ ही उनके हृदयकी महत्ता और द्रवणशीलता भी उससे विदित हुई। राम-महतारी क्या बोलीं, अब उसे भी सुनिये—

तात सुनहु सिय अति सुकुमारी। सासु ससुर परिजनहि पिआरी॥
पिता जनक भूपाल मनि ससुर भानुकुल भानु।
पति रबिकुल कैरव बिपिन बिधु गुन रूप निधानु॥
मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई॥
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई॥
कलप बेलि जिमि बहुबिधि लाली। सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली॥
फूलत फलत भयउ बिधि बामा। जानि न जाइ काह परिनामा॥
पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ॥
सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा॥
चंद किरन रस रसिक चकोरी। रबि रुख नयन सकइ किमि जोरी॥
करि केहरि निसिचर चरहिं दुष्ट जंतु बन भूरि।
बिष बाटिकाँ कि सोह सुत सुभग सजीवनि मूरि॥
बन हित कोल किरात किसोरी। रचीं बिरंचि बिषय सुख भोरी॥
पाहन कृमि जिमि कठिन सुभाऊ। तिन्हहि कलेसु न कानन काऊ॥
सिय बन बसिहि तात केहि भाँती। चित्रलिखित कपि देखि डेराती॥
सुर सर सुभग बनज बन चारी। डाबर जोगु कि हंसकुमारी॥
अस बिचारि जस आयसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई॥
जौं सिय भवन रहै कह अंबा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा॥

श्रीमती कौसल्यादेवी आदर्श माता ही नहीं, आदर्श सास भी हैं। सासका पतोहूके प्रति वह सच्चा और पवित्र स्नेह जो गृहको स्वर्ग बनाता है, गार्हस्थ्य-धर्मको उन्नतकर कुटुम्बको सुख-शान्तिमय कर देता है, वे उसकी मूर्ति थीं। भावमय शब्दोंमें उनके हृदयका प्रेम जिस प्रकार व्यंजित हुआ है, वह बड़ा ही गम्भीर, उदात्त एवं द्रावक है।

नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई॥
कलपबेलि जिमि बहुबिधि लाली। सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली॥
जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ॥

इन पंक्तियोंमें कितनी ममता भरी है, इनमें कितना आदरभाव और प्यार है, कितना प्रेम और वात्सल्य है, कितनी करुणा और द्रवणशीलता है, क्या यह बतलाना होगा? कौन सहृदय है, जो इन भावोंको इनमें छलकता न पायेगा? जब कौसल्यादेवी कहती हैं—

पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
बन हित कोल किरात किसोरी। रचीं बिरंचि बिषय सुख भोरी॥
कै तापस तिय कानन जोगू। जिन्ह तप हेतु तजा सब भोगू॥
सिय बन बसिहि तात केहि भाँती। चित्रलिखित कपि देखि डेराती॥

तब जानकी देवीकी सरलता, कोमलता, उनके स्वभावका भोलापन और उनकी भीरु प्रकृति आँखोंके सामने फिर जाती है; साथ ही हृदयमें एक ऐसी वेदना होने लगती है, जो चित्तको विह्वल कर देती है। यदि

कौसल्यादेवी सीताजीका मुँह न जोहती रहतीं, उनके सुखसे रहनेका ध्यान न रखती होतीं, तो उनके मुखसे इस तरहकी बातें न निकलतीं। इन पंक्तियोंमें उनकी व्यथा ही मूर्तिमन्त होकर विराजमान नहीं है; उनकी वह वाञ्छा भी झलक रही है, जो पुत्रवधूके साधारण क्लेशोंको देखकर भी विचलित होती है—

चंद किरन रस रसिक चकोरी। रबि रुख नयन सकइ किमि जोरी॥
सुरसर सुभग बनज बन चारी। डाबर जोगु कि हंसकुमारी॥
बिष बाटिकाँ कि सोह सुत सुभग सजीवनि मूरि॥

किसी पुत्रवधूके पक्षमें अपने पुत्रसे कोई सास इससे अधिक और इससे उत्तमतासे क्या कह सकती है। इन पंक्तियोंमें एक कुल-बालाका हृदय खोलकर उसके प्रियतमको दिखलाया गया है, और साथ ही यह भी सूचित किया गया है कि एक पतिप्राणाके वियोग-विधुरा बननेपर उसका जीवन कैसा संकटापन्न हो सकता है। इनमें कौसल्यादेवीकी गम्भीरता जितनी सुन्दरतासे स्फुटित हुई है, उतनी ही उनकी भावुकता, सहृदयता और मार्मिकता भी। एक ओर वे पुत्रवधूकी गम्भीर मनोवेदना, उसकी वन-गमनकी असमर्थता आदिका आवरण हटाती हैं, और दूसरी ओर पुत्रकी आँखें खोलती हैं, और उसे उचित कर्तव्यके लिये सावधान करती हैं। ऐसे अवसरपर वे अपने उत्तरदायित्वको भी नहीं भूलतीं; वे पुत्रके महान् कर्तव्यों, उनके असीम संकटों और दैवदुर्विपाकको समझती हैं।

अतएव यह आज्ञा नहीं देतीं कि अपनी स्त्रीको अवश्य साथ लेते जाओ, केवल इतना ही कहती हैं—

सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा॥
अस बिचारि जस आयसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई॥

फिर व्यथित और विरहकातरा होकर यह कह पड़ती हैं—

जौं सिय भवन रहै कह अंबा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा॥

यह अन्तिम पद्य उनके व्यथामय आन्तरिक भावका सूचक है। पुत्र जाय तो जाय, किंतु विनयशीला पुत्रवधूको वह नहीं त्यागना चाहतीं। फिर भी कलेजेपर पत्थर रखकर उन्होंने आत्मसुखको तिलांजलि दी, और जानकीदेवीकी मर्मव्यथाओंकी ही मरहम-पट्टी करनेकी पूरी चेष्टा की; यही है उनकी महत्ता और महानुभावता, यहीं *'राम महतारी'* पदकी पूरी सार्थकता हुई है। आर्य-संस्कृतिका ही यह उदात्त कल्पना है और आर्य-संस्कृतिका ही है यह अपूर्व आदर्श।

भगवान् करे, घर-घर श्रीमती कौसल्या-जैसी सास और श्रीमती जानकी-जैसी पुत्रवधुएँ दिखलायी पड़ें, जिससे हमारे पवित्र गृहोंमें पाश्चात्त्य कलुषित प्रभावोंका अशुभ प्रवेश न हो सके।

माताकी बातें सुनकर भगवान् श्रीरामचन्द्र चिन्तित हुए। पहले तो विवेकमय वचन कहकर उन्होंने उनको समझाया। इसके उपरान्त जानकीजीसे कुछ कहना चाहा; परंतु मर्यादा बाधक हुई, माताका संकोच हुआ। फिर भी समय देखकर उन्हें उनसे कुछ कहना ही पड़ा। गोस्वामीजी लिखते हैं—

मातु समीप कहत सकुचाहीं। बोले समउ समुझि मन माहीं॥

भगवान् श्रीरामचन्द्र मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं; परंतु प्रबल कालसे उनकी भी न चली। श्रीमती जानकीदेवीसे उन्होंने जो कुछ कहा, उसे सुनिये—

राजकुमारि सिखावनु सुनहू। आन भाँति जियँ जनि कछु गुनहू॥
आपन मोर नीक जौं चहहू। बचनु हमार मानि गृह रहहू॥
आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥
एहि तें अधिक धरमु नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा॥
जब जब मातु करिहि सुधि मोरी। होइहि प्रेम बिकल मति भोरी॥
तब तब तुम्ह कहि कथा पुरानी। सुंदरि समुझाएहु मृदु बानी॥
कहउँ सुभायँ सपथ सत मोही। सुमुखि मातु हित राखउँ तोही॥

कैसी उचित और मार्मिक बातें हैं! भगवान् श्रीरामचन्द्र-जैसे विनय-नम्र और मर्यादाशील पुत्रके मुखसे दूसरी कौन बात निकलती। उन्होंने यह भी कहा—जो कुछ मैं कह रहा हूँ, वह गुरु एवं श्रुतिसम्मत है; अतएव इस धर्मफलको बिना कष्टका अनुभव किये लाभ करना चाहिये।

गुर श्रुति संमत धरम फलु पाइअ बिनहिं कलेस।

श्रुति कहती है—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।

शास्त्र कहता है—

प्रत्यक्षदेवता माता..।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

स्मृति कहती है—

संयतोपस्करा दक्षा हृष्टा व्ययपराङ्मुखी।
कुर्याच्छ्वशुरयोः पादवन्दनं भर्तृतत्परा॥
(याज्ञवल्क्य०)

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥
(मनु० २।१४५)

'माता, पिता और आचार्य देवता हैं।' 'माता प्रत्यक्ष देवता है। जननी और जन्मभूमि स्वर्गसे भी श्रेष्ठ हैं।' 'स्त्रीको संयतोपस्कर (थोड़े गहनोंवाली), दक्ष, हृष्ट और व्यर्थव्यय-पराङ्मुखी होना चाहिये। पतिमें रत रहकर सदा सास-ससुरकी सेवा करना उनका धर्म है।' 'उपाध्यायसे दशगुण आचार्यका, आचार्यसे शतगुण पिताका और पितासे सहस्रगुण गौरव माताका है।'

इस प्रधान धर्मकी शिक्षा देनेके बाद भगवान् श्रीरामचन्द्रने वनकी भयंकरताओं और वहाँकी असुविधाओंका बड़ा ही विशद वर्णन किया है। पाठक रामायणमें उनको देख सकते हैं। अधिकांश वर्णन बड़ा ही भावमय और सुन्दर है, कवित्व तो उसमें कूट-कूटकर भरा है। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ॥
हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू। सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू॥
मानस सलिल सुधाँ प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली॥
नव रसाल बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥

इन पंक्तियोंमें कितनी स्वाभाविकता और भावुकता है, सहृदयजन स्वयं उसका अनुभव करें। कुछ पाश्चात्त्य विद्वानोंका मत है कि श्रीमती जनकनन्दिनीका चरित्र जिस रूपमें भारतीय कवियोंने अंकित किया है, वह कल्पित है; उसमें वास्तविकताका लेश नहीं। 'उनपर विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ता है, परंतु उस अवस्थामें भी उनको कुछ कहते नहीं देखा जाता। ज्ञात होता है कि उनके मुखमें जीभ नहीं, या किसीने उनके मुखपर मुहर लगा दी है। वे बड़े-से-बड़ा दुःख सह लेती हैं परंतु उफ् भी नहीं करतीं। वज्र टूट पड़ता है, किंतु हिलतींतक नहीं। ऐसी प्रस्तर-प्रतिमा हो सकती है, कोई जीव-धारिणी नहीं।' ऐसी-ही-ऐसी तर्कनाएँ करके वे दिलके फफोले फोड़ते हैं, और इस प्रकारकी और कितनी ही ऊटपटाँग बातें कहते रहते हैं। वास्तव बात यह है कि जिस वातावरणमें उनके हृदयका विकास हुआ है, जो दृश्य उनके नेत्रोंके सामने उपस्थित होते रहते हैं, पति-पत्नीके जिन पारस्परिक व्यवहारोंका उनको अनुभव है, वैसी ही उनकी विचार-परम्परा और मननशैली है। यूरोपकी स्त्रियोंमें आत्मपरायणता अधिक होती है, वे उतनी पतिप्रेमिका और स्नेहमयी नहीं होतीं, जितनी एशिया—विशेषतः भारतकी कुल-ललनाएँ होती हैं। वे पतिपरायणा तभीतक रहती हैं, जबतक उनके स्वार्थोंकी पूर्ति होती रहती है। स्वार्थमें व्याघात उपस्थित होनेपर वे तत्काल उनको त्याग देती हैं। आजकल यह प्रवृत्ति बहुत ही प्रबल हो गयी है। पतिकी आज्ञामें रहना, उनकी सेवाके लिये आत्मोत्सर्ग करना, उनकी दृष्टिमें आत्मविक्रय है। विवाह-बन्धन उनकी दृष्टिमें उतना पवित्र नहीं, वे बातकी बातमें उसे तोड़ सकती हैं। उनका स्वभाव उग्र, असंयत और प्रायः उच्छृंखल होता है। इस प्रकारकी प्रवृत्तिको वे तेजस्विता कहती हैं। उनकी स्वतन्त्रताकी कामना इतनी तीव्र होती है कि पतिके सामने यदि थोड़ा भी झुकना पड़े, तो वे उसे परतन्त्रता मान बैठती हैं। जिस देश, जिस समाजके ऐसे आदर्श हों, उस देश और समाजमें पला हुआ मनुष्य यदि सीतादेवीको अधिक धीर, गम्भीर, संयत, आत्मत्यागकी मूर्ति और पतिप्राणा देखकर उनके विषयमें तथाकथित विचार प्रकट करे तो क्या आश्चर्य। मेरे कथनका यह मतलब नहीं कि यूरोपमें पतिपरायणा स्त्रियाँ होती ही नहीं; ऐसा कहना और सोचना अन्याय होगा। मिल्टनने एक स्थानपर 'ईव' के मुखसे इन शब्दोंको कहलवाया है। ये शब्द उन्होंने आदरसे कहे हैं—

"What thou bidd' st, unargued I beg So God ordains, God is thy law, thou mine."

'जो आपकी आज्ञा होती है, उसे मैं बिना कुछ कहे-सुने स्वीकार करती हूँ। ईश्वरीय इच्छा यही है। आपके नियन्ता ईश्वर हैं और मेरे आप।'

संसारमें जितनी सती-साध्वी स्त्रियाँ होंगी, प्रायः सबके हृदयका भाव ऐसा ही होगा। यदि यूरोपकी स्त्रियोंमें ऐसा भाव न पाया जाता तो मिल्टनकी लेखनीसे ऐसे शब्द निकलते ही नहीं, अभावमें भाव नहीं होता। यूरोपकी स्त्रियोंमें रजोगुण और तमोगुण ही होता है, सत्त्वगुण नहीं—ऐसा कहना अस्वाभाविक होगा। वहाँ स्वाभाविकताका लोप हो गया है, कृत्रिमता ही शेष है—यह भी नहीं कहा जा सकता। किंतु यह परम सत्य है कि आजकल धार्मिकताका स्थान स्वेच्छाचारिता ग्रहण कर रही है, इसीलिये वहाँका वायुमण्डल विशेष कलुषित हो गया है। यूरोपमें सती-साध्वी स्त्रियोंका अभाव नहीं, किंतु वे उँगलियोंपर गिनी जा सकती हैं। क्षेत्र प्रायः वैसी ही स्त्रियोंके हाथमें है, जिनका चित्रण ऊपर हुआ है। आजकल हमारे यहाँ भी पढ़ी-लिखी स्त्रियोंने यूरोपकी स्त्रियोंका अनुकरण आरम्भ कर दिया है। अतएव उन्हींके प्रभावोंसे लोग प्रभावित हैं, और वैसे ही असंगत विचार भारतकी पुनीत सभ्यतामें पली स्त्रियोंके विषयमें प्रकट करनेके लिये बाध्य हैं; किंतु

इस प्रकारकी निर्मूल बातोंका मूल्य ही क्या।

श्रीमती सीतादेवी भारतकी सती साध्वी स्त्रियोंकी शिरोमणि हैं। उनको आर्य-संस्कृतिकी दिव्य मूर्ति कह सकते हैं। उनके मुखमें जिह्वा है, किंतु बडी ही संयत। उनके मुँहपर मुहर कभी नहीं लगी। वे समयपर बोलती हैं, किंतु उनके शब्द तुले हुए और गम्भीर होते हैं; उन शब्दोंमें महानुभावता भरी होती है, पर साथ ही हृदयकी विशालता भी। कटु वचन कहना, उद्धत बन जाना उनके स्वभावके विरुद्ध है। जैसी मर्यादाशीलता और सदाशयता उनमें दृष्टिगत होती है, अन्यत्र नहीं और बातोंकी तरह सभ्यताके भी स्तर होते हैं। पहले वह उतनी उदात्त, संयत और गम्भीर नहीं होती, जितनी उन्नतावस्थामें। सांसारिक अन्य पदार्थोंकी तरह उसका भी क्रमशः विकास होता है। जो जातियाँ पहले पशुओंके समान जीवन व्यतीत करती थीं, आज वे ऊँचे-ऊँचे महलोंमें रहती हैं, और वैज्ञानिक आविष्कारोंद्वारा जगत्को चकित करती हैं; यह उनकी सभ्यताके क्रमशः विकासका ही फल है। आर्यसभ्यता संसारकी सब सभ्यताओंसे प्राचीन है और लगभग पूर्णताको पहुँची हुई है; इसलिये वह अधिकांश उदात्त गुणोंका आधार है। भगवती जानकी सतीत्वके विषयमें इसका प्रमाण हैं। स्त्री-जातिके हृदयका चरमोत्कर्ष उनमें देखा जाता है। उनकी महानुभावता संसारकी सती-साध्वी स्त्रियोंका आदर्श है। विभिन्न हाथोंमें पड़कर विचार-वैचित्र्यके कारण कहीं-कहीं उनका चरित्र विकृत हो गया है, किंतु उनकी महत्ता कहीं खर्व नहीं हुई। दिंनाग बौद्ध विद्वान् था। उसने 'कुन्दमाला' नामक एक नाटक लिखा है। प्रकरण उसका 'वैदेही-वनवास' है। विपिनमें पहुँचाकर लौटते समय लक्ष्मणजी जनकनन्दिनीसे सन्देशकी प्रार्थना करते हैं, उस समय नाटककार उनके मुखसे ये वाक्य कहलाते हैं—

तथा निष्ठुरो नाम सन्दिश्यत इत्यप्रतिहतवचनतैषा लक्ष्मणस्य, न सीताया धन्यत्वम्।

अहो अविश्वसनीयता प्रकृतनिष्ठुरभावानां पुरुष-हृदयानाम्।

'ऐसे निष्ठुरके लिये मैं जो सन्देश देना चाहती हूँ, इसमें लक्ष्मणके वचनका आदर है, सीताका सौभाग्य नहीं।' स्वभावसे ही निष्ठुरभावपूर्ण पुरुष-हृदयकी अविश्वसनीयता विचित्र है।' ऐसे ही एक अवसरपर भवभूति कौन-सा पथ ग्रहण करते हैं, उसे भी देखिये। उत्तररामचरितमें एक स्थलपर वे श्रीमती सीतादेवीकी सखी वासन्तीके मुखसे भगवान् श्रीरामचन्द्रके विषयमें यह वाक्य कहलाते हैं—

'अयि देव! किं परं दारुणः खल्वसि।'

'देव! आप सचमुच बड़े निष्ठुर हैं।'

यह सुन सीतादेवी अपनी पतिप्राणताका परिचय देते हुए क्या कहती हैं, उसे भी सुनिये—

'सखि वासन्ति! किं त्वमेवंवादिनी भवसि, पूजार्हः सर्वस्यार्यपुत्रो विशेषतो मम प्रियसख्याः।'

'सखी वासन्ती! तुम ऐसा क्यों कहती हो? आर्यपुत्र सबके पूजनीय हैं, विशेषतः मेरी प्रिय सखीके।'

दिंनागकी जनकनन्दिनी देवी नहीं, मानवी हैं। उनमें धैर्यच्युति है। वे धैर्यच्युत होकर पतिदेवको निष्ठुर कहती हैं, साथ ही पुरुषजातिमात्रको स्वभावसे ही निष्ठुरहृदय कह डालती हैं। इस कथनमें स्वाभाविकता है, किंतु चित्तकी वह विशालता नहीं, जो मनुष्यको देवता बना देती है। विपत्ति ही मनुष्यकी कसौटी है, इसपर कसनेपर दिंनागकी सीतादेवी ठीक नहीं उतरीं। भवभूतिकी सीतादेवी वास्तवमें देवी हैं, वे आत्मचिन्ताशून्य हैं, सच्ची पतिप्राणा हैं; वे 'विपदि धैर्य' का आदर्श हैं। उन्होंने स्वाभाविकतापर विजय प्राप्त कर ली है, उनमें प्रतिहिंसा-वृत्ति है ही नहीं। वे स्वयं तो भगवान् श्रीरामचन्द्रको देखकर कुछ कहती ही नहीं, सखीके कटु वचनको भी नहीं सह सकतीं; उनका यह वाक्य बड़ा ही मार्मिक है—'आर्यपुत्र सबके पूजनीय हैं, विशेषतः मेरी प्रिय सखीके।' यह सीतादेवीका वास्तविक रूप है, यह रूप बुधजन ही नहीं—विबुधजनवन्दनीय है। उनका यही रूप आर्य-संस्कृतिका सर्वस्व है। गोस्वामीजी उनके इसी रूपके उपासक हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रकी बातोंको सुनकर सीतादेवीने क्या कहा, अब उसको उन्हींके शब्दोंमें सुनिये।

कौसल्यादेवीके सामने जनकनन्दिनीको सीधे पतिसे बातचीत करनेमें मर्यादा बाधक थी। अतएव उन्होंने उन्हींका सहारा ढूँढ़ा, किंतु इसमें उनको सफलता न हुई। भगवान् श्रीरामचन्द्रने ऐसी बातें कहीं कि उन्हें बोलनेकी नौबत आयी। इसलिये पहले उन्होंने—

लागि सासु पग कह कर जोरी। छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरी॥

इस पद्यमें कितनी मर्यादाशीलता है। ***'छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरी'*** में उनके सरल और विनम्र हृदयकी कितनी सुन्दर प्रतिच्छाया है। साससे अविनयकी क्षमा माँगकर उन्होंने पतिदेवसे जो कुछ कहा, उसमें पतिप्रेमका

प्रवाह उमड़ा पड़ता है। उसका एक-एक शब्द बड़ा ही भावमय है, उसकी कुछ पंक्तियाँ देखिये—

मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं। पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं॥

तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहद समुदाई॥

सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥

तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥

भोग रोगसम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥

प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥

विवाहकालमें सप्तपदीके समय पत्नी प्रतिज्ञा करती है—

आर्ते आर्ता भविष्यामि सुखदुःखविभागिनी।
तवाज्ञां पालयिष्यामि पंचमे सा पदे वदेत्॥

'आर्त होनेपर आर्त हूँगी, सुख-दुःख-भागिनी हूँगी और तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगी।' कहा जा सकता है कि इस प्रतिज्ञाके अनुसार उनको वही करना चाहिये था, जो पतिने कहा; क्या यह अमर्यादा नहीं? पहली बात यह कि '**आपत्काले नियमो नास्ति।**' दूसरी बात यह कि उन्होंने अवज्ञा क्या की? कोई आज्ञा होनेपर उसके पालन करनेमें जो बाधाएँ उपस्थित होंगी, क्या उनका निवेदन करना आज्ञा न मानना है? आज्ञा माननेकी अपेक्षा पतिकी दुःख-सुख-संगिनी होना, उनके लिये जीवन उत्सर्ग करना क्या अधिक संगत नहीं? सीतादेवीकी चेष्टा यही तो है। स्त्रीका सर्वस्व पति ही तो है, फिर यहाँ तो प्राणकी बाधा उपस्थित है।

राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान।

ऐसी अवस्थामें उन्होंने जो कुछ निवेदन किया, उसमें विप्रतिपत्ति क्या? जो स्त्री-धर्म है, जो शास्त्रसंगत बात है, वही तो वे कह रही हैं।

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचदप्रियम्॥
(मनु०)

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता॥
(व्यास०)

मितं ददाति जनको मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं पूजयेत्सदा॥
(शिवपुराण)

पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्। (चाणक्य० शिवपुराण)

'स्त्रीको न तो कोई यज्ञ करनेकी आवश्यकता है न व्रत-उपवासकी। पतिकी सेवा करनेसे ही वह स्वर्गमें आदृत होती है। पतिलोककी कामना करनेवाली साध्वी स्त्री, चाहे जीवित पति हो चाहे मृत, उसका अप्रिय कभी न करे।' 'भार्या वही है, जो गृह-कार्यमें दक्ष हो, सन्तानवाली हो, पतिप्राणा और पतिव्रता हो।' 'पिता, भ्राता, पुत्र थोड़ा देनेवाले हैं; सब कुछ देनेवाला पति ही है। इसलिये वह सदा सत्कारयोग्य है।' 'स्त्रियोंका गुरु एक पति ही है।'

श्रीमती जानकी देवीके निवेदनमें आर्य-सिद्धान्तोंकी ध्वनिके सिवा और क्या है? हाँ, उनके हृदयके समान उनकी उदात्त उक्तियाँ अवश्य हैं। इस कथनमें कितनी सत्यता है—*'पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं।'* इसीलिये *'तनु धनु धाम धरनि पुर राजू। पति बिहीन सब सोक समाजू'* है, और *'भोग रोग सम भूषन भारू'* है। जब *'रघुकुल कुमुद बिधु'* बिना *'सुरपुर नरक समान'* है, तब *'जम जातना सरिस संसारू'* का होना क्या आश्चर्य? फिर वे क्यों न कहतीं *'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं।'* जब वे *'मातु पिता भगिनी'* इत्यादि बड़े-बड़े सम्बन्धियोंका नाम सुन्दर विशेषणोंके साथ गिनाकर यह कहती हैं, *'जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते'* तब वे किस ज्वालाकी ओर संकेत करती हैं, क्या यह बतलाना होगा? विरह-ज्वालाकी बातें कौन नहीं जानता। विरहिणीको कौन नहीं जलाता। चाहे यह उसकी मानसिक आधिका ही फल हो, उसको अनुभव ऐसा ही होता है। उसको सुधाकर-किरणें भी अग्निमयी ज्ञात होती हैं, और मलयसमीर शेष-श्वास। और अधिक क्या कहें, उन्होंने यह बात कितनी दूरकी कही, *'जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी।'* सत्य है, पुरुष स्त्री-देहका प्राण है, और कामिनी-कल्लोलिनीका सलिल। किन्तु इस बातको सीतादेवी-सदृश पतिप्राणा देवी ही समझ और कह सकती हैं।

इसके उपरान्त उन्होंने यह कहा—

खग मृग परिजन नगरु बनु बलकल बिमल दुकूल।

नाथ साथ सुरसदन सम परनसाल सुख मूल॥
बनदेवीं बनदेव उदारा। करिहहिं सासु ससुर सम सारा॥
कुस किसलय साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई॥
कंद मूल फल अमिअ अहारू। अवध सौध सत सरिस पहारू॥

आजकल 'खाओ, पीओ, आराम करो' का वज्र-निर्घोष ही सुनायी पड़ रहा है। ऐसी अवस्थामें सीतादेवीकी बातोंको कौन सत्य स्वीकार करेगा? खग-मृगको परिजन, वनको नगर, वल्कलको विमल दुकूल, पर्णशालाको सुरसदन-समान सुखमूल कौन मानेगा? क्या ऐसा माना जा सकता है? ये तो चिकनी-चुपड़ी बातें हैं। वनदेव, वनदेवी सास-ससुर नहीं बन सकते। *'कुस किसलय साथरी' 'मनोज तुराई'* नहीं कही जा सकती, न तो कंद-मूल-फल अमृतमय आहार हो सकते हैं और न अवधके सैकड़ों सौधोंके समान पहाड़; एवं न कोई बुद्धिमती स्त्री ऐसा कह सकती है। हाँ, यह कवि-कल्पना हो सकती है।

हृदय सबके पास है, जीभ सबके मुँहमें है; जो जिसके मनमें आये, कह सकता है; जो चाहे सोच सकता है। परन्तु यह अक्षरशः सत्य है कि जो कुछ श्रीजानकी देवीने कहा, वह आर्यललनाके हृदयका सच्चा उद्‌गार है। यदि हम विवेककी आँखें खोल लें, तो भारतीय कुलबालाके मानस-दर्पणमें यह भाव बहुत ही स्पष्टरूपमें प्रतिबिम्बित दिखायी देगा। श्रीमती सीतादेवी स्वयं इसके लिये प्रमाण हैं,—जिन्होंने एक-दो दिन नहीं, लगभग चौदह वर्ष भगवान् श्रीरामचन्द्रके साथ इसी भावसे व्यतीत किये। उनके उद्‌गारोंका प्रतिपादन निम्नलिखित पद्य बड़ी ही दृढ़तासे करते हैं—

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥
छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी॥
मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥

वास्तविक सुखका सम्बन्ध हृदयके भावोंसे है, किसी पदार्थ अथवा वस्तुविशेषसे नहीं—इन पद्योंको पढ़कर इस बातको सत्य प्रेमका पथिक भलीभाँति समझ सकता है। प्रेम प्रेमके लिये होता है, सुख-उपभोगके लिये नहीं। जो प्रेम सुख-कामनापर उत्सर्गीकृत है, वह प्रेम नहीं, प्रेमका आडम्बर मात्र है। सच्चे प्रेममें कष्टकी अनुभूति होती ही नहीं। सीतादेवी कहती हैं—

बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥

सत्य प्रेममें अहंभाव नहीं होता, उसमें सेवाभाव ही प्रबल होता है। सत्य प्रेम सूर्य है, उसके सामने अहंभाव-अन्धकार ठहर नहीं सकता; उसको अवलोकनकर सेवाभाव-सरसिज अवश्य विकसित होता रहता है। भगवती जानकीमें यह भाव कितना जाग्रत् है, देखिये—

सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं॥
श्रम कन सहित स्याम तनु देखें। कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें॥
सम महि तृन तरुपल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥

इन पंक्तियोंमें कितना आत्मनिवेदन है, कितनी अमायिकता और सरलता है, कितनी हितकामना और सहानुभूति है; यह निर्बल हृदयकी अवतारणा नहीं, सबल चित्तकी उदात्त भावमयी सुन्दर प्रस्तावना है। प्रवंचनामय मानसकी प्ररोचना नहीं, **'मनस्येकं वचस्येकं क्रियास्वेकम्'** की सत्यतामयी विभावना है। स्वार्थसाधनकी कपटभरी आयोजना नहीं, कर्तव्यज्ञानकी भक्तिभरी साधना है।

भगवान् श्रीरामचन्द्रने विपिनकी भयंकरताका बड़ा विशद वर्णन किया था, और यह भी कहा था—

नर अहार रजनीचर चरहीं। कपटबेष बिधि कोटिक करहीं॥

सीतादेवी इसका कितना सुन्दर और गम्भीर उत्तर देती हैं, सुनिये—

बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि तात बयारि न मोही॥
को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा। सिंघ बधुहि जिमि ससक सिआरा॥

इस उत्तरमें कितना आत्मविश्वास और कितनी पतिनिर्भरता है, कितनी प्रीतिपरायणता और तेजस्विता है—इसका अनुभव प्रत्येक सहृदय प्राणी कर सकता है।

श्रीरामचन्द्रजीने यह भी कहा था, *'हंसगवनि तुम्ह नहिं बनजोगू।'* इसका उत्तर बड़ा ही हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी है। कहीं भी जानकीदेवीने व्यंग्यसे काम नहीं लिया, बहुत धीर भावसे संयत उत्तर ही देती चली गयी हैं। किन्तु इस पंक्तिका उत्तर बड़ा ही व्यंजनामय है; साथ ही उसमें इतनी स्वाभाविकता है कि पढ़कर चित्त लोटपोट हो जाता है। उत्तर यह है—

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू॥

इस वचन-रचनाकी बलिहारी। इसीको कहते हैं, 'कागजपर रख दिया है कलेजा निकालकर।' कितनी मीठी चुटकी है, साथ ही कितनी प्रेमभरी!

शास्त्रोंमें स्त्रीको सहधर्मिणी कहा गया है; सहधर्मिणीका अर्थ है, समान धर्मवाली। सच्ची गृहिणी

वही है, जो पतिके भावोंको समझती है और बिना कहे उसकी पूर्ति करती है। पतिने जब मुँह खोलकर कुछ कहा और तब स्त्रीने कोई कार्य किया, तो वह सहधर्मिणी कहाँ रही। जिस स्त्रीने पतिके हृदयको नहीं पहचाना, उसके कर्तव्यको नहीं समझा, जो उसकी जीवन-यात्राके अनुकूल अपनेको नहीं बना सकी, किसी स्थलविशेषपर पतिका क्या धर्म है—जो इसकी मर्मज्ञ नहीं, वह सहधर्मिणी होनेका दावा नहीं कर सकती। विवाहके समय वर कन्यासे कहता है—

मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व, प्रजापतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

'मेरे व्रतकी ओर तुम्हारा हृदय खिंचे, मेरे चित्तके अनुकूल तुम्हारा चित्त हो, एकमना होकर मेरी बात मानो, प्रजापति तुमको मुझसे सम्बन्धित करें।'

विवाहके अन्तमें कन्याको ध्रुवका दर्शन कराया जाता है, वह ध्रुवको देखकर कहती है, **ध्रुवमसि ध्रुवं त्वां पश्यामि।** 'अयि ध्रुव! तुम अचल-अटल हो, मैं तुम्हें देखती हूँ।' इसका भाव यह है कि 'विवाहकार्यमें पतिके द्वारा मुझसे जो प्रतिज्ञाएँ करायी गयी हैं, अथवा मैंने स्वयं जो प्रतिज्ञाएँ की हैं, उनपर मैं ध्रुवके समान अचल-अटल रहूँगी।' सप्तपदीके समय वह यह भी कहती है—

यज्ञे होमे च दानादौ भविष्यामि त्वया सह।
धर्मार्थकामकार्येषु वधूः षष्ठे पदे वदेत्॥

'यज्ञ, होम और दानादिमें, धर्म, अर्थ और काममें मैं सदा तुम्हारे साथ रहूँगी।' इसीलिये '**अर्धं भार्या मनुष्यस्य**' है। इसीलिये स्त्री अर्धांगिनी है और इसीलिये सहधर्मिणी। रामायणमें इस संस्कृतिका एक बड़ा ही उत्तम निदर्शन है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता। सीय रामु गुह लखन समेता॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥
पिय हिय की सियजाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥

गोस्वामीजीकी इस उक्तिमें कि ***'प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा'*** बड़ा स्वारस्य है। 'प्रभु' शब्दका प्रयोग कितना सार्थक है! साधारण जन होते तो इस विषयमें वे कुछ लापरवाही भी कर सकते; किंतु 'प्रभु' का ऐसा करना बड़ा ही अनुचित था। बड़ी ही मर्यादाविरुद्ध बात थी। फिर उसके साथ, जो जीभ नहीं हिला सकता। बड़े लोगोंके लिये दीनों, अकिंचनोंकी सहायता करनेके लिये इस प्रकारके अवसर बड़े ही सुन्दर होते हैं। सेवा करनेवाला बड़ोंसे बड़ी आशा रखता भी है। कम-से-कम भगवान्‌को निषादकी मूँठी अवश्य भर देनी चाहिये थी; किंतु कहाँ, वे तो कुछ न दे सके। तापस-वेषमें उनके पास था ही क्या। फिर उनके जीको चोट क्यों न लगती, और वे क्यों न संकुचित होते। सीतादेवी सतीशिरोमणि हैं, सच्ची सहधर्मिणी और अर्धांगिनी हैं; उन्होंने पतिदेवके हृदयकी बात जान ली और तत्काल मुदित मनसे मणिजटित मुँदरी उतार दी। गोस्वामीजीके शब्दोंकी मार्मिकता देखिये—

'पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥'

कैसी मुँदरी उतारी? मणिजटित। कैसे उतारी? मुदित मनसे। स्त्रियोंको गहना बड़ा प्यारा होता है; उनको उसे अलग करते बड़ी कठिनता होती है, पीड़ा भी होती है। वे आसानीसे उसे किसीको देना नहीं चाहतीं। जब्र करके कोई भले ही ले ले। यह साधारण गहनोंकी बात है, और मणिजटित गहना? वह तो कलेजेमें छिपाकर रखनेकी चीज है। उसका तो नाम ही न लीजिये। किंतु सीतादेवीने वैसी ही अँगूठी उतारी। और वह भी मुदित मनसे; जरा-सा तेवर भी नहीं बदला, पेशानीपर शिकन-तक नहीं आयी। क्योंकि उनका सर्वस्व तो उनका जीवनधन है, उनका सौन्दर्य तो उनके हृदयका सौन्दर्य है। जो पतिप्रेमके आभूषणसे आभूषित है, उसको भूषणोंकी क्या आवश्यकता। जिसे पतिकी अनुकूलता वांछनीय है, जो पतिमर्यादाकी भूखी है, गहनोंपर उसकी लार नहीं टपकती। यह चिरसंचित आर्यसंस्कृति है, भगवती जनकनन्दिनी इसका उच्चतम आदर्श हैं।

आधुनिक कालमें भी इस प्रकारके आदर्शोंका अभाव नहीं, एक प्रसंग आपलोगोंको सुनाता हूँ। देशपूज्य, दयासागर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागरका पवित्र नाम आपलोगोंने सुना होगा। उनकी स्त्री बड़ी साध्वी थीं। विद्यासागर महोदयकी उदारता लोकविश्रुत है। एक बार एक ब्राह्मण उनकी सेवामें उपस्थित हुआ और उसने विनय की कि 'मैं कन्यादायसे आकुल हूँ; यदि आपने कृपा नहीं की तो मेरा निर्वाह होना कठिन है। उसने दो सौ रुपयेकी आवश्यकता बतलायी। उस समय उनके पास कुछ नहीं था, वे चिन्तित हुए। ब्राह्मणको बाहर बैठाया और आप अंदर गये। सामने उनकी सहधर्मिणी आ गयीं। उन्होंने पतिके मुखकी ओर देखा और पूछा 'आप चिन्तित क्यों हैं?' उन्होंने कहा, 'एक ब्राह्मण कन्यादायग्रस्त है और दो सौ रुपयेकी उसको

आवश्यकता है; परंतु इस समय तो मैं बिलकुल रिक्तहस्त हूँ। साध्वीके नेत्रोंमें जल आ गया; उन्होंने कहा, 'मेरे हाथके सोनेके कड़े किस काम आयेंगे?' यह कहकर उन्होंने अपने कड़े उतारे, और पतिदेवके हाथपर उनको रख दिया। अपनी पत्नीकी यह उदारता देखकर उनके अश्रुपात होने लगा, वे अश्रुविसर्जन करते ही बाहर आये और उत्फुल्ल हृदयसे उन्होंने कड़े ब्राह्मणदेवको सादर देकर कहा, 'इन्हें मेरी स्त्रीने आपको अर्पण किया है।'

रामायणकी संस्कृतिकी बातें सुनाते-सुनाते एक अन्य प्रसंग भी मैंने आपलोगोंके सामने उपस्थित कर दिया—केवल इस विचारसे कि जिसमें आपलोग आर्य-संस्कृतिकी व्यापकताका अनुभव कर सकें। आर्य-संस्कृति बहुत उदात्त है और आज इस प्रतिकूल कालमें भी वह बहुत व्यापक है। हिंदू-जातिपर तो उसका प्रभाव है ही, यहाँकी मुसलमान जाति और ईसाइयोंपर भी उसका असर देखा जाता है। कारण इसका यह है कि उनमें अधिकांश हिंदू-सन्तान ही हैं। चिरकालिक संस्कार नाश होते-होते होता है। तत्काल अथवा थोड़े समयमें उसका सर्वथा नाश नहीं होता। यह सच है कि समयकी प्रतिकूलताका सामना उसे करना पड़ रहा है, पाश्चात्त्य विचार भी उसे दबा रहे हैं; किंतु सूर्य कबतक बादलोंमें छिपा रहेगा। काल पाकर बादल टलेंगे और वह फिर वैसा ही जगमगाता दिखलायी पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि आर्य-संस्कृतिके भाव उदात्त और सर्वदेशी हैं। एकदेशिता उनमें कम है। इसलिये पंचभूतके समान ही वे उपयोगी हैं। आवश्यकतानुसार उनका कुछ रूप बदल सकता है, वे सर्वथा परित्यक्त नहीं हो सकते। रामायण और महाभारतके अनेक अंश और अनेक उपदेश जैसे हिंदू-जातिके उपकारक और शिक्षक हैं, वैसे ही संसारकी अन्य जातियोंके लिये भी हैं। यूरोपमें भी उनके अनुवाद आदरसे पढ़े गये हैं और विजातीय सहृदयोंने भी उसकी दिल खोलकर प्रशंसा की है। ऐसी अवस्थामें उनकी उपयोगिता अप्रकट नहीं। रामायणकी संस्कृतियोंका संकलन कर यदि उनपर प्रकाश डाला जाय, और उनपर मननपूर्वक लेख लिखे जायँ तो मेरा विचार है कि वर्तमानकालमें उससे बड़ा लाभ हो सकता है। अन्तमें अपनी निम्नलिखित सवैयाद्वारा गोस्वामीजीका गुणगान करते हुए मैं इस लेखको समाप्त करता हूँ—

बन राम-रसायनकी रसिका रसना रसिकोंकी हुई सफला।
अवगाहन मानसमें करके जन-मानसका मल सारा टला॥
बनी पावन भावकी भूमि भली, हुआ भावुक-भावुकताका भला।
कविता करके तुलसी न लसे, कविता पा लसी तुलसीकी कला॥

आत्म-ज्योति

भटको नहीं! अनिश्चयमें मत बहो!

भटकनेसे पतन ही होगा। अनिश्चयमें बहनेसे निर्बलता ही आयेगी।

विचारो और एक निश्चयपर पहुँचो!

निश्चयपर पहुँचनेके बाद उसे कार्यान्वित करो—अडिग, अटल, दुःख झेलते हुए, त्याग करते हुए।

तभी ध्येयतक पहुँचोगे। तभी अपनी मानवता सार्थक प्रमाणित करोगे।—भले ही तब तुम्हारे पैर लहूलुहान हों, मन टूक-टूक हो; आँखोंमें तो आत्म-गौरव और आत्म-सन्तोषकी जगमग ज्योति होगी।

आज दुनियाको यही ज्योति चाहिये। धनकी चकाचौंधमें तो उसकी आँखें खुल ही नहीं पातीं।

उसे स्निग्ध, मनोरम ज्योति दो, जिससे उसकी आँखें खुल सकें।

—बालकृष्ण बलदुवा

आर्य-संस्कृति और श्रीमद्भगवद्गीता

(लेखक—पं० श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक, एम० ए०)

जब किसी देश या जातिकी संस्कृतिका विचार किया जाता है, तब प्रायः उसकी सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज, कला-कौशल, व्यापार-वाणिज्य, साहित्य-विज्ञान आदिकी प्रगति देखी जाती है। परंतु प्रकृतिका ऐसा नियम नहीं है कि इन क्षेत्रोंमें उन्नति कर लेनेपर भी कोई जाति नष्ट होनेसे बच जाय। बहुत-सी प्राचीन जातियाँ उन्नति कर लेनेपर भी विलीन हो गयीं और उनकी कृतियोंके भग्नांश पुरातत्त्ववेत्ताओंकी खोजकी सामग्री रह गयी हैं। सर हेन्री सम्नर मेनके मतानुसार थोड़ी-सी पाश्चात्त्य जातियाँ ही प्रगतिशील हैं और शेष सब रूढ़ियोंसे बँधी होनेसे गतिहीन हैं या नष्ट हो चुकी हैं। उनकी दृष्टिमें व्यक्तिका अधिकाधिक वर्ग या वर्णसे स्वतन्त्र होना उन्नतिका प्रमाण है। और दूसरा प्रबल एवं प्रत्यक्ष प्रमाण है विज्ञानकी शोध, और उसके द्वारा प्रकृतिके रहस्योंका उद्घाटन कर ज्ञान-वर्धनके साथ प्रकृतिकी शक्तिको अपने व्यवहार और उपयोगमें लाना। संस्कृतिका आर्य-आदर्श इससे भिन्न है; परंतु सांसारिक उन्नतिसे उसका विरोध नहीं है। हमारी संस्कृतिके जन्मदाता अरण्यवासी ऋषि-मुनि हैं। ज्ञान-दीपको प्रज्वलित करनेवाले भगवान् वेदव्यास हैं। और पाश्चात्त्य सभ्यताका जन्म नगरोंमें हुआ है। एकपर वन, प्रकृति और अनन्तकी खोजकी छाप पड़ी है, तो दूसरेपर राजस्व एवं भौतिक सुखकी खोजका प्रभाव है।

अनेक प्राचीन जातियाँ कालके गालमें समा गयीं। उनकी आश्चर्यजनक उन्नति भी रक्षा न कर सकी और आर्यजाति सबसे प्राचीन होते हुए भी जीवित है और उसने अपनी कृतियों और विचारधारासे संसारको विशेषरूपसे समृद्ध बनाया है। इस बातका इतिहास साक्षी है। अन्य जातियोंने संस्कृतिके अंगोंकी तो भली प्रकार पुष्टि की, परंतु उनको अनुप्राणित करनेवाली संजीवनी शक्तिकी अवहेलना की। परिणाम अनिवार्य था। आर्यजातिने अधिक महत्त्व प्राणको दिया और वह है सनातनधर्म। यही कारण है कि उसकी परम्परा बनी हुई है और वह आज भी जीवित है। गतिमान्यके कारण प्रत्यक्ष हैं; परंतु उत्थानके लक्षण भी दिखायी देते हैं। अपनेको बलवती बनानेकी सामर्थ्य और अवरोधको हटानेकी शक्ति उसीमें निहित है।

सनातनधर्म हमारा रक्षक है, पोषक है और भविष्यके लिये हमें इसीका एकमात्र आश्रय है; परंतु खेद तो यह है कि समाजके गण्यमान व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो धर्मानुसार सुधार न कर सनातनधर्मको ही अपनी सुविधा और स्वेच्छाचारसे परिवर्तन करना चाहते हैं। भारतवर्षका विधान बनाया जा रहा है। वह कैसा? धर्मनिरपेक्ष, जिसमें ईश्वरके नामतकका बहिष्कार किया गया है। हमारे बहुसंख्यक विधायकोंकी दृष्टिमें धर्म ही अवनतिका कारण है!

ऋषि-मुनि, आचार्य—यहाँतक कि किसी अवतारने भी यह दावा नहीं किया कि वह सनातनधर्मका जन्मदाता है। समस्त शास्त्रोंका एक ही लक्ष्य रहा है और वह है धर्मका व्याख्यान और उसके द्वारा मनुष्यकी कल्याणकामना श्रीमद्भगवद्गीता सर्वशास्त्रमयी है। उसीके आधारपर हमारी धर्म-प्राण संस्कृति तथा आर्यजातिके कुछ आदर्शोंको समझनेकी चेष्टा की जाती है। भली प्रकार विचार करनेसे जान पड़ेगा कि हमारी संस्कृतिके सभी मौलिक सिद्धान्त स्पष्टतः अथवा सूत्ररूपसे गीतामें मिलते हैं। यहाँ तो इने-गिनेपर विचार करना है।

'धर्म' शब्दसे गीताका श्रीगणेश होता है और एक प्रकारसे कहा जा सकता है कि जिन बातोंको उपदेशरूपसे कहा गया है, वे सब धर्मके ही अन्तर्गत हैं; क्योंकि श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—**इमं धर्म्यं संवादमावयोः**। और अर्जुन भी **धर्मसंमूढचेताः** होकर उपदेशका प्रार्थी हुआ था। इस प्रकार अर्जुनको जो शिक्षा दी गयी, वह हमारे आदर्श और संस्कृतिकी मूलभूत शिक्षा कही जा सकती है। जब अर्जुन युद्धविमुख हुआ, तब श्रीभगवान्ने उसके समस्त तर्कोंका खण्डन तीन ही शब्दोंमें कर दिया—**अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरम्**। उपदेशमें विधि और निषेध दोनों आवश्यक होते हैं। यहाँ निषेध स्पष्ट है। **अनार्यजुष्टम्**—अर्थात् जो आर्यलोगोंके आचरणविरुद्ध हो या उनके आचरणसे अनुमोदित न हो और परम्पराको भंग करनेवाला हो। आर्यका लक्षण योगवासिष्ठमें बतलाया है—

कर्तव्यमाचरन् कामं अकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः॥

यथाशास्त्रं यथाचारं यथाकामं यथास्थितम्।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः॥

अर्थात् आर्य वह है, जो स्वभावसे ही करनेयोग्य कार्य करता है और न करनेयोग्य नहीं करता। प्रायः लोग दण्डभयसे अपराध या पाप नहीं करते; परंतु आर्यके लिये शुद्धाचरण और निषिद्धका त्याग स्वभावगत होता है। और उसके कार्य सदा शास्त्रानुकूल होते हैं। मर्यादा और परम्पराकी रक्षा बनी रहती है। यह अवस्था अन्तःकरणकी शुद्धिसे प्राप्त होती है। और शुद्ध अन्तःकरण हो जानेपर उसकी प्रेरणा प्रमाणरूप हो जाती है। कालिदासकृत 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त शकुन्तलाके रूपपर मोहित होकर कहता है—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

अर्थात् राजाका शुद्ध मन भी शकुन्तलापर रीझ गया है; तब निश्चय है कि उसका क्षत्रियसे विवाह हो सकता है—वह ऋषिकन्या नहीं हो सकती। क्योंकि सज्जनोंके मनमें जिस बातपर शंका हो, वहाँ जो कुछ उनका मन कहे, वही ठीक मान लेना चाहिये। अपने अन्तःकरणकी गवाहीपर ऐसा दृढ़ विश्वास आर्यका लक्षण है। भगवान् श्रीरामने जब जनकनन्दिनीका प्रथम दर्शन पुष्पवाटिकामें किया, तब उनके मनपर जो प्रतिक्रिया हुई, उसको, और तो और, अपने अनुजसे कहनेमें भी उन्हें संकोच न हुआ—'**सहज पुनीत मोर मनु छोभा।**' पवित्र मन स्वयं ही मर्यादाकी रक्षा करता है, उसको नियन्त्रणमें रखनेकी चेष्टा अनावश्यक है। तभी तो एक कविने कहा है आर्योंकी प्रशंसामें—'जो तेरा नितकर्म था, औरोंका वो ही धर्म था।' हमारा सहज स्वभावसे किया कर्म दूसरोंके लिये आदर्शरूप था। कारण एक ही था—जीवनका प्रत्येक अंग धर्मसे मर्यादित था। साथ ही परम्पराकी रक्षाका भी ध्यान रखा जाता था। आर्योंद्वारा आचरणयोग्य कर्ममें परम्परा लक्षित है; क्योंकि जो परम्पराके विरुद्ध हो, वह कार्य भी निषिद्ध हो सकता है।

अन्य धर्मोंमें मोक्षकी कल्पना नहीं है और न जन्मान्तर या कर्मवादका सिद्धान्त स्पष्टतः बताया गया है। गीतामें दोनों कहे गये हैं और आर्यका सबसे महान् आदर्श यही बताया गया है कि आवागमनके चक्रसे निकलकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त करे। यही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है और शास्त्रोंकी इसीका उपाय बतानेमें महत्ता है। हिंदुओंपर प्रायः ये दोष लगाये जाते हैं कि वे मुक्तिके पीछे पड़े रहते हैं, सांसारिक उन्नतिकी अवहेलना करते हैं और मन्द वैराग्यकी भावना रखनेसे अकर्मण्य हो जाते हैं। फिर यह भी कहा जाता है कि मुक्तिका आदर्श स्वार्थमूलक है; क्योंकि वह तो व्यक्तिगत कल्याणकी बात है। ये सब आक्षेप निराधार हैं। अपनी निर्बलता शास्त्र या धर्मके माथे मढ़ना अनुचित है। व्यक्तिकी स्वतन्त्रता तो यहाँतक मान्य है कि वर्णाश्रम-मर्यादामें रखनेका वास्तविक उद्देश्य ही यह है कि मनुष्य अन्तमें पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हो जाय। संन्यास आश्रमका अधिकारी होना सब कार्योंके दायित्वसे मुक्त हो जाना है। परमोच्च अवस्थाप्राप्त मनुष्य उन्मत्तवत्, पिशाचवत्, जडवत् या बालवत् भी व्यवहार करे तो वह महात्मा ही है और हमारे देशमें उसका अब भी वैसा आदर होता है। इससे बढ़कर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता क्या हो सकती है। सब दिगम्बर इस देशमें पागल नहीं माने जाते, न उनसे पागलों-जैसा बर्ताव किया जाता है। फिर मोक्ष-प्राप्तिका साधन वैयक्तिक ही हो सकता है। एक साथ हजारों आदमियोंके नमाज पढ़ने-जैसा साधन नहीं है। जीवन्मुक्तको स्वार्थी बताना अज्ञान है; क्योंकि ज्ञानकी परम्परा उन्हींसे बराबर चलती रहती है। ज्ञानकी शिक्षासे बढ़कर लोकोपकार हो नहीं सकता, फिर लोक-संग्रहका आदर्श भी तो गीताने बताया है। ब्रह्मज्ञान या पराभक्ति उपलब्ध होनेपर मनुष्यके लिये कोई विधि-निषेधका बन्धन या किसी कार्यका दायित्व नहीं रहता; परंतु फिर भी एक भावना रहती है कि स्वयं संसार-सागरसे पार हो गये तो दूसरोंको भी पार उतारनेमें सहायता करें। यही करुणा-परवशता है—

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥

(विवेकचूडामणि ३९)

मन्द वैराग्य या अकर्मण्यता और संसारसे उदासीनता हमारा धर्म नहीं सिखाता। शिक्षाका दोष नहीं—यदि अज्ञानवश उसका दुरुपयोग किया जाय। गीता स्पष्ट कहती है कि एक क्षण भी मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता—**न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्** (३।५)। प्रश्न यह है कि 'संसार कुरुक्षेत्र या कर्मक्षेत्र

है। इसमें कर्म करनेकी क्या युक्ति है, जिससे अनिवार्य कर्म करते हुए भी हम उसके बन्धनसे बच सकें?' गीताका उपदेश है कि व्यक्तिगत कर्मक्षेत्रको धर्मक्षेत्र बनाना चाहिये। कुरुक्षेत्र या व्यक्तिके कर्मक्षेत्रका अभिमानी अल्पज्ञ जीव है अर्थात् जीव उसका क्षेत्रज्ञ है। यदि जीव अपने प्रकृत स्वरूपको जान ले तो वह धर्मक्षेत्रका क्षेत्रज्ञ हो जाता है। अर्थात् स्वार्थकी मात्रा जितनी अधिक होगी, उतना ही संकुचित मनुष्यका कर्मक्षेत्र होगा। और कर्तृत्व-भोक्तृत्वका अभिमान भी बलवान् रहेगा। जैसे-जैसे **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का भाव तीव्र होगा, क्षेत्र प्रशस्त होता जायगा। जब यह ज्ञान हो जायगा कि सर्वव्यापक और विभु एक ही आत्मा है, तब कुरुक्षेत्र और धर्मक्षेत्र भी एक हो जायँगे। नानात्वका अन्त होकर एकत्वमें प्रतिष्ठा हो जायगी। इस आदर्शके सामने आक्षेप निराधार ठहरता है। संसारको जैसा वास्तवमें वह है, वैसा देखनेमें क्या दोष हो सकता है। **अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्** (गीता ९।३३)—इन शब्दोंमें निर्विवाद वस्तुस्थितिका वर्णनकर श्रीभगवान् हमको चिरशान्तिका मार्ग बताते हैं। जिनकी दृष्टिमें संसार ही सब कुछ है, उनको भी यह अनुभव तो सतत होता रहता है कि उनकी कामना कभी पूरी नहीं होती। अकर्मण्यता सिखाना एक बात है और संसारके वास्तविक स्वरूपका सदा ध्यानमें रखनेकी शिक्षा दूसरी बात है। भौतिक उन्नतिमें गीता कोई बाधा नहीं देती। धर्मकी हानि बिना किये उन्नति उपादेय है। संसार-प्रवाहका एक किनारा धर्म है और दूसरा मोक्ष है। इन दोनोंकी मर्यादा सुरक्षित रखकर अर्थ और कामकी प्राप्तिका निषेध नहीं है। आधुनिक जगत्में शक्तिवृद्धिकी चिन्ता तो सब करते हैं और पाश्चात्त्य देश तो इसीमें रत हैं। शक्ति-संचयके साथ धर्म-भावकी वृद्धि न होनेसे नियन्त्रण नहीं रहता। परिणाम भयंकर होता है। महादेवजीने असुरको वरदान दे डाला तो वह उन्हींके सिरपर हाथ रख उन्हींको भस्म करनेके लिये उद्यत हो गया। यही दशा आज विज्ञान-जगत्में प्रत्यक्ष देखनेको मिलती है। मनुष्यके आविष्कार उसीके नाशक बन रहे हैं। और यहाँकी शिक्षा है कि योगविभूति प्राप्त हो जाय तो उसका भी उपयोग सांसारिक प्रसंगोंमें करना अनुचित है। दुर्योधनकी आसुरी वृत्ति स्वार्थान्ध होकर यहाँतक बढ़ी कि उसका नाश ही करके शान्त हुई। धर्मभीरु अर्जुनको भगवत्कृपा प्राप्त हुई। मनुष्यमें दैवी और आसुरी प्रकृतिका सम्मिश्रण है—जिसको चाहे, उसे बढ़ाये। अर्जुनका पक्ष भी योद्धाओंने किया और दुर्योधनके भी सहायक थे। जैसे व्यक्ति होंगे, वैसा समाज होगा। अतएव व्यक्तिके विकासपर बल दिया जाय तो उचित ही है। आध्यात्मिक उत्कर्ष एवं सांसारिक उन्नतिका परस्पर विरोध गीताने बड़ी सुन्दरतासे दूर किया है। अर्जुनको राज्य, सुख, भोग-प्राप्तिके लिये युद्ध करनेकी आज्ञा श्रीभगवान् स्वयं देते हैं; परंतु युद्ध कौशलसे करनेका उपदेश है। अर्थात् भगवान् अपने विधानको यन्त्रवत् पूरा करनेकी और निर्लिप्त होकर समस्त भोग भोगनेकी आज्ञा देते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९।२७)

यह उदासीनता या झूठे वैराग्यका उपदेश नहीं है। भोगमें कैसा भाव रखना, इसीकी शिक्षा है। अतएव धर्मकी मर्यादा सुरक्षित रखकर संसारके भोग प्राप्त करनेमें कोई हानि नहीं। वेदव्यासजी तो यहाँतक कहते हैं कि अर्थ और कामकी इच्छा हो तो भी धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि धर्मसे ही वे प्राप्त होते हैं—

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।

श्रीभगवान्ने **अनार्यजुष्टम्** कहकर जो आक्षेप अर्जुनके तर्कपर किया, वह बड़ा सारगर्भित है और उसमें हमको अपने सनातन आदर्शकी सुन्दर झाँकी मिलती है। आर्य होना ही महान् गौरव है और उसके साथ उत्तरदायित्व भी वैसा ही महान् है। अन्य मनुष्यजातियोंसे जो उच्चादर्श रखनेकी आशा नहीं की जा सकती, उसको आर्य चरितार्थ करे—यही शिक्षा है।

दूसरा आक्षेप था **अस्वर्ग्यम्**। यदि सुख-भोगकी लालसा प्रबल है और सकाम कर्ममें प्रवृत्ति बलवती है तो फिर ऐसे कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे चिरकालतक भोग प्राप्त हो सकें। संसारके सुख अनित्य हैं, थोड़े ही भोगके पश्चात् कालका ग्रास बनना पड़ेगा, और संस्कार प्रबल होनेसे भोगेच्छा नीची योनिमें भी ले जा सकती है। अतएव ऐसी चेष्टा करना उचित है कि जिसके द्वारा संसारके भोगोंसे बढ़कर और अधिक स्थायी स्वर्गके भोग प्राप्त हो सकें। इसके लिये पुण्य करना आवश्यक है। यज्ञ, तप, दानसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है; इनसे जीवन पवित्र भी होता है और स्वर्ग-

कामीकी भोगेच्छा भी कालान्तरमें पूर्ण होती है। परंतु यह प्रवृत्तिमार्ग निवृत्तिमार्गकी तरह अक्षय शान्ति और आवागमनसे मुक्ति नहीं दिला सकता। क्योंकि—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(गीता ८। १६)

यहाँ भगवान्‌ने पुनर्जन्मका सिद्धान्त और उसके चक्रसे निकलनेका उपाय भी बता दिया। परंतु मृत्युके पश्चात् जन्म लेना ही पड़े तो यह श्रेयस्कर है कि वह अच्छे कुलमें हो या स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदिकी प्राप्ति हो। अतएव जो निष्कामभावसे कर्म कर संसारसे छुटकारा पानेके अधिकारी नहीं हो सकते, उन्हें मोक्ष प्राप्त न हो तो कम-से-कम उनकी अधोगति तो न हो—ऐसा आचरण करना उचित है। अन्य धर्मोंमें स्वर्गसे बढ़कर या ऊँचा कोई लोक नहीं बताया जाता; परंतु हमको तो मोक्ष-पदसे निम्न श्रेणीके कई लोक बताये जाते हैं। और मोक्षकी चर्चा तो अन्य धर्मोंमें है ही नहीं। अतएव स्वर्गकामी होना कोई बड़े आदर्शकी बात नहीं है। दूसरोंके लिये इससे बढ़कर कोई कल्पना नहीं।

इस प्रकार **'अस्वर्ग्यम्'** कहकर श्रीभगवान्‌ने हमारे आदर्शका एक और दृश्य भी दिखा दिया। परंतु वह **'अनार्यजुष्टम्'** से निम्न श्रेणीका है। अधिकारभेदसे उसे भी कहना पड़ा और इसके साथ कई सिद्धान्तोंपर भी संकेत कर दिया।

तीसरा आक्षेप श्रीभगवान्‌का है—**'अकीर्तिकरम्'**। विश्वसे अतीतकी बात **'अनार्यजुष्टम्'** से कही और **'अस्वर्ग्यम्'** से परलोककी। **'अकीर्तिकरम्'** से इस जगत्‌की ओर संकेत है। श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—**'यशो लभस्व'**। युद्धमें शत्रुओंको मारकर विजय प्राप्त करो और यशस्वी बनो। यश जीवनकालमें ख्यातिसे प्राप्त होता है और मरनेके बाद वही कीर्ति कहा जाता है। ऐसा भेद गीताने किया है। स्थायी यश कीर्ति हो जाता है। यश प्राप्त होता है पुरुषार्थसे और लोक-सेवा या लोक-संग्रहसे। कठिन कार्य—जो किसीसे न हो सके, उसे सफलतापूर्वक करना यशःप्राप्तिका कारण होता है। यदि निष्कामभाव न हो और निवृत्तिमार्गका अनुसरण न हो सके तो मनुष्यको स्वर्गकामी होना चाहिये। और यदि स्वर्ग-प्राप्तिके साधन भी उपलब्ध न हों तो कम-से-कम यश तो संसारमें जीते-जी मिले—ऐसा उद्योग होना चाहिये। कालसे बचनेका तो कोई उपाय नहीं। शरीर तो जायगा ही; परंतु प्राप्त यश तथा कीर्तिकी रक्षा की जा सकती है। जिसकी कीर्ति है, वह एक प्रकारसे जीता है—चाहे उसका शरीर न भी रहा हो। यदि यशका भी भागी मनुष्य न बने तो कम-से-कम अपयशसे अपनेको कलंकित न करे। यशस्वीको स्वर्गप्राप्ति भी हो सकती है। दुष्कृतिसे कलंकितके लोक-परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं।

अकीर्तिकरम्-से व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध भी सूचित किया गया है। इन दोनोंमें बराबर आदान-प्रदान चलता रहता है। आदर्श यह होना चाहिये कि समाजसे व्यक्तिको जो लाभ होता है, उससे अधिक सेवा या लाभ व्यक्तिद्वारा समाजको मिलना चाहिये। वैसे वे एक-दूसरेके पोषक हैं। दुर्योधनकी भावना है कि उसको किसी प्रकार भी निष्कण्टक राज्य प्राप्त हो, उसके लिये भले ही असंख्य लोगोंको अपने प्राणोंकी आहुति देनी पड़े। वह बड़े अभिमानसे कहता है—**'मदर्थे त्यक्तजीविताः'**। द्रोणाचार्य और भीष्म भी मर जायँ तो दुर्योधनको उसकी चिन्ता नहीं। राज्य बना रहे। दूसरी ओर अर्जुन है, जिसका पक्ष न्याय है; परंतु वह कहता है—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥

(गीता १। ४५-४६)

दोनों व्यक्ति विपरीत भावनाओंके नमूने हैं। देशके नेताने स्वराज्य दिलाया, महान् कार्य किया। किंतु इससे भी महत्ता उन्होंने तब दिखायी, जब यह घोषणा की कि सत्यकी बलि देकर स्वराज्य लेना अस्वीकार है। यह हमारे देशका गौरव है।

आजकल व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको आदर्श माना जाता है। सब जगह समानता, समानाधिकारकी चर्चा सुनायी देती है। गीता इस समस्यापर भी प्रकाश डालती है। समानताका जो पाश्चात्त्य आदर्श है, वह स्वभाव और प्रकृति दोनोंके विरुद्ध है, अतएव अव्यवहार्य है। बलपूर्वक उसको बर्तनेसे अनर्थ होता है। कोई दो व्यक्ति संसारमें एक-से नहीं। भिन्नता और नानात्व प्रकृतिका नियम है। जहाँ असमानता है, उसे स्वीकार करना गीता सिखाती है। आँख बंद कर लेनेसे आकाशका सूर्य कहीं अस्त थोड़े हो जायगा। गुण और

स्वभावके वैषम्यसे भेद प्रत्यक्ष है। हाँ, एकता आत्मामें है। उसीपर लक्ष्य रखनेका गीता आदेश देती है। सबमें अन्तर्यामीरूपसे एक ही आत्मा है और उसका लक्ष्य रखनेवाले पण्डित समदर्शी होते हैं। '**पण्डिताः समदर्शिनः**' शब्द विचारणीय हैं। '**समवर्तिनः**' नहीं कहा, '**समदर्शिनः**' कहा है। कुत्ते, चाण्डाल, ब्राह्मणादिसे समान व्यवहार करना मूर्खता होगी। उनमें एक आत्माको देखना पाण्डित्य है। परंतु संसारमें आज समान बर्तावकी दुहाई दी जा रही है। गुण, कर्म, स्वभावको भूलकर समताका राग अलापना और समान बर्तावकी योजना बनाना अनर्थकारी हो रहा है। हमारी शिक्षा यह है कि एकसे अनेकका प्रादुर्भाव हुआ है। इस नानात्वमें एककी प्रतिष्ठा कर लेना सब साधनोंका ध्येय है।

इसी नानात्वके आधारपर अधिकारका सिद्धान्त अवलम्बित है। बलपूर्वक धर्मपरिवर्तन करनेसे क्या होगा, यदि विश्वास न हुआ तो। धर्मका मूल विश्वास एवं श्रद्धा है, न कि प्राणभय। हिंदू-धर्म विचारोंकी पूर्ण स्वतन्त्रता देता है और बुद्धिको श्रद्धा या विश्वाससे ऊँचा स्थान देनेमें संकोच नहीं करता। हमारे शास्त्रोंने तर्कद्वारा जैसी बालकी खाल निकाली है, वैसी किसी धर्ममें सहन भी नहीं की जा सकती। प्रश्न करना, सन्देह मनमें लाना ही कुफ्र समझा जाता है। सनातनधर्ममें अधिकारानुसार सबको स्थान प्राप्त है और मनुष्यको अपनी बुद्धि दौड़ानेके लिये अनन्त क्षेत्र। यही कारण है कि अन्य धर्मावलम्बियोंको शुद्ध कर या बलपूर्वक अपने धर्ममें लेनेकी आवश्यकता नहीं समझी गयी। हमारा आग्रह आचारपर है, न कि विचारपर। विचारमें स्वतन्त्रता और आचारमें समानता मान्य है। सनातनधर्मकी सहिष्णुता अपनी एक विशेषता है, जो बिलकुल निराली है। इस प्रकार बुद्धि-स्वातन्त्र्यको जो स्थान यहाँ प्राप्त है, वह अन्य धर्मोंमें असहनीय है।

अबतक गीताके तीन शब्दोंको लेकर—'**अनार्यजुष्टम्, अस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरम्**'—सनातनधर्मसे अनुप्राणित हमारी संस्कृतिके कुछ पहलुओंपर विचार किया गया; परंतु उपदेशकी पूर्तिके लिये विधि और निषेध दोनोंका निर्देश आवश्यक होता है। गीताने विधिको भी मन्त्रवत् तीन ही शब्दोंमें बताया है और वे हैं—**ॐ तत्सत्।**' गीताने इस वाक्यकी बड़े संक्षेपसे व्याख्या की है; परंतु एक प्रकारसे कहा जा सकता है कि अनिवार्यरूपसे कर्मबन्धनमें पड़े हुए मनुष्यको कल्याणका जो मार्ग गीताने विस्तारसे बताया है, उसीको अतिसूक्ष्मभावसे '**ॐ तत्सत्**' द्वारा सूत्ररूपमें दे दिया है। १७ वें अध्यायका २३ वेंसे लेकर २७ वें श्लोकतकका अंश द्रष्टव्य है। जैसे निषेधात्मक तीन वाक्योंकी व्याख्या की गयी, वैसे ही '**ॐ तत्सत्**' की भी करना उचित है; परंतु लेखके विस्तारभयसे ऐसा नहीं किया जाता। ये त्रिविध परमात्माके नाम हैं, जिनकी भावना सदा बनाये रखनेमें प्रत्येक कर्मका रूप यज्ञ, दान और तप हो जाता है। ॐ वाचक है ब्रह्म और ईश्वर दोनोंका, अर्थात् पर और अपर ब्रह्मका। सब प्रेरणाएँ उसीसे होती हैं—'**मत्तः सर्वं प्रवर्तते।**' अतएव ॐके उच्चारणके साथ कर्तृत्वाभिमान नष्ट हो जाना चाहिये। हम यन्त्र हैं, हृदयस्थ प्रभु यन्त्री हैं। तत्‌के उच्चारणसे फलाभिसन्धिके त्यागकी भावना दृढ़ होती है और सत्‌से कर्मासक्तिका त्याग होता है। '**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।**' इस भूलसे मनुष्य बच जाता है। और कर्म करते हुए फलकी इच्छा न रखनेसे कर्मका बन्धन नहीं होता। संसारमें रहते हुए इस विधिके अनुसार कर्म करते हुए भी कल्याण-प्राप्तिका मार्ग खुल जाता है। इस प्रकार विधि-निषेध सूत्ररूपसे गीताने बताये हैं और इनके अनुसार जीवनका गठन करना आर्य-आदर्श है।

एक बात प्रायः बड़े दावेसे कही जाती है कि संसारमें कोई भी संस्कृति अपने असली और शुद्ध रूपमें कहीं नहीं मिलती है। परस्पर संघात और सम्मिश्रणसे उसकी प्रगति होती रहती है। और इस प्रकार अनेक विचारधाराओंके संगमसे देश या जातिका आदर्श-क्षेत्र विस्तृत हो जाता है और उससे बड़ा लाभ होता है। अतएव संस्कृतिपर बाह्य प्रभावको दोष न मानना चाहिये। उसका स्वागत करना उचित है। हमारा सिद्धान्त इस बातको नहीं मानता। हमारी संस्कृतिके आदर्श इतने महान् हैं और उसका प्रत्येक अंग ऐसी उदात्त भावनाओंपर स्थित है कि उनको अधिक उन्नत नहीं बनाया जा सकता। वे ऐसी मौलिक हैं कि मनुष्यकी कल्पनाशक्ति भी उनको उच्चतर बनानेमें असमर्थ है। सुधार अपना करना है, न कि धर्मप्राण परम आदर्शरूप संस्कृतिका। औरोंकी संस्कृतिमें न्यूनता है; क्योंकि वह अपूर्ण है और किसी अंगविशेषको ही महत्त्व देती है। रही परस्पर संघात और आदान-प्रदानकी बात; उसमें प्रथम तो यही निश्चय करना कठिन होता है कि औरोंसे क्या लेना है और क्या त्याज्य

है। फिर लेना तो वही चाहिये, जो हमारे पास न हो। अग्निमें कोई वस्तु डालनेसे या तो वह प्रज्वलित होकर अग्निरूप हो जाती है या अग्निको बुझा देती है। हमें संकर-संस्कृति नहीं चाहिये। वह अंजन किस कामका, जिससे आँख ही फूट जाय। अपना स्वभाव और स्वरूप खो देनेसे न हमारा उपकार होगा न संसारकी सेवा।

आदर्शोंकी महत्तामें और संस्कृतिकी श्रेष्ठतामें संसारकी कोई भी जाति आर्यजातिसे तुलना करनेयोग्य नहीं है। रत्नगर्भा भारतभूमिने अगणित महापुरुषोंको जन्म दिया है और उन्होंने आदर्शोंको पूर्णरूपेण चरितार्थ कर दिखाया है। उनके समान महात्मा अन्य देशोंमें इने-गिने भी नहीं हुए। यहाँ ऋषि-मुनियोंने जन्म ही नहीं लिया, उनके उत्पन्न करनेकी विधि भी बतायी गयी है। मनुष्यको देव-दुर्लभ स्थिति प्राप्त करनेकी सफल युक्ति बतायी गयी है और वह उपाय भी कहा गया है, जिससे साक्षात् ईश्वरको मानवस्तरपर अवताररूपसे प्रकट किया जा सकता है। इसीलिये वेदोंने आर्यलोगोंको '**अमृतस्य पुत्राः**' कहा है।

हिंदू-संस्कृति और साहित्य

(लेखक—साहित्यवारिधि कविसार्वभौम कविशिरोमणि देवर्षिभट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री)

संस्कृति और सभ्यता यदि किसी समाजकी उन्नति और महत्त्वके कारण हो सकते हैं तो आपको मानना पड़ेगा कि हिंदू-समाज इसके लिये सबसे अधिक भाग्यवान् है। आज चाहे अनेक देश सभ्यताका दावा रखते हों और सभ्य होंगे भी, मुझको इसमें विवाद नहीं; किंतु सभ्यता और संस्कृतिके आदिम इतिहासकी यदि आप खोज करेंगे तो आपको स्पष्ट मालूम हो जायगा कि इस विषयमें हिंदू-समाजकी टक्करमें ठहरनेवाला कोई समाज नहीं निबटेगा। सभ्यताकी ज्योतिका आदिम प्रकाश पहले-पहल भारतीय आर्योंने ही दिखलाया। हम ही नहीं, समुद्र-पारके रहनेवाले पश्चिमी विद्वानोंतकने यह माना है कि सभ्यताके पदांकोंको पहले-पहल दिखलानेवाले आर्यलोग ही हैं। जिस समय और-और जातियोंको सभ्यताका धुँधला प्रकाश दूरसे दिखलायी दे रहा था, उस प्राचीन समयमें भी आर्य-जाति सभ्यताकी रोशनीसे चमचमा रही थी।

साहित्य ही इस संस्कृतिके सोनेको परखनेकी कसौटी है। आर्योंके साहित्यको निष्पक्षपात दृष्टिसे यदि आप देखेंगे तो आपको मालूम हो जायगा कि सभ्यता और संस्कृति इस समाजमें कबसे चली आ रही है। इसकी खोजमें बहुतोंको कठिनता इसलिये मालूम होगी कि इसके लिये आपको उस संस्कृत-भाषाकी शरण लेनी पड़ेगी, जिसको हम पश्चिमी सभ्यताकी लहरमें बहुत कुछ दूर छोड़ चुके और अब भी छोड़े चले जा रहे हैं। संस्कृत-भाषा ही संस्कृति और सभ्यताकी आदि जन्मदात्री है। हमलोगोंको जाने दीजिये, पश्चिमी विद्वानोंने भी वर्षोंके परिश्रमसे यह खोज निकाला है कि संसारभरका आदिम ग्रन्थ ऋग्वेदसंहिता है। वेदसे पुराना ग्रन्थ (पुस्तक) आजतक भूमण्डलमें नहीं देखा गया। और इस तथ्यको सभी सभ्य आजतक मानते चले आ रहे हैं। अब दुनियाके आदिम ग्रन्थ वेदसे लेकर आजतकके साहित्य और व्यवहारमें आप देख लीजिये कि संस्कृतिका इस हिंदू-समाजमें क्या स्थान है।

जो वेद हमारे लिये ही नहीं, भूमण्डलभरके लिये सर्वादिम ग्रन्थ गिने जाते हैं, उनका प्रधान उद्देश्य है संस्कृतिका उपदेश। पहले-पहल संस्कृति वहींसे हमने सीखी, यह दुनियाभरकी धारणा है। अपने स्वार्थके लिये एक-दूसरेपर छुरी चलना जहाँ पैंड-पैंडपर सामने आता है, उस मानवजगत्में '**मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि**' (किसी प्राणीकी हिंसा मत करो) यह आदेश वहींसे आरम्भ होता है। क्या पूर्व और क्या पश्चिम, चारों दिशाओंके सभी राष्ट्र जिसे सर्वसम्मतिसे त्याज्य और पाप समझते हैं, उस 'झूठ' के लिये भगवान् वेदोंने ही उपदेश क्या, आज्ञा दी है—'**नानृतं ब्रूयात्**' (झूठ मत बोलो)। विस्तार करनेसे कोई लाभ नहीं, 'संस्कृति' पदका अनुवाद आजकलके सभ्य महोदय 'कल्चर' (आचार-व्यवहार) किया करते हैं। अब देखिये—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चार वर्ण और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी—ये चार आश्रम, इनका विभाग करके जैसा जिसका अधिकार है, उसको वैसे ही आचरणकी शिक्षा वेदसे ही तो मानी जाती है। फिर भी वेदोंमें संस्कृतिके लिये क्या ढूँढ़-ढाँढ़ करनी

पड़ेगी? समाजके लिये वेद आचार-व्यवहारमें कितनी सुन्दर व्यवस्था चाहते हैं—यह एक बातसे ही मैं समझा देना चाहता हूँ। थोड़ेमें परख लीजिये। ईश्वरसे मनुष्य वही माँगता है, जो उसको सबसे अच्छा प्रतीत होता है। वेदोंमें हमारी प्रार्थना होती है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतां राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्ती पुरन्ध्रीर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥

पण्डित श्रीरामशर्मा रूँथलाद्वारा निर्मित 'वैदिक राष्ट्रगीत' नामक नयी प्रकाशित पुस्तकमें इसका पद्यानुवाद है—

'ब्रह्मन्! हमारे राष्ट्रमें द्विज तेजयुत होते रहैं,
राजन्य भी आयुध-कुशल, अति शूरमाँ होते रहैं।
होवैं महारथ शत्रुनाशक, शत्रुभेदक वे सदा;
गौएँ यहाँ पयधारिणी हों, राष्ट्रमें सुख-संपदा॥
कृषि-कर्मके साधन सबल हों, बैल वाहक भारके
हों अश्व गतिमें तेज सब, गन्ता पुनः पथ-गएके।
जयशील आरोही रथोंके, नारियाँ हों सुंदरी;
हो प्राप्त सुत यजमानको, वर वीरगण रणकेसरी॥
यजमानसुत निज शत्रुनाशक, सभ्य हो, सामर्थ्ययुत
निज कालपर फल-औषधी हमको करैं अति सौख्ययुत।
होकर समयपर वृष्टि भी सबको सुखी करती रहै,
सुखसे हमारा ईश! योग-क्षेम भी चलता रहै॥

अनुवादमें टिप्पणीकी आवश्यकता है—विशेषतः *'सुंदरी हों नारियाँ'* इस स्थानपर। 'सुन्दरी' पदसे ऊपरी सुन्दरता नहीं चाही जाती। मूलमें पद है 'पुरन्ध्री', जिसका कोषोंमें अर्थ है 'सुचरित्र'। अर्थात् नारियाँ ऐसी हों, जो आचार-व्यवहारके कारण सब तरह सुन्दर समझी जाती हों। समाज नारीसे जिस अवस्थामें जैसा आचार-व्यवहार चाहता है, हमारी नारियोंमें वैसे ही आचार हों। देशमें ज्ञान फैलानेवाली शक्तियाँ, रक्षा करनेवाली ताकतें जब सब तरह समर्थ होंगी, फिर आवश्यकता किस बातकी रह जायगी? रही धन-धान्यादिकी समृद्धि, उसके लिये भूमि-सम्पत्ति समयपर मिलती ही रहेगी। ईश्वरीय सहायता या कृपा वृष्टिके द्वारा चाह ली गयी। अब समाजमें आचार-व्यवहारकी आप क्या व्यवस्था चाहते हैं? और तो क्या, गाय-बैल-घोड़े आदि पशुओंतकके संस्कार, आचार-व्यवहार आप सुन्दररूपसे बाँध देना चाहते हैं; भला, इससे बढ़कर संस्कृतिमें बारीकी क्या होगी?

वेदसे आगे आते हैं उपनिषद्। ये आर्यजातिके ज्ञानकी पराकाष्ठा (चरम उन्नति) हैं, हिंदुओंके सर्वस्व हैं। इनमें 'संस्कृति' की व्याख्या कैसी और कितनी है, मैं समझता हूँ अब यह शिक्षितोंको समझानेकी जरूरत नहीं। हालमें ही 'कल्याण' का 'उपनिषद्-अंक' प्रकाशित हो चुका है। कुछ बानगी लीजिये—

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।'

गृहस्थको अपना जीवन कैसा बनाना चाहिये, इस बातको समझानेके लिये इस तैत्तिरीयोपनिषद्का यह 'अनुवाक' आरम्भ होता है। आचार्य अपने शिष्यको वेदका भलीभाँति अध्ययन कराकर आगे गृहस्थ-धर्म-पालनकी शिक्षा देते हैं—पुत्र! तुम सदा सत्यभाषण करना, आपत्ति पड़नेपर भी झूठका आश्रय न लेना। धर्मसे कभी मत डिगना। अपने वर्ण-आश्रमके अनुकूल जो तुम्हारा कर्तव्य हो, उसमें कभी प्रमाद न करना। गुरुके लिये उनकी रुचिके अनुसार भेंट देकर, उनकी आज्ञासे गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके संतान-परम्पराको सुरक्षित रखना। अर्थात् विवाहित धर्मपत्नीके साथ नियमित सहवास करके सन्तानोत्पत्तिका कार्य अनासक्तिसे करना। लौकिक और शास्त्रीय—जितने भी कर्तव्यरूपसे प्राप्त शुभ-कर्म हैं, उनकी कभी उपेक्षा नहीं करना। यह सब कुछ करते रहनेपर भी धन-सम्पत्तिको बढ़ानेवाले उन्नतिके साधनोंके प्रति भी तुम्हें उदासीन नहीं होना चाहिये। पढ़ने और पढ़ानेका जो मुख्य नियम है, उसकी कभी अवहेलना नहीं करना। इसी प्रकार अग्निहोत्र और यज्ञादिके अनुष्ठानरूप देवकार्य तथा श्राद्ध-तर्पण आदि पितृकार्योंमें भी कभी आलस्य-प्रमाद नहीं करना।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकः सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।

'तुम मातामें देवबुद्धि रखना, पितामें देवबुद्धि

रखना, आचार्यमें देवबुद्धि रखना। अतिथिमें भी देवबुद्धि रखना। जगत्‌में जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हींका तुमको सेवन करना चाहिये। निषिद्ध कामोंका आचरण कभी न करना। (और तो क्या) हमलोगोंके (गुरुजनोंके) भी जो अच्छे आचरण हैं (जिनके विषयमें जरा भी शंकाका स्थान नहीं), उन्हींका तुमको सेवन करना चाहिये, औरोंका नहीं।'

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

'अपनी शक्तिके अनुसार दान करनेके लिये सदा तत्पर रहना चाहिये। किंतु जो दिया जाय, वह श्रद्धापूर्वक देना चाहिये, अश्रद्धासे नहीं—बिना श्रद्धाके किये हुए दान आदि कर्म असत् गिने जाते हैं (गीता १७। २७)। लज्जापूर्वक देना चाहिये। (अर्थात् सारा धन भगवान्‌का है, मैंने इसे अपना मानकर भगवान्‌का अपराध किया है। इसे सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित भगवान्‌की सेवामें ही लगाना उचित था, मैंने ऐसा नहीं किया। मैं जो कुछ दे रहा हूँ, वह भी बहुत कम है। यों सोचकर संकोचका अनुभव करते हुए देना चाहिये। सर्वत्र भगवान् हैं। अतः दान देनेवाले और लेनेवाले भगवान् ही हैं। उनकी बड़ी कृपा है कि मेरा दान स्वीकार कर रहे हैं। यों विचारकर भगवान्‌से भय मानते हुए दान देना चाहिये।)'

कहिये, आचार-शिक्षामें कुछ कमी रही? यदि कोई बात आचार-व्यवहारके सम्बन्धमें शिक्षा देनेकी रह गयी हो और तुम्हें इसके सम्बन्धमें संदेह रहता हो तो—

ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः।

'जो ब्रह्मदर्शी, उत्तम विचारवाले, उचित परामर्श देनेमें कुशल, 'आयुक्त'—कर्म और सदाचारमें पूर्णतया लगे हुए, स्निग्ध स्वभाववाले, एकमात्र धर्मपालनकी ही इच्छा रखनेवाले विद्वान् ब्राह्मण हों, वे ऐसे प्रसंगोंपर जिस प्रकार आचरण करते हों, उसी प्रकारका आचरण तुम्हें भी करना चाहिये। यही आदेश, उपदेश और वेदोंका रहस्य है।'

अब 'सूत्र' और 'स्मृतियों' को लीजिये। ये सूत्र 'गृह्यसूत्र' कहलाते हैं। जिस समाजके घरोंमें जैसा आचार-व्यवहार उचित समझा जाकर परम्परासे चला आता है, उसकी मर्यादा आगे भी रक्षित रहे, इसलिये उन आचारोंका अनुशासन उनमें रहता है। आजतक सभी वर्ण उसीके अनुसार आचरण करते चले आ रहे हैं। अब उनमें 'संस्कृति' को खोजने कहाँ जाना है? स्मृति (धर्मशास्त्र) आचार-व्यवहारके खजाने हैं। मनु-याज्ञवल्क्यादि महर्षियोंने भारतीय ही नहीं, यावन्मात्र मनुष्य-जातियोंके लिये अपने-अपने आचार-व्यवहारकी शिक्षा देनेका बीड़ा उठाया है। वे कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

'भारतमें पैदा हुए विद्वान् ब्राह्मणसे पृथिवीमेंके सब मनुष्य अपने-अपने आचरण सीख लें।' भगवान् याज्ञवल्क्यने केवल आर्य ही नहीं, मनुष्यमात्रके लिये कर्तव्य सुझाये हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

'प्राणियोंको पीड़ा नहीं पहुँचाना, सच बोलना, बिना दिया हुआ कुछ न लेना (चोरी न करना), शरीर और मनकी शुद्धि, इन्द्रियोंको वशमें लाना, यथाशक्ति दान, विपत्तिमें पड़े हुएकी रक्षा करना, मनको वशमें करना, अपना अपकार हो जानेपर भी क्रोध प्रकट न करना—ये सबके लिये धर्मसाधन हैं।' मनु और याज्ञवल्क्य ही क्या, गौतम, वसिष्ठ, शंख, लिखित, हारीत, पराशर आदि सभी स्मृतिकारोंने इस संसारमें रहकर किस तरह व्यवहार-निर्वाह हो सकता है—इसके लिये आचरण बतलाये हैं, जिनको लिखकर यहाँ लेख बढ़ानेके लिये स्थान नहीं।

अब आइये पुराणोंपर। ये हमें 'मित्र' बनकर समझाते हैं कि तुम्हारे वे आचरण होने चाहिये, जो दुनियामें दूसरेको न अखरें। अच्छे आचरणवाले अमुक ऋषि और राजा आदि हो चुके हैं, जिनकी जनतापर सदाके लिये धाक बैठ गयी। जिन-जिनने अपने आचरणमें स्वतन्त्रताको अधिक अपनाया, वे—क्या राजा और क्या ऋषि—ऐसे हो गये, जिन्हें एक दिन समाजसे नीचे गिरना पड़ा और दुर्दशाग्रस्त होकर पछताना पड़ा। सब धर्मोंका सारांश वे इस प्रकार सूचित करते हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'सब धर्मोंका सार सुनिये और सुनकर याद रखिये कि जो अपनेको बुरा लगे, वैसा आचरण दूसरेके

साथ कभी न करे।' दुटप्पेमें अठारहों पुराणोंका सार सुन लीजिये—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

'अठारहों पुराणोंमें भगवान् व्यासके दो ही वचन साररूप सिद्ध होते हैं कि दूसरेके साथ बुरा बर्ताव पाप है और अच्छा आचरण करना पुण्य गिना जाता है।' क्या इससे बढ़कर संक्षेपमें आचार-व्यवहारकी शिक्षा किसी जातिके साहित्यने दी होगी?

अस्तु, अब इस साहित्यको छोड़कर असली 'साहित्य' संज्ञावाले साहित्य यानी 'अलंकारशास्त्र' (रीतिशास्त्र) पर आ जाइये। यहाँके ब्रह्मा अपनी डोंडी पिटवाते हैं—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते॥

अपार इस काव्यसंसारका ब्रह्मा कवि हैं। वह विश्वको जैसा पसंद करता है, संसार वैसे ही बदल जाता है।' कहिये, ब्रह्मासे डेढ़ हाथ आगे बढ़नेका दावा है कि नहीं? ब्रह्माने जैसा कुछ ब्रह्माण्ड बनाया हो; कवि यदि वैसा पसंद नहीं करता तो वह अपनी रुचिके अनुसार उसे दूसरा ही बना देता है और विश्वको वैसा बनना पड़ता है। कितनी स्वतन्त्रता है, है कुछ ठिकाना? किंतु 'संस्कृति' के आगे ये भी सिर झुकाते हैं, यह आपको मानना पड़ेगा। बहुत-से आदमी कह सकते हैं कि कवि यहाँ भी स्वतन्त्रता बरतते हैं; सम्भव है वे कुछ उदाहरण भी ढूँढ़ लायें। किंतु यह कवियोंके सर्वमान्य साहित्य (अलंकारशास्त्र) की दृष्टिसे विरुद्ध है। 'रस' कवियोंके काव्यकी 'आत्मा' है। कवि स्वयं रसमें आविष्ट होकर सुननेवालोंको भी तन्मय बना देता है। उसके 'नवरसों' में सारी दुनिया आ जाती है। यहाँतक कि 'बीभत्स' भी—जिसमें 'जुगुप्सा', घृणा, 'घिन' ही आदिसे अन्ततक (स्थायीभाव) रहता है—एक रस और काव्यको आत्मा माना जाता है। किंतु 'संस्कृति' यानी सदाचारको वहाँ भी आदर्श माना जाता है। जिसके साथ जैसा व्यवहार-वर्णन उचित है, वहाँ उससे विरुद्ध वर्णन कवि-संप्रदायका उल्लंघन है। विस्तारकी जरूरत नहीं। कवियोंके सर्वमान्य, साहित्य-संसारके मार्गदर्शक, ध्वनिकार श्रीआनन्दवर्द्धनाचार्यने कवियोंको आज्ञा दी है—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

'औचित्य अर्थात् जिसके साथ जैसा आचार होना चाहिये, उसके उल्लंघनसे बढ़कर रसभंगका और कोई कारण नहीं। और औचित्यका निर्वाह रस-सम्प्रदायका परम रहस्य है।'

यों क्यों, काव्य और साहित्यकी जिसके लिये सृष्टि हुई, वहाँ ही 'संस्कृति' को सबसे आगे लेकर बढ़ना पड़ता है। वेद जैसे प्रभुसंमित उपदेश (शासककी स्वतन्त्र आज्ञा), पुराण-स्मृति आदि-जैसे सुहृत्संमित उपदेश (मित्रके समान हितोपदेश), वैसे ही काव्य कान्तासंमित उपदेश (स्त्री जिस तरह अपने पतिको प्रेमचर्यासे प्रसन्न करके फिर उसे हितमार्ग सुझाती है) कहे जाते हैं। काव्योंका मूल उद्देश्य है चरित्र-शिक्षा।

रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्।

अर्थात् प्रत्येक काव्यका यह ध्येय है कि वह अपने वर्णनसे सुननेवालोंको शिक्षा दे कि दुनियामें सदा अच्छे मार्गसे चलना चाहिये, जिससे प्रत्येक आदमी अपने आदर्शपर पहुँच सके। रामका चरित्र अच्छा होनेसे सबको प्रिय लगता है और रावणके आचरणोंसे अन्तमें घृणा होती है। इसलिये रामका आदर्श लेना चाहिये, रावणका नहीं। जब 'काव्य'-सृष्टिका यह मूल उद्देश्य है, तब आप ही देख लीजिये कि 'संस्कृति' के उपदेशमें काव्यने कितना काम किया। प्रभु और मित्रका उपदेश किसी आदमीपर चाहे असर न करता हो, किंतु प्रेममें मस्त बनाकर 'इंजेक्शन' के तौरपर दिया हुआ पत्नीका हितोपदेश रग-रगमें असर कर जाता है। प्रसिद्ध है कि रात-दिन जनानेमें विहार करनेवाला एक स्वतन्त्र राजा कविके एकमात्र दोहेको सुनकर जनानेसे बाहर निकल आता है और कविके उपदेशोंको बड़ कदरदानीसे सुनता है। अब आप कैसे कह सकेंगे कि काव्य-साहित्यमें 'संस्कृति' का अनुरोध नहीं रखा जाता। बल्कि यह कहना पड़ेगा कि 'संस्कृति' की रक्षामें सबसे अधिक प्रभाव काव्योंका ही पड़ा है और पड़ा करता है।

साहित्यकारोंका तो सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि, क्या पद्य और क्या गद्य, सभी काव्य किसी शिक्षाके उद्देश्यको लेकर बनने चाहिये। आजकलकी 'कहानी', जो पश्चिमी नकलपर बनने लगी है, कदाचित् केवल मनोविनोदके लिये हो; किंतु भारतीय दृष्टिकोण यहाँ भी यही रहा है कि कथा और आख्यायिकाएँ भी किसी चरित्र-शिक्षाको लेकर ही बननी चाहिये।

मनोविनोद जरूर उसमें पूर्ण मात्राका रहे; किंतु व्यंग्य अर्थात् कथाका चरम उद्देश्य किसी अच्छी शिक्षापर पहुँचाना ही होना चाहिये। अब आप ही देख लीजिये कि अनादि साहित्य वेदसे लेकर आजकलके काव्यतकमें 'संस्कृति' यानी चरित्र-रक्षाका कितना अनुरोध रखा गया है। व्यवहारमें भी आप देखेंगे कि हिंदू-समाजकी एक अनपढ़ स्त्री भी अपने बच्चेको यही समझायेगी कि—'क्यों दूसरोंको दुःख देता है? चार आदमी तुझको भला कहें, क्यों न उसी तरह तू चलता है?' अब आप ही कहिये कि हिंदू-समाज एड़ीसे लेकर चोटीतक 'संस्कृतिमय' है, यह क्यों नहीं कहा जा सकेगा? 'संस्कृति' से अलग हो जानेपर वह हिंदू ही नहीं रहेगा, यह आप देखेंगे।

अनादिकालसे आजतक बराबर चली आ रही इस हिंदू-संस्कृतिपर आज कुछ महोदयोंकी दूसरी दृष्टि पड़ी है, जो सुधारके नामसे एकदम इसका उद्धार ही कर देना चाहते हैं। किंतु याद रहे, ईश्वरकी प्रेरणासे अनादि उस वैदिक समयसे लेकर आजतक जो हिंदू-संस्कृति धीरे-धीरे परिपक्व बनती गयी, अनवरत व्यवहारके कारण जो स्वाभाविक सिद्ध हुई, अनेक कुठाराघात होनेपर भी अन्तमें जो सत्य साबित हुई, उसमें सहसा परिवर्तन कर देना इतना आसान नहीं। त्रिकालदर्शी ऋषियोंने आगे-पीछे सब कुछ सोच-समझकर जो 'संस्कृति' सिद्धान्तरूपसे स्वीकार की है, उसमें सुधार करनेके लिये कई शताब्दियोंका अनुभव चाहिये।

हाँ, अबतक दृढ़ बनी हुई इस हिंदू-संस्कृतिकी रक्षाभित्तिपर नये-नये 'बिल' बनाकर हम इसे जर्जर बनाना चाहते हैं और इसके लिये प्राणपणसे चेष्टा करते हैं; किंतु जो हिंदू-समाज 'संस्कृतिप्राण' सिद्ध हुआ है, उसकी संस्कृति नष्ट कर देना मानो उसे प्राणहीन बना देना है। खैर, यह सब समयकी बलिहारी है। अवसर समझकर अन्तमें इस प्रसंगके संस्कृतके दो घनाक्षरी छन्द भेंट करता हूँ—

पारमुपनीता पूर्वपद्धतिः प्रवीणैरद्य
चलिता चतुर्दिङ् नवशैली निरुपेहितम्
आडम्बरमात्रं वंशमर्यादामवैति जनो
वादायैव संप्रदायवृत्तमधुनेरितम्।
मंजुनाथ मीलति मनस्वी निजमानसेऽद्य
कस्मै कथयेत निजवृत्तमिदमेधितं
खेलत्खलजाले बत वर्तमानकाले कलौ
भद्रजनभाले भूतभर्त्तः! किमालेखितम्॥ १॥

'अच्छे-अच्छे आदमियोंने अपनी पुरानी रीति छोड़ दी। चारों ओर बेरोक-टोक नयी चाल चल पड़ी। लोग इस समय वंशकी मर्यादाको ढोंग समझते हैं। कहा गया है कि शैव-वैष्णव आदि सम्प्रदायोंका वृत्तान्त आजकल कलहका कारण हो जाता है। मनस्वी पुरुष मन-ही-मन घुला जाता है, लंबे-चौड़े इस वृत्तान्तको बेचारा किसको कहे। चालाकोंको चारों ओरसे चैन देनेवाले इस कलिकालमें हे स्वामी! भले आदमीके कपालमें आपने यह क्या लिखा है?'

स्पृश्यास्पृश्यतताया बत संकीर्णो विचारो भाति
सदृशोऽधिकारो नरनारीभ्यः प्रदीयते
'धर्मस्योपदेशे वृद्धविप्रा एव नाधिकृता
योग्यतास्मदीयाप्यत्र निर्भरमुदीयते।'
उद्वाहं चतुर्दशाब्द्वि वर्षाद्वनितानां जगुः
प्रामाण्याय चेङ्ग्लिशानुवादः सह नीयते
त्वंगति तरीतुं शास्त्रसागरमलाबूबलात्
सेयं नवबाबूमंजुमण्डली महीयते॥ २॥

'स्पृशास्पृश्यका विचार संकीर्णता है। नर और नारियोंको समान अधिकार दिया जाता है। कहा जाता है कि—'धर्मके उपदेशमें पुराने ब्राह्मणोंका ही अधिकार नहीं, हमारी भी योग्यता इस विषयमें पर्याप्त है।' चौदह वर्षके आगे ही कन्याओंका विवाह कहा जाता है। इसके सबूतके लिये सभाओंमें स्मृतियोंका अंग्रेजी अनुवाद साथ रखा जाता है। नवीन यह बाबूमण्डली धन्य है, जो शास्त्रसागरको तूँबेके बलपर तैरना चाहती है।'

भारतकी आध्यात्मिक सम्पत्ति

'संसारके देशोंमें भारतवर्षके प्रति लोगोंका प्रेम और आदर उसकी बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक सम्पत्तिके कारण है।'

—प्रो० लूई रिनाउ (पैरिस विश्वविद्यालय)

हिंदुत्वका व्यापक स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी, वेदान्तशास्त्री)

'हिंदू' शब्दपर कुछ हिंदुओं और अधिकांश सिक्खों तथा आर्यसमाजी सज्जनोंको यह आपत्ति है कि 'यह शब्द हमारी जातिका बोधक नहीं है; क्योंकि संस्कृतके विशाल साहित्यमें यह शब्द नहीं पाया जाता।'

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि ''यह शब्द घृणासूचक है, इसीलिये मुसलमानोंने हमारा यह नाम रखा और इसका अर्थ 'काला, चोर, बदमाश' आदि है।''

एक दल यह भी कहता है कि 'हिंदू नाममें क्या रखा है? इसका मोह ही क्यों किया जाय? इसकी जगहपर आर्य और हिंदुस्थानकी जगहपर 'भारत' या 'आर्यावर्त' शब्द रख दिया जाय।'

इसी तरह हिंदुत्व और उसके व्यापक स्वरूपपर छोटी-मोटी कुछ शंकाएँ और भी उठायी जाती हैं। इस लेखमें सारी शंकाओंपर संक्षिप्त विवेचन किया जायगा।

संस्कृतके एक-दो नहीं, अनेक ग्रन्थोंमें 'हिंदू' शब्द पाया जाता है। अद्भुतरूपकोषमें लिखा है—

हिंदुर्हिंदूश्च पुंसि द्वौ दुष्टानां च विघर्षणे।

अर्थात् 'दुष्ट लोगोंको रगड़नेवालोंको हिंदु और हिंदू कहा जाता है।' ये दोनों शब्द पुँल्लिंग हैं। 'हेमन्तकविकोष' की उक्ति है—'**हिंदूर्हि नारायणादिदेवताभक्तः।**' अर्थात् 'हिंदू उसे कहा जाता है, जो नारायण आदि देवोंका भक्त है।' 'रामकोष' की उक्ति है—

हिंदुर्दुष्टो न भवति नानार्यो न विदूषकः।
सद्धर्मपालको विद्वान् श्रौतधर्मपरायणः॥

तात्पर्य यह कि 'हिंदू न तो दुर्जन होता है, न अनार्य होता है और न निन्दक ही होता है। जो सच्चे धर्मका पालक, विद्वान् और वेदधर्ममें निरत है, वही हिंदू है।'

संस्कृतभाषाके विराट् और प्रामाणिक कोष 'शब्द कल्पद्रुम' में भी 'हिंदू' शब्द और इसकी व्युत्पत्ति लिखी है। आठवीं शताब्दीके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मेरुतन्त्र' (३३ प्र०) में लिखा है—

हिंदूधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः।
हीनं च दूषयत्येव हिंदूरित्युच्यते प्रिये॥

अर्थात् 'शक, हूण आदि चक्रवर्ती राजा हिंदूधर्मका नाश करनेवाले होंगे। जो दुष्टको दोष देता है, उसे हिंदू कहा जाता है।'

अनेक विद्वानोंका मत है कि मेरुतन्त्रसे भी प्राचीन ग्रन्थ 'कालिकापुराण' है। उसमें लिखा है—

कालेन बलिना नूनमधर्मकलिते कलौ।
यवनैर्घोरमाक्रान्ता हिंदवो विन्ध्यमाविशन्॥

अर्थात् 'बली कलिके कारण धर्मशून्य कलियुगमें विदेशियोंके द्वारा आक्रमण होनेपर हिंदूलोग विन्ध्यपर्वत चले गये।'

ऊपरके इन श्लोकोंसे स्पष्ट विदित होता है कि संस्कृत-साहित्यमें एक नहीं, अनेक स्थलोंपर 'हिंदू' शब्दका उल्लेख है। इस शब्दका जो लक्षण किया गया है, 'हिंदू' शब्दकी जो परिभाषा दी गयी है, उससे स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि हिंदू आर्यका ही नाम है। हिंदू वह है जो दुष्टनाशक, धर्मपरायण, वेदधर्मानुयायी, नारायण-भक्त और विद्वान् है। इन सब लक्षणोंसे ज्ञात होता है कि आर्य और हिंदू एक हैं और आर्यजातिका नाम ही हिंदू जाति है। इसलिये पहली आपत्ति एकदम निरर्थक है। ऊपरके एक श्लोकसे यह भी विदित होता है कि 'हिंदु' और 'हिंदू'—दोनों ही शब्द शुद्ध हैं।

दूसरी आपत्ति तो और भी निरर्थक है। मुसलमानोंकी बात तो अलग रही, जिन दिनों मुहम्मद साहबका जन्म भी नहीं हुआ था और अरबजातिका इतिहास भी कालके अगाध पेटमें था, उन्हीं दिनों बादशाह सिकंदर भारतवर्ष आया था। उसने अपने मन्त्रीसे 'हिंदूकुश' (हिंदूकूट) पर्वत जानेकी इच्छा प्रकट की थी। यह बात उसके जीवनचरितमें है। जब कि ईसासे भी सैकड़ों वर्ष पूर्व 'हिंदू' शब्द था, तब कैसे कहा जा सकता है कि हिंदू नाम मुसलमानोंका रखा हुआ है?

सिकंदरसे भी सैकड़ों वर्ष पहले पारसियोंका धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' बना था। उसमें वेदके हजारों शब्द पाये जाते हैं। उसमें 'हिंदू' शब्दका उल्लेख है। उसी समयसे सिन्धुके इस पार बसनेवालेको हिंदू कहा जाता है। 'बलख' नगरका नाम भी पहले 'हिंदवार' था। वस्तुतः 'हिंदू' शब्द 'सिन्धु' शब्दका तद्भव रूप है। पारसी भाषामें 'स' को 'ह' कहा जाता है। 'सप्त', को 'हप्त', 'सरस्वती' को 'हरहवती' और 'असुर' को 'अहुर' कहा जाता है। भाषा-विज्ञानके अनुसार भी 'स' और

'ह' परस्पर बदला करते हैं। पारसवालोंने पहले स्वात, गोमती, कुभा, वितस्ता, चन्द्रभागा, इरावती और सिन्धुको अर्थात् 'सप्तसिन्धु' को 'हप्तहिंदु' कहना शुरू किया। (भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व, अध्याय ५ में भी 'हप्तहिंद' शब्दोंका उल्लेख आया है।) अनन्तर संक्षेपमें 'हिंदू' कहने लगे और अन्तको हिंदू या सिन्धुके इस पारके रहनेवालोंको—सारे भारतवासियोंको हिंदू कहने लगे। पश्चिमी विदेशोंमें सारे भारतवासी इसी सिन्धुके रास्ते जाते थे; क्योंकि विदेश जानेका एकमात्र यही रास्ता था। इसलिये पारसी सबको हिंदू ही कहने लगे। बल्कि आजतक ईरान, तुर्की, ईराक, अफगानिस्तान और अन्य देशोंमें भारतवर्षको 'हिंद' और प्रत्येक भारतवासीको 'हिंदी' कहा जाता है—चाहे वह हिंदू हो, मुसलमान हो या कोई हो। अमेरिकावाले प्रत्येक भारतीयको—हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी, सबको हिंदू कहते हैं। इसलिये यह कहना सत्यका अपमान करना है कि 'हिंदू' शब्द मुसलमानोंका दिया हुआ है। वस्तुतः यह 'सिन्धु' शब्दसे निकला है, जिसका ऋग्वेदमें कितनी ही बार उल्लेख है। इस सिन्धु नदकी ऋग्वेदमें बड़ी ही प्रशंसा लिखी है। इसे आर्यलोग परम पवित्र मानते थे। सिन्धुके तटपर ही ऋषियोंने अनेक वैदिक मन्त्रोंका तपःपूत अन्तःकरणमें आविष्कार किया था। इस तरह 'सिन्धु' वैदिक प्रयोग है और उसके तद्भव 'हिंदु' शब्दमें वैदिक संस्कृति भरी हुई है।

यूनानी भाषामें 'ह' का लोप हो जानेके कारण यूनान या ग्रीसमें 'इन्द' और 'इन्दु' शब्द प्रचलित हुए। अंग्रेज आदि यूरोपियनोंने 'द' का 'ड' बना दिया और हिंदूकी जगह 'इंड', 'इंडो' और 'इंडिया' बना डाला। अंग्रेजोंको 'हिंदू' लिखना भी पड़े, तो वे 'हिंडू' ही लिखेंगे, हिंदू नहीं। उनकी भाषामें 'द' की जगह 'ड' ही है। 'इंड' शब्दसे ही उन्होंने 'इंडीज', 'ईस्ट इंडीज', 'वेस्ट इंडीज', 'इंडियन', 'इंडियन ओशन' आदि शब्दोंको रच डाला। केवल एक 'सिन्धु' या 'हिंदू' शब्दकी विदेशियोंने इतनी दुर्गति कर डाली है। हम पसंद करें या न करें, परंतु अंग्रेज हमें 'इंडियन' ही कहेंगे। आर्यसंस्कृतिसे शून्य विदेशियोंतकको वे भ्रान्तिके कारण 'रेड इंडियन' कहते हैं। परंतु वे ''पसंद करें या न करें, हम भी तो उन्हें 'फिरंगी' और 'अंग्रेज' ही कहते हैं—'इंगलिशमैन' नहीं। जर्मनीवाले अपनेको 'डोइट्श' और अपने देशको 'डोइट्शलैंड' कहते हैं; परंतु इन्हें हम जर्मन और उनके देशको जर्मनी कहते हैं, चाहे वे पसंद करें या न करें। फ्रांसवाले तो और भी गजब करते हैं—वे इंडियनको 'इंजये' कहते हैं। इतना लिखनेका तात्पर्य यह है कि उच्चारण-दोषसे और देश, काल, पात्रकी विभिन्नताके कारण एक शब्दके कई रूप हो जाते हैं। परंतु मूल शब्दमें ही सारे शब्दोंका इतिहास और संस्कृति रहती है। फलतः मूल 'सिन्धु' या 'हिंदू' शब्द वैदिक है, परम पवित्र है और हमारी समूची संस्कृतिसे इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

'हिंदू' शब्दके 'काला', 'चोर' आदि अर्थ द्वेषवश किये जाते हैं। जो विधर्मी हिंदूसे डाह और जलन रखता है, वह तो ऐसे ऊटपटाँग अर्थ करेगा ही। हिंदू सुरके पूजक हैं और पारसी असुरके। दोनोंमें विरोध भाव ज्यादा बढ़ गया, तब पारसी 'हिंदू' शब्दके अर्थका अनर्थ करने लगे। हिंदू-मुसलमानोंमें शत्रुता बढ़ गयी, तब मुसलमान इसका अर्थ 'नास्तिक', 'काफिर' आदि करने लगे। परंतु 'हिंदू' शब्द न तो पारसीका है न अरबीका; इसलिये 'हिंदू' शब्दके झूठे अर्थ समाजमें कभी गृहीत नहीं हुए। खुद मक्का और मदीनावाले भारतके मुसलमानोंको 'हिंदू' और 'हिंदी' कहते हैं तो क्या अपने किये अर्थके अनुसार मुसल्मान 'नास्तिक' और 'काफिर' हैं? इसलिये यह कहना सरासर असत्य है कि 'यह शब्द मुसलमानोंका दिया हुआ है और इसके अर्थ बुरे हैं।' संस्कृतमें 'असुर' शब्दका अर्थ तो अच्छा नहीं है, तो क्या पारसी 'अहुरमज्द' को छोड़ देंगे?

जो लोग यह कहते हैं 'नाममें क्या रखा है?' उनके सामने नीबूका नाम लीजिये, नीबूके नामका कीर्तन कीजिये, तो उनकी जीभपर पानी जरूर आ जायगा। क्या महाराणा प्रतापका नाम लेनेपर गर्वसे छाती नहीं फूल उठती? तब फिर नामका मोह क्यों नहीं किया जाय?

नाम वस्तुतः ध्वनिरूप आकार है। अपनी सारी अभिलाषाओंको मनुष्य नामरूपी एक शब्दमें प्रकट कर देता है। नाममें इतने संस्कार, भावनाएँ और स्मृतियाँ मिली रहती हैं कि नाम और वस्तु एक ही हो रहते हैं। इसीसे श्रीचैतन्य महाप्रभु नाम और नामीमें एकता समझते थे। उन्होंने लिखा है—'**अभिन्नत्वान्नामनामिनोः।**' अर्थात् नाम और नामवाला एक हैं। इसलिये नामको नामवालेसे हटाया नहीं जा सकता। शरीरका अंग न होते

माखन-लीला

बसोली (पहाड़ी) चित्रशैली १८ वीं शती] [भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

दानलीला

राजस्थानी चित्रशैली १८ वीं शती] [भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

हुए भी बहुत बार शरीर ही नहीं, शरीरसे भी अधिक महत्त्व नामका हो जाता है। शरीर तो विनष्ट हो जाता है, परंतु नाम कभी विनष्ट नहीं होता। शंकराचार्यका शरीर नहीं है; परंतु उनका नाम करोड़ों मनुष्योंके लिये जादूका काम करता है। यह कहना बिलकुल वाहियात है कि 'नाममें क्या रखा है?' प्रत्युत यह कहना अधिक उपयुक्त है कि 'नाममें ही सब कुछ है।'

आज हजारों वर्षोंसे 'हिंदू' नाममें इतना विशद इतिहास, इतनी सम्पन्न संस्कृति, इतने उदात्त आदर्श, इतनी रहस्यमयी भावनाएँ, इतने समर्थ जीवन और इतने स्वस्थ तेज घुले-मिले हैं कि यह शब्द प्राणोंसे भी प्यारा हो गया है। यह शब्द हमारे अगणित सत्कार्योंका दर्पण हो गया है। इस नामके लिये असंख्य योगी, यति, कवि, दार्शनिक, जननायक और महापराक्रमी अपनी जानतक दे चुके हैं। यह नाम इतिहासका महाकोष बन चुका है। ये ही कारण हैं कि 'हिंदू' नाममें हमारा इतना मोह और इतनी ममता है।

यद्यपि यह निर्विवाद है कि आर्यलोग सदासे यहींके निवासी हैं, तथापि विदेशी विद्वान् और उनके शिष्य भारतीय विद्वान् इस देशमें आर्योंका आदि निवास नहीं मानते। वे कहते हैं कि 'आर्यलोग एशिया माइनर, स्कांडेनेविया या तिब्बतसे आये हैं।' यदि यह बात मान ली जाय, तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि विदेशीलोग यहाँके आदि निवासियों—द्रविड़, आदि द्रविड़, कोल, भील, नागा, सन्थाल आदि—को हिंदू कहते थे। मूल नाम हिंदू ही था, जैसा कि ऊपरकी पंक्तियोंसे प्रमाणीकृत है। संस्कृतमें 'ह' के स्थानपर 'स' और 'ध' के स्थानपर 'द' करके वे 'हिंदू' की जगह 'सिन्धु' कहने लगे। नामोंके परिमार्जनका अभ्यास आर्योंका था ही। वे अलेक्जेंड्रियाको 'अलसन्दा' और सेल्यूकसको 'सुलूव' कहते थे। यदि यह बात सच हो तो मानना पड़ेगा कि इस देशके लिये 'आर्य' नामसे भी प्राचीन नाम 'हिंदू' है। जिस समय भारतवर्षका कोई इतिहास नहीं था, उसी समयका—प्राग्‌ऐतिहासिक कालका 'हिंदू' नाम है। इसका प्रांजल रूप अपनी प्रिय नदीके नामपर सिन्धु रखा गया अवश्य।' परंतु जनसाधारणमें 'हिंदू' शब्द ही प्रचलित रहा और आर्य भी हिंदू कहलाने लगे। पीछे चलकर 'हिंदू' शब्द इतना व्यापक हो गया कि संस्कृतकी पुस्तकोंमें भी इसका प्रयोग धड़ल्लेसे होने लगा। इन दिनों तो यह शब्द समूची वसुन्धरामें व्याप्त हो गया है और हमारे ही साथ यहाँके सभी विभिन्न धर्मवालोंको भी संसार हिंदू ही कहता है। सातवीं शताब्दीमें अनेक गिरि-कन्दराओंको लाँघकर चीनी यात्री ह्वेनसांग यहाँ आया था और कई साल भारतमें रहा; परंतु उसने भी हमें 'हिंतू' ही लिखा है। द्राविडवी प्रयोग केवल कुछ पारसी करते थे। वे अफगानिस्तानको 'श्वेत भारत' कहते थे। बस, 'सिन्धु' वा 'हिंदु' शब्द प्रोज्ज्वल वैदिक स्मृतियोंको जगानेवाला है, इसलिये यही नाम हमें सबसे अधिक उपयुक्त जँचा। 'सिंधुस्थान' वा हिंदुस्थानको 'उत्तम राष्ट्र' माना गया—

सिन्धुस्थानमिति ज्ञेयं राष्ट्रमार्यस्य चोत्तमम्।

(भविष्यपुराण प्र० प० २)

'सिन्धु' शब्दके दो अर्थ हैं—नदी और समुद्र। इस देशके पश्चिममें सिन्धु (नदी) है ही। उत्तरमें भी हिमालयके अन्तर्गत सिन्धु ही सीमाका निश्चय करती है। पूर्वमें हिमालयसे ब्रह्मपुत्र निकली है। कुछ लोग इसे सिन्धुकी सहोदरा और कुछ लोग इसको सिन्धुकी ही पूर्वी धारा मानते हैं। इस तरह पूर्वमें भी सिन्धु हुई। दक्षिणमें तो सिन्धु या हिंद-महासागर विस्तृत ही है। इस तरह भगवान्‌ने ही हमारे देशको पूर्णतः सिन्धुस्थान या हिंदुस्थान बना रखा है। हमारे देशके लिये इससे बढ़कर दूसरा उपयुक्त शब्द होगा भी नहीं।

ऋग्वेद (९।३३।६ और १०।४७।२) में चार समुद्रोंका उल्लेख है। इन समुद्रोंमें हमारे पूर्वज जहाजों और नावोंके द्वारा यात्रा करते थे और विविध देशोंमें व्यापार करके धन और ऐश्वर्यसे अपने देशको सम्पन्न करते थे। (१।४८।३; १।५६।२; १।११६।३; ४।५५।६; ५।८५।६; ७।८८।३) भूगर्भशास्त्री कहते हैं कि बलख और फारसके उत्तरी भागमें और तुर्किस्तानके पश्चिमी प्रान्तमें एक विस्तृत समुद्र था, जो प्राकृतिक कारणोंसे सूखकर कृष्णह्रद (Black Sea), काश्यपह्रद (Caspean Sea), आरलह्रद (Sea of Aral) और बल्काशह्रद (Lake Balkash) के रूपोंमें परिणत हो गया है। किसी समय पंचनद (पंजाब) के दक्षिण, पश्चिम और पूर्वमें समुद्र विद्यमान था। श्रीएच. जी. वेल्सने अपने 'Outline of History' ग्रन्थमें लिखा है कि 'ऐसे समुद्रोंका अस्तित्व आजसे पचीस हजार वर्षसे लेकर पचास हजार वर्षके भीतर हो सकता है।' इस

तरह स्पष्ट ज्ञात होता है कि हमारे देशके चारों तरफ चार समुद्र थे। सप्त सिन्धु, काश्मीर, गान्धार (अफगानिस्तान), बिलोचिस्तानके उत्तर बलख और तुर्किस्तानके पश्चिम आदिमें हमारे पूर्वज रहते थे। कदाचित् इसी कारण उन्होंने अपने देशका नाम 'सिन्धुस्थान' या हिंदुस्थान रखा था। इस प्रकार कम-से-कम पचीस हजार वर्षोंसे इस दिव्य देशका नाम हिंदुस्थान है। उस समय सुमेर, अक्कद, चाल्डियन, बेबीलोनियन, ग्रीक, रोमन, चीनी और इजिप्शियन आदि संसारकी प्राचीनतम जातियोंका अस्तित्व भी नहीं था।

खेदकी बात है कि देशके कुछ लोगोंने अभीतक हिंदू और हिंदुस्थानके पूर्ण महत्त्वको नहीं समझा है। परंतु वह दिन दूर नहीं, जब हम ही इन पावन शब्दोंके आगे सिर नहीं झुकायेंगे, सारा विश्व सिर झुकायेगा और हिंदुत्वके महाव्यापक स्वरूपके अमर गीत गायेगा।

इसी हिंदुस्थानके प्रत्येक ग्राममें देवपुरुषोंका वास था, प्रत्येक प्रान्तमें यज्ञ होता था, घर-घरमें खजाना भरा रहता था और हर एक मनुष्यमें धर्मका निवास था—

ग्रामे ग्रामे स्थितो देवो देशे देशे स्थितो मखः।
गेहे गेहे स्थितं द्रव्यं धर्मश्चैव जने जने॥

(भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व)

उस समय एक ही संस्कृति थी, एक-सी प्रथाएँ थीं, एक राष्ट्र-भाषा संस्कृत थी और सम्पूर्ण राष्ट्रके जीवनमें अद्भुत आनन्द था। पशु-पक्षीतक स्वतन्त्र विचरा करते थे।

ये ही सब कारण हैं कि 'हिंदू' और 'हिंदुस्थान' शब्दोंका महत्त्व अनेक विदेशी भी समझते थे। यहूदी शूरवीरको हिंदू कहते थे। अरबी ग्रन्थ 'सोहब मो अलक्क' में लिखा है—'भाई-बन्धुओंका अत्याचार हिंदू-तलवारसे भी अधिक घातक होता है।' अरबीमें एक कहावत है—'हिंदू-जवाब देना', जिसका मतलब है 'शत्रुपर कड़ी चोट करना।' हिंदू-तलवार और शूरताकी ऐसी ही धाक थी। बेबीलोनियामें बढ़िया बागको 'सिन्धु' कहते थे। यह इसलिये कि हिंदू ही बागोंके पौधे देते थे। वहाँकी भाषामें 'हिंदू' का अर्थ इस देशका निवासी है। कोई बुरा अर्थ नहीं है।

हिंदीकी प्राचीनतम कविता चंदबरदाईके पिता 'वेन' की जो पायी जाती है, वह बारहवीं सदीकी है। अजमेरके राजा पृथ्वीराजके पिताको लक्ष्य करके यह काव्य लिखा गया है। इसमें हिंदु, हिंदुवान और हिंदका कई बार नाम आया है, जिससे विदित होता है कि ये शब्द उन दिनों अत्यन्त आदरणीय और पूजनीय थे। उन दिनों मुसलमान पहले-पहल आये हुए थे। वे राजपूतोंके पक्के शत्रु थे। यह कैसे सम्भव था कि अपने शत्रुओंके रखे घृणित नामको राजपूत तुरंत अपना लेते और उसे पूजनीय मान लेते? चन्दबरदाईने तो अपने 'पृथ्वीराजरासो' में अगणित बार 'हिंदु' शब्दका प्रयोग बड़े गर्व और गौरवके साथ किया है। 'रासो' में 'भारत' शब्दका व्यवहार तो कई बार किया गया है, परंतु भारतका कहीं भी हिंदुस्थान अर्थ नहीं है। 'महाभारत' ग्रन्थ है। समर्थ रामदासने भी अपने काव्योंमें राष्ट्रिय भावनासे भरे 'हिंदू' और 'हिंदुस्थान' शब्दोंका उल्लेख किया है। महाकवि भूषणने छत्रपति शिवाजी और बुंदेलराज छत्रसालके सम्बन्धमें कविताएँ बनायी थीं, उनमें हिंदू और हिंदुस्थानकी बार-बार प्रशंसा की है। गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्दसिंह तो 'हिंदुत्व' के लिये ही जिये और मरे। हिंदू-धर्म और हिंदू-राज्यके लिये पेशवा वीर महाकालका विकराल रूप धारण करके मुसलमानोंसे लड़े थे। सुजानसिंह, जयसिंह, राणा बप्पा, राणा साँगा, राणा प्रताप आदि वीर-व्याघ्रोंने हिंदुत्वकी रक्षाके लिये मद-मत्त शत्रुओंको रौंद डाला था।

हिंदूपनको हिंदुत्व कहा जाता है। हिंदूपनके भीतर हिंदूधर्म, हिंदू-मर्यादा, हिंदू-संस्कृति, हिंदू-सभ्यता, हिंदू-परम्परा, हिंदूकला आदि-आदि सब आ जाते हैं। हिंदुत्वका स्वरूप इतना व्यापक है कि इसकी रक्षाके लिये वे भी प्राण देनेको तैयार हैं, जो हिंदुत्वकी दो-ही-एक बातें मानते हैं। दक्षिणके 'अनार्य' कहनेवाले अब्राह्मण (आदि द्रविड़) भी अपनेको हिंदू कहनेमें गर्वका अनुभव करते हैं। आर्यसमाजी, सिक्ख, जैन, बौद्ध आदि सब हिंदूमहासभामें सम्मिलित हैं। यहाँके नास्तिक भी अपनेको हिंदू कहते हैं। गोआके प्रायः सभी ईसाई हिंदू-देव-देवियोंकी अबतक पूजा करते हैं। कितने ही मुसलमान भी हिंदू-त्योहार मनाते और देव-स्थानोंमें मुण्डन-संस्कारतक कराते हैं। जिनपर हिंदुत्वकी धाक जम गयी है, वे मुसलमान गोमांसके पासतक नहीं जाते। महापतित भी अपनेको छाती फुलाकर हिंदू बताता है। औघड़से लेकर परम वैष्णवतक हिंदुत्वाभिमानी है। सूअरकी हड्डीसे गोंठकर मुसलमानकी बनायी हुई

रोटीको लेकर 'अमृत छकनेवाले' गुरु गोविंदसिंह भी हिंदू हैं और स्वयंपाकी गुरुजी भी हिंदू हैं। वर्णाश्रमी भी हिंदू हैं और वर्णाश्रमके द्रोही भी हिंदू हैं। ईश्वर-द्रोही बौद्ध भी हिंदू हैं, वेदद्रोही जैन भी हिंदू हैं और मूर्तिपूजाद्रोही आर्यसमाजी भी हिंदू हैं। चाण्डाल और चमार भी हिंदुत्वके लिये जान देते हैं और कोल, भील भी हिंदुत्वकी रक्षाके लिये कट मरते हैं। कन्धार और काबुलसे आकर गंगा-स्नान करनेवाले भी हिंदुत्वके हिमायती हैं और गंगातटपर रहकर गंगाकी समालोचना करनेवाले भी हिंदू हैं। हिंदुत्वने ही बौद्धधर्मको जन्म दिया है; इसलिये बौद्धधर्म माननेवाले जापानी, चीनी, तातारी, मंगोल, तिब्बती, सिंहली, बर्मी आदि भी हिंदू हैं। बर्माके भिक्षु उत्तमा हिंदूमहासभाके सभापति भी हुए थे।

हिंदु-संस्कृति-सम्बन्धी दस विषयोंपर विचार

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री, सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)

१. एक कल्प एवं सृष्टि-संवत्सर

'ॐ तत्सदद्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तर्गते कुमारिकानामक्षेत्र वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे बौद्धावतारे..........'

—इत्यादि संकल्पको सनातनधर्मी प्रत्येक शुभ कृत्यमें पढ़ते हैं। इसके द्वारा सृष्टिसंवत्सर सरलता तथा संक्षेपसे प्राप्त हो जाता है।

इसपर यह जानना चाहिये कि ब्रह्माजीकी अपने मानसे सौ वर्षकी आयु होती है। ब्रह्माण्डकी सृष्टिसे लेकर महाप्रलयतक इतना समय व्यतीत होता है। ब्रह्माजीका पूर्वपरार्ध अर्थात् उनकी आयुके पचास वर्ष बीत गये हैं। द्वितीय परार्धका प्रथम कल्प (दिन) यह वर्तमान है, जिसका नाम 'श्वेतवाराहकल्प' है। अर्थात् आजकल ब्रह्माजीका ५१ वें वर्षका प्रथम दिन चल रहा है और उसकी १३ घड़ियाँ, ४२ पल, ३ विपल, ४३ प्रतिविपल बीत चुके हैं। इसपर 'श्रीमद्भागवत' पुराणका प्रमाण इस प्रकार है—

एवं विधेरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः।
अपक्षितमिवास्यापि(ब्रह्मणः)परमायुर्वयःशतम्॥
यदर्धमायुषस्तस्य परार्धमभिधीयते।
पूर्वः परार्धोऽपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते॥

(३।११।३२-३३)

अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत।
वाराह इति विख्यातः..............................॥

(३।११।३६)

इसी प्रकार 'मार्कण्डेयपुराण' (४६।४२-४३-४४) में भी कहा है।

एक कल्पमें एक हजार चतुर्युग होते हैं; उन एक सहस्र चतुर्युगोंमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—ये चार युग हैं। चौदह मन्वन्तरोंके नाम ये हैं—१ स्वायम्भुव, २ स्वारोचिष, ३ उत्तम, ४ तामस, ५ रैवत, ६ चाक्षुष, ७ वैवस्वत, ८ सावर्णिक, ९ दक्षसावर्णिक, १० ब्रह्मसावर्णिक, ११ धर्मसावर्णिक, १२ रुद्रसावर्णिक, १३ देवसावर्णिक, १४ इन्द्रसावर्णिक। यह वर्णन श्रीमद्भागवत पुराणके अष्टम स्कन्ध (१, ५, १३ अध्यायों) में, मनुस्मृति (१।६१-६२-६३) में, विष्णुपुराण (३।२) में तथा श्रीहरिवंशपुराण (१।७) में देखा जा सकता है। स्वा० दयानन्दजीने भी मन्वन्तरोंके ये नाम सम्भवतः पुराणोंसे ही लेकर अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के २१ पृष्ठमें उद्धृत किये हैं। इसी प्रकार 'सूर्यसिद्धान्त' भी इस विषयमें साक्षी है (देखिये उसके १।१३, १४, १५, १६, १८, १९, २०, २१, २२, २३ वें पद्य)। तदनुसार वैवस्वत मन्वन्तरके (जो आजकल चालू है) ७१ महायुगोंमें २८ सत्ययुग, २८ त्रेता, २८ द्वापर तथा २७ कलियुग बीत चुके हैं। अब अट्ठाईसवाँ कलियुग चालू है, जिसका आजकल प्रथम चरण (चतुर्थांश) वर्तमान है; उसमें भी आज (सं० २००६) ५०५० वर्ष बीत चुके हैं।

एक मन्वन्तरमें ७१ चतुर्युग होते हैं। प्रत्येक युगमें सन्ध्या तथा सन्ध्यांश हुआ करता है। एक कल्पके वर्ष मिलानेसे ब्रह्माजीका एक दिन हुआ करता है। एक कल्पके वर्ष ४,३२,००,००,००० होते हैं। आज (सं० २००६) तक इस कल्पके १, ९७, २९, ४९, ०५० वर्ष

बीत चुके हैं तथा २, ३४, ७० ५०, ९५० वर्ष शेष हैं।

यह विषय भी श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें स्पष्ट है। इस विषयमें कुछ प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः* सावधानं निरूपितम्॥
चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्।
संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च॥
सन्ध्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसंख्ययोः।
तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते॥
त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम्।
तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक्॥
निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते।
यावद्दिनं भगवतो मनून् भुञ्जंश्चतुर्दश॥
स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम्।

(३।११।१८—२०, २२—२४)

यही बात 'मनुस्मृति' (१।६८ से ७४, ७९-८०) में तथा 'महाभारत' के वनपर्व (१८८।२२से २४, २६) तथा शान्तिपर्वके मोक्ष-धर्मपर्व (२३१।१६-१७, १९ से २१, २९ से ३१) में भी स्पष्ट की गयी है।

अब हम इनका विवरण लिखते हैं। 'कल्याण' के विज्ञ पाठक अवधानपूर्वक देखें—

(सं० २००६ वि०, कलियुग ५०५०, सन् १९४९-५०)

(भुक्तकल्पके वर्षोंका विवरण)

गत छः मन्वन्तरोंके वर्ष—	१, ८४, ०३, २०, ०००
इनकी सात सन्धियोंके वर्ष—	१, २०, ९६, ०००
सातवें मन्वन्तरके गत २७ चतुर्युगोंके वर्ष—	११, ६६, ४०, ०००
२८ त्रियुगीके भुक्त वर्ष—	३८, ८८, ०००
२८ वें वर्तमान कलियुगके भुक्त वर्ष	५, ०५०
भुक्त कल्पके वर्षोंका योग	१, ९७, २९, ४९, ०५०

(भोग्य कल्पके वर्षोंका विवरण)

आगेके सात मन्वन्तरोंके वर्ष—	२, १४, ७०, ४०, ०००
उनकी आठ सन्धियोंके वर्ष—	१, ३८, २४, ०००
आगेके ४३ चतुर्युगोंके वर्ष—	१८, ५७, ६०, ०००
वर्तमान कलियुगके शेष वर्ष—	४, २६, ९५०
कल्पके अग्रिम वर्षोंका योग—	२, ३४, ७०, ५०, ९५०

इस हिसाबसे—

कल्पके भुक्तवर्ष—	१, ९७, २९, ४९, ०५०
" भोग्यवर्ष—	२, ३४, ७०, ५०, ९५०
कल्प (ब्रह्माका दिन)	४, ३२, ००, ००, ०००

ये एक कल्पके वर्ष हैं।

एक कल्प ब्रह्माका एक दिन होता है। ब्रह्माके दिनके उदयके साथ ही त्रैलोक्यकी सृष्टि होती है। उसके दिनकी समाप्ति होनेपर उतनी ही रात्रि होती है। उसमें महाप्रलय होता है।

ब्रह्माका दिन— ४,३२,००,००,००० } मानुषी वर्ष
" की रात्रि— ४,३२,००,००,००० }

दिन-रात्रिका योग—८,६४,००,००,०००

इतने वर्षोंसे ब्रह्माका दिन-रात होता है। इन्हीं वर्षोंको ३० अंकोंसे गुणा करनेपर २,५९,२०,००,००,००० वर्षोंका ब्रह्माका एक मास होता है। इन्हीं अंकोंको १२ से गुणा करनेपर ब्रह्माका एक वर्ष बनता है। अर्थात् ३१,१०,४०,००,००,००० वर्षोंका एक ब्राह्मवर्ष होता है। फिर इन अंकोंको १०० से गुणा करनेपर

---

* यहाँपर युगोंके वर्ष 'दिव्य' कहे गये हैं। देवता तथा मनुष्योंकी वर्ष-व्यवस्था भिन्न-भिन्न हुआ करती है। यथा—'दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः। अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद् दक्षिणायनम्॥' (मनु० १।६७)। 'सूर्यसिद्धान्त' (१।१३) में भी यही बात कही गयी है। यहाँपर स्पष्ट कहा है कि मनुष्योंका वर्ष देवताओंका दिन-रात होता है। तब 'श्रीमद्भागवत' के 'दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः (३।११।१८) तथा 'मनुस्मृति' के 'एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगम्' (१।७१)—इस पद्यमें १२,००० वर्ष देवताओंके कहे गये हैं। इनके मनुष्य-वर्ष बनानेके लिये ३६० अंकसे गुणा करना पड़ेगा अर्थात् १२,०००×३६०=४३,२०,००० ये चारों युगोंके मनुष्य-वर्ष हैं। यदि उक्त बारह सहस्र वर्ष देवताओंके न मानकर मनुष्योंके माने जायँ, तब तो कलियुग समाप्त ही हो गया और उसके बादका सत्ययुग भी समाप्तप्राय हो गया; क्योंकि तदनुसार कलियुगकी वर्षसंख्या १२०० बतायी गयी है और सत्ययुग ४८०० दिव्य वर्षोंका माना गया है। एवं महाभारत-युद्धकालसे प्रारम्भ हुए कलियुगको पाँच सहस्र वर्ष बीत चुके हैं, यह सर्वसम्मत बात है। अतएव इन दिव्य वर्षोंको मानुषवर्ष मानना कदापि युक्तिसंगत और यथार्थ नहीं है। इसलिये मन्वादि-लिखित वर्ष दिव्य (देववर्ष) ही हैं, यह जानना चाहिये। इन्हें ३६० अंकोंके साथ गुणा करनेसे मानुषवर्ष बनते हैं। मनुने दिव्य वर्षानुसार सत्ययुगके ४८०० वर्ष, त्रेताके ३६०० वर्ष, द्वापरके २४०० वर्ष तथा कलिके १२०० वर्ष माने हैं। इन्हें जोड़नेपर एक चतुर्युगमें देवताओंके १२,००० वर्ष होते हैं। इनको ३६० से गुणा करनेसे चतुर्युगोंके मनुष्यवर्ष ४३,२०,००० होते हैं। 'मासेन स्यादहोरात्रः पैत्रः, वर्षेण दैवतः' (अमर० १।४।२१), 'एकं वा एतद् देवानामहर्यत् संवत्सरः' (तै० ब्रा० ३।९।२२।१)—इन प्रमाणोंसे देवताओंका एक दिन-रात हमारा एक वर्ष होता है।

३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्षोंमें ब्रह्माकी सौ वर्षोंकी आयु समाप्त होती है। इस ब्रह्माकी आयुमेंसे आजतक १५,५५,२१,९७,२९,४९,०५० वर्ष बीत चुके हैं।

अब चारों युगोंके दिव्य तथा मानुष वर्ष एवं उसके सन्ध्या और सन्ध्यांश भी दिखलाये जाते हैं—

चारों युगोंके दिव्य वर्ष

युगोंके नाम	सन्ध्या	नियतकाल	सन्ध्यांश	सर्वयोग
१-सत्ययुग	४०० +	४००० +	४००	= ४८००
२-त्रेतायुग	३०० +	३००० +	३००	= ३६००
३-द्वापरयुग	२०० +	२००० +	२००	= २४००
४-कलियुग	१०० +	१००० +	१००	= १२००
			योग	१२,०००

चारों युगोंके मानुष-वर्ष

युगनाम	सन्ध्या	नियतकाल	सन्ध्यांश	सर्वयोग
१-सत्ययुग	१४४०००+	१४४००००+	१४४०००=	१७२८०००
२-त्रेतायुग	१०८०००+	१०८००००+	१०८०००=	१२९६०००
३-द्वापरयुग	७२०००+	७२००००+	७२०००=	८६४०००
४-कलियुग	३६०००+	३६००००+	३६०००=	४३२०००
चार युगोंके वर्षोंका योग				४३,२०,०००

संक्षेपसे यह जानना चाहिये कि कलियुगके ४,३२,००० मानुषवर्ष होते हैं। उससे दुगुना द्वापर है। कलिसे तिगुना त्रेतायुग है और चौगुना सत्ययुग होता है। इस प्रकार चतुर्युगके ४३,२०,००० वर्ष होते हैं। इस प्रकारके ७१ चतुर्युगोंका एक मन्वन्तर होता है। इस मन्वन्तरके ३०,६७,२०,००० मनुष्य-वर्ष होते हैं। एक कल्पमें १४ मन्वन्तर होते हैं, उनके वर्ष ४,२९,४०,८०,००० होते हैं। एक कल्पमें 'सूर्यसिद्धान्त' (१।१९ पद्य) के अनुसार १५ सन्धियाँ होती हैं। उनमें एकका परिमाण सत्ययुगके बराबर (१७,२८,००० वर्ष) होता है। इस प्रकार सब सन्धियोंके वर्ष २,५९,२०,००० होते हैं। स्वामी दयानन्दजीने भी अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में 'आर्यसृष्टिसंवत्सर' दिखलाते हुए प्रायः ऐसा ही माना है। पर वे मन्वन्तरोंकी वर्षसंख्यामें सन्धियोंके वर्ष मिलाने भूल गये हैं, जिससे उनकी गणनामें थोड़ी भूल रह गयी है। उनकी पुस्तकोंके बाहर आर्यसृष्टि-संवत्सर हमारे ही हिसाबसे लिखा हुआ रहता है। १४ मन्वन्तरोंके ४,२९,४०,८०,००० वर्षोंमें उनके सन्धि-वर्ष २,५९,२०,००० मिला देनेपर कल्प (ब्रह्माके दिन) के वर्षोंकी संख्या मनुष्यवर्षानुसार ४,३२,००,००,००० हो जाती है। इस प्रसंगमें पूर्व जो संकल्प लिख चुके हैं, स्वा० दयानन्दजीने भी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के २२ वें पृष्ठमें उसे भी प्रमाणित किया है।

पहले पाश्चात्त्य लोग सृष्टिको केवल पाँच हजार वर्ष पुरानी मानते थे। आर्कबिशप उशरका मत है कि सृष्टि आजसे ४००४ वर्ष पूर्व हुई थी। अन्य ईसाईलोग सृष्टिका प्रारम्भ ६९८४ वर्ष पूर्व मानते थे। परंतु कई अत्यन्त प्राचीन अस्थि-खण्डोंको देखकर उन लोगोंकी धारणा परिवर्तित हो गयी, और वे धीरे-धीरे हमारे सिद्धान्तकी ओर आने लगे। कई पाश्चात्त्य ग्रह-नक्षत्रोंकी उष्णताका परिमाण जानकर जगत्‌की उत्पत्ति चालीस लाख वर्षोंसे मानने लगे। इधर भूगर्भविशारदोंने पृथ्वीकी आयु दस करोड़ आँकी। प्रो० जोलीने समुद्र-जलका खारापन देखकर उससे निर्णय किया कि संसारमें समुद्र दस करोड़ वर्षोंसे बह रहा है।

प्रो० एस. न्यू. कोम्ब सृष्टिको एक करोड़ वर्षोंसे मानते हैं (पापुलर ऐस्ट्रॉनमी, पृष्ठ ५०९), प्रो० हिलनार २ करोड़ वर्षोंसे सृष्ट्यारम्भ मानते हैं (सीक्रेट डॉक्ट्रिन, भाग २, पृ० ६९४)। प्रो० काल महाशय ७ करोड़ वर्ष पूर्व मानते हैं (क्लाइमेट इन टाइम, पृ० ३३५)। चीननिवासी वैज्ञानिक सृष्टिको ९,६०,०२,४२३ वर्षोंसे मानते हैं। सर विलियम रामसन १० करोड़ वर्ष पूर्व मानते हैं (सीक्रेट डॉक्ट्रिन, भाग २, पृष्ठ ६९४)। प्रसिद्ध अस्थितत्त्ववेत्ता डॉक्टर विलियम तथा डॉक्टर स्मिथ एडवर्ड आदि पृथ्वीकी उष्णताकी परीक्षा करके उसकी आयु दस करोड़ वर्षकी मानते हैं। यूरेनियम, हीलियम, बोलोनियम आदि धातुओंके परीक्षक वैज्ञानिक २४ करोड़ वर्षोंसे ३० करोड़ वर्ष मानते हैं। प्रो० निशचाफ ३५ करोड़ वर्षोंसे सृष्टिनिर्माण मानते हैं (सीक्रेट डॉक्ट्रिन, पृष्ठ ६९४)। प्रो० रेड सृष्टिकी आयु ५० करोड़ वर्ष मानते हैं। प्रो० हकसल १ अरब वर्षोंसे सृष्टि मानते हैं (वर्ल्ड लाइफ, पृ० १८७)। कोई और एक अरब ६० करोड़ वर्षोंसे मानते हैं।

ये वैज्ञानिक अभी अभ्यासशील विद्यार्थी हैं, समय-समयपर इनके मत बदलते रहते हैं। अन्ततः ये पौरस्त्य मतमें आकर विश्राम लेते हैं। अतः हमें विश्वास है कि ये लोग १ अरब, ९७ करोड़, २९ लाख, ४९ हजार ५० वर्ष सृष्टिको प्रारम्भ हुए मान लेंगे। हम

कल्पका निरूपण कर चुके। यह श्वेतवाराह कल्प है। इस प्रकार न मालूम कितने कल्प तथा कितने ब्रह्मा हो चुके। ब्रह्माके एक सहस्र युगोंसे विष्णुकी एक घड़ी होती है। विष्णुकी १२ लाख घड़ियोंसे रुद्रकी आधी घड़ी होती है। इस गणनासे रुद्रकी आयु २, २३, ९४, ८८, ०० ०० ०० ०० ०० ०० ०० ०० ००० वर्षोंकी होती है। रुद्रकी आयुमें अनेक विष्णु होते तथा अन्तर्धान हो जाते हैं। 'बृहत्पराशरस्मृति' में भी ऐसा संकेत मिलता है—

तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिति स्मृतम्।
मन्वन्तरद्वयेनेह शक्रपातः प्रकीर्तितः॥
एतन्मानेन वर्षाणां शतं ब्रह्मक्षयः स्मृतः।
ब्रह्मक्षयशतेनापि विष्णोरेकमहर्भवेत्॥
एतद्दिवसमानेन शतवर्षेण तत्क्षयः।
एतत्क्षयस्त्रिगुणोऽष्टाभी रुद्रस्य त्रुटिरुच्यते॥
एवमाब्दिकमानेन प्रयातेऽब्दशते द्विजाः।
रुद्रश्चात्मनि लीयेत निरालम्बे निरामये॥

(१२।१८८—१९१)

इस प्रकार हिंदु-संस्कृति अनादि अथवा प्राचीनतम सिद्ध हुई। अन्य स्थानोंमें इसीके एक देशको आधार बनाकर कई संस्कृतियाँ उत्पन्न हुईं, कई नष्ट हो गयीं। अतः हिंदु-संस्कृति ही अन्य संस्कृतियोंकी आदि जननी है। शेष किसी भी संस्कृतिमें इतना काल-परिमाण नहीं मिलता। अतः वे संस्कृतियाँ आदिमती हैं, हिंदु-संस्कृतिकी भाँति अनादि नहीं।

२. शिखा तथा यज्ञोपवीतका वैज्ञानिक रहस्य

(क) शिखा

शिखा-यज्ञोपवीत आदि हिंदु-संस्कृतिके उपयोगी बाह्यचिह्न यों तो शास्त्रमूलक एवं अदृष्टमूलक हैं, अतः उनके लिये दृष्ट प्रयोजनोंकी आवश्यकता नहीं; तथापि आजकलका समय दृष्ट, बाह्य प्रयोजनोंको भी पूछा करता है; तत्पूर्त्यर्थ निम्न पंक्तियाँ है—

पहले इसमें वैदिक प्रमाण भी जान लेने चाहिये। मनुजीने कहा है—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥

(२।३५)

यहाँपर वेदके कहनेसे शिखाका रखना कहा गया है। वेदके दो भाग हैं—मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभाग। इसमें मन्त्रभागका प्रमाण यह है—

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव।

(शुक्लयजुः वा० सं० १७।४८)

'विशिखाः' का भाव है—'गोखुरके परिमाणकी शिखावाले। दूसरा मन्त्र यह है—'

आत्मन्नुपस्थे न वृकस्य लोम
मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम।
केशा न शीर्षन् यशसे श्रियै शिखा
सिꣳहस्य लोम त्विषिरिन्द्रियाणि।

(यजुः वा० सं० १९।९२)

यहाँपर 'श्री' के लिये शिखा धारण करना कहा है; यहाँपर शिखाके बालोंको सिंहके लोमसे उपमा दी गयी है। अब ब्राह्मणभागका प्रमाण देखिये—

अथापि ब्राह्मणम्—रिक्तो वा एषोऽनपिहितो यन्मुण्डः; तस्य एतद् अपिधानं यत् शिखा।

(आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१०।८)

यहाँपर शिखारहितको शून्य अर्थात् श्रीहीन कहा है। अन्य प्रमाण भी इस विषयमें बहुत हैं; पर स्थान नहीं। अब इसका रहस्य समझना चाहिये। यजुर्वेदीय 'तैत्तिरीयोपनिषद्' के शिक्षाध्याय नामक प्रथम वल्लीके छठे अनुवाकको प्रथम कण्डिकामें कहा है—

अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले।

अर्थात् तालुके मध्यमें स्तनकी तरह जो केशराजि दीखती है, यहाँ केशोंका मूल है। वहाँ सिरके कपालका भेदन करके **'इन्द्रयोनि'**—इन्द्र अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग सुषुम्णा नाड़ी है।

योगीलोग सुषुम्णा नाड़ीको प्रबुद्ध करके उससे आत्म-साक्षात्कार करते हैं। यह नाड़ी अपने मूलस्थानसे होती हुई ललाटके मध्यमें विचरती है। योगीलोग जिसे सुषुम्णाका मूलस्थान कहते हैं, वैद्यलोग उसे 'मस्तुलिंग' कहते हैं। 'मस्तुलिंग' के साथवाले अग्रभागको योगविद्यानिष्णात 'ब्रह्मरन्ध्र' कहते हैं; वैद्य उसे 'मस्तिष्क' कहते हैं।

वैद्योंका यह अभिप्राय है कि सारे शरीरमें प्रधान अंग है सिर! सब शरीरमें व्याप्त नाड़ियोंका सिरसे सम्बन्ध है। मनुष्य-जीवनका केन्द्र भी सिर ही है। सिरमें दो शक्तियाँ रहती हैं—एक ज्ञानशक्ति, दूसरी कर्मशक्ति। इन दोनों शक्तियोंकी परम्परा नाड़ियोंद्वारा सारे शरीरमें फैलती हैं। इसलिये शरीरमें भी ज्ञान और

कर्म—ये दो विभाग हैं। इन दोनों विभागोंका मूलस्थान वही सुषुम्णाका मूलस्थान मस्तुलिंग तथा मस्तिष्क है। मस्तुलिंग कर्मशक्तिका केन्द्र है और मस्तिष्क ज्ञानशक्तिका। मस्तिष्कके साथ ज्ञानेन्द्रियों—कान, नाक, आँख, जीभ, त्वचाका सम्बन्ध है और हाथ, पैर, गुदा, इन्द्रिय, वाणी—इन कर्मेन्द्रियोंका मस्तुलिंगसे सम्बन्ध होता है। मस्तिष्क तथा मस्तुलिंग जितने अधिक स्वस्थ या सामर्थ्यवान् होंगे, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियोंमें भी उतनी शक्ति बढ़ेगी। उन दोनोंके अस्वास्थ्यसे इन इन्द्रियोंमें भी त्रुटि हो जाती है।

प्रकृतिकी विलक्षण महिमासे दोनों ही स्थलोंकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है। मस्तिष्क ठंडक चाहता है, मस्तुलिंग गर्मी। मस्तिष्ककी ठंडकके लिये क्षौर बनवाया जाता है, तैल, फुलैल, जल, वायु आदिका सेवन करना पड़ता है। शिरोवेदनामें तालुके बाल कटानेसे वेदना शान्त हो जाया करती है। अब रहा मस्तुलिंगका प्रश्न है कि उसमें कितनी गर्मी अपेक्षित है। गर्मीकी न्यूनाधिकतासे नाड़ियोंमें प्रकोप हो सकता है, उससे कई हानियाँ सम्भव हैं। अतः उसमें चाहिये मध्यम गर्मी। वह गर्मी कपड़े आदिसे नहीं जा सकती; क्योंकि उनके गुण भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः उनसे पूर्ण लाभ सम्भव नहीं।

यह बात भी निश्चित है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, वही उसकी वास्तविक सहायक होती है। जैसे कि घड़ा मिट्टीसे बनता है; उस घड़ेके प्रत्येक अवयवकी पूर्ति भी मिट्टीसे ही हो सकती है, जल-अग्नि आदिसे नहीं। 'मस्तुलिंग' भी सिरका एक भाग है; उसकी रक्षा भी सिरसे उत्पन्न पदार्थसे ही हो सकती है, टोपी-हैटसे नहीं। शिरोजात पदार्थ हैं बाल। अतः वहाँ गोखुरके परिमाणके बाल ही मध्यम गर्मी ला सकते हैं, अन्य बाल नहीं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि मस्तिष्क शैत्य चाहता है और मस्तुलिंग उष्णता। तो मस्तिष्ककी शीतलताके लिये वहाँके केश थोड़े चाहिये; पर मस्तुलिंगकी उष्णताके लिये वहाँ घनीभूत केशोंकी आवश्यकता होती है। इस कारण मस्तुलिंगमें सदा ही गहरे बाल रहें, अन्य केशोंसे उनकी विशेषता या उच्चता रहे; इसलिये उसका विशेष नाम भी 'शिखा' रखा गया है। कर्मप्रवर्तक होनेसे उसका सम्बन्ध धर्मके साथ है। इधर सन्ध्या आदिके अवसरपर परमात्माकी कृपा शिखाद्वारा ही हमारे अंदर पहुँचती है; तभी नंगे-सिर होकर सन्ध्या करनेका नियम है। इसी कारण 'तैत्तिरीयोपनिषद्' ने इस स्थानका नाम 'इन्द्रयोनि' रखा है।

संन्यासमें शिखाका त्याग अपवाद है। सामान्यतया संन्यासका विधान ७५ वर्षोंके बाद होता है। तब आयुकी वृद्धि हो जानेसे शरीरकी पूर्णता हो जानेके कारण 'अधिप' मर्मस्थल (शिखास्थान) की त्वचा कठोर हो जाती है, शिखाजन्य लाभ भी पचहत्तर वर्षतक प्राप्त होकर सारे शरीरमें व्याप्त हो जाते हैं। तब शिखा छोड़नेपर भी कोई हानि नहीं होती; तब कर्मकाण्ड तथा उपासनाकाण्डके समाप्त हो जानेसे तत्सम्बद्ध शिखा-सूत्रका त्याग ठीक भी है।

शिखाके विषयमें कई एक विद्वान् अन्य उपपत्तियाँ भी देते हैं। सारी सृष्टिका मूल अग्नि ही है; अग्निका स्वरूप उसकी शिखासे व्यक्त होता है। अग्निको संस्कृतमें 'शिखी' कहा जाता है। अग्नि यदि शिखारहित हो तो उसमें हवन निषिद्ध माना गया है। जब वह शिखी होता है, तब किसीकी शक्ति नहीं कि उसका स्पर्श कर सके। उसके उस स्वरूप (शिखित्व) के नष्ट होनेपर तो भस्म भी उसे आच्छन्न कर दिया करती है। हम सब अग्निके उपासक हैं, अग्निसे ही उत्पन्न हैं। अग्निसे ही हम **'तन्वं मे पाहि'** (पारस्करगृ० २।४) **'तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा'** (शुक्लयजु० ३२।१४) आदि प्रार्थनाएँ करते हैं।

जो जिसकी उपासना करता है, अन्तमें वह उसके स्वरूपको प्राप्त होता है। उपासक भी ऐसा चाहता है। तभी वह उपास्यके स्वरूपकी प्राप्तिके लिये उपास्यके ही चिह्न धारण करता है—जैसे शैव भस्म-रुद्राक्षमाला आदिको, वैष्णव तुलसीमाला आदिको। इसलिये शुक्लयजुर्वेदके 'शतपथब्राह्मण' में आया है—**'देवो भूत्वा देवानेति'** (१४।६।१०।४)। इसी प्रकार तीनों आश्रमोंमें अग्निके उपासक हमलोग भी अग्निका चिह्न 'शिखा' रखते हैं। संन्यासमें अग्निका त्याग होनेसे उसके चिह्न शिखाका भी त्याग कहा है। अग्निसेवन (यज्ञ) तथा उसके अधिकारपट्ट 'यज्ञोपवीत' का भी त्याग कहा है। इस प्रकारकी स्थितिमें उसका अग्निमय संसारसे भी सम्बन्ध न रहनेसे मृत्युसमयमें संन्यासीको अग्निसे नहीं जलाया जाता।

(ख) यज्ञोपवीत

यज्ञोपवीतसे पूर्व ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य 'एकज' होते हैं; फिर उस समय गायत्रीके उपदेशसे **'द्विर्बद्धं**

सुबद्धं भवति' इस न्यायसे उन्हींको आचार्य द्विज कर देता है। उन तीनों प्रकारके एकजोंको वह तीन दिन अपने गर्भमें रखता है। तीन दिनके अनन्तर उन तीनोंका द्वितीय बार जन्म होनेसे वे द्विज कहाते हैं। इसीलिये 'अथर्ववेद' में कहा है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति, तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

(शौ० सं० ११।५।३)

यज्ञोपवीतका सम्बन्ध यज्ञसे है, यज्ञका सम्बन्ध वेदसे है। जैसे कि 'न्यायदर्शन' में कहा है—'**यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य (वेदस्य) विषयः**' (४।१।६२)। वेदका सम्बन्ध वेदाधिकारी द्विजोंसे है। बिना यज्ञोपवीत हुए द्विजवंशोत्पन्न भी वेदाध्ययनाधिकारी नहीं हो सकता; तब उसके अनधिकारी भला वेदाध्ययनमें कैसे अधिकृत हो सकते हैं।

यज्ञोपवीत किस प्रकार पुरुषपर वेदका भार रखता है, यज्ञोपवीतियोंको कितना वेद आवश्यक है, यज्ञोपवीत त्रैवर्णिक पुरुषोंका क्यों होता है—इत्यादि बातोंका उत्तर यज्ञोपवीत-सूत्र स्वयं ही देता है; वह हाथकी चार अँगुलियों (चव्वा) पर छियानबे बार लपेटा जाता है। वेद ११३१ शाखाओंमें विभक्त है; उसमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड—ये तीन भाग होते हैं। इनके सब मन्त्र एक लाख हैं। यथा—

आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसंमितः।

(वायुपुराण ६०।७)

'चरणव्यूह' में भी कहा है—

लक्षं तु वेदाश्चत्वारो लक्षं भारतमेव च।

(५।१)

इनमें कर्मकाण्डके मन्त्र ८० सहस्र कहे जाते हैं, उपासनाकाण्डके १६ सहस्र। शेष ४ सहस्र ज्ञानकाण्डके मन्त्र माने जाते हैं। यही बात निरुक्तकार भी सूचित करते हैं—

तास्त्रिविधा ऋचः—परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः, अल्पश आध्यात्मिक्यः। (७।३।१)

'परोक्ष' शब्दसे 'कर्मकाण्ड' इष्ट है; क्योंकि कर्मकाण्ड परोक्ष कर्मफलका प्रतिपादक होता है। '**प्रत्यक्ष**' शब्दसे उपासनाकाण्ड इष्ट है; वह प्रत्यक्षफलका निदर्शक है। 'आध्यात्मिक' शब्दसे ज्ञानकाण्ड इष्ट है; क्योंकि आत्मसाक्षात्कार ही ज्ञान होता है। ज्ञानकाण्डकी अल्पतासे ज्ञानकाण्डको कर्मकाण्डसे हीन न समझ लेना चाहिये; क्योंकि हीनता या उत्कृष्टता संख्यापर निर्भर नहीं होती। एक ही सूर्य लाखों तारोंसे 'उत्कृष्ट' ही होता है। ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्डकी अपेक्षा होना भी अल्प ही चाहिये। युद्धमें सेनापति 'ज्ञान' होता है, सेना 'कर्म'। पर जितनी संख्या सैनिकोंकी होती है, उतनी सेनापतियोंकी नहीं। यदि सभी सैनिक 'सेनापति' बन जायँ, तो विजय कभी होगी ही नहीं। लोकमें भी ज्ञानी बहुत हो जायँ, तो सबकी भिन्न-भिन्न बुद्धि हो जानेसे वे जनताको कर्ममें प्रवृत्त कर ही न सकें। इसीलिये लोकमें जैसे ज्ञानी या नेता थोड़े होते हैं, परंतु उनकी आज्ञामें चलनेवाले कर्मिष्ठ—जो उनकी आज्ञा बिना विचारे ही मान लें बहुत अपेक्षित होते हैं, वैसे ही वेदमें भी ज्ञानकाण्ड थोड़ा होता है, कर्मकाण्डकी संख्या उसकी अपेक्षा बहुत अधिक होती है। इधर कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्डकी अपेक्षा अवर होता हुआ भी सर्वथा अवर नहीं हो जाता। यदि कर्मकाण्ड न हो तो ज्ञान निराधार हो जाय। नेता व्यर्थ हो जाता है, यदि कर्मनिष्ठ जनता न हो, यद्यपि जनता नेताकी अपेक्षा अवर होती है। फलतः तीनों काण्डोंके मन्त्र एक लाख हैं।

यह यज्ञोपवीत चव्वेपर छियानबे बार लपेटा जाता है; इसीलिये ये ११३१ शाखात्मक चार वेदोंमें स्थित कर्मकाण्ड एवं उपासनाकाण्डके ८०+१६=९६ सहस्र मन्त्रोंका यह अधिकारपट्ट 'चपरास' की भाँति द्विजको अर्पण किया जाता है। शास्त्रने केवल कर्मकाण्ड-उपासनाकाण्डके अधिकारतक ही यज्ञोपवीत नियत किया है। वे छियानबे सहस्र मन्त्र चारों वेदोंके हैं, इसीलिये चार अँगुलियोंपर उतनी संख्यासे सूत्र लपेटा जाता है; फिर जो इसे तिगुना करके ऊपर बायीं ओर लपेटा जाता है, उससे इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—इन तीन वर्णोंका अधिकार बताया जाता है। फिर इस तीन लड़ीवाले सूत्रको तिगुना करके जो पुनः दाहिनेसे नीचे लपेटा जाता है, उससे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ—इन तीन आश्रमोंको इसमें अधिकृत बताया जाता है।

फिर इस नवसूत्र डोरेको इस प्रकार तिगुना किया जाता है कि जिससे तीनों सूत्रोंकी योजना सिरमें एक हो जाय। इस समयकी त्रिगुणता ऋषि-ऋण, देव-ऋण, पितृ-ऋणको सूचित करती है। इस यज्ञोपवीतसूत्रसे सनातनधर्मका पारमार्थिक अद्वैतवाद भी सिद्ध हो रहा है। इसमें एक ही सूत्रसे यज्ञोपवीतकी रचनाका प्रारम्भ

होता है; एक ही सूत्रसे तीन सूत्र बन जाते हैं, अन्तमें एक ही ब्रह्मग्रन्थिमें उसकी समाप्ति हो जाती है। मध्यमें ही केवल त्रिगुण चक्र होता है।

संन्यासाश्रममें मोक्षप्राप्त्यर्थ केवल ज्ञानकाण्डका उपयोग करना पड़ता है, इस कारण उस समय छियानबे सहस्र कर्म-उपासनाके मन्त्रोंके इस अधिकारपट्टको छोड़कर शेष चार सहस्र मन्त्रोंके मननका क्रम प्राप्त होनेसे यज्ञोपवीतसूत्रको छोड़ना पड़ता है। अभीष्ट स्थानको प्राप्त हो जानेपर यात्री अपना टिकट देकर स्टेशन पार हो जाता है। गृहस्थाश्रमीको श्रौत-स्मार्त दोनों कर्म करने पड़ते हैं; अतः उसे **'वैखानस-धर्मसूत्र'** (३।१।१), **'वृद्धहारीतस्मृति'** (८।४४) तथा **'यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि'** इस हेमाद्रिके अनुसार दो सूत्र धारण करने पड़ते हैं।

(ग) कानपर यज्ञोपवीत रखनेका रहस्य

यज्ञोपवीतको शौचादिके समय कानपर रखनेके कुछ प्रमाण ये हैं—**'निवीती दक्षिणे कर्णे यज्ञोपवीतं कृत्वा''मूत्रपुरीषे विसृजेत्'** (वैखानसधर्मप्रश्न २।९।१ शौचविधि); **'यज्ञोपवीतं शिरसि दक्षिणकर्णे वा कृत्वा'** (बोधायनगृह्यशेषसूत्र ४।६।१); **'.....कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः। कुर्यान्मूत्रपुरीषे तु....'** (याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय, ब्रह्मचारि-प्रकरण, १६ वाँ पद्य); **'कर्णस्थब्रह्मसूत्रो मूत्रपुरीषं विसृजति'** (आग्निवेश्यगृह्यसूत्र २।६।८) इत्यादि।

शौचके समय यज्ञोपवीतसूत्रको दाहिने कानपर रखनेमें कारण यह है—

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः।

(मनु० १।९२)

'पुरुष नाभिसे ऊपर पवित्र है, नाभिके नीचे अपवित्र है। इस प्रमाणसे नाभिका निचला भाग मल-मूत्रधारक होनेसे विशेषतः शौचके समय अपवित्र होता है। इसलिये उस समय पवित्र यज्ञोपवीतको वहाँ न रखकर—

तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा॥

(मनु० १।९२)

—इस प्रमाणसे अत्यन्त पवित्र तथा ज्ञानका भंडार होनेसे बोधायनके अनुसार सिरपर अथवा अन्योंके अनुसार सिरके भाग कानपर रखा जाता है। दाहिने कानकी पवित्रता उसमें दीक्षाके समय आचार्यद्वारा गुप्तमन्त्रोपदेश होनेसे तथा—

मरुतः सोम इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ तथैव च।
एते सर्वे च विप्रस्य श्रोत्रे तिष्ठन्ति दक्षिणे॥

(गोभिलगृह्यसंग्रह २।९०)

'वायु, चन्द्रमा, इन्द्र, अग्नि, मित्र तथा वरुण—ये सब देवता ब्राह्मणके दाहिने कानमें रहते हैं।'

—इत्यादि प्रमाणोंसे देवनिवासके कारण सूचित होती है।

क्षुते निष्ठीवने चैव दन्तोच्छिष्टे तथानृते।
पतितानां च सम्भाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत्॥

(गृह्यसंग्रह २।८९)

छींकने, थूकने, दाँतके जूँठे होने, मुँहसे झूठी बात निकलने तथा पतितोंसे बातचीत करनेपर अपने दाहिने कानका स्पर्श करना चाहिये। इसी कारण अपराधी लोग भी अपनी शुद्धिके लिये दाहिने कानको पकड़ते या छूते हैं।

अन्य बात यह है कि हमारे शरीरमें पार्थिव इन्द्रिय नासिका, जलीय इन्द्रिय जिह्वा, तैजस इन्द्रिय आँख, वायव्य इन्द्रिय त्वचा तथा आकाशीय इन्द्रिय कान है। देश-कालादिके अनुसार श्मशानादिरूपमें पृथिवी, मद्यादियोगसे गंगाजलादिरूपमें जल, श्मशानाग्निरूपमें तेज, पुरीषालयादिरूपमें वायु—ये चार भूत अशुद्ध हो जाते हैं; पर आकाश किसी भी दशामें अपवित्र नहीं होता। हमारे शरीरमें उसकी प्रतिनिधिभूत इन्द्रिय कान है। उससे शौचादिके समय यज्ञोपवीतका सम्बन्ध कर देनेसे वह अशुद्ध नहीं होता। यही यज्ञोपवीत-सम्बन्धी वैज्ञानिक रहस्य जान लेने चाहिये।

३. यज्ञसे देवताओंकी और श्राद्धसे पितरोंकी तृप्तिका रहस्य

(क) वेदका विषय यज्ञ है, यह कहा जा चुका है। वेदमें उपास्य देवता हैं, यज्ञमें भी उपास्य देवता होते हैं; इसीलिये **'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु'** इस यज्ञकी मूल-भूत 'यज' धातुका मुख्य अर्थ भी देवपूजा ही होता है। देवता परमात्माके ही अंग हुआ करते हैं; अंगोंके बिना अंगीकी पूजा नहीं हो सकती। अतएव देवपूजन भगवदाराधन ही है। यही बात ब्राह्मणभागात्मक वेदमें कही गयी है—

तद् यद् इदमाहुः—अमुं यज, अमुं यज—इति एकैकं देवम्, एतस्यैव सा विसृष्टिः, एष उ ह्येव सर्वे देवाः।

(शतपथ १४।४।२।१२)

अर्थात् देवता परमात्माका ही विस्तार है, वह परमात्मा सर्वदेवमय है। इस प्रकार 'मनुस्मृति' में भी कहा है—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।

(१२।११९)

यहाँपर श्रीकुल्लूक भट्टने लिखा है—

इन्द्राद्याः सर्वदेवताः परमात्मैव, सर्वात्मत्वात् परमात्मनः।

फलतः देवयजन भगवदाराधन है।*

अब प्रश्न यह है कि यज्ञ, जो देवपूजनात्मक है, अग्निद्वारा क्यों किया जाता है? इसपर 'कल्याण' के पाठक निम्न प्रमाण देखें। ऋग्वेदमें कहा है—'**न ऋते त्वाममृता मादयन्ते**' (शा० सं० ७।११।१)—'हे अग्नि! तेरे बिना देवता तृप्त नहीं होते।' '**आ अग्ने! वह हविरद्याय देवान्**' (ऋ० ७।११।५)—यहाँ स्पष्टरूपसे अग्निको देवताओंके निमित्त हवि धारण करनेवाला कहा है। '**अग्निर्हि देवानां मुखम्**' (शतपथ ३।७)—यहाँपर अग्निको देवताओंका मुखस्थानीय कहा है, तब देवताओंकी हविका अग्निमें डालना भी युक्त सिद्ध हुआ।

यज्ञका प्रयोजन केवल वायुशुद्धि नहीं होता; उसका मुख्य लक्ष्य है देवताओंको तृप्त करना। यदि यज्ञका मुख्य लक्ष्य वायुशुद्धिमात्र होता, तो उसमें बहुत महँगे घृतका उपयोग व्यर्थ था; उससे भी सस्ते पदार्थोंसे वायुकी शुद्धि हो सकती थी और फिर वह कार्य दुर्गन्धित स्थानोंपर करना पड़ता। उस समय वेदमन्त्रोंके पढ़नेकी आवश्यकता भी नहीं थी। वस्तुतः यज्ञ देवताओंको तृप्त करनेवाला होता है। देवताओंका भक्ष्य घृत हुआ करता है। जब देवाप्सरा उर्वशी पुरूरवाके पास आकर रही थी और उससे उसके खानेके लिये पूछा गया, तब उसने उत्तर दिया था—'**घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यात्**' (श्रीमद्भागवत ९।१४।२२)। इससे देवताओंका भक्ष्य घृत सिद्ध होता है।

केवल पुराणमें ही नहीं, यही बात ब्राह्मणभागात्मक वेदमें भी कही गयी है—'**घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नाम्, तामेव इदं तातृपाणा चरामीति**' (शतपथ ११।५।१।१०)। यहाँपर भी कहनेवाली उर्वशी ही है। केवल यहीं नहीं, किंतु मन्त्रभागात्मक वेदमें भी यही बात कही गयी है—**घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नाम्**' (ऋ० १०।९५।१६)। इस मन्त्रमें उर्वशी ऋषि (वक्त्री) है और पुरूरवा देवता (प्रतिपाद्य)। इसी कारण देवपूजनात्मक यज्ञमें भी देवताओंकी तृप्तिके लिये घृत प्रयुक्त किया जाता है। तभी 'शतपथब्राह्मण' में कहा है—'**एतद् वै देवानां प्रियं धाम, यद् आज्यम्** (घृतम्), (१३।३।६।३)' '**आज्येन जुहोति**' (शतपथ १३।३।६।२)। इससे स्पष्ट हुआ कि यज्ञांग हवनमें देवताओंकी तृप्तिके लिये ही घृत डाला जाता है। वेदमन्त्र इसलिये पढ़े जाते हैं कि यज्ञ वेदका विषय है। यज्ञ होता है देवपूजार्थ, तब वहाँ वेद-मन्त्रोंकी आवश्यकता भी होती है; क्योंकि वेदमन्त्रोंके विषय देवता भी होते हैं। इसलिये 'निरुक्त' में यज्ञके समय देवताका मनसे ध्यान करना भी लिखा है—'**यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्, तां मनसा ध्यायेत्**' (८।२२।११)। इसी प्रकार '**ऐतरेयब्राह्मण**' (३।८।१) में भी कहा है। जब यज्ञ किये जायँगे, तब उसकी हविको अग्नि, वायु, सूर्यचन्द्रादि देवता किरणोंके द्वारा खींचकर मेघ बनाकर वृष्टि तथा मनोरथकी वृष्टि कर देंगे; इससे अवान्तररूपसे वायुशुद्धि भी हो जायगी; पर मुख्य उद्देश्य देवताओंका पूजन या तृप्ति ही है। इसी कारण 'श्रीमद्भगवद्गीता' ने भी कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन [यज्ञेन] ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।

(३।१०—१२)

इससे यज्ञ देवपूजाका पर्यायवाचक सिद्ध होता है।

(ख) श्राद्धसे पितरोंकी तृप्ति

पितृश्राद्ध प्रतिमास कृष्णपक्षमें हुआ करता है, जैसा कि अथर्ववेदमें कहा है—'**पितृभ्यो मासि उपमास्यं ददाति**' (शौ० सं० ८।१२।५)। 'मनुस्मृति' के '**पित्र्ये रात्र्यहनी मासः**' (१।६६)—इस वचनके अनुसार मनुष्योंका महीना पितरोंका एक दिन-रात होता है। इस प्रकार प्रतिमास श्राद्ध करनेपर पितरोंको वह भोजन प्रतिदिनकी तरह मिलता है। कृष्णपक्षमें श्राद्ध इसलिये किया जाता है कि कृष्णपक्ष पितरोंका दिन होता है, शुक्लपक्ष रात्रि।

* भगवद्गीतामें जो देवपूजनके द्वारा परमात्माका अवैध पूजन—'यजन्त्यविधिपूर्वकम्' (९।२३)—कहा है, उसका रहस्य यह है कि देवताओंको परमात्माका अंग न समझकर जो उनको स्वतन्त्रतासे पूजना है, वह भी है तो परमात्माका पूजन ही, पर अविधिपूर्वक है।

इसमें कारण यह है कि—

विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः
स्वाधः सुधादीधितिमामनन्ति।
पश्यन्ति तेऽर्कं निजमस्तकोर्ध्वं
दर्शे यतोऽस्माद् द्युपलं तदैषाम्॥

(सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय, त्रिप्रश्नवासना श्लो० १३)

इससे पितृलोक चन्द्रलोकके ऊपर सिद्ध होता है। शुक्लपक्षमें चन्द्रमा सूर्यसे दूर होता है; तब पितृलोकमें १५ दिन निरन्तर एक रात्रि होती है। कृष्णपक्षमें चन्द्र सूर्यके क्रमशः निकट हो जाता है, अतः पितरोंका उन १५ दिनोंमें निरन्तर एक दिन होता है। अमावस्याको जब सूर्य-चन्द्र एक राशिमें होते हैं, तब हमारे अपराह्णकालमें सूर्य चन्द्रलोकके सिरपर होनेसे उस समय पितरोंका भोजनकाल—मध्याह्न होता है।

यहाँसे मरकर गये हुए हमारे पितरोंकी स्थिति पितृलोकमें हुआ करती है, जैसा कि वेदमें कहा है—

अधा मृताः पितृषु सं भवन्तु। (अथर्व० १८।४।४८)
पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः। (अथर्व० १२।२।४५)

पितृलोक चन्द्रलोकके ऊपर है, यह कहा जा चुका है। स्वामी श्रीदयानन्दजीने भी चन्द्रादिलोकमें प्रजा मानी है; जैसे कि—'ये सब (सूर्य, चन्द्र, तारे) भूगोललोक, इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती है। कुछ-कुछ आकृतिमें भेद होनेका सम्भव है (स० प्र० समु० ८, पृष्ठ १४४)। इस प्रकार यदि यहाँसे मरकर पितर चन्द्रलोकमें जन्म लें तो वे हमारे दिये अन्नादिको अपनी आकर्षणशक्तिसे खींच लें—यह सम्भव है। इससे श्राद्धसे पितरोंकी तृप्ति प्रत्यक्षमूलक बन जाती है। अस्तु,

अमावास्या चन्द्रलोकस्थ पितरोंका मध्याह्न एवं भोजनकाल होता है, यह कहा जा चुका है। अब हमें पितरोंके मध्याह्नकालमें उन्हें भोजन पहुँचाना है, और उन्हें तृप्त करना है। उसका साधन श्राद्ध है। उसके दो प्रकार हैं—एक तो यह कि हमें उनके नामसे अग्निमें हवन करना चाहिये। तभी मृत पितरोंको खिलानेके लिये आह्वानार्थ अग्निसे प्रार्थना की गयी है। जैसे कि—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे।'

(अथर्व० १८।२।३४)

दूसरा प्रकार यह है कि अग्निके सहोदरभूत ब्राह्मणकी जाठराग्निमें ब्राह्मणके मुखके द्वारा उन पितरोंके नामसे कव्य दिया जाय।

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु।

(मनु० ३।९८)

अग्नि और ब्राह्मणकी सहोदरतामें प्रमाण यह है कि ब्राह्मण तथा अग्निकी विराट् पुरुषके मुखसे उत्पत्ति कही गयी है—जैसे कि '**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**' (यजुः० वा० सं० ३१।११); '**मुखाद् अग्निरजायत**' (३१।१२)। इसीलिये शास्त्रोंमें ब्राह्मणको आग्नेय या अग्नि कहा गया है। तभी 'मीमांसादर्शन' (१।४।२४ सूत्र) के शाबरभाष्यमें '**आग्नेयो वै ब्राह्मणः**' पर प्रकाश डालनेके लिये इस प्रकार प्रश्नोत्तरप्रक्रिया दी गयी है—

(प्र०) **अथाग्नेयेषु (ब्राह्मणेषु) आग्नेयादिशब्दाः केन प्रकारेण ?** (उ०) **गुणवादेन।** (प्र०) **को गुणवादः ?** (उ०) **अग्निसम्बन्धः।** (प्र०) **कथम् ?** (उ०) **एकजातीयकत्वात् (अग्निब्राह्मणयोः)।** (प्र०) **किमेकजातीयकत्वम् [तयोः]?** (उ०) **प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयमिति। स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत। तमग्निर्देवता अन्वसृज्यत ....ब्राह्मणो मनुष्याणाम्। तस्मात् ते मुख्याः, मुखतोऽन्वसृज्यन्त,** यहाँपर अग्नि और ब्राह्मणकी एकजातीयता स्पष्ट शब्दोंमें कही है।

कुछ अन्य प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—'**अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत्**' (मनु० ३।२१२)। यदि अग्नि न हो तो ब्राह्मणको कव्य दे दे। इसमें हेतु यह दिया है—'**यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते**' (३।२१२)। 'गोपथ-ब्राह्मण' में भी कहा है— '**ब्राह्मणो ह वा इममग्निं वैश्वानरं बभार**' (१।२।२०)। 'कठोपनिषद्' में ब्राह्मणका अग्नित्व इस प्रकार कहा है—'**वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्**' (१।१।७)। 'भविष्यपुराण' में भी कहा है—'**ब्राह्मणा ह्यग्निदेवास्तु**' (ब्राह्मपर्व १३।३६)। इसका ऐतिहासिक प्रमाण 'महाभारत' में मिलता है। वहाँपर निषादके आचारवाले भी ब्राह्मणको निगलनेके समय गरुड़के कण्ठमें अग्निदाह होने लगा (आदिपर्व, २९ वाँ अध्याय)। '**सास्य देवता**' (पा० ४।२।२४) इस सूत्रके व्याख्यानमें 'सिद्धान्तकौमुदी' में कहा गया है—'**आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया।**' इसपर 'बालमनोरमा' कहती है-'**अग्निर्नाम यो देवताजातिविशेषो लोकवेदप्रसिद्धः, तदभिमानिको ब्राह्मणः।**' अस्तु,

ऐसा करनेपर पूर्व प्रकारसे साक्षात् अग्नि और दूसरे प्रकारसे ब्राह्मणस्थ वैश्वानर अग्नि उस कव्यको सूक्ष्म करके पितरोंको पहुँचाता है। वे पितर उस सूक्ष्म कव्यसे तृप्त हो जाते हैं; क्योंकि वे स्वयं सूक्ष्मशरीरात्मक होते हैं। इसी कारण उनके लिये स्थूलसे सूक्ष्मभूत भोजनकी आवश्यकता होती है, उसीसे उनकी तृप्ति होती है।

इस बातको इस प्रकार समझना चाहिये। हम अपने मुखद्वारा स्थूल भोजनको अपने पेटमें भेजते हैं; परन्तु हमारा आत्मा सूक्ष्म है। उसके लिये सूक्ष्म भोजन अपेक्षित है। उस समय उस स्थूल भोजनको हमारी जठराग्नि सूक्ष्म करके हमारे सूक्ष्म अन्तरात्माको सौंप देती है। उस सूक्ष्म तत्त्वसे हमारा सूक्ष्म आत्मा तृप्त हो जाता है। वहाँपर वह अग्नि स्वयं ही इस कार्यको करने लगती है, हमें कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती। इसी प्रकार सूक्ष्म पितर भी हमारे दिये हुए स्थूल भोजनके अग्नि या ब्राह्मणाग्निद्वारा किये गये सूक्ष्म तत्त्वको प्राप्त करके तृप्त हो जाया करते हैं। वहाँपर ब्राह्मणाग्नि महाग्निके साथ मिलकर स्वयं ही उस कामको करने लगती है; उसके लिये ब्राह्मणको कोई व्यापार नहीं करना पड़ता।

यहाँपर पूर्व प्रकारसे समझना चाहिये—जैसे यज्ञसे तृप्त हुए देवता वृष्टि करते हैं, वैसे यहाँपर भी जानना चाहिये। वहाँ उपपत्ति यह है कि जब हम अग्निमें हव्य डालते हैं, तब स्थूल अग्नि उस हविको जलाकर सूक्ष्म कर देती है और शान्त होकर स्वयं भी सूक्ष्म हो जाती है। तब वह सूक्ष्म अग्नि महाग्निके साथ मिलकर उस सूक्ष्म हविको लेकर अपने मित्र वायु आदिकी सहायतासे आकाशाभिमुख जाती है तथा आकाशमें स्थित उन-उन देवताओंको वह हवि पहुँचा देती है। वे देवता उस हविसे तृप्त होकर प्रजाके हितके लिये एवं धान्य आदिके उत्पत्त्यर्थ वृष्टि कर देते हैं (मनुस्मृति ३।७६)। इसी तरह श्राद्धमें भी जब कव्यको अग्निका सहोदर ब्राह्मण या स्वयं अग्नि प्राप्त करता है, तब वह ब्राह्मण भी अग्नि अथवा स्वयं अग्नि उस कव्यको सूक्ष्म करके स्वयं भी सूक्ष्म होकर महाग्निके साथ मिल जाती है तथा आकाशमें जाकर चन्द्रलोकस्थ पितरोंको सौंप देती है। पितर उससे तृप्त होकर श्राद्ध करनेवालेके धान्य-सन्तान आदिकी व्यवस्था अपने माहात्म्यसे कर देते हैं। जैसे देवताओंको '**सोमाय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा**' इत्यादि मन्त्रोंद्वारा दी हुई हविको सूर्य खींचता है, वैसे ही पितरोंके उद्देश्यसे दी हुई हविको चन्द्रमा खींचता है अथवा सूर्य खींचकर अपनी सुषुम्णा-रश्मिसे प्रकाशित चन्द्रलोकमें भेज देता है। जैसे चन्द्रमा सूर्यकी उस रश्मिको खींच लेता है, वैसे ही सूर्यकी किरणोंमें स्थित पूर्वोक्त उस सूक्ष्म अन्नको भी खींचकर उस-उस पितरको सौंप देता है। वे सूक्ष्म पितर भी उस सूक्ष्म हविसे हमारे सूक्ष्म आत्माकी तरह तृप्त हो जाते हैं। इसमें कारण है संकल्पकी महिमा; क्योंकि हम उस हविको तत्तत् पितरके उद्देश्यसे संकल्पित करके दिया करते हैं। देवतालोग हमारे मानसिक संकल्पको जान लिया करते हैं। वेद भी इसका अनुमोदन करता है, जैसे कि—

मनो देवा मनुष्यस्या जाननीति, मनसा संकल्पयति, तत् प्राणमपिपद्यते, प्राणो व्वातं व्वातो देवेभ्यऽआचष्टे यथा पुरुषस्य मनः।

(शतपथब्रा० ३।४।२।६)

इसी प्रकार 'अथर्ववेदमें' भी कहा है—'**मनसा संकल्पयति, तद् देवानभिगच्छति**' (शौ० सं० १२।४।३१)। सूर्य आदि देवता सब लोगोंका वृत्त जानते हैं, इसमें 'मनुस्मृति' की साक्षी भी देखिये—

तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः।

(८।८५)

द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः।
रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम्॥

(८।८६)

यहाँपर सूर्य-चन्द्रके सम्बन्धमें भी लोगोंका वृत्त जाननेकी बात कही है। इधर चन्द्रमा तो मनका ही देवता माना जाता है। श्राद्धमें संकल्प प्रसिद्ध ही है। उक्त मनुपद्यकी टीकामें श्रीकुल्लूक भट्टने कहा है—

दिवादीनाम् (द्युगतसूर्यादिदेवानाम्) अधिष्ठातृदेवतास्ति सा च शरीरिणी एकत्र अवस्थापिता तत्सर्वं जानाति—इति आगमप्रामाण्याद वेदान्तदर्शनमंगीकृत्य इदमुक्तम्।

जिस प्रकार वह सर्वाधिष्ठाता देव जड कर्मोंका फल उनके कर्ताओंको प्राप्त कराता है, वैसे ही उन-उन देवताओंके अधिष्ठातृत्वमें उस-उस पितरको श्राद्धका फल प्राप्त कराता है। इस प्रकार श्राद्धद्वारा मृतक पितरोंकी तृप्ति सिद्ध हुई। यज्ञ और श्राद्ध दोनों हिंदु-संस्कृतिके मुख्य अंग हैं—यह नहीं भूलना चाहिये। इन्हींसे हिंदु-संस्कृतिकी सुरक्षा होगी।

४. हिंदु-संस्कृति और परलोकवाद

हिंदु-संस्कृति सर्वादिम संस्कृति है, उसके सर्वादिम ग्रन्थ वेद हैं; उनके अनुसारी वेदांग तथा धर्मशास्त्र हैं। इन सभीने परलोकको बहुत स्पष्टरूपसे माना है। जो परलोकको नहीं मानते, वे नास्तिक माने गये हैं।

अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः (४।४।६०)

—इस पाणिनिसूत्रके 'महाभाष्य' में लिखा है—

अस्ति इत्यस्य मतिरास्तिकः नास्तीत्यस्य मतिर्नास्तिकः।

इसके 'प्रदीप' में कैयटने स्पष्टीकरण किया है—

अस्ति इत्यस्य इति परलोककर्तृका सत्ता विज्ञेया; तत्रैव विषये लोके प्रयोगदर्शनात्। तेन परो लोकोऽस्तीति मतिर्यस्य स आस्तिकः, तद्विपरीतो नास्तिकः।

आप्नोति इमं लोकम् आप्नोति अमुम्।

(शौ० सं० ९।११।१३)

'अथर्ववेद' के इस मन्त्रमें '**इमं लोकम्**' से 'यह लोक' और '**अमुं**' से परलोक सिद्ध हो रहा है। इसी प्रकार—

'**इमं च लोकं परमं च लोकम्**' (अथर्व० १९।५४।५)

—यहाँ 'परमलोक' का 'परलोक' अर्थ है, जैसे कि—

यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे। (अ० १३।३।५)

—यहाँपर '**परमस्य**' का अर्थ '**परस्य**' है। 'शतपथ-ब्राह्मण' में स्पष्टतया कहा है—

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने, इदं च परलोकस्थानं च। (१४।७।१।९)

कठोपनिषद्‌की—

अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे (यमस्य)।

(१।२।६)

—इस श्रुतिमें भी स्पष्टरूपसे परलोकको माना गया है।

'**परलोकसहायार्थम्**' (मनु० ४।२३८)

'**नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।**'

(मनु० ४।२३९)

—इत्यादि स्मृतिपद्य तो इस विषयमें बहुत हैं। इन्हींको देखकर पाश्चात्य विद्वानों तथा हमारे यहाँके विद्वानोंने परलोकविद्या निकाली है और इस विषयमें वे उत्तरोत्तर उन्नति कर रहे हैं। अब तो वे असाध्य रोगियोंका भी उपचार उन परलोकस्थ जीवोंसे पूछकर करते हैं और प्रायः सफल भी हो रहे हैं। इसका कारण यह है कि जीवात्मा जबतक इस लोकके स्थूल शरीरसे युक्त रहते हैं, तबतक उनमें शक्ति भी सीमित रहती है। पर जब वे स्थूलशरीरको छोड़कर सूक्ष्म होकर पितृलोकमें जाते हैं, उनकी शक्ति बढ़ जाया करती है। जैसे दीपक जब घड़ेमें रखा रहता है, तब उसका प्रकाश स्थगित हो जाता है; घड़ेसे दीपकको बाहर कर देनेपर उसकी प्रकाशशक्ति बढ़ जाया करती है, वैसे ही यहाँपर भी समझना चाहिये। 'वेदान्तदर्शन' के ३।२।६ सूत्रके भाष्यमें आचार्य शंकरस्वामीने लिखा है—

सोऽपि तु जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद् देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगाद् भवति। अस्ति चात्र उपमा—यथा अग्नेर्दहनप्रकाशनसम्पन्नस्यापि अरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतः, यथा वा भस्माच्छन्नस्य अग्नेर्दहनप्रकाशने तिरोधीयेते, तथा स्थूलदेहाच्छन्नस्य आत्मनोऽपि ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो जायते।

श्रीयास्कने 'निरुक्त' में 'प्रमदक' (नास्तिक)-की '**योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः**' (६।३२।१) यह व्युत्पत्ति मानी है। 'शतपथब्राह्मणमें देवलोक (१४।७।१।३६), गन्धर्वलोक (३७), ब्रह्मलोक (१४।७।१।१९) तथा पितृलोक, मनुष्यलोक (३।७।१।२५) का उल्लेख आता है। '**मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्**' (१९।७१।१)—अथर्ववेदके इस मन्त्रमें 'ब्रह्मलोक', '**विष्णोर्यत् परमं पदम्**' (सामवेद, उत्तरार्चिक १८।२।१।५) में विष्णुलोक, '**ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति**' (अथर्व० ११।१।७) में स्वर्गलोक, '**पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः**' (अथर्व० १२।२।४५) में पितृलोक, '**अथाहुर्नारकं लोकम्**' (अथर्व० १२।४।३६) में नरकलोक, '**सर्वान् कामान् यमराज्ये**' (१२।४।३६) में यमलोककी बात आयी है। अतः परलोककल्पना वेदशास्त्रानुमोदित है।

५. यम, यमलोक एवं पितृलोक

वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत।

(अथर्व० १८।३।१३)

यहाँपर यमको विवस्वान्‌का पुत्र तथा उसके पास सब पुरुषोंका जाना कहा है।

विवस्वन्तं हुवे यः पिता ते। (ऋ० १०।१४।५)

—इस मन्त्रमें यम देवता है, उसके पिताको विवस्वान् कहा गया है।

यमो वैवस्वतो राजा इत्याह तस्य पितरो विशः।

(शतपथ० १३।४।३।६)

'यमाय पितृमते स्वधा नमः' (अ० १८।४।७४)

'यमराज्ञः पितॄन् गच्छ' (अ० १८।२।४६)

—इत्यादि वेदके स्थलोंमें यमको पितृपति कहा है।

'वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतान्' (अथर्व० ८।२।११)

—यहाँपर यमदूतोंका वर्णन है।

'मोष्वेषामसवो यमं गुः।' (अ० १८।३।६२)

अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं जगत्।
वैवस्वतो न तृप्यति पंचभिर्मानवैर्यमः॥

(२०)

—यह कृष्णयजुर्वेदका मन्त्र स्वामी श्रीदयानन्दजीने अपनी 'संस्कारविधि' के अन्त्येष्टिसंस्कारमें दिया है। इससे मृत्युका अधिष्ठाता देव यमराज सूचित होता है।

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य द्वौ पथिरक्षी श्वानौ।

(अथर्व० ८।१।९)

—इस मन्त्रमें यमराजके दो कुत्तोंका वर्णन है।

यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्। (अथर्व० ६।११८।२)

इदं यमस्य सादनम्। (ऋ० १०।१३५।७)

यहाँपर यमलोकका वर्णन है।

दक्षिणा तिष्ठन् यमः। (अथर्व० ९।७।२०)

—यहाँपर यमलोकका दक्षिण दिशामें होना बताया है। पितृलोकका वर्णन पूर्व किया जा चुका है।

६. नामकी महत्ता

नामका महत्त्व निष्कारण नहीं है। नाम-नामीके निरन्तर साहचर्यसे उनका सम्बन्ध भी हमारे चित्तमें गहरे रूपसे सन्निविष्ट हो जाता है। उस नामके साथ इतने संस्कार, इतनी भावनाएँ तथा स्मृतियाँ इकट्ठी हो जाती हैं कि नामका महत्त्व नामीके महत्त्वसे किसी भी तरह न्यून नहीं ठहरता। नाम और नामी एकाकार हो जाते हैं। जो मधुरिमा उस नियत नाममें हुआ करती है, वह उससे भिन्नमें नहीं होती। नामकी महत्ता बहुत बड़ी है। नामकी महिमा नामीकी महिमासे भी बढ़कर हुआ करती है। यह नाम विशाल आदर्शका सजीव प्रतिनिधि होता है। इस कारण हमारी हिंदु-संस्कृतिमें परमात्माके नामकीर्तनका बहुत प्रचार है। यदि सच कहा जाय तो इसी नामकीर्तनने हमारी संस्कृतिको मुसलमानी कठोर राज्यमें भी बचाया। नामकीर्तन वेदविरुद्ध भी नहीं है, किंतु वेदने ही इसका प्रचार किया है। कुछ मन्त्र इस विषयमें दिये जाते हैं—

यस्य नाम महद्यशः। (यजुः ३२।३)

—यहाँपर परमात्माके नामको यशोजनक माना है।

सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि।

(सामवेद २०।३।४।२)

—यहाँपर परमात्माका नामकीर्तन कहा गया है।

अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान् नाम गृह्णाति आयुषे।

(अथर्व० ६।७६।४)

—यहाँपर नामका ग्रहण आयुके लिये माना गया है।

मनामहे चारु देवस्य नाम। (ऋ० १।२४।१)

मर्त्या अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे।

(ऋ० ८।११।५)

भूरि नाम वन्दमानो दधाति। (ऋ० ५।३।१०)

विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि।

(ऋ० १०।६३।१)

चार्विन्द्रस्य नाम। (ऋ० ९।१०९।१४)

यत् ते अनाधृष्टं नाम यज्ञियम्। (यजु० ५।९)

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे।

(अथर्व० २०।१९।३)

—इत्यादि मन्त्रोंमें नामकीर्तनकी आज्ञा दी गयी है। इसीलिये 'भगवद्गीता' में भी कहा है—

सततं कीर्तयन्तो माम्। (९।१४)

'अथर्ववेद' में कहा है—

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरा उषसः।

(१०।७।३१)

इसका आर्यसमाजके विद्वान् पं० श्रीराजारामजी शास्त्रीने इस प्रकार अर्थ किया है—'वह (भक्त) सूर्यसे पहले, उषासे पहले (परमेश्वरके एक) नामके साथ (दूसरे) नामको पुकारता है।'

यत् ते नाम सुहवं। (अथर्व० ७।२०।२१)

नाम उपास्स्व। (छान्दोग्योपनिषद् ७।१।४)

—यहाँपर नामोपासना बतायी गयी है। यदि नाम-कथनमें शक्ति नहीं तो 'दुरात्मा' शब्द कहनेमें दूसरा क्यों क्रुद्ध होकर हमसे लड़ता है? 'महात्मा' शब्द कहनेसे क्यों हमपर दूसरा प्रसन्न हो जाता है? जब इस प्रकार हम नामोच्चारणका प्रभाव दिन-रात देखते हैं, तब ईश्वरकी नाम-स्तुतिके उच्चारणका प्रभाव क्यों न होगा? जो लोग कहते हैं कि मिश्री-मिश्री कहनेसे मुँह मीठा नहीं हो जाता, उन्हें याद रखना चाहिये कि सब पदार्थोंमें समान शक्ति नहीं हुआ करती। कई पदार्थ

नामस्मरणसे प्रभाव डालते हैं, कई खाने-पीनेसे और कई स्पर्शमात्रसे। इस प्रकार पदार्थोंकी विचित्र-विचित्र शक्तियाँ हुआ करती हैं। मिश्री खानेसे उसका स्वाद मालूम होता है, पर नामको खाया नहीं जाता। अतः मिश्रीका दृष्टान्त विषम है। नीबूका नाम लेनेसे भी मुखमें खट्टापन मालूम होता है। नामका कीर्तन या स्मरण ही हुआ करता है। पूर्वोक्त वेद-मन्त्रोंको ही आधार बनाकर श्रीमद्भागवतपुराणमें कहा गया है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥

(६।२।१८)

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद् धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥

(६।२।४९)

७. हिंदु-संस्कृतिमें देवतावाद

हिंदु-संस्कृतिमें आदिकालसे ही वेदोंके प्रति विश्वास रहा है। देवतावादके प्रसारक वेद ही हैं; अतः इस संस्कृतिमें देवताओंके प्रति अगाध श्रद्धा रही है। देवता परमात्माके ही उत्तम अंग हैं। अंगीकी पूजा अंगोंके द्वारा ही होती है; इसीलिये देवपूजा हिंदु-संस्कृतिका एक अंग है। इन देवताओंमें अलौकिक शक्ति रहती है। यदि परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो इस सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण देवताओंपर आश्रित है। देवताओंके अनुकूल होनेपर ही संसार सुखका श्वास ले सकता है। अदूरदर्शी लोग देवताओंको जड मानते हैं; पर वैदिक सिद्धान्तके अनुसार देवता चेतन हैं।

स्वामी श्रीशंकराचार्यने देवतावादपर अच्छा प्रकाश डाला है। आर्यसमाजके विद्वान् पं० श्रीराजारामजी शास्त्रीने अपने अथर्ववेद-भाष्यकी भूमिकामें उसका निष्कर्ष सुन्दर ढंगसे लिखा है। पाठकोंके लाभके लिये हम उसे उद्धृत करते हैं—

'परमेश्वरकी सृष्टिमें देहधारी जीवोंकी सृष्टि नाना प्रकारकी है। इस भूलोकमें ही शैवाल, तृण, घास आदि नाना प्रकारके स्थावर और पशु-पक्षी आदि नाना प्रकारके जंगम हैं। ये सारे जीवविशेष हैं। मनुष्य इन सबसे ऊँची श्रेणीका जीव है; पर परमात्माकी सृष्टि यहींतक समाप्त नहीं है। मनुष्यसे कई दर्जोंमें ऊँचा पद रखनेवाले जीव भी उसकी सृष्टिमें विद्यमान हैं, जो मनुष्योंकी भाँति चेतन हैं। वे अपनी शक्ति और ज्ञानमें इतने ऊँचे पहुँचे हुए हैं कि मनुष्यकी शक्ति और ज्ञान उनके सामने तुच्छ हैं। इस अनेक प्रकारकी ऊँची सृष्टिमें सबसे ऊँचा स्थान देवताओंका है। देवता चेतन हैं। वे मनुष्योंसे ऊपर और परमेश्वरसे नीचे हैं। परमेश्वरकी ओरसे उनको भिन्न-भिन्न अधिकार मिले हुए हैं, जिनका वे पालन करते हैं। देवता अजर और अमर हैं; पर उनका अजर-अमर होना मनुष्योंकी अपेक्षासे है, वस्तुतः उनकी भी अपनी-अपनी आयु नियत है। ब्रह्माण्डकी दिव्य शक्तियोंमेंसे एक-एक शक्तिपर एक-एक देवताका अधिकार है; जिस शक्तिपर जिसका अधिकार है, वही उसका देह है, जो उसके वशमें है।'

'जैसे हमारे देहमें एक जीवात्मा है, जो इस देहका अधिपति है, उसी प्रकार उस शक्तिके अंदर भी एक जीवात्मा है, जो उसका अधिपति है। जैसे हमारे अधीन यह देह है, वैसे ही एक देवताके अधीन सूर्यरूपी देह है। हम एक थोड़ी-सी शक्तिवाले देहके स्वामी हैं, वह एक बड़ी शक्तिवाले देहका स्वामी है। वह अध्यात्म-शक्तियोंमें इतना बढ़ा हुआ है कि अपनी इच्छाके अनुसार जैसा चाहे, वैसा रूप धरकर जहाँ चाहे, वहाँ जा सकता है। वही देव सूर्यका अधिष्ठाता कहलाता है और सूर्यके नामसे ही बुलाया जाता है। इसी प्रकार अग्नि और वायु आदिके अधिष्ठाता देवता हैं। देवताओंका ऐश्वर्य बहुत बड़ा है, पर वह सारा परमेश्वरके अधीन है। एक-एक देवता एक-एक दिव्यशक्तिका नियन्ता है। पर उन सबके ऊपर उन सबका नियन्ता परमेश्वर है। इसलिये सभी देवता मिलकर जगत्का प्रबन्ध उसी प्रकार कर रहे हैं, जिस प्रकार राजाके अधीन उसके भृत्य उसके राज्यका प्रबन्ध करते हैं।'

'देवताओंकी उपासनाओंसे उन कामनाओंकी सिद्धि होती है, जिनके कि वे मालिक होते हैं।……वे तबतक दिव्य शरीरको धारण किये रहते हैं, जबतक उनका वह अधिकार समाप्त नहीं हो लेता, जिस अधिकारपर उनको परमेश्वरने लगाया है। अधिकारकी समाप्तिपर वे मुक्त हो जाते हैं और उनकी जगह दूसरे आ ग्रहण करते हैं, जो मनुष्योंमेंसे ही उपासनाद्वारा उस पदके योग्य बन गये हैं। देवताओंके ऐश्वर्यके दर्जे हैं। सबसे ऊँचा दर्जा ब्रह्माका है।' (पृ० ११)

वेदमें परमात्माके वर्णनका प्रकार

''वेद दो प्रकारसे परमात्माका वर्णन करता है—

एक बाहरके सम्बन्धोंसे अलग हुए उसके केवल स्वरूपका, दूसरा बाहरके जगत्से सम्बन्ध रखते हुएका।.....जगत्को अलग रखकर उसके निज रूपको देखें, तो वह उसके शुद्ध स्वरूपका दर्शन है; और जगत्का अन्तर्यामी होकर उसपर शासन करता हुआ देखें, तो वह उसके विशिष्ट रूपका दर्शन है।''

शुद्ध ज्ञेय और विशिष्ट उपास्य है

''अब उसका शुद्ध स्वरूप तो सच्चिदानन्दस्वरूप या नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव अथवा 'नेति-नेति' के सिवा किसी प्रकारसे वर्णित नहीं हो सकता; और अगम्य एवं अचिन्त्य होनेसे न हमारे जीवनपर उसका कोई प्रभाव पड़ता है, न हम अपनी त्रुटियाँ पूरी करने और अपनेको उच्च अवस्थामें लानेके लिये उससे प्रार्थना कर सकते हैं। क्योंकि किसी मानुषी गुण, प्रेम, दयालुता आदिका हम शुद्धके साथ सम्बन्ध नहीं कर सकते, न किसी प्रकारसे उसकी पूजा कर सकते हैं। यह बात याज्ञवल्क्यने गार्गीको शुद्ध-स्वरूपका उपदेश करते हुए बतलायी है''—

स होवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणवह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन। (बृहदारण्यक उ० ३।८।८)

''इसका अभिप्राय यही है कि इस रूपमें न हम उसको कुछ अर्पण करते हैं, न वह हमारे जीवनपर कोई प्रभाव डालता है। या यों कहें कि इस रूपमें वह हमारे ज्ञानका परम लक्ष्य तो हो सकता है, पर उपास्य नहीं। उपास्य वह अपनें विशिष्ट रूपमें ही है।''

विशिष्ट रूपमें उसकी अनेक रूपोंमें उपासना

''मनुष्यके हृदयमें उसके जिस रूपके लिये भक्ति, पूजा और उपासना है, वह उसका विशिष्ट रूप ही है और यह रूप उसका अनेक रूपोंमें पूजा जाता है; इन्हीं रूपोंको देवता कहते हैं, जो वेदमें अग्नि, इन्द्र, वायु, सूर्य, मित्र, वरुण, पूषा आदि नामोंसे वर्णन किये गये हैं।''

''मनुष्य पहले-पहल इन अलग-अलग विशिष्ट रूपोंमें उसका चिन्तन कर सकता है और जब वह उसकी महिमाको अलग-अलग अनुभव कर चुकता है, तब फिर उसका हृदय एक साथ सारे विश्वमें उसकी महिमाको अनुभव करता हुआ उसका ध्यान और पूजन करता है। इस समष्टिरूपको अदिति, प्रजापति, पुरुष, हिरण्यगर्भ आदि नामोंसे वर्णन किया गया है।

विशिष्ट रूपों (देवतारूपों)-में परमात्माको जाननेकी आवश्यकता

''पहले-पहल केवल शुद्धरूपमें परमात्मा दुर्ज्ञेय है। उसका जानना जगत्में ही सम्भव है, वह भी अनेक विशिष्ट रूपों (देवतारूपों)-में। क्योंकि उसकी महिमा, जो इस जगत्में देखी जाती है, इतनी बड़ी है कि समष्टिरूपमें उसका ज्ञान मनकी शक्तिसे बाहर है। इसलिये अग्नि, वायु, सूर्य, सविता, मित्र, वरुण, द्यावापृथिवी, अश्वि, इन्द्र, ब्रह्मणस्पति, वास्तोष्पति, क्षेत्रपति इत्यादि परिमित रूपोंमें उसकी महिमा वेदमें कही गयी है और स्तुति, नमस्कार और पूजाद्वारा उन सब रूपोंके साथ गहरा सम्बन्ध करनेका उपदेश है।'' (अथर्ववेदभाष्य-भूमिका पृ० १२-१३)

यहाँपर पं० श्रीराजारामजी शास्त्रीने वैदिक देवतावादके विषयको बहुत स्पष्ट कर दिया है; यद्यपि यह उन्होंने अपना निजी मन्तव्य बताया है, तथापि वस्तुतः यही हिंदु-संस्कृतिका भी मन्तव्य है। देवता मनुष्यके सुखजनक हैं; अतः मनुष्योंको देवोंकी उपासना करनी चाहिये—इस विषयमें वेद भी सहमत है। 'कल्याण' के पाठकगण देखें—

न मर्डिता (सुखजनकः) विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधि कामा अयंसत (ऋ० १०।६४।२)। अर्थात् देवगणोंके सदृश सुखदायक दूसरा कोई नहीं है; इसलिये मेरी कामनाएँ देवताओंमें हैं। **'सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्ति'** (अथर्व० ११।५।२)—यहाँपर देवताओंकी तपस्यासे प्रसन्नता बतायी गयी है। **'यजाम देवान् यदि शक्नवाम'** (ऋ० १।२७।१३)—यहाँपर यथाशक्ति देवताओंकी पूजा करना बतलाया है। **'सपर्यन् कीरिणा देवान्, नमसा उपशिक्षन्'** (ऋ० ५।४०।८)—इस मन्त्रमें देवताओंकी स्तोत्र एवं नमस्कारसे पूजा बतायी गयी है। **'तेन मा देवास्तपसावतेह'** (अथर्व० १९।७२।१)—यहाँ देवताओंसे रक्षार्थ प्रार्थना की गयी है। **'प्रगायत अभ्यर्चाम देवान्'** (ऋ० ९।९७।४)—यहाँपर गानद्वारा देवपूजा कही गयी है।

'एष ह वाऽअनद्धा पुरुषो यो न देवानवति न पितॄन्।' (शतपथ० ६।३।१।२४)

—यहाँपर देवपूजा एवं पितृपूजा न करनेवाले मनुष्यकी निन्दा की गयी है। **'देवान् वसिष्ठो अमृतान्**

श्रीकाशी—दशाश्वमेधघाट

काशी—गंगातट

[पृष्ठ ७८८

काशी—मणिकर्णिका घाट [पृष्ठ ७८८

त्रिवेणी-संगम, प्रयाग [पृष्ठ ७८८

अयोध्या—सरयूतट, स्वर्गद्वार

ववन्दे' (ऋ० १०।६५।१५)—यहाँपर वेदने देवपूजनमें वसिष्ठका इतिहास भी दिखलाया है। '**तस्माद् देवान् यज**' (शत० १।८।२।१४)—यहाँपर स्पष्टरूपसे देवपूजन दिखलाया गया है। इसी मूलको लेकर 'मनुस्मृति' ने भी देवपूजनपर बल दिया है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव ....॥
(२।१७६)

८. अश्वत्थ तथा तुलसीका महत्त्व

हमारे शास्त्रोंमें अश्वत्थ (पीपल)-की महिमा बतायी गयी है। 'अथर्ववेद' में '**अश्वत्थो देवसदनः**' (शौ० सं० ५।४।१) पीपलको देवताओंका घर ही कहा है। अतएव उसकी पूजासे भी देवताओंकी पूजा होती है। '**अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्**' (भगवद्गीता १०।२६)—इस पद्यमें भगवान्ने पीपलको अपनी विभूति माना है। लौकिक दृष्टिके अनुसार भी यह पुत्रप्रदाता माना गया है, इसमें आयुर्वेदके अनुसार स्त्रीके वन्ध्यत्वदोषके हटानेकी अद्भुत क्षमता है।

तुलसीके महत्त्वको बतानेवाले ये पद्य प्रसिद्ध हैं—

तुलसीकाननं चैव गृहे यस्यावतिष्ठते।
तद्गृहं तीर्थभूतं हि नायान्ति यमकिंकराः॥
तुलसीविपिनस्यापि समन्तात् पावनं स्थलम्।
क्रोशमात्रं भवत्येव गांगेयेनेव चाम्भसा॥

इससे तुलसीके आस-पासका स्थान पवित्र माना गया है; उसमें मलेरियाकी विषाक्त वायुको दूर करनेकी अद्भुत क्षमता है। मरनेके समय भी तुलसीमिश्रित गंगाजल पिलाया जाता है, जिससे आत्मा पवित्र हो और सुख-शान्तिसे लोकान्तरकी प्राप्ति हो। विषाक्त वायु तुलसीसे स्वच्छ हो जाता है। मलेरियाके उत्पादनमें सहायक मच्छर इससे दूर भागते हैं। यह सब प्रकारके ज्वरोंको हटाकर स्वास्थ्य देती है। जिन रोगियोंको स्वास्थ्यार्थ गंगातटके पास जानेमें सुविधा न हो, उन्हें तुलसी-सेनीटोरियममें रखा जाता है; वही लाभ उन्हें वहाँ मिल जाता है। हमारे पूर्वज जडोपासक नहीं थे, जड वस्तुओंके अधिष्ठातृ-देवता मानकर उनकी पूजा किया करते थे। स्वास्थ्यके होनेसे ही धर्माचरणमें प्रवृत्ति हो सकती है; अतः स्वास्थ्यवर्धक वस्तुका धर्मसे सम्बन्ध अनुचित भी नहीं है।

९. सदाचार एवं शौचाचार

हिंदू-संस्कृतिमें जितने सदाचार या शौचाचार रखे गये हैं, धार्मिक होनेसे उनका परलोकसे सम्बन्ध तो है ही; अधिकं तु उनका लौकिक लाभोंसे भी सम्बन्ध होता है। हम उनमें कुछका निरूपण करते हैं। विज्ञ पाठकगण ध्यान दें। इनमें प्राचीन-अर्वाचीन विद्वानोंके विचारोंका मिश्रण होगा।

देवमन्दिरमें जाना—जहाँ इसमें देवपूजा लक्ष्य होती है, वहाँपर शारीरिक तथा मानसिक लाभ भी हुआ करते हैं। देवालय जानेके लिये हम सूर्योदयसे पहले उठते हैं, तथा सूर्योदयसे पूर्व ही स्नान करते हैं। इससे रूप, तेज, आरोग्य, मेधा, आयु आदिकी वृद्धि होती है। देवमन्दिर प्रायः शहरसे बाहर होते हैं। वहाँ कोई बगीची होती है। देवपूजाके लिये वहाँपर हम फूल चुनते हैं। हमें शुद्ध वायु मिलती है, जिससे शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य तथा शक्तिका लाभ होता है। चन्दन लगानेसे मस्तिष्क तथा दृष्टिकी शक्ति बढ़ती है। धूप, दीप आदि सुगन्धित द्रव्योंके कारण मन्दिरके चारों ओर दिव्य शक्तिका संचार रहता है, जिससे भूत-बाधाकी निवृत्ति तथा विषयुक्त कीटाणु-शक्तिका ह्रास होता है, शुद्ध वायुमण्डलके प्रभावसे कुविचार अंदर नहीं रह पाते। पुरुष-शरीर पंचतत्त्वनिर्मित होता है। भिन्न-भिन्न शरीरोंमें भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी प्रधानता रहा करती है। इसलिये हमारे यहाँ पाँच देवोंकी अपने-अपने रुच्यनुसार पूजा कही गयी है। ये देव भी एक-एक तत्त्व प्रधानतासे धारण करते हैं। इधर मन्दिरमें इन्हीं तत्त्वोंके गुण—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द मिलते हैं; इसलिये तत्त्वविशेषको धारण करनेवाले पुरुषपर उसके अनुकूल विषयका प्रभाव भी होता है। उसी मन्दिरमें शंखनाद भी किया जाता है। उससे फेफड़ोंकी शुद्धि तथा छातीकी विशालता सम्पन्न होती है। कीटाणुओंका नाश होता है। इधर मन्दिरस्थ वस्तुएँ—पंचगव्य, तुलसी आदि सभी पदार्थ लाभप्रद होते हैं। इस प्रकार देवमन्दिरमें जाना '**जीवेम शरदः शतम्**' इस वैदिक उक्तिको अपनाना है।

चरणामृतका वैज्ञानिक महत्त्व—उसी देवमन्दिरमें फिर हम चरणामृत लेते हैं, जिसका माहात्म्य '**अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्**' प्रसिद्ध ही है। वह हमारे लिये दिव्य ओषधिका काम देता है। पूजाके समय ताम्रपात्रमें रखी शालग्रामकी प्रतिमाका मन्त्रोपचारसे गंगाजलद्वारा संस्कार होता है। तुलसीदल, केशर, चन्दन, कस्तूरी आदि पदार्थ उसमें मिले रहते हैं। शालग्राम गण्डकी नदीका पदार्थविशेष है, जिसमें

छोटे-छोटे सुवर्ण-कण मिले रहते हैं। वेद सुवर्णसे सौ वर्षकी आयु बताता है। ताँबेका प्रभाव तो विज्ञानप्रसिद्ध है ही। उसमें रखा हुआ जल रोगनाशक होता है, फिर गंगाजलकी कीटाणुनाशिनी शक्ति तो विश्वविदित ही है। तुलसीदलमें भी विविध व्याधियोंको दूर करनेकी सामर्थ्य है। केशर, चन्दन, कस्तूरीका तो बहुत रोगोंमें उपयोग किया ही जाता है और फिर वेदमन्त्रोंकी शक्ति हिंदु-संस्कृतिमें प्रसिद्ध ही है। इधर वही जल शंखमें डाला हुआ और भी शक्तिसम्पन्न हो जाता है। तब वह जल एक अमृतका काम करता है। उसके सेवनसे अकालमृत्यु नहीं होने पाती। इधर मन्दिरमें प्रातःकाल जाना पड़ता है, इस व्याजसे प्रातः-भ्रमण भी हो जाता है। प्रातर्भ्रमणके लाभ भी जगत्प्रसिद्ध हैं और फिर उस समय हमारे पालक भगवान्से हमारी एकता हो जाती है। धूप तथा घृतका चतुर्मुख दीपक, उसका शुद्ध आलोक इत्यादि सभी पदार्थ हमारी अकालमृत्युको दूर करते हुए—'**विष्णुपादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते**' इस पद्यको चरितार्थ किया करते हैं। यह बात अर्थवाद न होकर सत्य है; क्योंकि इस अवसरकी निष्काम भगवद्भक्ति मुक्ति देकर हमारे पुनर्जन्मको हटा देती है। इस प्रकार चरणामृतपानसे शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक लाभ होते हैं।

शंखनाद—श्रीजगदीशचन्द्र वसुने अपने वैज्ञानिक प्रयोगोंद्वारा सिद्ध कर दिया है कि जहाँतक शंखका नाद जाता है, वहाँतक रोगके अनेक विषाक्त कीटाणु उस नादके सुननेसे ही नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार वहाँकी वायु शुद्ध होती है। हमारे यहाँ भी प्रसिद्ध है कि 'शंख बाजे, भूत भागे।' कीटाणु भी सूक्ष्म भूतोंके अन्तर्गत होते हैं। इधर यह शंख गूँगोंको भाषणशक्ति प्रदान करता है। इसलिये छोटे-छोटे बच्चोंके गलेमें छोटे-छोटे शंखोंकी माला पहनायी जाती है। इससे बच्चे जल्दी बोलने लग जाते हैं, उन्हें दृष्टिदोष भी नहीं होता। इसकी श्रेष्ठता होनेसे ही मन्दिरोंमें आरतीके समय भक्तोंपर शंखका जल डाला जाता है। यूरोपीय वैज्ञानिकोंने भी शंखमें मनुष्यहितकारिणी विद्युत् मानी है। शंखमें यदि गंगाजलको सिद्ध करके पिलाया जाय, तो कीटाणुमूलक सब रोग दूर हो सकते हैं। इसमें कोई विशिष्ट व्यय भी नहीं होता। इसके अनेक लाभोंको देखकर प्राचीन कालमें स्त्रियाँ शंखकी चूड़ियाँ पहनती थीं, अब भी बंगालमें पहनती हैं, जिसका—

बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशंखवत्। (४।९)

—इस 'सांख्यदर्शन' के सूत्रमें संकेत किया गया है।

जप-पाठ—प्रत्येक विशिष्ट शब्द एक विशिष्टता रखता है। इसी कारण वेदके शब्दोंकी आनुपूर्वीमें परिवर्तन नहीं किया जाता; क्योंकि उसके शब्दोंको उसी आनुपूर्वीसे पढ़नेमें लाभ विशेष होता है। उसी आनुपूर्वीका मेघोंपर भी प्रभाव पड़ता है, वृष्टि हो जाती है। सूर्यादि देवोंपर प्रभाव पड़ता है, जिससे वे प्रसन्न होकर लाभ पहुँचाते हैं।

फ्रांस देशकी प्रसिद्ध वैज्ञानिक महिला मैडम फिनेलांग नामकी है; उसने शब्दके विषयमें पर्याप्त अनुभव किये हैं। एक दिन विशिष्ट अनुभवके लिये उसने बिजलीके तारोंको एक स्थानमें जोड़ा। साथ ही एक चाकका टुकड़ा भी बाँध दिया और काला बोर्ड भी रख दिया। निकटमें ही वह एक कुर्सीपर बैठकर गाने लगी। कुछ समयके बाद मुखको ऊँचा करके उसने देखा और हैरान हो गयी। उस बोर्डपर रेखाएँ खिंची थीं। उस बोर्डको उसने साफ कर दिया।

फिर वह अपने प्रेमीके विषयमें गाने लगी। साथ ही उसने देखा कि उस स्वरसे बिजलीके तार काँप रहे हैं और उस बोर्डपर आकृति बन रही है। यह जानकर वह प्रसन्न हुई कि शब्दोंका आभ्यन्तरिक भावोंसे गहरा सम्बन्ध है। यह प्रसिद्ध है कि मृग आदि पशु तथा सर्प भी गाने या वंशी-ध्वनिमें मस्त होकर खेलते हैं। युद्धमें विशिष्ट गानसे अश्वोंमें आवेश आ जाता है। वे कूदते हुए युद्धमें अग्रसर होते हैं। अस्तु, जब उसने गानेसे आकृतियाँ बनती हुई देखीं, तब उसने भिन्न-भिन्न गानोंका प्रभाव जाननेके लिये यत्न किया। वह रोमन कैथलिक गिरजागृहमें प्रार्थनाके लिये गयी। वहाँ भी उसने बिजलीका वह यन्त्र लगाया। जब प्रार्थना समाप्त हो गयी, तब बोर्डपर एक स्त्री तथा एक लड़केकी आकृति बन गयी। इन आकृतियोंका सम्बन्ध ईसा तथा उसकी माँसे था।

फिर भी वह सन्तुष्ट न हुई। पैरिसके एक महाविद्यालयमें एक बंगाली विद्यार्थी पढ़ता था। उसे उसने कोई धार्मिक गाना गानेके लिये कहा। वह विद्यार्थी नये वायुमण्डलमें पला होनेसे धार्मिक गानोंसे अनभिज्ञ था। हाँ, बाल्यावस्थामें पिताने उसे भैरवाष्टक

सिखलाया। जब उसने वह स्तोत्र ऊँचे स्वरसे सुनाया, तब उस काले बोर्डमें भैरवकी मूर्ति बन गयी। इन बातोंसे स्पष्ट है कि जप वा उच्च स्वरसे पाठ करनेमें कितनी शक्ति है। इसी सिद्धान्तसे ग्रामोफोन यन्त्रका आविष्कार हुआ।

जपना १०८ बार क्यों?—हमारे श्वास प्रत्येक पलमें ६ निकलते हैं। २½ पलोंके एक मिनटमें हमारे १५ श्वास निकलते हैं। इस हिसाबसे एक घंटेमें ९०० तथा दिनभरके १२ घंटोंमें १०,८०० श्वास हमारे निकलते हैं। एक दिनके इतने श्वासोंमें हमें अपने इष्टदेवको याद करना चाहिये। परंतु लोकयात्रामें इतना सम्भव नहीं, अतः १०,८०० के पिछले दो शून्योंको हटाकर १०८ बार इष्टदेवका जप किया जाता है।

अथवा इसमें एक अन्य रहस्य है। मायाका अंक ८ होता है और ब्रह्मका ९ अंक। मायामें परिवर्तन या परिवर्धन होता है, ब्रह्ममें नहीं। देखिये ८ का पहाड़ा। ८×१=८; ८×२=१६ (१+६=७)। यह आठका पहाड़ा दुगना होनेपर ७ हो गया है। ८×३=२४ (२+४=६); अब वही ६ हो गया है। इसी प्रकार आगे भी क्रम-क्रमसे वह कम होता जाता है। जैसे—८×७=५६ (५+६=११, १+१=२); यहाँपर २ ही रह जाते हैं। ८×९=७२ (७+२=९); यहाँ वही बढ़कर ९ हो जाता है। पर ब्रह्मका अंक ९ उसी रूपमें रहता है। जैसे कि ९ का पहाड़ा देखिये—९×१=९; ९×२=१८ (१+८=९); ९×३=२७; (२+७=९) ९×७=६३ (६+३=९) इत्यादि। इसमें कोई विकार नहीं हुआ।

हिंदु-जाति प्रारम्भसे ही सूर्यभक्त रही है, इसलिये उसकी सन्ध्यामें सूर्यको अर्घ्य दिया जाता है। सविता (सूर्य)-का ही गायत्रीरूपमें जप होता है, जपमें साधन माला होती है। उसकी १०८ मणियाँ होती हैं। सूर्यके १२ भेद होते हैं; उसका बारहवाँ भेद विष्णु है। सूर्यकी १२ राशियाँ होती हैं। वह सूर्य ब्रह्मरूप है—'**तदेवाग्निस्तदादित्यः**' (यजुः वा० सं० ३२।१)। ब्रह्म अंक ९ है, यह पहले कहा जा चुका है। १२ अंकवाले सूर्यके साथ ९ अंकवाले ब्रह्मको गुणा करनेसे १०८ संख्या होती है। इस कारण सूर्यात्मक विष्णुका जप भी १०८ बार होता है। १०८ का योग १+८=९ होता है। ९ अंक ब्रह्मका प्रतीक होता है, यह कहा ही जा चुका है। इसलिये ब्रह्मवित् संन्यासियोंके नामके साथ भी '**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**' इस न्यायसे ब्रह्मका प्रतिनिधि 'श्री १०८' लिखा जाता है।

पश्चिम-उत्तरमें सिर करनेका निषेध—

यथा स्वकीयान्यजिनानि सर्वे
संस्तीर्य वीराः सुषुपुर्धरण्याम्।
अगस्त्यशास्ताम् (दक्षिणाम्) अभितो दिशं तु
शिरांसि तेषां कुरुसत्तमानाम्॥

(महाभा० १।१९४।८-९)

यहाँपर युधिष्ठिर आदिका सोते समय दक्षिण दिशाकी ओर सिर करना दिखलाया है।

प्रत्यगुत्तरशिराश्च न स्वपिति। (३।१।४)

'वैखानसगृह्यसूत्र' के इस वचनमें पश्चिम तथा उत्तरमें सिर करके सोनेका निषेध किया गया है। इसका कारण विज्ञान यह बताता है कि उत्तरीय ध्रुवसे दक्षिण ध्रुवकी ओर इस प्रकारकी लहरें चलती हैं, जो मस्तिष्कको हानि पहुँचाती हैं। इसलिये उत्तर दिशाकी ओर शवका ही सिर किया जाता है।

पश्चिम दिशामें सिर करनेके लिये 'शतपथ' में निषेध किया है—

तस्मादु ह न प्रतीचीनशिराः शयीत।

(३।१।१।७)

उसका कारण यह है—'**प्राची हि देवानां दिक्**' (शत० १।८।३।१८)—पूर्व दिशा देवताओंकी दिशा है; उधर पैर करनेसे देवताओंका अपमान होता है। पूर्व दिशाकी ओर सिर रखनेसे देवताओंके सम्मानकी बात आयुर्वेद भी बताता है—

प्राच्यां दिशि स्थिता देवास्तत्पूजार्थं च तच्छिरः।

(सुश्रुतसंहिता-सूत्रस्थान १९।६)

ग्रह-नक्षत्रादि सभी पश्चिमसे पूर्वकी ओर जाते हैं; अतः पूर्व दिशा देवदिशा स्पष्ट है।

ग्रहणमें भोजनादिका निषेध—सूर्यचन्द्रके ग्रहण-समयमें बहुलतासे कीटाणु फैल जाते हैं—यह बात अणुवीक्षणयन्त्रसे देखी जा सकती है। इसीलिये ऋषियोंने पात्रोंमें कुश डालनेकी बात कही है, जिससे सब कीटाणु उसमें आ जाते हैं। ग्रहणके बाद वह कुशा बाहर फेंक दी जाती है और शुद्ध्यर्थ पात्रोंमें अग्नि भी डाली जाती है। अपने भीतरी-बाहरी कीटाणुओंके हटानेके लिये ग्रहणके बाद ऋषियोंने स्नानकी व्यवस्था की। स्नान करनेसे शरीरके भीतरसे ऊष्माका उद्गम होता है, जिसके कारण भीतर-बाहरके कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। ग्रहण-समयमें जूऑलजी-विषयके प्रोफेसर मि० टारिस्टनने

पर्याप्त अनुसन्धान करके सिद्ध किया है कि सूर्य-चन्द्रके ग्रहणके समय पेटकी पाचनशक्ति कम हो जाती है। तब भोजन करनेपर शारीरिक या मानसिक हानिकी आशंका रहती है।

मिट्टीसे हस्तशुद्धि—पुरीषालयसे आकर हाथोंकी जलसे तथा मिट्टीसे शुद्धि करनी पड़ती है—यह प्राचीन व्यवहार है। परंतु आजकलके सुधारकलोग प्राचीन सभी आचारोंको घृणित मानते हैं। वे साबुनका उपयोग करते हैं; परंतु वे नहीं जानते कि साबुनसे मलके परमाणु नष्ट नहीं होते। उन परमाणुओंके सर्वथा नाश करनेकी शक्ति मिट्टीमें ही होती है। इसलिये हमारे प्राचीन मुनि आज्ञा देते थे कि गाँवके बाहर शौचार्थ जाओ, वहाँ गड्ढा करके मलत्याग करो; उस मलको फिर मिट्टीसे ढक दो। उसमें यही रहस्य था कि मिट्टी मलके कीटाणुओंको नष्ट कर देती है। प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धतिके आधुनिक आविष्कारक श्री लूई कूनेने विविध रोगोंपर मिट्टीका प्रयोग करके बड़ी सफलता प्राप्त की थी। आज भी प्राकृतिक चिकित्सामें मिट्टीका सफल प्रयोग होता है। मिट्टीमें रोगनाशक शक्ति है। सर्पदंशतकमें मिट्टीसे लाभ होता देखा गया है। यहाँ जैसे मिट्टीकी जगह साबुनका प्रयोग अयुक्त होगा वैसे ही हाथ आदि धोनेमें समझना चाहिये।

साबुनमें चिकनाहट होती है। अतः वह मलके परमाणुओंको दूर नहीं कर सकता, प्रत्युत उसमें मलके परमाणु ठहर जाते हैं। इधर उसी साबुनको अन्य भी प्रयुक्त करते हैं; इस प्रकार मलके परमाणु बढ़ जाया करते हैं। साबुन एक ऐसा पदार्थ है कि उसकी एक टिकियाका एक ही मनुष्यको प्रयोग करना चाहिये, अन्यथा एक-दूसरेके परमाणु इकट्ठे होकर एक-दूसरेमें संक्रान्त हो जाते हैं। इधर साबुनमें व्यर्थ खर्च भी होता है। अतः इस अवसरपर मिट्टीका उपयोग ही ठीक है।

'मनुस्मृति' में '**आचारस्य च वर्जनात्**' (५।४)—आचारके छोड़नेको भी असामयिक मृत्युके कारणोंमें गिना है। इससे स्पष्ट है कि आचारके पालनेसे मनुष्य पूर्णायु होता है। इसलिये '**आचारः प्रथमो धर्मः**' (मनु० १।१०८) कहा गया है।

गण्डूषविधान—मलत्यागके बाद हस्तशुद्धि करके गण्डूष (कुल्ला करने)-का विधान भी आया है। वह भी रहस्यपूर्ण है। हम किसी गलीमें जा रहे हों और वहाँ मल पड़ा हुआ हो तो हम उस स्थलको पार करके मुँहसे थूक गिरा देते हैं; उसका कारण है कि हमारे मुखमें दुर्गन्धके परमाणु पहुँच जाते हैं, उन्हें निकालनेके लिये थूका जाता है। इस प्रकार पुरीषालयमें कुछ देर रहनेसे मुखमें गये गंदे परमाणुओंको हटानेके लिये साधारण थूकसे काम नहीं चलता; तब बारह बार कुल्ला किया जाता है, जिससे मुखकी पूर्ण शुद्धि हो जाय। इसी प्रकार मूत्र-त्यागके बाद भी कुल्ले करने चाहिये।*

भोजनशुद्धि—भोजन सात्त्विक, न्यायोपार्जित धनसे प्राप्त तथा सात्त्विक एवं शुद्ध पुरुषका बनाया होना चाहिये। इस बातकी अवहेलना करनेसे भी शारीरिक-मानसिक हानि होती है।

आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति।

(मनु० ५।४)

यहाँपर अन्नदोषको भी असामयिक मृत्युका कारण बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद्में कहा है—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते; तस्य यः स्थविष्ठो धातुः, तत् पुरीषं भवति; यो मध्यमस्तन्मांसम्; योऽणिष्ठस्तन्मनः।

(६।५।१)

यहाँपर भोजनके सूक्ष्म अंशको मन कहा गया है। इसलिये प्रसिद्ध है—

जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।

(छा० ७।२६।२)

अन्नमयꣳहि सोम्य! मनः। (छा० ६।५।४)।

इस प्रकार अन्नकी अशुद्धि होनेसे मनको हानि पहुँचती है। भीष्मपितामहने दुर्योधनका अन्यायोपार्जित पापिष्ठ अन्न ग्रहण किया था; इसीसे द्रौपदीके वस्त्र-हरणके समय ठीक सम्मति देनेमें उनका ज्ञान लुप्त हो गया।

१० प्राचीन साहित्यमें स्त्रियोंका स्थान

'प्राचीन साहित्यमें स्त्रियोंपर अत्याचार किया गया

* हमारे यहाँ भोजनके उपरान्त कुल्ले करनेकी प्रथा है। इससे दाँतोंमें अन्नकण नहीं रहनेसे दन्तरोग प्रायः नहीं होते। यूरोपादि देशोंमें भोजनोपरान्त कुल्ले न करनेसे अधिकांश लोगोंको पायरिया रोग हो जाता है।

है, विधवा होनेपर उन्हें विवाहकी आज्ञा नहीं। उनके लिये व्रत-उपवास आदि अधिक नियत किये गये हैं। उनको अन्य पति करनेका आदेश नहीं दिया जाता, उनको पर्देमें—घरमें बंद रखा जाता है, उनकी विशिष्ट रक्षा की जाती है, उनपर विश्वास नहीं किया जाता, उन्हें स्वतन्त्रता नहीं दी जाती। उन्हें विद्या पढ़नेका आदेश नहीं, बच्चेके पालन आदिका कष्ट उन्हें दिया जाता है।' आजकलके ये प्राचीन साहित्यपर आक्षेप हैं। वस्तुतः वस्तुस्थितिपर विचार नहीं किया जाता। हमारा प्राचीन साहित्य किसीका भी द्वेषी नहीं रहा; सबका वह हितैषी रहा है।

इसपर यह जानना चाहिये कि स्त्रीजातिकी पवित्रतामें ही देशका उद्धार तथा स्त्री-जातिके पतनमें देशका पतन अनिवार्य है; इसीलिये हिंदू-जातिके साहित्यमें पुरुषकी अपेक्षा कन्या वा स्त्रियोंकी रक्षापर अधिक ध्यान रखा गया है। सन्तानमें पिताकी अपेक्षा माताका प्रभाव अधिक पड़ता है। स्त्री-जातिकी अपवित्रतासे सम्पूर्ण जाति ही अपवित्र हो सकती है। चाकू खरबूजेपर गिरे, अथवा खरबूजा चाकूपर गिरे; दोनों ही प्रकारसे खरबूजेकी ही हानि है। इस प्रकार स्त्री विकारको प्राप्त होकर अन्य पुरुषपर आसक्त हो जाय, अथवा पुरुष विकारयुक्त होकर अन्य स्त्रीमें आसक्त हो जाय, दोनों ही प्रकारसे स्त्रीका पतन अवश्यम्भावी है। इसलिये भगवद्गीतामें अर्जुनने भी कहा है—

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥

(१।४१—४४)

मनुने भी कहा है—

.....**अवेद्यावेदनेन च।** .....**जायन्ते वर्णसंकराः।**

(१०।२४)

इससे स्पष्ट है कि स्त्रीकी दुष्टतासे सारी जातिका पतन उपस्थित हो जाता है। वर्णसंकरताको हमारे शास्त्रकार बहुत निन्दित समझते थे।

इसीलिये हमारे सुदक्ष प्राचीन शास्त्रकारोंने स्त्रियोंके लिये कठोर नियम रखे हैं। इस प्रकार उन्होंने स्त्रीजातिको सुरक्षित कर दिया। स्त्री-जातिकी सुरक्षासे ही व्यभिचार असम्भव हो जाता है। हमारी स्त्री-जातिका तपोमय जीवन है। ऐसी दशामें शास्त्रकारोंपर आक्षेप व्यर्थ है। फिर शास्त्रकारोंने ही स्त्रीको कष्ट दिया है, यह बात नहीं। उनको कष्ट प्रकृति स्वयं देती है। प्रतिमास अस्पृश्यता वे ही धारण करती हैं, दस मास गर्भ-धारणका कष्ट वे ही प्राप्त करती हैं, प्रसव-कष्ट—जिसमें दाईके प्रमादसे प्राण भी संशयमें पड़ जाते हैं—वे ही सहती हैं। अपहरणादिक भी स्त्रियोंके ही होते हैं। स्वाभाविक दुर्बलतासे रोग भी इन्हें ही घेरे रहते हैं। इन सबका कारण क्या है?

कारण है पूर्वजन्मके कर्म। हिंदु-संस्कृति कर्मव्यवस्थाको मानती है। पूर्वजन्मके कुछ कर्मविशेषसे—जिसका वर्णन शास्त्रोंमें आता है किंतु यहाँ जिसका वर्णन अशक्य है—पुरुष-योनिसे पतित होकर जीव स्त्री-योनिमें जाता है। तत्प्रयुक्त ही कष्ट स्त्री-जातिको मिलते हैं। कर्मोंका क्षय भोगसे ही हुआ करता है। तपस्या कष्टप्राप्त्यर्थ हुआ करती है, उस कष्टसे प्राक्तन जन्मोंके दुष्कर्मोंका क्षय हो जाता है, उसके फलस्वरूप अन्य जन्मोंमें अधिक सुखकी प्राप्ति होती है। वैसे ही स्त्रीका जीवन भी तपस्यारूप है। उसमें भी अनिवार्य कष्टोंके मिलनेसे पूर्वजन्मोंके कर्मोंका क्षय हो जाता है। अग्रिम जन्म उनका सुखजनक होता है। हिंदु-संस्कृति दूरदृष्टिवाली है, उसकी दृष्टि भविष्यत्पर रहती है; अदूरदर्शी सम्प्रदायोंके व्यक्ति इस संस्कृतिको व्यर्थ ही कलंकित करते हैं। वे लोग वर्तमान कालको देखते हैं; न पूर्वजन्मका विचार करते हैं न भविष्यत् जन्मका। वे उन्हें एकान्त सुख देकर, उनका अवशिष्ट पूर्वजन्मका पुण्य भी क्षीण करके, इस जन्ममें भी पातिव्रत्यसे छुट्टी दिलाकर—जिससे कि उनकी सद्गति हो सकती है—उन्हें अग्रिम जन्ममें सीधा पशुयोनिमें भेजना चाहते हैं।

जो रोग कड़वी ओषधिसे दूर होनेयोग्य हो, वहाँपर कड़वी दवाईको छुड़ाकर यदि रोगीके हितैषी बननेवाले बन्धु उसे मिठाइयाँ खानेको देते हैं, तो स्पष्ट है कि वे लोग रोगीका अवशिष्ट बल भी समाप्तकर उसे राजयक्ष्माका शिकार बनाना चाहते हैं। वे बन्धु हैं या उसके शत्रु—यह सोचना पाठकोंका काम है। वे लोग '**यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव**' (गीता १८।३८) तथा '**यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्**' (१८।३७)—

इन सुखोंके तारतम्यको नहीं सोचते।

फलतः सन्तान शुद्ध हो, धर्मात्मा हो, वर्णसंकर न हो—एतदर्थ विधवाविवाहादि अथवा परपुरुषसंगका निषेध किया गया है। इसीलिये स्त्रियोंका कार्यक्षेत्र 'घर' बताया गया है, 'बाहर' नहीं। वेद उसे 'गृहपत्नी' (ऋ० १०।८५।२६), **'गार्हपत्याय जागृहि'** (अ० १४।१।२१), **'गृहा वै गार्हपत्यः'** (शत० १।७।४।१८) कहकर घरके क्षेत्रमें ही रहनेको कहता है और घरेलू काम देता है—जैसे कपड़ोंका बुनना (अ० १४।२।५१), पानी भरना, भात पकानेके लिये जल लाना (३।१२।८, ११।१।१३), घड़ा उठाना (अ० ११।१।१४), भोजन तैयार करना (११।१।२३), घरमें रहना (१४।२।१३), बीज-वपन करना (१४।२।१४), पतिके अनुसार उसके कृत्यमें नियुक्त होना, सन्तानका उत्पादन करना (१४।१।५५) इत्यादि।

स्त्रीको विद्याके कार्यमें प्रवृत्त न करने तथा बच्चोंके पालन आदि कार्यमें नियुक्त करनेका रहस्य यह है कि प्रकृतिने स्त्रीको अबला बनाया है। उसका कारण यह है कि पिताके थोड़े शुक्र तथा माताके अधिक रजसे कन्याका शरीर बनता है। शुक्र सप्तम धातु होता है, रज तृतीय धातु होता है। अतः रज शुक्रकी अपेक्षा निर्बल होता है। शुक्रसे अस्थि आदि कठोर तथा शरीरको सबल करनेवाली वस्तुएँ बनती हैं। कन्याके शरीरमें अस्थि आदि कठोर वस्तुओंकी गौणता होती है, रजोमूलक कोमल वस्तुओंकी अधिकता होती है; अतएव कन्या पुरुषकी अपेक्षा प्रकृतिसे निर्बल है। परंतु कन्याओंको शिक्षा यदि दी जाय तो परीक्षा देनेके समय अत्यन्त परिश्रम करना पड़ता है; हर समय अपनी या अपनी छात्राओंकी उत्तीर्णता या अनुत्तीर्णताकी चिन्ता रखनी पड़ती है। तो अब सोचनेकी बात है कि उन अबलाओंका प्रबल परिश्रम, रजस्वलात्वके समयमें भी—जिस समय एकान्तमें शान्तिसे रहना लिखा है—पढ़ने-पढ़ाने जाना, परीक्षाएँ देते रहना आदि कार्य क्या उनको निर्बल न कर देंगे? क्या वे उनकी भीतरी हानि न करेंगे? क्या उस परिश्रमका प्रभाव गर्भाधान अथवा प्रसवपर एवं सन्तानके शरीर या मस्तिष्कपर न पड़ेगा? फिर स्तनन्धयोंकी पुष्टि कैसे होगी?

पढ़ने-पढ़ाने जानेके समय उन स्त्रियोंके बच्चोंका पालन नौकरोंके अधीन हो जाता है। वेतनग्राही नौकर उस बच्चेकी सेवा क्या करेगा? वह मातावाला हृदय कहाँसे लायेगा? थकी हुई माताका स्तन्य भी उस बच्चेकी पुष्टि क्या करेगा? इधर खाद्य पदार्थ निस्सार मिल रहे हैं; तब बालकोंकी आयु बढ़ेगी या घटेगी? अध्यापिकाएँ बनकर धन इकट्ठा कर **'ममेयमस्तु पोष्या'** (अथर्व० १४।१।५२)—इस वैदिक विवाहके नियमके विरुद्ध वे 'पोष्या' न बनकर 'पोषक' बन रही हैं। जहाँ पहले वे 'गृहस्वामिनी' बनती थीं, वहाँ अब अध्यापिका बनकर पर-पुरुषों (संस्थाके मन्त्री, प्रधान आदि)-की 'किंकरी' बनती हैं और पतिलोग **'स्त्रीवित्तेनाधमाधमाः'** **'स्त्रियं ये चोपजीवन्ति प्राप्तास्ते मृतलक्षणम्'** के विरुद्ध चल रहे हैं; दोनोंमें समानता आ जानेसे स्वस्वामिभाव हट रहा है और विवाद बढ़ रहे हैं।

इधर स्त्रीको वेदादि पढ़ाना जहाँ शास्त्रविरुद्ध है, वहाँ लौकिक दृष्टिसे भी उचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि स्त्रियोंका स्त्रीत्व उन्हें प्रायः अपवित्र दशामें रहनेके लिये बाध्य करता है, जिससे वेदादिके मूल यज्ञोपवीतके नियमोंका पालन भी उनके लिये कठिन पड़ जाता है। प्रतिमास रजस्वला होनेपर, प्रसवकालमें तथा प्रतिसमय नवजात शिशुओंके मल-मूत्र आदि धोनेमें ही स्त्रियोंका समय व्यतीत होता है। स्त्रीके जिस वक्षःस्थलपर ब्रह्मसूत्रको लटकाया जायगा, वह तो धूलि-धूसरित, मलमूत्रदिग्धांग नवजात शिशुका दिन-रात स्तनपानके समय क्रीडा-स्थल बना रहेगा। क्यों न वह उस डोरीके साथ कुतूहलसे किलोल करेगा? तब पवित्रता कैसी?

अविश्वासका कारण यह है कि—**'पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति'** (उत्तररामचरित ४।१२)। स्वामी श्रीदयानन्दजीने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा है—'प्रायः स्त्रियोंका स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है' (समुल्लास ४, पृष्ठ ४७)। 'स्त्रियोंको प्रिय वही होता है, जो स्त्रैण अर्थात् स्त्रीभोगमें फँसा हो।' (समु० ११, पृ० २३४)। 'स्त्री-पुरुषकी कामचेष्टा तुल्य अथवा पुरुषसे स्त्रीकी [कामचेष्टा] अधिक होती है (समु० ११, पृ० २३६)। इन सब कारणोंसे स्त्रियोंके हर एकके द्वारा बहकाये जानेकी आशंका होती है। इसीलिये उनपर सब रहस्य प्रकट नहीं किया जाता, क्योंकि कोई कही गयी गुप्त बात उनसे प्रायः छिपायी नहीं जा सकती। इसमें स्वाभाविकता है, स्वाभाविकतामें निन्दा वा हीनताकी बात नहीं होती। यही उनपर विश्वास न

करनेका रहस्य है।

फलतः निष्पक्ष शास्त्रकारोंने स्त्री-जातिपर कोई अत्याचार नहीं किया; किंतु जो कुछ उनके लिये विधान किया है, वह उनके हितैषी बनकर। उसी शास्त्रमें माताका स्थान सबसे बड़ा माना गया है। '**स्त्रियः समस्तास्तव देवि भेदाः**' यह सिद्धान्त रखा गया है, स्त्रियोंको पतिका अर्धांग माना गया है। उनको घरकी स्वामिनी माना गया है, सारे परिवारकी निरीक्षिका माना है। उनके पातिव्रत्यको भारतवर्षका मुख उज्ज्वल करनेवाला माना गया है।

(विद्वान् लेखकने अन्य कई विषयोंपर भी अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये थे, परंतु स्थानाभावसे वे प्रकाशित नहीं किये जा सके। एतदर्थ हम उनसे क्षमाप्रार्थी हैं। —सम्पादक)

हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

'हिंदू' शब्द प्राचीन शास्त्रोंमें नहीं मिलनेसे व्याख्या-सम्बन्धी गहरे मतभेद हैं; पर मेरी मान्यता है कि भारतवर्षमें उत्पन्न सनातनधर्मपर अधिष्ठित सभी सम्प्रदाय हिंदू-संस्कृतिमें सम्मिलित हैं। जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि सम्प्रदाय अपने-आपको हिंदू भले ही न मानें; पर वे सनातनधर्मपर अधिष्ठित आर्य-परम्पराके अंग होनेसे हिंदू ही हैं। हाँ, उस सनातनधर्मपर अधिष्ठित हिंदुत्वकी तीन धाराएँ हैं—एक पारमार्थिक, दूसरी वैदिक और तीसरी लौकिक। पारमार्थिक धाराको हम वैदान्तिक धारा भी कह सकते हैं। वैदान्तिक धारा उपनिषदोंसे सम्बन्ध रखती है—जो परमार्थपर अधिक जोर देनेसे निवृत्ति-परायण धर्मका प्रचार करती हैं। वैदिक धारा प्रवृत्तिपर अधिक जोर देती है, पर उसका तात्पर्य निवृत्ति ही है। लौकिक धारा व्यवहारकी प्रधानतापर खड़ी है। इस प्रकार इन तीनों धाराओंमें प्रवाहित होनेवाली हिंदू-संस्कृति समस्त संसारको परम कल्याणका सन्देश सुनाती रही है। सनातनधर्म हिंदू-संस्कृतिकी आत्मा है। जैन धर्म हृदय है, बौद्ध धर्म बुद्धि है, सिक्ख धर्म बाहु है, वैष्णव धर्म मुख है, शैव धर्म मस्तक है, शाक्त धर्म वीर्य है, गाणपत्य धर्म पेट है, सौर धर्म तेज है और अन्य-अन्य धर्मोंको भी उसके भिन्न-भिन्न अंग-प्रत्यंग मान लेना चाहिये। इस प्रकार जो संस्कृति अपने भिन्न-भिन्न साधनोंसे दुर्वृत्तियोंको हनन करनेकी चेष्टा करती है, वही हिंदू-संस्कृति है—

हिनस्ति दुर्वृत्तीः इति हिंदूः।

जो अपने बलके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारसे दुर्वृत्तियोंको हनन करनेकी चेष्टा करता है, वही हिंदू है और यह चेष्टा निष्काम भावसे, शुद्ध पारमार्थिक दृष्टिकी अपेक्षासे विचार करें, तो सदासे भारतवर्षमें ही होती आयी है। अन्तमें हम भारतीय संस्कृतिके संस्थापक भागवतके ऋषभ-पुत्र भरत, रामायणके राम-भ्राता भरत और महाभारतके शाकुन्तल भरतको प्रणाम करते हैं।

भारतीयोंका आचार

'भारतीयोंके प्रति सेवाका कार्य कर देनेवाला कोई भी व्यक्ति उनकी कृतज्ञताका सदा विश्वास कर सकता है। परंतु उनका अपराध करनेवाला उनके प्रतिशोधसे बच भी नहीं सकता। उनका अपमान करनेपर वे अपना कलंक मिटानेके लिये प्राणोंतककी बाजी लगा देते हैं। यदि कोई कष्टमें पड़ा हो और उसकी सहायता माँगे तो वे अपने-आपको भी भूलकर उसकी सहायताके लिये दौड़ पड़ेंगे।'

'जब उन्हें किसी अपकारका बदला चुका लेना होता है, तब वे अपने विरोधियोंको सचेत कर देनेसे चूकते नहीं। फिर प्रत्येक व्यक्ति कवच धारण करके हाथमें कुंत ले लेता है। युद्धमें भागनेवालोंका तो वे पीछा करते हैं, परंतु शरणमें आये हुओंका वध वे नहीं करते।'—चीनी यात्री ह्वेनसांग (६४५ ई०)

त्याग तथा भोगका समन्वय

(लेखक—श्रीसत्यदेवजी विद्यालंकार)

हिंदू-जीवन और हिंदू-समाज-व्यवस्थामें त्याग और भोगका जैसा समन्वय किया गया है, वैसा सम्भवत: किसी भी अन्य जीवन और अन्य सामाजिक व्यवस्थामें नहीं है। 'सम्भवत:' इसलिये कि कदाचित् किसी जीवन अथवा व्यवस्थामें ऐसा विधान किया गया हो, तो उसका हमें ज्ञान नहीं है। अपने सीमित ज्ञान एवं अनुभवके आधारपर यह कहनेका साहस अवश्य किया जा सकता है कि मानव-जीवनको केन्द्र मानकर जितनी भी सामाजिक व्यवस्थाओंकी रचना या कल्पना की गयी है, उनमें त्याग और भोगका ऐसा समन्वय नहीं किया जा सका, जैसा कि हिंदू-जीवन और हिंदू-सामाजिक व्यवस्थामें किया गया है। हिंदू-दर्शनशास्त्रके अनुसार यह सारी सृष्टि प्रभुकी रचना है। **'एकोऽहं बहु स्याम्'** की भावनासे एक ब्रह्ममेंसे ही यह अनेकविध सृष्टि उत्पन्न हुई है। ब्रह्मकी सन्तान होनेसे ही इस सृष्टिमें मानव-जीवन और सामाजिक व्यवस्थाका रूप ब्रह्मके ही अनुरूप होना चाहिये। आत्मा यदि परमात्माका ही रूप है, तो उसके लिये जीवनका क्रम और सामाजिक व्यवस्थाका स्वरूप भी परब्रह्मके ही अनुरूप होना चाहिये। आस्तिक हिंदूकी श्रद्धा और विश्वास स्वाभाविक रूपसे परमात्मामें इतना अधिक है कि उसके व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही जीवनोंपर परब्रह्मकी छायाका पड़ना अनिवार्य था। वैसा ही हुआ भी। ब्रह्मा, विष्णु, महेशके रूपमें एक ही परब्रह्मको इस सृष्टिका कर्ता-धर्ता-हर्ता माना गया है। कर्मफलका नियन्ता होनेसे सारे मानवोंके भाग्योंका खेल उसीके हाथका खिलौना है। उसके श्वास-नि:श्वासके साथ सृष्टिके विधि-विधानका सारा नियन्त्रण, संचालन एवं संरक्षण जुड़ा हुआ है। इस सृष्टिमें इस प्रकार रमा होनेपर भी ब्रह्म उससे सर्वथा अलिप्त है। वासनासे वह सर्वथा शून्य है। कामनासे वह सर्वथा ऊपर है। लोक-व्यवहारसे वह सर्वथा रहित है। बस, यही तो त्याग और भोगके समन्वयकी सर्वोत्कृष्ट स्थिति है। सृष्टिके खेलमें इतना लीन होनेपर भी वह उससे सर्वथा अलिप्त है। मानो वह सारा खेल केवल उसकी छाया है, जो उसका प्रतिबिम्ब होनेपर भी उसको छू नहीं सकती। इस लाग-लपेटसे सर्वथा रहित महापुरुषकी कल्पना हिंदू-शास्त्रकी सर्वोत्कृष्ट कल्पना है, जिसके सौन्दर्यतक दूसरोंका पहुँचना भी कठिन है। हिंदू-धर्म, हिंदू-शास्त्र, हिंदू-जीवन और हिंदुओंकी सामाजिक व्यवस्था इस कल्पनाके अनुसार प्राणिमात्रके सम्मुख त्याग और भोगके समन्वयका उच्चतम आदर्श उपस्थित करते हैं। अवतारी महापुरुषोंके जीवनमें यह आदर्श इसलिये पूर्णताकी चरम सीमाको पहुँचा हुआ मिलता है कि उनमें ईश्वरीय अंशकी मात्रा सर्वाधिक किंवा पूर्णताको लिये हुए होती है। आजकलकी भाषामें कहें तो अवतारी महापुरुष ईश्वरकी छाया, प्रतिबिम्ब अथवा फोटो ही होते हैं। इसीलिये उनमें ईश्वरीय गुणोंका समावेश भी असाधारण मात्रामें रहता है। श्रीकृष्णकी लीला इस दृष्टिसे कितना ऊँचा आदर्श उपस्थित करती है! भोग, वासना या कामनाकी वहाँ यत्किंचित् गन्ध भी नहीं है। त्यागमय जीवनका पराकाष्ठाको पहुँचा हुआ कितना ऊँचा, कितना पवित्र, कितना महान् यह एक ही उदाहरण है! मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रने किष्किन्धा और लंकाको जीतकर अपने अधीन नहीं किया। अपना वहाँ कोई गवर्नर या शासक भी नियुक्त नहीं किया। वहाँके निवासियोंको ही वहाँका शासन सौंप देना उस रामराज्यका एक चिह्न था, जिसकी नींव भोगपर न डालकर त्यागकर डाली गयी थी। शोषण, उत्पीड़न तथा दमनसे वह सर्वथा रहित था। इसी प्रकार राजा जनककी जिस विदेहस्थितिका इतना बखान किया गया है, उसका मर्म भी यही था कि राजा जनक जनकपुरीके राज्यके मालिक होते हुए भी उसका उपभोग किसी वासनाप्रधान भावनासे नहीं करते थे। वे राजा होते हुए भी 'भोक्ता' नहीं थे। त्यागभावसे राज्यका संचालन, नियन्त्रण एवं संरक्षण उसी आदर्शके तो अनुरूप था, जिससे भगवान् इस संसार अथवा सृष्टिका संचालन, नियन्त्रण एवं संरक्षण करते हैं। यह साधना साधारण नहीं है। कमलका पत्ता निर्जीव, वासनारहित और कामनाशून्य होनेसे जलमें रहता हुआ भी उससे स्निग्ध नहीं होता;किंतु मानवके लिये संसारमें रहकर अलिप्त रहना तभी सम्भव है, जब कि वह भोगके साथ त्यागका समन्वय करके भोगको त्यागके अधीन रख सकता है। भर्तृहरिका यह कहना कितना सत्य है—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्॥

'विश्वामित्र तथा पराशर-सरीखे महामुनि भी, जो केवल पानी, पत्तों तथा हवापर निर्भर थे, जब कमलके समान सुन्दर स्त्री-मुखको देखते ही मोहमें फँस गये, तब जो लोग दूध, घीसे मिले हुए चावलका सेवन करते हैं, उन लोगोंका यदि इन्द्रिय-संयम हो जाय, तो यह मानना चाहिये कि विन्ध्य पर्वत भी सागरमें तैर सकता है।' इस स्थितिसे मानवका उद्धार करनेके लिये ही तो हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका यह समन्वय किया गया है।

आत्मा परमात्माकी छाया होनेपर भी मानव परब्रह्मके इस आदर्शसे दूर क्यों चला जाता है? केवल आस्तिक हिंदू ही उसके आदर्शको क्यों अपना सका? इन और ऐसे प्रश्नोंका समाधान बिलकुल स्पष्ट है। एक ही पिताके सारे पुत्र अपने पिताके अनुरूप नहीं होते। एक पिताका एक पुत्र सदाचारी बनकर संयमका उच्चतम आदर्श उपस्थित करता है, तो दूसरा कदाचारका निकृष्टतम उदाहरण उपस्थितकर अपनेको और अपने माता-पिताको भी लज्जित कर देता है। एक गरीब घरमें जन्म लेकर सम्पन्न बन जाता है, तो दूसरा सम्पन्न घरमें जन्म लेकर भी कंगाल बन जाता है। महात्मा गान्धी और लोकमान्य तिलकके पुत्र यदि अपने पिता-जितना ऊँचा नहीं उठ सके, तो इसका दोष इन महापुरुषोंको तो दिया नहीं जा सकता। पिता अपने जीवनसे और अपने उपदेशसे अपनी सन्तानके सामने उच्चतम आदर्श उपस्थित करता है; किंतु उसपर आचरण करना तो सन्तानपर ही निर्भर होता है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्माने मानवके सामने अपने व्यवहारसे जो परम पुनीत आदर्श उपस्थित किया और अवतारी तथा सिद्ध महापुरुषोंके जीवनसे जिसका उच्चतम उदाहरण प्रस्तुत कर दिया, उसका उपदेश भी उसने अपने वाणी 'वेद' के रूपमें दे दिया। यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायमें कहा है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

'इस दृश्य जगत्में जो कुछ भी है, वह सब ईश, भगवान्, परब्रह्म परमात्मासे ओत-प्रोत है। उस संसारका भोग त्यागभावसे ही करो। कभी किसीका धन मत छीनो।' कितना सुन्दर यह आदेश अथवा उपदेश है! यदि आजका मानव इसको अपना सके तो संयुक्त राष्ट्रसंघके लंबे-चौड़े भाषणों तथा प्रस्तावों, संयुक्तराष्ट्र अमेरिकाकी लंबी-चौड़ी शस्त्र-योजनाओं, रूसकी रक्तरंजित साम्यवादी विचारधारा और अन्तर्राष्ट्रिय जगत्में 'मुँहमें राम बगलमें छुरी' की तरह चली जानेवाली कुचालों तथा इसी आधारपर की जानेवाली कूटनीतिपूर्ण सन्धियों एवं सुलहनामोंके बिना भी संसारमें चिर शान्ति, स्थायी सुख और स्थिर व्यवस्था कायम हो सकती है। इसके न अपनाये जानेका दुष्परिणाम ही तो आजका मानव भोग रहा है। दुःख यह है कि आजके हिंदूकी भी इसमें उतनी आस्था नहीं रही और उसका व्यवहार भी उसके सर्वथा विपरीत अथवा प्रतिकूल हो गया है। वह भी भोगवादी बनकर त्यागमय जीवनसे दूर और बहुत दूर चला गया है!

इसका यह अर्थ नहीं कि आजका हिंदू यदि अपनी मर्यादापर कायम नहीं है, तो उस प्राचीन मर्यादाका कुछ भी महत्त्व नहीं है। संसारमें यदि सत्यका व्यवहार अथवा सदाचरण कम हो चला है, तो उसका यह अर्थ तो कदापि नहीं हो सकता कि सत्य और सदाचरणका कुछ भी महत्त्व नहीं है। मानवका आचरण कैसा भी पतित क्यों न हो जाय, फिर भी सत्यकी निष्ठा, सत्यके आचरण और सत्यके व्यवहारका महत्त्व तो मानवके जीवनके लिये बना ही रहेगा। इसी प्रकार हिंदू-जीवनके प्राचीन आदर्श और प्राचीन मर्यादाका महत्त्व भी कम होना सम्भव नहीं है। त्याग और भोगके समन्वयकी आधारशिलापर ही हिंदू-जीवनकी प्राचीनतम किंवा सर्वप्रथम मर्यादा अथवा व्यवस्थाकी रचना की गयी थी। **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** ही उसका मूलमन्त्र था। इसका यह भी अर्थ किया जाता है कि 'उस भगवान्द्वारा त्यागे हुए अथवा दिये हुएका ही भोग करो।' अर्थात् यह समझो कि हमारा अपना कुछ भी नहीं है। जो कुछ भी है, वह सब उस भगवान्का ही दिया हुआ है, जो इस सारे संसारमें व्याप रहा है। किसी भी पदार्थमें अपनेपनकी, अपनी मालिकीकी, अपने प्रभुत्वकी भावनाका पैदा न होना भी तो त्यागभावकी ही पराकाष्ठा है। भले ही वह सांसारिक दृष्टिसे स्वयं उपार्जित किया हुआ ही क्यों न हो! आत्मोपार्जित पदार्थ-भोग भी भगवान्का दिया हुआ ही मानकर किया जाय, तो मनुष्यमें स्वामित्व अथवा प्रभुत्वकी भावनासे पैदा होनेवाला अहंकार पैदा ही न हो। भगवान्ने गीतामें

मानवको विनष्ट या भ्रष्ट करनेवाले बुद्धिनाशका कारण जो मोह या सम्मोह बताया है, वह भी स्वामित्व या प्रभुत्वकी इसी दुर्भावनासे उत्पन्न होता है। यह मोह और अहंकार ही तो आजके विश्वकी सारी व्याधियोंका मूलभूत कारण है। उसको जड़मूलसे नष्ट करना तो दूर रहा, उसके पैदा होनेकी कोई सम्भावना ही न रहे—इस दूरदृष्टिसे बनायी गयी मर्यादा और व्यवस्था कितनी पवित्र, कितनी सात्त्विक, कितनी ऊँची और कितनी महान् रही होगी—इसकी कल्पना कर सकना कठिन नहीं होना चाहिये।

वह मर्यादा और व्यवस्था क्या थी? वर्णाश्रम-व्यवस्था उसीका नाम है। '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' के मूलमन्त्रको सामने रखकर इसका निर्माण किया गया था। आश्रम-व्यवस्थाका सम्बन्ध मानवके व्यक्तिगत जीवनके साथ था और वर्ण-व्यवस्थाका सम्बन्ध था सामाजिक जीवनके साथ। आश्रमोंकी व्यवस्थामें मानवके जीवनको चार भागोंमें बाँटकर अभ्युदयके उत्कर्षपर पहुँचनेके लिये चार सीढ़ियाँ बना दी गयी थीं। आयुकी न्यूनतम अवधि सौ वर्ष मानकर पहले भागको ब्रह्मचर्य, दूसरेको गृहस्थ, तीसरेको वानप्रस्थ और चौथेको संन्यास नाम देकर चारोंके लिये पचीस-पचीस वर्षकी अवधि नियत की गयी थी। इसी प्रकार समाजको भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चार भागोंमें बाँटा गया था। आश्रमोंमें व्यक्तिगत जीवनकी दृष्टिसे और वर्णोंमें सामाजिक किंवा सामूहिक दृष्टिसे जो-जो कर्म, कर्तव्य अथवा जिम्मेवारियाँ सौंपी गयी थीं, उनका मूलभूत आधार यही त्यागमय भोगका मूलमन्त्र था। यह लेख वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी विस्तृत व्याख्या करनेकी दृष्टिसे नहीं लिखा गया है। फिर भी यहाँ यह बताना आवश्यक है कि यह व्यवस्था मानवके भोगमय स्वभावको त्यागमय बनाने अथवा भोगकी ओर पानीकी धाराकी तरह स्वाभाविक रूपसे बहनेवाली वृत्ति अथवा प्रवृत्तिपर त्यागका कठोर अंकुश रखनेके लिये ही की गयी थी, जिससे मानव-जीवनमें भोग और त्यागका समन्वय होकर मनुष्य 'देव' बन सके। दानवताकी ओर होनेवाली मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तिपर त्यागका कठोर नियन्त्रण किंवा 'ब्रेक' लगाकर उसको देवता बनानेके लिये ही यह सारी व्यवस्था थी।

ब्रह्मचारीमें शिक्षा प्राप्त करनेपर कितना अहंकार पैदा हो सकता है, यह आजके विद्यार्थियोंके निरंकुश जीवनसे सहजमें मालूम हो जाता है। इसीलिये तो ब्रह्मचारीको गुरुके चरणोंमें आत्मसमर्पण करके, आश्रममें जीवन बिताने और भिक्षा-वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेके लिये कहा गया। राजाओंतकके बालकोंके लिये यही व्यवस्था थी। महाभारतके समयमें इस व्यवस्थामें विकार पैदा हो गया। शिष्य गुरुके पास न जाकर गुरुका शिष्योंके पास आना आवश्यक हो गया। परिणाम हम सबके सामने है। द्रोणने भी यदि कौरव-पाण्डवोंको शिक्षा-दीक्षा विश्वामित्र अथवा वाल्मीकिकी तरह अपने आश्रममें ही दी होती, तो इतना अनर्थ न हुआ होता। गुरुके चरणोंमें आत्मत्याग करनेवाला विद्यार्थी या ब्रह्मचारी कभी अभिमान या अहंकारके वशीभूत नहीं हो सकता। गृहस्थको सब आश्रमोंका वैसे ही आधार बताया गया है, जैसे वायु सब प्राणियोंका आधार है। मनु महाराजने कहा है—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

(३।७७)

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥

(६।९०)

इसीलिये यह भी कहा है—

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥

(३।७८)

दान तथा अन्नसे तीनों आश्रमोंके पालनका भार गृहस्थीपर डालकर उसको अनुभव कराया गया है कि जैसे नदी स्वयं अपना जल नहीं पीती और प्राणिमात्रके लिये उसका तट खुला रहता है, वैसे ही उसको भी अपने उपार्जित धनका उपभोग स्वयं नहीं करना है और अपने घरका द्वार सदा ही खुला रखकर भिक्षाके लिये आनेवाले ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासीका पालन करना है। त्यागमय भावनासे गृहस्थको इस प्रकार ओत-प्रोत कर दिया गया है। वानप्रस्थी और संन्यासीका जीवन तो है ही त्यागमय। उनके पास तो भोगके लिये कुछ भी छोड़ा नहीं गया। यहाँतक कि संन्यासीको संसारके समस्त सम्मानका अधिकारी बनाकर भी उसको मान-सम्मानसे सदा दूर रहनेको ही कहा गया है। उसके लिये कहा गया है—

असम्मानात्तपोवृद्धिः सम्मानात्तु तपःक्षयः।

'असम्मानसे उसके तपकी वृद्धि होती है और सम्मानसे तपका नाश।'

वर्ण-व्यवस्थाका सौन्दर्य भी ऐसा ही है। एक ओर तो ब्राह्मणको सारे समाजका गुरु बताकर पूजा तथा प्रतिष्ठाका अधिकारी ठहराया गया है, दूसरी ओर उसको यह आदेश दिया गया है—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

'ब्राह्मण सम्मानको विष मानकर उससे सदैव उदासीन रहे और अपमानको अमृत मानकर सदा उसीकी इच्छा करे।' भोगकी दृष्टिसे संसारका सारा सम्मान ब्राह्मणके चरणोंमें अर्पण होना चाहिये। किंतु त्याग यह है कि वह उसको विष मानकर उससे उदासीन रहे। इसीलिये यह कहा गया है—

अर्चितः पूजितो विप्रो दुग्धगौरिव सीदति।

'जिस ब्राह्मणकी पूजा, प्रतिष्ठा तथा सम्मान किया जाता है, वह दुही हुई गौकी तरह सूख जाता है।' शासनकी सत्ता, उसका संचालन एवं संरक्षण क्षत्रियवर्गको सौंपा गया है—उपभोगके लिये नहीं, किंतु सदैव सिर हथेलीपर रखकर त्यागका उत्कृष्टतम आदर्श उपस्थित करनेके लिये। राजा सिंहासनपर बैठता था और राष्ट्रपर संकट उपस्थित होनेपर आत्मोत्सर्ग करनेके लिये वह सबसे आगे युद्ध-क्षेत्रमें प्रस्थान करता था। वैश्यके हाथोंमें व्यापार-व्यवसाय और उद्योग-धंधे आदि सब इसलिये नहीं सौंपे जाते थे कि वह व्यक्तिगत सम्पत्तिके अर्जनमें लग जाय। उसका प्रधान कर्तव्य राष्ट्रको समृद्ध बनाना होता था। सामूहिक, सार्वजनिक अथवा समूचे राष्ट्रकी दृष्टिसे वह सारा उपार्जन करता था और भामासाहकी तरह उसको राष्ट्रके लिये न्यौछावर करनेको तैयार रहता था। शूद्रका तो सारा जीवन ही त्यागमय है। यजुर्वेदके ३१ वें अध्यायके ११ वें मन्त्रमें वर्णव्यवस्थाका निर्देश किया गया है। वह मन्त्र यह है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पदभ्याᳲ शूद्रो अजायत॥

समाजरूपी महापुरुषकी कल्पना इस मन्त्रके अनुसार यह की जा सकती है कि ब्राह्मण उसका मुख, क्षत्रिय उसका बाहु, वैश्य उसका पेट और शूद्र उसके पैर हैं। मानव-शरीरका सारा व्यवहार अंग-प्रत्यंगके उस व्यवहारपर ही तो निर्भर है, जिसका आधार त्याग और भोगका समन्वय ही है। कोई भी इन्द्रिय इस देहमें केवल अपने लिये काम नहीं करती। ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा सम्पादित होनेवाला ज्ञान सारी देहके काम आता है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियोंका कर्म भी सारी देहके लिये होता है। ज्ञान एवं कर्मके रूपमें वे जो कुछ भी भोग करती या सम्पादन करती हैं, उसका त्याग समूचे देहके लिये कर देती हैं। तभी तो देहका व्यापार निर्विघ्नरूपसे चलता है। उदाहरणके लिये भोजनकी व्यवस्था लीजिये। हाथोंद्वारा मुखके अर्पण किया गया भोजन सहसा पेटमें पहुँच जाता है। पेटमें पचन होकर उसका रक्त-वीर्य बनकर सारी देहमें यथावत् समा जाता है। पानीसे हाथ और मुँहको तथा शौच-क्रियासे पेटको इतना साफ कर देना आवश्यक है कि उनके पास कुछ भी जमा न रह जाय। जमा हुआ कि दाँत सड़ जायँगे और पेटमें कब्ज पैदा होकर सारी देह रोगसे आक्रान्त हो जायगी। देहका सारा व्यापार रुक जायगा। समाजरूपी महापुरुषका काम भी चल नहीं सके और वह भी बीमार पड़ जाय, यदि ये चारों वर्णरूपी अंग अपने कर्तव्यका यथावत् पालन न करें और त्याग तथा भोगके समन्वयके सिद्धान्तके अनुसार सारा काम न हो। आज यही तो स्थिति है। सारा समाज बीमार है और उस बीमारीका कुछ उपचार भी तो सूझ नहीं पड़ता। यहाँ गीताके पाँचवें अध्यायमें दी गयी उस व्यवस्थाका उल्लेख करना आवश्यक है, जिसमें यह कहा गया है कि काम करते हुए भी उससे अलिप्त कैसे रहा जा सकता है। उसमें कहा गया है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

(५।७)

'जिसने अपनेको योगमय कर लिया है, जिसने आत्मशुद्धि कर ली है, जिसने आत्मनियन्त्रण करके इन्द्रियोंपर भी काबू पा लिया है, जिसने अपनेको सबके साथ तन्मय कर लिया है, वह कर्म करते हुए भी उससे लिप्त नहीं होता।'

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(५।८-९)

समदृष्टि रखनेवालेको तो यह समझना चाहिये कि 'मैं कुछ भी नहीं करता।' उसे यह मालूम होना चाहिये कि देखने, सुनने, स्पर्श करने, सूँघने, खाने,

चलने, सोने, श्वास लेने, बोलने, देने, लेने, उन्मेष एवं निमेष करने अर्थात् आँखके खोलने और बंद करनेकी जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे सब इन्द्रियोंके अपने व्यापार हैं और उनका उद्देश्य इन्द्रियोंका अपना व्यापार करना है। आगे तो यहाँतक कहा गया है कि 'सब कर्मोंको ब्रह्मके अर्पणकर और उनमें आसक्ति न रखकर जो कर्म करता है, वह वैसे ही पापसे लिप्त नहीं होता, जैसे कि पानीमें रहनेपर भी कमलके पत्र उससे गीले नहीं होते।' वेदमें यह भाव इन शब्दोंमें कहा गया है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा रखते हुए भी जो कर्म करता रहता है, उसमें अन्यथा बुद्धि, नास्तिक वृत्ति अथवा निराशाकी भावना नहीं पैदा होती और वह कर्मोंमें लिप्त भी नहीं होता। त्याग और भोगके समन्वयसे पैदा होनेवाली यह स्थिति कितनी ऊँची, पवित्र और महान् है! याज्ञिक कर्मकाण्डमें **'इदं अग्नये—इदं न मम'** आदिमें **'इदं न मम'** अर्थात् 'यह मेरा नहीं है' की भावनाको बार-बार कितनी बार पुष्ट किया जाता है। गीताके सारभूत इस कथनका भी आशय यही है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

हिंदू-जीवनकी इस व्यवस्थासे दूर हटनेका दुष्परिणाम आज हिंदू-समाज भोग रहा है। मानवका यह स्वभाव है कि जब वह भटककर मील, दो मीलका रास्ता गलत चला जाता है, तब उसे वापस लौटना भारी जान पड़ता है। वह किसी छोटे रास्तेसे उस भूलका परिमार्जन करना चाहता है। पर उसका परिमार्जन तो उसको करना ही पड़ता है। भले ही वह भूल कर चले हुए सारे रास्तेको उलटकर फिरसे चले अथवा किसी छोटे रास्तेकी पगडंडीसे फिर ठीक रास्तेपर आ जाय। हम तो अपने आदर्श मार्गसे न मालूम कबके भटके हुए हैं! निश्चय ही उसको सहस्रों वर्ष बीत चुके हैं। हिंदू-शास्त्रका अध्ययन छूट गया। हिंदू-आदर्शका दीपक भी सामने रहा नहीं। पुरातन परम्पराएँ भी निर्जीव होकर ऐसी हो गयीं कि उनका सहारा भी हाथसे जाता रहा। गुरुजनोंके आदेश तथा उपदेशमें श्रद्धा न रही। वह भी सहायक नहीं हो रहा। भटके हुए उलटे मार्गको पार करके ठीक रास्तेपर पहुँचनेके लिये छोटे रास्तोंकी जितनी भी पगडंडियाँ ढूँढ़ी गयीं, वे सब भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय बनकर रह गयीं। चार्वाक और वाममार्ग तथा बौद्धों और जैनोंने ईश्वरके अस्तित्वको माननेसे सर्वथा इनकार करके जिन पगडंडियोंका पता लगाया, वे अन्तमें सर्वथा एकांगी हो गयीं। आचार्य शंकरने उनके सर्वथा विपरीत जगत्को मिथ्या बताकर ईश्वरका प्रतिपादन करते हुए अद्वैतवादकी जिस पगडंडीको ढूँढ़ निकाला, वह भी अन्तमें एकांगी ही बन गयी। अद्वैत और विशिष्टाद्वैतके बाद मध्ययुगके संतोंने फिरसे द्वैतका प्रतिपादन एक स्वरसे किया। लेकिन उन सबके नामसे अलग-अलग पन्थ अथवा पगडंडियाँ कायम हो गयीं। उनके बाद तो यह प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गयी कि हिंदू-धर्मके वास्तविक रूपको नानाविध सम्प्रदायोंने ऐसा ढक लिया कि वह हमारी दृष्टिसे ओझल हो गया और हम सब इन पगडंडियोंमें ही भटकने लग गये। दुर्भाग्यकी पराकाष्ठा यह है कि मैं जिस पगडंडीपर खड़ा हूँ, उसीको मैंने असली, ठीक और अन्तिम तथा गन्तव्य मार्ग मान लिया है। इस भारी भ्रमको वास्तविक किंवा अन्तिम तथ्य मान लेनेवाला 'सत्य' पर पहुँचे तो कैसे पहुँचे? यही सबसे बड़ी कठिनाई है। यदि कहीं भ्रमसे स्वीकार किये गये उपार्जित मतके प्रति हठ न रहकर त्यागकी भावनाका समावेश हो जाय और हिंदू-समाजमें त्याग एवं भोगकी, परस्पर आदान-प्रदानकी और विचार-विनिमयकी उदात्त एवं सहिष्णु भावनाकी प्रतिष्ठा हो जाय तो वह फिरसे अपना उद्धारकर संसारके उद्धारका भी कुछ निमित्त बननेमें समर्थ हो सकता है। प्रकृतिमें जैसे दिन-रातका समन्वय है, और मानव-जीवनमें जैसे सोने-जगनेका समन्वय है ठीक उसी प्रकार हिंदू-धारणाके अनुसार हिंदू-जीवन और हिंदू-समाज-व्यवस्थामें त्याग और भोगका समन्वय भी प्राय: स्वाभाविक रूपसे ही किया गया था। उसकी फिरसे प्रतिष्ठा करके ही वर्तमान बीमारीका उपचार बहुत अंशोंमें किया जा सकता है। इसी समन्वयका दूसरा नाम है अपरिग्रह, जिसे जैन-जीवन-व्यवस्थामें सम्भवत: सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। उस व्यवस्थाके एकांगी हो जानेसे वह व्यापकरूपसे प्रभावशाली नहीं हो सकी। वैसा अपरिग्रही कहते हैं, पूर्वजन्मका भी पता पा सकता है।

हिंदू-धर्ममें त्यागका स्थान

(लेखक—श्रीएस० बी० दांडेकर, एम०ए०)

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।

(कैवल्योपनिषद्)

'कर्मसे नहीं, प्रजासे नहीं, धनसे नहीं, त्यागसे कोई-कोई अमृतत्वको प्राप्त होते हैं।'

'त्याग' का सांगोपांग विचार जितना हिंदू-धर्ममें हुआ है, उतना वैदिकेतर धर्मोंमेंसे बहुत थोड़े धर्मोंने किया होगा। मनुष्यमें दो सहज प्रवृत्तियाँ हैं—एक भोगकी और दूसरी त्यागकी। यदि यह कहा जाय कि जीवनकी चरितार्थता इन दो वृत्तियोंका योग्य समन्वय करनेमें है तो अनुचित न होगा। हिंदू-धर्मकी यह विशेषता है कि उसने त्यागका वास्तविक मूल्य जानकर मनुष्योंसे त्यागका आचरण करानेके लिये एक ऐसी अपूर्व सामाजिक पद्धति चला दी है कि उसका अनुकरणकर पृथ्वीके सभी मनुष्य लाभान्वित हो सकते हैं।

वैदिक धर्मने त्यागका महत्त्व पूर्णरूपसे जाना है। इस लेखके ऊपर जो औपनिषद वाक्य उद्धृत है, उसमें उत्कृष्ट और ओजःपूर्ण भाषामें त्यागका महत्त्व बतलाया गया है। मोक्ष अर्थात् दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति यदि कोई चाहता है तो उसे स्थूल-सूक्ष्म उपाधियोंका त्याग करना ही होगा। उसीसे वह आत्मरूपको प्राप्त होगा, यही वेदान्तशास्त्र अर्थात् उपनिषदोंका निश्चित मत है। भोगसे इस स्वरूपकी प्राप्ति नहीं हो सकती, उसके लिये त्यागका होना ही आवश्यक है। आत्यन्तिक फलकी प्राप्तिके लिये आत्यन्तिक त्यागका होना उचित ही है। तुकाराम बाबा कहते हैं—'कोई लाभ यों ही नहीं होता। बिना कुछ किये जीवका उद्धार नहीं होता।' उपनिषदोंमें एक वचन है—

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।

(बृहदारण्यक० ३।५।१)

'पूर्वोक्त इस आत्माको ही जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे ऊपर उठकर भिक्षासे जीवन-निर्वाह करते हुए विचरते हैं।'

भगवान्‌को पानेके लिये त्याग करना पड़ता है, यह सिद्धान्त प्रायः सभी धर्मोंमें स्वीकृत है। ईसाने अपने शिष्योंसे कहा, 'सब कुछ छोड़ो और मेरे पीछे-पीछे चलो।' (Abandon all and follow me.) बौद्ध-धर्म तो **'सर्वं क्षणिकम्, सर्वं दुःखम्'** कहकर भिक्षु बन जानेका उपदेश करता है। हिंदू-धर्मकी यह विशेषता है कि इसने मनुष्य-स्वभावको ठीक-ठीक समझकर यह सिखलाया है कि त्याग किस प्रकार किया जा सकता है। वैदिक धर्मकी 'आश्रम-व्यवस्था' का उद्देश्य ही क्रमशः त्याग करनेकी शिक्षा देना है। 'आश्रमव्यवस्था' शब्दोंसे भी 'अल्प श्रमसे गन्तव्य स्थानतक पहुँचानेवाली व्यवस्था' यही अर्थ सूचित होता है।

वैदिक धर्ममें ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य है। इसमें जीव विद्याध्ययन करे, पीछे अपनी मानसिक, बौद्धिक आदि सामर्थ्यके अनुसार आगे बढ़े।

बौद्ध-धर्मके समान हमारा धर्म सबसे त्याग करनेको नहीं कहता। संन्यासमें सबका अधिकार नहीं है, सब ब्राह्मण भी संन्यासके अधिकारी नहीं होते। संन्यास ग्रहण करके सब उसे पचा भी नहीं सकते। जो पचा नहीं सकते, उनका त्याग उनके लिये एक भोग बन जाता है। अतः हमारा धर्म सबको समानरूपसे त्याग या भोग करनेको नहीं कहता। यह बात जितनी सच है, उतनी ही सच यह बात भी है कि शुक्राचार्य, ज्ञानेश्वर महाराज अथवा स्वामी विवेकानन्द-जैसे निष्कलंक महापुरुषोंसे, जो आरम्भसे ही त्याग करनेको प्रस्तुत रहते हैं, हमारा धर्म भोगका आग्रह नहीं करता। उनसे तो धर्म यही कहता है कि **'ब्रह्मचर्यादेव परिव्रजेत्'** अर्थात् 'ब्रह्मचर्य-आश्रमके बाद ही संन्यास लेकर बाहर निकल पड़ो।' दूसरोंके लिये धर्मका यह उपदेश है कि 'ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृही बनो।' यह जो लचीलापन है, इसीमें हमारे धर्मकी एक महान् विशेषता है।

पूर्वजन्मार्जित संस्कारोंके कारण बचपनमें ही जिनका चित्त ईश्वरकी ओर लग जाता है, उनसे हमारा धर्म गृहस्थाश्रम स्वीकार करनेको नहीं कहता। श्रीरामकृष्ण परमहंससे हमारा धर्म यह नहीं कहता कि आप पाठशालामें अध्यापकी करते हुए कर्म-मार्गका ही

अनुसरण करें। सतीका बाना वही धारण करे, जो उसे निबाह सके। वह हर किसीका काम नहीं है, हर किसीको धर्म उसका उपदेश नहीं करता। सब लोगोंको एक ही साँचेमें ढालनेका अशास्त्रीय उद्योग वैदिक धर्म नहीं करता। सबका परम गन्तव्य स्थान एक ही है; तथापि यह बात नहीं भुलायी जा सकती कि भिन्न-भिन्न जीव भिन्न-भिन्न मार्गसे चलकर भिन्न-भिन्न स्थानोंमें पहुँचे हैं। जो जहाँ पहुँचा है, वहींसे उसे आगे बढ़नेको कहना उचित है। जगत् त्रिगुणात्मक है। वह एक साथ एक-सा सत्त्वगुणात्मक हो जाय, यह सम्भव नहीं है।

भोगोंका त्याग करनेको सबसे कहना स्वयं बुद्धदेवको पसंद नहीं था। मैंने एक कथा कहीं पढ़ी है कि एक बार बुद्धदेवकी माताकी यह इच्छा हुई कि संघमें मेरा भी प्रवेश हो। उन्होंने बुद्धदेवसे प्रार्थना की, 'मुझे संघमें ले लीजिये।' बुद्धदेवने कहा—'मैं आपको संघमें नहीं ले सकता।' तब माताजीने बुद्धदेवके किसी पट्ट-शिष्यकी मार्फत संघमें प्रवेश-लाभ किया। बुद्धदेवने उनका प्रवेश स्वीकार किया; पर यह बता दिया कि इसका फल यह होगा कि इसी देशमें यह धर्म हजार, पाँच सौ वर्षमें अपना अस्तित्व खो देगा।

सबको 'भिक्षु' बनाना असम्भव जानकर वैदिक धर्मने ब्रह्मचर्यके बाद गृहस्थके लिये दूसरा आश्रम रखा। हिंदू-धर्मकी यह दूसरी विशेषता है। भोगत्यागका महत्त्व उसे ज्ञात था, पर वस्तुस्थितिकी उसने उपेक्षा नहीं की। मनुष्यमें काम या भोगकी वासनाका होना स्वाभाविक है। समुद्र जैसे अपने तरंगोंके साथ ही रहता है अथवा चन्दनवृक्षके मूलमें जैसे साँप रहता है, वैसे मनके अंदर काम रहता है। फ्रायडने अब जिस बातको कहा है, उसे हमारे शास्त्रकार पहलेसे जानते थे और उसे उचित स्थान देनेके लिये उन्होंने गृहस्थाश्रमको एक पवित्र आश्रम माना। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कामको अपनी विभूति बतलाते हैं, पर वह काम '**धर्माविरुद्धः**'—धर्मके अविरुद्ध होना चाहिये। इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्ध, पंचम अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक प्रसिद्ध है—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥

'संसारमें देखा जाता है कि मैथुन, मांस और मद्यके सेवनमें प्राणियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसके लिये कोई वेदाज्ञा नहीं हुआ करती। (कहीं-कहीं) विवाह, यज्ञ और सौत्रामणि यज्ञ आदिमें इनके लिये जो अवकाश दिया जाता है, उसका हेतु उच्छृंखलताका निवारणकर मर्यादा स्थापित करना होता है। निवृत्ति ही वास्तवमें इष्ट है।'

पैठणके प्रसिद्ध महात्मा श्रीएकनाथ महाराजने इस श्लोकका बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण अपने ग्रन्थमें किया है। उसमें कहीं कुछ अश्लीलताकी गन्ध आ सकती है; पर शास्त्र-रहस्य देखना है, इसलिये उसका अवतरण यहाँ देना आवश्यक प्रतीत होता है—'विषयोंमें जो उच्छृंखल हैं, उन्हें वेदोंने नियमोंमें निरत कर दिया। वेदोंकी इस विषयमें जैसी आज्ञा है, वह तुम्हें सुनाता हूँ। मैथुनके विषयमें योनिभ्रष्टोंको नियन्त्रित करनेके लिये विवाह-संस्था प्रतिष्ठितकर वरिष्ठ वर्णको अपनी निष्ठामें नियत किया। ब्राह्मणको धोबिनके पास जाना कड़वा नहीं लगता, न धोबीको ब्राह्मणीके पास जाना तीता लगता है। चाहे जिस जातिकी स्त्री और चाहे जिस जातिका पुरुष—ऐसे मैथुनसे योनिसंकर होता है। उससे बचनेके लिये वेदोंने विवाहका नियम लगा दिया। ऋतुकालमें जो 'स्त्रीगमन करते हैं, ऐसे पुरुष पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं। वेद स्वयं निवृत्तिपरक हैं। त्यागरूपसे ही वे भोगका नियमन करते हैं। '**आत्मा वै पुत्र नामासि।**' उस पुत्रके होनेपर वेद धीरे-धीरे भोगविषयक अपनी आज्ञाका त्याग करते हैं।'

गृहस्थाश्रममें गृहस्थ-धर्मकी अनुज्ञासे प्राप्त भोग भोगे, पर भोगासक्त न रहे। '**धन्यो गृहस्थाश्रमः**' कहकर उसका महत्त्व गाया गया है। पर गृहस्थको इस आश्रमसे प्राप्त करना है—'वैराग्यका अचल पद'; यह बात वह न भूले।

जीवको परमार्थ-पथपर चलना है, यह सही है। पर इसके साथ हमारे धर्मकी यह शिक्षा है कि इस पथपर चलते हुए वह दूसरोंका भी कल्याण-साधन करे। ज्ञानदेवका दिया हुआ एक सुन्दर दृष्टान्त दोहराकर यों कहा जा सकता है कि गंगाजी समुद्रसे मिलने चलती हैं, पर रास्तेमें कितने काम करती-करती चलती हैं। पापियोंके पाप-ताप नष्ट करती हैं, तटवर्ती वृक्षोंको सींचती हैं; इस तरह बहता गंगाका जल समुद्रमें जा मिलता है।' इसी प्रकार मनुष्य अन्य अनेक जीवोंका

कल्याण-साधन करता हुआ अपने ध्येयको प्राप्त हो, यही हमारे धर्मकी शिक्षा है।

पहला आश्रम पूँजी इकट्ठी करनेके लिये है और दूसरा आश्रम उसी पूँजीको समाजकी सेवामें लगानेके लिये है। गृहस्थाश्रममें भोग विधेय है, पर उसके साथ बहुत बड़ा त्याग करनेको भी कहा गया है। कुटुम्बका पालन करना, समाजको धारण करना इत्यादि गृहस्थाश्रमके ही मुख्य कर्तव्य हैं। इस प्रकार भोगसे वासनाओंका क्षय होनेपर ही वह वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करनेका अधिकारी होता है। 'त्याग' भीतरसे होना चाहिये, ऊपरी त्याग मिथ्या होता है और दम्भका कारण बनता है। गीता जिसे 'मिथ्याचार' कहती है, उसीमें उसकी परिणति होती है। इससे न उस व्यक्तिका कल्याण होता है, न उसके द्वारा समाजका ही। वैदिक धर्म भीतरसे त्याग करनेको कहता है और आश्रम-व्यवस्थाके द्वारा इसकी शिक्षा देकर इसके लिये तैयार करता है। गीता, उपनिषद् और सब साधु-महात्मा यही उपदेश करते हैं कि 'सब विषयोंका त्याग सर्वथा मनसे ही करना चाहिये।' अन्यथा विषयोंका ध्यान बना रहा तो उलटा ही परिणाम होगा, यही गीता बतलाती है। वासनाक्षय होनेपर वह वानप्रस्थाश्रममें सहधर्मिणीको संग लेकर वनमें रहे; पर रहे 'संयोगी वियोग' पद्धतिसे। ऐसे कठिन अनुशासन और तपसे तपकर उज्ज्वल हुआ गृहस्थाश्रमी संन्यासका अधिकारी होता है।

संन्यासाश्रम हमारे आश्रममन्दिरका शिखर है। वह अतिशय पवित्र और उच्च है। 'संकल्प' का त्यागकर जो संन्यासी होता है, वही सच्चा संन्यासी है। वैदिक धर्ममें संन्यासका स्थान कितना ऊँचा है, यह बतलानेवाली एक बात सबके सामने है। मनुष्य जब मर जाता है, तब वैदिक धर्मानुसार उसकी लाश जलायी जाती है। पर संन्यासीका मृत शरीर गाड़ा जाता है, उसपर उसका समाधि-मन्दिर बनता और वहाँ उसकी पूजा की जाती है। सर्वस्वका त्यागकर जिसने अपना जीवन त्यागमय बना लिया, जिसने अपने शरीर, मन और इन्द्रियोंके संकल्प-पंक धोकर उन्हें पवित्र कर लिया, वैदिक धर्म उसे इतना सम्मान देता है।

इन सब बातोंसे पाठकोंके ध्यानमें यह बात आ गयी होगी कि हमारे धर्मकी आश्रमव्यवस्थाने भोग करते-करते त्यागका ध्येय लाभ करनेका मार्ग दिखा दिया है। मुक्त होनेके लिये आश्रमसंन्यास लेना ही होगा, ऐसा भी कोई आग्रह हमारे धर्ममें नहीं है। सनक-सनन्दनादिके समान जनकादिकोंके भी उदाहरण इसने जगत्के सामने रखे हैं। वैदिक धर्मकी यह बहुत बड़ी महत्ता है। गीतामें इसीको 'सब कुछ करके भी कुछ न करना, अकर्ता बने रहना' कहा गया है। यहीं भोग और त्यागपूर्ण समन्वय साधित हुआ है।

वैदिक धर्मकी आश्रमव्यवस्था निर्माण करनेवाले ऋषियोंको आधुनिक मनोविज्ञानके सिद्धान्त जाननेका कोई अवसर मिलना सम्भव ही नहीं था। तथापि जो समाज-व्यवस्था उन्होंने निर्माण की, वह मानव-मनोविज्ञानका गंभीर अध्ययनकर आजके मनोवैज्ञानिकोंने जो सिद्धान्त निकाले हैं, उनकी कसौटीपर ठीक ही जँचती है। हमारे मनु आदि ऋषियोंने लॉके आदि अंग्रेज तत्त्ववेत्ताओंके समान कभी यह न माना कि मनुष्यका मन अलिखित अथवा कोरी शिला (Tabula Rasa) है। इंग्लैंड तथा अन्य पाश्चात्त्य देशोंमें कुछ कालतक इस मतका बड़ा बोलबाला था। पीछे मनो-वैज्ञानिक मानव-मनका ज्यों-ज्यों अधिक गम्भीर अध्ययन करने लगे, त्यों-त्यों उनकी समझमें यह बात आने लगी कि मन ऐसा नहीं है जैसा कोई कोरा कागज हो, बल्कि पहलेसे उसपर कुछ संस्कार अंकित रहते हैं और इन संस्कारोंके साथ ही मनुष्यका जन्म होता है। पाश्चात्त्योंमें डेकार्टका मत विशेष तथ्ययुक्त था। उसके अनुयायियोंने पीछे उसके असली मतको बहुत कुछ बदल डाला, यह बात दूसरी है। विलियम मैकडूगलने अपनी 'दि ग्रूप माइंड' नामकी पुस्तकमें लिखा है—'विभिन्न वंशोंमें परस्पर संस्कारजन्य भेद होते हैं।' पर संस्कारोंको कुछ न माननेका मत जो लॉकेने चलाया, वह ऐसा चला कि असली चीज दब गयी और उसके कुफल लोगोंको चखने पड़े। हमारे भारतीय समाजकी दृष्टिसे तो मैकडूगलके विचार बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। भारतवर्षका राज्यशासन करते हुए अंग्रेजोंने मनोविज्ञानके कुछ अप-सिद्धान्तोंको मानकर जैसे कानून चलाये, उनसे राष्ट्रमें एकता और सुख-समृद्धिके बदले एक तरहका अंधेर मचा हुआ है। सन् १९२० में ही इस महान् व्यक्तिने यह भविष्य लिख रखा था। उसकी पुस्तकसे कुछ महत्त्वपूर्ण अवतरण नीचे देते हैं—

'सहज गुणोंकी कोई सार्थकता न माननेवाला यह मत उस समयके मुख्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुरूप

और उसीसे निर्धारित था। लॉकेके समयसे यह मत चला। इस मतके अनुसार नवजात शिशुका मन बिना किसी संस्कारका, बिलकुल कोरा और सब मनुष्योंमें एक-सा होता है; कोई ऐसी विशेष प्रवृत्तियाँ या विशेषताएँ उसमें नहीं होतीं, जो विचारणीय हों। इस कोरे मनपर वैयक्तिक अनुभूति अंकित होती और विचार-साहचर्यके सिद्धान्तानुसार उसका सम्पूर्ण विस्तार साधन करती है।'

'अंग्रेजोंने अपने अधीनस्थ देशों और उनके अधिवासियोंके साथ, विशेषतः भारतवर्षके साथ जिस नीतिका अवलम्बन किया, उसमें स्पष्ट या अस्पष्ट रूपसे यह मत बहुत कुछ प्रतिफलित हुआ है। मतका व्यवहारपर कितना प्रभाव पड़ता है और मतकी इस कार्य-कारिताकी उपेक्षा करनेसे कितनी हानि होती है, इसका यह एक बड़े मार्केका उदाहरण है। मत हमें प्रभावित करते हैं निश्चय ही, पर हम ऐसा दरसाते हैं कि ऐसी कोई बात नहीं है। हमें अपने लिये ही यह स्पष्ट कर लेना चाहिये कि हमारे क्या-क्या मत हैं—चाहे हम अपने-आपको व्यवहारमें सर्वथा उन्हींके द्वारा परिचालित न होने देते हों।' (पृ० १०९)

'मानव-शिशुका मन कोरा कागज नहीं है, उसकी आन्तरिक रचनामें बहुत-सी सहज वासनाएँ, बहुत-सी ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनकी विचार, भाव और कर्मके सम्बन्धमें एक विशेष दिशा निश्चित रहती है। इस बातकी मान्यतासे यह मत स्वीकृत होता है और इन विभेदोंको ठीक तरहसे लक्षित करानेका एक आधार मिल जाता है।' (पृ० ३२०)

भारतके अंग्रेजी शासनमें 'जातिके नाते जातिका जो महत्त्व है, उसकी उपेक्षा की गयी और संस्कृति तथा संस्थाओंद्वारा गठनका जो कार्य होता है, उसको अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया—जैसा कि लार्ड मेकालेके एतद्विषयक सुन्दर प्रतिपादनसे व्यक्त होता है। इसीका यह फल है कि आजसे ८० वर्ष पहले इंग्लैंडने भारतके करोड़ों मनुष्योंको अपनी संस्कृति और संस्थाओंसे विभूषित करनेका काम आरम्भ किया। यह काम पूरा जोर लगाकर नहीं किया गया; जैसे-तैसे जो कुछ हुआ, उतनेसे ही इस प्रयासका जो परिणाम हुआ, उसका अनौचित्य हम कुछ देख सकते हैं। उत्तम निरीक्षकोंका यह कहना है कि यदि यह काम पूरा हुआ होता और प्रातिनिधिक शासनके सूत्र देशके अधिवासियोंके हाथोंमें सौंप दिये गये होते तो कुछ ही वर्षोंमें सारे देशमें अंधेर और अराजकता मच जाती। हमलोगोंने इस देशको जिस हालतमें पाया था, वैसी ही हालत फिर हो जाती। कुछ दूसरे लोग इससे भी आगे बढ़कर यह कहते हैं और उनके इस कहनेमें सत्यका कुछ आभास भी है कि पाश्चात्त्य संस्कृति भारतीय मति और नैतिक प्रकृतिके लिये वस्तुतः हानिकारक है।' (पृ० ११७-११८)

जब कोई श्रेष्ठ पुरुष दुर्भाग्यसे किसी अर्ध सत्यका प्रतिपादन करने लगते हैं, तब उसका परिणाम समस्त समाज और राष्ट्रको भोगना पड़ता है। पशुकी अपेक्षा मनुष्यकी विशेषता यह है कि मनुष्यमें बुद्धि है। इस बुद्धिसे यह जितना भयंकर और व्यापक परिणामवाला अपराध कर सकता है, उतना जानवर नहीं कर सकता। इसी प्रकार बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुषोंकी प्रमादशील विचार-पद्धतिका भी भयानक दुष्परिणाम होता है और वह सारे राष्ट्रको भोगना पड़ता है। अंग्रेजोंने प्रमादयुक्त मनोविज्ञानके अपसिद्धान्तोंके आधारपर निर्मित लोकतन्त्रको भारतमें संस्थापित करनेकी नींव डाली। भारतके स्वाधीन होनेपर भी अंग्रेजोंकी यह भूल दुर्भाग्यक्रमसे भारतके नेताओंके ध्यानमें न आयी और वे एकजातीय राष्ट्र बनानेके काममें लगे हैं। परंतु यह उद्योग अशास्त्रीय है और इसके दुष्परिणाम राष्ट्रको भोगने पड़ेंगे। मैकडूगल प्रभृति महान् मनोवैज्ञानिकोंका यही मत है। इस ओर भारतके नेताओंका ध्यान दिलाना आवश्यक है।

वैदिक धर्मने संस्कारोंपर ध्यान रखकर मनुष्योंके सात्त्विक, राजसिक और तामसिक—त्रिगुणात्मक विभाग किये हैं और इसपर वर्णाश्रम-व्यवस्था खड़ी की है। 'जैसा जिसका अधिकार है, वैसा ही उसके लिये उपदेश है। जितना भार जो उठा सकता है, उतना ही उसपर रखा जाता है।' यही व्यवस्था इस सिद्धान्तका आधार है। हर किसीको 'शनैः-शनैः' त्याग करना सिखलाकर व्यक्ति और समाजको उन्नत अवस्था प्राप्त करानेका प्रयत्न हमारे धर्मने किया है। अन्यत्र कहीं ऐसा प्रयत्न नहीं देख पड़ता, यह कहें तो अन्यथा न होगा।
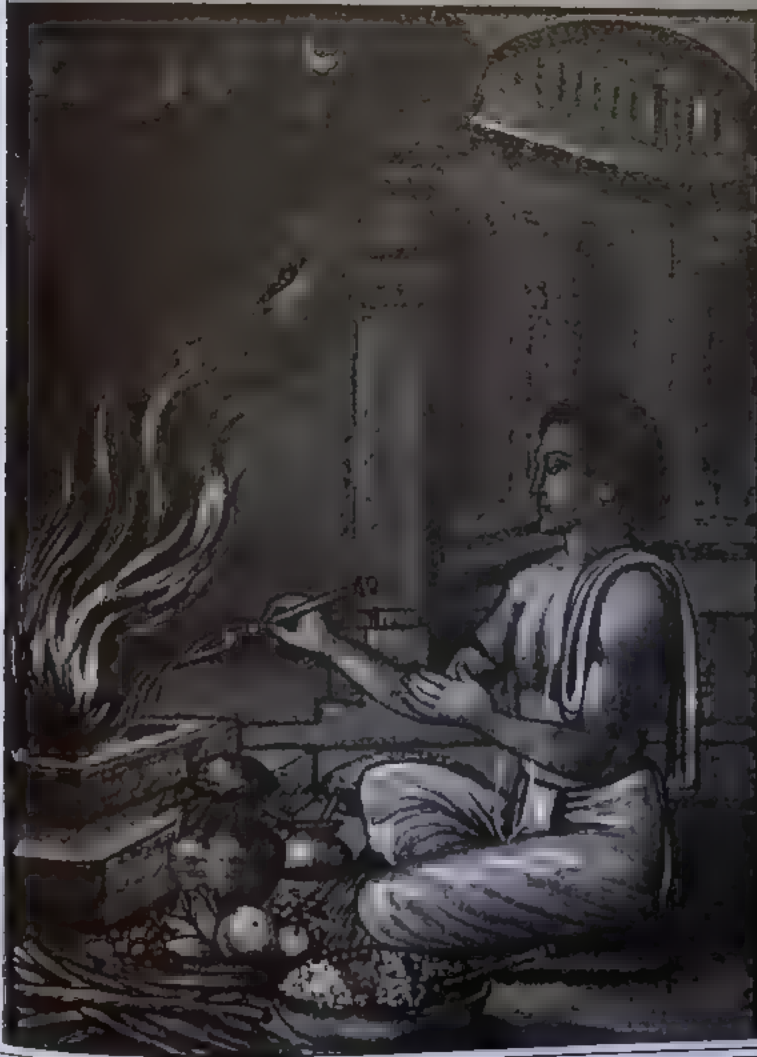
पहले प्रातःस्नान और फिर संध्या-वंदन, पूजा-ध्यान।
नित्य होम करते गृहस्थ सब, श्रद्धासे देते गोदान॥

असांस्कृतिक प्रातःकाल
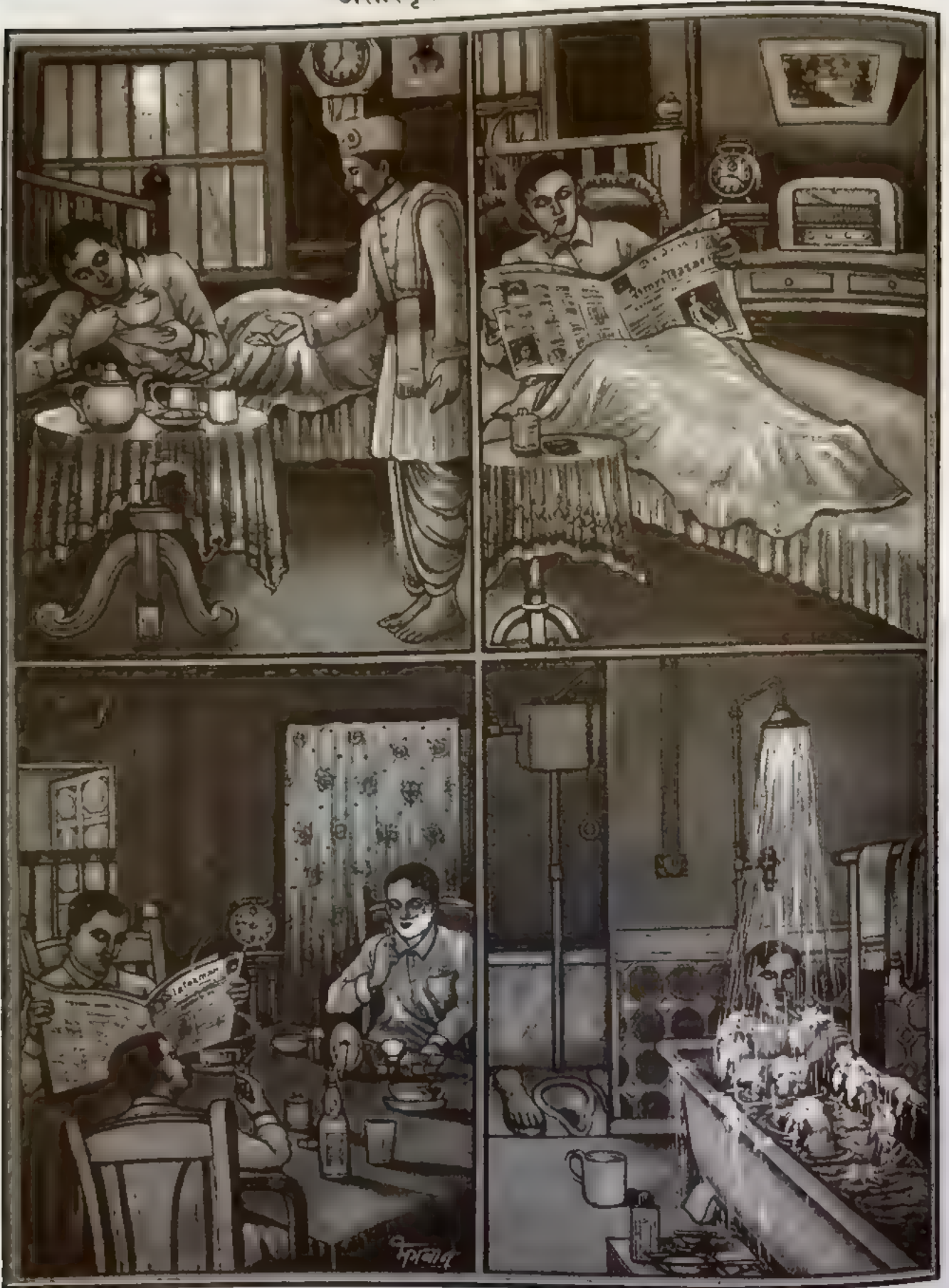
दिन चढ़ आया, खुली नींद अब, पीने लगे 'बेड टी' (Bed-tea) लेट,
हाथोंमें अखबार आ गया, मुँहमें सुलग रही सिगरेट।
काफी, चाय, सिगार दोस्तको दे फिर आप बनाते बाल,
पाखानेके बाथरूममें नहा-नहा हो रहे निहाल!

धर्म-शब्दका लक्षण और रहस्य

(लेखक—पं० [illegible]जी आत्रेय, बी०ए०, एम० आर०ए०एस०)

वेदमें लिखा है—'**धर्मं चर**', धर्म करो; '**धर्मेण सुखमश्नुते**', धर्मसे सुख होता है; '**धर्मान्न प्रमदितव्यम्**', धर्ममें प्रमाद या असावधानी नहीं करनी चाहिये। अब देखना यह है कि वह धर्म क्या है, जिससे सुख मिलता है? इसका विचार करनेके लिये सबसे पहले 'धर्म' शब्दके अर्थकी ओर ध्यान देना चाहिये।

'धर्म' शब्द व्याकरणकी रीतिसे 'धृञ् धारणे' धातुके आगे 'मन्' प्रत्यय लगानेसे बनता है। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकारसे हो सकती है—

१. **ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः**—जिससे लोक धारण किया जाय, वह धर्म है।

२. **धरति धारयति वा लोकम् इति धर्मः**—जो लोकको धारण करे, वह धर्म है।

३. **ध्रियते यः स धर्मः**—जो दूसरोंसे धारण किया जाय, वह धर्म है। महाभारतमें धर्मका यह लक्षण बताया गया है—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

(कर्ण० ६९।५८)

'धारण करनेसे लोग इसे धर्म कहते हैं। धर्म प्रजाको धारण करता है। जो धारणके साथ रहे, वह धर्म है—यह निश्चय है।'

इससे सिद्ध होता है कि 'धर्म' बहुत व्यापक शब्द है। अमरकोषकारके अनुसार 'धर्म' शब्दके अनेक अर्थ हैं; यथा—१ सुकृत या पुण्य, २ वैदिक विधि-यागादि, ३ यमराज, ४ न्याय, ५ स्वभाव, ६ आचार, ७ सोमरसको पीनेवाला। अन्य कोषोंमें धर्मके ये अर्थ लिखे मिलते हैं—१ शास्त्रोक्त कर्मके अनुष्ठानसे उत्पन्न होनेवाले भावी फलका साधनस्वरूप शुभ अदृष्ट या पुण्यापुण्यरूप भाग्य, २ श्रौत और स्मार्त धर्म, ३ विहित क्रियासे सिद्ध होनेवाला गुण या कर्म-जन्य अदृष्ट, ४ आत्मा, ५ देहको धारण करनेसे जीवात्मा, आचार या सदाचार, ६ वस्त्रका गुण, ७ स्वभाव, ८ उपमा, ९ याग आदि, १० अहिंसा, ११ न्याय, १२ उपनिषद्, १३ धर्मराज या यमराज, १४ सोमाध्यायी, १५ सत्संग, १६ धनुष, १७ ज्यौतिष-मतमें लग्नसे नवम स्थान या भाग्य-भवन, १८ दान आदि।

किंतु 'धर्म' शब्दका धातुगत अर्थ तो 'धारण करना' ही होता है। निरुक्तमें 'धर्म' शब्दका अर्थ 'नियम' बताया गया है। इन दोनोंके मेलसे 'धर्म' शब्दका यही वास्तविक अर्थ होता है कि जिस नियमने इस लोक या संसारको धारण कर रखा है, वही धर्म है।

आगे बताया जायगा कि वह नियम कौन-सा है, जिसने इस लोक या संसारको धारण कर रखा है और किन नियमोंके अनुसार चलनेसे सुख होता है; क्योंकि वेदमें लिखा है कि धर्मसे सुख होता है। लोकमें भी कहते हैं—'**धनाद्धर्म ततः सुखम्**', धनसे धर्म होता है और धर्मसे सुख होता है। यह सुख दो प्रकारका है—एक तो इस लोकका सुख और दूसरा परलोकका सुख। इसलिये जिससे इन दोनों प्रकारके सुखोंकी प्राप्ति हो, वही धर्म है। सभी लोग सुखके लिये ही प्रयत्न करते हैं और उसका साधन धर्म है; अतएव वैशेषिक दर्शनके रचयिता पूज्यपाद महर्षि कणादने धर्मका यह लक्षण किया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

'जिससे इस लोकमें उन्नति और परलोकमें कल्याण या मोक्षकी प्राप्ति हो, वह धर्म है।'

इस धर्मका मूल या जड़ वेद है, मनु महाराजने कहा है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। (२।६)

'समस्त वेद अर्थात् ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद धर्मका मूल है।'

श्रीमद्भागवतमें भी स्पष्ट कहा है—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।

(६।१।४४)

'वेदमें कहा हुआ धर्म है और उससे विपरीत अधर्म है।'

दूसरा धर्मका यह लक्षण है—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।

'वेदमें जिसकी प्रेरणा की गयी है, वह पदार्थ धर्म है।' अर्थात् वेदमें लिखे अनुसार कर्म करना धर्म है और उसमें निषेध किये हुए कर्मका न करना भी धर्म है। वेदमें लिखे हुए वर्णाश्रम-धर्मोंका न करना और मना किये हुए कर्मोंका करना अधर्म है।

धर्मका तीसरा लक्षण है—

वेदविहितत्वम्।

'जो वेदमें कहा गया है, वह धर्म है।'

धर्मका चौथा लक्षण यह है—

क्रियासाध्यत्वे सति श्रेयस्करत्वमिति लौकिकाः।

'क्रिया या कर्मद्वारा सिद्ध होकर कल्याणकारी होना धर्मका लक्षण है—यह लौकिक पुरुषोंका मत है।'

धर्मका पाँचवाँ लक्षण इस भाँति कहा गया है—

सत्याज्जायते, दयया दानेन च वर्धते, क्षमायां तिष्ठति, क्रोधान्नश्यति।

'धर्मकी उत्पत्ति सत्यसे होती है, दया और दानसे वह बढ़ता है, क्षमामें वह निवास करता है और क्रोधसे उसका नाश होता है।'

मनुस्मृतिमें धर्मका छठा लक्षण यह बताया है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(२।१२)

'वेद, स्मृति या धर्मशास्त्र, सदाचार या सत्पुरुषोंका आचरण और अपनी आत्माकी प्रसन्नता—यह चार प्रकारका धर्मका लक्षण (परिचायक) है।'

श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं यत् स धर्मः प्रकीर्तितः।

'श्रुति (वेद) और स्मृति (धर्मशास्त्र) में जो कहा गया है, वह धर्म कहलाता है।'

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥

(२।९)

'श्रुति और स्मृतिमें कहे हुए धर्मको करता हुआ मनुष्य इस लोकमें यशको पाता है और मरकर परलोकमें उत्तम सुख या मोक्षको प्राप्त होता है।'

आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥

(१।१०८)

'श्रुति और स्मृतिमें वर्णित सदाचार परम धर्म है। इसलिये अपने आत्माको जाननेवाला (आत्मज्ञानी) द्विज सदा सदाचारसे युक्त रहे।'

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥

'एक धर्म ही ऐसा मित्र है, जो मरनेपर भी जीवके साथ जाता है और सब तो शरीरके नाशके साथ ही छोड़कर चले जाते हैं।'

वेदमें धर्मके तीन स्कन्ध बताये गये हैं—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसꣳस्थोऽमृतत्वमेति। (छा० २।२३।१)

'धर्मके तीन स्कन्ध वा विभाग या आधारस्तम्भ हैं। यज्ञ, अध्ययन या स्वाध्याय और दान—यह पहला स्कन्ध है। तप ही दूसरा स्कन्ध है। आचार्यकुलमें रहनेवाला ब्रह्मचारी, जो आचार्यकुलमें अपने शरीरको अत्यन्त क्षीण कर लेता है, यह तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्यलोकके भागी होते हैं। ब्रह्ममें सम्यक् प्रकारसे स्थित (चतुर्थाश्रमी संन्यासी) अमृतत्वको प्राप्त होता है।'

इसी 'धर्म' शब्दके पहले 'स्व' जोड़नेसे 'स्वधर्म' शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'अपना वर्णाश्रम-धर्म' होता है। उसीके पूर्व 'पर' जोड़नेसे 'परधर्म' शब्द बनता है। उससे तात्पर्य अपने वर्णाश्रम-धर्मको छोड़कर दूसरे पुरुषके वर्णाश्रम-धर्मसे है। उसीके पहले 'वि' उपसर्ग लगानेसे 'विधर्म' शब्द बनता है। उसका अर्थ '**विगतः धर्मेण विधर्मः**' होता है। जो अपने धर्मसे गिर जाय अर्थात् जो धर्मान्तरित हो जाय, वह विधर्म है। श्रुति-स्मृतिमें कहे हुए धर्मोंको छोड़कर सब धर्म विधर्म हैं। अतः अपने धर्मको छोड़कर अन्य धर्मको स्वीकार करनेवाला 'विधर्मी' कहा जाता है। उसीके पहले 'कु' उपसर्ग लगानेसे 'कुधर्म' शब्द बनता है। उसका अर्थ—'**कुत्सितः धर्मः कुधर्मः**' अर्थात् जो धर्म निन्दाके योग्य हो, वह कुधर्म है। कुधर्म पापाचरण या बुरे आचरणको कहते हैं। 'कुधर्म' शब्दका एक अर्थ और भी होता है; वह यह कि जो धर्म अन्य धर्ममें बाधा दे, वह 'कुधर्म' कहाता है। यथा—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः॥

''जो धर्म दूसरे धर्मको बाधा दे, वह धर्म नहीं है, किंतु 'कुधर्म' है। जो धर्म समस्त धर्मोंका अविरोधी है, वही यथार्थ धर्म है।'' धर्मके पहले 'नञ्' जोड़नेसे '**न धर्मः अधर्मः**' अधर्म शब्द बनता है। उसका अर्थ—जो धर्मसे बिलकुल विपरीत हो, वह अधर्म कहाता है। इस अधर्मके पाँच भेद हैं—विधर्म १, परधर्म २, धर्माभास ३, उपधर्म ४ और छलधर्म ५। इनमेंसे 'विधर्म १ और परधर्म २, के अर्थ तो ऊपर लिखे जा चुके हैं। पाखण्डाचार या दम्भ अर्थात् ढोंगको उपधर्म

कहते हैं। अपने ही मनसे किसी कामको धर्म कहकर करना 'धर्माभास' है। प्रचलित अर्थको छोड़कर दूसरे प्रकारका अर्थ करके जिस धर्मकी व्याख्या की जाय, वह छल-धर्म है। ऊपर कुधर्मका भी अर्थ लिखा जा चुका है। इन छहों प्रकारके अधर्मोंका परित्याग करना धर्म है। अपना स्वधर्म ही सबको शान्तिदायक होता है। भगवान्ने कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

'स्वधर्ममें मरना श्रेष्ठ है, परधर्म भयकारी है।' समस्त प्राणियोंका वही परम धर्म है, जिससे भगवान्‌में निष्काम, अटल और अचल भक्ति हो और जिसके करनेसे आत्मा प्रसन्न होती हो। जिस ओर धर्म होता है, उसकी जय होती है। कहा भी है—

धर्मेण हन्यते व्याधिर्धर्मेण हन्यते ग्रहः।
धर्मेण हन्यते शत्रुर्यतो धर्मस्ततो जयः॥

'धर्मसे रोग नष्ट होते हैं, धर्मसे ग्रहोंकी पीड़ा मिटती है। धर्मसे शत्रु-नाश होता है; जहाँ धर्म होता है, वहाँ विजय होती है।'

अब यह विचारना है कि धर्मरूप नियम क्या है, जिसने इस सृष्टि-क्रियाको धारण कर रखा है और उसकी किस अवस्थाको धर्म और किस अवस्थाको अधर्म कहते हैं? यह बड़ा गहन तथा सूक्ष्म विषय है। अतः इसे सावधान होकर समझना चाहिये। इस सृष्टिके तीन गुण हैं, जिनके नाम सत्त्व, रज और तम हैं। ये तीनों गुण सृष्टिकी समस्त वस्तुओंमें देखनेमें आते हैं। इनमेंसे रजोगुणसे सृष्टिकी उत्पत्ति होती है, सत्त्वगुणसे स्थिति और तमोगुणसे संहार या प्रलय होता है। यह समस्त जगत् इन तीन अवस्थाओंके वशीभूत है तथा कोई भी पदार्थ या जीव इस सारी सृष्टिमें नहीं है जो उत्पत्ति, स्थिति और लय—इन तीन अवस्थाओंसे बचा हुआ हो। ईश्वरके रचे हुए अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं, उनमें ब्रह्माजीसे लेकर स्तम्ब या तृणपर्यन्त अथवा अगणित ग्रह-समूहसे लेकर मिट्टीके क्षुद्र दाने या कणतक सब इन तीन अवस्थाओंके अधीन हैं। उसी प्रकार यह जीव-प्रवाह भी इसी नियमके अधीन रहता हुआ प्रत्यक्ष दिखायी देता है। जीव जन्म लेता है, बढ़ता है और मरता है। इसी अवस्था-भेदसे जीवकी सृष्टि, स्थिति और मुक्ति भी समझी जा सकती है। जैसे अहंकार या अहं-तत्त्वसे मोहित होकर जीव पहले-पहले कर्म-प्रवाहमें बहा अर्थात् उसकी उत्पत्ति हुई। पुनः वह कुछ कालतक इस सृष्टिके साथ बहता रहा, अर्थात् कुछ कालतक उसकी स्थिति रही और अन्तमें अपने असली स्वरूप अर्थात् ब्रह्मको पहचानकर वह इस माया-प्रवाहसे उपरामको प्राप्त हो गया, अर्थात् उसका मोक्ष या ब्रह्ममें लय या ब्रह्ममें सद्भाव हो गया। ये ही तीन अवस्थाएँ प्रत्येक जीवकी होती हैं। अतः धर्म वही है, जो इस क्रियाके स्वाभाविक नियमको बाधा न दे और अधर्म वह है जो इस नियममें बाधा करे। दूसरे शब्दोंमें जीव सृष्टि-प्रवाहमें पड़नेके अनन्तर क्रमशः अपने गुण-भेदके कारण उन्नत होता हुआ मुक्त होगा। इस क्रमोन्नतिमें जो कर्म सहायक हो, वह धर्म है और इस क्रमोन्नतिमें जो बाधा दे वह अधर्म है। जो कर्म इस उन्नतिको सरल बनानेमें सहायता दे, वह धर्म कहायेगा और जो कर्म उन्नतिसे अवनतिकी ओर ढकेलेगा, वह अधर्म कहायेगा। इसीलिये सनातन-धर्मावलम्बियोंके खाने, पीने, सोने, जगने, उठने, बैठने, कहने, सुनने, पहनने, जाने, आने आदि प्रत्येक कर्मके साथ धर्म और अधर्मका दृढ़ सम्बन्ध रखा गया है। जिस कर्मसे तमोगुण और रजोगुणकी निवृत्ति हो और सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, वही धर्म-पद-वाच्य कर्म होगा और जिस कर्मसे सत्त्वगुणकी हानि और रजोगुण तथा तमोगुणकी वृद्धि हो, वह अधर्म-पदवाच्य कर्म होगा।

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके लक्षण श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार कहे हैं—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥

(१४।९)

'हे भरतवंशिन्! सत्त्वगुण सुखमें आसक्त करता है; रजोगुण कर्ममें प्रवृत्त करता है और तमोगुण ज्ञानको ढककर प्रमाद, आलस्य और निद्रामें लगाता है।'

इस विषयको स्पष्ट करनेके लिये एक उदाहरण दिया जाता है। एक पुरुष दिनको नींद लेता है। दिनमें नींद लेना धर्म होगा अथवा अधर्म, इसका निश्चय करनेमें हमें यही विचारना चाहिये कि दिनमें सोनेसे किस गुणकी वृद्धि और किस गुणकी हानि होगी। दिनमें सोनेसे तमोगुणकी वृद्धि होना अनिवार्य है; क्योंकि तमोगुणका फल अज्ञान है, जो सबको मोहित करता है और प्रमाद, आलस्य और निद्राद्वारा बन्धनका कारण होता है। इसलिये तमोगुणकी वृद्धि करनेके कारण दिनमें सोना जीवकी क्रमोन्नतिमें बाधा करता है। अतएव यह

दिनको सोनारूप कर्म अधर्मका कारण हुआ। क्योंकि जीवमें जितना तमोगुण या अज्ञान स्पर्श करेगा, उतना ही जीव जडताको प्राप्त होता जायगा और जो कर्म जितना ही सत्त्वगुणकी वृद्धि करेगा, उतना ही जीव चैतन्यको प्राप्तकर मुक्ति अथवा लयकी ओर आगे बढ़ेगा।

इसी प्रकार सभी प्रकारके कर्मोंको इस कसौटीपर कसनेसे उनके विषयमें धर्म और अधर्मका निर्णय सहजमें किया जा सकता है। इसी सिद्धान्तपर स्थूल और सूक्ष्म भेदसे धर्म और अधर्मका विवेकद्वारा निश्चयकर मनुष्यको प्रत्येक कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये। यही धर्मका रहस्य है। इसी धार्मिक नियमसे सारी सृष्टिका प्रवाह चलता है। भगवान् स्वयं ही धर्मरूप हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

धर्मोऽहं वृषरूपधृक्। (भा० ११।१७।११)

'तप, शौच, दया और सत्य नामके चार पैरोंवाले वृषका रूप धारण करनेवाला धर्म मैं (भगवान्) स्वयं हूँ।'

विष्णुसहस्रनाममें भी लिखा है—

धर्मगुब्धर्मकृद्धर्मी।

'धर्मकी रक्षा करनेवाले, धर्मको बनानेवाले और समस्त धर्मोंके आधार स्वयं भगवान् हैं।'

इसीलिये शास्त्रोंमें लिखा है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

'धर्मका परित्याग करनेपर वह उस पुरुषका नाश कर देता है और रक्षा या पालन किया हुआ धर्म इस पुरुषकी रक्षा करता है।'

भगवान् धर्मके स्वयं प्रभु—चलानेवाले या स्वामी हैं—

आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः।

'धर्म आचार या सदाचारसे उत्पन्न होता है। उस धर्मके अच्युतभगवान् प्रभु या चलानेवाले या रक्षक हैं।'

इसलिये धर्म सदा पालन करनेयोग्य वस्तु है, वह हँसी या मजाक़ उड़ानेकी चीज नहीं है।

शास्त्रोंमें लिखा मिलता है—

धर्ममूलं हि भगवान् सर्वदेवमयो हरिः।

सर्वदेवतामय भगवान् धर्मकी जड़ या आधार हैं। भगवान् स्वयं धर्म और धर्मके जाननेवाले हैं। यथा—

धर्मो धर्मविदुत्तमः।

भागवतमें लिखा है कि भगवान् धर्मकी रक्षाके लिये अवतार लेते हैं—

धर्मावनायोरुकृतावतारः। (६।८।१९)

भगवान्ने ही धर्मरूपी नियमको बनाया है, वे स्वयं उसकी पाबंदी रखते हैं तथा औरोंसे रखवाते हैं—यहाँतक कि वे धर्मकी हानि देखकर स्वयं अवतार धारण करते हैं। जैसा कि गीतामें डंकेकी चोट कहा गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(४।७-८)

'जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अवतार लेकर आता हूँ। साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंके नाश और धर्मकी पुनः स्थापना—इन तीन कामोंके लिये मैं प्रत्येक युगमें प्रकट होता हूँ।'

ईश्वरकृत नियमोंमें न तो कभी आजतक अन्तर पड़ा, न पड़ता है और न कभी पड़ेगा। यह सब ईश्वरकी विचित्र लीला है, जो केवल ईश्वरकी कृपासे ही समझमें आ सकती है।

हिंदुओंकी वर्तमान दशा

भूलि गये ज्ञान ध्यान वेद विज्ञता महान भूलि गये पूजा और क्रियाएँ सब जापकी[1]।
बल्लम और भाला देखे धड़का बढ़ावै चित्त धीरता भगावै धुनि घोड़नके टापकी[2]॥
क्षमता औ दृढ़ता निज शब्दहूकी भूलिगे ऊपर ते सींचि रहे देखो बेलि पापकी[3]।
गौरव औ मान बल वीरता बड़ाई प्रेम भूलि गये आन-बान आपुने प्रतापकी॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

१. ब्राह्मण, २. क्षत्रिय, ३. वैश्य।

हिंदू-जीवन

(रचयिता—दीक्षित श्रीश्यामसुन्दरजी शर्मा 'कलानिधि')

जिसके वक्षःस्थल गंगाजल,
जिसके हिम-गिरिका मुकुट भाल;
जिसके पद पूजत स्वर्ण पुरी-
चुम्बन-रत रत्नाकर विशाल;
है प्रकृति अनुचरी जिसकी,
जिसके मातृ-प्रेमके देव भक्त,
उस भारत माताकी संतति
पैंतीस कोटि हम एकरक्त।
कौशल प्रशस्त सम्पूर्ण सहज
हममें अनादिसे विद्यमान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!
सब भाषाओंका प्रथम स्रोत,
यह वैदिक संस्कृत कल्परत्न;
जिसपर त्रिलोकतक न्योछावर,
है सहज हमारा ही प्रयत्न।
संसृति-विकासके सर्वप्रथम
कर आदि-मंत्र साक्षातकार,
हो ब्रह्म-लीन हमने विरचा
ऋग्वेद दिव्यतम निर्विकार।
प्रति गति-विधिके पूरक अखण्ड,
हम स्वयं सिद्ध सुखमय सुजान;
हम हिंदू हैं हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान॥
गृह, उपवन, वन कर व्याप्त शांति,
जप, योग, शक्ति, तपके प्रभाव,
गज-सिंहादिकमें प्रेम भरा,
हमने उनका हर वैर-भाव!
हमसे पालित सत्-न्याय-नीति,
माया-ममता कर खण्ड-खण्ड;
है प्रजा-शांति-बाधक सुत-वनिता-
को भी हमने दिया दण्ड।
हम सर्व-भूत-हित-रत अनुदिन,
बैठे वसुधैव कुटुम्ब मान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान॥

कर प्राणायाम त्रिधा स्वेच्छित
युग-युगतककी लेकर समाधि,
हम रहते अविचल, अजर-अमर;
आती समीप है नहीं व्याधि।
हमसे शरीर-सुख-संवर्द्धक
चौरासी आसनकी प्रयुक्ति;
हम ब्रह्म-रंध्रसे प्राण त्याग,
जब चाहें वर लें त्वरित मुक्ति।
साकार रूपमें निराकारको
लाये हम कर साम-गान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान॥
हम जीवमात्रमें मोद, शांति
रखनेको रहते हैं अधीर;
अवतरे हमारे यहाँ ब्रह्म
झष, कमठ, कोलतक धर शरीर।
हमने शरणागत-रक्षणहित
अपने प्राणोंको दिया वार;
जो पीठ दिखा देता, उसपर
हम कभी नहीं करते प्रहार।
रिपुओंको रणमें बाँध किया
हमने उनको जीवन प्रदान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान॥
हम सफल चक्रवर्ती नृपाल,
हमसे घोषित आदेश-पत्र
भू-मंडलके मंडल-मंडल
भूगर्भित निःसृत यत्र-तत्र।
हम पूर्ण भगीरथ कर प्रयत्न
लाये शिव-सिर सुरधुनी-धार;
रच अश्वमेध हमने पहनी
त्रिभुवन-जयमाला बार-बार!
हमने शर-शय्या ले रणमें
जब इच्छा की, तब तजे प्राण;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

हमसे शिक्षित कपि लड़े समर,
रचकर समुद्रपर सेतु-कम;
पद-रोपण, पुरी-दहन दर्शित
अंगद-हनुमतका वीर-धर्म!

मिट्टीकी मूर्ति हमारी रच,
उससे लेकर शिक्षा अलक्ष,
पढ़ अद्भुत धनुर्वेद वनचर
तक लक्ष्य-वेधमें हुआ दक्ष!

शुक-मैनातकको तर्क-शास्त्र-
का हमसे समुचित हुआ ज्ञान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

हम गणित-शास्त्र-पारंगत हमसे—
पद्म-शंखतक प्रकट अंक;
हमने ज्यौतिषमें ग्रह-गतिकी
गणना दिखलाई निष्कलंक!

निर्धारित वेलामें तथापि
निश्चित प्रभावसे ही समस्त,
रवि, शशि, कुज, बुध, गुरु, भृगु, शनि, तम
होते रहते हैं उदय-अस्त!

हो चौर इंद्र, पाताल वस्तु
ग्रह-बल यथार्थ हम दें बखान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

संगीत-शास्त्रमें भी हमसे
अद्भुत कौशल दर्शित अतीव;
आकृष्ट हमारी स्वर-लहरी-वश
आ जाते सब वन्य जीव!

गाते वसंत, छाता वसंत;
असमयमें गाते घन-मलार,
घन-गर्जन, विद्युत-चमचम-युत
होती वर्षा मूसलाधार!

उच्चारण करते दीप-राग,
होते दीपक देदीप्यमान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

हमने लेकर फरसा प्रचण्ड,
कर-कर अचूक अविचल प्रहार,
अन्यायी-कुल-संहार किया
प्रण कर, रण कर इक्कीस बार!

जो हिल न किसीसे सका रंच,
जिसको त्रिलोक रह गया ताक,
उठ हस्त हमारे भंग हुआ
वह हिमगिरि-सा शिवका पिनाक!

हम अंजलिमें लेकर अपनी
कर गये निमिषमें सिंधु-पान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

पय अहिको देते, पर अहिपति
यदि फैलाये विषकी तरंग,
तो भेद सहस्र फनोंको भी,
हम करते उसका अंग-भंग!

सुरपति भी लेकर प्रलय-मेघ
यदि करना चाहे कुछ अनिष्ट,
तो पड़े क्षुब्ध उसको रहना
इतना हममें पौरुष विशिष्ट!

हँसते कनिष्ठिकापर उछाल
रख पर्वत हम रचते वितान!
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

बढ़ते सुत सिंह समान हमारे
देख विपक्षी-गज-समूह;
अगणित रिपु सिद्धहस्त हों,
पर वह कर अकेले भंग व्यूह!

शिशु करते आत्म-विनोद हमारे
सिंह-मूँछ कर कराधीन,
खेला करते सिंहनी-दुग्ध
पीते छौनेको छीन-छीन!

वर वीर हमारे-ही-जैसे
हैं पुत्र हमारे गुण-निधान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

है प्राणोंका उत्सर्ग सह्य,
पर धर्म-धैर्य तजते न रंच;
हैं पुत्र हमारे ही, जिनपर
चल सका न जगका कुछ प्रपंच!
हमसे ही गर्भ-कालतकमें
होकर अपूर्व शिक्षित प्रवीण,
कर युद्ध विकट, पौगण्ड पुत्र
वध करते हैं योधा धुरीण!
पितु होते, उनके लोहेको
हम गये समरमें स्वयं मान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!
हम भूसुर वह, सुर-गण रहते
जिनकी इच्छाओंके अधीन;
हम भूपति वह, सुरपति रहते
जिनके सम्मुख हैं निरे दीन!
हम धनपति वह जिनपर कुबेर-
की न्यौछावर निधि बार-बार;
हम सेवक वह स्वर्गोपरि 'भारत'
जिनकी सेवाका शृंगार!
वह अबलाएं हममें—जिनके
श्री-गुणपर रति, श्री, शची म्लान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!
तज वंश हमारा कहाँ प्रकट
हो सका पतिव्रतका प्रताप?
जिसने कर-भोजन-लालायित
हरि, हर, विधिको शिशु किया आप!
पत्नियाँ हमारी युद्धस्थलमें
रहीं प्रबल दाहिना हाथ;
जब हमको जीवित कर न सकीं,
हो गईं सती तब साथ-साथ!
रुख देख हमारी ही महिलाओं-
का होना विरमा विहान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

दिग्-विजय-करण-अभिलाषासे
प्रेरित होकर, हो युद्ध-लग्न,
चल पड़ा सिकंदर कर फारस,
काबुल, बखतर स्वातंत्र्य भग्न!
पर पहुँचा ज्यों ही भारत वह,
हमने झेलम-तट समर रोप,
यूनानी दल दल-विचलित कर
उसके प्राणोंपर किया कोप!
निज मरण देख, वह शरण हुआ
पलटा हमसे पा अभय-दान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!
भारत वैभव अपहरण हेतु
छल, बल, रण-कौशल कर अपार,
जब स्वामीके ही भाँति सिल्यूकस
रणमें हमसे गया हार!—
तब सुता-सहित काबुल, कँधार,
दे संकुल अफगानी प्रदेश,
हेरात, बिलोचिस्तान भेंट,
वह चला गया अपने निवेश!
नत-मस्तक होकर चरण हमारे
लगा पूजने फिर युनान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!
जब वैयक्तिक लोलुपतावश
हमसे समाजका हुआ लोप
शासन-प्रकाशपर हुआ
अचानक म्लेच्छ-पतंगोंका प्रकोप!
पर स्नेह-क्षीणतातक बढ़ते
अपनी ज्वलंत ज्वाला प्रकाश,
हमने निज लपटोंमें विरचा
उन तुच्छ पतंगोंका विनाश!
हम आप बुझे, पर प्रथम भेज रिपु
शब्द-वेध शरसे श्मशान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

बढ़ चला विधर्मी अनाचार,
जन,धन,लज्जाकी मची लूट;
सह सके असह अन्याय न,
मंदिर गिरे, मूर्तियाँ गईं फूट!
हम केसरिया सज लड़े समर,
कुछ हुईं देवियाँ चिता-क्षार;
दुष्टोंकी छातीपर जमकीं
कुछ खींच कंचुकीसे कटार!
जीवन सतीत्वके साथ रहे,
यह वनिताओंको रहा ध्यान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!
सर्वत्र भारती सीमातक
हो चला प्रखर अपना प्रताप;
'अल्ला हो अकबर' का नारा
'हर-हर बम' ध्वनि बन गया आप!
फिर कुटिल काल-दुर्वासाके
पड़ कूट-नीति-व्यवहार साथ,
होकर स्वतंत्र हम हुए पुनः
परतन्त्र हाय अंग्रेज हाथ!
पर अंग्रेजोंको याद हमारी
सन् सत्तावनकी कृपाण;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!
चित चाह वसंती-चोलाकी
दे-दे पूर्णाहुति मुक्ति-हेतु,
हम खेले फाँसी, गोलीसे
फहरानेको राष्ट्रीय-केतु!
गा गंगा-यमुनाके गायन,
भज भारत माँकी भव्य मूर्ति,
हम चले 'चलो दिल्ली' कहते,
करने अक्षय स्वातंत्र्य-पूर्ति!
हिल उठी ब्रिटिश इम्फालभूमि-
तक देख हमारा अधिष्ठान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

यद्यपि कुछ देश-द्रोहियोंवश
हम सके नहीं कृत समर जीत;
पर भारत-शासन तजनेको
अंग्रेज हुआ उद्यत सभीत!
फिर भी निज पुनरागमन-हेतु
उसने छिप-छिपकर चली चाल;
जिसका फल पाकिस्तान अधम—
अपना अघ, दैवी गति कराल!
पर इस अरिष्ट-उन्मूलनका
चल रहा हमारा अनुष्ठान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!
यह हमें न विचलित कर सकता
षडयंत्र दुष्ट-दलका प्रचण्ड;
उठ रहे आत्मरक्षार्थ हमारे
आज संगठित बाहु-दण्ड!
हम हैं अनायके नहीं शत्रु,
यदि वह न करें हमसे विरोध;
पथ-कंटकका ही हैं करते हम
सब विधि उन्मूलन-विशोध!
हमसे आदृत रसखान, ताज,
इब्राहिम खाँ-से मुसलमान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!
अस्तित्व हमारा है अनादिसे
जैसे, वैसे ही अनंत;
इसके विनाशपर तुले शत्रु-
का नियत श्रुतायुध-तुल्यअंत!
भय, संकट, पीड़ाएँ युग-युगकी
हममें भरती हैं प्रकाश;
साक्षी अक्षय-वट शेष, हमें
कर सका नष्ट कब महानाश!
हम ईश्वरीय लीला-अथ-इति-
के अविकल दर्शक वर्तमान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

हिंदूधर्मका व्यापक स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम०ए०, आचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न)

इस देशके प्रत्नतम युगमें यहाँके निवासी आर्य आशिष्ठ, द्रढिष्ठ, बलिष्ठ, सुन्दर, श्रद्धालु और आमोद-प्रमोदमय जीवन व्यतीत करनेवाले थे। वे सदाचारी, निर्भीक, उदार और प्रकृतिके विशाल लीलाक्षेत्रके रहस्योंसे परिचय प्राप्त करनेके लिये सदा उत्सुक थे। उन्होंने विमल-सलिला सरिताओं, कुसुमित वनराजियों, उत्तुंग अचलों, अगाध सलिलाशयों, किम्बहुना—नानाविध प्राकृतिक सम्पत्तियोंका सदुपयोग करके एक ऐसा विज्ञान प्राप्त किया, जो अद्यावधि अपनी यशोगाथाके कारण भूवलयमें विश्रुत है। सात्त्विक जीवन-निर्वाहने एवं शम, दम आदि सद्गुण-गणने उनके हृदयमें सत्यका संचार किया और अपनी उस अनुभूतिको उन मननशील मेधावी महर्षियोंने मन्त्रोंके रूपमें अपनी सन्ततिको प्रदान किया। मन्त्रराशिका नाम वेद है।

वेद[1]में लिखा है कि इस विश्वकी सृष्टि होती है और सृष्टिकर्ताके ईश्वर आदि अनेक नाम हैं। जीवोंका पुनर्जन्म होता है। जबतक आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, तबतक पुनर्जन्म और पुनर्मरण होता रहेगा। पुनः-पुनः जन्म और पुनः-पुनः मृत्युसे विकल होकर जीव जब साधना करता है, तब संसार-पाशसे उसका निस्तार हो सकता है। इसी निस्तारसे परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है।

पुनर्जन्म और मुक्तिवाद आर्यधर्मकी प्रधान सम्पत्ति थी और वह सम्पत्ति अभीतक इस देशमें सुरक्षित है। इस देशका प्राचीन नाम आर्यावर्त था, किंतु यहाँके सप्तसिन्धु-प्रदेशकी सभ्यता और संस्कृतिसे मुग्ध होकर विदेशवासियोंने इसको 'सिन्धुस्थान' कहना प्रारम्भ कर दिया। भाषाशास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार संस्कृतका सकार विदेशियोंकी बोलीमें हकार बन गया और महाप्राण धकार और थकारके स्थानपर क्रमशः अल्पप्राण दकार और तकार होनेसे 'हिंदुस्तान' शब्द बन गया और यहाँके निवासी 'हिंदु' अथवा 'हिंदू' कहलाये।

पूर्वोक्त भारतीय महर्षिगण आस्तिक थे, क्योंकि इस देहके अनन्तर भी वे देहीकी अर्थात् आत्माकी सत्तामें विश्वास रखते थे। कुछ ऐसे भी हिंदू थे, जो देहानन्तर आत्माके अस्तित्वमें—पुनर्जन्म और मुक्तिमें—श्रद्धा नहीं रखते थे। ये हिंदू नास्तिक हिंदू कहलाये।

आस्तिकोंमें भी एक दल ऐसा था, जो जीवात्माके पुनर्जन्म और मोक्षमें तो विश्वास करता था; किंतु वैदिक साहित्य उसे मान्य नहीं था। इस दलको 'अवैदिक आस्तिक हिंदू' नामसे कह सकते हैं।

नास्तिकलोग[2] देहात्मवादी होते हैं। वे कहते हैं कि 'भस्मीभूत देह फिर नहीं मिलेगा। अतएव जबतक जीवन है, तबतक आनन्दकी प्राप्ति—जैसे भी हो—कर लेनी चाहिये। ऐसे नास्तिक लोगोंके आचार्य बृहस्पति और चार्वाक हो गये हैं और उनके दर्शनको बार्हस्पत्य अथवा चार्वाक-दर्शन कहते हैं।'

अवैदिक आस्तिक हिंदुओंमें भी दार्शनिक चर्चा पर्याप्त रही। तीर्थंकर महावीर वर्धमानद्वारा प्रदर्शित मार्गको माननेवाले सज्जन जैन हिंदू कहलाते हैं। जैनधर्ममें अहिंसापर अधिक महत्त्व है। यद्यपि सृष्टिकर्ता ईश्वरके लिये इस धर्ममें कोई अवकाश नहीं है, तथापि सांसारिक वासना-त्यागरूपी साधनाके बलसे जीवको पुनर्जन्म-मरणसे छुटकारा—निर्वाण पानेका सिद्धान्त इसमें सम्यक् स्थापित किया गया है।

जैन-हिंदुओंकी ही कोटिमें बौद्ध-हिंदू हैं। कपिलवस्तुके निवृत्तिपरायण राजकुमार सिद्धार्थने बुद्धत्व प्राप्त करके इस सम्प्रदायका सूत्रपात किया था। इस धर्ममें भी जगत्‌के रचयिता ईश्वरका अस्तित्व स्पष्ट स्वीकार नहीं किया गया है, किंतु जन्मानन्तर मृत्यु और मरणानन्तर जन्मकी प्रक्रियाको सिद्ध करके इस जन्म-मरणरूप संसार-चक्रसे मुक्तिकी स्थापना विशद रूपसे की गयी है।

जैन और बौद्ध-हिंदुओंका धार्मिक साहित्य विशाल है और अधिकांशमें पाली-प्राकृतमें लिखा गया है। जैन-हिंदुओंके श्वेताम्बर और दिगम्बर नामक दो भेद

१. द्यावाभूमी जनयन् देव एकः (श्वेताश्वतर० ३। ३, श्रीमद्भागवत १। १। १; ब्रह्मसूत्र १। १। २)

२. जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते। ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम्॥ (सर्वसिद्धान्तसंग्रह)

हैं और स्याद्वाद नामक दार्शनिक सिद्धान्त बड़ा प्रसिद्ध है। इसी प्रकार बौद्ध-हिंदुओंके हीनयान और महायान नामक भेद हैं और चार दार्शनिक सिद्धान्त हैं, जिनके नाम हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक।

वेदोंको प्रमाण माननेवाले वैदिक हिंदुओंमें दो विभाग थे। एक दल 'जगत्का स्रष्टा ईश्वर है' यह मानता था और दूसरा दल ईश्वरको नहीं मानता था। ईश्वरको माननेवाले सेश्वर कहलाये और न माननेवाले निरीश्वर। निरीश्वरवादियोंमें कपिल और जैमिनि मुख्य हैं। कपिलके सांख्यमतके अनुसार प्रकृति और पुरुषके ज्ञानसे ही कैवल्यका लाभ हो सकता है एवं जैमिनिके मीमांसा-दर्शनके अनुसार वैदिक यज्ञोंके अनुष्ठानसे उत्तम स्थान (स्वर्ग) की प्राप्ति होती है, जिसमें दुःखका लवलेश भी नहीं है।

ईश्वरको माननेवाले वैदिक हिंदुओंमें तीन विभाग थे। एक तो वह, जो ईश्वरको निर्गुण-निराकार मानता था। दूसरा वह, जो उसे सगुण-साकार मानता था और तीसरा वह, जो उसे सगुण-निराकार मानता था। उपनिषदोंमें ऐसे अनेक मन्त्र मिलते हैं, जिनसे इन तीनों विभागोंका समर्थन होता है। निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी सिद्धिमें—

[1]**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं**
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।

—आदि मन्त्र हैं। अद्वैत-मतने ऐसे ही मन्त्रोंको मुख्य मानकर अन्योंको गौण माना है। आचार्य शंकर इस मतके बड़े प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। अद्वैतवादी हिंदू कर्म और उपासनाद्वारा अपनेको ब्रह्मज्ञानका अधिकारी बनाते हैं और ब्रह्मज्ञान होनेके अनन्तर ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं।

सगुण-निराकार ब्रह्मकी सिद्धिमें '[2]**कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः**', '**स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्**' आदि मन्त्र हैं। ब्राह्मसमाज और आर्यसमाजमें ऐसे ही मन्त्रोंको मुख्यता दी गयी है। ब्राह्मसमाजके संस्थापक थे राजा राममोहन राय और आर्यसमाजके स्वामी दयानन्द।

सगुण-साकार ब्रह्मकी सिद्धिमें '**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**', '**यत्ते रूपं[3] कल्याणतमं तत्ते पश्यामि**' आदि मन्त्र हैं। ब्रह्मको सगुण-साकार माननेवाले हिंदुओंमें पाँच सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं—सौर, गाणपत, शाक्त, शैव और वैष्णव।

नभोमण्डलमें विराजमान सूर्यके अधिष्ठाता देवताकी उपासना करनेवाले सौर कहलाते हैं। '**हिरण्मयेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्**[4]' इत्यादि मन्त्र सूर्योपासनाके हैं।

सर्वकर्म-समारम्भमें पूजित गणेशजीकी उपासना करनेवालोंको गाणमत कहते हैं। '**गणानां त्वा गणपतिं हवामहे**', '**कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्**[5]' इत्यादि मन्त्र गणेशोपासनाके हैं।

जगद्धात्री, सिंहवाहिनी शक्तिकी उपासना करनेवाले शाक्त कहलाते हैं। '**अहं[6] रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि**' इत्यादि मन्त्र शक्त्युपासनाके हैं।

पिनाकधारी रुद्र शिवजीकी उपासना करनेवाले शैव कहलाते हैं। '**नमस्ते[7] रुद्र मन्यव उतोत इषवे नमः**' इत्यादि मन्त्र शिवोपासनाके हैं।

शंख-चक्र-गदा-कमलधारी श्रीविष्णुके उपासक वैष्णव कहलाते हैं। '**महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे**[8]' इत्यादि मन्त्र विष्णूपासनाके हैं।

सौर सम्प्रदायकी छः शाखाएँ हैं—१-सूर्यबिम्बको सूर्यमूर्ति माननेवाली, २-ब्रह्माजीको सूर्य माननेवाली, ३-विष्णुजीको सूर्य माननेवाली, ४-शिवजीको सूर्य माननेवाली, ५-त्रिमूर्तिको सूर्य माननेवाली, ६-सूर्यमूर्तिका मस्तक, बाहु आदि अंगोंपर अंकन करनेवाली।

गाणपतोंकी छः शाखाएँ हैं—१-महागणाधिपतिकी उपासिका, २-कुमारगणपतिकी उपासिका, ३-हेरम्ब-गणपतिकी उपासिका, ४-नवनीत-गणपतिकी उपासिका, ५-स्वर्ण-गणपतिकी उपासिका और ६-सन्तान-गणपतिकी उपासिका।

शाक्तोंकी दो शाखाएँ हैं—१-वाममार्ग और २-दक्षिणमार्ग।

शैवोंकी चार शाखाएँ हैं—१-शैव, २-पाशुपत, ३-कारुणिक-सिद्धान्ती और ४-कापालिक।

वैष्णवोंकी चार शाखाएँ हैं, जो सम्प्रदाय-नामसे प्रसिद्ध हैं—१.श्रीसम्प्रदाय, २.ब्रह्मसम्प्रदाय, ३.रुद्रसम्प्रदाय और ४.सनकसम्प्रदाय। श्रीसम्प्रदायकी उपशाखा है—रामानन्दी सम्प्रदाय और ब्रह्मसम्प्रदायकी उपशाखा है—

---

१. कठोपनिषद् ३।१५
२. ईशावास्योपनिषद् ८
३. बृहदारण्यक० ५।१५।१
४. ऋग्वेद १।३५।२
५. ऋग्वेद २।२३।१
६. ऋग्वेद १०।१२५।१
७. यजुर्वेद १६।१
८. ऋग्वेद १।१५६।३

गौड़ीय सम्प्रदाय। प्रधान चार सम्प्रदायोंके आचार्य क्रमशः ये हैं—रामानुज, मध्व, वल्लभ और निम्बार्क। रामानन्दने रामानन्दी सम्प्रदाय चलाया और चैतन्य महाप्रभुसे गौड़ीय सम्प्रदाय चला।

जो हिंदू निर्गुण-निराकार ब्रह्मको ही परम सत्ता समझते हैं, किंतु उपासनाके लिये सूर्य, गणपति, शक्ति, शिव, विष्णुको ब्रह्मका मायिक रूप मानकर स्वीकार करते हैं, वे 'स्मार्त हिंदू' कहलाते हैं।

'तां* योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' —इत्यादि मन्त्रोंसे प्रतिपादित योगविद्याके अभ्यासी साधक और सिद्ध योगी कहे जाते हैं। यह योगमार्ग कर्म-उपासना-ज्ञानके समान ही आदृत रहा है। इससे भी पुनर्जन्मका निरोध करनेवाली कैवल्यदशाकी उपलब्धि होती है। नाथसम्प्रदाय आदि योगमार्गके उप भेद हैं। नेति, धौति, वस्ति, नौलि, कपालभाति, त्राटक, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—ये योगशास्त्रके पारिभाषिक शब्द हैं और विशेष-विशेष क्रियाओंके बोधक हैं। प्रायः सभी हिंदू 'ध्यान' शब्दका अपनी धार्मिक भाषामें प्रयोग करते हैं।

दक्षिणापथमें वैष्णवोंके भागवत-सम्प्रदायकी तीन शाखाएँ हो गयीं—वारकरी सम्प्रदाय, रामदासी सम्प्रदाय और दत्त-सम्प्रदाय। भगवान् दत्तात्रेयसे दत्त-सम्प्रदाय उदित हुआ और समर्थ स्वामी रामदासजीसे रामदासी सम्प्रदाय।

कबीर निर्गुण-निराकारके उपासक थे। इनको माननेवाले कबीरपन्थी हिंदू कहलाते हैं। ऐसे ही अन्य अनेक पन्थ हैं—नानकपन्थ, दादूपन्थ, लालदासी, सत्यनामी, बाबालाली, साधपन्थ, शिवनारायणी, गरीबदासी, रामसनेही, अघोरपन्थी—जिनमें मूर्तिपूजा नहीं होती, किंतु गुरुपूजाका विशेष महत्त्व है।

वैष्णवोंके कुछ अन्य उप सम्प्रदाय हैं—जैसे कि राधावल्लभी, हरिदासी, स्वामिनारायणी आदि।

संतमत वा राधास्वामी पन्थ भी हिंदुओंमें प्रसिद्ध है। आगरेके राधास्वामी दयालुजी इसके प्रवर्तक थे। इन्होंने 'सुरत शब्दयोग' की बड़ी सरल युक्ति प्रकट कर दी, जिससे इस योगका अभ्यास सरल हो गया।

ब्रह्मविद्या-सभा अथवा थियॉसॉफिकल सोसायटीके अनुगामी बहुत-से हिंदू हैं। इस सभाके सिद्धान्तोंमें जन्मान्तरवाद, कर्मवाद, अवतारवाद, योगसाधना, गुरूपासना, तपस्या, जप, तपको स्थान मिला है। एनी बेसेंट आदि कई विदेशी संस्कृतिके दृष्टिकोणसे हिंदू थे।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि—

(अ) कर्मफलमें विश्वास।

(आ) पुनर्जन्ममें श्रद्धा और

(इ) मुक्तिमें आस्था।

—ये तीन बातें हिंदूधर्मके व्यापक रूपके लक्षणमें कही जा सकती हैं; किंतु शौचाचार, वेष-भूषाका भी कम महत्त्व नहीं है। शिखा-सूत्र, मठ-मन्दिर, सभा-समिति, व्रत-उपवास, पर्व-उत्सव, दान-दक्षिणा, भजन-पूजन, कथा-कीर्तन, होम-यज्ञ, जप-तप, ध्यान-धारणा, सन्ध्या-स्वाध्याय ऐसी बातें हैं, जिन्हें प्रायः प्रत्येक हिंदू अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार करता है। ये सब साधनकोटिकी बातें हैं और इनको लेकर परस्पर वैमनस्य कदापि नहीं करना चाहिये। पुनर्जन्मसे छुटकारा पाकर चिरन्तन, शाश्वत, अविनाशी, परम आनन्दका लाभ ही जब हिंदूमात्रका ध्येय है, तब साधनामें भेद प्रेमके मार्गमें बाधक क्यों हो? परस्पर स्नेहभावमें रहकर अपने-अपने पन्थ या सम्प्रदायके अनुसार सभी हिंदू उन्नतिके मार्गमें अग्रसर हो सकते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहको सभीने अच्छा बताया है। प्रत्येक हिंदू जहाँ विचारमें (पुनर्जन्म और मुक्तिके सम्बन्धमें) समान है, वहाँ गायके प्रति श्रद्धाकी दृष्टिसे आचारमें भी समान है। कदाचित् ही कोई हिंदू ऐसा हो, जो गोमाताको पूज्य दृष्टिसे न देखता हो।

इस सिन्धुस्थान आर्यावर्तकी प्राचीन संस्कृति और सभ्यताको पितृ-पुत्र-परम्परासे तथा गुरु-शिष्य-परम्परासे बनाये रखनेवाले सभी हिंदू परस्पर भ्रातृभावापन्न हैं।

हिंदुओंकी निर्वैरता

हिंदू अनुकूल आचरण करनेवाले तथा सबके प्रति दयालु होते हैं। उनका संसारमें किसीसे वैर नहीं है।

—इतिहासकार अबुल फजल

* कठोपनिषद् ६। ११

भारतीय संस्कृतिके मूलतत्त्व

(लेखक—श्रीदादा धर्माधिकारी)

'भारतीय संस्कृति' शब्द-प्रयोग कुछ असंगत-सा जान पड़ता है। क्या कोई भारतीय प्रकाश, भारतीय अँधेरा, भारतीय सूर्य और भारतीय चन्द्रमा भी कहेगा? एक दृष्टिसे तो सूर्य, चन्द्र, प्रकाश और अँधेरेको किसी देशका कहना अज्ञानका लक्षण माना जायगा; परंतु एक विशिष्ट अर्थमें हम भारतीय आकाश, भारतीय चन्द्रमा, भारतीय गणित, भारतीय विज्ञान, भारतीय शक्कर और भारतीय नमक कहते हैं। सूर्य, चन्द्र, विज्ञान, गणित, शक्कर, नमक—इन सब वस्तुओंके सामान्य गुण-धर्म संसारभरमें एक ही हैं; लेकिन भारतकी विशिष्ट आबहवामें उनके रूपमें अन्तर दिखायी देता है। इसलिये हम भारतका आकाश, भारतका चन्द्रमा इत्यादि शब्द-प्रयोग करते हैं।

'संस्कृति' भी एक अखिल-जागतिक भाव और सार्वभौम तत्त्व है। उसके लक्षण अखिल-जागतिक हैं। उसके मूल-तत्त्व भी समस्त संसारके सभी देशोंमें समान हैं। यदि ऐसा न होता तो संसारमें सांस्कृतिक भूमिकापरसे न विग्रह होते न सन्धियाँ होतीं, न विवाद होते न संवाद होते, न युद्ध होते न शान्तिकी चर्चा ही होती। जब दो राष्ट्रोंमें या दो राज्योंमें युद्ध होता है, तब उनमेंसे हर एक दूसरेपर अन्याय और दुष्टताका आरोप लगाता है। अन्याय और दुष्टताकी—दोनों पक्षोंकी परिभाषा एक न होती, तो यह पारस्परिक अभियोग असम्भव होता। दोनोंकी भूमिकामें यह मूलभूत एकता है। जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्यसे कहता है कि मेरी 'संस्कृति' या मेरा 'रहन-सहन' तुझसे श्रेष्ठ है, तब दोनोंकी 'संस्कृति'-की मूलभूत कल्पना एक ही होती है। संस्कृतिके लक्षण या कसौटियाँ अगर समान न हों, तो तुलना ही सम्भव न हो। अगर नॉर्मल 'तापमान' और बुखारकी हमारी परिभाषा एक न हो तो हमारा 'थर्मामीटर' भी एक नहीं होगा और अगर 'थर्मामीटर' एक न होगा, तो किसे बुखार कम है और किसे अधिक—इसका भी निर्णय कोई नहीं कर सकेगा। हमारी 'संस्कृति', 'सभ्यता' और 'उन्नति' की बुनियादी व्याख्या एक ही है। इसीलिये हम संसारके कुछ देशों, कुछ राष्ट्रों और कुछ मानवसमूहोंको अधिक सभ्य, सुसंस्कृत और अधिक प्रगतिशील कहते हैं। संस्कृतिकी मूलभूत परिभाषा और लक्षणोंमें एकता है, इसीलिये वह 'संस्कृति' है, इसीलिये वह मनुष्योंको 'सभ्य' बना सकती है। सभ्यता और असभ्यताका लक्षण क्या है? हम सभ्य उसे कहते हैं, जिसमें सहूर है, तमीज है, शिष्टता और विवेक है। शिष्टताका अर्थ है—दूसरोंकी सुविधाका ध्यान; विवेकका अर्थ है दूसरोंके साथ व्यवहारमें उन्हें असुविधा या अड़चनमें न डालनेकी वृत्ति। एक वाक्यमें सभ्यता, सज्जनता, शिष्टता हमें दूसरोंके साथ रहनेकी सिफत, दूसरोंके साथ जीनेमें आनन्द अनुभव करनेकी कला सिखाती है। यही 'संस्कृति' का आदर्श है। इसीलिये उसके मूलभूत लक्षण और परिभाषा एक हैं।

यही आर्यता है। आर्य वह है, जो सुसंस्कृत है, संभावित है, शिष्ट है। अनार्य वह है, जो अनाड़ी है, उद्दण्ड है, असभ्य और अशिष्ट है। प्राकृत मानव और संस्कृत मानवमें अन्तर है। जो केवल प्राकृत प्रेरणाओंका दास है, उसका शरीर मनुष्यका होते हुए भी वास्तवमें वह केवल एक मनुष्याकार प्राणी है। अगर पशु नहीं तो पशुतुल्य है। उसमें प्रकृतिको मोड़नेकी या अपने अनुकूल प्रवृत्तिका आविष्कार करनेकी सामर्थ्य नहीं होती। प्राकृत जीवन आर्य जीवन या सभ्य जीवन नहीं है। 'आर्य' की परिभाषामें **'तिष्ठति प्राकृताचारे'** तो कहा है; परंतु साथ-साथ **'कर्तव्यमाचरन् कार्यम्'** और **'अकर्तव्यमनाचरन्'** भी कहा है। विकार और वासना भी तो प्राकृतिक हैं। जो विकार और वासनाका अनुसरण करता है, वह भी प्राकृत आचार तो करता ही है। फिर उससे अकर्तव्यके अनाचरणकी आशा कैसे की जा सकती है। स्पष्ट है कि यहाँ 'प्राकृताचार' का अर्थ कुछ और ही है। कर्तव्य करना और अकर्तव्य न करना ही जिसके लिये प्राकृताचार है, जिसकी प्रकृति बन गयी है, सहज प्रवृत्ति हो गयी है, वह आर्य है। उसमें कृत्रिमता, औपचारिकता, बाह्य प्रदर्शन नहीं है; उसके चित्तकी स्वाभाविक प्रेरणा ही सद्भावसम्पन्न या

सद्व्यवहारप्रवण हो गयी है। 'बालिशता' और 'बालभाव' में, 'चाइल्डिशनेस' और 'चाइल्डलाइक सिंप्लिसिटी' में, छोकरेपन और बालसदृश निष्पापतामें, बहुत बड़ा और मूलगामी भेद है। उसी प्रकार प्राकृत जीवन और अकृत्रिम या निर्व्याज जीवनमें बहुत बड़ा भेद है। सत्प्रवृत्ति और असत्-प्रवृत्ति—दोनों प्राकृतिक हैं। जो दोनोंका निर्विशेषरूपसे अनुसरण करता है, वह 'प्राकृत' है। जो असत् प्रवृत्तियोंका निराकरण और सत् प्रवृत्तियोंका परिपोषण करनेमें यत्नशील है, वह आर्य है, वही सुसंस्कृत है, वह सभ्य जीवनका साधक है। '**कर्तव्यमाचरन् कार्यम्**', '**अकर्तव्यमनाचरन्**' उसीके लिये लागू है।

मतलब यह कि किसी भी विवाद या संवादकी यह अनिवार्य शर्त है कि दोनों पक्षोंके पदार्थलक्षण एक हों। हमने देखा कि 'संस्कृति' शब्दका लक्षण संसारभरमें एक ही है। उसकी अभिव्यक्ति और आविष्करणकी पद्धतियों और प्रकारोंमें भेद अवश्य होता है। आकारमें भेद हो सकता है, किंतु स्वरूप एक ही होता है।

इस सार्वभौम और मानव्य व्यापक संस्कृतिकी अभिव्यक्ति और आविष्करण भारतवर्षके साहित्य और जीवनमें विशिष्टरूपसे हुआ है। हमारे दर्शन और साहित्यमें दो विशिष्ट शब्द उसके वाचक और बोधक हैं—'अद्वैत' और 'समन्वय'। इन दो शब्दोंमें संस्कृतिके साध्य और साधनका अन्तर्भाव है। सांस्कृतिक जीवनका ध्येय अद्वैतकी सिद्धि है और उसका साधन समन्वयकी नीतिका नैष्ठिक अनुष्ठान है।

'कैवल्य' या 'ऐक्य' की जगह 'अद्वैत' शब्दका प्रयोग बहुत 'सूचक' है। कैवल्य या ऐक्यमें भेदका मान या उसकी मान्यता भी नहीं है। अद्वैतमें द्वैतका निराकरण है, समस्त भेदोंका नहीं। द्वैत द्वन्द्वका सूचक है। हम हिंदीमें जिसे 'दंद' कहते हैं, उससे बचना चाहते हैं। 'द्विधा' या 'दुविधा' की मानसिक अवस्थामें भी हम अस्वस्थ और अशान्त होते हैं। द्वैतमें विषमता और दूसरेपनकी, परायेपनकी, अनात्मीयताकी भावना है। भेदमें हमेशा विषमता या विरोध नहीं होता। अनात्मभाव नहीं होता। भेदोंमें जो विषमता या विरोध हो, उसके परिहारका नाम समन्वय है। अविरोध-सिद्धि अर्थात् विविधतामेंसे विषमताके अंशका निराकरण ही समन्वयकी पद्धतिका सार है। समन्वयका अर्थ 'समझौता' नहीं है। समझौता एक बाह्य और यान्त्रिक प्रक्रिया है। उसमें आदान-प्रदान है। हम कुछ इष्ट अंशका त्याग करके कुछ अनिष्ट अंशका स्वीकार करते हैं। इसमें दोनों पक्षोंका समाधान नहीं होता। एक अंशमें दोनोंको सन्तोष होता है और एक अंशमें दोनोंको असन्तोष। समान सन्तोषके साथ-साथ समान असन्तोष होता है। अर्ध-सम्मतिके साथ अर्ध-असम्मति भी होती है। इसमें संगति और संवाद नहीं है। इसमें समान 'अन्वय' नहीं है। समन्वयमें विसंगति और विप्रतिपत्तिका परिहार है। इसलिये उसमें समान सम्मति और समान सन्तोष है। इसीलिये अद्वैतकी सिद्धि समन्वयकी प्रक्रियासे होती है।

विषमताके निराकरणके बिना अद्वैतकी सिद्धि कभी नहीं होगी। अद्वैत एक मनोवृत्ति, चित्तकी एक अवस्था, एक निष्ठा है; परंतु मनुष्यकी सारी कर्म-प्रणाली उसकी चित्तकी निष्ठा बनाने और उसे स्थिर रखनेके लिये है। इसे अभ्यास कहते हैं। अभ्यास यानी आदत डालनेकी चेष्टा, मुहावरा करनेका अविरत प्रयत्न। यही आचारधर्मका उद्देश्य है। हमारे सारे नीतिधर्म और आचारधर्मका हेतु द्वैतका निराकरण, विषमताका निवारण, भेदमेंसे अभेदकी ओर जानेका प्रयास होना चाहिये। हमारी बुद्धिगत निष्ठा और हृदयगत भावना हमारे व्यवहारमें व्यक्त होनी चाहिये। वृत्ति और कृति, दर्शन और वर्तन, विचार और आचारमें अभेद और संगति होनी चाहिये। यही समत्वकी साधना है। समत्वका साधन, उसकी कला 'योग' है। साध्य और साधनके अभेदके सिद्धान्तके अनुसार 'समत्व' ही 'योग' है। जीवनके हर एक क्षेत्रमें, दैनिक व्यवहारकी हर एक क्रियामें अभेदका अभ्यास ही 'समत्वयोग' है। अद्वैत केवल एक तत्त्वज्ञान नहीं है, वह जीवनका एक विज्ञान भी है। दोनोंको मिलानेसे निष्ठा बनती है। निष्ठामें बौद्धिक असंदिग्धता और अनुभवका प्रत्यय होता है। भारतीय संस्कृतिके इन दो शब्दोंमें—अद्वैत और समन्वयमें—समाज-जीवनके आदर्श और सामाजिक साधनाका संकेत है।

विप्रतिपत्ति, प्रतियोगिता, जय-पराजय प्राकृतिक हैं; लेकिन इनका निराकरण करना ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ चार हैं। उनको गिनाते हुए आरम्भमें धर्मको रखा गया है और अन्तमें मुक्तिको। बीचमें अर्थ और काम। अर्थ यदि धर्ममूलक और मुक्तिसाधक न हो,

तो वह अनर्थ हो जाता है। काम यदि धर्ममूलक और मुक्तिका साधक न हो, तो वह सारे जीवनका 'प्रणाश' करता है। अर्थ और कामका अधिष्ठान धर्म हो और उसकी परिणति मोक्षमें हो। आध्यात्मिक बलपर इन शब्दोंका अर्थ चाहे जो हो, हमारी व्यावहारिक सत्ताके बलपर धर्मका अर्थ है विषमताका परिहार, हितोंकी विप्रतिपत्तिका निवारण, समत्वकी सिद्धि। अर्थ-प्रवृत्तिकी प्रेरणाका मूल समत्वकी आकांक्षा हो और उसका परिपाक मुक्ति यानी अद्वैतकी स्थापनामें हो। सामाजिक मुक्तिमें हर एक व्यक्ति स्वाभाविकरूपसे स्वतन्त्र होता है। विप्रतिपत्ति और संघर्षके अभावमें एक-दूसरेपर आक्रमण या एक-दूसरेके जीवनमें बाधा पहुँचानेके लिये कोई प्रयोजन या अवसर नहीं रह जाता। सबके समान हित और सबके समान सुखमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है। समान श्रम और समान प्रतिफलका सिद्धान्त आर्थिक क्षेत्रमें चरितार्थ हो जाता है।

कामके क्षेत्रमें भी काम जब धर्ममूलक होता है, तब उसमें प्रभुत्व-भावनाके लिये कोई अवकाश नहीं रहता। वह जब मुक्तिप्रवण होता है, तब उसमें स्त्री और पुरुष एक-दूसरेकी वासना और उपभोगके विषय नहीं रह जाते। स्त्रीके मोहसे पुरुष विमुक्त हो जाता है और पुरुषके आक्रमणके भयसे स्त्री विमुक्त हो जाती है। दोनों एक-दूसरेकी तरफसे सुरक्षित हो जाते हैं। कामके क्षेत्रमें यह मुक्ति है।

आर्थिक क्षेत्रमें धर्मके नाम अस्तेय और अपरिग्रह है, उसका साध्य आर्थिक 'संविभाग' है। कामके क्षेत्रमें धर्मका नाम ब्रह्मचर्य है और उसका ध्येय स्त्री-पुरुषका वासना-निरपेक्ष सुरक्षित सहजीवन है।

अद्वैत और समन्वयके व्यापक विनियोगके दृष्टान्त भारतवर्षमें जितने ऊँचे मिलते हैं, उतने शायद ही और कहीं मिलते हों। भूतदया सभी धर्मोंका मूल है, लेकिन जितना बड़ा निवृत्त-मांस जनसमुदाय इस देशमें है, उतना संसारमें और कहीं नहीं है। पूछा यह जायगा कि मांस खाने-न-खानेसे संस्कृतिका क्या सम्बन्ध है? जवाब थोड़ेमें इस प्रकार है—

मनुष्य जबतक मृगयाजीवी था, तबतक वह प्राकृतिक अवस्थामें माना जाता था। वह आखेटके द्वारा अपने खाद्यका उपार्जन और उपादान करता था, लेकिन उत्पादन और निर्माण नहीं कर सकता था। जब वह शिकारीसे हरवाहा और चरवाहा बना, तब उसकी सांस्कृतिक उन्नतिका आरम्भ हुआ।

शिकारसे खेती अगर सांस्कृतिक जीवनमें अगला कदम है तो मांसाहारसे अन्नाहार भी अगला कदम समझा जाना चाहिये। शटलैंड और आइसलैंडमें शटलैंडर्स और एस्किमो लोग न खेती कर पाते हैं और न अन्य उत्पादन। मांस खाते हैं, चमड़ा पहनते हैं। हम कहते हैं, बेचारोंको सभ्य जीवनके साधन उपलब्ध नहीं हैं। उन बेचारोंके बुरे हालपर हम तरस खाते हैं। सारांश यह कि मनुष्य जैसे-जैसे अन्य प्राणियोंके साथ आत्मीयताका अनुभव करता है, वैसे-वैसे उसके जीवनका विकास होता जाता है। उसकी अहंता उतनी व्यापक हो जाती है। अहंता जब हमारे शरीरसे बाहर निकलकर अपना क्षेत्र बढ़ाने लगती है, तब वह अहंता न रहकर आत्मीयतामें परिणत हो जाती है। जीवनके क्षेत्रमें अद्वैत-भावनाके प्रयोगका नाम ही मानवेतर जीवधारियोंके साथ आत्मीयता है।

मानवीय संस्कृतिके भारतीय संस्करणका थोड़ा-सा स्वरूपवर्णन यहाँ किया है। दावा यह किया जाता है कि भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक है, भौतिक नहीं है। आध्यात्मिकताका क्या लक्षण है? यह बतलाना मेरा अधिकार नहीं है। इतना अवश्य कह देना चाहता हूँ कि अध्यात्म परोक्षज्ञानका विषय नहीं है, प्रत्यक्ष अनुभूतिका विषय है। वह केवल एक बौद्धिक विचार या मनोवृत्ति नहीं है—एक जीवन-निष्ठा है, जो हमारी वृत्तिमें और व्यवहारमें प्रकट होती है। आज हमारे जीवनमें आध्यात्मिकताका कहीं पता भी नहीं। आध्यात्मिक भारतमें भी शालग्राम-शिलाकी अपेक्षा हीरे, मूँगे और पन्नेका महत्त्व अधिक है। यहाँ किसीको उस स्पर्शमणिकी खोज नहीं है, जो आसुरी मनोवृत्तियोंको मंगलमय बना देती है। यहाँ भी उसी पारसपत्थरकी खोज है, जो लोहेको सोना बनाता है। आध्यात्मिक भारतका जीवन भी **'हिरण्मयेन पात्रेण'** अपिहित है। कारण यह है कि हमने अद्वैतको केवल एक वस्तुगत अवस्था माना है। एक रासायनिक स्थिति समझा है। तरंग समुद्रका अंश है—यह वस्तुगत सत्य है; लेकिन तरंगको उसकी कोई प्रतीति नहीं है। दूसरे तरंगोंके साथ आत्मीयता अनुभव करनेकी उसमें कोई आकांक्षा नहीं है। भेदमेंसे अभेदकी तरफ अग्रसर होनेकी कोई प्रेरणा उसमें नहीं है।

अद्वैतदर्शन इस प्रकारकी बाह्य वस्तुस्थिति नहीं है। आज हमारे सामाजिक जीवनमें और तत्त्वज्ञानके आदर्शमें जो विप्रतिपत्ति पैदा हो गयी है, उसका कारण यह है कि हमने पारमार्थिक सत्ताका व्यावहारिक सत्ताके साथ कोई अनुबन्ध नहीं माना। इन दोनों सत्ताओंको दो समानान्तर प्रवाहोंकी तरह बिलकुल भिन्न माना। परिणाम यह हुआ कि भारतवर्षके अध्यात्मवादी व्यक्तियोंमें द्विधा व्यक्तित्वका विकास हुआ। एक ही विग्रहमें दो परस्पर विरोधी व्यक्ति रहने लगे। एकका मुँह संसारोन्मुख था और दूसरा संसारविमुख। एक कल्पनाकी गन्धर्वनगरीमें रहता है, दूसरा व्यवहारकी माया-नगरीमें। एककी कल्पनासे दूसरेके व्यवहारका कोई मेल नहीं, कोई संगति नहीं। जो व्यक्तिके विषयमें हुआ, वही सामाजिक जीवनमें भी हुआ। हमारे दिव्य आदर्शोंका हमारे जीवनकी सरणीसे, हमारे सामाजिक व्यवहारकी परिपाटीसे कोई अनुबन्ध नहीं रह गया है। तत्त्वज्ञान द्युलोकमें रहता है और व्यवहार मृत्युलोकके भी अनुरूप नहीं है। मुक्त तो हम हो नहीं पाये, दूसरी कोटि 'पशु' की तरफ वेगके साथ बढ़ रहे हैं। इसलिये भारतीय संस्कृतिके हार्दकी तरफ संकेत करना आवश्यक समझा। इसी नम्र आकांक्षासे यह विवेचन किया गया है। इसके गुण-दोष सभी श्रीकृष्णार्पण हैं।

वैदिक राज्यशासन

[हिंदुओंकी प्राचीन राज्यशासन-व्यवस्था]

(लेखक—पं० श्रीश्रीपाद दामोदर सातवलेकर, वेदाचार्य, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार)

१. श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त धर्म

हिंदू सदासे अपना धर्म श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त मानते आये हैं और अपनी समाजव्यवस्था तथा शासनसंस्था भी उसी प्रकार श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त समझते हैं। इसलिये हिंदुओंकी प्राचीन राज्यशासन-व्यवस्थाका अर्थ श्रुतिके द्वारा प्रतिपादित राज्यशासन-व्यवस्था ही है। इसी व्यवस्थाको इस लेखमें बताना है। श्रुतिका अर्थ वेद और वेदमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्का समावेश परम्पराको माननेवालोंकी दृष्टिसे होता है।

ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेदका ब्राह्मण है और ऐतरेय महीदासकी रचनासे वह प्रसिद्धिमें आया है। इसमें वैदिकधर्मियोंकी शासनविषयक एक घोषणा है, जो यहाँ देखने योग्य है—

२. ऋषियोंकी घोषणा

स्वस्ति। साम्राज्यं, भौज्यं, स्वाराज्यं, वैराज्यं, पारमेष्ठ्यं राज्यं, महाराज्यं, आधिपत्यमयं, समन्तपर्यायी स्यात्, सार्वभौमः सार्वायुषः आन्ताद् आ परार्धात्, पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराड् इति॥ (ऐ० ब्राह्मण)

इसमें ऋषियोंकी तपस्यासे उस समय जितने राज्य-शासन प्रचलित हुए थे, उनकी गणना है। साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य राज्य, महाराज्य, आधिपत्यमय, समन्तपर्यायी—इन आठ प्रकारके राज्योंका उल्लेख इस वचनमें है। इनके अतिरिक्त जनराज्य, (जानराज्य), गणराज्य, राज्य—इनका भी वर्णन वेदमें है। संहितामें केवल थोड़ा-सा उल्लेख ही आता है; पर किस प्रकारका राज्य भारतवर्षके किस भागमें अथवा भारतवर्षके बाहर भी किस दिशामें था, इसका स्पष्ट उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें है अर्थात् यह एक इतिहासकी घटना है, केवल कविकल्पना नहीं है।

इस वचनमें जिन आठ राज्योंका उल्लेख है, उनका स्वरूप हम आगे देखेंगे; परंतु इस वचनमें जो ऋषियोंकी घोषणा है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतएव सबसे पहले उस घोषणापर विचार करना आवश्यक है। वह घोषणा यह है—

पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्।

'समुद्रपर्यन्त जितनी सब पृथ्वी है, उस सम्पूर्ण भूभागका एक ही आर्य राजा हो।' सम्पूर्ण पृथ्वी एक ही वैदिक शासनसे शासित हो। सम्पूर्ण पृथ्वीपर एक ही आर्य-राज्य हो और सब पृथ्वीपर एक ही आर्य-परिवार—'**वसुधा एव कुटुम्बकम्**'—हो। '**कृण्वन्तो विश्वं आर्यम्**' इस ऋग्वेदके वचनका यही स्पष्ट अर्थ है। यह था ऋषियोंका ध्येय। ऋषि इस महान् ध्येयको सत्य-सत्य सृष्टिमें लानेके लिये यत्न करते थे। पर यह ध्येय इस समयतक सत्य सृष्टिमें उतरा नहीं है; इतना

ही नहीं, प्रत्युत आर्योंका—हिंदुओंका—भारतवर्षियोंका संकोच ही होता चला आया है।

३. हिंदुओंका संकोच

संक्षेपसे ही देखिये—कैलास पर्वत पौराणिक युगमें हमारा था, वह आज नहीं रहा। गान्धार देश भारतवर्षके साम्राज्यमें था, वह आज नहीं है। इस समय तो सिंधु नदी भी भारतराज्यमें नहीं रही! इस वर्ष और भी अधिक संकोच हो गया है। गत पाँच सहस्र वर्षोंसे लगातार हमारा संकोच हो रहा है। हम अपनी समाज-व्यवस्थाकी कितनी भी प्रशंसा करें, पर आर्योंके राज्य-क्षेत्रका संकोच हो रहा है—इसमें संदेह नहीं है।

ऋषियोंकी घोषणा तो सम्पूर्ण समुद्रवलयांकित पृथ्वीका एक आर्य सम्राट् बनानेकी और सब भूमि वैदिक शासनसे शासित करनेकी थी। वे स्वर्गसे हमारे संकोचको देखते ही होंगे और अपने अन्तःकरणमें तड़पते ही होंगे। क्या होना चाहिये था और क्या बन रहा है!

इस समय यूरोपमें 'राष्ट्रसंघ' बना है। पर उनका कार्य सर्वथा स्वार्थसे भरपूर है। उनके विषयमें यहाँ अधिक न लिखना ही अच्छा है। पर वह ऋषियोंका ध्येय कदापि नहीं है। तपस्वी ऋषियोंका ध्येय तो संयममय ही हो सकता है। अब हम देखेंगे कि पूर्वोक्त वचनमें जो इतने राज्य-शासन कहे गये हैं, उनका ध्येय और स्वरूप क्या है—

१. साम्राज्य—सबसे प्रथम साम्राज्य है, पर यह आजकलके साम्राज्य-जैसा राक्षसी साम्राज्य नहीं। उदाहरण-स्वरूपमें हम यहाँ दो ही साम्राज्योंका उल्लेख करते हैं। भगवान् रामचन्द्रजी महाराजने रावणके साम्राज्यका नाश किया, परंतु रावणके राज्यको अपने राज्यमें नहीं मिलाया। रावणके राज्यको उसके भाई विभीषणके अधीन करके उसे 'आर्य-विधान' (Aryan constitution) देकर तथा इस आर्य-विधानके अनुसार अपना राज्यशासन चलानेकी आज्ञा करके वे स्वयं वापस आ गये और अयोध्यामें अपना राज्य करने लगे। शत्रुको परास्त करना और उसे आर्य-विधान देना—प्राचीन कालमें इतना ही साम्राज्यका अर्थ था। भगवान् श्रीरामचन्द्रने लंकाकी लूट नहीं की थी। वे तो लंका नगरमें गये भी नहीं। आर्य-विधान देकर विभीषणको पूर्ण स्वतन्त्र, परंतु अपना आज्ञांकित, आर्य-विधानसे बाहर न जानेयोग्य आज्ञांकित करके रखा। किसीके स्वातन्त्र्यका अपहरण करनेकी नीति उस समय नहीं थी।

रावणका साम्राज्य उस समय बुरे-से-बुरा समझा जाता था। रावणने राजाओंको परास्त किया था, लूटा भी था, उनकी स्त्रियोंका हरण भी किया था; परंतु जो स्त्री रावणपर अनुरक्त होती थी, उसीको वह अपने अन्तःपुरमें रखता था। इसीलिये वाल्मीकि मुनिने लिखा है कि जो रावणपर अनुरक्त न हुई हो, ऐसी एक भी स्त्री उसके अन्तःपुरमें सती सीतादेवीको छोड़कर दूसरी नहीं थी। आर्योंकी और ऋषि-मुनियोंकी दृष्टिमें रावण बुरे-से-बुरा था; पर उसने भी दूसरोंके राज्योंका हरण नहीं किया और किसी स्त्रीपर बलात्कार भी नहीं किया। इस रावणमें दूसरे राज्योंको लूटना, स्त्रियोंका अपहरण करना और उनको वश करके अन्तःपुरमें रखना—ये दोष अवश्य थे, जो ऋषियोंको असह्य हुए थे। पर रावणने अन्य स्त्रियोंपर बलात्कार नहीं किया था।

इसके पश्चात् हम देखते हैं कि मुसलमानोंने साम्राज्य स्थापित किये, अंग्रेजोंने किये, पोर्तुगीज आये। इन सबोंने राज्योंका हरण किया, स्त्रियोंपर अत्याचार किये, लूट की, पराजितोंको बुरी तरहसे दबाकर रखा। ये सब बातें इतिहासमें प्रसिद्ध हैं। इनको यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नहीं।

आजका 'साम्राज्यवाद' और प्राचीन ऋषि-मुनियोंकी 'साम्राज्यकी कल्पना' इसमें आकाश-पातालका अन्तर है। हम यहाँ जिस 'साम्राज्य' शब्दका प्रयोग कर रहे हैं, वह ऋषियोंका शब्द है, 'आधुनिक साम्राज्यवाद' का नहीं।

ऋषियोंके साम्राज्यमें एक समर्थ राजाका दूसरे अनेक राजाओंको परास्त करना, उनको अपना माण्डलिक बनाना और उनको 'आर्य-विधान' देकर इस विधानके अनुसार अपना राज्य चलानेका आदेश देना—इतना ही होता था। मुसलमानों और ईसाइयोंके आधुनिक साम्राज्यवादमें क्या होता था, वह भारतवर्षके गत इतिहाससे प्रसिद्ध है। अस्तु, ऋषियोंका सुसंयत साम्राज्य था। इसमें पराजितोंपर किसी तरह अत्याचार नहीं होते थे। परंतु पराजितोंकी उन्नति करनेके लिये उनको अधिक उत्तम शासनविधान दिया जाता था।

२. भौज्य—यह दूसरा राज्य-शासन है। इसके दो अर्थ मुख्यतः होते हैं। 'भु-ज'—पृथ्वीकी नैसर्गिक

अजन्ता गुफाओंका विहङ्गमदृश्य

[पृष्ठ ७८२

अजन्ताकी दीवारके दो प्रसङ्गदृश्य

[पृष्ठ ७८२

अजन्ताका अभ्यन्तर—भीतरी छतकी चित्रकारी और सुन्दर उत्कीर्ण स्तम्भ

अजन्ता—बरामदा और छतका भीतरी भाग

अजन्ता—मुखभाग
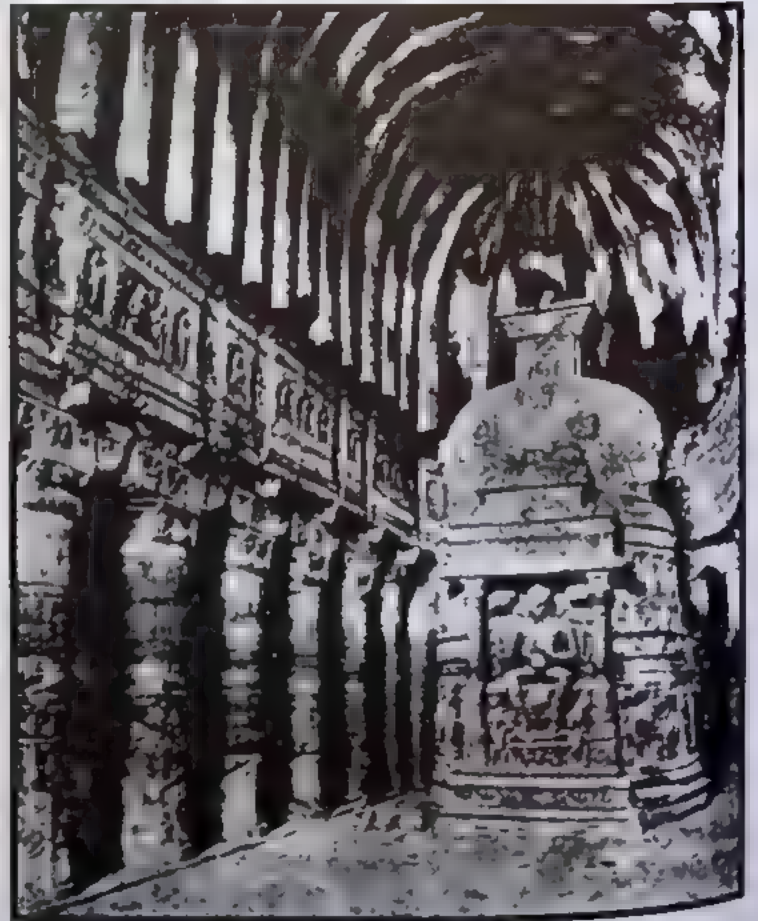
अजन्ता—चैत्य-मण्डपका अभ्यन्तर

[पृष्ठ ७८२

मर्यादाओंसे परिवेष्टित राज्य। जिस तरह भारतवर्ष—यह उत्तरमें हिमालय और दक्षिणमें समुद्रसे वेष्टित है। अतः यह भौज्य है। चूँकि निसर्गकी इस देशके लिये मर्यादा है, अतः यहाँका राजा इतने ही भू-विभागपर राज्य करे और बाहरके देशोंपर आक्रमण न करे। इंग्लिस्तान समुद्रसे मर्यादित है, इसलिये अंग्रेज उतने ही टापूमें रहे। इस तरह कई ऋषियोंने भौज्यके नियम निर्धारित किये थे। भौज्यका दूसरा अर्थ जो दूसरे ऋषिमण्डलसे निर्धारित हुआ था, वह था 'भुज' **पालनाभ्यवहारयोः** (To protect and govern)—प्रजाका भोजनप्रबन्ध करना और उनको सुरक्षित रखकर उनपर राज्य करना। इस अर्थमें प्रजाको खानेके लिये पर्याप्त अन्न, ओढ़नेके लिये पर्याप्त वस्त्र और रहनेके लिये सुखदायी घर देने तथा उनकी अन्तर्बाह्य सुरक्षितता सम्पन्न करनेका भार राज्य-शासनपर आता है। राजा जितनी प्रजाका यह भार उठा सके, उतनी ही प्रजापर वह राज्य कर सकता है। इस अर्थमें भी कुछ स्वारस्य है।

इसके पश्चात् 'स्वाराज्य' शासनका विधान है, पर अपने विषयकी सुबोधताके लिये हम इसका विचार अन्तमें करेंगे। अतः अब 'वैराज्य' का विचार करते हैं—

३. वैराज्य—(विगतराजकं वैराज्यं) जिसमें कोई राजा नहीं होता, सब जनता ही मिलकर अपना शासन चलाती है। इस वैदिक राज्यपद्धतिके अवशेष अब भी भारतवर्षमें हैं। महाराष्ट्रमें इसका नाम 'दैव' होता है। वह जाति सम्पूर्णतया अपनी ही जातिपर अपना अधिकार चलाती है। कोई एक राजा, शासक, नियामक, अध्यक्ष अथवा प्रधान नहीं होता। सम्पूर्ण जाति एक स्थानपर जमा होती है और निर्णय करती है, उस निर्णयका पालन वे लोग करते हैं। भारतवर्षमें ऐसी वन्य जातियाँ भी हैं, कि जो इस 'वैराज्य' के अवशेषको आज भी बताती हैं। इसमें दोष यह है कि इस प्रकारका शासन बहुत बड़े भू-भागपर नहीं हो सकता। छोटे-छोटे स्थानोंपर थोड़ी संख्यामें चलनेवाला यह शासन है। अथर्ववेदमें कहा है—

विराड् वा इदमग्र आसीत्। (८।१०।१)

'**(अग्रे)** प्रारम्भमें **(वि-राज्)** राजा अथवा शासक नहीं था।' इसीका नाम 'वैराज्य' है। सब जनता, अपने प्रतिनिधियोंद्वारा नहीं, अपितु स्वयं जो अपना प्रबन्ध करती है, वह 'वैराज्य' कहलाता है। यह **(अग्रे आसीत्)** मानव-समाजकी प्रारम्भिक अवस्थामें ही होना स्वाभाविक था और वैसा ही था।

इसके पश्चात् 'पारमेष्ठ्य राज्य' का नाम है। इसका विचार भी हम लेखके अन्तमें करेंगे।

४. महाराज्य—अनेक छोटे-छोटे राज्य स्वकीय इच्छासे एक होते हैं और एक विधानके अंदर अपने-आपको रखते हैं, वह 'महाराज्य' कहलाता है। इसमें किसीपर जबर्दस्ती या आघात नहीं, परंतु इसमें सबका लाभ ही है। जगत्‌की स्पर्धामें छोटे-छोटे राज्य रह नहीं सकते, इसलिये उनका परिवर्तन महाराज्यमें होना युक्त ही है; इसी तरह परिवर्तन होते-होते समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका एक विशाल महाराज्य हो सकता है और यदि इसमें स्वार्थ न बढ़ा, तो सबको अत्यन्त सुख भी मिल सकता है।

५. आधिपत्यमय—पति और अधिपति—ये राज्यके अधिकारियोंके नाम हैं। इनकी सम्मतिसे जो राज्य चलता है, वह आधिपत्यमय राज्यशासन है। अंग्रेजीमें इसका नाम 'व्यूरोक्रसी' है और स्वार्थ बढ़ जानेके कारण इसका भी आज बहुत ही घृणित अर्थ हो गया है। पाठक उस घृणित भावको इसमें न देखें और इतना ही समझें कि इसमें राज्याधिकारियोंके अधीन ही शासन-तन्त्र रहता है।

६. समन्तपर्यायी—(सामन्त-पर्यायी राज्य) जो राज्य-शासन सामन्तोंके अधीन रहता है, उसका यह नाम है। सामन्त माण्डलिक राजाओंका नाम है। उनके अधीन यह राज्य-शासन रहता है। एक आर्य-विधानके अनुसार जो सामन्त राज्य करेंगे, उनका शासन इतना निन्दनीय नहीं हो सकता। भरत और भगवान् रामचन्द्रके अधीन भी अनेक सामन्त थे। पर उनके होते हुए भी वह 'रामराज्य' ही कहलाया और इस समयतक उसकी प्रशंसा गायी जा रही है। पर आज तो यह सामन्त-मण्डलका राज्य भी घृणित अर्थसे दूषित हो गया है।

७. पारमेष्ठ्य राज्य—परमेष्ठी नाम प्रजापतिका है। परमेश्वरका यह नाम है। सबपर परमेश्वरका राज्य-शासन है, यह जानकर इसके अनुकूल अपना राज्य-शासन चलाना है। सामन्त-राज्य हो अथवा अधिपति-मण्डलका राज्य हो, यदि वे पारमेष्ठ्य राज्यको सर्वोपरि

मानकर अपना राज्य चलायेंगे तो वह निर्दोष हो सकता है।

वैदिक समयमें ऐसा ही होता था। सब आर्य एक वेदानुशासनके नीचे रहकर पारमेष्ठ्य राज्यको सर्वोपरि मानकर अपना कर्तव्य निष्काम भावसे करते थे। इसलिये मानवी स्वार्थके कारण जिन दोषोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना है, वे दोष उस शासनमें नहीं होते थे।

४. स्वाराज्य-शासन

८. **स्वाराज्य**—(स्वराज्य) स्वराज्य-शासन भी वैदिक समयका एक उत्तम राज्य-शासन है। आज भी इसी स्वराज्यका प्रयोग हम करते हैं। परंतु यह 'स्वाराज्य' है और आजकलका 'स्व-राज्य' है। इस स्वरभेदको पाठक स्मरण रखें। इस स्वरभेदके कारण जो विधान-भेद और अनुशासन-भेद होता है, वह बड़ा भारी है। यहाँ उसका परिपूर्ण विवरण करनेके लिये स्थान नहीं है, परंतु संक्षेपसे 'स्वाराज्य' में 'स्व' की शुद्धिपर अधिक ध्यान दिया जाता है और 'स्व-राज्य' में राज्य-शासनके अधिकार अपने अधीन रखनेके लिये विशेष यत्न होता है।

५. आत्मशुद्धि या अधिकारमद

पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इससे राज्य-शासनमें आकाश-पातालका अन्तर हो जाता है। 'स्वा-राज्य' में 'स्व' की शुद्धता, पवित्रता और निर्दोषता रखने अथवा करनेका यत्न होता है और ऐसे संयमी पुरुष ही राज्याधिकारपर रखे जाते हैं; इसलिये सम्पूर्ण राज्य-शासन परिशुद्ध रहता है। रिश्वतखोरी, दम्भ, असत्य, लोभ, अधिकारलिप्सा आदि उक्त 'स्वा-राज्य' शासनतन्त्रमें नहीं रहते।

परंतु जो 'स्व-राज्य' है, उसमें 'स्व' की शुद्धिकी उपेक्षा और 'राज्य' तन्त्रकी शक्तिसे स्वकीयोंके सुखका संवर्धन करनेका प्रयत्न होता है। इसलिये गुटबंदी उत्पन्न होती है। एक गुट दूसरे गुटको दबानेका प्रयत्न करता है और सर्वत्र संघर्षका वायुमण्डल बढ़ता जाता है। आजकल हम सर्वत्र यही देख रहे हैं। जनतन्त्र राज्य-शासन करनेकी घोषणाएँ तो होती रहती हैं, पर अंदर-अंदरसे अपने गुटोंको संवर्धित करना और दूसरोंको दबाना ही सब देशोंमें चल रहा है। अपना भारत देश भी आज इसी मार्गपर चल रहा है; इसका आदर्श इस समय 'आर्य-आदर्श' नहीं है, यूरोप-अमेरिकाके विधानको ही इसने अपना आदर्श मान रखा है। आर्य-विधानका इसको पता ही नहीं और जो बल महात्मा गान्धीजी 'आत्मशुद्धि' पर देते थे और जिस प्रकार अधिकार-ग्रहणसे दूर रहते थे, वह भाव अब दूर होता जा रहा है। इससे 'स्वा-राज्य' और 'स्व-राज्य' का भाव ठीक तरहसे पाठकोंके ध्यानमें आ जायगा। 'स्वा-राज्य' शासन वह है, जिसमें परिशुद्ध पवित्र धर्मनिष्ठ निष्पक्ष निष्काम पुरुषोंके अधीन शासनाधिकार रहते हैं; और 'स्व-राज्य' शासन वह है जिसमें अपने लोगोंके अधीन राज्य-शासन रहता है और वैयक्तिक परिशुद्धतापर कोई सच्चा बल नहीं दिया जाता।

स्वराज्यका यह भाव पाठक ध्यानमें धारण करें **'स्वराज्यमेव स्वाराज्यम्'**—स्वराज्य ही स्वाराज्य है; परंतु इसमें आत्मशुद्धिपर विशेष लक्ष्य रहता है।

संक्षेपमें स्वराज्यकी वैदिक कल्पना इस विवरणसे पाठकोंके ध्यानमें आ सकती है। उन दिनों यम-नियमोंका पालन—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदिकी शिक्षा प्रारम्भसे ही, विद्यार्थी-दशामें ही दी जाती थी। गुरुगृहमें रहकर लोग यम-नियमसम्पन्न हो जाते थे और वे ही राज्यशासनपर आते थे। आज पाठशालाओंमें, विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयोंमें न तो यम-नियमकी शिक्षा है, न आत्मसंयमकी ओर ध्यान है और न निष्काम सेवाकी ही कल्पना है। सर्वत्र असंयम, भोगलालसा, इन्द्रियचरितार्थता, अर्थ-पैशाचिकता और घोरतम स्वार्थपरताका प्रसार हो रहा है। इसीलिये वैदिक समयमें 'स्व' की पूर्णतापर बल था और आज 'राज्य' की शक्तिपर बल है। इसी कारण प्राचीन समयमें 'रामराज्य' बन सका; इस समय उसमेंसे 'राम' तो चला गया और केवल 'राज्य' ही हाथमें आ गया है!

अस्तु! अधिक विवरणकी आवश्यकता नहीं है। स्वाराज्य और स्वराज्य दोनों स्वराज्य ही हैं। दोनों जनराज्य ही हैं, पर एकमें व्यक्ति-सुधारपर बल दिया जाता है और दूसरेमें शासनशक्ति हाथमें रखनेपर बल दिया जाता है।

६. जानराज्य

वैदिक समयमें 'जान-राज्य' शब्द भी था। इसमें 'जान' अर्थात् जनताके सुधारपर बल है और दूसरा 'जनराज्य' है। इसमें राज्यव्यवस्थापर बल है। ये भी

वैसे ही शब्द हैं और वैसा ही गम्भीर भाव बता रहे हैं। बोलनेमें जिस पदके जिस स्वरपर जोर दिया जाता है, वही पद उस वाक्यमें मुख्य भाव बतानेवाला होता है। स्वरशास्त्रका यह नियम जैसा वैदिक समयमें था, वैसा ही इस समय भी विद्वत्संमानित है। इसीलिये विधानमें 'स्व' पर जोर है अथवा 'राज्य' पर जोर है, यही देखना चाहिये। वैदिक समयमें जो स्वराज्य था, उसमें 'स्व' पर जोर था और आत्मशुद्धिका विचार प्रबल था। शिक्षाका प्रारम्भ ही आत्मशुद्धिसे होता था। यम-नियम पालन करनेवालोंको ही सब विद्याएँ प्राप्त होती थीं। आर्योंकी प्रणाली यही थी। असुरोंकी प्रणाली भोगप्रधान थी, जिसका विस्तार रावणराज्यके रूपमें हमें मिलता है। जिसको देखना हो, वह देखे।

७. स्वराज्यके अधिकारी

इस तरहसे वैदिक स्वराज्यकी यह परिशुद्ध कल्पना सदा वन्दनीय ही है। इसीलिये वैदिक समयके ऋषिगण भी स्वराज्यशासनमें यत्न करते रहनेकी अभिलाषा रखते थे। अत्रिगोत्रके रातहव्य ऋषिका मन्त्र ही इस विषयमें देखिये—

आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्टे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥

(ऋग्वेद ५।६६।६)

इस मन्त्रके *'स्वराज्ये'* पदके स्वर भी *'स्व-राज्ये'* ऐसे ही हैं। वेदमें सर्वत्र स्वराज्यके 'स्व' पर ही बल दिया गया है। अर्थात् जहाँ आत्मशुद्धिपर ही विशेष बल दिया जाता है, ऐसा यह स्वराज्य है। इस मन्त्रका मुख्य वाक्य यह है—

व्यचिष्टे 'बहु'-पाय्ये 'स्व'-राज्ये आ यतेमहि।

'विस्तृत और बहुतोंद्वारा जिसका पालन होता है, ऐसे स्वराज्य-शासनमें हम जनताकी भलाईके लिये यत्न करते रहेंगे।'

यह तो इस मन्त्रभागका शब्दार्थ है। इसका विशेष अर्थ ध्यानमें लानेके लिये इस वाक्यके प्रत्येक शब्दका विचार करनेकी आवश्यकता है।

व्यचिष्ट—विस्तृत, व्यापक, सर्वतोगामी, संकुचित भाव जिसमें नहीं है, अर्थात् जो राज्य-शासन जनताके प्रत्येक मनुष्यको अर्थात् धर्मानुसार आचरण करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको सुख देनेका प्रयत्न करता है, अपना परिवार, अपनी जाति, अपने मतवाले आदिका पक्षपात जहाँ नहीं है, प्रत्येक वस्तुमें समानतया ईश्वरभाव देखकर जो व्यवहार होता है, उस असंकुचित व्यापक भावका नाम 'व्यचिष्ट' है। वैदिक स्वराज्यमें पक्षान्धता, गुटबाजी आदि नहीं थी, यह भाव इससे स्पष्ट हो जाता है।

बहु-पाय्य—बहुतोंद्वारा बहुसम्मतिसे जिसका पालन होता है, वह शासन यहाँ अभीष्ट है। एकको सम्मतिसे कितना भी अच्छा शासन हुआ, तो भी वह अनेक आत्मसंयमी पुरुषोंके शासनसे अधिक अच्छा नहीं हो सकता; इसलिये बहुतोंकी सम्मतिसे पालन होनेवाला राज्य ही श्रेष्ठ होता है। स्वराज्यके शासनके लिये ही यह विशेषण वेदमें लगाया है।

इन दो विशेषणोंसे वैदिक 'स्व-राज्यका अर्थ विशेष रूपसे स्पष्ट हो जाता है। जहाँ संकुचितताका भाव नहीं है और जहाँ बहुसम्मतिसे राज्यका संचालन होता है, वही स्वराज्य है। जिसमें ऋषिलोग (**आ यतेमहि**) 'हम अखिल मानवोंके हितार्थ प्रयत्न करेंगे', ऐसा भाव मनमें धारण करते थे। इस मन्त्रभागमें 'हम प्रयत्न करेंगे' यह कहा है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यहाँके 'हम' कौन हैं? कौन राष्ट्रकल्याणका प्रयत्न कर सकते हैं? कौन राष्ट्रकल्याण करनेके सच्चे अधिकारी हैं? किनके प्रयत्नसे सचमुच राष्ट्रका कल्याण हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर इसी मन्त्रके पूर्वार्धमें दिया है।'

८. राष्ट्रकल्याण कौन कर सकेंगे?

हे ईयचक्षसा! मित्र! सूरयः (एते) वयं स्वराज्ये आ यतेमहि।

'हे व्यापक दृष्टिवालो! हे मित्रत्वका व्यवहार करनेवालो! आप दोनों और हम सब विद्वान् मिलकर उक्त स्वराज्यमें सबके कल्याणके लिये प्रयत्न करेंगे।'

इस मन्त्रभागमें स्वराज्य-शासन चलानेके लिये कौन योग्य हैं, यह दिखलाया है। (१) व्यापक दृष्टिवाले अर्थात् जिनमें संकुचित दृष्टि नहीं है, अपने पक्षवालोंका—अपनी जातिका ही हित करना और अपने पक्षसे भिन्न मतवालोंको कुचलना—यह दुष्टभाव जिनमें नहीं है, जो सबके हितकी व्यापक दृष्टि रखते हैं, उनका नाम **'ईयचक्षाः'** है। इनको व्यापक दृष्टिवाले कहते हैं। ये लोग स्वराज्यशासन चलानेके अधिकारी हैं।

(२) दूसरे 'मित्र' वत् व्यवहार करनेवाले जनताके मित्र, जो सबका कल्याण करनेमें दत्तचित्त रहते हैं, जो कभी किसीसे द्वेष नहीं करते, वे मित्रवत् व्यवहार करनेवाले स्वराज्यशासन चलानेके अधिकारी हैं।

(३) तीसरे '**सूरयः**' अर्थात् ज्ञानी, सत्यज्ञानसे प्रकाशित होनेवाले विद्वान्, यथार्थ ज्ञान धारण करनेवाले— ये भी स्वराज्य-शासन चलानेके अधिकारी हैं।

इसका फलितार्थ यह हुआ—

स्वराज्यके अधिकारी	स्वराज्यके लिये अयोग्य
१. व्यापक दृष्टिवाले	१. संकुचित दृष्टिवाले
२. मित्रवत् व्यवहार करनेवाले	२. शत्रुता बढ़ानेवाले
३. ज्ञानी	३. अज्ञानी

जो स्वराज्यके लिये योग्य हैं, वे ही स्वराज्यमें शासक हो सकते हैं। अर्थात् वैदिक स्वराज्यमें व्यापक दृष्टिवाले, मित्रवत् व्यवहार करनेवाले और ज्ञानियोंको ही अधिकारके स्थान प्राप्त हो सकते हैं; परंतु जो संकुचित दृष्टिवाले, शत्रुता करनेवाले और अज्ञानी हैं, उनको वैदिक स्वराज्यमें मताधिकार भी नहीं होगा।

९. सबको मताधिकार

आज हमारे नेता कह रहे हैं कि 'सभी पूर्ण आयु' (१९ वर्षकी आयु)-वालकोंको इस स्वराज्यमें मताधिकार होगा।' अब आप देखिये कि इसमें यम-नियमकी कोई आवश्यकता नहीं है, व्यापक दृष्टिकी कोई योग्यता नहीं, मित्रवत् व्यवहार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँतक कि विद्याकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। देखिये वैदिक स्वराज्य और आजका स्वराज्य कैसा है—

वैदिक स्वराज्यके मताधिकारी	आजके स्वराज्यके मताधिकारी
१. व्यापक दृष्टिवाले	१. केवल १९ वर्षकी आयुवाले
२. मित्रवत् व्यवहार करनेवाले	२. सज्जन और दुर्जन
३. ज्ञानी, विद्वान्	३. विद्वान् और मूर्ख
४. आत्मसंयमी	४. सबको मताधिकार

वैदिक धर्मके स्वराज्यमें 'स्व' की उन्नतिपर ध्यान दिया जाता था; इसीलिये यम-नियम-पालन, व्यापक दृष्टि, मित्र-दृष्टि और सत्यज्ञानवालोंको ही मताधिकार दिया जाता था। आजके स्वराज्यमें 'राज्याधिकार' प्राप्त करना ही सबका लक्ष्य है, इसलिये केवल आयुकी ही मर्यादा रखी गयी है। यह महत्त्वपूर्ण भेद है वैदिक स्वराज्यमें और आजके स्वराज्यमें। यही स्वर-भेदसे 'स्वा-राज्य' अथवा 'स्व-राज्य' लिखा जाता है। पाठक ही विचार करें कि 'स्व' की शुद्धिपर बल देना चाहिये अथवा राज्यका शासनाधिकार ही केवल प्राप्त करना चाहिये। किससे जनताका सच्चा कल्याण हो सकता है?

१०. विश्व-कल्याणका ध्येय

वैदिक ऋषि जनताके सच्चे कल्याणका ही ध्येय अपने सामने रखते थे—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विद-
स्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं
तदस्मै देवा उपसं नमन्तु॥

(अथर्व० १९।४१।१)

'सब जनताका कल्याण करनेकी इच्छा रखनेवाले आत्मज्ञानी ऋषियोंने प्रारम्भमें दीक्षा लेकर तप किया। इससे राष्ट्र, बल और ओजका निर्माण हुआ; अतएव सब विबुध इस राष्ट्रकी भक्ति करें।'

ऋषियोंकी तपस्यासे राष्ट्रभावकी उत्पत्ति हुई है, राष्ट्रभावनासे राष्ट्रिय बल बढ़ता है और बड़ी शक्ति प्राप्त होती है। '**ततो राष्ट्रं बलं ओजः च जातम्**' यह क्रम वेदमें ही निश्चित हो चुका है। राष्ट्रियता, बल, ओज—इनमें एकके साथ दूसरेका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अटूट है। जिनका राष्ट्र है, उनमें बल और ओज होंगे; जो शताब्दियोंसे परतन्त्र होंगे, उनमें राष्ट्रिय भावना नहीं होगी, सांघिक बल भी नहीं होगा और ओज भी नहीं रहेगा।

ऋषियोंकी तपस्यासे जिस राष्ट्रियताकी उत्पत्ति हुई, वह राष्ट्रियता यम-नियम-पालनके बिना कदापि विकसित नहीं हो सकती। इसीलिये ऋषियोंद्वारा जो पूर्वोक्त अनेक राज्य-शासन निर्माण हुए, उनकी शासन-प्रणालीमें यम-नियम-पालन करनेवालोंके लिये ही स्थान है। इसमें ***'सब धान बाईस पसेरी'*** या ***'टके सेर खाजा और टके सेर ही भाजी'*** के अनुसार सज्जन-दुर्जन सब एक ही मापसे मापे नहीं जा सकते। उसमें इन्द्रियलोलुप, उच्छृंखल, द्वेष-दम्भसे युक्त, दुष्कृत्यरत लोगोंको स्थान नहीं।

वैदिक स्वराज्यशासनका यही महत्त्व है और यही वैदिक स्वराज्यकी विशेषता है। देखिये—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।

(अथर्व० ११।३।५)

'ब्रह्मचर्यरूप तप करके ही राजा और राष्ट्रपुरुष राज्य-पालन-व्यवहारके अधिकारी होते हैं।' ब्रह्मचर्य-पालनमें 'यम-नियम' आ गये हैं। यह वैदिक राज्यशासनका सूत्र है। ऋषियोंके तपका यह फल है। जिस शासन-प्रणालीसे जनताका सच्चा सुख बढ़ सकता है, वह यही शासन है।

सम्पूर्ण तरुणोंको अथवा प्रौढ़ोंको मताधिकार रहनेसे बहुसम्मति तो मूढ़ोंकी ही सम्मति होगी, इसमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता। जनतामें मूढ़ ही बहुसंख्यक हैं और सच्चे ज्ञानी अल्पसंख्यक हैं। इसलिये वेदने जानराज्यमें ज्ञानियोंका ही अधिकार रखा है, सदाचारियोंका ही अधिकार रखा है। लोक ज्ञानी बनें, सदाचारी बनें और स्वराज्यशासनमें अपना कर्तव्य करनेके अधिकारी हों।

इतने प्राचीन समयमें जिन ऋषियोंने इतने आठ-दस राज्यशासनोंके नामाभिधान रखे और उनका पृथक्-पृथक् निर्देश किया, उनको राज्यशासन-विषयक कल्पना नहीं थी और जो सब-की-सब जनताको शासनाधिकार देते हैं, उनको शासनतन्त्रका ज्ञानविशेष है—यों कई यहाँ कहेंगे। पर इसका निर्णय तो अनुभवसे ही हो सकेगा।

वैदिक राज्यशासन 'गुणी और धार्मिक सज्जनोंका शासन' है तथा इसकी जो विशेषता है, वह पूर्वोक्त वर्णनसे पाठक जान सकते हैं। यह एक परिपूर्ण शासनव्यवस्था है, जिससे समस्त जनताका सच्चा कल्याण हो सकता है।

आदर्श राज्यानुशासन-विज्ञान

(लेखक—पं० श्रीराजमंगलनाथजी त्रिपाठी, एम०ए०, एल-एल०बी०)

वर्तमान युगमें समस्त विश्वके मानवमात्र सुख-शान्तिकी खोजमें अथक परिश्रम कर रहे हैं और विविध ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न होनेके लिये सचेष्ट हैं; तथापि कठिनाइयोंसे मुक्ति नहीं मिलती, दुःख और क्षोभ बढ़ता ही जा रहा है। *'ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों-त्यों उरझत जात।'* भीषण समस्या है। यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, राजा, प्रजा, शासनव्यवस्था और समस्त विभूतियोंकी प्राप्तिके साधन हैं; परंतु कष्टोंकी भयानकता बढ़ती ही जा रही है। कल्याणका मार्ग दृष्टिपथमें आता ही नहीं। आये भी कैसे? बबूलका बीज वपन करके आम्रफल प्राप्त करना असम्भव है। आधुनिक जगत्के पास वह शान्तिका मूल बीज ही नहीं है। आइये, त्रिकालदर्शी जगत्-हितरत तपोनिष्ठ भारतीय ऋषियोंके द्वारा प्रदर्शित मार्गका अनुसरण करें। वही कल्याणका, सुख और शान्तिका मार्ग है। उन्होंने शासन-सत्ताको ही कालनियामक स्थिर किया है। वह शासन-सत्ता चाहे राज-सत्तात्मक, प्रजा-सत्तात्मक, राजप्रजा-सत्तात्मक अथवा किसी भी प्रकारकी हो, शासनान्तर्गत समस्त क्रियाओंका दायित्व उसीपर होता है। शासनके धर्ममूलक होनेसे प्रवृत्तिका निरोध और निवृत्ति या अनासक्तिका पोषण होता रहता है। अतः राजा-प्रजा दोनोंमें सुख-समृद्धि और शान्तिकी अभिवृद्धि होती रहती है। अधर्म-मूलक शासनमें निवृत्तिका निरोध और प्रवृत्तिका पोषण होता है; अतः परिणाम होता है—काम, क्रोध, लोभ, दुःख, दैन्य, अशान्ति इत्यादि। धर्म ही आर्योंके राज्यानुशासन-विज्ञानकी आधारशिला है। राम-राज्य आदर्श धर्ममूलक राजशासनका प्रतीक है। भारतभूमिके कण-कणमें राम-राज्यकी विभूति अन्तर्हित है; परंतु पश्चिमकी अधर्ममूलक प्रवृत्तिके अन्धानुकरणके मोहसे विमुग्ध नर दुःख-दैन्यसे छूटनेके लिये दुःखद मार्गको ही प्रश्रय दे रहा है। यह सबसे बड़ी विडम्बना है। भारतीय राम-राज्य-शासन-पद्धतिमें ईश्वरत्वकी प्रतिष्ठा है। **'नराणां च नराधिपम्'**, **'रामः शस्त्रभृतामहम्'** इत्यादि भगवान्के स्वमुखसे उच्चारित वाक्य इस दिशामें निरन्तर प्रकाश दे रहे हैं। धर्ममूलक शासनमें व्यवस्था स्थापित करनेके लिये शुद्ध धार्मिक भावसे, अनासक्त भावसे युद्धादिमें प्रवृत्त होनेपर भी दुर्भावनाएँ नहीं सतातीं। भगवान्ने अर्जुनको इसीलिये समझाया था—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८।१७)

राम-राज्यकी महिमा अवर्णनीय है। उसका पूर्ण

परिचय प्राप्त करनेके लिये रामायण-महाभारतादि आर्ष ग्रन्थोंका अवलोकन करना आवश्यक है। परंतु केवल परिचयमात्रसे क्या होगा। समस्त दुःखोंसे मुक्ति पानेके लिये राम-राज्यकी स्थापना ही एकमात्र उपाय है। इस महान् यज्ञमें सफलता-प्राप्तिके लिये त्याग, तप आदि तो आवश्यक हैं ही; किंतु सबसे अधिक आवश्यक है—भगवान्की सत्ता, शक्ति और कृपामें अटूट श्रद्धा और अनन्य विश्वास। श्रद्धा और विश्वाससे ही हमें वह बल मिल सकेगा, जिससे हम वर्तमान दुःखद विधानोंमें परिवर्तन कर सकें। महाभागवत महात्मा गान्धीने प्राणोंकी बाजी लगाकर सन्मार्गका प्रदर्शन किया है, यह जगद्विदित है; तथापि अभी मोहनिद्रा भंग नहीं हो रही है। जीवनका वह सर्वोदय-दिवस होगा, जिस दिन हम सर्वात्मना अपनेको भगवत्शरणमें अर्पणकर उपासनाकी आगसे स्वयं भगवान्को इतना द्रवीभूत कर देंगे कि उन्हें अपनी—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९।२२)

—इस प्रतिज्ञाकी पूर्तिके द्वारा राम-राज्यकी स्थापना करनी ही पड़े। समस्त प्रजाके योगक्षेमवहनका यह स्वरूप है। हिंदू-संस्कृतिके आदर्श शासनविज्ञानका यह रहस्य है।

हिंदू राजाके लक्षण और कर्तव्य

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

१-राजाकी आवश्यकता

बृहस्पतिका कहना है कि लोकमें जो धर्म देखा जाता है, उसका मूल कारण राजा ही है। राजासे डरनेके कारण ही प्रजा एक-दूसरेको नहीं सताती। जब प्रजा मर्यादाको छोड़ने लगती है और लोभके वशीभूत हो जाती है, तब राजा ही धर्मके द्वारा उसमें शान्ति स्थापित करता है। यदि राजा न हो तो थोड़े जलमें रहनेवाली मछलियों और नीरव वनमें रहनेवाले पक्षियोंके समान प्रजा भी आपसमें लड़-झगड़कर बात-की-बातमें नष्ट हो जाय। बलवान् लोग निर्बलोंकी बहू-बेटियोंको छीन लें और वे यदि सीधे-सीधे न दें तो वे उनके प्राणोंके ग्राहक बन जायँ। साधारण मनुष्योंके पास जो वाहन, वस्त्र, अलंकार और तरह-तरहके रत्न हों, उन्हें पापी-लोग लूट लें। यदि राजा रक्षा न करे तो धर्मात्माओंको तरह-तरहका शस्त्राघात सहना पड़े, पापका ही प्रचार होने लगे। पापीलोग माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरुओंको भी दुःख देने लगें; धनवानोंको मौत और बन्धनका क्लेश भोगना पड़े, कोई भी मनुष्य किसी वस्तुपर अपना स्वत्व न मान सके, लोग अकालमें ही कालके गालमें जाने लगें, देशमें दस्युओंकी ही प्रधानता हो जाय, व्यापार मिट्टीमें मिल जाय, नीति और कर्मकाण्डका लोप हो जाय, बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञ देखनेको भी न मिलें और न विवाह या समाजका ही संगठन रहे। यदि राजा प्रजाका पालन न करे तो सारे संसारमें त्रास फैल जाय, सबके हृदय डाँवाडोल हो जायँ, सब ओर हाहाकार मच जाय और क्षणमात्रमें इस सारे संसारका नाश हो जाय। दधिमन्थनका व्यवसाय बंद होकर अहीरोंके टोले नष्ट हो जायँ। फिर तो ब्रह्महत्यारा भी मौजसे ऐन्द्रिय सुख भोगता रहे, चोर हाथों-हाथ प्रजाकी चीजें उड़ा ले जायँ, धर्मकी सारी मर्यादा टूट जाय, लोग भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगें, जगत्में अन्याय फैल जाय, प्रजा वर्णसंकर हो जाय और देशमें दुर्भिक्ष पड़ने लगे। इसीसे देवताओंने प्रजाके पालन करनेवाले राजाकी सृष्टि की है—

राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्॥
राजा ह्येवाखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम्।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते॥
यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहंगमाः।
विहरेयुर्यथाकामं विहिंसन्तः पुनः पुनः॥
हरेयुर्बलवन्तोऽपि दुर्बलानां परिग्रहान्।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत्॥
यानं वस्त्रमलंकारान् रत्नानि विविधानि च।
हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत्॥
मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम्।
क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत्॥
न यज्ञाः संप्रवर्तेयुर्विधिना स्वाप्तदक्षिणाः।
न विवाहाः समाजो वा यदि राजा न पालयेत्॥

न नृपाः संप्रवर्तेरन्न मथ्येरंश्च गर्गराः।
घोषाः प्रणाशं गच्छेयुर्यदि राजा न पालयेत्॥
हस्ताद्धस्तं परिमुषेद् भिद्येरन् सर्वसेतवः।
भयार्तं विद्रवेत्सर्वं यदि राजा न पालयेत्॥
अनया संप्रवर्तेरन् भवेद्वै वर्णसंकरः।
दुर्भिक्षमाविशेद्राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत्।
एतस्मात्कारणाद्देवाः प्रजापालान् प्रचक्रिरे॥

किंतु इस तरहके राजा तो सब कोई नहीं हो सकते। राजाओंमें बहुत-सी शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक विलक्षणताएँ होती हैं, जो साधारण मनुष्योंमें नहीं होतीं। राजाके स्वभाव, व्यवहार तथा शारीरिक रचनामें क्या विलक्षणता होती है—यहाँपर संक्षेपमें इसीका विचार किया जायगा।

२-राजा शब्दकी व्युत्पत्ति तथा मुख्य लक्षण

'राजृ दीप्तौ' इस धातुसे **'राष्ट्रावारपाराद् घखौ'** इस सूत्रद्वारा घ प्रत्यय करनेसे 'राजा' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है चमकनेवाला अर्थात् प्रतापवान्। शान्तिपर्वके ५९ वें अध्यायमें युधिष्ठिरद्वारा यही प्रश्न उठाया गया है कि यह 'राजा' शब्द कैसे उत्पन्न हुआ। इसका उत्तर भीष्मने बड़े विस्तारसे इसी अध्यायमें तथा ६९ वें अध्यायमें दिया है और अन्तमें बतलाया है कि सारी प्रजाको प्रसन्न करनेके कारण उसे राजा कहा जाता है—

रंजिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते।

(महा० शा० रा० प० ५९। १२५)

श्रीमद्भागवतका कहना है कि अपनी चेष्टाओंसे प्रजाके मनको आनन्द देनेके कारण ही उसे राजा कहा गया।

रंजयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः।
अथामुमाहू राजानं मनोरंजनकैः प्रजाः॥

(श्रीमद्भा० ४। १६। १५)

मनुका कहना है कि विचारकर दण्ड देनेसे सारी प्रजा प्रसन्न रहती है—

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रंजयति प्रजाः।

(मनु० ७। १९। ३)

कालिदासने रघुके विषयमें कहा है कि जिस तरह सभीका आह्लादन कर चन्द्रमाने अपना नाम सार्थक किया और सबको तपाकर सूर्यने अपना नाम सार्थक किया, वैसे ही रघुने भी प्रजाका रंजन करके अपना 'राजा नाम' सार्थक कर दिया—

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरंजनात्॥

(रघु० ४। १२)

महाभारतका कहना है कि जिसके मरनेपर जिसके कार्यकी सारे मनुष्य सादर प्रशंसा करें, वही राजा राजा हैं—

यस्य वृत्तं नमस्यन्ति स्वर्गस्थस्यापि मानवाः।
पौरजानपदामात्याः स राजा राजसत्तमः॥

(शा० प० २५। ३६)

अन्यत्र इसी ग्रन्थमें कहा गया है कि जिसमें धर्म विराजता हो, उसीको राजा कहते हैं—

यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते।

(शा० प० ९०। ३१८)

अपने यहाँके शब्द कुछ कारण लेकर ही रचे गये हैं। 'राजा' शब्दका अर्थ प्रजाका रंजन करनेवाला, धर्मकी मूर्ति तथा दीप्तिमान् है तथा यही उसका सर्वप्रधान लक्षण तथा कर्तव्य है। पर आजकी हवा विचित्र है, आजके बुद्धिमान् समझे जानेवाले लोगोंको इस 'राजा' शब्दसे बड़ा प्रचण्ड द्वेष हो गया है और इन्हें इस शब्दमें तानाशाही Auto cracy की बू मिलती है, पर 'राष्ट्रपति' या 'सभापति' शब्द, जिसमें स्पष्ट ही 'पति' शब्दद्वारा स्वामित्वका निर्देश है, बड़ा रुचता है। इसे यदि हम **'सर्वार्थान् विपरीतांश्च'** देखना कहें, तो क्या अनुचित है।

३-राजाके गौण लक्षण

भगवान् श्रीरामका कहना है कि राजकुलमें उत्पन्न, शील, अवस्था, सत्त्व (धैर्य), दाक्षिण्य, क्षिप्रकारिता, दृढभक्तित्व, अविसंवादिता (सत्यप्रतिज्ञता), कृतज्ञता, दैव-सम्पन्नता (भाग्यशालिता), अक्षुद्रपरिवारता, दीर्घदर्शिता, पवित्रता, स्थूललक्ष्यिता (दानशीलता), धार्मिकता, वृद्धसेवा, सत्य और उत्साह आदि गुणोंसे सम्पन्न व्यक्ति ही राजा होनेयोग्य है।

कुलं शीलं वयः सत्त्वं दाक्षिण्यं क्षिप्रकारिता।
अविसंवादिता सत्यं वृद्धसेवा कृतज्ञता॥
दैवसम्पन्नता बुद्धिरक्षुद्रपरिवारता।
शब्दसामन्तता चैव तथा च दृढभक्तिता॥
दीर्घदर्शित्वमुत्साहः शुचिता स्थूललक्षिता।
विनीतत्वं धार्मिकता साधोश्च नृपतेर्गुणाः॥

(अग्निपु० रामोक्तनी० २३९। २—५)

याज्ञवल्क्यका कहना है कि राजाको महान् उत्साही, स्थूललक्ष (अत्यन्त दानी), कृतज्ञ, वृद्धसेवी, विनययुक्त, धैर्ययुक्त, कुलीन, सत्यवादी, पवित्र, अदीर्घसूत्री, स्मृतिमान्, अक्षुद्र परिवारवाला, धार्मिक, अव्यसनी, पण्डित, शूर तथा रहस्यवित् होना चाहिये। उसे अर्थगोपनमें चतुर, आत्मविद्या तथा राजनीतिमें निपुण, लाभके उपाय तथा तीनों वेदोंमें प्रवीण होना चाहिये—

महोत्साहः स्थूललक्षः कृतज्ञो वृद्धसेवकः।
विनीतः सत्त्वसम्पन्नः कुलीनः सत्यवाक् शुचिः॥
अदीर्घसूत्री स्मृतिमानक्षुद्रपुरुषस्तथा।
धार्मिकोऽव्यसनश्चैव प्राज्ञः शूरो रहस्यवित्॥
स्वरन्ध्रगोप्तान्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च।
विनीतस्त्वथ वार्तायां त्रय्यां चैव नराधिपः॥

(याज्ञ० आचार० राजधर्म० ३०९—३१२)

कामन्दकका कहना है कि पहले तो अपनेको गुणसम्पन्न करना चाहिये, फिर दूसरोंको। महात्मा, पृथ्वीका देवतास्वरूप, अकृतात्माओंको दुष्कर, आत्मसंस्कारसम्पन्न व्यक्ति ही राजा होनेयोग्य है—

आत्मानमेव प्रथममिच्छेद् गुणसमन्वितम्।
कुर्वीत गुणसंयुक्तस्ततः शेषपरीक्षणम्॥
साधुभूतलदेवत्वदुष्करं चाकृतात्मभिः।
आत्मसंस्कारसम्पन्नो राजा भवितुमर्हति॥

(कामन्दक० मण्डकमो० ४।३-४)

शुक्रका कहना है कि पूर्वजन्मके तपके कारण ही व्यक्ति राजा होता है। पिछले जन्ममें वह जैसी तपस्या कर चुका होता है, उसीके अनुरूप वह सात्त्विक, राजसी या तामसी होता है। जो राजा सात्त्विक तप किये होता है वह धर्मनिष्ठ, प्रजापालक, यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला, शत्रुविजेता, दानी, क्षमावान्, शूरवीर, निर्लोभी तथा विषय और व्यसनोंसे विरक्त होता है और वह सात्त्विक राजा अन्तसमयमें मोक्षको प्राप्त होता है—

नृपः स्वप्राक्तनाद्धत्ते तपसा च महीमिमाम्।
सात्त्विकं राजसं चैव तामसं त्रिविधं तपः।
यादृक् तपति योऽत्यर्थं तादृग्भवति स नृपः॥
यो हि स्वधर्मनिरतः प्रजानां परिपालकः।
यष्टा च सर्वयज्ञानां नेता शत्रुगणस्य च।
दानशौण्डः क्षमी शूरो निःस्पृहो विषयेष्वपि॥
विरक्तः सात्त्विकः स हि नृपोऽन्ते मोक्षमन्वियात्।

(शुक्रनीतिसार १।२०, २९—३१)

इसी प्रकार नारद तथा कात्यायनने भी राजाके लक्षण बतलाये हैं। किंतु कौटिल्यने अपने अर्थशास्त्रके 'मण्डल-योनि' नामक छठे अधिकरणमें अत्यन्त विस्तारसे विचार किया है। उनका कहना है कि 'राजाके १६ आभिगामिक, ८ प्रज्ञाके, ४ उत्साहके तथा ३० आत्मसंपत्के गुण हैं, जिनमें महाकुलीन, भाग्यशाली, मेधावी, धैर्यशाली, दूरदर्शी, धार्मिक, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, कृतज्ञ, महादानी, महान् उत्साही, क्षिप्रकारी, दृढ़निश्चय, समीपवर्ती राजाओंको जीतनेमें समर्थ, उदार परिवारवाला और शास्त्रमर्यादाको चाहनेवाला—ये राजाके १६ आभिगामिक गुण हैं—'

महाकुलीनो दैवबुद्धिः सत्त्वसम्पन्नो वृद्धदर्शी धार्मिकः सत्यवागविसंवादिकः कृतज्ञः स्थूललक्षो महोत्साहोऽदीर्घसूत्रः शक्यसामन्तो दृढबुद्धिरक्षुद्रपरिषत्को विनयकाम इत्याभिगामिका गुणाः। (कौटिल्य० ६।१।३)

'शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊहापोह, तत्त्व तथा अभिनिवेश—ये आठ प्रज्ञाके गुण हैं। शौर्य, अमर्ष, शीघ्रता तथा दक्षता—ये ४ उत्साहके गुण हैं। इसी प्रकार आत्मसंपत्के विषयमें कौटिल्य कहते हैं कि 'वाग्मी (अर्थ-पूर्ण भाषण करनेमें समर्थ), प्रगल्भ (सभामें बोलते समय कम्परहित), स्मृति, मति तथा बलसे युक्त, उन्नतचित्त, संयमी, हाथी-घोड़े आदिके चलानेमें निपुण, शत्रुकी विपत्तिमें चढ़ाई करनेवाला, अपनी विपत्तिमें सेनाकी रक्षा करनेवाला, किसीके द्वारा उपकार या अपकार किये जानेपर उसका प्रतिकार करनेवाला, लज्जाशील, दुर्भिक्ष और सुभिक्ष आदिमें अन्नादिका ठीक-ठीक विनियोग करनेवाला, लंबी और दूरकी सोचनेवाला, अपनी सेनाके युद्धोचित देश, काल, उत्साह, शक्ति तथा कार्यको प्रधानतया देखनेवाला, सन्धिके प्रयोगको समझनेवाला, प्रकाश-युद्ध आदि करनेमें चतुर, सुपात्रको दान देनेवाला, प्रजाको कष्ट न पहुँचाकर ही गुप्तरूपसे कोषको बढ़ानेवाला, शत्रुके अंदर मृगया-द्यूत आदि व्यसनोंको देखकर उसपर तीक्ष्णरस आदि प्रयोग करनेमें समर्थ, अपने मन्त्रको गुप्त रखनेवाला, दीन पुरुषोंकी हँसी न उड़ानेवाला, टेढ़ी भौंह न करके देखनेवाला, काम, क्रोध, लोभ, मोह, चपलता, उपताप और पैशुन्यसे सदा आगे रहनेवाला, प्रिय बोलनेवाला, हँसमुख तथा उदार भाषण करनेवाला और वृद्धोंके उपदेश तथा आचारका माननेवाला राजा होना चाहिये। ये ही राजाकी आत्मसंपत्

हैं—(कौ० ६।१।४—६)। 'मत्स्यपुराण' तथा 'महाभारत' में भी ये लक्षण कुछ संक्षेपमें तथा कुछ विस्तारपूर्वक कहे गये हैं।

४-राजाके दोष

नारदजीने कहा है कि नास्तिकता, मिथ्याभाषण, क्रोध, प्रमाद (अकर्तव्यका आचरण और कर्तव्यका त्याग), दीर्घसूत्रता, ज्ञानवान् पुरुषोंसे न मिलना, आलस्य, इन्द्रिय-परायणता, अकेले ही समस्याओंपर विचार करना, अनभिज्ञ लोगोंके साथ मन्त्रणा करना, मन्त्रणामें निश्चित कार्योंका आरम्भ न करना, मन्त्रणाको गुप्त न रखना, मांगलिक कार्योंका प्रयोग न करना, और एक ही साथ बहुतसे शत्रुओंके साथ विरोध करना। राजाको परीक्षापूर्वक इन चौदह दोषोंसे वचना चाहिये—

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पंचवृत्तिताम्॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम्।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम्॥
मंगलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः।
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश॥

(महा० सभा० ५।१०७—१०९)

५-ज्यौतिष-शास्त्रानुसार राजाके लक्षण

'बृद्धपराशर' का कहना है कि जन्मकुण्डलीमें त्रिकोण (५, ८)-स्थान लक्ष्मीके हैं तथा केन्द्र (१, ४, ७, १०—यहाँ विशेषतः ४।१० का भाव है) विष्णुके स्थान हैं। इन भावोंके स्वामियोंका परस्पर सम्बन्ध होनेसे राजयोग होता है, विशेषतः नवमेश-दशमेशके संयोगसे राजा—राजाधिराज होता है—

लक्ष्मीस्थानं त्रिकोणं च विष्णुस्थानं च केन्द्रकम्।
तयोः सम्बन्धमात्रेण राजयोगादिकं भवेत्॥
कर्मेशस्य तु योगेन राजा साचिव्यतामियात्।
केन्द्रधर्मेशयोर्योगे राजा वै राजवन्दितः॥
धर्मकर्माधिपौ चैव व्यत्यये तावुभौ स्थितौ।
युक्तश्चेद्वै तदा वाच्यः सर्वसौख्यसमन्वितः॥

(बृ० पा० पू० खं० राजयो० २८।३७—४०)

वराहमिहिरका कहना है कि मंगल, शनैश्चर, सूर्य और बृहस्पति—ये चारों ग्रह अपने उच्च स्थानोंमें स्थित होकर लग्नमें स्थित हों तो राजा होता है। इन्हीं चारों ग्रहोंमेंसे दो ग्रह अपने उच्च स्थानोंमें स्थित होकर आपसमें प्रत्येक लग्नमें स्थित हों और चन्द्रमा अपने स्थानमें स्थित हो तो राजयोग होता है—

वक्रार्कजार्कगुरुभिः सकलैस्त्रिभिश्च
स्वोच्चेषु षोडशनृपाः कथितैकलग्ने।
द्वैकाश्रितेषु च तथैकतमे विलग्ने
स्वक्षेत्रगे शशिनि षोडश भूमिपाः स्युः॥

(बृहज्जा० राज० ११।२)

माण्डव्यका कहना है कि मकर राशि लग्नमें स्थित हो और उसीमें शनैश्चर हों तथा मीन राशिमें चन्द्रमा, मिथुनमें मंगल, कन्यामें बुध और धनमें बृहस्पति हों तथा सूर्य और शुक्र—ये दोनों कहीं भी स्थित हों तो इस योगमें पैदा होनेवाला व्यक्ति इन्द्रके समान राजा होता है—

मृगे लग्ने सौरस्तिमियुगगतः शीतकिरणः
कुजो युग्मे नार्यां शशभृतसुतश्चापधरगः।
गुरुर्दैत्येज्यार्कावभिमतगतौ चारवशतः
प्रसूतौ यस्यासौ भवति नरपः शक्रसदृशः॥

जातक-पारिजातका मत है कि कन्या, मीन, मिथुन, वृष, सिंह, कुम्भ और धनमें सब ग्रह स्थित हों तो वह मनुष्य बड़ा यशस्वी एवं प्रतापी राजा होता है तथा उसके पास चतुरंगिणी सेना होती है—

कन्यामीननृयुग्मगोहरिधनुःकुम्भस्थितैः खेचरैः
सेनामत्तमतंगवाजिविपुलो राजा यशस्वी भवेत्॥

(जा० पा० ७।१)

सारावलीकी उक्ति है कि एक भी ग्रह परमोच्चका होकर वर्गोत्तमांशमें हो और बली मित्रसे दृष्ट हो तो जातक राजा होता है—

एक एव खगः स्वोच्चे वर्गोत्तमगतो यदि।
बलवन्मित्रसंदृष्टः करोति पृथिवीपतिम्॥

फलदीपिकाकारका मत है कि जिसके जन्मसमय जो ग्रह नीच राशिमें प्राप्त हो, उस नीच राशिका स्वामी या उस ग्रहके उच्चस्थानका स्वामी लग्नसे या चन्द्रमासे केन्द्रमें स्थित हो, वह धर्मात्मा और चक्रवर्ती राजा होता है—

नीचे तिष्ठति यस्तदाश्रितगृहाधीशो विलनाद्यदा
चन्द्राद्वा यदि नीचगस्य विहगस्योच्चर्क्षनाथोऽथवा।
केन्द्रे तिष्ठति चेत् प्रपूर्णविभवः स्याच्चक्रवर्ती नृपो
धर्मिष्ठोऽन्यमहीशवन्दितपदस्तेजोयशो भाग्यवान्॥

जातकाभरणका मत है कि जिसकी कुण्डलीमें पाँच ग्रह अपने-अपने उच्चमें बैठे हों तो वह सार्वभौम

(चक्रवर्ती) राजा होता है—

नभश्चराः पंच निजोच्चसंस्था यस्य प्रसूतौ स तु सार्वभौमः।

(जातकाभ० ६।१३)

पराशरजीका मत है कि 'नवमेश और दशमेश—ये दोनों पारिजातांशमें प्राप्त होकर भोग करते हों तो वह राजा लोकशिक्षक होता है। यदि ये ही दोनों गोपुरांशमें चले गये हों तो वह राजा राजाओंसे भी वन्दित होता है और सारी पृथ्वीका पालक—चक्रवर्ती होता है। श्रीरामचन्द्र तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी कुण्डलियोंमें पाँच ग्रह उच्चस्थ थे तथा हरिश्चन्द्र, मनुपुत्र उत्तम, बलि, युधिष्ठिर आदिकी कुण्डलियोंमें नवमेश तथा दशमेश परस्पर सम्बन्ध रखते हुए गोपुरांशको प्राप्त थे। नागार्जुन और विजयाभिनन्दनकी कुण्डलियोंमें भी ये ही योग रहेंगे। भगवान्‌के सभी अवतारोंमें ये ही ग्रह प्रथम देवलोकांशमें प्राप्त हुए होते हैं। द्वितीय देवलोकांशमें इन्द्रादिकोंका तथा प्रथम ऐरावतांशमें स्वायम्भुव मनुका जन्म हुआ था।'

अस्मिन् योगे हरिश्चन्द्रो मानवश्चोत्तमस्तथा।
बलिर्वैश्वानरो राजा अन्ये चैव तु चक्रपाः॥
कलौ युगे तु भविता तथा राजा युधिष्ठिरः।
भविता शालिवाहश्च तथा विजयनन्दनः॥
नागार्जुनस्तथा भूपस्तदन्ये चैव गोपुरे।
पारावतांशकेऽन्ये च जाता मन्वादयस्तथा॥
देवलोके तु प्रथमे हरेश्चैवावतारणम्।
मत्स्यादिकल्किपर्यन्ताः सर्वे वर्गोद्भवा मताः॥
द्वितीये देवलोके तु ज्ञेयाश्चेन्द्रादयः परे।
ऐरावते च प्रथमे जातः स्वायम्भुवो मनुः॥

(बृहत्पाराशर होरा० पूर्वभाग० २८।४१।४८)

राज्यकी प्राप्ति कब होगी, इसका वर्णन करते हुए भगवान् गर्गाचार्य कहते हैं कि जो ग्रह कर्मस्थ हो या लग्नस्थ हो या जो अत्यन्त बली हो, उसीकी अन्तर्दशामें राज्यकी प्राप्ति होती है—

लग्नः कर्मगो वा स्यादथवा प्रबलोऽपि यः।
स स्यात्स्वान्तर्दशाकाले राज्यदः प्रबलो यदा॥

६-राजाके सामुद्रिक लक्षण

जब भगवती श्रीसीताजीने हनुमान्‌जीसे पूछा कि 'भगवान् राम और लक्ष्मणकी आकृति कैसी है?' तब हनुमान्‌जीने ठीक सामुद्रिक रीतिसे भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन किया। आपने कहा कि 'उनके तीन अंग मजबूत हैं, तीन लंबे हैं, तीन बराबर हैं, तीन ऊँचे हैं, तीन लाल हैं, तीन चिकने हैं तथा तीन गम्भीर हैं।'

त्रिस्थिरस्त्रिप्रलम्बश्च त्रिसमस्त्रिषु चोन्नतः।
त्रिताम्रस्त्रिषु च स्निग्धो गम्भीरस्त्रिषु नित्यशः॥

(वा० रा० सु० ३५।१७)

सामुद्रिक-शास्त्रमें बतलाया गया है कि राजाकी जाँघ, कलाई और मुट्ठी मजबूत होती हैं। भौंहें, मुख और बाहु लंबे होते हैं। केशाग्र, बाहु तथा वृषण बराबर होते हैं। वक्षःस्थल, नाभिका अन्तिम भाग और उदर ऊँचे होते हैं। नेत्रोंके कोने, नख और हाथ-पैरके तलवे—ये तीन वस्तुएँ लाल होती हैं। हाथ-पैरकी रेखाएँ, सिरके बाल तथा मणि चिकने होते हैं एवं स्वर, चाल और नाभि गम्भीर होती हैं। भगवान् श्रीरामके इन सभी लक्षणोंको हनुमान्‌जीने संक्षेपमें वर्णन किया था—

ऊरुश्च मणिबन्धश्च मुष्टिश्च नृपतेः स्थिराः।
प्रलम्बा यस्य स धनी त्रयो भ्रूमुखबाहवः॥
केशाग्रं वृषणं जानु समं यस्य स भूपतिः।
नाभ्यन्तःकुक्षिवक्षोभिरुन्नतैः क्षितिपो भवेत्॥
नेत्रान्तनखपाण्यङ्घ्रितलैस्ताम्रस्त्रिभिः सुखी।
स्निग्धा भवन्ति वै येषां पादरेखाः शिरोरुहाः॥
तथा लिंगमणिस्तेषां महाभाग्यं विनिर्दिशेत्।
स्वरे गतौ च नाभौ च गम्भीरः स च शस्यते॥

अन्यत्र कहा गया है कि जिसके हाथ-पैरोंमें हाथी, छत्र, मत्स्य, पुष्करिणी, अंकुश और वीणाके चिह्न हों, वह राजा होता है—

चेद्वारणो वाऽऽतपवारणो वा
वैसारिणः पुष्करिणी सृणिर्वा।
वीणा च पाणौ चरणे नराणां
ते स्युर्नराणामधिपा वरेण्याः॥

'जिसका गोल सिर, चौड़ा मस्तक, कर्णान्त-विस्तारी नीलकमल-सदृश नेत्र और घुटनेतक लंबी भुजा हो, वह सारे भूमण्डलका स्वामी होता है।'

सुवृत्तमौलिस्तु विशालभाल-
श्चाकर्णनीलोत्पलपत्रनेत्रः।
आजानुबाहुं पुरुषं तमाहु-
र्भूमण्डलाखण्डलमार्यवर्याः॥

'अग्निपुराण' के २४३वें अध्यायमें तथा 'स्कन्दपुराण', काशीखण्ड, पूर्वभागके स्त्रीलक्षण-वर्णनाध्यायमें राजा

और रानियोंके लक्षण विस्तारसे लिखे गये हैं। जिज्ञासुओंको उन्हें वहीं देखना चाहिये। असलमें, जैसा राजाके प्रधान लक्षणोंमें बताया गया है, उसकी तपस्या ही उसके राजत्वका कारण होती है। 'शुक्र' का यह कहना बिलकुल ठीक है कि 'अपने पूर्वजन्मके तपके कारण ही व्यक्ति राजा होता है।' अपने यहाँके राजाओंमें स्वायम्भुव मनु, ध्रुव, प्राचीनबर्हिष्, इक्ष्वाकु, मुचुकुन्द विदेह, गाधि, रघु, अम्बरीष, गय, सगर, मान्धाता, अलर्क, रन्तिदेव, बलि, अमूर्तरय, दिलीप, शिबि, प्रह्लाद एवं विभीषणादि ही प्रशंसनीय हैं। यह स्पष्ट है कि धर्म तथा तपके कारण राज्यभ्रष्ट व्यक्ति भी राज्यारूढ़ हो गये हैं, इसके विपरीत धर्मभ्रष्ट होनेपर राज्यारूढ़ भी राज्यच्युत होता देखा गया है—

बहवोऽविनयाद् भ्रष्टा राजानः सपरिच्छदाः।
वनस्थाश्चैव राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे॥

(मत्स्य० २१५।५३)

यहाँ 'विनय' शब्द 'इन्द्रियजय' का द्योतक है।

विनयो हीन्द्रियजयस्तैर्युक्तः पालयेन्महीम्।

(अग्नि० रामोक्तनी० २३८।३)

भगवान्‌की शरणागति तो सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है और विशेषकर आजकलके युगमें तो एकमात्र यही धर्म बच रहा है; अतएव राजाके लिये तन-मनसे भगवत्-शरण होना ही प्रमुख कर्तव्य होना चाहिये। यदि राज्यपाटके नशेमें वह भगवान्‌को भूलकर वेन या रावण-सा आचरण करने लगता है, तब *'राम बिमुख संपति प्रभुताई। गई रही पाई बिनु पाई॥'* हो जाती है।

७-राजाका कर्तव्य

साधारणतया राजाके गौण लक्षणोंमें ही उसके कर्तव्यकी चर्चा भी आ गयी है। उसके कर्तव्योंके विस्तृत वर्णनमें पूरी राजनीति ही आ जाती है। 'मत्स्यपुराण' के २१५ वें अध्यायमें अत्यन्त संक्षेपमें राजाके कर्तव्यका विचार है। फिर उनतालीस अध्यायोंमें उन्हींका विस्तार है। पर प्रधानतया राजाका कर्तव्य 'धर्मरक्षण' ही है। सभी शास्त्रों, इतिहास-पुराणों तथा राजनीतिके ग्रन्थोंमें इसीको विस्तारसे बतलाया गया है। असलमें तो धर्मरक्षणके अतिरिक्त राजाका कोई अन्य कर्तव्य ही नहीं होता। यही कारण है कि हरिश्चन्द्र आदि राजाओंने धर्मके कारण राज्यश्रीतकको त्याग दिया। जिन्हें भगवान्‌ने बुद्धि दी है, वे दूरतक विचार करते हैं; फिर वे समझ लेते हैं कि इस नश्वर विश्वमें आजतक कितने राजा हुए और चले गये—यह पृथ्वी कितनोंकी हुई और भाग निकली, अब उनमेंसे बहुत-से राजाओंके नामतकका पता नहीं है, इसलिये अधर्माचरणकर लोक—भगवान् तथा महात्माओंको क्यों असन्तुष्ट किया जाय? इसके अतिरिक्त समय पलटते ही भगवान् तो धर्मकी रक्षा करा ही लेते हैं। उन अधार्मिकोंकी बादमें निन्दा भी कम नहीं होती। इसलिये भगवान् रामने ठीक ही कहा है कि कोई भी बुद्धिमान् राजा इन बातोंको सोचता हुआ पापाचरण न करेगा—

आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने।
को हि राजा शरीराय धर्मापेतं समाचरेत्॥

(अग्नि० २३।१२)

'आधि-व्याधिसे ग्रस्त तथा आज या कल ही नष्ट होनेवाले इस शरीरके लिये कौन राजा धर्मविरुद्ध आचरण करेगा।'

वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्व-
मापातमात्रमधुरा विषयोपभोगाः।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमा नराणां
धर्मः सदा सुहृदहो न विरोधनीयः।

'यह पृथ्वीका आधिपत्य हवामें उड़नेवाले बादलके समान है, विषय-भोग केवल आरम्भमें ही मधुर लगनेवाले हैं, प्राण तिनकेके अग्रभागमें स्थित जलबिन्दुके समान हैं, धर्म ही मनुष्योंका सनातन सुहृद् है, उसके विपरीत आचरण नहीं करना चाहिये।'

भारतीयोंकी निष्कपटता

'भारतवर्षके करोड़ों व्यक्ति वहाँके साधु-संतोंकी ही भाँति रहते आये हैं—सहजरूपसे सरल, कपटरहित और ऋणरहित।'

—प्रो० पी० जॉर्ज

संस्कृतिकी मीमांसा

(लेखक—डॉ० श्रीजयेन्द्रराय भ० दूरकाल, एम० ए०, डी० एस-सी०, विद्यावारिधि)

'संस्कृत' और 'संस्कार' शब्द पुरातन और बहुशास्त्र-प्रयुक्त है। 'संस्कृति' शब्द इनकी अपेक्षा नया है। अमरकोश अथवा आप्टेके कोशमें यह नहीं है। अंग्रेजी 'कल्चर' और 'सिविलिजेशन' शब्दोंका अर्थपरिचय करानेके लिये इस शब्दका प्रयोग होता है; परंतु इन अंग्रेजी शब्दोंका अर्थ भी सुनिश्चित नहीं है। इसी प्रकार 'संस्कृति' शब्दका अर्थ भी प्रवाही है। इसकी कोई शास्त्ररूढ़ परिभाषा नहीं है, पर परिभाषा बनानेका प्रयत्न है। ऐसी ही परिस्थिति 'हिंदू' शब्दकी भी है। संस्कारी मानव-समाजके लिये पुरातन शब्द 'आर्य' था। सिन्धु नदीके समीप या पारका देश सिन्धुस्थान, हिंदुस्थान (अथवा इंडस नदीके नामपर इंडिया) कहलाया और वहाँके लोग हिंदू कहलाये। इस प्रकार 'हिंदू' शब्द पर-प्रत्यय है। परंतु इस समय यह बहुत रूढ़ और बहुत व्यापक हो गया है। तथापि इसके आज भी देशवाचक, जातिवाचक और धर्मवाचक—विभिन्न अर्थ किये जाते हैं।

देशकी भाषाओंमें सामान्य रूपसे इन शब्दोंका जैसा प्रयोग होता है, उसपरसे अर्थ-भावना करके यों कह सकते हैं कि शुभ, शुद्ध अथवा सुसम्बद्ध करनेकी जो क्रिया है, वह है संस्कार, और जिसका संस्कार होता है, वह है संस्कारी। संस्कार-समुच्चयका स्थायी भाव है संस्कारिता। देशगत या समाजगत संस्कारिताका व्यापक प्रस्तार है—संस्कृति। इसी अर्थमें हिंदू-संस्कृति, यूरोपीय संस्कृति, ब्राह्मण-संस्कृति इत्यादि प्रयोग किये जाते हैं। 'हिंदू' शब्दको हम यदि धर्मवाचक अर्थात् धर्मप्रधान लक्षणवाला मानें और धर्मको विशिष्ट शास्त्र-ग्रन्थोंद्वारा उदित और निश्चित समस्त जीवनका पुण्य मार्ग समझें तो 'हिंदू' शब्दमें जैन, सिख, देवसमाजी, ब्राह्मसमाजी, बौद्ध आदि नहीं समा सकते; क्योंकि इनकी धर्ममार्गकी मीमांसा और नियमादि पृथक् हैं, विचार-पद्धति भी भिन्न है। केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद्‌में एक सदस्यने एक बार कहा था कि 'हिंदमें जो बसते हैं, वे हिंदू हैं।' ऐसा मान लें तो हिंदूमें मुसलमान और ईसाई भी आ जायँगे। इससे अतिव्याप्ति दोष होगा। 'हिंदू' शब्दको जातिवाचक कहें तो अव्याप्ति दोष आ जायगा; क्योंकि संथाल, कोल, भील भी हिंदू कहलाते हैं और आर्य जातियाँ भी हिंदू कहलाती हैं। 'हिंदू' शब्दका वृत्त (घेरा) विस्तृत करनेके लिये राष्ट्रवादी बौद्ध, जैन, सिख, ब्राह्मसमाजी इत्यादिको हिंदूमें परिगणित करना चाहते हैं। पर ऐसा करनेसे हिंदू या हिंदूधर्म अथवा हिंदू-संस्कृतिका कोई स्थायी सिद्ध स्वरूप नहीं रहता। कारण, इनमेंसे कोई देवी-देवताओंको नहीं मानता, कोई वर्णव्यवस्था नहीं मानता और कोई धर्मशास्त्रका ईश्वरोदित होना नहीं मानता। कितने अवतार, मन्त्रशास्त्र, श्राद्ध, तीर्थ आदि नहीं मानते, जो हिंदू-समाजके विशेष चिह्न हैं। अतः सब दृष्टियोंसे विचार करके 'हिंदू' शब्दका अर्थ हम इस प्रकार कर सकते हैं कि वेदादि-शास्त्रोदित धर्मव्यवस्थाका जो अवलम्बन करता है, वही हिंदू है, ऐसे हिंदुओंसे बना हुआ समाज हिंदू-समाज है और ऐसे समाजमें जो संस्कृति व्यापक है, वही हिंदू-संस्कृति है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हिंदू-संस्कृति वेदादि सनातन धर्मशास्त्रोंपर फलित होनेवाली संस्कृति है; और वेदादि शास्त्र मानव-जातिके पुरातन मौलिक पुण्यग्रन्थ होनेसे यही संस्कृति पुरातन संस्कृति, मानव-संस्कृति और सनातन संस्कृति है।

संस्कृतिके लिये कभी-कभी 'सभ्यता' शब्दका भी प्रयोग होता है। दोनोंमें यह भेद है कि संस्कृति मनुष्यके अखिल जीवनको संस्कारित करती है और सभ्यतासे केवल बाह्याचार लक्षित होता है। संस्कृति जीवनव्यापिनी चेतना है, सभ्यता शरीरपर धारण किये हुए आभूषण। इसी दृष्टिसे यूरोपादि देशोंके सुधारोंको संस्कृति न कहकर सभ्यता कहा जाता है। संस्कृतिकी भावना बहुत ऊँची होनेसे पंचमकार-प्रधान देशवालोंको संस्कृतियुक्त कहनेमें हिचक होती है। परंतु ऐसे कुछ देशोंकी द्रव्यशक्ति, क्रियाशक्ति और विज्ञानशक्ति विशाल होनेसे ये अपनी ही बात दुनियासे मनवाते और उच्चतर संस्कृतिका आदर्श रखनेवाले देशोंको पिछड़े हुए देश मानते और मनवाते हैं। ये लोग ऐसी नीतिसे चलते हैं, जिससे इन्हींकी सभ्यताकी प्रशंसा हो और ये संसारमें अग्रणी गिने जायँ। इनकी ओरसे पैरवी करनेवाले इनके ग्रन्थकारोंमें कोई विषय-सुखके साधनोंकी अभिवृद्धिको,

कोई सामान्य मानव-जीवनमें बढ़ती हुई संकीर्णताको और कोई संहारके साधनोंकी बहुलताको ही संस्कृतिकी प्रगतिके लक्षण बतलाते हैं।

हम पहले सूचित कर आये हैं कि हिंदू-संस्कृति अथवा आर्य-संस्कृति ही सनातन और पुरातन संस्कृति हो सकती है। इस सनातन मानव-संस्कृतिके सम्बन्धमें कुछ भ्रमोंका निवारण पहले ही कर लेना अच्छा होगा। कितने यूरोपीय लेखकोंने पहले यह कल्पना की थी कि मानव-जाति पाँच-छः हजार वर्षोंसे इस पृथ्वीतलपर है। पर हमारे पुराण और आधुनिक विज्ञान भी यह बतलाते हैं कि मानव-जाति पृथ्वीतलपर करोड़ों वर्षोंसे इसी प्रकार चली आयी है, अर्थात् यह सनातन मानव-संस्कृति भी करोड़ों वर्षोंसे चली आयी है। इस बीच कितने ही उलट-फेर हो गये हैं। उपर्युक्त ईसाई भ्रमके कारण उन लेखकोंने मानव-इतिहासको पाँच-छः हजार वर्षोंमें जकड़कर अति संकुचित कर दिया है और प्राचीन ऐतिहासिक विवरणों और सत्य घटनाओंको अविश्वसनीय कहकर उड़ा दिया है। मनुष्य-बुद्धिकी और कल्पनाकी दीनता और पामरता इतनेसे ही ध्यानमें आ सकती है कि आजसे सौ वर्ष पहले जिन चीजोंको असम्भव और केवल काल्पनिक समझा जाता था, वे चीजें—रेडियो, टेलीवीजन, अणुबम आदि आज प्रत्यक्ष हैं। अतः हमारी बुद्धिकी त्रिज्या-रेखामें कोई सच्ची वस्तु या घटना यदि नहीं आती तो यह बुद्धिकी क्षुद्रता है, इतिहासकी अतथ्यता नहीं। हमारे पुराण-इतिहासकारोंका सत्यका आदर्श इतना महान् और निर्मल था कि उन पुराणेतिहासोंका पठन करनेवालोंके चित्त भी सत्यके उपासक बन जाते हैं। हमारे इन पुराणेतिहास-ग्रन्थोंमें आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इतिहासका कभी स्पष्टतया भिन्न-भिन्न रूपसे और कहीं मिश्ररूपसे कथन किया गया है। इसी प्रकार लोक-लोकान्तरकी कथाएँ भी उनमें आती हैं, फिर अनेकों युगों और मन्वन्तरोंमें उनका विस्तार होता है। इन कथाओंको समझनेमें यह बात ध्यानमें रखनी पड़ती है कि इस सच्चे इतिहासमें विश्वके स्थायी तत्त्वोंका विवेचन हुआ है और इस कारण इसमें प्रयुक्त भाषाके शब्द व्यक्तिवाचककी अपेक्षा जातिवाचक अर्थमें अधिकतर प्रयुक्त देखनेमें आते हैं। इससे यह होता है कि शब्दोंकी अभिधाशक्तिसे लोकरंजन होता है, साथ ही उनकी व्यंजनाशक्तिसे विद्वान् विनम्र शरणागतिके मार्गपर आ जाते हैं। उदाहरणार्थ, जगदीश्वर परमात्मा शिव अपने लिंग अर्थात् विश्वके पूजनका आग्रह करते हैं। इसमें कितनी उदार भावना प्रतिष्ठित देख पड़ती है। यह विश्व विश्वेश्वरका लिंग यानी चिह्न है, यह स्पष्ट ही है। इसी प्रकार शवपर खड़ी चामुण्डाके दर्शनका क्या अभिप्राय है? चामुण्डा चेतनाशक्ति हैं, जिनके बिना यह शरीर शव है। इसपर चेतना देवी बैठकर इसे जीवित करती हैं; तभी वह चलने-फिरने, दौड़ने-उड़ने और काम करने लगता है। इस देहका यही मनोहर सत्य है।

मनुष्य-जातिकी भाषाओं, इतिहासों और गणना-पद्धतियोंको देखकर यह पता लगता है कि मानवजाति मूलतः एक ही थी। मानव, मैन आदि शब्द, पुराणोंमें सुरक्षित इतिहास तथा संख्या, वार इत्यादिका साम्य इस बातका मोटे तौरपर समर्थन करता है। इतिहाससे भी यह प्रकट है कि मानवजाति बाल्यकालमें बहुत ही सरल, निर्मल और बलवान् थी। पीछे युग-युगमें जो परिवर्तन होता गया, उससे धर्मका अंश घटता गया और अधर्मका अंश बढ़ता गया। कितने ही यूरोपीय विद्वानोंने इसमें उलटी ही भावना करके विकासवाद अथवा उत्क्रान्तिवादकी कल्पना की और यह मान लिया कि संसार उत्तरोत्तर अधिकाधिक उन्नति कर रहा है और हमलोग किसी दिन उन्नतिके शिखरपर जा बैठेंगे। पर पिछले दो महायुद्धोंने तथा जगत्की वर्तमान परिस्थितिने भी इन विचारोंकी अयथार्थता दिखला दी है। अब तो यहाँतक अधःपात बढ़ चला है कि कोई भी मनुष्य अपने ही ५०, ६० वर्षोंके जीवनमें संसारकी अधोगति देख सकता है। यह स्पष्ट ही समझमें आता है कि युग-युग धर्मका ह्रास होता है—यह सिद्धान्त विश्वसनीय और वास्तविक है। यह तो सब जानते ही हैं कि सत्य, दया, तप और शौच—धर्मके ये चार पाद हैं और मोह, दुःसंग एवं मद—इन तीन अधर्मांशोंके द्वारा उनका ह्रास होता है। सत्ययुगमें अपने-अपने कर्म करके सब लोग कृतकृत्य रहते थे। त्रेतायुगमें दुष्टोंसे उनका परित्राण करनेके लिये धर्म खड़ा रहता है। द्वापर इन दोनोंसे विचित्र है—परस्परभिन्न कौरव-पाण्डवोंके समान भले-बुरेका इसमें मिश्रण रहता है। और कलियुग तो कलि, कलह और कुमतसे ही परिपूर्ण होता है। आर्य ऋषियोंने युगोंको यथार्थरूपमें देखकर उनके वैसे ही नाम भी रखे हैं।

हमारी हिंदू-संस्कृति यथार्थमें सनातन मानव-संस्कृति है। विशेष बात इतनी ही है कि हम आर्योंने

इस संस्कृतिको अखण्डरूपमें सुरक्षित रखा है और अन्य लोगोंने अपनी स्थितिके अनुरूप इसका खण्डमात्र स्वीकारकर सन्तोष कर लिया है। इस प्रकार मिस्र, यूनान, बाबिलन, चीन, ईरान आदि देशों तथा अनेक धर्म-सम्प्रदायोंकी विविध संस्कृतियाँ निकलीं और दुनियामें फैलीं। इन विविध संस्कृतियोंमें सत्य, दया, तप और पवित्रताके आचार-विचारका रूपान्तर देख पड़ता है। पर मुख्य तात्त्विक बात यह है कि जहाँ ये चारों न्यूनाधिकरूपमें सर्वत्र देख पड़ते हैं, वहाँ आर्य-संस्कृतिमें इन चारोंकी गहराईमें उतरकर इनके सम्पूर्ण आचार-विचारका आयोजन किया गया है। इसीलिये अन्य लोगोंको यह वस्तु बहुत अद्भुत मालूम होती है। कोई उसे 'अतिशयता' मानते हैं, कोई चकित होकर चुप बैठते हैं, कोई भ्रम अथवा जंगली आदर्शका अवशेष या कल्पनाकी एक विचित्र सृष्टि कहकर सन्तोष कर लेते हैं। यथार्थमें आर्योंकी सत्यमूलक ऐतिहासिक दृष्टि कितनी तीव्र और असामान्य है, यह दिनमें तीन बार देश, काल और क्रियाका संकल्प करनेकी रीतिसे ही स्पष्ट हो जाता है। कालगणनामें सुभीतेके टट्टूपर सवार न होकर प्रत्येक दिन और महीनेके ग्रहोंके योगानुसार यथार्थ सृष्टि-सत्त्वोंसे काल निर्णय करनेवाली प्रजाकी सत्यनिष्ठा कितनी बलवती होनी चाहिये। जिनकी संस्कृत भाषामें सत्य, संयम और शक्ति इतनी भरी हुई है कि कोई भाषा उसकी बराबरी नहीं कर सकती, जिनकी यह भाषा लाखों वर्षोंसे ऐसी ही प्रतिभाशाली और जीवन्त है और जिनका साहित्य सब साहित्योंमें अद्वितीय और अप्रतिम है, उन आर्योंकी विद्याशक्तिकी नाप-जोख कौन कर सकता है? आर्योंकी यह संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। इसलिये नहीं कि यह हमारी संस्कृति है। वस्तुत: यह समस्त मानवजातिकी संस्कृति है और ईश्वरोदित शास्त्रोंसे प्रतिफलित हुई है। मानवजातिकी मूल भाषा संस्कृत है, मानवजातिका मूल ज्ञानग्रन्थ वेद है, मानवजातिका मूल साहित्य पुराण है, मानवजातिका मूल धर्म श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित आर्यधर्म है। मानवजातिकी मूल संस्कृति मनु आदि महर्षियोंद्वारा स्मृतियोंमें निर्दिष्ट व्यवस्थावाली संस्कृति है। इस संस्कृतिके इतिहासके निर्मल दर्पणवत् तीन प्रधान ग्रन्थ हैं—रामायण, महाभारत और भागवत। मानवजातिकी इस प्राचीन संस्कृतिमें पीछे किस प्रकार धीरे-धीरे कालिमा आ गयी—इसका भी तथ्य इन ग्रन्थोंमें मिलता है।

सामान्य दृष्टिसे देखते हुए कह सकते हैं कि संस्कृति तीन प्रकारकी होती है—(१) ईश्वर-प्रधान संस्कृति, (२) पुरुष-प्रधान संस्कृति और (३) नारी-प्रधान संस्कृति। ईश्वर-प्रधान संस्कृतिमें सत्त्वगुण विशेष और तप तथा त्यागका प्राधान्य होता है। पुरुषप्रधान संस्कृतिमें रजोगुण विशेष और तितिक्षा तथा शौर्यका प्राधान्य होता है। नारी-प्रधान संस्कृतिमें तमोगुण विशेष और मोह तथा भोगका प्राधान्य होता है। आर्य-संस्कृति ईश्वर-प्रधान, जर्मनी या इंग्लैंडकी संस्कृति पुरुष-प्रधान और फ्रान्स आदि देशोंकी संस्कृति नारी-प्रधान कही जा सकती है। आर्य-संस्कृति अथवा हिंदू-संस्कृतिमें अथवा वास्तविक रीत्या पुरातन मानव-संस्कृतिमें ईश्वर ही परम आप्त और आप्तव्य है। ईश्वरोदित शास्त्र आचार-विचारके आप्त ग्रन्थ हैं और उनमें उद्घोषित धर्म ही परम विधेय कर्तव्य है। इसके द्वारा मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक कल्याणका अधिकारी होकर सुख, शान्ति और समृद्धि अर्थात् चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्ध कर सकता है। इस संस्कृतिमें चतुर्विध पुरुषार्थोंकी ऐसी व्यवस्था है कि 'धर्म' प्रधान साधन है और 'मोक्ष' प्रधान साध्य। इनके बीचमें 'अर्थ' (जीवनका आवश्यक व्यवहार) ऐसा हो कि वह 'धर्म' के अविरुद्ध हो और काम (विषय-भोग) ऐसा हो कि वह 'मोक्ष' के अविरुद्ध हो। इस संस्कृतिमें रागी-सकामीके लिये प्रवृत्तिमार्ग और संसारसे थके हुए विरागीके लिये निवृत्तिमार्ग है। यह संस्कृति तीन काण्डोंमें विभक्त है—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। संसारके रागी जन कर्मकाण्डके अधिकारी हैं, विरागी ज्ञानकाण्डके अधिकारी और राग एवं त्यागके बीचमें झूलनेवाले अधिकांश मनुष्य उपासनाकाण्डके अधिकारी हैं। आर्य-संस्कृतिके धर्मग्रन्थ समस्त मानव-जातिके हितार्थ होनेसे उनमें अधिकार-भेदका विवेक मुख्य है। जन्मभूमि, गुण और कर्मके अनुसार मनुष्योंमें प्रकृतिकी विविधता होती है और उसके अनुसार धर्मोंकी और उनके साथ आदर्शोंकी, आचारोंकी, वृत्तियों और विचारश्रेणियोंकी विविधता आप्त ग्रन्थोंमें रखी गयी है।

इस अधिकार-भेदको अच्छी तरहसे समझनेके लिये जरा गहराईमें उतरना होगा। अच्छे-बुरे, साधु-असाधु, बुद्धिमान् और जडबुद्धि, सदाचारी और दुराचारी,

बलवान् और दुर्बल, चतुर और सरल, विवेकी और पामर, विद्वान् और मूर्ख—सब प्रकारके मनुष्य होते हैं। इन सबको समान ही समझनेकी भूल मुख्यत: फ्रांसकी क्रान्तिके समय यूरोपमें चालू की गयी। ईश्वरको उड़ाकर उसके स्थानमें 'रीजन' (बुद्धिवाद) की प्रतिमा स्थापित की गयी। ईश्वरके साथ ईश्वरदत्त शास्त्र भी गये। शास्त्र-प्रामाण्यके स्थानमें मनुष्य-बुद्धिका प्रामाण्य माना गया। अब मनुष्यकी बुद्धि क्या कहती, क्या निर्णय करती है—यह कैसे जाना जाय? जाना जाय मनुष्योंको पूछकर। मनुष्योंके मत यदि अलग-अलग हों तो?—उनका बहुमत प्रमाण माना जाय। प्रत्येक मतका मूल्य कैसे आँका जाय?—सभी मतोंको समान मूल्यका समझकर। क्योंकि मूल्य तो आँका जा नहीं सकता। इस प्रकार सब मनुष्योंको समान माननेकी बात आयी। पीछे व्यवहारमें और विचारमें यह सिद्धान्त अव्यवहार्य और अशक्य जँचने लगा। साम्यवादियोंकी आर्थिक समानतावाली माँगमें संस्कृतिके निम्नस्तरके (जैसे अमेरिकाकी रेड इंडियन-जैसी जातिके) लोगोंके साथ एक-सा बर्ताव करना कठिन हो गया। अखिल पूँजीवादी यूरोपीय चक्र डगमगाने लगा। तब समानताके अर्थमें शब्दछल होने लगा। किसीने कहा कि राजनीतिक मत देनेभरकी यह समानता है, किसीने कहा कि आर्थिक संपत्तिकी समता है और किसीने कहा कि विकासके लिये अवकाशकी समता है। और भी अनेकानेक अर्थभेद इसपर लदने लगे। पर जिसके मूलमें ही नग्न असत्य है, उसका कहाँ ठिकाना लगेगा? अभीतक कोई समाधान नहीं हुआ, मामला उलझता ही जा रहा है। त्रिगुणात्मक जगत्में एक-एक वस्तु और एक-एक व्यक्तिकी विशेष-विशेष सत्ता है और भिन्नता ही उनका प्रधान लक्षण है। इन भेदोंमेंसे होकर परमात्मतत्त्वमें अभेद साधन करना, यही आर्य-संस्कृतिके संस्कारी मानवकी साधना और श्रद्धामयी उपासना है।

जीव भगवान्की ओर गतिमान् हों तो इसे प्रगति, धर्म तथा अधिकारयुक्त सदाचार कहा जायगा और यदि विरुद्ध दिशामें गतिमान् हों तो उसे पतन अथवा दुराचार कहा जायगा। प्रत्येक जीवकी स्थिति अन्य प्रत्येक जीवसे पृथक् है। इसीसे एकके लिये जो आचार प्रगति या उन्नतिका साधक होता है, वही दूसरेके लिये पतनरूप हो सकता है। कोई गरीब मनुष्य यदि लखपती हो जाय तो यह (आर्थिक) उन्नति है। पर कोई करोड़पती यदि लखपती हो जाय तो यह अवनति हुई। ब्राह्मण-समाज सत्त्वप्रधान, क्षत्रिय-समाज सत्त्वरज:प्रधान, वैश्य-समाज रजस्तम:प्रधान और शूद्र-समाज तम:प्रधान होता है। अत: ब्राह्मणके लिये जो अकार्य है, क्षत्रियके लिये वह कार्य हो सकता है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण ऋषि अपने ऊपर अत्याचार करनेवालेका युद्ध करके संहार चाहे न करे, पर रक्षक जाति क्षत्रियका तो युद्ध करना धर्म ही है। दोनोंके धर्म-कर्म अलग-अलग हैं। इन समस्त धर्म-कर्म और वृत्तियोंके यथायोग्य विभाग और व्यवस्था आर्योंके आप्त ग्रन्थोंमें की हुई है। युगोंके बीत जानेपर भी वह व्यवस्था कितने ही अंशोंमें अभीतक बनी हुई है और इसीसे हमारे चारों वर्णोंके समाज और समस्त आर्य आचार-विचारके लोग जीवित, ज्वलन्त और चिरजीवी बने हुए हैं। इसीसे इस समाजमें अवतीर्ण महापुरुषोंकी इतनी अबाधित और समृद्ध परम्परा है और इसका इतिहास इतना उत्कृष्ट और आदरणीय रहा है। यह किसीका नाश नहीं चाहती। लाखों वर्षोंके बाद आज भी इसकी शक्ति प्रखर और अमर है। इस प्रकार अधिकार-भेद और अधिकार-भेदके अनुसार धर्म-भेद आर्य-संस्कृतिका एक प्रधान सिद्धान्त रहा है। इसे ध्यानमें रखनेसे आर्य-संस्कृतिको समझना बहुत सरल हो जाता है।

आर्य-संस्कृतिके जीवनव्यापारकी प्रधान भावना यज्ञ अर्थात् भगवान्का यजन है। प्रत्येक जीवन-कार्य इसी भावनासे करना होता है। नित्यके जीवनमें अग्निहोत्रादि तथा पंचमहायज्ञोंके द्वारा इसीका विधान किया गया है। अखिल विश्वके कल्याणार्थ ये यज्ञ किये जाते हैं। इसीलिये इन्हें 'महायज्ञ' कहते हैं। इन महायज्ञोंको करके शेष रहा हुआ भाग भक्षण करनेवाले सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। पुण्य-पापकी भावना सभी धर्मपन्थोंमें है। जो कर्म भगवान्के अधिक समीप ले जाय, वह पुण्य और उससे जो विमुख करा दे, वही पाप है। इस अधिकारभेद और यज्ञभावनाके समान ही हिंदू-संस्कृतिका एक परम आवश्यक सिद्धान्त है—अनासक्ति अथवा निष्कामता। जो-जो कर्म किया जाय, वह परमेश्वर-प्रीत्यर्थ ही हो; उसमें कोई आसक्ति या कामना न हो। इससे कर्मकी भूमिका बहुत ऊँची हो जाती है और उसकी सिद्धि भी अपूर्व होती है। इसमें बीजभूत

सिद्धान्त मनुष्यको निवृत्तिकी ओर ले जाना है। प्रवृत्ति जीवमात्रमें स्वाभाविक होती है। पर निवृत्तिसे जीव उन्नति और कल्याणको प्राप्त होता है। संयम आदिसे शक्तियाँ बढ़ती हैं। व्यवहारमें तथा कवित्व और कलाके क्षेत्रमें भी यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। इस प्रकार निवृत्तिकी ओर जानेके लिये वाणी, मन, प्राण, इन्द्रियसमूह और आत्माका संयम आर्य-संस्कृतिमें विशेष रूपसे है। योगकी प्रक्रियामें भी यम-नियम प्रथम पंक्तिमें आते हैं। अधिकांश धर्ममूलक संस्कृतियोंमें यम-नियम या शम-दमका प्राधान्य होता है। भेद केवल उनके रूप और मात्राका रहता है।

इस प्रकारके सिद्धान्तोंका विविध संस्कृतियोंमें साम्य होनेपर भी उनकी क्रियासिद्धिमें दीखनेवाले भेदके प्रधान कारण दो हैं—कुछ तो इसमें प्रमाणभूत कारण 'ईश्वर और उसकी आज्ञा' को अर्थात् आप्त वाक्यको मानते हैं, दूसरे कुछ मनुष्य बुद्धिके तर्कको मानते हैं। ईश्वर-वाक्य, जहाँ व्यवधानरहित सर्वज्ञकी ओरसे आनेके कारण विशेष श्रद्धेय और अपरिवर्तनीय होता है, वहाँ मानव-बुद्धिजन्य मन्तव्य बुद्धिकी परिणामिता, निर्बलता और प्रचुर भिन्नताके कारण कम श्रद्धेय और परिवर्तनीय होता है।

पवित्रताके सम्बन्धमें बाह्य शौच, आन्तर शौच, बीज-शौच और अर्थ-शौच इत्यादि रूपसे बहुत ही गम्भीर व्यवस्था आर्य-संस्कृतिमें सम्पादित हुई है। वह इतनी उत्कृष्ट है कि उसीसे भारतवर्ष सतीत्वमें प्रामाणिकता और सदाचारमें संसारका एक आदर्श बना हुआ था और आज भी कितने ही अंशोंमें संसारमें सबसे अधिक सात्त्विक प्रकृतिका परिचय दे रहा है।

हमारी इस संस्कृतिमें गुणोंके तारतम्यसे समाज चार वर्णोंमें विभक्त है। लाखों वर्षोंसे यह समाज-व्यवस्था ऐसी ही चली आयी है—यह बात पुराणेतिहाससे ज्ञात होती है। इस व्यवस्थामें विकृति होनेपर तदनुरूप विविध जातियाँ बन गयीं। कुछ संकर जातियाँ भी उत्पन्न हुईं। शास्त्रकारोंने इनके भी धर्म और वृत्तियाँ निर्णीत की हैं। वर्णोंका संकर बहुत बड़ा दोष माना गया है। कारण, इस एक गड़बड़से फिर अव्यवस्थाका ही विस्तार आगे होने लगता है। पर संकर जातियाँ यदि अपने-अपने धर्ममें रहकर अपना-अपना धंधा करती रहें तो वह किसी प्रकार निन्द्य नहीं है। भोजनके समय यदि चाण्डाल अतिथिरूपसे आये तो उसका भोजनादिसे सत्कार ही करनेको शास्त्रोंने कहा है।

इस संस्कृतिमें बीज-शुद्धिका विचार विशेष होनेसे अपने-अपने वर्णमें विवाह करना नितान्त आवश्यक है। समान संस्कार और समान आचार-विचारवालोंमें ही विवाह सर्वत्र इष्ट माना जाता है। बीज-शौचके महत्त्वसे ही आर्य-संस्कृतिमें स्त्रियोंके सतीत्वका इतना महत्त्व है, जिसके गुण गाते हमारे शास्त्रकार और साहित्यकार नहीं अघाते। सदाचारिणी स्त्रियाँ आज भी आर्य-कुटुम्बोंमें राज्य करती हैं। उनके पति भी उनके सतीत्वके सामने झुकते हैं। इसी सतीत्वके आदर्शके कारण आज भी यूरोपके कौटुम्बिक जीवनसे हमारे यहाँका कौटुम्बिक जीवन उच्चतर और अधिक सुखद है। आजकल एक नया तत्त्वज्ञान यह चला है कि 'संयमकी आवश्यकता ही क्या है, स्वच्छन्दता ही स्वाभाविक और सुखकारक है।' इस नयी फिलॉसफीकी चर्चा अधिक न करके इतना ही कहना अलं होगा कि ईश्वरविमुख गतिवाली नरप्रधान या नारीप्रधान संस्कृतियोंकी ये ऊल-जलूल बातें आर्य-संस्कृतिको स्वीकार नहीं हैं।

आजकल सर्वराष्ट्रिय जगत्में जलसमूहके अंदर सांस्कृतिक जागरण उत्पन्न करनेकी एक हवा चली है। सगे भाई जिस प्रकार एक दूसरेकी निन्दा करके एक दूसरेको नीचा दिखानेका यत्न करते हैं, उसी प्रकार विविध धर्म-पन्थ एक दूसरेकी निन्दा करके मानो सभी धर्मोंपरसे श्रद्धा ही उठा देनेका यत्न करते हैं। जगत्के राजनीतिक नेता सर्वराष्ट्रिय मण्डल स्थापित करने चलते हैं; पर उससे राग-द्वेष ही बढ़ाने और अपना-अपना स्वार्थ साधनेका ही यत्न होता है। विज्ञानके द्वारा तो ऐक्यके बदले संग्रामके और विनाशके साधन ही बढ़ रहे हैं। कारण यह है कि विज्ञान अनधिकारियों और धनलोलुपोंके हाथमें पड़ गया है। श्रुतिके समान विज्ञान भी मानो यही पुकार रहा है कि मुझे अनधिकारियोंके हाथोंमें मत सौंपो, क्योंकि वे मुझे मार डालेंगे। अब संस्कृतिपर इन लोगोंकी दृष्टि पड़ी है। किसी पुरानी संस्कृतिसे इनका काम नहीं चलेगा। सब संस्कृतियोंको मिलाकर उस खिचड़ीसे ये एक नयी बनावटी संस्कृति तैयार करेंगे। विभिन्न संस्कृतियोंके समान अंश निकाल लेनेके इस प्रयत्नका यह फल होगा कि कुछ सामान्य नीतिसूत्र हाथमें आयेंगे। ये भी धर्मपर प्रतिष्ठित न
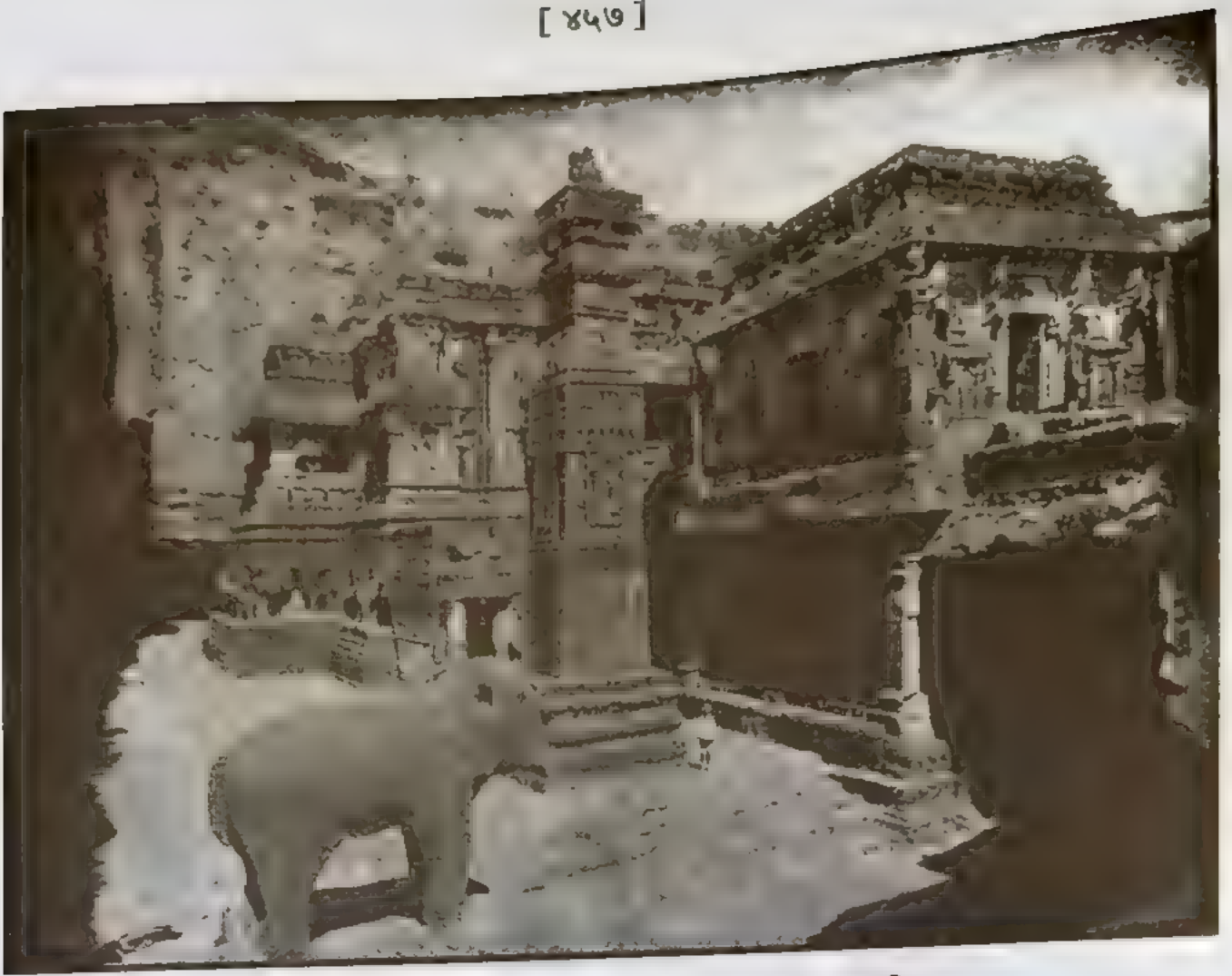
इलोरामें चट्टान काटकर बनाया हुआ कैलास-मन्दिर

अङ्कुर-वट, कम्बुज

[पृष्ठ ७६५

हौसलेश्वर-मन्दिर, हलेबिद

केदारेश्वर-मन्दिर, दक्षिण भाग, हलेबिद

[पृष्ठ ७६५

होकर बुद्धिकी खोजपर निर्भर रहेंगे। मानव-जीवनके बाह्य उपचारके लिये ये उपयोगी होंगे। आन्तर जीवनको परिप्लावित करनेवाली कोई बात इनमें न होगी। इसी प्रकार भारतीय संस्कृतिकी भी एक नयी कल्पनाकी हवा बह रही है। धर्मके आधारपर बन्धुत्वका भाव संसारमें प्रतिष्ठित हो सकता है। पर इस व्यापक संभावनाको भुलाकर स्थूल दैशिक भावनाके ऊपर जो नवीन संस्कृति कलित हो रही है, उससे सत्यका तिरोधान और एक नये पाखण्डका उपस्थान बन सकता है। सब मत-पन्थोंकी संस्कृतियोंमेंसे व्यापक अंशोंको लेकर एक नवीन संस्कृति निर्माण करनेका प्रयत्न कितना अवास्तव और अनर्थकारी होगा, यह पहले देखा जा चुका है!

सच पूछिये तो जिस संस्कृतिको आर्योंने जगत्के अक्षय धन-भंडारके समान बचा रखा है, उस आद्य मानव-संस्कृतिके साथ अन्य शाखा-संस्कृतियोंकी कोई तुलना ही नहीं हो सकती। कारण, यह आद्य संस्कृति ईश्वरोदित है, सर्वांगसम्पूर्ण है, सनातन और चिरजीवी है—इतिहास इसकी सर्वोत्तमताका साक्षी है। इसे हिंदू या हिंदी संस्कृति कहना भी इसके महान् स्वरूपको लघु करना है। वस्तुतः इसे 'आद्य मानव-संस्कृति' ही कहना चाहिये। इसके विधायक शास्त्र हैं, शास्त्रोंके अर्थनियामक व्याकरणादि ग्रन्थ हैं। इसकी कलाओं और अपर विद्याओंके आधार ग्रन्थ हैं। इसके जीते-जागते प्रतीक भारतीय समाज और भारतके पूज्य साधु-महात्मा हैं। इस संस्कृतिके सर्वोत्कृष्ट होनेमें सन्देह ही क्या है। पर विदेशी और धर्मपरिपन्थी शिक्षाने हमारे कितने ही अग्रगण्य भाइयोंकी इसपरसे श्रद्धा हटा दी है। इसी विच्छिन्न श्रद्धाका यह परिणाम है कि हमारी धारासभाओंमें भी भारतीय संस्कृतिके विघातक विधान और कानूनोंके मसविदे पेश होते हैं और उनको स्वीकार किया जाता है। यह परिस्थिति देशके लिये महान् हानिकारक है। देशके हित और उन्नतिका वास्तविक उपाय तो यही है कि इस संस्कृतिके विशुद्ध आर्यरूपमें सबकी श्रद्धा जाग्रत् की जाय। यद्यपि इस धर्ममूलक संस्कृतिके नियम बहुत विस्तृत और सूक्ष्म हैं, तथापि इसके प्रधान सिद्धान्त और प्रेरणातत्त्व निश्चितकर उन्हींके आधारपर इसे अखिल मानव-जातिकी संस्कृतिका वह पद (जो कि वास्तवमें इसका पद है) प्रदान करनेका प्रयत्न किया जा सकता है। और यह प्रयत्न जितने अंशोंमें सफल होगा, उतने ही अंशोंमें वह संसारको सुख, शान्ति और समृद्धि प्राप्त करानेमें तथा परम कल्याणकी सिद्धिमें सहायक होगा। भारतवर्षसे अखिल जगत्की मानव-जाति जो आशा रखती आयी है, वह इस प्रकार आद्य मानव-संस्कृतिके पुनरुत्थानसे ही पूर्ण होगी।

कुछ लोग धर्मको 'जनताके लिये अफीम' कहकर उसकी निन्दा करते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि धर्मकी केन्द्रशक्तिको छोड़नेके बाद ही—फ्रान्सकी महाक्रान्तिके दो-ढाई सौ वर्षके भीतर ही—ऐसा नास्तिकवाद फैला है कि कुछ कहनेकी बात नहीं और इसका परिणाम यह हुआ है कि संसार, जो एक क्षार-सिन्धुके समान तो था ही, एक महान् नरकागार बन गया है, जिसकी अव्यवस्थाका कोई जोड़ इतिहासमें नहीं मिलता। इस दुःस्थितिसे संसारका उद्धार अपनी संस्कृतिकी आमूल साधनाके द्वारा ही हो सकता है।

मूल-सिद्धान्त

अब विविध कार्य-क्षेत्रोंमें अपनी इस संस्कृतिकी कैसी व्यवस्था है, उसे तथा उसके मूल-तत्त्वोंको हमलोग देखें। इस प्रकार इस संस्कृतिकी मूल सिद्धान्त व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, सदाचार-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, अर्थनीति-व्यवस्था तथा साहित्यकला-व्यवस्थाके प्रेरक सूत्र हमें मिलेंगे। मौलिक तत्त्व-विवेकका प्रेरक सूत्र हमें भगवती श्रुतिके महावाक्यमें तथा अन्य भगवद्वचनोंमें इस प्रकार मिलता है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।

(श्रुतिः)

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

(शिवः)

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्॥

(श्रीकृष्णः भागवते ११।७।७)

भगवान् शंकर भगवती पार्वतीसे कहते हैं कि 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है—कोई अपर वस्तु नहीं।' भगवान् श्रीकृष्ण भी उद्धवको ज्ञानदान करते हुए कहते हैं कि 'जो कुछ मनसे, वाणीसे, चक्षुसे तथा श्रवणादिसे ग्रहण किया जा सकता है, वह सब नश्वर है, उसे मयामय, मनोमय जानो।' भगवती श्रुति भी कहती कि 'यह सब कुछ ब्रह्म है, नाना पदार्थरूपसे यहाँ और

कुछ भी नहीं है।' यह अद्वैत-वेदान्तका सिद्धान्त है। इससे समग्र संसारप्रपंचके दृष्ट-फल, अफल और विफल प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं और स्वप्नके पदार्थोंको सत्य माननेवाली सारी फिलॉसफी जागनेके साथ ही झूठी हो जाती है, सब भ्रम समाप्त हो जाते हैं। कारण, इस जगत्का यही सार है। इस तत्त्वको जाननेवाले विद्वान् संसारमें कोई राग, द्वेष, अभिनिवेश और आग्रह नहीं रखते—संसारमें अवधूत-वृत्तिसे रहते हुए परम शान्ति भोग करते हैं। यह ज्ञान ऐसा नहीं है, जो सबको प्राप्त हो सके। परंतु यदि विद्वान् समाज-नेताओंको इसकी यथार्थ उपलब्धि हो जाय तो उससे अखिल समाजको एक दिव्य प्रकाश प्राप्त होता है और उससे जनताके काम, क्रोध, मोहादि विकार और सुख-दुःख तथा राग-द्वेषादि द्वन्द्व भी बहुत शिथिल हो जाते हैं। भारतमें पाश्चात्य विद्या और सभ्यताका विशेष प्रभाव पड़नेसे पहले भारतीय समाजकी ऐसी ही स्थिति थी और कहीं कुछ अंशोंमें आज भी है। यह बात समझने ही योग्य है कि अहंता, ममता और भेद-बुद्धिकी जितनी वृद्धि होगी, उतनी ही आधि-व्याधि और उपाधियाँ बढ़ेंगी। पर जब यह निश्चय हो जाता है कि 'यह सारा दृश्यमान जगत् मुझसे भिन्न नहीं है, मैं एक ही इन सब रूपोंमें स्थित हूँ, तब इसके लिये शोक और मोह क्या? यह एक मोटी बात है, एक महान् तत्त्वचिन्तन इसके पीछे है। पर इसका लवमात्र या आभासमात्र भी यदि समाजमें व्यापक हो जाय तो अभी जो वैर-वैमनस्य, राग-द्वेष, दुष्कृति-दुष्टता और निर्दयता आदि घोर दुर्भाव बढ़ते जा रहे हैं, उनका बहुत कुछ शमन हो जाय। जगत् त्रिगुणात्मक है, अतः थोड़ी-बहुत खटपट तो कुटुम्बसे लेकर राष्ट्रतक सदा चलती ही रहेगी। पर आधुनिक मिथ्यावादसे मानव-जाति इस समय जिस भयानक दुःस्थितिमें जा गिरी है, उससे तो इसका इस उपायसे उद्धार हो सकता है। इस तत्त्वचिन्तनका महान् सत्य कुतर्कसे हाथ लगनेवाला नहीं है। सामान्य रीतिसे इसका समझना भी दुर्घट है। गुरु और शास्त्रसे ही इसे पाना सुकर होता है और तब यह सब तर्कोंके ऊपर अजेय होकर बैठता है। इस एक वाक्यकी असाधारण कल्याणकारिणी शक्तिसे वेद-शास्त्र जगद्वन्द्य होते और आर्य-संस्कृति जगदुद्धारक हो जाती है। जगत्के नाना परितापोंका यह अमोघ शमनोपायरूप महावाक्य वैदिक संस्कृतिवालोंका ही नहीं, सब संस्कृतियोंके विद्वानोंका महावाक्य बन सकता है। इसका रहस्य समझानेवाले अनेकानेक ग्रन्थोंका भंडार भारतकी सभी भाषाओंमें भरा हुआ है।

समाज-व्यवस्था

अब आर्य-संस्कृतिकी समाज-व्यवस्थामें कौन-सा प्रधान तत्त्व, कौन-सी प्रेरक शक्ति है—यह देखना चाहिये। समाज-रथके मुख्यतः दो पहिये हैं—नर और नारी। नर भोक्ता और नारी भोग्य है। नर रक्षक और पराक्रमशील है, नारी रक्षित और पातिव्रत्यशील है। दोनों पहिये एक ही दिशामें चलें, इसके लिये एकका दूसरेके अधीन रहना आवश्यक है। पुरुष सदाचारका सेवन करे और स्त्री सतीत्वका आराधन। स्त्री और पुरुष परस्पर स्पर्धा करनेवाले नहीं; परस्परके पूरक और सहायक हैं। दोनों समान भी नहीं हैं; कारण, दोनोंके लक्षण समान नहीं हैं। स्त्री और पुरुष दोनोंमेंसे कोई स्वतन्त्र नहीं है। कारण, काल-कर्म-गुण आदिके अधीन रहनेवाला मनुष्य स्वतन्त्र कैसे कहला सकता है। पर इसके जीवन-प्रवाहको शास्त्रानुकूल—धर्म अथवा परम आप्तोदित सदाचारके अनुकूल—चलानेका प्रयत्न कर्तव्य है। इस सारी जीवनचर्याका मूल-सूत्र भी तत्त्वदर्शनके सिद्धान्तमेंसे ही फलित होता है। मिथ्या जगत्में अल्पातिअल्प प्रवृत्ति ही भली है—

यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः॥

(श्रीमद्भा० ११।२१।१८)

'जिस-जिससे मनुष्य निवृत्त होता है, उस-उससे वह मुक्त हो जाता है। शोक, मोह और भयको मिटानेवाला यही मनुष्योंका कल्याणरूप धर्म है।' इसीलिये कामना, इच्छा, एषणा जितनी कम हो, इनका नियमन जितना अधिक हो, उतना ही अच्छा। यह संकोच और नियमन योग्यतापुरस्सर होना चाहिये, किसी तरह कूद-फाँद करने-जैसा न हो। इसकी सम्पूर्ण व्यवस्थाके लिये अनेकविध विशेष धर्म हैं। हमलोग जिन्हें सामान्य धर्म कहते हैं, अर्थात् सत्य, अहिंसा, तप, पवित्रता—ये सब भी किसी-किसी अंशमें और संयोगवश विशेष धर्म माने गये हैं और अधिकार-भेदसे उनके पालनमें न्यूनाधिक्यका विधान किया गया है। इनके साथ वर्णव्यवस्था लगी हुई है। वर्ण जन्मसे है या गुण-कर्मसे, इस विषयका अधिक विस्तार न करके इतना ही कहना

पर्याप्त होगा कि वर्णकी यथार्थ सिद्धि इन तीनोंसे है, केवल जन्मसे नहीं, केवल गुणसे नहीं, केवल कर्मसे भी नहीं। ये वर्ण विराट्रूप समाजके मस्तक, हस्त, ऊरु और पादस्थानीय हैं और इसलिये इनके स्वभाव, स्थान और कर्म भी इसी विवेकके अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। सभी वर्ण अपने-अपने कर्माचरणके द्वारा परम सिद्धि लाभ करते हैं। वर्णव्यवस्थासे जिस प्रकार समाज व्यवस्थित किया गया है, उसी प्रकार आश्रम-व्यवस्थाके द्वारा यथाधिकार व्यक्ति-जीवनको उच्चतर बनाते चलनेकी योजना की गयी है। युगके प्रभावसे वर्ण और आश्रम दोनों ही व्यवस्थाओंमें बहुत-सी विशृंखलता आ गयी है। तथापि अन्य समाजोंकी तुलनामें हमारा यह आर्य जनसमाज आज भी बहुत व्यवस्थित, सुग्रथित और अधिकांशतः सदाचारी और संयमी बना रह सका है। यूरोपादि देशोंकी स्थिति देखनेसे यह स्पष्ट ही प्रकट हो जाता है। समाजके भिन्न-भिन्न वर्ण और व्यक्ति अपने-अपने सहज कर्म और अधिकारमें निष्ठावान् हों, इसीको गुण कहते हैं और इसके विपर्ययको दोष। सब मनुष्य मनुष्य ही हैं, अतः समान हैं; उनमें कोई वर्णभेद या वर्गभेद न होना चाहिये—यह समझ उलटी है। तिलका तेल, रेड़ीका तेल, बेलेका तेल, केरासीन तेल—सभी तेल हैं, अतः समान हैं—यह कहकर सब तेल मिला दिये जायँ तो क्या परिणाम होगा? ऐसा तेल किस काम आयेगा? वह एकमें मिला हुआ तेल न खानेमें काम आयेगा न जुलाबमें, न सिरपर लगानेमें और न लालटेन जलानेमें ही। तेलके नाते सब तेल समान होनेपर भी उनके काम अलग-अलग हैं। अभिप्राय यह कि योग्यताके अनुसार वर्ग-रचना—यह सृष्टि-विवेकका तथा संसारकी व्यवस्थाका एक प्रसिद्ध, प्रचलित और अनुभव-सिद्ध नियम है। गाय, घोड़े, कुत्ते आदि पशुओंमें, आम, अमरूद, केले आदि फलोंमें और गेहूँ, चावल आदि धान्योंमें—सभीमें अनेक जातियाँ होती हैं। एक रूईमें अनेकों जातियाँ हैं। इन भेदोंको समझने और योग्यताके अनुसार उनकी योजना करनेमें मानव-बुद्धिका विवेक देख पड़ता है और उन सबको एक साथ मिला देनेमें केवल अविवेकका ही प्रदर्शन होता है।

इस विषयमें एक खास बात ध्यानमें रखनेयोग्य यह है कि प्रत्येक देशकी जनतामें किसी-न-किसी प्रकारका वर्गीकरण तो होता ही है। कहीं धनके आधारपर होता है, कहीं राजशक्तिके आधारपर, कहीं काम-धंधोंके आधारपर, कहीं जातिके आधारपर, कहीं किसी आधारपर और कहीं किसी अन्य आधारपर। यही वर्गीकरण यदि सदाचारके आदर्शके आधारपर धर्ममूलक जन्मसे ही हुआ करे तो यह व्यवस्था सर्वोत्तम होती है। क्योंकि जन्मको ही कर्म या धर्मका मूल मान लेनेसे ईर्ष्या-असन्तोषके लिये कोई अवकाश नहीं रहता। अपने-अपने समाजमें सभी अग्रसर होकर अपनी महत्त्वाकांक्षाको पूर्ण कर सकते हैं और सम्पूर्ण जनताको गुणोंके विशेष आनुवंशिक विकासके लिये असाधारण लाभ होते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण वर्ण आध्यात्मिक धार्मिकताका, क्षत्रिय दयायुक्त शूरताका, वैश्य परोपकारयुक्त द्रव्यार्जन-कुशलताका और शूद्र सच्चाईके साथ सेवाशक्तिका महान् विकास कर सकते हैं। दुनियाके अन्य किसी प्रकारके वर्गीकरणसे यह कार्य किसीने करके नहीं दिखाया है।

सदाचार-व्यवस्था

अब हमलोग आर्य-संस्कृतिकी सदाचार-व्यवस्था देखें। सदाचारके सम्बन्धमें सभी धार्मिक संस्कृतियोंका यह सरल नियम है कि उनके धर्मशास्त्रने जिसे सदाचार कहा हो, वह सदाचार; जिसे दुराचार कहा हो, वह दुराचार; और जिसके विषयमें कोई विशेष आदेश न हो, उसमें अपनी अनुकूलता और अवसरके अनुरूप विकल्प माना जाय। यही नियम आर्य-संस्कृतिकी सदाचार-व्यवस्थामें भी है। धर्मविहीन नींवपर स्थित संस्कृतियोंमें कहीं तो लाभकी दृष्टिसे, कहीं स्वच्छन्दताके विचारसे, कहीं समाजके मतके आधारपर और कहीं लोकहित तथा कहीं राष्ट्रहितको प्रधानता देकर सदाचारका निर्णय किया जाता है। फिर, ऐतिहासिक पद्धतिको माननेवाले कुछ विद्वान् भिन्न-भिन्न देशों और समयोंमें सदाचारके भिन्न-भिन्न मान देखकर सदाचारको एक अनिश्चित और काल्पनिक वस्तु मानते हैं। इन सारी पद्धतियोंमें सदाचार-सम्बन्धिनी नीति और मूल्यांकनकी कोई निश्चितता नहीं रहती और ऐसी अनिश्चित सदाचार-नीतिका प्रभाव भी कम ही पड़ता है। तथा इन सबके साथ स्वतन्त्रताकी लहर भी चलती है। अतएव इन सब पद्धतियोंमें स्वच्छन्दताका ही प्राधान्य रह जाता है। और बाहरी स्वच्छता, नियमितता, उत्साह, साहस, अध्यवसाय, आग्रह, दलबंदी आदि उभयपदी गुणोंपर ही सारा भार रखा जाता है।

यूरोपमें १७८६ ई० में फ्रांसकी महाक्रान्ति हुई। तबसे इस धर्महीन अर्थात् तर्कजनित सदाचारकी कल्पनाका युगारम्भ माना जा सकता है। तबसे इन डेढ़ सौ वर्षोंमें इस कल्पनासे मानव-जातिकी क्या दशा हो गयी, इसका इतिहास रक्ताक्षरोंमें लिखा हुआ है। हालमें नैतिक पुनर्घटन (मॉरल रिआर्मामेंट) की बात चली है। इसके लिये सांस्कृतिक उत्थानकी बात सोची जा रही है और उसके लिये सर्वराष्ट्रिय समितियाँ स्थापित की गयी हैं। पर मूलके बिना जैसे वृक्ष नहीं उगता, वैसे ही धर्मके आधार बिना काल्पनिक सदाचार-नीतिका उगना—जीवनपर यथार्थ असर होना असम्भव है। सच्ची बात यह है कि धर्म सांसारिक जीवनसे अलग रखनेकी चीज नहीं है। धर्म ही संसार-जीवनके ईश्वरोदित सदाचारका मार्ग है। यही ईश्वरोदित और मन:-कल्पितका भेद है। ईश्वरोदित कोई चीज ही नहीं है, यह नास्तिक कहता रहे; पर उससे वास्तविक स्थिति तो बदल नहीं सकती। मानव मन्तव्योंका मूल्यांकन काल और प्रकृति दोनों करते ही रहते हैं। सन्मार्गका पुरस्कार सुख और शान्ति और असन्मार्गका दण्ड, दु:ख और विनाश—यह विधान संसारमें चल ही रहा है। पुराणोंमें सदाचाररूपी वृक्षका मूल धर्मको बतलाया गया है। धनको उसकी शाखा, कामनासिद्धिको पुण्य और मोक्षको उसका फल कहा गया है। समस्त बाह्य जीवनचर्याकी सुयोग्यता इस सदाचारमें आ जाती है। आर्य-संस्कृतिमें सदाचारका इतना महत्त्व है कि उसके बिना विद्वान् मनुष्यको भी वेदोदित ज्ञान छोड़कर चला जाता है। ईश्वरकी ओर ले जानेवाली प्रवृत्ति ही सदाचार है और जो प्रवृत्ति उसके विमुख है, वही दुराचार है। कोल्हूके बैलकी भाँति ईश्वरसे दूर रहते हुए संसारचक्रमें फिरते रहनेकी प्रवृत्तिको व्यवहाराचार कहा जा सकता है। सदाचारकी सम्पत्तिको दैवी और दुराचारकी सम्पत्तिको आसुरी सम्पत्ति कहा गया है। दैवीसे मोक्ष और आसुरीसे बन्धन होता है। आसुरी सम्पत्तिसे आरम्भमें चाहे सुख या स्वतन्त्रता दिखायी दे, परंतु उसका परिणाम तो विषरूप ही होता है। आजकल स्वतन्त्रताका इतना गुणगान होता है, उसके लिये महान् प्रयत्न होते हैं; पर 'मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की' के अनुसार समाजकी परतन्त्रताकी बेड़ियाँ तो बढ़ती ही जा रही हैं—काम, क्रोध, लोभ, भय, शोक, दु:ख, वैर और अशान्तिकी ही वृद्धि हो रही है। इससे यह समझना चाहिये कि धर्मरहित सदाचार और स्वच्छन्दतामूलक स्वतन्त्रतासे मानव-जातिका कोई भी हित नहीं हो सकता। स्वेच्छाचार दु:ख और अशान्तिका कारण है, धर्ममूलक सदाचार और संयम ही सुख-शान्तिका महान् साधन है।

राज्य व्यवस्था

अब राज्यप्रकरणमें आर्य-संस्कृतिके सर्वमान्य, सर्वसामान्य और प्रचलित आदर्शोंको देखें। इस विषयके मौलिक तत्त्व-सम्बन्धी दो-तीन शास्त्र-वचन नीचे दिये जाते हैं—

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानामसृजत्प्रभुः॥

(मनु० ७।३)

राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम्।
शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह॥

(श्रीमद्भा० १।१७।१६)

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥

(महाभारत)

इन श्लोकोंमें राज्यकी उत्पत्ति, राजाका कर्तव्य तथा राजाका नैतिक प्रभाव—इन तीनों ही बातोंपर प्रकाश डाला गया है। सृष्टिके आरम्भकालमें जब सभी मनुष्य अपने-अपने कर्तव्योंका पालन करते थे, तब राजाकी आवश्यकता नहीं थी। पर पीछे जब चारों ओरसे प्रजाका भय बढ़ने लगा, तब प्रजाकी रक्षाके लिये प्रभुने राजाको उत्पन्न किया। राजाका परम धर्म यह है कि स्वधर्मका पालन करके रहनेवालोंकी रक्षा करे और दूसरे जो आपत्कालके बिना उलटे रास्तेपर चलते हों, उन्हें शास्त्रानुसार दण्ड दे। राजा धार्मिक हो तो प्रजा धर्मिष्ठ होती है; राजा यदि पापी हो तो प्रजा पापी होती है। प्रजा राजाके पीछे-पीछे चलती है। ***'यथा राजा तथा प्रजाः'***। इस प्रकार प्रजाको सुख, शान्ति और समृद्धि देनेवाली धर्मव्यवस्थाका रक्षक राजा होता है; इसीलिये उसे अनेक देवोंका निवासरूप और पूज्य कहा गया है। इस प्रकार आर्य-संस्कृतिके राज्यतन्त्रमें धर्मका और श्रेष्ठ राजाका प्राधान्य होनेसे वह तन्त्र 'धर्मराज्य' अथवा 'रामराज्य' के नामसे परिचित होता है। धार्मिक संस्कृतिकी रक्षा करनेके हेतु एक व्यक्तिका—सदाचारी राजाका तथा आनुवंशिक परम्पराका विधान करनेमें अनेक महान् तत्त्व समाविष्ट हैं। बहुमतानुसरणसे

आचार, विचार और चरित्रके सम्बन्धमें जो अनर्थ होते हैं, राजतन्त्रमें उनका निषेध हो जाता है। प्रजा स्वार्थ-साधकोंके हाथोंमें नहीं पड़ती और करादिके द्वारा प्रजाका कर्षण या शोषण होनेकी सम्भावना कम होती है। राजाको उसके कर्तव्यों और आदर्शोंकी शिक्षा देनेकी अनुकूलता रहती है। स्वेच्छाचारी राजाओंके स्वैराचारोंसे या बदलती हुई प्रजाके बदलते हुए मतोंसे मानवजातिके ज्ञान, चरित्र और उत्तम संस्कार नष्ट न हों—इसकी भी योजना इसमें है। इस राजतन्त्रमें राजा भी धार्मिक संस्कृतिको तोड़-फोड़ नहीं सकता, न बदल सकता है। कानून भी वे ही चलते हैं, जो धर्मशास्त्रके आधारपर बने हुए होते हैं। राजा सुयोग्य मन्त्रियोंकी सलाहसे राज्य करता है। प्रजाका पुत्रवत् पालन करता है, प्रजाकी फरियाद सुनता है, समय-समयपर उसकी सम्मतियोंको नियमितरूपसे सुनता है। भूमिपर षष्ठांश और मुनाफेपर दशांशसे अधिक कर नहीं लेता। प्रजाकी अन्य देशीय राजाओं और सत्ताधारियोंसे रक्षा करता है। प्रजाका कर्षण नहीं करता—उसे चूसता नहीं। प्रजा स्वधर्मनिष्ठ होती है। मनचाही वर्षा होती है। वनस्पतियाँ उत्तम प्रकारसे फूलती-फलती हैं। राज्य धन-धान्यसमृद्ध होता है, सर्वत्र सुख और शान्ति विराजती है। राजाकी राज्य-दक्षताका यही प्रमाण है। वह आस्तिक-नास्तिक सभी धर्मपन्थियों और विचारवादियोंकी यथान्याय रक्षा करता है। इस ईश्वरोदित मानव-संस्कृतिमें किसीसे द्वेष रखने या किसीको नष्ट कर डालनेकी प्रवृत्ति वर्जित है। राज्यमें विविध धर्मसम्प्रदाय हैं, इसलिये राज्यसे धर्मको ही उड़ा देना—राज्यको धर्महीन, जडवादी, नास्तिक या देहात्मवादी बना देना आर्य-संस्कृतिको स्वीकार नहीं है। इस संस्कृतिमें देश-प्रधान अभिमान या राष्ट्रियताका भी प्राधान्य नहीं है। कारण, इससे अन्य आदर्शोंको दबाना पड़ता है। इतना ही नहीं, उससे अनेक जातियोंके ईर्ष्या-द्वेष, दुराग्रह और दुराचरण राज्यको ले डूबते हैं। राष्ट्रियताके सम्बन्धमें थॉर्स्टीन वेब्लेन (Thorstein Veblen) का यह वाक्य स्मरण रखने योग्य है—Born in iniquity and conceived in sin, the spirit of nationalism has never ceased to hand human institutions to the service of dissension and distress. (अन्यायमें जन्मा और पापसे प्रकटा यह राष्ट्रियताका भूत मानव-संस्थाओंको कलह और क्लेशकी ही सेवामें लगाये रखता है, उससे कभी विरत नहीं होता।) आर्य-संस्कृतिमें राष्ट्रकी भी महत्ता है, पर वह है संस्कृतिके नाते। देशको आगे बढ़ानेके भ्रममें संस्कृतिकी पूर्णता, एकता और विशुद्धिको नष्ट कर देनेकी उसमें गन्ध भी नहीं है।

आधुनिक लोकतन्त्रमें, जिसमें एक बड़े देशपर लोगोंके वोटोंसे चुने हुए प्रतिनिधियोंका बहुमत राज्य करता है, बहुत-से दोष प्रसिद्ध हैं। एक बड़ा दोष यह है कि बहुमतके द्वारा अल्पमतको कुचल दिया जाता है। जिम्मेवारी बँट जानेके कारण, प्रजासे किस प्रकार कर वसूल करना, धनको व्यय करना और साथ ही उक्त कार्यके दोषोंसे किस प्रकार बच निकलना—इन सबकी एक मनोहर कला बन जाती है। लोकतन्त्र एक शराब-जैसा व्यसन है। ज्यों-ज्यों पीया जाता है, त्यों-ही-त्यों उसका नशा चढ़ता जाता है और इच्छा बढ़ती जाती है। साथ ही उसकी मदोन्मत्तता भी बढ़ती जाती है। फिर, जैसे शराब पीनेवालेका पागलपन बढ़ जानेपर कोई बलवान् परिचित उसके हाथ-कान पकड़कर रास्तेपर लाता है, वैसे ही वह प्रजा डिक्टेटर या कुलसत्ताधीशके हाथोंतले आ जाती है। इसमें एक बड़ी हानि यह है कि जनता उच्च आदर्शोंसे गिरकर राजनीतिके गंदे कीचड़में अधिक-से-अधिक गहराईमें धँसती जाती है। आर्य-संस्कृतिकी राज्य-पद्धतिमें लोकमतका अनादर नहीं है, पर वस्तुतः उसमें लोगोंके अपने जीवनके लिये स्थायीरूपसे स्वीकार किये हुए धर्म-सिद्धान्तोंके अनुसार लोकराज्य है। प्रो० लास्कीके कथनानुसार सारी प्रजाकी एक इच्छा या मनीषा मान लेना भूल है। इच्छाओंकी विविधता महत्त्वकी वस्तु है। भारी-भारी कर लगानेवाले, करोड़ोंका ऋण लेनेवाले और प्रजानाशक महायुद्धोंका निर्माण करनेवाले राज्यतन्त्रमें समस्त प्रजाके इच्छानुसार कार्य हो रहा है—ऐसा मानना ठीक नहीं है। धर्महीन राजनीति लोकतन्त्रका ही आश्रय लेती है और लोकतन्त्रको सुधारनेके क्रमसे अधिनायकत्व या डिक्टेटरशिपकी अधीनतामें आ जाती है। आर्य-संस्कृतिके राज्यतन्त्रमें सदाचारके प्रतीकके तौरपर ब्राह्मणका, सत्यके आधारके तौरपर वेदोंका और जीवन-व्यापक भावनाके तौरपर यज्ञका प्राधान्य है। धर्म इसका आत्मा है और राजा इसका रक्तशोधक और रक्तवाहक प्राण है। इसकी व्यवस्था संख्याके आधारपर नहीं, प्रत्युत

सिद्धान्तके आधारपर प्रतिष्ठित है और योगी महात्मा समय-समयपर इसका नियमन करते हैं। जनताके अस्थायी मतके आधारपर नहीं, प्रत्युत ध्रुवनीतिके सिद्धान्तके आधारपर यह राज्य चलता है और यह संस्कृतिकी रक्षा कर जनताकी रक्षा करता है।

अर्थ-व्यवस्था

अब आर्य-संस्कृतिकी अर्थ-व्यवस्था और आर्थिक आदर्शपर भी एक दृष्टि डालें। यह व्यवस्था प्रेयस् और श्रेयस् दोनोंकी साधक हो, इस बातका पूरा ध्यान रखा गया है। इस संस्कृतिकी भावना यह है कि धर्म ही सच्चा धन है। लोकोक्ति है कि 'पैसा तो हाथका मैल है।' इस आदर्शके अनुसार धनवान् अपना धन लोकोपकार, दान, पुण्यमें व्ययकर अपनेको कृतकृत्य अनुभव करते हैं। राजा भी धनका उपयोग परमात्माको प्रसन्न करनेमें, संस्कृतिका विस्तार करनेवाले यज्ञोंमें और प्रजाके लिये सुखके साधन निर्माण करनेमें करते थे। राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंमें बहुत द्रव्यबलकी आवश्यकता होती थी। इससे एक तरफ जनतामें धनका वितरण होता था और दूसरी तरफ आर्य-संस्कृतिका विजयध्वज दिग्दिगन्तमें फहराता था। धनको ही प्रधान माननेवाला पूँजीवाद या मौजवाद इस संस्कृतिमें स्वीकृत नहीं है। प्रत्युत जितना बड़ा त्याग, उतनी ही ऊँची कक्षा उसकी मानी जाती है। एक वर्षका धान्य घरमें भर रखनेवाले ब्राह्मणकी अपेक्षा एक महीनेका ही धान्य रखनेवाला ब्राह्मण श्रेष्ठ है। पंद्रह दिनोंका ही धान्य भर रखनेवाला उससे श्रेष्ठ और तीन ही दिनोंका अन्न रखनेवाला ब्राह्मण इन सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। धर्म और त्यागके कारण ही ब्राह्मणको समाजके मूर्धन्य स्थानमें रखा गया है। हमारे ही नहीं, सभी देशों और समाजोंमें त्यागी, सदाचारी और विद्वान् मनुष्य पूजे जाते हैं। फिर कोई सम्पूर्ण वर्ग या वर्ण वैसा ही हो तो वह वैसा ही पूज्य होता है। किसीमें लक्षण तो ब्राह्मणके न हों पर वह ब्राह्मणके हक माँगता हो तो जनसमाज उसका आदर नहीं करता। प्रख्यात रूसी ग्रन्थकार टाल्स्टाय कहते हैं कि कलाओंकी वृद्धिसे कोई कल्याण हुआ नहीं देख पड़ता; व्यवहारकी उपाधियोंको बढ़ानेकी अपेक्षा उन्हें कम ही करना अच्छा है; जीवनका अपूर्णांक अथवा पूर्णांक उसकी गुणक संख्या बढ़ानेसे जितना बढ़ता है, उससे उसकी भाजक संख्या कम करनेसे और अधिक बढ़ता है। अर्थात् अधिक कमानेके लिये प्रयास करनेकी अपेक्षा आवश्यकताओंको कम करनेकी जीवन-पद्धति अधिक अच्छी है, व्यक्तिके लिये और समाजके लिये भी। इसके सर्वथा विपरीत यूरोपादि देशोंकी प्रचलित मान्यता यह है कि भोग-विलास, आमोद-प्रमोदके साधनोंकी वृद्धि जितनी जहाँ अधिक होती है, उतनी ही वहाँ सांस्कृतिक प्रगति है। उनकी तर्कपरम्परा यह समझमें आती है कि इन्द्रियोंके विषयोंका सुख ही वास्तविक और प्रत्यक्ष सुख है, इस सुखका प्रधान साधन है धन और प्रधान क्षेत्र है स्त्री। अतः ये ही दो मुख्य प्राप्तव्य हैं; इनकी प्राप्तिमें जो विघ्न-बाधाएँ हों, उन्हें उड़ा देना चाहिये। आर्य-संस्कृति विषयोंका अथवा उनसे प्राप्त होनेवाले सुखका तिरस्कार नहीं करती। वेदके रुद्रिय मन्त्रमें 'मुझे गौ मिले, अश्व मिले, लक्ष्मी मिले' ऐसी भावना है। पर धन और विषय-सुखको निम्न कोटिमें रखा है। आत्मानन्दकी महत्ता और उपादेयता बताकर और विषय-सुखकी लोलुपताको भयस्थान कहकर मनुष्यको चेताया है। जहाँ विषय-सुख स्वीकारनेकी आज्ञा है, वहाँ उसे त्यागनेकी भी आज्ञा है। जीवनको सादा बनाना ही हेतु है। खान-पानमें, पहनने-ओढ़नेमें, घर-बाहर—सर्वत्र सादगी ही आर्य-संस्कृतिका मानो मूल-मन्त्र है। काशी इत्यादि स्थानोंमें शिष्ट ब्राह्मण केवल एक धोती पहने और एक दुपट्टा ओढ़े सर्वत्र आते-जाते हैं। अपने देशमें स्त्रियोंका मुख्य पहनावा साड़ी ही है। कितने ही साधु सीया हुआ कपड़ा नहीं पहनते। सभी बातोंमें सादगी होनेसे जीवन-व्यापार सरल और सस्ता हो जाता है। इससे हमारे यहाँके लोग बड़े खर्चवाले अन्य देशोंके लोगोंके मुकाबले सभी बातोंमें अधिक टिकनेवाले होते हैं। हमारे यहाँ कितनी जातियाँ ऐसी हैं, जो विशिष्ट वृत्तियों और धंधोंका ही अनुसरण करती हैं, जिससे कोई नयी औद्योगिक संस्थाएँ स्थापित करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। उन धंधोंका चुनाव और नियमन उसीसे हो जाता है और किसी धंधेमें संख्याकी कमी या असाधारण वृद्धि सामान्यतः नहीं हो पाती। धन उनका प्रधान ध्येय न होनेसे उसे संग्रह करनेकी वृत्ति संयत रहती है, उसके लिये पापकर्मोंमें उनकी प्रवृत्ति भी नहीं होती। इससे उनपर मजूरीका अधिक भार नहीं आता, न बहुत धन ही उनके पास एकत्र होता है। इससे राज्यको भी

लोगोंके पाससे धन खींचनेके नये-नये उपाय नहीं करने पड़ते। राष्ट्रके खर्चमें भी इस तरह सादगी आ जाती है और कर लगानेकी मर्यादाके द्वारा राज्य नियमित और नियन्त्रित हो जाता है। खेतीसे एक षष्ठांश और व्यापारसे एक दशमांशमात्र लेना राज्यके लिये विधेय होता है। सब लोग अपनी-अपनी संस्कृतिके सदाचारमें रहते हैं और राज्यका हस्तक्षेप कम-से-कम हो जाता है। जो राज्य कम-से-कम राज करता है, वही उत्तम राज्य होता है। यूरोपादि देशोंमें और उनकी देखा-देखी अपने देशमें भी आजकल प्रगतिके नामपर बड़ी-बड़ी खर्चीली योजनाएँ उपस्थित की जा रही हैं। इस तरह राज्य मनुष्यको सर्वथा पराधीन बनाता चला जा रहा है। जनताकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें आज राज्य सिरपर चढ़ बैठा है। स्वतन्त्रताको खोजता हुआ मनुष्य आज धर्मके तन्त्रसे बिछुड़कर अधिक-से-अधिक दुःखप्रद परतन्त्रताकी बेड़ियोंमें ही जकड़ा जा रहा है। कोई भी राजा स्वप्नमें भी जैसे कर लगाने और प्रजापर 'जो हुक्मी' चलानेका विचार नहीं कर सकता, वैसे ही कर और 'जो हुक्मी' अब प्रजाके सिरपर लद रहे हैं। हमारे आजके इस लोकतन्त्र-राज्यका खर्च भी किस तरह उछल-उछलकर बेतरह बढ़ा जा रहा है, इसके आँकड़े अर्थशास्त्री श्रीमनु सूबेदारने सप्रमाण प्रकाशित किये हैं और यह कहा है कि वर्तमान भारतीय अर्थतन्त्र मूलमें ही भूल भरा है। देखिये फ्री प्रेस जर्नल २५-८-४९—

भारत-सरकारका खर्च	सन् १९३८-३९	सन् १९४८-४९
शासन-व्यवस्थाका खर्च	....१६५ (करोड़)	....६१२ (करोड़)
सैनिक-खर्च	.... ४६ "	....१५५ "
मुल्की खर्च	.... ३९ "	....१८५ "
नौ प्रान्तोंका खर्च	.... ८१ "	....२७२ "

ये आँकड़े अच्छी तरहसे आँखें खोलनेवाले हैं। इसका परिणाम यह है कि अंग्रेजोंके जानेके समय सरकारके पास जो नगद पूँजी थी, उसमेंसे आज अधिकांश समाप्त हो गयी है और भीषण अर्थसंकट उपस्थित है। अपनी संस्कृतिके आदर्शोंको छोड़ देनेसे ही भारतपर अनेक महाविपत्तियाँ उपस्थित हुई हैं। मिल-मालिकों और मजूरोंमें विग्रह उपस्थित है। धर्महीन लोकतन्त्रमें ऐसा होना ही ठहरा। इससे यूरोपके समाजवाद और साम्यवादका महाभय भी उपस्थित हो गया है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि आर्य-संस्कृतिमें धनकी निन्दा नहीं है। लक्ष्मी जगदम्बाका एक स्वरूप है और उसकी पूजा होती है। गृह-लक्ष्मी और राज्य-लक्ष्मी उसीकी कलाएँ हैं। लक्ष्मीजी सामान्यतः दुराचारीके यहाँ नहीं जातीं और कभी जाती भी हैं तो अधिक समयतक नहीं ठहरतीं। उनका स्थान भगवान् श्रीविष्णुके चरणोंमें है और उनका विनियोग भी इसी महास्थानमें होता है। इसी रीतिके अनुसार भारतसे खींची हुई लक्ष्मी अंग्रेजोंके पाससे निकलकर महासागरमें निवास करने चली गयी हैं।

साहित्य-कला-विज्ञान

अब साहित्य, कला और विज्ञानके सम्बन्धमें आर्य-संस्कृतिका दृष्टिकोण देखें। इन तीनों विषयोंमें आर्य-संस्कृति ईश्वर और धर्म-भावनाको परम उपास्य मानकर उन्नतिक्रम निर्धारित करती है। श्रीमद्भागवतने साहित्य-कलाके आदर्शका इस प्रकार वर्णन किया है—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्॥

(१।५।२२)

'मनुष्यके तप, पाण्डित्य, यज्ञ-यागादि, दान एवं बुद्धि, साहित्यका अविनाशी प्रयोजन कवियोंने उत्तमश्लोक भगवान्के गुणानुवर्णनको ही बताया है। भगवद्गुणानुकीर्तन-रहित वाङ्मय जनतामें मलिनताका प्रसार करता है। आर्यसंस्कृतिके सभी महान् ग्रन्थ—वेद, रामायण, महाभारत, भागवत आदिमें भगवान्का गुणानुवाद ही व्यापक है और उसके द्वारा अवान्तर रूपसे आर्य-संस्कृतिका विस्तार होता है। यह बात विख्यात है कि ऐसे महाकाव्य अन्य किसी भाषामें नहीं हैं। कलाका विनियोग भी आर्य-संस्कृतिमें सर्वत्र ईश्वर और धर्मके कार्यमें हुआ दिखायी देगा। मन्दिरोंमें, अजन्ताकी गुफाओंमें, मूर्तियोंमें, रविवर्मके चित्रोंमें, स्त्रियोंके वस्त्राभूषणोंमें, साधुओंके उपवस्त्रोंमें, संगीतमें, रंगवल्लीके स्वस्तिकोंमें—जहाँ देखो, वहीं कलाका विनियोग समानरूपसे प्रभुकी सेवामें ही हुआ है। प्रसिद्ध गायक तानसेनके गुरुके विषयमें यह आख्यायिका प्रसिद्ध है कि वे ईश्वरके भजनके सिवा और कुछ गाते ही न थे। आज भी हमारी वंगीया भगिनी यूथिका राय अपने मधुर कण्ठ और उत्तम संगीतका विनियोग भजनोंमें ही करती हैं। प्रसिद्ध गायनाचार्य श्रीविष्णुदिगम्बरजीके जीवनका अन्तिम काल

केवल रामायण तथा संत-महात्माओंके पदगान और नाम-संकीर्तनमें ही बीता। उनकी सारी संगीत-शिक्षा संतोंके पद तथा *'रघुपति राघव राजाराम'* के इस नामधुनद्वारा ही होती थी। श्रीगाँधीजीपर उन्हींका प्रभाव पड़ा था। गुजरातकी स्त्रियाँ भी नवरात्रमें जगदम्बाका आराधन गरबोंके द्वारा करके अपनी कलाका विस्तार करती हैं। मद्रास प्रान्तके संगीतमें भी भक्तिका ही स्रोत बहता है। कहावत है, *'कृष्ण बिना गाना कैसा।'*

तुलसीदासजी कहते हैं—

भनिति बिचित्र सुकबिकृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥

विज्ञान और विद्या-शिक्षाके क्षेत्रमें भी यही भावना और यही आदर्श प्रतिबिम्बित हैं। प्राचीन शिक्षापद्धतिमें भी धर्मग्रन्थ ही मुख्य थे और विज्ञान, भाषाशास्त्र, गणित, आयुर्वेद, धनुर्वेद, स्थापत्य आदि सब शास्त्र धर्मग्रन्थोंके आधारपर ही प्रतिष्ठित थे। इसीसे इन सब विद्या-कलाओंमें एकतानता थी। यथार्थमें परा और अपरा दोनोंकी विद्याएँ जगदात्माका अवलम्बन करती थीं। और पदार्थ-विद्याओंका उद्‌गमस्थान भी अप्रतिहत-दृष्टिसम्पन्न ऋषियोंकी योगशक्तिमें था। इसीसे इन विद्याओंमें यथार्थता थी और इनका सर्वत्र प्रसार था। हालमें प्रख्यात वैज्ञानिक डॉक्टर जगदीशचन्द्र वसुने यह आविष्कार किया है कि जड माने जानेवाले पदार्थोंमें भी चेतना है। यह अपनी संस्कृतिके अनुरूप ही है। आर्य-संस्कृतिकी मुख्य भाषा संस्कृत और उसका संस्कृत साहित्य, ये दोनों मानव-जातिकी ज्ञानविधि और इतिहासके अमूल्य मूलधन हैं। संस्कृत भाषाकी संतति हिंदी, गुजराती, मराठी, बंगाली आदि भाषाएँ आर्य-संस्कृतिकी परम्परा और आदर्शको जगाते रहनेमें सदा यत्नवान् हैं। भक्तमहाकवि गोस्वामी तुलसीदासजीका रामचरितमानस आर्य-संस्कृतिका अद्वितीय कीर्तिस्तम्भ है। देश, काल, परिस्थिति चाहे जितने बदला करें; पर जबतक संस्कृत भाषा और उसका महासाहित्य विद्यमान है, तबतक मानव-जातिके लिये सच्चे ज्ञान, विज्ञान और कल्याणका द्वार खुला है और इतिहासका यह सूर्य सत्यको सदा प्रकाशित करता रहेगा।

इस प्रकार हमलोगोंने अपनी सनातन भारतीय संस्कृतिके विविध शाखा-विस्तारोंका किंचित्-किंचित् अवलोकन किया। सहस्रों ग्रन्थोंसे भी उसका सम्पूर्ण दर्शन, समीक्षा और मीमांसा नहीं हो सकती; कारण, परमात्मामें ही केन्द्रित होनेसे यह जितनी विशाल और अगाध है, उतनी ही अविनाशी है। जो कोई यथाधिकार इसका अनुसरण करता है, वह जगत्के अन्धकार और परितापसे तर जाता और अमृतत्व लाभ करता है। इस संस्कृतिकी सत्-शक्ति, चित्-शक्ति और आनन्द-शक्ति ऐसी है कि जो कोई इसका आश्रय लेता है, वह भी उसीमें समा जाता है। इस संस्कृतिकी भावना-सृष्टि इस विश्वको और मानव-समाजको विराट्पुरुष भगवान्के अंगरूपमें प्रकाशित करती है। प्रवृत्तिके झंझावातमेंसे निवृत्तिकी शान्तिमें ले जानेवाली इस संस्कृतिने मानवजीवनके लिये कर्तव्य, उपास्य और ज्ञातव्यकी मनोहर एवं कल्याणकर व्यवस्था की है। इतिहास-कथाओं और देव-कथाओंमें, सत्यपर बिना कोई परदा डाले प्रभुके मायाविलास-रूप विश्वका वर्णन है। पुरुषमें सदाचार और स्त्रीमें सतीत्वके आदर्शकी महिमा गायी गयी है। काल, कर्म और गुणके वशीभूत एवं स्वभाव, शक्ति तथा स्थूल देहसे सर्वथा असमान रहनेवाले मनुष्योंकी स्वच्छन्दता और समानता केवल मिथ्याभास हैं—यह चेतावनी इस संस्कृतिसे मिलती रहती है। कृतज्ञताकी भावना इस संस्कृतिमें असीम है। ऋषि-ऋण, देव-ऋण, पितृ-ऋण इत्यादि मर्म हृदयंगत करके इसमें जगत्की संस्कृतिके संरक्षकोंके लिये पंचमहायज्ञोंका विधान किया गया है। शासनविधानमें भी इसके आदर्शोंने जनताको चिरजीवित्व, सुख, शान्ति और समृद्धि प्रदान की है। ब्राह्मण, वेद और यज्ञोंकी पूजाके द्वारा दैवी सम्पत्तिके आधार प्रतिष्ठित किये गये हैं। जिस गौके दूधसे हमलोग पले हैं, उसे हमारी संस्कृतिने मातृरूपमें प्रतिष्ठित और पूजित किया है। समस्त विश्वको उसके एकमात्र महाकारणमें समाविष्टकर तात्त्विक एकताका, अद्वैतका अमूल्य दर्शन कराया है। इस संस्कृतिके मूल, धड़, शाखा, पत्र, पुष्प, फल—सबमें परमात्मा ही अनुस्यूत रूपसे विलास कर रहे हैं और इसीसे इस संस्कृतिके अनुयायी कृतकृत्य होते हैं। भगवती श्रुति कहती हैं—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईशावास्य० १)

सांस्कृतिक वैशिष्ट्य

(रचयिता—श्रीप्रताप रस्तोगी)

जागृतिके स्वर्णिम प्रहरोंमें हो रहा नवल किरणोन्मेष! जग रहा शुभ्र तन्द्रित स्वदेश!!

इस प्रथम रश्मिके साथ-साथ ले रही दीनता अँगड़ाई
आशा-हिमजलसे स्नात आज उल्लसित राष्ट्रकी अमराई
खगकुल-कलरवके सँग अजान, गुंजित अभिनव जागरण-गान
जागो जीवनका ज्वार लिये, आ रहा इंद्र-धनुषी विहान

जगको देती थी ज्योतिदान जो बन अनिंद्य आकाशदीप
जग शलभरूप बन मँडराया जिस ज्योतिरूपिणीके समीप
उस अभ्रविचुम्बी भारतीय संस्कृति-मंदिरका कलश भग्न
हा! अपना भाग्य-विधान हुआ कितना अस्फुट, कैसा प्रतीप

नश्वर भौतिकतापर विजयी जिसका सदैव अध्यात्मवाद
जड जगतीकी शुचि तपोभूमि! जो चिर अविनश्वर, अप्रमाद
भ्रुकुटीमें प्रलय-अमर्ष लिये, स्मितिमें संसृति-उत्कर्ष लिये—
जो पूरित-पुष्कल-स्वर्ण-राशि, जो ज्ञान-पुंज, चिर निर्विवाद

हिमगिरि-सा अति उत्तुंग भाल, जिसकी गरिमाका स्तम्भ-रूप
जिसके कौशलके परिचायक साँची, मदुराके भग्नस्तूप
मणि-रत्नोंकी मंजूषा-सी जो शील-दयामयि ऊषा-सी
उसका यह क्षणिक स्खलन निश्चय ही उन्नतिका आरंभ-रूप

विष पीकर सुधा लुटाना ही जिस संस्कृतिका आधारमूल
सिंचन अपलक, सर्जन अनथक,जिसके जगपर उपकार स्थूल
जिसकी अजस्र सभ्यता-धार छाई अब भी मेखलाकार—
उसके विनाशके स्वप्न अहो, जड मस्तिष्कोंकी महाभूल

विस्मृतिका गहरा अंधकार, अवसादोंका आवर्त पीन
जीवनका दारुण दैन्यरूप, संस्कृति विनष्ट गत पुराचीन
विध्वंसोंका यह महाकार परिव्याप्त राष्ट्रके आर-पार
निष्क्रियता तज मेरे अनूप! जागो बनकर संस्कृत-नवीन

जिसने संसृतिको प्राण दिये, प्राणोंमें स्पंदन भर गति दी
जिसने चिर अगत रहस्योंका विश्लेषण कर प्रज्ञा-मति दी
शंकर दे, तपी तथागत दे, निश्चित दर्शन-सिद्धांत दिये
यश-लोकोज्ज्वल इतिहास दिया, मंगलप्रद हिंदू-संस्कृति दी

युग-चट्टानोंसे ध्वस्तशेष, खंडित, अपमानित मलिनवेष! जग रहा शुभ्र तन्द्रित स्वदेश!!

हमारी संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीराजीवलोचनजी अग्निहोत्री, एम० ए०, एल-एल० बी०)

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

(गीता २।२९)

'कोई आश्चर्यके साथ इसे देखनेका प्रयत्न करता है, कोई आश्चर्यपूर्वक इसके सम्बन्धमें वार्तालाप करता है, कोई इसके विषयकी बातें आश्चर्यचकित होकर सुनता है; किंतु यह है क्या, यह इतने प्रयत्नके पश्चात् भी कोई जान नहीं पाता।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें उक्त बात आत्माके सम्बन्धमें कही गयी है। ठीक यही बात भारतीय संस्कृति अथवा भारतीयताके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। आत्माके सम्बन्धमें दर्शनशास्त्रों, स्मृतियों एवं पुराणों तथा काव्योंतकमें सर्वत्र चर्चा, विवाद, प्रवचन आदि हैं। प्रत्येक प्राचीन ग्रन्थमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे आत्माको समझानेकी चेष्टा की गयी है। इसका यही अर्थ था कि आत्माकी समस्या हल नहीं हो पायी, उसका 'इदमित्थं' रूप स्पष्ट नहीं हो पाया और इसीलिये हर बार इसके समझनेका नवीन प्रयत्न हुआ। प्रारम्भसे लेकर सभी ग्रन्थोंको आत्माके सम्बन्धमें वर्णन करते-करते **'अवाङ्मनसगोचरम्'** कहकर उसका वर्णन समाप्त करना पड़ा। प्रत्येक गुरुने शिष्यको अनेक साधन बताकर तथा आत्माके सम्बन्धकी समस्त सम्भव कल्पना देकर अतृप्त असन्तुष्ट शिष्यको 'श्रद्धत्स्व वत्स' कहकर ही सन्तोष करना पड़ा। समारोपके समय कहना पड़ा कि 'मनमें प्रश्न लेकर आत्माको समझने मत आओ; क्योंकि वह अतर्क्य है। अतएव अनुभवसे ही उसका साक्षात्कार करो।' गुरुने जब स्वयं मौन धारण कर आत्माकी ज्योतिका साक्षात्कार किया, उससे एकरसता—तादात्म्य प्राप्त किया, तब उसे देखनेमात्रसे शिष्योंके संशय छिन्न हो गये, उन्हें आत्माको प्राप्त करनेके मार्ग मिल गये और अनुभूतिके द्वारा ही उन्होंने आत्मदर्शनके लिये साधना प्रारम्भ की।

भारतीय संस्कृतिका भी अनुभूतिके द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है, तर्कके द्वारा उसका चित्र नहीं खींचा जा सकता—दर्शन नहीं कराया जा सकता। शरीरके किस कणमें आत्माका निवास है, वह किस अवयवको किस प्रकार अनुप्राणित करता है, शरीरको किन साधनोंके द्वारा चैतन्य प्रदान करता है—सक्रियताकी प्रेरणा देता है—यह स्पष्ट करना जितना दुष्कर है, उतना ही दुष्कर यह बताना भी है कि भारतीय संस्कृति भारतीय जीवनके किस अंगमें अभिव्यक्त होती है, भारतके कितने निवासियोंके जीवनमें है—कितनेमें नहीं है, हमारे जीवनके कार्योंको वह किन साधनोंसे किस समय प्रेरणा देती है, हमारे अंदर वह किस प्रकार निरवशेष रूपसे पूर्णतः व्याप्त है इत्यादि।

आत्माके सम्बन्धमें समझानेके लिये अधिकतः दो उपायोंका अवलम्बन किया गया है। पहले अभावात्मक प्रकारसे—

'आत्मा पुत्र-स्त्री-धन नहीं है; क्योंकि अपने अस्तित्वका भान इनके नष्ट होनेपर भी बना रहता है। वह वाक्-नेत्र-श्रवण आदि कर्मेन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रिय नहीं है; क्योंकि गूँगे-अन्धे-बहरेको भी चैतन्यका बोध रहता है। वह मन नहीं है; क्योंकि संकल्प-विकल्पकी वृत्ति शान्त रहनेपर भी चेतना तो रहती ही है। वह बुद्धि नहीं है; क्योंकि निश्चयात्मिका वृत्ति जब कार्य नहीं करती, तब भी शरीरको प्रेरणा और सभी वृत्तियोंको प्रकाश अविच्छिन्न गतिसे मिलता रहता है। वह अहंकार भी नहीं है; क्योंकि जो 'त्वम्' को अपनेसे अलग कोई वस्तु देखता ही नहीं, उसे 'अहम्' का भाव कहाँ? वह जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाएँ भी नहीं हैं; क्योंकि ये तो अन्तःकरणकी वृत्तियोंकी अवस्थाएँ हैं, चिन्मात्र आत्माको इनसे क्या प्रयोजन?'

'तो वह है क्या?...शून्य?' यह प्रश्न उपस्थित होनेपर भावात्मक प्रकारसे उत्तर दिया जाता है।

आत्मा सर्वस्व है। उसे अलग करके नहीं दिखाया जा सकता। वह जीवमें 'अहम्' का भाव जाग्रत् करनेवाला, बुद्धिको निश्चय करनेकी क्षमता देनेवाला, मनको विचार करनेकी प्रेरणा देनेवाला, इन्द्रियोंको शब्द-स्पर्श आदिका अनुभव करने तथा कर्म करनेकी सामर्थ्य देनेवाला, अपने अस्तित्वसे शरीरादि समस्त

विश्वका अस्तित्व बनाये रखनेवाला है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

'जिसकी तर्कना मन नहीं कर सकता, किंतु जिसके अस्तित्वके कारण मन तर्कना करता है—अर्थात् आत्मा शरीरादि नहीं है, किंतु शरीरादिके रूपमें वह अभिव्यक्त अवश्य है। वह सबका कारण है, प्रेरक है, सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान् है, अन्धकारका नाशक ज्योति:स्वरूप है।'

'तो भी वह क्या है?' इसका उत्तर अनुभव और श्रद्धासे मिलता है, तर्कोंसे नहीं; जीवनको शुद्धतर बनाकर शुद्धतमकी ओर ले जाना ही साक्षात्कारका उपाय है। साधनोंकी स्वतन्त्रता है। किसी भी विचार-प्रणालीमें यहाँ दो मत नहीं हैं। हाँ, प्रारम्भिक कालमें उपर्युक्त अभावात्मक और भावात्मक तर्क देना आवश्यक है।

ठीक उसी प्रकारसे प्रश्नकर्ता जब पूछता है कि 'भारतीय संस्कृति क्या है?' तो उसे भी पहले उपर्युक्त दो प्रकारोंसे समझानेका प्रयत्न हो सकता है।

भारतीय संस्कृति किसी भी अन्य संस्कृतिकी विरोधिनी नहीं है; क्योंकि अन्य संस्कृतियोंसे प्रसंगवश आया हुआ विरोध जब प्रारम्भ नहीं हुआ, तब भी भारतीय संस्कृतिका अपना स्थायी अस्तित्व था और विरोध समाप्त होनेपर भी उसका चिरन्तन चिरंजीवी रूप बना रहा। और न भारतीय संस्कृति किन्हीं विशेष कर्म, भाषा, उपासना, वेश-भूषा, संस्कार, उपासना, जीवन-प्रणालीकी सीमामें ही आबद्ध है। ये सब तो विभिन्न रुचि, स्थिति और स्वभावके अनुसार व्यवहारमें लाये हुए साधन हैं।

जिनके द्वारा भारतीय संस्कृति भिन्न-भिन्न कालमें प्रकट हुई है, साधनके रूपमें अलग करके उन्हें नहीं देखा जा सकता; क्योंकि भारतीय समाजने जो-जो साधन समय-समयपर अपनाये हैं, उन सभीमें वह प्रस्फुटित हुई है। वह भारतीयोंके जीवनमें समायी हुई है। वेश, भाषा, कर्म आदिमें युगके प्रभावसे परिवर्तन आ सकता है; किंतु युगके अनुरूप साधन लेकर उसी साधनके द्वारा भारतीय संस्कृति अभिव्यक्त होती रही है, होती रहेगी। हाथकी अँगुली प्राण नहीं है; किंतु अँगुलीमें भी प्राण है। पाँचसे छठी अँगुली भी निकल सकती है या जहरीला फोड़ा हो जानेपर अस्पतालमें एक-दो अँगुलियाँ काटी भी जा सकती हैं; किंतु जितनी अँगुलियाँ बचेंगी, जिस रूपमें रहेंगी, उनमें उसी रूपमें प्राण अभिव्यक्त होगा। अँगुली कटनेसे प्राण नहीं कटा; उसमें परिवर्तन आनेसे प्राणमें परिवर्तन नहीं आया। वह पाँचसे बढ़कर छः अँगुलियोंमें अभिव्याप्त हो गया, अथवा तीनमें ही रह गया; किंतु प्राण फिर भी प्राण ही है और सम्पूर्ण है।

भारतीयता किसी प्रकारका बन्धन नहीं, विकास है। संसारमें जिसे मानववाद कहा जाता है—अर्थात् संसारके सभी प्राणियोंको आत्मवत् मानकर उनके प्रति प्रेम, करुणा, उपकार, क्षमा, अहिंसा और सहिष्णुताका भाव रखना; उनके लिये अपने व्यक्तिगत जीवनके स्वार्थ, सुखोपभोगकी लालसा, यश और प्रतिष्ठाकी चाहका परित्याग (संन्यास) करना; दूसरेके विनाशमें अपना निर्माण देखनेकी लिप्सा समाप्त करना; घृणा, विद्वेष, असहिष्णुता और मतान्धताको अपने जीवनमें न आने देना तथा सामाजिक जीवनमें भी उसे न फैलने देना; इन्द्रियोंको संयमसे कसकर अन्त:करणकी पवित्रताकी ओर बढ़ना, सत्त्वशुद्धिके लिये ही उपयुक्त जीवन-प्रणालीका निर्माण करना और द्वन्द्वोंसे ऊपर उठते हुए निष्काम भावसे कर्म करनेकी क्षमता प्राप्त करना—यही भारतीय संस्कृति है। मनुष्यकी पशुता मिटाकर उसे मानव बनाना और फिर ईश्वरत्वकी ओर उसे पुरस्सर करना भारतीय संस्कृतिका कार्य है।

किंतु इस मानववादकी चर्चा तो संसारकी समस्त संस्कृतियोंने की है, संसारके समस्त समाजोंके अनेक संतोंने लोक-कल्याणकी भावना जाग्रत् करनेका प्रयत्न किया है। तब मानववादको हम भारतीय संस्कृति क्यों कहें? संसारके किसी समाजका व्यक्ति यदि चारित्र्यशील तथा लोकाराधनकी भावनासे प्रेरित हो तो क्या हम उसे भारतीय संस्कृतिका उपासक कह सकेंगे?' यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

प्रथमतः यह कह देना आवश्यक होगा कि मानववादके सिद्धान्तकी घोषणा सबसे पहले भारतीय समाजने—भारतके तपस्वी ऋषि-महर्षियोंने की और अन्य समाज जब भोजन-वस्त्रकी प्रारम्भिक समस्या सुलझा रहे थे—जब उनके जीवनमें जंगलीपन था, तभी भारतीय समाज मानववादके सिद्धान्तोंको केवल चर्चाका विषय ही नहीं बना चुका था, उन्हें जीवनके व्यवहारमें उतार चुका था। आज भी संसारके समाजोंकी अपेक्षा भारतीय समाज मानववादमें सबसे आगे हैं; किंतु

मानववादके साथ-साथ भारतीय संस्कृति कुछ और भी है, जिसे हम भारतीयता कहते हैं। भारतवर्षकी भूमिपर भारतीय जनके हृदय और जीवनमें जो मानववाद भाषा, वेश-भूषा, जीवन-प्रणाली आदिके साधनोंको अपनाकर अनादि कालसे लेकर आजतक विकसित हुआ है, उसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं। भारतीय संस्कृतिका उपासक मानवताके सिद्धान्तोंको माननेके साथ-साथ भारतवर्षको अपनी तपोभूमि, यज्ञभूमि, कर्मभूमि और जन्मभूमि समझता है—भारतमाताको अपनी माता, उपास्य देवीके रूपमें देखता है। भारतवर्षकी गोदमें पलकर इस देशके जनसमाजका आसुरी तथा विदेशी आक्रमणोंसे उद्धार करनेवाले महापुरुषों—भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, चन्द्रगुप्त मौर्य, विक्रमादित्य, महाराणा प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह, लोकमान्य तिलक आदि वीरोंको तथा जीवनके दुःखोंसे उद्धारका उपाय बतानेवाले महापुरुषों—व्यास, शंकराचार्य, बुद्ध, महावीर, समर्थ रामदास, तुलसीदास, रामकृष्ण, विवेकानन्द, महात्मा गान्धी आदि संतोंको अपने उद्धारकर्ता पूर्वज मानता है। भारतवर्षमें उद्भूत और विकसित मत-प्रणालियों एवं जीवन-प्रणालियोंको आत्मीयताके भावसे देखता और स्वीकार करता है तथा विदेशोंसे आयी हुई मत-प्रणालियों एवं जीवन-प्रणालियोंको—जो कि आजतक भारतीय जीवनमें समरस न हो सकीं, अपितु बडवानलकी तरह उसके अन्तःकरणमें खौलती रहीं—अपच बन गयीं, उन्हें आज भी विदेशी, अतएव अग्राह्य मानता है।

अनेक युगोंमें भारतीय संस्कृतिका बाहरकी अनेकों संस्कृतियोंसे संघर्ष होता आया है। उन संघर्षोंकी ओर इंगितकर कई बार ऐसा भी कहा गया है कि भारतीय संस्कृतिके उपासक बननेवाले दूसरी संस्कृतियोंके प्रति असहिष्णु रहे हैं तथा हैं। किंतु वस्तुस्थिति दूसरी ही है। भारतीयोंने आक्रमणका विरोध किया है, संस्कृतिका नहीं। आक्रमणका विरोध करना अपने जीवनकी श्रेष्ठता स्थिर रखनेके लिये आवश्यक था। वहाँपर क्षमा और अहिंसाके नामपर आत्म-समर्पण कर देना कायरता हो जाती। यूनानियोंने जब भारतपर आक्रमण किया, तब एक सुसंघटित शक्ति निर्मितकर उन्हें खदेड़ दिया गया। परंतु उनके साथ सन्धि होते ही सब प्रकारके व्यवहार स्थापित कर लिये गये तथा कला-कौशलका भी आदान-प्रदान किया गया। शक और हूण जब आक्रमणका रूप लेकर आये, तब उनसे शताब्दियोंतक टक्कर ली गयी; पर जब वे इस भूमिपर बस गये, तब उन्हें क्षत्रिय बना लिया गया। पारसी हजारोंकी संख्यामें हमारे देशमें आकर आज हजारों सालोंसे आनन्दपूर्वक जीवन बिता रहे हैं। उन्हें आज हम भारतीय ही मानते हैं; क्योंकि भारतके बाहर अब उनका कुछ नहीं, उनकी स्फुरणभूमि भारतभूमि ही है। आज जब भारतीय संस्कृति गुलामीसे मुक्त होकर स्वच्छ वातावरणमें विकसित होने जा रही है, तब उस संस्कृतिसे वे अविलम्ब समरस हो जायँगे—ऐसा हमारा विश्वास है। जो अपनी संस्कृतिके ही अवयव जैन, बौद्ध, सिख आदि हैं, उनके बारेमें तो कुछ कहना ही नहीं; वे तो हमारे हाथकी छठी अँगुली मात्र हैं, जिनकी उत्पत्तिके साथ-साथ ही प्राणने आगे बढ़कर उन्हें अभिव्याप्त कर लिया है।

ईसाकी आठवीं शताब्दीसे प्रारम्भ होकर क्रमशः अनेक शताब्दियोंतक इस्लाम-संस्कृतिके उपासकोंने भारतीय संस्कृतिपर लगातार आक्रमण किया और भारतीय संस्कृतिके पुजारियोंके विघटन, प्रमाद और अशक्तताके कारण उन्होंने विजय प्राप्त की तथा देशपर अधिकार कर लिया। किंतु यह उनकी अन्तिम विजय नहीं थी; भारतीय पराजित हुए थे, पर उन्होंने आत्मसमर्पण नहीं किया था। उन्होंने सहस्र वर्ष व्यापी लोमहर्षण संग्राम किया—अपने अस्तित्वके लिये, अपनी संस्कृतिकी रक्षाके लिये हजारों युद्ध किये, लाखोंकी बलि चढ़ायी, कितने ही जौहर कर डाले। एक काल मराठोंके उदयका समय आया, जब यह चित्र स्पष्ट दृष्टिगत हुआ, भारतीयोंके शौर्यके कारण ऐसा जान पड़ा कि अब इस्लाम-संस्कृतिसे हमारा पीछा छूट जायगा, भारतीय संस्कृति उसे पराजित कर देगी; परंतु ईसाई संस्कृतिके मदान्ध उपासकोंका दुर्भाग्यवश तत्काल सांघातिक आक्रमण हुआ और भारतीय संस्कृति पुनः दासतामें डूबी। इस दासताके कालमें ईसाई संस्कृतिने भारतीय संस्कृतिको समाप्त करनेके लिये एक नवीन तीक्ष्ण विषका प्रयोग किया—हमारी जीवन-प्रणालीको ही बदल डालनेके लिये हमारे मनमें विदेशी रुचि उत्पन्न की। गत दो सौ वर्षोंकी पराधीनताका काल भारतमें इस्लाम-संस्कृति और भारतीय संस्कृति दोनोंके लिये था। इसलिये समान विरोधका आधार लेकर दोनोंमें गठबन्धन होनेका एक पक्षीय चित्र अवश्य दिखलायी पड़ा। किंतु ईसाई संस्कृतिके प्रतिनिधि अंग्रेजोंको जब यहाँ रहना कठिन जान पड़ने लगा, तब

कूटनीति खेलकर उन्होंने इस्लामके भक्तोंको अपनी ओर मिलाकर पाकिस्तानका निर्माण कर डाला, जहाँ वह आक्रमक इस्लाम सदा फलता-फूलता रहे और ईसाई संस्कृतिका भी भारतके लिये प्रवेशद्वार बना रहे।

आज भारतका पूर्व और पश्चिमका एक भाग यद्यपि आक्रमकोंकी सम्पत्ति बन गया है, तो भी शेष भारतमें भारतीय संस्कृतिके पनपनेके लिये एक मुक्त वायुमण्डल निर्मित हुआ है। इस स्थितिमें ईसाई संस्कृति, जो अब परास्त हो चुकी है, अल्पकालमें ही अपनी आक्रमणकी वृत्ति छोड़कर आत्मसमर्पण कर देगी और केवल उपासनाकी एक पद्धति-विशेष रह जायगी। उपासनाकी किसी भी पद्धतिसे भारतीय संस्कृतिने कभी विरोध प्रकट नहीं किया; इसलिये आगे चलकर ईसाई संस्कृति या तो स्वतः समाप्त हो जायगी या उसके उपासक भारतीय जीवनसे समरस होकर भारतीय संस्कृतिमें घुल-मिल जायँगे, जैसा कि वे पहले थे; किंतु इस्लाम-संस्कृतिके साथ भारतीय संस्कृतिका संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है। इस्लामके उपासकोंके दो स्वरूप हैं। एक स्वरूप मुसलमानोंकी धर्मान्ध आक्रमक वृत्तिमें—उनके जिहादोंमें प्रकट हुआ है, जो भारतमें आज भी जीवित एवं वर्द्धमान है। इस स्वरूपके उपासकोंमें भारतमें आज भी अरबकी सभ्यता, भाषा, वेश-भूषा, वहाँके वीर और संत, वहाँकी जीवन-प्रणाली, यहाँतक कि खाद्य पदार्थोंके लिये भी रुचि विद्यमान है। वे उनसे स्फूर्ति लेते हैं; महमूद, चिंगेज, नादिर, अलाउद्दीन और औरंगजेबको वे अपने पूर्वज, प्रेरणाके केन्द्र मानते हैं। उन्हींका-सा दृष्टिकोण रखते हैं और आजके युगमें कायदे-आजम जिन्ना उनके आराध्य बन गये हैं। यदि वे अपने विजयके कालमें भारतीय संस्कृतिको समाप्त कर देते तो भारतमें एकमेव इस्लाम-संस्कृति ही व्याप्त हो जाती, संस्कृति-संघर्षका प्रश्न मिट जाता; परंतु उनके घोर प्रयत्नके पश्चात् भी विशाल एवं चिरंजीवी भारतीय संस्कृति विजयिनी होकर निकल आयी। संघर्ष मिटनेका दूसरा मार्ग यह था कि इस्लाम-संस्कृतिके उपासक गत शताब्दियोंमें आत्मसमर्पणकर भारतीय जीवनसे समरसता प्राप्त कर लेते; पर ऐसा भी नहीं हुआ। इसीलिये आज भी वे भारतीय जीवनसे अलग दिखायी देते हैं। इस पृथक्त्वका कारण भारतीय संस्कृतिमें सहिष्णुताका अभाव नहीं, किंतु उनके अपने ही जीवनमें घोर असहिष्णुता, मतान्धता और दूसरोंके प्रति घृणाका भाव है। यह आज भी ज्यों-का-त्यों है और अभी-अभी भारतके विभाजन-कालमें एक अभूतपूर्व विभीषिका उपस्थित कर चुका है। इस्लामका दूसरा किंतु ऊपरी स्वरूप है उपासनाकी एक पद्धति-विशेष। उपासनाकी पद्धतिसे विरोध न होनेके कारण भारतीय जीवन इस्लामकी उपासनाको स्थान देनेको सदैव तैयार रहा है और आज भी है। यह भारतीय संस्कृतिकी उदारता और सहिष्णुता है। कांग्रेसने हिंदू-मुस्लिम एकताका जो प्रयत्न किया, वह यही समझकर कि मुसलमान केवल एक विशिष्ट संस्कृतिका उपासक-मात्र है; किंतु उस संस्कृतिके आक्रमक स्वरूपको उसने नहीं पहचाना अथवा उसकी उपेक्षा की। पर मुसलमान अपने आक्रमक स्वरूपको नहीं भूला था; इसलिये वह पास तो आया ही नहीं, उसने चुनौतियाँ दीं और अपना अलग राज्य निर्माण कर लिया! यदि आगामी कालमें भारतीय संस्कृति प्रभावशालिनी बन सकी तो आजके बचे-खुचे भारतके मुसलमान अपने आक्रमक स्वरूपको भूलनेका प्रयत्न करेंगे और उनका उपासक स्वरूप विकसित होकर कालान्तरमें भारतीय जीवनसे एकरस हो सकेगा; और यदि भारतीय संस्कृति शक्ति-सम्पन्न एवं तेजस्विनी नहीं बन सकी तो उनका आक्रमक स्वरूप आगे चलकर अवसरकी खोज करता हुआ पुनः प्रकट हो जायगा।

इस स्थानपर हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि दासताके बन्धनसे मुक्त होते ही भारतीय संस्कृतिके ऊपर एक नवीन संस्कृतिके आक्रमणका प्रश्न उपस्थित हो गया है और वह है स्लाव संस्कृति। भौतिक सुखोपभोगके आधारपर जीवन-प्रणालीकी रचना इसकी विशेषता है; रूसमें जन्म लेकर असहिष्णुता और घृणाके आधारपर वह अपना विस्तार कर रही है; देशका दारिद्र्य इसके पौधेको सींच रहा है; भावी निर्माणके लिये ध्वंस और अराजकता उपस्थित करना इसका मार्ग है; आध्यात्मिक जीवन-प्रणालीका विनाश इसके उदयका परिणाम है; आगामी संघर्ष निश्चित है—प्रतिफल हमारी क्षमतापर अवलम्बित है।

भारतीय संस्कृति एक विशेष प्रकारका दृष्टिकोण है। उदाहरणस्वरूप—जो अभारतीय संस्कृतियाँ हैं, उनमें विवाह एक समझौता है; किंतु भारतीय संस्कृतिमें वह एक पवित्र धार्मिक संस्कार है। भारतीय संस्कृतिके आधारपर जो जीवन-प्रणाली निर्मित हुई है, उसकी

प्रगति आध्यात्मिकताकी ओर, पूर्णत्वकी ओर, ईश्वरत्वकी ओर है। हमारे जीवनका लक्ष्य होता है ईश्वरको अपने कर्म समर्पण करते हुए मोक्ष—परम शान्तिकी प्राप्ति। सुखोपभोगके लिये भौतिक साधन जुटाना नहीं, अभ्युदयके लिये—ऐहिक जीवनमें संसारमें श्रेष्ठता प्राप्त करना; आशावाद लेकर सब प्रकारसे उच्चतम सभ्यताका विकास करना; सुख, सौभाग्य, गौरव और सामर्थ्यको बढ़ाते जाना—यह हमारा कार्य है। निःश्रेयसके लिये—अभ्युदय-कालमें अर्जित सौभाग्य और सम्पत्तिका उपयोग व्यक्तिगत सुखके लिये न कर, उसे देशके लिये, समाजकी सेवामें, लोक-कल्याणके निमित्त समर्पित कर देना—यह हमारा उद्दिष्ट है। अपनी संस्कृतिके ऊपर आये हुए आक्रमणका शौर्य एवं साहसके साथ सामना करना, किंतु संसारकी समस्त मतप्रणालियों तथा उपासनाकी पद्धतियोंके प्रति उदारता एवं सहिष्णुताका भाव रखना हमारा जीवन है। इसी आध्यात्मिक आधारपर जीवन-प्रणालीका निर्माण करके ही संसारके अन्य देश भी शान्ति-लाभ कर सकेंगे, भौतिक आधारपर नहीं—यह हमारा दावा है।

इस भारतीय संस्कृतिका साक्षात्कार शुष्क तर्कोंसे नहीं—मनन, अनुभूति और श्रद्धाके बलपर किया जा सकता है।

भारतीय संस्कृतिकी व्यापकता

(लेखक—विद्यारत्न पं० श्रीविद्याधरजी शास्त्री, एम० ए०)

यह निश्चित है कि संस्कृति किसी देशविशेषकी सीमामें सीमित नहीं होती। निरन्तर प्रगतिशील मानवजीवन प्रकृति और मानवसमाजके जिन-जिन असंख्य प्रभावों और संस्कारोंसे संस्कृत और प्रभावित होता रहता है, उन सबके एक सामूहिक स्वरूपको ही आज हम संस्कृतिके नामसे सम्बोधित करते हैं। ये संस्कार किसी एक निश्चित काल अथवा किसी एक देशविशेषके नहीं होते। युगोंसे मानव अनवरत चिन्तन और अनवरत कर्मके व्यापारमें व्यापृत रहता आया है। इसका यह चिन्तन और इसके ये कर्म कभी प्राकृतिक प्रभावसे प्रभावित, कभी आन्तरिक प्रेरणासे प्रेरित एवं कभी नानास्थलोंके निवासियोंके पारस्परिक सम्पर्कसे सम्पन्न होते हैं। इन कामोंमें भले, बुरे, सुन्दर और असुन्दर—सब तरहके काम आ जाते हैं। प्रत्येक कामको ही हम संस्कृति नहीं कहते; पर जिन कामोंकी किसी देशविशेषके समस्त समाजपर एक अमिट-सी छाप लग जाती है, वह छाप ही अन्तमें उस देश अथवा उस देशके निवासियोंकी एक पृथक् संस्कृति बन जाती है।

भारतीय संस्कृति भी संस्कृतिके इस नियमसे रहित नहीं। भारतके मानवने भी वही किया है, जो दूसरे देशोंके मानव अपने प्रारम्भिक अथवा परिपक्व चिन्तनके बाद करते हैं। भेद है तो केवल यही है कि जहाँ किसीका चिन्तन अनन्त युगोंमें व्याप्त है, वहाँ किसीका अनुभव केवल कुछ सदियोंमें ही सीमित रह जाता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रकृतिसे सर्वत्र एक ही रूपमें प्रभावित नहीं होता। भारतीय प्रदेशकी यह विशेषता है कि इसने प्रकृति और मानवकी प्रगतिको अनुभूत करनेका सबसे अधिक सौभाग्य प्राप्त किया है। यह महासागरों, महापर्वतों और महारण्योंके प्रत्येक परिवर्तनको अपने एक कल्पनातीत अतीतमें देख चुका है। यहाँके आदि निवासियोंमें मानवसमाजके विभिन्न युगोंमें होनेवाले प्रायः समस्त धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनोंकी आवृत्तियोंका कोई पार दिखायी नहीं देता। इसके अकल्पनीय अतीतका यह वैचित्र्य है कि इसने इतिहासमें घटनेवाली पुनरावृत्तियोंको एक बार नहीं, पर शत-शत बार देखा है। इसकी तपश्चर्या और इसकी नव-निर्माण-साधनाका कोई मापदण्ड नहीं। आजके सैकड़ों-हजारों वर्ष पहले भी जब यहाँके महान् विचारक किसी बातको कहते हैं तो उसके साथ यही कहते हैं कि यह बात मुझसे पहले अनेक महानुभाव कह चुके हैं। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।

अर्जुनको जिस योगका उपदेश दिया जा रहा है, वह नवीन नहीं अपितु परम्पराप्राप्त है। यदि यह परिस्थिति हजारों वर्ष पहलेकी है तो जिनके समयका आजतक कोई निर्णय न कर सका, वे वेद भी इसके प्राचीन धर्मोंका वर्णन करते हुए यही प्रतिपादित करते हैं—

तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

संक्षेपमें कहनेका तात्पर्य यही है कि इसके जीवन-सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञानको किसी कालकी मर्यादामें मर्यादित नहीं किया जा सकता। भारतीय संस्कृति इस अपरिमेय ज्ञान-विज्ञानकी ही देन है और अतएव इसमें पद-पदपर त्रिकालव्यापी शाश्वत सिद्धान्तोंके दर्शन होते हैं। संस्कृति-प्रेमियोंका कर्तव्य है कि वे मूलविहीन केवल नवीनताके नामपर अपने इस महान् अक्षुण्ण भण्डारकी अवहेलना न कर इसके गुप्त रत्नोंको प्रकाशित करनेका प्रबल प्रयत्न करें। प्रतिदिन सवितासे नयी-नयी प्रेरणाके लिये प्रार्थना करनेवाला भारत उनकी नवीनताका विरोधी नहीं, अपितु उसके मूलको निरन्तर हरा-भरा रखकर उसका प्रधान परिपोषक है।

भारतीय वैयक्तिक एवं सामाजिक रचना तथा मार्क्सवाद

(लेखक—श्रीप्रेमसागरजी शास्त्री)

भारतके प्राचीन तपोनिष्ठ महर्षियोंने राष्ट्र एवं विश्वकी स्थितिको सुस्थिर बनानेके लिये अपनी कुशाग्रमतिसे जो प्रयत्न किया है, वह रचनाक्षेत्रमें महान् एवं प्रशस्यतम है। उन्होंने नानारूपात्मक पदार्थोंके अन्त:स्थलमें विद्यमान एकरूपताकी खोजकर उसके आधारपर मनुष्यकी वैयक्तिक तथा सामाजिक रचना की, जिससे जायमान सभी विवाद और संघर्ष शान्त हो सकें—मानव-जीवनकी सर्वांगीण उन्नति, राष्ट्रिय जीवनका मौलिक सुधार तथा उसका विशुद्ध और स्थायी रूप हो सके।

वैयक्तिक रचना—उन्होंने मनुष्यकी आयुके चार भाग किये। प्रथम भागात्मक ब्रह्मचर्य-जीवनमें अध्ययनादि कर्तव्य था। मनुष्यकी आयुका यही समय प्रारम्भिक उच्चशिक्षाका होता है। इसीलिये उस समय '**सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव**' इत्यादि उच्चशिक्षाएँ दी जाती थीं, जिनके अभावसे आज देशमें सर्वत्र भ्रष्टाचार फैला हुआ है। अपने-आपको सुधारक माननेवाले बड़े-बड़े नेतालोग भी इसी दिशामें कार्य-सम्पादन कर रहे हैं; किंतु उन प्रारम्भिक उच्चशिक्षाओंके कारण वे लोग समाज और राष्ट्रके लिये सुयोग्य विद्वान् और सच्चे सुधारक तथा पथप्रदर्शक सिद्ध होते थे। तदनन्तर विद्या समाप्तकर गृहस्थजीवनमें प्रवेश करते थे। पारिवारिक जीवनमें (जिसे लघु समाज-निर्माण कह सकते हैं) रहते हुए अच्छी तरहसे उसका पालन करते थे। और सबकी सेवा करते हुए समाजकी विविधोन्नतिमें सहायक होते थे। इसके बाद अपनी आयुका तीसरा भाग वानप्रस्थ-जीवनमें बिताया जाता था। सम्पूर्ण भार अपनी सन्तानको देकर आमुष्मिक उन्नत्यर्थ ईश्वरोपासनामें तत्पर हो जाते थे। आयुके चतुर्थ भागमें संन्यासजीवन लेकर संसारकी सर्वविध आसक्तिको छोड़कर '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' इस उपदेशका अनुसरण करते हुए मनुष्य-जीवनके चरम लक्ष्य परम सत्यकी खोज करते और उसकी अनन्ततामें प्रवाहित हो जाते थे।

यह वैयक्तिक रचना ही आश्रमव्यवस्था है। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि इस वैयक्तिक रचनासे मनुष्य अपने चरम ध्येयकी प्राप्ति कर सकता है और हिंसा-स्तेय-प्रतारण-स्वार्थपरता-परापकारचिकीर्षा आदि समस्त दोषोंकी जननी कामना उत्पन्न ही नहीं हो सकती। दूसरेकी वस्तुओंको देख हमें भी उन्हें भोगनेकी इच्छा होती है, यही कामना नामकी पिशाची है। उन वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये उनके भोगको स्थायी रखनेके लिये हमें अनेक दोष करने पड़ते हैं, यह कामनाका ही परिणाम है। अस्तु, उक्त दोषोंके अभावसे समाज और राष्ट्रकी स्थितिमें थोड़ा भी अन्तर नहीं आ सकता। इसलिये वस्तुत: यह वैयक्तिक रचना मानुषजीवनकी सर्वांगीण उन्नतिकी पराकाष्ठा एवं राष्ट्र और समाजका मौलिक सुधार था।

सामाजिक रचना—सभी मनुष्योंको इस विशाल समाज-पुरुषके अंग-प्रत्यंग समझकर वह समाज विशाल एवं सुदृढ़ भवनके रूपमें असंख्य झंझावातोंको झेलता हुआ अविचल खड़ा रहे, अत: भारतीय महर्षियोंने मनुष्यकी प्रकृतिपार्थक्यके आधारपर भागचतुष्टयरूप चार स्तम्भोंसे उसे दृढ़शक्ति बना दिया, जिससे उसका कोई भी भाग विकृत न हो सके। यह एक प्राकृतिक नियम (Natural Law) है कि मानसिक या बौद्धिक उन्नतिमें सबका बराबर स्थान नहीं हो सकता और सबकी प्रकृतिमें भी एकता नहीं दीख पड़ती। अत: सभी मनुष्योंको एक ही कार्य न सौंपकर उन्हें अपने उत्कर्षमें प्रवृत्त करनेके लिये तथा सामाजिक सुव्यवस्थाके

लिये उनकी जन्मगत वृत्ति एवं मानसिक स्थित्यनुसार भिन्न-भिन्न कार्य ही उन्हें सौंपे जाने चाहिये। भारतीय महर्षियोंने लाखों वर्ष पूर्व इस तथ्यको समझा और विशिष्ट एवं शक्तिशाली समाजका निर्माण कर दिखाया। उन्होंने वेद-भगवान्की—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

—इस आज्ञाके अनुसार सबसे पहले बुद्धिशक्तिप्रधान मनुष्यों (ब्राह्मणों)-का वर्ग रखा। यह वर्ग आजीवन ज्ञानार्जन और ज्ञान-वितरणका कार्य करता था। समाज इसकी उदरवृत्तिका प्रबन्ध करता था और यह इतनेमें ही सन्तुष्ट था। बुद्धिमान्, विचार-शक्तिप्रधान तथा सामाजिक व्यवहारोंसे निरपेक्ष होनेके कारण सामाजिक नियम बनानेकी पात्रता एवं क्षमता उनमें थी। अतः सामाजिक नियन्तृत्वका भार उन्हें सौंपा गया। दूसरा वर्ग बलप्रधान मनुष्योंका रखा गया। सामाजिक रक्षाका भार उसे सौंपा गया। राजासे लेकर क्षुद्र कर्मचारीतकके समस्त रक्षासम्बन्धी कार्योंको वही वर्ग करता था। प्रथम वर्गकी अपेक्षा यद्यपि इसमें त्यागभावना कम है, तो भी कर्तव्य या धर्मकी भीरुतासे एवं ब्राह्मणनियन्तृत्वसे यह स्वेच्छाचार नहीं कर सकता था। तीसरा इच्छाशक्तिप्रधान वैश्य-वर्ग रखा गया। कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्य आदि कर्तव्य इसे दिया गया। यह वर्ग अपने कर्तव्यद्वारा सारी प्रजाका पालन करता हुआ अपने व्यवसायको देश और विदेशमें फैलाता था। गृहीत धनराशिको अपने पास रखता हुआ यह वर्ग राजकीय कोषाध्यक्षकी भाँति सामाजिक कोषाध्यक्ष कहलाता था और शूद्रोंका चौथा वर्ग शारीरिक श्रमसाध्य कार्योंको करता था। शिल्पादि कलाएँ इसीके हाथमें थीं।

ये हैं भारतीय सामाजिक रचनाके चार भाग, जो अन्योन्याश्रित थे। इनमें ईर्ष्या और द्वेषके लिये स्थान ही नहीं है। सबसे तदीय मनोरचनाके आधारपर कर्तव्य निश्चित कर दिये हैं। समाज-सत्ता किसी व्यक्ति या दलके हाथमें नहीं रह सकती। एक वर्गके पास विधान (Law) बनानेकी शक्ति और शिक्षाविभाग है, तो दूसरेके पास राज्याधिकार है, तीसरेके पास कोष और उत्पादन या जीवन-निर्वाहके साधन (Means of Subsistence), और चौथेके पास श्रमशक्ति (Labour Power) और शिल्पादि कलाएँ हैं। क्षत्रियोंकी अधिकार-सत्तापर ब्राह्मणोंका, तथा दोनोंकी आवश्यकता-पूर्तिपर वैश्योंका अधिकार है। और तीनोंके मूलभूत शूद्र हैं। इस प्रकार विभक्त होते हुए भी ये परस्पराश्रित कर दिये गये, जिससे किसी प्रकारका संघर्ष न हो सके। इसी अन्योन्याश्रयभावको लक्ष्यमें रखकर वायुपुराणमें कहा है—

यदि ते ब्राह्मणा न स्युर्ज्ञानयोगवहाः सदा।
उभयोर्लोकयोर्देवि स्थितिर्न स्यात्समासतः॥
यदि निःक्षत्रियो लोको जगत्स्यादधरोत्तरम्।
रक्षणात्क्षत्रियैरेव जगद्भवति शाश्वतम्॥
तथैव देवि वैश्याश्च लोकयात्राहिताः स्मृताः।
अन्ये तानुपजीवन्ति प्रत्यक्षफलदा हि ते॥
... ...
शूद्राश्च यदि ते न स्युः कर्मकर्ता न विद्यते।
त्रयः पूर्वे शूद्रमूलाः सर्वे कर्मकराः स्मृताः॥

इसी हमारी सामाजिक रचनासे सभी अपना-अपना कार्य करते हुए समाज और राष्ट्रके भव्य जीवनके लिये लाभकारी सिद्ध होते थे। इस विषयमें विवाद नहीं कि जिसके पूर्वज दीर्घकालसे जो कार्य करते आ रहे हों, उसके रक्तमें भी तत्कार्यसम्बन्धी गुण अवश्य आयँगे। और वह वर्ग अपने कार्यको करता हुआ निश्चय ही अन्य वर्गों तथा कार्योंकी अपेक्षा स्वकार्यमें कुशल होकर समाज और राष्ट्रकी तत्सम्बन्धिनी उन्नतिमें विशिष्ट एवं महान् सहायक हो सकता है। इसीलिये इस सामाजिक रचनाके आधारपर हमारा यह महान् एवं वृद्ध भारत-देश भूतकालमें ज्ञान-विद्या-बुद्धि-कला-वैभवादि सभी गुणोंमें कितना अग्रसर था—यह किसीसे छिपा नहीं है।

अब देखना यह है कि हमारी इस सामाजिक रचनामें कौन-सा सिद्धान्त मार्क्सवादके उपयोगी सिद्धान्तसे कम है। मार्क्सवादका स्थूलरूपसे मौलिक सिद्धान्त यह है—

'प्रत्येक व्यक्ति कार्य करे और सबको उसकी आवश्यकताके अनुसार प्राप्त हो।'

हम यदि ज़रा गम्भीरतासे विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय सामाजिक रचनाके मूलमें उत्तम प्रकारका श्रमविभाग है। उसमें कार्यहीन कोई भी व्यक्ति समाजके ऊपर भाररूप नहीं हो सकता। अपितु सभी स्वकार्यको करते हैं, और आवश्यकतानुसार प्राप्त करते हैं। और जो यह संघर्ष हो रहा है—यथा एक वर्ग कुछ देना नहीं चाहता और दूसरा वर्ग सब कुछ लेना चाहता है एवं धन, भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त धनीवर्ग

और दारिद्र्यपीड़ित एवं ईर्ष्योत्तेजित श्रमिकवर्ग मनुष्यताको छोड़कर राष्ट्रिय एवं सामाजिक जीवनको संकटपूर्ण बना रहे हैं—जिसका कि उपाय मार्क्सवादने सर्वविध सम्पत्तिका राजकीयकरण सोचा है—उसका अन्त इसी सामाजिक रचनासे हो सकता है। हमारी सामाजिक रचनामें धनीवर्गका कर्तव्य इस प्रकार निश्चित किया गया है कि जो कुछ भी धन वैश्यवर्ग प्राप्त करता है, उसके ऊपर उसका निजी स्वामित्व नहीं, अपितु वह समाजका है। समाजके लिये सर्वविध धनका न्यायोचित उत्पादन, उसका संग्रह और संवर्द्धन उसका कर्तव्य है। इस प्रकार धनीवर्गकी भाँति जब सभी वर्ग अपने-अपने कर्तव्यपर आरूढ रहेंगे, तब वर्गसंघर्ष हो ही नहीं सकता। और सभी वर्ग अपने-अपने कर्तव्यपर कैसे स्थित रहेंगे—यह पीछे 'अन्योन्याश्रय' से बताया जा चुका है। अतः यह स्पष्ट हो गया कि इस विषयमें भारतीय सामाजिक रचना अपनी विशालता और श्रेष्ठताके कारण मार्क्सवादसे कहीं अधिक महत्त्व रखती है। एवं वह सर्वथा निर्दोष है। मार्क्सवादकी सामाजिक रचनामें तो कई ऐसे भयानक मौलिक दोष हैं, जो मनुष्यका पतन करके छोड़ते हैं। यथा—

(१) सर्वप्रथम मार्क्सवादीय समाजरचना मनुष्यकी नैसर्गिक मनोरचनाके अनुसार नहीं है।

(२) इसमें मनुष्य-जीवनके चरम उद्देश्य (भगवत्प्राप्ति) की ओर ध्यान ही नहीं रखा गया, जिससे यह मानव-जीवनकी सर्वांगीण उन्नतिका साधन तो होता ही नहीं वरं द्वेष, हिंसा, वैर आदिके सेवनसे उसे अवनत कर देता है।

(३) इसमें वैयक्तिकी शासनसत्ताका सर्वथा अभाव है, जिससे मनुष्यके अन्तःकरणके स्वाभाविक दुष्ट भाव काम-क्रोधादिकों तथा तदुत्पन्न दोषोंके नियन्त्रण तथा दूर करनेका कोई उपाय ही उसके पास नहीं रह जाता।

(४) यद्यपि निजी स्वामित्वको नष्टकर स्वार्थमूलक भावोंको दबानेका प्रयत्न किया गया है, तथापि उसके साथ ऐसा कोई प्रवर्तक हेतु नहीं बनाया, जिससे मनुष्य आत्मविकासके लिये प्रयत्न करे, अथवा समाजसेवामें स्वपरिश्रमकी पराकाष्ठा दिखला सके।

परंतु हमारी वैयक्तिक रचना इन सब दोषोंसे सर्वथा रहित है और राष्ट्रके वर्तमान एवं भावीजीवनका सर्वविध सुधार करनेमें समर्थ है। इस सामाजिक रचनासे आधुनिक सम्पूर्ण कलह शान्त हो सकते हैं। सबको उचित काम और यथार्थ पारिश्रमिक (Real Wages) मिल सकता है। प्रत्येकके अधिकारके साथ तत्तुल्य कर्तव्य (Duty) निश्चित किया जा सकता है। और समाजके सभी वर्गोंका कार्य-विभाजन (Division of Work) होते हुए भी वे पूर्वोक्त प्रकारसे इस तरह परस्पराश्रित किये जा सकते हैं कि एक-दूसरेको दबानेका कभी अवसर ही न प्राप्त हो सके, प्रत्युत सब प्रेम और आदरके साथ रहनेके लिये विवश हों। इस प्रकार क्रमशः समाज, राष्ट्र एवं विश्वभरकी स्थिति सुस्थिर हो सकती है।

संस्कृतिका अन्वेषण

प्राचीन इतिहास, कला, साहित्य एवं समाजके आचार-प्रभृतिके अन्वेषण पाश्चात्त्य सभ्यताकी एक महती विशेषता है। इसे स्वीकार करना ही होगा कि अन्वेषणकी यह प्रवृत्ति यूरोपकी देन है। प्राचीनताकी छान-बीनकी यह अभिनव रुचि एवं वर्तमान अनेक साधन यूरोपसे विस्तीर्ण हुए हैं और इनको इतना अधिक महत्त्व मिला है कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी आयका एक बड़ा भाग इसपर व्यय करता है।

भारत चाहे प्राचीनताका इस प्रकार अन्वेषक न रहा हो, परंतु हम सदासे उसके विश्वासी और अनुगामी रहे हैं। हमारे लिये प्राचीनता केवल जिज्ञासाकी वस्तु नहीं, वह हमारी आराध्य है। सनातन-शाश्वत धर्म एवं आदि संस्कृति ही हमारी नित्य आदर्श रही है। अवश्य ही मध्यकी विकृतियोंकी रक्षा तथा उनका अन्वेषण भारतको प्रिय नहीं था। जिस जातिका लक्ष्य भौतिकताके ठीक प्रतिकूल अन्तर्मुखता हो, वह बाह्य विकृतियोंकी छान-बीनमें लग भी नहीं सकती।

जहाँतक गवेषणाका सम्बन्ध है, वह सदा ज्ञानदायिनी और श्रेष्ठ है। यूरोपकी इस प्रवृत्तिकी प्रशंसा करनी पड़ेगी। जहाँ भी यह प्रवृत्ति पक्षपातशून्य होकर विशुद्धरूपमें होगी, वहाँ वह सत्यका चाहे स्पष्ट साक्षात् न करा सके, परंतु उसका संकेत तो अवश्य ही करेगी। यूरोपमें, विकासवादकी जन्मभूमि इंग्लैंडमें ही इस प्रकारके विशुद्ध अन्वेषक हैं। उन वैज्ञानिकोंने विकासवादका

थोथा सिद्धान्त अस्वीकार कर दिया है और स्वीकार कर लिया है कि 'डार्विनका विकासवाद बिलकुल असत्य और विज्ञानके विरुद्ध है' (प्रोफेसर विलियम वैटसन)। सायन्स इस बातका स्पष्ट साक्षी है कि 'मनुष्य अवनत दशासे उन्नत दशाकी ओर चलनेके स्थानमें उलटा अवनतिकी ओर जा रहा है। मनुष्यकी आरम्भिक दशा उत्तम थी' (सिडनी कालेट)। 'आदि सृष्टि अमैथुनी होती है और इस अमैथुनी सृष्टिमें उत्तम और सुडौल शरीर बनते हैं' (जस्टिस टी० एल० स्ट्रेंज)।

'चेतनके प्रभावके बिना जड़ पदार्थोंमें चेतना आ ही नहीं सकती, विज्ञानका यह नियम मुझे पृथ्वीके आकर्षणके नियमकी भाँति ही अटल प्रतीत होता है।'*

यह स्वीकार कर लेनेपर भी यूरोपीय वैज्ञानिकों तथा अन्वेषकोंकी स्वदेश एवं स्वसंस्कृतिकी परिस्थिति यह है कि वे असभ्यसे सभ्य हुए हैं। मनुष्यकी मूल-उत्पत्तिके स्थानसे पृथक् होनेपर वे वहाँकी शिक्षासे भी वंचित हुए। काल-क्रमसे उनका ज्ञान लुप्त हो गया। वे असभ्य हो गये। धीरे-धीरे पीछे जब वे अपनेसे अधिक सभ्य जातियोंके सम्पर्कमें आये, तब उनकी सभ्यता एवं ज्ञानका विकास हुआ। फलतः उनका इतिहास विकासवादका इतिहास है। थोड़े-से अत्यल्प महान् पुरुषोंको छोड़कर मनुष्यका अहंकार स्वभावतः उसे यह नहीं स्वीकार करने देता कि कभी वह किसीसे किसी विषयमें हीन रहा है और उसने दूसरोंसे कुछ सीखा है। यूरोपीय अन्वेषक भी इसी वृत्तिसे विवश होकर स्वतः विकासका समर्थन करते हैं। उनमें जो साहसी और तटस्थ हैं, जिन्होंने आदि पूर्ण संस्कृतिका सिद्धान्त स्वीकार किया है, वे वर्तमान अन्वेषण-प्रणालीको सर्वथा भ्रान्त घोषित कर चुके हैं।

पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे भारतीय अन्वेषकोंमें दो भाग हो गये हैं। एक भाग तो विकासवादकी भावना लेकर चलता है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें विकास हुआ। साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला, समाज-व्यवस्था, धर्मभावना प्रभृति समस्त क्षेत्रोंमें मनुष्यने क्रमशः उन्नति की। अधिकांश आलोचक—चाहे वे दार्शनिक हों, साहित्यिक हों, पुरातत्त्वके हों या दूसरे किसी विषयके—जो भी पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे प्रभावित हैं, वे डार्विनकी उसी पुरानी भावनाके समर्थक हैं। वे नहीं देखते कि यूरोपके उच्च वैज्ञानिक उसे दो सदी (वैज्ञानिक सदी) पुरानी एक भ्रमपूर्ण कल्पना कहते हैं और भारतके सम्बन्धमें, जहाँ ज्ञानका निरन्तर ह्रास हुआ है, जहाँ संस्कृतिकी परम्परा सृष्टिके आदिकालसे अनवच्छिन्न है, यह सिद्धान्त सर्वथा भ्रामक है।

विकासवादकी यह भावना भारतमें अत्यन्त व्यापक है। प्रायः सभी शिक्षा-संस्थाओंके पाठ्य ग्रन्थ इसी भावनासे लिखे गये हैं। फलतः नवीन शिक्षित समुदाय भी इसी सिद्धान्तके साँचेमें ढलता जा रहा है। उपनिषदोंका महान् तत्त्वज्ञान, सूत्रग्रन्थोंका अलौकिक दर्शनशास्त्र, आचार्योंकी लोकोत्तर प्रतिभा, साहित्यमें कालिदास, सूर, तुलसी, विहारीके क्रमसे अब दुर्लभप्राय प्रतिभा, प्राचीन मूर्ति एवं चित्रकलाकी अपूर्व सुषमा—इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्रमें प्रत्यक्ष ह्रास देखकर और स्वीकार करके भी यह वर्ग अस्पष्ट, भ्रमपूर्ण, जटिल तर्कोंद्वारा अपने दुराग्रहपर स्थिर है।

समाजकी अध्ययनकी प्रवृत्ति घटती जा रही है। ज्ञान, स्वास्थ्य, शरीर, कला—सबमें दुर्बलता, अपूर्णता आ रही है। इसी अपूर्णताको, उच्छृंखलताको, ह्रासको आज 'प्रगति' का नाम दिया जाता है। बच्चोंके-से स्थूल एवं तथ्यहीन तर्कोंसे पुरातनका परिहास किया जाता है और माना जाता है कि हमारा विकास हो रहा है।

विकासवादके प्रभावका मूल पाश्चात्त्य शिक्षा एवं धारणा है। जिन विद्वानोंमें भारतीयताका गर्व एवं उसके प्रति अनुराग है, वे भी इस पाश्चात्त्य शिक्षासे भ्रमग्रस्त हुए हैं। ऐसे विद्वानोंका एक बहुत श्रेष्ठ, ख्यात एवं सम्मानित वर्ग है, जो यह तो स्वीकार करता है कि हमारे शास्त्र, ऋषिप्रणीत ग्रन्थ श्रेष्ठ एवं भ्रमहीन हैं, किंतु वह श्रेष्ठताकी धारणा पाश्चात्त्य जगत्‌से लेता है। फलतः जो बातें, जो ज्ञान, जो धारणाएँ पाश्चात्त्य जगत्‌में श्रेष्ठ मानी जाती हैं, उनके विषयमें वह कहता है 'हमारे यहाँ ये बातें पहलेसे हैं।' शास्त्रोंके अद्भुत अर्थ करके वह उन्हें सिद्ध करता है। जो बातें, नियम, आचार पाश्चात्त्य जगत् हीन मानता है, वे यदि हमारे ग्रन्थोंमें हैं तो इस

* *The Development of Creation on the Earth*, p. 17.

Dead matter cannot become living without coming under the influence of matter previously living. This seems to me as sure a teaching of science as the law of gravitation.

(*The Nature and Origin of Life*, p. 173)

वर्गके अनुसार, 'वे अंश पीछेसे मिलाये हुए प्रक्षिप्त भाग हैं, मध्यकालकी विकृतियाँ हैं।' इस प्रकार यह वर्ग भी आदर्श तो पाश्चात्त्य सभ्यताको ही मानता है।

इस वर्गमें संस्कृतके बड़े-बड़े प्रसिद्ध विद्वान् हैं। बात यह है कि जिन्होंने पहले पाश्चात्त्य शिक्षा प्राप्त की, उनकी धारणा उसके अनुसार बन गयी। प्रारम्भिक शिक्षा बालककी अपक्व बुद्धिको अपने साँचेमें ढालती है। अतः उनकी बुद्धि पाश्चात्त्य-विचारप्रधान हो गयी। इसीलिये प्रारम्भिक शिक्षा अपनी भाषामें अपनी संस्कृतिके अनुरूप आवश्यक होती है। बुद्धि पक्व होनेपर विदेशीय शिक्षा ज्ञानवर्द्धनका कारण हो सकती है, परंतु प्रारम्भमें तो वह भ्रम ही उत्पन्न करती है।

पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे जो भारतीय विद्वानोंका वर्ग पाश्चात्त्य धारणाओंको अपने यहाँके ग्रन्थोंमें सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है, वह चाहे जितना उच्च बौद्धिक वर्ग हो, करता यह अहंकारकी प्रेरणासे ही है। अहंकार ही व्यक्तिको प्रेरित करता है कि अपनेमें वह सभी गुणोंका आरोप करे और दोषोंके लिये दूसरोंको दोषी ठहराये। 'हमारे यहाँ अस्पृश्यता नहीं थी!' पाश्चात्त्य दृष्टिमें सभ्य बननेके लिये शास्त्रोंका मनमाना अर्थ करके यह सिद्ध करनेकी अपेक्षा 'अस्पृश्यता थी!' इस प्रकार सत्यकी स्वीकृति अच्छी है। यदि पाश्चात्त्य धारणा श्रेष्ठ है तो उसे स्वीकार करना चाहिये; परंतु बात तो ठीक उलटी है। 'हमारे यहाँ अस्पृश्यता थी और वह होनी चाहिये। वह श्रेष्ठ है।' उसके मर्मको न समझकर पाश्चात्त्य सभ्यताने उसे बुरा माना। पाश्चात्त्य प्रभावसे हम एक अच्छाईको बुराई मान लें और तब कहें कि यह हमारे यहाँ नहीं थी, यह कोई बुद्धिमानी नहीं है। अस्पृश्यताकी भाँति जातिभेद, मूर्तिपूजा, देववाद, अवतारवाद, श्राद्धादि दूसरे धर्म एवं सिद्धान्त भी हैं, जो सत्य हैं, शाश्वत हैं।

चाहे शास्त्रोंको अस्वीकार करनेवाला 'प्रगतिवादी' वर्ग हो या शास्त्रोंसे पाश्चात्त्य मान्यता सिद्ध करनेवाला 'बुद्धिवादी' वर्ग, दोनों ही उस अन्वेषणकी प्रणालीसे प्रभावित हैं, जो पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंने अपनायी है। भूमिमें खोदनेपर मिली हुई इमारतें, मूर्तियाँ, सिक्के तथा दूसरे पदार्थ, प्राचीन चित्र, खदानोंमें पत्थरोंमें प्राप्त सैकड़ों वर्ष पुराने जन्तुओंके प्रस्तरीभूत अवशेष, मरुस्थल या हिमप्रान्तमें मिले सुरक्षित शव तथा पिरामिडों एवं कबरोंकी सामग्रियाँ, यही सब पाश्चात्त्य विज्ञानके अन्वेषणके साधन हैं। इन्हींके आधारपर संस्कृतियों एवं सभ्यताओंका इतिहास निर्धारित किया जाता है।

'विकासवाद' पर विचार करते समय इन साधनोंकी अपूर्णतापर विस्तारसे विचार किया जा सकता है। सभी यह स्वीकार करते हैं कि सम्पूर्ण पृथ्वी एक अनिश्चित गहराईतक कभी नहीं खोदी जा सकेगी। इस समय जितना भाग खोदा या ढूँढ़ा जा सका है, वह उस भागका एक सहस्रवाँ भाग भी नहीं, जिसका खोदा जाना अत्यावश्यक जान पड़ता है। अनेक ऐसे प्रमाण बार-बार मिलते हैं, जो पुराने स्थिर किये नियमोंको भ्रान्त सिद्ध कर देते हैं। इस प्रकार अभीतक ऐसा कोई नियम निर्धारित नहीं हुआ, जिसके सम्बन्धमें यह आशा की जा सके कि वह निरपवाद रहेगा। अन्वेषणसे प्राप्त सामग्री कितनी अल्प और अपूर्ण है, यह इससे समझा जा सकता है।

मान लीजिये कि पृथ्वीका वह भाग जिसे खोदा जा सकता है और पुरातत्त्व-विभाग जिसका खोदना आवश्यक मानता है, कुछ सौ शताब्दियोंमें खोद लिया गया। क्या तब इतिहासके समस्त प्रमाण उपलब्ध हो जायँगे? पहली बात तो यह कि नगरों, वनों, खेतों, पर्वतों और समुद्रोंके नीचे तब भी भूमिका अधिक भाग अज्ञात रहेगा। वहाँ कुछ नहीं है, यह तो कैसे कहा जा सकता है। दूसरी बात यह कि भूमिका ऊपरी स्तर बराबर धूल, मिट्टीसे ढकता है। इसीसे प्राचीन सामग्रियाँ भूगर्भमें धीरे-धीरे चली गयीं। समस्त सामग्रियाँ प्राचीन होकर सड़ती हैं। लकड़ी, कपड़ा, कागज आदि तो शीघ्र सड़ता है; पर पत्थर, लोहा तथा दूसरी धातुओंमें भी परिवर्तन होते हैं। हम आशा नहीं कर सकते कि भूमिमें हम दस-बीस लाख वर्ष पुरानी कोई वस्तु पा सकेंगे, जबकि पृथ्वीको रेडियमने अरबों वर्ष पुरानी बता दी है। पृथ्वीके ऊपरी स्तर जैसे-जैसे बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे ही नीचे ढकी वस्तुओंपर दबाव बढ़ता जाता है। बहुत नीचे पृथ्वीके स्तर टूटकर एकाकार हो गये हैं। वहाँ किसी पदार्थका बने रहना सम्भव नहीं। यदि वहाँ कुछ रहा हो तो वह भूमिसे एकाकार हो गया। इस प्रकार उपलब्ध सामग्री एक निश्चित कालसे पीछेकी हो नहीं सकती। इस सामग्रीमें भी काल जितना अधिक लंबा होगा, पदार्थ उतने सड़े, दुर्बल होंगे। वही पदार्थ मिलेंगे, जो सड़नेसे बच रहे। यदि हमें प्राचीन कालके वस्त्र और कागज नहीं मिलते तो इसका अर्थ

यह नहीं कि वे थे ही नहीं—उस समय केवल पाषाण या धातुका उपयोग होता था। ये 'पाषाणयुग' तथा 'धातुयुग' केवल काल्पनिक हैं। उस समयके काष्ठको पानेकी हम आशा कैसे कर सकते हैं।

तो पदार्थ हमें खोदनेसे मिले हैं या मिलते हैं, वे क्या किसी समयके सचमुच प्रतीक हो सकते हैं? यह एक विचारणीय विषय है। ऐसा तो कोई स्थान अभी कहीं मिला नहीं है, जहाँ खोदनेपर केवल पत्थर या केवल धातुकी सामग्री मिली हो। सभी सामग्रियाँ कुछ-न-कुछ मिश्रित ही मिलती हैं। आज साधुओंकी रहन-सहन, गरीबोंकी रहन-सहन, विद्वानों और सम्पत्तिशालियोंकी रहन-सहन क्या समान है? क्या एक भीलोंके ग्राम और नगरमें समान सामग्री मिलती है? क्या भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें ही अन्तर नहीं है?

कल्पना कीजिये कि कोई पुरानी समाधि खोदी गयी। वह साधुकी, बौद्ध भिक्षुओंकी हो तो वहाँ मिट्टीके पात्र, साधारण पाषाणके बर्तन तथा कुल मिट्टी, पत्थर या लकड़ीकी बहुत सामान्य वस्तुएँ निकलेंगी। क्या इसका अर्थ यह होगा कि उस समय लोग कारीगरी नहीं जानते थे? यदि कहीं खोदनेपर टाटानगरकी भाँति कोई औद्योगिक नगर मिले तो यह परिणाम निकलेगा कि उस समय सारे संसारमें केवल लोहा ही प्राप्त था?

आज जहाँ भी खोदनेका काम होता है, यह जाननेका कोई साधन नहीं रहता कि उस समयके समाजमें उस स्थान एवं वहाँके लोगोंकी क्या स्थिति थी। आजके विद्वान् उन अविशिष्ट सामग्रियोंसे उस समयके पूरे मानव-समाजकी कल्पना करते हैं। यह कल्पना वैसी ही है, जैसे कोई किसी उजड़े छोटे ग्रामकी दीवालों तथा खपरैलके टुकड़ोंको लेकर पूरे देशकी संस्कृतिका वर्णन करने लगे।

इस प्रकार आधुनिक अन्वेषणके सब आधार अपूर्ण और भ्रान्तिपूर्ण हैं। अत्यल्प, सन्दिग्ध प्रमाणोंपर किये हुए अनुमान कोरे तथ्यहीन अनुमान ही हैं। ऐसे अनुमानोंने इतिहासको बहुत भ्रमपूर्ण कर दिया है। विकासवादकी निर्मूल धारणा उस भ्रमको और भी जटिल बनाती है। यद्यपि महान् संग्रहालयोंके अध्यक्ष अब स्वीकार करने लगे हैं कि उनके संग्रहालयोंमें ऐसा कुछ नहीं, जो विकासकी धारणाको पुष्ट करे, फिर भी पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे प्रभावित विद्वान् इन अधूरे प्रमाणोंके अतिरिक्त और कोई आधार अपने अन्वेषणका न पाकर उसी अन्धकारमें भटक रहे हैं।

अन्वेषणकी पाश्चात्त्य प्रणाली उसके भौतिकवादपर निर्भर है। यह मान लिया गया है कि पदार्थोंका स्थूल रूप सत्य है। फलतः पदार्थोंको पृथ्वीके भीतर गड़ा हुआ या आकाशमें वायवीय रूपमें किसी-न-किसी रूपमें मिलना ही चाहिये। इसीसे जो कुछ पृथ्वीमें मिलता है, उसी कंकालके आधारपर इतिहासका काल्पनिक चित्र बनाया जाता है।

हिंदू-संस्कृतिके अन्वेषणमें ये कंकड़-पत्थरोंके प्रमाण किसी भी प्रकार प्रमाणकोटिमें लेने योग्य सिद्ध ही नहीं होते। हिंदू-संस्कृतिकी परम्परा इतनी प्राचीन है कि उसकी प्राचीनतामें जगत्का कोई पदार्थ अपने रूपमें बना रहेगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। कालकृत इस दीर्घताकी बाधाके अतिरिक्त दूसरी बाधा सिद्धान्तकी है। भारतीय दर्शनोंके सभी मतोंमें पदार्थोंकी व्यक्त सत्ताको अमान्य किया गया है। जगत् एवं उसके पदार्थोंका आविर्भाव तथा तिरोभाव भारतीय दर्शनको मान्य है। जब पदार्थकी स्थूल सत्ता ही नहीं, तब स्थूल पदार्थके प्राचीन चिह्न मिलने कैसे सम्भव हैं।

स्थूल पदार्थोंके आधारपर हिंदू-संस्कृतिके अन्वेषण करनेवालोंकी कठिनाइयाँ तो द्वापरके अन्त और आजकी स्थितिके सामंजस्यमें ही इतनी बढ़ जाती हैं कि वे कोई ठीक समाधान नहीं कर पाते। द्वापरके अन्तको पाँच सहस्रसे कुछ ही वर्ष अधिक हुए हैं। महाभारतका युद्ध द्वापरके अन्तमें हुआ था। महाभारत तथा पुराणोंके वर्णनोंका आजकी सामाजिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, सभी बातोंसे सामंजस्य नहीं होता। वर्तमान इतिहास लगभग तीन सहस्र वर्ष पीछेतक जाता है। इन तीन सहस्र वर्षोंका विवरण विश्वस्तरूपसे प्राप्त माना जाता है। पाँच सहस्रसे तीन सहस्रके मध्यके दो सहस्र वर्षोंमें ऐसी कौन-सी महान् घटना विश्वमें हुई, जिसने समस्त विश्वके भूगोल एवं इतिहास-क्रमको भंग कर दिया—इसका कुछ पता नहीं।

महाभारतके वर्णनके अनुसार भारतका उस समयके सम्पूर्ण भूमण्डलके देशोंसे सम्बन्ध था। पृथ्वीके वर्तमान सभी देशोंकी भाषा, आचार, कलाकृति आदिमें ऐसे अंश पर्याप्त हैं, जो उनका भारतसे सम्बन्ध सूचित करते हैं। यह सम्बन्ध कब क्यों टूट गया, इतिहास इसे

बतानेमें असमर्थ है। इसी प्रकार भारतीय रथों, दिव्यास्त्रों आदिका लोप भी एक समस्या है।

सर्पके मस्तककी मणि, गजमुक्ता, स्वयं प्रकाशित रत्न—इन सबका वर्णन इतने विस्तारसे शास्त्रोंमें है कि इनको केवल कवि-कल्पना नहीं कहा जा सकता। इसके साथ यह भी सत्य है कि आज संसारमें ऐसा कोई रत्न या मणि नहीं, जो अन्धकारमें थोड़ा भी प्रकाश कर सके। वह केवल चमकसे अपनी स्थितिमात्र सूचित कर दे, यही पर्याप्त है आज। कहीं कोई सर्पके सिरका मणि नहीं और न कहीं हाथीके मस्तकसे निकला मोती ही उपलब्ध है।

भारतमें जिस अपार ऐश्वर्य एवं सम्पत्तिका वर्णन हुआ है, क्या सब काल्पनिक है? स्फटिकके भवन, स्वर्णके विशाल नगर-जैसे यज्ञ-मण्डप, रत्नोंकी राशियाँ, क्या हुई सब? आजका पाश्चात्य सभ्यतामें दीक्षित अन्वेषक तो कह देगा कि यह सब कवियोंके स्वप्नकी बातें हैं। क्योंकि पदार्थोंकी स्थूल सत्ता स्वीकार कर लेनेपर उसके लिये दूसरा कोई मार्ग रह नहीं जाता।

भारतीय शास्त्र इस सम्बन्धमें मौन नहीं हैं। वे कहते हैं कि विश्वमें कोई महान् घटना हुई हो या न हुई हो, पदार्थोंका तिरोभाव होना तो सहज ही है। पदार्थोंकी स्थूल सत्ता केवल भ्रान्ति है। सभी पदार्थोंके अधिदेवता हैं। जब पृथ्वीपर किसी पदार्थको पानेके योग्य अधिकारी नहीं रह जाते, तब वह पदार्थ तिरोहित हो जाता है। जब फिर अधिकारी उत्पन्न होंगे, तब व्यक्त हो जायगा। वह भूमि या समुद्रके गर्भमें छिप नहीं जाता। स्थूल जगत्से ही लुप्त हो जाता है। यही बात कला, विद्या और दूसरे दिव्यास्त्रादि साधनों तथा शास्त्रोंके सम्बन्धमें कही गयी है। पदार्थ जब तिरोहित हो गया, तब पृथ्वी खोदने या समुद्र छाननेसे उसका पता कैसे लगेगा।

पाश्चात्य सभ्यताकी प्रेरणा वस्तुके स्थूल रूपको स्वीकार करती है। इसीसे वस्तुका अन्वेषण, उसका हिसाब वहाँ प्रधान है। वहाँ भूमिसे मिले पदार्थ इतिहासके आधार माने गये। खेतों, घरों, दूकानों, गोदामोंमें चूहे, कीड़ों तथा पक्षियोंके भोजनका हिसाब किया गया। इस हानिसे बचनेके लिये उनके वधके उपाय किये गये। बराबर उन उपायोंका प्रचार हो रहा है। भारतने पदार्थकी स्थूल सत्ता अस्वीकार की। पदार्थ भावरूप हैं। वे भाव-जगत्से हमारे अधिकारके अनुरूप व्यक्त होते हैं। अतः यहाँका अन्वेषण पदार्थोंके अवशिष्ट कंकालपर निर्भर नहीं। यहाँ दूसरे जीवोंसे ईर्षा नहीं और न उनको मिटानेका प्रयत्न ही है। हिसाब चाहे जो कहें; किंतु भारतीय शास्त्र कहते हैं, डरनेकी कोई बात नहीं। हमारे भागकी उपलब्धि हमें होगी ही। चूहे, कीड़े, सब केवल अपना भाग लेते हैं। वे हमारा भाग नहीं ले सकते।

जैसे आजके मनुष्यका हृदय इतना संदिग्ध हो गया है कि 'वह विश्वास नहीं कर पाता कि पक्षियोंके मनमाना खानेपर भी वृक्षमें उसके भागका फल रहेगा ही, चूहे उसके भंडारमें कुछ घटा नहीं सकते, रक्षाका पूरा प्रयत्न करके वह जितना पाता है, उतना सबको पूरी छूट देकर भी उसे मिलेगा।' ठीक उसी प्रकार स्वतः-प्रकाश रत्नों, मणियों, दिव्यास्त्रों तथा दूसरी विद्याओंके सम्बन्धमें भी उसे सन्देह हो गया है। प्रत्येक विषयमें मनुष्य स्थूल गणित, स्थूल प्रमाण चाहता है।

अनेक बार इन्द्रजाल करनेवाले भावरूप पदार्थका दर्शन करा देते हैं। ऐसे महात्माओंके वर्णन हमें पढ़नेको मिलते हैं, जिनकी मानसिक पूजाके पदार्थ बाहर किसी कारणसे प्रकट हो गये। इन प्रकट पदार्थोंकी स्थूल सत्ता कहाँसे आयी? भावरूप पदार्थ भावकी प्रगाढ़तासे मूर्त ही तो हुए। इसी प्रकार सभी पदार्थ सृष्टिकर्ताकी भावनाके ही मूर्तरूप हैं। जगत्के जीवोंके अधिकारके अनुरूप उनका आविर्भाव तथा तिरोभाव होता रहता है। महाराज पृथुके समयमें पृथ्वीने सम्पूर्ण खाद्योंको तिरोहित कर दिया था, यह बात पुराणोंमें स्पष्ट कही गयी है।

पदार्थ केवल तिरोहित ही हो जायँ, ऐसी बात नहीं। अनेक बार उनका स्वरूप इस प्रकार परिवर्तित हो जाता है कि उनके पहले रूपसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं जान पड़ता। इस परिवर्तनका कोई प्राकृतिक कारण देना या जानना प्रायः शक्य नहीं होता। तीर्थोंमें स्फटिकशिला, रत्नमण्डप आदिके वर्तमान रूपोंसे उनके नामोंका सम्बन्ध न देखकर उपहास करनेवाले इस तथ्यको समझ नहीं पाते।

कोयला हीरा बन सकता है, सेक्रीन बन सकता है और पता नहीं क्या-क्या बन सकता है; किंतु ये परिवर्तन स्थूल हैं, अतः हम इन्हें पहचान लेते हैं। किंतु राग जब द्वेष, भय, हिंसा, घृणा आदि किसी रूपमें बदलता है, अच्छे मनोवैज्ञानिक भी उसे कठिनाईसे ही विश्लेषित कर पाते हैं। भावरूप पदार्थोंमें जब भाव-जगत्से कोई परिवर्तन होता है, हम स्थूल नियमोंसे उसे

जान नहीं सकते। फलतः स्थूल पदार्थ एवं स्थूल सिद्धान्त प्राचीन इतिहास तथा संस्कृतिके अन्वेषणमें सदा असमर्थ एवं भ्रामक रहते हैं। उनको आधार मानकर चलनेसे भ्रमकी ही वृद्धि होती है।

बिहार प्रान्तके माननीय गवर्नर श्रीमाधव श्रीहरि अणे महोदयने कहा है—'ईंट और ठीकरोंमें भारतीय इतिहासकी खोज हास्यास्पद है। वास्तविक भारतीय इतिहास तो वेदों, पुराणों और उपनिषदोंमें ही मिल सकता है।' वास्तविक बात यही है। मनुष्यका ज्ञान एवं भाषा ही अपनी अनवच्छिन्न परम्परा रखती है। संस्कृतिका ठीक रूप हम उन्हींमें प्राप्त कर सकते हैं।

मनुष्यके ज्ञानका साधारण सर्वमान्य नियम यह है कि वह कालक्रमसे विस्मृत होता जाता है। उसका ह्रास होता है और निमित्तोंके द्वारा वह जाग्रत् होता है। ये निमित्त उस स्थानसे आते हैं, जहाँ ज्ञानका स्तर ऊँचा हो। इस प्रकार ज्ञान अपनी परम्परा बनाये रखता है। क्योंकि मानवसमाज, विद्या, कला, संस्कृति—सब उसके ज्ञानपर निर्भर हैं, उसीकी अनुगामिनी हैं; अतः उनमें भी समष्टिरूपसे ह्रास ही होता है।

भाषाओंके सम्बन्धमें हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सभी भाषाएँ अपनी शक्तिके लिये अपनी मूल भाषापर निर्भर करती हैं। दूसरे शब्दोंमें, वर्तमान भाषाओंसे उनकी मूल भाषाओंमें अधिक शक्ति और क्षमता है। आज जिन्हें मूल भाषाएँ माना जाता है, वे भी एक भाषाकी विकृतियाँ मात्र हैं। मूल भाषा एक ही है और वह संस्कृत है। इस प्रकार भाषाका इतिहास भी हमें ह्रासकी ही सूचना देता है।

मूल भाषा संस्कृत तथा उसमें सुरक्षित मूल ज्ञान शास्त्रोंमें हमें प्राप्त है। श्रुति, स्मृति, पुराणसे यह ज्ञान क्रमशः ह्रासकी ओर चला है। मूलतः इस बातको भली प्रकार हृदयंगम करके यदि मानवज्ञान एवं भाषाओंकी छान-बीन हो तो संस्कृतियोंका ठीक अन्वेषणमार्ग मिल सकता है। यही मार्ग अन्धकारसे 'प्रकाश' की ओर प्रगतिका होगा। न केवल भारतीय संस्कृति, अपितु मिस्र, यूनान, बेंबीलोनिया, चीन, अमेरिका, दक्षिण अफ्रिकादिकी सभी प्राचीन संस्कृतियोंका ठीक अन्वेषण इसी पथसे सम्भव है; क्योंकि यह सिद्ध हो चुका है कि विश्व-मानवकी आदि जन्मभूमि और आदिसंस्कृति एक ही है। वह पुण्यभूमि भारत ही है, जहाँसे मनुष्य पृथ्वीमें फैल गया और अपने साथ यहाँके संस्कारोंको ले गया। काल एवं परिस्थितिके प्रभावसे वही संस्कार अनेक संस्कृतियोंके रूपमें व्यक्त हुए।

मनमें बसते

उसीके मन बसते भगवान।
काम, कोप, मद, लोभ छोड़ जो करता सबसे प्यार।
कभी न अपने मनमें आने देता बुरे बिचार॥
जिसे नित रहता सत्का ध्यान। उसीके० ॥
दुखी देखकर किसी जीवको होता तुरत दयाल।
फाँस न सकता जिसे कभी भी मायाका जंजाल॥
सदा जो करता हरि-गुण-गान। उसीके० ॥
रखता सदा प्रेम हरि-पदमें, जान जन्मका सार।
और समझता है प्रपंचमय यह सारा संसार॥
त्यागकर अहंकार, अभिमान। उसीके० ॥
जिसको सुपथ बताते रहते सदा स्वयं भगवंत।
योग-क्षेम वहन करते नित, खिलते फूल बसंत॥
फैलती सौरभ मधुर महान। उसीके० ॥

—विद्यार्थी फूलचंद

देहतत्त्व-विज्ञान

(लेखक—प्रो० श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम० ए०)

जीवके साथ देहका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह केवल अत्यन्त गम्भीर ही नहीं, रहस्यमय भी है। देहको ज्ञान नहीं होता, और जीव कोई ऐसा नहीं होता, जिसे कभी देहका संसर्ग ही प्राप्त न हो। ऐसे जीवकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते, जो सदाके लिये देहसम्पर्कसे हीन हो, जिसे कभी शरीरका स्पर्श न करना पड़े। देह-बद्ध और देह-बन्धनसे मुक्त—दो प्रकारके जीव या पुरुष होते हैं। जीव ब्रह्मका अंश है—'**अंशो नानाव्यपदेशात्**' (वेदान्तसूत्र २।३।४२)। गीतामें भी कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(१५।७)

आविर्भावके पहले जीव ब्रह्मके अन्तर्गत रहता है, अतएव ब्रह्म ही रहता है। जीवके आविर्भावके साथ-साथ देह होती है। देह नहीं तो जीव नहीं। जीवका अर्थ है देही अथवा त्यक्तदेह या देहमुक्त।

जीवकी उत्पत्तिके लिये देह आवश्यक है। ब्रह्मसे पृथक् होकर शत-सहस्त्र जन्म-जरा-मरणके प्रवाहमें, परम्परा-क्रमसे शत-सहस्त्र देह धारण करके तथा उनका त्याग करके, असंख्य सुख-दुःख, पाप-पुण्य तथा धर्म-ज्ञानसे अभिज्ञता प्राप्तकर जीवकी जीवनयात्रा सुर-नर-तिर्यक् आदि नाना पथोंमें कोटि-कोटि वर्ष व्याप्त होकर एक दिन अवसानको प्राप्त होती है। जीव लौटकर पुनः परब्रह्ममें मिल जाता है। वस्तुतः जीव ब्रह्मसे अलग होकर कभी नहीं रहता और न अलग रहना उसके लिये सम्भव ही है। तथापि वह इस सुदीर्घ यात्रामें देश-देशान्तर, दिग्-दिगन्तर परिभ्रमण करते समय अभिन्न होते हुए भी भिन्नवत् प्रतीत होता है। निश्चय ही यह सब अज्ञानवश होता है।

यह जो अचिन्त्य दीर्घयात्रा है, दुरन्त क्लेशमय चक्रमें घूमना है, असीम भवसिन्धुका तरना है—यही जीव-जीवन कहलाता है, इसीको संसार कहते हैं। जबतक यह आवागमन है, अविरत यातायात हो रहा है, तबतक जीव देहसे युक्त रहेगा—देहसे पृथक् नहीं होगा। देह-बन्धन जिस दिन टूट जायगा, उसी दिन इस दीर्घ भयावह व्यापारका अन्त हो जायगा। जीव मुक्त हो जायगा। यह देह प्राकृत देह है, त्रिगुणनिर्मित देह है, नश्वर शरीर है—

मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना।

परंतु जीव जब मुक्त होकर अमृत बनता है, तब वह अशरीरी, अमूर्त नहीं हो जाता—गुणमय देहसे मुक्त होकर दिव्य देह, चिन्मय देहसे युक्त होता है। वही देह चिदानन्दमय आत्माके चिदानन्दघन उपादानसे उत्पन्न होता है। इसीलिये आत्मसत्ता और देहसत्ता भिन्न नहीं होती। एक ही सत्ताके दो विभाग होते हैं—आत्मा और देह। देह अविनश्वर है और आत्मा सच्चिदानन्द, सत्यकाम, सत्य-संकल्प है। श्रुतिमें कहा है—

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।

मुक्त आत्मा अपने स्वतन्त्ररूपमें अभिनिष्पन्न होता है, अर्थात् प्रतिष्ठित होता है। वह वहाँ भ्रमण करता है, क्रीड़ा करता है, हँसता है, अतएव देहविशिष्ट है (छान्दोग्य ८।१२।२)। मुक्त होकर जीव ब्रह्ममें विलीन हो जाता है, ऐसी कल्पना अद्वैतवादी करते हैं। हमारी बुद्धिके अनुसार वेदान्तदर्शन अर्थात् बादरायणसूत्रोंमें ऐसी कोई बात नहीं। निरंजन परम साम्यको प्राप्त होता है, ब्रह्मधाममें प्रवेश करता है, नाम-रूपसे विमुक्त होकर परात्पर पुरुषको प्राप्त होता है, ये उपनिषद्गत वाक्य जीवके ब्रह्ममें विलीन होनेकी बात नहीं कहते। सहस्त्रशः कामनाएँ और वासनाएँ निवृत्त हो जाती हैं, आत्मा ब्रह्मके केवल अनुभवानन्द तथा सर्वसिद्धि-सम्पद्के साम्यको प्राप्त होता है—इसी अर्थमें 'ब्रह्मनिर्वाण' और 'ब्रह्मसायुज्य' शब्दोंका प्रयोग होता है। वेदान्तसूत्रका '**भोगमात्रसाम्यं लिंगम्**' कहता है कि चिद्देह अद्वैत ज्ञानके प्रभावसे चिदात्मामें भावसाम्यके द्वारा विलीनप्राय हो जाता है। कभी उसकी दिव्यभावमें स्फुरणा होती है, कभी जाग्रद्वत् और कभी स्वप्नवत्—इत्यादि बातें बादरायण मुनिने स्पष्ट करके कह दी हैं' (वे० सू० ४।४।८—१५)।

जीव अमृत और अविनश्वर है। जीवके नित्यत्वमें कभी व्याघात नहीं होता। यह सारे शास्त्रोंका सिद्धान्त है। समस्त विद्वानोंने इसे स्वीकृत किया है। यदि वह अरूप और अमूर्त होकर ब्रह्ममें विलीन हो जाय तो उसका नित्यत्व नहीं रह जायगा। अद्वैत ब्रह्मका नित्यत्व जीवके नित्यत्वको संहरण कर लेगा। जलविन्दु सिन्धुमें

मिलकर फिर जलविन्दु नहीं रहता। अतएव निर्वाणको माननेपर जीवको नित्यतासे हाथ धोना पड़ेगा। वह अनित्य हो जायगा। निर्वाणका सिद्धान्त केवल कल्पनामात्र है, यह बौद्ध सिद्धान्त है। इसकी सांख्यने निन्दा की है **'अपवादमात्रमबुद्धानाम्'**। नित्य जीवके नित्यदेह, सिद्धदेह, दिव्यदेह रहती है। यही सारे शास्त्रोंका सिद्धान्त है।

मुक्त जीवोंके सिद्धदेह भिन्न-भिन्न होते हैं। किसी भावविशेषकी सिद्धिसे जीवकी मुक्ति होती है। सिद्धदेह उसी भावके अनुसार होता है। उसी भावानुबन्धिरूपमें उसकी स्फुरणा होती है। प्रत्येक जीव एक-एक सुन्दर, सुरम्य, स्वतन्त्र भावमूर्ति होता है, अलग-अलग परम सुन्दर सेवाविग्रह होता है। श्रुतिने कहा है कि जीव परम पुरुषके संग रहता है। उनके प्राण-प्राणमें गुँथा है। जब बद्ध जीव ही प्रभुका सखा है, तब मुक्त जीव तो निश्चय ही होगा। सखा निराकार अर्थात् अशरीरी नहीं होता। दिव्यदेह-सम्पन्न पुरुष या रमणीरूपमें अभिनिष्पन्न होकर अनन्त प्रेमानन्द-राज्यमें निःशेष सुखसम्पद्का आस्वादन करते हुए नित्य निवास करनेकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये ही जीव संसारी बनता है। परब्रह्मका यही उद्देश्य है, सृष्टिका यही गूढ़ लक्ष्य है, इसीके लिये लाखों-लाखों वर्ष जन्म और मरणके दुःखोंमें दुर्दशाग्रस्त होना पड़ता है। लाखों कल्पोंके दुःख-शोक सार्थक हो जाते हैं चिद्देहमें अमृत-जीवनका प्रारम्भ होनेपर।

बद्ध जीवके चार देह हैं, तीन नहीं— (१) कारण-देह या कारण-शरीर, (२) लिंग-देह या लिंग-शरीर, (३) सूक्ष्म-देह या सूक्ष्म-शरीर, (४) स्थूल-देह या स्थूल-शरीर। जीव इससे लिप्त होता है, इसीलिये इसे 'देह' कहते हैं। गोंद लगाकर जैसे कागज तख्तेमें चिपकाया जाता है, उसी प्रकार जीव देहमें चिपक जाता है, लिप्त हो जाता है। अध्यात्मसाधनाके प्रभावसे यह देह क्रमशः क्षीण होकर शीर्ण हो जाता है। इसी अर्थमें इसे 'शरीर' कहते हैं। आत्मा, पुरुष और जीव—एक ही तत्त्वके तीन नाम हैं। जीवके तत्त्वका वर्णन सुविशदरूपसे भागवतमें किया गया है—

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्॥

(३।२६।३)

यह निर्गुण, ज्योतिर्मय, अनादि, आत्मा प्रकृतिके प्रभावमें प्रवेश करता है। इस प्रकृति-प्रवेशका, प्रकृतिके भीतर जानेके सम्बन्धका, इस व्यापारका अवलम्बन करके ही पुरुष पुरुष होता है, स्वतन्त्र आत्मा बनता है, जीव होता है। अन्यथा जीव या पुरुष नामकी वस्तु कहीं नहीं, है तो केवल ब्रह्म। इसी कारण जीव प्रकृति-प्रविष्ट होकर अर्थात् प्रकृतिके अधीन होकर स्वतन्त्र कब हुआ, स्वकर्मोंके करनेका उत्तरदायित्व कब उसने ग्रहण किया—यह कोई नहीं जानता। ब्रह्म भी नहीं जानता। परंतु फिर भी आदि विद्वान् भगवान् कपिलजीने स्वतः समाधिदृष्टिसे उस प्रवेशकी एक दिव्य भावमूर्ति अंकित की है। त्रिगुणमयी प्रकृति त्रिगुण स्वभावके द्वारा त्रिगुणमय उपादानोंसे निरन्तर नयी-नयी सृष्टि करती है—अत्यन्त विचित्र, अत्यन्त मनोहर। ब्रह्मसागरसे फुल्ल-रंजित तरंगकी भाँति जाग्रत् होकर जीव ब्रह्मकी ही भावान्तररूपा उस सृष्टिकारिणी प्रकृतिको हठात् देखकर प्रफुल्ल हो उठा, विमोहित हो गया, ज्ञान भूल गया; उसने प्रकृतिको आत्मसमर्पण कर दिया।

विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया।

(श्रीमद्भा० ३।२६।५)

समष्टि-पुरुष समष्टि-प्रकृतिका अवलम्बन करके विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर होते हैं, और व्यष्टि-पुरुष व्यष्टि-प्रकृतिका अवलम्बन करके विश्व, तेजस और प्राज्ञ जीव होते हैं।

पुरुष अर्थात् जीवने प्रकृतिके भीतर प्रवेश किया, वह प्रकृतिके साथ सम्मिलित हुआ। इससे अव्यक्त प्रकृतिको जो आद्य भावान्तर या रूपान्तर प्राप्त हुआ, अर्थात् अव्यक्तने जिस रूपमें अभिव्यक्त होकर सृष्टिके आदिमें जीवको आश्रय दिया, वह रूप ही 'महत्तत्त्व' है। इसीके व्यष्टि-विभागको 'कारण-शरीर' कहते हैं; क्योंकि यही जीव-जीवनका सर्वस्व है। यही अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि तथा सुख-दुःख, धर्माधर्म, सारे तत्त्व, सारी वृत्ति और सारे विकार मूल कारण हैं। (the primordial cause of the whole evolution) इसीका नाम शरीर है; क्योंकि यह निश्चय ही एक दिन शीर्ण होकर नष्ट हो जायगा। यही है— **'भिद्यते हृदयग्रन्थिः'**। इसीका नाम 'आनन्दमय कोष' है। क्योंकि सत्त्वगुणकी प्रधानताके कारण इसमें आनन्दकी प्रचुरता है। कोष इसलिये कहते हैं कि आधारपात्रके समान यह समस्त जीवनको धारण करता है। इसका एक नाम 'सुषुप्ति' है; क्योंकि जाग्रत्-स्वप्नादि अवस्थाएँ

इसीमें जाकर विलीन होती हैं।

दूसरा है लिंग-शरीर। पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण, पंच तन्मात्रांश तथा मन, बुद्धि, अहंकार— इन सबका सूक्ष्म समन्वय (subtly incorporated) ही लिंग-शरीर कहलाता है। वस्तुत: यह तेईस अवयवों या अंशोंवाला होता है। पंच प्राणोंको छोड़ दें अथवा पंच तन्मात्राओंका हिसाब न रखें तो इसके अठारह अंग माने जाते हैं। संसारी जीवके जीवनयापनके लिये, उस अत्यन्त जटिल और मिश्रित क्रिया-परम्पराके सम्पादनके लिये जो अत्यन्त आश्चर्यमय ज्ञान-चैतन्य यन्त्र (the wonderfully complex mechanism) है, वही 'लिंग-शरीर' कहलाता है। गीतामें कहा है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।

ज्ञान, विज्ञान, वितर्क, विचारादिसे युक्त, संकल्प, विकल्प, अनुभव, संस्कार, स्मृति आदिसे सम्पन्न जिस दुर्गम दुर्ज्ञेय प्रकोष्ठमें बैठकर मायाश्रित जीव सांसारिक जीवन यापन करता है—धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यादि तथा इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्यादिका साधन करता है—उस प्रकोष्ठका नाम ही 'लिंग-शरीर' है। इसको हम 'मानस-शरीर' कह सकते हैं। लिंग-शरीर जीव-जीवनका स्वत: संचालित विवरण-यन्त्र है तथा सर्ववृत्तान्तोंका आधार (an ever-working automatic record machine) है। प्रतिक्षण मन-वाणी और शरीरसे, जाने अथवा अनजाने, इच्छासे या अनिच्छासे जीवनमें जो कुछ किया जाता है, सोचा जाता है या अनुभूत होता है, सब कुछ लिंग-शरीरके भीतर लिख जाता है, लिपिबद्ध हो जाता है, अंकित और चित्रित हो जाता है। लोग जो चित्रगुप्तके हिसाबकी बात कहते हैं, वह लिंग-शरीर ही है। सहस्रों-सहस्रों संस्कार इस लिंग-शरीरमें प्रतिक्षण धारण होते रहते हैं। यही अदृष्ट देवताका सूक्ष्म वृत्तान्त-ग्रन्थ है। यह निखिल कर्मफलोंका भंडार है। कर्माशय, कर्मवासना, आशा-निराशा, अतीत, वर्तमान और भविष्यत्—सब-के-सब लिंग-देहरूपी फलक (तख्ते) पर खुदे हुए रहते हैं। जन्म, जाति, स्वभाव, चरित्र, मति, गति, रुचि, प्रवृत्ति—सबका निरूपण और निर्णय होता है लिंग-शरीरके द्वारा। अंग-अवयव, आकार-वर्ण आदि सबकी रचना लिंग-शरीर करता है। लिंगके शीर्षस्थानीय मन-बुद्धि अहंकारके छायालोकके आसनपर बैठी है निर्गुण निर्विकार पुरुषकी चंचल छायामूर्ति। उसीका 'पुरुष' नामसे परिचय दिया जाता है। पातंजलदर्शनमें कहा गया है—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। (२।२०)

जो प्रत्ययानुपश्य है, वही पुरुषाकार बुद्धि अथवा ग्रहीता पुरुष (Reflection spirit) है। यह यथार्थ पुरुष नहीं है, छाया-पुरुष है। यह छाया-पुरुष लिंग-शरीरमें मुग्ध और मोहित हो रहा है। सारी क्रियाएँ प्रकृतिकी हैं। पुरुष इसे न समझकर अपनेको कर्ता मानता है।

कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते॥

(श्रीमद्भा० ३।२६।६)

—यही प्रत्ययानुपश्य है।

लिंग-शरीर पुरुषकी अनादि भ्रान्ति और मोहके ऊपर अवस्थित है। जीव-जीवन भी एक भ्रान्तिका प्रवाह ही है। संसार एक विशाल विमोह है, चिरकालतक रहनेवाली भूल (a long-lasting mistake) है। जबतक मोह-भंग नहीं होता, तबतक लिंग-देहका पतन नहीं होता। मोहभंगको ही दूसरे शब्दोंमें 'विवेकख्याति' या 'परमप्रसंख्यान' (the supreme understanding involving realization of the spirit's freedom from nature) कहते हैं। इस मोहभंग तथा देहभंगके लिये लाखों-लाखों कल्प अतिवाहित हो सकते हैं। फिर तीव्र संवेगसे अनन्य साधनाके फलस्वरूप एक ही जन्ममें लिंग-शरीरका पतन होकर मोक्ष प्राप्त हो सकता है। लिंग नाम अर्थपूर्ण है— **'लयं गच्छति, इति लिंगम्'**। लिंग-शरीर कोटि-कल्पस्थायी होनेपर भी इसका ध्वंस अनिवार्य है। एक दिन यह छिन्न होगा ही। जितना ही दृढ़, जितना ही टिकाऊ (tenacious) हो—टूटेगा ही। यह नित्य देह नहीं है—इस बातको सदा याद रखनेके लिये ही ऋषियोंने इसका नाम रखा है 'लिंग-शरीर'।

वेदान्तमें वर्णित पंचकोषोंमें तीन लिंग-शरीरके अन्तर्गत हैं। ज्ञानशक्तिसम्पन्न विज्ञानमय कोष कर्तृत्व भोग करता है; इच्छाशक्तिविशिष्ट मनोमय कोष कामनाका केन्द्र है, संकल्प और विकल्पका साधक है। अनुभव (perception and feeling), स्मृति और संस्कार आदिका आधार मन है। प्राणमय कोष क्रियाशक्तिशाली है। साधारणत: लोग 'मन' और 'अन्त:करण' शब्दोंसे जो समझते हैं, वह लिंग-शरीर ही है। लिंग-शरीरके भीतर तन्मात्राओंकी विशेष वृत्ति रहती है, विशेष क्रिया-साधकता रहती है। मन-इन्द्रिय आदि करणशक्तियाँ निरवयव, अदेशव्यापी होकर भी जो तन्त्र-ग्रन्थि-बद्ध (in a state of cohe-

sion) रहती हैं, प्रायः अंगांगिसंयोगयुक्त रहती हैं— इसका कारण यही है कि ये तन्मात्राओंका आधार लेकर रहती हैं, तन्मात्राओंमें लगी रहती हैं। तन्मात्राएँ सूक्ष्म भूत (original subtle material substances) हैं। जिस प्रकार तन्मात्राएँ त्रिगुणात्मक हैं, इन्द्रिय-मन आदि भी उसी प्रकार त्रिगुणात्मक हैं। इन्द्रिय, मन और बुद्धि स्वच्छ (translucent) हैं; ये चिदालोकको रश्मिके प्रतिबिम्बको ग्रहण कर सकते। पंचभूत स्थूल और अस्वच्छ हैं, वे ग्रहण नहीं कर सकते। तन्मात्राओंकी स्थिति दोनोंके मध्यमें है। इन्द्रिय आदिके समान चित्-प्रतिबिम्बको ग्रहण नहीं कर सकतीं; परंतु सूक्ष्म स्वभावके कारण इन्द्रियादिको स्थूल-देहके साथ, लिंग-देहको मांसशोणितमय शरीरके साथ युक्त करनेकी योग्यता रखती हैं। तन्मात्राओंकी यह अत्यावश्यक वृत्ति (function) है।

तीसरा है सूक्ष्म-शरीर। यह लिंग-शरीरके समान तन्मात्रिक शरीर नहीं है, ज्ञान-करण अथवा अन्तःकरण-शक्ति भी नहीं है; यह है सूक्ष्म पांचभौतिक शरीर। रक्त और मांसका शरीर जैसे भोग-शरीर होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर भी भोग-शरीर होता है। लिंग-शरीरमें सुख-दुःखका भोग नहीं होता। लिंग-शरीर सुख-दुःखको नियन्त्रित करता है, सुख-दुःखका विधान करता है। मानसिक दुःखका कारण मनमें रहता है। परंतु भोग (suffering) सूक्ष्मदेहमें होता है। स्वर्ग-नरकादिके सुख-सम्भोग, दुःख-दुर्दशा, ज्वाला-यन्त्रणा—सबका अनुभव सूक्ष्म-देहमें होता है, मानस शरीरमें नहीं होता।

मृत्युकालमें जीवात्मा देह छोड़कर मुक्त नहीं हो जाता। पाश्चात्त्य साहित्यिक और दार्शनिक लोग जो यह समझते हैं कि मरनेके बाद आत्मा अनन्तमें मिलकर आनन्त्य प्राप्त करता है, यह घनघोर अज्ञान है। आत्मा मृत्युकालमें स्थूल देहका त्यागकर सूक्ष्म-देहसे अपने-अपने कर्मोंके अनुसार अपने-अपने उपयुक्त लोकमें सुख-दुःखका भोग करनेके लिये चला जाता है। सूक्ष्म-देह स्थूल-देहके भीतर चिरकालतक रहता है, उसकी नयी सृष्टि नहीं होती। सूक्ष्म-शरीरका नाम 'आतिवाहिक' शरीर है। इसी शरीरमें रहकर जीव लोकान्तरमें गमन करता है, उत्क्रमण करता है।

अभिनव दूसरा देह ग्रहण किया जाता है दीर्घकालके बाद, जब पुनः जन्म होता है तब—मृत्युकालमें नहीं। मृत्युकालमें जीव सूक्ष्म-देहमें बद्ध होकर महायात्रा करता है।

सांख्यकारिकामें इस सूक्ष्म-देहके विषयमें विशेष उल्लेख मिलता है। वहाँ इसका नाम 'विशेष' शरीर है। 'विशेष' शरीरके बिना लिंग-शरीर टिक नहीं सकता, प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो यथा विना छायाम्।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिंगम्॥

लिंगशरीर स्वयं निराश्रय है, सूक्ष्म-शरीर लिंग-शरीरका आश्रय है। सूक्ष्म-शरीरको अंग्रेजीमें (astral body) कहते हैं। प्रेततत्त्व-विद्यामें इस विषयकी विशेष आलोचना की जाती है।

नारकी पापात्माओंके सूक्ष्म-देहमें और मरणोपरान्त स्वर्गलोकमें जानेवाले पुण्यात्माओंके सूक्ष्म-देहमें बहुत अन्तर होता है। पापात्माओंके दुर्भोग-देह भूत-प्रेत-पिशाचोंके कुत्सित आकारवाले वायुप्रधान देहके समान होते हैं। नाना प्रकारकी असहनीय यन्त्रणाओंके कारण उनकी बड़ी विकृत मूर्ति होती है। दूसरी ओर—

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥

—जिनके विषयमें गीतामें यह बात कही गयी है, उनके देह होते हैं देवदेहके समान तेजस्तत्त्वप्रधान, ज्योतिर्मय, सुन्दर और सुरम्य।

सूक्ष्म-देहका आकार स्थूल देहके अनुसार ही होता है। इसके अनेक प्रमाण हैं। संसारमें इसके सैकड़ों-सैकड़ों उदाहरण पाये गये हैं। सद्य ही लोकान्तर गये हुए आत्मीयजन नरलोकके आत्मीय जनोंको दिखलायी दे गये हैं—इसके अनेकों वृत्तान्त सभी देशोंके ग्रन्थोंमें लिखे पाये जाते हैं। जिस रूपमें, जिस मूर्तिमें मनुष्य जीते समय मर्त्यलोकमें विचरण करते हैं, उसी रूपमें प्रेतलोग मनुष्यकी आँखोंके सामने दिखलायी देते हैं। परंतु स्थूल-देहका आकार बदलता नहीं, छोटा-बड़ा नहीं होता, एक ही रहता है; सूक्ष्म-देह संकोच-प्रसारशील होता है, उसका आकार परिवर्तित होता है, उसमें घनत्व और कठिनत्व नहीं होता। वह प्रत्यवस्थागामी होता है, स्थूल-देहके अन्तर्गत होकर धीरे-धीरे वृद्धिको प्राप्त होता है। परंतु जिस प्रकार स्थूल-देह सारे प्राकृतिक नियमोंके अधीन रहता है और नैसर्गिक विधानके अनुसार वृद्धिको प्राप्त होता है, सूक्ष्म-देह उन नियमोंके अधीन नहीं होता—अग्नि-जल, शीत-उष्ण आदिके द्वारा विकृत नहीं होता, क्षतिग्रस्त नहीं होता।

चौथा है स्थूल-देह। यही देह सांसारिक जीवनके

संगमर्मरकी सरस्वतीमूर्ति (बीकानेर)

शिशुसहित मातृमूर्ति (भुवनेश्वर)
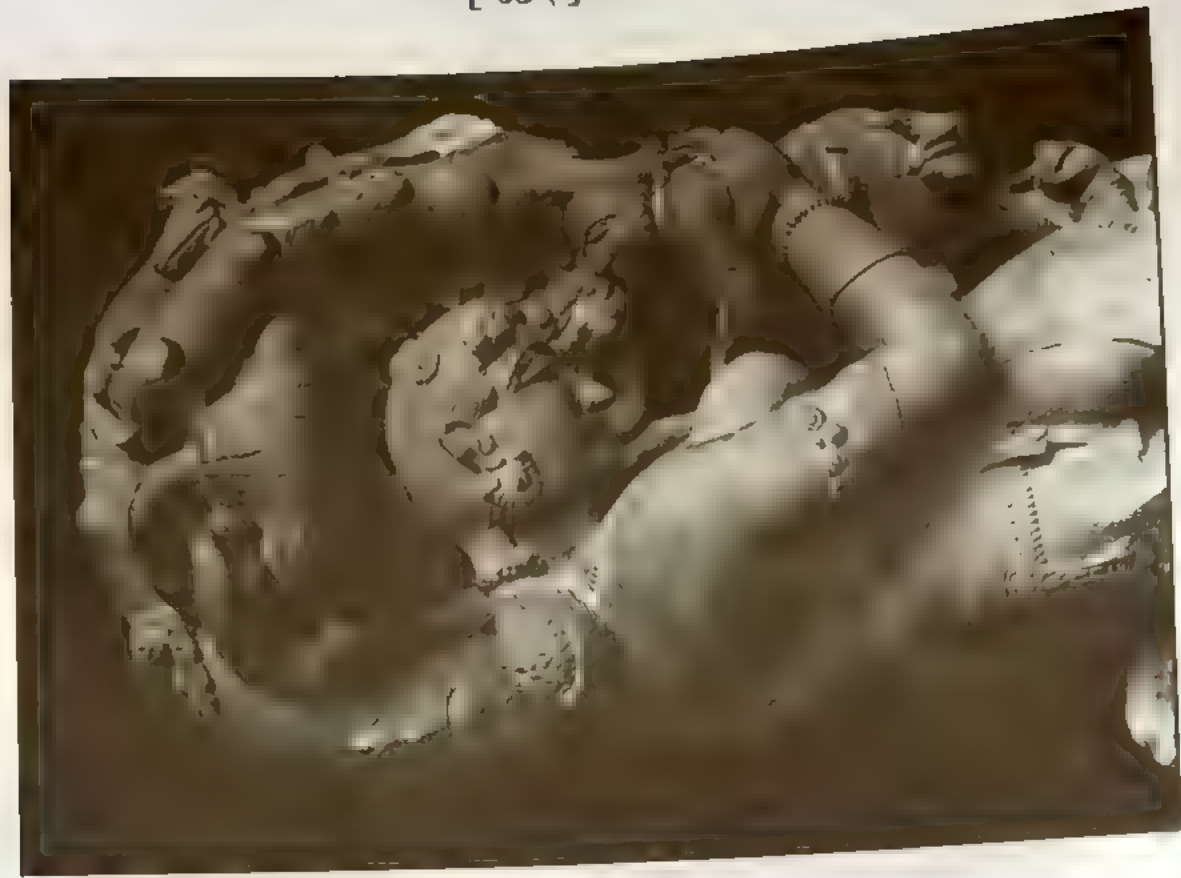
[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे]

वानरराज हनुमान्

संगमर्मरकी सूर्यमूर्ति (काबुल)

दक्षिण भारत ११ वीं शती]

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे]

समस्त विषय-व्यापार और व्यवहारका क्षेत्र है। साक्षात् सब प्रकारकी क्रियाओंके चलानेवाले यन्त्र इसी देहके अन्तर्गत हैं। दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन आदि वृत्तियोंके साधक चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा आदि इन्द्रियोंसे युक्त मस्तक, ग्रीवा, वक्षःस्थल, उदर, बाहु, हस्त, जंघा और चरणादिसे युक्त विचित्र अस्थि-संस्थानके अवलम्बनसे धारण किया गया नाना प्रकारके अवयवोंसे युक्त देह ही मानव-जीवनकी भित्तिभूमि है। नाना प्रकारकी वृत्ति-प्रणालीसे परिपूर्ण यह मानव-शरीर है। श्वास-प्रश्वास-प्रणाली, रक्त-प्रवहण-प्रणाली, शक्ति-संचरण-प्रणाली, स्नायुजालके द्वारा बाह्य विश्वकी वेदनाकी अनुभव-प्रणाली, परिपाक-प्रणाली, मल-निःसरण-प्रणाली—इत्यादि प्रणालियोंको लेकर यह विचित्र देह-यन्त्र बना है। मस्तकमें भाग-भागमें मस्तिष्क-मज्जा, वक्षःस्थलमें हृत्पिण्ड, फुफ्फुस, पंजरास्थि-विधान, निम्नोदरमें यकृत् आदि हैं, इसके पश्चात् जननेन्द्रिय है। देहयन्त्रके भण्डारमें छोटे-छोटे यन्त्रोंका अन्त नहीं है। त्वक्, चर्म, मांस, रक्त, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र—ये आठ धातुएँ देहमें हैं।

इसी शरीरको लेकर मनुष्य व्यापृत है, व्यस्त और विमुग्ध हो रहा है। हृदय-मन, आत्मस्वरूप, विवेक-विचार और विधान—मनुष्य सबको भूल जाता है इस देहके महामोहमें पड़कर। वह देहको ही सर्वस्व मान लेता है, इतर प्राणियोंके भावोंसे युक्त हो जाता है। ज्ञान-विज्ञानमें भी देहात्मवादी हो जाता है, देह-मुखका अन्वेषण करता रहता है। देहातिरिक्त किसी सूक्ष्म तत्त्व, आत्मा आदि किसीको स्वीकार नहीं करता। '**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**'—इस सत्यको भूल जाता है। शरीर धर्मसाधनका, पर पुरुषार्थके साधनका प्रधान उपाय है—यह ज्ञान उसको नहीं रहता। रूप-स्पर्श आदिसे रहित देह-सुखके अनुभव-प्रवाहमें बहता हुआ अन्धकारमें चला जाता है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।

—इत्यादि प्रदीप्त उपदेशोंको वह तुच्छ समझता है, सुख-लालसामें उन्मत्त हो जाता है। देह व्याधिग्रस्त होकर विकल हो जाता है, सड़ने, गिरने और गलने लगता है; तब भी उसे चेत नहीं होता कि सुख आत्माकी वस्तु है, देहकी नहीं। योगशास्त्रविद् ऋषि कहते हैं—

मांसास्थिस्नायुमज्जादिनिर्मितं भोगमन्दिरम्।
केवलं दुःखभोगाय स्नायुसन्ततिगुम्फितम्॥

सुख-कामनामें उन्मत्त मनुष्य इस दिव्यवाणीको नहीं सुन पाता। देहमें ही आत्मसमर्पण करके अधःपतनको प्राप्त होता है, अन्धकूपमें निमज्जित होता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

देहात्मवादी लोग आत्मघाती होते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं।

अस्थि, मांस, शोणित, स्नायु और पेशियोंसे बना हुआ यह शरीर प्रायः सम्पूर्णरूपेण तामसिक है। इसकी जो प्राण-स्पन्दनक्रिया है, उसमें रजोगुण काम करता है; सत्त्व आच्छन्न, लुप्त है। इस संघातमय तमःपुंजभूत स्थूल-देहके गम्भीर और घने तमोराशिके अन्तस्तलमें एक अपूर्व उज्ज्वल ज्योतिमूर्तिमय राज्य है। संसारके किसी देशकी धर्म, ज्ञान-विज्ञान या दर्शनसम्बन्धी कोई विद्या-बुद्धि इस निबिड़ और घन तमोराशिको भेदकर उस दिव्य ज्योतिका पता नहीं पा सकी है। उसकी कल्पना भी किसी ज्ञानी-विज्ञानी या दार्शनिकने नहीं की, इसका स्वप्न भी नहीं देखा। उसी स्वर्गसे भी समुज्ज्वल सम्पद्-राशिका आविष्कार किया था भारतके योगी, ऋषि और मुनियोंने—अध्यात्म-विज्ञानवेत्ता, शक्तिसाधनसिद्ध तान्त्रिकोंने। भारतवर्षकी आध्यात्मिक संस्कृति एक अत्याश्चर्यमय व्यापार है। भारतवर्ष सहस्रों अतिमानवोंका आश्चर्यमय देश (a wonder-land of Superemen) है। यहाँकी शिक्षा-साधना और संस्कृतिकी तुलना संसारमें अन्यत्र कहीं नहीं है।

कैसी सुदूरगामिनी, दूरदिगन्तप्रकाशिनी अन्तर्दृष्टि थी, और है—भारतवासियोंकी! मानवदेहके आभ्यन्तर व्यापारसमूहोंका जो आविष्कार तन्त्रविज्ञानशास्त्रने किया है, उसके सामने काव्योपन्यासकी कल्पना-छटा अति तुच्छ है। अज्ञ, ह्रस्वदृष्टि, लघुचित्तवाले व्यक्ति इस नित्य सत्य-समूहको उत्कट कल्पना कहकर अविश्वास कर सकते हैं। इसका कुछ आभास यहाँ दिया जाता है—

मेरुदण्डके एक ओर एक 'इडा' नामकी नाड़ी है। उसकी प्रभा चन्द्रमाके समान है। दूसरी ओर एक और नाड़ी है, उसका नाम है पिंगला; वह सूर्यके समान ज्योतिर्मयी है। मेरुदण्डके अन्तर्देशको भेदकर ऊपरको गयी है एक आश्चर्यमयी नाड़ी—उसका नाम है सुषुम्णा। वह ज्वलन्त रश्मिमयी है। यह चन्द्र-सूर्य और वह्निप्रभा है, यह एक दिव्य प्रभा-प्रणालिका है। तामसिकताके बीच जो निगूढ़ अध्यात्मशक्तियाँ हैं, प्रधानतः इस

ज्योतिः-प्रणालीके द्वारा ही उनका जाना-आना होता है। गुह्य और लिंगके मध्यस्थानमें, मेरुदण्डके निम्नप्रान्तमें एक त्रिकोणास्थि-सन्धिक्षेत्र है, उसमें एक पद्माकारका स्नायुगुच्छ है। इसका तान्त्रिक नाम मूलाधार पद्म या आधारचक्र है। बाह्यदृष्टिसे इसका अंग्रेजी नाम 'Sacral plexus' है। सुषुम्णा नाड़ी इस आधारपद्मदलसे उठकर मेरुदण्डके मार्गसे मस्तिष्क—स्तरपरम्पराके शिरोदेश सहस्रदल कमलमें अवस्थित परम शिवशक्तिकी मूर्तिके अंकमें जा मिलती है। आधारपद्म रक्तवर्ण है, इसमें चार दल हैं; वह अधोमुख होकर विकसित हो रहा है। चार दलोंमें चार वर्ण हैं—व, श, ष, स। उनकी तप्तकांचन-सदृश आभा है। आधारपद्म क्षिति-तत्त्वकी अध्यात्मशक्तिका स्थान है। क्षितितत्त्वका बीज है—'लं'। उसमें एक देवमूर्ति है; चतुर्भुजी है, नाना अलंकारोंसे भूषित है, इन्द्रके समान है, ऐरावतारूढ़ है। इस देवताके अंकमें एक शोणितवर्ण बालक है, वह ब्रह्मा हैं। सुषुम्णा नाड़ीके अन्तर्गत एक और नाड़ी ऊपरको उठती है, उसका नाम है वज्रा। वज्रा नाड़ीके मुख-प्रदेशमें, मूलाधार पद्मकी कर्णिकामें एक त्रिकोण यन्त्र है। वह विद्युत्के समान दीप्तिमान् है। वह सुकोमल विलासवैचित्र्यमय है। सुधा-संचरणशील समीर-प्रवाहके समान एक मनोहर शक्तिका स्थान है यह कमलकेन्द्र। इस शक्तिका नाम है कन्दर्पशक्ति। कन्दर्प-समीर जीवात्माको घेरकर प्रवाहित हो रहा है, यह गुणातीत पुण्यशक्ति है। इसका प्रभाव राजसिक क्षेत्रमें कुत्सित काम है। कन्दर्पप्रभा भास्कर-रश्मिको भी विनिन्दित करती है। वह रक्तवर्ण है। इस यन्त्रके मध्यमें अधोमुख स्वयम्भूलिंग विद्यमान है। वह गले हुए स्वर्णके समान कोमल है। उसकी किरणें पूर्णचन्द्रवत् हैं, वर्णमें नवपल्लवकी आभा है। स्वयम्भू लिंगके ऊर्ध्वदेशमें जगन्मोहिनी महामाया हैं। वज्रा नाड़ीके अन्तर्मार्गमें बहनेवाली ब्रह्मनाड़ी है। महामाया अपना मुँह फैलाकर ब्रह्मनाड़ीसे स्रवित सुधाधाराका पान कर रही हैं। वह प्रज्वलित दीप्तिराशि-स्वरूपा हैं। नवीन तडित्-मालाके सदृश उनकी कान्ति है। सर्पिणीके समान साढ़े तीन कुण्डली मारकर स्थित हैं। यही विद्वानोंकी सुप्रसिद्ध कुलकुण्डलिनी हैं। यह तेजःपुंजवती कुल-कुण्डलिनी मूलाधार पद्ममें निवास करती हैं। जीवनमें जितने रूप-राग-रस, काव्य-कला, शोभा-सौन्दर्य, प्रबन्ध-रचना आदि कार्य हैं, सभी कुल-कुण्डलिनीकी कृपा है। वह आधारपद्मदलमें निभृत रहकर मत्त मधुपकी गुंजारके समान अव्यक्त मधुर ध्वनि कर रही है। वह समस्त प्राणियोंको जीवन प्रदान कर रही है। त्रिगुणमयी प्रकृति कुलकुण्डलिनीके शासनके अधीन होकर ही विश्वकी अधीश्वरी हो रही है।

आधारपद्मके ऊपर सुषुम्णाके सूत्रमें एक और पद्म है, जो लिंगमूलमें स्थित है। वह सिन्दूरके समान लोहितवर्ण है, षड्दलविशिष्ट है, उसका नाम स्वाधिष्ठान-पद्म है। उसके ऊपर समसूत्रमें अवस्थित मणिपूर पद्म नाभिदेशमें है, वह दशदलविशिष्ट है। नवीन नीरदके समान नीलवर्ण है। सुषुम्णा नाड़ी जहाँ हृद्देशमें मिलती है, वहाँ वह एक सुन्दर सुमनोहर कमल धारण करती है। वह कमल द्वादशदल है, बन्धूक-कुसुमके समान उसका वर्ण है। उसका नाम अनाहत पद्म है। उसके ऊपर कण्ठदेशमें विशुद्ध नामक षोडशदल कमल है। वह गहरा धूम्रवर्ण है। उसके आगे ललाटदेशमें आज्ञापद्म है; वह द्विदल है, चन्द्रमाके समान श्वेतवर्ण है, योगिजनोंके योगबलसे प्राण-स्थापनाका स्थान है। इसीको लक्ष्य करके गीतामें कहा है—

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्।

इसके आगे शिरोदेशमें स्थित, प्रत्येक दलमें पंचाशत्-वर्ण-विन्यस्त, नित्य सुखस्वरूप सहस्रदल पद्म है।

प्रत्येक पद्म या चक्र एक-एक सुमहती अध्यात्म-शक्तिके क्रीड़ा-विलासका राज्य है। विश्वजीवनकी यात्राके विशेष-विशेष विभावोंके ऐश्वरीय नियन्त्रणका क्षेत्र है, शासनतन्त्र और राजधानी है। क्षिति, अप्, तेज, वायु, आकाश—इन पंच प्राकृत भूततत्त्वोंके अप्राकृत अध्यात्म क्रियाकेन्द्र हैं—लिंगाधोदेश, लिंगोर्ध्वदेश, नाभि, हृदय और कण्ठ। प्रत्येक कमलक्षेत्रमें नाना रूप और वर्णमयी, अपूर्व शक्ति-भावच्छटामयी, आश्चर्यजनक शोभा-सौन्दर्य-सम्पत्से युक्त देव-देवियाँ हैं। वे अन्तहीन हैं, अचिन्तनीय हैं, परंतु पूर्ण मनोरम हैं, चित्तको धो देती हैं, हृदयको विशुद्ध करती हैं, उद्दीपित करती हैं, धूलिधूसरित, कुटिल, कलुषित और कुत्सित संसारके लोभ और मोह-मायाको काट देती हैं। हृदय अमृत-आलोकके लिये लालायित हो उठता है। तामसिक देह-व्यूहको भेदकर आनन्द-ज्योतिर्मय लोकके लिये आकुलित होना ही शिक्षा-साधनाकी सफलता है।

परमार्थ-साधनाके समस्त पर्याय, समस्त मार्ग, जाने या अनजाने, तान्त्रिक साधकोंकी षट्चक्र-साधनाके साथ नाना प्रकारसे, नाना व्यवधानमें संयुक्त हैं। जैसे-

जैसे रजोगुण और तमोगुणकी वृत्तियोंका प्रभाव निवृत्त होता जाता है, वैसे-ही-वैसे पार्थिव कामनाओंकी शृंखला क्रमशः टूटती जाती है, मन-बुद्धि और चित्त निर्मल होते जाते हैं। साधक नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मस्वरूप स्वर्गकी प्राप्तिके लिये अग्रसर होता है, ठीक उसी मात्रामें आधारपद्ममें सोयी हुई कुल-कुण्डलिनी जागती जाती हैं। कुल-कुण्डलिनी जागकर ऊपर आरोहण करती जाती हैं। साधकको अध्यात्मशक्तिकी वृद्धिके साथ-साथ, चित्त-शुद्धिके परिमाणके साथ-साथ, अन्तःकरणमें उज्ज्वलतर ज्ञान-भक्तिके आलोक-विकासके साथ-साथ, सारे संशय दूर होते जाते हैं, हृदयकी ग्रन्थि छिन्न-भिन्न होती जाती है। कुल-कुण्डलिनी जब ऊर्ध्वगमन करने लगती है, तब आधारसे आरोहण करके स्वाधिष्ठानमें प्रवेश करती है, स्वाधिष्ठानको भेदकर मणिपूरमें आरोहण करती है, मणिपूरको भेदकर अनाहतमें आक्रमण करती है, अनाहतको भेदकर विशुद्धमें और विशुद्धसे आज्ञामें और आज्ञासे सहस्रारमें जाती है। सुखके बाद सुख, आनन्दके बाद आनन्द और उद्दीपनके बाद उद्दीपन प्राप्त होता है। उल्लास, उत्साह और विलास होता है। आकाशमें आरोहण करना, आलोकमें अवगाहन, दिव्य सुरापान, सुधा-स्नान प्राप्त होता है। सभी पुण्यमय, सभी पूर्ण, प्राणमय, गानमय और ज्ञानमय होता है। अमृत-स्रोतमें सन्तरण होता है, शत-शत सुर-तान-लयका श्रवण, कोकिल-कूजन और भ्रमर-गुंजनका आस्वादन अनुभूत होता है। देह, मन और प्राण सभी अमृतमय हो जाते हैं। वहाँ पाप-पुण्य नहीं होता। सभी सुधातरंगमें प्रवाहित होते हैं। इस प्रकार स्थूल-देहके तमःप्रभावको जीतकर, अमृतभावनामें मर्त्यदेहको क्षयकर, भीतर और बाहर परमानन्द-पुरुषका अन्वेषणकर स्थूल-देह छोड़कर और उसके भीतर स्थित चित्-देहका पता पाकर, धीरे-धीरे निष्कामपथमें लिंग-देहको क्षीणकर, अन्तःसुख, अन्तराराम, अन्तर्ज्योति, आत्मरति, आत्मतृप्त होकर, भगवन्मय मनःप्राण होकर, श्रीकृष्णके पादपद्मोंमें आत्म-समर्पण करके मानव कृतकृत्य हो जाता है। चतुर्देहके चतुर्व्यूह छिन्न-भिन्न होकर मिल जाते हैं। पृथक्-पृथक् साधनाके अनुसार पृथक्-पृथक् सिद्धि लाभ होती है। इस तत्त्वको भारतवर्ष जानता है, और कोई भी देश नहीं जानता। इसीलिये भारतीय संस्कृति समस्त पृथ्वीके लिये आदर्श है, आकाश-प्रदीपके समान है।

हिंदू-संस्कृति तुम्हें प्रणाम

कर्ता-धर्ता हैं भगवान।
मैं तो केवल हूँ अभिमान॥
करनेको हैं शास्त्र विधान।
धरने सत्य सनातन ज्ञान॥
'सत् चित् आनँद' अति कल्याण।
प्रभु निमित्त स्वामी जग-प्रान॥
आदि अनादि अमर अम्लान।
हिंदू-संस्कृति विश्व प्रधान॥
आर्योंके गौरव गुण-ग्राम।
हिंदू-संस्कृति तुम्हें प्रणाम॥

—डा० श्रीदुर्गेश्वर नन्दे

पुनर्जन्म

(लेखक—डा० सदाशिव कृष्ण फड़के, डी० ओ० सी०)

जीवका पुनर्जन्म मृत्युके पश्चात् तुरंत इसी लोकमें होता है या परलोक जाकर तब उसे लौटना पड़ता है, यह प्रश्न कभी-कभी उपस्थित होता है। शास्त्रोंमें ऐसे वचन हैं, जिनसे यह अर्थ निकलता-सा प्रतीत होता है कि मृत्युके पश्चात् जीवन तुरंत इस लोकमें दूसरे शरीरमें जन्म लेता है। 'जैसे तृणपर रहनेवाला कीड़ा दूसरे तृणका आश्रय लेकर ही पहले तृणको छोड़ता है' (बृहदारण्यक० ४।४।३)। 'मृत्यु-क्षणमें जैसी बुद्धि होती है, वैसा ही अगला जन्म होता है' (गीता ८।५-६)। इसी प्रकार जातक-ग्रन्थोंमें कहा गया है कि मृत्यु-घड़ीमें ही अगले जन्मकी जन्म-कुण्डली तैयार होती है।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।

—इस जन्म-मृत्युपरम्पराके विधानका यही भाव मालूम होता है कि मृत्युके पश्चात् तुरंत पुनर्जन्म होता है। कोई-कोई यह भी कहते हैं कि 'यदि जीवका परलोक जा सकने योग्य विकास ही न हुआ हो तो तुरंत भूलोकमें उसका जन्म होगा। मानव-जातिकी प्रारम्भिक असंस्कृत अवस्थामें मृत्युके पश्चात् तुरंत पुनर्जन्म हुआ करते होंगे। मरनेवालोंका भूलोककी ओर अत्याकर्षण भी मरणोत्तर तुरंत पुनर्जन्मका कारण हो सकता है। कुछ बच्चे बचपनमें अपने पूर्व-जन्मकी स्मृति प्रकट करते हैं और अपने पूर्वजन्मके माता-पिताको भी पहचान लेते हैं। इससे यह मालूम होता है कि बचपनमें मरे हुए अविकसित जीव और अकस्मात् जिनकी मृत्यु होती है, वे मरणोत्तर तुरंत जन्म लेते हैं। इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि पूर्ण विकसित महात्मा भी परलोकगतिको अनावश्यक जान भगवत्कार्य अथवा लोकोद्धारके लिये मरणके पश्चात् तुरंत जन्म ग्रहण करते हों।' ('लाइफ डिवाइन' '२।२२', थिआसोफी एक्सप्लेंड)।

इस प्रकार मरणोत्तर तुरंत जन्म तर्क-सम्भव होनेपर भी सामान्यतः ऐसा नहीं होता, यही शास्त्रोंका मथितार्थ और यही युक्तिसंगत भी मालूम होता है। अन्न खानेपर पुनः अन्न खानेका समय प्राप्त होनेतक खाये हुए अन्नका पाचन होना जैसे जरूरी होता है, वैसे ही मृत्यु होनेके बादसे पुनः जन्म लेनेतक बीचमें कर्मविपाकके लिये कुछ समय परलोकमें बिताना पड़ता है, इस आशयका वर्णन जीवकी मरणोत्तर परलोकगतिके सम्बन्धमें बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४-६।२) में है। तृणके कीड़ेके दृष्टान्तमें छोड़ने और पकड़नेके तृण तृणरूपमें दोनों समान होते हैं। ऐसा देहान्तर पुनर्जन्ममें सम्भव नहीं है। आवेश अथवा संचारमें ही वह सम्भव है। अतः बृहदारण्यकके उपर्युक्त ४।४।३ में जिस देहान्तरका वर्णन है, वह स्थूल-देह छोड़कर तुरंत सूक्ष्म-देहसे परलोकमें जाना ही है। बृहदारण्यकके ४।४।४ में यही भाव स्पष्ट दीख पड़ता है। दूसरी बात यह है कि ब्रह्मलोकका आनन्दरूप ब्रह्मात्मा और भूलोकका अन्नमय भूतात्मा, जीवात्माकी केवल ये ही दो अवस्थाएँ नहीं हैं। इन दो अन्तिम अवस्थाओंके बीचमें प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय अवस्थाएँ हैं (तैत्तिरीय० २।३)। इन पिण्डगत अवस्थाओंके अनुरूप ब्रह्माण्डमें भी वैसे ही लोक हैं। उन सूक्ष्म लोकों और उन सूक्ष्म अवस्थाओंमेंसे होकर जीवका ऊपर जाना और पुनर्जन्मके लिये फिर नीचे आना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। फिर जब कल्पके आरम्भमें सृष्टिकी उत्पत्तिमें पूर्वकल्पके जीवोंके प्राप्त कर्मसंस्कारों और अपूर्णतासे पूर्णताको प्राप्त होनेकी अन्तःप्रेरणाको कारण मानना ही पड़ता है, तब पुनर्जन्मकी प्रक्रियामें भौतिक और आध्यात्मिक तथा व्यष्टिपरक और समष्टिपरक उभयविध क्रमोन्नतिके भाव होंगे ही। इस दृष्टिसे देखा जाय तो इस क्रमोन्नतिके अर्थ दृश्य इहलोककी अपेक्षा मरणोत्तर अदृश्य लोकमें ही जीवका बहुत अधिक वास होता है। (लाइफ डिवाइन, थिआसोफी एक्सप्लेंड)।

पुनर्जन्मका प्रयोजन

इच्छा, ज्ञान, क्रिया जीवकी सहज प्रवृत्ति है। अपूर्णसे पूर्णकी ओर जाना, दुर्निवार सहज अन्तःस्फूर्ति है। धर्माचरण करके जगत्में भले कहलाना सभी शीलवान् मनुष्य चाहते हैं। पुत्रैषणादि एषणाएँ, पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण आदि ऋणोंका विमोचन—ऐसी सभी प्रेरणाएँ सत्प्रवृत्त मनुष्योंमें होती हैं। कर्म, उपासना, योग, ज्ञान इत्यादि विविध साधनोंके द्वारा साधक परमार्थ-प्राप्तिकी इच्छा करते हैं। अध्ययन-अध्यापन, शास्त्र-संशोधन, लोकसेवा, लोकसंग्रह, राजकारण, कलावृद्धि, व्यापार, उद्योग आदि विविध ध्येय कर्तृत्ववान् लोगोंके सामने होते हैं। ये सब इसी बातके प्रमाण हैं कि जीव जड यन्त्र नहीं है, चेतन ईश्वरांश है। जीवमें कुछ लपेटी

हुई और कुछ खुलती हुई अनेक प्रेरक शक्तियाँ हैं। घड़ीमें सूईके पीछे जैसे उसका स्प्रिंग होता है, वैसे ही जीवके पंचकोश इन लपेटी हुई शक्तियोंके करंडक होते हैं। जडवादी यह समझते हैं कि जडसे ही चेतनकी उत्पत्ति होती है। पर वे यह नहीं समझते कि जड़में यदि अन्तर्निहित चेतन न हो तो वह कहाँसे उद्‌भूत होगा। अभावसे भावकी उत्पत्ति कैसे होगी? सारी सृष्टि व्यक्ताव्यक्तका खेल है। इच्छासे कर्म, कर्मसे वासना और उसका फल, कर्म और फल, रातके पीछे दिन, संकोच और विकास, इहलोक-वास और परलोक-वास, अन्न-सेवन और उसका पाचन, सृष्टिक्रमके ये असंख्य द्वन्द्व-आन्दोलन हैं। इन्हींमें मृत्यु और पुनर्जन्म भी एक द्वन्द्व है। इसका रहस्य कर्मदेव और क्षेत्रज्ञ आत्मा जानता है और इसीलिये उत्क्रान्ति तथा विकासके योग्य, बाह्यतः भली-बुरी परिस्थितिमें, अन्तरात्मा देहात्माके द्वारा पुनर्जन्म लिया करता है। कोई भी देहात्मा विकलांगोंसे युक्त देहमें, दरिद्रतामें, दुःशील माता-पिताके यहाँ, निकृष्ट जातिमें, परतन्त्रतामें स्वेच्छासे जन्म नहीं ले सकता। परंतु ऐसी ही परिस्थितिमें जन्म लेनेसे प्राक्कर्मोंका परिशोध होगा और जीवका उद्धार होगा, यह अन्तरात्मा जानता है। इसीलिये वह क्षेत्रज्ञ अन्तरात्मा जान-बूझकर ऐसा जन्म लेना स्वीकार करता है। बच्चा लुढ़कता-पुढ़कता चलना सीखता है, सुखका मूल जाननेके लिये दुःखका अनुभव आवश्यक होता है। प्रतिकूल परिस्थितिके साथ संघर्ष करते हुए जीवकी सामर्थ्य, वैराग्य, विवेक-संयमादि गुणोंका संवर्धन होता है। पुनर्जन्मका यह गूढ़ रहस्य जन्मे हुए देहात्माको ज्ञात नहीं होता। इसीसे वह दैव अथवा ईश्वरको कोसता है। ईश्वरीय योजना तो कुछ ऐसी ही प्रतीत होती है कि जीव सब प्रकारके अनुभवोंसे ज्ञानी बने। यह अनुभव और ज्ञान पूर्णरूपसे प्राप्त करनेके लिये अनेक जन्म लेने पड़ते हैं। यही पुनर्जन्मका प्रयोजन है। इस रहस्यको अन्तर्यामी विज्ञानात्मा जानता है। इसीसे विज्ञानात्माका बोध जिन्हें प्राप्त होता है, वे साधु-संत चाहे जैसी बाध्य दुःस्थितिमें भी सुखस्वरूप ही रहते हैं।

सामान्य स्पन्दन, संवेदना, विषय-ग्रहण, सहज प्राकृत बुद्धि, तर्कबुद्धि, विचार, भाषा, ग्रन्थ, शाब्दिक ज्ञान, विषयासक्ति, बाह्य जीवनार्थ कलह, भेदबुद्धि, स्वार्थका मोह, स्वस्वरूपकी विस्मृति, पशुवृत्ति, अधःपतन—यह सारा लौकिक सुधारवादका वृत्त है। इस समस्याका सम्पूर्ण समाधान पुनर्जन्म-परम्पराके द्वारा जीवका अनुभवपूर्ण श्रेष्ठ पद लाभ करना है। आज बाह्य वैषयिक सुधार अपनी चोटीतक पहुँच गया है। इसके साथ ही ऐहिक स्वार्थ, बर्बरता और धर्म-विरोधकी भी चरमावधि हुई है। स्वैराचारने सत-शील, शुभ वासना और पवित्र भावनाको पैरोंतले कुचल डाला है। यन्त्रोंने हस्त-कौशलका अन्त किया है। कानूनबाजीने न्याय-नीति और धर्मको अपदस्थ किया है। जगत्‌के वर्तमान नेताओं और उनकी अनुयायी जनताके अनेक पुनर्जन्म होनेके पश्चात् यह स्थिति चाहे तो सुधर सकती है। अन्यथा कोई उपाय आज नहीं दीख पड़ता।

एक दूसरी दृष्टिसे विचार करते हुए ऐसा दीख पड़ता है कि इस विचित्र संसारमें अलौकिक कलाकार और प्रतिभावान् विद्वान् प्रायः व्यवहारशून्य होते हैं। जो विरक्त हैं, उन्हें लोकसंग्रह नहीं भाता। शरीरतः बलिष्ठ कसरती जवान अप्रबुद्ध होते हैं, धनवान् प्रसंगावधान और प्रायः संयमसे रहित होते हैं। शाब्दिक विद्वानोंमें उतनी भी यथार्थ बुद्धि नहीं होती, जितनी पशुओं और वनमानुषोंमें होती है। पक्षियोंमें जो स्वतन्त्रता होती है, वह मनुष्योंमें नहीं देखी जाती। किसीके पास एक वस्तु है, तो दूसरी नहीं। यह जो मायाका विचित्र खेल है, इससे जीव अनुभव प्राप्त करते-करते परमोच्च ध्येयको प्राप्त हों, यह एक जन्ममें सधनेवाली बात नहीं है। एक जन्ममें, एक शरीरमें, एक परिस्थितिमें सब कुछ सध जाय, यह सम्भव ही नहीं है। एक जन्ममें देहात्माका पूर्ण विकास होनेके लिये कई वर्ष लगते हैं, इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्माके पूर्ण विकासके लिये अनेक पुनर्जन्म आवश्यक होते हैं। क्षेत्रज्ञके दीर्घजीवनमें एक जीवन एक दिनके समान है। अनेक श्रेणियोंकी सृष्टिके इस विद्यालयमें एक जीवन एक श्रेणी है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारकी पूर्णता प्राप्त करनेकी अन्तःस्फूर्त एषणा जीवमें ही होती है। ब्रह्मके सिवा इस जगत्‌में और कुछ नहीं है। फिर भी अज्ञान-दशामें स्थूल, सूक्ष्म शरीर और उनके स्थूल, सूक्ष्म लोक-व्यवहार बन्धवत् प्रतीत होते हैं। यह अज्ञान दूर हो—इसके लिये बार-बार इनका अनुभव प्राप्तकर, इन्हें आत्मसात् करके सहजावस्थामें आ जानेके लिये इहलोकमें यथावश्यक पुनर्जन्म ग्रहणकर कर्म, उपासना, ज्ञान आदि योग-साधन करना आवश्यक होता है। पुनर्जन्मका यह एक व्यापक हेतु है।

पुनर्जन्मके प्रमाण

स्थूल दृष्टिसे विचार कते हुए पुनर्जन्मके चार-पाँच प्रमाण सामने आते हैं—१-आप्तोपदेश अथवा श्रुति (बृहदारण्यक० ६।२।१३; छान्दोग्य० ५।१०।६; प्रश्न० १।९।५-६; कौषीतकि०, मनुस्मृति १२।१९—२२; गीता ४।५; २।२७; गरुडादि पुराण, जातकादि ज्योतिष-ग्रन्थ, चरकादि वैद्यक-ग्रन्थ)—यह सब शब्दप्रमाण है। २-माता-पितासे सर्वथा भिन्न स्वभावके सन्तानोंका उत्पन्न होना। चरकसंहितामें इसे पुनर्जन्मका प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है। ३-फल-बीजन्यायके अनुसार पिछले जन्ममें किये हुए कर्मके फलरूप पुनर्जन्मका होना अनुमानप्रमाण है। ४-बोये हुए बीजका फल बीजके ही अनुरूप होगा, उससे भिन्न नहीं हो सकता—यह इसमें युक्ति है (चरकसूत्र ११।३० से ३३)। भृगुसंहितादि ज्योतिषग्रन्थोंमें पुनर्जन्मके फलादेश मिलते हैं। इन फलादेशोंको कोई माने, या न माने;पर इनसे यह तो प्रमाणित होता ही है कि भृगुसंहितादिको पुनर्जन्म मान्य है। जातक-पारिजातमें यह विधान है कि मृत्युसमयके लग्नमें अमुक ग्रहयोग होनेसे पुनः मृत्युलोक प्राप्त होता है अर्थात् पुनर्जन्म होता है (अ० ५।१८।१९)। ५-पुनर्जन्म कार्यानुमेय है। कुछ घटनाएँ ऐसी हैं, जिनका कार्य-कारण-सम्बन्ध पूर्वजन्म और पुनर्जन्म माने बिना समझमें ही नहीं आ सकता। ऐसी कुछ बातोंका निर्देश करते हैं। पूर्वजन्म सिद्ध होनेसे पुनर्जन्म आप ही सिद्ध होता है। (क) नन्हे बच्चे नींदमें पूर्वजन्मकी स्मृतिसे कभी हँसते, कभी डरते दिखायी देते हैं। रेंडीके तेलमें भिगोकर कपड़ेकी चूसनी बनाकर नन्हे बच्चेके मुँहमें दी जाय तो बच्चा मुख फेर लेता है। शहदकी चूसनी बनाकर दी जाय तो उसे सुखपूर्वक चूसने लगता है। यह रुचि पूर्वजन्मकी स्मृतिका ही सूचक है। नवजात बच्चेके हाथमें बारीक-सी कोई छड़ी दी जाय और उसका सहारा-सा देकर बच्चेको लिया जाय तो बच्चा कुछ क्षणोंतक छड़ी हाथसे नहीं छूटने देता। इसमें भी पूर्वजन्मका संस्कार ही कारण है। माताका स्तनपान करनेकी ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, यह सहज बुद्धि पूर्वानुभवका होना सूचित करती है। (ख) किसी-किसी बालकको पूर्वजन्मकी स्मृति भी हो आती है।* योगियोंको भी पूर्वजन्मकी स्मृति होती है। यह प्रमाण निरुत्तर करनेवाला है। पूर्वजन्मकी इन स्मृतियोंको उपस्थित मनुष्यों और पदार्थोंसे मिलाकर देख सकते हैं (मनुस्मृति ४।१४८, १४९; पतंजलि, Rents in the veil of time; Study in Consciousness; Harmsworth Popular Science, Vol. VI; Occult Review, July 1912)। देहात्मा प्रत्येक जन्मका भिन्न होनेसे सबको पूर्वजन्मकी स्मृति नहीं होती। जिनको होती है, उन्हें क्षेत्रज्ञकी प्रेरणासे होती होगी। (ग) भिन्न-भिन्न मनुष्योंके भौतिक ज्ञान और नैतिक भावना-मान एक-दूसरेसे बहुत ही भिन्न होते हैं। (घ) शील-सदाचारसम्पन्न कुलोंमें दुराचारी और दुराचारियोंके कुलोंमें सदाचारी उत्पन्न होते समय-समयपर दीख पड़ते हैं। (ङ) मा-बाप और बेटोंके बीच स्वभाव, रुचि और बुद्धिका बड़ा अन्तर दीख पड़ता है। (च) लोकोत्तर प्रतिभासम्पन्न कवि, तत्त्ववेत्ता, शास्त्रज्ञ, कलाकार, ग्रन्थकार, साधक, सत्पुरुष हीनचरित्र कुलमें भी उत्पन्न हुए दीख पड़ते हैं। (छ) लोकोत्तर प्रतिभासम्पन्न माता-पिताके बुद्धिहीन, दुराचारी सन्तान भी देखे जाते हैं। (ज) एक ही माता-पितासे उत्पन्न यमज सन्तान भी एक-दूसरेसे स्वभाव, शील आदिमें सर्वथा भिन्न होते दीखते हैं। ऐसे प्रसंगोंमें आनुवंशिकताका सिद्धान्त काम नहीं देता। (झ) भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी परिस्थितियाँ, उनकी आधि-व्याधियाँ, उनके शरीरमें जन्मसिद्ध अंगविकलता, उनकी सामर्थ्य, उनके भाग्य और ऐश्वर्य, उनके विकासके लिये प्राप्त अवसर कितने एक-दूसरेसे भिन्न होते हैं—यह सभी देखते हैं। इस भिन्नताका कारण इस जन्ममें नहीं मिलता। (ञ) किसी-किसीपर आनेवाली आकस्मिक आपत्तियाँ—उदाहरणार्थ बाल-वैधव्य, असाध्य रोग, लूट-मार या डाका, जलप्रलय, अग्निप्रलय, दरिद्रता, अपकीर्ति, अपघात आदिका भी कोई कारण इस जन्ममें कहीं नहीं मिलता। इन सबका कारण पूर्वजन्मकृत कर्म न माना जाय तो ईश्वरको घोर अन्यायी, स्वेच्छाचारी और अत्यन्त निष्ठुर

* अभी कुछ ही दिनों पहले युक्तप्रान्त, बदायूँ जिला, बिसौलीके इण्टरमीडियट कालेजके प्रोफेसर श्रीबाँकेलालजी शर्मा एम० ए०, शास्त्रीके नन्हेसे पुत्रने अपने पूर्वजन्मका अपना, घरवालोंका, फर्मका नाम बताकर तथा सम्बन्धियोंको पहचानकर सबको आश्चर्यमें डाल दिया था। (देखिये—'भारत' प्रयाग २७।८।४९)

इसी प्रकार गोला गोकर्णनाथके डॉक्टर श्रीशिवरतनलालजी त्रिपाठीकी ३॥। सालकी कन्या भी अपने पूर्वजन्मका सारा विवरण बतलाती है। (देखिये—'नव-भारत' ४।९।४९)

मानना पड़ेगा। (ट) मृत्युकी पहेली पुनर्जन्मवादसे ही समझमें आती है। (ठ) ईश्वरके न्याय-निष्ठुर होने और साथ ही दयामय होनेका मेल पुनर्जन्मवादसे ही बैठता है। (ड) हमारी बुद्धि और वासना तथा हमारी आकांक्षाएँ और परिस्थिति—इन सबके झगड़े पुनर्जन्मवाद माने बिना हल नहीं होते। (ढ) जीवात्माके अमरत्वपर जिनका विश्वास है, उन्हें जन्म-परम्परा अनादि माननी पड़ेगी। अर्थात् प्रत्येक जन्म पुनर्जन्म सिद्ध करेगा। (ण) इस जन्ममें बिना कुछ उद्योग किये धन, ऐश्वर्य, सुखभोग प्राप्त हों अथवा इसके विपरीत सारा जीवन सतत उद्योग और सत्कर्ममें लगकर भी यश प्राप्त न हो और अन्तमें कष्टमय अवस्थामें मृत्यु हो, इसमें पूर्वजन्म माने बिना कर्म और कर्मफलकी संगति लगती नहीं। यही मानना पड़ता है कि एकके जन्मसे ही ऐश्वर्यका कारण उसका पूर्वजन्मकृत पुण्य है और दूसरोंके सतत उद्योग और सत्कर्मका फल अगले जन्ममें मिलनेवाला है (त) बहुत-से सत्प्रवृत्त कर्मियों और भावुक उपासकोंको अपने ध्येयतक पहुँचनेके लिये एक जन्म पर्याप्त नहीं होता। उन्हें दूसरा जन्म लेना ही पड़ता है। (थ) बहुत-से बच्चे बचपनमें ही मर जाते हैं, बहुत-से जंगली लोग अविकसित यानी अज्ञानकी अवस्थामें ही मरते हैं। ईश्वरके न्यायमूलक राज्यमें हर किसीका पूर्ण विकास होना ही चाहिये। अतः इनके विकासके हेतु इनके लिये अनेक पुनर्जन्म मानने पड़ते हैं। (द) कुछ माता-पिता और उनके सन्तानोंमें, कुछ सगे भाइयोंमें, कुछ पति-पत्नियोंमें परस्पर अत्यन्त विरोध पाया जाता है। इस जन्ममें इस विरोधका कारण नहीं दीख पड़ता। (ध) कुछ व्यक्तियोंको देखते ही उनके लिये चित्तमें प्रेम और आदर उत्पन्न होता है और कुछको देखते ही चित्त खिंच जाता है। इसमें पूर्वजन्मके सम्बन्ध ही कारण मालूम होते हैं। (न) ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, कर्तृत्वसम्पन्न पुरुष, कलाकार, संशोधक, राजनीतिविद् आदि महान् व्यक्ति अनुभव और ज्ञानकी वृद्धि होनेपर जब मरते हैं, तब उनके उस ज्ञान और अनुभवका लाभ इहलोकके अन्य लोगोंको भी हो—इसके लिये ईश्वरके इस न्यायमूलक राज्यमें उनका पुनर्जन्म मानना पड़ता है। (प) रावण और विभीषण, धृतराष्ट्र और विदुर, राणा प्रताप और अकबर, शिवाजी और सम्भाजी, पद्मिनी और कृष्णाकुमारी, अहल्याबाई और लक्ष्मीबाई स्टालिन और हिटलर, गान्धी और जिन्ना इत्यादिकोंके यश-अपयशका निर्णय एक जन्ममें होनेवाला नहीं है।

प्रत्येक वृक्षमें पत्ते लगते, बढ़ते और फिर झड़ जाते हैं। फिर उस वृक्षमें नवपल्लव आते हैं और वे भी कालक्रमसे झड़ जाते हैं। इन्हीं पेड़-पत्तोंके विकासके समान क्षेत्रज्ञ आत्मामें देहात्माके पल्लव निकलते, बढ़ते और फिर झड़ जाते हैं और इस प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्माकी तथा देहात्माकी जन्म-परम्परासे प्रगति होती चले, यह युक्तियुक्त मालूम होता है। ध्येयवाद अथवा उत्क्रान्तिवाद एक जन्ममें सिद्ध नहीं होता। पुनर्जन्म परम्परासे ही ध्येय-सिद्धिको पूरा अवसर मिलता है। जो कुछ हो, सृष्टि कोई जड यन्त्र नहीं है। उसमें ज्ञान और इच्छापूर्वक क्रिया है। जडमें ज्ञान और इच्छाका होना सम्भव नहीं। संवर्धन, पुनरुत्थान, हेतु, आगेकी कार्यनीति, जीवनेच्छा, अमृतत्वकी आकांक्षा आदि चेतनके अनेक गुण-धर्म हैं। ये गुणधर्म जड नहीं हैं। अतः जिस किसी भी प्रयोजनसे चेतन जीवका ही पुनर्जन्म होता है, केवल जड-देहका नहीं।

पुनर्जन्मकारक अन्य बातें

जीवका पुनर्जन्म कहाँ, किस प्रेरणासे अथवा किसके संगमें हो सकता है—इसकी कुछ निर्णायक बातें बतलायी जा सकती हैं—१.माता-पिताकी सन्तानसम्बन्धिनी तीव्र इच्छा और जन्म लेनेवाले जीवकी जननेच्छा—ये दोनों शक्तियाँ परस्पर आकर्षण करती हैं। २—ईश्वरीय योजनाके अनुसार क्षेत्रज्ञ जीवात्माकी स्वविषयक विकास-दृष्टि भी अमोघ है। ३—इस दृष्टिके अनुकूल अथवा प्रतिकूल जो प्राक्कर्म-संस्कार जीवके हो सकते हैं अथवा उनकी जो प्रतिक्रिया हो सकती हैं, ये दोनों बातें स्पष्ट ही निर्णायक अंग हैं। इस विषयमें जीवके समग्र संचित कर्ममेंसे जो कर्म फलोन्मुख हुआ हो अथवा कर्मदेवताने जीवके भोगके लिये आगे रखा हो, वही जीवका प्रारब्धकर्म ही तात्कालिक प्रेरक होगा। ४—पूर्वजन्ममें प्रेम, ऋण, हत्या, वैर इत्यादि प्रकारके जिनसे जो सम्बन्ध बन गये हों, पुनर्जन्म उन सम्बन्धोंसे आबद्ध व्यक्तियोंको एक जगह फिर ला छोड़ता है। पुनर्जन्मके कारणोंका अनुसन्धान करते हुए यह दीख पड़ता है कि कभी-कभी समानधर्मी जीव परस्पर आकर्षित होते हैं। कभी-कभी विषमधर्मा भी परस्पर प्रतिक्रियारूप संघर्ष करनेको एकत्र होते हैं। संसारमें हम यह भी देखते हैं कि वेश्याके मनोमोहक लावण्य एवं बनने-ठननेमें एक

प्रकारकी दुःशीलता होती है। इसके विपरीत पतिव्रताकी सादगीमें पवित्र शील रहता है। कितने ही सुन्दर चित्रोंकी पार्श्वभूमि काली होती है। उससे चित्रका सौन्दर्य खिल उठता है। इसी प्रकार हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद-जैसे पुनर्जन्मके विसंगत प्रकार भी देखनेको मिलते हैं। पुनर्जन्म लेनेवाला जीव योग्य माता-पिता चुन लेता है, यह बात ऊपर आयी है; पर योग्यायोग्यता परखनेकी यह दृष्टि देहात्माकी नहीं है। यह काम कर्मफलविधायक दैवीशक्ति, समष्टि मन अथवा कर्मदेव और जन्म लेनेवाले जीवका अन्तरात्मा करता है। इसमें आकर्षण-विकर्षणके भाव विविध और गूढ़ होते हैं।

५—ज्यौतिष-शास्त्रके अनुसार पुनर्जन्म-प्रक्रियामें भी ग्रहोंके योग माने जाते हैं। (जातकपारिजात आधान, जन्म अ० ३; सन्तान-दीपिका, बृहज्जातक आदि) जीवकी गर्भकुण्डली अथवा जन्मकुण्डलीसे जन्म-कर्म-भविष्य जाना जाता है। मृत्युक्षणमें बनायी हुई कुण्डलीसे पुनर्जन्म जाना जा सकता है। भृगुसंहितामें जन्मलग्न-कुण्डलीसे भी पुनर्जन्म बतलाये गये हैं। यहाँके जीवोंका अन्य खगोलोंमें जन्म अथवा अन्य खगोलोंके जीवोंका यहाँ जन्म होना भी सम्भव है।

पुनर्जन्म और विकासवाद

विकासवाद आधुनिक विज्ञानकी देन है। सनातन-धर्मियोंकी हिंदू-संस्कृतिको कुछ लोग उसके विपरीत मानते हैं, यह उनकी भूल है (हिंदूइज्म ऐण्ड ब्राह्मणिज्म, पृ० १२; अभेदानन्दकृत 'री-इनकार्नेशन')। किंचित् विचार करनेसे यह दीख पड़ेगा कि हिंदू-संस्कृतिका पुनर्जन्मवाद आधुनिक विकासवादको अनायास हजम कर सकता है। यह उससे कहीं अधिक पूर्ण और निर्दोष सिद्धान्त है। आधुनिक विकासवाद देहका अथवा अधिक-से-अधिक देहात्माका विचार करता है। विकासवादमें परिवर्तन-प्रवृत्तिका एक सिद्धान्त माना गया है। पर इस परिवर्तन-प्रवृत्तिका कारण क्या है इसका विचार विकासवादी नहीं करते। पुनर्जन्मका सिद्धान्त माने बिना परिवर्तन-प्रवृत्तिका वास्तविक स्वरूप भी सिद्ध नहीं होता। विकासवादी यह भी नहीं बतला सकते कि मनुष्योंमें एक तामसी पशुबुद्धि और दूसरी सात्त्विक सदसद्-विवेकी बुद्धि—यह दो प्रकारकी बुद्धि कैसे सम्भव होती है। एक ही समयमें अलौकिक प्रज्ञावान् पुरुष और अत्यन्त अप्रबुद्ध जंगली मनुष्य दोनों रह सकते हैं। वानरसे नरका विकास हुआ कहें तो हम देखते हैं कि लाखों वर्षोंसे असंख्य वानर और असंख्य मनुष्य एक साथ रहते चले आये हैं। इसका कोई समाधान विकासवादी नहीं कर सकते। सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होनेवाले सनत्कुमार-जैसे ईश्वरके मानसपुत्रोंको कोई अज्ञानी और जंगली कहें और ऐटम (परमाणु) बमसे लाखों निरपराध मनुष्योंको भस्म करनेवाले आजके मनुष्योंको सभ्य, सुसंस्कृत और ज्ञानी कहें तो ऐसा विकासवाद किसीके भी ग्रहण करने योग्य नहीं है। आधुनिक विकासवादमें आत्मोन्नतिकी कोई भावना नहीं है। योग्यका वरण, जीवनके लिये कलह, बलिष्ठकी स्थिति आदि विकासवादके सिद्धान्तोंके अनुसार संवर्धित आजके सभ्य जगत्में पशुबुद्धि भरपूर है। नित्य-नवीन आधि-व्याधियोंकी कोई कमी नहीं है। आत्महत्या, उन्माद, डाकेजनी, हिंसात्मक राजनीति—इन्हीं सब चीजोंकी दिन-दूनी रात चौगुनी वृद्धि हो रही है। आजकी हिंस्र पशुवृत्ति 'धर्मनिरपेक्ष' अथवा धर्म-विरोधी अर्थ और कामके दम्भ और कपटमें छिपी बैठी है। इस आधुनिक विकासवादके 'योग्यका वरण' और 'जीवनार्थ कलह'—जैसे सिद्धान्तोंसे कपट, हिंसा, क्रूरता, अत्याचार आदि पशुवृत्तियोंकी वृद्धिका होना ही अनिवार्य है। एक तरहसे धर्मनिरपेक्ष शिक्षित जंगलीपनको ही मानव-विकास समझा जा रहा है। जो साम्य केवल आत्मामें है, उसे बरबस विषम स्वभाववाले देहमें ले आनेका हास्यास्पद प्रयत्न ही आजकी विकसित मानवताका प्रधान लक्षण माना जा रहा है। इस विकासवादके अनुसार मनुष्योंका यह कर्तव्य होता है कि मनुष्य स्वार्थप्रेरित विषयोंको वरण करें और जीवनसंग्राममें दुष्ट और बलिष्ठ सीधे-सादे और दुर्बल लोगोंको मारकर स्वयं जीयें और भोग करें। इसमें नैतिक और धार्मिक वृत्तियोंके संवर्धनके लिये कोई प्रेरक हेतु ही नहीं रह जाता। इसके विपरीत पुनर्जन्मवादमें यह सिद्धान्त गृहीत है कि क्रमसे जीवकी सत्त्वसंशुद्धि होती जाती है। हिंदू-संस्कृतिके पुनर्जन्मवादमें ऐहिक शरीर सौख्य अथवा विषयासक्ति ध्येय नहीं है। उसका रहस्य अन्तर्मुख और दिव्य है। हमारे पुनर्जन्मवादकी सात्त्विक वृत्ति स्वैराचारी रजस्तमोमय वरण-क्रिया और जीवनार्थ कलहवाले बहिर्मुख आधुनिक विकासवादका अन्तमें पराभव करनेवाली है। मनुष्यका सच्चा पुरुषार्थ धर्मके द्वारा ही अर्थ और काम सम्पादनकर अन्तमें मोक्ष प्राप्त करना है। इस साध्य-साधनमें पुनर्जन्मकी उपयोगिता स्पष्ट है।

विकासवाद अज्ञानसे ज्ञानकी ओर, अभावसे भावरूपकी ओर अनन्त विकास ही मानता है। उसमें किसी मनुष्यका पुनर्जन्म मनुष्यसे हीन किसी योनिमें होना माना नहीं जा सकता। परंतु यह एकांगी विकासवाद हमारे शास्त्रोक्त पुनर्जन्मवादको आमूलाग्र छोड़े हुए हैं। पुनर्जन्म अव्यक्तका समर्याद व्यक्त उपाधिमें प्रादुर्भाव है। मूलमें जो वस्तु नहीं है, वह पुनर्जन्ममें भी सम्भव नहीं है। अज्ञानसे ज्ञान या अभावसे भाव हिंदू-संस्कृतिके तत्त्वज्ञानमें नहीं है (गीता २। १६)। विकासका होना बाहरसे किसी नवीन वस्तुका पैदा होना नहीं है। वह अन्तस्सत्तासे अंदरसे ही बाहर प्रकट होता है। पुनर्जन्म कोई नया जन्म नहीं है। सनातन प्रत्यगात्मा केवल नया वेश धारणकर प्रकट होता है। जो ईश्वरीय ज्ञान आरम्भमें उच्च अथवा दीर्घकाल अव्यक्त रहता है, वही प्रत्यवायके दूर होते ही व्यक्त होने लगता है। जो मूल कारणमें न हो, वह कार्यमें उत्पन्न हो ही नहीं सकता (राजयोग ४। २-३)। अपूर्णसे पूर्णकी ओर जानेकी जो बात कही जाती है, वह प्रत्यवायभूत उपाधिकी अपेक्षासे कही जाती है।

उत्कर्षका गगनचुम्बी पर्वत आरोहण करनेमें बीचमें कहीं-कहीं उतार भी होते हैं। उसी प्रकार जीवके कर्मानुरूप तात्कालिक अध:पतन अथवा पशुकोटिमें पुनर्जन्म होना भी पुनर्जन्मके सिद्धान्तमें गृहीत है। कारण, इस त्रिगुणात्मिका सृष्टिमें रजस्तमके उतार भी मार्गमें आते हैं। त्रिगुणात्मक, सम्मिश्रण कर्मका विपाक अत्यन्त गूढ़ है। भरतको मृगका जन्म लेना पड़ा। नलकूबर-मणिग्रीव वृक्ष बने। पुनर्जन्म-परम्पराके ये चढ़ाव-उतार चढ़ते-उतरते अन्तको यह सोपाधिक अपूर्ण, जन्मान्तरमें उपाधियोंका पूर्ण बाध होनेपर, अपने पूर्णत्वके साथ व्यक्त होता है। यह मूल स्थितिका विकास नहीं है। मूल स्थिति तो पूर्णत्वकी ही है। आत्मानात्मविवेक बुद्धिका काम है। नीति-धर्म-नि:स्वार्थ होनेकी शिक्षा देते हैं। परमात्माके साथ एकात्मता आध्यात्मिक पूर्णताका लक्षण है। आधुनिक देहात्मवादियोंके विकासवादमें आध्यात्मिक पूर्णताकी इस श्रेष्ठ प्रणालीको कोई अवसर नहीं है। वे देहात्मभावका बहिर्विकास चाहते हैं। परंतु अन्तर्यामी विज्ञानात्माका विकास इससे सर्वथा भिन्न और सूक्ष्म हुआ करता है। उसका एक जन्ममें पूरा होना अति दुर्घट है। यही पुनर्जन्मका प्रयोजन है।

विकास भी किसलिये? यह आधुनिक विकासवादी नहीं बतला सकते। कारण, आधुनिक, विकासवाद एकाक्ष और हेतुशून्य है। स्वाभाविक गुणोंका ह्रास कहीं-कहीं क्यों होता जाता है? मनुष्यकी अपेक्षा निकृष्ट योनियोंमें कहीं-कहीं सहज बुद्धि और इन्द्रियान अधिक कैसे दीख पड़ते हैं? ऐसे-ऐसे प्रश्नोंके उत्तर यान्त्रिक विकासवादमें नहीं हैं। अथाह ज्ञानसागरकी ज्ञान-तरंगोंको ग्रहण करनेमें मस्तिष्कका अधिकाधिक समर्थ होना वस्तुतः मस्तिष्कका विकास नहीं है। अनेक पुनर्जन्मोंके द्वारा होनेवाला यह जीवविकास है। मस्तिष्क जीवका एक कारण है। पुनर्जन्मका प्रयोजन मस्तिष्कका संवर्धन नहीं, इसकी अपेक्षा वह अधिक दिव्य है।

[हमारे शास्त्रानुसार विकासवाद युक्तियुक्त और सत्य नहीं है। जीवको कर्मफल-भोगके लिये अपने कर्म तथा वासनासे बाध्य होकर उच्च-नीच विविध योनियोंमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है (बृहदारण्यक४। ४। ५ तथा छान्दोग्य० ५। १०। ७ देखिये)। गीताके—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (२।४७)

—के अनुसार मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, परंतु भोगमें परतन्त्र है। गीताका—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२।२२)

—'जैसे पुराने वस्त्रोंको त्यागकर मनुष्य नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरको त्यागकर नये शरीरोंको प्राप्त होता है' यह सिद्धान्त भी ठीक है। मरणके बाद जीवको उसी समय दूसरी देह मिल जाती है, परंतु वह स्थूलदेह नहीं होती। वह तेज:प्रधान या वायु-प्रधान 'आतिवाहिक' देह होती है, जिसको ग्रहण करके जीव अपने पुण्य-पापानुसार विविध देवलोकोंमें अथवा पितृलोकके विभिन्न स्तरोंमें पहुँचता है और वहाँ सुख-दु:खका भोग करके पुनः नियन्ताके विधानसे यथायोग्य स्थूल देहको प्राप्त होता है।

इस प्रकार जीवका पुनर्जन्म अवश्यम्भावी है और उसका हेतु है 'कर्म'।]

उपसंहार

अज्ञानमें अन्त:क्रान्ति और जीव-जगत्के मूल-स्वरूपकी ओर उत्क्रान्ति या विकास—इस प्रकारका यह खनिजकोटिसे देवकोटितक सृष्टि-क्रम अनादि कालसे

अनन्त कालतक चलता ही रहेगा। अर्जुनको भगवान्ने गीतोपदेश सुनाना आरम्भ किया, तब दूसरे ही श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—'इस बातको समझो कि मैं पहले कभी नहीं था, यह बात नहीं है; इसी प्रकार तुम और ये राजालोग पहले नहीं थे, यह बात भी नहीं है। यह भी नहीं है कि हम सब आगे न होंगे।' यह पुनर्जन्मपरम्परा इसी प्रकार त्रिकालाबाधितरूपसे चलनेवाली है। महाराष्ट्रके कीर्तनकार कथा हो चुकनेपर अन्तमें संतश्रेष्ठ तुकारामका *'हेंचि दान देगा देवा'* यह अभंग गाया करते हैं। इसमें तुकारामजीने भगवान्से यह विनय की है—'भगवन्! मुझे भुक्ति या धन-सम्पत्ति नहीं चाहिये। पर ऐसा करो कि तुम्हारा कभी विस्मरण न हो! तुम्हारा गुणगान करनेमें मेरा मन रँगा हुआ हो। सत्संगतिका सदा लाभ होता रहे। इतना दो। फिर भले ही पुनर्जन्म देते रहो।' निवृत्ति-साधक विरक्त जीव पुनर्जन्मसे बचनेकी इच्छा करते होंगे, पर लोकसंग्रही संत पुरुष पुनर्जन्मका भय या तिरस्कार नहीं करते। भारतीयोंको उनका सतत यही उपदेश रहा है कि ज्ञान, उपासना, कर्मके इस त्रिवेणी-संगमपर आनन्दके साथ पुनर्जन्म लेकर संसारमें वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए सुखपूर्वक रहो।

कर्मकी प्रतिक्रिया

कर्मके महत्त्वको आज सारा संसार भूल गया है। कर्मकी सर्वव्यापकता, कर्मकी दुर्लंघनीय शक्ति और प्रत्येक मनुष्य तथा प्रत्येक जातिपर कर्मका प्रभाव कैसा नियमित पड़ता है, इसकी ओर किसीका भी ध्यान नहीं है।

श्रीभगवान्ने निज मुखसे श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—'भगवान्का स्वभाव सच्चिदानन्दमय' एकरस है। उसी अलौकिक सत्ताका त्याग करके जो भूतोंकी उत्पत्ति कराते हैं, उसको कर्म कहते हैं।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥

(८।३)

प्रकृति त्रिगुणमयी है। रजोगुणके कारण प्रकृतिका परिणाम सदा होता रहता है। वह परिणाम कभी सत्त्वसे तमकी ओर और कभी तमसे सत्त्वकी ओर स्वभावसे होता है। जैसे प्रकृतिमें त्रिगुणका होना स्वभावसिद्ध है, उसी प्रकार यह परिणाम भी स्वभावसिद्ध है। इसी स्वभावसिद्ध स्पन्दनको कर्म कहते हैं।

मीमांसाकारोंने कर्मके तीन भेद कहे हैं, यथा—सहजकर्म, जैवकर्म और ऐशकर्म। सहजकर्म प्राकृतिक स्पन्दनके साथ-ही-साथ प्रकट होता है। आदिसृष्टिमें ब्रह्माण्डगोलकका बनना, जीवसृष्टिका उद्भिज्जरूपसे उत्पन्न होना—यह सब सहजकर्मके उदाहरण हैं। सहजकर्मके बलसे जीव उद्भिज्जयोनि, स्वेदजयोनि, अण्डजयोनि, जरायुजयोनिमें होता हुआ अन्तमें पूर्णावयव मनुष्ययोनिमें पहुँच जाता है। मनुष्ययोनि पूर्णावयव होनेके कारण पाप और पुण्यकी अधिकारिणी हो जाती है। उस समय जीवमें जैवकर्मका उदय होता है। तब मनुष्य आवागमनचक्रमें घूमता हुआ प्रेतयोनि, नरकलोक, स्वर्गलोक, असुरलोक तथा मनुष्यलोकमें आता-जाता रहता है। इसी आवागमनचक्रको स्थायी रखनेवाला ही जैवकर्म कहाता है। इस दशामें जीवकी क्रमोन्नतिके लिये वेद, पुराण, स्मृति, तन्त्र आदि शास्त्र स्वतः प्रवृत्त रहते हैं। सहजकर्म और जैवकर्म दोनोंसे पृथक् और विचित्र ऐशकर्म कहलाता है। ऐशकर्मका साक्षात् सम्बन्ध देवलोकसे है और परोक्ष सम्बन्ध मृत्युलोकसे है। मनुष्यको क्रमशः आवागमनचक्रसे छुड़ाकर देवलोककी परिधिमें पहुँचाना ऐशकर्मका ही कार्य है। नचिकेताका एक जन्ममें ही देवयोनिको प्राप्त होना, नन्दिकेश्वरका देवत्व प्राप्त होना, बलिका असुर-राजपद प्राप्त होना—यह सब ऐशकर्मका ही प्रभाव है। ऐशकर्मके बलसे देवता और असुर दोनोंके सब कार्य सुरक्षित रहते हैं। शास्त्रोंसे पता लगता है कि इसी ऐशकर्मके बलसे मनुपदधारी और इन्द्रपदधारी तथा नाना छोटे-बड़े देवपदधारी गण अदल-बदल जाते हैं। इसी ऐशकर्मके बलसे लाखों वर्षोंका कलियुग, लाखों वर्षोंका द्वापरयुग, लाखों वर्षोंका त्रेता और लाखों वर्षोंका सत्ययुग, चारोंका मिलाकर एक महायुग तथा ऐसे ७१ महायुगोंका १ मन्वन्तर होता है, जिसमें सब देवपदधारी बदल जाते हैं। यह सब ऐशकर्मकी महिमा है।

कर्मकी महिमाको देखकर कोई-कोई कर्ममीमांसक कर्मको ही ईश्वररूप मानते हैं। जैन और बौद्धधर्मके आचार्योंमें भी इसी कारण कोई-कोई ईश्वरको न मानकर कर्मको मानते हैं। कोई जाति या व्यक्ति अपने किये हुए कर्मको प्रतिक्रियासे बचा नहीं सकता। इस

समय यूरोपकी जैसी अधःपतित दशा हो गयी है, ब्रिटिशजातिकी शक्तिका जो क्षय हो गया है, यह उस जातिके पूर्वकृत समष्टिकर्मका ही परिणाम है। इस समय हिंदुस्थानरूपी भरतखण्डकी जो अस्त-व्यस्त दशा दीख पड़ती है, समस्त पृथ्वीमें जो घोर हलचल देखनेमें आती है, वह मनुष्यजातिके समष्टिकर्मका ही फल है। अतः इस समयके राजनीतिक नेतृवृन्द, समाज-संस्कारका नेतृवृन्द और सब श्रेणीके नेतृवृन्दकी कर्मके सत्-असत् भावोंकी ओर तीव्रदृष्टि होनी चाहिये। और सबको अपने-अपने शारीरिक, वाचनिक, मानसिक और बौद्धिक कर्मोंकी ओर पूरा ध्यान रखकर कर्मक्षेत्रमें अग्रसर होना चाहिये। भक्ताग्रगण्य गोस्वामीजीने कहा है—

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

(सूर्योदय)

गोत्र-प्रवर-महिमा

आर्य-संस्कृतिमें गोत्र और प्रवरका विचार रखना सर्वोपरि माना गया है। सनातनधर्मी आर्यजातिकी सुरक्षाके लिये चार बड़े-बड़े दुर्ग हैं। प्रथम गोत्र और प्रवर, जिनके द्वारा अपनी पवित्र कुल-परम्परापर स्थिर लक्ष्य रहता है। दूसरा रजोवीर्यशुद्धिमूल वर्णव्यवस्था, जिसमें जन्मसे जाति माननेकी दृढ़ आज्ञा है और तपःस्वाध्यायनिरत ब्राह्मण जातिके नेतृत्वमें संचालित होनेकी व्यवस्था है। तीसरा आश्रमधर्मकी व्यवस्था, जिसमें आर्यजाति सुव्यवस्थित रूपसे धर्ममूलक प्रवृत्ति-मार्गपर चलती हुई भी निवृत्तिकी पराकाष्ठापर पहुँच जाती है। और चतुर्थ दुर्ग सतीत्त्वमूलक नारीधर्मकी सहायतासे आर्यजातिकी पवित्रता है। इन चार अटल दुर्गोंमें गोत्र प्रवरपर सदा लक्ष्य रखनेवाला प्रथम दुर्ग कितना महान् और परमावश्यक है। उसको इस समय प्रकाशित करनेकी बड़ी आवश्यकता है। गोत्र और प्रवरका माहात्म्य और उसकी परम आवश्यकताका ज्ञान कुछ भी न होनेसे आजकलके राजकर्मचारी और प्रजावर्ग बहुत ही विपथगामी हो रहे हैं। उनके अन्तःकरणमें इतना अज्ञान छा गया है कि प्रवरको तो वे भूल ही गये हैं और सगोत्र-विवाहको कानूनद्वारा चलाना चाहते हैं। आर्यजातिका प्रधान महत्त्व यह है कि वह सृष्टिके आरम्भसे अबतक अपने रूपमें विद्यमान है। चतुर्युगी सृष्टि और मन्वन्तर-सृष्टिकी तो बात ही क्या है, कल्पादि और महाकल्पादिकी आदि सृष्टिके साथ-साथ गोत्र-प्रवर-सम्बन्ध है; क्योंकि ब्रह्माजीकी उत्पत्तिके साथ ही उनके मानस पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए ऋषियोंसे ही गोत्र-प्रवरका सम्बन्ध चला है। यह गोत्र-प्रवरके विज्ञानकी ही महिमा है कि हिंदू-जाति तबसे अबतक जीवित है। उस समयसे लेकर अबतक पृथ्वीकी लाखों जातियाँ प्रकट हुईं और कालके गालमें चली गयीं, परंतु दैवी जगत्पर विश्वास करनेवाली, वर्णाश्रमधर्म माननेवाली, अपनी पवित्रताकी रक्षा करनेके लिये गोत्र-प्रवरकी शृंखलाके आधारपर चलनेवाली सनातनधर्मी प्रजा अभीतक अपने अस्तित्वकी रक्षा कर रही है। जिस मनुष्य-जातिमें वर्णाश्रम-व्यवस्था नहीं है, गोत्र-प्रवरकी सुव्यवस्थाका विचार नहीं है, उस मनुष्य-जातिपर अर्यमा आदि नित्य पितरोंकी कृपा न होनेसे वह जाति जीवित नहीं रह सकती। हमारे वेदोंमें, वैदिक कल्पसूत्रोंमें तथा स्मृति और पुराणोंमें गोत्र-प्रवर-प्रवर्तक महर्षियोंकी चर्चा है तथा उससे आर्यजातिको सुरक्षित रखनेके लिये दृढ़ आज्ञा है। अतः आधुनिक अहम्मन्य नेतृवृन्दोंके द्वारा इस व्यवस्थाका नाश न होने देना चाहिये। इस समयकी क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियोंमें अपने पुरोहितके गोत्रसे गोत्र-प्रवर माननेकी व्यवस्था प्रचलित है। इस कारण उक्त जातियोंमें इस व्यवस्थाकी कुछ शिथिलता पड़नी सम्भव है; परंतु ब्राह्मण-जातिमें वेद और शास्त्रोंमें वर्णित गोत्र एवं प्रवरकी व्यवस्था यथावत् चलनी चाहिये। आजकल ब्राह्मण-जातिमें जो अनेक प्रकारके पतनके लक्षण दिखायी देते हैं, उसका प्रधान कारण यह है कि ब्राह्मण-जाति गोत्र और प्रवरकी महिमाको भूल गयी है। वास्तवमें गोत्र और प्रवरकी महिमाके प्रभावसे ही अभीतक ब्राह्मण-जातिमें कहीं-कहीं ब्रह्मतेज दिखायी देता है। और वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्थापर गोत्र-प्रवर-महिमाका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। अतः जिनमें स्वजातीय अभिमान है, जो अपने स्वधर्मका गौरव समझते हैं, जो जन्मान्तर-विज्ञान मानते हैं और जो रजोवीर्यकी शुद्धताका गौरव समझते हैं, उनको इस समय प्रमादग्रस्त न होकर चेतना चाहिये।

सूर्योदय

भक्ति-रहस्य

(लेखक—महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम०ए०, डी० लिट०)

वर्तमान समयमें भक्ति-साधन और उसकी उपयोगिताके विषयमें कुछ कहनेकी आवश्यकता है, ऐसा मैं नहीं समझता। प्रायः सभी विश्वास करते हैं तथा शास्त्र-वाक्य और महापुरुषोंके अनुभव इस विश्वासका समर्थन करते हैं कि दुर्बल मनुष्यके लिये भगवत्प्राप्तिका, एकमात्र न होते हुए भी, प्रधान उपाय भक्ति-साधना है। परंतु सच पूछा जाय तो भक्ति-साधनाका रहस्य सबके लिये सुपरिचित नहीं है। रहस्य जाने बिना किसीको किसीका तत्त्व माहात्म्य हृदयंगम नहीं हो सकता। अतएव इस प्रबन्धमें भक्ति-तत्त्वके रहस्यके सम्बन्धमें अपने ज्ञान और अनुभवके अनुसार संक्षेपमें कुछ कहनेकी चेष्टा करूँगा।

साधनाके समस्त मार्गोंको आलोचनाकी सुविधाकी दृष्टिसे तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। इसके एक-एक भाग साधनाकी एक-एक स्थितिके द्योतक हैं। प्रथम भागका नाम प्रवर्तक-अवस्था, द्वितीय भागका नाम साधक-अवस्था और तृतीय भागका नाम सिद्धावस्था है। प्रवर्त्तक-अवस्थामें एकके बाद एक दो स्थितियोंका विकास स्वीकृत किया गया है। उसी प्रकार साधक-अवस्थामें भी दो क्रमिक स्थितियोंकी अभिव्यक्ति देखनेमें आती है। परंतु सिद्धावस्थामें इस प्रकारका कोई अवान्तर भेद नहीं पाया जाता। प्रवर्तक-अवस्थामें प्रथम साधना है नाम-साधन। नामकी महिमा भारतवर्षकी भक्त-मण्डलीमें किसीको अविदित नहीं है। वाचक शब्द और वाच्य अर्थमें जिस प्रकार नित्य सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार नाम और नामीमें एक प्रकारका नित्य सम्बन्ध विद्यमान है। वृक्षके बीजके साथ जिस प्रकार वृक्षफलका सम्बन्ध है, उसी प्रकार भगवान्के नामके साथ भगवत्स्वरूपका सम्बन्ध जानना चाहिये। भगवन्नाम प्राकृतिक वस्तु नहीं है, यह अप्राकृत वस्तु है और अचिन्त्य-शक्तिसम्पन्न है। भगवान् जिस प्रकार चिदानन्दमय हैं, उनका नाम भी उसी प्रकार चिदानन्दमय है। परंतु नाममें चिद् और आनन्दकी अभिव्यक्ति नहीं रहती, साधनाके प्रभावसे क्रमशः ये अभिव्यक्ति होते हैं। परंतु वे उसमें पहलेसे ही अव्यक्तभावसे निहित रहते हैं। नाम अनन्त शक्तियोंका भंडार है। जाग्रत् महापुरुषके श्रीमुखसे निकले हुए नामकी तो बात ही क्या, साधारणतः उच्चारित नाममें भी निजशक्ति विद्यमान रहती है। नामदाताकी शक्तिके साथ योग होनेपर नामकी निजी शक्ति आवरणमुक्त होकर उज्ज्वल रूपमें फूट पड़ती है। वैसा न हो तो वह नाम यथार्थ नाम नहीं होता, नामाभासरूपमें ही प्रकटित होता है। नामकी महिमा अनन्त है; नामाभास भी व्यर्थ नहीं जाता, उसका भी सुफल होना अनिवार्य है। वस्तुतः भगवान्का नाम अर्थात् जाग्रत् नाम कोई अपने बलसे कर्तृत्वाभिमानपूर्वक नहीं उच्चारण कर सकता। जिसके ऊपर नामकी कृपा होती है, नाम स्वयं ही उसके कण्ठको अवलम्बन करके ध्वनित हो उठता है। जो स्वतः चैतन्यमय है, उसके लिये बाह्य प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती; परंतु नामाभाससे उच्चारणकर्ताका कर्तृत्वाभिमान रहता है। तथापि दीर्घकालतक विधिपूर्वक गुरूपदेश अथवा आन्तरिक शुद्ध प्रेरणाके अनुसार उच्चारण करते-करते नामाभास भी किसी-किसी भाग्यवान्के कण्ठमें नामरूपमें परिणत होकर अपने-आप ध्वनित हो उठता है।

दीर्घकालतक नियमितरूपमें नाम-साधना करते रहनेसे यथासमय भगवान्की करुणाका उद्रेक होता है, और वे पथप्रदर्शक गुरुके रूपमें नाम-साधक भक्तके सामने आविर्भूत होते हैं। नाम-साधनाके द्वारा चित्त-शुद्धि तथा देह-शुद्धि यथासम्भव अवश्य ही होती है; परंतु जबतक भक्त गुरुदत्त बीजको प्राप्तकर अपने अशुद्धबीज देहको शुद्ध कायामें परिणत नहीं कर पाता, तबतक वास्तविक साधनाका सूत्रपात नहीं हो सकता। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्राकृत शरीरमें भगवत्साधना नहीं होती। प्राकृत शरीर जागतिक विकारके अधीन है, इसके द्वारा अप्राकृत और निर्विकार भगवत्तत्त्वकी साधना सम्भव नहीं है।

बीज-साधनाके फलस्वरूप क्रमशः बीजकी अभिव्यक्ति तथा उसके प्रभावसे मलिन सत्ताको दूर करना सम्भव हो जाता है। पांचभौतिक उपादानोंका आश्रय लेकर उनसे अनुस्यूत जो हमारा अशुद्ध शरीर विद्यमान है, उसका जबतक संस्कार नहीं होता, तबतक उसके लिये प्रकृत साधन-मार्गमें प्रविष्ट होना दुष्कर है। गुरुदत्त साधनाके फलस्वरूप भूत और चित्त शुद्ध अवस्था धारण करते हैं; अतएव पूर्वस्थित अशुद्ध शरीर

विगलित हो जाता है और अपने-अपने भावके अनुसार एक अभिनव शरीरका आविर्भाव होता है। यह स्वभावका शरीर होता है, इसीका पारिभाषिक नाम है—'भावदेह'। यह देह निर्मल, अजर और अमर होता है तथा क्षुधा-पिपासा, काम-क्रोध प्रभृति प्राकृतिक धर्मोंसे वर्जित होता है। इस भावदेहको प्राप्तकर भक्त प्रवर्तक-अवस्थासे साधक-अवस्थामें उपनीत होता है। साधारणत: जगत्‌में जिसको साधना कहते हैं, वह प्रकृत साधना नहीं है। स्थूल देहमें अभिनिवेश या तादात्म्यबोधके रहते हुए कोई भी साधना क्यों न की जाय, वह अकृत्रिम स्वाभाविक साधनाके रूपमें परिगणित नहीं हो सकती। भावका साधन ही यथार्थ साधन है। अभावके शरीरमें भावकी साधना नहीं हो सकती। अतएव प्रवर्तक-अवस्थामें अभावके शरीरको भावके शरीरमें परिणत करनेकी चेष्टा करनी पड़ती है। नाम और मन्त्र—ये प्रारम्भिक चेष्टामें सहायक होते हैं।

जिन्होंने भक्तितत्त्वका अनुशीलन किया है, वे जानते हैं कि क्रियारूपा भक्ति क्रमश: फलरूपा भक्तिमें पर्यवसित होती है। प्रवर्तक-अवस्थामें जो कुछ किया जाता है, वह क्रियाभक्तिके ही अन्तर्गत है। कोइ-कोई इसे साधन-भक्ति भी कहते हैं। परंतु वास्तविक साधन-भक्ति यह नहीं है, यह कृत्रिम साधन-भक्ति है; क्योंकि प्राकृत-देहाभिमानके रहते हुए प्रकृत साधन-भक्तिका उदय नहीं हो सकता। जिस नवधा भक्तिकी बात भक्तलोग कहते हैं, तथा भक्त-सम्प्रदायमें जिसका साधन देखनेमें आता है, वह भी वस्तुत: प्रवर्तक-अवस्थाका ही व्यापार है। इन सभी अनुष्ठानोंके पीछे केवल देहात्मबोधमूलक कृत्रिम अहंभावकी क्रीडा विद्यमान रहती है। भाव कैसे उदित होता है, इसकी आलोचना करते समय आचार्योंने कहा है कि भावका प्रथम आविर्भाव कर्म अथवा कृपासे लक्षित होता है। कर्मसे अर्थात् कृत्रिम साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते साधन-भक्ति भावभक्तिके रूपमें परिणत हो सकती है। परंतु कहीं-कहीं पूर्ववर्ती साधनके लक्षित न होनेपर भी भावभक्तिका उदय होते देखा जाता है, ऐसे स्थलमें कृपाको ही मूल कारण मानना पड़ता है। यह कृपा साक्षात् भगवान्‌की भी हो सकती है अथवा सिद्ध भगवद्भक्तकी भी। कुछ लोगोंकी यह भी धारणा है कि भक्तिके कार्य-कारणभावका विचार करनेपर कृत्रिम भक्ति-साधनाको कहीं भी भक्तिका वास्तविक कारण नहीं माना जा सकता। वह क्षेत्र-विशेषमें भक्तिकी यथार्थ कारणरूपा भगवत्कृपा अथवा भगवद्भक्तकी कृपाकी अभिव्यंजिका है, इसलिये उसका कारणरूपमें ग्रहण होता है।

भक्ति ह्लादिनी शक्तिकी एक विशेष वृत्ति है। ह्लादिनी शक्ति महाभावस्वरूपा है। अतएव शुद्ध भक्ति स्वरूपत: महाभावका अंश है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतएव भावरूपा भक्ति चाहे साधनपूर्वक हो अथवा कृपापूर्वक, वह वस्तुत: महाभावसे ही स्फुरित होती है। अतएव कृत्रिम साधन-भक्तिकी प्रयोजनीयता स्वीकार करनेपर भी, भावके उदयको सभी साधनद्वारा दुष्प्राप्य मानते हैं। कृत्रिम साधनाके मूलमें जीव रहता है; परंतु भक्ति जीवका स्वभावसिद्ध धर्म नहीं है; क्योंकि महाभाव अथवा भाव ह्लादिनी शक्तिकी वृत्ति होनेके कारण स्वरूपशक्तिके विलास तथा भगवत्स्वरूपके साथ संश्लिष्ट है। जीव कर्म कर सकता है, परंतु भावको प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि वह स्वरूपत: भावमय नहीं है। कर्म करते-करते भाव-जगत्‌से उसमें भावका अनुप्रवेश हुआ करता है।

इस प्रकार भावका उदय भावजगत्‌की प्रेरणासे होता है। मायिक शरीर भावग्रहणके लिये उपयोगी नहीं होता; अतएव इस देहमें भावका आविर्भाव नहीं होता। भावका आविर्भाव होता है भाव धारण करनेयोग्य आधारमें। यह आधार शुद्ध देह या भावदेहके नामसे परिचित है। अशुद्ध देह साधनाके प्रभावसे शुद्ध होकर अन्तमें भावदेहके रूपमें प्रकट होता है। पांचभौतिक प्राकृत देहका अवलम्बनकर यदि भावका विकास हो तो भावदेह मिश्ररूपमें अवस्थित हो सकता है। इस अवस्थामें वह अपने पृथक् स्वरूपमें कार्य करता रहता है। अथवा भावके विकासके साथ-साथ प्राकृत देहका त्याग होनेपर, विशुद्ध भावदेह भावजगत्‌में विराजित होता है और वहाँ कार्य करता रहता है। भावके उदयके पूर्व यदि मृत्यु हो, अर्थात् कृत्रिम साधनभक्तिके अनुशीलनके समय बीचमें ही देहत्याग हो जाय तो भाव-जगत्‌में गति प्राप्त नहीं होती। जब भावका उदय होता है, तब समझना चाहिये कि भावदेह कार्य कर रहा है। भावदेहके कार्य करते समय प्राकृत देह जड़वत्, स्थिर तथा नि:साररूपमें पड़ा रहता है। भावकी तीव्रतामें यह अवश्य ही समझमें आ जाता है। यदि भाव उतना तीव्र न हो तो प्राकृत देहमें उसका उतना प्रभाव देखनेमें

नहीं आता। परंतु वस्तुतः वह स्वरूप ठीक-ठीक कार्य करता रहता है, इसमें सन्देह नहीं।

भावदेह प्राकृतदेहके साथ योगयुक्त होनेपर भी प्राकृत देहके अनुरूप नहीं होता। प्राकृत देहमें जिस समय कृत्रिम साधना होती रहती है, उस समय भावका विकास नहीं होता। अतएव इस अवस्थामें बाह्य शास्त्र-वाक्य, बाह्य गुरुवाक्य तथा तदनुसार महापुरुषोंके वचन और तन्मूलक विधि-निषेध प्रभृतिको मानकर चलना पड़ता है। परंतु स्वभावका विकास होनेपर बाहरसे किसी प्रकारकी शिक्षा ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। जिसका जो स्वभाव होता है, वह उसके अनुसार ही चलता है। उस समय स्वभाव ही प्रेरक होता है। उस समय स्वभाव ही गुरु, स्वभाव ही शास्त्र तथा स्वभावका निर्देश ही विधि-निषेध होता है। बाहरसे कोई नियन्त्रण करनेवाला नहीं रहता है। गम्भीर आन्तर राज्यकी नीरवतामें बाह्य जगत्‌की किसी भी वस्तुका कोई स्थान नहीं होता। तथापि वहाँ भी कोई शक्ति अन्तर्यामीरूपसे भीतर रहकर भक्तको परिचालित करती है। इसीको स्वभाव कहते हैं।

भावदेह बाह्य देहके अनुरूप नहीं होता। ऐसा भी हो सकता है कि बाहरसे जो वृद्ध दीख पड़ते हैं, जिनके केश पक गये हैं, दाँत गिर गये हैं और दृष्टि क्षीण हो गयी है, वे अपने भावदेहमें ठीक इसके विपरीत हों। हो सकता है कि उनका भावदेह उज्ज्वल, ज्योतिर्मय, किशोरवयस्क, सर्वांगसुन्दर और माधुर्यमय हो। बाह्यदेहके साथ भावदेहका कोई योग नहीं होता। अवश्य ही यह प्रथमावस्थाकी बात कही गयी है। आगे चलकर योग प्रतिष्ठित हो सकता है। यह स्वतन्त्र विषय है। भक्त शुद्ध वात्सल्यभावका साधक हो, अथवा सख्य, दास्य या उज्ज्वल भावका, उसका भावदेह तदनुरूप ही होगा। स्वभावसिद्ध देहके स्वभावका आश्रय लेकर स्वभावकी साधना चलती है। यदि कोई मातृभावका साधक हो तो स्पष्ट ही देखनेमें आयेगा कि उसका भावदेह ठीक शिशुके आकारका हो जाता है। आकृति और प्रकृति परस्पर अनुरूप ही हुआ करती हैं। जो प्रकृतितः अर्थात् स्वभावतः शिशु हैं, और इस शिशुभावसे ही 'माँ-माँ' कहकर पुकारते हैं, वे आकृतिसे भी शिशु क्यों नहीं होंगे? उनका बाह्य शरीर जरा-जीर्ण होनेपर भी उनका भावदेह शिशु ही रहता है, इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है! शिशुको जिस प्रकार शिक्षा नहीं दी जाती कि वह किस प्रकार माँको पुकारे अथवा माँके साथ व्यवहार करे—वह अपने स्वभावके द्वारा ही नियमित होता है, ठीक उसी प्रकार जो भक्त भावदेहमें शिशु हैं, उसे मातृभक्ति सिखानी नहीं पड़ती। वह स्वभावकी सन्तान है, स्वभाव ही उसको परिचालित करता है। वह अपने-आप जो करेगा, वही उसका भजन है। रागात्मिका भक्तिमें बाह्य शास्त्र या बाह्य नियमावलीकी आवश्यकता नहीं होती।

जगत्‌में अनन्त भाव विराजित हैं। महाभावके एक होनेपर भी खण्डभाव असंख्य हैं। प्रत्येक भावकी विशेषता है, और उसकी एक सार्थकता होती है। एक भावके साथ दूसरे भावकी शबलता अथवा सांकर्य भावसाधकके लिये निषिद्ध है। स्वभावके मार्गसे इसके होनेकी सम्भावना नहीं रहती। परंतु जो लोग कृत्रिम भावकी भावनाके द्वारा भावसाधनाके मार्गमें अग्रसर होते हैं, उनसे भूल या भ्रान्तिका होना अनिवार्य है। वस्तुतः यह अकृत्रिम साधनाका कृत्रिम अभिनय मात्र है। एक वृक्षके हजारों पत्तोंमें जिस प्रकार साम्यके होते हुए भी प्रत्येक पत्तेमें एक विशेषता रहती है, उसी प्रकार प्रत्येक भावमें भी एक विशेषता होती है। भावको मर्यादा दिये बिना भावसाधनामें कोई अग्रसर नहीं हो सकता। बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य जिस प्रकार पृथक्-पृथक् होते हैं, तथा उनका आचरण और तन्मूलक व्यक्ति आदिमें भी पृथक्-पृथक् होते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक भावके अंगोपांग और विलास भी पृथक्-पृथक् होते हैं। अतएव भावके प्रति बाहरसे कोई निर्देश नहीं दिया जा सकता। भावसाधकके लिये गुरु-आज्ञाकी आवश्यकता नहीं। उसके अन्तःस्थित भावकी प्रेरणा ही उसको परिचालित करनेके लिये पर्याप्त होती है।

एक भावके साथ दूसरे भावका व्यक्तिगत भेद तो है ही, इसके सिवा उनमें गुणगत तथा मात्रागत भेद भी रहते हैं।

भावका विकास ही प्रेम है। भावसाधना करते-करते स्वभावतः ही प्रेमका आविर्भाव हो जाता है। जबतक प्रेम उदय नहीं होता, तबतक भगवान्‌का अपरोक्ष दर्शन नहीं हो सकता; भावके उदयके साथ-साथ आश्रयतत्त्वकी अभिव्यक्ति होती है। परंतु जबतक प्रेमका उदय नहीं होता, तबतक विषयतत्त्वका आविर्भाव नहीं हो सकता। यद्यपि भाव अथवा प्रेम एक ही वस्तु है, तथापि अपक्व और पक्वभेदसे दोनों अवस्थाओंमें

कुछ पार्थक्य है। भावजगत्में प्रवेशके साथ-साथ भक्त अपनेको अर्थात् अपने विशिष्ट स्वरूपको प्राप्त होता है। उसके पश्चात् साधनाका और अधिक विकास होनेपर भक्तिका विषयभूत भगवत्-स्वरूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। भाव जिस प्रकार अनन्त है, उसी प्रकार भगवत्स्वरूप भी अनन्त है; तथा प्रत्येक भावके साथ जिस प्रकार भक्तका अपना स्वरूप संश्लिष्ट रहता है, उसी प्रकार उसके अनुरूप भगवत्-स्वरूप भी सम्बद्ध रहता है। जबतक प्रेमकी अभिव्यक्ति नहीं होती, इष्ट भगवत्-स्वरूपका अविर्भाव नहीं होता।

बात यह है कि प्रवर्तक-अवस्थामें दो आवरण अभिन्नरूपमें विद्यमान रहते हैं। इन दोनों आवरणोंमेंसे एक तो प्रमाताके निजी स्वरूपको आच्छन्न किये रहता है और दूसरा प्रमेयके स्वरूपको आच्छन्न करता है। प्रवर्तक-अवस्थाके अन्तमें भावदेहके विकासके साथ-साथ प्रथम आवरण कट जाता है, परंतु दूसरा आवरण तब भी रहता है। अर्थात् भक्त अपने भावदेहमें जाग उठनेपर ही इष्ट वस्तुको नहीं प्राप्त होता। जबतक भावका विकास नहीं होता, तबतक पूर्वोक्त प्रमेयका आवरण उन्मुक्त नहीं होता। भावके विकाससे ही अनुसन्धान और अन्वेषण आरम्भ होता है तथा प्रमेयका आवरण कट जानेपर अन्वेषण भी समाप्त हो जाता है, क्योंकि तब प्राप्ति हो जाती है। यही प्रेमकी अवस्था है। भावमें प्रवेशके साथ-साथ अभावके जगत्से ज्योतिर्मय भावजगत्में प्रविष्ट होनेपर अपना एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हो जाता है। तब उसी स्थानसे इष्ट वस्तुका अन्वेषण चलने लगता है। इस प्रकार अन्तर्जगत्में क्रमश: अधिकतर गुह्य स्थान प्राप्त होते-होते चरम अवस्थामें अन्तरतम विन्दुमें प्रवेश प्राप्त होता है। तब इष्टका स्वरूप उन्मुक्त हो जाता है और भक्तको भगवत्साक्षात्कार सिद्ध होता है। अन्तर्जगत्में प्रवेशके पश्चात् जगत्के अन्तिम विन्दुतक अनवच्छिन्न भावसे अग्रसर होना पड़ता है। इसीका नाम है साधनका क्रम-विकास। आवर्त्त-क्रमसे वृत्तके मध्यविन्दुमें स्थिति प्राप्त करनेपर बहिर्जगत् और अन्तर्जगत्का भेद दूर हो जाता है। तब साधनाकी परिसमाप्ति हो जाती है। इसीका नाम रसका उदय है। इसको भक्त महाजनोंने सिद्धावस्थाके नामसे निर्देश किया है।

अबतक जो कुछ कहा गया है, उससे धामतत्त्वका स्वरूप कुछ-कुछ समझा जा सकता है। भावके विकासके पहले धामतत्त्व अभिव्यक्त नहीं हो सकता। जबतक कायाका विकास नहीं होता, तबतक उस कायाकी स्थिति और क्रियाके लिये उपयोगी धामका आविर्भाव कैसे होगा? भाव-विरहित भक्त बहिरंग होनेके कारण धामके बाहर रहनेके लिये बाध्य होता है। इसीसे प्रवर्तक-अवस्थामें धाममें प्रवेश प्राप्त नहीं होता है। धाममें प्रवेश प्राप्त करनेके लिये शुद्ध भावदेह आवश्यक होता है। अभावका देह अर्थात् मायिक देह अथवा अज्ञानमय देह भगवद्धाममें प्रविष्ट होनेका अधिकार नहीं पाता। जबतक इस देहका त्याग करके शुद्ध देह ग्रहण नहीं किया जाता, तबतक धाममें प्रवेश नहीं किया जा सकता। मायिक देहका त्याग होनेपर ही धाममें प्रवेश हो जायगा, ऐसी बात नहीं; क्योंकि ऐसी अवस्था भी है, जब मायिक देह निवृत्त हो जाता है, फिर भी विशुद्ध भावदेहकी प्राप्ति नहीं होती। यह कैवल्यकी अवस्था है। इस अवस्थामें भगवद्धाममें प्रवेशकी सम्भावना नहीं होती, क्योंकि यह विदेह स्थिति है। भक्तलोग इसे कैवल्यके नामसे निर्देश करते हैं। केवली जीव भगवद्धामके बाहर विशाल प्रान्तरमें सुप्तवत् विद्यमान रहता है। यह मायातीत अवस्था होते हुए भी वस्तुत: पाशविक अवस्था है। इस अवस्थामें भगवद्धाममें प्रवेशका अधिकार नहीं मिलता। एक-मात्र भगवदनुगृहीत जीव ही धाममें प्रवेश कर सकते हैं, दूसरे नहीं।

भगवद्धाम एक होनेपर भी भावके अनुसार अनन्त है। कुण्ठाहीन होनेके कारण वैष्णवलोग इस धामको व्यापी वैकुण्ठ कहते हैं। यह विशुद्ध सत्त्वमय है। अत: प्राकृतिक रजस, तमस तथा मलिन सत्त्व इस स्थानमें कार्य नहीं कर सकते। जिस कालके प्रभावसे प्राकृतिक जगत्की सृष्टि, स्थिति, संहार और नाना प्रकारके परिणाम संघटित होते हैं, वह काल भगवद्धाममें कार्य नहीं कर सकता। उस स्थानमें भी एक प्रकारका काल होता है। वह कालातीत काल है। वह भगवान्का लीला-सहचर है और वह भगवदिच्छाका अनुवर्ती होकर कार्य करता रहता है। ज्योतिर्मय विशुद्ध सत्त्व भगवद्धामका उपादान है। उस धाममें लीलाकी उपकरणभूत अनन्त वस्तुएँ—भोग्य, भक्त और भगवान्के लीलाविग्रह, सभी विशुद्ध सत्त्वसे रचित होते हैं; यही आगम-शास्त्रोंके विन्दुका स्वरूप है तथा इस धामका नाम है—'वैन्दव जगत्।' विशुद्ध सत्त्व मायासे सर्वांशमें विलक्षण

है। अर्थात् माया अशुद्ध है और यह शुद्ध है। अतएव माया अनादि और सान्त है, परंतु विशुद्ध सत्त्व आदि और अनन्त है। भगवद्धाम और भगवद्विग्रह तथा भक्तका निजी विग्रह—सभी अन्तहीन हैं।

भाव स्थायी और संचारी भेदसे दो प्रकारका होता है, यह पहले कहा जा चुका है। संचारी भाव आविर्भूत होकर कार्य करके तिरोहित हो जाता है। परंतु स्थायी भाव तिरोहित नहीं होता। वस्तुतः यही स्वभाव है। संचारी भावसे रसास्वादन नहीं हो सकता; परंतु स्थायी भावसे रसास्वादनकी सम्भावना होती है। संचारी भाव भाव-देह प्राप्त करनेके पहले भी जीव हृदयमें कार्य करता रहता है; परंतु वह बीजशक्तिसम्पन्न नहीं होता, अतएव उससे फलोद्गमकी सम्भावना नहीं होती। वास्तविक भक्त वही है, जो भावकी संचारी अवस्थासे स्थायी अवस्थामें पहुँच सकता है। इसके लिये भक्तलोग नाम और मन्त्रसाधनाकी उपयोगिता स्वीकार करते हैं। स्थायी भाव वस्तुतः भावदेहका भी नामान्तर है। भावके विकासके साथ-साथ हृदयमें प्रवेश प्राप्त होता है। यह अन्तरंग हृदयकमल अष्टदलोंसे विभूषित है, इसलिये स्थायी भाव भी मूल अष्टभावमें विवर्तित होकर प्रकाशित होता है। इस अष्टदल* कमलका एक-एक दल एक-एक भावका स्वरूप है। भावमें प्रविष्ट होकर उसे महाभावमें परिणत करना पड़ता है। यही भावसाधना-का रहस्य है। वस्तुतः महाभाव ही भावसाधनाका लक्ष्य है; परंतु महाभावमें पहुँचनेके लिये, भाव कुछ मध्यवर्ती अवस्थामें होते हुए प्रस्फुटित होता जाता है। इसकी आलोचना क्रमशः की जायगी। जिन आठ अंगरूपी भावोंकी बात कही गयी है, आलंकारिक लोग उनका अपनी-अपनी परिभाषाके अनुसार नामकरण करते हैं; परंतु भावका साधक अपनी दृष्टिभूमिसे उनको प्राप्त हो सकता है, उसके लिये दूसरोंकी दृष्टिभूमिका अवलम्बन करना आवश्यक नहीं होता। वास्तवमें तो प्रत्येक भक्तको इन आठों भावोंको एक-एक करके जगाना पड़ता है, नहीं तो जिस किसी भावको उसके चरम विकासकी अवस्थापर्यन्त अभिव्यक्ति (स्फुटित) नहीं किया जा सकता। कमलके विकासके लिये जिस प्रकार एक ओर जलपूर्ण सरोवर और उसके साथ पृथ्वीकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार दूसरी ओर ज्योतिर्युक्त तेजोमण्डल तथा उसके साथ आकाश भी आवश्यक होता है। नीचे रस और ऊपर रविकिरण—इन दोनोंका एक साथ संयोग होनेपर कमल स्फुटित होता है, अन्यथा स्फुटित नहीं हो सकता। भावके विकासके लिये भी उसी प्रकार एक ओर लक्ष्योन्मेषरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप चिदाकाशमें स्थित सूर्यमण्डल आवश्यक होता है, और दूसरी ओर रसोद्गमका मूल कारण स्थायी भाव आवश्यक होता है; क्योंकि संचारी भावका विकास नहीं होता, स्थायी भावका ही विकास होता है।

भावके विकासके पहले तदुपयोगी क्षेत्र निर्माण होता है। नाम-साधनाके बाद तथा मन्त्रसाधनाकी समाप्तिके पहले धीरे-धीरे यह क्षेत्र तैयार होता रहता है। तैयार होनेके समय यह लक्षित नहीं होता; परंतु पीछे दृष्टिके उन्मेषके साथ-साथ यह दिखलायी देने लगता है। तब यह समझमें आ जाता है कि कब और किस ढंगसे उसकी रचना हुई है। यह क्षेत्र ही वस्तुतः एक कुण्ड या सरोवर है, परंतु इसमें सन्देह नहीं कि यह जलहीन सरोवर है। जबतक लक्ष्योन्मेष नहीं होता, तबतक खेचरीभाण्ड अथवा अमृतभाण्डसे अमृत-क्षरण नहीं होता, लक्ष्योन्मेषके साथ-साथ अमृत-क्षरण प्रारम्भ हो जाता है। तब पूर्वोक्त शुद्ध कुण्ड सलिलपूर्ण सरोवरके रूपमें शोभायमान होता है। किसी-किसी रहस्यविद् भक्तने इसको काम-सरोवरके रूपमें वर्णन किया है 'काम' से यहाँ अभिप्राय शुद्ध प्रेमसे है। परंतु वस्तुतः वह तब भी प्रेमरूपमें परिणत नहीं होता। उपर्युक्त लक्ष्योन्मेष भी कामसूर्यका ही उदय है। कामकला-तत्त्वके जाननेवाले इसे विशेषरूपसे जानते

* यह गुप्त कमल है, षट्चक्रके अन्तर्गत हो द्वादशदलरूपी हृदयकमल है, उससे यह पृथक् है; क्योंकि द्वादशदलका भेद करनेके बहुत पीछे आज्ञाचक्रका भेद करनेपर अन्तर्लक्ष्यकी प्राप्ति होती है। परंतु जबतक लक्ष्योन्मेष नहीं होता, अष्टदलमें प्रवेश प्राप्त नहीं होता। इसी कारण मध्ययुगके बहुतेरे संत अष्टदलको एक प्रकारसे सहस्रदलके साथ अभिन्न समझते थे, तथा कोई-कोई इसको सहस्रदलके अन्तर्गत मानते थे। वस्तुतः इस अष्टदलको यदि भावराज्य मान लें तो प्रचलित द्वादशदलको भावका आभास समझा जा सकता है। इससे ज्ञानके बाद भक्ति होती है या भक्तिके बाद ज्ञान होता है—इस प्रश्नका समाधान हो जायगा। द्वादशके बाद लक्ष्यका उन्मेष होता है, यह प्रचलित सिद्धान्त है। इस मतसे भक्तिके बाद ज्ञानका उदय होता है। परंतु वस्तुतः लक्ष्य-उन्मेषके बाद जिस भाग्यवान् भक्तको अष्टदलकी प्राप्ति होती है, उसकी दृष्टिमें ज्ञानके बाद ही भक्तिका स्थान है—यह स्वीकार करना ही होगा। भक्तिके दो भेद हैं—अपरा और परा भक्ति, अथवा साधन और साध्यभक्ति। इसे समझ लेनेपर उपर्युक्त विरोधका समन्वय सहज-साध्य हो जायगा।

है। भाव-सरोवरमें पहले भाव कलिकाके रूपमें प्रकट होता है। पश्चात् सूर्यकी किरणें उसे प्रेमकमलके रूपमें विकसित कर देती हैं। जब भावका विकास होता है अर्थात् कमल प्रस्फुटित हो जाता है, तब वह सरोवरसे ऊपर उठ आता है; वह फिर सरोवरमें नहीं रहता। एक नाल अथवा मृणालके द्वारा सरोवरके साथ उसका केवल सम्बन्ध रह जाता है। यह नाल भी जब छिन्न हो जाता है, तभी वस्तुतः भावमें प्रवेश प्राप्त होता है। अबतक जो हुआ था, वह सब आभासमात्र था। अन्तर्जगत्में प्रवेशके पश्चात् आभासके त्यागके साथ-साथ सत्यरूपमें अष्टदलकी प्राप्ति होती है। इस अष्टदलकी रचना अति अद्भुत होती है। अष्टदलकी कर्णिकाके रूपमें जो विन्दु है, वही अष्टदलका सार है। उसीका दूसरा नाम है 'महाभाव'। वस्तुतः अष्टदल महाभावका ही अष्टधा विभक्त स्वरूपमात्र है; इसे महाभावका कायव्यूह भी कहा जा सकता है। प्रश्न हो सकता है कि महाभाव यदि विन्दु है, तो इन आठ भावोंके साथ उसका क्या सम्बन्ध होगा?' इसका उत्तर यह है कि ये आठ भाव महाभावके स्वगत आठ अंगमात्र हैं। इन आठ अवयवोंकी समष्टि महाभावका स्वरूप है। प्रत्येक भाव महाभावके साथ संश्लिष्ट है। वस्तुतः प्रत्येक भावका जो पूर्ण विकास है, वही महाभाव है। भावसे महाभावकी ओर जानेके दो प्रधान मार्ग हैं। एक आवर्त-क्रमसे और दूसरा साक्षात् तथा सरल रूपसे। आवर्तमार्गका अवलम्बन करते समय प्रदक्षिण अथवा परिक्रमा करके भावसे भावान्तरमें चलते-चलते क्रमशः महाभावमें पहुँचा जाता है। इस मार्गसे महाभावमें उपस्थित होनेपर महाभावका पूर्ण स्वरूप प्राप्त होता है; परंतु आवर्तमार्गसे न जाकर सरल गुप्त मार्गसे भी महाभावमें पहुँचा जाता है। लेकिन इस मार्गसे महाभावका पूर्ण स्वरूप अधिगत नहीं होता। क्योंकि इस मार्गसे विन्दुके साथ केवल उस विशिष्ट दलका ही सम्बन्ध होता है, अन्य दलका सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता।

इस बातको और भी स्पष्ट करके बतलाना है। माता और उसकी आठ सन्तान विद्यमान हैं। माता प्रत्येक सन्तानकी जननी है। अतएव उसका सम्बन्ध आठोंमेंसे प्रत्येकके साथ समानरूपसे है। अतः यह सत्य है कि वह एक है, तथापि उसकी आठ सन्तान हैं। इस प्रकार उसका स्नेह-प्यार आदि प्रत्येक सन्तानके लिये ही प्राप्य होनेके कारण आठ भागोंमें विभक्त हो जाता है। दूसरी ओरसे, सन्तानके लिये एक माताके सिवा दूसरा कोई नहीं है। माता जानती है कि उसकी आठ सन्तान हैं, और प्रत्येक संतान जानती है कि उसकी एक ही माता है। सन्तान यदि अपनेको आठ भाइयोंमेंसे एक मानकर माताको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है तो वह सम्पूर्ण माताको प्राप्त न करके उसके एकदेशको ही प्राप्त करेगा। क्योंकि सम्पूर्ण माताको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य उसमें नहीं है; कारण कि वह अपनेको आठ सन्तानोंमेंसे एक समझता है। यहाँ सम्पूर्ण माताको प्राप्त करनेके लिये उसे आठमेंसे एक न बनकर आठोंके समष्टिरूपमें एक बनना होगा। यह क्रमविकासका मार्ग है, अर्थात् उसकी अगली सन्तानके भावमें तथा उसके आगे उससे अगली सन्तानके भावमें और इस प्रकार क्रमशः भावान्तरमें प्रवेश करते-करते अष्टम सन्तानके भावमें अपनेको प्रस्फुटित कर डालना होगा। तब वह आठ सन्तानोंके समष्टिभूत तथा अष्ट भावोंके प्रतिनिधिरूपमें मध्य विन्दुसे महाभावरूपिणी माताके पास पहुँचनेका अधिकार प्राप्त करेगा। इस प्रकार आधार पूर्ण होनेपर वह पूर्णरूपसे माताको प्राप्त हो सकेगा। यह हुआ एक मार्ग। दूसरी दृष्टिसे यदि सन्तान अपनेको माताकी आठ सन्तानोंमेंसे एक न समझकर केवल अपनेको ही माताकी एकमात्र सन्तान माने तो वह पूर्वोक्त आवर्तमार्गमें पूर्णता प्राप्त नहीं करेगा; उसके लिये तो सरल मार्ग है और वह गुप्त है, इसे चाहे तो योगमायाका मार्ग कह सकते हैं। अर्थात् वह साक्षात्रूपसे अपने स्थानसे ही सरल मार्गद्वारा माताको प्राप्त हो सकता है। उसे विभिन्न सन्तानोंके भावको ग्रहण करके पूर्णताकी प्राप्ति नहीं करनी पड़ेगी। वह जहाँ अवस्थित है, वहींसे माताका दर्शन कर सकता है और माताको प्राप्त हो सकता है। इस मार्गमें उसको बाधा देनेवाला कोई नहीं है, कोई भी प्रतिबन्धक नहीं है। वह जानता है कि एकमात्र मैं ही माताकी सन्तान हूँ। और माता भी जानती है कि वही एकमात्र मेरी सन्तान है। अतएव इस क्षेत्रमें वह माताके पूर्ण स्नेह और प्यारका दावा करता है, और उसे प्राप्त भी कर लेता है। माताके इस स्नेह और प्यारमें उसकी अन्य सन्तानका भाग नहीं होता। अन्य सन्तान इस बातको नहीं जानती और जान भी नहीं सकती। योगमायाके आच्छादनमें माता और सन्तानका यह विचित्र सम्बन्ध और आनुषंगिक लीला प्रकाशित होती है। प्रत्येक सन्तानके लिये यह व्यवस्था एक ही प्रकारकी होती है।

परंतु इसका विकास होनेमें समय लगता है। यहाँ माताको पूर्णरूपसे व्यक्तिगत भावसे प्राप्त होनेपर भी उसे सर्वसन्तानकी जननीके रूपमें समष्टिभावसे पाना नहीं बनता। लीला-आस्वादनकी यह भी एक दिशा है।

इसमें और भी अनेक रहस्य हैं। प्रथम दृष्टान्तमें जो सन्तानके विषयमें उल्लेख किया गया है, उसकी आवर्त-गतिके मूलमें आत्मलोप-अवस्था रहती है, अर्थात् प्रथम अवस्थासे द्वितीय अवस्थामें जानेके साथ-साथ प्रथम अवस्था द्वितीय अवस्थामें परिणत हो जाती है, यह जाननेकी बात है। इस प्रकार आवर्तन पूर्ण होनेपर आगे-आगे परिणतिको प्राप्त होते-होते प्रथम अवस्था ही अष्टम अवस्थामें परिणत हो जाती है, यह जान लेना चाहिये। तब उस अष्टम अवस्थामें पूर्ण विकास प्राप्त हो जानेके पश्चात् माताको पूर्णरूपमें प्राप्त किया जाता है। परंतु इसके सिवा समष्टिप्राप्तिकी एक और भी प्रणाली है; वह आत्मविकास है, आत्मलोप नहीं। उसके फलस्वरूप प्रथम अवस्थामें ही द्वितीय अवस्था आकर लीन हो जाती है, और उसके बाद आत्मविकासके साथ-साथ सारी अवस्थाएँ उसीमें लीन हो जाती हैं। इस प्रकार अष्टम सन्तानके भावके लीन हो जानेके बाद जिस अवस्थाकी अभिव्यक्ति होती है, वही इस मार्गमें समष्टि सन्तानभावकी पूर्ण अभिव्यक्ति है। इसके पश्चात् माताकी प्राप्ति भी तदनुरूप ही होती है। वस्तुतः समष्टि-मार्गके समन्वयके द्वारा ही प्रकृत समष्टि-पथकी प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार व्यष्टिभावकी प्राप्ति भी समझनी चाहिये; क्योंकि व्यष्टिभावमें भी स्वयं माताके आकर्षणसे आकृष्ट होकर माताके समीप जाना तथा अपने आकर्षणसे माताका आकृष्ट होकर आना और सन्तानको गोदमें लेना—ये दो विभिन्न दिशाएँ रहती हैं। व्यष्टिभावमें भी प्रकृष्ट पथ इन दोनों भावोंके समन्वयके ऊपर प्रतिष्ठित है।

इससे यह समझा जा सकता है कि कोई भी व्यक्ति परवर्ती सारी विकासभूमिका—चाहे वह अनुलोम-क्रमसे हो या प्रतिलोम-क्रमसे—अनुभव न करके भी अपने व्यक्तिगत स्थानसे ही महाभावके साथ युक्त हो सकता है। अथवा महाभावको अपने साथ युक्त कर सकता है। लीलाके आस्वादनकी दिशासे व्यक्तिगत दिशाका यह एक वैशिष्ट्य है, इसे मानना पड़ेगा। मूलतः व्यक्तिका व्यक्तित्व यदि स्वीकृत हो तो कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तिके स्थानपर अधिकार नहीं कर सकता; क्योंकि एक व्यक्तिमें जो वैशिष्ट्य होता है, वह दूसरेमें नहीं हो सकता। अतएव क्रमविकासके मार्गसे जानेपर वह व्यक्तिके व्यक्तित्वका मार्ग नहीं होगा—यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। इस स्थलमें व्यक्तित्वकी रक्षा करके ही क्रमविकास मानना होगा। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति, अपने स्वभावमें विद्यमान रहते हुए भी, समष्टिमें आत्मप्रसार कर सकता है। इस प्रकार समष्टिके साथ अथवा उसके एकदेशके साथ उसको तादात्म्यकी प्राप्ति भी हो सकती है; परंतु फिर भी उसका व्यक्तिगत स्वभाव अक्षुण्ण ही रहता है। इस प्रसंगमें यह भी याद रखना चाहिये कि विकासाभिमुख व्यक्तित्वका विसर्जन करनेपर, यद्यपि वह विसर्जन स्थायी नहीं होता, तथापि अनिर्दिष्ट कालके लिये व्यक्तित्वका लय अनिवार्य हो जाता है। भावसे महाभावपर्यन्त लीला-राज्यका विस्तार है। महाभावके साथ भावातीतका योग हुए बिना लीलाका उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। खण्डभावसे भावातीतमें ठीक तौरपर स्थिति प्राप्त नहीं होती। अतएव खण्डभावका महाभावके द्वारा भेद करके ही भावातीतके साथ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है।

प्रचलित दृष्टान्तके द्वारा हम विषयको समझानेकी चेष्टा करते हैं। हमारे परिचित भक्तिशास्त्रोंमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य—इन पाँच मुख्य भक्तिभावोंका वर्णन प्राप्त होता है। प्रत्येक भावका एक वैशिष्ट्य है, यह सभी स्वीकार करते हैं। भावके वैशिष्ट्यके अनुसार एक ओर जिस प्रकार भक्तका वैशिष्ट्य निरूपित होता है, दूसरी ओर उसी प्रकार भावकी परिपक्व अवस्थामें आविर्भूत भगवान्‌का भी वैशिष्ट्य निरूपित होता है। शान्त भक्त जिस प्रकारका होता है, उसके सामने प्रकटित भगवत्स्वरूप भी तदनुरूप ही होता है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि शान्तभक्ति एक है, तथापि उसमें असंख्य प्रकार-भेद हैं—इस बातको भक्त लोग स्वीकार करते हैं। इस प्रकारके भेदोंके अन्तर्गत फिर अवान्तर प्रकार-भेद हैं। जो जितना ही विश्लेषण कर सकेगा, वह उतने ही सूक्ष्म भेद करनेमें समर्थ होगा। परंतु इन समस्त सूक्ष्म भेदोंको मान लेनेपर भी उसके द्वारा व्यक्तित्वकी समस्याका समाधान नहीं होता। क्योंकि भेद चाहे जितने प्रकारके हों, सर्वत्र ही व्यक्तिगत भेदके लिये स्थान रहेगा। अतएव प्रश्न यह है कि एक दृष्टिसे जैसे शान्तभाव अन्यनिरपेक्ष और पूर्ण है, दूसरी

और उसी प्रकार एक दृष्टिसे पूर्ण होते हुए भी दूसरी दृष्टिसे पूर्णताके लिये भावान्तरकी अपेक्षा करता है। शिशुरूपमें शिशु निरपेक्ष पूर्ण होता है; तथापि उसका एक क्रम-परिणाम है, जिसके फलस्वरूप वह बालकरूपमें, किशोररूपमें और युवकरूपमें परिणत होता है। इसी प्रकार शान्तभावरूपमें शान्तभावकी एक निरपेक्ष पूर्णता है, यह सत्य है; परंतु शान्तभावकी परिणतिमें दास्यभावका विकास, दास्यभावकी परिणतिमें सख्यभावका विकास इत्यादि भावोंका क्रमविकास अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक-एक भावके विकासके साथ-साथ एक-एक गुणकी भी अभिव्यक्ति होती है। अतएव इस प्रणालीसे महाभावमें उपस्थित होनेपर सभी सम्भाव्य गुणोंकी पूर्ण अभिव्यक्ति भी प्राप्त हो जाती है। एक-एक भावके अन्तर्गत अवान्तर श्रेणीविभागमें भी इसी प्रकार क्रमविकास निहित है। परंतु मूल प्रश्न यह है कि व्यक्तिका व्यक्तित्त्व इस समस्त विकासमें भी अक्षत रहता है। व्यक्तित्वकी महिमा अतुलनीय है। लीलास्वादनके अन्तर्गत रसवैचित्र्यमें इसका विशिष्ट स्थान है।

शान्तभावके दृष्टान्तस्वरूपमें 'क' और 'ख' को ग्रहण कीजिये। 'क' एक व्यक्ति है और 'ख' एक दूसरा व्यक्ति है। मान लीजिये कि दोनों शान्त भक्त हैं। व्यक्तिभेदके वश 'क' और 'ख' के भाव एक पर्यायके होते हुए भी परस्पर पृथक् हैं। यह जो पार्थक्य है, वह अक्षुण्ण रूपमें चिरकालतक रहता है। अर्थात् शान्तभक्तिके बाद यदि 'क' और 'ख' दोनों दास्य-भक्तिके स्तरमें पहुँचते हैं, तो वैसा होनेपर भी दोनोंका यह व्यक्तिगत वैशिष्ट्य बना ही रहेगा। इस प्रकार माधुर्यपर्यन्त क्रमोत्कर्ष प्राप्त कर लेनेपर भी 'क' 'क' ही रहेगा, वह 'ख' या कोई दूसरा नहीं बन जायगा; और 'ख' भी 'ख' ही रहेगा, 'क' या कोई दूसरा नहीं बनेगा। केवल इतना ही नहीं, माधुर्य भावके अन्तर्गत अवान्तर विभागोंका भेद करके महाभावमें प्रवेश कर लेनेपर भी यह व्यक्तिगत पार्थक्य लुप्त नहीं होगा। इस प्रकार समझना चाहिये कि वृत्तके अन्तर्गत प्रत्येक विन्दु केन्द्ररूपी मध्य-विन्दुमें प्रविष्ट होनेपर तथा उसके साथ अभिन्न होनेपर भी अपने-अपने वैशिष्ट्यकी रक्षा करता है। ऐसा न करनेपर लीलास्वादनका माधुर्य नहीं रहता। एक जिस प्रकार एक रूपमें सत्य है, उसी प्रकार वह अनन्त रूपमें भी सत्य है, क्योंकि वहाँ भी तो वह एक ही तद्रूपमें खेल करता है। एकमें जैसे अनन्त है, वैसे ही अनन्तमें एक है—यही लीलाका रहस्य है।

पहले भी यह कहा जा चुका है कि भाव ह्लादिनी शक्तिके द्वारा वृत्ति-विशेषका नाम है; यही भक्तिका स्वरूप है। परिपक्व अवस्थामें इसीका नाम प्रेम है। यह अनन्त प्रकारका है—यह बात भी जानी गयी। परंतु इस अनन्त प्रकारके प्रत्येक प्रकारमें व्यक्तिगत अनन्तत्व रहता है। उसके बिना लीला या खेल नहीं चल सकता। इस व्यक्तिमें ही स्वातन्त्र्य रहता है और इसी कारण कोई एक व्यक्ति अपने सजातीय अन्य व्यक्तिके समान नहीं होता। कुछ स्वातन्त्र्य अनिवार्य रूपसे उसमें रहता है। स्वरूप-शक्ति और तटस्थ-शक्तिके संयोगसे ऐसा घटित होता है। अर्थात् भक्ति या भाव ही स्वरूप-शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। परंतु उस भक्तिका आश्रय स्वरूपशक्तिकी वृत्ति नहीं, तटस्थ-शक्तिका कार्य है अर्थात् जीव है। अतएव रागात्मिका भक्ति जीवकी नहीं होती। जीवको तो रागानुगा भक्ति ही प्राप्त होती है। अर्थात् भाव-विशेषके जीव-विशेषमें अभिव्यक्त होनेपर उसे जो वैचित्र्य प्राप्त होता है, अन्य जीवमें उसी भावविशेषके अभिव्यक्त होनेपर उसे ठीक वही वैशिष्ट्य नहीं प्राप्त होता। यही व्यक्तित्वकी महिमा है। इसीके कारण लीला लीला है; अन्यथा वह अनुकरणात्मक कृत्रिम अभिनयमात्र होता।

जीवरूपी अणु भावका आश्रय है; परंतु देहके सम्बन्धकालमें जीव अन्तःकरणके साथ विजडित होकर प्रकाशित होता है। चाहे जिस कारणसे हो, सांसारिक अवस्थामें जीव और अन्तःकरण तादात्म्यसूत्रमें आबद्ध हैं। अतएव भावका अवतरण जीवमें होनेपर भी वह प्रथम अवस्थामें अन्तःकरणकी वृत्तिके रूपमें प्रतिफलित होता है; परंतु वस्तुतः वह अन्तःकरणकी वृत्ति नहीं है, अन्तःकरणमें प्रतिफलित होकर वह समस्त देहको अनुप्राणित करता है। लौकिक भावका यही नियम है। परंतु प्रवर्तक अवस्थामें देह और अन्तःकरण शुद्ध होनेपर जब उसके बाद स्वभावका विकास हो जाता है, तब इस प्रकार स्थूलदेहके साथ सांकर्य सम्भव नहीं होता; क्योंकि उस समय यह भाव स्थूलदेहसे पृथक् भावदेहके रूपमें अभिव्यक्ति होता है। यह भावदेह भावरूपी या शुद्ध सत्तात्मक कार्य एवं चिद्गुणस्वरूप जीवरूपी प्राण—इन दोनोंका सम्मिलितस्वरूप है।

भाव अथवा भक्तिसाधनाकी चरम परिणतिमें एक ओर रसकी अभिव्यक्ति होती है और दूसरी ओर

महाभावका विकास होता है। रसका जो विशुद्धतम और पूर्णतम स्वरूप है, उसकी प्राप्ति अथवा उपलब्धि महाभावके विकासके बिना नहीं हो सकती। परंतु महाभावका विकास भावकी विशिष्ट अभिव्यक्तिके ऊपर निर्भर करता है। भावके नाना प्रकारके भेद हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। इन समस्त भेदोंके अन्तर्गत एक पारस्परिक क्रमानुगत सम्बन्ध है—यह भी ठीक है और प्रत्येक भाव स्वतन्त्र और परस्पर निरपेक्ष है—यह भी सत्य है। सृष्टिकालीन जीवके स्वरूपगत वैशिष्ट्यके कारण इस प्रकारका भेद होता है।

भाव-क्रम-विकासके फलसे हो या अक्रमविकासके फलसे—शान्तसे मधुरमें परिणाम प्राप्त हुए बिना, अथवा स्वभावसिद्ध मधुरभावके हुए बिना, भावसे महाभावके मार्गको प्राप्त होनेकी संभावाना नहीं रहती। मधुरभावके प्राप्त होनेपर भी, यदि प्रतिबन्धक दूर न किया जा सके तो भावकी गति विकासके मार्गसे महाभावतक नहीं पहुँचती; क्योंकि मधुर भावमें सामंजस्य और साधारणत्व प्राप्त न हो तो उसमें सामर्थ्यका उदय नहीं होता। इसका विशेष विवरण पीछे किया जायगा।

भाव-साधनाकी दो दिशाएँ हैं। एकमें गुणवृद्धिके साथ-साथ शान्तसे दास्य, दास्यसे वात्सल्य इत्यादि क्रमपूर्वक पूर्ण गुणोदयके साथ माधुर्यका विकास होता है। ठीक इसी प्रकार माधुर्य प्राप्त करके सामंजस्य और साधारणत्वका परिहार करना आवश्यक होता है। उसके पश्चात् इसीके अनुरूप साधनक्रमका ठीक-ठीक अवलम्बन करनेपर महाभावकी ओर अग्रसर होना सम्भव होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि व्यक्तिविशेषमें कृपादि निमित्तसे अथवा स्वभावतः उत्कर्ष विद्यमान रहनेपर उपयुक्त साधन-क्रमका गुरुत्व बहुत कुछ कम हो जाता है। दूसरी दिशामें, गुण-वृद्धिकी चेष्टा न करके अपने गुणमें आबद्ध रहना तथा अपनी भूमिमें रहते हुए भी भावको प्रेममें परिणत करनेकी चेष्टा करनी पड़ती है। शान्तभाव शान्त रहते हुए ही प्रेममें परिणत हो सकता है। इसके लिये दास्यभावमें अथवा तदनुरूप अन्य भावमे विकास आवश्यक नहीं होता। प्रेमावस्थापर्यन्त भावकी परिपक्वता होनेपर भावके विषयभूत श्रीभगवान्के दर्शनोंकी प्राप्ति प्रत्येक भावके द्वारा ही हो सकती है। उसके लिये भावान्तरका आश्रय आवश्यक नहीं होता। परंतु यह सत्य है कि भगवान्के दर्शन होनेपर भी तथा भविष्यमें रसकी अभिव्यक्ति और लीलामें अधिकार होनेपर भी उसे एक ही भावकी सीमामें बँधे रहना पड़ेगा।

पहले जिस अष्टदल कमलकी बात कही गयी है, वह बाह्य और आन्तर-भेदसे दो प्रकारका समझना चाहिये। आभ्यन्तरीण कमल 'विन्दु' स्वरूप होता है, और बाह्य कमल इस विन्दुकी आठ दिशाओंके आठ दलोंकी समष्टि होता है। इस बाह्य कमलको भावराज्य ही समझना चाहिये, इसमें निरन्तर आठ भावोंका खेल चल रहा है। वस्तुतः ये मौलिक अष्टभाव ही अष्टकालीन लीलाके कालातीत आठ विभाग हैं। प्राकृतिक नियमोंसे इन आठ दलोंकी परिक्रमा पूर्ण कर लेनेपर मध्यविन्दुमें प्रवेश प्राप्त होता है। मध्यविन्दु माधुर्यमय है। मध्यविन्दुका विश्लेषण करनेपर देखा जाता है कि वह भी स्थूलतः आठ भागोंमें विभक्त है। इन आठ भागोंमेंसे प्रत्येक भाग मध्यविन्दुका अवयव ही है जिसे 'कला' कहा जाता है। इन आठ कलाओंका नाम है 'अष्टसखी'। कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि इनमें भी बाह्य और आभ्यन्तर भेद है। इन अष्टभावोंका जो निष्कर्ष या निर्यास है, वह यथार्थ महाविन्दु अर्थात् महाभाव है। महाभावमें भी उत्कर्षगत तारतम्यके भेदसे विकासको अवसर रहता है। इस विकासकी जो चरम परिणति है, उसीको वैष्णव शास्त्रोंमें, विशेषतः अन्तरंग महापुरुषोंकी अनुभूतिमें 'श्रीराधा-तत्त्व' नामसे वर्णन किया गया है। भाव-साधनाके फलस्वरूप जीव बाह्य अष्टदलोंके प्रथम दलसे आवर्तित होते-होते क्रमशः महाभावके चरम विकासतक पहुँच सकता है। उस समय पूर्णतम रसकी उपलब्धिमें पूर्णतम मिलन और सामरस्य होता है। बाह्य अष्टदल तथा अष्टकलारूपी भीतरके अष्टदल—इन दोनोंके बीच असंख्य अवान्तर स्तर हैं। जिस रसके विषयमें कहा गया है, उसकी अभिव्यक्ति भावराज्यमें सर्वत्र ही हो सकती है; परंतु भावके अन्तर्मुखी विकासकी आवश्यकता अवश्य ही स्वीकार करनी होगी। अर्थात् यदि कोई भाव अपने स्वरूपमें विशुद्ध रूपसे स्थित हो तो उसके प्रेमरूपमें परिपक्व होनेपर साथ-ही-साथ, अपने स्वभावके अनुसार, भगवान्के दर्शन और रसकी उपलब्धिके क्रमसे, तदनुरूप लीलारसका आविर्भाव हो सकता है। परंतु इस रसका पूर्णत्व और मधुरत्व तभी सम्भव है, जब भावोंकी गुणवृद्धिसे होनेवाले एवं अन्यान्य प्रकारके विकास भी सम्पन्न होते रहें।

प्राणायाम

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

यमाद्यष्टाङ्गयोगेद्धब्रह्ममात्रप्रबोधतः ।
योगिनो यत्पदं यान्ति तत्कैवल्यपदं भजे॥

प्राणायाम अष्टांगयोगका एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस अष्टांगयोगका प्रचार हिंदू-संस्कृतिके संचालक महर्षियोंने युगारम्भसे ही किया है। सत्ययुगमें पारमार्थिक कल्याण चाहनेवालेकी संख्या भारतवर्षमें अत्यधिक थी। उस समय सामान्य जनताका जीवन भी संयमशील था। मनका संयम और इन्द्रियोंका दमन करनेकी शिक्षा दी जाती थी। संयम न रखनेवाला समाजमें पतित माना जाता था। लोग व्यावहारिक छल-प्रपंचसे सर्वांशमें मुक्त थे। उनका जीवन सत्य-सदाचारमय था। धर्मशास्त्रकथित चार वर्ण और चार आश्रमोंका पालन आग्रहपूर्वक किया जाता था।

सत्ययुगकी जनताके जीवनमें सत्य, सदाचार और संयम स्वाभाविक होनेसे अष्टांगयोगका अभ्यास विधिवत् होता था। सद्गुरुका जीवन भी परोपकारपरायण होता था। इससे शिष्योंका अभ्यास निर्विघ्न चलता रहता था। दुष्ट प्रारब्धसे या भ्रम-प्रमादवश यदि कुछ हानि पहुँचती तो सद्गुरु अपने मानस बलसे तुरंत उसे सम्हाल लेते थे और शिष्योंका अभ्यास पूर्ण होनेपर उन्हें घर जानेकी अनुमति देते थे।

सत्ययुगके पश्चात् त्रेतायुगमें जन-समाजमें सत्य, सदाचार और संयमकी मात्रा कुछ कम हुई। सत्य-सदाचारादिके पालन करनेवाले तो बहुत थे और आज कलिमें भी हैं, किंतु सत्य पालन करनेवाले संयमशील मनुष्योंकी संख्या कम हो गयी थी। त्रेतायुगकी अपेक्षा द्वापरमें सत्य-सदाचारयुक्त संयमशीलोंकी संख्या और कम हुई और कलिमें इससे भी बहुत कम हो गयी। इस समय कलियुगके लगभग ५००० वर्ष व्यतीत हुए हैं, इतनेमें ही वर्तमानके कंट्रोल-कानूनकी कृपासे तो सत्य भारतवर्षके कोने-कोनेसे प्रायः विदा होता जा रहा है!

सत्य, सदाचार और संयमका ज्यों-ज्यों ह्रास होता गया, त्यों-ही-त्यों अभ्यास करनेवालोंकी संख्या कम होती गयी। इस समय योगाचार्योंकी शिष्य-परम्परा छिन्न-भिन्न हो गयी है। योगाभ्यासकी इच्छावाले मुमुक्षु सद्गुरुकी प्राप्तिके लिये चारों ओर पत्र-व्यवहार करते रहते हैं। कई मुमुक्षुजन स्वार्थी, अपूर्ण ज्ञानवाले योगाभ्यासीके कथनानुसार अभ्यास करके रोगपीड़ित हो गये हैं। उपनिषदोंमें वर्णित या भगवान् पतंजलिकथित समाधिप्राप्त योगी इस युगमें भी कहीं होंगे, किंतु वे साधारण जनसमाजके परिचयमें नहीं हैं। साधारण जनताको अपूर्ण ज्ञानवालोंके आश्रयसे ही योगाभ्यास करना पड़ता है। ऐसी स्थितिमें प्राणायामका अभ्यास करनेकी इच्छा रखनेवालोंको कुछ मार्गनिर्देश प्राप्त हो, इसके लिये अपने अनुभवके अनुसार संक्षेपमें लिखनेका प्रयास करता हूँ।

प्राणायामसे शरीर-शुद्धिके अतिरिक्त मनोबलकी प्राप्ति होती है। इसीसे महर्षियोंने सन्ध्यावन्दनके साथ नित्य प्राणायामका विधान किया है। 'प्राणायामसे पाप जल जाते हैं। यह संसार-समुद्रको पार करनेके लिये महासेतुरूप है।'* इस प्रकारका फल सुननेपर बहुतोंके मनमें प्राणायाम करनेकी इच्छा जाग उठती है। पर विधिवत् अभ्यास उन्हींको करना चाहिये, जो वस्तुतः अधिकारी हों; अनधिकारीको नहीं, अन्यथा उल्टे इतनी हानि पहुँच सकती है कि फिर वे व्यवहार सम्हालनेमें भी असमर्थ हो जाते हैं।

प्राणायामका तात्पर्य—प्राणायामका अर्थ है—प्राणका व्यायाम। श्वसन-क्रियामें अपानवायुको जो बाहरसे आकर्षित किया जाता है और प्राणवायुको जो बाहर निकाला जाता है, इसी क्रियाको विधिवत् करनेका नाम प्राणायाम है। विधिके अनुसार आकर्षणको 'पूरक', धारण को 'कुम्भक' और त्याग—बाहर निकालनेको 'रेचक' कहते हैं; इन त्रिविध क्रियाओंका सम्मिलन ही प्राणायाम है।

भीतर जो वायु आकर्षित की जाती है, वह स्वरयन्त्र, बृहत् श्वासनलिका और विभाजित श्वासनलिकाओंके द्वारा फुप्फुसोंके भीतरवाले वायुको वायुकोष्ठोंके अंदर प्रवेश कराती है। इसका कुछ परिचय चित्र देखनेपर मिल सकेगा।

* प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः। भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा॥ (योगचूडामणि)
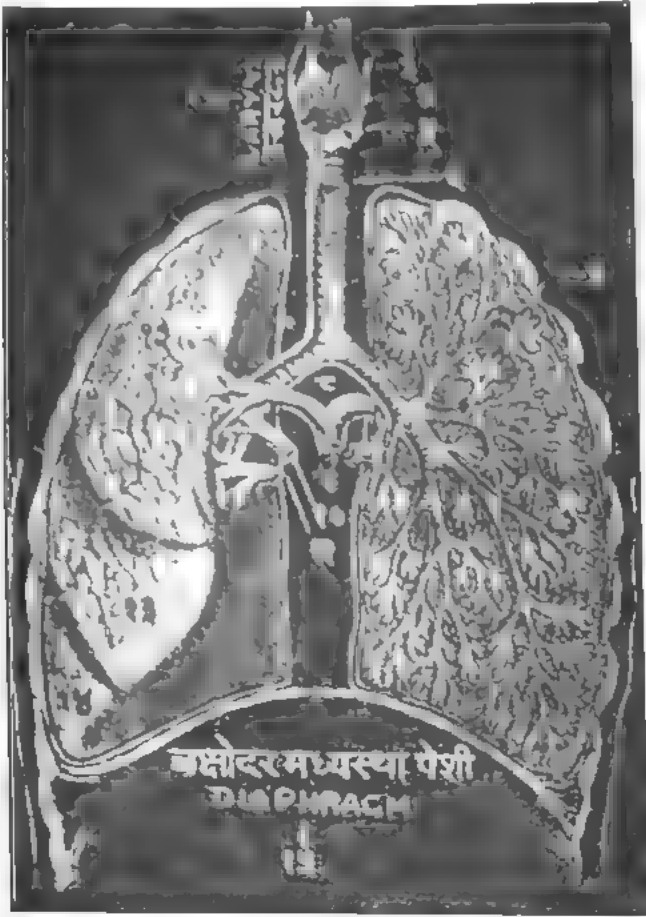
फुफ्फुसकोषोंमें वायु कुछ अंशमें सदा भरी रहती है। जीवितावस्थामें कभी भी वे बिलकुल खाली नहीं होते। उनमें नयी वायु प्रवेश करती रहती है और पहलेकी दूषित वायु बाहर निकलती जाती है, प्राणायाम होनेपर वे शुद्ध हो जाते हैं।

विभाजित श्वासनलिकाओंमेंसे शाखा-प्रशाखा होकर अति सूक्ष्म प्रणालिकाएँ बन जाती हैं। उनके भीतरका मार्ग अति सूक्ष्म रहता है। उनका अन्तिम सिरा वायुकोष्ठोंसे सम्बन्ध रखता है। ये वायुकोष्ठ अर्धगोलाका हैं। उनपर स्थिति-स्थापक स्नायु-सूत्र लपेटा हुआ है। इस स्नायु-सूत्रके आधारसे वे बार-बार फैलते और सिकुड़ते हैं। जिस प्रकार रबरकी थैली वायु भरनेपर फूलती है और वायु निकाल देनेपर मूल स्थितिमें आ जाती है, उसी प्रकार वायुकोष्ठ वायुका पूरक होनेपर फूलते हैं और रेचन होनेपर उनका फुलाव दूर हो जाता है। इन कोषोंकी स्थिति-स्थापक शक्ति बाल्यावस्थामें अभ्यासद्वारा शनैः शनैः बढ़ायी जा सकती है, युवावस्थामें किसीकी शक्ति मर्यादित परिमाणमें बढ़ सकती है और प्रौढ़ावस्थाके पश्चात् नहीं बढ़ सकती। क्योंकि उस अवस्थामें स्थिति-स्थापक गुण नहीं रहता; स्थिति-स्थापक गुणके न होनेकी स्थितिमें यदि प्राणायामका अभ्यास किया जाता है, तो उससे रोगोत्पत्ति होती है। बहुतोंको वायुप्रकोष्ठ-प्रसारण (Emphysema) हो जाता है। फिर, कफ, कास, श्वासकृच्छ्रता, थोड़ेसे परिश्रमसे श्वास भर जाना, रक्तमें विष रह जानेसे शिराओंका रंग नीला हो जाना, शारीरिक कृशता, अग्निमान्द्य और हृदयमें भारीपन आदि लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

प्राणायामके अधिकारी—'त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्' के अनुसार यम, नियम और आसनोंसे जिसने नाड़ियोंकी शुद्धि की हो, वे ही प्राणायामके अधिकारी माने जाते हैं।[१] 'हठयोगप्रदीपिका' कारने लिखा है कि जिसका आसन दृढ़ हो गया है, जिसने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर रखा है तथा जो हितकर, पथ्य भोजन परिमित मात्रामें करता है, वह प्राणायामका अधिकारी है।[२] जो मुमुक्षु नीरोग हो, सत्य, सदाचार और संयमका पूर्ण पालन करता हो, उसीको अधिकारी माना गया है। आहार-विहारमें स्वच्छन्दता और अनियमितता बिलकुल नहीं होनी चाहिये। तंबाकू, भाँग, गाँजा, चाय आदिका व्यसन नहीं होना चाहिये। देहके रोग-पीड़ित होनेपर नाड़ियोंकी शुद्धि नहीं रहती, ऐसी अवस्थामें भी प्राणायामका अभ्यास नहीं करना चाहिये। पाचन-संस्था और श्वसन-संस्थाका कोई रोग नहीं होना चाहिये।

पाचन-संस्थाके रोगोंमें जीर्ण मलावरोध, अतिसार, वमनादि तथा श्वसन-संस्थाके रोग-श्वास, कास, राजयक्ष्मादि होनेपर भी प्राणायाम करनेसे वायुका प्रवेश या निर्गमन यथोचित नहीं हो सकता। यदि किसी श्वासप्रणालिका या वायुकोष्ठमें वायुका रोध होगा तो फिर उसमेंसे वह बलात् बाहर निकलेगा। अतः शरीरमें रोग हो तो पहले औषधोपचार या षट्कर्म और आसनोंके द्वारा उसे दूर कर देना चाहिये। सबल नीरोगी मुमुक्षुको अभ्याससे जितना लाभ मिल सकता है, उतना निर्बल या रोगीको नहीं मिल सकता।

जिसे मस्तिष्कविकृति, हृदयविकृति, वातप्रकोप, रक्तदबाववृद्धि, उपदंश, सुजाक, मधुमेह अथवा जन्मजात पाण्डु या कामलारोग हो, उसे प्राणायामका अभ्यास नहीं करना चाहिये। जिनकी छाती जन्मसिद्ध निर्बल हो, जिनको बाल्यावस्थामें मृदुस्थि (Rickets) रोग हो गया हो, आयु बड़ी हो जानेके कारण जिनकी नाड़ियाँ और

१. यमैश्च नियमैश्चैव ह्यासनैश्च सुसंयुतः। नाडीशुद्धिं च कृत्वाऽऽदौ प्राणायामं समाचरेत्॥
२. अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः। गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान् समभ्यसेत्॥

वायुकोष्ठोंकी स्थिति-स्थापक शक्ति दूर हो गयी हो, उनको भी चाहिये कि वे प्राणायामका अभ्यास करें।

अधिकारियोंमें आयुभेदसे उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ—तीन प्रकार होते हैं। ८ से २० वर्षतककी आयुवाले उत्तम, २१ से ४० वर्षतकके मध्यम और इससे बड़ी आयुवालोंको कनिष्ठ अधिकारी समझना चाहिये। उत्तम अधिकारीके वायुकोष्ठ अधिक आघात सहन कर सकते हैं, मध्यमके उससे कम और कनिष्ठके बहुत ही कम। उत्तम अधिकारी कुम्भक अधिक परिमाणमें कर सकते हैं, मध्यम परिमित परिमाणमें तथा कनिष्ठ अधिकारी तो कुम्भक बढ़ा ही नहीं सकते। इस अधिकारको लक्ष्यमें रखे बिना कुम्भक बढ़ानेका प्रयत्न किया जायगा तो फुफ्फुसोंके वायुकोष्ठोंकी स्थिति-स्थापक शक्ति नष्ट हो जायगी, फिर दूषित वायुके शोधनका कार्य सुचारुरूपसे नहीं हो सकेगा।

अभ्यासस्थान—अभ्यास-स्थान शहरसे दूर वायुयुक्त और स्वच्छ होना चाहिये। मच्छर आदिका उपद्रव नहीं होना चाहिये। एकान्त हो, बाहरसे मशीन आदिकी या मनुष्योंकी आवाज न आती हो। क्योंकि अकस्मात् आयी हुई आवाज बलपूर्वक वायु बाहर निकालकर हानि पहुँचा देती है।

वक्तव्य—अधिकारियोंको चाहिये कि निःस्वार्थी, क्रियापरायण, सद्गुरुके आश्रममें रहकर उनके आज्ञानुसार अभ्यास करें। दूर रहकर अभ्यास करनेपर अभ्यास ठीक हो रहा है या उसमें कोई भूल हो रही है, यह विदित नहीं हो सकता। जो साधक केवल शास्त्र पढ़कर अभ्यास करने लगते हैं, वे बहुधा हानि उठाते हैं।

साधकोंको चाहिये कि अभ्यास उतना ही करें कि जिससे बलका अति क्षय न हो। प्रतिदिन प्रातःकाल उठनेके समय शरीरमें उत्साह रहना चाहिये, थकावट बिलकुल न रहनी चाहिये। जल्दी अधिक लाभ मिल जाय, इस आशासे जो साधक अभ्यासका अतियोग करते हैं, उनके बलका क्षय होता है फिर अकस्मात् फुफ्फुसरोग, वातविकार अथवा हृदयरोग हो जाता है, जो औषधोपचारसे भी दूर नहीं हो सकता।

प्राणायामके समय मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध और जालन्धरबन्ध—इन तीन बन्धोंका आश्रय लेना पड़ता है। अतः इन तीनों बन्धोंका अभ्यास पहलेसे कर लेना चाहिये। पैरके पार्ष्णिभागके गुदद्वारके पास सीवनपर लगानेसे गुदनलिका (Rectum) का आकुंचन होकर अपानवायुकी ऊर्ध्वगति हो जाती है। इस क्रियाको 'मूल-बन्ध' कहते हैं। नाभिके ऊपर और नीचेके उदरप्रदेशको, पीठकी ओर आकर्षित करनेसे वायुपूरित फुफ्फुसोंके नीचे आधार मिल जाता है, जिससे फुफ्फुसोंको वायुके आघातसे हानि नहीं पहुँचती और रेचन-क्रिया उचितरूपसे होती है। इस क्रियाको 'उड्डियानबन्ध' कहते हैं। गलबिलका आकुंचनकर चिबुक (ठोढ़ी) को कण्ठभागसे नीचे और हृदयप्रदेशके ऊपर स्थापित करनेसे फुफ्फुसगत वायुमें चंचलता आनेपर भी हानि नहीं पहुँचती तथा मस्तिष्कमें संगृहीत प्राणशक्ति (प्राण-वायुमेंसे रूपान्तरित विद्युच्छक्ति) का व्यय नहीं होता। इस क्रियाको 'जालन्धरबन्ध' कहते हैं।

प्राणायामके अभ्यासके पहले देहमें अति मेद, मति, कफ, अति मल या आम रहा हो, अथवा मस्तिष्क, उदर, फुफ्फुसादि प्रदेशमें अधिक दोष रहा हो तो नेति, कपाल-भाति, धौति, नौलि, बस्ति और त्राटक—इन षट्क्रियाओंमेंसे आवश्यक क्रिया करके प्राणमार्गको शुद्ध और देहनाड़ियोंको प्राणधारणक्षम बना लेना चाहिये। लेखका कलेवर बढ़ जानेके भयसे षट्कर्मोंका वर्णन यहाँ नहीं किया जाता।

प्राणायाम-प्रकार—अनुलोम-विलोम, सूर्यभेदी, उज्जायी सीत्कारी, शीतली, भस्त्रा, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी—प्राणायामके ये नौ प्रकार हैं। इनमेंसे रोगहीन मनुष्योंको देहके स्वाभाविक मलके शोधन और धारणशक्तिकी वृद्धिके लिये अनुलोम-विलोम प्राणायाम कराया जाता है। इसकी सिद्धि होनेपर शेष आठ प्रकारोंमेंसे अनुकूल प्रकारका आश्रय लिया जाता है।

अनुलोम-विलोम प्रकारके प्राणायाममें दोनों फुफ्फुसोंको सहन हो सके उतने परिमाणमें व्यायाम होता रहता है और बीच-बीचमें क्रमशः दोनोंको विश्राम मिलता जाता है, श्वास-प्रणालिकाओंका मार्ग शुद्ध होता है और वायुकोष्ठोंकी धारणशक्ति शनैः-शनैः बढ़ती जाती है। इस प्रकारमें हानि पहुँचनेका भय बहुत कम रहता है। इस हेतुसे प्राणायामके अभ्यासके प्रारम्भमें अनुलोम-विलोमका विधान किया गया है।

अनुलोम-विलोम विधि—अनुलोम-विलोम प्राणायाम विशेषतः पद्मासन लगाकर किया जाता है। इतर आसनोंकी अपेक्षा प्रारम्भिक अभ्यासियोंके फुफ्फुसोंके नीचे आधाररूपसे उदर-प्रदेश आ जानेमें फुफ्फुसोंपर वायुका आघात पहुँचनेका भय कम रहता है; किंतु जिन साधकोंका पद्मासन ठीक न होता हो, दोनों पार्ष्णिभाग

नाभिके दोनों ओरके उदर-प्रदेशपर उचितरूपसे न लगते हों, उनको मूलबन्ध या स्वस्तिकासन या अन्य सुखासनसे बैठाकर अभ्यास कराया जाता है।

प्राणायाम प्रारम्भ करनेके समय गणपतिका पूजनकर, इष्टदेवताको नमस्कारकर, पूर्वदिशा या उत्तरदिशामें मुख रखकर मृदु आसनपर पहले चन्द्रनाड़ी (वाम नासापुट)- से श्वास ग्रहण करना अर्थात् पूरक करना चाहिये। उसे यथाशक्ति धारण करें अर्थात् कुम्भक करें। फिर सूर्यनाड़ी (दक्षिण नासापुट) से रेचन करें अर्थात् वायुको बाहर निकाल दें। (यह एक प्राणायाम हुआ।) फिर सूर्यनाड़ीसे पूरक करके कुम्भक करें और चन्द्रनाड़ीसे रेचन करें अर्थात् जिस नासापुटसे रेचन करें, उसी नासापुटसे पूरक करें। (यह दूसरा प्राणायाम हुआ।)

इस प्राणायामके अभ्यासमें पूरक, कुम्भक और रेचक—ये तीन क्रियाएँ विधिवत् होती हैं, मनगढ़ंत रीतिसे नहीं। कुम्भक उतने समयतक करना चाहिये कि रेचन-क्रिया शान्तिपूर्वक अन्तरशक्तिके बलसे हो सके। बलात्से वायु बाहर न निकल जाय, इसकी सावधानी रखें। यदि रेचक जल्दी हो जायगा, तो वायु-प्रणालिकाओंमें आघात पहुँचनेकी सम्भावना होगी। कुम्भक यदि शक्तिसे अधिक कालतक रह जायगा, तो वायुकोष्ठोंका स्थिति-स्थापक गुण कम हो जायगा। फिर वे यथोचित्त सिकुड़ नहीं सकेंगे परिणाममें रोगोत्पत्ति हो जायगी।

अनुलोम-विलोम प्राणायामके प्रारम्भकालमें बारह मात्रा (साढ़े सोलह सेकंड) का कुम्भक करनेका शास्त्रोक्त विधान है, इसे 'कनिष्ठ प्राणायाम' कहा गया है। मध्यम प्राणायाममें चौबीस मात्रा (सवा तैंतीस सेकंड)-का और उत्तम प्राणायाममें छत्तीस मात्रा (पचास सेकंड)-का कुम्भक किया जाता है। यह सामान्य नियम है। किंतु साधकको साढ़े सोलह सेकंडका कुम्भक करना ही चाहिये, ऐसा आग्रह न रखें। वायुकोष्ठोंकी धारणशक्ति जितनी कम होगी, उतना ही कम कुम्भक हो सकेगा। इस धारणशक्तिको शनैः-शनैः बढ़ाना चाहिये। वायुकोष्ठोंकी धारणशक्ति जल्दी बढ़ानेकी आशासे अधिक कालतक कुम्भक नहीं रखना चाहिये। अन्यथा रेचन-क्रियापर अधिकार नहीं रह सकेगा।

अनुलोम-विलोम प्राणायाम धारावाहिक होते हैं। अर्थात् पूरक, कुम्भक, रेचक; फिर तुरंत पूरक, कुम्भक रेचक—इस तरह क्रिया सतत करते रहना चाहिये। बीचमें तोड़ नहीं देना चाहिये। यदि अधिक श्रम होनेके कारण क्रिया न हो सकती हो, तो उस समय उतनेमें ही क्रिया समाप्त कर देनी चाहिये। दूसरे समयपर कुम्भक कम करें, जिससे क्रिया धारावाहिक हो सके।

प्रारम्भमें ५, ७, १०, १५, २०, २५ कुम्भक—इस तरह शनैः शनैः बढ़ायें। शास्त्रकारोंने अस्सी प्राणायामतक बढ़ानेका और दिनमें चार बार अभ्यास करनेका विधान किया है; किंतु वर्तमान समयमें सामान्यतः पचीस प्राणायामतक बढ़ायें और प्रातः-सायं दिनमें दो ही बार अभ्यास करें। शास्त्रकारोंने तीन मासमें नाड़ीशुद्धि और उत्तम प्राणायामकी सिद्धि होनेका वर्णन किया है। उसके स्थानपर वर्तमानमें कम अभ्यास करें तो एक वर्ष लग सकता है। किंतु इस तरह शान्तिपूर्वक और शक्ति-अनुसार अभ्यास करनेमें हानि होनेका कोई भय नहीं रहता।

कनिष्ठ प्राणायामके अभ्यासकालमें स्वेद अधिक आता है। मध्यम प्राणायाममें कम्प होता है और उत्तम प्राणायाममें प्राण उत्तम स्थान (ब्रह्मरन्ध्र)-को प्राप्त होते हैं।* अर्थात् वायु जो वायुकोष्ठोंमें प्रवेश करता है, उसमेंसे प्राणवायु (Oxygen) रक्तमें आकर्षित हो जाता है, वह धमनीमार्गसे रक्ताभिसरण-क्रियाद्वारा मस्तिष्कमें पहुँच जाता है, उसमेंसे कुछ अंशका परिवर्तन प्राणतत्त्व (विद्युत्) रूपमें हो जाता है। यह विद्युत् धारण हो सके, उससे अधिक बढ़नेपर वस्त्रोंमें भी कुछ-कुछ आती रहती है, शीतकालमें और रेशमके वस्त्रोंमें अधिकतर प्रतीत हो जाती है। अन्धकारमें रेशमके या सूतके वस्त्रके दो पर्त अलग करनेपर चट-चट आवाज होकर नीला तेजस्वी प्रकाश उत्पन्न हो जाता है।

बाहरसे जो शुद्ध वायु आकर्षित की जाती है, वह रक्तमें प्रवेश करनेपर रक्ताभिसरण-क्रियाद्वारा तीव्र गतिसे सारे शरीरकी धमनियों (Arteries) और शिराओं (Veins)-में पहुँच जाती है और वहाँके मल, विष, आम, रक्तवारि (Plasma) और अपक्षय-प्राप्त रक्ताणुओंको जला (तपा) कर स्वेदद्वारा बाहर निकाल देती है। जिस प्रकार विषमज्वरमें उष्णता बढ़नेपर कीटाणु-विष जलकर स्वेदद्वारा बाहर निकल जाता है,

* कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे। उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासनं भवेत्॥ (शाण्डिल्योपनिषद्)

इसी प्रकार प्राणायाममें भी स्वेदमार्गसे विकारका निवारण हो जाता है। फिर भी साधकावस्थामें ज्वर आदि रोगोंको निकालनेके लिये प्राणायामका प्रयोग नहीं होता। कारण, रोगसे उत्पन्न मल, जो स्थूल होता है, प्राणायाम करनेपर रक्त-मांसादि धातुओंमें प्रवेश करके सूक्ष्मभावको प्राप्त हो जाता है और मस्तिष्क आदि सारे शरीरमें फैल जाता है। साधकावस्थामें कुम्भक कम होता है और रक्तकी पूरी शुद्धि नहीं हो सकती। इसी हेतुसे ज्वर आदि रोगोंमें लीन होनेवाले मलका बल बढ़ जाता है। इसलिये प्राणायामका निषेध है।

जो प्राणवायु चारों ओर रक्तमें फैलता है, वह रूपान्तरित होकर प्राणशक्ति (विद्युत्)-रूप बन जाता है। फिर वह मस्तिष्कके केन्द्र और वात-नाडियोंमें फैल जाता है। रक्तमेंसे जो रक्तवारि जल जाता है, उस स्थानपर रससंस्थामेंसे नया रस आकर्षित हो जाता है तथा जीर्ण रक्ताणुओंका स्थान नूतन सबल रक्ताणु ग्रहण कर लेते हैं। फिर उसी शुद्ध और सबल रक्तमेंसे मांस, मेद, शुक्रादि धातुएँ उत्पन्न होती हैं, जिससे वे भी शुद्ध और सबल बनती हैं।

रक्तमें अशुद्धि अधिक होती है तो स्वेद अधिक आता है और अधिक दिनोंतक आता है। अशुद्धि कम होती है, तो स्वेद कम होता है और कम दिनोंतक आता है। रक्तशुद्धि होनेके साथ-साथ प्राण-वायुके धारणकी शक्ति बढ़ती जाती है। इस तरह कनिष्ठावस्थामेंसे मध्यमावस्थाकी प्राप्ति होती है। इस अवस्थामें स्वेद बहुत कम हो जाता है; किंतु प्राणशक्ति अधिक उत्पन्न होती रहती है। उसका धारण वातनाडियोंसे यथोचित नहीं होता, जिससे स्थान-स्थानपर मन्द-मन्द कम्प (Spontaneous Convulsion) होता रहता है। यह कम्प भी ज्यों-ज्यों वातनाडियाँ सबल होती हैं, त्यों-ही-त्यों कम होता जाता है।

फिर उत्तमावस्था प्राप्त होनेपर शनैः-शनैः प्राणशक्ति अधिकाधिक धारण होती जाती है। मस्तिष्कमें प्राणशक्तिका अधिक संग्रह होनेपर प्रारम्भमें मस्तिष्कमें भारीपन आता है, जो एक-दो घंटेमें दूर हो जाता है। फिर मस्तिष्कस्थ प्राणसंग्रह-स्थान सबल बननेपर शनैः-शनैः भारीपनवाली अवस्था दूर हो जाती है, नादानुसन्धान होने लगता है और मानसिक संकल्पोंकी सिद्धि होने लगती है। पश्चात् अभ्यास-वृद्धि और यम-नियम आदिके पालनके अनुरूप उत्तरोत्तर लाभकी वृद्धि होती जाती है।

सूचना—(१) यह अभ्यास शुद्धवायुवाले स्थानमें होता है। किंतु वायुका वेग तेज न होना चाहिये; अन्यथा स्वेद उचित मात्रामें बाहर नहीं निकल सकेगा, फलतः शोधन-क्रिया ठीक नहीं होगी। अतः खिड़की नीची हो तो बंद रखनी चाहिये। स्वेद आये, उसे कपड़ेसे पोंछकर देर न करे, शरीरपर मल दे। इससे देहमें लघुता आयगी, त्वचा तेजस्वी बनेगी और मांसपेशियाँ दृढ़ बनेंगी।*

(२) अभ्यास प्रारम्भ करनेपर प्रथमावस्थामें भोजनमें दूध-भात लेनेका विधान है। दूध-भातका सरलतासे पाचन हो जाता है। उसमेंसे विशेषांशका पाचन आमाशयमें ही हो जाता है। बहुत कम अंशका पाचन अन्त्रमें होता है। जिन साधकोंको आमाशय निर्बल होनेसे दूध अनुकूल न पड़ता हो, वे ताजे दहीका मट्ठा बनाकर ले सकते हैं। भात अनुकूल न हो, तो वे गेहूँका दलिया ले सकते हैं। केवल दूध या केवल मट्ठेपर रहा जाय तो विशेष उत्तम।

(३) साधकके लिये जितना दूध (गोदुग्ध) हितकारी है, उतना मट्ठा नहीं। दूधसे वात, पित्त, कफ धातुएँ आवश्यक परिमाणमें बनती हैं और सब ऋतुओंके लिये वह समान उपकारक है। मट्ठा लेनेपर उससे कफ धातुकी उत्पत्ति कुछ अधिक न हो जाय, शरद्-ऋतु या ग्रीष्म-ऋतुमें दही खट्टा न हो जाय, और वात या पित्तका प्रकोप न हो जाय—इस बातको सँभालना पड़ता है। मट्ठा लेनेपर सेंधा नमक, जीरा और कालीमिर्च मिलानी पड़ती है। दूध सेवनकी अपेक्षा अभ्यासमें प्रगति भी कुछ कम होती है। फिर भी जिनको पहले संग्रहणी या पेचिश हो गयी हो, अथवा जो वंशगत अर्शके रोगी हों, उनको दूध अनुकूल न होनेपर मट्ठा देना पड़ता है।

(४) चावल कुछ साधकोंके अनुकूल नहीं पड़ते। जिसके आमाशयका पित्त तेज हो, जिसके मूत्रकी प्रतिक्रिया अम्ल हो अथवा जिसने देशमें चावल खानेकी प्रथा न होनेसे पहलेसे गेहूँ या ज्वारका सेवन किया हो, उस साधकको गेहूँका दलिया या ज्वारकी रोटीपर रखना पड़ता है। संक्षेपमें जो शरीरको अनुकूल हों और पचनेमें भारी न हों, सरलतासे पच जाय, उसीका सेवन करना चाहिये। यह नियम उत्तम प्राणायामकी दृढ़ता होनेतक

* जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्। दृढता लघुता चापि तस्य गात्रस्य जायते॥ (शाण्डिल्योपनिषद्)

है। फिर जब कुम्भकमें अधिक प्रगति हो जाती है, तब भोजनमें अधिक आग्रह नहीं रखा जाता। फिर भी रजोगुणी और तमोगुणी भोजनकी तो प्रधानता नहीं होनी चाहिये। अपथ्य भोजन भी नहीं करना चाहिये।

(५) जिस प्रकार सिंह, व्याघ्र, हाथी आदि पशु शनैः-शनैः वश होते हैं—बलात् करनेपर नहीं , उसी प्रकार (कुम्भक) प्राणायामका अभ्यास शनैः-शनैः युक्तिपूर्वक करनेपर वायु वशमें होता है। युक्तिका त्याग तो साधकको मार देता है अर्थात् मनगढ़ंत रीतिसे प्राणायामका अभ्यास किया जायगा तो उससे हिक्का, श्वास, कास, सिरदर्द, कर्णरोग और नेत्र-विकारादि नानाविध रोगोंकी उत्पत्ति हो जायगी और प्राणान्त कष्ट होगा।

(६) इस प्राणायामके अभ्यासमें 'मूलबन्ध' को सतत धारण किया जाता है तथा पूरकके अन्तमें 'जालन्धरबन्ध' और कुम्भकके अन्तमें (रेचकके आरम्भमें) 'उड्डियानबन्ध' लगाया जाता है। ये बन्ध न लगाये जायँगे अथवा ये उचितरूपसे न लगाये जायँगे, तो प्राणायामकी सम्यक् सिद्धि नहीं हो सकेगी। उपर्युक्त विवेचनके अनुसार पूरी सावधानीके साथ शास्त्र-विधिके अनुरूप अभ्यास करते रहनेपर जब नाड़ीशुद्धि हो जाती है अर्थात् रक्तवाहिनियोंमें प्राणवायुकी प्रधानता हो जाती है; आंगारिक वायु, विष, दूषित, रक्ताणु कीटाणु आदिका नाश हो जाता है तथा रक्ताभिसरण-क्रिया सबल बनती है, तब वायुका यथेष्ट धारण होता है, अग्नि प्रदीप्त होती है, नादकी अभिव्यक्ति होती है और आरोग्यकी प्राप्ति होती है। उस समय मेद, कफ आदि जल जानेसे शरीर कृश प्रतीत हो जाता है, किंतु स्फूर्ति आदि कम नहीं होते।

नाडीशुद्धि होनेके पश्चात् कुम्भक बढ़ाने और कुण्डलिनीके प्रबोधार्थ, केवल कुम्भकके प्राप्त्यर्थ अथवा राजयोगमें प्रवेशार्थ कितने ही साधक सूर्यभेदी आदि प्राणायाम तथा खेचरी आदि मुद्राका आश्रय लेते हैं। स्थानाभावसे यहाँ उन प्राणायामोंकी विधि तथा खेचरी आदि मुद्राओंका विवेचन नहीं किया जा सका।

संस्कृति

(रचयिता—श्रीरघुनाथप्रसादजी शास्त्री 'साधक')

जय हो! जय हो!!
भारतकी प्राचीन सुसंस्कृति! तेरी सदा विजय हो।
धर्म-भाव भूतलमें छाये,
कर्म-भाव जनतामें आये,
'निष्कामी-जीवन' फल पाये,
ईश्वरमें विश्वास अटल, मन स्वस्थ, नितांत अभय हो।
तेरी सदा विजय हो॥ १॥
'सत्य सनातन' नित्य प्रचारें,
शुभ कृतियोंके तथ्य विचारें,
निज मानसके दोष सुधारें,
वेदोंके स्वाध्याय निरन्तर, पाप सभीके क्षय हों।
तेरी सदा विजय हो ॥ २॥
ऊँच-नीचके भाव विसारें,
कलुष, कामना सकल निवारें,
समता-भाव समाज प्रसारें,
'वर्णाश्रम' हो ध्येय हमारा, आर्य-जाति 'जग नय' हो।
तेरी सदा विजय हो॥ ३॥

'सदाचार' की शिक्षा पायें,
'उञ्छ-वृत्ति' की भिक्षा भायें,
'यज्ञ-शेष' सब मिलकर खायें,
पूर्णकाम हों, पियें सुधासम प्रतिगृह गोरस पय हो।
तेरी सदा विजय हो॥ ४॥
शम-दम-त्याग तितीक्षा धारें,
दया-क्षमा-संयम विस्तारें,
निज सर्वस्व 'राष्ट्र' पर वारें,
जीवन्मुक्त बनें अधिवासी, वह अध्यात्म-निलय हो।
तेरी सदा विजय हो॥ ५॥
आत्म-शक्ति विस्तार करें हम,
दीनोंका उद्धार करें हम,
शरणागतको प्यार करें हम,
इष्ट-साधना 'साधक' का नवयुग पुनरपि अभिनय हो।
तेरी सदा विजय हो॥ ६॥
भारतकी प्राचीन सुसंस्कृति! तेरी सदा विजय हो,
माता सदा विजय हो॥

मायातत्त्व-विज्ञान

(लेखक—आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम० ए०)

कल्पना, अनुमान तथा तर्क-वितर्कके द्वारा विचार-विवेचन—इन सबको हेतु बनाकर ही पाश्चात्त्य दर्शनकी व्यापार-लीला समाप्त हो जाती है। यूरोपके दार्शनिक ज्ञान-विज्ञान तथा तत्त्व-सिद्धान्त इन्हीं सबपर प्रतिष्ठित हैं। पाश्चात्त्य दर्शन-विद्या-बुद्धिकी विविध विलासितामात्र है। 'फिलासफी' शब्दकी व्युत्पत्तिसे भी यही अर्थ निकलता है। भारतीय दर्शनका लक्ष्य है 'दिव्य दृष्टिसे तत्त्वदर्शन करना', निर्भ्रान्त सत्यकी उपलब्धि करना। सहस्रों तर्क-वितर्कोंके द्वारा भी जिसका कभी खण्डन नहीं हो सकता, जिसे असत् प्रमाणित नहीं किया जा सकता—वही इन्द्रियातीत अप्राकृत और अतिमानसिक उपलब्धि है, दिव्य-दर्शन है; यह तत्त्वविज्ञान योगज समाधिके द्वारा प्राप्त होता है। शुद्ध सात्त्विक ऐकान्तिक एकाग्र बुद्धिके द्वारा इन्द्रिय और चिरचंचल मनोवृत्तिको वशीभूत करके अन्तःपुरमें हृत्पद्मके कोशमें जिस अपूर्व विज्ञानालोकका आविर्भाव होता है, उस सर्व रहस्योंको समुद्भासित करनेवाले आलोकमें जो सत्य-तत्त्व-रत्नावली प्रकाशित होती है, वे तत्त्व-समूह ही भारतीय दर्शन-विज्ञानके भण्डारमें प्रत्येक स्तरमें भलीभाँति सुसज्जित हैं; और जिस प्रकार मधुचक्रमें मधु संचित रहता है, उसी प्रकार ये तत्त्व वेद, उपनिषद्, पुराण तथा तन्त्रादिमें सुचारुरूपसे संचित हैं। ये अशेष हैं, अपार हैं।

भारतीय दर्शन-विज्ञान तथा भारतीय शास्त्रग्रन्थ—वेद-पुराणादिको जो लोग इस दृष्टिसे नहीं देखते, उनको चाहिये कि वे भारतीय दर्शनके साथ पाश्चात्त्य दर्शनकी तुलना करनेकी कभी चेष्टा ही न करें। विश्व, विश्व-विधान, विश्व-अधिपति और विश्व-जीवन—इन समस्त तत्त्वोंको भारतीय ऋषियोंने जिस गम्भीरभावसे समझा और विशदरूपसे लिपिबद्ध कर रखा है, वैसा संसारमें अन्यत्र कहीं किसीने नहीं किया। इस महासत्यको हृदयंगम किये बिना स्वाधीन भारतकी स्वातन्त्र्य-प्राप्तिकी सार्थकता सिद्ध न होगी। दास-मनोवृत्तिकी बातें हम सदा कहते हैं और सुनते हैं। यह दास-मनोवृत्ति हमारे दिन-प्रतिदिनके सामाजिक और राष्ट्रिय जीवनमें जिस प्रकार विद्यमान है, हमारे मानसिक और आध्यात्मिक जीवनमें उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विद्यमान है। भारतकी वैज्ञानिक और दार्शनिक ऐश्वर्य-सम्पदा असीम और अनन्त है, भारतकी तुलनामें इस दृष्टिसे यूरोप और अमेरिका अत्यन्त दरिद्र हैं। और यह सम्पत् मानवजीवनकी समस्त व्याधियोंकी महौषध है, अमृतत्व और चिदानन्दसुख-सामग्रीकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है। इसके स्वल्पमात्र भी जीवनमें कार्यान्वित होनेपर जीवन धन्य हो जाता है।

विश्वके विज्ञान-भण्डारके लिये भारतकी असंख्य देन है। उनमें सर्वश्रेष्ठ और सर्वापेक्षा गहन-गम्भीर मायातत्त्व-विज्ञान है। यह महामाया परब्रह्मकी शक्ति (योगमाया) है। अनन्त शक्तिमान् ब्रह्मकी यह शक्ति सर्वश्रेष्ठ है, जिसके प्रभावसे वे ब्रह्म, परमात्मा, पुरुष और भगवान् हैं। यह उनकी पराशक्ति है, स्वरूपशक्ति है, अन्तरंगा शक्ति है। इसके बाद उनकी जीवशक्ति है, जिसके द्वारा वे अनन्तकोटि जीवोंको प्रकट करते हैं। इसी शक्तिके प्रभावसे विश्वके चर-अचर असंख्य जीव विद्यमान हैं। उनकी तीसरी शक्ति माया (जगन्माया) है। इस शक्तिके द्वारा वे विश्वका सृजन करते हैं, विश्वके जीवोंको धारण करते हैं, सृजन करते हैं, पालन करते हैं और संहार करते हैं।

सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका ।
छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा॥

भगवान्के साथ छायाके समान रहती हुई सृष्टि, स्थिति और संहारका साधन करनेवाली एकमात्र शक्ति दुर्गा चौदहों भुवनोंका पालन करती हैं। यह अपरा शक्ति हैं। परंतु केवल अपरा ही नहीं, पराशक्ति भी हैं। क्योंकि दुर्गासप्तशतीमें लिखा है—

परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी।

(१। ८२)

'पर और अपर—सबसे परे रहनेवाली परमेश्वरी तुम्हीं हो।' गीतामें जीव-शक्तिको भी परा शक्ति कहा गया है—

.....प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां....।

भगवत्तत्त्वका निर्णय करते समय उनमें नीच-ऊँचका क्रम बतलाना सम्भव नहीं है; परंतु श्रीभगवान्की मायाशक्तिके विभिन्न वैभव, नाना भावों और रूपोंमें उसकी विद्यमानता और क्रियाशीलता, उन सबकी नाना मात्रा और नाना क्रमोंमें अवस्थितिकी विभिन्नता आदि

विषयोंपर हम यथासम्भव विचार करेंगे।

पहले यहाँ 'शक्ति' शब्दके अर्थको समझनेकी चेष्टा करें। शक्तिका अर्थ है सामर्थ्य, कोई कुछ करनेकी योग्यता। परंतु भगवत्-शक्ति केवल सामर्थ्यमात्र नहीं है, 'सामर्थ्यमयो व्यक्ति-सत्ता' (Person) है। भगवान्की सभी शक्तियाँ मूर्तिमती, प्राणमयी, ज्ञानमयी और शक्तिमयी देवियाँ हैं अथवा दिव्य पुरुष हैं। यह भारतीय दर्शनका सिद्धान्त है। न्याय, सांख्य और पातंजलयोग पढ़नेसे यह बात जाननेमें नहीं आती। यह वेदान्तमें प्रतिभासित और पुराणमें प्रकाशित है। भगवान् एक होकर भी बहुरूपोंमें आविर्भूत होते हैं मूर्तिमती शक्तिके प्रभावसे। शक्तिकी व्यक्तिविशिष्टताके द्वारा ही वे अनेक हैं। भगवान् एक हैं, यह कहनेसे भगवान्का कुछ भी प्रतिपादन नहीं होता। एक रूपमें भगवान् सत्तामात्र हैं, शक्ति-शून्य है। अतएव भागवतमें कहा गया है—

मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक्॥

(३। ५। २४)

'उन्होंने चित्स्वरूप होकर भी अपनेको शक्तिहीन और अस्तित्वहीन समझ लिया था।' शक्तिके प्रकाशके साथ ही ब्रह्मकी बहुरूपताका प्रकाश हो गया—

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।'

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'

—यह उनकी शक्ति है

शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न हैं और भिन्न भी हैं, यह निगूढ़ रहस्य है। भगवत्-तत्त्व-दर्शन अद्वैत, द्वैत द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैत है। परंतु अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ है। मायाशक्ति ब्रह्मसे भिन्न है, परंतु वह निश्चय ही अभिन्न भी है; क्योंकि वह छिन्न नहीं है, खण्डित नहीं है। परब्रह्म अखण्डमण्डल हैं। अतएव भेदवादका प्रमाद खड़ा ही नहीं हो सकता। परंतु हम विश्वको तो देखते हैं और विश्वात्माको नहीं देखते। विश्व और विश्वात्मा एक हैं—यह बात समझमें नहीं आती, कहनेमें नहीं आती; परंतु भागवत उन्हें विश्व, अविश्व, विश्वद्रष्टा तथा विश्वहेतु (१०। १६। ४८) बतलाती है। गीता कहती है—

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।

'सारे प्राणी मुझमें हैं और मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ।' यही अचिन्त्य-भेदाभेद है। वे विश्वसे पृथक् नहीं हैं और विश्वके अन्तर्गत भी नहीं हैं। यही मायाका रहस्य है। जिसकी शक्ति है, उसके बिना वह शक्ति अर्थहीन है। अतएव वह अशक्ति अर्थात् असत् है। शक्तिका अन्वय होता है, व्यतिरेक नहीं होता—यह साधारण नियम है।* परंतु मायाशक्तिमें एक व्यतिरेक-व्यापार भी है। '**ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत**' (श्रीमद्भा० २। ९। ३३)। अर्थात् माया अर्थशून्य या तत्त्वशून्य होते हुए भी प्रतीयमान होती है—जैसे सरोवरमें चन्द्र-प्रतिबिम्ब। उसमें चन्द्रकी प्रतीति तो है, परंतु चन्द्र नहीं है। माया सत्य है और मिथ्या है। अथवा सत्य भी नहीं है और मिथ्या भी नहीं है, '**सदसद्भ्यामनिर्वचनीया**' है। परंतु कार्यतः कार्यकारणात्मिका है, शक्तितः सदसदात्मिका है। भागवतके प्रारम्भमें ही वाक्-कौशलपूर्वक कहा गया है कि 'ब्रह्म वह वस्तु है, जिसमें मायाकी सृष्टि है, अर्थात् भूत, इन्द्रिय और देवता—यह तीन प्रकारकी सृष्टि सत्य और मिथ्या है। '**यत्र त्रिसर्गोमृषा**', '**यत्र त्रिसर्गोमृषा।**' ब्रह्मका प्रतिभास विश्व है। विश्वोपलब्धिके साथ, उसकी भित्तिरूपमें यदि ब्रह्मोपलब्धि हो तो विश्व सत्य है और यदि विश्वकी उपलब्धि होती हो पर ब्रह्मकी नहीं होती हो—तो ऐसी अवस्थामें विश्व मिथ्या है, शून्यमय है। ब्रह्म पावनाके तिरोहित होनेपर बौद्ध राज्यमें '**शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य**'—अर्थात् तत्त्व शून्य है; क्योंकि भावका नाश होता है, विनाशका वस्तुरूपमें प्रकट होना धर्म है—इस प्रकार उत्कट दर्शनवादका प्रादुर्भाव हुआ था।

श्रुतिमें विश्वके मूलकारण ब्रह्मतत्त्वके निरूपणके प्रसंगमें कहा गया है—'**देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।**' लीलामय परमात्मास्वरूप ब्रह्म अपनी गुणमयी मायाके द्वारा अपनेको छिपाये रखते हैं। माया आवरण शक्ति है। परंतु माया ब्रह्मको पूर्णरूपेण निरुद्दिष्ट नहीं कर देती—शून्यमय नहीं कर देती, बल्कि इसके बदले यत्किंचित् प्रकट कर देती है। जो कुछ प्रकट करती है, वही सृष्टि है। ग्रह-नक्षत्र, गिरि-नदी, वन-कानन, जीवसमूह—अनुपपन्न अनुद्दिष्ट ब्रह्मके शून्यप्राय स्थानको पूर्ण करके जो अवस्थापन करते हैं, वही विश्व है। मायाकी इस विश्व-प्रकटन-शक्तिका नाम विक्षेप-शक्ति है। यह एक इन्द्रजाल फैलानेवाली शक्ति है।

* जहाँ शक्ति है, वहाँ शक्तिमान् है—यह अन्वय कहलाता है। और जहाँ शक्ति नहीं है, वहाँ शक्तिमान् भी नहीं है—यह व्यतिरेक कहलाता है।

स्वरूपसंगोपिनी तथ नाना-विचित्र-भाव-विभाविनी—स्वरूपको छिपानेवाली और विभिन्न विचित्र भावोंको अभिव्यक्त करनेवाली शक्ति है। जो सत्य है, तत्त्व है, वह इससे छिप जाता है। उस सत्यके स्थानमें असत्य अथवा अन्य कुछ सत्यका आभास लेकर प्रकाशित होता है। यही मायाकी शक्ति है। माया अघटन-घटना-पटीयसी है। माया वस्तुतः मायाविनी है। नाना वर्णोंसे रंजित बाष्पजालमें ब्रह्मज्योतिको आच्छादितकर कोटि-कोटि प्रकारकी रूपमूर्तियाँ—'देव-मानव, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, प्रजापति, मन-प्राण, सुख-दुःख, भाव-रंग-रस, अश्रुहास्य, तरुलता, पत्र-पुष्प, शोभा-सौरभ—विभासित हो रही है; अनन्त स्रोत प्रवाहित हैं। दिग्दिगन्त प्रकाशित हो उठे हैं, प्रस्फुटित होते हैं, और टूटते जा रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजीने इसी व्यापारको लक्ष्यमें रखकर कहा है—

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं

. . . . ।

त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते

मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥

(१०। १४। २२)

यह जगत् अनन्त है, प्रायः स्वरूपतत्त्वसे शून्य है, पर आत्मस्वरूपके आश्रयसे शून्य नहीं है। जो आत्मा हैं, जो स्वरूपतत्त्व हैं, जो परमपुरुष हैं, वे नित्यसुखोपलब्धिमय हैं, चिदानन्दघन-शरीर हैं। यह जगत्‌रूपी प्रपंच-पहेली, यह इन्द्रजालकी मनोहारिणी छायामूर्ति उन्हींकी निर्मल ज्योतिछटासे निरन्तर माया-प्रभाववश उद्भासित हो-होकर उन्हींमें मिलती जा रही है। किसकी क्षमता है, जो इस जगत्‌को मिथ्या समझे। मानो नित्य-सत्य प्रकाशका प्रवाह है; वैशाखकी दोपहरीमें सुदूर दिङ्मण्डलमें प्रखर रश्मि-स्रोतका प्रवाह है; केवल मरीचिका नहीं है, मृगतृष्णिका है। पिपासाको संदीप्त करती है, प्रशमन नहीं करती। ब्रह्म, माया और विश्व—इन तीनोंके सम्बन्धमें निगूढ़ संकेत इस श्लोकमें दिया गया है। यह वेदान्तका अन्तरतम सिद्धान्त है। ब्रह्माकी इस विश्व-उपलब्धिमें एक रहस्यमय द्वैतभावना है। माया और ब्रह्म—इन दोनोंका योगायोग यहाँ अनुभूत होता है। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी उपलब्धिमें यह द्वैत नहीं है, अभिनव भक्तिमय द्वैताद्वैत है।

यत शुनि श्रवणे सकलि कृष्ण नाम।

सकल भुवन देखों गोविन्देर धाम॥

यहाँ माया दूरीभूत होकर तिरोहित हो जाती है, रसब्रह्म तथा रूपब्रह्म प्रकाशित होते हैं—यहाँ तत्त्वब्रह्म अर्थहीन वस्तु है। कृष्णवर्णका एक शिशु मुरली बजा रहा है, यही ब्रह्म है। यहाँ गुणमयी माया नहीं है, मोहमयी माया है, चिन्मयी माया है, प्रेममयी माया है; इसका नाम है योगमाया।

परंतु इस विषयमें आगे विचार किया जायगा। मायाके दार्शनिक विभावके ऊपर एक बार दृष्टिपात किया गया। अब मायाके वैज्ञानिक या वास्तविक विभावके विषयमें कुछ समझनेकी चेष्टा करें। वास्तविक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक जीवनके जितने विभाग हैं, जितने विभाव हैं—सर्वत्र माया है। सब कुछ माया है। स्थूल, सूक्ष्म, कार्य, कारण—सब कुछ माया है, सभी मायाका कार्य है। परंतु ब्रह्म भी सर्वव्यापी है, अनन्त है। अतएव वह मायाके समस्त विभावोंको व्याप्त करके विद्यमान है। ब्रह्मके भी समस्त विभावोंको व्याप्तकर द्विरूपा माया विराजमान हो रही है। '**त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्**', हे माता! एक तुमसे ही यह सब कुछ परिपूरित है। यह जगत्‌के विषयमें कहा गया है। परंतु जगत् ब्रह्मके एकांशमें स्थित है।

दुर्भेद्य पर्वतादि सभी कुछ माया है। सुकोमल पुष्प, सुरम्य, पुष्प-सौरभ माया है, चन्द्र-सूर्य माया है। इन्द्रधनुष मायाका विलास है। मेघमाला आकाशमें सर्वत्र विचरण करती हुई मायाकी ही कहानी कहती रहती है। विद्युत्‌की क्षणिक प्रभा भी आकाश-पटपर मायाके मनकी बात लिख देती है, परंतु हम पढ़ नहीं पाते। स्रोतस्विनी निरन्तर कलकलध्वनिसे जो गान गाती रहती है, वह मायाके ही प्राणोंकी अनुभूति है। आकाशमण्डल, वायुमण्डल—समस्त मायाके विपुल विस्तार हैं, माया-के श्वास-प्रश्वासके प्रवाह हैं। इन्द्रिय माया है मन माया है, मायाका लीला-क्षेत्र है, बुद्धि मायाकी निरूपण-शक्ति है, अहंकार मायाका स्वर्णसिंहासन है, चित्त मायाका आलोकराज्य है, काम-क्रोध-लोभ-मोह मायाके किंकर हैं। कामना, वासना, आशा, निराशा, मायाके अन्तहीन जाल हैं। क्षुधा-तृषा, सुख-दुःख, स्नेह और प्रीति-प्यार, छल-प्रवञ्चना, हास्य-रुदन—समस्त मनोवृत्तियाँ मायाके प्रभावसे उत्पन्न मायाके विलास हैं।

एक मायाके ही इतने अचिन्तनीय और अनन्त भाव-वैभव हैं। यह विपुल कार्य-कलाप, क्रीड़ा और विलास-व्यापार, यह अभावनीय प्रकाश-परम्परा कैसे

सम्भव हुए हैं ? माया त्रिगुणमयी है, यह त्रिगुणात्मिका शक्ति ही मायाकी अशेष सृजन-शक्ति है, अनन्त उद्दीपिनी-शक्तिका हेतु है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन शक्तियाँ हैं।

अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।

तीनों गुण एक-दूसरेको अभिभूत करते हैं, एक-दूसरेका आश्रय लेकर कार्य करते हैं, एक-दूसरेका पोषण और पूर्ति करते हैं, परस्पर मिल जाते हैं तथा विरुद्धाचरण करके एक-दूसरेको पराजित करते हैं। रजस् क्रियाशक्ति (Dynamic force) है; तमस् स्थितिशक्ति निरोधशक्ति है। सत्त्व प्रकाशशक्ति है, साम्य-सुषमा शान्तिशक्ति है। रजसे चेष्टा उत्पन्न होती है, उद्यम, उद्योग होता है, काम-क्रोधादि होते है। तमसे जाड्य, आलस्य, निद्रा, भूल-भ्रान्ति, मोह और सब प्रकारकी अशान्ति उत्पन्न होती है। सत्त्वसे ज्ञान-विज्ञान, विद्या, सत्यवादिता और न्यायनिष्ठता, सारे सद्भाव—प्रेम, मैत्री, करुणा उत्पन्न होते हैं। ये तीन गुणोंकी पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ हैं। परंतु ये तीनों गुण कभी विच्छिन्न नहीं होते, नाना प्रकारसे मिल-जुलकर और हिंसा-द्वेष विवाद-विरोध करते हुए चलते हैं। कितने प्रकारसे, कितनी मात्रामें, कितने भावोंमें, कितने प्रकारसे गुणत्रयका योग-वियोग, विरोध-मिलन संघटित होता है—ये बातें देवबुद्धिके लिये भी अगम्य हैं। तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका संयोग-साहचर्य तथा द्वन्द्व-संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। इनके ही विपुल व्यापारोंसे विश्व-जगत्के प्रपंच-वैचित्र्य संसिद्ध होते हैं। जहाँ निश्चल पत्थर है, वहाँ गम्भीर तमकी प्रधानता है, सत्त्व और रजोवृत्ति रुद्ध हैं। जहाँ उषाका आलोक प्रवाहित होता है, वहाँ रजोवृत्तिकी निर्मल क्रिया है। झंझावात रजोमय होता है। प्रत्येक गुणके साथ अन्य दो गुणोंका यत्किंचित् सम्बन्ध रहेगा ही। कवि जब काव्यरचना करता है, तब उसका चित्त सत्त्वप्रधान होता है। मानसिक क्रिया हो रही है, इसलिये यह समझना होगा कि रजोवृत्ति है। यहाँ तमोगुण प्रतिहत है। परोपकारी पुरुष दूसरोंके हितार्थ उद्यम करते हैं, वहाँ रजस् सत्त्व-युक्त होकर वृत्तिमान् होता है। जगत्के स्वार्थ-समुत्साहमें रजोगुण और तमोगुण होते हैं, सत्त्व प्रतिहत होता है। मनुष्यके सारे भ्रम-प्रमादरूप भाव-विपर्यय तमोजन्य होते हैं। यह विविध गुणवृत्तिवैचित्र्य तथा नाना वृत्तियोंका नाना मात्राओंमें सांकर्य अर्थात् सम्मिश्रण जगत्-वैचित्र्यका सुगहन कारण है।

जागतिक जीवनमें जो कुछ दोषयुक्त, निन्दनीय और कुत्सित कार्य हैं, सब रजोगुण और तमोगुणके व्यापारसे उत्पन्न होते हैं। रज और तम उसी प्रकार मित्रभावापन्न हैं, जैसे लवण और जल। ये सहज ही घुल-मिलकर काम करते हैं। ये प्रायः सत्त्वके विपरीत पथपर चलते हैं। सत्त्व पराजित हो जाता है। इसी कारण संसारमें इतने पाप हैं। सब गुणोंमें शक्ति समान हैं—१/३+१/३+१/३। रजोगुण और तमोगुण मिलते हैं तो सत्त्वगुणसे दूने शक्तिशाली हो जाते हैं। संसारमें सद्भाव, न्याय, सत्य, पुण्यकी प्रवृत्ति लुप्त हो जा सकती है, ऐसा होना ही स्वाभाविक है। बहुधा संसार पापसे आच्छादित हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो संसारमें पुण्यका स्थान ही नहीं है; परंतु ऐसी बात नहीं, ऐसा होता भी नहीं। इसका एक बहुत बड़ा कारण है। सत्त्व एक विशाल शक्तिभण्डारसे, एक महान् प्रभाव-प्रस्रवणसे शक्तिसंचय करता है। सत्त्व परसत्त्व-स्वरूप परमपुरुषके साथ अनायास ही योगयुक्त होकर शक्ति-सामर्थ्य संग्रह कर सकता है। रजोगुण और तमोगुणके लिये यह सम्भावना बिलकुल नहीं है। सत्त्व जब परमेश्वरका आश्रय लेता है, तब सहस्रों रजोगुण और तमोगुणकी शक्तियाँ भी उसे चलायमान नहीं कर सकतीं। भगवान्के पादपद्म जब सत्त्वकी मंगलमयी भूमिमें स्थापित हो जाते हैं, तब अधर्मकृत सारे अमंगल, सारे अन्धकार दूर हो जाते हैं। जगत् कभी पापसे परिप्लुत होकर अन्धतमस्में विलुप्त नहीं होता। इसका कारण है कि भगवान्का सत्त्व-सान्निध्य, सत्त्व-संयोग। अवतार-तत्त्वका रहस्य इसीमें निहित है। दुर्गासप्तशतीके प्रथम अध्यायमें यह रहस्य विस्मयजनक रूप धारण करता है। भगवद्भावनासे हीन शुद्ध चरित्रका कोई विशेष मूल्य नहीं है, उसका कोई विश्वास नहीं है—इस आलोकमें यह नीति भी समझने योग्य है, तमोगुणको दूर करनेके मार्गमें रजोवृत्तिको सत्त्वके अधीन करनेके लिये जो प्रयास होता है, जो साधना होती है, वही नैतिक साधना या चरित्र साधना है। यह साधना बार-बार असफल हो जाती है, यदि साधक भगवान्का आश्रय नहीं लेता, यदि साथ-ही-साथ भगवान्को आत्मसमर्पणकी साधना नहीं करता। यही मानव-चरित्र-दर्शन है, पाप-पुण्यके उत्थान-पतनका तत्त्वदर्शन है। यह त्रिगुण तत्त्वके साथ बहुत घनिष्ठरूपमें संयुक्त है। त्रिगुणमयी मायाकी वृत्ति और उसका फलाफल कुछ कहा गया। परंतु अब भी मायाके विषयमें कुछ भी

समझा नहीं गया।

माया है, इसीलिये हम भगवान्‌का चिन्तन नहीं करते और भगवान्‌को नहीं जानते। यह सत्य है। परंतु यदि माया न होती तो भी हम भगवान्‌को नहीं जान सकते। जानने या न जाननेका प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि मायाके न रहनेपर हम कोई भी नहीं होते। कुछ भी नहीं रहता। '**नान्यत् किंचन मिषत्।**' कहीं किसी-का स्फुरण नहीं होता। ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान एक हो जाते' अर्थात् कुछ भी न होता। ब्रह्मकी मायाशक्तिका प्रयोग—प्रवृत्ति ही वह व्यापार है, जिससे एक ओर लाखों-लाखों ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान, कोटि-कोटि आशा-आकांक्षा, विद्या-बुद्धि, सुख-दुःख, शोक-हर्ष, विरह-मिलन, युद्ध-विग्रह, शिल्पकला और शोभा-सुषमाके साथ अनन्त वैचित्र्ययुक्त यह विस्तृत विश्व अनन्त आकाशमें प्रस्फुटित हो उठता है, और दूसरी ओर ज्योतिराशि परब्रह्म अन्तर्हित हो जाता है—जिस ज्योतिकी तुलनामें अखिल ब्रह्माण्ड अन्धकारवत् है। भागवतकी भाषामें—

तस्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि।

'गम्भीर रजनीमें कुहरेके समान और दिनके आलोकमें जुगनूके समान वह ज्योति अदृश्य हो जाती है।'—

इस जगत्‌को प्रकट करनेमें कारणरूपिणी मायाका नाम प्रकृति है। यह प्रकृति जो कुछ प्रकाशित करती है अर्थात् प्रकृतिके द्वारा प्रकाशित यह विश्व-ब्रह्माण्ड न तो ब्रह्म है न सच्चिदानन्द; बल्कि नाना प्रकारसे, सरल-कुटिल नाना पथमें ब्रह्मको प्रतिभासित करनेवाला है। अर्थात् यह विश्व ब्रह्मका प्रतिभास है। ब्रह्मके बिना जगत्‌की स्थिति नहीं हो सकती। ब्रह्मकी रश्मियाँ जगत्‌में ओत-प्रोत हैं। परंतु वे रश्मियाँ स्वच्छ नहीं हैं, तमसाच्छन्न हैं, नाना रूपोंमें विकृत हैं। फिर वे ब्रह्मके अस्तित्वका पता बतलाती हैं। साथ ही वे ब्रह्मको छिपाये रखती हैं। जो लोग ज्योति चाहते हैं, जगत् उनके लिये ज्योतिकी रेखासे पूर्ण है और जो नहीं चाहते, वे चूहे अथवा कृमि-कीटादिके समान अन्धकारको ही प्रकाश मान लेते हैं। उनके लिये जगत् ब्रह्मके किरणकणोंसे हीन है।

प्रकृतिके दो कार्य हैं—भोग और अपवर्ग। जीवमात्रको जगत्‌का परिचय प्रदान करना और विषयभोगमें सहायता देना प्रकृतिका कार्य है। इस विषय-भोगके मोहसे उसे मुक्त करना, उसके वासना-बन्धनको काटना—यह भी प्रकृतिका कार्य है। परब्रह्मके अनन्त आनन्दलोकमें प्रत्येक जीव प्रवेश करे, प्रत्येक जीव मुक्त हो जाय—यह महामायाकी एकान्त इच्छा है। जो समझते हैं कि माया चिरकालतक जीवको संसारमें फँसाये रखना चाहती है, वे भ्रान्तिमें हैं; बहुतेरे विद्वान् कुसंस्कारवश ऐसा मानते हैं। जिनको मुक्तिकी कामना नहीं है, जो केवल भोग-चिन्तनमें ही जीवन-यापन करते हैं, उनको माया भटका-भटकाकर मारती है—**विभ्रामयति**; उनके लिये माया भ्रान्तिमयी अविद्या है। जो लोग मुक्ति या भक्तिके लिये भगवान्‌का आश्रय लेते हैं, उनके लिये माया विद्यादायिनी ज्ञानदायिनी महाविद्या है—

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।

ब्रह्म एक और अद्वितीय है। वे एक ही अनेक—असंख्य होकर आदान-प्रदानका खेल, प्रेम-प्रणय और द्वन्द्व-कलहका खेल जिस शक्तिके द्वारा खेलते हैं, वह शक्ति ही माया है।

प्रकृति चेतनामयी है, यह बात सहज ही कहते नहीं बनती। प्रकृति अचेतन है, यह बात सत्य भी नहीं है और मिथ्या भी नहीं है। '**तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्**'—सांख्यकारिकाकी यह उक्ति, तथा सांख्यसूत्रका '**तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्**' एवं पुराणोंका '**योगनिद्रातत्त्व**'—इन सबको एक साथ मिलाकर देखनेपर समझमें आ जाता है कि प्रकृतिकी अचेतनता कल्पनाके द्वारा गृहीत होनेपर भी कार्यतः नहीं सिद्ध होती। क्योंकि ब्रह्मकी शक्ति माया ब्रह्मसे विरहित नहीं हो सकती। अतएव वह ब्रह्ममयी है, अतएव ज्ञानमयी और चैतन्यमयी है। क्योंकि ब्रह्म चिद्वस्तु है—'**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**'। माया सत्य शक्ति है, मिथ्या संघटन करती है, समानयन करती है, परन्तु स्वयं मिथ्या नहीं है। वह अप्रतिहत ज्ञानसे स्फुरित होती है। अतएव ज्ञानवती है। अनन्तसे उत्पन्न होती है, अतः स्वयं अनन्त है।

पहले कहा जा चुका है कि माया शक्तिमात्र, सत्तामात्र नहीं है, व्यक्तिभूता है; वह देवी भगवती, दुर्गा और जगज्जननी है; वह प्रथम ब्रह्म-ज्योति है, ब्रह्म-तेज, उसीसे जाग्रत् हुई है, आविर्भूत हुई है, दिव्य तेजस्विनी रमणीके रूपमें—

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥

ब्रह्मशक्ति जडशक्ति नहीं हो सकती, Mechanical force नहीं हो सकती। वह दिव्य ज्ञान-विज्ञानशक्ति है, सर्वार्थसाधिका शक्ति है, सर्वमंगलमयी शक्ति है,

प्रेम-करुणामयी शक्ति है, दैत्यसंहारिणी शक्ति है, आद्या शक्ति मूर्तिमती परमेश्वरी है, कोटि विद्युद्दामके समान प्रभामयी है, सिंहवाहिनी है। देवीका सिंह निखिल जडशक्तिमें मूर्तिमन्त हो रहा है।

यह रूप काल्पनिक है, ध्रुव सत्य है, प्रत्यक्ष सत्य है; जो लोग इस महा-शक्तिस्वरूपिणी देवीको कल्पना समझते हैं, वे बड़े ही भाग्यहीन हैं, ज्ञानहीन तो हैं ही। देवी अनन्तशक्तिधारिणी हैं; प्रत्येक शक्ति ही देवी, अनुचरी और किंकरी है।

'कन्याभिः करवालखेटविलसद्धस्ताभिरासेविताम्।'
'.........अनलात्मिकां शशिधरां दुर्गां त्रिनेत्रां भजे।'

भगवती दुर्गा महामाया भजनीया है, केवल विमोहिनी माया नहीं हैं; वे ब्रह्ममयी हैं। देवीके अन्तरको पूर्ण कर रहे हैं षडैश्वर्यशाली, अशेष रूप-रस-लावण्य-समन्वित सर्वशक्तिमान् परमेश्वर भगवान्। जगज्जननीने 'उनको ढक रखा है'—यह बात जिस प्रकार सत्य है, उसी प्रकार यह भी सत्य है कि 'उसने उनको विश्व-पटलपर अंकित कर रखा है।' जबतक वह सन्तानको परमेश्वरके सुख-शोभा-सुधा-सौन्दर्यके सुविमल राज्यके ऐश्वर्य-माधुर्यके भोगने योग्य नहीं बना देती, तबतक उसको शान्ति नहीं। वह इसको जन्मसे मरण और मरणसे जन्मके हिंडोलेपर निरन्तर झुलाती रहेगी और सोचती रहेगी कि इसको कब मुक्त करूँगी।

हम देवीको दानवदलिनी और असुरसंहारिणीके रूपमें महायुद्धमें संलग्न देखते हैं। देवीका वह रूप जैसे बहिरंग है, वैसे ही अन्तरंग भी है। एक ओर देवी रणांगणमें रण-रंगिणी रण-चंचला हैं, और दूसरी ओर अन्तरके अन्तर्देशमें हृत्पद्मदलमें समासीना, शान्तिमयी, दिव्यरूपलावण्यमयी, चिन्मयी हैं, सुधासिन्धुके बीच मणिमण्डपमें रत्नवेदिकापर सिंहासनासीन हैं, पीताम्बर धारणकर कनकभूषणमालासे सुशोभित हो रही हैं।

भगवतीकी अनन्त विस्तार करनेवाली प्रतिभाका यह एक प्रान्त है, उनका अन्य प्रान्त समस्त जागतिक तत्त्वोंका उपादन-कारणस्वरूप है। उपादान-कारणरूपमें महामायाका नाम प्रधान है, जगत्-कर्त्रीरूपमें वे प्रकृति हैं, और जगत्से व्यतिरिक्त रूपमें वे अव्यक्त हैं, त्रिगुणरूप हैं। माया त्रिगुण तत्त्व है, यह सत्य है। परंतु यह सत्यका एक क्षुद्र अंशमात्र है। क्योंकि भगवती केवल त्रिगुण मात्रात्मिका नहीं हैं; वे त्रिगुणकी अधीश्वरी हैं, वे त्रिगुणकी अधिष्ठात्री देवी हैं—

यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु............।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वम्................॥

(दुर्गासप्तशती १। ८२-८३)

दार्शनिकोंने मायाका जो विवरण दिया है, वह शुष्क तत्त्वात्मक (abstraction) है। सचमुचकी माया, वास्तविक माया, प्राणवती-ज्ञानवती माया प्रकाशित हो रही है पुराणोंमें।

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं.......................॥

यह अति शुष्क वर्णन है। सत्य नहीं है, सत्याभास है। दार्शनिककी शुष्क ज्ञानदृष्टिकी अपेक्षा असुरकी द्वेषदृष्टिमें भी सत्यका अधिक प्रकाश है। महिषासुरने देवीको पहले देखा था सृष्टिके आदिमें—

स ददर्श ततो देवीं व्याप्तलोकत्रयां त्विषा॥
पादाक्रान्त्या नतभुवं किरीटोल्लिखिताम्बराम्।
क्षोभिताशेषपातालां धनुर्ज्यानिस्वनेन ताम्॥
दिशो भुजसहस्रेण समन्ताद् व्याप्य संस्थिताम्।

(दुर्गासप्तशती २। ३७-३९)

यह महामायाका नित्य-सत्यरूप है, विश्वव्यापी रूप है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥

—इस श्रुतिके द्वारा प्रकाशित रूपके अनुरूप ही उनका स्वरूप है, एक ही विश्वतत्त्वका अन्यतर विभाव है; दृष्टिपथ विभिन्न हैं, प्रकाश विभिन्न है, दोनों ही—पुरुष और प्रकृति सत्य है। सप्तशतीमें पुरुष अन्तर्गत है, श्रुतिमें प्रकृति अन्तर्गत है। दोनोंमें कोई विरोध नहीं है। दर्शनकी दृष्टि ज्ञानदृष्टि है। ज्ञानदृष्टिमें छायाकी छाया दीख पड़ती है। श्रुतिकी दृष्टि और पुराणकी दृष्टि भक्तिदृष्टि है। भक्तिके आलोकमें सर्वतोभावेन जीवन्त तत्त्व आविर्भूत होता है। दर्शनके द्वारा प्रतिपादित समस्त माया-तत्त्व सप्तशतीमें स्पष्टतररूपसे प्रतिभात होता है। परंतु सप्तशतीमें देवी केवल तत्त्वात्मिका नहीं हैं; वहाँ देवी लीलामयी हैं, सर्वार्थसाधिकारूपमें प्रकट हो रही हैं; वे रूपवती हैं, गुणवती हैं, रस-रंगमयी हैं। वे ही सचमुचकी महामाया हैं। सांख्यमें इनकी ही काल्पनिक कंकालमाला दृष्टिगोचर होती है। सप्तशती भक्तिग्रन्थ है। शोणित-स्रोतके साथ-साथ रक्तवर्ण भक्ति-स्रोत बह रहा है, सप्तशतीकी प्रत्येक पंक्तिमें, प्रत्येक श्लोकमें।

महामायाकी दो विपरीत शक्तियाँ या वृत्तियाँ हैं—

आरोहिणी और अवरोहिणी। वृक्षसे टूटे हुए शुष्क पत्ररूपमें बालुका-कणरूपमें माया अवरोहिणी होती हैं। वे दिव्य आकाशसे उतरकर आती हैं और हीनता स्वीकार करती हैं, यह बात तो कहते नहीं बनती। क्योंकि जो सर्वमयी हैं उनमें हीनता-दीनता या गुरु-गौरव आदि भेद नहीं हैं।

सर्वभूता यदा देवीं स्वर्गमुक्तिप्रदायिनी।
त्वं स्तुता स्तुतये का वा भवन्तु परमोक्तयः॥

आरोहण-प्रणालीमें वे इन्द्रादि देवोंकी भी आराध्या, पुण्य-ज्योतिर्मयी हैं। वे सर्वभूता और सर्ववस्तुभूता होते हुए भी सदा सर्वमुक्ता और स्वतन्त्र हैं। ब्रह्म-विभाषिनी हैं, भगवती हैं। ब्रह्म सर्वव्यापी है, सर्वस्वरूप है, ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। तब भी हमको ब्रह्मानुभव नहीं होता। ग्रह-नक्षत्र, गिरि-नदी, तरु-लता, पशु-पक्षीको हम देखते हैं। यह जो ब्रह्मातिरिक्त दर्शन है, यह जो ब्रह्मातिरिक्त भिन्न प्रकाश है, यह जो दीर्घकालीन भ्रान्ति है, यह जो वंचना है, सो मायाका प्रभाव है। परंतु ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मभावकी साधना करनेवाले ऋषियोंने सर्वत्र नव-नव-भावापन्न ब्रह्मका दर्शन किया; उनको ब्रह्मातिरिक्त कुछ दृष्टिगोचर नहीं हुआ। माया उनकी ब्रह्मानुभूतिको प्रतिहत नहीं करती और न उसमें बाधा उपस्थित करती है। वह ब्रह्मको नित्य नये-नये रूपमें, रसमें, भावमें, वर्णमें अनुरंजित करके प्रकाशित करती है। श्रुति कहती है—

एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।

यह जो अवर्णका नाना वर्णोंमें उपस्थित होना, अरूपका अनन्त रूपोंमें वैचित्र्यके साथ प्रकट होना है—यह मायाका प्रभाव है।

शास्त्रोंमें मायाके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी विपरीत उक्तियाँ प्राप्त होती हैं—

महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः।
महामोहा च भवती महादेवी महासुरी॥

तथा—

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः॥

'**सुकृतिनाम्**' तथा '**पापात्मनाम्**' इन दो भेद-वाक्योंमें समस्त भेद—वैपरीत्य निहित है। मायाके प्रभावसे विभिन्न अन्तःकरण हैं। विभिन्न चित्तवृत्ति, मति-गति और चरित्रोंके ऊपर विभिन्न प्रकारसे मायाका प्रभाव है। वे देवी हैं, असुरी हैं; वे लक्ष्मी हैं, अलक्ष्मी हैं; वे मेधा हैं, मोह हैं; स्मृति हैं, विस्मृति हैं; ज्योति हैं, तम हैं; वे रक्षाकारिणी हैं, ध्वंसकारिणी हैं। विचित्र भाव, रूप और क्रिया ही मायाके चरित्र हैं। अनहोनीका होना, असम्भवका सम्भव होना, अचिन्तनीयका आविर्भाव मायाकी क्रियाशक्तिके अन्तर्गत हैं। मायाशक्तिहीन ब्रह्म केवल स्थावर ही नहीं, मानो अस्तित्वविहीन है। ब्रह्म है और सद्वस्तु है, इसका प्रमाण माया ही है। माया ही उसके अनन्त, अमृत, अचिन्त्य जीवनका एकमात्र आश्रय है। इसी कारण दुर्गाजी कहती हैं—

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।

मायाविहीन होनेपर जो ब्रह्म रहता है, उसका नाम महामृत्यु है। तथापि वह '**आनन्दरूपममृतं यद्विभाति**'—आनन्दरूप अमृतके समान प्रकाशित है। मायाविरहित ब्रह्मको ही श्रुतिने '**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्**' तथा '**अद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रवर्णम्**' कहा है। वह एक प्रचण्डनकार (A huge negation) है। मायायुक्त होनेपर वही मनोमय है, प्राण और शरीरका नेता है, सर्वकर्मा है, सर्वकाम है, सर्वरस और सर्वगन्ध है। नीलपतंग, हरित और लोहिताक्ष है, और इसी प्रकारके नये-नये रूपोंमें प्रकाशित होता रहता है।

माया ब्रह्मकी निजी शक्ति है। उस शक्तिसे ब्रह्म भगवान्को विच्युत करनेके लिये, शुद्धाद्वैत भावना उत्पन्न करनेके लिये हृदयहीन पण्डितगण घोर दुराग्रह क्यों करते हैं—यह परब्रह्म ही जाने। यह भी मायाका ही प्रभाव है। जीवमात्र ही ब्रह्म-रश्मि हैं, ब्रह्मकण हैं या चित्कण हैं। परंतु ये चित्कण भिन्न-विभाविनी मायाशक्ति, अथवा पृथक्-प्रकाशिनी मायाविनी प्रकृतिके किसी एक भावांशकणके द्वारा सम्पुटित (incased, ensheathed) रहते हैं। चित्कण क्षेत्रज्ञ हैं। मायाकण अथवा प्रकृतिपुट क्षेत्र हैं। इन दोनों (spirit and matter) के योगसूत्रसे उत्पन्न होता है प्राण और जीवन। मायाशक्ति ब्रह्म-चैतन्य (Spirit) से स्फुरित होकर सूक्ष्मसे स्थूलभाव धारण करते-करते जड (matter), प्रस्तर आदिमें परिणत हो जाती है। बीचमें इन्द्रिय आदिकी सृष्टि होती है। सब कुछ मायाशक्तिका विकार है। सारे विकारोंको प्रकट करके महामाया स्वयं अविकृत रहती हैं जगदात्मशक्तिके रूपमें (सप्तशती ४। ३)।

मायाकी यह जो अन्तहीन क्रियाशीलता है, चिरचंचलता है—इसका गम्भीर उद्देश्य है जीवोंका

आविर्भाव करना, उनका धारण, रक्षण, प्रतिपालन तथा जन्म-मृत्युके पथमें संचालन करना। इसके अन्तर्गत और भी गम्भीरतर उद्देश्य है, जिसके लिये सुविस्तृत सृष्टि-प्रवाह चलता है। इस चिर परिवर्तनमय, निरन्तर परिणामशील, सुख-दुःखकी भीषण तरंगोंवाले भवसिन्धुके मध्य मृत्युमय जीवन-यापन कराते हुए, जीवोंको चिदानन्दस्वरूप भगवान्‌के रस-सौन्दर्य-राज्यमें अनन्तकालके लिये प्रतिष्ठित कर देना ही महामायाका दूसरा उद्देश्य है। यह उद्देश्य ही जीव-जीवनका निगूढ़ रहस्य (the deepest Romance) है। महामाया नायिका हैं और महानाटककी निर्मात्री हैं। इसी कारण परब्रह्मका एक नाम है नटेन्द्र—नटवर। '**रंगे यथा नटवरौक्व च गायमानौ**।' महामायाके इस महातत्त्वदर्शनके भीतर प्रवेश किये बिना विश्व-जीवनके रहस्यका कहीं भी समाधान नहीं मिल सकेगा। सहस्रों अकल्याणसे भरे हुए जीव-जीवनकी अन्तिम परिणति, परम पर्यवसान (the final consummation), चिरकल्याणमय, चिरसुख-सौन्दर्यमय अमृत जीवनमें होता है। विश्व-प्रकृतिके अन्तरमें विद्युदक्षरोंद्वारा उस उद्देश्यका महामन्त्र अंकित है, इसीलिये प्रकृति उसका जप करती है। देवीकी अनन्त करुणा '**चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा**' है, उनके चित्तमें कृपा और युद्धभूमिमें निष्ठुरता देखी जाती है। जीव दुःख पाते हैं अपने दोषोंसे। आलोकका मार्ग छोड़कर अन्धकारमें जाते हैं अहंकारके वश होकर, मोहके वश होकर। मायाका आलोकराज्य भी खुला हुआ है और अन्धकारका पथ भी खुला है। जीवकी जहाँ इच्छा होती है, जाता है। माया परीक्षा करती है, सत्-असत्‌को प्रमाणित करती है। जीवको संसारमें जो स्वाधीनता मिली है, वह उसका जन्मसिद्ध अधिकार है; माया उस अधिकारका अपहरण नहीं करती। जो स्वाधीनतापूर्वक मंगलमार्गमें जाता है, देवी आनन्दसे उसकी सहायता करती हैं। और यदि स्वाधीनतापूर्वक अमंगलके मार्गमें जाता है तो वे बाधा नहीं देतीं, अमंगलके अन्धकारमें ही उसे जाने देती हैं। मंगल और अमंगलके सब उसीके हैं। यह समझते ही अमंगल क्षीण होने लगता है—'**क्षिणोत्यभद्रम्**।'

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

'**तरन्ति**' का अर्थ 'मायाके अतीत हो जाना नहीं है, मायाके अकल्याण-प्रभावसे मुक्त हो जाना है। इन्द्रधनुषमें बाष्पजाल जिस प्रकार रविकी किरणोंके सुरम्य वर्णोंको खोल देता है। विश्वरूपी मायादर्पण भी उसी प्रकार ब्रह्मकी अनन्त शोभा-सम्पत्‌को विभासित कर देता है। विश्वमायाका दर्पण पांचभौतिक है। इस दर्पणमें हम जो कुछ देखते हैं, अथवा देव-ऋषि-मुनियोंने जो कुछ देखा है, वह ब्रह्मकी एकपादविभूति है, एकांशमात्र है, निष्कृष्ट अंश है, वैकारिक अंश है। निरन्तर गिरता, पड़ता बह जाता है। फिर प्रस्फुटित होता है, फिर टूटता है और फिर विकसित होता है। जो इस विश्व दृश्यकी अधीश्वरी माया है, वह जीवमाया है, जगन्माया है। ब्रह्मकी अपरा शक्ति है, बहिरंगा शक्ति है। वह जिस प्रकार योगमें सहायता प्रदान करनेवाली योगिनी है, उसी प्रकार वियोग-साधन करनेवाली वियोगिनी विवादिनी भी है। प्रधानतः यह 'वियोगमाया है।

महामायाका एक सुदिव्य, सुनिर्मल, सर्वसुषमा-समन्वित विभाव है। उस विभावमें उनका नाम पड़ता है '**योगमाया**'। वे परब्रह्मकी स्वरूपशक्ति हैं; पांचभौतिक, परिणामशील मृत्यु-शासित विश्वको जो प्रकाशित करती हैं, वे जगन्माया हैं और जीवमाया हैं। परंतु जो चिन्मय, चिर-आनन्दमय, दिव्य प्रेम-सौन्दर्यमय, अमृतमय विश्वको प्रकाशित करती हैं, वे हैं 'योगमाया।' जिस प्रकार मनुष्यके जीवन-यापनका हेतु यह दृश्यमान जगत् है, उसी प्रकार श्रीभगवान्‌के सर्व-ऐश्वर्यसम्पन्न, सर्वमाधुर्यमय जीवन-यापनका हेतु भी एक अत्याश्चर्यमय, सर्वचित्ताकर्षक जगत् है, जो कोटि-कोटि कल्पोंमें भी विनाशको नहीं प्राप्त होता, अनन्तकालतक तरुण, शोभनीय, सुकुमार और सुरम्यरूपमें विराजमान रहता है। श्रीमद्भागवतमें इसका कुछ आभास मिलता है—

भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते
लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम्।
विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः
सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः॥

(२। ९। १२)

—यह भगवान्‌की स्वरूपैश्वर्यमय त्रिपाद्‌विभूति है।

जिस प्रकार जीवकी आत्मोपलब्धि आवश्यक है, उसी प्रकार परब्रह्म परमेश्वर भी आत्मोपलब्धि (Self-Realization) की इच्छा करते हैं। आत्मोपलब्धिके लिये वे दो महाशक्तियों, दो इन्द्रजालशक्तियोंका प्रयोग करते हैं। वे '**नित्यावाप्तसमस्तकामः**'—नित्य पूर्णकाम हैं। वे अपने अनन्त कामना-भण्डारको खोल देते हैं—

दो महाकाशोंके मार्गसे, दो प्रणालियोंसे। कोटि-कोटि कामनाओंकी पूर्णता-प्राप्तिसे भगवान्‌का अन्तर भरा रहता है। फिर वे उसी सम्पूर्ण भण्डारको अपूर्ण (खाली) करके फैला देते हैं, पुनः पूर्ण करनेके लिये, पुनः प्राप्त करनेके लिये। वे नित्य पूर्ण होते हुए भी नित्य अपूर्ण हैं। सदा स्वरूपको सम्प्राप्त होकर भी स्वरूपानुसन्धानमें व्यस्त रहते हैं। इसका निगूढ़ कारण यही है कि वे प्रेमस्वरूप हैं, रसस्वरूप हैं, अखिल-रसामृतमय हैं। वे आनन्दघन हैं, केवलानुभवानन्द स्वरूप हैं। अर्थात् वे निबिड़ प्रेमानुराग-निभृतात्मतत्त्व हैं। परब्रह्मकी प्रेम-पिपासाका अन्त नहीं है। उस पिपासाकी पूर्तिके लिये ही वे शत-सहस्र चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्डकी रचना करते हैं। इस व्यापारमें उनकी सहायता करनेवाली 'सर्वार्थसाधिका'—उनके सर्व अर्थोंको साधन करनेवाली, उनके लीला-नाटककी सूत्रधरी महामाया, दुर्गा भगवती हैं।

इस विश्वलीलासे उनके हृदयकी आशा पूरी नहीं होती। उन्होंने इस विश्वराज्यके परे एक अनन्त, असीम, चिन्मय, नित्य ज्योतिर्मय अपूर्व राज्य प्रकाशित कर रखा है। उसी राज्यमें उनकी परमतम आत्मोपलब्धि होती है। उसी राज्यमें लीला-पुरुषोत्तमका अमृत-मधुर प्रणय-लीला-प्रवाह अनन्तकालतक चलता रहता है। उसी राज्यमें सर्वार्थसंसाधिनी, सर्वाश्चर्यसम्पादनकारिणी महाशक्ति योगमाया विराजित हैं; वे निरन्तर क्रियाशीला, क्रीडामयी हैं; चिन्मयी वहाँकी भूमि है। गिरि-नदी, वन-कानन, पशु-पक्षी प्रभृतिसे पूर्ण उस पृष्ठभूमिपर स्वरूप-राज्य अनन्त विस्तृत है। जो कुछ है, सब प्राकृतिक-गुणातीत चिन्मय है। पिता-माता, आत्मीय-स्वजन, सखा-सुहृन्मित्र हैं, लाखों-लाखों भावमयी और रस-रंगमयी सखी, सहचरी, प्राणप्रिया हैं। परम पुरुषकी स्वरूपाशक्तिरूपा योगमाया भगवती निखिल रस-सम्बन्धका विधान करती है। **'रसो वै सः।'** अर्थात् वे केवल आनन्द हैं, केवल प्रेम हैं, केवल सौन्दर्य हैं, निरन्तर लीला-विलास-परायण हैं; वे अद्वितीय—एक हैं, परन्तु दुरन्त रसकी प्रेरणासे अनन्त रूप, अनन्त, भावमूर्ति, अनन्त सम्बन्धोंको धारण किये हुए हैं। उनकी अद्वैत, ब्रह्मभावमात्रकी उपलब्धि प्रबल प्रणय-वेगसे गलकर तरल तरंगोंमें संचारित हो जाती है; प्रत्येक तरंग मूर्तिमान् होती है, लीलामृत-स्रोतस्विनी दिग्दिगन्तमें प्रवाहित होती है, परब्रह्मकी आत्मोपलब्धि हो जाती है, आत्मविस्मृतिके मार्गमें आत्मोपलब्धि होती है।

रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया।
..योगेश्वरेश्वरः—

तथा—

तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह॥
अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २२। ९-१०)

महायोगेश्वर आत्माराम, स्वराज्यलक्ष्मीके द्वारा आप्त समस्त काम श्रीभगवान्‌की आत्मोपलब्धि अथवा चिदानन्द-लीलारस-पानका यह एक मनोहर चित्र है। जिस महाशक्तिके प्रयोगसे यह निगूढ़ चिदानन्द-समारोह सम्भव होता है, उस शक्तिका ही नाम योगमाया है। और इस परमानन्द-समारोहमय राज्यका नाम गोलोक अर्थात् ज्योतिर्लोक है। इस विश्वके समान उस राज्यमें भी सब कुछ है; परंतु सब कुछ चिज्ज्योतिर्मय है, अमृतानन्दमय है, सुन्दर, सुरभि और सुरम्य है। यह विश्व उसी राज्यका विकृत, विभ्रष्ट छाया-प्रतिभास है। यह विश्व विश्वके जीवोंकी शिक्षा और साधनाका क्षेत्र है, शत-सहस्र परीक्षाओंका क्षेत्र है। महामाया शिक्षयित्री हैं, परीक्षाविधायिनी हैं, उद्धारकारिणी हैं; साथ ही असद्बुद्धि अभक्त असुरगणके लिये भीषण दण्डदायिनी हैं, ध्वंसकारिणी हैं। योगमाया चिदानन्दके आस्वादनका विधान करनेवाली हैं। माया महारहस्यमयी हैं, अनन्त इन्द्रजाल-विद्याकी विदुषी हैं। उसी इन्द्रजालके द्वारा सत्यका प्रकाश होता है। मायासे भिन्न ब्रह्म शून्यमय है, असत्यवत् है—**'असद्वा इदमग्र आसीत्।'** मायाके प्रभावसे ब्रह्म सत्य होता है। ब्रह्म-विस्मरणका हेतु है माया-मोह। माया करुणामयी कल्याणमयी जननी है, इस बातको भूलनेपर ही माया-मोहके वशीभूत होना पड़ता है। विद्या तथा दिव्य अवबोध भी माया ही है,अविद्या तथा अज्ञान और मोह भी माया ही है। जो जिसको चाहता है, उसीको पाता है।

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी॥

संसारमें यदि केवल ज्योति होती तो उस ज्योतिको कोई प्राप्त नहीं करता; वह न रहनेके समान ही होती। ज्योतिकी प्रतिष्ठाके लिये तमस्‌की आवश्यकता है। अस्तित्वकी प्रतिष्ठाके रूपमें जो द्वैत है, माया उसका विधान करती है विश्वमें त्रिगुणात्मक जडके द्वारा—और गोलोकमें रसवैचित्र्य-प्रणालीके द्वारा, चित्सामग्रीसमूहके द्वारा।

मायाको समझे बिना जगत्का तत्त्व समझमें नहीं आ सकता। संसार एक अत्यन्त सुदुर्गम समस्या (Sphinx's Riddle) है; मायाके विज्ञानालोकमें विश्व जगत् यत्किंचित् बोधगम्य होता है। माया-तत्त्वके साथ जन्मान्तर-तत्त्व, कर्म-तत्त्व अथवा अदृष्ट-तत्त्वका अनुशीलन करना आवश्यक है। इन दोनों तत्त्वोंको पृथ्वीपर केवल भारतवर्षमें तत्त्वज्ञोंने जाना है; और किसी दूसरी जातिको इनका पता नहीं। पृथ्वीकी विभिन्न मानव-जातिके लिये भारतकी यह महान् देन है। ये दोनों तत्त्व महाशिक्षाकी प्रणाली हैं; ये दो अमूल्य ज्ञान-विज्ञान रत्न-प्रदीप हैं। इन रत्नोंका अनादर करनेसे संसारके सारे ज्ञान व्यर्थ हो जाते हैं। स्पाइनोजा, लिब्निज, कान्ट और हेगेलका क्या मूल्य है? वे तो मूलसे ही भूलपर चलते हैं। हमें इस भूलके स्रोतमें नहीं बह जाना चाहिये। हमें महामायाकी आराधना करके परब्रह्मकी प्रीति प्राप्त करनी चाहिये, अमृत लाभकर कृतार्थ होना चाहिये।

संस्कृतिका प्रतीक मानव

अच्छा, तुम आ गईं, लेकर निज परिवार!'
मानवका जलद-गम्भीर स्वर गूँज गया,
वीणा-विनिन्दक स्वर दूसरा साथ ही—
'आर्यपुत्र उत्थित हुए—धन्यभाग!
प्रणत है सेविका—
चाहते आशीर्वाद—
सारे शिशु वनके ये!'
मानवी सुकुमार—चल स्वर्ण-लतिका—
वल्कल-कंचुकी, भूर्जपत्र-अधोवस्त्र
धारण किये,
सुमन-गुच्छ गुम्फित अलकजाल,
पुष्पांजलि चरणोंपर सादर समर्पितकर
नेत्रोंमें मन्द हास्य,
ग्रीवा नत करके
खड़ी थी समीप ही—मंजुल सलज्ज भाव।
बंक दृष्टि एक बार देखा निज परिवार—
आये थे मयूर संग थन गन नाचते,
आये थे शुक-पिक कूजते,
गूँजते अलि-वृन्द आये थे,
आये थे कृष्ण सर्प फणा फैलाये मत्त,
झूमते-झूमते मत्त गज आये थे।
आये थे मूषक-शशक कूदते-फुदकते—
पक्षी चहकते हुए साथ-साथ आये थे।
आया था केहरी संगिनी साथ लिये—
जृम्भणासे लाल जिह्वा लप-लप करता।
व्याघ्र युग आये थे चड़मड़ करते—
कूदते चकित-से आये मृग-शावक भी।
आये थे चपल कपि, रोमश ऋक्ष-दल भी,
आया हिमधवल वृषभ,
आई सुरभियाँ—
कूदते चपल वत्स संग-संग आये सब।
वनके समस्त छुद्र-महत् पशु-पक्षीवृन्द—
आज जैसे कोई महोत्सव या मेला हो,
साथ घिर आये थे मानवीके संग-संग।
मानवी—दयामयी जगन्माता मानवी,
उत्थित हुए हैं आज आराध्य उसके
सारा शिशुवृन्द तब समुत्सुक न आये क्यों?
त्याग रोष, द्वेष, कलुष, जाति शत्रु साथ-साथ
आये थे भूलकर—त्याग सब वैरभाव;
मानवका वात्सल्य—
सत्वका समृद्ध भाव—
डूब गया उसमें रजस्-तमस् कहाँ कबका।
मानव उठा—मत्त गजराज ज्यों चलता,
दीर्घ बाहु, विशद भाल,
विशद वक्ष दीर्घकाय,
क्षीण कटि
अलक जाल—स्निग्ध मृदु मेचक मंजु,
अनावरित स्वर्णगौर,
हृष्ट-पुष्ट सुगठित
अरुण कर चरण अधर
पद्मदल-विशद नयन।
सादर प्रणति मिली वृषभ-सुरभियोंको,
वत्सोंको पुचकार—
केसरीको थपकी;
किसीपर दृष्टिपात, किसीको मुस्कान—
देता स्नेह-दान जैसे पिता निज पुत्रोंको—

स्रष्टाकी कृतिका सर्वश्रेष्ठ निर्माण—
मानव, निमज्जित हुआ निर्झर-नीरमें,
आया—ज्यों अन्तरका स्नेह हुआ बाह्य स्नात।
झूमी लतिकाएँ;
पुष्प-राग हुआ भूषित वह,
करती प्रतीक्षा थी मानवी गृहिणी
स्वागत-संभार लिये।
किसलय-डालियाँ लाये गजराज थे,
आसन बनानेको।
नारिकेल-पात्रमें रीछोंका उपहार—
पद्म-मधु, मधुर सुगन्धित मृदुल कंद,
कपियोंने हरित नारिकेल दिये जलको,
चू पड़े पक्वफल पाणिपद्म देखके—
तरुओंने भाग्य माना इस आतिथ्यमें।
भाग मिला सुरभीको,
वत्सोंको, वृषभको,
पक्षियोंको, पशुओंको, नन्हीं पिपीलिकाको।
गुठलियाँ चबा लीं व्याघ्र केहरीने कड़-कड़,
रीछ और कपियोंने छिलके उठा लिये;
मानवने सबको भाग देकर आहार किया,
धोया कर निर्झरमें—
मत्स्योंका अन्तिम भाग।
नगर नहीं, ग्राम नहीं,
रोध ठाम-ठाम नहीं;
धरा नहीं मल-कलुष,
धूम्र-कलुष वायु नहीं;
मंजु हरित कानन ही धरणीपर चारों ओर।
पुष्पित वल्लरियाँ, झुके फल-भार विटपी,
पवन मन्द-मन्द शान्त।
मानवकी दृष्टि गयी—
अरुण मृदुल किसलय-पूरित अश्वत्थमूल—
उज्ज्वल, सुचिक्कन विशाल शिला-तलपर।
रजसका मन्द क्षोभ लुप्त-लुप्त हो चला—
बैठ गया सुस्थिर-सुबद्ध पद्म-आसनसे,
क्रोड़ीमें करतल-द्वय विकसित पद्म ज्यों,
विधिके करोंकी पूर्णतम कलाकृति—
साँचेमें ढली-सी मूर्ति,
स्थिर स्वर्ण-प्रतिमा।
पद्मदृग पलकोंमें अर्ध-मुकुलित-से,
दण्ड-सा देह सौम्य,
कम्बुकण्ठ भवका,
वैखरी कृतार्थ हुई शुद्ध परा वाणीसे,
नाभिसे प्रणवनाद गूँजा शंख-ध्वनि-सा,
भ्रूमध्य भासित हुआ कोटि-कोटि मार्तण्ड,
मानवके दीर्घपलक स्थिर-निद्र हो गये।
मानवीने शुभ्र पुष्प-अंजलि दी चरणोंपर—
एक निःश्वास—देखा अपने आराध्यको,
वन-पशु-पक्षी शान्त, मन्द वायु मन्दतर,
शान्ति—शान्ति—स्निग्ध शान्ति मानवके मन-सी। कौन
कह सकता है—
दिन-सप्ताह-मास-ऋतु या वर्ष-युग
स्थिर-सत्व मानव उठेगा किस कालमें।
ग्रीष्म-शीत-पावस, हिम-झंझा-लू-उपलवृष्टि
व्यर्थ—वह सुदृढ़मूर्ति अविकृत सर्वथा,
अन्तरमें मधुरिम कोमलतर प्रतिमा—
बाह्य हिमवान-सी दुर्गम अस्पृश्य अचल,
ऋषि नहिं, मुनि नहीं, त्यागी तपस्वी नहीं—
आदियुग मानव-गृही,
भारतका जन-जन।
आज भी संस्कृति 'वह' पावन प्रतीक लिये,
उच्च किये मस्तष्क है ज्योतिर्मय सर्वथा,
भारतके अन्तरमें जब भी प्रतिष्ठित है—
भव्य मूर्ति वही आदर्श आदिमानवकी।
आजका मानव
यह विडम्बना—विकासकी।
शीत एवं ऊष्मासे ठिठुरता-पिघलता,
क्षुद्रतम कीटाणु रुग्ण जिसे करते—
शंकित, भीत, बंदी कीट
निज भवन-कन्दरामें,
भीति-आशंका लिये जीवनमें पद-पद,
क्षीणकाय, क्षीण-सत्व,
दिन-दिन क्षीणतर—
तन-मन-स्वास्थ्य जहाँ,
दुबल, बर्बर, क्रूर
भीरु, रक्तपायी छल-छद्मरत
मृत्यु-दूत
पैशाचिक संघर्ष, पाशविक आचार,
शृंग-पुच्छ-हीन—

यह आजका द्विपद पशु।
समझे-न-समझे
वह भारतीय संस्कृतिका पावन प्रतीक शुभ्र,
किंतु—
वह आप ही पूर्णतम सर्वथा
अन्तर एवं बाह्यसे—
भारतका अरण्यानी-
मानव—
महनीय-वन्द्य!

—'सुदर्शन'

मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र

दैवी राज्यसे सम्बन्धयुक्त शब्दोंको 'मन्त्र' कहते हैं। दैवी राज्यसे युक्त शुभाशुभ-फलप्रद पदार्थविशेषको 'यन्त्र' कहते हैं। 'तन्त्र' शब्दका अर्थ यों तो बहुत विस्तृत है; क्योंकि वेद, स्मृति, पुराणोंकी तरह तन्त्रशास्त्र भी बड़ा विषय है—श्रीजगदम्बाजीसे सदाशिवने कहा है—'**सप्त सप्त सहस्राणि तन्त्राण्याहुर्वरानने।**' परंतु तन्त्रशास्त्रका रूढ़ार्थ टोटका भी है, जिसके अद्भुत कार्य देखनेमें आते हैं।

मन्त्रोंमें भगवन्नामवाचक मन्त्र सर्वश्रेष्ठ होते हैं। पूज्यपाद महर्षियोंने कहा है कि सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्का सबसे बड़ा नाम आदि-वाचक प्रणव है। प्रणव त्रिगुणात्मक है। उसमें सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, सृष्टिपालक विष्णु और संहारकर्ता तथा मुक्तिदाता शिव विद्यमान हैं। इस कारण प्रणवका जप करनेसे और उसके अर्थकी भावना करनेसे साधक भगवान्के चरणकमलोंतक पहुँच जाता है। मन्त्र-शास्त्रका यह सिद्धान्त है कि प्रणव सेतु—पुल है; जैसे रास्तेको सरल करनेके लिये नदी-नालोंपर सेतु बनाये जाते हैं, वैसे ही प्रणवसे युक्त मन्त्र दैवी जगत्में पहुँचानेके लिये सब बाधाओंसे मुक्त हो जाते हैं, पूर्ण शक्ति प्राप्त करते हैं। प्रणव आदिमन्त्र होनेसे इसके स्वरूपको समझनेकी विशेष आवश्यकता है। मन्त्रतत्त्वज्ञ योगीजन प्रणवके दो स्वरूप बताते हैं—एक वर्णात्मक, दूसरा ध्वन्यात्मक। 'अ', 'उ' और 'म' के संयोगसे ओंकारका जो स्वरूप अक्षरात्मक बनाया जाता है और जिसका उच्चारण हर एक मनुष्य कर सकता है, वह शब्दात्मक है। ध्वन्यात्मक प्रणवके विषयमें मन्त्रशास्त्र कहता है कि वह तैलधाराके समान अविच्छिन्न और बड़े घंटेके नादकी तरह है और उसका कोई अंग मुखके द्वारा उच्चारित नहीं हो सकता। केवल योगयुक्त अन्तःकरण अपने चित्ताकाशमें उसको सुन सकता है। प्रणवकी असाधारण महिमा वेदों, उपनिषदों, पुराणों और तन्त्रग्रन्थोंमें बहुत कुछ पायी जाती है। वैदिक दर्शनशास्त्र यह सिद्ध करते हैं कि जहाँ कुछ कार्य है, वहाँ कम्पन है और जहाँ कम्पन है, वहाँ शब्द अवश्य होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार साम्यावस्था प्रकृति, जो परम पुरुषके साथ एकरस रहती है, जब विषमावस्थामें परिणत होती है, तब जगत्का सृष्टि-स्थिति-लयकार्य हुआ करता है। जिस समय एक रस रहनेवाली साम्यावस्था प्रकृति वैषम्यावस्थामें परिणत होने लगती है; उस समय प्रकृतिमें जो कम्पन होता है, उस कम्पनकी प्रथम ध्वनिको प्रणव कहते हैं। अतः योगिराजका अन्तःकरण जब इस प्रकृतिकी वैषम्यावस्था-प्राप्तिके मूलस्थानमें पहुँचता है, तब प्रणव सुनायी देता है। इस परमात्मस्वरूप प्रणवके बाहरकी ओर शब्दरूपात्मक जगत् है और दूसरी ओर परम विष्णुपद है। '**तद्विष्णोः परमं पदम्**' आदि मन्त्रप्रणवकी जितनी महिमा कही जाय, उतनी थोड़ी है।

जैसे प्रणव परमात्माका वाचक होनेके कारण भगवान्के चरणकमलोंमें पहुँचा देता है, वैसे ही मन्त्रशास्त्रोक्त नाना बीजमन्त्र भी दृश्य और अदृश्यरूप दोनोंसे सम्बन्ध कराके तत्तद् बीजसे सम्बन्धयुक्त देव-देवियोंके निकट साधकको पहुँचा देते हैं। दर्शनशास्त्रने सिद्ध कर दिया है कि अन्तःकरण विश्वका माध्यम है और वह योगयुक्त तथा समाहित होनेसे विश्व-ब्रह्माण्डके कोने-कोनेमें पहुँच सकता है। मन्त्र बीजसे युक्त, शाखा-पल्लवसे युक्त—कई तरहके होते हैं। पुनः मन्त्र वैदिक और लौकिक भेदसे दो प्रकारके होते हैं। बीज-शाखा-पल्लवसे युक्त वेद-पुराण और तन्त्रादिमें पाये जानेवाले मन्त्र वैदिक मन्त्र कहाते हैं और लोगोंमें प्रसिद्ध शाबरमन्त्र आदि लौकिक हैं। शाबरमन्त्र नाना प्रकारके होते हैं—यहाँतक कि वे मारण-वशीकरणादि कर्मोंमें भी काम आते हैं। वे अर्थशून्य, विभक्तिशून्य होते हैं। ऐसा होनेपर भी उनको सिद्ध करनेकी प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न हैं। उनके बिना वे काम नहीं दे

सकते। आजकल वैदिक या लौकिक किसी मन्त्रका प्रभाव नहीं दीख पड़ता। इसका कारण यह है कि उसके साधक परिश्रमसे जी चुराते हैं। वैदिक मन्त्रोंकी अनेक प्रकारकी साधनविधि पायी जाती है। इसी तरह लौकिक मन्त्रोंकी सिद्धि करनेमें भी कई प्रकारके साधन और तपकी आवश्यकता होती है। इन सब मन्त्रोंकी साधनावस्थामें ही साधक विश्वास और दृढ़ श्रद्धाके साथ जब प्रयत्न करता है, तभी सफलताकी प्राप्ति होती है। इस विषयमें यदि कमी रह जाय तो सफलताकी प्राप्ति नहीं होती है। अतः वर्तमान समयकी विफलता देखकर मन्त्रोंमें लोग सन्देह करते हैं; परंतु ऐसे सन्देहके लिये कोई गुंजाइश नहीं है। साधकोंकी साधनामें कमी रह जानेसे ही विफलता दीख पड़ती है। तन्त्रशास्त्रमें यह भी रूपान्तरसे कहा है कि अपवित्र अन्न एवं कुदानग्रहणसे दूषित और आचार-रहित शरीर दग्धके सदृश हो जाता है। मन परद्रव्यमें लोभयुक्त और परस्त्री आदिमें आसक्त हो तो दग्धके सदृश हो जाता है और अन्तःकरण सदा विषयासक्त होनेसे समाहित नहीं हो सकता। इसी कारण कलियुगमें मन्त्रोंकी सिद्धि दुर्लभ हो गयी है।

ऐसे गहन विषयोंको समझनेके लिये अन्तःकरणके स्वरूपकी शक्ति और व्यापकतापर कुछ प्रकाश डालनेकी आवश्यकता है। अन्तःकरणके चार भेद हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। चारों मिलकर अन्तःकरण-चतुष्टय कहाते हैं। भगवान् ब्रह्मा अन्तःकरणके प्रधान अधिदैव हैं। अन्तःकरणके चार विभागोंमें बुद्धि और मन मुख्य हैं। और चित्त तथा अहंकार गौण हैं। इन्द्रियोंको जो चलाता है, वह इन्द्रियराज मन है। और सदसद्विचारके अनुसार जो मनको समाहित करती है, वह मनका गुरु बुद्धि है। नाना वृत्तियोंद्वारा जो मनको नचाता है, वह चित्त कहाता है और प्रत्येक जीवपिण्डमें स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थापन करके सर्वव्यापक आत्मतत्त्वको जो आवृत करता है, उसको अहंकार कहते हैं। अहंकार बुद्धिका अन्तर्विभाग है। क्योंकि अहंकारके बिना बुद्धि कार्य नहीं कर सकती। शुद्ध अहंकार आत्मतत्त्वतक पहुँचा देता है और अशुद्ध अहंकार तथा अशुद्ध बुद्धिके द्वारा जीव जगत्के सब कार्य किया करता है। इसलिये अहंकार गौण है और बुद्धि मुख्य है। चित्त एक ऐसा तत्त्व है, जिसमें स्मृति भी रहती है। वह चित्त पूर्वस्मृतिके अनुसार नाना विषयोंको लेकर मनको नचाया करता है। इससे मन एक क्षण भी निश्चल नहीं रहता, चंचल बना रहता है।

मन्त्रशास्त्रके साथ अन्तःकरणका बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी कारण तन्त्रशास्त्रमें कहा है कि जो मनका त्राण करे, वह मन्त्र है। मन्त्रमें जो शक्ति निहित रहती है, वह शक्ति मन्त्रके आश्रयसे अन्तःकरणमें प्रकट हो जाती है। लकड़ीमें अग्नि रहती है; परंतु वह अरणीके द्वारा मथी जानेपर ही प्रकट होती है। इसी तरह योगयुक्त अन्तःकरणमें व्यवस्थित रूपसे मन्त्रका कार्य होते रहनेसे वह शक्ति प्रकट होकर कार्य करने लगती है। निर्गुण प्रणव-मन्त्र हो अथवा सगुण शक्ति-बीज, माया-बीज आदि हो अथवा शाखा-पल्लवसे युक्त मन्त्र हो, सभीमें तन्त्रमन्त्रसम्बन्धी सारी शक्ति विद्यमान रहती है—जैसे पंचाक्षरी, द्वादशाक्षरी आदि वैदिक मन्त्र और लौकिक मन्त्र दोनोंके विनियोगमें शक्तिके विकासका तारतम्य रहता है। वेदोक्त और तन्त्रोक्त जो अलौकिक मन्त्र हैं, उनके सिद्ध करनेमें अधिक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि वे स्वतः सिद्ध अनादि मन्त्र हैं। निष्काम साधकको इन मन्त्रोंसे लाभ उठानेके लिये विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता, परंतु सकाम रूपसे उनके उपयोगकी सिद्धि प्राप्त करनेके लिये विशेष परिश्रमकी आवश्यकता होती है। जो मिश्र मन्त्र होते हैं, जिनमें वैदिकत्व और लौकिकत्व दोनों मिले हुए हैं, ऐसे मन्त्रोंकी सिद्धि प्राप्त करनेके लिये विशेष अनुष्ठानकी आवश्यकता होती है, केवल मन्त्रसे कार्य-सिद्धि नहीं होती।

अन्तःकरण सर्वव्यापक है और योगयुक्त होनेसे सब जगह काम कर सकता है। इसका प्रधान कारण यह है कि पिण्ड तीन प्रकारके होते हैं-१. उद्भिज्जादि सहज पिण्ड, २. नाना अधिकारोंके पूर्णावयव जीवरूपी मानवपिण्ड, और ३. नाना श्रेणीके देवताओंके देवपिण्ड। देवपिण्डोंमें भूत-प्रेतादि और दानव-असुरादि पिण्ड भी आ जाते हैं। अन्तःकरण सर्वव्यापक होनेसे वह इन सब पिण्डोंमें विद्यमान है। इसी कारण साधक यदि शक्तिशाली हो और उसका अन्तःकरण योगयुक्त हो तो वह चतुर्दश भुवनोंके सब स्थानों और पिण्डोंमें मन्त्रबलसे बलवान् होकर कार्य कर सकता है। यही मन्त्रशक्ति शास्त्रका तात्पर्य है और वह अधिदेववत् अष्टांगयोग-सिद्धिके द्वारा, विधिपूर्वक जपयज्ञद्वारा, अन्यान्य प्रकारके शास्त्रीय अनुष्ठानोंद्वारा प्राप्त हो सकती है। तन्त्रशास्त्रोंमें इसकी

अनेक प्रकारकी विधियाँ पायी जाती हैं, जो विश्वास, श्रद्धा, गुरुसेवा और अन्तःशुद्धि तथा बहिःशुद्धिके सम्पादनसे एवं अन्तःकरण-विज्ञानपर सदा स्थिर दृष्टि रखनेसे और दैवी जगत्पर पूर्ण निर्भर रहनेसे सफल होती हैं।

यन्त्र और तन्त्रके सम्बन्धमें भी कुछ समझने योग्य है। यन्त्र दो प्रकारके होते हैं—नित्ययन्त्र और भावयन्त्र। नित्ययन्त्र उसको कहते हैं, जिसमें दैवीशक्ति स्वाभाविक रूपमें निहित रहती है—जैसे शालग्रामशिला, नर्मदेश्वरशिला तथा अपराजिता, कमल आदि पाँच यन्त्रपुष्प। इनमें देवताके आवाहन, विसर्जनकी आवश्यकता नहीं। इनमें हर एक देवताकी पूजा हो सकती है। इन नित्ययन्त्रोंमें दैवी शक्ति कैसे निहित रहती है, यह केवल योगीजन ही अनुभव कर सकते हैं। दूसरे प्रकारके यन्त्र भावयन्त्र कहाते हैं। भावयन्त्रको समझनेके लिये भाव क्या है, यह समझ लेना आवश्यक है। योगशास्त्रमें लिखा है कि मन और चित्तके संयोगसे आसक्ति उत्पन्न होती है और अहंकार तथा बुद्धिके संयोगसे भावतत्त्वका उदय होता है। शुद्ध और अशुद्ध रूपसे भाव दो प्रकारके होते हैं। अशुद्धभाव बुद्धिको विषयाकार कर देता है और शुद्धभाव अन्तःकरणको मलरहित करता हुआ बुद्धिको ब्रह्मपदमें पहुँचाकर शान्ति प्रदान करता है। भावयन्त्रमें शुद्धभावकी ही प्रधानता रहती है। श्रीयन्त्र, आद्यायन्त्र, नृसिंहयन्त्र आदि वैदिक यन्त्र अथवा अन्य प्रकारके तान्त्रिक यन्त्र बनाते समय सिद्धिप्राप्त महापुरुष तत्तदनुयायी शुद्धभावके अवलम्बनसे रेखा-मन्त्रादिका यन्त्रमें प्रयोग करते हैं और अन्तःकरणकी शक्ति व्यापक होनेसे तत्तद्भावोंमें प्रयुक्त होकर तत्तदुपयोगी शक्तियाँ उन यन्त्रोंमें उदित होती हैं। इसका कारण चाहे नित्ययन्त्र हो, चाहे भावयन्त्र—समाहित अन्तःकरणकी सहायतासे और उन यन्त्रोंकी शक्तिके सहयोगसे सिद्धि प्राप्त होती है। इसीलिये यन्त्र तत्तद्देवतारूपी माने जाते हैं। और इसीसे लौकिक और अलौकिक स्तरोंमें सब तरहकी सफलता प्राप्त हो सकती है। इसी प्रकार जैसे यन्त्रोंसे दैवी सहायता मिलती, वैसे ही टोटका आदि तन्त्रोंसे भी समाहित अन्तःकरणकी सहायतासे यथायोग्य सफलता मिलती है। **सूर्योदय**

हिंदू-संस्कृति और यज्ञानुष्ठान

हिंदू-संस्कृतिके साथ यज्ञानुष्ठानका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज हमें अपनी संस्कृतिके विषयमें जो प्राचीनतम वस्तु प्राप्त होती है, वह है वेद-संहिता। वेद-संहिताओंमें सर्वप्रथम ऋग्वेदका नाम लिया जाता है, और इसे संसारके सबसे प्राचीनतम ग्रन्थके रूपमें स्वीकार करनेमें किसीको भी विवाद नहीं। ऋग्वेदका प्रथम मन्त्र है—

ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।

इसमें अग्निदेवकी स्तुति की गयी है, आठ-आठ अक्षरोंके तीन पाद अर्थात् चौबीस अक्षरोंके सुप्रसिद्ध गायत्री छन्दमें मधुच्छन्दा ऋषि स्तुति करते हैं—'मैं अग्निदेवकी स्तुति करता हूँ, याचना करता हूँ। वे पुरोहित, ऋत्विक्, यज्ञके देवता, देवताओंके आह्वाता हैं और श्रेष्ठतम रत्नोंकी खान हैं; वे हमें श्रेष्ठतम रत्नोंको प्रदान करें।' निरुक्तके अनुसार इस ऋक्की यही व्याख्या है।

वस्तुतः विचार करनेपर यह पहला मन्त्र ही हमारी संस्कृतिका प्रतीक जान पड़ता है। देव और यज्ञका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। देव नहीं तो यज्ञ नहीं, और यज्ञ नहीं तो देवाराधना नहीं; यज्ञका मुख्य उद्देश्य ही है देवाराधना। हिंदू-जीवनमें जो आदर्श संस्कार हैं, वे देव और देवाराधनासे ही निर्मित हैं। ऋषियोंने हिंदू-जीवनमें यज्ञ-विधानके द्वारा जो दिव्य भावनाकी सुर-सरिता प्रवाहित की, वह अविरत गतिसे ऋजु-वक्र पथमें सृष्टिके आदिकालसे आजतक बहती जा रही है और उसमें अवगाहनकर इस देशके तथा विदेशोंके असंख्यों पुण्यवान् दिव्य जीवनके भागी हुए हैं, हो रहे हैं और आगे होते रहेंगे। ऋग्वेदके इस प्रथम मन्त्रमें यज्ञका उल्लेख इस बातका द्योतक है कि इस ऋचाकी रचनाके पहले यज्ञका प्रसार आर्य-जीवनमें था और अग्निदेव यज्ञके देव थे, यज्ञमें ऋत्विक् और होता उपस्थित रहते थे। अतएव यह सिद्ध होता है कि यजुर्वेदका यज्ञ-विधान इस ऋचाकी रचनाके पहले था,
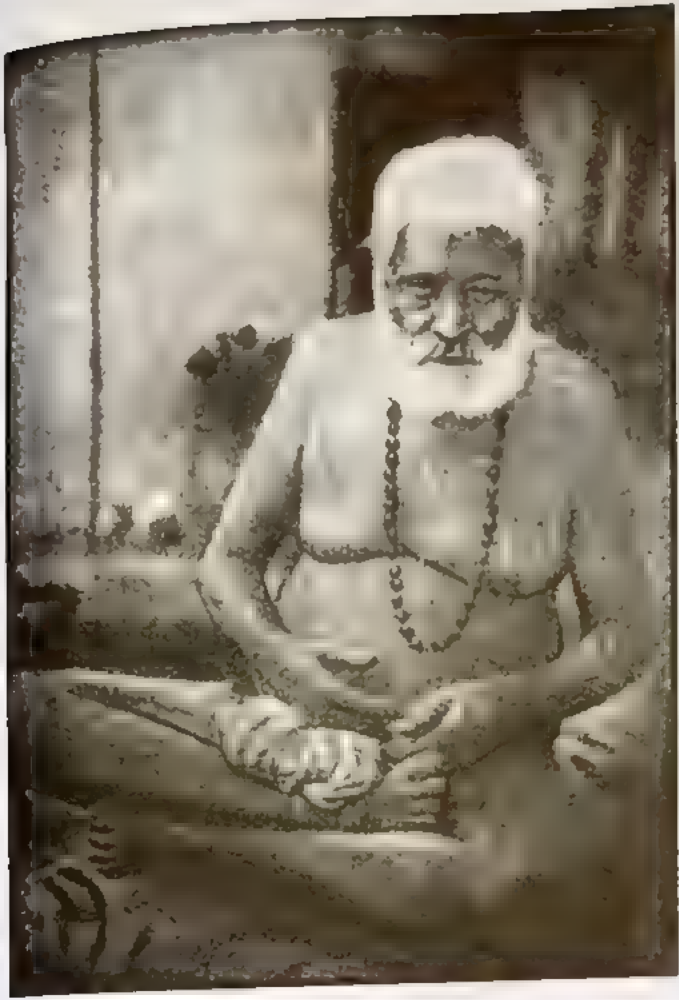
स्वामी श्रीविशुद्धानन्दजी

स्वामी श्रीविशुद्धानन्दजी परमहंस
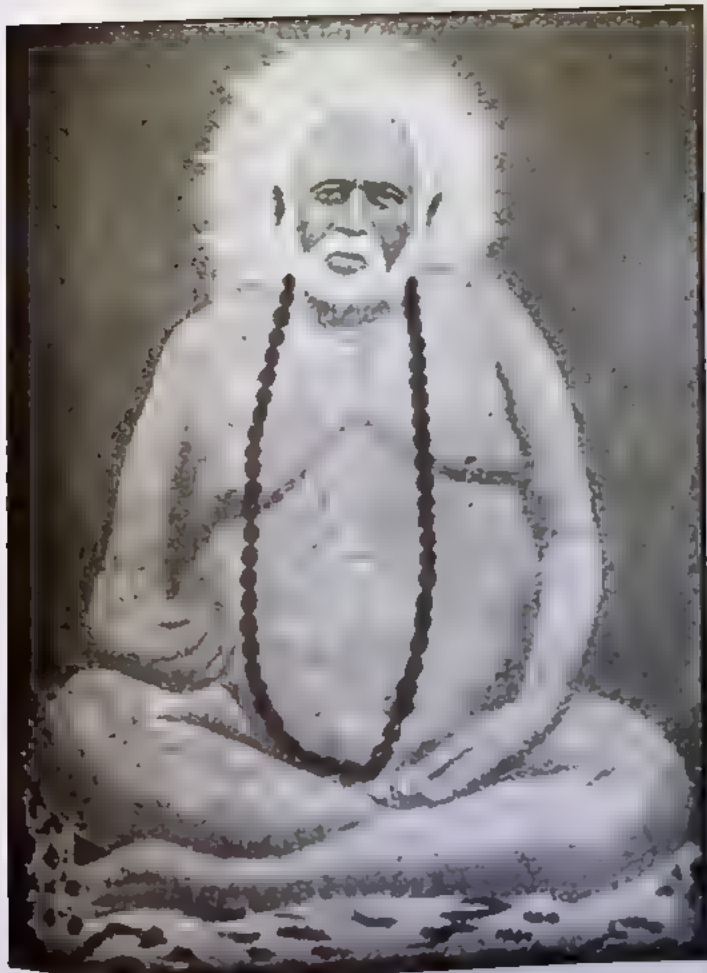
श्रीतैलङ्ग स्वामी
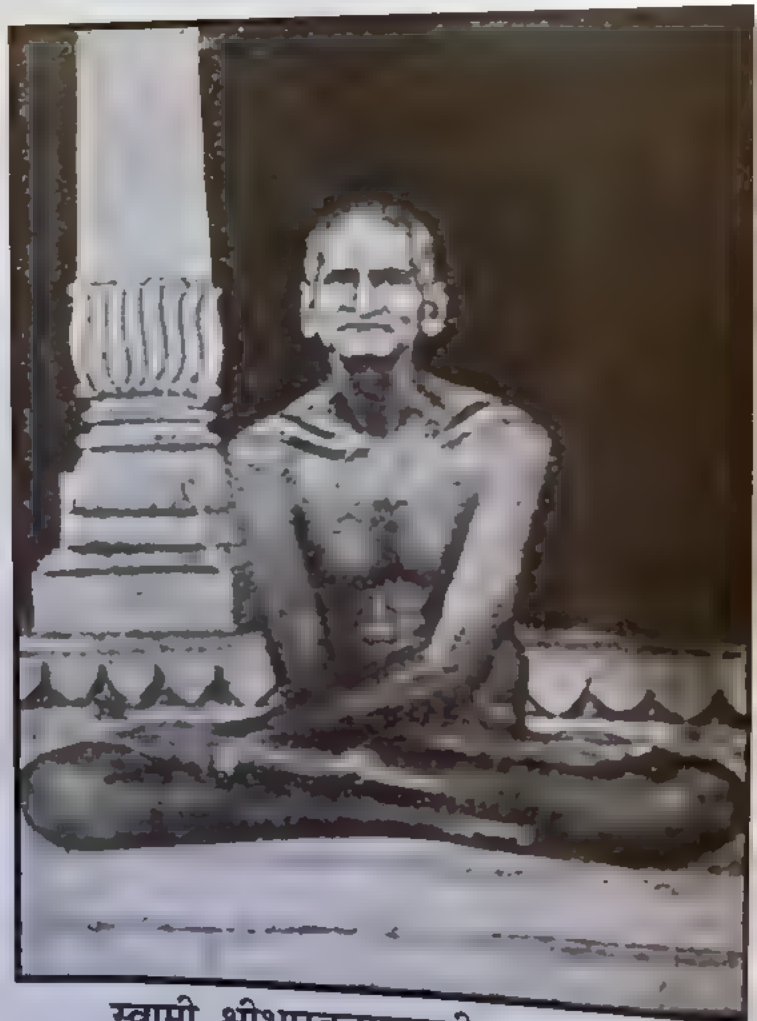
स्वामी श्रीभास्करानन्दजी सरस्वती

श्रीमद् जगद्गुरु श्रीस्वामी अनन्ताचार्यजी महाराज

श्रीमद् आचार्यप्रवर श्रीगोकुलनाथजी महाराज

अथवा यज्ञानुष्ठानमें ऋक् और यजुःका युगपत् प्रयोग होता था। अर्वाचीन तथाकथित पुरातत्त्वके अन्वेषकोंका यह कहना कि ऋग्वेद पहलेकी रचना है और यजुर्वेद पश्चात् रचा गया है, केवल मनगढ़न्त और कोरी कल्पनामात्र है। यज्ञानुष्ठानमें ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—वेदत्रयीका युगपत् प्रयोग होता है। अतएव यज्ञके साथ वेदोंका नीर-क्षीरवत् अटूट सम्बन्ध है।

और वेदोंकी अलग-अलग संहिताएँ करनेसे उनको एक-दूसरेसे पूर्णतः भिन्न भी नहीं समझा जा सकता है। ऋग्वेदके मन्त्रोंमें यज्ञका तथा यज्ञांगोंका वर्णन होने तथा सामके उद्गीथ-गान आदिका उल्लेख होनेके कारण यजुः और सामको उत्तरकालीन मानना असंगत है। यजुः और साममें ऋग्वेदके मन्त्रोंकी प्रचुरता देखकर ही आधुनिक बुद्धिवादियोंको भ्रम हुआ है, ऐसा जान पड़ता है।

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः।
इन्द्रं वाणीरनूषत॥ (ऋ० सं० १। १७। १)

'हे गाथिनः! सामगान करनेवालों, तुम इन्द्रकी ही बृहत्-सामके द्वारा स्तुति करो। तुमलोग भी, हे होतागण! ऋचाओंके द्वारा इन्द्रकी स्तुति करो; और हे अध्वर्युगण! तुमलोग भी यजुर्मयी वाणीके द्वारा इन्द्रकी ही स्तुति करो।' दैवतकाण्डके उपोद्घातमें यास्कने उपर्युक्त ऋचाकी इस प्रकार व्याख्या की है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेदके मन्त्रोंमें यजुः और सामका उल्लेख स्थान-स्थानपर प्रचुरतासे प्राप्त होता है। परंतु इससे इस ऋचाको यजुः और सामवेदसे उत्तरकालकी रचना मानना भी युक्तिसंगत नहीं है। आधुनिक ग्रन्थोंके समान संहिताओंको पृथक् ग्रन्थ मानकर वैज्ञानिक अन्वेषणके अन्धकारमें अनेकों पौरस्त्य और पाश्चात्त्य तथाकथित विद्वान् वेदोंकी रचनाका कालनिर्णय करके अपने अविवेकका ही परिचय दे गये हैं!

ऋचाकी रचनासे हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि किसी कालविशेषमें आधुनिक काव्यके समान मन्त्रोंकी रचना हुई। यह तो वेदोंका काल-निर्णय करनेवाली आधुनिक बुद्धिका खोखलापन दिखलानेके लिये एक छोटी-सी युक्ति दी गयी है। तत्त्वतः हिंदू-संस्कृतिमें देवता मन्त्रस्वरूप माना जाता है। इस प्रथम ऋक्के देवता हैं अग्निदेव। अतएव यह मन्त्र अग्निस्वरूप ही है। अग्निकी रचना कौन करेगा? अग्निका आदि नहीं, अन्त नहीं। अतएव मन्त्र भी अनादि और अनन्त हैं।* इसीलिये वेदको शब्दब्रह्म कहते हैं, और इसे नित्य और सनातन मानते हैं। यज्ञ-भावना भी नित्य और सनातन है। हिंदू-संस्कृति या सनातनधर्मका वास्तविक स्वरूप भी यही यज्ञ-भावना है। इसका किसी भी कालमें अभाव नहीं हो सकता। यज्ञ ही धर्म है और धर्मसे ही प्रजाका धारण हो रहा है। अतएव सांस्कृतिक दृष्टिसे यज्ञकी महिमा सर्वोपरि है और इसके विषयमें कुछ भी आलोचना करना सुसंगत ही है। धर्मका लक्षण करते हुए महर्षि कणाद कहते हैं—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

'जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है।' अभ्युदयका हेतु है कर्मानुष्ठान और निःश्रेयसका हेतु है ज्ञान-साधना; अतएव कर्म और ज्ञानका समन्वय ही जीवनमें धर्मका स्वरूप है। जो लोग कर्मकी उपेक्षा करके केवल ज्ञानकी रट लगाते हैं और अपनेको श्रुतिमार्गावलम्बी कहते हैं, उनकी प्रतारणाके लिये ही मानो महर्षि जैमिनिने अपने पूर्वमीमांसादर्शनमें कर्मविषयक स्तुत्यात्मक अर्थवादकी अवतारणा करते हुए कहा है—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।
(जै० सू० १। २। १)

'आम्नाय अर्थात् वेद यज्ञानुष्ठानके लिये हैं; अतएव यज्ञभावनासे हीन जो विषय हैं, वे अनर्थक हैं;

---

* यहाँ प्रश्न हो सकता है कि मन्त्रोंको कार्यरूपमें देखकर 'यद्यत्कार्यं तत्तत्कारणपूर्वकम्'—इस न्यायके अनुसार उन्हें नित्य नहीं माना जा सकता। इसका उत्तर यह है कि 'मन्त्र' कार्य नहीं हैं, वे नित्य हैं और वाणीरूपमें उनकी अभिव्यक्ति होती है ऋषियोंके अन्तःकरणमें। ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहलाते हैं, मन्त्र-रचयिता नहीं। स्वयं ऋचा कहती है—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
(ऋ० सं० १०। ७१। ३)

—अर्थात् यज्ञके द्वारा ऋषियोंके अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर मन्त्र वाणीरूपको प्राप्त होते हैं। यास्काचार्य कहते हैं—

एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति।

यज्ञोंमें तत्तत् वस्तुको अभिप्रेत करके ऋषियोंको मन्त्रदृष्टि प्राप्त होती है, अर्थात् ऋषियोंके पुनीत अन्तःकरणमें देवस्वरूप मन्त्रोंका दर्शन होता है।

'**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**'—इस सूत्रके द्वारा धर्मकी वैदिक विधि निषेध-मूलक परिभाषा देकर महर्षि जैमिनिजीने यज्ञानुष्ठानमें उपकारक होनेके कारण ही सदाचारको धर्मस्वरूप माना है। अतएव यज्ञविहीन सदाचार भी वस्तुतः सदाचार नहीं है; वह अधर्म ही है, जो धर्मके कंचुकमें छिपा हुआ भूल-भुलैयामें फँसानेके लिये मायाजाल बिछाये हुए है।

जब यज्ञ ही धर्म है, तब यज्ञस्वरूपका ज्ञान तथा उसका अनुष्ठान करना परम आवश्यक हो जाता है इस क्षणभंगुर मानव-जीवनकी सफलताके लिये। भगवान् वेदव्यासने जो इस विषयमें चेतावनी दी थी कि '**धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः**', उसकी सत्यताको गत सहस्रों वर्षोंकी हमारी पराधीनता, दुःख-दारिद्र्य और राष्ट्रिय अपमान डंकेकी चोट सिद्ध कर रहे हैं। धर्मकी उपेक्षा करके ही वस्तुतः हम मारे गये, अत्यन्त अधःपतनको प्राप्त हो गये। दुर्दशाकी भी सीमा हो गयी, आज आर्य-सन्तान यज्ञका नामतक नहीं जानती। यज्ञीय जीवन ही हमारा स्वर्गीय जीवन है—भारतका स्वर्णयुग है। यज्ञीय जीवनको छोड़कर हमने अपने आदर्शको छोड़ दिया, आर्य-सन्तानने देवत्वसे वंचित होकर आसुरी भावनाओंकी दासता स्वीकार कर ली। आज यज्ञानुष्ठानके विषयमें—इस दुर्ज्ञेय और दुरूह विषयकी कुछ चर्चा चलानेकी जो मैं धृष्टता कर रहा हूँ, इसके लिये विद्वान् लोग क्षमा करेंगे। साधारण पाठकोंको यज्ञ-विषयमें थोड़ा-सा सांकेतिक ज्ञान हो सकेगा, इसी आशासे यह अनधिकार प्रारम्भ किया जा रहा है।

सबसे पहले प्रश्न यह होता है कि यज्ञ किसे कहते हैं। महर्षि कात्यायन अपने सूत्रोंमें '**अथ यज्ञं व्याख्यास्यामः**' इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुए यज्ञकी परिभाषा करते हैं—

द्रव्यदेवतात्यागः।

'द्रव्य, देवता और त्याग—ये तीन यज्ञके लक्षण हैं।' स्मार्तोल्लास नामक ग्रन्थमें द्रव्य कौनसे पदार्थ हैं, इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

तैलं दधिं पयः सोमो यवागूरोदनं घृतम्।
तण्डुलाः फलमापश्च दश द्रव्याण्यकामतः॥

सामान्यतः तेल, दही, दूध, सोमलता, यवागू (चावल या जौकी लपसी), भात, घी, कच्चे चावल, फल और जल—ये दस द्रव्य ही वैदिक यज्ञोंमें देवताओंके प्रीत्यर्थ त्यागनेमें आते हैं। देवता आधिदैविक शक्तियाँ हैं, जो यज्ञको सर्वथा व्याप्त करके मन्त्ररूपमें अभिव्यक्त होती हैं। निरुक्तकार कहते हैं—

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।

'जिस कामनासे ऋषि जिस देवताके प्रति अपने प्रयोजनकी सफलताकी इच्छा करते हुए स्तुतिका प्रयोग करते हैं, उसी देवताका स्वरूप वह मन्त्र होता है।'

इस प्रकार नाना प्रकारके अभिप्रायोंके साथ ऋषिकी मन्त्र-दृष्टि भी नाना प्रकारकी होती है। मन्त्रोंमें जो स्थान-स्थानपर रथ, आयुध, अश्व, इषु आदिका उल्लेख आता है, वे सब पदार्थ देवताओंके स्वरूपभूत ही हैं, उनसे पृथक् नहीं, अतएव आपाततः पदार्थान्तरको देखकर मन्त्रोंके विषयमें अन्यथा सोचना ठीक नहीं। यास्काचार्य इसी कारण कहते हैं—

आत्मैवैषां रथो भवत्यात्मा अश्व आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य।

देवताके स्वरूपके विषयमें शंकाएँ की जाती हैं कि वह निराकार है या साकार, जड है या चेतन। परंतु ये द्वन्द्वात्मक विकल्प आधिभौतिक सृष्टिमें होते हैं। आधिदैविक लोककी विभूतियोंके विषयमें ये प्रश्न नहीं उठते। देवता यह सब कुछ हैं, या कुछ नहीं हैं—अथवा इस 'हैं-नहीं' से परे कुछ और हैं। जो हो, उपासकके लिये तो मन्त्ररूपमें ही वे सब कुछ प्रदान करते हैं। यज्ञ एक विधान है, जिसके द्वारा देवताओंको तृप्तकर यजमान अपने अभिलषित आनन्दको प्राप्त करता है। स्वर्गलोककी प्राप्ति यज्ञानुष्ठानका एक मुख्य उद्देश्य होता है। यह स्वर्ग है क्या?

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

'जिसमें दुःखका सम्पर्क नहीं, उपभोगके पश्चात् जो दुःखग्रस्त नहीं होता तथा इच्छामात्रसे बिना प्रयत्न किये जो प्राप्त होता है, इस प्रकारका सुख स्वर्ग कहलाता है।'

स्वर्गोंके उच्चावच अनेक भेद हैं। वेदोंमें असंख्य प्रकारके यज्ञोंका विधान है। परंतु यज्ञ मुख्यतः पाँच प्रकारके होते हैं—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग

और सोमयाग। इसके अतिरिक्त अवान्तर भेद बहुत होते हैं—जैसे सोमयागके भेदोंमें अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध, एकाह और अहीनयाग। दो दिनसे लेकर एकादश रात्रिपर्यन्त अहीनयाग होते हैं, और त्रयोदश रात्रियोंसे लेकर सहस्रों संवत्सरपर्यन्त असंख्य प्रकारके याग होते हैं, जो सत्र कहलाते हैं। गौतम-धर्मसूत्रमें कहा गया है—

औपासनहोमः, वैश्वदेवः, पार्वणः, अष्टका, मासिश्राद्धम्, श्रवणा, शूलगव, इति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः; अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादयो दर्विहोमा इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः, अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, वाजपेयः, अतिरात्रः, आप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः।

(गौ० ध० ८—१८)

—इस प्रकार प्रथम पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ-भेदसे तीन प्रकार दिखलाकर प्रत्येकके सात-सात भेद करके २१ प्रकारके यागोंका उल्लेख किया है। वस्तुतः यज्ञयुगका काल इतना विस्तृत है कि आज हमारे सामने कोई ऐसा साधन नहीं कि उसकी गणनाकी चेष्टा करें। हिंदू-शास्त्रोंकी दृष्टिसे यह युग लाखों-लाखों वर्षोंतक व्याप्त रहा है, यज्ञोंके असंख्य भेद भी इस बातको प्रमाणित करते हैं।

प्रारम्भमें मुख्यतः वैदिक यज्ञोंके उपर्युक्त पाँच ही भेद थे। यजुर्वेदका पहला मन्त्र '**इषे त्वोर्जे त्वा०**' का विनियोग दर्शपौर्णमास यज्ञके पलाश-शाखा-छेदन विधिमें होता है, और पहले तथा दूसरे अध्यायके सारे मन्त्र दर्शपौर्णमास यज्ञकी विधियोंमें ही विनियुक्त होते हैं; अतएव यहाँ इसी यज्ञकी विधिके ऊपर एक संक्षिप्त दृष्टि दी जाती है। प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमाको अनुष्ठित होनेके कारण इस यज्ञका नाम दर्शपौर्णमास यज्ञ पड़ा। प्रकृतिरूपमें होनेके कारण इसी यज्ञका पहले विधान हुआ है। प्रकृतिसे तात्पर्य यहाँ उस यागसे है, जो अनुष्ठानके समय अन्य यागोंकी अपेक्षा न रखता हो। दर्शपूर्णमासमें अन्य किसी यागकी विधि प्रयुक्त नहीं होती, और अन्य याग दर्शपौर्णमास-विधिसे उपकृत होते हैं; अतएव यजुर्वेदमें पहले इसी यागके मन्त्रोंका विधान है।

इस यागमें पहले व्रतोपायनविधि अर्थात् उपवास करके यजमान और उसकी पत्नीको संयमपूर्वक रात्रि व्यतीत करनी पड़ती है; शतपथ ब्राह्मणके प्रारम्भमें इस व्रतोपायनविधिका उल्लेख आता है। दूसरे दिन यज्ञका सर्वांग अनुष्ठान किया जाता है। अमावस्याके दिन अग्निदेवताके लिये पुरोडाश, इन्द्रदेवताके लिये दधिद्रव्य तथा इन्द्रदेवताके लिये पयोद्रव्यके त्यागरूपमें तीन याग होते हैं। पूर्णिमाको पहला अग्नि-देवतासम्बन्धी अष्टकपालवाला पुरोडाश याग, दूसरा अग्नि और सोमदेवतासम्बन्धी आज्यद्रव्यवाला उपांशु याग और तीसरा अग्नि और सोमदेवतासम्बन्धी एकादश कपालवाला पुरोडाश याग होता है। इस प्रकार दर्शपौर्णमास यज्ञमें कुल छः याग होते हैं। अनुष्ठान-विधि इस प्रकार होती है—

१. अग्नि-उद्धरण—जिसमें गार्हपत्य-अग्निसे आहवनीय और दक्षिणाग्निको पृथक् किया जाता है।

२. अग्नि-अन्वाधान—जिसमें तीनों अग्नियोंमें छः-छः समिधाओंका दान किया जाता है।

३. ब्रह्मवरण—जिसमें यजमान ऋत्विक्को वरण करता है।

४. प्रणीता-प्रणयन—जिसमें चमसमें जल भरकर उसको निर्दिष्ट स्थानमें रखते हैं।

५. परिस्तरण—अग्निके चतुर्दिक् कुश आच्छादन करना।

६. पात्रासादन—यज्ञीय पात्रोंको यथास्थान रखना।

७. शूर्पाग्निहोत्रहवणीका प्रतपन।

८. शकटसे हवि ग्रहण करना।

९. पवित्रीकरण।

१०.पात्रहविःप्रोक्षण-हविष्य एवं पात्रोंको प्रमार्जन करना।

११. फलीकरण—जिसमें तण्डुलमेंसे कणोंको दूरकर उसका शोधन किया जाता है।

१२. कपालोपधान—दो अंगुल ऊँचे किनारेवाले मिट्टीके पात्र कपाल कहलाते हैं, उनको यथास्थान रखना।

१३. उपसर्जनीका अधिश्रयण—पिष्ट-संयवनके लिये तप्त जलको उपसर्जनी कहते हैं, उसको नीचे रखना।

१४. वेदिकरण।

१५. स्तम्ब-यजुः हरण—(मन्त्रसे दर्भको छिन्न करके रखना)।

१६. स्रुवा, जुहू, उपभृत् और ध्रुवा आदि काष्ठनिर्मित

यज्ञपात्रोंका संमार्जन।

१७. पत्नीसन्नहन—मुंजकी रज्जुसे पत्नीकी करधनी बनाना।

१८. इध्म, वेदी और बर्हिकाका प्रोक्षण।

१९. प्रस्तर-ग्रहण—(यहाँ कुशमुष्टिको प्रस्तर कहते हैं)।

२०. वेदिका-स्तरण—वेदीपर कुशाच्छादन करना।

२१. परिधि-परिधान—वेदीके चारों ओर परिधि बनाना।

२२. इध्मका आधान।

२३. विधृति-स्थापन।

२४. जुहू आदिको वेदीपर रखना।

२५. पंचदश-सामिधेनी-अनुवचन।

२६. अग्निसम्मार्जन।

२७. आधार अर्थात् वह्निके एक छोरसे दूसरे छोरतक आज्यकी धार प्रक्षेप करना।

२८. होतृ-वरण।

२९. पंच प्रयाज—(पाँच प्रकृष्ट याग)।

३०. आज्यभाग—(अग्नि और सोमदेवताके निमित्त)।

३१. प्रधान याग—फलके उद्देश्यसे विहित देवता ही प्रधान देवता होते हैं, उनके निमित्त किया जानेवाला याग।

३२. स्विष्टकृत्—(प्रधान यागको शोभन बनानेवाली याग-विधि)।

३३. प्राशित्रावदान—(ब्रह्माका भाग प्राशित्र होता है, उसका ग्रहण)।

३४. इडावदान आदि।

३५. अन्वाहार्य-दक्षिणा—(ऋत्विक्का भोज्य ओदन अन्वाहार्य कहलाता है)।

३६. तीन अनुयाज—(अनुयाज अर्थात् पीछे किये जानेवाले याग)।

३७. व्यूहन अर्थात् जुहू आदि पात्रोंको हटाना।

३८. सूक्तवाक।

३९. शंयुवाक। स्तुतिविशेष।

४०. पत्नी-संयाज—(पत्नी—देवताके निमित्त चार याग)।

४१. दक्षिणाग्नि-होम।

४२. बर्हि-होम।

४३. प्रणीता-विमोक।

४४. विष्णु-क्रम।

४५. व्रत-विसर्ग।

४६. ब्राह्मण-तर्पण।

इस प्रकार मन्त्र-सहित प्रधान विधियोंके द्वारा दर्शपौर्णमास याग समाप्त होता है। इनमें जो दूसरी अवान्तर विधियाँ हैं, उनका उल्लेख शतपथ ब्राह्मणके प्रथम काण्डमें है, यजुर्वेदके महीधर-भाष्यमें भी मन्त्रोंके प्रसंगमें उनका संकेत किया गया है। यह दर्शपौर्णमास याग मासमें दो दिन होनेके कारण सुगमतापूर्वक अनुष्ठित हो सकता है। दूसरे याग बहुव्ययसाध्य तथा क्लिष्ट हैं। अतएव यहाँ दर्शपौर्णमासके बारेमें ही किंचित् आलोचना की गयी है। यदि आज हम अध्यात्मसाधनके द्वारा अपवर्गको प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं तो कोई कारण नहीं कि यज्ञानुष्ठानोंके द्वारा स्वर्गप्राप्तिकी चेष्टा भी नहीं की जाय। आज यदि कुछ सम्पन्न भारतीय जन दर्शपौर्णमास यज्ञके अनुष्ठानमें रत हों तो हमारे देश और समाजमें देवत्वकी प्रतिष्ठा होगी और संस्कृतिकी रक्षाके साथ-साथ हम इहलोक और परलोकको उज्ज्वल बना सकेंगे। यज्ञानुष्ठानके द्वारा स्वर्गको प्राप्त हुआ एक याज्ञिक कहता है—

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किन्नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य॥

(ऋग्० ८। ४८। ३)

'मैंने सोमपान किया, अमृत हो गया, स्वर्गलोकमें आया, देवताओंको जान लिया। अब शत्रु मेरा क्या करेंगे। और मुझ अमरलोकको प्राप्त व्यक्तिके लिये जरा क्या कर सकती।'—

स्वर्गलोकमें कोई भय नहीं, इच्छा करते ही सब सुखोपभोग प्राप्त हो जाते हैं, इच्छामात्रसे सारे पितर अथवा प्रियजन उपस्थित होते हैं और उनके साथ स्वर्गीय सुखोंका उपभोग मिलता है, सदा नवयौवनका आनन्द रहता है। रोग-शोकका कहीं नाम नहीं रहता।

यज्ञस्थली आधिभौतिक लोकके मध्य एक आधिदैविक द्वीपके समान होती है। यज्ञकी वेदी, समिधा, हवि, दर्भ, यज्ञके पात्र तथा अन्यान्य यज्ञांगभूत उपकरण—सब-के-सब अभिमन्त्रित होनेके कारण देवत्वमय हो जाते हैं। इस दिव्य परिस्थितिके मध्यमें

बैठे हुए यजमान, उसकी पत्नी तथा विभिन्न ऋत्विक् भी देवत्वमय हो जाते हैं। व्रतके प्रारम्भमें यजमान अग्निकी ओर देखकर व्रत ग्रहण करता है—

ॐ अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।

'हे व्रतपते अग्निदेव! मैं व्रतका आचरण करूँगा, मुझे इस प्रकार प्रेरित कीजिये कि मैं उसमें समर्थ हो सकूँ। अब मैं अनृत अर्थात् मनुष्यत्वसे सत्य अर्थात् देवत्वको प्राप्त हो रहा हूँ।' '**देवो भूत्वा देवं यजेत्**'—इस न्यायके अनुसार अनुष्ठानमें लगनेपर मनुष्यको देवत्वमें परिणत होना पड़ता है। इस प्रकार दैवी कर्मानुष्ठानके परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त होता है। नास्तिकलोग शंका करते हैं कि यज्ञका फल यदि स्वर्ग है तो यज्ञोपरान्त तुरंत स्वर्गकी प्राप्ति क्यों नहीं हो जाती। उत्तर यह है कि कर्म करनेके बाद उसका अदृष्ट बनता है, अर्थात् कर्मकी सूक्ष्म शक्ति अदृष्टरूपमें परिणत होती है। और जब कर्मफल परिपाकको प्राप्त होता है, तब वही अदृष्ट स्वर्ग-प्रदानका हेतु बनता है। यज्ञानुष्ठानरूप दिव्यकर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गकी प्राप्ति युक्तिसंगत ही है।

परंतु यज्ञानुष्ठानका अभाव होनेसे हमारी संस्कृतिकी गहरी हानि हुई है और उसके पुनः प्रसारसे उसकी उन्नति अवश्यम्भावी है। संसारके सर्वश्रेष्ठ तत्त्वोपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्णकी इस अमृतमयी वाणीकी हमने उपेक्षा कर दी है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

(गीता ३। १०)

प्राचीनकालमें प्रजापतिने यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि की, यज्ञ और मन्त्रका प्रजाके जीवनके साथ अटूट सम्बन्ध रहा। सृष्टिके आदिसे ही इनका अस्तित्व था, अरबों वर्ष पहलेसे यज्ञ अनुष्ठित होते आये हैं। प्रजापतिने सृष्टि करके कहा—'यज्ञोंके द्वारा तुम फलो-फूलो, ये तुम्हारी इष्ट वस्तुको प्रदान करेंगे।'

भगवान्‌की अमृतवाणी और प्रजापतिके प्रथम आदेशको भूलकर हमने बहुत कष्ट उठाये। क्या भारतके इस अभिनव स्वातन्त्र्यके साथ यज्ञानुष्ठानका अरुणोदय होगा? 'कल्याण के हिंदू-संस्कृति-अंक' से, आशा है, पाठक सांस्कृतिक उन्नतिमें क्रियात्मक भाग लेनेकी प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

जबतक भारतवर्षमें यज्ञोंका अनुष्ठान होता रहा, भारतीय प्रजा सब प्रकारसे उन्नत और समृद्ध थी। कोई अभाव नहीं था। देवताओंके साथ हमारा पारिवारिक सम्बन्ध-सा हो गया था। यज्ञोंके द्वारा परितृप्त देवगण हमारी सारी कामनाओंकी पूर्ति करते थे। यज्ञ हमारे सामाजिक जीवनका प्रधान स्वरूप था; इस जीवनकी पवित्र झाँकी श्रौतसूत्रों, ब्राह्मणों और आरण्यकोंमें मिलती है। उस दिव्यजीवनकी तुलना विश्वके इतिहासमें अन्यत्र मिलनी दुर्घट है।—अलख निरंजन

भारतीयोंका शील

'समस्त भारतीय—चाहे वे प्रासादोंमें रहनेवाले राजकुमार हों अथवा झोंपड़ोंमें बसनेवाले प्रजाजन, संसारमें सर्वोत्तम शीलसम्पन्न लोग हैं, मानो यह उनका जातिगत धर्म हो। उचित और न्याय व्यवहारका प्रत्युत्तर वे अवश्य देते हैं तथा दयालुता एवं सहानुभूतिके किसी कर्मको भूलते नहीं।'

—लार्ड विलिंगडन

आर्य-संस्कृति और पीठविज्ञान

वर्तमान समयमें पीठविज्ञान और आर्यधर्मके प्रधान सोलह अंगोंके रहस्यको अच्छी तरह न समझनेसे अमार्जनीय बड़ी-बड़ी भूलें भारतखण्डके नेतृवृन्दोंके द्वारा हो रही हैं। उन भूलोंको दूर करनेके लिये एक उदाहरण दिया जाता है। आर्य-संस्कृतिके अनुसार आर्यजाति सर्वव्यापक दैवी सत्ताकी नाना पीठोंमें उपासना किया करती है। योगशास्त्रकी मन्त्रयोग-संहितामें सगुण-उपासनाके आश्रयरूप दिव्य देशस्वरूप पीठके सोलह भेद माने गये हैं यथा—

यथा गवां सर्वशरीरजं पयः
पयोधरान्निःसरतीह केवलम्।
तथा परात्माखिलगोऽपि शाश्वतो
विकाशमाप्नोति सा दिव्यदेशकैः॥
तन्त्रेषु दिव्यदेशाः षोडश प्रोक्तास्तथात्र कथ्यन्ते।
अग्न्यम्बुलिङ्गवेद्यो भित्तीरेखा तया च चित्रं च॥
मण्डलविशिखैर्नित्ययन्त्रं पीठं च भावयन्त्रं च।
मूर्तिर्विभूतिनाभी हृदयं मूर्द्धा च षोडशैते स्युः॥

अर्थात् जिस प्रकार दुग्ध गौके सर्व शरीरमें व्यापक होनेपर भी केवल स्तनद्वारा क्षरित होता है, उसी प्रकार परमात्माके व्यापक होनेपर भी उनका विकाश दिव्य देशोंमें होता है। दिव्य देश तन्त्रोंमें सोलह कहे हैं; यथा—वह्नि, अम्बु, लिंग, स्थण्डिल, कुड्य, पट, मण्डल, विशिख, नित्ययन्त्र, भावयन्त्र, पीठ, विग्रह, विभूति, नाभि, हृदय और मूर्द्धा। यद्यपि ये सभी पीठ हैं, फिर भी यहाँ 'पीठ' शब्द अलग आया है; वह तीर्थके लिये आया है। क्योंकि तीर्थके विशेष-विशेष स्थानमें विशेष-विशेष शक्तिका आविर्भाव माना जाता है—जैसे 'भारतवर्ष' शब्द पृथ्वीका बोधक है, किंतु भारत कहनेसे भारतखण्ड अर्थात् हिंदुस्थानका बोध होता है। क्योंकि भारतवर्ष (पृथ्वी) में (हिंदुस्थान) की प्रधानता है। इसी प्रकार 'पीठ' शब्दसे उपर्युक्त सोलह वस्तुओंका ज्ञान होता है; किंतु यहाँ 'पीठ' शब्दका अलग प्रतिपादन इसलिये किया गया है कि जिससे तीर्थोंकी महिमा सूचित हो। 'तीर्थ' शब्दसे नगर या ग्रामविशेषसे तात्पर्य नहीं है। वहाँके देवस्थानविशेषसे तात्पर्य है। उपर्युक्त दिव्य देशोंमें सर्वव्यापकता दैवी सत्ताका पीठमें प्राणप्रतिष्ठा करके आविर्भाव कराया जाता है—जैसे मूर्तिमें अथवा भावयन्त्रादिमें जिस-जिस दैवी शक्तिका आविर्भाव प्रबल होता है, पहले अपने अन्तःकरणको शुद्ध करके उस पीठस्थानको भी शुद्धकर अपनेमें उस देवताका आविर्भाव करके तदनन्तर उस पीठमें देवताका आविर्भाव कराना होता है। मन्त्रशास्त्रमें पीठाविर्भावके अनेक भेद पाये जाते हैं। वैदिक दर्शनशास्त्रोंमें आकर्षण और विकर्षणशक्तिका जहाँ समन्वय होता है, वहाँ पीठकी उत्पत्ति होती है—ऐसा माना गया है। आकर्षणशक्ति रजोगुणप्रसूत है और विकर्षणशक्ति तमोगुण प्रसूत है। दोनोंका जहाँ समन्वय होता है, वहाँ ही सत्त्वगुण है और उसी सत्त्वगुणमें धर्मकी धारिका शक्तिका विकास होता है, तथा वहाँ ही पीठ बना रहता है। इसी विज्ञानके अनुसार ग्रह-नक्षत्रादि जिस कक्षामें भ्रमण करते हैं, उस कक्षासे अलग नहीं जाते; वही उनका पीठ है। समाहित अन्तःकरणकी शक्ति, मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्ति—इन तीनोंकी सहायतासे ऊपर कथित सोलह दिव्य देशोंमें देवशक्तिका आविर्भाव किया जाता है और उस शक्तिके लघुत्व और गुरुत्वके विचारसे तत्-तत् स्थानोंमें वह शक्ति अल्पकालतक या बहुत कालतक विद्यमान रहती है। इसी विज्ञानके अनुसार तीर्थविशेषमें अथवा पीठ और मूर्तिविशेषमें दैवी सत्ता बनी रहती है और इसी दैवी रहस्यके अनुसार तीर्थोंमें और मूर्तिविशेषमें विशेष दैवी शक्ति प्रकट रहती है तथा श्रद्धालु भक्तोंका कल्याण करती है। वैद्यनाथ, तारकेश्वर, नाथद्वारा आदि तीर्थों और विग्रहोंमें जो नाना प्रकारके चमत्कारोंका वर्णन सुननेमें आता है, उसका यही कारण है। नाना पीठोंमें नाना चमत्कारोंका वर्णन पाया जाता है, इसका कारण प्रत्येक पीठका अलग-अलग संस्कार ही है। जैसे व्यक्तिविशेषमें संस्कार-पार्थक्य रहता है, वैसे ही प्रत्येक पीठमें भी अलग-अलग संस्कार रहता है। जैसे मनुष्यके संस्कारविरुद्ध कार्य करनेसे उसको कष्ट होता है, उसी प्रकार पीठके संस्कारविपरीत कार्य होनेसे उसकी शक्तिमें धक्का लगता है और पीठाभिमानी देवता अप्रसन्न होते हैं। इतना ही नहीं, पीठस्थ संस्कारके विरुद्ध कार्य होनेपर व्यक्ति, जाति तथा देशको भी क्षतिग्रस्त होना पड़ता है। इसलिये जिस पीठमें जिस तरहका संस्कार

पूर्वपरम्परासे चला आ रहा है, उसका नाश करना उचित नहीं। वहाँ नूतन स्थापित पीठोंमें नया संस्कार चलाया जाय तो कोई हानि नहीं। पीठरहस्य और मूर्तिपूजा आदि समझनेके लिये अपनी मनमानी कल्पनासे काम नहीं करना चाहिये, जैसा कि अंग्रेजी-शिक्षासे शिक्षित नेतृवृन्द किया करते हैं। दैवी जगत्पर श्रद्धा, वैदिक दर्शनशास्त्रोंका अध्ययन तथा मन्त्रशास्त्रका अनुशीलन करनेसे यह बात पूरी तरह समझमें आ सकती है। सूर्योदय

भारतीय संस्कृतिका प्रतीक गायत्रीमन्त्र

(लेखक—पं० श्रीजौहरीलालजी शर्मा महामहोपाध्याय)

इस देशमें गायत्री[१]की गरिमाका गान द्विजातियोंद्वारा अनादिकालसे होता आ रहा है। यह मन्त्र त्रयीमें प्रतिष्ठित है। ऋग्वेदके ३। ६२। १०वें मन्त्रमें ऋक्-रूपसे; यजुर्वेदके ३। ३५वें, ३०। २२ एवं ३६। ३रे मन्त्रमें यजुःरूपसे तथा सामवेदके उत्तरार्चिकके १३वें अध्यायके तृतीय खण्डके ३रे मन्त्रमें सामरूपसे उपलब्ध है। इस मन्त्रप्रवरके ऋषि विश्वामित्र हैं और देवता सविता हैं। अन्यान्य वैदिक मन्त्रोंके समान यह भी एक मन्त्र है; किंतु गायत्रीछन्दमें ग्रथित होनेके कारण यह 'गायत्री' नामसे ही लोकमें विश्रुत हुआ है, एवं सवितासे सम्बन्ध होनेके कारण यह सावित्री भी कहलाता है। इस मन्त्रमें तीन पद हैं। अक्षर चौबीस होने चाहिये; किंतु एक कम होनेसे इसकी संज्ञा[२]निचृद्गायत्री है। तथापि **'वरेण्यम्'** शब्दको **'वरेणियम्'** पढ़कर इसमें चौबीस अक्षर माननेकी विद्वानोंकी सम्मति रही है।

गायत्रीमन्त्रका सुगम अर्थ यह है कि 'हम सब जगत्-स्रष्टा उस देवताके वरण करने योग्य तेजका ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करे।'

प्रकृतिके साम्राज्यमें बुद्धिकी सत्ता सर्वशिरोमणि है। प्रवृत्तिमार्गियोंको इसीकी कुशाग्रतासे त्रिवर्गकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है एवं निवृत्तिमार्गियोंको इसीकी निर्मलतासे मुक्ति-पदवी भी अनायास मिल जाती है। दोनों मार्गवाले अपने-अपने भावनानुसार परमात्मासे प्रेरित-बुद्धि होकर यथेष्ट सुख लाभ करते हैं।

इस मन्त्रकी अधिष्ठात्री देवी पंचमुखी और दशभुजा हैं। वे आराधकोंकी सकल कामनाओंकी पूरिका हैं।

शतपथ ब्राह्मण[३] और तैत्तिरीयारण्यक[४]में भी गायत्रीकी चर्चा की गयी है। उपनिषद्में भी इसकी उपासना है। छान्दोग्य (३। १२। १) का वचन है कि यह जो कुछ है, सब गायत्री ही है।[५] गायत्रीके चमत्कारसे प्रभावित होकर ऋषि-मुनियोंने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। आदिकवि वाल्मीकिने अपनी रामायणके चौबीस सहस्र श्लोकोंकी रचना गायत्रीके चौबीस वर्णोंको लेकर की; वेदव्यास कृष्णद्वैपायनने अपने पुराण-मुकुटमणि श्रीमद्भागवत महापुराणमें गायत्रीका वर्णन किया; तथा दर्शनशिरोमणि वेदान्तदर्शनने[६] गायत्रीद्वारा परब्रह्मके ही प्रतिपादनको सिद्ध किया। मनु महाराजकी सम्मति है कि तीन वर्षोंतक सावधान होकर गायत्रीका जप करते रहनेसे जापकको परब्रह्मकी प्राप्ति होती है[७]। इस मन्त्रको जपते समय प्रणव और तीन व्याहृतियोंको भी मन्त्रसे पूर्व बोलनेका सनातन सम्प्रदाय है। प्रणव परमात्माका आदिम नाम है[८], जिसका अर्थ है 'रक्षा करनेवाला।' तीनों व्याहृतियोंका अर्थात्[९] भूः-भुवः-स्वः का क्रमशः अर्थ है सत्-चित्-आनन्द। प्रपन्नरक्षाविचक्षण सच्चिदानन्द जगदुदयलील परमात्माका ध्यान करते हुए गायत्रीका जप करनेवाले साधक विधूतकल्मष होकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

परमात्माका ध्यान अभेद-भावनासे भी किया जाता है और भेद-भावनासे भी। अभेदवादी विद्वान् जीव-ब्रह्मके भेदको अविद्याजनित मानते हुए अभेदको

१. गायन्तं त्रायते। (निरुक्त)
२. ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ। (पिंगलसूत्र)
३. गायत्र्यस्येकपदी इत्यादि।
४. १। ११ । २
५. गायत्री वा इदं सर्वम्।
६. छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथा हि दर्शनम्। (वेदान्तसूत्र १। १। २५)
गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण तदनुगते ब्रह्मणि चेतसोऽर्पणं चित्तसमाधानमनेन ब्राह्मणवाक्येन निगद्यते। (शांकरभाष्य)
७. योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः। स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः स्वमूर्तिमान्॥ (मनुस्मृति २। ८२)
८. तस्य वाचकः प्रणवः। (योगसूत्र)
९. भवतीति भूः सत्। भावयतीति भुवः चित्। स्वर्यते स्तूयते इति स्वः।
यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं यत्तत् सुखं स्वःपदास्पदम्॥

ही तात्त्विक मानते हैं और गायत्रीके जपके समय इसी वृत्तिको लेकर ब्रह्मध्यानमें परायण होते हैं[1]; एवं भेदवादी भावुक भक्त जीवेश्वरमें तात्त्विक भेद[2] मानते हुए उपास्यदेवकी ध्यानमयी उपासनामें प्रवृत्त होते हैं। वे—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः॥

—इस श्लोकके अनुसार आदित्यके अन्तर्यामी[3], कमलासनासीन कटक-कुण्डल-किरीट, केयूर-विभूषित, हार पहने हुए, शंखचक्रधारी[4], पीताभ[5] परमात्मा श्रीमन्नारायणका[6] ध्यान करते हुए गायत्रीका जप करते हैं।

संस्कृति वही उज्ज्वल है जिसमें मानवमात्रको ऐहिक सुख वा अभ्युदयका लाभ हो तथा आमुष्मिक आनन्द या निःश्रेयसकी प्राप्ति हो। भारतकी संस्कृतिकी मूलभित्ति थी धर्म, जो संसारके अर्थमय एवं काममय सुखमें संयत प्रोज्ज्वलता लाता हुआ अन्तमें जीवको परमानन्दकी प्राप्ति करा देता था। गायत्री उसी संस्कृतिका प्रतीक है।

निरीश्वरवादमें बनी हुई अच्छी-से-अच्छी संस्कृति मनुष्यको भौतिकताके गर्तसे बाहर नहीं निकाल सकती। प्राचीन वैदिक संस्कृतिमें ईश्वर ओत-प्रोत था, वैदिककालीन ऋषि-मुनि उस जगत्प्रसवित्री शक्तिके सम्मुख नतमस्तक होकर अपने कल्याणकी कामना करते थे। उन्होंने जैसे अपनी बुद्धिको ईश्वराधीन कर दिया हो।

आज राजनीतिके आकाशमें ईश्वरपराङ्मुखताकी आँधीसे प्रेरित अविश्वासकी घटाएँ घिर रही हैं, जिनसे अशान्तिकी वर्षाकी आशंका है। संस्कृतिकी रक्षा चाहनेवालोंको अब सामूहिकरूपमें गायत्रीजपका आयोजन कराना चाहिये, जिसके परिणामस्वरूप मंगलमय श्रीभगवान् देशकी बुद्धिको सन्मार्गमें प्रेरित करें।

गायत्रीका स्वरूप और मूर्ति

(लेखक—डा० श्रीमहानामव्रतदास ब्रह्मचारी एम० ए०, पी-एच०डी०)

'गायत्री छन्दसामहम्' (श्रीगीता १०। ३५)

सुविख्यात जर्मन दार्शनिक इमैन्युएल काण्ट (Immanuel Kant) साहबने गम्भीर तत्त्वों और विचारोंसे पूर्ण बहुतेरे ग्रन्थ प्रणयन करनेके बाद उपसंहारमें कहा है कि ''इस संसारमें दो वस्तुओंको देखकर मुझे भय लगता है; उनमें एक है 'नक्षत्रखचित आकाश'—(Starry Heaven), और दूसरा है 'विवेककी अनुभूति' सदसद्का अन्तर्ज्ञान (Moral Conscience).''

इन दोनों वस्तुओंसे उनको भय क्यों होता था, इसका कारण काण्ट साहबने बतलाया है। उन्होंने कहा है कि ''अँधेरी रातमें जब मैं नक्षत्रखचित आकाशकी ओर देखता हूँ तो मेरा मन कहता है कि 'कौन हो तुम महाशक्तिमान् पुरुष, जो इस अगणित सृष्टिमय विश्व-ब्रह्माण्डका संचालन कर रहे हो? जिस प्रकार बालक गेंद खेलते हैं, उसी प्रकार खेल-खेलमें तुम अनन्त ब्रह्माण्डोंको अपने-अपने कक्षमें दौड़ा रहे हो। तुम कितने महान् हो, कितने विराट् हो! और तुम्हारे सामने मैं कितना क्षुद्र हूँ! कितना क्षुद्रातिक्षुद्र हूँ, कीटादपि कीट हूँ।' यह सोचते ही मन विस्मयाविष्ट हो जाता है, और भय लगता है। उसकी महत्ता और अपनी क्षुद्रताके बीच जब इतना विशाल व्यवधान पाता हूँ, तब भयसे अभिभूत हुए बिना मैं नहीं रह सकता।'

दूसरी वस्तु जो काण्ट साहबके लिये भयजनक जान पड़ी, वह है अन्तरमें विवेककी वाणी या अन्तर्यामीका अनुभव। इस सम्बन्धमें वे कहते हैं कि ''मैं जब कोई अनुचित कार्य करता हूँ, तब मानो कोई मेरे भीतरसे

१. (अ) सर्वं खल्विदं ब्रह्म। (आ) जीवो ब्रह्मैव नापरः। (इ) नेह नानास्ति किंचन।
२. (अ) भेदव्यपदेशाच्चान्यः (वेदान्तसूत्र १। १। १७)। (आ) भेदव्यपदेशात् (वेदान्तसूत्र १। ३। ५)
३. (अ) य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते (छान्दोग्य०)। (आ) अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् (वेदान्तसूत्र १। १। २०)। (इ) अन्तः आदित्ये……यः पुरुषः प्रतीयते स जीवादन्यः परमात्मैव (श्रीभाष्य)। (ई) सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थितः परमेश्वरः (वेदान्तसूत्र ४। ४। १८ पर शांकरभाष्य)।
४. यत्र शंखचक्रगदाधरस्मरणं मुक्तिश्च (ऋक्परिशिष्ट)।
५. तुलना कीजिये—(अ) यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम् (मुण्डक०)। (आ) प्रणखात् सर्व एव सुवर्णः (छान्दोग्य०)। (इ) स सुवर्णच्छविः श्रीमान् रामः श्यामो महायशाः (रामायण ५। ३५। २२)।
६. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं प्रोक्तं तेन नारायणः स्मृतः॥ (मनुस्मृति १। १०)

बिजली-सा कड़ककर कहता है कि 'तुम यह अनुचित कर रहे हो!' तब सोचता हूँ—वह कौन है, जो मेरे ही भीतर रहता है पर मुझसे बड़ा है, मुझपर हुकुम चलाता है, मेरे विचारोंके ऊपर अपनी राय देता है। उसकी बातें स्पष्ट सुनायी पड़ती हैं, उनमें ननु-नच नहीं है। उसकी बातोंमें एक कठोर (Imperative) अनुशासन है, जो मुझको अपने आदेशके अनुसार कार्यमें प्रवृत्त करनेके लिये बाध्य करता है। उसकी इस सुस्पष्ट आदेश-वाणीको जब मैं सुनता हूँ, तब भय लगता है। मुझे जैसा बनना उचित था, वह उसे बतला देता है। तब मुझे जैसा बनना उचित था और मैं जैसा कुछ बन गया हूँ, उस आदर्श (Ideal) और यथार्थ (Actual) के बीच जो व्यवधान इतना बड़ा है वह मेरी आँखोंके सामने आ जाता है। वह व्यवधान है कि उसका विचार करते ही मेरे प्राण भयके मारे स्तब्ध हो जाते हैं। आदर्शकी अपेक्षा मैं कितना नीचे हूँ, कितना छोटा हूँ—इसका विचार करते ही मैं भयभीत हो उठता हूँ।''

इसके बाद काण्ट साहब कहते हैं कि 'मालूम होता है ये दोनों वस्तुएँ यथार्थमें दो नहीं हैं। नक्षत्रखचित आकाशके अन्तरालमें जो शक्ति है और मेरे भीतर छिपी हुई जो संचालिका शक्ति है, वे दोनों मेरे मन एक ही जान पड़ती हैं।' काण्ट कहते हैं कि 'ये दोनों शक्तियाँ एक हैं, ऐसा मेरा अनुमान होता है। परंतु निश्चयपूर्वक ठीक-ठीक कह नहीं सकता। क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। ऐसी आशा भी नहीं कि किसी दिन इसका प्रमाण मिल जायगा।'

काण्ट साहबकी इस उक्तिके समान उच्च तत्त्वज्ञान पाश्चात्यदर्शनमें अधिक नहीं है—यों कहें तो अत्युक्ति न होगी। पाश्चात्त्य विचारोंको आध्यात्मिक गवेषणाकी सीमान्त-रेखा यहीं आकर विलीन हो जाती है। अत्यन्त आश्चर्यपूर्वक काण्ट साहबकी आध्यात्मिक गवेषणाके साथ भारतीय आर्य-ऋषियोंकी गम्भीर अनुभूतिका एक विशेष सादृश्य दिखलायी देता है।

आर्य-संस्कृतिके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ वेद हैं। वेदका सर्वश्रेष्ठ मन्त्र—ब्रह्म-गायत्री। इस गायत्री-मन्त्रमें ही आर्य-ऋषिकी सर्वातिशायी गम्भीरतम अनुभूति मूर्तिमान् हुई है। काण्ट साहबने उसके दर्शनसे जिस अन्तिम तत्त्वकी बात कही है, भारतीय ऋषियोंने गायत्री-मन्त्रमें भी उसी चरम सत्यकी बात कही है। उन्होंने कहा है कि '**भूः, भुवः, स्वः** इत्यादि चतुर्दश भुवनात्मक इस समस्त ब्रह्माण्डके जो प्रसविता देवता हैं, उनकी वरणीय ज्योतिका हम ध्यान करते हैं। क्यों करते हैं? उनके साथ हमारा सम्बन्ध क्या है? वे हमारी बुद्धिके प्रचोदयिता अर्थात् प्रेरणकर्ता हैं। जो ब्रह्माण्डके चालक हैं, वे ही हमारी बुद्धिके चालक हैं।'

काण्टके साथ वैदिक ऋषिकी अनुभूतिका यह मेल है और दोनोंमें पृथक्ता भी है। वह यह है कि काण्टने जो कहा है कि दोनों वस्तुएँ एक ही हैं, यह उनका अनुमानमात्र है, वे निश्चय करके कुछ भी नहीं कह सकते। भारतीय ऋषि कहते हैं कि दोनों एक हैं, इस बातको हम सुनिश्चितरूपसे जानते हैं। '**वेदाहमेतम्**'। हमने उनको देखा है। अन्धकारके उस पार उस परमज्योतिकी सत्ताका हमने प्रत्यक्ष किया है। हमारे ज्ञानमें सन्देह, भ्रम और प्रमाद नहीं है; क्योंकि सत्यके साथ एकात्मता प्राप्त करके हमने उसको अपरोक्ष अनुभूतिसे जाना है।

काण्टकी बात और भारतीय ऋषियोंकी बातमें कम पृथक्ता नहीं है। एकके लिये सत्य अनुमानमात्र (Inference) है, और दूसरेके लिये अनुभूति (Realization) है, काण्टके लिये सत्य-निर्णयका पथ है—Reason या तर्क-वितर्क। आर्य-ऋषियोंके लिये सत्यानुभूतिका पथ है—साधना या तपस्या। तर्क-वितर्क तो केवल बुद्धिका कार्य है। साधना समस्त जीवनका कार्य है। तर्क-वितर्कसे सत्यका आंशिक ज्ञान होता है और साधनाके द्वारा सत्यके साथ तादात्म्य लाभ होता है। इसी कारण पाश्चात्त्योंका सत्यानुसन्धान खण्ड-खण्ड (Fragmentary) है, और भारतीय ऋषियोंकी तत्त्वानुभूति समग्ररूपमें, सामग्रिक (Integral) है।

भारतीय ऋषिकी परम तपस्याका चरम फल ब्रह्मगायत्री है, ओ ऋक्, साम और यजुः—तीनों वेदोंमें उद्घोषित है, जिसे लेकर समस्त उपनिषद्की साधना चलती है, आज भी नित्य कोटि-कोटि हिंदू नर-नारी जिसके जप-ध्यानमें निमग्न होकर प्रतिदिन नित्यकर्मका अनुष्ठान करते हैं। इसीसे हिंदुओंका परम धन है—ब्रह्मगायत्री, देवी वेदमाता।

गायत्री-मन्त्रमें तीन वस्तुओंका पता लगता है—१-'**सवितुर्वरेण्यं भर्गः**' अर्थात् परात्पर तत्त्व, परमात्मा, २-'**धियो नः**' अर्थात् जीवका बुद्धितत्त्व, ३—'**प्रचोदयात्**'—इन दोनोंका प्रचोदनात्मक सम्बन्ध। एक अनन्त ब्रह्माण्डका केन्द्र है, दूसरा व्यष्टि जीवका जीवन-केन्द्र है और तीसरा इन दोनोंके बीच प्रणोदन

अर्थात् प्रेरणामूलक आन्तर सम्बन्ध है। इन तीन तत्त्वोंके ऊपर ही विश्वके समस्त दर्शन और विज्ञान प्रतिष्ठित हैं। भारतीय शास्त्रोंके समग्र अनुशीलनका बीज है यह ब्रह्मगायत्री। इसी कारण भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं कि 'छन्दोंमें मैं गायत्री हूँ' (**गायत्री छन्दसामहम्**)।

सत्यके दो रूप हैं—एक निर्गुण और दूसरा सगुण। एक निर्वस्तुक (Abstract) और दूसरा वस्तुनिष्ठ (Concrete)। दो और दो मिलकर चार होते हैं, यह गणितशास्त्रका एक निर्गुण सत्य है। और दो वस्तुएँ तथा दो वस्तुएँ मिलकर चार वस्तुएँ हो जाती हैं—यह व्यावहारिक जीवनमें वस्तुनिष्ठ सगुण सत्य है। इन दोनों रूपोंके द्वारा सत्यका पूर्ण विकास होता है। सत्यकी इस सम्पूर्णताकी अनुभूति भारतीय ऋषियोंको जैसी हुई, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं हुई।

वैदिक साधनामें गायत्री-मन्त्रका निर्गुण स्वरूप तो प्राप्त हो गया। अब उसकी सगुण—सविशेष मूर्ति चाहिये। वास्तविक जीवनमें जबतक उसकी वस्तुनिष्ठ मूर्ति प्रकट नहीं होती, तबतक सत्यका पूर्ण दर्शन सिद्ध नहीं होता। वह मूर्ति प्राप्त हुई है—कुरुक्षेत्रके युद्धक्षेत्रमें।

जब घोड़ोंकी बागडोर छोड़कर भगवान्‌ने अर्जुनकी बुद्धिकी बागडोरको हाथमें लिया, तब ऋषियोंने देखा कि सहस्र सूर्योंके समान '**दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता**' जिनकी अंगज्योति है, वही वरणीय-भर्ग पुरुष आज अर्जुनकी बुद्धिके प्रचोदयिता हैं। यहीं गायत्री-मन्त्रकी सविशेष सगुण मूर्ति प्रकटित है। महाभारतमें भारतसमरके मध्यस्थलमें भी यह मूर्ति प्रकट होती है। भारतीय नर-नारीके जीवन-समरके मध्यस्थलमें भी यह मूर्ति विराजमान रहे, यही मानो ऋषियोंकी शिक्षा है। जिसके जीवनसमरके मध्यमें यह विग्रहमूर्ति है, वही यथार्थ भारतीय है। वही महाभारतका—बृहत्तर भारतका सार्थकनामा नागरिक है।

मूर्तिमान् गायत्रीमन्त्रको हम प्रणाम करते हैं—

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

इस मन्त्रके ज्ञानमय प्रदीपको जिन्होंने प्रज्वलित कर रखा है, उन श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासको हम प्रणाम करते हैं—

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे
फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
येन त्वया भारततैलपूर्णः
प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः॥

गायत्रीमन्त्रकी मूर्ति देखी गयी, अर्जुनकी बुद्धि-प्रचोदनाका फल हुआ—सप्तशतश्लोकमयी गीता।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

ऋषिगण पुकार उठे—'**किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः**'। वेदव्यासने भी सोचा—ठीक तो है, गीता मिल गयी, अब और शास्त्रोंके विचारकी आवश्यकता ही क्या है? यों विचारकर वे सरस्वती नदीके तीरपर जाकर ध्यान करने लगे; परंतु ध्यानमें मन नहीं लगता, मानो कोई कार्य शेष रह गया हो। वे स्वयं कुछ निश्चय नहीं कर सके। श्रीमद्भगवद्गीता प्रकट हो गयी, फिर कौन-सा काम बाकी रह सकता है? वेदव्यासकी साधनाका अन्त हो गया, फिर भी चरम तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हुई। इसीलिये भगवान्‌की कृपाशक्ति देवर्षि नारदका वेष धारण करके आयी। चरम सत्य साधन-लब्ध वस्तु नहीं है, वह तो कृपालब्ध धन है।

देवर्षि नारदने महर्षि वेदव्याससे कहा—'आपके चित्तमें शान्ति क्यों नहीं है? जान पड़ता है आप इसका कारण नहीं समझ सके। गायत्रीमन्त्रकी जो परमातिपरम मूर्ति है, वह अबतक जगत्‌को नहीं दिखलायी गयी।' महर्षिने देवर्षिकी बात नहीं समझी। तब देवर्षिने समझाकर कहा—

''ब्रह्मगायत्री-मन्त्रमें यह तथ्य है कि 'वे हमारी बुद्धिको प्रेरित करते हैं।' परंतु किस ओर करते हैं और किस प्रकार करते हैं—इसका कोई उल्लेख नहीं है। समझना चाहिये कि वे सर्वोत्तम उपायोंसे तथा सर्वश्रेष्ठ दिशामें ही प्रेरित करते हैं। वे अर्जुनकी बुद्धिको संचालन करते हैं—उपदेशके द्वारा बलपूर्वक या कानून बनाकर संचालन करनेकी अपेक्षा उपदेशके द्वारा संचालन करना श्रेष्ठ है; परंतु यह सर्वोत्तम नहीं है। निर्मल विशुद्ध प्रेमके द्वारा जो कर्म-प्रवर्तना होती है, वह उपदेशकी अपेक्षा भी सौगुनी अधिक उत्तम और कार्यकारी है। उपदेशके द्वारा होनेवाली प्रेरणामें कुछ बाह्यभाव है। प्रेमके द्वारा जो प्रेरणा होती है, वह सर्वथा आन्तरिक होती है। उपदेशका आवेदन (appeal) विचारशक्ति (thinking) के ऊपर होता है। प्रेमका आवेदन (appeal) भावनाशक्ति, इच्छाशक्ति, अनुभवशक्ति (thinking, willing, feeling)—सबके ऊपर, अखण्ड जीवनके ऊपर होता है। इसी

कारण यह अधिक व्यापक और निबिड़ होता है।

यह हुई सर्वोत्तम उपायकी बात; अब यह निर्धारण करना है कि सर्वश्रेष्ठ दिशा क्या है। अर्जुनकी बुद्धिका संचालन भगवान्ने किया था कर्तव्यकी ओर, स्वधर्मकी ओर। वह श्रेष्ठ दिशा तो है, परन्तु सर्वश्रेष्ठ दिशा नहीं है। जिस दिशामें वे ऐश्वर्य-माधुर्यकी पराकाष्ठाके रूपमें स्वयं—स्वरूपमें विराजमान हैं, वही दिशा सर्वश्रेष्ठ दिशा है। परम पुरुष जब विशुद्ध प्रेमके द्वारा किसीके जीवनको प्रचोदित करते हुए अपने असमोर्ध्व स्वरूपकी ओर चलाते हैं, तभी गायत्री-मन्त्र पूर्णांगरूपमें मूर्तिमान् होता है।

ऐसा क्या कहीं हुआ है? महर्षि वेदव्यासकी यह जाननेकी इच्छा समझकर श्रीनारदजीने कहा—'हाँ, हुआ है। क्यों, क्या आप नहीं जानते कि वृन्दावनमें यमुनाके तटपर क्या लीला हुई है? जिस दिन केवल विचारमय उपदेशके द्वारा नहीं, बल्कि प्रेममयी मुरलीके द्वारा व्रजवधुओंके जीवन-यौवनको, किसी धर्म-कर्म या कर्तव्यकी ओर नहीं, वरं समस्त धर्मकर्मोंकी ओरसे हटाकर (**सर्वधर्मान् परित्यज्य**) अपने सर्वातिशायी माधुर्यकी ओर दौड़ाया गया था, उसी दिन गायत्रीमन्त्रने पूर्णांगता प्राप्त की थी।'

वेदव्यासने नया प्रकाश प्राप्त किया। यह परम और चरम प्रकाश उनकी अपनी साधनाका फल नहीं था, परम कृपाका दान था। कृपाके बिना इस प्रकाशके राज्यमें प्रवेश करनेकी क्षमता किसीमें भी नहीं है। कृपाशक्तिसे शक्तिमान् व्यासने इस अभिनव-प्राप्त सत्यको रूप प्रदान किया श्रीमद्भागवतमें। उन्होंने नौ स्कन्धोंमें भूमिका लिखकर दशम स्कन्धकी रासपंचाध्यायीमें ब्रह्मगायत्री-महामन्त्रको सर्वांगीण मूर्ति प्रदान की। इसीलिये तो श्रीमद्भागवतको कहा गया है—

गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः॥

श्रीमद्भागवतको प्राप्तकर ऋषिवर्ग आनन्दसे उत्फुल्ल होकर पुकार उठे—

राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सताङ्गणे।
यावन्न दृश्यते साक्षाच्छ्रीमद्भागवतं परम्॥

सारे पुराणोंका आदर तभीतक है, जबतक भागवतका साक्षात्कार नहीं होता। केवल सारे पुराणोंका ही नहीं—सारे धर्म-कर्म, साधन-भजन, राष्ट्र, समाज, संसार, नेतृत्व, कर्तव्य, पाण्डित्य—सबका तभीतक आदर है, जबतक यह मुरलीमनोहर मुरलीकी तानसे बुद्धिको प्रचोदित नहीं करता।

श्रुति, स्मृति और पुराण—यही हिंदू-संस्कृतिका सर्वस्व है। श्रुतिमें ब्रह्मगायत्री निर्गुण है। स्मृति (भगवद्गीता)-में ब्रह्मगायत्री सगुण मूर्तिमें प्रकटित है। पुराण (श्रीमद्भागवत)-में ब्रह्मगायत्री अप्राकृत गुणातीत भूमिकामें नित्य नवायमान मूर्तिमें विराजित है। यही भारतीय संस्कृतिका सर्वस्व है।

यदि कोई पूछे कि 'आप क्या समस्त भारतीय सांस्कृतिक साधनाकी बात एक वाक्यमें बतला सकते हैं?' तो मैं उत्तर दूँगा कि 'हाँ', बतला सकता हूँ।' यह संस्कृति अखण्ड (Synthetic whole) जो है। इसीसे जो बात लाखों-लाखों वाक्योंमें नहीं व्यक्त की जा सकती, वह इस एक वाक्यमें व्यक्त की जा सकती है—

ॐ भूः भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥ ॐ॥

मुसकान लगी

(रचयिता—पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी 'निधिनेह')

केते प्रभात लखे नेहिं आजु लौं, पैजा प्रभातकी काह कहौं छबि।
कूजत कोकिल कीर कपोत, लसैं नभमें जु नए उनए रबि॥
देखि उदीची प्रभा कमनीय कुबेरके दंत गई अँगुरी दबि।
है गयो सोर दिगन्तके अन्त लौं, भक्ति सौं देवन सीस गए नबि॥
अवलोकि निसा अवसान अली मन कंज कली खिलि जान लगी।
लहरान लगी अति सीतल पौन, सुगंध पटी फहरान लगी॥
चहुँ ओरन मोद प्रमोद छयो, नव ज्योति भली जगि जान लगी।
छिपि जान लगी अति कारी निसा, अरु प्राची दिसा मुसकान लगी॥

सन्ध्योपासना और ब्रह्मविद्या

(लेखक—पं० श्रीश्यामसुन्दरजी झा, न्याय-वेदान्ताचार्य)

यह विषय अति गहन किंतु उपयोगी है। आर्योंके सर्वश्रेष्ठ मन्त्रात्मक कर्मका नाम सन्ध्योपासना है। इसकी भावना, अर्थ और शब्दशक्तिका भी विचार करना महत्त्वपूर्ण है। प्रकारान्तरसे राजविद्या, अध्यात्मविद्या आदि नामसे व्यवहृत ब्रह्मविद्या सर्वविद्याओंकी माता महाविद्या है। अतएव इसके क्षेत्रकी विशालताके विषयमें कहनेकी जरूरत नहीं है। जो सत्कर्म सर्वभावनाओंके बीजभूत संस्कारोंके प्रेरकरूपसे आज भी सकल शिष्टजनोंद्वारा उपासित है और उपनिषद्गम्य विद्याभ्याससे, ईश्वर, गुरु तथा शास्त्रके प्रसादसे मुमुक्षुजन जिसके परमज्ञेय तत्त्वको जानकर अपने जीवनको सर्वथा कृतकृत्य कर लेते हैं, उस पुण्यकर्म और महाविद्याकी महाकक्षामें क्या नहीं हो सकता। यहाँ इन दोनोंका दिग्दर्शनमात्र विहंगावलोकन-न्यायसे करके दोनोंको परस्पर सम्बन्ध दिखानेका यत्किंचित् प्रयत्न किया जाता है।

उपनयन-संस्कारके अनन्तर द्विजमात्रका अत्यावश्यक कर्म सन्ध्योपासना है और मुमुक्षुजनोंके लिये परमार्थ-सिद्धिका ऐकान्तिक साधन ब्रह्मविद्या है। इन दोनोंकी उपयोगिता प्रसिद्ध है।

अहरहः सन्ध्यामुपासीत।

—श्रुति भगवतीका यह पुण्य विधान है। इस अध्यात्म-विद्या-तत्त्वके न जाननेवालेको उपनिषद् 'कृपण' शब्दसे वर्णन करती है।

य एतदविदित्वा प्रयाति स कृपणः।

अध्यात्मविद्या परम शान्ति एवं परम पुरुषार्थरूप मोक्षका ऐकान्तिक साधन है; तथापि अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना वेदान्तग्रन्थाध्ययन केवल वाग्विलासार्थ ही सिद्ध होनेसे मोक्षसाधक नहीं हो सकता। सन्ध्योपासना वेदमूलक नित्यकर्म है। यह अन्तःकरणशुद्धिका मुख्य साधन है। अतः परम-पुरुषार्थावलम्बी सभी सम्प्रदायोंमें सामान्यरूपसे मान्य है। वेदके शाखाभेदसे मन्त्रादि-प्रक्रियामें कुछ भेद अवश्य है, तथापि यह पुण्यकर्म सबको सुसम्मत है। स्नान, सन्ध्या, जप, होम, देवपूजन, आतिथ्य तथा वैश्वदेव—विप्रके इन नित्य षट्-कर्मोंमें सन्ध्यावन्दन सबसे मुख्य है। प्रातःकालसे अहोरात्र-पर्यन्त जीवनतन्त्रको नियमबद्ध करनेकी भावना इसमें भरी है। जिनका उपनयनसंस्कार नहीं हुआ है, उनको नियत समयपर ईश्वरस्मरणादि विहित क्रिया करनेसे सन्ध्योपासनाका फल मिलता है।

वर्तमान समयमें ब्रह्मविद्याकी ओर तो साधारण उत्सुकता देखी जाती है, किंतु सन्ध्योपासनामें अधिकांश लोग शिथिलता दिखलाते हैं। इसके अनेक कारणोंमें एक यह भी है कि आजकल प्राचीन प्रणालीके विरुद्ध कॉलेजोंमें इतिहासाध्ययनके सदृश ही वेदान्ताध्ययन भी सकलसाधारण बन गया है। दूसरा कारण यह भी सम्भव है कि विद्या बुद्धिका विषय है और कर्मकाण्डमें कर्मकी आवश्यकता है। ज्ञानका विशेष सम्बन्ध अन्तर्जगत्के साथ है और क्रियाका बाह्य जगत्के साथ। ज्ञान पुरुषपर और क्रिया प्रकृतिपर मुख्यतः अवलम्बित है। ज्ञान स्वयं-वेद्य और क्रिया प्रत्यक्ष-दृश्य है। नूतन शिक्षणसे उत्पन्न वातावरणमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी ओर विशेष झुकाव है। अतएव आज्ञापूर्वक विहित क्रिया यदि नित्य हो तथा इसमें आत्मसंयमकी विशेष आवश्यकता हो तो इस ओर कुछ उपेक्षावृत्ति हो ही जाती है। तथापि अन्तर्जगत् तथा बाह्य जगत्में साक्षीरूप आत्मा ओत-प्रोत है। निःश्रेयस-प्राप्तिमें आत्मज्ञानका प्राधान्य है तो अभ्युदय और लोकसंग्रहार्थ सत्क्रियाकी आवश्यकता है। बाह्य जगत्का चित्तवृत्तिमें लय होनेपर क्रियाकी अपेक्षा नहीं रहती; पर इससे पूर्व क्रियाकी अपेक्षा है। इतना ही नहीं, सन्ध्योपासनादिरूप सात्त्विक क्रिया तो ज्ञानप्राप्तिके अधिकारी होनेमें अनन्त उपयोगी और चित्तशुद्धिद्वारा जीवन-शुद्धि-साधनमें भी परम सहायक है।

सन्धिकाल अनेक रीतिसे गहन होता है। मानव-जीवनमें अवस्था-सन्धि विकट होती है। प्रजा-जीवनमें भी विभिन्न संस्कृतियोंका, भिन्न समाजोंका और भिन्न समुदायोंका सन्धि-प्रसंग गहन होता है। सन्धिसमयकी विषमता और विशिष्टता इसलिये है कि इन समयोंमें नूतन-नूतन बलोंका प्राकट्य होनेके कारण मानवसमाजकी भावना किस दिशामें प्रवाहित होगी, यह तत्तत्समय-संयोगसे विदित होता है। अभी अपने देशमें पौरस्त्य और पाश्चात्त्य संस्कृतियोंका सन्धिकाल है। अतएव वह दुर्घट है। तत्त्वज्ञ पुरुष कहते हैं कि ऐसे समयमें

विश्वतन्त्रनियामक परमात्माके शरणापन्न होकर कल्याण-मार्गकी साधना करनी चाहिये।

सन्ध्योपासनामें सावित्रीद्वारा सवितादेवकी उपासना है। '**जगत्सूते इति सविता**' अर्थात् जिससे जगत्‌की उत्पत्ति आदि होते हैं, वह सविता है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म। (श्रुति)

ऐसे जगत्कारणादि ईश्वरकी प्रत्यक्ष विभूति सविता देव हैं। ये भौतिक शक्तिके महासागर, चरमोत्कर्ष हैं। तेजःपुंजके भण्डार हैं। चैतन्यशक्तिके मानो स्रोतोवाही समुच्चय और दिव्यताकी प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। सन्ध्योपासनामें मूर्तद्वारा अमूर्त सूर्यमण्डलका प्रत्यक्षानुभव करके व्यष्टिमें व्यापक सवितानारायणकी उपासना सिद्ध की जाती है।

प्रतिदिन कालसन्धिके समयमें ही सन्ध्या करनेका ऋषि-मुनियोंका विधान है। रात्रि-पूर्वाह्णका, पूर्वाह्ण-पराह्णका, पराह्न-पूर्वरात्रिका और पूर्वरात्रि-पररात्रिका—ये चार मुख्य सन्धिकाल माने जाते हैं। इन चारों सन्ध्याओंमें मध्यरात्रिकी सन्ध्याकी उपासना तो योगी तथा मन्त्रसाधक करते हैं। साधारणतया द्विजोंके लिये प्रातः, मध्याह्न और सायंकालकी सन्ध्या विहित है। प्रातःसन्ध्यामें रक्तवर्णा, बाला, ब्रह्मदैवत्या, हंसारूढ़ा सावित्रीदेवीकी भावना। मध्याह्नसन्ध्यामें श्वेतवर्णा, युवती, वृषभासना, रुद्रदैवत्या गायत्रीदेवीकी भावना है। एवं सायं-सन्ध्यामें कृष्णवर्णा, वृद्धा, गरुड़वाहना, विष्णुदैवत्या, सरस्वती देवीकी भावना है। इन तीनों सन्ध्याओंमें अनुक्रमसे भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदकी भी भावना है। सन्ध्यावन्दनमें देवपरायणताद्वारा कालसन्धि साधनेका संकेत है। इन कालसन्धियोंमें सम्यक् प्रकारसे सविता, सावित्री, सन्ध्या, सगुणब्रह्म अथवा अहंग्रहके उपासकोंकी सर्वशक्तियाँ स्वभावतः पुष्ट होती हैं और इससे अपूर्व मनोबल प्राप्त होता है। इस विषयमें महाभारतमें जरत्कारु-मुनिद्वारा शील-सौन्दर्यवती पतिव्रता पत्नीके त्यागका प्रसंग जैसे लोकोत्तर है, वैसे कमनीय भी है। ईश्वर अपने नैष्ठिक तथा दृढ़ भक्तोंके लिये क्या नहीं कर सकते? सन्ध्योपासनामें कालकी प्रधानता तो है ही। परंतु यह नित्यकर्म इतना आवश्यक और उपकारक है कि कदाचित् काल-लोप भी हो जाय, तो भी कर्मलोप नहीं होना चाहिये—ऐसा वेदविदोंका विधान है।

अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः।

सन्ध्योपासना नित्यकर्म है। कामनारहित केवल परमेश्वरप्रीत्यर्थ इसका विनियोग किया जाता है; किंतु इससे पापका नाश और पुण्य प्राप्ति होती है—

दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत्।
त्रिकालसन्ध्याकरणात् सर्वं तद्विप्रणश्यति॥

(याज्ञवल्क्य०)

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्॥

(मनु०)

सन्ध्यावन्दन भोगप्राप्तिके लिये नहीं है। वासना-सरिताके शुभाशुभरूप दो प्रवाह हैं। सन्ध्यावन्दनका मुख्य हेतु शुभमार्गमें इसे योजन करनेका है। इस पुण्यकर्ममें कर्म, भक्ति और ज्ञान—तीनों योगोंका अद्भुत एवं मनोहर एकीकरण है। आचमन-संकल्प प्राणायामादिमें क्रियाका, न्यास-उपस्थान और जपादिमें उपासनाका तथा प्रणवादि मन्त्रोंमें ज्ञानका तत्त्व विशेषरूपसे दृष्टिगोचर होता है।

सन्ध्योपासनाके लिये प्रशस्त स्थान जलाशय (नदी) तट, तीर्थस्थान, मन्दिरादि माने गये हैं। ऐसे स्थानोंमें सृष्टि अपना विविध सौन्दर्य और वैभवोंका विशेष विकास करती हुई जैसे सृष्टिसान्निध्यमें रहती है। ऐसे स्थानकी सुविधा न होनेपर घरपर ही सन्ध्योपासन करना चाहिये।

सन्ध्योपासनामें अनेक मन्त्र हैं। इनमें प्रणव बीजभूत है और गायत्री प्रधान मन्त्र है। प्रणव वेदत्रय, लोकत्रय तथा क्रियात्रयका सारभूत एवं वेदोंका सर्वव्यापी, सर्वसत्तान्वित सनातन बीज है। गायत्रीमन्त्रमें भगवान् सविताके वरेण्य भर्गका ध्यान और बुद्धिको सन्मार्गमें प्रेरणा करनेकी प्रार्थना है। भस्मधारण, संकल्प, प्राणायाम, और अघमर्षणादिके मन्त्र भी शब्दार्थकी अप्रमेय, अद्भुत शक्तिके निवासस्थान हैं। ये मन्त्र बहुधा वेदविभूतियाँ ही हैं। वेद अव्यक्त ईश्वरका व्यक्त स्वरूप है। प्रातिभासित परमाणुओंके नृत्यका सनातन रास श्रुतिभगवतीके बीजरूप प्रणवके एक देशमात्रका विलास है। सन्ध्योपासनामें योग देश, काल, क्रिया और मन्त्रोंका इस तरह विनियोग है कि इसके सम्यक् प्रयोगसे अन्तःकरणकी निर्मलता, जीवनकी विशुद्धि, भावनाओंकी उच्चता और ज्ञानसिद्धिकी योग्यताके साथ-

साथ आयुकी वृद्धि भी होती है।

सन्ध्योपासनामें प्राणायाम भी मुख्य वस्तु है। प्राणायाम तीन प्रकारके होते हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक। इसमें प्राणवायुको नियमित करनेकी प्रक्रिया है। नाभिकमलमें शेषशायी नारायणका ध्यान करते हुए सप्तव्याहृतियुक्त सशिरस्क गायत्रीमन्त्रके मानस, उपांशु या व्यक्तोच्चारपूर्वक अँगूठेसे नासिकाका दक्षिणपुट बंद करके वामपुटद्वारा श्वास खींचनेसे पूरक होता है। नारायणकी नाभिसे उत्पन्न कमलपर चतुर्मुख ब्रह्माका हृदयदेशमें ध्यान करते हुए उक्त जपपूर्वक मध्यम-अनामिका अंगुलियोंसे वामपुटको भी बंदकर श्वास रोकनेसे कुम्भक होता है। एवं ललाटमें साम्बशिवका ध्यान करते हुए उक्त जपपूर्वक दक्षिण पुटद्वारा श्वास उतारनेसे रेचक होता है। नाभि, हृदय और ललाट क्रमसे सत्त्व, रज और तमोगुणके स्थान हैं। अतः तत्तद्गुणप्रधान देवका तत्तत्स्थानमें ध्यान करनेकी विधि है। इस प्रकार तीन बार करनेसे नौ प्राणायाम हो जाते हैं। जगत्स्रष्टाने प्राणिमात्रके शरीरयन्त्रमें घटीयन्त्रके सदृश अमुक वर्षपर्यन्तके लिये एक ही बार प्राणवायुकी चाभी भर दी है। इस प्राणवायुका श्वास-क्रियाद्वारा नियमित व्यय होनेसे नियत आयुका भोग होता है, अधिक व्ययसे आयु घट जाती है और अल्प व्ययसे दीर्घ आयु होती है—इसमें तनिक भी संन्देह नहीं। अतएव ऋषि-महर्षिगण प्राणायामके द्वारा प्राणस्पन्दन रोककर समाधिस्थ हो जाते थे और दीर्घकालपर्यन्त इच्छित आयु भोगते थे। आज भी इने-गिने ऐसे हैं; तथा जो चाहें आज भी इस प्रक्रियासे मर्त्यायुका अतिक्रमण कर सकते हैं। सन्ध्यो (ईशो)-पासनाके त्याग और अनियमित जीवनचर्या होनेके कारण ही आज भारतीय प्रजाकी आयु दिनोंदिन क्षीण होती जा रही है।

अब ब्रह्मविद्याका कुछ दर्शन करें। जो इस चराचर जगत्का अधिष्ठान है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् दृश्यमान हो रहा है तथा जो देश-काल-वस्तुसे अबाधित और सजातीय, विजातीय तथा स्वगत-भेदसे रहित है, उस आत्मतत्त्वका निरूपण करनेवाली विद्याको ही राजविद्या अथवा ब्रह्मविद्या कहते हैं। यह अप्रमेय तत्त्व कर्मेन्द्रिय या ज्ञानेन्द्रियसे अप्राप्य होकर भी साधनसम्पन्न अधिकारीके लिये सुप्राप्य है—

'यद्वाचानभ्युदितम्;' 'यन्मनसा न मनुते;', दृश्यते त्वग्य्रया बुद्ध्या'; मनसैवेदमाप्तव्यम्।' (श्रुति)

ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये अधिकारविशेष अपेक्षित है। इस विषयमें कुछ महानुभाव विचित्र और अविचार-रमणीय शंका किया करते हैं; किंतु भलीभाँति विचार करनेपर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि हृदयस्पर्शी, आदर्शस्पर्शी अथवा चारित्र्यस्पर्शी ज्ञानके प्रति प्रधान साधन अन्तःकरणकी अमुक परिस्थिति है। सामान्य व्यवहारमें भी भाँति-भाँतिकी समझ और ज्ञानमें अभ्यास तथा चरित्रकी आवश्यकता होती है, तो फिर अध्यात्मज्ञानमें अन्तःकरण-शुद्धि सर्वथा अपेक्षित क्यों न हो? हृदय-परिवर्तनके साथ-साथ जहाँ दोष व्यक्त होने लगता है, वहाँ गुणोंकी प्रतीति भी होने लगती है और राजर्षि विश्वामित्र ब्रह्मर्षिपदके योग्य बन जाते हैं। वस्तुतः आत्मतत्त्व नित्य प्राप्त है; अतः इसकी प्राप्ति वैसे ही होती है, जैसे गलेमें पड़े हुए परंतु भूले हुए हारकी स्मरण आते ही प्राप्ति हो जाती है। इसलिये यह बड़ी सहज है तथापि सत्कर्मके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि और भक्तिके द्वारा चित्तकी एकाग्रता हुए बिना ऐसा सम्भव नहीं। क्योंकि प्रभुकी अचिन्त्य मायाशक्तिकी विभूतिरूपा विद्याके आवरणसे चराचर जगत्का ज्ञान आच्छादित है। मानव-जीवनका परम पुरुषार्थ मोक्ष है। ज्ञानसे मोक्ष होता है। ज्ञानके साधन चित्तशुद्धि तथा एकाग्रता हैं और चित्तशुद्धि तथा एकाग्रताका प्रमुख तथा प्रबल साधन सन्ध्योपासना है। चित्तरूपी वृक्षके प्राणस्पन्दन और वासना—ये दो बीज हैं। दोनों अथवा एक बीजका निरोध हो जानेपर चित्त-वृक्षका उद्भव ही नहीं हो पाता। प्राणस्पन्दनका नियमन हठयोगमें और वासनाका नियमन राजयोगमें परिगणित है। सन्ध्योपासनामें प्राणायाम तथा निष्कामताका अवलम्बन होनेसे इसमें दोनों योगोंका संकलन है।

सन्ध्योपासना ब्रह्मविद्याप्राप्तिका सहज साधन है। इतना ही नहीं, किंतु सन्ध्या, सावित्री तथा ब्रह्मविद्या—ये सब जगज्जननी जगदम्बा भगवतीके स्वरूपभूत ही हैं—

'सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी॥'

'त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा।'

विचार तथा शास्त्रदृष्टिविन्दुसे सन्ध्या, सावित्री और ब्रह्मविद्यामें आधिदैविक एकता है। जैसे सन्ध्योपासनसे चित्तशुद्धि और शान्ति मिलती है, वैसे ही ब्रह्मविद्यासे देहाभिमान गलित होता है—**'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।'** ऐसी धन्य अवस्थाकी प्राप्ति होनेसे

हृदयग्रन्थि टूट जाती है, समस्त संशय विलीन हो जाते हैं और सारी कर्मप्रवृत्ति शिथिल हो जाती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

पाठक इससे समझ गये होंगे कि सन्ध्योपासना और ब्रह्मविद्याका पारमार्थिक तथा लाक्षणिक ऐक्य है। जैसे सर्वसिद्धियाँ ब्रह्मवेत्ताकी सेवा करती हैं, उसी प्रकार यथार्थ सन्ध्योपासकोंको भी अनायास ही अभ्युदय-प्राप्ति होती है। सन्ध्योपासनामें चित्तशुद्धिके लिये अनेक शक्तियोंका विनियोग संयोजित है। मार्जन, अघमर्षणादिमें भावशक्ति; गायत्री-जप, अर्घ्यप्रदानादिमें मन्त्रशक्ति; आचमन, भस्म-धारणादिमें द्रव्यशक्ति एवं प्राणायामादिमें क्रियाशक्तिका विनियोग करके साध्यको सिद्ध करनेकी योजना इस पुण्यकर्ममें स्पष्ट व्यक्त होती है। इससे अपूर्व शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। इसके नित्य नियमसे एक प्रकारकी आत्मश्रद्धाके साथ मनमें प्रभु-श्रद्धा जाग्रत् होती है। वर्तमान समयमें धार्मिक क्रियाकी ओर उपेक्षा तथा आक्षेप साधारण बात हो गयी है; इसमें प्रतिकूलता प्रतीत होती है। तथापि उपनीत द्विजमात्रको शिखासूत्र-सन्ध्या और द्विजेतरको शिखा-ईश्वरस्मरणादिरूप उपासनाका रहस्य जानकर अपने-अपने परमहितमें तत्पर होना सर्वथा उचित है। भारतके लिये यह सन्ध्याका समय है, अतएव इस समय सबके लिये यथाशक्ति ईश्वरोपासना करना परम आवश्यक है। आदर्श भारतीय देशका दैवत है। यह आदर्श महान् है। इसमें विलासिता, मान-सम्मानकी खोज तथा अर्थलोलुपतादिको अवकाश नहीं है। इस पुण्यकर्मका नित्य नियमित सेवन करनेसे कुल, धर्म, देशके लौकिक अभ्युदयके साथ ही दुर्लभ ब्रह्मविद्याकी भी प्राप्ति होती है। शिष्ट पुरुषोंका अनुभव इसमें साक्षी है।

हिंदू-संस्कृति और नवमतवाद

(लेखक—डॉ० श्रीसदाशिव कृष्ण फड़के)

नवमतवादी और सनातनी विद्यार्थियोंका संवाद

मार्गे मार्गे निर्मलं ब्रह्मवृन्दं
वृन्दे वृन्दे तत्त्वचिन्तानुवादः।
वादे वादे जायते तत्त्वबोधः
बोधे बोधे भासते चन्द्रचूडः॥

हिंदू-संस्कृति और नवमतवादका परस्पर संघर्ष दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। देशके विद्वानोंमें इस समय तीन पक्ष दीख पड़ते हैं—(१) कट्टर नवमतवादी, जो हिंदू-संस्कृतिका सर्वथा निषेध ही किया करते हैं; (२) मध्यम सुधारक पक्ष, जिसका यह कहना है कि भारतीय संस्कृतिका मूलस्वरूप अत्यन्त उदात्त है, पर दुराग्रही सनातनियोंने अपने अज्ञानमूलक सम्प्रदायोंके द्वारा उसका रूप बिगाड़ दिया है। शिखा-सूत्र, चूल्हा-चौका, जप-तप, सन्ध्या-पूजा, वर्ण-भेद, जाति-भेद, खान-पान और व्याह-शादीके विधि-निषेध, असंख्य व्रताचरण—एवंविध अदृष्टफलक और अन्धश्रद्धेय हिंदू-धर्मको ही जो वे भारतीय संस्कृति मान लेते हैं, यह निरी भूल है। यथार्थमें सोवियत रूसका साम्यवाद, नवमतवाद और मानवतावाद ही प्राचीन भारतीय संस्कृतिका परिणत स्वरूप है। भारतीय संस्कृतिके सूचक समता, अद्वैत, मोक्ष इत्यादि पारिभाषिक शब्दोंके वास्तविक अर्थ प्रत्यक्ष और व्यावहारिक हैं। सनातनियोंने उनपर पारमार्थिक अर्थ लादकर उन्हें परोक्ष, काल्पनिक और अव्यावहारिक बना दिया है। यह उनका महान् भ्रम है। भारतीय संस्कृति यथार्थमें उदात्त ऐहिक व्यवहारका ही नाम है। अदृष्ट धर्म अथवा काल्पनिक तत्त्व-ज्ञानके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस विवेचनकी पुष्टिमें सुधारकलोग शास्त्रों और संतोंके वचन भी दिया करते हैं। (३) तीसरा पक्ष सनातनियोंका है। उनका यह कहना है कि हिन्दू-संस्कृति हिंदू-धर्मसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। हिन्दू-धर्मका रहस्य अत्यन्त गूढ़ है। अखण्ड गुरुसंप्रदायकी परम्परा और विहित-कर्मानुष्ठानसे ही वह जाना जाता है। हिंदू-धर्म-संस्कृतिके सब विधि-निषेध पूर्ण विवेकसे ही सुनिश्चित किये गये हैं। आप्तवचन ही इसमें प्रमाण हैं। '**आचारप्रभवो धर्मः**' यही हिंदू-धर्मका दण्डक है। विशुद्ध भारतीय संस्कृतिको नवमतवादका रंग चढ़ाकर आधुनिकोंने विशुद्ध वैदिक

संस्कृतिकी छीछालेदर करना आरम्भ किया है। जिन शास्त्रों अथवा संत-वाणियोंको ये लोग समग्ररूपसे नहीं मानते, उन्हींके कुछ संदर्भहीन वचनोंके प्रमाण देकर ये अपने मतोंकी पुष्टि किया करते हैं। इनका यह सर्वथा अप्रामाणिक व्यवहार है। सनातनियोंकी समन्वयसाधक दृष्टिसे ही शास्त्रका रहस्य निश्चितरूपसे जाना जा सकता है। आधुनिकोंकी व्यभिचारी भ्रमरवृत्तिसे विशुद्ध और पूर्ण सत्यका पता चलना असम्भव है। अर्धसत्य असत्यसे भी अधिक भ्रामक होता है। अतः भारतीय संस्कृतिका मनमाना भाष्य करनेवाले इन नवमतवादियोंके भ्रामक प्रचारका उचित प्रतीकार समय रहते यदि न किया जायगा तो ये मध्यस्थ सुधारक भैषज्य-क्षेत्रमें जिस प्रकार आयुर्वेदको ऐलोपैथीमें विलीन करना चाहते हैं, उसी प्रकार भारतीय संस्कृतिको अव्यवहार्थ और काल्पनिक मानवतावादके शब्दाडम्बरमें समाप्त कर देंगे।

ऐसी विवादग्रस्त परिस्थितिमें एक कॉलेजके मुख्याध्यापकने सांस्कृतिक शिक्षाके तुलनात्मक विचारोंको प्रोत्साहित करनेके लिये अपने कॉलेजके दर्शनशास्त्राध्यायी विद्यार्थियों और प्राचीन परम्पराके वेद-शास्त्रविद्यापीठके स्नातकोंके बीच एक दिन अपने कॉलेजमें पूर्वोत्तर-पक्ष-चर्चा (डिबेट) करायी। यह संवाद शुद्ध सात्त्विक और व्यक्तिनिरपेक्ष हो और इसलिये दोनों ओरके वक्ता सर्वथा निःसंकोच होकर खुले दिलसे भाषण करें—इसकी सूचना मुख्याध्यापकने पहलेसे सबको दे रखी थी। विषयान्तर्गत विवादकी प्रत्येक बातकी चर्चाके लिये अधिक-से-अधिक दस मिनटका समय दिया गया था। संवाद शान्तिके साथ हुआ और बहुत उद्‌बोधक रहा। उसी संवादके कुछ मुख्य पूर्वोत्तर पक्ष आधुनिक और सनातनीके नामोंके साथ आगे दिये जाते हैं।

(१) धर्मातीत राज्य

आधुनिक—हमारे देशमें धर्म-भेदोंके कारण बहुत बड़ी हानि होती रही है। इसलिये धर्मातीत राज्यका होना ही हमलोगोंके लिये इष्ट है। वर्तमान बुद्धिवादी जगत्‌में ऐहिक, भौतिक दृष्टि और मानवतावादको ही बढ़ानेवाली हमारी राजनीति होनी चाहिये।

सनातनी—धर्मसे किसीकी हानि नहीं हुआ करती। हानि होती है धर्मके विपर्याससे। धर्म वस्तुस्वभाव है। वस्तुमात्रका धर्म ही उस वस्तुका विशेषत्व है। इस विशेषत्वके नष्ट होनेपर उस वस्तुकी स्वसत्ता ही नहीं रह जाती। सनातन वैदिक-धर्म-संस्कृतिनिष्ठ भारतका वस्तुविशेष है। इस देशका वह प्राण है। इस धर्म-प्राणताके कारण ही अनादिकालसे यह देश अनेकानेक क्रान्तियोंका अतिक्रमणकर आज भी अपनी सत्त्वप्रधान संस्कृतिके बलपर जगत्‌में अपना मस्तक ऊँचा किये खड़ा है। गीता-जैसे धर्म-ग्रन्थ, शंकराचार्य-जैसे तत्त्वज्ञ, महात्मा गांधी-जैसे सत्त्वप्रधान पुरुषको जो अनन्य महत्त्व प्राप्त हुआ, इसका संपूर्ण यश हिंदू-धर्म-संस्कृतिको ही है। इस हिंदू-धर्म-संस्कृतिका उज्ज्वल अभिमान सब प्रकारसे तारक ही होगा। सात्त्विक अभिमान और तामस परद्वेष एक चीज नहीं हैं। सात्त्विक अभिमान शरीरके मेरुदण्डके समान जीवनका आधारस्तम्भ है। परमतसहिष्णुता हिंदू-धर्मकी विशेषता है। अतः हिंदू-धर्मनिष्ठा ही हिंदुओंसे अन्य धर्मोंके प्रति द्वेष या उनपर किसी प्रकारका अत्याचार कदापि नहीं होने दे सकती। इस देशके अधिकसंख्यक लोग हिंदू ही हैं। यहाँके अल्पसंख्यक मुसलमान बहुसंख्यक हिंदुओंसे द्वेष न करें, इसके लिये हिंदुओंसे हिंदुत्वका ही अभिमान त्याग कराना वैसा ही है, जैसे कोई नौकर अपने मालिकको काटनेवाले मच्छरोंके प्रतीकारार्थ अपने मालिककी ही हत्या कर डाले! देशमें धर्म-द्वेष न बढ़े यह देखना शासकोंका कर्तव्य है और इस सम्बन्धमें उन्हें सदा सावधान रहना चाहिये। पर इसके लिये राज्यको ही धर्मातीत कर डालनेकी इच्छा करनेमें कोई तुक नहीं है। धर्मातीत बना चाहनेवाले राज्यमें ऐसी कोई स्पष्ट घोषणा भले ही न हो कि राज्यके सब लोग धर्महीन हो जायँ; तो भी जब राजसत्ता ही धर्मनिरपेक्ष और केवल ऐहिक, भौतिक स्वार्थोंको ही बढ़ानेवाली बन जायगी, तब **'राजा कालस्य कारणम्'** के सिद्धान्तानुसार प्रजाका भी धीरे-धीरे धर्महीन बन जाना अनिवार्य ही है। धर्माभिमानके साथ राष्ट्राभिमानका होना भी आवश्यक है। इस विषमतापूर्ण स्वार्थरत जगत्‌में राष्ट्रवादको मानवतावादमें विलीन करनेकी चेष्टा अव्यवहार्य है। कम-से-कम जगत्‌के राष्ट्रोंकी वर्तमान मनोभूमि इसके सर्वथा प्रतिकूल है। यदि हमारे वर्तमान धर्मनिरपेक्ष राज्यकी घोषणाका यह अभिप्राय नहीं है कि हमारे देशके लोग राष्ट्राभिमान और स्वधर्माभिमान अपने अन्तःकरणसे निकाल दें तो हर तरहसे ऐसा प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है कि हम सच्ची निष्ठाके साथ ऐसा राष्ट्राभिमान और स्वधर्माभिमान जगायें, जिसमें

परद्वेषका लेश भी न हो और ऐसे सब उपाय करें, जिनसे राष्ट्राभिमान और स्वधर्माभिमान सदाचारसम्पन्न, समुज्ज्वल, तेजस्वी और आत्मोन्नतिके साधक बनें। परंतु कम-से-कम आज तो हमारे स्वराज्य-शासनके रुखमें वैसी कोई बात नहीं देख पड़ती, यह बड़े दुःखका विषय है। हमारे वर्तमान नेताओंके त्याग, विद्या, बुद्धि, लोकहित-साधनकी शुभेच्छा और कर्तृत्व आदि गुणोंके लिये उन सबके प्रति मेरे हृदयमें भी बहुत आदर है। पर गुरुमहोदयकी आज्ञाके अनुसार हमें व्यक्ति-निरपेक्ष और निस्संकोच भाषण करना है। इसलिये मेरी अल्पबुद्धिमें जो बात जैसी जँचती है, वैसी ही स्पष्टरूपसे कहनेका मैंने साहस किया है। इसे कोई 'छोटे मुँह बड़ी बात' समझें तो मैं लाचार हूँ। किसी भी नेताके प्रति अनादर प्रकट करना मेरा अभिप्राय नहीं है। प्रतिपक्ष कृपाकर इस बातका ध्यान रखे।

(२) वेदान्त और साम्यवाद

आधुनिक—अजातवाद, मायावाद, परलोकवाद और निवृत्तिपरक वेदान्त आधुनिक भारतीय संस्कृतिका अत्यन्त अव्यवहार्य और समाजको आलसी, निराश और दुर्बल बनानेवाला रूप है। अतः अब यह होना चाहिये कि (१) हमारे यहाँ व्यक्तिमात्रकी आचार-विचार-स्वतन्त्रतापर ऐसे किसी धर्मका कोई बन्धन न रहे, जिसका फल अदृष्ट है और जो केवल एक काल्पनिक उपाधिमात्र है। (२) योग्यताके अनुसार सबको काम और आवश्यकतानुसार सबको वेतन मिले। सर्वत्र समताका यही दण्डक माना जाय। डोम-चमार और मन्त्री, सैनिक और सेनापति, प्रान्तका गवर्नर और उसका चपरासी—सबको उनकी कम-से-कम आवश्यकताओंके अनुसार समान वेतन दिया जाय। यदि किसी प्रान्तका गवर्नर, मान लीजिये कि ऐसा है कि उसके कोई बाल-बच्चे नहीं हैं और उसका अर्दली चार पुत्रोंका पिता है तो गवर्नरकी अपेक्षा उस अर्दलीका वेतन अधिक हो। (३) प्रधानमन्त्री और सामान्य नागरिक, धनी और दरिद्र, बुद्धिजीवी और श्रमजीवी, जमींदार और किसान, हिंदू और मुसलमान, ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर, स्त्री और पुरुष इत्यादि जो ऊँच-नीच और अपने-पराये भेद हैं—ये सर्वथा मिट जायँ। यही हमारी इष्ट भारतीय संस्कृतिका सच्चा साम्यवाद और मानवतावाद है। यही एकमात्र अद्वैत है। (४) खान-पान और शादी-ब्याहके सम्बन्धमें सब प्रतिबन्ध उठा दिये जायँ, ताकि इस देशका सम्पूर्ण जन-समाज एक और अखण्ड हो जाय। अन्नकी भूखके समान ही जननेन्द्रिय-सम्बन्धी क्षुधाका होना भी अनिवार्य है। अतः हर किसीको यह आजादी होनी चाहिये कि वह अपनी रुचिके अनुसार इस क्षुधाका शमन कर ले। (५) हर किसीको अपना उत्कर्ष साधन करनेके लिये हर बातमें समान अवसर मिले। (६) संस्कृतिके विषयमें धर्मकी भावना सर्वथा त्याज्य है। पूर्ण समत्वसे युक्त भारतीय संस्कृति ही हमारे देशके लिये इष्ट और भूषणभूत है। ऐसी संस्कृति ही किसी भी बाह्य आक्रमणसे देशकी रक्षा करनेमें समर्थ हो सकती है। (७) वर्णभेद, जातिभेद, कर्मभेद, वृत्तिभेद, ज्ञानभेद, ज्ञान और कर्ममें भेद इत्यादि असंख्य श्रेष्ठ-कनिष्ठ-भावदर्शक भेद उत्पन्न करनेवालोंने हिंदूसमाजको छिन्न-भिन्न और खोखला बना डाला है। इससे देशमें सर्वत्र असन्तोष फैला है। इसीसे बार-बार इस देशपर बाहरवालोंके आक्रमण हुए और यह देश दूसरोंका गुलाम बनता रहा। इस अति कटु अनुभवसे हमारी आँखें खुल जायँ और हम इस ऊँच-नीच भावको मिटा देनेका महत्त्व समझ लें। प्राचीन भारतीय संस्कृति '**शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः**' यह कहकर साम्यवाद ही स्थापित करती है। डोम-चमार, बढ़ई, लुहार, चोर-साहूकार—सबको वन्दन करना ही प्राचीन रुद्राध्यायकी शिक्षा है।

सनातनी—हिंदू-धर्म-संस्कृतिके व्यवहार और तत्त्वज्ञानको यथावत् न समझनेके कारण ही इस प्रकारका मतिभ्रम हुआ करता है। अजातवाद और मायावादका पारमार्थिक तत्त्वज्ञान व्यक्ति या समाजके ऐहिक या भौतिक व्यवहारमें बाधक नहीं है; परंतु मनुष्यके सुदीर्घ जीवनका विचार करते हुए परलोकको विचार-दृष्टिके ओझल कैसे किया जा सकता है। फिर मनुष्यका परम ध्येय भी निरे भौतिकवादमें कैसे समा सकेगा। मनुष्य केवल देहधारी भूतात्मा नहीं है। प्रत्यगात्माका रूप और उसकी भूख पारमार्थिक है। पारमार्थिक अथवा आध्यात्मिक और आधिभौतिकका सम्बन्ध जोड़नेवाली जो आधिदैविक सत्ता है, उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भौतिक तत्त्व जगत्‌का स्रष्टा नहीं है, न नियन्ता ही है। यह बात अनायास ही विचारवानोंके ध्यानमें आ सकती है। आधिभौतिक,

आधिदैविक और आध्यात्मिक—इन तीनों ही दृष्टियोंसे हिंदू-संस्कृतिमें विचार किया जाता है। हिंदू-धर्म-संस्कृतिके परिपालनमें आलस्य, निराशा और दुर्बलताके लिये कोई अवसर नहीं है। हमलोगोंकी पराधीनताके कारण हमें अन्यत्र ढूँढने पड़ेंगे।

अनुशासन, संयम और बन्धन—यही शक्तिका कार्यक्षम स्वरूप है। विद्युत्-शक्तिका निरोध करनेसे प्रकाश उत्पन्न होता है, भापको रोक रखनेसे ही इंजन चलता है। इसी प्रकार प्राणायाम, चित्तवृत्ति-निरोध, वैराग्य, ब्रह्मचर्य आदि निरोधक साधनोंसे चाहे जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण, भूत-ऋण आदि ऋण-बन्धनोंसे ही मनुष्यकी विभिन्न स्वाभाविक एषणाएँ पूर्ण और पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। हिंदू-संस्कृतिके बन्धनोंसे ही समाजकी सुदृढ़ धारणा होती है। मनुष्यकी बुद्धि असंस्कृत अवस्थामें स्वभावतः विषयासक्त और भ्रान्त हुआ करती है। धर्मके नियन्त्रणके बिना उसका संस्कार नहीं होता। रथके घोड़ोंकी लगाम सारथिके ही हाथमें होनी चाहिये।

रूसका साम्यवाद अव्यावहारिक है। वह बहुत काल नहीं ठहर सकेगा। व्यक्तिकी योग्यताका आर्थिक मूल्य यदि कुछ भी न रहे तो उस योग्यताके सम्पादनके लिये दीर्घ प्रयत्न करानेवाली कोई प्रेरणा ही नहीं रह जायगी। व्यावहारिक मनुष्यमात्रके लिये अर्थ लोभनीय है। व्यवहारमें बड़ोंके सम्मानकी रक्षा अर्थसे ही होती है। गायके खानेकी खली-कराई अथवा ऊँटके खानेके काँटे समताके नामपर किसी सम्मान्य मानव अतिथिके खानेके लिये परोस दिये जायँ तो यह साम्यवाद होगा या समत्वका उपहास? किसी गायनाचार्यके पीकदान धोनेवालेको जो वेतन दिया जाता है, वही वेतन उस गायनाचार्यको देनेमें उस कलाका क्या आदर रहा और उसे क्या प्रोत्साहन मिला? न्यायाधीश और न्यायालयमें झाड़ू देनेवाला दोनोंका आर्थिक मूल्य यदि समान माना जाय तो क्यों न झाड़ू देनेवालेको न्यायाधीशके उच्चासनपर बैठाकर न्यायाधीशके हाथमें झाड़ू दी जाय? यह न समत्व है, न शिष्टाचार ही। योग्यतानुरूप व्यवहार ही हिंदू-संस्कृतिका दण्डक है और यह शिष्टाचार या सदाचार है। कर्मेन्द्रिय और बुद्धि, दोनोंकी योग्यताओंमें बड़ा अन्तर है। बुद्धिजीवी और श्रमजीवी—दोनोंको एक ही पैमानेसे नहीं नापा जा सकता। हिंदू-संस्कृतिमें केवल एक ब्रह्म ही सम है। उस ब्रह्मके अन्दर भासनेवाले इस नाम-रूपात्मक जगत्में स्वभावसे ही सर्वत्र वैषम्य है। त्रिगुणात्मक प्रकृतिका स्वरूप ही भेदात्मक है। गुणसाम्य तो प्रकृतिका प्रलय है। वेरुलकी गुफामें देवालय, देवालयकी सीढ़ियाँ, सिंहासन, शिव-पार्वती और नन्दी—सभी एक ही पत्थरकी चट्टानके अंदर खुदे हुए हैं। पर सीढ़ियोंपर मनुष्य पैर रखकर ऊपर चढ़ता है और भव-भवानीकी मूर्तियोंके सामने राजाओंके राजमुकुट भी नत होते हैं। पत्थरोंकी जाति एक होनेपर भी सभी पत्थर समान नहीं माने जाते। मानवतावादकी समता इसी प्रकार इस वैषम्यमय जगत्में केवल अव्यवहार्य और अयुक्तिक है। उच्च कक्षाओंमें पढ़नेवाले विद्यार्थियों और निम्न कक्षाओंके विद्यार्थियोंमें योग्यताकी समता भला कैसे हो सकती है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि हिंदू-संस्कृतिको अयुक्तिक और अव्यवहार्य समझनेवाले नवमतवादी अपने मानवतावाद और साम्यवादकी अव्यवहार्यता नहीं समझ पाते। ईसाई जगत्में जात-पाँत नहीं, खान-पान-का विधि-निषेध नहीं, शादी-ब्याहके सम्बन्धमें कोई निर्बन्ध नहीं; फिर भी क्रूरतामें हिंस्र पशुओंको भी लजानेवाले जागतिक युद्ध उन्हीं ईसाई राष्ट्रोंके द्वारा कैसे बन पड़े? अतः मिश्रविवाहोंसे और सहभोजनोंसे एकता स्थापित होती है, यह समझना केवल भ्रम है। कौरव-पाण्डवोंमें या यादवोंमें परस्पर भेदकी कोई बात ही नहीं थी; फिर भी वे आपसमें लड़े, और उन्होंने रक्तकी नदियाँ बहा दीं। तात्पर्य, गौके सींग तोड़नेसे वह बछड़ा नहीं बन जाती, न सूअरकी पीठपर मोतियोंकी झूल डालनेसे उसे हाथीकी महत्ता प्राप्त होती है।

यथार्थमें धनिकवर्ग समाजपुरुषका उदर है। धनिकोंकी धनवत्ता एक बहुत ही उपादेय केन्द्रीभूत शक्ति है। यही शक्ति आजतक अनेकानेक लोकोपकारक कार्य करती चली आयी है। इसीकी बदौलत नानाविध कलाओं और विद्याओंकी वृद्धि हुई है। धनिकोंकी धनवत्ताके सामने यही आदर्श है; पर इस ओर ले जानेवाले साहस और उद्योगकी प्रवृत्तिमें द्रव्यैषणाका होना आवश्यक है। इसी प्रकार मध्यमवर्ग समाजपुरुषका हृदय, बुद्धि अथवा मज्जातन्त्र है। इंग्लैंड-जैसे अभ्युदयशाली देशके इतिहासमें मध्यम वर्ग राष्ट्रका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। इस वर्गका स्वस्थ, सुखी और समृद्ध होना समाजके

लिये बहुत ही आवश्यक है। श्रमजीवी वर्ग समाजपुरुषका कर्मेन्द्रिय-समूह है। समाज-स्वास्थ्यके लिये इस वर्गकी भी बहुत बड़ी आवश्यकता है। हिंदू-संस्कृतिमें तीन गुणों और चार वर्णोंके अनुसार इन तीन वर्गोंका यथायोग्य महत्त्व माना गया है। पिछड़े हुए श्रमजीवी वर्गकी सुख-सुविधा और अभ्युदयके साधनमें आस्था रखना सर्वथा उचित है; परंतु साम्यवादके मोहमें पड़कर इन तीन वर्गोंको नष्ट करने, विशेषतः श्रमजीवियोंके हितार्थ मध्यम वर्गको नष्ट करके धनिक वर्गको रसातल पहुँचाया चाहनेवाली दुष्ट वृत्तिको समतावाद या उदार-धर्म कहना शब्दोंकी विडम्बना और विचारोंकी बगावत है। हिंदू-संस्कृतिके उद्यानमें बढ़े हुए, फल-फूल देनेवाले महान् वृक्षोंको अगल-बगलके छोटे-छोटे पौधोंके बराबर कर देनेके लिये यह सोचना कि एक हाथसे ऊँचे जितने पेड़ हों, सब काट डाले जायँ—कितनी बड़ी मूर्खताकी सूझ है! सर्वत्र समता स्थापित करनेके लिये ब्राह्मण अपने वर्णकी श्रेष्ठता गँवाकर भंगी और चमारके काम करनेके लिये होड़ बदकर दौड़ पड़ें, यह नवीन राजसत्ता अथवा समतावादका उपदेश विवेक-भ्रष्टताका ही एक प्रदर्शनमात्र है! ब्राह्मण्यके संस्कार प्राप्त करनेमें बहुत समय लगता है, पर उन्हें गँवा देनेके लिये अविवेककी एक घड़ी पर्याप्त होती है। नवमतवादियोंका यह कहना कि स्त्रियों और शूद्रोंके लिये पराधीन सेवा-धर्म ही विहित करके उनके साथ बड़ा अन्याय किया गया, बिलकुल गलत है। व्यक्तिनिष्ठ गुणोंके कारणसे स्त्रियाँ गृहस्वामिनी और विदुषी बनी हैं। वेदोंके कुछ सूक्त स्त्रियोंके कहे हुए हैं। शूद्र अपने पराक्रमसे धनिक ही नहीं, नराधिपतक बने हैं। अन्त्यजादि वर्णोंके लोग अपने कर्तृत्वसे संत-पदवीतक पहुँचे हैं। इस उत्कर्ष-साधनमें हिंदू-संस्कृति किंचित् भी बाधक नहीं हुई। पर हिंदू-संस्कृतिका यह कहना है कि सब कर्मोंकी योग्यता समान समझना तारतम्य-बुद्धिका अभाव है। ज्ञान और कर्मको समान देखना अविवेक है; वर्णभेद, जातिभेदादि भेदोंको मिटाना संकर उत्पन्न करना है। संकरसे फिर विनाश ही होता है। संकरसे श्रेष्ठ गुणोंका उत्कर्ष, उत्कृष्ट संस्कारोंकी वृद्धि, पवित्रताका परिपोषण, ओज-मेधादिका संवर्द्धन—यह सब असम्भव हो जाता है। संस्कृतिका क्रमशः लोप होनेसे प्रजा पशुवत् असंस्कृत बन जाती है। प्रकृति स्वयं ही भेदरूप है, उसे कोई संस्कृति अभेद नहीं बना सकती। सैन्यकी सुव्यवस्थाके लिये विभिन्न श्रेणियों और कर्माधिकारोंकी अलग-अलग पलटनें तैयार करनी पड़ती हैं। केवल मिट्टी या चूनेका ढेर लगा देनेसे दीवार नहीं खड़ी होती। उसके लिये ईंट-पत्थरके अलग-अलग जोड़ कुशलताके साथ एकमें जोड़ने पड़ते हैं। वर्णभेद कहिये या वर्गभेद, भेदोंका होना अपरिहार्य है। इन विभिन्न वर्गोंको एकत्र जोड़ना हिंदू-संस्कृति-जितना और किसीसे भी नहीं बन पड़ा। हिंदू-संस्कृतिके कारण ही, अनेक भेदोंके होते हुए भी, भारतवर्ष कलतक अखण्ड था। इसे खण्डित किया नवमतवादी नेताओंने ही! गीतोक्त स्थितप्रज्ञ ब्रह्म-वेत्ताका समदर्शन, रुद्राध्यायमें वर्णित अन्तर्यामीकी समता, श्रीकृष्ण और संतोंके अलौकिक चरित्र स्थूल भौतिकवादियोंके अव्यवहार्य समतावादको कोई आश्रय नहीं दे सकते। भारतीय संस्कृतिका अद्वैत तत्त्वज्ञान दर्शन है, वर्तन नहीं।

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कुत्रचित्।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह॥*

(श्रीमच्छंकराचार्य)

सोपाधिक व्यवहारमें अद्वैत—साम्यवाद सम्भव नहीं।

(३) वर्णाश्रमधर्म

आधुनिक—सनातनियोंका यह दावा है कि हिंदू-संस्कृतिने हिंदूसमाजको सुसंघटित रखा। हमारा यह कहना है कि इस संस्कृतिकी वर्णाश्रमव्यवस्था चाहे पहले कभी उपकारक रही हो, पर आज तो उससे समाजका नाश ही हो रहा है; इसलिये अब इसे उठा देना ही आवश्यक हो गया है। ब्राह्मणोंको ही वेदोंका अधिकार हो, शूद्रोंको नहीं; ब्राह्मण ही अध्यापनके अधिकारी हों, शूद्रातिशूद्र नहीं; पौरोहित्य ब्राह्मण ही करें, अन्य लोग नहीं—यह सब मालूम होता है ब्राह्मणोंने स्वार्थवश कुटिलतासे अपना ही इजारा कायम किया है। न्यायतः उचित तो यही है कि अभ्युदय और

* चित्तमें सदा सबके साथ अद्वैतकी भावना रखे, पर कहीं व्यवहारमें अद्वैत न बरतने लग जाय। तीनों लोकोंके साथ अद्वैत-भाव रखे, पर गुरुके साथ नहीं।

निःश्रेयस प्राप्त करनेमें सभीको समान अवसर मिले। जाति-भेदको इसीलिये मिटा देना है। वर्णभेद भी जन्मसिद्ध माननेका कोई कारण नहीं है। मानना ही हो तो जन्मके बाद यथासंपादित गुण-कर्म देखकर मानना चाहिये। इसी प्रकार आश्रमोंमें वानप्रस्थ और संन्यास—ये दोनों निवृत्तिप्रधान आश्रम समाजपर व्यर्थके भारमात्र हैं, इन्हें उतारकर समाप्त ही करना होगा। इनके स्थानमें मनुष्यके तीसरे और चौथेपनके लिये समाजसेवा ही एक आश्रमधर्म माना जाय; क्योंकि इसी वयस्में उसके ज्ञान और अनुभवसे समाज लाभ उठा सकता है।

सनातनी—हिंदू-संस्कृतिकी वर्णव्यवस्था यदि पहले समाजधारक थी तो अब वह समाजविदारक हो जाय—यह सम्भव नहीं है। वर्णद्वेष और जातिद्वेष विदेशियोंकी राजसत्ताने और उन्हीं विदेशियोंका अन्धानुकरण करनेवाले हमारे विवेकहीन समाजसुधारकोंने ही बढ़ायें हैं। 'जात-पाँत मिटा दो' यह जो आवाज उठी है, इसीसे जातिद्वेष बढ़ रहा है। वर्णाश्रमधर्मकी-सी सयुक्तिक और सुव्यवहार्य समाजव्यवस्था पृथ्वीमें अन्यत्र कहीं भी नहीं है। वृत्तिभेद और व्यवसायभेदसे जातिभेद आप ही उत्पन्न होते हैं। इनमें आनुवंशिक शक्ति और कुशलता संचित होनेसे, बचपनसे ही उद्योग-धंधोंकी शिक्षाकी एक उत्तम व्यवस्था बन जाती है। इस यान्त्रिक युगमें इसका महत्त्व कम नहीं है। विभिन्न व्यक्तियोंके विशिष्ट गुण-कर्मभेद प्राक्संस्कारानुरूप जन्मसिद्ध ही हुआ करते हैं। जन्मके पश्चात् यथाप्राप्त गुण-कर्म देखकर समाजकी वर्णव्यवस्था निश्चित करनेकी बात सर्वथा अव्यवहार्य है। ऐसा प्रयत्न यदि किया जायगा तो उससे समाजमें बार-बार कुटुम्ब-विच्छेदके प्रसंग उपस्थित होंगे और अनवस्था उत्पन्न होगी। जन्मसिद्ध वर्णभेद मानना प्राक्कर्मानुसार समुचित ही है और इस प्रकारके वैषम्यके लिये कोई किसीको दोष भी नहीं लगा सकता। हर कोई जन्मके साथ प्रारब्ध-कर्मानुसार प्राप्त परिस्थितिको सन्तोषके साथ स्वीकार करता है। जातिद्वेषका हौआ खड़ा करके हमारे ही विवेकशून्य सुधारक नेताओंने समाज-व्यवस्था विच्छिन्न करनेके प्रयत्नोंके द्वारा समाजमें घोर असन्तोष उत्पन्न किया है। धनोत्पादक उद्योग-धन्धे करने या लखपती और करोड़पती बननेकी अभिलाषा रखनेवाले ब्राह्मण बिरले ही होंगे। वेदाध्ययन, अध्यापन और पौरोहित्यसे कोई ब्राह्मण धनाढ्य हुआ हो, ऐसा उदाहरण बड़ी कठिनाईसे मिलेगा। ब्राह्मणधर्मके व्रताचरण, अल्पसन्तोष और तप आदि सबके लिये सुसाध्य नहीं हैं। फिर भी विदेशी राजसत्ताने व्यर्थ ही ब्रह्मद्वेष उत्पन्न किया। ब्राह्मणोंने न किसीसे द्वेष किया, न किसीके अभ्युदयमें कोई बाधा डाली। हिंदू-संस्कृतिका आश्रय लेनेवाले अन्त्यजादि स्वधर्म-पालन करके रैदास, चोखामेला आदिके समान पारमार्थिक उन्नतिकी पराकाष्ठा प्राप्त कर सकते हैं और अपने जातिधर्मसे प्राप्त कर्मके द्वारा ब्राह्मणोंसे अधिक वैभवसम्पन्न बना सकते हैं। ब्राह्मणके जन्म और कर्म किसीसे द्वेष करने अथवा किसी क्षुद्र ऐहिक स्वार्थके लिये हैं ही नहीं।

सेवाको मानव-जीवनका महत्कर्तव्य मानें तो हिंदू-संस्कृतिके चारों आश्रमोंमें गुरुसेवा, कुटुम्बसेवा, समाजसेवा, धर्मसेवा, ईश्वरसेवा आदि हुआ ही करती है। वानप्रस्थ और संन्यास, जो हिंदू-संस्कृतिके परमोच्च आदर्श हैं, अपने सदाचार और सद्विचारोंद्वारा समाजकी जो सेवा करते हैं, उसका मूल्य कौन आँक सकता है?

(४) विकासवाद और ऐतिहासिक दृष्टि

आधुनिक—विकासवाद और ऐतिहासिक दृष्टि ज्ञान मापनेके अव्यर्थ निकष हैं। यदि सनातनी इन्हें न मानेंगे तो हिंदू-संस्कृतिका मूल्यांकन आज और आगे भी असम्भव होगा। इन दोनों निकषोंको न मानना एक तरहका अज्ञान ही है। कोई भी विज्ञ पुरुष परम्परा अथवा सुसंगतिके गुलाम नहीं बने रहते। सत्यका स्वरूप देशकालानुरूप बदला करता है, यही सब विद्वानोंकी मान्यता है। किसी भी राष्ट्रकी संस्कृति अनेकानेक संस्कृतियोंके संगमसे विकसित हुआ करती है। मूल भारतीय संस्कृतिका स्वरूप हमारी वर्तमान हिंदू-संस्कृतिमें नहीं रह गया है। इस अपूर्ण संस्कृतिको मानवतावादकी नवसंस्कृतिमें रूपान्तरित करना इसका विकास ही कराना है। इसी ऐतिहासिक दृष्टिसे भविष्य कालके लोग हमारी संस्कृतिकी ओर देखेंगे। परिवर्तनशील संसारमें प्राचीनसे ही चिपके रहना बुद्धिमानीका लक्षण नहीं है। बचपनमें जो वस्त्र शरीरमें ठीक बैठता था, वह वयस्क होनेपर कैसे बैठ सकता है। कालप्रवाहके साथ संस्कृतिमें भी परिवर्तन होना अनिवार्य है और इष्ट भी है।

सनातनी—आधुनिक विकासवाद और ऐतिहासिक दृष्टि दोनों ही कुछ खास विषयोंमें अपना महत्त्व रखती हैं। पर ज्ञानके ये सच्चे निकष नहीं हैं। आधुनिक विकासवाद काल्पनिक, एकदेशीय और अपूर्ण है। इसी प्रकार ऐतिहासिक दृष्टिके आधार बहुधा सन्दिग्ध और अधूरे होते हैं, उनके अनुमान प्राय: प्रमादयुक्त हुआ करते हैं। अत: विकासवाद और ऐतिहासिक दृष्टिमें इतनी योग्यता नहीं है कि ज्ञानकी सत्यता अथवा इष्टानिष्टता जाँच सकें। मनुष्यकी आवश्यकताओंका बढ़ना, यान्त्रिक उत्पादनका बढ़ना, युद्धकलाका बढ़ना, भौतिक सुख-साधनोंका बढ़ना, नगरोंकी आबादीका बढ़ना, यातायातके साधनोंका बढ़ना, स्त्रियों-बच्चों, किसानों और मजदूरोंकी स्वाधीनताका बढ़ना इत्यादि विकास मानवहितकी दृष्टिसे इष्ट हैं या अनिष्ट—क्या विकासवाद इसका सुनिश्चित उत्तर दे सकता है? आजकलके विज्ञ यदि आचार-विचारकी सुसंगत परम्पराका कोई महत्त्व नहीं मानते और उनकी दृष्टिमें यदि सत्य देशकालानुसार बदलनेवाली चीज है तो उनका कोई भी आचार-विचार प्रमाण नहीं माना जा सकता; कारण, जिस सत्यको जब कभी वे देखेंगे, वह अपूर्ण ही रहेगा?

हिंदू-संस्कृति यह कुछ भी स्वीकार नहीं करती। आत्मप्रत्यय, गुरुप्रत्यय और शास्त्रप्रत्ययका समन्वय ही सत्यज्ञानका एकमेव सच्चा निकष हिंदू-संस्कृतिमें स्वीकृत है। सत्य वही है, जो त्रिकालाबाधित हो। सत्य विकसनशील या परिवर्तनशील नहीं है। सत्यका आदि-अन्त नहीं है। वह परिवर्तनोंका इतिहास परिवर्तशील नहीं है। इसीलिये वह प्रमाण है। तात्पर्य, सत्य विकासवाद अथवा ऐतिहासिक दृष्टिका विषय ही नहीं है। विकासवादकी मान्यता यह है कि मूल अज्ञानसे ज्ञानकी ओर विकास हो रहा है और उस ज्ञानकी कोई पूर्णता, समाप्ति या अन्त नहीं है। विकासवादका यह सिद्धान्त हिंदू-संस्कृतिमें स्वीकृत नहीं है। सृष्टिके मूलमें अज्ञान नहीं, प्रत्युत स्वयं ज्ञान है। उस मूल ज्ञानस्वरूपका कोई विकास नहीं होता; कारण, वह स्वरूपत: पूर्ण है। अज्ञानका आवरण हटते ही वह स्वयं प्रकाशपूर्ण ज्ञान वहाँ है ही। उस मूल ज्ञानका जिस प्रकार कोई विकास नहीं है, उसी प्रकार कोई इतिहास नहीं है। वही बात आनन्द अथवा सुखकी है। अपूर्णतामें दु:ख भासता है। पर मूल ब्रह्म पूर्ण होनेके कारण सुखस्वरूप है। आधुनिक आत्माका विकास मानते हैं। परंतु आत्मा पूर्ण ब्रह्म है, इसलिये उसका विकास सम्भव नहीं है। हिंदू-संस्कृतिमें अपरोक्षानुभूति ही ज्ञानका निकष होनेसे उसे इन दोनों वादोंकी कोई आवश्यकता नहीं। हिंदू-संस्कृतिके रहस्यमय सिद्धान्त स्वत:प्रमाण अपौरुषेय वेदोंपर प्रतिष्ठित होनेसे त्रिकालाबाधित हैं, विकासवाद अथवा ऐतिहासिक दृष्टिके विषय नहीं। विशुद्ध हिंदू-धर्म-संस्कृति परकीय संस्कृतियोंके संगमसे विकसित नहीं हुई है। आधुनिक तो यह कहते हैं कि प्राचीन भारतीय संस्कृति आधुनिक हिंदू-धर्म-संस्कृतिमें रूपान्तरित हुई है; पर इस रूपान्तर या परिवर्तनको विकास नहीं कहते। फिर ये लोग यह भी कहते हैं कि समाजसत्तावाद, साम्यवाद, मानवतावाद, आदि तत्त्वज्ञानके विकसित रूप जब हमें प्राप्त हैं, तब इन्हें छोड़ अज्ञानकी ओर पीछे फिरकर उस पुरातन अविकसित वैदिक कालमें जा पैठनेकी चेष्टा करनेसे बढ़कर अविवेक और क्या होगा। इस प्रकार ये आधुनिक एक ओर प्राचीन भारतीय संस्कृतिके गीत गाते हैं तो दूसरी ओर उन्हीं वेदोंको किसी असभ्य और पुराने बालयुगकी तोतली बातें कहकर उनका उपहास करते हैं। आधुनिक विकासवाद और ऐतिहासिक दृष्टिका यह एक निर्बन्ध वाग्विलासमात्र है।

(५) धर्म और कानून

आधुनिक—धर्मविरोधी कानूनोंके सम्बन्धमें आजकल सनातनियोंने बड़ा कोलाहल मचाया है। सबके समान अधिकारों और विभिन्न धर्मावलम्बी समाजोंको सुव्यवस्थित रखनेमें जब हमारी संकुचित वृत्तिवाला धर्म असमर्थ हुआ, तब ये ही बातें कानून बनाकर करनी पड़ीं। आज तो धर्मानुशासन माननेमें किसीकी भी रुचि नहीं है। ऐसी अवस्थामें समाजहितके उपाय कानूनोंके द्वारा करा लेनेके सिवा और चारा ही क्या है? राजकाजमें दण्डनीतिका अवलम्बन करना ही पड़ता है।

सनातनी—दण्डनीति राज्यशासनका एक अंग हुआ करे। पर दमननीतिके कानूनोंकी जैसी आवश्यकता एक परायी सरकारको परकीय भावके कारण पड़ी, वैसी अपनी सरकारको तो न पड़नी चाहिये थी। पर आजकल तो कानूनोंकी टकसालसे रोज-रोज नये-नये

दमन-कानून ही निकल रहे हैं! ऐसी दमननीतिके राज्यको लोकमतका राज्य कैसे कहा जाय। स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज-जैसे सर्वशास्त्रविद् सर्वसंगपरित्यागी महात्मा और उनके धर्मसंघद्वारा परिचालित अत्युज्ज्वल धर्मसत्याग्रह तथा हिंदू-संस्कृतिकी अनन्य निष्ठा और कर्मशक्तिसे प्रेरित 'राष्ट्रीय स्वयंसेवकसंघ' का भी इस सरकारको इस प्रकार दमन करना पड़े, यह कैसा स्वराज्य है!

आज अपनी सरकारके सामने बहुत-सी कठिनाइयाँ उपस्थित हैं—अन्नकी कमी, नवीन शासनविधानका निर्माण, पाकिस्तानकी खुराफातोंसे नित्य नये पैदा होनेवाले झगड़े। पाकिस्तानके ही कारण उत्पन्न निर्वासितोंका तथा काश्मीरका प्रश्न, कम्यूनिस्टोंकी उपद्रव-नीति, तृतीय विश्वयुद्धकी तैयारी—इन सब अति विकट प्रश्नोंके सामने रहते हुए सरकार चुपकेसे इनसे समय निकालकर जल्दी-जल्दीमें बिलकुल बेजिम्मेदार ढंगसे धर्मविरोधी कानूनोंके बाणोंसे सनातनियोंके हृदयोंपर आघात करती! इसके बिना सरकारका कौन-सा काम रुका था? गोवध रोकनेके लिये कानून क्यों नहीं बनाती? आयुर्वेदिक औषधालयों और कारखानोंके पीछे भी सरकार क्यों पड़ी है?

हिंदू-धर्म यदि परिवर्तनीय हो और आयुर्वेदिक पद्धतिमें सुधारका अवसर हो, तो भी जिन लोगोंने उन-उन विषयोंका साम्प्रदायिक पद्धतिसे आस्थापूर्वक दृढ़ अभ्यास करके उनमें नैपुण्य और अनुभव प्राप्त किया है, उन्हींके बहुमतके आधारपर कोई सुधार न सोचकर ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे—चाहे जो निर्णय करने बैठ जायँ, यह कहाँकी बुद्धिमानी और कहाँका न्याय है? सरकारी व्यवस्थापक सभाओंमें ऐसे विशेषज्ञ, भला, कितने होंगे? सच्चा धर्मज्ञान अखण्ड गुरु-परम्परासे ही प्राप्त होता है। कालेजोंमें वह शिक्षा नहीं मिला करती, न प्राच्यविद्यासंशोधकोंके ग्रन्थ पढ़नेसे ही उसका कोई बोध होता है। केवल आधिभौतिक ज्ञानसे अथवा विषयलोलुप उपयोगितावादसे हिंदू-धर्म-संस्कृतिका वास्तविक ज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। हमारी धर्म-संस्कृति सर्वतोमुखी है। उसकी विचार-पद्धतिमें स्थूल आधिभौतिकके सिवा आधिदैविक, आधियाज्ञिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी समाविष्ट रहते हैं। उन दृष्टियोंसे रहित हमारी नवमतवादिनी बहिर्मुखी राज्यव्यवस्थाके दमनकारी कानूनोंके आगे हिंदू-धर्म और आयुर्वेदकी क्या गति होगी? उनका शुद्ध स्वरूप इस अवस्थामें टिकना असम्भव हो जायगा। हिंदू-संस्कृतिपर होनेवाले इस प्रहारसे सनातनी हिंदू जनताके हृदय व्यथित होनेके सिवा और क्या प्राप्त करेंगे?

इसी प्रकार अन्त्यजों और अन्य पिछड़े हुए समाजोंकी आर्थिक दुरवस्था दूर करनेका उपाय करना स्वराज्य-सरकारका कर्तव्य है, इस विषयमें सबका एकमत है। इन्हें इनके व्यवसायोंके लिये जो शिक्षा आवश्यक है, वह भी दी जानी चाहिये—इसमें भी कोई सन्देह नहीं। स्त्रियोंके दुःख-दर्दका विचार करना भी आवश्यक ही है। पर इन सब बातोंमें अनावश्यक जबर्दस्तीके कानून बनाकर जो क्षोभ उत्पन्न किया जा रहा है, वह राजसत्ता और कानून बनानेके अधिकारका केवल दुरुपयोग है। देवमन्दिरमें प्रवेशका कोई अधिकार अन्त्यजोंने न चाहा था न माँगा था; फिर भी जिन्होंने मन्दिरप्रवेश-बिल व्यवस्थापक-सभाओंमें उपस्थित किये और अट्टहासके साथ देशकी जनतापर उन्हें लादना चाहा, क्या उन्होंने कभी इस बातका विचार किया था कि देवमूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा क्या होती है अथवा इन मन्दिरोंमें वर्षानुवर्ष सतत विधिपूर्वक जो देव-पूजा और धर्मानुष्ठान होते हैं, उनमें किस प्रकारके शक्ति-संस्कार वहाँ केन्द्रित होते हैं और उनके पावित्र्यकी किस प्रकार रक्षा की जाती है? अन्त्यजोंके मन्दिर-प्रवेशसे देवमन्दिर पहलेसे अधिक पवित्र हो गये—यह जो लोग निधड़क कह डालते हैं, क्या उन्होंने मन्दिरोंके द्वार अन्त्यजोंके लिये खोल देनेके पश्चात् कभी उन मन्दिरोंकी ओर झाँका भी था अथवा उन अन्त्यजोंके चित्तमें ही वहाँ जाकर भगवान्‌के दर्शन करनेकी कभी प्रेरणा हुई थी? ये दोनों ही बातें यदि नहीं हुईं तो बिना सोचे-समझे मन्दिर-प्रवेशकी जो उतावली उन्होंने की, उससे सनातनी हिंदू-जनताके हृदयपर कठोर प्रहार करनेके सिवा उन्होंने और क्या पा लिया? उससे अन्त्यजोंकी कौन-सी उन्नति हुई? अन्त्यजोंका मन्दिर-प्रवेश होनेके लिये छटपटानेवाले इन नेताओंने क्या कभी इन देवमन्दिरोंकी वास्तविक रक्षा, उद्धार और उत्कर्षके लिये कोई उपाय सोचा? इनमें ज्ञान-कर्म-भक्तिके सत्र चलाने और भक्तिप्रेमके उत्सव मनाकर जनतामें भगवद्भक्तिका

प्रचार करनेका कोई प्रयत्न किया? यदि नहीं तो मन्दिरोंकी पवित्र परम्परापर यह प्रहार करनेका क्या मतलब है? इसी प्रकार कारखानोंके मजदूरों और खेती करनेवाले किसानोंको कानून बनानेके अपने अधिकारके जोरपर यह कहकर जो उभाड़ा जा रहा है कि 'मजदूरो! कारखानोंके मालिक तो तुम्हीं हो, ये पूँजीपति केवल तुम्हारे विश्वस्त हैं' अथवा 'किसानों! तुम्हें हम इन खेतोंके मालिक बना देंगे', इससे मजदूरों और किसानोंका शील और चरित्र बिगड़ रहा है। इनके शील और चरित्र बिगड़ चुकनेपर हम उन्हें सुधारना चाहेंगे तो पछतावा ही हाथ रह जायगा। इसी प्रकार स्त्रियोंकी अमर्याद स्वतन्त्रता, स्त्रियोंके प्रौढ़ातिप्रौढ़ विवाह और विवाह-विच्छेदके कानून बनाया चाहनेवालोंने क्या कभी यह सोचा है कि इनके द्वारा हम हिंदुओंके वैवाहिक और कौटुम्बिक सुखका जीवन नष्ट कर रहे हैं, हिंदू-धर्म-संस्कृतिकी परम्परासे सहजप्राप्त पावित्र्य, पातिव्रत्य, सतीत्व आदि गुणोंको उत्सन्न कर रहे हैं? बिगाड़ना सहज है, बनाना बहुत कठिन है।

वैयक्तिक और सामाजिक सुनीतिकी रक्षा और सुधारका काम हिंदू-धर्म-संस्कृतिके परम्परागत सुदृढ़ संस्कार ही कर सकते हैं। कानूनके द्वारा ऐसे सामाजिक सुधार कराना केवल अन्याय और अत्याचार है। जहाँ कानूनोंका ही सारा बल और भरोसा होता है, वहाँ उनसे बचनेके उपाय भी निकल आते हैं। धर्मका शास्ता ईश्वर सर्वसाक्षी, सर्वशक्तिमान् और सारे जगत्‌का नियन्ता होता है। उसकी आँख बचाकर निकल भागना किसीके लिये सम्भव नहीं होता। कानून बनानेवाले मनुष्योंको धोखा दिया जा सकता है, ईश्वरको नहीं। कानून बहिर्मनका बाह्य प्रयोग है। धर्म हृदयसे संलग्न रहता है। उसका सहसा विस्मरण नहीं हो सकता। ईश्वरका जीवके साथ सहज अन्तर्गत सम्बन्ध है। वही धर्मपटका धागा है। कानून अथवा दण्डनीतिके द्वारा जो शासक-शासित-सम्बन्ध जोड़ा जाता है, वह कृत्रिम बलप्रयोग है। यह कहना कि आजकल धर्मका शासन कोई नहीं मानता, सच्ची बातको बिगाड़कर कहना है। धर्मानुशासनको स्थिर करनेके लिये अनुकूल राजसत्ताकी भी आवश्यकता होती है। पहले यदि विधर्मियोंकी राजसत्ता थी तो अब धर्मातीत राजसत्ता है; अब धर्मानुशासन स्थिर कैसे हो? उदाहरणार्थ, धर्मबाह्य आचरण करनेवालेको पहले जातिसे अलग किया जाता था। पर ऐसा करना यदि आजकी सरकारके कानूनमें अपराध हो तो इसे धर्मानुशासन मिटानेका ही प्रयत्न समझा जायगा।

(६) सर्वराष्ट्रिय प्रतिष्ठा

आधुनिक—यातायातके साधनोंकी वृद्धि, व्यापार, रेडियो और समाचारपत्रोंकी बहुलता तथा जागतिक युद्धोंके कारण सब राष्ट्र परस्पर सम्बद्ध हो गये हैं। ऐसी अवस्थामें अपनी निवृत्तिप्रधान संस्कृति लेकर भारतवर्ष संसारमें अलग अकेला वेदपाठ अथवा जप-तप-अनुष्ठान करता बैठा रहे, इससे तो कोई काम नहीं चलेगा। सर्वराष्ट्रिय नेताओंकी परिषदोंमें भारतको भी उच्च स्थान मिलना चाहिये। यह तभी हो सकता है, जब वह अपने ही राष्ट्र और अपने ही धर्मको लेकर न बैठा रहे, बल्कि इस संकुचित व्यावर्तक अभिमानको त्यागकर भौतिक विज्ञानको ही एकमात्र अभ्युदयकारक शास्त्र और मानवतावादको ही एकमात्र व्यावहारिक विश्वधर्म जानकर स्वीकार करे।

सनातनी—सच पूछिये तो राजनीतिक पराधीनताके कारण झुका हुआ अपने देशका मस्तक, सर्वराष्ट्रिय जगत्‌में, हिंदू-संस्कृतिके कारण ही आज भी ऊँचा है। (अभी पिछले दिनों हमारे माननीय प्रधान सचिव पं० श्रीनेहरूजी भी अमेरिका जाकर इस संस्कृतिकी ही गौरव-गाथा साभिमान सुना आये हैं।) इस देशकी यह अनन्य-साधारण विशिष्टता ही संसारमें इसकी महत्ता स्थिर रखनेमें समर्थ है। इसीमें हमारा और जगत्‌का भी कल्याण है। झुंडमें शामिल न होनेवाले वनराज सिंहने सबसे अलग रहकर अपनी धाक सबपर जमायी है। जहाँ दस झुरमुट हैं, वहाँ ग्यारहवें यदि हम भी हो गये तो इसमें क्या रखा है? एक-ही-एक गगनचुम्बित वृक्षराज बननेमें ही महत्ता है। स्वाभिमान त्यागकर दूसरोंके साथ हिल-मिल जानेसे कभी कोई महान् नेतृत्व नहीं प्राप्त होता। बकोंकी पंक्तिके समान किसी समूहमें न रहनेवाला मोर मोर ही रहता और अपनी स्वतःसिद्ध महिमा और वैभवसे सुशोभन ही दीखता है।

व्यवहारकी पूर्तिके लिये भौतिक विज्ञानोंका अर्जन अवश्य करना चाहिये। पर भौतिककी अपेक्षा आधिदैविक और आध्यात्मिकका महत्त्व बहुत अधिक है। पाश्चात्य जगत् जडवादके पीछे पड़ा है, इसलिये हम भी वैसे

ही बन जायँ—यह सोचना तो विचारशून्य अन्धानुकरण है। हमारा कार्य यह है कि हम हिंदू-संस्कृतिके आधिदैविक और आध्यात्मिक तेजसे जगत्को दीप्त करें। यही सच्चा पुरुषार्थ है।

हमने अपने राज्यको 'धर्मातीत' कर डाला और मुसलमानोंको खुश करनेवाली राजनीति स्वीकार कर ली; फिर भी पाकिस्तान दुलत्ती ही झाड़ रहा है और सर्वराष्ट्रिय परिषदोंमें कट्टर इस्लामधर्माभिमानी पाकिस्तानकी ही पीठ ठोंकी जा रही है। प्रत्यक्ष अनुभव तो यही है। आजके सर्वराष्ट्रिय राजनीतिक सम्बन्ध अति नीच स्वार्थ और अत्यन्त कुटिल राजनीतिसे ग्रस्त हैं। ऐसी स्थितिमें अपने देशका गौरव और व्यक्तित्व किसी बातमें है तो वह अपने समुज्ज्वल हिंदू-धर्मका उत्कट अभिमान ही है। राष्ट्रोंके स्वार्थप्रेरित परस्पर कलह, ऐटमबम आदिकी तैयारियाँ, परस्पर घोर अविश्वास—इन सब चीजोंको साफ-साफ देखते हुए भी मानवता और विश्वधर्मकी बातें करना कल्पनाजालमें समुद्रकी लहरोंको पकड़नेके समान ही अव्यवहार्य और हास्यास्पद है। ऐसी फालतू बातोंमें पड़कर हम अपने राष्ट्र और अपनी हिंदू-धर्म-संस्कृतिका अभिमान छोड़ बैठें, इससे बढ़कर मूर्खता-की और कोई बात नहीं हो सकती। 'यह विश्व ही मेरा घर है' यह सर्वभूतात्मभूत स्थितप्रज्ञकी अनुभूति है। वैषम्यपूर्ण जगद्व्यवहारमें उसकी प्रतीति असम्भव है। इसलिये अपने सींग तुड़वाकर बछड़ोंमें मिल जानेवाली गौके समान अपनी दिव्य संस्कृति और उज्ज्वल धर्मनिष्ठा त्यागकर अन्य राष्ट्रोंकी कुटिल राजनीतिके साथ समरस हो जानेकी बात केवल अन्ध अविचार है। हमारी श्रेष्ठ धर्म-संस्कृति जो वनवासी एकाकी तपस्वीकी हिंस्र पशुओंसे रक्षा करती है, वह एकाकी भारतवर्षकी भी रक्षा करेगी। संत-मुनियोंके आश्रमोंमें यदि हिंस्र पशु अपना क्रूर स्वभाव त्याग देते हैं तो अन्य मानवी राष्ट्र हमारे साथ शान्ति और सौजन्यका ही व्यवहार करेंगे, यदि हम अपनी संस्कृति और धर्मनिष्ठामें सच्चे हैं। ऐसा ही आत्मविश्वास राष्ट्रमें जगाना चाहिये, यही श्रेयस्कर है—

(७) लोकतन्त्र और राजतन्त्र

आधुनिक—राज्यकी प्रातिनिधिक संस्थाओंके निर्वाचनमें देशके सब बालिग मनुष्योंको मत (वोट) देनेका अधिकार देकर सबके समान अधिकारोंकी नींवपर जो लोकतन्त्र हमारी स्वराज्य-सरकारने खड़ा किया, उसके प्रखर तेजके सामने सब देशी राजतन्त्रोंके राजमुकुट पिघलकर रसातलको चले गये। यह लोकतन्त्रकी कितनी बड़ी विजय हुई! अब लोकतन्त्र ही हमलोगोंकी संस्कृति है, अन्य किसी संस्कृतिको माननेके लिये हमलोग तैयार नहीं हैं। भारतीय संस्कृति प्राचीन गणराज्योंके समान लोकतन्त्रकी मान्यता स्वीकार करती हो, तभी वह लोकमतपर निर्भर रहकर आगे जी सकती है, अन्यथा यहीं उसका अन्त है।

सनातनी—कुछ इतिहाससंशोधक यह बतलाते हैं कि प्राचीन भारतीय संस्कृतिमें पहले गणराज्य थे; पर ये गणराज्यरूप लोकतन्त्र किस प्रकारके थे और वे राजतन्त्रमें क्यों विलीन हो गये, यह निश्चितरूपसे जाननेके पर्याप्त साधन आज उपलब्ध नहीं हैं। पर राजतन्त्र हिंदू-संस्कृतिमें स्वीकार्य न हो, ऐसी कोई बात उसके प्राचीन साहित्यसे नहीं प्रतीत होती। राजतन्त्रमें जो ऐश्वर्य और सूत्रैकता विद्यमान रहती है, वह लोकतन्त्रमें नहीं रहती। फिर राजाको उसकी प्रजा भगवान् विष्णुके प्रतीकरूपमें, ऐश्वर्यके आदर्शरूपमें देखना चाहती है। आबालवृद्ध-वनिता—सभी जिस लोभनीय और दर्शनीय राजैश्वर्यके इच्छुक रहते हैं, वह राजैश्वर्य आजके लोकतन्त्रमें कहीं भी दीख नहीं सकता। अपने देशका यह नवस्थिरत्यन्तर देखकर हिंदू-संस्कृति तो अश्रुपात ही करेगी! फिर यह भी समझनेकी बात है कि लोक-कल्याणकी जो नैतिक और धार्मिक जिम्मेदारी एक राजापर होती है, उसकी किंचित् भी वेदना लोकतन्त्रके सैकड़ों नामधारी प्रतिनिधियोंको नहीं हो सकती। हाँ, राजतन्त्रका उद्दण्ड और स्वैराचारी होना सम्भव हो सकता है। पर राजापर नियन्त्रण रखनेवाले उसके विचारशील मन्त्री भी तो होते ही हैं। इसके विपरीत नामधारी लोकतन्त्र कृत्रिम, बेजिम्मेदार और बायें हाथके खेलके बराबर बहुमतके बलपर स्वैर अधिनायकतन्त्र बन जाता है—यह तो आजका प्रत्यक्ष अनुभव ही है।

वर्तमान लोकतन्त्रके मुख्य-मुख्य दोष देखना हो तो बालिग-मताधिकारकी वर्तमान पद्धतिमें देख लीजिये कि (१) कैसे-कैसे झूठे आश्वासन और प्रलोभन दिये जाते हैं, कैसी कुटिल नीति बरती जाती है, कैसी झूठी परनिन्दा और आत्मश्लाघा की जाती है, कैसे-कैसे

लालच दिलाये जाते, सिफारिशें की जाती और रिश्वतें दी जाती हैं और (२) समाजमें कैसे व्यर्थके अनर्थकारी संघर्ष उत्पन्न किये जाते, और असत्य एवं अविवेकको उभाड़ा जाता है। फिर अपने देशकी प्रजा अशिक्षित होनेसे उसे मत देते हुए यह पूरा पता नहीं रहता कि किसको किसलिये वोट दिया जाता है। समझ-बूझकर जिम्मेदारीके साथ वोट देनेवाले कितने होते हैं। ऐसी अवस्थामें बालिग-मताधिकारसे किया जानेवाला निर्वाचन एक खेल होता है और वह भी झूठ और धोखाधड़ीसे भरा हुआ। तीसरा दोष इस निर्वाचन-पद्धतिमें यह है कि प्रत्येक उम्मीदवार यही महामन्त्र उचारा करता है कि 'मैं बुद्धिमान् हूँ, मुझे वोट दो।' उम्मेदवारीकी शर्तें और चुनावके लिये किया जानेवाला घटाटोप, यह सब अशिष्टताका ही एक प्रदर्शन होता है। कितने ही महान् योग्यतावाले पुरुष ऐसी अवस्थामें उम्मीदवार होना अपनी शिष्टता और सुजनताके विरुद्ध समझते हैं। इस कारण उनकी अमूल्य सेवा और सत्परामर्शसे जनता वंचित ही रह जाती है। इन सबसे अधिक निन्दनीय और अनर्थकारक मिथ्याचार और विश्वासघात इसमें यह होता है कि लोग जिसे अपना प्रतिनिधि चुन देते हैं, वह चुन जानेपर अपने निर्वाचकोंको भुला देता है। व्यवस्थापक-सभाओंमें वह उनका मत नहीं बतलाता बल्कि अपना मत या अपने दलविशेषका मत उनपर लादकर उनके साथ विश्वासघात करता है।

पहलेकी ग्रामपंचायतोंमें निर्वाचनके क्षेत्र बहुत छोटे-छोटे हुआ करते थे। पंचोंको यह कहनेकी जरूरत नहीं पड़ती थी कि लोग हमें पंच चुनें। पंचोंका काम कर सकनेवाले व्यक्तियोंको लोग स्वयं अच्छी तरहसे जानते थे और उन्हींको पंच चुनते थे। राजा अपने मन्त्री स्वयं ही निर्वाचित करता था। सदाचारसम्पन्न विज्ञलोग राज्यकी धुरा धारण करें, यही अन्तःस्थ नीति थी। राजाको मन्त्रणा देनेवालोंमें वसिष्ठ-जैसे अथवा समर्थ रामदास-जैसे धर्माध्यक्ष हुआ करते थे। बालिग-मताधिकार तत्त्वतः चाहे जो कुछ भी हो, प्रत्यक्षमें अव्यवहार्य और संघर्षकारक है।

समारोप

मुख्याध्यापक—मेरे युवक विद्यार्थियो! तुमलोगोंने अभी जो चर्चा की, उसका सुस्थिर, शान्त और संयत ढंग देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। नवमतवादी वक्ताने हिंदू-संस्कृतिसम्बन्धी अपने आक्षेप संक्षेपमें बतलाकर उनके समाधानके लिये अधिक अवसर दिया, यह उनका सौजन्य है और इसके लिये हृदयसे मैं उन्हें बधाई देता हूँ। चर्चाके लिये आज जो प्रश्न सामने रखे गये थे, उनका स्वरूप इतना व्यापक और गहन है कि पूर्णरूपसे उनका आकलन करना तुमलोगोंकी अनुभवरहित बुद्धिके लिये सम्भव नहीं था। प्रत्येक प्रश्नपर पूर्वोत्तर पक्षके लिये दस मिनटका समय रखा गया था, वह भी पर्याप्त नहीं था। परंतु मुझे एक प्रयोग करके देखना था, इसीके लिये मैंने यह प्रसंग उपस्थित किया। आजकल समाचारपत्रोंमें प्रायः नवमतवादका ही युक्तिवाद पाठकोंके सामने रखा जाता है। इससे हिंदू-संस्कृति-सम्बन्धी मतभेदकी बातें सबको मालूम रहती हैं। पर इन बातोंका सनातनी दृष्टिसे क्या समाधान है, वह जाननेका कोई अवसर पाठकोंको नहीं मिलता। कारण, सनातनियोंके समाचारपत्र बहुत थोड़े और संक्षिप्त हैं। इसका भी कारण यही है कि हमारे आचार-विचारोंपर परायी संस्कृतिकी जबर्दस्त छाप पड़ी है। यह जो कुछ पहले होना था, हुआ। पर अब हम सबके सौभाग्यसे अपने देशमें अपना राज्य स्थापित हो गया है। अतः अब अपने धर्म और संस्कृतिका गम्भीर अध्ययन आस्थाके साथ होना चाहिये। परकीय शासन-कालमें जो वकील-बैरिस्टर आदि कानूनके जानकार लोग थे, उन्हींमेंसे आगे बढ़े हुए जिन लोगोंने परकीयोंके साथ वाद-विवाद करनेमें कुशलता प्राप्त की, वे ही हमारे नेता हुए और हमारे बालकों और नवयुवकोंकी शिक्षा-दीक्षा भी ऐसे प्राध्यापकों, वक्ताओं और लेखकोंके हाथोंमें रही, जो पाश्चात्त्य संस्कृतिसे अभिभूत थे। इन्हीं नेताओं, प्राध्यापकों, वक्ताओं और लेखकोंके विचार हमलोग सदा पढ़ते और सुनते रहे हैं। इन विचारोंमें स्वधर्मके बारेमें प्रायः अज्ञान और अनास्था—ये दोष मुख्यतया रहते हैं। पर ये दोष उन्हें ज्ञात नहीं रहते। यही सोचकर मैंने आज यह संवाद प्रयोगके तौरपर कराया। यह सुख-संवाद एक नमूनेके तौरपर प्रकाशित करनेके योग्य हुआ, इसका सारा यश तुम विद्यार्थियोंको ही है। जो सुविज्ञ नेता और अन्य विचारशील पाठक अपने मतका दुराग्रह छोड़कर निर्विकार मन और शान्त चित्तसे इस संवादका मनन करेंगे, उन्हें इसमें बहुत-से विचार चिन्तन करने योग्य मिलेंगे। विद्यार्थियोंके इस संवादमें

निर्णयात्मक विवेचन विशेषरूपसे भले ही न मिले; पर इससे इतना तो मालूम ही हो जायगा कि आजके नवमतवादी नेता जो कुछ कहते हैं, उसका एक दूसरा पक्ष भी है। आजके संवादमें सनातनी प्रौढ़ विद्यार्थीने जो उत्तर पक्ष किया है, उससे यह विश्वास होता है कि ऐसे प्रौढ़ विद्यार्थियोंके सनातनी ज्ञानवृद्ध गुरुके समीप जाकर उनसे आस्थापूर्वक सावकाश विचार-विनिमय किया जायगा तो हिंदू-संस्कृतिके अनेक गुप्त रत्न प्रकट होंगे। हमलोग अपनी राज्यशासनपद्धति और शिक्षापद्धतिका विचार करते हुए परकीय संस्कृतिकी शासनपद्धति और शिक्षापद्धतिका तो विशेष आस्थाके साथ अध्ययन और अन्धानुकरणतक करते हैं और अपनी संस्कृतिको साम्प्रदायिक निष्ठाके साथ समझनेका कुछ भी प्रयत्न नहीं करते—यह अत्यन्त लज्जास्पद और अनर्थकारक अपराध आजके हमारे नेता कर रहे हैं। ईश्वर उन्हें सद्बुद्धि दें और यह छोटा-सा संवाद उनकी वृत्तिको अन्तर्मुख करनेका निमित्तमात्र कारण बने, यही मेरी आशा-कामना है।

मैं कौन?

मैं हिंदू-कुलकी कुल-देवी, कबतक अदृश्य औ मौन रहूँ?
अपना अनर्थ अपमान सहूँ? फिर आज क्यों न 'मैं कौन' कहूँ?
मैं हूँ अदृश्य, लेकिन घर-घर मेरी प्रतीक है गो-माता!
जिसकी पूजा हिंदू-समाज कर ऋद्धि-सिद्धि सब कुछ पाता॥
गोपाल-बाल बन, दुष्ट-दलन माधवने जब मुरली टेरी।
तत्काल विश्वमें स्वर-लहरी बन फैल गयी महिमा मेरी॥
संस्कृत, प्रशस्त मेरा मुख हैं, स्मृतियाँ मेरी वाणी अक्षय।
जिसमें सज्जन-गण मज्जन कर, कलि-कल्मषका कर देते क्षय॥
ऋक्-साम-अथर्व-यजुर्वेदोंको मेरी चार भुजा जानो!
वृष-शंख-चक्र-स्वस्तिक-अम्बुज मेरे कर-धृत आयुध मानो॥
अभ्युदय और निःश्रेयस ही सुर-नर-मुनि-वन्दित पद पावन।
विचरण करती हूँ निष्कण्टक, युग धर्म विमल मेरा वाहन॥
शम-दम-यम-नियम-व्रतोंको रख, करते बुध-जन मेरा अर्चन।
अध्यात्म-वेदिकापर रखते, नित प्रेम-दया सद्भाव-सुमन॥
मम तुष्टि-हेतु निशिदिन होतीं अगणित प्राणोंकी आहुतियाँ।
उन वीरोंकी गाथा-मिष ही गायी जातीं मेरी स्तुतियाँ॥
धृति-सुकृति-सुमति-सद्गति-सुखदा मैं हूँ हिंदू-संस्कृति देवी!
संसृति पूजे या मत पूजे, भारत मेरा सच्चा सेवी॥
जबतक जगमें अक्षुण्ण बना, मेरा यह वर्णाश्रम-मन्दिर!
तबतक मैं अचल हिमाचल-सी, उन्नत सप्रभ शाश्वत सुस्थिर॥

—भवदेव

साँचीका स्तूप

चित्तौड़का विजय-स्तम्भ

अमृतसरका स्वर्ण-मन्दिर

विट्ठल-मन्दिर, विजयनगर

रामराज्य

(लेखक—श्रीशान्तिकुमार नानूराम व्यास, एम० ए०)

भारतीय संस्कृतिमें राम-राज्य सदासे सुराज्यका पर्यायवाची रहा है। राम-राज्यका वह युग सचमुच अतिशय समुन्नत एवं न्याय और नीतिपर आधारित भारतीय शासन-व्यवस्थाका एक स्वर्णयुग था। तत्कालीन राजनीतिके आदर्श आज भी हमारी पहुँचके बाहर हैं। तब वे शासनतन्त्रके निरन्तर व्यवहारमें आनेवाले दैनिक सूत्र थे। आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्थाके भी बहुत-से संकेत हमें उस समयकी राज्य-व्यवस्थामें अनायास ही प्राप्त हो जायँगे।

शासनतन्त्रका स्वरूप

रामायणकालीन भारतमें कई स्वतन्त्र राज्य थे—जैसे मिथिला, काशी, कोसल, केकय, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, विशाला, सांकाशी, बंग, अंग, मगध और मत्स्य। हिमालय और विन्ध्य पर्वतोंके मध्यका भूभाग आर्यावर्त था। विन्ध्य-पर्वतके दक्षिणमें वानरों और राक्षसोंके प्रदेश थे। उस समय भारतमें कोई एकच्छत्र साम्राज्य नहीं था। पर अयोध्याके राजाकी सत्ता निकटवर्ती सामन्त राजाओंपर पर्याप्त थी। दशरथको '**नतसामन्तः**' कहा गया है। विश्वामित्र उनसे पूछते हैं कि 'क्या आपके सामन्त राजा तथा शत्रुगण आपके अधीन हैं?'

अपि ते संनताः सर्वे सामन्तरिपवो जिताः।

(१। १८। ४६)

रामराज्यमें प्रचलित शासनतन्त्रके स्वरूपको मर्यादित राजतन्त्र (Limited Monarchy) कहा जा सकता है। स्थायी सरकारके अभावमें होनेवाली अराजकताके दोषोंसे जनता सुपरिचित थी। जनताका एक वैधानिक शासकद्वारा स्थापित सुदृढ़ शासन-व्यवस्थामें परम विश्वास था।

राजाका पद कुल-परम्परागत था। फिर भी नया शासक वर्तमान राजा तथा मन्त्रिमण्डलके द्वारा प्रस्तावित किया जाता और सभा (धारासभा) के द्वारा चुना जाता था। श्रीरामको युवराज बनानेके पूर्व दशरथने अपनी सभाकी स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। वालीकी अनुपस्थितिमें सारे मन्त्रियोंने सुग्रीवको राजा चुन लिया था। राजा नृगने अपनी सभाके समक्ष अपने पुत्रको उत्तराधिकारी बनानेका प्रस्ताव किया था। ज्येष्ठ पुत्र ही प्रायः युवराजपदका अधिकारी होता था। जब श्रीरामने भरतको राज्य ग्रहण करनेके लिये कहा, तो भरतने उत्तर दिया कि ज्येष्ठ पुत्रके जीते-जी उसके छोटे भाई राजा कभी नहीं बन सकते। किंतु इस नियममें अपवाद भी थे। ज्येष्ठ पुत्र पिता या जनमतद्वारा अधिकारच्युत किया जा सकता था। सगरका ज्येष्ठ पुत्र असमंजस रास्तोंसे बालकोंको उठाकर नदीमें फेंक दिया करता था। प्रजाजनोंकी प्रार्थनापर सगरने अपने दुष्ट पुत्रको वनमें निर्वासित कर दिया। राजा ययातिने ज्येष्ठ पुत्र यदुको राज्य न देकर अपने आज्ञाकारी कनिष्ठ पुत्रको पूरुको ही राज्य दिया। पुत्रके अभावमें राजाका भाई युवराज बनाया जाता था। श्रीरामके राज्याभिषेकके पश्चात् भरतको युवराज बनाया गया, क्योंकि उस समयतक श्रीरामके कोई पुत्र नहीं था।

अन्तर्वर्ती कालमें नये राजाके चुनावका प्रबन्ध मन्त्रिमण्डलके सदस्य करते, जो 'राजकर्ता' कहलाते थे। दशरथकी मृत्युपर ब्राह्मण, अमात्यों, मन्त्रिमण्डलके सदस्यों और राजपुरोहितने राजपद रिक्त होनेसे उत्पन्न होनेवाली समस्याओंपर विचार किया। मन्त्रिमण्डलकी सहमतिसे मुख्य सचिव वसिष्ठने सभाकी ओरसे रामके दूसरे भाई भरतको बुलाया और रामद्वारा छोड़े गये राज्यको स्वीकार करनेको आमन्त्रित किया। भरतने नियम-विरुद्ध राज्य ग्रहण करनेसे इनकार किया। और वे रानियों, नागरिकों, सभाके सदस्यों और पुरोहितोंको साथ ले श्रीरामको लौटानेके लिये चित्रकूट गये। जब श्रीरामने दशरथ और कैकेयीके समक्ष की गयी राजत्यागकी अपनी प्रतिज्ञा तोड़ना अस्वीकार कर दिया, तब भरतने श्रीरामकी आज्ञासे चौदह वर्षोंतक उन्हींके नामसे कोशल देशका एक प्रबन्धक (Regent) के रूपमें शासनभार सँभाला।

राजागण प्रजाद्वारा ईश्वरीय विभूतिके रूपमें देखे जाते और प्रगाढ़ भक्तिके पात्र माने जाते थे। श्रीरामने वालीसे कहा था कि 'राजालोग दुर्लभ धर्म, जीवन और लौकिक अभ्युदयके देनेवाले होते हैं। अतः उनकी निन्दा, हिंसा तथा उनके प्रति आक्षेप नहीं करना चाहिये। वे वास्तवमें देवता हैं, जो मनुष्यरूपसे इस पृथ्वीपर

विचरते हैं।' मनुष्य पाप करके यदि राजाके दिये हुए दण्डको भोग लेते हैं तो वे शुद्ध होकर पुण्यात्मा पुरुषोंकी भाँति स्वर्गलोकमें जाते हैं। रावणके मतानुसार तेजस्वी राजा अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और वरुण—इन पाँचों देवताओंके स्वरूपको धारण किये रहते हैं; इसलिये उनमें इन पाँचोंके गुण—प्रताप, पराक्रम, सौम्य, स्वभाव, दण्ड और प्रसन्नता—विद्यमान रहते हैं। अतः सभी अवस्थाओंमें राजाओंका सम्मान और पूजन करना चाहिये।

आदर्श राजाके लक्षण

वाल्मीकिके अनुसार आदर्श राजा गुणवान्, पराक्रमी, धर्मज्ञ, उपकार माननेवाला, सत्यवक्ता, दृढ़प्रतिज्ञ, सदाचारी, समस्त प्राणियोंका हितसाधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली, प्रियदर्शन, मनपर अधिकार रखनेवाला, क्रोधको जीतनेवाला, कान्तिमान्, अनिन्दक और संग्राममें अजेय योद्धा होता है।

नारदद्वारा वर्णित आदर्श राजाके लक्षण शारीरिक, मानसिक और नैतिक विशेषताओंमें विभाजित किये जा सकते हैं। शारीरिक दृष्टिसे आदर्श राजाका व्यक्तित्व आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक होता है। उसके कंधे मोटे, भुजाएँ बड़ी-बड़ी, ग्रीवा शंखके समान, ठोढ़ी भरी हुई, छाती चौड़ी, गलेके नीचेकी हड्डी मांससे छिपी हुई, भुजाएँ घुटनोंतक लम्बी, मस्तक सुन्दर, ललाट भव्य, चाल मनोहर, शरीर मध्यम और सुडौल, देहका रंग चिकना, वक्षःस्थल भरा हुआ और आँखें बड़ी होती हैं। मानसिक दृष्टिसे वह बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, वक्ता, ज्ञानी, वेद-वेदांगके तत्त्वको जाननेवाला, धनुर्वेदमें प्रवीण, धर्मका ज्ञाता, अखिल शास्त्रोंका मर्मज्ञ, स्मरणशक्तिसे युक्त तथा प्रतिभा-सम्पन्न होता है। नैतिक दृष्टिसे वह धैर्यवान्, जितेन्द्रिय, सत्यप्रतिज्ञ, पवित्र, यशस्वी, श्रीसम्पन्न, अच्छे विचार और उदार हृदयवाला होता है।

हनुमान्‌के अनुसार, आदर्श राजा पूर्णचन्द्रके समान मनोहर मुखवाला; पद्मपत्रके समान विशाल नेत्रोंसे युक्त; रूप और औदार्यसे सम्पन्न; तेज, क्षमा, बुद्धि और यशसे युक्त; सदाचार, धर्म और चातुर्वर्ण्यका रक्षक; परम प्रकाशस्वरूप; राजनीतिमें पूर्ण शिक्षित; ब्राह्मणोंका उपासक; ज्ञानी, शीलवान्, विनम्र, वेद-वेदांगका परिनिष्ठित विद्वान् और सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शुभ अंग-प्रत्यंगोंसे युक्त होता है।

अयोध्याकी जनताके अनुसार आदर्श राजा वीर्यवान्, स्थिरप्रज्ञ, विद्वान्, सभी विद्याओं और वेद-वेदांगोंको भलीभाँति जाननेवाला, मधुरभाषी, सज्जन, ईर्ष्या, असूया और मात्सर्यसे दूर, वृद्धों और ब्राह्मणोंका प्रतिपूजक, सदैव शान्त, कृतज्ञ, सदाचारी, शीलसम्पन्न, मार्दव और कोमलतासे युक्त, क्षमावान्, प्रजाप्रिय, दूसरोंके अन्तर्गत विचारोंको तुरंत ताड़नेवाला, दयालु, आलस्य और अभिमानसे शून्य, धर्म, अर्थ और कामका ज्ञाता, गम्भीर, मन्त्रको गुप्त रखनेवाला, भाषा-ज्ञानमें निपुण, संगीत, वाद्य और चित्रकारीका विशेषज्ञ, शत्रुपर आक्रमण और प्रहार करनेमें कुशल, सेना संचालनमें निपुण, दोषदृष्टिसे रहित, अमित तेजस्वी, रूपवान्, पराक्रमी, बाहर और भीतरसे शुद्ध, युक्तियाँ देनेमें बृहस्पतिके समान, नीरोग, तरुण, असाधारण वक्ता, सुन्दर विग्रहसे सुशोभित, देश-कालके तत्त्वको समझनेवाला और दीनतासे रहित होता है। रामायणके अनुसार उपर्युक्त सभी लक्षण श्रीराममें घटित होते थे।

राजकुमारोंकी शिक्षा

रामायण-कालमें राजकुमारोंको दी जानेवाली शिक्षाका अनुमान श्रीरामके शिक्षणसे किया जा सकता था। श्रीरामको हाथी और घोड़ेकी सवारी, रथचर्या, धनुर्वेद, घोड़ेपर बैठकर शिकार, धनुष और तलवारका प्रयोग, सैन्य-संचालन-प्रणाली, आक्रमण और प्रहारकी शैली, राजनीति, संगीतशास्त्र, वाद्य और चित्रकारी, वेद-वेदांग तथा उस समयके सभी शास्त्रों और कलाओंकी शिक्षा दी गयी थी। उपाध्याय सुधन्वाने उन्हें सैनिक शिक्षा दी थी तथा वसिष्ठपुत्र सुयज्ञने वैदिक शिक्षा। ब्रह्मचर्य धारणकर श्रीरामने समग्र शिक्षाक्रमका नियमानुसार अभ्यास किया था। विद्वान् गुरुओंने उन्हें भलीभाँति शिक्षित और अनुशासित किया था। शब्दवेधी विद्यामें राजकुमारोंको पारंगत बनाया जाता था। मुनिकुमारके वधमें दशरथने तथा ताटकाके वधमें श्रीरामने अपनी शब्दवेधी विद्याकी प्रवीणता दिखलायी थी।

युवराजको सैन्य-संचालनका अभ्यास करानेके लिये उसे उच्च सैनिक पदाधिकारियोंके साथ रखा जाता था। सुग्रीवने अपने सेनापति नीलको आदेश दिया था कि सेनाके एकत्रीकरणमें युवराज अंगदको जाम्बवान् तथा अन्य उच्च सैनिक अधिकारियोंके सम्पर्कमें रखा जाय। अपने विवाहके पश्चात् युवराज श्रीराम राज्य और प्रासादके प्रबन्धमें अपने पिताकी सहायता किया करते थे। उन्हें कई सैनिक कार्रवाइयोंका भी संचालन करना पड़ता था। राजकुमारोंका विवाह उनकी वैदिक और

सैनिक शिक्षाके अनन्तर होता था। राजालोग मृगया, संगीत, नृत्य, कथा-वार्ता तथा हास्य-गोष्ठीद्वारा अपना मनोरंजन करते थे।

राज-प्रासाद

राजाका महल 'राजवेश्म' कहलाता था। उसमें कई मंजिलें होती थीं। उसे 'विमान' भी कहते थे। उसकी स्थिति नगरके मध्यमें होती थी। महलसे नगरको जानेवाले मार्ग 'राजमार्ग' कहलाते थे। इन मार्गोंपर धनिकोंके मकान, दूकानें तथा बाजार होते थे। महलोंमें कई चौक होते थे, जिनमें अलग-अलग द्वार होते थे। अयोध्याके राज-प्रासादमें पाँच चौक थे। आरम्भके तीन चौकोंको रथसे पार किया जा सकता था। शेष दोमें पैदल चलना पड़ता था।

राजाका व्यक्तिगत निवासस्थान या रनिवास 'अन्त:पुर' कहलाता था। अन्त:पुरमें तीन कक्ष्याएँ होती थीं। बाह्य-कक्ष्यामें राजाकी सभा लगती थी, जहाँ बैठकर वे अपना सार्वजनिक कार्य करते थे। मध्य कक्ष्यामें राजा अपने भाइयों, गुप्तचरों और मन्त्रियों आदिके साथ गुप्त मन्त्रणा किया करते थे। अन्तिम कक्ष्यामें राजाकी रानियाँ रहती थीं, जहाँ राजा, स्त्री-अनुचरों, नपुंसकों तथा द्वाराध्यक्षोंके अतिरिक्त किसीको प्रवेश करनेकी अनुमति नहीं थी। इसी कक्ष्यामें रानियोंके मनोरंजनार्थ एक अशोकवाटिका लगी रहती थी। स्त्रियाँ बाह्य और मध्य कक्ष्यामें नहीं होती थीं। राजमहलके द्वारपालको महलमें प्रवेश करनेवालोंपर कड़ी निगाह रखनी पड़ती थी, जिससे धूर्त अथवा शत्रुके चर अंदर न आ सकें। राजकुमारोंके लिये अलग निवासस्थान बनाये जाते थे। दशरथके सभी राजपुत्र अपने पृथक् और समृद्ध राजमहलोंमें रहते थे। (**स्वं स्वं गृहं कुबेरभवनोपमम्** १। ७७। १४)

राजाके कर्तव्य

राजाको व्यक्तिगत हितकी अपेक्षा जनहितका विशेष ध्यान रखना पड़ता था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—राजा सगरको अपनी जनताके कल्याणके लिये अपने दुष्ट पुत्रको निर्वासित कर देना पड़ा था। श्रीरामने प्रजाकी प्रसन्नताके लिये अपनी प्रियभार्या सीताका परित्याग कर दिया। राजाको जनमतके समक्ष झुकना पड़ता था।

राजा समस्त देशका संरक्षक था। धर्मानुसार न्यायवितरण करना उसका कर्तव्य था। उसका यह एक लक्ष्य था कि चारों वर्ण स्वकर्मनिरत हैं या नहीं। प्रजा राजाको अपनी आयका छठा भाग (बलिषड्भाग) कर-रूपमें देती थी। बदलेमें राजापर दुष्टोंके दमन और साधुओंके रक्षणका भार आ पड़ता था। यदि राजा दण्ड देनेमें प्रमाद कर जाय तो उसे दूसरोंके किये हुए पाप भी भोगने पड़ते हैं।

दशरथके अनुसार राजाको काम और क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले दुर्व्यसनोंका सर्वथा त्याग करना चाहिये; स्वयं जाँच-पड़तालकर तथा गुप्तचरोंद्वारा पता लगाकर समुचित न्याय करना चाहिये; मन्त्री, सेनापति आदि अधिकारियों तथा समस्त प्रजाको प्रसन्न रखना चाहिये तथा भण्डारघर और शस्त्रागारमें उपयोगी वस्तुओंका विशाल संग्रह रखना चाहिये। राजाका आचार-व्यवहार आदर्श होना चाहिये; क्योंकि प्रजा राजाके पदचिह्नोंका ही अनुसरण करती है। वालीके अनुसार इन्द्रियनिग्रह, मनका निग्रह, क्षमा, धर्म, धैर्य, पराक्रम और अपराधियोंको दण्ड देना—ये राजाके गुण हैं। राजाओंको स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिये। नीति और विनय, दण्ड और अनुग्रह—इनका अविवेकपूर्वक उपयोग करना उनके लिये उचित नहीं है। उन्हें अनावश्यक हिंसा नहीं करनी चाहिये; एकके अपराधके लिये अनेकका संहार अनुचित है। उन्हें न्यायप्रिय और लोकप्रिय बनना चाहिये। राजकाजमें राजाको सक्रिय योग देना चाहिये। जब सुग्रीवने राज्यका कार्य मन्त्रियोंको सौंप दिया और उनके कार्योंकी स्वयं देखभालतक नहीं करने लगे, तब हनुमान्ने उपालम्भ देकर उन्हें सचेष्ट किया था।

राजाका दैनिक कार्यक्रम क्या होना चाहिये, इसका उदाहरण श्रीरामकी दैनिकचर्यासे प्राप्त होता है। प्रतिदिन सूर्योदयसे पूर्व वन्दिगण आकर स्तुति और संगीतद्वारा राजाको जगाते थे। उठनेके पश्चात् राजा स्नान करते, वस्त्राभूषण धारण करते तथा कुलदेवता, पितरों और विप्रोंकी पूजा करते थे। तत्पश्चात् श्रीराम बाह्य कक्ष्यामें जाकर सार्वजनिक कार्योंको निपटाते थे। यहाँ वे अमात्यों, पुरोहितों, सैनिक अधिकारियों, जानपदों, सामन्त राजाओं, ऋषियों तथा पौरवर्गोंके साथ सभाका कार्य-संचालन करते थे। पौरकार्यमें व्यस्त न होनेपर मुनियोंके धर्म-प्रवचनोंका श्रवण करते थे। अपराह्नका समय श्रीराम अपने अन्त:पुरके अशोकवनमें सीताके साथ व्यतीत करते थे। दिनके शेष समयमें वे मध्यकक्ष्यामें गुप्तचरों आदिके साथ महत्त्वपूर्ण मन्त्रणा करते थे।

राजाको ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि उसके दर्शनार्थी सभी वर्ग उससे सरलतापूर्वक मिल सकें। स्त्री-पुरुष सभीको अपनी शिकायतें कहनेके लिये राजाके पास प्रातःकाल आनेका अवसर मिलना चाहिये। प्रतिदिन राजाको राजोचित वेश-भूषामें सभागृहमें बैठकर जनताको दर्शन देना चाहिये।

अपनी प्रजाके दोषों और पापोंके लिये राजा ही उत्तरदायी था। राजाको दूसरोंसे दान लेनेका अधिकार नहीं था। लोकापवादका भय राजाओंको अनाचारमें प्रवृत्त होनेसे रोकता था। राजकीय कार्योंमें वे वंशगत परम्पराओं और सस्कारोंद्वारा नियन्त्रित रहते थे। अपनी अनुपस्थितिमें राजाको देशकी शासन-व्यवस्थाका समुचित प्रबन्ध कर देना चाहिये। शम्बूककी खोजमें जानेसे पहले श्रीरामने लक्ष्मण और भरतको अयोध्याका शासन-भार सौंप दिया था। राजाकी आज्ञा बिना युवराजको नगर छोड़नेका अधिकार नहीं था। वृद्ध हो जानेपर राजा अपने ज्येष्ठ पुत्रको राज्यभार सौंपकर स्वयं वानप्रस्थ स्वीकार कर लेते थे। अवसर-ग्रहणकी आज्ञा सभासे प्राप्त करनी पड़ती थी। अयोध्याकाण्डके १०० वें सर्गमें श्रीरामने भरतको राजधर्मका सारगर्भित उपदेश दिया है।

आदर्श शासन-प्रबन्ध

आदर्श शासन-प्रबन्धके अन्तर्गत देशकी समृद्धि होनी स्वाभाविक ही थी। राजा दशरथके शासनकालमें सारे अयोध्यावासी प्रसन्न, धर्मात्मा, धन-धान्यसम्पन्न तथा निर्लोभी थे। वे नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित रहते, मालाएँ और अंगराग धारण करते तथा बहुमूल्य खाद्य और पेय पदार्थोंका सेवन करते थे। अपवित्र अन्न भोजन करनेवाला, दान न देनेवाला तथा मनका निग्रह न करनेवाला मनुष्य तो वहाँ कोई दिखायी ही नहीं देता था। अयोध्यापुरीमें एक भी मनुष्य ऐसा नहीं था, जो अग्निहोत्र और यज्ञ न करता हो। क्षुद्र, चौर, दुराचारी अथवा वर्णसंकरका तो वहाँ नाम भी नहीं था। सभी मनुष्य स्त्री, पुत्र और पौत्र आदि परिवारके साथ सुखसे रहते थे।

रामराज्यका वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस समय विधवाओंका विलाप नहीं सुनायी पड़ता था, सर्पादि दुष्ट जन्तुओंका भय नहीं था, रोगोंकी आशंका नहीं थी, कोई चोर नहीं था, पापका कोई स्पर्श भी नहीं करता था तथा बूढ़ोंको बालकोंके अन्त्येष्टि-संस्कार नहीं करने पड़ते थे। सभी लोग प्रसन्न थे, सभी धर्मपरायण थे तथा श्रीरामको देखते हुए एक-दूसरेको कष्ट नहीं पहुँचाते थे। उस समय लोग दीर्घजीवी और पुत्र-पौत्रसम्पन्न होते थे तथा उन्हें किसी प्रकारका रोग या शोक नहीं होता था। वृक्षोंकी जड़ें मजबूत होती थीं और वे सर्वदा फल-फूलोंसे लदे रहते थे। मेघ इच्छा होते ही वर्षा करते थे और वायु सुखकारी होकर प्रवाहित होता था। सब लोग अपने-अपने कर्मोंसे सन्तुष्ट रहकर उन्हींका आचरण करते थे। सारी प्रजा सुखी, सन्तुष्ट और पुष्ट थी। दुर्भिक्षका भय नहीं था। स्त्रियाँ सदा सुहागिनी और पतिव्रता थीं। आग लगनेका किंचित् भी भय नहीं था। कोई प्राणी जलमें नहीं डूबता था। वात, ज्वर या क्षुधाका डर नहीं था। सभी नगर और राष्ट्र धन-धान्यसे सम्पन्न थे।

सभा

रामराज्यकी लोकसभाको परिषद्, समिति, संसद् या केवल सभा कहते थे। उसका महत्त्व बहुत-कुछ आधुनिक ऐसेम्बलीके ही समान था। सभाका अध्यक्ष राजा स्वयं होता था या उसकी अनुपस्थितिमें राजपुरोहित। सभापतिका आसन राजासन, परमासन या धर्मासन कहलाता था। सभाके सदस्य, जो प्रजाके विभिन्न वर्गोंके प्रतिनिधि होते थे, प्रकृति, सभासद् या आर्यमिश्र कहलाते थे। आर्य या आर्यमिश्र नामसे उन्हें सम्बोधित किया जाता था। नगर और ग्राम दोनोंका प्रतिनिधित्व करनेवाली सभा पौरजानपद (सभा) कहलाती थी।

सभामें सरकारी और गैर-सरकारी दो प्रकारके सदस्य होते थे। सरकारी सदस्योंमें अमात्यगण अथवा मन्त्रिमण्डलके सदस्य होते थे तथा गैर सरकारी सदस्योंमें नगर और राष्ट्रके प्रतिनिधि होते थे। राजधानीके प्रतिनिधि 'पौर' थे तथा राष्ट्रके प्रतिनिधि 'जानपद' थे। पौर-जानपदोंमें 'नैगम' और 'श्रेणीमुख्य' भी सम्मिलित थे। 'नैगम' व्यापारी संघोंके प्रतिनिधि थे तथा 'श्रेणीमुख्य' नगर-स्वायत्त-समितियोंके अध्यक्ष थे। पौरों और जानपदोंके लिये राजधानीमें पृथक् निवासस्थान बने थे। यद्यपि रामायणमें यह स्पष्ट नहीं कहा गया है कि पौर और जानपद सरकारद्वारा नियुक्त होते थे या जनताद्वारा चुने जाते थे, फिर भी **'नैगमाः' 'ग्रामघोषमहत्तराः', 'श्रेणीमुख्याः', 'गणवल्लभाः', 'जनमुख्याः',** जैसे नामोंसे किसी-न-किसी प्रकारका चुनाव ध्वनित होता है।

वर्णों, हितों तथा प्रदेशोंकी दृष्टिसे भी सभामें प्रतिनिधित्वकी सूचना मिलती है। ब्राह्मण वर्ण और

आध्यात्मिक हितोंके प्रतिनिधि पुरोहित और ब्राह्मण मुनि हुआ करते थे। वैश्यवर्ण और आर्थिक हितोंका प्रतिनिधित्व राजधानीकी ओरसे नैगम और गणवल्लभ (व्यापारिक श्रमिकसंघोंके प्रतिनिधि) तथा प्रान्तोंकी ओरसे '**ग्रामघोषमहत्तरा:**' (किसानों और ग्वालोंके प्रतिनिधि) करते थे। क्षत्रिय वर्ण और सैनिक हितोंका प्रतिनिधित्व सामन्तराजा, राजन्यवर्ग, सेनापति तथा बलाध्यक्ष करते थे। इस प्रकार सभाके सदस्य सम्भवत: सभी द्विज थे। शूद्रोंकी उपस्थितिका कोई संकेत नहीं मिलता। राजा स्वयं ही उनका हितरक्षक था। प्रादेशिक दृष्टिसे सारा देश दो भागोंमें बाँट दिया गया था—पौर (राजधानी) और राष्ट्र अथवा जनपद (शेष प्रदेश)। जब दशरथने युवराजका चुनाव करनेके लिये अपनी सभाका अधिवेशन बुलाया, तब उन्होंने सामन्त राजाओं, राजधानी और प्रान्तीय नगरोंमें रहनेवाली प्रजा तथा जनपदवासियोंके प्रतिनिधियोंको आमन्त्रित किया था।

सभाका यह अधिकार था कि वह राजाके ज्येष्ठ पुत्रको या अन्य किसीको उसका उत्तराधिकारी चुने। सभासदोंको अपना-अपना पृथक् चुनाव-अधिकार किसी एक सभासद्को भी सौंप देनेका अधिकार था, जिसकी नैतिकतामें उनका दृढ़ विश्वास था। दशरथकी मृत्युके पश्चात् बुलायी गयी सभाके सदस्योंने उत्तराधिकारी चुननेके अपने अधिकार वसिष्ठको सौंप दिये थे। सामान्यत: शासनसम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंपर—जैसे राजा या युवराजके चुनाव, युद्धकी घोषणा, राजाके राज्यत्याग या अवसरग्रहणपर—सभाका अधिवेशन बुलाया जाता था। सभासदोंको उपस्थित होनेकी सूचना सन्देशवाहकों या भेरीवादकोंके द्वारा पहुँचायी जाती थी। सभापति और सभासद् उत्तमोत्तम वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर आते थे। बैठनेके आसन न्यायानुसार लगाये जाते थे। सारे सभासद् राजाकी ओर मुँह करके बैठते थे। सभामें समुचित शिष्टाचारका पालन आवश्यक था। भाषणकी अनुमति मिलनेपर ही सभासद् सभाको सम्बोधित करते थे। सभाके आदर्शके अनुसार 'वह सभा सभा नहीं, जहाँ वृद्ध न हों; वे वृद्ध वृद्ध नहीं, जो धर्मयुक्त बात न कहते हों; वह धर्म धर्म नहीं, जो सत्य न हो और वह सत्य सत्य नहीं, जो निश्छल और स्वत: प्रेरित न हो।'

मन्त्रिपरिषद्

मन्त्रिपरिषद्के दो भाग थे—(१) अमात्यमण्डल, जिसके सदस्य अमात्य या सचिव कहलाते थे। प्रत्येकके अधिकारमें एक विभाग था। अमात्यगण सम्भवत: क्षत्रिय वर्णके थे। इनका कार्य दैनिक शासनकार्यका संचालन करना था। (२) मन्त्रिमण्डल, जो '**गुरव:**' भी कहलाते थे। यह एक परामर्शदात्री समिति थी, जो किसी कार्यविशेषपर आमन्त्रित की जाती थी। इसके सदस्य ब्राह्मण थे। अन्तर्वर्ती कालमें ये '**राजकर्तार:**' (King-makers) का कार्य करते थे। दशरथके अमात्यमण्डलमें धृष्टि, जयन्त, विजय, सिद्धार्थ, अर्थसाधक, अशोक, मन्त्रपाल और सुमन्त्र थे तथा मन्त्रिमण्डलमें सुयज्ञ, जाबालि, कश्यप, गौतम, मार्कण्डेय, कात्यायन तथा ऋत्विग्द्वय वसिष्ठ और वामदेव थे। अमात्यमण्डल और मन्त्रिमण्डल दोनों सम्मिलितरूपसे मन्त्रिपरिषद् कहलाते थे।

दशरथके अमात्यगण मन्त्रके तत्त्वको जाननेवाले और बाहरी चेष्टा देखकर ही मनके भाव समझ लेनेवाले थे। वे बड़े यशस्वी और गुणवान् थे, सदा ही राजा-प्रजाके प्रिय और हितमें लगे रहते थे। उनके स्वभाव और विचार बहुत शुद्ध थे तथा राजकीय कार्योंमें वे निरन्तर संलग्न रहा करते थे। दशरथके मन्त्रिगण परम्परागत थे। उनमेंसे कोई ऐसा नहीं था, जो काम, क्रोध या स्वार्थके वशीभूत होकर कभी असत्य बोलता हो। अपने या शत्रुपक्षके राजाओंकी कोई भी बात उनसे छिपी नहीं रहती थी। दूसरे राजा क्या करते हैं, क्या कर चुके हैं और क्या करना चाहते हैं—ये सभी बातें उन्हें गुप्तचरोंके द्वारा मालूम रहती थीं। वे सभी व्यवहारोंमें कुशल थे। उनके सौहार्दकी अनेक अवसरोंपर परीक्षा हो चुकी थी। वे मौका पड़नेपर अपने पुत्रको भी उचित दण्ड देनेमें नहीं हिचकते थे और अपराध न होनेपर शत्रुकी भी हिंसा नहीं करते थे। सबमें शौर्य और उत्साह था। सभी राजनीतिके अनुसार काम करते और अपने राज्यके भीतर रहनेवाले सत्पुरुषोंकी रक्षाके लिये सदा उद्यत रहते थे।

मन्त्रियोंका यह कर्तव्य था कि राजाको कुपथगामी बननेसे बचायें। अश्वमेध करनेके समय, युवराजको राज्यसे बाहर कार्यवश भेजनेके समय, युवराजके योग्य वधूका चुनाव करते समय, सभाके समक्ष किसी प्रस्तावको रखनेसे पूर्व, युद्ध-घोषणा करनेसे पूर्व तथा अन्य कठिन समस्याओंका हल करनेके समय राजा मन्त्रिपरिषद्से परामर्श करता था। जब एक ब्राह्मणने, जिसका पुत्र असमयमें ही मर गया था, श्रीरामपर

शासन-कुव्यवस्थाका दोषारोपण किया, तब श्रीरामने अपनी मन्त्रिपरिषद्से परामर्श किया था।

आय-व्यय

दशरथके मन्त्रिगण राजकीय कोशको समृद्ध करनेमें बड़े जागरूक रहते थे (**कोशसंग्रहणे युक्ताः** १। ७। ११)। वे ब्राह्मणों और क्षत्रियोंको कष्ट न पहुँचाकर यथोचित धनसे राजाका खजाना भरते थे। दशरथके सिद्धार्थ और अर्थ-साधन नामक मन्त्री आय-व्ययविभागके निरीक्षक थे। राजाकी आयका मुख्य स्रोत '**बलिषड्भाग**' अर्थात् प्रजाकी आयका छठा भाग था। करका भार अत्यधिक नहीं था और न वह कठोरतासे वसूल ही किया जाता था। आयका अन्य स्रोत अधीनस्थ राजाओंसे प्राप्त होनेवाले उपहार थे। श्रीरामको उनके करद राजाओंने घोड़े, सवारियाँ, रत्न, मतवाले हाथी, उत्तम चन्दन, दिव्य आभूषण, मणि, मोती, मूँगे, रूपवती दासियाँ, बकरियाँ, भेड़ें और तरह-तरहके बहुत-से रथ भेंट किये थे। अयोध्याके राजाको उपहार अर्पित करनेवाले राजा तीन प्रकार थे—केवल (जो राज्य नहीं करते थे), अपरान्त (जो विदेशोंके राजा थे) और सामुद्र (जो समुद्रपारके देशोंके शासक थे)। राजाको आयके विविध उपायोंसे तथा व्ययके उचित साधनोंसे परिचित रहना चाहिये (**आयकर्मण्युपायज्ञः संदृष्टव्ययकर्मवित्** २। १। २६)। राजाका धन देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, योद्धा तथा मित्रोंके लिये खर्च होता था।

न्याय और कानून

श्रीरामका शासन परम्परागत राजधर्मके अनुसार होता था। न्याय-वितरणका सर्वोच्च सिद्धान्त यह था कि निरपराध व्यक्तिको दण्ड नहीं मिलना चाहिये; क्योंकि निपराध होनेपर भी जिनको मिथ्या दोष लगाकर दण्ड दिया जाता है, उन मनुष्योंकी आँखोंसे जो आँसू गिरते हैं, वे पक्षपातपूर्ण शासन करनेवाले राजाके पुत्र और पशुओंका नाश कर डालते हैं। राजाको यह ध्यान रखना पड़ता था कि योग्य न्यायाधीशोंद्वारा जाँच कराये बिना कथित अपराधीको दण्डित न किया जाय। चित्रकूटपर श्रीराम भरतसे पूछते हैं कि 'कभी ऐसा तो नहीं होता कि कोई मनुष्य किसी श्रेष्ठ, निर्दोष और शुद्धात्मा पुरुषपर भी दोष लगा दे और शास्त्रज्ञानमें कुशल विद्वानोंद्वारा उसके विषयमें विचार कराये बिना ही लोभ आदिके कारण उसे दण्ड दे दिया जाय? जो चोरीमें पकड़ा गया हो, जिसे किसीने चोरी करते समय देखा हो, पूछताछसे भी जिसके चोर होनेका प्रमाण मिल गया हो, तथा जिसके विरुद्ध चोरीका माल बरामद होना आदि और भी बहुत-से सबूत हों, ऐसे चोरको भी तुम्हारे राज्यमें धनके लालचसे छोड़ तो नहीं दिया जाता? यदि धनी और गरीबमें कोई विवाद छिड़ा हो और वह राज्यके न्यायालयमें निर्णयके लिये आया हो, तो तुम्हारे मन्त्री धन आदिके लोभको छोड़कर उस मामलेपर विचार करते हैं न?'

न्यायाधीश धर्मपालक कहलाते थे। व्यवहार और धर्मके सम्यक् ज्ञानके कारण ही वे इस पदपर नियुक्त किये जाते थे। सभागृहको ही न्यायालयका रूप दे दिया जाता था, जहाँ बैठकर प्रतिदिन प्रातःकाल राजा स्त्री-पुरुषोंकी शिकायतोंका फैसला किया करता था। अध्यक्ष (राजा) के अतिरिक्त न्यायालयके सदस्य ये हुआ करते थे—पुरोहित वसिष्ठ; धर्मशास्त्रमें पारंगत तथा व्यवहार-निपुण ब्राह्मण मुनि; परम्परा और लोकाचारके ज्ञाता, वृद्ध और अनुभवी ऋषिगण; 'व्यवहारज्ञ' और 'धर्मपारग' मन्त्रिगण, क्षत्रिय अमात्यगण; सभाके नीतिज्ञ सभ्य; नैगम तथा राजाके भाई। अपनी-अपनी शिकायतें लानेवाले कार्यार्थी कहलाते थे।

अविलम्ब न्यायप्राप्ति ही आदर्श न्याय-व्यवस्थाका लक्षण है। राजा नृगने अपने द्वारपर दो ब्राह्मण कार्यार्थियोंको बहुत देरतक ठहरा रखा और अपने सामने नहीं आने दिया। इस अपराधके लिये नृगको शापका भागी बनना पड़ा। श्रीरामके पूर्वज राजा निमि उस समय सो रहे थे, जब वसिष्ठ अपनी शिकायत सुनाने उनके यहाँ आये थे। न्यायालयमें तुरंत प्रवेश न पानेपर वसिष्ठने राजाको शाप दे दिया। श्रीरामके न्याय-शासनकी विशेषताएँ ये थीं—सरलतापूर्वक, किसी व्ययके बिना न्यायप्राप्ति; पेशेवर वकीलों, कोर्टफीस तथा जटिल नियमोंका अभाव; राजाद्वारा व्यक्तिगत रूपसे न्यायका वितरण, राजाके समीप पहुँचनेकी सुविधा; अविलम्ब और निष्पक्ष न्यायप्राप्ति और इस कारण लोगोंद्वारा एक दूसरेके अधिकारों और स्वत्वोंका सम्मान तथा फलस्वरूप न्यायालयमें कार्यकी अत्यल्पता।

राजमार्गोंकी व्यवस्थाके लिये पुलिसका प्रबन्ध था। हनुमान्ने लंकामें डंडे लिये कई व्यक्तियोंको रखवाली करते हुए देखा था। इन्हें '**दण्डायुधधराः**' कहा गया है, जो आधुनिक अर्थमें पुलिसका पर्यायवाची है। लंकाविजयके बाद जब श्रीराम अयोध्या लौटे, तब

भरतने रास्तोंमेंसे भीड़को हटानेके लिये सैकड़ों आदमियोंको तैनात करनेका शत्रुघ्नको आदेश दिया था। स्पष्टतः यह संकेत यातायातके वाहनोंकी सुव्यवस्थाके लिये नियुक्त पुलिस कर्मचारियोंकी ओर ही है। पुलिसके अतिरिक्त एक गुप्तचर-विभाग भी काम करता था।

स्वायत्तशासन—म्युनिसिपैलिटी

नगरोंका स्वायत्तशासन कई स्थानीय समितियोंके सुपुर्द था—जैसे 'गण' (Trade-unions) और उनके सभापति 'गणवल्लभ', 'नैगम' जैसे व्यापार-संघ और उनके सभापति 'नैगमवल्लभ' तथा 'पौर' और 'श्रेणीमुख्य' जैसी स्वायत्तसमितियाँ। राजधानीकी नगर-व्यवस्था 'पौर' समितिके अधीन थी। नगर-व्यवस्थाको 'पौरकार्य' कहते थे। अपने विवाहके बाद श्रीराम पौरकार्यमें दशरथकी सहायता करते थे। राजा या युवराज ही नगर-प्रबन्ध-समितिका अध्यक्ष होता था। क्षत्रिय सैनिक अधिकारी, वैश्य व्यापारी, विभिन्न उद्योग-धंधोंमें लगे कारीगर, राजाकी उदारतापर निर्वाह करनेवाले कतिपय ब्राह्मण, सेवाकार्यमें संलग्न शूद्र तथा दासलोग ही अयोध्याकी जनसंख्याके मुख्य अंग थे। नगर-प्रबन्ध-समितिके कार्य ये थे—नगर-संनिवेश, राजमार्गोंकी देख-रेख, मरम्मत और छिड़काव; नगरमें जलकी व्यवस्था (अयोध्यामें शुद्ध, मधुर और स्वच्छ जल प्रचुरमात्रामें उपलब्ध था; जलप्राप्तिके स्रोत सरित्, नदी, नद, प्रस्रवण, निर्झर, वापी, कूप, तटाक, पल्वल, सरस्, उद्भेद और नलिनी थे); नगरमें प्रकाशके लिये दीपों और दीप-वृक्षोंकी व्यवस्था, यातायात (Traffic) का नियन्त्रण उत्सवोंके अवसरपर नगरकी सजावट, उद्यान लगाना और उनकी व्यवस्था आदि।

युद्धके नियम

सैनिक-विभागकी व्यवस्था राजा स्वयं मन्त्रियोंकी सहायतासे करता था। दशरथके मन्त्रियोंको **'दृढविक्रमाः', 'युक्ता बलस्य च परिग्रहे'** और **'वीराः'** कहा गया है। सम्भवतः सैनिक मामलोंमें मन्त्रियोंका संयुक्त उत्तरदायित्व था। युद्ध या शान्तिकी घोषणा करनेका अन्तिम अधिकार राजाको ही था।

तत्कालीन नगर दुर्गोंके रूपमें बनाये जाते थे। ये दुर्ग सभी प्रकारके शस्त्रास्त्रों, आक्रमण-प्रत्याक्रमणके साधनों तथा कूटागारों (तहखानों, तिलस्मों) से युक्त थे। दुर्ग चार प्रकारके होते थे—नादेय (समुद्र या नदीसे घिरा हुआ, जैसे लंका), पार्वत (पहाड़ियोंसे घिरा हुआ, जैसे किष्किन्धा), वन्य (घने जंगलसे घिरा हुआ, जैसे लंका) और कृत्रिम (चहारदीवारी तथा खाईसे घिरा हुआ—जैसे अयोध्या, लंका और सांकाशी)।

सेनाके चार भाग होते थे—पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथी। इसीलिये वह 'चतुरंगबल' कहलाती थी। सैनिकोंकी श्रेणियाँ भी चार प्रकारकी थीं—मित्रबल (मित्र राजाओंके सैनिक), आटवीबल (जंगली जातियोंके सैनिक), मौलबल (वंशपरम्परागत सैनिक) (Standing army), भृत्यबल (वैतनिक सैनिक)और द्विषद्बल (शत्रुको छोड़कर आये हुए सैनिक)। युद्धमें प्रयुक्त होनेवाला रथ सांग्रामिक रथ कहलाता था। आवागमनका मार्ग, तम्बू, पुल आदि बनानेवालोंका एक दल सेनाके आगे जाया करता था। खाद्यसामग्री तथा अन्य आवश्यक सामग्री एक अन्य दलके सुपुर्द थी। सेनाके पीछे व्यापारी, सैनिकोंकी स्त्रियाँ, दासवर्ग आदि रहते थे।

रामराज्यके आदर्श सैनिकसे वेदों और अस्त्रोंका ज्ञान अपेक्षित था। हाथी, रथ और घोड़ेपरसे युद्ध करनेकी उसे शिक्षा दी जाती थी। साम, दान, दण्ड और भेदसे उसे अभ्यस्त रहना पड़ता था। अयोध्या, किष्किन्धा और लंकाके सैनिक प्रायः विवाहित थे। विवाहित सैनिकोंसे सेनाकी स्थिरता बनी रहती थी; क्योंकि गृहस्थ सैनिक देश और राजाके लिये ही नहीं, अपने परिवारके लिये भी शत्रुका सामना करनेके लिये उद्यत रहेंगे। सैनिकोंको दान, मान और प्रसादद्वारा प्रसन्न और सन्तुष्ट रखा जाता था। श्रीरामने भरतसे पूछा था कि 'सैनिकोंको देनेके लिये नियत किया हुआ समुचित वेतन और भत्ता तुम समयपर दे देते हो न? देनेमें विलम्ब तो नहीं करते? यदि समय बिताकर भत्ता और वेतन दिये जाते हैं तो सैनिक अपने स्वामीपर बहुत असन्तुष्ट रहते हैं और इसके कारण बहुत अनर्थ हो जाता है।' लंकाके सैनिकोंके घर बड़े समृद्धिपूर्ण और वैभवशाली थे।

युद्धके नियम आदर्श थे। युद्धसे पराङ्मुख होकर भाग जाना अपनी कीर्तिमें बट्टा लगाना था और राजाके हितार्थ युद्धभूमिमें प्राण त्याग करना बड़ा पुण्योत्पादक था। स्त्रियों, युद्धमें सक्रिय भाग न लेनेवालों (भयके मारे छिप जानेवालों) तथा शान्तिकी याचना करनेवालोंको मारना पापपूर्ण था। किंतु युद्धका आमन्त्रण स्वीकार करना प्रत्येक स्वाभिमानीके लिये अनिवार्य था। अकारण ही किसीपर वार करना वीरताके नियमोंके विपरीत था। भागते हुए व्यक्तिकी पीठपर वार करना निन्दनीय क्रूरता

थी। किसी अन्य व्यक्तिसे युद्धमें संलग्न पुरुषको मार डालना सैनिक नियमोंका भंग करना था। नीलके साथ लड़ते हुए रावणपर वार करना हनुमान्ने अनुचित समझा। मदविह्वल, सोते हुए, शस्त्रास्त्रोंसे हीन, थके हुए, नशमें चूर या स्त्रियोंसे घिरे हुए शत्रुपर वार करना अनुचित था अर्थात् शत्रुकी कमजोरियोंसे लाभ उठाना अनुचित था। जब रावण थक गया तो श्रीरामने उसे घर लौट जाने और विश्रामके पश्चात् नये रथमें नया धनुष लेकर आनेके लिये कहा था। विजयके बाद विजेताका यह कर्तव्य था कि वह विजित प्रदेशमें स्थायी शासन-व्यवस्था कर जाय। दूतको अवध्य माना जाता था।

उपसंहार

उपर्युक्त पङ्क्तियोंमें रामराज्यका संक्षिप्त राजनीतिक चित्रण किया गया है। इससे पता चलता है कि उस समयके राजनीतिक सिद्धान्त एक सुसंस्कृत और समुन्नत राज्यके सर्वथा अनुरूप थे तथा उस समयकी शासन-व्यवस्था पिछड़ी हुई न होकर बड़ी ही उन्नत, व्यवस्थित, न्यायपूर्ण और धर्मसंगत थी। रामायणकालीन शासन-व्यवस्था वैदिक राजनीतिका ही एक विकसित और परिष्कृत स्वरूप थी। रामराज्यमें प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओंके महत्त्वको भलीभाँति समझ लिया गया था, जैसा कि तत्कालीन सभा तथा पौर और जानपद समितियोंके अस्तित्वसे प्रकट है। ये संस्थाएँ राजाके निरंकुश शासनपर प्रतिबन्धस्वरूप थीं।, स्वायत्त-शासनके भी चिह्न उस कालमें पर्याप्त दृष्टिगोचर होते हैं। रामराज्यमें सदाचार, निष्कपटता, न्यायप्रियता, वैभव, सुख, समृद्धि आदिकी जो प्रधानता दीख पड़ती है, तथा अपराध, वर्ग-द्वेष, अशान्ति, कोलाहल, दुःख, शासकवर्गके प्रति असन्तोष आदिकी जो शून्यता या अल्पता पायी जाती है, वह आजके इस वैज्ञानिक युगमें भी एक परम अनुकरणीय आदर्शरूपमें हमारे सम्मुख चिरप्रतिष्ठित है।

रामराज्य

(श्रीशान्तिदेवीजी शुक्ल)

रामराज्यका सर्वप्रथम लक्षण श्रीरामजीकी कृपासे यही होना आवश्यक है कि किसी भी प्राणीको रामराज्यमें दैहिक, दैविक तथा भौतिक ताप न व्यापे।

इस समय भी महात्मा गांधीका रचा हुआ भारतमें एक रामराज्य कहा जाता है। महात्मा गांधीके सिद्धान्तानुसार सर्वत्र भारतमें सत्य, अहिंसा, प्रेम तथा न्यायका आचरण होना चाहिये; परंतु ऐसा रामराज्य बिना भगवान्की कृपाके हो नहीं सकता। इस समय महात्मा गांधीका प्रत्यक्ष 'सत्संग' नहीं है। बिना सत्संगके विवेक हो नहीं सकता। सत्संग तथा विवेक प्राप्त होनेके लिये रामकृपाकी आवश्यकता होती है। महात्मा तुलसीदासजी अपने रामचरितमानसमें लिखते हैं—

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

देश-भक्तिकी शिक्षा हमें डाक्टर बाटनसे मिलती है। उसने बादशाह शाहजहाँकी राजकुमारीकी ओषधि करके उसे आराम किया और बादशाहसे अंग्रेजोंके लिये बिना रोक-टोक व्यापार करनेकी आज्ञा प्राप्त की। अवधप्रान्तके ग्रामोंमें चोरी, डकैती, कत्ल, व्यभिचार, अनाचार, अत्याचार प्रायः हुआ ही करते हैं। ग्रामवासियोंका जीवन अशान्ति, दुःख, चिन्ता और बड़े कष्टसे बीत रहा है। इस बीसवीं शताब्दीमें अन्नका भाव ग्रामीण बाजारोंमें एक रुपयेका सात पाव है। अशुद्ध घी एक रुपयेका ढाई छटाक मिल रहा है और सरसोंका तेल अशुद्ध एक रुपयेका छः छटाक बिकता है। एक साधारण धोती-जोड़ा या साड़ी खरीदनेमें करीब नौ रुपयेसे कम नहीं लगते। जूता भी करीब नौ या दस रुपयेका मिलता है। एक छातेके लिये करीब नौ या दस रुपये देने पड़ते हैं। निम्न श्रेणीका स्वार्थ तो इतना बढ़ गया है कि आज पत्नी पतिका, भाई भाईका और पुत्र अपने पिताका घृणित अनिष्ट करनेमें जरा भी नहीं हिचकते।

सत्य, शौच, दया और दानके स्थानपर हिंसा, द्यूत, स्त्री-संग, मद्यपान तथा धनके लोभका आचरण लोग करते हैं।

रामराज्यमें कोई दुखी और दरिद्र नहीं होता और न कोई मूर्ख और शुभ लक्षणोंसे रहित होता है। रामराज्यकी विशेषता यह होनी चाहिये कि जड-चेतन सारे जगत्में काल, कर्म, स्वभाव और गुणोंसे उत्पन्न हुए दुःख किसीको भी न प्राप्त हों—इनके बन्धनमें कोई नहीं रहे।

रामराज्यमें सभी प्राणी दम्भरहित और धर्मपरायण

एवं पुण्यात्मा होते हैं। स्त्री पुरुष सभी चतुर तथा गुणवान् होते हैं। रामराज्यके निवासी प्रायः सभी पण्डित और ज्ञाननिष्ठ, साथ ही सरलहृदय होते हैं। कपटपूर्ण चतुराई तथा धूर्तता किसीमें नहीं होती। सब पुरुषोंमें परस्पर निःस्वार्थ प्रीति और सात्त्विक नीतिका बर्ताव होता है और सभी स्त्री-पुरुष परम गतिके अधिकारी होते हैं।

रामराज्यमें सब प्रकारसे सुख-सम्पदा रहती है। रामराज्यके निवासी उदार और परोपकारी प्रकृतिके होते हैं। पुरुष एकपत्नीव्रती होते हैं और स्त्रियाँ मन, वाणी तथा कर्मसे पतिकी सेवा करती हैं। सभी प्राणियोंका मन सहज ही एकाग्र रहता है।

वृक्षोंसे मधु टपकता है। गौएँ मनचाहा दूध देती हैं। धरती सदा खेतीसे भरी रहती है। पर्वतोंसे अनेक प्रकारकी मणियोंकी खानें प्रकट होती हैं। सभी नदियोंमें स्वादिष्ट तथा शीतल जल बहा करता है। समुद्रोंकी लहरोंद्वारा रत्न प्राप्त होते रहते हैं। चन्द्रमासे अमृतमयी किरणें निकलती हैं और पृथ्वीको परिपूर्ण कर देती हैं। मेघोंसे इच्छानुसार जल प्राप्त होता है। रामराज्यमें सदा वसन्त-ऋतुका आनन्द रहता है। सभी प्राणी परमात्माका स्मरण करते रहते हैं। बाजारोंमें वस्तुएँ बिना ही मूल्य मिल जाती हैं। रामराज्यके राजा साक्षात् भगवान् लक्ष्मीनारायण ही होते हैं। रामराज्यमें अणिमादि आठों सिद्धियाँ और समस्त सुख-सम्पत्तियाँ प्रकट रहती हैं।

श्रीरामचरितमानसकी चौपाई रामराज्यके सम्बन्धमें इस प्रकार है—

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

यही एक सर्वप्रथम लक्षण रामराज्यका होना आवश्यक है। रामराज्यके बाजारोंमें चीजें बिना मूल्य प्राप्त हुआ करती हैं। रामराज्यकी बाजारका वर्णन इस प्रकारसे महात्मा तुलसीदासने रामचरितमानसमें किया है—

बाजार रुचिर न बनइ बरनत बस्तु बिनु गथ पाइए।

परमात्मा भगवान् श्रीरामकी कृपासे 'भारतमें निरन्तर सच्चा रामराज्य हो, और इस रामराज्यसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंको सदा सब प्रकारकी शिक्षा और दीक्षा प्राप्त होती रहे।

महर्षि महात्मा वसिष्ठने भगवान् श्रीरामको शिक्षा दी थी कि जीवरूपी पक्षीके दो पंख होते हैं—एकसे कर्मका अभ्यास होता है और दूसरेसे ज्ञानका। जीवन सफल बनानेके लिये ज्ञान और कर्मकी आवश्यकता है। रामराज्यके निवासी, अधिकारी तथा संचालक युक्ति और शक्तिसे राज्य-संचालनकार्य करें तो नित्य सफलता प्राप्त रहेगी और सर्वत्र सब प्रकारसे विजय, विभूति, श्री और नीति स्थायीरूपसे रहेंगे।

आध्यात्मिक चिन्तनके बिना मनुष्यको शील प्राप्त नहीं होता। प्रार्थनाहीन जीवनसे कुछ लाभ नहीं होता। बिना ज्ञान और भक्तिके विनीत भावकी प्राप्ति नहीं होती। सुधारक जबतक प्रथम अपने-आपको पूर्ण रीतिसे सुधार नहीं लेता, तबतक दूसरोंको शिक्षा ही क्या दे सकता है। अनुभवहीन तथा अनधिकारी सुधारक एवं शासक संसारका विनाशक होता है। सुधारकों तथा शासकोंको प्रायः अहंकार रहता है अपने कार्योंका और वे यह चाहते रहते हैं कि उनके कार्योंकी सब लोग प्रशंसा करते रहें और उनके आज्ञानुसार चलते रहें। इस अभिमानसे जनसाधारणमें शत्रुता बढ़ती रहती है। अभिमान ही मृत्युका मुख्य कारण हुआ करता है। अहंकारसे ही विनाश होता है। अहंकारयुक्त अधिकारीकी लोक-सेवा लोक-विनाशक हो जाती है। परमहंस स्वामी रामतीर्थ कहा करते थे—जिस क्षण कोई सुधारक बनाता है, उसी क्षण वह लोकविनाशक हो जाता है (The moment you become a Reformer of the world, the very moment you become a Deformer of the world.)। परमात्माकी कृपा और महात्माओंकी दयासे भारतमें अखण्ड रामराज्य स्थापित रहे।

महर्षि वाल्मीकिजीकी उक्ति है—

लोके न हि स विद्येत यो न राममनुव्रतः।

अर्थात् लोकमें ऐसा कोई हुआ ही नहीं, जो रामका अनुगामी न हो।

श्रीमद्भगवद्गीताके अन्तिम सिद्धान्तपर ध्यान देते हुए हमारे वर्तमान शासक सच्चे रामराज्यकी व्यवस्था करें। शासक तथा संसार-सुधारक स्वयं सुख-शान्ति प्राप्तकर अपने देशको सुख-शान्ति और नित्यानन्द परमात्मा श्रीरामकी कृपासे प्रदान करें। यही मेरी विनीत प्रार्थना है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
सत्यमेव जयते। ॐ तत्सत्।

हिंदू-हिंदुस्थान

(रचयिता—श्रीसूर्यबलीसिंहजी 'दशनाम' साहित्यरत्न)

(१)

हम हिंदू हैं, यह हिंदुस्थान हमारा।
हम इसके प्रिय हैं और हमें यह प्यारा॥ टेक॥
हम आदि निवासी आदिकालसे रहते।
हम पहले आर्यावर्त इसे थे कहते॥
हम आर्य-सभ्य हैं, आर्य-सभ्यता रखते।
हम आर्योंका साहित्य-संहिता रखते॥
ऋषि-मुनि-कण्ठोंने एक साथ उच्चारा।
हम हिंदू हैं, यह हिंदुस्थान हमारा॥

(२)

गंगा-यमुना-गोमती-गंडकी-वरुणा।
सरयू-लौहित्या-वेत्रवती-सरि-कृष्णा॥
ताप्ती-करतोया-महानदी-कावेरी।
वेण्या-गोदावरि-शोण, सिन्धु युत-चेरी॥
कहती हैं कलकल कल निनादके द्वारा।
हम हिंदू हैं, यह हिंदुस्थान हमारा॥

(३)

सह्याद्रि-मलय-गिरिनील-महेन्द्राचलवर।
शुभ पारियात्र श्रीऋक्षवान धरणीधर॥
विन्ध्याचल विस्तृत विपुल वृक्ष-वृन्दोंसे।
कैलाश सुमेरु समुच्च शिखर वृन्दोंसे॥
नगराज हिमालय लगा रहा है नारा।
हम हिंदू हैं, यह हिंदुस्थान हमारा॥

(४)

गान्धार दरद काश्मीर पंचनद कोशल।
महिषक कलिंग कर्णाटक केरल कुन्तल॥
सौवीर कच्छ सौराष्ट्र निषध मरु मणिमन।
कुरु औण्ड्र पौण्ड्र प्राग्ज्योतिष मिथिला शोभन॥
सिंहलने श्रृंगीनाद किया स्वीकारा।
हम हिंदू हैं, यह हिंदुस्थान हमारा॥

(५)

नैमिष दंडक द्वैतादि सुरंजन कानन।
कर देते हैं जो तुरत प्रफुल्लित आनन॥
मानसको करता मानसहित सर मानस।
पम्पा भर देता मनमें पुण्य-सुधा-रस॥
निर्झर झरने झर झार झराझर झारा।
हम हिंदू हैं, यह हिंदुस्थान हमारा॥

(६)

मथुरा माया पावन प्रयाग अघनाशी।
सुखदा अवन्तिका पुरी काञ्चिका काशी॥
द्वारिका बदरिका सेतुबन्ध रामेश्वर।
इस युगमें भी है नया धाम कृष्णेश्वर॥
सबसे निस्सृत हो रही यही ध्वनि-धारा।
हम हिंदू हैं, यह हिंदुस्थान हमारा॥

(७)

भाषाओंका अध्ययन किया जाता जब।
साहित्योंका आकलन किया जाता जब॥
धर्माचारोंका मूल लिया जाता जब।
जग-तत्त्वोंको भी शोध लिया जाता जब॥
तब सबका प्रादुर्भाव हमारे द्वारा।
हम हिंदू हैं, यह हिंदुस्थान हमारा॥

(८)

हमने ही इसके लिये कठिन रण ठाना।
इसकी रक्षाका भार लिया सुख माना॥
वह वीर विक्रमादित्य, शकोंका आना।
सिल्यूकसका अभिमान भंग करवाना॥
नृप चन्द्रगुप्तका कण्ठ यही ललकारा।
हम हिंदू हैं, यह हिंदुस्थान हमारा॥

(९)

अन्तिम हिंदू सम्राट प्रबल क्षत्रीने।
थे किये समर घनघोर चन्द कविजीने॥
बाप्पा, साँगाने युद्ध-दाक्ष्य दिखलाया।
यवनोंको करके मर्दित मार भगाया॥
राणा प्रतापसे बजा प्रताप-नकारा।
हम हिंदू हैं, यह हिंदुस्थान हमारा॥

(१०)

फिर वीर शिवाजी हुए तुरंगारोही।
मुगलोंके छक्के छूट गये विद्रोही॥
रच दिया जिन्होंने महाराष्ट्र बलवाला।
चोटी-बेटी रख लिया समूर्ति शिवाला॥
'दशनाम' सुनाते रहो सदा पद न्यारा।
हम हिंदू हैं, यह हिंदुस्थान हमारा॥

चतुर्युग एवं उनके आचार

सृष्टिका आदिकाल कैसा था, इस विषयपर भारतीय एवं पाश्चात्य मान्यतामें मौलिक भेद है। पाश्चात्य वैज्ञानिक मान्यता है कि आदिकालका मनुष्य असभ्य, मूर्ख, जंगली एवं शारीरिक स्वार्थरत था। उसके मनमें अपने स्वार्थकी भावना तथा क्रूरता थी। धीरे-धीरे वह सामाजिक प्राणी हुआ। मनुष्यका ज्ञान, विद्या, बुद्धि, आचार—सब विकसित हुए और होते जा रहे हैं। सभी दिशाओंमें मनुष्यने उन्नति की है। केवल शरीरकी दृष्टिसे मनुष्य प्रथम युगमें अधिक सशक्त था और जैसे-जैसे वह प्रकृतिसे दूर होता गया, उसका जीवन कृत्रिम होता गया और उसकी शारीरिक शक्तिका ह्रास हुआ है।

भारतीय ऋषियोंने इससे सर्वथा भिन्न यह तथ्य प्रकट किया कि नियम सब कहीं समान होते हैं। शरीरका ह्रास तथा मन-बुद्धिका विकास नहीं हुआ। मनका स्वभाव ही निर्मल एवं सद्‌गुणयुक्त है। काम, क्रोध, द्वेष, क्रूरतादि विकार हैं; क्योंकि इनमें दूसरेकी अपेक्षा होती है। विकार किसी भी वस्तुमें क्रमशः आते हैं। मूलमें तो वह शुद्ध ही होती है। अतः आदिमानव शुद्ध, सात्त्विक एवं सद्‌गुण-सम्पन्न था। सरल, दयाशील, त्यागयुक्त था वह। दोष उसमें पीछे आये और बढ़ते जा रहे हैं। इसी प्रकार ज्ञान सीखनेकी वस्तु नहीं। वह तो ईश्वरीय है और सृष्टिके आदिमें मानवको सर्वात्माकी ओरसे प्राप्त होता है। धीरे-धीरे उसमें विस्मृति एवं भ्रान्ति ही आती है। इस प्रकार आदिकालसे मानव एवं समस्त जड-चेतन जगत् शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आचारादि सभी दिशाओंमें ह्रासकी ओर जा रहा है। जगत्‌का ह्रास ही हुआ है।

पाश्चात्य धारणाकी आलोचनाका यह स्थल नहीं। यहाँ तो ऋषियोंने ह्रासकालका जो रूप निर्देश किया है, उसीको स्पष्ट करना है। प्रत्येक पदार्थके ह्रासकी एक सीमा होती है। उस सीमापर पहुँचकर वह परिवर्तित होता है। उसमें स्फोट होता है और तब वह अपने प्रथम स्वरूपमें आ जाता है। जैसे जल मूलमें शुद्ध होता है। धीरे-धीरे विकार आते हैं और फिर सूखकर वह अपने विशुद्ध बाष्प (परमाणु) रूपको प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार जगत्‌के ह्रासकी भी एक सीमा है। उस सीमापर पहुँचकर व्यक्त मूर्त जगत् नष्ट हो जाता है। पुनः आदियुगका क्रम चलता है। जगत्‌के इस ह्रासकालको ऋषियोंने चार भागोंमें विभक्त किया है। इन विभागोंको युग कहते हैं। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। इनमें सत्ययुग सबसे अधिक दीर्घकालीन है और कलियुगका समय सबसे छोटा। विकारका नियम भी यही है। पदार्थमें पहले विकारका बहुत धीरे-धीरे होते हैं। पदार्थकी निजी सत्ता विकारका विरोध करती है। जैसे-जैसे काल व्यतीत होता है, विकारकी गति तीव्र होती जाती है। अन्तमें तो पदार्थकी विकृतिकी गति तीव्रतम हो जाती है। जगत्‌के विकारका भी यह नियम है। अतः सत्ययुगका काल दीर्घ तथा पीछे सब क्रमशः अल्प होते गये हैं। विकारके स्तरोंकी दृष्टिसे ये काल-भाग किये गये हैं। इन युगोंकी परिस्थिति, मनःस्थिति, विचारधारा तथा आचार एवं समाजमें स्पष्ट भेद है। यह भेद ही युगोंके स्वरूपका परिचायक है।

सत्ययुग

आदियुगको शास्त्रोंने सत्ययुग कहा है। इस समय सत्त्वगुण सृष्टिमें प्रधान था। मनुष्यमें त्याग, तप, एकाग्रता, सत्य, अहिंसादि शम-दम स्वभावसे थे। शरीर सुपुष्ट थे। अतः शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे भय नहीं था। मन सम्पूर्ण सबल था। फलतः संकल्पको मूर्त होनेके लिये कोई दूसरी चेष्टा या पदार्थकी आवश्यकता नहीं थी। संकल्प करते ही संकल्प मूर्त (अभीष्ट पदार्थ या स्थिति) बन जाता था। यह आश्चर्यकी बात नहीं है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक एवं संत भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं कि सन्देहहीन विचार (संकल्प) निश्चयपूर्ण होता है। एक पाश्चात्य संतने कहा है—''यदि तुम आल्प्स पर्वतसे कहो—'जा, भूमध्यसागरमें डूब जा!' तो तुम्हारी आज्ञाका पालन होगा। केवल तुम्हें अपनी आज्ञाके पालन होनेमें स्वयं सन्दिग्ध नहीं होना चाहिये।'' सत्ययुगमें सन्देहका मनमें लेशतक नहीं था, फलतः संकल्प पूर्णवीर्य था। शारीरिक भोगोंमें प्रवृत्ति नहीं थी। अन्तर्मुख वृत्ति थी। पृथ्वीपर जनसंख्या कम थी और वन अधिक थे। भूमि, तरु—सब अत्यन्त उर्वर थे। फलतः मनुष्यको आहारादिकी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं थी। संग्रह करनेकी प्रवृत्ति न होनेसे स्थानका प्रश्न

भी नहीं था।

सत्ययुगमें न नगर थे और न ग्राम। मनुष्य वृक्षोंके नीचे या गिरि-गह्वरोंमें रहते थे। वे मूर्ख नहीं—परम ज्ञानी थे। निःस्पृह होनेके कारण उन्होंने समाज नहीं बनाया। क्योंकि मनुष्यमें स्वार्थ, विषयेप्सा, क्रोधादि दुर्गुण नहीं थे। अतः उन्हें नियमबद्ध करनेकी आवश्यकता भी थी। उनके लिये वेदोंके विधि-निषेधका विधान सोचना उपयोगी नहीं था। उस समय मनुष्य शान्त, वैरहीन, सर्वसुहृद् और समदर्शी थे। वे शम-दम-सम्पन्न थे। तपस्यामें उनकी स्वाभाविक रुचि थी। शुक्लवर्ण, जटाधारी, चतुर्भुज, वल्कल पहने, कृष्ण मृगचर्म ओढ़े, यज्ञोपवीत धारण किये, दण्ड एवं कमण्डलुधारी भगवान् श्रीनारायण उस युगके आराध्य थे। भगवान्‌की यह तमोमयी मूर्ति ही उस समयके मानव-स्वभावके अनुरूप थी। हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, अमल, ईश्वर, परमपुरुष, अव्यक्त और परमात्मा—भगवान्‌के ये नाम उस युगमें कीर्तित होते थे। ये भगवन्नाम भी उस युगके मनुष्यकी रुचि एवं मानसिक स्थितिको व्यक्त करते हैं; क्योंकि समाज नहीं बना था, अतः वर्ण एवं आश्रमके धर्म अनादि होकर भी व्यवहृत नहीं हो रहे थे। रक्षा, वाणिज्य एवं सेवाकी आवश्यकता ही नहीं थी। वेदत्रयी अनादि होकर भी उसका तप एवं ज्ञानकाण्ड ही व्यवहारमें आते थे। इसीलिये शास्त्रोंमें उस समय एक ही वर्ण, एक ही आश्रम, तथा एक ही वेदका वर्णन आता है। वेदत्रयी तथा वर्णाश्रम अनादि होनेपर भी व्यवहारमें न आनेसे वहाँ एक कहे गये। सत्ययुगके साधन ध्यान एवं तप रहे।

त्रेतायुग

सत्ययुगके अन्तमें यज्ञ होने लगे थे। विकार काम कर रहे थे। रजोगुण प्रधान होने लगा। मनुष्यके मनमें पहली वासना सम्मान एवं स्वर्गकी जाग्रत् हुई। यज्ञ और दान त्रेताके साधन बने। मनोबल कुछ क्षीण हुआ। अब मनुष्यको संकल्पसिद्धिके लिये यज्ञकी आवश्यकता हुई। यज्ञमें उस समय देवता प्रत्यक्ष हो जाते थे। स्वयं यज्ञेश भगवान् विष्णु प्रकट होते और यजमानकी कामना पूर्ण करते थे। यज्ञके लिये ही मनुष्य संग्रह करते थे। यज्ञ एवं दान ही संग्रहका लक्ष्य था। संग्रह भोगके लिये नहीं किया जाता था। फलतः संचय कार्यतः एवं भावतः पवित्र था। मन निर्मल था और उसमें श्रद्धा थी। यज्ञ करानेवाले ऋषिगण सत्ययुगके समाजके समान ही त्यागी, वासनाहीन, निर्लोभी एवं तपस्वी थे। फलतः यज्ञ सर्वांग-सफल होते थे। वेनके अभिमानने आध्यात्मिक स्तरमें अव्यवस्था उत्पन्न की, फलतः अकाल पड़ा। जनसंख्या बढ़ गयी थी और यज्ञके लिये संग्रहकी प्रवृत्ति हो गयी थी। मनुष्योंमें वह प्रकृतिके द्वन्द्व सहने एवं तपकी शक्ति नहीं थी। परिणामतः जंगलोंपर निर्भर नहीं रहा जा सकता था। महाराज पृथुने, जो आदिनरेश थे, नगर-ग्रामादि बसाये। पृथ्वी समतल करायी और कृषि होने लगी। महाराज पुरूरवाने यज्ञीय अग्निके तीन भाग किये। यज्ञ पुरूरवाके समयसे सकाम होने लगे। उससे पूर्व वे भगवत्प्रीत्यर्थ ही होते थे।

समाज बननेपर नियम भी लागू हुए। वेदत्रयी कार्यशील हुई। वर्णाश्रम-धर्म प्रत्यक्ष व्यवहारमें आया। इस समयतक भी मनुष्यमें शारीरिक भोगेच्छा नहीं आयी थी, फलतः शारीरिक आचारका कठोर नियन्त्रण आवश्यक नहीं था। क्योंकि नियन्त्रणका उद्देश्य शरीर नहीं, मन है। भारतीय संस्कृतिमें मनकी शुद्धि ही सदा सम्मुख रखी गयी है। त्रेतामें मनुष्य स्वभावतः धर्मात्मा थे और वेदोंमें उनकी अविचल श्रद्धा थी। उस समय अरुणवर्ण, चतुर्भुज, तीन सूत्रोंकी मूँजकी मेखला धारण किये, स्वर्णवर्णकी जटा-जूटवाले, वेदात्मा, स्रुक्-स्रुवादि हाथोंमें लिये भगवान् 'यज्ञ' की उपासना यज्ञके द्वारा होती थी। मनुष्योंको उस समय भगवान्‌के विष्णु, यज्ञ, पृश्निगर्भ, सर्वेश्वर, उरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त उरुगाय (उत्तमश्लोक)—ये नाम प्रिय थे।

द्वापरयुग

त्रेताके अन्ततक मनुष्यकी दुर्बलता सभी क्षेत्रोंमें बढ़ गयी। महाराज दशरथके पुत्रेष्टि-यज्ञके लिये शृंगी ऋषिको बुलाना पड़ा और यज्ञके अन्तमें अग्निने ही प्रकट होकर हवि दी। उस समयतक देवताओंका यज्ञमें आना कम हो गया था और स्वयं यज्ञेशभगवान् कदाचित् ही प्रकट होते थे। द्वापर—इस शब्दका अर्थ है सन्देह। तमोगुणका प्रवेश हुआ। मनुष्यके मनमें संदेह, अविश्वासका बीज आ जमा। अविश्वासने संकल्पको हीनवीर्य कर दिया। इस युगमें मनुष्यमें शारीरिक सुखकी वासना आ गयी। कष्टसहिष्णुता एवं त्यागका लोप होने लगा। भोग लक्ष्य हो गया मनुष्यका। अतः सर्वस्व दान करनेवाले

यज्ञ सम्भव नहीं रह गये। भोगेच्छासे संग्रहकी प्रवृत्ति बढ़ी। पदार्थोंका अभाव संग्रह-प्रवृत्तिसे होना ही था; क्योंकि वासनाका तो कहीं अन्त नहीं। पदार्थोंका संचय भोगेच्छुको कभी पर्याप्त प्रतीत नहीं होता। जन-संख्या भी बढ़ गयी थी। इन सबका परिणाम यह हुआ कि संग्रहमें रागके कारण सन्देह उत्पन्न हुआ। उसके क्षयकी आशंका हुई। मनुष्य तब भी धर्मभीरु था। उसका उपार्जन पवित्र था। दूसरेके स्वत्वको अन्यायपूर्वक लेनेकी प्रवृत्ति नहीं थी। अवश्य ही अपने न्यायपूर्ण उपार्जनसे जो वह संचय करता था, उसे उपभोग करना चाहता था; किंतु उसका उपार्जन पवित्र था। मनुष्यमें शरीरसुखकी बहिर्मुखवृत्ति आ गयी थी।

द्वापरमें मनुष्य यज्ञीय त्यागके अयोग्य हो गया। उपार्जनका वह उपभोग करना चाहता था। यज्ञमें सन्दिग्ध मन संकल्पको मूर्त करनेमें बाधक था और उसमें जो नियमादिके कष्ट थे, वे भी सह सके—इतना सक्षम शरीर नहीं रह गया था। भोगेच्छा जाग्रत् हो गयी थी। फलतः उसे नियन्त्रित करना आवश्यक था। द्वापरके लिये शास्त्रकारोंने नियम कठोर किये। इस समयतक भी मनुष्यमें श्रद्धा थी। फलतः द्वापरमें पूजाका विधान हुआ। उपार्जन पवित्र था—न्यायपूर्ण था, हृदयमें श्रद्धा थी; अर्चाके लिये यही आवश्यक होता है। भगवान्‌की सेवाके लिये, भगवान्‌की पूजाके लिये पदार्थोंका उपार्जन एवं संचय किया जाय और भगवान्‌को निवेदित करके उस प्रसादको ग्रहण किया जाय—इसमें लोक-परलोक दोनोंका निर्वाह था। मनुष्यमें तबतक छल, कपट, दम्भ नहीं था। अतएव भगवान्‌के नामपर विषय-सेवन एवं दुर्वासनाओंके पोषणकी आशंका नहीं थी। विशुद्ध श्रद्धा होनेसे भावकी पूर्णता हो जाती थी।

वेदों तथा पांचरात्रादि सात्त्विक तन्त्रोंमें वर्णित विधिसे मनुष्य परम तत्त्वकी प्राप्तिके लिये श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी शंख-चक्र-गदा-पद्म लिये, श्रीवत्सादि चिह्नोंसे युक्त, निखिल-ब्राह्माण्ड-नायक, पार्षदादि-सेवित भगवान् विष्णुकी आराधना करते थे। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चतुर्व्यूहात्मक रूपोंमें उस समय भगवान्‌की आराधना होती थी। नारायण, ऋषिरूपधारी नर, श्रीहरि, पुरुषोत्तम, परमात्मा, विश्वेश्वर, विश्वरूप, सर्वभूतात्मा—ये भगवान्‌के रूप एवं नाम द्वापरमें प्रिय थे। मनुष्य अत्यन्त विस्तृतरूपसे चर्चा करते थे।

कलियुग

द्वापरके अन्तमें सत्त्वगुणका ह्रास प्रायः हो चुका था। रजोगुणमें तमोगुण प्रधानता ग्रहण करने लगा और वह बढ़ता जा रहा है। द्वापरके अन्तमें ही छल, कपट, अन्यायको मनुष्यने अपनाया। शास्त्रोंमें भगवान्‌को त्रियुग बताया गया है। इसका अर्थ है कि कलिमें यज्ञ एवं अर्चाके द्वारा भगवत्प्राकट्य नहीं होता। यह केवल तीन युगोंमें होता है। क्योंकि कलिमें मनमें पाप आनेसे संकल्प नितान्त हीनवीर्य हो गया। वैसे भगवान् कालके वशमें नहीं और न भावपर कालका प्रभाव है। भक्तिके द्वारा भगवान् सदा प्रकट हुए हैं, होते हैं, होंगे। त्रियुगका तात्पर्य केवल संकल्पक्षेत्रतक है, भावभूमिमें नहीं। क्योंकि भावभूमि सदा कालसे अस्पृष्ट है।

कलिका अर्थ है कहल—युद्ध। इस युगके लिये यह नाम कितना सार्थक है, यह हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। परिवारमें, स्वजनोंमें, ग्राममें, जातिमें, प्रान्तोंमें, धर्मोंमें, देशोंमें, रंगीन एंव श्वेत जातियोंमें, वर्गोंमें, सिद्धान्तोंके अनुयायियोंमें—इस प्रकार व्यक्तिसे लेकर सम्पूर्ण विश्वमें प्रत्येक स्थानपर तथा प्रत्येक दृष्टिकोणसे आज कलह व्याप्त है। गृहकलहसे विश्वयुद्धोंकी परम्परा चल रही है और कोई नहीं जानता कि इनका अन्त कहाँ है। यह कलह केवल स्वार्थजनित है। धर्म, सिद्धान्त, जाति, देश, समाज, आदर्श—ये सब बहाने बनाये जाते हैं। यह एक सर्वमान्य स्पष्ट सत्य है कि बड़ी बातोंकी ओटमें सत्ता, शक्ति एवं सम्पत्तिके लिये ही ये संघर्ष चल रहे हैं। सब जानते हैं कि संघर्षसे हानि है—हमारे उसी स्वार्थकी हानि है, जिसके लिये हम प्रयत्नशील हैं; किंतु दूसरा मार्ग ही नहीं दिखायी पड़ता। हम उसी ओर जा रहे हैं। यह कलिका स्वरूप है!

स्वार्थ—शारीरिक स्वार्थ—केवल अपना स्वार्थ मुख्य हो गया। मनोबल, बुद्धिबल, शरीरबल नष्ट हो गया। मनोबलके नाशसे विषयेच्छा बढ़ी। आचार एवं धर्मका ध्यान गया। श्रद्धा-विश्वास समाप्त हुआ। बुद्धिबलके नाशसे विचारहीन प्रवृत्ति हुई। हम सोचतेतक नहीं कि हमारा प्रयत्न किसलिये है और उससे उद्देश्य सिद्ध भी होगा या नहीं। विषय-भोगके लिये उद्योग है और विषय भी दुर्लभ एवं बहुमूल्य होते जा रहे हैं। विश्वके उच्चतम बुद्धिमान् संहारके साधनके अन्वेषणमें

दिन-रात्रि एक कर रहे हैं। शरीरकी दुर्बलतासे रोगोंकी वृद्धि, आयुका ह्रास तथा अनेक कृत्रिम आवश्यकताओंकी वृद्धि हो गयी। फलतः न्याय-अन्यायका प्रश्न ही उठ गया। किसी प्रकार दूसरोंकी आँखमें धूल झोंककर, दूसरोंका गला दबाकर संग्रह करना है—यही उद्देश्य हो गया। इसमें संघर्ष तो अनिवार्य है ही।

पदार्थोंके सम्बन्धमें भावशुद्धिकी बात व्यर्थ है। आज तो सम्पत्ति ही श्रेष्ठताका प्रमाण है। धोखा-धड़ीसे किसी प्रकार सम्पत्तिका उपार्जन ही योग्यता है। आजका संचय प्रायः अन्यायपूर्ण है। स्वरूपतः पदार्थ विकृत हो गये हैं। शुद्धरूपमें किसी पदार्थको प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो गया है। शरीर अल्पप्राण हो गया। लंबे व्रतोंकी तो बात ही दूर, एक दिन निर्जल रहना भी कठिन होता है। मन स्थिर होता ही नहीं। बुद्धि चंचल एवं तर्कदूषित हो गयी है। उसमें तपःस्थैर्य है नहीं। फलतः तप एवं ध्यान हो नहीं सकते, यज्ञके लिये उतने साधन नहीं और हों भी तो भाव-दोष एवं स्वरूपदोषसे दूषित हैं। यज्ञमें जो एकाग्रता तथा तितिक्षा अपेक्षित है, वह भी नहीं। पूजनमें अविचल श्रद्धा एवं शुद्ध सामग्री चाहिये। यज्ञकी भाँति दिनोंकी नहीं तो घंटोंकी एकाग्रता एवं तितिक्षा वहाँ भी अपेक्षित है। यहाँ मन क्षणों भी एकाग्र नहीं रहता। श्रद्धा-विश्वास नहीं रहा सो अलग। ऐसी स्थितिमें अर्चा भी इस युगका साधन नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि इस युगमें कोई यज्ञ, ध्यान, तप, जप, दान, पूजन न करे या कर नहीं सकता अथवा करनेपर वे निष्फल होते हैं। ये परम पवित्र साधन हैं, सदा किये जाते थे और किये जाते हैं। इनके द्वारा महत्फल भी प्राप्त होता ही है। लेकिन गिने-चुने व्यक्ति ही इनको कर पाते हैं। जिनके समीप साधन हों, जो सक्षम हों, उन्हें इनका आचरण करना चाहिये। लेकिन सार्वजनिकरूपसे इनका व्यवहार आजके समाजमें शक्य नहीं। जन-साधारण इनका अनुगमन करनेमें असमर्थ हो गये हैं।

कलियुगमें सबके उद्धारका साधन है भगवन्नाम। भगवान्‌के मंगलमय दिव्य नामोंका जप एवं संकीर्तन इस युगके साधन हैं। इनमें न त्याग-तितिक्षाकी अपेक्षा है, न पदार्थोंकी और न एकाग्रताकी ही। एकाग्रता तो स्वतः सम्पन्न होती है। भावसे, भाव न होनेपर भी, प्रत्येक दशामें भगवान्‌का नाम लेना मंगलकारी है। भगवन्नाम-संकीर्तन ही कलिके प्राणियोंके लिये कल्याणका साधन है। इस युगके आराध्य हैं मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम। उज्ज्वलकान्ति, हरिताभ नीलवर्ण, अपने आयुधों एवं श्रीहनुमान्‌जी, लक्ष्मणजी प्रभृति भाइयों तथा पार्षदोंसे सेवित मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराघवेन्द्र इस युगके आराध्य हैं। उनके मंगलमय उदार चरितों तथा कल्याणधाम नामोंका कीर्तन, श्रवण, चिन्तन, जप ही इस युगके प्राणीको जीवनका परम लक्ष्य प्रदान करनेवाले हैं।

कलियुगमें स्वाभाविक श्रद्धाका अभाव हो गया। मन दुर्बल हो गया और नितान्त विषयलोलुप हो गया। फलतः शास्त्रोंने आजके समाजके लिये आचारके नियम और कठोर किये। दूसरे युगोंमें जो थोड़ी छूट थी, वह इस युगमें निषेध की गयी। जो अधिक रोगी होता है, उसीके लिये अधिक संयमकी आवश्यकता होती है। भारतीय संस्कृतिमें स्वास्थ्यका आदर्श निर्मल एवं संयत मन माना गया है। कलिमें मनमें जितना विकार आया, उतना ही संयम आवश्यक हुआ। इस युगमें—जब श्रद्धा-विश्वास रहा नहीं है, बुद्धिमें कुतर्कका निवास हो गया है, मर्यादाका सम्यक् आदर्श निरन्तर सम्मुख रहना नितान्त आवश्यक है। मर्यादापुरुषोत्तमका अवतार मर्यादाका आदर्श स्थापित करनेके लिये हुआ था। कलिमें वही आराध्य हैं। शास्त्रोंने युगाराध्यके रूपमें उन्हींका वर्णन किया है।

आजकी भौतिक उन्नति, वैज्ञानिक साधनोंको देखकर उन्नतिका भ्रम होता है। लगता है, मनुष्यने बड़ी उन्नति की है। जहाँतक आचारका प्रश्न है, उसका ह्रास ही हुआ है—यह स्वीकार करनेमें किसीको बाधा नहीं होनी चाहिये। वैज्ञानिक आविष्कारोंकी उन्नति आसुरी है। ऋषियोंने भौतिक यन्त्रवृद्धिको सर्वदा हेय दृष्टिसे देखा है। इससे बहिर्मुख वृत्ति बढ़ती है। विषयेच्छाको बल मिलता है। मनुष्य पतनके मार्गपर जाता है। वैसे पूर्व युगोंमें असुरोंके पास आजसे अत्यधिक उन्नत भौतिक साधन थे। विमानादिका पुष्कल संग्रह था उनके पास; किंतु भारतीय आर्यजातिने उसे कभी महत्त्व नहीं दिया।

आज भी पदार्थ पहले मनमें आता है और पीछे व्यक्त होता है; परंतु संकल्प इतना हीनवीर्य हो गया है कि वह बिना मूर्त (पदार्थ) के मूर्तको व्यक्त नहीं कर पाता। इसीलिये आविष्कारों एवं यन्त्रोंकी आवश्यकता

होती है। जब संकल्प मूर्त हो सकता था, महर्षि कर्दमने संकल्पसे ही समस्त ऐश्वर्य प्रकट कर लिया था। यज्ञादि सूक्ष्म साधनोंसे अभीष्ट प्राप्त हो जाता था। सात्त्विक या राजस साधनोंसे ही उद्देश्य पूर्ण होता था, अतः आविष्कार एवं यन्त्रके घोर तामस साधनोंकी उस समय आवश्यकता ही नहीं थी।

कलियुगके अन्तमें तमोगुण इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि सचराचर प्राणि-जगत् जडप्राय हो जाता है। आकृतियाँ क्षीण होते-होते नष्ट हो जाती हैं। पराकाष्ठापर पहुँचे तमोगुणमें स्फोट होना ही है। उस समय सत्ययुगके दिव्य-देहधारी अवशिष्ट कुलपुरुष पुनः सृष्टि-विस्तार करते हैं। इस प्रकार फिर आदियुग प्रारम्भ होता है। विश्व नवजीवन प्राप्त करता है। इसी क्रमसे यह युगचक्र चलता रहता है।

हिंदू-संस्कृतिमें शिष्टाचारके कुछ नियम

(लेखक—पं० श्रीरामनारायणजी मिश्र)

हिंदू-संस्कृतिका आधार सदा धर्म ही रहा है। उसमें स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका और अतिथि आदिके साथ परस्पर सामाजिक व्यवहार सदा नैतिक रहा है। शारीरिक और वातावरणकी स्वच्छताको भी इस संस्कृतिके प्रवर्तक लोगोंने धार्मिक ही रूप दिया है, यद्यपि उसमें वैज्ञानिक सिद्धान्त निहित हैं।

संक्षेपमें नीचे लिखे सदाचार और शिष्टाचारसम्बन्धी थोड़े-से ही नियमोंसे यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जायगी—

(१) प्रातःकाल और सायंकाल जितनी देर निभ सके—मौन रहना चाहिये। सांसारिक काम करते हुए भी मनुष्य मौन रह सकता है। मनको संसारसे ऊपर उठाना चाहिये। ध्यान, पूजा, स्वाध्याय आदिसे मानसिक शक्ति बढ़ती है।

हो सके तो घरमें इनके लिये अलग जगह बना रखो।

(२) प्रार्थनाके समय आँखें बंद रखो। मन स्थिर रखकर उसे ईश्वरकी ओर लगानेकी चेष्टा करो।

(३) हर वक्त, हर जगह, राह चलते और हर एक आदमीके हाथका बनाया हुआ भोजन कर लेनेकी आदत बुरी है।

(४) भारतीय संस्कृतिमें बच्चोंके सुन्दर और प्यारे नाम रखनेकी प्रथा है। इस प्रथाको मत बिगाड़ो।

(५) किसी मित्र या रिश्तेदारके घर जाओ तो उनके बच्चोंको अपने प्यारका परिचय दो।

(६) विशेष अवसरपर किसीको निमन्त्रित करो तो उनके बच्चों (बाल-गोपाल) को बुलाना मत भूल जाओ।

(७) बच्चोंको धार्मिक, ऐतिहासिक और प्राकृतिक शोभाके स्थान दिखलाते रहना चाहिये।

(८) बच्चोंको अपने समयके महापुरुषों, विद्वानों, संतों और नेताओंके पास तथा कथा-कीर्तन आदिमें कभी-कभी ले जाना चाहिये, जिससे उनमें सत्संगकी और आध्यात्मिक भावना उत्पन्न हो।

(९) भोजन या जलपानके समय कोई अतिथि, विद्वान्, संन्यासी आ जायँ तो, हो सके तो, उनसे भी भोजन करनेकी प्रार्थना करो।

[आर्यावर्तमें किसी गृहस्थके घर पहलेसे बिना तिथि बतलाये जो सज्जन अकस्मात् आ जाते थे, उन्हें अतिथि (मेहमान) कहते थे। मेहमानदारीका यह ऊँचा आदर्श था।]

(१०) जब कोई अतिथि हमारे यहाँ भोजन करें तो उचित यही है कि हम उन्हें अपने हाथसे भोजन परोसें और उनके भोजन कर लेनेके बाद खायँ। साथ भोजन करनेकी अवस्थामें भोजन पहले उनके सामने रखना चाहिये।

(११) किसी ऐसे स्थानमें जायँ, जहाँ हमारा आदर-सत्कार हो और हमारे साथ कोई मित्र या अतिथि हो तो उसको भूल न जाना चाहिये; उसको भी यथासम्भव अपने आदर-सत्कारमें सम्मिलित करना चाहिये।

(१२) जबतक जान-पहचान न हो, मर्द स्त्रीसे चार आँख करके बातचीत नहीं करे। परायी स्त्रीसे बात करनेकी जरूरत पड़ जाय तो स्त्रीके पैरोंकी तरफ देखना चाहिये, न की आँखोंकी तरफ। उनके शरीरको छूना या उनसे हँसी-ठट्ठा करना बहुत बड़ी असभ्यता तथा पाप है।

(१३)स्त्रियोंको माला पहनानी हो तो स्वयं न पहनाकर किसी स्त्री या बालकसे कहो कि उनको माला पहना दे। इसी प्रकार किसी भी स्त्रीके द्वारा माला मत पहनो। सभा आदिमें कोई स्त्री माला पहनानी चाहे तो पहले हाथ जोड़कर मालाको हाथमें ले लें।

(१४) साधारणतः परायी स्त्रीके साथ एक ही चौकी या चारपाईपर कभी मत बैठो।

(१५) स्त्रियोंको अबला मत समझो। उनको देवी कहकर सम्बोधित करो। उनको और बच्चोंको वीर पुरुषों और वीरांगनाओंकी कथा सुनाओ।

(१६) बड़ोंको प्रतिदिन प्रातःकाल उठते ही अथवा जब पहले-पहल उनका सामना हो जाय, प्रणाम करो।

बहुत-से अच्छे घरोंमें सन्ध्याको दीया जलनेके समय भी प्रणाम करनेका नियम है।

(१७) पत्र-व्यवहारमें भी प्रणाम आदि लिखनेकी पुरानी प्रथा है—उसका पालन करो।

(१८) रोगीके पास उन्हींको ठहरना चाहिये, जो उसकी सेवा करना चाहें या उसका दिल बहला सकें। रोगी पसंद करे तो उसे कथा या कोई धर्मग्रन्थ या अच्छे-अच्छे भजन सुनाओ।

(१९) दूसरोंकी सेवा इस भावसे मत करो कि उसके बदलेमें कुछ इनाम मिले या कोई मतलब सिद्ध हो। सेवा निष्काम भावसे करनी चाहिये।

(२०) किसीको दान या इनाम दूरसे, घमण्डसे, घृणासे मत दो; विनय तथा प्रेमपूर्वक और मुस्कराते हुए दो। सेवा अपना बड़प्पन प्रकट करते हुए मत करो, विनीत भावसे करो।

(२१) कथा या व्याख्यान या भजनके बीचमेंसे न उठो। उठना हो तो जो प्रसंग चल रहा है या भजन हो रहा है, उसे समाप्त हो लेने दो। बीचमें उठ जाना अपनी अधीरता प्रकट करना है और बोलनेवाले विद्वान् या गानेवालेका एक प्रकारसे अनादर करना है।

(२२) सभा समाप्त हो जानेपर विशिष्ट अतिथियोंको, विशेषकर स्त्रियोंको पहले वहाँसे चली जाने दो। उनके रास्तेमें भीड़ न लगाओ।

(२३) व्याख्यान, कथा आदिमें बातचीत नहीं करनी चाहिये। जो देर करके आयें उन्हें पीछे बैठना चाहिये। जिसे खाँसीका रोग हो, उसे वहाँ बैठकर विघ्न नहीं डालना चाहिये। जो शान्तिपूर्वक न बैठ सकें, ऐसे बच्चोंको साथ नहीं लाना चाहिये। वहाँ ऊँघने लगना भी ठीक नहीं है।

(२४) रातको घरसे बाहर साधारणतः देरतक नहीं रहना चाहिये। वह समय घरवालों और बच्चोंके साथ बिताना चाहिये।

(२५) शौचादिके लिये पानी कम मत ले जाओ। लघुशंकाके बाद भी पानीका प्रयोग करो। जिस जगह पेशाब करो, वहाँ पहले और पीछे पानी गिरा दो। पेशाबके अंगको—विशेषकर बच्चोंके अंगको खोलकर धोते रहना चाहिये।

(२६) मैदानमें शौच जाओ तो उठनेके बाद मलको मिट्टीसे ढक दो। खुर्पीसे जमीनमें गढ़ा खोदकर उसीमें मल-त्याग करना और पीछेसे मिट्टीसे ढकना सबसे अच्छा है। जुते खेतमें शौच मत जाओ। जहाँ उठव्वा पाखाने, हैं। वहाँ एक कोनेमें थोड़ी सूखी मिट्टी जमा रखो। शौचके बाद मलके ऊपर मिट्टी डाल दो या उसको रद्दी कागजसे ढक दो।

(२७) प्रातःकाल उठते ही एक बार शौच अवश्य जाना चाहिये। मल-मूत्रका वेग कभी रोकना नहीं चाहिये। शामको भी एक बार शौच हो आना अच्छा है। शौच और लघुशंका करते समय बातचीत नहीं करनी चाहिये।

(२८) शौचादिके बाद साफ सूखी मिट्टीसे पहले बायाँ हाथ धो डालो और तब दोनों हाथ। उसके बाद जिस बर्तनसे आबदस्त लो, उसको माँज डालो। इस कामके लिये बर्तन अलग रखा हो तो उसे भी कभी-कभी माँजते रहना चाहिये। अपना हाथ पहले धोकर तब वह बर्तन माँजो।

(२९) हर जगह लघुशंका करने मत बैठ जाओ। इसके लिये कहीं आड़में उचित स्थान ढूँढ़ लो। घरसे बाहर जानेके पहले और घर लौटकर लघुशंका करनेकी आदत डालो, तब साधारणतः बाहर जरूरत ही न पड़ेगी। भोजनके बाद और सोनेसे पहले लघुशंका कर लेना अच्छा है।

(३०) नदी, नाले या तालाबमें आबदस्त लेकर उसका पानी गंदा मत करो। जहाँतक हो सके, पानी साथ ले जाओ। आबदस्त बायें हाथसे लेना चाहिये।

(३१) हाथ धोने या बर्तन माँजनेके लिये हर जगहकी मिट्टी इस्तेमाल मत करो। देख लो कि जहाँकी मिट्टी लेते हो, वह जगह लोग गंदी तो नहीं करते। साफ

मिट्टी ढूँढ़कर काममें लाओ। जमीन खोदकर नीचेकी मिट्टी मिल सके तो अच्छा है। मिट्टी जमा करो तो उसको हंडी या कनस्टरमें रखो; जमीनपर रखनेसे बिल्ली आदि जानवर उसको गंदा कर देते हैं। बर्तन आदि मलनेके लिये मिट्टीके बदले चूल्हेकी राख इस्तेमाल करना अच्छा है।

(३२) नदी या तालाबमें कुल्ला नहीं करना चाहिये। उसमें मल-मूत्र, कूड़ा-कंकड़, काँटा या शीशेके टुकड़े आदि फेंकना बहुत ही बुरा है।

(३३) सबेरे उठकर कुल्ला करो। ताजी या भीगी हुई दतवनकी जिस कूँचीसे दाँत साफ करो, उसको आगे-पीछे मसूड़ोंपर भी रगड़ो और दतवनके दो टुकड़े करके उसीसे जीभ साफ कर लो; तब उसे धोकर कूड़ेकी टोकरीमें फेंक दो। दतवन बिना धोये मत फेंको। दतवन और कुल्ला इस प्रकार करो कि दाँतके आगे और पीछेका हिस्सा, जीभ, मसूड़े आदि भी साफ हो जायँ। दाँतसे कुचलकर दतवनमें कूची बनानेसे मसूड़ोंकी कसरत होती है। जीभको अच्छी तरह साफ कर लेना बहुत जरूरी है।

(३४) हर जगह थूकनेकी आदत बुरी है। इससे बीमारी फैलती है। रोगके कारण थूकना जरूरी हो तो पीकदान आदि रखो। हर जगह नाक भी नहीं छिनकनी चाहिये। नाक छिनककर हाथ साफ करनेके लिये रूमाल रखो; सड़कके खंभे या मकानकी दीवालोंमें हाथ नहीं पोंछना चाहिये। रास्तेमें यदि थूकना पड़े तो बीच सड़कमें या उसके इधर-उधर मत थूको, कहीं नालीमें या कोनेमें जाकर थूको। पान खाकर गलीमें, सड़कपर, दीवार, फर्श आदिपर थूकना ही बुरा है।

(३५) लिफाफा थूक लगाकर नहीं बंद करना चाहिये, न उसपर थूकसे टिकट चिपकाना चाहिये और न पोथीके पन्ने थूक लगाकर उलटने चाहिये।

(३६) भोजन करनेसे पहले हाथ-मुँह धोना चाहिये और पीछे भी हाथ धोकर कुल्ला करना चाहिये; जरूरत हो तो खरकेसे दाँत साफ कर लेना चाहिये। इसके लिये नीमकी सींक बहुत अच्छी है। फर्शपर हाथ-मुँह धोना हो तो चिलमची रख लो।

(३७) एक ही थालीमें दो आदमियोंको साथ बैठकर कभी नहीं खाना चाहिये। एक ही ग्लास या कटोरेका पानी या दूध दो आदमियोंको नहीं पीना चाहिये। किसीका बचा हुआ जूठा या जमीनपर गिरा हुआ पदार्थ मत खाओ। मेवा, फल तथा पान-सुपारी आदिको ऊपरसे खाना चाहिये। मुँहमें अंगुली डालकर हाथको जूठा नहीं करना चाहिये।

(३८) मशकका पानी मत पियो। हर एक तालाब या कुएँका पानी मत पियो। पानी उबालकर और छानकर पीना अच्छा है। पीनेका पानी साफ और गन्धरहित होना चाहिये। उसे ढकी हुई सुराहीमें रखना चाहिये। जूठे या गंदे हाथसे किसी वस्तुका स्पर्श नहीं करना चाहिये।

(३९) महीनेमें दो-तीन बार बिना खाये या कम खाकर रह जाना अच्छा है। महीनेमें दो दिन, विशेषकर प्रत्येक पखवारेकी एकादशीका व्रत करना और रविवारको बिना नमकका भोजन करना अच्छा है। कभी-कभी दूध और फल खाकर ही रहना चाहिये।

(४०) भोजनका स्थान साफ और हवादार होना चाहिये। उसके अदंर मक्खी जाना रोकना चाहिये। चारपाई या बिस्तरपर खाना रखकर या बैठकर मत खाओ।

(४१) भोजनके समय मरने आदिका समाचार नहीं सुनाना चाहिये; न ऐसी बातें या ऐसा व्यवहार करना चाहिये जिससे शोक, वैमनस्य, क्रोध या गंदगी प्रकट हो। जब लोग भोजन कर रहे हों, तब दाँतमें खरका नहीं करना चाहिये; पीछे करना चाहिये। भोजनके समय मौन रहना और मन-ही-मन भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये।

(४२) बर्तन या खाने-पीनेकी चीज किसी नयी जगहमें रखनेसे पहले उस जगहको धो डालो या साफ कर लो।

(४३) रहनेका मकान बहुत साफ रखना चाहिये। उसमें रोज कम-से-कम एक बार झाड़ू देना चाहिये; कहीं जाला लगा हो तो छुड़ा देना चाहिये। उसका फर्श कभी-कभी धुलाना चाहिये। मकान कच्चा हो तो उसको लिपवाते रहना चाहिये। सालमें एक बार बरसातके बाद दीपावलीके पहले पूरे मकानमें सफेदी करानी चाहिये।

(४४) मकानकी सजावटमें विलासिताका भाव नहीं होना चाहिये। मकानमें देवी-देवताओं, महापुरुषों, वीर पुरुषों और सती-साध्वी स्त्रियोंके तथा वीरांगनाओंके चित्र होने चाहिये।

(४५) घरमें हर जगह जूता नहीं ले जाना चाहिये;

सीढ़ीपर या कमरेके बाहर एक तरफ उतार देना चाहिये। भोजनालयमें और देवालयमें जूता ले जाना बुरा है। जहाँ जूता बाहर उतार दिया जाय, वहाँ जूतेकी रक्षाका प्रबन्ध रखना चाहिये।

(४६) जिस बर्तनमें एक बार पानी लो या खाना खा लो या कोई दूसरा पानी पी ले या खाना खा ले, उसको माँजकर तब काममें लाओ। जब बर्तन जूठा हो जाय, तब उसको अलग एक तरफ रख दो। बर्तन मिट्टी या कागजका हो तो उसको एक ही बार इस्तेमाल करके फेंक दो। काचका बर्तन भी दूसरेका इस्तेमाल किया हुआ काममें नहीं लेना चाहिये।

(४७) डोल, बाल्टी या घड़ेके पास हाथ धोनेके लिये हमेशा भरा हुआ लोटा रखना चाहिये। खाली होनेपर उसे फिर भर देना चाहिये। पानीसे भरे हुए डोल, बाल्टी या घड़ेमें हाथ नहीं डालना चाहिये । हाथकी कलाईसे लोटा टेढ़ा करके पानी लेना चाहिये, उसमें भी हाथ नहीं डालना चाहिये। हाथ इस प्रकार धोना चाहिये कि हाथका जूठा या गंदा पानी बर्तनमें न चला जाय, न छींटे ही लगें।

(४८) जिस कपड़ेको पहनकर शौचादि जाओ या हजामत बनवाओ, उसको धो डालना अच्छा है।

(४९) दूसरेकी पहनी हुई धोती, जबतक खूब साफ न हो जाय, काममें मत लाओ।

(५०) एक ओढ़नेमें दो आदमी मत सोओ। बचपनसे ही अलग-अलग सोनेकी आदत डालो। दूसरेके ओढ़ने और बिछौनेको बिना धोये काममें न लाओ।

(५१) जूता या जूठे बर्तन छूकर हाथ धोना चाहिये। चाय या पान आदि भी जूठे हाथोंसे किसीको नहीं देना चाहिये। पान मुँहमें डालकर भी हाथ धो लेना चाहिये।

(५२) प्रतिदिन सबेरे, और हो सके तो शामको भी साफ पानीसे नहाना चाहिये। नहाते समय बदनको हाथसे या तौलियेसे खूब रगड़ना चाहिये। टबमें नहाना पड़े तो उसका पानी जल्दी-जल्दी बदलते चलो। नहानेके बाद सूखे तौलियेसे बदन पोंछना चाहिये। जिस तौलियेसे बदन पोंछो, उसमें बराबर साबुन लगाते चलना चाहिये।

(५३) बहते पानीमें, नदीमें नहाना बहुत अच्छा है। हर एक गढ़े, तालाब या पोखरेमें नहाना ठीक नहीं।

(५४) मोजा पहनकर मत सोओ।

(५५) लँगोट बाँधनेकी आदत अच्छी है।

हिंदू-समाजके शिष्टाचार

किसी भी समाजके शिष्ट पुरुष जिस प्रकारके व्यवहारको अच्छा मानते हैं, वही व्यवहार उस समाजका शिष्टाचार कहलाता है। प्रत्येक समाजके शिष्टाचारमें वहाँकी आकांक्षा, आदर्श तथा मर्यादाएँ होती हैं। बहुधा एक ही आचार एक समाजमें असभ्यता माना जाता है और दूसरेमें वही शिष्टाचार होता है। इन आचारोंमें समयके अनुसार बहुत परिवर्तन होते रहते हैं। हिंदू-समाज एक ऐसा समाज है, जो बिना धर्म और दर्शनके कुछ नहीं करता। यहाँ प्रत्येक आचार धर्मपर संतुलित होता है और दार्शनिक तथ्य रखता है। फलतः हमारे समाजका शिष्टाचार ऐसा नहीं, जो केवल कल्पना कर लिया गया हो। उसकी आधारभूमि बहुत दृढ़ है। अवश्य ही काल एवं परिस्थितियोंने उसे बहुत प्रभावित किया है; किंतु ये प्रभाव विकृतियाँ ही हैं। उनको अपनानेकी अपेक्षा उनका निवारण ही अभीष्ट होना चाहिये।

अभिवादन

हम जैसे ही किसी दूसरेके सम्पर्कमें आते हैं, एक दूसरेका अभिवादन आवश्यक होता है। यहींसे शिष्टाचारका प्रारम्भ है। अभिवादन दो प्रकारका होता है; छोटा अपनेसे बड़ेको करता है और समान व्यक्ति एक दूसरेको करते हैं। छोटे और बड़ेका निर्णय हिंदू-समाजमें सर्वप्रधान त्यागके अनुसार होता है। समाजका उद्देश्य त्याग होनेसे जो जितना त्यागी है, वह उतना महान् है, शुकदेवजीके त्यागके कारण उनके पिता व्यासजीने ही उन्हें अभ्युत्थान दिया और प्रणाम किया। त्यागके अनन्तर विद्या, फिर वर्णका विचार होता है। अवस्थाका विचार तो अपने ही वर्णमें होता है, यदि विद्या और त्यागका तारतम्य हो।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनुस्मृति २। १२१)

'जो गुरुजनोंको नित्य प्रणाम करता है तथा उनकी सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है।'

अपनेसे बड़ेके आनेपर उसे देखते ही खड़े हो जाना चाहिये और स्वयं आगे बढ़कर उसे प्रणाम करना चाहिये। यदि कोई विशेष स्थिति न हो तो उसके समीप आनेकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। यह सभी जानते हैं कि मनुष्य-शरीरमें एक प्रकारकी विद्युत्शक्ति है। प्रबल विद्युत् दुर्बलको अपनी ओर आकर्षित करती है। शास्त्र कहते हैं कि किसी अपनेसे बड़ेके आनेपर प्राण ऊपर उठते हैं। उस समय उठकर खड़े हो जानेसे उनमें विकृति नहीं आती। गुरुजनको देखते ही अविलम्ब खड़े हो जाना चाहिये।

अभिवादनकी सर्वश्रेष्ठ पद्धति है साष्टांग प्रणाम। पेटके बल भूमिपर दोनों हाथ आगे फैलाकर लेट जाना, जिसपर मस्तक, भ्रूमध्य, नासिका, वक्ष, ऊरु, घुटने, करतल तथा पैरोंकी अँगुलियोंका ऊपरी भाग—ये आठ अंग भूमिसे स्पर्श करते हों; इसके अनन्तर दोनों हाथोंसे सम्मान्य पुरुषका चरण-स्पर्श करके घुटनोंके बलसे बैठकर उसके चरणोंसे अपने भालका स्पर्श कराना और उसके पादांगुष्ठोंका हाथोंसे स्पर्श करके अपने हाथोंको अपने नेत्रोंसे लगा लेना—यह इस प्रणामकी पूरी विधि है। घुटनोंके बल बैठकर मस्तकको चरणोंसे स्पर्श कराना इसीका अर्धरूप है। दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुका देना, इस प्रणामका सांकेतिक रूप है, बिना दोनों हाथ जोड़े और मस्तक झुकाये प्रणाम नहीं होता। एक हाथसे, हाथकी अँगुलीसे, छड़ीसे या टोपीसे होनेवाले प्रणाम भारतीय नहीं हैं। तनिक-सा मस्तक हिला देना अहम्मन्यताका सूचक है। उसे अभिवादन ही नहीं कहना चाहिये।

देव-विग्रहको, आचार्यको, साधुको और इसी प्रकार जो पूज्य हैं, उन्हें साष्टांग प्रणाम करना चाहिये। साष्टांग प्रणामकी सुविधा न हो तो आदरणीय व्यक्तियोंको घुटनेके बल बैठकर मस्तकसे पादस्पर्श करना ही पर्याप्त है। एक हाथसे झुककर पैर छू लेना ऐसी विचित्र प्रथा है, जैसे एक भार टाला जा रहा हो। अपने समान लोगोंको तथा जो चरण-स्पर्श करने न देते हों, उन्हें दोनों हाथ जोड़कर, अंजलिको ठीक मध्य वक्षःस्थलसे लगाकर मस्तक इतना झुकाया जाय कि नासिका समकोणस्थित अंजलिका स्पर्श करे—इस प्रकार प्रणाम करना चाहिये।

यदि अपना शरीर शुद्ध न हो, स्वयं स्नान किये न हों तो प्रणाम करते समय गुरुजनका स्पर्श नहीं करना चाहिये। उनके चरणोंके समीप भूमिपर ही मस्तक रख लेना चाहिये। स्नान करते समय, शौचादिके समय, क्षौर कराते समय, दतवन करते समय, तेल लगा लिया हो और स्नान न किया हो तो (तेल लगानेपर स्नान करना ही चाहिये, यह शास्त्रोंका आदेश है। तेल लगानेसे शरीर अपवित्र हो जाता है।) तथा शव ले जाते समय प्रणाम नहीं करना चाहिये। स्वयं इन स्थितियोंमें हो तो प्रणाम न करे और जिसको प्रणाम करना है, वह इन स्थितियोंमें हो, तो भी प्रणाम न करे। श्मशानमें, कथा-स्थल और देव-विग्रहके सम्मुख केवल मानसिक प्रणाम ही करना चाहिये। इन स्थानोंपर शारीरिक प्रणाम करना शास्त्रोंने मना किया है। इसी प्रकार स्त्रीको किसी भी पर-पुरुषका चरण-स्पर्श कभी नहीं करना चाहिये। पतिके अतिरिक्त दूसरे सभी पुरुषोंको बिना स्पर्श किये ही दूरसे प्रणाम करना चाहिये।

अब यह सिद्ध हो गया है कि हमारे हाथों तथा पैरोंकी अँगुलियोंसे निरन्तर एक प्रकारकी विद्युत्किरणें निकलती रहती हैं। मेस्मेरिज्ममें हाथकी किरणोंका उपयोग 'पास' देनेमें होता है। मस्तकके भालप्रदेश तथा हाथोंकी अँगुलियोंमें इस प्रभावको ग्रहण करनेकी शक्ति है। अपने समान व्यक्तिके सम्मुख दोनों हाथ जोड़कर भ्रूमध्य अंजलिके अंगुष्ठ-भागसे लगाकर तो हम परस्पर प्रभाव-विनिमयसे बच जाते हैं। समान प्रभावका विनिमय लाभकारी तो होगा नहीं, प्रकृति-भेदसे विकारोत्पादक हो सकता है। अपनेसे श्रेष्ठके चरणोंपर मस्तक तथा हाथ रखकर हम उनका प्रभाव ग्रहण करते हैं। आशीर्वादमें भी दोनों हथेलियोंको मस्तकपर रखकर या सम्मुख करके श्रेष्ठ पुरुष आशीर्वाद देते हैं। इसके द्वारा वे अपना उत्कृष्ट प्रभाव हमें अर्पित करते हैं। प्राचीन समयमें गुरुजनोंको प्रणाम करते समय अपने गोत्र, पिताका नाम तथा अपना नाम लिया करते थे 'अमुक? गोत्रिय अमुकका पुत्र अमुक-नामक मैं प्रणाम करता हूँ।'

मानितः पूजितो विप्रो दुग्धा गौरिव सीदति।

शास्त्र स्पष्ट ही कहते हैं कि जिसको बहुत अधिक लोग प्रणाम करते हैं, जिसे बहुतोंको आशीर्वाद देना पड़ता है, उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। इसीलिये बहुत-से महापुरुष एवं साधक चरण-स्पर्श करने नहीं देते। परस्पर प्रणाम करनेके बदले भगवत्स्मरण कर लेते हैं। यहाँतक तो बात ठीक है; किंतु केवल

किसीको सम्बोधित कर लेना ही प्रणाम मान लिया जाय, यह प्रमाद है। इस प्रकारका व्यवहार शिष्टाचारके अनुकूल नहीं है।

आशीर्वाद

प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं
विधीयते साधु मिथः सुमध्यमे।
प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा
गुहाशयायैव न देहमानिने॥

(श्रीमद्भा० ४। ३। २२)

भगवान् शंकरजीने श्रीसतीजीको बतलाया—'अभ्युत्थान, विनम्रता एवं प्रणाम सज्जनलोग जो परस्पर करते हैं, वह चित्तमें स्थित ज्ञानस्वरूप परमपुरुषके लिये ही करते हैं, शरीर और शरीरमें अभिमान करनेवाले अहंकारको नहीं करते।'

इसी आदर्शके कारण हिंदू-समाजमें धन, ऐश्वर्य, पद—ये बड़प्पनके कारण नहीं माने गये। अपने वर्णमें समशिक्षित धनी पुरुष भी एक स्ववर्णके वृद्ध दीन पुरुषको पहले प्रणाम करे, हिंदू-शिष्टाचार यही है। यदि शिष्टाचारके विरुद्ध गर्ववश कोई अपनेसे बड़ेको प्रणाम न करे तो बड़ेको पहले प्रणाम नहीं करना चाहिये और न बिना प्रणाम किये किसीको पहले आशीर्वाद ही देना चाहिये। जब बड़ा पुरुष छोटेको प्रणाम करता है या बिना प्रणाम किये आशीर्वाद देता है, तब छोटेके तेज, वायु, कीर्ति एवं लक्ष्मीका ह्रास होता है। अतः यदि उसे बुरा भी लगे, तो भी उसीके हितके लिये बड़ेको ऐसा नहीं करना चाहिये।

जिसे प्रणाम किया जाता है, उसे समझना चाहिये कि प्रणाम उसमें स्थित सर्वान्तर्यामीके लिये किया गया है। प्रणाम करनेवालेको तो शुद्धि-अशुद्धिका विचार करना चाहिये; परंतु जिसे प्रणाम किया गया है, उसे प्रणाम करनेवालेकी शुद्धि-अशुद्धिका विचार नहीं करना चाहिये; क्योंकि प्रणाम वह अपने शरीरके लिये नहीं ले रहा है। यदि शरीरकी दृष्टिसे वह विचार करता है तो इसका अर्थ है कि प्रणाम उसने अपने शरीरकी दृष्टिसे स्वीकार किया है। इससे उसके तेज आदिकी हानि होती है। प्रणाम करनेपर उसे तो मर्यादाके अनुसार आशीर्वाद देना ही चाहिये। यह आशीर्वाद वह देहस्थ सर्वसाक्षीकी ओरसे देता है। किसीके प्रणाम करनेपर भी आशीर्वाद न देना, मौन रहना, संकेतसे स्वीकृति सूचित करना अशिष्टता है।

दोनों हाथोंकी अंजलि सम्मुख करके आशीर्वाद देना शास्त्रनिर्दिष्ट है। दोनों हथेलियोंको प्रणतके मस्तकपर स्थापित करके आशीर्वाद देना आशीर्वादका पूर्णरूप है। केवल मुखसे 'आशीर्वचन' का उच्चारण आशीर्वादका संक्षिप्त रूप है। समान व्यक्ति परस्पर प्रणामके बदले प्रणाम ही करते हैं। यदि चरणोंमें प्रणाम करनेवाला व्यक्ति श्रद्धावश कुछ क्षण मस्तक रखे रहे तो उसे उठनेकी प्रेरणा देना या उठाना चाहिये।

हमें यदि कोई किसी भगवन्नाम-स्मरणसे अभिवादन करता है तो हमें भी उसी नाम-स्मरणसे उत्तर देना चाहिये। 'जै रामजी' करनेवालेका उत्तर 'जै श्रीकृष्ण' कोई शिष्ट ढंग नहीं है। इसी प्रकार दूसरे सम्प्रदायके लोगोंसे व्यवहार करते समय प्रणामादिका ऐसा ही रूप होना चाहिये, जो उनको क्लेशप्रद तथा चिढ़ानेवाला न हो।

अंकमाल

प्राचीन समयसे स्नेहकी अभिव्यक्तिके लिये परस्पर अंकमाल देनेकी प्रथा है। गुरुजन प्रणाम करते हुए स्नेहपात्र प्रियजनोंको और मित्र, सम्बन्धी, सुहृद् एक-दूसरेको अंकमाल देते हैं। अंकमाल कभी अपरिचितको नहीं दी जाती। इसी प्रकार पत्नीके चरणस्पर्श करनेपर भी दूसरोंके सम्मुख उसे आलिंगन देना भारतीय शिष्टाचारके विपरीत है।

भारतीय शिष्टाचारमें चुम्बनके लिये कोई स्थान नहीं है। वह कामशास्त्रका ही अंग माना गया है। आजके स्वास्थ्य-विशेषज्ञ भी बड़े कठोर शब्दोंमें बच्चोंके चुम्बनका निषेध करते हैं। यह प्रथा बच्चेके स्वास्थ्यके लिये बहुत हानिकर है। माता-पिता तथा दूसरे सम्बन्धी, जिनका किसीपर वात्सल्य स्नेह है, उसे गोदमे लेकर या अंकमाल देकर उसके मस्तकको सूँघ लेते हैं। मस्तकको सूँघ लेना वात्सल्यकी अभिव्यक्तिका उत्कृष्ट बाह्य प्रतीक हिंदू-समाजमें रहा है। आज बच्चोंको चूमनेकी प्रथा जो चल पड़ी है, वह हानिकारक है और सड़कोंपर, स्टेशनपर सार्वजनिक स्थानोंमें, दूसरोंके सम्मुख, युवा बेटी, बहिन, माता, पत्नी आदिको चूमना तो भारतीय शिष्टाचारके सर्वथा विपरीत है।

आसन

अतिथि, सम्मान्य जनके आनेपर उन्हें अर्घ्य देकर, फिर आसनपर बैठाकर चरण धानेकी प्रथा थी।

अर्घ्य एवं पाद्यका तो लोप हो गया। अब आसन ही बच गया है। किसीसे भी यदि विवशता न हो तो खड़े-खड़े बातचीत नहीं करनी चाहिये। आगत व्यक्तिको पहले बैठाना चाहिये। जो अपनेसे बड़े हैं, उनके सम्मुख उच्चासनपर नहीं बैठना चाहिये। उनके बराबर भी जहाँतक हो सके, नहीं बैठना चाहिये। गुरुजन खड़े हों तो स्वयं बैठे या लेटे रहना शिष्टाचारके विपरीत है।

देवविग्रहके सम्मुख विग्रहसे अधिक ऊँचा आसन किसीको नहीं देना चाहिये। कथा, कीर्तन, पूजनमें तथा आराध्यके श्रीविग्रहके सम्मुख किसीके आनेपर अभ्युत्थान एवं आसन देनेकी व्यस्तता प्रकट करना आवश्यक नहीं है। वहाँ आनेवाले अपनी श्रेणीके लिये निश्चित आसन स्वयं स्वीकार कर लें, यही वहाँका शिष्टाचार है। कथा-कीर्तनादि स्थानोंमें वक्ताको छोड़कर किसीको देव-विग्रहके सम्मुख तथा गुरुजनोंके सम्मुख 'व्यासासन' से नहीं बैठना चाहिये। पैर फैलाकर या उकड़ू भी नहीं बैठना चाहिये।

कोई कितना भी गरीब हो, आगतके लिये जल और उसके बैठनेके लिये कुछ थोड़े तृणोंका अभाव नहीं हो सकता। आगतको आसन देकर उसके बैठ जानेपर बैठना चाहिये। जो हमसे छोटे हैं, हमारे लिये उचित है कि स्वयं आसन ग्रहण करके उनसे भी बैठनेका अनुरोध करें। गुरुजनोंके सम्मुख तथा सभास्थलोंमें जहाँतक सम्भव हो, स्थिर बैठना चाहिये। बार-बार आसन नहीं बदलना चाहिये।

भोजन, शौच, लघुशंकादि—सबके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारके आसन निश्चित हैं। इन कार्योंको दूसरे आसनोंसे करना असभ्यता समझी जाती है। इन कार्योंके लिये जो आसन हैं, उन्हींसे ये कार्य सुचारुरूपसे सम्पन्न होते हैं। इसी प्रकार यात्रादिके विवशतापूर्ण अवसरोंको छोड़कर गुरुजनोंके साथ एक आसनपर नहीं बैठना चाहिये। स्त्रियोंको एकान्तमें पतिके साथको छोड़कर शेष समयमें किसी भी पुरुषके सम्मुख पुरुषके समान या ऊँचे आसनपर नहीं बैठना चाहिये। एकान्तमें माता, बहिन और कन्याके साथ भी एक ही आसनपर नहीं बैठना चाहिये और एकान्त न हो तो भी सामान्य सदाचार यही है कि पुरुषके सम्मुख स्त्री, चाहे उसका कोई सम्बन्ध हो, उच्चासन, समानासन तथा एकासनपर न बैठे।

वार्तालाप

शिष्टाचारका सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है बोलना। इससे व्यक्तिकी योग्यता, स्वभाव, शील—सबका आभास मिल जाता है। मित, मिष्ट और हित—ये तीन वार्तालापके मूल उत्कृष्ट तत्त्व हैं। किसीके साथ बोलते समय हमें स्वयं ही नहीं बोलते जाना चाहिये। अनाप-शनाप बातको बढ़ाते ही नहीं जाना चाहिये। जहाँतक सम्भव हो, दूसरेको बोलनेका अवकाश देना चाहिये और स्वयं सुनना चाहिये। लेकिन सर्वथा चुप्पी साधना भी गर्व, उपेक्षाका सूचक है। आवश्यक जितना हो, उतना बोलना ही चाहिये। जो भी बोला जाय, उसमें यह ध्यान रखना चाहिये कि वह असत्य न हो, कटु न हो, उससे किसीको उद्वेग न हो और किसीका अहित न होता हो।

स्पष्ट बोला जाय। न तो इतने धीरे कि दूसरोंको सुननेमें कठिनाईका अनुभव हो और न इतना उच्च स्वरसे कि चिल्लानेका बोध हो। भाषा शुद्ध होनी चाहिये। शब्द इस प्रकार बोले जायँ, जो भावको ठीक-ठीक प्रकट कर सकें। हिंदू-समाजका प्राचीनतम शिष्टाचार यह है कि हम गुरुजनोंके साथ पाण्डित्यपूर्ण भाषाका प्रयोग न करें। पहले विद्वान् स्त्रियाँ और सेवक भी प्राकृत भाषाका ही प्रयोग करते थे। ऐसी भाषाका उपयोग, जिसमें पाण्डित्य-प्रदर्शन हो, समाजिक शिष्टाचारके विपरीत है। सभामें, दौत्यकर्ममें या जहाँ विद्वत्ताकी आवश्यकता हो, प्रांजल भाषाका प्रयोग होना चाहिये। परस्पर बातचीतमें हमसे बोलनेवाला जिस प्रकारकी भाषाका उपयोग कर रहा है, यदि सम्भव हो तो उसी या उससे सरल भाषामें हमें बोलना चाहिये। ग्राम्य भाषाका उत्तर शुद्ध भाषामें, हिंदीका उत्तर संस्कृत या अंग्रेजीमें—यह तभी क्षम्य होता है, जब हम उन भाषाओंको न जानते हों। इसके विपरीत संस्कृत या अंग्रेजीका उत्तर हिंदीमें नम्रताका सूचक हो सकता है। शुद्ध हिंदीका उत्तर ग्राम्य भाषामें तभी देना नम्रताका सूचक होगा, जब श्रोता उसे जानता हो।

बोलते समय भाषामें व्याकरणके दोषसे भाषा अशिष्ट हो जाती है। हिंदीमें सम्बोधनके लिये आप और तुमके भेद हैं। अपनेसे बड़ोंको 'आप' और छोटोंको 'तुम' कहा जाता है। 'तू' किसीको भी कहना उचित नहीं है। सम्मान्य जनोंका नामोल्लेख 'श्री' तथा

'जी' के साथ ही करना चाहिये। केवल नामोल्लेख अशिष्टताका द्योतक है। दूसरोंको सम्बोधित करते समय उनके पद, मर्यादा आदिका ध्यान रखना पड़ता है। अपनेसे छोटोंको अनेक बार आप कहना उनके प्रति व्यंग हो जाता है।

जहाँ कई व्यक्ति हों, वहाँ दो व्यक्तियोंकी कानाफूसी करना या किसी ऐसी भाषाका उपयोग करना, जिसे दूसरे न समझ सकें, असभ्यता है। परस्पर परिहासका एक स्थान है और शिष्ट-परिहास-कुशल व्यक्ति लोगोंका प्रिय पात्र भी बन जाता है। लेकिन परिहास इस प्रकार करना कि उसमें किसीपर आक्षेप हो, किसीको कष्ट, ग्लानि या संकोच प्रतीत हो—अशिष्टता है।

भाषा ऐसी होनी चाहिये, जो सरल हो, स्पष्ट हो, कटु न प्रतीत हो। हम आगतके सम्मुख मौन न बैठे रहें। दूसरेकी उपस्थितिमें बातचीत चलाना एक योग्यता है। साथ ही हमें दूसरोंको अधिक-से-अधिक बोलनेका अवसर देना चाहिये। जहाँ दो व्यक्ति एकान्तमें बातचीत करते हों, वहाँ जाना मूर्खता बतलाया गया है। इसी प्रकार दो व्यक्ति परस्पर बातें कर रहे हों तो बीचमें बहुत आवश्यक कारण न हो तो नहीं बोलना चाहिये। बिना पूछे सम्मति देना शिष्टाचारके विपरीत है। किसीसे एक साथ बहुत-से प्रश्न कर देना, किसी मार्ग चलतेसे अकारण उसका परिचयादि पूछना, आगत व्यक्तिको आसन दिये बिना ही परिचय या उद्देश्य पूछना शिष्टाचार नहीं है। आगत व्यक्ति जब स्वस्थ स्थितिमें बैठ जाय, जलादि पी चुके, सुस्ता ले, तब प्रश्न करना चाहिये।

परिचित व्यक्तियों, घरके उन सदस्यों या सम्बन्धियों-से, जो बाहरसे आये हों, बाहरके समाचार जाननेकी उत्कण्ठा स्वाभाविक है। हिंदूसमाजका शिष्टाचार है कि आगतके लिये पहले उसके बैठने, स्नान, भोजनादिकी व्यवस्था कर देनी चाहिये। यदि वह निद्राक्लान्त हो तो भोजनोपरान्त उसे भली प्रकार सो लेने देना चाहिये। आगत व्यक्ति अपरिचित अतिथि हो या परिचित सम्बन्धी—उससे तभी प्रश्न करना चाहिये, जब वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओंसे निश्चिन्त होकर स्वस्थचित्त हो।

जो व्यक्ति कुछ दिनोंके पश्चात् मिला है, उससे हमारे समाजके शिष्टाचारके अनुसार पहले कुशल-प्रश्न किया जाता है। अपरिचित अतिथिसे भी कुशल ही पहले पूछी जाती है। परिचयके अनन्तर दोनों परस्पर कुशल पूछते हैं। शास्त्रीय आदेशके अनुसार ब्राह्मणोंसे 'कुशल' पूछनी चाहिये। क्षत्रियसे 'निरुपद्रवता' अर्थात् सब कार्य शान्तिसे होते हैं, यह पूछना चाहिये। वैश्यसे आर्थिक पूर्णताका प्रश्न करना चाहिये और शूद्रसे स्वास्थ्य पूछना चाहिये। कुशल-प्रश्न पूण हो जानेपर ही प्रयोजनकी चर्चा होनी चाहिये।

अतिथि-सत्कार

हिंदूसमाज अतिथिप्राण है। हिंदूधर्ममें अतिथिसत्कार शिष्टाचार नहीं, वह तो मुख्य धर्म है। अतिथि साक्षात् नारायणका स्वरूप माना जाता है। गृहस्थ-जीवनकी सफलता ही यह है उसके द्वारा अतिथिसेवा हो। अतिथिका वर्ण, आश्रम, अवस्था, योग्यता नहीं देखनी चाहिये। वह तो आराध्य है। आराध्यबुद्धिसे ही उसकी सेवा होनी चाहिये। जिस गृहसे अतिथि निराश लौटता है, उस गृहस्थके समस्त पुण्य वह ले जाता है और अपने सब पाप वहीं छोड़ जाता है। वे गृह सर्पोंके आवास-बिलोंके समान त्याज्य एवं घृणित हैं, जहाँ अतिथिका स्वागत नहीं होता।

आगत अतिथि (अपरिचित) हो या अभ्यागत (सम्बन्धी), उसे आसन देकर जलके लिये पूछा जा सकता है। यह ठीक है कि इस कपटयुगमें गृहस्थको बहुत सावधान रहना पड़ता है; किंतु किसीको आनेपर नम्रतापूर्वक बैठनेके लिये अनुरोध करना, उसे और कुछ सम्भव न हो तो जल पिला देना, आज भी निर्बाध है। केवल प्रमाद और अहंकारवश ही अतिथिकी उपेक्षा होती है।

अतिथिके लिये भी कुछ शिष्टाचार हैं। यदि कोई धार्मिक आपत्ति न हो तो किसीके आतिथ्यका आमन्त्रण अस्वीकार करना अशिष्टता है। जिसके यहाँ अतिथिको ठहरना है, उसके आचार, उसकी सुविधा, उसकी मर्यादाका उसे ध्यान रखना चाहिये। ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये, जिससे उसे या उसके परिजनोंको कष्ट हो। हम जिसके यहाँ ठहरे हैं, उसे हमारी कम-से-कम चिन्ता करनी पड़े, हमारे लिये कम-से-कम व्यय एवं श्रम उठाना पड़े—इसका सावधानीसे ध्यान रखना चाहिये । उसके या उसके परिजनोंको जहाँतक सम्भव हो, हमारे द्वारा संकोच न हो। उसकी मर्यादा हमारे

किसी आचरणसे भंग न हो और हमारी कोई चेष्टा उसके आचारमें बाधा न दे तथा उनके लिये भार-रूप न हो।

नित्यकर्म

हिंदूसमाजमें जीवनका प्रत्येक भाग शास्त्रीय आदेशोंसे संयुक्त है। कहीं भी उच्छृंखलताके लिये अवकाश नहीं है। अतएव जीवनके प्रत्येक कार्यमें शिष्टाचारका ध्यान रखना पड़ता है। प्रातः ब्राह्ममुहूर्तमें ही शय्या त्याग देनी चाहिये। सूर्योदयके पश्चात् भी सोये रहना निन्दनीय माना जाता है। शय्याके वस्त्रादि उठते ही व्यवस्थित कर देने चाहिये। उठनेके पश्चात् भी देरतक बिस्तर ज्यों-के-त्यों पड़े रहें, यह प्रमादके लक्षण हैं।

शौच, स्नान, सन्ध्या, भोजनादिके सम्बन्धमें 'हिंदू-गृहस्थकी दिनचर्या' का पूरा आह्निक कृत्य शास्त्रोंमें सुनिश्चित है। आह्निक क्रियामें शिष्टाचारका यह ध्यान रखना चाहिये कि कोई कर्म दम्भ न बनाया जाय। साथ ही दूसरे परिहास करेंगे, यह समझकर भी कर्मोंका त्याग न किया जाय। आजके समाजमें जो असंयम एवं उच्छृंखलता बढ़ती जा रही है, उसे दूसरोंको प्रसन्न करनेके लिये अपनाना हानिकर है और हिंदूसमाजकी मान्यताओंके प्रतिकूल है।

वस्त्र

समाजमें बातचीतके पश्चात् वस्त्रका बड़ा महत्त्व है। व्यक्तिका प्रभाव दूसरोंपर शरीरकी आकृतिसे, वस्त्रसे, अनुगामियों या साथियोंसे, वाणीसे और गुणसे पड़ता है। वस्त्र स्वच्छ होने चाहिये और सादे। तड़क-भड़क तथा ठाट-बाट विशेष स्थान एवं अवसरपर चाहे आवश्यक हो सकता है; किंतु साधारणतया तो वह गर्व एवं विलासिताका ही सूचक है। हिंदूसमाज नग्नताका समर्थक नहीं है, पर गर्मियोंमें भी कोट, पतलून या कुर्तेपर चद्दर डालनेका समर्थन भी नहीं करता। हिंदू-संस्कृति त्यागकी पोषिका है। अतएव हमारे शिष्टाचारमें त्याग महत्त्वपूर्ण माना जाता है और विलासिता निन्दनीय।

पुरुषके लिये अधोवस्त्र धारण कर लेना पर्याप्त माना गया है। गृहस्थ भी लँगोट लगा लेनेपर भारतीय समाजमें नग्न नहीं माना जाता। अवश्य ही स्त्रियोंको पर्याप्त वस्त्र पहनने चाहिये। भारतीय नारीका वस्त्र साड़ी ही उपयुक्त है। पाश्चात्त्य देशोंमें पुरुष वस्त्रोंसे अपनेको ढके रहता है और नारी अर्धनग्नप्राय रहती है। भारतमें नारीका सर्वांग आच्छादित रहना शिष्टता है और पुरुषका प्राचीन राजसभाका वस्त्र भी धोती और उत्तरीय मात्र है।

छोटे बच्चोंके लिये हिंदूसमाज वस्त्र आवश्यक नहीं मानता। बच्चोंके कोमल शरीरका विकास खुली वायु, धूप एवं मिट्टी लगनेसे भली प्रकार होता है। उन्हें अनावश्यक वस्त्रोंमें लपेटे रखना उनके स्वास्थ्यके लिये हानिकार है। बालकोंको दो-तीन वर्षतक केवल शीत-रक्षाके लिये ही, शीतकालमें ही वस्त्र आवश्यक होते हैं। पाश्चात्त्देशोंकी भाँति शिशुओंको सिरसे पैरतक वस्त्राच्छादित रखना और उनमें भी नग्नताका विचार करना भारतीय परम्पराके अनुकूल नहीं है।

बच्चोंके तथा पुरुषोंके वस्त्र तड़क-भड़कके नहीं होने चाहिये। वस्त्र फटे हों तो कोई हानि नहीं, पर उन्हें स्वच्छ अवश्य होना चाहिये। अपनी योग्यता तथा आर्थिक स्थितिसे उच्च स्थितिके सूचक वस्त्र उपहास एवं अपमानके कारण हो सकते हैं।

गुरुजनोंकी अनुपस्थितिमें भी उनके वस्त्र, आसन, शय्याका जहाँतक हो, उपयोग नहीं करना चाहिये। दूसरेके धारण किये वस्त्र तथा अपने एक बार पहने अधोवस्त्र बिना धोये फिर नहीं पहनने चाहिये। स्त्रियोंके वस्त्रोंका पुरुषको स्पर्श नहीं करना चाहिये। सूखते वस्त्रोंकी छाया अपनेपर नहीं पड़ने देना चाहिये और न दूसरेके धोये जाते वस्त्रोंके छींटे ही।

एक ही वस्त्रके पहननेकी भिन्न-भिन्न परिपाटियाँ होती हैं। अपनी जाति एवं समाजके अनुरूप ही वस्त्र धारण करना उचित है। इसी प्रकार विभिन्न अवसरोंपर वस्त्र-धारणकी समाजमें जो मान्यताएँ हैं, उनका भी आदर करना ही चाहिये। दूसरी जाति, दूसरे उद्योग तथा दूसरे धर्मके लोगोंका अनुकरण वस्त्रके सम्बन्धमें उचित नहीं है।

सत्य और शुद्ध व्यवहार

हिंदू-शिष्टाचारका एक प्रधान और अन्यतम अंग है—'सत्य और शुद्ध व्यवहार।' किसी भी क्षेत्रमें किसी भी हेतुसे किसीके भी साथ छल-कपटका बर्ताव न करना, किसीको धोखा न देना और विश्वासघात न करना। मान-सम्मान, पद-अधिकार और धन-सम्पत्ति अथवा अन्य किसी भी स्वार्थके वश होकर कभी

असत्य और अशुद्ध आचरण न करके सदा सबके साथ तन-मन-वचनसे सत्य और शुद्ध व्यवहार करना।

परधन, परस्त्री और परनिन्दाको सांघातिक विषके समान समझना एवं इनके प्रति मनमें तनिक-सा भी आकर्षण हो तो उसे घोर पतन और पाप मानना एवं सावधानीके साथ इनसे सदा बचे रहना। सबको सुख पहुँचे, सबका हित—हो ऐसा ही आचरण करना।

बड़े ही खेदकी बात है कि भारतके प्रत्येक व्यक्तिमें जहाँ ये बातें सहज स्वभावरूप थीं, वहाँ आज इनका अत्यन्त अभाव हो चला है और छल-कपट, धोखा-विश्वासघात तथा चोरी-ठगीको जीवनका साधन मानकर भारतीय जन गौरवके साथ असत्य और अशुद्ध आचरण कर रहे हैं!

सामान्य शिष्टाचार

सबके सामने अकारण बार-बार हँसना, ऐसी अंग-चेष्टा करना जो घृणासूचक हो या अश्लीलताकी द्योतक हो, चाहे जहाँ थूकना, कुड़ेको इधर-उधर बिखेरना, कागजके टुकड़े, पत्ते आदि कूड़ेके स्थानको छोड़कर चाहे जहाँ बिखेर देना, अपने वस्त्र तथा गृहको ठीक प्रकारसे सजाकर न रखना—ये सामान्य शिष्टाचारके विपरीत बातें हैं। खाँसी, छींक तथा जम्हाईके समय मुखको वस्त्रसे आच्छादित कर लेना चाहिये। दूसरोंके मुखके समीप मुख ले जाकर बातें करना भी असभ्यताका परिचायक है।

चलते समय मार्गमें पड़े ठोकर लगने योग्य कंकड़, काँटे या ऐसा कोई पदार्थ हो, जिससे दूसरेको कष्ट हो सकता हो, हटा देना चाहिये। रोगी, भार लिये हुए, स्त्री, छोटे बालक, वृद्ध, किसी सवारीपर बैठे व्यक्ति तथा अपनेसे श्रेष्ठ व्यक्तिके लिये मार्ग छोड़ देना चाहिये। गुरुजनोंके आगे नहीं चलना चाहिये। मार्गमें अनावश्यक दौड़ना नहीं चाहिये और न इस प्रकार साथियोंके साथ चलना चाहिये, जिससे दूसरे यात्रियोंको बाधा पड़े।

देव-विग्रह, गौ या पूज्य पुरुषको सदा अपनेसे दाहिने रखकर चलना चाहिये। मार्गमें मन्दिर या मूर्ति मिले तो उसे मस्तक झुकाकर ही आगे बढ़ना चाहिये। इसी प्रकार शास्त्रोंने यात्रामें जिन स्थानोंमें जिस समय जाना मना किया है, उस समय वहाँ न जाना चाहिये। दो गधोंके बीचमें होकर नहीं निकलना चाहिये।

सन्ध्याके समय शयन-भोजनादि शास्त्रवर्जित हैं। प्रत्येक वर्ण एवं आश्रमके लिये जो निश्चित आचार है, उन्हींका पालन शिष्टाचार है। इसी प्रकार पिता-पुत्र, भाई-बहिन आदि सम्बन्धियोंके लिये शास्त्रमें जो आचार है, उसीका अनुगमन शिष्टाचार है।

स्त्रियोंके लिये शिष्टाचार

नारीको सर्वदा अपने पूरे शरीरको ढके रहना चाहिये। लज्जा ही नारीका भूषण है। स्नान, नित्यकर्म, भोजनादि सब उसे पुरुषोंकी दृष्टि बचाकर ही करना चाहिये। उसे खुले केश किसी पुरुषके सम्मुख नहीं आना चाहिये। दोनों हाथोंसे मस्तक नहीं खुजलाना चाहिये। बिना किसी विश्वस्त सम्बन्धीको साथ लिये घरसे बाहर नहीं निकलना चाहिये।

नारीको पुरुषोंके सामने हँसना या आलस्यका भाव प्रकट करना सर्वथा अनुचित है। पर-पुरुषके साथ हास-परिहास नहीं करना चाहिये। सार्वजनिक स्थानोंपर छोटे बच्चोंको रोने या उछल-कूद करनेसे संयत रखना चाहिये। बच्चोंको शौचादि सदा लोगोंकी दृष्टि बचाकर कराना चाहिये और स्थानको स्वच्छ कर देना चाहिये।

नारी स्वयं अपनेको अस्तव्यस्त न रखे और गृहको सजाये रखे। उसे पति तथा पतिके सम्बन्धियोंको अपनी सेवा, शील, सद्व्यवहारसे सन्तुष्ट रखना चाहिये। उच्चस्वरसे बोलना, झगड़ना, जोरसे हँसना और दौड़ना—ये सब कार्य नारीके लिये अशिष्टताके द्योतक हैं। उसे इनसे सर्वदा बचना चाहिये।

त्यागमयी, सेवापरायण, परिश्रमशील, बुद्धिमती, सुशील नारी गृहको स्वर्ग बना देती है और ईर्ष्यालु, द्वेषिनी, आलसी, मूर्खा, असहनशील नारी उसी गृहको कष्ट एवं कलहसे पूर्ण नरक बना डालती है। घरकी शान्ति नारीपर ही निर्भर है। अतः उसे सदा संयम एवं सावधानीसे काम लेना चाहिये।

आचारके अपवाद

जैसे धर्ममें अपवाद होते हैं, वैसे ही शिष्टाचारमें भी अपवाद होते हैं। बच्चे, वृद्ध, गर्भिणी स्त्रियाँ, प्रसूता स्त्रियाँ, रोगी व्यक्ति तो अपवाद होते ही हैं। इसके अतिरिक्त कष्टमें पड़े, भयातुर, किसी कारण शीघ्रतामें पड़े व्यक्ति, उद्विग्नचित्त लोग भी अपवाद होते हैं। ऐसे व्यक्तियोंसे शिष्टाचारके किसी अंशका उल्लंघन अशिष्टता नहीं माना जाता।

आपत्ति-कालमें, यात्रामें, विदेशमें, किसी पर्वपर शिष्टाचारके नियमोंमें बहुत कुछ फेरफार होता है। जैसे रेलके डिब्बेमें या ट्रेन छूट रही हो तो किसीको साष्टांग प्रणाम नहीं भी किया जा सकता है। ऐसे समय अपवाद होते हैं। अपवादके कारण जो त्रुटि होती है, वह सदा क्षम्य होती है। वैसे जो लोग ऐसे अवसरोंपर भी त्रुटि नहीं करते, वे प्रशंसाके पात्र हैं

हिंदू-शिष्टाचारकी विशेषता

विश्वमें सामान्यत: शिष्टाचारकी दो धारणाएँ नहीं हैं; किंतु जहाँ सम्पत्ति एवं त्यागका प्रश्न आता है, वहीं हिंदूशिष्टाचार दूसरे देशों एवं जातियोंकी धारणासे पृथक् हो जाता है, अच्छे वस्त्र, अच्छा भवन, बोलने, चलने, मिलनेकी निश्चित नियमबद्ध परिपाटीका ज्ञान, तड़क-भड़कका जीवन-यह पाश्चात्य सभ्यता है। व्यक्ति चाहे चोरी करे या ब्लैकमार्केटसे पैसे एकत्र करे, वहाँ शिष्टता (सभ्यता) गुणसे सम्बन्धित नहीं है। वह तो ऐश्वर्यपर अवलम्बित है। ऐश्वर्यके साथ समाजके खाने-पीने, रहने, मिलने, बोलनेके कृत्रिम नियमोंका ज्ञान एवं व्यवहार बहुत आवश्यक नहीं हैं। वहाँ बड़े धनियोंके वेश, मिलने-जुलनेके नियम ही सभ्यताके नियम बना करते हैं।

भारतीय सभ्यता—शिष्टाचार इससे सर्वथा भिन्न आधारपर व्यवस्थित है। यहाँकी सभ्यता धनकुबेरोंसे न तो प्रभावित होती और न वे शिष्टाचारके आदर्श माने जाते हैं। यहाँके शिष्टाचारके आदर्श तो अरण्यवासी ऋषि हैं। यहाँ एक करोड़पति या अरबपति असभ्य हो जायगा, यदि उसने शास्त्रीय आचारका त्याग किया और एक लँगोटीधारी दरिद्र शिष्ट माना जायगा; यदि वह धार्मिक मर्यादाओंका पालन करता है। पाश्चात्त्य सभ्यता—शिष्टाचार धनियोंका है। दरिद्र वहाँ जेन्टिलमैन नहीं हो सकता। भारतीय सभ्यता मनुष्यमात्रकी है। यहाँ लँगोटीधारी अकिंचन सर्वश्रेष्ठ सभ्य हो जाता है। यहाँके शिष्टाचारके नियम परिवर्तित नहीं हुआ करते। वे सुनिश्चित हैं, विचारपूर्वक स्थिर किये हुए हैं।

सभ्यताका अर्थ है शिष्टाचार और भारत शिष्टाचारका मूल सद्‌गुण एवं सदाचारको मानता है। सद्‌गुण, सदाचार, स्वच्छता, संयम—ये मनुष्यमात्रको अभीष्ट हैं। संस्कृति इससे सर्वथा भिन्न तत्त्व है। मानवसभ्यता—मानवशिष्टाचार तो एक किया जा सकता है और उसे एक होना ही चाहिये; किंतु संस्कृति आन्तर एवं बाह्य संस्कारोंकी परम्परा है। प्रत्येक जाति अपनी एक परम्परा रखती है। इन परम्पराओंका उच्छेद किये बिना उसकी एकताका केवल एक मार्ग है कि सबको उनके मूलकी ओर उन्मुख किया जाय। जिस आदि संस्कृतिसे सब अपनी विकृतियोंके कारण पृथक् हुई हैं, उसीमें पुन: एकत्व प्राप्त करें। ऐसी दशामें सबको किस संस्कृतिमें लीन होना होगा, यह उत्तर बहुत स्पष्ट है; पर विश्वकी कोई संस्कृति अपनेको अपने उद्‌गममें विसर्जित करनेको तैयार नहीं है। आज तो मानवसभ्यता सदाचारके आधारपर एक हो, यही पर्याप्त है। भारतको, हिंदूजातिको अपने शिष्टाचारका आदर्श विश्वको भेंट करना है। हमें इसके लिये पहले अपनेको शिष्ट बनाना होगा।

हिंदुओंकी विद्या

'ध्यानकी प्रणालीको उन्हीं लोगोंने जन्म दिया है। उनमें स्वच्छता एवं शुचिताके गुण वर्तमान हैं।' 'उन लोगोंमें विवेक है तथा वे वीर हैं।'

'ज्यौतिष, गणित, आयुर्वेद एवं अन्य विद्याओंमें हिंदूलोग आगे बढ़े हुए हैं। प्रतिमा-निर्माण, चित्रलेखन, वास्तु आदि कलाओंको उन्होंने पूर्णतातक पहुँचा दिया है। उनके पास काव्य, दर्शन, साहित्य तथा नैतिक शास्त्रोंका संग्रह है।' **—अल्जहीज (आठवीं शताब्दी)**

आर्य-संस्कृतिकी श्रेष्ठता

(लेखक—पण्डित श्रीमदनमोहनजी विद्यासागर)

कुछ नीति-वाक्योंको लेकर कुछ विद्वान् सब धर्मोंकी एकताका समर्थन प्रारम्भ कर देते हैं। पर जैसे इन्द्रियोंके एक-समान होनेसे सब मनुष्य बराबर नहीं होते, वैसे ही यहाँ बात है। महात्मा गांधी, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द, महात्मा बुद्ध आदि पुरुषोंके भी पंच कर्मेन्द्रियाँ और पंच ज्ञानेन्द्रियाँ थीं। इनकी देह भी पांचभौतिक थी। साधारण चोर उचक्केके पास भी ये ही दस इन्द्रियाँ हैं, उसकी देह भी पाञ्च भौतिक हैं। इतना ही क्यों, 'पशु' का सामान्य दर्शन करनेसे ये बातें उसमें भी मिलेंगी। क्या इतनेसे यह परिणाम निकाल लें कि ये सब बराबर हैं?

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

—यह प्रसिद्ध लोकोक्ति है। इनकी समानतासे क्या पशु और मनुष्य सर्वथा समान हैं? तो आगे 'धर्म या विवेक' शब्द डालकर भेद क्यों कर दिया? आश्चर्य यह है कि समानताका दावा लेकर चार पदार्थ आगे बढ़े और भेदका दावा लेकर एक। इस एक (विवेक) का इतना प्रभाव है कि किसीको पशु कहनेमें वह गाली समझकर अपमानित हो उठता है।

ठीक यही नियम सभ्यताओंको तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन करनेवालोंको समझ लेनी चाहिये। सभ्यताओंमें भी विवेक ऐसा तत्त्व है, जो आर्य-संस्कृतिको अन्य संस्कृतियोंसे भिन्न एवं श्रेष्ठ सिद्ध करता है। जहाँपर अन्य धर्म, मत-मतान्तर, सम्प्रदाय, संस्कृतियाँ किसी एक मनुष्यसे सम्बद्ध हैं, वहाँ हमारी आर्य-संस्कृति 'विवेक' से सम्बन्ध रखती है। हमारी संस्कृतिमें तर्क ऋषि है; अन्योंमें तो '**बाबावाक्यं प्रमाणं स्यात्**' ही है। यह भेद है, जिसे हमें सदा सामने रखना चाहिये।

दूसरे, जो नीतिवाक्य हैं, उनको जीवनमें लागू करनेका विधान भी देखना चाहिये। उससे हम यह समझ सकेंगे कि इस शब्दका क्या अर्थ उन लोगोंने समझा है।

(१) '**सर्वे भवन्तु सुखिनः**' के अर्थवाले वाक्य सब धर्मोंमें मिलेंगे। पर आर्य इस 'सर्व' शब्दके अर्थमें '**सब प्राणिमात्र**' को आश्रय देता है, जब कि पश्चिमीय उच्चाति-उच्च सज्जन केवल मनुष्यतक ही पहुँचे हैं। वे मनुष्यके सुखके लिये अन्य प्राणियोंका विनाश करनेमें जरा भी नहीं हिचकते। और एक मुसल्मान तो 'सर्व' का अर्थ 'सब मुसलमान' ही समझता है। क्योंकि अन्य सब तो काफिर हैं, जिनपर कुफ्र टूटेगा। किसी-किसीने तो काफिर ही नहीं, अन्य धर्मावलम्बियोंको 'पशु' तक बताया है!

(२) '**ब्रह्मचर्य**'। स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य-व्रत पालनकर विवाह करें। इस विवाह-विधिका विधान सर्वत्र है। आर्योंमें विवाहके बाद भी 'ब्रह्मचर्य' से रहो तथा पचास वर्षके पश्चात् वानप्रस्थमें जाकर पुनः तपःस्वाध्यायद्वारा ब्रह्मचर्यका पालन करो, ऐसा अर्थ है। पर अन्योंमें कहींपर भी ब्रह्मचर्यका ऐसा व्यापक एवं उदात्त अर्थ नहीं। चार स्त्रियाँतक कर लेनेका विधान देनेपर उनकी गति ब्रह्मचर्यकी ओर कैसे हो सकती है। दूसरे, वानप्रस्थ तो कहीं हैं ही नहीं। विवाह भी ब्रह्मचर्य-पालनका ही एक अंग है, साधन है, यह उच्च पवित्र अर्थ और कहाँ है?

एक और बड़ी विचित्र बात है। आर्यधर्ममें 'बहिनका रिश्ता' बहुत दूरतक माना गया है। यहाँतक कि एक ग्राममें होना 'बहिन' बना देनेके लिये पर्याप्त है। आजसे पचास वर्ष पहले यदि एक व्यक्ति ऐसे ग्राममें पहुँच जाता था, जहाँ कि उसकी कोई ग्रामवासिनी कन्या वधू बनकर आयी हो, तो वह उसके घर जाकर उसके लिये कुछ-न-कुछ पदार्थ अवश्य दे आता था। इसका परिणाम यह होता था कि व्यभिचारकी मात्रा हिंदुओंमें बहुत ही कम थी। परंतु अन्य कई धर्मोंमें बहिनका रिश्ता बहुत ही संकुचित है। सहोदरा बहिनके अतिरिक्त अन्य किसीसे भी विवाह हो सकता है। इसीसे वहाँ व्यभिचार अधिक है, स्त्रियोंकी अत्यधिक लूट है। पर स्त्रियोंकी लूट और उन्हें बेचना—ये बातें हिंदू-आर्योंमें अत्यन्त गर्हित मानी जाती हैं।

ये दो उदाहरण मैंने इसलिये दिये कि हम यह जान सकें कि किसी 'नीतिवाक्य' का वास्तविक अर्थ कौन क्या करता है—यह उसको जीवनमें लागू करते समय पता चलता है। वहींपर भेदकी दीवार खड़ी होती

है। जबतक हम उसे मिटा नहीं देते, तबतक एकता असम्भव है। इसीलिये हमारे प्राचीन ऋषियोंने '**समानो मनः**', 'यह **चित्तमेषाम्**' '**समानी वः आकूतिः**'—मानसिक या सांस्कृतिक एकतापर जोर दिया है। 'स्लोगन्स' (नारों) की समतासे ही उद्देश्यकी एकता नहीं हो जाती। क्योंकि 'एक-जैसे नारे' में भी सबने अपने-अपने अर्थ डाल रखे हैं। नारा एक है, अभिप्राय भिन्न। परिणामतः चालमें (संस्कृतिमें) भेद। जबतक अर्थमें एकता नही आ जाती, संस्कृतिमें एकता नहीं। और जब संस्कृतिमें भेद है, तब फिर साम्प्रदायिक एकता कैसे हो? संस्कृतिभेदसे ही विभिन्न सम्प्रदाय बनते हैं। विभिन्न सम्प्रदाय प्रत्यक्ष हैं; परिणामतः संस्कृतियोंमें भेद अवश्य होना चाहिये। इसलिये एकता-प्रेमियोंसे निवेदन है कि 'सांस्कृतिक भेदों' को दूर करें। 'हिंदुस्तानी' को राष्ट्रभाषा बनानेवाले आर्य-संस्कृतिके विघातकोंको यह बात अधिक गम्भीरतासे सोचनी चाहिये।

मैं प्रायः महाजनोंसे, विद्वानोंसे यह प्रश्न किया करता हूँ कि 'जब सब-के-सब धर्म एकता, स्नेह, सदाचारका उपदेश करते हैं—आपकी दृष्टिमें विश्वकी सब संस्कृतियोंमें कोई भेद नहीं, तब फिर भिन्न-भिन्न भाव, भिन्न-भिन्न भाषाएँ, भिन्न-भिन्न आचार-विचार, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण कैसे बने? यदि सचमुच वेद, गीता, कुरान, बाइबिल और पुराणादिकी शिक्षाओंमें भेद नहीं तो ईसा और मुहम्मदने नये पन्थ क्यों चलाये? न चलाते तो क्या था? इतने झगड़े तो न होते।' बस, ये एकतावादी इस प्रश्नको सुनते ही 'तुम सम्प्रदायी' हो की गाली देने लग जाते हैं। सत्य तो यह है कि संस्कृतियोंमें भेद है; रहन-सहन, वेश-भूषामें भेद है। कोई भी इनको छोड़ना नहीं चाहता। इनके एकताके प्रयत्न समीप लानेके स्थानपर दूर ले जानेवाले तथा सत्यका विनाश करनेवाले सिद्ध हुए हैं। एक सत्यवादीने कहा 'दो और दो—चार।' दूसरेने कहा 'दो दो पाँच।' इन बुद्धिमानोंने कहा, 'चलो', जाने दो; दो और दो साढ़े चार।' मूर्खके लिये तो कुछ घाटा ही नहीं, क्योंकि असत्य वैसे ही रहा। पर प्रेमका अन्धा प्रचारक भी मूर्ख बन गया। ये सब कम्प्रोमाइजके प्रयत्न ऐसे ही हैं। सत्यमें 'अपीजिंग' का अभिप्राय ही क्या है?

ये सब एकताके प्रयत्न ऊपरी हैं। दो झगड़तोंपर यदि पर्दा डाल दें तो पर्देकी एकता उन्हें मिला नहीं देती। एक जेलमें बंद कैदी एक नहीं हुआ करते। होटलकी मेजपर बैठे चार व्यक्ति एक (united) नहीं। कराची या देहलीमें कानफरेन्स करनेवाले भारत और पाकिस्तानके प्रतिनिधि एक क्यों नहीं हो जाते?

मैंने एक बार एक 'सत्य-अहिंसाके प्रचारक' से, जिसने इस एकताके पागलपनमें हिंदूधर्मशास्त्रोंके स्थानपर कुरान रख ली थी और निस्सन्तान होनेपर दो मुस्लिम बालिकाएँ रख ली थीं, कहा—"देखो भाई! एक व्यक्तिके सिरपर रूमी टोपी लगा देते हैं, गलेमें क्रॉस लगा देते हैं, हाथमें गीता पकड़ा देते हैं। वह बाजारमें जाता है, वहाँ एक अबला पड़ी है। यह एकता या प्रेमका प्रचारक मानवमात्रका हितेच्छु आकर कहता है 'बहिन! तुम्हें क्या कष्ट है?' समझिये कि वह बहिन हिंदू है। सिरपर टोपी देखते ही उसके सामने वह दृश्य आ जाता है जिसमें.........। समझिये कि वह मुसलमान बहिन है। हाथमें गीता, गलेमें क्रॉस देख वह भी सन्देह करती है। यदि वह बहिन ईसाई है, तब भी यही हाल होता है। परिणामतः उस एकताप्रचारकका कोई विश्वास नहीं करता। वह किसीको भी एक न कर सका। क्योंकि उसके प्रयत्नमें बाह्यरूपकी प्रधानता थी। सांस्कृतिक एकताका तो उसमें लेश भी नहीं है।"—मेरी इस बातको समझकर भी वह अपने दुराग्रहसे हटा नहीं।

× × ×

अब पाठक प्रश्न करेंगे कि यदि सचमुच ही भेद हैं तो उनको समझाइये।

यद्यपि आजकल विवेकबुद्धिसे अच्छे-बुरेमें, उपकारी-अपकारीमें भेद बतानेवाला साम्प्रदायिक कहा जाकर बदनाम किया जाता है, तथापि—

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः।

—के अनुसार धर्मजिज्ञासु बनकर मैं यहाँ कुछ दिग्दर्शन कराता हूँ। पाठक मुझे भूलसे भी भेदवाद न समझें। यह भेद बताकर मैं पाठकको सत्यके समीप ले जाना चाहता हूँ। क्योंकि सत्यके समीप आये बिना मनुष्य 'सर्वभूतदया' या 'आत्मौपम्य' का अधिकारी बन ही नहीं सकता।

× × ×

भेदको समझनेके लिये हम सोदाहरण चलते हैं—

(१) पाश्चात्य सभ्यता विनाशात्मक है।

एक पेन्सिल है। उसमें चारों ओर लकड़ी, बीचमें सीसा है। आप उसको तभी काममें ला सकते हैं, जब कि सारी लकड़ीको चाकूसे कतरकर फेंक दें। चाकूसे हाथ कटनेका डर। लकड़ीपर दो पैसे व्यर्थ खर्च। पेन्सिल-प्रयोगके लिये कागज। हर बातको कागजपर लिख लो। मस्तिष्कको प्रयोगमें लानेकी जरूरत नहीं। परिमाणतः मस्तिष्क निर्बल, स्मृतिशक्ति कम; क्योंकि जब सब लिखा जायगा तो उसे पढ़ना पड़ेगा। आँखोंसे परिश्रम अधिक, परिणामतः आँखोंकी शक्ति कम।

इसके विरोधमें भारतीय सभ्यता पत्थरकी पट्टी (स्लेट)। पत्थरकी स्लेटी। लिखो, स्मरण कर लो। मस्तिष्ककी उचित व्यायाम, आँखोंका अनुचित परिश्रमसे बचाव।

दवाइयाँ देखिये। चार आनेकी दवा। बाजारमें कीमत सवा रुपया। एक रुपया व्यर्थका भार। दूसरे प्रकृतिका नियम है कि जो मनुष्य जहाँ रहता है, उसके स्वास्थ्यकी समस्त सामग्री वहीं एकत्रित होती है। विलायती दवाइयोंका यहाँ असर कैसे हो।

(२) अब जरा वेश-भूषाको लीजिये। पाश्चात्य वेश-भूषामें कोट, पैंट, टोप प्रधान हैं। भारतवर्षमें धोती, उत्तरीय—दुपट्टा, टोपी या पगड़ी। वास्तवमें तो सिर नंगा।

एक आदमी बाजारमें लहू-लुहान पड़ा है। पाश्चात्य-वेशसे सुसज्जित व्यक्ति पाससे गुजरता है। उसका हृदय दयापूर्ण है। पर बीमारके सिपर पट्टी कैसे बाँधे? क्या चीज फाड़े? दूसरी तरफ एक भारतीय आता है। चार-पाँच गजकी धोती है। चार इंच पट्टी फाड़ दे या आधा गज़ कपड़ा फाड़ दे, उसका नुकसान नहीं होता। उसको भार नहीं मालूम पड़ता। एक स्थानपर पोशाकने सेवा करनेमें बाधा डाली और दूसरे स्थानपर वही सहायक बन गयी।

दूसरे, इस पोशाकने गरीब-अमीर, छोटे-बड़ेके भेदको पैदा कर दिया! साधारण मनुष्य 'बाबू' के पास जानेमें ही घबराता है। तीसरे, इस पोशाकमें मनुष्य सर्वत्र स्वतन्त्रतासे जा नहीं सकता। उसके उठने-बैठनेके लिये विशेष प्रकारके स्थान, सामान एवं परिस्थितिकी जरूरत है। दूसरी ओर ऐसी बात नहीं है। चौथे, इस पोशाकमें अतिथि बनकर जाइये तो गृहस्थके ऊपर भार पड़ता है। सोना हो तो पोशाक दूसरी चाहिये। क्योंकि कोट-पैंटमें बल पड़ जानेका डर है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह सभ्यता मनुष्यको मनुष्यसे दूर करती है, जब कि पूर्वीय सभ्यता मानवको मानवका सहायक बनाती है।

(३) सजावट—पाश्चात्य सभ्यतामें बाहरी तड़क-भड़कको स्थान ज्यादा है। फर्नीचर न हो तो मनुष्य असभ्य समझा जाता है। पाश्चात्य भावनाओंने इतना प्रभाव किया है कि 'सभ्य' कहानेके लिये इन व्यर्थकी वस्तुओंका होना आवश्यक-सा हो गया है।

कमरा ऐसा सजाया जाता है कि साधारण आदमी अंदर आनेसे ही घबराते हैं—शायद कालीन खराब हो जाय, फर्नीचर मैला हो जाय। मनुष्य मनुष्यके पास बैठनेसे घबराता है। पर अमरजीवी बाबूकी चटाई किसीको अपने पास आनेसे नहीं रोकती।

(४) पाश्चात्य सभ्यतामें सौन्दर्यके लिये स्नो, क्रीम, पाउडर, लिपस्टिक आदि हैं। भाँति-भाँतिके, बालोंको सफेद करनेवाले तैलादि हैं। ये सब ऊपरी टीम-टामके पदार्थ हैं जो कि चमड़ेको खराब करते हैं, खुरदरा करते हैं। दूसरी ओर भारतीय गृहिणी उबटन, शुद्ध तैल, घृत मर्दन करती है, जो रोमकूपोंके द्वारा शरीरके अंदर जाकर शरीरकी त्वचाको स्निग्ध, तेजस्वी, लचकीली बनाते हैं। कम खर्चमें अधिक आरोग्य।

इससे एक इस रहस्यका भी पता चलता है कि भारतीय सभ्यता अन्तर्दृष्टि रखती है, अंदरसे अधिक साफ रहना चाहती है। इसके सर्वथा विपरीत पाश्चात्य सभ्यता बाह्य शोभा, शृंगार और बनावटको पसंद करती है। शायद यही एक कारण है कि पाश्चात्य राजनीतिकी टोकरी खोलें तो उसके अंदरसे षड्यन्त्र और काले कारनामे ही दिखायी पड़ते हैं।

यही बात अन्य प्रकारके शृंगारोंकी है। पुष्पोंसे सजाना भारतीय सभ्यताका एक विशेष भाग है।

(५) खान-पानके तरीकेको देखिये। भारतीय सभ्यतामें मद्य-मांसका सर्वथा निषेध है; क्योंकि प्राणिमात्र-पर दया इसका मूलमन्त्र है।

शं द्विपदे, शं चतुष्पदे। शं नो ग्रावाणः।

इसके विपरीत हिंसक वृत्तिवाले ये लोग मद्य-मांसादिका भरपूर प्रयोग करते हैं।

एक और मजेकी बात है। चार मित्र बैठे खा-पी रहे हैं। गिलासमें चाय लेकर एक-दूसरेकी

स्वास्थ्यकामना करते हुए स्वयं पीते हैं। स्वास्थ्य दूसरेका बढ़ाना हो तो स्वयं पान करनेसे कैसे बढ़ेगा? दूसरी ओर भारतीय सभ्यता आत्मसन्तोषके लिये 'अतिथि' को खिलाती है।

(६) प्रकृतिद्रोह पाश्चात्य-सभ्यताका विशेष गुण है। प्रकृतिने हमको नाना प्रकारके अन्न-वनस्पति, दुग्ध-घृतादि दिये हैं। उनका वैसा ही प्रयोग सर्वोत्तम है। पानीको पानीके रूपमें पीना सर्वोत्तम; पर ये लोग पानीकी बरफ आदि बनाकर पुनः इससे पानीको ठण्डा करवाकर प्रयोग करना सिखाते हैं, परिणामतः अपव्यय और मन्दाग्नि।

इसके विपरीत भारतीय सभ्यता वास्तवमें शाक-मूलाहारकी प्रचारक है। प्रकृतिने जैसा दिया है, उसमें कम-से-कम परिवर्तन करके उपयोग करनेको कहती है।

(७) चिकित्साशास्त्रके दृष्टिकोणमें भी स्पष्ट भेद है। इसका उद्देश्य सेवा नहीं, रुपया कमाना है। बीमारको दवा इसलिये नहीं दी जाती कि उसे देना कर्तव्य है; पर इसलिये कि उसने फीस दी है।

भारतीय सभ्यता क्योंकि त्यागवादकी पोषक है, इसलिये इसका मूलमन्त्र चिकित्सामें 'उपवास' है। क्योंकि पाश्चात्त्य सभ्यता भोगवादी है, इससे उसमें उपवास नहीं।

भारतीय सभ्यतामें 'शौच'—शुद्धि जीवनकी उन्नतिका आवश्यक अंग है; परिणामतः सर्वप्रथम ही शुद्धीकरण, विरेचन है। पाश्चात्त्य चिकित्सा-प्रणाली बीमारीको दबाती है, निकालती नहीं।

(८) शिक्षणमें सदाचार, व्यायाम, खेल-कूदको इतना स्थान नहीं। कल्चर, सैक्रिफाइस, सर्विसका कोई स्थान नहीं। विद्याका उद्देश्य रुपया कमाना है, उपाधि प्राप्त करना है; जब कि भारतीय सभ्यताका मूलमन्त्र है

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥*

पाश्चात्त्य विद्याविधान बहुत खर्जीला है। यह सिस्टम ही कमर्शियल भावनाओंसे भरा पड़ा है; जब कि भारतीय विधान है—पेड़ोंके नीचे श्रेणियाँ, जंगलोंमें झोपड़ियोंमें निवास। पाश्चात्त्य-सभ्यतामें स्टडी, राइटिंग, रीडिंगका स्थान ज्यादा है, नॉलेजका कम। वे यह कहते हैं—एक झूठा भी यदि सत्य बोलनेके दस लाभ बताता है और सच्चा यदि दो तो इन दोनोंमें झूठा 'बेस्ट स्टूडेन्ट' है। विद्याका जीवनके साथ सम्बन्ध न जोड़कर वे दिमागसे जोड़ते हैं।

(९) 'स्वावलम्बन' का शब्द दोनों प्रयोग करते हैं। पर इसके अभिप्रायमें दोनोंका महान् भेद है।

भारतीय सभ्यता शरीर और मनसे परिश्रम करके यथासाध्य, सब आवश्यक जीवनोपयोगी वस्तुओंका उत्पादन स्वयं करना सिखाती है। इसके विपरीत पाश्चात्त्य सभ्यता इस उत्पादनमें भी व्यापार-बुद्धि लाकर यन्त्रवादका प्रचार करती है।

जबतक दुनियामें यन्त्रवाद है, तभीतक पूँजीवाद है। पूँजीवादके कारण ही यह सब अशान्ति है। यन्त्रवाद भोगवादी प्रकृतिकी उपज है, जो कि पाश्चात्त्य सभ्यताके हर एक पहलूमें छिपी है।

(१०) पाश्चात्त्य जीवनका उद्देश्य क्या है, कुछ पता नहीं। शायद 'खा, पी और मौज कर' हो। भारतीय जीवन सोद्देश्य है।

'मनुर्भव' (ऋग्वेद)—तू सच्चा मनुष्य बन। इसके लिये यम-नियमादिका पालन,पंचमहायज्ञोंका विधान, आश्रम-व्यवस्था आदिका विधान। परंतु ऐसा कोई भी मार्ग पाश्चात्त्य सभ्यतामें नहीं।

(११) हर बातमें प्रोफेशनलिज्म या कमर्शियलिज्मका रंग है; जब कि इधर सेवा, त्याग, विद्याका खयाल है।

(१२) 'मनुष्य' को जीवनमें क्या चाहिये? 'अन्न, वस्त्र, निवास, विद्या।' फिर जिस संघमें वह रहता है, उसमें अच्छा नाम। 'अन्न-वस्त्र-विद्या-निवास' पर दोनोंके दृष्टि-कोणमें भेद हैं, ऊपर निदर्शन किया जा चुका है। इसमें भारतीय दृष्टि व्यापारिक नहीं है, वह व्यावहारिक है—अर्थात् ये मनुष्यके पूर्ण विकासके लिये आवश्यक हैं। इसमें व्यापारिक बुद्धि अत्यन्त नीच भावना है। क्योंकि मेरा शिशु मेरे दूधके बिना जीवित नहीं रह सकता, इसलिये मैं उससे कुछ रिटर्न लूँगी—क्या कोई जननी ऐसा सोचती है? वह समझती है कि 'अन्न' जरूरी है, इसमें व्यापार-बुद्धि अमानवीय है।

परंतु पाश्चात्त्य सभ्यता व्यापारिक है। परिणामतः 'मानव-निर्माण' से उसका ध्यान हटाकर 'समाजनिर्माण' पर अधिक है। उसका ध्यान मनुष्यका 'मानसिक,

* विद्या विनय सिखलाती है, विनयसे पात्रता (योग्यता) आती है, पात्रतासे धन मिलता है, धनसे धर्मकी प्राप्ति होती है, और उससे सुख होता है।

शारीरिक' विकास कैसे हो—इसपर इतना नहीं, जितना कि सांघिक—सहकार समिति-सम्बन्धी कार्यवाहियोंपर है। इसलिये उसकी चालमें कोई ऐसी चीज नहीं, जो मनुष्यकी आवश्यकता पूर्ण करके उसका पूर्ण विकास करा सके। परिणामतः मनुष्य कमजोर रहता है।

भारतीय सभ्यतामें 'उत्तम मनुष्य' बनाना प्रथम कर्तव्य है। जब मनुष्य उत्तम बनता है, तब स्वभावतः ही उत्तम समाज बन जाता है; क्योंकि मनुष्योंके समुदायका नाम ही तो समाज है। इस सूक्ष्म भेदको भी समझना चाहिये।

(१३) यदि हम ऊपरकी बातको समझें तो एक और बात समझमें आती है। पाश्चात्त्य पद्धतिमें मुद्रा=रुपया=पूँजीका स्थान ऊँचा है। क्योंकि सांघिक अभिवृद्धिके लिये इसकी आवश्यकता है। जीवनके लिये रुपया जरूरी नहीं है। पर पाश्चात्त्य सभ्यताका केन्द्रविन्दु रुपया ही है। जीवन खर्च करके, शारीरिक शक्तियाँ घटा करके भी रुपया कमाना उनका लक्ष्य है। समय खर्च करके रुपया कमाना। एक बार मैं एक मित्रके साथ दूसरे दर्जेमें बैठा मद्राससे देहली आ रहा था। वे बात-बातमें कहने लगे कि इससे अच्छा तो सीधे विमानद्वारा पहुँच जाना है। मैंने पूछा—'क्यों?' कहने लगे कि 'जितना समय इसमें लगेगा, उतनेमें मैं कई सौ रुपया कमा सकता हूँ।' उनके पास लाखोंकी सम्पत्ति है।

दो दिनमें वे निस्सन्देह अपनी व्यापारिक वृद्धि करके उनका जो समाजमें स्थान है, उसे बढ़ा लेंगे; पर सोचना तो यह है कि उन्होंने अपना अर्थात् अपने शरीर और मनका कितना विनाश किया। उतना रुपया कमानेमें कितना असत्य बोला होगा!

पूर्वीय सभ्यतामें 'रुपये' का इतना प्राधान्य नहीं, इसका मतलब ही क्या? व्यक्तिगत जीवनविकास मुख्य, सांघिक जीवन-विकास नहीं। '**शतायुर्वै पुरुषः**।' इसीलिये—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।

—की प्रार्थनाएँ हैं।

धनके लिये इतनी हवड़-धवड़, आपाधापी, आडम्बर क्यों? मेरा एक मित्र यूरोपसे आया। कहने लगा कि 'लंदनका बाजार ऐसा है, जिसमें कोई किसीसे बात करता नहीं दीखता, सब इधर-उधर दौड़ते नजर आते हैं। बड़े 'बिजी' रहते हैं।'

मैंने पूछा कि 'क्या किसीको किसीसे मतलब नहीं?' कहने लगे—'बिलकुल नहीं।'.....'किसीको किसीके लिये सोचनेकी फुर्सत नहीं।'

'तो क्या सबको अपनी पड़ी है?'

'हाँ! हाँ !!'..

कृपया पाठक लंदन बाजारकी मनोवृत्तिको समझनेकी कोशिश करें।

(१४) पाश्चात्त्य सभ्यतामें स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध पुरुषार्थ-चतुष्टयकी सिद्धिके लिये न होकर 'कर्मसिद्ध्यर्थ है। 'धर्म', 'अर्थ', 'मोक्ष' में स्त्री-पुरुषका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं।

एक मेरे मित्र अमेरिकासे वापस आये, तब उनसे मेरी मुलाकात हुई। जब उन्होंने समाचारपत्र खरीदना चाहा, तब मैंने अपना देकर कहा, 'काहे को खरीदते हो? हमारे पास है।'

कहने लगे—'देखो, भाई! वहाँ तो पति भी यदि समाचारपत्र खरीदते हैं तो पत्नी अपना अलग लेगी।......सबके अकाउन्ट्स अलग, कमरे अलग........यह अलग, वह अलग।'...........पृथक्त्वकी भावना।

साथ ही यह 'काम-सिद्ध्यर्थ' सम्बन्ध भी 'इटर्नल' नहीं। इसमें दीर्घता न होकर सर्वत्र तलाक-ही-तलाक है।

इसके विपरीत विशुद्ध भारतीय सभ्यतामें विवाह नित्य है। स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध अच्छेद्य—अटूट है।

भारतीय सभ्यता न केवल स्त्री-पुरुषके 'पति-पत्नी' सम्बन्धकी दीर्घता एवं व्यापकताको मानती है पर पारिवारिक बान्धव्यकी शृंखलाको भी दृढ़ मानती है। 'संयुक्त-कुटुम्ब-पद्धति' आत्मौपम्यका एक बड़ा सुन्दर उदाहरण है।

× × ×

मैं यदि इस प्रकार उदाहरण देता जाऊँ तो यह लेख बहुत लंबा हो जायगा। पाठकके सामने इतने उदाहरण यह दिखलानेके लिये पर्याप्त हैं कि इन दो सभ्यताओंमें भेद क्या है, हमारी सभ्यता श्रेष्ठ क्यों है।

यदि मेरे इस छोटे-से निबन्धसे कुछ पाठक अपनी संस्कृति-सभ्यतासे प्रेम करना सीख गये तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

मेरी संस्कृति

(लेखक—श्रीमदनगोपालजी सिंहल)

आओ, दिखलाऊँ तुम्हें अपना दिव्य भूतकाल—
अपना स्वर्णिम अतीत,
जब दिग्दिगन्तरके राजे-महाराजे सभी
अपने मणि-मंडित स्वर्णमुकुटोंके साथ-साथ
सिरको झुका देते थे,
सामने आते ही मेरे पुरखाओंके—
जिनका दिग्विजय-केतु नभमें फहराता था,
जिनकी जय-जयकी ध्वनि विश्वमें गूँजती थी।
और यह मेरा देश
भूतलका स्वामी था,
मेरा यह दिव्य धर्म
जगतीका भूषण था,
मेरा यह वेद-ज्ञान
विश्वमें मुखरित था,
और गूँजता था घोष
मेरी ही संस्कृतिका—
पूरबमें, पश्चिममें, दक्षिणमें, उत्तरमें,
सारी ही दिशाओंमें,
भूतलके कण-कणमें।
और उस संस्कृतिके एकच्छत्र शासनमें—
मेरे राम राजा थे,
जिनका राज्य रामराज्य
आज भी जन-जनके सपनोंका राजा है।
आज भी भारतके—
—भारत क्या भूतलके—
सभी जन चाहते हैं,
सभी मन चाहते हैं—
एक बार फैले फिर, वो ही दिव्य रामराज्य
सारे भूमण्डलपर।
ऐसा वह धर्म-राज्य
निर्मित किया था इस आर्यकी संस्कृतिने,
हिंदूकी संस्कृतिने,
भारतकी संस्कृतिने।
इसकी ही देन था वह।

× × ×

'स्वयं भी जीओ और दूसरेको जीने दो'
ये ही सिद्धान्त था मेरी इस संस्कृतिका।
इसके अनुयायियोंने—
भारतके हिंदुओंने
विश्वको दिया था ज्ञान वाणीके द्वारा ही;
हाथोंमें वेद और वाणीमें वेद-घोष
'वैदिक' का चिह्न था।
धर्म और ज्ञानके प्रकाशके प्रदानमें,
हमने न हाथोंमें खंग कभी थामी थी,
हमने तो संस्कृतिकी पावन सु-वेदीपर
मरना ही सीखा था—
जिसके परिणामरूप,
कितने ही नन्हे लाल
भीतोंमें चुन गये
नींवोंमें दब गये,
आरोंसे कट गये,
टुकड़ोंमें बट गये।
और फौलादी युवा

'हर हर' का घोषकर
कटे रण-खेतोंमें
धर्म-प्राण भारतके एक-एक चप्पेपर।
और ललनाओंने
(पुष्पोंसे कोमल उन पुष्पोंकी कलियोंने,
कोमल कमलकी उन दिव्य पाँखुरियोंने—)
धूधूकर धधकती हुई अग्निकी लपटोंका
कर लिया आलिंगन—
एक दो बार नहीं,
दस बीस बार नहीं,
किंतु सैकड़ों ही बार।
यही था भव्य रूप मेरी दिव्य संस्कृतिका।

× × ×

शत्रु यह जानता था—
जबतक इस भारतमें
भारतकी संस्कृति है,
शिक्षा है, सभ्यता है,
धर्म है, कर्म है,
तबतक यह हिंदु-जाति
अजर है, अमर है,
कभी मिट सकती नहीं
तोप-तलवारसे भी।
और बस, यही जान
इसको मिटानेमें ही
जुट पड़ीं शक्ति सब
भूतलकी एक साथ।
अरबीने मिटाया इसे,
इंगलिशने मिटाया इसे,
और फिर—
अपनोंने मिटाया इसे,
इसे जो न जानते थे
सच्चे स्वरूपमें,
और जो प्रभावित थे
दूसरोंकी बातोंसे।
किंतु सब सहते हुए
अबतक यह जीवित है;
यही तो विशेषता है मेरी इस संस्कृतिकी—
इसको मिटानेवाले
स्वयं मिट जाते हैं।

× × ×

आज यह मेरा देश
बन्धनसे मुक्त है।
भौतिक परतन्त्रताकी इसकी सभी शृंखलाएँ
टूटकर गिर पड़ी हैं।
ऐसे पुण्य-युगमें हम
आज ले रहे हैं श्वास;
अतः कर्तव्य है हमारा यह सर्वप्रथम—
अपनी इस संस्कृतिका भूतलपर प्रसार करें।
जगको दिखलायें, बतलायें और समझायें
इसकी महत्ता दिव्य,
जिससे अशान्तिमय जगतीमें शान्ति हो—
छूटकर गिर पड़ें भूतलके हाथोंसे
घातक सभी अस्त्र-शस्त्र,
काल-रूप 'ऐटम बम'।
और कह उठे विश्व
कोटि-कोटि कण्ठोंसे—
'जय हो देश भारतकी!
'भारतके हिंदूकी!
'हिंदूकी संस्कृतिकी!

आयुर्वेदीय चिकित्सा-प्रणालीकी श्रेष्ठता

(लेखक—आयुर्वेदाचार्य कविराज श्रीकृष्णपद भट्टाचार्य आयुर्वेद-सरस्वती, काव्य-व्याकरण-पुराण-सांख्य-तीर्थ)

प्राय: सहस्र वर्षोंके बाद भारत वैदेशिक परतन्त्रताके कठोर बन्धनसे मुक्त हुआ है; पर पूर्ण स्वतन्त्रता हमें उसी समय मिलेगी, तब हमारी संस्कृति, भाषा एवं चिकित्सा-पद्धति पश्चात्त्य प्रभावसे मुक्त होंगी। यों तो स्वाधीनता एक व्यापक विषय है एवं उसमें सभ्यता, संस्कृति, धर्म, भाषा, भोजन, वस्त्र और चिकित्सा—सभी समाते हैं; पर इन सातोंमें तीन स्तम्भकी भाँति संस्कृति, भाषा एवं चिकित्सा ही किसी जातिकी मौलिकताको जीवित रख सकती हैं। सभ्यता और धर्म सांस्कारिक वस्तुएँ हैं; एवं भाषा, भोजन, वस्त्र और चिकित्सा—ये चारों ही आत्मनिर्भर बननेके लिये प्रेरणा देती हैं। इसलिये सभ्यता और धर्मरक्षाके लिये संस्कार या संस्कृतिकी जितनी आवश्यकता है, उतनी ही आवश्यकता ग्रन्थिबन्धनके लिये भाषाकी भी है; क्योंकि भाषाके बिना सभ्यतासे चिकित्सातक सभी ग्रन्थिविहीन हैं। अस्तु, अब चिकित्साके सम्बन्धमें भी कुछ प्रकाश डालना चाहिये। मानव-जीवनके लिये गर्भ-प्रवेशके साथ भोजन और ओषधिकी आवश्यकता होती है; अत: भोजन और ओषधिको एक ही पर्यायमें लेकर भारतके लिये कौन-सी प्रणाली श्रेष्ठ है, इसे अब प्रदर्शित किया जायगा। भोजन और ओषधिको एक ही पर्यायमें इसलिये लिया जा रहा है कि मानव-शरीरके लिये जो भोज्य पदार्थ है, वही ओषधि है; और जो ओषधि है, वही भोज्य है। क्योंकि महर्षि सुश्रुत भी कहते हैं—

अन्नमूलं बलं पुंसां बलमूलं हि जीवनम्।

—भोज्यपदार्थ ही बल-रक्षा या शरीर-रक्षाका मूल कारण है, और जीवन बलाधीन है।

महर्षि चरक भी कह रहे हैं—

प्राणा हि प्राणिभूतानामन्नं लोकोऽभिधावति।
वर्णप्रसाद: सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम्॥
तुष्टि: पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्।
लौकिकं कर्म यद् वृत्तौ स्वर्गतौ यच्च वैदिकम्॥
कर्मापवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम्।

'अन्न ही प्राणि-समूहके लिये प्राणस्वरूप है, सर्वलोक अन्नके लिये आग्रहशील है; वर्ण, सुस्वरता, जीवन, प्रतिभा, सुख, तुष्टि, पुष्टि, बल एवं मेधा—सभी भोज्य वस्तुके आश्रित हैं। आजीविकाके लिये लौकिक कार्य, स्वर्ग-लाभके लिये वैदिक क्रियानुष्ठान एवं मुक्ति-साधनके लिये जो पारमार्थिक क्रियाएँ की जाती हैं, सभी अन्नपर प्रतिष्ठित हैं।'

आयुर्वेद-चिकित्सा-प्रणालीकी सृष्टि ब्रह्माने की थी एवं पृथ्वीमें मनुष्योंको रोग-कातर देखकर भरद्वाजादि महर्षियोंने देवराज इन्द्रसे प्रार्थना करने जाकर यही कहा था कि 'भूमण्डलमें मानव रोगपीड़ित हो रहे हैं एवं उन त्रासित रोगियोंकी रक्षाके लिये हम सेवाकार्य करना चाहते हैं; इसलिये आप हमें अष्टांग आयुर्वेदकी शिक्षा दीजिये।'

उन महर्षियोंका उद्देश्य आजकी भाँति चिकित्सा-व्यवसाय करनेका नहीं था, यह तो हम चरक और सुश्रुतके इतिहास-भागमें देखते हैं।

आयुर्वेदप्रचारका उद्देश्य था चतुर्वर्गकी फलप्राप्ति। धन-संग्रहके लिये इसका उपयोग प्राचीन आचार्योंने कभी नहीं किया, इसीलिये आयुर्वेदमें कहा गया है—**धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।**' इसी मूलमन्त्रमें हम सभ्यता, संस्कार, धर्म, भाषा, भोजन और वस्त्रको प्रत्यक्ष और अनुमानद्वारा प्राप्त कर लेते हैं।

आज पृथ्वीमें जो पाँच प्रकारकी चिकित्सा-पद्धतियाँ चालू हैं—जिन्हें 'होम्योपैथी, ऐलोपैथी, साइकोपैथी, नेचरोपैथी और हाईजीजम' के नामसे पुकारते हैं—उनके मूल तत्त्वोंको आयुर्वेदके पंच निदानमें महर्षियोंने लिखा है—

हेतु-विपरीत, व्याधि-विपरीत, हेतु या व्याधि-विपरीत हेतुसम एवं व्याधिसम औषध, अन्न और विहारका उपयोग शरीरके लिये सुखदायक या आरोग्यकारक है।

महर्षियोंकी गम्भीर दृष्टि चारों ओर घूमा करती थी, आजकी होम्योपैथिक—लाक्षणिक एवं एलोपैथीकी विपरीत, चिकित्सापद्धति तथा नेचरोपैथी या प्राकृतिक चिकित्सा, साइकोपैथी या मानसिक चिकित्सा और हाईजीजम या व्यायाम-चिकित्सापर महर्षियोंने उत्तम रीतिसे विचार भी किया है। महर्षि चरकने रसायन-अधिकारमें दीर्घ जीवनके लिये जो कुटी-प्रावेशिक,

द्रोणी-प्रावेशिक, वातातपिक एवं आचार-रसायनकी व्यवस्था की थी, उसमें पांचभौतिक देहके लिये चतुर्विंशति तत्त्वोंको चिकित्साकार्यमें लिया है। किस स्थानके जलसे रोग नाश होता है, कहाँकी मृत्तिका रोग हरती है, कहाँकी वायु रोगापहारक है, सूर्य-तेजद्वारा किस ऋतुमें कौन-सा रोग नष्ट होता है—इस तत्त्वपर व्यापक रूपमें दृष्टि डाली थी। आयुर्वेदकी दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या एवं ब्रह्मचर्य-पालन-विधि ही सम्भवतया विश्वमें सर्वोत्कृष्ट प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली है। उत्तरायण या दक्षिणायन-भेदसे सूर्यके आदान, विक्षेप और विसर्गकालमें जीव-जगत् एवं पदार्थोंपर उसका क्या प्रभाव पड़ता है—इसकी लौकिक और आध्यात्मिक ढंगसे तर्क, युक्ति, प्रत्यक्ष और अनुमानद्वारा महर्षि चरकने मीमांसा की है।

प्राचीन आचार्यगण धर्म-शास्त्रके साथ चिकित्साको भी एक धर्मशास्त्र ही मानते थे; क्योंकि भोजनद्वारा मनुष्यकी बुद्धि विपरीत भावको प्राप्त कर लेती है, इस गम्भीर तत्त्वको सबसे पहले 'एतद्देशप्रसूत अग्रजन्मा' महर्षिगण ही जान पाये थे—इसे अनुमानद्वारा सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं। आज वह हमारे लिये प्रत्यक्ष है। वैदेशिक प्रभावमें पड़कर वैदेशिक भोजनसे अभ्यस्त व्यक्ति भारतीय संस्कृति, भारतीय भाषा एवं भारतीय चिकित्सासे घृणा रखते हैं; नहीं तो आज भारत परम असहिष्णु और संयमहीन कैसे हो गया।

अस्तु, अन्नके सम्बन्धमें आयुर्वेदसे प्रमाण दिये जा चुके हैं; अब उसी अन्नको जब पथ्यके रूपमें महर्षियोंने निर्देश दिया है, तब कहते हैं—

विनापि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते।
न तु पथ्यविहीनानां भेषजानां शतैरपि॥

'पथ्यद्वारा ही रोग आरोग्य हो सकता है, पथ्य-विहीन सैकड़ों ओषधियोंसे भी रोग आराम नहीं हो सकता।'

यानी यहाँ भी आयुर्वेद अन्नपर ही चिकित्साको स्थापित कर रहा है।

प्राचीन आचार्य पंचभूतात्मक देहकी प्राकृतिक ढंगसे रक्षाके लिये सदैव प्रयत्नशील थे; आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सक नेचरोपैथी या हाइड्रोपैथीके नामसे जो पद्धतियाँ चला रही हैं, उनके मूलतत्त्वमें आयुर्वेद ही है।

प्रयोगः शमयेद् व्याधिं यो नैवान्यमुदीरयेत्।
नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद् यो न कोपयेत्॥

'जिस ओषधिके प्रयोगसे रोगकी शान्ति होती है एवं जो दूसरी किसी व्याधिको उत्पन्न नहीं करता, वही शुद्ध प्रयोग है।' महर्षि चरक एवं अपरापर आचार्य भी इसी आधारपर चलते थे। **'स्वल्पाहारी स जीवति'**—स्वल्पाहार ही दीर्घ जीवनका उपाय है। महर्षि चरक सूत्रस्थानके पाँचवें अध्यायमें लिख रहे हैं—

मात्राशी स्यात्। आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी यावद्ध्यस्याशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति।

मिताहारी होना चाहिये, मिताहारसे ही प्रकृति ठीक रहती है। परिमित आहारके सम्बन्धमें जैमिनि-दर्शनमें एक जनश्रुति प्रचलित है। एक बार महर्षि जैमिनि आश्रममें उपविष्ट थे। उस समय वृक्षशाखामें एक पक्षी बोल उठा—**'कोऽरुक् ?'** यानी कौन अरोगी है? उत्तरमें जैमिनिने कहा—**'हितभुक्!'** यानी जो हितकर, पुष्टिकर और विशुद्ध आहार करता है। पक्षी फिर बोला—**'कोऽरुक् ?'** जैमिनिने भी उत्तर दिया **'मितभुक्!'** यानी परिमित आहार करनेवाला, जिससे रोग ही न हो! इसी प्रकार पक्षी फिर जब बोल उठा—**'कोऽरुक् ?'** तब जैमिनिने कहा, **'हितभुक्-मितभुक्।'** यानी जो व्यक्ति अग्निबल एवं द्रव्योंके गुणागुण तथा इन्दु और सूर्यके आदान-विक्षेप एवं विसर्गकालको जानकर समयानुकूल शरीर-पोषणयोग्य आहार करता है, वही व्यक्ति नीरोग रहकर दीर्घ-जीवन लाभ करता है।

आयुर्वेदका मूल सिद्धान्त इसी नीतिपर आश्रित है। मनुष्य प्रकृतिको आश्रय करते हुए अन्न, पानीय एवं सदाचारद्वारा अपने जीवन एवं शरीरको सुरक्षित रखे। इसी ध्येयपर आयुर्वेद अनादिकालसे चला आ रहा है।

आयुर्वेदके सिद्धान्तोंको जब हम भूल गये, तभीसे हम 'नीरोग' शब्दको भी भूल गये हैं, एवं **'शरीरं व्याधिमन्दिरम्'** तत्त्वको पश्चात्त्य वैश्यजनोंसे ग्रहण कर लिया है।

महर्षि पतंजलिकी वाणी **'मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्'** को चरकने रसायनमें लेकर आचार-रसायन बनाया था और हम उस आचार-रसायनको पाश्चात्त्य भोग-भूमिके अनाचार-रसायनमें रूपान्तरित करते हुए, पार्थिव सुखके लिये अपार्थिव अवदानपर स्वयं ही गालियाँ देते हैं।

त्यागव्रती एवं महान् ऋषियोंने भारतको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इस चतुर्वर्गका फल एक ही साथ प्राप्त करानेके लिये वेद, उपनिषद्, एवं दर्शन-शास्त्रसे सम्बन्ध रखकर आयुर्वेदका प्रचार किया था। इसीमें था—'**विद्ययामृतमश्नुते**' विद्यासे ही अमृतत्व लाभ होता है। आयुके हितके लिये आयुर्विद्या, आयुर्वेद पार्थिव एवं पारमार्थिक सुख देता था। यदि भारतीय विद्यामें उन लोगोंका विश्वास न होता तो याज्ञवल्क्यपत्नी त्यागपरायणा नारी मैत्रेयी यह नहीं कहती—'**येनाहं नामृता स्यां तेन किमहं कुर्याम्।**' अर्थात् जिससे अमृतत्व लाभ नहीं होता, उसे लेकर क्या करूँगी? इसीलिये विष्णुपुराणमें कहा गया है—

तत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषा ततोऽन्या भोगभूमयः॥

'जगत्‌में भारत ही श्रेष्ठ भूमि है, क्योंकि यह कर्मभूमि है। भारतके सिवा सारी भूमि भोगभूमि है।'

इसका प्रमाण हम आज चारों ओर ही देख रहे हैं। पाश्चात्त्य भौतिक विज्ञान मानवको सुखी बनानेके लिये अणुबम (Atom Bomb)-तक पहुँच गया है। ध्वंसके कराल मुखमें मानव-समाजको पहुँचानेके लिये एवं स्वयं सुखी बननेके लिये यह सारी प्रचेष्टा है। पाश्चात्त्य चिकित्सा-विज्ञान पेटेन्ट ओषधियोंद्वारा समग्र विश्वको ग्रास करनेके लिये जो व्यावसायिक क्रमकी सृष्टि शताब्दियोंसे करता आ रहा है, उसका परिणाम केवल जन स्वास्थ्यपर ही नहीं, बल्कि संस्कृतिपर चोट पहुँचानेके साथ-साथ आर्थिक पराधीनतामें भी भारत-जैसे देशको अनन्त कालतक जकड़कर रख सकता है। भारत-जैसे षड्ऋतुप्रधान देशमें सभी पाश्चात्त्यदेशीय ओषधियाँ निर्विचार सभी रोगोंमें चल सकती हैं या नहीं—इस सम्बन्धमें भारतीय वैज्ञानिक ध्यान देना उचित नहीं समझते।

बारहों मास मद्य, मांस एवं अण्डे सेवन करनेवाले शीत-प्रधान देशकी ओषधि, पथ्य एवं इंजेक्शन भारत-जैसे षड्ऋतुप्रधान—विशेषतया ग्रीष्मप्रधान देशमें सभी ऋतुओंमें चल सकते हैं या नहीं—इस ओर यदि सांस्कृतिक दृष्टिकोणसे हम न सोचें तो कम-से-कम हमें स्वास्थ्यकी दृष्टिसे तो सोचना ही पड़ेगा। जहाँ गर्मीके कारण ग्रीष्म-ऋतुमें रक्तका उतार-चढ़ाव बहुत ही शीघ्र होता रहता है, वहाँ शीतदेशीय इंजेक्शनका प्रभाव स्नायु और धमनीपर किस ढंगसे पड़ता है—इसे हम नहीं समझते; पर त्रिकालदर्शी महर्षि चरक इसे जानते थे एवं सारी पृथ्वीके लिये ही चरकने लिखा है—'**यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम्।**' क्या इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि आयुर्वेद ही श्रेष्ठ चिकित्सा-प्रणाली है? यदि हमें संस्कृति एवं स्वास्थ्यकी रक्षा करनी है तो आयुर्वेदकी राष्ट्रियताके लिये तथा उसकी श्रेष्ठता प्रदर्शनकर उसे विश्वसभामें आसन दिलानेके लिये आगे बढ़ना ही पड़ेगा—

अस्तु, आयुर्वेद-प्रणालीकी श्रेष्ठताके सम्बन्धमें यदि हम ऐतिहासिक निर्णयपर जाना चाहें तो हमें जानना चाहिये कि पाश्चात्त्य देशोंके बहुत-से मनीषी आयुर्वेदकी श्रेष्ठताको मानते थे एवं आज भी मानते हैं। जब भारतसे आयुर्वेद यूनान एवं अरबमें गया था, एवं वहाँसे अनुवादित होकर पाश्चात्त्य देशोंमें छा गया था, उस समयके इतिहाससे आज हमें कोई विशेष लाभ नहीं। पिथागोरस, हिपोक्रेटीज, जेकबी, डा० वाइज़, कलब्रोथ, ब्लूमफील्ड, जार्ज कुक—सभीने इसकी श्रेष्ठता मानी है, पर अवनति-कालमें हमें गालियाँ भी दी हैं। अब पुनरभ्युदय-कालमें हमें आयुर्वेदके लिये विश्वसभामें आसन प्राप्त करनेके लिये देशके प्रमुख नेता, वैज्ञानिक और आम जनताको आयुर्वेदकी ओर आकर्षित करनेका भगीरथ-प्रयत्न करना चाहिये। आयुर्वेदमें काष्ठौषधि एवं रसौषधिकी दो पद्धतियाँ ही एक सीमाके अंदर कार्य करती आ रही हैं; इसलिये गरीब-से-गरीब जनता एवं धनीसे लेकर राजातक भारतकी सभी जनता आयुर्वेदसे ही लाभवान् हो सकती हैं, जिसमें प्राकृतिक विधान, सदाचार-विधान आदि नैसर्गिक विधि-निषेधका भण्डार भी पूर्णतया विद्यमान है। राष्ट्रिय अभिमान प्रत्येक जातिको ही है; इसी दृष्टिसे चिकित्साकी राष्ट्रियताके लिये आयुर्वेदके स्थान-निर्णयद्वारा हमें आयुर्वेदकी श्रेष्ठता विश्वके सम्मुख उपस्थित करनेके लिये भारतीय वैज्ञानिकोंका ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहिये। शरीर-तत्त्वमें जो वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तका समन्वय हुआ है, यह आधुनिक भौतिक विज्ञानके लिये एक स्वप्न ही है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा-प्रणालीकी श्रेष्ठता

(लेखक—आयुर्वेदाचार्य कविराज श्रीहरिवक्षजी जोशी, काव्य-सांख्य-स्मृति-तीर्थ)

'चिकित्सा' शब्दका अर्थ रोग-निवृत्ति करना है। '**कित् रोगापनयने**' धातुसे 'चिकित्सा' शब्द बना है। संसारमें जितने प्राणी उत्पन्न हुए हैं, चाहे वे स्थावर हों या जंगम, रोग सबको होता है। इन रोगोंकी निवृत्ति करनेका नाम चिकित्सा है। चिकित्साशास्त्र अनेक देशोंमें अनेक प्रकारसे विस्तृत और प्रचलित हैं। मनुष्योंकी तो बात ही क्या—पशु, पक्षी, बन्दर, नकुल आदि जानवरोंको भी प्राणिशास्त्रवेत्ताओंने अपनी चिकित्सा करते हुए देखा है। एक नकुल जब किसी बलवान् सर्पसे युद्ध करते हुए मर-सा जाता है, दूसरा नकुल उसको आकर कोई जड़ी सुँघाता है और वह जीवित होकर दूसरे नकुलकी सहायतासे सर्पपर विजय पा लेता है। गाय-भैंस आदि पशु बीमार पड़नेपर लंघन करते हैं। अपथ्यका परिहार और पथ्य वनस्पतियोंका सेवन स्वयं जंगलमें कर लेती हैं। ऐसी ही बहुत-सी धारणाएँ प्राणिशास्त्रियोंकी हैं। खैर, जो भी कुछ हो, दुःखके प्रतिकारके लिये थोड़ी-बहुत बुद्धि सृष्टिकर्ताने सबको दी है—यह तो मानना ही पड़ेगा। हमारा आजका विषय मानव-चिकित्साशास्त्रसे सम्बन्ध रखता है। यद्यपि चरक, सुश्रुत आदि आर्ष-ग्रन्थोंमें चिकित्साशास्त्रका विषय प्राणिमात्रको ही माना है, तथापि उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें जो चिकित्सा लिखी है, वह पुरुष (मानव)-को ही इंगित करके लिखी है। वे इस दिशामें लिखते हैं—

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
स पुमांश्चेतनं तच्च स चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं च वेदोऽयं सम्प्रकाशितः॥

(चरक—सू० स्थान, अध्याय १)

अस्मिन् हि शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष उच्यते। तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानम्। कस्मात्, लोकस्य द्विविधत्वात्। लोको हि द्विविधः। स्थावरो जङ्गमश्च। तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः। स्वेदजाण्डजोद्भिज्जजरायुजसंज्ञः। तत्र पुरुषः प्रधानम्। तस्योपकरणमन्यत्।

(सुश्रुत, शरीरस्थान, प्रथम अध्याय)

इससे स्पष्ट है कि चरक-सुश्रुतादि आचार्योंके लिये चिकित्साका विषय प्रधानतया पुरुष (मानव) रहा है। उन्होंने इसीकी चिकित्सा लिखी है। परंतु चिकित्साशास्त्रका विषय तो मन, आत्मा और शरीर—इन तीनोंके संयोगसे तिपाईकी तरह अन्योन्याश्रित प्राणिमात्र ही है। इन सबकी चिकित्सा की जाती है। शालिहोत्र (अश्वायुर्वेद), हस्त्यायुर्वेद आदि ग्रन्थ इनके विषयमें स्पष्ट प्रमाण हैं। और भी न जाने इस विषयके कितने ग्रन्थरत्न समय और आक्रान्ताओंके दुराचारसे नष्ट हो गये होंगे। तात्पर्य यह कि प्राणिमात्रको चिकित्साकी आवश्यकता पड़ती है। इसलिये भारतीय आस्तिक विद्वानोंकी यह दृढ़ धारणा है कि जिस प्रकार सृष्टिकी रचना करनेके पहले उसके सम्यक् संचालनके लिये ईश्वरने वेदोंको प्रकट किया, उसी प्रकार आयुर्वेद भी नित्यसिद्ध ईश्वरीय ज्ञान है। कहीं भी किसी भी आचार्यने जहाँ आयुर्वेदकी सम्प्रदाय-परम्पराका वर्णन किया है, वहाँ यही लिखा है कि इस ईश्वरीय ज्ञानको ब्रह्माने स्मरण करके प्रजापतिको दिया, वहाँसे क्रमानुसार शिष्य-प्रशिष्य-परम्पराद्वारा यह सर्वसाधारणतक पहुँचा।

ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहत्।
सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं तेऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन्॥

इसलिये सुश्रुतकारने कहा है कि इसे मन्त्रकी तरह बिना कोई शंका किये प्रयोग करो। ज्ञानपूर्वक आयुर्वेदीय ओषधियाँ प्रयोग करनेपर फलमें सन्देहका काम नहीं। '**मन्त्रवत् संप्रयोक्तव्यम्**'।

न्यायदर्शनकारने तो वेदकी प्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिये आयुर्वेदकी सत्यताको प्रमाणरूपमें उपन्यस्त किया है। ऐसे ही वेदोक्त सब कर्मों एवं उनके फलोंकी सत्यता प्रमाणित की है—'**मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यम्।**' अर्थात् जिस प्रकार मन्त्र सत्य है, आयुर्वेद सत्य है, उसी प्रकार वेद भी सत्य है। कहनेका तात्पर्य यह कि वेदकी तरह आयुर्वेद भी ईश्वरीय ज्ञान है और यह किसी-न-किसी रूपमें प्राणिमात्रमें ही अन्तर्हित रहता है।

भारतमें इस आयुर्वेदकी अष्टांगचिकित्सा अनन्त-कालसे अविच्छिन्नरूपसे चलती आ रही थी; परंतु इसके बहुत अंश मुसलमानी बर्बर आक्रान्ताओंकी बर्बरताके भेंट होकर अग्निमें सदाके लिये भस्मसात् हो

गये। फिर अंग्रेजी राज्यकालमें राज्यद्वारा असम्मानित होनेके कारण कालकी कृपासे दीमक कीटोंके भेंट हो गये। परंतु इसपर भी जो उपलब्ध है, वे अपनी तुलनामें संसारकी किसी भी चिकित्सा-प्रणालीको अपनेसे आगे नहीं बढ़ने देते।

युक्तप्रान्तकी सरकारने आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा-प्रणालीकी पुनः-संगठन-समिति स्थापित की है। उस समितिने अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए लिखा है कि 'यह सर्वविदित सत्य है कि अंग्रेजोंने अनेक दुरुपायोंसे न केवल हमारे देशपर राजनीतिक विजय प्राप्त की, किंतु हमारी आत्माको चिरदासताकी शृंखलामें बाँधनेके कुत्सित उद्देश्यसे हमारी प्राचीन संस्कृति, भाषा, साहित्य एवं विज्ञानको नष्ट करने तथा उसका हीनत्व सिद्ध करनेका भी सतत प्रयत्न किया, ताकि उसका वास्तविक महत्त्व स्वयं हमारी ही दृष्टिमें गिर जाय। उन्होंने हमारी कला और विज्ञानके उन्नति-मार्गमें रोड़े अटकानेके सभी प्रयत्न अपनी शक्तिभर किये और जहाँतक हो सका, हमारे प्राचीन साहित्य और विज्ञानकी संस्थाओंको राजकीय सहायता और मान्यता नहीं दी। निस्सन्देह यह हमारे विदेशी शासकोंकी नीतिका मूल था कि हम एलोपैथीकी तुलनामें अपने अन्य शास्त्रोंकी भाँति आयुर्वेदसे भी घृणा करने लगे।

अंग्रेज व्यापारी थे। व्यापारीको अपने व्यापारके प्रचारके लिये हर एक भला-बुरा उपाय काममें लाना पड़ता है। उससे जनतामें अज्ञानता बढ़े या उसके स्वास्थ्यपर बुरा-से-बुरा असर पड़े, इसकी व्यापारीको परवा नहीं होती। चायके प्रचारक यहाँतक प्रचार करते हुए देखे गये हैं कि 'गर्मीमें चाय कलेजेको ठण्डा करती है।' डाल्डा (जमे हुए तैल) के प्रचारमें पहलवानका छायाचित्र देकर लिखा रहता है कि इनकी रसोई डाल्डासे बनायी जाती है। जब अपने सीधे-सादे देशके व्यापारियोंमें स्वार्थकी इतनी कुत्सित भावना आ गयी, तब विदेशी, अत्यन्त चतुर अंग्रेज व्यापारियोंने हमारे उद्धारके लिये नहीं, अपने व्यापारको फैलानेके लिये करोड़ों रुपयोंके औजार, यन्त्र, ओषधिके मार्केट भारतमें तैयार करनेको तथा न केवल स्वस्थावस्थामें, अपितु आतुरावस्थामें भी हमें पराधीन बनानेको यह सब किया, तो आश्चर्य ही क्या है। श्रीगान्धीजीका भी ऐसा ही मत था। उन्होंने एक बार 'यंग इंडिया' (Young India) में लिखा था, 'अंग्रेजोंने निश्चय ही चिकित्सा-व्यवसायका उपयोग हमें दासतामें बाँध रखनेके लिये सफलतापूर्वक किया है। पाश्चात्य चिकित्साशास्त्रका अध्ययन करना हमारी दासता बढ़ाना है। यह प्रणाली बहुत खर्चीली है, इसे स्वयं डाक्टर भी जानते हैं। इसमें रोग-परीक्षाके लिये रक्त-परीक्षा, मल-परीक्षा, मूत्र-परीक्षा, कफ-परीक्षा आदि कितनी ही प्रकारकी परीक्षाएँ चलती हैं, जिनपर काफी खर्च पड़ जाता है। डाक्टरोंकी फीसें बहुत लंबी होती हैं। इसका विकास यूरोपीय देशोंमें हुआ है; उन्हीं देशोंके जलवायुमें पली हुई जनताके रहन-सहन, आहार-विहारको दृष्टिमें रखकर ही यह बनायी गयी है। परिणामस्वरूप ये ओषधियाँ भारतीय जनताकी प्रकृति, जलवायु-सम्बन्धी दशाओंके बिलकुल अनुपयुक्त सिद्ध हुई हैं। रोगियोंपर इनका कुप्रभाव देखनेमें आता है। ऐलोपैथिक ओषधियोंके तैयार करनेमें प्रायः तीव्र सुरा, स्पिरिटका उपयोग होता है, जिसका प्रयोग प्रायः अपने यहाँ निषिद्ध माना जाता है। ओषधियोंका प्रयोग रोगनिरोधके लिये किया जाता है। रोग-परीक्षामें भूल हुई तो विपरीत परिणाम अवश्यम्भावी है। यह दोष आयुर्वेदमें नहीं है; क्योंकि इसमें दोषोंके विपरीत औषध-प्रयोग होता है। अतः रोगका नाम निश्चित न होनेपर भी दोष-विपरीत ओषधि लाभ कर देती है।

यदि राष्ट्रके स्वास्थ्यको सुधारना है और देशके दूरतम भागोंमें निवास करनेवाले दरिद्रतम व्यक्तिके लिये भी चिकित्सा-सम्बन्धी सहायता सुलभ करनी है तो शीघ्र-से-शीघ्र आयुर्वेदके आधारपर, जो चिकित्सा, स्वास्थ्य और दीर्घजीवनके क्षेत्रमें हमारे पूर्वपुरुषोंकी सर्वोपरि सिद्धि है और जो ऐलोपैथिक या अन्य चिकित्सा-प्रणालियोंमें विद्यमान दोषोंसे सर्वथा मुक्त है, हमारे राष्ट्रकी चिकित्सा और स्वास्थ्यके ढाँचेका भवन गढ़ा जाना चाहिये। इसे अविलम्ब 'राष्ट्रीय-चिकित्सा-प्रणाली' स्वीकृत कर लेना चाहिये। यों करनेसे शीघ्र ही इस प्रणालीका उच्चतम विकास होगा।

भारतवर्षके लिये विशेष करके आयुर्वेदीय चिकित्सा ही उपयुक्त है; क्योंकि:—

(१) यह उन्हीं जड़ी-बूटियोंके आधारपर की जाती है, जो प्रायः भारत या उसके पड़ोसी समान आब-हवाके मुल्कोंमें पैदा होती हैं। यह अटल सत्य है कि जिस भूमिमें जो प्राणी पैदा होता है, उसी भूमिमें उत्पन्न

औषध तथा अन्न उसके लिये विशेष उपयुक्त होता है।

(२) आयुर्वेदीय ओषधियाँ सर्वसुलभ एवं सस्ती हैं।

(३) आयुर्वेद-चिकित्सा-प्रणालीमें द्रव्योंका प्रयोग सम्पूर्णरूपसे होता है, न कि कार्यकारी तत्त्वोंका।

(४) आयुर्वेदकी रोग-परीक्षा-प्रणाली सहज, स्वल्प-व्ययसाध्य एवं अकाट्य-युक्तिपूर्ण है।

(५) आयुर्वेदमें रोगोंकी चिकित्सा दोषानुबन्ध होनेसे रोगका पूर्ण परिचय न होनेपर कुपित दोषका उपशम कर देनेसे ही रोग निवृत्त हो जाता है।

अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत्।

(६) आयुर्वेद-चिकित्सा सत्त्व-रजः-तमः-प्रधान प्रकृतिके आधारपर है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड-न्यायसे जो ब्रह्माण्डमें व्याप्त तत्त्व है, वे ही पिण्डमें हैं। इन तत्त्वोंका क्षय और वृद्धि होना ही रोग है। उन्हें सम अवस्थामें कर देना ही 'चिकित्सा' है। उनमें विषमता न हो, ऐसे उपाय बता देना ही 'स्वास्थ्याभिरक्षण' है। अतः आयुर्वेदमें जैसा वर्णन किया गया है, वैसा अन्यत्र कहीं किसी भी चिकित्सा-प्रणालीमें नहीं मिल सकता। आयुर्वेदज्ञकी चिन्ताधारा ही यह है—

कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति।
समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया॥

क्योंकि——

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।
धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्॥

(७) आयुर्वेदमें हेतु-व्याधि-विपरीत चिकित्साका वर्णन है, न केवल एलोपैथिककी तरह व्याधि-विपरीत चिकित्साका ही। यही कारण है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा-प्रणालीसे चिकित्सा कराकर स्वस्थ हुए रोगी पूर्ण स्वास्थ्य सुखका स्थायी लाभ प्राप्त करते हैं; क्योंकि उनकी बीमारी केवल उग्र ओषधि एवं इंजेक्शनोंसे दबायी नहीं जाती, किंतु समूल नष्ट की जाती है, जिससे न तो वह दूसरे रूपसे, न अपने रूपसे फिर प्रकट हो सकती है।

(८) आयुर्वेदमें शरीर-शुद्धि करनेके लिये पंचकर्म-प्रणाली वर्णित की गयी है—जिसमें स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, नस्य, अनुवासन, धूमपान आदि सब ऐसी वैज्ञानिक क्रियाएँ हैं, जिनके द्वारा शरीरमें संचित सभी प्रकारके विकार, जो शरीरमें मिथ्या आहार-विहारसे संचित हो जाते हैं, शरीरसे एकदम बाहर निकाल दिये जाते हैं और शरीरको शुद्ध कर दिया जाता है। ऐसी प्रणाली अन्य चिकित्सा-शास्त्रमें नहीं मिलेगी। आयुर्वेद जब अपनी उन्नत अवस्थामें था, यहाँके मनुष्य जब धन कमानेकी चिन्तामें रात-दिन आजकी तरह व्यग्र नहीं रहते थे तब प्रतिवर्ष वसन्त, शरद् और वर्षामें उक्त प्रणालीके द्वारा शरीर शुद्ध करा लिया करते थे, जिससे वे रोगरहित होकर पूर्णायु प्राप्त करते थे। जैसे—

शीतोद्भवं दोषचयं वसन्ते
विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले।
धनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक्
प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु॥

(९) ऋतुचर्या—किस ऋतुमें कौन दोष प्रबल रहता है और उसके उपशमके लिये क्या आहार-विहार करना चाहिये, कैसे वस्त्र पहनने चाहिये, कब सोना चाहिये, कैसे मकानमें रहना चाहिये इत्यादि भिन्न-भिन्न ऋतुओंकी भिन्न-भिन्न चर्या इतनी महत्त्वपूर्ण है, जो अन्य चिकित्सा-प्रणालियोंमें कहीं भी नहीं मिल सकती।

(१०) ऐसे ही इसकी दिनचर्या, रात्रिचर्या, भोजन-विधि, आहार-विज्ञान, पथ्यापथ्य-विज्ञान अपूर्व हैं।

(११) आयुर्वेदका औषध-भण्डार तो इतना विशाल है कि जिसकी गणना करना ही मानवशक्तिके बाहर-की बात है। चरकने लिखा है कि **'नानौषधं जगति किञ्चित्'** अर्थात् जगत्‌में ऐसा कोई भी पदार्थ (वस्तु) नहीं है, जो औषधके काममें न आता हो। रस चखकर अज्ञात ओषधियोंके गुण जाननेकी जो विधि आयुर्वेदमें बतलायी है, वह आयुर्वेदकी ही विशिष्टता है।

(१२) आयुर्वेदकी औषध-निर्माण-प्रणाली इतनी वैज्ञानिक है कि इसमें कोयलेसे लेकर हीरकपर्यन्त खनिज द्रव्य, स्वर्णादि धातु, सींगीमोहरा (वत्सनाभ) से लेकर कालकूटपर्यन्त विष, सब प्रकारके रत्न, पारद, गन्धक आदि रसोंका शोधन-मारण करके वे इतने सात्म्य (शरीरमें जज्ब होने लायक) बना दिये जाते हैं जो कभी भी कोई विकार नहीं पैदा करते और जिस उद्देश्यके लिये उनका प्रयोग किया जाता है, उसे पूर्ण कर देते हैं।

(१३) वाजीकरण ओषधियोंका जितना सुंदर संग्रह आयुर्वेदमें हैं, वह बहुत ही उपयोगी और आशुफलप्रद है।

(१४) जरा-व्याधिको दूर करनेवाले दिव्य रसायन इसीमें विद्यमान हैं।

अयुर्वेदके जो कुछ उपादेय अंश समयके प्रभावसे या अनभ्याससे अदृश्य हो गये हैं, वे ऐलोपैथिक या अन्य किसी भी चिकित्सा-प्रणालीसे लेकर उनका प्रतिसंस्कार करके उनसे खण्डित अंगोंकी पूर्ति कर लेनी चाहिये। जैसे व्रणकी चिकित्सा ऐलोपैथीमें की जाती है, आयुर्वेद उससे अपनी मौलिक भिन्नता रखता है; यथा—वातिक व्रण, पैत्तिक व्रण, कफज व्रण, द्वन्द्वज व्रण, सान्निपातज व्रण—इस सबकी धोनेकी, सेंक करनेकी, लेपकी, विदारणकी, विम्लापनकी, चीरनेकी भिन्न-भिन्न ओषधियाँ एवं भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। परंतु शस्त्रावचरणका अभ्यास डाक्टरोंसे ले लेना चाहिये। इसी प्रकार शालाक्य और प्रसूतितन्त्रमें, आँख, कान, नाक, गला, दाँत आदिकी चिकित्सामें तथा बच्चा पैदा करवानेमें भी अभ्यास-पाटव डाक्टरोंसे सीख लेना चाहिये।

आयुर्वेदीय चिकित्सा पूर्ण सत्य ज्ञान है, लाखों वर्षोंकी अनुभूत है। इसमें ऐलोपैथिककी तरह प्रति तीसरे वर्ष बदल जानेवाली ओषधियाँ नहीं हैं, जो विज्ञानके नामपर धुआँधार प्रचार करके रोगियोंके शरीरमें उँड़ेल दी जाती हैं, और थोड़े ही दिनोंके बाद अज्ञानके गर्तमें समा जाती हैं। कुछ दिनों पूर्व एम० बी० ६९३ (M.B. 693) को निमोनियाके लिये अचूक माना जाता था। उसका व्यवहार अब डाक्टरोंमें कितना कम हो गया! उसके स्थानमें सल्फो-निमाइड ग्रूपकी अन्य दवाइयाँ निकल गयी हैं। अब सुना जाता है कि अमेरिकाके यूनाइटेड स्टेट्ससे चिकित्सकोंके नाम एक सरकुलर (विज्ञप्ति) निकला है, जिसमें पेनिसिलिन एवं उक्त ग्रूपकी ओषधियोंका स्वल्प व्यवहार करनेका आदेश है। माताके टीकेका वहाँ कितना भयंकर विरोध किया जाता है! सारांश कि मानव-ज्ञान सदा अधूरा एवं त्रुटिपूर्ण है—खासकर उन सूक्ष्म विषयोंमें, जो इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं हैं। ऐसे विषयोंमें तो आप्तोपदेश ही प्रमाण हैं। आप्त कौन है?

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रैकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥ १॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥ २॥

'तप एवं ज्ञानके बलसे जो रज एवं तमसे सर्वथा मुक्त हो गये हैं, जिन्हें त्रिकालका ज्ञान है और वह ज्ञान भी निर्मल तथा अव्याहत है, वे ही आप्त हैं, वे ही शिष्ट एवं विबुद्ध कहलाते हैं। इन आप्त पुरुषोंके वचन संशयरहित एवं सच्चे होते हैं। वे रज एवं तमसे मुक्त आप्त पुरुष असत्य क्यों कहेंगे?'

चिकित्सा-जैसे सूक्ष्म विषयमें इन महापुरुषोंकी निश्चित एवं अमोघ प्रणाली यदि भारतकी स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद भी राष्ट्रिय चिकित्सा-प्रणाली नहीं ठहरायी जाय, प्रत्युत प्रतिदिन परिवर्तनशील और प्रयोगात्मक ऐलोपैथिक प्रणालीपर राष्ट्रके स्वास्थ्यको बलिदान किया जाय तो यह महान् दुर्भाग्यकी बात होगी। आशा है हमारी राष्ट्रिय सरकार केवल धुआँधार प्रचारोंके फेरमें न पड़कर देशके अनुभवी वैद्योंकी सलाहसे इसे शीघ्रातिशीघ्र राष्ट्रिय चिकित्सा स्वीकार करेगी।

प्रार्थना

[छप्पय]

सब कुछ दिया बिसार, आज तुमको पाया है!
और समय यह बहुत समयपर अब आया है!
जबतक तुमसे युक्त, विश्व सब मुझमें ही है!
यदि टूटा सम्बन्ध, पराया फिर तन भी है!
मिले आप तो सब मिला, गये आप तो सब गया!
मम तन-मनके प्रानधन! हरदम रखना निज दया!

—नयनजी

सात्त्विक आहार-विवेक

(लेखक—श्रीस्वामी श्रीकृष्णानन्दजी)

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी कहते हैं कि जो आहार स्वादु, स्निग्ध (घृतमय), स्थिर गुणप्रद और हृद्य (मनोहर)—इन सब विशेषणोंसे युक्त हो तथा जिसके सेवनसे आयु, सात्त्विक बुद्धि, शरीर-बल, इन्द्रियोंका बल, आरोग्य, शरीर-सुख, मानस सुख और प्रीति (मन-इन्द्रियोंकी प्रसन्नता)—इन सबकी विशेष वृद्धि हो, ऐसा आहार सात्त्विक वृत्तिवाले मनुष्यको रुचिकर होता है, अर्थात् ऐसे गुणयुक्त आहारको सात्त्विक कहते हैं।

श्रीभगवद्गीताका यह वचन साधकोंको व्यावहारिक मर्यादाके पालनके साथ पारमार्थिक कल्याणकी प्राप्ति करानेके लिये है, अतः इस मन्त्रका तात्पर्य भी उसके अनुरूप ही होना चाहिये। केवल जिह्वास्वाद या इन्द्रिय-मनकी तृप्ति अथवा शारीरिक सुखके निमित्त सात्त्विक आहार नहीं है। हमारे आहारसे आयुवृद्धि, आरोग्यरक्षा, आरोग्यकी उन्नति, मानसिक शान्ति, सात्त्विक वृत्ति, सदाचार-पालनमें प्रीति आदि परिणामकी प्राप्ति हो, तभी उस आहारको सात्त्विक कह सकेंगे।

देह सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंसे युक्त है, अथवा आयुर्वेदकी दृष्टिसे वात, पित्त, कफ—त्रिधातुमय है। भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि जिस प्रकार इस ब्रह्माण्डको चन्द्र, सूर्य और वायु त्याग, ग्रहण और संचलनरूप क्रियाद्वारा धारण कर रहे हैं, उसी तरह सब प्राणियोंके देहको कफ, पित्त और वात धारण करते हैं।[१] संक्षेपमें कफ-धातुसे पोषण, पित्तसे पाचन और वात-धातुसे विद्युत्-शक्तिकी प्राप्ति होती है। अतः मनोरम और स्वास्थ्यरक्षक आहारका निर्माण करनेके लिये प्रकृति, देश, काल, स्वभाव और आर्थिक स्थिति आदिके भेदसे आहारमें कुछ भेद करना पड़ता है तथा सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—इन तीनों गुणों और वात, पित्त, कफ—तीनों धातुओंकी समताका रक्षण करना पड़ता है; अन्यथा देह स्वस्थ नहीं रह सकता और भगवद्-वचनानुसार ऐसे आहारको सात्त्विक नहीं कहा जा सकता।

योगाभ्यासी और भक्तजनोंको नाड़ियोंको मुलायम रखनेके लिये और वासनाओंके दमनार्थ सत्त्वगुणी आहारकी आवश्यकता है। रजोगुणी आहार न मिलाया जाय, तो अच्छा। फिर भी दुराग्रह नहीं रखना चाहिये। यकृत्पित्तस्राव या आमाशयरसस्राव यथायोग्य न होता हो, तो उतने अंशमें मिर्च-लवणादिकी आवश्यकता रहती है। अदरकके टुकड़ेपर नीबूका रस निचोड़कर सेंधानमक मिला लेनेसे मुँहमें लालास्राव और आमाशय-रसस्राव अधिक होता है; मिर्च, लौंग, सोंठ, अजवायन, मेथी आदि उष्णद्रव्योंके योगसे यकृत्पित्तका स्राव अधिक होता है। पाचन-क्रिया मंद होनेपर भी मसालोंका यथायोग्य उपयोग नहीं किया जायगा, तो कुछ वर्षोंतक तो निभ जायगा; किंतु कभी रोगोत्पादक कीटाणुओंका आक्रमण होगा, तब रक्षा नहीं हो सकेगी। धीरे-धीरे पाचन-क्रिया अत्यन्त मंद हो जायगी। फिर अन्तमें योग्य पाचन नहीं होगा। शरीर-बल अत्यन्त क्षीण हो जायगा और स्वास्थ्यका भी पतन हो जायगा।

स्वस्थ मनुष्य किसे कहना चाहिये—इस सम्बन्धमें भगवान् धन्वन्तरिजीने कहा है कि 'जिसके देहमें वात, पित्त, कफ—तीनों दोष (Temperaments), अग्नि, रस-रक्तादि सप्त धातु और धातुओंकी मल-क्रिया—ये सब सम हैं तथा उसकी आत्मा, मन और इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, वह स्वस्थ कहलाता है।'[२]

शास्त्रके ध्येयानुसार देहमें रोगकी प्रतीति न होनेसे ही पूर्ण स्वास्थ्य नहीं माना जाता। बहुतोंके शरीरमें रोग न रहनेपर भी बल, विचारशक्ति और कर्तृत्व-शक्तिमें न्यूनता, विषय-सेवनकी अति लालसा तथा लोभ, ईर्ष्या क्रोध, क्रूरता, शठता, शोक, निराशा आदि दुष्ट संस्कारोंकी प्रबलता दृष्टिगोचर होती है। उनकी बुद्धि, मन और इन्द्रियोंमें प्रसन्नता नहीं रह सकती। अतः आयुर्वेदके मतानुसार उनको अस्वस्थ ही कहना पड़ेगा। पूर्ण स्वास्थ्यकी प्राप्तिमें न तो दुष्ट संस्कारादि रहते हैं और

१. विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा। धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥
२. समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

न प्रसन्नता—प्रसादमें ही त्रुटि रहती है। जबतक ऐसे पूर्ण स्वास्थ्यकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक दु:खका अभाव और सच्चे सुखकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

यदि उपर्युक्त स्वास्थ्यको सँभालनेकी दृष्टि नहीं रखी जायगी, केवल **'रस्या:स्निग्धा:'** आदि गुणयुक्त आहारको ही सात्त्विक मानकर नियमित ग्रहण किया जायगा, तो देहमें रोग उत्पन्न हो जायँगे, देह-बलका ह्रास हो जायगा, मन चिन्तातुर रहने लगेगा, आयु कम हो जायगी, भावी जीवन दु:खरूप बन जायगा या अकालमृत्युकी प्राप्ति हो जायगी। इनके अतिरिक्त भावी संतान या वंशज रोगी और निर्बल जन्मेंगे। इन सब दोषोंसे बचनेके लिये स्वास्थ्यकी रक्षा करनेवाले सात्त्विक आहारका सेवन करना चाहिये।

बाल्यावस्थामें जीवनी-शक्ति (Vitality) को स्वास्थ्यरक्षाके अतिरिक्त देहके प्रत्येक अंग-उपांगकी उन्नति भी करनी पड़ती है। इसके लिये वातवाहिनियाँ (Nerves), रक्तवाहिनियाँ (Blood-vessels), माँसपेशियाँ (Muscles) माँसपेशियोंकी बन्धनियाँ (Ligaments) और अस्थि (Bones) आदिको मृदु और स्थिति-स्थापक (Elasticity)-गुणोंसे युक्त रखना पड़ता है। अत: बाल्यावस्थामें या ब्रह्मचर्याश्रममें रहनेवालोंको मिर्च आदि रजोगुणी भोजन तथा लहसुन आदि तमोगुणी कामोत्तेजक भोजनका ग्रहण बिलकुल नहीं करना चाहिये, अन्यथा मृदु और स्थितिस्थापक गुणका ह्रास या नाश हो जायगा। परिणाममें जीवन पूर्ण आयुकालतक नहीं निभ सकेगा।

युवावस्थामें देहोन्नतिके भारका वहन जीवनी-शक्ति शनै:-शनै: कम कर देती है। उस समय वातवाहिनी आदिमें मृदु और स्थितिस्थापक गुण स्वाभाविक कम होता जाता है और शनै:-शनै: कठोरता बढ़ती जाती है, जिससे स्वास्थ्यरक्षामें भी बाल्यावस्थाकी अपेक्षा अधिक परिश्रम पड़ता है। फिर इस हेतुसे जिनके यकृत् आदि पाचन-अवयव निर्बल हों, उनको भोजनके सम्यक्-पाचनकारी रसादि धातुओंका योग्य निर्माण कराने और अन्तर्गत कीटाणु और आमको जलानेके लिये यकृत्पित्तस्रावी द्रव्य—मिर्च आदि मसालोंकी न्यूनाधिक अंशमें आवश्यकता रहती है। यदि उनको सर्वथा मसालारहित भोजन दिया जायगा, तो उनका स्वास्थ्य दीर्घकालपर्यन्त नहीं टिक सकेगा।

वृद्धावस्थामें जीवन-शक्तिका क्षय होता जाता है। वात, पित्त, कफ—तीनो दोष निर्बल बनते जाते हैं। रोग-निरोधक शक्ति (Immunity) यथायोग्य कार्य नहीं कर पाती। इन हेतुओंसे कफ-प्रकोप, कास, श्वास, माँसशोष, अग्नि, मान्द्य, बहुमूत्र, वातप्रकोप, निद्रानाश और स्मरणशक्तिका ह्रास आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इन रोगोंकी उत्पत्तिको रोकने, उत्पन्न रोगोंको दूर करने और सात्त्विक वृत्तिका संरक्षण करनेके लिये जो आहार पथ्य और सात्त्विक हो, उसीको विवेकपूर्वक ग्रहण करना चाहिये।

हमलोग जो आहार ग्रहण करते हैं, उससे शरीर, मन, प्राण और वाणीपर असर होता है—इन्हें पोषण मिलता है अथवा इनका शोषण होता है। भोज्य पदार्थको पचाकर रूपान्तरित करनेके लिये मुखमें स्थित लालास्राव करानेवाली ग्रन्थियों, आमाशय, यकृत्, अग्न्याशय (Pancreas) और आन्त्रस्थ अनेक ग्रन्थियोंसे स्राव निकलता है। वह अच्छी तरह आहारमें मिल जानेके पश्चात् आहारका सत्त्वशोषण होने लगता है और मल भागको आगे ढकेल दिया जाता है। फिर शोषित रसको धात्वग्नि शुद्ध करती है। उसमेंसे रस, रक्तादि धातुएँ निर्मित होती हैं। यदि इन रसोंका स्राव यथायोग्य न हो या अतिभोजन हुआ हो अथवा अपथ्य (प्रकृतिके प्रतिकूल) भोजन किया गया हो, तो रसशोषण या धात्वग्निसे पाचन-क्रिया ठीक नहीं होती और परिणाममें स्वास्थ्यका पतन हो जाता है।

स्वास्थ्यकी रक्षा और रोग-निवारणके लिये आयु, प्रकृति और ऋतु आदिके भेदसे भिन्न-भिन्न रसोंके सेवनकी आवश्यकता रहती है। इस सम्बन्धमें आयुर्वेदने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उसमेंसे यहाँ संक्षिप्त विचार दिया गया है। किस रसमें कौन-सा मूर्त द्रव्य प्रधान है और वह किस धातुका शमन या वर्द्धन करता है, इतना जान लेनेपर भी साधकोंको सहायता मिल जाती है।

१. मधुर—पृथ्वी-जलप्रधान, वात-पित्त-शामक, कफवर्द्धक, शीतल, साधकोंके लिये मुख्य।
२. अम्ल—पृथ्वी-अग्निप्रधान, पित्त-कफवर्द्धक, वातहर, उष्ण, साधकोंके लिये गौण।
३. लवण—जल-अग्निप्रधान, कफ-पित्तवर्द्धक, वातहर, उष्ण, साधकोंके लिये गौण।

४. तिक्त (कड़वा)—वायु-आकाशप्रधान, कफ-पित्तनाशक, वातवर्द्धक, शीतल, आवश्यकतापर सेवनयोग्य।

५. कटु (चरपरा)—वायु-अग्निप्रधान, वात-पित्तवर्द्धक, कफहर, उष्ण, साधकोंके लिये गौण।

६. कषाय—वायु-पृथ्वीप्रधान, कफ-पित्तहर, वातवर्द्धक, शीतल, आवश्यकतापर सेवनयोग्य।

उक्त द्रव्य और गुणोंका कथन सामान्यरूपसे है। कहीं-कहीं उक्त नियमका भंग भी हुआ है। जैसे हरीतकी कषायरसयुक्त होनेपर भी वात-वृद्धि नहीं करती। कुचिला तिक्त होनेपर भी पित्तनाशक नहीं है। इसका विशेष विचार आयुर्वेदने विपाक, वीर्य और प्रभाव-विवेचनमें किया है।

छान्दोग्य-श्रुतिने कहा है कि जो अन्न खाया जाता है, उसका स्थूल अंश मल और मध्यम अंश माँस बनता है तथा उसके सूक्ष्म अंशसे मनको पोषण मिलता है। जो जल पिया जाता है, उसका स्थूल अंश मूत्र और मध्यम अंश रक्तभावको प्राप्त होता है तथा उसके सूक्ष्म अंशसे प्राणको पोषण मिलता है। तेजरूप घृत-तैल आदिका स्थूल अंश अस्थिरूपमें और मध्यम अंश मज्जारूपमें परिवर्तित होता है तथा सूक्ष्म अंश वाणीको पुष्ट बनाता है। संक्षेपमें मन अन्नमय, प्राण जलमय और वाणी तेजोमयी है।*

सामान्यतः दूध, दही, मक्खन, घी, मिठाई आदि सात्त्विक भोजन माने जाते हैं। परन्तु ये सबके लिये समान उपकारक नहीं हो सकते। आयु, प्रकृति, प्रतिदिनका अभ्यास, रोग, मानस विकृति, देश, काल, अनियमित समय और संयोग-विपर्ययादि कारणोंसे सात्त्विक द्रव्य भी असात्त्विक बन जाते हैं। इनके अतिरिक्त नूतन अन्न, बासी भोजन, सड़ा हुआ भोजन, दूषित पात्रमें रखा हुआ भोजन, अपवित्र या जूठा भोजन, दुष्ट-संस्कार-प्रेरित भोजन, दुष्ट धनसे या दुष्ट जनसे प्राप्त भोजन—इन सबसे सात्त्विक संस्कारकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी।

दूध—यह आयुर्वेदकी दृष्टिसे मृत्युलोकका अमृत है। यह लघु, सब प्रकारके जीवन-सत्त्वों (Vitamins) से युक्त, स्वादु, विपाकमें, मधुर, शीतवीर्य, स्निग्ध, सप्त, धातुओंका पोषक, बुद्धिवर्द्धक, हृद्य, कान्तिवर्धक और आयुवर्धक आदि गुणोंसे युक्त है। वात-विकार पित्त-विकार, विषयप्रकोप, वात-रक्त, दाह, रक्त-पित्त, जीर्ण-मंद-अतिसार, चक्कर आना, मद, हृद्रोग, हृदयविकारज, श्वासावरोध, वृद्धावस्थामें श्वासप्रकोप, मानसिक व्यथा, जीर्णज्वर, तृषारोग, उदररोग, अपस्मार, मूत्रकृच्छ्र, गुल्म, पाण्डु, शूल, क्षयरोग, धातुक्षय, अतिश्रम, विषमाग्नि, गर्भपात, योनिरोग, नेत्ररोग और वातरोगादिमें हितकारी है। फिर भी, वह सब प्रकृतियोंके लिये सर्वभावसे उपकारक नहीं है। यदि उक्त रोगोंके साथ अपच, प्रवाहिका, नूतन अतिसार, रक्तार्श, आमप्रकोपके साथ नूतन ज्वर, आमाशयकी शिथिलता, अम्लपित्त, उदरकृमि और ताम्रविषादि रोगोंमेंसे कोई हो तो दूध अनुकूल नहीं रहता। दूध सेवन करनेपर रोग बढ़ता है और बल घटता है। अग्निमान्द्यवालोंको कच्चा दूध अनुकूल नहीं रहता और बहुत उबालकर गाढ़ा किया हुआ दूध भारी तथा सत्त्वहीन हो जानेसे पचता नहीं। बहुत गरम-गरम दूध जिसमें अँगुली डालनेपर जलती हो, वह तो किसीके लिये भी हितकर नहीं है। उससे आमाशय-नलिका, आमाशय, लघु अन्त्र और बृहदन्त्र—इन सबकी श्लैष्मिक कला (Mucousmembrane) जलती है। परिणामें अग्निमान्द्य, उदावर्त (आमाशयमें गैस उठना), विष्टब्धाजीर्ण, मलावरोध, दाह, मस्तिष्कमें उष्णता, रक्तचापवृद्धि, वातनाडी-क्रिया-विकृति, हृत्स्पन्दवर्द्धन, अति स्वेदस्राव और बुद्धिमान्द्यादि रोगोंकी उत्पत्ति होती है। ताँबे या पीतलके कलईरहित पात्रमें दूध उबालनेपर उसमें नीलाथोथा मिल जानेसे दूध सदोष बन जाता है। मिट्टीके बरतनमें उबालनेपर जो अंश नीचे लग जाता है वह जलकर दूधमें दुर्गन्ध उत्पन्न करता है। मिट्टीका पात्र पुराना होनेपर मिट्टीमें लीन द्रव्य दूधमें सम्मिलित होकर दूधको दूषित कर देते हैं। दूधको लौहपात्रमें पवित्र निर्धूम अग्निपर तपाया जाय और एक या दो उफान आनेपर उतार लिया जाय, फिर गुनगुना रहनेपर

* अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति यो मध्यस्तन्मांसे योऽणिष्ठस्तन्मनः।
आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते। तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः।
तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः सा मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक्।
अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति। (छां० ६ । ५ । १—४ कण्डिका)
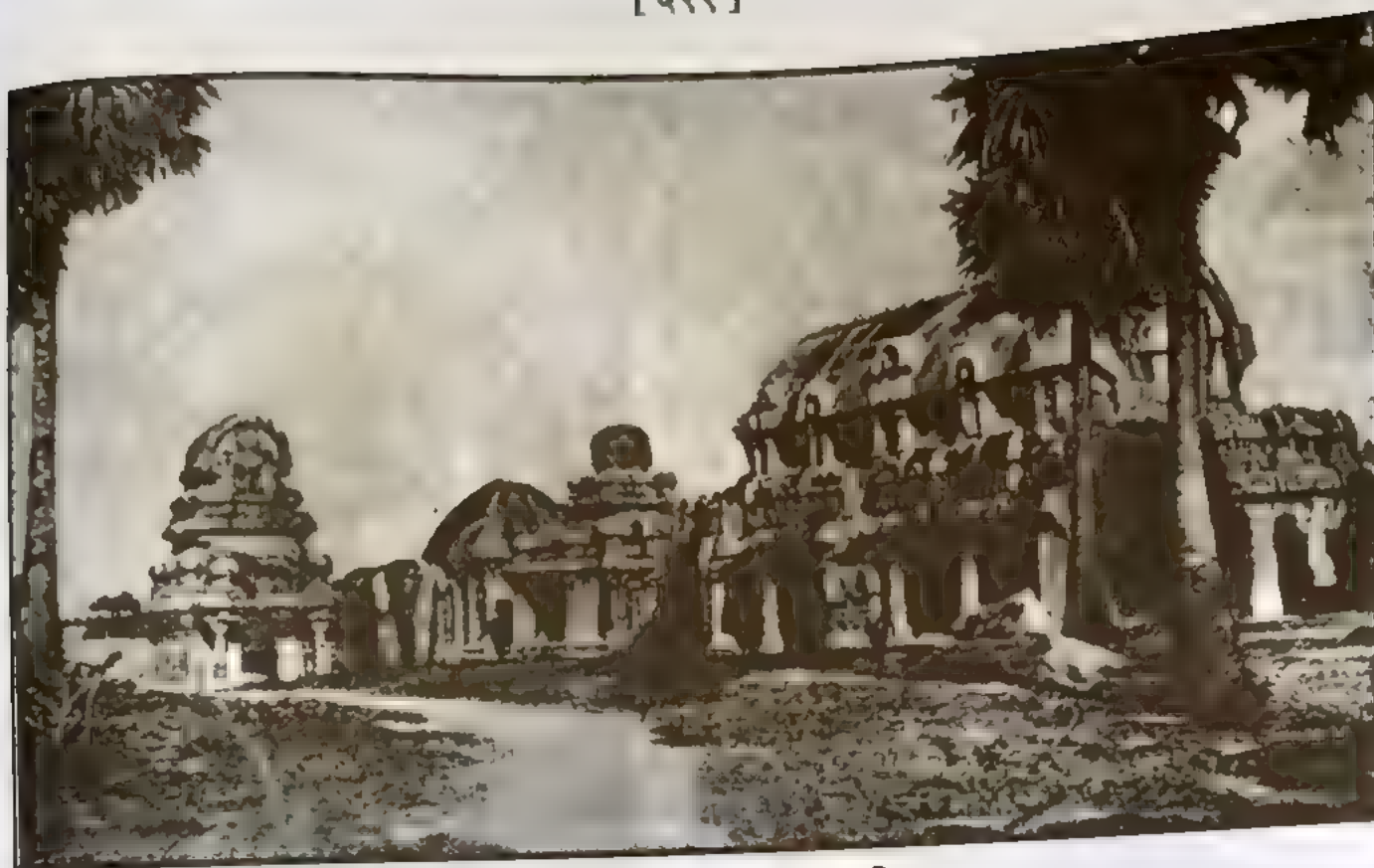
महाबलीपुरके पल्लव-गुफा-मन्दिर
(ये मन्दिर छेनीसे पत्थर काटकर बनाये गये हैं)

उदयगिरि-गुफा—रानी नौरके बायीं तरफका साधारण दृश्य
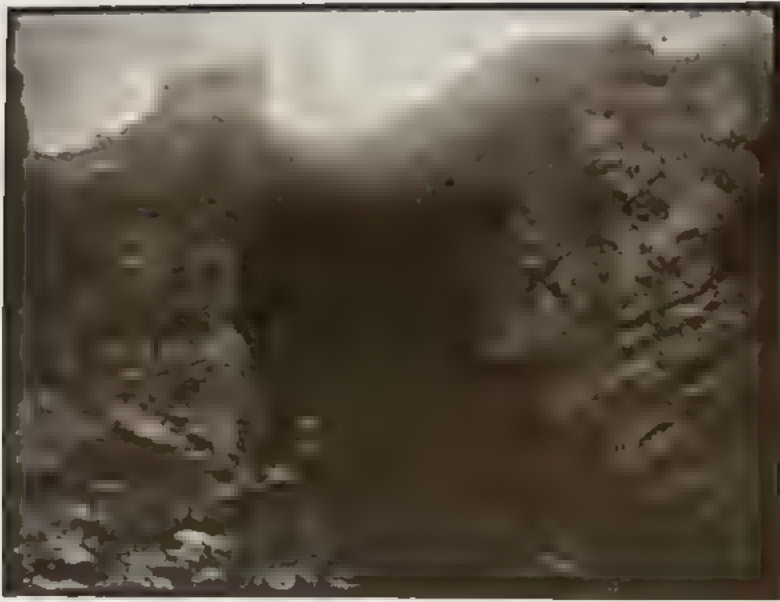
[पृष्ठ ७८२

श्रीअमरनाथ-गुफा

बराबर पहाड़ीपर मौर्य-सम्राट्
दशरथके द्वारा बनवायी हुई लोमश-गुफा
[पृ० ७८१]
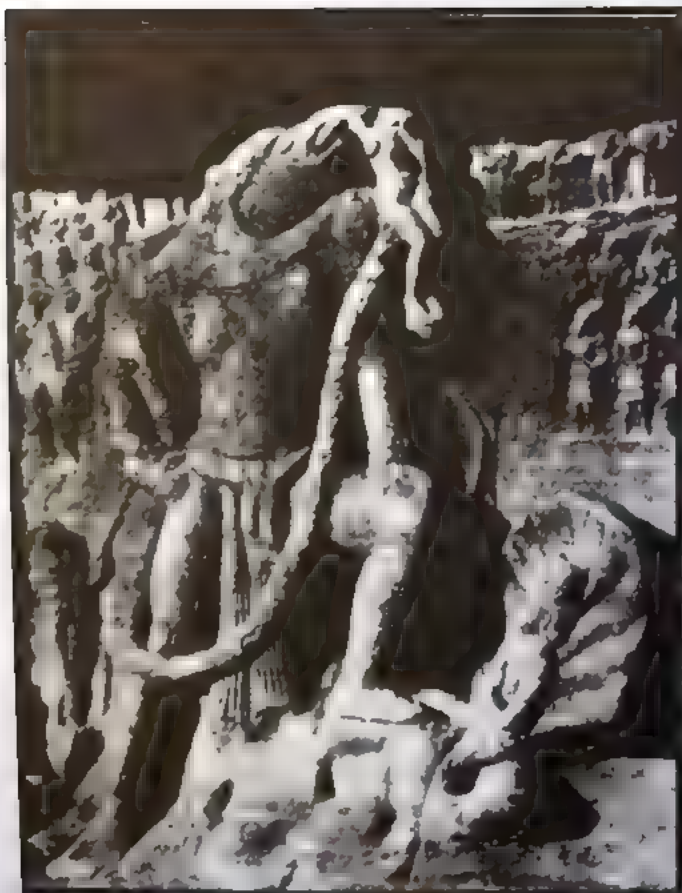
उदयगिरिकी पाँचवीं गुफामें प्राप्त वाराह-मूर्ति

महाबलीपुरमें अर्जुनकी तपस्याका स्थान
[पृष्ठ ७८५

अधिकारी जनोंको पिलाया जाय तो दूधका सच्चा लाभ मिल सकेगा। उसे स्वास्थ्यकर और सात्त्विक आहार कह सकेंगे।

दही—इसमें मधुर रस, कफ-धातुके लिये पौष्टिक कीटाणुनाशक, पाचन-संस्थाशोधक, तृषाहर, वल्य, वृष्य, वीर्यवर्द्धक, सारक, विपाकमें मधुर, मेदोहर, श्रमनाशक, वातशामक और पित्तशामक आदि गुण अवस्थित हैं। यह मनुष्यके लिये अति उपकारक है। अन्त्रगत विकृति, मलावरोध, अतिसार, प्रवाहिका, संग्रहणी, अपच, अर्श, उदरकृमि, उदरशूल, अफरा, अन्त्रक्षत, अन्त्रक्षय, अन्त्रमें गुल्म, अन्त्रप्रदाह, अन्त्रविद्रधि, भाँग-गाँजा आदिके विष और दाहक विष आदिपर यह पथ्य है। भोजनके अन्तमें तक्र बनाकर लेनेपर भोजनको सरलतापूर्वक पचाता है। ये सब गुण होते हुए भी इसका बिना विचार किये उपयोग नहीं हो सकता। अम्लपित्त, रक्तपित्त, कफप्रकोप, नूतन प्रतिश्याय, कास, श्वास, ज्वर, शोथ, संधिवात, फिरंग और सुजाक आदि रोगोंमें बहुधा दही अनुकूल नहीं रहता। ऐसे मनुष्योंके लिये दहीका प्रयोग सात्त्विक नहीं माना जायगा।

घृत— रस और विपाकमें मधुर, शीतवीर्य, लघु, अग्निप्रदीपक, स्निग्ध, रसायन, रुचिकर, चक्षुष्य, कान्तिवर्द्धक, वृष्य, बुद्धिप्रद, वयःस्थापक, शुक्रल और हृदयपौष्टिक है एवं वातहर, पित्तशामक तथा कफघ्न है। उन्माद, विषप्रकोप, रक्तपित्त, उरःक्षत, विसर्प, हिक्का, दाह, क्षत, मस्तिष्क-विकास, अर्श, कास, श्वास, जीर्णज्वर, अपस्मार, मद, मूर्च्छा, नेत्ररोग, कर्णरोग, शोथ, उदरकृमि, कुष्ठ और ग्रहणी आदि रोगोंमें हितकारक है। फिर भी जिनका यकृत् निर्बल हो अथवा यकृत्में रक्तसंग्रह, यकृत्प्रदाह, यकृद्वृद्धि, कामला, यकृद्विद्रधि, यकृतमें अर्बुद, पित्ताशयप्रदाह, पित्ताशयाश्मरी या यकृत्में कोई अन्य रोग हुआ हो, तो घृत-तैल आदिका पाचन ठीक तौरपर नहीं हो सकता। अपच, विषूचिका, नूतन ज्वर और सन्निपातादि व्याधियोंमें घृत-सेवनसे हानि पहुँचती है; एवं नूतन प्रतिश्याय, कफप्रकोप, आमप्रकोप, अग्निमान्द्य, अरुचि, मदात्यय, जीर्ण मलावरोध, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्, मूत्राघात और वृक्कशूलादि रोगोंमें तथा वृद्धावस्थामें घृतका सेवन कम मात्रामें कराया जाता है। शिशुओंके दाँत आनेके पहले प्रायः उनका यकृत् बड़ा और निर्बल रहता है। अतः उन्हें घृत नहीं दिया जाता, अन्यथा यकृत् निर्बल रह जाता है। फिर युवावस्थामें उनकी पाचन-क्रिया निर्बल बन जाती है। अतः इस नियमके अनुसार अधिकारी-अनधिकारीका विवेक करके घृतका उपयोग करना चाहिये, अन्यथा घृत असात्त्विक बन जायगा।

शर्करा—रस और विपाकमें मधुर, शीतवीर्य, लघु, स्निग्ध, हृदयपौष्टिक, रुचिकर, चुक्षुष्य, मूत्रल, सप्तधातु-पोषक, श्रमहर, शान्तिप्रद, वल्य वृष्य और सारक है। तृषा, मोह, मूर्च्छा, क्षतक्षय, रक्तपित्त, पाण्डु, वातरोग, पित्तविकार, कफवृद्धि, शोष और दाहरोगमें हितकर है; किन्तु नूतन ज्वर, आमवात, उदरकृमि, मधुमेह, प्रमेह, रक्तविकार, कण्डू और यकृद्विकार, कामला आदि रोग भी साथमें हों तो शक्करका उपयोग अत्यन्त सँभालकर करना चाहिये। इन रोगोंमें शक्कर आरोग्यप्रद या बलवर्द्धक नहीं है, न्यूनाधिक अंशमें हानि ही पहुँचाती है।

शक्कर जलमें मिलाकर पिलानेपर मूत्रल गुणकी प्राप्ति होती है, और उष्णता-विषविकार आदि बाहर निकल जाते हैं; अन्यथा विकारकी वृद्धि होती है। शक्कर चबाकर खानेपर उष्णताकी वृद्धि होती है। इन सब गुणों और रोगोंका विचार करके शक्करका उपयोग करनेपर ही लाभ मिल सकता है।

नूतन अन्न—ज्वार, मकई, बाजरा, चावल, मूँग, मोठ, उड़द आदि जो अन्न शरद्-ऋतुमें उत्पन्न होते हैं, उनका सेवन शरद्-ऋतुमें ही किया जाता है, तो पित्तप्रकोप होता है अर्थात् आमाशयके रसमें लवणाम्ल (Acid Hydrochloric) की उत्पत्ति अत्यधिक होती है; फिर खट्टी डकार, खट्टा वमन, अपच (विदग्धाजीर्ण), अतिसार और आमज्वर आदि रोगोंकी प्राप्ति होती है। बहुधा निर्बल स्वास्थ्यवालोंको ये रोग हो जाते हैं। वसन्त-ऋतुमें उत्पन्न होनेवाले अन्न—गेहूँ, चना, ज्वार, जौ आदि भी निर्बल मनुष्योंके लिये वसन्तमें हितकर नहीं माने जाते। नया अन्न पौष्टिक होता है; जिनकी पाचनक्रिया सबल हो और जो शारीरिक श्रम अधिक करते हों, उनके लिये हितकर है, योगाभ्यासीके लिये नहीं। दो मास व्यतीत हो जानेपर वे अन्न सौम्य बन जाते हैं। जिह्वास्वादके लिये अधिकारी न होनेपर भी यदि उनका सेवन किया जायगा, तो वासनाकी वृद्धि होगी, स्वास्थ्य गिरेगा और

रोगोत्पत्ति होगी। अतः ऐसे रोगियोंके लिये वे असात्त्विक माने जायँगे।

जल—सामान्यतः प्रत्येक जीवके लिये जलकी सर्वदा आवश्यकता रहती है, परंतु जलके उपयोगमें भी विवेक चाहिये। सामान्यतः स्वस्थ मनुष्योंके लिये नदी, तालाब, कुएँ आदिका ताजा जल—जो क्षार, दुर्गन्ध, तैल या मलादिसे रहित हो—हितकर है। किंतु वर्षा-ऋतुमें नदीका जल मलिन हो जाता है; उस समय उसे उबालकर या शुद्ध करके लेना चाहिये। नवज्वर, सन्निपात, कफप्रकोप, श्वास और आमप्रकोप होनेपर जलको उबालकर शीतल करके ही देना चाहिये। प्रसूता और छः माससे कम आयुवाले शिशुको जल देना हो, तो भी उबालकर देना चाहिये। नियम-भंग करनेपर कफोत्पत्ति, बालकोंको हरे-पीले दस्त और बलह्रास होता है, जिससे फिर वह जल सात्त्विक नहीं रह जाता।

भोजनके समयमें अनियमितता—कभी भोजन ८ बजे, कभी १० बजे या १२ बजे, दोपहरको २ बजे, कभी दिनमें दो बार, कभी चार बार या अधिक बार, कभी पहलेका भोजन पचनेके पहले, कभी क्षुधा लगकर निवृत्त हो जानेपर—इस प्रकार भोजनकालमें अनियमितता होती रहेगी, तो रस्य-स्निग्धादि गुणयुक्त भोजन भी आरोग्यप्रद नहीं रह सकेगा। फिर उससे जो संस्कार और सत्त्वकी प्राप्ति होगी, वह असात्त्विक होगी।

काल-प्रभाव—संसारकी समस्त ओषधियों, भोज्य पदार्थ और प्राणिमात्रमें स्थित वात, पित्त, कफ—तीनों धातु कालप्रभावसे बढ़ते-घटते रहते हैं। इनके संचय, प्रकोप और शमनका समय निम्नानुसार है—

१. वात—ग्रीष्ममें संचय, वर्षामें प्रकोप और शरद्‌में शमन।

२. पित्त—वर्षामें संचय, शरद्‌में प्रकोप और वसन्तमें शमन।

३. कफ—हेमन्तमें संचय, वसन्तमें प्रकोप और वर्षामें शमन।

इनमेंसे जो प्रकोपक ऋतु हैं, उसमें प्रकोपक-धातुप्रधान आहारका सेवन नहीं करना चाहिये। उदाहरण—वर्षामें वातप्रकोप होता है, अतः वातप्रकोपक मटर आदि द्विदल धान्य और रूक्ष-गुणयुक्त भोजन नहीं करना चाहिये। शरद्-ऋतुमें दही, राई आदि पित्तवर्द्धक पदार्थ तथा वसंत-ऋतुमें मधुर, स्निग्ध और भैंसका दूध आदि कफवर्द्धक भोजनका अतियोग नहीं करना चाहिये। अन्यथा पवित्र होते हुए भी ये गीताके कथनानुसार सात्त्विक नहीं माने जायँगे।

देश-भेद—कौटुम्बिक स्वभाव और देश-भेदसे अपथ्य वस्तु पथ्य बन जाती है और पथ्य अपथ्य हो जाती है। उदाहरणार्थ—मद्रास जिलेमें इमली खाना अनुकूल रहता है। मद्रासवासियोंके भोजनमेंसे यदि इमली निकाल दी जाय तो उनका स्वास्थ्य गिर जायगा। उनके लिये मर्यादामें सेवन की हुई इमली रजोगुणी संस्कार नहीं दे सकेगी। गुजराती, काठियावाड़ी और कच्छवासियोंके लिये मर्यादित तिलके तैलसे रजोगुणी संस्कार नहीं मिल सकेगा। वर्तमान कालमें अनेक स्थानोंमें मिर्च आदि मसालोंका सेवन बढ़ गया है, छोटे—दो-दो वर्षके बच्चोंको मिर्च खिलायी जाती है। उनको बड़ी आयुमें सत्त्वगुणी आहार लेना हो, तो भी कुछ-न-कुछ अंशमें मसाला लेना ही पड़ेगा; अन्यथा उनका स्वास्थ्य दीर्घकालपर्यन्त स्थिर नहीं रह सकेगा। अतः उनके लिये थोड़ा मसाला होते हुए भी आहारको असात्त्विक नहीं कह सकेंगे।

मध्यप्रान्त, बरार आदि देशोंमें विशेषतः ज्वार खानेका रिवाज है। वहाँके लोग गेहूँका सेवन बहुत कम करते हैं। ज्वारके अभ्यासियोंका अन्त्र युवावस्थामें या उतरती आयुमें गेहूँके सेवन करनेवालोंकी अपेक्षा अधिक प्रसारित हो जाता है। फिर वे ज्वारको तमोगुणी मानकर छोड़ दें और गेहूँका सेवन प्रारम्भ करें तो उनको गेहूँ अनुकूल नहीं रह सकेगा। इसी तरह गेहूँ खानेवाले ज्वारपर रहना चाहेंगे, तो उनको हानि पहुँचेगी। चावल खानेवाले बंगालके लिये गेहूँ, बाजरा और गेहूँ खानेवाले पंजाबके लिये चावलमें भी यही बात है। अतः सात्त्विक-असात्त्विककी मर्यादा स्थिर करनेके लिये स्वभाव, प्रकृति, देश, काल, आर्थिक स्थिति, अवस्था और आश्रम आदिको भी लक्ष्यमें रखना पड़ेगा।

संयोगविरोधी भोजन—कुछ पदार्थ हितकर होनेपर भी रसभेद, गुणभेद, विपाकभेद और वीर्यभेदके कारण उनका एक साथ ग्रहण नहीं हो सकता। जैसे दूध और दही, दूध और खट्टे फल, दूध और मूली तथा आम-प्रकोपवालेको दूध और केला—ये सब हितकर होनेपर भी परस्परविरोधी हैं। ताम्र-भस्मके साथ दूधका सेवन हानिकर है। इन विरोधी धर्मवाले पदार्थोंका सेवन

होनेपर पाचनक्रिया दूषित होती है। फिर अपच, ज्वर अतिसार, अफरा, वमन, विषूचिका और रक्तविकार रोगोंकी उत्पत्ति होती है।

बासी, अपक्षयप्राप्त भोजन—फल, फूल और बनी हुई मिठाई आदि वस्तुएँ कुछ समयके पश्चात् बिगड़ने लगती हैं। इस प्रकारकी अपक्षयावस्था प्राप्त होनेपर सात्त्विक वस्तु भी असात्त्विक बन जाती है। इनका सेवन होनेपर इनमें उत्पन्न कीटाणु-विषको नष्ट करनेके लिये पाचन-क्रियापर भार बढ़ता है। पित्तादि पाचन-रसका अति उपयोग करना पड़ता है। फिर वे अवयव थक जाते हैं। कभी-कभी कीटाणु-विषका बल अधिक होनेपर वमन, अतिसार, अफरा, उदरशूल और व्याकुलता आदि उपद्रव भी उपस्थित होते हैं।

अन्यायोपार्जित अन्न—जो खाद्य सामग्री चोरी, ठगी, विश्वासघात, परस्वापहरण आदि असत् अन्यायपूर्ण साधनोंके द्वारा उपार्जित धनसे प्राप्त होती है, वह सदा ही असात्त्विक है। उसके सेवनसे बुद्धि तथा मन बिगड़ते हैं। भाव दूषित होते हैं और मनुष्यका पतन हो जाता है।

सात्त्विक संस्कार-प्राप्त्यर्थ स्मृतिकथित नियम

१. म्लेच्छ, पतित, चाण्डाल, कृपण, वेश्या, नास्तिक, दुराचारी, जुआरी, शिकारी, षण्ढ, कुलटा, स्त्रीवशवर्ती, [झूठी साक्षी बनाने और अन्यायका पक्ष लेनेवाले] वकील, अन्यायी राजा, दुराचारी राजकर्मचारी, मृत व्यक्तिके निमित्त दिया हुआ दान लेनेवाले, अन्यायपूर्वक दूसरेकी संपत्ति प्राप्त करनेवाले और संक्रामक रोगसे पीड़ित व्यक्तियोंका अन्न नहीं लेना चाहिये।

२. अन्यायोपार्जित धनसे प्राप्त, दुष्ट मनुष्योंके द्वारा बनाया हुआ, दुष्ट-संस्कार-प्रेरित, दूषित पात्रमें रखा हुआ, अपवित्र स्थानमें बनाया हुआ तथा केश, कृमि, कीटाणु आदिसे दूषित भोजन नहीं करना चाहिये।

३. देव (भगवान्)-को निवेदन किये बिना अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिये।

४. धोतीको सिरपर लपेटकर, गीले वस्त्र पहने और जूता पहनकर भोजन नहीं करना चाहिये।

५. दक्षिणकी ओर मुख रखकर भोजन नहीं करना चाहिये। चाण्डाल, दुष्ट, रजस्वला, नपुंसक, क्षुधापीड़ित कुत्ता, मुर्गा और शूकर आदिकी दृष्टिके सामने भोजन नहीं करना चाहिये।

६. रात्रिको शयनकाल हो जानेपर, ठीक दोपहरको अथवा प्रातः-सायं ठीक सन्ध्याकालमें भोजन नहीं करना चाहिये। चन्द्र-सूर्यके ग्रहण-कालमें, कुटुम्बमें किसीकी मृत्युका समाचार मिलनेपर और स्नेही, सम्बन्धी, धर्म, गौ और ब्राह्मण आदिपर संकट उपस्थित होनेपर भोजन नहीं करना चाहिये।

७. उकडू बैठकर, हथेली टेककर, पाँव फैलाकर, पैरपर पैर चढ़ाकर, सोते-सोते, खड़े-खड़े, चलते-चलते, झूलेमें बैठकर अथवा जलमें बैठकर भोजन नहीं करना चाहिये।

८. फटे आसनपर बैठकर, बिना आसन बैठकर या रूईके आसनपर बैठकर भोजन नहीं करना चाहिये।

९. भोजनपात्रको गोदमें रखकर या जमीनपर रखकर एवं भोजनपात्रमें दूसरा भोजनपात्र रखकर, अन्नको हथेलीमें रखकर या गंदे पात्रोंमें रखकर भोजन नहीं करना चाहिये। अन्नको पलाशके पत्ते या छपे हुए कागजपर रखकर अथवा ऐल्युमीनियमके पात्र, लौहपात्र या फूटे बरतनमें रखकर भी भोजन नहीं करना चाहिये।

१०. भोजन करते समय अन्नकी निन्दा न करें, क्रोध न करें, मुँह न बिगाड़ें और दूसरोंको शब्दवेधी बाण न मारें तथा मनमें भी बुरे विचार न आने दें।

११. रोटी आदि मुख्य अन्नको छोड़कर अन्य गौण पदार्थोंमेंसे क्षुद्र जीवोंके लिये थोड़ा उच्छिष्ट छोड़ दें और वह उन प्राणियोंको ही दिया जाय।

१२. बासी, फिरसे गरम किया हुआ, बिगड़ा हुआ, पशु या चाण्डाल आदिसे दूषित किया हुआ भोजन न करें।

१३. किसी मनुष्यको उच्छिष्ट भोजन न दें। स्त्री-पुत्रोंके साथ या अन्य किसीके साथ भी एक ही पात्रमें कभी भोजन न करें।

१४. मस्तिष्कसे कार्य करनेवाले संयमी मनुष्योंको चाहिये कि वे प्याज, लहसुन आदि निषिद्ध शाक और निषिद्ध अन्नका सेवन कभी न करें। प्याज, लहसुनमें कामोत्तेजक और निद्राप्रद गुण होनेसे संयमीके लिये ये बड़े हानिकर हैं।

१५. रात्रिको दही, सत्तू न खायँ। शरद्-ऋतुमें दही, अम्ल द्रव्य तथा कफसंचयावस्था अथवा माघ मासमें मूली या क्षारप्रधान अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिये।

१६. दूध, नारियलका जल, शहद, ईखका रस,

घी, दही और नीबू आदि अम्ल-रसयुक्त पदार्थोंको कलईरहित ताँबे या पीतलके बरतनमें रखकर सेवन नहीं करना चाहिये।

१७. वर्षा-ऋतुमें नदीका जल नहीं पीना चाहिये और पीना पड़े तो उबालकर शुद्ध करके पीना चाहिये।

आयुर्वेदके मतानुसार कतिपय उपयोगी नियम

१८. मनको प्रिय, पवित्र, ताजा, अति गरम न हो, ऐसा पथ्य-भोजन हितकारी है। पहले मधुर, बीचमें अम्ल और लवण रस तथा अन्तमें शेष पथ्य रसयुक्त भोजनका सेवन करना चाहिये।

१९. कमलकी डंडी, मूल, शालूक, कन्द और ईखका सेवन भोजनके पहले करना चाहिये।

२०. भोजन खूब चबा-चबाकर शान्तिपूर्वक करना चाहिये। भोजन एक बार करनेके पश्चात् उसका पाचन होनेके पहले दूसरी बार भोजन नहीं करना चाहिये। नियमित समय टल जानेपर भोजन करनेसे बलका क्षय होता है और उदरमें वायु प्रकुपित होती है, फिर अग्नि नष्ट होती है और पाचनमें देर होती है।

२१. होटलोंका भोजन, हलवाईकी मिठाई, विविध प्रकारके पेय और स्टेशनोंपर मिलनेवाले खानेके पदार्थ—ये सब रोगप्रचारके प्रबल साधन होनेके कारण इनका सेवन कभी नहीं करना चाहिये। सूक्ष्म कीटाणु, मक्खियाँ, मच्छर, चींटियाँ और चूहे आदि जन्तु खुले रखे हुए भोजनको दूषित कर देते हैं। ऐसे आहारका सेवन करनेपर विषूचिका, प्रवाहिका, ज्वर, कुष्ठ और रक्तविकारादि रोगोंकी संप्राप्ति हो जाती है।

२२. अपचके कारण जिनकी अग्नि मन्द हो गयी है, उनको प्रातःकाल भोजन नहीं करना चाहिये; अन्यथा अफरा, उदरशूल, मलावरोध, अतिसार, वमन, ज्वर, श्वासप्रकोप, अग्निमान्द्य, प्रमेह और स्वप्नदोष आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

२३. यकृत् निर्बल हो और मूत्रकी प्रतिक्रिया अम्ल हो, तो दही, मट्ठा, खट्टे पदार्थ, घृत, तैल, तले हुए पदार्थ, गुड़ और चावलका सेवन कम करना चाहिये। वृक्कोंकी क्रिया सदोष होनेके कारण प्रातःकाल नेत्र या मुखमण्डलपर शोथ आता हो, रात्रिको बार-बार लघुशंका होती हो, मूत्रमें लसिका (Albumin) या रक्तस्राव होता हो, तो चावल, कुलथी, दही, गरम-गरम चाय और गरम मसालाका सेवन अधिक नहीं करना चाहिये।

२४. रात्रिको भोजन न पचता हो, मूत्रमें अम्लता हो और शुक्राशय निर्बल हो—ऐसी अवस्थामें, या उदरमें वायु और मलावरोध होनेपर भी भोजन किया जायगा, तो स्वप्नदोष हो जायगा।

२५. रात्रिको भोजन करनेका स्वप्न आये, तो प्रातःकाल लघु भोजन करें या भोजन न करें। जलाशयमें डूबने आदिका स्वप्न आये तो मूत्रसंस्था कार्य करनेमें असमर्थ हुई है—यों मानकर अधिक नमक, अधिक मसाला, अधिक घृत और अधिक खटाईका सेवन नहीं करना चाहिये। स्वप्नमें अग्नि-दर्शन हो, तो भीतर दाह हो रहा है—यों मानकर गरम मसालोंका सेवन कम करना चाहिये। आकाशमें उड़नेका स्वप्न आये तो वात-विकृति मानकर वातवर्द्धक द्विदल-धान्य और कन्द-शाक आदिका सेवन कम कर देना चाहिये।

उक्त नियमोंका शक्ति और समयानुसार पालन करते रहनेसे स्वास्थ्यकी रक्षा होती है। श्रीहरि समस्त मुमुक्षु जनोंको सुमति और सुविधा प्रदान करें और वे सब आहारके नियमोंको भलीभाँति समझें, आग्रहपूर्वक पालन करें तथा स्वास्थ्य-रक्षाके साथ पारमार्थिक कल्याणको प्राप्त करें—यह हार्दिक प्रभु-प्रार्थना है।

समस्त प्राणियोंमें एकात्मबोध

'भारतीय चरित्रकी आन्तरिक दयालुता, उनके स्वभावकी सुन्दरता और सरलता ही उनको वास्तविक बन्धुत्वकी भावना प्रदान करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें गहराईसे पैठा हुआ समस्त प्राणियोंका एकात्मबोध ही, जिसका उन्हें स्वयं भी पता नहीं, हर एकमें लक्षित हो रहा है।' —पोलैंडकी कुमारी दिनोवास्का

आयुर्वेदमें देवार्चन

(लेखक—श्रीदीनदयालुजी वैद्य 'उपमन्यु')

आयुर्वेदकी उपवेदोंमें गणना है। मन्त्रसंहिता, आरण्यक, उपनिषद्, ब्राह्मण, सूत्र एवं अंग-उपांगोंसे युक्त अमानवीय अनादि वाङ्मय श्रुति कहलाता है। इस प्रकार आयुर्वेदका मूल श्रौत ज्ञान है। इसे अथर्ववेदका उपवेद माना गया है। समस्त श्रौत ज्ञान ईश्वरीय है, अतएव सभीमें परमात्मा तथा उनकी दिव्य विभूतियोंकी आराधनाका वर्णन है। आयुर्वेद तो शारीरिक स्वास्थ्यको लेकर प्रवृत्त होता है; क्योंकि प्राणधारियोंकी समस्त एषणाओंमें—अर्थ, धर्म, काम, परलोक आदिकी इच्छामें प्राणैषणा—शरीर एवं शरीरके स्वास्थ्यकी रक्षाविषयक कामना मुख्य है। '**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।**' यह शरीर जहाँ अनेक स्थूल तत्त्वोंसे प्रभावित होता है, वहीं उसे अनेक अदृश्य दैवी शक्तियाँ भी प्रभावित करती हैं। अतएव आयुर्वेदके प्रधान आचार्य चरक, सुश्रुत, वाग्भटादिने अपनी संहिताओंमें स्पष्ट आदेश दिया है कि 'देवार्चनपूर्वक औषध-सेवनसे ही मानसिक तथा शारीरिक व्याधियाँ शान्त होती हैं।'

जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते।
तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमसुरार्चनैः ॥

'दूसरे जन्ममें किया हुआ पाप प्राणियोंको रोगोंके रूपमें पीड़ा देता है। उसकी शान्ति औषध, दान, जप, हवन तथा देवार्चनसे होती है।'

जपहोमादि भेषजम्।

ये जप, हवन, देवार्चनादि भी रोगोंकी औषध हैं—यह आयुर्वेदकी मान्यता है। प्रायः सभी प्राचीन संहिता-ग्रन्थोंके प्रारम्भमें मंगलाचरण रहता है और उस मंगलाचरणका प्रयोजन बताया गया है—'**मंगलाचरणं चेति वर्गः सर्वज्वराञ्जयेत्।**' अर्थात् मंगलाचरण' स्तवन तथा 'वर्ग' के द्वारा मनुष्य समस्त ज्वरोंको जीत लेता है। 'वर्ग' के अन्तर्गत गीता-विष्णुसहस्रनाम, दुर्गा-सप्तशती आदि ग्रन्थोंका पाठ तथा श्रवण, देव-विप्र-गुरु-वृद्धोंका पूजन, गोदान, ब्रह्मचर्य, व्रत, जप, तप, देवदर्शन एवं साधु-दर्शन तथा रत्नादि-धारणकी गणना है। इनके द्वारा सभी प्रकारके ज्वरोंपर विजय बताया गया है।

आचार्य वंगसेनने अपने ग्रन्थमें उद्धरण देते हुए इस विधानका स्पष्टीकरण किया है कि जिस नक्षत्रमें रोग हो, उस नक्षत्रके अधिष्ठाता देवताकी सन्तुष्टिके लिये उसके उपयुक्त द्रव्योंसे हवन करनेसे रोग-शान्ति होती है। जैसे—

अश्विनां तेजसेत्यश्विन्यां गुडमोदनं जुहुयात्।
असंयम इति भरण्यां तण्डुलान् जुहुयात्।
अग्निर्मूर्धा इति कृत्तिकासु घृतं जुहुयात्, इत्यादि।

इस यज्ञीय कर्मका माहात्म्य बतलाया गया है—'**तेन व्याधिः शमं याति शान्तश्च न पुनर्भवेत्।**' आजके भौतिकवादके युगमें सूचिका-वेध तथा अनेक सुरा-मांसादि-मिश्रित अपवित्र औषधोंका सेवन करते हुए भी बार-बार रोगोंका आक्रमण होता है; परंतु मन इतने आस्थाहीन हो चुके हैं कि '**शान्तश्च न पुनर्भवेत्**'—जिससे रोग एक बार शान्त होकर फिर न हो, रोग-निवारणके ऐसे अमोघ उपचारोंका आज परिहास किया जाता है। आज तो धन एवं धर्मके नाशक उपचार ही सर्वत्र आदर पा रहे हैं, यद्यपि यह प्रत्यक्ष है कि इनके द्वारा रोगनिवारणके स्थानपर नित्य नये रोग ही उत्पन्न हो रहे हैं।

आचार्य वंगसेनने आगे 'जरा' (बुढ़ापा) तथा 'अकाल-मृत्यु' के निवारणार्थ '**हरगौरीं प्रपूजयेत्**' का विधान किया है और समस्त राजरोगोंकी निवृत्तिके लिये दैनिक सन्ध्या तथा भगवान् भास्करको अर्घ्य-दानके साथ 'आशुतोष-माहेश्वर कवच' धारणका वर्णन किया है। आयुर्वेदके इस ग्रन्थमें उक्त कवचका विस्तारपूर्वक वर्णन है। अपस्मार (मृगी) एवं योषापस्मार (हिस्टीरिया) की निवृत्तिके लिये आचार्य विधान करते हैं कि —

पूजां रुद्रस्य कुर्वीत तद्गणानां विशेषतः।

—'भगवान् रुद्र और विशेषतः उनके गणोंकी पूजा करनी चाहिये।' अभी केन्द्रिय सरकारके स्वास्थ्य-विभागकी मन्त्रिणी श्रीमती राजकुमारी अमृतकौरने एक सभामें बताया है कि भारतमें प्रति मिनट एक मृत्यु यक्ष्मा (तपेदिक)से हो रही है। इसकी निवृत्तिके लिये आपने पच्चीस हजार डाक्टरों और नर्सोंकी आवश्यकता बतलायी। इसपर अपार धन व्यय होगा और यह सब करके भी कौन कह सकता है कि यक्ष्माका पूर्णतः निवारण हो ही जायगा। लेकिन

आयुर्वेदने इस रोगराजके सम्बन्धमें पूरा विचार करके उनकी निवृत्ति चिकित्सासे स्पष्ट असाध्य घोषित करते हुए भी उसके निवारणका सुलभ साधन बताया है—

सत्येनाचारयोगेन रविमण्डलसेवया।
वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्तते॥

'सत्यभाषणसे, सदाचारसे, सूर्यमण्डलकी पूजासे तथा वैद्य एवं ब्राह्मणोंके पूजनसे रोगराजकी निवृत्ति हो जाती है।'

इसी प्रकार अनेक रोगोंके सम्बन्धमें आयुर्वेदमें स्थान-स्थानपर देवार्चनका विधान है। बाल-रोगोंमें तो विशेषतः देव-बाधा मानी गयी है, अतएव शिशुकी चिकित्सामें धूप-दान तथा पूजन ही प्रमुख है। आज शिशुओंकी मृत्यु-संख्या बेतरह बढ़ी हुई है और पाश्चात्त्य प्रणालीसे जहाँ विदेशोंमें मृत्यु-संख्या घटी, वहीं सन्तानोंत्पत्तिका भी ह्रास हो गया। वहाँ जनसंख्या-वृद्धिके विविध उपाय सोचे जा रहे हैं। अतः भारतमें शिशु-चिकित्साके सम्बन्धमें सावधानीसे व्यवहार करना चाहिये। शिशु-चिकित्सा प्रायः देवार्चनप्रधान है; अतः उसे यहाँ दिया नहीं जा रहा है।

प्रायः सभी आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें कहीं '**लक्ष्मीनारायणं प्रपूजयते**' और कहीं '**रुद्रं प्रपूजयेत्**' का आदेश है। कहीं गृह-देवता, स्थानीय देवता, ग्रामदेवता तथा 'विश्वेश्वरी' दुर्गाके यजनका विधान है। कहीं-कहीं सूर्य, चन्द्र, वरुण, वायु आदिके प्रणामकी विधि है। ये आदेश बहुत स्पष्ट हैं। जैसे—

युक्तोऽतिसारी स्मरतु प्रसह्य
गोविन्द गोपाल गदाधरेति।

जो 'गोविन्द, गोपाल, गदाधर'—इस प्रकार भगवन्नामोंका स्मरण करता है, वह अतिसारका रोगी हो तो उसके रोगको नाम-स्मरण नष्ट कर देता है।

श्रीधन्वन्तरिजीका यह वचन तो प्रसिद्ध ही है—

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

'अच्युत, अनन्त, गोविन्द—इन नामोंके उच्चारणरूपी ओषधिसे समस्त रोगोंका नाश होता है, यह मैं सत्य-सत्य कह रहा हूँ।'

हिंदू-संस्कृति अध्यात्मप्रधान है। चेतन परमात्म-सत्ता और उसकी अनन्त दिव्य शक्तियोंके द्वारा ही जगत्‌का धारण-पोषण होता है, यह हिंदू-धर्मकी अविचल मान्यता है। अतएव कोई भी भौतिक कार्य बिना देवाराधनके सर्वांगपूर्ण नहीं होता, यह सच्चे हिंदूका दृढ़ विश्वास है। आयुर्वेद इस विश्वासकी सत्यताकी घोषणा पद-पदपर करता है।*

अन्तःकरण-चिकित्सा

(लेखक—डॉ० श्रीदुर्गाशंकरजी नागर)

मनुष्य दुःखी क्यों होता है? दुःखका कारण क्या है? दुःख कैसे उत्पन्न होता है? वासनामयी भावना ही दुःखका कारण है। वासनाकी भावनामें डूबकर, उसमें घुलकर मनुष्य अपना आत्मतत्त्व खो बैठता है। आत्मा खो जानेसे सर्वस्व खो जाता है। यह आर्यशास्त्रकारोंका मत है।

पाश्चात्य मानसवेत्ताओंके कथनानुसार (१) अनुकूल भावना, (२) प्रतिकूल-भावना, (३) निरालम्ब भय, (४) चेतन द्रव्यका असाधारण क्षोभ—ये चार कारण हैं। आर्यशास्त्रकारोंके अनुसार भेदभावना, रागवासना, द्वेषवासना, अस्मिताकी वासना, अभिनिवेशकी वासना—ये सब वासनाएँ जीवनसंगिनी हैं।

दूसरी भूमिकामें भूख-प्यास केवल शरीरनिर्वाहक भावना है। आगे चलकर मनोभावका प्रदेश आता है। इसके पाँच वर्ग हैं—भय, क्रोध, स्नेह, अहंकार, काम। इन सबकी रचना चेतन द्रव्यमें होती है। इनमें बुद्धि सम्मिलित नहीं है। दुःखका सामान्य लक्षण प्रतिकूलताका अनुभव करनेवाली चित्तकी स्थिति है। दुःख दो प्रकारके हैं, शारीर और मानस। शरीरकी पीड़ा और

* हमने देखा है, पुराने निपुण वैद्य रोगीके लिये औषधका विधान करनेके साथ ही देवार्चन या अनुष्ठान भी कराया करते थे। कोई-कोई तो स्वयं अनुष्ठान करते थे। हमारा अपना कई बारका यह अनुभव है कि देवाराधन—देवताओंके अनुष्ठान (चण्डी, गणेश, महामृत्युञ्जय, रामायण, रामचरितमानस आदिके पाठ एवं जाप) से बड़े-बड़े कठिन रोग नष्ट हो गये हैं। —सम्पादक

दुःखको सब कोई जानते हैं। और भौतिक उपचारद्वारा उसकी चिकित्सा की जाती है। उसमें भौतिक उपचारकी प्रधानता रहती है। किंतु मानसिक रोगोंके लिये मानसिक तथा आध्यात्मिक चिकित्साकी आवश्यकता होती है।

आजकल मनुष्यका मन इतना संवेदनशील और दुर्बल हो गया है, संसारकी विपरीत परिस्थितिसे तथा सहन करनेकी शक्तिका अभाव होनेसे, बाहरी क्षोभसे ज्ञानतन्तुओंके मर्मव्यूहपर ऐसा अप्रतिहत आघात होता है तथा क्षोभका प्रवाह मेरुदण्डके ऊर्ध्वप्रदेश-चक्रोंमेंसे होकर मस्तिष्कको ऐसा जड और बुद्धिशून्य कर देता है कि मनका सन्तुलन नहीं रहने पाता—विचारशक्ति नष्ट हो जाती है। आत्मविश्वासका अभाव हो जाता है; मनुष्य साहसहीन, उत्साहहीन हो जाता है।

मानसशास्त्रका यह सार-सिद्धान्त है कि चिन्ता, शंका, भ्रम, राग, द्वेष, क्षोभ, विक्षेप, शोक, विषाद, भय, काम, क्रोध, घृणा, संकोच, लज्जा, अहंकार और आत्महीनताकी भावनाओंका अधिक चिन्तन करते रहनेसे मनुष्य अपने मस्तिष्कपरसे अधिकार खो बैठता है, जिससे अनेक प्रकारके मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अत्यधिक श्रम करनेसे व्यापार-धंधेमें आर्थिक हानिसे, प्रियजनके वियोगसे, शोकमें डूबे रहनेसे, अनुकूल परिस्थिति प्राप्त न होनेसे, विपत्तियोंके भारसे दब जानेसे, अपने विचारोंको भीतर-ही-भीतर घोंटते रहनेसे मनुष्यको अनुत्साह, उदासीनता, विषाद, खिन्नता, होने लगती है; फिर विषादपूर्ण उन्माद हो जाता है। इस प्रकारके मानसिक रोगीको इतनी मानसिक अशान्ति रहती है कि एकान्तमें जाकर आत्मघात करनेकी इच्छा प्रबल हो जाती है। ऐसे मानसिक रोगी निराशामें इतने डूब जाते हैं कि किसी बातमें उन्हें रस नहीं मालूम होता, जीवन भाररूप प्रतीत होने लगता है। अन्य प्रकारके कुछ मानसिक रोगियोंके मनमें आत्म-तिरस्कारकी भावना आरूढ़ रहती है। वे विचार करते रहते हैं कि मैंने बड़े पाप किये हैं और यह सब दुःख उनके पापोंका ही परिणाम है।

भारतके एक सुप्रसिद्ध दैनिक पत्रके सम्पादक मेरे यहाँ आये हैं। उनको एक जबर्दस्त मानसिक ग्रंथि है—वे अकारण भद्दी गालियाँ बका करते हैं, शेष सब व्यवहार ठीक तरह करते हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि समाजमें रहकर इस प्रकार भद्दी हरकत बुरी है। किंतु अनैच्छिक अचेतन मनके बलात्कारकी यह मनोव्यथा है, जिसे उनका चेतन मन रोक नहीं सकता; क्योंकि उनके चेतन मनका आधिपत्य वे खो बैठे हैं। इसी कारण इस प्रकारकी अस्वाभाविक चेष्टा करनेमें विवश हैं। उनका जाग्रत् मन बलवान् होता जायगा तो वे अपने अन्तर्मनके इस प्रबल अनैच्छिक आवेगपर अधिकार कर सकेंगे।

दूसरी एक महिला भी यहाँ आयी हैं, जो रात्रिके समय विष्ठा (मल)-को एक कपड़ेमें बाँधकर अपने पतिके सिरहाने रख देती हैं और पश्चात् पूछनेपर कहती हैं—मुझे कुछ पता नहीं, यद्यपि यह क्रिया वह नित्य करती हैं। वह नहीं चाहती कि मैं ऐसी गंदी हरकत करूँ; किंतु उनके मस्तिष्कसे अन्तर्मनका प्रबल आवेग बलात्कारसे, उनकी अनिच्छा और अज्ञानसे ऐसी क्रिया करवाता है—जिसका उन्हें पता नहीं है। मानसिक प्रयोगसे उनका जाग्रत् मन अब इतना बलवान् हो गया है कि अब यह मलिन क्रिया वह नहीं करतीं। अब वह इस अनैच्छिक मनोवेगके वशीभूत नहीं हैं।

मानसशास्त्रियोंका यह कथन अक्षरशः सत्य है कि रोग मनमें है, रोगका कारण भी मनमें है। मारता भी मन है और जिलाता भी मन है। आजकल अनेकानेक ऐसे असाध्य शारीरिक और मानसिक रोगोंसे लोग ग्रस्त हैं और सब प्रकारकी वैज्ञानिक चिकित्सा होनेपर भी वे रोग निर्मूल नहीं होते। चिकित्सक उन रोगोंका वास्तविक कारण स्थूल निदानसे नहीं जान सकते; क्योंकि उनका मूलकारण मनोमयकोष और प्राणमय कोषमें है।

मनुष्य खाता-पीता है। जिन पदार्थों और प्राणियोंसे वह सम्बन्ध रखता है, जिन विचारोंमें डूबा रहता है, उन सबसे प्राणका स्वरूप बनता है। जड और चेतन सब पदार्थोंसे प्राणकी लहरें निकलती हैं और बहती हैं, इसलिये उन सबका प्रभाव अवश्य पड़ता है। प्राणका नाड़ीतन्त्रसे निकट सम्बन्ध है। मनोमयकोषमें विकार होनेसे प्राणमयकोषमें गड़बड़ होती है, प्राणमयकोषमें अस्तव्यस्तता होनेसे मनोमयकोषमें। मान्त्रिक चिकित्सामें प्राण-विनिमयका ही चमत्कार है। पाश्चात्त्य देशोंमें मानसिक रोगोंको दूर करनेके लिये मनोविश्लेषणका खूब प्रचार है। जुंग, ऐडलर, फ्रायड आदि मानसशास्त्र-वेत्ताओंने लगभग पचास हजार पृष्ठोंमें इस विषयपर

बड़ा ही अनुभवपूर्ण, गवेषणात्मक और उपयोगी साहित्य लिखा है। भारतमें भी इसका प्रचार होने लगा है; किंतु देखना है कि उसका प्रयोग हम किस प्रकार करें। उन्होंने कामवासनाके दमन या कामवासनाकी अपूर्तिको ही मानसिक रोगोंका कारण माना है। उनके मनोविश्लेषणकी प्रणालीके अनुसार भारतीय संस्कृतिके वातावरणमें हम स्त्रियोंसे उस प्रकार प्रश्नोत्तर नहीं कर सकते। स्त्रियाँ उसके लिये तैयार न होंगी और भारतीय शिष्टाचार इस प्रकारके व्यवहारकी आशा नहीं कर सकता।

गीताके दो श्लोकोंमें मनोविज्ञानका निष्कर्ष भरा हुआ है। अर्जुनके पूछनेपर कि यह मनुष्य किसकी प्रेरणासे पाप करता है, कौन इसे पापमें लगाता है, उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

(३। ३७)

रजोगुणसे पैदा हुआ यह 'काम' है और यही 'क्रोध' है। इसीने ज्ञानको ढक रखा है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

विषयोंका निरन्तर ध्यान करनेसे आदमीका उनमें लगाव हो जाता है, लगाव अर्थात् संगसे काम अर्थात् उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। कामसे क्रोध पैदा होता, क्रोधसे भूल होती है, भूलसे स्मृति बिगड़ती है, स्मृति बिगड़नेसे बुद्धिका नाश और बुद्धिका नाश होनेसे मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है। विचार-शास्त्रका यह कैसा सुन्दर सिलसिला है।

विषयोंमें चित्त लगानेसे नाड़ियोंके द्वारा सूक्ष्म विचार मस्तिष्कमें पहुँचता है, फिर सूक्ष्मशरीरमें प्राणमय-कोषमें और वहाँसे मनोमयकोषमें, जहाँ विषयका ज्ञान होता है। यह प्रणाली सदा प्रचलित रहती है। ध्यानसे चित्त विषयोंमें बस जाता है और उसी प्रकारका हो जाता है।

मनोविश्लेषण-चिकित्साद्वारा मानसिक रोगीकी दबी हुई विस्मृत भावनाको—जिस कारण मानसिक रोग उत्पन्न हुआ है, उसको चेतन मनके स्तरपर या स्मृतिपर लाना होता है, जिससे मस्तिष्कका खिंचाव हलका हो जाय। फिर आत्मसूचनाद्वारा मनको बलवान् बनाकर आध्यात्मिक उच्चस्तरपर आरूढ़ करना होता है। जिससे फिर आत्महीनताकी भावना अन्तस्तलमें प्रवेश न कर सके।

प्राचीन आध्यात्मिक चिकित्सा-प्रणाली

हमारे प्राचीन ऋषिलोग मानसिक स्तरसे बहुत ऊँचे उठे थे और आध्यात्मिक चिकित्साके महत्त्वको अच्छी प्रकार जानते थे। वेदमन्त्रोंमें मानसिक और आध्यात्मिक चिकित्साका विशद वर्णन है, जिनमें आध्यात्मिक उपचार बताया है। संसारमें विरले ही ऐसे मनुष्य हैं, जिन्हें अपनी शक्तिका परिचय हो। ध्यान, जप, प्रार्थनासे जब मनुष्य अपने वास्तविक तत्त्वको जान लेता है, तब उसमें प्रबल संकल्पशक्ति जाग्रत् हो जाती है। प्रत्येक व्यक्तिमें एक स्वाभाविक विचित्र दैवीशक्ति विद्यमान रहती है, जो दूसरोंके दुःखों और रोगोंको दूर कर सकती है। इसको जगानेके लिये ध्यानके समय मंगलमय परमात्मापर—जो सदा-सर्वदा तुममें विद्यमान है चित्तको एकाग्र कर दो, अपने सच्चिदानन्द स्वरूपको गम्भीरता और एकाग्रताके साथ स्मरण करो। ऐसा करनेसे तामसिक और राजसिक वृत्तियोंके प्रवाहसे तुम्हारा सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा, सात्त्विकता और पवित्रताकी धारा तुममें बहने लगेगी और तुम्हारा सम्बन्ध आनन्द, शान्ति और शक्तिके स्रोतके साथ हो जायगा। तुम सारी बाधाओं और प्रलोभनोंपर विजय प्राप्त कर लोगे और दूसरोंके दुःखोंको सहज ही निवारण कर सकोगे।

उपचार

कोई भी जो मानसिक रोग या अन्य रोगसे पीड़ित हो, उसको उत्तरकी ओर पाँव करके लेट जाने दो। शरीरके सब अवयवोंको ढीला करा दो—शिथिल करा दो, कहीं जरा भी तनाव न हो—मृतवत् कर दो। स्त्री हो तो उसकी बायीं ओर अथवा पुरुष हो तो उसकी दाहिनी ओर बैठकर उपचार करो। किसी भी रोगीकी चिकित्सा करनेके पूर्व प्रार्थना करना आवश्यक है। प्रार्थनामें अद्भुत शक्ति है, अपार शक्ति है। जप, ध्यान, एकाग्रता—ये सभी प्रार्थनाके रूपान्तर हैं।

प्रार्थना करते समय रोग और रोगीका नाम लेकर दोनोंको प्रकाशमय जगत्में देखो—इस प्रकार भावना करो कि वह प्रकाशमय जगत्में है और प्रकाश उसके भीतर भरा है। इस प्रकार रोग और रोगीको देखनेसे तत्काल शान्ति और विश्रामका अनुभव होगा। यह क्रिया ध्यानस्थ

होकर करनी चाहिये। प्रार्थना करो और हाथ फेरकर रोग दूर करो। कम से-कम २१बार रोगीके सिरसे पैरतक, उसे बिना छुए हुए, हाथ फेरो। इस बातका ध्यान रखो कि रोगीका स्पर्श करते हुए हाथ फेरनेपर चिकित्साके पश्चात् हाथ धो डालो। निम्नलिखित वैदिक भावना धीरे-धीरे बोलकर दृढ़ भावनाका संचार करो।

वैदिक आत्मसूचना-पद्धति

(अथर्ववेद २। ६। ३३)

ॐ अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते॥ १॥

हे रोगी मनुष्य ! मैं तेरी दोनों आँखों, दोनों नथुनों, दोनों कानों, ठुड्डी, सिर और जिह्वासे भी रोगोंको भगाये देता हूँ।

ॐ ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते॥ २॥

हे व्याधिग्रस्त जीव! तेरे गलेकी १४ सूक्ष्म नाड़ियोंके,—हँसली एवं वक्षःस्थलकी नाड़ियों, दोनों कन्धों, दोनों भुजाओं और जिसमेंसे क्रमशः सब हड्डियाँ निकलती हैं—इन सबके रोगोंको दूर करता हूँ।

ॐ हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम्।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीन्हो यक्नस्ते वि वृहामसि॥ ३॥

हे रोगी! मैं तेरे हृत्कमलसे, पित्ताधारोंसे, दोनों बगलोंसे, गुर्दोंसे, प्लीहा और यकृत्से रोगका निवारण करता हूँ।

ॐ आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते॥ ४॥

हे व्याधिग्रस्त प्राणी! मैं तेरी आँतों, गुदाके चक्रों तथा नाड़ियों, उदर, दोनों कोखोंकी थैली और नाभिचक्रके स्नायुजालसे रोग निवृत्त करता हूँ।

ॐ ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते॥ ५॥

हे रोगग्रस्त जीव! मैं तेरी जंघाओं, घुटनों, एड़ियों, पैरोंके पंजों, कूल्हों—नितम्बों, कमर और गुह्य स्थानोंसे रोगको दूर करता हूँ।

ॐअस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते॥ ६॥

हे रोगी! मैं तेरी हड्डियों, मज्जा आदि, पट्ठों, नाड़ियों और हाथों, अँगुलियों तथा नखोंसे सब रोग दूर करता हूँ।

ॐ अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि॥ ७॥

हे रोगसे दुःखी प्राणी! तेरे ऊपर न कहे हुए प्रत्येक अंगमें, संपूर्ण रोमकूपोंमें और प्रत्येक जोड़में जो रोग हो गया है, उस रोगको मैं दूर करता हूँ और तेरी त्वचामें जो रोग पहुँच गये हैं, उन्हें दूर करता हूँ। तेरे नेत्र आदि संपूर्ण अंगोंमें व्याप्त रोगको महर्षि कश्यपके विबर्ह मन्त्रसे दूर करता हूँ।

भयके रोगसे मुक्ति और रक्षाका मन्त्र

अभयं मित्रादभयममित्रा-
दभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः
सर्वा: आशा मम मित्रं भवन्तु॥

(अथर्व० १९। २। १५)

'तुम मित्रोंसे तथा जो मित्र नहीं हैं, उनसे भी निर्भय हो। जाने हुए और न जाने-देखे हुए पुरुषों और स्थानोंसे भी, दिनमें और रात्रिमें भी निर्भय हो। सब दिशाएँ तुम्हारी मित्र हो रही हैं। परमात्मा सब प्रकारसे तुम्हारा सहायक और रक्षक है। तुम परम निर्भय हो।'

इस भावनाको बीस बार दुहराओ, रोगीके अन्तर्मनपर विलक्षण प्रभाव पड़ता है। ध्यानसे चिकित्सा करनेके समय अपने हृदयको परमात्माके प्रेमसे खूब भर लो, जिससे प्रेम, आरोग्य, शक्तिकी धारा तुम्हारे शरीरसे रोगीमें प्रवाहित होने लगे।

ओषधि खाऊँ न बूटी लाऊँ, ना कोई बैद बुलाऊँ।
पूरण बैद मिले अबिनासी, वाही को नबज दिखाऊँ॥

परमात्मा ही परम वैद्य है। उसीकी शरण और छायामें चिकित्सार्थ स्वयंको और सबको शरणागत कर दें—निर्भय और निश्चिन्त रहें। धन्वन्तरि महाराज कह गये हैं—

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

'अच्युत, अनन्त, गोविन्द—इन परमात्माके नामोंके उच्चारणरूपी ओषधिसे सब रोग नष्ट होते हैं; मैं सत्य कहता हूँ, मैं सत्य कहता हूँ।'

ॐआरोग्यम् ॐआरोग्यम् ॐआरोग्यम् ॐ ॐ ॐ
ॐआनन्दम् ॐआनन्दम् ॐआनन्दम् ॐ ॐ ॐ

आयुर्वेदोक्त भौतिक नाड़ी

(लेखक—डॉ० श्रीयुत बी० भट्टाचार्य, एम० ए०, पी० एच० डी०, राज्यरत्न, ज्ञानज्योति)

संसारभरके चिकित्सकोंमें अपने रोगियोंकी नाड़ी देखनेकी एक सामान्य प्रथा है। प्रत्येक वैद्य नाड़ी देखकर भिन्न-भिन्न अर्थका ग्रहण करता है। कोई एक ही अँगुलीसे नाड़ी पकड़ता है और कोई तीनसे; कोई उसके आघातोंकी संख्या गिनते हैं तो कोई गतिका विचार करते हैं। जहाँतक मुझे विदित है, भारतको छोड़कर अन्यत्र किसी देशमें इस विज्ञानका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन नहीं किया गया। नाना प्रकारकी नाड़ियोंकी परीक्षा और उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण यहींपर हुआ है। संस्कृतमें नाड़ियोंके भेद बतलानेवाले कम-से-कम १००ग्रन्थ होंगे। इन ग्रन्थोंमें लगभग छः सौ प्रकारकी नाड़ियोंका वर्णन है और उन सबके अत्यन्त सूक्ष्म फल भी उनमें बताये गये हैं। बड़े अचम्भेमें डालनेवाला विषय है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि नाड़ी-जैसे बहुत ही महीन धागेमें ६सौ प्रकारकी विभिन्न गतियाँ हैं। और ये सब गतियाँ अलग-अलग पहचानी जा सकती हैं, सबके अलग-अलग फल भी बताये जा सकते हैं!

नाड़ीके इन ६००प्रकारोंमें दो बहुत ही विचित्र हैं। उन्हींके सम्बन्धमें मैं यहाँ कुछ कहना चाहता हूँ। इन दोनोंको भौतिक नाड़ी कहते हैं—अर्थात् वह नाड़ी, जिसे भूत लगा है। जब किसी रोगीको भूत या प्रेत लगता है, तब उसकी नाड़ीकी गतिमें बड़ा परिवर्तन दीख पड़ता है। इस परिवर्तनको ही भौतिक नाड़ी कहते हैं।

अपने बहुत-से पाठकोंकी भाँति मैं भी एक शिक्षित व्यक्ति होनेके कारण पहले इस प्रकारकी किसी नाड़ीके होनेकी बात नहीं मानता था और इन द्विविध नाड़ियोंकी चर्चाको केवल एक वाग्विनोद समझता था। पर अपने ३० वर्षोंके दीर्घ चिकित्साकालमें लगभग तीन लाख रोगियोंकी नाड़ियाँ देखनेके बाद मुझे तीन रोगी ऐसे मिले, जिनकी नाड़ियाँ देखनेपर मालूम हुआ कि वे भौतिक नाड़ियाँ ही हैं। तब मुझे प्राचीन ऋषियोंकी बुद्धिकी गहराईका पता चला। सत्य एवं ज्ञानकी रक्षाके निमित्त ही बिना किसी अत्युक्तिके मैं इन रोगियोंका हाल यहाँ लिखता हूँ। मैं जो कुछ कहूँगा, वह केवल उन्हीं लोगोंके लिये है, जिन्होंने अपने मस्तिष्कके कपाटोंको बंद करके नहीं रखा है और जो सत्य एवं ज्ञानके प्रति किसी भ्रान्तधारणासे ग्रस्त नहीं हैं। भौतिक नाड़ीकी बात, विशेषतः आजकल, विचित्र-सी लगती है। पर यदि यह सत्य है तो इसे मानना ही होगा।

भूतबाधावाली नाड़ीका एक लक्षण यह है कि अँगुली रखनेपर कुछ देरतक तो यह स्वाभाविक रीतिसे एवं नियमित प्रकारसे चलती मालूम पड़ती है, किंतु फिर एकाएक लुप्त हो जाती है। कई आघातोंका और कभी-कभी एक साथ दस-दसका पता नहीं चलता। रोगी जबकि देखनेमें स्वस्थ है, ये दस आघात न जाने कहाँ गायब रहते हैं। नाड़ीकी गतिका इस प्रकार लुप्त हो जाना दस मिनटमें प्रायः पाँच बार दिखायी पड़ता है। भूताविष्ट नाड़ीका यह एक प्रकार है। आगे मैं बताऊँगा—ऐसी अवस्थामें रोगी प्रायः जीवित रहता है, किंतु भूताविष्ट होनेके कारण शरीरकी स्वाभाविक क्रियाओंमें अव्यवस्था दिखायी देती है।

नाड़ीकी एक दूसरे प्रकारकी गति है, जिससे यह पता लगता है कि रोगी तो मर चुका है, पर उसके शरीरको किसी भूत या प्रेतात्माने दखल कर लिया है। ऐसी अवस्थाओंमें नाड़ीकी गति अस्वाभाविक और असाधारण हो जाती है। अँगुली रखनेपर यह नाड़ी अत्यन्त तीव्र गतिसे चलती हुई मालूम पड़ती है। इसकी गतिमें क्रमबद्धताका नितान्त अभाव रहता है। एक अँगुलीसे दूसरी अँगुलीतक बिजलीकी तरह दौड़ती मालूम देती है। अँगुलीमें ऐसा अनुभव होता है मानो बिजलीके एक ऐसे तारको छू रही हो—जिसमें ११० वोल्टकी पर्यायक्रमसे परिवर्तनशील विद्युत्धारा प्रवाहित हो रही हो। ऐसी नाड़ीको देखकर डॉक्टरलोग पाँच मिनटमें रोगीकी मृत्यु हो जानेकी घोषणा कर देते हैं, पर रोगी हँसता रहता है। ऐसा रोगी अपनी रोग-शय्यापर पड़ा-पड़ा घरमें कहाँ क्या हो रहा है—सब जानता रहता है, मानो उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई हो। रोगी ठीक-ठीक बता देगा कि भण्डारमें किस जगह कौन-सी खानेकी वस्तु रखी है। डॉक्टर जब दूसरी बार रोगीको देखने आता है तो आश्चर्यचकित रह जाता है और उसके पाँच मिनटमें मर जानेकी फिर घोषणा करता है। पर बार-

बार कहनेपर भी डॉक्टरकी यह भविष्यवाणी सच नहीं होती। आयुर्वेदिक ग्रन्थ चिकित्सकको आदेश करते हैं कि भूत-व्याधिकी चिकित्सा करनेकी चेष्टा स्वयं न करके ऐसे रोगीको किसी मान्त्रिकके हाथोंमें सौंप देना चाहिये; क्योंकि भूत-प्रेतोंपर दवा काम नहीं करती, तन्त्र-मन्त्रसे वे तुरंत वशमें हो जाते हैं।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, मुझे भूतग्रस्त तीन रोगियोंको देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। दो रोगी तो पहले प्रकारके थे और तीसरा दूसरे प्रकारका।

पहला दृष्टान्त खोजा जातिकी एक लड़कीका है। वह मेरे एक बहुत पुराने मित्रकी गोद ली हुई लड़की थी। बीमार होनेके पहले वह दो बार डर चुकी थी। एक बार तो सन्ध्या-समय एक वृक्षके नीचे और दूसरी बार एक वृद्धा स्त्रीके छाया-रूपके दर्शनसे, जो इस लड़कीके हाथ कुछ बेचना चाहती थी। क्रमशः उसकी नींद मारी गयी और वह दिन-रात लगातार कुछ बड़बड़ाती हुई घूमा करती। उसने स्नान तथा आवश्यक कृत्य करना छोड़ दिया। मनके अधिकाधिक उग्र होनेके लक्षण दिखायी देने लगे और उसका व्यवहार लोकविलक्षण होने लगा। रोगिणी मेरे पास परामर्शके लिये लायी गयी। उस समय उसका व्यवहार ठीक था और वह मेरे प्रश्नोंका समझके साथ विशुद्ध अंग्रेजी भाषामें उत्तर दे रही थी। साथमें आये हुए अभिभावकने मुझे बाताया कि घरसे बाहर जानेपर उसका व्यवहार सुधर जाता है, पर घरमें आते ही वह फिर पूर्ववत् बिलकुल पागल हो जाती है। जब मैंने उसकी नाड़ीपर हाथ रखा तो स्तम्भित रह गया। थोड़ी देरके लिये एकाएक नाड़ी बिलकुल बंद हो जाती, फिर स्वाभविक ढंगसे क्रमपूर्वक आघात होने लगते। मैं बहुत देरतक नाड़ी पकड़े रहा, वह पर्यायक्रमसे चलती और लुप्त होती रही। जिन लोगोंने थोड़ा बहुत भी नाड़ीका अनुभव किया होगा, उनके लिये यह जानना कठिन नहीं होगा कि इस प्रकारकी नाड़ी बहुत कम देखनेमें आती और अत्यन्त सन्दिग्ध होती है। ऐसे रोगीका सुधार एवं चिकित्सा नितान्त कठिन है। संस्कृतमें इसको अदृश्या नाड़ी कहते हैं, यद्यपि इसे 'पर्यायक्रमसे अदृश्या' कहना अधिक ठीक होगा। इसे भूत-व्याधिका निश्चित लक्षण मानना चाहिये।

मैंने लड़कीके पितासे कहा कि इसे भूत लगा है, इसलिये किसी ऐसे व्यक्तिको दिखाना चाहिये, जो भूत-प्रेतोंको भगाना जानता हो। ये महाशय अत्यन्त आधुनिक विचारोंके होनेके कारण मेरी बात माननेको तैयार नहीं हुए और ऐसा कोइ यत्न न करके निपुण डॉक्टरों और वैज्ञानिकोंके द्वारा चिकित्सा कराते रहे। पर वे रोगका सिर-पैर कुछ भी समझ न सके। रोगिणीकी दशा उत्तरोत्तर खराब ही होती गयी। उसमें पागलपनके अधिकाधिक उग्र लक्षण दीखने लगे। प्रायः तीन सहस्र रुपये खर्च जो हो चुके और उसे शान्त रखनेके लिये लगभग आधा किलो ब्रोमाइड भी उसको खिलाया जा चुका, परंतु फल कुछ नहीं हुआ। लड़कीके पिता निराश हो चुके थे कि संयोगसे उनसे मेरी दूसरी बार भेंट हो गयी और मैंने उन्हें किसी ओझासे सलाह लेनेकी राय दी। इस बार वे तुरंत तैयार हो गये और बी०बी०ऐंड० सी० आई० रेलवेपर स्थिति नवसारीके पास खरसदमें एक अद्‌भुत स्त्री ओझाइनको उन्होंने खोज निकाला। यह स्त्री गुजरातमें मंची माताके नामसे विख्यात है। प्रत्येक रविवार एवं मंगलवारको सैकड़ों व्याधिग्रस्त प्राणी उसके पास पहुँचते हैं। वे उसके पास एक नारियल ले जाते हैं, जिससे वह रोगीकी सारी कथा जान लेती है। रोगीको एक बार भी वह नहीं देखती, पर रोगका निदान और उसके विशिष्ट लक्षणोंका ठीक-ठीक वर्णन कर देती है और भूत-प्रेतकी बाधाकी ठीक चिकित्सा भी कर देती है। उसने ऐसे-ऐसे अद्‌भुत और चमत्कारपूर्ण इलाज किये हैं कि यदि आजकलके किसी डिग्रीदार डॉक्टरने वैसा एक भी चमत्कार किया होता तो वह विश्व-ख्यातिके आसनपर कूदकर जा बैठता और चिकित्सा-विषयमें नोबेल पुरस्कारका उम्मीदवार बन जाता। पर यह महिमामयी स्त्री नित्य ही ऐसे अनेक चमत्कार कर रही है और उनसे सहस्रों व्याधिग्रस्त परिवारोंका दुःख-मोचन हो रहा है, यद्यपि समाचारपत्रका कोई अदना रिपोर्टर भी उसकी कोई खबर नहीं रखता।

इन मंची माताके पास एक दिन रविवारको वह दुःखके मारे हुए लड़कीके पिता एक नारियल लेकर गये और अपनी बारी आनेकी बाट देखने लगे। जब उनकी बारी आयी, तब उस महिमामयी स्त्रीने ढेरमेंसे उनके नारियलको उठाकर अपने कानोंके पास अच्छी तरहसे हिलाया और फिर रोगीका तथा उसके रोगके लक्षणोंका वर्णन करना आरम्भ कर दिया। उसने बताया कि कैसे वह लड़की डरी, कैसे उसके साथ ठीक व्यवहार नहीं हुआ और न उसका ठीक उपचार हुआ।

उसने बताया कि रोगिणीको भूतबाधा है और एक सप्ताहमें वह बिलकुल चंगी हो जायगी। उसने उसकी भुजामें बाँधनेके लिये एक काला सूत्र दिया तथा एक मुट्ठी चावल दिये, जिनमेसें कुछ दाने रोज उस बर्तनमें डाल देनेको कहा—जिसमें उसका खाना पकता। उसने इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं किया, न कोई शुल्क लिया। कितने आश्चर्यकी बात है कि तीन ही दिनोंमें रोगिणीकी स्थिति स्वाभाविक हो गयी और सात दिनोंके बाद तो रोगका कोई नाम-निशानतक नहीं रहा। वह आज भी जीवित है। उसका विवाह भी हुआ और अब कई बच्चोंकी माँ है। भौतिक नाड़ीका यह पहला दृष्टान्त है। मैं यहाँ यह बता दूँ कि ऐसी अवस्थामें नाड़ीके बीच-बीचमें लुप्त हो जानेमें तथा अजीर्ण रोगमें नाड़ीके लुप्त जानेमें बहुत अन्तर है। अजीर्णमें तो कभी-कभी दो-तीन आघात नहीं मिलते। पर यहाँ अधिक नहीं तो कम-से-कम आठ-दस अघातोंतक नाड़ीका कोई पता नहीं चलता।

दूसरा दृष्टान्त मेरे पासके ही गाँवकी एक सोलह वर्षकी लड़कीका है। मेरे एक पुराने मित्र होमियोपैथिक चिकित्सा करानेके लिये उसे मेरे पास ले आये। पहलेवाली लड़कीकी भाँति इसमें कोई उग्र लक्षण नहीं थे। कुछ महीने पहले उसे थोड़ा ज्वर हुआ था; पर जब वह अच्छी हुई, तब उसकी बोली बंद हो गयी। वह सुन सकती थी, बोलनेकी चेष्टा भी करती; पर शब्द ही न निकलते और वह रोने लगती। उसके बाह्यरूप एवं सामान्य स्वास्थ्यको देखते हुए रोगके लक्षण दुःसाध्य, भयानक अथवा चिन्ताजनक नहीं प्रतीत होते थे। पर जब मैंने नाड़ीपर हाथ रखा तो दंग रह गया। कम-से-कम आठ-दस आघातोंतक नाड़ी बिलकुल लुप्त हो जाती थी। थोड़ी देर और परीक्षा करनेपर मैंने देखा कि नाड़ी पर्यायक्रमसे ऊपर बतायी हुई रीतिके अनुसार मिलती और फिर छूट जाती। अपने पूर्व अनुभवके आधारपर मैंने इसे भौतिकी नाड़ी ही माना और अपने मित्रको उसी रातको मंची माताके पास जानेकी सम्मति दी, जिससे कि वे दूसरे दिन मंगलवारको प्रात:काल उनसे मिल सके। उन्हें मेरी बातका पूरा विश्वास तो नहीं हुआ और यदि दूसरे किसीने कहा होता तो वे वहाँ जाते भी नहीं। अस्तु, वे नारियल लेकर खरसद गये और उस प्रसिद्ध स्त्रीके दर्शन करके उसे वह नारियल थमा दिया। उसने इस बार भी रोगका बिलकुल ठीक-ठीक वर्णन कर दिया और बताया कि रोगिणीके बोलने लगनेमें लगभग एक महीना लगेगा। कुछ चावलके दाने देकर उन्होंने कुछ आदेश दिये—जिनका अक्षरशः पालन किया गया। पाँच सप्ताह बाद मेरे मित्र मुझसे कार्यालयमें मिले और रोगिणीके अच्छे हो जानेका सुसंवाद सुनाया। उसकी बोलनेकी शक्ति बिलकुल ठीक हो गयी और उसकी पहली सगाई, जो प्राय: छूट चुकी थी, फिरसे पक्की हो गयी, जिससे सब सम्बन्धीलोग बड़े प्रसन्न थे। भौतिकी नाड़ीका यह दूसरा उदाहरण है। इन दोनों उदारहणोंमें रोगिणियाँ जीवित तो थीं, पर प्रेतात्माओंद्वारा उनकी स्वभाविक चेष्टाओंमें बहुत अन्तर पड़ गया था।

अब मैं आपको एक ऐसा उदाहरण सुनाऊँगा, जिसमें—आप चाहे विश्वास करें या न करें—रोगिणी वास्तवमें तो मर चुकी थी, पर एक क्षुधार्ता स्त्रीकी मृतात्मा उसे—मृत शरीरको जीवित रखे हुई थी।

यह एक अत्यन्य संभ्रान्त महिलाका वर्णन है। उनके कई संतानें थीं। वे बहुत दिनोंसे अल्ब्युमिनेरियाका कष्ट भोग रही थीं और सब तरहकी चिकित्साएँ करा चुकी थीं तथा बहुत दिनोंतक स्थानीय अस्पतालमें भी रह आयी थीं। उन्हें किसीसे कोई लाभ नहीं दिखायी दिया। यहाँतक कि उन्हें थोड़े दिनोंकी और मेहमान बताकर सब डॉक्टरोंने जवाब दिया।

अब रोगिणीके अभिभावकोंने होम्योपैथीका स्मरण किया और दुर्भाग्यसे उनकी श्रद्धा मेरे ऊपर ही आकर टिकी। उनके बुलावेको अस्वीकार करनेमें असमर्थ होनेके नाते मैं रोगिणीके पास गया और बहुत देरतक उनकी खाटके पास बैठकर उनकी चेष्टाओं तथा दशाका अध्ययन करता रहा। मैं कहूँगा कि रोगिणीके विषयकी प्रत्येक बात विचित्र और सन्देहास्पद प्रतीत होती थी। मुझसे बताया गया कि डॉक्टरोंको यह आशा नहीं है कि रात काट ले जायँगी; पर उनकी आँखोंकी ओर देखनेसे मुझे उनमें एक असाधारण क्या, एक लोकोत्तर-सी चमक दिखायी पड़ी। शरीरका तापक्रम सामान्य था। बात-चीत भी वह साधारणतया स्वाभाविक ढंगसे कर रही थीं और उनके इन्द्रियद्वारोंसे निकले मल-विष्ठादिमें भी न तो कोई गन्ध थी, न कोई विशेषता। सच पूछा जाय तो रोगिणीमें ऐसी कोई बात नहीं थी, जिससे उनकी दशा भयसूचक समझी जाती। खानेके लिये वह अत्यन्त आतुर थीं, नाना प्रकारकी

सुस्वादु वस्तुओंको माँग रही थीं। इतना ही नहीं—परिचारकोंको यह भी बता रही थीं कि घरमें वस्तुएँ कहाँ रखी हुई हैं। यह सब होते हुए भी उन्हें उसी रातको मर जाना था।

अपने सामान्य अभ्यासके अनुसार मैंने उनकी नाड़ीपर हाथ रखा। मैं आपसे क्या बताऊँ? अँगुलियोंके नीचे नाड़ीकी गतिका अनुभव करके आश्चर्यका एक ऐसा झटका लगा, जैसा जीवनमें पहले कभी नहीं लगा था। मैं तो ऐसा भयभीत हो गया, मानो किसी भूतसे पाला पड़ गया। मैं उस नाड़ीको कभी नहीं भूलूँगा। किसी जीवित व्यक्तिकी नाड़ी इस प्रकारकी नहीं होती। ऐसी नाड़ीवाला व्यक्ति तो तुरंत मर जायगा। फिर भी हमारी रोगिणी देखनेमें अपने स्वाभाविक स्वरूपमें स्थित थीं और भोजन माँग रही थीं। नाड़ी सूतकी तरह पतली थी, और कभी यहाँ कभी वहाँ आघात करती हुई एक अँगुलीसे दूसरी अँगुलीतक बिजलीकी भाँति उछलती चल रही थी। उसकी गतिमें कोई क्रमबद्धता नहीं थी, बल्कि अत्यन्त उच्छृंखल और एक प्रकासे कोलाहल पूर्ण क्रमहीनता वर्तमान थी। अपने जीवनमें मैंने तीन लाख नाड़ियाँ देख डाली हैं, पर ऐसी नाड़ी कहीं नहीं देखनेको मिली थी। सौभाग्यसे मुझे नाड़ीशास्त्रका एक वाक्य याद आ गया, जिसमें इसे 'विद्युल्लता—चपलाकी कौंधके समान चलनेवाली नाड़ी' संज्ञा दी गयी थी। शास्त्रमें यह आदेश था कि चिकित्सकके हाथमें जब ऐसी नाड़ी आये तो उसे तत्काल रोगीको किसी ओझाके हाथमें सौंप देना चाहिये।

मैंने कोई दवा न देकर उन्हें किसी योग्य ओझासे सलाह लेनेकी राय दी। कठिनतासे एक योग्य व्यक्ति उसी शहरमें मिले और रोगिणीको घर आकर देख जानेके लिये उन्हें किसी तरह प्रस्तुत किया जा सका। वे वहाँ गये, रोगिणीको देखा-भाला। उनके साथ प्रश्नोत्तर करके उनकी परीक्षा की और फिर निम्नलिखित वक्तव्य दिया। 'रोगिणी जिन दिनों अस्पतालमें थी, उसके बगलके कमरेमें एक और स्त्री थी। वह वृद्धा थी और किसी दरिद्र परिवारसे आयी थी। अपने जीवनमें उसने कभी भरपेट अच्छा भोजन भी नहीं किया था, फिर सुस्वादु वस्तुओंकी बात ही क्या। अच्छे और स्वादिष्ट भोजनकी उसके मनमें बड़ी लालसा थी, और मरनेके बाद इस दुर्बल रोगिणीको पास ही पाकर उसके शरीरमें प्रविष्ट हो गयी। लगभग दो मास पूर्व असली रोगिणी तो चल बसी, पर उसके शरीरको भूखी बुढ़ियाकी आत्मा जिलाये हुए है। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है कि मूल रोगिणी अर्थात् इस घरकी लड़की तो मर चुकी है, और उसके फिरसे लौटनेकी अब कोई सम्भावना नहीं है। जबतक उसकी क्षुधा नहीं शान्त हो जाती, बुढ़िया इस देहमें रहेगी और फिर अपनी इच्छासे इसे छोड़ देगी।'

इस समाचारसे, अधिक क्या कहूँ, परिवारके सभी लोग काँप उठे और सबने मिलकर यही तय किया कि इस भूतको अब अपने बीचमें और नहीं टिकने देना चाहिये, बल्कि शान्त उपायद्वारा उसे भगा देना ही ठीक है। ओझाने एक कागजके टुकड़ेपर एक मन्त्र लिखकर उसे एक ग्लास पानीमें घोलकर दिया और परिचारकोंसे कहा कि 'इस जलमेंसे थोड़ा-थोड़ा रोगिणीपर कई बार छिड़कते रहना। फिर चौबीस घंटेके बाद शरीर निर्जीव हो जायगा।' दूसरे दिन दोपहरके पश्चात् ठीक चौबीस घंटेंके बाद रोगिणी निस्तब्ध हो गयी और उसमें जीवनका कोई चिह्न शेष नहीं रहा।

इन तीनों विवरणोंसे यह अनुमान किया जा सकता है कि नाड़ी-शास्त्र एक रहस्यपूर्ण विज्ञान है और इसपर अधिकार प्राप्त करना कोई हँसी-खेल नहीं है। किंतु इस कारणसे विज्ञानके इस विभागकी खोज बंद न हो जानी चाहिये। बल्कि नाड़ीपरीक्षाका विषय अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी प्रत्येक व्यक्तिको अपनी योग्यताके अनुसार उसका अध्ययन करना चाहिये और मैं बिना संकोचके कह सकता हूँ कि किसी भी चिकित्सकको—चाहे डॉक्टर हो, होमियोपैथ हो, हकीम हो या वैद्य हो—इससे लाभ ही होगा और उसकी मर्यादामें भी अभिवृद्धि होगी। यदि नाड़ीके स्पन्दनोंको लिख लेनेके लिये रेडियो-परिचालित संवेदन-ग्राहकयन्त्र बन जायँ तो नाड़ी विषयक ज्ञान बहुत दूरतक आगे बढ़ जाय।

अंकविद्या, गणित और ज्यौतिषका मूलस्त्रोत भारत

(लेखक—पं० श्रीशुकदेवजी पाण्डेय, एम०एस-सी)

प्राचीन भारतीय इतिहासके अवलोकनसे प्रत्येक निष्पक्ष विद्वान् इस निष्कर्षपर पहुँचेगा कि प्राच्य-विद्या-विशारदोंने गणितमें भी संसारके विद्याकोषमें बहुतसे अमूल्य रत्न समर्पित किये हैं। गणित विज्ञानकी उद्घाटिका है। विज्ञानकी उन्नति विशेषत: गणितपर निर्भर है। पश्चिमके आद्य विद्वानोंने, ईसासे पूर्व हिंदुओंने ज्यौतिषमें जो विज्ञता प्राप्त की थी, इसका उल्लेख किया है। इन विद्वानोंमें बेली, लैपलेस, प्लेफेयर और सर विलियम जेम्स मुख्य हैं। हरमन हेकल ब्राह्मणोंको ही बीजगणितका आदि रचयिता मानता है। शतोत्तर गणना भी भारतीय मस्तिष्ककी देन है। उत्तरकालीन विशेषज्ञ कोलब्रुक, ह्विटनी, वेबर, थीबो, कैन्टर, हीथ हिंदुओंकी कृतिमें ग्रीसकी परछाहीं देखते हैं। काये, जिन्होंने भारतीय गणितपर कुछ लेख लिखे हैं, प्राच्य विद्वानोंमें सुनिश्चितता तथा सूक्ष्मताकी कमीका दोष लगाते हैं। कैजोरी वेल तथा स्मिथ भी इन्हींकी भाँति हिंदुओंका लोहा माननेके लिये तैयार नहीं। सत्यके खोजीको तो निष्पक्ष होकर खोज करनेकी आवश्यकता है। जाति, वर्ग, देश, प्रदेश, काले तथा गोरेके भेद-भावसे दूर रहकर उसे सच्चे मार्गपर चलना है। भारतको दासताकी बेड़ीमें जकड़ा देख, साम्राज्यवादके भँवरमें पड़ कुछ विद्वानोंने हिंदुओंको उनका यथेष्ट स्थान देनेमें बहुतसे वाद-विवादके प्रश्नोंको सामने रखकर उनकी अन्वेषण-बुद्धिपर शंका उत्पन्न करा दी तथा यह प्रचार किया कि हिंदुओंने यूनान, मिस्र तथा अरबके लोगोंके सम्पर्कसे ही गणितका ज्ञान प्राप्त किया। ऐसे विद्वानोंने जो युक्तियाँ हिंदुओंको उनके अपूर्व स्थानसे गिरानेके लिये विद्वानोंके समक्ष रखीं, वे परीक्षाकी आँचको सह न सकीं। अन्वेषकोंने अब भारतीय विद्वानोंकी विलक्षण बुद्धिमत्ता तथा उन्होंने जो गणितशास्त्रमें दक्षता प्राप्त की थी, उसको स्वीकार कर लिया है।

पुरातन शिला-लेखोंसे तथा मोहन-जोदड़ोंमें मिले लेखों, सिक्कोंसे यह निश्चित हो गया है कि मिस्र, यूनान आदि देशोंसे पूर्व भारतवासी संख्याओंको अंकोद्वारा लिखते थे। अंक जिस प्रकार अब लिखे जाते हैं, वे पुराने अंकोंसे कुछ भिन्न हैं। समय-समयपर लिखनेके ढंगमें परिवर्तन होता रहा है। अन्य देशोंमें भी अंकोंके चिह्नोंमें महान् परिवर्तन हुए हैं। मुख्य देन जो हिंदुओंने इस विषयमें संसारको दी, वह है 'शून्य' तथा शतोत्तर गणना—संख्याओंको लिखनेकी आधुनिक प्रणाली। अंकोंको भिन्न-भिन्न चिह्नोंद्वारा प्रदर्शित करनेकी रीतिसे बड़ी संख्याओंको लिखनेमें बड़ी कठिनाई पड़ती थी और भिन्न-भिन्न प्रकारसे संख्याएँ लिखी जाती थीं। उदाहरणार्थ फिनिशियन रीतिसे ९को ।।। ।।। ।।। नौ लंबी लकीरोंद्वारा लिखते थे दसको ⌒ चिह्नसे, १९ लिखनेके लिये ।।। ।।। ।।। ⌒ लिखना पड़ता था, ४०को लिखनेका चिह्न था H H और ९०को ⌒ H H H H।

भारतवर्षमें लेखनकला चिरकालसे विद्यमान थी। वसिष्ठधर्मसूत्रमें लिखित पत्रोंको कानूनी गवाही माना है। ऋग्वेदमें भी एक स्थानपर यह मिलता है कि 'मुझे सहस्र गायें दो, जिनके कानमें ८ लिखा हो', **'सहस्त्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः'**, (१०।६२)। पाणिनीय व्याकरणमें (७००वर्ष ईसाके पूर्व) लिपिकारोंका जिक्र है। वेदोंमें कई स्थानोंपर 'अक्षर', 'काण्ड', 'ग्रन्थ' शब्दोंका प्रयोग यह सिद्ध करता है कि लेखनकला चिरकालसे भारतवर्षमें थी। सम्राट् अशोकके शिलालेखोंमें भी संख्याएँ मिलती हैं। यजुर्वेदसंहिता अध्याय १७, मन्त्र २ में १०००००००००००००(एकपर बारह शून्य—दस खरब) तककी संख्याका उल्लेख है।

इमा मेऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च, दश च शतं च, शतं च सहस्त्रं च, सहस्त्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च, नियुतं च, प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्द्धश्चैता मेऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिंल्लोके।

तैत्तिरीयसंहिता, मैत्रायणी तथा काठसंहितादि ग्रन्थोंमें भी इस शतोत्तर गणनाका उल्लेख है। ईसाके पूर्व पाँचवीं शताब्दीमें इस रीतिके अनुसार बड़ी संख्याओंद्वारा गणनाका प्रचलन भारतमें था। ईसाके पूर्व एक शताब्दीके एक बौद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर' में गणितज्ञ अर्जुन तथा कुमार गौतम (बोधिसत्व)का वार्तालाप वर्णित है। उनके प्रश्नोंके उत्तरमें कोटिके बाद बोधिसत्व गणनाका

निम्न प्रकार बतलाते हैं—

१०० कोटि	= अयुत
१०० अयुत	= नियुत
१०० नियुत	= कंकर
१०० कंकर	= विवर
१०० विवर	= क्षोभ्य
१०० क्षोभ्य	= निवाह
१०० निवाह	= उत्संग
१०० उत्संग	= बहुल
१०० बहुल	= नागबाल
१०० नागबाल	= तितिलम्ब
१०० तितिलम्ब	= व्यवस्थानप्रज्ञप्ति
१०० व्यवस्थानप्रज्ञप्ति	= हेतुहील
१०० हेतुहील	= करहु
१०० करहु	= हेतुविन्द्रीय
१०० हेतुविन्द्रीय	= समाप्तलम्भ
१०० समाप्तलम्भ	= गणनागति
१०० गणनागति	= निरवद्य
१०० निरवद्य	= मुद्रावाल
१०० मुद्रावाल	= सर्वबाल
१०० सर्वबाल	= विषमज्ञगति
१०० विषमज्ञगति	= सर्वज्ञ
१०० सर्वज्ञ	= विभुतंगमा
१०० विभुतंगमा	= तल्लाक्षण
तल्लाक्षण	= $१०^{५३}$

जैनग्रन्थ 'अनुयोगद्वारसूत्र' ईसासे १०० वर्ष पूर्वका है। गणना असंख्यतक की गयी है, जिसका परिणाम$१०^{१४०}$ (दसपर एक सौ चालीस बिंदु) के बराबर है। इस ग्रन्थमें मनुष्योंकी संख्या $२^{९६}$ दी है। एक दूसरे जैनग्रन्थमें भी एक बड़ी संख्याका उल्लेख है जो $७४, ००,०००^{२८}$ के बराबर है। हिंदुओंने आर्किमिडीज (Archimedes) नामक पाश्चात्त्य वैज्ञानिकसे शताब्दियों पूर्व ऐसी बड़ी संख्याओंकी गणना की, जो न केवल पृथ्वीके समान बड़े रेतके ढेरके कणोंके बराबर हों, बल्कि सारे ब्रह्माण्डके समान बड़े रेतके ढेरके कणोंके बराबर हो सकती हैं।

यूनानके लोगोंकी बड़ी-से-बड़ी संख्याका नाम मिरियड (Myriad) था, जो १०००० (दस सहस्र)थी और रोमके लोगोंकी बड़ी-से-बड़ी संख्याका नाम मिल्ली (Mille) था, जो १००० (सहस्र) थी।

शून्यका उपयोग पिंगलने अपने छन्दःसूत्रमें ईसाके २०० वर्ष पूर्व किया था। दूसरी बहुत-सी पुरानी गणित तथा छन्दकी पुस्तकोंमें इसका प्रयोग पाया जाता है। बखशाली हस्त-लिखित ग्रन्थोंमें (२०० ईस्वीमें) शून्यका प्रयोग गणनामें मिलता है। पंचसिद्धान्तिकामें भी, जो ५०५ ईस्वीका ग्रन्थ है, शून्यका कई बार प्रयोग किया गया है। जिनभद्र (ईस्वी ५२९—५८५)ने, जो वराहमिहिरके समकालीन थे, यह निश्चितरूपसे सिद्ध कर दिया कि शून्यका प्रयोग संख्याओंको लिखनेमें किया जाता था। भास्करने (ईस्वी ५२५) अपने महाभास्करीयमें शून्यका प्रयोग किया। अर्यभट्टीयकी टीकामें भी शून्य पाया जाता है। सिद्धसेनने 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' की टीकामें शून्यका प्रयोग बड़ी संख्या लिखनेमें प्रदर्शित किया जाता है। हिदुओंके अंकगणित एवं बीजगणितमें शून्यके सम्बन्धमें परिच्छेद पाये जाते हैं।

भारतीय विद्वानोंके अथक परिश्रम तथा खोजसे जो सामग्री प्राप्त हुई है, उससे यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि संसारको संख्याएँ लिखनेकी आधुनिक प्रणाली भारतने दी। डॉक्टर श्रीविभूतिभूषण दत्त तथा डा० श्रीअवधेशनारायण सिंहलिखित 'हिंदू-गणितके इतिहास' में भारतने जो संसारके ज्ञानकोषमें, विशेषतः अंकगणित तथा बीजगणितमें दान दिया है, उसका विस्तारपूर्वक उल्लेख है।

यूरोपमें किस प्रकार और कब यह भारतीय गणितशास्त्र फैला, इस सम्बन्धमें निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। बोथियसकी हस्तज्यामिति (ईस्वी ५००) में सबसे पहले हिंदूअंक पाये जाते हैं। सेबोख्त (ईस्वी ६५०) के लेखोंसे विदित होता है कि हिंदूअंकोंकी चर्चा यूरोपमें उनको प्रयोगमें लानेके कई वर्षों पूर्व हो चुकी थी। बगदादमें हिंदूअंक आठवीं शताब्दीके मध्यमें प्रयोगमें लाये गये। यह अनुमान किया जाता है कि शतोत्तर गणना तथा ज्यौतिषकी सारणियाँ, हिंदूराजदूत, जो ७७३ ईस्वीमें खलीफा आलम नसूरके दरबारमें गये थे, अपने साथ ले गये। ये आर्यभट्टकी भी पुस्तकें अपने साथ ले गये थे। १३वीं शताब्दीके आरम्भमें पिसाके लियोनार्डोने, जिन्होंने मिस्र, सीरिया, यूनान तथा इटलीमें बहुत भ्रमण किया और सब देशोंकी अंकोंको लिखनेकी प्रणालीका अध्ययन किया, हिंदुओंकी प्रणालीको उत्तम

पाया और यूरोपमें उसके प्रचार करनेका महान् प्रयत्न किया। हिंदूअंकप्रणालीका प्रचार पश्चिमी यूरोपमें पंद्रहवी शताब्दीके मध्यसे आरम्भ हुआ और सत्रहवीं शताब्दीतक समस्त यूरोपने इसे अपना लिया।

अनुयोगद्वारसूत्र (ईसाके १०० वर्ष पूर्व) में 'मूल' शब्दका प्रयोग है। उस समयके गणितके ग्रन्थोंमें भी इसका प्रयोग पाया जाता है। आर्यभट्ट, महावीर, श्रीपति, श्रीधर, भास्कराचार्य आदि गणितज्ञोंने वर्गमूल निकालनेकी रीतियाँ बतलायी हैं। स्मथका कहना है कि 'आर्यभट्टकी रीति अलैक्जैन्ड्रिया (Alexandria) से मिलती है।' दोनोंकी रीतियोंका मनन करनेसे मालूम हो जायगा कि इस बातमें कोई तथ्य नहीं है। वास्तवमें यूनानके लोग वर्गमूल निकालना जानते ही न थे। यदि वे जानते तो यूरोपके लोगोंको इसका ज्ञान होता। आर्यभट्टने आर्यभट्टीयमें जो रीति ४९९ में दी थी, वह यूरोपमें पंद्रहवीं शताब्दीमें पहुँच पायी, जैसा कि प्यूरवश (१४२३—१४६७), चूके (१४८७), लारोशे (१५२०), केटेनियो (१५४६) आदि विद्वानोंके ग्रन्थोंसे पता चलता है।

घनमूल निकालनेकी रीति भी हिंदुओंने संसारको बतायी। आर्यभट्टीयमें इसका उल्लेख है। सम्भव है, आर्यभट्टके पूर्वके भारतीय गणितज्ञोंने यह रीति निकाली हो। आर्यभट्ट—कहींपर भी इस बातका श्रेय नहीं लेते कि वर्गमूल या घनमूल निकालनेकी रीति उन्होंने ही आविष्कार की। ये रीतियाँ आठवीं शताब्दीके मध्यमें भारतवर्षसे अरबोंके पास पहुँचीं और उनके द्वारा अन्य देशोंमें गयीं। प्राचीन अरबी विद्वानों—जैसे इब्न वहशीय (८५५ ई०), जहीज (८६०ई०), अब्दुल अल-मसूदी (९४३ ई०)ने भी यह माना है कि अंक-लिपिका आविष्कार हिंदुओंने किया है।

हिंदुओंने बीजगणितमें भी बड़ी दक्षता प्राप्त की थी। बड़े गणितज्ञोंमें मुख्य आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य, श्रीधराचार्य इस विषयके बड़े विद्वान् थे। 'इनसाइक्लोपीडिया' के अनुसार हिंदू बीजगणितज्ञोंको यूनानके बीजगणितज्ञ डायोफैन्टस्से कहीं अधिक विषयका ज्ञान था। हिंदू 'वर्गसमीकरण' के दो मूल मानते थे और कुछ उच्चघातके समीकरणोंको हल कर सकते थे। अनिर्णीत समीकरणोंका इन्हें डायोफैन्टस्से जो इसका विशेषज्ञ समझा जाता था, अधिक ज्ञान था। डायोफैन्टस्से, (Diophantus)को केवल एक ही लब्धफल प्राप्त हो सका था; पर हिंदुओंने उस रीतिको मालूम करनेका प्रयत्न किया, जिससे ऐसे समीकरण हल किये जा सकें। इसमें इनको पूर्ण सफलता मिली। हिंदुओंने अप+बर=स और यर=अप+बर+स तथा सर^{२}=अप^{२}+बके कई हल प्राप्त किये। इनमें अन्तके समीकरणकी एक विशिष्ट स्थिति र^{२}=वप^{२}+१ को हल करनेमें यूरोपीय विद्वानोंने बड़ा परिश्रम किया। फर्मा (Fermat) ने यह प्रश्न बैसी (Bernhard F de Bessay) को दिया और १६५७ ईस्वीमें वह गणितज्ञोंके सामने रखा गया। १६५८ में जॉन वालिस तथा लार्ड ब्रोमकरने एक बड़ी लंबी रीतिसे इसे हल किया। जॉन पैलने १६६८में अपने बीजगणितमें इस हलको दिया और यह समीकरण पैलसमीकरण कहलाने लगा। इस समीकरणका वास्तविक नाम हिंदू-समीकरण होना चाहिये था, क्योंकि इसको ब्राह्मणोंने यूरोपसे करीब एक हजार (हजारों) वर्ष पूर्व हल कर दिया था।

π का मान—आर्यभट्टने वृत्तकी परिधि तथा व्यासकी निष्पत्तिका यथार्थ मान ३ $\frac{११७}{१२५०}$ ३.१४१६ निकटतम चतुर्थ दशमलवतक निकाला। कायेने अपने लेखमें इसको नहीं माना है। उनका कथन है कि 'यदि आर्यभट्टने इस मानको निकाला था तो स्वयं उन्होंने इसका प्रयोग क्यों नहीं किया?' कायेने स्वयं भारतीय विद्वानोंके ग्रन्थोंका मनन नहीं किया, इस कारण उन्होंने अपने लेखोंमें बड़ी भारी भूलें की हैं। वराहमिहिरने आर्यभट्टीय π के मानका प्रयोग ५०५ ईस्वीमें किया और लल्लाने, जो आर्यभट्टका शिष्य था, ५७८ में। भटोटपालने वराहमिहिरकी 'बृहत्संहिता' की टीकामें ९६६ ईस्वीमें π का प्रयोग किया। 'पौलिश सिद्धान्तमें भी इसका प्रयोग है। मुहम्मद इब्न मूसाने ८२५ ईस्वीमें π का मान $\frac{६२८३२}{२००००}$ देते हुए यह लिखा है 'यह मान हिंदू ज्यौतिषाचार्योंका दिया हुआ है।'

हिंदुओंको ज्यामितिका भी विशेष ज्ञान था। यज्ञमें वेदियोंको बनानेमें ज्यामितिका प्रयोग पुरातनकालसे चला आता है। 'शुल्बसूत्र' में वर्ग-आयत बनानेकी विधि दी हुई है। भुजासे कर्णका सम्बन्ध, वर्गके समान आयत, वर्गके समान वृत्त आदि प्रश्नोंका इस ग्रन्थमें विचार किया गया है। इस ग्रन्थका काल निश्चित नहीं। विद्वानोंके मतोंमें बड़ा अन्तर है। श्रीमैक्समूलर इसका काल ईसाके

पूर्व ५००से २०० वर्ष मानते हैं। श्रीरमेशचन्द्र दत्त ईसासे ८०० वर्ष पूर्व, श्रीबूहलर ईसासे ४०० वर्ष पूर्व और श्रीमैकडोनल मैक्समूलरके कालको मानते हैं।

ज्यौतिषमें हिंदुओंने संसारको बहुत अमूल्य रत्न भेंट किये हैं। वेलीका मत है—'ईसाके हजारों वर्ष पूर्व हिंदू वैज्ञानिकरूपसे ग्रह-गणना करते थे।' लैपलेसके मतसे ईसाके ३०००वर्ष पूर्व हिंदू ग्रहोंका स्थान १''(१ विकला)-तक निकाल लेते थे। प्लेफेयर इस मतसे सहमत हैं। सर विलियम जेम्सके अनुसार हिंदू ईसासे ११८० वर्ष पूर्व ग्रहोंकी ठीक गणना करनेमें समर्थ थे। कतिपय विद्वानोंने इस मतका विरोध किया है। कुछ विद्वान् अब भी यह भी शंका करते हैं कि 'भारतका ज्ञान तो यूनान या ईजिप्टसे लिया गया है।' बहुत अंशोंमें यह मत अब निर्मूल सिद्ध हो चुका है; परंतु अब भी इस दिशामें बहुत कुछ करनेकी आवश्यकता है। आशा है ऐसे गणितके विद्वान्, जिनको संस्कृतका भी यथेष्ट ज्ञान है और पश्चिमीय तथा प्राच्यगणित दोनोंके ज्ञाता हैं, शेष शंकाओंको मिटानेमें सहायक होंगे।

प्रत्यक्ष विज्ञानोंके क्षेत्रमें हिंदुओंकी कृतकार्यता

(लेखक—महामहोपाध्याय डॉ० श्रीप्रसन्नकुमार आचार्य, एम०ए०, पी०-एच०डी०, डी० लिट०)

हिंदू-तत्त्वज्ञानविषयक साहित्यके लिये इतिहासकारोंमें जैसी उत्सुकता देखनेमें आयी, वैसी उनके वैज्ञानिक साहित्यके लिये नहीं उत्पन्न हुई। इसका कारण अंशतः यही कुसंस्कार है कि जगत्के अन्य प्राचीन राष्ट्रोंके समान हिंदुओंने भी इस क्षेत्रमें कोई विशेष उन्नति नहीं की। इसके सिवा आजसे लगभग सौ वर्ष पहले, जब संस्कृत, पाली और प्राकृत साहित्योंके इतिहास लिखे जाने लगे, तबतक आधुनिक जगत् वैज्ञानिक अनुसन्धानमें इतनी आश्चर्यजनक उन्नति कर चुका था कि पहलेके भारतीय-तत्त्वानुसन्धित्सु विद्वान् हमारे वैज्ञानिक साहित्यका विचार करनेकी ओर उत्साहित नहीं हुए। जबतक सर व्रजेन्द्रनाथ शीलने अपना 'प्राचीन हिंदुओंके प्रत्यक्ष विज्ञान' नामका ग्रन्थ नहीं लिखा और सर प्रफुल्लचन्द्र रायने अपना 'हिंदू-रसायन-शास्त्र' ग्रन्थ प्रकाशित नहीं किया, तबतक किसी विद्वान्को उस आयुर्वेदके क्षेत्रमें भी कोई अनुसन्धान करनेका साहस नहीं हुआ, जिसकी चर्चा प्राचीनतम वेदोंमें भी आती है। इसी प्रकार वास्तुशास्त्र, पाकशास्त्र, वेश-भूषाशास्त्र, शस्त्र-निर्माणशास्त्र, आभूषणादि बनाने और जहाज निर्माण करने आदिके विविध शास्त्र विद्वानों और इतिहासकारोंकी दृष्टिसे प्रायः ओझल ही रह गये। कलाओं और शिल्प-विद्याओंकी चर्चा अवश्य ही प्राचीनतम वैदिक साहित्यमें आती है।

आधुनिक वैज्ञानिकोंने (जैसे डॉक्टर पी.सी. घोषने अपने 'प्राचीन भारतीय सभ्यताका इतिहास', अध्याय ३, पृष्ठ ८८—११३में) निश्चितरूपसे यह दिखाया है कि एकमात्र पाटीगणितका ही ज्ञान था, जो हिंदुओंने दूसरोंको दिया। उन्होंने १से ९ तकके मूल अंकों और शून्यका भी आविष्कार किया। इसे दाशमिक संकेत कहते हैं। पर यह बात संदिग्ध है कि वे दशमलव-पद्धति भी जानते थे। उन्हें योग (जोड़), वियोग (बाकी), पूरण (गुणा), वर्ग, घन और वर्गमूल आदि अष्टांगपद्धति ज्ञात थी। भागकी आधुनिक पद्धति हिंदुओंद्वारा आविष्कृत हुई थी। त्रैराशिकका भी आविष्कार हिंदुओंने किया। आर्यभट्टने अपने ग्रन्थमें इसका उपयोग किया है। वे भग्नांक और उसकी जोड़-बाकीकी वह लघुतम पद्धति जानते थे, जो महावीर (९वीं शताब्दी) के 'गणितसारसंग्रह' में 'निरुद्ध' के नामसे प्रसिद्ध है। वे परिमिति और संहतिकी वह पद्धति भी जानते थे, जिसे 'छन्द-गणित' कहते हैं; क्योंकि पिंगल (ईसाके पूर्व दूसरी शताब्दी) के छन्दः-सूत्रमें वैदिक छन्दोंके विवेचनमें इसका प्रयोग हुआ है। आर्यभट्टने भी गणित और ज्यामितिके 'श्रेणीव्यवहार' का उल्लेख किया है। भास्कराचार्य 'लीलावती' में यह प्रमाणित किया गया है। कि जब किसी अंकको शून्यसे भाग दिया जाता है, तब उसका फल अनन्त अंक आता है। 'लीलावती' और 'बीजगणित' भास्कराचार्य (११५०ई०) कृत 'सिद्धान्त-शिरोमणि' के दो भाग हैं। यह चमत्कृतिजनक ग्रन्थ भास्कराचार्यने अपनी वयस्के ३६वें वर्षमें लिखा था।

बीजगणितको अंग्रेजीमें 'ऐलजेबरा' कहते हैं; क्योंकि यूरोपने इसका ज्ञान मूसा-अल-खोयोरेजमी (८२५ ई०) के 'अलीजेब-ओयल-मुकाबिला' से प्राप्त किया था। पर अरबोंने यह ज्ञान हिंदुओंसे लिया। चीनी और यूनानी भी इसके अभ्यासी थे। 'ऐलजेबरा' के हिंदू-

नाम बीजगणित और अव्यक्तगणित हैं। हिंदुओंने धन और ऋण संख्याओंका भी आविष्कार किया। ब्रह्म-गुप्त (६२८ ई०) ने 'समीकरण' खोज निकाला। इसके चार प्रकार 'एकवर्ण', 'अनेकवर्ण', 'मध्यमाहरण' और 'भावित' प्रयोगमें थे। आर्यभट्टके कथनानुसार 'एकवर्ण समीकरण' कूटतमको हल करनेकी प्रक्रिया है। आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, पद्मनाभ और भास्कराचार्य ऐलजेबराके ऐसे-ऐसे प्रश्न हल करते थे, जैसे १७वीं और १८वीं शताब्दीके पहलेतक यूरोपके गणितज्ञ नहीं कर पाते थे।

ज्यामितिसे बीजगणित उत्पन्न हुआ और बीजगणित-ने अंकगणित उत्पन्न किया। पहले-पहल बौधायन और आपस्तम्बने अपने शुल्ब-सूत्रोंमें (ईसाके ८०० वर्ष पहले) विविध वैदिक यज्ञोंके लिये आवश्यक विविध वेदियोंके स्थापत्यमान विवृत किये। यूनानका प्रसिद्ध ज्यामितिशास्त्रज्ञ पिथागोरस ज्यामितिशास्त्रके इस सिद्धान्तका आविष्कर्ता माना जाता है कि समकोण त्रिभुजकी समकोणवाली भुजापर स्थित वर्गका क्षेत्र अन्य दो भुजाओंपर स्थित वर्गोंके क्षेत्रोंके योगके बराबर होता है; परंतु बौधायनने पिथागोरससे बहुत पहले ही यह सिद्धान्त स्थापित किया था। उन्होंने यह प्रमेय भी सिद्ध किया कि आयतके एक कोणसे दूसरे कोणतककी तिरछी रेखापर स्थित वर्गका क्षेत्र आयतके क्षेत्रसे द्विगुण होता है।

किसी त्रिकोणके बराबर वर्ग खींचना—ऐसा वर्ग खींचना जो किसी वर्गका द्विगुण, त्रिगुण अथवा एक तृतीयांश हो, ऐसा वृत्त बनाना, जिसका क्षेत्र उपस्थित वर्गके क्षेत्रके बराबर हो—इत्यादिकी रीतियाँ भी शुल्बसूत्रमें बतायी गयी हैं। किसी त्रिकोणका क्षेत्रफल उसकी भुजाओंसे जाननेकी रीति ४थी शताब्दीके 'सूर्यसिद्धान्त' ग्रन्थमें बतायी गयी है। पर इसका ज्ञान यूरोपको क्लौवियसके द्वारा सोलहवीं शताब्दीमें जाकर हुआ। ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य दोनों किसी चतुर्भुज क्षेत्रका क्षेत्रफल उसकी भुजाओंसे निकाल लेते थे। बौधायन और आपस्तम्ब दोनोंने वर्गकी कोण-से-कोण-पर्यन्तकी तिरछी रेखा और उसकी भुजाओंका अनुपात इस प्रकार फैलाया है—१:१°४१४२१५६ $\left(१+\frac{१}{३}+\frac{१}{३\times४}+\frac{३}{३\times४\times३४}\right)$ यह परिणाम आधुनिक रीतिसे निकाले हुए परिणामसे $\sqrt{२}=१.४१४२१३$ पंचम दशमलवतक मिलता है।

त्रिकोणमितिके क्षेत्रमें हिंदुओंने जो काम किया है, वह बेजोड़ और मौलिक है। इन्होंने ज्या, कोटिज्या और उत्क्रमज्या आविष्कृत की। इनके विवरण हमारे यहाँके सभी ज्यौतिष ग्रन्थोंमें रहते हैं। चौथी शताब्दीके 'सूर्यसिद्धान्त' ग्रन्थमें इस विषयका जो विवरण है, उसका ज्ञान यूरोपको ब्रिग्सके द्वारा सोलहवीं शताब्दीमें मिला।

भास्कराचार्यकी 'लीलावती' में किसी वृत्तमें बने हुए समभुज और समकोण त्रिकोणकी तथा चतुर्भुज, पंचभुज, षड्भुज, सप्तभुज, अष्टभुज और नवभुज आकृतियोंकी भुजाओंकी लंबाई उस वृत्तके व्यासकी अपेक्षासे जाननेकी रीतियाँ दी हुई हैं। आधुनिक फारमूलासे ये रीतियाँ मिलती हैं। यह फारमूला उपर्युक्त आठों प्रकारमें क्रमशः इसी प्रकार तो है—व्यासका क्रमशः .८६६०२५, .७०७१०८३; .५८७७८३, .५, .४३३७९१६, .३८२६८३ और .३४१९२५ द्वारा गुणन।

हिंदू ज्यौतिषशास्त्रमें इससे भी अधिक विशेषज्ञता प्रकट हुई है। यह शास्त्रका अध्ययन प्रारम्भिक वैदिक कालसे ही आरम्भ हुआ। कालका सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश, 'क्रति कहलाता है। यह एक सेकंडके ३४००० अंशोंमेंसे एक अंशके बराबर होता है। ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म कालांशको भास्काराचार्य अपनी गणनामें लाये हैं। वैदिक ऋषि यह जानते थे कि सूर्य चन्द्रको प्रकाशित करता है। यह भी जानते थे कि चन्द्र २७ दिनमें अपनी परिक्रमा पूरी करके फिर उसी स्थानमें आ जाता है। एक पूर्णिमा अथवा अमावस्यासे दूसरी पूर्णिमा अथवा अमावस्यातक ३० बार सूर्योदय होता देखकर ३० दिनोंका मास माना जाने लगा। ३६५ दिनोंका वर्ष माना गया। पर यह देखा गया कि तीस-तीस दिनोंके १२ चान्द्र मासोंसे वर्षके ३६५ दिन पूरे नहीं होते। अतः चान्द्र और सौर वर्षोंका हिसाब ठीक रखनेके लिये प्रति तीन वर्षोंमें एक मलमास जोड़ा गया। पृथ्वी घूमती है—इस कारण दिन और रातका भेद होता है—इस तथ्यको पहले आर्यभट्टने (सन् ९५०ई० में) जाना। इसके एक सहस्र वर्ष बाद यूरोपमें कोपार्निकके द्वारा इसका आविष्कार हुआ। आर्यभट्ट सूर्य और चन्द्र-ग्रहणोंके कारण जानते थे, इसमें कोई संदेह नहीं। उन्होंने यह भी कहा था कि चन्द्र तथा अन्य ग्रहोंमें अपना कोई प्रकाश नहीं है। सूर्यके प्रकाशसे वे प्रकाशित होते हैं। ये ग्रह भी पृथ्वीके समान सूर्यकी परिक्रमा करते हैं और इनका परिक्रमणपथ वृत्ताकार नहीं, प्रत्युत दीर्घवृत्ताकार है। 'सूर्यसिद्धान्त' में स्पष्ट कहा है कि यदि पृथ्वीका आकार वृत्त न माना जाय तो इस कथनका कुछ अर्थ ही न रह जायगा कि

सूर्योदयके पूर्व उषःकाल होता है। बहुत प्राचीन कालसे हिंदू ज्योतिषियोंका यह प्रयास रहा है कि पृथ्वीकी परिधि और व्यास जानें। ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य और सूर्यसिद्धान्तने पृथ्वीका व्यास क्रमशः १५८१, १५८१ $\frac{१}{२४}$ और १६०० योजन माना है। एक योजन यदि ३२००० क्यूबिट या ६ $\frac{१}{११}$ मीलके बराबर हो तो इस हिसाबसे पृथ्वीका व्यास ७९०५ मील होता है। आधुनिक वैज्ञानिक गणनासे पृथ्वीका व्यास ७९१८ मील है। दोनों गणनाओंका फल प्रायः एक ही है। हिंदुओंने सिंहलद्वीपको पृथ्वीका केन्द्र माना था। पर इस समय ग्रीनविचने उसका स्थान ग्रहण किया है। इससे ज्यौतिष-गणनामें कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा। पृथ्वीके ऊपर वायुमण्डलके विस्तारके सम्बन्धमें भी हिंदुओं और आधुनिक ज्योतिषियोंका मत बहुत कुछ मिलता है। हिंदू-गणनाके हिसाबसे यह विस्तार १२ योजन अर्थात् ५५ मील है और आधुनिक गणनासे ५० मील।

मध्याकर्षणका आविष्कार न्यूटनके नामपर प्रसिद्ध है। पर इससे बहुत काल पहले ही भास्कराचार्यके 'सिद्धान्त-शिरोमणि' ग्रन्थमें यह लिखा जा चुका था कि भारी पदार्थ (अपने भारसे) पृथ्वीपर गिरते मालूम होते हैं; पर यह पृथ्वीका आकर्षण है, जो उन्हें नीचे खींच लेता है। अतः इसका यह अर्थ हुआ कि पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य एक-दूसरेको आकर्षण करते हैं और इस पारस्परिक आकर्षणके कारण सब अपनी-अपनी कक्षामें बने रहते हैं।

इससे यह मालूम हो जाता है कि हिंदुओंको वह पदार्थ विज्ञान ज्ञात था, जिसके विवेच्य विषय हैं— प्रकाश, उष्णता, ध्वनि, आकर्षण-धर्म और विद्युत्। (रसायन-शास्त्रविषयक हिंदुओंका कार्य उनके वैद्यकशास्त्रमें स्पष्ट है।) सूर्य-किरणोंको केन्द्रीभूत करनेके लिये वे गोल और अण्डाकार लेन्स तैयार करते थे।

वैद्यकशास्त्रके क्षेत्रमें हिंदुओंका कार्य विशेष और अत्यन्त मौलिक था। ऋग्वेदमें रोग-चिकित्सकोंकी चर्चा आती है। अथर्ववेदके एक भागका नाम आयुर्वेद है। इसमें प्रार्थनाके द्वारा, जड़ी-बूटियोंके द्वारा शस्त्र-प्रयोगके द्वारा रोग दूर करनेके प्रकार बताये गये हैं। ईसाके पूर्व तीसरी शताब्दीमें महाराज अशोकने मनुष्यों और पशुओंके लिये चिकित्सालय खोल रखे थे। उनके समयमें आयुर्वेदीय वनस्पतियाँ उगायी जाती थीं। यूरोपमें पहला अस्पताल इसके सात सौ वर्ष बाद पैरिसमें ईसाकी चौथी शताब्दीमें कायम हुआ।

ओषधि-चिकित्सामें चरकसंहिता और शल्य-चिकित्सामें सुश्रुतसंहिता ईसाके पूर्व ४ थी या ५ वीं शताब्दीके प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। पर इससे भी पहले इस शास्त्रके बड़े-बड़े आचार्य हो गये हैं; क्योंकि चरकका निर्माण अग्निवेश, काश्यप, हारीत, भेल और भारद्वाजके पश्चात् ही हुआ है बौद्धोंकी गाथाओंमें जीवककी चर्चा आती है। ये जीवक आत्रेयके शिष्य थे। बच्चोंकी बीमारियोंके इलाजमें ये निष्णात थे। चाणक्यने भी वैद्यकका कोई ग्रन्थ लिखा था।

पश्चिमोत्तर प्रदेशके तक्षशिला-विश्वविद्यालयमें वैद्यक शास्त्रका विधिपूर्वक अध्ययन कराया जाता था। बैक्ट्रिया आदि विभिन्न देशोंके वैद्य वहाँ जुटते थे। इन वैद्यक-संस्थाओंद्वारा वैद्यक-सम्बन्धी विविध प्रश्नोंके निर्णय होते थे। मालूम होता है चरकसंहितामें इन निर्णयोंका संग्रह हुआ है।

वेदोंमें शारीर-शास्त्र और भ्रूणविज्ञानके विषय आये हैं। इसी वेदोक्त ज्ञानपर चिकित्सा-पद्धति स्थापित है। आयुर्वेदमें चिकित्साके आठ अंग (अष्टांग) वर्णित हैं—

(१)शल्यतन्त्र (सामान्य शस्त्रक्रिया),(२) शालाक्यतन्त्र (कन्धेके ऊपरके आँख, कान, नाक, दाँत, होठ आदिके रोगोंमें विशेष शस्त्रक्रिया),(३) कायचिकित्सातन्त्र,(४) भूतविद्यातन्त्र, (५) कौमारभृत्यतन्त्र (बच्चोंके रोगोंकी चिकित्सा) (६) अगदतन्त्र (साँप, बिच्छू आदिके काटनेपर इलाज), (७) रसायनतन्त्र और (८) वाजीकरणतन्त्र।

मूल चरकसंहिता पुनर्वसु आत्रेयके शिष्य और भेलके सहपाठी अग्निवेशद्वारा रचित विविध तन्त्रोंसे संकलित हुई है। ८वीं या ९वीं शताब्दीमें काश्मीरके वृद्धबलने चरकसंहिताका संशोधन किया था। पीछे ईरानी भाषामें इसका अनुवाद हुआ और उसके बाद अरबीमें। इसके आठ खण्ड हैं। प्रथम—सूत्रस्थानमें ओषधियों, पथ्यों और वैद्यके कर्तव्योंका विवरण है। द्वितीय—निदानस्थानमें आठ मुख्य रोगोंका विषय है। तृतीय—विमानस्थानमें रोगोंका निदान और भैषज्य वर्णित हैं। चतुर्थ—शरीरस्थानमें शरीर-रचना और भ्रूणविज्ञान है। पंचम—इन्द्रियाभिधान-स्थानमें रोग-परीक्षा और फलका अनुमान करनेकी पद्धति है। षष्ठ—चिकित्सितस्थानमें नाना रसायन और विविध ओषधि-प्रयोग हैं। सप्तम—

कल्पस्थान और अष्टम—सिद्धिस्थानमें अनेकविध चिकित्सा-विधान हैं।

सुश्रुत आत्रेय और हारीतके समकालीन थे। ८वीं शताब्दीमें उनका ग्रन्थ पूर्वमें कंबोडियातक और पश्चिममें अरबतक प्रसिद्ध था। १३वीं शताब्दीमें चक्रपाणिदत्तने उसे संवर्द्धित और चन्द्राटने संशोधित किया। सुश्रुतसंहिताका आरम्भ भी सूत्रस्थानसे होता है। सूत्रस्थानमें चिकित्सा-सम्बन्धी विविध विषय समान्यरूपसे वर्णित हैं, द्वितीय—निदानस्थानमें सब रोगोंके लक्षण बतलाये गये हैं। तृतीय—शरीरस्थानमें शरीर-विज्ञान और भ्रूणविज्ञान है। चतुर्थ—चिकित्सितस्थानमें विविध रोगोंकी चिकित्साका वर्णन है। पंचम—कल्पस्थानमें विष उतारनेके प्रयोग हैं। शेष तीन खण्ड उत्तरतन्त्रमें हैं और ग्रन्थके विविध विषयोंके पूरक हैं।

अन्य ग्रन्थ भी हैं। भेल-संहितामें ऐसे ही विषयोंका निरूपण है। वृद्ध वाग्भटने तथा बालवाग्भटने अपने अष्टांग संग्रहमें चरक और सुश्रुत—दोनोंके वचन उद्धृत किये हैं। बहुत-से अन्य ग्रन्थ हैं, जिनमें पालतू पशुओंके रोगों और उनकी चिकित्साका वर्णन है। वैद्यक शास्त्रकी व्यापकता और महत्ताके कारण इसके अनेक कोष भी बन गये। ओषधि-प्रयोग और शल्यतन्त्रके क्षेत्रमें हिंदू यूनानियोंसे बहुत आगे बढ़े हुए थे। कितनी ही वनस्पतियोंके प्रयोग यूनानने हिंदुओंसे सीखे।

कोई भी रोग त्रिधातु—वात, पित्त, कफका सामंजस्य बिगड़नेसे होता है। रोगमात्रका यही कारण है, यह बात सर्वमान्य हुई। ऋतुओंका भी आरोग्यपर प्रभाव पड़ता है—यह बात मानी गयी। ज्वर तथा अन्य रोगोंकी तीन अवस्थाएँ; औषधके शीत और उष्ण, अथवा शुष्क और स्निग्ध उपचार; विषम ओषधियोंके द्वारा रोग दूर करनेका प्रकार; सद्वैद्यके लक्षण और शिष्टाचार—इत्यादिमें प्राचीनोंका मान कार्य-कौशलकी दृष्टिसे तथा नैतिक दृष्टिसे भी ऊँचा था। रोज आनेवाला ज्वर, तिजारी तथा चौथिया आदि ज्वरोंके प्रकार वर्णित हैं और क्षयरोगकी चिकित्साका विशेषरूपसे वर्णन किया गया है। भ्रूणविज्ञान सर्वथा नवीन है। यह बात मानी जाती है कि भ्रूणके सब अवयवोंका गठन एक साथ ही होता है; नरसंतानका सम्बन्ध दायीं तरफसे रहता है। यमज सन्तानोंके होनेका कारण भी बतलाया गया है; यह माना गया है कि ८महीनेका भ्रूण जीयेगा, सात महीनेका नहीं जी सकता। मृत भ्रूणको बाहर निकालनेकी रीति भी बतायी गयी है।

चीरफाड़के काममें भी हिंदू-वैद्यकने बड़ी उन्नति की थी। सुश्रुतसंहितामें मनुष्यशरीरकी चीरफाड़का वर्णन है। चीरफाड़के शस्त्रोंका वर्णन (जिसमें दाँत उखाड़नेका भी यन्त्र परिगणित है) दो अध्यायोंमें हुआ है। एक अध्यायमें चीरफाड़की रीतियाँ वर्णित हैं। पथरीके लिये चीरफाड़का विधान था। खूनी बवासीरका इलाज बहुत अच्छी तरहसे किया जाता था। दूषित खून निकालनेके लिये १८प्रकारकी जोंक लगायी जाती थी। चक्षुपीड़ामें दाहिनी आँखके इलाजमें बायें हाथका उपयोग करना हिंदू-वैद्यकको ज्ञात था। साँपके काटने तथा अन्य विषों और उनकी चिकित्साओंका वर्णन सुश्रुतमें है। सर्पदंशवाले अंगका रक्त चूसकर विष खींच लेना, उस अंगको चीरकर उसमेंसे रक्त निकाल देना या उस अंगको जला देना—सर्पदंशपर ये उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं। मच्छरके काटनेसे मलेरिया हो जानेकी बात भी लिखी है। विषसंचार करनेवाले १८ प्रकारके चूहे, ८ प्रकारके मेढक, ६प्रकारकी मक्खियाँ और चींटियाँ, ५ प्रकारके मच्छर और ५ प्रकारके साँप बताये गये हैं। विभिन्न प्रकारके छोटे-बड़े सर्पों और सर्पिणियोंके विभिन्न प्रकारके विष बतलाकर उनकी चिकित्साके भिन्न-भिन्न प्रयोग भी बतलाये गये हैं।

हिंदुओंकी ईमानदारी

जिस (भारतीय) सभ्यताको अपने उच्च वर्गके लोगोंके अत्यन्त विशाल वैभव-विलासपर गर्व था, उसमें ताले-चाबीको लोग जानते ही नहीं थे। क्या कहींपर भी कोई हिंदुओंकी ईमानदारीके एक जरासे अंशके बराबर भी ईमानदारीकी कल्पना कर सकता है?

—मेगेस्थनीज (प्रसिद्ध यूनानी राजदूत)

ग्रीक-दर्शनमें भारतीय प्रभाव

(लेखक—श्रीरासमोहन चक्रवर्ती एम्०ए०, पी-एच० डी० पुराणरत्न, विद्याविनोद)

सुप्रसिद्ध भारत-तत्त्व-वेत्ता अध्यापक कीथ (A. B. Keith) कहते हैं कि 'प्राचीन ग्रीक दर्शनका भारतीय दर्शनके ऊपर कोई प्रभाव पड़ा था, ऐसा अनुमान करना भ्रमपूर्ण है। अन्य किसी विषयकी विवेचना न करें, तो भी यह सुस्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्षमें दर्शनकी चर्चाके प्रारम्भ होनेके बहुत बाद ग्रीस देशमें दर्शनविद्याका अनुशीलन प्रारम्भ होता है। ऋग्वेदके सूक्तोंमें ही भारतीय दार्शनिक विचारोंका सूत्रपात हुआ है। और उसके पश्चात् भारतीय दर्शनका इतिहास क्रमशः उन्नति पथकी ओर अग्रसर होता है[1]।'

इस प्रसंगमें यह उल्लेखयोग्य है कि ऋग्वेदके सूक्त समूह कम-से-कम ईसासे २०००वर्ष पूर्व विद्यमान थे। और ग्रीक दर्शनके पिता थेल्स (Thales) का जन्म ६४० वर्ष ईसासे पूर्व एशिया माइनरके अन्तर्गत आरूयोनिया प्रदेशके साइलेट्स नगरमें हुआ था। अतएव यह सिद्ध है कि भारतीय दार्शनिक विचारके सहस्रों वर्षतक कमोन्नतिके पथपर अग्रसर होनेके बाद ग्रीसमें तत्त्व-विद्याका केवल श्रीगणेश होता है।

अध्यापक गार्बे (Garbe) का अनुमान है कि हेराक्लीटस् (Heraklitos) एम्पेडोकल्स (Empedocles) ऐनेक्जा-गोरस (Anaxagoras) डिमाक्रीटस् (Demokritas) तथा ऐपिक्यूरस (Epicurus) के दार्शनिक सिद्धान्त भारतीय सांख्यदर्शनके द्वारा प्रभावित हैं। पीथागोरस (Pythagoaras) भी सांख्यदर्शनके द्वारा प्रभावित हुआ था, इसमें भी सन्देहके लिये अवकाश नहीं है। तथा Gnostic और Neo-Platonic दर्शन भी भारतीय दर्शनके द्वारा विशेष-रूपसे प्रभावित हुए थे। अध्यापक विन्टरनीज (Dr. Winternitz) ने इस बातको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है।[2]

प्राचीन भारत और प्राचीन ग्रीसके दार्शनिक विचारोंके इतिहासकी तुलनात्मक पर्यालोचना करनेपर दोनों देशोंके दार्शनिक विचारोंमें अनेक स्थलोंमें खूब सादृश्य देखनेमें आता है। प्रधान-प्रधान Eleatic दार्शनिकोंके मतसे ईश्वर और विश्व अभिन्न हैं, परिदृश्यमान नानात्वकी वास्तविक सत्ता नहीं है। भारतवर्षके वेदान्तदर्शनमें भी इसी प्रकारके सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं। ग्रीक दार्शनिक एम्पेडोकल्स (Empedocles) के मतसे 'जो असत् है, उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है; तथा जो सत् है, उसका कभी विनाश नहीं होता।' इसके साथ सांख्य-सिद्धान्तका अच्छा मेल खाता है। हेराक्लीटस् (Heraklitos) के अग्नितत्त्वके साथ वैदिक मतका सादृश्य विशेषरूपमें वर्तमान है।

हेराक्लीटस् (Heraklitos) ने अग्निके सम्बन्धमें जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, तदर्थवाचक सभी शब्द वेदमें पाये जाते हैं।

ग्रीस देशमें किंवदन्ती है कि Thales, Empedocles, Anaxagoras, Demokritos तथा अन्यान्य ग्रीक दार्शनिक दर्शनशास्त्रके अध्ययनके लिये प्राच्य देशमें गये थे। भारतीय दार्शनिकोंकी विचारधाराने पारस लोगोंके यहाँसे होकर ग्रीस देशमें प्रवेश प्राप्त किया, यह बात सम्भव जान पड़ती है। प्राचीन पारसी जातिके साथ ग्रीस देशका सांसारिक व्यापारके समान विचार-राज्यमें आदान-प्रदान चलता था। उत्तर भारतके कुछ अंशोंमें जब पारसी जातिका प्रभुत्व था, उस समय पारसी लोगोंके साथ भारतीयोंका भी ग्रीस देशमें आना-जाना होता था। और ग्रीसके साथ भारतीय विचारोंका भी आदान-प्रदान चलता था। ईसासे पूर्व छठी शताब्दीमें पारसी राजा दारा (Daruis) ने पंजाबका कुछ अंश जीत लिया था और ग्रीसपर भी चढ़ाई की थी।

दाराके समय तथा उसके पहले साइरस प्रभृत्तिके राज्य-कालमें पारसकी राजसभामें ग्रीक और हिंदू दोनों जातियोंका आना-जाना होता था। पारस-सम्राट्की जो महती सेना ग्रीस देश जीतने गयी, उसमें भारतीय वेतनभोगी सेना भी थी। आर्टाजाराक्सेस (दाराके पौत्र) की सभामें टिसियस नामक एक ग्रीक चिकित्सक थे, उन्होंने भारतवर्षके सम्बन्धमें एक ग्रन्थ लिखा है। अतएव गौतम बुद्धके समय अथवा उससे कुछ पूर्व भी

1. The Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads. By A. B. Keith, Vol. II,
2. Some Problems of Indian Literature. By M. Winternitz.

ग्रीक लोग अन्ततः परोक्षभावसे भारतसे परिचित थे। ईसासे पूर्व चौथी शताब्दीके प्रथम भागमें सिंकदरके आक्रमणके समय ग्रीक और हिंदुओंका पारस्परिक प्रत्यक्ष परिचय हुआ तथा उसके बाद बौद्ध प्रचारकोंकी चेष्टासे दोनों जातियोंमें घनिष्ठता स्थापित हुई।

सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक पीथागोरस (ईसाके पूर्व छठी शताब्दी)-के ऊपर भारतीय दर्शनका प्रभाव बहुत कुछ क्रियात्मक हुआ था। आजकल पीथागोरसके सिद्धान्तके नामसे जो कुछ प्रचलित है, वह समस्त धार्मिक, दार्शनिक तथा गणितसम्बन्धी मतवाद ईसासे पूर्व छठी शताब्दीमें भारतवर्षमें प्रचलित था। आत्माका पुनर्जन्म, पांचभौतिक तत्त्व, जीवका ईश्वर-सानिध्य प्राप्त करना—पीथागोरसीय सम्प्रदायके ये समस्त सिद्धान्त भारतवर्षमें प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्तका पूर्णतया अनुसरण करते हैं। पीथागोरसने पुनर्जन्मके विषयमें जो मत प्रकट किया है, उसके पूर्व पाश्चात्त्य देशमें उस मतको और किसीने प्रकट नहीं किया। यह मत विदेशसे ग्रीसमें आ गया था, इस बातको ग्रीक लोग भी स्वीकार करते हैं। मिस्रदेशसे उनके लिये इन सिद्धान्तोंको प्राप्त करना सम्भव नहीं था; क्योंकि प्राचीन मिस्रदेशमें पूर्वजन्मवाद प्रचलित न था।

आधुनिक यूक्लिडकी ज्यामितिकी ४७ वीं प्रतिज्ञा, जो पीथागोरसके उपपाद्य (Pythagoreas Theorem) के नामसे प्रसिद्ध है, बौधयन-शुल्बसूत्रसे ली गयी है। इसके अतिरिक्त पीथागोरसने जो साधु-संघ स्थापित किया था, उसके नियम-विधान—ब्रह्मचर्य, मौनव्रत, अहिंसा, ध्यान-धारणा, गुरु-शिष्यपरम्परा-क्रमसे दीक्षा-दानकी पद्धति इत्यादि सब कुछ भारतीय आदर्शके अनुसार व्यस्थापित हुआ था। पीथागोरसकी शिक्षाने ग्रीस, इटली और एशिया माइनरमें अनेकों शताब्दियोंतक क्रियाशील रहकर यूरोपीय विचार-धाराको विशेषरूपसे प्रभावित किया था। पीथागोरसके सिद्धान्तमें भारतीय प्रभाव कितना था, इसका विचार करनेपर पाश्चात्त्य विचारधाराके ऊपर भारतीय प्रभाव किस प्रमाणमें था—इसका अनुमान किया जा सकता है।

मैक्समूलर कहते हैं कि सुकरातके समय (ईसासे पूर्व ४६९—३९९ वर्ष) भारतीय दार्शनिक एथेंस नगरमें आते-जाते थे। एक भारतीय दार्शनिकका एथेंस नगरमें सुकरातके साथ विचार-विनिमय हुआ था। सुकरातने कहा था कि 'मनुष्यके जीवनके विषमें अनुसन्धान करना ही उनके दर्शनका उद्देश्य है।' इससे भारतीय दार्शनिकको हँसी आ गयी और वे बोले, 'पहले ईश्वरतत्त्वको समझे बिना कोई मनुष्य-तत्त्वको नहीं समझ सकता।'

यूरोपके दार्शनिक विचारोंके इतिहासमें प्लेटो (४२७—३४५ वर्ष ई० पू०) ने अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त किया है। प्लेटोके ऊपर भारतीय अध्यात्म-तत्त्वका विशेषरूपसे प्रभाव पड़ा था—इस बातको मैक्समूलर, इमर्सन आदि मनीषियोंने एक मतसे स्वीकार किया है। प्रो० ई. जे. उर्विक (Pro. F. E. J. Urwick) स्वलिखित 'The Message of Plato' नामक ग्रन्थमें लिखते हैं, 'प्लेटोने अपने 'Republic' नामक ग्रन्थमें जिस सिद्धान्तकी स्थापना की है, वह भारतीय सिद्धान्तकी प्रतिध्वनिमात्र है। प्लेटोकी दार्शनिक भाषाके साथ कहीं-कहीं उपनिषदोंके भावकी समानता देखकर मैक्समूलरने यह अनुमान किया था कि प्लेटोका भारतीय दर्शनके साथ घनिष्ठ परिचय था। उपनिषद्‌में जीवको रथी तथा इन्द्रियोंको अश्वके रूपमें वर्णन किया है (कठ० १। ३। ३-४) प्लेटोने अपने (Phaedrus) नामक ग्रन्थमें अक्षरशः इसी रूपकका प्रयोग किया है।

ग्रीसके अभ्युदयके परवर्ती कालमें मिस्रका सिकंदरिया (Alexandria) नगर संसारके एक श्रेष्ठ विद्याकेन्द्ररूपमें परिणत हो गया था। प्राच्य तथा पाश्चात्त्य जातिके लोग इस केन्द्रमें मिलकर अपने भावोंका आदान-प्रदान करते थे। २०५ ई० में ग्रीसके लाइकोपोलिस शहरमें प्लाटिनस् (Plotinus) ने जन्म लिया और दर्शनशास्त्रमें पारंगत होनेके लिये २८ वर्षकी उम्रमें वह सिकन्दरिया गया। उसीने पीछे Neo-Platonism यानी अभिनव प्लेटोवादके सिद्धान्तके प्रवर्तकरूपमें प्रसिद्धि प्राप्त की। प्लाटिनस् और उसके अनुयायी दार्शनिकोंने प्लेटोके द्वारा प्रवर्तित दार्शनिक सिद्धान्तके प्रतिवादमें इस अभिनव सिद्धान्तका प्रसार किया। इस अभिनव प्लेटोवाद (Neo-Platonism) में ही पहुँचकर ग्रीकदर्शन चरम उन्नतिको प्राप्त होता है। ईसाई मर्मी साधकों (Christian Mystics) के ऊपर तथा परवर्ती यूरोपीय विचारधाराके ऊपर अभिनव प्लेटोवादका विशेष प्रभाव पड़ा। पुरातत्त्वके ज्ञाताओंने प्रमाणित किया है कि प्लाटिनस्‌ने भारतीय अध्यात्मतत्त्वकी भित्तिके ऊपर ही

अपने सिद्धान्तको प्रतिष्ठित किया था।

विलियम राल्फ इंगे (William Ralf Inge)- के द्वारा दी गयी 'The Philosophy of Plotinus)' विषयपर (Gifford Lectures) 1917-18)' नामक व्याख्यानमालामें इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत मूल्यवान् तथ्य पाये जाते हैं।

प्लाटिनस्के दार्शनिक सिद्धान्तके स्रोतका अनुसन्धान करते हुए ई० ब्रेहिएर (E. Brehier) ने स्पष्टरूपसे यह स्वीकार किया है कि प्लाटिनस्ने उपनिषदोंके तत्त्व-ज्ञानसे ही अपने नये सिद्धान्तवादके लिये प्रेरणा प्राप्त की थी।

डॉ० जीन प्रजिलुस्की (Dr. Jean Przyluski) ने प्रमाणित किया है कि ईरानी साधक Mani ने भारत वर्षमें जाकर भारतीय अध्यात्मवादके साथ घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया था। २४० ई० में वह अपने देश लौटकर धर्म-प्रचारमें लग गया। प्लाटिनस्ने भी प्रायः इसी कालमें पारसदेशमें जाकर Mani के समीप भारतीय तत्त्वज्ञानकी दीक्षा ग्रहण की।[1]

हमारे पुराण—एक समीक्षा

(लेखक—डॉ० श्रीयुत अ० द० पुसाळकर, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०)

हिंदुओंके धार्मिक तथा तदतिरिक्त साहित्यमें पुराणोंका एक विशेष स्थान है। वेदोंके बाद इन्हींकी मान्यता है। महाभारतके साथ इन्हें पंचम [2]वेद कहा गया है। इनका बाह्यरूप और अन्तःस्वरूप प्रायः रामायण, महाभारत और स्मृतियोंके समान ही है। इन पुराणोंको समष्टिरूपसे प्राचीन एवं मध्यकालीन हिंदुत्वका—उसकी धार्मिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, वैयक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्कृतिका—लोकसंमत विश्वकोष ही समझना चाहिये।

'पुराण' पदका अर्थ ही है 'वह, जो प्राचीनकालसे जीवित हो'।

यस्मात्पुरा ह्यनितीदं पुराणं तेन हि स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(वायुपुराण १। २०३)

'प्राचीनकालसे प्राणित होनेके कारण पुराण कहा जाता है। जो इसकी व्याख्या जानता है, सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

अथवा यह भी कह सकते हैं कि—

पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधाः।

(मत्स्यपुराण ५३। ६३)

'पुरातन कालकी घटनाओंको पण्डितजन पुराण कहते हैं।'

इस प्रकार एक विशिष्ट प्रकारके साहित्यके अर्थमें 'पुराण' शब्दका प्रयोग जबतक नहीं होता था, तबतक इस शब्दका अर्थ 'प्राचीन कथा' अथवा 'प्राचीन विवरण' था और अज्ञात आदिकालसे, वेदोंके प्रकट होनेके भी पहलेसे, इस रूपमें पुराण विद्यमान थे। अथर्ववेदमें[3] पुराणोंका नाम आता है। उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि उस समय ये पुराण ग्रन्थोंके रूपमें भी रहे हों। पर छान्दोग्य-उपनिषद् और सूत्र-ग्रन्थोंसे यह यह स्पष्ट होता है कि असली पुराण उपनिषदों और सूत्रोंके[4] समयमें आये।

'पुराण' की साहित्यिक परिभाषा अमरकोश तथा कुछ पुराणोंमें की गयी है और उसके पाँच लक्षण बतलाये गये हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (लय और पुनः सृष्टि), वंश (देवताओंकी वंशावलि), मन्वन्तर (मनुके काल-विभाग), और वंशानुचरित (राजाओंके वंशवृत्त)—पुराणके ये पाँच लक्षण हैं।

१- The Journal of The Greater India Society, Vol,. 1No. 1, January 1934. pp. 1.10

२-ऋग्यजुः सामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः। इतिहासपुराणं च पंचमो वेद उच्यते॥
'ऋक्, यजुः, साम, अथर्व नामके चार वेद कहे गये हैं। इतिहास-पुराण पञ्चम वेद कहा जाता है।'

३-ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ (अथर्व० ११। ७। २४) ऋक्, साम, छन्द, पुराण, यजुर्वेद, दिव्य लोकका आश्रय करके रहनेवाले देवता—सब यज्ञके उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए हैं।'

४-स होवाच ऋगवेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणम्। चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदमिति॥ (छान्दोग्य० ७। १। २) उसने कहा, 'हे भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद, पाँचवाँ इतिहासपुराण, वेदोंका वेद जानता हूँ।'

उपस्थित पुराणोंमें कोई भी पूर्णरूपसे इस परिभाषाके अनुरूप नहीं है। कुछ पुराणोंमें तो इनसे कई विषय अधिक हैं और कुछमें इनकी प्रायः कोई चर्चातक नहीं है, अन्य विषय बहुत-से हैं। फिर यह पंचलक्षण उपस्थित पुराणोंका बहुत ही छोटा अंश है। इससे यह मालूम होता है कि धर्मानुशासन पुराणोंके मूल उद्देश्योंमें नहीं था, इनकी प्रारम्भिक रचनाका कोई साम्प्रदायिक हेतु ही था। पीछेकी रचनाओंको पुराणकी परिभाषामें लानेके लिये स्वयं पुराणोंने ही यह कहा है कि पंचलक्षण केवल उपपुराणके लिये हैं, महापुराण होनेके लिये तो उसमें दस लक्षण होने चाहिये। इन दसमें पंचलक्षणके अतिरिक्त अन्य लक्षण ये हैं—वृत्ति, रक्षा (ईश्वरावतार), मुक्ति, हेतु (जीव) और अपाश्रय (ब्रह्म)।

सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंश्यानुचरितं संस्था हेतरपाश्रयः॥
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः।
केचित्पंचविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया॥

(श्रीमद्भा० ११। ७। ९-१०)

पुराणवित् पुराणको इन दस लक्षणोंसे युक्त मानते हैं—सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था, हेतु और अपाश्रय। कोई पाँच ही लक्षण मानते हैं—महदल्पव्यवस्थासे ऐसा होता है (अर्थात् महापुराणोंके दस और उपपुराणोंके पाँच लक्षण होते हैं)।

मत्स्यपुराणने इसमें ब्रह्मा, विष्णु सूर्य और रुद्रकी स्तुति, सृष्टिका लय और स्थिति, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन विषयोंको और जोड़ा है।

ब्रह्मविष्ण्वर्करुद्राणां माहात्म्यं भुवनस्य च।
संसहारप्रदानां च पुराणे पञ्चवर्णके॥
धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवात्र कीर्त्यते।
सर्वेष्वपि पुराणेषु तद्विरुद्धं च यत्फलम्॥

(मत्स्य० ५३। ६६)

'ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य और रुद्रका माहात्म्य, सृष्टिके लय और स्थितिका माहात्म्य, पाँच विषयोंका वर्णन करनेवाले पुराणमें वर्णित हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका कीर्तन है। यह सब पुराणोंमें है और इसके विरुद्ध जो कुछ है, उसका भी फल वर्णित है।

पुराणोंमें १८ महापुराण और १८ उपपुराण गिने जाते हैं। महापुराणोंकी नामावलिका क्रम सभी पुराणोंमें प्रायः एक-सा ही है। इसमें केवल दो-एक परिवर्तनोंको छोड़ एकरूपता ही है। नामावलि यह है—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, वराह, लिंग, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड। निम्नलिखित अनुष्टुपमें पुराणोंकी पूरी नामावलि संक्षेपमें आ गयी है—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
नालिंपाग्निपुराणानि कूस्कं गारुडमेव च॥

(देवीभागवत १। ३)

आदि अक्षर 'म' वाले २, 'भ' वाले २, 'ब्र' वाले ३, 'व' वाले ४, 'ना' वाला १, 'लिं' वाला १, 'प' वाला १, फिर अग्निपुराण १, 'कू' वाला १, 'स्कं' वाला १ और गरुड़पुराण १।

उपपुराणोंकी गणनामें एकरूपता नहीं है। दुर्भाग्यसे इन उपपुराणोंकी अबतक अपेक्षाकृत उपेक्षा रही है। उपपुराण महापुराणोंसे पीछेकी रचनाएँ हैं, इनका स्वरूप भी अधिक साम्प्रदायिक है और इनमें कई विषयोंका मिश्रण है। कई स्थानोंमें मिली हुई इनकी नामावलियोंको मिलाकर देखनेसे १८ उपपुराण ये निश्चित होते हैं—सनत्कुमार, नरसिंह, नन्द, शिवधर्म, दुर्वासस्, नारदीय, कपिल, वामन, उशनस्, मानव, वरुण, कलि, महेश्वर, साम्ब, सौर, पराशर, मारीच और भार्गव।

कौन पुराण ठीक-ठीक पंचलक्षणयुक्त हैं और कौन नहीं हैं, यह देखकर इनके प्राचीन और प्राचीनोत्तर—दो वर्ग किये जा सकते हैं। इस कसौटीके अनुसार वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य और विष्णु प्राचीन पुराण मालूम होते हैं। महापुराणोंका फिर और एक वर्गीकरण उनमें विशेषरूपसे वर्णित विष्णु, शिव और अन्य देवताओंके विचारसे किया गया है और वैष्णव दृष्टिसे उन्हें सात्त्विक, राजस और तामस कहा गया है।

मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च॥
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे।
वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्॥
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने।
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै॥
ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्त्तं मार्कण्डेयं तथैव च।
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे॥

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड २६३। ८१—८४)

मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, स्कन्द, अग्नि—ये छः पुराण तामस हैं। विष्णु, नारद, भागवत, गरुड़, पद्म, वराह—ये सात्त्विक पुराण हैं। ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन, ब्राह्म—ये राजस हैं।

विश्रामघाट, मथुरा

विश्रामघाट नं० २

कृष्णगंगाघाट

प्रेम-सरोवर, बरसाना

राधाकुण्ड
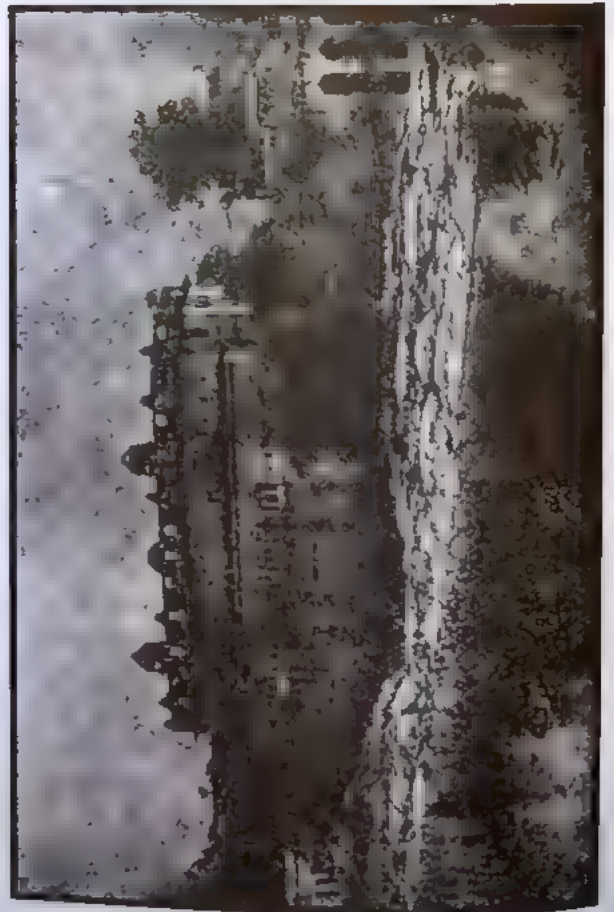
मानसी-गङ्गा, गोवर्द्धन

मत्स्यपुराणमें अग्निका माहात्म्य वर्णन करनेवाले पुराणोंको राजस और सरस्वती तथा पितरोंका माहात्म्य वर्णन करनेवाले पुराणोंको संकीर्ण कहा है।

सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः॥
तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च।
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां च निगद्यते॥

(मत्स्य० ५३। ६८-६९)

सात्त्विक पुराणोंमें श्रीहरिका माहात्म्य विशेष है, राजस पुराणोंमें ब्रह्माका, उसी प्रकार तामस पुराणोंमें अग्नि और शिवका। संकीर्ण पुराणोंमें सरस्वती और पितरोंका माहात्म्य वर्णित है।

एक और तरहका वर्गीकरण स्कन्दपुराणमें इस प्रकार है—

अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः।
चतुर्भिर्भगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः॥

(स्कन्द० केदारखण्ड १)

अठारह पुराणोंमें दसमें शिव-स्तुति है, चारमें ब्रह्माकी और दोमें देवी तथा हरिकी है।

पुराणोंमें वर्णित विषयोंका पूर्ण और आलोचनात्मक परीक्षण करनेके पश्चात् विषयविभागके अनुसार पुराणोंके छः वर्ग किये गये। प्रथम वर्गमें साहित्यका विश्व-कोष है। इसमें गरुड़, अग्नि और नारदपुराण आते हैं, द्वितीय वर्गमें मुख्यतः तीर्थों और व्रतोंका वर्णन है। इसमें पद्म, स्कन्द और भविष्य पुराण आते हैं। तृतीय वर्ग ब्रह्म, भागवत और ब्रह्मवैवर्त्तपुराणोंका है। इनके दो-दो संस्करण हो चुके हैं। इनका मूल भाग वही है, जो इनका केन्द्रस्थ सारभाग है। इनके दो बारके संस्करणोंमें आगे-पीछे बहुत कुछ जोड़ा गया है। चतुर्थ वर्गमें, जो ऐतिहासिक कहलाता है, ब्रह्माण्ड और वायुपुराण आते हैं। साम्प्रदायिक साहित्यका पंचम वर्ग है। इसमें लिंग, वामन और मार्कण्डेय पुराण आते हैं। अन्तमें षष्ठवर्ग उन वाराह, कूर्म और मत्स्यपुराणोंका है, जिनके पाठोंका संशोधन होते-होते मूल पाठ रह ही नहीं गया। तमिळ ग्रन्थोंमें पुराणोंके ये पाँच वर्ग किये गये हैं—(१) ब्रह्मा—ब्रह्म और पद्म; (२) सूर्य—ब्रह्मवैवर्त्त, (३) अग्नि—अग्नि; (४) शिव—शिव, स्कन्द, लिंग, कूर्म, वामन, वराह, भविष्य, मत्स्य, मार्कण्डेय और ब्रह्माण्ड; और (५) विष्णु—नारद, भागवत, गरुड़ और विष्णु।

पुराण भिन्न-भिन्न प्रकारसे अपनी उत्पत्ति बतलाते हैं। विष्णुपुराणमें यह वर्णन है कि वेदव्यासने वेदोंका विभाग करनेके बाद प्राचीन कथाओं, आख्यानों, गीतों और जनश्रुतियों तथा तथ्योंको एकत्रकर एक पुराण-संहिता[1] निर्माण की और अपने शिष्य सूत रोमहर्षणको उसकी शिक्षा दी। इसकी छः प्रकारकी व्याख्याएँ लोमहर्षणने अपने शिष्योंको पढ़ायीं। रोमहर्षणकी यह संहिता और तीन संहिताएँ उनके शिष्योंकी मिलाकर पुराणोंकी चार मूल संहिताएँ कही जाती हैं। इनमेंसे इस समय कोई संहिता विद्यमान नहीं हैं। एक दूसरा ही विवरण वायुपुराणमें इस प्रकार है कि ब्रह्माने पहले सब शास्त्रोंके पुराणका स्मरण किया, पीछे उनके मुखसे वेद निकले।[2] पुराणोंका संरक्षण करनेका कार्य सूतोंको सौंपा गया था। मूल सूत प्रथम यज्ञसे योगशक्तिके द्वारा उत्पन्न हुए और पुराण-परम्पराकी रक्षा उन्हें सौंपी गयी।

अथर्ववेदमें 'पुराण' शब्दका एकवचनमें प्रयोग, पुराणोंमें दी हुई वंशावलियोंकी भाषाका सर्वत्र एक-सा होना और यह परम्परागत जनश्रुति कि आरम्भमें केवल एक ही पुराण था—इन बातोंसे जैक्सन तथा अन्य विद्वानोंको यह विश्वास हो गया कि आरम्भमें केवल एक ही पुराण था।[3] परंतु एकवचनका प्रयोग पुराणोंकी समष्टि पुराण-संहिताका वाचक है। वंशावलियोंकी यह बात है कि विभिन्न पुराण विभिन्न वंशावलियोंके साथ आरम्भ होते और विभिन्न समयोंमें समाप्त होते हैं, तथा विभिन्न स्थानोंमें उनका निर्माण हुआ है। अतः एक ही पुराण नहीं था—जैसे एक ही वेद नहीं है, न एक ही ब्राह्मण है।

पुराणोंकी जो परिभाषा पहले दी जा चुकी है, उसके अनुसार पुराणोंमें सर्ग, प्रतिसर्ग, देवताओं और

१. आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः। पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः॥ (विष्णुपुराण ३। ६। १५)
'आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धिके साथ पुराणार्थ-विशारद (व्यास)-ने पुराणसंहिता रची।'

२. पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥ (वायुपुराण)
'सब शास्त्रोंके पुराणका ब्रह्माने पहले स्मरण किया। अनन्तर उनके मुखोंसे वेद निकले।'

३. पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ॥ (यह वचन अनेक पुराणोंमें है।)
हे निष्पाप! कल्पान्तरमें तब एक ही पुराण था।

ऋषियोंके वंशवृत्त, मन्वन्तर और राजवंश वर्णित होते हैं। इनमेंसे पूर्वोक्त तीन विषयोंमें प्राचीन धर्म, आख्यान और तत्त्वज्ञान तथा सृष्टि-वर्णन—ये विषय आ जाते हैं। पिछले दो विषयोंमें राजाओंके वंशवृत्त और इतिहासकी सामग्री मिलती है। इनके अतिरिक्त धार्मिक शिक्षा, कर्मकाण्ड, दान, व्रत, भक्ति, योग, विष्णु, और शिवके अवतार, श्राद्ध, आयुर्वेद, संगीत, व्याकरण, साहित्य, छन्दःशास्त्र नाट्य, ज्यौतिष, शिल्पशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजधर्म इत्यादि उन सभी बातोंका इनमें समावेश होता है। जिनका जीवनके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चतुर्विध पुरुषार्थोंके साथ सम्बन्ध है।

अब हम पुराणोंके तत्त्वज्ञान और उपास्य, वंशवृत्त, भौगोलिक पृष्ठभूमि तथा काल-सम्बन्धी पौराणिक भावनाका किंचित् विचार करेंगे।

तत्त्वज्ञान—विश्वोत्पत्ति—जगदुत्पत्तिके सम्बन्धमें पुराणोंमें अनेक प्रकारके वर्णन हैं। एक वर्णन ऐसा है कि स्वतः सिद्ध ब्रह्म मूलतः और तत्त्वतः एक होनेपर भी एक-के-बाद-एक उत्पन्न होनेवाले पुरुष, प्रधान और काल—इन त्रिविध रूपोंमें निवास करता है। जब परमपुरुष पुरुष और प्रधानमें प्रवेश करते हैं, तब प्रधानसे महान् अथवा बुद्धि-तत्त्व उत्पन्न होता है। बुद्धिसे अहंकार और अहंकारसे पंचतन्मात्रा, पंचमहाभूत और एकादश इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। पंचीकृत पंचमहाभूतोंसे घटित ब्रह्माण्ड समुद्रपर ठहरा है और आप, अग्नि, वायु, अहंकार, बुद्धि और प्रधान—इन सात आवरणोंसे घिरा है। देवाधिदेव ब्रह्माने रजोगुणका आश्रय लेकर अखिल जीव-जगत् उत्पन्न किया, वही देवाधिदेव सत्त्वगुणका आश्रय लेकर विष्णुरूपसे सबका पालन करते हैं और तमोगुणका आश्रय लेकर सबका संहार करते हैं।

एक दूसरा विवरण ऐसा है, जिसमें नौ प्रकारकी सृष्टिका वर्णन है। प्रथम तीन महत्-सर्ग, भूत-सर्ग और ऐन्द्रिय-सर्ग हैं। इन्हें प्राकृत सर्ग कहते हैं। अन्य पाँच वैकृत सर्ग हैं और अन्तिम कौमार सर्ग है।

पञ्चैते वैकृताः सर्गाः प्राकृतास्तु त्रयः स्मृताः।
प्राकृतो वैकृतश्चैव कौमारो नवमः स्मृतः॥
इत्येते वै समाख्याता नव सर्गाः प्रजापतेः।

(विष्णुपुराण १। ५। २४-२५)

एक और विवरण इस प्रकारका है कि ब्रह्माने एकके बाद-एक चार रूप धारण किये और उनसे असुर, देव, पितृ और मनुष्य उत्पन्न हुए। पीछे उन्होंने राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, अन्य सब जीव, प्राणी और वनस्पति आदिको उत्पन्न किया। तब मानस पुत्र उत्पन्न हुए, जो ऋषि कहलाये और देवता उत्पन्न हुए, जो रुद्र कहलाये। इनके बाद स्वायम्भुव मनु और शतरूपाकी सृष्टि हुई। इनके दो पुत्र हुए—प्रियव्रत और उत्तानपाद और एक कन्या। दक्षने इस कन्याके साथ विवाह किया। इनके चौबीस कन्याएँ हुईं, जिनमेंसे तेरह धर्मको ब्याही गयीं, इनके प्रेम तथा अन्य मूर्तिमान् भाव उत्पन्न हुए। दस कन्याएँ अन्य मानस पुत्रों, पितरों और अग्निको ब्याही गयीं। और एक कन्या—सतीका विवाह शिवके साथ हुआ।

यह सारी सृष्टि ब्रह्माके एक दिनतक रहती है। ब्रह्माका एक दिन चौदह मन्वन्तरोंका होता है। प्रत्येक मन्वन्तरके अन्तमें निम्नकोटिके जीवों और निम्नस्तरके जगतोंके जीवनका अन्त हो जाता है। अखिल विश्वका सत्तत्त्व बना रहता है—देवता और साधु-संत सुरक्षित रहते हैं। चौदहवें मन्वन्तरके अन्तमें अर्थात् ब्रह्माका एक दिन बीतनेपर नैमित्तिक प्रतिसर्ग होता है। इसमें अग्नि और जलके द्वारा सब पदार्थोंका अन्त होता है, केवल प्राकृत सृष्टि बनी रहती है और इसके साथ तीन गुण और सात ऋषि इत्यादि। एक कल्पके परिमाणकी ब्रह्माकी रात समाप्त होनेपर ब्रह्मा जागते हैं और अपनी सृष्टि फिरसे आरम्भ करते हैं। समस्त प्राकृत सर्गका प्राकृत प्रलयमें ही अन्त होता है। यह प्रलय ब्रह्माकी आयु समाप्त होनेपर ही होता है और तब सब देवता और सब रूप संहारको प्राप्त होते हैं। पंचमहाभूत मूल प्रकृतिमें मिल जाते हैं। मूल प्रकृतिके पीछे केवल एक ब्रह्मसत्ता रहती है।

उपास्यवर्णन—पुराणोंमें उपास्य देवोंकी विभिन्नता है। वैदिक देवताओंकी अपेक्षा लौकिक देवताओंकी स्तुति विशेष है। वैदिक देवताओंमेंसे केवल इन्द्र और अग्नि अपनी पूर्ण, प्रतिष्ठाके साथ रह जाते हैं। प्रधान त्रिदेव, ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। वरुण समुद्रके अधिपति हैं, पर अपने यमज भाई मित्रसे बिछुड़ गये हैं। पुराणोंमें मित्रका पता नहीं है। कुछ पुराणोंमें सूर्यकी स्तुति बहुत कम की गयी है, पर उनकी उपासनाविधिका विवरण भविष्यमें मिलता है। मृतात्माओंके अधीश्वर यम नरकोंमें पापियोंको दण्ड देते हैं। गन्धर्व और अप्सराएँ स्वर्गके गायक और परियाँ हैं। असुरोंके चार भेद बताये गये हैं—असुर, दैत्य, दानव, और राक्षस।

त्रिदेवोंमेंसे ब्रह्मा सृष्टिकर्ता हैं, विष्णु पालनकर्ता और शिव संहारकर्ता। साम्प्रदायिक पुराणोंमें कोई विष्णुको श्रेष्ठ बतलाते हैं। कोई शिवको श्रेष्ठ बतलाते हैं। पर सामान्यतः प्राचीनतर पुराण एकको श्रेष्ठ बताकर दूसरेकी भी स्तुति करते हैं। इसका परम उत्कर्ष एकेश्वरवादमें होता है, जहाँ तीनोंका एकत्व प्रतिपादित होता है और यह बतलाया जाता है कि उपासक अपनी इच्छाके अनुसार इनमेंसे किसीकी भी उपासना कर सकता है। अधिकांश पुराणोंमें विष्णुके दस अवतार बतलाये गये हैं। इनमेंसे मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, और वामन—ये पाँच पौराणिक हैं; परशुराम, राम, कृष्ण और बुद्ध—ये चार ऐतिहासिक हैं और एक कल्कि अभी आनेको है। इनमेंसे वराह, नरसिंह और वामनके अवतारत्वके बीज वैदिक साहित्यमें हैं। ये अवतार दिव्य कहलाते हैं और अन्य अवतार मानुष।

विष्णु क्षीरसागरमें रहते हैं, अवतारके समय अवतार लेते हैं। पर शिव पार्थिव देव हैं। पार्वती, माता भवानी इनकी नित्य संगिनी हैं। स्कन्द और गणेश इनके पुत्र हैं। पाशुपत सम्प्रदाय इन्हींका उपासक है। शैवपुराणोंमें इनकी प्रशंसा है। लिंग-सम्प्रदाय और शाक्त-सम्प्रदाय भी पीछेके पुराणोंमें आते हैं।

पितरोंकी भी उपासना पुराणोंमें है। पितरोंके साथ वर्ग हैं। देवोंके समान ही इनके पूजनका भी विधान पुराणोंमें कहीं-कहीं आता है। प्रत्येक मन्वन्तरमें देवताओंके साथ ही ये उत्पन्न होते हैं। पितरोंका सम्बन्ध श्राद्धसे है, जिसका विवरण पुराणोंमें दिया गया है।

वंशवृत्त—पुराणोंके वंशवृत्त मनुके साथ आरम्भ होते हैं। मनुने ही प्रलयकालमें मानवोंकी रक्षा की थी। पहले राजा वैवस्वत मनुके दस पुत्र थे। समस्त देश इन दस पुत्रोंको बाँट दिया गया। ज्येष्ठ पुत्र पुरुष और स्त्री उभयविध थे और इल और इला दोनों नामोंसे प्रसिद्ध हुए। उनके दो पुत्र हुए, सौद्युम्न और ऐल। इक्ष्वाकुको मध्य-देशका राज्य मिला। उनकी राजधानी अयोध्या थी। उनके पुत्र विकुक्षिने सूर्यवंशकी मुख्य इक्ष्वाकु-शाखा चलायी। उनके दूसरे पुत्र निमिसे विदेह उत्पन्न हुए। यमुनादेशपर राज्य करनेवाले नाभागके वंशधर रथीतर हुए, जिनको '**क्षत्रोपेता द्विजातयः**' कहा जाता था। धृष्टसे धृष्टकवंश चला, जिसका राज्य पंजाबमें था। शार्यातोंके मूल पुरुष शर्याति आनार्त (वर्तमान गुजरात) के राजा थे। उनकी राजधानी कुशस्थली (द्वारका) थी। नाभानेदिष्ठ वर्तमान तिर्हुतपर राज करते थे। इस वंशके राजा विशालने वैशाल वंश चलाया। करूषसे कारूष उत्पन्न हुए, जो बड़े योद्धा थे और जिन्होंने बघेलखण्ड दखल किया। नरिष्यन्त और प्रांशुके बारेमें कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। पृषध्रको सम्भवतः उनका अंश नहीं दिया गया।

इलाके पुत्र पुरूरवा ऐल प्रतिष्ठान (वर्तमान पीहन अथवा पैठण) पर राज करते थे। उन्होंने ऐल या चन्द्रवंश चलाया। उनके पुत्र आयु पिताके पीछे प्रतिष्ठानके राज-सिंहासनपर बैठे और दूसरे पुत्र अमावसुने कान्य-कुब्जवंश चलाया। उनके पाँच पुत्रोंमेंसे नहुष आयुके पीछे राजगद्दीके अधिकारी हुए। क्षत्रवृद्धने काशीमें अपना राज्य स्थापित किया और अनेनस्‌ने क्षत्रधर्माओंको उत्पन्न किया। नहुषके पाँच या छः पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र यदि संन्यस्त हो गये और महान् यज्ञकर्ता ययाति पितृराज्यके उत्तराधिकारी हुए। ययातिने देवयानी और शर्मिष्ठासे विवाह किया। देवयानीसे इनके यदु और तुर्वसु—दो पुत्र हुए और शर्मिष्ठासे अनु, द्रुह्यु और पूरु। इन सबके वंश खूब बढ़े। पूरुने वंशकी मुख्य शाखा चलायी। उनसे पौरव उत्पन्न हुए, जो कौरव-पाण्डवोंके पूर्वपुरुष थे। यदुसे यादव-वंश चला—जिसमें हैहय, अन्धक, वृष्णि, सात्वत आदि शाखाएँ सम्मिलित हैं। अनुसे आनव वंश चला। आनवोंकी यौधेय, सौवीर, कैकय आदि शाखाएँ फैलीं। द्रुह्युके वंशधर भारतके बाहर म्लेच्छदेशोंमें फैले, और तुर्वसुकी शाखा पीछे पौरवोंमें मिल गयी।

मनुसे भारतीय युद्धतक लगभग १५ पीढ़ियाँ बतायी गयी हैं। भारतीय युद्धके उत्तरकालीन वंशोंके लिये पुराण भविष्य कालकी क्रियाका प्रयोग करते हैं और उन्हें कलियुगमें गिनते हैं। इनका वर्णन केवल सात ही पुराणोंमें है। यह विवरण इधर गुप्तों और आन्ध्रोंतक आ पहुँचा है।

पुराणोंकी वंशावलियोंमें इतिहासकी जो सामग्री मिलती है, उससे हम वेदों और पुराणोंका ऐतिहासिक मूल्य तुलनात्मक दृष्टिसे लगानेका यत्न कर सकते हैं। इस विषमें इतिहासज्ञोंके बीच बड़ा मतभेद है। कीथको पुराणोंका ऐतिहासिक मूल्य माननेमें बहुत सन्देह होता है। ऋग्वेदमें जिसका कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता, ऐसी, किसी भी पौराणिक घटनाकी ऐतिहासिकता माननेमें उनका मन निस्सन्देह नहीं रहता।

पार्जीटरकी दृष्टिसे इससे सर्वथा विपरीत दूसरे छोरपर टिकती है। वे वेदोंकी अपेक्षा पौराणिक कथाओंको अधिक विश्वसनीय मानते हैं। वेदोंकी बातोंको वे ब्राह्मण-परम्परा कहते हैं। पर क्षत्रिय नाम धारण किये हुई परम्परा भी इतिहासका विशुद्ध मूल हो, ऐसी बात तो नहीं है। वेदोंके पक्षमें दो बातें अवश्य ही प्रबल हैं; वेद एक तो पूर्वकालीन हैं और दूसरे, वेदोंके पाठ ज्यों-के-त्यों सुरक्षित हैं। फिर भी, पुराणोंमें बहुत-सी अविश्वसनीय बातोंके होते हुए भी, ऐतिहासिक दृष्टिसे पुराणोंको अप्रमाण कहकर त्याग नहीं दिया जा सकता। यह समझना बहुत बड़ी भूल है कि पुराणोंके कथाभागने सत्यको निर्वासित कर दिया है।

फिर, यथार्थमें वेदों और पुराणोंकी बातोंमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। जिस रूपमें आज ऋग्वेद उपलब्ध है, यह कुरु-पांचालकी देन है। इसमें स्वभावतः उस देशके राजाओंका मुख्यतया वर्णन है, दूसरोंका वर्णन केवल प्रसंगमें आ गया है। वेदोंमें जिन राजाओंके नाम आते हैं, पर जो पुराणोंमें नहीं मिलते, वे सम्भवतः छोटे-छोटे वंशोंके राजा या सरदार थे और इस कारण पुराणोंकी वंशावलियोंमें वे नहीं आये। यह भी सम्भव है कि एक ही पुरुषका भिन्न-भिन्न नामोंसे इन दोनोंमें वर्णित वंशावलियोंमें निर्देश हुआ हो। पुराणोंकी वंशावलियाँ जिन अंशोंमें खण्डित हैं, वहाँ ऋग्वेदमें वर्णित राजा बैठाये जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पुराणोंकी वंशावलियोंका संशोधन करनेमें ऋग्वेद ही साधन है। पर जब हम देखते हैं कि पुराणगत वर्णन वैदिक वर्णनसे मिलता है, तब यह उचित ही है कि जिस विषयमें ऋग्वेद मौन है, उस विषयमें पुराणोंका कथन सत्य माना जाय। परम्परागत इतिहास लिखनेकी ठीक पद्धति यही होगी कि वेदों और पुराणों—दोनोंका संयुक्त प्रमाण माना जाय, जहाँ दोनोंके वर्णन मिलते हैं; और जहाँ दोनोंके परस्परविरोधी वचन मिलें, वहाँ सामंजस्य स्थापित करनेका यत्न किया जाय। इन सब विषयोंमें पुराण-साक्ष्यका विचार बहुत सावधानीके साथ करना होगा।

पुराणोंकी भौगोलिक पृष्ठभूमि—प्रथम मनुके विवरणमें उनके राज्यान्तर्गत जगत्‌का वर्णन आता है। काल-निर्द्धारणके समान इस वर्णनका बहुत-सा भाग काल्पनिक है। जगत्‌का इस प्रकार वर्णन है कि इसमें सात समकेन्द्रक द्वीप हैं। प्रत्येक द्वीप एक-एक समुद्रसे घिरा हुआ है। इन समुद्रोंमें कोई घृतका समुद्र है, कोई दूधका; इस प्रकार विविध द्रव्योंके समुद्र हैं। इन द्वीपोंमें मध्यवर्ती जम्बूद्वीप है, जिसके चारों ओर क्षारसमुद्र है। जम्बूद्वीपका मुख्य भाग भारतवर्ष है। भरतकी संतानोंके नामपर यह देश भारतवर्ष कहलाया। इसके उत्तर भागमें हिमालय है और दक्षिणमें समुद्र। इसमें सात मुख्य पर्वत हैं—महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र। भारतके पूर्व ओर किरात रहते थे, पश्चिम ओर यादव और मध्यमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। हिमालय तथा सप्त समुद्रोंसे निकलनेवाली नदियोंके नाम तथा विविध प्रदेशोंमें रहनेवाली विविध जातियोंके नाम दिये गये हैं। महाभारत तथा अन्य ग्रन्थोंमें भी ऐसी ही नामावलियाँ आयी हैं; यवन, शक और पह्लवोंका जिक्र है। ये लोग ईसाके पूर्व दूसरी और पहली शताब्दियोंमें भारतवर्षमें आये। हूणोंका भी जिक्र है। हूणोंने ईसाकी छठी शताब्दीमें गुप्त-साम्राज्य ध्वंस किया। पुराणोंमें इनका वर्णन यह सूचित करता है कि भौगोलिक नामावलियाँ समय-समयपर नये नाम जोड़कर पूरी की गयी हैं।

कालसम्बन्धी पौराणिक भावना—पुराणोंमें सृष्टिरचनाके जो विविध वर्णन हैं, उनसे युग-मन्वन्तर आदिका विचार करना आवश्यक होता है। मनुष्योंका एक वर्ष देवताओंका एक दिन और रात है। १२००० दिव्य वर्षोंका अर्थात् मनुष्योंके ४३,२०,००० वर्षोंका एक चतुर्युग या महायुग होता है। इस महायुगके कृत, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग होते हैं। इनकी वर्षसंख्याका परस्पर तारतम्य यथाक्रम ४:३:२:१ इस हिसाबमें बैठता है। प्रत्येक युगके आगे और पीछे एक-एक सन्धिकाल उस युगके दशमांशके बराबर होता है। एक सहस्र चतुर्युग (अर्थात् १०००×४३,२०,००० मानुष वर्षोंका) ब्रह्माके एक दिन और रातके बराबर होता है। इस एक दिन-रातको कल्प कहते हैं। प्रत्येक कल्पमें मानव-जातिके आदि पुरुष चौदह मनुओंके कालविभाग अर्थात् मन्वन्तर होते हैं। एक-एक मनु इकहत्तर-इकहत्तर चतुर्युगोंकी (सन्धिकालके अतिरिक्त) अध्यक्षता करते हैं।

विद्वानोंने इस विषयमें अनेक वाद प्रतिपादित किये हैं। पर अभीतक मन्वन्तर-चतुर्युगके रहस्यका कोई समाधान-कारक उद्घाटन नहीं हुआ। पार्जीटर कृत, त्रेता, द्वापर और कलिरूपसे युगोंके विभाजनका कोई ऐतिहासिक मूल होनेका अनुमान करते हैं। भारतीय युद्ध द्वापरके अन्तमें और युद्धके बाद कलिका आरम्भ हुआ माना जाता है। इसके पूर्व दाशरथि राम त्रेता और द्वापरके

बीचमें हुए। हैहयोंके नाशके साथ कृतयुगका अन्त और सगरके राज्यके साथ त्रेताका आरम्भ हुआ।

पुराणोंका समय—पुराणोंके समयके सम्बन्धमें बहुत विवाद है। कुछ समय पहले यह सोचा जाता था कि संस्कृत-साहित्यमें पुराणोंका निर्माण सबके पीछे हुआ है और विगत एक सहस्र वर्षोंके अंदर यह सारी रचना हुई है। पर पुराणोंके जो उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलते हैं, उनसे यह विचार कट जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सब पुराण अपने वर्तमान रूपमें किसी एक ही समयमें नहीं रचे गये हैं; किसी पुराणके कोई-कोई अंशतक भिन्न-भिन्न समयके रचे दीखते हैं। पुराणोंमें घटाना-बढ़ाना, संशोधन करना, मिश्रण करना इत्यादि क्रम बराबर चलता ही रहा है। अतः पुराणोंका समय निर्द्धारित करनेमें हमें उनके पूर्वतन अंशोंका ही समय विचारना होगा, बहुत पीछेके अंशोंका समय नहीं। पुराणोंके प्राचीनतम रूप भारतीय युद्धके समय निस्सन्देह विद्यमान थे, मेगास्थनीजके समय तो थे ही। साहित्य और शिलालेखोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि वर्तमान पुराण ईसाके पूर्व और पश्चात्‌की आरम्भिक शताब्दियोंके हैं।

पुराणोंका ऐतिहासिक मूल्य—पुराणोंके वर्तमान रूप हैं तो बहुत पीछेके; पर इनमें वंशपरम्पराका जो इतिहास आता है, वह प्राचीनतम है और इसकी बहुत-सी सामग्री पुरातन और मूल्यवान् है। अतः पुराणोंका प्रमाण सर्वथा त्याज्य समझनेका कोई कारण नहीं है। पुराणोंके सम्बन्धमें आधुनिक विद्वानोंका रुख समय-समयपर बदलता रहा है। पुराणोंमें कलाओं और ऐतिहासिक घटनाओंका गड्डमगड्ड होनेसे तथा 'युगों' के सम्बन्धमें उनकी कुछ विचित्र ही कल्पना होनेके कारण भारतीय इतिहासके संशोधनके आरम्भकालमें ईसाके १८वीं शताब्दीके अन्तिम दशकों तथा १९वीं शताब्दीके आरम्भमें पुराणोंका कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं माना जाता था। पीछे कैप्टेन स्पेकने नूबिया (कुशद्वीप) जाकर नील नदीके उद्गमस्थानका पता लगाया और उससे पुराणोंके वर्णनका समर्थन हुआ। तब पुराणोंपर आस्था जमने लगी थी। ताम्रपत्रों और मुद्राओंसे ऐतिहासिक तथ्य ढूँढ़ निकालनेकी प्रवृत्ति इसी समय उदय हुई; इससे पुराणोंका मूल्य घटने लगा और कहीं-कहीं पुराणगत परम्पराका इतिहासवृत्त अयथार्थ भी प्रमाणित हुआ। कुछ बातोंमें बौद्ध ग्रन्थोंने भी पुराणोंकी बातें काट दीं। इस प्रकार सन्देह बढ़नेसे पुराणोंपर अविश्वास उत्पन्न हुआ। पिछली शताब्दीके आरम्भिक दशकोंमें विल्सनने पुराणोंका पद्धतियुक्त अध्ययन किया और विष्णुपुराणका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। इसकी एक बहुत बड़ी भूमिका उन्होंने लिखी थी और आलोचनात्मक तथा तुलनात्मक टिप्पणियाँ भी जोड़ी थीं। इससे संस्कृत-साहित्यके इस महान् अंगकी ओर यूरोपियन विद्वानोंका ध्यान विशेषरूपसे आकर्षित हुआ। पुराणोंकी अबतक जो अनुचित उपेक्षा होती रही, उसका अन्त हुआ और स्वतन्त्र प्रमाणद्वारा समर्थन प्राप्त होनेकी हालतमें पुराण विश्वास-स्थापनके योग्य समझे जाने लगे। पर पुराणोंका विशेष अध्ययन तो इसी शताब्दीके आरम्भमें पार्जीटरने किया। उनके धैर्य और अध्यवसाययुक्त अनुसन्धानका यह फल हुआ कि पुराणोंकी ऐतिहासिक सामग्रीका एक पर्यालोचनात्मक विवरण जगत्‌के सामने आया। पुराणोंमें जो ऐतिहासिक वर्णन हैं, उनका पक्ष इससे बहुत प्रबल हुआ है। स्मिथने यह प्रमाणित किया है कि मत्स्यपुराणमें आन्ध्रोंका जो वर्णन है, वह प्रायः सही है। इतिहासके विद्वानोंने अब यह जाना है कि मौर्योंके विषयमें विष्णुपुराणका और गुप्तोंके विषयमें वायुपुराणका वर्णन विश्वसनीय है। पुराणोंकी ओर अबतक जो कुछ ध्यान दिया जाता था, उससे कहीं अधिक ध्यान देनेके पात्र वे अब समझे जाते हैं। पुराण अब भारतके परम्परागत इतिहासवृत्तके एक बहुत बड़े प्रमाण माने जाने लगे हैं। ऐतिहासिक सामग्रीकी खोजके लिये आजकल पुराणोंका विशेषरूपसे आलोचनात्मक अध्ययन होता है। आधुनिक इतिहासकार और प्राच्य-तत्त्ववित् रैप्सन, स्मिथ, जायसवाल, भांडारकर, राय चौधरी, प्रधान, रंगाचार्य, आळतेकर, जयचन्द आदिने अपने ऐतिहासिक ग्रन्थों, समीक्षाओं, प्रबन्धों और लेखोंमें पौराणिक सामग्रीका उपयोग किया है। भारतीय संस्कृति और सभ्यताके व्यापक इतिहासके लिये पुराणोंका बड़ा महत्त्व है। क्योंकि इनमें अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, शासनसंस्थाएँ, धर्म, तत्त्वज्ञान, कानून और उसकी संस्थाएँ, ललित कलाएँ, शिल्पशास्त्र आदि विविध विषयोंके विस्तृत प्रकरण हैं। आधुनिक इतिहासकारको विविध आख्यानों और उपाख्यानोंसे विशुद्ध ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तथ्य अलग करके निकाल लेना होगा।

विगत दो सहस्र वर्षोंसे भी अधिक कालसे रामायण और महाभारतके साथ पुराण भी भारतीय जीवनको अपने विवध आदर्श पुरुषोंके चरित्रोंसे अनुप्राणित

और प्रभावित करते चले आ रहे हैं। राम, कृष्ण, हरि, शिव आदि नाम आज भी करोड़ों मनुष्योंके जीवनधन हैं। दीन-दुःखी जनताके छिन्न-विच्छिन्न स्नायुओं और भग्न हृदयोंको बल देकर तथा उनमें आशा-विश्वासका संचारकर पुराणोंने उन्हें उबारनेका काम किया है। पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे ऐसे लोग पहले निकले, जो पुरातन तथा परम्परागत प्रत्येक वस्तुकी हँसी उड़ाना ही जानते थे। उनकी दृष्टिमें पुराणोंका मूल्य कूड़े-करकटसे अधिक नहीं था। यह महान् शुभ चिह्न है कि पुराणोंके सम्बन्धमें अब आधुनिकोंकी दृष्टि बदल रही है। गीताप्रेस और 'कल्याण' ने हमारी पूर्व परम्पराकी रक्षा करनेमें बहुत बड़ा काम किया है। यह दुर्भाग्यकी बात है कि पुराणोंके पाठ बहुत भ्रष्ट हो गये हैं। हम यह आशा कर सकते हैं कि पाठपरीक्षणके पाश्चात्त्य मानके अनुसार जाँच करके पुराणोंके संशोधित संस्करण शीघ्र ही प्रकाशित होंगे।*

आदर्श भ्राता

(श्रीलक्ष्मण और भरत)

(रचयिता—पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

स्वामी मान रामको सदैव अनुगामी रहे,
राम-प्रेममें ही प्राण रहता प्रवण-सा।
राम हैं सुखी तो सुखी, रामके दुखोंसे दुखी,
रामकी ही सेवाका सदैव लिये प्रण सा।
तात-मात तज सहे आतप विपिन वात
रामहित हेतु किये जीवनको पण-सा।
पाई यह प्रेरणा सुपुत्रने जहाँसे, ऐसी
माई हो सुमित्रा, लघु भाई हो लषण-सा

(२)

चञ्चरीक चम्पा-सी, जनक-जननीसे प्राप्त
राज-सम्पदा भी तृण-तुल्य ठुकराई है।
भाईके विरहमें सुहाई ठकुराई नहीं,
गूढ़ प्रेमसिन्धुमें असीम बाढ़ आई है।
राम-वनवासमें भी हेतु अपनेको मान,
शोचवश लोचनोंमें अश्रुधार छाई है।
क्षण-क्षण वेदन अपार अधिकाई अहो!
भारतमें भरत-सदृश कौन भाई है॥

(३)

सेवारत होके बन्धु-चरण पयोद पेख
चातक चतुर-सा महान मोद पाता जो।
लायक लषण-सा सहायक सतत रह
भाईके सुयशकी पताका फहराता जो।
तन, धन, प्राण—सब बन्धु-चरणोंमें चढ़ा
पादुका पदोंकी सिर ऊपर उठाता जो।
क्लेश सह कठिन निदेश पालता है सदा,
भ्राता वही भायप भरत-सा निभाता जो॥

* इस निबन्धके परम आदरणीय विद्वान् लेखक वर्तमान युगके एक प्रसिद्ध अन्वेषक और बड़े ही विचारशील पुरुष हैं। इनके इस लेखसे आधुनिक विद्वानोंकी पुराणोंके सम्बन्धमें क्या धारणा है और उनकी खोजका क्या परिणाम निकला है, इसका बहुत ही सुन्दर रूपमें निष्पक्षभावसे दिग्दर्शन कराया गया है। पुराणोंके सम्बन्धमें सनातनी दृष्टिकोण और उनकी मान्यता इससे भिन्न है।—सम्पादक

कर्म-विज्ञान

(लेखक—रायबहादुर पंड्या श्रीबैजनाथजी, बी० ए०)

प्रकृतिमें कारण और कार्यका नियम सब लोकोंमें व्याप्त है। प्रत्येक कारणका परिणाम कोई-न-कोई अवश्य होगा। विज्ञानका नियम है कि क्रिया और उसकी प्रतिक्रिया समान बलकी किंतु विपरीत दिशाकी होती हैं। यह नियम सब लोकोंमें एक-सा है। हमारे प्रत्येक कार्यमें स्थूल कार्यके अतिरिक्त भाव तथा विचारकी भी क्रिया होती है। प्रथम हम किसी कार्यके सम्बन्धमें सोचते हैं, तब वह विचार सोची वस्तुपर पहुँचकर वहाँ क्रिया करता है। उस विचारके आते ही हमारे मनमें—वासना-देहमें वैसा भाव—क्रोध, लोभ, स्नेहादि वैसे भाव उत्पन्न होते हैं, और बाहर निकलकर दूसरोंपर वैसा प्रभाव डालते हैं। इतनी क्रिया सूक्ष्मरूपसे हो चुकनेपर स्थूलकर्म अपना कार्य स्थूल जगत्‌में करता है। इस प्रकार प्रत्येक कर्मका विपाक स्थूल-देहमें, वासना-देहमें तथा मनोमय कोशमें हमपर होगा। यदि भली प्रकार उछलनेवाली रबरकी गेंद हम जोरसे सीधे धरतीपर मारें तो वह उतने ही वेगसे उछलकर हमारे हाथमें उतनी ही शक्तिसे लगेगी। यह साधारण क्रियाका स्थूल फल हुआ। इसके साथ-साथ भाव और विचारका फल भी होता है। मान लें कि दो व्यक्तियोंने दो उद्यान जनताके हितार्थ म्युनिसिपलबोर्ड (नगर-प्रबन्ध-समिति) को भेंट कर दिये। उनमेंसे एकके मनमें केवल परोपकारका भाव था और दूसरेके मनमें यह बात थी कि इस सेवाके कारण सरकारसे मुझे अधिक पुरस्कार या उपाधि मिलेगी। ऐसी दशामें स्थूल कार्यका फल तो दोनोंको समान मिलेगा; पर दोनोंके भाव और विचार भिन्न होनेसे उनके भावों तथा विचारोंका विपाक दोनोंके फलोंमें भेद कर देगा। जिसकी नीयत स्वार्थपूर्ण है, उसे उस दानसे चित्तमें आनन्द, शान्ति और चारित्रिक उन्नति प्राप्त नहीं होगी, पर दूसरेको अवश्य प्राप्त होगी।

कर्मके तीन भेद कहे जाते हैं—प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण। हमारे समस्त पूर्व कर्म संचित हैं। उसमेंसे जितना भाग कर्मदेवता इस जन्ममें हमसे भुगतवाना चाहते हैं, वह प्रारब्ध बन गया है। उसे हमें अवश्य भोगना पड़ता है। बाकीका संचित आगे जाकर क्रमशः प्रारब्ध बनेगा। क्रियमाण वह है, जिसे हम अभी कर रहे हैं। एक ही कर्म भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें किये जानेपर पृथक्-पृथक् फल उत्पन्न करता है।

कर्मका साधारण फल इस प्रकार होता है—जैसे सेवाके कार्योंका फल सुख और अच्छी परिस्थितिका मिलना, दूसरोंकी हानि करनेसे बुरी परिस्थिति या पीड़ा, ऊँची-नीची इच्छाओंसे वैसी योग्यता या सामर्थ्यकी प्राप्ति, दीर्घकालीन विचारोंसे वैसा स्वभाव बनना, अनुभवसे ज्ञान होना, दुःखपूर्ण अनुभवोंसे पुण्य-पाप-विवेकिनी बुद्धिकी वृद्धि, निःस्वार्थ सेवाकी इच्छासे आध्यात्मिकताकी प्राप्ति आदि।

ऊँचे लोकों (अन्तर्जगत्) में भले-बुरे कर्मोंका फल बहुत बड़ा होता है। भूलोक (स्थूल जगत्) में कर्मकी जो शक्ति है, उसी कर्मकी वासना (इच्छा) की शक्ति भुवर्लोक (वासनादेह) में उससे पाँचगुनी और मनोमय कोषमें—विचारकी शक्ति पचीसगुनी। इस प्रकार बहुत अधिक काम करती है। उच्च विचार कारण-देहमें इससे भी पाँचगुना अर्थात् १२५ गुना काम (प्रभाव) करता है। यदि हमारे कर्मसे किसी दूसरेके जीवनमें विशेष उन्नति या विशेष बाधा पड़ती है, तो वह हमारे पास स्वतः कर्म-ऋण लेनेको आकर्षित होगा। स्वार्थपरायणतासे मनुष्यका विकास रुक जाता है। निःस्वार्थ प्रेम और वैसी ही सेवा करनेसे हमारी उन्नति बहुत शीघ्र होती है। इसीलिये हमें जीवनमें इन दोनों सद्‌गुणोंका सदैव अभ्यास करते रहना चाहिये। इसके विपरीत निर्दयतासे चिरस्थायी बीमारी होती है और कठिन दुःख मिलते हैं। यदि निर्दयता जान-बूझकर की जाय तो पागलपन भी हो सकता है।

ईश्वरको कर्माध्यक्ष कहा गया है। कर्मका नियम—यह उसकी इच्छा है। प्रकृतिके सब बल उसीसे निकलते हैं। यह कर्म-नियम भी उसीसे निकला है। जब हम सुख-दुःखका समानभावसे ग्रहण करके केवल जगत्-कल्याणके लिये श्रीकृष्णार्पण-भावसे कर्म करेंगे तो कर्म-विपाकके नियमसे मुक्त हो जायँगे। भगवान्‌ने बताया है कि अध्यात्म-मार्गका थोड़ा-सा भी आचरण महाभयसे बचा देता है (गीता २। ४०)। साधारण

अज्ञानी मनुष्य पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, भलाई-बुराईको अच्छी प्रकार नहीं समझते। उनके कर्म मिश्रित रहते हैं; पर अध्यात्मविद्याके अनुयायी इन बातोंको भली प्रकार समझ-बूझकर कर्म करते हैं।

हमारे चरित्रमें जो बुराई हो, उसे हमें अभीसे समझकर त्यागना चाहिये। उसे जीत लेना चाहिये। नहीं तो हमारे दुर्गुण अनेक जन्मोंतक बने रहेंगे। महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—'**वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्**' (२। ३३)। अर्थात् दुर्गुणोंको मिटानेके लिये उनके विपरीत गुणोंका मनन और अनुशीलन करना चाहिये। यदि हममें हिंसात्मक भाव है तो अहिंसाका मनन और अभ्यास करना चाहिये। इसी तरह असत्यकी आदत मिटानेके लिये सत्यका अभ्यास, चोरीका स्वभाव दूर करनेके लिये अस्तेयका मनन और अभ्यास करना चाहिये। ऐसे ही विपरीत सद्गुणोंके आश्रयसे दुर्गुणोंको दूर करना चाहिये।

उपासनाका तत्त्व

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

हिंदुओंकी सभी प्रकारकी संस्कृतियोंका मूलस्रोत वेद है, वही इनके ऐहिक एवं पारलौकिक—सभी प्रकारके कल्याणोंका विधान अपने काण्डत्रयके द्वारा करता है। कर्म, ज्ञान और उपासना—ये वेदके काण्डत्रय हैं। सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् ३। १४। १ की श्रुति है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।

अर्थात् यह सब निश्चय ब्रह्म ही है(सारा जगत् ब्रह्मात्मक—ब्रह्मका शरीर है; अतएव सब ब्रह्म ही है)। यह जगत् उसी ब्रह्मके द्वारा उत्पन्न होता है, उसीमें इसका लय होता है और यह उसीमें चेष्टा करता है; इसलिये मनुष्यको शान्त होकर उसीकी उपासना करनी चाहिये। इसी प्रकार बृहदारण्यक० ३। ७। ३-२२ में भी जगत्को ब्रह्मका शरीर कहा गया है। एवं—

जगत् सर्वं शरीरं ते। (वाल्मी० ६। ११७। २५)

—यह रामायण-वाक्य है। भगवान् विराट्-रूप-प्रदर्शनमें भी जगत्को अपने शरीररूपमें दिखाते हैं।

इन प्रमाणोंसे निष्पन्न है कि जैसे मनुष्यके हाथ-पैर और नेत्र आदि सभी अंग उसके सेवक रहते हैं, यथा—

सेवक कर पद नयन से मुख सो साहेबु होइ।

(मानस अयो० ३०६)

—वैसे ही यह सारा जगत् ब्रह्मका शरीर होनेसे उसका सेवक है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' इस वाक्य-खण्डके साथ ही उसकी उपासनाकी व्यवस्था भी करती हुई श्रुति कहती है कि यह जगत् उसी ब्रह्मके द्वारा उत्पन्न होता है, उसीमें लीन होता है और उसीमें चेष्टा करता हुआ यह स्थित रहता है—अर्थात् उसीके द्वारा इसकी पालन-व्यवस्था भी होती है; इन कारणोंसे वह उपास्य है। अतः सारे जगत्को उसकी उपासना करनी चाहिये।

तात्पर्य यह कि जैसे किसी खेतको जो बोता है, उसकी रक्षा (पालन) करता है और जिसके यहाँ उस खेतसे उत्पन्न अन्न जाता है, वही उस खेतका स्वामी माना जाता है और वही उस खेतमें उत्पन्न हुए अन्नोंका भोक्ता होता है—उस खेतसे उत्पन्न अन्न उसीके लिये रहता है, वह स्वेच्छासे उस अन्नका उपभोग करता है—उसी प्रकार जगत्की उत्पत्ति, पालन और लय-व्यवस्थाका आधार होनेसे सच्चिदानन्द घन ब्रह्म श्रीरामजी ही इस जगत्के जीवोंके स्वामी हैं और भोक्ता हैं। जगत् उक्त अन्नवत् उनका परतन्त्र-भोग्य है—इसी परतन्त्रभोग्यत्वको 'शेषत्व' एवं 'दासत्व' कहा जाता है। यों विचारकर जगत्के सभी जीवोंको ईश्वरकी उपासना करनी चाहिये।

श्रीगोस्वामीजीने भी उक्त तीनों व्यवस्थाएँ कहकर साथ ही उपासना करनेकी बात कही है—

दूर न सो हितू हेरि हिएँ ही है।
....जगदीस, जीवन जीव को, जो साज सब सब को सजै॥
हरिहि हरिता, बिधिहि बिधिता, सिवहि सविता जो दई।
सोइ जानकीपति मधुर मूरति, मोदमय मंगलमई॥
ठाकुर अतिहि बड़ो, सील, सरल सुठि।
ध्यान अगम सिवहू, भेंट्यो केवट उठि॥
.....स्वामी को सुभाव कह्यो............
जपि नाम करहिं प्रनाम, कहि गुन ग्राम, रामहि धरि हिएँ।
बिचरहिं अवनि अवनीस चरन सरोज मन मधुकर किएँ॥

(विनय० १३५)

पदके इस प्रसंगमें पहले अन्तर्यामी श्रीरामजीको

जगदीश कहा गया है; फिर '**हरिहि हरिता**' इस पदसे श्रीविष्णुका पालनद्वारा क्लेशहरण और श्रीशिवजीका प्रलय-करणरूपी हरण उनके द्वारा कहा गया है। '**बिधिहि बिधिता**' पदसे ब्रह्माजीका उत्पत्तिकार्य और '**सिवहि सिवता**' इस पदसे लक्ष्मीजी आदि त्रिदेवोंकी शक्तियोंके कार्योंके आधार भी श्रीरामजीको ही बताया गया है। उनकी मोद-मंगलमयी मूर्ति और उनके सौलभ्य आदि माधुर्य-गुणोंका वर्णन कर उनके उपास्य होनेके योग्य स्वाभावका वर्णन किया गया है, तब अन्तिम चरणमें उपासना करनेकी रीति कही गयी है। इस पूरे पदको पढ़कर उपास्यदेवके ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों प्रकारके गुणोंको समझना चाहिये।

इस प्रकार ईश्वरके स्वरूपपर विचार करनेसे जीवोंको उसकी उपासना करनेकी व्यवस्था ज्ञात होती है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि मेरा ही सनातन अंश जीव है।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मा० उ० ११६)

अर्थात् ईश्वरका अंश जीव अविनाशी और सच्चिदानन्द स्वरूप है। अंशका अर्थ भाग (हिस्सा) होता है। यथा—

अंशभागौ तु वण्टके। (अमरकोष)

अर्थात् अंश, भाग और वण्टक—ये तीन भागमात्र एवं छटाँक आदि बाँटोंके नाम हैं। जो वस्तु जिसके भाग (हिस्से) की होती है, वह उसकी ही होकर रहती है और उसीके उपभोगके लिये समझी जाती है। जैसे किसी पिताने अपने चार पुत्रोंको एक रुपया दिया, तो उसके चार-चार आने प्रत्येक पुत्रके भागके हुए। वे भागवाले पैसे पुत्रोंके हैं, उनके उपभोगके लिये हैं। उसी प्रकार ईश्वरके अंश होनेसे जीव ईश्वरके भोग्य हैं। अतएव इन्हें हर अवस्थामें उसीकेशेषभूत (सेवक)होकर रहना चाहिये। यही स्थिति उपासना है।

श्रीगोस्वामीजीने भी जीवको ईश्वरका चरण-सेवक ही लिखा है—

जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषण बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।

(बि० ५८)

(हे श्रीरामजी!) यह जीव स्वरूपतः आपके चरणोंका सेवक है; परंतु यह प्रवृत्तिरूपी लंकापुरीमें विभीषणजीके समान मोहरूपी रावणके परिवार कामादि दुष्टोंके बीचमें चिन्ताग्रस्त रहता है। भाव यह है कि यह स्वरूपतः आपके चरणोंका सेवक है; परंतु कामादिवश उस स्थितिसे पृथक् हो जानेसे अत्यन्त दुःखी है। इसका यह दुःखभार इसके अपने स्वरूप-प्रयुक्त भगवदुपासनाको भुला देनेसे आ पड़ा है।

यथा—

मोह जनित मल लाग बिबिध बिधि........
सब प्रकार मल भार त्याग निज नाथ चरन बिसराए॥

(बि० ८२)

तथा—

बहु रोग बियोगन्हि लोग हए। भवदंघ्रि निरादर के फल ए॥
भव सिंधु अगाध परे नर ते। पद पंकज प्रेम न जे करते॥
अति दीन मलीन दुखी नितहीं। जिन्ह कें पद पंकज प्रीति नहीं॥

(मा० उ० १३)

इस प्रकार जीव-स्वरूपका विचार करनेपर हरि-उपासना इसका स्वरूपप्रयुक्त धर्म निश्चित होता है।

उपासनाके भेद

यह जीव अपनी (उपर्युक्त) स्थितिसे च्युत होकर मायामोहित हो रहा है। इसके उद्धारार्थ उपासनाके दो भेद बतलाये गये हैं—एक भगवान्‌की उपासना और दूसरी प्रत्यगात्मा (प्रकृतिवियुक्त जीवात्माके शुद्धस्वरूप) की उपासना। इन दोनों उपासनाओंके विषयमें अर्जुनने भगवान्‌से पूछा है—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

(गीता १२। १)

इस प्रकार निरन्तर प्रयत्नमें लगे हुए जो भक्त आपकी भलीभाँति उपासना करते हैं और जो अव्यक्त (चक्षु-आदि इन्द्रियोंसे प्रकट न होनेवाले) अक्षर (प्रत्यगात्मा—जीवात्मा) की उपासना करते हैं, उनमें उत्तम योगवेत्ता कौन हैं?

इस श्लोकमें दोनों उपासनाओंकी बात कही गयी है, इसके आगेके श्लोक २,६-७ में भगवान्‌की उपासना और श्लोक ३,४,५ में जीवात्म-उपासनाका वर्णन है। श्रीरामानुजभाष्य देखिये।

अर्जुनका प्रश्न यहाँपर भगवदुपासना और जीवात्म-साक्षात्कारके परस्पर तारतम्य-ज्ञानके लिये है कि

किससे शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति होती है। इसपर भगवान्ने जीवात्म साक्षात्कारकी अपेक्षा भगवदुपासनाको ही सुगम और शीघ्र फलप्रद कहा है।

इन दोनों उपासनाओंके सम्बन्धमें श्रुति-प्रमाण भी हैं—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

(श्वेता० ३। ८)

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः।

(छान्दो० ८। १२। ३)

—इत्यादि श्रुतियाँ भगवदुपासनाको मोक्षोपाय कहती हैं।

तथा—

तद्य इत्थं विदुः ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति......

(छान्दो० ५। १०१)

ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाँ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति..... (बृह०६। २। १५)

—इत्यादि श्रुतियोंमें पंचाग्निविद्योपासककी मोक्षप्राप्ति कही गयी है। पंचाग्निविद्या तो जीवात्माकी ही उपासना है। इसमें प्रत्यगात्माकी ब्रह्मात्मरूपसे उपासना की जाती है।

वेदके उपबृंहणरूप रामायणमें ये दोनों उपासनाएँ चरितार्थरूपमें हैं।

यथा—

क्रिया ज्ञानं तथोपास्यमिति शक्तित्रयीशितुः।
एकैका बहुविस्तारा फलस्कारा प्रमात्मिका॥
तासां क्रिया तु कैकेयी सुमित्रोपासनात्मिका।
ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या वेदो दशरथो नृपः॥
क्रियायां कलहो दृष्टो दृष्टा प्रीतिरुपासने।
ज्ञानेनात्मसुखं नित्यं दृष्टं निर्हेतु निर्मलम्॥

(शिवसंहिता १८। ४५—४७)

—अर्थात् राजा दशरथ वेदस्वरूप हैं, उनकी तीनों शक्तियाँ (रानियाँ) काण्डत्रय (कर्म, ज्ञान, उपासना)-रूपा हैं। क्रियाशक्ति (कर्म) श्रीकैकेयीजी, उपासना-शक्ति श्रीसुमित्राजी और सरस ज्ञान (पराभक्ति)-रूपा श्रीकौसल्याजी हैं। क्रियामें कलह देखी जाती है, इससे श्रीकैकेयीजीके द्वारा कलह हुआ। उपासनामें प्रीति होती है, इससे श्रीसुमित्राजीमें प्रीतिकी ही व्यवस्थाएँ हैं और ज्ञानमें शुद्ध आत्मसुख होता है, इससे श्रीकौसल्याजीमें अलौकिक विवेकद्वारा सुखकी व्यवस्था है।

इनमें उपासनाशक्ति श्रीसुमित्राजीके दो पुत्र हैं—एक श्रीलक्ष्मणजी ब्रह्म श्रीरामजीके उपासक हैं, और दूसरे श्रीशत्रुघ्नजी प्रकृतिवियुक्त जीवात्मस्वरूप श्रीभरतजीके उपासक हैं। उपासनाकी उक्त दोनों वृत्तियाँ ही यहाँ उनके पुत्ररूपमें हैं। अतः भगवदुपासनाके आदर्शस्वरूप श्रीलक्ष्मणजी हैं और प्रकृति-वियुक्त शुद्ध जीवात्म-उपासनाके आदर्श श्रीशत्रुघ्नजी हैं।

भगवदुपासना

श्रीलक्ष्मणजीने भगवदुपासनाकी रीति इस प्रकार दिखायी है—

बारेहि तें निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥

इस प्रकारसे सत्ताईस वर्षकी अवस्थातक इन्होंने परिवारमें रहते हुए सामान्य धर्मके साथ-साथ अपनी उपासनावृत्ति निबाही। जब इन्होंने देखा कि अब स्वामी वनको जा रहे हैं, अतः अब सामान्य धर्मको साथ रखनेपर मेरी विशेष-धर्मरूपा शरणागतिपुरस्सर स्वामीकी उपासनाका निर्वाह नहीं होगा, तब इन्होंने सामान्य धर्म छोड़कर विशेष धर्मका ही आश्रयण किया। अतः स्वामीके साथ रहकर निरन्तर शेषत्व (उपासना)-लाभके लिये इन्होंने प्रभु श्रीरामजीकी शरणागति की।

श्रीगोस्वामीजीने श्रीलक्ष्मणजीके इस प्रसंगको इस प्रकार लिखा है कि पहले श्रीरामजीने अपनी (सामान्यधर्मकी) दृष्टिसे श्रीलक्ष्मणजीको माता-पिताकी सेवा एवं प्रजापालन आदि (सामान्यधर्म) की शिक्षा दी थी और साथ ही उस धर्मकी प्रशंसा भी की थी; [क्योंकि श्रीरामजी सामान्य धर्मके प्रकाशक हैं, श्रीलक्ष्मणजी विशेष धर्म (आर्त-प्रपत्तिपूर्वक उपासना)के, श्रीभरतजी विशेषतर धर्म (दृप्त-प्रपत्तिपूर्वक उपासना) के और शत्रुघ्नजी विशेषतम धर्म (भागवत-सेवा-निष्ठा) के प्रकाशक हैं।] तब श्रीलक्ष्मणजीने अपनी विशेष धर्मकी दृष्टिसे उसकी विवेचना करते हुए कहा है—

उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ॥ ७१॥
दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥
नर बर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥

मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥
करुनासिंधु सुबंधु के सुनि मृदु बचन बिनीत।
समुझाए उर लाइ प्रभु जानि सनेहँ सभीत॥ ७२॥
मागहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई॥

(मा० अयोध्या०)

श्रीसुमित्राजीने उपासनाकी रीतिका जिस प्रकार वर्णन किया है, यह उन्हींके मधुर वचनोंमें सुनिये—

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥
गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥
रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू॥
भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ॥ ७४॥
पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥
सकल सुकृत कर बड़ फलु एहू। राम सीय पद सहज सनेहू॥
रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जन सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥
तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु रामु सिय जासू॥
जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥
उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरें राम सिय सुख पावहीं।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं॥
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई॥

(मा० अयोध्या०)

यही भगवान्‌की उपासनाका तत्त्व है, जो साक्षात् उपासनाशक्तिके द्वारा वात्सल्य-दृष्टिसे प्रिय पुत्रके लिये कर्तव्यरूपमें कहा गया है। श्रीलक्ष्मणजीने इसी आदेशके अनुसार चौदह वर्ष वनमें भगवान् श्रीरामजीकी उपासना की (आज वनवासके समान भगवान् अर्चारूपमें सर्वत्र प्राप्त हैं, उपर्युक्त उपदेशके अनुसार आराधनाकर कृतार्थ होना चाहिये)।

लंकामें शक्ति-बाधासे चैतन्य होनेपर श्रीलक्ष्मणजीने कहा है—

हृदयँ घाउ मेरे पीर रघुबीरै।
पाइ सजीवन जागि कहत यों प्रेम पुलकि बिसराइ सरीरै॥
मोहि कहा बूझत पुनि-पुनि जैसे पाठ अरथ चरचा कीरै।
सोभा सुख छति लाहु भूप कहँ केवल कांति मोल हीरै॥
तुलसी सुनि सौमित्र बचन सब धरि न सकत धीरौ धीरै।
उपमा राम लखन की प्रीति की क्यों दीजै खीरै नीरै॥

(गी० लं० १५)

भावार्थ—'**मोहि कहा बूझत.........**'—इस पूरे चरणमें श्रीलक्ष्मणजीने सुग्रीव आदिसे उपासनाके तत्त्वका उपदेश किया है। जब वे शक्ति लगनेपर संजीवनीद्वारा चैतन्य हुए, तब उनसे श्रीसुग्रीव आदिने पूछा कि 'अब घावकी दशा कैसी है?' इसपर उन्होंने कहा है कि 'इसकी पीड़ा श्रीरघुनाथजीसे पूछिये। घाव तो मेरे हृदयपर दीखता है; परंतु इसकी पीड़ा उन्हींको है, जिनकी वस्तुरूप मैं हूँ। मुझमें जो कुछ सेवाके गुण हैं, जिनपर रीझकर स्वामी मेरी बाधापर रोते थे, वे गुण वस्तुतः उन्हींके द्वारा मुझे प्राप्त हैं। जैसे तोतेको पाठके द्वारा पाठ प्राप्त होता है और फिर वह पाठक तोतेसे सुनकर रीझता है, वैसे ही स्वामी मुझपर प्रसन्न हुए हैं—इसमें मेरे गुण-वैभवका प्रभाव नहीं है।' आगे अपनी स्थिति कहते हैं—

जैसे किसी हीरेमें यदि कान्ति और मोल (गुण) रहते हैं तो राजा उसे धारण करता है और फिर उस हीरेके धारण करनेका सुख एवं उसकी शोभा तथा उसके फूटने एवं चोरी जाने आदिकी हानिकी चिन्ता उस राजाको ही रहती है, वैसे उपासकमें उपासनासम्बन्धी विवेकरूपी कान्ति एवं सेवा-निष्ठारूपी मोल रहनेपर उपास्य उसकी चिन्ता रखता है (उसका योग-क्षेम वहन करता है)। उपासकको अपनी चिन्ता नहीं करनी पड़ती; परंतु हीरेके समान उसके राजारूपी स्वामीके परतन्त्र-भोग्य (शेषत्व) रूपमें ही उसकी स्थिति रहनी चाहिये।

इन रीतियोंसे श्रीलक्ष्मणजीने उपासनाशक्तिके उपदिष्ट मार्गपर स्वामीकी उपासना की है। वनवासके अन्तमें स्वामीके राज्यग्रहण करनेपर इन्हें फलरूप नित्य शेषत्व प्राप्त हुआ; यथा—

भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते।
गहें छत्र चामर ब्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते॥

(मा० उ०)

यही इन्हें नित्य शेषत्वकी प्राप्ति है। इसी भावको प्रकट करनेके लिये श्रीगोस्वामीजीने श्रीरामजीकी परधाम-यात्रा स्पष्टरूपमें नहीं लिखी।

इस प्रकार भगवदुपासनाकी रीति श्रीलक्ष्मणजीने प्रकट की।

प्रत्यगात्म-उपासना

ऊपर लिखा गया कि उपासना-शक्ति श्रीसुमित्राजीके दो पुत्रोंमेंसे एक श्रीलक्ष्मणजी भगवदुपासक हैं और उनके दूसरे पुत्र श्रीशत्रुघ्नजी प्रत्यगात्मस्वरूपके उपासक हैं। श्रीलक्ष्मणजीकी उपासना कुछ लिखी गयी। श्रीशत्रुघ्नजीकी आगे कुछ लिखी जाती है—

श्रीशत्रुघ्नजीने प्रकृति-वियुक्त शुद्ध प्रत्यगात्मस्वरूप श्रीभरतजीकी उपासना की। उपर्युक्त क्रिया-शक्ति श्रीकैकेयीजीके पुत्र धर्मफल-स्वरूप श्रीभरतजी हैं। शुद्ध निष्काम कर्मयोगके अनुष्ठानसे प्रकृति-वियुक्त प्रत्यगात्माके स्वरूपका साक्षात्कार होता है, उसकी स्थिति श्रीभरतजीके समान है।

प्रारब्ध-भोगकी अवशिष्ट आयुमें जब इसकी प्रकृतिरूपी माताके परिणामरूपी शरीरकी अंगभूता दस इन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार—इन चौदहोंकी भोग-स्पृहा बाधक होती है, जैसे कैकेयीजीने अपने पुत्रके लिये चौदह वर्षोंका राज्य भोग चाहा था, तब यह प्रकृति-वियुक्त जीवात्मा श्रीभरतजीकी वृत्तिसे रहकर अपने स्वरूपकी रक्षा करता है। यह अपनेको श्रीरामजीका अंग मानकर उनके सेवक (शेष)-रूपमें ही प्रकृति-भोगोंसे पीठ देकर श्रीरामजीके खड़ाऊँपर अंकित उनके चौबीस चरण-चिह्नोंके लक्ष्यपर—चौबीस तत्त्वमें व्यापक भगवत्स्वरूपके आधारपर अपनी स्थिति रखता है। इस वृत्तिसे अवधि (आयु) पूरीकर भगवान्‌का नित्य-शेषत्व पाता है, जैसे श्रीभरतजीने चौदह वर्षोंकी पूर्तिपर शेषत्व पाया।

श्रीशत्रुघ्नजीने श्रीभरतजीकी आराधना करके उस प्रकारके प्रकृति-वियुक्त प्रत्यगात्माकी उपासनाकी रीति दिखायी। वे अन्तमें श्रीभरतजीके साथ ही उनके समान भगवान् श्रीरामजीके शेषत्व (नित्य परिकररूपता)-को प्राप्त हुए।

भगवदुपासक श्रीलक्ष्मणजी, प्रत्यगात्मोपासक श्रीशत्रुघ्नजी तथा शुद्ध प्रत्यगात्मस्वरूप श्रीभरतजी—इन सबने उपासनाकी रीतिसे ही तत्क्रतुन्यायसे मुक्तावस्था प्राप्त की। अतः जीवात्माकी भगवत्-शेषत्वमें ही स्वरूप-सत्ता है, यह उपर्युक्त वाक्य सिद्धान्तरूपमें निष्पन्न हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीताके परम अधिकारी श्रीअर्जुनने भी भगवान्‌की सख्यभावसे उपासना की और तदनुसार भगवत् शेषत्व (सेवकत्व) रूप मुक्ति ही पायी। स्वर्गारोहणके पीछे श्रीयुधिष्ठिरजीने दिव्य शरीरसे परधाममें देखा—

ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम्।
दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्थितम्॥
चक्रप्रभृतिभिर्घोरैर्दिव्यैः पुरुषविग्रहैः।
उपास्यमानं वीरेण फाल्गुनेन सुवर्चसा॥

(महा० स्वर्गा० ४। २, ४)

भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ अपने ब्रह्मशरीरसे युक्त हैं, उनका शरीर देदीप्यमान है। उनके समीप चक्र आदि दिव्य अस्त्र तथा और भी घोर दिव्य अस्त्र दिव्य पुरुष-शरीर धारण करके उनकी उपासना (सेवा) कर रहे हैं। वहीं महान् तेजस्वी और अर्जुनके द्वारा भी भगवान् सेवित हो रहे हैं।

इस प्रकरणसे भी सिद्ध है कि गीता-तत्त्वके भलीभाँति सुनने, समझने और धारण करनेका यही परम फल है तथा गीताके अनुष्ठानसे अर्जुनके समान इन्द्रिय-संयमी, महान् त्यागी और परम विवेकसम्पन्न होकर उसे भगवान्‌के सखा, सेवक एवं शिष्य आदि भावोंकी प्राप्ति एवं तदनुसार उसकी उपासनात्मक ही मुक्ति होनी चाहिये।

इस प्रकार श्रुति एवं इतिहासश्रेष्ठ श्रीमद्रामायण और महाभारत आदिके आधारपर उपासनाके तत्त्वपर कुछ लिखा गया है और यह बताया गया है कि जीवमात्रका यही स्वरूपप्रयुक्त धर्म है। अतः सभीको उक्त रीतियोंसे उपासनामार्गपर आरूढ़ होकर कृतार्थ होना चाहिये।

सेवाधिकार

भजहिं भावयुत जे सदा भक्त और भगवंत। प्रभु-पद-सेवा विमल ते पावहिं दुर्लभ संत॥

संस्कृतिका महत्त्व

(लेखक—महामहोपाध्याय, काव्य-सांख्य-वेदान्ततीर्थ, साहित्यवाचस्पति पं० श्रीसकलनारायणजी शर्मा)

'संस्कृति' शब्दमें 'कृ' के पहले सकार है, उसका अर्थ है समूह और अलंकार—भूषण। जिस कर्मसे समाजकी शोभा बढ़ती है और उसका समुदाय बनता है, वह संस्कार है—संस्कृति है। यह अष्टाध्यायी कहती है '**सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे समवाये च।**' संस्कारको बनानेवाली वस्तु अथवा जीवको संस्कर्ता कहते हैं। यह शब्द बड़ा व्यापक है। लोग इसका प्रयोग संस्कृत भाषाके प्रचारके समय भिन्न-भिन्न प्रकारसे करते थे और उसके पचासों रूप होते थे।

संस्कार कायिक, वाचिक और मानसिक भेदसे तीन प्रकारका है। इनमें मानसिक संस्कार प्रधान है। इसका दूसरा नाम भावना है। कपिलजीने सांख्यसूत्रमें लिखा है कि संस्कार (भावना) जब प्रबल हो जाता है, तब मन विशुद्ध हो जाता है। तब उसका किया हुआ कार्य यथार्थ-सा बन जाता है—

भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत्।

(सांख्यसूत्र)

मनमें जो विचार अथवा भावना होती है, वह सच-झूठ दोनों प्रकारकी होती है। सच्ची भावना बराबर एक-सी रहती है, वह प्राकृतिक है। जो भावना असत्य है, अभ्यासवश दृढ़ होती जाती है और संस्कारका स्वरूप धारण करती है, उसका विश्लेषण प्रकृतिसे करना कठिन हो जाता है। योगसूत्रमें पतञ्जलिने उसके पाँच भेद—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मरणभय) किये हैं। ये झूठे हैं और कष्ट देनेवाले हैं—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।

(योगसूत्र)

इनका नाम चित्तवृत्तियाँ है, इनसे दूर रहना चाहिये। इनका विरोधी संस्कार ध्यान है। ध्यानसे झूठे संस्कार नष्ट होते हैं—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।

(योगसूत्र)

वेदका एक अंग कल्प है, उसके दो भेद हैं—गृह्यसूत्र और श्रौतसूत्र। पहलेमें गर्भाधानसे लेकर मरणपर्यन्तके संस्कारोंका वर्णन रहता है। दूसरेमें यज्ञोंकी चर्चा है। मीमांसादर्शनमें याज्ञिक कर्मोंके सम्बन्धमें संस्कारका वर्णन है। ज्योतिष्टोम यज्ञमें एक प्रकरण है कि स्थाणु (ठूँठ)-के पासमें हवन होता है। वह उसका अथवा उससे बने हुए यूप (खम्भे)-का सुधार—शुद्धता होती है। यह कार्य संस्कार है। निश्चय है कि यूपका संस्कार होता है—

अपि वा शेषभूतत्वात् तत्संस्कारः प्रतीयेत।

(मीमांसादर्शन)

कल्पके अनुसार जड-चेतन—दोनोंका संस्कार होता है। लौकिक बोल-चालमें 'संस्कार' शब्दका प्रयोग प्रायः होता है। जैसे किसीने बुरा काम बार-बार किया, तब कहते हैं, 'उसका संस्कार वैसा हो गया है।' जब छोटे लड़के पढ़नेमें पूरा मन लगाते हैं, तब अध्यापक कहते हैं कि ये 'संस्कारी' हैं।'

न्यायशास्त्रमें वेग और स्थितिस्थापक आदि चार गुणोंकी चर्चा है। वे भी संस्कार हैं।

'संस्कार' संस्कृत साहित्यमें कई अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है; पर संशोधन और सुधार—ये ही मुख्य हैं।

योगके अविद्यादिक क्लेश मनपर प्रभाव डालते हैं। वे मन अथवा आत्माके यथार्थ गुण नहीं हैं, किंतु आरोपित हैं। अनादि वासनास्वरूप हैं। उनपर वासनाका प्रभाव संस्कार है। अतएव उनकी गिनती संस्कारमें है।

शाण्डिल्यभक्तिसूत्रमें लिखा है कि परमेश्वरमें मुख्य शक्ति करुणा है—'**मुख्यं हि तस्य कारुण्यम्।**' जो उसकी करुणापर आस्था रखता है, उसका मन करुणामय संस्कारवाला हो जाता है और उद्धार पा जाता है।

भारत-कल्याण

जो चाहौ भारत-कल्यान, तौ सब मिल भारत सन्तान।
जपौ निरंतर एक जबान, हिंदी हिंन्दू हिंदुस्थान॥

—प्रताप नारायण मिश्र

विद्या और विज्ञान

(लेखक—श्रीरने गेनों)

(फ्रेंच भाषासे अनुवादित)

[श्रीरने गेनों फ्रांसके एक प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् हैं। सनातनधर्मके सम्बन्धमें आपका विशाल अध्ययन है। आपने फ्रेंच-भाषामें अनेकों उपयोगी ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें चार ('East and West', 'The Cirsis of the Modern World', 'Introduction to the Study of the Hindu Doctrines', 'Man and His becoming according to the Vedanta')-का तो अंग्रेजीमें अनुवाद भी श्रील्युज़क कम्पनी, लंदनके द्वारा प्रकाशित हो चुका है। यह लेख उन्हींके एक लेखका अनुवाद है, जो उनकी आज्ञासे 'कल्याण'के पाठकोंके लिये काशीनिवासी एक दूसरे फ्रेंच विद्वान् श्रीशिवशरणजीके द्वारा किया गया।—**सम्पादक**]

पूर्वपरम्परासे आयी हुई सनातन संस्कृति ज्ञानमूलक है। इसका अर्थ यह है कि वेद या श्रुतिके आधारपर स्थित होनेसे यह वेदान्तप्रधान है; अनेक विद्याएँ इसके अनुगत—इसके अंग मानी जाती हैं।

समाजगत वर्ण-व्यवस्थादिके रूपमें यह अनुवर्तिता स्पष्ट है। जड विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाली विद्याएँ भी ऐसी संस्कृतियोंमें तत्त्वज्ञानका अंग मानी जाती हैं एवं तत्त्वज्ञानके आधारपर स्थित रहती हैं।

विद्याओंमें तारतम्य माना जा सकता है। गौण विषयोंका भी महत्त्व अवश्य है, परंतु अप्रधानको प्रधानता देना उचित नहीं हो सकता। कारण, तत्त्वसे अत्यन्त दूर होनेके कारण वस्तुओंके मूल्यमें तारतम्य अवश्य ही आता है।

आजकल विद्याके महत्त्वके विषयमें दो अत्यन्त भिन्न एवं परस्परविरुद्ध दृष्टियाँ दिखायी पड़ती हैं। एक सनातनी दृष्टि है; दूसरी आधुनिक दृष्टि। सनातनी सिद्धान्तोंके आधारपर स्थित विद्याओंपर हम बहुत लिख चुके हैं। सनातनी विद्या प्राचीन समय एवं मध्यकालतक अनेक देशोंमें विद्यमान थी। आजकल उसकी परम्परा केवल पूर्वीय देशोंमें जीवित है। आधुनिक पश्चिमी लोग उसकी चर्चा भी नहीं सुनते। कहना पड़ता है कि प्रत्येक संस्कृतिमें इन विद्याओंका स्वरूप देश, काल आदिकी भिन्नतासे भिन्न-भिन्न हो जाता है। ऐसा होना अनिवार्य है; क्योंकि साधारण विद्याओंका विषय परमतत्त्व नहीं है, बल्कि तत्त्वके अनुगत जड स्वरूप है। फिर भी विद्याका स्वरूप देश-काल आदिके अनुसार एवं जाति, व्यक्ति आदिकी मानसिक शक्तिके अनुसार भिन्न हो जाता है। प्रत्येक जाति एवं देशके इतिहासमें देखा जाता है कि समय-समयपर ज्ञानके बाह्यरूपमें कोई नवीन परिवर्तन होता है। परम्पराप्राप्त सनातनी विद्याके तत्त्वमें उन परिवर्तनोंसे लेशमात्र भी अन्तर नहीं पड़ता। ब्रह्मविद्याके विवरणके प्रकारमें भिन्नताकी सम्भावना है, विषयमें नहीं। जैसे किसी उक्तिका एक भाषासे दूसरी भाषामें अनुवाद हो सकता है, वैसे ही एक ही ब्रह्मविद्या दूसरे-दूसरे शब्दोंमें भिन्न-भिन्न उपमाओंकी सहायतासे समझी जा सकती है। ब्रह्मविद्याके आवरणमें विकास हो सकता है; किंतु उसका ब्रह्मरूप विषय निर्विकार है, उसमें भिन्नताका प्रसंग नहीं आ सकता; क्योंकि सत्य भेदरहित है।

आत्मविद्याके अधीन रहते हुए भी अन्य विद्याओंकी बात दूसरी है। विद्याएँ एवं समाज आदिका स्वरूप जड संसारसे सम्बन्ध रखनेके कारण ये अनेक रूप धारण करते हैं। यहाँ स्वभावसे भिन्नता अनिवार्य है। फल यह होता है कि विषय एक होनेपर भी रूपान्तरके कारण भिन्न विद्याएँ बनती हैं। नैयायिकोंकी दृष्टिमें विद्या अपने विषयकी सीमाओंसे सीमित रहती है; परंतु यह परिभाषा अति सरल होनेके साथ-साथ अपूर्ण भी है। कोई विज्ञान किस दृष्टिसे अपने विषयको ग्रहण करता है, यह बात भी किसी विज्ञानकी परिभाषामें आनी चाहिये। विज्ञानोंकी संख्या असीम है एक ही वस्तु अनेक विज्ञानोंके अध्ययनका विषय हो सकती है। दृष्टियोंकी अति भिन्नतासे, साधन एवं लक्ष्यकी भिन्नतासे विज्ञानोंमें भिन्नता आती है। विभिन्न संस्कृति एवं सम्प्रदाय आदिकी परम्परासे आये हुए विज्ञानोंके बारेमें यह बात स्पष्ट है कि उनके कई अंशोंमें अवश्य ही सादृश्य होगा; परंतु दृष्टिके अन्तरसे उनका रूप इतना भिन्न हो सकता है कि उनके लिये एक नाम भी नहीं रखा जा सकता। जब प्राचीन विद्याओं एवं अर्वाचीन विज्ञानोंकी तुलनाका प्रयत्न होता है, तब तो उनमें कहीं भी सादृश्य नहीं दिखायी पड़ता। बाह्य दृष्टिसे विषय

एक होनेपर भी प्राचीन विद्या एवं अर्वाचीन विज्ञानके लक्ष्यमें इतना अन्तर होता है कि किसी भी दृष्टिसे उनमें एकता नहीं दिखायी जा सकती। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये कुछ दृष्टान्त देना अनुचित न होगा।

पहले भौतिक विज्ञान (Physics) को ही लें। पश्चिमी देशोंके इतिहासकी सीमामें रहनेपर भी एतद्विषयक प्राचीन एवं अर्वाचीन दृष्टिमें गम्भीर भेद दिखायी पड़ता है।

'फिजिक्स' अर्थात् 'भौतिक विज्ञान' शब्दका अर्थ प्रकृतिका ज्ञान है। इसमें कोई परिच्छिन्नता नहीं है। भौतिक विज्ञान कालका विज्ञान है; क्योंकि प्रकृति एवं काल वास्तवमें भिन्न नहीं हैं—यही अरस्तू आदि यूनानी दार्शनिकोंका मत था। इस भौतिक विज्ञानके अन्तर्गत प्रकृतिके अंग विशेषोंका अन्वेषण करनेके उद्देश्यसे कई खण्ड-विज्ञान हैं, जो भौतिक विज्ञानके अंगभूत विज्ञान हैं।

वर्तमान संस्कृतिमें 'भौतिक विज्ञान' अनेक विज्ञानोंमें एक अंगभूत विज्ञानका नाम हो गया। यह बात आधुनिक मनःप्रवृत्तिकी द्योतक है, क्योंकि अन्य विज्ञानोंका विषय भी भौतिक संसार है। इससे वर्तमान विज्ञानकी एक विलक्षणता स्पष्ट हो जाती है। यह विभाग करने एवं सामान्यको छोड़कर विशेषपर ध्यान देनेकी वृत्ति है, जिसके प्रभावसे मनुष्य सर्वव्यापक एक ही अधारभूत विद्याके अस्तित्वकी कल्पनातक नहीं कर सकता। पश्चिममें भी बहुत-से विद्वान् इस परिच्छिन्न दृष्टिकी एवं इसके परिणामभूत विचार-संकोचकी अनिष्टता दिखला चुके हैं। परंतु जान पड़ता है कि उस अनिष्टताको समझनेवाले भी दूसरे मार्गको नहीं देख सके; क्योंकि विज्ञानके विभाग करनेकी आदतसे भिन्न-भिन्न विज्ञानोंकी संख्या इतनी बढ़ गयी और उनका क्षेत्र इतना फैल गया कि कोई भी मनुष्य उन सबको ग्रहण नहीं कर सकता और न उनके समग्र विषयको एक दृष्टिसे देख ही सकता है। उन लोगोंके लिये बात समझना कठिन है कि जबसे इन विज्ञानोंकी आधारभूत एकताका सिद्धान्त छोड़ दिया गया, तबसे इन सब विज्ञानोंका कोई महत्त्व नहीं रह गया; क्योंकि भौतिक विषयोंके बारेमें भी एकताका दर्शन खण्डदृष्टि अथवा विशिष्ट दृष्टिकी अपेक्षा अत्यन्त फलदायक है। इसके अतिरिक्त इन सब विशेष विज्ञानोंकी मूलभूत एकताको ग्रहण करनेमें हम इसलिये असमर्थ हैं कि जब बहुत्वमें एकत्वका ज्ञान छोड़ दिया जाता है, तब बहुत्वके आधारपर मूलभूत एकत्वका प्रमाण मिलना असम्भव-सा हो जाता है। वास्तविक विद्याकी प्रमाण-परिपाटी इससे अत्यन्त विरुद्ध है।

प्राचीन भौतिक विद्यासे जब वर्तमान भौतिक विज्ञानकी (जिसके अन्तर्गत सभी भूत-सम्बन्धी विज्ञानोंकी गणना उचित है) तुलना की जाती है, तब तो सबसे पहले यह बात दिखायी पड़ती है कि वर्तमान विज्ञान एक-दूसरेसे सम्बन्ध न रखकर अपने-अपने विशेष क्षेत्रमें आबद्ध रहते हैं। कुछ लोगोंकी धारणा यह है कि यदि इन सब विभिन्न नूतन विज्ञानोंको एकत्र किया जा सके तो फिर प्राचीन तत्त्व विद्या उपलब्ध हो सकती है। परंतु ऐसा कभी नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येक बातमें सनातनी विद्या एवं नवीन विज्ञानकी दृष्टियाँ अत्यन्त भिन्न हैं। प्राचीन सनातनी दृष्टिमें सम्पूर्ण विद्याएँ एक आधारभूत तत्त्व-विद्याकी अंगभूता मानी जाती हैं। प्रकृतिकी विशेषताओंके अनुसार वे एक ही विद्याके विशेष प्रयोजन हैं। इस बातको माननेके लिये वर्तमान विज्ञान तैयार नहीं है। अरस्तूकी दृष्टिमें भौतिक विद्या भूतोंसे परे वेदान्तका अंग मानी जाती थी। वेदान्तका विषय परम तत्त्व है। प्रकृतिमें परम तत्त्वका प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस आभाससे प्रकृतिका वास्तविक रूप समझमें आ सकता है। यह आभास ही भौतिक विद्याका विषय है। पश्चिमी मध्यकालीन सृष्टि-नियम-मीमांसा (Cosmology) की दृष्टि यही थी।

आधुनिक विज्ञान भिन्न-भिन्न विज्ञानोंको असम्बद्ध रखनेका प्रयत्न करता है। वह इन विज्ञानोंके विषयसे जो परे है, उसको नहीं मानता या अज्ञेय कहता है। यह परतत्त्वमें अविश्वास यों तो बहुत दिनोंसे चल रहा है, परंतु थोड़े समयसे उसे एक दार्शनिक सिद्धान्तका रूप दे दिया गया है। उसे पारमार्थिक 'तत्त्वनिराकरणवाद' (Positivism) या 'अज्ञेयवाद' के नामसे वर्तमान विज्ञानका आधारभूत सिद्धान्त बनाया गया है। यह दृष्टि है तो पुरानी; परंतु उन्नीसवीं शताब्दीके पहले ऐसे लोग नहीं मिलते थे, जो अपने अज्ञानको गर्वका विषय मानते हों; क्योंकि अपनेको अज्ञेयवादी बतलाना या अज्ञानी कहना एक ही बात है। इतना ही नहीं, ये अज्ञेयवादी लोग औरोंको भी ज्ञानसे वंचित रखना चाहते हैं। यह पश्चिमी देशोंकी मानसिक अवनतिका सूत्रपात है।

विभिन्न विज्ञानोंको उनके विषयसे अतीत तत्त्वसे निरपेक्ष रखनेका वर्तमान प्रयत्न ज्ञानकी दृष्टिसे उनको

निरर्थक एवं मूल्यहीन बनानेके समान है; क्योंकि वह अत्यन्त सीमित क्षेत्रोंमें उन विज्ञानोंको बाँध रखता है।[१]

इस संकुचित क्षेत्रके भीतर जो खोज हो रही है, उसकी प्रवृत्ति अतिसूक्ष्म रहस्योंकी ओर नहीं है, जैसा बहुत लोगोंका विश्वास है। वह तत्त्वका स्पर्श नहीं करती, परंतु अपने विषयके अंग-प्रत्यंगोंको छाँटने और उन्हींके विश्लेषणके निरर्थक प्रयासमें समाप्त हो जाती है। ऐसा विज्ञान तत्त्वरहित होता है और वास्तविक ज्ञानका साधन नहीं बन सकता। यह भी कहना पड़ेगा कि पश्चिमी विज्ञानका उद्देश्य ज्ञान नहीं है। सत्यको जाननेके उद्देश्यसे उसकी खोज नहीं होती। वर्तमान विज्ञानका एकमात्र प्रयोजन अर्थ है। इसको समझनेके लिये यह देखना होगा कि पश्चिमके लोग विज्ञान एवं उद्योग-समारम्भमें कोई भी अन्तर नहीं देखते। उनके लिये यन्त्रकार वैज्ञानिकका सर्वश्रेष्ठ रूप है।

विज्ञानके इस आधुनिक रूपमें उसकी गम्भीरता चली गयी और उसकी स्थिरता भी नष्ट हो गयी; क्योंकि निर्विकार तत्त्वके सम्बन्धसे, जहाँतक उसके विषयकी सीमामें इसकी सम्भावना होती है, विज्ञानमें निर्विकारताका आभास आता है। परंतु यह न होनेसे विकाररूप संसारमें सीमित होनेके कारण विज्ञानका कोई स्थिर आधार नहीं रहता। तब कोई विषय निश्चित न होनेसे विज्ञान कल्पनामात्र हो जाता है।

इसलिये यदि कभी वर्तमान विज्ञान किसी वक्र मार्गसे ऐसे निश्चयपर पहुँचे, जो प्राचीन विद्याओंके निश्चयसे मिलता-जुलता प्रतीत हो, तो उससे प्राचीन विद्याओंकी वास्तविकता कभी प्रमाणित नहीं हो सकती; क्योंकि प्राचीन विद्याओंकी प्रमाण-परिपाटीके सामने आधुनिक प्रमाण-प्रणालीका कोई मूल्य नहीं है। जब ये दोनों दृष्टियाँ परस्परविरुद्ध हैं, तब उनका समन्वय करनेका प्रयत्न व्यर्थ है। आधुनिक विज्ञानकी प्रमाण-प्रणाली काल्पनिक एवं अयुक्तिसंगत है। कुछ ही वर्षोंके बाद इस विज्ञानद्वारा सिद्ध प्रत्येक सिद्धान्तको छोड़ना ही पड़ता है।[२] वर्तमान विज्ञान कल्पनाके ऊपर कल्पना करता हुआ चलता है, परम्परासे आयी हुई प्राचीन विद्याएँ ऐसी नहीं थीं; क्योंकि वे प्रमाणित किये हुए सूक्ष्म सिद्धान्तोंके परिणामोंका ही रूपान्तर थीं।[३]

क्लॉड बर्नर्ड (Claude Bernard)-जैसे अनुभव-सिद्ध विज्ञानोंके उपपादकोंको मानना पड़ा कि प्राकृत विषयोंको समझनेके लिये पूर्वकल्पनाकी आवश्यकता होती है। जड वस्तुओंके अनुभवसे कोई भी सिद्धान्त अपने-आप सिद्ध नहीं हो सकता और विज्ञानका उनसे कोई काम नहीं बन सकता।

अनुभव-वादके प्रसंगमें यह प्रश्न करना अनुचित न होगा कि वर्तमान संस्कृतिमें इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष अनुभवपर चलनेवाले विज्ञानोंका क्यों इतना विस्तृत विकास होने लगा, जैसा पहले कभी दृष्टिगोचर नहीं हुआ था। इसका उत्तर यह है कि आधुनिक विज्ञान इन्द्रियगत दृश्य संसारका विज्ञान है, स्थूलका विज्ञान है, जिसके प्रयोगसे यन्त्र आदिके लाभ प्राप्त हो सकते हैं। इस विज्ञानके विकासके साथ ही स्थूल प्रत्यक्ष वस्तुओंमें अन्धविश्वास होने लगा है। यह वर्तमान संस्कृतिकी प्रधान विशेषता है। दूसरे युगोंमें विषयोंके प्रति इतना लोभ नहीं था, जिससे उन्नत विद्याओंको छोड़कर लोग स्थूल विज्ञानोंके पीछे दौड़ते। हमारे कहनेका यह अर्थ नहीं कि अमुक ज्ञान स्वरूपतः अच्छा नहीं या त्याज्य है; परंतु जब मनुष्यका पूरा जीवन अप्रधानकी खोजमें लग जाता है, जैसा आजकल दिखायी दे रहा है, तब उससे अवश्य हानि होती है।

यह कल्पना की जा सकती है कि किसी संस्कृतिमें सनातनी सिद्धान्तोंसे अन्य विद्याओंकी भाँति अनुभवसिद्ध विज्ञानोंका भी सम्बन्ध हो सकता है। इससे उन विज्ञानोंका

१. पाठकोंको विदित होगा कि सामाजिक क्षेत्रमें भी एक ऐसा प्रश्न आया था; तबसे वर्तमान संशोधकलोग भौतिक एवं धार्मिक क्षेत्रोंको परस्पर असम्बद्ध मानने लगे। अवश्य ही यह मानना पड़ेगा कि दोनों विषय भिन्न हैं एवं उनका क्षेत्र भी भिन्न है, जैसे वेदान्त एवं विज्ञानके क्षेत्र भिन्न हैं। परंतु उन्हें परस्पर असम्बद्ध मानना व्यवच्छेद-दृष्टिवाले मनकी भ्रान्त धारणाका परिणाम है; क्योंकि भिन्न होना एवं असम्बद्ध होना एक बात नहीं है। इससे परिणाम यह निकलता है कि जब लौकिक शासन धर्मसे अलग हो जाता है, तब न्याय-विरुद्ध एवं अधिकारहीन हो जाता है। यही बात मानसिक क्षेत्रमें विज्ञानके सम्बन्धमें कही जा सकती है।

२. धर्मके विषयमें यही प्रश्न सामने आ रहा है। नित्य बदलनेवाले विज्ञानके प्रमाणित सिद्धान्तोंसे धर्मके सिद्धान्तको मिलानेका प्रयत्न चालू है। यह व्यर्थ परिश्रम है, जिसका कभी अन्त नहीं होता। इससे लाभकी अपेक्षा हानिकी ही अधिक सम्भावना है; क्योंकि निश्चयरहित निरन्तर विकारशील विज्ञानका निर्विकार एवं प्रमाणकी कसौटीपर कसे हुए धार्मिक सिद्धान्तोंके साथ मेल नहीं हो सकता।

इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। एक अति स्पष्ट है; वह है हिंदू-दर्शनोंमें एवं वर्तमान विज्ञानमें आकाशविषयक भावना।

३. आजकलकी प्रायोगिक विज्ञान-पद्धतिमें यह एक विचित्र भ्रम समाया हुआ है कि किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्तको अनुभूत तथ्योंके आधारपर सिद्ध किया जा सकता है; परंतु यथार्थमें इन अनुभूतियोंकी ही सिद्धि अनेक भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंके द्वारा की जा सकती है।

बौद्धिक मूल्य भी होता है। वास्तवमें यदि ऐसा नहीं हुआ तो इसका कारण यह है कि मनुष्य-जातिकी मन:प्रवृत्ति दूसरी ओर रही है। बात भी यह है कि अन्य युगोंमें जब स्थूल संसारका अन्वेषण करनेकी आवश्यकता होती थी, इन्द्रियानुभवकी अपेक्षा अन्य उपायोंद्वारा उसकी खोज करनेमें अधिक सुविधा होती थी।

हम कह रहे थे कि इस युगकी एक विशेषता यह है कि विज्ञानके उन रूपोंको, जो अन्य युगोंमें गौण समझकर छोड़ दिये गये थे, आज अवकाश मिला है। यह अनिवार्य था; क्योंकि युगका चक्र पूर्ण होनेके पहले उन गौण विषयोंको भी अवकाश मिलना चाहिये। उनकी बीजरूपमें स्थिति होनेसे उन्हें कभी-न-कभी प्रकट होनेका अवकाश मिलना अनिवार्य था। पिछली एक-दो शताब्दियोंमें इन्द्रियानुभवसिद्ध विज्ञानोंकी उत्पत्ति देखनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। कुछ ऐसे वर्तमान विज्ञानरूप भी हैं, जो प्राचीन विद्याओंके अवशिष्ट अंशमात्र हैं। उन विद्याओंके स्थूलतम अंश ह्रासके कालमें अन्य अंशोंसे अलग हो गये। ये स्थूल अंश युगकी प्रवृत्तिके अनुसार नवीन विज्ञानका आधार बन गये; परंतु इसका परिणाम यह हुआ कि नवीन विज्ञान अपने आधारभूत प्राचीन विद्यासे बिलकुल अलग हो गया। इसलिये यह कथन कि वर्तमान ग्रह-तारक-विज्ञान एवं रसायन-विज्ञान (Astronomy and Chemistry) प्राचीन ज्यौतिष एवं रसशास्त्रसे निकले हैं, अयथार्थ है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक दृष्टिसे वर्तमान ग्रह-विज्ञान प्राचीन ज्यौतिषके बाद आता है और उससे सम्बद्ध है; परंतु यह सम्बन्ध विकास, प्रगति आदिके रूपमें नहीं है, जैसा कि लोग कहते हैं; बल्कि यह उसका ह्रास है, उसकी अवनत दशा है। आगे इस बातको कुछ और स्पष्ट करना आवश्यक मालूम होता है।

पहले यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि 'फलित ज्यौतिष' (Astrology) और 'गणित ज्यौतिष' (Astronomy) ये दोनों शब्द भिन्न-भिन्न अर्थोंके वाचक हालमें ही हुए हैं, पहले नहीं थे। प्राचीन यूनानमें दोनों शब्द अभिन्नरूपसे उस सम्पूर्ण शास्त्रके लिये प्रयुक्त होते थे, जिसके ये दोनों अंग हैं। आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति विषयविशेषकी विशेषज्ञताके लिये एक ही विषयके विभिन्न विभाग कर दिया करते हैं। उसीका यह भी एक उदाहरण है कि मूलत: एक ही शास्त्रके जो दो अंग थे, उन्हें इसने दो अलग-अलग विज्ञान बना दिया। इसमें भी फिर यह विशेष बात हुई कि एक अंग अर्थात् वह अंग जो इस शास्त्रका स्थूल गणितरूप था, उसकी तो स्वच्छन्दताके साथ वृद्धि हुई; पर दूसरा फलित ज्यौतिषरूप इसका अंग सर्वथा नष्ट हो गया। यह नाश पश्चिमी देशोंमें यहाँतक हुआ कि प्राचीन फलित ज्यौतिष क्या रहा होगा, यह अब वहाँ कोई भी नहीं जानता और जिन्होंने उसे फिरसे निर्माण करनेका प्रयत्न भी किया, उनके उस प्रयत्नके फलसे उसका केवल एक विकृत रूप ही सामने आया। कुछ लोगोंने विभिन्न ग्रहस्थितियोंके फलोंका लेखा रखकर तथा उससे अमुक ग्रहोंके अमुक फल होनेका अनुमानकर फलित ज्यौतिषको नवीन प्रायोगिक विज्ञानके रूपमें ढालना चाहा। इनकी यह विचारपद्धति ऐसी थी, जो प्राचीन अथवा मध्ययुगीन लोगोंकी तो कदापि नहीं हो सकती थी। कुछ दूसरे लोग भविष्यकथनके एक ऐसे प्रकारके उद्धारमें लगे, जो प्रकार पहलेका होनेपर भी फलित ज्यौतिषका ह्रास हो चुकनेके बादका उसीका एक विपर्यास था, जिसे हम अधिक-से-अधिक फलित ज्यौतिषका एक निकृष्ट प्रकार कह सकते हैं। इसका कोई महत्त्व नहीं माना जा सकता। पूर्वीय देशोंमें वह आज भी देख पड़ता है।

रसायनविज्ञानकी बात और भी स्पष्ट और विलक्षण है। प्राचीन रसविज्ञानके बारेमें आधुनिकोंका अज्ञान फलित ज्यौतिष-सम्बन्धी अज्ञानसे किसी प्रकार कम नहीं है। वास्तविक रसविज्ञान यथार्थमें विश्वब्रह्माण्डकी रचनाका ही विज्ञान है और पिण्ड-ब्रह्माण्डके समानधर्मी होनेके नाते यह मनुष्यपर भी प्रयुक्त है। इसके अतिरिक्त इस विज्ञानका निर्माण यह उद्देश्य सामने रखकर किया गया कि भौतिक क्षेत्रमें होनेवाला इसका उपयोग पीछे आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी किया जा सके। इसीसे इसका लक्ष्यार्थसूचक विशेष महत्त्व है और इस विज्ञानका इतना गौरव है। परम्परागत विज्ञानोंमें एक विशिष्ट और पूर्ण विज्ञानके तौरपर इसकी गणना होती है। आधुनिक रसायनविज्ञान इस प्राचीन रसविज्ञानसे नहीं उत्पन्न हुआ है, न इसके साथ उसका कोई मेल ही है। मध्यकालमें कुछ ऐसे रासायनिक हुए, जो इस विज्ञानका लक्ष्य और अर्थ भूलकर और प्रत्येक रसक्रियाका स्थूल अर्थ लेकर निरर्थक प्रयोग करनेमें लग गये। वास्तविक रसविज्ञोंने उन्हींको 'धौंकनी धौंकनेवाले' (blowers) और 'कोयला फूँकनेवाले' (charcoal burners) कहकर उनपर कटाक्ष

किया है। ये धौंकनी धौंकनेवाले और कोयला फूँकनेवाले ही वर्तमान रसायनिकोंके पूर्वाचार्य हैं। इस तरहसे वर्तमान विज्ञान प्राचीन विद्याके उच्छिष्ट—अज्ञानियों एवं अनधिकारियोंके लिये परित्यक्त जूठनसे प्रादुर्भूत हुआ।

प्राचीन रस-विद्याके पुनः स्थापन करनेवाले आजकल भी कुछ लोग मिलते हैं, जिनकी दृष्टि अत्यन्त भ्रष्ट है। उनकी खोजका फल प्राचीन रस-विद्यासे उतना ही दूर रहता है, जितना नवीन ज्यौतिष प्राचीन ज्यौतिष-शास्त्रसे भिन्न है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि वर्तमान पश्चिमी संसारमें सनातनी विद्याओंका लोप हो चुका है।

अनेक विद्याओंके क्षेत्रमें ऐसे ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। सबमें विद्याका ह्रास दृष्टिगोचर होगा। इसी तरहसे वर्तमान मानस-विज्ञान, जो कि मनकी गति-विधिका अध्ययन है, अंग्रेजी अनुभवैकप्रामाण्यवाद एवं १८वीं शताब्दीकी मनःप्रवृत्तिका फल है। यह दृष्टि प्राचीन विद्वानोंके लिये इतनी नगण्य थी कि कभी उसका विचार करनेका प्रसंग आनेपर भी उससे कोई विशेष विज्ञान निर्माण करनेकी बात कोई नहीं सोच सकता था; क्योंकि इसमें जो कुछ भी उपयुक्त हो सकता है, वह उससे अति उच्च विद्याओंमें शुद्ध एवं उन्नतरूपमें मिलता है।

वर्तमान गणित-विज्ञान भी प्राचीन पिथागोरसके गणितकी बाहरी छालके सिवा और कुछ नहीं है। संख्याका महत्त्व एवं अर्थ आधुनिक लोगोंकी समझके बाहर है। यहाँ भी विद्याके उच्च सिद्धान्तोंका लोप हो जानेसे उसका प्रयोगमात्र रह गया है। जो बात ज्यौतिषके बारेमें हुई, वही यहाँ भी घटित हुई। वही बात एक-दूसरेके बाद सभी विज्ञानोंके विषयमें देखी जा सकती है। इससे स्पष्ट हो जायगा कि यह दृष्टि-परिवर्तन, जिससे वर्तमान विज्ञानकी उत्पत्ति हुई, बुद्धिको उन्नतिकी ओर न ले जाकर ह्रासकी ओर ले जाता है।

सनातनी दृष्टिसे किसी विद्याका मूल्य स्वरूपतः उतना नहीं है, जितना ब्रह्मविद्याका अंश होनेके नाते है।[१] विज्ञान अपने क्षेत्रमें अवश्य उपयोगी है, जबतक वह अपने स्थानमें स्थित रहता है। यह सुगमतासे समझमें आ सकता है कि जो कोई व्यक्ति ज्ञानकी उच्च भूमिकापर पहुँच चुका है, उसके लिये निम्नश्रेणीके साधारण विज्ञानोंका विशेष मूल्य नहीं रहता। यह भी कहा जा सकता है कि वास्तविक विद्या अर्थात् ब्रह्मविद्याके इच्छुक व्यक्तिके लिये विज्ञानोंका मूल्य वहींतक है, जहाँतक उनका ब्रह्मविद्यासे सम्बन्ध है अर्थात् जबतक वे अपने-अपने क्षेत्रमें तत्त्वदृष्टि रखते हैं एवं जिज्ञासुओंके लिये ब्रह्म-विद्याकी प्राप्तिका मार्ग बन सकते हैं। क्योंकि अनित्य, अस्थिर फलके लिये शाश्वत एवं सर्वव्यापक विद्याको छोड़ना मूर्खतामात्र है।

सनातनी विद्याओंके दो परस्पर सहकारी कार्य हैं, प्रथम तो तत्त्वविद्याके अंश एवं विशेष अंग होनेसे संसारके समस्त क्षेत्रोंकी आधारभूत एकता इनके द्वारा प्रकट होती है। दूसरा कार्य यह है कि विशेष व्यक्तियोंके लिये उनकी मानसिक शक्ति एवं अधिकार, समय, स्थान आदिके अनुसार ये विद्याएँ ब्रह्मविद्याकी ओर ले जानेवाले मार्ग बन सकती हैं। वे ऐसी सीढ़ियोंका काम देती हैं, जिनके द्वारा बुद्धि क्रमशः जड संसारको छोड़कर ब्रह्मविद्याकी ओर अग्रसर हो सकती है।[२]

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि विद्याके प्रयोजनविषयक उक्त दोनों दृष्टियोंसे वर्तमान विज्ञान व्यर्थ हैं। वे जड विज्ञानमात्र हैं; परंतु प्राचीन विद्याएँ तत्त्वदृष्टि रखनेके कारण सनातनी सिद्धान्तका अंग मानी जाती हैं।

विद्याओंके इन दोनों मुख्य प्रयोजनोंमें कोई परस्पर विरोध नहीं है, यद्यपि स्थूल दृष्टिसे वैसी कल्पना की जा सकती है। इसपर भी कुछ और विचारकी आवश्यकता है। कहा जा सकता है कि यहाँ दो दृष्टियाँ हैं—एक अधोगामिनी, दूसरी ऊर्ध्वगामिनी। पहलेवाली दृष्टिमें तत्त्वसे निर्गत विद्याका पर्यवसान प्राकृत प्रयोजनोंमें होता है (अर्थात् उसकी गति केन्द्रसे परिधिकी ओर होती है); दूसरे क्रममें जड विषयोंसे ज्ञानप्रधान विद्याकी

१- इसलिये प्राचीन प्रधान विज्ञानोंका नाम 'उपवेद' रखा गया, जिससे स्पष्ट होता है कि वेदमूलक होनेसे ही उनका मूल्य है, न कि स्वतन्त्र होनेसे।

२- हम अपने 'दाँतेकी रहस्यविद्या' (Esoterismot Dante) नामक ग्रन्थमें उपर्युक्त सीढ़ियोंके रहस्यमय गूढ़ार्थके विषयमें लिख चुके हैं। प्रत्येक परम्परामें सीढ़ियाँ प्रतीकके रूपमें प्रकट होती हैं। कहींपर एक-एक विद्या एक-एक सीढ़ी मानी जाती है, कहीं जड स्थितिसे मोक्षपर्यन्त प्रत्येक भूमिका सीढ़ीके प्रतीकरूपमें दिखायी देती है। इससे भी स्पष्ट है कि इन विद्याओंको लोग आजकलके मनुष्योंकी भाँति जड न मानकर तत्त्वविद्याकी ओर ले जानेवाली सीढ़ियाँ मानते थे।

ओर प्रवृत्ति होती है अर्थात् परिधिसे केन्द्रकी ओर गति होती है। यहाँ विद्या जडसे चेतनकी ओर प्रवृत्त होनी चाहिये या चेतनसे जडकी ओर—इस प्रश्नकी चर्चा नहीं और इस प्रश्नकी ही चर्चा है कि विद्याका आधार तत्त्वज्ञान होना चाहिये या इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान; क्योंकि ऐसा प्रश्न केवल लौकिक दृष्टिसे हो सकता है, जैसा कि प्राचीन यूनानके दार्शनिकोंने किया था। सनातनी विद्याकी दृष्टिसे ऐसे प्रश्नकी सम्भावना नहीं है; क्योंकि धार्मिक विद्या सर्वव्यापक सिद्धान्तोंके आधारपर स्थित रहती है। इसके अतिरिक्त धार्मिक विद्याके मुख्य प्रमाण आत्मप्रत्यक्ष हैं, जो अन्य ज्ञान-साधनोंकी अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट एवं शंकारहित हैं एवं मन-बुद्धि आदि साधनोंसे सीमित नहीं हैं।

सनातन-सिद्धान्तानुकूल वास्तविक विद्याएँ उन ऋषियोंद्वारा प्रादुर्भूत हुई हैं, जिनको तत्त्वका पूर्ण ज्ञान हो चुका था; क्योंकि उनको छोड़कर कोई भी दूसरा व्यक्ति सनातनी सिद्धान्तके अनुसार देश और कालकी आवश्यकता समझकर इन विद्याओंके स्वरूपमें परिवर्तन नहीं कर सकता था।

जब विद्याके किसी रूपकी स्थापना ऊपरसे नीचेके क्रमसे हुई हो, तब उसकी शिक्षा नीचेसे ऊपरके क्रमसे हो सकती है। इस प्रकार अनेक विद्याएँ एक तत्त्वके दर्शनमें दृष्टान्तरूप बनती हैं, जिनकी सहायतासे विविध प्रकारकी बुद्धियोंको तत्त्वदर्शन करनेमें सुविधा हो। बहुविध प्रकृतिके वशमें रहते हुए जीवकी बुद्धि बहुत्वमें लीन रहती है। इसलिये उसको एकत्वकी ओर ले जानेके लिये बहुविध रूपोंकी सहायता लेनी पड़ती है। सर्वोच्च ज्ञानके मार्गोंकी प्रारम्भिक भूमिकाएँ अनेक प्रकारकी हैं; परंतु जीव लक्ष्यके जितना समीप पहुँचता है, विभिन्न मार्ग उतने ही अधिक एक-दूसरेमें लीन होते जाते हैं। यह कहना भी ठीक है कि इन निम्न भूमिकाओंकी आत्यन्तिक आवश्यकता नहीं है; परंतु साधनरूपमें जीवको उनसे बहुत सहायता मिलती है। फिर भी साधन एवं लक्ष्यमें कोई समानता नहीं होती। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जिनमें भक्तिकी प्रधानता होनेके कारण ऐसे साधनोंकी आवश्यकता नहीं होती, उनको बिना प्रयत्नके ही तत्त्वदर्शनका सौभाग्य मिल जाता है; परंतु यह असाधारण बात है, साधारण जीवोंको क्रमशः उन्नत व्यवस्थाकी ओर चलना पड़ता है। इसको समझनेके लिये संसार-चक्रका दृष्टान्त भी दिया जा सकता है। केन्द्रके बिना परिधिका कोई अस्तित्त्व नहीं है। फिर भी परिधिपर स्थिति व्यक्तियोंको केन्द्रकी ओर जानेके लिये अपने-अपने स्थानसे भिन्न-भिन्न अरोंके मार्गोंका अनुसरण करना पड़ता है।

सभी वस्तुओंकी तात्त्विक एकताके कारण जड वस्तु भी तत्त्वकी प्रतिमा एवं तत्त्वदर्शनका आधार बन सकती है।[1] यही बात प्रत्येक विद्याके विषयमें सत्य है। कोई भी विद्या आत्मविद्याकी प्रतिमा बन सकती है। यही सनातनी विद्याओंका मुख्य अर्थ एवं प्रयोजन है।

कोई भी विज्ञान, उसका विषय चाहे कैसा ही हो, आत्मविद्याकी प्रतिमा बन सकता है, यदि उसका प्राकट्य सनातनी सिद्धान्तके अनुसार हुआ है। फिर भी विषयोंके तारतम्यसे विज्ञानोंमें भी तारतम्य होना अनिवार्य है। परंतु उनमें भूमिकाका भेद होनेपर भी सनातनी दृष्टिसे उनका प्रयोजन एवं विशेषताएँ एक ही रहती हैं। यह बात कलाओंके विषयमें भी सत्य है, क्योंकि कला प्रतीकोंका आधार है एवं ध्यान आदिका आश्रय प्रतीक होता है। कलाओंके नियम आदि अन्य विद्याओंके नियमोंकी भाँति प्रकृतिके आधारभूत धर्मके आभास हैं। इस प्रकार सनातनी विद्याओंके साथ-साथ सनातनी कलाएँ भी हैं, जिनका आधुनिक पाश्चात्त्योंको कोई ज्ञान नहीं है।[2]

कोई भी लौकिक क्षेत्र ऐसा नहीं है, जो धर्मके क्षेत्रसे पृथक् हो सके, जैसा कि आधुनिक लोग मानते हैं। फिर भी एक लौकिक दृष्टि अवश्य ऐसी है, जो अज्ञानकी दृष्टिसे भिन्न नहीं है।[3] इसलिये वर्तमान विज्ञानको 'अज्ञानरूप ज्ञान' कहा जा सकता है। वह जड ज्ञानरूप है और जड संसारसे अतीत सूक्ष्म लोकोंसे किसी प्रकार भी परिचित नहीं है। यह एक ऐसा विचित्र ज्ञान है, जो अपनी सीमासे परे रहनेवाली वस्तुओंके अस्तित्वतक-

१-इस प्रकार ज्यौतिषका भी अनेक सम्प्रदायोंने उपयोग किया है। इससे प्राचीन ज्यौतिषकी महत्ता समझी जा सकती है।

२-मध्यकालीन शिल्प-कला सनातनी कलाओंका एक अनुपम नमूना है; क्योंकि इस कलामें प्रत्येक शिल्प सम्बन्धी विद्याका उत्तम ज्ञान स्पष्ट है।

३-इसको समझनेके लिये 'जगत्सृष्टि-मीमांसा' जैसे शास्त्रीय विज्ञानोंपर आधुनिक विद्वानोंका विचार देखना चाहिये। जगत्सृष्टि-मीमांसा बाइबल आदि सभी सम्प्रदायोंके सार-ग्रन्थोंका एक प्रधान अंश है। इसपर जो वर्तमान विचार होते हैं, उनका प्राचीन विचारोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। विषय एक होनेपर भी दृष्टिमें कोई साम्य नहीं होता।

को नहीं मानता, किसी भी आधारभूत तत्त्वको नहीं जानता एवं अपने उद्देश्यको छोड़कर कोई दूसरा लक्ष्य नहीं देख सकता, जिसके आधारपर उसे पूर्ण ज्ञानके अंशरूपमें निम्न-से-निम्न स्थान भी दिया जा सके। परंतु आत्मविद्या एवं परम सत्यसे उसका कोई सम्बन्ध न होनेके कारण वह विज्ञान निरर्थक एवं भ्रान्त प्रत्ययके अतिरिक्त कुछ नहीं; वह न कहींसे आता है न कहीं जाता है। इन्द्रियानुभूतिकी जड सीमाओंसे घिरा हुआ यह नव विज्ञान अपनेको स्वतन्त्र मानता है।

उपर्युक्त विवेचनसे आधुनिक विज्ञानकी त्रुटियाँ विदिति हो जायँगी। वह विज्ञान, जिसपर वर्तमान संसार इतना गर्व करता है; वास्तविक विज्ञानका—जो आत्मविद्या या सनातनी विद्यासे भिन्न नहीं है—एक उच्छिष्ट भ्रमपूर्ण अंशमात्र है। वर्तमान विज्ञान ज्ञानको अधम जड वस्तुओंके अध्ययनमें आबद्ध करके निरर्थक एवं बुद्धिहीन बन गया। आधुनिक तर्कप्रधानवादी (Rationalists) भ्रमसे बुद्धि एवं तर्कशक्तिको एक मानते हैं, आत्मज्ञानकी सम्भावना नहीं मानते। इस भ्रमका एवं वर्तमान कालकी अन्य भ्रमपूर्ण दृष्टियोंका मुख्य कारण अहंकार है। यह अहंकार सनातन धर्म-विरुद्ध दृष्टिका नामान्तर है। यही इस युगके विप्लव, संभ्रम आदिका प्रधान कारण है।

नया संसार

(रचयिता—श्रीजयनारायणजी मल्लिक, एम०ए०, डिप० एड०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)

एक नया संसार, बसा ले एक नया संसार।

१

जहाँ प्रेमका अटल राज्य है, कलुषित स्वार्थ-सिंधुके पार।
जहाँ न है मानव-जीवनमें दारुण मूक व्यथाका भार।
मानवताके स्वच्छ गगनमें, जहाँ न तृष्णाका विस्तार।
तिमिरमयी रजनीमें आँखें जिसे खोजतीं बारंबार।
पशुताके भग्नावशेषपर मानवताका कुसुम खिला।
मणि-मंडपकी स्वर्ण-रश्मिमें जीवनका वरदान मिला।
दानवताका, काम-क्रोधका, जहाँ न हिंसाका चीत्कार।
जहाँ न होती अन्तस्तलमें माया-वीणाकी झंकार।
जहाँ त्यागका क्रीड़ास्थल है, स्वार्थ-हीन सेवा-संचार,
वहीं बना ले मधुमय, सुन्दर, एक नया सुरभित संसार॥

२

मानवताकी पुण्य-भूमिमें कर्मयोगका है आधार।
सत्य, अहिंसा, न्याय, दयाका संयम, सदाचार आगार।
भगवत्सेवा-शरणागतिका सद्यःविकसित मधुमय हार।
ज्ञानयोगकी मधुर रश्मिमें वासुदेवका रूप अपार।
श्रीभागवत-धर्मकी धारा जहाँ मनोरम लहराती।
दिव्य विशिष्टाद्वैत-पताका विश्व-गगनमें फहराती।
भक्ति-प्रपत्ति-स्वर्ण-मंदिरमें निष्कलंक निर्मल आचार।
अहंकार, पाषंड, वासना, कलुषित प्रेम जहाँ निःसार।
श्रीमन्नारायण-करुणाका जहाँ न कुछ भी पारावार,
मन-मोहनके निकट बना ले एक नया सुन्दर संसार॥

हिंदूधर्मके आधार-स्तम्भ

(लेखक—श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी, एम०ए०, काव्यतीर्थ)

संसारमें हिंदूधर्मके अतिरिक्त जितने भी इतर धर्म हैं, वे किसी-न-किसी समय किसी-न-किसी मनुष्यके द्वारा प्रवर्तित हुए हैं और उनमें ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जिनको माननेसे ही मनुष्य उनके अनुयायी कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ ख्रिष्ट तथा मुसलमान धर्मोंको लीजिये। ईसामसीहके द्वारा प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व ख्रिष्टधर्मका प्रवर्तन हुआ था, तथा साढ़े तेरह सौ वर्ष पूर्व मुहम्मदसाहबके द्वारा मुसलमान-धर्मका प्रवर्तन हुआ था। ईसाइयोंका विश्वास है कि ईसामसीहमें विश्वास करनेवाले मानवमात्रके सारे पापोंको उन्होंने पहले ही भस्मसात् कर दिया है, एवं मुसलमानोंकी धारणा है कि मुस्लिम-धर्ममें विश्वास नहीं करनेवाले सारे मानव काफिर (धर्महीन) हैं, और उनके लिये दोज़ख (नरक) में स्थान निश्चित है। ईसाइयोंके लिये गिरजाघरमें और मुसलमानोंके लिये मस्जिदमें जाकर अमुकामुक समयमें प्रार्थना करना, शिखा नहीं रखना आदि बाह्य पद्धतिका अनुसरण करना पक्के तत्तद्धर्मावलम्बियोंके लिये अनिवार्य है। हिंदू (आर्यसनातन)- धर्म इन सारी मनुष्यकृत पद्धतियोंसे मुक्त है।

यह प्राकृतिक धर्म है, बनावटी नहीं। यह सब देश और सब कालके लिये है, यह मनुष्यमात्रके लिये है। इसी नैसर्गिकताके कारण आजकल हिंदू-धर्म, हिंदू-संस्कृति और हिंदू-सभ्यताका सर्वथा विनाश नहीं हुआ है; जबतक प्रकृति है, जबतक सृष्टि-चक्र चल रहा है, तबतक यह चलता रहेगा। अस्तु,

धर्म किसे कहते हैं, धर्मका प्रयोजन क्या है? विज्ञ पाठक पूछ सकते हैं कि हिंदू-धर्मको विशिष्ट लक्षणोंसे रहित प्राकृतिक मान लेनेपर तो हिंदू-धर्म विशाल जंगल-सा हो जाता है—जिसमें न किसी दिशाका और न किसी सीमाका पता चलता है। उत्तरमें निवेदन है कि हिंदू-धर्म विशाल जंगल तो है; पर इस जंगलमें प्रत्येक पौधेका हिसाब है, उसका परिचय है और उसका अलग-अलग उपयोग है। इसमें एक भी छोटे-से-छोटा पौधा नगण्य और निष्प्रयोजन नहीं है, इस जंगलके मालीकी—हिंदू-धर्मके तत्त्ववेत्ता आचार्योंकी पैनी दृष्टि जंगलके प्रत्येक पौधेके पत्ते-पत्तेपर जा चुकी है और उसका सुन्दर-से-सुन्दर उपयोग उन्होंने किया है एवं विश्वनियन्ताकी इच्छाका अनुसरण करनेका मार्ग इस सनातन धर्मके अनुयायियोंको समय-समयपर बतलाया है। धर्मका अर्थ है '**धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।**' एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यके साथ ऐसा बर्ताव, जिससे सबका कल्याण हो, जिससे समाजके रूपमें सामूहिक जीवन-निर्वाहका क्रम चल सके और सृष्टिका प्रवाह ईश्वरेच्छानुसार चल सके,—उसे धर्म कहते हैं। इस सनातन धर्मके प्रवाहको अबाध रूपसे चलानेके लिये ईश्वरकृत वेदोंसे लेकर हिंदू-धर्मके पारदर्शी तत्त्ववेत्ता आचार्योंने समय-समयपर जो शास्त्र रचे हैं, वे मनुष्यमात्रके लिये परम कल्याणके साधन हैं, निर्भ्रान्त तथा निरपेक्ष हैं। उन्हें स्वार्थी ब्राह्मणोंकी कपोल-कल्पित पोपलीलाएँ बतलानेवाले आधुनिक क्षुद्रदृष्टि पण्डितमानी अपना एवं दूसरोंका अहित कर रहे हैं—यह निर्विवाद सत्य एकाधिक बार स्पष्ट हो चुका है। ऐसे विश्वहितकारी सनातन धर्मके मुख्य स्तम्भोंपर विज्ञ पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करना इस निबन्धका लक्ष्य है।

सनातन हिंदू-धर्मका प्रथम स्तम्भ है—वर्णाश्रम-धर्म। वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम-व्यवस्थाके द्वारा आचार्योंने मनुष्य-मात्रके ऐहिक तथा पारलौकिक कृत्योंकी पूर्तिका सुलभ साधन सम्पादित किया था। निर्धारित सीमाके भीतर निर्धारित कौलिक पुरुषार्थोंके द्वारा जीविकोपार्जन करना तथा तत्तत् कलाओंके सूक्ष्म अनुसन्धानोंके द्वारा समाजका हित सम्पादन करना वर्ण-व्यवस्थाका उद्देश्य था। ब्राह्मणोंका धर्म था सर्वविध ज्ञानोंको उपार्जन करके अनासक्त जीवन-निर्वाहके साथ-साथ समाजमें विशुद्ध ज्ञानका प्रसार करना तथा यज्ञादि धार्मिक कृत्योंके सम्पादनमें अधिकारानुसार सब मनुष्योंकी सहायता करना। ऐसे ब्राह्मणोंके भरण-पोषणका दायित्व समाजपर था, कृषि तथा गोरक्षाके अधिकारी वैश्योंपर था। दुःखपर्यवसायी तुच्छ इन्द्रिय-सुखोंकी ओर दुर्लक्ष्य करके तपोमय, अध्यात्मचिन्तनशील जीवन व्यतीत करते हुए त्यागी और सदाचारी ब्राह्मणलोग समाजमें कथा-प्रवचनके द्वारा सदाचारका प्रचार सदा करते रहते थे। द्रव्योपार्जनार्थ वे

कभी सन्मार्गका त्याग नहीं करते थे और न आजकी भाँति द्रव्य ग्रहण करके भृतकाध्यापन करते थे। मानसे दूर रहते थे। तभी तो राजालोग उनकी अँगुलियोंके इशारेपर नाचते थे और सारा समाज उनके पैरपर नतमस्तक रहता था। यह हिंदू-धर्म और हिंदू-समाजकी उत्कृष्टताकी पराकाष्ठा थी। समयकी गतिसे आज ब्राह्मणोंमें वह तेज और अनासक्तिमय जीवन नहीं रह गया है और उनमेंसे अधिकांश तमोऽभिभूत होकर, देहात्मवादी होकर ऐहिक सुख-साधनमें संलग्न हो रहे हैं। फिर भी इस विकराल कलिकालमें भी लोकमान्य तिलक, महामना श्रीमालवीयजी, पण्डित मोतीलालजी-सरीखे त्यागी विद्वान् कर्मयोगी ब्राह्मण हो चुके हैं। ब्राह्मणेतर वर्णोंमें भी विवेकानन्द-जैसे ब्रह्मज्ञानी, अरविन्द-जैसे योगी और गान्धी-जैसे अनासक्त कर्मठ आत्मज्ञानी पुरुष हुए हैं और हैं। इससे हमें आशा करनी चाहिये कि आर्योंके जिस अक्षय-ज्ञान-भण्डार उपनिषद् तथा दर्शनशास्त्रोंसे प्रकाश प्राप्त करके भारतके इन सपूतोंने अवनतिके इस युगमें भी अपने देश और धर्मके ध्वजको दूर-दूर विदेशोंमें भी ऊँचा किया, वह ज्ञाननिधि जबतक हमारे पास है, हम किसी क्षण अपने पूर्वगौरवको प्राप्त कर सकते हैं। अस्तु,

क्षत्रियोंका काम था सैनिक तथा उपसैनिक (पुलिस) के रूपमें बाह्य तथा आन्तरिक शत्रुओंसे देश और समाजकी रक्षा करना। न्यायकी तुलापर अपने विचारको तौलकर सर्वथा निःस्पृह होकर वे सैनिक रक्षाका काम करते थे। आजकी पुलिसकी तरह वे पापमें डूबे नहीं थे। उन्हें लोभ छूतक नहीं गया था। दुर्बलों और सताये हुए व्यक्तियोंकी रक्षा करनेमें संसारका कोई भी प्रलोभन उन्हें विमुख नहीं कर सकता था। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनको दिया हुआ निष्काम कर्मका सदुपदेश प्रत्येक क्षत्रिय सैनिकके लिये मार्ग-दर्शक था। क्षणभंगुर शरीरको सदा कर्तव्यकी वेदीपर वे अर्पित किये हुए रहते थे। आजकी भाँति वे द्रव्यार्थ सेनामें भर्ती नहीं होते थे। सेनामें ही अथवा घरमें क्षत्रियमात्रको सैनिक शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी और देशपर संकट आनेपर वे युद्धके मैदानमें आ खड़े होते थे। सम्मुख समरमें वीरगतिको प्राप्त करना क्षात्र-जीवनका परम लक्ष्य था। स्वतन्त्र, भारतमें ऐसे देशरक्षकोंका पुनः आविर्भाव हो सकता है।

उत्तमोत्तम ढंगसे खेती करके प्रचुर अन्न उपजाकर और गोपालनके द्वारा प्रचुर दूध उत्पन्न करके समाजको अन्न तथा दूधसे सुपुष्ट करना वैश्योंका काम था। आजके अव्यवस्थित समाजमें जीविकाविहीन असंख्य मनुष्य आँख मूँदकर खेतीकी ओर दौड़ पड़े हैं। भूमिकी व्यवस्था भी नष्ट हो गयी है। जमीनके असंख्य टुकड़े हो गये हैं। यह देश जितना ही नद्यम्बुजीवी था, उतना ही वृष्ट्यम्बुजीवी। चिरकालके विदेशी शासनमें इसकी नहरोंकी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी। जमीनके नये अधिकारपत्रमें अधिकांश परती—गोचर जमीनपर भी व्यक्तिविशेषोंका अधिकार लिपिबद्ध कर दिया गया, जिससे जनसाधारणको सार्वजनिक कामोंमें बड़ी बाधाओंका सामना करना पड़ रहा है। प्रचुर गोचरभूमिके अभावमें पशुपालन दुष्कर हो गया, जिससे प्रचुर दूधका सर्वथा अभाव हो चला। इत्यादि अस्तव्यस्तताके कारण आज अन्नकी समस्या विषम हो रही है और विदेशोंसे प्रतिवर्ष लाखों टन अन्न मँगाया जाकर देशवासियोंकी उदरपूर्ति बड़ी ग्लानिके साथ की जा रही है, फिर भी पुराने समयकी कृषि-व्यवस्थाकी शरण लेनेसे हमारा देश अन्नसंकटसे पार पा सकता है। चतुर कृषकोंके हाथमें—समुचित सिंचाई-व्यवस्थाके साथ बड़े-बड़े पैमानेपर खेतीका प्रबन्ध तथा प्रचुर गोचर-भूमिके साथ-साथ सुन्दर गोपालनके प्रबन्धसे एक बार पुनः यह भूमि अन्न और दूधसे भर दी जा सकती है। इस यज्ञमय भारत-वसुधाके लिये यह सर्वथा सम्भव है। उस व्यवस्थामें न तो आजके चोरबाजारोंका स्थान रहेगा और न घूसखोरों-का ही आस्तित्व रहेगा। व्यापारमें भी प्राचीन भारतके गौरवको पुनः प्राप्त करना चतुर वैश्योंका ही काम है। पराधीन भारतमें चिरकालतक भारतीय व्यापारी केवल दलाली करते रहे हैं।

शूद्रोंका काम था समाजकी हर प्रकारसे सेवा करना। उनमें अहंकारकी मात्रा नहीं थी। सेवा-धर्मको वे परम पवित्र मानते थे। '**सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।**' समाजमें उनकी भी मान्यता थी। समाजके वे पैर समझे जाते थे, जो गाड़ीके पहियेके समान परमावश्यक अंग है। इनमें भी ज्ञानियोंका ब्राह्मणोंसे बढ़कर आदर था—जैसे, सूतका, विदुरका। स्वाधीन भारतमें ऐसे सेवाव्रती, समाजके आधारभूत समुदायकी बड़ी आवश्यकता है।

उपर्युक्त प्रकारकी सुन्दर वर्णव्यवस्था सुन्दर आश्रम-

व्यवस्थापर अवलम्बित थी—जैसे कोई सुन्दर प्रासाद, सुदृढ़ न्यासपर अवलम्बित रहता है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार भागोंमें प्राचीन भारतमें द्विजोंके जीवन विभक्त थे। तत्तद् वर्णोंके लिये उपयुक्त विद्याओंको गुरुकुलमें सामान्य आहार-विहारके साथ नियत कालतक रहकर प्राप्त करना द्विजाति बालकोंके लिये अनिवार्य था। साधारणतया पचीस वर्षकी आयुतक बालक गुरुकुलमें रहते थे। तत्पश्चात् दीक्षित होकर योग्य कन्यासे विवाह करके गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होते थे। गुरुकुलमें ब्रह्मचारियोंका जीवन सादा और तपस्यामय था। बड़े-बड़े लक्ष्मीपात्रोंके लड़के भी वहाँ अपने निर्धन सहपाठियोंके साथ समान दिनचर्याका पालन करते थे और समान भोजन तथा समान शय्याका उपयोग करते थे। विवाहकी प्रथामें आजकी कुरीतियोंका लेश भी नहीं था। वर-कन्याकी आयु तथा गुणका विचार ही प्रधान नियामक था। आज इसमें कई प्रकारकी कुरीतियाँ आ गयी हैं। इनकी ओर चिन्तनशील हिंदुओंका प्रबल ध्यान अविलम्ब जाना चाहिये था; पर हमारे दुर्भाग्यसे हिंदू-कोड-बिल-जैसे सत्यानाशी बिलोंकी चर्चा जोरोंसे चल रही है—जो हमें रसातलको पहुँचाकर ही छोड़ेगी। भगवान् हमारी रक्षा करें।

दूसरा आश्रम है—गृहस्थाश्रम। यह सब आश्रमोंमें प्रधान है, क्योंकि गृहस्थोंसे ही ब्रह्मचारियोंकी उत्पत्ति होती है और गृहस्थोंमेंसे वानप्रस्थी और संन्यासी निकलकर जाते हैं और भरण-पोषण प्राप्त करते हैं। कलिकालमें तो एक यही आश्रम रह गया है, सम्प्रति ब्रह्मचर्याश्रमका तो प्रायः लोप ही हो गया है। आजके स्कूल, कॉलेजोंमें दी जानेवाली शिक्षा तथा वहाँ पढ़नेवाले और पढ़ानेवाले छात्र तथा अध्यापक पुराने ब्रह्मचर्याश्रमके प्रहसनमात्र हैं। अधिकतर उच्च वर्गके विद्यार्थी विवाहित रहते हैं और उनकी केश-वेशकी सजावट विलासी पुरुषों-जैसी रहती है। अधिकांश छात्र और अध्यापक धूम्रपायी होते हैं। ज्ञानार्थ विद्यार्जनकी भावना सर्वथा हीन ही रहती है। बाजारू विद्योपार्जन करके येन केनोपायेन अधिकाधिक द्रव्योपार्जन करके विलासितामय जीवन बिताना ही आजकी शिक्षाका एकमात्र लक्ष्य है। स्कूल-कॉलेजमें शिक्षित कन्याएँ गृहकार्यके लिये सर्वथा अयोग्य होकर अनेकों घरोंको बिगाड़ चुकी हैं और ऐसी शिक्षा पायी हुई गृहिणियोंसे आगे भी कितने घर बिगड़ेंगे—भगवान् ही जानें। शिक्षा-प्रचारकी समस्या देशके सामने विकट हो रही है। नित्य नयी नयी योजनाएँ बनती हैं और असफल सिद्ध होती हैं। पर छात्रों और अध्यापकोंको एक साथ रखकर (Residential system) उनके पारस्परिक निकट सम्पर्कसे चरित्रनिर्माणकी योजना भी अभीतक सफल नहीं हुई है और न द्रव्याभावसे सार्वभौम शिक्षा-प्रचारकी योजना ही कार्यान्वित हो पायी है। ऐसी दशामें पुनः ब्रह्मचर्याश्रमकी शरण लिये बिना देशमें वीर्यवान् चिन्तनशील ज्ञानी-विज्ञानी पुरुषोंका सर्वथा अभाव ही रहेगा। इसको कार्यान्वित करना कर्तव्यशील सद्गृहस्थोंका ही काम है। प्राचीन भारतके गृहस्थोंका जीवन कितना त्यागमय था—इसकी आज लोग कल्पना भी नहीं कर सकते। अपने उपार्जित द्रव्यका प्रचुर भाग गृहस्थलोग लोकोपकारी संस्थाओंमें दिया करते थे। देशके असंख्य ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थोंके दानसे ही चलते थे। इसके अतिरिक्त शक्त्यनुसार नित्य एक या अनेक अतिथियोंको भोजन कराये बिना कोई भी गृहपति या गृह-स्वामिनी स्वयं भोजन नहीं करती थी। इसी कारण देशाटनार्थी लोग कभी अपने साथ शम्बल या पाथेय लेकर नहीं चलते थे और न कहीं होटल चलानेकी प्रथा थी। साथ ही अकारण अकर्मण्य रहकर परान्न-भोजन करना लोग महापाप समझते थे। इसी हेतु कृत्रिम भिक्षार्थियोंकी भी आजकी तरह भरमार नहीं थी।

भारतीय गृहस्थकी ऐसी एक भी नित्य या नैमित्तिक क्रिया नहीं होती थी, जिसमें लोकहितके साथ-साथ परलोक-हितका अंश नहीं रहता हो। शरीरकी क्षणभंगुरता तथा आत्माकी नित्यताका ध्यान सदा उनके हृदयपटलपर अंकित रहता था। यम-नियमके पालन-द्वारा वे अपने जीवनको अपरिग्रहशील बनाकर न्यूनातिन्यून सामग्रियोंसे जीवन-यापनका नित्य अभ्यास करते-करते अन्तमें ममता तथा अहन्तासे शून्य होकर संसार और भौतिक शरीरका त्याग सुखपूर्वक करते थे। ऐसे गृहस्थ किस प्रकार दूसरोंके द्रव्य या द्वारपर सतृष्ण दृष्टि रख सकते हैं। समाजमें विवाहयोग्य वयस्के सारे पुरुष और सारी कन्याओंके लिये विवाह-बन्धनमें अपनेको बाँधना अनिवार्य था। साथ ही पुरुषोंमें एकपत्नीव्रत और स्त्रियोंमें सतीत्वका महत्त्व लोकोत्तर रूपमें था। इस प्रकार आदर्श वैवाहिक जीवन आर्य-संस्कृतिका मेरुदण्ड था। विवाह करके योग्य सन्तान उत्पन्न करना लोग धार्मिक कृत्य समझते

थे। पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रके द्वारा वंशको अक्षुण्ण रखना लोक-परलोकके लिये परमावश्यक था। '**अपुत्रस्य गतिर्नास्ति**' में लोगोंका दृढ़ विश्वास था। वंशच्छेदको परम दुर्भाग्य समझा जाता था। समाजमें सत्कारका माप-दण्ड धन नहीं था, वरं चरित्र था। धनसे सुखकी प्राप्तिकी भावना समाजमें नहीं थी। धर्मसे ही लोग अपनेको सुखी समझते थे। अपात्रोंके हाथमें धन जाने भी नहीं पाता था। इस विषयमें पश्चिमीय सभ्यतासे हिंदू-सभ्यताका सर्वथा वैमत्य है। वहाँ ठीक इसके विपरीत स्थिति है। वहाँ धन ही समाजमें आदरका साधन है। धनसे ही सुख माना जाता है। उसी सभ्यताके सम्पर्कसे आज भारतमें भी सब लोगोंमें धनकी लिप्सा असीम बढ़ गयी है। सब लोग इस घुड़दौड़में अशान्त और चिन्तित हैं। दूसरोंकी सम्पत्ति तथा कमाईको हड़पनेकी फिक्रमें अधिकांश लोग रह रहे हैं। कचहरियोंका अस्तित्व भी अधिकांशमें इसी हेतु है। मिलों और कारखानोंमें तथा स्कूल-अध्यापकोंमें नित्य हड़तालोंका सिलसिला भी इसीलिये चल रहा है। जबतक देशमें धनको लौकिक सुखका साधन माननेकी कुबुद्धि चलती रहेगी, तबतक देशमें—समाजमें शान्ति नहीं विराजेगी। यही हिंदू-संस्कृतिका सारांश है। प्रधान स्तम्भ है। हिंदू संस्कृतिको नीतिकारने नीचेके दो ही श्लोकोंमें भर दिया है—

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥
विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

हिंदू-संस्कृति और हिंदू-धर्मको लुप्त करनेका सबसे प्राचीन ऐतिहासिक प्रयत्न चार्वाकोंने किया था, जिनका सिद्धान्त था—

यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

पर कोई प्रमाण नहीं मिलता कि भौतिकवादी इस आचार्यके थोड़े भी अनुयायी हुए हों। उसके पश्चात् बौद्धोंने इसपर आघात किया। उससे आगे चलकर अनेक प्रकारके अनाचार, व्यभिचार फैल गये। कुछ समय पश्चात् कुमारिल भट्टने और पुनः श्रीशंकराचार्यने उस अनाचारको दूर किया। समाजको प्राचीन धर्मपद्धतिसे विचलित और विशृंखलित करना ही बौद्धोंके इस देशसे पतनका तात्कालिक अन्तिम कारण हुआ। आज भी अम्बेदकर-जैसे देहात्मवादी तथाकथित हिंदू आर्य-सभ्यता और संस्कृतिको विकृत करनेकी चेष्टामें लगे हैं! सनातन-धर्मावलम्बी असंख्य नर-नारियोंका दृढ़ विश्वास है कि इन धर्मद्रोहियोंका स्वयं पतन होगा और निकट भविष्यमें स्वतन्त्र भारतमें पुनः एक बार त्यागी, धर्मपरायण आर्योंके सदुद्योगसे प्राचीन आर्य वैदिक सभ्यता चमक उठेगी और विश्वभरमें शान्ति प्रचार करेगी—जैसा उसने पूर्वमें किया था। चारों दिशाओंमें भ्रान्तिजनक भौतिकवादसे जनता ऐन्द्रियिक सुखकी मृगतृष्णाके पीछे द्रुतगतिसे दौड़ी जा रही है, उसे अन्तर्मुख करके शान्तिसरोवरमें स्नान करा देना इसी देशका काम है।

हिंदू-संस्कृतिकी अखण्डता

(लेखक—आचार्य श्रीक्षितिमोहन सेन)

समस्त भारतमें सभी दिनमें तीन बार एक ही गायत्रीकी साधना करते हैं। एक ही शिव, विष्णु और देवी नाना प्रकारके भावोंसे सर्वत्र पूजित होते हैं। एक ही रामायण, महाभारत, पुराण, और भागवतका विभिन्न प्रदेशोंमें पाठ होता है। एक ही गया तीर्थमें सबके मुख्य पितृकृत्य होते हैं। एक ही काशीमें सबके द्वारा प्रधान शिवार्चना होती है। एक ही हरिद्वार और प्रयाग सबके लिये तीर्थस्थान हैं। समस्त भारतमें एक ही गीतगोविन्दका गान होता है। कृष्णकर्णामृतके रचयिता कर्णाटकके बिल्वमंगल तो हम सभीके अपने हैं। महाप्रभु सारे शास्त्रोंको बहाकर दक्षिण देशसे इसी कृष्णकर्णामृत और ब्रह्मसंहिताको संग्रह करके लाये थे। श्रीराम और श्रीकृष्ण समस्त भारतमे सर्वत्र पूजित होते हैं। एक ही दशकर्म भारतमें सर्वत्र प्रचलित हैं। प्रादेशिकताकी बाधा कहाँ है?

किसी भी देवताकी पूजा क्यों न करें, चारों धामोंके अर्थात् उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम समस्त भारतके चौरासी तीर्थोंके जलसे इष्टदेवताका अभिषेक कराये

नटराज

रामपुरवाके अशोकस्तम्भपर वृषमूर्ति

गरुड़स्तम्भ-मन्दिर

श्रीविश्वनाथ-मन्दिर, काशी
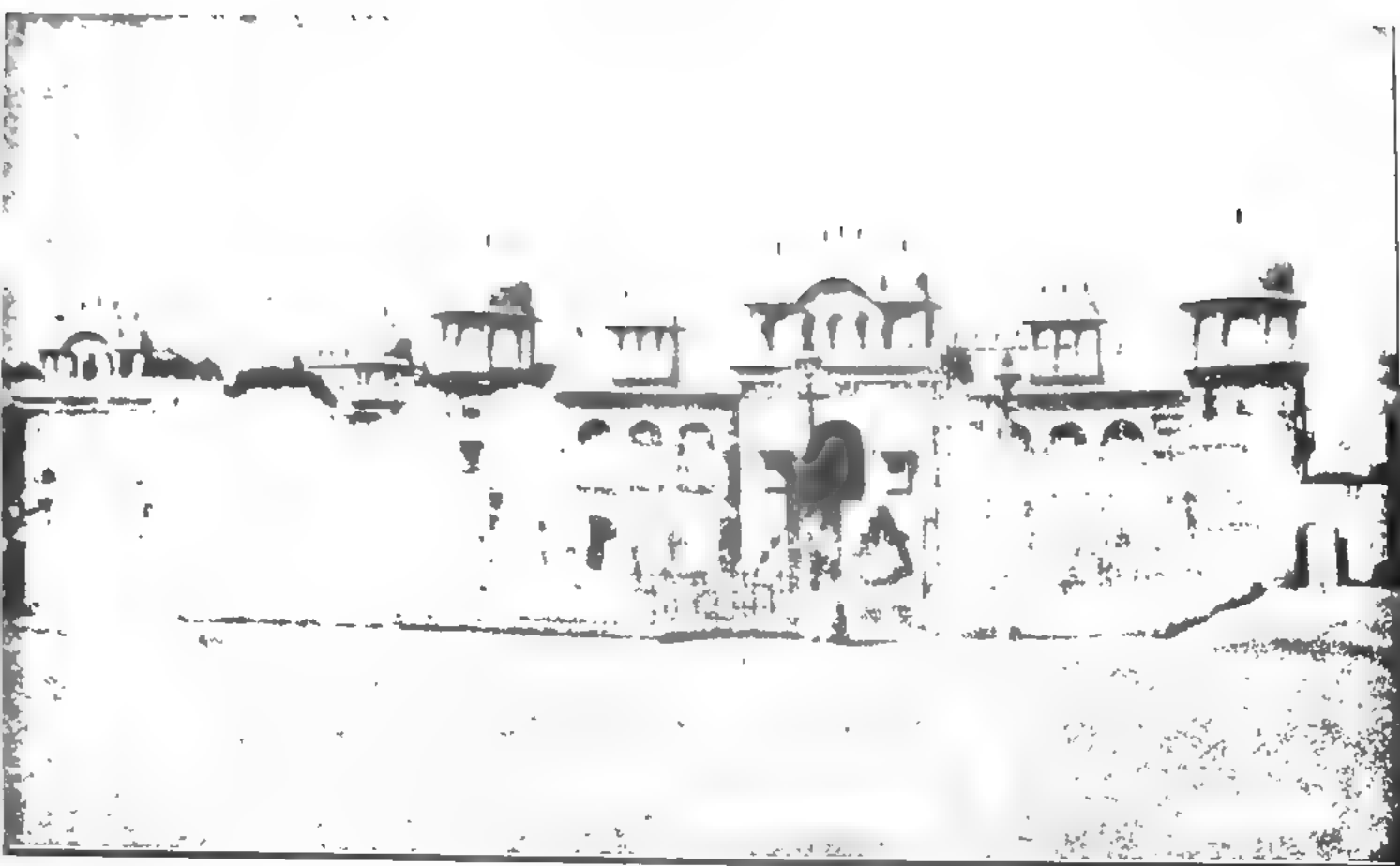
श्रीरतनबिहारीजीका मन्दिर, बीकानेर
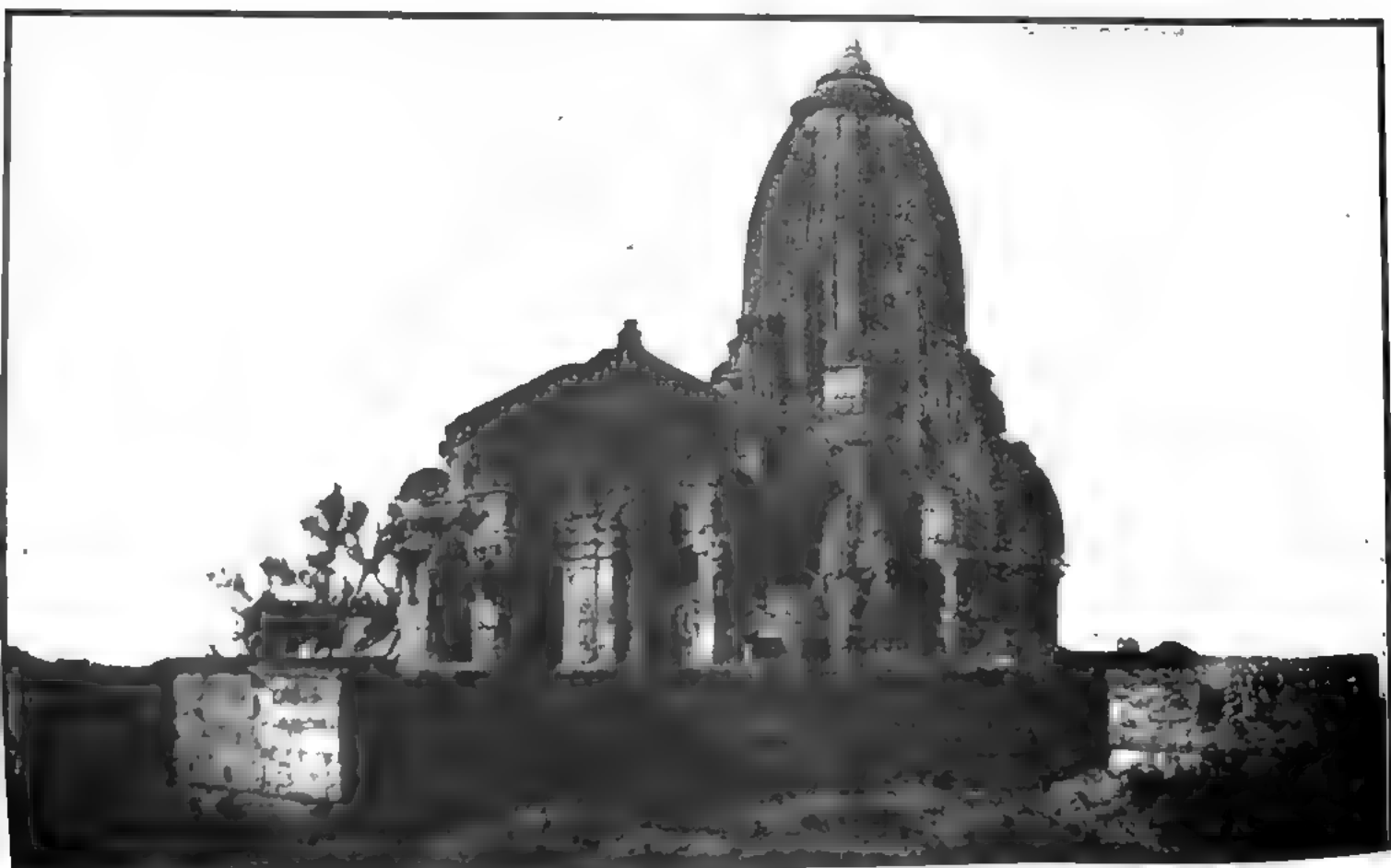
चित्तौड़गढ़का मीराबाई-मन्दिर

बिना हमारा अभिषेक पूर्ण नहीं होता। शंकराचार्यने सम्पूर्ण भारतके लिये अपने दशनामी सम्प्रदायकी स्थापना की। उन्हींके चार मठ भारतके उत्तर-दक्षिण पूर्व-पश्चिममें—मैसूर, हिमालय, द्वारका और पुरीमें प्रतिष्ठित हैं। हिमालय-बद्रीनाथके पुरोहित मलाबारके ब्राह्मण हैं।

तान्त्रिक तो समस्त भारतवर्षको एक ही जगन्माता-का पुण्यदेह जानकर बावन पीठोंमें बावन अंग मानते हैं। इन पीठस्थानोंमें हिंगलाज बलोचिस्तानमें है और कामरूप आसाममें। कन्याकुमारीसे ज्वालामुखीतक सर्वत्र ही देवीके अंग हैं। उस देवीके अखण्ड देहको क्या हम खण्डित कर सकते हैं? एक ही शिव, एक ही विष्णु भारतकी चारों दिशाओंके चौरासी क्षेत्रोंमें विराजित हैं। उसको हम खण्डित कैसे करें? तन्त्र कहता है कि बावन पीठ हमारी ही देह हैं। हम कैसे अपनको खण्डित कर सकते हैं?

इसीसे यह सिद्ध है कि इस देशमें प्रादेशिकताके लिये स्थान नहीं है। जो प्रादेशिकताका प्रचार करते हैं, वे भारतकी चिरन्तन साधना और संस्कृतसे परिचित नहीं हैं। अथवा उसके प्रति उनके मनमें दर्द नहीं है। अंग्रेज जाते समय हमें यह विष दे गये हैं। हमने इसको आदरपूर्वक ले लिया, यही आश्चर्यकी बात है।

अंग्रेजोंके दिये हुए इस विषको यदि दूर करना हो तो हमें सब प्रकारकी साम्प्रदायिकता और प्रादेशिकतासे ऊपर उठना होगा। इस ऊपर उठनेमें केवल मुखसे नारे लगानेसे नहीं चलेगा। अन्तरकी दृष्टि बदलनी पड़ेगी और सभी कर्मोंमें अपनी उदारताका परिचय देना पड़ेगा।

हिंदू-संस्कृतिका आदिस्रोत भारत

(लेखक—श्रीविष्णु हरि वडेर, एम०ए०, एल-एल० बी०)

हिंदू-देशका अति प्राचीन नाम भारत है। सामान्य धारणा यह है कि दुष्यन्त और शकुन्तलाके पुत्र भरतसे इस देशका नाम भारत प्रसिद्ध हुआ। पर इन भरतसे पहले दो भरत और हुए हैं। प्राचीन वंशावलियोंमें ऋषभ और उनकी पत्नी जयन्तीके नाम आते हैं। इनके १०० पुत्र थे। सबसे बड़े पुत्रका नाम भरत था। इन्हींके नामपर इनके राज्यका नाम भारतवर्ष हुआ (भागवत ५। ४; वायु पु० १। ३३, ५२; ब्रह्माण्डपु० २। १४; लिंगपु० १। ४७, २४; विष्णुपु० २। १। ३२)। त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपकी कन्या पंचजनीसे इनका विवाह हुआ और ५ पुत्र हुए—सुमति, राष्ट्रभृत्, सुदर्शन, आवरण और धूमकेतु। इन भरतकी मृत्युके पश्चात् इनका राज्य इनके पाँचों पुत्रोंमें बँट गया। इनसे पहले इस देशका नाम अजनाभवर्ष था। पृथु नाम वैदिक साहित्यमें आता है। इन्हें आदि राजा कहते हैं। इन्हींके नामपर इस धरतीका नाम पृथ्वी पड़ा। ये अपनेको भरत कहते थे। इनके बाद तीसरे दौष्यन्ति भरत हुए। ऋग्वेदके कई स्थानोंमें भरत नामके कुलों या वंशोंका उल्लेख है। पंचविंश ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यकमें इनके यज्ञसमारम्भोंका वर्णन है। भारती देवी इनकी कुलदेवी थीं। इन्हें सरस्वती भी कहते थे। सरस्वती नदीसे भी इसका कुछ सम्बन्ध रहा होगा। पंचजन, भारती प्रजा, भरतासः आदि नाम तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु यदु, और पूरु आदिके वंशजोंके लिये आया है। जिन दिवोदासने सिन्धु नदीके पश्चिम तटसे पूर्वकी ओर दिग्विजय किया, वे भरतकुलके ही राजा थे। ये दौष्यन्ति भरतसे दस पुरुष पहलेके हैं। ऋग्वेदका अधिकांश भाग दाशराज-युद्ध और कुरुयुद्धके बीच समयका है। यह दाशराज-युद्ध ऋग्वेदके अति प्राचीन मन्त्रोंसे बहुत पहलेकी घटना है।

कुरुयुद्धसे पहलेके राजाओंके इतिहासकी बहुत-सी सामग्री महाभारत तथा पुराणोंसे मिल सकती है। दाशराजयुद्धसे पहलेका इतिहास तैयार करनेमें भी उससे बड़ी मदद मिल सकती है। उस इतिहासकी इतनी झलक तो आज भी मिलती ही है कि हमारे पूर्वज उस समय संस्कृतिके उच्च शिखरपर थे। उनकी शासनसंस्था उत्कृष्ट थी। श्रीरामचन्द्रने लंकापर जब आक्रमण किया, उस समयकी लंकाकी राजनीतिक और सामाजिक संघटन भी बहुत अच्छा था। दाशराज-युद्धके साथ जो ऋषि सम्बद्ध थे, उनके नाम पुराणोंमें आये हैं। ऋग्वेदके तीसरे और सातवें मण्डलोंमें तुर्वसु और सुदासके साथ तथा छठे मण्डलमें दिवोदासके साथ भारतोंका वर्णन आया है। हमारी प्राचीन आर्यसंस्कृतिके चिह्न उत्तर यूरोप, मध्य एशिया, काकेशस पर्वत, ईरान तथा

हिंदूकुश पर्वत आदि स्थानोंमें अब भी मिलते हैं। इस संस्कृतिका पूर्ण और जीवित रूप भारतवर्षमें ही विद्यमान है, यद्यपि कालप्रभावसे अबतक इसमें बहुत परिवर्तन हो चुका है।

हमारे नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें रोज ही पढ़े जानेवाले संकल्पमें भारतसम्बन्धी दो शब्द '**भारतवर्षे**' और '**भरतखण्डे**' एक साथ आते हैं। इससे यह मालूम होता है कि भारतवर्षका विस्तार बहुत बड़ा था और भरतखण्ड उसका एक अंश था। इसे ही हम अब भारत या हिंदुस्थान कहते हैं।

हमारे इस देशपर विदेशियोंके अनेक आक्रमण हुए। विदेशियोंके संसर्गसे समय-समयपर बहुत गड़बड़ भी मची। पर हमारी आर्यसंस्कृति बनी रही। हमारे धर्माचार्य और दार्शनिक सदासे इसकी रक्षा करते चले आये हैं। हमारी संस्कृतिकी संस्कृत वाणीका सर्वविध व्यापक साहित्य हमारी सम्पूर्ण और विविध संस्कृतिका निदर्शन है।

यही वह पुण्यमय भारत देश है, जिसकी संस्कृति अन्य सब संस्कृतियोंकी मूल निधि है। संसारमें फीनिशिया, बैबिलन, सुमेरिया, मिस्र और चीनकी संस्कृतियाँ विशेष विख्यात हुईं। ये सभी आर्य-संस्कृतिकी शाखाएँ थीं, जो अपने मूलसे पृथक् होकर पीछे विनष्ट हो गयीं। ऋग्वेदमें पणियोंका वर्णन आता है। ये समुद्रके रास्ते व्यापार करते थे। ये वरुणादि देवोंको पूजते थे। ये ही देशान्तरमें जाकर फीनिशियन कहलाये और इनका बसाया हुआ देश फीनिशिया। चाल्डिया अथवा बाबिलनकी संस्कृतिका मूल इतिहास यही है कि समुद्रयात्रियों और समुद्रके किनारे रहनेवालोंने चाल्डिया अर्थात् मेसोपाटामियाको उन्नत किया। इस संस्कृतिपर हिंदू-संस्कृतिकी अमिट छाप थी। 'बाबिलन' शब्द 'बभ्रु' से निकला है। बाबल 'बभ्रु' का अपभ्रंश है। बभ्रु कई हुए। एक दुह्युके पुत्र, ययातिके पौत्र थे। दूसरे अंगिरसके शिष्य थे, जिन्होंने अपने गुरुसे अथर्वसंहिता ग्रहण की (भागवत १२। ७। १-३) तीसरे विश्वामित्रके पुत्र थे। बाबिलनके लोगोंको हिंदू बव्हेरु (**बाभ्रव्याः**) नामसे जानते थे। पंजाब तथा दक्षिण हिंदुस्थानके साथ इनका व्यापार-सम्बन्ध था। ज्यौतिषशास्त्र इन्होंने हिंदुओंसे सीखा। सुमेरियन, जिन्होंने बाबिलनकी संस्कृतिकी नींव डाली, आर्यजातिकी एक शाखा थे। असीरियाके लोगोंका विश्व-प्रकृतिसम्बन्धी ज्ञान वैदिक ज्ञानसे मिलता-जुलता है। ये लोग वैदिक देवताओंको ही पूजते थे। मिस्रकी प्राचीन संस्कृतिका यही इतिहास है। चीनका पुराणेतिहास यह है कि चीनियोंके पहले राजाका नाम यू था। ये चन्द्रवंशी राजा आयुके वंशज थे। इन्होंने चीनमें वैदिक संस्कृतिका प्रचार किया। कालिदासके रघुवंशमें रघुके दिग्विजयका वर्णन है इन्होंने उत्तर-पूर्व चीनको जीतकर अपना करद राज्य बनाया। चीनकी संस्कृति आर्य-संस्कृतिकी ही चीनको देन थी, इस विषयमें आधुनिक विद्वान् भी एकमत हैं। ज्योतिर्विद् बायो (Biot) ने यह हिसाब लगाया है कि ईसाके २३५७ वर्ष पूर्व कृत्तिका नक्षत्रमें जब वसन्त-संपात होता था, तबसे चीनियोंने अपनी वर्षगणना आरम्भ की। डा० वेबरके मतसे यह काल ईसाके २७८० वर्ष पूर्वका आता है। जो कुछ हो, यह निश्चित है कि महाराज आयु अथवा उनके कोई पुत्र चीनमें गये थे और वहाँ उन्होंने अपना साम्राज्य स्थापित किया। इन्हींके द्वारा वहाँ हिंदू-संस्कृतिका विस्तार हुआ। यह बात विक्रम-संवत्के पूर्व तृतीय सहस्राब्दीकी है। आयु चन्द्रवंशी राजा पुरूरवाके पुत्र और ययाति राजाके पिता थे। चीनकी संस्कृति इस प्रकार हिंदू-संस्कृतिसे ही प्रवर्तित हुई। पीछे कनफ्यूशियस तथा बौद्ध मतोंके संस्कारोंने उसका रूप बहुत कुछ बदल डाला। तात्पर्य, जगत्की ये सभी प्रसिद्ध संस्कृतियाँ हमारी आर्य-संस्कृतिरूप वृक्षकी ही शाखाएँ थीं। इनमेंसे कोई संस्कृति अब अपने विशुद्ध रूपमें नहीं है। पर आदि संस्कृति अर्थात् हमारी आर्य-संस्कृति आज भी अपने देशमें सुरक्षित है।

हमारी इस संस्कृतिपर भी विदेशियोंके दीर्घ-कालीन संसर्गसे कुछ अनिष्ट प्रभावोंकी छाया पड़ी हुई देख पड़ती है। हमारा यह कर्तव्य है कि इन अनिष्ट प्रभावोंको हम हटा दें और अपनी संस्कृतिको सर्वथा विशुद्ध रखें। यही वह अमूल्य सम्पत्ति है, जो हमारे पूर्वपुरुष परम्परासे संचित करते हुए आगेकी परम्पराके लिये छोड़ गये हैं।

हिंदू-संस्कृति-रक्षक पचीस प्रतिज्ञाएँ

(लेखक—श्रीनारायण पुरुषोत्तमजी सांगाणी)

पृथ्वीपर जितने भी प्राणी हैं, सभी सुखकी आकांक्षा रखते हैं। सभी प्राणियोंके लिये अपेक्षित वह सुख उन्हें प्रदान करनेकी शक्ति एकमात्र हिंदू-संस्कृति—हिंदूधर्ममें ही है; क्योंकि इस धर्मका निर्माण साक्षात् विश्वकर्ता श्रीहरिने किया है। हिंदूधर्मके सिद्धान्त, प्रथाएँ, प्रणालियाँ इतनी उत्कृष्ट श्रेणीकी और निर्दोष हैं कि वे किसीकी मान्यतामें कभी भी बाधक नहीं होतीं और अपकार करनेवालेका भी कल्याण करती हैं। हिंदू-संस्कृतिका स्पष्ट उद्घोष है कि शाश्वत सुख-शान्ति एवं आनन्द केवल प्रभु श्रीहरिके श्रीचरणोंमें ही है। जो मनुष्य उन प्रभुके बनाये वर्णाश्रम-धर्मका यथावत् पालन करके नाशवान् शरीरके नष्ट होनेसे पहले ही उन श्रीहरिकी निष्काम एवं अनन्यभावसे आराधना करता है, उसे उस प्रभुकी प्राप्ति होती है और उसके जन्म-मरणका दुःख दूर हो जाता है। वे विश्वनियन्ता श्रीहरि सर्वत्र सबमें विराजमान हैं; अतः मन, वाणी एवं कर्मसे किसी भी प्राणीको दुःख न देकर सबको सुख पहुँचे तथा सभीका अभ्युदय हो—इस प्रकारका यत्न करनेकी आज्ञा दी गयी है। इस प्रकारकी सर्वोद्धारक संस्कृति एवं धर्मका पोषण एवं रक्षण करनेके बदले, अत्यन्त खेदकी बात है कि, वर्तमान समयके सुधारक प्राप्त साधनोंका दुरुपयोग करके उस धर्म एवं संस्कृतिको जड़मूलसे उखाड़नेकी अनेक चेष्टाएँ दिन-रात कर रहे हैं।

यथार्थ रीतिसे विचार किया जाय तो लोककल्याण जप, तप, भक्ति, यज्ञ-याग, दान-पुण्य, योग, अनुष्ठान, सदाचार, पवित्रता, शुद्ध खान-पान, गोरक्षण तथा वर्णाश्रम-धर्मके पालन और वेद, उपनिषद्, मनुस्मृति, गीता, महाभारत, रामायण, भागवत, शुक्रनीति आदि प्रामाणिक शास्त्रोंके उपदेशके अनुसार बर्ताव करनेमें ही है; परंतु इन शास्त्रोंको भूलकर, नष्टप्राय कर, हिंदुओंके प्रबल विरोधके रहते भी हिंदूकोड बिल, मन्दिरप्रवेश, सगोत्रविवाह, तलाक बिल, जाति-बहिष्कार-प्रतिबन्धक बिल तथा वर्णान्तरविवाह-जैसे भयंकर, संस्कृति एवं धर्मनाशकके कानूनोंको पास करके प्रजाको अस्त-व्यस्त करने तथा प्रजापर विपत्तिके बादल लानेके अविरत प्रयत्न विविध दिशाओंसे हो रहे हैं! ऐसी दशामें हिंदूमात्रको अविलम्ब सावधान होकर नीचे लिखी पचीस प्रतिज्ञाएँ करनी चाहिये और दूसरोंको समझाकर उनसे करवानी चाहिये एवं ऐसा करके हिंदू-संस्कृति तथा धर्मकी रक्षा करके कृतकृत्य होना चाहिये। यदि हिंदू अधिक समयतक आलस्य एवं प्रमादमें रहेंगे तो हिंदू-संस्कृति एवं हिंदूधर्मके उच्छेदका तो महान् प्रयत्न होगा ही; साथ ही ऐसा होनेपर अपना और सारे संसारका भी अन्त आ जायगा, यह बात भूलनी नहीं चाहिये। अतः, हिंदुओ! उठो! जागो! प्रतिज्ञा लेकर, दूसरोंसे लिवाकर उनके अनुसार बर्ताव करनेके लिये कटिबद्ध हो जाओ।

प्रतिज्ञाएँ

१-मैं मानता हूँ कि लोकपितामह ब्रह्माजीने यह जो विविध प्रकारकी सृष्टि रची है, वह भगवान् श्रीनारायणकी आज्ञासे श्रीनारायणभगवान्‌की क्रीड़ाके लिये है।

२-मैं मानता हूँ कि सृष्टिके लोग ठीक नियमोंके अनुसार बर्ताव करें और अपनी ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नति कर सकें, इसके लिये श्रीहरिने ही वेद-शास्त्र एवं पुराण तथा वर्णाश्रम-धर्मकी रचना की है।

३-मैं मानता हूँ कि इस प्रकारके ईश्वरकृत वेद-शास्त्र तथा वर्णाश्रम-धर्मके सिद्धान्तोंमें कभी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता; क्योंकि वे त्रिकालाबाधित हैं।

४-मैं मानता हूँ कि यह ईश्वरनिर्मित अनादि धर्म ही सनातनधर्म कहा जाता है। इस धर्म तथा इसके अंगभूत गौ, ब्राह्मण, भक्त तथा सती नारियाँ जब संकटग्रस्त होकर परित्राणके लिये पुकार करती हैं, तब भगवान् श्रीहरि अजन्मा होनेपर भी अवतार धारणकर दुष्टोंको दण्ड देकर धर्मकी पुनः संस्थापना करते हैं। अतः संकट आनेपर भी किसीको स्वधर्मसे विचलित नहीं होना चाहिये, अपितु प्रह्लादकी भाँति दृढ़ भगवदाश्रय करना चाहिये।

५-मैं मानता हूँ कि भारतवर्ष—हिंदुस्थान ही हिंदुओंका आदि देश है, जिसमें चार धाम, सात पुरियाँ, गंगा-यमुनादि पवित्र नदियाँ एवं हिमालय गोवर्धनादि दिव्य पर्वत हैं। इसी प्रकार जो यह देश कर्मभूमि—

पुण्यक्षेत्र माना जाता है, जिसमें राम-कृष्णादि भगवदवतारोंने प्रादुर्भूत होकर जगदुद्धारक दिव्य लीलाएँ की हैं, उस नन्दनवनके समान कामधेनुस्वरूप देशको अभेद्य—अखण्ड रहना चाहिये और उसका नाम भी जो सदासे है, वही 'भारतवर्ष' ही रहना चाहिये।

६ मैं मानता हूँ कि भारतवर्षकी मूलभाषा संस्कृत तथा देवनागरी लिपियुक्त हिंदीभाषा राष्ट्रभाषाके रूपमें मान्य रहनी चाहिये, जिससे संस्कृतद्वारा हमारी संस्कृतिकी सहज ही रक्षा हो सके।

७-मैं मानता हूँ कि पातिव्रत्य—सतीधर्मसे ही स्वर्ग एवं मोक्षकी अधिकारिणी शुद्ध संस्कारी सन्तति उत्पन्न हो सकती है और ऋषि-मुनियोंकी उत्पत्ति हो सकती है; अतएव हिंदुओंको चाहिये नरक देनेवाली वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न करनेवाले विवाहविच्छेद (तलाक) तथा वर्णान्तर विवाहके विचारोंको धिक्कार देकर निकाल दें।

८- मैं मानता हूँ कि शास्त्रानुसार अन्त्यज तथा रजस्वला स्त्री देवमन्दिरमें प्रवेश नहीं कर सकते। यदि बलात् ये मन्दिरमें प्रविष्ट कराये जाते हैं तो मन्दिरकी देवकलाकी हानि, राजा-प्रजामें विप्लव तथा लोगोंकी दुर्दशा होती है—जैसी इस समय हो रही है; अतः देशरक्षाके लिये ही ऐसी प्रवृत्ति रोकनी चाहिये।

९- मैं मानता हूँ कि किसी मनुष्य या किन्हीं मनुष्योंके अनुकूल न होनेसे ही कोई ईश्वरकृत या ऋषि मुनिरचित नियमोंको मिटाकर अपने मनके नियम प्रजापर नहीं लाद सकता। ऐसा होनेपर भी इस समय जिन मनमाने नियमोंको देशपर लागू करनेका अनुचित प्रयास हो रहा है, उन धर्मविरुद्ध नियमोंका मैं कभी अनुसरण नहीं करूँगा, बल्कि उन्हें रद्द होनेपर ही शान्तिकी साँस लूँगा।

१० -मैं मानता हूँ कि हिंदुओंकी जातियाँ वर्णाश्रम-धर्मके मुख्य आवश्यक अंग हैं। जातियोंके अस्तित्वके कारण ही हिंदूजाति विदेशी, विधर्मियों तथा नास्तिकोंके सैकड़ों आक्रमणोंसे अबतक सुरक्षित रह सकी है और अपनेको विशुद्ध बनाये रख सकी है; अतः मैं अपनी जातिको सुव्यवस्थित करनेका यत्न करूँगा और विवाहादि व्यवहार अपनी जातिमें ही शास्त्रीय प्रथाके अनुसार करूँगा।

११-मैं मानता हूँ कि गौ-माता परम पवित्र एवं परमोपयोगी प्राणी है। उसमें तैंतीस करोड़ देवताओंका निवास है। अतः मैं सदैव हर प्रकारसे उसका रक्षण, पोषण तथा सेवन करूँगा।

१२-मैं मानता हूँ कि दान पात्र तथा अपात्रका विचार करके सुपात्रको ही देना चाहिये। परंतु मोहवश लोगोंने यह विचार किये बिना द्रव्य तथा मत (वोट) उनको दिया, जो उसके पात्र नहीं थे; इसीका यह विषम परिणाम विनाशकरूपमें आया है। अतएव अबसे मैं अपना द्रव्य और मत (वोट) धर्मको सर्वस्व मानकर लोकहितका कार्य करनेवाले धर्माग्रही सुपात्रको ही दूँगा।

१३-मैं मानता हूँ कि जहाँ अपूज्यका पूजन और पूज्यका तिरस्कार होता है, वहाँ दुष्काल, भय और मृत्युकी प्राप्ति होती है, जो इस समय देशमें हो रही है; अतः अबसे मैं भगवान् श्रीहरि, ऋषि-मुनिगण, माता-पिता, गुरु तथा धर्मात्मा सत्पुरुषोंका ही सम्मान करूँगा।

१४-मैं मानता हूँ कि इस समय जो देशमें नियमित वर्षा नहीं होती और लोग अन्न-वस्त्रके लिये विह्वल हो गये हैं, दुष्काल, अतिवृष्टि, भूकम्प, महामारी, बेकारी, लूट-पाट, उपद्रव, असह्य महँगाई आदि आपत्तियोंके कारण जो हाहाकार मचा है और लोग दुःखी हो रहे हैं, इसका कारण यह है कि लोग यज्ञ-याग, हवन, ब्रह्मभोज आदि सत्कर्म करके देवताओंको सन्तुष्ट नहीं करते; अतएव अबसे मैं व्यर्थ उपायोंसे इन बाधाओंको दूर करनेका प्रयत्न न करके यथाशक्ति यज्ञ-याग, हवनादि जिस प्रकार विधिपूर्वक हों—ऐसा ही यत्न करूँगा।

१५-मैं मानता हूँ कि इस समय जो जहाँ-तहाँ बहुमतकी प्रधानताका आन्दोलन चल रहा है, वह अत्यन्त अविचारपूर्ण तथा घातक पद्धति है। शास्त्र कहता है कि राग-द्वेषके वशीभूत दस सहस्र मूर्खोंका निर्णय नहीं मानना चाहिये, पर एक वेद-शास्त्रके ज्ञाता विद्वान्का अभिप्राय स्वीकार करना चाहिये। इसके अनुसार धारासभा आदि संस्थाओंके सदस्य जो वेद-शास्त्रके ज्ञाता नहीं हैं, हिंदू-संस्कृति एवं हिंदूधर्मके सम्बन्धमें जो अनधिकार अनुचित प्रस्ताव स्वीकृत कर रहे हैं, वे कभी भी स्वीकार करनेयोग्य नहीं माने जा सकते।

१६-मैं मानता हूँ कि पुण्यसे स्वर्ग, पापसे नरक और शुद्ध अन्तःकरणकी अनन्य भक्तिसे प्रभुपद—मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार शास्त्र विधान करता है कि इस कलिकालमें नवधा भक्तिमेंसे एक कीर्तनसे ही

भगवान् केशव तत्क्षण प्रसन्न होते हैं। अतः मैं शास्त्रनिषिद्ध पापकर्मोंसे दूर रहकर, प्राप्त साधनोंका प्रभुप्रीत्यर्थ परमार्थके कार्योंमें उपयोग करूँगा और चित्तको भगवच्चिन्तनमें ही लगाये रहूँगा।

१७-मैं मानता हूँ कि मेरा मनुष्ययोनिमें जन्म होना और वह भी भारतवर्षमें हिंदूघरमें, यह भगवान्‌की महान् कृपाका ही फल है। इसका उपयोग कौए-कुत्तेकी भाँति खाने-पीने अथवा इधर-उधर व्यर्थ कर्मोंसे भवाटवीके दुःखोंको बार-बार प्राप्त करनेमें ही नहीं होना चाहिये। अतएव अबसे मैं अपने मन और इन्द्रियोंको नियन्त्रणमें रखूँगा। चाय, बीड़ी, सिगरेट, सोडा, लेमन, नाटक, सिनेमा, होटल आदि शरीर और बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाले व्यसनोंको छोड़कर सिरपर शिखा रखूँगा, शौच-स्नानसे शुद्ध होकर नित्य भगवत्सेवा, पाठ-पूजा करूँगा; युधिष्ठिर, अम्बरीष, नारद, अंगिरा, भामाशाह, शिवाजी, राणाप्रताप आदिके समान धर्म एवं संस्कृतिके रक्षकोंका-सा जीवन बनानेका यत्न करूँगा। श्रेष्ठ भावका आश्रय करके धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी, पुरुषार्थ सिद्ध करनेका प्रयत्न करूँगा।

१८-मैं मानता हूँ कि स्वदेशके कल्याणकी इच्छा करनेवालेको केवल तोतेकी भाँति रटे हुए कुछ शब्दोंका ही उच्चारण नहीं करना चाहिये, बड़ी लगनके साथ अपनेको संयत करके भाषामें, भावमें, पोशाकमें, आहार-विहारमें, रहनी-करनीमें संस्कृति एवं धर्ममें उसे स्वदेशी बनना चाहिये और तब देशके कला-कौशल, व्यापार, उद्योग, विज्ञानादिकी उन्नतिके लिये स्वदेशीय जनताकी आवश्यकताके सब पदार्थ देशमें ही उत्पन्न करनेका प्रबन्ध करना चाहिये।

१९-मैं मानता हूँ कि पहले अपना भारतवर्ष उन्नतिके शिखरपर था, हिंदू नरेश चक्रवर्तीके पदपर आसीन थे और ऋषि-मुनियोंने तपोबल तथा योगविद्याके प्रभावसे ज्ञान-विज्ञानमें कल्पनातीत उन्नति की थी। परंतु पीछे राजा तथा दूसरे लोग स्वधर्म छोड़कर कर्तव्यभ्रष्ट हो गये, इससे सम्पूर्ण सम्पत्ति तथा ऐश्वर्यको खोकर देश पराधीन हो गया। अतः साधन-सम्पन्न पुरुषोंको इस ज्ञान-विज्ञानके पुनरुद्धारके लिये साधनोंको प्राप्त करनेकी व्यवस्था करनी चाहिये और धर्म-कर्मशील महानुभाव विद्वानोंको संयम, नियम, तथा निःस्वार्थवृत्ति रखकर भारतमें ही उनके अभ्यास, अनुसन्धान, अनुशीलन, अन्वेषण, अनुष्ठानादिमें लग जाना चाहिये और फिरसे भारतवर्षको सर्वश्रेष्ठरूपमें विश्वमें प्रतिष्ठित करना चाहिये।

२०-मैं मानता हूँ कि जाति जन्मसे ही है। द्विज वर्णका पुरुष ही यज्ञोपवीत धारण करके वेदोंका अभ्यास कर सकता है। दुर्भाग्यवश जो हिंदू स्त्री-पुरुष अत्याचारद्वारा विधर्मी बनाये गये हों, उन्हें प्रायश्चित्त कराके अपनाया जा सकता है—इस सम्बन्धमें तो कोई प्रश्न ही नहीं; किंतु जन्मना म्लेच्छ, यवन आदिके साथ उच्चवर्णके हिंदुओंका खान-पान या विवाहादि व्यवहार सर्वथा नहीं हो सकता। ऐसी शास्त्रीय मर्यादाके होते हुए भी एकता या उद्धारके नामपर इस प्रकारके अनुचित प्रयासका आदर करके यदि कोई शास्त्र-सिद्धान्तका अतिक्रमण करता है, तो उसका परिणाम अधोगति ही होता है। एकाकार, वर्णसंकरता या भ्रष्टतासे ऐक्यका उदय कभी होता नहीं, किंतु पतन और विनाश ही होता है, अतः सबको अपने बाप-दादा आदि पूर्वजोंके धर्मका आदर करके धर्म-मर्यादामें ही रहना चाहिये। क्योंकि पूर्वजन्मके कर्मानुसार ही जीवको विभिन्न योनियोंमें जन्म प्राप्त होता है। और यदि जीवात्मा अपने जातिविहित कर्मोंसे प्रभुकी आराधना करता रहेगा, तभी उसकी सद्‌गति होगी। ऐसा होनेपर भी मनुष्यको यदि अपने उद्धारकी ही अभिलाषा हो तो भगवद्भक्तिसे सहज रीतिसे उसका उद्धार हो सकता है। यह भक्ति करनेकी सबके लिये छूट है। इसमें मन्दिरप्रवेश, सहभोज, सर्वजातीय विवाहादि निरर्थक कर्मरूप दावाग्नि प्रदीप्त करके देशको किसलिये सन्तप्त करना उचित है? अर्थात् ऐसा नहीं ही करना चाहिये।

२१-मैं मानता हूँ कि नेतागण जनताके सेवक हैं, स्वामी नहीं। वे प्रजासत्ता या प्रजातन्त्रकी दुहाई देते हैं, अतः उनको प्रजाकी इच्छा जानकर उसीके अनुसार तन्त्र चलाकर सेवा करनी चाहिये या अपने विचारोंको लोगोंपर जबरदस्ती लादना चाहिये? सच्चा रहस्य तो यह है कि नेताओंके स्वयं जैसे विचार और आचरण होते हैं, वे उन्हींके अनुरूप सबको बनानेकी स्वाभाविक चेष्टा करते हैं। अतएव अपने विचारोंके अनुसार सुख, अभ्युदय, उन्नति, उद्धारकी इच्छा हो तो लोगोंको निर्भय, निःस्पृह, पवित्र, सदाचारी, धर्मज्ञ, नीति-निपुण, व्यवहारकुशल पुरुषोंको ही नेता—अगुओंके स्थानपर

नियोजित करके देशकी बागडोर तथा उत्तरदायित्वपूर्ण पद उन्हींके सुपुर्द करने चाहिये।

२२-मैं मानता हूँ कि बालकोंको सुयोग्य संस्कारसम्पन्न महापुरुष बनाना या दुर्जन बनाना, यह माता-पिताके हाथमें है। यदि बालकके उदित और विकसित होते हुए कोमल हृदयमें बचपनसे ही उत्तम संस्कारोंके सिंचन करनेका प्रयास माता-पिता करें और अपने कुटुम्बीजनोंको नित्य सायंकाल या रात्रिके समय एकत्र करके भागवत, महाभारत, रामायण, गीता आदिकी कथा-वार्ता शंका-समाधानके साथ सुनायें और बालकोंको दुर्गुणोंसे दूर रहनेकी पक्की व्यवस्था करें तो वे बालक प्रौढ़ावस्थामें निःसन्देह महान् निकलेंगे।

२३-मैं मानता हूँ कि जिसे विद्या कहा जाता है और जिससे समस्त बन्धन दूर होकर सार्वभौम स्वराज्यकी प्राप्ति होती है, उन पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्यौतिष, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद—ये चौदह विद्याएँ उपवेदोंके साथ विद्यार्थियोंको स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय आदिमें यथाधिकार पढ़ायी जायँ तो भारतवर्षका स्वरूप कुछ भिन्न ही बन जाय। आजकी प्रायः समस्त शिक्षा-संस्थाओंमें इतनी निकम्मी भारस्वरूप खर्चीली हानिकारक शिक्षा दी जाती है कि उसे प्राप्त करके विद्यार्थी अपनी जाति, धर्म, संस्कृति तथा गुरुजनोंका अनादर करनेवाले गुलाम मनोवृत्तिके कारकून (क्लर्क) मात्र तैयार होते हैं। अतएव देशकी जनताके उद्धारके लिये उपर्युक्त चौदह विद्याओं तथा अपने प्रतापी पूर्वजोंके आदेशोंको लक्ष्य बनाकर स्वतन्त्र ऋषिकुलों, ब्रह्मचर्याश्रमों एवं विद्यालयोंकी स्थापना करनी चाहिये और विद्यमान स्कूल-कालेजोंमें विशेष पाठ्य पुस्तकें तथा शिक्षक तैयार करके उनके द्वारा शिक्षा दी जाय, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

२४-मैं मानता हूँ कि हिंदूमात्रको शास्त्रविधिके अनुसार ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए दण्ड-बैठक, लाठी, कुश्ती आदि व्यायाम तथा सूर्यनमस्कार करके सशक्त, बलवान् बनना चाहिये और अपना, अपने कुटुम्बका, गौओंका, मन्दिरोंका, मूर्तियोंका तथा निर्बल-निराधार लोगोंका आततायियोंसे रक्षण करना चाहिये। भगवती श्रुति भी स्पष्ट आज्ञा देती हैं कि बलहीनको आत्मसाक्षात्कार अथवा परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती—'**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**—' अतः छोटे-बड़े सभी हिंदुओंको घर या अखाड़ेमें व्यायाम, कुश्तीकी शिक्षा लेकर मनुष्यकी भाँति अपने तथा दूसरोंके लिये उपयोगी बनना चाहिये।

२५-आत्मकल्याण तथा हिंदू-संस्कृति एवं हिंदूजाति, हिंदूधर्म एवं देशकी हितरक्षाके लिये मैं सर्वदा विशेष अवकाश निकालकर शुद्ध होकर बहुत नहीं तो प्रतिदिन एक माला अपने इष्ट—आराध्य प्रभुके नामकी एकाग्रचित्तसे जपूँगा और गीताजीके एक अध्यायका अवश्य पाठ करूँगा।

हरिनाम

जैसे प्यारे लागत दाम।
ऐसे रसिक अनन्य न लागत प्यारे स्यामास्याम। काया-जाया सौं रति बाढ़ी कौन कहै निष्काम॥
राग-तान-तालहिं मन दीनौं लेइ न हरिगुनग्राम। पापहरन सुचिकरन ब्यास पतितनकौ है हरिनाम॥

व्यासजी

हिंदुओंकी प्रामाणिकता

हिंदू इतने ईमानदार हैं कि न तो उन्हें अपने दरवाजोंमें तालोंकी आवश्यकता है और न कोई बात निश्चय हो जानेपर उसकी प्रामाणिकताके लिये किसी लिखा-पढ़ीकी।'

—प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार श्रीस्ट्रैबो (ईसासे पूर्व)

श्रीकृष्णाष्टक

(रचयिता—श्रीकेदारनाथजी बेकल, एम०ए०, एल० टी०)

(श्रीकृष्ण-जीवनसे शिक्षा)

मनमोहन दीनदयाल हरे
गोविन्द हरे गोपाल हरे
जगदीश्वर जन-प्रतिपाल हरे
गोविन्द हरे गोपाल हरे
सुन्दर तन, बाहु विशाल हरे
गोविन्द हरे गोपाल हरे
उर ललित कलित वनमाल हरे
गोविन्द हरे गोपाल हरे
पद्मेश, परेश, सुभाल हरे अखिलेश, अशेष, अकाल हरे
गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोपाल हरे

कुछ ऐसा मधुमय आकर्षण
श्रीकृष्ण नाममें पाते हैं
जड-चेतन श्रवन-मनन-गुन-गन
कर रस-विभोर हो जाते हैं
जन-मन-रंजन श्रीमनमोहन
नित लीला नयी दिखाते हैं
'मामेकं शरणं व्रज' घोषित-
कर प्रेमतत्त्व समझाते हैं
योगेश्वर ग्वालसखा-व्रजधन-गोपीवल्लभ नँदलाल हरे
गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोपाल हरे

गो-सेवा, मातृ-पितृ-सेवा
ब्राह्मण-सेवा, परिजन-सेवा
अर्जुनका रथ रणमें हाँका
की पाण्डव-पायक बन सेवा
था परम धर्म कंसारीके
जीवनका जीवन-धन सेवा
सेवक सम्राट बने हियके
यह है आदर्श चरण-सेवा
प्रेमावतार, गोचार, चतुर, चिन्तामणि, चाल मराल हरे
गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोपाल हरे

अर्जुनको माया-मुक्त किया
रणमें पथ-परिचायक बनकर
निष्फल नारायण-अस्त्र किया
शरणागत-भय-हारक बनकर
जब-जब अधर्म फैला, आये
सद्धर्म-सुसंस्थापक बनकर
जूएके दुष्परिणाम हरे
परिजन-पातक-दारक बनकर
पूर्णावतार अन्तरयामी, अति नीति-कुशल जनपाल हरे
गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोपाल हरे

अरि सूदन जगद्गुरू आये
जीवन-रहस्य दर्शानेको
मानव निज भाग्य विधाता है—
यह अटल सत्य समझानेको
भय-जरा-मरण बिसरानेको
कायरका नाम मिटानेको
श्रम-जीवन-तत्त्व सिखानेको
परहित सहर्ष मर जानेको
गुरुवर, विज्ञान-निधान, पूर्ण ज्ञाता, ज्ञाता, त्रयकाल हरे
गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोपाल हरे

वे स्वर्ग बनाने आये थे
सन्तप्त, द्वन्द्वमय भूतलको
सोतोंको जगाने आये थे
जाग्रत् करके अन्तर बलको
शुभ कर्म सिखाने आये थे
धोकर कायरताके मलको
भू-भार उठाने आये थे
वह अखिल विश्वके मंगलको
रस-मय, जीवनदाता, रसज्ञ, उत्साही-वीर-रसाल हरे
गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोपाल हरे

वह पाञ्चजन्यका महानाद
वह वंशीध्वनिका अमर राग
वह अनासक्तिका दिव्य घोष
वह विश्व-प्रेमकी मधुर राग
वह कर्म-योगका महामन्त्र
वह फलासक्तिका कठिन त्याग
वह मानवताका सकल यज्ञ
वह जीवन-कुसुमोंका पराग
गीतावक्ता, युगसंचालक, युगपरिवर्तक, युगपाल हरे
गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोपाल हरे

तुम पूर्ण सिंधु, मैं एक बिंदु
तुम दीनबंधु, मैं दीन-हीन
तुम दया-धाम मैं महा-अधम
तुम निर्विकार, मैं विषयलीन
तुम प्रेम-पुंज, मैं पाप-पुंज
तुम तेज-पुंज, मैं मन-मलीन
बेकल अनाथ कीजे सनाथ
श्रीचरणोंमें करके विलीन
हे गोप कृष्ण! हे श्याम कृष्ण! काटो समूल भव-जाल हरे
गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोविन्द हरे गोपाल हरे

भारतीय साधना

(लेखक—प्रो० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम०ए०)

विश्व सत् और असत्—दो तत्त्वोंके मिश्रणसे बना है। विश्वका सत् अंश उसे स्थिर और अविनश्वर रखता है तथा असत् अंश अस्थिर और विनश्वर। एक चेतन है, दूसरा जड। एकमें मानसिक पक्ष है, दूसरेमें पार्थिव। कतिपय दार्शनिक पार्थिव पक्षको मानसिक पक्षका ही रूपान्तर मानते हैं। इनके मतमें आन्तरिक विचारधारा, भावना तथा संस्कार बाह्य चेष्टाओं और शारीरिक विकासमें प्रकट हुआ करते हैं। दूसरे दार्शनिक ठीक इसके विपरीत कहते हैं। इनके मतमें मानसिक क्रियाएँ बाह्य शारीरिक चेष्टाओंकी परिणाम हैं। कुछ हो, इतना तो निश्चित है कि विश्व इन दोनों तत्त्वोंसे मिलकर बना है।

भारतीय ऋषियोंके चिन्तनका केन्द्र प्रायः विश्वका सत् अर्थात् चेतन अंश रहा है। असत् अंशकी उन्होंने उपेक्षा ही की है। उनकी दृष्टिमें मल-मूत्र-मात्र, अस्थि-चर्मावयव-विशिष्ट पार्थिवताका कोई महत्त्व नहीं है—यह तो साधन है। साध्य वस्तु इससे भिन्न है। हमारे ऋषियोंने इस साध्य वस्तुको आत्मतत्त्व कहा है और उच्चस्वरसे घोषित किया है—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'

अर्थात् 'आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय और मननीय है। हमें उसीका चिन्तन करना चाहिये।' उसीके लिये अन्य वस्तुएँ प्रिय लगती हैं।'

भारतीय ऋषि परमार्थप्रिय थे। प्रत्यक्षसे नहीं, वे परोक्षसे प्रेम करते थे। परोक्ष सिद्ध हो गया तो प्रत्यक्ष अपने-आप बन जायगा। अतः वे अन्तर्मुखी बनकर प्रत्यक्षसे परोक्षकी ओर चलते थे। जाग्रत् अवस्थाके अन्नमय तथा प्राणमय कोषोंको छोड़कर वे चितिके सहारे स्वप्नावस्थाके मनोमय कोष और वहाँसे सुषुप्ति-अवस्थाके आनन्दमय कोषतक पहुँचते थे। फिर कोषको भी छोड़कर वे तुरीयावस्थाकी सहज आनन्द-रूपताका अनुभव करते थे। प्रत्यक्ष प्रकृति है, माया है, संसार है। परोक्ष आत्मा है, चित् है। प्रत्यक्ष चलायमान है, परिवर्तनशील है, अतः नाशवान् है। आत्मा अचल है, शाश्वत है, अतः अविनाशी है। प्रत्यक्ष दुःखका हेतु है। आत्मा आनन्दरूप है। आनन्दकी कामना सभीको होती है। दुःखकी इच्छा कोई भी नहीं करता। अतः हमारे साधकोंका स्पष्टरूपसे यही मन्तव्य था कि मानवके पुरुषार्थका मुख्य लक्ष्य दुःखोंसे निवृत्ति और आनन्दकी प्राप्ति करना है।[1]

आनन्दकी यह उपलब्धि अभ्युदय और निःश्रेयस—द्विविध रूपवाली है।[2] अभ्युदय प्रवृत्तिमूलक है और निःश्रेयस निवृत्तिप्रधान। प्रवृत्तिमार्ग साधनाके क्षेत्रमें निष्काम कर्मका द्योतक है। निवृत्ति-पथमें ज्ञान एवं उपासनाकी प्रधानता है। इस प्रकार भारतीय ऋषियोंकी साधना ज्ञान, कर्म एवं उपासना—इन तीन धाराओंमें प्रवाहित होनेवाली त्रिपथगा गंगाके समान है। इन्हीं तीन मार्गोंपर चलकर मानव अपने अभीष्टको प्राप्त करता है। अनेक आचार्यों एवं संतोंने एक पथकी सम्पूर्ण उत्तीर्णताको भी अभीष्ट-प्राप्तिका साधन माना है; पर सर्वमान्य सिद्धान्त यही रहा है कि तीनों मार्गोंका समन्वय ही सम्यक् सिद्धिका हेतु है। उपनिषदोंकी सारभूत श्रीमद्भगवद्गीतामें भी ज्ञान, कर्म एवं उपासना—तीनोंका विवेचन पाया जाता है; पर प्रधानता उसने निष्काम कर्मको दी है, जो ज्ञान और उपासनाके बिना सम्भव नहीं।

ज्ञान बुद्धिसे सम्बन्धित है और उपासना श्रद्धा एवं विश्वासपर अवलम्बित है। प्रत्येक कार्यके मूलमें इन दोनोंका होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार कर्मके लिये ज्ञान और उपासना, बुद्धि और श्रद्धा-विश्वासकी आवश्यकता है, उसी प्रकार ज्ञानार्जनके लिये कर्म (तप) और उपासना (श्रद्धा) तथा उपासनाके लिये ज्ञान और कर्म उपेक्षित हैं।

उपासनासे पूर्व भक्तिकी भूमिकामें स्तुति तथा प्रार्थना आते हैं। स्तुतिमें प्रभुके गुणोंका कीर्तन होता है। किसीके गुणोंका ज्ञान उसके स्वरूपको समझनेमें अधिक सहायता देता है। अतः स्तुति (गुण-कीर्तन) ज्ञानकाण्डके

१- त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। (कपिल-सांख्य)

२- यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (कणाद-वैशेषिक)

अन्तर्गत है। प्रार्थनामें प्रभुसे पापके प्रक्षालन और पुण्यकी प्राप्तिके लिये याचना की जाती है। दानवताका दमन और दैवी विभूतियोंका विकास कर्मकी अपेक्षा रखते हैं। अनवरत कर्म, सतत अभ्यासके द्वारा ही उनकी सिद्धि सम्भव होती है। इस प्रकार अकेली भक्ति भी ज्ञान (स्तुति), कर्म (प्रार्थना) और उपासनाकी पावन त्रिवेणीके संगमका रूप धारण कर लेती है।

आस्तिक आर्योंकी विश्वासी बुद्धिके अनुसार वेद ब्रह्मकी वाणी है। उसमें समस्त साधनाओंके, कर्तव्योंके सूत्र संकलित हैं। ऋग्वेद ऋक् अर्थात् स्तुतिपरक है। आदिकालीन ब्राह्मण स्तोता थे। ऋग्वेद इन्हीं स्तोताओंकी ऋचाओं अर्थात् स्तुतियोंसे भरा पड़ा है। इन स्तुतियोंद्वारा अग्नि, वायु, द्यौ, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, अदिति, ऋत, सत्य, मेध आदिके गुण-दोषोंका विवेचन हुआ और विश्वकी नाना प्रकारकी शक्तियोंके सम्बन्धमें प्रचुर ज्ञान-राशि संचित हो गयी। ऋग्वेदको इसीलिये ज्ञानकाण्डका वेद कहा जाता है। यजुर्वेदके प्रथम मन्त्रमें ही श्रेष्ठतम कर्म करनेका आदेश दिया गया है। यह वेद यजुस् अर्थात् कर्मकाण्डका वेद है। सामवेद हृदयके रागात्मक अंशसे सम्बन्ध रखता है। यह उपासनाकाण्डका वेद है। अथर्ववेद पूर्वोक्त वेदत्रयीसे समन्वित होकर एक ओर ब्रह्मविद्याका प्रकाश करता है तो दूसरी ओर लौकिक ज्ञानका भी भण्डार बना हुआ है। इसी हेतु इसे ब्रह्मवेद कहते हैं। देवर्षि पितामह ब्रह्माने इस ज्ञान, कर्म और उपासनाकी त्रिवेणीमें स्नान करके मानवोंके लिये साधना-क्षेत्रको सुलभ बना दिया।[1]

इस प्रकार साधनाका पथ हमारे आदिकालीन साहित्यसे ही निःसृत अथवा सम्बद्ध होकर अनवच्छिन्नरूपसे आजतक हमारे साथ चला आया है। इस साधनपथकी अन्तिम परिणति, चरम सीमा, प्रधान लक्ष्य आत्मतत्त्वकी प्राप्ति अथवा जीवनके चरम उत्कर्ष आनन्दकी उपलब्धि है। उपनिषद्के ऋषिने इस अवस्थाको 'भूमा' नाम दिया है और कहा है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
(केन० २। ५)

जिस प्रकार वेदत्रयी अथवा ज्ञान, कर्म एवं उपासनाका संगम भारतीय साधनाकी एक विशेषता है, उसी प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्तिकी समन्विति भी। यह ठीक है कि किसी समय प्रवृत्तिकी प्रधानता रही है और किसी समय निवृत्तिकी; परंतु भारतीय साधकोंने प्रवृत्तिमें निवृत्ति और निवृत्तिमें प्रवृत्तिके सामंजस्यको सदैव आदरकी दृष्टिसे देखा है। उन्होंने अंदर और बाहरकी एकताको अनुभव किया है।[2]

साधनाका एक अत्यन्त समान्य रूप सन्ध्या है, जिसका अर्थ है—अपने लक्ष्य, अपने इष्टदेवका सम्यक् प्रकारसे ध्यान करना। इस सन्ध्यामें भी प्रवृत्ति एवं निवृत्तिके समन्वयकी ओर साधककी दृष्टि रहती है। वह अंगन्यासद्वारा अपनी इन्द्रियोंको बलवती और यशस्विनी बनानेकी प्रार्थना करता है और परिमार्जनद्वारा उन्हें पवित्र बनानेकी भावनामें लीन होता है। यही है प्रवृत्तिको निवृत्तिकी ओर मोड़ना और निवृत्तिको प्रवृत्तिकी ओर अग्रसर करना। साधनाके क्षेत्रमें प्रवृत्तिपरायणता एवं निवृत्तिपरायणता जब एक-दूसरेमें मग्न हो जाती हैं, तब साधक उच्चतम अवस्थामें पहुँच जाता है। भारतीय साधनाकी यह दूसरी विशेषता है।

भारतीय साधनाकी तीसरी विशेषता द्वैतमें अद्वैतकी स्थितिको हृदयंगम करना है। विश्वमें विविधरूपता दृष्टिगोचर होती है, पर इस विविधरूपताके अन्तरसे गया हुआ एक ही तार इसे एकरूप भी बनाये हुए है। यह एक तार आत्मतत्त्व है, जो स्वतः आनन्दरूप है। नाना मनोवृत्तियोंको धारण करनेवाले प्राणी इसी एक तत्त्वकी ओर जाने-अनजाने चले जा रहे हैं। सबकी आकांक्षा आनन्दरूप बननेकी है। सबकी भूख इस आनन्दरूपका उपयोग करनेके लिये जाग्रत् हो रही है। सब आनन्दमय बनना चाहते हैं। आनन्दकी ओर उन्मुख यह प्रवृत्ति विश्वके नानात्वको एकत्वकी ओर प्रेरित कर रही है। भारतीय साधकने, बिना किसी अपवादके, इस विविधरूपतामें एकरूपताके दर्शन किये हैं। ईशोपनिषद्का ऋषि कहता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

१- अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुःसामलक्षणम्॥ (मनु०)

२- यदन्तरं तद् बाह्यं तद् बाह्यं तदन्तरम्। तथा यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे।
इक बैरागी गिरहमें, इक गिरही में बैराग॥ (कबीर)

भारतीय साधनाकी चौथी विशेषता प्रत्येक साधककी अवस्थाके अनुसार उसे साधनामें प्रवृत्त करना है। हम सब एक ही स्थितिमें नहीं हैं। जो प्राणी जिस कोटि, श्रेणी या स्थितिमें है, वह उसी स्थितिमें रहता हुआ साधना कर सकता है। वृत्तका केन्द्र एक है, पर उसकी परिधिके विन्दु अनेक हैं और वे सब एक-एक सीधी रेखाके द्वारा उससे संयुक्त हो जाते हैं। जो विन्दु जहाँ है, उसे वहाँसे किसी दूसरे विन्दु अथवा उसके मार्गका उल्लंघन नहीं करना पड़ता। वह सीधे अपने स्थानसे चलकर केन्द्रविन्दुके साथ एक हो जाता है। इसी प्रकार जो प्राणी जिस अवस्थामें है, वह वहींसे अपने अन्तिम लक्ष्को प्राप्त कर सकता है। वेदने '**बह्वीगीर्भिःईमहे**' कहकर इसी तथ्यकी ओर संकेत किया है।

भारतीय साधना गुरुकी महत्ताको स्वीकार करती है। यह उसकी पाँचवीं विशेषता है। वैसे तो सब गुरुओंका आदि गुरु वह परमतत्त्व ही है जिसे ब्रह्म, ईश्वर, प्रभु, परमात्मा आदि अनेकों नामोंसे पुकारा जाता है। पर साधनाके क्षेत्रमें साधकको उस पथके चीर्णव्रत, पथक्रान्त, द्रष्टा पथिकोंसे भी पथप्रदर्शनमें पर्याप्त सहायता मिल जाती है। पथ तो उसे स्वयं ही पार करना होता है; उस पथको दिखलानेवाला, मार्गमें आनेवाले कण्टकरूप विघ्नोंसे सावधान करनेवाला और आवश्यकता पड़नेपर हाथ लगाकर आगे बढ़ानेवाला एक समर्थ पथ-प्रदर्शक चाहिये ही। गुरुका महत्त्व इसी कारण है। गुरु अविवेकी साधककी आँखोंमें ज्ञानका अंजन तथा भक्तिका सुरमा लगाकर उसे विवेकसम्पन्न द्रष्टा बना देता है। दीपक हाथमें देकर कहता है—'इसके प्रकाशमें आगे बढ़े चलो।' फिर यदि कहीं स्खलन होता है तो तुरंत मार्गपर चलनेके लिये खड़ा कर देता है, व्यवधान आनेपर समाधान करता है और साधकको उसके गन्तव्य स्थलतक पहुँचा देता है।

वास्तवमें हम सब यात्री हैं, पथके पथिक हैं। जबसे अपने घरसे पृथक् हुए हैं, तबसे चल ही रहे हैं और तबतक चलते रहेंगे जबतक अपने घर फिर नहीं पहुँच जाते। भारतीय साधना हम सब पथिकोंको उसी घरतक पहुँचानेका प्रयत्न करती है। वह सत्से चित् और चित्से आनन्दकी ओर ले जानेवाली है। '**आनन्दाद्धि खलु इमानि भूतानि जायन्ते**'—आनन्दरूप उस महाचितिसे ही हम पृथक् हुए थे—पृथक् होनेके पश्चात् उत्तम, मध्यम, अधम आदि अनेक आवरणोंमें उलझते गये। भारतीय साधना इन समस्त आवरणोंको चीरती हुई दुःखोंसे दूर करती हुई साधकोंको आनन्दरूप अवस्थातक पहुँचा देती है। यह आनन्दरूप अवस्था ही परम धाम है, गुह्यतम गति है, तत्त्वोंका तत्त्व है—वह परोक्ष तार है, जो प्रत्यक्षकी विविधतामें व्याप्त है। भारतीय ऋषियों, मनीषियों, साधकोंके चिन्तन, मनन और भजनका यही केन्द्रविन्दु है। यही उत्से उत्तर और उत्तरसे उत्तम ज्योति है, जिसे हम पथिकोंको प्राप्त करना है। यही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय, अचल और अविनाशी परम आत्मत्त्व है।

वेद इसीकी व्याख्यामें संलग्न हैं। तपस्वी इसीके लिये तप करते हैं। वीतराग यतियोंकी यही विश्राम-भूमि है। ब्रह्मचारी इसीकी कामना करते हैं। यही सबसे श्रेष्ठ, सबसे ज्येष्ठ और सबसे प्रेष्ठ अक्षर ब्रह्म है।

भारतीय साधनाका यही चरम लक्ष्य है।

हिंदू-संस्कृति और परलोक

(लेखक—डॉ० श्रीसदाशिव कृष्ण फड़के)

भूर्भुवः स्वर्महश्चैव जनश्च तप एव च।
सत्यलोकश्च सप्तैते लोकस्तु परिकीर्तिताः॥

(अग्निपुराण)

पूर्वपक्ष

परलोककी कल्पना आद्य मानवमें तथा सभी धर्मोंमें दृष्टिगोचर होती है। पर हिंदू-संस्कृतिमें इस विषयमें जैसी मत विचित्रता, कल्पनाकी सूक्ष्मता और व्यापक दृष्टि देख पड़ती है, वैसी अन्य धर्मोंमें नहीं देख पड़ती। हिंदू संस्कृतिमें इसकी जितनी विविधता है, उतनी ही गूढ़ता है। आधुनिक संस्कृतिका यह दावा है कि मनुष्यको इसी लोकका विचार करना चाहिये, परलोकका विचार करना व्यवहारकी दृष्टिसे अपनी बुद्धि और समयका केवल अपव्यय करना है। परमार्थकी दृष्टिसे परलोकका विचार करना चित्तकी विक्षिप्ततामात्र है। नवसंस्कृतिने इस विश्वको मानो आधिभौतिक और आध्यात्मिक—इन्हीं दो विभागोंमें बाँटा है।

आधियाज्ञिक और आधिदैविक विभागोंको माननेकी ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं देख पड़ती। परलोककी कल्पना प्रायः मरणोत्तरस्थिति-सापेक्ष ही मानी जाती है। पर जीवकी मरणोत्तर-सत्ताके विषयमें ही जब मन निःसन्देह नहीं है, तब 'आप मरे, जग डूबा' जैसी वृत्ति ही जीवकी बन जाती है। और उसमें परलोकके विषयमें कोई आस्था नहीं रहती। मृत्यु एक बहुत ही अशुभ घटना है, इस कारण इस विषयकी चर्चाको एक प्रकारका तिरस्करणीय अमांगल्य प्राप्त हुआ है। इसके सिवा, व्यावहारिक उपयुक्ततावाद और स्थूल स्वार्थ ही नवयुगका प्रेरक होनेके कारण मरणोत्तर शून्यावस्थाकी ओर आज कोई झाँकना भी नहीं चाहता।

ऐकान्तिक विचार

परलोकके सम्बन्धमें नास्तिक अथवा ब्रह्मात्मनिष्ठ विचार हिंदू-समाजमें पहले किसी समय न रहे हों—ऐसी बात नहीं है। चार्वाकदर्शन और वेदान्तदर्शन प्राचीन हिंदू-संस्कृतिके दो चरम विन्दु हैं। अजित केशकम्बली और लोकायतके मतानुसार परलोक है ही नहीं।

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।

(चार्वाकदर्शन)

केवलाद्वैतियोंके अजातवादके अनुसार भी परलोक-संचरण घटाकाशके गमनागमनके समान अविद्यात्मक भ्रम है[1] (माण्डूक्यकारिका ३। ९)। इसी प्रकार तृणकी जोंक दूसरे तृणका आधार मिले बिना पहले तिनकेको नहीं छोड़ती—इस तृणजलूकान्यायसे जीव आगेका शरीर (जन्म) मिले बिना पूर्वशरीर नहीं छोड़ता, इस बृहदारण्यकके दृष्टान्तसे परलोकवाद अर्थात् परलोकगमनवाद आपाततः बाधित होता-सा दीखता है[2]। महाभारतके सनत्सुजातपर्व (अ० ४२) में मृत्युकी ही सत्ता नहीं है। अपने स्वरूपके विषयमें अज्ञानको ही मृत्यु कहा है। इसी प्रकार भागवत (११। १२। ३८)-में मृत्युनाम आत्यन्तिक विस्मृतिका है। योगवासिष्ठ (३।४०; ३। ५५)-में कहा है कि परलोक-संचार प्रत्येक मृतात्माकी मृत्युस्वरूप महानिद्राका पृथक् स्वप्न है। विशुद्ध वेदान्ती ब्रह्मकी सत्ता पारमार्थिक और अन्य सबकी प्रातिभासिक (भ्रमरूप) मानते हैं।

परलोक-सत्ता

परंतु आधुनिक जगत्के अश्रद्धालु धर्मनिरपेक्षवादसे अथवा प्राचीन जगत्के पारमार्थिक ऐकान्तिक विचारोंसे परलोककी व्यावहारिक सत्ता मेटी नहीं जा सकती। जिस तरह इहलोक है, उसी तरह परलोक भी है। जैसे दृश्य है, वैसे ही अदृश्य भी होना ही चाहिये और वह है ही। और तो क्या, दृश्यकी अपेक्षा अदृश्यका, इहलोककी अपेक्षा परलोकका विस्तार बहुत अधिक है—यह बात परम्परासे प्रसिद्ध है और युक्ति सिद्ध भी। अब इस परलोकका स्वरूपनिश्चय, संख्यानिश्चय और स्थाननिश्चय किस प्रकार किया जाय—यह प्रश्न अति गूढ़ और जटिल है। परलोक चाहे कैसे भी हों, कितने भी हों और कहीं हों—वे जब हैं, उनकी व्यावहारिक सत्ता है और प्रत्येक जीवको मृत्युके बाद उन लोकोंमें जाना ही पड़ता है। तब उन ज्ञाताज्ञात परलोकोंका विचार दृष्टिके सामने रखनेको व्यर्थ और निन्द्य समझना समझदारीका परिचय देना नहीं है। भौतिक जडवादी और कट्टर वेदान्ती भले ही इस विषयमें जो चाहें कहा करें। परलोकके सम्बन्धमें हिंदू-संस्कृतका सम्पूर्ण विवरण एक बड़े ग्रन्थमें भी पूरा नहीं होगा। तथापि इस छोटे-से लेखमें उसकी कुछ विशिष्ट बातोंका उल्लेख मात्र किया जाता है।

वैदिक त्रैलोक्य

परलोकके सम्बन्धमें इह और पर, इस प्राथमिक द्वन्द्वके समान पृथ्वी और द्यौ—ये दो ही लोक वेदोंमें पहले आते हैं। स्वर्ग और मृत्यु, द्यावापृथिवी—यह द्वैत ही वेदोंमें पहले देख पड़ता है। विश्वके माँ-बाप ये ही हैं (ऋग्० १। १५९-१६०)। इन द्वन्द्वोंमेंसे ही मध्यस्थ अन्तरिक्षरूप तीसरा लोक आप ही सिद्ध हुआ। इस प्रकार त्रैलोक्यकी भावना रूढ़ हुई। मातृत्वका पद तब अन्तरिक्षरूप अथवा आकाशरूप अदितिको प्राप्त हुआ। वामनके तीन विक्रम द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष—ये तीन लोक ही हैं (ऋग्० १०। १५४)। वेदोंके मन्त्रभागमें परलोकके सम्बन्धमें त्रैलोक्य भावना ही मुख्य है

१- केवलाद्वैतमें दो सत्ताएँ मानी गयी हैं—पारमार्थिक और व्यावहारिक। व्यावहारिक सत्तामें सब कुछ है। पारमार्थिकमें तो इहलोक भी नहीं है, तब परलोककी बात ही क्या।

२-सिद्धान्त ठीक है। बिना शरीरके जीवात्मा रह नहीं सकता परंतु मरणोत्तर-शरीर स्थूल ही हो, यह आवश्यक नहीं है। वह देवलोक या पितृलोकादिके योग्य तैजस या वायुप्रधान आतिवाहिक शरीर होता है। अतएव इस दृष्टान्तसे वस्तुतः परलोक या परलोकगमन बाधित नहीं होता।

(ऋग्० १०। १६। ३)। ऐतरेय ब्राह्मणमें इन्हींको भूः, भुवः, सुवः कहा है। ये उत्तरोत्तर क्रमसे अधिकाधिक श्रेष्ठ हैं (ऋग्० १०। १५। १)। वेदोंके संहिताभागमें जीवोंके मरणोत्तर गमनके देवयान और पितृयान, दो मार्ग बताये गये हैं। (ऋग्० १०।८८।१५; १०।२।७)। इसी प्रकार उसमें पाताल (ऋग्० १०। ५८), अगाध स्थान अथवा नरक (ऋग्० ४।५।५; अथर्व० २। १४। ३), यमलोक (ऋग्० १०। १४), पितृलोक (ऋग्० १०। १५; अथर्व० १८। २। ४९), वरुणलोक (ऋग्०७। ८८), असूर्यलोक (यजुः० ४०। ३), भुवन (ऋग्० १। ३५) आदिके उल्लेख प्रसंगसे हुए हैं; पर मुख्य भावना त्रैलोक्यकी ही दीखती है।

औपनिषदिक लोक

उपनिषदोंमें परलोकोंकी गणना बहुत बढ़ गयी है। उदाहरणार्थ, बृहदारण्यक (३। ६)के याज्ञवल्क्य-गार्गी-संवादमें 'अन्तरिक्षलोकको गन्धर्वलोकमें, गन्धर्वलोकको आदित्यलोकमें, आदित्यलोकको चन्द्रलोकमें, चन्द्रलोकको नक्षत्रलोकमें, नक्षत्रलोकको देवलोकमें, देवलोकको इन्द्रलोकमें, इन्द्रलोकको प्रजापतिलोकमें, तथा प्रजापतिलोकको ब्रह्मलोकमें बतलाकर अन्तमें यह निष्कर्ष निकाला है कि 'यह सब आकाशमें और आकाश अक्षरमें ओत-प्रोत है।' पर उपनिषदोंका मुख्य विषय परलोकवर्णन नहीं है; इसलिये बृहदारण्यकमें तथा अन्य उपनिषदोंमें जो अनेक परलोकोंके नाम आये हैं, उन नामभेदोंमें कदाचित् श्रुतिका कोई विशेष अभिप्राय न होगा। उक्त याज्ञवल्क्य-गार्गी-संवादमें अक्षरब्रह्मकी महत्ता और व्यापकता बतलाना ही मुख्य आशय प्रतीत होता है। उस व्यापक अक्षरब्रह्ममें व्याप्य लोक कौन-कौन-से हैं—यह सिद्धान्तरूपसे बतलाना वहाँ अभिप्रेत न होगा। उपनिषदोंमें भी त्रैलोक्यभावना ही मुख्य है(बृहदारण्यक० ३। ९। ८); परंतु स्थूल-दृष्टिसे देखते हुए कह सकते हैं कि मन्त्रभागमें स्वर्लोकका जो माहात्म्य है, वही आगेके वाङ्मयमें लोकको प्राप्त हुआ है।

पुराणोक्त ब्रह्माण्डरचना

आगे पौराणिक वाङ्मयमें परलोकभावना अधिक विस्तृत और सुस्पष्ट है। इसमें द्विविधता, त्रिविधता, पंचविधता, सप्तविधता—विविधताके ये विविध प्रकार हैं। तथापि सप्तविधता ही सर्वप्रधान देख पड़ती है। उदाहरणार्थ, सप्तद्वीप[1], सप्तसमुद्र[2], सप्तावयव[3], सप्तलोक[4] सप्तपाताल[5], सप्तावरण[6] अथवा नरक, सप्ताकाश[7] इत्यादि सप्तविधताका विस्तृत वर्णन ब्रह्मपुराणादिमें है (श० ब्रा० हिंदीविज्ञानभाष्य, पुस्तक तीसरी)। हिंदू-संस्कृतिकी पिण्ड-ब्रह्माण्डभावना बहुत विलक्षण है। सूर्यके सदृश किसी भी वस्तुकी प्रभा या सूक्ष्म सत्ता चाहे कितनी ही विस्तृत और व्यापक मानी जाय, हमारी कल्पनादृष्टिमें उसका आकार गोल ही होता है। अखिल ब्रह्माण्ड भी, जिसकी परिधिका कोई पता नहीं, इस प्रकार वर्तुलाकार ही कल्पनामें आता है। पर ब्रह्माण्डका शास्त्रोक्त वर्णन कुछ और ही है। सृष्ट्युन्मुख हुए अव्यय पुरुषने 'मैं बहुविध होऊँ' ऐसा जो आद्य संकल्प किया, पर संकल्पात्मक ब्रह्माण्डने मानो पुरुषरूपाकृति ही धारण की। 'पिण्डमें सो ब्रह्माण्डमें' इस न्यायसे इस मानव पिण्डके समान ही ब्रह्माण्डकी सगुण रूपाकृति सिद्ध हुई। अर्थात् हमारे पिण्डमें जिस प्रकार श्रेष्ठ-कनिष्ठ अंग और असंख्य कोषाणु हैं, उसी प्रकार इस मायाशबल विराट् पुरुषके शरीरमें श्रेष्ठ-कनिष्ठ लोक और असंख्य क्षुद्र ब्रह्माण्ड या लोक निर्माण हुए। (सूर्योदय, जून१९४२ का अंक)

विविध कल्पना

वेद अपौरुषेय होनेके कारण हिंदू-संस्कृतिमें स्वतः प्रमाण माने जाते हैं। पर इसके बादके वाङ्मयका प्रामाण्य क्या है, यह प्रश्न आप ही उपस्थित होता है। हमलोगोंको यहाँ केवल परलोकके सम्बन्धमें ही इस बातका विचार करना है। परलोक-सम्बन्धी ज्ञान प्राचीन ऋषि-मुनियोंने योगबलसे प्राप्त किया होगा, यह स्पष्ट है।

१. जम्बुः प्लक्षः, शाल्मलिः, कुशः, क्रौञ्चः, शाकः, पुष्करः।
२. लवणोदः, ऐक्षवोदः, सुरोदः, घृतोदः, क्षारोदः, दधिमण्डोदः, स्वादूदकः।
३. आवह, प्रवह, संवह, परिवह इत्यादि।
४. भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्।
५. अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल।
६. रौरव, तान, विमोहन, कृमीश, लालाभक्ष, अधःशिरा, अवीचि।
७. अपोदकः, ऋतधामा, अपराजितः, व्रध्नस्य विष्टपम्, अधिद्यौः, प्रद्यौः, रोचनः।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्॥ २६॥

(पातंजल-योग-दर्शन, विभूतिपाद)

परलोकसे समान्यत: हमलोग उन्हीं अदृश्य लोकोंको समझते हैं, जहाँ देव, पितर, गन्धर्वादि रहते हैं; परंतु हिंदू-संस्कृतिनिष्ठ आधुनिक विद्वानोंकी लौकिक दृष्टिमें ये सब समाज इहलोकके ही हैं। इस मतके अनुसार ब्राह्मण ही देव, क्षत्रिय ही मानव, वैश्य ही पितर, भूत-प्राणी ही भूत, हिमालयके अधिवासी ही गन्धर्व हैं। कुछ दूसरे वैदिक वैज्ञानिक प्राङ्मेरुभूको ही त्रिलोक मानते हैं। तदनुसार दक्षिण समुद्रसे हिमालयपर्यन्त पृथ्वीलोक, हिमालयसे उत्तर ओर अलताई पर्वततक वायुलोक अथवा अन्तरिक्ष और उसके भी उत्तर तरफ साइबेरियामें ऐन्द्रलोक या स्वर्गलोक बनता है। कुछ लोगोंके मतसे इस भूलोकके अन्तर्गत प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक ही परलोक हैं।

चतुर्दश भुवन

इन तीनों प्रकारकी मान्यताओंके कुछ आधार अवश्य ही होंगे। पर विस्तारभयसे उनका विचार यहाँ नहीं करना है। इसी प्रकार अनन्त आकाशके अगणित तारागणोंमें जो असंख्य ज्ञाताज्ञात खगोल हैं, उनका भी विचार इस लेखमें नहीं किया जायगा। जो लोक सामान्यत: इन्द्रियगोचर नहीं हैं, दूरवीक्षण यन्त्रसे भी जो दिखायी नहीं दे सकते, उन्हीं हिंदू-संस्कृतिसम्मत सूक्ष्म और व्यापक लोकोंका निर्देश यहाँ किया जा रहा है—

सप्तपाताल—हिंदू-संस्कृतिके अनुसार इस ब्रह्माण्डमें मुख्यत: १४ भुवन या लोक हैं—७ ऊर्ध्वलोक और ७ अधोलोक। इनमें अधोलोकको विलस्वर्ग भी कहा है। ये सब पृथ्वीके गर्भमें भूमिके नीचे हैं। इनका वैभव ऊर्ध्वलोकान्तर्गत स्वर्गकी अपेक्षा भी किंचित् अधिक वर्णित हुआ है। यहाँ दिन और रातका भेद नहीं है। अत: सुखोपभोगमें कोई प्रत्यवाय नहीं है। इन सप्तपातालरूप विवरोंमें रहनेवाले जीव सदा आनन्दमें रहते हैं। यहाँके सुखोपभोग और सौन्दर्यविलासको असुरोंकी कपटविद्या और मायाने बहुत समृद्ध किया है। इन भूगर्भगत सात स्तरोंमेंसे (१) अतलमें मयासुरपुत्र वल स्वामी है, (२) वितलमें हाटकेश्वर शंकर भवानीके साथ युग्मभावसे रहते हैं, (३) सुतल सुप्रसिद्ध बलिराजाका स्थान है। ये तीनों स्तर आपोमय माने जाते हैं। (४) तलातलमें मयासुरका राज्य है, (५) महातलमें क्रोधवश नामक सर्प-समुदायका निवास है, (६) रसातलमें दैत्य और दानव रहते हैं। ये तीन स्तर अग्निमय माने जाते हैं। (७) पाताल प्राणाग्निमय है और यहाँ नागोंके अधिपति रहते हैं। (विष्णु-भागवत ५। २४, श० ब्रा० हिंदीविज्ञानभाष्य ३)

सप्तस्वर्ग—सात ऊर्ध्वलोकोंमें (१) भूर्लोक और (२) भुवर्लोकको भौमस्वर्ग कहते हैं। इन दोनोंके भीतर सूर्य, चन्द्र, ध्रुव, नक्षत्र, पृथ्वी आदि सब स्थूल लोक आ जाते हैं (भागवत् ५। २०)। इनके ऊपर स्थित दिव्य स्वर्गोंमेंसे (३) तीसरे स्वर्लोकको माहेन्द्र स्वर्ग कहते हैं, (४) महर्लोकको प्राजापत्य स्वर्ग, (५) जनलोक, (६) तपोलोक और (७) सत्यलोक—इन तीनों लोकोंको ब्राह्म स्वर्ग कहते हैं। इन पाँच दिव्य स्वर्गोंमें सात्त्विक अंशकी अधिकता है और वे एक-से-एक बढ़कर हैं (भारतवर्षका इतिवृत्त)।

जम्बुद्वीप

भूलोकके अन्तर्गत जो अनेक भाग या उपलोक हैं, वे हमारे इस स्थूल मृत्युलोकसे सूक्ष्म और इस कारण सामान्यत: अदृश्य होनेके कारण इहलोकसे भिन्न परलोक माने गये हैं। उनमें उपरिनिर्दिष्ट सप्तद्वीप और सप्तसमुद्र स्थूल नहीं, किंतु पृथ्वीके चारों ओर सूक्ष्म द्रव्यके विभाग हैं। उनमें (१) जम्बुद्वीप केन्द्र है और उसके गर्भमें पृथ्वी है। इस जम्बुद्वीपके (१) इलावृत, (२) भद्राश्व, (३) किंपुरुष, (४) भारत, (५) हरि, (६) केतुमाल, (७) रम्यक, (८) कुरु और (९) हिरण्यमय—ये नौ वर्ष यानी विभाग हैं। इनमें भारतवर्ष ही मृत्युलोक और अन्य सब देवलोक हैं। इनमें इलावृत बीचोबीच है और उसके नाभिस्थानमें मेरुपर्वत है। यह पर्वत स्थूल पाषाणमय नहीं, बल्कि एक शक्तिमय आधारस्तम्भ है। इन नौ वर्षोंके उपास्यदेव यथाक्रम (१) श्रीशंकर (२) श्रीहयग्रीव (३) श्रीमारुति (४) श्रीनर-नारायण, (५) श्रीनृसिंह, (६) श्रीकामदेव, (७) श्रीवैवस्वत मनु, (८) श्रीकूर्मावतार और (९) श्रीयज्ञपुरुष वाराह हैं। इसी जम्बुद्वीपमें (१) नरकलोक (२) पितृलोक और (३) प्रेतलोक स्थित हैं। इस प्रकार हमारे ब्रह्माण्ड के १४ भुवनों, ७ द्वीपों, ९वर्षों और ३ लोकोंमें मृत्युलोक यानी भारतवर्ष अखिल ब्रह्माण्डका $\frac{१}{१७७६}$वाँ अंश है और इसके नौ विभागोंमेंसे एक

आर्यावर्त्त अर्थात् भारतद्वीप ही यह हिंदुस्थान है (तन्त्रालोक: अष्टमाह्निकम्; विष्णुभागवत ५। १६। १९; विष्णुपुराण २। २; मत्स्यपुराण अ० ११४)।

नरकलोक

जम्बुद्वीपके नौ वर्ष निर्दिष्ट हुए। अब उसीके अन्तर्गत नरकलोक, प्रेतलोक और पितृलोकके विवरण आगे देते हैं। इस जम्बुद्वीपके चतुर्दिक् इतना ही बड़ा वातावरणरूप लवण समुद्र है। उसीके साथ भारतवर्षके नीचे मुख्य सात नरकलोक हैं। इन्हें आवरणलोक कहते हैं। इनके सूर्य-नाड़ियोंके हिसाबसे ७, और २७ नक्षत्रोंके हिसाबसे २७ तथा अभिजित् मिलाकर २८ विभाग माने गये हैं। इनमें ये २१ मुख्य हैं—(१) तामिस्र—इसमें परस्त्री-परधन-हरणका यमदण्ड भोगना पड़ता है, उससे जीव मूर्छित हो जाते हैं। (२) अन्धतामिस्र—इसमें धोखा देकर परस्त्री-परधन-हरण करनेका यह दण्ड मिलता है कि बुद्धिनाश और दृष्टिनाश हो जाता है और विविध यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। (३) रौरव— इसमें देहाभिमान, परपीड़ा और अन्याय करनेका यह दण्ड मिलता है कि उसे कृमियोंका आहार बनना पड़ता है। (४) महारौरव—इसमें परद्रोहके दण्डस्वरूप जीवको क्रव्याद प्राणी खाते हैं। (५) कुम्भीपाक—इसमें जीवित पशु-पक्षियोंको उबालनेके पापका यह फल मिलता है कि जीव तेलमें तले जाते हैं। (६) कालसूत्र—इसमें वेद, ब्राह्मण और पिताका द्रोह करनेके पापमें अग्निदाह, भूख और प्यासका दु:ख दीर्घ कालतक भोगना पड़ता है। (७) असिपत्रवन—इसमें पाखण्डी लोग तलवारकी-सी धारवाले ताड़पत्रोंसे काटे जाते हैं। (८) सूकरमुख—इसमें अन्यायी राजाओंको ऊखकी तरह पेरा जाता है। (९) अन्धकूप—इसमें अन्य प्राणियोंको पीड़ा पहुँचानेवाले उन-उन प्राणियोंद्वारा पीड़ित किये जाते हैं। (१०) कृमि-भोजन—इसमें पंचमहायज्ञ न करनेवालोंको कृमियोंपर निर्वाह करना पड़ता है। (११) संदंश—इसमें चोरीके अपराधमें लाल पलीतोंसे भूनते हैं (१२) तप्तसूर्मि—इसमें व्यभिचारके पापमें तप्त पुतलेसे बाँधकर मारते हैं। (१३) वज्रकण्टकशाल्मलि—इसमें पश्वादिगमनके पापमें काँटोंपरसे खींचते हैं। (१४) वैतरणी—इसमें धर्मविरोधी राजाओं और राजसेवकोंको विष्ठा-मूत्र-पीब आदि अमंगल प्रवाहोंमें डाल दिया जाता है। (१५) पूयोद—इसमें कर्मभ्रष्ट और शूद्र-स्त्री-समागम करनेवाले अमंगल विष्ठा-मूत्रादिमें गिरकर वही भक्षण करते हैं। (१६) प्राणरोध—इसमें हिंसादि निषिद्ध कर्म करनेवाले ब्राह्मणोंकी यमदूतोंद्वारा हिंसा की जाती है। (१७) विशसन—इसमें मांसभक्षणके लोभसे यज्ञ-याग करनेवाले ब्राह्मण यमदूतोंद्वारा काटे जाते हैं। (१८) लालाभक्ष—इसमें स्त्रीपर बलात्कार करनेके पापमें रेत:प्राशन करना पड़ता है। (१९) सारमेयादन—इसमें प्रजापीड़न करनेवाले राजा और राजसेवक कुत्तोंद्वारा नोचे जाते हैं। (२०) अवीचि—इसमें झूठ बोलनेवालों-को पत्थरपर पटककर उनके टुकड़े किये जाते हैं। (२१) अय:पान—इसमें मद्यपान किये हुए ब्राह्मणके मुँहमें लोहेका गरम पानी छोड़ा जाता है। (२२) क्षारकर्दम—इसमें विद्वानोंका अपमान करनेके अपराधमें बहुत कठिन यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। (२३) रक्षोगणभोजन—इसमें नर-मांस खानेवाले कुल्हाड़ीसे तोड़े जाते हैं। (२४) शूलप्रोत—इसमें विश्वासघात करनेवालेको शूलीपर चढ़ाया जाता है। (२५) दन्दशूक—इसमें प्राणियोंको पीड़ा पहुँचानेवालोंको साँपोंसे पीड़ा पहुँचायी जाती है। (२६) अवटनिरोधन—प्राणियोंको बंद करनेके पापमें आग और धूएँसे गला घोंटा जाता है। (२७) पर्यावर्तन—अतिथिकी ओर क्रूर दृष्टिसे देखनेके पापमें पक्षियोंसे आँखें फोड़कर निकलवायी जाती हैं। (२८) सूचीमुख—इसमें कृतघ्नता, कृपणता, द्रव्यलोभ इत्यादि दोषोंके फलस्वरूप नाना प्रकारकी भयंकर यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं (भागवत ५। २६)। अन्य पुराणोंमें ऐसे ही सैकड़ों नरक बताये गये हैं। इनमें जो पाप और उनके फल गिनाये गये हैं, उन्हें उपलक्षण ही जानना होगा। सारोद्धार गरुड़पुराणमें चौरासी लाख नरक बतलाये हैं। इस छोटे-से लेखमें इस कटु विषयका अधिक विस्तार उचित नहीं जँचता। लोग पापकर्मोंसे निवृत्त हों यही इस वर्णनका अभिप्राय मालूम होता है।

पितृलोक

नरकलोकके समीप ही यमलोक है। उसे पितृलोक कहते हैं। भूलोकमें ही दक्षिण ओर पृथ्वीके नीचे और अतललोकके ऊपर नित्य-नैमित्तिक पितृगण रहते हैं (देवीभागवत)। नित्य पितर अमर होते हैं। मनुष्योंसे ये भिन्न हैं। इनकी उत्पत्ति पृथक् और स्वतन्त्ररूपसे हुई है (तैत्तिरीय ब्रा० ८। ३ । ८। २)। इन्हें देव भी कहा है। यहाँसे मृत होकर ऊपर गये हुए जो पितर हैं, वे नैमित्तिक हैं। पितरोंमें यम प्रथम पितर

माने गये हैं। मृत जीवात्माओंकी यथायोग्य व्यवस्था करना इन्हींका काम है। मृतकोंके ये मार्गदर्शक हैं। (ऋग्० १०। १४)नित्य-नैमित्तिक पितरोंमें इहलोकका नियमन करनेकी सामर्थ्य है, इसीसे पितृपूजनका विशेष महत्त्व है। ऋग्वेदसे लेकर पुराणोंतक पितृपूजनका वर्णन स्थान-स्थानमें आया है। स्वर्गलोकका द्वार ईशानमें है और पितृलोकका द्वार आग्नेय दिशामें। देवों और पितरोंके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। (ऋग्० १०। २। ७; ऋग्० १०। ८८। १५; शतपथ ब्रा० ६।६।२।४)। पितरोंके अनेक वर्ग हैं। ये सब एक ही स्थानमें हों, ऐसा नहीं मालूम होता। वेदोंमें इस आशयकी प्रार्थनाएँ हैं कि जो पितर पृथ्वीपर हैं, वे उन्नत स्थानको प्राप्त हों; जो स्वर्गमें अर्थात् उच्च स्थानमें हैं, वे वहाँसे कभी च्युत न हों; और जो मध्यम स्थानका आश्रय लिये हुए हैं, वे उन्नत पदको प्राप्त हों (ऋग्० १०। १५। १)। इस प्रकार श्राद्धादि कर्म-कर्त्ता और पितर दोनोंका ही उपकार करनेवाले होते हैं, यह श्राद्धकर्ममें की जानेवाली प्रार्थनाओंसे स्पष्ट होता है।

प्रेतलोक

भारतवर्षके चारों ओर निकट अन्तरिक्षमें प्रेतलोक स्थित है। जो जीव मृत्युके पश्चात् भूकर्षित होते हैं। और विभिन्न वासनाओंके वश नीचे आकर्षित होते हैं, वे कुछ काल प्रेतलोकमें रहते हैं। प्रेत वायुरूप होते हैं। और श्मशान, कब्रिस्तान, अन्धकार, शून्य और उजड़े हुए स्थानोंमें रहते हैं। मनुस्मृति अ० १२में मरणोत्तर प्रेतत्व प्राप्त होनेके कारणोंमें कुछ उदाहरण दिये हैं। पर इनके सिवा और भी कारण हो सकते हैं। भूत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, ब्रह्मसम्बन्ध, जिन्द, वेताल आदि प्रेतयोनियाँ ही हैं। सूर्यप्रकाशमें इनका बल कम होता है। इन्हें कुछ खाने-पीनेको दिया जाय तो ये आघ्राणमात्रसे तृप्त होते हैं। मानसिक रूपसे भी कुछ दिया जाय तो इन्हें मिल जाता है। अन्त्येष्टि, श्राद्ध, गयामें पिण्डदान, नारायण-नागबलि आदि विधियोंसे प्रेतलोकसे प्रेतोंका उद्धार होता है। प्रेतयोनि क्लेशकारक ही मानी गयी है। प्रेत कभी आकार धारण किये देख पड़ते हैं। कभी दीया, ज्वाला, आवाज, उत्पाद, किसीके शरीरमें संचार आदि रूपोंमें वे गोचर होते हैं। शंख-घण्टा, ध्वनि, भगवान्‌की आरती, मन्त्रपाठ, नाम-स्मरण, शास्त्रचर्चा, पवित्र वातावरण, कुछ पवित्र धूप इत्यादिसे प्रेत स्थान छोड़कर चले जाते हैं। प्रेतलोकके जीवोंमें बड़ी अशान्ति, तीव्र मनोविकार, प्रबल वासना और अज्ञानके होनेसे प्रेतयोनि बहुत कष्टदायक होती है।

सप्तद्वीप

यहाँतक भूलोकान्तर्गत जम्बुद्वीपका वर्णन हुआ। इस जम्बुद्वीपके चतुर्दिक् वातावरणरूप लवणसमुद्र है। उसके चतुर्दिक् उससे द्विगुण प्लक्षद्वीप है। जिस प्रकार जम्बुद्वीप नाम जामुनके वृक्षके नामपर है, वैसे ही प्लक्षद्वीपमें प्लक्ष अर्थात् पाकरका वृक्ष माना है। यहाँके उपास्यदेव सूर्य हैं। इस द्वीपके चौतरफ उतना ही बड़ा इक्षुरस-समुद्र है। उसके चौतरफ उससे द्विगुण शाल्मलिद्वीप है। वहाँ चन्द्रमाकी उपासना होती है। इसके चौतरफ सुरासमुद्र है। उसे घेरे हुए उससे द्विगुण कुशद्वीप है। यहाँके लोग अग्निकी आराधना करते हैं। इसके बाहर घृत-समुद्र है और उसे घेरे हुए क्रौञ्चद्वीप है। यहाँ क्रौञ्च नामक पर्वत है। यहाँके लोग जल-देवताके पूजक हैं। इसके चौतरफ क्षार-समुद्र है और उसे घेरे हुए शाकद्वीप है। यहाँ वायुकी उपासना होती है। इसके चौतरफ दधिमण्ड-समुद्र है और उसे घेरे हुए पुष्करद्वीप है। पुष्करद्वीपके चौतरफ शुद्धोदक समुद्र है। यहाँके लोग ब्रह्मप्राप्तिके पथपर विचरते हैं। इस द्वीपके परे लोकालोक-पर्वत है। इन द्वीपोंमेंसे प्रत्येकके सात-सात विभाग हैं। यहाँकी नदियों, पर्वतों और लोक-समाजोंका वर्णन पुराणोंमें है। यह सारा वर्णन लाक्षणिक है।

(भारतवर्षका इतिवृत्तः, पिडिग्री आफ मैन; विष्णुभागवत ५। २०)

सप्तलोक

यहाँतक सप्तलोकान्तर्गत भूलोकका वर्णन हुआ। इसके ऊपर दूसरा ऊर्ध्वलोक भुवर्लोक है। यह भू और सूर्यके बीचमें है। इसमें सिद्ध और मुनि निवास करते हैं। सूर्यकी परली तरफ ध्रुवपर्यन्त चौदह लाख योजन विस्तृत स्वर्गलोक है। ये पूर्वोक्त तीनों लोक कृतक अर्थात् नाशवान् माने गये हैं। इनके ऊपर ध्रुवकी परली तरफ एक कोटि योजन विस्तृत महर्लोक है। यहाँ एक कल्पतक जीवित रहनेवाले महात्मा रहते हैं। इसके ऊपर दो कोटि योजन जनलोक है। यहाँ शुद्धान्तःकरण ब्रह्मकुमार सनन्दनादि महात्मा रहते हैं। इसके ऊपर इससे चतुर्गुण तपोलोक है। वहाँ देहरहित वैराज आदि देवता रहते हैं। तपोलोकके ऊपर उससे षड्गुण

सत्यलोक है। वहाँ सिद्धादि मुनिजन निवास करते हैं। ये जनन-मरणसे मुक्त हैं (ब्रह्मपुराण)। महर्लोकमें मानसिक राज्यपर अधिकार, जनलोकमें इन्द्रियसुखसे विराग, तपोलोकमें बुद्धिराज्यपर और सत्यलोकमें प्रकृतिराज्यपर अधिकार होता है। ये इन चार लोकोंकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। ये लोक साधारण मनुष्योंको नहीं प्राप्त होते। प्रथम तीन लोक सबके आश्रय लेने योग्य हैं। (महाभारत-उपसंहार)

वैज्ञानिक पृथ्वीमण्डलको भूर्लोक, चन्द्रलोकको भुवर्लोक, सूर्यमण्डलको सुवर्लोक, परमेष्ठिमण्डलको महर्लोक और जनलोक तथा स्वयम्भूमण्डलको तपोलोक और सत्यलोक मानते हैं। और खगोलीय त्रैलोक्यका इस प्रकार विभाग करते हैं—उत्तरी ध्रुवसे दक्षिणमें २४ अंशतक स्वर्ग, उसके आगे ४२ अंशतक अन्तरिक्ष और उसके आगे ४८ अंश पृथ्वी, उसके नीचे दक्षिण ओर ४२ अंश पितृलोक और उसके नीचे २४ अंश नरकलोक।

असंख्य लोक

यहाँतक हिंदू-संस्कृति-सम्मत परलोकोंका मुख्य विवरण अत्यन्त संक्षेपसे दिया गया। वस्तुतः परलोकोंकी पूरी गणना करना असम्भव है। शाक्त ग्रन्थोंमें शुद्धाशुद्ध तत्त्वों और शान्त्यतीतादि पंचकलाओंके २४० भुवन माने गये हैं('कल्याण'—शक्ति अंक)। पुराणोंमें इन्द्रसभा, वरुणसभा इत्यादि सभाओंके नामोंसे लोकवर्णन किये गये हैं। वायु, अग्नि, विद्युत् आदि विभिन्न तत्त्वोंके लोक, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र वरुण, यम इत्यादि देवताओंके लोक, उसी प्रकार तंगणपुत्र-सृष्टि, विश्वामित्र-सृष्टि, सिद्ध-ऋषि-मुनियोंकी विविधसिद्ध संकल्पसृष्टि आदि असंख्य लोक-प्रकार पुराणोंमें वर्णित हैं। इनमें चतुर्दश भुवनोंकी उपपत्ति सुनिश्चित और मुख्य होनेसे उन्हींका विवरण दिया गया।

हिंदू-संस्कृतिके पुराणग्रन्थ परोक्ष, गूढ़, लाक्षणिक, अर्थवादात्मक और आलंकारिक भाषामें लिखे हुए हैं। कहीं-कहीं लोकरंजनार्थ काल्पनिक वर्णन भी हैं—इस कारण परलोक-जैसे अदृष्ट और गूढ़ विषयके वर्णनोंमें सन्दिग्धता और विसंगतता दिखायी दे तो आश्चर्यकी बात नहीं। इस दुर्ज्ञेय विषयका यथार्थ ज्ञान होनेके लिये योगसाधन और तद्विदोंका समाश्रयण—ये ही दो मार्ग प्रशस्त हैं। पर ये भी दुस्साध्य ही हैं। मेरे लिये तो असाध्य ही हो गये। ऐसी अवस्थामें मैंने इस विषयमें अपनी अनेक शंकाओंके समाधानके लिये श्रीशिवगुरुकी अन्तःस्थ प्रेरणाका भरोसा करके आधुनिक परलोक-विद्या-प्रयोगोंका अवलम्बन किया और परलोकके स्वरूप, संख्या और स्थानके विषयमें परलोकमें स्थित स्वधर्मी तथा परधर्मी परलोकगत व्यक्तियोंसे आधुनिक परलोकविद्या साधनोंके द्वारा बातचीत करके कुछ उद्बोधक तथ्य प्राप्त किये। परंतु आधुनिक पद्धतिसे अदृष्ट व्याक्तियोंके साथ किये हुए इन संवादोंको हिंदू-संस्कृतिके वाङ्मयमें समाविष्ट करनेके लिये आजकी हिंदू-संस्कृतिनिष्ठ जनता तैयार नहीं हो सकती। इनका प्रामाण्य कम-से-कम अभी तो विवादास्पद है। जिन्हें इस वादग्रस्त विषयमें विषय अभिरुचि हो, वे काशीके 'सिद्धान्त' पत्रमें मेरी 'परलोकविद्या' विषयक लेखमाला पढ़ें, जो मैं गतवर्षसे उस पत्रमें लिख रहा हूँ।

अन्त्येष्टिक्रिया-संस्कारका रहस्य

(लेखक—जगद्गुरु श्रीमद्रामानुजश्रीसम्प्रदायाचार्य श्रीस्वामी भागवताचार्यजी महाराज)

हिंदुओंमें शरीरोपयोगी तथा अध्यात्मविकासके लिये गर्भाधानादि अनेक संस्कार शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं, जिनमें अन्तिम संस्कारको 'अन्त्येष्टि-संस्कार' कहा जाता है। यह संस्कार मरणके पश्चात् मृत शरीरको अग्नि प्रदान करके वैदिक मन्त्रोंद्वारा दाह-क्रियासे सम्पन्न किया जाता है। वर्ण और आश्रमके अनुसार दशगात्र-विधान, षोडश-श्राद्ध, सपिण्डीकरण आदि क्रियाएँ भी इसी संस्कारके अन्तर्गत हैं। पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच प्राणवायु, मन और बुद्धि—इन सत्रह वस्तुओंका सूक्ष्म शरीर लेकर जीव स्वकर्मानुसार षाट्कौशिक स्थूलशरीरमें प्रवेश करता है। वहीं प्रारब्धको समाप्तकर जब उपर्युक्त सत्रह वस्तुओंको लेकर स्थूलशरीरसे वह निकलता है, उस समय जीवको सूक्ष्मशरीरके रक्षार्थ एक वायवीय शरीर मिलता है। इसीसे वह अपने

कर्मानुसार कृष्ण या शुक्ल गतिको प्राप्त होता है। षाट्कौशिक स्थूलशरीरसे निकलते ही तत्काल वह वायवीय शरीरको ग्रहण करता है, इसी समय जीवकी प्रेत-संज्ञा पड़ती है अर्थात् वह अधिक चलनेवाला और हलका जीव बन जाता है। स्थूलशरीरमें अधिक समयतक निवास होनेके कारण शरीरके साथ उसका विशेष अभिनिवेश हो जाता है। अतएव जीव बारंबार वायुप्रधान शरीरके द्वारा पूर्वशरीरके सूक्ष्मावयवों (परमाणुओं)-की तरफ रहनेकी चेष्टा करता रहता है। इसलिये इसी प्रेतत्वसे छुटकारेके लिये दशगात्रादि श्राद्धक्रियाएँ शास्त्रोंमें बतलायी गयी हैं। मूर्ख, विद्वान् सभीके लिये '**प्रेतत्वविमुक्तिकामः**' ऐसा श्राद्ध प्रकरणमें पढ़ा जाता है। मृत आत्माकी वासना जमीनमें गड़े हुए तथा कहीं गन्धयुक्त पड़े हुए शरीरपर न जाय और उससे जीवकी मुक्ति हो जाय, इसलिये हिंदुओंमें मृत शरीरको जलानेकी प्रथा प्रचलित हुई है। अग्निसंस्कारसे मृत शरीरका पार्थिवतत्त्व कण-कण जलकर रूपान्तर ग्रहण करता है। फिर भस्मरूप (फूल) पार्थिवतत्त्व भगवती भागीरथीकी पावन वारिधारामें प्रवाहित कर दिया जाता है। वह परम पवित्र जल उन भस्मकणोंको स्वस्वरूपमें परिवर्तित कर लेता है। फिर मृत आत्माका सम्बन्ध पूर्व शरीरसे विच्छिन्न हो जाता है और शास्त्रविहित श्राद्धादिक क्रियाके द्वारा प्रदत्त जलादि सामग्रीसे तृप्त होकर वह प्रेत शरीरको छोड़ देता है। संन्यासियोंके मृत शरीरके लिये अग्निसंस्कार शास्त्रमें नहीं बतलाया गया है क्योंकि कामनानुबन्धी कर्मोंको तथा कृतकर्म-फलोंको त्यागनेसे और श्रीभगवच्चरणारविन्दोंमें गाढ़ अनुराग होनेसे शरीर, स्त्री, पुत्र, परिवार, धनादिकी वासना जीवन-दशामें ही छूट जाती है। अतएव शरीरसे निकली हुई संन्यासियोंकी आत्मा शीघ्रातिशीघ्र शुक्ल-गतिसे प्रयाण कर जाती है। मृत शरीरकी ओर आकर्षण करनेवाली सामग्री ही नहीं रह जाती, इसलिये संन्यासियोंके लिये श्राद्धादिकी कल्पनाएँ नहीं की गयी हैं। हिंदुओंमें छोटे बालकोंका शरीर भी नहीं जलाया जाता। उसे भूमिके अंदर गाड़ दिया जाता है। सूक्ष्म शरीरके साथ स्थूल शरीरमें प्रविष्ट आत्माका गाढ़ सम्बन्ध (अभिनिवेश) स्थूलशरीरमें अल्प दिनोंमें नहीं होता। अतएव बालकोंकी मृत आत्मा पूर्व-शरीरका सम्बन्ध शीघ्रातिशीघ्र त्यागकर संचित कर्मानुसार अपर शरीरको प्राप्त करती है। इसी कारण अल्पवयस्क बालकोंके लिये यह संस्कार नहीं बतलाया गया है। मृत आत्माओंका प्रगाढ़ अन्वय (वासना) पूर्व-शरीरके ऊपर अवश्य रहता है। इसी आधारपर मुसलमान और ईसाई जातियोंमें भी जहाँपर शरीर गाड़ा जाता है, वहींपर उनके धर्मग्रन्थोंमें कुछ क्रियाएँ बतलायी गयी हैं। उन्हीं जातियोंमें यह भी सिद्धान्त बतलाया गया है। कि जबतक प्रलय नहीं होता, तबतक जीव मृत शरीरके पास ही सुख-दुःख भोगा करता है।

प्रेतयोनि—प्रसंगतः यहाँपर यह भी कह देना उचित है कि चौरासी लाख योनियोंमें एक प्रेतयोनि भी मानी गयी है। कुछ पापोंका परिणाम भोगनेके लिये प्रेतयोनि मिलती है। जलमें डूबकर मरनेवाला, अग्निमें जलकर मरनेवाला, वृक्षसे गिरकर मरनेवाला, किसीके ऊपर अनशन करके मरनेवाला आदि मनुष्य प्रेतयोनिमें जाते हैं। वहाँपर भी मृत आत्माओंके लिये वायु-प्रधान-शरीर मिलता है। प्रेतोंके हृदयमें यह इच्छा सर्वदा बनी रहती है कि जहाँपर उनका धन है, उनके शरीरके पार्थिव परमाणु हैं, उनके शरीरसम्बन्धी परिवार हैं, वहींपर रहें, अपने सम्बन्धियोंको अपनी तरह बनायें। सभी भौतिक पदार्थोंकी संचय करनेकी सामर्थ्य वायुतत्त्वमें रहती है। यही कारण है कि प्रेत वायु-शरीरप्रधान होनेसे जिस योनिकी इच्छा करता है, वही साँप, बैल, भैंस, आदि शरीरको ग्रहण कर लेता है; परंतु कुछ ही समयतक वह शरीर ठहर सकता है, पीछे सब पार्थिव परमाणु शीघ्र ही बिखर जाते हैं। जिसका अन्त्येष्टि-संस्कार शास्त्रविहित क्रियाओंसे नहीं किया जाता, वह प्राणी कुछ दिनोंके लिये प्रेतयोनि प्राप्त करता है। शास्त्रोक्त विधिसे जब उसका प्रेत-संस्कार, दशगात्र-विधान, षोडश श्राद्ध, सपिण्डन विधान किया जाता है, तब वह प्रेत-शरीरसे छूट जाता है। मनुष्यसे इतर योनियोंमें जीवके ऊपर पंचकोशोंका विकास पूर्णरूपसे नहीं रहता। इसलिये पशु-पक्षियोंकी आत्मा पूर्व-शरीरके साथ गाढ़ सम्बन्ध (अविनिवेश) नहीं कर पाती, वहाँपर प्रकृति-माताके सहारेसे शीघ्रातिशीघ्र अन्य योनिको जीव प्राप्त कर लेता है। अतएव तिर्यग्-योनियोंके लिये दाहादि संस्कार नहीं बतलाये गये हैं।

हिंदुओंके प्राण-प्रयाणकालिक एक कृत्यका रहस्य

(लेखक—राज्यज्योतिषी पण्डित श्रीमुकुन्दवल्लभजी मिश्र ज्यौतिषाचार्य)

शालग्रामशिला यत्र पापदोषभयापहा।
तत्सन्निधानमरणान्मुक्तिर्जन्तोः सुनिश्चिता॥

(ग० पु०)

यह बात शास्त्रसिद्ध है कि प्राणवियोगके समय यदि जीवके हृदयमें सद्विचारोंका उदय हो तो सद्गति, अन्यथा असद्गति अवश्य होती है। इसीलिये धर्मप्राण हिंदुओंमें गोमयोपलिप्त शुद्ध भूमिपर मरणासन्न व्यक्तिकी भूशय्याके सिरहाने सद्गतिप्राप्त्यर्थ सुपूजित भगवान् शालग्रामकी श्याममूर्तिका आसन रखनेकी प्रथा है। बहुत-से परम श्रद्धालु पुरुष तो जीवके अन्तकालमें नाड़ीस्थानसे हटते ही तुलसीकी मंजरी और इस दिव्य प्रभावमयी मूर्तिको हृदयपर भी रखते हैं। फिर प्राणवियोगान्तर पंचगव्यसे स्नान करवाकर यथा स्थान रख देते हैं। इसका गुह्य रहस्य यह है कि महात्मा योगियोंके अतिरिक्त प्रायः सभी संसारासक्त प्राणियोंके प्राण-वियोगसमय न्यूनाधिकरूपसे अनेक शुभाशुभ विचारयुक्त स्वप्न-जैसी अचेत-सी अवस्था हुआ करती है। उस अचेतावस्थामें जो असद्गतिकी ओर खींचनेवाले अनेक अशुभ विचारोंका हृदय-पटपर साम्राज्य-सा बना रहता है, उन्हें यह शालग्रामकी असल प्राकृतिक प्रतिमा अपने ईश्वरीय अलौकिक प्रभावसे दूरकर मरणासन्न व्यक्तिके हृदयमें शुभ संकल्पोंका उदय कर देती है, जो शुभलोकावाप्त्यर्थ आवश्यकीय है।

यदि किसी महानुभावको इस विषयमें सन्देह हो कि अचेतावस्थामें सद्विचार स्फुरण होनेमें क्या प्रमाण है? तो उन्हें चाहिये कि शयनके समय अपने सिरहाने इसे रखकर अनुभव कर लें। निद्रावस्थामें अशुभ विचार—बुरे स्वप्न आते होंगे तो वे कभी न आयेंगे और न स्वप्नावस्थामें उत्पन्न होनेवाला कोई भय ही पास फटकेगा। किं बहुना, अन्तकालिक शुभ संकल्पोदयार्थ दयालु महर्षियोंने पापाक्रान्त प्राणियोंके उद्धारार्थ इस सुलभ कृत्यका उपदेश किया है, जो श्रद्धापूत मनसे ही समझा जा सकता है।[1]

श्राद्धकी महत्ता

(लेखक—याज्ञिक पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा, गौड़, वेदाचार्य वेदरत्न)

श्राद्धकी महत्ताका उल्लेख करते समय सर्वप्रथम '**श्राद्ध**' शब्दकी शाब्दिक व्युपत्तिका ध्यान होता है। '**श्रद्धा**' शब्दसे—'**श्रद्धया कृतं सम्पादितमिदम्**', '**श्रद्धया दीयते यस्मात् तच्छ्राद्धम्**', '**श्रद्धार्थमिदं श्राद्धम्**','**श्रद्धाया इदं श्राद्धम्**',—इत्यादि अर्थोंमें '**अण्**' प्रत्यय करनेपर '**श्राद्ध**' शब्दकी निष्पत्ति होती है। भावार्थ यह है कि अपने मृत[2] पितृगणके उद्देश्यको श्रद्धापूर्वक किये जानेवाले कर्म-विशेषको श्राद्ध कहते हैं।

महर्षि पराशरने श्राद्धका लक्षण इस प्रकार किया है—

देशे काले च पात्रे च विधिना हविषा च यत्।
तिलैर्दर्भैश्च मन्त्रैश्च श्राद्धं स्याच्छ्रद्धया युतम्॥

'देश, काल तथा पात्रमें हविष्यादि विधिद्वारा जो कर्म तिल, यव और दर्भ (कुशा) आदिसे और मन्त्रोंसे श्रद्धापूर्वक किया जाय, उसे श्राद्ध कहते हैं।'

महर्षि मरीचि श्राद्धका लक्षण यों करते हैं—

प्रेतान् पितॄनप्युद्दिश्य भोज्यं यत्प्रियमात्मनः।
श्रद्धया दीयते यत्तु तच्छ्राद्धं परिकीर्तितम्॥

'मृत पितरोंके निमित्त अपनेको प्रिय भोजन जिसमें श्रद्धायुक्त होकर दिया जाय, उसे श्राद्ध कहते हैं।'

महर्षि बृहस्पति श्राद्धका लक्षण इस प्रकार करते हैं—

संस्कृतं व्यञ्जनाद्यं च पयोमधुघृतान्वितम्।
श्रद्धया दीयते यस्माच्छ्राद्धं तेन निगद्यते॥

'जिस कर्म-विशेषमें अच्छी प्रकारसे पकाये हुए उत्तम व्यंजनको दुग्ध, घृत और शहदके साथ श्रद्धापूर्वक पितृगणके उद्देश्यसे ब्राह्मणादिको प्रदान किया जाय, उसे श्राद्ध कहते हैं।'

१. इसी प्रकार मरण-समयमें गीता, विष्णुसहस्रनाम, भगवन्नाम सुनाये जाते हैं। शुद्ध धूप तथा कर्पूर जलाये जाते हैं। गंगाजल दिया जाता है। गोपीचन्दन अथवा भस्म लगाये जाते हैं। ये सभी आवश्यक और परम लाभदायक हैं।

२. पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः। त्रयो ह्यश्रुमुखा ह्येते पितरः परिकीर्तिताः॥ (ब्रह्मपुराण)

धारापुरी गुफाका द्वार

धारापुरी गुफाका अभ्यन्तर

धारापुरीकी त्रिमूर्ति-सदाशिव

हाथीगुफाका लिङ्ग-मन्दिर

[पृष्ठ ७७८

अजन्ताके कला-मण्डपका
एक कल्पना-चित्र [पृष्ठ ७८२

अजन्ताकी गुफामें उड़ते हुए गन्धर्वोंका दृश्य

[पृष्ठ ७८२
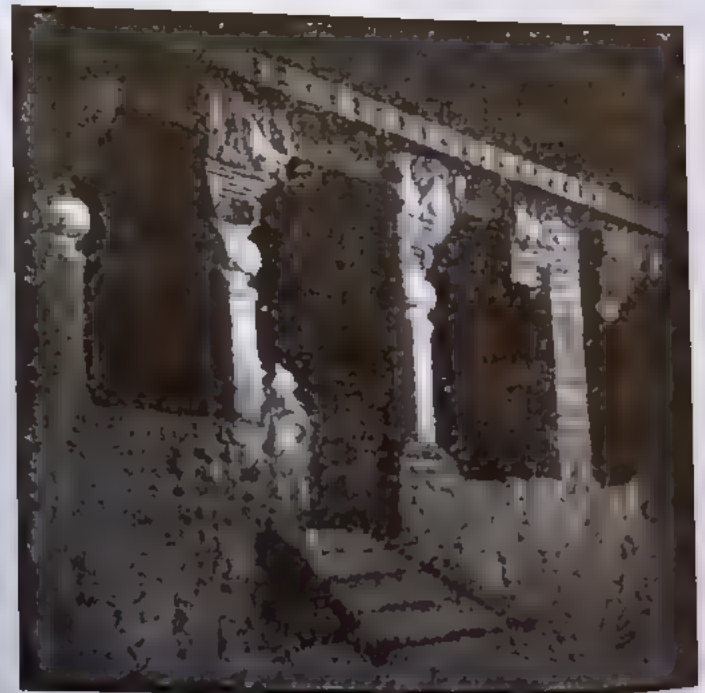
नासिकमें राजा गौतमीपुत्रका बनवाया हुआ
गुहा-विहार [पृष्ठ ७८१

ब्रह्मपुराणमें भी श्राद्धका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत्।
पितृनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दत्तं श्राद्धमुदाहृतम्॥

'देश, काल और पात्रमें श्रद्धाद्वारा जो भोजन पितरोंके उद्देश्यसे ब्राह्मणोंको दिया जाय, उसे श्राद्ध कहते हैं।'

शास्त्रोंमें श्राद्धके अनेक भेद कहे गये हैं; किंतु हम यहाँ उन्हीं श्राद्धोंका उल्लेख करेंगे, जो अत्यन्त आवश्यक और अनुष्ठेय हैं।

मत्स्यपुराणमें तीन प्रकारके श्राद्ध लिखे हैं—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं श्राद्धमुच्यते।

'नित्य, नैमित्तिक और काम्य-भेदसे श्राद्ध तीन प्रकारके होते हैं।'

यमस्मृतिमें पाँच प्रकारके श्राद्धका उल्लेख मिलता है—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धमथापरम्।
पार्वणं चेति विज्ञेयं श्राद्धं पञ्चविधं बुधैः॥

'नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धिश्राद्ध और पार्वण'—ये पाँच प्रकारके श्राद्ध विद्वानोंने कहे हैं।'

प्रतिदिन किये जानेवाले श्राद्धको 'नित्य श्राद्ध' कहते हैं।

एकोद्दिष्ट प्रभृति श्राद्धको 'नैमित्तिक श्राद्ध' कहते हैं।

स्वाभिलषित कार्य सिद्ध्यर्थ किये जानेवाले श्राद्धको 'काम्य श्राद्ध' कहते हैं।

वृद्धिकालमें अर्थात् पुत्रजन्म, विवाह आदिमें जो श्राद्ध किया जाता है, उसे 'वृद्धिश्राद्ध' कहते हैं।

अमावास्या तिथिमें अथवा पर्वके समयमे जो श्राद्ध किया जाता है, उसे 'पार्वण श्राद्ध' कहते हैं।

उपर्युक्त पाँच प्रकारके श्राद्धोंका उल्लेख कूर्मपुराण और बृहस्पतिसंहितामें भी किया गया है।

भविष्यपुराणमें—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धं सपिण्डनम्।
पार्वणं चेति विज्ञेयं गोष्ठ्यं शुद्ध्यर्थमष्टमम्॥
कर्माङ्गं नवमं प्रोक्तं दैविकं दशमं स्मृतम्।
यात्रास्वेकादशं प्रोक्तं पुष्ट्यर्थं द्वादशं स्मृतम्॥

नित्य श्राद्ध, नैमित्तिक श्राद्ध, काम्य श्राद्ध, वृद्धि-श्राद्ध, सपिण्डन-श्राद्ध, पार्वण श्राद्ध, गोष्ठी-श्राद्ध, शुद्ध्यर्थ श्राद्ध, कर्मांग-श्राद्ध, दैविक श्राद्ध, यात्रार्थ श्राद्ध और पुष्ट्यर्थ श्राद्ध—ये बारह प्रकारके श्राद्ध कहे गये हैं।'

इनमें पाँच प्रकारके श्राद्धोंकी व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। इनके अतिरिक्त जिस श्राद्धमें प्रेत-पिण्डका पितृ-पिण्डोंमें सम्मेलन किया जाय, उसे 'सपिण्डन श्राद्ध' कहते हैं। गोशालामें जो श्राद्ध किया जाता है, उसे 'गोष्ठी-श्राद्ध' कहते हैं। शुद्धिके निमित्त जिस श्राद्धमें ब्राह्मणोंको भोजन कराया जाता है, उसे 'शुद्ध्यर्थ श्राद्ध' कहते हैं। गर्भाधानमें, सोमरस-पानमें, सीमन्तोन्नयनमें और पुंसवनमें जो श्राद्ध किया जाता है, उसे 'कर्मांग श्राद्ध' कहते हैं। सप्तम्यादि तिथियोंमें विशिष्ट हविष्यके द्वारा देवताओंके उद्देश्यसे जो श्राद्ध किया जाता है, उसे 'दैविक श्राद्ध' कहते हैं। तीर्थके उद्देश्यसे देशान्तर जानेके समय घृतद्वारा जो श्राद्ध किया जाता है, उसे 'यात्रार्थ श्राद्ध' कहते हैं। शारीरिक अथवा आर्थिक उन्नतिके लिये जो श्राद्ध किया जाता है, उसे 'पुष्ट्यर्थ श्राद्ध' कहते हैं।

उपर्युक्त सभी प्रकारके श्राद्ध श्रौत और स्मार्तभेदसे दो प्रकारके होते हैं। 'पिण्डपितृयोग'* को 'श्रौत श्राद्ध' कहते हैं और एकोद्दिष्ट, पार्वण तथा तीर्थ-श्राद्धसे लेकर मरणतकके श्राद्धको 'स्मार्त श्राद्ध' कहते हैं।

श्रौत श्राद्धमें केवल श्रुतिप्रतिपादित मन्त्रोंका प्रयोग होता है और स्मार्त श्राद्धमें वैदिक, पौराणिक, तान्त्रिक तथा धर्मशास्त्रादिके मन्त्रोंका प्रयोग होता है।

श्रुत्युक्त पिण्डपितृयागको 'प्रकृतियाग' और स्मृत्युक्त नित्यश्राद्धादिको 'विकृतियाग' कहते हैं।

हिंदुओंके धर्मप्राण ग्रन्थ वेद हैं। वेदोंमें यद्यपि कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड—इन तीनोंका वर्णन मिलता है, तथापि इनमें मुख्य स्थान कर्मकाण्डको ही प्राप्त है। कर्मकाण्डके अन्तर्गत ही वेदोक्त विविध यज्ञोंकी अनुष्ठान पद्धतियाँ हैं, जिनमें 'पितृयज्ञ' का भी महत्त्वपूर्ण वर्णन किया गया है। इस पितृयज्ञका दूसरा नाम श्राद्ध है। अर्थात् पितृयज्ञ 'श्राद्ध' शब्दका वाच्यार्थ है। पितृयज्ञका मतलब यह है कि पिता-माता आदि पारिवारिक मनुष्योंकी मृत्युके बाद उनकी तृप्तिके लिये श्रद्धापूर्वक किये जानेवाले पिण्डोदकादि समस्त कर्म 'पितृयज्ञ' अथवा 'श्राद्ध' शब्दसे व्यवहृत होते हैं।

माताके गर्भसे मानव-शरीरधारी प्राणीके भूमिष्ठ होनेके पूर्वकालसे लेकर मृत्युके अनन्तर भी उस

* 'अमावास्यायां पिण्डपितृयागः' इस वचनके अनुसार 'पिण्डपितृयाग' अमावास्याके दिन होता है। इस यागको करनेका अधिकार केवल 'अग्निहोत्री' को है, अन्यको नहीं।

प्राणीके मंगलार्थ वर्णचतुष्टयको सर्वदा श्राद्धके साथ सम्बन्धित रहना पड़ता है। जो लोग श्राद्धसे सम्बन्धित नहीं रहते, वे श्राद्धत्यागके कारण एक क्षण भी अपना ब्राह्मण्य धर्म सजीव नहीं रख सकते। अतः ब्राह्मण्य धर्मको सजीव रखनेके लिये श्राद्ध करना आवश्यक है।

प्राचीन कालके मनुष्योंमें श्राद्धके प्रति जैसी अटूट श्रद्धा-भक्ति थी, वैसी वर्तमानकालके मनुष्योंमें नहीं है। अतः आजकलके अधिकांश मनुष्य श्राद्धको व्यर्थ समझकर उसे नहीं करते। जो लोग श्राद्ध करते हैं, उनमें कुछ तो यथाविधि, यथानियम श्रद्धाके साथ श्राद्ध करते हैं; बाकी निन्यानबे प्रतिशत तो केवल रस्म-रिवाजकी दृष्टिसे श्राद्ध करते हैं। वस्तुतः श्रद्धा-भक्तिद्वारा शास्त्रोक्त विधिसे किया हुआ श्राद्ध ही सर्वविध कल्याणको देनेवाला है। अतः प्रत्येक व्यक्तिको श्रद्धापूर्वक शास्त्रोक्त समस्त श्राद्धोंको यथासमय करते रहना चाहिये। जो लोग शास्त्रोक्त समस्त श्राद्धोंको न कर सकें, उन्हें कम-से-कम वर्षमें एक बार आश्विन मासके* पितृपक्षमें तो अवश्य ही अपने मृत पितृगणकी मरण-तिथिके दिन श्राद्ध करना चाहिये। पितृपक्षके साथ पितरोंका विशेष सम्बन्ध रहता है, अतः शास्त्रोंमें पितृपक्षमें श्राद्ध करनेकी विशेष महिमा लिखी है। महर्षि जाबालि कहते हैं—

पुत्रानायुस्तथाऽऽरोग्यमैश्वर्यमतुलं तथा।
प्राप्नोति पञ्चमे कृत्वा श्राद्धं कामांश्च पुष्कलान्॥

'पितृपक्षमें श्राद्ध करनेसे पुत्र, आयु, आरोग्य, अतुल ऐश्वर्य और अभिलषित वस्तुओंकी प्राप्ति होती है।'

जो लोग आश्विन मासके पितृपक्षमें अपने मृत पितरोंके प्रति श्राद्ध नहीं करते, उनके पितरलोग उन्हें कठिन शाप देते हैं, जैसा कि महर्षि कार्ष्णाजिनिने भी कहा है—

वृश्चिके समनुप्राप्ते पितरो दैवतैः सह।
निःश्वस्य प्रतिगच्छन्ति शापं दत्त्वा सुदारुणम्॥

'कन्याराशिके बाद वृश्चिक राशिके आनेपर अर्थात् पितृ-पक्षमें पितृगण श्राद्ध न पानेपर निराश होकर दीर्घ श्वास त्याग करते हुए गृहस्थको दारुण शाप देकर पितृलोकमें वापस चले जाते हैं।'

जो लोग श्राद्धके वास्तविक रहस्यको न समझकर पितृगणके निमित्त श्राद्ध नहीं करते, उन्हें शास्त्रोंमें 'मूर्ख' कहा गया है। महाभारतकी विदुरनीतिमें धृतराष्ट्रसे विदुरजीने कहा है—

श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति ....।
.................................तमाहुर्मूढचेतसम्॥

'जो मनुष्य अपने पितरोंके निमित्त श्राद्ध नहीं करता, उसको बुद्धिमान् मनुष्य मूर्ख कहते हैं।'

न सन्ति पितरश्चेति कृत्वा मनसि यो नरः।
श्राद्धं न कुरुते तत्र तस्य रक्तं पिबन्ति ते॥

(आदित्यपुराण)

'जो मनुष्य दुर्बुद्धिवश पितृलोक अथवा पितृगणको न मानकर श्राद्ध नहीं करता, उसके पितर उसका रक्तपान करते हैं।'

अतः मनुष्यको पितृगणकी सन्तुष्टि तथा अपने कल्याणके लिये श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। इस संसारमें श्राद्ध करनेवालेके लिये श्राद्धसे बढ़कर और कोई वस्तु कल्याणकारक नहीं है। इस विषयकी पुष्टि महर्षि सुमन्तु भी करते हैं—

श्राद्धात्परतरं नान्यच्छ्रेयस्करमुदाहृतम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद्विचक्षणः॥

'संसारमें श्राद्धसे बढ़कर और कोई दूसरा कल्याणप्रद मार्ग नहीं है। अतः बुद्धिमान् मनुष्यको प्रयत्नपूर्वक श्राद्ध करना चाहिये।' श्राद्धकी आवश्यकतापर अनेकों ऋषियोंके वचन मिलते हैं।

अब हम अनेक ऋषि-महर्षियोंके उन वचनोंको उद्धृत करते हैं, जिनसे 'श्राद्धकी महत्ता' का सुन्दररूपसे परिचय हो सकेगा।

यो येन विधिना श्राद्धं कुर्यादेकाग्रमानसः।
व्यपेतकल्मषो नित्यं याति नावर्तते पुनः॥

(कूर्मपुराण)

'जो प्राणी जिस किसी भी विधिसे एकाग्रचित्त होकर श्राद्ध करता है, वह समस्त पापोंसे रहित होकर मुक्त हो जाता है और पुनः संसारचक्रमें नहीं आता।'

आयुः पुत्रान् यशः स्वर्गं कीर्तिं पुष्टिं बलं श्रियम्।
पशून् सौख्यं धनं धान्यं प्राप्नुयात् पितृपूजनात्॥

(गरुडपुराण)

'पितृपूजन (श्राद्धकर्म) से सन्तुष्ट होकर पितर मनुष्योंके लिये आयु, पुत्र, यश, स्वर्ग, कीर्ति, पुष्टि, बल, वैभव, पशु, सुख, धन और धान्य देते हैं।'

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।

*आश्विन मासके कृष्णपक्षको 'पितृपक्ष' कहते हैं।

प्रयच्छन्ति तथा राज्यं पितरः श्राद्धतर्पिताः॥

(मार्कण्डेयपुराण)

'श्राद्धसे तृप्त होकर पितृगण श्राद्धकर्ताको दीर्घायु, सन्तति, धन, विद्या, सुख, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करते हैं।'

पुष्टिरायुस्तथा वीर्यं श्रीश्चैव पितृभक्तितः।

(महा० अनुशासन०)

'पितरोंकी भक्ति करनेसे पुष्टि, आयु, वीर्य तथा लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है।'

तस्माच्छ्राद्धं नरो भक्त्या शाकैरपि यथाविधि।
कुर्वीत श्रद्धया तस्य कुले कश्चिन्न सीदति॥

(ब्रह्मपुराण)

'जो मनुष्य शाकके द्वारा भी श्रद्धा-भक्तिसे श्राद्ध करता है, उसके कुलमें कोई भी दुःखी नहीं होता।'

उद्धृतेष्वपि पिण्डेषु याश्चाम्बुकणिका भुवि।
ताभिराप्यायनं तेषां ये तिर्यक्त्वं कुले गताः॥
ये चादन्ताः कुले बालाः क्रियायोगा ह्यसंस्कृताः।
विपन्नास्ते तु विकिरसम्मार्जनजलाशिनः॥
भुक्त्वा चाचमनं यच्च जलाद्यच्चाङ्घ्रिशोधनम्।
एवमाप्यायनं वत्स बहूनामपि बान्धवैः॥
श्राद्धं कुर्वद्भिरन्नाप्सु शाकैरपि हि जायते॥

(ब्रह्मपुराण)

'श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक किये हुए श्राद्धमें पिण्डोंपर गिरी हुई पानीकी नन्हीं-नन्हीं बूँदोंसे पशु-पक्षियोंकी योनिमें पड़े हुए पितरोंका पोषण होता है। जिस कुलमें जो बाल्यावस्थामें ही मर गये हों, वे सम्मार्जनके जलसे ही तृप्त हो जाते हैं। श्राद्धका महत्त्व तो यहाँतक है कि श्राद्धमें भोजन करनेके बाद जो आचमन किया जाता है तथा पैर धोया जाता है, उसीसे बहुत-से पितृगण सन्तुष्ट हो जाते हैं। बन्धु-बान्धवोंके साथ अन्न-जलसे किये गये श्राद्धकी तो बात ही क्या है, केवल श्रद्धा-प्रेमसे शाकके द्वारा किये गये श्राद्धसे भी पितर तृप्त होते हैं।

यो वा विधानतः श्राद्धं कुर्यात् स्वविभवोचितम्।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत्प्रीणाति मानवः॥
ब्रह्मेन्द्ररुद्रनासत्यसूर्यानलसुमारुतान्।
विश्वेदेवान् पितृगणान् पर्यग्निमनुजान् पशून्॥
सरीसृपान् पितृगणान्यच्चान्यद्भूतसंज्ञितान्।
श्राद्धं श्रद्धान्वितः कुर्वन् प्रीणयत्यखिलं जगत्॥

(ब्रह्मपुराण)

'जो मनुष्य अपने वैभवके अनुसार विधिपूर्वक श्राद्ध करता है, वह साक्षात् ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त प्राणियोंको तृप्त करता है। श्रद्धापूर्वक विधि-विधानसे श्राद्ध करनेवाला मनुष्य ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, नासत्य (अश्विनीकुमार), सूर्य, अनल (अग्नि), वायु, विश्वेदेव, पितृगण, मनुष्यगण, पशुगण, समस्त भूतगण तथा सर्पगणको भी सन्तुष्ट करता हुआ सम्पूर्ण जगत्को सन्तुष्ट करता है।'

एवं सम्यग् गृहस्थेन देवताः पितरस्तथा।
सम्पूज्या हव्यकव्येन अन्नेनापि स्वबान्धवाः॥
परत्र च परां पुष्टिं लोकांश्च विपुलान् शुभान्।
श्राद्धकृत्समवाप्नोति यशश्च विपुलं नरः॥

(ब्रह्मपुराण)

'इस प्रकार गृहस्थको चाहिये कि वह हव्यसे देवताओंका, कव्यसे पितृगणोंका तथा अन्नसे अपने बन्धुओंका सत्कार तथा पूजा करे। श्रद्धापूर्वक देव, पितृ, बान्धवोंके पूजनसे मनुष्य परलोकमें पुष्टि, विपुल यश तथा उत्तम लोकोंको प्राप्त करता है।'

अन्यायोपार्जितैरर्थैर्यच्छ्राद्धं क्रियते नरैः।
तृप्यन्ति तेन चाण्डालपुल्कसाद्यासु योनिषु॥
गतपापा विशुध्यन्ति ब्राह्मण्यमुपयान्ति ते।
ब्राह्मणानां तथैवान्ये न तृप्तिं प्रापयन्ति वै (तैः)॥
पिशाचत्वमनुप्राप्य कृमिकीटत्वमेव च।
एवं ये यजमानस्य यच्च तेषां द्विजन्मनाम्॥
कश्चिज्जलादिविक्षेपः शुचिरुच्छिष्टमेव वा।
तेनान्येन प्रकारेण तत्तद्योन्यन्तरं गताः॥
प्रयान्त्याप्यायनं वत्स सम्यक् श्राद्धक्रियावताम्॥

(स्कन्दपुराण)

'अन्यायसे उपार्जित धनसे भी किये हुए श्राद्धसे चाण्डाल, पुल्कस आदि योनियोंमें भोगवश पहुँचे हुए पितृगण सन्तुष्ट होते हैं। इतना ही नहीं, वे पितृगण पाप-रहित होकर ब्राह्मणत्व प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ब्राह्मणोंकी तृप्ति भी उपायान्तरसे नहीं हो सकती। यजमान अथवा आचार्य—किसी भी द्विजके पितृगण यदि पिशाच हो गये हों या कीड़े-मकोड़े हो गये हों तो उन सबके निमित्त तर्पणका जल भले ही उच्छिष्ट हो, परंतु वह तत्तद् योनियोंमें पड़े हुए पितरोंके सन्तोषके लिये पर्याप्त हो जाता है। अतः श्राद्धकर्म अवश्य करना चाहिये।'—

वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः।

प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेषु तर्पिताः॥
आत्मानं गुर्विणी गर्भमपि प्रीणाति वै यथा।
दोहदेन तथा देवाः श्राद्धैः स्वांश्च पितॄन् नृणाम्॥

(गरुडपुराण)

'वसु, रुद्र, आदित्यगण, पितर और श्राद्ध-देवता—ये मनुष्योंसे सन्तुष्ट होकर पितरोंकी तृप्ति करते हैं। जिस प्रकार गर्भवती स्त्रियाँ दोहद (गर्भ) की रक्षाद्वारा अपनी रक्षा करती हैं, उसी प्रकार देवगण श्राद्धद्वारा अपनी तथा मनुष्योंकी रक्षा करते हैं।'

ब्रह्मेन्द्ररुद्रनासत्यसूर्याग्निवसुमारुतान् ।
विश्वेदेवानृषिगणान् वयांसि मनुजान् पशून्॥
सरीसृपान् पितृगणान् यच्चान्यद्भूतसंज्ञकम्।
श्राद्धं श्रद्धान्वितं कुर्वन् तर्पयत्यखिलं हि तत्॥

(विष्णुपुराण)

'श्रद्धायुक्त होकर श्राद्धकर्म करनेसे केवल पितृगण ही तृप्त नहीं होते, बल्कि ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, दोनों अश्विनीकुमार, सूर्य, अग्नि, अष्ट वसु, वायु, विश्वेदेव, ऋषि, मनुष्य, पशु-पक्षी और सरीसृप आदि समस्त-भूतप्राणी तृप्त होते हैं।'

यो वै श्राद्धं नरः कुर्यादेकस्मिन्नपि वासरे।
तस्य संवत्सरं यावत् संतृप्ताः पितरो ध्रुवम्॥

(हेमाद्रि, नागरखण्ड)

'जो मनुष्य एक दिन भी श्राद्ध करता है, उसके पितृगण वर्षभरके लिये सन्तुष्ट हो जाते हैं—यह निश्चित है।'

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति)

'श्राद्धकर्मसे सन्तुष्ट होकर पितर मनुष्योंके लिये आयु, संतति, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष और राज्य प्रदान करते हैं।'

ये यजन्ति पितॄन् देवान् ब्राह्मणांश्च हुताशनान्।
सर्वभूतान्तरात्मानं विष्णुमेव यजन्ति ते॥

(यमस्मृति)

'जो लोग देवता, ब्राह्मण, अग्नि और पितृगणकी पूजा करते हैं, वे सबकी अन्तरात्मामें रहनेवाले विष्णुकी ही पूजा करते हैं।

अरोगः प्रकृतिस्थश्च चिरायुः पितृपुत्रवान्।
अर्थवानर्थयोगी च श्राद्धकामो भवेदिह॥
परत्र च परां तुष्टिं लोकांश्च विविधान् शुभान्।
श्राद्धकृत् समवाप्नोति श्रियं च विपुलां नरः॥

(देवलस्मृति)

'श्राद्धकी इच्छा करनेवाला प्राणी नीरोग, स्वस्थ, दीर्घायु, योग्य सन्ततिवाला, धनी तथा धनोपार्जक होता है। श्राद्ध करनेवाला मनुष्य विविध शुभ लोकोंको प्राप्त करता है, परलोकमें सन्तोष प्राप्त करता है और पूर्ण लक्ष्मीकी प्राप्ति करता है।'

पितॄन् पितामहांश्चैव द्विजः श्राद्धेन तर्पयेत्।
आनृण्यं स्यात् पितॄणां च ब्रह्मलोकं च गच्छति॥

(व्यासः)

'जो द्विजाति श्राद्धद्वारा अपने मृत पितृ-पितामहादि पितरोंको सन्तुष्ट करता है, वह पितृ-ऋणसे मुक्त होकर ब्रह्मलोकको जाता है।'

पुत्रो वा भ्रातरो वापि दौहित्रः पौत्रकस्तथा।
पितृकार्यप्रसक्ता ये ते यान्ति परमां गतिम्।

(अत्रिसंहिता)

'पुत्र, भाई, पौत्र अथवा दौहित्र यदि पितृकार्यमें अर्थात् श्राद्धानुष्ठानमें संलग्न रहें तो अवश्यमेव परम गतिको प्राप्त करेंगे।

महाभारतके अनुशासनपर्व (८७। १—१७) में प्रतिपदासे लेकर अमावास्यातक प्रत्येक तिथिमें श्राद्ध करनेका अलग-अलग फल युधिष्ठिरजीसे भीष्मजीने बतलाया है।

इसी प्रकार ब्रह्मपुराणमें भी प्रतिपदासे लेकर अमावास्यातक श्राद्ध करनेके विभिन्न फल बतलाये गये हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्मपुराणमें विभिन्न नक्षत्रोंमें श्राद्ध करनेका भी भिन्न-भिन्न फल लिखा है।

उपर्युक्त श्राद्धकी महत्ताको सूचित करनेवाले अनेक प्रमाणोंसे स्पष्ट सिद्ध है कि श्राद्धका फल केवल पितरोंकी तृप्ति ही नहीं है, अपितु उससे श्राद्धकर्ताको भी विशिष्ट फलकी प्राप्ति होती है। अतः द्विजातिमात्रको अपने परमाराध्य पितरोंके श्राद्धकर्मद्वारा आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक उन्नति प्राप्त करनी चाहिये।

विदेशियोंकी दृष्टिमें श्राद्धका महत्त्व

(लेखक—श्रीएस० कान्त, बी०ए०, एफ०बी०आई०)

श्राद्धके विषयमें एक संस्कृतके विद्वान् अंग्रेजने अपनी 'आर्योंकी महानता' नामक पुस्तकमें लिखा है—"हिंदुओंमें श्राद्धकी प्रथा बड़ी प्राचीन है और आधुनिक समयतक अति पवित्र तथा शुभ मानी जाती है। यह ईसाई मतके 'अशाए रबानी'(Holy Communion) के सदृश ही है। निःसन्देह हिंदू अभीतक पितरोंके प्रति श्राद्ध तथा अन्य कर्मोंको विशेष श्रद्धा और आदरभावसे करते हैं। मेरा विचार है कि हमारे ईसाई मतमें पूर्वजोंकी स्मृति न मानना एक त्रुटि है। किसी-किसी देशमें श्राद्ध करनेकी प्रथा रूढ़िमें परिणत हो गयी है; परंतु वास्तवमें उस कार्यक्रममें उन लोगोंके हृदयोंमें अपने पूर्वजोंके प्रति अगाध श्रद्धा और स्मरणभाव निहित रहता है, ऐसे भाव प्रशंसनीय ही नहीं, वरं इनको प्रोत्साहित करना भी सर्वथा उचित है। ईसाई धर्मके प्रारम्भिक कालमें उस मतके अनुयायी अपने पूर्वजोंकी विगत आत्माओंके कल्याण तथा सद्‌गतिके लिये प्रार्थना किया करते थे। दक्षिण देशमें तो वर्तमान कालमें भी 'सर्व संत तथा आत्माओंका दिवस' (All Saints and All Souls Day) अपने मनकी शान्ति और कामना-पूर्तिके निमित्त मनाया जाता है। मेरा मत है कि इस प्रकारकी प्रथा प्रत्येक धर्मानुयायियोंमें होना आवश्यक है। पुराने समयमें मनुष्योंका यह दृढ़ विश्वास कि यदि वे अपने मृत पूर्वजों और सम्बन्धियोंकी आत्माओंको उनकी मंगल कामनाकी प्रार्थना प्रतिदिन करके सन्तुष्ट न करेंगे, अथवा उनकी तृप्तिके निमित्त दान देनेमें संकोच करेंगे तो वे असन्तुष्ट आत्माएँ उनकी शान्ति-उपलब्धिमें बाधक बनेंगी, सर्वथा सारहीन नहीं था।"

हिंदुओंके श्राद्ध करनेकी प्रथाकी सराहना मुस्लिम नृप शाहजहाँने भी की है। उसका पुत्र सम्राट् औरंगजेब विख्यात शासक हुआ है; परंतु उसका सबसे निकृष्ट कलंक अपने पिताको पूरे सात वर्ष कारागारमें रखना है। प्रत्येक इतिहासकारने इस घटनाका उल्लेख किया है; परंतु आकिल खाँने अपनी 'वाकेआत आलमगीरी' में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और साथ ही शाहजहाँका अपने पुत्रके नाम निम्न पत्र भी उद्‌धृत किया है

ऐ पिसर तू अजब मुसलमानी,
ब पिदरे जिंदा आब तरसानी।
आफरीन बाद हिंदवान सद बार,
मैं देहंद पिदरे मुर्दारावा दायम आब॥

इसका अर्थ है 'अभी कलतक नौ लाख (अर्थात् लाखों) अश्वारोही सैनिक मेरे अधीन थे, परंतु आज मुझे स्वयं अश्वारोहणके लिये भी दूसरोंका आसरा लेना पड़ता है; तथापि मुझे विश्वास है कि हिंदू तथा मुसलिम सैनिकोंको, जिन्होंने मेरे साथ विश्वासघात किया है, अपने कुकृत्यपर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।'—

'हे पुत्र! तू भी विचित्र मुसलमान है जो अपने जीवित पिताको जलके लिये भी तरसा रहा है। शत-शत बार प्रशंसनीय हैं वे हिंदू, जो अपने मृत पिताको भी जल देते हैं।'

महात्मा गाँधी और हिंदू-संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे)

हिंदू-संस्कृतिकी दृष्टिसे महात्मा गान्धी हिंदू-संस्कृतिके सर्वराष्ट्रिय प्रतीक थे। हिंदू-संस्कृतिको जिस रूपमें जगत् अपनी वर्तमान मनोभूमिकामें समझ सकता था, वही रूप धारणकर मानो हिंदू-संस्कृति ही महात्मा गान्धीके रूपमें अवतीर्ण हुई थी।

महात्मा गान्धी इस बातके प्रमाण हैं कि हिंदू-संस्कृति कोई 'साम्प्रदायिक' चीज नहीं है। यह इतनी सार्वभौम है, जितनी कोई भी चीज सार्वभौम हो सकती है। हम जिसे हिंदू-धर्म कहते हैं, वह भी कोई साम्प्रदायिक धर्म नहीं है। वह किसी देश, काल या व्यक्तिसे बँधा नहीं है—सार्वभौम है, सनातन है और प्राणिमात्रके लिये है। 'हिंदू' नाम अवश्य ही दैशिक है।

परप्रत्ययसे हो या स्वप्रत्ययसे, इस देशका नाम हिंदू है। पर यह देश विश्वको अपनेसे अलग नहीं करता। महात्मा गान्धीका नाम भी एक व्यक्तिका नाम है। पर इस नामका जो नामी व्यक्ति है, वह किसी मानव-समाजको अपनेसे अलग नहीं करता। महात्मा गान्धीको इस बातका गर्व था कि हम हिंदू हैं। वे अपनेको सनातनी हिंदू कहा करते थे। पर इसमें कोई साम्प्रदायिकताकी गन्ध नहीं थी, कोई साम्प्रदायिक अहंकार नहीं था। वे इस बातके प्रमाण थे कि हिंदू साम्प्रदायिक नहीं होता। उसके हृदयमें सबके लिये वही निर्मल प्रेम होता है, जो अपने देश या जातिवालोंके लिये होता है। महात्मा गान्धी अपनेको हिंदू कहते हुए अपने-आपको ईसाई, मुसलमान, पारसी—सब कुछ अनुभव करते थे। खिलाफतपर आये हुए संकटके कालमें उनका हृदय मुसलमानोंके हृदयके साथ एक हो गया। ज़ेकोस्लोवाकियापर जर्मनोंने जब आक्रमण किया, तब ज़ेकोस्लोवाकियाका नेतृत्व करनेके लिये वे तैयार हो गये। ब्रिटेनके प्राण जब जर्मन आक्रमणके धक्कोंसे संकटमें पड़ गये, तब अशस्त्रपाणि महात्मा गान्धीके प्राण ब्रिटेनके मर्मस्थानमें पहुँच गये। कराची जेलमें जब अली-भाइयोंसे मिलनेके लिये बाबा गुरुदत्तसिंह गये थे, तब धर्मकी चर्चा करते हुए मौलाना महम्मद अलीने उनसे कहा था कि 'संसारमें कहीं भी मुसलमानोंपर कोई संकट आ जाय तो हर मुसलमानका यह फर्ज होता है कि उन मुसलमानोंकी रक्षाके लिये दौड़ जाय।' बाबा गुरुदत्तसिंहने इसपर अपने सिख-धर्मका परिचय देते हुए यह बतलाया कि 'सिखोंका यह धर्म है कि कहीं भी किसी मनुष्यपर—चाहे वह सिख, मुसलमान, ईसाई, पारसी, कोई क्यों न हो—कोई अन्याय या अत्याचार होता हो तो उसकी मददके लिये सिख दौड़ जाय।' बाबा गुरुदत्तसिंहने सिख-धर्मके नामसे यह हिंदू-धर्मकी बात बतलायी थी। पर हिंदू-धर्म केवल मानव-समाजका ही नहीं, वह तो अखिल प्राणि-जगत्का संकट दूर करनेके लिये है।

हिंदू-धर्मका यह मर्म महात्मा गान्धीके हृदयका सहज आनुवांशिक संस्कार था। यदि वे स्वतन्त्र भारतमें जन्म लिये होते तो जगत्की पीडित मानव-जनताके उद्धारमें उनका जीवन लगता और उनके पीछे अखिल भारत अपनी सम्पूर्ण शक्तिके साथ खड़ा होता। परंतु उन्होंने जन्म लिया था पराधीन भारतमें। अतः उनके विश्व-प्रेमी हृदयमें भारतको स्वाधीन करनेका ही धर्म सर्वप्रथम अभ्युदित हुआ। दक्षिण अफ्रिकामें वे असहाय पराधीन भारतवासियोंकी लड़ाई ही लड़नेके लिये गये थे। तबसे भारतकी पूर्ण राजनीतिक स्वाधीनता सिद्ध होनेतक उन्होंने कई लड़ाइयाँ लड़ीं। ये सब लड़ाइयाँ, ये सब अहिंसात्मक संग्राम भारतको राजनीतिक स्वाधीनता दिलानेके ही मानो विविध कार्यक्रम थे। इन सारे संग्रामोंकी यह खूबी थी कि उनके विश्व-प्रेमी हृदयमें थोड़ी देरके लिये भी किसीके प्रति कोई शत्रुभाव नहीं उत्पन्न हुआ। गीतामें भगवान्ने अपने भक्तका यह लक्षण बतलाया है कि वह '**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च**' होता है। अर्थात् वह विश्व-प्रेमी होता है, किसी प्राणीसे वह द्वेष नहीं कर सकता, सबका हितू और सबपर दया करनेवाला होता है। साधु महात्माओंमें यह चीज होती है। पर युद्धके प्रसंगमें ऐसे विश्व-प्रेम, मैत्री और करुणाकी बात अद्‌भुत है।

महात्मा गान्धीका अपने जीवनमें अपना कोई स्वार्थ नहीं था। बार-बार उन्होंने अपने लेखों और व्याख्यानोंमें कहा है कि मेरे जीवनका उद्देश्य मोक्ष, आत्मज्ञान अथवा ईश्वर-प्राप्ति है। भारतको राजनीतिक स्वाधीनता दिलाना ईश्वर-प्राप्तिके साधनमार्गका ही एक पड़ाव था। वे अपने ईश्वरको प्रेममय जानते थे। उन प्रेममयको पानेका मार्ग भी प्रेममय ही हो सकता था। यही उनके विश्वप्रेमका मर्म था। उस विश्वप्रेमको कभी उन्होंने कलंकित या मलिन नहीं होने दिया। उनकी राजनीति ईश्वरके साथ योगकी एक साधना थी। जिस हिंदू-संस्कृतिमें वे पले थे, उसीने उन्हें यह वर दिया था। हिंदू-संस्कृतिके सिवा यह चीज उन्हें कौन दे सकता था; हिंदू-संस्कृतिमें ही प्रत्येक मनुष्यके जीवनका परम लक्ष्य ईश्वरको पाना है। हिंदू-समाज-व्यवस्था इसी लक्ष्यके आधारपर प्रतिष्ठित है। हिंदू-धर्मनीति, राजनीति, समाजनीति और विविध शास्त्र, काव्य और कलाएँ मानव-समाजको उसी ओर ले चलती हैं। इसीलिये हिंदुओंकी यह पुण्यमयी कर्मभूमि धन्य है और धन्य है उसकी वह परम्परा, जिसमें जगदुद्धारके इस महामन्त्रका उपदेश करनेवाले महापुरुष सदासे होते चले आये हैं। अकेली एक भारत-भूमिने किसी एक ही समय जगत्को इतने महामानव महात्मा

दिये हैं जितने अन्य सब देशोंने सब समय मिलाकर भी नहीं दिये हैं। परम्परा तो वही है, इसमें सन्देह नहीं। राजनीतिक क्षेत्रमें तो यह साधुता और महात्मापन निश्चय ही अद्भुत है; परंतु महात्मा गान्धीकी ईश्वरनिष्ठा देखिये कि वे भारतकी स्वाधीनताको भी छोड़ देनेको तैयार होते हैं यदि वह अहिंसाके रास्तेसे न मिलती हो। पर वह निष्ठा ही क्या, जिसमें शंका उपस्थित हो। सन् ३७ के आरम्भमें एक अंग्रेज ईसाई-पत्रकारने उनसे प्रश्न किया था—

'क्या आपको यह विश्वास है कि अंग्रेज आपके अहिंसात्मक आन्दोलनके सामने झुककर आपके देशका राज्य आपको सौंपकर इस देशसे शान्तिके साथ चले जायँगे?'

महात्मा गान्धीने उत्तर दिया, 'हाँ, मैं ऐसा ही समझता हूँ।'

प्रश्न—'आपके इस विश्वासका आधार क्या है?

उत्तर—'ईश्वर और उसकी न्यायकारितापर मेरा विश्वास है।'

पत्रकार उनके इस उत्तरसे चकित और मुग्ध हुआ। उसने कहा, 'हमलोग ईसाई कहलाते हैं। पर अधिक सच्चे ईसाई तो आप हैं। मैं आपके ये शब्द बड़े-बड़े अक्षरोंमें छापूँगा।'

महात्माजीने कहा, 'अवश्य छापिये। यदि ऐसा न हुआ तो भगवान् प्रेमके भगवान् नहीं रहेंगे, हिंसाके भगवान् हो जायँगे।'

पर क्या सच्ची ईश्वरनिष्ठा कभी विफल हुई है? सन् १९४७ के १५ अगस्तको सचमुच ही अंग्रेज इस देशको स्वाधीनकर यहाँसे शान्तिके साथ चले गये। पृथ्वीके इतिहासमें यह पहली घटना है कि किसी देशने अहिंसाके बलपर एक विदेशी साम्राज्यका अन्तकर अपना स्वराज्य स्थापित किया हो। महात्मा गान्धीके व्यक्तित्वसे आकर्षित होकर लोग उनके पीछे चलते थे। पर बहुत कम लोगोंको यह विश्वास हुआ होगा कि अंग्रेज यहाँसे शान्तिके साथ चले जायँगे। सत्य और अहिंसा क्या किसी राजनीतिके आधार बन सकते हैं? इन तार्किक प्रश्नोत्तरोंका कोई अन्त नहीं आयेगा। पर महात्मा गान्धीके नेतृत्वमें पराधीन भारतकी अहिंसा-नौका सत्यके भरोसे स्वाधीनताके किनारे लग गयी, इसका साक्षी तो आजका सारा जगत् ही है।

सत्यपर प्रतिष्ठित राजनीति और अहिंसापर प्रतिष्ठित रणनीति ही महात्मा गान्धीकी जगत्‌को सबसे बड़ी देन है।

ईश्वरनिष्ठाके बिना भी भारतकी इस अद्भुत स्वाधीनताके सम्बन्धमें विचार करनेका एक राजनीतिक तरीका है। उसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि द्वितीय महायुद्धके फलस्वरूप जगत्‌की सर्वराष्ट्रिय परिस्थिति इतनी बदल गयी और अंग्रेजोंके लिये रूसकी बढ़ती हुई शक्ति, आजाद हिंद फौजकी घटना-से उत्पन्न होनेवाला भविष्यके लिये भय, १९४२की क्रान्तिसे प्रकट होनेवाली भारतकी तैयारी आदिके मुकाबले अपना साम्राज्य सँभालना इतना कठिन मालूम हुआ कि हिंदुस्थानको छोड़ देनेमें ही उन्होंने अपनी कुशल समझी। पर इन ऊपरी तर्कोंमें अपने सहारेकी कोई बात नहीं है, न यह महात्मा गान्धी और उनकी ईश्वरनिष्ठाको ही समझना है। हाँ, महात्मा गान्धीकी-सी ईश्वरनिष्ठा हमारे देशके नेतृत्वमें बनी रहेगी तो उससे जो विजय आज घरमें प्राप्त हुई है, वह बाहर बड़े-बड़े राष्ट्रोंके अखाड़ेमें भी प्राप्त होगी। ईश्वरनिष्ठारहित सत्य और अहिंसाकी कोरी बातें कोई अर्थ नहीं रखतीं, न कोई महत्कार्य साधन करनेमें समर्थ हो सकती हैं। महात्मा गान्धीकी अमोघ शक्तिका रहस्य उनकी ईश्वरनिष्ठा है। ईश्वरके अनेक नाम और रूप हैं। महात्मा गान्धी उस ईश्वरको सत्यके नामसे जानते थे और सत्य चिन्तन, सत्य आचरण, सत्य भाषणके रूपमें उन्हें देखते थे। इसी सत्यसे उनका अहिंसाव्रत और ब्रह्मचर्यव्रत निकला। यह ईश्वरनिष्ठा हिंदू-संस्कृतिका मूल आधार है। इसी निष्ठासे उत्पन्न होनेवाला इसका दूसरा आधार धर्म है। ईश्वर-प्राप्ति लक्ष्य है, धर्म साधन है। इनके बीचमें रहकर अर्थ और काम भी मानव-जीवनके परम लक्ष्यके साधन बनते हैं। हिंदू-संस्कृतिके इस चतुर्विध पुरुषार्थसम्बन्धी आनुवंशिक संस्कारोंके आधारपर महात्मा गान्धीने अपने जीवनका तत्त्वज्ञान निर्माण किया था।

हिंदू-धर्मपर उनकी निष्ठा कैसी थी, यह उन्हींके शब्दोंमें देखने योग्य है। महात्माजी कहते हैं—'मैं अपने-आपको सनातनी हिंदू कहता हूँ; क्योंकि—

(१) 'मैं वेदों, उपनिषदों, पुराणों और सभी हिंदूधर्मग्रन्थोंको मानता हूँ.......

(२) 'मैं वर्णाश्रम-धर्मको भी मानता हूँ.....'

(३) 'गोरक्षाधर्मपर भी मेरा विश्वास है......'

(४) 'मूर्तिपूजापर मेरा अविश्वास नहीं है।'

(यंग इंडिया २९ सितंबर १९२०)

महात्मा गान्धी पूर्वजन्मके संस्कार और आनुवंशिक संस्कारोंको भी मानते थे। वर्णविभागको वे जन्मसे मानते थे; क्योंकि 'यदि ऐसा न माना जाय तो वर्णव्यवस्थाका कुछ अर्थ ही नहीं रहता।' महात्माजी वर्णधर्मको मनुष्यका 'सहज धर्म' यानी जन्मके साथ ही उत्पन्न हुआ धर्म मानते थे। उन्होंने कहा था कि 'इस सहज धर्मका यदि पालन किया जाय तो समाजमें जो उपद्रव आज हो रहे हैं, एक-दूसरेके प्रति जो द्वेषपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा बढ़ रही है, धन इकट्ठा करनेके लिये जो कष्ट उठाये जा रहे हैं, असत्यका जो प्रचार हो रहा है और जो युद्धके साधन तैयार किये जा रहे हैं, वे सब शान्त हो जायँ। इस नीतिका पालन सारा संसार करे अथवा न करे, सभी हिंदू करें या न करें; पर जितने लोग इस व्यवस्थापर चलेंगे, उतना लाभ तो संसारको होगा ही। मेरा विश्वास बढ़ता ही जाता है कि वर्णधर्मसे ही जगत्का उद्धार होगा।' महात्माजी आधुनिक समाजवाद या साम्यवादके कायल नहीं थे। उनका तो धर्मवाद, ईश्वरवाद, हिंदू-संस्कृतिका परम्परावाद। इस सनातनवादके सामने समाजवाद या साम्यवाद-जैसे अल्पजीवी वादोंका कोई महत्त्व नहीं रहता। महात्मा गान्धीके सामने समाजवादी, साम्यवादी—सभी थे। पर समाजवादी अपने समाजवादमें महात्मा गान्धीका तेज नहीं देख पाते थे। उन्हें महात्मा गान्धीके अनुयायी होकर रहना पड़ता था। और साम्यवादियोंके लिये महात्मा गान्धीके विरुद्ध खड़े होनेके सिवा और कोई गति नहीं थी। हिंदुस्थानने अपनाया गान्धीवाद ही; क्यों कि वह हिंदू-संस्कृतिके अनुकूल था। हिंदू-संस्कृति ही उसकी मूल प्रेरणाशक्ति थी। आजकल कुछ लोग गान्धीवादको हिंदू-संस्कृतिसे भिन्न एक दूसरे ही रूपमें पेश करते हैं। यह उचित नहीं है; क्योंकि कोई चीज अपने मूलसे कटकर अलग नहीं रह सकती। हिंदू-संस्कृतिसे विच्छिन्न होनेके कारण ही बौद्धमत इस देशमें ठहर नहीं सका, यद्यपि बौद्धमतकी वे आधारभूत वस्तुएँ, जो बौद्धमतकी प्राणशक्ति थीं, हिंदू-संस्कृतिमें पहले भी थीं और आज भी हैं। गान्धीवादकी जीवनी शक्ति यथार्थमें हिंदू-संस्कृति ही है, यह कभी नहीं भूलना चाहिये।

गान्धीजीकी कुछ बातें अवश्य ही सनातनी हिंदू जनताकी दृष्टिमें अशास्त्रीय थीं। ऐसा होना स्वाभाविक है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसी बातोंमें भी महात्मा गान्धी अपने दृष्टिकोणके अनुसार हिंदू-संस्कृतिके आधारपर ही खड़े होते थे। ऐसी बातोंमें मतभेदका होना आश्चर्यकी बात नहीं है। उदाहरणार्थ, महात्मा गान्धी वर्णधर्म और वर्णव्यवस्थाको मानते हुए भी खान-पान और शादी-ब्याहके सम्बन्धमें वर्तमान प्रतिबन्धोंको नहीं मानते थे। पर इस सिद्धान्तको तो वे मानते ही थे कि विवाह-बन्धन समान संस्कृतिके लोगोंमें ही ठीक रहता है। खान-पानके विषयमें शुचि और संयत रहना उन्हें भी अभीष्ट था। इसमें सन्देह नहीं कि खान-पान और वैवाहिक सम्बन्धोंके विषयमें शास्त्रीय व्यवस्था कोई ऐसी चीज नहीं है, जो तोड़ी जाय। '**शुनां कपीनामिव वर्णसंकरः**' किसी भी मानवसमाजके लिये मंगलकारक नहीं हो सकता। अन्त्यज भाइयोंके विषयमें तथा मुसलमानोंके विषयमें भी उनकी विचार पद्धति संस्कारमूलक अधिकारभेदके अंशमें शास्त्रीय पद्धतिको छोड़े हुई थी, ऐसा कोई शास्त्रज्ञ पुरुष कहे तो उसका यह कहना कदापि असंगत नहीं है, तथापि अन्त्यजोंको हरिजन बनानेकी तथा सच्ची हिंदू-मुसलिम एकता स्थापित करनेकी उनकी महत्त्वाकांक्षा सदा ही वन्दनीय रहेगी। इन दोनों समस्याओंको सुलझानेकी कोई शास्त्रानुकूल विधि निकाली जा सके तो वह महात्मा गान्धीकी महान् सेवाके प्रति श्रद्धांजलि अर्पण करनेका ही काम करेगी। महात्मा गान्धी कहते हैं कि 'दुनियामें किसी संस्कृतिका भण्डार इतना भरा-पूरा नहीं है, जितना हमारी संस्कृतिका है। हमलोगोंने उसे अभी जाना नहीं है, हम उसके अध्ययनसे दूर रखे गये हैं, हमें उसके गुण जानने और माननेका मौका ही नहीं दिया गया। हमने उसके अनुसार चलना करीब-करीब त्याग दिया है।' यह अंग्रेजी राजके समयकी हमारी दशाका वर्णन है। पर महात्मा गान्धीके प्रतापसे हमलोग अब स्वाधीन हैं, अब हमें अपनी संस्कृतिके उस भण्डारसे अपनी आवश्यकताएँ पूरी करनी चाहिये और अपनी जटिल समस्याओंके समाधान उसीमेंसे निकालने चाहिये। समाजवादी समाधान काम नहीं देंगे।—

समाजवाद और गान्धीवादमें वही अन्तर है, जो पाश्चात्त्य संस्कृति और भारतीय संस्कृतिमें है। समाजवादमें

भारतीय संस्कृतिके चतुर्विध पुरुषार्थोंमेंसे केवल दो ही पुरुषार्थ हैं—'अर्थ' और 'काम', जिनका 'धर्म और 'ईश्वरके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। समाजवादकी आर्थिक व्यवस्था उद्योग-धंधोंका केन्द्रीकरण है, गान्धीवादमें उद्योग-धन्धोंके केन्द्रीकरणका निषेध है। कारण, उससे जनता गरीब हो जाती है, सारी पूँजी कुछ थोड़े-से मनुष्योंके हाथोंमें इकट्ठी होती है, पूँजीपतिशाही बढ़ती है, बहुत लोग बेकार हो जाते हैं। इससे पूँजीपति और मजदूरोंमें वर्गयुद्ध चलता है, परस्पर द्वेष फैलता है। गान्धीवाद उद्योग-धंधोंको सारी जनतामें बाँट देता है। इससे पूँजी ही बँट जाती है, धनका अनायास ही एक प्रकारसे समवितरण होता है और वर्गयुद्धका कोई कारण नहीं रहता। भारतीय वर्ण-व्यवस्थामें यही खूबी है—न कोई वैसी व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता रहती है, न बेकारी ही बढ़ती है। वर्ग-युद्ध, पूँजीका विषम वितरण और बेकारी—इन सब बुराइयोंकी जड़ है। व्यापारमें महायन्त्रों (बड़े-बड़े कल-कारखानों) का उपयोग, जिसका हिंदू-स्मृतिकारोंने निषेध किया है। मनुस्मृतिमें महायन्त्रोपसेवनकी उपपातकोंमें गणना की गयी है। महात्मा गान्धी आरम्भसे बड़े-बड़े कल-कारखानोंका विरोध ही करते रहे हैं। इसी सिलसिलेमें उन्होंने हाथके कते सूतसे हाथका बुना खद्दर पहननेकी प्रथा चलायी। अन्न और वस्त्र, कम-से-कम इन दो अत्यावश्यक पदार्थोंके सम्बन्धमें भारतका प्रत्येक ग्राम अपनी आवश्यकता स्वयं पूरी कर ले—यही उनका मुख्य हेतु था, जो निश्चय ही हिंदू-संस्कृतिके अनुरूप था। स्वाधीनता प्राप्त होनेके बादसे उद्योग-धंधोंके इस विकेन्द्रीकरणकी उपेक्षा बढ़ती जा रही है और गान्धीवाद बहुत पिछड़ता-सा दीख रहा है! यह लक्षण अच्छा नहीं है। राष्ट्रकी आर्थिक व्यवस्थामें महायन्त्रोंका उपयोग वहींतक ठीक है, जहाँतक सर्वराष्ट्रिय समस्याओंका सामना करनेमें उनकी आवश्यकता हो—उदाहरणार्थ, युद्ध-सामग्री आदि तैयार करनेमें। घरकी आर्थिक व्यस्थामें महायन्त्रोंका वर्जन ही ठीक है।

आज चोरबाजारी, रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार जितने बढ़े हैं, उतने किसी समयमें भी नहीं थे। यह सही है कि यह नैतिक अध:पतन अंग्रेजी राज्यकी अनीति-परम्परासे प्राप्त हुआ है। पर महात्मा गान्धी-जैसे मनस्वी नेताके जीवित रहते हुए, स्वाधीन होनेके साथ ही हम इस नैतिक अध:पतनका अन्त नहीं कर सके; बल्कि स्वाधीनतामें इसकी और भी वृद्धि हुई। इसका कारण क्या है? क्या यही तो इसका कारण नहीं है कि महात्मा गान्धीके सीधे सरल रास्तेपर चलना छोड़कर हम सर्वराष्ट्रिय प्रतिष्ठा-लाभके लोभमें पड़ गये! समाजवादी आदर्शोंको जल्दी-से-जल्दी सिद्ध कर दिखानेके मोहने हमें अभिभूत कर लिया? हमारे ठाट-बाट और शाहीखर्च बढ़ गये; सादगी, सेवा और त्यागकी भावना हुकूमतकी शानमें हवा हो गयी! महात्मा गान्धीके बार-बार कहनेपर एक बार हमने कंट्रोल उठा दिया, पर जनतामें वह जागरण पैदा करनेकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया, जो धर्मबुद्धिसे ही पैदा किया जा सकता था। कंट्रोल उठा देनेको 'जूआ' तक कहा गया और यह प्रतीक्षा की जाने लगी कि कंट्रोल उठा देनेकी नीति कब विफल होती है और कब हम फिरसे कंट्रोल बैठाते हैं। महात्मा गान्धीकी मृत्युके बाद कंट्रोल उठा देनेकी नीतिके विफल होनेमें देर नहीं लगी और फिरसे कंट्रोल बैठ गया। अब तो कंट्रोल और भी बढ़ा! चोरबाजारी और भ्रष्टाचार जारी ही है। कंट्रोलके तो ये नित्य सहचर हैं। यह बात भी सर्वथा निश्चित नहीं है कि देशमें अन्नकी कमी है। अधिकांशमें अन्न और वस्त्रकी कमी चोरबजारीसे ही उत्पन्न हुई दीख पड़ती है। फिर सुशासनका यह लक्षण तो नहीं है कि जनताके जीवनके हर चीजपर सरकारी कंट्रोल हो। उत्तम शासन वही कहा जा सकता है, जिसमें जनताको स्वाधीनताका अनुभव हो और उसमें धर्मबुद्धि जागे, नैतिकताका विकास हो। महात्मा गान्धी यदि जीवित होते तो इस जडयन्त्रवत् शासनमें कोई विलक्षण चैतन्य उत्पन्न हुआ होता। उनकी स्मृतिसे यह चैतन्य अब भी उत्पन्न किया जा सकता है। बहुत कुछ उन लोगोंकी सादगी, नि:स्वार्थ सेवा और त्यागकी भावनापर निर्भर है, जिनके हाथोंमें देशके शासन-सूत्र हैं।

महात्मा गान्धीने देशके राजनीतिक नेताओं और कार्यकर्ताओंका विदेशी वेश उतरवाकर उन्हें विशुद्ध खद्दर पहना दिया। यह सचमुच ही विदेशी पथपर चले हुए राष्ट्रका एक महान् संस्कार था। अब इस विशुद्ध वेशके अंदर वह सम्पूर्ण संस्कृति आ जानी चाहिये, जिसके मूलतत्त्व हैं ईश्वर और धर्म। महात्मा गान्धीको हिंदुस्थानपर अंग्रेजोंका बोझ उतना नहीं अखरता था,

जितना अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृतिका। खद्दर वेशमें यह विदेश सभ्यता बहुत जगह छिपी हुई है। महात्माजी इस सभ्यताको 'असभ्यता', 'राक्षसी' कहते थे। उन्होंने बहुत पहले यह लिख रखा था कि 'अभी इससे बचनेकी कोई तदबीर हो सकती है; पर जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, वक्त हाथसे निकलता जा रहा है! मुझे तो धर्म प्यारा है—इसलिये पहला दुःख तो मुझे यही है कि हिंदुस्थान धर्मभ्रष्ट होता जा रहा है! यहाँ धर्मसे मेरा मतलब उस धर्मसे है, जो सब धर्मोंका आधार है। सच तो यह है कि हमलोग ईश्वरसे विमुख होते जा रहे हैं।' महात्मा गान्धी स्वयं सदा ईश्वरके सम्मुख रहते थे। ईश्वरकी प्रेरणाके बिना वे कोई काम नहीं करते थे। उनपर किसी चीजका दबाव नहीं पड़ता था। दुनियाके किसी वाद, विपत्ति या भौतिक बल-वैभवका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। यही उनकी राष्ट्रनीतिकी मौलिकताका कारण है। '**निर्बल के बल राम**' कितने प्रबल हैं, इसका वे अपने हृदयमें अनुभव करते थे और जगत्‌में उसका तेज प्रसृत होता था। वे चाहते थे, सारा देश ईश्वरसम्मुख हो। इसलिये उनके सब उद्योग और आन्दोलन उपवास और ईश्वर-प्रार्थनासे आरम्भ होते थे। अब तो विधान-परिषद्‌में ईश्वर-प्रार्थना करके कार्य आरम्भ करनेके प्रस्तावको ही ठुकरा दिया है! पर उनके ईश्वर-प्रार्थना और उपवास ही सबसे महान् आश्रय थे। इसकी शिक्षा उन्हें बचपनमें माता-पितासे मिली थी। हिंदुओंके घर-घरमें आज भी जहाँ सनातन हिंदू-धर्मकी मान्यता है, यह शिक्षा किसी-न-किसी रूपमें विद्यमान है। महात्मा गान्धीने इसे जगाया अपने राष्ट्रको ईश्वरके सम्मुख करनेके लिये। श्रीमद्भगवद्‌गीताको वे माता कहते थे। उन्होंने एक जगह लिखा है—'मुझे जन्म देनेवाली मेरी पार्थिव माता तो मर गयीं, पर इस शाश्वती (गीता) माताने उनका स्थान हर तरहसे पूरा किया है। यह तबसे सदा मेरे साथ रहती है। इसमें कभी कोई बदल नहीं हुआ, कभी इसने मुझे असहाय नहीं छोड़ा। जब कोई कठिनाई या दुःख सामने आता है, तब मैं इसकी गोदमें जा बैठता हूँ।' सभी सद्‌ग्रन्थोंके प्रति उनका आदर था, पर गीताग्रन्थ उनका इष्ट था। भगवान्‌के नामोंमें रामनाम उनका इष्ट था और भक्तिग्रन्थोंमें था श्रीरामचरितमानस। मुसलमानोंको समझानेके लिये कि राम, रहीम—सभी नाम उस अल्लाहके हैं; किसी भी नामसे कोइ उसका स्मरण करे, स्मरण होता है उसी एक ईश्वरका—इसलिये वे अपनी सार्वजनिक प्रार्थनाओंमें रामके साथ रहीम, कृष्णके साथ करीम, ईश्वरके साथ अल्लाह नाम भी जोड़ते थे (यद्यपि इसमें सन्देह है कि सामान्य मुसलिम जनतापर इसका क्या प्रभाव पड़ता होगा।) पर उनका इष्ट नाम था राम ही। '**रघुपति राघव राजाराम पतितपावन सीताराम**' की ही उनके यहाँ धुन लगती थी। सूर, तुलसी, मीरा, नरसी आदिके भजन उनकी प्रार्थनाओंमें गाये जाते थे। यह सारा प्रयत्न इसीलिये था कि देश भगवान्‌के सम्मुख हो, हिंदू और मुसलमान भगवान्‌के सम्मुख होकर सच्चे भ्रातृस्नेहसे इस देशमें रहें। पर हिंदू-संस्कृति और मुसलिम-संस्कृतिमें कोई विलक्षण भेद होनेसे हिंदू-मुसलिम एकतामें दीर्घकालका विलम्ब अनिवार्य है। हाँ, यह नामनिष्ठा हिंदू-संस्कृतिमें परम्परासे चली आयी है। अर्थमूलक आधुनिक संस्कृतिने उसे बहुत कुछ दबा दिया। महात्माजीने उसे जगानेका जो प्रयत्न किया है, वह उनके बाद भी जारी रहेगा तो यश बहुत दूर नहीं, शीघ्र ही देश ईश्वरके सम्मुख होगा। महात्मा गान्धीकी बदौलत आज रेडियोके सब स्टेशनोंसे रामधुन और संतोंके भजन सुननेको मिलते हैं। पर यह चीज फैशनके तौरपर केवल जडयन्त्रमें ही न रह जाय, इसकी ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। (अब तो रेडियोमें गीता और रामचरितमानसपर भी रोक लग गयी है!) देशमें स्थान-स्थानमें जो तीर्थ हैं, जहाँ-जहाँ जो सत्संग, ईश्वरके भजन और भगवन्नाम-कीर्तन होते हैं, वे सब अज्ञात रहकर भी निःस्वार्थभावसे यही महत्कार्य कर रहे हैं। इस बातको समझना और जनताको इसमें प्रोत्साहित करना सरकारका एक मुख्य काम होना चाहिये, यदि महात्मा गान्धी जो मार्ग दिखा गये, उसपर उसका विश्वास है। देशकी सच्ची सेवा शासनविधान या नये-नये कानून बनानेसे उतनी नहीं होती, जितनी जनतामें धर्म-बुद्धि जगानेसे होती है। महात्मा गान्धीके प्रयत्नोंकी मौलिकता और उनकी आकर्षण-शक्ति इसी ईश्वर-सम्मुखतामें ही है।

महात्मा गान्धी बहुत जल्दी चले गये! उन्होंने एक जीवनमें जितना किया, उतना कोई कर नहीं सकता। पर उनके संकल्पमें अभी बहुत कुछ करना बाकी था। वे अपने देशमें रामराज्य स्थापित हुआ देखना चाहते थे।

स्वाधीनता तो मिल गयी, अशोकका चक्र भी आ गया; पर धर्मराज युधिष्ठिरका किला हमारी राजधानीमें अभी उजड़ा हुआ ही पड़ा है। उन पाण्डवोंकी कीर्तिका गान अभी हमारी राष्ट्रनीतिमें नहीं सुनायी दे रहा है, जिनके विषयमें कहा गया है—

धर्मो विवर्द्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन
पापं प्रणश्यति वृकोदरकीर्तनेन।
शत्रुर्विनश्यति धनञ्जयकीर्तनेन
माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगाः॥

भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं जिन महाराज युधिष्ठिरको इन्द्रप्रस्थके राजसिंहासनपर बैठाकर आदर्श धर्मराज्य स्थापित किया, उनकी या उनके राज्यकी पावन स्मृति अभीतक हमारे किसी राष्ट्रचिह्नतक नहीं आयी है। युधिष्ठिरका वह धर्मराज्य रामराज्यका ही जीर्णोद्धार था। उसी परम्परामें महात्मा गान्धी यहाँ वह रामराज्य स्थापित करना चाहते थे, जिसमें सब मतों और वादोंका समन्वय एक धर्मवादमें होता और सब अपने-अपने कर्ममें निरत होकर स्नेहपूर्वक एक-दूसरेका सुख-संवर्द्धन करते और कोई प्राणी दुःखी न होता। भारतीय प्रकृति और संस्कृतिकी वह एक अनोखी वस्तु होती, जिसे देखकर सारा जगत् प्रफुल्लित होता और फिर एक बार जगत्के सब देशों और वादोंको अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा इस देशसे मिलती। महात्मा गान्धी तो चले गये! अब तो हम सबके हाथमें इतना ही है कि उनकी स्मृतिको हम सदा जगाते रहें और जिस संकल्पको पूरा करनेके लिये वे जीते, उसे हम पूरा करें—अपने देशमें अपनी दिव्य, उदार, ईश्वराभिमुख संस्कृतिके अनुसार रामराज्य स्थापित करें—जिसमें कोई अधर्म, पाप, ताप या अनीति न रह जाय।

महात्मा गान्धीका जीवन हिंदू-संस्कृतिके अनुरूप जीवनका एक विशिष्ट दृष्टान्त है। हिंदू-संस्कृतिमें जिस प्रकार इस बातका अनुशासन है कि मनुष्यको कैसे जीना चाहिये, उसी प्रकार इस बातका भी अनुशासन है कि मनुष्यको कैसे मरना चाहिये। जीवनका प्रथम क्षण जन्म है, उससे मनुष्यका धर्म निश्चित होता है। अन्तिम क्षण मृत्यु है, उससे उसकी भावी गति निश्चित होती है। इस गतिके परापर अनेक भेद हैं। परम गति स्वयं भगवद्धाम है। वही मानव-जीवनका परम लक्ष्य है। महात्मा गान्धीके जीवनका वही परम ध्येय था। उसी परम ध्येयका वाचक प्रणव अर्थात् 'ॐ' या 'राम' है। मृत्युके द्वारा उस परमध्येयको प्राप्त करनेमें गीताका यह अनुशासन है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।

'एकाक्षर ब्रह्म ॐ का उच्चारण और भगवान्का स्मरण करता हुआ जो कोई देह छोड़कर जाता है, वह परम गातिको प्राप्त होता है।'

सामान्य मनुष्योंके लिये सहसा यह साध्य नहीं होता। कारण, जीवनमें जिस वस्तुका कोई अभ्यास नहीं, वह अन्तिम क्षणमें कहाँसे टपक पड़ेगी। कहते हैं, बड़े-बड़े तपस्वी भी मृत्युक्षणमें डिग जाते हैं **'जनम जनम मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥'** पर महात्मा गान्धी मृत्युक्षणमें भी महात्मा ही थे। 'हे राम' यही उनका अन्तिम स्वास था। 'हे राम कहकर उनके प्राण निकल गये। अपने समग्र जीवनके साररूपसे यही 'राम' शब्द जगतको देकर वे परधामको सिधार गये।

उनकी सारी कहानी, उनकी सारी शिक्षा, उनकी सारी प्राणशक्ति इसी एक शब्दमें आ गयी। इससे बढ़कर कोई मनुष्य किसी मनुष्यको कोई चीज नहीं दे सकता। यह जिसने दिया, उसने सब कुछ दिया। इस रामनामका, कृष्णनामका, भगवान्के किसी नामका हम आश्रय लें तो महात्मा गान्धीके संकल्पका रामराज्य हम स्थापित कर सकते हैं। रामनामकी महिमाके विषयमें महात्मा गान्धीने 'नवजीवन' में लिखा था, 'रामनामके प्रतापसे पत्थर तैरने लगे, रामनामके बलसे वानर-सेनाने रावणके छक्के छुड़ा दिये, रामनामके सहारे हनुमान्ने पर्वत उठा लिया और राक्षसोंके घर अनेक वर्ष रहनेपर भी सीता अपने सतीत्वको बचा सकी। भरतने चौदह सालतक प्राण धारण कर रखा, क्योंकि उनके कण्ठसे रामनामके सिवा दूसरा कोई शब्द नहीं निकलता था। इसीलिये तुलसीदासने कहा कि कलिकालका मल धो डालनेके लिये रामनाम जपो।...... मैं अपना अनुभव सुनाता हूँ। मैं संसारमें व्यभिचारी होनेसे बचा हूँ तो रामनामकी बदौलत।.............. जब-जब मुझपर विकट प्रसंग आये हैं, मैंने रामनाम लिया है और मैं बच गया हूँ। अनेक संकटोंसे रामनामने मेरी रक्षा की है।......... करोड़ों हृदयोंका

अनुसन्धान करने और उनमें ऐक्यभाव पैदा करनेके लिये एक साथ राम-नामकी धुन-जैसा दूसरा कोई सुन्दर और सबल साधन नहीं है।' हम कह सकते हैं कि महात्मा गान्धीकी अनन्य रामनाम-निष्ठासे प्रसन्न होकर रामने ही भारतको यह राजनीतिक स्वाधीनता दी है। अत: अब इसका उपयोग भी राम-कार्यमें ही होना चाहिये। तभी इसकी रक्षा और समृद्धि होगी और जगत्‌में सर्वत्र रामराज्य प्रसृत होगा।

हिंदू-संस्कृतिमें गौका स्थान

(लेखक—श्रीशिवभगवानजी गोयनका, बी० ए०)

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥
नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः॥

स्वतन्त्र भारतके लिये गो-वध सबसे बड़ा कलंक है। यह खेदका विषय है कि इस प्रश्नको साम्प्रदायिक प्रश्न कहकर हमारी 'धर्मनिरपेक्ष' सरकारद्वारा अभीतक टाला जा रहा है। यह प्रश्न धार्मिक एवं आर्थिक तो है ही। साथ-ही-साथ प्रमुखतः सांस्कृतिक भी है। इसी तथ्यका प्रतिपादन इस लेखका प्रधान लक्ष्य है।

शास्त्रोंके अनुसार गाय, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—चारों पदार्थोंको देनेवाली है। पुराणोंमें लिखा है कि जगत्‌में सर्व प्रथम वेद, अग्नि, गाय तथा ब्राह्मणकी रचना हुई। मनुष्यके लिये वेदोंमें यज्ञानुष्ठान बताया गया है। '**कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि**' एवं ब्राह्मणोंके द्वारा ही वह विधि सम्पन्न होती है। अग्निरूपी मुखसे देवताओंको यज्ञकी आहुतियाँ प्राप्त होती हैं—'**अग्निमुखा हि देवा भवन्ति**' और गायसे देवताओंको समर्पण करने योग्य हवि प्राप्त होता है। यही कारण है कि गायको '**हविर्दुघा**' (हविको देनेवाली) कहते हैं।

यज्ञमें जौ, तिल आदि जिस अन्नकी आवश्यकता होती है, उसको पैदा करनेके लिये गौकी सन्तान अर्थात् बैलकी आवश्यकता होती है।

यज्ञकी वेदीको स्वच्छ एवं पवित्र करनेके हेतु गो-मूत्र तथा गोबरकी आवश्यकता होती है। यज्ञाग्निको जलाने तथा प्रज्वलित करनेके लिये गोबरके कंडे (उपले)-की आवश्यकता होती है।

पंचगव्यका महत्त्व तथा यज्ञमें यजमानद्वारा पंचगव्य का प्राशन सर्वविदित है।

आध्यात्मिक दृष्टिसे गायका महत्त्व अवर्णनीय है। महाभारतके अनुशासन-पर्वमें महर्षि च्यवनने राजा नहुषसे इस महत्त्वका वर्णन करते हुए कहा है—

गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किंचिदिहाच्युत॥
कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव।
गवां प्रशस्यते वीर सर्वपापहरं शिवम्॥

'मैं इस संसारमें गौओंके समान दूसरा कोई धन नहीं समझता। गौओंके नाम और गुणोंका कीर्तन-श्रवण, गौओंका दान तथा उनका दर्शन—इनकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। ये समस्त कार्य सम्पूर्ण पापोंको दूर करके परम कल्याणको प्रदान करनेवाले हैं।'

प्रजापति ब्रह्मा, जगपालक विष्णु तथा भगवान् शंकरद्वारा भी कामधेनुकी स्तुति की गयी है। यथा-

त्वं माता सर्वदेवानां त्वं च यज्ञस्य कारणम्।
त्वं तीर्थं सर्वतीर्थानां नमस्तेऽस्तु सदानघे॥

(स्कन्द-ब्रह्म-धर्मारण्य १०। १८)

'हे पापरहिते! तुम समस्त देवोंकी जननी हो। तुम यज्ञकी कारणरूपा हो, तुम समस्त तीर्थोंकी महातीर्थ हो, तुमको सदैव नमस्कार है।'

गायके विश्वरूपका वर्णन अथर्ववेद, ब्रह्माण्डपुराण, महाभारत, स्कन्दपुराण, पद्मपुराण एवं भविष्यपुराणमें है। अथर्ववेदमें गायके रोम-रोममें देवताओंका निवास माना गया है। वेदने तो यहाँतक कहा है, '**एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्**।' यहाँपर गायके रूपको सारे ब्रह्माण्डका रूप बताया गया है।

सर्वगुणसम्पन्न पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णकी बाल-लीलाका सम्बन्ध तो गायके साथ अविच्छिन्न एवं अमिट है। गो-पालक गोपालके सरस वर्णनमें तो व्रजभाषा-साहित्य सूरके सूर्यसे अद्यावधि उद्दीप्त है। आनन्द-कन्द भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा इन्द्र-पूजनकी प्रथाको बंद कराके गोवर्धनपूजाका प्रारम्भ इसका

ज्वलन्त प्रमाण है कि गोचर-भूमिकी कितनी उपादेयता है, गायका हमारे जीवनमें क्या स्थान है।

गो-मन्त्र-जपसे पापका नाश हो जाता है। जो मनुष्य निम्नलिखित मन्त्रका प्रतिदिन प्रातः-सायं आचमन करके जप करता है, उसके दिनभरके पाप नष्ट हो जाते हैं—

घृतक्षीरप्रदा गावो घृतयोन्यो घृतोद्भवाः।
घृतनद्यो घृतावर्तास्ता मे सन्तु सदा गृहे॥
घृतं मे हृदये नित्यं घृतं नाभ्यां प्रतिष्ठितम्।
घृतं सर्वेषु गात्रेषु घृतं मे मनसि स्थितम्॥
गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च।
गावो मे सर्वतश्चैव गवां मध्ये वसाम्यहम्॥
इत्याचम्य जपेत् सायं प्रातश्च पुरुषः सदा।
यदह्ना कुरुते पापं तस्मात् स परिमुच्यते॥

(महाभारत अनुशासन० ८०। १—४)

'गाय घी और दूध देनेवाली है। घृतको उत्पन्न करनेवाली, घृतकी नदी और घृतका भँवररूप है। घृत सदा मेरे हृदयमें रहे, मेरी नाभिमें रहे, मेरे सारे अंगोंमें रहे और मेरे मनमें स्थित रहे। गौएँ सर्वदा मेरे गृहमें निवास करें। गायें सदा मेरे आगे-पीछे रहें, मेरे चारों ओर रहें तथा मैं गायोंके बीच निवास करूँ।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अपने दिव्यरूपोंका वर्णन करते हुए '**धेनूनामस्मि कामधुक्**' कहा है। गायोंसे भगवत्-प्राप्ति होती है। गाय ही यज्ञके फलोंका कारण है और गायोंमें ही यज्ञकी प्रतिष्ठा है। यथा—

'गावो यज्ञस्य हि फलं गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः'

(महाभारत)

आस्तिक जनताका तो यहाँतक विश्वास है कि यदि स्वप्नमें भी गो-दर्शन हो जाय तो उससे कल्याण-लाभ एवं व्याधि नाश होता है। वैसे तो यदि कोई काली वस्तु स्वप्नमें दिखायी पड़े तो अपशकुन माना जाता है; किंतु यदि स्वप्नमें काली गायके दर्शन हों तो वह शुभ माना जाता है।

गो-सेवासे लक्ष्मीकी प्राप्ति बतायी गयी है। यथा—

गवां सेवा तु कर्तव्या गृहस्थैः पुण्यलिप्सुभिः।
गवां सेवापरो यस्तु तस्य श्रीर्वर्धतेऽचिरात्॥

इसके अतिरिक्त गायके गोबर तथा गो-मूत्रमें लक्ष्मीजीका निवास भी एक कथामें वर्णित है। (गोबर-गोमूत्रकी खादसे प्रचुर अन्नरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति प्रत्यक्ष है।)

गो-सेवासे पुत्र प्राप्ति होती है। कुल-गुरु ब्रह्मर्षि वसिष्ठद्वारा राजा दिलीपको सुरभिनन्दिनीकी सेवाकी आज्ञा हुई। गो-सेवाके फलस्वरूप ही दिलीपके रघु हुए। पुत्रकामी राजा ऋतम्भरने जाबालि मुनिके आज्ञानुसार गो-सेवा की और फलस्वरूप उनके परम भक्त सत्यवान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह उचित ही कहा गया है—

विष्णोः प्रसादो गोश्चापि शिवस्याप्यथवा पुनः।

'भगवान् विष्णु, गौ और भगवान् शंकरकी कृपासे पुत्रकी प्राप्ति होती है।'

'**एकोऽहं बहु स्याम्**' की घोषणाके अनुसार ईश्वरकी सृष्टिके किसी भी जीवके प्रति हिंसा उस जीवमें बसनेवाले स्वयं ईश्वरके प्रति हिंसा है। इस सिद्धान्तके आधारपर ही जीव-मात्रकी हिंसाका हिंदू-धर्म विरोध करता है। ऐसी अवस्थामें—

'मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः'

—के वधकी तो कल्पना करना ही पाप है। इतना ही नहीं—वध तो बहुत ही बड़ी बात है; हमारे यहाँ तो जिस घरमें गायको कष्ट मिलता हो, उसको नरककी प्राप्ति बतायी गयी है—

यद्गृहे दुःखिता गावः स याति नरकं नरः।

धार्मिक दृष्टिसे ही नहीं, अपितु व्यावहारिक दृष्टिसे भी गायका महत्त्व कम नहीं है। 'तीन एकड़ भूमि और एक गाय' सर्वदासे भारतका यही स्वर्ण-विधान रहा है। शरीर तथा मस्तिष्क—दोनोंका अत्युत्तमरूपसे पोषण करनेवाले आहारके कारणरूपमें गाय सार्वभौमिक राष्ट्रिय आर्थिक व्यवस्था तथा शिक्षाप्रणाली दोनोंका केन्द्र बन गयी।

गुरुकुलों तथा ऋषिकुलोंमें ब्रह्मचारियोंको गुरुकी सेवा तथा यज्ञसमिधा एकत्रित करनेके अतिरिक्त गुरुकी गायोंकी सेवा भी करनी पड़ती थी। प्रत्येक आश्रमकी अपनी गायें होती थीं, जिनकी सेवा वहाँके विद्यार्थी करते थे और इस प्रकार आभीरकर्म (Dairy-farming) में भी वे सुशिक्षित हो जाते थे। गो-सेवामें फुटबाल, हॉकी, बैडमिन्टन तथा अन्य कई आधुनिक व्यायामोंसे अधिक परिश्रम पड़ता है, फलतः अधिक स्वास्थ्य-लाभ होता है।

गो-मूत्र और गोबर वैज्ञानिक दृष्टिसे भी पवित्र एवं स्वच्छता प्रदान करनेवाला है। ग्रामीण जनता अभी भी अपने गृहोंको प्रतिदिन गोबरसे लीपकर पवित्र करती है।

यन्त्रोंकी अपेक्षा बैल ही अधिक लाभदायक है। खेतीकी दृष्टिसे खेत जोतना तथा खाद देना, ये दो महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। कोई भी यन्त्र ये दोनों कार्य नहीं कर सकता। यन्त्रसे खेत जोते जा सकते हैं, किंतु खाद प्राप्त नहीं हो सकती। बैलसे खाद भी मिलती है। वैज्ञानिक रीतिसे प्रस्तुत यान्त्रिक खाद (Fertilizer) की तुलनामें बैल और गायकी खाद अधिक उत्कृष्ट है। गोबरमें, शरीरकी आँतोंकी क्रियाके कारण, अत्यधिक परिमाणमें नाइट्रोजन उत्पन्न होता है। बैल उत्कृष्ट खाद तैयार करता हुआ हरी वनस्पतियोंमें खादकी दृष्टिसे निरर्थक कार्बोहाइड्रेट्सको शक्तिमे परिवर्तित कर खेतीका काम मुफ्तमें कर देता है। बैलोंमें यह बहुत ही विचित्र गुण है। स्पष्ट है कि 'अर्थशास्त्रकी किसी भी दृष्टिसे कृषिमें बैलका स्थान कोई भी यन्त्र ग्रहण नहीं कर सकता। ट्रैक्टर बाहरसे मँगानेमें भारतवर्षका करोड़ों रुपया विदेशमें चला जायगा। इसके अतिरिक्त कुछ भूमि-विशेषज्ञोंका कथन है कि भारतवर्षकी सब भूमि ट्रैक्टरोंसे जोतनेके लायक भी नहीं है। यान्त्रिक खाद (Fertilizer) की अपेक्षा बैलकी खादसे जो अन्न उपजता है, वह अधिक पौष्टिक और सुस्वादु होता है।

इससे सर्वाधिक हानि यह होगी कि मशीनरीके अवगुण तथा मशीन-युगके अवगुणोंका प्रवेश हमारे कृषि-कार्यमें भी हो जायगा और सरल किसान भी उस प्रपंचका शिकार हो जायगा, जिसके चक्रमें मजदूर फँसा हुआ है। बहुत-से किसानोंको बेकारीका सामना करना पड़ेगा।

अमेरिकाके 'होर्ड्स-डेयरीमैन' नामक पत्रके सम्पादककी निम्नलिखित पंक्तियाँ हमारे उन बन्धुओंकी आँखें खोलनेके लिये पर्याप्त होनी चाहिये, जो 'गो-वध बंद करो' के नारेको सुनते ही उसमें संकीर्ण साम्प्रदायिकता-की गन्ध अनुभव करने लगते हैं। 'गाय हमारे दुग्ध-भुवनकी देवी है। वह भूखोंको खिलाती हैं, नंगोंको पहनाती है और बीमारोंको अच्छा करती है। उसकी ज्योति चिरन्तन है।'

भारतीय संस्कृति तथा गौका सम्बन्ध अविच्छिन्न है, अमिट है। भारतीय संस्कृतिका स्वरूप गौसे पृथक् स्थिर नहीं रह सकता। इस संस्कृतिको स्थिर रखनेके लिये हमें कानूनद्वारा गो-वध सर्वथा बंद करवाना ही पड़ेगा। बूढ़ी गायों या सूखी (दूध न देनेवाली) गायोंके वधकी आज्ञाका बना रहना दुधार गायोंके वधको नहीं रोक सकेगा। जिस देशमें, जिस भारतवर्षमें, मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके पूर्वज प्रातः-स्मरणीय महाराज दिलीपने कुलगुरु महर्षि वसिष्ठकी नन्दिनीकी रक्षाके लिये सिंहको अपना शरीर अर्पण कर दिया, किंतु जीते-जी उसकी हत्या न होने दी तथा जहाँ पाण्डव-शिरोमणि पार्थ अर्जुनने गायके लिये द्वादश वर्षोंतक वनवासकी कठोर यातना स्वीकार की, उसी देशमें आज लाखोंकी संख्यामें गो-वध हो रहा है और हम उफ़तक नहीं करते! यह कितनी नपुंसकता है। हम स्वतन्त्र हैं, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय मन्त्रिगण हमारे प्रतिनिधि हैं; हमको उनसे स्पष्ट शब्दोंमें कह देना चाहिये कि यदि आप हमारी 'गो-वध बंदी' की माँगको स्वीकार करनेमें आनाकानी करते हों तो आप भारतीय संस्कृतिके बाधक हैं, हमारे देशकी आर्थिक उन्नतिके अनुकूल कार्य नहीं कर रहे हैं। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें 'अधिक अन्न उपजाओ' के आन्दोलनमें सचेष्ट हैं। गो-रक्षा इस आन्दोलनकी रीढ़ है। रीढ़की रक्षा नहीं हो सकेगी तो शरीर भी स्थिर नहीं रह सकेगा। अभी भी समय है; आशा है हमारी संयुक्त माँगको हमारे निर्वाचित प्रतिनिधि शीघ्र ही समझेंगे और बुद्धिमानीसे कार्य करेंगे। जिस भारतवर्षमें घी और दूधकी नदियाँ बहती थीं, वहाँके आँकड़ोंपर तथा साथ-ही-साथ आप विश्वके अन्य राष्ट्रोंके आँकड़ोंपर तुलनात्मक दृष्टि डालें तो स्थिति और भी स्पष्ट हो जायगी।

विश्का एक तिहाई पशुधन भारतवर्षमें है। सन् १९४१ की गणना (Census) की रिपोर्टके अनुसार अविभक्त भारतमें बीस करोड़, बयासी लाख दूध देनेवाली जातिके पशु (cattle) थे। देशविभाजनके पश्चात् तीन करोड़के करीब दूध देनेवाली जातिके पशु पाकिस्तानमें ही रह गये। गाय और भैंस दोनों मिलाकर भारतवर्षमें २ करोड़, २० लाख टन प्रतिवर्ष दूध देती हैं। भारतवर्षमें ३ से ४ आउंस दुग्ध प्रति मनुष्यको प्राप्त होता है, जब कि डेनमार्कमें ४० आउंस, आस्ट्रेलिया और अमेरिकामें ३५ आउंस और ग्रेट

ब्रिटेनमें ३९ आउंस प्रति मनुष्यको दुग्ध प्राप्त होता है। औसतन प्रति किसानके पास भारतवर्षमें २-३ बैल हैं, जबकि इंगलैंड और अमेरिका दोनोंमेंसे प्रत्येकमें प्राय: प्रति किसानके पास २७ बैल हैं। भारतवर्षमें औसतन प्रति गाय प्रतिदिन २ पौंड दूध देती है, जबकि न्यूजीलैण्डमें १४ पाउण्ड, इंग्लैण्डमें १५ पाउण्ड तथा हॉलैण्डमें २० पाउण्ड दूधका प्रतिदिन प्रति गायका औसत बैठ जाता है। ऊपर दिये हुए आँकड़ोंसे स्पष्ट है कि विदेशोंमें भारतवर्षकी अपेक्षा गो-दुग्ध अत्यधिक मात्रामें प्राप्य है। हमें भी भारतमें इसी भाँति गो-दुग्ध-वृद्धि करनी चाहिये। इसी प्रसंगमें विदेशोंमें किस प्रकार आभीर-कर्म (Dairy-Farming) होता है, वह भी हमें सीखना चाहिये।

गो-वध बंद करनेसे ही कार्य नहीं चलेगा। सरकारद्वारा गोचरभूमि छोड़े जानेकी और बूढ़ी बेकाम गायोंके लिये जगह-जगह गोसेवा-सदन स्थापित करवानेकी अत्यावश्यकता है। गायोंकी नस्लमें भी सुधार शीघ्र ही होना चाहिये। अच्छे-अच्छे साँड़ ज्यादा संख्यामें छोड़नेकी आवश्यकता है। बीमार गायोंके इलाजके लिये समुचितरूपसे अस्पतालों (Veterinary Hospitals) की व्यवस्था होनी चाहिये।

केवल भाषणों तथा सभाओंमें प्रचार-मात्र किया जाता है, ठोस कार्य नहीं। गो-रक्षा हमको अपने घरोंसे प्रारम्भ करनी चाहिये और उसका श्रेष्ठ उपाय है गो-पालन। जिस प्रकार सम्पन्न व्यक्ति मोटरप्रभृति प्रसाधन रखते हैं, उसी प्रकार यदि गौएँ भी रखें, गो-शालाओंमें योगदान दें, डेयरी-फार्म चलायें तो इस दिशामें बहुत कुछ कार्य हो सकता है। सरकारके कर्तव्यके साथ-साथ हमारे भी कर्तव्य हैं और उनका पालन हमको योग्यतापूर्वक करना चाहिये।

हिंदू-संस्कृति और गो-रक्षा

(लेखक—लाला श्रीहरदेवसहायजी)

संस्कृति स्वाभाविक गुण है, यह शिक्षाप्रचार या प्रयत्नसे उत्पन्न नहीं होता। जिस तरह अग्निका गुण उष्णता, जलका शीतलता तथा पृथ्वीका गुरुता है, उसी प्रकार गो-रक्षा हिंदूका स्वाभाविक गुण है। हिंदू-संस्कृतिको जाननेका मुख्य आधार गोरक्षा है। जो लोग गोरक्षाको मुख्य कर्तव्य मानते हैं, वे ही हिंदू हैं। जैन, सिख आदि (जो हिंदू-धर्मकी ही शाखा-विशेष हैं) ही नहीं; आर्यसमाजी, सनातनधर्मी, विष्णोई तथा देशके भिन्न-भिन्न भागोंमें बसनेवाले सभी हिंदुओंके आचार-व्यवहार, रहन-सहन, जन्म-मरण, विवाह आदिके कृत्य अलग-अलग ही हैं। कितनी ही बातोंमें उनका परस्पर विरोध भी रहता है। पर गोरक्षाके बारेमें सब एकमत हैं। आर्यसमाजके प्रवर्तक श्रीस्वामी दयानन्दजी सरस्वती, जो रूढ़िवादको नहीं मानते, सुधारक कहे जाते हैं—उन्होंने गोवंशके महत्त्वको बतलानेके लिये अलग 'गोकरुणानिधि' पुस्तक लिखी तथा एक गायसे हजारों मनुष्योंके भोजनका हिसाब बताते हुए 'गोकृष्यादिरक्षिणी सभाएँ' स्थापित करनेका आदेश दिया। जैन-धर्मावलम्बी वेदों तथा हिंदुओंके अन्य ग्रन्थों और उनमें लिखे संस्कारोंको महत्त्व नहीं देते, पर प्राचीन समयमें जैनधर्मावलम्बी अपनी सम्पत्तिकी गणना गोवंशकी संख्यापर करते थे। व्रज और गोकुल उसके आधार थे। राजगृहके महाशतक तथा काशीके चूलनि पिताके पास अस्सी-अस्सी हजार गायें थीं। गोहत्या तथा गोभक्षणके सम्बन्धसे होनेवाले पापके बाबत श्रीमहावीर स्वामीजीने उज्झियके कष्टोंकी कथा लिखी है। श्रीहरिविजयसूरिजीने अकबर बादशाहसे कहकर गोवध बंद करवाया। हरियाना, बागड़ तथा युक्तप्रान्तके कुछ जिलोंमें रहनेवाले विष्णोई, जो चोटी नहीं रखते, भूमिमें गाड़े जाते हैं, पर गोरक्षा परमधर्म मानते हैं। इनके गुरु श्रीजम्भेश्वर महाराजने ग्वाला बनकर गायोंको चराया था। सिखोंके पूज्य धर्मशास्त्री भाई गुरुदासजीने पंचगव्यको पवित्र और गोहत्याको पातक माना है।

गोबर गोमूत्र परमपवित्र भये। (कवित्त २०१)
बामण गाय बंस घातक करारे॥ (वार २४, पौड़ी १६)

श्री १०८ श्रीगुरु गोविन्दसिंहजी महाराजने गोरक्षार्थ श्रीमुखसे प्रभु-प्रार्थनामें कहा है—

यही देह आज्ञा तुर्क को खपाऊं। गोघात का दुःख जगत से हटाऊं॥
आस पूर्ण करो तुम हमारी। मिटै कष्ट गोअन, छुटे खेद भारी॥

गुरु नानकदेवजीने स्वयं गायोंकी सेवा करके गोरक्षाके आदर्शकी शिक्षा दी। श्री १०८ गुरु रामसिंहजीको गुरु माननेवाले नामधारी सिखोंने तो अंग्रेजी राज्यके बुरे समयमें भी गोरक्षाके लिये बड़ा त्याग किया। कितने ही फाँसी चढ़े, जेल गये।

संस्कृति तथा साहित्यका आधार-आधेय-सम्बन्ध है। हमारे प्राचीन ग्रन्थ गोमहिमासे भरे पड़े हैं। ब्राह्मण तथा गौ दोनोंको बड़ा महत्त्व दिया गया है। राजा नहुषसे अपना मूल्य गायके बराबर स्वीकार करके महर्षि च्यवनने गायके महत्त्वको राज्य तथा संसारके सब पदार्थोंसे अधिक बताया। चक्रवर्ती राजा दिलीप गोरक्षाके लिये अपना शरीरतक देनेको तैयार हुए। पूर्णकला-अवतार भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं गो-चारण करके हमारे सम्मुख गोसेवाका आदर्श रखा। हमारे शास्त्रोंमें गोवंशके महत्त्वका ही नहीं, उपयोगिताके बाबत भी बहुत कुछ वर्णन मिलता है। पारस्कर-गृह्यसूत्रके तीसरे काण्डकी नवी कण्डिकामें अच्छे तथा बुरे साँड़ोंके लक्षण लिखे हैं। ब्रह्मवैवर्त, अग्नि, भविष्य, पद्म, मत्स्य आदि पुराणोंमें गायोंके इलाज, गो-दुग्धादिके गुण स्थान-स्थानपर दिये हैं।

धनं च गोधनं धान्यं स्वर्णादयो वृथैव हि।

—कहकर गोवंशको हमारे अर्थशास्त्रका मुख्य आधार बतलाया गया है। गोवंशसे हमारा सांस्कृतिक सम्बन्ध ही नहीं; आर्थिक व्यवस्था, शारीरिक स्वास्थ्यका आधार होनेके कारण भी हमारे यहाँ गायकी आवश्यकता समझी गयी। बाबर बादशाहने तो गोवंशको राज्यके स्थायी रखनेका मुख्य साधन जानते हुए अपने पुत्र हुमायूँको गोरक्षाकी विशेष आज्ञा देकर राजनैतिक महत्त्व भी दिया। किसी जातिको शेषप्राय करनेके लिये उसकी संस्कृतिको नष्ट करना जरूरी है। हिंदू-संस्कृतिका नाश करनेके लिये रावणने अपने अनुचरोंद्वारा गायों तथा ब्राह्मणोंको नष्ट करनेका यत्न किया था। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने रामायणके बालकाण्डमें लिखा है—

जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर ग्राम पुर आगि लगावहिं॥

अंग्रेजोंने भी इस प्राचीन संस्कृतिको नष्ट करनेके लिये विदेशोंमें चर्बी और चमड़े आदिका निर्यात बढ़ाकर गोवधको प्रोत्साहन दिया। पश्चिमीय सभ्यता तथा उसकी प्रचारिका अंग्रेजी शिक्षाद्वारा उन हिंदुओंमें भी, जो संस्कृतिके प्रभावसे गायके एक रोमका कटना भी पाप समझते थे, जो गो-रक्षा अपना परम कर्तव्य मानते हुए सर्वस्व देनेतकको तैयार होते थे, इतना परिवर्तन हुआ कि आज उनमेंसे कितनोंने गोवधका खुला प्रचार करके गोरक्षाको देशके लिये हानिकारक बतलानेका समर्थनतक किया! लार्ड मेकालेके शब्दोंमें अंग्रेजी शिक्षासे उनके शरीर तो भारतीय रहे, पर संस्कृति नष्टप्राय होनेके कारण उनके हृदय और मस्तिष्क पूर्णतया पश्चिमी बन गये!! इसलिये आज अपनी सरकार बन जानेपर भी गोवध बंद नहीं हो पाया है!!

परंतु हिंदू अपनी प्राचीन आर्य-संस्कृतिकी रक्षा करना चाहते हैं तो उन्हें गोरक्षा करनी होगी। आज देशपर अंग्रेजों तथा मुसलमानोंका अधिकार नहीं, फिर भी प्रतिदिन हजारों गायोंका वध होता है। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास-जैसे बड़े नगर देशके उत्तम गोधनकी वधभूमि बने हुए हैं। आज जनताका राज्य है। इन बड़े-बड़े शहरोंके लोगोंको चाहिये कि अपनी संस्कृतिकी रक्षाके लिये जनतन्त्रके वैध उपायोंद्वारा गोवध बंद करानेकी पूरी-पूरी कोशिश करें। जबतक गोवध कतई बंद न होगा, हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा न होगी। चमड़े, चर्बी, हड्डीकी बढ़ी हुई खपत, नकली घी इत्यादि गोवंशका ह्रास तथा विनाश करनेवाले कारणोंको रोकनेपर भी पूरा ध्यान देना आवश्यक है। देशका बड़ा दुर्भाग्य है कि चमड़ेका निर्यात बढ़ानेके लिये प्रान्तीय सरकारोंसे यह सिफारिश की जा रही है कि वे पशु-वधपर लगे हुए प्रतिबन्धको हटा दें!! हिंदू-संस्कृति तथा गोरक्षा भिन्न-भिन्न शब्द मालूम होते हैं। पर इनका लक्ष्य तथा उद्देश्य एक ही है जितनी-जितनी गोवंशकी उन्नति तथा रक्षा होगी, उतना-उतना ही हिंदू-संस्कृतिका उत्थान होगा।

हिंदू-संस्कृतिमें गौका स्थान

(लेखक—पं० श्रीयज्ञनारायणजी उपाध्याय, एम०एल०ए०)

भारतीय संस्कृति और सभ्यताके उत्थान एवं विकासका गोरक्षणसे कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है और किस प्रकार जीवनके सभी स्तरोंमें गो-माताका स्थान सर्वश्रेष्ठ माना गया है, इसका यदि प्रमाण चाहिये तो श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास और आधुनिक साहित्यके ग्रन्थोंके पन्नोंको उलटिये और देखिये कि गोमाताका कितना ऊँचा स्थान है। भगवान् श्रीकृष्ण अपना नाम 'गोपाल' रखते हैं। गायोंकी सेवा करना और वन-वन घूमकर उन्हें चराना उनके जीवनका श्रेष्ठ कार्य समझा जाता है। यदि भगवान्‌को किसी पर्वतको उठाना होता है तो वे गोवर्धनको ही उठाते हैं, न कि विन्ध्य एवं हिमालयको। भगवान् कहते हैं—

गावो मे अग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे हृदये सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

वेदका प्रसिद्ध मन्त्र है—'**माता रुद्राणां दुहिता वसूनाम्**' इत्यादि है। कहीं कहा गया है—

तीर्थस्नानेषु यत् पुण्यं यत् पुण्यं विप्रभोजने।
यत् पुण्यं च महादाने यत् पुण्यं हरिसेवने॥
सर्वव्रतोपवासेषु सर्वेष्वेव तपःसु च।
भूमिपर्यटने यत्तु सत्यवाक्येषु यद् भवेत्॥
तत् पुण्यं प्राप्यते सद्यः केवलं धेनुसेवया।

'तीर्थस्नान, ब्राह्मणभोजन, महादान, भगवत्सेवा, समस्त व्रतोपवास, समस्त तप, पृथ्वीपर्यटन और सत्यभाषणसे जो-जो पुण्य होता है, वह सब पुण्य केवल गो-सेवासे तुरंत प्राप्त होता है।'

अन्यत्र कहा गया है—

पृष्ठे ब्रह्मा गले विष्णुर्मुखे रुद्रः प्रतिष्ठितः।
मध्ये देवगणाः सर्वे रोमकूपे महर्षयः॥
नागाः पुच्छे खुराग्रेषु ये चाष्टौ कुलपर्वताः।
मूत्रे गङ्गादयो नद्यो नेत्रयोः शशिभास्करौ॥
येन यस्यास्तनौ वेदाः सा धेनुर्वरदास्तु मे।

'जिस गौकी पीठमें ब्रह्मा, गलेमें विष्णु, मुखमें रुद्र, बीचमें समस्त देवता, रोमोंमें महर्षिगण, पूँछमें नाग, खुराग्रोंमें आठों पर्वत, मूत्रमें गंगा आदि नदियाँ, दोनों नेत्रोंमें चन्द्र-सूर्य और स्तनोंमें वेद बसते हैं, वह गौ मुझे वर देनेवाली हो।'

किसी विद्वान्‌ने कहा है—

नो चेद्गवां यदि पयः पृथिवीतलेऽस्मिन्
संवर्द्धनं नहि भवेद् विधिसन्ततीनाम्।
यो जायते विधिवशेन तु सोऽपि रूक्षो
निर्वीर्यशक्तिरहितोऽतिकृशः कुरूपः॥

'यदि पृथ्वीतलपर गो-दुग्ध न होता तो विधाताकी सन्तति ही नहीं बढ़ती। विधिवश यदि किसीका जन्म भी हो जाता तो वह रूक्ष, निर्वीर्य, शक्तिहीन, अतिकृश और कुरूप होता।'

जब दुर्दान्त दानवोंने पृथ्वीपर उत्पात आरम्भ किया, तब पृथ्वीने गोमाताका रूप धारण करके भगवान्‌के सम्मुख अपनी करुण कहानी सुनायी और भगवान्‌ने दानवोंका नाश किया। जिस तरफ देखिये, उसी तरफ भारतीय संस्कृति गोमाताके उपकारोंसे सर्वतोभावेन ओत-प्रोत है। इसीलिये कहा गया है—

अघ्न्या इति गवां नाम क एनां हन्तुमर्हति।

यदि उद्धरणोंकी आवश्यकता हो तो हजारों श्लोक हमारे आर्ष ग्रन्थोंसे 'गो-महिमा' के सम्बन्धमें यहाँपर लिखे जा सकते हैं। इसी प्रकार बौद्ध, जैन आदि ग्रन्थोंमें भी गो-माहात्म्यके असंख्य उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यही नहीं, पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी गो-महिमाका बड़ा विशद गान किया है। यहाँ उनमेंसे कुछ सम्भ्रान्त गो-भक्तोंके नाम लिख देना ही पर्याप्त होगा; क्योंकि इनके विस्तृत वक्तव्यका अनुवाद दिया जायगा तो यह लेख बहुत बढ़ जायगा। वाल्टर ए० डामर, मैलकम आर० पेटर्सन, (भूतपूर्व गवर्नर आफ टेनेसी) राल्फ० ए० हेने आदि गोमाताको दूध देनेवाली देवी ही नहीं मानते, बल्कि इनके पवित्र दर्शनको बड़ा महत्त्व देते हैं।

प्राचीन कालमें हमारा देश पूर्णतया गोभक्त था और सर्वत्र गो-सेवा हुआ करती थी और घी, दूधकी नदियाँ हमारे देशके ग्राम-ग्राममें बहा करती थीं। मुसलमानी राज्य-कालमें गोवध अवश्य आरम्भ हुआ। परंतु स्थान-

स्थानपर बादशाही फरमानोंद्वारा इसका निषेध भी किया गया है। अंग्रेजी शासनकालमें फौजोंको गोमांस भोजनके लिये देनेके उद्देश्यसे गोवध बढ़ा और मुसलमानोंको उनके पर्वोंपर गोवध करनेकी उत्तेजना दी गयी। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि हिंदू-मुसलमानोंमें सदाके लिये वैमनस्य बना रहे। गत दो महायुद्धोंमें तो इतनी अधिक मात्रामें इस देशके गोधनका नाश किया गया कि सम्भवत: इसकी पूर्तिमें बहुत अधिक समय लगेगा। इस समय गो-दुग्ध और घृतकी इतनी कमी हो गयी है और इस प्रकारकी मिलावट इन दो मुख्य खाद्य पदार्थोंमें बढ़ गयी है कि देहातोंमें शुद्ध दुग्ध और घी मिलना अत्यन्त कठिन हो गया है। इसीके साथ-साथ चारेकी कमी और खली, बिनौला आदिकी महँगी भी गो-दुग्धके मिलनेमें बहुत कुछ बाधक हो गयी हैं। आज नगरोंमें प्रतिदिन दुर्बल गायें कूड़ा-करकट खाती हुई दिखायी देती हैं। दुनियाके अन्य देशोंमें इस समय गो-दुग्धकी खपत औसत प्रति व्यक्ति सेर-डेढ़ सेर मानी गयी है। परंतु हमारे देशमें प्रति व्यक्ति डेढ़ छटाँकका औसत पड़ता है। सभी वैज्ञानिक विद्वानोंका मत है कि कम-से-कम आधसेर दूध प्रति मनुष्यको प्रतिदिन मिलना चाहिये। दूध न मिलनेके कारण ही तरह-तरहकी बीमारियाँ हमारे देशमें बढ़ती जा रही हैं। पाश्चात्त्य देशोंमें यदि परमायुका औसत ६० वर्ष है तो हमारे देशमें २३ वर्ष माना गया है। छोटी उम्रके बच्चोंकी मृत्यु-संख्या अन्य देशोंमें हजारमें ५० है तो हमारे यहाँ हजारमें २०० के ऊपर होती है।

प्रथम महायुद्धके बाद पेरिसमें खाद्य-सम्बन्धी अनुसन्धानके लिये एक बृहत् सम्मेलन हुआ था, जिसमें सर्वसम्मतिसे निश्चय हुआ था कि 'यदि पर्याप्त मात्रामें गो-दुग्ध मिल जाय तो अन्य पौष्टिक द्रव्योंकी कोई आवश्यकता नहीं होती।' इसलिये हमारा प्रथम कर्तव्य है कि हमलोग संगठितरूपसे गो-वधके निवारणके लिये देश-व्यापी आन्दोलन आरम्भ करें। इस समय हमारे देशके ग्राम-ग्राममें पंचायतोंका संगठन हो गया है। प्रत्येक पंचायतका यह मन्तव्य होना चाहिये कि उनके गाँवका गो-धन किसी अपरिचित व्यक्तिके हाथों कभी न पड़ने पाये। जो व्यक्ति गो-वधका व्यवसाय करते हैं, वे हमारे ही घरसे तो भुलावा देकर या लोभमें डालकर गौओंको ले जाते हैं। शहरोंमें फूँकाद्वारा दूध निकालनेका घृणित व्यवसाय भी हमारे देशमें प्रचलित है! असंख्य गौएँ एक बार दूध देनेके बाद निर्जीव बनाकर वधिकोंके हाथ बेची जाती हैं! गोसल्लाका घृणित व्यवसाय भी हमारे ही देशमें चल रहा है, जिसके द्वारा गो-हत्याके साथ-साथ भ्रूण-हत्या करके वत्स-चर्म विदेशोंमें भेजा जाता है!

हमको प्रत्येक नगरमें और इसके अनन्तर ग्राम-ग्राममें प्रचार करना है, जिससे कि वधिकोंके हाथों हमारी गो-सम्पत्ति न जाय। हमको अपनी गौओंको हृष्ट-पुष्ट और पर्याप्त मात्रामें दूध देनेवाली बनानेके लिये उनकी वंश-परम्पराकी उन्नति भी करनी है। स्थान-स्थानपर विस्तृत गोचर-भूमि छोड़नेका प्रबन्ध करना है। कानूनके द्वारा गो-वधको कतई तुरंत बंद करवाना है तथा बिना दूधकी बूढ़ी तथा अपाहिज गौओंके जीवन-निर्वाहकी भी समुचित व्यवस्था सरकारके द्वारा शीघ्र करवानी है। इस प्रकार यदि हम सुव्यवस्थित रीतिसे गो-वंशकी रक्षामें लग जायँ तो वधिकोंके हाथमें गोवंशका जाना असम्भव हो सकता है। जनताके संगठित मतपर सरकार चलती है। यदि हमारे देशकी जनता एकमत हो गो-वध निषेधके प्रस्तावको सरकारके सम्मुख रखेगी तो देर-सबेर वह उसे अवश्य स्वीकार करेगी। स्वतन्त्रता प्राप्त हो जानेके बाद भारतीय संस्कृतिका पुनरुत्थान और जनताका हृष्ट-पुष्ट होकर भारतके उज्ज्वल भविष्यका पुनर्निर्माण करना गो-माताके आशीर्वादपर ही निर्भर है।

आदर्श पुत्र भीष्म

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

देवव्रतधारी 'देवव्रत' नामधारी धीर
शान्तनुके सुत शान्त संत थे, उदार थे;
ज्ञान-गरिमाके, सद्‌गुणोंके, त्यों सुशीलताके
बस, अवतार थे कि वसु-अवतार थे।
अविजित मार-से, पराक्रमी कुमारसे भी,
सेवक पिताके मानो श्रवणकुमार थे,
सिर धुन हारें सुर, तो भी ये न हारें
ऐसे शौर्यके धनी ये सुरधुनिके कुमार थे॥

(२)

जाना मन्त्रियोंसे राजकुअँर सुधीवरने
तट यमुनाके एक धीवर-कुमारी है।
चाहते पिता हैं उसे, ब्याहते न लज्जावश;
किंतु उर-भीतर वियोग-व्यथा भारी है।
जाकर तुरंत दासराजसे की प्रार्थना, जो
सुन उसने भी युक्ति कठिन विचारी है—
ब्याह दूँ सुताको, यदि राजा हो इसी का पुत्र;
बाधा किंतु तुम और संतति तुम्हारी है॥

(३)

बोले मुझसे या मेरे वंशजोंसे बाधा यदि,
तो लो सुनो मेरी सत्य अविचल बानीको—
तोष-हित माताके, पिताके परितोष-हित
छोड़ता हूँ राज्य, नहीं लूँगा राजधानीको।
बाल-ब्रह्मचारी मैं रहूँगा सदा जीवनमें,
मनमें न लाऊँ कभी रानी-महारानीको;
रक्षामें प्रतिज्ञाकी लगा मैं रोम-रोम दूँगा;
होम दूँगा संयमकी आगमें जवानीको॥

(४)

सुन यह बात हुई स्तब्ध-सी समूची सृष्टि,
पुष्प-वृष्टि होने लगी शान्तनु-सुअनपर;
ऋषि, मुनि, साधु सभी साधुवाद देने लगे,
नाविक चकित हुआ कठिन वचनपर।
भीष्म है प्रतिज्ञा, तुम भीष्म हो नरेश पुत्र!
गूँज उठी वाणी देवताओंके वदनपर;
विगत-विषाद ले निषाद नन्दिनीको साथ
भीष्मने झुकाया माथ तातके चरनपर॥

(५)

अधर सुधामें सुन्दरीके अनुरागे नहीं,
विष-सम त्यागे भोग भार वसुधामाके;
व्रत देवव्रतने अखंड ब्रह्मचर्यका ले
देखे नहीं दृगसे सरस रंग रामाके।
मानसमें काम-आदि सेंध न सके थे लगा,
बेध न सके थे नैन-बाण किसी वामाके;
बाध न सके थे हाव-भाव किसी भावतीके,
बाँध न सके थे भुजपाश कभी श्यामाके॥

ब्राह्मण-महत्त्व

(लेखक—स्वामीजी श्रीविशुद्धानन्दजी परिव्राजक)

वेदशाखाध्यायी, तपस्वी, सदाचारी, स्वाध्यायशील ब्राह्मणोंके महत्त्वसे आजका समाज अनभिज्ञ होता जा रहा है। कुछ व्यक्तियोंको तो 'ब्राह्मण' नामसे ही चिढ़ हो गयी है। यह स्थिति समाजके लिये अधःपतनकी सूचना है; क्योंकि बुद्धिहीन, पराक्रमहीन, धर्महीन और अशिष्ट मनुष्य पूज्योंका तिरस्कार करके शीघ्र नष्ट जो जाते हैं—ऐसा शास्त्रकारोंका मत है। किंकर्तव्यविमूढ़ राजा धृतराष्ट्रसे परम धर्मात्मा एवं नीतिज्ञ विदुरजीने समाजनाशकी पूर्वसूचना देनेवाले आठ लक्षण बताकर उनसे बचनेका उपदेश किया है। वे आठ लक्षण ये हैं—

अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः।
ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणश्च विरुध्यते॥
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति॥
नैनान् स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति।
एतान् दोषान्नरः प्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विसर्जयेत्॥

अर्थात् 'विनाशको प्राप्त होनेवाले पुरुषमें ये आठ निमित्त पहले आ जाते हैं—१—वह ब्राह्मणोंसे द्वेष करने लगता है। २—ब्राह्मणोंसे विरोध करता है। ३—ब्राह्मणोंका स्वत्व छीन लेता है। ४—ब्राह्मणोंको मारता (शरीर-दण्ड देता) है। ५—ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेमें सुख मानता है। ६—ब्राह्मणोंकी प्रशंसाका समर्थन नहीं करता। ७-(उत्तम) कार्योंके करनेके समय ब्राह्मणोंका स्मरण नहीं करता (उनसे सम्मति नहीं लेता और न उन्हें बुलाता है) और ८—ब्राह्मण यदि उससे कुछ माँगते हैं तो उनकी भर्त्सना करता है। बुद्धिमान् पुरुषको इन दोषोंको जानना चाहिये और जानकर इन्हें छोड़ देना चाहिये।

ब्राह्मणका अतिक्रमण और उनकी वृत्तिका अपघात परलोकमें यातनादायी और इस लोकमें धन एवं यशका नाशक होता है। जो ब्राह्मण दोनों समय सन्ध्या करके वेदमाता गायत्रीका जप करते हैं और दृढ़ आचारनिष्ठ हैं, उन महाभाग ब्राह्मणोंके पूजित होकर प्रसन्न होनेपर सारे अमंगलोंका नाश हो जाता है और उनके रुष्ट होनेपर विनाश होता है।

ब्राह्मणो हि परं तेजो ब्राह्मणो हि परं तपः।
ब्राह्मणान् हि नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते॥

'ब्राह्मण स्वयं परम तेजोरूप हैं, ब्राह्मण स्वयं परम तपः-स्वरूप हैं, ब्राह्मणोंको नमस्कार करनेके प्रभावसे ही सूर्यदेव आकाशमें स्थिति हैं।'

ब्राह्मण अपने आचारकी विशेषतः रक्षा करते हैं। जो ब्राह्मण सदाचार-सम्पन्न हैं, वे क्षीण एवं दरिद्र होनेपर भी पुष्ट तथा ऐश्वर्यशाली हैं और जिनका सदाचार नष्ट हो गया, उन्हें तो नष्ट हुआ ही समझना चाहिये।

अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः।

आचारनिष्ठ ब्राह्मणके लिये यदि सभी ग्रह वक्रदृष्टि हों, तो भी उसके आचारके प्रभावसे वे सब ग्रह उसके लिये सौम्य एवं सुखदायी हो जाते हैं। उस परम धार्मिक विप्रकी छायाको भी अमंगल, अपग्रह, भूत-प्रेत-ब्रह्मराक्षसादि स्पर्श नहीं कर सकते। कुशिष्यके अध्यापन, अपात्रका यज्ञ कराने तथा कदाचारीके प्रतिग्रह (दान) आदि दोषसे सदाचारी वेदाध्ययनशील ब्राह्मण अपने सत्कर्मके द्वारा ही छूट जाता है।

यथा श्मशाने दीप्तौजाः पावको नैव दुष्यति।
एवं विद्वानविद्वान् वा ब्राह्मणो दैवतं महत्॥

'जैसे प्रदीप्त अग्नि श्मशानमें होनेपर भी दूषित नहीं होती, वैसे ही ब्राह्मण सदा ही परमदेवता हैं—चाहे वे विद्वान् हों या विद्या-विहीन।'

दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा।
ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छन्ना इवाग्नयः॥

भगवान् व्यास कहते हैं—'ब्राह्मण वेद पढ़े हों, या न पढ़े हों, संस्कारसम्पन्न हों, या उनका कोई संस्कार न हुआ हो—किसी भी दशामें उनका अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे भस्मसे आच्छन्न अग्निकी भाँति हैं।'

वेदज्ञ, सदाचारी, ज्ञानी, तपस्वी, ब्राह्मण, आचार्य, गौ, देवता, अग्नि और तीर्थ—ये सब सदा सम्मानके योग्य हैं। जो लोग स्वर्गके सोपान-समान अपने गुरुजनों, पूज्योंका अनादर करके भगवद्विमुख, नास्तिक, अधर्मी लोगोंकी सेवा करते हैं, वे जघन्य मार्गको अपनानेवाले दण्डपाणि यमराजद्वारा शासित होते और नरकोंमें यातना भोगते हैं। जिस प्रकार भोगेच्छा धैर्यको एवं कायरता सुयशको नष्ट कर देती है, उसी प्रकार अपमानित क्रुद्ध ब्राह्मण राष्ट्रको नष्ट कर देता है।

क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम्।

शास्त्रोंमें स्पष्ट उल्लेख है—

अमानयन् हि मानार्हान् वातापिश्च महासुरः।
निहतो ब्रह्मदण्डेन तालजङ्घस्तथैव च॥

'सम्मानयोग्य विप्रोंका अपमान करनेके कारण महासुर वातापि ब्रह्मदण्डद्वारा मारा गया और यही दशा तालजंघकी हुई।' इस प्रकार न जाने कितने महाशक्तिशाली, बलाभिमानी राजेन्द्र-दैत्येन्द्र ब्राह्मणोंके अपमानरूप प्रदीप्त अग्निमें भस्म हो गये हैं। देवराज इन्द्रके पदको पाकर भी नहुष ब्राह्मणोंके अपमानसे सर्प-योनिमें गिरे। जो लोग संसारके कपट-प्रपंचमें पटु होते हैं, वे अधर्माचरण-में भी निपुण होते हैं। वे मान्यजनोंका सम्मान नहीं करते। वे नहीं जानते कि ब्राह्मणोंका शस्त्र उनकी वाणी (शाप) ही है। वे उनका अपमान करके नरकाग्निमें पतित होते हैं। महाभारत स्पष्ट आदेश करता है—

मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रयोधिनः।
निहन्युर्मन्युना विप्रा वज्रपाणिरिवासुरान्॥

ब्राह्मण अपने क्रोधसे ही आघात करनेवाले होते हैं। वे शस्त्र लेकर युद्ध करनेवाले नहीं होते। ब्राह्मण अपने क्रोधसे उसी प्रकार (अपराधीको) मार देते हैं, जैसे इन्द्र वज्रके द्वारा असुरोंको। तात्पर्य यह है कि जैसे इन्द्रका वज्र अमोघ है, वैसे ही ब्राह्मणका क्रोध भी व्यर्थ नहीं जाता।'

यद्यपि इस समय ब्राह्मण अत्यन्त आपत्तिग्रस्त एवं अवनत दशामें हैं, फिर भी उन्हींसे आपद्धर्मके अनुसार बर्ताव करते हुए पूरी शक्ति लगाकर हिंदू-संस्कृति तथा वर्णाश्रमधर्मकी रक्षाके लिये आशा की जा सकती है। सनातनधर्मका मूलोच्छेद कभी हो नहीं सकता। बुद्धिमान् मनुष्यको समझना चाहिये कि विश्वके सारे पदार्थ, समस्त ऐश्वर्य क्षणिक हैं, नाशवान् हैं; केवल धर्म ही नित्य है। अतः लोकगत ऐश्वर्यादिके मदमें मत्त होकर धर्मका अपमान कभी नहीं करना चाहिये। शास्त्रीय मर्यादाओंका उल्लंघन उचित नहीं है। जो बाह्य चाकचिक्यके पीछे मदमत्त होकर दूसरोंकी देखा-देखी अपने पूर्वजोंकी परम्परागत मर्यादासे पृथक् हो गये हैं, हमारे उन भ्रान्त बन्धुओंको भगवान् सद्बुद्धि प्रदान करें— जिससे वे अपनी मर्यादाके महत्त्वको समझें और उसका पालन करके अपना तथा देश एवं समाजका उत्कर्ष साधन कर सकें।

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥

'(हे प्रभो!) समस्त विश्वका कल्याण हो! दुष्ट पुरुष सुधर जायँ! सभी प्राणी परस्पर—एक-दूसरेके कल्याणकी भावना करें! हम सबके मन कल्याणमें लगें! हमारी बुद्धि निष्कामभावसे श्रीहरिका भजन करती हुई उन्हींमें लगे!

संस्कृति-विनय

(रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी एम ए० बार-एट-लॉ)

भगवान् कृष्ण आकर, मुरली मधुर बजा दे॥ टेर॥
गीताका दिव्य गाना, वे भव्य भावनाएँ।
सुन्दर सुरीले स्वरसे, भारतको फिर सुना दे॥ १॥
ज्ञानाग्निसे तपाकर, मन मैलको मिटाकर।
पावन पियूष धारा, शुचि स्नेहकी बहा दे॥ २॥
अब कालिमा कलहकी, सब ओर छा रही है।
फिर प्रीति रीति केशव, इस देशको सिखा दे॥ ३॥
ऊँचा न नीच कोई, मानव सभी बराबर।
सब देशवासियोंमें, अब भाव यह जगा दे॥ ४॥
परिवार विश्व सारा, है प्राणिमात्र प्यारा।
एकात्मताके मोहन, मृदु मन्त्रको सुना दे॥ ५॥
आदर्श सब गुणोंमें, यह देश था हमारा।
वह दिव्य ज्योति फिरसे, भारतमें जगमगा दे॥ ६॥
संसारका शिरोमणि, था शान्तिका निकेतन।
भारतको फिर दयामय, आसन वही दिला दे॥ ७॥
धनधाम सब समर्पित, तन मन करें निछावर।
स्वदेश-धर्म-हितकी, दिलमें लगन लगा दे॥ ८॥
निष्काम कर्म करना, दुखियोंके दुःख हरना।
इस कर्मयोग पथको, फिरसे युगल दिखा दे॥ ९॥

यज्ञोपवीत और वैज्ञानिक रहस्य

(लेखक—आचार्य पं० श्रीरामानन्दजी शास्त्री)

दैव-दुर्विपाकसे इस समय हिंदू-संस्कृतिपर कुठाराघात अपने स्वजनोंके द्वारा ही विशेष हो रहा है। कतिपय सज्जन पाश्चात्य भौतिकवादके बाह्यरूपसे प्रभावित होकर इसपर कुठाराघात कर रहे हैं—शिखा क्यों धारण करें? यज्ञोपवीत क्यों पहनें? आदि। उनकी दृष्टिमें भारतके पतनका मुख्य हेतु यज्ञोपवीत ही है। अतः इस लघुकाय लेखके द्वारा उनके चित्तसंतुष्ट्यर्थ यह निवेदन कर रहा हूँ कि यज्ञोपवीतका आधार भी विज्ञान ही है। जिस प्रकार भारतीय शासनके प्रतीक तिरंगे झंडेका कोई विज्ञान है,—इसमें तीन रंग क्यों हैं? मध्यगत चक्रका क्या तात्पर्य है? इत्यादि उसी प्रकार यज्ञोपवीतका भी रहस्य है।

यज्ञोपवीत ९६ चौआका होता है। ब्रह्मवर्चस्वी होनेके लिये विप्रके बालकका उपनयन-संस्कार पाँचवें वर्ष करना चाहिये। जब बालक चार वर्ष व्यतीतकर पाँचवें वर्षमें पदार्पण करे, तभी उपनयन युक्त है। इसका रहस्य यह है कि एक आदमीकी आयु सौ वर्ष निर्धारित है, उसमें यह बालक चार वर्ष समाप्त कर चुका है। अब इसे ९६ वर्ष और जीवित रहना है। अतः ९६ चौआका यज्ञोपवीत धारण करता है, वही आदर्श है। अतः सब अवस्थामें उसीको धारण किया जाता। यज्ञोपवीत 'नौ गुण' का होता है—यह शरीर अथर्ववेदके अनुसार 'अष्टचक्रा नवद्वारा' है; अतः नवगुण नवद्वारका प्रतीक है। यज्ञोपवीतमें तीन तागे हैं। यह बताता है कि जन्मतः मनुष्य तीन ऋणोंसे ग्रस्त हो जाता है, जिन्हें पितृ-ऋण, देव-ऋण और ऋषि-ऋणके नामोंसे पुकारते हैं। इसलिये तीन तागे तीन ऋणोंके हैं। उन तीन ऋणोंके उद्धारार्थ पाँच महायज्ञोंका विधान किया गया है, जिन्हें मनुने अनिवार्य बताया है। अतः उसमें पाँच ग्रन्थि लगाते हैं। इन तीन ऋणों एवं पाँच यज्ञोंको हृदयसे स्वीकार करना चाहिये। मनुष्यके शरीरमें 'हृदय' वाम भागमें स्थित है, अतः यज्ञोपवीत बायें कंधेसे दाहिनी ओर धारण किया जाता है। यज्ञोपवीत त्यागकर भी मनुष्य व्रतोंका पालन कर सकता है; किंतु वह उसी प्रकार होगा, जिस प्रकार कोई राष्ट्र अपने राष्ट्रिय प्रतीक झंडेसे शून्य हो। एवं जब यज्ञोपवीत-संस्कार होता है, तब ब्रह्मचारी समझने लगता है कि अब मेरे ऊपर उत्तरदायित्व आ गया है। वह आत्मपवित्रताका अनुभव करने लगता है। इसीके साथ वह हिंदू-संस्कृतिका चिह्न है, युगोंसे आया हुआ संस्कार है, जिसके द्वारा हम ऋषिचरित्रका स्मरण करते हैं। अतः द्विजके लिये यज्ञोपवीत अनिवार्य है।

ज्योति जगा

(रचयिता—पु० श्रीप्रतापनारायणजी)

बाहरका आडम्बर क्या है? यह वन क्या है, यह घर क्या है।
मनविजयी के सभी एक हैं—सभी एक हैं जो अनेक हैं॥
तू पहले सब जंजालों को अपने मन से दूर भगा।
तू अंदर की ज्योति जगा॥ १॥

पूजन-पाठ, मंत्र-जप सारे—उसे ढूँढ़ने में हैं हारे।
माला, तिलक सभी उत्तम हैं—पर ये बाहर के मरहम हैं॥
तू पहले मन के घावों पर विश्व-प्रेम की दवा लगा।
तू अंदर की ज्योति जगा॥ २॥

मंदिर भी पावनतायुत है, जो कुछ देखा वही बहुत है।
तुझ में ही वह तो अच्युत है, तू उसका सुन्दरतम बुत है।
तू फिर मानव होकर के भी क्यों जाता है यहाँ ठगा।
तू अंदर की ज्योति जगा॥ ३॥

इन दिवसों में, इन रातों में—जीवन जाता है बातों में।
अपनी नाव तुझे खेना है, जग से क्या लेना देना है॥
तू जिसका है सगा, एक बस तेरा भी है वही सगा॥
तू अंदर की ज्योति जगा॥ ४॥

हिंदू-संस्कृतिमें विवाहका आदर्श

(लेखिका—श्रीमती विद्यादेवीजी महोदया)

पृथ्वीकी अन्य सब जातियोंसे हिंदू-जातिकी अपनी कुछ विशेषता है। इस विशेषताकी आधारशिला इसकी आध्यात्मिकतामें निहित है। हमारे त्रिकालदर्शी पूज्यपाद महर्षियोंने मनुष्यके वैयक्तिक और सामूहिक जीवनका सच्चा सुख, सच्ची शान्ति और सच्चे आनन्दका तत्त्व अपनी दिव्य दृष्टिसे देख लिया था। इस कारण उन्होंने हिंदू-जातिके प्रत्येक क्रिया-कलाप, आचार-व्यवहार एवं प्रत्येक चेष्टाको आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे कुछ नियमोंद्वारा नियन्त्रित कर दिया। इसी कारण हिंदू-जातिकी सामान्य-से-सामान्य क्रियामें भी धर्माधर्मका सम्बन्ध बाँधा गया है। हमारा सोना, उठना, स्नान-भोजन करना, हँसना-बोलना, मल-मूत्र त्याग करना आदि सभी शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक चेष्टाओंको धर्मद्वारा इस प्रकार नियन्त्रित किया गया है कि इनको करते हुए हम जिस दशामें हैं, उससे नीचे न गिरें और ऐहलौकिक स्वास्थ्य, सुख-शान्ति और दीर्घायु प्राप्त करते हुए पारलौकिक अभ्युदय तथा सुख-शान्तिको भी प्राप्त कर सकें, एवं अन्तमें अपनी आध्यात्मिक उन्नतिद्वारा पूर्णता प्राप्त कर जीवोंके परम प्रिय सखा एवं सुहृद् भगवान्‌के मंगलमय चरणोंका भी दर्शनकर कृतकृत्य हो सकें। हमारे सब वेद-पुराण और धर्मशास्त्रोंका सारा प्रयास मनुष्यजीवनके इसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये है। हिंदू-जाति इन्हीं शास्त्रीय नियमोंसे नियन्त्रित एवं परम्परागत संस्कारजनित संस्कृतिके कारण करोड़ों-अरबों वर्षोंसे जीवित चली आ रही है। समय-समयपर आनेवाले अनेक उथल-पुथलके झंझावात एवं विदेशी आक्रमण उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सके, आज भी वह अपने स्वरूपमें विद्यमान है। यों तो जैसे मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनमें उत्थान-पतन, विपत्ति-सम्पत्ति आया-जाया करते हैं, उसी प्रकार जातीय तथा राष्ट्रिय जीवनमें भी उत्थान-पतन प्राकृतिक नियमसे स्वतः हुआ करते हैं; क्योंकि संसारकी कोई वस्तु सदा एक-सी नहीं रहती, न रह ही सकती है। इसी नियमसे किसी समय हिंदू-जाति समस्त पृथ्वीका शासन करती थी, इधर सैकड़ों वर्षोंसे पराधीन रही; अब पुनः भगवान्‌की कृपासे उसकी बाहरी परतन्त्रताकी जंजीर तो टूट गयी है, परंतु अभी उसकी मानसिक तथा बौद्धिक परतन्त्रता दूर नहीं हुई। क्योंकि हिंदुओंका एक समूह विदेशीय भाषा, विदेशीय रहन-सहन एवं विदेशीय तथा विजातीय आदर्शका स्वप्न देखता है। उसका हृदय विदेशी है। अस्तु, जिसका आधार ही असत्य है, वह वस्तु कभी स्थायी नहीं हो सकती, जैसा भगवान्‌ने गीतामें कहा ही है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

'असत्‌का भाव नहीं होता और सत्‌का कभी अभाव नहीं होता।' इसी सिद्धान्तके अनुसार पृथ्वीकी सबसे प्राचीन हिंदू-जाति आज भी विद्यमान है; क्योंकि हिंदू-संस्कृति सत्यपर अवलम्बित है—जहाँ अन्य कितनी ही जातियाँ काल-कवलित हो चुकीं; उनका पृथ्वीपर नाम-निशान भी नहीं रहा।

हिंदू-संस्कृतिमें विवाह प्रवृत्तिका एक सबसे बड़ा संस्कार है और उसका कुछ विशेष लक्ष्य भी है। पृथ्वीकी अन्यान्य जातियोंमें विवाह केवल इन्द्रियोंकी तृप्ति और भोगका साधन मात्र है; क्योंकि उनके जीवनका लक्ष्य 'Eat, drink and be merry,' 'खाओ, पीयो, मौज करो,' है। उनकी संस्कृति उनको यही सिखाती है। हमारी हिंदू-संस्कृतिमें विवाहका क्या लक्ष्य या आदर्श है, यही यहाँ विचारणीय विषय है।

मीमांसा-शास्त्रमें सिद्ध है कि सृष्टिके प्रारम्भसे ही स्त्रीधारा एवं पुरुषधारा—ये दो स्वतन्त्र धाराएँ चलीं। यथा कर्म-मीमांसादर्शनमें—

'द्वे धारे स्वतन्त्ररूपत्वात्' (धर्मपाद, सूत्र ५५)

भगवान् मनुने भी कहा है—

'द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥

सृष्टिके प्रारम्भमें परमात्माने अपनेको दो भागोंमें विभक्त किया, वे आधेमें पुरुष और आधेमें नारी हो गये।

भगवान्‌ने भगवद्गीतामें भी कहा है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

इन दोनोंमें कौन भाग पुरुष और कौन-सा भाग स्त्री बना, इस विषयमें भी देवीभागवतमें कहा है—

स्वेच्छामयः स्वेच्छयायं द्विधारूपो बभूव ह।
स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः॥

स्वेच्छामय भगवान् स्वेच्छासे दो रूप हो गये, वाम भागके अंशसे स्त्री और दक्षिण भागके अंशसे पुरुष बने।

इन सब प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि सृष्टिके प्रारम्भसे ही स्त्रीधारा तथा पुरुषधारा—ये दो धाराएँ पृथक्-पृथक् चलीं। ये ही दोनों उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज योनियोंमें स्त्री एवं पुरुषके रूपमें आगे बढ़ती-बढ़ती मनुष्य-योनिमें पहुँचती हैं। इन दोनोंके सहयोगसे ही सृष्टिका विस्तार होता आया है। इसी कारण सृष्टिके प्रत्येक स्तरमें स्त्रीशक्ति और पुरुषशक्ति विद्यमान हैं। स्वेदज, अण्डज तथा जरायुज योनियोंमें स्त्री-पुरुष-धारा प्रत्यक्ष ही है। उद्भिज्ज अर्थात् वृक्षादिमें भी ये दोनों धाराएँ हैं; किसी-किसी उद्भिज्जमें दोनों अलग-अलग हैं, किसी-किसीमें एक ही वृक्षमें ये दोनों शक्तियाँ हैं। इनके स्त्री-पराग एवं पुं-परागका सम्मिलन भ्रमरोंद्वारा या वायुद्वारा होकर इनकी सृष्टि आगे बढ़ती है। ये ही दोनों शक्तियाँ जडराज्यमें भी देखी जाती हैं—जैसे विद्युत्-शक्तिमें आकर्षण-शक्ति (negative) और विकर्षण-शक्ति (positive) दोनों विद्यमान हैं। ये दोनों शक्तियाँ अलग-अलग रहनेसे कार्यकारिणी नहीं होतीं; किंतु दोनोंको मिला देनेसे पंखे चलते हैं, बत्ती जलती है तथा और अनेक अद्भुत कार्य सम्पन्न होते हैं। मीमांसा शास्त्रका यह भी सिद्धान्त है कि ये दोनों धाराएँ जबसे प्रारम्भ हुईं, मनुष्ययोनितक बराबर अलग-अलग चली आयी हैं। मनुष्ययोनिमें आनेपर भी साधारण क्रमसे ऐसा नहीं होता कि स्त्री पुरुष हो जाय, अथवा पुरुष स्त्री बन जाय। साथ ही यह भी विज्ञान-सिद्ध और प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि बिना दोनोंके सहयोगके सृष्टिका कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता है, दोनों अलग-अलग रहकर कुछ भी नहीं कर पाते—जैसे मूलमें देखा जाता है कि परम पुरुष परमात्मा बिना अपनी शक्तिके निष्क्रिय बन जाते हैं। उनका सारा ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य उनकी शक्ति प्रकृतिके कारण ही है। बिना शक्तिके वे कुछ भी कर सकनेमें असमर्थ हैं। गीतामें भगवान्ने इसी सिद्धान्त-की पुष्टि की है, यथा—

'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।'
'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥'

इसी प्रकार उनकी शक्तिके बिना भगवान्के सान्निध्यके जड हो जाती है। वह जो कुछ संसारका सृजन करती है, वह परम-पुरुष परमात्माकी अध्यक्षतामें उन्हींके लिये करती है। जैसे भगवान्ने कहा ही है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

'मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचर जगत्को उत्पन्न करती है। इस प्रकार यही देखा जाता है कि परम पुरुष परमात्मा शिव बिना अपनी प्रकृतिके निष्क्रिय 'शव' बन जाते हैं और उनकी शक्तिरूपिणी प्रकृति भी बिना उनके अधिष्ठानके कार्यकारिणी नहीं होती, क्योंकि वह जड है। अतः ईश्वरकी ईश्वरता उनकी शक्तिपर अवलम्बित है। और शक्तिकी तो सत्ता ही शक्तिमान्-पर अवलम्बित है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि दोनों एक-दूसरेके पूरक हैं। दर्शनशास्त्रका यह भी सिद्धान्त है कि स्त्रीधारा पुरुषधारामयी होकर ही कैवल्यकी अधिकारिणी होती है। यथा—

स्त्रीधारा पुंधारामयी कैवल्याधिकारिणी।

(कर्ममीमांसादर्शन, धर्मपाद, सूत्र ५६)

मनुष्ययोनिमें आनेतक ये दोनों धाराएँ नियमित रूपसे प्राकृतिक नियमसे क्रमशः आगे बढ़ती रहती हैं। क्योंकि मनुष्ययोनिसे पहलेकी योनियोंके जीव अपनी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक असम्पूर्णताके कारण असमर्थ रहते हैं, अतः वे प्रकृतिके नियमोंका उल्लंघन नहीं कर पाते। इस कारण उनकी क्रमोन्नति अबाधितरूपसे होती रहती है, उसी क्रमोन्नतिके क्रमसे वे मनुष्ययोनिमें पहुँच जाते हैं। मनुष्ययोनिमें पहुँचकर दोनों पूर्णावयव स्त्री तथा पुरुष बन जाते हैं। यहाँ उनके अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषोंका पूर्ण विकास हो जाता है; साथ ही उनको प्राकृतिक नियमोंपर बलात्कार करनेकी शक्ति भी आ जाती है। अतः यहाँ प्रकृतिके नियमोंका उल्लंघनकर अनर्गल अनियन्त्रितरूपसे विषयोंका भोग और मनमाना आहार-विहार करनेसे इनकी अधोगति होने लगती है। विवाहका प्रथम उद्देश्य स्त्रीधाराको पुरुषधारामें मिलाकर उसे मुक्तिकी अधिकारिणी बनाना तथा दोनोंकी अनर्गल अनियन्त्रित पशु-प्रवृत्तियोंको नियन्त्रित कर दोनोंकी शारीरिक-मानसिक, बौद्धिक, ऐहलौकिक, पारलौकिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करना और दोनोंके मधुर समन्वयसे दोनोंकी पूर्णता सिद्ध करना एवं सांसारिक सुख शान्ति प्राप्त करना है। इस विवाह-संस्कारके द्वारा स्त्री और पुरुष दोनों अपनी-अपनी अनर्गल भोग-प्रवृत्तियोंको एक-दूसरेमें केन्द्रीभूत एवं नियन्त्रित कर आत्मसंयम

अहिच्छत्र पार्वती (मृण्मय मूर्ति)

अहिच्छत्र-शिव-पार्वती (मृण्मय मूर्ति)

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे]

देवगढ़के दशावतार मन्दिरका प्रवेशद्वार (गुप्तकाल)

(इसपर प्रतिहारी, मिथुन, प्रमथ, कल्पलता, गङ्गा, यमुना उत्कीर्ण हैं।)

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे]

और आत्मत्यागके अभ्यासद्वारा एक-दूसरेकी आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक बनते हैं। इसीलिये स्त्रीके लिये पातिव्रत्य और पुरुषके लिये भी एक पत्नीव्रत-धर्म ही प्रशस्त एवं आदर्श है।

विवाहका दूसरा प्रधान उद्देश्य उत्तम धार्मिक सन्तान-की उत्पत्तिद्वारा पितृ-ऋणसे उऋण होना तथा प्रजातन्तुकी रक्षा करना है। यह केवल पुरुषजातिके लिये है। पुरुषजातिके ऊपर देव-ऋण, ऋषि-ऋण तथा पितृ-ऋण—ये तीन ऋण हैं, जैसा भगवान् मनुजीने कहा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।

'तीनों ऋणोंको शोधकर मनको मोक्षमें लगाना चाहिये।'

अधीत्य विविधान् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥

'वेद-वेदांगोंके स्वाध्यायसे ऋषि-ऋण, यज्ञोंके अनुष्ठानसे देव-ऋण और धर्मानुकूल पुत्रोत्पादनद्वारा पितृ-ऋणसे उऋण होकर मोक्षमें मन लगाये।' इन्हीं उद्देश्योंसे भगवती श्रुति भी कहती है—

प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

'प्रजातन्तु उच्छिन्न मत करो।' इत्यादि।

विवाहका तीसरा उद्देश्य स्त्री एवं पुरुषके मधुर पवित्र समन्वय तथा सामंजस्यद्वारा पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रिय जीवनकी सुव्यवस्था एवं सुख-स्वास्थ्य-शान्तिकी रक्षा करना है। विवाहके इन तीनों प्रधान उद्देश्योंमें प्रथम उद्देश्य दोनोंके लिये समान है, दूसरा केवल पुरुषके लिये है और तीसरा व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्रके लिये है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, स्त्री एवं पुरुषजातिमें मौलिक भेद होनेसे दोनोंकी प्रकृति और प्रवृत्तिमें भी मौलिक भेद है। जैसे मूल प्रकृति परम पुरुषके अधीन है, उसी प्रकार उसकी अंशभूता स्त्रीजातिका पुरुषजातिके अधीन रहनेका स्वभाव है; वह कभी स्वतन्त्र नहीं रह सकती। इसी कारण स्त्रीजातिके लिये पातिव्रत्य-धर्मका विधान है, जो उसकी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुकूल भी है और यही स्त्रीजातिके लिये सीधा सरल सुरक्षित उन्नतिका मार्ग है। इसी कारण भगवान् मनुने स्त्रीजातिकी स्वतन्त्रताका निषेध किया है। लोक-व्यवहारमें भी देखा जाता है कि जो स्त्रियाँ उच्छृंखल होकर पिता, भ्राता, पति, पुत्र आदि स्वजनोंका संरक्षण नहीं मानतीं, या जिनका ऐसा कोई संरक्षक नहीं है, वे अनुचितरूपसे किसी अन्य पुरुषका नियन्त्रण मानती ही हैं और विपथगामिनी हो जाया करती हैं; क्योंकि स्वतन्त्र रहना उनका स्वभाव ही नहीं है। हजारोंमें कोई एक स्त्री होती है, जो स्वतन्त्र रहकर भी अच्छी तरह अपना जीवन-निर्वाह करती है। प्राचीन कालमें भी कुछ देवियाँ ऐसी हुई हैं; परंतु यह साधारण नियम नहीं, अपवादमात्र है। विवाहरूपी पवित्र संस्कारके द्वारा स्त्री अपनी स्वाभाविक प्रकृति, प्रवृत्ति और अधिकारके अनुकूल पतितन्मयताद्वारा अपनी आध्यात्मिक उन्नति करती है और पुरुष अपनी उच्छृंखल पशु-प्रवृत्तियोंको धर्मानुकूल नियोजितकर देव-ऋण, ऋषि-ऋण तथा पितृ-ऋणसे मुक्त होकर अन्तमें निःश्रेयसका अधिकारी बन जाता है। विवाहासंस्कारके समय कन्या जिन प्रतिज्ञाओंके साथ वरको आत्मसमर्पण करती है और वह उसे स्वीकार करता है, उनसे भी इन्हीं सिद्धान्तोंकी पुष्टि होती है। यथा—

तीर्थव्रतोद्यापनयज्ञदानं
मया सह त्वं यदि किन्नु कुर्याः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं
जगाद वाक्यं प्रथमं कुमारी॥

हव्यप्रदानैरमरान्पितॄंश्च
कव्यप्रदानैर्यदि पूजयेथाः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं
जगाद कन्या वचनं द्वितीयम्॥

कुटुम्बरक्षाभरणे यदि त्वं
कूर्याः पशूनां परिपालनं च।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं
जगाद कन्या वचनं तृतीयम्॥

आयव्ययौ धान्यधनादिकानां
पृष्ट्वा निवेशं च गृहे निदध्याः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं
जगाद कन्या वचनं चतुर्थम्॥

देवालयारामतडागकूप-
वापीर्विदध्या यदि पूजयेथाः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं
जगाद कन्या वचनं च पञ्चमम्॥

देशान्तरे वा स्वपुरान्तरे वा
यदा विदध्याः क्रयविक्रयौ त्वम्।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं
जगाद कन्या वचनं च षष्ठम्॥

न सेवनीया परपारकीया
त्वया भवोद्भाविनि कामिनीति।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं
जगाद कन्या वचनं च सप्तमम्॥

अर्थात् तीर्थ, व्रतोद्यापन, यज्ञ, दान, हव्यदानद्वारा देवताओंका पूजन, कव्यदानद्वारा पितरोंका पूजन, कुटुम्बकी रक्षा एवं पालन, पशुपालन, आय-व्यय आदिकी व्यवस्था, देवालय, बाग, तड़ाग, कूप, वापी, आदि बनवाना, स्वदेश या परदेशमें क्रय-विक्रय—जो कुछ तुम करोगे, सबमें मैं तुम्हारी सदा वामांगिनी रहूँगी। तुम कभी परकीया स्त्रीका सेवन नहीं करोगे, इत्यादि। और भी—

धनं धान्यं च मिष्टान्नं व्यञ्जनाद्यं च यद् गृहे।
मदधीनं च कर्तव्यं वधूराद्ये पदे वदेत्॥
कुटुम्बं रक्षयिष्यामि सदा ते मञ्जुभाषिणी।
दुःखे धीरा सुखे हृष्टा द्वितीये साब्रवीद्वचः॥
पतिभक्तिरता नित्यं क्रीडिष्यामि त्वया सह।
त्वदन्यं न नरं मंस्ये तृतीये साब्रवीदियम्॥
लालयामि च केशान्तं गन्धमाल्यानुलेपनैः।
काञ्चनैर्भूषणैस्तुभ्यं तुरीये सा पदे वदेत्॥
आर्ते आर्ता भविष्यामि सुखदुःखविभागिनी।
तवाज्ञां पालयिष्यामि पञ्चमे सा पदे वदेत्॥
यज्ञे होमे च दानादौ भविष्यामि त्वया सह।
धर्मार्थकामकार्येषु वधूः षष्ठे पदे वदेत्॥
अत्रांशे साक्षिणो देवा मनोभावप्रबोधिनः।
वञ्चनं न करिष्यामि सप्तमे सा पदे वदेत्॥

वधू कहती है कि 'धन-धान्य, मिष्टान्न आदि जो कुछ घरमें है, सब मेरे अधीन रहेगा; मैं सदा मधुर-भाषिणी, कुटुम्बकी रक्षा करनेवाली, दुःखमें धीर और सुखमें प्रसन्न रहूँगी। पतिपरायणा होकर तुम्हारे ही साथ विहार करूँगी, तुम्हारे सिवा अन्य किसी पुरुषको पुरुष ही नहीं समझूँगी। गन्ध, माला, लेपन-भूषण आदिसे तुम्हें सदा प्रसन्न करूँगी। मैं सदा तुम्हारे दुःखमें दुःखिनी, सुखमें सुखिनी हो तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगी। यज्ञ, दान, होम तथा अन्य सभी धर्म, अर्थ, कामके साधक कार्योंमें सदा तुम्हारे साथ रहूँगी। मेरी इन प्रतिज्ञाओंमें अन्तर्यामी देवतागण साक्षी रहें, मैं कभी तुम्हारी वंचना नहीं करूँगी।' इत्यादि प्रतिज्ञाएँ सप्तपदी-गमनके समय वधू करती है; अनन्तर वर उनको इन शब्दोंमें स्वीकार करता है—

ॐ मम व्रते ते हृदयं दधामि
मम चित्तमनु चित्तं तेऽस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व
प्रजापतिष्ट्वा वि युनक्तु मह्यम्॥
मदीयचित्तानुगतं च चित्तं
सदा ममाज्ञापरियालनं च।
पतिव्रता धर्मपरायणा त्वं
कुर्याः सदा सर्वमिमं प्रयत्नम्॥

'अपना हृदय मेरे काममें लगाओ, अपना चित्त मेरे चित्तके अनुरूप करो, तुम मेरे मनमें अपना मन मिलाकर मेरे वचनका पालन करो। प्रजापति तुम्हें मुझे प्रसन्न करनेमें प्रवृत्त करें। तुम पतिव्रता, धर्मपरायणा, सदा मद्गतचित्ता, मेरी आज्ञाकारिणी और अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार कार्य करनेमें तत्पर रहो।'—

इस प्रकार विवाहरूपी पवित्र संस्कार-सूत्रमें वर-वधूको आबद्धकर दोनोंकी उच्छृंखल, अनर्गल भोगप्रवृत्तियोंको संयत और नियन्त्रित किया जाता है तथा दोनोंको धर्मानुकूल काम-अर्थका सेवन तथा धर्मार्जनमें प्रवृत्त किया जाता है। वस्तुतः पति-पत्नीमें पवित्र प्रेम तथा एकात्मतासे ही गार्हस्थ्य-जीवनकी सुख-शान्ति, उत्तम सन्तानकी उत्पत्ति और दोनोंकी आध्यात्मिक उन्नति होती है। पति-पत्नीमें अटूट प्रेम दोनोंकी प्रकृति-प्रवृत्तियोंके मेलसे ही सम्भव है। इसी कारण हमारे धर्माचार्योंने विवाहके पहले वर-वधूके लक्षण, कुल, शील, वय, जाति तथा जन्मपत्र मिलाना आदि अनेक विषयोंपर विचार करनेका विधान किया है। इन्हीं कारणोंसे हमारे यहाँ असवर्ण-विवाह, स्वगोत्र-विवाह, वरसे अधिक वयवाली कन्यासे विवाह, विधवा-विवाह आदि धर्म-विरुद्ध होनेसे वर्जित हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

अविलुप्तब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्॥

'ब्रह्मचारी गृहस्थ होनेके लिये अपने अनुरूप, अपनेसे भिन्न गोत्रीया, अपनेसे अल्पवयस्का तथा जिसका पहले किसीके साथ विवाह न हुआ हो, ऐसी कन्याके साथ विवाह करे।' स्मृतिशास्त्रोंमें आठ प्रकारके विवाहोंका वर्णन पाया जाता है। यथा मनुस्मृतिमें—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।

गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच—ये आठ प्रकारके विवाह होते हैं। इनके लक्षणोंके विषयमें मनुजीने कहा है कि कन्याको वस्त्र-अलंकारादिसे सुसज्जितकर विद्वान्, शीलवान् वरको बुलाकर कन्यादान करनेका नाम ब्राह्म-विवाह है। यज्ञमें यज्ञकर्ता ऋत्विक्‌को वस्त्र-अलंकारादिसे सुसज्जित कन्याका दान करना दैव विवाह है। यज्ञादि धर्मकार्यके लिये वरसे एक या एक जोड़ा बैल या गौ लेकर विधिपूर्वक कन्यादान करनेको आर्ष विवाह कहते हैं। 'तुम दोनों मिलकर गृहस्थ-धर्मका आचरण करना' यों कहकर विधिवत् वरकी पूजा करके कन्यादान करना प्राजापत्य विवाह कहाता है। अपनी इच्छासे कन्याके कुटुम्बियोंको या कन्याको धन देकर जो कन्यासे विवाह किया जाता है, उसका नाम आसुर विवाह है। कन्या और वरके परस्पर अनुरागसे जो संयोग होता है, उसको गान्धर्व विवाह कहते हैं। कन्याके सम्बन्धियोंको मार-काटकर, उनका घर तोड़कर रोती हुई और किसी रक्षकको पुकारती हुई कन्याको बलपूर्वक हरणकर विवाह करना राक्षस विवाह है और निद्रिता, मद्यपानसे विह्वला अथवा किसी अन्य तरहसे उन्मत्ता स्त्रीके साथ एकान्तमें सम्बन्ध करके जो विवाह किया जाता है, उसको पैशाच विवाह कहा जाता है। इन आठ प्रकारके विवाहोंमेंसे केवल प्रथम चार प्रकारके विवाहोंको प्रशस्त कहा गया है। शेष चारकी निन्दा की गयी है।

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः॥
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः॥
इतरेषु च शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत्॥

'ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य— इन चार प्रकारके विवाहोंसे जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह ब्रह्मतेजसे युक्त और शिष्टप्रिय होती है। ऐसी सन्तान, सुन्दर, सात्त्विक, धनवान्, यशस्वी, पर्याप्त भोगसम्पन्न और धार्मिक होती है और सौ वर्षोंतक जीवित रहती है। शेष चार प्रकारके विवाहोंसे क्रूर, मिथ्यावादी, धर्म और वेदके द्वेषी पुत्र उत्पन्न होते हैं। अनिन्दित स्त्री-विवाहसे अनिन्दित सन्तान और निन्दित स्त्री-विवाहसे निन्दित सन्तान उत्पन्न होती है। अतः निन्दित विवाहोंका त्याग करना चाहिये।'

इन ऊपर लिखित आठ प्रकारके विवाहोंमेंसे ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य—केवल इन चार प्रकारके विवाहोंद्वारा विवाहके जो तीन उद्देश्य या लक्ष्य हैं, उनकी सिद्धि होती है। शेष गान्धर्व, आसुर, राक्षस, और पैशाच विवाहोंके द्वारा उच्छृंखल पाशव प्रवृत्तियोंकी ही वृद्धि होती है। उनसे उत्तम सन्तानकी उत्पत्ति नहीं होती है, न उनसे कौटुम्बिक, सामाजिक या राष्ट्रिय जीवनके सुख-स्वास्थ्य एवं शान्तिकी रक्षा होती है। अतः वे निन्दनीय तथा त्याज्य कहे गये हैं। यही हिंदू-संस्कृतिमें विवाहका आदर्श है।

आजकल विवाहका जैसा ढंग चलने लगा है, उससे विवाहकी पवित्रता पहले ही समाप्त हो जाती है। २५—३० वर्षकी अवस्थातक लड़कियोंको अविवाहित रखनेसे उनका हृदय पातिव्रत्य-संस्कारके उपयुक्त नहीं रह जाता। हमारे शास्त्रोंमें विवाहका काल ऋतुदर्शनके पहले है। इस विषयमें सभी स्मृतिकार एकमत हैं कि कन्याका विवाह रजोदर्शनसे पहले हो जाना चाहिये। इसका कारण थोड़ा ही विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है। ऋतु होना कन्याके स्त्रीत्वकी पूर्णताका सूचक है। स्त्रीत्वकी पूर्णता होते ही कन्याकी दृष्टि पुरुषकी ओर जाना स्वाभाविक और प्रकृतिके नियमके अनुकूल ही है। अतः कन्या अपनेको स्त्रीरूपमें अनुभव करते ही पुरुषरूपमें अपने पतिको ही देखे, अन्य पुरुषपर उसकी भोग-बुद्धि उत्पन्न ही न होने पाये—इस आदर्श सतीत्वकी रक्षाके लिये रजोदर्शनसे पूर्व कन्याका विवाह कर देनेकी आज्ञा सब महर्षियोंने दी है। कन्याकालमें कन्याका विवाह-संस्कार होनेसे ही आदर्श सतीत्वकी रक्षा होनी सम्भव है, अन्यथा नहीं। विदेशीय अनुकरणसे शिक्षित समाजमें युवती-विवाहकी प्रथा चलने लगी है; उससे न तो सतीत्व धर्मकी पूरी रक्षा हो सकती है, न पति-पत्नीमें वैसा आदर्श प्रेम हो सकता है और न पारिवारिक तथा सामाजिक सुख-शान्तिकी रक्षा होना सम्भव है। इसका स्वरूप कुछ-कुछ सामने आने भी लगा है।

कुछ थोड़े विदेशी तथा विजातीय सभ्यता-

संस्कृतिके पक्षपाती लोगोंको छोड़कर शेष करोड़ों मनुष्य जो भारतीय संस्कृतिके पक्षपाती हैं और अपने ऋषि-मुनियोंकी आज्ञाओंका अनुसरण करनेवाले हैं, उनको भी कानून बनाकर विवश किया जा रहा है कि कन्याओंको युवती बनाकर विवाह करें। अतः इस अवस्थामें संस्कारोंकी रक्षाके लिये कन्याओंके वाग्दानकी प्राचीन प्रथा दृढ़ करनी चाहिये। अब भी देशके किसी-किसी भागमें वाग्दानकी प्रथा प्रचलित है। इस समय आपत्कालके अनुसार कन्यावस्थामें अथवा रजोदर्शनसे पूर्व यदि कन्याका विवाह न किया जा सके तो कन्याका वाग्दान करके इस पवित्र संस्कार एवं प्राचीन मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिये।

भारतीय संस्कृतिमें नारीका स्थान

(लेखिका—आयुर्वेदाचार्या श्रीमती शान्तादेवी वैद्या)

श्रुतिस्मृतिपुराणैश्च स्तुता कल्याणदायिनी।
व्यवहारात्मिका पुण्या आदिमा सैव संस्कृतिः॥*

भारतीय संस्कृतिके अन्वेषणमें उसका आदि स्रोत हिमालयपर विराजमान शिवा-शिवके दर्शनोंसे उपलब्ध होता है। उनकी पवित्रता, आचारनिष्ठा और व्यवहारप्रियता ही आदिम संस्कृतिका उद्‌गम-स्थल है।

जन्मान्तरीयसम्बन्धस्तथा पाणिपवित्रता।
तपःप्रधाना नार्यश्च कन्यादानस्य श्रेष्ठता॥
स्त्रियः प्रसादाय कृतिः जायात्वमेकरूपता।

'जन्मान्तरका सम्बन्ध, पाणि (हाथ)-की पवित्रता, नारीका तपोमय स्वरूप, कन्यादानकी श्रेष्ठता, स्त्रीको प्रसन्न रखनेका यत्न, जाया-पद तथा दम्पतिकी एकरूपता—ये सात भाव सर्वोच्च आदिम आर्य-संस्कृतिके अन्तर्गत हैं, जो मानव-जीवनकी पूर्णता और दाम्पत्य-प्रेमकी पवित्रताके द्योतक हैं।

जन्मान्तरीय सम्बन्ध

ब्रह्मका शिवरूपी चिदाभास जब अन्तःकरणकी बुद्धिरूपा पार्वतीमें प्रतिबिम्बित होता है, तभी जीवकी उत्पत्ति होती है और यह जीव-संसृति मोक्ष या महाप्रलयतक निरन्तर संसारचक्र चलाती रहती है। अमैथुनी सृष्टिके बाद प्राणि-जगत्‌के संचालनार्थ पुरुष-स्त्री-सम्बन्ध आवश्यक हो गया। चौरासी लाख योनियोंमें विभिन्न भेदोंसे यह विद्यमान है। जीव-सृष्टिके उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—ये चार मुख्य भेद हैं। पूर्वत्रयसे जरायुज श्रेष्ठ है और जरायुजोंमें मानव श्रेष्ठ है। उनमें भी असंस्कृत और संस्कृत भेदसे संस्कृत मानव श्रेष्ठ हैं। वे जीव और जीवनके रहस्यको जानते हैं। महाप्रलय-पर्यन्त पुनर्जन्म या आवागमनको मानते हैं। उन्हीं संस्कृत स्त्री-पुरुषोंका दाम्पत्य-जीवन संस्कृति है। वे दम्पति संसारचक्रमें साथ-साथ रहते हैं, यही जन्मान्तरीय सम्बन्ध है। '**सखे सप्तपदा भव**' कहते हुए भूलोकसे सत्यलोकपर्यन्त सातों लोकोंमें साथ-साथ विचरण करते हैं। दम्पतिके धर्मानुष्ठान और सहकार्योंका फल सम्मिलित अथवा अर्द्धार्द्ध विभक्त हो जाता है। इसीलिये जन्मान्तरमें भी वे बराबर साथ-साथ रहते हैं। कभी कोई असहधर्मी विक्षेपके कारण इस युगल जोड़ीका बिछुड़ना भी हो जाता है; किंतु वह अस्थायी होता है। कालान्तरमें वे फिर आकर मिल जाते हैं। उनका वियोगकाल भी आदर्श और कल्याणकारी होता है। वियोगकालमें ये एक-दूसरेकी प्रतीक्षा करते हैं। इसीका नाम करुणरस है। संयोगकालमें दोनों धर्मनिष्ठ, आचारनिष्ठ होकर अपनी जीवन-यात्राको सजाते हैं। इसीका नाम शृंगाररस है। माँ सतीका वियोग होनेपर—

यदैव पूर्वे जनने शरीरं
सा दक्षरोषात् सुदती ससर्ज।
तदा प्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः
पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत्॥

'पूर्वजन्ममें सुन्दर दाँतोंवाली सतीजीने दक्षपर क्रुद्ध होकर जब अपने शरीरका त्याग किया था, तबसे भगवान् शिव विषय-संगरहित होकर पत्नीशून्य हो गये।' किसी पत्नीकी इच्छा नहीं की। तो किया क्या?

* श्रुतियों, स्मृतियों और पुराणोंने जिसकी सराहना की है, जो सबको कल्याण प्रदान करनेवाली, परम पवित्र तथा व्यावहारिक है, वही आदिम आर्य-संस्कृति है।

स्वयं विधाता तपसः फलानां
केनापि कामेन तपश्चचार।

'स्वयं तपका फल लेनेवाले शंकरभगवान् किसी जन्मान्तरीय सती-सम्मिलनकी कामनासे स्वयं तप करने लगे।'

इधर मा सतीने पर्वतराज हिमालयके घर पार्वतीरूपसे अवतार ग्रहण किया और तारुण्यपूर्व ही पिताकी आज्ञा लेकर तप करने शैलशिखरपर चली गयीं। वहाँ उन्होंने घोर तपस्या की—

स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां
वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः॥

'अपने-आप सूखकर गिरे हुए पत्तोंको खाकर जीवन धारण करना तपस्याकी पराकाष्ठा होती है; किंतु पार्वतीजीने पर्णाहार भी त्याग दिया था। अतः पुराणवेत्ताओंने उन्हें 'अपर्णा' नामसे अभिहित किया।' दम्पतिमें यह जन्मान्तरीय सम्मिलनका प्रतीक्षाकाल तपस्यापूर्ण रहा। यह है भारतीय संस्कृतिका 'जन्मान्तरीय दम्पति-सम्बन्ध!'

पाणि-पवित्रता, तपोमय स्वरूप

अनादि कालसे ही भारतीय ललनाओंकी पाणि-पवित्रता चली आयी है। उनका पाणिग्रहण पति ही करता है।

पार्वतीजीकी घोर तपस्या देखकर शंकरभगवान् वटु—'ब्रह्मचारी' का रूप धरकर पार्वतीजीके तपस्याश्रममें आये। सखियोंने बहुमान-पुरस्सर ब्रह्मचारीजीका आतिथ्य-सत्कार किया। वे पार्वतीजीसे मिलना और बातचीत करना चाहते थे। सखियोंने कहा—'भगवन्! गृहीतनियमा गिरिजाका पाँच मुहूर्त बाद नियम समाप्त होगा। तबतक आप प्रतीक्षा कीजिये। फिर हमारी सखीसे धर्मवार्ता कीजियेगा।'

आश्रम-शोभा देखनेके व्याजसे ब्रह्मचारीजी इतस्ततः भ्रमण करते हुए एक जलकुण्डमें गिर पड़े और तारस्वरसे चिल्लाने लगे—'कोई समर्थ मेरा उद्धार करे; दौड़ो, दौड़ो।' विजयादि सखियाँ दौड़ी आयीं। उन्होंने कुण्डसे निकालनेके लिये अपने हाथ बढ़ाये—

स चुक्रोश ततो गाढं दूरे दूरे पुनः पुनः।
नाहं स्पृशाम्यसंसिद्धा प्रिये वा साम्प्रतं त्वहम्॥

'ब्रह्मचारीने उनका हाथ नहीं पकड़ा और ऊँचे स्वरसे बार-बार कहा—'दूर रहो, दूर रहो; मैं सिद्धिरहित स्त्रीका स्पर्श नहीं करूँगा, चाहे इसी समय मर जाऊँ।' इतनेमें नियम समाप्त करके पार्वतीजी स्वयं आ पहुँचीं और अपना बायाँ हाथ ब्रह्मचारीको निकालनेके लिये बढ़ाया।

ब्रह्मचारीने कहा—

भद्रे! यच्छुचि नैव स्याद्यच्चैवावज्ञया कृतम्।
सदोषेण कृतं यश्च तदादद्यां न कर्हिचित्॥
सव्यं चाशुचि ते हस्तं नावलम्बामि कर्हिचित्।

'हे भद्रे! जो पवित्र नहीं है, जो अपमानसे किया गया है और जो दोषयुक्त किया गया है, उसको मैं कभी भी ग्रहण नहीं करूँगा। तुम्हारा बायाँ हाथ, जो स्वभावतः अपवित्र माना गया है, मैं कदापि नहीं पकड़ूँगा।'

इत्युक्ता पार्वती प्राह नाहं हस्तं च दक्षिणम्।
ददामि कस्यचिद्विप्र! देवदेवाय कल्पितम्॥
दक्षिणं मे करं देवो ग्रहीता भव एव च।
स्मर्यते चोग्रतपसा सत्यमेतन्मयोदितम्॥

ब्रह्मचारीकी बात सुनकर पार्वतीजी बोलीं—'हे विप्र! दायाँ हाथ तो मैंने देवदेव महादेवको समर्पित करनेके लिये संकल्प कर रखा है; अतः अपना दाहिना हाथ किसीको न दूँगी। मेरे दाहिने हाथको ग्रहण करनेवाले पूर्वजन्मके मेरे स्वामी भगवान् शिव ही होंगे। इस उग्र तपस्याके द्वारा मैं उन्हींका चिन्तन कर रही हूँ। यह सत्य बात मैंने आपसे कही है।'

यह सुनकर ब्रह्मचारी बोले—

यद्येवमवलेपस्ते गमनं केन वार्यते।

'यदि तुमको महादेवजीपर इतना गर्व है तो रोकता कौन है? जाओ, अपनी प्रतिज्ञाका यत्नपूर्वक पालन करो और मुझे यों ही मरने दो। किंतु रुद्रके लिये वह तपस्या कैसी, जो मरते हुए ब्राह्मणको उसी दशामें छोड़नेको बाध्य करती हो? ब्राह्मणको नहीं मानती हो तो मेरी दृष्टिसे दूर हो जाओ; और यदि पूजनीय मानती हो तो मुझको ऊपर निकाल लो।'

पार्वतीजी बड़े धर्मसंकटमें पड़ गयीं। फिर उन्होंने सोच-विचारकर निश्चय किया और—

विप्रस्योद्धरणं सर्वधर्मेभ्योऽमन्यताधिकम्।
ततः सा दक्षिणं दत्त्वा करं तं प्रोज्जहार च॥

'ब्राह्मणके उद्धारको सब धर्मोंसे अधिक माना

तथा अपना दाहिना हाथ बढ़ाकर ब्राह्मणको ऊपर निकाल लिया।' जब दो धर्म परस्पर एक-दूसरेके विरोधी होकर अड़ जाते हैं, तब अपनी हानि करके भी एक धर्मका त्यागकर दूसरे अपेक्षाकृत प्रबल धर्मका ग्रहण करना पड़ता है। किसी भी पर-पुरुषको दक्षिण हस्तसे स्पर्श करना अधर्म था, परंतु पार्वतीजीने ब्राह्मणके प्राणरक्षार्थ इसे स्वीकार किया।

नरं नारी प्रोद्धरति मज्जन्तं भववारिधौ।
एतत्संदर्शनार्थाय तथा चक्रे भवोद्भवः॥

(स्कन्दपुराण, कुमारिकाखण्ड)

'स्त्री भव-सागरमें डूबते हुए पुरुषका उद्धार कर देती है, इस बातको भलीभाँति दिखानेके लिये संसारको उत्पन्न करनेवाले भगवान् शिवने यह लीला की।'

पार्वतीजीने ब्रह्मचारीको निकालकर विषम धर्मका पालन किया, किंतु इस कर-ग्रहणसे अपने शरीरको उच्छिष्ट माना। अतः स्नान करके वे योगासनपर जा बैठीं और इस उच्छिष्ट शरीरको, जो ब्राह्मणके स्पर्शद्वारा अशुद्ध हो गया है, भगवान् शंकरके लिये अयोग्य मानकर योगाग्निसे भस्म कर देनेका निश्चय किया। यह देखकर ब्रह्मचारीने कहा—

'ब्राह्मणकी इच्छासे कोई बातचीत करके अपना मनोरथ पूरा करो।'

पार्वतीजीने शरीर-त्यागके पहले एक मुहूर्त (दो घड़ी) इस कामके लिये दिया। बातचीतमें ब्रह्मचारीने उनकी उच्च तपस्याका वर्णन करते हुए शिवजीके प्रति कुछ निन्दा वाक्य कहे। सखियोंके द्वारा निवारण करनेपर भी ब्रह्मचारी नहीं माने। तब पार्वतीजीने सोचा कि 'निन्दक तो पापी होता ही है, निन्दा सुननेवाला भी पापका भागी होता है। अतएव यहाँसे हट जाना ही ठीक है।' ऐसा निश्चय करके वे क्रोध करके तुरंत वहाँसे चल दीं।

तब छद्मरूपसे ब्रह्मचारी बने हुए भगवान् शिवजीने अपना दिव्य शंकरस्वरूप प्रकट कर दिया और हँसते हुए भागती हुई पार्वतीजीको पकड़ लिया। तथा कहा—

अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते॥

'हे अवनतांगि! आजसे मैं तुम्हारा तपस्याद्वारा क्रीत दास हूँ।' पार्वतीजीका सारा क्लेश जाता रहा। कार्य सिद्ध होनेपर कष्ट भी आनन्दस्वरूपमें परिणत हो जाता है।'

पार्वतीजीने अपनी पाणि-पवित्रता सुरक्षित समझी। यह है तपोमय जीवन और पाणि-पवित्रतारूपी उच्च भारतीय संस्कृति!

कन्या-दान

अमूल्य निधि, सर्वोच्च पवित्र वस्तुका व्यावहारिक क्रय-विक्रय, देन-लेन या सामयिक नियमानुबन्ध नहीं होता। उसका तो परम पुण्यरूप दान ही होता है।

जब भगवान् शिवने पार्वतीजीसे कहा—

प्राह तां च महादेवो दासोऽस्मि तव शोभने।
तपोद्रव्येण क्रीतश्च समादिश यथेप्सितम्॥

'शोभने! मैं तुम्हारा तपोद्रव्य-क्रीत दास हूँ; जो इच्छा हो, आदेश करो। पालन करनेके लिये सत्वर प्रस्तुत हूँ।'

तब पार्वतीजी बोलीं—'मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ। मन तो प्रथमसे ही आपको समर्पण कर चुकी हूँ। अन्तःकरणके तीन भाग—चित्त, बुद्धि और अहंकार अब समर्पण करती हूँ। किंतु यह शरीर जन्मदाता और पालक माता-पिताका है। इसे आप उनसे ही दानस्वरूप लेकर उनका सम्मान और इष्टरूपा संस्कृतिकी रक्षा करें।

मनसस्त्वं प्रभुः शम्भो! दत्तं तच्च मया तव।
वपुषः पितरावेतौ सम्मानयितुमर्हसि॥

(स्कन्दपुराण)

यह है कन्यादानरूपी भारतीय संस्कृति।

भगवान् शिवने 'तथास्तु' कहकर पार्वतीजीको घर भेजा और स्वयं कैलास चले गये।

पार्वतीजीका स्वयंवर हुआ। हिमाचलने देवताओंको निमन्त्रणपत्र भेजे। श्रीविष्णुभगवान्‌ने उत्तरमें लिखा—

मातास्माकं हि सा देवी मेरौ गत्वा नमामि ताम्।

'पार्वतीदेवी मेरी माता हैं; मैं मेरु पर्वतपर पहुँचकर उन्हें प्रणाम करूँगा।' श्रीब्रह्माजीने पुरोहिती करनेके लिये आना स्वीकार किया। ऐसे ही अन्य देवोंके भी स्वीकृतिपत्र आये। समयपर सब देव स्वयंवर-समारोहमें उपस्थित हुए। तब पार्वतीजीने भगवान् शिवके गलेमें जयमाला डाली और चरणोंमें सिर अर्पण किया। ब्रह्माजीने विधिवत् विवाह कराया।

लाजाहोम

हिमाचलका एकमात्र पुत्र मैनाक इन्द्र-वज्र-भयसे समुद्रमें छिपा था। लइभुजवा (लाजाहोम) भाई ही करता है। नागराजको चिन्ता हुई, तब भगवान् विष्णुने कहा—

अत्र चिन्ता न कर्तव्या नगराज कथंचन।
अहं भ्राता जगन्मातुरेतदेवन्न चान्यथा॥

और भगवान् विष्णुने लाई भूनी।

जायापदकी प्रतिष्ठा, दम्पतिकी एकरूपता और पत्नीको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः॥

इस अध्यात्म-संस्कृतिकी प्रतिष्ठार्थ शिव-लीला देखिये—

शिशुर्भूत्वा महादेवः क्रीडार्थं वृषभध्वजः।
उत्सङ्गतलसंसुप्तो बभूव भगवान् भवः॥
जायेति तत्पदं ख्यातुं तस्य सत्यार्थमीश्वरः।

जायात्वकी उच्च प्रतिष्ठाके स्थापनार्थ भगवान् शिव लीलासे ही बालरूप होकर पार्वतीजीकी गोदमें सो गये। यह उत्संग-संस्वप्न भारतीय संस्कृतिमें अब भी चला आ रहा है। पति भार्यामें प्रविष्टकर गर्भ होकर जो पुत्र-नामसे पुनः उत्पन्न होता है, वही जायात्व है। इसी आधिदैविक संस्कृतिकी रक्षार्थ भगवान् शिवने ऐसी लीला की।

सर्वोच्च भोगैश्वर्यकी अधिकारिणी मा पार्वतीजी थीं ही; किंतु उनके सुख-सुविधार्थ शंकरभगवान् जरा-जरा-सी बातोंपर भी कितना ध्यान रखते थे, इसका उदाहरण अर्द्धनारीश्वररूपमें देखिये—

आत्मीयं चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्नतायां भुवि
स्वीयेनैवकरेण कर्षति तरोः पुष्पं श्रमाशङ्कया।
तल्पे किं च मृगत्वचा विरचिते निद्राति भागैर्निजै-
रन्तःप्रेमभरालसां प्रियतमामङ्के दधानो हरः॥

'प्रेम-पूरित अन्तःकरणवाली अपनी प्रियतमा पार्वतीको अंक (अर्धांग)-में धारण किये हुए अर्धनारीश्वर भगवान् शंकर पार्वतीको परिश्रमसे बचानेके लिये सब काम अपने—पुरुषभागके अंगोंसे ही लेते हैं। चलते समय आगेकी नीची ऊँची भूमिपर पहले अपना ही पैर रखते हैं। गिरिराज-किशोरी थक न जायँ—इस आशंकासे वे अपने ही हाथ बढ़ाकर वृक्षसे फूल तोड़ते हैं तथा मृगचर्म बिछायी हुई शय्यापर शयन करते समय अपने ही भागके अंगोंको नीचे रखकर नींद लेते हैं।'

शिवा-शिव-दाम्पत्य भारतीय संस्कृतिमें सर्वोच्च है। जितने उत्तमोत्तम भोग्य पदार्थ हैं, वे सब शिवने पार्वतीजीको दिये और स्वयं क्या लिया, यह भी देख लीजिये—

मन्दारमालाकुलितालकायै
कपालमालाङ्कितशेखराय।
दिव्याम्बरायै च दिगम्बराय
नमः शिवायै च नमः शिवाय॥

'भगवती पार्वती और भगवान् शिवको नमस्कार है। पार्वतीजीकी अलकावलीमें पारिजात पुष्पोंकी माला गुँथी हुई और भगवान् शिवके मस्तकपर खोपड़ियोंकी माला सजी है। पार्वतीजी तो दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हैं और शिवजी दिगम्बर हैं—उनके शरीरपर एक भी वस्त्र नहीं है।

प्राचीन भारतके सामाजिक जीवनमें स्त्रियोंका स्थान

(लेखिका—श्रीप्रियंवदा माथुर, बी०ए०, सरस्वती)

पाश्चात्त्य शिक्षा एवं प्रचारके प्रभावसे भारतमें भी आज नारीके अधिकारका आन्दोलन चल पड़ा है; पर वस्तुतः नारीका अधिकार माँगने और देनेके प्रश्नसे बहुत ऊपर है। भारतीय नारीका प्राचीन इतिहास इस विषयके लिये एक प्रोज्वल प्रतीक बनकर आज भी हमारे समक्ष उपस्थित है। हम उसे किस प्रकाशमें देखते हैं, यह हमारे अपने दृष्टिकोणपर निर्भर है; परंतु उस जीवनकी सरलतायुक्त ज्ञानगम्यता, कोमलतायुक्त दृढ़ता और त्यागमयी उपभोगप्रियता आदि गुण नारीका एक ऐसा सर्वांगसम्पूर्ण सुधासुन्दर सरस चित्र प्रस्तुत करते हैं, जो सर्वांशमें पूर्ण है, जिसे संसारसे कुछ लेना नहीं है। वह हमारी देवी अन्नपूर्णा है—देना ही जानती है,

लेनेकी आकांक्षा उसे नहीं।

वह सेवाको अपना अधिकार समझती है, इसलिये देवी है; वह त्याग करना जानती है, इसलिये सम्राज्ञी है; विश्व उसके वात्सल्यमय अंचलमें स्थान पा सकता है, इसलिये जगन्माता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, देश, संसार—सभीको अपना-अपना भाग मिलता है नारीसे; फिर वह सर्वस्व दान देनेवाली महिमामयी नारी सदा अपने सामने हाथ पसारे खड़े हुए इन भूलोकवासियोंसे क्या माँगे और क्यों माँगे? प्राचीन भारतकी नारी समाजमें अपना स्थान माँगने नहीं गयी थी, मंचपर खड़े होकर अपने अभावोंकी माँग पेश करनेकी आवश्यकता उसे कभी प्रतीत ही नहीं हुई और न विविध संस्थाएँ स्थापित करके उसमें नारीके अधिकारोंपर वाद-विवाद करनेका उसे अवकाश ही मिला। उसने अपने महत्त्वपूर्ण क्षेत्रको पहचाना था, जहाँ खड़ी होकर वह सम्पूर्ण संसारको अपनी निःस्वार्थ सेवा और त्यागके सुधा-प्रवाहसे आप्लावित कर सकी थी। नारीकी सरलता और मातृत्वका गौरव लेकर वह निर्द्वन्द्व भावसे अपने कर्तव्यमें लीन रहती थी। समाजमें उसका एक अलौकिक स्थान था। आजकी नारी उपभोगकी वासना लेकर समाजके समक्ष आती है अपना अधिकार माँगने—विवाह-विच्छेदके नियम बनते हैं, सम्पत्तिमें नारीको अधिकार मिलता है। परंतु समाजके लिये नारीका यह रूप अभिनन्दनीय नहीं है। उसे आज समाजमें स्थान अवश्य मिला है; पर वह मिला है वासनाओंकी मोहावृत प्रतिमूर्तिके रूपमें, पूजनीया '**स्वर्गादपि गरीयसी**' माताके रूपमें नहीं। और इसीके फलस्वरूप आजकी सामाजिक संस्थाएँ हैं—क्लब, कॉलेज तथा अन्य विविध सोसायटियाँ। अवश्य ही युग-परिवर्तनके साथ हमारे आचार-विचारमें और हमारे अभाव-आवश्यकताओंमें परिवर्तन होना अनिवार्य है; परंतु जीवनके मौलिक सिद्धान्तोंमें विभेद होना कदापि इष्ट नहीं। स्रष्टाकी रचनामें नारी और पुरुष दोनोंका ही महत्त्व है। वे एक-दूसरेके पूरक हैं और इसी रूपमें उनके जीवनकी सार्थकता भी है। यदि नारी अपने क्षेत्रको तिलांजलि देकर पुरुषके क्षेत्रमें अधिकार माँगने जायगी तो असफलता निश्चित ही है। यदि उस सर्वद्रष्टा यन्त्रीको नारी और पुरुषके क्षेत्रमें विभिन्नता नहीं रखनी होती तो बूढ़े ब्रह्मदेवको नारी-पुरुषकी शरीर-रचनामें इतने प्राकृतिक विभेद रखनेकी कौन-सी आवश्यकता थी। नारीकी कोमलता और पुरुषका ओज गुण-विशिष्टतामें समान होते हुए भी समान धर्म नहीं कहे जा सकते।

हमारी प्राचीन हिंदू-संस्कृतिमें गृहस्थ-जीवनको एक यज्ञका स्वरूप दिया गया था और उस यज्ञमें स्त्री अर्धांगिनीके रूपमें पुरुषको सहयोग प्रदान करती थी, जिसका अत्यन्त सौम्य रूप हमें कवि-कुलगुरु महाकवि कालिदासके शब्दोंमें यों मिलता है—

विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम्।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्॥

(रघुवंश १। ५६)

निर्जन वनस्थलीमें ऋषिराज वसिष्ठ अपनी भार्या अरुन्धतीके साथ सायंकालकी होम-क्रिया सम्पन्न कर रहे हैं। नारी-शिक्षाका कैसा देदीप्यमान उदाहरण है! अशिक्षित नारी क्या इस प्रकार सहयोग प्रदान करनेमें समर्थ हो सकती थी? यह यज्ञका स्थूल स्वरूप था। परंतु इसी यज्ञकी भावना जब अन्तर्मुखी हो जाती है, तब नारीका समस्त जीवन ही यज्ञमय होकर एक पवित्र साधनाका रूप धारण कर लेता है। भगवान् श्रीरामने यदि व्रत धारण किया था पितृ-वचन-पालनका तो सती सीताने उस यज्ञको पूर्ण करनेके लिये उनका अनुगमन किया और अन्तमें सीता-वनवास भी क्या सीताके पक्षमें यज्ञ ही नहीं था? प्रजापालक राम क्या सीताकी त्याग-भावनाके अभावमें रामराज्यका ऐसा सुन्दर चित्र समुपस्थित करनेमें समर्थ होते? वह उनके जीवन-यज्ञकी अर्धांगिनी थी। त्यागमें ही उसका गौरव था और अपने प्राप्यको उसने कठिन तपस्या करके ही पाया था, राज्याधिकारियोंके समक्ष फरियाद करके नहीं।

वस्तुतः प्राचीन भारतीय नारीके जीवनकी सफलताका रहस्य त्यागमें—तपश्चर्यामें है, उपभोगमें नहीं। जगन्माता पार्वतीकी अलौकिक साधना तपस्याकी साकार प्रतिमा बनकर नारीके आदर्शका मानो यथार्थ चित्र उपस्थित कर रही है—

सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी। उचित कहेउ मुनिबर बिग्यानी॥
तुम्हरें जान कामु अब जारा। अब लगि संभु रहे सबिकारा॥
हमरें जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥

(राम० बाल०)

उस पवित्र त्यागमय जीवनकी पवित्रताका अनुमान भी क्या आजके वातावरणमें लगाया जा सकता है—जहाँ माता पार्वती पतिकी अनुकूलतामें वासनाओंकी तृप्ति नहीं, वरं उनसे लोकहितकारी राम-कथा सुननेकी

अभिलाषा रखती हैं—

पति हियँ हेतु अधिक अनुमानी। बिहँसि उमा बोली प्रिय बानी॥
कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूँछन चह सैल कुमारी॥

(रामचरितमानस)

काम उनके जीवनकी सौम्यताका विनाश करनेमें समर्थ नहीं था। उसने उनके जीवनमें यज्ञका स्वरूप धारण किया था और फलस्वरूप महात्मा कार्तिकेय और आदिवन्द्य गणपतिका जन्म हुआ, जिनकी गौरव-गरिमा आजतक अक्षुण्ण बनी हुई है। यही था मदन-मर्दनका रहस्य और यही थी उस अज अनवद्य महादेवकी विभूति, जिसके समक्ष अद्रिसुता अनेक जन्मोंकी तपस्याको भी यथेष्ट नहीं मानती—

जनम कोटि लगि रगर हमारी। बरौं संभु न त रहौं कुआरी॥

(रामचरितमानस)

यह था प्राचीन हिंदू-संस्कृतिमें नारीका पत्नीरूप—जिसमें कोई प्रतिद्वन्द्विता, कोई संघर्ष नहीं है। एक अनुगामित्वधर्म है, जो मानो विश्व-चक्रकी पूर्तिके निमित्त नारीद्वारा सहज स्वाभाविकरूपसे अपना लिया गया था। पतिमें प्रभुकी मूर्ति प्रतिष्ठित करके वह अपने अपनत्वका समर्पण कर देती थी और वह आत्मनिवेदन इतना पूर्ण , इतना गम्भीर, इतना व्यवस्थित होता था कि कोई परिस्थिति, कोई संकट, कोई विपद् उसे उसकी स्वात्मस्थितिसे च्युत करनेमें समर्थ नहीं थी। यही उसके जीवनकी साधना थी और इसी साधनाका आश्रय लेकर जब वह इस क्षुद्र अहंकी सीमाको लाँघ जाती थी, तब प्रकृति उसके आगे शीश झुकाती थी; ब्रह्माण्डकी समस्त शक्तियाँ उसके अलौकिक तेजके समक्ष व्यर्थ, निष्प्रभ हो जाती थीं। सृष्टि उनके इंगितपर नाचती थी। ऐसी स्थितिमें यदि कुष्ठरोग-पीड़ित पतिकी साध्वी स्त्री शाण्डिली सूर्यकी गति रोक दे तथा उसके प्रभावसे वह महासामर्थ्यवान् भगवान् भास्कर एक ही स्थानपर अचल हो जायँ अथवा साक्षात् यमराज यदि वचनबद्ध होकर सावित्रीके स्वामीके जीवनको लौटा दें तो इसमें विस्मय ही क्या।

आधुनिक युग आपत्ति कर सकता है कि ये सब सत्ययुगकी बातें हैं, कलियुगमें इनकी सम्भावना नहीं; परंतु राजपूतानेका स्वर्ण-इतिहास आज भी विलुप्त नहीं हुआ है। चूड़ावत सरदारकी नवोढ़ा पत्नीका अपूर्व बलिदान आज भी कनकाक्षरोंमें जगमगा रहा है। नारीका सहयोग पुरुषको बन्धन नहीं, मुक्तिके रूपमें मिलना चाहिये। सौन्दर्यकी मूर्ति और कोमलताकी प्रतिमा वह सरदार-पत्नी अपने जीवनकी इस महत्ताको मधुरतम क्षणोंमें भी विस्मृत नहीं कर सकी थी। क्षणिक सौन्दर्यका क्या मूल्य है और उसका सदुपयोग किस प्रकार किया जा सकता है, इसे वह जानती थी और फलस्वरूप उसकी मुण्डमाल सरदारके जीवनकी प्रेरणा बनकर उसे देशके प्रति अपना कर्तव्य निष्पन्न करनेमें समर्थ कर सकी। कितनी दृढ़ता थी उस कोमल हृदयमें! परंतु ये देवियाँ देह और प्राणकी संकुचित सीमाओंसे ऊपर उठी हुई थीं। इन्होंने अपने पतिसे अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया था एक ऐसे धरातलपर, जहाँ वियोगकी सम्भावना नहीं, जहाँ स्थूल-शरीरका विच्छेद उनकी अभेद स्थितिमें बाधक नहीं बन सकता। ऐसे कितने ही उदाहरण हमें राजपूतानेके इतिहासमें उपलब्ध हो सकते हैं और वहाँके जौहर-यज्ञने तो मानो नारीकी पवित्रताको अग्निमें तपाकर एक अत्युज्ज्वल स्थायी प्रभा प्रदान कर दी है।

हाँ, राजपूतानेके इतिहासको भी शताब्दियाँ बीत चुकी हैं; परंतु प्रातःस्मरणीया मा शारदा और कस्तूरबा तो आधुनिक युगकी ही ज्योतिष्मती देवियाँ थीं। वे अशिक्षिता थीं, विद्यालयकी कोई भी उपाधि उनके पास नहीं थी; परंतु अपने रागनिर्गत अनुराग-सुधासे विश्वको आप्लावित करके वे माताएँ आज भी मानो भारतीय नारी-आदर्शकी संरक्षा कर रही हैं। ये माताएँ समाजमें अपना स्थान खोजने नहीं गयी थीं, वरं समाज ही वात्सल्यका भिखारी होकर उनके आँचलकी छायामें अभयदान माँगने जाता था। वासना और उसकी तृप्तिका उनके जीवनमें कोई स्थान नहीं था। महात्मा गान्धी स्वीकार करते हैं कि उनके 'महात्मापन' का श्रेय उन्हें नहीं, कस्तूरबाको है। अस्तु,

नारीका पत्नीरूपसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और गौरवशाली स्वरूप है उसके मातृत्वमें। मातृत्वमें मानो पत्नीत्व पूर्णत्वको प्राप्त हो जाता था; परंतु वह मातृत्व मोहका बन्धन बनकर सन्तानकी वास्तविक प्रगतिमें बाधक नहीं बनता था। माता कौसल्याका वात्सल्यमय कोमल हृदय यद्यपि राम-वियोगकी आशंकासे शतधा विदीर्ण हो रहा था, तथापि उनका मातृत्व उन सभी कोमल भावनाओंसे ऊपर रामको आदेश दे रहा था—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

और माता सुमित्रा—

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥

(रामचरितमानस)

—अपने तरुण, नव-विवाहित पुत्र लक्ष्मणको अग्रजानुगामी बनाकर वनवासकी अनुमति प्रदान करती हैं। लक्ष्मणका त्याग सराहनीय है; परंतु इसका श्रेय लक्ष्मणको नहीं, उनकी माता सुमित्राको है, उनकी नवोढ़ा पत्नी उर्मिलाको है, जिन्होंने अनुरागकी वेलामें विरागको, संयोगके स्वर्णक्षणमें दीर्घ वियोगको अपना सौभाग्य समझकर प्रसन्नतासे वरण कर लिया था।

हमारी पुरातन माताएँ अपनी सन्तानोंका निर्माण करती थीं, उन्हें आदर्शके साँचेमें ढालती थीं और तब उन्हींमें आदर्श यथार्थकी सम्भाव्यतामें मुखरित हो उठता था। कुन्ती माताने अपने पुत्रोंको प्रेरित किया था। क्षत्रिय-नारीकी स्तनपानको संग्राम-भूमिमें सार्थक बनानेके लिये। माता मदालसाका वह राग—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि।

—उसके पुत्रोंके लिये एक स्थायी प्रेरणा बन गया और इस संसारकी वास्तविकताको पहचानकर वे जीवन्मुक्तकी अवस्थाको प्राप्त हुए। मदालसाका मातृत्व सफल हो गया। ऐसे अनेक उदाहरण हमें हिंदू-संस्कृतिके प्राचीन इतिहासमें मिलेंगे। वीर शिवाजीकी माता जीजाबाई और समर्थ गुरु रामदासकी पूजनीया माताके उपदेश विस्मृत नहीं किये जा सकते। क्या आजकी माता कोई भी निश्चित आदर्श लेकर अपनी सन्तानका पालन करनेमें प्रवृत्त होती है? आज भारतवर्ष दरिद्र है—इसलिये नहीं कि उसके पास धन अथवा शस्यकी कमी है; वरं उस पवित्र पत्नीत्व और मातृत्वका अभाव हो गया, जिसकी दिव्यतापर प्राचीन भारतकी समृद्ध शान्त और प्रोन्नत अवस्था आश्रित थी। आजकी भारतीय नारीमें उस आध्यात्मिक तत्त्वका प्रायः अभाव है, जिसके एकमात्र धरातलपर जगत्‌की यावत् सफलताएँ निर्भर करती हैं।

पत्नीत्व और मातृत्व—यह नारीका प्रकृतिप्रदत्त क्षेत्र था, जिसमें रहकर वह एक सुदृढ़ और सुसंगठित राष्ट्रका निर्माण करती थी। समय पड़नेपर बाह्य क्षेत्रमें भी उनकी योग्यताके अपूर्व चमत्कार हमें प्राचीन इतिहासमें देखनेको मिलते हैं। महारानी दुर्गावती और लक्ष्मीबाईके जगत्-विख्यात वृत्त उदाहरणके लिये उपस्थित किये जा सकते हैं और राजपूतानेके इतिहासमें वीरांगनाओंके व्यवस्थित राज्य-संचालन और अपूर्व रण-कौशलकी अगणित गाथाएँ छिपी पड़ी हैं। इसके अतिरिक्त गार्गी-जैसी विदुषी महिलाएँ भी भारतके पुण्यक्षेत्रमें प्रादुर्भूत हुई थीं, जिन्होंने आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर शास्त्रोंके पठन-पाठन और ब्रह्मानुभवमें जीवन व्यतीत कर दिया। कुछ भी हो, प्राचीन भारतीय नारीके सभी स्वरूपोंमें एक सात्त्विकता थी, एक सौम्यता थी, एक दिव्यत्व था, जो समाजके शिरोभागको विभूषित करता था; और इस स्थानको प्राप्त करनेके लिये उसे कोई संघर्ष नहीं करना पड़ता था। वरं अपने प्राकृतिक गुणोंकी सहज अभिव्यक्तिमें स्वभावसे ही उसे वह पुण्यपद प्राप्त था। दुःख है कि आजकी कृत्रिम सभ्यताने नारीके इस तपःपूत स्वभावको उसे मायामोहित करके बुरी तरहसे छीन लिया है। अथवा यों कहें, नारीने बाह्य संसारकी चकाचौंधसे प्रभावित होकर उसे स्वयं ही खो दिया है। अन्यथा भारतीय समाजमें नारीके स्थानके विषयमें तो दीर्घकालीन युगोंके पहले महाराज मनु व्यवस्था कर गये हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

(मनु० ३। ५६)

भार्याके बिना पुरुष कुछ नहीं कर सकता

एकचक्रो रथो यद्वदेकपक्षो यथा खगः। अभार्योऽपि नरस्तद्वदयोग्यः सर्वकर्मसु॥

जैसे एक पहियेका रथ नहीं चल सकता और एक पाँखकी चिड़िया नहीं उड़ सकती, वैसे ही भार्यासे रहित अकेला पुरुष कोई भी कार्य नहीं कर सकता।

हिंदू-नारी

है कितना गौरवशाली पद बसुधामें हिंदू-नारीका!

सुखमें, दुखमें, रणमें, बनमें
छाया पतिकी बन जाती है;
अपनी कोमल उँगलीको
रथ-चक्केकी कील बनाती है;
काली-सी मतवाली बनकर
अरिदलका रक्त बहाती है;
अन्यायी, आततताइयोंकी
दल देती पलमें छाती है;
स्वागत करती बाणों, प्राणोंसे
बरछी और कटारीका।
है कितना गौरवशाली पद
बसुधामें हिंदू-नारीका॥ १॥
जिसके उज्ज्वल तपके आगे
झुक जाया करता इन्द्रासन,
लख जिसका अनुपम शौर्य
डगमगाने लगते हैं सिंहासन;
पृथ्वीपर गिरते राजमुकुट
लख करके जिसका वीरासन,
है मिट जाता बसुधापरसे
अन्यायी क्रूर कुटिल शासन;
थक जाता दस सहस्र गज-बल,
पर अन्त न मिलता सारीका।
है कितना गौरवशाली पद
बसुधामें हिंदू-नारीका॥ २॥
पाताल-लोक भूलोक तथा वह—
स्वर्गलोक जल जाता है,
क्रोधानलसे जिसके क्षणमें
रबि-शशि-मंडल झुलसाता है;
तारक, बिद्युत, बादलका क्या—
कहना जब नभ थर्राता है;
सागर गिरि सरिता मरु-
समीरका चिह्न न रहने पाता है;
जिसके चरणोंपर झुका शीश
यमपुरके भी अधिकारीका।
है कितना गौरवशाली पद
बसुधामें हिंदू-नारीका॥ ३॥
रणमें जाकर डट गयी कभी
अरिदलको मार भगानेको,
चंडीका प्रबल प्रचण्ड तेज
दुनियाको याद दिलानेको;
या झटपट उद्यत हुई स्वयं ही
अनल-ज्वाल धधकानेको;
लपटोंमें जा छिप गई कभी
जो अपना धर्म बचानेको;
इसके ही कारण मान बढ़ा
जौहर-ब्रतकी चिनगारीका।
है कितना गौरवशाली पद
बसुधामें हिंदू-नारीका॥ ४॥

—विलक्षण

हिंदू-धर्ममें पति-पत्नी-सम्बन्ध

(लेखक—कविविनोद, वैद्यभूषण पं० श्रीठाकुरदत्तजी शर्मा वैद्य)

पति-पत्नीका क्या सम्बन्ध है; पति-पत्नीमें कौन बड़ा, कौन छोटा है; पति-पत्नीका गृहस्थमें क्या स्थान है, एकका दूसरेपर क्या अधिकार है—इत्यादि विषयोंपर बहुत विचार होता रहता है। वस्तुतः इसपर हमारे आर्य-धर्ममें बहुत विचार किया गया है। और उसमें पत्नीका स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अवश्य ही आधुनिक हिंदू-समाजमें नारीकी बहुत अधोगति हुई है—यहाँतक कि लोग कहने लगे—'स्त्री तो पगकी जूती है; जब चाहा उतार फेंकी और दूसरी पहन ली।' परंतु इस मूर्खताकी बातको छोड़कर मूलको देखा जाय तो जो पति-पत्नी-सम्बन्ध सब हिंदुओंको मान्य है और जिसका वेदोंमें वर्णन किया गया है, वही जगत्में सुख-शान्ति

स्थिर रख सकता है और सब मनुष्योंको उसीके अनुसार आचरण करना चाहिये। रूढ़ि कुछ हों; पर इस समयतक भी विवाह-सम्बन्धमें पढ़े जानेवाले मन्त्र तो वही आदर्श रखते हैं। विवाह हो जानेके पश्चात् **सप्तपदी** होती है, जिसमें वर-वधू सात पग इकट्ठे चलते हैं। गृहस्थियोंको सुखी बनानेके लिये जो कुछ भी चाहिये, सब प्रथम ६ही मन्त्रोंमें वर्णित है। सातवाँ पग उठाते समय पति कहता है—'**ओ सखा सप्तपदि भव।**' सात पग उठा लिये, अब हम आपसमें सखा हैं—मित्र हैं। सखा मित्रसे भी अधिक हितचिन्तक होता है।

वेदोंमें परमेश्वरको भी अपना सखा कहा गया है। विवाहपर जब वर-वधू बैठते हैं तब कहा जाता है—

'**ओं समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ**'

'हम दोनों जो आप सब विद्वन्मण्डलीके सामने विवाह करनेके लिये आये हैं, हमारे हृदय इस प्रकारसे मिले हैं जैसे कि दो पानी मिलकर एकस्वरूप हो जाते हैं।' क्या इन दोनों मन्त्रोंसे पति-पत्नीका स्थान निश्चय नहीं होता? इससे अधिक समानताकी बात और क्या कही जा सकती है?

इतने समानाधिकारके होते हुए भी कुछ कर्तव्य भी तो होने चाहिये और वैदिक धर्ममें विशेषता यही है कि यहाँ कर्तव्यका अधिकारकी अपेक्षा अधिक ध्यान रखा गया है।

हमें तो धर्मशास्त्रोंके पढ़ने-सुननेसे ऐसा प्रतीत हुआ है कि गृहस्थमें पति-पत्नीका वही स्थान है जो कि राष्ट्रमें राजा और मन्त्रीका होता है। सब शासन मन्त्रीकी सम्मतिसे होता है, परंतु आज्ञा राजाकी ही होती है। मन्त्रीको पूर्ण अधिकार होते हुए भी राजाका मान रखना उसका कर्तव्य होता है।

महर्षि दयानन्द, जिन्होंने स्त्रीजातिको पूजनीय बनाया, वे भी अपनी संस्कार-विधिमें लिखते हैं—'जब-जब प्रातः-सायं या परदेशसे आकर मिलें तब-तब 'नमस्ते' इस वाक्यसे नमस्कार कर स्त्री पतिके चरणस्पर्श और पादप्रक्षालन, आसन दान करे तथा दोनों परस्पर प्रेम बढ़ानेवाले वचन आदि व्यवहारोंसे वर्तनकर आनन्द भोगें।'

हिंदू-सभ्यतामें दोनोंके समान अधिकार होते हुए पतिका कर्तव्य है कि सदा पत्नीको सम्पन्न रखे, उसकी रक्षा करे, उसे वस्त्र-आभूषणसे सन्तुष्ट रखे और सब कार्य उसकी सम्मतिसे करे, उसको घरकी सम्राज्ञी समझे। और पत्नीका कर्तव्य है कि पतिको सदा प्रसन्न रखे और प्राण-पणसे उसकी सेवा करे।

सार यह है कि वेद पति-पत्नीको सखा कहकर समान अधिकार देता हुआ उनका घरमें सम्बन्ध राजा और मन्त्रीका रखता है। हम इसको ठीक समझ लें तो भारतका बेड़ा पार है।

हिंदू-संस्कृतिमें नारी-धर्मका उत्कर्ष

(लेखक—कविभूषण श्रीजगदीशजी विशारद)

भारतके संतों और आचार्योंने जहाँ वैराग्यकी प्राप्तिके प्रसंगमें नारी-निन्दा की है, वहाँ उन्हीं संतों और आचार्योंने स्त्री-धर्मकी प्रशंसा करनेमें भी कोई कोर-कसर नहीं रखी। नारीका सबसे बड़ा गुण पातिव्रत्य-पालन है। पतिको वह परमेश्वरके रूपमें देखती है। वह उसकी तन-मन और वचनसे पूर्ण निष्ठा तथा भक्तिभावसे पूजा-अर्चना करती है। उसके आदेशका कदापि उल्लंघन नहीं करती।

ऐसी ही पतिव्रता स्त्रियोंका संसारमें आदर होता है और वे ही संसारपर राज्य करनेकी क्षमता रखती हैं। घोर वनको भी वे राजप्रासादोंसे अधिक सुखकर बनानेमें समर्थ होती हैं। महाराज मनुने कहा है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

'जिस घरमें स्त्रियोंकी पूजा होती है, वहाँपर अवश्यमेव देवता रमते हैं।'

स्त्रीके वास्तविक आभूषण उसके सुन्दर गुण हैं। गुणवती स्त्री दीन-हीन मनुष्यके घरको साकेततुल्य बना देती है, जिस प्रकार पाटलप्रसून अपनी कण्टकमय डालीको रम्य कर दिखाता है। ऐसी देवी बाहरी शोभा-सुन्दरताकी परवा नहीं करती। उसका हृदय इतना सुन्दर होता है कि उसकी दिव्य सुन्दरतासे सभी कुछ सुन्दर हो जाता है। महात्मा कबीरजीने ऐसी देवीकी स्तुति इस

प्रकार की है—

पतिब्रता मैली भली, गले काँच की पोत।
सब सखियन में यों दिपै, ज्यों रबि ससिकी जोत॥

मनुष्यको पृथ्वीसे स्वर्गतक पहुँचानेके लिये एकमात्र साधन पतिव्रता नारी है। इस संसारमें अन्य पदार्थ तो उपक्रम करनेसे प्राप्त हो जाते हैं, परंतु पवित्र सुशील और सदाचारिणी स्त्री तो प्रभुकी असीम कृपासे ही उपलब्ध होती है। भारतीय स्त्रियोंने अपने धर्मकी रक्षा करनेमें कितने कष्ट सहे हैं, इतिहासवेत्ता इससे अपरिचित नहीं हैं। यदि भारतवर्षकी नारी अपना धर्म परित्याग कर देती तो आज आर्यावर्त अखिल विश्वकी दृष्टिमें कभीका गिर गया होता। यदि देखा जाय तो हमारे देशकी आन-बान-शान नारी-समाजने ही रखी है। सोवेलके शब्द नारी-धर्मकी उत्कृष्टता बतलानेके लिये किसी अंशतक न्यून नहीं है। वे कहते हैं, 'मैं नारीका महत्त्व इसलिये नहीं मानता कि विधाताने उसे सुन्दर बनाया है; न उससे इसलिये प्रेम करता हूँ कि वह प्रेमके लिये उत्पन्न की गयी है। मैं तो उसे इसलिये पूज्य मानता हूँ कि मनुष्यत्व केवल उसीमें जीवित है।' कविकुलचूडामणि महात्मा तुलसीदासने रामायणमें स्त्रियोंका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत अस कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम पर पति देखहिं कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहहीं। सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहहीं॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥

× × ×

नारी सृष्टिकी उत्पादिका-प्रतिपालिका है और कष्टमें सान्त्वना देनेवाली है। और कण्टकाकीर्ण मार्गको सुगम बनानेका एकमात्र साधन भी वही है। वह दाम्पत्य-स्नेह, सुखकी सरिताका उद्गम है। और अपने पतिके दिवंगत होनेके पश्चात् जौहर रचकर देहका उत्सर्ग करनेवाली है।

हिंदू-नारीकी महिमा कहाँतक वर्णन की जाय। हमारे यहाँ गार्गी-जैसी विदुषी नारियाँ उत्पन्न हुईं, जिन्होंने वेदतककी ऋचाएँ निर्मित की हैं। पद्मिनी-जैसी वीरांगनाओंने जौहर रचकर पतिव्रत-धर्मका प्रतीक प्रस्तुत किया, जिसकी प्रशंसामें कविवर केसरीसिंह सोन्याणाने लिखा—

पदमिन तेरे रूप को रह्यो अनूपम हाल।
के निरख्यौ रावळ रतन, के जौहर की ज्वाल॥

धन्य है हिंदू-नारीको और उसके त्याग-तपोमय जीवनको!

व्रत, पर्व और त्यौहार

(लेखक—पं० श्रीहनूमानजी शर्मा)

व्रत, पर्व और त्यौहारोंका प्रवर्तन हमारे प्राचीन ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न, परम विद्वान्, दूरदर्शी, महामना पूर्वजोंके द्वारा हुआ था। वे इनके गूढ़ गुण-गुम्फित लाभप्रद तत्त्वोंको जानते थे और अनभिज्ञ व्यक्तियोंको परिचित कराते थे। उन्होंने कुछ ऐसी लोकोक्तियाँ भी प्रसिद्ध की थीं, जिनसे सर्वसाधारणपर्यन्तको इनका महत्त्व विदित होता था।

व्रत

वास्तवमें व्रतोंसे अनेक अंशोंमें प्राणिमात्रका और विशेषकर मनुष्योंका बड़ा भारी उपकार होता है। तत्त्वदर्शी महर्षियोंने इनमें विज्ञानके सैकड़ों अंश संयुक्त कर दिये हैं। ग्रामीण या देहाती मनुष्यतक इस बातको जानते हैं कि अरुचि, अजीर्ण, उदरशूल, मलावरोध, सिरदर्द और ज्वर-जैसे स्वत:सम्भूत साधारण रोगोंसे लेकर कोढ़, उपदंश, जलोदर, अग्निमान्द्य, क्षतक्षय, और राजयक्ष्मा-जैसी असाध्य या प्राणान्तक व्याधियाँ भी व्रतोंके प्रयोगसे निर्मूल हो जाती हैं और अपूर्व तथा स्थायी आरोग्य प्राप्त होता है।

यद्यपि रोग भी पाप हैं और ऐसे पाप व्रतोंसे दूर होते ही हैं, तथापि कायिक, वाचिक, मानसिक और संसर्गजनित पाप, उपपाप, महापापादि भी व्रतोंसे दूर होते हैं।

भारतमें व्रतोंका सर्वव्यापी प्रचार है। सभी श्रेणियोंके नर-नारी सूर्य-सोम-भौमादिके एकभुक्त-साध्य व्रतोंसे लेकर एकाधिक कई दिनोंतकके अन्न-पानादिवर्जित कष्टसाध्य व्रतोंतकको बड़ी श्रद्धासे करते हैं। इनके

और वारोंका गणनाक्रम १ सूर्य—२ सोम, ३ भौम, ४ बुध, ५ बृहस्पति, ६ शुक्र और ७ शनि—इस प्रकार है। मुहूर्तोंके ग्रन्थोंमें वारप्रवृत्ति देश-भेदके अनुसार कभी सूर्योदयसे पहले और कभी पीछे बतलायी है; परंतु वास्तवमें सूर्योदयसे सूर्योदयपर्यन्त यथार्थ है।

(२०) 'नक्षत्रव्रत' में नक्षत्रका अथवा तदधिष्ठाता देवताका पूजन करके व्रत किया जाता है। अधिष्ठाता अश्विनीके अश्विनीकुमार, भरणीका यम और कृत्तिकाका अग्नि आदि हैं। उपोषितव्य जिस नक्षत्रमें सूर्य अस्त हो, उसमें पूजन करके व्रत करना चाहिये। यदि वह नक्षत्र निशीथ (अर्धरात्रि) में हो तो चन्द्रमाके साथ पूजन करके व्रत करना चाहिये। स्मरण रहे कि नक्षत्रके उपवासमें जो तिथि हो, वही उस नक्षत्रके एकभुक्त या नक्तव्रतमें लेनी चाहिये। नक्षत्रादिके व्रत अनिष्टकारी देवताकी शान्ति अथवा अभीष्टदाता ग्रहकी प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं।

(२१) 'चान्द्रायण'—यह व्रत चन्द्रमाकी प्रसन्नता, चन्द्रलोककी प्राप्ति अथवा पापोंकी निवृत्तिके लिये किया जाता है। इसमें अन्नका परिमाण चन्द्रकलाके समान बढ़ता और घटता है। जैसे—अमावसके बादकी शुक्ल प्रतिपदाको १, द्वितीयाको २ और तृतीयाको ३—इस क्रमसे बढ़ाकर पूर्णिमाको १५ ग्रास भोजन करे। फिर पूर्णिमाके बादकी कृष्ण प्रतिपदाको १४, द्वितीयाको १३ और तृतीयाको १२ के उत्क्रमसे घटाकर चतुर्दशीको १ और अमावसको निराहार रहनेसे एक चान्द्रायण होता है। यह 'यवमध्य' है। इसका दूसरा प्रकार यह है—

(२२) अमावसके बाद शुक्ल प्रतिपदाको १४, द्वितीयाको १३ और तृतीयाको १२के उत्क्रमसे घटाकर पूर्णिमाको १ और पूर्णिमासे बादकी कृष्ण प्रतिपदाको १, द्वितीयाको २ और तृतीयाको ३के क्रमसे बढ़ाकर अमाके पहलेकी चतुर्दशीको १४ ग्रास भोजन करे और अमावस्याको निराहार रहे। यह दूसरा चान्द्रायण है। इसको 'पिपीलिकातनु' कहते हैं।

(२३) 'प्राजापत्य' १२दिनोंका होता है, उसमें व्रतारम्भके पहले ३दिनोंमें प्रतिदिन २२ग्रास भोजन करे। फिर ३दिनतक प्रतिदिन २६ ग्रास भोजन करे। उसके बाद ३ दिन अपाचित (पूर्ण पकाया हुआ) अन्न २४ ग्रास भोजन करे और फिर ३ दिन सर्वथा निराहार रहे। इस प्रकार १२ दिनोंमें एक 'प्राजापत्य' होता है। ग्रासका प्रमाण जितना मुँहमें आ सके, उतना है।

(२४) उपर्युक्त व्रत मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, समय और देवपूजासे सहयोग रखते हैं। यथा—वैशाख, भाद्रपद, कार्तिक और माघके 'मास-व्रत'। शुक्ल और कृष्णके 'पक्ष'-व्रत। सूर्य, सोम और भौमादिके 'वार'-व्रत। श्रवण, अनुराधा और रोहिणी आदिके 'नक्षत्र' व्रत। व्यतीपातादिके 'योग'-व्रत। भद्रा आदिके 'करण-व्रत'। और गणेश, विष्णु, सरस्वती और रमा आदिके 'देवव्रत' स्वतन्त्र व्रत हैं।

(२५) बुधाष्टमी—सोम-भौम-शनि त्रयोदशी और भानुसप्तमी आदि 'तिथि-वार' के; चैत्र शुक्ल नवमी, भौम, पुष्य, मेषार्क और मध्याह्नकी 'रामनवमी' तथा भाद्रपद कृष्ण अष्टमी, बुधवार, रोहिणी, सिंहार्क और अर्धरात्रिकी 'कृष्णजन्माष्टमी' आदिके 'सामूहिक' व्रत हैं। कुछ व्रत ऐसे हैं, जिनमें उपर्युक्त तिथि-वारादिके विभिन्न सहयोग यदा-कदा प्राप्त होते हैं। इन सबके उपयोगी वाक्योंका दिग्दर्शन अथवा अनुसन्धान 'व्रत-परिचय' में किया जा चुका है, जो क्रमशः कई वर्ष पूर्व 'कल्याण' के अंकोंमें निकल चुका है।

(२६) 'व्रतोपयोगी ज्ञातव्य विषय' आजके सूर्योदय-से कलके सूर्योदयतक एक दिन होता है। उसके दिन और रात्रिके दो भाग हैं। पहले भाग (दिन) में प्रातः-सन्ध्या और मध्याह्नसन्ध्या तथा दूसरे भाग (रात्रि) में सायाह्न और निशीथ हैं। त्रेधा विभक्त दिनमें पूर्वाह्न देवोंका, मध्याह्न मनुष्योंका और अपराह्न पितरोंका समय है। जिसका जो समय हो, उसका पूजनादि कर्म उसी समयमें करना चाहिये। कुछ ग्रन्थोंमें पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न और सायाह्नरूपमें ४ भाग माने गये हैं और व्यासजीने ५ भाग बतलाये हैं।

(२७) सूर्योदयसे तीन-तीन मुहूर्तके प्रातःकाल, संगव, मध्याह्न, अपराह्न और सायाह्न—ये पाँच भाग हैं। तीस घटी प्रमाणके दिनमानका पंद्रहवाँ हिस्सा एक मुहूर्त होता है। यदि दिनमान ३४ घड़ीके हों तो सवा दो और २६ के हों, तो पौने दोका मुहूर्त होता है। निर्णय-में मुहूर्त और दिन-विभाग आवश्यक होते हैं।

(२८) 'प्रदोषकाल[१]' सूर्यास्तसे दो घड़ीतक माना गया है। देवलने तीन घड़ीका बतलाया है। उषःकाल

१. प्रदोषोऽस्तमयादूर्ध्वं घटिकाद्वयमिष्यते। (गौड़) घटिकात्रयं (देवल)।

सूर्योदयसे पहले रहता है। दानादिमें पूर्वाह्ण[१] देवोंका, मध्याह्न मनुष्योंका, अपराह्न पितरोंका और सायाह्न राक्षसोंका समय है। अतः यथायोग्य कालमें दानादि देनेसे यथोचित फल होता है।

(२९) व्रतके[२] अधिकारी कौन हैं? इस विषयमें धर्मशास्त्रोंकी आज्ञा है कि जो अपने वर्णाश्रमके आचार-विचार (या धर्म-कर्म) में रत रहते हों, निष्कपट , निर्लोभ, सत्यवादी, सम्पूर्ण प्राणियोंका हित चाहनेवाले, वेदके अनुयायी, बुद्धिमान् तथा पहलेसे निश्चय करके यथावत् कर्म करनेवाले हों, ऐसे मनुष्य व्रताधिकारी होते हैं।

(३०) उपर्युक्त गुणसम्पन्न[३] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री और पुरुष—सभी अधिकारी हैं। केवल सौभाग्यवती स्त्रियोंके[४] लिये यह विधान है कि पतिकी सेवाके सिवा उनके लिये न कोई यज्ञ है, न व्रत है और न उपासना है। वे पतिकी सेवासे ही स्वर्गादि अभीष्ट लोकोंमें जा सकती हैं। फिर भी वे चाहें तो पतिकी अनुमतिसे व्रत करें। क्योंकि[५] पत्नी पतिकी आज्ञा माननेवाली होती है। अतः उसके लिये पतिका व्रत ही कल्याणकारी है। अस्तु, शास्त्रकारोंकी व्रतादिके विषयमें यह आज्ञा है कि उनका आरम्भ श्रेष्ठ समयमें किया जाय।

(३१) शुक्र और[६] बृहस्पतिका अस्त तथा अस्त होनेके पहलेके तीन दिन वृद्धत्वके और उदय होनेके पीछेके तीन दिन बालत्वके व्रतारम्भमें वर्जित हैं। ऐसे अवसरमें व्रतादिका आरम्भ और उत्सर्ग (उद्यापनादि) नहीं करना चाहिये। इनके सिवा भद्रादि कुयोग और मलमासादि भी त्याज्य हैं।

(३२) किसी भी व्रतके आरम्भमें सोम[७], शुक्र बृहस्पति और बुधवार हों तो सब कामोंमें सफलता प्राप्त कराते हैं। और इनके साथ अश्विनी, मृगशिरा[८], पुष्य, हस्त, तीनों उत्तरा, अनुराधा और रेवती नक्षत्र—प्रीति, सिद्धि, साध्य, शुभ, शोभन और आयुष्मान् योग हों तो सब प्रकारका सुख देते हैं।

(३३) 'व्रत करनेवाला' व्रतारम्भके पहले दिन मुण्डन कराये—मस्तकके तथा मुखमण्डलके सब केश उतराये—और शौच-स्नानादि नित्यकृत्यसे निवृत्त होकर आगामी दिनमें जो व्रत किया जाय, उसके उपयोगी व्यवस्था करे। मध्याह्नमें (हविष्यान्नके भोजनसे) एकभुक्त व्रत करके रात्रिमें सोत्साह शयन करे। दूसरे दिन उषःकालमें (सूर्योदयसे दो मुहूर्त पहले) उठकर शौच-स्नानादि करके प्रातःकालका भोजन[९] किये बिना ही सूर्य और व्रतके देवताको अपनी अभिलाषा निवेदन करके व्रतका आरम्भ करे।

(३४) 'आरम्भ' में गणपति, मातृका[१०] और पंचदेवका पूजन करके अभ्युदय-श्राद्ध करे। और व्रत-देवताकी सुवर्णमयी मूर्ति बनवाकर[११] उसका पंचोपचार, दशोपचार या षोडशोपचार पूजन करे। मास, पक्ष, तिथि, वार और नक्षत्रादिमें जिसका व्रत हो, उसका अधिष्ठाता ही 'व्रतका देवता' होता है। अतः प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीयादिके यथाक्रम अग्नि, ब्रह्मा, गौरी आदि और अश्विनी, भरणी, कृत्तिकादिके नासत्य (अश्विनीकुमार), यम और अग्नि आदि तथा वारोंके सूर्य, सोम, भौमादि अधिष्ठाता हैं।

(३५) उपर्युक्त प्रकारसे (जिस अवधिका व्रत हो, उस अवधितक) यथाविधि व्रत करके उसके समाप्त होनेपर वित्तानुसार उद्यापन[१२] करे। उद्यापन किये बिना व्रत निष्फल होता है। कौन व्रत किस प्रकार किया

---

१. पूर्वाह्णो दैविकः कालो मध्याह्नश्चापि मानुषः। अपराह्णः पितृणां तु सायाह्नो राक्षसः स्मृतः (व्यास)
२. निजवर्णाश्रमाचारनिरतः शुद्धमानसः। अलुब्धः सत्यवादी च सर्वभूतहिते रतः॥
३. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव द्विजोत्तम। अवेदनिन्दको धीमानधिकारी व्रतादिषु॥ (स्कन्द)
४. नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्। भर्तृशुश्रूषयैवैता लोकानिष्टान् व्रजन्ति हि॥ (स्कन्द)
५. पत्नी पत्युरनुज्ञाता व्रतादिष्वधिकारिणी। (व्यास)
६. अस्तगे न गुरौ शुक्रे बाले वृद्धे मलिम्लुचे। उद्यापनमुपारम्भं व्रतानां नैव कारयेत्॥ (गर्ग)
७. सोमशुक्रगुरुसौम्यवासराः सर्वकर्मसु भवन्ति सिद्धिदाः। (रत्नमाला)
८. हस्तमैत्रमृगपुष्यत्र्युत्तरा अश्विपौष्णशुभयोगसौख्यदाः। (मुक्तकसंग्रह)
९. अभुक्त्वा प्रातराहारं स्नात्वाऽऽचम्य समाहितः। सूर्याय देवताभ्यश्च निवेद्य व्रतमाचरेत्॥ (देवल)
१०. व्रतारम्भे मातृपूजां नान्दीश्राद्धं च कारयेत्। (शातातप)
११. स्नात्वा व्रतवता सर्वव्रतेषु व्रतमूर्तयः। पूज्याः सुवर्णमय्याद्या दानं दद्याद् द्विजानपि॥ (पृथ्वीचन्द्रोदय)
१२. कुर्यादुद्यापनं चैव समाप्तौ यदुदीरितम्। उद्यापनं विना यत्तु तद्व्रतं निष्फलं भवेत्॥ (नन्दिपुराण)

कंडरिया महादेव, खजुराहो [पृष्ठ ७५९
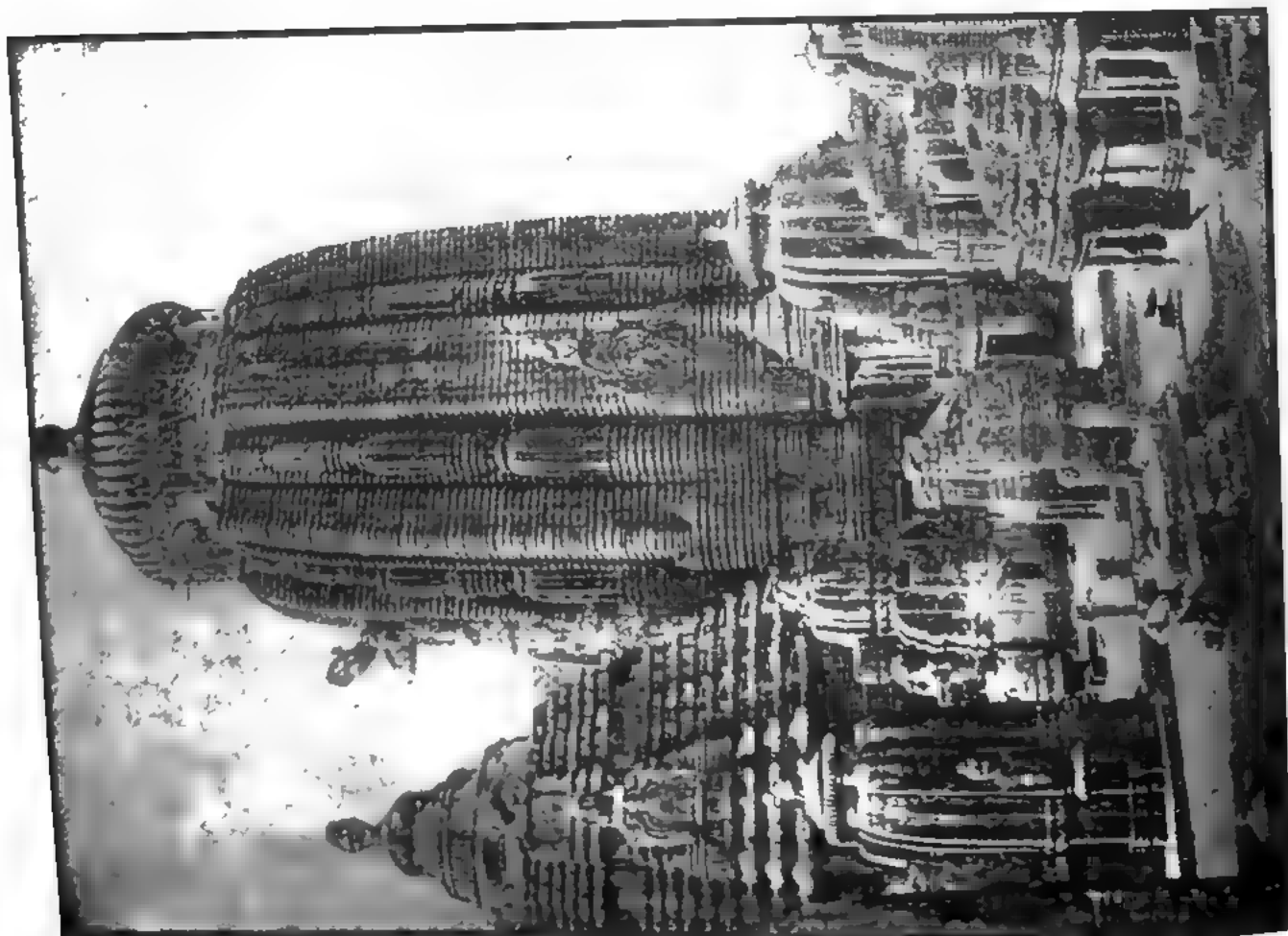
श्रीलिङ्गराजजीका मन्दिर—भुवनेश्वर [पृष्ठ ७५९
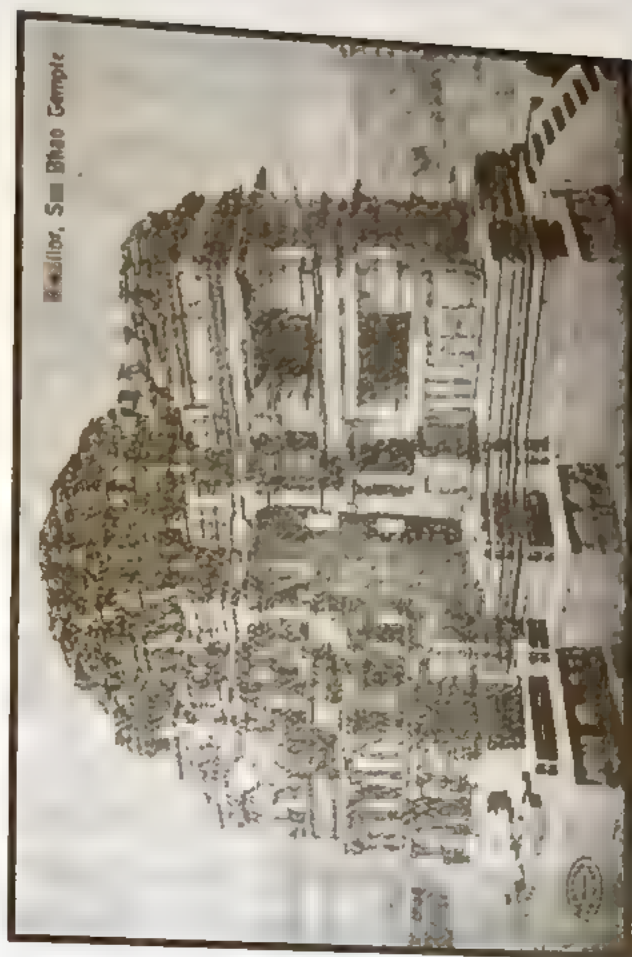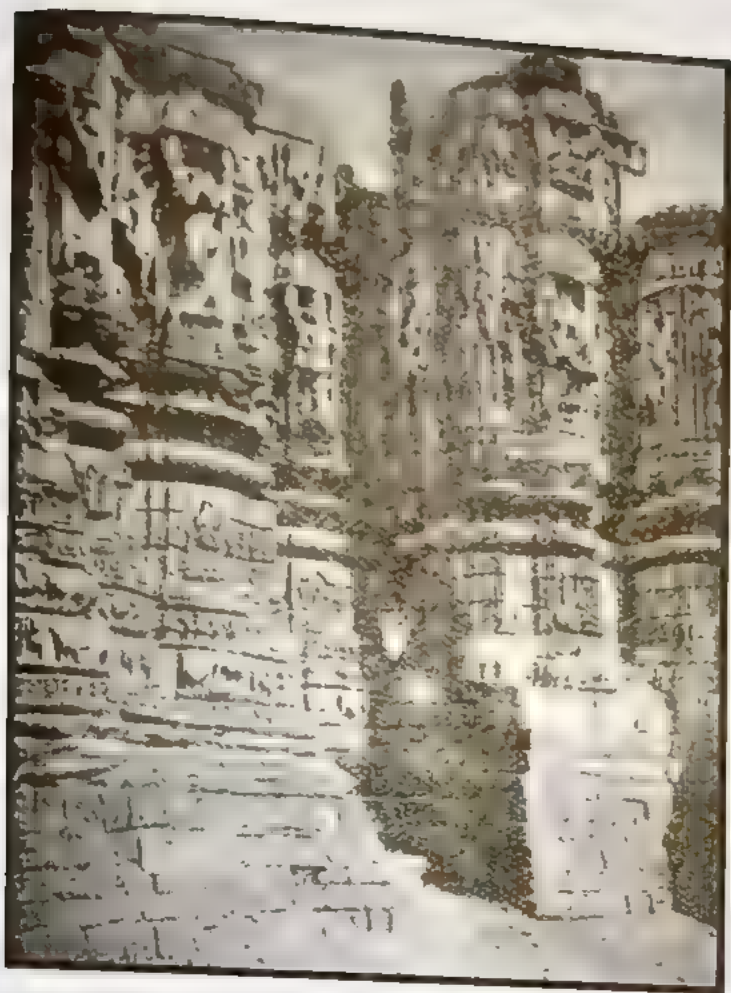
सोमनाथ-मन्दिर पाटनके दक्षिण भागकी कारीगरी
[पृष्ठ ७५८

सास-बहू (सहस्त्रबाहु) मन्दिर, ग्वालियर [पृष्ठ ७५९

सास-बहू (सहस्त्रबाहु) मन्दिरके गुंबजकी भीतरी कारीगरी, ग्वालियर [पृष्ठ ७५९

जाता है, किस व्रतकी कितनी अवधि होती है और किस व्रतका कैसा उद्यापन किया जाता है—ये सब बातें मेरे लिखे हुए 'व्रत-परिचय' में दी गयी हैं।

(३६) व्रतीको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि व्रत आरम्भ करनेके बाद यदि क्रोध, लोभ, मोह या[१] आलस्यवश उसे अधूरा छोड़ दे तो तीन दिनतक अन्नका त्याग करके फिर उस व्रतका यथापूर्व आरम्भ करे।

(३७) 'व्रतके समय' बार-बार[२] जल पीने, दिनमें सोने, ताम्बूल चबाने और स्त्रीसहयोग करनेसे व्रत बिगड़ जाता है। व्रतके दिनोंमें स्तेय (चोरी) आदिसे वर्जित रहकर क्षमा, दया[३], दान, शौच, इन्द्रियनिग्रह, देवपूजा, अग्निहोत्र और सन्तोषका आचरण करना उचित है।

(३८) जल, फल[४], मूल, दूध, हवि, ब्राह्मणकी इच्छा, ओषधि और गुरु (पूज्यजनों) के वचन--इन आठसे व्रत नहीं बिगड़ते। होमाविष्ट खीर, भिक्षाका अन्न, सत्तू (भुने हुए[५] जौका चूर्ण) कण (गौरैड़ या तृण-पुष्प), यावक (जौकी लपसी), साग (तोरौं, ककड़ी, मेथी आदि), गोदुग्ध, दधि, घृत, मूल, आम, नारंगी, अनार और कदली फल (केला) आदि खाने योग्य हैं।

(३९) व्रतमें गन्ध, पुष्प, माला, वस्त्र[६] और व्रतयोग्य अलंकारादि ग्राह्य हैं। व्रत, पूजा या हवनादिमें केवल एक वस्त्र (धोती आदि) पहनकर या बहुत वस्त्र (धोती, टोपी, कुर्ता, अँगरखी आदि) धारणकर मन्त्रादिका जप करना या होमादि करना उचित नहीं। व्रत करनेवाला पुरुष हो या सुवासिनी (स्त्री) हो, सम्पूर्ण व्रतोंमें लाल वस्त्र[७] और सुगन्धित सफेद पुष्प धारण करे।

४०. वर्णभेदसे ब्राह्मणोंके लिये सफेद[८], क्षत्रियोंके लिये मजीठके समान रंगके, वैश्योंके लिये पीले और शूद्रोंके लिये नीले अथवा बिना रंगके वस्त्र अनुकूल होते हैं। और धोती त्रिकच्छ[९] (जिसमें नीचेका पल्ला पृष्ठपर और आगेके पल्लेका ऊपरका हिस्सा नाभिके नीचे और नीचेका हिस्सा बाँयें पसवाड़ेमें लगाया जाता है) उत्तम मानी गयी है। इस प्रकार धोती बाँधनेवाले ब्राह्मण मुनि होते हैं। इसके अतिरिक्त ध्वजप्रयुक्त, ग्रन्थियुक्त और यवनोंके समान दोनों पल्ले खुली हुई धोती वर्जित है।

(४१) व्रत करनेवाले मोहवश बिना आचमन किये क्रिया करें, तो उनका व्रत वृथा होता है। नहाते, धोते[१०], खाते, पीते, सोते और छींक लेते समय और गलियोंमें घूमकर आनेके बाद, आचमन किया हुआ हो तो भी दुबारा आचमन करे। यदि जल न मिले तो दक्षिण कर्णका स्पर्श कर ले। आचमन लेते समय दाहिने हाथकी अँगुलियोंको मिलाकर सीधी करे और उनमेंसे कनिष्ठा तथा अँगूठेको अलग रखकर आचमन करे[११] अथवा दाहिने हाथके पेरुओंको बराबर[१२] करके हाथको गौके कान-जैसा बनाकर आचमन करे। (लोकव्यवहारमें आचमनादिके भूल जानेपर दाहिना कान छुआ करते हैं।)

(४२) अधोवायुके[१३] निकल जाने, आक्रन्द (रोने), क्रोध करने, बिल्ली और चूहेसे छू जाने, जोरसे हँसने और झूठ बोलनेपर जल स्पर्श करना आवश्यक होता

---

१. क्रोधात्प्रमादाल्लोभाद्वा व्रतभङ्गो भवेद्यदि। दिनत्रयं न भुञ्जीत....(गरुड़)। पुनरेव व्रतीभवेत्॥ (वायुपुराण)
२. असकृज्जलपानाच्च दिवास्वापाच्च मैथुनात्। उपवासः प्रणश्येत सकृत्ताम्बूलभक्षणात्॥ (विष्णु)
३. क्षमा सत्यं दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। देवपूजाग्निहवनं सन्तोषः स्तेयवर्जनम्॥
सर्वव्रतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्थितः॥ (भविष्य)
४. अष्टैतान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः। हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम्॥ (पद्मपुराण)
५. चरुभैक्ष्यसक्तुकणयावकशाकपयोदधिघृतमूलफलादीनि हविष्याणि।
६. गन्धालङ्कारवस्त्राणि पुष्पमालानुलेपनम्। (गौतम)
७. सर्वेषु तूपवासेषु पुमान् वाथ सुवासिनी। धारयेद्रक्तवस्त्राणि कुसुमानि सितानि च॥ (वृद्धशातातप)
८. ब्राह्मणस्य सितं वस्त्रं माञ्जिष्ठं नृपतेः स्मृतम्। पीतं वैश्यस्य शूद्रस्य नीलं बलवदिष्यते॥ (विष्णुधर्म)
९. वामकुक्षौ च नाभौ च पृष्ठे चैव यथाक्रमम्। त्रिकच्छेन समायुक्तो द्विजोऽसौ मुनिरुच्यते॥ (मनु)
१०. स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते भुक्त्वा रथ्योपसर्पणे। आचान्तः पुनराचामेद् वासो विपरिधाय च॥ (याज्ञवल्क्य)
११. संहताङ्गुलिना तोयं गृहीत्वा पाणिना द्विजः। मुक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठेन शेषेणाचमनं चरेत्॥ (याज्ञवल्क्य)
१२. आयतं पर्वणां कृत्वा गोकर्णाकृतिवत्करम्। एतेनैव विधानेन द्विजो ह्याचमनं चरेत्॥ (नागदेव)
१३. अधोवायुसमुत्सर्गे आक्रन्दे क्रोधसम्भवे। मार्जारमूषकस्पर्शे प्रहासेऽनृतभाषणे॥ (भारद्वाज)
निमित्तेष्वेषु सर्वेषु कर्म कुर्वन्नपः स्पृशेत्॥ (बृहस्पति)

है। उपवासमें और श्राद्धमें दातौन नहीं करना चाहिये। यदि अधिक आवश्यकता हो तो जलके बारह कुल्ले कर ले[१]। अथवा आमके पल्लव[२], जल या अँगुलीसे दाँतोंको साफ कर ले। व्रत करनेवालेको बैल[३], ऊँट और गदहेकी सवारी नहीं करनी चाहिये।

(४३) बहुत दिनोंमें समाप्त होनेवाले व्रत[४]का पहले संकल्प कर लिया हो तो उसमें जन्म और मरणका सूतक नहीं लगता। इसी प्रकार किसी कामना[५]के व्रतमें सूतक आ जाय, तो दान और पूजनके सिवा व्रतमें बाधा नहीं आती। कई व्रत ऐसे हैं, जिनमें दान, व्रत और पूजन—तीनों होते हैं। यथा गणेशचतुर्थी, अनन्तचतुर्दशी और अर्कसप्तमी आदिमें व्रतेश्वरकी पूजा, वायन आदिका दान और अभीष्टका व्रत तीनों हैं। ऐसे व्रतोंमें आशौच आनेपर व्रत करता रहे। दान और पूजा न करे। इसी प्रकार—

(४४) बड़े व्रतका प्रारम्भ करनेपर[६] स्त्री रजस्वला हो जाय, तो उससे भी व्रतमें कोई रुकावट नहीं होती। आशौचके माननेमें सपिण्ड, सकुल और सगोत्र—इन तीनोंका निश्चय आवश्यक होता है। तीन पीढ़ियोंतक सपिण्ड, दसतक सकुल और इससे आगे सगोत्र माने जाते हैं। इनमें सामान्यरूपसे सपिण्डमें दस दिन, सकुलमें तीन दिन और सगोत्रमें १ दिन अथवा स्नानमात्र सूतक रहता है। लंबे व्रतोंमें इससे बाधा नहीं होती।

(४५) व्रतमें तथा तीर्थयात्रामें, अध्ययनमें[७] तथा विशेषकर श्राद्धमें दूसरेका अन्न लेनेसे, जिसका अन्न होता है, उसीको उसका पुण्य प्राप्त होता है। आपत्ति अथवा असामर्थ्यवश यात्रा और व्रतादि धर्मकार्य अपनेसे न हो सकें तो पति, पत्नी[८], ज्येष्ठ पुत्र, पुरोहित, भाई या मित्रको प्रतिहस्तक (प्रतिनिधि या एवजी) बनाकर उनसे कराये। उपर्युक्त प्रतिनिधि प्राप्त न हो तो वह काम ब्राह्मणसे हो सकता है।

(४६) प्रातः, सायं (सन्ध्या[९]) और सन्धियोंमें; जप, भोजन और दातौनमें; मूत्र और पुरीषके त्यागमें; पितृकार्य तथा देवकार्यमें और दान, योग तथा गुरुके समीपमें मौन रहनेसे मनुष्यको स्वर्ग मिलता है। '**मौनं सर्वार्थ साधकम्**।' दान, होम, आचमन, देवार्चन, भोजन, स्वाध्याय और पितृतर्पण—ये 'प्रौढ़पाद[१०] (उकड़ू)बैठकर न करे।

(४७) प्रौढ़पाद तीन प्रकारका[११] होता है। एक यह कि पैरोंके तलवे आसनपर रखकर दोनों घुटने मिलाके पींडियोंको जाँघोंसे लगाकर बैठे। दूसरा—दोनों घुटने आसनपर लगाकर एड़ियोंपर आरूढ़ हो और तीसरा यह कि दोनों टाँगे सीधी फैलाकर जाँघें आसनपर लगाये। ये तीनों ही निषिद्ध हैं।

(४८) कन्या, शय्या[१२] (सुखशय्या), मकान, गौ और स्त्री—ये एकको ही देने चाहिये। बहुतोंको देनेपर हिस्सा होनेसे पाप लगता है। व्रती रहकर प्राणरक्षाके अर्थसे जल पीये। फल, मूल, दूध, जौ, यज्ञशिष्ट तथा हवि खाय; रोग-पीड़ामें वैद्यकी बतलायी हुई शुद्ध औषध ले और ब्राह्मणकी अभिलाषा सिद्ध करे तथा गुरुकी आज्ञाको माने तो इन कामोंसे व्रत भंग नहीं होता।

(४९) दीर्घ या अदीर्घ—सभी व्रतोंकी पारणासे पूर्ति और उद्यापनसे समाप्ति जाननी चाहिये।

(५०) पारणाका निर्णय और उद्यापनका विधान 'व्रत-परिचय' में प्रत्येक व्रतके साथ लिखा गया है। इनके सिवा विशेष बातें पुराणों, धर्मशास्त्रों और

---

१. उपवासे तथा श्राद्धे न खादेद्दन्तधावनम्। (स्मृत्यन्तर)
अलाभे दन्तकाष्ठानां निशिद्धायां तिथौ तथा। अपां द्वादशगण्डूषैर्विदध्याद्दन्तधावनम्॥ (व्यास)
२. पर्णोदकेनाङ्गुल्या वा दन्तान्धावयेत्। (स्मृत्यर्थसार)
३. गोयानमुष्ट्रयानं च कथंचिदपि नाचरेत्। खरयानं च सततं व्रते चाप्युपसङ्करम्॥ (स्मृत्यन्तर)
४. बहुकालिकसङ्कल्पो गृहीतश्च पुरा यदि। सूतके मृतके चैव व्रतं तन्नैव दुष्यति॥ (शुद्धितत्त्व—विष्णु)
५. काम्योपवासे प्रक्रान्ते त्वन्तरा मृतसूतके। तत्र काम्यव्रतं कुर्याद्दानार्चनविवर्जितम्॥ (कूर्मपुराण)
६. प्रारब्धदीर्घतपसां नारीणां यद्रजो भवेत्। न तत्रापि व्रतस्य स्यादुपरोधः कदाचन॥ (सत्यव्रत)
७. व्रते च तीर्थेऽध्ययने श्राद्धेऽपि च विशेषतः। परान्नभोजनाद्देवि यस्यान्नं तस्य तत्फलम्॥ (टोडरानन्द)
८. भर्ता पुत्रः पुरोधाश्च भ्राता पत्नी सखापि च। यात्रायां धर्मकार्येषु कर्तव्याः प्रतिहस्तकाः॥ (मदनरत्न)
९. सन्ध्ययोरुभयोर्जापे भोजने दन्तधावने। पितृकार्ये च दैवे च तथा मूत्रपुरीषयोः॥
गुरूणां सन्निधौ दाने योगे चैव विशेषतः। एषु मौनं समातिष्ठन् स्वर्गं प्राप्नोति मानवः॥ (अंगिरा)
१०. दानमाचमनं होमं भोजनं देवतार्चनम्। प्रौढपादो न कुर्वीत स्वाध्यायं पितृतर्पणम्॥ (शाट्यायन)
११. आसनारूढपादस्तु जान्वोर्वा जङ्घयोस्तथा। कृतावसिक्थको यश्च प्रौष्ठपादः स उच्यते॥ (शाट्यायन)
१२. कन्या शय्या गृहं चैव देयं यद्गोस्त्रियादिकम्। तदेकस्मै प्रदातव्यं न बहुभ्यः कथञ्चन॥ (कात्यायन)

व्रतविषयके स्वतन्त्र ग्रन्थोंसे जाननी चाहिये। यहाँ कुछ ऐसे व्रतोंका विवरण देना प्रासंगिक प्रतीत होता है, जो उदाहरणस्वरूप या आदर्श हैं।

पाँच महाव्रत

(१) संवत्सर—यह संवत् विक्रमके नामसे प्रसिद्ध है; इसका आरम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे होता है। संसारके सम्पूर्ण संवतोंकी अपेक्षा इसका महत्त्व अधिक है। ब्रह्माजीने सृष्टिके उत्पादनका आरम्भ इसी दिन किया था। इस कारण चैत्र[१] मास, शुक्लपक्ष और प्रतिपदा तिथि सर्वोत्कृष्ट[२] होनेसे संवत्सरका आरम्भ इसी दिन होता है।

इसके व्रतादिमें उदयव्यापिनी[३] प्रतिपदा ली जाती है। यदि वह दो दिन हो तो पूर्वदिन और दोनों दिन न हो तो भी पूर्व दिन लेना चाहिये। इसमें अमाविद्धा होनेका दोष नहीं—यदि यह सायाह्नव्यापिनी हो तो 'सम्मुखी[४]' होनेसे अधिक श्रेष्ठ होती है और पूर्वविद्धा तो सर्वमान्य है ही।

इस दिन सूर्योदयके समय जो वार[५] हो, वही वर्षका राजा होता है। संवत्सरके पूजनमें सर्वप्रथम 'ब्रह्माजीका पूजन' करना चाहिये। उसकी विधि यह है कि वस्त्राच्छादित वेदी या चौकीपर अक्षतोंका अष्टदल बनाये। उसपर यथाविधि कलशस्थापन करके गणपतिपूजनपूर्वक ब्रह्माजीका षोडशोपचार पूजन करे यथा—

ॐ ब्रह्मणे नमः ब्रह्माणमावाहयामि स्थापयामि, आसनार्थे अक्षतानि समर्पयामि, पादयोः पाद्यम्, अर्घ्यम्, आचमनीयम्, स्नानम्, वस्त्रम्, यज्ञोपवीतम्, गन्धम्, अक्षतम्, पुष्पम्, धूपम्, दीपम्, नैवेद्यम्, आचमनीयम्, ताम्बूलम्, नीराजनम्, नमस्कारम्, पुष्पाञ्जलिम्, प्रार्थनां समर्पयामि।

इस प्रकार पूजन करनेके अनन्तर—

कालाय, निमेषाय, त्रुट्यै, लवाय, क्षणाय, काष्ठायै, कलायै, सुषुम्णायै, नाडिकायै, मुहूर्ताय, निशाभ्यः, पुण्यदिवसेभ्यः, पक्षाभ्याम्, मासेभ्यः, षड्ऋतुभ्यः, अयनाभ्याम्, संवत्सरपरिवत्सरे-डावत्सरानुवत्सरवत्सरेभ्यः, कृतयुगादिभ्यः, नवग्रहेभ्यः, अष्टाविंशतियोगेभ्यः, द्वादशराशिभ्यः, करणेभ्यः व्यतीपातेभ्यः, प्रतिवर्षाधिपेभ्यः, विज्ञानेभ्यः, सानुयात्रकुलनागेभ्यः, चतुर्दशमनुभ्यः, पञ्चपुरन्दरेभ्यः, दक्षकन्याभ्यः, देव्यै सुभद्रायै, जयायै, भृगुशास्त्राय सर्वास्त्रजनकाय बहुपुत्रपत्नीसहिताय, वृद्ध्यै, निद्रायै, धनदाय, गुह्यकस्वामिने, नलकूबरयक्षेभ्यः, शंखपद्मनिधीभ्याम्, भद्रकाल्यै, सुरभ्यै, वेदवेदान्तवेदाङ्गविद्यासंस्थायिभ्यः, नागयक्षसुपर्णेभ्यः, गरुडाय, अरुणाय, सप्तद्वीपेभ्यः, सप्तसमुद्रेभ्यः, सागरेभ्यः, उत्तरकुरुभ्यः, ऐरावताय, भद्राश्वकेतुमालाय, इलावृताय, हरिवर्षाय, किंपुरुषेभ्यः, भारताय, नवखण्डेभ्यः, सप्तपातालेभ्यः, सप्तनरकेभ्यः, कालाग्निरुद्रशेषेभ्यः, हरये क्रोडरूपिणे, सप्तलोकेभ्यः, पञ्चमहाभूतेभ्यः, तमसे, तमःप्रकृत्यै, रजसे, रजःप्रकृत्यै, प्रकृतये, पुरुषाय, अभिमानाय, अव्यक्तमूर्तये, हिमप्रमुखपर्वतेभ्यः, पुराणेभ्यः, गङ्गादिसप्तनदीभ्यः, सप्तमुनिभ्यः, पुष्करादितीर्थेभ्यः, वितस्तादिनिम्नगाभ्यः, चतुर्दशदीर्घाभ्यः, धारिणीभ्यः, धातृभ्यः, विधातृभ्यः, छन्दोभ्यः, सुरभ्यै, रावणाभ्याम्, उच्चैःश्रवसे, ध्रुवाय, धन्वन्तरये, शस्त्रास्त्राभ्याम्, विनायककुमाराभ्याम्, विघ्नेभ्यः, शाखाय, विशाखाय, नैगमेयाय, स्कन्दगृहेभ्यः, स्कन्दमातृभ्यः, ज्वराय, रोगपतये, भस्मप्रहरणाय, ऋत्विग्भ्यः, वालखिल्याय, काश्यपाय, अगस्तये, नारदाय, व्यासादिभ्यः, अप्सरोभ्यः, सोमपदेवेभ्यः, असोमपदेवेभ्यः, तुषितेभ्यः, द्वादशादित्येभ्यः, सगणैकादशरुद्रेभ्यः, दशपुण्येभ्यः, विश्वेदेवेभ्यः, अष्टवसुभ्यः, योगिभ्यः, द्वादशभृगुभ्यः, द्वादशाङ्गिरोभ्यः, तपस्विभ्यः, नासत्यदस्राभ्याम्, अश्विभ्याम्, द्वादशसाध्येभ्यः, द्वादशपौराणेभ्यः, एकोन-पञ्चाशद्मरुद्गणेभ्यः,शिलाचार्याय, विश्वकर्मणे, सायुधसवाहनेभ्योऽष्टलोकपालेभ्यः, आयुधेभ्यः, वाहनेभ्यः, वर्मभ्यः, आसनेभ्यः, दुन्दुभिभ्यत्रः, देवेभ्यः, दैत्यराक्षसगन्धर्वपिशाचेभ्यः, सप्तभेदेभ्यः, पितृभ्यः प्रेतेभ्यः, सुसूक्ष्मदेवेभ्यः, भावगम्येभ्यः,

---

१. चैत्रे मासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि। (ब्रह्मपुराण)
२. तिथीनां प्रवरा यस्माद् ब्रह्मणा समुदाहृता। प्रतिपद्यापदे पूर्वे प्रतिपत्तेन सोच्यते॥ (भविष्योत्तर)
३. उदयद्वितये पूर्वो नादेययुगलेऽपि पूर्वः स्यात्। (ज्योतिर्निबन्ध)
४. प्रतिपत्सम्मुखी कार्या या भवेदापराह्णिकी। (स्कन्द०)
५. चैत्रे सितप्रतिपदि वारोऽर्कोदये स वर्षेशः।

और

बहुरूपाय विष्णवे परमात्मने नमः परमात्म-विष्णुमावाहयामि स्थापयामि—

इस प्रकार स्थापन करके उपर्युक्त विधिसे पूजन करे और नीराजनके अनन्तर—

भगवंस्त्वत्प्रसादेन वर्षं क्षेममिहास्तु मे।
संवत्सरोपसर्गा मे विलयं यान्त्वशेषतः॥

—इस मन्त्रसे प्रार्थना करे।

पूजनके पश्चात् नवीन पंचांग[1] श्रवण करके निवासस्थानोंको ध्वज[2]-पताकादिसे सुशोभित करके 'ध्वजारोपण' कर द्वारदेश तथा देवीपूजनके स्थानमें घटस्थापन करे। साथ ही 'पारिभद्र[3]' (नीम) की कच्ची कोपलोंमें जीरा, हींग, सैंधव, अजमोद और कालीमिर्च मिलाकर भक्षण करे और ब्राह्मणोंको उत्तम पदार्थोंका भोजन कराके स्वयं एकभक्त भोजन करे।

(२) **रामनवमी**—यह व्रत चैत्र शुक्ल नवमीको किया जाता है। इसमें मध्याह्नव्यापिनी शुद्धा तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन मध्याह्नव्यापिनी हो या दोनों दिनोंमें ही न हो तो पहला व्रत करना चाहिये। इसमें अष्टमी[4]का वेध ग्राह्य और दशमीका त्याज्य है। यह व्रत[5] नित्य, नैमित्तिक और काम्य—तीन प्रकारका है। इसको निष्कामभावसे भक्ति और विश्वासके साथ आजन्म किया जाय तो अनन्त फल होता है। व्रतविधि यह है—

व्रतके पहले दिन (चैत्र शुक्ल अष्टमीको) प्रातः स्नानादि करनेके पश्चात् भगवान् श्रीरामचन्द्रका स्मरण करे। दूसरे दिन (चैत्र शुक्ल नवमीको) नित्यकृत्य करनेके बाद—

उपोष्य नवमीं त्वद्य यामेष्वष्टसु राघव।
तेन प्रीतो भव त्वं भोः संसारात्त्राहि मां हरे॥

—इस मन्त्रसे भगवान्‌के प्रति व्रतकी भावना प्रकट करे। तत्पश्चात् मन्दिर या अपने मकानमें पूर्वाभिमुख बैठकर '**मम भगवत्प्रीतिकामनया** (**वा अमुककामनया**) **रामजयन्तीव्रतमहं करिष्ये**' से संकल्प करके काम-क्रोधादिसे रहित होकर व्रत करे।

साथ ही ध्वजा-पताका आदिसे सुशोभित हुए मण्डपके मध्यमें सर्वतोभद्रकी वेदीपर 'रामपंचायतन'—राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और हनुमान्‌जीकी मूर्ति स्थापन करके षोडशोपचार पूजन करे और दिन-रात्रिमें भगवान्‌का स्तोत्रपाठ, जप, भजन या संकीर्तनादिसे स्मरण करता रहे। और दशमीको पारणा करे। यदि सामर्थ्य हो तो सुवर्णमयी मूर्तिका दान करे और ब्राह्मण-भोजन कराये।

(३) **कृष्णजन्माष्टमी**—यह भाद्रपद कृष्ण अष्टमीको होता है। जिस प्रकार रामनवमीमें चैत्र, शुक्ल नवमी, मेषका सूर्य, पुष्य (पुनर्वसु) नक्षत्र और मध्याह्नका योग ग्राह्य माना गया है, उसी प्रकार इसमें भाद्रपद, कृष्णाष्टमी, सिंहका सूर्य, बुधवार, रोहिणी नक्षत्र और अर्धरात्रि ग्रहण की जाती है। इसके शुद्धा, विद्धा दो रूप हैं। उदयसे उदयपर्यन्त शुद्धा और इसके अन्तर्गत सप्तमी या नवमी होनेसे विद्धा होती है। इसमें भी समा, न्यूना और अधिकाके तीन भेद होनेसे अठारह भेद हो जाते हैं; परंतु सिद्धान्तरूपसे तत्काल (अर्धरात्रि) व्यापिनी अधिक मान्य होती है। वह दो दिन हो या दोनों ही दिन न हो तो भी (सप्तमीविद्धा त्यागकर) नवमीविद्धा व्रत करना चाहिये। यह व्रत स्त्री, पुरुष, युवा-वृद्ध—सबके करनेका है; न करनेसे पाप होता है। विधान यह है—

व्रतके पहले दिन लघु भोजन करके जितेन्द्रिय रहे और अष्टमीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् सूर्य, सोम, यम, काल, सन्धि, भूत, पवन, दिक्पति, भूमि, आकाश, खेचर—अमर और ब्रह्म आदिको नमस्कार करके व्रतका संकल्प करे और शुद्ध स्थानमें सूतिकागृह निर्माण करके अर्धरात्रिमें भगवान्‌के प्रकट होनेकी भावना कर, श्रीकृष्णमूर्तिका भक्तिपूर्वक षोडशोपचार पूजन करे। पूजनमें देवकी, वसुदेव, वासुदेव, बलदेव, नन्द, यशोदा और लक्ष्मीका यथाक्रम नामोच्चारण-पूर्वक पूजन करना चाहिये। अन्तमें—

प्रणमे देवजननीं त्वया जातस्तु वामनः।
वसुदेवात्तथा कृष्णो नमस्तुभ्यं नमो नमः॥

---

१. शकवत्सरभूपमन्त्रिणां रसधान्येश्वरमेघपातिनाम्। श्रवणात्पठनाच्च वै नृणां शुभतां यात्यशुभं सहाश्रिया॥ (ज्योतिर्निबन्ध)

२. प्राप्ते नूतनवत्सरे प्रतिगृहं कुर्याद् ध्वजारोपणं स्नानं मङ्गलमाचरेद् द्विजवरैः साकं सुपूजोत्सवैः।
देवानां गुरुयोषितां च विभवालङ्कारवस्त्रादिभिः सम्पूज्यो गणकः फलं च शृणुयात्तस्माच्च लाभप्रदम्॥ (उत्सवचन्द्रिका)

३. पारिभद्रस्य पत्राणि कोमलानि विशेषतः। सपुष्पाणि समादाय चूर्णं कृत्वा विधानतः॥
मरिचं लवणं हिङ्गु जीरकेण च संयुतम्। अजमोदायुतं कृत्वा भक्षयेद्रोगशान्तये॥ (पं० पारिजात)

४. अष्टम्या नवमी विद्धा कर्तव्या फलकाङ्क्षिभिः। न कुर्यान्नवमीं तात दशम्या तु कदाचन॥ (दीक्षित)

५. नित्यं नैमित्तिकं काम्यं व्रतं चेति विचार्यते। निष्कामानां विधानात्तु तत्काम्यं तावदिष्यते॥ (रामार्चन)

सपुत्रार्घ्यं प्रदत्तं मे गृहाणेमं नमोऽस्तु ते।

—से देवकीको अर्घ्य दे और—

धर्माय धर्मेश्वराय धर्मपतये धर्मसम्भवाय गोविन्दाय नमो नमः।

—से श्रीकृष्णको 'पुष्पांजलि' अर्पण करे। तदनन्तर चन्द्रमाको अर्घ्य देकर गायन, वादन, संकीर्तनादिके द्वारा रात्रिमें जागरण करके दूसरे दिन व्रतका विसर्जन करे।

(४) **शिवरात्रि**—यह व्रत फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीको किया जाता है। इसको प्रतिवर्ष करनेसे यह 'नित्य' और कामनासे करनेसे 'काम्य' होता है। फा० कृ० १४ को अर्ध-रात्रिके समय—

शिवलिङ्गतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः।

—शिवलिंगका प्रादुर्भाव हुआ था। इस कारण यह शिवरात्रि मानी जाती है। और इस व्रतको वर्ण और वर्णेतर सब कर सकते हैं। यदि न करें तो पाप होता है। जिस प्रकार राम, कृष्ण, वामन और नृसिंह—चारों जयन्ती और एकादशी उपोष्य हैं, उसी प्रकार शिवरात्रि उपोष्य है। और इसका तिथ्यादि-निर्णय भी उसी प्रकार किया जाता है। सिद्धान्तरूपमें सूर्योदयसे सूर्योदयपर्यन्त रहनेवाली चतुर्दशी शुद्धा और अन्य विद्धा होती है। उसमें भी प्रदोष और निशीथ (अर्धरात्रि)-व्यापिनी ग्राह्य होती है। स्कन्दपुराणमें फा० कृ० चतुर्दशीको अर्धरात्रिके समय शिवपूजन करनेका महाफल लिखा है। यदि यह (शिवरात्रि) त्रिस्पृशा (१३-१४-३० के स्पर्शकी) हो तो अधिक उत्तम होती है। इसमें भी सूर्य या भौमवारका योग विशेष अच्छा है। व्रतीको चाहिये कि व्रतके दिन प्रातःस्नानादिके पीछे दिनभर शिवस्मरण करे और सायंकालमें फिर स्नान करके भस्मका त्रिपुण्ड्रतिलक और रुद्राक्षकी माला धारण करके गन्ध-पुष्पादि सभी प्रकारकी पूजन-सामग्रीसहित शिवके समीपमें पूर्व या उत्तरमुख बैठकर शिवजीका यथाविधि पूजन करे और नीराजन करके अर्धप्रदक्षिणा तथा प्रार्थना करे। अन्तमें—

मया कृतान्यनेकानि पापानि हर शंकर।
शिवरात्रौ ददाम्यर्घ्यमुमाकान्त गृहाण मे॥

—से अर्घ्य देकर—

संसारक्लेशदग्धस्य व्रतेनानेन शंकर।
प्रसीद सुमुखो नाथ ज्ञानदृष्टिप्रदो भव॥

—से प्रार्थना करे। इस प्रकार चारों प्रहरका पूजन किया जाय तो अधिक फल होता है।

(५) **दशावतार**—यह व्रत भाद्रपद शुक्ल दशमीको किया जाता है। एतन्निमित्त समीपके स्वच्छ-जलपूर्ण जलाशयपर जाकर स्नानादि करनेके अनन्तर देव, ऋषि, और पितरोंका तर्पण करे। और घृत-शर्करामिश्रित गोधूमचूर्णके तीस अपूप—पूए बनाये। और १ मत्स्य, २ कूर्म, ३ वराह, ४ नरसिंह, ५ त्रिविक्रम, ६ राम, ७ कृष्ण, ८ परशुराम, ९ बुद्ध और १० कल्कि—इन दस अवतारोंका यथाविधि पूजन करके नैवेद्यमें अपूप अर्पण करे। और उनमेंसे दस देवताओंके, दस ब्राह्मणके और दस अपने रखकर एकभक्त भोजन करे। इस प्रकार दस वर्ष करनेके पश्चात् अपूप, घेवर, कसार, मोदक, सुहाली, सकरपारे, डोवठे, गुणा, कोकर और पुष्पकर्ण—इन दस पदार्थोंमेंसे प्रतिवर्ष एक-एक पदार्थ—दस-दसकी संख्यामें देव-ब्राह्मणादिके अर्पण करे। इस प्रकार प्रीतिपूर्वक करनेसे विष्णुलोक प्राप्त होता है।

व्रत, पर्व और त्यौहारपर कुछ विचार

(१) सूक्ष्म दृष्टिसे विचारकर देखा जाय तो उपर्युक्त तीनों विषय त्रिगुणात्म और परस्पर ओत-प्रोत—मिश्रित हैं। विशेषता यह है कि प्रत्येकमें एक-एक गुण प्रधान और दो-दो आंशिक रूपसे मिश्रित हैं। तथा—'व्रत' में सात्त्विक प्रधान और रज-तम अंशतः मिश्रित है। 'पर्व' में राजस प्रधान और सत्त्व-तम अंशतः मिश्रित हैं। और त्यौहारमें तम प्रधान और रज-सत्त्व अंशतः मिश्रित हैं। किस प्रकार हैं, यह इनका स्वरूपज्ञान होनेसे ज्ञात हो सकता है। उदाहरणार्थ—

(२) किसी देव, देवी या पंचदेवका व्रत कीजिये। उसमें 'सात्त्विक' गुण प्रधान होनेसे आपका मन सांसारिक कामोंसे विरक्त होकर व्रतसम्बन्धी नियमोपनियमोंका पालन करनेमें संलग्न हो जायगा। साथ ही शाकाहारादि सामग्रीके संग्रह करनेमें 'राजस' और आरम्भसे समाप्तिपर्यन्तकी व्यवस्था या विधानमें लोम-विलोम होनेसे 'तामस' मिल जायगा। इसी प्रकार—

(३) पर्वोत्सव मनानेमें उसके उपयोगी शोभा-सामग्री, गायन-वादन, सुप्रकाश, पूजासामग्री और प्रसाद-वितरणादिमें सर्वप्रथम 'राजस' प्रधान होगा। उसीके साथ ही उत्सवकार्यमें सम्मति, सहायता या सहयोग देनेवालोंके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने आदिमें 'सात्त्विक' अंश आगे आयगा और कदाचित् वस्तु-विधान या दान-मानादिमें त्रुटि हुई तो 'तामस' का मिश्रण होगा। और—

(४) होली, दिवाली, या दशहरा-जैसे 'तामस'

प्रधान त्यौहारोंमें हँसी-दिल्लगी, धूल उछालना आदि; द्यूत-क्रीड़ा या हिंसा-वृत्ति देखनेसे 'तामस' का प्राधान्य प्रतीत होगा। साथ ही उस अवसरके उपयोगी वेश-भूषा, बर्ताव-व्यवहार और भेंट-पूजा-पुरस्कार आदिमें 'राजस' संयुक्त रहेगा और अन्तमें सांगोपांग सम्पन्न होनेमें 'सात्त्विक' का अंश स्वतः आ जायगा। इस प्रकार—

(५) उपर्युक्त तीनों विषयोंके सम्पन्न करनेमें तीनों गुणोंका प्रभाव प्रधान रूपमें या आंशिक रूपमें अवश्य प्रस्तुत होगा। अस्तु, व्रत, पर्व और त्यौहारोंसे केवल हिंदुओंका ही नहीं—वर्णेतरोंका और द्वीपान्तर-निवासियोंतकका महान् उपकार होता है। हमारे त्रिकालदर्शी महर्षियोंने व्रत करनेमें संसारहितके अनेक गुण गुम्फित देखकर इनका यथाविधि व्यापक प्रचार किया था।

(६) किस कामनाके निमित्तसे किस देव-देवी या पंचदेवका कौन-सा व्रत-उपवास या उपासना फलदायी होगी और उसका मानव-शरीरपर किस प्रकारका कैसा प्रभाव किस मात्रामें पड़ेगा—ये सब बातें अपनी दिव्य दृष्टिसे और अनेक बारके अनुभवसे निश्चय करके उनको विधिबद्ध नियत किया गया था। अतएव व्रत, पर्व और त्यौहार—ये तीनों ही त्रिगुणात्मक सृष्टिके लिये हितकारी हैं। और इन तीनोंके होते रहनेसे संसारका बड़ा भारी उपकार होता है।

(७) यद्यपि आयोजनकी दृष्टिसे व्रत स्वल्पतम या सरलसाध्य है और व्रतकी अपेक्षा पर्व तथा पर्वकी अपेक्षा त्यौहार अधिकाधिक भव्य आयोजनोंसे सम्पन्न होनेवाले हैं, तथापि महत्त्वकी दृष्टिसे व्रतमें उक्त दोनों (पर्व और त्यौहारों)-की अपेक्षा अनेक प्रकारके हितकारी तत्त्व अधिक हैं। और उनकी सांगोपांग सम्पन्नता भी व्रतसे ही पूर्ण होती है।

(८) व्रत देखनेमें सामान्य साधन प्रतीत होता है। मध्याह्नमें एक बार भोजन करनेसे 'एकभक्त', किसी एक ही पदार्थका एक बार परिमित भोजन करनेसे 'एकभुक्त' 'सायंकालमें भोजन करनेसे 'प्रदोष', रात्रिमें भोजन करनेसे 'नक्तव्रत' और अहोरात्र निराहार या अल्पमात्रामें सूखा मेवा, फल अथवा शाकाहार करनेसे उपवास हो जाता है। इसमें किसी प्रकारकी कठिनाई या दुःसाध्यपना नहीं आता; परंतु इस लघुतम और सरलसाध्य व्रतसे मनुष्योंके मन, चित्त, मस्तिष्क अथवा अस्थि, मज्जा, मांस और रक्तपर किस प्रकारका गुणकारी प्रभाव पड़ता है—इस बातका विचार किया जाय तो व्रतके बड़े भाई पर्व और त्यौहार अनेक अंशोंमें छोटे हो जाते हैं।

(९) व्रत एक प्रकारका सरल-साध्य 'तप' है। इससे सावयव शरीरकी बाह्य और आन्तरीय शुद्धि होती है। संतप्त आत्माको शान्ति मिलती है। मन-मधुप ईश्वरके स्मरणमें संलग्न होता है। आचार-विचार या सदाचारकी वृद्धि होती है। छोटे-बड़े या सब प्रकारके महापाप दूर होते हैं। अरुचि, अजीर्ण, उदरशूल, वातव्याधि, क्षतक्षय या मन्दाग्नि-जैसे घातक रोग निर्मूल होते हैं। व्रतारम्भके पहले ही मनुष्यके हृदयमें सात्त्विक भावका साम्राज्य हो जाता है। और व्रतके परायण हुए पीछे शक्ति घटती नहीं, बढ़ती है। बुद्धि विकसित होती है और मस्तिष्ककी स्फुरण-शक्ति बलवती होती है।

(१०) व्रतके दिन कई दिनोंके रुके हुए कार्य पूर्ण करनेमें मन लगता है। और बहुत-सी जटिल समस्याएँ उस दिन सुलझ जाती हैं। अधिक क्या, यदि शास्त्रीय विधानके साथ व्रत किया जाय तो व्रतसे मनुष्य ऋणमुक्त होता है। सुत-दारा और सम्पत्तिका सुख प्राप्त करता है। अज्ञात देशमें गया हुआ आत्मीय वापस आ मिलता है और देव-दानव या मनुष्य प्रसन्न होते हैं।

(११) व्रत अनेक हैं, और उनके करनेके साधन-विधान या व्यवस्था भी सबकी पृथक्-पृथक् है। अतः व्रत मनुष्यमात्रके अनायास उद्धारके लिये एक सुगम साधन है। और तो क्या, तल्लीन होकर व्रत करनेसे मनुष्यका मन ईश्वरके चरणोंमें संलग्न होता है और ऐसा होनेसे इस लोकमें सुख तथा परलोकमें स्वर्गकी प्राप्ति होती है एवं निष्काम भावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ व्रताचरण करनेपर मोक्ष या भगवच्चरणोंमें अहैतुक प्रेमकी प्राप्ति होती है।

पर्व

(१२) 'पर्व' व्रतका बड़ा भाई है। व्रती व्रतको स्वाधीनरूपमें अकेला या जनसमुदायके साथ कर सकता है; परंतु पर्वमें यदा-कदा अगणित मनुष्य हो जाने और तीर्थ-स्थानादिमें जाने आदि कारणोंसे उसका स्वरूप भव्य और व्यापक बन जाता है। और साथ ही पराधीनताका पटाक्षेप हो जाता (परदा पड़ जाता) है।

(१३) संवत्सर, ग्रहणपर्व, संक्रमण, सोमवती, कार्तिकी या तीर्थस्नान-जैसे अवसरोंमें अपने देश, ग्राम, नगर या देहातसे शत-सहस्रायुत-लक्ष ही नहीं, आबाल-वृद्धपर्यन्त अगणित नर-नारी संवतारम्भपर राजद्वारमें,

रामजन्मपर सरयूमें श्रीअयोध्या या ग्रहणपर कुरुक्षेत्रमें, श्रीकृष्णजन्मपर मथुरा वृन्दावनमें या यमुनाजीपर; गंगादशमीपर हरिद्वार, सोरों, गढ़मुक्तेश्वर, काशी, प्रयाग, और गंगासागरमें; सिंहस्थपर क्षिप्रामें, आश्विन-चैत्र गयामें, मकरार्कपर प्रयागमें, भानु-सप्तमीपर कोणार्कमें और सोमवती आदिपर गणेश्वरमें जाते हैं और यथाशक्ति स्नान, दान, पूजापाठ, दर्शन, हवन और ब्राह्मण-भोजनादि करते हैं।

(१४) चैत्रशुक्ल प्रतिपदाको ब्रह्माजीने सृष्टिका आरम्भ किया था और यही संवत्सरके आरम्भका दिन है। अतः इस दिन संवत्सरके साथमें सर्वप्रथम ब्रह्माजीका और तदनन्तर अन्य देव, दानव, ग्रह, नक्षत्र, ऋषि, महर्षि, पंचदेव, पंचमहाभूत, दशदिक्पाल, सुख-दुःख, रोग-दोष और उनके प्रशामक औषधोपचारादिका पूजन किया जाता है और प्रवर्तमान वर्ष सबके लिये सुख-शान्तिदायी होनेकी प्रार्थना की जाती है।

(१५) इसके अतिरिक्त 'जयन्ती-चतुष्टय' (राम, कृष्ण, वामन, नरसिंहकी) है। और सीतानवमी, राधाष्टमी तथा अक्षयतृतीया-जैसे आराध्य देव-देवियोंके जन्मोत्सवादिपर लोग मन्दिरों या अपने निवासस्थानोंमें पर्वोत्सव मनाते, मन्दिर जाते, भगवान्का पूजन करते, भेंट चढ़ाते और प्रसाद लेते हैं और नतमस्तक होकर प्रणाम करते हैं।

(१६) इस प्रकारके पर्वोत्सवोंसे केवल स्थानीय जनताको ही नहीं, देश-देशान्तरके अगणित मनुष्योंको अनेक प्रकारका लाभ होता है। अनेक देशोंके व्यापार-व्यवहार, खान-पान, पहिराव, बोली, विद्या, बर्ताव, कला-कौशल, धनोपार्जनके विविध विधान, कौतूहलजनक क्रीड़ा-कौशल्य, नगर, ग्राम, महादुर्ग और अनेक प्रकारके शिक्षाप्रद, लाभदायक या अदृष्टपूर्व प्राणी, पदार्थ और वस्तुएँ देखनेमें आती हैं और उनसे तत्सम्बन्धी ज्ञान या अनुभव होता है। साथ ही—

(१७) स्वदेश छोड़कर विदेशमें जानेवाले हजारों लाखों यात्रियोंका मार्गव्यय, भोजन-सामग्रीका आटा-दाल, रेल, तार, डाक, ताँगे, हलवाई, पड़चूनी ढाबे, होटल, खोचें, दान-पुण्य, याचक, भिक्षुक, अपाहिज, पण्डित, पुरोहित विद्यार्थी और गंगागुरु आदिके देय द्रव्य, दान, दक्षिणा, उपस्कर, उपहार और पुरस्कार आदिमें जो करोड़ों रुपये खर्च होते हैं, उनसे स्थानीय तथा देश-विदेशके व्यापारी, व्यवसायी या अन्य आशार्थी लोग पूर्णरूपसे लाभान्वित होते हैं।

त्यौहार

(१८) 'त्यौहार'— पहले सूचित हो चुका है कि किसी अंशमें व्रत, पर्व और त्यौहार एक ही हैं—केवल उपासकोंके न्यूनाधिक्य और साधनाके भेदसे उनके स्वरूप सूक्ष्म, दीर्घ और महत्तम हो जाते हैं। व्रत सबमें होता है। जप, पूजा और उत्सवसमारोह न्यूनाधिक सबमें होते हैं। और हँसना, खेलना, गाना-बजाना या ईश्वरस्मरणमें संलग्न होना भी सबमें होता है। केवल—

(१९) व्रतमें स्वल्पतम, त्यौहारमें यथायोग्य (न्यूनाधिक) और पर्वमें यदा-कदा सर्वाधिक मनुष्य एकत्र होते हैं। व्रत विशेषकर स्वस्थानमें, पर्व तीर्थादिपर या मन्दिरोंमें और त्यौहार घर-बाहर सर्वत्र सम्पन्न होते हैं ।

(२०) राजपूतानेमें श्रावणकी तृतीया (तीज), गणगौर, महाराष्ट्रमें गणेशचतुर्थी और बंगालमें दुर्गापूजा (आश्विन)-के सार्वजनिक त्यौहार बड़े समारोहसे मनाये जाते हैं।

(२१) त्यौहारमें व्रतोत्सवके सिवा स्वल्पतम या अधिकाधिक मिष्टान्नादिका आयोजन अवश्य होता है। और यही उसकी विशेषता है। कोई भी त्यौहार हो, और उसमें चाहे किसी देवताकी पूजा हो और कैसी भी शास्त्र-पद्धति हो, कुछ-न-कुछ मिष्टान्न अवश्य बनेगा। दशहरा, होली, दीपावली आदिकी तो बात ही क्या—छोटे-छोटे त्यौहारोंमें भी मुख मीठा तो किया ही जाता है।

(२२) त्यौहारोंमें शीतलाष्टमी ही एक ऐसा त्यौहार है, जिसमें सर्वमान्य देवताको 'पर्युषितान्न' (बासी भोजन) भोग लगाया जाता है और तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे ऐसा करना ही उचित, आवश्यक और लाभदायक है; परंतु जो लोग पूआ बनाते समय 'सेड़का पुजापा' (कुछ पूए-पूड़ी) अलग रखकर गर्मागर्म आप खा लेते हैं, वह अच्छा नहीं। इसमें पुजापा उच्छिष्ट बन जाता है और उसका भोग लगाना सर्वथा निषिद्ध या पापमूलक है।

(२३) इस प्रकार पृथक्-पृथक् त्यौहारोंमें विभिन्न प्रकारके भोजन-पदार्थ बनाते और त्यौहारके अधिष्ठाताके भोग लगाते हैं। अधिष्ठाता संवत्सरके ब्रह्मा, गणगौरकी उमा, अष्टमीकी महाशक्ति, नवमीके राम; अक्षयाके परशुराम, नर-नारायण, हयग्रीवः, नृसिंहचतुर्दशीके नरसिंह, गंगादशमीके भगीरथ, निर्जलाके विष्णु, रथयात्राके

जगदीश, आषाढीके व्यासगुरु, तीजकी गौरी, रक्षापूर्णिमाके श्रवण; जन्माष्टमीके वसुदेव, वासुदेव; चतुर्थीके चन्द्र, गणपति-चतुर्थीके गणेश, दूजा और विजयादशमीकी दुर्गा और श्रीरामचन्द्र, दीपावलीकी लक्ष्मी, अन्नकूटके गोवर्धन, गोपाष्टमीकी गौ, मकरार्कके भानु, वसन्तके कामदेव, भानुसप्तमीके सूर्य, शिवरात्रिके महादेव और होलीके प्रह्लाद हैं।

(२४) इस प्रकार त्यौहार और उनके अधिष्ठाता कई हैं और उनके रूप, विधान या आयोजन भी बहुतोंके बहुत हैं (जो मेरे लिखे 'हिंदू-त्यौहार' नामक निबन्धमें विस्तारपूर्वक दिये हैं)। यहाँ स्थानाभावके कारण संक्षेपसे परिचय दिया जाता है। अन्य त्यौहारोंकी अपेक्षा श्रावणी, विजयादशमी, दीपावली और होली यथाक्रम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके त्यौहार माने जाते हैं। परंतु इनमें यह विशेषता है कि इन चारोंको चारों वर्ण मानते हैं और चारोंमें चारों ही सम्मिलित होकर सहयोग देते हैं। भारतीय विशुद्ध वर्णव्यवस्थाके ये आदर्श हैं।

(२५) त्यौहार कोई भी हो, उसको सम्पन्न करनेके आयोजन कई दिनों पहलेसे आरम्भ हो जाते हैं और मनानेवालोंके अतिरिक्त उनसे द्रव्योपार्जन करनेवाले (या कमाकर खानेवाले भी) वस्त्र, शस्त्र, आभूषण, मिठाई, खेल, खिलौने, पुस्तकें और विविध प्रकारकी व्यवहार्य वस्तुएँ बनाकर सजाते और त्यौहारोंके मार्ग प्रतीक्षणमें उद्ग्रीव रहते हैं। इतनेपर भी यह लिखना अनुचित नहीं कि वर्तमानमें 'हिंदू-त्यौहार' कुछ विकृत बन गये हैं और उनके सम्पादक भी उनके प्रति भक्तिभाव रखनेके बदले उदासीनभाव रखते हैं।

(२६) श्रावणीकी दुर्लभ और आदरणीय 'रक्षा-पोटलिका' के स्थानमें (जो सर्षप, दूर्वा, मदनफल और वेदमन्त्रोंके सहयोगसे सम्पन्न होती थी) अब बाजारकी राखी दो पैसेसे लेकर पाँच सौ रुपयेतकमें आती है और धर्मरक्षाके लिये भोली बहिन उससे भाईको आबद्ध करती है।' 'विजयादशमी' जिसके लिये भूखे, निर्धन और अतिवृद्ध क्षत्रिय भी सशस्त्र होकर महाबली शत्रुको पश्चात्पद करते थे, अब वह विजया विजयलक्ष्मीके साथ विलायतोंकी सैर करती हैं और क्षत्रिय जूएसे मुक्त वृषभकी भाँति विश्राम लेते हैं।

(२७) दीपावलीमें तिलतैलके अगणित दीपोंकी नेत्रसुखद अखण्ड दीपावली नवीन विचारोंके वायुसे लुप्त हो गयी और उसके स्थानमें बिजलीकी बत्तियोंके भव्य प्रकाशमें महालक्ष्मीका पूजन होता है। और होली किसी दिन 'नवान्नेष्टि' यज्ञ था, जिसके लिये वर्तमाका प्रह्लाद 'यज्ञस्तम्भ', खेरे-खाँडे-बरकूले 'समिधा' और जौ, गेहूँ तथा चनोंकी दंगी 'हवनीय सामग्री' थे। अब ये सब होलीके रूपमें परिणत हो गये और वेदमन्त्रोंका उच्चारण 'केश्या' आदि अश्लील गायनोंमें परिणत हो गया।

(२८) इसी प्रकार तोड़कर लायी हुई वटशाखाके पूजनमें सावित्री; दाल, ककड़ी और सत्तू खानेमें अक्षय-तृतीया; पंचामृत बाँटने और भेंट लेनेमें राम, कृष्ण, वामन और नरसिंहजयन्ती; आयी हुई अधभूखी गायको बाँधकर दूध निकालनेमें गोपाष्टमी, निम्बपत्रप्राशनमें संवत्सर; ठंडे पूए आदि खानेमें नागपंचमी और शीतलाष्टमी; शर्बत-ठंढाई, दूध, फल-फूल और सुशीतल जल पीनेमें निर्जला; स्नानमात्रमें गंगादशमी और एक सौ परिक्रमा देनेमें सोमवती-जैसे पुण्यप्रद पर्व, त्यौहार और व्रत सम्पन्न होते हैं और इनके गुण, रूप, व्यवस्था और प्रयोजन आदिको लोग भूलते जाते हैं। अब तो शिक्षित कहलानेवाले नर-नारी इतना भी नहीं करते!

(२९) उचित तो यह है कि प्रत्येक सद्गृहस्थ हिंदू अपने इन व्रत, पर्व और त्यौहारोंके असली स्वरूप शास्त्रोंसे और वृद्ध सज्जनोंसे मालूम करके प्रत्येक त्यौहारको यथाशक्ति सम्पन्न करें और यथापूर्व प्रचलित रखें। त्यौहार सामान्य खेल नहीं हैं, बड़े महत्त्वके हैं। इनमें अनेक ऐसे गुण गुम्फित हो रहे हैं, जिनमें हमारे आयु, आरोग्य, आदर-सम्मान, धर्म, कर्म, सम्पत्ति और सुख-सौभाग्यादि स्वतः ही बढ़ते हैं। आशा है, हिंदू-सन्तान इस ओर ध्यान देंगे।

जीवित ही मरेके समान

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते। न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥ (भागवत ३। २३। ५६)

इस संसारमें जिसका कर्म न तो धर्मके लिये होता है, न वैराग्यके लिये और न तीर्थपाद भगवान्‌की चरण-सेवाके ही लिये होता है, वह जीते-जी भी मरे हुएके समान है।

हिंदू-धर्मका इस्लामपर प्रभाव

(लेखक—श्रीहजरत साज रहमानी 'फिरदोसी बाबा')

'हिंदू-धर्म ही संसारमें सबसे प्राचीन धर्म है'—यह एक प्रसिद्ध और प्रत्यक्ष सचाई है। कोई भी इतिहासवेत्ता आज-तक इससे अधिक प्राचीन किसी धर्मकी खोज नहीं कर सके हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि हिंदू-धर्म ही सब धर्मोंका मूल उद्गम-स्थान है। सब धर्मोंने किसी-न किसी अंशमें हिंदू माँका ही दुग्धामृत पान किया है। जैसा कि गुसाईं तुलसीदासजीका वचन है—'**बुध किसान सर बेद निज मते खेत सब सींच**।' अर्थात् वेद एक सरोवर है, जिसमेंसे (भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरोंके समर्थक) पण्डितरूपी किसान लोग अपने-अपने मत (सम्प्रदाय)-रूपी खेतको सींचते रहते हैं।

उक्त सिद्धान्तानुसार इस्लामको भी हिंदू माताका ही पुत्र मानना पड़ता है। वैसे तो अनेकों इस प्रकारके ऐतिहासिक प्रमाण हैं, जिनके बलपर सिद्ध किया जा सकता है कि इस्लामका आधार ही हिंदू-धर्म है; परंतु विस्तारभयसे इस विषयको न उठाकर यहाँ केवल इतना ही बताना चाहता हूँ कि मूलतः हिंदू-धर्म और इस्लाममें वस्तुतः कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। इस्लामके द्वारा अरबी सभ्यताका अनुकरण होनेके कारण ही दोनों परस्पर भिन्न हो गये हैं।

वास्तविक सिद्धान्त तो यही है कि किसी देशकी सभ्यता और संस्कृति पूर्णरूपसे धर्मानुकूल ही हो; परंतु भारतके अतिरिक्त और किसी भी देशमें इस सिद्धान्तका अनुसरण नहीं किया जाता। वरं इसके विपरीत धर्मको ही अपने देशके प्रचलित सभ्यताके ढाँचेमें ढालनेका प्रयत्न किया जाता है। यदि किसी धर्मप्रवर्तकने सभ्यताको धर्मानुकूल बनानेका प्रयत्न किया भी तो उसके जीवनका अन्त होते ही उसके अनुयायियोंने अपने देशकी प्रचलित सभ्यताकी अन्धी प्रीतिके प्रभावसे धर्मको ही प्रचलित सभ्यताका दासानुदास बना दिया। श्रीमुहम्मदजीके ज्योति-में-जोत समानेके पश्चात् इस्लामके साथ भी यही बर्ताव किया गया। केवल इसी कारण हिंदू-धर्म और इस्लाममें भारी अन्तर जान पड़ता है।

प्राचीन अरबी सभ्यतामें युद्धवृत्तिको विशेष सम्मान प्राप्त है। इसी कारण जब अरबके जनसाधारणके चित्त और मस्तिष्कने इस्लामके नवीन सिद्धान्तोंको सहन नहीं किया, तब वे उसे खड्ग और बाहुबलसे दबानेपर उद्यत हो गये—जिसका परिणाम यह हुआ कि कई बार टाल जाने, और लड़ने-भिड़नेसे बचे रहनेकी इच्छा होते हुए भी इस्लाममें युद्धका प्रवेश हो गया; परंतु उसका नाम '**जहाद फी सबीलउल्ला**' अर्थात् 'ईश्वरी मार्गके लिये प्रयत्न' रखकर उसे राग-द्वेषकी बुराइयोंसे शुद्ध कर दिया गया।

श्रीमुहम्मदजीके स्वर्गगमनके पश्चात् जब इस्लाम अरबी सभ्यताका अनुयायी हो गया, तब जेहाद ही मुसलमानोंका विशेष कर्तव्य मान लिया गया। इसी अन्ध-श्रद्धा और विश्वासके प्रभावमें अरबोंने ईरान और अफगानिस्तानको अपनी धुनमें मुस्लिम बना लेनेके पश्चात् भारतपर भी धावा बोल दिया। यहाँ अरबोंको शारीरिक विजय तो अवश्य प्राप्त हुई; परंतु धार्मिकरूपमें नवीन इस्लामकी प्राचीन इस्लामसे टक्कर हुई, जो अधिक पक्का और सहस्रों शताब्दियोंसे संस्कृत होनेके कारण अधिक मजा हुआ था। अतः हिंदू-धर्मके युक्ति-युक्त सिद्धान्तोंके सामने इस्लामको पराजय प्राप्त हुई। इसी सत्यको श्रीयुत मौलाना अल्ताफ हुसैन हालीजीने इन शब्दोंमें स्वीकार किया है—

वह दीने हिजाजीका बेबाक बेड़ा।
निशां जिसका अक्साए आलममें पहुँचा॥
मज़ाहम हुआ कोई खतरा न जिसका।
न अम्मांमें ठटका न कुल्जममें झिझका॥
किये पै सिपर जिसने सातों समुंदर।
वह डूबा दहानेमें गंगाके आकर॥

अर्थात् 'अरब देशका वह निडर बेड़ा, जिसकी ध्वजा विश्वभरमें फहरा चुकी थी, किसी प्रकारका भय जिसका मार्ग न रोक सका था, जो अरब और बलोचिस्तानके मध्यवाली अम्मांनामी खाड़ीमें भी नहीं रुका था और लालसागरमें भी नहीं झिझका था, जिसने सातों समुद्र अपनी ढालके नीचे कर लिये थे, वह श्रीगंगाजीके दहानेमें आकर डूब गया।'

'मुसदए हाली' नामका प्रसिद्ध काव्य, जिसमें उक्त पंक्तियाँ लिखी हैं, आजतक सर्वप्रशंसनीय माना जाता है। इन पंक्तियोंपर किसीने कभी भी आक्षेप नहीं किया। यह इस बातका प्रसिद्ध प्रमाण है कि इस सत्यको सभी मुस्लिम स्वीकार करते हैं; परंतु मेरे

विचारमें वह बेड़ा डूबा नहीं, वरं उसने स्नानार्थ डुबकी लगायी थी। तब अरबी सभ्यताका मल दूर करके भारतीय सभ्यतामें रँग जानेके कारण वह पहचाना नहीं गया। क्योंकि आचार-व्यवहार-अनुसार तो हिंदू-धर्म और इस्लाममें कोई भेद ही नहीं था। अरबी सभ्यता यहाँ आकर उसपर भोंड़ी-से दीखने लगी; क्योंकि हिंदू-धर्म और हिंदू-सभ्यता एक-दूसरेके अनुकूल हैं और यहाँ सैद्धान्तिक विचारों, विश्वासों और आचरणमें अनुकूलता होनेके आधारपर ही किसी व्यक्तिका सम्मान किया जाता है। अतः इस्लामपर हिंदुओंके धर्माचरणका इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि सर्वसाधारणके आचार-व्यवहारमें कोई भेद-भाव न रहा। यदि विशिष्ट मुसलिमोंके हृदय भी पक्षपातसे उपराम हो जाते तो अरबी और फारसी भाषाओंके स्थानमें हिंदी और संस्कृतको इस्लामी विचारका साधन बना लिया जाता और अरबी संस्कृतिको ही इस्लाम कल्पित न कर लिया जाता तथा भारतीय इतिहासके माथेपर हिंदू-मुसलिम दंगोंका भोंड़ा कलंक न लगा होता; क्योंकि वास्तवमें दोनों एक ही तो हैं।

पण्डितों और संतोंके मार्गमें प्रत्येक सम्प्रदायमें सदासे ही मतभेद चला आया है। यही दशा इस्लाममें भी है। पण्डित (आलिम) लोग तो शाब्दिक गोरखधंधोंमें उलझे रहते हैं, विद्याके अभिमानमें—पक्षपातमें अंधे होते हैं। लोक-रीतिके दास और रूढ़ियोंके अनुयायी होते हैं। कर्मकाण्डके तत्त्वको नहीं जानते। परंतु संतजन तत्त्वदर्शी होते हैं, भगवान् श्रीकृष्णके कथनानुसार—**'उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥'** अर्थात् इन दोनों (सत्य और असत्य)-का ही अन्त तत्त्वदर्शियोंद्वारा देख लिया गया है। अतः संतलोगोंसे तो कुछ भी छिपा नहीं है। जैसा कि कबीरजीने कहा है—

तू तो कहत है पुस्तक-लेखी।
मैं कहता हूँ आँखों देखी॥

इसी कारण संतमतमें मतभेद नहीं होता। मौलाना रूमकी मसनवीको पढ़ देखो, गीता और उपनिषदोंके सिद्धान्तोंके कोष भरे हुए मिलेंगे, जब कि मौलाना रूम हिंदू धार्मिक साहित्यसे सर्वथा अपरिचित थे। संतमतके सम्बन्धमें उनका कथन है—

मिल्लते इश्क अज़ हमां मिल्लत जुदास्त।
आशिकां रा मजहबो मिल्लत खदास्त॥

अर्थात् 'भक्तिमार्ग सब सम्प्रदायोंसे भिन्न है। भक्तोंका सम्प्रदाय और पन्थ तो भगवान् ही है।' संतजन सत्यको देश, काल और बोलीके बन्धनोंसे मुक्त मानते हैं। **'समझेका मत एक है, का पंडित, का शेख॥'** वे सत्यको प्रकट करना चाहते हैं। इसीसे जनसाधारणकी बोलीमें ही वाणी कहते हैं। जैसे गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

का भाषा, का संस्कृत, प्रेम चाहिये साँच।
काम जु आवै कामरी का लै करै कमाच॥

इसी सिद्धान्तके अनुसार मुसलमान संतोंने भी कुरआनी शिक्षाको जनताकी बोली अर्थात् हिंदी भाषाके दोहों और भजनोंके रूपमें वर्णन किया, तो उसे सबने अपनाया। क्योंकि उनके द्वारा ही दोनों धर्मोंकी एकता सिद्ध हो गयी थी। बाबा फरीदके दोहोंको 'श्रीगुरु ग्रन्थ साहब' जैसी सर्वपूज्य धार्मिक पुस्तकमें स्थान प्राप्त हुआ। निजामुद्दीन औलियाने स्पष्ट कहा है—मीसाक़के रोज़ अल्लाहका मुझसे हिंदी ज़बानमें हमकलाम हुआ था। अर्थात् 'मुझे संसारमें भेजनेसे पूर्व जिस दिन भगवान्ने मुझसे वचन लिया था, तो मुझसे हिंदी बोलीमें ही वार्तालाप किया था।' मलिक मुहम्मद जायसी, बुल्लेशाह इत्यादि अनेकों मुसलमान संतोंने हिंदीमें ही इस्लामी सत्यका प्रचार किया, जो आज भी वैसा ही लोकप्रिय है। अरबी भाषाके पक्षपातियोंने ईरान इत्यादि मुस्लिम देशोंमें भी संतोंकी वाणीके विरुद्ध आन्दोलन किया था। मौलाना रूमकी वाणी (मसनवी) की निन्दा स्वर्गीय मीर अब्बासने इन शब्दोंमें की है—

ईं किलामे सूफियाने शूम नेस्त।
मसनवीये मौलवीये रूम नेस्त॥

वे अपनी रचना मसनवी मन्नो सलवाका वर्णन करते हुए मौलाना रूम और सब सूफियोंको लक्ष्य करके व्यंग करते हैं—'यह (मेरी रचना) अभागे सूफियों (संतों) की वाणी नहीं है। मौलाना रूमकी मसनवी नहीं है।'

दूसरे मौलवियोंने मनसवीकी निन्दा करते हुए कहा—

नेस्त ज़िकरो वहसे इसरारे बुलंद।
किह दवानंद औलिया जां सू कमंद॥
जुमला सर तासर फिसानास्तो फिसूँ।
कोदकाना क़िस्सह बेरूनो दरूँ॥

अर्थात् 'मसनवीमें बहुत ऊँचे विचारों और रहस्योंपर उक्तियाँ नहीं हैं कि जिसकी ओर पण्डितलोग ध्यान दें।

सर्वथा किस्से-कहानियाँ ही भरी हुई हैं। अंदर और बाहर सब बच्चोंको बहलानेकी कथाएँ ही हैं।' इसी प्रकार इन भारतीय मुसलमान संतोंपर भी मौलवियोंने कुफ्रके फतवे (नास्तिक होनेकी व्यवस्थाएँ) लगाये। इसी खींचातानीका परिणाम यह हुआ कि वास्तविक इस्लाम न जाने कहाँ भाग गया। मौलाना हालीने इन शब्दोंमें कहा है—

वह दीं, जिससे तौहीद फैली जहाँमें।
हुआ जलवागर हक्र जमीं आस्मांमें॥
रहा शिर्क बाकी न बहमो जमांमें।
वह बदला गया आके हिंदोस्तांमें॥
हमेशहसे इस्लाम था जिस पै नाज़ां।
वह दौलत भी खो बैठे आखिर मुसलमां॥

अर्थात् 'वह सम्प्रदाय जिसके द्वारा संसारमें अद्वैत-वादका प्रचार हुआ, और पृथ्वी तथा आकाशमें सत्य ही विराजमान हो गया, कहीं भी भ्रम बाकी नहीं रहने पाया, वह दीन (सम्प्रदाय) भारतमें आकर परिवर्तित हो गया। जिस सम्पत्तिपर इस्लामको सदासे अभिमान था, अन्तमें मुसलमान वह भी खो बैठे।'

इसका कारण यह था कि तअस्सुब (पक्षपात)-ने मौलवी लोगोंको अंधा कर दिया था। इसीकी व्याख्या मौलाना हालीसे ही सुनिये। वह कहते हैं—

हमें वाइज़ोंने यह तालीम दी है।
कि जो काम दीनी है या दुनयवी है॥
मुखालिफकी रीस उसमें करनी बुरी है।
निशां गैरते दीने हकका यही है॥
न ठीक उसकी हरगिज़ कोई बात समझो।
वह दिनको कहे दिन तो तुम रात समझो॥

अर्थात् 'हमें उपदेशकोंने यह शिक्षा दी है कि धार्मिक अथवा सांसारिक—'कोई भी काम हो, उसमें विरोधियोंका अनुकरण करना बहुत बुरा है। सत्य धर्मकी लाजका यही चिह्न है कि विरोधीकी किसी बातको भी सत्य न समझो। यदि वह दिनको दिन कहे तो तुम उसे रात समझो'।

कदम गर रहे रास्त[१] पर उसका पाओ।
तो तुम सीधे रस्तेसे कतराके जाओ॥
पड़ें इसमें जो दिक्कतें, वह उठाओ।
लगें जिस कदर ठोकरें इसमें, खाओ॥
जो निकले जहाज उसका बचकर भँवरसे।
तो तुम डाल दो नाव अंदर भँवरके॥
अगर मस्ख़[२] हो जाए सूरत तुम्हारी।
बहाय[३]में मिल जाए सीरत[४] तुम्हारी॥
बदल जाए बिल्कुल तबीअत[५] तुम्हारी।
सरासर बिगड़ जाए हालत तुम्हारी॥
तो समझो कि है हक[६] की इक शान यह भी।
है इक जलवाये नूर[७] ईमान यह भी॥
न औजाज[८]में तुमसे निस्बत[९] किसीको।
न इखलाकमें[१०] तुमपै सबकत[११] किसीको॥
न हासिल[१२] यह खानोंमें लज्जत[१३] किसीको।
न पैदा यह पोशिश[१४], यह जीनत[१५] किसीको॥
तुम्हें फ़ज्ल[१६] हर इल्म[१७] में बरमला[१८] है॥
तुम्हारी जहालत[१९] में भी इक अदा है॥
कोई चीज़ समझो न अपनी बुरी तुम।
रहो बातको अपनी करते बड़ी तुम॥
हिमायतमें[२०] हो जब कि इस्लामकी तुम।
तो हो हर बदी[२१] और गुनहसे[२२] बरी तुम॥
बदीसे नहीं मोमिनोंको[२३] मुज़र्रत[२४]।
तुम्हारे गुनह और न औरोंकी ताअ़त[२५]॥

अन्तिम दो पंक्तियोंमें कहा गया—'मुसलमानोंकी बदीसे (यदि वे किसीसे बदी करें तो उनकी) कोई हानि नहीं। तुम्हारे पाप और दूसरोंकी भक्ति दोनों भगवान् स्वीकार नहीं करेंगे!

मुख़ालिफ़[२६] का अपने अगर नाम लीजे।
तो ज़िक[२७] उसका जिल्लत[२८]से, ख़ारीसे कीजे॥
कभी भूलकर तरह[२९] इसमें न दीजे।
कयामत[३०]को देखोगे इसके नतीजे॥
गुनाहों[३१] से होते हो गया मुबर्रा[३२]।
मुखालिफ़ पै करते हो जब तुम तबर्रा[३३]॥

अन्तिम पंक्तिमें कहा गया—'जब तुम विरोधीको गाली देते हो (सताते हो) तो मानो अपने अपराधोंसे शुद्ध होते हो!'

बस मौलवियोंके इन्हीं सिद्धान्तों और बर्तावोंने हिंदू-

१. ठीक मार्ग, २. बदल जाय, ३. हिंसक पशुओं, ४. आचरण, ५. स्वभाव, ६. सत्य (धर्म), ७. धार्मिक तेजकी शोभा, ८. आकृति, ९. सम्बन्ध, १०. आचार, ११ अविश्वास, १२. प्राप्त, १३.स्वाद, १४. वस्त्राभूषण, १५. सम्मान, १६. बड़ाई, १७.विद्या, १८.कुशलता, १९.मूर्खता, २०. पक्ष, २१. बुराई, २२.पाप, २३. श्रद्धालुओं, २४. हानि, २५.भक्ति, २६. विरोधी, २७. वर्णन २८. निन्दा, हीनता, २९. छूट, ३०. अन्तिम परिणाम, ३१. पापों, ३२. पवित्र, ३३ गाली-गलौज।

मुसलमानोंको पराया बनानेका प्रयत्न किया, जिसका भयानक परिणाम आज विद्यमान है! नहीं तो, हिंदू-धर्मने कट्टर मुसलमान बादशाहोंके राज्यमें भी जनसाधारणपर ऐसा प्रभाव डाला था कि मुसलमान लेखक अपनी हिंदी-रचनाओंमें 'श्रीगणेशाय नमः', 'श्रीरामजी सहाय', 'श्रीसरस्वतीजी', 'श्रीराधाजी', 'श्रीकृष्णजी सहाय' आदि मंगलाचरण लिखनेको कुफ़्र (नास्तिकता) नहीं समझते थे। प्रमाणके लिये अहमदका 'सामुद्रिक', याक़बखाँका 'रसभूषण' आदि किताबें देखी जा सकती हैं। अरबीके पक्षपातियोंकी दृष्टिमें भले ही यह पाप हो; परंतु 'कुरआन' की आज्ञासे इसमें विरोध नहीं है।

१-अल्लहु ला३ इलाह इल्ला हुवलहुलस्मा२ उल्हुस्ना।

अर्थात् 'केवल अल्लाह ही अर्चनीय है, और सब अच्छे नाम उसीके लिये हैं।'

२-कुलिद्ऊ अल्लह अविद्ऊल्रहमान अय्यंम्मा तद्ऊ अफ़लहुलस्मा३ उल्हुस्ना।

अर्थात् (ऐ मेरे दूत!) कह दे कि उसे अल्लाह कहकर पुकारो अथवा रहमान (दयालु)—जो इच्छा हो, कहकर पुकारो! सब अच्छे नाम उसीके हैं।

३-वलिल्लहिलस्मा३ उल्हुस्ना फाद्ऊहुबिहा व ज़रू अल्लज़ीन युख्सिदून फ़ी३ अस्मा३ इही।

अर्थात् सब अच्छे नाम अल्लाहके लिये ही हैं। इन नामोंसे पुकारो और उन लोगोंकी संगति न करो, जो भगवान्के नामोंको बिगाड़ते हैं।

कुरआनकी इन्हीं आज्ञाओंको मानकर ईरानके एक कविने मंगलाचरणका यह पद पढ़ा है—

बनाम आंकिह कि ऊ नामे नदारद।
बहर नामे के रबानी सर बरारद॥

अर्थात् उसके नामसे आरम्भ करता हूँ कि जिसका कोई नाम नहीं है, अतः जिस नामसे पुकारो—काम चल जाता है।

यदि पक्षपाती और कट्टर मौलवी ऊधम न मचाते, संसार स्वर्ग बन जाता। क्योंकि हिंदू-धर्मके पवित्र प्रभावसे मँजकर इस्लाम चमक उठा था। सत्याग्रही और न्यायशील मुसलमानोंने तो मुसलमान शब्दको भी 'हिंदू' शब्दका समर्थक ही जाना। इसी कारणसे सर सय्यद अहमदखाँने कई बार अपने भाषणोंमें हिंदुओंसे प्रार्थना की कि उन्हें हिंदू मान लिया जाय, जिसपर उन्हें अपने लिये काफ़िरकी उपाधि ग्रहण करनी पड़ी।

यदि दोनों धर्मोंमें सैद्धान्तिक एकता सिद्ध न की जाय, तो निबन्ध अधूरा रह जायगा; परंतु वास्तवमें इसकी आवश्यकता ही नहीं; क्योंकि जैसे हिंदू-धर्म किसी एक सम्प्रदायका नाम नहीं है, वरं मानवधर्मके अनुयायी सभी सम्प्रदाय हिंदू कहलाते हैं—कारण कि मानव-धर्मका ही एक नाम हिंदू-धर्म भी है, और ईश्वरके अस्तित्वको न माननेवाले देवसमाज-जैसे सम्प्रदाय भी हिंदू ही कहलाते हैं—उसी प्रकार इस्लाममें भी अनेकों सम्प्रदाय विद्यमान हैं। खुदाकी हस्ती (ईश्वरका अस्तित्व) न माननेवाला नेचरी फ़िरक़ा भी मुसलमान ही कहलाता है। कारण कि इस्लाम भी मानव-धर्म ही है; कुरआन ही इसकी साक्षी देता है, जो अनेकों स्थलोंपर पुकार-पुकारकर कहता है 'याअयुहन्नास—अर्थात् 'ऐ मनुष्यो!' वरं कुरानका एक नाम ब्यानन्नास अर्थात् मनुष्योंका वर्णन भी है।

पक्षपाती और कट्टर मुसलमानोंको जिस तौहीद (अद्वैत)-पर सबसे अधिक अभिमान है और जिसे इस्लामकी ही विशेषता माना जाता है, उसके विषयमें जब हम कुरआनकी यह आज्ञा देखते हैं—

कुल आमन्ना बिल्लाहि व मा३उंज़िल अ़लेना व मा उंजिल अ़ला इब्राहीम व इस्माईल व इस्हाक़ व यअ़कूब वालस्बाति व मा ऊती मूसा व ईसा वलबीय्यून मिर्रबिहिम ला नुफ़र्रिक़ु बैन अहदिम्मिन्हुम व नह्न लहु मुस्लिमून।

अर्थात् (ऐ मेरे दूत! लोगोंसे) कह दो कि हमने ईश्वरपर विश्वास कर लिया और जो (पुस्तक अथवा वाणी) हमपर उतरी है, उसपर और जो ग्रन्थ इब्राहीम, इस्माईल, इसहाक़, याकूब और उसकी सन्तानोंपर उतरी, उसपर भी तथा मूसा, ईसा और (इनके अतिरिक्त) अन्य नबियों (भगवान्से वार्तालाप करनेवालों)-पर उनके भगवान्की ओरसे उतरी हुई उन सबपर (भी विश्वास रखते हैं) और उन (पुस्तकों तथा नबियों) मेंसे किसी-में भेद-भाव नहीं रखते, और हम उसी एक (भगवान्)-को मानते हैं।

—और इस आज्ञाके अनुसार तौहीदको समझनेके लिये हिंदू-सद्ग्रन्थोंका अध्ययन करते हैं, तो जान पड़ता है कि मौलवीलोग तौहीदको जानते ही नहीं। यदि जानते होते, तो स्वर्गीय स्वामी श्रीश्रद्धानन्द, महाशय राजपाल इत्यादि व्यक्तियोंकी हत्याका फतवा (व्यवस्था) न देते और न पाकिस्तान ही बनता। पंजाब और

बंगालका घृणित हत्याकाण्ड भी देखनेमें न आता। यदि मौलाना रूमके इस पदपर ही विश्वास होता कि—

दूई रा चूं बदर करदम यके दीदम दो आलिम रा।
यके बीनम यके जोयम यके खानम यके दानम॥

अर्थात् 'जब मैंने द्वैतको मनसे निकाल बाहर कर दिया, तब दोनों लोकोंको एक ही देखा। अब एक ही देखता हूँ, एक ही ढूँढ़ता हूँ। एकको ही भजता हूँ और एकको ही जानता हूँ।' यह है वास्तविक तौहीद (अद्वैत), जैसा कि रामायणमें भगवान् शंकर मा पार्वतीजीसे कहते हैं—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

परंतु जहाँतक मैंने खोज की है, मौलवियाना इस्लाममें यह तौहीद 'दिया' लेकर ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलती; हाँ, संतोंके इस्लाममें इसीका नाम तौहीद है।

मिआज़ार कसे व हर चिन्ह खाही कुन।
कि दर तरीकते मन गैर अज़ीं गुनाहे नेस्त॥

अर्थात् 'किसीको दुःख देनेके अतिरिक्त और तेरे जीमें जो कुछ भी आये कर; क्योंकि मेरे धर्ममें इससे बढ़कर और कोई पाप ही नहीं।'

दिल बदस्तारद कि हज्जि अकबरस्त।
अज़ हजारां क़आबा। यक दिल बेहतरस्त॥

अर्थात्—दूसरोंके दिलको अपने वशमें कर लो, यही काबाकी परम यात्रा है; क्योंकि सहस्रों काबोंसे एक दिल ही उत्तम है। कुरआनमें भगवान्ने बार-बार कहा है—

इनल्लाह ला यहुब्बुज्ज़ालिमीन (अथवा मुफ्सिदीन—इत्यादि)

अर्थात् भगवान् अत्याचारियों (अथवा फिसादियों)से प्रसन्न नहीं होता।

शेख सादीजीने तो यहाँतक कहा है—

बनी आदम आजाए यक दी गरन्द।
कि दर आफ़रीनद ज़ि यक जौहर अन्द॥

अर्थात् आदि उत्पत्तिमें एक ही तत्त्वसे उत्पन्न होनेके कारण सब मनुष्य एक-दूसरेके अंग हैं। एक हदीसमें भी आया है—

अलख़ल्क़ु इयालु अल्लाहि फा हुब्बुलख़ल्क इला अल्लाहि मनहसन इला इयालिही।

अर्थात् सब प्राणी भगवान्के कुटुम्बी हैं। अतः प्राणियोंसे भगवान्के लिये ही अच्छा बर्ताव करो—जैसा अच्छा कि अपने कुटुम्बवालोंसे करते हो। इस इस्लाम और हिंदू-धर्ममें कोई भेद नहीं।

दो चित्र

(रचयिता—कुवँर श्रीहरिश्चन्द्रदेवजी वर्मा 'चातक' कविरत्न, साहित्यालंकार)

हिंदू-संस्कृतिके निर्माणकर्ता महाराणा प्रतापकी प्रतिज्ञा

चाहे सुधाकर उतर नभसे
अग्नि बरसाने लगे—
चाहे दिवाकर शीत हो
निशि सौख्य सरसाने लगे—
चाहे महीको दे डुबा
तज सिन्धु निज मर्यादको
चाहे भले ही भूल जाये
सिंह भीषण नादको—
चाहे गगनमें सुमन सुन्दर
सुरभियुत खिलने लगें—
चाहे मयूरोंसे उरग-गण
प्रेमसे मिलने लगें—
तो भी नहीं पीछे पड़ेगा
पाँव बीर प्रतापका;
होने न दूँगा मैं कलंकित
नाम अपने बापका।

हिंदू-संस्कृतिके ध्वंसकर्ता राजा जयचन्दकी आत्म-ग्लानि

जय-चन्द्र मत मुझको कहो,
मैं तो कलंकित चन्द हूँ।
मैं हूँ पराभव देशका—
मैं भाग्य उसका मन्द हूँ।
धिक्कार दो मुझको कि
पृथ्वीराज मेरे पापसे
परवश हुआ, मैं जल रहा हूँ
हाय! दुस्सह तापसे॥

हिंदू-संस्कृति और सिक्ख-सम्प्रदाय

(लेखक—ज्ञानी संतसिंहजी प्रीतम, बी०ए०, बी० टी०, हिंदीप्रभाकर)

हिंदू-संस्कृति एक धारा है, जिसका प्रवाह सृष्टिके जन्मसे ही शाश्वतरूपसे चल रहा है। इस प्रवाहको रोकनेवाले स्वयं ही इस प्रवाहमें बह गये। हिंदू-धर्म या भारत-धर्म एक उद्यान है, जिसमें भक्ति, योग, कर्म, उपासना, ज्ञान इत्यादि कई वृक्ष विद्यमान हैं। मुगल-साम्राज्यके समय हिंदू-संस्कृतिकी रक्षाके लिये भारतके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंसे एक भक्तिकी लहर उठी। पंजाबमें इसके जन्मदाता बाबा नानक हुए। आपने अपनी तपस्या, भक्ति और ज्ञानके प्रभावसे हिंदू-संस्कृतिका सिक्का मक्का, बगदाद तथा दूसरे देशोंमें भी जमाया। उस समयकी दशाका वर्णन स्वयं गुरुजी इन शब्दोंमें करते हैं—

कलि काती राजे कसाई धर्म पंख कर उडि रया।
कूड़ अमावस सच्च चंद्रमा दीसे नाहीं कहि चढ़िया॥

बाबा गणेशसिंहजी वेदी अपनी रचित नानक-जन्म-साखीमें गुरुजीके जन्मका हेतु इसी प्राचीन विचारधाराकी रक्षा लिखते हैं—

राज विनाश भयो नृप हिंदुन, फैल पर्‍यो जगमें तुरकाना।
घात गवादिक पातक पुंज सु होन लगे उतपात महाना॥
संयम नेम गयो छपि कै, कलि काम औ क्रोध भया परधाना।
भूप भयो मति अंध महा, निरखै न कछू न सुनै कछु काना॥

देशपर संकट देख गुरु गोविन्दसिंहजीने इस भक्ति-सम्प्रदायको एक शूरवीरोंकी सेनामें परिणत किया। इनको देश और भारतीय संस्कृतिका रक्षक बनाया। यह सम्प्रदाय आजसे पचास वर्ष पहलेतक अपने-आपको देशकी स्थायी सेना समझता था। परंतु विदेशियोंकी कुटिल नीतिके चक्करमें फँस तथा राज्यसत्ताके लोभसे कुछ सिक्ख भाई अपने-आपको पृथक् मानने लगे। गुरु तेग़ बहादुरजीने हिंदू-संस्कृतिकी रक्षाके लिये ही देहलीमें शीश दिया था; उस बारेमें स्वयं गुरु गोविन्दसिंहजी दसम ग्रन्थमें लिखते हैं—

तिलक जञ्जू राखा प्रभु ताका।
कीन्हा बड़ा कलूमें साका॥
साधन हेतु इती जिन करी।
सीस दिया, पर सी न उचरी॥

गुरु ग्रन्थसाहिबमें लिखा है कि यदि सुन्नतसे ही पुरुष मुसलमान होता है तो स्त्री मुसलमान नहीं हुई। अर्द्ध शरीरको तो छोड़ दिया गया। भई, हम तो हिंदू ही भले।

सुन्नत किये मुसलमान जे होयेगा, औरतका क्या करिये।
अर्द्ध शरीरी नार जो त्यागी, ताते हिंदू ही रहिये॥

हिंदू-धर्मकी जागृतिके लिये काली मैया भगवतीसे गुरुजी प्रार्थना करते हैं—

सकल जगतमें खालसा* पंथ गाजै।
जगै धर्म हिंदुन, सकल धुंध भाजै॥

हिंदू-धर्मके मुख्य-मुख्य अंगोंका प्रतिपादन करनेके लिये यदि गुरु ग्रन्थसाहिबसे प्रमाण दिये जायँ तो यह लेख ही हिंदू-संस्कृति-अंक बन जाय; परंतु नीचे हिंदू-धर्मके कुछ विषयोंका प्रतिपादन गुरुसाहिबकी निज रचनाओंसे किया जाता है—

१. ओंकार-महिमा

ओंकारकी महिमा शास्त्रोंमें भूरि-भूरि गायी गयी है। इसे सब मन्त्रोंका सेतु माना गया है—'**मन्त्राणां प्रणवः सेतुः।**' इसी प्रकार गुरु ग्रन्थसाहिबका आरम्भ भी एक ओंकारसे होता है—जैसे एक ओंकार सत्त नाम कर्ता पुरुष इत्यादि। तथा—

हरि जू सदा ध्याए तू गुरु मुख एक ओंकार।
ओंकार ब्रह्मा उत्पत, ओंकार बेद निर्माए॥
जल थल महिथल पूरिया स्वामी सिरजनहार।
अनिक भाँति होइ पसरिया नानक एक ओंकार॥
ओम् अख्खर सुनहु बिचार, ओम् अख्खर त्रिभुवन सार।
प्रणवों आदि ऐक ओंकारा, जल थल महियल कियो पसारा॥

२. गौ-महिमा

गुरु गोविन्दसिंहजीकी प्रतिज्ञा

(च्छके छन्द पातशाही१०)

यही देह आज्ञा, तुर्क गहि खपाऊँ।
गऊ घातका दोख जग सो मिटाऊँ॥
यही आस पूरण करौ तुम हमारी।
मिटै कष्ट गौअन, छुटै खेद भारी॥
ब्राह्मण-गौऊ-वंश-घात अपराध करारे।

(ग्रन्थसाहिब)

* खालसा पंथ अर्थात् शुद्ध मनुष्यताका पथ दिखानेवाला हिंदू।

धात गवादिक पातक पुंज सु होन लगे उत्पात महाना।

(जन्मसाखी)

३. अवतारवाद

गुरु गोविन्दसिंहजी ईश्वरके अवतारका हेतु दसम ग्रन्थमें अपनी मुखवाक्से करते हैं—

जब जब होत अरिष्ट अपारा। तब तब देह धरत करतारा[१]॥
आपन रूप अनन्तन धरहीं। आपन मध्य लीन पुन करहीं॥

४. संसारकी रचना और भगवतीका प्रादुर्भाव

गुरु गोविन्दसिंहजी दसम ग्रन्थमें लिखते हैं—

प्रथम काल सब जगको ताता,
ताते तेज भयो विख्याता।
सोई भवानी नामु कहाई,
जिन यह सगली सृष्टि बनाई॥

५. कर्म और ज्ञानका मेल

ग्रन्थसाहिब—

फलके कारण फुली बनराए।
फल भया तो फूल बिलाए॥
ज्ञानके कारण कर्म अभ्यास।
ज्ञान भया तो कर्म नाश॥

६. तीर्थ-महिमा

तीरथ, तप्प, दया दतु दान।
जे को पावे तिलका मान॥

(जपुजी)

तीर्थस्नान, तपस्या, दया और दान इत्यादिका फल तिलभर करनेसे मन[२] हो जाता है। तथा—

तीरथ व्रत और दान कर मनमें धरे गुमान।
नानक निष्फल जात है ज्यों कुंजर अस्नान॥

(ग्रन्थसाहिब)

तथा—

तीर्थ नहावाँ, जे तिस भावाँ,
बिन भाने क्या नहाये करी।

(ग्रन्थसाहिब)

'हम तीर्थोंमें इसीलिये नहाते हैं कि जिससे उसके प्रियपात्र बनें; उसके प्रिय नहीं बने तो नहाकर क्या किया।'

७. श्राद्ध-महिमा

आप ने देहि चुलू भर पानी,
तेहि निंदहिं जे गंगा आनी।

(ग्रन्थसाहिब)

कलिमें ऐसे पुरुष भी हैं, जो स्वयं अपने पूर्वजोंको तो एक चुल्लूभर जल नहीं दे सकते; परंतु उस राजा भगीरथकी निन्दा करते हैं, जिसने पूर्वजोंके उद्धारके लिये गंगाका अवतरण किया।

८. वेदान्त

ईश जीवमें भेद न जानो।
साधु, चोर सब ब्रह्म पहचानो॥
हसती चींटी तृण लों आदं।
एक अखंडत बसै अनादं॥
चाप ज्ञान कर जाहि बिराजै।
छाया द्वैत सगल उठ भाजै॥
लिवलीन भये आतम मध्य ऐसे।
ज्यों जल जलहि भेद कहु कैसे॥
वासुदेव बिन अवर न कोऊ।
नानक ओं सोऽहं आतम सोऊ॥

(गुरु नानक)

९. योग

प्रभुके सिमरन निश्चल आसन।
प्रभुके सिमरन कमल विगासन॥
प्रभुके सिमरन अनहत झुंकार।

(सुखमनी)

झुनतकार अनहद घनघोरं।
त्रिकुटी भीतर अति छब जोरं॥
जानत योगी इह रस बाता।
सोऽहं शब्द अमी रस माता॥

(पैंतीस अखरी)

१०. राम-महिमा

सिक्ख-सम्प्रदायकी नींव ही राम-नाम है। गुरु ग्रन्थ-साहिबमें स्थान-स्थानपर राम-नामकी महिमा लिखी है। राम तो गुरु नानकजीके पूर्वज ठहरे। गुरु नानकजी अपनी वंशावली लिखते हैं—

सूरजवंशी रघु भया, रघुकुल वंशी राम।
रामचंद्र के दोए सुत, लऊ कुशू तहि नाम॥

---

१. ईश्वर। २. चालीस सेरका मन।

यह हमारे बड़े हैं जुगां-जुगां अवतार।
संग सखा सब तज गये, कोऊ न निबहो साथ।
कहि नानक इस विपतमें टेक एक रघुनाथ॥
सब ते ऊँच राम परकाश।
निस बासर जप नानक दास॥
राम नामं महा मंत्रं।
न ओ मरें न ठागे जाहिं॥
जिनके राम बसे मन माहिं।

रामायण-महिमा दसम ग्रन्थसे

रामकथा जुग-जुग अटल सब कोउ भाखत नेत।
स्वर्गवास रघुवर किया सगली पुरी समेत॥
जो यह कथा सुने अर गावे
दूख पाप तह निकट न आवे।
विष्णु-भक्तकी यह फल होई
आधि ब्याध छू सके न कोई॥

११. कृष्ण-महिमा

आशाकी वार—

एक कृष्णं सर्व देवा देव देवात आत्मः
आत्मं श्रीवासुदेवस्य जे को जानस भेव
नानक ताका दास है, सोई निरंजन देव॥
आपे गोपी, आपे कान्हा, आपे गऊ चरावे वाना।
आप उपावे, आप खपावे, तुध लेप नहीं इक तिल रंगा॥
(ग्रन्थसाहिब)

रासलीलाकी समीक्षा करते हुए गुरु नानकजी लिखते हैं कि 'हे प्रभु कृष्ण! आप ही गोपी हो, आप ही कृष्ण हो। आप ही गौ हो और आप ही गौ चरानेवाले हो। आप ही इस संसारके कर्ता और संहारक हो, परंतु इसमें आप निर्लिप्त हैं।

हरि-हरि करत पूतना तरी,
बाल-घातनी कपटहिं भरी।
केसी कंस मथन जिन कीया,
जीय दान कालीको दीया।
प्रणवे नामा, ऐसो हरी,
जास जपत भय-अपदा टरी॥
(ग्रन्थसाहिब)

दसम ग्रन्थमें गुरु गोविन्दसिंहजी कृष्ण-स्तुति लिखते हैं—

जो उपमा ब्रजनाथकी गाइहैं,
और कवित्त न बीच करैंगे।
पापनके तेउ पावकमें,
कविशाम भनै, कबहू न जरैंगे॥
चिन्त सभै मिटहैं जु रही,
छिनमें तिनके अघवृन्द टरैंगे॥
जो नर श्याम जुके परसे पग,
ते नर फेर न देह धरैंगे॥

दसम ग्रन्थमें गुरु गोविन्दसिंहजी-कृत मुरलीमहिमा

यह कविता प्रकृतिमें भी रस पैदा कर रही है—
रूखन*ते रस चूवन लाग, झरै झरना गिरिते सुखदाई।
घास चुगै न मृगा बनके, खग रीझ रहै, धुन जा सुन पाई॥
देवगँधार बिलावल सारँगकी रिझ कै जिह तान बसाई।
देव सभै मिल देखत कौतुक, ज्यौं मुरली नँदलाल बजाई॥

१२. भगवती-महिमा

छ्ठके गुरु गोविन्दसिंहजी—

नमो उग्रदन्ती अनन्ती सवैया,
नमो जोग-जोगेश्वरी जोगमैया।
नमो केहरी-वाहनी शत्रु-हंती,
नमो शारदा ब्रह्मविद्या पढ़ंती।
नमो ऋद्धिदा, सिद्धिदा, बुद्धि-दैनी।
नमो कालके कालको काल-छैनी॥
नमो ज्योति-ज्वाला तुम्हें वेद गावै।
सुरासुर ऋषीश्वर नहीं भेद पावै॥

१३. नाम तथा भक्ति-महिमा

बसंत महला ५ घर १,
सुन साखी मन! जप प्यार,
अजामल उधरिया कहि एक बार।
बाल्मीकि होया साधू संग,
धूको मिलिया हरी निसंगु।
तेरियाँ सन्तां याचों रेन,
ले मस्तक लावों करि कृपा देन।
गणिका उधरी, हरि कहै तोत,
गजेन्द्र ध्यायो, हरि कीयो मोख।
विप्र सुदामें दालदु भंज,
रे मन! तू भी भजु गोविन्द।

१४. यममार्गका वर्णन

सुखमनी साहिब—

जह मात पिता सुत मीत न भाई,
मन! उहाँ नाम तैरै संग सहाई॥

* वृक्ष।

जह महा भयान दूत यम दलै,
तह केवल नाम तैरै सँग चलै।
जिह मारग एह जात इकेला,
तह हरका नाम सँग होत सुहेला॥
जिस मारगके गने जाहि न कोसा,
हरका नाम उहाँ संग तोसा।
जिह पैडेमें अन्ध गुबारा,
हरका नाम संग उजयारा॥
जह महा भयान तपत बहु घाम,
तह हरके नामकी तुम उपर छाम।
सभ ते उत्तम हरिकी कथा,
नाम सुनत दारद दुख लथा॥

गुरुजीके इन शब्दोंसे मैं इस लेखको समाप्त करता हूँ और अपने सिक्ख भाइयोंसे प्रार्थना करता हूँ कि वे अपने मूलको न भूलें और अपने देश तथा संस्कृतिके रक्षक बनें।

काल तुही, काली तुही, तुही तेग़ अर तीर।
तुही निशानी जीतकी, तुही आज जग बीर॥

संस्कृति-सौष्ठव

(रचयिता—विद्याभूषण कविवर श्रीओंकारजी मिश्र 'प्रणव' शास्त्री, सं० उपाध्याय)

प्रभा-प्रतिभाके पुञ्ज प्रधान, ईशके वैदिक वन्द्य विधान।
आर्य (हिंदु) संस्कृति हे अखिल-उदान, विश्वमें तेरा जय-जय-गान॥ १ ॥
'प्रणव' के नैगम नव्य-निनाद, महामुनि मङ्गलमय मर्याद।
साधना-सुषमाके संवाद, सृष्टिके श्रेयस्कर पन्थान॥ २ ॥
अलौकिक आलोकोंके लोक, शोकके हर्ता मञ्जु अशोक।
अवनि बन जाये तेरा ओक, सुधा-धाराका कर-कर पान॥ ३ ॥
स्व ऋग्-यजु-साम-अथर्वाधार, ज्ञानयुत कर्मोंका विस्तार।
उपासनका हो प्रचुर प्रचार, बढ़े वर वेद-विटप-विज्ञान॥ ४ ॥
साङ्ख्य, मीमांसा, न्याय, नितान्त, योग शुभ वैशेषिक, वेदान्त।
कर रहे शङ्काओंको शान्त, त्रित्वका देकर प्रबल प्रमाण॥ ५ ॥
समुज्ज्वल सूत्रोंका सञ्चार, सुखद शुचि स्मृतियोंका अवतार।
उपनिषद्वीणाकी झङ्कार, सुनाती 'श्रेय प्रेय' की तान॥ ६ ॥
अमर युग-दीपक-लोक-ललाम, प्रकाशित जहाँ राम, घनश्याम।
धरामें सर्वोन्नत, अभिराम, सरलतासे सिञ्चित-उद्यान॥ ७ ॥
उदधि सम ज्ञान-राशि गम्भीर, हिमाचल-सी यह अविचल धीर।
गङ्ग सम पावन तारन तीर, भर रही लोकोंमें कल्याण॥ ८ ॥
दे रही शान्ति-सौख्य-सन्देश, सर्गके सभी दूरकर क्लेश।
विश्व-बन्धुत्व, वीरता देश, देशको देती है वरदान॥ ९ ॥
विचरते जीव जहाँ स्वच्छन्द, न होता जगज्जन्य दुख-द्वन्द्व।
मुक्ति महलोंकी वीथि बुलंद, बताते स्वयं वेद भगवान॥ १० ॥
पानकर चारु चन्द्रिका प्यार, धर्मसे धवलित हो संसार।
उड़े नभमें गुरु-गौरव धार, हिंदु (आर्य) संस्कृतिका विशद विमान॥ ११ ॥

भारतीय संस्कृतिका शत्रु—गंदगी

(लेखक—बाबा श्रीराघवदासजी)

भारतीय संस्कृतिमें स्वच्छताका सर्वप्रथम स्थान है। मानसिक शुद्धताके लिये वाणीकी शुद्धताके साथ शरीर और परिस्थिति तथा आस-पासके वातावरणकी स्वच्छताका सदा ध्यान रखा गया है। हमारे समाजमें न केवल प्रात:काल उठना आवश्यक था; बल्कि आजकलकी भाँति उठकर बिछौना-चाय (Bed-tea)-लेना नहीं—उठते ही शौच, मुखमार्जन, दन्तधावन, स्नानादि नित्यक्रियाएँ आवश्यक थीं और आज भी इनको अधिकांश भारतीय आवश्यक समझते हैं। त्रिकाल स्नान, सूर्योपासना—ये हमारे जीवनके अंग थे। गृहदेवियाँ उठते ही घर एवं बाहरका स्थान झाड़ूसे स्वच्छ करके यहाँ पानीसे छिड़काव करती थीं। शौचके लिये दूर जंगलमें जाना, मलको भूमिमें दबानेके लिये खुरपीका उपयोग, हवन, पुष्पोंका उपयोग आदि सब बातें स्वच्छताके लिये ही थीं, रोज बर्तन मलना, चौका देना, अलग थालीमें भोजन, पानीके लिये सबके अलग-अलग पात्र आदि स्वच्छताकी पूर्णताके लिये ही थे। साड़ी तथा धोतियोंका उपयोग हमारे समाजमें इसीलिये है कि उन्हें रोज धोया जा सके। इस स्वच्छताके कारण ही भारतीय संस्कृति चिरस्थायी हो सकी। स्वच्छता ही इसका प्राण है।

जबसे हम गुलाम हुए, स्वच्छताकी ओर हमारा दुर्लक्ष्य हो गया। हमने विदेशियोंसे स्वच्छतासम्बन्धी कम बातें सीखीं; पर उनका स्नान न करना, देरसे सोकर उठना, उठते ही बिछौनेपर चाय पीना, धूम्रपान, स्नान-ध्यानका परिहास करना हमने सीख लिया। इसीसे महात्मा गान्धीजी-ऐसे संतने अपनी शिक्षा-पद्धतिमें सर्वप्रथम स्थान सफाईको दिया। शुचिताके बिना मनकी प्रसन्नता कहाँ? और उसके बिना शिक्षा कैसी? इसीलिये तो महात्माजीको भंगीका काम करते हमने सर्वप्रथम पाया, जो काम स्वच्छताकी जड़ है।

आज स्वच्छताके अभावमें हमारे गाँव न केवल बाहरसे गंदे हैं, और उनमें चारों ओर पेशाब, कूड़ा, मल दिखायी देता है; बल्कि भीतर भी गंदी नालियों, नाबदानोंसे सड़ानकी दुर्गन्धि उनमें भरी होती है। इसके कारण हमारा जीवन रोग-दु:खमय हो गया। प्लेग तो गंदगीसे पैदा होता ही है; हैजा, काला ज्वर, चेचक, मलेरिया आदि बहुत-सी बीमारियाँ इसी गंदगीसे उत्पन्न होती हैं। इन महामारियोंसे प्रतिवर्ष लाखों स्त्री-पुरुष और बच्चे मृत्युके शिकार होते हैं। यदि थोड़े-से लोग अकालमें मरते हैं, यदि कुछ हजार लोग साम्प्रदायिक दंगोंमें मारे जाते हैं तो हम उबल पड़ते हैं; पर इन महामारियोंने जो कहर ढाया है, उसे हम देखते ही नहीं। गत वर्ष श्रीअयोध्याजी-ऐसे तीर्थस्थानसे पैदा होकर हैजेने केवल बस्ती जिलेमें हजारों स्त्री-पुरुषोंको अल्पकालमें कालके द्वारपर भेज दिया। सन् १९१८ में युद्ध-ज्वरने साठ लाख स्त्री-पुरुष एवं बालकोंकी भेंट ली थी इसी गंदगीके कारण। इसी प्रकार यह गंदगी अनेक रूपोंमें प्रतिवर्ष लाखों प्राणोंकी बलि लेती है। तीर्थस्थानोंकी गंदगी कुष्ठ रोग फैलानेके लिये हमारे देशमें प्रख्यात है।

जहाँ यह गंदगी एक ओर इतना अनर्थ करती है, वहीं दूसरी ओर यदि उसे ठीक सँभालकर उपयोगमें लिया जाय तो वह खादके रूपमें धरती माताकी खुराक है—भोजन है। उसीसे श्रीमाता अन्नपूर्णा प्रसन्न होती हैं। आजका हमारा अन्नका दुर्भिक्ष इस समय अन्नपूर्णाकी अकृपासे ही तो है। अस्तु,

सबेरेका भूला यदि शामको घर आ जाय तो भूला नहीं कहा जाता। इसी प्रकार यदि हम अब भी इस परम शत्रु गंदगीको दूर हटानेमें लग सकें तो हमारे पूर्वज परलोकसे हमें आशीर्वाद देंगे! वह आशीर्वाद होगा सद्बुद्धि तथा सदुद्योग करनेकी क्षमता।

सभी निर्मल और पवित्र हों

जीवन, तन, मन, वचन, धन, भोजन, जन-व्यवहार।
अति निर्मल सुपवित्र हों, वस्तु सभी आचार॥

—'अकिंचन'

भारतीय शिक्षाका आदर्श

(लेखक—पं० श्रीरामदत्तजी शुक्ल, एम० ए०)

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। (कठ०)

विद्यासे अमृतत्वकी उपलब्धि और अविद्यासे सब प्रकारके बन्धनकी प्राप्ति होती है। इस शाश्वत शास्त्रीय तत्त्वको हृदयङ्गम करनेवाले वेदमहर्षियोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी पुरुषार्थचतुष्टयको अधिगत करनेके लिये अन्य अनेक अनुष्ठानोंसे पूर्व संस्कार और शिक्षापर विशेष बल दिया; क्योंकि '**संस्कारदोषादिन्द्रियदोषाच्च अविद्या**'—संस्कार-दोष और इन्द्रिय-दोषके कारण अविद्या उत्पन्न होती है और अविद्यासे ही अभिभूत होकर मनुष्य अनेक प्रकारके दुरितों एवं पापोंकी ओर अग्रसर होता है। अविद्याजनित पतनोन्मुख समस्त विघातक प्रवृत्तियोंसे परिरक्षित रखते हुए विद्याजनित समस्त उन्मुखी प्रवृत्तियोंकी ओर प्रेरित करते रहनेके लिये जो चिरकालिक सत्र है, उसीको शिक्षा कहा जाता है। इस सत्रकी सफल और पूर्ण समाप्तिपर पुरुषार्थचतुष्टयकी उपलब्धिके अनुरूप विद्या-व्रत-स्नातकरूपमें उदीयमान सर्वशक्तिसम्पन्न व्यक्तियोंका विकास ही भारतीय शिक्षाका प्रयोजन है।

भारतीय शिक्षासत्रको मुख्यतया तीन श्रेणियोंमें विभाजित किया जा सकता है—प्रथम माताके प्रभावसे होनेवाली शिक्षा और संस्कार, दूसरी पिताके प्रभावसे होनेवाली और तीसरी आचार्यके प्रभावसे होनेवाली शिक्षा। यों तो गर्भाधानकी रात्रिसे पूर्व भावी माता और पिता दोनोंके लिये ही विद्या एवं व्रत-स्नातक बनकर अविप्लुत ब्रह्मचर्य-साधना करना आवश्यक है; क्योंकि आदर्श सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही एक ओर जहाँ भगवान् मनुका उत्कृष्ट अनुशासन यह है कि—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥

—वहाँ उस आदर्शके परिपालनार्थ भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी पत्नी रुक्मिणीकी श्रेष्ठ साधना देखिये—

ब्रह्मचर्यं महद्घोरं चीर्त्वा द्वादशवार्षिकम्।
हिमवत्पार्श्वमभ्येत्य यो मया तपसार्जितः॥
समानव्रतचारिण्यां रुक्मिण्यां योऽन्वजायत।
सनत्कुमारस्तेजस्वी प्रद्युम्नो नाम मे सुतः॥

(महा० सौप्तिक १२। ३०-३१)

इस उग्र साधनाके फलस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण और रुक्मिणीने प्रद्युम्नको प्राप्त किया। इस उदाहरणसे स्पष्ट होता है कि माता-पिताकी गर्भावस्थाके पूर्व संस्कारबलोपेत सन्तान उपलब्ध करनेके लिये किस प्रकारकी साधना करना आवश्यक है। यह साधना सम्पन्न होनेके उपरान्त नौ मास माताके गर्भमें कुक्षिस्थ बालक या बालिकाका न केवल शरीर ही निर्मित होता है अपितु प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि-आदि समस्त अविकसित शक्तियोंका विकास अथवा विनाश माताके विचारों, भावनाओं, चेष्टाओं, संकल्पों और व्यवहारोंके अनुरूप होता रहता है। संस्कार और शिक्षा—दोनों प्रकारकी शक्तियोंसे सुसम्पन्ना माताएँ अपने गर्भस्थ बालकके पूर्ण विकासके हेतु असाधारण सावधानीके साथ अपने इस नवमासिक जीवनकालको अनेक व्रतों और नियमोंके अनुसार व्यतीत करती हैं। अपनी प्रत्येक चेष्टासे बालकका स्वरूप प्रभावित होगा—इस दृष्टिसे संकल्प, भावना और विचारमें भी क्षुद्रता, निम्नता अथवा पतनोन्मुख प्रवृत्तियोंको किसी प्रकार आश्रय नहीं देतीं। गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयनपूर्वक उदीयमान शिशुका जन्म होता है। आजसे '**वेदोऽसि**' इस पवित्र मन्त्रसे सर्वप्रथम सम्बोधित करते हुए पिता-माताके द्वारा उत्पादित शिशुकी सुशिक्षाका प्रारम्भ जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, कर्णवेध, चूडाकर्मादि संस्कारोंके समयमें होता रहता है। माताके सान्निध्यमें सतत रहते हुए भी समय-समयपर पिताके साक्षात् सम्पर्क, सदुपदेश और सुशिक्षासे वंशानुगत संस्कारजन्य अविकसित शक्तियोंका विकास बालकमें होने लगता है। बालककी नैसर्गिक प्रवृत्ति, अभिरुचि और चेष्टाओंसे प्रकट होने लगता है कि अब उसको अपने भावी जीवन-निर्माणके लिये किस प्रकारके आचार्यकी आवश्यकता है। अत्यन्त तेजस्वी बालकका पाँच वर्षकी आयुमें, किंतु अन्य प्रकारके बालकोंका आठ वर्षकी आयुमें अनुकरणीय-चरित्र आचार्यके द्वारा उपनयन-संस्कार करनेका विधान शास्त्रकार मनोवैज्ञानिक आधारपर करते हैं। यह उपनयन-संस्कार उपवासपूर्वक करनेका विधान है। साधारण तथा उपवासका अर्थ अनाहार और उपनयनका अर्थ समारोहके साथ तीन तागेका सूत्र या यज्ञोपवीत धारण करना मात्र समझा जाता है। वस्तुतः दोनों शब्दोंमें उप,

जिसका अर्थ सामीप्य है, समान है; और वस् एवं नी— इन दोनों धातुओंका भी 'रहना' तथा 'लाना' लगभग समानार्थ ही है। दूसरे शब्दोंमें आचार्यका सामीप्य इतना घनिष्ठ हो जाय कि बालक और माताकी भाँति अन्तेवासी एवं आचार्यमें अभेद प्रतीत होने लगे। इतना ही नहीं, अपितु माता और पिता दोनोंके अभिन्न एकत्वकी प्रतिष्ठा आचार्यमें हो जाती है। इसी अभिन्न सम्बन्धको आथर्वण श्रुतिने अपने अमर शब्दोंमें इस प्रकार व्यक्त किया है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

जिस बालकका आचार्य उपनयन करता है, उसको तीन रात्रिपर्यन्त अपने गर्भमें परिरक्षितरूपमें रखता है और इस प्रकार आचार्यके गर्भमें परिपालित होकर जायमान गुणोपेत ब्रह्मचारीको अवलोकन करनेके लिये अनेक प्रकारके देवगण आते हैं। वस्तुतः जो ब्रह्मचारी अपने आचार्यकी अनुकम्पाका यहाँतक अपनेको भाजन बनानेमें समर्थ होता है और आचार्यके चरणोंमें बैठकर उनके अनुकरणीय चरित्रसे एवं पवित्र जीवनसे अनुप्राणित होनेका सुयोग प्राप्त करनेकी क्षमता अपने संस्कारजन्य जीवनमें रखता है, वही वेदारम्भसंस्कारसे संस्कृत होकर समावर्तन-पर्यन्त न्यून-से-न्यून द्वादशवर्षव्यापी ब्रह्मचर्यके घोर व्रतका अनुष्ठान करके पुरुषार्थचतुष्टयकी उपलब्धिके निमित्त '**आयुरस्मासु धेहि, अमृतत्वमाचार्याय**' इस श्रुतिवाक्यको कहनेका अधिकारी बन जाता है। आचार्यके आश्रममें पर्वत और वनराजिविभूषित सरिताके सान्निध्यमें, ओषधि, वनस्पति, गुल्मलता, वीरुध्, गवादि पशुसङ्घके मध्य सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि, वायु, जल और आकाशके प्रभावसे प्रभावित होते हुए कह सकता है—'**माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**, मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ, भूमि मेरी माता है।' इन्हीं पवित्र आर्य-आश्रमोंमें विकासोन्मुख ब्रह्मचारी पवित्र पावमानी ऋचाओंको आत्मसात् करनेका अभ्यास करता है, और ऐसे अभ्यासीके लिये, '**तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्**', यह सामश्रुति कामधेनु बनकर चारों पदार्थोंको अनायास प्रस्तुत करती है। इस प्रकारसे जब शिक्षा-सत्र सम्पन्न होता है, तब आचार्य और अन्तेवासी दोनों सगर्व एवं यथार्थ कह सकते हैं।

सह नौ अवतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नौ अधीतमस्तु, मा विद्विषावहै॥

अर्थात् हम दोनों परस्पर एक-दूसरेकी रक्षा करें, अधिगत विद्याप्रसादको परस्पर मिलकर उपभोग करें, परस्पर मिलकर अविद्यान्धकारको दूर करनेके लिये प्रयत्न करें, हम दोनोंके द्वारा अधिगत विद्या तेजस्विनी हो और हम दोनों परस्पर कभी किसी प्रकारसे द्वेष न करें। इस श्रुतिवाक्यमें दिये हुए पाँच प्रयोजनोंको जब कभी जहाँ कहीं आचार्य और अन्तेवासी पारस्परिक व्यवहारमें लानेमें समर्थ होते हैं, वहीं प्राप्त विद्या वस्तुतः वीर्यवती होकर विद्यावंशको अविच्छिन्नरूपसे अमर बनाती है, आचार्य और ब्रह्मचारी दोनोंकी साधना सफल होती है।

शिक्षासत्रके पूर्ण होनेपर आचार्यका अपने प्राणप्रिय अन्तेवासीके लिये उपदेश होता है—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदितव्यं धर्मान्न प्रमदितव्यं कुशलान्न प्रमदितव्यं भूत्यै न प्रमदितव्यं स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं देव-पितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। (तैत्तिरीय० शिक्षावल्ली)

जबतक यह आदर्श शिक्षासत्र भारतके आचार्यों और ब्रह्मचारियोंमें अनुष्ठित होता रहा, तबतक भारतमें अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंकी समुचित उन्नति होती रही।

हिंदू-देवियोंका बलिदान

पति-अनुराग लिये आगमें समाईं शीघ्र हाहाकार त्याग घोर घनकी गरजमें।
हिंदू-देवियोंके बलिदानकी कथाएँ पढ़ो दुर्गमें चितौरके लिखी जो रज-रजमें॥
ठाट ठठरीकी काशमीरघाटियोंमें छोड़ उड़के अकाशमें मिलीं जो ईश-अजमें।
चुनीं जो चनाबमें, विपत्ति झेल झेलममें, रावीमें रुधिर रख लाज सतलजमें॥

—'राम'

संस्कृत-व्याकरणशास्त्रका संक्षिप्त परिचय

(लेखक—श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसक)

भारतीय संस्कृतिका मूल आधार उसका प्राचीन वाङ्मय है। भारतीय प्राचीन वाङ्मय संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश तथा देशिक आदि अनेक भाषाओंमें पल्लवित है। भारतका सबसे प्राचीन वाङ्मय वैदिक संस्कृत भाषामें विद्यमान है और वह है वेद, उसकी शाखाएँ और ब्राह्मण आदि ग्रन्थ-समुदाय। वेदके सम्यक् अध्ययन, ज्ञान और प्रयोगके लिये प्राचीन ऋषियोंने शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष—इन छः वेदांगोंको समाम्नात किया।[1] यद्यपि वेदार्थ-ज्ञानके लिये निरुक्त शास्त्रकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति हुई तथापि निरुक्तका ज्ञान बिना व्याकरणके सम्भव नहीं। इसलिये वेदांगोंमें व्याकरणका स्थान गणनाक्रमसे तृतीय होते हुए भी वह वेदार्थज्ञानमें प्रधानतम साधन है।[2] बिना व्याकरणज्ञानके वेदार्थका समझना न केवल दुष्कर ही है अपितु असम्भ्व है। व्याकरणज्ञानशून्य व्यक्तिकी निरुक्तमें भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।[3] अतः भारतीय संस्कृति और उसके आधारभूत वैदिक वाङ्मयकी रक्षामें वैयाकरणोंका बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है। उन्हींके ग्रन्थोंके अध्ययनसे हम वेदार्थज्ञानमें कुछ समर्थ होते हैं। इसलिये हम इस लेखमें भारतीय संस्कृतिकी रक्षाके प्रधान साधन संस्कृत-व्याकरणशास्त्रकी प्रवृत्ति, विकास और ह्रासपर संक्षेपसे प्रकाश डालेंगे।

भारतीय ऐतिहासिकोंका सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि वैदिक संस्कृतिसे सम्बद्ध प्रत्येक शास्त्रका आदिस्रोत वेद है।[4] भगवान् पतंजलिने व्याकरण-शास्त्रका आविर्भाव वेदसे माना है। पतंजलिने अपने सिद्धान्तकी पुष्टिमें '**चत्वारि शृंगा०, चत्वारि वाक्०, उत त्वः सक्तुमिव०, सुदेवोऽसि०**'—ये पाँच वेद-मन्त्र उद्धृत किये हैं। पतंजलिसे प्राचीन यास्क (२८००वि०पू०) ने भी निरुक्त १३। २ में '**चत्वारि वाक्०**' मन्त्रकी व्याख्या व्याकरणशास्त्रपरक की है[5]। वैदिक मन्त्रोंमें अनेक प्रत्ययोंकी धातुमूलक व्युत्पत्तियोंका निर्देश मिलता है। यथा—

स्तोतृभ्यो मंहते मघम्। (ऋ० १। ११। ३)
ये सहांसि सहसा सहन्ते। (ऋ० ६। ६६। ९)
धान्यमसि धिनुहि देवान् (यजुः १। २०)
केतपूः केतं नः पुनातु। (यजुः ११। ७)
येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा।
(साम० उ० ५। २। ८। ५)
तीर्थैस्तरन्ति। (अथर्व० १८। ४। ७)

इन उद्धरणोंसे व्यक्त है कि व्याकरणके मूलभूत सिद्धान्तका आदिस्रोत वेद है।

व्याकरणशास्त्रकी उत्पत्ति

व्याकरणशास्त्रकी उत्पत्ति कब हुई, इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। भारतीय इतिहासके अनुसार सर्वविद्याओंके आदि प्रवक्ता आदि विद्वान् ब्रह्मा हैं। व्याकरणके विषयमें ऋक्तन्त्र-व्याकरण १। ४ में लिखा है—

ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः।

आदितन्त्रप्रणेता

ऋक्तन्त्रके उपर्युद्धृत वचनमें व्याकरणके क्रमशः ब्रह्मा, बृहस्पति, इन्द्र और भरद्वाज प्रवक्ता कहे गये हैं। महाभाष्यसे ज्ञात होता है कि बृहस्पतिने इन्द्रको प्रतिपदपाठद्वारा शब्दोपदेश किया था। उस समयतक लक्षणात्मक शास्त्रकी प्रवृत्ति नहीं हुई थी। इन्द्रने प्रतिपदपाठद्वारा व्याकरणोपदेश-प्रक्रियाकी दुरूहताका अनुभव किया और अपने समयके महान् शाब्दिक आचार्य वायुकी सहायतासे एक ऐसी प्रक्रियाका प्रकाश किया, जो न्यूनाधिकरूपसे आजतक व्यवहृत है। इस महती ऐतिहासिक घटनाका निर्देश तैत्तिरीय संहिताके निम्न पाठमें मिलता है—

वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोऽब्रवीद्वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।

---

१. बिल्वग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। (निरुक्त १। २०)
२. प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। (महाभाष्य अ० १, पाद १, आ० १)
३. नावैयाकरणाय (निर्ब्रूयात्)। (निरुक्त २। ३)
४. देखो हमारा 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्रका इतिहास', पृष्ठ ६।
५. नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः।

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य सायण ऋग्वेद-भाष्यके उपोद्घात (पृष्ठ २६, पूना संस्क०) में लिखते हैं—

तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृति-प्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्।

यह ध्यान रहे कि तैत्तिरीय संहितामें उल्लिखित इन्द्र और वायु ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, आलंकारिक नहीं।

व्याकरणशास्त्रका रचनाकाल

यद्यपि व्याकरणशास्त्रकी उत्पत्तिके वास्तविक कालका निर्णय करना कठिन है, तथापि तैत्तिरीय संहिताके उक्त वचनसे इतना स्पष्ट है कि इसके आदि तन्त्रप्रणेता 'इन्द्र' थे। अब विचारणीय है कि ये इन्द्र कब हुए।

ऋक्तन्त्रके पूर्वोक्त वचनके अनुसार व्याकरणप्रवक्ता आचार्योंकी परम्परामें इन्द्रका तृतीय स्थान है। इसलिये ये इन्द्र अत्यन्त प्राचीन व्यक्ति हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

संसारके प्रायः समस्त धर्मग्रन्थोंमें मनु (नूह)-के जलप्लावनका उल्लेख मिलता है। उसी जलप्लावनके अनन्तर क्रमशः ब्रह्मा, बृहस्पति और इन्द्र हुए। यह जलप्लावन कब हुआ, यह भी एक विचारणीय समस्या है। महाभारत और पुराणोंके अवलोकन और विमर्शसे हम इस निर्णयपर पहुँचे हैं कि मानव-जलप्लावन इस चतुर्युगीके प्रारम्भमें हुआ था। चारों युगोंका सन्ध्या और सन्ध्यासहित काल क्रमशः ४८००, ३६००, २४०० और १२०० दैववर्ष है (देखो मनुस्मृति १। ६८—७०) दैववर्ष मानुषवर्षसे ३६० गुना माना जाता है। हमारा विचार है, यह कल्पना ठीक नहीं। वस्तुतः दैववर्ष सौरवर्ष हैं। सौरवर्षमें चान्द्रवर्षके समान न्यूनाधिकता नहीं होती। अतः कालगणना सौर—दैववर्षसे ही की जाती है। द्वापरयुगकी समाप्तिको आज ५०५० वर्ष हुए, यह भारतीय इतिहासानुसार निश्चित है। किन्हीं पुराणपाठोंमें द्वापरके अनन्तर १२०० वर्ष परिमाणके कलियुगकी समाप्ति हो जानेपर कलिवृद्धिका उल्लेख मिलता है। वह हमारे विचारका पोषक है।[1]

पुराणोंके पाठसे हम इस निर्णयपर पहुँचे हैं कि इन्द्रका काल सत्ययुगके अन्त और त्रेताके प्रारम्भमें था। तदनुसार इन्द्र आजसे लगभग (५०५० कलि+२४०० द्वापर+३६०० त्रेता=११०५०) लगभग ग्यारह सहस्र वर्ष प्राचीन हैं। भारतीय काल-गणनानुसार इन्द्रका यह न्यूनतम काल है (दैववर्षकी दूसरी मान्यताके अनुसार इस इन्द्रका काल २१, ६५, ०५०—लगभग इक्कीस लाख पैंसठ हजार वर्ष होता है।)

व्याकरणशास्त्रके तीन विभाग

इन्द्रके अनन्तर इतने सुदीर्घ कालमें कितने व्याकरण ग्रन्थोंका प्रणयन हुआ, यह अज्ञात है। इस समय व्याकरणशास्त्रके जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उन्हें हम तीन विभागोंमें बाँट सकते हैं। यथा—

१. वैदिक-शब्दविषयक—प्रातिशाख्य आदि।

२. लौकिक-शब्दविषयक—कातन्त्रादि।

३. उभयविध-शब्दविषयक—आपिशल, पाणिनीय आदि।

व्याकरणप्रवक्ताओंके दो भेद

इस समय व्याकरणके जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें सबसे प्राचीन पाणिनीय व्याकरण है। पाणिनि मुनि प्राचीन व्याकरण-प्रवक्ता आचार्योंमेंसे सबसे अर्वाचीन हैं। इसलिये समस्त व्याकरणप्रवक्ता आचार्योंको हम दो विभागोंमें बाँट सकते हैं—पाणिनिसे प्राचीन और पाणिनिसे अर्वाचीन।

प्राचीन आचार्योंके दो भेद

पाणिनिसे प्राचीन व्याकरणप्रवक्ता आचार्योंके दो विभाग हैं—एक छन्दोमात्रविषयक प्रातिशाख्य आदिके प्रवक्ता, दूसरे सामान्य व्याकरणशास्त्रके प्रवक्ता।

प्रातिशाख्य-प्रवक्ता

प्राचीन कालमें वैदिक शाखाओंके जितने चरण थे,[2] उन सबके प्रातिशाख्य रचे गये।[3] उनमेंसे इस समय निम्न प्रातिशाख्य उपलब्ध होते हैं—

१. ऋक्प्रातिशाख्य—शौनकप्रणीत।

२. वाजसनेय प्रातिशाख्य—कात्यायनप्रणीत।

---

१. यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढं महर्षयः। तदा नन्दात् प्रभृत्येव कलिर्वृद्धिं गमिष्यति॥ (वि० पु०, भाग, पु०)
देखो 'भारतीय इतिहासकी रूपरेखा', द्वितीय संस्करण, भाग १, पृष्ठ ३१०।

२. शाखा चरणोंके अवान्तर भेदका नाम है। देखो भोजवर्मा (१२ वीं शताब्दी) का ताम्रपत्र—जमदग्निप्रवराय वाजसनेयचरणाय यजुर्वेदकण्वशाखाध्यायिने।
'वैदिक वाङ्मयका इतिहास', भाग १, पृष्ठ ७१ पर उद्धृत।

३. पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। (निरुक्त १। १७)

३. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य।

४. सामप्रातिशाख्य।

५. अथर्वप्रातिशाख्य।

६. मैत्रायणीय प्रातिशाख्य।

इनमें मैत्रायणीय प्रातिशाख्य अभीतक अमुद्रित है। इनके अतिरिक्त—

७. आश्वलायन-प्रातिशाख्य—आश्वलायनकृत।

८. वाष्कल-प्रातिशाख्य।

९. चारायण-प्रातिशाख्य।

ये प्रातिशाख्य यद्यपि इस समय उपलब्ध नहीं हैं, तथापि ये प्राचीन ग्रन्थोंमें यत्र-तत्र उद्‌धृत हैं। अतः इनकी सत्तामें कोई सन्देह नहीं।

अन्य छन्दोव्याकरण

प्रातिशाख्योंके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी व्याकरण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनकी गणना प्रातिशाख्योंमें न होनेपर भी जिनका सम्बन्ध वेद और उनके शाखा-विशेषोंके साथ है। यथा—

१. ऋक्तन्त्र—शाकटायन या औद्‌व्रजिकृत।

२. लघुऋक्तन्त्र।

३. सामतन्त्र—औद्‌व्रजि या गार्ग्यकृत।

४. अक्षरतन्त्र—आपिशलिकृत।

५. अथर्व-चतुरध्यायी—शौनक या कौत्सप्रणीत।

६. प्रतिज्ञासूत्र—कात्यायन।

७. भाषिकसूत्र।

प्राचीन व्याकरण-प्रवक्ता

उपर्युल्लिखित प्रातिशाख्य आदि वैदिक व्याकरणके ग्रन्थोंमें ५७ व्याकरणप्रवक्ता आचार्योंके नाम उपलब्ध होते हैं। दस प्राचीन आचार्योंके नाम पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमें लिखे हैं। इनके अतिरिक्त तेरह आचार्य ऐसे हैं, जिनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलता है। यदि हम प्रातिशाख्योंमें उद्‌धृत आचार्योंको छोड़ भी दें, तब भी पाणिनिसे प्राचीन २३ आचार्योंके नाम हमें निश्चितरूपसे ज्ञात हैं। वे ये हैं—१. इन्द्र २.वायु ३. भरद्वाज ४. भागुरि ५. पौष्करसादि ६. चारायण ७. काशकृत्स्न ८. वैयाघ्रपद्य ९. माध्यन्दिनि १०. रौढ़ि ११. शौनकि १२. गौतम १३. व्याडि १४. आपिशलि, १५. काश्यप १६. गार्ग्य १७. गालव १८. चाक्रवर्मण १९. भारद्वाज २०. शाकटायन २१. शाकल्य २२. सेनक और २३. स्फोटायन।

इनमें अन्तिम दस नाम पाणिनीयाष्टकमें उल्लिखित हैं। प्रारम्भके १३ आचार्य यद्यपि पाणिनिसे प्राचीन हैं, तथापि पाणिनीयाष्टकमें इनका उल्लेख नहीं है।

इन २३ आचार्योंमेंसे इन्द्र, भागुरि, काशकृत्स्न, पौष्करसादि और आपिशलि—इन पाँच आचार्योंके अनेक सूत्र तथा मत प्राचीन ग्रन्थोंमें उद्‌धृत हैं[1]। सबसे अधिक उद्धरण आपिशलि-व्याकरणके मिलते हैं।

काशकृत्स्न व्याकरणमें तीन अध्याय थे[2]। आपिशल व्याकरणमें पाणिनीय व्याकरणवत् आठ अध्याय थे[3]। उसकी सूत्र-रचना पाणिनीय सूत्र-पाठसे प्रायः मिलती है। पाणिनीय व्याकरणके सदृश आपिशल व्याकरणके धातुपाठ, गणपाठ, उणादिकोष—ये खिलपाठ भी रचे गये थे।

पाणिनीय व्याकरण

पाणिनीय व्याकरणकी रचना विक्रमसे लगभग २८०० वर्ष पूर्व हुई थी। यह हमने अपने 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्रका इतिहास' ग्रन्थमें अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध किया है। इस समय प्राचीन आर्ष व्याकरणोंमें एकमात्र यही व्याकरण उपलब्ध होता है।

भारतीय इतिहासके अनुसार मनुष्योंकी आयु और धारणा-शक्तिके ह्रासके कारण प्राचीन विस्तृत ग्रन्थोंका उत्तरोत्तर संक्षेप हुआ है। तदनुसार पाणिनीय व्याकरण भी प्राचीन आर्ष व्याकरणोंका संक्षिप्त संस्करण है। अतएव कहा है—

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे[4]॥

इसलिये आधुनिक वैयाकरणोंका '**उत्तरोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्**' इस स्वकल्पित नियमके अनुसार प्राचीन अपाणिनीय प्रयोगोंको अपशब्द कहना चिन्त्य है। '**आर्षत्वात् साधु, छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति**' आदि कहना भी प्रकारान्तरसे उन्हें अपशब्द समझना है। सोलहवीं शताब्दीके वैयाकरणप्रक्रियासर्वस्वके रचयिता भट्ट नारायणने अपने

१. देखो 'संस्कृत व्याकरणशास्त्रका इतिहास' ग्रन्थके तत्तत् प्रकरण।

२. त्रिकं काशकृत्स्नम् (काशिका ५। १। ५८)। अमोघा वृत्ति ३। २। १६१—त्रिकं काशकृत्स्नीयम्।

३. अष्टका आपिशल-पाणिनीयाः। जैन-शाकटायन अमोघावृत्ति ३। २। १६१।

४. देवबोधविरचित महाभारतकी टीकाका प्रारम्भ।

'अपाणिनीयप्रामाणिकता' ग्रन्थमें इसपर भली प्रकार विचार किया है। प्राचीन आचार्योंके प्रयोगोंकी कथा तो दूर रही, पाणिनिके अपने सूत्र-पाठमें भी **'जनकर्तुः, तत्प्रयोजकः'** आदि अनेक प्रयोग ऐसे हैं, जो पाणिनिके अपने लक्षणानुसार सिद्ध नहीं होते। क्या वे भी अपशब्द हैं? क्या पाणिनि-जैसा वैयाकरण भी अपशब्दोंका प्रयोग करेगा? **'शान्तं पापम्, शान्तं पापम्।'**

पाणिनीय व्याकरणके पाँच ग्रन्थ हैं—शब्दानुशासन, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिंगानुशासन। इनमें शब्दानुशासन अर्थात् अष्टाध्यायी मुख्य है, शेष चार उसीके खिल या परिशिष्ट हैं। अष्टाध्यायीमें आठ अध्याय और प्रति अध्यायमें चार-चार पाद हैं। अष्टाध्यायीमें लगभग ४००० सूत्र हैं।

अष्टाध्यायीकी रचना इतनी सुसम्बद्ध है कि इसमें एक मात्राके व्यतिक्रमसे अर्थका अनर्थ हो जाता है। इस ग्रन्थका अवलोकन करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति इसके रचना-सौष्ठवको देखकर इसकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करता है। पाणिनीय सूत्रोंकी बालकी खाल निकालनेमें अत्यन्त पटु भगवान् पतंजलिने भी लिखा है—

सामर्थ्ययोगान्न हि किञ्चिदस्मिन्
पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्[1]।

अष्टाध्यायीके सम्बन्धमें पाश्चात्त्य विद्वानोंके कुछ उद्‌गार इस प्रकार हैं—

१—प्रो० मोनियर विलियम्स—पाणिनीय व्याकरण मानव-मस्तिष्ककी प्रतिभाका वह आश्चर्यतम नमूना है, जिसे किसी देशने अबतक सामने नहीं रखा[२]।

२—सर विलियम हण्टर—संसारके व्याकरणोंमें पाणिनिका व्याकरण चोटीका है। उसकी वर्णशुद्धता, भाषाका धात्वन्वय सिद्धान्त और प्रयोग-विधियाँ अद्वितीय एवं अपूर्व हैं।……यह मानवमस्तिष्कका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आविष्कार है[२]।

३. प्रो० टी० शेरवात्सकी—पाणिनीय व्याकरण इन्सानी दिमागकी सबसे बड़ी रचनाओंमें एक है[३]।

सम्प्रति समस्त भारतवर्षमें पाणिनीय व्याकरणका ही मुख्यरूपसे पठन-पाठन होता है। लगभग पाँच शताब्दियोंसे पाणिनीय व्याकरणका पठन-पाठन पाणिनि-विरचित क्रमको छोड़कर प्रक्रियाक्रमसे होता है। यह सर्वथा अस्वाभाविक है। प्रक्रिया-ग्रन्थोंके आधारपर व्याकरण पढ़नेसे चिरकालमें भी उतना ज्ञान नहीं होता, जितना अष्टाध्यायीके क्रमसे स्वल्पकालमें होता है। इतना ही नहीं, अध्येताको सूत्रके साथ-साथ उसकी चार, पाँचगुनी वृत्ति भी रटनी पड़ती है। अष्टाध्यायीके क्रमसे पढ़नेमें वृत्ति घोखनेका महान् परिश्रम नहीं करना पड़ता। छात्रको केवल अनुवृत्ति-सम्बन्धका ज्ञान करानेसे वृत्ति गतार्थ हो जाती है। व्युत्क्रमसे अध्ययन करनेपर पूर्वापरक्रमका ज्ञान न होनेसे **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्, असिद्धवदत्राभात्, पूर्वत्रासिद्धम्, पूर्वात् परं बलीयः'** इत्यादि विधियोंके विषयमें ग्रन्थमात्रके आश्रित रहना पड़ता है। प्रक्रियानुसार व्याकरणाध्ययनमें एक दोष यह भी है कि इन ग्रन्थोंमें गुण, वृद्धि, इडागम आदि प्रकरणोंके सूत्र विभिन्न स्थानोंमें बँटे हुए हैं; इसलिये इनके विषयमें सन्देह होनेपर योग्य छात्र भी निस्सन्देह नहीं हो पाता। अष्टाध्यायीमें सब प्रकरणोंके सूत्र एक स्थानपर संगृहीत होनेसे साधारण छात्र भी तत्तत् प्रकरणका पाठ करके स्वल्पकालमें सन्देहमुक्त हो सकता है। हमने पाणिनीय व्याकरणकी उभयविध अध्ययनप्रणालीका परिशीलन किया है और अनेक छात्रोंको व्याकरण पढ़ाया है। उससे हम इसी परिणामपर पहुँचे हैं कि प्रक्रियाग्रन्थोंके आधारकी अपेक्षा पाणिनीय अष्टाध्यायी-क्रमका अनुसरण करना अध्येताके लिये उपकारक है।

अब हम पाणिनीय व्याकरणपर लिखे गये कतिपय व्याख्याग्रन्थोंका संक्षेपसे वर्णन करते हैं—

वार्तिक—पाणिनीय सूत्रपाठपर कात्यायान प्रभृति अनेक आचार्योंने वार्तिक-पाठकी रचना की। उनमेंसे केवल निम्न सात वार्तिककारोंका नाम महाभाष्य तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलता है—१. कात्यायन २. भारद्वाज ३. सुनाग ४. क्रोष्टा ५. वाडव ६. व्याघ्रभूति ७. वैयाघ्रपद्य।

पतंजलिके महाभाष्यका मुख्य आधार कात्यायन-विरचित वार्तिक ही हैं, तथापि वे कहीं-कहीं अन्य

१. महाभाष्य ६। १। ७७।
२. 'महान् भारत' में पृष्ठ१५९, १५० पर उद्धृत।
३. पं० जवाहरलाललिखित 'हिंदुस्तानकी कहानी' पृष्ठ १३१।

वार्तिककारोंके वार्तिक भी उद्धृत करते हैं। कात्यायनका काल विक्रमसे लगभग २७०० वर्ष पूर्व है। अन्य वार्तिककारोंके विषयमें हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते।

इनके अतिरिक्त **गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, कुणारवाडव, सूर्यभगवान्** आदि आचार्योंके मत भी महाभाष्यमें उद्धृत हैं। कई टीकाकार गोनर्दीय और गोणिकापुत्र पतंजलिके नामान्तर मानते हैं, परंतु हमें ये भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

महाभाष्य—पाणिनीय व्याकरणपर सबसे महत्त्वपूर्ण कृति पतंजलिविरचित महाभाष्य है। महाभाष्यकी भाषा अत्यन्त सरल, सरस और स्वाभाविक है। ग्रन्थरचनाकी दृष्टिसे यह आदर्शभूत है। पतंजलि शुंगवंश्य महाराज पुष्यमित्रके समकालिक और उनके पुरोहित माने जाते हैं। पुष्यमित्रका काल पाश्चात्त्य विद्वानोंके मतानुसार विक्रमसे लगभग १५० वर्ष पूर्व है, परंतु भारतीय पौराणिक काल-गणनानुसार पुष्यमित्रका काल विक्रमसे लगभग बारह सौ वर्ष पूर्व है।

महाभाष्यकी टीकाएँ—महाभाष्यपर अनेक वैयाकरणोंने टीका-ग्रन्थ लिखे। इन टीकाग्रन्थोंके दो विभाग हैं। एक वे टीकाग्रन्थ हैं, जो सीधे महाभाष्यपर लिखे गये और दूसरे वे हैं, जो कैयट-विरचित महाभाष्यपर रचे गये। महाभाष्यपर जो टीका-ग्रन्थ लिखे गये, उनमेंसे इस समय लगभग बीस समग्र या असमग्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इसी प्रकार महाभाष्यप्रदीपपर रचे गये लगभग पंद्रह ग्रन्थ इस समय प्राप्त हैं।

इन टीकाग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भर्तृहरिविरचित '**महाभाष्यदीपिका**' है। पाश्चात्त्य विद्वान् भर्तृहरिका काल विक्रमकी आठवीं शताब्दी मानते हैं। उनके मन्तव्यका मुख्य आधार इत्सिंगका वह लेख है, जिसमें उसने भर्तृहरिकी मृत्यु चालीस वर्ष पूर्व लिखी है। इत्सिंगका लेख भ्रममूलक है। यह हमने '**भागवृत्तिसंकलनम्**' की भूमिकामें सप्रमाण दर्शाया है। वस्तुतः महाभाष्यदीपिका और वाक्यपदीयके रचयिता भर्तृहरि लगभग विक्रमके समकालिक हैं। वे विक्रम-सं० ४००से अर्वाचीन तो किसी अवस्थामें नहीं हैं, इतना निश्चित है।

भर्तृहरि-विरचित महाभाष्यकी टीकाका उल्लेख महाभाष्य-प्रदीप, गणरत्नमहोदधि आदि अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। गणरत्न-महोदधिमें महाभाष्यदीपिकाका परिमाण तीन पाद लिखा है।* इसका एकमात्र हस्तलेख बर्लिनके पुस्तकालयमें है। वह प्रथम पादके **ङिच्च** (१।१।५३) सूत्रपर समाप्त हो जाता है। उसके आदिके भी दो पत्रे खण्डित हैं। इस हस्त-लेखका सबसे प्रथम परिचय देनेका श्रेय डा० कीलहार्नको है। इस हस्तलेखकी एक प्रतिकृति (फोटो) लाहौर यूनिवर्सिटीके पुस्तकालयमें थी। सन् १९३०में हमारे आचार्य महावैयाकरण पं० श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने उस प्रतिकृतिको प्राप्त करके उसकी एक प्रतिलिपि कर ली थी। वह उनके संग्रहमें सुरक्षित है। सम्भवतः इसकी एक प्रतिकृति मद्रासके राजकीय हस्तलेख-पुस्तकालयमें भी है। यह टीका अत्यन्त प्रौढ़ और महत्त्वपूर्ण है। इसका सम्पादन हमारे आचार्यजीने सन् १९३४ में प्रारम्भ किया था, परंतु विशेष कारणसे उसके केवल ४ फार्म (३२ पृष्ठ) ही मुद्रित हो सके। अब हम इसको शीघ्र प्रकाशित करेंगे।

भर्तृहरिकी महाभाष्यदीपिकाके अनन्तर भाष्यकी महत्त्वपूर्ण व्याख्या कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप है। यह व्याख्या अत्यन्त सरल और पाण्डित्यपूर्ण है। आजकल महाभाष्य-जैसे दुरूह ग्रन्थके समझनेमें यही मुख्य साधन है। इसकी इतनी उपयोगिताको देखकर अनेक वैयाकरणोंने महाभाष्यकी व्याख्याएँ न लिखकर इसीकी टीकाएँ रची हैं। उनमेंसे लगभग १५ व्याख्याएँ पूर्ण या आंशिकरूपमें भारतके विभिन्न पुस्तकालयोंमें विद्यमान हैं।

वृत्तिग्रन्थ—पाणिनीय सूत्रपाठपर अनेक वैयाकरणोंने वृत्तिग्रन्थ लिखे। स्वयं पाणिनिने भी अपने सूत्रोंकी एक वृत्ति लिखी थी, यह हमने अपने 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्रका इतिहास' ग्रन्थमें अनेक प्रमाणोंसे दर्शाया है। इस समय अष्टाध्यायीकी जितनी वृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमें काशिकावृत्ति ही सबसे प्राचीन है। **कुणि** तथा **माथुर** आदिकी अनेक वृत्तियाँ महाभाष्यसे पूर्व लिखी जा चुकी थीं; परंतु उनमेंसे इस समय एक भी उपलब्ध नहीं है। कुणि-विरचित वृत्तिका उल्लेख भर्तृहरिविरचित महाभाष्यदीपिका (पृष्ठ ३०९, हमारा हस्तलेख) और महाभाष्यप्रदीप १।१७५ में मिलता है। माथुरी वृत्तिका एकमात्र उद्धरण पुरुषोत्तमदेवविरचित भाषावृत्ति (१।२।५७)में उपलब्ध होता है। इनके अतिरिक्त काशिकासे प्राचीन **चुल्लि-भट्टि, निर्लूर** आदि कुछ वृत्तियोंके नाम

*भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णयोः कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च (पृष्ठ १)।

प्राचीन टीकाग्रन्थोंमें मिलते हैं।

अष्टाध्यायीकी जितनी वृत्तियाँ इस समय उपलब्ध हैं, उनमें सबसे प्राचीन और प्रामाणिक काशिका है इसकी महत्ताका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसका प्रचार न केवल भारतवर्षमें ही हुआ अपितु अतिशीघ्र ही भारतसे बाहर भी इसके पठन-पाठनका प्रचार हो गया। चम्पाके राजा इन्द्रवर्मा (सन् ९११ ई०)के विषयमें एक शिलालेखमें लिखा है—

..................षट्तर्कजिनेन्द्रसूर्मिः
सकाशिकाव्याकरणोदकौधः।*

यद्यपि काशिकामें कहीं-कहीं महाभाष्यके मतकी अवहेलना की गयी है, यथापि उसका वह लेख अप्रामाणिक नहीं है। काशिकाके ऐसे समस्त लेख अष्टाध्यायीकी प्राचीन वृत्तियोंपर आश्रित हैं। काशिकाका जो संस्करण वर्तमानमें उपलब्ध होता है, उसमें आदिके पाँच अध्याय जयादित्यविरचित हैं और अन्तके तीन अध्याय वामनकृत हैं। चीनी यात्री इत्सिंगके लेखानुसार काशिकाकी रचना विक्रमकी सातवीं शताब्दीमें हुई है। जिनेन्द्रबुद्धिविरचित न्यास (३। १। ३३) के तथा अन्यत्रके पाठोंसे व्यक्त होता है कि जयादित्य और वामन दोनोंने पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण अष्टाध्यायीकी वृत्तियाँ रची थीं। जयादित्य और वामन दोनोंकी वृत्तियोंका सम्मिश्रण कब और क्यों हुआ, यह अज्ञात है; परंतु इतना स्पष्ट है कि न्यासग्रन्थकी रचनासे पूर्व ही यह सम्मिश्रण हो चुका था। न्यासनाम्नी व्याख्या दोनोंके सम्मिश्रित संस्करणपर है। भागवृत्तिके जो उद्धरण विभिन्न ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं, उनके अनुसार भागवृत्तिकी रचनासे पूर्व जयादित्य और वामनकी वृत्तियोंका सम्मिश्रण हो चुका था। भागवृत्तिका रचनाकाल विक्रम संवत् ७००—७०५ के मध्य है। काशिका-जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थपर अनेक व्याख्याग्रन्थ लिखे गये। उनमें जिनेन्द्रबुद्धिविरचित **न्यास** अपरनाम **काशिका-विवरणपंजिका** सबसे प्राचीन और विशद ग्रन्थ है। उसके अनन्तर हरदत्तविरचित **पदमंजरी**का स्थान है। हरदत्तने काशिकापर एक **महापदमंजरी** भी रची थी (पदमंजरी, भाग १, पृष्ठ ७२)। यह इस समय अप्राप्य है। न्यासका रचना-काल विक्रम-सं० ११०० से पूर्व है। हमारा विचार है वह विक्रमकी आठवीं शताब्दीमें रचा गया है। पदमंजरीकी रचना विक्रमकी १२ वीं शताब्दीमें हुई है। काशिकाके अनन्तर भागवृत्तिका स्थान है। भाषावृत्तिके व्याख्याता सृष्टिधराचार्यके मतानुसार भागवृत्तिके रचयिता भर्तृहरि थे। ये भर्तृहरि महाभाष्यदीपिका और वाक्यपदीयके रचयिता आद्य भर्तृहरिसे भिन्न हैं। कुछ लेखक भागवृत्तिके रचयिताका नाम विमलमति लिखते हैं। हमारा विचार है कि भागवृत्तिके रचयिताका वास्तविक नाम विमलमति है और उनके प्रौढ़ वैयाकरण होनेसे भर्तृहरि उनका उपनाम है। भागवृत्तिकी रचना वलभीके महाराज श्रीधरसेन चतुर्थके कालमें वि०-सं०७००—७०५के मध्य हुई है, यह हमने '**भागवृत्तिसंकलनम्**' की भूमिकामें विस्तारसे दर्शाया है। इनके अतिरिक्त पुरुषोत्तमदेवकी **भाषावृत्ति** और शरणदेवकी **दुर्घटवृत्ति** भी उपयोगी ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त अष्टाध्यायीपर लगभग २५ वृत्तियाँ और उपलब्ध हैं। इनमें अभीतक केवल अन्नम्भट्टकी **मिताक्षरा**, ओरम्भभट्टकी **व्याकरण-दीपिका** और स्वामी दयानन्दका **अष्टाध्यायीभाष्य**—ये तीन ग्रन्थ मुद्रित हुए हैं।

प्रक्रिया-ग्रन्थ—हम पूर्व लिख चुके हैं कि लगभग ५ शताब्दियोंसे पाणिनीय व्याकरणका पठन-पाठन पाणिनीय अष्टाध्यायी-क्रमको छोड़कर प्रक्रिया-क्रमसे होता है। प्रक्रिया ग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन धर्मकीर्तिका रूपावतार ग्रन्थ है। ये धर्मकीर्ति न्यायबिन्दुके रचयिता धर्मकीर्तिसे भिन्न व्यक्ति हैं। इनका काल विक्रमकी बारहवीं शताब्दी या उससे कुछ पूर्व है। पाणिनीय व्याकरण-प्रक्रियानुसारी अनेक ग्रन्थ रचे गये। उनमेंसे रामचन्द्रविरचित **प्रक्रियाकौमुदी,** भट्टोजी दीक्षितरचित **सिद्धान्तकौमुदी** और नारायणभट्टकृत **प्रक्रियासर्वस्व** ग्रन्थ मुख्य हैं। रामचन्द्रका काल विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीका प्रथम चरण, भट्टोजी दीक्षितका सोलहवीं शताब्दीके द्वितीय,तृतीय चरण और नारायणभट्टका सोलहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध है। इन प्रक्रियाग्रन्थोंपर भी अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। प्रक्रियाकौमुदीपर शेषकृष्ण और ग्रन्थकारके पुत्र विट्ठलकी व्याख्याएँ प्रसिद्ध हैं। सिद्धान्तकौमुदीपर ग्रन्थकारकृत **प्रौढमनोरमा,** वासुदेवकृत **बालमनोरमा,** ज्ञानेन्द्रसरस्वतीरचित **तत्त्वप्रबोधिनी** और नागेशभट्टकी **लघुशब्ददेन्दुशेखर** व्याख्याएँ मुख्य हैं। बालकोंके व्याकरणप्रवेशके लिये **लघुकौमुदी** और **मध्यकौमुदी** ग्रन्थोंकी रचना हुई।

* बृहत्तर भारत, पृष्ठ ३४२ में उद्धृत।

पाणिनिसे अर्वाचीन शब्दानुशासन

पाणिनिके अनन्तर अनेक वैयाकरणोंने शब्दानुशासन ग्रन्थोंकी रचनाएँ कीं। उनमें कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, विश्रान्तविद्याधर, अभिनवशाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण, हैम, सारस्वत, जौमार और मुग्धबोध मुख्य हैं।

कातन्त्र—कातन्त्रके दो भाग हैं—तद्धितप्रकरणपर्यन्त पूर्वार्ध और कृदन्तप्रकरणरूपी उत्तरार्ध। तद्धितान्त भागके रचयिता शर्ववर्मा माने जाते हैं। वस्तुतः शर्ववर्मा इसकी बृहद्वृत्तिके रचयिता हैं। अनुश्रुतियोंके अनुसार कातन्त्रकी रचना महाराज सातवाहनके कालमें मानी जाती है, परंतु यह व्याकरण उससे बहुत प्राचीन है। हमारा विचार है कि कातन्त्रका तद्धितान्त भाग पतंजल महाभाष्यसे भी प्राचीन है। कातन्त्रवृत्तिकार दुर्गसिंहके मतसे कृदन्तभागके रचयिता कात्यायन हैं। ये कात्यायन अपरनाम वररुचि महाराज विक्रमकी सभाके सभ्य तथा उनके पुरोहित थे। कातन्त्र-व्याकरणके अत्यन्त सरल होनेसे इसका प्रचार बहुत हुआ। विदेशीय बौद्धमतावलम्बियोंको संस्कृतका ज्ञान करानेमें यही व्याकरण मुख्य साधन था। उनके द्वारा इस व्याकरणका प्रचार भारतसे बाहर भी पर्याप्त हो गया था। कीथ अपने संस्कृत-साहित्यके इतिहासमें लिखते हैं—'कातन्त्रके कुछ भाग मध्य एशियाकी खुदाईसे प्राप्त हुए थे।' कातन्त्रका धातुपाठ तिब्बती भाषामें अभीतक उपलब्ध है। मारवाड़की देशी पाठशालाओंमें अभी पिछले दिनोंतक बालकोंको प्रारम्भमें पाटीपूजाके अनन्तर '**सीधो वरणा समामुनाया**' की सीधी पाटी पढ़ायी जाती थी। वह कातन्त्रके प्रथम पादका विकृत पाठ है। कहीं-कहीं पाँच पाटियाँ (पाँच पाद) पढ़ानेका क्रम है। बुन्देलखण्डमें भी '**ओनामासीधम्**' के बाद बालकोंको ये पाटियाँ पढ़ायी जाती हैं। सम्प्रति कातन्त्रका पठन-पाठन केवल बंगालतक सीमित है। सुकुमारमति कुमारोंको संस्कृतका ज्ञान करानेके लिये कातन्त्रकी रचना हुई है। इसलिये इसका एक नाम कौमार भी है। अग्निपुराण और गरुडपुराणमें कातन्त्रको कुमार अर्थात् स्कन्दप्रोक्त कहा है।

कातन्त्रपर इस समय सबसे प्राचीन वृत्ति दुर्गसिंहकी उपलब्ध होती है। हमारा विचार है ये दुर्ग और निरुक्तके वृत्तिकार दुर्ग दोनों एक हैं। हमने इनकी एकता अपने व्याकरणशास्त्रके इतिहासमें अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध की है। धातुवृत्तिकार सायणके मतानुसार यह दुर्गवृत्ति काशिकासे प्राचीन है। काशिका ७। ४। ९३ में दुर्गवृत्तिका खण्डन है (देखो धातुवृत्ति, पृष्ठ २६५, काशी-संस्करण)। दुर्गवृत्तिपर दुर्गसिंह, उग्रभूति, त्रिलोचनदास और काशिराज आदि अनेक वैयाकरणोंने टीका-ग्रन्थ लिखे हैं। कातन्त्रपर जिनप्रभसूरि और जगद्धरभट्टने भी वृत्तियाँ लिखी हैं।

चान्द्र—व्याकरणके वाङ्मयमें पाणिनीय व्याकरणके अनन्तर चान्द्र-व्याकरणका स्थान है। इसकी रचना चन्द्रगोमी नामा प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान्ने की थी। कल्हणविरचित राजतरंगिणीसे ज्ञात होता है कि चन्द्रगोमीने कश्मीरके महाराज अभिमन्युके आदेशसे विनष्ट महाभाष्यका पुनरुद्धार किया था और अपना व्याकरण रचा था[1]। भर्तृहरिविरचित वाक्यपदीयसे भी इसकी पुष्टि होती है।[2] महाराज अभिमन्युके काल-विषयमें ऐतिहासिकोंमें वैमत्य है। पाश्चात्त्य विद्वान् ४०० विक्रम पूर्वसे ४०० विक्रम पश्चात्तक विविध कालकी कल्पनाएँ करते हैं।[3] कल्हणके गणनानुसार अभिमन्यु विक्रमसे लगभग सहस्र वर्ष प्राचीन है।

चान्द्रव्याकरणमें सम्प्रति छः अध्याय मिलते हैं। इन छः अध्यायोंमें केवल लौकिक भाषाके शब्दोंका अन्वाख्यान है। आजसे लगभग ८०० वर्ष पूर्व वैयाकरणोंका भी यही मत रहा है कि चान्द्रव्याकरण केवल लौकिक-भाषाका व्याकरण है।[4] परंतु चान्द्रव्याकरणका सम्पादन करते हुए हमें उसकी स्वोपज्ञवृत्तिमें अनेक ऐसे प्रमाण मिले हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि चान्द्रव्याकरणमें स्वरप्रकरण भी था। चान्द्रव्याकरण १। १ १३४ की वृत्तिमें स्वरप्रकरणका '**अनौ वसः**' सूत्र भी उद्धृत है। स्वरशास्त्रका मुख्य प्रयोजन वेदमें पड़ता है। अतः प्रतीत होता है कि चन्द्रगोमीने वैदिक भाषाविषयक सूत्र भी रचे थे। चान्द्रव्याकरण १।१।१४५ की वृत्तिके '**स्वरविशेषमष्टमे वक्ष्यामः**' पाठसे विदित होता है कि चान्द्रव्याकरणमें भी आठ अध्याय थे। इस पाठसे यह भी प्रतीत होता है कि स्वरप्रकरण आठवें अध्यायमें था। अतः सातवें अध्यायमें वैदिक प्रकरण रहा होगा, यह सिद्ध है। इस विवेचनासे विदित होता है कि चान्द्रव्याकरणके स्वर-वैदिक प्रकरणविषयक अन्तिम दो अध्याय चिरकालसे नष्ट हो गये। चान्द्रव्याकरणके मुख्य आधार पाणिनीय शब्दानुशासन

१. राजतरंगिणी १। १७४—१७६।
२. वाक्यपदीय २। ४८८—४८९।
३. द्र० निरुक्तालोचन, पृष्ठ ६५।
४: चन्द्रगोमी भाषासूत्रकारो ....। भाषावृत्ति ७। ३। ९४।

और पातंजल महाभाष्य हैं, परंतु चन्द्रगोमीने अनेक स्थानोंपर उनकी उपेक्षा करके प्राचीन व्याकरणोंका भी आश्रय लिया है। चान्द्रसूत्रोंकी एक वृत्ति रोमन अक्षरोंमें छपी है; वह धर्मदासकी कही जाती है, परंतु ग्रन्थके आन्तरिक और बाह्य साक्ष्योंसे वह चन्द्रगोमीकी स्वरचित वृत्ति प्रतीत होती है।

जैनेन्द्र—इस व्याकरणकी रचना आचार्य देवनन्दी अपरनाम पूज्यपादने की है। पूज्यपादने पाणिनीय शब्दानुशासनपर शब्दावतार नामक एक न्यास भी रचा था। पूज्यपादका काल विक्रम-संवत् ५००—५५० के मध्य है। जैनेन्द्र-व्याकरणके इस समय दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। एक संस्करण वह है, जिसपर अभयनन्दीकी महावृत्ति रची गयी है; और दूसरा संस्करण वह है, जिसपर गुणनन्दीने शब्दार्णव-चन्द्रिकाकी रचना की है। इनमें महानन्दी-स्वीकृत सूत्रपाठ औदीच्य पाठ कहाता है और दूसरा दाक्षिणात्य। औदीच्य पाठ दाक्षिणात्य पाठकी अपेक्षा लघु है। शब्दार्णवचन्द्रिकाके सम्पादक पं० श्रीलाल शास्त्रीने दाक्षिणात्य पाठको जैनेन्द्रका मूल पाठ माना है, परंतु यह ठीक नहीं है। जैनेन्द्र-व्याकरणका मूल पाठ वह है, जिसपर अभयनन्दीकी व्याख्या है। इस विषयपर पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' ग्रन्थमें विस्तारसे लिखा है। इन दोनों पाठोंकी आन्तरिक तथा बाह्य परीक्षासे हम भी इसी परिणामपर पहुँचे हैं कि औदीच्य पाठ ही जैनेन्द्रका मूल पाठ है। जैनेन्द्रके औदीच्य पाठपर अभयनन्दी, प्रभाचन्द्राचार्य और महाचन्द्र प्रभृति अनेक वैयाकरणोंने वृत्तियाँ लिखी हैं। स्वयं देवनन्दीने भी अपने सूत्रपाठपर एक जैनेन्द्रसंज्ञक न्यास लिखा था।

विश्रान्तविद्याधर—इस व्याकरणकी रचना वामनने की है। संस्कृत वाङ्मयमें वामन नामके अनेक ग्रन्थकार प्रसिद्ध हैं। प्रसिद्ध जैन तार्किक मल्लवादी सूरिने विश्रान्तविद्याधरपर एक न्यासग्रन्थ रचा था।[1] राजशेखरकृत प्रबन्धकोशके अनुसार मल्लवादीका काल वि०-सं० ३७५ है।[2] प्रबन्धकोशके सम्पादक जिनविजय मुनिने इसे वि० सं० ५७३ माना है। अतः वामनका काल वि०-सं० ६००से पूर्व है, यह निश्चित है। विश्रान्तविद्याधर-व्याकरणका उल्लेख गणरत्न-महोदधि और हैमबृहन्न्यास आदि अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है, परंतु यह ग्रन्थ इस समय अप्राप्य है।

अभिनवशाकटायन—इस व्याकरणकी रचना जैन आचार्य पाल्यकीर्तिने की है। पाल्यकीर्ति महाराज अमोघवर्षकी सभाके सभ्य थे। इसलिये उन्होंने अपने व्याकरणकी स्वोपज्ञा वृत्तिका नाम अमोघा रखा है। अमोघवर्षका राज्यकाल वि०-सं० ८७१—९२४ तक माना जाता है। पाल्यकीर्तिविरचित शब्दानुशासनका नाम शाकटायन क्यों प्रसिद्ध हुआ, यह अज्ञात है। सम्भव है जैन वैयाकरणोंमें पाल्यकीर्तिके असाधारण वैयाकरण होनेसे इसका उपनाम शाकटायन प्रसिद्ध हो गया हो; क्योंकि वैदिक-मतावलम्बी वैयाकरणोंमें शाकटायन सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण माने जाते हैं। शाकटायनकी स्वोपज्ञवृत्ति अभीतक प्रकाशित नहीं हुई। इसपर यक्षवर्माकी एक चिन्तामणि नामक लघु वृत्ति काशीसे प्रकाशित हुई है।

सरस्वतीकण्ठाभरण—धाराधिपति महाराज भोजदेवने सरस्वतीकण्ठाभरण नामका एक शब्दानुशासन रचा है। यह शब्दानुशासन अत्यन्त विस्तृत है। ग्रन्थकारने गणपाठ, परिभाषापाठ और लिंगानुशासन आदि सबका सूत्रपाठमें ही सन्निवेश कर दिया है। इस शब्दानुशासनके मुख्य आधार पाणिनीय और चान्द्रव्याकरण हैं। महाराज भोजका सरस्वतीकण्ठाभरण नामक एक साहित्यका भी ग्रन्थ है। महाराज भोजका वि० सं० १०७५—१११० तक है। सरस्वतीकण्ठाभरणपर दण्डनाथकी हृदयहारिणी टीका है। यह टीका सबसे प्राचीन है। देवराज यज्वाने निघण्टु-भाष्यमें इसे उद्धृत किया है। यह टीका चतुर्थ अध्यायतक छप चुकी है। दूसरी महत्त्वपूर्ण टीका कृष्णलीलाशुक मुनिकी है। यह अभीतक अमुद्रित है।

हैम शब्दानुशासन—इसकी रचना जैन-सम्प्रदायके आचार्य हेमचन्द्र सूरिने की थी। हेमचन्द्रका जन्म वि०-सं० ११४५में 'धुन्धुक' (अहमदाबाद) में हुआ था। और स्वर्गवास सं० १२२० में हुआ। **हैम शब्दानुशासनमें** संस्कृत और प्राकृत दोनों अनुशासन है। प्रारम्भके सात अध्यायोंमें संस्कृतका और आठवेंमें प्राकृत भाषाका व्याकरण है। हैम-व्याकरणकी रचना पाणिनीय, चान्द्र, जैनेन्द्र और जैन शाकटायन आदि प्राचीन शब्दानुशासनोंके ढंगकी नहीं है; इसकी रचना कातन्त्रके समान प्रकरणानुसारी

१. प्रभावकचरित, मल्लवादीप्रबन्ध।
२ प्रबन्धकोश, पृष्ठ २१—२३।

है। हेमचन्द्रने अपने सूत्रपाठपर **लघ्वी** और **बृहती** दो वृत्तियाँ लिखी हैं। बृहद् वृत्ति अभीतक पूर्ण प्रकाशित नहीं हुई। कहा जाता है कि हेमचन्द्रने अपने व्याकरणपर ९० सहस्र श्लोक परिमाणका '**बृहन्न्यास**' भी लिखा था। हेमचन्द्रने अपने व्याकरणके धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिंगानुशासन नामक खिलपाठोंकी भी रचना की थी। इनपर ग्रन्थकारकी स्वरचित वृत्तियाँ भी मिलती हैं। मेरुतुंगाचार्यकृत प्रबन्धचिन्तामणिमें लिखा है कि हेमचन्द्रने सवा लाख श्लोक परिमाणका पंचांग व्याकरण एक वर्षमें रचा था।[1]

सारस्वत—इस व्याकरणके रचयिताका नाम अनुभूतिस्वरूपाचार्य है। अनुभूतिस्वरूपका काल वि०-सं० १३००के लगभग है। क्षेमेन्द्रने अपनी सारस्वतप्रक्रियाके अन्तमें इसे नरेन्द्राचार्यकी रचना लिखा है।[2] तदनुसार कई विद्वान् इसका मूलकर्ता नरेन्द्राचार्यको मानते हैं। नरेन्द्राचार्यका प्रक्रियाकौमुदी आदि अनेक ग्रन्थोंमें उल्लेख हुआ है। एक नरेन्द्रसेन नामक वैयाकरण प्रमाणप्रमेयकलिकाके रचयिता हैं। नरेन्द्रसेनके विषयमें लिखा है कि उनका चान्द्र, कातन्त्र, जैनेन्द्र, ऐन्द्र और पाणिनीय शब्दानुशासनोंपर अधिकार था। नरेन्द्रसेनके गुरु कनकसेन और उनके अजितसेन थे। इस नरेन्द्रसेनका काल शक ९७५ अर्थात् वि०-सं० ११११ है। क्या नरेन्द्रसेन और नरेन्द्राचार्य दोनों एक हैं? वस्तुतः सारस्वतसूत्रोंका कर्ता कौन है, यह एक समस्या है। अनुभूतिस्वरूपने सारस्वत-प्रक्रिया ग्रन्थ भी रचा है। सारस्वत-प्रक्रियापर अनेक लेखकोंने टीकाएँ लिखी हैं। उनमें चन्द्रकीर्तिकी सुबोधिनी सबसे श्रेष्ठ है। काशीनाथने सारस्वतपर भाष्य रचा है। काशीनाथका काल वि०-सं० १६६७ के लगभग है।

जौमार—इसकी रचना क्रमदीश्वरने की है। इसका अपना नाम '**संक्षिप्तसार**' है। कइयोंका कहना है कि क्रमदीश्वरका ग्रन्थ अधूरा था, जुमरनन्दीने उसे पूरा किया। हमारा विचार है जुमरनन्दीने इसकी वृत्ति लिखी और इसका प्रवचन किया। इसी कारण यह जौमारके नामसे प्रसिद्ध हुआ। जुमरनन्दीकी वृत्तिका नाम '**रसवती**' है। इस व्याकरणपर गोपीचन्द्रने भी वृत्ति लिखी है। जुमरनन्दीका काल संवत् १२०० के लगभग माना जाता है। आफ्रेक्ट इन्हें बोपदेवसे प्राचीन मानता है और क्रोलब्रुक बादका।

मुग्धबोध—यह बोपदेवकी रचना है। बोपदेवके पिताका नाम 'केशव' और गुरुका नाम 'धनेश' था। धनेशने महाभाष्यकी एक टीका लिखी है। बोपदेवका काल विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीका पूर्वार्ध है। मराठा-साम्राज्यके कालमें मुग्धबोधका विशेष प्रचार हुआ था। सम्प्रति इसका पठन-पाठन केवल बंगालतक सीमित है। यह व्याकरण बहुत संक्षिप्त है।

इनके अतिरिक्त सुपद्म, हरिनामाकृत आदि अनेक व्याकरण लिखे गये। ये प्रायः अप्रसिद्ध और एकदेशीय तथा आधुनिक हैं। अतः इनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया। वस्तुतः शब्दानुशासन-रचयिताओंकी समाप्ति हेमचन्द्रपर हो जाती है। उसके अनन्तर कोई भी ऐसा व्याकरण नहीं बना, जिसे वास्तविक रूपमें व्याकरण कहा जा सके। सारस्वत, मुग्धबोध और सुपद्म आदि बालकोंके खिलवाड़ हैं। इनके अध्ययनसे कोई व्यक्ति वैयाकरण नहीं बन सकता। संस्कृत भाषा और उसके नियमोंका कुछ बोध हो जाना और बात है।

व्याकरणके परिशिष्ट

प्रत्येक शब्दानुशासनके रचयिताको धातुपाठ और गणपाठकी रचना करनी पड़ती है। कई वैयाकरणोंने उणादिसूत्र और लिंगानुशासनकी भी रचना की है। ये चारों शब्दानुशासनके खिल अर्थात् परिशिष्ट कहाते हैं। इन पाँचों अवयवोंका समूह पंचांग, पंचपाठी आदि नामोंसे व्यवहृत होता है।

धातुपाठ—संस्कृत-व्याकरणशास्त्रका मुख्य प्रयोजन प्रत्येक पदके प्रकृति-प्रत्यय-विभागको दर्शाना है। शाकटायन प्रभृति वैयाकरणोंने समस्त नाम-शब्दोंको आख्यातज=धातुज माना है। अतः धातुपाठ व्याकरण-शास्त्रका प्रधान अंग है। उपलब्ध धातुपाठोंमें पाणिनिका धातुपाठ सबसे प्राचीन है। पाणिनिसे प्राचीन आपिशलिके धातुपाठका उल्लेख भी अनेक प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलता है। पाणिनीय धातुपाठपर क्षीरस्वामी, मैत्रेयरक्षित और सायणकी वृत्तियाँ उपलब्ध हैं। चान्द्र धातुपाठपर पूर्णचन्द्रकी वृत्ति है। कातन्त्रका धातुपाठ तिब्बती-भाषामें उपलब्ध होता है। जैनेन्द्र, जैन शाकटायन और हैमाशब्दानुशासनके

१. हेमचन्द्राचार्यैः श्रीसिद्धहेमाभिधानमभिनवं पञ्चाङ्गमपि व्याकरणं सपादलक्षग्रन्थपरिमाणं संवत्सरेण रचयाञ्चक्रे।
२. श्रीनरेन्द्राचार्यकृते सारस्वते……।

अपने-अपने पृथक् धातुपाठ विद्यमान हैं। हेमचन्द्रने अपने धातुपाठपर 'पारायण' नामकी वृत्ति लिखी है।

गणपाठ—शब्दानुशासनके सूत्रपाठको संक्षिप्त बनानेके लिये गणपाठकी रचना हुई है। उपलब्ध गणपाठोंमें सबसे प्राचीन पाणिनिका गणपाठ है। आपिशलिके गणपाठका उल्लेख भर्तृहरिने महाभाष्यदीपिका १। १। २७ में किया है। पाणिनीय गणपाठ काशिका आदि वृत्तिग्रन्थोंमें पढ़ा गया है और पृथक् स्वतन्त्ररूपसे भी मिलता है। चन्द्रका गणपाठ उसकी वृत्तिमें छपा है। इसी प्रकार जैनेन्द्र और शाकटायन आदिके भी अपने-अपने स्वतन्त्र गणपाठ विद्यमान हैं। भोजदेवने गणपाठको तत्तत् सूत्रोंमें ही पढ़ दिया है। गणपाठपर जैन विद्वान् वर्धमान सूरिका '**गणरत्नमहोदधि**' ग्रन्थ बहुत उत्कृष्ट है। इसमें प्रायः सभी गणपाठोंकी विवेचना है। पाणिनीय गणपाठपर भट्टयज्ञेश्वरकी '**गणरत्नावली**' नाम्नी टीका मिलती है। इसका एक हस्त-लेख हमारे संग्रहमें है।

उणादिसूत्र—शाकटायन आदि कुछ वैयाकरण सम्पूर्ण नामशब्दोंको धातुज मानते थे। उनके सम्प्रदायकी रक्षाके लिये उत्तरवर्ती आचार्योंने अपने शब्दानुशासनके परिशिष्ट-रूपमें उणादिसूत्रोंकी रचना की। अब ये प्रायः सभी व्याकरणोंके अंग बने हुए हैं। प्राचीन उणादिसूत्र दो प्रकारके मिलते हैं। एक **पंचपादी** और दूसरे **दशपादी**। दोनोंकी तुलनासे स्पष्ट है कि दशपादीकी रचना पंचपादीके आधारपर हुई है। पंचपादी उणादिसूत्र शाकटायनविरचित माने जाते हैं, परंतु यह भूल है। नारायणभट्टने प्रक्रियासर्वस्वके उणादिप्रकरणमें पंचपादीको पाणिनिविरचित कहा है; परंतु हमारा विचार है पंचपादी आपिशलिकी कृति है और दशपादी पाणिनिकी। पंचपादी उणादिसूत्रोंपर लगभग २० टीकाएँ ज्ञात हैं। उनमें श्वेतवनवासी उज्ज्वलदत्त और स्वामी दयानन्दकी वृत्तियाँ श्रेष्ठ हैं।[१] दशपादीपर एक प्राचीन अज्ञातनामा वृत्तिका हमने सम्पादन किया है। यह व्याकरणके अनेक ग्रन्थोंमें उद्धृत है। इसके अतिरिक्त दशपादीपर दो वृत्तियाँ और हैं। एक विट्ठलकी प्रक्रिया-कौमुदीप्रसादान्तर्गत और दूसरी अज्ञातनामा। दूसरीका एक हस्तलेख हमारे पास भी है। कातन्त्र, चान्द्र, सरस्वतीकण्ठाभरण, हैम और सारस्वत व्याकरणोंके भी अपने-अपने उणादिसूत्र हैं। इनपर अनेक टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। उणादिसूत्र और उनकी वृत्तिका इतिहास हमने '**दशपादी उणादिवृत्ति**' के उपोद्घातमें विस्तारसे लिखा है।

लिंगानुशासन—इस समय सबसे प्राचीन पाणिनिका लिंगानुशासन प्राप्त है। व्याडिविरचित लिंगानुशासनके अनेक उद्धरण प्राचीन ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं। **वामन, हर्षवर्धन, शाकटायन, वररुचि** और **हेमचन्द्र**के लिंगानुशासन भी इस समय प्राप्त हैं। इनपर कई टीकाएँ हैं। चान्द्र लिंगानुशासन कई ग्रन्थोंमें उद्धृत है। संस्कृत भाषामें लिंग-ज्ञान अत्यन्त दुष्कर है, अतएव प्रत्येक वैयाकरणने इसपर अपना ग्रन्थ रचा है।

व्याकरणके दार्शनिक ग्रन्थ

यदि हम व्याकरणके दार्शनिक ग्रन्थोंका उल्लेख न करें तो यह निबन्ध अधूरा ही रहेगा। अतः हम उनका भी संक्षिप्त निदर्शन कराते हैं।

संग्रह—व्याकरणका सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ 'संग्रह' है। यह आचार्य व्याडि अपरनाम दाक्षायणकी रचना है। भर्तृहरिके लेखानुसार इसमें दस सहस्र पदार्थोंकी परीक्षा की गयी है।[२] दाक्षायण पाणिनिके मामा थे। यह हमने अपने 'व्याकरण-शास्त्रका इतिहास' ग्रन्थमें भली प्रकार दर्शाया है। अन्य विद्वान् इन्हें पाणिनिका ममेरा भाई मानते हैं। शब्दब्रह्मवादके आदि प्रवर्तक आचार्य व्याडि माने जाते हैं। महाभाष्यमें 'संग्रह' का दो स्थानोंमें उल्लेख मिलता है। वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्डकी स्वोपज्ञ वृत्तिमें संग्रहके दस वचन उद्धृत हैं। कुछ वचन हमें अन्य ग्रन्थोंमें भी मिले हैं। हमने 'संग्रह' के समस्त उपलब्ध वचन अपने व्याकरणके इतिहासके 'संग्रहकार व्याडि' नामक प्रकरणमें संगृहीत कर दिये हैं। वाक्यपदीयके द्वितीय काण्डसे ज्ञात होता है कि 'संग्रह' चिरकालसे उत्सन्न हो गया था।

वाक्यपदीय—यह आचार्य भर्तृहरिकी कृति है। इसमें तीन काण्ड हैं। **ब्रह्मकाण्ड, पदकाण्ड** और **प्रकीर्णकाण्ड**। प्राचीन परम्पराके अनुसार प्रकीर्णकाण्ड वाक्यपदीका अवयव नहीं है। वर्धमानने लिखा है—

भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णयोः कर्ता।

(ग० र० महोदधि, पृष्ठ २)

१. दशपादी उणादिवृत्तिका उपोद्घात, पृष्ठ २०।

२. चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)—हस्तलेख, पृष्ठ २६।

संस्कृतिके ऊपर उसकी छाया बनी रहे और हम उसे ही स्वीकार करनेमें अपना अहोभाग्य समझें। यदि वास्तवमें यही बात सत्य होती जा रही है तो इसका एकमात्र यही कारण हो सकता है कि अभी भी हम अपनी प्राचीनतम भाषासे उदासीन ही हैं और उसके सुविशाल अंकमें पलनेको तैयार नहीं। अपनी संस्कृतिको खोकर यदि स्वतन्त्रता उपलब्ध हो तो यह हमारे लिये अभिशाप है, समुन्नतिका वरदान नहीं। पूज्य महात्माजीका यह आदेश कि 'प्रत्येक हिंदूको अपनी संस्कृति तथा सभ्यतासे उसी प्रकार लिपटे रहना चाहिये, जिस प्रकार बच्चा अपनी माँसे लिपटा रहता है' किसी भी अवस्थामें हमें विस्मृत नहीं होना चाहिये। हमारे लिये यह महामन्त्र होना चाहिये और इसकी सार्थकता तभी सम्भव है, जबकि इस देशके अणु-परमाणुको संस्कृत-भाषारूपिणी जाह्नवीके तीर्थ-सलिलसे पुनः एक बार परिक्षालितकर पवन तथा भावन बना दिया जाय। क्या भारतवर्षका ऐसा सुसमय फिर आयेगा जबकि राजप्रासादोंसे लेकर झोंपड़ियोंतक तथा प्रशस्त राजपथोंसे लेकर संकीर्ण वीथियोंतकके घर-घरसे यह ध्वनि सुनायी पड़ेगी—

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम॥

प्राचीन भारतकी तीन महान् शिक्षण-संस्थाएँ

(लेखक—पं० श्रीईश्वरबोधजी शर्मा)

प्राचीन भारतमें शिक्षाके तीन महाकेन्द्र तक्षशिला, नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालय थे, जिनके ध्वंसावशेष अभी भी देखनेमें आते हैं। इनमें पहला विश्वविद्यालय पंजाबमें और शेष दो मगध (बिहार)-में थे। इनका विशद वर्णन हमें भारतके इतिहासमें मिलता है। विदेशी यात्रियोंने भी मुक्तकण्ठसे इनकी प्रशंसा की है।

(१) तक्षशिला विश्वविद्यालय

भारतकी प्राचीनतम शिक्षण-संस्था पंजाबप्रान्तके रावलपिंडी शहरसे प्रायः १८ मीलकी दूरीपर (अब निर्जन और वीरान स्थान) तक्षशिला नामकी नगरीमें थी। यहाँकी सभ्यता संसारकी सर्वोत्तम और पुरातन सभ्यताओंमेंसे एक थी। चाणक्य-जैसे राजनीतिज्ञ और भृत्य कौमारजीव-जैसे शल्य-चिकित्सक (सर्जन) यहीं अध्यापक थे। यहाँ देश-विदेशसे बड़े-बड़े विद्वान् वेद आदि अठारह विद्याएँ—विशेषरूपसे अर्थशास्त्र, राजनीति और आयुर्वेदके अध्ययनके लिये आते और उसमें अच्छी जानकारी प्राप्त करते थे।

चीनी भाषामें तक्षका अर्थ है पहाड़ और तक्षशिला वास्तवमें है भी पहाड़ोंके बीच। इतिहासकारोंका कथन है कि 'भरतके दो पुत्र थे—तक्ष और पुष्कर। पुष्करने पुष्करावर्त्त और तक्षने तक्षशिला बसायी थी।'

ईस्वी सन्‌के पाँच सौ वर्ष पूर्वसे लेकर छठी शताब्दीपर्यन्त तक्षशिला बहुत ही उन्नतिशील रही। इसके बाद हूण-आक्रमणकारियोंने तक्षशिलाका सर्वनाश कर दिया। फिर लगभग ढाई हजार वर्षोंके अनन्तर वैज्ञानिकोंके कठिन अनुसन्धानके पश्चात् वहाँकी खुदाई हुई। और वहाँ उस जमानेके बर्तन-भाँड़े, जिनमें छोटे-छोटे बर्तनोंसे लेकर चार-चार फुटके मटके भी हैं, तथा कलम, दावात, थाली, लोटा, हीरक-हार, प्रकाश-स्तम्भ, कसौटी-पत्थर और सुरमेदानी ही नहीं, अपितु गान्धारी कलाके सर्वोत्कृष्ट नमूने एवं बौद्ध भिक्षुओंके अवशेष सामान भी मिले हैं। इसके अतिरिक्त 'ब्राह्मी' और 'खरोष्ट्री' लिपियोंमें लिखे शिलालेख भी पाये गये। ये सभी सामान वहाँके 'म्यूजियम' में रखे गये हैं।

तक्षशिलाके खंडहर मीलोंमें पाये जाते हैं। भिड़माउण्ड, शिरकप, मोरा-मोरा-दू, जौलिया, पिपला, जांडियाल और रिचस्तूप आदि इलाके पास ही एक-दो मीलकी दूरीपर अवस्थित हैं, जिन्हें अच्छी तरह देखे बिना यहाँकी सभ्यता अच्छी तरह हृदयंगम नहीं की जा सकती। भिड़माउण्ड आभीककी राजधानी थी। जौलियामें बौद्धोंका निवासस्थान था। यहाँ उनके व्यवहारकी वस्तुएँ चक्की, घड़ा तथा थाली आदि मिलती हैं। यहाँ उन भिक्षुओंके भांडागार, विहार तथा स्नानागार बने थे, जिनके अवशेष और विशेषकर गान्धारी कलाकी उत्कृष्टतम मूर्तियाँ दर्शकोंके चित्तको मोह लेती थीं। रिचस्तूपमें कनिष्कने ईस्वी सन्‌के पूर्व एक स्तूप बनवाया था। इनके अतिरिक्त तक्षशिलामें ब्राह्मण-

आबूपर्वतपर विमलशाहका जैन-मन्दिर

शत्रुञ्जय पहाड़ी
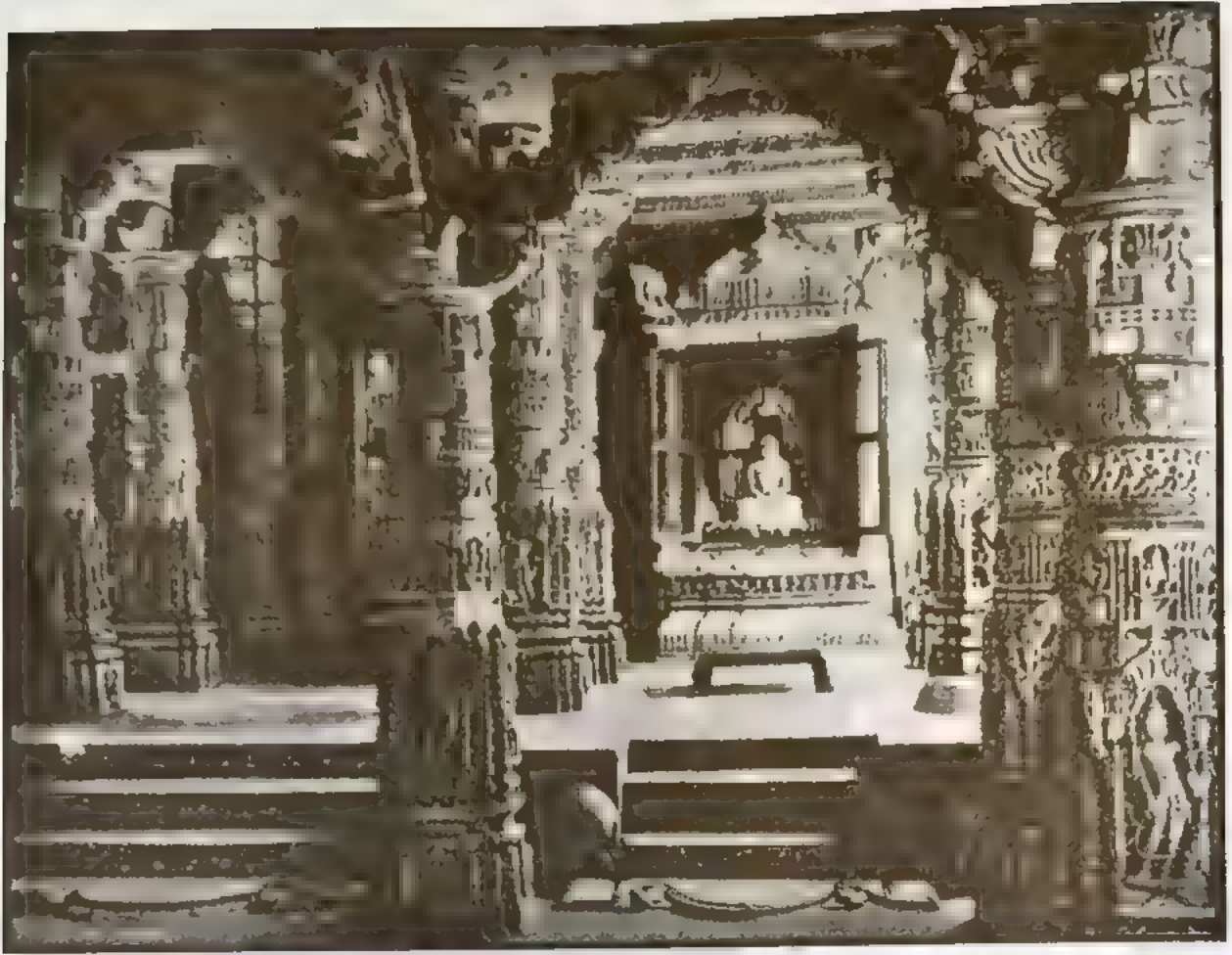
[पृष्ठ ७५९

आबूपर्वतपर तेजपाल-मन्दिर
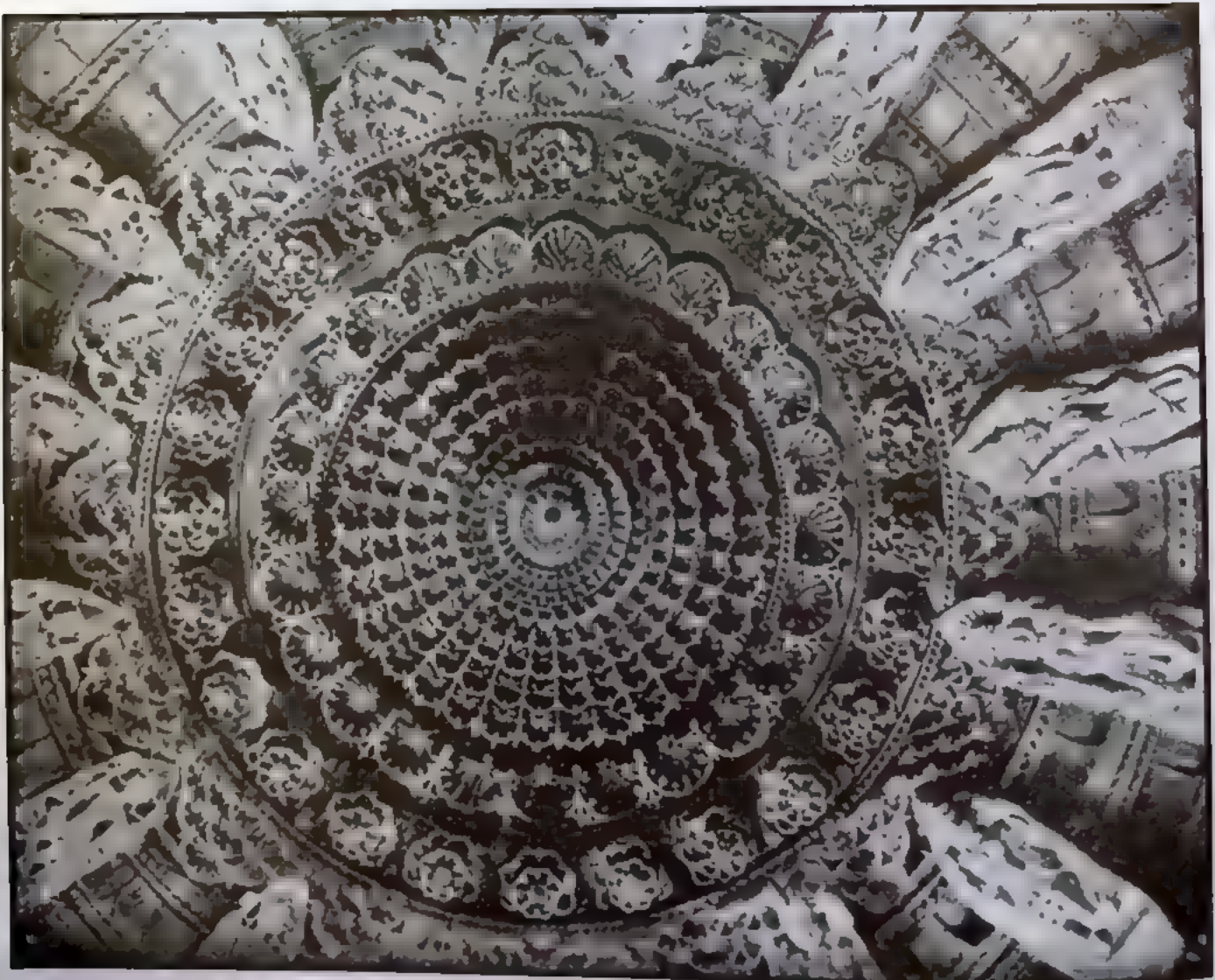
आबूपर्वतके तेजपाल वस्तुपाल जैन-मन्दिरके छतकी कारीगरी

[पृष्ठ ७५९

बौद्ध-दर्शन, साहित्य, अर्थशास्त्र एवं वैद्यकके ग्रन्थ भी लिखे गये थे। उसके पीछे एक महान् देशकी समृद्धिशालिनी सभ्यताका महान् इतिहास निहित है।

(२) नालन्दा विश्वविद्यालय

तक्षशिलाके बाद नालन्दा विश्वविद्यालयका स्थान आता है। सचमुच यह संसारभरका ज्ञानपीठ था। इसीने तत्कालीन जगत्को भारतीय ज्ञान, विज्ञान, धर्मशास्त्र, साहित्य, दर्शन, कला, शिल्प, सभ्यता और संस्कृति आदिका दान दिया था। यहाँके स्नातक प्रकाण्ड पाण्डित्यमें अपना सानी नहीं रखते थे। जब बौद्ध-धर्मकी विजय-पताका सारे एशियाखण्डमें फहरा रही थी, भारतीय ज्ञान-विज्ञानका मूलस्रोत नालन्दा ही था। नालन्दामें अध्ययन किये बिना शिक्षा अधूरी ही समझी जाती थी।

नालन्दाकी स्थितिके बारेमें इतिहासकारोंके विभिन्न मत हैं। 'पालि-साहित्य' में नालन्दा राजगृहसे आठ मीलकी दूरीपर बताया गया है। चीनी यात्री 'फाहियान' की भी यही सम्मति है। और दूसरे चीनी यात्री ट्वान्-ध्वाङ्के कथनानुसार नालन्दा वर्तमान बिहारशरीफ शहरके दक्षिण-पश्चिम कोणमें एक आमका बगीचा था। उस बगीचेमें 'नालन्दा' नामका एक नागराज रहता था। यह भी कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध पूर्वजन्ममें वहाँ 'बोधिसत्त्व' के रूपमें पैदा हुए थे। खैर जो कुछ हो, खंडहरोंकी खुदाई हो जानेपर अनुमान और कल्पनाकी कोई गुंजाइश ही न रही। नालन्दाका भग्नावशेष 'बख्तियारपुर' बिहार लाइट रेलवेके' 'नालन्दा' स्टेशनसे लगभग एक मीलपर है। खुदाईमें आर्य नागार्जुनकी एक मूर्ति मिली है। अगर यह प्रतिमा शून्यवादी नागार्जुनकी मान ली जाय तो इससे यह साबित होता है कि नालन्दा दूसरी शताब्दीके मध्यमें एक सुप्रतिष्ठित शिक्षा-केन्द्र था। क्योंकि नागार्जुन महायानके प्रवर्तक थे और नालन्दा महायानियोंका गढ़।

जहाँ कभी नालन्दा-विद्यापीठके सुन्दर- सुदृढ़ भवन थे, वहाँ अब 'बड़गाँव' नामकी एक बस्ती है। इसके निकट स्थित विस्तृत और सुदूरव्यापी नालन्दाके ध्वंसावशेष—ऊँची-ऊँची उजाड़ दीवारें, अनगिनत टीले, प्राचीन तालाब आदि अपने प्राचीनतम गौरवमय दिनोंकी महत्ताके सूचक हैं।

नालन्दा विश्वविद्यालयमें सुदूरवर्ती चीन, जापान, तातार, मध्यएशिया, तिब्बत, श्याम, अनाम, बर्मा, मलय आदि अनेक देशोंसे ज्ञान-पिपासु व्यक्ति अध्ययनार्थ आते थे। यहाँ अठारह बौद्धनिकाय-ग्रन्थोंके अतिरिक्त वैद्यक, दर्शन, साहित्य, कला, ब्राह्मण एवं जैन-दर्शन आदिकी भी शिक्षा दी जाती थी। खंडहरोंकी खुदाईके सामान यह कह रहे हैं कि केवल किताबी क्षिक्षा ही पर्याप्त नहीं थी, हस्तकौशलकी शिक्षाका भी सुप्रबन्ध था।

यहाँ चीनी स्नातक ह्वेन्सांगके अनुसार नालन्दामें दस हजारसे अधिक छात्र पढ़ते थे और अध्यापकोंकी संख्या डेढ़ हजार थी। प्रधानाध्यापक शीलभद्र थे। विश्वविद्यालयके साथ बिहारमें आठ विस्तृत कक्ष और तीन सौ प्रकोष्ठ थे। सभा-सदन दस भागोंमें विभक्त था। शिक्षार्थियोंके रहनेके लिये भिन्न-भिन्न तीन सौ छात्रावास-भवन थे। तीन विशाल पुस्तकालय—रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरंजक नामके थे। इन पुस्तकालयोंमें हीनयान, महायान, वज्रयान आदि बौद्ध तथा अन्यान्य सम्प्रदायोंके विविधविषयक ग्रन्थ मौजूद थे।

शिक्षा-विभागमें जिनमित्र, शीघ्रबुद्ध, चन्द्रपाल, ज्ञानचन्द्र, स्थिरमति, प्रभाकरमित्र, धर्मपाल, भद्रसेन, शान्त-रक्षित आदि प्रथम श्रेणीके प्रकाण्ड विद्वान् थे—जिनमें आचार्य शान्तरक्षितका नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनके समयमें नालन्दाकी कीर्ति अखिल विश्वमें परिव्याप्त हो चुकी थी।

नालन्दा केवल मगधका ही ज्ञान-भण्डार नहीं वरं समस्त संसारमें ज्ञान-विज्ञानका पथप्रदर्शक था। नालन्दाके अन्तिम दिनोंमें घोर वज्रयानका विकृत-से-विकृत रूप जनतामें प्रचारित किया जा रहा था। इन्हीं आन्तरिक दुर्बलताओं और मुसलमानोंके आक्रमणने नालन्दाको मिट्टीमें मिला दिया। मुसलमानोंने बड़ी निष्ठुरतासे इस विद्यालयको लूटा। इसके साक्षी हैं—वहाँकी जली ईंटे चौखटें, चावलके जले हुए दाने इत्यादि। भारतीय स्थापत्य-कलाके उत्कृष्टतम नमूने बर्बाद किये गये! यदि भयंकर अमानुषिक प्रहारोंसे नालन्दाका नाश न हुआ होता तो वहाँके ग्रन्थ-संग्रहालय आज भी दुनियाको यह बतला सकते कि उस समय नालन्दा कितना विस्तृत एवं गम्भीर ज्ञान-समुद्र था, उसका ज्ञान-भण्डार भूमण्डलपर कैसा अद्वितीय था।

(३) विक्रमशिला विश्वविद्यालय

भारतके तीसरे विश्वविद्यालय विक्रमशिलाके स्थानके विषयमें इतिहासकारोंके विभिन्न मत होते हुए

भी बहुत-से तिब्बती बौद्धग्रन्थोंके अनुवादके बाद, उसके आधारपर वर्तमान भागलपुर जिलेके सुलतानगंजको 'विक्रमशिला' निश्चित किया गया है।

इस विश्वविद्यालयके चारों ओर चार तोरण थे। हर एक प्रवेशद्वारपर एक-एक प्रवेशिका-परीक्षागृह था। इन सभी द्वारोंपर एक-एक दिग्गज विद्वान् थे। जो प्रवेशार्थी यहाँ पढ़ने आते थे, उन्हें पहले इन्हीं द्वारस्थ पण्डितोंको परीक्षामें सन्तुष्ट करना पड़ता था।

अध्यापन-विभागमें रत्नवज्र, लीलावज्र, कृष्णसमरवज्र, तथागतरक्षित, दीपंकर श्रीज्ञान, बोधिभद्र, कमलरक्षित और नरेन्द्र श्रीज्ञान—ये आठ महापण्डित और १०८ पण्डित थे। आचार्य 'दीपंकर श्रीज्ञान' थे। इस विश्वविद्यालयमें धर्म, साहित्य, दर्शन, न्याय आदिके अतिरिक्त विशेषरूपसे मन्त्रशास्त्रकी शिक्षा दी जाती थी। नालन्दा-जैसे प्राचीन तथा विक्रमशिला-जैसे नवीन विश्वविद्यालयोंमें तन्त्रशास्त्रकी ही प्रधानता थी। यहाँके महापण्डितोंमें मैत्री या डोम्बीया, स्मृत्याकर आदि 'सिद्ध' ही थे।

विक्रमशिलामें भारतीय छात्रोंके अतिरिक्त बहुत-से विदेशी छात्र भी विद्याध्ययनके लिये आते थे। छात्रोंके निवास एवं भोजनादिका प्रबन्ध विश्वविद्यालयकी ओरसे ही था।

दीपंकर श्रीज्ञानके समयमें यहाँके संघस्थविर 'रत्नाकर' थे। बिहारके मध्यमें 'बोधिसत्त्व' की मूर्ति थी। सैकड़ों तान्त्रिक देवालय थे। विदेशी छात्रोंको विशेष सुविधा प्राप्त थी।

सन् ११९३ ईस्वीमें पालवंशी राजाओंके अधःपतनके साथ-साथ ये विश्वविद्यालय भी सदाके लिये अन्धकारमें विलीन हो गये। विजय-मदान्ध मुसलमानोंने महम्मद-बिन-अख्तियारके नेतृत्वमें गोविन्द पालको मारकर नालन्दा और विक्रमशिलाको खूब लूटा। हजारों विद्यार्थी और अध्यापक तलवारके घाट उतारे गये! विजेताओंने लगभग दो हजार वर्षके पुराने धर्म और भारतीय सभ्यताको इस बर्बरतासे नष्ट किया कि पुनः उसका उद्धार न हो सका!!

भारतके प्रसिद्ध मन्दिरोंका शिल्पदृष्टिसे आलोचन

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए०)

भारतमें प्राचीन कालमें मन्दिर प्रायः काष्ठके बनते थे, जैसे आजकल नैपाल, तिब्बत, चीन तथा जापानमें बनते हैं। यही कारण है कि अत्यन्त प्राचीन कालके मन्दिर इस समय प्रायः नहीं मिलते।

प्राचीन मन्दिरोंमें शक्तिके तथा शिवके मन्दिर बहुत अधिक हैं। शक्ति-मन्दिरोंके विषयमें पाठकगण कल्याणके 'शक्ति-अंक' में प्रकाशित मेरे लेखमें उल्लेख पायेंगे तथा इस विषयपर विचार पायेंगे कि शक्ति-मन्दिरोंके निर्माणका प्रधान कारण क्या था। शिव-उपासना भी परम प्राचीन है और इसको अनार्य समझना भूल है। शिव तथा शक्तिकी उपासना संसारके प्राचीनतम धर्मोंमें पायी जाती है—तथा मिस्र, फिनीशिया, ग्रीस, ब्रिटेन इत्यादि देशोंमें। भारतमें भी यही उपासना पहले थी। कालान्तरमें वैष्णव आचार्यों तथा संतोंके प्रभावसे विष्णुकी उपासना भी बहुत बढ़ी। इस समय भारतमें अधिकांश मन्दिर इन्हीं तीन श्रेणियोंमें आते हैं। प्राचीन कालमें भारतमें सूर्य-उपासना भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। कहा नहीं जा सकता कि सूर्यकी पूजाके लिये मगलोग बाहरसे क्यों भारतमें लाये गये। कालान्तरमें सूर्य-उपासना भारतमें बहुत कम हो गयी और साथ-ही-साथ मेक्सिकोके मयलोगोंमें बहुत बढ़ी। उस देशमें मयलोगोंके बनाये हुए सूर्य-मन्दिरोंके बड़े-बड़े ध्वंसावशेष मिलते हैं। अनेक प्रदेशोंमें सूर्यकी उपासनामें नरबलितक दी जाने लगी थी। गणेश-उपासना इस समय केवल महाराष्ट्र देशमें ही कुछ स्थानोंपर मिलेगी। यही पाँच हिंदुओंके पंचदेव हैं।

भारतके वर्तमान मन्दिर सब-के-सब बड़े-बड़े राजाओंके बनवाये हुए हैं। इन मन्दिरोंका निर्माण रूपमण्डन इत्यादि प्रामाणिक ग्रन्थोंके आधारपर हुआ है। और इन मन्दिरोंमें मिलनेवाली अनेक बातें जो देखनेमें साधारण मालूम पड़ती हैं, वे सब-की-सब नियमितरूपसे बनी हुई पायी जायँगी। जिज्ञासु पाठकोंको श्रीगोपीनाथरावकृत 'Hindu Iconography' नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक देखनी चाहिये। इसमें शिव, देवी, विष्णु इत्यादि देवताओंके

महामन्दिर, जोधपुर

एक शिखरवाला मन्दिर, जोधपुर

[पृष्ठ ७५८

श्रीएकलिङ्ग-मन्दिर, कैलासपुरी

श्रीजगदीश-मन्दिर, उदयपुर

[पृष्ठ ७५८

विविध रूपोंका वर्णन है और मन्दिरोंके निर्माणके विषयमें भी बहुत कुछ लिखा है। इसके अतिरिक्त मैसूर-गवर्नमेंटद्वारा प्रकाशित 'श्रीतत्त्व-निधि' नामक संस्कृत ग्रन्थ मूर्तियोंके विषयमें द्रष्टव्य है। अनेक देवता ऐसे हैं, जिनके मन्दिरके समीप तालाब अथवा कूप होना चाहिये, अन्यथा जनताका अनिष्ट हो सकता है। ऐसी मूर्तियाँ भैरव, काली इत्यादि उग्र देवताओंकी हैं। मन्दिरोंमें भद्रपीठ नामक श्रेणियोंका स्तर एक मुख्य वस्तु है। अर्थात् मन्दिरकी पृष्ठभूमिपर अधिकतर सोलह स्तर ऐसे होते हैं, जिनमें एकके ऊपर एक स्तरमें नानाविध पशु-पक्षी तथा मनुष्योंकी श्रेणियाँ दिखलायी जाती हैं। मन्दिरके शिखरके विषयमें भी अनेक नियम हैं कि किस मन्दिरमें कितने शिखर होने चाहिये। विष्णु-मन्दिरोंके बाहर विष्णुके कौन-कौनसे अवतार किस-किस स्थानपर दिखलाये जायँ, इसका भी नियम है। शिव-मन्दिरोंमें बाहरकी ओर गणेश, गौरी तथा कार्तिकेयकी मूर्तियाँ बनायी जाती हैं। शिव-मन्दिरोंके भीतर भी यही मूर्तियाँ नियमित स्थानोंपर बनायी जाती हैं। अनेक मन्दिरोंमें बाहरकी ओर छोटे-छोटे मन्दिर उपदेवताओंके बनाये जाते हैं। अनेक मन्दिरोंमें यथा खजुराहोके विशाल चन्देल मन्दिरोंमें, भुवनेश्वरके मन्दिरोंमें, पुरीके जगदीश-मन्दिरमें, कोणार्कके ध्वस्तसूर्य-मदिरमें तथा काशीके नेपाली मन्दिरमें बाहरकी ओर कई नियमित स्थानोंपर अश्लील मूर्तियाँ मिलती हैं। इनके विषयमें अनभिज्ञ समालोचकोंने मन्दिरोंको बनवानेवाले राजाओंको तथा उनको बनानेवाले शिल्पियोंको बुरा-भला कहा है। पर यथार्थमें इन अश्लील मूर्तियोंका प्रयोजन मन्दिरोंकी वज्रपातादिसे रक्षा करना है। नये मकान बनाते समय कई स्थानोंपर झाड़, डलिया इत्यादि इसलिये लटका दी जाती हैं कि किसीकी 'नजर' न लगे। मैंने स्वयं तो नहीं देखा है, पर पढ़ा है कि (Roman Catholic) मन्दिरोंमें भी यही बात मिलेगी। इस बातके प्रमाणस्वरूप नीचे कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। यथा—

वज्रपातादिभीत्यादिवारणार्थं यथोदितम्।
शिल्पशास्त्रेऽपि मण्यादिविन्यासं पौरुषाकृतिम्॥

(उत्कलखण्ड)

अधःशाखाचतुर्थांशे प्रतीहारौ निवेशयेत्।
मिथुनै रथवल्लीभिः शाखाशेषं विभूषयेत्॥

(अग्निपुराण)

मिथुनैः पत्रवल्लीभिः प्रमथैश्चोपशोभयेत्।

(बृहत्संहिता)

दक्षिणके अनेक मन्दिरोंमें कासव नामक एक चबूतरा बना रहता है, जिसपर सिर रखकर यात्री लोग देवताको प्रणाम करते हैं। दक्षिणके मन्दिरोंमें मन्दिरकी परिधिके भीतर एक तालाब होता है, जिसमें देवताकी चलमूर्ति उत्सवोंके अवसरपर समारोहके साथ नौकामें घुमायी जाती है। ऐसे तालाबको तेप्पाकुलम् कहते हैं। इन मन्दिरोंमें अधिकतर यात्रियोंको मुख्य मूर्तिका स्पर्श नहीं करने दिया जाता। यात्रियोंकी ओरसे मन्दिरके सेवकगण द्रव्य लेकर मूर्तिकी पूजा कर देते हैं। कई मन्दिर ऐसे भी हैं, जहाँ शिवलिंगपर जल नहीं चढ़ाया जाता, केवल तेलका लेप करते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, भारतके प्रसिद्ध मन्दिर विख्यात राजकुलोंद्वारा बनवाये गये हैं। मन्दिरके निर्माणमें भाव ही प्रधान है। यथार्थमें भगवान् प्रत्येक मनुष्यके घट-घटमें व्याप्त हैं; पर प्रत्येक भावुक भक्त भगवान्के साकार रूपकी पूजा, अर्चा इत्यादि करके अपने अन्तःकरणको सुख देता है। वास्तवमें मूर्तियाँ एक प्रकारके दिव्य आदेश कहे जा सकते हैं, जिनके द्वारा भक्त अपनी साधना पूरी करते हैं। कहा है—

प्रतिमामन्त्रतीर्थेषु दैवज्ञे भैषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

और वास्तवमें यह सब भावका ही खेल है। Secret of the Golden Flower नामक अंग्रेजी पुस्तकमें चीनियोंकी ध्यान-विधि वर्णित है। इस पुस्तकको भूमिका सुप्रसिद्ध जर्मन-विद्वान् Jung ने लिखी है। उसमें उन्होंने लिखा है कि जबतक मनुष्य भक्तिमें इतना सराबोर नहीं हो जाता कि असम्भाव्य बातोंका भी विश्वास करे, तबतक उसे भगवान्का साक्षात्कार नहीं होता। अतः जिसे हम अन्धविश्वास कहते हैं, कुछ नियमोंके अनुसार होनेके कारण वही वस्तु उत्कट भक्तिका रूप धारण कर सकती है। हिंदुओंमें अनेक देवी-देवताओंकी पूजा प्रचलित होनेपर भी मेरे विचारमें हिंदूलोग मूर्तिपूजक नहीं कहे जा सकते। Iconography शब्द मूर्तियोंके वर्णनके लिये आता है। यह शब्द Icon से निकला है। प्राचीन कालमें पिनीशियन लोग छोटी-छोटी मूर्तियाँ (Icon) अभिचार, मारण इत्यादिके लिये बनाते थे। अतः मन्दिरोंका निर्माण भक्तोंकी भावना प्रकट करनेके

निमित्त और '**स्वान्तःसुखाय**' कहना चाहिये। प्राचीन कालमें नृत्य-गीतादि भी देवमूर्तियोंके सम्मुख होते थे और यही नृत्य-गीतादिके प्रारम्भका कारण भी हुआ। इसी कारण इन बड़े-बड़े मन्दिरोंमें जगमोहन, मण्डप इत्यादि मन्दिरके मुख्य अंग माने गये हैं, शक्ति-मन्दिरोंमें जीव-बलिकी प्रथा तथा दक्षिण और वाम उपासना, शिवालयोंमें अनगढ़ लिंगोंकी स्थिति अथवा नर्मदेश्वरकी स्थापना और विष्णु-मन्दिरोंमें शालग्राम इत्यादिकी स्थिति गूढ़ और ज्ञातव्य विषय हैं, जिनपर विचार करनेके लिये यहाँपर स्थान नहीं। मन्दिर पहले गुफाओंमें बनते थे, जैसा काश्मीरके अमरनाथ तथा कालिंजरके मन्दिरोंमें दिखलायी पड़ता है। कालान्तरमें पत्थरके मन्दिर बनने लगे। नाना प्रकारके पत्थरोंका प्रयोग मन्दिरोंके निर्माणमें हुआ है। कहीं-कहीं तो केवल संगमरमर-ही-संगमरमर लगाया गया है। मन्दिरकी रक्षाका प्रबन्ध भी एक मुख्य विषय है, जो ध्यानमें रखा गया है। दक्षिणमें मन्दिरोंके चारों ओर सात-सात परकोटेतक बने हैं। इसके अतिरिक्त भक्तोंने अनेक प्रकारसे मन्दिरोंको सुसज्जित करनेका प्रयत्न किया है। जैसे, पंजाबके सुप्रसिद्ध महाराजा रणजीतसिंहने काशीविश्वनाथ, ज्वालाजी तथा अमृतसरके सुप्रसिद्ध सिक्खोंके सुवर्ण-मन्दिरपर सोनेका पत्र चढ़वाया, जो अबतक विद्यमान है। कहा जाता है कि इन्हीं महाराजाने प्रसिद्ध कोहनूर हीरा श्रीजगन्नाथजीको अर्पण करनेकी इच्छा प्रकट की थी, पर उनकी यह इच्छा कई कारणोंसे उनके देहावसानके उपरान्त पूर्ण नहीं की गयी। प्रातःस्मरणीया अहल्याबाईने भी अनेक मन्दिरोंका निर्माण कराया है और सम्भवतः काशीविश्वनाथका वर्तमान मन्दिर भी उन्हींका बनवाया हुआ है।

कुमार दाराशिकोहने एक पुस्तक 'रिसाला हक्केनुमा' नामक लिखी थी, जिसका अंग्रेजी अनुवाद प्रयागके पाणिनि ऑफिससे प्रकाशित हुआ है। बड़ी सुन्दर पुस्तक है। इसमें मुसलमानोंके चिश्तिया सम्प्रदायके अनुसार प्राणायाम-विधिका वर्णन है। इसमें भी भावोंके गूढ़ स्तरोंका विशेष विवेचन किया गया है। मन्दिरोंकी स्थापना विशिष्ट भक्तकी भक्तिपर निर्भर होती है। और इसीसे सिद्धि भी प्राप्त होती है। अनेक योगीजनोंका सम्बन्ध भी ऐसे मन्दिरोंकी स्थापनामें होता है।

उत्तरी भारतमें मुसलमानोंके आक्रमणके कारण प्रायः सब पुराने मन्दिरोंकी बहुत क्षति हुई है। सोमनाथमें तो मुसलमानोंने प्रायः सम्पूर्ण मन्दिर ही नष्ट कर दिया। काशी-विश्वनाथके दो मन्दिरोंको यवनोंने नष्ट कर दिया। कालिंजर दुर्गके मन्दिरोंको यथासाध्य नष्ट-भ्रष्ट करके छोड़ा। कन्नौज, अयोध्या और मथुराके भी असंख्य मन्दिरोंको इन्होंने नष्ट किया। नालन्दाके सुप्रसिद्ध बौद्धस्थानके नाशकी कथासे भी पाठक अपरिचित न होंगे। उड़ीसा अथवा उत्कलप्रदेशमें भी जगन्नाथजीके मन्दिरपर कई बार मुसलमानोंके आक्रमण हुए और कोर्णाकके सुप्रसिद्ध सूर्य-मन्दिरके ध्वस्त होनेकी कथामें भी इन यवनोंका ही हाथ बतलाया जाता है! इन्हीं कारणोंसे उत्तर भारतमें बहुत कम प्राचीन मन्दिर मिलते हैं; और जो मिलते भी हैं, उनमें कलाका कोई विशेष प्रदर्शन नहीं मिलता।

राजपूतानेमें यवनोंका प्रवेश अधिक न हो पाया। इसी कारण वहाँ कुछ प्राचीन मन्दिर मिलते हैं। मारवाड़ अथवा जोधपुरमें दो अत्यन्त सुन्दर मन्दिर विद्यमान हैं। पहला मन्दिर धानमंडीमें 'महामन्दिर' नामसे विख्यात है। इसमें सहस्र स्तम्भवाला सुन्दर जगमोहन बना हुआ है। जगमोहनके खंभे नकाशीयुक्त तथा अत्यन्त सुडौल बने हैं। मन्दिरके ऊपर एक मुख्य तथा अन्य छोटे-छोटे कई शिखर इस मन्दिरकी शोभाको बढ़ाते हैं। दूसरा मन्दिर एक शिखरवाला है; और यद्यपि इसमें पहले मन्दिरका-सा जगमोहन नहीं है, तथापि इसके खंभे पहले मन्दिरसे बहुत ही सुन्दर हैं। इस मन्दिरमें तीन-तीन विशाल गवाक्ष तीन ओर बने हैं। ठीक ऐसा ही मन्दिर उज्जैनमें महाकालेश्वरका भी है।

उदयपुर राज्यमें भी दो बड़े सुन्दर मन्दिर मिलते हैं। पहला मन्दिर उदयपुर राजधानीसे बारह मील उत्तर एक घाटीमें श्वेत संगमरमरका बना हुआ एकलिंगजीका विशाल मन्दिर है। इस मन्दिरके पीछे चौबीस गाँव लगे हुए हैं। मन्दिरकी बनावट एक विशाल पर्वतकी-सी है, जिसमें चोटियोंकी जगह अनेक शिखर ऊपर-नीचे दीखते हैं। कहते हैं कि एकलिंगजीके मन्दिरकी स्थापना मेवाड़के आदिपुरुष बाप्पा रावलके समयमें हुई थी और ईसाकी पंद्रहवीं शताब्दीमें महाराणा कुम्भने इस मन्दिरका जीर्णोद्धार करवाया था। खास उदयपुरमें श्रीजगदीशजीका मन्दिर भी देखनेयोग्य है। यह मन्दिर भी प्रायः एकलिंगजीके मन्दिरकी ही तरह बना है। इसका भद्रपीठ बड़ा ही सुन्दर बना है। इसके स्तरोंमें

नाना प्रकारके पशु यथा हाथी-घोड़े तथा मनुष्य बने हैं। बहुत बारीक नकाशीका काम किया गया है। और मनुष्योंकी बनावट अत्यन्त स्वाभाविक तथा बारीक है।

आबू पर्वतपर कई बड़े ही सुन्दर संगमरमरके जैन-मन्दिर बने हैं, जिनमें करोड़ों रुपयोंकी लागत उस समय लगी थी, जब मन्दिर बने थे। एक मन्दिर विमलशाहका बनवाया हुआ है और दूसरा तेजपाल तथा वस्तुपाल बन्धुओंका। मन्दिरोंमें चारों ओर बड़ा ही सुन्दर काम दीखता है। स्तम्भ तथा छतको लेते हुए कोई भी कोना कारीगरीसे खाली नहीं है। काठियावाड़ प्रान्तमें पालीताणा राज्यमें शत्रुंजय नामक पहाड़ी इन जैन-मन्दिरोंसे परिपूर्ण है तथा द्रष्टव्य है। जैनी लोग बड़ी श्रद्धासे इन तीर्थोंकी यात्रा करते हैं।

राजपूतानेके पूर्वी कोनेपर ग्वालियरका सुप्रसिद्ध प्राचीन किला बना है। इसमें सास-बहू (सहस्र-बाहु) का मन्दिर अत्यन्त सुन्दर बना है। ग्वालियरका किला अत्यन्त प्राचीन है और इसमें बने हुए महल तथा मन्दिर बादके प्रतीत होते हैं। सास-बहूका मन्दिर सातवीं या आठवीं शताब्दीमें बना प्रतीत होता है और कहा नहीं जा सकता कि इसमें किस देवताकी प्रतिष्ठा हुई थी। मन्दिर तीन खण्डका है और इसमें चारों ओर द्वार-ही-द्वार हैं। इसमें बहुत ही बारीक कारीगरी भीतरकी ओर की गयी है। छतमें तथा प्रत्येक खंभेपर बेल-बूटोंकी बनावटसे कोई स्थान खाली नहीं। और बेल-बूटे भी साधारण नहीं, किंतु बड़े ही सुन्दर बने हैं।

मध्यभारतके चन्देल मन्दिर खजुराहोमें बने हुए हैं। खजुराहो इस समय एक छोटा-सा गाँव है; परंतु किसी समय यह जझोती प्रान्त (यजुर्होती) की राजधानी थी और यहाँ अनेक विद्वान् तथा धनी लोग रहते थे। इस समय यह स्थान छतरपुर स्टेटमें है। महोबासे खजुराहो चौंतीस मील, छत्रपुरसे सत्ताईस मील तथा पन्नासे पचीस मील है। यहाँ जानेके लिये मोटर-लारियाँ मिल जाती हैं; केवल थोड़ी ही दूर पैदल चलना पड़ता है। महोबाके चन्देल राजपूत राजा चन्द्रवर्माने आठवीं शताब्दीमें चन्देल राज्यकी नींव डाली, तबसे लगभग पाँच शतकतक चन्देल राजाओंका राज्य रहा। चन्देल लोगोंका मुख्य स्थान कालिंजरका दुर्ग था, और उनके रहनेका मुख्य स्थान महोबा था। खजुराहोमें उनके सुप्रसिद्ध मन्दिर बने। इनमें कंडरिया महादेवका सुप्रसिद्ध मन्दिर है। यह मन्दिर अनुमानतः दसवीं शताब्दीमें राजा धंगदेवने बनवाया था। खजुराहोमें कुल तीस मन्दिर हैं, जिनमेंसे आठ जैनियोंके हैं। जनरल कनिंघमने गंठाई नामक मन्दिरको बौद्ध मन्दिर कहा है, परंतु उनकी धारणाके आधार पुष्ट नहीं हैं। जितना बड़ा कंडरिया महादेवका मन्दिर है। उतने बड़े यहाँ लगभग आठ-दस मन्दिर हैं। प्रत्येक मन्दिर एक ऊँचे चबूतरेपर बना है। कंडरिया महादेवका मन्दिर एक सौ नौ फुट लंबा, साठ फुट चौड़ा और एक सौ सोलह फुट ऊँचा है। अर्धमण्डप, मण्डप, महामण्डप, अन्तराल तथा गर्भ-गृह—सब-के-सब इस मन्दिरमें बने हैं। मन्दिरकी छतमें बहुत अच्छा काम किया हुआ है। इस मन्दिरका कोई भाग ऐसा नहीं है, जिसमें पत्थरको काटकर मूर्तियाँ न बनायी गयी हों। इस मन्दिरमें कनिंघमने ८७२ मूर्तियाँ दो और तीन फुटके अंदर ऊँची गिनी थीं। छोटी मूर्तियाँ तो सहस्रोंकी संख्यामें हैं। अनेक मूर्तियाँ अश्लीलताव्यंजक भी हैं। देवी-देवताओंकी जितनी मूर्तियाँ हैं, वे सब बहुत सुन्दर हैं, मन्दिरके गवाक्ष भी अत्यन्त ही सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक हैं। मन्दिरके शिखरपर तथा मण्डप इत्यादिके शिखरपर एक-एक आमलक बना है। इनमें एकके बाद एक शिखर उत्तरोत्तर ऊँचे बड़े ही आकर्षक हैं। इस समय ऐसा मन्दिर बनवानेमें कम-से-कम बीस-पचीस लाख रुपये लगेंगे।

इसके बाद उड़ीसाके मन्दिर आते हैं। उड़ीसामें तीन मुख्य मन्दिर हैं—भुवनेश्वरमें श्रीलिंगराजका मन्दिर, पुरीमें श्रीजगन्नाथका मन्दिर और कोणार्कमें श्रीसूर्यनारायणका मन्दिर। इस प्रान्तके मन्दिरोंकी बनावट अपने ढंगकी निराली है। मन्दिर चार भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। पहला मुख्य मन्दिर या विमान, जिसमें प्रधान देवमूर्ति स्थापित होती है। इससे लगा हुआ सामनेकी ओर जगमोहन होता है, जिसे यहाँ मण्डप, मुखशाली तथा भद्रक भी कहते हैं। मण्डपसे एक द्वार भीतरकी ओर जाता है और इसीसे दर्शकगण भीतर जाकर प्रधान देवमूर्तिका दर्शन करते हैं। जगमोहनके आगे नाट्य-मन्दिर होता है, जिसमें नृत्य तथा कीर्तनादि किये जाते हैं। नाट्य-मन्दिरके आगे भोग-मन्दिर होता है, जहाँ रखकर भोग लगाया जाता है।

भुवनेश्वर केशरी राजाओंकी राजधानी रहा है। केशरी राजाओंने चौथी शताब्दीके उत्तर भागसे लेकर

ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्व भागतक छः सौ सत्तर वर्ष और चौवालीस पीढ़ियोंतक उत्कल प्रदेशपर राज्य किया। जलवायुकी उत्तमताके कारण भुवनेश्वर फिर उड़ीसाप्रान्तकी राजधानी होने जा रहा है। कहा जाता है कि केशरी राजाओंने इस स्थानपर सात हजार मन्दिर बनवाये थे। इस समय भी यहाँ लगभग पाँच सौ मन्दिर तो होंगे ही। इनमें ईसाकी पाँचवीं सदीसे लेकर ग्यारहवीं सदीतकके मन्दिर विद्यमान हैं। काशीको छोड़कर भारतमें कदाचित् ही कोई ऐसा स्थान हो जहाँ इतने अधिक देव-मन्दिर एक साथ विद्यमान हों। इन मन्दिरोंमें मुख्य मन्दिर श्रीलिंगराजका है, जिसे ललाटेन्दु केशरी (६१७से ६५७ई०) ने बनवाया था। इस मन्दिरके विमानका शिखर एक सौ अस्सी फुट ऊँचा है। मन्दिरकी बनावट ऐसी है कि उसका कोई भी बाहरी भाग पशु-पक्षी तथा नर-नारियोंकी बड़ी तथा बारीक मूर्तियोंसे खाली नहीं है। मन्दिरके बाहर तीन छोटे-छोटे मन्दिर गणेश, कार्तिकेय तथा गौरीके हैं, जो विमानसे लगे हुए हैं। गौरीकी प्रतिमा इतने आभूषणोंसे सजायी गयी है और ऐसे सुन्दर काले पत्थरकी बनी है कि देखते ही बनता है। मूर्तियोंमें हाथी, घोड़े, हिरन, सिंह इत्यादिकी जो मूर्तियाँ बनी हैं, उसमें सजीवताका भाव विशेष रूपसे उल्लेख है। इनके अतिरिक्त राजभवनकी व्यवस्था-सम्बन्धी तथा राजा-रानी और सिद्धोंकी दरबारकी मूर्तियाँ विशेषरूपसे दर्शनीय हैं। मन्दिरके चारों ओर गजसिंह नामक सिंह उभड़े हुए बने हैं। इस मन्दिरमें भी अनेक मूर्तियाँ अश्लील कही जा सकती हैं। यहाँसे समुद्रका तट लगभग पचीस मील दूर है और समुद्रकी रूखी वायुके कारण अनेकानेक मूर्तियाँ नष्ट-सी होती जा रही हैं। फिर भी बेल-बूटे बहुत ही सुन्दर बने हैं।

श्रीजगन्नाथपुरीका वर्तमान मन्दिर, जिसका जीर्णोद्धार राजा अनंगभीमदेवने तेरहवीं शताब्दीमें कराया था और जहाँकी मूर्तियाँ तीसरी शताब्दीकी कही जाती हैं, भुवनेश्वरके ही ढंगपर बना है। इस मन्दिरपर मुसलमानोंने कई बार आक्रमण किया और कई बार मन्दिरकी मरम्मत हुई। इस कारण शिल्पकी दृष्टिसे इस मन्दिरकी मूर्तियाँ बहुत ही न्यून हैं। हाँ, मराठोंने लगभग तीन सौ वर्ष हुए भोग-मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया था और इस भोग-मन्दिरकी बनावट दाक्षिणात्य शिल्पके अनुसार उत्तम कही जा सकती है। इस बातका कोई प्रमाण नहीं कि मराठोंने यहा भोग-मन्दिर कोणार्कसे मूर्तियाँ लाकर बनाया है। इस भोग-मन्दिरकी मूर्तियोंको देखनेसे इतना अवश्य मालूम पड़ता है कि दाक्षिणात्य शिल्पमें वज्रपातादि-निवारणार्थ अश्लील मूर्तियाँ अत्यन्त सुसभ्य ढंगकी होती हैं। उड़ीसाके मन्दिरोंकी मूर्तियाँ इधर वाममार्गके प्रचारसे तथा अन्य विशिष्ट कारणोंसे विशेष अश्लीलरूपमें बनी हैं। यहाँ 'मिथुन' को 'मैथुन' समझ लिया गया है।

जगन्नाथजीके मन्दिरके विमानभागमें दक्षिणकी ओर जो नया द्वार बना है, वह हालमें ही एक मैनेजरने बनवाया था। अन्यथा विमानभागमें एकसे अतिरिक्त और कोई द्वार नहीं होता।

कोणार्कका मन्दिर जगन्नाथजीसे इक्कीस मीलपर समुद्रके तटपर बना है। इस मन्दिरकी मूर्तियोंकी कला इतनी सुन्दर कही गयी है कि कहते हैं कि एशियामें इतना सुन्दर मन्दिर और कोई नहीं है। गवर्नमेंटने भी कई लाख रुपये लगाकर अभी इस मन्दिरका जीर्णोद्धार करवाया है। कहा जाता है कि इस मन्दिरके विमान-भागके शिखरपर एक बहुत बड़ा चुम्बकका छड़ लगा हुआ था, जिसके कारण पासमें जानेवाले जहाज इधर खिंच आते थे। इसी कारण कहा जाता है कि मुसलमान नाविकोंने चुम्बक निकालनेके लिये मन्दिरको तोड़ डाला। मेरा मत यह है कि यदि ऐसा चुम्बक मन्दिरके शिखरपर लगा हुआ था तो उसका प्रयोजन यह था कि वह बड़ी-बड़ी लोहेकी शहतीरोंको ठीक स्थानपर स्थित रखे; क्योंकि इस विशाल मन्दिरमें लगभग पचीस ऐसी शहतीरें दस-दस गज लंबी अबतक मिलती हैं और इनमेंसे प्रत्येकका तौल लगभग डेढ़ सौ मन होगा। जगमोहनके पीछेका विमान अथवा मुख्य भाग ध्वस्त हो गया है। जगमोहन तथा विमान-भाग मिलाकर एक विशाल रथकी योजना की गयी थी, जिसके पहिये अबतक विद्यमान हैं। जगमोहनके ऊपरी भागमें जो मूर्तियाँ बनी हैं, वे पुरुषाकार हैं। इसीसे मन्दिरके विस्तारका कुछ अनुमान हो सकता है। जगमोहनका शिखर लगभग दो सौ फुट ऊँचा है और इस विशाल भवनके नीचे खड़े होनेपर आदमीको अपनी तुच्छताका अनुभव होता है। जगमोहनकी चौखटके द्वार क्लोराइट नामक नीले पत्थरके बने हैं, जिसे यहाँ मुगनी कहते हैं। इसपर बने हुए बेल-बूटेका काम इतना सुन्दर है

कि वैसा और कहीं नहीं देखनेको मिलेगा। वैसे तो सारा मन्दिर ही मूर्तियोंसे भरा पड़ा है, पर मन्दिरके पहियोंकी बनावट विशेषरूपसे द्रष्टव्य है। प्रत्येक पहिया साढ़े दस फुट ऊँचा है और ऐसे चौबीस पहिये बने हुए हैं। इन पहियोंमें कोई भी स्थान बेल-बूटे तथा मूर्तिकारीसे नहीं बचा है। सूर्यकी सुन्दर मूर्तियाँ भी इसी मुगनी पत्थरकी बनी हुई हैं। यहाँका अरुणस्तम्भ, जो पैंतीस फुट ऊँचा तथा मुगनी पत्थरका बना है, इस समय जगन्नाथजीके मन्दिरके सामने लगा है। यहाँ मन्दिरोंके द्वारपर नवग्रह बनानेकी प्रथा है तथा नाग-कन्याओंकी मूर्तियाँ भी अनेक स्थलोंपर बनी हैं।

जगमोहनके आगे नाट्य-मन्दिर अभी बालूसे खोदकर निकाला गया है। इसकी शोभा अपूर्व है। यह मन्दिर नवीं शताब्दीका बना हुआ माना जाता है और सोलहवीं शताब्दीतक अपनी ऊर्जित अवस्थामें था। लगभग तीन सौ वर्षतक यह बालूके ढेरमें ढका हुआ पड़ा था।

दक्षिण भारतके मन्दिर उत्तरके मन्दिरोंकी अपेक्षा बिलकुल भिन्न हैं। दक्षिणमें पहले सबसे नीचेके भाग-में पाण्ड्य राजाओंका आधिपत्य था, जिसमें मदुरा तथा टिनेवेलीके जिले अन्तर्गत थे। पूर्वी घाटकी ओर चोलराजाओंका अधिकार था और पश्चिमी घाटकी ओर चेर राजाओंका। ईसाकी तीसरी शताब्दीमें एक चौथे राज्यका उदय हुआ, जो पल्लवोंका राज्य कहा जाता है। इनका राज्य आठवीं शताब्दीतक था और इस कालमें पल्लवलोग ही दक्षिणके मुख्य अधिष्ठाता थे। कालान्तरमें चालुक्य राजाओंके उदयके कारण पल्लवोंने अपनी राजधानी कांचीपुर अथवा कांजीवरम्‌में बनायी। और इसी समयमें इन लोगोंने अपने मुख्य मन्दिर बनाये। नवीं शताब्दीमें चोल राजाओंने पल्लवोंको पराजित किया। पल्लव लोग पहले बौद्ध थे और कालान्तरमें शैव हो गये। इन्होंने मामल्लपुर नामक स्थानमें पत्थरोंको छेनीसे काटकर मन्दिर बनानेकी प्रथा प्रचलित की। मामल्लपुर समुद्रके किनारे ही है और यहाँपर पंचपाण्डवोंके रथ (मन्दिर) तथा त्रिमूर्ति, वराह और दुर्गाके मन्दिर भी बने हैं। इसी स्थानपर एक चट्टानके ऊपर विंसेंट स्मिथके मतानुसार अर्जुनकी तपस्या तथा कुमारस्वामीके मतानुसार गंगावतरणका दृश्य बना है। इन मन्दिरोंमें सातवीं सदीकी पल्लव-मूर्तिकारीका बहुत सुन्दर नमूना मिलेगा।

कालान्तरमें शैव तथा वैष्णव आचार्योंके उदयके साथ दक्षिणमें शैव तथा वैष्णव मन्दिर बनने लगे। इन मन्दिरोंकी शैली एक-सी ही थी। इनमें चार विभाग होते थे। पहला विभाग विमान कहा जाता था और चतुष्कोण होता था। इनके शिखर Pyramidal अर्थात् पर्वताकार होते थे और इनकी छत एक या अधिक खण्डोंकी होती थी। दूसरा विभाग मण्डपका होता था, जो विमानके सामने होता था और जिसमेंसे होकर दर्शनार्थी भीतर जाते थे। तीसरा विभाग गोपुरम् नामक द्वारका होता था। ये गोपुरम् भी पर्वताकार होते थे और ये उन घेरोंके बाहर लगाये जाते थे, जो विमान तथा मण्डपके चारों ओर बने होते थे। प्रत्येक मन्दिरमें ऐसे सात घेरे, एकके भीतर एक, शिल्पशास्त्रोंमें लिखे हैं। पर ऐसा केवल एक ही स्थानपर अर्थात् श्रीरंगम्‌के श्रीरंगजीके मन्दिरमें मिलेगा और चौथा भाग चोल्ट्री या अनेक स्तम्भोंके मण्डपका होता था, जो लोगोंके ठहरनेके काममें आता था।

कांचीके दो विभाग हैं—बड़ा कांचीवरम् अर्थात् शिवकांची, और छोटा कांजीवरम् अर्थात् विष्णुकांची। शिवकांचीमें शैवलोग और विष्णुकांचीमें रामानुज-सम्प्रदायके वैष्णव रहते हैं। शिवकांचीमें एकाम्रेश्वर शिवका बड़ा मन्दिर है। मन्दिरके दो बड़े घेरे हैं। द्राविड़ पाँच लिंगोंमें एकाम्रेश्वर शिवलिंग, पृथ्वीलिंग है। उत्सवोंके समय शिवकी धातुमयी प्रतिमाकी यात्रा होती है। पश्चिमवाले घेरेके पूर्ववाले गोपुरके निकट चिदम्बर शिव और नन्दीकी विशाल सुनहली मूर्ति है। पश्चिमोत्तर भागमें तेप्पाकुलम् नामक सरोवर है। द्रविड़ मन्दिरोंमें घेरोंके फाटकोंके ऊपर बड़े-बड़े मन्दिरोंके समान गोपुर बने रहते हैं। इनमें ग्यारह, नौ, सात या इनसे कम खण्ड होते हैं। विष्णुकांचीमें वरदराज नामक विष्णुका विशाल मन्दिर बीस फुट ऊँची दीवारके घेरेके भीतर बना है। घेरेके पूर्वकी ओर ग्यारह खण्डका और पश्चिमकी ओर नौ-नौ खण्डके गोपुर बने हैं। इन गोपुरोंमें चारों बगलोंपर नीचेसे ऊपरतक पत्थर खोदकर असंख्य मूर्तियाँ तथा कारीगरीकी वस्तुएँ बनायी गयी हैं। विष्णुकांचीका मन्दिर पाँच घेरोंके भीतर बना हुआ है। विमानमें चार हाथसे अधिक ऊँची वरदराजभगवान्‌की श्यामल चतुर्भुज मूर्ति खड़ी है। विष्णुकांचीका मन्दिर अट्ठाईस बीघे भूमिपर बना है। कहा जाता है कि

विजयनगर राज्यके राजा कृष्णरायने कांची, चिदम्बरम् तथा श्रीरंगम्‌के मन्दिरोंके घेरे इसलिये बनवाये थे कि यवनोंके आक्रमण होने लग गये थे। इन घेरोंके गोपुर भी उन्हींके बनवाये कहे जाते हैं।

चिदम्बरम्‌में श्रीनटराजका सुप्रसिद्ध मन्दिर निन्यानबे बीघे भूमिपर तीस फुट ऊँची दो दीवारोंके घेरेके भीतर बना है। बाहरकी दीवारमें चारों दिशाओंमें एक-एक छोटा गोपुर हैं। भीतरवाली दीवारके भी चारों ओर गोपुर हैं। ये गोपुर नौ-नौ खण्डोंके हैं और प्रतिमाओंसे पूर्ण तथा चित्रोंसे चित्रित हैं। दोनों घेरोंके भीतर मन्दिर बने हैं। एक मन्दिरके सामने एक बड़ा-सा स्तम्भ खड़ा है। स्तम्भपर नीचेसे ऊपरतक सोनेका मुलम्मा किया हुआ है। कुछ लोग कहते हैं कि ईसाकी पाँचवीं शताब्दीमें काश्मीरके राजा हिरण्यवर्ण चक्रवर्तीने, (जिन्होंने लंकाको जीता था) इस मन्दिरको बनवाया; पर और लोगोंका विचार है कि वीरचोल नामक राजाने दसवीं शताब्दीमें इस मन्दिरको बनवाया। चोल राजाओंकी राजधानी तंजोरमें बृहदीश्वर नामक शिव-मन्दिर द्रष्टव्य है। इसमें मन्दिरके चारों ओर एक ही घेरा बना है और उसमें दो विशाल गोपुर नब्बे फुट और साठ फुट ऊँचे बने हैं। इस मन्दिरका शिखर दो सौ फुट ऊँचा है। मुख्य मन्दिरके सामने जगमोहन है और एक विशाल मण्डप है, जिसमें तेरह फुट ऊँचा, सोलह फुट लंबा और सात फुट चौड़ा काले पत्थरका विशाल नन्दी है। कहा जाता है कि यह विशाल मन्दिर राजा राजदेव चोलद्वारा ईसाकी दसवीं शताब्दीमें बनवाया गया था। इस मन्दिरकी विशेषता यह है कि मन्दिरका विमानभाग सबसे महत्त्वकी वस्तु लगती है, और इससे मुख्य मन्दिरकी प्रतिष्ठा बढ़ती है। पीछेके चोल-मन्दिरोंमें गोपुरभागको अधिक महत्त्व दिया गया है और विमानभाग गोपुरके सामने न्यून मालूम पड़ता है।

श्रीरंगम् नामक टापू कावेरी नदीमें स्थित है और यहाँ श्रीरंगनाथका सुप्रसिद्ध मन्दिर विद्यमान है। रामानुज-सम्प्रदायके आचार्यकी मुख्य गद्दी तोताद्रिमें है; किंतु श्रीरंगम् भी उनके मुख्य स्थानोंमें है। इस मन्दिरका घेरा २६६ बीघे भूमिपर फैला हुआ है और देहलीके किलेसे लगभग डेवढ़ा स्थान इसमें लगा है। सात दीवारोंके भीतर यह मन्दिर बना है और इसमें छोटे-बड़े अट्ठारह गोपुर हैं, जिनमें दो बहुत बड़े हैं। मुख्य मन्दिर छोटा-सा ही है।

पाण्ड्य राजाओंकी राजधानी मदुरा संस्कृतके 'मथुरा' शब्दका अपभ्रंश है। वैगा नदी मदुरा कस्बेसे दक्षिण-पूर्व रामेश्वरके टापूके पास जाकर समुद्रमें मिल गयी है। मदुरामें मीनाक्षीदेवी और सुन्दरेश्वर शिवका मन्दिर बाईस बीघे भूमिपर बना है। मन्दिरके बाहरकी दीवार इक्कीस फुट ऊँची है और उसके चारों बगलोंपर प्रतिमाओंसे पूर्ण और रंगोंसे चित्रित ग्यारह खण्डोंवाला, ग्यारह कलशवाला एक ही समान एक-एक गोपुर है। प्रत्येक गोपुर एक सौ बावन फुट ऊँचा है। इन मन्दिरोंमें पाँच छोटे गोपुर भी हैं।

सुप्रसिद्ध रामेश्वरका मन्दिर बीस बीघे भूमिपर रामेश्वर नामक टापूपर बना है। इस टापूको गन्धमादन पर्वत भी लिखा है। यह मन्दिर पाँच घेरोंके भीतर बना है और इसमें चार बहुत बड़े गोपुर हैं। मन्दिरके चारों ओर बाईस फुट ऊँची दीवार है। मन्दिके भीतरकी पाटी हुई सड़कें, जो लगभग चार हजार फुट लंबी, तीस फुट चौड़ी और तीस फुट ऊँची हैं, इस मन्दिरकी विशेष वस्तु हैं। दक्षिणके मन्दिरोंमें सुनहला स्तम्भ प्राय: प्रत्येक मन्दिरमें मिलता है और वह यहाँ भी है। मन्दिर बहुत प्राचीन कहा जाता है, पर आजकल यहाँ लोगोंको दर्शनादिमें पंडे विशेष कष्ट देते हैं।

पाण्ड्य राजाओंके समयमें बने हुए श्रीरंगम्,चिदम्बरम्, कुम्भकोणम् इत्यादिके मन्दिर ऐसे हैं कि इनमें गोपुर ही मन्दिरका मुख्य भाग लगता है। ये गोपुर इतने ऊँचे हैं, जितने चोल-मन्दिरोंमें विमान बनते थे।

चौदहवीं शताब्दीमें मुसलमानोंके आक्रमण होने लगे और दक्षिणके राज्य छिन्न-भिन्न होने लगे। इसी समय विजयनगर राज्यकी स्थापना तुंगभद्राके दक्षिण-तटपर १३३६ ईस्वीमें हुई। विजयनगरकी मन्दिर-शैली अपनी अलग ही थी। इन मन्दिरोंमें मण्डप ही प्रधानता पाने लगे और मन्दिरका मुख्य अंग बन गये। किष्किन्धा नामक स्थानपर होसपेटसे सात मील पूर्व हाम्पी गाँवके पास विरूपाक्ष शिवका सुप्रसिद्ध मन्दिर है। यह मन्दिर भी कलाकी दृष्टिसे बड़ा ही सुन्दर है। इस स्थानपर अनेक मन्दिर हैं, जो ध्वस्त अवस्थामें पड़े हैं। मुसलमानोंने इन मन्दिरोंको तोड़-फोड़कर बिलकुल नष्टप्राय कर दिया है।

मैसूर प्रान्तमें होसाल राजाओंके समयके कई बहुत ही सुन्दर मन्दिर दो-तीन स्थानोंपर विद्यमान हैं। इन

श्रीरंगम्‌का सुप्रसिद्ध विष्णु-मन्दिर

[पृष्ठ ७६२
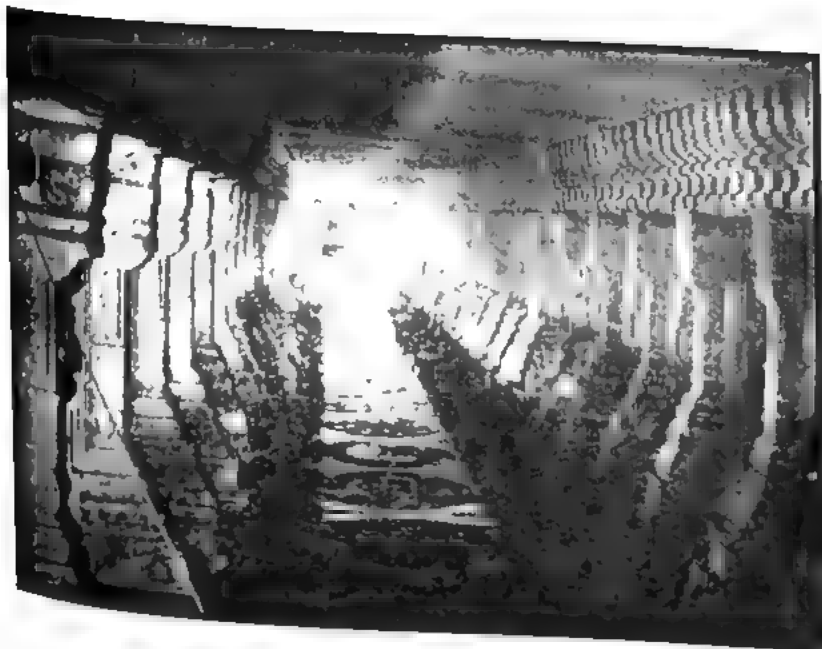
रामेश्वर-मन्दिरकी प्रदक्षिणा [पृष्ठ ७६२

रामेश्वर-मन्दिरका एक स्तम्भ [पृष्ठ ७६२
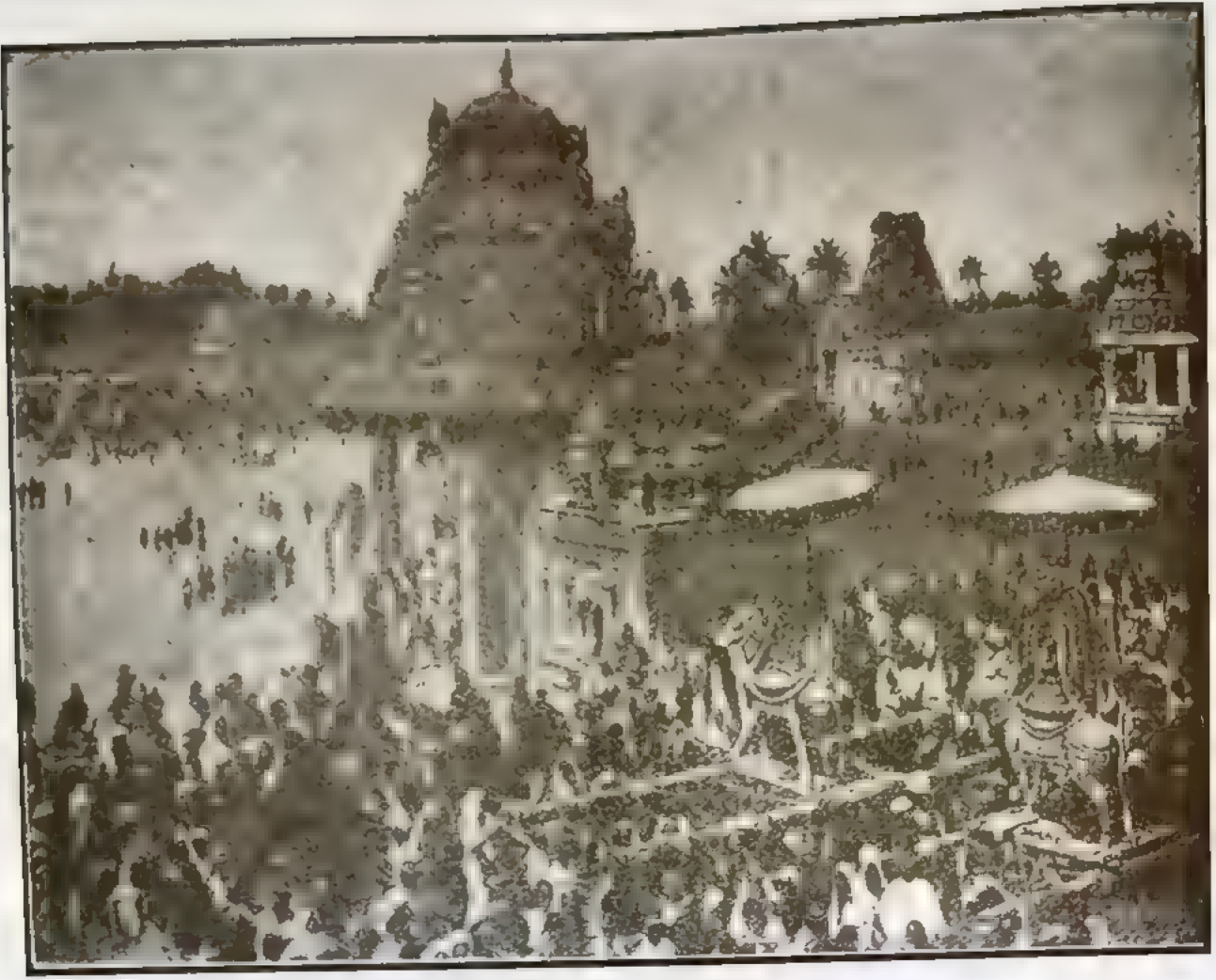
महामखम् मेला, कुम्भकोणम् [पृष्ठ ७६२
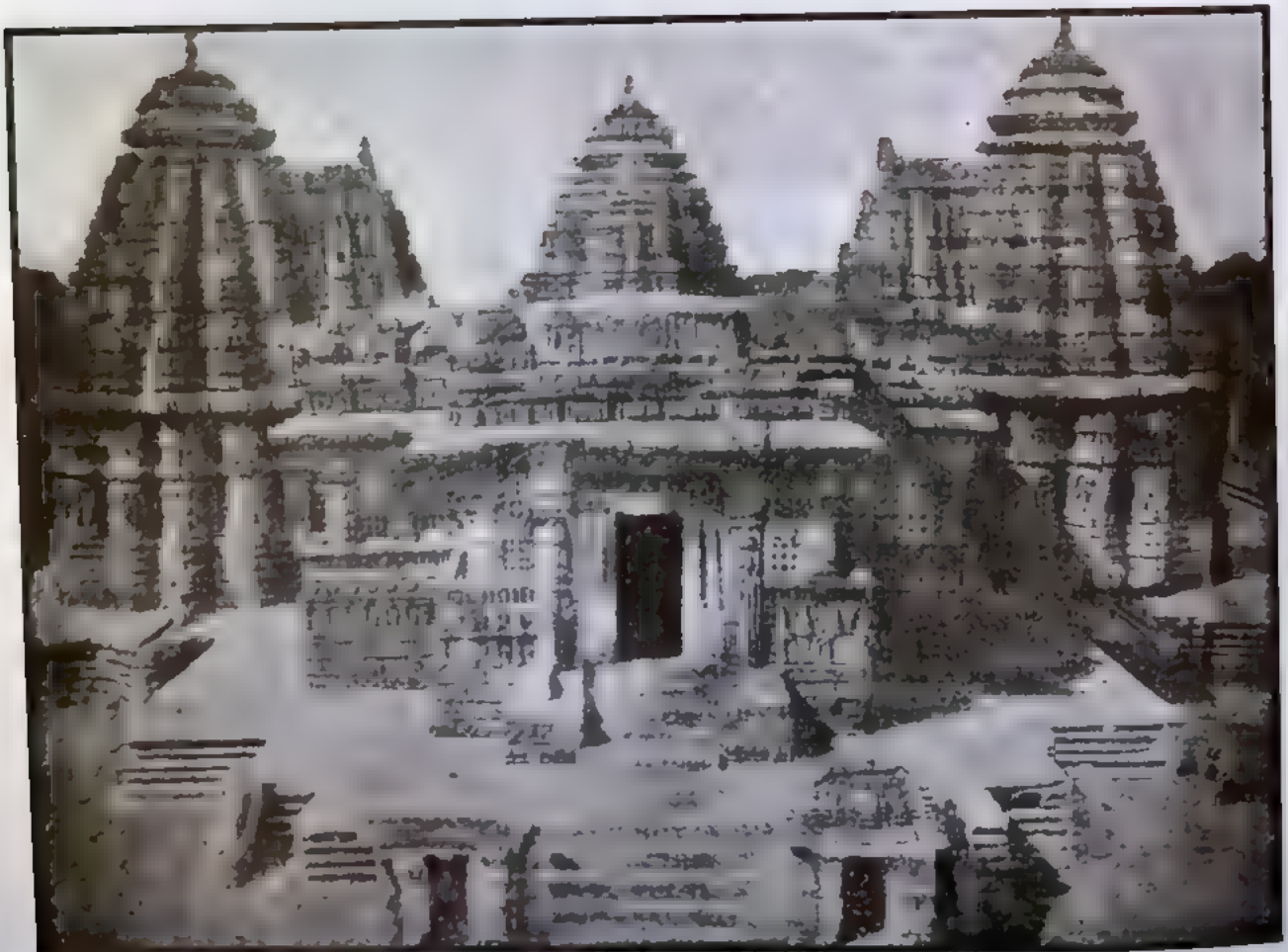
प्रसन्नकेशव-मन्दिर, सोमनाथपुर, मैसूर [पृष्ठ ७६५

मन्दिरोंकी शैली भारतके अन्य मन्दिरोंसे अनोखी ही है। कहा जाता है कि इन राजाओंके प्रसिद्ध शिल्पकार गृह निर्माण-विद्यामें प्रख्यात डंकनाचारीने बारहवीं शताब्दीमें इन मन्दिरोंको बनाया था। इन मन्दिरोंमें बड़ा ही बारीक, सुन्दर तथा रोचक काम किया हुआ है, जिसकी समता अन्यत्र नहीं मिलती। सोमनाथपुरमें प्रसन्न-केशवका मन्दिर, जिसमें प्रसन्न-केशव, गोपालजी तथा जनार्दन-भगवान्‌के मन्दिर हैं, बना है। इस मन्दिरके तीन शिखर बड़े ही सुन्दर और ध्यानसे देखने योग्य हैं। मन्दिरमें नीचेसे ऊपरतक शिल्पकारीका सुन्दर काम किया हुआ है। चारों ओरकी बाहरकी नींवोंपर महाभारत, रामायण तथा भागवतकी बहुत-सी कथाओंकी घटना पत्थरोंमें खुदी हुई हैं। हलेबीद नामक स्थानपर हौसलेश्वर तथा केदारेश्वरके दो प्रसिद्ध मन्दिर बने हैं। हौसलेश्वरका मन्दिर प्राचीन है। मन्दिर एक बहुत ही ऊँची कुर्सीपर बना है और इसकी कारीगरी और बनावट विचित्र है। केदारेश्वरका मन्दिर हौसलेश्वरके मन्दिरसे बहुत छोटा है; किंतु इसकी कारीगरी उससे भी अधिक बारीक है। इसकी नींवसे लेकर शिखरतक उत्तम संगतराशीका काम है। बेलूर नामक स्थानपर, जिसे प्राचीन समयमें दक्षिण-काशी भी कहते थे, चिन्नकेशवका विशाल मन्दिर बना है। इस मन्दिरमें दो उत्तम गोपुर भी बने हैं। मन्दिर और जगमोहनमें संगतराशीका काम बहुत ही सुन्दर है। मैसूर गवर्नमेंटने हालमें ही इन मन्दिरोंकी रक्षाका प्रबन्ध किया है और इन स्थानोंकी पथ-प्रदर्शक पुस्तिकाएँ भी सचित्र प्रकाशित की हैं।

राष्ट्रकूट राजाओंके समयमें बने हुए सुप्रसिद्ध कैलास नामक गुफा-मन्दिरका उल्लेख भी इस स्थानपर आवश्यक है। ऊपरसे प्रायः डेढ़ सौ फुट नीचेतक एक समूचे पहाड़को छेनीसे काटकर प्रायः डेढ़ सौ वर्षोंमें यह मन्दिर बना है। निजाम स्टेटके औरंगाबाद शहरके पास ही वेरूल अथवा इलोरा नामक स्थानपर प्रायः तीस गुफा-मन्दिर बौद्धों, हिंदुओं तथा जैनियोंके बने हैं। और उन सब मन्दिरोंमें यह मन्दिर सबसे अधिक उत्तम है। यह मन्दिर आठवीं शताब्दीमें बना था। मन्दिर चार खण्डका है और इसमेंका कुल काम केवल छेनीसे ही हुआ है अर्थात् सारी इमारत और मूर्तियाँ पत्थर एवं पर्वतोंको काटकर ही बनायी गयी हैं। बड़े-बड़े हाथी, सिंह, घड़ियाल, हरिण, हंस तथा बैल चट्टान काटकर बनाये गये हैं। शिव, विष्णु आदिकी बहुत-सी बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ बगलके मंदिरोंमें बनी हैं। इस मन्दिरमें पुराणकी कथाओंकी मूर्तियाँ इतनी अधिक बनी हुई हैं कि यदि कोई व्यक्ति केवल इस एक मन्दिरकी मूर्तियोंकी कथाएँ समझ जाय तो वह महान् पण्डित हो जायगा।

भारतके विशाल मन्दिरोंकी चर्चा इस छोटे-से लेखमें पूर्णरूपसे नहीं की जा सकती। जिज्ञासु पाठकोंको इन स्थानोंको प्रत्यक्ष देखकर तथा प्रामाणिक पुस्तकोंको पढ़कर इनका मर्म समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस स्थानपर इतना कह देना आवश्यक मालूम पड़ता है कि मिस्र देशके सुविशाल मन्दिर कदाचित् दक्षिण भारतके मन्दिरोंकी शैलीपर ही बने हैं और उनके द्वार-भाग तो मानो निश्चय ही गोपुरोंकी नकल हैं। कम्बोडिया देशमें किसी समय दक्षिण भारतके लोगोंने शैव तथा वैष्णव धर्मोंकी बड़ी उन्नति की थी। उस प्रदेशमें बने हुए अंकुरवट नामक सुविशाल मन्दिरका एक चित्र इस लेखके साथ दिया जाता है। प्रारम्भमें यह मन्दिर विष्णुका मन्दिर था। इस मन्दिरमें दीवारोंपर महाभारत तथा रामायणकी कथाएँ अब भी खुदी हुई हैं। पाठकगण देखेंगे कि इस मन्दिरका भी घेरा दक्षिणके मन्दिरोंकी ही परिपाटीपर बना है। इस विशाल मन्दिरका निर्माण कम्बुजके राजा सूर्यवर्मा द्वितीयके राज्यकालमें प्रायः ११२५ ई० में हुआ था।*

भजो रे भैया! राम गोविंद हरी।
जप तप साधन कछु नहिं लागत, खरचत नहिं गठरी॥
संतत संपति सुखके कारन, जासों भूल परी।
कहत कबीरा राम न जा मुख, ता मुख धूल भरी॥

* इस लेखके साथ सम्पर्क रखनेवाले इस अंकमें प्रकाशित चित्र रेलवे बोर्डके सौजन्यसे प्राप्त हुए हैं, अतः लेखक उनके लिये उक्त बोर्डका कृतज्ञ है।

हिंदू-मन्दिर

(लेखक—पं० श्रीभास्करनाथजी मिश्र, एम० ए०)

अशोकके समयसे लेकर आजतकके भारतीय जीवन और विचारधाराका जो अमूल्य संकलन यहाँकी कलापूर्ण रचनाओंपर टँका हुआ है, उसके लिये विश्व भारतका ऋणी है। किसी भी दूसरे राष्ट्रने, प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन, इतनी उच्च संस्कृतिका निर्माण नहीं किया। किसीने भी धर्मको जीवनका दर्शन बनानेमें इतनी सफलता नहीं प्राप्त की। यहाँतक कि किसीने भी मानवीय ज्ञानको इतना समृद्ध एवं शक्तिशाली नहीं बनाया।[१] श्रीहैवेलके इन शब्दोंमें एक निष्पक्ष हृदयसे निकली हुई ऐसी गूँज है, जो भारतीय शिल्पकलाके प्रेमियों और मर्मज्ञोंको इसकी परख करनेके लिये आवाहन करती है। फर्गुसन और बर्गेसकी भाँति उन्होंने यूरोपीय पक्षको प्रधानता न देकर भारतीय शिल्पकलाकी मौलिकताका समुचित ज्ञान हमें कराया है और इस प्रकार भारतीय कलाके प्रति ही नहीं, बल्कि समूचे एशियाके प्रति यथोचित न्याय किया है।

भारतीय कलाके इतिहासमें शिल्प-कलाका सर्वमान्य वैभवपूर्ण स्थान है। इसीकी प्रचुर सामग्रीसे वर्तमान संग्रहालय भरे हैं और लगभग १५०० वर्षोंसे यह कला हमें नित्य-नूतन प्रेरणा देती रही है।

राष्ट्रके शिल्पकी अनमोल कृतियाँ यहाँके नागरिकके लिये केवल मनोरंजनका सामान नहीं रहीं, उनका जन्म 'कला-कलाके लिये' वाले सिद्धान्तपर नहीं हुआ, वे कोरी भावना और वाहवाहीके खातिर नहीं गढ़ी गयीं, बल्कि उनकी उपस्थितिने भारतीय जीवनके शुष्क कलेवरको अपनी मौलिकता और सजीव सौन्दर्यद्वारा अनुप्राणित किया है। शिल्पकारकी तीक्ष्ण छेनीने निर्मम पत्थरोंको मोमकी भाँति छीला और उसपर भारतीय विचार-पद्धति, भारतीय वेश-भूषा, भारतीय वातावरण एवं भारतीय जीवनके विविध अंगोंके विहंगम तथा सूक्ष्मतम चित्र आँके। उसकी संजीवित कलाने उसे देशों-विदेशोंतकमें अजर-अमर कर दिया और वह भारतीय कलाका जन्मदाता कहा जाने लगा।

भारतीय जीवनके दर्शन और संस्कृतिको अपना सर्वोच्च लक्ष्य बनाकर उसने राष्ट्रके पवित्रतम स्थान चुने और वहाँ अपना जीवन होमकर ऐसे-ऐसे विशाल भवन निर्माण किये, जो विश्वकी शिल्पकलाके इतिहासमें अद्वितीय हैं और जिन्हें देखकर दर्शककी मानवबुद्धि चकरा जाती है। दीर्घकाय चट्टानोंको तोड़कर उसने दूधिया और मूँगिया पत्थर निकाला। भूख-प्यासकी परवा न करके उन्हें तराशा और अपनी महत्तम देन राष्ट्रके चरणोंपर चढ़ायी। जनता-जनार्दनने देश-भवनोंके गर्भगृह अथवा गूढ़ मण्डपोंमें अपनी संस्कृति और धर्मके प्रतीक प्रस्थापित किये और शंखनाद करके अपने कलाकारकी अक्षय कीर्तिको चतुर्दिक् फैला दिया।

मन्दिर-निर्माणकी इस भावनाका प्रत्यक्षारम्भ कब हुआ, इसपर अनेक मत-मतान्तर हैं; किंतु श्रीरायकृष्ण-दासजीके शब्दोंमें 'मन्दिर-स्थापत्यका विकास स्वतन्त्ररूपसे और अशोकके पहलेसे ही हुआ जान पड़ता है।'[२] है भी ऐसा ही। अर्थशास्त्रमें, नगरके भीतर कई देवताओंके मन्दिर बनानेका विधान है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसे मन्दिरोंकी परम्परा चाणक्यके पहलेसे चली आती थी, जिसके कारण उसे अर्थशास्त्रमें स्थान मिला। श्रीकृष्ण-पूजा पाणिनि (८ वीं सदी ई० पू०)के समयमें विद्यमान थी और चन्द्रगुप्त-कालमें भी प्रचलित थी। ई० पू० २री-३री सदीमें तो वह इतनी फैल गयी थी कि ऐसे पूजा-स्थानोंके तीन-तीन शिलालेख अकेले उदयपुर राज्यमें मिले हैं।'[३] इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण-सम्प्रदायके मन्दिर-वास्तुपर जैन, बौद्ध या विदेशी वास्तुकलाका प्रभाव नहीं पड़ा, बल्कि वे ही उससे न्यूनाधिक मात्रामें प्रभावित हैं। हिंदू-शिल्पकलाकी प्रसिद्ध पद्धतियों और स्वस्तिक, कमल तथा अमलक आदि प्रधान हिंदू-प्रतीकोंका प्रयोग ही इस पहेलीको सुलझानेके लिये पर्याप्त है।

शुंगकालमें हिंदू-देव-मन्दिरोंकी प्रचुरता थी। बौद्धोंने इससे प्रभावित होकर बुद्ध-सूचक चिह्नोंपर शिखरवाले

१. E. B. Havell: 'A Study of Indo-Aryan Civilization 1915, p. 220.
२. रायकृष्णदास-भारतीय मूर्तिकला, पृ. ४४,
३. वही पृ. ८७.

ब्राह्मण-मन्दिर बनाये। बिहारमें इस कालका एक ऐसा टिकरा मिला है, जिसपर शिखरवाले मन्दिरकी आकृति पायी गयी है। यह टिकरा पकायी हुई मिट्टीका बना है। इसी मन्दिरमें बुद्धका प्रतीक भद्रासन स्थापित किया गया देख पड़ता है। हिंदू-मन्दिरोंके पर्वतशिखरोंकी भाँति बौद्धोंने शिखरकी भावना सप्तभौम घरोंसे ली। वे न तो अपने मन्दिरोंमें नयी शैली ही दे सके और न खुलकर हिंदू-मन्दिरोंका अनुकरण ही कर सके; क्योंकि ब्राह्मण-मन्दिर पर्वतके नमूनेपर अवलम्बित थे और बौद्धोपासनामें पर्वतके लिये कोई स्थान न था।

कुषाण-सातवाहनकालमें अग्नि-मन्दिरोंको एक कुषाणने नष्ट करा डाला था और उनके स्थानपर बौद्ध-मन्दिर बनाये थे। महाभारत, वनपर्व, अध्याय १८८ और १९० में लिखा है—'वे (कुषाण) देवताओंकी पूजा वर्जित कर देंगे और हड्डियोंकी पूजा करेंगे। ब्राह्मणोंके निवासस्थानों, महर्षियोंके आश्रमों, देवस्थानों, चैत्यों और नागमन्दिरोंकी जगह एडूक बन जायँगे और सारी पृथ्वी उन्हीं (एडूकों) से अंकित हो जायगी। वह देवमन्दिरोंसे विभूषित न रहेगी।'

भारशिव-वाकाटक काल (तीसरी-चौथी सदी) में नाग-शैलीके मन्दिर बने। वे सादे होते थे और 'उनकी छेंकन चौकोर होती थी, जिसपर शिखर भी चौकोर होते थे, जो क्रमशः ऊपरकी ओर सँकरे होते चले जाते थे।' शुंगकालीन मन्दिरोंका ही यह क्रमिक विकास आगे बढ़ा और शकोंके बाद फिर सामने आया। इन मन्दिरोंके अलंकरणमें खर्जुर वृक्ष (नाग-चिह्न) अधिकतासे मिलता है। भारशिवोंके कालसे ही गंगा-यमुना आदि नदी-देवियोंकी प्रतिमाएँ मन्दिर-तोरणोंके चौखटोंपर बनने लगीं। भूभराके मन्दिर इसी प्रकारकी चौखटवाले हैं। देवगढ़का मन्दिर भी इसी पद्धतिका है।

आर्यावर्त और दक्षिणापथकी संस्कृतिको 'भारतवर्ष' नामके अन्तर्गत लानेका श्रेय वाकाटक वंशको ही है। इनके समयमें अनेक शिवमन्दिर बने, जिसमें एकमुखी लिंग और चतुर्मुखी लिंगोंकी स्थापना हुई। इन मन्दिरोंसे ही वास्तु-विस्तार और अलंकरणकी प्रथा आरम्भ हो जाती है। भार-शिवकालके चौकोर शिखरमें चारों ओर कैलासशिखरोंके-से पट्टे बढ़ा दिये जाते हैं और पार्वतीके मन्दिरमें हिमालयसूचक अभिप्राय मिलने लगते हैं; क्योंकि पार्वती हिमालयकी पुत्री हैं। ऐसे मन्दिरोंका प्रमुख केन्द्र नचना है, जो भूभरासे १३-१४ मीलपर स्थित है। नचनाके मन्दिर गुप्तकालीन मन्दिरोंकी वास्तुकलासे काफी साम्य रखते हैं—मानो वे भूभरा और गुप्तकालकी कलाओंको जोड़नेवाली कड़ी हैं। वाकाटक-मन्दिर भी प्रायः गुप्तकालके ही हैं। हाँ, परस्पर सम्प्रदाय-भेद तो है ही। नागवाकाटकोंके सब मन्दिर शैव-सम्प्रदायके तथा गुप्तवंशियोंके वैष्णव-सम्प्रदायके हैं। शैलीकी दृष्टिसे दोनों समान हैं।

गुप्तकालका कोई मन्दिर अब पूरी तरह सुरक्षित नहीं पाया जाता। बम्बईप्रान्तके ऐहोलीके गुप्त-मन्दिरको आदर्श नमूने नहीं माने जाते। एरण (जिला सागर) में राजाधिराज समुद्रगुप्तकी राजमहिषीका बनवाया हुआ विष्णुमन्दिर इनसे कहीं सुन्दर है। देवगढ़ (ललितपुर, जि० झाँसी) की बाहरी दीवारोंपर एक ओर शेषशायी विष्णुके चरण लक्ष्मी चापती हैं, और विष्णुके नाभिकमलपर ब्रह्मा बैठे हैं तथा पास ही योगिराज शिव खड़े हैं। ऊपरसे देवगण इस त्रिमूर्तिके दर्शन कर रहे हैं। इसी दृश्यके नीचे विष्णुके छः पार्षद हैं। दूसरी ओर नर-नारायणकी अखण्ड तपस्याका दृश्यांकन हुआ है।

पूर्व मध्यकाल (६००-९०० ई०)-के मन्दिरोंमें वेरूल (इलौरा)-के मन्दिर अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनमें ब्राह्मण-मन्दिर कैलास सबसे विशाल और सुन्दर है। इसके सभी भाग निर्दोष और कलापूर्ण हैं। इसकी लंबाई लगभग १४२, चौड़ाई ६२ और ऊँचाई १०० फुट है। स्थान-स्थानपर द्वारों, झरोखों, सीढ़ियों तथा अलंकृत स्तम्भोंकी पंक्तियाँ निर्मित की गयी हैं। मन्दिरसे लगे हुए तीन प्रतिमामण्डप हैं, जिनमें ४२ पौराणिक दृश्य उत्कीर्ण हैं। एक दृश्यमें रावण कैलास पर्वतको उठा रहा है; भयत्रस्त पार्वती शिवके विशाल भुजदण्डकी शरण ले रही हैं और उनकी सखियाँ भाग रही हैं; किंतु शिव अडिग हैं और अपने चरणसे कैलासको दबाकर रावणके श्रमको निरर्थक किये दे रहे हैं। मन्दिरके एक बाह्य पार्श्वमें त्रिपुर-दाहका विहंगम चित्रांकन है। मन्दिरका दीपस्तम्भ भी दर्शनीय एवं मनोरम है। यहाँके अन्य मन्दिरोंमें नृसिंहावतारका दृश्य, भैरवकी ओजःपूर्ण मूर्ति, इन्द्र-इन्द्राणीकी लवलीन मूर्तियाँ, शिव-पार्वतीका विवाह, मार्कण्डेयका उद्धार आदि अनेक पौराणिक दृश्य खचित हैं। कैलास-मन्दिरका निर्माण राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (लगभग ७६०-७७५ ई०) ने कराया था।

इस कालका दूसरा कला-केन्द्र ऐलिफैंटाके गुफा-मन्दिर हैं। यह स्थान बम्बईसे प्रायः छः मील दूर एक टापूमें है। टापूका वास्तविक नाम धारापुरी है (भारतीय मूर्तिकला, पृ० १०८)। यहाँका शिव-पार्वतीके विवाहका दृश्य वेरूलवाले दृश्यसे बढ़कर है। पार्वतीके आत्मसमर्पणका भाव और शिवका उन्हें सादर ग्रहण करनेका दृश्य दिखानेमें शिल्पी पूर्णरूपेण सफल हुआ है। इन मन्दिरोंका रचना-काल ८ वीं सदी है।

तीसरा मुख्य कला-केन्द्र इस कालका दक्षिणमें कांचीके सामने समुद्र-तटपर मामल्लपुरम्में चट्टानोंसे काटे गये विशाल मन्दिर-रथ हैं। इन्हें संसारकी अद्भुत वस्तुओंमें गिना जाता है। इनकी शैली छाजनदार वास्तुकी है और इनके सात मन्दिरोंके एक समूहको 'सप्त-रथम्' कहा गया है। इन मन्दिरोंको पल्लवराज महेन्द्रवर्मा प्रथम (लगभग ६००-६२५ ई०) और उसके पुत्र नरसिंहवर्मा (लगभग ६२५-६५० ई०) ने बनवाया था। इनमें आदि वराहके रथमन्दिरमें महेन्द्र और उसकी पटरानियोंकी तथा धर्मराज-रथ-मन्दिरमें नरसिंहकी मूर्तियाँ बनी हुई हैं। धर्मराज-रथ (६७०-७०० ई०) शैव-सम्प्रदायका सर्वोत्तम मन्दिर-नमूना है। भीमरथ सातवीं सदीका एक उत्कृष्ट वास्तु-उदाहरण है। यह मन्दिर दोमंजिला भवन है और ग्रैनाइट* पत्थरसे बना है। इसकी लंबाई ४८, चौड़ाई २५ और ऊँचाई २६ फुट है; किंतु अन्य रथोंकी भाँति यह रथ भी अपूर्ण ही रह गया। महिष-मण्डपम् मन्दिरमें शेषशायी विष्णुकी मूर्तिपर आक्रमण करते हुए मधु-कैटभ नामक राक्षस दिखाये गये हैं। एक अन्य स्थानपर महिषमर्दिनी दुर्गाकी एक भव्य मूर्ति भी चित्रांकित है।

उत्तर मध्यकाल (९००-१३००)-के मन्दिर-निर्माता ललितकलाकी विशेषता छोड़कर शिल्पीमात्र रह जाते हैं। उनकी कला रूढिग्रस्त हो गयी और उसमेंसे मौलिकताका लोप हो गया। इसी समयसे मन्दिर-वास्तुकी अत्यन्त अलंकृत शैलीका क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है। अतएव इनकी कृतियोंमें कला नहीं, कलाभास है। इसी समयसे देवताओंकी मूर्तियोंका यह उद्देश्य कि वे भारतीय कुल-पर्वतोंमें देवताओंके आवासका भान करायें लुप्त हो जाता है। अलंकरण बढ़ा, किंतु उद्देश्यहीन ही रहा। इतना होते हुए भी यही एक ऐसा काल है, जिसकी वैभवशाली स्मृतियाँ आजतक भारतीय शिल्पकलाके कोषस्वरूप विद्यमान हैं। मोटे तौरपर इस कालको निम्नलिखित मण्डलोंमें बाँटा जा सकता है—

(१) उड़ीसा, (२) बुन्देलखण्ड, (३) मध्यभारत, (४) गुजरात-राजस्थान (५) तमिलनाड, (६) काश्मीर, (७) नेपाल, (८) बंगाल-बिहार।

(१) उड़ीसा-मण्डल

उड़ीसा ब्राह्मण-सम्प्रदायकी कलाका अनूठा और विशुद्ध केन्द्र है, जिसपर विजातीय कलाओंका प्रभाव नहीं पड़ा। यहाँके मन्दिर-वास्तुके दो प्रधान भाग हैं—(१) विमान (Towered Sanctuary) और जगमोहन (Audience Chamber)। विमान और जगमोहन दोनों ही वर्गाकार निर्माण किये गये हैं। (२) भुवनेश्वर और जगन्नाथपुरीके मन्दिरोंमें दो विशेषताएँ और हैं—(३) नाट्यमन्दिर अथवा रंगमण्डप, और (४) भोगमन्दिर—जहाँ दान आदि दिया जाता है। साधारण मन्दिरोंका टिकाव सीधा जमीनपर ही है; किंतु बड़े और महत्त्वपूर्ण मन्दिर चबूतरोंपर अवस्थित हैं। यह कहना भ्रमपूर्ण है कि उड़ीसाके सभी मन्दिर चबूतरोंसे रहित होनेके कारण बूचे लगते हैं। कोणार्कके मन्दिरका भव्य चबूतरा अभीतक अपनी मनोहरता लिये हुए विद्यमान है।

उड़ीसाके मन्दिरोंको एक-दूसरेसे पृथक्रूपमें अध्ययन करनेके लिये पार्श्वस्तम्भ या थमलों (Pilasters)-की जाँच करनी आवश्यक है। ये एक प्रकारके स्तम्भ हैं, जो चौकोर आकारवाले होते हैं और मन्दिरके बाह्य पार्श्वमें होते हैं।

उड़ीसाके मन्दिरोंको निम्नलिखित श्रेणियोंमें बाँटा जा सकता है—

(१) एकरथ देवल—इसमें पाग-स्तम्भ नहीं होते।

(२) त्रिरथ—जिसमें बीचमें एक रथपाग-स्तम्भ और दो कोनकपाग-स्तम्भ होते हैं।

(३) पंचरथ—इसमें एक रथपाग-स्तम्भ, दो कोनकपाग-स्तम्भ और दो अनर्थपाग-स्तम्भ अथवा मध्यस्थ स्तम्भ होते हैं।

(४) सप्तरथ—इसमें केन्द्रीय रथपाग-स्तम्भ, चार कोनकपाग-स्तम्भ, चार अनर्थपाग-स्तम्भ (जिनमें दो परिअनर्थपाग-स्तम्भ भी हैं।)

* ग्रैनाइट उस पत्थरका अंग्रेजी नाम है, जो धरतीके भीतर पिघली अवस्थासे ठंडा होकर बनता है और जिसमें बड़े-बड़े रवे [illegible] दाने पड़ते हैं।

(५) नवरथ—इसमें केन्द्रीय रथपाग-स्तम्भ, चार कोनकपाग-स्तम्भ (जिनमें दो परिकोनकपाग-स्तम्भ भी हैं)।

इन मन्दिरोंमेंसे नवरथ ब्राह्मणोंके लिये, सप्तरथ क्षत्रियोंके लिये, पंचरथ वैश्योंके लिये और त्रिरथ शूद्रोंके लिये व्यवहृत होते हैं। नवरथ-मन्दिरका कोई उदाहरण अब नहीं मिलता।

उड़ीसाके मन्दिरोंके तलसे लेकर चोटीतकके बहुत-से भाग होते हैं, जिनके अपने-अपने पारिभाषिक नाम हैं; तो भी यहाँ लिंगराज-मन्दिरके विभिन्न अंगोंके नाम दिये जा रहे हैं, जिनमेंसे अधिकांश अन्य मन्दिरोंमें भी पाये जाते हैं—

भारतीय शिल्पकलाकी प्रमुख प्रणालियाँ तीन हैं—द्रविड़-प्रणाली, चालुक्य-प्रणाली और आर्य-प्रणाली (Indo-Aryan)! द्रविड़-प्रणालीमें मन्दिरकी बनावटका खाका चौकोर होता है और शिरोभाग पिरामिडके शिखरकी तरह। आर्य-प्रणालीमें बनावटका खाका वर्गाकार होता है और मन्दिरका शिखर ऊँचे पर्वतके नुकीले शिखरकी शक्लका। चालुक्य-प्रणालीमें खाका नक्षत्राकार होता है और शिरोभाग पिरामिडके शिखरका-सा। दक्षिणपथमें द्रविड़ और चालुक्य-प्रणालियोंका प्राधान्य है और उत्तरापथ (आर्यावर्त)-में आर्य-प्रणालीका।

(१) विमान—जंघा, बरण्डी, बन्धन, उत्तर बरण्डी, उत्तर जंघा।

(२) जगमोहन—जंघा, बरण्डी, बन्धन, उत्तर, बरण्डी, उत्तर जंघा।

(३) नटमन्दिर—जंघा, बरण्डी, बन्धन, उत्तर, बरण्डी, उत्तर जंघा।

मोटे तौरपर ये ही अंगोपांग उड़ीसाके मन्दिरोंके हैं; परंतु कहीं-कहीं भोग-मन्दिर भी साथ-ही-साथ रहते हैं, जैसे अनन्त-वासुदेव-मन्दिरमें।

मुक्तेश्वर और परशुरामेश्वर-मन्दिरोंको छोड़कर प्राय: सभी मन्दिर पूर्वाभिमुख हैं। उपान (चबूतरा) वाले मन्दिरोंके उपानका उपरला भाग खुर-पृष्ठ और निचला भाग तल-पृष्ठ कहा गया है।

उड़ीसाके मन्दिरोंमें दक्षिणापथके-से अद्भुत विशाल स्तम्भोंके दर्शन नहीं होते। तो भी भोगमण्डप अथवा जगमोहनके आधारस्वरूप स्तम्भ हैं अवश्य। कोणार्कके भोगमण्डपका आधार चार स्तम्भ हैं, जिनके उपपीठ (Pedestal) २ फुट १० इंच ऊँचे हैं।

मन्दिरोंकी दीवारें पत्थरोंके बड़े-बड़े शिला-खण्डोंसे गढ़ी गयी हैं। शिलाखण्डोंकी परस्पर जुड़ाई लोहेके मोटे-मोटे आँकुड़ोंसे की गयी है और चूना, गारा या बजरीका प्रयोग नहीं किया गया। श्रीमनमोहन गांगुलीका कथन है कि यद्यपि लकड़ीका प्रयोग उड़ीसाके मन्दिरोंमें किया गया जान पड़ता है, तथापि इसका कोई पुष्ट प्रमाण अभीतक नहीं मिला है।[1] कोणार्कमें हालकी खुदाई कराते समय ईंटोंका भी एक ध्वस्त मन्दिर मिला है।[2]

(अ) भुवनेश्वर-मन्दिर

लिंगराज-मन्दिरके पूर्वमें स्थित सहस्रलिंग तालाबके चारों ओर लगभग १०० मन्दिर हैं। इनमेंसे ७७ अब भी अच्छी हालतमें हैं। लिंगराजके ही उत्तरमें बिन्दुसागर नामक विशाल तड़ाग है, जिसका क्षेत्रफल १३००×७०० वर्गफुट है। इसके बीचमें एक टापू है और टापूमें एक सुन्दर-सा मन्दिर है। इसी प्रकार अन्य प्रमुख मन्दिरोंके अपने-अपने तालाब हैं—यमेश्वरताल, रामेश्वरताल, गौरीकुण्ड, केदारेश्वरताल, चल-धुआकुण्ड, मुक्तेश्वर और ब्रह्मेश्वर, जिसके दक्षिणमें मरीचिकुण्ड है। मरीचिकुण्डका जल चैत्रके महीनेमें अच्छे दामोंमें बिकता है, क्योंकि अत्यन्त पवित्र और शुद्ध होनेके कारण लोग इसे खूब खरीदते हैं।

भुवनेश्वरके ये मन्दिर ब्राह्मण-सम्प्रदायकी शिल्प-कलाके अनूठे उदाहरण हैं। इनका प्रभाव ऐहोली स्थानके दुर्गा और हच्छीमल्लिगुडीके मन्दिरोंपर विशेषकर तथा अन्य मन्दिरोंपर भी पड़ा है। वैसे तो इन मन्दिरोंका काल एकदम ठीक नहीं आँका जा सकता; किंतु कहा जा सकता है कि यहाँके प्रमुख मन्दिर १० वीं शताब्दी ई० से लेकर १२ वीं शताब्दी ई० तकके बीच निर्मित हुए हैं।

भुवनेश्वरमें और उसके आसपास लगभग ५०० मन्दिर हैं, जिनमेंसे उल्लेखनीय ये हैं—मुक्तेश्वर, केदारेश्वर, सिद्धेश्वर, परशुरामेश्वर, गौरी, उत्तरेश्वर, भास्करेश्वर, राजा-रानी, नायकेश्वर, ब्रह्मेश्वर, मेघेश्वर,

१. श्रीमनमोहन गांगुलीकृत Orissa and Her Remains, p. 255.

२. वही।

अनन्त वासुदेव, गोपालिनी, सावित्री, लिंगराज सरिदेवल, सोमेश्वर, यमेश्वर, कोहितीर्थेश्वर, हहकेश्वर, कपालमोचनी, रामेश्वर, गोसहस्रेश्वर, शिशिरेश्वर, कपिलेश्वर, वरुणेश्वर, चक्रेश्वर आदि।

मुक्तेश्वरको फर्गुसनने उड़ीसा वास्तुशिल्पका हीरा कहा है। इसकी स्थिति वन-उपवनके बीच ऐसी बन पड़ी है कि देखते ही बनता है। प्रकृतिका ऐसा निखरा सौन्दर्य काश्मीरको छोड़कर भारतमें अन्यत्र शायद ही हो। यह मन्दिर ब्राह्मण-स्थापत्य-कलाका सर्वोत्तम नमूना है। "It may appropriately be called a dream in sand-stone adapting the immortal phraseology of Colonel Sleeman regarding Taj Mahal, It seems that the artist must have bestowed all his care and skill to make it a perfect, well-proportioned model of Orissan architecture." अर्थात् 'ताजमहलकी भव्यतापर कहे गये कर्नल स्लीमनके अमर वाक्योंको यह मन्दिर भलीभाँति चरितार्थ करता है। लगता है कि कलाकारने इसे सुन्दर अनुपातयुक्त और सर्वांग-सम्पूर्ण बनानेमें अपना पूरा कौशल व्यक्त किया है।'*

पाँच भूमियोंवाला यह पंचरथ देवल राजारणिया नामक मोमिया पीतवर्ण पत्थरसे बना है। बाहरसे इसके विमान और जगमोहनका माप २६१५ वर्गफुट है, और उपपीठ १ फुट १ इंच ऊँचा है। जगमोहनके झरोखे चटाईदार मोहरोंके हैं और अलंकृत हैं। गंगा-यमुना, नन्दी और महाकाल तथा उड़ते हुए गन्धर्वगण इसके विमान और जगमोहनकी शोभा बढ़ाते हैं। हाथीको रौंदते हुए शार्दूल देखते ही बनते हैं। विमानकी शोभा नाग-मूर्तियाँ हैं। बंदरोंके फुदकते-उछलते हुए दृश्य मनको मोह लेते हैं। पार्श्वोंमें कोनकपागोंमें तपस्वीगण समाधिरत अथवा उपदेश देते दिखायी देते हैं। दक्षिणी रहपागमें अंकित मृगयाका अद्भुत दृश्य बड़ा ही आकर्षणपूर्ण है। कुछेक मृग पीछे घूम-घूमकर देखते जाते हैं कि व्याध नजदीक आ पहुँचा क्या।

दूसरा उल्लेखनीय मन्दिर परशुरामेश्वरका है। यह पाँचवीं-छठी शताब्दी ई० का है और भुवनेश्वरके सबसे प्राचीन मन्दिरोंमेंसे है। सामान्य उड़ीसा-मन्दिर-पद्धतिसे यह मन्दिर कुछ भिन्न है और पश्चिमाभिमुख है। यह मन्दिर पीठ (plinth) पर स्थित नहीं है। इसका विमान त्रिरथ देवल कहा जाता है और चौड़ाई अधिक होने और ऊँचाई कम होनेके कारण स्थूलकाय लगता है। इसके जगमोहनका आकार-प्रकार अन्य मन्दिरोंसे अच्छा है। कलाकी दृष्टिसे यह मन्दिर भी दर्शनीय है। टप्पादार नकाशी, सूर्याकृतिके आले और कोनकपागोंमें आमलकी पद्धति अत्यन्त शोभनीय हैं। बनाव-चुनावमें यह मन्दिर बहुत कुछ मुक्तेश्वरका-सा है।

हरे-हरे, लहलहाते हुए खेतोंसे परिवेष्टित राजारानी मन्दिरकी अपनी एक निजी छटा है। विमानमें चारों दिशाओंके दिक्पालोंका सुन्दर दिग्दर्शन है। आलोंमें पार्श्व-देवताओंकी प्रसन्नमुख मूर्तियाँ अवस्थित हैं। इसमें प्रतिमा-स्थापन नहीं हुआ। इसके बारेमें यही कहा जा सकता है कि इसके मनोहर जगमोहनके तोरण-द्वारपर लक्ष्मी और नवग्रहोंकी स्थापना इस बातका प्रमाण है कि यह मन्दिर पूजा-अर्चामें भी प्रयुक्त होता रहा होगा। मन्दिर वैष्णव सम्प्रदायका है और इसका निर्माण राजारणिया पत्थरसे हुआ है। विमान और जगमोहन दोनों ही अत्यन्त अलंकृत हैं। विमान रेखा-देवलकी पद्धतिका है और दो मंजिला है। जगमोहनके स्तम्भोंपर नागिनियोंकी आकृतियाँ खुदी हैं और इसके तोरणद्वारोंकी रक्षा द्वारपालगण करते हैं। इसपर पद्म-पंखुड़ी, दली, जलबाई आदि अनेक प्रकारकी बेलें उत्कीर्ण हैं। मन्दिरके कोनेके खम्भे या पाग अत्यन्त सुन्दर हैं और उनकी बनावट अद्भुत है। इन पागोंपर चित्रित मूर्तियाँ भारतीय कलाके इतिहासमें बेजोड़ हैं। पद्म-पंखुड़ियोंपर बैठे वाहनारूढ़ अग्नि और नन्दीश्वर शिव हाथमें गदा लिये बड़े शोभायमान हैं। यहाँकी युवतियोंकी मूर्तियाँ अपनी उपमा नहीं रखतीं। राष्ट्रिय म्यूजियम, नयी दिल्लीमें इसी मन्दिरकी तीन स्त्री-मूर्तियाँ प्रदर्शनार्थ रखी हैं। उनमेंसे एक स्त्री दर्पणमें मुख देखती हुई शृंगार कर रही है। उसके पृष्ठभागमें एक तरु है, जिसपर फल लदे हैं और बंदर तथा तोता उन्हें आनन्दसे चख रहे हैं। दूसरी मूर्तिमें माता अपने पुत्रको हलरा रही है और तीसरी मूर्तिकी युवती बड़ी भाव-भंगीसे अपने प्रियतमको पाती लिख रही है। तीनों स्त्रियाँ साड़ियाँ पहने हैं।

* श्रीमनमोहन गांगुली, उड़ीसा ऐंड हर रिमेंस, पृ० २। ७५।
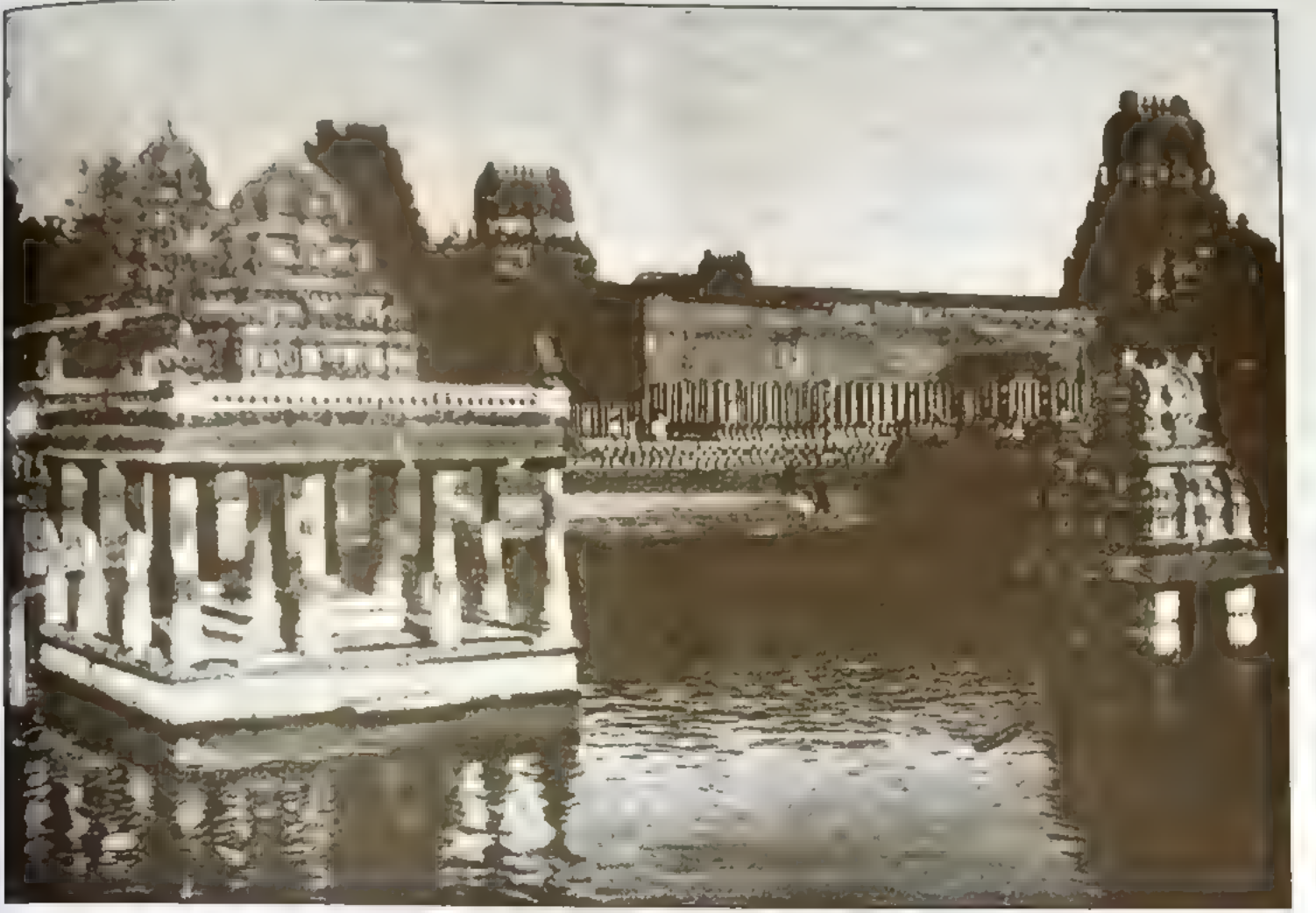
श्रीवरदराज-मन्दिर, विष्णुकाञ्ची

[पृष्ठ ७६१
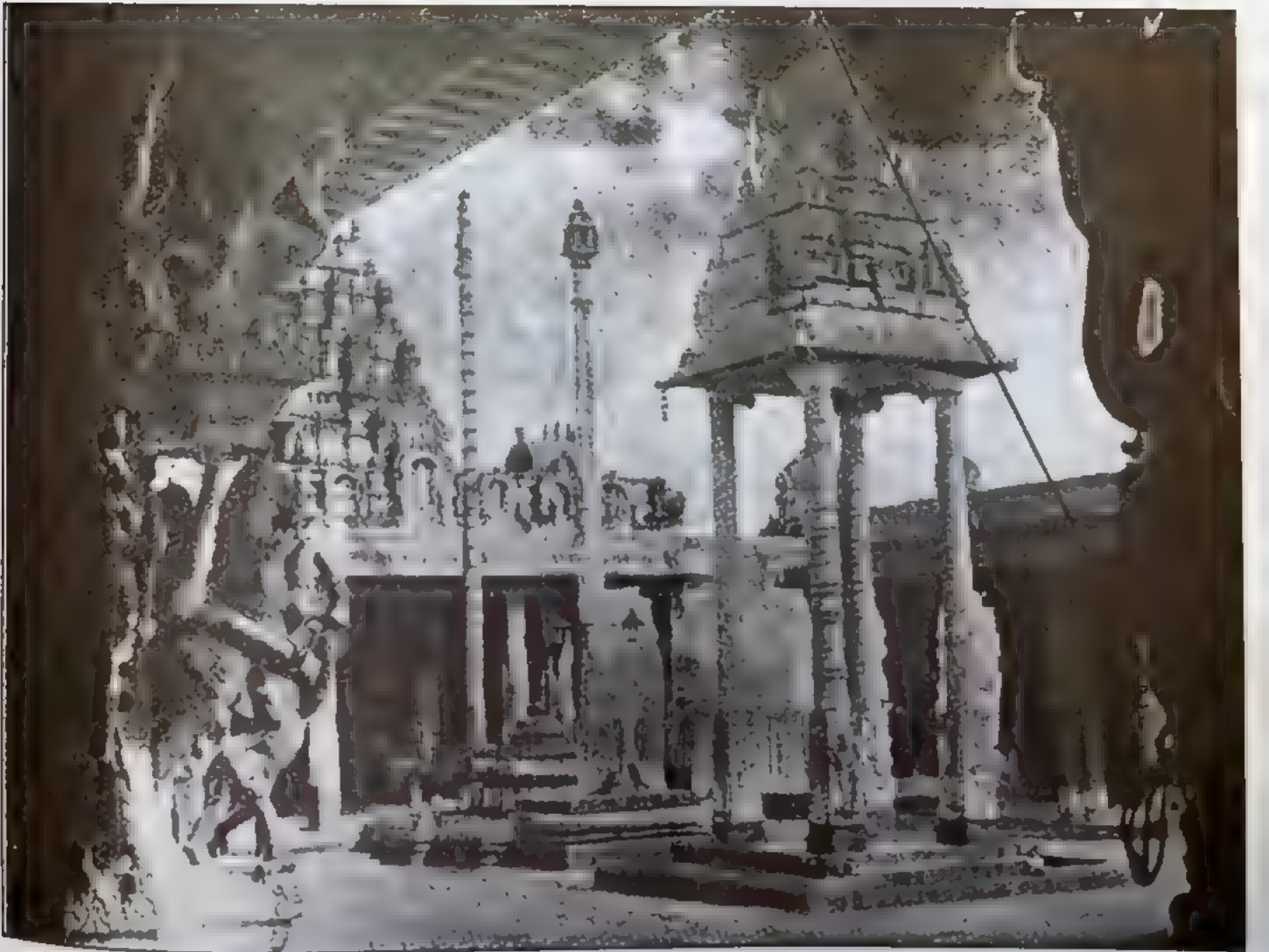
श्रीशिवकाञ्ची-मन्दिरका बाहरी दृश्य

[पृष्ठ ७६१

पुरीका श्रीजगन्नाथ-मन्दिर

[इसमें विमान, जगमोहन, नाट्य-मन्दिर तथा भोग-मन्दिर सब साफ दीखते हैं]

श्रीसूर्य-मन्दिर, कोणार्क

[पृष्ठ ७६०

साड़ियोंके किनारे चौड़े और बेलदार हैं। उत्तरीय-पटको भी तीनोंने बड़े कलात्मक ढंगसे ओढ़ रखा है। इन्हें देखनेमें दर्शक कभी नहीं थकता। उसे आज फिर अपने कुशल शिल्पी पूर्वजोंकी याद हो आती है।

भास्करेश्वर-मन्दिर शैव-सम्प्रदायका है। उसमें शिव-लिंगकी ऊँचाई यहाँ ९ फुट है, जिसका आयास १२ फुट १ इंच है। इसकी बनावट अलंकृत है और यह पश्चिमाभिमुख है।

लिंगराज-मन्दिर अन्य मन्दिरोंसे बड़ा है और मुक्तेश्वर-मन्दिरकी भाँति ब्राह्मण-कला-पद्धतिका सर्वोत्तम प्रमाण है। इसके स्थानका परिमाण ५२०×४६५ वर्गफुट है और ७ फुट ६ इंच मोटी दीवारसे घिरा है। दीवारमें तीन तोरणद्वार हैं, जिनमेंसे एकका नाम सिंहद्वार है। यह मन्दिर पीड़ देवल-पद्धतिका है। इसके चार प्रमुख भाग हैं—विमान, जगमोहन, नटमन्दिर और भोगमण्डप। विमानकी शुरुआत बिना जगती पीठके ही होती है। यह दशभूमिका मन्दिर है। इसकी सुन्दरता पार्श्वदेवता, दिक्पति और लक्ष्मी बढ़ाते हैं। विमानमें रामायण और महाभारतकालीन दृश्य प्रदर्शित हैं। पाण्डवोंका स्वर्गारोहण अत्यन्त भव्य बन पड़ा है। कलशतक इस मन्दिरकी ऊँचाई १४३.०३ फुट है और इसके जगमोहनकी ऊँचाई लगभग ९० फुट है। यह मन्दिर नवीं शताब्दीमें निर्मित हुआ था।

शेष मन्दिरोंमें वैताल-मन्दिर उल्लेखनीय है। यह खड़ियाकण्डा नामक पत्थरसे बना है और एकरथ देवल कहा जाता है। इसके भाग हैं—वैताल-पाद (रेखा, बरण्डी और जंघा) और वैताल-मस्तक। वैताल-पादपर गजारोहियोंका चित्रांकन है। वैताल-पाद और वैताल-मस्तकके बीचमें अद्‌भुत जाली-पञ्जरका काम है। वैताल-मस्तकपर तीन अमलक हैं, जिनके नुकीले त्रिशूल-शिखर दर्शनीय हैं। मस्तकपर पलस्तर किया हुआ है। मन्दिरके जगमोहन और विमानके बीचमें एक अलंकृत आला मुकुटाकार स्थित है। इसके उपरले भागमें नटराज शिवकी और निचले भागमें नारायणकी मूर्ति है। मन्दिरमें कपालिनीकी प्रतिमा स्थापित है। परशुरामेश्वर मन्दिरकी तरह यह मन्दिर भी ५वीं-६ठी शताब्दीका है और बौद्धशिल्पकलासे प्रभावित है।

उड़ीसाके मन्दिरोंके विभिन्न अंगोंका अध्ययन बड़ा ही आकर्षक है। यदि ऊपरसे नीचेतक उनके अंगोंका वर्णन किया जाय तो मोटे तौरपर निम्नांकित भाग होंगे—

(ब) जगन्नाथपुरीका मन्दिर*

इस मन्दिरकी वास्तुकलापर बौद्ध-प्रभाव है। बौद्धोंके त्रिरत्न—बुद्ध, धर्म और संघकी भाँति मन्दिरमें जगन्नाथ, सुभद्रा और बलरामकी मूर्तियाँ हैं। बौद्धोंने धर्मको स्त्रीसंज्ञक माना है, इस दृष्टिसे जगन्नाथ और सुभद्राका कैसा मेल यहाँ बैठाया गया है—यह उल्लेखनीय है। जबकि शिव-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी और ब्रह्मा-सावित्री आदिका चित्रांकन पुरुष और प्रकृतिके रूपमें हुआ है, तब यह भाई-बहिनका दिग्दर्शन यहाँ बौद्धोंकी दृष्टिसे ही ठीक बैठ सकता है।

जगन्नाथपुरीकी रथ-यात्रा तो प्रसिद्ध है ही। फाहियानतकने इसका विशद वर्णन किया है। मन्दिरका विमान हिंदू देवी-देवताओंकी मूर्तियोंसे शोभित है। राहु, जगन्नाथ, बलराम, सुभद्रा, हनुमान् आदिकी भव्य मूर्तियाँ अंकित हैं। कहीं-कहींपर कालिय-दमनलीला, गरुड़-वाहन, नारायण, नृसिंह-लक्ष्मी, हरि-हर, गोपालकृष्ण, गोवर्धन-लीला, राम-रावण-युद्धका दृश्य आदि ऐतिहासिक तथा धार्मिक दृश्योंका सुन्दर समावेश है। रहपागोंके आलोंमें वामन, वराह और नृसिंह आदिकी मूर्तियाँ हैं। विमानकी पूरी ऊँचाई २१४ फुट ८ इंच है।

जगन्नाथ-मन्दिरका जगमोहन पंचरथपीड़ देवल है। ६ फुट ३ इंच ऊँचे पीठपर यह स्थित है। जगमोहनके उत्तरी पार्श्वमें मन्दिरका कोश सुरक्षित रहता है। जगमोहनसे ही लगा हुआ नटमन्दिर है, जो भुवनेश्वरके लिंगराजके नटमन्दिरसे साम्य रखता है। नटमन्दिरकी छतके आधार १६ स्तम्भ हैं और यह ६७ फुट चौड़ा है। जगन्नाथमन्दिरका भोग-मण्डप भी पंचरथ पीड़ देवली है और पीतवर्ण पत्थरका बना हुआ है। इसका उपपीठ ६ फुट ४ इंच ऊँचा और पाद-पीठ १ फुट ५ इंच है।

जगन्नाथ-मन्दिरके आस-पास बहुत-से मन्दिर हैं, जिनमें भुक्ति-मण्डप, विमलादेवीका मन्दिर, लक्ष्मी-मन्दिर, धर्मराज (सूर्यनारायण)-का मन्दिर, पातालेश्वर, लोकनाथ, मार्कण्डेयेश्वर, सत्यवादी मन्दिर आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

* The first temple erected on this spot to the deity is said to have been built by Yayati, the founder of the Kesari line. (Fergusson, p. 429)

(स) कोणार्क-मन्दिर

कोणार्क-क्षेत्र जगन्नाथपुरीके उत्तर-पूर्वमें २१ मीलकी दूरीपर स्थित है। इस क्षेत्रको अर्क-क्षेत्र तथा पद्म-क्षेत्र भी कहते हैं। कोणार्क-मन्दिरके दक्षिण-पूर्वमें २ मीलपर बंगालकी खाड़ी लहरें मारती दिखायी देती है। मन्दिरके उत्तरमें लगभग आध मीलपर चन्द्रभागा नदी बहती है।

कोणार्क-मन्दिरके तीन भाग हैं—विमान, जगमोहन और भोगमण्डप। जगमोहन और भोगमण्डप परस्पर अलग-अलग हैं। गर्भगृहकी देव-प्रतिमाका सिंहासन यहाँ सुन्दर बन पड़ा है। इसका निचला भाग छोटे-छोटे हाथियोंकी मूर्तियोंसे अलंकृत है। मन्दिरका विमान और जगमोहन— दोनों एक-एक फुट ऊँचे पीठोंपर स्थित हैं। पीठ छोटे-छोटे हाथियोंकी कतारदार मूर्तियोंसे सजा हुआ है। तलपृष्ठ और खुरपृष्ठ मिलाकर उपपीठकी ऊँचाई १६ फुट ६ इंच है। इसके मुहानोंपर बड़े सुन्दर तथा अलंकृत पहिये या रथ-चक्र गढ़े गये हैं। रथ-चक्रका व्यास ९ फुट ८ इंच है और मोटाई ८ इंचके लगभग है। मन्दिरमें सूर्यदेवताकी प्रतिमा स्थापित है। यह एक रथवाला मन्दिर देवताकी सवारीके लिये है। इसका पहिया एक है। सम्भवतः अपनी पूर्व दशामें इस एक रथ-मन्दिरको खींचनेके लिये सात घोड़े भी थे।

मन्दिरका विमान अब गिर गया है और बहुत-सी विचित्र गाथाएँ इस सम्बन्धमें प्रचलित हैं। मन्दिरका जगमोहन एक पंच-रथवाला विशाल भवन है, जो ऊँचाईमें ३९ फुट १० इंच है। मन्दिरका अपना निजी भोगमन्दिर भी है; किंतु वह बादका निर्माण किया हुआ है।

(२) बुन्देलखण्ड-मण्डल

बुन्देलखण्ड-मण्डलके शिल्पकला-प्रतिनिधि खजुराहोके मन्दिर हैं। खजुराहो बुन्देलखण्ड प्रान्तके वर्तमान छतरपुर राज्यमें है और उन सड़कोंके सन्धि-स्थानपर स्थित है, जो बाँदासे सागर और नौगाँवसे सतना जाती हैं। महोबासे यह ३४ मील दक्षिण और छतरपुरसे २७ मील पूर्वमें है।

चंदेलोंकी इस पवित्र भूमिके इतिहाससे विदित होता है कि शैव होते हुए भी उन्होंने अन्य धर्मों तथा सम्प्रदायोंके प्रति विद्वेष न जताकर सराहनीय सहिष्णुता दिखायी। वैष्णव-धर्म, जैन-धर्म, शैव-धर्म तथा बौद्ध-धर्म आदि विभिन्न मतोंके अनुयायियोंने पूरी स्वतन्त्रताके साथ अपनी संस्कृतिके मनोहरतम मन्दिर निर्माण किये।

खजुराहोके ऊँचे-ऊँचे टीले और भग्नावशेष विस्तार-सहित फैले हैं और नगरका लगभग आठ वर्गमील क्षेत्र उनके फैलावके अन्तर्गत आता है। अब यह नगर एक छोटा-सा गाँवमात्र रह गया है, जो खजुराहो-सागर या निनोरातालके दक्षिण-पूर्वी किनारेपर स्थित है।

निनोराताल, खजुराहो गाँव और पास ही स्थित शिव-सागर झीलके इर्द-गिर्द प्राचीन समयमें ८५ मन्दिर थे। उनमेंसे अब लगभग २० ही शेष हैं। इन मन्दिरोंको सुगमतापूर्वक तीन श्रेणियोंमें विभाजित किया जा सकता है—(१) पश्चिमी (२) पूर्वी तथा (३) दक्षिणी।

पश्चिमी श्रेणीके सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधियोंमें प्रथम चौंसठ योगिनियोंका मन्दिर है। इसके भीतरका आँगन १०४ ×६० फुट है, जिसके चारों ओर ६५ कमरे हैं। इनमेंसे अब केवल ३५ ही अवशिष्ट हैं। यह मन्दिर नवीं शताब्दीका है।

दूसरा मन्दिर है कंडरिया महादेवका। यह चौंसठ योगिनियोंके मन्दिरके उत्तरमें स्थित है और सभी मन्दिरोंसे विशालकाय है। इसका आयत १२०×६६, १०×१०१।.९'' है। इसके प्रवेशद्वारका तोरण अभिनन्दनीय है। इसपर देवी-देवताओं, गन्धर्वों आदिका अंकन है। अर्धमण्डप और मण्डपकी छतें अनोखी कलासे परिपूरित हैं। इनकी चित्रकारी और बेल-बूटेका काम आबूके जैन-मन्दिरोंसे किसी कदर कम नहीं। मण्डपसे आगे जानेपर महामण्डप मिलता है। इसकी छतकी सुन्दरताका बखान शब्दोंसे परे है। सम्पूर्ण छत चौकोर आकारवाली है। ठीक मध्यमें एक बड़ा-सा वृत्त है। इसके चारों ओर आठ अन्य वृत्त हैं। इन आठों वृत्तोंके भीतर ताशके चिड़ी पत्तोंके-से सुन्दर चिह्न अंकित हैं। इन वृत्तोंके बाहर मुग्धकारी बेल-बूटे अंकित किये गये हैं। इस अलंकरणके बाद आता है एक दीर्घवृत्त, जो इन सब वृत्तोंको अपने अन्तरमें समेटे है। इस दीर्घवृत्तके चारों कोनोंपर अनोखी बेलें हैं, जो समूचे दीर्घवृत्तकी शोभामें चार चाँद लगा देती हैं। तदनन्तर एक चतुर्भुज बना है, जो छतके मध्यभागको देदीप्यमान किये है। इस चतुर्भुजके दोनों ओर तो तीन-तीन मंगलकर्ता पुष्प हैं, जो सरसोंके बसंती पुष्पोंकी भाँति खिले हुए छतका शृंगार किये हैं। छतकी कोरोंमें और मध्यमें कुछ छोटी-छोटी मूर्तियाँ हैं। सब मिलाकर छत वर्णनातीत है और वे दर्शक धन्य हैं, जिनके नेत्र इस

छतवाले कंडरिया मन्दिरकी प्रदक्षिणा कर आये हैं।

अन्तमें महामण्डप पार करके गर्भगृह आता है। इसके प्रवेश-द्वारपर लता-चित्रोंके साथ-साथ तपस्वियों और योगियोंके ध्यानावस्थित चित्र भी प्रदर्शित किये गये हैं। पार्श्वस्तम्भोंपर गंगा और यमुना नदियाँ अपने-अपने वाहनोंसमेत विराजती हैं। गंगाका वाहन है मकर और यमुनाका कच्छप। गर्भगृहमें संगमरमर-निर्मित एक शिवलिंग है, जो देखनेमें दूध-ऐसा श्वेत और स्पर्शमें हिमानी-जैसा शीतल लगता है। मन्दिरकी बहिर्मुख दीवारोंपर नीचे आठों दिक्पालोंकी मूर्तियाँ हैं। मन्दिरके उत्तरी, दक्षिणी तथा पश्चिमी कोनोंपर स्तम्भाधारित बड़े-बड़े आलय हैं, जिनमें ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी साक्षात् मूर्तियाँ अथवा उनके अवतारोंकी मूर्तियाँ स्थापित हैं। मन्दिरभरमें अप्सराओं और किन्नरियोंकी अनेक-विध नृत्य-मुद्राएँ और भाव-भंगियोंका दिग्दर्शन है। ऐसा लगता है मानो वे अपने लुभावने सौन्दर्यसे मुनियों और तपस्वियोंको आकर्षित कर रही हैं और उन्हें उनकी ध्यान-समाधिसे डिगानेका प्रयत्न कर रही हैं। मन्दिरके शिखरोंपर क्रमशः अमलक बड़े होते चले गये हैं। सर्वोच्च शिखरपर छोटे अमलकपर गगरीके आकारका एक अमृतघट शोभायमान है, जो दूरसे देखनेमें बड़ा मंगलमय मालूम होता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण मन्दिर है लक्ष्मण-मन्दिर, जो कंडरियाके दक्षिण-पूर्वमें स्थित है। इसकी निर्माणकलाकी तुलनामें भारतवर्षका कोई मन्दिर नहीं ठहरता। इस मन्दिरके एक स्थानपर गुरु और उसके चारों ओर बैठे हुए विद्यार्थियोंका दृश्य दिखाया गया है। लक्ष्मण-मन्दिरके तीन ओर प्रदक्षिणा-पथ है।

अत्यन्त पवित्र मन्दिर मतंगेश्वर महादेवका है। इसमें मतंगेश्वरकी ४ फुट ५ इंच ऊँची शिवलिंग मूर्ति है और इसका व्यास २० फुट २ इंच है। इसकी चमक अद्भुत है। मूर्तिपर कई अभिलेख उत्कीर्ण हैं, जिनमें एककी भाषा फारसी है तथा शेषकी नागरी। इसी मन्दिरके सामनेकी वराह-मूर्ति ८ फुट ९ इंच × ५ फुट १ इंचके आयतकी है और एक ही शिलाखण्डसे गढ़ी गयी है। कुछ काल पहले वराह-मूर्तिके बायें दाँतपर अवस्थित माता पृथ्वीकी मूर्ति भी थी, जिसके अवशेष आधारशिलापर उनके पद-चिह्न हैं।

पूर्वी-श्रेणीके महत्त्वपूर्ण मन्दिरोंमें हनुमान्-मन्दिर है। इसपर हर्षकालीन राज्यवर्ष ३१६=९२२ ई० का एक अभिलेख है। यह मन्दिर अत्यन्त प्राचीन है।

दूसरा मन्दिर है जवारि। इसके गर्भगृहमें चतुर्भुज भगवान् विष्णुकी शुचितामयी मूर्ति है।

दक्षिणी श्रेणीके मन्दिरोंमें दूला-देवमन्दिर प्रसिद्ध है। इसका वास्तु-विधान सराहनीय है। इसका दूलादेव नाम क्यों पड़ा, यह विवादपूर्ण विषय है। कहा जाता है कि एक समय एक बरात इस मन्दिरके पाससे ज्यों ही गुजरी, त्यों ही वर सवारी परसे नीचे गिर पड़ा और परम गतिको प्राप्त हो गया। तभीसे मन्दिरको दूलादेवका मन्दिर कहा जाने लगा।

इस श्रेणीमें जत्कारि-मन्दिरकी विष्णु-मूर्ति ९फुट ऊँची है और अभय मुद्रामें है।

खजुराहोके मन्दिर शिल्पकलाके महान् प्रतीक हैं। शिल्पकारकी सूझ-बूझ, विशाल सदाशयता तथा टाँकीका यह अनुपम उदाहरण है।

(३) मध्यभारत-मण्डल

ग्वालियर (मालवा) में प्रसिद्ध सास-बहूका एक मन्दिर है, जो १०९३ ई० का बना है*। वास्तु-कलाका यह एक अनूठा और मौलिक नमूना है। उदयादित्य परमारका बनवाया हुआ उदयेश्वर महादेवका मन्दिर, जो उदयपुर (भिलसाके पास) स्थित है, लाल पत्थरका है और मालवा प्रदेशके मन्दिरोंमें सर्वश्रेष्ठ है। इसके शिखरसे चार चौड़ी पट्टियाँ चारों दिशाओंसे चलकर तलपादतक पहुँचती हैं और सिद्ध करती हैं कि यह मन्दिर अपने ढंगका अनोखा है। इन पट्टियोंके बीचमें मुठियादार पाँच-पाँच मुठियों (शिखरों) की सात कतारें हैं, जो मन्दिरके विमान और जगमोहनके जोड़तक नीचे पहुँचती हैं। पट्टियों और मुठियादार कतारों या अण्डकोंके उपरले सिरेपर एक कलशपीठ है, जिसपर त्रिकोणाकार आमलकी-शिखर है। इसके जगमोहनका अलंकरण भी अद्भुत है। यह ६-७ मंजिलकी है और इसके अंग-प्रत्यंगपर कलाकारने अपना तन-मन न्योछावर कर दिया है। जगमोहन और विमानके जोड़पर ही एक मुकुटाकार विशाल तथा अत्यधिक अलंकृत आला है; जिसके उपरले सिरेपर एक विशालकाय सिंहकी मूर्ति स्थापित है। इस दृश्यसे

* फर्गुसनके अनुसार इसका निर्माण-काल १०६० ई० है (History of Indian and Eastern Architecture. p. 457)

मन्दिरकी शोभा और भी बढ़ जाती है। इस मुकुटाकृतिका एक नमूना बैताल-मन्दिर (भुवनेश्वर) में भी है, जहाँ इसे 'भोस' कहा गया है।

मध्यप्रान्तके ग्वालियरका तेलीका मन्दिर भी इस मण्डलका एक सुन्दर उदाहरण है। अन्य मन्दिरोंमें जिन्हें कलचुपुरि राजाओंने बनवाया था, चौंसठ जोगिनियोंका मन्दिर ही एक ऐसा उत्कृष्ट नमूना है, जो अबतक विद्यमान है।

(४) गुजरात-राजस्थानमण्डल

इसके अन्तर्गत जोधपुर, मुटेरा, डभोई और सिद्धपुर पाटनके मन्दिर आते हैं। ओसिया (जोधपुर) में सूर्य-मन्दिरोंकी संख्या १२ है। 'गिरनार' और शत्रुञ्जय (पालीताणा) के देवनगर (अर्थात् जहाँ मन्दिरोंके ही नगर बसे हैं, जिनमें आदमी रातको नहीं टिकने पाता) इसी शैलीके उदाहरण हैं*।

इस मण्डलके सोमनाथ-मन्दिरको भारतीय इतिहासमें जो महिमा और गरिमा प्राप्त है, वह पश्चिमी भारतके अन्य किसी भी मन्दिरको नहीं प्राप्त है। इसकी गणना राष्ट्रके उन बारह ज्योतिर्लिङ्गोंमें होती है, जो सिन्धसे आसामतक और हिमालयसे कन्याकुमारीतक फैले हुए हैं। यह मन्दिर आज भी अपने उन्नत एवं प्रशस्त आकारसमेत काठियावाड़के दक्षिणी समुद्री किनारेपर स्थित है और सोमेश्वर शिवका प्राचीनतम स्थान है।

जान पड़ता है कि भीमदेव प्रथम (१०२२-१०७२) ने ही प्राचीन मन्दिरका जीर्णोद्धार किया था, क्योंकि उसके शासन-कालके पहले ही महमूद तथा उसके सिपहसालारने मन्दिरको ध्वस्त कर दिया था।

ज्ञात होता है कि मन्दिरमें एक दीर्घाकार मण्डप (गूढ़मण्डप) था, जिसमें तीन द्वार थे। शिवलिंग इसी मण्डपके पश्चिमी भागमें स्थापित था। लिंगके चारों ओर काफी चौड़ा प्रदक्षिणापथ भी बना था। मन्दिरकी रक्षा करनेवाले तथा अन्य धर्म-प्रसंगपरायणोंकी सभाके लिये एक 'सभामण्डप' भी था। मन्दिरके बाहरी भागपर जो संगतराशी विद्यमान थी, वह अब बहुत कुछ नष्ट हो चुकी है। आक्रमणकारियोंने उसके प्रति घोर अन्याय किया है, यहाँतक कि दीवारोंपर बनी हुई कुछ मूर्तियोंको पहचाना ही नहीं जा सकता। दीवारोंपर रामायणके कुछ प्रसिद्ध कथा-दृश्य भी प्रदर्शित किये गये हैं। कहा जाता है कि सोमनाथ-मन्दिरके दरवाजे चन्दनकी लकड़ीके बने थे और महमूद गजनवी उन्हें अपने साथ गजनी ले गया।

काठियावाड़के मध्यकालीन मन्दिरोंमें घुमली (बारदा-पहाड़ियाँ) का नवलाखा मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है। यह सोमनाथके मन्दिरसे पहलेका है; किंतु वास्तु-पद्धति लगभग एक-सी है। इसे देखकर सोमनाथ-मन्दिरकी सजीव मूर्तिका अनुमान किया जा सकता है।

(५) तामिलनाड-मण्डल

इस मण्डलमें हिंदू-कलाका एक नया रूप देख पड़ता है, जिसका विकास ठीक उसी प्रकार हुआ है, जैसे यूनानी शिल्पकलाका विकास इटलीमें हुआ था। दक्षिणके मन्दिरोंमें द्रविड़-पद्धति अर्थात् शैव-सम्प्रदायके मन्दिरोंका प्रचुरतासे निर्माण हुआ। बौद्धधर्मके पतनके बाद ही शैवधर्मका प्रसार दक्षिणमें अधिक हुआ। उत्तरी भारतकी तरह ८ वीं सदीसे लेकर १० वीं सदीतकके दीर्घकालमें ही इन मन्दिरोंका निर्माण किया गया। मामल्लपुरम्‌के शैल-मन्दिर इस कलाके प्रथम केन्द्र हैं तथा बादमें बादामी और पट्टडकलके मन्दिर आते हैं। बहुधा मन्दिरोंका निर्माण उन्हीं स्थानोंपर हुआ है, जो ऐतिहासिक एवं धार्मिक दृष्टिसे अत्यन्त प्रख्यात रहे हैं। भारतीय मन्दिरकी यह एक बड़ी विशेषता है। पट्टडकलके विरूपाक्ष-मन्दिरकी स्थापना भी ऐसी ही रही होगी। अपने प्रथम रूपमें यह मन्दिर सामान्य कमरेके समान रहा जान पड़ता है और ईंटों या कुटे हुए पत्थरोंकी सहायतासे निर्मित हुआ-सा लगता है। जब यह गिरा, तब इसीके अवशेषोंपर शिला-खण्डोंकी सहायतासे विशाल मन्दिर बनाया गया। मामल्लपुरम्‌के अर्जुनरथ और बादामीके मन्दिरोंकी-सी बनावट इस मन्दिरकी भी है; किंतु इसके अन्तरालकी छत बड़ी ऊँची है। अन्तरालके सामने ही सभा मण्डप है, जो १६ स्तम्भोंपर आधारित है। इस मण्डपके प्रवेश-द्वारोंको गो-द्वार या गोपुरम् कहा गया है। बादामीके मन्दिरवाले मण्डपसे यह मण्डप दुगुना बड़ा है।

इन धार्मिक भवनों अथवा मन्दिरोंका इतिहास बड़ा पुराना है। सुविधाके लिये यहाँ कलामर्मज्ञ जॉन रस्किनके अनुसार शिल्पकलाके पाँच निम्नाङ्कित विभाग किये जाते हैं—

* राय कृष्णदास-भारतीय मूर्तिकला, पृष्ठ ११८।

(१) धार्मिक (Devotional)-खजुराहोके मन्दिर।
(२) स्मारक (Memorial)- साँचीके स्तूप।
(३) नागरिक (Civil)- दीवाने खास या दीवाने आम।
(४) Military (सामरिक)-गढ़ और किले।
(५) वैयक्तिक (Domestic)- राजभवन आदि।

अन्तिम चार विभागोंके अवशेष अब कम ही रह गये हैं और जो हैं भी, वे हिंदू-शिल्पकलासे सीधा सम्बन्ध नहीं रखते; किंतु धार्मिक भवनोंकी प्रचुरताके लिये भारत विश्व-विख्यात है।

यद्यपि विरूपाक्ष-मन्दिरकी स्थिति अब जीर्ण-शीर्ण हो चली है, तो भी वास्तु-कलाका यह मनोरम उदाहरण है। मण्डपके सामने ब्रह्माकी मूर्ति है और शिवका वाहन नन्दी भी इसी मूर्तिके पास है।[१] श्रीहैवलका कथन है- "The temple was not an archaeolgical essay, but a sermon in stone, suggesting by its symbolism the rhythm of the cosmosteaching the lessons of the universal life, and recording the sacred traditions of the Indian people."[२] समस्त भारतीय मन्दिरोंके साथ-साथ दक्षिणापथके मन्दिरोंपर भी यही नियम लागू होता है। यह मन्दिर ऊँचे उपान (Plinth) पर खड़ा है। जगतीपीठका चौड़ा वक्ष सुडौल हाथियोंकी मूर्तियोंसे अलंकृत है।

मन्दिरके चारों ओर परकोटेकी बड़ी-सी चौकोर दीवार खिंची है। और दीवारमें पूर्वी तथा पश्चिमी पार्श्वोंमें गोपुरम् बने हैं। इन्हीं दीवारोंकी छायामें आचार्य ब्राह्मण और उनके शिष्य पठन-पाठन करते थे। यात्रियोंके विश्राम लेनेका स्थान इन्हीं दीवारोंकी मोटी चद्दरोंके नीचे था। दक्षिणके अन्य मन्दिरोंकी भाँति विरूपाक्ष मन्दिरका विमान-शिखर भी गोपुरम् मण्डपोंसे बहुत ऊँचा है। मन्दिरका वर्तमान खाका भी अत्यन्त विशाल लगता है; किंतु अब गिरने-फूटनेसे नष्टप्राय-सा हो गया है। अब वह धूमिल और भद्दापन लिये हुए है। अतएव इसकी रक्षाकी ओर मद्रास-सरकारको शीघ्रातिशीघ्र ध्यान देना चाहिये।

तंजौरकी महिमा उसके विशाल और बहुविध अलंकृत मन्दिरोंके कारण है। यदि किसीने गयाके विशाल बौद्धमन्दिरको देखा हो तो वह तंजौरके मन्दिरका अंदाजा लगा सकता है। चौकोर पीठपर खड़ा हुआ यह मन्दिर क्रमशः सँकरा होता हुआ एक चौकोर शिखरतक चला गया है। इस चौकोर शिखरके चारों कोणोंपर नन्दीकी मूर्तियाँ स्थापित हैं। इन्हीं मूर्तियोंके मध्यमें एक गुम्बजाकार कलश-सा है, जिसपर त्रिशूल स्थित है। मन्दिरके अलंकरणमें सूर्याकृतियोंके-से चक्रार्धोंसे काम लिया गया है। मन्दिरपर एकके ऊपर एक लगातार १३ मंजिली छतें हैं। मन्दिरके अलंकरणकी दूसरी विशेषता है विष्णु-सम्प्रदायकी मूर्तियोंका गोपुरोंमें प्रयोग, जब कि अन्यत्र शिवकी ही महिमाका अलंकरण है। वैष्णव और शैव सम्प्रदायका यह पारस्परिक मेल प्रशंसनीय है। श्रीफर्ग्युसन कहते हैं —"It is only an instance of the extreme tolerance that prevalied at the age at which it was erected, before these religions became antagonistic."[3]—

शिव मन्दिरके परकोटेमें ही शिवके पुत्र सुब्रह्मण्यका भी एक मन्दिर है। इसकी बनावट एकदम भिन्न है। गोपुरम्के साथ-साथ छोटे आकार-प्रकारका किंतु अलंकृत विमान जुड़ा हुआ है। गोपुरम्में गणेशमूर्तिकी स्थापना है और विमानके अन्तरालमें सुब्रह्मण्यकी। शिव-मन्दिरका काल लगभग चौदहवी शताब्दी और सुब्रह्मण्यका पंद्रहवीं शताब्दी है।

तिरुवल्लूर

मद्रासके ३० मील पश्चिममें यह नगर है। यहाँके मन्दिरोंका निर्माण बड़ी ही निराली पद्धतिका है। एक लंबा-चौड़ा परकोटा है, जिसमें चारों ओर मन्दिरनुमा गोपुरम् बने हैं, जिनमेंसे होकर भीतर मन्दिरमें जाया जाता है। यह परकोटा १४० फुट×७०१ फुट है। भीतरके चौकोर आँगनमें ही मन्दिरकी स्थापना है, जिसमें शिव-पार्वतीकी मूर्तियाँ हैं। किंतु यह सब होते हुए भी मन्दिरके विभिन्न भाग इतने दूर-दूर बनाये गये हैं कि उन्हें देखकर विस्मयकारी भाव नहीं उत्पन्न होता।

श्रीरंगपट्टन

यहाँका मन्दिर दक्षिणके समस्त मन्दिरोंमें बड़ा और वास्तु-कलाका सर्वोत्तम नमूना है। यहींपर मन्दिरमें एक

1. Havell—A Study of Indo-Aryan Civilization, p. 180.
2. Ibid, pp. 180-181.
3. Fergusson, History of Indian and Eastern Architecture, p. 344.

सहस्र १६×७० स्तम्भोंवाला मण्डप है, जिसका कमरा ४५० फुट×१३० फुट है। यहाँके गोपुरम् और मन्दिरोंका-सा अलंकरण दक्षिणमें और कहीं नहीं मिलता। कुण्डलाकार झपकती हुई बेलें, पुष्पाकृतियाँ, छाजन और चक्रार्ध आले—सब मिलाकर अनोखी छटा उत्पन्न करते हैं; किंतु तिरुवल्लूरकी-सी बेढंगी निर्माण-पद्धति यहाँ भी अपनायी गयी है। और मन्दिरके विभिन्न भाग दूर-दूर रखे गये हैं। यदि परकोटेके चारों गोपुरम् केन्द्रस्थ मन्दिरके पास ही चतुष्कोणोंपर स्थापित किये जाते तो वास्तु-कलाके एक ठोस और सम्पूर्ण दृश्यके दर्शन होते।

चिदम्बरम्

दक्षिणके अत्यन्त प्राचीन मन्दिरोंमें इस मन्दिरका स्थान है। इसमें चिदम्बर शिवकी मूर्ति प्रस्थापित है। मन्दिर एक बड़े परकोटेके भीतर है, जिसके मध्यमें एक तालाब है। तालाबके उत्तरी पार्श्वमें पार्वती-मन्दिर, दक्षिणी पार्श्वमें सहस्रस्तम्भ मण्डप और पश्चिमी पार्श्वमें शिव-गर्भगृह है। स्तम्भ-कलाकी दृष्टिसे चिदम्बरम्का मन्दिर अत्यन्त प्रसिद्ध है। स्तम्भोंकी अलंकृतशोभा मण्डपोंमें है। नीचेसे ऊपरतक उनमें अनेकविध अलंकरण है और शिरोभागका चौकीनुमा और धाजननुमा भाग, जो छत भी सँभालता है, शोभनीय है। ये स्तम्भ ४१×२४ के हिसाबसे स्थित हैं। वर्तमान रूपमें मन्दिरका विमान ध्वंस हो चुका है।

रामेश्वरम्

दक्षिणमें द्रविड़ कलाका सर्वोत्तम प्रतिनिधि रामेश्वरम्का बहुश्रुत शिव-मन्दिर है। दक्षिणके अधिकांश मन्दिरोंकी भाँति इसमें भिन्न-भिन्न कालोंमें विकास या वृद्धि न करके एक साथ ही पूर्व आयोजनके अनुसार इसका निर्माण किया गया है। यह मन्दिर लगभग ११-१२ वीं शताब्दियोंका है। यह ५०×३०×४० के आकारका है। इसके अन्तरालके चारों कोणोंमें नन्दीकी मूर्तियाँ स्थापित हैं, जिससे लगता है कि यहाँ शिव-मूर्तिकी ही स्थापना पहले-पहल हुई होगी।

बाहरसे मन्दिरके चारों ओर एक परकोटा खिंचा है, जो २० फुट ऊँचा और ४ गोपुरोंसे युक्त है। इनकी बनावट इतनी वैज्ञानिक है कि श्रीफर्ग्युसनके शब्दोंमें भूचाल ही इन्हें धूल-धूसरित कर सकता है, और कुछ नहीं।

रामेश्वर-मन्दिरकी पहली खूबी यह है कि श्रीराम-चरित्रकी अद्भुत दृश्यावलियाँ इसके अन्तरंग और बहिरंगपर अंकित हैं और दूसरी खूबी इसके भीमाकार बरामदों, दालानों और बारादरियोंकी है। कहीं-कहीं ४००० फुटतककी लंबी बारादरियाँ हैं, जिनकी चौड़ाई २० फुटसे ३० फुटतक है तथा ऊँचाई ३० फुटसे भी अधिक है। इनकी छतोंका मध्य भाग अलंकृत वृत्तोंसे परिपूर्ण है, जो एक-दूसरेको स्पर्श करते हुए चित्रित किये गये हैं। छतोंका आधार अनोखी कलावाले स्तम्भोंपर है। स्तम्भोंका पद-पीठ मध्य-दण्डसे अवश्य कुछ बड़ा है; किंतु शिरोभाग क्रमशः वजनदार, अधिकाधिक अलंकृत और विस्तृत होता गया है, जिससे छतके किनारेकी पट्टियोंका भार वहन कर सके। उन बारादरियोंमें, जो मन्दिरके पार्श्वभागोंमें स्थित हैं, मूर्ति-अलंकरणको स्थान नहीं दिया गया है।

मदुरा

राजा तिरुमल्ल नायक (१६२१-१६५७ ई०) द्वारा निर्मित मदुराका एक अत्यन्त वैभवशाली मन्दिर है, जिसकी बारादरियाँ और स्तम्भ उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ एक बारादरी ३३३ फुट×१०५ आयतमें है और स्तम्भोंकी चार कतारोंपर इसकी छत आधारित है। प्रत्येक स्तम्भकी अपनी छटा, अपनी पद्धति और अपनी शैली है। मन्दिरका निर्माण-काल १६२३-४५ ई० है, अर्थात् मन्दिर २२वर्षोंमें बनकर तैयार हुआ। इसके स्तम्भोंका निर्माण और शृंगार रामेश्वरम्के मन्दिरोंके समान ही है। स्तम्भोंके बीच-बीचमें हाथियोंको रौंदते हुए शार्दूल खड़े हैं और कहीं-कहीं अश्वारोही भी स्थित हैं। अश्वोंके खुरोंको पदातियोंकी ढालें सँभाले हैं। ये अश्वारोही कहीं शत्रुओंका हनन करते दिखाये गये हैं तो कहीं सिंहका शिकार करते हुए दिग्दर्शित किये गये हैं।

इसी नायकवंशके राजा विश्वनाथका बनवाया हुआ मदुराका मन्दिर दक्षिणके अनुपम मन्दिरोंमेंसे एक माना जाता है। द्राविड़ मन्दिर-कलाकी सभी विशेषताएँ इसमें हैं। मन्दिर चौकोर आकारका है और लंबाई ७२०—७२९ फुटतकसे ८३४—८५२ फुटतक है। इसके परकोटेमें ९ गोपुरम् हैं—चार बड़े और पाँच छोटे। परकोटेमें एक मनोहर तड़ाग भी है। एक सहस्र स्तम्भ (१०×१००) वाला सभामण्डप इस मन्दिरमें भी है और रामेश्वरम्के मन्दिरकी स्तम्भ-कलासे भी बढ़-चढ़कर है। अन्तरालमें १५ स्तम्भोंसे परिवेष्टित स्थानमें स्थानीय देवी मीनाक्षीकी स्थापना है।

इसी प्रकारका एक मन्दिर कांजीवरम्‌में भी है, जो द्राविड़ी कलाका अत्यन्त सुन्दर प्रतिनिधि कहा जाता है। वहाँके मन्दिरमें भी एक सहस्र स्तम्भवाला सभामण्डप है, जिससे मिले हुए बहुत-से उपमण्डप और तड़ाग हैं।

वेलौर और पेरूर

यहाँके मन्दिर वास्तु-कलाकी दृष्टिसे दक्षिणके मन्दिरोंमें द्वितीय श्रेणीके हैं; किंतु प्रवेश-द्वारों और छाजनोंकी जैसी शोभा यहाँ बन पड़ी है, वह अत्यन्त दुर्लभ है। वेलौर दुर्गके अंदर स्थित मन्दिरके परकोटेको अंग्रेजोंने अपनी छावनी बनाकर बड़ी क्षति पहुँचायी है। यहाँके प्रवेश-द्वारोंपर बहुधा शार्दूल-राक्षसों और अश्वारोहियोंकी मूर्तियाँ हैं। मण्डपोंके स्तम्भोंका कटाव-बनाव यहाँ अनोखा है। कला अपने बहुरूपिया रूपमें स्तम्भोंके अंगपर कलाकारके तन-मनसे छन-छनकर छपी है। ये स्तम्भ इतने सुन्दर हैं कि बिना इन्हें प्रत्यक्ष देखे इनकी भव्यताका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। मन्दिरका निर्माण-काल फर्ग्युसनके अनुसार १३ वीं-१४ वीं शताब्दियोंका मध्यान्तर है।

विजयनगर

राजधानीके स्थानीय देवता विठोबाके (जो विष्णुके अवतार माने जाते हैं) स्थापनार्थ विठोबा-मन्दिरको अच्युत रावलने (१५१९—१५४२) बनवाया था, किंतु यह मन्दिर पूरा नहीं बनाया जा सका। मन्दिरकी भव्यता इसके मण्डपमें है। ग्रैनाइट पत्थरका इसके निर्माणमें प्रयोग किया गया है और अपने शृंगारमें यह मण्डप बेजोड़ है। द्राविड़ कलाका पूरा प्रभाव इसकी कलापर अंकित है। व्याल-शार्दूल यहाँ भी प्रवेश-द्वारोंपर स्थित हैं और उनपर नर-मूर्तियाँ आरोहित हैं।

विजयनगरसे लगभग १०० मील दक्षिण-पूर्वमें तारपुत्री स्थानपर दो अनुपम एवं कलापूर्ण मन्दिर हैं। यहाँ गोपुरोंके प्रवेश-द्वार और कोण-अलंकरण अनन्यतम सौन्दर्यपूर्ण हैं।

(६) काश्मीरी मण्डल

यहाँके मन्दिर विशाल तो नहीं कहे जा सकते, किंतु शैलीकी दृष्टिसे अनोखे और स्थानीय ग्राम-गृह-निर्माण-कलासे भली-भाँति प्रभावित हैं। पहली विशेषता इनकी है कई परतोंवाली छतें, जिनका भाव काश्मीरी मकानोंकी लकड़ीकी छतोंसे लिया गया है। दूसरी विशेषता छतोंमें खिड़कियोंका होना है। प्रमुख मन्दिरोंमेंसे मार्तण्ड-मन्दिर है। यह इस्लामाबादसे पाँच मील पूर्वमें स्थित है और काश्मीरी वास्तु-कलाका प्रतिनिधि है। यह एक ऊँचे पठारपर अवस्थित है और दूरसे ही देखा जा सकता है। वर्तमान मन्दिरकी छत एकदम नष्ट हो गयी है। मन्दिरका विस्तार २२०×१४२ वर्गफुट है। मन्दिरका अलंकरण सादा और सुलझा हुआ है। कमलाकृतियाँ, आलेवृत्त, समानान्तर रेखाएँ आदि अलंकरणके साधन लिये गये हैं। इसका निर्माण-काल ८वीं शताब्दी है।

तदनन्तर अवन्तिपुरके मन्दिर आते हैं। ये लगभग ९वीं शताब्दीके हैं। इनकी निर्माणपद्धति मार्तण्ड-मन्दिरकी-सी है और २००×१६०×१७० फुटके क्षेत्रमें ये खड़े हैं। इनके स्तम्भोंकी एक विशेषता यह है कि उनपर त्रिशूलाकृतियोंकेअलंकरण हैं; वैसे भी अलंकरणकी दृष्टिसे ये मन्दिर मार्तण्ड-मन्दिरसे बढ़-चढ़कर हैं।

काश्मीरमें अधिकांश सूर्य-मन्दिर हैं।

(७) नेपाल-मण्डल

नेपालकी जनता इतनी धार्मिक है कि उसने घरोंसे अधिक मन्दिर ही बनाये हैं। नेपाली वास्तुकलाका इतिहास महाभारतकी गाथाओंको लेकर आरम्भ हुआ है। बौद्ध-धर्मके आगे-पीछे नेपालियोंने ब्राह्मण-धर्मको भी प्रमुखता दी है और इसीलिये शिव, विष्णु तथा अन्य हिंदू देवताओं और देवियोंके लिये मन्दिरोंकी स्थापना की।

यहाँके मन्दिरोंकी बनावट विचित्र है। नीचेको झुकती हुई चौकोर कई मंजिलोंवाली छतें इन मन्दिरोंपर होती हैं। इनकी समता चीन और जापानके पगोडा ही कर सकते हैं। ऐसे मन्दिर अधिकांशतः शिव-सम्प्रदायके हैं, जिनमें शिव और भवानीके मन्दिर आते हैं। भटगाँवका भवानी-मन्दिर पाँच-मंजिला है और पाँच उपानोंके पीठपर अवस्थित है। महादेवका मन्दिर, जो इसी मन्दिरके पास है, केवल दुमंजिला है। महादेव-मन्दिरसे कुछ हटकर उत्तरमें कृष्ण-मन्दिर है, जो खजुराहोके मन्दिरोंके विमानोंके समान है। यह एक सुन्दर मन्दिर है, अपने-आपमें पूर्ण है। इसकी पद्धति बहुत कुछ काश्मीरी मन्दिरोंकी-सी है।

(८) बंगाल-बिहार मण्डल

पालवंशीय वास्तुकलाके प्रमाण मूर्तियोंके रूपमें तो खूब मिलते हैं; किंतु बंगालमें मुगलकालीन शासनने मन्दिरोंके अवशेषतक नहीं छोड़े। यही कारण है कि

इस मण्डलकी मन्दिर-कलापर कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछेक मन्दिर, उदाहरणार्थ कन्तनगर (दीनाजपुर)का नौ विमानोंवाला मन्दिर प्रसिद्ध हैं; पर वे बहुत बादके हैं और उनमें आधुनिकताकी पूरी-पूरी छाप है।

ऊपरके कुछ पृष्ठोंसे अनुमान लगाया जा सकता है कि हिंदू-मन्दिरका विकास क्रमशः कैसे हुआ, उसका निर्माण क्यों हुआ और किस प्रकारकी निर्माणपद्धति अपनायी गयी। कलाकी दृष्टिसे फर्ग्युसन-जैसे यूरोपीय कलाके हामी भी भारतीय कलाका लोहा मान गये हैं। इस सम्बन्धमें उनके शब्द स्पष्ट और उचित ही हैं। वे कहते हैं—

'भारतवर्षका अध्ययन करनेसे जैसे सुन्दर प्रतिफलकी आशा की जा सकती है, वैसी आशा सम्भवतः किसी भी अन्य देशके अध्ययनसे नहीं की जा सकती—कम-से-कम यूरोपसे बाहर तो कोई देश ऐसा है ही नहीं, जिसका अध्ययन इतना लाभदायक सिद्ध हो। ऐसा कोई भी देश नहीं है, जहाँ प्राकृतिक विज्ञान अथवा कला-सम्बन्धी सारी समस्याएँ इतने स्पष्ट एवं इतने सुखद रूपमें हमारे सामने उपस्थित होती हों। कहीं भी प्रकृति ऐसे भव्य एवं मोहक रूपोंमें हमारे सामने प्रकट नहीं होती और किसी भी भूभागमें मानव-समाजकी स्थिति यहाँकी अपेक्षा अधिक वैचित्र्यमयी एवं अधिक सुख-दायक नहीं है।' पाश्चात्त्य-कला-मर्मज्ञ इस बातको स्वीकार करते हैं कि 'भारतीय कलाएँ अधिक मौलिक एवं अधिक वैविध्यपूर्ण हैं और यहाँकी सभ्यताके प्रकारोंमें भी नित्य-नवीन वैचित्र्य है, जैसा अन्यत्र कहीं भी देखनेमें नहीं आता।' भारतीय कलाको जीवनका रूप देते हुए वे लिखते हैं—'भारतका स्थापत्य आज भी एक जीती-जागती कला है।' यूरोपीय शिल्पी एवं भारतीय शिल्पीकी तुलना करते हुए वे अपना निर्णय देते हैं कि 'भारतीय स्थपतियोंका ध्यान तो केवल अपनी कृतिकी ओर रहता है; वे यह सोचते रहते हैं कि वे अपनी कृतिमें जो बात लाना चाहते हैं, उसे न्यूनतमरूपमें किस प्रकार ला सकते हैं। यूरोपीय पद्धतिमें यह बात अधिक आवश्यक समझी जाती है कि जिस भवनका वहाँ निर्माण किया जाता है, वह हूबहू किसी दूसरे मकानकी नकल हो—खासकर छोटी-छोटी बातोंमें तो उसके सदृश हो ही, भले ही वह स्वरूपतः उत्तम अथवा अपने उद्देश्यके अनुकूल न हो। यही हेतु है परिणाममें अन्तर होनेका।'

किंतु यही गौरवपूर्ण कला १०वीं शताब्दीके पश्चात् अवनतिके गर्तमें गिरने लगी। शुद्ध आर्यत्व और ब्राह्मणधर्मकी मूल दार्शनिक भावनाका गलत अर्थ लगाया जाने लगा। कलाकारको बाह्य प्रकरणोंकी प्रेरणा न मिली। वह इस प्रेरणासे वंचित अपनेमें ही, अपनी कलाके दायरेमें ही सिकुड़ा रह गया और बार-बार अपनी ही कलाकी पुनरावृत्ति करने लगा। उसकी नयी सूझका लोप हो गया और साथ ही भारतीय कलाके विकासपर भी पटाक्षेप हो गया। अकबर-कालतक लगातार यह पुनरावृत्ति देशमें शान्त वातावरण पाकर खूब हुई। तदनन्तर जो कुछ भी कलाके नामपर बना-बनाया था, उसपर म्लेच्छोंके आक्रमण-पर-आक्रमण होने लगे। सोमनाथ, कन्नौज, बंगाल, मथुरा, वृन्दावन, सारनाथ, नालन्दा और लखनौतीको दुर्भाग्यके दिन देखने पड़े। चारों ओर इस्लामकी धर्मान्धताका कुल्हाड़ा चलने लगा!

इतनेपर भी भारत और भारतीय कला आजतक जीवित है। अपने बचे-खुचे अवशेषोंपर ही उसे गर्व है। अकेले ये अवशेष ही विदेशियोंकी आँखें खोल देते हैं। भारतीय संस्कृतिकी नींव न हिलायी जा सकी है और न हिलायी जा सकती है। इसकी भित्ति एक ऐसा विशाल समाज है, जो भारतके सात लाख गाँवोंमें बसा है।

भारतके प्राचीन गुफा-मन्दिर

(लेखक—श्रीत्रिलोकीनाथजी मेहरोत्रा, बी० ए०, एल-एल० बी०, एल० एस० जी० डी०)

प्राचीन कालमें अरण्यवासी लोग विचित्र तरहसे गुफाएँ बनाते थे। मिर्जापुर रीवाँ जानेवाली Great Deccan Road (ग्रेट डेकन रोड)पर मिर्जापुरसे प्रायः पैंतालीस मीलपर 'लहोरिया दह' नामक गाँवके पास ऐसी अनेक प्रागैतिहासिक कालकी गुफाएँ सड़कके पास ही विद्यमान हैं। 'सहबइया पथरी', 'मोरहना पथरी', 'बागा पथरी' तथा 'लकहर पथरी' नामकी पहाड़ियोंमें प्रायः एक सौ ऐसी गुफाएँ मिलेंगी। इन गुफाओंके अंदर लाल, पीले तथा सफेद रंगोंमें चार-पाँच हजार वर्ष पुरानी चित्रकारी अब भी मिलती है।

इनके अध्ययनसे प्राचीन परिस्थितिका अच्छा ज्ञान हो सकता है। कुछ लोगोंका खयाल है कि इन चित्रोंमें अनेक चित्र जादूके लिये बनाये गये थे। एक स्थानपर सुसज्जित द्वारके भीतर एक चोंचदार आदमी बैठा दिखलाया गया है और उसके सामने दो व्यक्ति उसकी पूजा-सी कर रहे हैं। सम्भव है कि गुफा-मन्दिरोंके प्राचीनतम कालमें इसी प्रकारके मन्दिर बनते थे।

इसके बाद काश्मीरकी सुप्रसिद्ध 'अमरनाथ गुफा' में प्रसिद्ध शिवलिंगका युग आता है। अमरनाथकी यात्रा वर्षमें केवल एक दिन होती है। इस गुफामें ऊपरसे जल टपकनेके कारण Stalagmite नामक बर्फकी शिवमूर्ति, उजेले पक्षमें स्वयं निर्मित होती है और अंधेरे पक्षमें विगलित हो जाती है।

भारतवर्षमें सबसे प्राचीन गुफाएँ गयासे पटना जानेवाली लाइनपर बेला स्टेशनसे आठ मील पूर्व स्थित हैं। इन गुफाओंको 'बराबर पहाड़ीकी गुफाएँ' कहते हैं। यहाँपर सिद्धेश्वरनाथका प्राचीन मन्दिर तथा पातालगंगा नामक झरना है। इस स्थानकी गुफाएँ बड़े-बड़े कमरोंके रूपमें बनी हैं। कहीं-कहीं दो कमरोंके रूपमें अथवा एक बड़े हॉलके रूपमें बनी हैं। गुफाएँ सात-आठ हैं और इनके भीतर 'वज्रलेप' नामक सुन्दर पालिस की हुई है। यह वही पालिस है, जो अशोकके स्तम्भोंपर मिलती है। इसमें कहीं-कहीं तो आदमी अपना मुखतक देख सकता है। प्रायः सभी गुफाओंमें लेख हैं, जिनमें सम्राट् अशोक, सम्राट् दशरथ आदिद्वारा इन गुफाओंका निर्माण आजीवक ब्राह्मण, साधुओंके निमित्त किया गया लिखा है। इन गुफाओंके नाम सुदामा, लोमश ऋषि, रामाश्रम, विश्वझोपड़ी, गोपी, वेदाथिक इत्यादि हैं। इन गुफाओंके कारण यहाँकी नागार्जुनी पहाड़ी सतघरवा नामसे पुकारी जाती है। निश्चय ही ये गुफाएँ ईसासे बहुत पहलेकी बनी हुई हैं।

काठियावाड़में जूनागढ़ स्टेटमें 'खपराखोड़िया' नामक गुफाएँ भी बहुत ही प्राचीन हैं। ये गुफाएँ प्राचीन कालमें मठके रूपमें काममें लायी जाती थीं और इनमें पक्षयुक्त शरभ बने हैं। 'ऊपर कोट' में एक दो खण्डकी गुफा है, जिसमें नीचेका दर ग्यारह फुट ऊँचा है। ऊपरके खण्डमें एक तालाब है और उसके चारों तरफ गली इत्यादि हैं। यहाँके स्तम्भोंके विषयमें डा० बरजेसका कहना है कि कदाचित् ऐसे सुन्दर स्तम्भ कहीं नहीं हैं। गिरनार पर्वतपर जानेके लिये वागेश्वरीद्वारपर 'बाबा प्यारा' नामक गुफाएँ हैं। ये गुफाएँ भी अशोकके समयकी बनी हुई हैं और बहुत ही प्राचीन हैं।

कार्लीका सुप्रसिद्ध गुफा-मन्दिर बंबई-पूना लाइनपर मलवली स्टेशनसे तीन-चार मील पूर्व है। यह गुफा पहाड़के मध्यमें सड़कसे प्रायः दो फर्लांग ऊँचेपर बनी है। यह गुफा चैत्यके रूपमें बनी है और इसके बगलमें कई छोटे-छोटे विहार भी बने हैं। इसके भीतर एक धातु-गर्भ अर्थात् स्तूप बना है और इसके चारों ओर सुन्दर स्तम्भ तथा परिक्रमा बनी हैं। बाहरकी ओर उन राजाओं तथा रानियोंकी मूर्तियाँ बनी हैं, जिनके समयमें ये गुफाएँ पत्थरको छेनीसे काटकर बनायी गयी थीं। ऊपरके भागमें निश्चय ही काठकी बड़ी-बड़ी शहतीरें लगी थीं, जो अब नष्ट हो गयी हैं। गुफाके बाहर एक सुन्दर स्तम्भ पत्थरका बना है। इस गुफामें कई लेख हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि ईसासे दो सौ वर्ष पूर्व उशवदत्तने यह गुफा-मन्दिर बनवाया तथा अजमित्रने इस स्तम्भकी स्थापना की थी। यह गुफा आन्ध्रवंशी राजाओंके समयमें बनायी गयी थी।

इसी कालमें बनी हुई नासिककी सुप्रसिद्ध 'पांडुलेण' गुफाएँ हैं। आगरा-बंबई रोडपर नासिकसे पाँच मील आगे सड़कके बायीं ओर त्रिरश्मि पर्वतपर प्रायः सड़कसे एक फर्लांग ऊपर २३ गुफाएँ बनी हैं। इनमें कुछ तो चैत्य अर्थात् पूजागृह हैं और कुछ विहार अर्थात् बौद्ध भिक्षुओंके रहनेके स्थान। ये गुफाएँ भी आन्ध्रवंशी राजाओंकी बनवायी हुई हैं और इनमें कई विस्तृत लेख भी विद्यमान हैं। विद्वानोंका ख्याल है कि ये गुफाएँ ईसासे एक या दो सौ वर्ष पूर्वसे लेकर ईसाके बादकी दूसरी शताब्दीकी बनी हुई हैं। इनमें तीन बड़े-बड़े विहार और एक चैत्य विशेषरूपसे दर्शनीय हैं। इन गुफाओंमें जो मूर्तिकारी मिलती है, उसको देखनेसे आन्ध्र राजाओंके समयकी वेश-भूषा, उन राजाओंकी श्रद्धा तथा उनके विजय किये हुए देशोंके नाम मिलते हैं। शातकर्णी राजाओं तथा पुलमावी राजा इत्यादिके वर्णन तथा लेख विशेषरूपसे द्रष्टव्य हैं। ये गुफाएँ हीनयान नामक बौद्ध सम्प्रदायके साधुओंके लिये बनी थीं और इनमें बुद्धकी कोई मूर्ति नहीं मिलती। बुद्धके स्मारकरूपमें उनकी पगड़ी इत्यादि ही मिलती है। पीछेकी अर्थात् महायान मतकी गुफाओंमें अनेकानेक मूर्तियाँ बनी हुई मिलेंगी।

ऊपर लिखे हुए मलवली स्टेशनके प्रायः आधा मील पश्चिम सुप्रसिद्ध 'भाजाकी गुफाएँ' पर्वतपर नीचे सड़कसे कुछ ही ऊपर बनी हैं। भाजाकी गुफाएँ भी ईसासे दो-तीन सौ वर्ष पूर्व बनी हुई मानी जाती हैं। यहाँपर अठारह गुफाएँ हैं, जिनमें बीचका चैत्य बहुत ही प्राचीन तथा कई बातोंमें द्रष्टव्य है। इस चैत्यमें अब भी प्राचीन समयकी काठकी शहतीरें लगी हुई मिलती हैं। सम्भव है कि इनके प्रायः ढाई हजार वर्षतक विद्यमान रहनेका कारण यह हो कि सैकड़ों वर्षतक ये गुफाएँ मिट्टीके अंदर दबी थीं। इस स्थानपर एक बहुत ही प्रसिद्ध विहार भी है, जिसमें मूर्तिकारी बहुत ही विचित्र है। इसमें भीतरकी ओर एक मनुष्य बना है, जो हाथमें पहुँची पहने हुए तथा विचित्र तरहसे भाले लिये हुए है। विहारके बाहर बरामदेमें और भी विचित्र चित्रकारी है। एक मूर्तिमें एक पुरुष हाथीपर बैठा दिखलाया गया है, जिसके बारेमें कुछ लोगोंका मत है कि यह इन्द्रकी प्रतिमा है। दूसरी प्रतिमामें एक पुरुष बड़ी पगड़ी बाँधे एक रथपर जा रहा है, जिसके नीचे बड़े-बड़े दैत्य आ गये हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि यह मूर्ति सूर्यकी है। इनके अतिरिक्त यहाँपर कई और मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनके विषयमें विद्वानोंका अभीतक कोई निश्चित मत नहीं स्थापित हुआ है। ऐसी मूर्तिकारी इस देशमें केवल यहीं मिलती है।

उड़ीसामें भुवनेश्वरसे चार-पाँच मील पश्चिम उदयगिरि, खण्डगिरि तथा नीलगिरिकी गुफाएँ भी अत्यन्त ही प्राचीन कही जाती हैं। ये जैन-गुफाएँ हैं। कुल मिलाकर दो पर्वतोंपर ६६ हैं। यहाँकी गुफाएँ दो-एकको छोड़कर सब-की-सब कष्टसे रहने लायक बनी हैं। तपस्वियोंके लिये ऐसा ही उपयुक्त भी था। कहीं-कहींपर गुहाद्वार इतने छोटे बने हैं कि प्रवेश बहुत कठिनाईसे हो सकता है। इनमेंसे अधिकांश ईसासे तीन सौ वर्ष पूर्व बनी थीं। इन पहाड़ियोंके आस-पास बहुत घना जंगल है। यहाँ कल्पवृक्षकी पूजा कई जगह दिखलायी गयी है और रानी-गुम्फा तथा गणेश-गुम्फामें कई दृश्य पार्श्वनाथके जीवनसे सम्बन्ध रखते हुए मिलते हैं। 'हाथी-गुम्फा' नामक गुफामें सम्राट् खारबेलका एक बड़ा-सा लेख ईसासे १५५ वर्ष पूर्वका मिलता है, जिससे भारतीय इतिहासपर बहुत प्रकाश पड़ता है।

गुप्त राजाओंके समयमें बनी हुई ईसाकी पाँचवीं शताब्दीकी २०गुफाएँ भिलसाके पास स्टेशनसे चार मीलकी दूरीपर स्थित हैं, जो उदयगिरिकी गुफाएँ कहलाती हैं। यहाँकी गुफाएँ प्रायः सब-की-सब ब्राह्मणधर्मकी हैं। उदयगिरि पहाड़ीका पत्थर बलुआ है, इस कारण छोटी-छोटी कोठरियोंमें मूर्तियाँ खुदी हैं। इन गुफाओंमें तीन लेख संस्कृतमें हैं, जिनमें प्रसिद्ध गुप्त राजाओंका उल्लेख है। हिंदू-धर्मके देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ प्रायः अच्छी ही बनी हैं। पाँच नंबरकी गुफामें एक विशाल मूर्ति वराहभगवान्‌की है। भगवान्‌की सूँडके पास पृथ्वीकी मूर्ति है और भगवान्‌के बायें पैरके नीचे शेषकी मूर्ति है। अनेक देवतालोग भगवान्‌की स्तुति कर रहे हैं। कदाचित् इतनी विशाल वराह-मूर्ति और कहीं नहीं बनी है। गुफा-सं० १३ में एक बड़ी मूर्ति शेषशायी विष्णुकी है, जो वर्षाके कारण कुछ खराब हो गयी है; परंतु गुप्तकालीन शिल्पकलाका वह एक अच्छा नमूना है।

अजंताकी गुफाओंके विषयमें पाठकगण जानते ही होंगे। अजंताकी पहाड़ी निजाम स्टेटके उत्तरमें जलगाँव स्टेशनके पास स्थित है। अथवा पाचोरा-जामनेर लाइनपर पहूर नामक स्टेशनसे सात मील दक्षिण पड़ती है। अजंतासे निकटतम ग्राम फर्दापुर पड़ता है, जहाँसे चार मीलकी दूरीपर सह्याद्रि पर्वतकी सुन्दर घाटीमें २९ गुफाएँ बनी हैं। गुफाओंके पास विस्तृत पारिजातके वन हैं। इन गुफाओंका निर्माणकाल ईसासे पूर्वकी द्वितीय शताब्दीसे लेकर ईसाके बादकी छठी शताब्दीतक माना जाता है। यहाँपर पहाड़ी अर्धचन्द्राकार है और उसीके बीचमें अर्थात् धरतीतल तथा शिखरके मध्यमें ये गुफाएँ बनी हैं। इन गुफाओंके चारों ओर पहाड़की ऊँची-ऊँची दीवारें हैं। गुफाओंके सामने बाघोरा नदी बहती है। ऐसे शान्त स्थानमें ये गुफाएँ बनी हैं कि जिस समय लोगोंने इनको १८१८ में देखा, उनमें व्याघ्र इत्यादि रहने लगे थे। इन २९ गुफाओंमें ९, १०, १९ और २६ नंबरकी गुफाएँ चैत्य हैं और शेष विहार हैं। इन विहारोंमें बौद्ध भिक्षु रहते थे और चैत्यमें पूजा करनेके लिये इकट्ठे होते थे। इन गुफाओंमें अनेक चित्रकारोंने वर्षोंतक रहकर काम किया है। उनमेंसे एक ग्रिफिथ्स (Griffiths) भी थे। उन्होंने एक कल्पना-चित्र इस बातको दिखलानेके लिये बनाया है कि अपनी ऊर्जित अवस्थामें ये गुफाएँ कैसी रही होंगी। इन गुफाओंमें मिट्टी, भूसा इत्यादि

इलोरा-कैलास, मध्य-मन्दिरका मण्डप
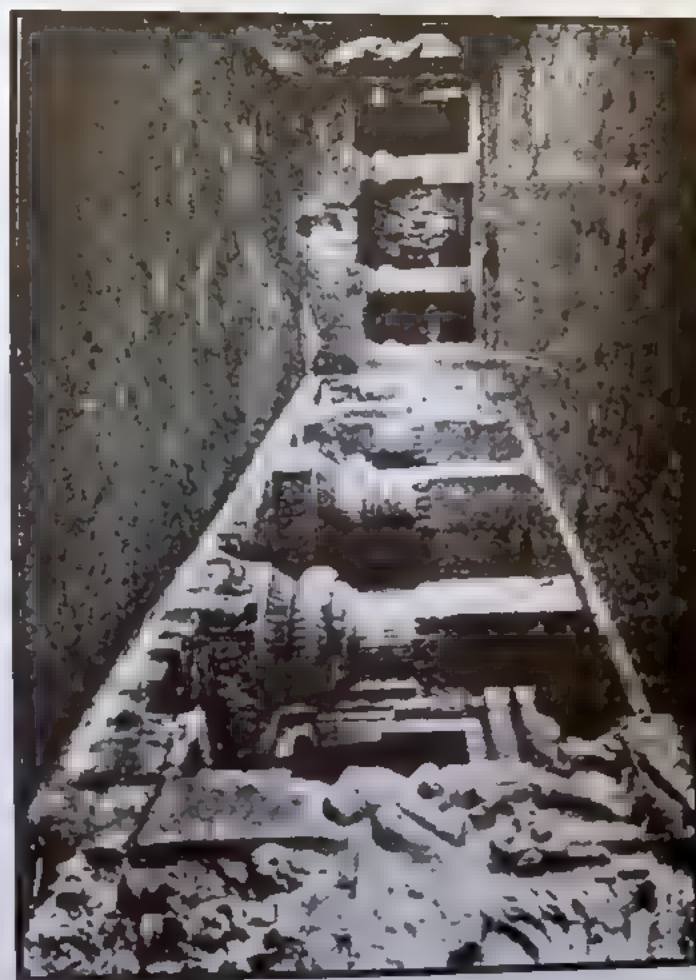
इलोरा—सभामण्डप और पार्श्वगृह [पृष्ठ ७८५

इलोरा—कैलास-मन्दिर
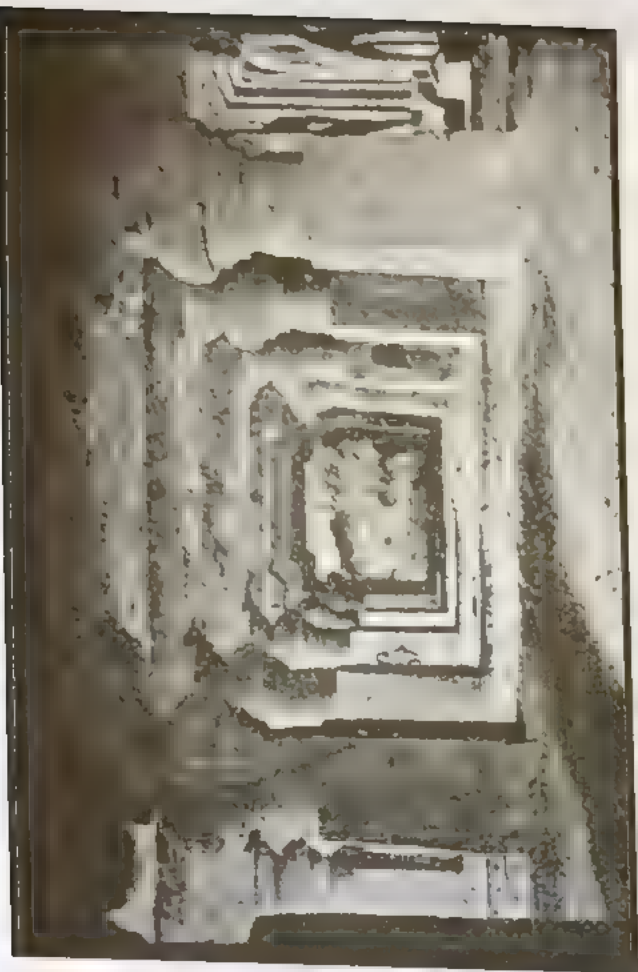
इलोरा—गर्भगृहके सम्मुख सस्तम्भ मण्डप

इलोरा—सीताकी नहानी, भैरव-मूर्ति

इलोरा—इन्द्र-सभा

इलोरा—ढेडवाड़ा गुफाका प्रवेशद्वार

[पृष्ठ ७८५

मिलाकर पत्थरकी दीवारोंपर लेप किया जाता था और उसके ऊपर जातक-कथाओंके चित्र देशी रंगोंमें बनाये जाते थे। ये चित्र इतने सुन्दर बने हैं कि संसारमें इनका सानी नहीं। स्त्रियोंके चित्र ऐसे सुन्दर बने हैं कि उनका वर्णन करना कठिन है। स्त्रियोंके विविध आभूषण, उनके तरह-तरहके केश-कलाप तथा उनकी विविध हस्तमुद्राएँ दर्शनीय हैं। आश्चर्य तो यह है कि इतनी स्त्री-मूर्तियोंको देखते हुए भी चित्तमें किंचित् विकार नहीं आता। स्त्रियोंकी नेत्रमुद्राएँ विशेष रूपसे द्रष्टव्य हैं। अजंतामें दम्पतियोंके प्रेमालापके भी चित्र हैं; परंतु वे फूल-से निर्दोष हैं। बैलों, हाथियों, कमलों तथा आभूषणोंका दिखाव बड़ा ही रोचक है। अजंताकी कलासे मध्य एशियाकी कला भी प्रभावित हुई थी, भारतकी कलाओंका तो कहना ही क्या है। आजकल भी अजंताके चित्रपट—जब कि अनेक चित्र कालसे क्षत-विक्षत हो गये हैं—अपना वही स्थान रखते हैं, जो पहले रखते थे।

१, २, ९, १०, १२, १६, १७, १९ और २६ नंबरकी गुफाएँ विशेषरूपसे द्रष्टव्य हैं। और इनकी चित्रकारी, मूर्तिकारी तथा शिल्पकला विशेषरूपसे अध्ययन करने योग्य हैं।

ग्वालियर स्टेटमें मांडूसे ३० मील पश्चिम बाघ-गुफाएँ हैं। गुफाओंतक सुन्दर सड़क बनी है और रास्तेपर जगह-जगह 'रेस्ट हाउस' बने हैं। महू स्टेशनसे मोटर इत्यादिका प्रबन्ध हो सकता है। ये गुफाएँ विन्ध्यपृष्ठपर बाघ नदीके ऊपर बनी हैं, यहाँपर बाघेश्वरी देवीका एक प्राचीन मन्दिर है। यहाँपर ९ गुफाएँ थीं, जिनमें ३ की छत गिर पड़ी है और उनसे गुफाओंका रास्ता बंद हो गया है। इन गुफाओंमें भी अजन्ताकी तरह सुन्दर चित्रकारी मिलती है। इन गुफाओंको लोग 'पंचपाण्डव गुफाएँ' कहते हैं। गुफाएँ बौद्ध धर्मके महायान-सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती हैं और इनका निर्माण-काल ईसाकी ७ या ८वीं शताब्दी माना गया है। सब गुफाएँ विहार या मठ हैं। प्रत्येक गुफामें पीछेकी ओर एक छोटा-सा चैत्य या मन्दिर बना हुआ है। भिक्षुओंके रहनेकी कोठरियाँ बगलमें बनी हैं। लोगोंने इन गुफाओंके नाम 'गोसाईंकी गुफा', 'हाथीखाना' इत्यादि रख दिये हैं। यहाँकी चित्रकारीमें बुद्धदेवकी पूजा, राजा लोग, सवार, भिक्षु तथा सेवकगण दिखलाये गये हैं। शिव तथा शेषशायी विष्णुके मन्दिर भी पासमें ही हैं।

मद्रासके पास महाबलीपुर नामक स्थानमें पल्लव-मूर्तिकारीके नमूने अनेक गुफा-मन्दिर हैं। इनमें पंचपाण्डवोंके रथ अर्थात् मन्दिर तथा त्रिमूर्ति, वराह और दुर्गाके मन्दिर भी बने हैं। एक चट्टानपर गंगावतरणका प्रसंग भी खुदा हुआ दिखलाया गया है।

निजाम स्टेटमें औरंगाबादसे प्रायः १६मील दूर एक सुन्दर सड़कपर 'इलोराके गुफा-मन्दिर' बने हैं। इस स्थानपर पहले १२ गुफाएँ बौद्ध-सम्प्रदायकी, इनके बाद १७ गुफाएँ ब्राह्मण-धर्मकी और अन्तमें ५ गुफाएँ जैन-धर्मकी हैं। अजंताकी गुफाएँ खड़ी पहाड़ीमें बनी हैं। इस कारण उनके सामने कोई आँगन-सा स्थान नहीं मिलता। पर इलोराकी गुफाएँ एक ढालुए पहाड़को काटकर बनायी गयी हैं और प्रायः समतलपर ही हैं। प्रत्येक गुफाके सामने कुछ स्थान मिलता है। ये गुफाएँ दन्तिदुर्ग इत्यादि राष्ट्रकूट राजाओंके समयमें ईसाकी छठी और सातवीं शताब्दियोंमें बनी हुई हैं। बौद्ध गुफाओंमें एक तीन खण्डका विशाल महल बना है। जिसमें महायान-सम्प्रदायकी अनेकानेक मूर्तियाँ पुरुषाकार बनी हैं। प्रायः प्रत्येक गुफाओंमें एक विशाल बौद्ध मूर्ति पूजाके स्थानपर बनी है। हिंदू-गुफाओंमें प्रसिद्ध 'कैलास-मन्दिर' है, जो इन सब गुफाओंमें अथवा भारतके सम्पूर्ण गुफा-मन्दिरोंमें सर्वश्रेष्ठ है। एक समूचे पहाड़को छेनियोंसे काटकर चार खण्डका मन्दिर बनाया गया है। और इसके तीन ओर सैकड़ों दृश्य पौराणिक कथाओंके मन्दिरसे बाहर चारों तरफकी दालानमें बने हैं। इस मन्दिरमें बैलों, सिंहों तथा हाथियोंका अच्छा दिखाव है। भगवान् शंकरकी लीलाएँ अधिकतर मूर्तियोंमें बनी हैं। मुख्य मन्दिरके भीतर सुन्दर चित्रकारी भी थी, जिसके बहुत थोड़े अंश अब भी बचे हैं। 'रामेश्वर' तथा 'सीताकी नहानी' इत्यादि और प्रसिद्ध गुफाएँ हैं। 'सीताकी नहानी' को देखते ही बंबईकी प्रसिद्ध ऐलीफेंटा गुफाओंका स्मरण होता है। जैन-गुफाओंमें छोटा कैलास, इन्द्रसभा तथा जगन्नाथसभा विशेषरूपसे द्रष्टव्य हैं। इनमें गोमटेश्वरकी सुन्दर मूर्तियाँ बनी हैं और यह दिखलाया गया है कि ये ध्यानमें इतने मग्न हो गये थे कि लताएँ इनके पैरोंमें लिपटकर बढ़ने लगीं।

औरंगाबादमें ही पंचक्की नामक स्थानके पास एक पर्वतपर छोटी-छोटी कई बौद्ध गुफाएँ बनी हैं, जो देखने लायक हैं। कुल ९ गुफाएँ बनी हैं। इनमें दो ऐसी हैं, जिनके भीतर प्रवेश करते ही मालूम पड़ता है कि दोनों ओर पुरुष और स्त्रियाँ बैठे हैं। बात यह है कि

पुरुषाकार मूर्तियाँ बुद्धभगवान्‌का पूजन करती हुई दिखायी गयी हैं। इनके केश-कलाप भिन्न प्रकारके हैं और द्रष्टव्य हैं। एक गुफामें एक अवलोकितेश्वरकी बड़ी-सी मूर्ति बनी है और उसके दोनों ओर छोटी-छोटी मूर्तियाँ विविध प्रकारकी आपदाओंसे ग्रस्त मनुष्योंकी दिखलायी गयी हैं। इनको देखकर मार्कण्डेयपुराणका स्मरण होता है, जहाँ लिखा है—

रक्षांसि यत्रोग्रविषाश्च नागा
यत्रारयो दस्युबलानि यत्र।
दावानलो यत्र तथाब्धिमध्ये
तत्र स्थिता त्वं परिपासि विश्वम्॥

बंबई शहरके पास कई गुफाओंकी श्रेणियाँ हैं। इनमें धारापुरी (ऐलीफेंटा), योगेश्वरी, कन्हेरी, मरोल तथा मण्डपेश्वरकी गुफाएँ हैं। धारापुरीकी गुफाएँ बंबईके समीप समुद्रमें स्थिति ऐलीफेंटा टापूपर हैं। इस स्थानको रोज मोटर लॉन्च जाता है। इस टापूपर पहले एक पत्थरका हाथी था, जिसको देखकर पोर्चगीज लोगोंने इस टापूको 'ऐलीफेंटा' नाम दिया। वह हाथी अब बंबईके विक्टोरिया गार्डन्सके अजायबघरमें रख दिया गया है। इस टापूका प्राचीन नाम गिरिपुर है और कुछ विद्वानोंका यह ख्याल है कि यह पिछले गुप्त राजाओंकी राजधानी था। इस टापूपर कुछ प्राचीन ऐतिहासिक चिह्न भी विद्यमान हैं; परंतु इलोराकी गुफाओंके साथ बनी हुई ७वीं अथवा ८वीं शताब्दीकी हिंदू-गुफाएँ देखने योग्य हैं। कुल पाँच गुफाएँ हैं, जिनमें एक सबसे बड़ी है। इसमें सुन्दर मूर्तिकारी तथा शिल्पकला दीखती हैं। कहीं-कहीं प्राचीन चित्रकारीके अवशेष भी मिलते हैं और प्राचीन ग्रन्थोंके अवलोकनसे मालूम होता है कि किसी समय इस सम्पूर्ण गुफामें सुन्दर चित्रकारी विद्यमान थी। प्रायः प्रत्येक गुफामें शिवलिंग स्थापित हैं। पोर्चगीजोंद्वारा गुफाओंको बहुत क्षति पहुँची है और उन्होंने गुफाओंके अंदर तोप चलाकर बहुत-सी मूर्तियाँ नष्ट कर दी हैं। इस गुफामें खम्भे विचित्र बनावटके हैं। जलका प्रबन्ध भी अच्छा है। इसमें शंकरभगवान्‌की लीलाएँ कई स्थानोंपर बनी हैं—यथा महायोगी, नटेश्वर, भैरव, पार्वतीपरिणय, गंगावतरण, अर्द्धनारीश्वर, पार्वती-मान, कैलासके नीचे रावण तथा महेश-मूर्ति शिव, जिसे भ्रमवश त्रिमूर्ति कहते हैं। यथार्थमें तीनों मूर्तियाँ भगवान् शंकरकी ही हैं और उन्हींके तीन रूप इस मूर्तिमें दिखलाये गये हैं।

योगेश्वरीकी गुफाएँ जोगेश्वरी नामक स्टेशनके पास ही हैं। यह स्टेशन बी०बी०सी० आई रेलवेपर बंबईके पास ही है। यह गुफा प्रायः भूगर्भमें ही बनी है अर्थात् ऊपरसे नीचको बनी है, इसका पत्थर भुरभुरा है और इसी कारण बहुत-सी मूर्तियाँ और खंभे कालकी गतिसे नष्ट हो गये हैं। यह गुफा भी ब्राह्मण-धर्मकी है और इसका समय वही है, जो धारापुरीकी गुफाओंका। इस गुफामें जलके निर्यातके लिये बड़ा अच्छा प्रबन्ध किया गया है।

मरोलकी गुफाएँ योगेश्वरी गुफाके पास ही पर्वतके दूसरी ओर हैं। प्रायः २० गुफाएँ होंगी। ये गुफाएँ पृथ्वीतल तथा पर्वतके शिखरके मध्यमें हैं। इनका पत्थर भी बहुत ही कमजोर है और यही कारण है कि इनमेंसे बहुत-सी गुफाएँ ध्वस्त हो गयीं हैं। ये गुफाएँ बौद्ध गुफाएँ लगती हैं।

मण्डपेश्वरकी गुफाएँ भी बंबईके पास माउंट पोयसर (Mount Poisur) नामक स्टेशनके पास ही हैं। ये गुफाएँ भी ब्राह्मण-गुफाएँ हैं और ८वीं सदीकी बनी हुई कही जाती हैं। रोमन कैथलिक लोगोंने इस स्थानपर अपना गिरजाघर स्थापित किया और योगियोंको वहाँसे हटा दिया। कहते हैं कि १६वीं सदीमें जब यहाँ गिरजा स्थापित हुआ, यहाँपर ५०योगी रहते थे।

सुप्रसिद्ध कन्हेरीकी गुफाएँ ठाँडाँ तथा बोरेवली स्टेशनोंसे पाँच मीलपर स्थित हैं। यह स्थान भी बंबईके पास ही है। ये गुफाएँ भी ९वीं शताब्दीमें बनी हुई मानी जाती हैं। यहाँपर १०९ बौद्ध-गुफाएँ हैं। पर इनमें एक ही गुफा मुख्य है, जो कार्लीके नमूनेपर बनी है। इनमें महायासन-सम्प्रदायकी मूर्तियाँ विद्यमान हैं। इनमें भी सुन्दर चित्रकारी की गयी थी, पर पत्थरकी खराबीसे इनकी बहुत-सी चित्रकारी नष्ट हो गयी है।

ऊपर भारतकी केवल प्रसिद्ध गुफाओंका ही वर्णन किया गया है और वह भी बहुत ही सरसरी तौरपर। 'बराबरकी गुफाओं' की पालिस, अजंताकी गुफाओंकी चित्रकारी तथा इलोराकी गुफाओंकी मूर्तिकारी एक बार देखनेपर कभी भी हृदय-पटलसे विस्मृत नहीं हो सकतीं। जिस समय हमलोग इलोराकी दशावतार नामक ब्राह्मण-गुफा देख रहे थे और उसमें बनी विशाल मूर्तियोंका अवलोकन कर रहे थे, तब हमलोगोंने

देखा कि एक अमेरिकन बुढ़िया खड़ी रो रही थी। पूछनेपर मालूम हुआ कि वह इस कारण रो रही है कि ऐसी मूर्तिकारी उसने जीवनभरमें कहीं नहीं देखी। उसके रोनेका एक और कारण था और वह यह था कि इतने बड़े-बड़े राजा, जिन्होंने ऐसे गुफा-मन्दिर बनवाये थे, वे सब-के-सब नष्ट हो गये और उनकी बनायी हुई गुफाओंमें लोग जूता पहनकर घूमने लगे। आशा है कि पाठकगण उपर्युक्त विवरणसे इन वस्तुओंको देखनेकी अभिलाषा करेंगे और कालकी गतिका अनुभव करेंगे।*

हिंदुओंके प्रिय जलतीर्थ

(लेखक—श्रीवैकुण्ठनाथजी मेहरोत्रा एम०ए०, एल०एल० बी०, एल०एस०जी०डी०)

एक महात्मासे किसीने पूछा कि हिंदू-जातिका कोई एक गुण ऐसा बतलाइये, जो अन्य जातियोंसे भिन्न हो। महात्माने उत्तर दिया—'जलप्रियता।' यथार्थमें हिंदुओंके प्रत्येक उत्सवपर निकटस्थ नदी, तड़ागादिमें स्नान करनेकी प्रथा प्रचलित है। यही कारण है कि हमारे अधिकांश तीर्थ विशिष्ट नदियों अथवा सरोवरोंके रूपमें तथा उन्हींसे सम्बद्ध हैं। इन नदियोंके विषयमें ऐसी धारणा की जाती है और यह धारणा वैज्ञानिक आधारपर स्थित है कि विशेष नदियोंका जल विशेष गुण और प्रभाव रखता है। सब जल एक-से नहीं होते। सब नदियोंका जल भी एक-सा नहीं होता अर्थात् किसी नदीके जलमें कृमि जल्दी पड़ते हैं, किसीमें देरसे पड़ते हैं और किसीमें पड़ते ही नहीं। हिमालयका पश्चिमी प्रदेश, जहाँ मानस-सरोवर स्थित है, किसी समय प्लक्षप्रस्रवण प्रदेशके नामसे विदित था। कहा जाता है कि इस प्रदेशमें कल्पवृक्ष था और देवतालोग रहते थे। उस समय राजपूताना, पंजाब इत्यादि जलमें डूबे हुए थे। काश्मीर भी अपनी झीलमें डूबा हुआ था। संयुक्तप्रान्त, बिहार, बंगाल इत्यादि भी जलमग्न थे। हिमालयके उत्तरमें भी जल-ही-जल था। कालान्तरमें पृथ्वीकी उथल-पुथलसे उत्तरी भारतके प्रदेश जलसे बाहर निकले। उस समय उत्तरी भारतकी नादियोंका प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें हमारी गंगाजी मुख्य हैं। ये सब नदियाँ एक प्रकारसे मानससरोवरसे ही निकली हैं। सिन्धु तथा पंजाबकी अन्य नदियाँ, जिनमें प्राचीन सरस्वती भी सम्मिलित थीं, और ब्रह्मपुत्र तो प्रत्यक्ष ही मानस-सरोवरसे सम्बन्ध रखती हैं। शारदा, गंगा तथा यमुना भी अन्तःसलिला होकर उसी मानस-सरोवरसे निकली हैं। गंगाजीको इस प्रदेशमें लानेका श्रेय महाराज भगीरथको प्राप्त हुआ। अवश्य ही इतने ऊपर हिमालयसे नीचे जलके आनेमें विकट प्रयत्न करना पड़ा होगा और अवश्य ही भगवान् शंकरकी अनुकम्पाके बिना उनकी जटाओं अथवा हिमालयकी विकट घाटियोंसे भगवती भागीरथीका निर्यात न हुआ होगा। यही घटना गंगावतरणके नामसे विख्यात है। कदाचित् भगवती भागीरथी ऐसी शिलाओंपरसे बहती हैं कि उनके विकृत जलमें भी कभी कृमि नहीं पड़ते। गंगामें स्नान करनेवालोंका वर्ण भस्मावलेपित भगवान् शंकरके शरीर-सा गौर हो जाता है। यमुनामें स्नान करनेवालोंका वर्ण किंचित् श्याम होता है। गोमतीमें, जो एक बहुत ही प्राचीन नदी है, स्नान करनेवालोंका वर्ण विशेष श्याम तथा पुष्ट होता है। नर्मदाके जलमें स्नान करनेवाले लोगोंका वर्ण गंगामें स्नान करनेवालोंसे किंचित् ही न्यून होता है। पाठकोंने विविध प्रकारकी रेणुकाएँ (बालू) देखी होंगी। किसी बालूमें सुवर्ण-कण होते हैं, किसीमें रजत-कण, किसीमें ताम्र-कण तथा किसीमें लौह-कण। विविध वस्तुओंकी बालूकी तौल भिन्न-भिन्न होती है। बुन्देलखण्डकी केन नदीमें ऐसे पत्थर मिलते हैं, जिनके ऊपर मूर्ति अंकित हो गयी होती है। गण्डकीमें शालग्राम मिलते हैं अर्थात् यह नदी ऐसे स्तरोंसे होकर बहती है, जहाँ अधिक सुवर्ण हैं; क्योंकि शालग्रामकी हिरण्यगर्भ मूर्तिमें सुवर्ण ही होता है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक नदीके जलचर भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं। इसका अर्थ यह है कि जलमें, विशिष्ट चट्टानोंपर बहनेसे, वात, पित्त तथा कफकी प्रकृति आ जाती है और उसीके अनुसार जीव-जन्तु उस जलमें उत्पन्न होते हैं। कई वर्ष हुए मेरे पिताजी हमीरपुरमें डिप्टी कलेक्टर थे। हमीरपुरमें डेढ़ ही मीलके अंदर दो नदियाँ यमुना तथा बेतवा दो तरफ

* इस लेखसे सम्पर्क रखनेवाले जो चित्र दिये जाते हैं, वे रेलवे बोर्डके सौजन्यसे प्राप्त हुए हैं। उसके लिये लेखक बोर्डका आभारी है।

पड़ती हैं। उनमें यमुनाका जल वायुकारक तथा गरिष्ठ होता है और बेतवाका वात-व्याधिरहित और पाचक। बेतवामें धुले हुए वस्त्र भी विशेष साफ होते थे। अस्तु, मेरा तात्पर्य यह है कि इस जलप्रियताके अंदर हमारे महर्षियोंके विशाल अनुभव तथा ज्ञानकी नींव है।

इसके अतिरिक्त पूजामें भी प्रायः हर अवसरपर आचमन, मार्जन, स्नान इत्यादिके लिये जलकी आवश्यकता होती है। पितृ-तर्पणमें भी जलका होना परमावश्यक है।

अब मैं भारतकी कुछ प्रसद्धि नदियोंसे सम्बद्ध तीर्थोंका वर्णन करूँगा। भगवती भागीरथी लक्ष्मणझूलेके पास समतल पृथ्वीपर आती हैं। इसके बाद ही ऋषिकेश तथा हरिद्वार इसके तटपर पड़ते हैं। इन स्थानोंमें गंगाके जलमें पत्थरके छोटे-छोटे कण बहुत रहते हैं और उनके कारण जलको सद्यः न पीकर थोड़ी देर रखकर पीना चाहिये। आजकल खाने-पीनेकी व्यवस्था सर्वत्र बिगड़ गयी है। और हरिद्वार-ऐसे स्थानोंकी तो बात ही क्या। इस तीर्थमें आजकल पाखण्ड तथा आडम्बर बढ़ जानेपर भी सन्ध्याके समय अनेकानेक स्त्रियों तथा पुरुषोंको गंगाजीकी सच्चे भावसे दीप-पूजा करते मैंने देखा है। हरिद्वार ही गंगा-द्वार है और यहींपर महर्षि वेदव्यासने अपने तपोबलसे महाभारतमें मरे हुए कौरवों तथा अन्य वीरोंका साक्षात्कार उनके कुटुम्बवालोंको कराया था। पास ही कनखलमें दक्ष-यज्ञका स्थान है।

काशी दूसरा परम प्रसिद्ध स्थान है, जो गंगापर बसा हुआ है। गंगाजीका जल फर्रुखाबाद जिलेतक अन्य नदियों तथा दूषित जलोंसे अछूता मिलता है और प्रायः इस स्थानतक पहुँचते-पहुँचते जलमें मिले हुए पाषाण-कण भी नीचे चले जाते हैं, इसी कारण कहा जाता है कि फतेहगढ़ नामक नगरमें लोगोंकी आयु अधिक होती है। इस बातकी पुष्टि सरकारी पुस्तकोंद्वारा भी होती है। सरकारी पुस्तकोंमें यही बात चुनारके विषयमें भी लिखी है। काशीका मुख्य भाग अथवा प्राचीन नगर कंकड़की एक लंबी पहाड़ीपर बसा है। यह पहाड़ी तीन अथवा चार मील लंबी है। यही कारण है कि गंगा काशीके नीचे सदा ही बहती हैं। महात्माओंका कहना है कि उस कंकड़की पहाड़ीमें पुराने घरोंकी नींवके नीचे टाँकोंमें अनेक महायोगियोंके जीवित समाधि लिये हुए शरीरोंके अवशेष विद्यमान हैं। काशीके प्रायः पाँच मील लंबे घाट अधिकांश मरहठोंके समयमें तीन सौ वर्ष पहले बनने शुरू हुए थे। ओंकारेश्वर, विश्वेश्वर तथा केदारेश्वर नामक तीन खण्डोंमें यह काशी नामक पहाड़ी विभक्त है। काशीमें अब भी अनेक देवस्थान ऐसे हैं कि जहाँ पहुँचते ही मनुष्यकी वृत्ति अनायास ही सात्त्विक हो जाती है। इस स्थानपर भी पाखण्ड, आडम्बर इत्यादिके आ जानेपर भी अबतक देवत्वकी कुछ-कुछ आभा विद्यमान है ही। भावनाके कारण इस तीर्थमें भगवान्ने भक्तोंको विविध रूपोंमें दर्शन दिये हैं। विद्वान् अब भी काशीमें विद्यमान हैं। काशीमें गंगा-स्नान सुलभ तथा निरापद-सा है। यही कारण है कि यहाँ लोग प्रायः दो-तीन बजे रातसे ही गंगा-स्नान प्रारम्भ कर देते हैं। सबसे पहले जो लोग स्नान करते हैं, उनको लोग अच्छी तरह देख और पहचान नहीं पाते। कहते हैं कि देवतालोग इस समय आते हैं। इतना तो निश्चय ही है कि इस समय आनेवाले व्यक्ति देवभावसे विशेषरूपमें परिपूरित होते हैं। काशीमें अनेक तीर्थ—नीलकण्ठेश्वर, मणिकर्णिकेश्वर इत्यादि पृथ्वीतलसे बहुत नीचे बने हैं और इसीसे प्राचीन समयकी काशीका कुछ अनुमान किया जा सकता है। परमहंस रामकृष्णको काशी ज्योतिर्मय दिखलायी दी और यथार्थमें इस प्राचीन नगरकी विभूतियोंका वर्णन करना कोई सरल बात नहीं।

काशीसे पहले प्रयाग नामक तीर्थ भागीरथी तथा यमुनाके संगमपर बसा है। गंगाको नगरकी ओर आनेसे रोकनेके लिये कहते हैं कि सम्राट् अशोकने एक सुदृढ़ बाँध बँधवाया था, जिसे सम्राट् अकबरने फिरसे ठीक करवाया। इस तीर्थमें शान्ति विशेष होनेपर भी काशीवाली बात नहीं मिलती। पर संगम-स्नान यहाँ विशेष महत्त्वकी चीज है। इस संगमपर अनादि कालसे राजाओं तथा अन्य लोगोंने महान् पुण्य-कार्य किये हैं। यहाँपर माघ मासमें अनेकानेक व्यक्ति कल्पवास करते हैं अर्थात् गंगातटपर ही रहते हैं और मास-समाप्तिपर अपनी कुटियाको भी दान कर देते हैं। यद्यपि यहाँ भी पाखण्ड आ गया है, तथापि इस पुण्यक्षेत्रमें विशिष्ट महात्मा गणोंके दर्शन हो ही जाते हैं। और सबसे बड़ी बात तो उन निश्छल नर-नारियोंके भक्ति-भावकी है, जो भारतके कोने-कोनेसे उस पुण्यस्थापर आते हैं। १९३० के कुम्भकी बात है। इस स्थानपर ४० लाख यात्री निवास कर रहे थे। हमलोग भी पिताजीके साथ उस अवसरपर यहाँ

मानसरोवर

[पृष्ठ ७८७
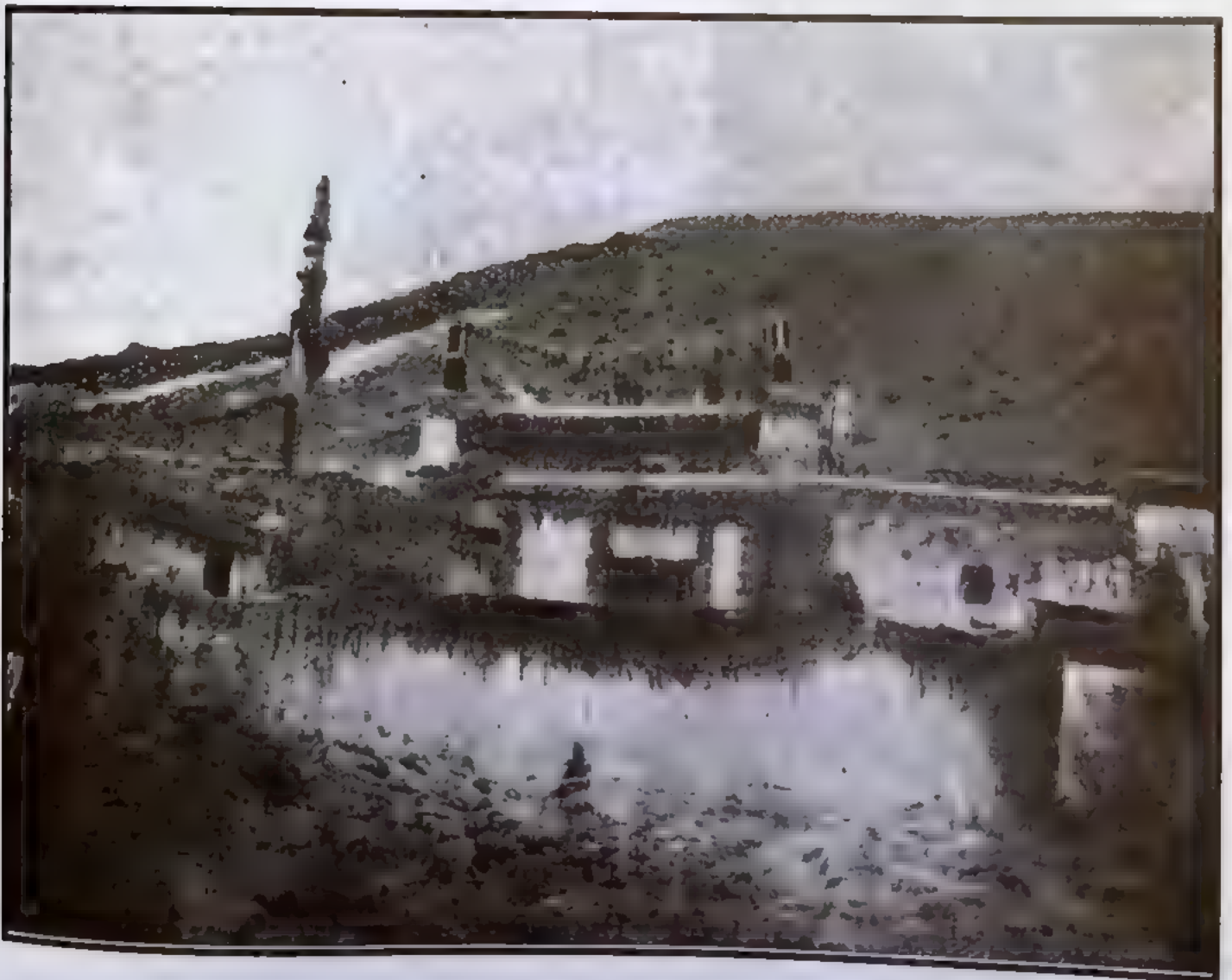
तीर्थपुरी गुफा
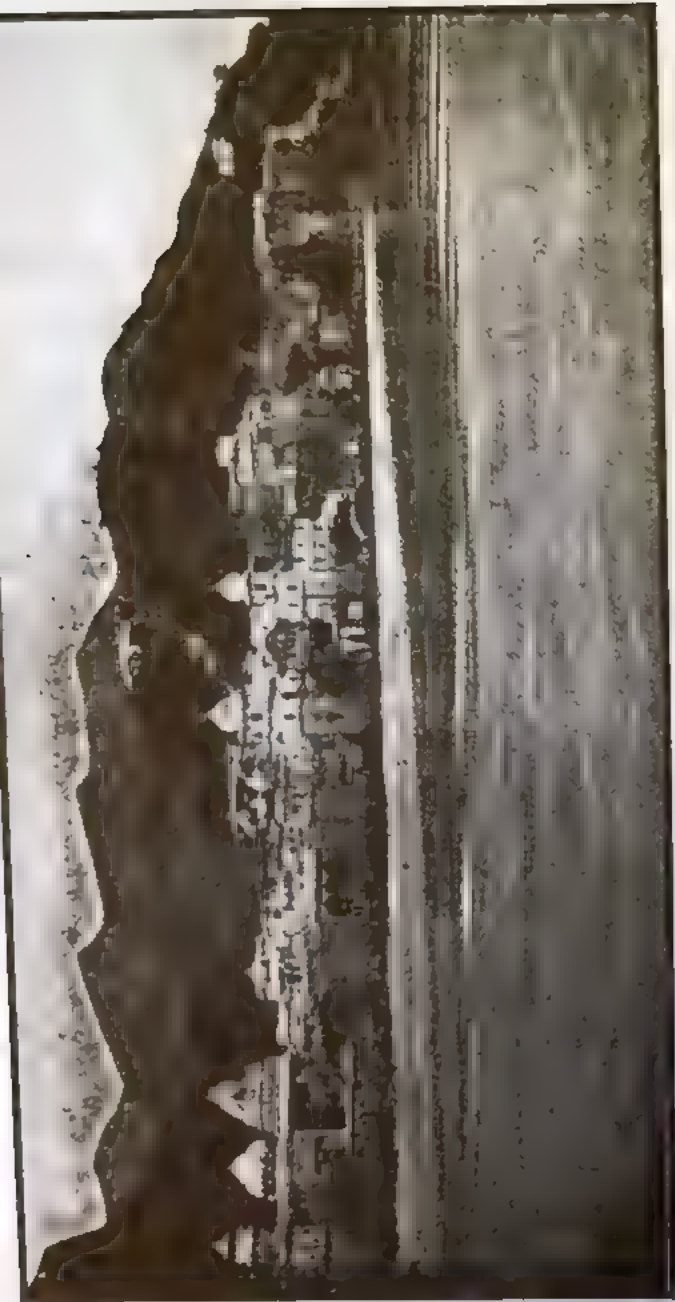
हरिद्वारके घाटोंका विहंगम दृश्य

गीता-भवन, ऋषिकेश

लछमनझूला, ऋषिकेश

[पृष्ठ ७८८

आये थे। हमलोग स्नान करके लौट रहे थे कि हमलोगोंने देखा काठियावाड़ प्रान्तकी अनेक नारियाँ रास्तेके दोनों ओर लगे हुए रस्सोंको तोड़कर सड़कपर आना चाहती थीं। हमलोगोंको इस बातसे कुछ आश्चर्य हुआ; अतः वहीं खड़े होकर हमलोग देखने लगे कि क्या होता है। उस समय नागा लोगोंका अखाड़ा निकल रहा था। उसके निकल जानेपर वे स्त्रियाँ, कड़ी रुकावट होनेपर भी, सड़कपर आ गयीं और उन्होंने उस मार्गकी धूलिको अपने मस्तकसे लगाया तथा थोड़ी-सी रज अपने आँचलमें भी बाँध ली। धन्य है ऐसा निःसीम भक्तिभाव।

यमुना नदीके तटपर मुख्य नगर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र-की लीलाभूमि मथुरा है। इस स्थानपर भी प्रायः विशिष्ट व्यक्तियोंके दर्शन हो जाते हैं। यहाँके घाट काशीके समान सुन्दर तो नहीं, किंतु सदा यात्रियोंसे परिपूरित रहते हैं। व्रजभूमिमें अनेक रमणीय स्थान अब भी विद्यमान हैं और उनमेंसे अनेकोंके विषयमें किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं।

मध्यभारतमें नर्मदा बड़ी ही पुनीत मानी जाती हैं और जहाँतक ज्ञात है, इसमें किसी नगरकी गंदगी नहीं मिली है। कलियुगमें नर्मदाकी तुलना गंगासे की जाती है। अनेक व्यक्ति भिक्षुकका वेश धारण कर इस महानदीकी परिक्रमा करते हैं और अपनी अनन्य भक्तिके अनुसार सिद्धि-लाभ करते हैं। धायवी-कुण्ड नामक स्थानसे नर्मदेश्वर नामक शिवलिंग दूर-दूरतक जाते हैं। नर्मदाजीपर एक प्रसिद्ध तीर्थ ओंकार मान्धाता है। यह स्थान बड़ा ही तेजःपूर्ण है। जब हमलोग इस पुण्यतीर्थमें पहुँचे, तब हमलोगोंने देखा कि श्रीओंकारजीके समीप ही नर्मदाजीका जल धीरे-धीरे ऊपर आ रहा था जब कि नदीका जल लगभग तीस हाथ नीचे था। अवश्य ही यह स्थान सिद्धोंसे परिपूर्ण है और विशेष शान्तियुक्त है।

गोदावरीके तटपर नासिकक्षेत्रमें इस आधुनिक सभ्यताके प्रचारसे वह छटा नहीं आ पाती, जो अन्य बड़े-बड़े तीर्थोंमें मिलती है। इस तीर्थके आसपास बड़े-बड़े सुन्दर तथा रमणीक स्थान हैं। त्र्यम्बकेश्वर एक जाग्रत् स्थान है। और ऐसे ही महत्त्वपूर्ण स्थान पंचवटीके आगे भी हैं।

अजमेरके पास पुष्कर तीर्थमें भी कुछ तीर्थकी विशेष छाया दृष्टिगोचर होती है, यद्यपि वहाँपर और तरहके भाव भी चित्तमें आते हैं। ब्रह्माजीका मन्दिर, कहा जाता है, केवल इसी स्थानपर है।

मैंने बहुत ही थोड़े तीर्थोंका वर्णन बड़े ही संक्षेपमें किया है। आशा है कि भावुक भक्त तत्त्वको ग्रहणकर अन्य बातोंपर विशेष ध्यान न देंगे।

श्रीगंगा और यमुनाका जल

(लेखक—पं० श्रीगंगाशंकरजी मिश्र, एम०ए०)

गंगाजलकी महिमा

गंगाजलकी महिमाका कहना ही क्या है, उसके स्पर्शमात्रसे बड़े-बड़े पाप दूर हो जाते हैं। उसके स्वास्थ्य-सम्बन्धी गुणोंका भी प्राचीन कालसे उल्लेख मिलता है। चरकने, जिनका काल आधुनिक विद्वानोंद्वारा आजसे लगभग दो हजार वर्ष पहले माना जाता है, लिखा है हिमालयसे निकलनेवाले जल पथ्य हैं—**हिमवत्प्रभवाः पथ्याः**। इसमें विशेषरूपसे गंगाजलका ही संकेत है; क्योंकि इस वचनके आगे ही आता है—**पुण्या देवर्षिसेविताः**। वाग्भटकृत 'अष्टाङ्गहृदय' में, जिसका निर्माणकाल ईसवी सन्‌की आठवीं या नवीं शताब्दी माना जाता है, इसको स्पष्ट किया गया है—

हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्यास्ता एव च स्थिराः।

चक्रपाणिदत्तने भी, जो सन् १०६०के लगभग हुए, लिखा है कि हिमालयसे निकलनेके कारण गंगाजल पथ्य है—

यथोक्तलक्षणहिमालयभवत्वादेव गाङ्गं पथ्यम्।

भण्डारकर ओरियंटल इंस्टीट्यूट, पूनामें अठारहवीं शताब्दीका एक हस्तलिखित ग्रन्थ है—'भोजनकुतूहल'; उसमें कहा गया है कि गंगाजल श्वेत, स्वादु, स्वच्छ, अत्यन्त रुचिकर, पथ्य, भोजन पकानेयोग्य, पाचनशक्ति बढ़ानेवाला, सब पापोंको हरनेवाला, प्यासको शान्त तथा मोहको नष्ट करनेवाला, क्षुधा और बुद्धिको बढ़ानेवाला होता है—

शीतं स्वादु स्वच्छमत्यन्तरुच्यं पथ्यं पाक्यं पाचनं पापहारि।
तृष्णामोहध्वंसनं दीपनं च प्रज्ञां धत्ते वारि भागीरथीयम्॥

इस तरह गंगाजलके स्वास्थ्यसम्बन्धी गुणोंपर बराबर अपने यहाँ जोर दिया गया है। इन्हीं गुणोंपर मुग्ध होकर विदेशियों और अहिंदुओंको भी इसे अपनाना पड़ा।

इब्नबतूताने सन् १३२५—५४में अफरीका तथा एशियाके कई देशोंकी यात्रा की थी। वह भारत भी आया था। वह अपने यात्रा-वर्णनमें लिखता है कि सुलतान मुहम्मद तुगलकके लिये गंगाजल बराबर दौलताबाद जाया करता था। इसके वहाँ पहुँचानेमें ४० दिन लग जाते थे। (गिब्स कृत अंग्रेजी अनुवाद पृ० १८३)। मुगलबादशाह अकबरको तो गंगाजलसे बड़ा ही प्रेम था। अबुलफजल अपने 'आईने अकबरी' में लिखता है कि 'बादशाह गंगाजलको 'अमृत समझते हैं और उसका बराबर प्रबन्ध रखनेके लिये उन्होंने योग्य व्यक्तियोंको नियुक्त कर रखा है। वे बहुत पीते नहीं हैं, पर तब भी इस ओर उनका बड़ा ध्यान रहता है। घरमें या यात्रामें वे गंगाजल ही पीते हैं। कुछ विश्वासपात्र लोग गंगातटपर इसीलिये नियुक्त रहते हैं कि वे घड़ोंमें गंगाजल भराकर और उसपर मुहर लगाकर बराबर भेजते रहें। जब बादशाह सलामत राजधानी आगरा या फतेहपुर सीकरीमें रहते हैं, तब गंगाजल सोरोंसे आता है और जब पंजाब जाते हैं, तब हरिद्वारसे। खाना पकानेके लिये वर्षाजल या यमुनाजल, जिसमें थोड़ा गंगाजल मिला दिया जाता है, काममें लाया जाता है।' अकबरके धार्मिक विचार दूसरे प्रकारके थे; इसलिये उन्हें यदि गंगाजलमें श्रद्धा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। पर सबसे मजेकी बात तो यह है कि कट्टर मुसलमान औरंगजेब-का भी काम बिना गंगाजलके न चलता था। फ्रांसीसी यात्री बर्नियर, जो भारतमें सन् १४५९—६७ तक रहा था और जो शाहजादा दाराशिकोहका चिकित्सक था; अपने 'यात्राविवरण' में लिखता है कि 'दिल्ली और आगरामें औरंगजेबके लिये खाने-पीनेकी सामग्रीके साथ गंगाजल भी रहता था। यात्रामें भी इसका प्रबन्ध रहता था। स्वयं बादशाह ही नहीं, दरबारके अन्य लोग भी गंगाजलका व्यवहार करते थे। बर्नियर लिखता है कि ऊँटोंपर लदकर यह बराबर साथ रहता था। प्रतिदिन सबेरे नाश्तेके साथ उसको भी एक सुराही गंगाजल भेजा जाता था। यात्रामें मेवा, फल, मिठाई, गंगाजल, उसको ठंडा करनेके लिये शोरा और पान बराबर रहते थे।

फ्रांसीसी यात्री टैवर्नियरने भी, जो उन्हीं दिनों भारत आया था, लिखा है कि इसके स्वास्थ्यसम्बन्धी गुणोंको देखकर मुसलमान नवाब इसका बराबर व्यवहार करते थे। कप्तान एडवर्ड मूर, जो ब्रिटिश सेनामें था और जिसने टीपू सुलतानके साथ युद्धमें भाग लिया था, लिखता है कि सबन्नर (शाहनवर) के नवाब केवल गंगाजल ही पीते थे। इसको लानेके लिये कई ऊँट तथा 'आबदार' रहते थे (नैरेटिव पृ० २४८)। श्रीगुलामहुसेनने अपने बंगालके इतिहास 'रियाजु-स-सलातीन' में लिखा है कि मधुरता, स्वाद और हलकेपनमें गंगाजलके बराबर कोई दूसरा जल नहीं है, कितने ही दिनोंतक रखे रहनेपर भी यह बिगड़ता नहीं। 'श्रीवेंकटेश्वर ओरियंटल इंस्टीट्यूट, 'तिरुपति' की पत्रिका (अनायास) के खण्ड १ भाग ३ (सितम्बर१९४०) में पूनाके श्रीगोडका 'मुसलमान शासकोंद्वारा गंगाजलके व्यवहार' पर एक अच्छा लेख है। किसी भावसे सही, गंगाजलके व्यवहारसे अहिंदुओंका भी हित ही हुआ होगा।

टैवर्नियरके यात्रा-विवरणसे यह भी पता लगता है कि उन दिनों हिंदुओंमें विवाहके अवसरपर भोजनके पश्चात् अतिथियोंको गंगाजल पिलानेकी चाल थी। इसके लिये बड़ी-बड़ी दूरसे गंगाजल मँगाया जाता था। जो जितना अमीर होता था, उतना ही अधिक गंगाजल पिलाता था। दूरसे गंगाजल मँगानेमें खर्च भी बहुत पड़ता था। टैवर्नियरका कहना है कि शादियोंमें कभी-कभी इसपर दो-तीन हजार रुपयेतक खर्च हो जाते थे। पेशवाओंके लिये बहँगियों (कावड़ी) में रखकर गंगाजल पूना जाया करता था। मराठी पुस्तक 'पेशवाईच्या सावलींत' (पूना १९३७) से पता लगता है कि काशीसे पूना ले जानेके लिये एक बँहगी गंगाजलका खर्च २० रुपया और पूनासे श्रीरामेश्वरम् ले जानेके लिये ४० रुपया पड़ता था, जो बहुत नहीं कहा जा सकता। गढ़मुक्तेश्वर तथा हरिद्वारसे भी पेशवाओंके लिये गंगोदक जाता था। श्रीबाजीराव पेशवाको बतलाया गया था, गंगाजलके सेवनसे ऋण-मुक्त हो जायँगे—'श्रीतीर्थसेवन करून महाराज चिकर्त-परिहार व्हावा।' मरते समय गंगोदक देनेकी चाल तो सुदूर दक्षिणमें भी थी। विजयनगरके राजा कृष्णरायको, जब वे सन् १५२५में मृतप्राय थे, गंगोदक दिया गया और वे अच्छे हो गये

(विजयनगर, थर्ड डायनिस्टी १९३५)ने भूटानयुद्धका अन्त होनेपर तिब्बतके तूशीलामाने वारेन हेस्टिंग्जके पास एक दूत भेजकर गंगातटपर कुछ भूमि माँगी और वहाँपर एक मठ तथा मन्दिर बनवाया; क्योंकि 'गंगा हिंदुओंके लिये ही नहीं, बौद्धोंके लिये भी पुनीत है।' यह मठ और भूमि जो 'भोटबागानके नामसे प्रसिद्ध है, तूशीलामाने श्रीपूर्णगिरिको दान की।

यदि कोई गंगाका इतिहास लिखे, जैसा कि श्रीलुडविगने नील नदीका लिखा है, तो कितना रोचक हो?

गंगा-यमुनाके गुण

ऊपर यह दिखलाया गया है कि स्वास्थ्यकी दृष्टिसे पहले अहिंदू भी गंगाजलको कितना अधिक व्यवहारमें लाया करते थे। इधर श्रीगंगा तथा यमुना दोनोंके जलोंके स्वास्थ्य-सम्बन्धी गुणोंका कुछ और पता लगा है। विज्ञानाचार्य श्रीहैनबरी हैंकिन किसी समय युक्तप्रान्त तथा मध्यप्रान्तकी सरकारोंके 'रसायन-परीक्षक' (केमिकल एकजामिनर) थे। अपने 'पासचर इंस्टीट्यूट' की फ्रांसीसी पत्रिकामें सन् १८९६में एक लेख लिखा था। उसका अंग्रेजी अनुवाद राँचीसे निकलनेवाले 'मैन इन इंडिया' नामक त्रैमासिक पत्र, जिल्द १८, अंक २-३ (अप्रैल-सितम्बर, १९३८) में प्रकाशित हुआ था। उस लेखका सार यहाँ दिया जा रहा है। श्रीहैंकिनसाहब लिखते हैं कि 'श्रीगंगा तथा यमुनाको हिंदू जैसा पवित्र समझते हैं, वह सभीको ज्ञात है। विदेशियोंको और बहुत-से अंग्रेजी-शिक्षाप्राप्त हिंदुओंको उनकी यह श्रद्धा अविवेकपूर्ण जँचती है। जब किसी बड़े नगरके समीप इनके गंदे और मटीले जलोंमें हजारों लोगोंको नहाते और पशुओं तथा कपड़ोंको धोते हुए कोई देखता है, जब वह यह याद करता है कि प्रायः अधजली लाशें इसमें फेंक दी जाती हैं, तब उसके लिये यह सोचना स्वाभाविक ही है कि इन नदियोंका जल पीना कितना खतरनाक है और हिंदुओंमें इनके प्रति जो श्रद्धा-भक्ति है, वह उनके शुद्धतासम्बन्धी नियमोंके अज्ञानका प्रमाण है।' हैजाके अधिक प्रकोपका अभीतक यूरोपीय विद्वान् यह एक कारण मानते रहे हैं। उनकी रायमें यह रोग गंगाद्वारा फैलाया जाता है, क्योंकि उसका जल इसके कीटाणुओंका घर है। परंतु हालकी वैज्ञानिक खोजने यह प्रत्यक्ष कर दिया है कि गंगा तथा यमुनाका जल अन्य नदियोंके जलसे कहीं अधिक शुद्ध है।

अणुवीक्षणयन्त्र (माइक्रॉसकोप) द्वारा साधारण परीक्षासे ही स्पष्ट हो जाता है कि इन नदियों तथा यूरोपीय नदियोंके जलोंमें कितना अन्तर है। यूरोपीय नदियोंके जलोंमें कितनी ही सड़ी तथा हरी घासें मिलती हैं, मृत तथा जीवित जन्तुओंकी संख्या भी कम नहीं दिखायी देतीं। परंतु गंगा तथा यमुनाके जलोंमें ऐसी वस्तुएँ बहुत कम पायी जाती हैं; जो दिखायी भी देती हैं, वे प्रायः घाटीके पास या बड़े शहरोंसे आगे बढ़कर। बालू या अभ्र (माइका)के कणोंसे प्रायः इनके जलोंमें मैलापन दिखायी देता है। सन् १८९४में जो 'इंडियन मेडिकल कांगेस' हुई थी, उसमें पढ़े गये 'आन दि माइक्रोव्स ऑफ इंडियन रिवर्स' (भारतीय नदियोंके कीटाणु) शीर्षक लेखमें यह दिखलाया गया है कि गंगा-यमुनाके जलोंमें जलमें उगनेवाले घास-फूस और जन्तु बहुत कम पाये जाते हैं और सूक्ष्म परीक्षा करनेसे कीटाणुओंसे इनका जल शुद्ध होनेके कई कारण जान पड़ते हैं। यूरोपकी तरह इन नदियोंमें गंदे पानीके बड़े-बड़े नल नहीं गिरते। बड़े-बड़े शहरोंमें अब अवश्य ऐसे कुछ नल बन गये हैं, परंतु तब भी उनकी संख्या अभी कम है। इसी तरह यूरोपकी अपेक्षा इनके तटोंपर अधिक कल-कारखाने नहीं हैं, जिनका रासायनिक पदार्थोंसे मिला हुआ जल इनके जलोंको गंदा करता हो। इनके जलोंकी रक्षाका एक और कारण है। इनके प्रायः दोनों तटोंके इधर-उधर मील या दो मील ऊसर जमीन पड़ी रहती है, जिनमें बड़े-बड़े कगारे होनेके कारण आबादी बहुत कम रहती है। आगरासे बारह मील नीचेतक केवल दो गाँव यमुनाके तटपर हैं। ऊपरकी तरफ २६ मीलकी दूरीमें केवल तीन गाँव हैं। इनमेंसे प्रत्येककी आबादी ५००से अधिक नहीं है। इन नदियोंको शहरोंसे जो गंदगी प्राप्त होती है, वह इन सब ऊसरोंमें जज्ब हो जाती है। ये दोनों नदियाँ बालूकी तलहटियोंमें बहती हैं। सालमें कई महीने कड़ी धूप और खुली हवासे भी इनका जल शुद्ध होता रहता है। यूरोपकी नदियोंका जल वर्षाके जलसे आता है, परंतु इन नदियोंको हिमालयसे जल निरन्तर मिलता रहता है, जो स्वभावतः शुद्ध होता है।

गर्मीके दिनोंमें आगरासे ५मील ऊपर यमुना-जलके एक घन सेंटीमीटरमें ७५-७६ कीटाणु देखे गये हैं। आगरासे कुछ ही ऊपर इनकी संख्या ७००—७५० मिली और नगरके नीचे यह संख्या बढ़कर २५,००० तक

पहुँच गयी। परंतु वहाँसे १२॥ मीलकी दूरीपर यह संख्या घटकर १३०से ८० तक रह गयी। इससे स्पष्ट है कि जलमें स्वतः शुद्ध करनेकी शक्ति है। हैजेके सम्बन्धमें प्रायः कहा जाता है कि यह बंगालसे ऊपरकी तरफ चलता है, नीचेकी ओर कभी नहीं गया। यदि हैजा पानीके बहावके साथ फैलता है, तो फिर यह कैसे सम्भव है? इन नदियोंके तटपर जब किसी मेलेमें हैजा फैलता है, तब वह नीचेकी ओरके गाँवोंमें क्यों नहीं पहुँचता? उत्तरमें यह नहीं कहा जा सकता कि इसके कीटाणु जलतक नहीं पहुँचते। यह ठीक है कि प्रायः हिंदू इन नदियोंके बिलकुल तटपर मल-त्याग नहीं करते; परंतु कपड़ा धोने और नहानेसे जलमें कीटाणुओंका प्रवेश हो ही जाता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि हैजेके रोगियोंके शव इन नदियोंमें फेंके जाते हैं। कहीं तो लाशें अधजली होती हैं और कहीं वैसे ही फेंक दी जाती हैं। इस दृष्टिसे इन दोनों नदियोंके जलोंकी रासायनिक परीक्षा की गयी, जिससे पता लगा कि इनके जलमें कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जिनमें हैजेके कीटाणुओंको नष्ट कर देनेकी शक्ति है। पहली परीक्षामें जल आध घंटेतक गरम किया गया। फिर गंगा, यमुना तथा आगरेके नलके पानीको बराबर मात्रामें लेकर नलियोंमें भरा गया और उनमें कीटाणु छोड़े गये। परिणाम इस प्रकार हुआ—यमुना-जलमें १२,५०० कीटाणु ४८ घंटेमें ५००० ही रह गये, नलके पानीमें १४,००० कीटाणु उतने ही कालमें १५,००० हो गये और गंगाजलमें १०,०००के ११,००० हो गये। इसके बाद गंगाजल तथा कुआँजलको बिना गरम किये हुए, केवल अच्छी तरह छान (फिल्टर) कर परीक्षा की गयी, तो फल इस प्रकार हुआ—गंगाजलमें ५,५०० कीटाणु तीन घंटेमें ही साफ हो गये और कुआँजलमें ८,५००के ४९घंटेमें १५,००० हो गये। इससे यह सिद्ध हुआ कि गंगाजलको गरम करनेसे उसमें कीटाणुओंको नष्ट करनेकी शक्ति जाती रहती है। इसीलिये गंगाजलको गरम करना दोष माना जाता है। यमुनाजलमें भी यह बात पायी गयी; दो ही घंटोंमें ४,२०० कीटाणु सब-के-सब नष्ट हो गये। परीक्षा करनेपर यह भी पता लगा कि यदि जलको नलियोंमें भरकर बिलकुल बंद करके गरम किया जाता है तो फिर जलकी कृमिनाशक शक्ति नष्ट नहीं होती। इन जलोंकी, वर्षा छोड़कर प्रायः सभी ऋतुओंमें, परीक्षा की गयी और उनमें यही बात पायी गयी। गर्मीके दिनोंमें यमुनाका जल प्रायः दिल्लीके पास नहरमें जमा हो जाता है। उसका फाटक भी बंद कर दिया गया; तब भी देखा गया कि उस जलकी कृमिनाशक शक्ति सर्वथा नष्ट नहीं हुई। इससे यह पता लगता है कि हिमालयसे बर्फ गलनेपर जलमें जो शक्ति होती है, वह बादमें भी बहुत कुछ बनी रहती है, नदीके बहावमें वह बराबर बढ़ती जाती है। गंगाजलमें भी यही बात देखी गयी है। आगरेसे ऊपर और नीचेके जल तथा ऐसे जलकी भी जिसमें मुर्दे फेंके जाते हैं, परीक्षा की गयी। इससे देखा गया कि यमुना-जलमें आगराके ऊपर १,२०० कीटाणु घंटेभरमें २०० ही रह गये और दो घंटेमें बिलकुल नष्ट हो गये। नीचेकी ओर १,५००कीटाणु घंटेभरमें खतम हो गये। एक फेंके हुए मुर्देके पास पानीमें १,५००कीटाणु घंटेभरमें ५० रह गये और दूसरे घंटेमें एकदम नष्ट हो गये। परंतु कूपजल गरम करनेपर देखा गया कि १,२०० कीटाणु बढ़ते-बढ़ते २१ घंटेमें ३,००० और ४५ घंटेमें १६,०००तक बढ़ गये। इस परीक्षासे यह भी स्पष्ट होता है कि गंदगीसे भी इन जलोंकी कृमिनाशक-शक्ति सर्वथा नष्ट नहीं होती। इन जलोंके गुणोंको देखकर यह उचित जान पड़ता है कि मेलोंके अवसरपर हैजा रोकनेके लिये यह आज्ञा निकाल देनी चाहिये कि कुओंका जल बिलकुल बंद करके केवल इन नदियोंका ही जल पिया जाय।

आस्तिक हिंदुओंका तो विश्वास है कि श्रीगंगा-यमुनाका जल मन तथा शरीर दोनोंके मलका हरण करता है। पर यह बात नवशिक्षितोंकी ही समझमें नहीं आती। उन्हें तो स्वास्थ्यके लिये विदेशी 'मिनरल् वाटर' चाहिये। क्या ही अच्छा होता यदि भारतीय वैज्ञानिक भी इस ओर ध्यान देते।

हिंदू-धर्म सर्वश्रेष्ठ है

मैंने यूरोप और एशियाके सभी धर्मोंका अध्ययन किया है, परंतु मुझे उन सबमें हिंदू-धर्म ही सर्वश्रेष्ठ दिखायी देता है×××××मेरा विश्वास है कि इसके सामने एक दिन समस्त जगत्‌को सिर झुकाना पड़ेगा।

—रोम्या रोलां

हमारे पथ-प्रदर्शक

जब अकबरकी गहन अँधेरी हमको ग्रसने आयी।
उसकी कूटनीतिमें फँसकर भाई रहा न भाई॥
किसको अपना कहें, न अपना देता कहीं दिखाई।
तब भी जिसने निडर अकेले अपनी असि चमकाई॥
वह वीरोंका वीर, व्रती, राणा सिरमौर हमारा हो।
धर्मानलमें शलभ-सदृश जलना ही हमको प्यारा हो॥ १॥

गुरू तेगकी टेक, गुरू गोविन्दसिंहका पानी।
बच्चोंको जीवित चुनवा देनेकी करुण कहानी॥
आज याद आया है हमको वह बन्दा बैरागी।
देश-जातिके लिये प्राणकी ममता जिसने त्यागी॥
गर्म चीमटोंसे जब उसका मांस गया नुचवाया था।
तब भी धर्म-विमुख हो करके जीना जिसे न भाया था॥ २॥

जिसने बाजी तानाजी-से अगणित वीर बनाये।
मुट्ठी भर युवकोंसे जिसने दुर्गम दुर्ग जिताये॥
जिसके गौरवगीत अमर-कवि भूषणने हैं गाये।
जिससे सदा पराजित होकर मुगल-तुर्क थर्राये॥
दिल्लीमें भी दिल्लीपतिको जिसने सिर न झुकाया था।
स्वतन्त्रताका मूल्य चुकाना उसने हमें बताया था॥ ३॥

जिसके हित सदियोंसे सीखा हमने रक्त बहाना।
पहना बार-बार जिसके हित प्रिय केसरिया बाना॥
स्वतन्त्रताकी देवि! वही आयी हमने पहचाना।
दुनियावालो! समझ-बूझ अब उसपर आँख उठाना॥
उसकी पूजाके हित हमने जीवन-थाल सँवारा है।
इन वीरोंकी अमर ज्योतिसे ज्योतित मार्ग हमारा है॥ ४॥

—शिवदुलारे मिश्र, बी० ए०

चौंसठ कलाएँ

(लेखक—पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी)

प्राचीन कालमें भारतीय शिक्षा-क्रमका क्षेत्र बहुत व्यापक था। शिक्षामें कलाओंकी शिक्षा भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। कलाओंके सम्बन्धमें रामायण, महाभारत, पुराण, काव्य आदि ग्रन्थोंमें जाननेयोग्य सामग्री भरी पड़ी है; परंतु इनका थोड़ेमें, पर सुन्दर ढंगसे विवरण शुक्राचार्यके 'नीतिसार' नामक ग्रन्थके चौथे अध्यायके तीसरे प्रकरणमें मिलता है। उनके कथनानुसार कलाएँ अनन्त हैं, उन सबके नाम भी नहीं गिनाये जा सकते; परंतु उनमें ६४ कलाएँ मुख्य हैं। कलाका लक्षण बतलाते हुए आचार्य लिखते हैं कि जिसको एक मूक (गूँगा) व्यक्ति भी, जो वर्णोच्चारण भी नहीं कर सकता, कर सके, वह 'कला' है—

शक्तो मूकोऽपि यत् कर्तुं कलासंज्ञं तु तत् स्मृतम्।

केलदि श्रीबसवराजेन्द्रविरचित 'शिवतत्त्वरत्नाकर' में मुख्य-मुख्य ६४ कलाओंका नामनिर्देश इस प्रकार किया है—

१ इतिहास, २ आगम, ३ काव्य, ४ अलंकार, ५ नाटक, ६ गायकत्व, ७ कवित्व, ८ कामशास्त्र, ९ दुरोदर (द्यूत), १० देशभाषालिपिज्ञान, ११ लिपिकर्म, १२ वाचन, १३ गणक, १४ व्यवहार, १५ स्वरशास्त्र, १६ शाकुन, १७ सामुद्रिक, १८ रत्नशास्त्र, १९ गज-अश्व-रथकौशल, २० मल्लशास्त्र, २१ सूपकर्म (रसोइ पकाना), २२ भूरुहदोहद (बागवानी), २३ गन्धवाद, २४ धातुवाद, २५ रससम्बन्धी खनिवाद, २६ बिलवाद, २७ अग्निसंस्तम्भ, २८ जलसंस्तम्भ, २९ वाचःस्तम्भन, ३० वयःस्तम्भन, ३१ वशीकरण, ३२ आकर्षण, ३३ मोहन, ३४ विद्वेषण, ३५ उच्चाटन, ३६ मारण, ३७ कालवंचन, ३८ परकायप्रवेश, ३९ पादुकासिद्धि, ४० वाक्सिद्धि, ४१ गुटिकासिद्धि, ४२ ऐन्द्रजालिक, ४३ अंजन, ४४ परदृष्टिवंचन, ४५ स्वरवंचन, ४६ मणि-मन्त्र-औषधादिकी सिद्धि, ४७ चोरकर्म, ४८ चित्रक्रिया, ४९ लोहक्रिया, ५० अश्मक्रिया, ५१ मृत्क्रिया, ५२ दारुक्रिया, ५३ वेणुक्रिया, ५४ चर्मक्रिया, ५५ अम्बरक्रिया, ५६ अदृश्यकरण, ५७ दन्तिकरण, ५८ मृगयाविधि, ५९ वाणिज्य, ६० पाशुपाल्य, ६१ कृषि, ६२ आसवकर्म और ६३ लावकुक्कुट-मेषादियुद्धकारक कौशल तथा ६४ शुक-सारिका-प्रलापन।

वात्स्यायनप्रणीत 'कामसूत्र' के टीकाकार जयमंगलने दो प्रकारकी कलाओंका उल्लेख किया है—पहली 'कामशास्त्रांगभूता' और दूसरी 'तन्त्रावापौपयिकी'। इन दोनोंमेंसे प्रत्येकमें ६४ कलाएँ हैं। इनमें कई कलाएँ समान ही हैं और बाकी पृथक्। पहले प्रकारमें २४ कर्माश्रया, २० द्यूताश्रया, १६ शयनोपचारिका और ४ उत्तर कलाएँ,—इस तरह ६४ मूल कलाएँ हैं; इनकी भी अवान्तर और कलाएँ हैं जो सब मिलकर ५१८ होती हैं।

कर्माश्रया २४ कलाओंके नाम इस प्रकार हैं—१ गीत, २ नृत्य, ३ वाद्य, ४ कौशल-लिपिज्ञान, ५ उदारवचन, ६ चित्रविधि, ७ पुस्तकर्म, ८ पत्रच्छेद्य, ९ माल्यविधि, १० गन्धयुत्त्यास्वाद्यविधान, ११ रत्नपरीक्षा, १२ सीवन, १३ रंगपरिज्ञान, १४ उपकरणक्रिया, १५ मानविधि, १६ आजीवज्ञान, १७ तिर्यग्योनिचिकित्सित, १८ मायाकृतपाषण्डपरिज्ञान, १९ क्रीड़ाकौशल, २० लोकज्ञान, २१ वैचक्षण्य, २२ संवाहन, २३ शरीरसंस्कार और २४ विशेष कौशल।

द्यूताश्रया २० कलाओंमें १५ निर्जीव और ५ सजीव हैं। निर्जीव कलाएँ ये हैं—१आयुःप्राप्ति, २ अक्षविधान, ३ रूपसंख्या, ४ क्रियामार्गण, ५ बीजग्रहण, ६ नयज्ञान, ७ करणादान, ८ चित्राचित्रविधि, ९ गूढ़राशि, १० तुल्याभिहार, ११ क्षिप्रग्रहण, १२ अनुप्राप्तिलेखस्मृति, १३ अग्निक्रम, १४ छलव्यामोहन और १५ ग्रहदान। सजीव ५ कलाएँ ये हैं—१ उपस्थानविधि, २ युद्ध, ३ रुत, ४ गत और ५ नृत्त।

शयनोपचारिका १६ कलाएँ ये हैं—१ पुरुषका भावग्रहण, २ स्वरागप्रकाशन, ३ प्रत्यंगदान, ४ नख-दन्तविचार, ५ नीवीस्रंसन, ६ गुह्यांगका संस्पर्शनानुलोम्य, ७ परमार्थकौशल ८ हर्षण, ९ समानार्थताकृतार्थता, १० अनुप्रोत्साहन, ११ मृदुक्रोधप्रवर्तन, १२ सम्यक्क्रोधनिवर्तन, १३ क्रुद्धप्रसादन, १४ सुप्तपरित्याग, १५ चरमस्वापविधि और १६ गुह्यगूहन।

४ उत्तरकलाएँ ये हैं—१साश्रुपात रमणको शापदान, २ स्वशपथक्रिया, ३ प्रस्थितानुगमन और ४ पुनःपुनर्निरीक्षण। इस प्रकार दूसरे प्रकारकी भी सर्वसाधारणके लिये उपयोगिनी ६४ कलाएँ हैं।

श्रीमद्भागवतके टीकाकार श्रीधरस्वामीने भी 'भागवत' के दशम स्कन्धके ४५ वें अध्यायके ६४ वें श्लोककी टीकामें प्रायः दूसरे प्रकारकी कलाओंका नामनिर्देश किया है; किंतु शुक्राचार्यने अपने 'नीतिसार' में जिन कलाओंका विवरण दिया है, उनमें कुछ तो उपर्युक्त कलाओंसे मिलती हैं, पर बाकी सभी भिन्न हैं। यहाँपर जयमंगल-टीकोक्त दूसरे प्रकारकी कलाओंका केवल नाम ही पाठकोंकी जानकारीके लिये देकर उसके बाद 'शुक्रनीतिसार' के क्रमानुसार कलाओंका दिग्दर्शन कराया जायगा। जयमंगलके मतानुसार ६४ कलाएँ ये हैं—१ गीत, २ वाद्य, ३ नृत्य, ४ आलेख्य, ५ विशेषकच्छेद्य (मस्तकपर तिलक लगानेके लिये कागज, पत्ती आदि काटकर आकार या साँचे बनाना), ६ तण्डुल-कुसुमबलिविकार (देव-पूजनादिके अवसरपर तरह-तरहके रँगे हुए चावल, जौ आदि वस्तुओं तथा रंग-बिरंगे फूलोंको विविध प्रकारसे सजाना), ७ पुष्पास्तरण, ८ दशनवसनांगराग(दाँत, वस्त्र तथा शरीरके अवयवोंको रँगना), ९ मणिभूमिका-कर्म (घरके फर्शके कुछ भागोंको मोती, मणि आदि रत्नोंसे जड़ना), १० शयनरचन (पलंग लगाना), ११ उदकवाद्य (जलतरंग), १२ उदकाघात, (दूसरोंपर हाथों या पिचकारीसे जलकी चोट मारना), १३ चित्राश्च योगाः (जड़ी-बूटियोंके योगसे विविध वस्तुएँ तैयार करना या ऐसी औषधें तैयार करना अथवा ऐसे मन्त्रोंका प्रयोग करना जिनसे शत्रु निर्बल हो या उसकी हानि हो), १४ माल्यग्रथनविकल्प (माला गूँथना), १५ शेखरकापीड़योजन (स्त्रियोंकी चोटीपर पहननेके विविध अलंकारोंके रूपमें पुष्पोंको गूँथना), १६ नेपथ्यप्रयोग (शरीरको वस्त्र, आभूषण, पुष्प आदिसे सुसज्जित करना), १७ कर्णपत्रभंग (शंख, हाथीदाँत आदिके अनेक तरहके कानके आभूषण बनाना), १८ गन्धयुक्ति (सुगन्धित धूप बनाना), १९ भूषणयोजन, २० ऐन्द्रजाल (जादूके खेल), २१ कौचुमारयोग (बल-वीर्य बढ़ानेवाली ओषधियाँ बनाना), २२ हस्तलाघव (हाथोंकी काम करनेमें फुर्ती और सफाई), २३ विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकार-क्रिया (तरह-तरहके शाक, कढ़ी, रस, मिठाई आदि बनानेकी क्रिया), २४ पानकरस-रागासव-योजन (विविध प्रकारके शर्बत, आसव आदि बनाना), २५ सूचीवान कर्म (सुईका काम, जैसे सीना, रफू करना, कसीदा काढ़ना, मोजे-गंजी बुनना), २६ सूत्रक्रीड़ा (तागे या डोरियोंसे खेलना, जैसे कठपुतलीका खेल), २७ वीणाडमरुकवाद्य, २८ प्रहेलिका (पहेलियाँ बूझना), २९ प्रतिमाला (श्लोक आदि कविता पढ़नेकी मनोरंजक रीति), ३० दुर्वाचकयोग (ऐसे श्लोक आदि पढ़ना, जिनका अर्थ और उच्चारण दोनों कठिन हों), ३१पुस्तक-वाचन, ३२ नाटकाख्यायिका-दर्शन, ३३ काव्यसमस्यापूरण, ३४ पट्टिकावेत्रवानविकल्प (पीढ़ा, आसन, कुर्सी, पलंग, मोढ़े आदि चीजें बेंत वगैरे वस्तुओंसे बनाना), ३५ तक्षकर्म (लकड़ी, धातु आदिको अभीष्ट विभिन्न आकारोंमें काटना), ३६ तक्षण (बढ़ईका काम), ३७. वास्तुविद्या, ३८. रूप्यरत्नपरीक्षा (सिक्के, रत्न आदिकी परीक्षा करना), ३९ धातुवाद (पीतल आदि धातुओंको मिलाना, शुद्ध करना आदि), ४० मणिरागाकर-ज्ञान (मणि आदिका रँगना, खान आदिके विषयका ज्ञान), ४१ वृक्षायुर्वेदयोग, ४२ मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि (मेंढे, मुर्गे, तीतर आदिको लड़ाना), ४३ शुकसारिकाप्रलापन (तोता-मैना आदिको बोली सिखाना), ४४ उत्सादनसंवाहन, केशमर्दनकौशल (हाथ-पैरोंसे शरीर दबाना, केशोंका मलना, उनका मैल दूर करना आदि), ४५अक्षरमुष्टिका-कथन (अक्षरोंको ऐसी युक्तिसे कहना कि उस संकेतका जाननेवाला ही उनका अर्थ समझे, दूसरा नहीं; मुष्टिसंकेतद्वारा बातचीत करना, जैसे दलाल आदि कर लेते हैं), ४६ म्लेच्छित विकल्प (ऐसे संकेतसे लिखना, जिसे उस संकेतको जाननेवाला ही समझे), ४७ देशभाषा-विज्ञान, ४८ पुष्पशकटिका, ४९ निमित्त-ज्ञान (शकुन जानना), ५० यन्त्रमातृका (विविध प्रकारके मशीन, कल, पुर्जे आदि बनाना), ५१ धारणमातृका (सुनी हुई बातोंका स्मरण रखना), ५२ संपाठ्य, ५३ मानसी काव्य-क्रिया (किसी श्लोकमें छोड़े हुए पदको मनसे पूरा करना), ५४ अभिधानकोष, ५५ छान्दोज्ञान, ५६ क्रियाकल्प (काव्यालंकारोंका ज्ञान), ५७ छलितक-योग (रूप और बोली छिपाना), ५८ वस्त्रगोपन (शरीरके अंगोंको छोटे या बड़े वस्त्रोंसे यथायोग्य ढँकना), ५९ द्यूतविशेष, ६० आकर्ष-क्रीडा (पासोंसे खेलना), ६१ बालक्रीडनक, ६२ वैनयिकी-ज्ञान (अपने और परायेसे विनयपूर्वक शिष्टाचार करना), ६३ वैजयिकी ज्ञान (विजय प्राप्त करनेकी विद्या अर्थात् शस्त्रविद्या) और ६४ व्यायाम विद्या। इनका विशेष विवरण जयमंगलने कामसूत्रकी व्याख्यामें किया है।

शुक्राचार्यका कहना है कि कलाओंके भिन्न-भिन्न नाम नहीं हैं, अपितु केवल उनके लक्षण ही कहे जा सकते हैं, क्योंकि क्रियाके पार्थक्यसे ही कलाओंमें भेद होता है। जो व्यक्ति जिस कलाका अवलम्बन करता है, उसकी जाति उसी कलाके नामसे कही जाती है। पहली कला है नृत्य (नाचना)। हाव-भाव आदिके साथ गति नृत्य कहा जाता है। नृत्यमें करण, अंगहार, विभाव, भाव, अनुभाव और रसोंकी अभिव्यक्ति की जाती है। नृत्यके दो प्रकार हैं—एक नाट्य, दूसरा अनाट्य। स्वर्ग-नरक या पृथ्वीके निवासियोंकी कृतिका अनुकरण 'नाट्य' कहा जाता है और अनुसरण-विरहित नृत्य 'अनाट्य'। यह कला अति प्राचीन कालसे यहाँ बड़ी उन्नत दशामें थी। श्रीशंकरका ताण्डवनृत्य प्रसिद्ध है। आज तो इस कलाका पेशा करनेवाली एक जाति ही 'कत्थक' नामसे प्रसिद्ध है। वर्षा-ऋतुमें घनगर्जनासे आनन्दित मोरका नृत्य बहुतोंने देखा होगा। नृत्य एक स्वाभाविक वस्तु है, जो हृदयमें प्रसन्नताका उद्रेक होते ही बाहर व्यक्त हो उठती है। कुछ कलाविद् पुरुषोंने इसी स्वाभाविक नृत्यको अन्यान्य अभिनय-विशेषोंसे रँगकर कलाका रूप दे दिया है। जंगली-से-जंगली और सभ्य-से-सभ्य समाजमें नृत्यका अस्तित्व किसी-न-किसी रूपमें देखा ही जाता है। आधुनिक पाश्चात्त्योंमें नृत्य-कला एक प्रधान सामाजिक वस्तु हो गयी है। प्राचीनकालमें इस कलाकी शिक्षा राजकुमारोंतकके लिये आवश्यक समझी जाती थी। अर्जुनद्वारा अज्ञातवासकालमें राजा विराटकी कन्या उत्तराको बृहन्नलारूपमें इस कलाकी शिक्षा देनेकी बात 'महाभारत' में प्रसिद्ध है। दक्षिण-भारतमें यह कला अब भी थोड़ी-बहुत विद्यमान है। 'कथाकलि' में उसकी झलक मिलती है। श्रीउदयशंकर आदि कलाप्रेमी इस प्राचीन कलाको फिर जाग्रत् करनेके प्रयत्नमें लगे हुए हैं।

२-अनेक प्रकारके वाद्योंका निर्माण करने और उनके बजानेका ज्ञान 'कला' है। वाद्योंके मुख्यतया चार भेद हैं—१ तत, २ सुषिर, ३ अवनद्ध और ४ घन। तार अथवा ताँतका जिसमें उपयोग होता है, वे वाद्य 'तत' कहे जाते हैं—जैसे वीणा, तम्बूरा, सारंगी, बेला, सरोद आदि। जिसका भीतरी भाग सच्छिद्र (पोला) हो और जिसमें वायुका उपयोग होता हो, उसको 'सुषिर' कहते हैं—जैसे बाँसुरी, अलगोजा, शहनाई, बैण्ड, हार्मोनियम, शंख आदि। चमड़ेसे मढ़ा हुआ वाद्य 'अवनद्ध' कहा जाता है—जैसे ढोल, नगारा, तबला, मृदंग, डफ, खँजड़ी आदि। परस्पर आघातसे बजानेयोग्य वाद्य 'घन' कहलाता है—जैसे झाँझ, मजीरा, करताल आदि। यह कला गानेसे सम्बन्ध रखती है। बिना वाद्यके गानमें मधुरता नहीं आती। प्राचीन कालमें भारतके वाद्योंमें वीणा मुख्य थी। इसका उल्लेख प्राचीन संस्कृत ग्रन्थोंमें भी उपलब्ध होता है। सरस्वती और नारदका वीणावादन, श्रीकृष्णकी वंशी, महादेवका डमरू तो प्रसिद्ध ही हैं। वाद्य आदि विषयोंके संस्कृतमें अनेक ग्रन्थ हैं। उनमें अनेक वाद्योंके परिमाण, उनके बनाने और मरम्मत करनेकी विधियाँ मिलती हैं। राज्याभिषेक, यात्रा, उत्सव, विवाह, उपनयन आदि मांगलिक कार्योंके अवसरोंपर भिन्न-भिन्न वाद्योंका उपयोग होता था। युद्धमें सैनिकोंके उत्साह, शौर्यको बढ़ानेके लिये अनेक तरहके वाद्य बजाये जाते थे।

३—स्त्री और पुरुषोंको वस्त्र एवं अलंकार सुचारुरूपसे पहनाना 'कला' है। ४-अनेक प्रकारके रूपोंका आविर्भाव करनेका ज्ञान 'कला' है। इसी कलाका उपयोग हनुमान्‌जीने श्रीरामचन्द्रजीके साथ पहली बार मिलनेके समय ब्राह्मण-वेश धारण करनेमें किया था। ५-शय्या और आस्तरण (बिछौना) सुन्दर रीतिसे बिछाना और पुष्पोंको अनेक प्रकारसे गूँथना 'कला' है। ६-द्यूत (जुआ) आदि अनेक क्रीड़ाओंसे लोगोंका मनोरंजन करना 'कला' है। प्राचीन कालमें द्यूतके अनेक प्रकारोंके प्रचलित होनेका पता लगता है। उन सबमें अक्ष-क्रीड़ा (चौपड़) विशेष प्रसिद्ध थी। नल, युधिष्ठिर, शकुनि आदि इस कलामें निपुण थे। ७-अनेक प्रकारके आसनोंद्वारा सुरतक्रीड़ाका ज्ञान 'कला' है। इन सात कलाओंका उल्लेख 'गान्धर्ववेद' में किया गया है।

८—विविध प्रकारके मकरन्दों (पुष्परस) से आसव, मद्य आदिकी कृति 'कला' है। ९-शल्य (पादादि अंगमें चुभे काँटे) की पीड़ाको अल्प कर देना या शल्यको अंगमेंसे निकाल डालना, शिरा (नाड़ी) और फोड़े आदिकी चीर-फाड़ करना 'कला' है। हकीमोंकी जर्राही और डॉक्टरोंकी सर्जरी इसी कलाके उदाहरण हैं। १०-हींग आदि रस (मसाले)से युक्त अनेक प्रकारके अन्नोंको पकाना 'कला' है। महाराज नल और भीमसेन-जैसे पुरुष भी इस कलामें निपुण थे। ११-वृक्ष, गुल्म, लता, आदिको लगाने, उनसे विविध प्रकारके फल, पुष्पोंको उत्पन्न करने एवं उन वृक्षादिका अनेक उपद्रवोंसे

संरक्षण करनेकी कृति 'कला' है। प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंमें सुरम्य, उद्यान, उपवन आदिका बहुत उल्लेख प्राप्त होता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण, अग्निपुराण तथा शुक्र-नीतिसारमें इस विषयपर बहुत प्रकाश डाला गया है। इससे मालूम होता है कि बहुत प्राचीन कालमें भी यह कला उन्नत दशामें थी। १२-पत्थर, सोने-चाँदी आदि धातुओंको (खानमेंसे) खोदना, उन धातुओंकी भस्म बनाना 'कला' है। १३-सभी प्रकारके इक्षु (ईख)से बनाये जा सकनेवाले पदार्थ—जैसे राब, गुड़, खाँड़, चीनी, मिश्री, कन्द आदि बनानेका ज्ञान 'कला' है। १४-सुवर्ण आदि अनेक धातु और अनेक ओषधियोंको परस्पर मिश्रित करनेका ज्ञान (सिनथेसिस) 'कला' है। १५-मिश्रित धातुओंको उस मिश्रणसे अलग-अलग कर देना (अनालिसिस) 'कला' है। १६-धातु आदिके मिश्रणका अपूर्व (प्रथम) विज्ञान 'कला' है। १७-लवण (नमक) आदिको समुद्रसे या मिट्टी आदि पदार्थोंसे निकालनेका विज्ञान 'कला' है। इन दस कलाओंका आयुर्वेदसे सम्बन्ध है, इसलिये ये कलाएँ आयुर्वेदके अन्तर्भूत हैं। इनमें आधुनिक बॉटनी, गार्डनिंग, माइनिंग, मेटलर्जी, केमिस्ट्री आदि आ जाते हैं।

१८—पैर आदि अंगोंके विशिष्ट संचालनपूर्वक (पैतरा बदलते हुए) शस्त्रोंका लक्ष्य स्थिर करना और उनका चलाना 'कला' है। १९-शरीरकी सन्धियों (जोड़ों) पर आघात करते हुए या भिन्न-भिन्न अंगोंको खींचते हुए दो मल्लों (पहलवानों) का युद्ध (कुश्ती) 'कला' है। इस कलामें भी भारत प्राचीन कालसे अबतक सर्वश्रेष्ठ रहा है। श्रीकृष्णने कंसकी सभाके चाणूर, मुष्टिक आदि प्रसिद्ध पहलवानोंको इस कलामें पछाड़ा था। भीमसेन और जरासन्धकी कुश्ती कई दिनोंतक चलनेका उल्लेख 'महाभारत' में आया है। आज भी गामा आदिके नाम जगद्विजयी मल्लोंमें है। पंजाब, मथुरा आदिके मल्ल अभी भी इस कलामें अच्छी निपुणता रखते हैं। इस युद्धका भेद 'बाहुयुद्ध' है। इसमें मल्ललोग किसी शस्त्रका उपयोग न करके केवल मुष्टिसे युद्ध करते हैं। इसे 'मुक्की', 'मुक्काबाजी' (बाक्सिंग) कहते हैं। काशीके दुर्गाघाटपर कार्तिकमें होनेवाली मुक्की सुप्रसिद्ध है। बाहुयुद्धमें लड़कर मरनेवालेकी शुक्राचार्यने निन्दा की है। वे लिखते हैं—

मृतस्य तस्य न स्वर्गो यशो नेहापि विद्यते।
बलदर्पविनाशान्तं नियुद्धं यशसे रिपोः।
न कस्यासीद्धि कुर्याद्वै प्राणान्तं बाहुयुद्धकम्॥

'बाहुयुद्धमें मरनेवालेको न तो इस लोकमें यश मिलता है, न परलोकमें स्वर्ग-सुख। किंतु मारनेवालेका यश अवश्य होता है; क्योंकि शत्रुके बल और दर्प (घमण्ड) का अन्त करना ही युद्धका लक्ष्य होता है। इसलिये प्राणान्त (शत्रुके मर जानेतक) बाहुयुद्ध करना चाहिये।' ऐसे युद्धका उदाहरण मधु-कैटभके साथ विष्णुका युद्ध है, जो समुद्रमें पाँच हजार वर्षोंतक होता रहा था—

मधुकैटभौ दुरात्मानावतिवीर्यपराक्रमौ॥
क्रोधरक्तेक्षणावत्तुं ब्रह्माणं जनितोद्यमौ।
समुत्थाय ततस्ताभ्यां युयुधे भगवान् हरिः॥
पञ्चवर्षसहस्राणि बाहुप्रहरणो विभुः।

(सप्तशती १। ९२—९४)

२०—कृत और प्रतिकृत आदि अनेक तरहके अति भयंकर बाहु (मुष्टि) प्रहारोंसे अकस्मात् शत्रुपर झपटकर किये गये आघातोंसे एवं शत्रुको असावधान पाकर ऐसी दशामें उसको पकड़कर रगड़ देने आदि प्रकारोंसे जो युद्ध किया जाता है, उसे 'निपीड़न' कहते हैं और शत्रुद्वारा किये गये ऐसे 'निपीड़न' से अपनेको बचा लेनेका नाम 'प्रतिक्रिया' है। अर्थात् अपना बचाव करते हुए शत्रुपर केवल बाहुओंसे भयंकर आघात करते हुए युद्ध करना 'कला' है। २१-अभिलक्षित देश (निशाने) पर विविध यन्त्रोंसे अस्त्रोंको फेंकना और किसी (बिगुल, तुरही आदि) वाद्यके संकेतसे व्यूह रचना (किसी खास तरीकेसे सैन्यको खड़ा करनेकी क्रिया) करना 'कला' है। इससे पता चलता है कि मन्त्रोंसे फेंके जानेवाले अस्त्र—आजकलके बन्दूक, तोप, मशीनगन, तारपीड़ों आदिकी तरह—प्राचीन कालमें भी उपयोगमें लाये जाते रहे होंगे। किंतु उनसे होनेवाली भारी क्षतिको देखकर उनका उपयोग कम कर दिया गया होगा। मनुने भी महायन्त्र-निर्माणका निषेध किया है। २२-हाथी, घोड़े और रथोंकी विशिष्ट गतियोंसे युद्धका आयोजन करना 'कला' है। १८ से २२ तककी पाँच कलाएँ 'धनुर्वेद' से सम्बन्ध रखती हैं।

२३—विविध प्रकारके आसन (बैठनेका प्रकार) एवं मुद्राओं (दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे बननेवाली अंकुश, पद्म, धेनु आदिकी आकृतियों) से देवताओंको प्रसन्न

करना 'कला' है। इस कलापर आधुनिकोंका विश्वास नहीं है, तो भी कहीं-कहीं इसके जाननेवाले व्यक्ति पाये जाते हैं। इसका प्राचीन समयमें खूब प्रचार था। संस्कृतमें तन्त्र एवं आगमके अनेक ग्रन्थोंमें मुद्रा आदिका वर्णन देखनेमें आता है। हिप्नॉटिज्म जाननेवालोंमें कुछ मुद्राओंका प्रयोग देखा जाता है। वे मुद्राद्वारा अपनी शक्तिका संक्रमण अपने प्रयोज्य—विधेयमें करते हैं। २४-सारथ्य—रथ हाँकनेका काम (कोचवानी) एवं हाथी, घोड़ोंको अनेक तरहकी गतियों (चालों) की शिक्षा देना 'कला' है। इसकी शिक्षा किसी समयमें सभी राजकुमारोंके लिये आवश्यक समझी जाती थी। यदि विराटपुत्र उत्तर इस कलामें निपुण न होते तो जब दुर्योधन आदि विराटकी गौओंका अपहरण करनेके लिये आये, उस समय अर्जुनका सारथ्य वे कैसे कर सकते थे। भारत-युद्धमें श्रीकृष्ण अर्जुनका रथ कैसे हाँक सकते या कर्णका सारथ्य शल्य कैसे कर सकते थे। आज भी शौकीन लोग सारथि (ड्राइवर) को पीछे बैठाकर स्वयं मोटर आदि हाँकते हुए देखे जाते हैं। २५-मिट्टी, लकड़ी, पत्थर और पीतल आदि धातुओंसे बर्तनोंका बनाना 'कला' है। यह कला भी इस देशमें बहुत पुराने समयसे अच्छी दशामें देखनेमें आती है। इसका अनुमान जमीनकी खुदाईसे निकले हुए प्राचीन बर्तनोंको 'वस्तु-संग्रहालय' (म्यूजियम) में देखनेसे हो सकता है। २६-चित्रोंका आलेखन 'कला' है। प्राचीन चित्रोंको देखनेसे प्रमाणित होता है कि यह कला भारतमें किस उच्चकोटितक पहुँची हुई थी। प्राचीन मन्दिर और बौद्ध विहारोंकी मूर्तियों और अजन्ता आदि गुफाओंके चित्रोंको देखकर आश्चर्य होता है। आज कई शताब्दियोंके व्यतीत हो जानेपर भी वे ज्यों-के-त्यों दिखलायी पड़ते हैं। उनके रंग ऐसे दिखलायी पड़ते हैं कि जैसे अभी कारीगरने उनका निर्माणकार्य समाप्त किया हो। प्रत्येक वर्ष हजारों विदेशी यात्री उन्हें देखनेके लिये दूर-दूरसे आते रहते हैं। प्रयत्न करनेपर भी वैसे रंगोंका आविष्कार अबतक नहीं हो सका है। यह कला इतनी व्यापक थी कि देशके हर एक कोनेमें घर-घरमें इसका प्रचार था। अब भी घरोंके द्वारपर गणेशजी आदिके चित्र बनानेकी चाल प्रायः सर्वत्र देखी जाती है। कई सामाजिक उत्सवोंके अवसरोंपर स्त्रियाँ दीवाल और जमीनपर चित्र लिखती हैं। प्राचीन कालमें भारतकी स्त्रियाँ इस कलामें बहुत निपुण होती थीं। बाणासुरकी कन्या ऊषाकी सखी चित्रलेखा इस कलामें बड़ी सिद्धहस्त थी। वह एक बार देखे हुए व्यक्तिका बादमें हूबहू चित्र बना सकती थी। चित्रकलाके ६ अंग हैं—१रूपभेद (रंगोंकी मिलावट), २ प्रमाण(चित्रमें दूरी, गहराई आदिका दिखलाना और चित्रगत वस्तुके अंगोंका अनुपात), ३ भाव और लावण्यकी योजना, ४ सादृश्य, ५ वर्णिका (रंगोंका सामंजस्य) और ६ भंग (रचना-कौशल)। 'समरांगणसूत्रधार आदि प्राचीन शिल्पग्रन्थोंमें इस कलाका विशदरूपसे विवरण उपलब्ध होता है।

२७-तालाब, बावली, कूप, प्रासाद (महल और देवमन्दिर) आदिका बनाना और भूमि (ऊँची-नीची) का सम (बराबर) करना 'कला' है। 'सिविल इंजीनियरिंग' का इसमें भी समावेश किया जा सकता है। २८-घटी (घड़ी) आदि समयका निर्देश करनेवाले यन्त्रों एवं २९-अनेक वाद्योंका निर्माण करना 'कला' है। प्राचीन कालमें समयका माप करनेके लिये जलयन्त्र, वालुकायन्त्र, धूप-घड़ी आदि साधन थे। अब घड़ीके बन जानेसे यद्यपि उनका व्यवहार कम हो गया है, तथापि कई प्राचीन शैलीके ज्योतिषी लोग अब भी विवाह आदिके अवसरपर जलयन्त्रद्वारा ही सूर्योदयसे इष्ट कालका साधन करते हैं। एवं कई प्राचीन राजाओंकी ड्योढ़ीपर अब भी जलयन्त्र, वालुकायन्त्र या धूप-घड़ीके अनुसार समय-निर्देशक घण्टा बजानेकी प्रथा देखनेमें आती है। आश्चर्य है कि इन्हीं यन्त्रोंकी सहायतासे प्राचीन ज्योतिषी लोग सूक्ष्मातिसूक्ष्म समयके विभागका ज्ञान स्पष्टतया प्राप्त कर लिया करते थे। और उसीके आधारपर बनी जन्मपत्रिकासे जीवनकी घटनाओंका ठीक-ठीक पता लगा लिया जाता था।

३०—कतिपय रंगोंके लिये अल्प, अधिक या सम संयोग (मिलावट) से बने विभिन्न रंगोंसे वस्त्र आदि वस्तुओंका रँगना—यह भी 'कला' है। पहले यह कला घर-घरमें थी; किंतु इसका भार, अब मालूम होता है, रँगरेजोंके ऊपर ही छोड़ दिया गया है। यहाँके रंग बड़े सुन्दर और टिकाऊ होते थे। यहाँके रंगोंसे रँगे वस्त्रोंका बाहरके देशोंमें बड़ा आदर था। अब भी राजपूतानेके कई नगरोंमें ऐसे-ऐसे कुशल रँगरेज हैं कि जो महीन-से-महीन मलमलको दोनों ओरसे दो विभिन्न रंगोंमें रँग देते हैं। जोधपुरमें कपड़ेको स्थान-स्थानपर

बाँधकर इस तरहसे रँग देते हैं कि उसमें अनेक रंग और बेल-बूटे बैठ जाते हैं।

३१-जल, वायु और अग्निके संयोगसे उत्पन्न बाष्प (भाप) के निरोध (रोकने) से अनेक क्रियाओंका सम्पादन करना 'कला' है—

जलवाय्वग्निसंयोगनिरोधैश्च क्रिया कला।

भोजदेव (वि० सं० १०६६—९८) कृत 'समरांगण सूत्रधार' के ३१ वें अध्यायका नाम ही 'यन्त्रविधान' है। उस अध्यायमें २२३ $\frac{1}{2}$ श्लोक हैं, जिनमें विलक्षण प्रकारके विविध यन्त्रोंके निर्माणकी संक्षिप्त प्रक्रियाका दिग्दर्शन कराया गया है। इससे तो यह बात स्पष्ट रीतिसे जानी जा रही है कि प्राचीन भारतके लोगोंको भापके यन्त्रोंका ज्ञान था और वे उन यन्त्रोंसे अपने व्यावहारिक कार्योंमें आजकी तरह सहायता लिया करते थे।

३२-नौका, रथ आदि जल-स्थलके आवागमनके साधनोंका निर्माण करना 'कला' है। पहलेके लोग स्थल और यातायातके साधनोंका—अच्छे-से-अच्छे उपकरणोंसे सम्पन्न अश्व, रथ, गौ (बैलों) के रथ आदिका बनाना तो जानते ही थे; साथ ही अच्छे-से-अच्छे सुदृढ़, सुन्दर, उपयोगी, सर्वसाधनोंसे सम्पन्न बड़े-बड़े जहाजोंका बनाना भी जानते थे। जहाजोंके उपयोगका वर्णन वेदोंमें भी मिलता है। जहाजोंपर दूर-दूरके देशोंके साथ अच्छा व्यापार होता था। जलयानोंसे आने-जानेवाले मालपर कर आदिकी व्यवस्था थी। पाश्चात्त्योंकी तरह यहाँके मल्लाह भी बड़े साहसी और यात्रामें निडर होते थे; किंतु पाश्चात्त्य शासकोंकी कृपासे अन्यान्य कलाओंकी तरह भारतमें यह कला भी बहुत क्षीण हो गयी है।

३३-सूत्र, सन आदि तन्तुओंसे रस्सीका बनाना 'कला' है। ३४-अनेक तन्तुओंसे पटबन्ध (वस्त्रकी रचना) 'कला' है। यह कला भी बहुत प्राचीन समयसे भारतमें बड़ी उन्नत दशामें थी। भारतमें 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के शासनके पहले यहाँ ऐसे सुन्दर, मजबूत, बारीक वस्त्र बनाये जाते थे, जिनकी बराबरी आजतक कोई दूसरा देश नहीं कर सका है। 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के समयमें यहाँके वस्त्र-निर्माण एवं वस्त्र-निर्यातके व्यवसायको पाश्चात्त्य स्वार्थी व्यापारियोंने कई उपायोंसे नष्ट कर दिया।

३५-रत्नोंकी पहचान और उनमें वेध (छिद्र) करनेकी क्रियाका ज्ञान 'कला' है। प्राचीन समयसे ही अच्छे-बुरे रत्नोंकी पहचान तथा उनके धारणसे होनेवाले शुभाशुभ फलका ज्ञान यहाँके लोगोंको था। ग्रहोंके अनिष्ट फलोंको रोकनेके लिये विभिन्न रत्नोंको धारण करनेका शास्त्रोंने उपदेश किया है। उसके अनुसार रत्नोंको धारण करनेका फल आज भी प्रत्यक्ष दिखलायी देता है। पर आज तो भारतवर्षकी यह स्थिति है कि अधिकांश लोगोंको उन रत्नोंका धारण करना तो दूर रहा, दर्शन भी दुर्लभ है।

३६-सुवर्ण, रजत आदिके याथात्म्य (असलीपन) का जानना 'कला' है। ३७-नकली सोने-चाँदी और हीरे-मोती आदि रत्नोंको निर्माण करनेका विज्ञान 'कला' है। पुराने किमियागरोंकी बातें सुननेमें आती हैं। वे कई वस्तुओंके योगसे ठीक असली जैसा सोना-चाँदी आदि बना सकते थे। अब तो केवल उनकी बातें ही सुननेमें आती हैं। रत्न भी प्राचीन कालमें नकली बनाये जाते थे। मिश्रीसे ऐसा हीरा बनाते थे कि अच्छे जौहरी भी उसको जल्दी नहीं पहचान सकते थे। इससे मालूम होता है कि 'इमिटेशन' हीरा आदि रत्न तथा 'कलचर' मोतियोंका आविष्कार पाश्चात्त्योंने कुछ नया निकाला हो—यह बात नहीं है, किंतु यह भी मानना ही पड़ेगा कि उस समय इन नकली वस्तुओंका व्यवसाय आजकलकी तरह अधिक विस्तृत नहीं था। देशके सम्पन्न होनेके कारण उन्हें नकली वस्तुओंसे अपनी शोभा बढ़ानेकी आवश्यकता ही क्या थी। पर आजकी स्थिति कुछ और है, इसीसे इन पदार्थोंका व्यवहार अधिक बढ़ गया है।

३८-सोने-चाँदीके आभूषण बनाना एवं लेप (मुलम्मा) आदि (मीनाकारी) करना 'कला' है—

स्वर्णाद्यलङ्कारकृतिः कलालेपादिसत्कृतिः।

३९-चमड़ेको मुलायम करना और उससे आवश्यक उपयोगी सामान तैयार करना और ४०-पशुओंके शरीरपरसे चमड़ा निकालकर अलग करना 'कला' है—

मार्दवादिक्रियाज्ञानं चर्मणां तु कला स्मृता।
पशुचर्माङ्गनिर्हारक्रियाज्ञानं कला स्मृता॥

आज तो यह कला भारतके लोगोंके हाथसे निकलकर विदेशियोंके हाथमें चली गयी है। यहाँ केवल चमारोंके घरोंमें कुछ अवशिष्ट रही है; किंतु वे भी चमड़ोंको कमाकर विदेशियोंके मुकाबलेमें उन्हें मुलायम करना नहीं जानते।

४१-गौ, भैंस आदिको दुहनेसे लेकर दही जमाना,

मथना, मक्खन निकालना तथा उससे घी बनानेतककी सब क्रियाओंका जानना 'कला' है। इसे पढ़कर हृदयमें दुःखकी एक टीस उठ जाती है। वह भारतका सौभाग्य-काल कहाँ जब घर-घरमें अनेक गौओंका निवास था, प्रत्येक मनुष्य इस कलासे अभिज्ञ होता था, दूध, दहीकी मानो नदियाँ बहती थीं, दूधके पौसरे बैठाये जाते थे—जहाँ लोग पानीकी तरह मुफ्तमें दूध पी सकते थे। और कहाँ आजका हतभाग्य समय! घी-मक्खनका तो दर्शन दूर रहा, बच्चोंको दूध भी मिलना कठिन है। कहाँ वह श्रीकृष्णके समयका व्रजवृन्दावनका दृश्य, और कहाँ आज बड़े-बड़े शहरोंके पास बने बूचड़खानोंमें प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें वध किये जानेवाली गौ माता और उनके बच्चोंका करुण क्रन्दन!

४२-कुर्ता आदि कपड़ोंको सीना 'कला' है—

सीवने कञ्चुकादीनां विज्ञानं तु कलात्मकम्।

४३-जलमें हाथ, पैर आदि अंगोंसे विविध प्रकारसे तैरना 'कला' है। तैरनेके साथ-साथ डूबते हुएको कैसे बचाना चाहिये, थका या डूबता हुआ व्यक्ति यदि उसको बचानेके लिये आये व्यक्तिको पकड़ ले, तो वैसी स्थितिमें किस तरह उससे अपनेको छुड़ाकर और उसे लेकर किनारेपर पहुँचना चाहिये—इत्यादि बातोंका जानना भी बहुत आवश्यक है।

४४-घरके बर्तनोंको माँजनेका ज्ञान 'कला' है। पहले यह काम घरकी स्त्रियाँ ही करती थीं, आज भी कई घरोंमें यही चाल है; परंतु अब बड़े घरानोंकी स्त्रियाँ इसमें अपना अपमान समझती हैं। ४५-वस्त्रोंका संमार्जन (अच्छी तरह धोकर साफ करना) 'कला' है। ४६-क्षुरकर्म (हजामत बनाना) 'कला' है! आजकल यह बड़ी उन्नतिपर है। गंगा-यमुनाके घाटों, बाजारोंमें चले जाइये, आपको इस कलाका उदाहरण प्रत्यक्ष देखनेको मिल जायगा। कोई पढ़ा-लिखा आधुनिक सभ्य पुरुष प्रायः ऐसा न मिलेगा, जिसके आह्निकमें अपना 'क्षुरकर्म' सम्मिलित न हो!—

वस्त्रसम्मार्जनञ्चैव क्षुरकर्म शुभे कले।

४७-तिल, तीसी, रेंड़ी आदि तिलहन पदार्थ और मांसोंमेंसे तेल निकालनेकी कृति 'कला' है। ४८-हल चलाना जानना और ४९-पेड़ोंपर चढ़ना जानना भी 'कला' है। हल चलाना तो कृषिका प्रधान अंग ही है। पेड़ोंपर चढ़ना भी एक कला ही है। सभी केवल चाहनेमात्रसे ही पेड़ोंपर चढ़ नहीं सकते। खजूर, ताड़, नारियल, सुपारी आदिके पेड़ोंपर चढ़ना कितना कठिन है—इसे देखनेवाला ही जान सकता है। इसमें जरा-सी भी असावधानी होनेपर मृत्यु यदि न हो तो भी अंग-भंग होना मामूली बात है।

५०-मनोऽनुकूल (दूसरेकी इच्छाके अनुसार) उसकी सेवा करनेका ज्ञान 'कला' है। राजसेवक, नौकर, शिष्य आदिके लिये इस कलाका जानना परमावश्यक है। इस कलाको न जाननेवाला किसीको प्रसन्न नहीं कर सकता। ५१-बाँस, ताड़, खजूर, सन आदिसे पात्र (टोकरी, झाँपी आदि) बनाना 'कला' है। ५२-काँचके बरतन आदि सामान बनाना 'कला' है। मालूम होता है कि यह कला भारतमें प्राचीन समयसे ही थी, किंतु मध्यकालमें यहाँसे विदेशियोंके हाथमें चली गयी। स्त्रियोंका सौभाग्य-चिह्न चूड़ियाँतक विदेशोंसे आने लगीं!

५३-जलोंसे संसेचन (अच्छी तरह खेतोंको सींचना) और ५४-संहरण (अधिक जलवाली या दलदलवाली भूमिमेंसे जलको बाहर निकाल डालना अथवा दूरसे जलको आवश्यक स्थानपर ले आना) 'कला' है। ५५-लोहेके अस्त्र-शस्त्र बनानेका ज्ञान 'कला' है।' ५६-हाथी, घोड़े, बैल और ऊँटोंकी पीठ सवारीके उपयुक्त पल्याण (जीन, काठी) बनाना 'कला' है। ५७-शिशुओंका संरक्षण (पालन) और ५८-धारण (पोषण) करना एवं ५९-बच्चोंके खेलनेके लिये तरह-तरहके खिलौने बनाना 'कला' है—

शिशोः संरक्षणे ज्ञानं धारणे क्रीडने कला।

६०-अपराधियोंको उनके अपराधके अनुसार ताड़न (दण्ड देने) का ज्ञान 'कला' है। ६१-भिन्न-भिन्न देशोंकी लिपिको सुन्दरतासे लिखना 'कला' है। भारत इस कलामें बहुत उन्नत था। ऐसे सुन्दर अक्षर लिखे जाते थे कि उन्हें देखकर आश्चर्य होता है। लिखनेके लिये स्याही भी ऐसी सुन्दर बनती थी कि सैकड़ों वर्षोंकी लिखी हुई पुस्तकें आज भी नयी-सी मालूम होती हैं। छापनेके प्रेस, टाइपराइटर आदि साधनोंका उपयोग होता जा रहा है, जिससे लोगोंके अक्षर बिगड़ते जा रहे हैं। स्थिति यहाँतक पहुँची है कि कभी-कभी अपना ही लिखा हुआ अपनेसे नहीं पढ़ा जाता। पहले यह कला इतनी उन्नत थी कि 'महाभारत-जैसा सवा-लाख श्लोकोंका बड़ा पोथा आदिसे अन्ततक एक ही

साँचेके अक्षरोंमें लिखा हुआ देखनेमें आता है। कहीं एक अक्षर भी छोटा-बड़ा नहीं हो पाया है; स्याही भी एक-जैसी ही है—न कहीं गहरी न कहीं पतली। विशेष आश्चर्य तो यह है कि सारी पुस्तकमें न तो एक अक्षर गलत लिखकर कहीं काटा हुआ है न कहीं कोई धब्बा ही है। ६२-पानकी रक्षा करना—ऐसा उपाय करना कि जिससे पान बहुत दिनोंतक न सूखने पाये, न गले-सड़े, 'कला' है। आज भी बहुत-से ऐसे तमोली हैं, जो मगही पानको महीनोंतक ज्यों-का-त्यों रखते हैं। इस तरह ये ६२ कलाएँ अलग-अलग हैं; किंतु दो कलाएँ ऐसी हैं, जिन्हें सब कलाओंका प्राण कहा जा सकता है। यही सब कलाओंके गुण भी कही जा सकती हैं। इन दोमें पहली है ६३-आदान और दूसरी ६४ प्रतिदान। किसी कामको करनेमें आशुकारित्व (जल्दी—फुर्तीसे करना) 'आदान' कहा जाता है और उस कामको चिरकाल (बहुत समय) तक करते रहना 'प्रतिदान' है। बिना इन दो गुणोंके कोई भी कला अधिक उपयुक्त नहीं हो सकती। इस तरह ६४ कलाओंका यह संक्षिप्त विवरण है।

यह पाठ्यक्रम कितना व्यापक है! इसमें प्रायः सभी विषयोंका समावेश हो जाता है। इसी अंकमें अन्यत्र प्रकाशित 'हिंदू-संस्कृतिका आधार' शीर्षक लेखमें जिन ३२ विद्याओंका संक्षिप्त वर्णन किया गया है, उनका भी इसी पाठ्यक्रममें समावेश है। शिक्षाका यह उद्देश्य माना जाता है कि उससे ज्ञानकी वृद्धि हो, सदाचारमें प्रवृत्ति हो और जीविकोपार्जनमें सहायता मिले। इस क्रममें इन तीनोंका ध्यान रखा गया है। इतना ही नहीं, पारलौकिक कल्याण भी नहीं छोड़ा गया है। संक्षेपमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको ध्यानमें रखकर ही शिक्षाका यह क्रम निश्चित किया गया है। इससे पता लगता है कि उस समयकी शिक्षाका आदर्श कितना उच्च तथा व्यावहारिक था। श्रीकृष्णचन्द्रको इन सभी विषयोंकी पूरी शिक्षा दी गयी थी और वे प्रायः सभीमें प्रवीण थे। अर्जुन नृत्यकला और नल, भीम आदि पाकविद्यामें निपुण थे। परशुराम, द्रोणाचार्य-सरीखे ब्राह्मण धनुर्वेदमें दक्ष थे। इससे जान पड़ता है कि गुरुकुलोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंके बालकोंको प्रायः इन सभी विषयोंकी थोड़ी-बहुत शिक्षा दी जाती रही होगी। परंतु इस शिक्षासे ऐसा न हो कि जो काम जिसके जीमें आया करने लगा, जैसा कि आजकल होता है—इसका भी ध्यान रखा गया था। क्योंकि ऐसा होनेसे सारी समाज-व्यवस्था ही बिगड़ जाती , श्रेणी-संघर्ष और बेकारीकी उत्पत्ति होती, जैसा कि आजकल देखनेमें आ रहा है। सब मनुष्योंका स्वभाव एक-सा नहीं होता, किसीकी प्रवृत्ति किसी ओर तो किसीकी किसी ओर होती है। जिसकी जिस ओर प्रवृत्ति हो, उसीमें अभ्यास करनेसे कुशलता प्राप्त होती है। इसीलिये शुक्राचार्यने लिखा है—

यां यां कलां समाश्रित्य निपुणो यो हि मानवः।
नैपुण्यकरणे सम्यक् तां तां कुर्यात् स एव हि॥

वंशागत कलाके सीखनेमें कितनी सुगमता होती है, यह प्रत्यक्ष है। एक बढ़ईका लड़का बढ़ईगिरी जितनी शीघ्रता और सुगमताके साथ सीखकर उसमें निपुण हो सकता है, उतना दूसरा नहीं; क्योंकि वंश-परम्परा और बालकपनसे ही उस कलाके योग्य संस्कार बन जाते हैं। इन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंके आधारपर प्राचीन शिक्षा-क्रमकी रचना हुई थी। उसमें आजकलकी-सी धाँधली न थी, जिसका दुष्परिणाम आज सर्वत्र देख पड़ रहा है। प्रायः सभी विषयोंमें चंचुप्रवेश और किसी एक विषयकी, जिसमें प्रवृत्ति हो, योग्यता प्राप्त करनेसे ही पूरी शिक्षा और यथोचित ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है। आज पाश्चात्त्य विद्वान् भी प्रचलित शिक्षा-पद्धतिकी अनेक त्रुटियोंका अनुभव कर रहे हैं; परंतु हम उस दूषित पद्धतिकी नकल करनेकी ही धुनमें लगे हुए हैं। वर्तमान शिक्षासे लोगोंको अपने वंशागत कार्योंसे घृणा तथा अरुचि होती चली जा रही है और वे अपने बाप-दादाके व्यवसायोंको बड़ी तेजीसे छोड़ते चले जा रहे हैं। शिक्षित युवक ऑफिसमें छोटी-छोटी नौकरियोंके लिये दर-दर दौड़ते हैं, अपमान सहते हैं, दूसरोंकी ठोकर खाते हैं और जीवनमें निराश होकर कई तो आत्मघात कर बैठते हैं। यदि यही क्रम जारी रहा तो पूरा विनाश सामने है। क्या ही अच्छा होता, यदि हमारे शिक्षा-आयोजकोंका ध्यान एक बार हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धतिकी ओर भी जाता!

हिंदू-संस्कृतिमें अतिथि-सत्कार और सच्चा त्याग

(रचयिता—श्रीआत्मारामजी देवकर साहित्यमनीषी)

देखके योगेशको
राजर्षिने आसन दिया।
कहने लगे कृतकृत्य मुझको
आज प्रभुने है किया॥ १॥
किस जन्मका यह पुण्यबल है
आप ही कह दीजिये।
सेवा करूँ क्या आपकी
आदेश मुझको कीजिये॥ २॥
अतिथि बनकर नाथ आये
स्वयं मेरे द्वारपर।
मुग्ध होता हूँ हरे!
इस प्रेमके आचारपर॥ ३॥
कृष्ण बोले सत्य ही है
आपने जो कुछ कहा।
आपका औदार्य ही है
पुष्टि इसकी कर रहा॥ ४॥
कुन्ती-तनयकी प्राण-भिक्षा
माँगनी थी आपसे।
दग्ध होता है हृदय पर
शोकके संतापसे॥ ५॥
कैसे कहूँ मुखसे उसे
उपदेश सत्वर दीजिये।
धर्म रखकर प्राणप्रिय
आतिथ्य मेरा कीजिये॥ ६॥
भक्तिमय हो भीष्म बोले—
धन्य यह संयोग है।
आपकी यह शीलता, बस
आप ही के योग्य है॥ ७॥
मेरा निधन ही भक्तवत्सल
वह सुपथ दिखलायेगा।
आतंक कुन्तीका उसीसे
आप ही मिट जायेगा॥ ८॥
है शीश अर्पित हे विभो
तृण तुच्छ वन, निस्सार है!
पूज्यवर ले लीजिये यह
अतिथिका सत्कार है॥ ९॥

भारतीय मूर्ति-कला

(लेखक—श्रीशारदाप्रसादजी)

एक मन्दिरके बाहर पड़ी एक पुरानी मूर्तिका खण्ड देखकर एक मित्रने मेरा ध्यान उसकी ओर आकर्षित किया। 'देखिये यह बौद्धकालीन मूर्ति!' मुझे हँसी आ गयी—आज अधिकांश हिंदू पुरानी मूर्तिको बौद्धकालीन समझते हैं। मैंने कहा—'ये तो महादेव बाबा हैं। मस्तकका तीसरा नेत्र पहचान करा रहा है। और है मध्यकालीन कलाका एक निकृष्ट नमूना। शायद चौदहवीं सदीका होगा।' मेरे मित्रने कहा, कि 'आपने तो मूर्तिका समय भी बता दिया। क्या उसपर संवत् खुदा है कहीं? तीसरा नेत्र दिखाकर तो आपने सिद्ध कर दिया कि मूर्ति बुद्धभगवान्की न होकर शंकरजीकी है। पर आपके तिथि-निर्णयका क्या आधार है?'

मैंने कहा कि 'विद्वानोंने पूर्ण परिश्रम करके भारतीय मूर्ति-कलाका इतिहास तैयार कर लिया है। विभिन्न समयकी मूर्तियोंकी रूप-रेखाका उन्होंने अध्ययन किया है और यह सिद्ध हो गया है कि एक समयकी मूर्तिका आकार-प्रकार दूसरे समयकी मूर्तिके आकार-प्रकारसे सर्वथा भिन्न है। मूर्तिको देखते ही यह कहा जा सकता है कि मूर्ति गुप्तकालीन है या चेदि महाराजाओंके समयकी। भगवान् विष्णु या शंकरकी दो मूर्तियाँ कहीं रख दीजिये; तुरंत पहचान हो जायगी, कौन-सी मूर्ति चौथी-पाँचवीं सदीकी गुप्तकालीन है और कौन मध्यकालीन ग्यारहवीं-बारहवीं सदीकी है। पहचानमें भूल न होगी। दोनोंके चेहरे-मोहरेमें वैसा ही प्रकट भेद है, जैसा रामदास तथा शिवशंकरके चेहरोंमें है।' अस्तु,

इस सम्बन्धमें एक बात बड़ी दुःखद है। हमारी

श्रीमारुति (संगमर्मर प्रतिमा)

ग्राम्य देवता

भारहुतकी रानी (३०० ई०पूर्व) [पृष्ठ ८०७

ईसापूर्वकी पशु-प्रतिमाएँ [पृष्ठ ८०७]

[तुलसी-संग्रहालय, रामवनके सौजन्यसे

वामन-मन्दिर खजुराहो (पूर्वीभित्तिकी कलाकृति) [पृष्ठ ८०८

लक्ष्मण-मन्दिर, खजुराहो [पृष्ठ ८०८

[तुलसी-संग्रहालय, रामवनके सौजन्यसे

मूर्तिकलाका उत्तरोत्तर ह्रास हुआ है। ग्यारहवीं सदीकी मूर्तिकी कलासे चौदहवीं सदीकी मूर्तिकी कला निकृष्ट है। शुंगकालीन तथा गुप्तकालीन मूर्तियाँ बड़ी मनोमोहक हैं। मध्यकालीन ग्यारहवीं-बारहवीं सदीतककी मूर्तियाँ भी बहुत अच्छी हैं। बादमें तो ह्रास ही हो गया मानना होगा।

भारतीय मूर्तिकलाके सम्बन्धमें मेरा ज्ञान अति सीमित है। विद्यालयमें अथवा पुस्तकोंद्वारा कुछ विशेष प्राप्त हुआ नहीं। जो कुछ भी जान पाया था विद्वानोंके साथ कुछ प्राचीन स्थलोंके देखनेमें। इस कारण इस लेखमें अखिल-भारतीय उदाहरण न प्राप्त होकर मध्यभारतीय ही प्राप्त होंगे। अवश्य ही वे अखिल-भारतीय कलाके प्रतीक हैं और अधिकांशमें अप्रकाशित हैं।

सबसे प्राचीन प्रस्तर-मूर्तियाँ भरहुत, बुद्धगया, तथा साँचीकी मिलती हैं। ये ईसापूर्व तीसरी सदीकी मानी जाती हैं। भरहुत तथा साँचीके स्तूपोंके तथा बुद्धगयाके मन्दिरके परिक्रमा-पथकी बाड़ (परकोटा-रेलिंग) में ये थीं। साँचीका तो अधिकांश सुरक्षित है। भरहुत तथा बुद्धगयाका अल्पांश ही बचा है। इनमें भी भरहुतकी कला कुछ श्रेष्ठ है। इसके उदाहरण साथमें प्रकाशित हैं। यह बौद्धकला है शुंगकालीन। कमलके बीच रानीकी मूर्ति बहुत सुन्दर है।

गुप्तकाल (चौथी-पाँचवीं सदी) भारतका सुवर्णयुग था। उस समयकी मूर्तियाँ भी बहुत सुन्दर थीं।

पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि प्राचीन भारतीय मनुष्याकृति बनानेमें निपुण थे, पर वे पशुओंकी मूर्ति नहीं बना सकते थे। हमारे दिये हुए एक चित्रमें हिरन तथा रीछकी दो मूर्तियोंको देखनेपर उन्हें अपना यह मत बदलना पड़ेगा। वे चाहे मूर्तिकला चाहे चित्रकलाकी दृष्टिसे विचार कर लें, उन्हें उत्कृष्टता स्वीकार करनी होगी।

मध्यकाल (दसवींसे चौदहवीं सदीतक) की प्रारम्भिक कला अच्छी थी। परंतु इसके बाद यह नीचे स्तरमें आ गयी। हमारे पास इसके कई उदाहरण हैं।

आधुनिक पौराणिक मूर्तियोंके दर्शन तो नित्य मन्दिरोंमें मिलते ही हैं। उनमें केवल चेहरा ठीक बनानेका उद्योग किया जाता है। शेष शरीरको तो कारीगर किसी प्रकार भी सीधा-सादा गढ़ देता है। दर्जीकी कला उनकी कमीकी पूर्ति कर ही देगी। मूर्तिको तो कपड़ोंसे ढक ही दिया जायगा। इधर कुछ दिनोंसे कलामें पुनः उन्नति प्रारम्भ हुई है। रामवनकी श्रीमारुति-मूर्ति, जो अभी दो वर्ष पूर्व ही निर्मित हुई थी, इसका उदाहरण है। मूर्तिको कपड़ोंसे ढकनेमें लज्जा मालूम होती है। अवश्य ही कलाने अभी गुप्तकालीन गरिमा नहीं प्राप्त की है, पर निकृष्टतासे काफी ऊपर उठ गयी है।

हमारी मूर्तिकलाके क्रमिक ह्रासका कारण विचारणीय है। यह मिलता है निर्माणक्रममें। कहते हैं प्राचीन समयमें कारीगरोंके काफिले थे। उनकी अपनी चलती-फिरती समाज थी। वे धनके लोभसे मूर्ति-निर्माण नहीं करते थे। जब कहीं मन्दिर बनवानेका निश्चय हुआ, इन समाजोंसे बात की जाती थी। जो समाज खाली होती, आकर वहीं बस जाती थी। बनवानेवाले उनके रहने, भोजन, वस्त्र आदिका भार उठा लेते थे। प्रमुख कारीगर पूजा-पाठ-ध्यानमें लग जाते थे। अनुष्ठान आदि करने लगते थे। इस प्रकार उनको ध्यानमें देव-दर्शन होते थे। जो मूर्ति उनके सामने सम्मुख प्रकट होती थी, उसीके अनुसार बनानेका वे उद्योग करते थे। जबतक कारीगरको देव-दर्शन प्राप्त नहीं होता, वह तबतक ध्यान आदिमें ही लगा रहता था। बनवानेवाला यह नहीं कहता कि 'भाई, पाँच वर्ष बीत गये, तुमने एक दिन भी छेनी हाथमें नहीं ली। हम तुम्हारा वेतन क्यों दें' वेतन? वेतनपर तो काम ही नहीं था। इस प्रकार धर्मात्मा कारीगरोंकी बनायी मूर्तियाँ क्यों न कलामें उत्कृष्ट हों। ऐसी ही एक मूर्तिके लिये बा० काशीप्रसाद जायसवालने कहा था कि 'इस मूर्तिके पत्थरकी तौलका सुवर्ण दिया जाय, तब भी इसका मूल्य न चुकेगा।'

अब तो दैनिक वेतन या ठेकेपर मूर्तियाँ बनती हैं। जितनी जल्दी बने, उतना अधिक पैसा मिले। पैसे-ऐसी निकृष्ट वस्तुसे जिसका मूल्य अंकित किया जाता है, वह उत्कृष्ट कैसे हो।

लेख समाप्त करनेके पूर्व मध्यकालीन मूर्तिकलाके स्वर्ग खजुराहोके कुछ उदाहरण देनेका लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। खजुराहो विन्ध्यप्रदेशमें है। अबतक छतरपुर राज्यमें था। कहते हैं यहाँ ८४ मन्दिर थे। शायद २२तो अब भी हैं। मन्दिर इतने विशाल और सुन्दर हैं कि एक-एकको देखते रहिये, मन न भरेगा। यहाँके कारीगरोंने अनेक स्थलोंपर संवत् खोद दिये हैं। सं० १०००से १४००तककी मूर्तियाँ यहाँ हैं। ४०० वर्षतक बराबर काम

जारी रहा। राजनैतिक बाधाएँ न पड़तीं तो शायद यहाँका कारीगर-समाज आगे भी काम करता जाता। साक्षात् कुबेरकी धनराशि भी ऐसे मन्दिर बनवा नहीं सकती। वे तो प्रेमसे ही बने हैं। राजकुलसे तो समस्त समाजके कुल खर्च तथा सम्मानकी ही व्यवस्था रही होगी।

देखिये खजुराहोका एक विशाल मन्दिर तथा उसके प्रांगणके कोनोंके दो छोटे मन्दिर। यह लछमनजीके मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है। मन्दिरनिर्माणके शास्त्रीय क्रमका पालन खजुराहोमें किया गया है। उन्हें वर्णन करनेका यहाँ अवसर नहीं है। कुल मन्दिरोंकी कुल दीवालें मूर्तिमय हैं। कोने-कोने, पत्थर-पत्थरमें मूर्ति या नक्काशी मिलेगी। वामनजीके मन्दिरकी दीवालका एक थोड़ा-सा अंश भी चित्रमें देखिये। मन्दिरोंके भीतर गर्भगृहके चारों ओरका परिक्रमा-पथ बहुधा इतना कम चौड़ा है कि दो आदमी एक साथ चल नहीं सकते। पर दोनों ओरकी दीवालें यहाँ भी मूर्तिमय हैं।

अपनी भग्न दशामें खजुराहो देशका माथा ऊँचे उठा रहा है। हिंदू-संस्कृतिके नामपर गला फाड़नेवालोंके लिये दो-चार जन्मतक अध्ययन करनेको सामग्री प्रस्तुत कर रहा है। हमने ताजमहलको संसारके सप्त आश्चर्योंमें गिन लिया है। खजुराहोको समझेंगे, तब संसारका वह सर्वप्रथम महान् आश्चर्य माना जायगा। मुझे तो सन्देह है कि स्वर्गीय कलाके स्थलको अभी किसीने देखा ही नहीं है।

इस छोटेसे लेखमें रामवनमें संगृहीत दो-एक मूर्तियोंका तथा खजुराहोमें स्थित कुछ मन्दिरोंका अति संक्षिप्त वर्णन किया गया। केवल विहंगम-दृष्टिपात हुआ है। भारत देश तो बहुत बड़ा है। भारतीय मूर्तियोंकी सुरक्षा तथा उनके प्रकाशनका प्रबन्ध हो जाय तो संसारको चकाचौंध हो जाना पड़ेगा। हिंदू-संस्कृतिकी रक्षामें हिंदू-मूर्तियोंका कितना ऊँचा स्थान है, यह तो सहज ही समझा जा सकता है।

भारतीय शिल्प एवं चित्रकलामें काष्ठका उपयोग

(लेखक—मुनि श्रीकान्तिसागरजी महाराज)

भारतके प्रतिभासम्पन्न कलाकारोंने अपनी सात्त्विक सुकुमार और उत्प्रेरक भावनाओंको धातु, प्रस्तर और कागजके द्वारा साकार कर न केवल कलाके उपकरणोंकी रक्षा ही की, अपितु यह भी प्रमाणित कर दिखाया कि अन्तर्भावनाओंके विकास एवं स्थैर्यके लिये अमुक प्रकारका अलंकरण ही उपयुक्त हो, ऐसी बात नहीं है। कलाकी उत्कट भावना किसी भी प्रकारके उपकरणद्वारा व्यक्त की जा सकती है। पार्थिव द्रव्योंमें ही कला और सौन्दर्यका समुचित विकास पाया जाता है। प्रस्तुत निबन्धमें मैं कलाके एक उपकरण काष्ठकी ओर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ; क्योंकि बहुत प्राचीन कालसे यहाँके साधारण जनसमूहसे लेकर उच्चकोटिके कला-कारोंतकने काष्ठका व्यापक उपयोगकर अपने गार्हस्थ्यके दैनिक आवश्यक कार्योंकी पूर्ति तो की ही, साथ-ही-साथ उच्च श्रेणीके प्रतीकोंका भी सृजनकर उसे सजीव प्रतीकोंकी कोटिमें ला खड़ा किया।

यह सभी जानते हैं कि वैदिक युगमें यज्ञ-यागोंकी प्रधानता थी। तन्निमित्त मण्डपोंकी बहुत बड़ी आवश्यकता रहती थी। उसमें भाषा, ज्ञान, चर्या, गीत, नृत्य आदि आध्यात्मिक एवं जनरंजक कार्यक्रम हुआ करते थे। ये मण्डप अत्यधिक द्रव्य व्यय करके सुन्दर-से-सुन्दर बनाये जाते थे। कहीं-कहीं पारस्परिक प्रतिस्पर्धाके कारण भी वर्ग अपनी धन-सम्पत्तिके बलपर मण्डपको अधिक-से-अधिक सजाता था; परंतु इन मण्डपोंका अस्तित्व क्षणिक—निर्धारित समयके लिये ही होता था। इतने परिश्रम और विपुल अर्थ-व्ययसे तैयार होनेके बाद भी ये स्थायित्वके सौभाग्यसे वंचित रह जाते थे। समयने पलटा खाया। स्वाभाविक भी है कि जैसे-जैसे आवश्यकताएँ बढ़ने लगती हैं, वैसे-वैसे ही समाजमें क्रान्ति और संघर्ष शुरू हो जाते हैं। वर्णित मण्डपोंके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर कुछ लोग अपने ढंगसे पक्के मण्डप बनवाने लगे। कमान आदि और शोभन अलंकरणोंका क्रमिक विकास होने लगा। इन सब सजावटोंके बाद भी आखिर वह काष्ठ ही तो ठहरा। भला कबतक वह टिक सकता। शीत, धूप और वर्षा आदिसे बहुत समयतक अपनेको बचाये रखनेके लिये मण्डप और

भी इतने पक्के बनाये जाने लगे कि क्रमशः मण्डपोंका रूप परिवर्तित हो गया और वे मण्डपसे गृह या मन्दिर बन गये। इससे हमें यह तो मानना ही होगा कि भारतीय शिल्पकलामें वैदिक कालसे ही काष्ठका उपयोग प्रचुर परिमाणमें होने लगा था। उस कालके शिल्पियोंमें कल्पना और सृजनशक्ति अद्‌भुत थी। उनका जीवन कलाकारका एक आदर्श था। वे सांसारिक होते हुए भी जब कलाकी साधनामें जुटते, अलिप्त हो जाते थे। धनिकवर्गोंद्वारा कलाकारोंका समुचित सम्मान भी होता था। इस सम्मानके पीछे कलाकारमें अपनी-अपनी प्रतिभाके तत्त्व थे, जिनके बलपर धनवानोंमें वे समादृत होते थे। न कि अर्थसे उनको उन दिनों खरीदा जाता था। क्योंकि उस समय भारतका सामाजिक जीवन ही कुछ ऐसा बन गया था कि शायद ही कोई गृह ऐसा रहता, जिसपर सुरुचिपूर्ण कलात्मक अंकन न किया गया हो। बिना सूक्ष्म खनन (कोरनी) के गृह अशुद्ध और अपशकुनजनक माना जाता था। लकड़ीको 'प्लेन' रहने देनेसे काष्ठोपजीवी वर्ग स्वयं इन्कार कर देता था। गृह-कार्यमें आनेवाले झूले, पलंग, चौकी, बालकोंके खिलौने, बेलन, पेटियाँ और प्रधान वाहन, रथ भी कारीगरीसे युक्त तथा रंगीन रहा करते थे। इस साधारण वस्तु-निर्माणमें भी कलाकार अपना श्रम लगाकर उसे जीवित प्रतीक-सम बना दिया करते थे। तात्पर्य यह कि घरकी कोई भी वस्तु ऐसी न रह पाती थी, जिसमें कलात्मक अभिव्यक्ति न हो। किसी भी देशका आर्थिक विकास सामयिक महत्त्व रखता है; परंतु कलात्मक विकास तो शताब्दियोंतक देशकी गौरव-गरिमा बनाये रखता है।

यज्ञस्तम्भ काष्ठके गड़वाये जाते थे, जिनका एक उदाहरण देनेका लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। विलासपुर (सी० पी०) जिलान्तर्गत चन्द्रपुर तालुकेमें 'किरार्त' नामक ग्राममें 'हीराबन्ध' जलाशयमेंसे १८०० वर्ष पूर्वका एक प्राचीन काष्ठका यज्ञस्तम्भ उपलब्ध हुआ है। यह स्तम्भ सलईका प्रतीक होता है। इसपर जो लिपि है, वह गुप्तकालके पूर्वकी है। मैंने इसे नागपुर आश्चर्यगृहमें देखा था। इस स्तम्भमें विशेषकर उन दिनोंके राजनैतिक कर्मचारियोंके पदोंके उल्लेख पाये जाते हैं। अतः इसका महत्त्व दोनों दृष्टियोंसे है। यज्ञस्तम्भ तो और भी प्राप्त हुए हैं, पर वे प्रायः पाषाणके हैं।

ई० पू० छठी सदीमें महाश्रमण भगवान् महावीरकी चन्दनकाष्ठपर मूर्ति खोदी गयी थी। उसे उज्जैनीके राजा चण्डप्रद्योतनने बनवाया था। गत वर्ष जब मैं पटनामें था, तब प्राचीन पाटलिपुत्रकी खुदाईके अवशेष एवं भूमिको देखनेका सुअवसर आया था; वहाँपर बड़े-बड़े काष्ठके सुसंस्कृत पटरे पड़े हुए थे, जिनमें कुछ अधजले भी थे। पाटलिपुत्रमें विस्तृत आग लगनेके उल्लेख बौद्ध-साहित्यमें मिलते हैं। मौर्यकालमें काष्ठका उपयोग व्यापकरूपसे हो रहा था, तक्षण-कलामें तो होता ही था। पटनाके संग्रहालयमें आज भी बहुत-से काष्ठावशेषोंमें एक रथका पहिया भी है। इसे खास अशोकके रथका चक्र बताया जाता है। इसमें कितना सत्य है सो पता नहीं; पर पहियेकी बनावटसे इतना तो निःसंकोचभावसे कहा जा सकता है कि यह ई० पू० का तो निश्चित ही है। रचनाकौशल प्रेक्षणीय है।

गौतम बुद्धने अक्षरारम्भ करते समय चन्दनकाष्ठ-पट्टिकाका उपयोग किया था। इस उदाहरणसे ज्ञात होता है कि उन दिनों लेखनकलाके विशेष अभ्यासमें काष्ठका सुचलन रहा होगा। 'ललितविस्तर' और 'कटाहक-जातक' इसके उदाहरण हैं। यद्यपि प्राचीन और मध्यकालीन जितने भी कलात्मक प्रतीक मिले हैं, वे प्रायः सभी प्रस्तरोंके हैं, तथापि उनसे यह प्रमाणित नहीं होता कि उस कालमें गृह-निर्माणादि कार्योंमें काष्ठका प्रयोग नहीं होता था। 'वसुदेव हिंदी' जो कि छठी सदीका एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, उसमें एक काष्ठशिल्पीकी एक रोचक कथा आती है। उसमें उसकी काष्ठनिर्माणकलापर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। साहित्य समाजका प्रतिबिम्ब है; ऐसी दशामें मानना पड़ेगा कि मध्यकालीन तथा इतः पूर्व कुछ शताब्दियोंके पूर्व भारतमें काष्ठको कलात्मक उपकरणनिर्माणमें अवश्य ही प्रधान स्थान मिला था। भागवतमें मूर्ति-निर्माणविषयक उपकरणोंकी जहाँपर चर्चा की गयी है, वहाँपर काष्ठकी मूर्तियाँ बनानेका स्पष्ट विधान है। ठीक, इसी प्रकारके एकाधिक उल्लेख जैन-शिल्पके ग्रन्थोंमें भी पाये जाते हैं। जैनमूर्तियाँ काष्ठकी मैंने कई जगह देखी हैं। (कलकत्ता विद्यालयान्तर्गत) आशुतोष म्यूजियममें काष्ठकी विशाल जैनमूर्ति है, जो विष्णुपुर (बिहार) से प्राप्त की गयी थी। नैपालमें अत्यन्त सुन्दर काष्ठमूर्तियाँ बनानेकी विशिष्ट प्रथा थी। इन मूर्तियोंके

निर्माणमें वहाँके सौन्दर्यप्रेमी कलाकारोंने जो कमाल किया है, वह अनिर्वचनीय है। रंगीन मूर्तियोंको देखकर कल्पना नहीं होती कि ये प्रतिमाएँ काष्ठकी होंगी। विशेषकर बौद्धतन्त्रोंसे सम्बन्धित मूर्तियाँ मिलती हैं। यों भी नैपाल पहाड़ी प्रदेश होनेके कारण काष्ठ-शिल्पमें काफी आगे रहा है। और भी पहाड़ी प्रदेशोंमें काष्ठ-का उपयोग अच्छे-से-अच्छे रूपमें होता है।

पश्चिम भारतके विशाल भवन और देव-मन्दिरोंके निर्माणमें बहुत कुछ अंशोंमें पत्थरका स्थान काष्ठ—लकड़ीने ले रखा था। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि विवक्षित कालमें काष्ठके ऊपर कलात्मक रेखाएँ शायद ही खचित की जाती हों, जैसे पत्थरोंपर खींची जाती थीं।

सोमनाथका मन्दिर वैदिकोंकी दृष्टिमें ऊँचा स्थान रखता है। द्वादश ज्योतिर्लिंगोंमें उसकी परिगणना है। शिल्प और प्राचीन तक्षणकलामें अभिरुचि रखनेवालोंके लिये भी मन्दिरकी रचनाशैली महत्त्वपूर्ण है। मन्दिरका प्रथम निर्माण किस पद्धतिसे हुआ होगा, यह कहना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। कारण, उतनी प्राचीन कोई सामग्री न तो वहाँ उपलब्ध ही हुई है और न अन्यत्र उल्लेख ही वर्तमान हैं। परंतु बारहवीं सदीके प्राप्त ऐतिहासिक उल्लेखोंसे यह निश्चित कहा जा सकता है कि परमार्हत महाराजा कुमारपालकृत जीर्णोद्धारके समय सम्पूर्ण मन्दिर काष्ठका था। इसकी विशाल छत काष्ठके ५७ मजबूत खम्भोंपर आधृत थी, वे स्तम्भ खास तौरसे अफ्रीकासे लाये गये थे। इस मन्दिरको महमूद गजनवीने बुरी तरह क्षत-विक्षत कर दिया था। अतः भीमदेव और महाराजा कुमारपालने (जैन होते हुए भी) इसका जीर्णोद्धार करवाया था, जो धार्मिक सहिष्णुता तथा प्रेमका अच्छा उदाहरण है। कुमारपालने तारंगा हिलपर भगवान् अजितनाथजीका एक मन्दिर बनवाया था; इसमें ऐसे काष्ठका उपयोग किया गया था कि जिससे अग्निस्पर्श कराये जानेपर जल निकलता था। ऐसा प्रवाद आज भी है। मैं नहीं कह सकता इसमें सत्य कितना है।

प्राचीन नीतिविषयक ग्रन्थोंमें काष्ठका उपयोग चिरकालतक बिना तैलके जलनेवाली मशालके रूपमें आया है। शुक्र-नीतिमें मैंने इसका वर्णन देखा है।

प्राचीन कालमें तिब्बत और चीनमें जिस प्रकार हस्त लिखित ग्रन्थोंकी रक्षाके लिये काष्ठफलोंका प्रयोग होने लगा था एवं कलाकारोंद्वारा उनपर कई प्रकारकी नक्काशीका काम प्रारम्भ हुआ था, ठीक उसीके अनुरूप भारतमें भी १२वीं सदीके उत्तरार्द्धमें इस प्रथाका सूत्रपात हुआ; सम्भव है इससे पूर्व भी हुआ हो। दोनोंमें अन्तर केवल इतना ही था कि तिब्बत और बर्माके कलाकारोंने अपने सम्पुटके ऊपरी भागको कलात्मक रेखाओंद्वारा सुन्दर बनानेपर अधिक ध्यान दिया। उनपर अपने धर्ममान्य विविध भावोंका उत्खनन एवं कहींपर बेल-बूटोंके समूह अंकित किये। इनके पीछे धर्म-भावना तो थी ही; परंतु वह समाजमूलक थी, प्रकृतिगत थी। कला-समीक्षकोंके लिये इतनी ही सामग्री काफी है, इतनेपरसे उन देशोंकी जनताके मनोभावोंका हलका पता तो लग ही जाता है। इनके विशाल संग्रह बर्मा, चीन, बोडलियन संग्रहालयोंमें विद्यमान हैं। मुझे पता चला है इस प्रकारके सम्पुटोंके निर्माणमें लामा लोग चन्दनका उपयोग—शायद बहुमूल्य होनेके कारण करते थे। चन्दनका व्यवहार बौद्धोंने इससे पूर्व भी किया था। गोपालके पुत्र धर्मपालने (बिहार-शरीफ पटनामें) एक विशाल विहार बनवाया था, इसमें बोधिसत्व अवलोकितेश्वरकी प्रतिमा चन्दनकी स्थापित की थी। इस विहारकी यात्रा ह्वेनसांगने की थी। अस्तु,

पश्चिम भारतमें जैनोंने तालपत्रके ग्रन्थोंको चिरकालतक सुरक्षित रखनेमें सहायक काष्ठफलकोंके बाह्य भागोंपर तनिक भी ध्यान न दिया, जैसा बौद्ध लोग देते थे। परंतु भीतरी भागपर अधिक ध्यान दिया। अन्तर्भागको भलीभाँति स्वच्छकर उनपर जैन-साहित्यके कथाविभागसे सम्बन्धित भावोंका तथा तीर्थंकर एवं उनके अधिष्ठाता-अधिष्ठातृदेवियोंके चित्र अंकित किये जाते थे। कभी-कभी ग्रन्थलेखक या लिखनेवालेके द्वारा अपने आत्मीय पूज्याचार्योंके जीवनकी विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाका तथा सर्वप्रिय महात्माओंके चित्र भी अंकित करवानेके पर्याप्त उदाहरण मिले हैं। यों तो इस प्रकारके काष्ठफलक बहुत-से ज्ञानागारोंमें मिलते हैं; परंतु अद्यावधि ज्ञातपट्टिकाएँ जैसलमेरके ज्ञानभण्डारकी अच्छी मानी जाती हैं। इनका दो दृष्टियोंसे महत्त्व है—एक तो चित्रकलाकी दृष्टिसे और द्वितीय ऐतिहासिक घटनावलीसे। इनमेंसे कुछका प्रकाशन भारतीय विद्या—सिंधी स्मृति अंकमें हुआ है, जिनमेंसे कुछका परिचय इस प्रकार है—

(१) दूसरी पट्टिकामें आचार्य श्रीजिनदत्त सूरि विराजमान हैं। सम्मुख पण्डित जिनरक्षित गुणचन्द्राचार्य एवं श्रावक-श्राविकाएँ बैठी हैं। काष्ठपट्टिकाके भागपर भगवान् महावीरका प्रतिष्ठोत्सव बतलाया गया है, जो त्रिभुवनगिरिमें आचार्य श्रीजिनदत्त सूरिद्वारा सम्पन्न हुआ था। पट्टिकाके दोनों ओर कमल-पुष्पकी पँखुड़ियाँ चित्रित हैं। इस प्रकारकी और भी काष्ठ-पट्टिकाएँ जैसलमेरमें होनेकी सम्भावना है। कुछ तो जैन-समाजके गुरु कहलानेवाले यतियोंने पानीके मोल विदेशियोंके हाथों बेंच दी। तिब्बतमें भी इस प्रकारके काष्ठ-फलक प्रज्ञापारमिताकी पोथियोंमें पाये जाते हैं। दक्षिण भारतमें भी तालपत्रोंपर खरोंचकर लिखा जाता था। यहाँपर भी पश्चिम भारतके समान ही कलापूर्ण काष्ठ-फलक बनते रहे होंगे; परंतु दक्षिण भारतमें अभीतक प्राचीन-ग्रन्थविषयक समुचित अन्वेषण नहीं हुआ।

(२) आचार्य वादिदेव सूरि और कुमुदचन्द्रका शास्त्रार्थ महाराज सिद्धराजकी सभामें हुआ था। प्रस्तुत काष्ठ-फलकपर इसी शास्त्रार्थके पाँच-छः प्रसंगोंपर प्रकाश डालनेवाले भाव अंकित हैं। संगीतके तीनों अंग बड़ी खूबीसे दिखाये गये हैं।

उपर्युक्त काष्ठपट्टिकाओंपर जो कला अवतरित हुई है, यों तो वह धर्ममूलक है; परंतु मध्यकालीन भारतीय चित्रकलाकी दृष्टिसे भी इनका कम महत्त्व नहीं। कारण कि राजपूतपूर्व विकसित चित्रकलाके उदाहरण अद्यावधि अत्यल्प उपलब्ध हुए हैं। जितने मिले हैं, वे जैनोंद्वारा पोषित कलाके प्रतीक हैं। अतः इन पट्टिकाओंको यदि राजपूत-पूर्व विकसित चित्रकलाका आदि रूप कहें तो अत्युक्ति न होगी।

प्रश्न हो सकता है कि काष्ठ-फलकोंपर जिन रेखाओंको कलाकारोंने अंकित किया है, उनकी प्रेरणा उन्हें कहाँसे मिली थी। कलाकी दृष्टिसे यह विषय इतना गम्भीर है कि जबतक तद्विषयक तत्कालीन प्रचुर सामग्री उपलब्ध नहीं हो जाती, तबतक निश्चितरूपसे कुछ भी कहना कठिन है। शिल्प और चित्रकलाका रेखाओंकी दृष्टिसे अभिन्न सम्बन्ध है। दोनों परस्पर एक-दूसरेसे प्रतिबिम्बित हैं। प्राचीन तिब्बतीय शिल्पकलाके विकासकी कल्पना जैसे हम तात्कालिक उपलब्ध चित्रोंसे करते हैं, उसी प्रकार वहाँपर भी ८वींसे ११वीं सदीके विकसित शिल्प-कलात्मक अवशेषोंसे अभिलषित-कालीन चित्रकलाकी रेखाओंकी दृष्टिसे विकासकी कल्पना कर सकते हैं। 'शान्तिनिकेतन' के आचार्य श्रीनन्दलाल वसुसे इस सम्बन्धमें मेरी बातचीत हुई थी। उनका अभिमत है कि जैनाश्रित चित्रकलाके विकासके बहुत कुछ तत्त्व इलोराकी शिल्पकलामें निहित हैं। अर्थात् जैनाश्रित कलाकारोंने इलोराकी शिल्प-रेखाओंसे प्रेरणा प्राप्त की। इलोराकी शिल्पकला और विवक्षित जैनाश्रित फलकवाले चित्रोंका तुलनात्मक दृष्टिसे देखनेसे वसु महोदयका उपर्युक्त कथन समीचीन प्रतीत होता है।

जितनी भी प्राचीन काष्ठपट्टिकाएँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें सं० १४२५ वाली दो हैं। दोनों "३३×३" साइजकी हैं। दोनोंपर श्रमण-संस्कृतिके परमोन्नायक भगवान् पार्श्वनाथ स्वामीके दशीभव और पंच-कल्याणक चित्रित हैं। यद्यपि रक्षककी असावधानीसे चित्रोंका बहुत-सा भाग तो नष्ट हो गया है, तो भी अवशिष्ट भाग भी कलाकी अभिव्यंजनाको लिये हुए है। सं० १४५४ की तालपत्रीय सूत्रकृत्यंगवृत्ति नामक पुस्तक उपलब्ध हुई है। इसकी काष्ठ-पट्टिकापर श्रमण भगवान् महावीरके २७ भवोंमेंसे कुछ भवों और पंच कल्याणकोंके चित्र अंकित हैं*। काष्ठ-पट्टिकाओंका ह्रास तब हुआ, जब तालपत्रलेखन-पद्धति जैन-समाजसे उठ गयी। १४वीं सदीके बादकी तालपत्रीय प्रतियाँ नहींके बराबर मिलती हैं। कागजकी पोथियोंके विकासके साथ काष्ठ-फलकपर जो अंकन किया जाता था, वह चित्रोंके रूपमें परिवर्तित हो गया अर्थात् दीवालोंपर लगे काष्ठपर चित्रांकन-पर्व पद्धतिका सूत्रपात हुआ। अहमदाबाद, सूरत, राधनपुर और खम्भात आदि नगरोंके जैन-मन्दिरोंमें अच्छे-से-अच्छे कलात्मक प्रतीक उपलब्ध हुए हैं। वे प्रतीक धर्ममूलक होते हुए भी मध्यकालीन भारतीय चित्र-कलाके क्रमिक विकासपर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

१५वीं सदीके बाद कुछ ऐसी भी लकड़ीकी पट्टियाँ मिलती हैं, जिनपर सम्पूर्ण वर्णमाला, संख्या और संयुक्ताक्षर लिखे रहते हैं। इनके दूसरे भागमें अपने-अपने धर्ममान्य भाव अंकित रहते हैं। इस प्रकारकी पद्धतिके विकासके पीछे दो भावनाएँ काम करती हैं। बालकोंको लिपि प्रारम्भसे ही साधु रहे और दूसरे, प्राचीन लिपिकी मरोड़का भी समुचित ज्ञान हो जाय। क्योंकि प्राचीन कालमें समाजके पास ग्रन्थाध्ययन-विषयक साधन स्वल्प थे। आजकल प्राचीन संग्रहालयोंमें

* जैनचित्रकल्पद्रुम, पृष्ठ ४९।

इस प्रकारकी कई पट्टिकाएँ प्राप्त होती हैं और आज भी मध्यकालीन लिपियोंसे परिचय रखनेके लिये जैन मुनियोंको सीखनी पड़ती हैं। मुझे भी इस कोटिमें छुटपनमें आना पड़ा था। शिक्षा-प्राप्तिके ये उपकरण शोषित समाजके रहे हों चाहे सांस्कृतिक; परंतु इतना सच है कि साधारण श्रेणीके मनुष्य भी अल्पसाधन रहनेके बावजूद भी उन दिनों अक्षर-ज्ञानसे वंचित नहीं रहते थे।

जिन दिनों मैं त्रिपुरीमें था, मुझे चन्दनकाष्ठकी तीन पट्टिकाएँ मिली थीं; वे इतिहास और खुदाईकी दृष्टिसे अत्यन्त मूल्यवान् हैं। प्रथम काष्ठपट्टिका ९६ इंचकी है। अश्वपर एक स्त्री भूषणोंसे विभूषित बैठी है। ये छत्तीसगढ़में प्रचलित आभूषणोंसे मिलते हैं। बायीं ओर तलवार एवं कटि-प्रदेशमें कटार है। कानोंके जेवर विलक्षण हैं। मस्तकके बाल खुले हैं। सम्भवतः यह कोई गौड़ राजकुमारी रही होगी या यह किसी सतीका प्रतीक हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

दूसरी पट्टिका १०''×५'' की है। अश्वपर स्पष्ट मुखवाला पुरुष अधिष्ठित है। निम्नभागमें ये शब्द खुदे हैं—'कल्याणसिंह समवत् १६९६ वः सुना।' मेरी रायमें यह किसी योद्धाका चित्र है।

उपर्युक्त तीनों काष्ठ-शिल्पके अध्ययनसे मैं इस निष्कर्षपर पहुँचता हूँ कि ये १६वीं, १७वीं सदीकी महाकोसल-कलाके सुन्दर उदाहरण हैं।

चाँदवड (जिला नासिक) में अहल्याबाई होल्करका एक विशाल राजमहल है, इसके निर्माणमें ४०० से अधिक काष्ठ स्तम्भ लगे हैं। ये स्तम्भ ऐसे हैं कि जिन्हें दोनों ओरसे दो व्यक्ति मिलकर अंकमें लेना चाहें तो नहीं ले सकते। छतकी काष्ठकी कड़ियोंपर जो नक्काशी की गयी है, वह उन्नीसवीं सदीकी अच्छी कारीगरीके नमूनोंमें हैं। यद्यपि अहल्याबाईका यह महल इतिहासकी दृष्टिसे बहुत प्राचीन नहीं कहा जा सकता, फिर भी प्राचीन भारतीय गृह-निर्माण-कलाकी यह अन्तिम कड़ी है। अहल्याबाईका धर्मप्रेम भारत-प्रसिद्ध है। जिस हालमें वे बैठा करती थीं, उसकी विस्तृत दीवालोंपर दोनों ओर रामायण और महाभारतके चित्र महाराष्ट्र-कलममें अंकित हैं। इन चित्रोंका अध्ययन सम्भवतः अभी नहीं हुआ है।……टीपू सुल्तानने श्रीरंगपट्टनका सम्पूर्ण महल ही काष्ठका बनवाया था। १७वीं-१८वीं सदीका मानवाकार विशाल काष्ठ-सिंहासन दीवानबहादुर श्रीराधाकृष्ण जालान (पटना) के संग्रहालयमें है। इसपर सुनहरी स्याही पोत दी गयी है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अग्रभागमें भगवान् बुद्धकी विशिष्ट जीवन-घटनाएँ एवं लामाओंके मठोंकी आकृतियाँ खचित हैं। साथ-ही-साथ भिन्न-भिन्न प्रकारके उभरे हुए पुष्प प्रेक्षकोंका ध्यान खींच लेते हैं। यह सिंहासन तिब्बतीय कलाका अनुपम प्रतीक है। बर्मामें विस्तृत काष्ठनिर्मित राज्यसिंहासनसे शायद ही कोई अपरिचित हो। उपर्युक्त जालान महोदयके संग्रहालयमें काष्ठकी कारीगरीके बहुत-से अवशेष हैं। इनमें उड़ीसाके एक मन्दिरका तोरण बहुत ही मनोहर है। इसे मैं उड़ीसाका इसलिये कहता हूँ कि तोरणमें उत्कीर्ण शिखर भुवनेश्वरकी शिखाकृति है। चौदह स्वप्नोंका जमाव होनेसे और मध्यमें कलशाकृति स्पष्ट होनेसे निःसन्देह यह किसी जैन-मन्दिरका ही भाग है। उड़ीसामें अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा आज भी कलाके उपकरण-रूपमें काष्ठका व्यवहार व्यापकरूपसे होता है। फिर भी वहाँकी ग्रामीण जनताका जीवन सर्वथा कलाविहीन नहीं है। अल्प अर्थमें भी वे अपनी कला-क्षुधा शान्त कर सकते हैं। आप किसी भी देहातमें चले जाइये, वहाँ जगन्नाथके मन्दिर काष्ठके ही बने हुए मिलेंगे। इनमें विष्णुके दशावतारोंके चित्र या भागवत एवं रामायणसे सम्बन्धित चित्र लकड़ीपर खुदे हुए मिलते हैं। इन मन्दिरोंके बहाने आज भी जनताके कलाकारोंका पोषण उड़ीसामें होता है।

१८वीं सदीमें हस्तलिखित ग्रन्थोंको सुरक्षित रखनेके लिये काष्ठके बक्से ''८×१५'' परिमाणके बनाये जाते थे। इनपर भी वैदिक या जैन-संस्कृतिसे सम्बन्धित मूर्तियाँ एवं कई प्रकारकी देशपरक आकृतियाँ अंकित मिलती हैं। मेरे संग्रहमें भी ऐसे दो बक्स हैं, जिनपर क्रमशः सरस्वती और गणेशके चित्र हैं। उत्तर-गुजरातसे अभी-अभी कुछ काष्ठ-पुतलियाँ प्राप्त हुई हैं। सौराष्ट्रमें आज भी जो बड़े-बड़े भवन बनते हैं, उनपर काफी नक्काशी पायी जाती है। सौराष्ट्र और राजपूतानेके प्रदेशद्वार भारतमें प्रसिद्ध हैं।

उपसंहार

इतने लंबे विवेचनके बाद एक बातकी ओर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता

है। जो काष्ठनिर्मित वस्तुएँ प्रत्यक्ष मिलती हैं, उनकी चर्चा ऊपर की गयी; परंतु इस प्रकारके अध्ययनमें अजंता, बाघ आदि गुफाओंके भित्तिचित्रोंको नहीं भुलाना चाहिये। क्योंकि उनमें तात्कालिक जनताके आमोद-प्रमोद-उत्सवकी बहुत-सी घटनाओंके साथ-साथ समाजमूलक प्रवृत्तियोंमें सहायक एवं भिन्न-भिन्न वाहनोंके चित्र भी अंकित मिलते हैं। इनसे इतना अंदाज तो लगाया ही जा सकता है कि वे काष्ठके ही बने होंगे। इस प्रकार प्राचीन साहित्य, शिल्प एवं चित्र-कलाको भी इसके अध्ययनमें स्थान देना चाहिये। इन पंक्तियोंसे यह भी प्रतीत होता है कि कलात्मक भावोंको व्यक्त करनेके लिये सौन्दर्यसम्पन्न उपकरण ही आवश्यक हों, ऐसी बात नहीं। कला वही है, जो असुन्दर वस्तुमें सत्य, शिव, सुन्दरकी स्थापना कर सके।' भारतीय कलाकारोंपर वह पंक्ति सोलहों आने चरितार्थ होती है।

हिमाचल-चित्रकला

(लेखक—डॉ० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम०ए०, डी० लिट०)

काँगड़ा-चित्रकलाको पहाड़ी चित्रकला भी कहा जाता है। कुछ विद्वान् इसे हिमालय-चित्रकलाका नाम देते हैं। अभी हालमें श्रीनान्हालाल मेहताने इसके लिये 'हिमाचल-चित्रशैली' यह सुन्दर नाम चुना है। सन् १९१६ में श्रीआनन्द कुमारस्वामीने विशेषरूपसे इस चित्र-शैलीके सौन्दर्य और रसका बखान किया था और अपनी पुस्तक 'राजस्थानी पेंटिंग'में राजस्थानी चित्रकलाके अन्तर्गत ही हिमाचल-चित्रशैलीको भी स्थान दिया था। कुमारस्वामी भारतीय कलाके अद्भुत पारखी थे। छिपे हुए सौन्दर्यको उनकी पैनी आँख तुरंत पहचान लेती थी। उन्होंने देखा कि भारतीय कलामें रसका यह अपूर्व सोता अभीतक अनजाना हुआ पड़ा है। इस चित्रशैलीमें सुन्दरता और आनन्दकी जो रसलहरी है, उससे परिचित होना मनुष्यमात्रके लिये उचित है। अतएव कुमारस्वामीकी तेजस्वी लेखनीने दो बड़ी जिल्दोंमें राजस्थानी और उसीके अन्तर्गत काँगड़ा-चित्रोंका सचित्र रसात्मक वर्णन जनताके सामने रखा और यह सम्मति प्रकट की कि न केवल इन चित्रोंमें भारतीय हृदयकी पूरी छाप, वरं इनकी भाषा मनुष्यमात्रके लिये है। इस कारण यह चित्रशैली संसारकी उन श्रेष्ठ कलाओंमें स्थान पाने योग्य है, जो मनुष्यके हार्दिक भावोंको रंग और रेखाद्वारा अमर बनानेका प्रयत्न करती हैं। समयके बीतनेपर कुमारस्वामीकी यह सम्मति खरी उतरी और हिमालयकी गोदमें पली हुई यह सुकुमार चित्रशैली आज अपने सौन्दर्यसे सहृदय पारखी व्यक्तियोंके मनको पूर्व और पश्चिममें एक-समान रस-सिंचित करनेमें सफल हुई है। अंग्रेजी कलापारखी लारेंस बिनयन ब्रिटिश म्यूजियममें चित्र-विभागके अध्यक्ष और विश्वकी अनेक चित्रशैलियोंके मार्मिक जानकार थे। काँगड़ा-चित्रोंसे जब उनका परिचय हुआ, तब उनका मन किसी छिपी हुई सौन्दर्यराशिके सम्पर्कमें आकर विचलित-सा हो उठा। उन्होंने लिखा—'वह अपूर्व सुख और थिरकन, जो काँगड़ा प्रदेशके चित्रोंको पहले-पहल देखकर मैंने अनुभव की, मैं कैसे भूल सकता हूँ। कैसे यह बात सम्भव हुई कि इस मोहिनी चित्रराशिका परिचय पश्चिममें अबतक हमारे पास न पहुँच सका? एक रेखाचित्रने, जिसमें तबतक रंग नहीं भरा गया था, विशेषरूपसे मनको खींच लिया। चित्रमें दो प्रेमी चाँदनी रातमें सरोवरके तटपर मण्डपके नीचे संगीतका सुख लूटते हुए दिखाये गये थे। चित्र मनको मायाके कान्तिमय जगत्में हरे लिये जाता था; वह देखनेमें सरल—पर मुक्तक गीतकी तरह चुभता हुआ था। इस शैलीके जो सर्वोत्तम चित्र हैं, उन्हें देखते हुए कहना पड़ता है कि काँगड़ाकी कला ठेठ आह्लादका रूप है। जो इन चित्रोंका ध्येय है, उससे अधिककी आशा हम उनसे न करें; पर मनके भावोंका उद्घाटन और किन चित्रोंकी रेखाओंमें इतनी लुनाईके साथ मिलता है? काँगड़ाके चित्रोंमें निष्कपट ढंगसे मनके भाव उघाड़े हुए मिलते हैं। उनकी सहज छूट कुछ ऐसी है, जैसी पुराने रासोगीत या पवाड़ोंकी होती है, जिनका मिठास हृदयमें घर कर लेता है। संसारकी कलामें यह बेजोड़ बात है।' सुन्दरताके एक सच्चे पारखीके ये सहज उद्गार काँगड़ाशैलीके प्रति हमारे मनके उत्साहको बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं।

जम्मूसे टिहरी और पठानकोटसे कुल्लूतक फैला हुआ लगभग १५० मील लंबा और १०० मील चौड़ा पहाड़ी प्रदेश काँगड़ा-चित्रशैलीका क्षेत्र है। काँगड़ेका इतिहास पुराना है। महाभारतमें इसे त्रिगर्त कहा गया है। रावी, ब्यास, सतलज—तीन नदी-घाटियोंसे बना होनेके कारण इसका नाम त्रिगर्त पड़ा था। रावीके उत्तरी किनारेपर चम्बा और बसौली हैं, जहाँ बहुत-से सुन्दर चित्र बने। रावी और ब्यासके बीचकी चौड़ी घाटीका नाम काँगड़ा है, जो बहुत ही उपजाऊ है। इसमें नूरपुर, हरिपुर (गुलेर), काँगड़ा, बैजनाथनगर आदि बड़े शहर हैं। ब्यास और सतलजके बीचमें मण्डी, सुकेत, विलासपुर, बशहर आदि रियासतें कटहलके कोयोंकी तरह भरी हुई हैं। बशहरके ठीक दक्षिण टिहरी-गढ़वाल है, जहाँ १९वीं सदीके मध्यमें काँगड़ा-चित्रशैली अन्तिम बार चमककर लुप्त हो गयी। इन रियासतोंमें प्राचीन सभ्यता बाहरी प्रभावसे बचती हुई अपना जीवन बनाये रख सकी। वहाँ नाचते-गाते स्त्री-पुरुष अपने उमंगभरे जीवनमें हिमालयकी बर्फीली चोटियोंको देखते हुए देवदार, कैल और चीड़के वनोंमें बहती हुई हवा और वनोंके पशु-पक्षियोंके साथ किलोल करते रहे। शान्ति और आनन्दका यह अध्याय बहुत ही मनोरम ढंगसे चित्रात्मक कलाके रूपमें प्रकट हुआ। १७वीं और विशेषकर १८वीं सदीमें चित्रसृष्टिकी यहाँ बाढ़-सी आ गयी थी, जिसके फलरूप लगभग पचास हजार चित्र यहाँ बने होंगे, जो आज भी अधिकांश सुरक्षित रह गये हैं।

काँगड़ा-चित्रशैलीका ध्रुवविन्दु सुन्दर नारी है। उसीके चारों ओर इन चित्रोंका जाल पूरा हुआ है। नारीका जो अष्टयाम और बारहमासी जीवन है, उसीके ताने-बानेसे पहाड़ी चित्रशैलीका सुरम्य पट बुना गया है। प्रेम और शृंगार, संयोग और वियोग, इस किमखाबी वस्त्रको सजावट प्रदान करते हैं। काँगड़ाचित्रोंमें नारीकी दीप्तमूर्तिके अनेक चित्र मनपर छप जाते हैं। पुरुषोंका अस्तित्व नारीके जीवनको विकसित करनेके लिये है। चित्रकार पुरुषके रूप-सम्पादनमें उतना उत्सुक नहीं जान पड़ता और न पुरुषकी किसी भव्य आकृतिका संस्कार काँगड़ा-चित्र अपने पीछे छोड़ते हैं। किन्तु स्त्रीकी अपार सुषमा, अंग-प्रत्यंगकी बहुविध सुन्दरता शरीरके लावण्य और मुखकान्तिको सैकड़ों प्रकारसे प्रकट करते हुए वे नहीं अघाते। शायद ही नारी-सौन्दर्यकी इतनी सजग अनुभूति अन्य किसी चित्रकलामें मिलती हो। रीतिकालके कवियोंने सूरसे लेकर मतिराम, देव और बिहारीके समयतक शब्दोंके सूक्ष्म अभिप्राय रचकर स्त्री-सौन्दर्यका जो आदर्श उपस्थित किया था, उसका प्रत्यक्ष दर्शन हम काँगड़ाके चित्रोंमें पाते हैं। नायक-नायिकाओंके प्रेममय जीवनकी एक-एक कली इन चित्रोंमें प्रस्फुटित दिखानेका प्रयत्न किया गया है। चित्रकारोंकी दृष्टिमें प्रेम ही जीवनका सार है। देवोपम, वैभव, सुन्दर स्वस्थ शरीर, भावुक तरंगित मन यदि किसीको प्राप्त हो सके तो उसके लिये जीवनमें जो सबसे ऊँची साधनाकी वस्तु है—वह प्रेम है। प्रेमसे ही जीवनमें विचित्रता उत्पन्न होती है। शान्तिसे संचित होते हुए जीवनको जब प्रेमकी मलयवात प्रथम बार छू देती है, तब वहींसे जीवनकी विचित्रताका अध्याय शुरू हो जाता है। उसके आगे संयोग और वियोगके, मुग्ध और प्रौढ़ स्नेहके कोमल पल्लव वसन्तकी वनलक्ष्मीके सहचरकी भाँति प्रेमिकाके जीवनको भरने लगते हैं। किन्तु प्रेमकी यह आराधना भक्तिधर्मका आशीर्वाद पाकर ऊँचे स्तरपर प्रतिष्ठित हो गयी। प्रेम करनेवाले युगल दम्पति स्वयं अपना कोई अस्तित्व नहीं रखते। उनका जीवनचित्र विश्व-मानवके जीवनका प्रतीकमात्र है। इसी कारण काँगड़ाके चित्रकार प्रेमकी संचित तीव्र अनुभूतिको श्रीराधाकृष्णके जीवनमें ढालकर उसके अनेक सुन्दर संस्करण सजाते हैं। श्रीराधाकृष्णकी लीला, दिव्य किशोर-किशोरीका जीवन इन चित्रोंकी मुख्य भाषा है। यह भाषा जातिगत संस्कारके रूपमें स्त्री-पुरुष, पढ़े-अनपढ़—सबके लिये सुलभ थी। भागवतके दशम स्कन्धमें श्रीकृष्णकी बाललीला और यौवनगत विलासलीलाका बहुत ही मनोहर और उन्मुक्त वर्णन है, जिसे संस्कृत और भाषाके कवियोंने रससम्पन्न बनानेमें बहुत प्रयत्न किया। इन विषयोंके सहस्रों सुन्दर चित्र काँगड़ा-चित्रशैलीके रत्न हैं। कृष्णका गोचारण, वंशीकी मोहिनी तान, गोवर्धन-धारण, दानलीला, कालियदमन आदि अनेक लीलाएँ चित्रोंके विषय हैं।

बम्बईके श्रीमोदीके संग्रहमें भागवतकी एक अत्यन्त सुन्दर पोथीके बहुत-से चित्र हैं, जो इन चित्रोंकी मँजी हुई शैलीके उदाहरण हैं। गीतगोविन्दके सचित्र और ललित लिपियुक्त संस्करण तैयार करनेका रिवाज

राधा-कृष्णका वर्षाविहार (दोनों एक कामरीके नीचे)

[पृष्ठ ८१७

१८ वीं शती]

श्रीकृष्णका गौ चराकर लौटना

[पृष्ठ ८१७

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

दावानल-पान

बसोली (पहाड़ी) चित्रशैली १८ वीं शती मध्यभाग]

[पृष्ठ ८१७

दमयन्ती-स्वयंवर

पहाड़ी चित्रशैली-रेखाचित्र]

[पृष्ठ ८१७

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

पश्चिमी जैनशैलीमें १५वीं सदीसे ही आरम्भ हो गया था। वही परम्परा राजस्थानी और पहाड़ी चित्रशैलीमें अपनायी गयी जान पड़ती है।

कृष्णलीला और नायक-नायिकासम्बन्धी चित्रोंके अतिरिक्त काँगड़ा-चित्रशैलीके अन्य विषयोंमें रामायण, महाभारत, नल-दमयन्ती और सावित्री-सत्यवान्‌की कथाओंके बहुत ही सुन्दर चित्र मिलते हैं। रामायणके चित्र अपेक्षाकृत बड़े हैं और उनमें वनप्रकृतिका चित्रण मनोहर ढंगसे हुआ है। दिल्लीके सरकारी भवनमें जो भारतीयकलाप्रदर्शनी कुछ समय पहले हुई थी, उसमें काँगड़ाका एक चित्र था। चित्रमें वाल्मीकि मुनिके आश्रममें वीणा लिये हुए नारद पधारे हैं और वाल्मीकि उनसे रामचरित्रके विषयमें प्रश्न कर रहे हैं। यह चित्र बहुत ही प्रसन्नतासे भरा हुआ है और मूल-रामायणके सरल भावके सर्वथा अनुकूल है। नल-दमयन्तीकी एक विशिष्ट चित्रावलीमें केवल रेखाचित्र मिले हैं, जिन्हें पहली बार कुमारस्वामीने प्रकाशित किया था। उसीके कुछ चित्र प्रदर्शनीमें राष्ट्रिय संग्रहालयकी ओरसे प्राप्त हुए हैं। पालकीपर बैठकर दमयन्तीके स्वयंवरमें आनेका चित्र तरल और स्पष्ट रेखांकनके कारण बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। उसमें चटकीले लाल रंगकी जमीन तैयार करके चितेरेने शेष रंगोंको अधूरा छोड़ दिया है। फिर भी चित्र बहुत भावपूर्ण है। चित्रकारोंके पास लोककथाओंके चित्रोंकी माँग भी रही होगी। इसी कारण हम्मीरहठ, विक्रम-वेताल-चरित्र, माधवानल-कामकन्दला, सोनी-महीवालके चित्रोंके कई संग्रह मिले हैं। राजासाहब चम्बाके यहाँ ऊषा-अनिरुद्ध-चरित्रका एक सुन्दर चित्राधार या मुरक्का है, जो उस समय प्रदर्शनीमें आया हुआ था। रागमाला और बारहमासाके चित्रोंकी भरमार राजस्थानी-शैलीमें पायी जाती है। पर काँगड़ा-चित्रशैलीमें उनकी अपेक्षाकृत कमी है।

काँगड़ा-चित्रप्रदेशमें एक स्थान बसौली है, जो रावीके दाहिने तटपर एक छोटा गाँव रह गया है। १७वीं सदीसे १८वीं सदीतक यहाँ बहुत ही विशिष्ट चित्र तैयार होते रहे। १७९०में चम्बाने बसौलीपर हमला करके उसका अस्तित्व मिटा दिया। बसौलीके चित्रकार लाल, पीले, नीले आदि सादे रंगोंसे प्रेम करते थे, जो कि गुजरात और राजस्थानी-चित्रशैलीसे मिलते हैं। इन चित्रोंमें सुकुमारताकी जगह तेज और विलक्षण स्फूर्ति पायी जाती है। श्रीमेहताजीके शब्दोंमें बसौलीके चित्रकार जो कुछ कहना होता है, उसे सीधी-सादी दौड़ती हुई रेखाओंमें सादे फड़कते हुए रंगोंसे रंगीन आलेखनद्वारा कह देते हैं। पहाड़ी चित्रोंकी अपेक्षा बसौलीके चित्र ग्रामीण हैं, किन्तु इसी ग्रामीणतामें इनकी विशेषता है। उनके बल और ओजका प्रदर्शन एक बलवती शैलीद्वारा किया जाता है। इन चित्रोंकी रंग-विशेषताके अतिरिक्त मनुष्यालेखनमें उत्फुल्ल कमलकी तरह बड़ी-बड़ी आँखें, भरे हुए गाल, पीछे जाता हुआ ललाट, इस चित्रशैलीके विशेष लक्षण हैं। इनकी रेखाओंमें कुछ रूखेपनके साथ भी ओजकी मात्रा है। रेखा और रंगका अद्‌भुत समन्वय होता है। इन चित्रोंमें एक विचित्र बात यह है कि स्त्रियों और पुरुषोंके आभूषणोंमें गुबरीलेके पंखोंके चमकीले हरे रंगके टुकड़ोंका उपयोग किया गया है। मालूम होता है कि १७वीं शताब्दीमें ही इस शैलीमें सहस्रोंकी संख्यामें श्रीमद्‌भागवत, रामायण इत्यादि धार्मिक ग्रन्थोंके चित्र बने। इन चित्रोंके सजीले नयन और चटकीले रंगोंको देखकर इनका सम्बन्ध राजपूतानेके चित्रोंसे जान पड़ता है। एक तरहसे पुराने भित्ति-चित्रोंके ये सूक्ष्मरूप हैं। कला-प्रदर्शनीमें पहली बार बसौली-चित्रोंका बड़ा संग्रह एकत्र किया गया था। इनमें वनमें हिरनोंको प्यार करती हुई राजकुमारीका चित्र बहुत ही सुन्दर है। यह चित्र श्रीमेहताके संग्रहमें है। श्रीखंडालावालाके संग्रहमें एक बसौलीका चित्र है, जिसमें श्रीकृष्णके दावानलका आचमन करनेका दृश्य है। यह चित्र बसौलीके बहुत ही प्राणवन्त उत्कृष्ट चित्रोंमें है, जिसमें आकृतियोंका संपुंजन चित्रकौशलकी पराकाष्ठाको प्रकट करता है।

काँगड़ाके राजा संसारचन्द्र (१७७४—१८२३) पहाड़ी चित्रकलाके लिये समुद्रगुप्त और विक्रमादित्यकी तरह हुए हैं। उनके समयमें महाभारत और कृष्णलीलाके अनेक चित्र बने, जिनमें पहाड़ी चित्रशैलीकी रेखा और रंगोंका मार्दव अपनी चरम सीमाको पहुँच गया था। चित्रकारोंने आलेखनके किसी भी विषयको छोड़ा नहीं है। राधाकृष्णको उपलक्ष बनाकर जीवनकी तमाम लीलाओंका इन चित्रकारोंने आलेखन किया है। चित्र क्या हैं, मानो जीवनकी लीलाओंके मुक्तक काव्य हैं। वनवाटिका-विहार, भोजन, वसन, शृंगार, ताम्बूल-वितरण, आखेट, नौका-विहार, अनेक प्रकारकी क्रीड़ाओं

और प्रणयके प्रसंगोंका चित्रण इन चित्रोंमें हुआ है, जो काँगड़ी-शैलीको विषयकी दृष्टिसे बहुत ही रोचक और आकर्षक बना देता है।

काँगड़ा-चित्रशैलीका ही क्षेत्र गढ़वालमें था, जहाँ १९वीं सदीके मध्यतक आकर्षक चित्रोंका निर्माण होता रहा। इन चित्रोंमें मानकू, चैतू और भोलारामके चित्र प्रसिद्ध हैं।

काँगड़ा-चित्रशैली भारतमें कलात्मक सौन्दर्य-सृष्टिकी अनुपम निधि है। उसमें जितने अधिकसंख्यक सुन्दर और रसात्मक चित्रोंका आलेखन हुआ, उतना अन्यत्र नहीं। इन चित्रोंके सामूहिक संग्रह और प्रकाशनकी आवश्यकता है, जिससे मध्यकालीन भक्ति और शृंगारप्रधान जीवनका सरस और अन्तरंग परिचय साक्षात् मिल सके।

मुगल-चित्रकला तथा उसका विवेचन

(लेखक—काव्यालंकार पं० श्रीमथुराप्रसादजी शर्मा 'मथुरेश')

चित्रकलाका आधार कपड़ा, कागज, लकड़ी, मिट्टी आदिका चित्रपट है, जिसपर चित्रकार अपनी तूलिका या लेखनीसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी वस्तुओं और जीवधारियोंकी आकृतियाँ अंकित करता है। वह अपनी तूलिकासे समतल धरातलपर स्थूलता, न्यूनता, दूरी, निकटता प्रदर्शित करता है। उसे देखकर हम वास्तविक वस्तुके मूलरूपका अनुभव करने लगते हैं। चित्रकार अपनी चित्रकलाके द्वारा मानसिक सृष्टिका सृजन करता है। चित्रकारको कोई घटना या दृश्य अंकित करनेमें केवल उसके बाहरी अंगोंको ही जानना तथा अंकित करना नहीं होता, प्रत्युत उसे उसमें सजीवता लानेके लिये अपने मानसिक भावोंका चित्र-सा उपस्थित करना पड़ता है।

भारतवासी प्राचीनकालसे ही चित्रकलाको जानते हैं, जो अजंताके चित्रोंसे स्पष्ट है। पूर्व मध्यकालमें भी चित्रकारी होती तो थी; किंतु कुछ मुसलमान राजाओंकी धार्मिक कट्टरताके कारण उसकी समुचित उन्नति नहीं हो सकी थी। मुगलोंके आक्रमणके पश्चात् चित्रकलाने पुनर्जीवन प्राप्त किया। इस वंशके राजाओंने एक नवीन शैलीका, जो फारसी कलासे प्रभावित थी, उद्घाटन किया; किंतु अन्तको वह भी भारतीयताके रंगमें रँग गयी।

जब हुमायूँ फारससे लौटकर आया, तब वहाँसे वह सैयदअली और अब्दुस्समद नामके चित्रकारोंको लाया, जिनके द्वारा उसने प्रसिद्ध फारसी काव्य 'अमीर हमजा' को चित्रांकित कराया, जो अत्यन्त उत्तम है। अकबरको चित्रकलासे अधिक प्रेम था। उसने भारतीय और फारसी चित्रकलाओंको एकत्रित करके मुगल चित्रकलाको जन्म दिया। अकबर चित्रकलाद्वारा ईश्वरको समझ पाता था। उसके दरबारके चित्रकारोंमें वसावन, दसवंत, सावँलदास लाल, नैहल, फारूख बेग और मुराद मुख्य-मुख्य थे। इन चित्रकारोंने महाभारत, बाबरनामा, अकबरनामा तथा निजामीके काव्यको चित्रांकित किया। उस समय कपड़ोंपर भी चित्र बनाये जाते थे। अकबर अपने चित्रकारोंको उनकी कृतिकी सुन्दरतापर पारितोषिक भी देता था। चित्रकारोंकी चित्रकलाको देखकर सभी व्यक्ति उनसे प्रेम करने लगे थे।

मुगल राजाओंमें जहाँगीर चित्रकलाका अत्यन्त प्रेमी था। चित्रकलाको जाननेमें वह अत्यन्त निपुण था। उसके दरबारी चित्रकारोंमें अबुलहसन, मंसूर अधिक प्रसिद्ध हैं। वह पक्षियों, पौधों तथा फलोंके चित्र खींचनेमें अत्यन्त निपुण थे। विशनदास, मनोहर, गोवर्धन, दौलत, उस्ताद और मुराद भी प्रसिद्ध चित्रकार थे। इन्होंने चित्रकलाका अधिक विकास किया तथा आँख, हाथ और होठोंके चित्र खींचकर मनुष्यके चरित्र और भावोंको प्रकट करनेकी वास्तविक योग्यता प्राप्त की।

शाहजहाँ तथा औरंजेबको चित्रकलासे कोई विशेष प्रेम न था; पर उनके कालमें चित्रकलाकी उन्नति अवश्य हुई। औरंगजेब अपने बेटेके बीमार होनेपर उसके चित्र देखनेके लिये मँगवाया करता था, परंतु इस समय चित्रकारोंका विशेष मान नहीं था। औरंगजेबकी मृत्युके पश्चात् मुगलकलाका ह्रास होने लगा था। तत्पश्चात् चित्रकार समाज और ग्राम्य जीवनके दृश्य चित्रित किया करते थे। मुगलदरबारसे वास्तविक प्रोत्साहन न पानेपर चित्रकार लखनऊ और हैदराबाद नगरोंको चले गये।

नाट्यकलाकी उत्पत्ति तथा विकास

(लेखक—पं० श्रीराधाशरणजी 'मिश्र')

किसी गुण या कौशलके कारण जब किसी वस्तुमें विशेष उपयोगिता और सुन्दरता आ जाती है, तब वह वस्तु कलात्मक हो जाती है। कलाके दो भेद होते हैं—एक उपयोगी कला और दूसरी ललित कला। उपयोगी कलामें लुहार, सुनार, जुलाहे आदिके व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कलाके पाँच भेद होते हैं—वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला। उपर्युक्त दोनों कलाओं (उपयोगी कला और ललित कला)-में ललित कला एवं ललित कलाओंमें काव्यकला श्रेष्ठ होती है। तथा काव्य-कलामें भी **'काव्येषु नाटकं रम्यम्'**, **'नाटकान्तं कवित्वम्'** के आधारपर नाट्यकला ही सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है।

संसार परिवर्तनशील है, इसके परिवर्तनशील होनेके साथ-ही-साथ तदाधारभूत काव्य या साहित्यमें भी परिवर्तन होना स्वाभाविक ही नहीं अपितु अनिवार्य-सा भी है। जैसे हम आधुनिक समाजके विकसित रूपको देखकर प्राचीन गौरव-गाथाओंको दन्तकथा बतलाने लग जाते हैं, वैसे ही हमें अपने पौराणिक नाट्य-साहित्यपर भी अविश्वास-सा ही है। फिर भी नीचेकी पंक्तियोंमें एतद्विषयक विद्वानोंके बिखरे हुए विचार संगृहीत करके लिखे जा रहे हैं।

१-डॉक्टर रिजवे नाटककी उत्पत्ति वीरपूजासे सम्बन्धित मानते हैं। उनका कहना है कि नाटक-प्रणयनकी प्रवृत्ति उन शहीद हुए वीर पुरुषोंके प्रति आदरका भाव प्रदर्शित करनेके लिये ही हुई है। हमारे भारतीय नाटकोंमें भी श्रीराम या श्रीकृष्ण आदि वीर पुरुषोंके चरित्रसे सम्बन्ध रखनेवाले नाटक इस कोटिमें रखे जा सकते हैं।

२-जर्मन विद्वान् डॉक्टर पिशेल नाटककी उत्पत्ति पुत्तलिकानृत्यसे मानते हैं। तथा यह पुत्तलिकानृत्य सबसे पहले भारतमें ही प्रारम्भ हुआ था। इसके बाद विदेशोंमें भी इसका प्रचार पूर्णरूपसे होने लगा। सूत्रधार, स्थापक आदि शब्दोंका अर्थ इस मतका अच्छी तरहसे पोषण करता है। जैसे पुत्तलिकानृत्यमें उनका सूत्र किसी संचालकके हाथमें रहता है तथा एक व्यक्ति पुत्तलिकाओंको स्थापित करता रहता है, वैसे ही नाटकके भी सूत्रधार और स्थापक नाटकीय पात्रोंका यथावत् संचालन करते रहते हैं।

३-कुछ विद्वानोंने नाटककी उत्पत्ति छायानाटकोंसे मानी है। छायानाटक भी आधुनिक सिनेमाकी तरह पूर्वकालमें प्रदर्शित किये जाते थे। तथा इस मतको सुपुष्ट करनेके लिये उन्होंने प्राचीन उल्लेखोंकी भी खोज की है। पर यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि हमारा नाट्य-साहित्य बहुत पुराना है तथा संस्कृतमें दूतांगद नामक नाटक अवश्य पाया जाता है जो कि छायानाटकके सिद्धान्तोंपर आधारित है; किंतु उसमें इतनी प्राचीनता नहीं, जिससे हम उसे हमारे भारतीय नाटकोंकी आधारशिला मान सकें।

४-अनेक भारतीय तथा पश्चिमी विद्वान् नाटकको वेदमूलक मानते हैं। ऋग्वेदमें कई संवादसूक्त आते हैं, जिनमें पुरूरवा और उर्वशीका संवाद विशेष प्रसिद्ध माना गया है। इन संवादसूक्तोंका कथोपकथन बिलकुल ही नाटकका आधार-स्तम्भ कहा जा सकता है।

५-महामुनि भरत जो कि भारतीय नाट्य-साहित्यके प्रथम प्रवर्तक माने गये हैं, उनका मत है कि सांसारिक मनुष्योंको आपत्तियोंसे क्लान्त देखकर इन्द्रादि देवताओंने श्रीब्रह्माजीसे ऐसे वेदकी रचनाके लिये प्रार्थना की, जिसका अलौकिक आनन्द सर्वसाधारणके लिये समानरूपसे प्राप्त हो सके; क्योंकि चतुर्वेदोंके अधिकारी शूद्रादि निम्नवर्गीय प्राणी नहीं माने गये हैं। इसी प्रार्थनाको दृष्टिगत करके श्रीलोकपितामह ब्रह्माजीने चतुर्वर्णोंके लिये—विशेषत: शूद्रोंके लिये पंचम वेदका निर्माण किया। इसमें ऋग्वेदसे पाठ्यवस्तु, सामवेदसे गान, यजुर्वेदसे अभिनय, अथर्ववेदसे रस लिया गया, जो कि—

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

(नाट्यशास्त्र अ० १ श्लो० १७)

—से सिद्ध होता है। हमारे नाट्य-साहित्यके वेदमूलक होनेके कारण ही भरत मुनिने नाट्य-साहित्यकी यहाँतक प्रशंसा कर दी है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।

न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

(नाट्यशास्त्र १। १०९)

संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो नाट्य-साहित्यमें प्रदर्शित नहीं की जाती।

हमारे आदि काव्य 'वाल्मीकीयरामायण' में भी नाट्यविषयक कई बातें मिलती हैं। जैसे—

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः।

(२। ६७। १५)

'जिस जनपदमें राजा नहीं है, वहाँ नट और नर्तक प्रसन्न नहीं दिखलायी देते।' इससे सिद्ध है कि राजालोग नटोंको अपने आश्रयमें रखकर उनको नाटकका अभिनय करनेके लिये प्रोत्साहित किया करते थे। इसी प्रकार 'महाभारत' में भी 'नट' शब्दका कई जगह उल्लेख मिलता है। महाभारतके अन्तर्गत हरिवंशपुराणमें भी रामायणसे कथा लेकर नाटक खेलनेका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वैसे ही 'अग्निपुराण' के ३३६—४६ तकके सर्गोंमें श्रव्य तथा दृश्य काव्योंकी ही विवेचना की गयी है; पर उपर्युक्त ग्रन्थोंका रचनाकाल भी सन्दिग्धपूर्ण होनेके कारण हम यह निर्णय नहीं कर सकते कि अमुक समयमें नाट्य-साहित्य अच्छी तरहसे प्रारम्भ हो गया था। किंतु यह जरूर मालूम हो जाता है कि भारतीय नाट्य-साहित्य प्राचीनतम है तथा भारतकी ही देन है—अन्य किसी देशकी नहीं।

ईसाके तीन शताब्दी पूर्वतकका नाट्य-साहित्य अज्ञातकालीन है। इसके बाद पाणिनिके व्याकरण-शास्त्रमें शिलालिन्, कृशाश्व आदि नाट्य-साहित्यके आचार्योंका उल्लेख मिलता है। तदनन्तर पतंजलिके महाभाष्यमें भी 'कंसवध', 'बलिबन्धन' का उल्लेख पाया जाता है। संस्कृत-साहित्यके प्रमुख नाटककार 'कालिदास' का समय भी ईसाके एक शताब्दी पूर्व मान लिया गया है; इनके भी 'शाकुन्तल', 'मालविकाग्निमित्र' आदि नाटक संस्कृत-साहित्यकी अमूल्य निधि समझे गये हैं। इसके बाद 'भवभूति', 'विशाखदत्त', 'शूद्रक' और 'राजशेखर' आदि नाटककारोंने बड़े ही मनोरंजक एवं व्यवस्थापूर्ण नाटकोंकी रचना की। उपर्युक्त नाटककारोंके नाटक पूर्ण विकसित हैं। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन नाटकोंके समयसे कई शताब्दियों पूर्व ही नाटक-रचना सफलतासे की जा चुकी थी।

इस प्रकार दसवीं शताब्दीतक संस्कृत-नाटकोंकी अच्छी भरमार रही। बादमें १९वीं शताब्दीतकका लंबा काल नाट्य-साहित्यकी रचनासे वंचित ही रहा। यद्यपि 'हनुमन्नाटक', 'प्रबोधचन्द्रोदय', 'रत्नावली' आदि नाटक इसी अन्धकालमें बने थे, फिर भी उनमें नाटकत्वके नियमोंका यथावत् पालन न होनेके कारण वे अच्छे नाट्य-साहित्यकी कोटिमें नहीं रखे जा सकते। पर इधर कुछ वर्षोंसे नाटकजगत्‌में फिरसे हलचल मचने लगी है। भारतेन्दु, प्रसाद, श्रीलक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददास आदि स्वनामधन्य नाटककारोंने कई मौलिक नाटक लिखे तथा संस्कृत और बँगलासे अनुवादित भी किये हैं। अभी हिंदी-साहित्यके मौलिक नाटकोंका प्रारम्भिक युग या मध्य युग कहा जा सकता है। आशा है, हमारे हिंदी नाटकोंके सुशिक्षित कर्णधार भविष्यत्कालीन हिंदी-साहित्यको अच्छे-अच्छे मौलिक नाटक प्रदानकर इसे सुसमृद्ध एवं महत्त्वपूर्ण बनायँगे।

हिंदू-संस्कृतिमें भगवत्प्रेम

सार तत्त्व हिंदू-संस्कृतिका प्रेम, प्रेम-आस्पद भगवान।
प्रेम परम पुरुषार्थ, प्रेमपथ यही बताते वेद-पुरान॥
प्रेमविवश हरने हर्षित हो किया तुरंत हलाहल-पान।
नीलकण्ठ बन, रक्षा की, सबकी, धर उरमें हरिका ध्यान॥
काशीमें मरते प्राणीको देकर महामन्त्रका दान।
करते उसे मुक्त भव-भयसे प्रेमविवश शंकर भगवान॥
भरकर हृदय प्रेमसे नारद करते नित्य ईश-गुण गान।
ध्रुव-प्रहलाद प्रेमसे कर भगवद्दर्शन हो गये महान॥
प्रेमदिवानी मीराजीने किया प्रेम-परवश विष-पान।
विष अमृत बन गया उसी क्षण बचे भक्त मीराके प्रान॥
पाता प्रेम प्रेमियोंसे वह जो तजता ममतामद-मान।
कवलबास हरि भजो प्रेमसे जो चाहौ अपना कल्यान॥

—महात्मा जैगौरीशंकर सीताराम

भारतीय संस्कृतिमें गान्धर्व-विद्या

(लेखक—श्रीशिवशरणजी)

भारतीय दर्शन एवं अध्यात्मविचारमें नादका स्थान अत्यन्त विलक्षण है। वाणी विचारशक्तिका वाहन है। शब्दके बिना विचारका कोई भी अस्तित्व नहीं रहता—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

(वाक्यपदीय)

'लोकमें कोई भी प्रत्यय (ज्ञान) ऐसा नहीं, जो शब्दके बिना प्राप्य हो। प्रत्येक ज्ञान शब्दसे अनुविद्ध होता है।' शब्द इस लोक एवं परलोकका आधार है। यदि संसारको ईश्वरकी विचारशक्तिका एक दृश्यस्वरूप मान लिया जाय तो इस दिव्यकल्पनाके स्पन्दनरूप नादको संसारके प्रादुर्भावका कारण मानना युक्तिसंगत है—

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत्।
स सर्व्वममृतं यच्च मर्त्त्यमिति श्रुतिः॥

'वाक्‌से समस्त (विश्व) भुवन उत्पन्न हुए। वाक्‌से अमृत एवं मर्त्य संसारका प्रादुर्भाव हुआ।'

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।

(वाक्यपदीय)

'अनादि परम्परा जाननेवाले ऋषियोंका कहना है कि संसार शब्दका परिणाम है।'

अपने विचार प्रकट करनेके लिये जीव शब्दका दो भिन्न प्रकारसे प्रयोग करता है। वे प्रकार हैं—वर्णरूप शब्द तथा गीतरूप शब्द। दोनों रूप भिन्न होते हुए भी एक ही आधारपर स्थित हैं। क्योंकि दोनोंमें विचार एवं भाव प्रकट करनेके लिये ध्वनिका प्रयोग होता है। आधार एक ही होनेपर भी ध्वनिरूप स्पन्दनकी भिन्न विशेषताएँ प्रयोग करनेसे दोनों शब्दके भिन्न मार्ग माने जाते हैं।

प्राचीन एवं वर्तमान दृष्टि

प्राचीन भारतीय दार्शनिकोंका कहना है कि भाषा एवं संगीत एक ही विद्याके दो अंश हैं। दोनोंके शास्त्रकार प्रायः एक ही हैं। आधुनिक विद्वानोंने प्रायः शब्द, नाद, ध्वनि आदिके विषयमें बहुत विचार नहीं किया। शब्दका रहस्य बिना समझे वे प्राचीन आचार्योंके मतको कपोल-कल्पना मानते हैं और स्वर, वर्ण आदिके देवता, जन्मभूमि, रंग आदिके रहस्यपर विचार करनेका प्रयत्न अपनी विद्वत्ताके योग्य नहीं मानते। इन विषयोंपर गम्भीर विचार करनेसे विदित होता है कि इनमें कल्पना लेशमात्र भी नहीं। संसारका रहस्य समझनेके लिये वे एक उत्तम विद्याके पथप्रदर्शक हैं। नादके आधारस्वरूप एवं कार्यको समझनेसे विचारशक्तिका तत्त्व एवं इस तत्त्वसे दृश्य अर्थोंके सम्बन्धका रहस्य खुल सकता है।

गान्धर्व-शास्त्र

व्याकरण एवं संगीतका आधारभूत तत्त्व गान्धर्ववेदका विषय था; परंतु आज गान्धर्ववेद लुप्त माना जाता है। फिर भी व्याकरणाचार्यों एवं संगीताचार्योंके प्राप्य ग्रन्थोंमें नाद एवं ध्वनिके विषयमें बहुत विचार मिलते हैं, जिनसे इस विद्याके सिद्धान्त समझमें आ सकते हैं।

आधुनिक लोग भाषा एवं संगीतका अर्थ सांकेतिक मानते हैं। वे नहीं मानते कि शब्द एवं अर्थका वास्तविक सम्बन्ध है। उनके मतमें किसी वस्तुका नाम किसीने बिना कारण एक समय दे दिया है। लोगोंने उसे याद कर लिया, इसलिये वह उस वस्तुका नाम हो गया। वैसे ही संगीतमें अभ्याससे हमलोगोंमें भिन्न स्वर हास्य या करुण भाव उत्पन्न करते हैं।

प्राचीन शास्त्रकार इस मतके अत्यन्त विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि स्पन्दनरूप वस्तु एवं स्पन्दनरूप शब्दके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसलिये हर एक अर्थके लिये एक शब्द होता है। इस शब्दमें वह अर्थ उत्पन्न करनेकी शक्ति भी रहती है। यह मन्त्रोंका रहस्य है। यदि इस शब्दके उच्चारकमें अशुद्धि आ जाय तो वह केवल सांकेतिक रहता है। यही बात संगीतके विषयमें भी है। स्वर-श्रुति आदिका एक स्वाभाविक अर्थ है, जिससे रस उत्पन्न होता है। फिर भी स्वरोंकी अशुद्धि होनेपर लोग इसमें स्मृतिके बलसे कुछ अर्थ लगाते हैं। परंतु ऐसे गान सर्वसाधारणको नीरस विदित होंगे।

शब्द एवं स्वरोंका स्वाभाविक अर्थ होना मन्त्र एवं रागका कारण है। जप एवं संगीतका अभ्यास मोक्षके सरल साधन माने जाते हैं। परंतु फल देनेके लिये उनका उच्चारण शुद्ध होना चाहिये—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं स गच्छति॥

(याज्ञवल्क्यस्मृतिः)

'जो वीणाके वादनका तत्त्व जाननेवाले हैं, श्रुतियोंकी जाति पहचाननेमें निपुण हैं और ताल जाननेवाले हैं, वे बिना परिश्रम ही मोक्षको पा लेते हैं।'

शब्द ब्रह्म सगुण ब्रह्म है। वह प्रपंचका कारण माना जाता है। सगुण-निर्गुणका मार्ग होनेसे मोक्षका साधन बनता है।

अतो गीतप्रपञ्चस्य श्रुत्यादेस्तत्त्वदर्शनात्।
अपि स्यात्सच्चिदानन्दरूपिणः परमात्मनः॥
प्राप्तिः प्रभाप्रवृत्तस्य मणिलाभो यथा भवेत्।
प्रत्यासन्नतयात्यन्तम्.............................. ॥

'गीतकी श्रुति आदिके तत्त्व-दर्शनसे सच्चिदानन्द परमात्माकी प्राप्ति वैसे ही हो जाती है, जैसे अग्निशिखाके उद्देश्यसे प्रवृत्त पुरुषको मणिलाभ होता है।'

शब्द-रहस्यसे सम्बन्धित शास्त्र-ग्रन्थ

अर्थोंसे वर्णादिरूप शब्दोंके वास्तविक सम्बन्धका विचार व्याकरणके प्रधान शास्त्रकारोंके ग्रन्थोंमें सुरक्षित है। उनमेंसे पाणिनि, पतंजलि, भर्तृहरि एवं नन्दिकेश्वर प्रधान हैं।

गान्धर्व-विद्याके दार्शनिक ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो चुके हैं। फिर भी नारद, नन्दिकेश्वर, मतंग, कोहल आदिद्वारा प्रणीत ग्रन्थोंके प्राप्य भागसे इस विद्याका रहस्य थोड़ा-बहुत समझमें आ सकता है। दूसरे ग्रन्थ केवल प्रयोगसे सम्बन्ध रखते हैं। स्वरोंद्वारा रस एवं विचारके प्रकट हो जानेका रहस्य एवं रागद्वारा शब्दब्रह्मको प्राप्त करना साधारण गायकोंकी समझके बाहरकी बात है। अतः इस कठिन विद्यासे सम्बन्धित शास्त्र-ग्रन्थोंकी रक्षा गायकोंसे नहीं हो सकती। स्वररूप वाक् वर्णरूप शब्दका सूक्ष्म स्वरूप है। संगीतके स्वरोंका आधार मध्यमा वाक् है, वैखरी वाक् नहीं। विशेष शब्दरूप स्पन्दन—मध्यमा वाक् पश्यन्ती नामक व्यक्त (स्पष्ट) विमर्शका परिणाम है। मध्यमा वाक् नादरूप होनेसे श्रोत्रेन्द्रियसे ग्राह्य है, फिर भी वर्णरूप नहीं होती; इसलिये संगीतके स्वररूप नादमें अलग-अलग अक्षर नहीं होते। उसका अर्थ खण्डित न होनेसे एकत्रित रहता है। इसलिये संगीतके एक-एक स्वरमें अनके अर्थ होते हैं। गानक्रिया प्रायः मध्यमा वाक्‌द्वारा सम्पन्न होती है।

ऐतरेय ब्राह्मणका कहना है कि वेदके शब्दोंका उच्चारण मध्यमा वाक्‌से करना चाहिये अर्थात् उनको गाना चाहिये। वेदके शब्दोंके गानेसे बुद्धि संस्कृत हो जाती है।

तं मध्यमया वाचा शंसत्यात्मानमेव तत्संस्कुरुते॥

संगीत एवं व्याकरणके तत्त्वसूत्र माहेश्वरसूत्र हैं। पाँच स्थानोंसे उच्चारित व्याकरणके पाँच शुद्ध स्वर अ इ उ ऋ लृ हैं। इनके दो मिश्रित रूप हैं 'ए ओ' और दो अमिश्रित जोड़े हुए रूप हैं 'ऐ औ।' प्रथम तीन स्वरों (अ इ उ) के विकृत दीर्घरूप भी हैं। इस प्रकार स्वर १२ हो जाते हैं।

संगीतके सात स्वरोंमें भी पाँच स्वर प्रधान और दो गौण हैं। सामगानके पाँच प्रधान स्वर प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और मन्द्र कहे जाते हैं। दो गौण स्वर क्रुष्ट एवं अतिस्वार्य हैं। गान्धर्व-गानमें इन पंचस्वरोंके नाम मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज एवं धैवत हैं। गौण स्वर पंचम एवं निषाद हैं। परंतु शैवगानमें षड्ज, ऋषभ, गान्धार मध्यम और पंचम प्रधान एवं धैवत, निषाद गौण माने जाते हैं।

इन सात स्वरोंके अतिरिक्त दो और मिश्रित स्वर हैं, उनके नाम 'काकली' और 'अन्तर स्वर' हैं। संगीतमें उन मिश्रित स्वरोंका नाम साधारण अर्थात् बीचका स्वर रखा है। इनके अतिरिक्त तीन और स्वरोंके एक-एक विकृत रूप हैं। इससे शुद्ध-विकृत स्वरोंकी संख्या १२ होती है।

व्याकरण एवं संगीतके स्वरोंका अर्थ भिन्न नहीं है। उनके वास्तविक एवं सांकेतिक अर्थका समन्वय नारद, मतंग आदि प्रणीत ग्रन्थोंमें मिलता है।

संगीतमें नादके ६६ भिन्न रूप होते हैं, जिनको 'श्रुति' कहते हैं। उनमेंसे २२ प्रधान होते हैं। दूसरी दृष्टिसे श्रुतियाँ अनन्त कही जा सकती हैं।

द्वाविंशतिं केचिदुदाहरन्ति
श्रुतीः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः।
षट्षष्टिभिन्नाः खलु केचिदासा-
मानन्त्यमेव प्रतिपादयन्ति॥

(कोहलः)

व्याकरणमें भी भिन्न नादरूप ६६ व्यंजन हैं, जिनकी आधी संख्या ३३ साधारण प्रयोगमें आती है। संगीतमें ६६के तीसरे भागका एवं भाषामें आधे

भागका प्रयोग होना इन संख्याओंके सांकेतिक अर्थके अनुकूल हैं।

माहेश्वर-सूत्रानुसार वैखरीरूप व्यंजनोंकी दस जातियाँ हैं, जिनके अर्थ भिन्न होते हैं।

संगीतमें श्रुतियोंकी भिन्न रस उत्पन्न करनेवाली पाँच जातियाँ होती हैं, जिनके नाम दीप्ता, आयता, मृदु, मध्या एवं करुणा है। उन स्वर-जातियोंके दो स्वरूप हैं—एक गणितका आधारस्वरूप, दूसरा रसका आधार-स्वरूप। हमलोग कह सकते हैं कि वीणाके तारका तीसरा अंश या पाँचवाँ अंश लेनेसे एक रस-विशेष हमारे मनमें उत्पन्न होगा अर्थात् संगीतद्वारा भाव या विचारके तत्त्वको गणितरूप दिया जा सकता है। श्रुतियोंके दो रूप हैं—एक भावरूप और दूसरा गणितरूप। गणितरूपके द्वारा प्रपंचके अनेक अर्थोंसे शब्दका घनिष्ठ सम्बन्ध समझा जा सकता है। इसका फल यह है कि संसार-रचनाका रहस्य समझनेके लिये नादविद्या एक अद्‌भुत साधन बनती है। विदित होगा कि स्वरोंसे देवता, ऋषि, ग्रह, नक्षत्र, रंग, छन्द आदिका सम्बन्ध निरर्थक कल्पना नहीं, बल्कि युक्तिसंगत एवं गम्भीर तत्त्वपूर्ण अनिवार्य सत्य है एवं प्राचीन तत्त्वदर्शक ऋषियोंकी अद्‌भुत देन है।

माहेश्वरसूत्रमें ईश्वरका रूप

रुद्रके डमरूसे उत्पन्न माहेश्वरसूत्रोंसे सर्वप्रपंचका प्रादुर्भाव हुआ है। माहेश्वरसूत्रोंका रहस्य जाननेसे सर्व प्रपंचका रहस्य खुल जाता है। भाषाके स्वरोंका वास्तविक गूढ़ अर्थ नन्दिकेश्वरकी 'काशिका' में प्राप्य होती है। संगीतके स्वरोंका और भाषाके स्वरोंका सम्बन्ध 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण' में मिलता है। माहेश्वरसूत्रका प्रथम सूत्र 'अ इ उ ण्' है। प्रथम स्वर 'अ' कण्ठमें स्थित है, उसका उच्चारण बिना प्रयत्नके होता है। अकार सर्वस्वरोंका आधार एवं कारण है—

अकारो वै सर्ववाक्।

'अ' निर्गुण ब्रह्मका द्योतक है।

अकारो ब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुणः सर्ववस्तुषु।

(नन्दिकेश्वरः)

अक्षराणामकारोऽस्मि। (गीता)

संगीतमें 'अ' का रूप आधारभूत स्वर षड्ज है। इसके बिना किसी भी स्वरका अस्तित्व नहीं है।

'अ इ उ ण् सरिगाः स्मृताः।' (रुद्रडमरू० २६)

दूसरे स्वर 'इ' के स्थान तालु है। प्राणके बाहर निकालनेकी प्रवृत्ति 'इ' शब्दका कारण है। 'इ' शक्ति या प्रवृत्ति आदिका द्योतक है। उसको 'कामबीज' भी कहते हैं—

इकारः सर्ववर्णानां शक्तित्वात्कारणं मतम्।

(नन्दिकेश्वरः ७)

शक्तिका द्योतक होनेसे 'इ' कार सर्व वर्णोंका कारण है।

अकारो ज्ञप्तिमात्रं स्यादिकारश्चित्कला मता।

(नन्दि० ९)

अकार ज्ञानस्वरूप मात्र है, इकार ज्ञानसाधन चित् है।

शक्तिं बिना महेशानि प्रेतत्वं तस्य निश्चितम्।
शक्तिसंयोगमात्रेण कर्मकर्ता सदाशिवः॥

'शक्तिरूप इकारके बिना शिव, 'शव' होता है। शक्ति-संयोगमात्रसे सदाशिव कर्म कर सकता है।'

संगीतमें 'इ' शिवका वाहन, वीर्य एवं शक्तिरूप ऋषभ होता है। उसके श्रवणसे वीर-रस उत्पन्न होता है; उसका भाव बलवान्, शक्तिमान् विदित होता है।

जब कण्ठ, जिह्वा आदि 'इ' कारके उच्चारणके लिये तैयार किये जायँ और बिना किसी भी अंशके बदले 'अ' के उच्चारणका प्रयत्न होता है, तब फलरूप 'उ' कार निकलता है। 'उ' कार 'इ' से परिच्छिन्न 'अ' का स्वरूप है। उसका अर्थ होता है शक्तिपरिच्छिन्न ब्रह्म अर्थात् सगुण ब्रह्म।

उकारो विष्णुरित्याहुर्व्यापकत्वान्महेश्वरः।

(नन्दिकेश्वरः ९)

उकार विष्णुनामक सर्वव्यापक ईश्वरका स्वरूप है।

संगीतमें 'उ'कार गान्धार स्वर है (आधुनिक संगीतका कोमल गान्धार)। वह शृंगार-रस एवं करुण-रसको उत्पन्न करता है। विष्णुदर्शनकी सुन्दरताका अनुभव गान्धार स्वरसे कहा जा सकता है। गान्धार वाक्‌का वाहन है, दिव्य गन्धोंसे भरा है।

गां धारयति [गां वाचं धारयति] इति गान्धारः॥

(क्षीरस्वामी)

वाक्‌का वाहन होनेसे गान्धार कहा जाता है।

नानागन्धवहः पुण्यो गान्धारस्तेन हेतुना॥

(ना० शि०)

'शुद्ध होने एवं अनेक गन्धका वाहन होनेसे गान्धार कहा जाता है।'

तीन ग्राम

तीन स्वर सर्व संगीतके आधार होनेसे तीन ग्रामोंके आधारभूत स्वर माने जाते हैं—

स ग्रामस्त्विति विज्ञेयस्तस्य भेदास्त्रयः स्मृताः।
......षड्जऋषभगान्धारास्त्रयाणां जन्महेतवः॥

(भरतमुनिप्रणीत गीतालंकार)

तीन ग्राम हैं, जिनके आधार षड्ज, ऋषभ और गान्धार हैं। ऋषभ ग्राम अन्य दोनोंके बीचमें होनेसे 'मध्यग्राम' या 'मध्यमग्राम' कहा जाता है।

ब्रह्म-मायास्वरूप 'ऋलृक्'

महेश्वर सूत्रका दूसरा सूत्र नपुंसक स्वरोंका सूत्र है। उनकी प्रधानता नहीं होती। संगीतमें दोनों स्वर 'काकली' एवं 'अन्तर' नामसे प्रसिद्ध हैं—

सप्तैव ते स्वराः प्रोक्तास्तेषु ऋ लृ नपुंसकौ॥

'ऋ' मूर्धन्य स्वर है। इसका अर्थ ऋत अर्थात् परमेश्वर है। 'ऋ' परमेश्वरः इत्यत्र'—

ऋतं सत्यपरं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिंगलम्' इति श्रुतिप्रमाणम्।

'तं तत्पदार्थं परं ब्रह्म ऋ सत्यमित्यर्थः।

(अभिमन्यु-टीका)

संगीतमें ऋ अन्तर स्वर कहा जाता है, जो आधुनिक शुद्ध गान्धार है। उसका शान्त रस है।

'लृ' दन्त्य स्वर है। यह परमेश्वरकी वृत्ति या शक्ति है। दाँत मायाके संकेत हैं—

दन्ताः सत्ताधरास्तत्र मायाचालक उच्यते॥

शक्तिमान् अपनी शक्तिसे अभिन्न होता है। जैसे चन्द-चन्द्रिकासे या शब्द अर्थसे अभिन्न है, वैसे ही ऋ लृसे वास्तवमें अभिन्न है।

वृत्तिवृत्तिमतोरत्र भेदलेशो न विद्यते।
चन्द्रचन्द्रिकयोर्यद्वद्यथा वागर्थयोरपि॥

(नन्दिकेश्वरः ११)

संगीतमें लृ 'काली' नामसे प्रसिद्ध है। वह आधुनिक शुद्ध निषाद है, जिसका भाव शृंगार है। अर्थात् वृत्तिरूप काम—

सोऽकामयत।

ज्ञान-विज्ञान 'ए ओ ङ्'

उच्चारणके केवल पाँच स्थान हैं, इसलिये शुद्ध स्वर केवल पाँच होते हैं। वैसे ही शैव संगीतमें आधारभूत ग्राम पाँच स्वरोंके हैं।

अकार एवं इकारका मिला हुआ रूप एकार है। इकार अर्थात् शक्तिमें अकार अर्थात् ब्रह्मका प्रवेश एकारका अर्थ है। इसलिये एकार ज्ञानस्वरूप है अर्थात् परमतत्त्वकी प्राप्तिका द्योतक है। टीकाकार अभिमन्यु एकारको—

सम्प्रज्ञानस्वरूपः प्रज्ञानात्मा स्वयं प्रविश्य तद्रूपेण वर्तत इति।

—कहते हैं।

संगीतमें एकार मध्यम स्वर कहा जाता है। उसका रस शान्त रस है। चन्द्रमा उसकी मूर्ति है।

'ए ओ ङ् मपौ' (रुद्रडमरू० २६)

अकार एवं उकारका मिला हुआ रूप ओकार है। अकार अर्थात् परब्रह्मका उकार अर्थात् उनसे उत्पन्न प्रपंचमें प्रवेश ओका स्वरूप है।

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति।

'अ' निर्गुण रूप है और 'उ' सगुणरूप। सगुणमें निर्गुण 'ओ' का रहस्य है। अतएव 'ओ' कारसे प्रणव बनता है। निर्गुण-सगुणकी वास्तविक अद्वितीयताका द्योतक ओकार है। उसका मूर्तरूप गणपति है।

संगीतमें 'ओ' पंचम स्वर कहा जाता है। स्वर-क्रममें पाँचवाँ स्वर होनेसे एवं कारण-तत्त्व आकाशका द्योतक होनेसे पंचम स्वरका मूर्तरूप सूर्य है। पंचम स्वर सुननेसे सब जीव आनन्दपूर्ण हो जाते हैं।

विश्वमें दिव्यरूप (ऐ औ च्)

'ए' कारमें 'अ' कारका मिला हुआ रूप 'ऐ' कार है। 'ओ' कारमें 'अ' कारका मिला हुआ रूप 'औ' कार है। अतः 'ए' अर्थात् ज्ञानसे 'अ' अर्थात् परब्रह्मका सम्बन्ध ऐकार है, संगीतमें 'ऐ' धैवत स्वर कहा जाता है।

'ध नि ऐ औच्' (रुद्रडमरू०)

धैवत स्वरके दो रूप होते हैं। एक रूप शान्त पूर्ण मृदु रस और दूसरा रूप क्रियास्वरूप है।

'औ'कार अर्थात् 'ओ'में 'अ'का मिला हुआ स्वरूप विश्वमें परमतत्त्वकी व्यापकताका द्योतक है।

संगीतमें 'औ' कार निषाद नामसे प्रसिद्ध है। आधुनिक संगीतका यह कोमल निषाद है, यह अन्तिम स्वर या स्वरोंकी पराकाष्ठा माना जाता है।

निषीदन्ति स्वराः सर्वे निषादस्तेन कथ्यते।

(बृहद्देशी)

जो उपनिषदोंका तत्त्व है, वही निषाद कहा जाता है। वासुदेव उसका नाम भी है।

इसी तरह व्याकरण एवं संगीतके स्वरोंके अर्थका समन्वय होता है। अत्यन्त संक्षेपमें उसका रूप यहाँ बतलाया गया है फिर स्वरोंके बाद व्यंजनों एवं श्रुतियोंके अर्थ भी मिलते हैं। लेख-विस्तारके भयसे इसका विस्तार यहाँ नहीं किया जा सकता। फिर भी इतनेसे विदित होगा कि गान्धर्व-विद्या अत्यन्त गम्भीर विद्या है। उसके अध्ययनसे ३२ विद्याओंका रहस्य खुल जाता है। यह गान्धर्व-विद्या भारतीय संस्कृतिका एक अनुपम रत्न है। उसके तेजसे मन चकित हो जाता है और प्राचीन ऋषियोंकी अनुपम विद्याकी ओर अत्यन्त आदर एवं प्रेमसे हृदय भर जाता है।

प्राचीन भारतके वाद्ययन्त्र

(लेखक—विद्याभूषण पं० श्रीमोहनजी शर्मा, विशारद)

प्राचीन वाद्यविद् लोगोंने वाद्ययन्त्रों—बाजोंको चार भागोंमें विभक्त किया है—१. तत अर्थात् तन्त्रीगत, २. आनद्ध अर्थात् चर्माबद्ध, ३. शुषिर अर्थात् रन्ध्रयुक्त और ४. घन अर्थात् धातुनिर्मित।

तन्त्रीगत वाद्ययन्त्रका साधारण नाम वीणा है। 'संगीत-दामोदर ग्रन्थमें इसके २९ प्रकार-भेद और उनका विस्तृत विवरण दिया गया है। हम नीचे 'संगीतदामोदर' के अनुसार २९ प्रकारकी वीणाओंका नामोल्लेख करते हैं—१. अलावणी, २. ब्रह्मवीणा, ३. किन्नरी, ४. लघुकिन्नरी, ५. विपंची, ६. वल्लकी, ७. ज्येष्ठा, ८. चित्रा, ९. घोषवली, १०. जया, ११. हस्तिका, १२. कुनजिका, १३. कूर्मी, १४. सारंगी, १५. परिवादिनी, १६. त्रिशवी, १७. शतचन्द्री, १८. नकुलौष्ठी, १९. ढंसवी, २०. ऊडंबरी, २१. पिनाकी, २२. निःशंक, २३. शुष्कल, २४. गदावारणहस्त, २५. रुद्र, २६. स्वरमण्मल, २७. कपिलास, २८. मधुस्यन्दी और २९. घोण।

इसके अतिरिक्त नारदकृत 'संगीतमकरन्दमें' १९ प्रकारकी वीणाओंका उल्लेख आया है और सारंगदेवके मतानुसार वीणा केवल ११ प्रकारकी ही है।

वीणाकी पोगरी अथवा वीणाका दण्ड खोखली लकड़ीद्वारा और तन्त्री ताँत, सन, सूत आदि उपकरणोंकी सहायतासे तैयार की जाती है। वीणा-निर्माण करनेके लिये और भी एक प्रधान उपकरण है, जिसे अलाबु कहते हैं। अलावणी वीणाकी निर्माण-प्रणाली संगीतदामोदर ग्रन्थमें नीचे लिखे अनुसार वर्णित है—

कनिष्ठिकापरिधिर्द्धिमध्यच्छिद्रेण संयुतः।
दशयष्टिमितो दण्डः खादिरो वैणवोऽथवा॥
अधःकरभवानूर्ध्वे छत्रवल्याभिशोभितः।
नवाङ्गुलादधश्छिद्रोपरिचन्द्रार्द्धसन्निभाम्॥
निवेश्य चुम्बिकां भद्रालाबुखण्डं निवेशयेत्।
द्वाद्वशाङ्गुलविस्तारं दृढपक्वं मनोहरम्॥
तुम्बिकावेधमध्येन दण्डच्छिद्रे तु निर्मिताम्।
अलाबुमध्यगां डोरीं कृत्वा स्वल्पान्तु काष्ठिकाम्॥
तथा संवेष्ट्य तन्मध्ये काष्ठिकां भ्रामयेत्ततः।
यया स्यान्निश्चलालाबुर्बन्धश्च करभोपरि॥
पञ्चाङ्गुलिषु संत्याज्यालाबुं स्वल्पाञ्च बन्धयेत्।
केशान्तनिर्मिता पट्टमयी सूत्रकृताथवा॥
समा सूक्ष्मा दृढा तत्र तन्त्री देया विचक्षणैः।
एतल्लक्षणसंयोगादलावणी प्रकीर्तिता॥

दूसरे दो वाद्ययन्त्र बनानेके सम्बन्धमें भी संगीत-शास्त्र-ग्रन्थोंमें विशद विवरण मिलता है।

प्राचीन कालमें चर्माच्छादित वाद्यको आनद्ध या अवनद्ध वाद्य कहते थे। संगीतविषयक विविध ग्रन्थोंमें इसके कई तरहके भेदोंका उल्लेख पाया जाता है। आनद्ध वाद्ययन्त्रोंमेंसे कुछेकके नाम निम्न प्रकार हैं—

१ मुरज, २ पटह, ३ ढक्का, ४ विश्वक, ५ दर्पवाद्य, ६ घन, ७ पणव, ८ सरुहा, ९ लाव, १० जाहव, ११ त्रिवली, १२ करट, १३ कमठ, १४ भेरी, १५ कुडुक्का, १६ हुडुक्का, १७ झनसमुरली, १८ झल्ली, १९ ढुक्कली, २० दौंडी, २१ शान, २२ डमरू, २३ ढमुकि, २४ मड्डु, २५ कुण्डली, २६ स्तुंग, २७ दुन्दुभी, २८ अंक, २९ मर्छल, ३० अणीकस्थ।

इनमें दुन्दुभी-भेरी प्रभृति रणवाद्य हैं। संगीतशास्त्रकार भरत आदिके मतानुसार मर्छल-मृदंग ही सर्वोत्कृष्ट वाद्य हैं। शास्त्रमें मर्छलकी निर्माणप्रणालीके सम्बन्धमें

लिखा है—इसका मध्यभाग स्थूल और दोनों मुँह चर्माच्छादित रहते हैं। यह डेढ़ हाथ प्रमाण दीर्घ और इसके बायें तरफके मुँहका व्यास १२, १३ अंगुल तथा दक्षिण तरफके मुँहका व्यास एक वा आध अंगुल कम होता है। खैरकी लकड़ीका मर्छल श्रेष्ठ और दूसरी जातिकी लकड़ीका निकृष्ट होता है। रक्त चन्दनकी लकड़ीसे तैयार किये गये मर्छलसे बहुत ही गम्भीर ध्वनि निकलती है। भस्म, गेरू, मिट्टी, चावलका माँड, गोंद प्रभृतिके मेलसे स्याही नामक एक प्रलेपविशेष तैयार करके मर्छलके दक्षिण मुँहपर लेपन करते हैं और बायें मुँहपर पूरिका दी जाती है। सब प्रकारके वाद्ययन्त्र मर्छल या मृदंगके सहयोगसे बजाये जानेपर बहुत ही सुशोभन प्रतीत होते हैं।

रन्ध्रयुक्त वाद्य वंशी आदिको सुषिर कहा जाता है। संगीताचार्योंने अनेक प्रकारके सुषिर बताये हैं। उनमें कुछेकके नाम इस प्रकार हैं—

१ वंशी, २ प्यारी, ३ मुरली, ४ माधुरी, ५ तित्तिरी, ६ भृंखकाहल, ७ तोरही, ८ कक्का, ९ भृंगीका, १० स्वरनाभि, ११ भृंग, १२ कृपालिका।

सुषिर वाद्ययन्त्रोंमें वेणु खोखली लकड़ी, रक्तचन्दन, श्वेतचन्दन, हस्तिदन्त, स्वर्ण, रौप्य, ताम्र, लोह और स्फटिक आदिसे बनायी जाती है।

वंशी वर्तुल, सरल और पर्वदोषरहित होती है तथा इसका गर्भरन्ध्र कनिष्ठ अंगुलिके तुल्य होता है। इसके अग्रभागसे दो अंगुलके अन्तरपर स्थित फूत्कार-रन्ध्रसे ५ अंगुलके अन्तरपर ७ छेद और इन ७ छेदोंमें परस्पर प्रायः दो अंगुलका व्यवधान होना आवश्यक है। इन सात छेदोंमेंसे हर एक छेद छोटे-छोटे बीजके बराबर होता है।

मातंग मुनिने महानन्द, नन्द, विजय, और जय- इन चार प्रकारकी वंशियोंको उत्तम कहकर निर्देश किया है और उनकी निर्माणप्रणाली ऊपर कही हुई वंशीकी निर्माणप्रणालीसे किंचित् भिन्न बतायी है।

वंशीके फूत्कार-छिद्रपर ओठ रखकर वंशी बजानेकी विधि है। निबिड़ता, प्रौढ़ता, सुस्वरत्व, शीघ्रता एवं माधुर्य—ये फूत्कारके ५ गुण हैं और शीत्कार, बहुलता, स्तब्धता, विस्वर स्फुटितस्वर, लघुस्वर, अमधुरता—यह ६फूत्कारके दोष हैं।

वृथावादन, प्रयोगबाहुल्य एवं अल्पता वादक—बजानेवालेके दोष हैं और स्थान तथा लयकी अभिज्ञता, गमक-निपुणता, स्फुटस्वर, शीघ्रहस्तता बजानेवालेके गुण कहे हैं।

प्रमुक्ति, बद्धमुक्ति, युक्ति, सुस्थान, सुस्वरत्व और अंगुलिसारण—अंगुली सरकाना क्रियाके गुण हैं।

करताल आदि धातुमय बाजोंको घनवाद्य कहते हैं। घनवाद्य भी कई तरहके हैं। उसमें कुछेकके नाम नीचे देखिये—

करताल, कांस्यवन, जयघंटा, शुक्तिका, कंठिका, पटवाद्य, पट्टाघोष, घर्घर, झंझताल, मंजीर, कर्तरी, उप्कूक आदि। करतालके विषयमें संगीतशास्त्रमें इस प्रकार उल्लेख है—

त्रयोदशाङ्गुलव्यासौ शुद्धकांस्यविनिर्मितौ।
मध्यमुखौ स्तनाकारौ तन्मध्ये रज्जुगुम्फितौ॥
पद्मिनीपत्रसदृशौ कराभ्यां रज्जुयन्त्रितौ।
करतालावुभौ वाद्यौ ने वाद्यपाटे झंकृति॥

वाद्यविद्याविशारदोंने वाद्यके २० प्रकारके प्रबन्धोंका उल्लेख किया है। उनके नाम—१ यति, २ उभ, ३ ऊण्ठवली, ४ अवच्छेद, ५ जोड़नी, ६ चण्डनी, ७ पद, ८ समहंस, ९ झंकार, १० पैसार, ११ तुटकु, १२ ऊस्वर, १३ देंकार, १४ मलप, १५ मलपांक, १६ प्रहरण, १७ अन्तरा, १८ दुरक्करी, १९ यवनिका, २० पुष्पांजलि।

किंतु 'संगीतदामोदर' ग्रन्थमें केवल १२ प्रबन्धोंका उल्लेख देखा जाता है। उनमेंसे आठका नाम ऊपर लिखित तालिकामें दिये गये प्रबन्धोंसे भिन्न है। हम 'संगीतदामोदर' से कुछ पक्तियाँ उद्धृत करते हैं—

यतिरोळव्यवच्छेदो गजरो रुपलं ध्रुवम्।
गनपः सारिगो नीचनादश्च कथितस्तथा॥
..........प्रहरणं वृन्दनञ्च प्रबन्धा द्वादश स्मृताः॥

प्रबन्धभेदसे ही बाजोंके विविध स्वरोंकी उत्पत्ति हुई है। 'तपोभूमि'

काम, क्रोध, लोभकी प्रबलता

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥ —दोहावली

भारतीय प्राचीन क्रीडाएँ

(लेखक—श्रीहरिदत्तजी शास्त्री एम०ए०, वेदान्त-व्याकरणाचार्य)

संस्कृति तथा सभ्यता—ये दोनों शब्द बड़े ही संग्रथित हैं। इनका परस्पर अभेद्य तथा अच्छेद्य सम्बन्ध है—संस्कृति आत्मा है तो सभ्यता शरीर। अच्छे-अच्छे गुणोंको आत्मामें आहित करना संस्कृति कहाता है तथा शरीर या पाणि-पदादि अंगोंसे उसकी अभिव्यक्ति सभ्यता कहाती है। आज-कल कतिपय महानुभावोंका विचार है कि हमारे यहाँ Polo, Tennis, Football, Cricket आदि खेल नहीं थे, न हमारे पूर्वज इन खेलोंसे परिचित ही थे। इस वस्तु-स्थितिपर प्रकाश डालना अपना कर्तव्य समझ इस लेखका आरम्भ किया है—

श्रीमद्भागवतमें यह लिखा मिलता है—

एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने।

(१०। १८। १६)

मुख्यतया क्रीडाओंके चार भेद किये जा सकते हैं। १-पहली श्रेणीमें वे क्रीडाएँ आ सकती हैं, जो आत्ममनोविनोदार्थ खेली जाती थीं। २-दूसरी श्रेणीमें वे क्रीडाएँ रखी जा सकती हैं, जो प्रेक्षकोंकी प्रसन्नताके लिये की जाती थीं। ३-तीसरी क्रीडाएँ धर्मोत्सवादिप्रधान थीं तथा ४-चतुर्थ प्रकारकी क्रीडाएँ मिश्रित होती थीं—जिनके प्रकारविषयमें भी सन्देह है। कुछ क्रीडाओंका परिचय प्राप्त कीजिये।

१. कृत्रिम वृषभक्रीडा

—जिस क्रीडामें बालक बैलका-सा कपड़ा ओढ़कर या सिंहका-सा चर्म ओढ़कर लड़ते थे तथा शब्द करते थे, वह 'कृत्रिम वृषभक्रीडा' कहाती है—इसमें पशु-पक्षियोंकी बोलियाँ बोलना भी शामिल है।

२. निलयनक्रीडा

—(क) जहाँ एक बालक छिप जाय तथा दूसरा ढूँढ़े। इसमें कुछ चोर बनते तथा कुछ सिपाही बनकर उन्हें ढूँढ़ते हैं।

(ख) बालक तीन श्रेणियोंमें विभक्त हो जाते हैं—एक पशुपालक, दूसरा पशुचौर, तीसरा मेषायित। मेष (मेढ़ा) बने हुए बालकको पशुचौर उठाकर ले जाता है। तथा पशुपाल उसे ढूँढता है। यह क्रीडा भगवान् श्रीकृष्णने 'वत्सहरण' में खेली थी—ऐसा श्रीमद्भागवतमें लिखा है।

३.मर्कटोत्प्लवनक्रीडा

—जिसमें बंदरकी तरह पेड़ोंपर चढ़कर बालक लगातार अनेकों वृक्षोंपर चढ़ते हुए छिपते फिरते हैं। इसका भी भागवतमें वर्णन मिलता है।

४. शिक्यादि-मोषणक्रीडा

—जिसमें एक गेंद-जैसी वस्तु जिसकी है, उसे न देकर अन्योंके पास फेंक दी जाती है तथा स्वामी देखता रह जाता है। जब स्वामी थककर अपनी चीज़ माँगता है, तब यह उसे दे दी जाती है।

५. अहमहमिका-स्पर्शक्रीडा

—जिसमें दूर बैठे बालकको कौन पहले छू सकता है, यह प्रण हो।

६. भ्रामणक्रीडा

—जिसमें बालक एक-दूसरेका हाथ पकड़कर झूमते या उठते-बैठते हैं।

७. गर्तादिलंघनक्रीडा

इस खेलमें किसकी कितनी दूरतक कूदनेकी सामर्थ्य है—यह परीक्षा की जाती है।

८. बिल्वादिप्रक्षेपणक्रीडा

—जिसमें बेल या गेंद आदि इस प्रकार फेंके जायँ कि रास्तेमें ही टकरा जाएँ।

९. अस्पृश्यत्वक्रीडा

इस खेलमें एक छूना चाहता है, दूसरा बचना चाहता है।

१०. नेत्रबन्धक्रीडा

—(क) जिसमें पीछेसे आकर आँख मूँदनेपर बँधे नेत्रोंवाला बाँधनेवालेको पहचान ले।

(ख) या नेत्र बंद करनेपर छोड़ा हुआ बालक छिपे हुए बालकोंका पता लगाता है।

(ग) या जहाँपर बँधे नेत्रवाले बालकको अन्य बालक छू-छूकर जाते हैं तथा बद्धनेत्र उन्हें पकड़नेका यत्न करता है।

११. स्पन्दान्दोलिकाक्रीडा

झूलते हुए—दो-तीन झूलोंमें चढ़कर लगातार

चढ़ते चले जाना।

१२. नृपक्रीडा

—जिसमें एकको राजा बनाकर अन्य लोग मन्त्री आदि बनकर कार्य करें।

१३. हरिणाक्रीडनक

हरिणकी तरह उछलते हुए एक-दूसरेसे आगे निकलनेकी चेष्टा करना।

१४. वाह्य-वाहकक्रीडा

—जिसमें विजेता पराजितके कंधेपर चढ़कर चले।

१५. देव-दैत्यक्रीडा

—इसमें कुछ व्यक्ति देव तथा कुछ दैत्य बनकर धूल आदि उड़ा-उड़ाकर खेलते हैं—जैसे शिवाजी खेला करते थे तथा यवनोंको पराजित किया करते थे।

१६. जलक्रीडा

(क) जिसमें पेड़ोंपरसे कूदकर जलमें गिरते हैं तथा फिर एक-दूसरेपर पानी उछालते हैं।

(ख) यह क्रीडा स्त्री-पुरुषोंमें भी होती थी, जिसका वर्णन भारवि, माघ और कालिदासने किया है।

१७. कन्दुकक्रीडा

—(क) जिसमें गेंद ऊपर फेंकी जाती है और दूसरा उसे ग्रहण कर लेता है। यदि ग्रहण नहीं करता तो वह पहले फेंकनेवालेके कंधेपर चढ़कर फिर फेंकता है तथा अन्य गेंदको जमीनपर गिरनेसे पूर्व ही ग्रहण कर लेते हैं।

(ख) यह खेल बालक या कन्या सभी खेलते हैं। इसमें भीतपर गेंद मारकर या जमीनपर गेंद मारकर दबोचना आदि भी आ जाता है। यही आजकल Volley Ball कहाती है।

१८. वनभोजनक्रीडा

जंगलमें जाकर खेलना तथा वहींपर बाटी आदि बनाकर खाना—जिसे आजकल Picnic 'पिक्निक्' कहते हैं।

१९. रासक्रीडा

जहाँ रेतीले मैदानमें श्रीकृष्णलीलाका अनुकरण किया जाता है, जैसे आजकल रामलीला होती है। गुजरातका गरबानृत्य कुछ ऐसा ही है

२०. छालिक्यक्रीडा

इसमें खेलनेवाले मस्त होकर होलीके दिनोंकी तरह गाते-बजाते हैं। इसका वर्णन पुराणोंमें मिलता है।

२१. नियुद्धक्रीडा

—जिसमें घूँसे मारकर या कुश्ती लड़कर खेल खेला जाता है। जरासन्ध और भीमके बीच यह क्रीडा हुई थी।

२२. नृत्यक्रीडा

—जिसमें कुछ नाचें तथा कुछ ताली बजायें। यह लड़के या लड़कियाँ मिलकर या अलग-अलग खेलते थे।

२३. अक्षक्रीडा

यह क्रीडा 'महाभारत' का कारण हुई—इसका ऋग्वेदमें निषेध मिलता है।

२४. मृगयाक्रीडा

यह क्रीडा 'आखेट' के नामसे राजाओंमें विशेषरूपसे प्रसिद्ध थी।

२५. पक्षिघातक्रीडा

—जिसमें श्येनकी तरह पक्षियोंका पकड़ना सिखाया जाता था।

२६. मत्स्यक्रीडा

मछली पकड़नेके प्रकार राजपुत्र नावपर चढ़कर सीखते थे।

२७. चतुरंगक्रीडा

—जिसे शतरंज, चौपड़ या 'चाँदमारी' के नामसे आज-कल पुकारते हैं।

२८. शालभञ्जिकाक्रीडा

—जिसे 'कठपुतलियोंका खेल' या गुड़ियोंका खेल कहते हैं।

२९. लतोद्वाहक्रीडा

पेड़ एवं बेलको पालकर उनका विवाह रचानेका खेल, जैसा शकुन्तलाने किया था। तुलसी-विवाह तो धार्मिक कृत्यके रूपमें किया जाता है।

३०. वीटाक्रीडा

गिल्ली-डण्डेका खेल—इसका महाभारतमें वर्णन है, देखिये आदिपर्व (१३१। १७)

३१. कनकशृंगकोणक्रीडा

'पिचकारी चलाना'।

३२. विवाहक्रीडा

जब वह विवाह करने चला जाय, तब पीछे रहनेवाली स्त्रियाँ वर या वधू बनकर खेल करती हैं, जिसे 'खोरिया' कहते हैं।

३३. हल्लीशक्रीडा

एक लड़की, फिर लड़का, फिर लड़की, फिर लड़का—इस प्रकार बैठकर जो मण्डलाकार घूमते हैं, इसे यह क्रीडा बतलायी।

३४. गानकूर्दनक्रीडा

—जिसमें कुछ गायें तथा कुछ कूदें—

३५. नौक्रीडा

—जो बनारसमें दशहरेपर होती है—लोग नौकाएँ चलाते हैं।

३६. जलक्रीडा

जलमें बैठकर भोजनादि करना—जैसे दुर्योधन जल-स्तम्भ विद्याको जानकर करता था।

३७. वनविहारक्रीडा

इस क्रीडामें फूलोंका चुनना, माला बनाना तथा भोजन बिना सामग्रीके बनाना आदि आता है। इसका दूसरा नाम 'पुष्पावचाय' क्रीडा है।

३८. आमलकमुष्ट्यादिक्रीडा

मुट्ठी बंद करके पूछना, न बतलानेपर या गलत बतलानेपर विजेता उसे मुष्टि-प्रहारसे पराजित करता था।

३९. दर्दुरप्लावक्रीडा

मेढकोंकी तरह कूद-कूदकर चलना।

४०. नाट्यक्रीडा

नाटक खेलना।

४१. अलातचक्रक्रीडा

'टीमी' जलाकर उसे घुमाना तथा आकाशमें उससे अक्षर लिखना।

४२. गदाक्रीडा

दिखावटी 'गदायुद्ध' करना; इसी प्रकार 'धनु:क्रीडा' आदि क्रीडाएँ भी हैं।

४३. अशोकपादप्रहारक्रीडा

'किसी पेड़को' सजाना तथा उसे फिर सींच-सींचकर बढ़ाना—और यह कहना कि मेरी जूतियाँ खाकर यह बढ़ा है। इसका वर्णन भी कालिदास ने किया है।

४४. चित्रक्रीडा

विरहादि अवस्थामें यक्षकी तरह चित्र बनाना, painting करना, ड्राइंग (drawing) करना आदि।

४५. काव्यविनोदक्रीडा

जिसमें 'बिन्दुच्युतक', 'मात्राच्युतक', 'समस्यापूर्ति', 'प्रहेलिका', 'खड्गबन्ध', 'पद्मबन्ध' आदि काव्योंके प्रकार आते हैं। आज-कलकी Puzzles भी इसीमें आती है।

४६. वाजिवाह्यक्रीडा

घोड़ोंपर चढ़कर 'गेंद' खेलना। तुलसीदासजीने गीतावलीमें इसका वर्णन किया है।

४७. करिवाह्यक्रीडा

हाथीपर चढ़कर गेंद खेलना।

४८. मृगवाह्यक्रीडा

हरिणके रथपर चढ़कर या 'बारहसिंगे' के रथपर चढ़कर दौड़ते हुए व्यक्तिको छूना

४९. गोपक्रीडा

यह 'रासक्रीडा' के अन्तर्गत है।

५०. घटक्रीडा

सिरपर अनेकों घड़ोंको रखकर चलना, अंगारोंपर चलना, बाँस लेकर चलना, एक रस्सीपर चलना—ये सब भेद इस घटक्रीडाके ही अन्तर्गत हैं। पाठकोंके मनोविनोदार्थ प्राचीन-क्रीडा-संस्कृतिके प्रथम प्रकारका संक्षेपमें हमने वर्णन किया है।

एक रामतें मोर भल

रामु मातु, पितु, बंधु, सुजनु, गुरु, पूज्य, परमहित।
साहेबु, सखा, सहाय, नेह-नाते पुनीत चित॥
देसु, कोसु, कुलु, कर्म, धर्म, धनु, धामु, धरनि, गति।
जाति-पाँति सब भाँति लागि रामहि हमारि पति॥
परमारथु, स्वारथ, सुजसु, सुलभ रामतें सकल फल।
कह तुलसिदासु, अब, जब-कबहुँ एक रामतें मोर भल॥

(कवितावली)

आर्योंके अस्त्र-शस्त्र

(लेखक—श्रीअशोकनाथजी शास्त्री)

आज हम यूरोपके अस्त्र-शस्त्र देखकर चकित और स्तम्भित हो जाते हैं और सोचने लगते हैं कि ये सब नये आविष्कार हैं। हमें अपनी पूर्वपरम्पराका ज्ञान नहीं है। प्राचीन आर्यावर्तके आर्यपुरुष अस्त्र-शस्त्रविद्यामें निपुण थे। उन्होंने अध्यात्मज्ञानके साथ-साथ आततायियों और दुष्टोंके दमनके लिये सभी अस्त्र-शस्त्रोंकी भी सृष्टि की थी। आर्योंकी यह शक्ति धर्म-स्थापनमें सहायक होती थी, न कि घातक। उन विकराल भयंकर बाणोंके आगे बम-फम क्या चीज है। आजकलके विस्फोटक बम और गैसोंके समान उस कालमें भी विमानोंद्वारा अग्निवर्षा होती थी। पैराशूट भी थे, सभी कुछ था। बाण-विद्या तो भारतमें पिछले समयतक रही। रामायण और महाभारतमें हम जो पढ़ते आये हैं। आज वर्तमान विज्ञानकी प्रगति हमारी उस उन्नतिका एक अंश भी नहीं।

प्राचीनकालमें जिन अस्त्र-शस्त्रोंका उपयोग होता था, उनका वर्णन इस प्रकार है—(अ) अस्त्र उसे कहते हैं, जिसे मन्त्रोंके द्वारा दूरीसे फेंकते हैं। वे अग्नि, गैस और विद्युत् तथा यान्त्रिक उपायोंसे चलते हैं। (ब) शस्त्र खतरनाक हथियार हैं, जिनके प्रहारसे चोट पहुँचती है और मृत्यु होती है। ये हथियार अधिक उपयोग किये जाते हैं।

अस्त्रोंको दो विभागोंमें बाँटा गया है—

(१) वे आयुध जो मन्त्रोंसे चलाये जाते हैं—ये दैवी हैं। प्रत्येक शस्त्रपर भिन्न-भिन्न देव या देवीका अधिकार होता है और मन्त्र-तन्त्रके द्वारा उसका संचालन होता है। वस्तुतः इन्हें दिव्य तथा मान्त्रिक अस्त्र कहते हैं। इन बाणोंके कुछ रूप इस प्रकार हैं—

१. **आग्नेय**—यह विस्फोटक बाण है। यह जलके समान अग्नि बरसाकर सब कुछ भस्मीभूत कर देता है। इसका प्रतिकार पर्जन्य है।

२. **पर्जन्य**—इस बाणके चलानेसे कृत्रिम बादल पैदा होते हैं, वर्षा होती है, बिजली तड़पती है और तूफान आता है।

३. **वायव्य**—इस बाणसे भंयकर तूफान आता है और अन्धकार छा जाता है

४. **पन्नग**—इससे सर्प पैदा होते हैं। इसके प्रतिकारस्वरूप गरुड़बाण छोड़ा जाता है।

५. **गरुड़**—इस बाणके चलते ही गरुड़ उत्पन्न होते हैं, जो सर्पोंको खा जाते हैं।

६. **ब्रह्मास्त्र**—यह अचूक विकराल अस्त्र है। शत्रुका नाश करके छोड़ता है। इसका प्रतिकार दूसरे ब्रह्मास्त्रसे ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

७. **पाशुपत**—इससे विश्व नाश हो जाता है। यह बाण महाभारतकालमें केवल अर्जुनके पास था।

८. **वैष्णव**—नारायणास्त्र—यह भी पाशुपतके समान विकराल अस्त्र है। इस नारायण-अस्त्रका कोई प्रतिकार ही नहीं है। यह बाण चलानेपर अखिल विश्वमें कोई शक्ति इसका मुकाबला नहीं कर सकती। इसका केवल एक ही प्रतिकार है और वह यह है कि शत्रु अस्त्र छोड़कर नम्रतापूर्वक अपनेको अर्पित कर दे। कहीं भी हो, यह बाण वहाँ जाकर ही भेद करता है। इस बाणके सामने झुक जानेपर यह अपना प्रभाव नहीं करता।

इन दैवी बाणोंके अतिरिक्त ब्रह्मशिरा और एकाग्नि आदि बाण हैं। आज यह सब बाण-विद्या इस देशके लिये अतीतकी घटना बन गयी। महाराज पृथ्वीराजके बाद बाण-विद्याका सर्वथा लोप हो गया।

(२) वे शस्त्र हैं, जो यान्त्रिक उपायसे फेंके जाते हैं; ये अस्त्रनलिका आदि हैं। नाना प्रकारके अस्त्र इसके अन्तर्गत आते हैं। अग्नि, गैस, विद्युत्से भी ये अस्त्र छोड़े जाते हैं। प्रमाणोंकी जरूरत नहीं है कि प्राचीन आर्य गोला-बारूद और भारी तोपें, टैंक बनानेमें भी कुशल थे। इन अस्त्रोंके लिये देवी और देवताओंकी आवश्यकता नहीं पड़ती। ये भयंकर अस्त्र हैं और स्वयं ही अग्नि, गैस या विद्युत् आदिसे चलते हैं।

यहाँ हम कुछ अस्त्र-शस्त्रोंका वर्णन करते हैं, जिनका प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंमें उल्लेख है।

१. **शक्ति**—यह लंबाईमें गजभर होती है, उसका हैंडल बड़ा होता है, उसका मुँह सिंहके समान होता है और उसमें बड़ी तेज जीभ और पंजे होते हैं। उसका रंग नीला होता है और उसमें छोटी-छोटी घंटियाँ लगी होती हैं। यह बड़ी भारी होती है और दोनों हाथोंसे फेंकी जाती है।

२. **तोमर**—यह लोहेका बना होता है। यह बाणकी शकलमें होता है और इसमें लोहेका मुँह बना

होता है। साँपकी तरह इसका रूप होता है। इसका धड़ लकड़ीका होता है। नीचेकी तरफ पंख लगाये जाते हैं, जिससे वह आसानीसे उड़ सके। यह प्राय: डेढ़ गज लंबा होता है। इसका रंग लाल होता है।

३. पाश—ये दो प्रकारके होते हैं, वरुणपाश और साधारण पाश; इस्पातके महीन तारोंको बटकर ये बनाये जाते हैं। एक सिर त्रिकोणवत् होता है। नीचे जस्तेकी गोलियाँ लगी होती हैं। कहीं-कहीं इसका दूसरा वर्णन भी है। वहाँ लिखा है कि वह पाँच गजका होता है और सन, रूई, घास या चमड़ेके तारसे बनता है। इन तारोंको बटकर इसे बनाते हैं।

४. ऋष्टि—यह सर्वसाधारणका शस्त्र है, पर यह बहुत प्राचीन है। कोई-कोई उसे तलवारका भी रूप बताते हैं।

५. गदा—इसका हाथ पतला और नीचेका हिस्सा वजनदार होता है। इसकी लंबाई जमीनसे छातीतक होती है। इसका वजन बीस मनतक होता है। एक-एक हाथसे दो-दो गदाएँ उठायी जाती थीं।

६. मुद्‌गर—इसे साधारणतया एक हाथसे उठाते हैं। कहीं यह बताया है कि वह हथौड़ेके समान भी होता है।

७. चक्र—दूरसे फेंका जाता है।

८. वज्र—कुलिश तथा अशनि—इसके ऊपरके तीन भाग तिरछे-टेढ़े बने होते हैं। बीचका हिस्सा पतला होता है। पर हाथ बड़ा वजनदार होता है।

९. त्रिशूल—इसके तीन सिर होते हैं। इसके दो रूप होते हैं।

१०. शूल—इसका एक सिर नुकीला, तेज होता है। शरीरमें भेद करते ही प्राण उड़ जाते हैं।

११. असि—तलवारको कहते हैं। यह शस्त्र किसी रूपमें पिछले कालतक उपयोग होता रहा। पर विमान, बम और तोपोंके आगे उसका भी आज उपयोग नहीं रहा। पर हम इस चमकनेवाले हथियारको भी भूल गये। लकड़ी भी हमारे पास नहीं, तब तलवार कहाँसे हो।

१२. खड्ग—बलिदानका शस्त्र है। दुर्गाचण्डीके सामने विराजमान रहता है।

१३. चन्द्रहास—टेढ़ी तलवारके समान वक्र कृपाण है।

१४. फरसा—यह कुल्हाड़ा है। पर यह युद्धका आयुध है। इसकी दो शक्लें हैं।

१५. मुशल—यह गदाके सदृश होता है, जो दूरसे फेंका जाता है।

१६. धनुष—इसका उपयोग बाण चलानेके लिये होता है।

१७. बाण—सायक, शर और तीर आदि भिन्न-भिन्न नाम हैं। ये बाण भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। हमने ऊपर कई बाणोंका वर्णन किया है। उनके गुण और कर्म भिन्न-भिन्न हैं।

१८. परिघ—एकमें लोहेकी मूठ है। दूसरे रूपमें यह लोहेकी छड़ी भी होती है और तीसरे रूपके सिरेपर वजनदार मुँह बना होता है।

१९. भिन्दिपाल—लोहेका बना होता है। इसे हाथसे फेंकते हैं। इसके भीतरसे भी बाण फेंकते हैं।

२०. नाराच—एक प्रकारका बाण है।

२१. परशु—यह छुरेके समान होता है। भगवान् परशुरामके पास अक्सर रहता था। इसके नीचे लोहेका एक चौकोर मुँह लगा होता है। यह दो गज लंबा होता है।

२२. कुण्टा—इसका ऊपरी हिस्सा हलके समान होता है। इसके बीचकी लंबाई पाँच गजकी होती है।

२३. शंकु बर्छी—भाला है।

२४. पट्टिश—एक प्रकारका कुल्हाड़ा है।

इसके सिवा वशि तलवार या कुल्हाड़ाके रूपमें होती है।

इन अस्त्रोंके अतिरिक्त अन्य अनेक अस्त्र हैं, जिनका हम यहाँ वर्णन नहीं कर सके। भुशुण्डी आदि अनेक शस्त्रोंका वर्णन पुराणोंमें है। हममें जितना स्वल्प ज्ञान है उसके आधारपर उन सबका रूप प्रकट करना सम्भव नहीं।*

आज हम इन सभी अस्त्र-शस्त्रोंको भूल गये। हम

* लगभग १५ वर्ष पहले बस्तीके प्रज्ञाचक्षु पं० श्रीधनराजजीके दर्शन हुए थे। उन्होंने बतलाया था कि धनुर्वेद, धनुष-चन्द्रोदय और धनुष-प्रदीप—तीन प्राचीन ग्रन्थ उन्हें याद हैं, इनमेंसे दोकी प्रत्येककी श्लोक-संख्या ६०००० है। अन्य ग्रन्थोंके साथ इन ग्रन्थोंकी उन्होंने एक सूची भी लिखवायी थी, जो सम्भवत: बनारसके डिस्ट्रिक्ट और सेशन जज श्रीकृष्णचन्द्रजी श्रीवास्तव्यके पास है। इसमें 'परमाणु' से शक्तिनिर्माणका भी वर्णन है। यह विषय संवत् १९९५ में प्रकाशित स्वर्गीय प्रो० श्रीरामदासजी गौड़के 'हिंदुत्व' नामक ग्रन्थमें भी छप चुका है। इससे पता लगता है कि प्राचीन कालमें 'परमाणु' (ऐटम) से शस्त्रादि-निर्माणकी क्रिया भी भारतीयोंको ज्ञात थी। —सम्पादक

..........कण्वा अभिप्रगायत॥

यह मत ऋग्वेदका है। इसपर आचार्य देवपालका भी भाष्य है, जो कि लौगाक्षिगृह्यसूत्रोंके भाष्यके प्रसंगमें प्राप्त हुआ है। आचार्य देवपालजी इस मन्त्रके सम्बन्धमें लिखते हैं—

हे मरुतः वः युष्माकं सम्बन्धि शर्धः, बलं क्रीडं क्रीडयतु अस्मान्। कणतिः शब्दकर्मा, कणन्तीति कण्वा वायवः, यूयमेव मारुतं मरुतां सम्बन्धि शर्धः प्रगायत कथयत, यादृशं तदिति। कीदृशं शर्धः, रथे शुभं रथविमानादीनामनुकूलं गमने, तथानर्वाणं लिङ्गव्यत्ययः, अनर्व अप्रच्युतमित्यर्थः।

अर्थात् 'हे (मरुतः) वायुओ! तुम्हारा जो बल है वह हमारी क्रीडाका साधन बने। तुम कण्व हो अर्थात् शब्द करनेवाले वायु हो; तुम ही हमें कहो, जैसा कि, अद्वितीय बल मरुतोंका हुआ करता है—वह बल जो कि रथोंके निमित्त शुभ होता है अर्थात् रथ और विमान आदिके चलानेके अनुकूल होता है, तथा जो अप्रच्युत है, जिसका कोई मुकाबला नहीं कर सकता, जिसका कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता।'

आचार्य देवपालके इस लेखसे तीन परिणाम निकलते हैं—

(क) मरुतों या वायुओंके बलका प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है कि जिससे वे हमारी क्रीडाका साधन बन सकें। आजकलकी मोटरें आदि रथ क्रीडाके ही साधन हैं।

(ख) मरुतोंके बलको रथों तथा विमानोंके चलनेके अनुकूल प्रयुक्त किया जा सकता है।

(ग) '**कण्व**' शब्द वेदमें कण्व ऋषिके वंशके सम्बन्धमें ही प्रयुक्त होता हो, सो नहीं। श्रीसायणाचार्यने इस मन्त्रमें कण्वसे अर्थ लिया है कण्वगोत्रके ऋषि। परंतु आचार्य देवपालने यहाँ कण्वका अर्थ किया है 'शब्द करनेवाले वायु।'[1]

रामायणके अंदर वायुयान (विमान) के सम्बन्धमें स्थान-स्थानपर वर्णन आता है।

कैलासपर्वतं गत्वा विजित्य नरवाहनम्।
विमानं पुष्पकं तस्य कामगं वै जहार यः॥

(वा० रा० अरण्य० ३१। १४)

'कैलास पर्वतपर जाकर वहाँ सवारी लेकर जानेवाले पुष्पकविमानको लाया।'

यस्य तत्पुष्पकं नाम विमानं कामगं शुभम्।
वीर्यादावर्जितं भद्रे येन यामि विहायसम्॥

(वा० रा० अरण्य० ४८। ६)

रावण सीतासे कहता है कि 'हे सीते! सुन्दर पुष्पकविमान विश्रवणका था, जिसे मैं बलसे जीतकर लाया हूँ। इससे मैं आकाशमें जाता हूँ।'

दिवं गते वायुपथे प्रतिष्ठितं
व्यराजतादित्यपथस्य लक्ष्मवत्।
स पुष्पकं तत्र विमानमुत्तमं
ददर्श तद्वानरवीरसत्तमः॥

(वा० रा० सुन्दर० ८। १-२, ८)

'आकाशमें उड़नेपर वायुमार्गमें विराजमान, सूर्य-पथमें चिह्नकी भाँति दीखनेवाले पुष्पकविमानको देखा।'

जालवातायनैर्युक्तं काञ्चनैः स्फटिकैरपि।

(वा० रा० सुन्दर० ९। १६)

'वह पुष्पकविमान सोनेकी जालियों और स्फटिकमणिकी खिड़कियोंसे युक्त था।'

जलयान—

यास्ते पूषन्नावो अन्तःसमुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृतश्रव इच्छमानः॥

(ऋग्वेदसंहिता ६। ५८। ३)

'हे पूषन्! जो तेरी लोहादिकी बनी नौकाएँ समुद्रके भीतर अर्थात् समुद्रतलके नीचे और अन्तरिक्षमें चलती हैं, मानो तू उनके द्वारा इच्छापूर्वक अर्जित यशको चाहता हुआ सूर्यके दूतत्वको प्राप्त कर रहा है।

इस मन्त्रमें '**नावः**' का विशेषण '**हिरण्ययी**'= हिरण्यका विकार वा हिरण्यसे बनी हुई ध्यान देने योग्य है। '**हिरण्य**' का अर्थ तो जहाँ सोना है, वहाँ वेदमें लोह और धातुमात्रके लिये भी प्रयुक्त होता है।

'**अन्तःसमुद्रे**' का अर्थ केवल 'समुद्रमें' नहीं है इस अर्थको तो केवल '**समुद्रे**' कह सकता है। इसके साथ '**अन्तः**' पद लगानेसे 'समुद्रके भीतर' अर्थ बनता है। अर्थात् इस मन्त्रमें वायुयानों=विमानोंके साथ पनडुब्बियों (Submarines) का भी वर्णन है।

सोमापूषणा रजसो विमानं सप्तचक्रं रथमविश्वमिन्वम्।

(ऋ० २। ४०। ३)

'सात पहियोंके विमानका, जो सोम और पूषणकी

१. वैदिक विज्ञान', वर्ष १, सन् १९३२ ई०, संख्या ३, पृष्ठ १३३-१३४।

शक्तिसे चलाया जाय।'

रिसर्च स्कालर पं० रघुनन्दन शर्मा, साहित्यभूषण लिखते हैं—

'विमान नामक यन्त्र तो वैदिक कालसे ही इस देशमें प्रचलित था। वेदमें विमानके बननेकी विधि बतलाते हुए कहा गया है कि जो आकाशमें उड़नेकी स्थितिको जानता है, वह समुद्र-आकाशकी नाव-विमानको जानता है।[१]'

एक अमेरिकन आलोचक स्वीकार करते हैं कि प्राचीन भारतमें बाष्प-यन्त्र (Steam Engine) हुआ करते थे, जो अग्नि-रथके नामसे प्रसिद्ध थे।[२]

रथोंके सम्बन्धमें पर्यटक अलबेरूनी लिखता है—जंगी रथोंका अविष्कार एक हिंदूने किया था, जब कि प्रलयके ९००वर्ष बाद वह मिस्रपर शासन करता था।[३]

मि० जकोलियट नामक प्रसिद्ध विद्वान् अपने "The Bible in India" नामक ग्रन्थमें अनेक मतोंकी सृष्ट्युत्पत्तिविषयक कल्पनाओंका उल्लेख करके वैदिक विचारके बारेमें निम्न उद्‌गार प्रकट करता है—

"Astonishing fact! The Hindu revelation (Veda) is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern Science as it proclaims the slow and gradual formation of the world."

'यह एक बड़ी ही आश्चर्यजनक बात है। ईश्वरीय धर्म ग्रन्थोंमेंसे एकमात्र वेद ही ऐसा है, जिसके विचार वर्तमान विज्ञानके साथ सम्पूर्णतया संगत हैं; क्योंकि उस (वेद) में भी विज्ञानके अनुसार जगत्‌की क्रमिक रचनाका प्रतिपादन है।'

अमेरिकन महिला ह्वीलर विल्लॉक्स (Mrs. Wheeler Willox) कहती हैं—

"We have all heard and read about the ancient religion of India, It is the land of the great Vedas, the most remarkable works, containing not only religious ideas on a perfect life, but also facts which all the science has since proved true. Electricity, Radium, Electrons, Airships, all seem to be known to the sires who found the Vedas."[४]

अर्थात् 'हमलोगोंने भारतीय प्राचीन धर्मके विषयमें सुना और पढ़ा है। भारत उन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वेदोंकी भूमि है, जिनके अंदर न केवल पूर्ण आदर्श जीवनके लिये धार्मिक तत्त्वोंका निरूपण है, वरं उन सच्चाइयोंका भी निर्देश है, जिनको सारे विज्ञानशास्त्रने सत्य प्रमाणित किया है। वैदिक ऋषियोंको विद्युत्, रेडियो, एलेक्ट्रान, हवाईजहाज इत्यादि सब बातोंका ज्ञान था—ऐसा प्रतीत होता है।'

फ्रांसके सुविख्यात योगी भी स्वीकार करते हैं कि ×××× 'वर्तमान विज्ञान केवल उन्हीं सिद्धान्तोंको पुनः प्रस्तुत करता है, जो वेदोंमें वर्णित हैं'।[५]

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता रालीविंसनने भी जिन वेद-मन्त्रोंका उद्धरण देकर प्राचीन भारतके जहाजी बेड़ेका परिचय दिया है, उनमेंसे एक स्वयं अपने बलसे चलनेवाला, अन्तरिक्षमें गति करनेवाला जहाज है।[६]

प्रो० मैक्समूलर अपने "Biographical Essays" में लिखते हैं—

"If any historical or geographical names occur in the Vedas, all are explained away because. if taken in their natural sense. they would impart to the Vedas historical or tempered talent. To Swami Dayanand, everything contained in the Vadas was not only perfect truth, but he went one step further and, by their interpretation, succeeded in persuading others that everything worth knowing-even the most recent inventions of modern science were alluded to in the Vedas; steam-engine, electricity, talegraphy and wireless, morconogram were shown to have

१. 'वैदिक सम्पत्ति' द्वितीय संस्करण पृष्ठ ३९४
२. "Hindu Superiority" तथा 'महान् भारत' पृष्ठ ३८२।
३. "Alberuni's India", Vol. I page 407.
४. Sublimity of the Vadas", page 83.
५. 'महान् भारत' पृष्ठ ३८३।
६. "Intercourse between India and the Western world", page 4.

been known at least in the germs to the poets of the Vedas."[1]

अर्थात् 'ऋषि दयानन्दने वेदोंमें आये हुए ऐतिहासिक तथा भौगोलिक नामोंकी व्याख्या (यौगिक-पद्धतिसे) की है; क्योंकि वेदोंमें कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं है। ऋषि दयानन्दजीकी दृष्टिमें जो कुछ भी वेदोंमें है, वह न केवल पूर्ण सत्य है; अपितु उससे एक पद आगे बढ़कर ऋषि कहते हैं कि वेदोंमें ज्ञानके योग्य हर वस्तुका वर्णन है। यहाँतक कि अति नवीन आधुनिक आविष्कारों—जैसे स्टीम इंजन, विद्युत्, तार, बिना तारके तार, मॉरकोनोग्रामका भी प्रतिपादन वेदोंमें किया गया है—कम-से-कम बीजरूपमें तो अवश्य ही उपर्युक्त वस्तुओंका वर्णन वेदोंमें है।'

योगी श्रीअरविन्द कहते हैं—'वेदोंमें सृष्टि-विद्या-तत्त्वका भी कुछ कम आविर्भाव नहीं है।·······आधुनिक पदार्थ-विज्ञानकी सत्यताएँ भी वैदिक मन्त्रोंमें प्रकटित होती हैं।'[2]

आचार्य सत्यव्रतजी सामश्रमी कलकत्ता संस्कृत कॉलेजके वैदिक साहित्यके प्रोफेसर थे। पाश्चात्त्य तथा प्राच्य वैदिक विद्वानोंमें इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। बंगाल एसियाटिक सोसाइटीके कई ग्रन्थोंका इन्होंने सम्पादन किया है। इनके 'त्रयीचतुष्टय', 'त्रयीपरिचय', 'निरुक्तालोचन', 'ऐतरेयालोचन' आदि ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। आपने अपने 'त्रयीचतुष्टय' नामक संग्रह-ग्रन्थमें वेदोंके भाष्यकारोंके सम्बन्धमें अपनी सम्मति लिखी है। आप लिखते हैं—

"When the त्रयीसंग्रह was being compiled, the impression grew upon me that the real meaning of many Mantras did not come out in Sāyaṇa's commentary, and the desire became strong in me to publish the interpretation of Yāska and other old expositors of the Veda, At a time when pbotography, phonography, gaslight, telegraph, the telephone, Railway and baloons had not been introduced into the country, how could our people understand any verses referring to these things ? Our opinion is that, in Vedic times, our country had made extraordinary progress, In those days the sciences of Geology, Asronomy and Chemistry were called "Ābhidaivika Vidya" and those of physiology, psychology and Theology "Adhyatma Vidya."

"Though the works embodying the scientific knowledge of those times are entirely lost, there are sufficient indications in Vedic works of those sciences having been widely known in those days."[3]

अर्थात् 'त्रयीसंग्रह' पुस्तकका जब संकलन हो रहा था, उस समय मुझे अनुभव हुआ कि सायण-भाष्यमें बहुत-से मन्त्रोंके यथार्थ भाव प्रकट नहीं हो सके; इसलिये मुझमें यह इच्छा प्रबल हुई कि यास्क तथा अन्य प्राचीन भाष्यकारोंके भावार्थोंका मैं स्वयं उद्घाटन करूँ।

"उस समय जब कि फोटोग्राफी, फोनोग्राफी, गैसलाइट, टेलिग्राफ, टेलिफोन, रेलवे और हवाई जहाजोंका भारतमें प्रचार न था, किस प्रकार भारतके वेदभाष्यकर्ता उन मन्त्रोंके यथार्थ रहस्योंको समझ सकते थे, जिनमें इन वस्तुओंके संकेत हों। हमारी सम्मति है कि वैदिक कालमें हमारे भारत देशने पर्याप्त उन्नति कर ली थी। उस समय भूगर्भ विद्या, ज्यौतिष और रसायन-विद्याको आधिदैविक विद्या कहा जाता था और शरीरविद्या, मनोविज्ञान तथा ब्रह्मविद्याको अध्यात्मविद्या। उस समयके वैज्ञानिक ग्रन्थ यद्यपि इस समय सर्वथा लुप्त हो गये हैं। तो भी वेदोंमें उन विज्ञानोंके सम्बन्धके पर्याप्त निर्देश मिलते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि वैदिक कालमें उन विज्ञानोंका पर्याप्त प्रचार था।"

अतएव इन उपर्युक्त प्रमाणोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतमें यातायातके आश्चर्यजनक वैज्ञानिक साधन पर्याप्त मात्रामें थे। उनमेंसे कुछका तो शायद आज भी आविष्कार नहीं हो पाया है।

१. नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ १३६-१३७।
२. ईश्वरीय ज्ञान वेद, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ७८-७९।
३. "Trayi-Chatushtaya" Preface, VII.IX.

भारतीय नौ-निर्माणकला

(लेखक—पं० श्रीगंगाशंकरजी मिश्र, एम० ए०)

इतिहास, पुराण तथा अपने यहाँके अन्य प्राचीन साहित्यमें बड़े-बड़े जहाजोंकी बहुत चर्चा आयी है। रामायण 'अयोध्याकाण्ड' में ऐसी बड़ी-बड़ी नावोंका उल्लेख है, जिनमें सैकड़ों कैवर्त योद्धा तैयार रहते थे—

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम्।
सन्नद्धानां तथा यूनान्तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत्॥

'महाभारत' में तो यन्त्रसंचालित नावोंका भी वर्णन आया है—

सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम्।

समुद्रमार्गसे विभिन्न देशोंसे बराबर व्यापार होता था। 'वाराहपुराण' में गोकर्ण वैश्यकी कथा आती है, जो विदेशोंमें रत्नोंका व्यापार किया करता था—

पुनस्तत्रैव गमने वणिग्भावे मतिर्गता।
समुद्रयाने रत्नानि महास्थौल्यानि साधुभिः॥

दण्डीके 'दशकुमारचरित' में रत्नोद्भव वणिक्‌की कथा है, जिसका जहाज पटना जाते हुए डूब गया था—

ततः सोदरविलोकनकुतूहलेन रत्नोद्भवः कथञ्चिच्छ्वशुरमनुनीय चपललोचनयानया सह प्रवहणमारुह्य पुरुषपुरमभिप्रतस्थे। कल्लोल-मालिकाभिहतः पोतः समुद्राम्भस्यमज्जत।

दूसरा वणिक् मित्रगुप्त किसी द्वीपमें पहुँचा; वहाँ श्वान जैसे वाराहको घेर लेते हैं, वैसे ही यवनोंकी नावोंने जहाजको घेर लिया—

तावदतिजवा नौकाः श्वान इव
वराहमस्मत्पोतं पर्यरुत्सत।

भर्तृहरिने लिखा है कि दुस्तर समुद्रके पार करनेमें जहाज काम देता है—

पोतो दुस्तरवारिराशितरणे।

कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' के 'नावध्यक्ष' प्रकरणमें नौसेना और राज्यकी ओरसे नावोंके प्रबन्धका पूरा विवरण मिलता है।

इन नावों और जहाजोंकी निर्माण-कलापर ज्योतिषाचार्य वराहमिहिरकृत 'बृहत्संहिता' तथा भोजकृत 'युक्तिकल्पतरु' में कुछ प्रकाश डाला गया है। 'वृक्ष-आयुर्वेद' के अनुसार वृक्षोंमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार जातियाँ हैं। लघु तथा कोमल लकड़ी, जो सहजमें जोड़ी जा सके, ब्राह्मणजातिकी मानी जाती है। क्षत्रियजातिकी लकड़ी हल्की और दृढ़ होती है। वह अन्य प्रकारकी लकड़ियोंसे जोड़ी नहीं जा सकती। वैश्य जातिकी लकड़ी कोमल तथा भारी होती है और शूद्रजातिकी लकड़ी दृढ़ तथा भारी होती है। जिनमें दो जातियोंके गुण पाये जाते हैं, वे 'द्विजाति' हैं—

लघु यत्कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत्।
दृढाङ्गं लघु यत्काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत्॥
कोमलं गुरु यत्काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते।
दृढाङ्गं गुरु यत्काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते॥
लक्षणद्वययोगेन द्विजातिः काष्ठसङ्ग्रहः॥

भोजका कहना है कि क्षत्रिय काठकी बनी हुई नौका सुख-सम्पत्प्रद होती है—

क्षत्रियकाष्ठैर्घटिता भोजमते सुखसम्पदं नौका।

इसके बने हुए जहाज विकट जलमार्गोंमें काम दे सकते हैं—

अन्ये लघुभिः सुदृढैर्विदधति जलदुष्पदे नौकाम्।

दूसरी प्रकारकी लकड़ियोंसे जो नौकाएँ बनायी जाती हैं, उनके गुण अच्छे नहीं होते। उनमें आराम नहीं मिलता। वे टिकाऊ भी नहीं होतीं, पानीमें उनकी लकड़ी सड़ने लगती है और साधारण भी धक्का लगनेपर वे फटकर डूब जाती हैं—

विभिन्नजातिद्वयकाष्ठजाता
न श्रेयसे नापि सुखाय नौका।
नैषा चिरं तिष्ठति पच्यते च
विभिद्यते सरिति मज्जत च॥

भोजने यह भी लिखा है कि जहाजोंके पेंदोंके तख्तोंको जोड़नेके लिये लोहेसे काम न लेना चाहिये; क्योंकि सम्भव है कि समुद्रकी चट्टानोंमें कहीं चुम्बक हो तो वह स्वभावतः लोहेको अपनी ओर खींचेगा, जिससे जहाजोंके लिये खतरा है—

न सिन्धुगाद्यार्हति लौहबन्धं
तल्लौहकान्तैर्ह्रियते च लौहम्।
विपद्यते तेन जलेषु नौका
गुणेन बन्धं निजगाद भोजः॥

'युक्तिकल्पतरु' में आकार-प्रकार, लंबाई-चौड़ाईकी

दृष्टिसे नौकाओंके कई प्रकार बतलाये गये हैं। नौकाओंके पहले तो दो विभाग किये गये हैं—एक तो 'सामान्य', जो साधारण नदियोंमें चल सकें और दूसरे 'विशेष', जो समुद्र-यात्राका काम दे सकें—

सामान्यश्च विशेषश्च नौकाया लक्षणद्वयम्।

लंबाई-चौड़ाई और ऊँचाईका ध्यान रखते हुए क्षुद्रा, मध्यमा, भीमा, चपला, पटला, भया, दीर्घा, पत्रपुटा, गर्भरा, मन्थरा—ये दस प्रकारकी सामान्य नावें बतलायी गयी हैं। क्षुद्राकी लंबाई १६, चौड़ाई ४ और गहराई या ऊँचाई ४ हाथ होनी चाहिये। इसी तरह इन सबकी नाप दी हुई है और मन्थराकी लंबाई १२०, चौड़ाई ६० और ऊँचाई भी ६० हाथकी बतलायी गयी है। सबमें चौड़ाई और ऊँचाईकी एक ही नाप है—

राजहस्तमितायामा तत्पादपरिणाहिनी।
तावदेवोन्नता नौका क्षुद्रेति गदिता बुधैः॥
अतः सार्द्धमितायामा तदर्द्धपरिणाहिनी।
त्रिभागेनोत्थिता नौका मध्यमेति प्रचक्षते॥
क्षुद्राथ मध्यमा भीमा चपला पटला भया।
दीर्घा पत्रपुटा चैव गर्भरा मन्थरा तथा॥
नौकादशकमित्युक्तं राजहस्तैरनुक्रमम्।
एकैकवृद्धैः सार्द्धैश्च विजानीयाद् द्वयं द्वयम्॥
उन्नतिश्च प्रवीणा च हस्तादर्द्धांशलक्षिता॥

'विशेष' के भी दो विभाग किये गये हैं—दीर्घा और उन्नता। फिर दीर्घाके दीर्घिका, तरणि, लोला, गत्वरा, गामिनी, तरी, जंघाला, प्लाविनी, धारिणी और वेगिनी—ये दस विभाग किये गये हैं। इनमें लंबाई अधिक है, पर चौड़ाई थोड़ी और गहराई उससे भी कम है। वेगिनीकी लंबाई १७६, चौड़ाई २२ और ऊँचाई १७$\frac{३}{५}$ हाथ बतलायी गयी है—

राजहस्तद्वयायामा अष्टांशपरिणाहिनी।
नौकेयं दीर्घिका नाम दशाङ्गेनोन्नतापि च॥
दीर्घिका तरणिर्लोला गत्वरा गामिनी तरिः।
जङ्घाला प्लाविनी चैव धारिणी वेगिनी तथा॥
राजहस्तैकैकवृद्ध्या नौकानामानि वै दश।
उन्नतिः परिणाहश्च दशाष्टांशमितौ क्रमात्॥

उन्नताके ऊर्ध्वा, अनूर्ध्वा, स्वर्णमुखी, गर्भिणी और मन्थरा—ये पाँच विभाग किये गये हैं। इनमें मन्थराकी ऊँचाई ४८ हाथतक रखी गयी है—

राजहस्तद्वयमिता तावत्प्रसरणोन्नता।
इयमूर्ध्वाभिधा नौका क्षेमाय पृथिवीभुजाम्॥
ऊर्ध्वानूर्ध्वा स्वर्णमुखी गर्भिणी मन्थरा तथा।
राजहस्तैकैकवृद्ध्या नामपञ्चत्रयं भवेत्॥

नौकाकी सजावटोंका भी बहुत सुन्दर वर्णन आया है। सजावटमें सोना, चाँदी, ताँबा और तीनोंको मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। चार शृंग (मस्तूल)-वाली नौकाको सफेद, तीनवालीको लाल, दोवालीको पीला और एकवालीको नीला रँगना चाहिये। नौकाओंका मुख सिंह, महिष, सर्प, हाथी, व्याघ्र, पक्षी, मेढक या मनुष्यकी आकृतिका बनाया जा सकता है—

धात्वादीनामतो वक्ष्ये निर्णयं तरिसंश्रयम्।
कनकं रजतं ताम्रं त्रितयं वा यथाक्रमम्॥
ब्रह्मादिभिः परिन्यस्य नौकाचित्रणकर्मणि।
चतुःशृंगा त्रिशृङ्गाभा द्विशृङ्गा चैकशृङ्गिणी॥
सितरक्तापीतनीलवर्णान् दद्याद् यथाक्रमम्।
केसरी महिषो नागो द्विरदो व्याघ्र एव च॥
पक्षी भेको मनुष्यश्च एतेषां वदनाष्टकम्।
नावां मुखे परिन्यस्य आदित्यादिदशाभुवाम्॥

नावोंके ऊपर कोठरी, कमरा आदि बनानेकी दृष्टिसे नावोंके तीन भेद हैं—सर्व, मध्य और अग्रमन्दिरा—

सगृहा त्रिविधा प्रोक्ता सर्वमध्याग्रमन्दिरा।

जिसमें एक सिरेसे दूसरे सिरेतक मन्दिर बना हो, वे नावें सर्वमन्दिरा कहलाती हैं। ये राजाके कोष, अश्व, नारी आदि ले जानेके लिये होती हैं।

सर्वतो मन्दिरं यत्र सा ज्ञेया सर्वमन्दिरा।
राज्ञां कोषाश्वनारीणां यानमत्र प्रशस्यते॥

जिनके मध्यमें मन्दिर है, वे मध्यमन्दिरा कहलाती हैं। ये राजाके सैर-सपाटेके काममें आती हैं और वर्षाकालके लिये बहुत उपयुक्त हैं—

मध्यतो मन्दिरं यत्र सा ज्ञेया मध्यमन्दिरा।
राज्ञां विलासयात्रादिवर्षासु च प्रशस्यते॥

जिनके आगेकी ओर मन्दिर बना हुआ है, वे अग्रमन्दिरा कहलाती हैं। ये बड़ी-बड़ी नावें जहाजकी तरह होती हैं, जो लंबी यात्रा और युद्धके लिये उपयुक्त हैं—

अग्रतो मन्दिरं यत्र सा ज्ञेया त्वग्रमन्दिरा।
चिरप्रवासयात्रायां रणे काले घनात्यये॥

मुसलमानोंके शासनकालमें भी भारतमें बड़े-बड़े जहाज बनते रहे। मार्को पोलो, जो तेरहवीं शताब्दीमें भारत आया था, लिखता है कि 'जहाजोंमें दोहरे तख्तोंकी

जुड़ाई होती थी, लोहेकी कीलोंसे उनको मजबूत बनाया जाता था और उनके सूराखोंको एक प्रकारकी गोंदसे भरा जाता था। इतने बड़े जहाज होते थे कि उनमें तीन-तीन सौ मल्लाह लगते थे। एक-एक जहाजपर ५ से ६ हजारतक बोरे लादे जा सकते थे। इनमें रहनेके लिये ऊपर कई कोठरियाँ बनी रहती थीं, जिनमें सब तरहके आरामका प्रबन्ध रहता था। जब पेंदा खराब होने लगता था, तब उसपर लकड़ीका एक नया तह जड़ दिया जाता था। इस तरह कभी-कभी एकके ऊपर एक ६ तहतक लगायी जाती थीं।' पद्रंहवीं शताब्दीमें निकोलो कांटी नामक यात्री भारत आया था। वह लिखता है कि 'भारतीय जहाज हमारे जहाजोंसे बहुत बड़े होते हैं' उनका पेंदा तेहरे तख्तोंका ऐसा बना होता है कि वह भयानक तूफानोंका भी सामना कर सकता है। कुछ जहाज ऐसे बने होते हैं कि उनका एक भाग बेकार हो जानेपर बाकीसे काम चल जाता है।' वर्थमा नामक एक दूसरे यात्रीने कालीकटमें जहाजोंके बननेका वर्णन किया है। वह लिखता है कि 'लकड़ीके तख्तोंकी ऐसी जुड़ाई होती है कि उनमेंसे जरा भी पानी नहीं आता। जहाजोंमें कभी दो-दो बादबान (पाल) सूती कपड़ेके लगाये जाते हैं कि जिनमें हवा खूब भर सके। लंगर कभी-कभी पत्थरके भी होते थे। ईरानसे कन्याकुमारीतक आनेमें आठ दिनका समय लग जाता था।' समुद्रतटवर्ती राजाओंके पास जहाजोंके बड़े-बड़े बेड़े रहते थे। देश-नदियोंमें चलनेवाले हजारों नावोंके बेड़े होते थे। अकबरके नौ-विभागका अध्यक्ष 'मीर बहर' कहलाता था। छत्रपति शिवाजीका भी अपना जहाजी बेड़ा था, जिसका अध्यक्ष 'दरियासारंग' कहलाता था। डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जीने अपनी 'इण्डियन शिपिंग' नामक पुस्तकमें भारतीय जहाजोंका बड़ा रोचक, सप्रमाण इतिहास दिया है। अब देखना है कि इस भारतीय प्राचीन नौ-निर्माणकलाको नष्ट कैसे किया गया।

पाश्चात्योंका जब भारतसे सम्पर्क हुआ, तब वे यहाँके जहाजोंको देखकर चकित रह गये। सत्रहवीं शताब्दीतक यूरोपीय जहाज अधिक-से-अधिक ६सौ टनके थे, परन्तु भारतमें उन्होंने 'गोघा' नामक ऐसे बड़े-बड़े जहाज देखे, जो १५सौ टनसे भी अधिकके होते थे। यूरोपीय कम्पनियाँ इन जहाजोंको काममें लाने लगीं और हिंदुस्तानी कारीगरोंद्वारा जहाज बनवानेके लिये उन्होंने कई कारखाने खोल दिये। सन् १८११ में लेफ्टिनेंट वाकर लिखता है कि 'ब्रिटिश जहाजी बेड़ेके जहाजोंकी हर बारहवें वर्ष मरम्मत करानी पड़ती थी, परंतु सागौनके बने हुए भारतीय जहाज पचास वर्षोंसे अधिकतक बिना किसी मरम्मतके काम देते थे।' 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के पास 'दरिया दौलत' नामक एक जहाज था, जो ८७ वर्षतक काम देता रहा। जहाजोंको बनानेमें शीशम, साल और सागौन—तीनों लकड़ियाँ काममें लायी जाती थीं। सन् १८११में एक फ्रांसीसी यात्री वाल्टजर सालविन्स अपनी 'ले हिंदू' नामक पुस्तकमें लिखता है कि 'प्राचीन समयमें नौ-निर्माणकलामें हिंदू सबसे आगे थे और आज भी वे इसमें यूरोपको पाठ पढ़ा सकते हैं। अंग्रेजोंने, जो कलाओंके सीखनेमें बड़े चतुर होते हैं, हिंदुओंसे जहाज बनानेकी कई बातें सीखीं। भारतीय जहाजोंमें सुन्दरता तथा उपयोगिताका बड़ा अच्छा योग है और वे हिंदुस्थानियोंकी कारीगरी और उनके धैर्यके नमूने हैं।' बम्बईके कारखानेमें १७३६ से १८६३ तक ३०० जहाज तैयार हुए, जिनमें बहुतसे इंगलैण्डके 'शाही बेड़े' में शामिल कर लिये गये। इनमें 'एशिया' नामक जहाज २२८९ टनका था और उसमें ८४ तोपें लगी थीं। बंगालमें हुगली, सिलहट, चटगाँव, ढाका आदि स्थानोंमें जहाज बनानेके कारखाने थे। सन् १७८१ से १८२१ तक १, २२, ६९३ टनके २७२ जहाज केवल हुगलीमें तैयार हुए थे।

ब्रिटेनके जहाजी व्यापारी भारतीय नौ-निर्माणकलाका यह उत्कर्ष सहन न कर सके और वे 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' को भारतीय जहाजोंका उपयोग न करनेके लिये दबाने लगे। इस सम्बन्धमें कई बार जाँच की गयी। सन् १८११ में कर्नल वाकरने आँकड़े देकर यह सिद्ध किया कि 'भारतीय जहाजोंमें' बहुत कम खर्च पड़ता है और वे बड़े मजबूत होते हैं; यदि ब्रिटिश बेड़ेमें केवल भारतीय जहाज ही रखे जाएँ, तो बहुत बड़ी बचत हो सकती है।' जहाज बनानेवाले अंग्रेज कारीगर तथा व्यापारियोंको यह बात बहुत खटकी। डाक्टर टेलर लिखता है कि 'जब हिंदुस्थानी मालसे लदा हुआ हिंदुस्थानी जहाज लंदनके बंदरगाहपर पहुँचा, तब जहाजोंके अंग्रेज व्यापारियोंमें ऐसी घबराहट मची, जैसी कि आक्रमण करनेके लिये टेम्स नदीमें शत्रुपक्षके जहाजी बेड़ेको देखकर भी न मचती।' लंदन-बंदरगाहके

कारीगरोंने सबसे पहले हो-हल्ला मचाया और कहा कि 'हमारा सब काम चौपट हो जायगा और हमारे कुटुम्ब भूखों मर जायँगे।' 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के 'कोर्ट आफ डिरेक्टर्स' (निरीक्षक-मण्डल) ने लिखा कि 'हिंदुस्थानी खलासियोंने यहाँ आनेपर जो हमारा सामाजिक जीवन देखा, उससे भारतमें यूरोपीय आचरणके प्रति जो आदर और भय था, नष्ट हो गया। अपने देश लौटनेपर हमारे सम्बन्धमें वे जो बुरी बातें फैलायेंगे, उनसे एशिया-निवासियोंमें हमारे आचरणके प्रति जो आदर है, जिसके बलपर ही हम अपना प्रभुत्व जमाये बैठे हैं, नष्ट हो जायगा और उसका प्रभाव बड़ा हानिकारक होगा।' इसपर पार्लिमेंटने सर राबर्ट पीलकी अध्यक्षतामें एक कमेटी नियुक्त की। सदस्योंमें परस्पर मतभेद होनेपर भी इसकी रिपोर्टके आधारपर सन् १८१४ में एक कानून पास किया गया, जिसके अनुसार 'भारतीय खलासियोंको ब्रिटिश नाविक बननेका अधिकार न रहा। ब्रिटिश जहाजोंपर भी कम-से-कम तीन चौथाई अंग्रेज खलासी रखना अनिवार्य कर दिया गया। लंदनके बंदरगाहमें किसी ऐसे जहाजको घुसनेका अधिकार न रहा, जिसका स्वामी कोई ब्रिटिश न हो और यह नियम बना दिया गया कि इंग्लैंडमें अंग्रेजोंद्वारा बनाये हुए जहाजोंमें ही बाहरसे माल इंग्लैण्ड आ सकेगा।' कई कारणोंसे इस कानूनको कार्यान्वित करनेमें ढिलाई हुई, पर सन् १८६३ से इसकी पूरी पाबंदी होने लगी। भारतमें भी ऐसे कायदे-कानून बनाये गये कि जिससे वहाँकी प्राचीन नौ-निर्माणकलाका अन्त हो जाय। भारतीय जहाजोंपर लदे हुए मालकी चुंगी बढ़ा दी गयी और इस तरह उनको व्यापारमें अलग करनेका प्रयत्न किया गया। सर विलियम डिगवीने ठीक ही लिखा है कि 'पाश्चात्त्य संसारकी रानीने इस तरह प्राच्य सागरकी रानीका वध कर डाला!'

संक्षेपमें भारतीय नौ-निर्माणकलाको नष्ट करनेकी यह कहानी है!

हमारी प्राचीन वैमानिक-कला

(लेखक—श्रीदामोदरजी झा, साहित्याचार्य)

वर्तमान समयसे कुछ दिन पहले वैमानिक कला प्रायः नष्ट-सी हो गयी थी। बादमें पाश्चात्त्य विद्वानोंके बुद्धिविकाससे विमान फिर इस संसारमें दिखायी देने लगे हैं। कहा जाता है कि विमान नामकी कोई वस्तु पहले नहीं थी, बल्कि पक्षियोंको आकाशमें उड़ते देखकर भारतीयोंकी यह निरी कपोल-कल्पना थी कि विमान नामकी कोई वस्तु पहले देशमें थी, जो आकाशमें उड़ती थी एवं जिसका उल्लेख रामायणादि ग्रन्थोंमें पाया जाता है। महर्षि कर्दमके विमानके विषयमें भी उनकी यही धारणा है; किंतु आज भी हमारे समक्ष उदाहरणार्थ एक ऐसा ग्रन्थरत्न उपस्थित है, जिससे यह मानना पड़ेगा कि विमानके विषयमें हमारे पूर्वजोंने जिस उच्चकोटिका वैज्ञानिक तत्त्व ढूँढ निकाला था, उसे आज भी पाश्चात्त्य विज्ञानवेत्ता खोज निकालनेमें असमर्थ ही हैं। वह ग्रन्थ है प्राचीनतम महर्षि भारद्वाजका बनाया हुआ 'यन्त्रसर्वस्व।'

यह ग्रन्थ बड़ौदा राज्यके पुस्तकालयमें हस्तलिखित वर्तमान है, जो कुछ खण्डित है। उसका 'वैमानिक प्रकरण' बोधानन्दकी बनायी हुई वृत्तिके साथ छप चुका है। इसके पहले प्रकरणमें प्राचीन विज्ञानविषयके पचीस ग्रन्थोंकी एक सूची है, जिनमें अगस्त्यकृत 'शक्तिसूत्र', 'ईश्वरकृत' 'सौदामिनी-कला', भारद्वाजकृत 'अंशुमतन्त्र', 'आकाशशास्त्र' तथा 'यन्त्रसर्वस्व', शाकटायनकृत 'वायुतत्त्वप्रकरण', नारदकृत 'वैश्वानरतन्त्र', 'धूमप्रकरण' आदि हैं। वृत्तिकार बोधानन्द लिखते हैं—

निर्मथ्य तद्वेदाम्बुधिं भारद्वाजो महामुनिः।
नवनीतं समुद्धृत्य यन्त्रसर्वस्वरूपकम्॥
प्रायच्छत् सर्वलोकानामीप्सितार्थफलप्रदम्।
तस्मिन् चत्वारिंशतिकाधिकारे सम्प्रदर्शितम्॥
नानाविमानवैचित्र्यरचनाक्रमबोधकम्।
अष्टाध्यायैर्विभजितं शताधिकरणैर्युतम्॥
सूत्रैः पञ्चशतैर्युक्तं व्योमयानप्रधानकम्।
वैमानिकाधिकरणमुक्तं भगवता स्वयम्॥

अर्थात् भरद्वाज महामुनिने वेदरूपी समुद्रका मन्थन करके यन्त्रसर्वस्व नामका ऐसा मक्खन निकाला है, जो मनुष्यमात्रके लिये इच्छित फल देनेवाला है। उसमें उन्होंने चालीसवें अधिकरणमें वैमानिक प्रकरण कहा है, जिस प्रकरणमें विमानविषयक रचनाके क्रम कहे गये हैं। वह आठ अध्यायमें विभाजित किया गया है, जिसमें एक सौ अधिकार और पाँच सौ सूत्र हैं। उसमें विमानका विषय ही प्रधान है।

एवं विधाय विधिवन्मङ्गलाचरणं मुनिः।
पूर्वाचार्यांश्च तद्ग्रन्थान् द्वितीयश्लोकतोऽब्रवीत्॥
विश्वनाथोक्तनामानि तेषां वक्ष्ये यथाक्रमम्।
नारायणः शौनकश्च गर्गो वाचस्पतिस्तथा॥
चाक्रायणिर्धुण्डिनाथश्चेति शास्त्रकृतः स्वयम्।
विमानचन्द्रिका व्योमयानतन्त्रस्तथैव च॥
यन्त्रकल्पो यानबिन्दुः खेटयानप्रदीपिका।
तथैव व्योमयानार्कप्रकाशश्चेति षट् क्रमात्।
नारायणादिमुनिभिः प्रोक्तानि ज्ञानवित्तमैः॥

अर्थात् भारद्वाजमुनिने इस तरह विधानपूर्वक मंगलाचरण करके दूसरे श्लोकमें विमानशास्त्रके पूर्वाचार्यों तथा उनके बनाये हुए ग्रन्थोंके नाम भी कहे हैं। उनके नाम विश्वनाथके कथनानुसार इस प्रकार हैं—नारायण, शौनक, गर्ग, वाचस्पति, चाक्रायणि और धुण्डिनाथ। ये छः ग्रन्थकार हैं तथा विमानचन्द्रिका, व्योमयानतन्त्र, यन्त्रकल्प, यानबिन्दुः, खेटयानप्रदीपिका और व्योमयानार्कप्रकाश—ये छः क्रमसे इनके बनाये हुए ग्रन्थ हैं।

विमानकी परिभाषा बतलाते हुए कहा गया है—

पृथिव्यप्स्वन्तरिक्षेषु खगवद्वेगतः स्वयम्।
यः समर्थो भवेद् गन्तुं स विमान इति स्मृतः॥

अर्थात् जो पृथ्वी, जल और आकाशमें पक्षियोंके समान वेगपूर्वक चल सके, उसका नाम विमान है।

'रहस्यज्ञोऽधिकारी।' (भारद्वाजसूत्र अ० १ सू० २)।

वृत्ति—

वैमानिकरहस्यानि यानि प्रोक्तानि शास्त्रतः।
द्वात्रिंशदिति तान्येव यानयन्तृत्वकर्मणि॥
एतेन यानयन्तृत्वे रहस्यज्ञानमन्तरा।
सूत्रेऽधिकारसंसिद्धिर्नेति सूत्रेण वर्णितम्॥
विमानरचने व्योमारोहणे चालने तथा।
स्तम्भने गमने चित्रगतिवेगादिनिर्णये॥
वैमानिकरहस्यार्थज्ञानसाधनमन्तरा ।
यतोऽधिकारसंसिद्धिर्नेति सम्यग्विनिर्णितम्॥

विमानके रहस्योंको जाननेवाला ही उसके चलानेका अधिकारी है। शास्त्रोंमें जो बत्तीस वैमानिक रहस्य बतलाये गये हैं, विमानचालकोंको उनका भलीभाँति ज्ञान रखना परमावश्यक है और तभी वे सफल चालक कहे जा सकते हैं। सूत्रके अर्थसे यह सिद्ध हुआ कि रहस्य जाने बिना मनुष्य यान चलानेका अधिकारी नहीं हो सकता; क्योंकि विमान बनाना, उसे जमीनसे आकाशमें ले जाना, खड़ा करना, आगे बढ़ाना, टेढ़ी-मेढ़ी गतिसे चलाना या चक्कर लगाना और विमानके वेगको कम अथवा अधिक करना आदि वैमानिक रहस्योंका पूर्ण अनुभव हुए बिना यान चलाना असम्भव है।

विमान चलानेके जो बत्तीस रहस्य कहे गये हैं, उनमेंसे कुछ रहस्योंका यहाँ संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जा रहा है, जिनके द्वारा यह ज्ञात होता है कि पाश्चात्त्य विद्वानोंकी वैज्ञानिक कला प्राचीन भारतकी वैज्ञानिक कलासे कितनी पिछड़ी हुई है।

(३) **'कृतकरहस्यो नाम—विश्वकर्मछायापुरुषमनुमयादिशास्त्रानुष्ठानद्वारा तत्तच्छक्त्यनुसन्धानपूर्वकं तात्कालिक संकल्पानुसारेण विमानरचनाक्रमरहस्यम्।'**

अर्थात् उन बत्तीस रहस्योंमेंसे यह कृतक नामक तीसरा रहस्य है। विश्वकर्मा, छायापुरुष, मनु, मयदानव आदि विमानशास्त्रकारोंके बनाये हुए शास्त्रोंका अनुशीलन करनेसे उन-उन धातु-क्रिया आदिमें जो सामर्थ्य है—उसका अनुभव होनेपर इच्छाके अनुसार नवीन विमानरचना करनी चाहिये।

(५) **'गूढरहस्यो नाम—वायुतत्त्वप्रकरणोक्तरीत्या वातस्तम्भाष्टमपरिधिरेखापथस्य यासावियासाप्रयासादिवात् शक्तिभिः सूर्यकिरणान्तर्गततमशक्तिमाकृष्य तत्संयोजनद्वारा विमानाच्छादनरहस्यम्।'**

अर्थात् गूढ़ नामक पाँचवा रहस्य है। वायुतत्त्व-प्रकरणमें कही गयी रीतिके अनुसार वातस्तम्भकी जो आठवीं परिधिरेखा है, उस मार्गकी यासा, वियासा, प्रयासा इत्यादि वायुशक्तियोंके द्वारा सूर्यकिरणमें रहनेवाली जो अन्धकारशक्ति है, उसका आकर्षण करके विमानके साथ उसका सम्बन्ध करानेपर विमान छिप जाता है।

(९) **'अपरोक्षरहस्यो नाम—शक्तितन्त्रोक्तरोहिणीविद्युत्प्रसारणेन विमानाभिमुखस्थवस्तूनां प्रत्यक्षनिदर्शनक्रियारहस्यम्।'**

अर्थात् अपरोक्ष नामक नवें रहस्यके अनुसार शक्तितन्त्रमें कही गयी रोहिणी विद्युत् (कोई विशेष प्रकारकी बिजली) के फैलानेसे विमानके सामने आनेवाली वस्तुओंको प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

(२२) **'सार्पगमनरहस्यो नाम—दण्डवक्रादिसप्तविधमातरिश्वार्ककिरणशक्तीराकृष्य यानमुखस्थवक्रप्रसारणकेन्द्रमुखे नियोज्य पश्चात्तदाहृत्य शक्त्युद्गमननाले प्रवेशयेत्। ततः**

तत्कीलीचालनाद्विमानस्य सर्पवद्गमनक्रियारहस्यम्।'

अर्थात् सार्पगमन नामक बाइसवें रहस्यके अनुसार दण्ड, वक्र आदि सात प्रकारके वायु और सूर्यकिरणोंकी शक्तियोंका आकर्षण करके यानके मुखमें जो तिरछे फेंकनेवाला केन्द्र है, उसके मुखमें उन्हें नियुक्त करके पश्चात् उसे खींचकर शक्ति पैदा करनेवाले नालमें प्रवेश कराना चाहिये; तब उसके बटन दबानेसे विमानकी गति साँपके समान टेढ़ी हो जाती है।

(२५) 'परशब्दग्राहकरहस्यो नाम—सौदामनीकलोक्तप्रकारेण विमानस्थशब्दग्राहकयन्त्रद्वारा परविमानस्थजनसंभाषणादिसर्वशब्दाकर्षणरहस्यम्।'

अर्थात् परशब्दग्राहक पचीसवें रहस्यके अनुसार 'सौदामनीकला' में कही गयी रीतिसे विमानपर जो शब्दग्राहक यन्त्र है, उसके द्वारा दूसरे विमानपरके लोगोंकी बातचीत आदि शब्दोंका आकर्षण किया जाता है।

(२६) 'रूपाकर्षणरहस्यो नाम—विमानस्थरूपाकर्षणयन्त्रद्वारा परविमानस्थित-वस्तुरूपाकर्षणरहस्यम्।'

अर्थात् रूपाकर्षण नाम छब्बीसवें रहस्यके अनुसार विमानमें स्थित रूपाकर्षण-यन्त्रद्वारा दूसरे विमानमें रहनेवाली वस्तुओंका रूप दिखलायी देता है।

(२८) 'दिक्प्रदर्शनरहस्यो नाम—विमानमुख-केन्द्रकीलीचालनेन दिशाम्पतियन्त्रनालपत्रद्वारा परयानागमनदिक्प्रदर्शनरहस्यम्।'

अर्थात् दिक्प्रदर्शन नामक अट्ठाईसवें रहस्यानुसार विमानके मुखकेन्द्र कीली (बटन) चलानेसे 'दिशाम्पति' नामक यन्त्रकी नलीमें रहनेवाली सुईद्वारा दूसरे विमानके आनेकी दिशा जानी जाती है।

(३१) स्तब्धकरहस्यो नाम—विमानोत्तर-पार्श्वस्थसन्धिमुखनालादपस्मारधूमं संग्राह्य स्तम्भनयन्त्रद्वारा तद्धूमप्रसारणात् परविमानस्थ-सर्वजनानां स्तब्धीकरणरहस्यम्।'

स्तब्धक नामके इकतीसवें रहस्यके अनुसार विमानकी बायीं बगलमें रहनेवाली सन्धिमुख नामकी नलीके द्वारा अपस्मारनामक (किसी विशेष छेदसे निकलनेवाले) धूएँको इकट्ठा करके स्तम्भनयन्त्रद्वारा दूसरे विमानपर फेंकनेसे उस दूसरे विमानमें रहनेवाले सब व्यक्ति स्तब्ध (बेहोश) हो जाते हैं।

(३२) 'कर्षणरहस्यो नाम—स्वविमानसंहारार्थं परविमानपरम्परागमने विमानाभिमुखस्थवैश्वा-नरनालान्तर्गतज्वालिनीप्रज्वालनं कृत्वा सप्ताशीतिलिङ्कप्रमाणोष्णं यथा भवेत् तथा चक्रद्वयकीलीचालनात् शत्रुविमानोपरि वर्तुलाकारेण तच्छक्तिप्रसारणद्वारा शत्रुविमाननाशनक्रियारहस्यम्।'

अर्थात् कर्षण नामक बत्तीसवाँ रहस्य है। उससे अपने विमानका नाश करनेके लिये शत्रुविमानोंके आनेपर विमानके मुखमें रहनेवाली वैश्वानर नामकी नलीमें ज्वालिनी (किसी गैसका नाम) को जलाकर सत्तासी लिंक प्रमाण (लिंक डिग्रीकी तरह किसी मापका नाम है) गर्मी हो, उतना दोनों चक्कीकी कीली (बटन) चलाकर शत्रु-विमानोंपर गोलाकारसे उस शक्तिको फैलानेसे शत्रुके विमान नष्ट हो जाते हैं।

इस वैमानिक प्रकरणमें कहे गये ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंके नामसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वज विमानशास्त्रमें अत्यन्त निपुण थे। इसके रहस्योंको देखनेसे यह पता लगता है कि आजकलके वैज्ञानिक विमानद्वारा जिन-जिन कलाओंका उपयोग करते हैं वे सभी कलाएँ तो उन लोगोंके पास थीं ही, बल्कि जिन कलाओंकी खोजमें आज आधुनिक वैज्ञानिक व्यस्त हैं या जिनकी कल्पना भी अभी वे नहीं कर पाये हैं, उनको भी हमारे पूर्वज जानते थे। नवें रहस्यमें पता लगता है कि दूरबीनकी तरह कोई दूरदर्शक यन्त्र उनके पास था। पचीसवें रस्यसे यह सिद्ध होता है कि 'वायरलेस', रेडियो भी उनके पास था। अट्ठाईसवाँ रहस्य बतलाता है कि आजकलके वैज्ञानिकोंकी तरह दूरसे ही शत्रुविमानका पता लगा लेनेकी कला भी उनके पास थी। बत्तीसवें रहस्यसे यह स्पष्ट है कि जैसे ये लोग गैस, बम आदिद्वारा शत्रु संहार करते हैं, वैसे ही वे लोग भी ऐसे शस्त्रास्त्रोंका उपयोग करते थे। छब्बीसवें रहस्यसे मालूम होता है कि आजके वैज्ञानिकोंने टेलीफोनपर बात करनेवालेकी आकृति दिखा देनेवाले 'टेलीविजन' नामक जिस यन्त्रका आविष्कार किया है, वह इससे अधिक चमत्कारिक रूपमें हमारे पूर्वजोंके पास था। इसमें जो विमानोंको अदृश्य करनेवाला पाँचवाँ रहस्य है तथा उसके सदृश अन्य कई रहस्य हैं जो कि विस्तारभयसे यहाँ उद्धृत नहीं किये गये हैं, उन सबके विषयमें आजके वैज्ञानिक हमारी समझमें अभीतक सोच भी नहीं सके हैं। 'सिद्धान्त'
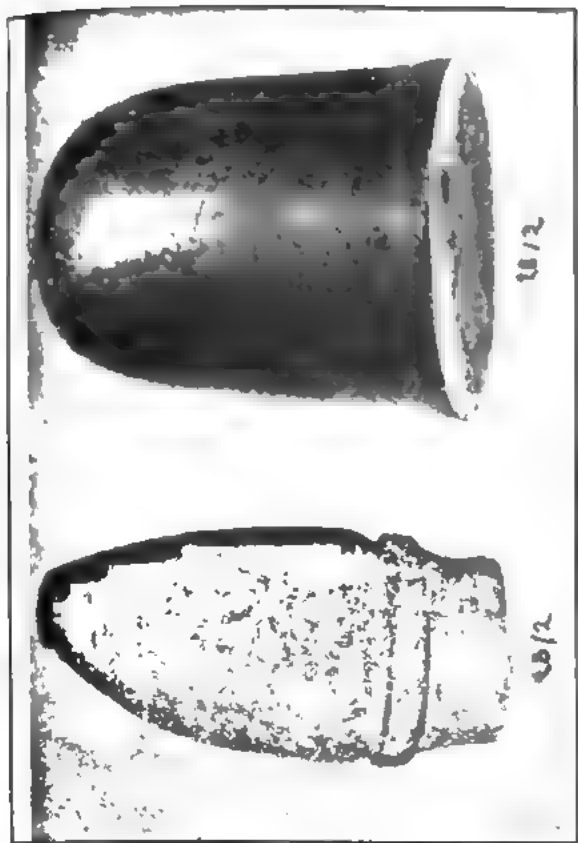
मोहन-जो-दड़ोमें प्राप्त शिवलिंग

मोहन-जो-दड़ोमें प्राप्त विशाल शिवलिंग
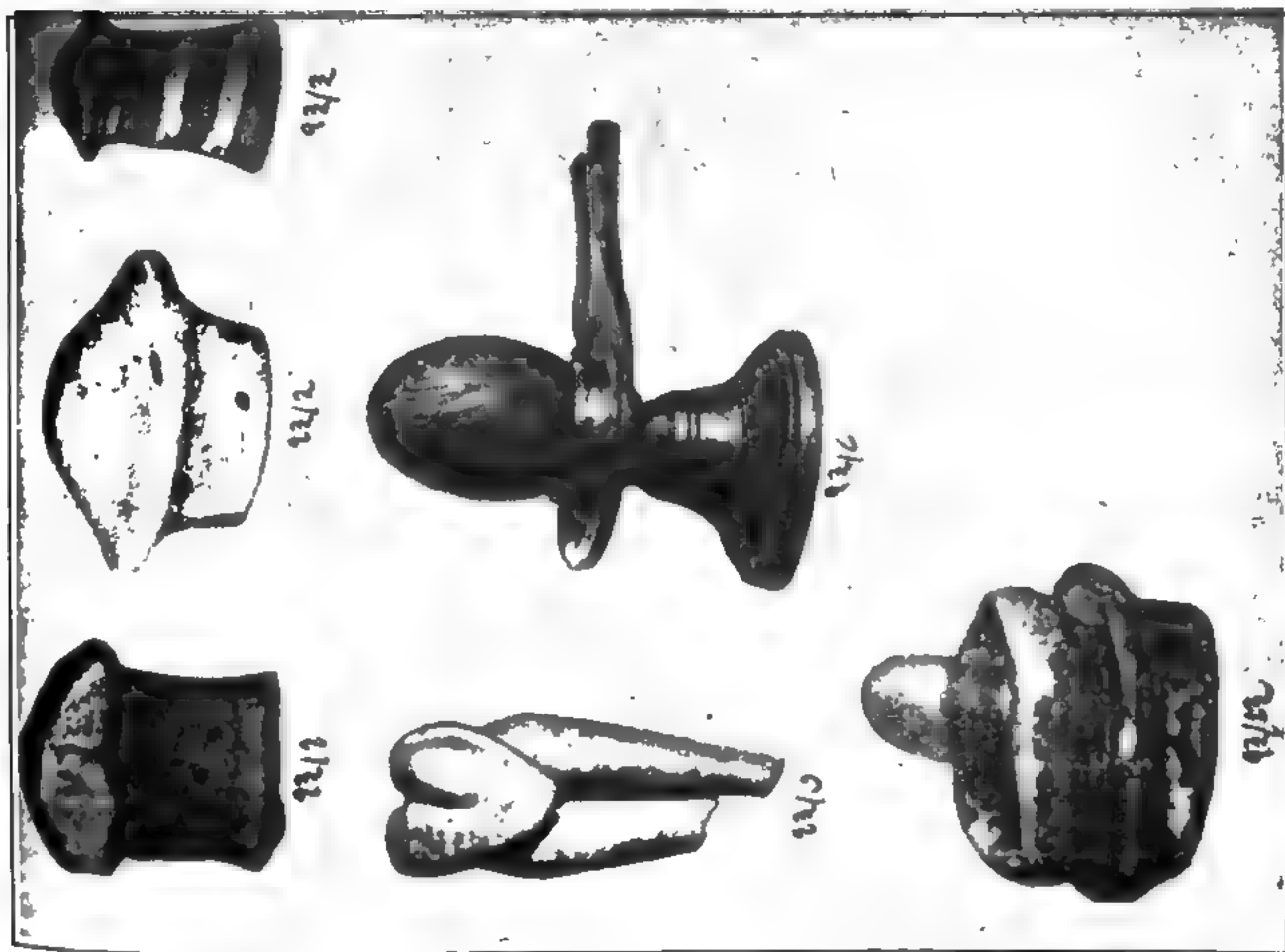
मोहन-जो-दड़ोमें प्राप्त शिवलिंग

सम्राट् अयसका सिक्का
(नन्दी-चिह्न)

महाराज बीम कदफिसका सिक्का
(शिव-वृषभ-चिह्न)

महाराज समुद्रगुप्तका सिक्का
(गरुड-ध्वज एवं लक्ष्मी-चिह्न)

महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीयका सिक्का
(गरुडध्वज और कमलासना लक्ष्मी-चिह्न)

महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीयका सिक्का
(पद्महस्ता लक्ष्मी-चिह्न)

महाराज कुमारगुप्त प्रथमका सिक्का
(अम्बिका-लक्ष्मी-चिह्न)

महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीयका सिक्का
(गरुड-चिह्न)

महाराज कुमारगुप्त प्रथमका सिक्का
(गरुड-चिह्न)

मिहिरकुलका सिक्का
(नन्दी-चिह्न)

भारतके प्राचीन सिक्कोंकी धार्मिक भावना

(लेखक—श्रीवासुदेवजी उपाध्याय, एम० ए०)

यद्यपि भारतका प्राचीन साहित्य ज्ञान-राशिसे भरा है, तथापि वास्तविक ऐतिहासिक ग्रन्थोंका हमारे यहाँ अभाव-सा ही है। आधुनिक कालमें भारतका सभी प्राचीन साहित्य क्रमबद्धरूपमें उपलब्ध नहीं होता, तो भी भारतवासियोंके इतिहासकी अभिरुचिका प्रमाण उनमें मिलता है। भारतीय साहित्य तथा पुरातत्त्वकी सामग्रियोंके सहारे सम्पूर्ण इतिहास तैयार किया जा रहा है। उन प्राचीन बिखरी सामग्रियोंको एकत्रकर इतिहासका रूप देनेमें विद्वान् लगे हुए हैं। पुरातत्त्व-विषयक सामग्रियोंकी अमूल्य उपयोगिताको सभी मानने लगे हैं। पुरातत्त्वने भारतके जातीय इतिहासको तैयार करनेमें आशातीत सहायता की है। इसके कई विभाग हैं, जिनमें सिक्कोंको विशेष स्थान दिया गया है। जहाँपर लेख आदि पीछे रह जाते हैं, सिक्के उस विषयको स्पष्ट कर देते हैं। अतएव प्राचीन सिक्कोंके अध्ययनसे आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक विषयोंकी जानकारीके अतिरिक्त प्राचीन समयकी धार्मिक भावनापर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। भारतीय इतिहासमें ऐसे काल-विभाग आते हैं, जिनका सम्पूर्ण ज्ञान सिक्कोंके बलपर ही उपलब्ध होता है। इसीके अध्ययनसे प्रजातन्त्र (गण) शैलीके शासनका पता लगता है। उनपर लिखित तिथियोंसे राजाओंके राज्यकालका विवरण तैयार किया गया है। मुद्राओंके आधारपर उस वंशमें नये शासकोंके नामोंका पता लगता है। इन बातोंके अतिरिक्त प्राचीन धर्मका ज्ञान भी तत्कालीन सिक्कोंसे किया जाता है। उनका अध्ययन यह बतलाता है कि किस भूभागमें कौन-सा धर्म प्रधान समझा जाता था। इस स्थानपर यह कहना अत्यन्त आवश्यक है कि सिक्कोंपर उत्कीर्ण लेखोंमें किसी विशेष घटनाका उल्लेख नहीं मिलता, परंतु उनपर खुदे चिह्नोंके आधारपर धर्मकी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। अतएव सिक्कोंपर चिह्नोंके सहारे यहाँ प्राचीन भारतमें प्रचलित धार्मिक भावनाकी चर्चा की जायगी। चिह्नोंका कितना बड़ा इतिहासमें स्थान है, इस विषय-पर विवेचन करना अप्रासंगिक होगा; परंतु इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्राग्-ऐतिहासिक कालसे भारतमें प्रचलित चिह्न तत्कालीन धार्मिक भावनाके द्योतक हैं। मोहन-जोदड़ोंसे लेकर बारहवीं सदीतकके विभिन्न चिह्न पाँच हजार वर्षोंके धार्मिक इतिहासको बतलाते हैं।

भारतवर्षमें (उपलब्ध) सबसे प्राचीन सिक्के कार्षापण (आहत सिक्के)-के नामसे पुकारे जाते हैं, जिनके अध्ययनसे यह कहना कठिन है कि उनपर खुदे चिह्न वास्तवमें क्या बतलाते हैं; तो भी लोगोंकी धार्मिक विचाराधाराका अनुमान किया जाता है। वृक्ष, वृषभ तथा चक्र आदि प्राचीन कालसे प्रयोग होते रहे हैं। वृषभका चिह्न तो मोहन-जोदड़ोंकी मुद्राओंपर भी मिलता है। इसका सम्बन्ध शैवमतसे अवश्य ही था। पंचमार्क (आहत) सिक्कोंपर पीपलका वृक्ष पाया जाता है। शिवके वाहन नन्दीको भी वही स्थान दिया गया है। ईसापूर्व सदियोंमें उत्तर-पश्चिमी भारतमें ऐसे सिक्के मिले हैं, जिनपर नन्दी तथा त्रिशूलकी आकृतियाँ पायी जाती हैं। यद्यपि पश्चिमी विद्वानोंने इन प्रतीकोंको महत्त्व नहीं दिया था, तथापि भाण्डारकर महोदयने सप्रमाण सिद्ध कर दिया कि शैवमतके प्रचारके समझनेमें उन सिक्कोंसे वास्तविक सहायता मिलती है।

नन्दीका प्रधान चिह्न

प्राचीन गणराज्यों—यौधेय, आर्जनायन, औदुम्बर, कुणिन्द तथा मालवने जो सिक्के प्रचलित किये थे, उन सबपर नन्दीका चिह्न मिलता है। आजकल भी मन्दिरोंपर त्रिशूल तथा नन्दीसे शिवमन्दिरका बोध हो जाता है, उसी प्रकार पुराने समयमें नन्दीसे शैवमतके प्रचारका ज्ञान किया जाता था। गणके अतिरिक्त अयोध्या, अवन्ति, कौशाम्बी जनपदोंने भी शिवमें अपना विश्वास घोषित किया और सिक्कोंपर नन्दीको स्थान दिया था। पांचाल (वर्तमान रामनगरका भूभाग) सिक्कोंपर तो शिवलिंगकी आकृति पायी जाती है। उत्तर-पश्चिमी भारतमें इसका प्रचार इतना हो गया था कि विदेशी भी इस मतसे अछूते न रह पाये। भारतीय यूनानी राजाओंने नन्दीको अपनाकर उस प्रभावको दर्शाया है। उनमेंसे अचलदत्तस तथा मिलिन्दके सिक्कोंपर नन्दीकी आकृति मिलती है। उस भूभागपर ईसापूर्वसे ही कई शताब्दियोंतक शैवमतका प्रचार रहा। विदेशी आक्रमणकारी यहाँ आनेपर इस धर्मसे प्रभावित होते रहे। पहली सदी ईसा-पूर्वमें शकराजा मोअने गान्धारपर शासन किया था। तक्षशिला उसकी राजधानीके रूपमें रही। उसके सिक्कोंपर भी नन्दी

प्रधान स्थान पा चुका था। मोअ (Maues) के उत्तराधिकारी अयस (Azes) ने उसी मतका अनुसरण किया। ईसवी सन्‌से प्रचलित कुषाण राजाओंके सिक्के बतलाते हैं कि शैवमत राजधर्मका रूप धारण कर चुका था। महाराज बीम कदफिसके सिक्कोंपर भगवान् शिवकी मूर्ति तथा उनके वाहन नन्दीकी आकृति तैयार की गयी थी। उसके लेखमें 'महाराज राजाधिराज सर्वलोक ईश्वरस्य महीश्वरस्य बीम कदफीसस' लिखा मिला है। राजाकी पदवी 'महीश्वरस्य' से पता लगता है कि राजा शैव-मतावलम्बी हो गया था। इसमें सन्देहका स्थान नहीं रह जाता कि गान्धारमें शताब्दियोंसे शैव-मतका प्रचार था। वहाँ प्रचलित मुद्राचिह्न इसे स्पष्टतया घोषित करते हैं। कनिष्क बौद्ध होनेपर भी हिंदू-धर्मकी प्रतिष्ठा करता था। यही कारण है कि उसके सिक्कोंपर अन्य देवोंके साथ-साथ ओइशो (महेश)-का भी नाम खोदा जाता रहा। हुविष्कने भी वही नीति रखी। बौद्ध-धर्मके प्रचारसे शैवमतकी हानि न हो सकी। शकराजा वासुदेवने शिवको सबसे मुख्य देवता मानकर शिवमूर्तिको ही सिक्कोंपर खुदवाया था। शिवके साथ नन्दी तथा त्रिशूलकी भी आकृतियाँ मिली हैं। पिछले कुषाण तथा ससेनियन राजाओंने उसी चिह्नको अपनाया; परंतु वह कलाकी दृष्टिसे घटकर है, यद्यपि उनपर खुदे लेख ओइशो (महेश)-से सभी भ्रम दूर हो जाता है और शकराजा शैवमतसे प्रभावित सिद्ध होते हैं।

शैवमत तथा चिह्न

प्राचीन समयमें प्रचलित सिक्कोंके आधापर यह पता लगता है कि राजपूताना, मालवा तथा सौराष्ट्रमें शैवमतका प्रचार था। द्वितीय शताब्दीसे ग्वालियरके समीप नागवंशी राजा शासन करते रहे, जिनके सिक्के तथा लेख बतलाते हैं कि शासक शिवका अनन्य भक्त था। नाग-सिक्कोंपर नन्दीकी आकृति तो मिलती ही है; परंतु उस वंशके राजा तो सिरपर शिवलिंग वहन करते रहे हैं। यही कारण है कि उनको भारशिवके नामसे पुकारा जाता था। तत्कालीन ऐसी मूर्तियाँ भी मिली हैं, जो लेखोंमें उल्लिखित बातोंकी पुष्टि करती हैं। उस भूभागमें शैवमतका प्रचार शताब्दियोंतक रहा, जिस कारण उस कालमें सभी शासकोंने उसे ग्रहण किया था। हूण, मैथक तथा मध्यकालीन हिंदू राजाओंने जो सिक्के तैयार किये, उनपर शैव-चिह्नको स्थान दिया था। गुप्तकालीन सिक्कोंके विवरणको छोड़कर जब हूण-मुद्राका अध्ययन किया जाता है, तब पता लगता है कि पाँचवीं सदीसे पूर्वी पंजाब तथा मध्यभारतमें शैव-चिह्नयुक्त सिक्के प्रचलित थे। यद्यपि हूण राजा मिहिरकुल कई बातोंमें भारतीय संस्कृतिका विरोधी था, फिर भी उसने अपने सिक्कोंपर नन्दीकी मूर्ति खुदवायी थी और '**जयतु वृष**' लेख उत्कीर्ण कराया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस प्रदेशमें विदेशी हूणको भी शैवमत अपनाना पड़ा और भारतीय समाजमें मिल जाना पड़ा। सौराष्ट्रके शासक बल भी नरेशोंने उसी प्राचीन चिह्नसे काम लिया और त्रिशूलको सिक्कोंपर खुदवाकर शिवपूजामें अपनी आस्था प्रकट की। पूर्व मध्यकालके राजपूत राजा छोटी रियासतोंके शासक होकर भी सिक्के तैयार करते रहे। उनके सिक्कोंपर नन्दीकी आकृति मिलती है, जिससे राजपूतानेमें शैवमतके प्रचारका पता लगता है। इससे यह कहना कठिन है कि उन राजाओंने शैवमतको राजधर्मका पद दिया था या नहीं। परंतु इतना तो स्पष्ट है कि पश्चिमी भारतमें जनता शिवभक्त थी। टकसालघरोंमें शताब्दियोंसे नन्दीका चिह्न प्रयोग किया जाता रहा, जो उपर्युक्त कथनको प्रमाणित करता है। यह भी सत्य हो सकता है कि राजपूतनरेशोंके सम्मुख शैवमतके अतिरिक्त कोई दूसरा धर्म न था। जनताकी विचारधाराको ग्रहणकर स्वभावतः उन्हें शैवचिह्नोंका आदर करना पड़ा। तोमर, चौहान तथा नरवर रियासतोंकी भी यही हालत रही। साहित्यिक ग्रन्थ भी इस बातको प्रमाणित करते हैं कि कापालिक तथा पाशुपत नामक शैव-पन्थ राजपूतानेमें फैले रहे। अतएव साहित्य तथा मुद्राशास्त्रके पारस्परिक पुष्टीकरणसे सब बातें प्रकाशित हो जाती हैं और सन्देहको स्थान नहीं रह जाता। इसी प्रसंगमें एक बात कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि पश्चिमी भारतके अतिरिक्त बंगालमें भी कुछ समयतक शैवमतका विस्तार हो गया था। गौडाधिपति शशांकके सिक्कोंका अध्ययन यह बतलाता है कि उस राजाने शिवभक्त होनेके कारण भगवान् शिवकी मूर्ति तथा वाहन नन्दीकी आकृति स्वर्णमुद्रापर तैयार करायी थी। परंतु बंगालमें यह अवस्था थोड़े समयके लिये थी। काश्मीरसे लेकर सौराष्ट्रमें प्रचलित सिक्कोंके आधारपर यह सिद्ध हो जाता है कि उस भागमें शैवमत शताब्दियोंतक प्रधान धर्म बना रहा।

सिक्कोंमें वैष्णव-परम्परा

भारतवर्षके इतिहासमें गुप्तकाल स्वर्ण-युगके नामसे

विख्यात है। उस समय देशका वैभव तथा समृद्धि चरम सीमाको पहुँच गयी थी। गुप्त शासकोंने वैष्णवधर्मको राजधर्मका स्थान दिया था और स्वयं परम भागवतकी पदवीसे विभूषित किये गये थे। उनके लेखोंको छोड़कर गुप्त सिक्के वास्तविक स्थितिको स्पष्टतया समझा देते हैं। गुप्त राजाओंने सर्वप्रथम गरुड़ध्वजको सिक्कोंपर स्थान दिया और विष्णुकी भार्या लक्ष्मीकी मूर्तिको प्रमुख स्थानपर खुदवाया था। सोनेके सिक्कोंपर तो विष्णुके वाहन गरुड़ लक्ष्मीकी आकृतियोंसे राजाओंने सन्तोष किया; परंतु चाँदीकी सिक्कोंपर 'परम भागवत' की पदवी भी अंकित करायी थी। इन सब बातोंके विवेचनसे शासकोंके विचार तथा प्रचलित धर्मका अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि राजाओंमें धार्मिक सहिष्णुता थी, फिर भी वैष्णवमतकी प्रधानताके विषयमें सन्देहके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। सोनेके सिक्कोंपर आकृतियाँ तथा चिह्न उस समयके वैष्णवमतके प्रचारका ज्ञान कराते हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं कुछ राजाओंकी मूर्तियोंके हाथमें चक्रध्वज भी दिखलायी पड़ता है। भरतपुर राज्यके बयाना-ढेरसे जो सिक्के अभी मिले हैं, इनमें चक्र-विक्रमका सिक्का विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। उसके अग्रभागमें प्रभामण्डलयुक्त भगवान् विष्णुकी आकृति बनी है, जो गुप्त राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यको तीनों लोक भेंट कर रही है। पृष्ठभागमें चक्रविक्रमका लेख खुदा है। इस प्रकार सिक्कोंके अध्ययनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि गुप्तनरेश परम वैष्णव थे और साम्राज्यमें वैष्णव-मतका खूब प्रचार था। पिछले गुप्त-नरेशोंने पूर्वजोंका अनुकरण किया, जिसके कारण वैष्णवमत शताब्दियोंतक (चौथी सदीसे १२वीं सदीतक) प्रचलित रहा है। इसका प्रचार मध्यभारत, संयुक्तप्रान्त तथा बिहारमें तो भलीभाँति रहा। पूर्वमध्यकालके गहरवार, चन्देल तथा कलूचरी शासकोंने १२वीं सदीतक उस परम्पराको कायम रखा और उनके टकसालघरोंमें वैष्णवचिह्नके साथ सोनेके सिक्के बनते रहे। इन आठ सौ वर्षोंमें सिक्कोंके पृष्ठभागमें लक्ष्मीकी मूर्ति सदा स्थान पाती रही। उस समृद्धिकालमें विभिन्न प्रकारके सिक्के तैयार किये गये थे; परंतु सबपर वैष्णवचिह्न वर्तमान हैं। इस कारणसे जनतामें विष्णुपूजाके गहरे प्रभावका आभास मिलता है। सभी पहलुओंपर विचार करनेसे प्रकट होता है कि भारतवर्षके बिचले भागमें वैष्णवमतका प्रचार सीमित रहा। नन्दीका जो स्थान पश्चिम भारतके सिक्कोंपर था, वही स्थान गरुड़ तथा लक्ष्मीको मिल चुका था। उत्तर भारतके अतिरिक्त दक्षिण भारतके सिक्कोंपर भी स्थानीय प्रभाव दिखलायी पड़ता है; परंतु उनके अध्ययनसे किसी प्रकारका सिद्धान्त स्थिर नहीं कर सकते। सातवाहन-सिक्के जिस प्रान्तमें बनते रहे, उस स्थानके प्रचलित ढंगको उन्होंने अपनाया। चोल तथा पाण्ड्य सिक्कोंके विषयमें भी यही बात कही जा सकती है। अन्तमें यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि सिक्कोंके अध्ययनने भारतके धार्मिक इतिहासमें नया मार्ग उपस्थित कर दिया है। विद्वानोंका ध्यान इस ओर पूर्णरूपसे आकृष्ट नहीं हो सका है; परंतु भारतीय समाजके इतिहास-निर्माणमें मुद्राशास्त्रसे पर्याप्त सहायता मिलती है। जहाँतक धार्मिक इतिहासका सम्बन्ध है, प्राचीन सिक्कोंकी धार्मिक भावना उसे समझनेमें सहायता देती है। उसके बिना उन मतोंका अध्ययन अधूरा रह जायगा।

जगत्में धन्य कौन है?

जो अपना समय भगवत्-तत्त्वके चिन्तन और कीर्तनमें बिताता है, जो दम्भवाद तथा विवादसे सदा दूर रहता है और जो सबके आदि ब्रह्मका आत्मसुख-संवाद करता है, ऐसा सर्वोत्तम श्रीरामचन्द्रजीका दास इस जगत्में धन्य है।

जो अखिल विश्वमें सदा-सर्वदा सरल, प्रिय, सत्यवादी और विवेकसम्पन्न है तथा जो कभी भी मिथ्या भाषण नहीं करता, वह सर्वोत्तम श्रीरामचन्द्रजीका भक्त इस जगत्में धन्य है।

जिसके मनमें दुष्ट आशा तथा विषयकी आशा नहीं होती, जिसके अन्तःकरणमें भगवत्-प्रेमकी पिपासा लगी है और भगवान् भक्तिभावके कारण जिसके ऋणी हैं, ऐसा सर्वोत्तम श्रीरामचन्द्रजीका दास इस जगत्में धन्य है।

—समर्थ रामदास स्वामी

हिंदू-संस्कृति और कालज्ञान

(लेखक—श्रीअलख निरंजन)

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
(श्वेताश्वतर० १। २)

संस्कृतिके मूल कारणोंका निर्देश करते हुए श्रुतिने कालको सबसे पहले लिया है। वस्तुतः बुद्धि कालकी ही एक कला है, अतएव वह कालकी सीमामें बहुत ही सीमित होकर चिन्तन करती है। कालातीतका चिन्तन या कल्पना करना बुद्धिकी सीमाके परेकी वस्तु है। कालके उत्पादक हैं महाकाल शिव। अतएव काल-ज्ञान अथवा काल-विद्याके आदि गुरु भी महाकाल शिव ही हैं। महाकालसे अनादि-अनन्त-स्वरूप काल अभिव्यक्त होकर अपनी कलासे अनन्त-अनन्त प्रकृति-वैचित्र्यका उत्पादक होता है।

हम जिस जगत्में रहते हैं, उसका नियामक काल सूर्यरूपसे अपनी कलाका विस्तार करता है। ग्रह-उपग्रहोंकी सृष्टि करके उनमें नाना प्रकारके प्राणधारियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशकी लीला-रचनामें रत हुआ वह अतिशय प्रकाशमान हो रहा है। प्रजाको उत्पन्नकर उसके कर्मोंका वही द्रष्टा है और वही उन कर्मोंके परिपाकका हेतु है।

कालकी कृतिको देखकर सभी हैरान हैं। अच्छे-बुरे जीवनका निर्माण करता हुआ काल-ही-काल लीला कर रहा है। काल ही मृत्यु है, यम है; वही ब्रह्मा है, विष्णु है और महेश्वर है। वही लोक है, परलोक है, सत्य है, असत्य है, शून्य है, अशून्य है—सब कुछ है। सत् और असत् कालरूप पक्षीके दो डैने हैं, वह अनन्त शून्यरूप हो रहा है। जो साधक उस शून्यमें विलीन होनेकी चेष्टा करते हैं, उन्हें निर्वाण प्राप्त होता है, वे परम शान्तिके साम्राज्यमें प्रवेश करते हैं। कालकी महिमा अनन्त है, अगम-अगोचर है—उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

कालको दैव भी कहते हैं। लोकमें कालके लक्षणोंके ज्ञाता दैवज्ञ कहलाते हैं। क्योंकि कालका विधायक सूर्य ज्योतिर्मय है, अतएव कालविद्याको ज्योतिर्विज्ञान या ज्योतिःशास्त्र भी कहते हैं और इसके ज्ञाता ज्योतिषी या ज्यौतिषी कहलाते हैं। ज्योतिर्विज्ञानमें ज्योतिर्मय लोकोंके प्रकाशसे अन्धकारमय आकाशमें होनेवाले कर्मोंके स्वरूप और उनके फलाफलका विवेचन होता है। इस प्रकार कालविज्ञानका क्षेत्र अन्य विज्ञानोंकी अपेक्षा बहुत ही श्रेष्ठ है और यह मानवी दृष्टिको दैवीदृष्टिमें परिणतकर मनुष्यको भौतिक-कार्य-कलापमें प्रेरणा प्रदान करनेवाली दिव्य ज्योतिर्मय शक्तियोंकी गतिविधिकी आलोचना करनेका मार्ग प्रशस्त करता है।

अन्य विविध विज्ञान बुद्धिके विलासमात्र हैं। बुद्धि कालकी कला होनेके कारण कालगत पूर्वापर-सम्बन्धपर ही अवलम्बित होकर कार्य करती है। कालगत पूर्वापर सम्बन्ध ही कार्य-कारणकी भावनाका उत्पादक या स्वरूप है। और यही समस्त विज्ञान और दर्शनका हेतु है। यही क्यों, सारी विद्याएँ, सारी गवेषणाएँ और सब प्रकारकी खोजमें कार्य-कारण-सम्बन्ध ही प्रबल और प्रथम हेतु होता है। बुद्धि-वृत्ति भी कार्य-कारणमय ही होती है, अतएव कालकी एक कलामें ही सारी ज्ञान-लीलाएँ होती रहती हैं। इसलिये कालविज्ञान यदि मनुष्यकी राष्ट्र अथवा विश्वकी विद्या-बुद्धि, धर्म-अधर्म, उत्थान-पतन, सुख-दुःख आदिका निर्देश ज्योतिर्लोक—ग्रह-उपग्रहादिके प्रकाशके अनुसार करता है तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। सच्चा दैवज्ञ इस जगत्के क्रिया-कलापको नियन्त्रित अथवा प्रेरित करनेवाले ग्रहोंकी स्थिति, गति, दृष्टि और सम्बन्धके आधारपर भूत, वर्तमान और भविष्यकी घटनाओंको हस्तामलकवत् देख सकता है। परंतु कालका द्रष्टा होनेके लिये कालातीत स्थितिमें रहना अर्थात् आत्मस्थ होना परम आवश्यक है। प्रपंचमें निरन्तर रत रहनेवाला पुरुष दैवज्ञ कहलाये, यह भी एक विडम्बना है। ज्योतिर्विद्के लिये अध्यात्मसाधन करना परम आवश्यक है; जो दैवज्ञ इस मार्गमें जितना ही अधिक अग्रसर होगा, कालकी कलाओंकी लीला, ज्योतिर्लोकके विभिन्न प्रकाश, और उनका पारस्परिक मिश्रण तथा प्रभाव-प्रपंच उतना ही अधिक स्पष्टरूपसे उसके सामने दीखने लगेंगे। साधनाविहीन केवल कपट-कलेवर धारण किया हुआ पुरुष साधु नहीं कहला सकता, उसी प्रकार दैवज्ञका

बाना धारणकर प्रपंचके अन्धकारमें भटकनेवाले पुरुषको ज्योतिर्लोकका दर्शन नहीं हो सकता। साथ ही ऐसे लोगोंको देखकर साधुत्व या कालज्ञानकी सत्यताके विषयमें सन्देह करना भी बुद्धिमानी नहीं है।

ज्योतिर्विज्ञान महामायाकी लीलाके आधारभूत संकेतोंका अध्ययन करता है। काल अपने साथ अनादि और अनन्तकी प्रत्यक्ष भावना लेकर महाकाल शंकरकी ओर संकेत करता है। काल कराल रूप धारणकर मृत्युके रूपमें प्रकट होता है; कालको भी ग्रास करनेवाला महाकाल है, अतएव वह महामृत्यु भी कहलाता है। वह भगवत्-स्वरूप ही है। कालाधीन होना बन्धन है, दुःखका मूल है। महाकालाधीन होना मुक्ति है, अमरत्व है; अतएव ज्योतिर्विज्ञान मर्त्यजीवनके मूलभूत सिद्धान्तोंका ही अध्ययन करता है, अमरत्वके सिद्धान्तोंका नहीं। इसका समावेश अपरा विद्यामें होता है, परामें नहीं।

भारतीय चिन्तनका प्रवाह मुख्यतः दो ही धाराओंमें विभक्त होता है—परा विद्याकी धारा और अपरा विद्याकी धारा। परा विद्याका विषय है अक्षर ब्रह्म और अपरा विद्याका क्षर ब्रह्म अर्थात् नाशवान् जगत्। श्रुतिमें इन दोनों विद्याओंकी राशि संचित है और वैदिक संस्कृतिमें इन दोनोंको समन्वितकर जगत्-जीवनको सौम्य बनानेकी चेष्टा की गयी है। ज्योतिर्विज्ञान अपरा विद्याका एक अंश है।

कालकी शक्ति है कालिका। कालिका-ज्ञान विषय है तन्त्र-विद्याका। अतएव कालविज्ञानका तन्त्रविद्याके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। शक्तिका एक उपासक अपनी इस स्तुतिमें इस रहस्यका उद्घाटन करता है—

दधानो भास्वत्ताममृतनिलयो लोहितवपु-
र्विनम्राणां सौम्यो गुरुरपि कवित्वं च कलयन्।
गतौ मन्दो गङ्गाधरमहिषि कामाक्षि भजतां
तमः केतुर्मातस्तव चरणपद्मो विजयते॥

'हे शंकरवल्लभे! कामाक्षि! तुम्हारे चरणकमल विजयको प्राप्त हो रहे हैं। भास्वत्ता (भास्वान् सूर्य) को धारण कर ये अमृतके निलय (चन्द्र), लोहितरूप (मंगल), उपासकोंके लिये सौम्य (बुध), स्वरूप), गुरु (बृहस्पति) अर्थात् गौरव-युक्त होनेपर भी कवि (शुक्र), की कल्पना करते हुए, मन्द (शनि) गतिसे युक्त तथा भजन करनेवालोंके तम (राहु) अर्थात् मोहान्धकारको नाश करनेवाले (केतु)हैं।'

वस्तुतः शक्तिके बिना रवि-चन्द्र आदि ग्रह-उपग्रहोंका अस्तित्व हो ही नहीं सकता। अतएव शक्तिका उपासक इनको शक्तिका अंगभूत ही देखता और जानता है। ज्योतिर्विज्ञानका विद्यार्थी यदि शक्तिका उपासक और तान्त्रिक है तो वह इसके फलाफलके ज्ञानका अधिकारी हो सकता है। तान्त्रिक साधनामें परा और अपराके एकीकरणकी चेष्टा की जाती है, इसलिये साधकको कालाधीन रहते हुए भी कालातीत होना पड़ता है। अतएव तान्त्रिकको ज्योतिर्लोकोंका दर्शन दिव्य दृष्टिसे होता है, वह दिव्यता साधनाके बलसे अथवा शक्तिकी कृपासे इन चर्मचक्षुओंमें ही प्राप्त होती है। भारतीय ज्योतिर्विज्ञानका आधार दूरबीन नहीं, दिव्यचक्षु है।

योगदर्शनमें आता है—'**भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्**', '**चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्**', '**ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्**।'* अर्थात् सूर्यमें संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) -का अभ्यासी दिव्य-दृष्टिसे चतुर्दश भुवनोंको देखता है, चन्द्रमें संयम करनेसे तारा-व्यूहका ज्ञान होता है, ध्रुवमें संयम करनेसे ताराओंकी गतिका ज्ञान होता है। महर्षि पतञ्जलिने इस प्रकार योगसाधनके द्वारा दिव्य-दृष्टि प्राप्तकर ज्योतिर्विज्ञानके अध्ययनका जो मार्ग प्रशस्त किया है, उसके द्वारा प्राप्त ज्ञान निर्भ्रान्त ज्ञान है। वह प्रत्यक्ष प्रमाणके आधारपर प्राप्त होता है और वह प्रत्यक्ष भी यौगिक प्रत्यक्ष है। लौकिक प्रत्यक्षमें भ्रान्ति हो सकती है, परंतु यौगिक प्रत्यक्ष तत्त्वदर्शी होनेके कारण सदा भ्रान्ति-शून्य होता है। आधुनिक दूरवीक्षण यन्त्रोंके द्वारा प्राप्त ज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष और अनुमानके आधारपर होनेके कारण अनाप्त (Hypothetical) होता है। अतएव इसमें भ्रान्ति होती है और अगले अन्वेषण अपने पूर्वके अन्वेषणोंके लिये बाधक होते जाते हैं। इस प्रकारके संशयग्रस्त और अनिश्चित ज्ञान योगज दृष्टिके द्वारा प्राप्त आर्षज्ञानके सम्मुख प्रमाणकोटिमें नहीं रखे जा सकते। अतएव भारतीय ज्योतिर्विज्ञानकी महिमा निर्विवाद सिद्ध होती है।

यौगिक संयमसे केवल आकाशीय ग्रहोंका (Astronomical) ज्ञान ही नहीं होता, बल्कि तद्द्वारा होनेवाले जीवन-जगत्के शुभाशुभ कर्मफलोंका (As-

* योगसूत्र, विभूतिपाद २६-२७-२८

trological) ज्ञान भी होता है।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्।

(विभूतिपाद २५)

ज्योतिष्मती प्रवृत्तिके आलोकमें संयम करनेसे योगीको सूक्ष्म, व्यवहित और दूरकी वस्तुओंका ज्ञान होता है। अर्थात् योगीकी दृष्टिको देश और कालका व्यवधान बाधक नहीं हो सकता। उसे हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष त्रिकालज्ञान होता है। यही नहीं, कालका एक क्षुद्र अंश है क्षण। क्षण और उसके क्रममें संयम करनेसे विवेकजन्य ज्ञान होता है, अर्थात् सत्-असत् आदिका योगी प्रत्यक्ष द्रष्टा हो जाता है। कालकी यह भी एक महिमा है। अतएव काल-ज्ञान लोक और परलोक दोनोंको प्रत्यक्ष करानेवाला होता है।

कालके क्षणोंका पूर्वापर-क्रम जिस प्रकार कार्य-कारणकी भावनाका हेतु होता है, उसी प्रकार इन क्षणोंकी स्थिति संख्याकी भावनाको उत्पन्न करती है। कालविज्ञानके साथ गणनाका अटूट सम्बन्ध इसी कारणसे है। शून्य अर्थात् आकाशमें कालकी क्रीड़ा होती है, इस कारण रेखागणित या तत्प्रधान अन्य गणनाओंमें आकाशकी प्रमुखता तथा अंकगणित या तत्प्रधान अन्य गणनाओंमें कालकी प्रमुखता हेतु है। अतएव आकाशीय ज्योतिर्लोकोंकी गति, स्थिति और उसके लौकिक फलाफलके निर्णयमें गणित-शास्त्रका अटूट सम्बन्ध रहता है। आधुनिक आधिभौतिक विज्ञानोंके मूलमें इस गणित-विज्ञानने प्रयोगात्मक सहायता प्रदान की है, अतएव इस विज्ञान-विस्तारमें मूलतः कालकी ही लीला दृष्टिगोचर होती है।

कालकी महिमा अपार है। परंतु काल निरन्तर परिवर्तनशील है। कालके प्रतीक ज्योतिर्लोक भी क्षण-क्षण परिवर्तनके शिकार हो रहे हैं। आकाशीय ज्योतिर्लोक—ग्रह, उपग्रह, तारक लोकोंकी स्थिति बदलती रहती है। पहलेकी अपेक्षा आज इनमें बहुत परिवर्तन हो गया होगा। योग और तन्त्रके द्वारा प्राप्त दृष्टिका आज अभाव है, अतएव काल-ज्ञान और उसका फलाफल-निर्णय आज कुछ सन्दिग्ध-सा हो रहा है। अविद्या अर्थात् योगमायाके इस महा-अन्धकारमय आकाशमें दिव्य-दृष्टिसे देखनेका आनन्द लूटने और त्रिकालज्ञ होनेका सौभाग्य हमें कब प्राप्त होगा? ऋषियोंके द्वारा प्रदान किया हुआ निर्भ्रान्त ज्ञानलोक भी दिव्य-दृष्टिविहीन हमारे नेत्रोंके सामने धुँधला-सा दीख पड़ता है। स्वतन्त्र भारतके महत्त्वाकांक्षी युवक ऋषि-प्रदर्शित इस मार्गकी ओर अग्रसर होकर इस सर्वश्रेष्ठ विज्ञान—ज्योतिर्विज्ञान या काल-ज्ञानके अन्वेषणमें अपने जीवनकी आहुति देनेके लिये तैयार हों तो विश्वमानवका परम कल्याण साधन कर सकेंगे। यह विषय बहुत गहन और दुर्बोध है; यदि अवकाश मिला तो इस विषयके आर्षज्ञानपर पुनः कुछ विवेचना करनेकी चेष्टा की जायगी।

नाभिजात्यं न वै शीलं न बलं न च नैपुणम्।
भवेत्कार्याय पर्याप्तं कालश्च ह्यनिरोधकः॥

'कुलीनता, शील, बल, बुद्धिमानी—ये सब मनुष्यके कार्य-साधनके लिये समर्थ नहीं होते। काल कुछ-का-कुछ कर डालता है, उसकी रेखाको कोई मिटा नहीं सकता।'

भारत हमारा है

रामकी प्रसिद्ध जन्मभूमि है अयोध्या यहीं, यहीं हरिद्वार-चित्रकूट सुखराशी है।
व्रज मथुरा है द्वारिका है कृष्ण-लीला-भूमि, यहीं है प्रयाग और शंकरकी काशी है॥
'शारद' समस्त पाप-ताप-नाशिनी महान, बहती यहींपे गंगधार अविनाशी है।
वेदके निनादसे निनादित प्रसिद्ध देश भारत हमारा हम भारतके वासी हैं॥

—श्री 'शारद'

हिंदू-ज्योतिर्विज्ञान अथवा भारतीय ज्योतिःशास्त्र

(लेखक—ज्यो० भू० पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी)

भारतीय ज्ञानभण्डारकी निगम, आगम और दिव्य नामसे प्रसिद्धि शतशः विद्याओंके अन्तर्गत हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानका महत्त्वपूर्ण स्थान है (देखिये इन्द्रविजय अ०११)। ऋग्वेद सं० (२।३।२२।१६४) में, तैत्तिरीय ब्रा० (२। ४। ६)में और इन्हीं मन्त्रोंके भाष्यमें सायणाचार्यने प्रणवरूपा एकपदी; व्याहृति और सावित्रीरूपा द्विपदी; वेदचतुष्टयरूपा चतुष्पदी; छः वेदांग, पुराण, और धर्मशास्त्ररूपा अष्टपदी; मीमांसा, न्याय, सांख्य-योग, पांचरात्र, पाशुपत, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेदरूपा नवपदी और अनन्त विद्याओंमें ज्योतिर्विज्ञानका भी वर्णन है। छान्दोग्योपनिषद् (७।१।२) में महर्षि नारदने अपनी पठित विद्याओंमें राशिविद्या, गणित और दैवविद्या, निधिविद्या, नक्षत्रविद्या एवं फलित ज्यौतिषका भी वर्णन किया है। मुण्डकोपनिषद् (१।५) में अपराविद्याके रूपमें चारों वेदोंके साथ ही षडंगमें ज्यौतिषको भी लिखा है। और विष्णुपुराण (३।७।२८-२९) में १८ विद्याओंके अन्तर्गत ज्यौतिषको भी लिया है। इतना ही नहीं, वैदिक-धर्मविरोधी बौद्धोंके जातकोंमें भी लिखा है कि 'तक्षशिलाके विश्वविद्यालमें १८ विद्याओंमें प्रवीणता करायी जाती थी' (मौर्यसाम्राज्यका इतिहास पृ० ६८१)। अवश्य ही जातकोंमें उल्लिखित १८ विद्याएँ वे ही हैं, जो विष्णुपुराणमें कही गयी हैं और जिनमें वेदांगस्वरूप हमारा ज्योतिर्विज्ञान भी है।

जिस ज्योतिर्विज्ञानकी अविच्छिन्न परम्परा ऋग्वेद, तै० ब्राह्मण, छान्दोग्य और मुण्डकोपनिषद् तथा विष्णुपुराणसे बौद्ध जातकोंतकके प्राचीन साहित्यमें हमको मिलती है और जिसका उपयोग हमारे धार्मिक और व्यावहारिक कार्योंमें सनातन कालसे सतत होता आ रहा है, आज हम उसी अपने ज्योतिर्विज्ञानके विषयमें महर्षि वात्स्यायनके सिद्धान्तानुसार उद्देश्य, लक्षण और परीक्षाद्वारा किंचित् विचार करने जा रहे हैं।

ज्योतिर्विज्ञानका उद्देश्य

विनैतदखिलश्रौतस्मार्तकर्म न सिद्ध्यति।
तस्माज्जगद्धितायेदं ब्रह्मणा रचितं पुरा॥

(नारदसंहिता, अध्याय १)

अर्थात् 'इस ज्योतिर्विज्ञानके बिना हमारे श्रौत और स्मार्त कर्म सिद्ध नहीं हो सकते। अतएव जगत्के हित-साधनके लिये ब्रह्माजीने इसकी प्रथम रचना की।' ज्योतिर्विज्ञानके बिना हमारे श्रौत-स्मार्त कर्म क्यों नहीं सिद्ध हो सकते? इस शंकाके निराशार्थ महर्षियोंने बहुत कुछ लिखा है, किंतु संक्षेपतः याजुषज्यौतिषके तीसरे और आर्चज्यौतिषके छत्तीसवें श्लोकमें तथा विष्णुधर्मोत्तरपुराणके दूसरे खण्डके १७४वें अध्यायके अन्तमें (जो पितामहसिद्धान्तका अन्तिम श्लोक है) लिखा है—

वेदास्तु यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्यौतिषं वेद स वेद सर्वम्॥

अर्थात् 'वेद तो विविध यज्ञानुष्ठानोंके लिये प्रवृत्त हैं और जितने यज्ञ हैं, उनका अनुष्ठान कालाधीन है। अतएव जो विद्वान् कालविधानशास्त्र—ज्योतिर्विज्ञान-को जानते हैं, वे ही यज्ञादि सब कुछ जानते हैं।' इस विष्णुधर्मोत्तरपुराणके श्लोकमें और याजुष एवं आर्चज्यौतिषके पाठोंमें केवल इतना अन्तर है कि '**वेदास्तु**' के स्थानमें '**वेदा हि**' है और '**सर्वम्**' के स्थानमें '**यज्ञान्**'। शेष पाठ अक्षरशः समान हैं।

सारांश यह कि ज्योतिर्विज्ञानके गौणरूपसे भले ही अनेक उद्देश्य हों; किंतु मुख्य उद्देश्य हैं 'कालविधान', जिस कालज्ञानके बिना हिंदूजातिके षोडश संस्कार; तिथि, वार और नक्षत्रोंके सम्बन्धसे विविध व्रतोत्सव तथा मुहूर्तादिविचार; प्रश्न, जातक एवं हायन (ताजक) सम्बन्धी होराविचार और शताध्यायीसंहिताके शकुन, वायुपरीक्षा, मयूरचित्रक, सद्योवृष्टि, ग्रहशृंगाटक आदिके विचार ही नहीं हो सकते। इतना ही नहीं, कालज्ञानके बिना दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, अष्टका, विषुव, आयन, गवामयन, ज्योतिषामयन आदि वैदिक एवं महालयादि पैतृक यज्ञोंके अनुष्ठान भी नहीं हो सकते। सारांश यह कि ज्योतिर्विज्ञानका मुख्य उद्देश्य कालज्ञान है।

ज्योतिर्विज्ञानका लक्षण

जिस ज्योतिर्विज्ञानके ज्ञानके बिना हिंदू-जातिके नित्य-नैमित्तिक कार्य ही नहीं चल सकते, उसका लक्षण क्या है और उसके स्वरूपमें समयानुसार कैसे-कैसे परिवर्तन हुए हैं, क्या हिंदू-जातिका ज्योतिर्विज्ञान अपरिवर्तनशील

है, जिसका कोई सनातन स्वरूपसे प्रमाण उपस्थित किया जा सकता हो? ये विषय विचारणीय हैं। ज्योतिर्विज्ञानके स्वरूपका वर्णन करते हुए महर्षि नारदने लिखा है—

सिद्धान्तसंहिताहोरारूपस्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिःशास्त्रमनुत्तमम्॥

(नारदसंहिता १। ४)

अर्थात् 'सिद्धान्त, संहिता और होरारूप स्कन्धत्रयात्मक ज्योतिःशास्त्र वेदभगवान्‌का निर्मल नेत्रस्वरूप अत्युत्तम विज्ञान है।' भास्कराचार्यने सिद्धान्तशिरोमणिके गणिताध्यायमें सिद्धान्तका लक्षण लिखा है—

त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना मानप्रभेदः क्रमा-
च्चारश्च द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा चोत्तराः।
भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते
सिद्धान्तः स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधैः॥ ९॥

अर्थात् 'त्रुटिकालसे लेकर प्रलयके अन्तकालतक (त्रुटि, लेखक, प्राणपल, विनाड़ी, नाड़ी, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, सत्यादि चारों युग, स्वायम्भुवादि चौदह मनु और ब्राह्म दिन, रात्रि, कल्प) की गणना और नौ प्रकारके कालमान (ब्राह्म, दिव्य, पित्र्य, प्राजापत्य, गुरु, सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र) के भेद; सूर्यादि ग्रहोंकी चाल, व्यक्त और अव्यक्त गणित; दिशा, देश और काल-सम्बन्धी विविध प्रश्न तथा उनके उत्तर; पृथ्वी, नक्षत्र और ग्रहोंके संस्थान—कक्षादि; और वेधद्वारा ग्रह-नक्षत्रादिके स्थान, क्रान्ति, शर आदिके ज्ञापक, तथा क्षणादि अहोरात्रपर्यन्त कालके ज्ञापक तथा जल, वालुका एवं कील आदिद्वारा स्वयं चालित विविध यन्त्रोंके बनानेकी विधि और उपयोगका जिसमें वर्णन हो, उस गणितशास्त्रको ज्योतिर्विज्ञानका 'सिद्धान्तस्कन्ध कहते हैं।'

ज्योतिर्विज्ञानके संहितास्कन्धका वर्णन आचार्य वराहमिहिरने महर्षियोंके मतानुसार अपनी वृहत्संहिता (१। २१) में विस्तारके साथ किया है, जिसका सारांश यह है कि सूर्यादि ग्रहों, विविध केतुओं—पुच्छल ताराओं, नक्षत्रों, सप्तर्षि, अगस्त्य आदि ताराव्यूहोंके स्थान, चार योग, उदयास्तादिके द्वारा शुभ-अशुभादिका वर्णन तथा विविध उत्पातों, शकुनों और उनके फलोंके विचार और रत्नपरीक्षा, पशुपरीक्षादिके साथ ही विविध मुहूर्तोंका वर्णन और मानवजातिके सभी व्यावहारिक विषयोंका वर्णन संहितामें रहता है। अतएव इस ज्योतिःस्कन्धका दूसरा नाम व्यवहारशास्त्र भी रखा गया है।

तीसरे होरास्कन्धका लक्षण बलभद्रमिश्रने अपने होरारत्नमें कश्यपके वचनके आधारपर लिखा है, जिसका सारांश यह है कि होरास्कन्धमें राशिभेद, ग्रहयोनि, गर्भज्ञान, लग्नज्ञान, आयुर्दाय, दशाभेद, अन्तर्दशादि, अरिष्ट, कर्मजीव, राजयोग, नाभसयोग, चन्द्रयोग, द्विग्रहादियोग, प्रव्रज्यायोग, राशिशील, दृष्टि, ग्रहभावफल, आश्रम और संकीर्णयोग, स्त्रीजातक, नष्टजातक, निर्याण तथा द्रेष्काणादि फलोंका विचार— इन सब होरास्कन्धके विषयोंका वर्णन होता है। होरास्कन्धका दूसरा नाम है जातक अथवा यों कहें कि होरास्कन्धका प्रधान अंग जातक है। 'जातक' शब्दके विषयमें शब्दकल्पद्रुम (जि० २, पृ० ५३० जादिवर्ग) में लिखा है—

जातं जन्म 'तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थः' इत्यण् ततः स्वार्थे कन्। यद्वा जातेन शिशोर्जन्मना कायतीति। कै+कः। जातबालकस्य शुभाशुभनिर्णायकग्रन्थः।'

अर्थात् जन्मकालके आधारपर जो शुभाशुभ फल-निर्णय करनेवाला ग्रन्थ हो, उसको जातक कहते हैं; किंतु होरास्कन्धका जो अर्थ सारावली (२। २—४) में कल्याणवर्माने लिखा है कि 'अहोरात्र' शब्दका संक्षिप्त रूप आदि-अन्तके वर्णोंको त्याग देनेसे 'होरा' शब्द बना है; क्योंकि अहोरात्र—सावन दिनके द्वारा ही ग्रहोंके भगणादिकोंका स्पष्टीकरण होता है और उन्हीं ग्रहोंके द्वारा समस्त फलविचार होते हैं अथवा लग्नका नाम होरा है तथा लग्नार्द्धका नाम होरा है, जिसके द्वारा समस्त जातकसम्बन्धी फलविचार होते हैं। इसी होरा-स्कन्धके द्वारा जन्म, वर्ष, प्रश्नादिके इष्टकालपर ग्रहभावादिका स्पष्टीकरण तथा दृष्टि, बल, दशा-अन्तर्दशादिकी गणना और फलोंका विचार होता है। अतएव इसको होरा, जातक तथा हायन (ताजक) भी कहते हैं।

ज्योतिर्विज्ञानकी परीक्षा

ज्योतिर्विज्ञानके उद्देश्य और लक्षणका वर्णन हो जानेपर अब उसकी परीक्षा होनी चाहिये। उद्देश्यके अनुसार हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानका लक्षण मिलता है अथवा नहीं, यही विचारणीय विषय है। ज्वलतिकर्मा 'द्युति' धातुसे '**द्युतेरिसिन्नादेश्च जः**' इस पाणिनिके उणादिसूत्रद्वारा जकारादेश होकर 'ज्योतिः' शब्द बनता है, जिसका अर्थ

स्वयंप्रकाश ग्रहनक्षत्रादि माना गया है। उन्हीं सूर्यादि ग्रहों और अश्विन्यादि नक्षत्रोंके गणित तथा फलितका वर्णन जिस शास्त्रमें हो, उसको '**अधिकृत्यकृतो ग्रन्थः**' (पा० ४। ३। ८७) इस सूत्रद्वारा 'अण्' प्रत्यय हो जानेसे 'ज्यौतिष' शास्त्र कहते हैं, जो हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानके अर्थमें योगरूढ़ माना गया है।

यद्यपि शास्त्रजन्य ज्ञानको ज्ञान और अनुभवजन्य ज्ञानको विज्ञान कहा गया है, अतएव मध्यकालीन ज्योतिषियोंमेंसे कुछ लोगोंने '**प्रत्यक्षं' ज्यौतिषं शास्त्रम्**' की आड़में अपने स्वल्पकालीन अनुभव और चर्मचक्षुके बलपर दृग्गणित (सायन) गणनाद्वारा अनादि, अव्यय वेदांग-ज्योतिर्विज्ञानमें मनमाने बीजादिसंस्कार देकर भ्रम उत्पन्न कर दिया है और मनमाने अयनांशकी कल्पना कर ली है, तथापि हमारे वेदचक्षुःस्वरूप ज्योतिर्विज्ञानकी निरयण कालगणना और ग्रहगणनाद्वारा पंचांगपत्रकी रचना तथा उसीके आधारपर समस्त श्रौत-स्मार्त कर्मोंका व्यवहार होता आ रहा है। वस्तुतः हमारे ज्योतिर्विज्ञानके 'विज्ञान' शब्दका अर्थ इस प्रकार है—

विज्ञानं निर्मलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं यदव्ययम्।
अज्ञानमितरत्सर्वम्································ ॥

(कूर्मपुराण २। ३९)

अर्थात् 'निर्मल, सूक्ष्म, निर्विकल्प और अव्यय (सदैव विकाररहित एकस्वरूप) जो ज्ञान है, वही विज्ञान है और इतर ज्ञान सब-के-सब अज्ञान हैं।' सारांश यह कि जिस प्रकार ईश्वरनिःश्वसित हमारे वेद अपरिवर्तनशील हैं, उसी प्रकार वेदभगवान्‌के चक्षुःस्वरूप ज्योतिर्विज्ञानका स्वरूप भी अपरिवर्तनशील, निर्मल, सूक्ष्म और अव्यय है। वृद्धवसिष्ठ-सिद्धान्त (मध्यमाधिकार श्लो० ८) में लिखा है—

वेदस्य चक्षुः किल शास्त्रमेतत्प्रधानताङ्गेषु ततोऽर्थजाता।
अङ्गैर्युतोऽन्यैः परिपूर्णमूर्तिश्चक्षुर्विहीनः पुरुषोः न किंचित्॥

अर्थात् 'यह ज्योतिःशास्त्र वेदभगवान्‌का नेत्र है। अतएव उसकी स्वतः वेदांगोंमें प्रधानता है; क्योंकि अन्याय अंगोंसे युक्त, परिपूर्णमूर्ति पुरुष नेत्रहीन (अन्धा) होनेसे कुछ नहीं है। आर्चज्यौतिष (३५) और याजुष ज्यौतिष (४) में लिखा है—

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्यौतिषं (गणितं) मूर्धनि स्थितम्॥

अर्थात् 'जैसे मयूरोंकी शिखा और नागोंकी मणि शिरोभूषण है, वैसे ही (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिषरूप) वेदांगशास्त्रोंमें ज्यौतिष शिरोभूषण है।'

सिद्धान्त, संहिता और होराके रूपमें जिस ज्योतिर्विज्ञानका इतना महत्त्व है, उसके विषयमें ऋग्वेदीय चरणव्यूहके परिशिष्टमें महर्षि शौनकने लिखा है— '**चतुर्लक्षं तु ज्यौतिषम्**' अर्थात् मूल ज्योतिर्विज्ञान चार लाख श्लोकोंमें है। नारद-संहिता, कश्यपसंहिता और पराशरसंहितामें ज्योतिर्विज्ञानके प्रवर्तकोंके जो नाम दिये हैं, उनमें मुख्यतः १८ हैं। यद्यपि पराशरसंहिताके पाठसे २० नाम हो जाते हैं, तथापि विद्वानोंका मत है कि पाठाशुद्धिसे ही दो नाम बढ़ जाते हैं। सर्वसम्मत पाठके अनुसार वे १८ नाम इस प्रकार हैं—'ब्रह्मा, सूर्य, वसिष्ठ, अत्रि, मनु, सोम (पौलस्त्य), लोमश, मरीचि, अंगिरा, व्यास, नारद, शौनक, भृगु, च्यवन, यवन, गर्ग, कश्यप और पराशर।'

कुछ विद्वानोंने गर्गसंहिताके —

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक्‌शास्त्रमिदं स्थितम्।

—इस श्लोकको देखकर यवनाचार्यको यूनानी और लोमश=रोमशको रोमक तथा पौलस्त्य=पौलिसको सिकन्दरपौलिसकी कल्पना करके हमारे ज्योतिर्विज्ञानके प्रवर्तकोंमें विदेशियोंको प्रविष्ट करनेकी चेष्टा की है, जो सर्वथा भ्रम है। इस विषयमें विशेष जाननेके लिये अ० भा० हिं० सा० सम्मेलन, प्रयागसे प्रकाशित सूर्य-सिद्धान्तकी हमारी टीकाकी भूमिकाके पृष्ठ १—४६ देखने चाहिये। वस्तुतः ये १८ ज्योतिर्विज्ञानके प्रवर्तक सब-के-सब भारतकी ही अमर विभूतियाँ हैं।

यद्यपि चतुर्लक्षात्मक इस ज्योतिर्विज्ञानके गणितमें सिद्धान्त, तन्त्र और करण तथा फलितमें संहिता—जिसके अन्तर्गत शकुन, सामुद्रिक, शालिहोत्र, स्वर, निधिविज्ञान, दैव और मुहूर्तादि शतशः विषय हैं—और होरास्कन्ध, जिसके अन्तर्गत जातक, हायन (ताजिक) एवं प्रश्नादिके विषय हैं, तथापि इस ज्योतिर्विज्ञानके मुख्य दो ही भाग हैं—प्रथम गणित, दूसरा फलित। और दोनों भागोंका अस्तित्व वैदिक कालसे अबतक अविच्छिन्नरूपसे मिलता है। जो लोग फलित भागको आधुनिक कहते अथवा मानते हैं, वे इस बातको भूल जाते हैं कि फलित और गणितका वागर्थाविव सम्बन्ध है। यदि गणित वचन है तो फलित उसका अर्थ है और जिस प्रकार अर्थरहित

शब्द व्यर्थ होता है—जिसका प्रयोग कभी बुधजन नहीं करते—उसी प्रकार फलितरहित गणित व्यर्थ होता है, जिसके लिये हमारे ब्रह्मादि ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तक जन सिद्धान्तादि-रचना करते—यह सम्भव नहीं।

अवश्य ही गणित और फलितकी इस प्रकारकी घनिष्ठता होनेपर भी ज्योतिर्विज्ञानका फलितभाग—चाहे वह होराका विषय हो और चाहे संहिताका विषय—परतन्त्र है, गणिताधीन है, बिना गणितके उसका विचार ही नहीं हो सकता; किन्तु गणितभाग स्वतन्त्र है। अतएव ज्योतिर्विज्ञानकी परीक्षामें यदि हम गणितभागकी परीक्षा कर लें तो फलितभागकी परीक्षा स्वतः हो जायगी। अतएव हमको देखना है कि ज्योतिर्विज्ञानका जो उद्देश्य नारदसंहिता (१। ७) और विष्णुपुराण (२। १७४ अन्तिम श्लोक) में लिखा है, उसकी सिद्धि ज्योतिःसिद्धान्तके वर्णित लक्षणोंसे हो जाती है अथवा नहीं। और हमारे ज्योतिःसिद्धान्तके विषय वेदांग-ज्यौतिषके ही हैं। अथवा किसी विदेशसे लाये गये हैं?

उपर्युक्त १८ प्राचीन आचार्योंके सिद्धान्तोंमेंसे जो सिद्धान्त इस समय प्राप्य हैं, उनमें सबसे अधिक मान्य 'सूर्यसिद्धान्त' है। वराहमिहिरकी पंचसिद्धान्तिका (शक ४२७)में पाँच सिद्धान्तोंका उल्लेख और कुछके वर्णन भी हैं। उसमें वराहमिहिरने लिखा है—'**स्पष्टतरः सावित्रः**' (पं० सि० अ० १ श्लोक ४)। नृसिंहदैवज्ञने हिल्लाजदीपिकामें ६ सिद्धान्तोंके जो नाम दिये हैं, उनमें भी सूर्यसिद्धान्तका महत्त्व विशेष है। दैवज्ञ पुंजराजने अपने शम्भुहोराप्रकाशमें सात सिद्धान्तोंके जो नाम दिये हैं, उनमें भी सूर्यसिद्धान्तकी प्रधानता है और शाकल्यसंहिताके ब्रह्मसिद्धान्त (१। ९) में '**अष्टधा निर्गतं शास्त्रम्**' लिखा है और उन आठ सिद्धान्तोंमें भी सूर्यसिद्धान्तकी प्रधानता है। सारांश यह है कि इस समयतक सूर्यसिद्धान्तसे अधिक महत्त्वपूर्ण कोई दूसरा सिद्धान्त नहीं है। अतएव हम इस परीक्षामें सूर्यसिद्धान्तके आधारपर विचार करेंगे। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त ही मूल सूर्यसिद्धान्त है, इसमें सन्देह नहीं और उसकी गणनाके सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१)सहस्रयुगीय कल्पके आधारपर सूर्यादि ग्रहोंके भगण, उच्च, पातादिके भगणद्वारा मध्यम ग्रहगणना और उनका स्पष्टीकरण।

(२)कालबोधक वर्षगणना सौरचान्द्र, मासगणना सौरचान्द्र, तिथिगणना सौरचान्द्र, वारगणना, सावन और घड़ी-पलादिकी गणना आर्क्षमानसे करके '**चतुर्भिर्व्यवहारोऽत्र सौरचान्द्रार्क्षसावनैः**' चरितार्थ करना।

(३) पंचांगकी गणनामें निरयण गणनाको मान्यता देते हुए ग्रहण, युति, क्रान्तिसाम्यादिकी गणनामें सायन (दृश्य) गणनाका प्रयोग।

(४) कल्पारम्भके पश्चात् ४७,४०० दिव्य (सौरमानके १,७०,६४,०००)वर्षसे अहर्गणकी गणना, जिसके आधारपर निरयण ग्रहगणना की जाती है। और निशीथकालसे अहर्गणका आरम्भकाल।

(५)नाक्षत्रिक चैत्रादि मासोंके नामकी यौगिकता और सूर्यादि वारोंका अहर्गण-गणनामें महत्त्व।

(६)'अचलाचलैव' के सिद्धान्तानुसार भूमिमें किसी प्रकारकी गति न मानकर सूर्यादि ग्रहोंका अपनी-अपनी गतिसे पूर्वाभिमुखगमन और प्रवहवायुद्वारा भपंजरके दैनिक पश्चिमाभिमुखगमनकी मान्यता।

(७) सूर्यादि ग्रहोंकी गतियोंमें आकर्षणशक्तिकी मान्यता

हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानके उद्देश्योंमें कालविधान और श्रौत-स्मार्त कर्मोंका साधन ही मुख्य हैं और ज्योतिर्विज्ञान—विशेषकर सिद्धान्तज्यौतिषके लक्षणोंके उपर्युक्त विवरणोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि हिंदूज्योतिर्विज्ञान उद्देश्यपूर्ति करनेमें पूर्ण समर्थ है, जिसके लिये निम्नलिखित प्रमाण हैं—

'**पाङ्क्तो वै यज्ञः** श्रुतिवचनके अनुसार 'अग्निहोत्र', 'दर्शपौर्णमास', 'चातुर्मास्य', 'पशुबन्ध' और 'सोम' भेदसे पाँच प्रकारके यज्ञ होते हैं। कुछ लोग 'इष्ट', 'पशु' और 'सोम' नामसे तीन ही प्रकारके यज्ञ मानते हैं और इन तीनों यज्ञोंके 'औपासन', 'वैश्वदेव', 'पार्वण', 'अष्टका', 'मासिक- 'श्राद्ध', 'सर्पबलि' और 'ईशानबलि' नामके सात यज्ञ; 'अग्निहोत्र', 'दर्शपौर्णमास', 'आग्रयणादि इष्टायन', 'चातुर्मास्य', 'निरूढ़पशुबन्ध', 'सौत्रामणी' और 'पिण्डपितृयज्ञ चतुर्होतृहोमादि' नामके सात तथा 'अग्निष्टोम', 'अत्यग्निष्टोम', 'उक्थ्य', 'षोडशी', 'अतिरात्र', 'वाजपेय' और 'आप्तोर्याम' नामके सात यज्ञ—इस प्रकार २१प्रकारके यज्ञ-भेद होते हैं (गोपथब्राह्मण ५। २५)।

इतना ही नहीं, 'शिरोयज्ञ,' 'अतियज्ञ','महायज्ञ', 'हविर्यज्ञ' और 'पाकयज्ञ' के नामसे जिन पाँच यज्ञोंके

वर्णन हैं, उनके भी एक-एकके अनेक भेद हैं, तथा 'रात्रिसत्र', 'अयनसत्र' और 'संवत्सरसत्र', 'बहुसंवत्सर', 'महासत्रादि' नामसे जिनके बहुसंख्यक अवान्तर भेद हैं, वे वैदिक यज्ञ हैं, जिनके अनुष्ठानमें संवत्सर, अयन, विषुव, मास—चैत्रादि मास, पक्ष, तिथि और सावन दिन (वारों) के जाननेकी आवश्यकता होती है तथा चान्द्रनक्षत्रोंका जानना भी अत्यावश्यक होता है। सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, व्यतीपातादि योग वसन्तादि ऋतु और विष्णुपदी, षडशीतिमुखादि सूर्यसंक्रान्तियोंका ज्ञान भी यज्ञानुष्ठानके लिये अत्यावश्यक होता है और इन सभी कालों, नक्षत्रों और योगोंका ज्ञान एकमात्र निरयणगणनाके अनुसार सूर्यसिद्धान्त-जैसे आर्षसिद्धान्तीय पंचांगोंके द्वारा ही हो सकता है और हमारे षोडश संस्कार, एकादशी, जयन्ती, शिवरात्रि, प्रदोष आदि व्रतों तथा हिंदू-संस्कृतिके श्रावणी, विजयादशमी, दीपावली आदि उत्सवोंका अनुष्ठान चैत्रादि मास, प्रतिपादादि तिथि, अश्विन्यादि नक्षत्र, योग और करणके साथ ही सौर-संक्रान्तियोंके ज्ञानके बिना कर सकना असम्भव है और इन सबका ज्ञान हमारे निरयण सिद्धान्त-ज्यौतिषद्वारा ही हो सकता है। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि हमारे श्रौत-स्मार्त कर्म हिंदू-ज्योतिर्विज्ञान—सूर्यसिद्धान्त-जैसे सिद्धान्तके ज्ञान बिना किये ही नहीं जा सकते।

इसी प्रकार वास्तुरचना, विविध प्रकारके कुण्डों और वेदियोंके बनानेमें दिशाओंका ज्ञान भी आवश्यक होता है, जिसका ठीक-ठीक ज्ञान ज्योतिर्विज्ञानद्वारा ही होता है (देखिये 'दिङ्मीमांसा' स्व० महामहोपाध्याय पं० श्रीसुधाकरजी द्विवेदी कृ०)। श्रौत-स्मार्त कर्मोंके आरम्भ करनेके मुहूर्त, जन्म, प्रश्नादिके लग्नादि-विचारके लिये क्षणादि कालके ज्ञानकी भी अत्यन्त आवश्यकता होती है और ठीक-ठीक कालज्ञान हमारे सिद्धान्तोंमें वर्णित विविध यन्त्रोंद्वारा ही हो सकता है (देखिये यन्त्राध्याय सू०)। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानका सिद्धान्तीय लक्षण उद्देश्यके अनुरूप ही है—इसमें सन्देह नहीं।

हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानकी अपरिवर्तनशीलता

हमारा वेदांग-ज्योतिष, जो वेदभगवान्का चक्षुःस्वरूप है, क्या अपने अंगी वेदोंके समान ही अपरिवर्तनशील है अथवा मध्यकालीन आर्यभट्ट, लल्ल, वराह आदि विद्वानोंके मतानुसार समय पाकर उसमें अन्तर हो जाता है, जिससे समय-समयपर उसमें बीजादि-संस्कार देकर उसकी स्थूलताकी शुद्धि करनी चाहिये? जैसा आजकलके आस्तिक विचारके विद्वानोंका भी कथन है कि 'जिस समय सूर्यसिद्धान्तादि आर्षसिद्धान्तोंकी रचना हुई, उस समयमें सूर्य-चन्द्रादिका स्पष्टीकरण ठीक होता था और उसके अनुसार तिथ्यादि-मान शुद्ध थे। अब कालान्तरमें अन्तर पड़ता है। अतएव विदेशीय विद्वानोंने चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र और शनिके आकर्षण, नूतन स्थान तथा मन्दफलादि संस्कारसे सूर्यका और इसी प्रकार विविध उपकरणोंसे चन्द्रमाका स्पष्टीकरण जो किया है, उसीके अनुसार तिथ्यादि-साधन करना चाहिये।' किंतु यह सब विडम्बनामात्र है, इसमें कोई तत्त्व नहीं।

जिस आर्ष सिद्धान्तको हमारे वेदों और स्मृतियोंने स्वीकार किया है और जिस गणनाके अनुसार तिथियोंका निर्णय करके श्रौत-स्मार्त कर्मका विधान किया है—यदि हम आस्तिक हैं तो आज भी उसी गणनासे बनी तिथियों, मासों, नक्षत्रों आदिको मानेंगे। इसमें हमारी हठधर्मी नहीं, सत्याग्रह है; क्योंकि गोलयुक्ति और आकर्षण-विद्याके नियमोंके अनुसार जितना अब अन्तर है, उतना ही (अन्तर)तब भी था। इसमें किंचित् भी संशय नहीं करना चाहिये। क्या उस समयमें चन्द्रमा नहीं था, जो बड़े बलसे सूर्यको खींचता है—जिसके कारण कई विकलाओंका विकार सूर्यमें पड़ जाता है? और क्या उस समयमें सूर्य नहीं था, जिसके खींचनेसे चन्द्रमामें अंशोंका विकार पड़ जाता है?' (पंचांग-प्रपंच पृ० २) यदि सूर्यादि ग्रह आजके ही समान सूर्यसिद्धान्तके रचनाकालमें भी थे तो सूर्यसिद्धान्तके अदृश्य गणितमें और आकर्षण-विद्याद्वारा किये गये दृश्य गणितमें जितना अन्तर आज पड़ रहा है, उतना ही अन्तर उस समय भी पड़ता था, जिसको उस समयमें दिव्य दृष्टिवाले हमारे महर्षियोंने नहीं माना, अपने अदृश्य तिथ्यादिको ही श्रौत-स्मार्त कर्मके लिये उपयुक्त माना है। अतएव उसीको हमें भी मानना चाहिये।

वेदांगज्यौतिष और हमारे सिद्धान्त-ज्यौतिष

हमारे वेद-चक्षुःस्वरूप ज्योतिर्विज्ञानके इतिहासलेखक स्व० पण्डित शंकर बालकृष्ण दीक्षितने अपने 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र'(मराठी) में, स्व० बा० योगेशचन्द्ररायने अपने 'आमादेर ज्योतिष और ज्योतिषी' (बंगला) में, स्व० महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदीने अपनी

'गणकतरंगिणी' (संस्कृत) में तथा भारतीय इतिहासके न जाने कितने लेखक विद्वानोंने अपनी-अपनी रचनाओंमें स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि आर्च और याजुष नामसे प्रसिद्ध ग्रन्थों (वेदांगज्यौतिषों) से अधिक प्राचीन हमारे देशमें कोई ज्योतिर्ग्रन्थ नहीं हैं और हमारे सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिःसिद्धान्त शक ४२१से लेकर ई० सन्के पूर्व ४५० वर्षके अन्तर्गत बने हुए हैं। दीक्षितजीने लिखा है कि वेदांग ज्यौतिषका समय ई० सन्के पूर्व अधिक-से-अधिक १४००वर्ष और कम-से-कम ५००वर्ष है और उसके पश्चात् ई० सन्के पूर्व ४५० वर्ष सिद्धान्त-ज्यौतिषका समय है। स्व० चिन्तामणि विनायक वैद्यने महाभारतमीमांसामें लिखा है कि ई० सन्के आरम्भमें ही हमारे ज्यौतिष-सिद्धान्तोंकी रचना हुई है। इन सभी ख्यातिप्राप्त विद्वानोंके कालनिर्णयकी मुख्य युक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) सिद्धान्तज्यौतिषकी गणना अश्विन्यादि है। अतएव जिस समय मेषके सायन सूर्य अश्विनीमें होते थे और अयनांशका अभाव था, उस समय सिद्धान्तज्यौतिषकी निरयण गणनाका आरम्भ हुआ है।

(२)सिद्धान्तोंमें जिस निरयणगणनाकी व्यवस्था है और अहर्गणद्वारा ग्रहोंके मध्यम गणितद्वारा स्पष्टीकरणका विधान है, वह सब वारगणनाके ज्ञानके बिना हो नहीं सकता और हमारे देशमें वारगणनाका समय ई० सन्के ५०० वर्ष (महाभारत-रचनाकाल) के पश्चात् माना जाता है; क्योंकि महाभारतमें वारोंके नाम नहीं हैं।

(३)नित्यानन्दने सिद्धान्तराजमें लिखा है कि ३६०० कलिगताब्दमें सूर्यसिद्धान्तकी रचना हुई है और अलबेरूनीने अपनी पुस्तक (अलबेरूनीका भारत) में लिखा है कि सूर्यसिद्धान्तकी रचना लाटदेवने की है। अतएव उसका समय शक ४०० के लगभग है।

(४) आर्यभट्टने अपने तन्त्र (शक ४२१) में सूर्य सिद्धान्तकी चर्चा नहीं की। अतएव उस समयतक उसका अस्तित्व नहीं था।

(५) हमारे ज्योतिःसिद्धान्तोंकी सूक्ष्म गणना यूनानियोंसे ली गयी है; क्योंकि हमारी ज्योतिर्गणना तो आर्च और याजुष ज्यौतिषगणनाके समान पंचवर्षीय स्थूलतर है, जिसमें ३६६ सावन दिनोंका सौर वर्ष और मध्यम गणनाद्वारा तिथ्यादि-साधनका विधान है। अतएव सिकन्दरके भारताक्रमण (ई० सन्के पूर्व ३२३ व०) के पश्चात् यूनानियोंसे सम्पर्क होनेके बाद ज्योतिःसिद्धान्तकी रचना हुई है।

उपर्युक्त युक्तियाँ सर्वतोभावसे निःसार हैं। वेदांग ज्यौतिषके नामसे प्रसिद्ध यजुर्वेद-ज्यौतिषके १६वें और ऋग्वेद ज्यौतिषके १४वें श्लोकमें नक्षत्रोंके लघु नामोंके वर्णनमें अश्विन्यादि नक्षत्रक्रम रखा है और य० ज्यौ० के १०वें श्लोकमें और ऋ० ज्यौ के ९वें श्लोकमें ४॥ सूर्यनक्षत्रोंके एक ऋतुका वर्णन वेदांगकालमें भगणके १२ भागराशियोंका अस्तित्व सिद्ध करता है और यजुर्वेद ज्यौ०के३१वें श्लोकमें मासपतिके प्रसंगमें सात वारोंका स्पष्ट वर्णन है (देखो वेदांग-ज्यौतिषका सुधाकरभाष्य पृ० ९)। इतना ही नहीं, आर्च और याजुष ज्यौतिषको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे विदित होता है कि इनकी रचनाके समयमें हमारे सिद्धान्त ज्यौतिषकी सूक्ष्म गणना प्रचलित थी और गणितानभिज्ञ वैदिकोंके लिये ही ज्योतिर्विदोंने स्थूलरीतिसे दर्शपौर्ण-मास और विषुवायन तथा तिथि-नक्षत्रादिके जाननेके लिये चुटकुले बना दिये थे, जिनको आजके इतिहासज्ञ वेदांगके नामसे अत्यधिक महत्त्व दे रहे हैं। वस्तुतः वे हमारे मूल ज्योतिः-सिद्धान्तके पश्चात् बनाये गये हैं।

नित्यानन्द और अलबेरूनीका लिखना प्रमाणरहित है और पक्षपातपूर्ण। अलबेरूनीने सारी पुस्तकमें भारतीय विद्वद्विभूतियोंको अपमानित करने और हमारी सभ्यताके सर्वथा विरुद्ध बातें लिखनेमें ही अपना गौरव समझा है और मुसलमान बादशाहोंके पण्डित नित्यानन्दने अपनी सारी विद्वत्ता रोमकसिद्धान्तकी दोहाई देनेमें और निरयण गणनाके आश्रित हमारे ज्योतिःसिद्धान्तोंके विरुद्ध सायनवादमें ही खर्च कर दी है। अतएव उनके लेखका कोई मूल्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि उनके लेख आर्ष सिद्धान्तके विरुद्ध होनेसे सर्वथा अप्रामाणिक हैं।

आर्यभट्टने सूर्यसिद्धान्तकी चर्चा नहीं की; किंतु उनके छः वर्ष बाद ही बड़ी प्रशंसाके साथ इसी सूर्यसिद्धान्तकी चर्चा—'**स्पष्टतरः सावित्रः**' के रूपमें वराहमिहिरने की है। साथ ही ब्रह्मगुप्त (शक ५२०)ने अन्यान्य सिद्धान्तोंकी प्राचीनताका उल्लेख करते हुए ब्रह्मसिद्धान्तके विषयमें लिखा है—

ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितं महता कालेन यत् खिलीभूतम्।

इससे निश्चय हो जाता है कि आर्यभट्टके समय (शक ४२१)के बहुत पहलेसे हमारे ज्योतिःसिद्धान्त

प्रचलित थे—इसमें सन्देह नहीं। दूसरी बात यह भी है कि 'भावाभावका प्रमाण' अत्यन्त शिथिल होता है। अतएव जिन लोगोंका यह मत है कि 'आर्यभट्टने सूर्यसिद्धान्तकी चर्चा नहीं की, अतएव उस समयतक सूर्यसिद्धान्त था ही नहीं', वे सर्वथा भ्रममें हैं। वराहमिहिरके समय यही सूर्यसिद्धान्त था और बीजके नामपर वराहने कल्पकुदिनमें २८ दिन घटा दिये हैं, जिससे गणित करनेमें लाघव होता है और अन्तर एक सौर वर्षमें केवल १ विपल और २४ अतिपलका होता है। वराहमिहिरने जो पंचसिद्धान्तिकामें सूर्यसिद्धान्तके क्षेपकका वर्णन किया है। वह वर्तमान सूर्यसिद्धान्तके ही अनुरूप है। अतएव हमारा वर्तमान सूर्यसिद्धान्त ही मूल सूर्यसिद्धान्त है, इसमें सन्देह नहीं।

यूनानियोंसे सिद्धान्त सीखनेकी कल्पना तो अब सर्वथा मिथ्या सिद्ध हो चुकी है। पक्षपाती विदेशीय विद्वानोंको भी विवश होकर मानना ही पड़ा है कि भारतीय ज्योति:सिद्धान्तोंकी गणना यूनानी अथवा किसी विदेशी गणनाके आधारपर की गयी है—यह बात सर्वथा असत्य है। ये सिद्धान्त सर्वथा स्वतन्त्र भारतीय ही हैं [देखिये 'हमारी प्राचीन ज्योतिष' के पृष्ट ६०—७०]। वारगणनाका अस्तित्व याजुष ज्योतिषके ११वें श्लोकमें तथा गर्गसंहिताके निम्नलिखित श्लोकमें भी आया है—

अयनान्यृतवो मासाः पक्षास्त्वृक्षं तिथिर्दिनम्।

(भा० ज्यौ० पृ० ७५)

अर्थात् अयन,ऋतु, मास, पक्ष, नक्षत्र, तिथि और वार—दिन। इस विषयमें विशेष देखना हो तो हमारा 'भारतकी कालगणनामें वारोंका महत्त्व' देखना चाहिये।

वेदांगज्यौतिषमें चैत्रादि चान्द्र (सौर-चान्द्र) मासोंके नाम आये हैं। दीक्षितजीने बड़े परिश्रमसे इस बातकी खोज की है और अन्तमें उनको विश्वास हो गया है कि स्पष्ट गणनासे चैत्रादि नाम यौगिक सिद्ध नहीं होते। किसी संवत्के चैत्रादि बारहों मासोंकी पूर्णिमाएँ चैत्रादि मास-नक्षत्रोंसे संयुक्त नहीं मिलतीं। अतएव उन्होंने लिखा है कि वेदांगज्यौतिषकी गणनासे भी अधिक स्थूल गणना भारतमें जब प्रचलित थी, तभी ये चैत्रादि नाम रखे गये हैं। हमारे इतिहासज्ञ विद्वान् विदेशीय कालगणनाओंकी दुर्दशा देखकर अपने निर्विकल्प वेदांगज्योतिर्विज्ञानकी कालगणना और ग्रहगणनाकी परम्परामें भी आरम्भिक दुर्दशाका विश्वास करते हैं। अतएव वे कहते हैं कि 'भारतकी प्राचीन ज्योतिर्गणना वेदांगज्यौतिषसे भी अधिक स्थूल थी, वेदांगज्यौतिषके पश्चात् यूनानियोंके संसर्गसे सिद्धान्त-ज्यौतिषकी सूक्ष्म गणनाका प्रचार हुआ, जिसके अनुसार अधिमास और क्षयमासकी व्यवस्था की गयी है तथा महाभारतके जुवेके प्रणके १३ वर्षपर भीष्मजीने १३ वर्ष, ५मास और १२दिनकी व्यवस्था दी थी, जो एक सौर वर्षमें ३६६॥' सावन दिनके अनुपातसे ही सम्भव था।'

अवश्य ही उपर्युक्त बातें विदेशीय विद्वानोंद्वारा प्रचारित की गयी हैं और भारतीय विद्वानोंने उन्हींका पदानुसरण किया है; किन्तु वे सारी कल्पनाएँ ज्योतिर्विज्ञानके मर्म न जाननेके कारण हुई हैं। इस बातको हमने प्रथम ही दिखला दिया है कि हमारे ज्योति:सिद्धान्तके गणित ही वास्तविक वेदांग हैं और वे हैं सर्वथा वैदिक साहित्यके समकालीन। प्रमाणके रूपमें देखें कि चैत्रादि मासोंके यौगिक नाम स्थूल गणनाके अनुसार नहीं, सिद्धान्त-गणनानुसार ही रखे गये हैं, १३ वर्षके जुवेके प्रणकी व्यवस्था ठीक-ठीक सिद्धान्तकी सूक्ष्म गणनाद्वारा की गयी है और हमारी सिद्धान्तज्यौतिषकी गणना इतनी प्राचीन है कि उतने प्राचीन कालमें संसारके किसी भागमें ज्यौतिष ही क्या, किसी भी विद्याका अस्तित्व नहीं था।

जिन प्रमाणोंसे चैत्रादि मासोंका अस्तित्व उनकी पूर्णिमाओंके नामोल्लेखसे तथा स्पष्ट मासोंके नाम आनेसे वैदिक-साहित्यकालीन सिद्ध होता है, वे हैं यजुर्वेदकी तैत्तिरीय-संहिता (७। ४। ८) में 'फाल्गुनीपूर्णमास' और 'चित्रापूर्णमास', तै० ब्राह्मण (१।१।२।८) में फाल्गुनीपूर्णिमा, शतपथब्राह्मण (२। ६। ३) में 'फाल्गुनीपूर्णमासी', 'गोपथब्राह्मण' (६। १९) में भी 'फाल्गुनी पौर्णमासी' और साङ्ख्यायन-ब्राह्मणमें तथा सामविधान-ब्राह्मणमें 'फाल्गुनी', 'रौहिणी' (ज्येष्ठी) और 'पौषी' पूर्णमासीके वर्णन। इतना ही नहीं, कौषीतकिब्राह्मण (१९। २। ३) में नैषस्य (पौषस्य) और 'माघस्य' और पंचविंश-ब्रा० (५।९। ९) में 'फाल्गुनः' और गृह्यसूत्र (२। १। १) में 'श्रावण्याम् (पौर्णमास्याम्), (२।३।१) में 'मार्गशीर्ष्यां ...... चतुर्दश्याम्' तथा पारस्कर गृह० सू० (३। १२) में 'मार्गशीर्ष्यो पौर्णमास्याम्' का उल्लेख है तथा इसी प्रकार वैदिक साहित्य, महाभारत और मन्वादि स्मृतियोंके साथ ही चाणक्यके अर्थशास्त्रसे स्पष्टरूपसे सिद्ध हो

जाता है कि चैत्रादि मास ही हमारे राष्ट्रिय मास प्राचीन कालमें भी वैसे ही माने जाते थे जैसे कि आज भी हम हिंदुओंके वे राष्ट्रिय मास हैं।

दीक्षितजी तै० सं० (४। ४। १०) और तै० ब्रा० (१। ५। १) की नक्षत्रदेवताओंके प्रसंगमें '**रोहिणी नक्षत्रमिन्द्रो देवता**' तथा '**इन्द्रस्य रोहिणी**' का स्वतः अपने 'भारतीय ज्यौतिषशास्त्र' में उल्लेख करते हुए भी इस बातको भूल गये हैं कि सामविधानब्रा० में 'रोहिणी' की पूर्णिमाका जो वर्णन है, वह 'रौहिणी' पौर्णमासी इन्द्रदैवत रोहिणी (ज्येष्ठा) नक्षत्रयुक्त ज्येष्ठी पौर्णमासी है। अतएव फाल्गुनी, चैत्री आदि पौर्णमासियोंको उन्होंने फाल्गुन और चैत्रमासकी पूर्णिमाएँ नहीं, फाल्गुनी और चित्रानक्षत्रोंसे युक्त पूर्णिमाएँ मान ली हैं और इसी आधापर भ्रमवश लिख दिया है कि ब्राह्मणकालमें चैत्रादि मासोंका अस्तित्व नहीं था और जिन ग्रन्थोंके जिन भागोंमें चैत्रादि मासोंके नाम हैं, वे ब्राह्मणकालके पीछेके हैं।

सारांश यह कि चैत्रादि नक्षत्र मासोंके नाम वैदिककालमें भी प्रचलित थे, जो याजुष और आर्च ज्यौतिषके पूर्वका समय है। और ये नाम यौगिक—नाक्षत्रिक हैं, जो आर्ष सिद्धान्तकी सूक्ष्म गणनाद्वारा ही सिद्ध होते हैं—अन्य किसी गणनाद्वारा नहीं। दीक्षितजीने 'भारतीय ज्यौतिष' (पृ० ४२८)में ५ वर्षके उदाहरणद्वारा देखा है कि चैत्रादि मास यौगिक सिद्ध नहीं होते; वेदांग-ज्यौतिषकी गणना और सूर्यसिद्धान्तीय विश्वपंचाग (काशी) के पाँच वर्षों (वि० संवत् १९९९ से २००३) के देखनेसे हमको भी ज्ञात हुआ है कि चैत्रादि गणनाके अनुसार चैत्रादि १२ मासोंकी पूर्णिमाएँ किसी भी संवत्में अपने मास-नक्षत्रोंसे युक्त नहीं होतीं। इससे यह निश्चय हो जाता है कि जिन चैत्रादि मासोंके नाम नाक्षत्रिक पूर्णिमाओंके आधारपर पाणिनिने सिद्ध किये हैं और जिनकी सूर्यसिद्धान्त (१४। १५) में व्यवस्था है, चैत्रादि गणनासे वे नाम तो दीक्षितके उदाहृत केरोपन्ती (दृश्य-गणनानुसार) शक १८०४से १८०७ तक तथा शक १८१० में ठीक उतरते हैं और न वेदांग-ज्यौतिषके पंचांगके अनुसार कभी भी ठीक उतरते हैं तथा काशीके सूर्यसिद्धान्तीय विश्वपंचाग (वि० सं० १९९९ से २००३ तक) से ठीक नहीं उतरते। वे चैत्रादि मासोंके नाम किसी दूसरी गणनाद्वारा सिद्ध किये जाते हैं।

चैत्रादि मासोंके नाम तिथि और नक्षत्रोंके आधारपर रखे गये हैं और तिथि एवं नक्षत्र सूर्य तथा चन्द्रमाके द्वारा बनते हैं। अतएव हमको देखना चाहिये कि सौरगणना और चान्द्रगणनाका आरम्भ कबसे होता है। कालगणनामें उत्तरायण, दक्षिणायन और देवयान तथा पितृयानका वर्णन है। वेदांगज्यौतिषकी गणना उत्तरायणसे आरम्भ होती है (याजुष ज्यौ० ५-६) और सिद्धान्तज्यौतिषकी गणना देवयान (उत्तर-विषुव) से—चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे आरम्भ होती है (ब्रा० स्फुटसिद्धान्त १। ४)। सिद्धान्तगणनाके देवयानद्वारा सौर गणना आरम्भ होती है और पितृयानद्वारा चान्द्रगणनाका आरम्भ होता है। सौरगणनाके मेष-वृष आदि मासोंकी गणना मासारम्भके सौरनक्षत्रोंके आधारपर अश्विन्यादि क्रमसे होती है और अमान्तके आधारपर चैत्रशुक्ल प्रतिपदासे अश्विनीके सूर्यसे होती है और सूर्योदयकालसे होती है; किंतु चान्द्रगणना ठीक इसके विपरीत होती है। सौरगणना (देवयान) उत्तर विषुवसे होती है, शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे होती है और सूर्योदयकालसे होती है और चान्द्रगणना दक्षिण-विषुवसे कृष्णपक्षसे और सूर्यास्तकाल (चन्द्रोदय) से आरम्भ होती है। और सौरमासोंके नाम आरम्भकालकी संक्रान्तिके मेषादिनामसे होते हैं और चान्द्रगणनाके मासोंके नाम मासकी अंतिम तिथि पूर्णिमाके चन्द्रनक्षत्रके आधारपर आश्विनादि क्रमसे होते हैं।

सारांश यह कि चैत्रकृष्ण प्रतिपदासे अमावास्यातक देवयानके कार्यका उपक्रम करते हुए चैत्रशुक्ल प्रतिपदाके सूर्योदयकालसे मेषसंक्रान्ति अश्विनी नक्षत्रके आरम्भकालसे मेषराशि नामके सौर मासका आरम्भ और सौरचान्द्र वर्षका आरम्भ होता है और भाद्रशुक्ल १५ के सूर्यास्त (चन्द्रोदय) कालसे पितृयानके १६ दिनोंके महालयके उपक्रमके साथ चान्द्रमासका आरम्भ होता है। और मासान्त—आश्विन शुक्ल १५ को अश्विनी नक्षत्रके नामसे ही उसका आश्विन नाम होता है। जिस प्रकार सौरगणना राशिप्रधान है और उसके मासोंके नाम राशियोंके नामपर होते हैं, उसी प्रकार चान्द्रगणना नक्षत्रप्रधान है और उसके मासोंके नाम नक्षत्रोंके नामपर आश्विनादि होते हैं। दोनों ही गणनाएँ अश्विन्यादिक्रमसे नक्षत्रोंकी गणना करती हैं—चान्द्रगणना चन्द्रनक्षत्रके आधारपर अपने मासोंके नाम रखती हैं और सौरगणना सौर संक्रान्तिके आधारपर करती है, जो सूर्यनक्षत्रसे

बनती है।

उपर्युक्त विवरणसे यह निश्चय हो जाता है कि चैत्रादि मासोंके नाम जिस गणनाके द्वारा आदिकालमें रखे गये हैं, वह पितृयान-गणना है और उसका क्रम आश्विनादि है, चैत्रादि नहीं। इसी बातको वेदव्यासजीने बृ० धर्मपुराणके पूर्वखण्ड (१५।९—१६) में दिखलाया है और कहा है—

आश्विनाद्या मता मासाः सौरचान्द्रप्रमाणतः।

अब देखना है कि आश्विनादि-गणनाके अनुसार क्या चैत्रादि बारहों मासकी पूर्णिमाएँ अपने-अपने मास-नक्षत्रोंके साथ किसी एक चान्द्रवर्षमें पर्वान्तयोग करती हैं?

श्रीसूर्यसिद्धान्तानुसारी स्व० महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदीके पंचांग (वि० सं० १९६४-६५) के अनुसार हमने विचार किया तो सं० १९६४ के आश्विन माससे लेकर सं० १९६५ के भाद्रपदमासकी बारहों पूर्णिमाएँ अपने-अपने मास-नक्षत्रोंसे पर्वान्तयोग करती हैं। अतएव यह प्रमाणित हो जाता है कि जिन चैत्रादि मासोंके नाम हमारे वैदिक साहित्यसे लेकर अबतक अविच्छिन्नरूपसे श्रौत-स्मार्त कर्मोंमें व्यवहृत हुए हैं, उनका नामकरण यौगिक है और वे हमारे सूर्यसिद्धान्त-जैसे आर्षसिद्धान्तकी गणनाद्वारा रखे गये हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि हमारी सिद्धान्तगणना तै० सं० आदि वैदिक साहित्यके पूर्वसे—अनादि कालसे प्रचलित है और उस समयसे प्रचलित है, जिस समय यूनानी ज्योतिर्गणितका संसारमें अस्तित्व ही नहीं था।

महाभारतकी भीष्मव्यवस्था और सिद्धान्तज्यौतिष

विराटनगरकी चढ़ाईके समय कृष्णपक्षकी अष्टमीको जब अर्जुनने अपना नाम लेकर कौरवोंको ललकारा था, तब कर्ण और दुर्योधनने कहा था कि 'अभी तो तेरहवाँ वर्ष चल रहा है, अतएव पाण्डवोंका तेरह वर्षका प्रण पूर्ण नहीं हुआ और प्रतिज्ञानुसार उन्हें पुन: १२ वर्ष वनमें रहना चाहिये (विराटपर्व अ० ४७ श्लोक २—५)।' और इस प्रकार अपने विचार प्रकट करते हुए जब भीष्मसे दुर्योधनने समय-निर्णयके लिये व्यवस्था देनेको कहा, तब भीष्मने कला-काष्ठादिसे लेकर संवत्सरपर्यन्तके कालचक्रकी बात कहकर व्यवस्था दी कि 'ज्योतिश्चक्रके व्यतिक्रमके कारण वेदांगज्योतिषकी गणनासे तो १३ वर्ष, ५ महीने और १२ दिन होते हैं; किन्तु पाण्डवोंने जो प्रणकी बातें सुनी थीं, उनको यथावत् पूर्ण करके और अपनी प्रतिज्ञाकी पूर्तिको निश्चयपूर्वक जानकर ही अर्जुन आपके समक्ष आया।'(महाभारत वि० प० अ० ५२ श्लोक १—५)

भीष्मजीने पाँच वर्षोंमें दो चान्द्रमासोंके अधिक मास होनेकी बात वेदांगज्यौतिषके अनुसार कही है। यदि ५ सौर वर्षोंमें २ मास अधिमास हो जाते हैं तो १३ वर्ष यदि सौरमानके होते तो ५ महीने और ६ दिन १३ वर्षोंसे अधिक होते। अतएव लोग कहते हैं कि जिस गणनाके अनुसार भीष्मने व्यवस्था दी है, उस गणनासे एक सौर वर्षमें वेदांगज्यौतिषके समान ३६६ सावन दिन नहीं, ३६६ दिन और ३० घड़ी होना सिद्ध होता है। इसी प्रश्नको लेकर महाभारतमीमांसा (पृ० ११७—१२०) में वैद्यजीने विदेशोंकी कालगणनाकी दुर्दशा—जैसा कि स्व० महामहोपाध्याय ओझाजीने प्राचीन लिपिमालामें पृ० १९४-१९५ की सात टिप्पणियोंमें सप्रमाण उद्धृत किया है—देखकर भारतीय ज्योतिर्विज्ञानकी निर्विकल्प कालगणनाकी दुरवस्थाका भी अनुमान किया है और ज्योतिर्विज्ञानके मर्मको न जानकर भीष्मकी व्यवस्थाकी दुर्व्यस्था की है, जो लोगोंका भ्रम है।

अर्जुन जिस ग्रीष्म-ऋतुके कृष्णपक्षकी अष्टमीको प्रकट हुए, उसके प्रथम दिन सप्तमीको १३ वर्ष प्रतिज्ञानुसार पूर्ण हो गये थे, जो आजके ही समान व्यावहारिक ज्योति:सिद्धान्तसे निष्पन्न थे। जिन विद्वानोंने प्रतिज्ञाके १३ वर्ष सौरमानके अथवा चान्द्रमानके माने हैं, उनको सिद्धान्तज्यौतिषकी कालगणना और भारतकी सनातन कालगणनाका ज्ञान ही नहीं था और व्यर्थ ही प्रपंच किया है। यदि प्रतिज्ञाके १३ वर्ष सौर होते तो अष्टमीके ६ दिन पूर्व ही १३ वर्ष पूरे हो गये होते और कृष्ण सप्तमीको भीमको युद्धमें प्रकट हो जानेके भयसे अतिमर्त्य कर्म करनेसे धर्मराज न रोकते और यदि प्रतिज्ञाके १३ वर्ष वेदांगज्यौतिषके चान्द्रमानके होते तो अर्जुनके प्रकट होनेके ५ महीने और १२ दिन पूर्व ही प्रतिज्ञा पूरी हो गयी होती और प्रकट होनेके डेढ़ मास पूर्वके उस घोर अत्याचारको, जो भरी सभामें द्रौपदीके प्रति कीचकने किया था, पाण्डव सहन न करते और प्रकट होनेसे केवल १३दिन पूर्व सुदेष्णाद्वारा विराटराजके सन्देशको सुनकर द्रौपदी १३दिनका समय न माँगती। अतएव यह निश्चय हो जाता है कि पाण्डवोंकी

प्रतिज्ञाके १३ वर्ष राष्ट्रिय कालगणनाके थे, जिसका उल्लेख करनेकी आवश्यकता न थी और वह राष्ट्रिय कालगणना भारतकी सनातन कालगणना है, जिसका व्यवहार हमारे ज्योतिःसिद्धान्तकी गणनामें—अहर्गणादि बनानेमें होता है और वह है सौर-चान्द्रगणना। और इसीके अनुसार पाण्डवोंके १३ वर्ष पूरे होते हैं और भीष्मव्यवस्था भी चरितार्थ हो जाती है। देखिये निम्नलिखित उदाहरण—

(१) यदि द्यूतक्रीड़ाकी मिति वि० संवत् १९७१ ज्येष्ठ कृष्ण ८ रविवारको मान लें तो उस दिन सूर्य होंगे १।२।४१।२५ और अंग्रेजी तारीख १७ मई सन् १९१४ होती है और अर्जुनके प्रकट होनेकी मिति वि० सं० १९८४ ज्येष्ठ कृ० ८ मं० को मान लें तो उस दिन सूर्य होंगे १।९।३।६ और तारीख १४ मई सन् १९२७ ई०। दोनों समयोंके अन्तर होंगे—

सौर-चान्द्रमानसे—१३ वर्ष १ दिन (चौदहवें वर्षका प्रथम दिन)।

सौरमानसे—१३ वर्ष और ६ दिन।

अंग्रेजी मानसे—१३ वर्ष और ७ दिन

और वेदांगज्यौतिषके चान्द्रमानसे होते हैं १३ वर्ष, ५ महीने और १२ दिन। यही है भीष्मजीकी व्यवस्था।

इसी प्रकार यदि द्यूतक्रीड़ाकी मिति वि० सं० १९७३, १९८१, १९८८ अथवा १९९० की ज्येष्ठ कृष्ण अष्टमीको मान लें तो क्रमशः अर्जुनके प्रकट होनेकी मिति वि० संवत् १९८६, १९९४, २००१ तथा २००३ की ज्येष्ठ कृष्ण अष्टमी माननेपर अन्तर होते हैं—

सौरचान्द्रमानसे—१३ वर्ष १दिन (चौदहवें वर्षका प्रथम दिन)।

सौरमानसे—१३ वर्ष ६ दिन।

और वेदांगज्यौतिषके चान्द्रमानसे होते हैं १३ वर्ष, ५ महीने और १२ दिन । यही भीष्मजीकी व्यवस्था।

उपर्युक्त पाँचों उदाहरण विशुद्ध सिद्धान्तगणनाके सूर्यसिद्धान्तीय पंचांगोंसे दिये गये हैं। अतएव यह प्रमाणित हो जाता है कि महाभारत-युद्धकालमें भारतमें सिद्धान्तज्यौतिषकी गणनाका ही प्रचार था और उसी गणनाके अनुसार राष्ट्रमितिके रूपमें कालगणनाका व्यवहार अबाधरूपसे होता था।

पृथ्वी-परिभ्रमणका भ्रम

सिद्धान्तज्यौतिषका सूर्यपरिभ्रमण-सिद्धान्त भी बड़े ही महत्त्वका विषय है; क्योंकि आज सारे संसारके गणितज्ञ और वैज्ञानिक पृथ्वी-परिभ्रमण-सिद्धान्तको मानते हैं और उनकी वैज्ञानिकताका प्रभाव हमारे भारतीय विद्वानोंके हृदयोंपर इतना गहरा पड़ा है कि वे अपनेपनको भूलकर और अपने ज्यौतिषसिद्धान्तोंपरसे श्रद्धा हटाकर, भूपरिभ्रमणको अपने वेदमन्त्रों और अपने ज्यौतिषसिद्धान्तोंद्वारा समर्थन करके संसारके वैज्ञानिकोंके प्रति अपना और हिंदू-संस्कृतिके प्रतीक हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानका आत्मसमर्पण कर देनेमें ही अपना और अपने देशके ज्ञान-भण्डारका गौरव समझते हैं।

हिंदू संस्कृतिमें 'जगत्' का अर्थ ही चलनेवाला है। अतएव यदि हम पृथ्वीको भी चलनेवाली मान लें तो सिद्धान्ततः आपत्ति नहीं; किंतु सूर्यके चारों ओर और अपने अक्षपर भी पृथ्वीका परिभ्रमण मानना और वेदों तथा वेदोंके नेत्रस्वरूप हमारे ज्यौतिषसिद्धान्तोंके प्रमाणोंद्वारा दूसरोंको भी मनवानेकी चेष्टा करना हमारी हिंदू-संस्कृतिके अनुकूल नहीं और न यथार्थ ही है। स्व० महामहोपाध्याय बापूदेवशास्त्रीने इसके विषयमें 'प्राचीन ज्यौतिषाचार्याशय' नामकी एक पुस्तिका लिखी है, जिसमें इस भूभ्रमणमतको अपने प्राचीन ज्यौतिष-सिद्धान्तोंके अनुकूल लिखा है और स्व० महा महोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदीने यद्यपि 'भूगोलचलाचलनिरूपण' नामकी पुस्तिकामें इस मतकी समीचीन आलोचना की है, तथापि पीछेसे उन्होंने भूभ्रमणमतका समर्थन ही किया है। और आर्यसमाजके संस्थापक स्वा० दयानन्द सरस्वती अपनी ऋग्वेदादिभूमिकामें तथा उनके ही पदानुगामी न जाने कितने विद्वान् अपने-अपने लेखोंमें 'वेदोंमें पृथ्वीकी गति' लिखते देखे गये हैं।

यदि हमारे भारतीय विद्वान् वैज्ञानिकोंके भूभ्रमणमतको सत्य मान लें और उनका विश्वास हो कि यह सत्य है तो अधिक आपत्तिकी बात नहीं। उनको स्पष्ट शब्दोंमें कह देना चाहिये कि भले ही हमारे संस्कृत-साहित्य—वेदों और ज्यौतिषसिद्धान्तोंमें सूर्यपरिभ्रमणका सिद्धान्त प्रतिपादित है; किंतु वह सत्य नहीं है; वह तो भ्रमसे जैसा लोगोंको प्रत्यक्षमें दिखलायी पड़ता है, वैसा ही वर्णन किया गया है। जब हम इस संसारको तात्त्विक दृष्टिसे मिथ्या मानते हुए भी अपने व्यवहारमें उसको सत्य मानकर ही सब कुछ करते हैं, तब भूभ्रमणको सत्य और सूर्यभ्रमणको तात्त्विक दृष्टिसे मिथ्या मानते

हुए भी हमारे पूर्वज संस्कृत-साहित्यमें यदि मानवदृष्टिके आधारपर सूर्यपरिभ्रमणको सत्य मानते हैं तो कोई आश्चर्यका विषय नहीं; क्योंकि ज्योतिर्गणनामें दोनों मतसे एक ही फल निष्पन्न होता है। ग्रहण, ऋतु-परिवर्तन, दिन-रात आदि सभी विषयोंके गणितमें दोनों मतोंसे एक ही उत्तर आता है। किंतु ऐसा न करके अपने वेदमन्त्रोंके अर्थोंमें खींचातानी करके और '**गौरादित्यः**' इस निरुक्त और इसके भाष्यको आँखसे ओझल करके '**गौरिति पृथिव्या नामधेयम्**' के अधूरे अर्थको अपनाकर 'वेदोंमें पृथ्वीकी गति' सिद्ध करनेकी चेष्टा करना और आर्यभट्टके '**अनुलोमगतिर्नौस्थः**' (गी०४) का विपरीत अर्थ करके और '**प्राणेनैतिकलां भम्**' के पाठको बदलकर '**प्राणेनैतिकलाभूः**' कर देनेमें '**भवांशेऽर्कः** (गी० १) को और गोलपादके—

उदयास्तमयनिमित्तं नित्यं प्रवहेण वायुनाऽऽक्षिप्तः।
लंकासमपश्चिमगोभपञ्जरः सग्रहो भ्रमति॥ १॥

इस श्लोकको भुलाकर आर्यभट्टके नामपर ज्योतिर्गणितके मतसे भूभ्रमण सिद्ध करनेकी चेष्टा करना सर्वथा अनुचित है। हमारे समस्त ज्यौतिषसिद्धान्तोंका निश्चित मत है सूर्य-परिभ्रमणका सिद्धान्त और वैदिक मन्त्रों और यास्कके निरुक्त और भाष्यका भी यही मत है। इस विषयमें विशेष देखना हो तो हमारी 'सुमतिप्रकाशिका' का प्रथम (ज्यौतिष) खण्ड देखें।

ज्योतिर्विज्ञानके मूलभूत कालगणनाकी ओर ध्यान देनेसे इसका महत्त्व प्रकाशमें आ जाता है। भगवद्गीता (८। १७), महाभारत-शान्तिपर्व (२३१। ३१), मनुस्मृति (१। ७३), निरुक्त (१४। ९) और शाकल्यसंहितान्तर्गत ब्रह्मसिद्धान्त (१। ४४-४५) में यही श्लोक आया है

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

अर्थात् एक सहस्र चतुर्युगपर्यन्त जो ब्रह्माजीका दिन और सहस्र युगोंतककी रात्रि होती है, इस गणनाको अहोरात्रविद् ज्योतिर्विद् ही जानते हैं। इसमें जो सहस्र युगोंकी बात कही गयी है, उसका विवरण भी मनुस्मृति (१। ३६। ७३) में दिया है और इस सहस्रयुगीय कल्पगणनाके आधारपर हमारे समस्त ज्योतिःसिद्धान्तोंकी ग्रहादि-गणना होती है और निरयणगणनाके मध्यग्रहादिका निर्णय होता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिःसिद्धान्तकी गणना मनुस्मृति, यास्कके निरुक्त और गीता-महाभारतके पूर्वसे प्रचलित है। सारांश यह है कि ज्योतिर्विज्ञानके आधारभूत हमारे ज्योतिःसिद्धान्तकी सूक्ष्म गणना, निर्विकल्परूपसे अति प्राचीन कालसे अथवा यों कहें कि वेदोंके समान ही अनादि कालसे प्रचलित है और इसीके आधारपर वैदिकोंके तिथि-पर्वादि-ज्ञानके लिये ज्योतिर्विदोंने स्थूलरूपसे चुटकुले बना दिये थे, जो इस समयमें याजुष और आर्चज्यौतिषके नामसे प्रसिद्ध वेदांग-ज्यौतिष कहे जाते हैं और पाश्चात्त्य विद्वानोंने तथा उनके अनुयायी भारतीय इतिहासलेखकोंने उन्हींको भारतके सबसे प्राचीन ज्योतिर्ग्रन्थ कहकर हमारे हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानरूपी सूर्यके ऊपर धूल झोंकनेकी-सी व्यर्थ चेष्टा की है।

यदि भगवत्कृपा हुई तो कल्याणके किसी साधारण अंकमें फलित ज्यौतिषके विषयमें हम अपना मत प्रकट करेंगे।

शुभ शकुन कौन-से हैं?

नकुल सुदरसन, दरसनी, छेमकरी, चक, चाष। दस दिसि देखत सगुन सुभ पूजहिं मन अभिलाष॥
सुधा, साधु, सुरतरु, सुमन, सुफल, सुहावनि बात। तुलसी सीतापति भगति सगुन सुमंगल सात॥

नेवला, मछली, दर्पण, क्षेमकरी चिड़िया, चकवा और नीलकण्ठ—इन्हें दसों दिशाओंमेंसे किसी ओर भी देखना शुभ शकुन है और ये मनकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि अमृत, साधु, कल्पवृक्ष, सुन्दर पुष्प, सुन्दर फल, सुहावनी बात, श्रीसीतानाथ भगवान्की भक्ति—ये सात सुन्दर सुमंगलकारी शकुन हैं।

हिंदू संवत्, वर्ष, मास और वार

(लेखक—ज्योतिर्विद् पं० श्रीदेवकीनन्दनजी खेडवाल)

किसी भी धार्मिक कृत्यके लिये हिंदू-धर्ममें पहले संकल्प करनेका विधान है। संकल्पमें कल्पसे लेकर संवत्, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्रादि सबका उच्चारण आवश्यक माना गया है। यह प्रथा सूचित करती है कि अनादिकालसे हिंदुओंको समयका अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान था। वे काल एवं ग्रह-नक्षत्रादिकी स्थितिसे पूर्ण परिचित रहते थे। इस कालज्ञानके लिये भारतीय ज्यौतिष-शास्त्रने बहुत विस्तृत विचार किया है। इन संवत्, मास, तिथि आदिके सम्बन्धमें शास्त्रोंकी छानबीन अत्यन्त लाभदायक है।

संवत्

काल-गणनामें कल्प, मन्वन्तर, युगादिके पश्चात् संवत्सरका नाम आता है। युगभेदसे सत्ययुगमें ब्रह्म-संवत्, त्रेतामें वामन-संवत्,परशुराम-संवत् (सहस्रार्जुन-वधसे) तथा श्रीराम-संवत् (रावण-विजयसे), द्वापरमें युधिष्ठिर-संवत् और कलिमें विक्रम, विजय, नागार्जुन और कल्किके संवत् प्रचलित हुए या होंगे। शास्त्रोंमें इस प्रकार भूत एवं वर्तमान कालके संवतोंका वर्णन तो है ही, भविष्यमें प्रचलित होनेवाले संवतोंका वर्णन भी है। इन संवतोंके अतिरिक्त अनेक राजाओं तथा सम्प्रदायाचार्योंके नामपर संवत् चलाये गये हैं। भारतीय संवतोंके अतिरिक्त विश्वमें और भी धर्मोंके संवत् हैं। तुलनाके लिये उनमेंसे प्रधान-प्रधानकी तालिका दी जा रही है।

भारतीय

नाम	वर्तमान वर्ष
१- कल्पाब्द	१,९७,२९,४९,०५०
२- सृष्टि-संवत्	१,१५,५८,८५,०५०
३- वामन-संवत्	१,९६,०८,८९,०५०
४- श्रीराम-संवत्	१,२५,६९,०५०
५- श्रीकृष्ण-संवत्	५,१७५
६- युधिष्ठिर-संवत्	५,०५०
७- बौद्ध-संवत्	२,५२४
८- महावीर (जैन) संवत्	२,४७६
९-श्रीशंकराचार्य-संवत्	२,२२९
१०- विक्रम-संवत्	२,००६
११- शालिवाहन-संवत्	१,८७१
१२- कलचुरी संवत्	१,७०१
१३- वलभी संवत्	१,६२९
१४- फसली संवत्	१,३६०
१५- बँगला संवत्	१,३५६
१६- हर्षाब्द संवत्	१,३४२

विदेशीय

नाम		वर्तमान वर्ष
१- चीनी	सन्	१,६०,०२,२४७
२- खताई	,,	८,८८,३८,३२०
३- पारसी	,,	१,८९,९१७
४- मिस्री	,,	२७,६०३
५- तुर्की	,,	७,५५६
६- आदम	,,	७,३०१
७- ईरानी	,,	५,९५४
८- यहूदी	,,	५,७१०
९- इब्राहीम	,,	४,३८९
१०- मूसा	,,	३,६५३
११- यूनानी	,,	३,५२२
१२- रोमन	,,	२,७००
१३- ब्रह्मा	,,	२,४९०
१४- मलयकेतु	,,	२,२६१
१५- पार्थियन	,,	२,१९६
१६- ईस्वी	,,	१,९४९
१७- जावा	,,	१,८७५
१८- हिजरी	,,	१,३१९

यह तुलना इस बातको तो स्पष्ट ही कर देती है कि भारतीय संवत् अत्यन्त प्राचीन हैं। साथ ही ये गणितकी दृष्टिसे अत्यन्त सुगम और सर्वथा ठीक हिसाब रखकर निश्चित किये गये हैं। नवीन संवत् चलानेकी शास्त्रीय विधि यह है कि नरेशको अपना संवत् चलाना हो, उसे संवत् चलानेके दिनसे पूर्व कम-से-कम अपने पूरे राज्यमें जितने भी लोग किसीके ऋणी हों, उनका ऋण अपनी ओरसे चुका देना चाहिये। कहना नहीं होगा कि भारतके बाहर इस नियमका कहीं पालन नहीं हुआ। भारतमें भी महापुरुषोंके संवत् उनके

अनुयायियोंने श्रद्धावश ही चलाये; लेकिन भारतका सर्वमान्य संवत् विक्रम-संवत् है और महाराज विक्रमादित्यने देशके सम्पूर्ण ऋणको, चाहे वह जिस व्यक्तिका रहा हो, स्वयं देकर इसे चलाया है। इस संवत्के महीनोंके नाम विदेशी संवतोंकी भाँति देवता, मनुष्य या संख्यावाचक कृत्रिम नाम नहीं हैं। ये नाम आकाशीय नक्षत्रोंके उदयास्तसे सम्बन्ध रखते हैं। यही बात तिथि तथा अंश (दिनांक) के सम्बन्धमें भी है। वे भी सूर्य-चन्द्रकी गतिपर आश्रित हैं। सारांश यह कि यह संवत् अपने अंग-उपांगोंके साथ पूर्णत: वैज्ञानिक सत्यपर स्थित है।

उज्जयिनी-सम्राट् महाराज विक्रमके इस वैज्ञानिक संवत्के साथ विश्वमें प्रचलित ईस्वी सन्पर भी ध्यान देना चाहिये। ईस्वी सन्का मूल रोमन-संवत् है। पहले यूनानमें ओलिम्पियद् संवत् था, जिसमें ३६० दिनका वर्ष माना जाता था। रोमनगरकी प्रतिष्ठाके दिनसे वही रोमन-संवत् कहलाने लगा। ईस्वी सन्की गणना ईसामसीह-के जन्मसे तीन वर्ष बादसे की जाती है। रोमन सम्राट् जूलियस सीजरने ३६० दिनके बदले ३६५$\frac{१}{४}$ दिनके वर्षको प्रचलित किया। छठी शताब्दीमें डायोनिसियसने इस सन्में फिर संशोधन किया; किंतु फिर भी प्रतिवर्ष २७ पल, ५५ विपलका अन्तर पड़ता ही रहा। सन् १७३९ में यह अन्तर बढ़ते-बढ़ते ११ दिनका हो गया; तब पोप ग्रेगरीने आज्ञा निकाली कि 'इस वर्ष २ सितम्बरके पश्चात् ३ सितम्बरको १४ सितम्बर कहा जाय और जो ईस्वी सन् ४ की संख्यासे विभाजित हो सके, उसका फरवरी मास २९ दिनका हो। वर्षका प्रारम्भ २५ मार्चके स्थानपर १ जनवरीसे माना जाय।' इस आज्ञाको इटली, डेनमार्क, हॉलैण्डने उसी वर्ष स्वीकार कर लिया। जर्मनी और स्विटजरलैण्डने सन् १७५१ में, इंग्लैण्डने सन् १८०९में, प्रशियाने सन् १८३५ में, आयर्लैंडने सन् १८३९ में और रूसने सन् १८५९में इसे स्वीकार किया। इतना संशोधन होनेपर भी इस ईस्वी सन्में सूर्यकी गतिके अनुसार प्रतिवर्ष एक पलका अन्तर पड़ता है। सामान्य दृष्टिसे यह बहुत थोड़ा अन्तर है, पर गणितके लिये यह एक बड़ी भूल है। ३६०० वर्षोंके बाद यही अन्तर एक दिनका हो जायगा और ३६,००० वर्षोंके बाद दस दिनका और इस प्रकार यह अन्तर चालू रहा तो किसी दिन जूनका महीना वर्तमान अक्टूबरके शीतल समयमें पड़ने लगेगा।

सुननेमें आया है कि विश्व-राष्ट्रसंघमें प्रतिवर्ष तारीख और वारको एक रखनेके लिये ग्रेगरी-कैलेंडरको बदलनेकी किसी एलिजाबेथ नामक महिलाने प्रार्थना की है। ऐसा हुआ तो गणितकी दृष्टिसे एक बड़ी भूल होगी। कम-से-कम भारतको तो इसका विरोध करना ही चाहिये। भारतका राष्ट्रिय संवत् तो केवल विक्रम-संवत् हो सकता है, जिसमें आजतक कोई अन्तर नहीं पड़ा और न आगे पड़नेकी सम्भावना है। अतएव हम एक विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिसे चाहते हैं कि भारतका राष्ट्रिय संवत् विक्रम-संवत् घोषित किया जाय। उज्जैनके समयसे दिनके समयका निर्धारण हो। घंटा, मिनट, सेकंडके स्थानपर होरा, विहोरा, प्रतिविहोरा रखे जायँ। 'बजे' के स्थानपर 'इष्टकाल' शब्दका प्रयोग हो। दिनका प्रारम्भ वर्तमान सात बजेको १ मानकर हो और १२ बजे दिन तथा १२ बजे रात्रिकी समाप्ति मानी जाय।

वर्ष

संवत्सरकी उत्पत्ति वर्ष-गणनाके लिये ही होती है। ऋतु, मास, तिथि आदि सब वर्षके ही अंग हैं। ब्राह्म, पित्र्य, दैव, प्राजापत्य, गौरव, सौर, सावन, चान्द्र, और नाक्षत्र—इन भेदोंसे नौ प्रकारकी वर्ष-गणना होती है। इनमें ब्राह्म, दैव, पित्र्य और प्राजापत्य—ये चार वर्ष कल्प तथा युग-सम्बन्धी लंबी गणनाके काममें प्रयुक्त होते हैं। शेष गौरव (बार्हस्पत्य) सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र वर्ष साधारण व्यवहारके लिये हैं। भारतको छोड़कर अन्य देशोंमेंसे प्राय: मुस्लिम देशोंमें चान्द्र वर्ष तथा दूसरोंमें सौर और सावन वर्षोंसे काल-गणना की जाती है। भारतमें पाँचों प्रकारकी लौकिक वर्षगणनाका सामञ्जस्य और वर्षमें क्षय-वृद्धि करके बनाये रखते हैं। इस प्रकार लौकिक वर्ष-गणना सौर वर्षसे होती है। इस सौर वर्षके दो भेद हैं—सायन और निरयण। इनमें निरयण वर्ष-गणना केवल भारतमें प्रचलित है। सभी देशोंमें सायनमान एक-सा माना जाता है; क्योंकि सायनमान दृश्य गणितपर निर्भर है। निरयण गणना केवल यन्त्रोंके द्वारा ही सम्भव है; अत: निरयण वर्षके मानमें मतभेद है। विभिन्न ज्यौतिषाचार्योंके मतानुसार विभिन्न वर्षोंके कालमानकी नीचे एक तालिका दी जा रही है। इससे वर्षोंका अन्तर समझमें आ सकेगा।

सिद्धान्त	कालमान				
	वर्ष (दिन)	घटी	पल	विपल	प्रतिविपल
१- सूर्य सिद्धान्त	३६५	१५	३१	३१	२४
२- वेदांग-ज्यौतिष	३६६	०	०	०	०
३- आर्यभट्ट	३६५	१५	३१	१५	०
४- ब्रह्मस्फुट-सिद्धान्त	३६५	१५	३०	२२	३०
५- पितामह-सिद्धान्त	३६५	२१	१५	०	०
६- ग्रहलाघव	३६५	१५	३१	३०	०
७- ज्योतिर्गणित (केतकर)	३६५	१५	२२	५७	०
८- लॉकियर (नाक्षत्र)	३६५	१५	२२	५२	३०
९- लॉकियर (मन्द्रकेन्द्र)	३६५	१५	३४	३४	०
१०-लॉकियर (सायन)	३६५	१४	३१	५६	०
११-टालमी (सायन)	३६५	१४	३७	०	०
१२-कोपरनिकस (सायन)	३६५	१४	३९	५५	०
१३-मेटन (नाक्षत्र)	३६५	१५	४७	२	१०
१४-बेबोलियन (नाक्षत्र)	३६५	१५	३३	७	४०
१५-शियोनिद	३६५	१४	३३	३२	४५
१६-थेषित	३६५	१५	२२	५७	३०
१७-आचार्य आप्टे (उज्जैन)	३६५	१५	२२	५८	०
१८-विष्णुगोपाल नवाथे	३६५	१४	३१	५३	२५
१९-आधुनिक यूरोपियन	३६५	१५	२२	५६	५२
२०-चान्द्र	३५४	२२	१	२३	०
२१-सावन	३६०	०	०	०	०
२२-बार्हस्पत्य	३६१	१	३६	११	०
२३-नाक्षत्र	३६१	३	५२	३०	०
२४-सौर (जो प्रचलित है)	३६५	१५	३१	३०	०

ऊपरके वर्षोंका यदि कल्पोंतककी गणनामें उपयोग किया जाय तो उनमेंसे सूर्यसिद्धान्तका मान ही भ्रमहीन एवं सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित होता है। सृष्टि-संवत्के प्रारम्भसे यदि आजतकका गणित किया जाय तो सूर्यसिद्धान्तके अनुसार एक दिनका भी अन्तर नहीं पड़ता। मैंने चैत्र शुक्ला प्रतिपदा संवत् २००२ (१३ अप्रैल सन् १९४५) को लेकर गणित किया। सूर्यसिद्धान्तके अनुसार उस दिन शुक्रवार आता है और यही दिन है भी; किंतु यदि प्रचलित आधुनिक योरोपियन गणनासे इतना लंबा गणित हो तो ४,५०,००० दिनोंका अन्तर पड़ेगा; क्योंकि सूर्यसिद्धान्तसे प्रतिवर्ष इस गणनामें साढ़े आठ पलसे भी अधिकका अन्तर है। सूर्यसिद्धान्तके प्राचीन मानसे आधुनिक मानका अन्तर ८पल ३४ विपलका होता है। प्राचीन अयनगति ६० पल और आधुनिक अयनगति ५० पल, २६ विपल होनेसे गतिका अन्तर ९ पल ३४ विपल होता है। इस प्रकार ९ पल ३४ विपल तथा ८ पल, ३४ विपलमें केवल एक पलका अन्तर होता है। इस प्रकार सूर्यसिद्धान्तके मानमें एक पल कम करके गणित करनेसे ५००० वर्षतकके दिनादि सब ठीक मिलते हैं। यही बात भारतीय सूर्यसिद्धान्तकी पूर्णता सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है। भारतीय वर्ष-गणनाके लिये यह अभ्रान्त सिद्धान्त ही प्रयुक्त होना चाहिये।

मास

वर्षगणनाके जैसे कई भेद हैं, वैसे ही मासगणनाके भी चार भेद हैं—(१) सौर, (२) सावन, (३) चान्द्र, (४) नाक्षत्र। इनमेंसे नाक्षत्र और सावन मास विशेषतः वैदिक कार्योंमें देखे जाते हैं। सौर एवं चान्द्र मासोंका व्यवहार लोकमें चलता है। इनमें सौरमास खगोल एवं

भूगोलसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। ये क्षय-वृद्धिसे रहित तथा गणना रखनेमें सुगम हैं। इनके नाम भी आकाशीय नक्षत्रोंके अनुसार हैं। आकाशमें २७ नक्षत्र हैं, इन नक्षत्रोंके १०८ पाद होते हैं। इनमें नौ पादोंकी आकृतिके अनुसार मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन—ये बारह सौर मास होते हैं। पृथ्वीपर भी इन मासों (राशियों) की रेखा स्थिर की गयी है, जिसे 'क्रान्ति' कहते हैं। ये क्रान्तियाँ विषुवत् रेखासे २४ उत्तरमें और २४ दक्षिणमें मानी जाती हैं। उत्तरायणमें विषुवत् रेखासे उत्तर १२ अंशतक मेष, २० अंशतक वृष, १४ अंशतक मिथुन, २४ उत्तर क्रान्ति कर्करेखा और फिर उलटे क्रमसे २० अंशतक कर्क, १२ अंशतक सिंह तथा विषुवत् रेखातक कन्याराशि होती है। इसी प्रकार दक्षिणायनमें विषुवत् रेखासे दक्षिण १२ अंशतक तुला, २० अंशतक वृश्चिक, २४ अंशतक धन और २४ अंशको मकररेखा कहते हैं। फिर उलटे क्रमसे २० अंशतक मकर, १२ अंशतक कुम्भ और विषुवत् रेखातक मीनराशि होती है। मासोंका यह स्थान सूर्यकी गतिके अनुसार है।

जैसे सौरमासका सम्बन्ध सूर्यसे है, वैसे ही चान्द्रमासका सम्बन्ध चन्द्रमासे है। उदाहरणके लिये अमावस्याके पश्चात् चन्द्रमा जब मेषराशि और अश्विनी नक्षत्रमें प्रकट होकर प्रतिदिन एक-एक कला बढ़ता हुआ १५वें दिन चित्रा नक्षत्रमें पूर्णताको प्राप्त करता है, तब वह मास 'चित्रा' नक्षत्रके कारण 'चैत्र' कहा जाता है। जिस पक्षमें चन्द्रमा क्रमशः बढ़ता हुआ शुक्लता—प्रकाशको प्राप्त करता है, वह शुक्लपक्ष और जिसमें घटता हुआ कृष्णता—अन्धकार बढ़ाता है, वह कृष्णपक्ष कहा जाता है। मासका नाम उस नक्षत्रके अनुसार होता है, जो महीनेभर सायंकालसे प्रातःकालतक दिखलायी पड़े और जिसमें चन्द्रमा पूर्णता प्राप्त करे। चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा, आषाढ़ा, श्रवण, भाद्रपदा, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा और फाल्गुनी नक्षत्रोंके अनुसार ही चान्द्रमासोंके नाम क्रमशः चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ और फाल्गुन होते हैं। चान्द्रवर्ष सौरवर्षसे ११ दिन, ३ घड़ी, ४५ पल कम होता है। सौरवर्षसे चान्द्रवर्षका सामंजस्य रखनेके लिये ३२ महीने, १६दिन, ४ घड़ीपर एक चान्द्रमासकी वृद्धि मानी जाती है। इसपर भी पूरा सामंजस्य न होनेका लगभग १४० या १९० वर्षके बाद एक चान्द्रमासका क्षय माना जाता है; किंतु जिस वर्षमें क्षय-मास होता है, उस वर्षमें क्षय-माससे तीन मास पूर्वके और तीन मास पश्चात्के दोनों चान्द्रमासोंकी वृद्धि होती है। इस प्रकार उस वर्ष दो अधिक मास भी होते हैं। क्षय-मास कार्तिक, मार्गशीर्ष और पौष—इन तीन मासोंमेंसे ही कोई होता है; क्योंकि इन्हीं महीनोंमें सौरमास चान्द्रमाससे न्यून हो सकता है। कार्तिकमास मध्यका है, अतः इसकी वृद्धि या क्षय दोनों सम्भव हैं। माघमास स्थिर मास है। यह न क्षय होता है, न बढ़ता ही है। जब दो अमावस्याओंके बीचमें सूर्यकी संक्रान्ति न पड़ती हो तब वह चान्द्रमास बढ़ जायगा और जब दो अमावस्याओंके बीचमें सूर्यकी दो संक्रान्तियाँ पड़ जायँ तो वह चान्द्रमास क्षय माना जायगा; क्योंकि समस्त पुण्यकर्म तिथियोंके अनुसार होते हैं, अतएव धार्मिक कृत्योंमें तो चान्द्रमास ही उपयोगमें आ सकता है। राजनैतिक कार्योंमें सौरमासका उपयोग होना चाहिये; क्योंकि उसमें तिथियोंके घटने-बढ़नेकी बात न होनेसे हिसाब ही ठीक रखा जा सकता है।

वार (दिन)

हिंदुओंके सात वार और उनके प्रायः वही नाम समस्त विश्वमें प्रचलित हैं। रविवारको अपनी-अपनी भाषामें सब कहेंगे सूर्यवार ही। यदि पूछा जाय कि इस दिनको ही रविवार क्यों कहा जाता है और उसके पश्चात् सोमवार (चन्द्रमाका दिन)—इस क्रमसे ही क्यों दिन आते हैं? कैसे अनादिकालसे सब देशोंमें उसी दिनको रविवार कहा जाता है? क्यों कोई उसे चन्द्रका दिन नहीं कहता? तो विश्वके किसी दूसरे देशका ज्योतिषी केवल यह कहेगा कि 'दिनोंके नाम और उनके क्रमका प्रचार भारतसे ही विश्वमें हुआ, चाहे जब हुआ हो। अतः सब कहीं ये नाम और क्रम एकसे हैं।' अनुकरणके अतिरिक्त कोई वैज्ञानिक कारण किसी दूसरेके पास नहीं है। कालमाधव, ब्रह्मपुराण, सिद्धान्त-शिरोमणि, ज्योतिर्विदाभरणादि भारतीय शास्त्रीय ग्रन्थ इसका स्पष्ट कारण बतलाते हैं कि चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको जब सब ग्रह मेषराशिके आदिमें थे, उस समय इस कल्पका प्रारम्भ हुआ। काल-गणना सृष्टिके आदिसे ही चली। उसी दिन सर्वप्रथम सूर्योदय हुआ।

एक सूर्योदयसे दूसरे सूर्योदयतकका काल अहोरात्र कहा जाता है। इसका प्रथम भाग दिन और द्वितीय भाग रात्रि कहलाती है। कालकी सूक्ष्म गणनाके लिये दिन और रात्रिमेंसे प्रत्येक छः-छः भाग माने गये हैं, जिन्हें लग्न कहते हैं। इस प्रकार १२ लग्नोंका एक अहोरात्र हुआ। लग्नके आधे भागको 'होरा' कहा जाता है। 'अहोरात्र' शब्दके मध्यके दोनों अक्षरोंसे ही यह शब्द बना है। इसीको पाश्चात्त्य-प्रणालीमें घंटा कहते हैं। 'घंटा' जैसे निरर्थक शब्दकी अपेक्षा 'होरा' सार्थक एवं प्राचीन शब्द है। अपने तेजोमय रूपके कारण सृष्टिके प्रथम 'होरा' का स्वामी सूर्य माना गया। इसके पश्चात् अपनी कक्षाके अनुसार ग्रह 'होरा' अधिपति माने गये हैं। ग्रह कक्षाके सम्बन्धमें ज्यौतिष-शास्त्रका कहना है—'ब्रह्माण्डके मध्यमें आकाश है। उसमें सबसे ऊपर नक्षत्र-कक्षा है। फिर क्रमसे शनि, बृहस्पति, मंगल, सूर्य, शुक्र, बुध और चन्द्रमा हैं। उनसे नीचे सिद्ध, विद्याधर और मेघ हैं। ऊपरके ग्रहोंकी कक्षा नीचेके ग्रहोंकी अपेक्षा क्रमशः बड़ी है। जब प्रथम 'होरा' के स्वामी सूर्य हुए, तब क्रमशः शुक्र, बुध, चन्द्रमा, शनि, बृहस्पति, मंगल—ये छः ग्रह अगली छः होराओंके स्वामी हुए। आठवीं 'होरा' के स्वामी फिर क्रमानुपूर्वक सूर्य हुए। इस प्रकार क्रमशः ये ग्रह एक-एक 'होरा' के स्वामी होते गये हैं। इस क्रमसे चौबीसवीं होराका स्वामी बुध होता है और यहीं प्रथम अहोरात्र समाप्त हो जाता है। पचीसवीं होराका स्वामी क्रमके अनुसार चन्द्रमा है। यह पचीसवीं होरा दूसरे अहोरात्रके दिनकी प्रथम होरा है; अतः प्रथम होराके अधिष्ठाता चन्द्रमा होनेसे इस अहोरात्रका नाम चन्द्रमाका दिन—सोमवार पड़ा। इसी क्रमसे अहोरात्रकी प्रथम 'होरा' के अधिष्ठाता ग्रहके नामपर अहोरात्रके नाम पड़ते गये और फलतः सप्ताहके दिनोंके नाम वर्तमान क्रमसे हुए। यही क्रम सृष्टिके प्रारम्भसे अबतक चला आ रहा है। जिस दिनके प्रथम होराका जो अधिष्ठाता ग्रह है, उस दिनका वही नाम है। होराको 'क्षणवार' भी कहते हैं। जो कर्म जिस दिन करनेका विधान है, उस कर्मको किसी भी दिनके उस 'क्षणवार' में भी किया जा सकता है। जैसे यदि सोमवारको रविवारका कोई कर्म करना है तो सोमवारमें जिस होराके अधिष्ठाता सूर्य हैं, उस होरामें उस कर्मको किया जा सकता है। दिन-रात्रिमें किसी भी समय कौन-सी होरा, कौन-सा क्षणवार है, यह जाननेका नियम ज्यौतिषशास्त्रने इस प्रकार बताया है—मेष, वृश्चिक, कुम्भ, मीनकी संक्रान्तिमें सायंकालसे: वृष, धन, कर्क, तुलाकी संक्रान्तिमें अर्धरात्रिसे; और मिथुन, मकर, सिंह, कन्याकी संक्रान्तिमें प्रातःकालसे वार-प्रवेश मानकर उस दिनकी गणना करके 'क्षणवार' निकालना चाहिये।

उपर्युक्त नियममें संक्रान्तिके हिसाबमें वार-प्रवेश (दिनके आरम्भ) का समय बदलता रहता है। मुसलमान लोग दिनका प्रारम्भ सायंकालसे मानते हैं; किंतु हिंदू-शास्त्रोंमें उपर्युक्त नियमको छोड़कर और कहीं सायंकालसे वार-प्रवेश (दिनारम्भ) का वर्णन नहीं है। इसी प्रकार-व्याकरणशास्त्रमें अद्यतन कालका प्रयोग मध्यरात्रिसे दूसरी मध्यरात्रितकके लिये होता है। ज्यौतिषशास्त्रके ग्रन्थ 'सिद्धान्त-शिरोमणि' तथा 'केशवार्क' के अनुसार देवताओंका अहोरात्र भी मध्यरात्रिसे बदलता है; क्योंकि उत्तरायण देवताओंका दिन और दक्षिणायन देवताओंकी रात्रि है। मेषसंक्रान्तिके समय देवताओंका वार-प्रवेश (दिनारम्भ) माना जाता है। इसी प्रकार पितृ-अहोरात्र भी मध्यरात्रिसे बदलता है। 'पूर्णिमाको पितरोंकी अर्धरात्रि अमावस्याको मध्याह्न, कृष्णपक्षकी अष्टमीको प्रातःकाल और शुक्लपक्षकी अष्टमीको सायंकाल होता है।' यह 'सिद्धान्त शिरोमणि' का मत है। सूर्योदयसे पूर्व सन्ध्यादि कर्मोंके लिये सूर्योदयके समय आनेवाली तिथि संकल्पमें बोलनेका विधान है। ऐसे कर्मोंमें वार-प्रवेश अर्धरात्रिसे माना जाता है। निम्बार्क-सम्प्रदायमें एकादशी यदि दशमीकी अर्धरात्रिके समय न आकर कुछ बादमें आये तो वह दशमीविद्धा मानी जाती है। यहाँ भी मध्यरात्रिसे ही वार-प्रवेश माना गया है। दूसरे वैष्णव-सम्प्रदाय एकादशी व्रतके सम्बन्धमें ब्राह्ममुहूर्तसे वार-प्रवेश मानते हैं।

सूर्योदयसे वार-प्रवेश (दिनारम्भ)

सायंकाल, मध्यरात्रि एवं ब्राह्ममुहूर्तसे वार-प्रवेश केवल विशेष कार्योंके सम्बन्धमें विशेष अवसरोंपर ही माननेकी प्रथा और शास्त्रीय विधान प्राप्त होते हैं। जन्मपत्रादि सभी कार्योंमें सूर्योदयसे ही वार-प्रवेश माना जाता है। जन्मपत्रमें तो सूर्योदयमें १ पलका भी विलम्ब रहा हो तो पूर्व दिनकी तिथि वार ही लिये जाते हैं। समस्त भारतीय पंचांगोंमें सूर्योदयसे ही तिथि, वार, नक्षत्र, योग आदिका काल अंकित होता है। इष्टकाल भी सूर्योदयसे ही बनता है। इष्टकालसे ही लग्न, मुहूर्तादि सब निर्णीत होते हैं। स्मार्त मतसे सूर्योदयके पश्चात् १ पल भी दशमी हो तो एकादशी दशमी-विद्धा

महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण

महामहोपाध्याय पं० श्रीपञ्चानन तर्करत्न

विद्यावाचस्पति पं० श्रीमधुसूदन झा
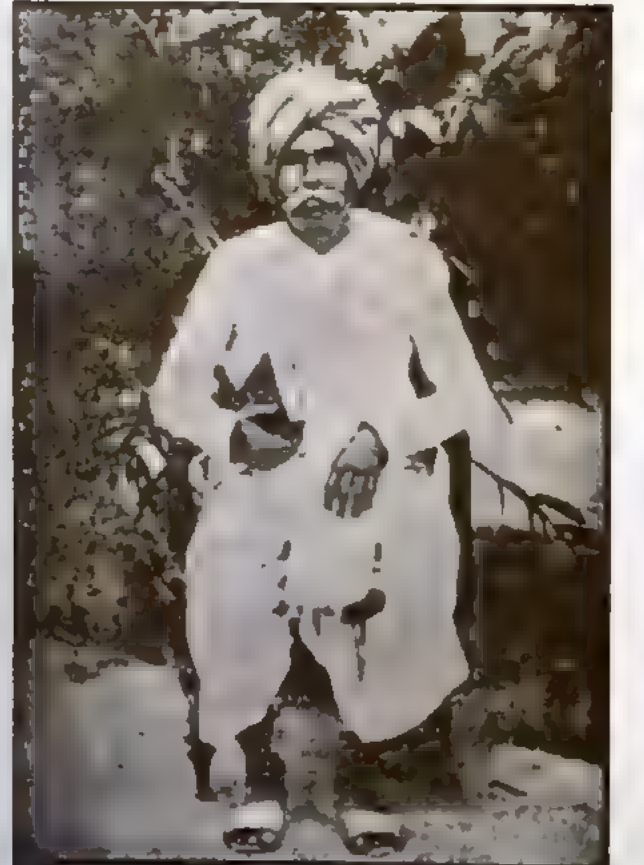
विद्यामार्तण्ड पं० श्रीसीताराम शास्त्री
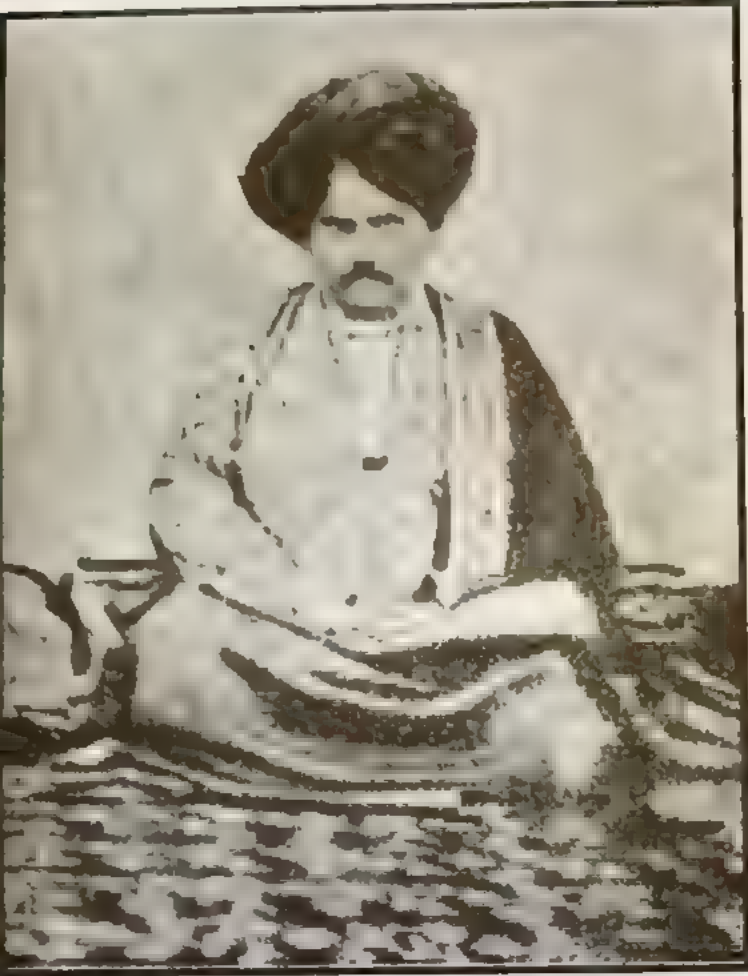
महामहोपाध्याय पं० श्रीशिवकुमार शास्त्री

महामहोपाध्याय पं० श्रीगंगाधर शास्त्री तैलङ्ग

महामहोपाध्याय पं० श्रीलक्ष्मण शास्त्री द्राविड़

महामहोपाध्याय गो० श्रीदामोदरशास्त्री

मानी जाती है। यह नियम भी सूर्योदयसे वार-प्रवेश मानकर ही स्थिर हुआ है। कालमाधव, ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त, ज्योतिर्विदाभरण प्रभृति शास्त्रीय ग्रन्थोंमें स्पष्ट कहा गया है कि 'विश्वकी उत्पत्ति सूर्योदयके समय होती है। अतः वार-प्रवेश भी सूर्योदयसे ही होता है।' सिद्धान्त-शिरोमणि, पुलस्तिसिद्धान्त तथा वसिष्ठ-संहिताका असंदिग्ध मत है कि 'सूर्यके दर्शनका नाम दिन और अदर्शनका नाम रात्रि है; अतः दिनका आरम्भ सूर्योदयसे ही होता है।' इन प्रमाणोंसे सिद्ध है कि सूर्योदयसे पूर्व तथा अर्धरात्रिके पश्चात् होनेवाले सन्ध्यादि धार्मिक कृत्योंमें तो अर्धरात्रिसे वार-प्रवेश माना जाता है, बाकी समस्त कर्मोंमें सूर्योदयसे वार-प्रवेशका विधान है।

सूर्योदय अक्षांश और क्रान्तिभेदसे भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न समयमें होता है और वर्षमें दिन तथा रात्रिके मानमें क्षय-वृद्धि भी होते रहते हैं; परंतु अहोरात्र ६० घटियोंका ही रहता है। अतएव दिन-रात्रिके क्षय-वृद्धिकी कठिनाईसे बचनेके लिये गणनामें 'वार-प्रवृत्ति' से काम लिया जाता है। जब पूर्ण अर्थात् शून्य क्रान्तिके दिन सायनमानसे सूर्य विषुवत् रेखा अर्थात् मेष और तुला राशियोंपर आता है, उस दिन विश्वमें सब कहीं दिन और रात्रि बराबर होते हैं। अतएव इस दिनके सूर्योदयके समयको स्थिर मानकर उसी समयको 'वार प्रवृत्ति' नाम दिया गया है। ज्यौतिषशास्त्रमें इसका अच्छा स्पष्टीकरण है—उसका सारांश यह है कि अपने नगर या ग्रामके सूर्योदय-समयसे ६होरापर (६ बजे) 'वार-प्रवृत्ति' होती है। दुघड़िया मुहूर्त, कालहोरा, नक्षत्रहोरा, क्षण-वार आदिमें यही ६ होरापर वारप्रवृत्ति मानी जाती है। इसके अनुसार भारतमें वार-प्रवृत्तिका समय भारतीय विषुवत् रेखा, जो उज्जैनसे जाती है, उसके अनुसार निश्चित होना चाहिये—ब्रिटेनके ग्रीनविच नगरकी कल्पित विषुवत् रेखासे नहीं। भारतका स्थिर समय (स्टैंडर्ड टाइम) उज्जैनके समयसे निश्चित होना चाहिये, वर्तमान समयकी भाँति ग्रीनविचसे नहीं। अन्तर्राष्ट्रिय स्थिर समयसे सम्बन्ध रखनेके लिये भारतीय स्थिर समय और ग्रीनविचके समय जो ५ घंटे, ३० मिनटका अन्तर है, उसे पूरे ६ घंटेंका अन्तर कर देना चाहिये। अर्थात् यह अन्तर ३० मिनट और बढ़ा दिया जाय। फल यह होगा कि भारतकी घड़ियोंके अनुसार आज जिसे प्रातःकाल के ६ बजे कहा जाता है, उसे रात्रिके १२ बजे कहा जाय और शामके वर्तमान ६ बजेको दिनके बारह बजे। आजके सात बजे प्रातःको दिनका एक बजा कहा जाय; क्योंकि उसी समयसे दिन आरम्भ होता है। १२ बजनेपर दिन समाप्त हो जायगा, उसके १२ घंटे पूरे हो जायँगे और रात्रिके वर्तमान ७ बजेको रात्रिका एक बजा कहा जायगा; क्योंकि वह रात्रिका प्रथम घंटा है। अपने बारह घंटे समाप्त करके १२ बजे रात्रि समाप्त हो जायगी। हमारे कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे ब्रिटेनके ग्रीनविच नगरमें वार-प्रवृत्ति एक बजेसे होती है, वैसे ही भारतमें भी होनी चाहिये। भारतको ब्रिटेनका अनुगत न होकर इस सम्बन्धमें भी स्वाधीन होना चाहिये। लड़ाईके समय स्थिर समय (स्टैंडर्ड टाइम) एक घंटा बढ़ा देनेसे जैसे कोई गड़बड़ी नहीं हुई थी, उसी प्रकार वर्तमान समयकी मान्यता बदलनेमें भी कोई गड़बड़ी न होगी। थोड़ेमें हमारे वारके सम्बन्धमें निम्न सुझाव हैं—

१-वार-प्रवेश प्राचीन विषुवत् रेखा (देशान्तर) से माना जाय, आजके देशान्तरसे नहीं।

२-काशीके सूर्योदयके समयके ६ बजेसे वार-प्रवेश माना जाय; क्योंकि काशी मध्य अंशपर है।

३-वर्तमान स्थिर समय (स्टैंडर्ड टाइम) को आधा घंटा और बढ़ाकर उसी समयसे वार-प्रवेश माना जाय। वार-प्रवेशका सम्बन्ध ग्रीनविचसे हटाकर उसका भारतीयकरण किया जाय।

जितेन्द्रियके लिये घर-वन एक-सा है

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः। जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम्॥

(श्रीमद्भा० ५। १। १७)

जो प्रमादग्रस्त है उसे वनमें रहनेपर भी पतनका भय रहता है; क्योंकि काम, क्रोध आदि छः शत्रु सदा उसके साथ निवास करते हैं, परंतु जो जितेन्द्रिय है और अपने आत्मामें ही रमण करनेवाला है, उस विद्वान् पुरुषका गृहस्थाश्रम भी क्या अनिष्ट कर सकता है?

हिंदू-संस्कृतिमें सामुद्रिक-शास्त्र

(लेखक—पं० श्रीबन्नालाल रेवतीरमणजी जोशी)

जिस प्रकार हिंदू-संस्कृतिमें अन्यान्य विद्याओंपर पूर्ण प्रकाश डाला गया है, उसी प्रकार सामुद्रिक-शास्त्रपर भी पूर्ण विचार हुआ है। सामुद्रिक-शास्त्रका विषय बहुत गहन और कठिन है। यह भारतकी प्राचीन विद्या है और पाश्चात्त्योंने इसे यहींसे लिया है। अनेक कारणोंसे इस समय यह इस देशमें लुप्तप्राय है और इस विषयका उपयोगी साहित्य भी प्रायः दुष्प्राप्य हो गया है। यदि इस शास्त्रका कोई पूर्ण ज्ञाता हो तो इससे सब बातें ठीक मिलती हैं। जन्मलग्नसे बताये जानेवाले फलादेशमें भूल हो सकती है; क्योंकि समयके जरासे अन्तरमें ग्रहदशा बदल जाती है। परंतु हाथकी रेखाके फलादेशमें किसी प्रकार भी अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि रेखा तो हाथके साथ ही आती है। इस शास्त्रमें तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, मेषादि राशियों और लग्न इत्यादि हाथकी रेखाओंसे ही बता दिये जाते हैं। प्रभातकालमें हाथका दर्शन करना पुण्यदायक, मंगलप्रद और समस्त तीर्थसेवनके सदृश माना गया है। इसीसे हमारे यहाँ प्रातःकाल उठते ही हाथोंको देखनेकी प्रथा है। सामुद्रिकशास्त्रके प्रणेताओंने बतलाया है कि मातृरेखा, पितृरेखा और आयुरेखा—ये तीनों क्रमसे गंगा, सरस्वती और यमुना हैं। तीनोंका दर्शन त्रिवेणीसंगमके दर्शनके समान पुण्यदायक है।

पितृरेखा भवेद् गंगा मातृरेखा सरस्वती।
आयूरेखात्र यमुना तत्संगस्तीर्थमक्षयम्॥
तलं सिंहासनं साक्षात् तत्रस्थस्त्रिजगद्गुरुः।
आदिदेवोऽङ्गुलैः सेव्यो जयादिदेवताजनैः॥

हिंदू-शास्त्रोंके प्रणेताओंने कैसे-कैसे श्रेष्ठ शास्त्र रचे हैं, जिनसे केवल हिंदुओंका ही कल्याण नहीं होता, अपितु मनुष्यमात्रका ही मंगल होता है। सामुद्रिक-शास्त्रमें केवल रेखाओं—अंगोंको देखकर भूत, भविष्यत्, वर्तमानके सभी शुभाशुभ फल जाने जा सकते हैं। मैं यहाँ इस शास्त्रके अन्य विषयोंको छोड़कर केवल रेखाविमर्शनाधिकारकी कुछ बातें संक्षेपमें निवेदन करता हूँ—

रत्नाकराद् गोत्ररेखा करभाद् धनतेजसोः।
एता रेखा यान्ति तिस्रस्तर्जन्यङ्गुष्ठकान्तरे॥
रेखास्तिस्रोऽप्यमूर्येषां सम्पूर्णदोषवर्जिताः।
गोत्रे धने जीविते च तेषां वृद्धिर्न संशयः॥
हस्तरेखात्रयं चैतद् विश्वत्रयमुदाहृतम्।
पितृरेखोर्ध्वलोकं स्यान्मातृरेखा च मानवी॥
पातालमायूरेखा स्यादेता दक्षिणहस्तगाः।
धातुमूलं तथा जीवं वामे चैता विपर्ययात्॥

अर्थात् मणिबन्धसे अंगुष्ठ और तर्जनीके बीचमें जो रेखा गयी हो, उसको गोत्र या पितृरेखा कहते हैं। करभसे उत्पन्न होकर इन्हीं अंगुष्ठ-तर्जनीके बीचमें जानेवाली रेखाको मातृरेखा या धनरेखा कहते हैं। और तीसरी आयुरेखाको जीवित वा तेजरेखा कहते हैं। ये तीनों रेखाएँ किसीके हाथमें सम्पूर्ण और निर्दोष हों तो वे गोत्र, धन एवं आयुकी वृद्धि बतलाती हैं। पितृरेखाको ऊर्ध्वलोक, मातृरेखाको मृत्युलोक और आयुरेखाको पाताललोक कहते हैं, इन्हीं तीनों रेखाओंको धातु, मूल, जीव भी कहते हैं। पितृरेखाके स्वामी ब्रह्मा, मातृरेखाके स्वामी विष्णु और आयुरेखाके स्वामी शिव होते हैं। इन्द्र, यम, वरुण और धनकुबेर (वैश्रवण)—ये हथेलीके चारों दिशाओंके क्रमसे स्वामी हैं।

पितृरेखा बाल्यावस्थाकी द्योतक है, मातृरेखा तरुणावस्थाकी और आयुरेखा वृद्धावस्थाकी द्योतक है। पितृरेखासे वायुप्रकृति, मातृरेखासे पित्तप्रकृति, आयुरेखासे कफप्रकृति जानी जाती है। पितृ, मातृ और आयुरेखा क्रमसे चर, स्थिर और द्विस्वभावसंज्ञक है। क्रमसे पुरुष, स्त्री, नपुंसक तथा नभचर, थलचर, जलचर और इसी प्रकार सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी भी हैं। इन तीनों रेखाओंमेंसे जिसके हाथमें जिस रेखाकी प्रधानता हो, उसीका फल कहना चाहिये। बायें और दाहिने हाथसे आवागमनका भी ज्ञान होता है। जैसे—किसीके बायें हाथमें पितृरेखा स्पष्ट हो, वह पितृलोकसे आया है एवं दाहिने हाथमें हो तो वह मरनेके पश्चात् पितृलोकमें जायगा।

इस प्रकार रेखाओंपरसे समस्त ज्ञेय, चराचर भूत और भूत, भविष्य, वर्तमानका प्रकाश होता है। जीवनके प्रायः सभी शुभाशुभ हाथकी रेखाओंसे स्पष्ट ज्ञात हो जाते हैं। विस्तारभयसे प्रत्येक रेखाके फलोंको पृथक्-पृथक् न लिखकर साधारणतया यहाँ केवल उन बत्तीस

लक्षणोंके नाम ही लिख देता हूँ, जो सर्वथा शुभसूचक हैं। छाता, कमल, धनुष, रथ, वज्र, कछुआ, अंकुश, बावली, स्वस्तिक, तोरण, बाण, सिंह, वृक्ष, चक्र, शंख, हाथी, समुद्र, कलश, मन्दिर, मछली, यव, जुवा, स्तूप, कमण्डलु, पर्वत, चमर, दर्पण, वृष, पताका, लक्ष्मी पुष्पमाला, मोर—ये लक्षण जिनके हाथमें हों, वे मनुष्य पुण्यवान्, भाग्यवान् और धनवान् होते हैं।

सामुद्रिक शास्त्र हिंदू-जातिका एक गौरवास्पद एवं परिशीलन और मनन करनेयोग्य शास्त्र है। वाल्मीकि-रामायण, सुन्दरकाण्डके ३५ वें सर्गमें जब महावीर हनुमान्‌जीने माता सीताजीके दर्शन किये, तब उन्होंने कहा, 'माता! मुझे आप भगवान् श्रीरामचन्द्रका दूत समझें। मैं उन्हींकी आज्ञासे आपका समाचार लेने आया हूँ।' तब माता जनकनन्दिनीने आज्ञा की कि 'यदि तुम भगवान्‌के दूत हो तो उनके सारे लक्षणोंका वर्णन करो।' इसपर महावीर श्रीहनुमान्‌ने भगवान्‌के समस्त सामुद्रिक लक्षणोंका वर्णन किया।

महाराज वीर विक्रमादित्यमें भी ये सब लक्षण थे, जिनसे वे 'परदु:ख-भंजनहार' कहलाते थे। प्राचीन समयमें सामुद्रिक-विज्ञान बड़ी उन्नत-दशामें था और अधिकांश लोग इसके अच्छे जानकार थे। परंतु समयके प्रभावसे अब लुप्त-सा हो गया है।

फलित ज्यौतिषके प्रत्यक्ष अनुभव

(लेखक—पं० श्रीदेवीदत्तजी शर्मा ज्यौतिषाचार्य)

ज्यौतिषशास्त्रके अठारह सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं। करणग्रन्थ तथा अनेक फलितग्रन्थ हैं; परंतु फलविचारमें मतभेद भी है। अतः फल ठीक न मिलनेसे लोगोंकी श्रद्धामें न्यूनता आना स्वाभाविक है।

शास्त्रादेशके साथ-साथ अनुभवके आधारपर फल बतलानेवाला ज्योतिर्विद् अपना मान तो बढ़ायेगा ही, साथ ही इससे ज्यौतिषशास्त्रका गौरव भी उन्नत होगा। कई वर्षोंके अनुभवसे मुझे जन्म और वर्ष-सम्बन्धी जो चमत्कारिक अनुभव प्राप्त हुए हैं, उनमेंसे कुछ यहाँ लिख रहा हूँ। आशा है, ज्योतिर्विज्ञानवेत्ता तथा ज्यौतिषशास्त्रमें रुचि रखनेवाली जनता इससे प्रसन्न होगी; क्योंकि प्रत्येक विद्याके गुप्त रखनेके कारण ही विद्याका ह्रास और लोप हुआ। इसके अनेक उदाहरण हैं।

१-फलितग्रन्थोंमें बृहत्पाराशरीके राजयोग शत-प्रतिशत ठीक मिलते हैं।

२-जन्ममें छठे घरका चन्द्रमा प्रमेह (बीस प्रकारमेंसे कोई भी) रखता है।

३-सप्तम मंगल अर्श (खूनी बवासीर) का सूचक है।

४-सूर्य-शुक्रका रिपुभावमें योग मूत्रकृच्छ्र करता है।

५-शुक्र, मंगलका अष्टम घरमें योग उपदंश करता है।

६-लग्नके सूर्य प्रायः अर्द्धशिरकी पीड़ा देते हैं।

७-सप्तम केतु पथरी, दर्द एवं गुदा आदिमें शूलकारक है।

८-जन्मलग्नेश शुभयुक्त, दृष्टकेन्द्र वा त्रिकोणमें मित्रक्षेत्री प्रायः आजीवन सुखी, मानयुक्त तथा प्रतापी बनाता है।

९-पंचमेश, दशमेशका सम्बन्ध प्रबल राजयोग करता है।

१०-पत्नीका सप्तम सूर्य हो तो वह पतिद्वारा अनादर पाती है।

११-वर्षमें सप्तमेशका लग्नमें पड़कर गुरुदृष्ट होना विशेष उन्नतिका सूचक है।

कौन-सी तिथियाँ कब हानिकारक होती हैं

रबि हर दिसि गुन रस नयन मुनि प्रथमादिक बार। तिथि सब काज नसावनी होइ कुजोग बिचार॥

(दोहावली)

द्वादशी, एकादशी, दशमी, तृतीया, षष्ठी, द्वितीया और सप्तमी—ये सातों तिथियाँ यदि क्रमसे रवि, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनिवारको पड़ें तो ये सब कामोंको बिगाड़नेवाली होती हैं तथा यह कुयोग समझा जाता है।

हमारी संस्कृति और नक्षत्र-विज्ञान

जगत् और जीवन जितना आश्चर्यजनक है, यह ऊपर छतकी तरह ढकनेवाला आकाश उससे कम आश्चर्यप्रद नहीं। आकाश अपना प्रभाव जगत् और जीवनपर डालता है। जब वह सूर्यरूपी नेत्रसे देखता है, तब यहाँ प्रकाश हो जाता है, सुप्त जगत् जाग्रत् हो जाता है, और जीवनमें गति और विकास होने लगता है। दुनिया कुछ-की-कुछ होने लगती है। और वह जब इस नेत्रको मूँदकर सोमरूपी अपने दूसरे नयनको खोलता है, तब चन्द्रिकाकी सुधा-धारासे जगत् और जीवन परिप्लावित हो उठते हैं, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ अमृत-स्नान करके परितृप्त हो जाती हैं और बल संचय करती हैं। प्राणियोंको निद्रा अपनी योगमायाके वशीभूत करने लगती है। जब वह उस नेत्रको भी बंद कर लेता है, तब उस आकाशरूपी महाकालका तीसरा नेत्र असंख्य रूपोंमें बिखरा हुआ सुनसानमें जगत् और उसके प्राणियोंके कर्मोंका लेखा देखने लगता है। कैसा अद्‌भुत है यह आकाश! आकाशके बीच होनेवाली अनन्त-अनन्त कोटि-कोटि लीलाओंका वर्णन कौन कर सकता है।

इस आकाशको ऋषियोंने तीन भागोंमें विभाजित किया था—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक। प्रत्यक्षदर्शी होनेके कारण ऋषियोंके लिये कुछ परोक्ष न था। शुनः-शेप ऋषि द्युलोकको देखकर कहते हैं—

अमी य ऋक्षा[1] निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुहचिद् दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति॥

(ऋक्सं० १। २। १४। ५)

'ये ऊँचे आकाशमें स्थित नक्षत्रगण रात्रिको दिखलायी देते हैं। तथा दिनमें कहीं और चले जाते हैं। आदित्यके कर्म आश्चर्ययुक्त हैं; वह जिधर होकर जाता है, उधर ये नक्षत्र निष्प्रभ हो दिखलायी नहीं देते और दूसरी ओर चमकने लगते हैं। उसीकी किरणोंसे चन्द्रमा प्रकाशमान होकर रातको उगता है।

वरुण अर्थात् आदित्यको देखकर वही शुनःशेप ऋषि अगले सूक्तमें कहते हैं—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः॥
वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः।
वेदा य उपजायते॥

'जो आदित्य अन्तरिक्षमें उड़ती हुई चिड़ियोंकी गति देखता है तथा जो समुद्रके मध्यमें जानेवाली नौकाओंको देखता है, अर्थात् पृथिवी और अन्तरिक्षमें होनेवाली सारी घटनाओंको देखता है; जो धृतव्रतः अर्थात् नियमपूर्वक होनेवाले और अपनी नयी छटा दिखानेवाले बारह महीनोंको देखता है और उनके साथ उत्पन्न होनेवाले मलमासको भी देखता है।'

प्रस्कण्व ऋषि ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके ५०वें सूक्तमें कहते हैं—

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः।
सूराय विश्वचक्षसे॥

'सारे संसारको प्रकाश देनेवाले सूर्यका आगमन होनेपर चोरोंके समान सारे नक्षत्र रात्रिके साथ चले जाते हैं।'

आगे अंगिराके पुत्र कुत्स ऋषि ११५वे सूक्तमें कहते हैं—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

'यह पूजनीय रश्मियोंका आश्चर्यजनक समूह मित्र, वरुण और अग्निको प्रकाश प्रदान करनेवाला आदित्य पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकको अपनी रश्मियोंसे व्याप्त कर रहा है। यह समस्त स्थावर और जंगम जगत्का प्राण है।'

ऋग्वेदकी एक दूसरी ऋचा कहती है—

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्त चक्रे षळरे आहुरर्पितम्॥

(ऋक्सं० २। ३। १६। २)

द्युलोकके परे अर्ध स्थानमें स्थित आदित्यने पाँच[2]

---

१. यास्कने 'ऋक्षाः' का अर्थ 'नक्षत्राणि' किया है; परंतु 'ऋक्ष' शब्दका भालू अर्थ भी होता है। सायणने इसी दृष्टिसे 'ऋक्षा' का अर्थ 'सप्त तारकाः' किया है। इसीके अनुकरणमें पाश्चात्योंने सप्तर्षियोंको the Great Bear नाम दिया है, ऐसा मैक्समूलरका भी मत है।

२. यास्क कहते हैं—

'इति पञ्चर्तुतया पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति च ब्राह्मणं हेमन्तशिशिरयोः समासेन।'

अर्थात् ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें हेमन्त और शिशिरको एक ऋतु मानकर वर्षमें पाँच ही ऋतु स्वीकार किये गये हैं।

ऋतुरूपी पैरवाले तथा द्वादश मासरूपी आकृतिवाले सबके पालक संवत्सरको प्रदान किया है। और दूसरी ओर इन आकाशमें अवस्थित अन्य सप्त ऋषियोंने (दस-दस वर्षके) छः अरोंवाले अर्थात् साठ संवत्सररूपी चक्रमें सूर्यको अर्पित किया है। अर्थात् साठ संवत्सररूप चक्रको लेकर सूर्य आकाशमें विराजित हो रहा है। जिस प्रकार बारह महीनोंको लेकर एक संवत्सर चलता है, उसी प्रकार संवत्सर-चक्रको लेकर सूर्य घूमता है। बारह महीनोंमें चन्द्रमाके बारह चक्कर लगते हैं और संवत्सर-चक्रमें साठ बार सूर्य चक्कर लगाता है।

शतपथ ब्राह्मणके अध्याय २। १। ३। १,३ में लिखा है—

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः। ते देवाऽऋतवः शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवापूर्यतेऽर्द्धमासः स देवा योऽपक्षीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रिः पितरः पुनरह्न पूर्वाह्णो देवाऽअपराह्णः पितरः॥ १॥

स यत्रोदङ्ङावर्तते। देवेषु तर्हि भवति देवाँस्तर्ह्यभिगोपायत्यथ यत्र दक्षिणाऽऽवर्त्तते पितृषु तर्हि भवति पितॄं स्तर्ह्यभिगोपायति॥ ३॥

'वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा—ये देवोंकी ऋतुएँ हैं, और शरद्, हेमन्त और शिशिर—ये पितरोंकी ऋतुएँ हैं। शुक्लपक्ष देवताओंका है और कृष्णपक्ष पितरोंका है। दिनके अधिपति देवता हैं और रात्रिके पितर हैं। फिर दिनका पूर्वार्द्ध देवताओंका और उत्तरार्द्ध पितरोंका।

'जब सूर्य उत्तरकी ओर बढ़ता है अर्थात् उत्तरायणमें वह देवताओंका अधिपति होता है और दक्षिणायनमें पितरोंका अधिपति होता है।'

ऋक्संहिता और शतपथब्राह्मणके इन अवतरणोंसे स्पष्ट जाना जाता है कि नक्षत्र, चान्द्रमास, सौरमास, मलमास, ऋतु-परिवर्तन, दक्षिणायन-उत्तरायणके साथ-साथ आकाशचक्रमें सूर्यकी महिमाका तात्त्विक ज्ञान ऋषियोंने हमें प्रदान किया है। भारतीय नक्षत्र-विज्ञान और आधुनिक पाश्चात्त्योंके नक्षत्र-विज्ञान (Astronomy) की पद्धतिमें अन्तर यह है कि भारतीय नक्षत्र-विज्ञान वेदका एक मुख्य अंग अर्थात् नेत्र माना जाता था। क्योंकि वैदिक अनुष्ठानोंके लिये काल-निर्णय करनेमें नक्षत्रोंकी गतिपर विशेष ध्यान दिया जाता था। दर्श-पौर्णमास यज्ञ तथा सांवत्सरिक अहीन याग तथा सहस्रों वर्षोंमें समाप्त होनेवाले सत्रोंके अनुष्ठानमें काल-गणना करनेके लिये जो नक्षत्रोंके बीच विविध स्थितियोंमें सूर्यका संक्रमण होता था, उसका अवलोकन करके नक्षत्र-विद्याका व्यावहारिक ज्ञान ऋषियोंने प्रदान किया। तदनन्तर उसी आधारपर आगे नक्षत्रोंके बीचमें संक्रमण करनेवाले सूर्यमण्डलके अन्यान्य ग्रहोंकी गति और स्थिति तथा उसके द्वारा होनेवाले प्रभावोंका अध्ययन किया गया। नक्षत्र-मण्डलको राशिचक्रमें विभाजितकर प्रत्येक राशिके साथ सूर्यसंक्रमणको देखकर राशियोंके नामपर मेषादि द्वादश सौरमासोंका अवलोकन किया। और पूर्णचन्द्रकी अर्थात् पूर्णिमाकी रात्रिमें नक्षत्रविशेषके पास चन्द्रमाको देखकर चान्द्रमासोंका ज्ञान प्राप्त किया। अर्थात् जिस मासकी पूर्णिमा चित्रा नक्षत्रसे युक्त थी, उसे चैत्रमास, विशाखासे युक्त पूर्णिमावाले मासको वैशाखमास, जेष्ठासे ज्येष्ठ, पूर्वाषाढ़ा या उत्तराषाढ़ासे आषाढ़, श्रवणसे श्रावण, पूर्वभाद्रपद या उत्तरभाद्रपदसे भाद्रपद, अश्विनीसे आश्विन, कृत्तिकासे कार्तिक, मृगशिरासे मार्गशीर्ष, पुष्यसे पौष, मघासे माघ, पूर्वाफाल्गुनी तथा उत्तराफाल्गुनीसे फाल्गुनमास नाम प्रदान किया गया।

परंतु पाश्चात्त्य देशोंमें प्रकारान्तरसे जो कुछ भारतीय नक्षत्र-विज्ञानका अरब-ग्रीक लोगोंके द्वारा प्रसार हुआ, वही उनके एतद्विषयक ज्ञानका मूलधन था। इसी आधापर यन्त्रयुगके विकासके साथ उन्होंने दूरवीक्षण यन्त्रोंका क्रमशः आविष्कार किया। और उसके द्वारा प्रत्यक्ष उनकी स्थितिको अवलोकन करनेका प्रयत्न किया। इस विज्ञानके साथ-साथ गणितकी जो सम्पत्ति हमसे उनको मिली थी, उसको उन्होंने बहुत कुछ समृद्ध किया—यह उनकी विशेषता है। परंतु दिन, मास, ऋतु, अयन अथवा राशि-चक्रका जो यहाँ नामकरण हुआ था, उसको अधूरा ही उन्होंने अपनाया। यहाँ दिनोंका नाम रवि, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र और शनि प्रभृति ग्रहोंके नामसे आबद्ध था। उसे तो उन्होंने ग्रहण किया, परंतु महीनोंका नाम उनके यहाँ अवैज्ञानिक ढंगसे रखा गया; चन्द्र और सूर्यकी गतिके साथ जो नक्षत्र अथवा राशियाँ महीनोंका निर्माण करती हैं, उनकी पर्याप्त उपेक्षा की गयी है। और जनवरी, फरवरी आदि नाम ही नहीं बल्कि इनकी स्थिति भी चन्द्र-सूर्यकी गतिसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखती। अतएव पाश्चात्त्योंकी मास और वर्षोंकी गणना हमारे सौरवर्षके आधारपर होते हुए भी अनर्गल-सी है और भारतीय शैली सर्वथा पूर्ण वैज्ञानिक है।

सूर्य जिस आकाशमार्गसे नक्षत्रमण्डलमें होकर जाता है, उसके द्वादश समान भाग करके मेष, वृष प्रभृति राशियोंकी अवतारणा की गयी। मेषराशिके प्रथम बिन्दुपर जब सूर्य उदय होता है, तबसे लेकर जब वह पुनः उसी बिन्दुपर आ जाता है, तबतक हिंदुओंका एक सौर वर्ष होता है। अर्थात् नक्षत्रमण्डलमें सूर्यका एक संक्रमण काल एक सौरवर्ष कहलाता है। सूर्यसिद्धान्तमें सौरवर्ष ३६५. २५८७५६४८४ दिनोंका माना जाता है। आधुनिक युगके सुप्रसिद्ध नक्षत्रविज्ञानवेत्ता (Astronomer) डब्ल्यू० एम्० स्माटके अनुसार यह संख्या ३६५.२५६४ दिनोंकी है। भारतीय वर्ष इससे ·००२३ दिन अधिकका हो जाता है। आजकलके पाश्चात्त्य नक्षत्रविज्ञानके मतसे यह वर्ष अनुमानतः ३६५.२५९६ दिनोंका होता है, जो भारतीय मतसे .०००८ दिन बड़ा होता है। भारतवर्षमें जो मेष-संक्रान्तिसे वर्षगणना की जाती है, उससे साठ वर्षोंके संवत्सरचक्रका हिसाब ठीक-ठीक मिलता है। इन संवत्सरोंके अलग-अलग प्रभव, विभव और शुक्ल आदि नाम दिये गये हैं।

सूर्यसिद्धान्तके अनुसार हिंदुओंके द्वारा जो काल-गणना की जाती है, उसके सामने विश्वकी किसी जातिकी कोई भी काल-गणना नगण्य सिद्ध होती है। हमारे शास्त्रोंके मतसे ४,३२,००० सौर वर्षोंका कलियुग होता है, द्वापरमें ८, ६४,००० वर्ष होते हैं, त्रेतामें १२,९६,००० वर्ष और कृतयुगमें १७,२८,००० वर्ष होते हैं; इस प्रकार कुल मिलाकर ४३,२०,००० वर्षोंका एक महायुग होता है। १००० महायुगोंका एक कल्प होता है। अर्थात् एक कल्पमें ४, ३२,००,००,००० वर्ष होते हैं। कल्पकी गणना करनेवाले ज्योतिर्विदोंने यह भी निश्चय किया था कि प्रत्येक ७१४ वर्षोंमें अयनान्त १०° पीछे चला जाता है। इसके अतिरिक्त वर्षमें १२ राशियाँ, एक राशिमें ३० अंश, १ अंशमें ६० कला, एक कलामें ३० काष्ठा और एक काष्ठामें १८ निमेष अर्थात् पलकी सूक्ष्मता कालगणना देखकर ज्ञात होता है कि भारतीय मस्तिष्कने इस विषयमें कितना सफल प्रयास किया है। इतना बड़ा काल-ज्ञान दूसरे किसी देशके निवासियोंको अबतक नहीं हुआ।

भारतीय नक्षत्र-विज्ञानवेत्ताओंके क्रान्तिवृत्तको २८ भागोंमें विभाजित किया; इस प्रकार चन्द्रमाके मार्गमें पड़नेवाले २८ तारा-समूह हो गये हैं, जिन्हें चान्द्र नक्षत्रोंके नामसे पुकारते हैं। पीछे चलकर इसमें सुधार हुआ और २८ के स्थानमें २७ ही चान्द्र नक्षत्र माने गये। और क्रान्तिवृत्तके २७ बराबर भाग करके १३°, २०′ (तेरह अंश, बीस कला) प्रत्येक नक्षत्रका क्षेत्र रखा गया। प्रत्येक क्षेत्रमें जो सबसे अधिक चमकता हुआ तारा दीख पड़ता है, उसका नाम योगतारा रखा गया। और नक्षत्रका जो उपर्युक्त क्षेत्र था, वह उसका भोग कहलाया। योगताराके साथ-साथ कुछ महत्त्वपूर्ण और सुप्रकाशित ताराओंका भी नाम और स्थान निश्चय किया गया। उनमें दक्षिणमें लुब्धक और अगस्त्य तथा उत्तरमें अभिजित्, ब्रह्महृद्य, अग्नि और प्रजापति मुख्य हैं। इनके सिवा क्रान्तिवृत्तके समीप रहनेवाले दूसरे प्रकाशमान, तारे, जिनकी आवश्यकता ग्रहोंके ध्रुवककी गणनामें पड़ती है, निश्चित किये गये। उनमें मघा, रेवती, पुष्य, शततारका और चित्रा मुख्य हैं। रत्नमाला नामके ग्रन्थमें इन तारोंका उल्लेख आता है। पाश्चात्त्य ज्योतिर्विदोंने सम्पूर्ण आकाशके ताराओंको ऐंड्रोमेडा (Andromeda) आदि विभिन्न प्रकारके ८८ तारा-मण्डलोंमें विभाजित किया है। यह तारा-मण्डलकी सूची बनानेकी शैली चीननिवासियोंकी प्राचीन शैलीका अनुकरण है। भारतमें अनावश्यक ताराओंकी सूची न बनाकर काल-गणना तथा सूर्यग्रहण-चन्द्रग्रहणादिकी स्थितिका निश्चय अपने धार्मिक कृत्योंके लाभार्थ किया गया था। सूर्य और चन्द्र-ग्रहणके साथ-साथ चन्द्रकी गतिसे होनेवाले तारा-ग्रहणका भी सूक्ष्मज्ञान भारतीयोंको था, इस प्रकार चन्द्रके द्वारा मघाका ग्रहण प्रायः हुआ करता है। ग्रहोंके सिद्धान्तपर भास्कराचार्यने अपने सिद्धान्तशिरोमणि नामक ग्रन्थमें विस्तारसे विवेचन किया है। परवर्तीकालमें आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्यने इस विज्ञानके विषयमें विशेष अनुसन्धान किया है।

नक्षत्र-मण्डलके बीच होकर भ्रमण करनेवाले केवल चन्द्र और सूर्यकी ही स्थिति और गतिका निरीक्षण आर्योंने नहीं किया; बल्कि इनके साथ-साथ मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि नामक अन्य पाँच ग्रहोंकी गति और स्थितिका भी निरीक्षण किया। और क्रान्तिवृत्तमें इनकी ऋजु-वक्र गतियोंके साथ अतिचार और मन्दगतिको भी देखा। इन पाँचोंके अतिरिक्त रवि-चन्द्र तथा तमोग्रह राहु-केतुको लेकर कुल नौ ग्रह माने गये हैं। पाश्चात्त्य लोगोंने चन्द्रके स्थानमें पृथिवीको ग्रह माना है, और राहु-केतुको छोड़कर यूरेनस, नेप्च्यून और प्लूटो—इन तीन ग्रहोंको लेकर कुल १०ग्रह माने गये हैं। ग्रह-गतिके विषयमें भारतीय और पाश्चात्त्य-गणनामें बहुत ही थोड़ा अन्तर पड़ता है।

वराहमिहिरकी बृहत्संहितामें केतु अर्थात् पुच्छल ताराओंका वर्णन आता है। उन्होंने पहले शुभकेतु और धूमकेतु नामसे दो भेद किये हैं और छोटे आकारके, देखनेमें शोभनीय, सीधे और श्वेतवर्णके केतुको, जो थोड़े समयमें ही अस्त हो जाता है, शुभकेतु नाम दिया है। इसके विपरीत अशुभ दर्शनवाले धूमकेतु हैं। बृहत्संहितामें सूर्यादि ग्रहों तथा पृथिवी और विभिन्न नक्षत्रोंसे उत्पन्न होनेवाले सहस्रों केतुओंका वर्णन मिलता है, जिसमें उनकी गति, स्थिति तथा उनके उदयसे होनेवाले शुभाशुभ परिणामोंका भी वर्णन किया गया है। सुदीर्घ कालके अध्ययनका यह परिणाम है कि हमारे यहाँ धूमकेतुके इतने भेदोंका अवलोकन करके उसके पश्चात् होनेवाले फलोंका निरीक्षणकर उसे लिपिबद्ध कर दिया गया है। पाश्चात्य नक्षत्र-विज्ञानने अभी केवल १५वीं शताब्दीसे ही इस विषयमें अनुसन्धान प्रारम्भ किया है। पहले-पहल १४५७ ई० में दिखलायी देनेवाला धूमकेतु, जो १३२५, १८१८ और १८७३ तथा १९२८ ई० में दिखलायी दिया था और जिसके बारेमें पाश्चात्त्योंका अनुमान है कि १९५६ ई० में पुनः उसका दर्शन होनेवाला है, पांस-कॉगिया-विनेक-फॉर्बे (Pons-coggia-Winnecke-Forbes) के नामसे प्रसिद्ध है। कुछ दूसरे प्रसिद्ध धूमकेतु (Comets) जो निरीक्षण करनेवालेके नामसे प्रसिद्ध हैं, वे हैं—हैली (Halley), डोनाटी (Donati), डेनियल (Daniel) और पेल्टिय (Peltier)। पाश्चात्त्योंकी जानकारीमें १७४४का धूमकेतु, जिसकी छः पूँछे थीं, सबसे बड़ा आश्चर्यजनक धूमकेतु था। इसके सिवा पाँच-सात और धूमकेतुओंका उल्लेख पाश्चात्य ज्योतिर्विज्ञानने किया है। परंतु बृहत्संहितामें तो भयानक-भयानक रँगीली पूँछवाले अग्निकेतु, जो अग्निकोणमें उगते और विलीन हो जाते हैं, तीन पूँछोंवाले ब्रह्मदण्डकेतु, लाल रंगका कौङ्कुम नामक केतु, बाँसकी आकृतिवाले चन्द्रमाके समान प्रभापूर्ण कंक नामके केतु इत्यादि-इत्यादि सहस्रों धूमकेतुओंका वर्णन पाया जाता है।

यह तो हुई धूमकेतुकी बात। उल्काओं (shooting stars) के बारेमें भी बृहत्संहितामें जो वर्णन मिलता है, वह आधुनिक पाश्चात्त्य ज्योतिर्विज्ञानकी अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध है। अन्तर केवल यह है कि वराहमिहिरने द्युलोकसे फलोपभोग करके गिरनेवाले लोकके नामसे उन्हें पुकारा है और पाश्चात्त्य ज्योतिर्विद् उन्हें नीहारिका-पुंजके रूपमें देखते हैं। भारतका दृष्टिकोण आध्यात्मिक होनेके कारण सर्वत्र, यहाँतक कि ज्योतिर्लोकोंमें भी उन्हें धर्म-तत्त्वकी ही चमक दीख पड़ी है; परंतु पश्चिमका विज्ञान जडवादी होनेके कारण सर्वत्र जडबुद्धिकी प्रधानताको ही द्योतित करता है। परंतु चिरकालसे दृष्ट और अनुभूत होनेके कारण हमारा दैवी विज्ञान सर्वथा पूर्ण है, आकाशमें होनेवाली प्रमुख घटनाओंके विषयमें हमारी गणना ठीक-ठीक उतरती है। इसके विपरीत पाश्चात्त्योंका आसुरी विज्ञान सर्वथा अपूर्ण है। क्योंकि भारतीय ज्योतिर्विज्ञान हमारे धार्मिक जीवनके लिये उपयोगी है और पाश्चात्त्योंका सामाजिक जीवन इससे वंचित रहता है; अतएव इस विज्ञानकी महिमा वहाँ इतनी नहीं है जितनी कि हमारे यहाँ है। इसी कारण शास्त्रकार कहते हैं—

वेदस्य चक्षुः किल शास्त्रमेतत्।
प्रधानताङ्गेषु ततोऽस्य युक्ता।
अङ्गैर्यतोऽन्यैरपि पूर्णमूर्त्ति-
श्चक्षुर्विना कः पुरुषत्वमेति॥

—अलख निरंजन

किन नक्षत्रोंमें गया हुआ धन वापस नहीं मिलता

ऊ गुन पू गुन बि अज कृ म आ भ अ मू गुनु साथ। हरो धरो गाड़ो दियो धन फिरि चढ़इ न हाथ॥

(दोहावली)

'उ' से आरम्भ होनेवाले तीन नक्षत्र (उत्तरा फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद), 'पू' से आरम्भ होनेवाले तीन नक्षत्र (पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद), वि (विशाखा), अज (रोहिणी), कृ (कृत्तिका), म (मघा), आ (आर्द्रा), भ (भरणी), अ (अश्लेषा) और मू (मूल) को भी इन्हींके साथ समझ लो—इन चौदह नक्षत्रोंमें हरा हुआ—चोरी गया हुआ, धरोहर रखा हुआ, गाड़ा हुआ तथा किसीको दिया हुआ धन फिर लौटकर हाथ नहीं आता।

हिंदुओंका रत्नविज्ञान

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

महर्षि कश्यपका कहना है कि माणिक्यादि रत्नोंको धारण करनेसे किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता; अतएव कष्टनिवृत्ति तथा सूर्यादि ग्रहोंकी प्रीतिके लिये क्रमशः माणिक्य, मौक्तिक, विद्रुम, मरकत, पुष्पराग, वज्र, नीलम, गोमेद तथा वैदूर्य धारण करने चाहिये—

सूर्यादीनां न संतुष्ट्यै माणिक्यं मौक्तिकं तथा।
सुविद्रुमं मरकतं पुष्परागं च वज्रकम्॥
नीलगोमेदवैदूर्यं धार्यं स्वस्वदृढक्रमात्।

बृहन्नारदीयका भी यही मत है—

मणिमुक्ताफलं विद्रुमाख्यं मरकतं तथा।
पुष्परागं तथा वज्रं नीलं गोमेदसंज्ञकम्।
वैदूर्यं भास्करादीनां तुष्ट्यै धार्यं यथाक्रमम्॥

(पू०भा० ५६। २८२)

अग्निपुराणके रत्नपरीक्षाप्रकरणमें बहुत-से रत्नोंके नाम आते हैं—तथा वज्र, मरकत, पद्मराग, मुक्ता, महानील, इन्द्रनील, वैदूर्य, गन्धशस्य, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, स्फटिक, पुलक, कर्केतन, पुष्पराग, ज्योतीरस, राजपट्ट, राजमय, सौगन्धिक, गंज, शंख, गोमेद, रुधिराक्ष, भल्लातक, धूली, तुथक, सीस, पीलु, प्रवाल, गिरिवज्र, भुजंगमणि, वज्रमणि, टिट्टिभ, पिण्ड, भ्रामर, उत्पल। (अग्नि० २४५ अ०)

शुक्रका कहना है कि वज्र (हीरा), मोती, मूँगा, गोमेद, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुखराज, पन्ना (Emral) और माणिक्य—ये नौ महारत्न हैं, ऐसा विद्वानोंका मत है—

वज्रं मुक्ता प्रवालं च गोमेदश्चेन्द्रनीलकः।
वैदूर्यः पुष्परागश्च पाचिर्माणिक्यमेव च॥
महारत्नानि चैतानि नव प्रोक्तानि सूरिभिः।

(शुक्रनीतिसार ४। २। १५६)

इनमें लाल वर्णका इन्द्रगोपके समान कान्तिवाला माणिक्य सूर्यको प्रिय है तथा लाल, पीला, सफेद एवं श्याम कान्तिवाला मोती चन्द्रमाको प्रिय है—

रवेः प्रियं रक्तवर्णमाणिक्यं त्विन्द्रगोपरुक्।
रक्तपीतसितश्यामच्छविर्मुक्ता प्रिया विधोः॥

इसी प्रकार पीलापन लिये लाल मूँगा मंगलको प्रिय है तथा मोर या चाषके पंखोंके समान वर्णका पन्ना बुधको प्रिय है। सोनेकी झलकवाला पुखराज बृहस्पतिको प्रिय है और तारोंके समान कान्तिवाला वज्र शुक्रको प्यारा है। शनैश्चरको सजल मेघके समान कान्तिवाला इन्द्रनील प्रिय है; किंचित् लाल, पीली कान्तिवाला गोमेद राहुको तथा बिलावके नेत्रोंके समान कान्तिवाला एवं लकीरवाला वैदूर्य केतुको प्रिय है—

सपीतरक्तरुग् भौमप्रियं विद्रुममुत्तमम्।
मयूरचाषपत्राभा पाचिर्बुधहिता हरित्॥
स्वर्णच्छविः पुष्परागः पीतवर्णो गुरुप्रियः।
अत्यन्तविशदं वज्रं तारकाभं कवेः प्रियम्॥
हितः शनेरिन्द्रनीलो ह्यसितो घनमेघरुक्।
गोमेदः प्रियकृद्राहोरीषत्पीतारुणप्रभः॥
ओत्वक्षभाश्चलत्तन्तु वैदूर्यं केतुप्रीतिकृत्॥

(शुक्र० ४। २। १५८—१६१)

शुक्र कहते हैं कि सभी रत्नोंमें वज्र (हीरा) श्रेष्ठ है, पर सन्तानकी इच्छावाली स्त्री इसे कभी धारण न करे। गोमेद और मूँगा सभी रत्नोंमें नीच हैं—

रत्नं श्रेष्ठतरं वज्रं नीचं गोमेदविद्रुमम्।
न धारयेत्पुत्रकामा नारी वज्रं कदाचन॥

आश्चर्य नहीं कि भगवान् श्रीरामके राज्यमें प्रत्येक साधारण-से-साधारण प्रजाके सभी मकानोंके द्वारोंपर सोनेके ही किवाड़ थे और उनमें सर्वत्र हीरे जड़े हुए थे—

प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि खचे।

रत्नोंकी परीक्षाके लिये 'युक्तिकल्पतरु' में राजा भोजने तथा अपने 'अर्थशास्त्र' में कौटिल्यने बड़े लंबे-चौड़े विवेचन लिखे हैं। अग्निपुराणका कहना है कि जो हीरा पानीमें तैर सके, भारी चोट सह सके, षट्कोण हो, इन्द्रधनुषके आकारका हो, हलका हो या सुग्गोंके पंखके रंगवाला हो, चिकना हो, कान्तिमान् तथा विमल हो, वह श्रेष्ठ है—

अम्भस्तरति यद्वज्रमभेद्यं विमलं च यत्।
षट्कोणं शक्रचापाभं लघु चार्कनिभं शुभम्॥
शुकपक्षनिभः स्निग्धः कान्तिमान्विमलस्तथा॥

(अग्निपु० २४६। ९-१०)

कौटिल्य कहते हैं कि मोटा, चिकना, भारी चोटको सहनेवाला, बराबर कोनोंवाला, पानीसे भरे हुए पीतल आदिके बर्तनमें डालकर हिलाये जानेपर बर्तनमें लकीर डाल देनेवाला तकवेकी तरह घूमनेवाला और

चमकदार हीरा प्रशस्त समझा जाता है—

स्थूलं गुरु प्रहारसहं समकोटिकं
भाजनलेखितं कुभ्रामि भ्राजिष्णु च प्रशस्तम्।

(२। ११। ४१)

नष्टकोण, तीक्ष्ण, कोनेसे रहित तथा एक ओरको अधिक निकले हुए कोनोंवाला हीरा दूषित समझा जाता है—

'नष्टकोणं निरश्रि पार्श्वापवृत्तं चाप्रशस्तम्।'

हीरा छः स्थानोंमें उत्पन्न होता है, तथा छः रंगोंवाला होता है। यह बरार, कोसल, कास्तीर (काश्मीर), श्रीकरनक, मणिमन्तक तथा कलिंग—इन छः स्थानोंमें उत्पन्न होता है तथा बिलावकी आँखके समान, सिरसके फूलके समान, गोमूत्रके समान, गोरोचनके समान, श्वेत वर्णके स्फटिकके समान और मूलारीके फूलके रंगवाला होता है।

मोतियोंके वर्णनमें कौटिल्यने अपार बुद्धिमत्ता प्रदर्शित की है। उनका कहना है कि मोती तीन कारणोंसे उत्पन्न होता है—शंखसे, शुक्तिसे तथा हाथी-सर्पादिके मस्तकसे। इनमें भी स्थानभेदसे इसके दस प्रकार होते हैं। मोटा, गोलाकार, तलरहित (चिकनी जगहपर बराबर लुढ़कते जानेवाला), दीप्तियुक्त सफेद, भारी, चिकना तथा ठीक मौकेपर बिंधा मोती उत्तम समझा जाता है। अग्निपुराणका कहना है कि मोती शुक्तिसे उत्पन्न होते हैं, किंतु शंखसे बने मोती उनकी अपेक्षा विमल एवं उत्कृष्ट होते हैं। हाथीदाँतसे उत्पन्न, सूकर-मत्स्यसे उत्पन्न, वेणुनागसे उत्पन्न या मेघोंद्वारा उत्पन्न मोती अत्यन्त श्रेष्ठ होते हैं—

मुक्ताफलास्तु शुक्तिजाः.................. ।
विमलास्तेभ्य उत्कृष्टा ये च शङ्खोद्भवा मुनेः॥
नागदन्तभवाश्चाग्र्याः कुम्भसूकरमत्स्यजाः।
वेणुनागभवाः श्रेष्ठा मौक्तिकं मेघजं वरम्॥

(अग्निपु० २४५। १२-१३)

स्वच्छता, वृत्तता, (गोलाई), शुक्लता (उजलापन) एवं महत्ता (भारीपन)—ये मौक्तिक मणि (मोती) के गुण हैं—

वृत्तत्वं शुक्लता स्वाच्छ्यं महत्त्वं मौक्तिके गुणाः।

(अग्निपु० २४६। १४)

शुक्रका कहना है कि सिंहलद्वीपवाले कृत्रिम मोती भी बना लेते हैं, इसलिये मोतीकी परीक्षा करनी चाहिये। रातभर उसे नमक मिले हुए गर्म जलमें रखे, फिर उसे धानोंमें मले। इतनेपर भी जो मैला न हो, वह असल मोती होता है। शुक्तिसे उत्पन्न मोतीकी कान्ति सर्वाधिक होती है—

कुर्वन्ति कृत्रिमं तद्वत्सिंहलद्वीपवासिनः।
तत्सन्देहविनाशार्थं मौक्तिकं सुपरीक्षयेत्॥
उष्णे सलवणस्नेहे जले निश्युषितं हि तत्।
व्रीहिभिर्मर्दिते नेयाद्वैवर्ण्यं तदकृत्रिमम्॥
श्रेष्ठाभं शुक्तिजं विद्यान्मध्याभं त्वितरं विदुः।

(शुक्रनीतिसार ४। २। १७६—१७८)

कौटिल्यने मोतियोंकी मालाओंके वर्णनमें कमाल किया है। वे कहते हैं कि मालाओंके गाँथनेके तरीकोंसे उनके शीर्षक, उपशीर्षक, प्रकाण्डक, अवघाटक और तरलप्रबन्ध—ये पाँच भेद हैं। फिर मोतियोंकी संख्याके अनुसार इनके दस भेद हैं। जैसे १००८ लड़ोंकी मालाका नाम 'इन्द्रच्छन्द', ५०४ का नाम 'विजयच्छन्द', १०० यष्टिका नाम 'देवच्छन्द', ६४ का 'अर्धहार', ५४ का 'रश्मिकलाप', ३२ का 'गुच्छ', २७ का 'नक्षत्रमाला', २४ का 'अर्धगुच्छ', २० का 'माणवक' और दस लड़ोंकी मालाका नाम 'अर्धमाणवक है। इन्हीं मालाओंके बीच मणि पिरो देनेसे फिर इनके ५० और भेद होते हैं, जिनके बड़े-बड़े लंबे नाम हो जाते हैं—जैसे 'इन्द्रच्छन्दोपशीर्षकार्धमाणवक', 'इन्द्रच्छन्दप्रकाण्डार्धमाणवक' इत्यादि। शुक्रका कहना है कि मोती और मूँगा—ये दो ही रत्न ऐसे हैं, जिनपर पत्थर और लोहेसे लकीर पड़ती है और जो घिसकर हलके होते हैं, अन्यथा अन्य सभी रत्न सर्वदा एक-समान निष्कलंक रहते हैं—

नायसोल्लिख्यते रत्नं विना मौक्तिकविद्रुमात्।
पाषाणेनपि च प्राय इति रत्नविदो विदुः॥
न जरां यान्ति रत्नानि विद्रुमं मौक्तिकं विना॥

इसी प्रकार इन ग्रन्थोंमें तथा 'युक्तिकल्पतरु' आदिमें प्रवालादि अन्यान्य मणियोंका भी विस्तारसे लक्षण, यष्टिभेद, अवान्तर भेद तथा मूल्यादिका विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

महाभारतका कहना है कि रत्नदानका पुण्य अत्यन्त महान् है—

रत्नदानं च सुमहत्पुण्यमुक्तं जनाधिप।

(अनुशासन० दान० ६८। २९)

भारतवर्षमें पहले रत्नोंका कैसा बाहुल्य था, यह 'मत्स्यपुराण' के रत्नाचलवर्णनमें देखते बनता है। वहाँ कहा गया है कि १००० मोतियोंका एक जगह ढेर करे। इसके पूर्व ओर वज्र और गोमेदका ढेर रखे, इनमें

प्रत्येककी संख्या २५० होनी चाहिये। इतनी ही संख्याकी इन्द्रनील और पद्मराग मणियोंको दक्षिण दिशाकी ओर रखकर गन्धमादनकी कल्पना करे। पश्चिममें वैदूर्य और प्रवाल (विद्रुम या मूँगों) का विमलाचल बनाये एवं उत्तरमें पद्मराग और सोनेके ढेर रखे। धान्यके पर्वत भी सर्वत्र बनाये एवं जगह-जगहपर सोनेके वृक्ष एवं देवताओंकी रचना करे, फिर इनकी पुष्प-गन्धादिसे पूजा करे एवं '**यदा* देवगणाः सर्वे**' इत्यादि मन्त्रोंको पढ़कर इस रत्नाचलको विधिपूर्वक ऋत्विजों या आचार्य आदिको दान कर दे—

मुक्ताफलसहस्रेण पर्वतः स्यादनुत्तमः।
चतुर्थांशेन विष्कम्भपर्वताः स्युः समन्ततः॥
पूर्वेण वज्रगोमेदैर्दक्षिणेनेन्द्रनीलकैः
पद्मरागयुतः कार्यो विद्वद्भिर्गन्धमादनः॥
वैदूर्यविद्रुमैः पश्चात्संमिश्रो विमलाचलः।
पद्मरागैः ससौवर्णैरुत्तरेण च विन्यसेत्॥
धान्यपर्वतवत्सर्वमत्रापि परिकल्पयेत्।
तद्वदावाहनं कुर्याद् वृक्षान्देवांश्च काञ्चनान्॥
पूजयेत्पुष्पगन्धाद्यैः प्रभाते च विमत्सरः।
पूर्ववद् गुरुऋत्विग्भ्य इमान् मन्त्रानुदीरयेत्॥
अनेन विधिना दद्याद्रत्नाचलमनुत्तमम्।

(मत्स्यपुराण ९०। १—९)

महाभारतका कहना है कि जो इन रत्नोंको बेचकर सौम्य प्रकारके यज्ञ करता है या प्रतिग्रह लेकर इन्हें किसी अन्यको दान कर देता है, उन दोनोंको ही अक्षय पुण्य होता है'—

यस्तान् विक्रीय यजते ब्राह्मणो ह्यभयङ्करम्।
यद्वै ददाति विप्रेभ्यो ब्राह्मणः प्रतिगृह्य वै॥
उभयोः स्यात्तदक्षय्यं दातुरादातुरेव च।

(महा० अनु० ६८। २९-३०)

महर्षि वाल्मीकिने अयोध्यापुरीका वर्णन करते हुए लिखा है कि वह सब प्रकारके रत्नोंसे भरी-पूरी और विमानाकार गृहोंसे सुशोभित थी—

प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरिव शोभिताम्।
सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम्॥

(वाल्मीकि० बा० ५। १५-१६)

अपनी गीतावलीमें गोस्वामीजीने भी इसका खूब चित्रण किया है—

कोसलपुरी सुहावनी सरि सरजू के तीर।
भूपावली मुकुटमनि नृपति जहाँ रघुबीर॥

....

गृह गृह रचे हिंडोलना, महि गच काँच सुढार।
चित्र बिचित्र चहूँ दिसि परदा फटिक पगार॥
सरल बिसाल बिराजहीं बिद्रुम खंभ सुजोर।
चारु पाटि पटी पुरट की झरकत मरकत भौंर॥
मरकत भँवर डाँड़ी कनक मनि जटित दुति जगमगि रही।
पटुली मनहुँ बिधि निपुनता निज प्रगट करि राखी सही॥
बहुरंग लसत बितान मुकुतादाम सहित मनोहरा।
नव सुमन माल सुगंध लोभे मंजु गुंजत मधुकरा॥

(गीता० उत्तर० १९। १, ३)

जनकपुरीकी शोभा भी आपने ऐसे ही वर्णित की है। मण्डप-रचनाकी शोभामें तो आपने अपने अनूठे रत्नविज्ञानका ज्ञान प्रदर्शित किया है—

हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुमरागके फूल।
रचना देखि बिचित्र अति मनु बिरंचि कर भूल॥
बेनु हरित मनिमय सब कीन्हे। सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे॥
कनक कलित अहिबेलि बनाई। लखि नहिं परइ सपरन सुहाई॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाए। बिच बिच मुकता दाम सुहाए॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥

—आदिमें भला कितना ठोस रत्नविज्ञान भरा है। वाल्मीकीयका लंका-वर्णन भी ऐसा ही है।—

कनक कोट मनि खचित दृढ़, बरनि न जाइ बनाव॥

इस एक ही दोहेमें गोस्वामीजीने इसकी विचित्रता कह डाली है।

सचमुच भारतकी अन्तिम अलौकिक विभूतिकी बात पढ़-सुनकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। पर इसमें आश्चर्य क्या, इन सभी ऐश्वर्योंका कारण इसकी एकमात्र धर्मपरायणता थी; पर आज तो हम इस तरह धर्मके पीछे पड़ गये हैं कि यह शब्द ही हमारे कानोंमें खटकने लगा है और धर्मविहीनता दिखलानेमें ही हम सभी प्रकार गौरवका अनुभव करने लगे हैं और इसका जो उचित परिणाम है, वह भी हमारे सामने है!

---

* यदा देवगणाः सर्वे सर्वरत्नेष्ववस्थिताः। त्वं च रत्नमयो नित्यं नमस्तेऽस्तु सदाचल॥
यस्माद्रत्नप्रदानेन तुष्टिं प्रकुरुते हरिः। सदा रत्नप्रदानेन तस्मान्नः पाहि पर्वत॥

हमारा हिंदुत्व

(लेखक—ठाकुर श्रीगंगासिंहजी)

'आप हिंदू हैं?'

'हाँ।'

'क्या प्रमाण है इसका आपके पास?'

'प्रमाण? प्रमाण तो मैं नहीं जानता, पर मैं अपनेको हिंदू मानता हूँ।'

'अपनी इस मान्यताके सिवा और भी कोई सबूत है क्या?'

'हाँ, मैं गायको अपनी माता समझता हूँ और उसके लिये खून बहानेको तैयार हूँ।'

'और?'

'और गंगामें स्नान करके मैं अपनेको पवित्र समझता हूँ।'

'और?'

'और अपने धर्मग्रन्थोंको मानता हूँ।'

'आप किसे धर्मग्रन्थ कहते हैं?'

'सबका मूल तो वेद है; पर प्रधानतया गीता, रामायण तथा भागवतादि पुराण भी।'

'अन्य धर्मोंके प्रति आपका क्या भाव है?'

'मैं सबका आदर करता हूँ। किसीकी निन्दा नहीं करता।'

'और?'

'और जगत् मुझे क्या कहता है, इसकी मुझे परवा नहीं। मुझे भगवान्का भय है। मैं उनका प्रिय बनना चाहता हूँ।'

'क्या आप हिंदू-कोड-बिलके समर्थक हैं?'

'नहीं, मुझे आप विरोधी समझें। मैं समझता हूँ कि धार्मिक विषयोंमें सरकारको कानून बनानेका कोई अधिकार नहीं है।'

'क्या आप मुसलमानोंसे नफरत करते हैं?'

'नहीं! मैं किसीसे नफरत नहीं करता। हिंदूधर्ममें तो जीवमात्र भगवान्के स्वरूप हैं या अपने आत्मा ही हैं। सभी प्रेमके पात्र हैं और आत्मोपम हैं; फिर हिंदू किसीसे घृणा क्यों और कैसे करे।'

'क्या आप चाहते हैं कि मस्जिदें तोड़कर उनके स्थानपर मन्दिर बना दिये जायँ?'

'नहीं । पर जहाँ पहले मन्दिर रहा हो और मुसलमानोंने उसे तोड़कर मस्जिद बना ली हो, उस स्थानपर मन्दिर होना आवश्यक और न्यायोचित समझता हूँ।'

'क्या आप हिंदू-धर्मको कभी बदल भी सकते हैं?'

'नहीं, कभी नहीं। बल्कि मैं तो चाहता हूँ कि यदि मुझे भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तो भगवान् करें मैं जन्म-जन्मान्तरोंमें हिंदू ही बनता रहूँ।'

'क्या हिंदू-धर्मके अतिरिक्त अन्य धर्मोंमें भगवत्प्राप्ति नहीं होती?'

'होती क्यों नहीं। पर मुझे तो हिंदू-धर्म ही प्यारा है। मैं मानता हूँ कि भगवान्के स्वरूपकी व्याख्या तथा उनकी प्राप्तिके सुगम और सरल साधन जैसे इसमें हैं, वैसे और कहीं नहीं हैं।'

'हिंदू-संस्कृतिके अनुसार आदर्श व्यक्ति, आदर्श पति, आदर्श भाई, आदर्श स्वामी और आदर्श राजा कौन है?'

'मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम। उनमें सारे आदर्श गुण हैं। वे एकपत्नीव्रती हैं। पिताकी वचनरक्षा और भाई भरतके लिये उन्होंने राज्यका अधिकार छोड़ दिया और भक्तोंके लिये तो वे सब कुछ करनेको तैयार रहते हैं।'

'आदर्श राजा कैसे?'

'आदर्श राजा उनके समान और कौन होगा, जिनके राज्यमें कुत्ते और पशु-पक्षियोंतकको न्याय मिलता था, जिन्होंने स्वयं अपनी प्यारी प्रजाके एक व्यक्तिके अनुचित न्यायपर—जिसे उसने एकान्तमें अपनी पत्नीके सामने प्रकट किया था—अपने सारे सुखका, अग्नि-द्वारा प्रमाणित अपनी निर्दोष प्राणप्रियाका परित्याग कर दिया और प्रजाकी प्रसन्नताके लिये सदाके लिये कलंकको सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसीलिये तो रामराज्यकी इतनी महिमा है।'

'आदर्श पत्नी कौन है?'

'महारानी सीताजी, जिन्होंने दुःखमें पतिका साथ नहीं छोड़ा। भगवान् श्रीराम उन्हें वनमें नहीं ले जाते तो उनके प्राण निकल जाते। उन्हीं प्राणोंको अपने निर्वासनकालमें उन्होंने आर्यपुत्रकी प्रसन्नता एवं वंश-

रक्षाके लिये धारण कर रखा।'

'हिंदुओंका आदर्श नवयुवक?'

'वीरवर अर्जुन, जिसने एकान्तमें उर्वशी-जैसी अप्सराके प्रणय-प्रस्तावको अस्वीकार करके उसे मातृरूपमें देखा। न तो उन्हें उसका विश्वविमोहन रूप लुभा सका और न उसका शाप ही उन्हें डिगा सका।'

'आपकी कसौटी क्या है?'

'शास्त्र, संत और आत्माकी आवाज। इन तीनों कसौटियोंपर जो बात खरी उतरती है, उसे करनेमें मुझे कोई संकोच नहीं, बल्कि बड़ी प्रसन्नता होती है।

धनोपार्जनके वर्तमान साधन हिंदू-आदर्शके विरुद्ध हैं

(लेखक—पं० श्रीदयाशंकरजी दुबे, एम० ए०, एल-एल०बी०)

वर्तमान युग अर्थप्रधान है। संसारमें सर्वत्र अर्थके लिये हाय-हाय मची हुई है। मजदूर और मालिक, किसान और जमींदार, सरकारी अफसर और कर्मचारी, धनवान् और गरीब—सब लोग अधिकाधिक धन प्राप्त करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। बहुत-से अपने प्रयत्नोंमें सफल न होनेके कारण आवश्यक परिमाणमें धन नहीं प्राप्त कर पाते, इसलिये दुःखी होते हैं। कई व्यक्ति धन प्राप्त करनेपर भी सुखी नहीं हो पाते; परंतु वे यह विचार नहीं करते कि उनके दुःखका प्रधान कारण क्या है। हिंदू-धर्मशास्त्रने धनके उपार्जनके सम्बन्धमें जो नियम बलताया है, यदि उसके अनुसार धन प्राप्त किया जाय, तो उससे कभी भी दुःख नहीं मिल सकता। हमारे धर्मशास्त्रोंका आदेश है कि धनका उपार्जन धर्मके द्वारा ही करना चाहिये। धन कभी भी ऐसे साधनद्वारा नहीं प्राप्त करना चाहिये, जिससे सत्यका हनन होता हो, दूसरोंका अहित हो, दूसरोंका शोषण हो, किसीका न्याय्य स्वत्व मारा जाता हो या अपने हिस्सेमें आता हो अथवा दूसरोंको दुःख पहुँचाता हो। आज हमलोग धन कमानेकी धुनमें साधनोंका विचार ही नहीं करते और जायज या नाजायज तरीकोंसे धन प्राप्त करते रहते हैं। जब हम धन कमानेमें दूसरोंका हक छीनकर उन्हें दुःखी करते हैं, तब फिर हमको उससे सुख कैसे प्राप्त हो सकता है। यदि अपने प्रयत्नोंद्वारा हमने दूसरोंके लिये दुःखका बीज बोया है तो उसका फल दुःखके रूपमें हमको अवश्य भोगना पड़ता है। इसमें सन्देह करनेकी कुछ भी गुंजाइश नहीं है। यह संसारका अटल नियम है कि जो जैसा बीज बोता है, उसको वैसा ही फल प्राप्त होता है। बेईमानी या अधर्मसे जो धन कमाया जाता है, दूसरोंको दुःख पहुँचाकर जो धन प्राप्त होता है, वह प्रायः विलासिताकी वस्तुओंमें या मादक वस्तुओंपर खर्च होता है। उससे केवल हमारी आदतें ही नहीं बिगड़तीं, स्वास्थ्यपर भी उसका बुरा असर पड़ता है और कुछ दिन विलासितामय जीवन व्यतीत करनेके बाद अन्तमें दुःख ही प्राप्त होता है। हमको स्थायी सुख तो दूसरोंको सुखी करके ही प्राप्त हो सकता है। यह तबतक सम्भव नहीं है, जबतक हम धनके उपार्जनमें धर्मका ध्यान नहीं रखते।

किसी एक कपड़ेके दूकानदारके पास ऐसा ग्राहक आता है, जो उसपर पूर्णरूपसे विश्वास करता है। वह दूकानदारसे एक जोड़ा धोती माँगता है। दूकानदार यह जानते हुए कि उस प्रकारकी धोती अन्य दूकानदारोंके पाससे १०) में मिल सकती है, वह उस ग्राहकसे १२) माँगता है। ग्राहक दूकानदारको १२) देकर धोती खरीद लेता है। दूकानदार इस ग्राहकसे २) अधिक लेनेपर प्रसन्न होता है। वह यह कभी विचार नहीं करता कि उसने अपने ग्राहकके साथ जो विश्वासघात किया है, उसका फल उसे दुःखके रूपमें अवश्य भोगना पड़ेगा। यदि प्रत्येक दूकानदार अपनी आमदनीके सम्बन्धमें गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो उसे मालूम हो जायगा कि उसके मुनाफेका एक बड़ा भाग विश्वासघात और बेईमानीसे ही प्राप्त किया गया है। आजकल तो जो दूकानदार सबसे अधिक बेईमानी करता है, चोरबाजारी करता है, या पदार्थोंमें घटिया वस्तुओंकी मिलावट करता है, वह सबसे अधिक योग्य और कार्यकुशल समझा जाता है और अन्य दूकानदार उसका अनुकरण करनेका प्रयत्न करते हैं। आजकल दूकानदारोंमें यह भ्रम फैल गया है कि बिना थोड़ी-बहुत बेईमानी किये दूकानदारीका कार्य सफलतापूर्वक चलाया ही नहीं जा सकता। यह धारणा सत्य नहीं है। इस युगमें भी ऐसे दूकानदार मिल जाते हैं, जो अपने ग्राहकोंको कभी धोका नहीं देते और

ईमानदारीसे अपना कार्य चलाते हैं। वे शीघ्र ही लखपती तो नहीं हो पाते, परंतु अपनी ईमानदारीकी कमाईसे जो सुख और सन्तोष उनको प्राप्त होता है, वह लखपतियोंको प्राप्त नहीं हो पाता। हमारे अधिकांश व्यापारी आज धनके उपार्जनमें हिंदू-आदर्शको भूल गये हैं। इसलिये उनको दुःखी होना पड़ता है। यदि वे सुखी होना चाहते हैं तो उनको थोड़े मुनाफेमें ही सन्तोष करके अपने ग्राहकोंके साथ ईमानदारीका व्यवहार करना चाहिये।

इसी प्रकार आजकल घूसखोरी बहुत बढ़ गयी है। धन-उपार्जनका यह एक सरल साधन मान लिया गया है। एक मनुष्य रेलमें बिना टिकट यात्रा करता है। टिकट जाँच करनेवाला रेलवे-कर्मचारी उससे टिकट माँगता है। वह कर्मचारीको दो रुपये घूसके रूपमें दे देता है और कर्मचारी उसे यात्रा करनेकी इजाजत दे देता है। नियमानुसार यात्रीको दस रुपये देने पड़ते। इस प्रकार घूसद्वारा कर्मचारी दो रुपये प्राप्त कर लेता है और यात्री आठ रुपये बचा लेता है; परंतु टिकट जाँच करनेवाला कर्मचारी क्या कभी यह भी सोचता है कि उसने अपने कर्तव्यका पालन नहीं किया, उसने अपने मालिकके साथ विश्वासघात किया और अपने दो रुपयोंके लाभके लिये अपने मालिकको दस रुपयोंकी हानि पहुँचा दी। यात्री भी आठ रुपये बचा लेता है; परंतु अधर्मद्वारा बचे हुए धनसे क्या उसको सुख और शान्ति मिल सकती है? क्या रेलवे-कर्मचारी घूस लेकर अपने कर्मके फलसे बच सकता है? अपने मालिकसे चाहे वह अपनी बेईमानी छिपा ले; परंतु ईश्वरीय न्यायसे वह कदापि नहीं बच सकता। अधर्मद्वारा प्राप्त धनसे कर्मचारी और यात्री दोनोंको सुख और शान्ति नहीं मिल सकती।

पुलिस विभागके कर्मचारियोंका कर्तव्य घूसखोरी बंद करना है। परंतु जब वे ही घूस लेते हैं, तब वे अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते और उसका फल उनको अन्तमें अवश्य भोगना पड़ता है। आजकल घूसखोरी इतनी बढ़ गयी है कि प्रायः उसने हकका रूप धारण कर लिया है। कुछ कर्मचारी अब यह समझने लगे हैं कि घूसके रूपमें किसी कार्यके लिये एक निश्चित रकम लेना उनका हक है। जब कोई व्यक्ति अपना दस्तावेज रजिस्ट्री कराने रजिस्ट्रारके दफ्तरमें जाता है, तब उस विभागके कर्मचारी रजिस्ट्रीकी फीसके साथ-ही-साथ बिना अपना हक लिये उसकी रजिस्ट्री ही नहीं करते। कहीं-कहीं अपने हलकेके पटवारियोंसे एक मासका वेतन प्रति वर्ष ले लेना कानूनगो अपना हक समझते हैं। घूसको इस प्रकारका हक समझना और उसे वसूल करना अपने-आपको धोका देना है। धनका यह उपार्जन हिंदू-आदर्शके विरुद्ध है। घूसखोरीसे अर्थात् अधर्मसे प्राप्त धनसे कभी भी स्थायी सुख और शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। प्रत्येक मनुष्यको यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि धन सुखका एक साधनमात्र है और जब अधर्मद्वारा प्राप्त धनसे सुख नहीं प्राप्त हो सकता, तब फिर उसे गलत साधनद्वारा प्राप्त करनेका प्रयत्न करना बुद्धिमानी नहीं है। सुख चाहनेवाले व्यक्तियोंको घूसखोरीसे हमेशा दूर रहना चाहिये।

दूसरोंका शोषण करके भी धन प्राप्त होता है। जब एक पूँजीपति अपने कारखानेमें मजदूरोंको उचित मजदूरी नहीं देता, जब एक महाजन अपने कर्जदारोंसे अत्यधिक ब्याज वसूल करता है, जब एक जमींदार अपने किसानोंसे बहुत लगान और बेगार लेता है, तब मजदूरों, कर्जदारों और किसानोंका शोषण होता है। उनकी आर्थिक दशा खराब होती जाती है और वे बरबाद हो जाते हैं। पूँजीपति, महाजन और जमींदार इस शोषणद्वारा धनवान् अवश्य हो जाते हैं; परंतु कुछ समयके बाद उनको अपने कर्मोंका फल अवश्य भोगना पड़ता है। अन्तमें दुःख ही उनके हाथ रह जाता है। इनका कार्य भी हिंदू-आदर्शके विरुद्ध होता है। जब ईश्वरकी कृपासे पूँजीपतियों, महाजनों और जमींदारोंको अपने पूर्वजोंसे काफी धन प्राप्त हो गया है, तब उनको उसका उपयोग दूसरोंको सुखी बनानेमें करना चाहिये। इससे उनको अधिक धन भी प्राप्त होगा और स्थायी सुख और शान्ति भी प्राप्त होगी। यह कार्य कठिन अवश्य है; क्योंकि लक्ष्मीजी जिसपर कृपा करती हैं, उसको अपना वाहन (उल्लू) बना लेती हैं और दिन होनेपर उसको अन्धकार-ही-अन्धकार दिखायी देता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह अपने धनका दुरुपयोग करके, दूसरोंका शोषण करके शीघ्र अधिक धनी होनेका प्रयत्न करता है। उसे एक बार अधिक धन तो मिल सकता है, परंतु उसे अपने कर्मोंके फलोंको भी भोगना पड़ता है। स्थायी सुख और शान्तिके लिये वह तरसने लगता है। यदि वह सुखी होना चाहता है तो शोषणके सब कार्य उसे शीघ्र बंद कर देने चाहिये और दूसरोंको सुखी करके ही अपने धनकी वृद्धि करनी चाहिये।

कुछ व्यक्ति मादक वस्तुओंको उत्पन्नकर या बेंचकर अपनी जीविका चलाते हैं। वे यह विचार नहीं करते कि उनके ग्राहकोंके स्वास्थ्यपर मादक वस्तुओंके उपभोगका क्या प्रभाव पड़ेगा। लाखों परिवारोंकी आर्थिक दशा मादक वस्तुओंके उपयोगसे चौपट हो गयी है। क्या मादक वस्तुओंके विक्रेता अपने ग्राहकोंकी दुर्दशामें सहायक होकर स्वयं सुखी होनेकी आशा करते हैं? यदि वे सुखी होना चाहते हैं तो उनको धन-उपार्जनका यह साधन त्याग देना चाहिये और ऐसे साधनद्वारा अपनी जीविका प्राप्त करनी चाहिये, जिससे दूसरोंका भी भला हो।

कुछ लोग हिंदू होकर भी गोमांसका ठेका लेते हैं और ऐसे चमड़ेका व्यापार करते हैं, जिसके लिये गायें कसाईखानोंमें मारी जाती हैं। भला बताइये, इसका अन्तिम परिणाम कैसे महान् दुःखदायी नहीं होगा।

धन-उपार्जनके लिये आजकल बड़े-बड़े कारखाने खोले जाते हैं। उनका गंदा पानी नदियोंमें छोड़ा जाता है। कानपुरमें चमड़ेके कारखानोंका गंदा दुर्गन्धयुक्त पानी श्रीगंगाजीमें छोड़ा जाता है। चीनीकी मिलोंका गंदा पानी भी नदियोंमें छोड़ा जाता है। इस प्रकारके कार्यसे नदियोंके जलकी पवित्रता कम हो जाती है। नदियोंके किनारे निवास करनेवाले व्यक्तियोंके स्वास्थ्यपर इसका बुरा असर पड़ता है। इस प्रकारका कार्य हिंदू-आदर्शके विरुद्ध है। सरकारको इन कारखानोंका ऐसा नियन्त्रण करना चाहिये, जिससे इनका गंदा पानी नदियोंमें न पहुँचने पाये। इंगलैंडकी नदियोंमें गंदा पानी गिराना कानूनद्वारा रोक दिया गया है। भारतमें भी कानूनद्वारा इसे रोकनेका प्रयत्न शीघ्र होना चाहिये। प्रान्तीय सरकारके मन्त्री और व्यवस्थापक-सभाके सदस्योंको इस प्रकारका कानून शीघ्र ही स्वीकृत करा लेना चाहिये।

भारत गरीब देश है। इसमें धनकी उत्पत्ति शीघ्रतासे बढ़ानेके लिये हमारी भारत-सरकार कुछ नदियोंपर बड़े-बड़े बाँध बँधवाकर बिजली उत्पन्न करनेकी योजनाएँ तैयार कर रही है। इस बिजलीकी सहायतासे बड़े-बड़े कारखाने और छोटे उद्योग-धंधे चलाये जायँगे। नदियोंसे नहरें भी निकाली जायँगी, जिससे सिंचाईमें सहायता मिलेगी और अन्नसंकट दूर होगा। कोसी, दामोदर, महानदी नर्मदा और ताप्तीपर बाँध बनाये जानेकी योजनाएँ विचाराधीन हैं। धन-उपार्जनकी ये योजनाएँ बहुत अच्छी हैं; परंतु इनके सम्बन्धमें एक बात अवश्य ही विचारणीय है। श्रीनर्मदाजीके दोनों किनारे तपोभूमि माने गये हैं। हमारे शास्त्रोंमें आदेश किया गया है कि श्रीनर्मदाजीके पवित्र तटपर तपस्या करनी चाहिये। इस आदेशके अनुसार सैकड़ों संत-महात्मा आजकलके जमानेमें भी श्रीनर्मदाजीके किनारे गुफाओं और झाड़ियोंमें शान्तिपूर्वक तप कर रहे हैं और हजारों व्यक्ति प्रतिवर्ष बड़ी श्रद्धासे श्रीनर्मदाजीकी परिक्रमा करते हैं। श्रीनर्मदाजीपर बाँधोंके बन जानेसे किनारोंपर बड़े-बड़े कारखाने स्थापित हो जानेसे श्रीनर्मदाजीके किनारेकी भूमि तपस्याके योग्य तो नहीं ही रह जायगी। नहर निकालकर सिंचाई करनेसे नियमानुसार परिक्रमा भी नहीं की जा सकेगी; इसलिये आजकल आध्यात्मिक उन्नतिका जो एक प्रधान साधन भारतवासियोंको प्राप्त है, वह लुप्त हो जायगा। थोड़ी बहुत भौतिक उन्नतिके लिये हमको आध्यात्मिक उन्नतिके साधनसे वंचित हो जाना पड़ेगा। भारतवासियोंकी सर्वतोमुखी उन्नतिके लिये यह आवश्यक है कि भौतिक और आध्यात्मिक उन्नतिके साधनोंके सामंजस्यका सर्वदा ध्यान रखा जाय। श्रीगङ्गाजीकी पवित्रता तो शहरोंके गंदे पानीद्वारा नष्ट हो ही चुकी है। भारतमें केवल नर्मदा ही एक ऐसी नदी है, जिसकी पवित्रता अभीतक नष्ट नहीं हो पायी है। हम भारत-सरकारसे अनुरोध करते हैं कि आध्यात्मिक उन्नतिके साधनको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये भारतवासियोंके तपके लिये शान्तिपूर्ण स्थान सुरक्षित रखनेके उद्देश्यसे नर्मदाजीपर बाँध बनानेकी योजनाको त्याग दे। श्रीनर्मदाके किनारे निवास करनेवाले व्यक्तियोंसे—विशेषकर मण्डला, जबलपुर, होशंगाबाद, हंडिया, ओंकारेश्वर, महेश्वर, बड़वानी, कर्नाली, चाँदोई, शुक्लतीर्थ, भड़ौच इत्यादि स्थानके निवासियोंसे अनुरोध करते हैं कि वे सभाएँ करके भारत-सरकारसे इस योजनाको त्याग देनेकी प्रार्थना करें और अपने प्रतिनिधियोंद्वारा वैधानिकरूपसे आन्दोलन करें। यदि योजनाके अनुसार श्रीनर्मदाजीपर बाँध बनानेका कार्य आरम्भ हो गया तो संत-महात्माओं और परिक्रमावासियोंको बहुत कष्ट होगा और देशवासियोंकी आध्यात्मिक उन्नतिमें बड़ी बाधा उपस्थित हो जायगी। भौतिक उन्नति देशवासियोंके सुखका एक साधन है और जब किसी भौतिक उन्नतिके साधनसे आध्यात्मिक उन्नतिके साधनमें बाधा पड़ती है, तब भौतिक उन्नतिके उस साधनको—धनके उपार्जनके उस तरीकेको त्याग देना ही उचित है।

तुलसीका बिरवा

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न)

छोटा-सा परिवार था गाँवका। खपरैलका मकान और विस्तृत आँगन था। आँगनके बीचमें तुलसीका चबूतरा था, उसमें तुलसीका बिरवा लगा हुआ था। हवाके झकोरेसे वह धीरेसे झूम उठता। प्रातः होते ही गृहिणी स्नान करती और जलभरा लोटा लेकर तुलसीपर चढ़ा देती। धूप देती और पृथ्वीपर माथा टेककर प्रार्थना करती। बच्चे उसके पीछे खड़े रहते। वे भी अपनी माताके साथ तुलसी मैयाके चरणोंमें सिर झुकाते। अपनी कामनाकी पूर्तिके लिये निवेदन करते और इसी प्रकार जब अंशुमाली अस्ताचलकी ओर चले जाते, गृहिणी घृतका छोटा-सा दीप लाकर तुलसीके समीप रख देती और प्रार्थना करती। बच्चे तब भी साथ रहते।

उनके मनमें आशा थी, विश्वास था और थी दृढ़ श्रद्धा—यह माँ है, जननी है, इससे हमारी सुख-शान्ति अक्षुण्ण रह सकेगी। यह कल्याणकर्त्री है। इससे लोक और परलोक दोनों ही सुधर सकेंगे। उनका मन सात्त्विक भावोंसे भर जाता; उनके मनमें दया, प्रेम और दिव्य गुणोंकी अभिवृद्धि होती। यह तुलसीकी कृपा है—यह वे अनुभव करते हैं।

परिवर्तनशील समयने परिवारमें परिवर्तन किया। परिवारमें वृद्धि हुई। लड़के बड़े हुए। उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। वे सभ्य बने।

अब वहाँ खपरैलका मकान नहीं है। वहाँ पक्का मकान बन गया। कुर्सी, मेज और आधुनिक सजावटकी साधारण सामग्रियोंसे घर भर गया। गंगाजल अब वहाँ ढूँढ़नेसे नहीं मिलता, अब तो वहाँ अंग्रेजी दवाओंकी शीशियाँ चारों ओर दीखने लग गयीं और तुलसीका बिरवा ......वह तो कभी उखाड़कर फेंक दिया गया था। उसकी आवश्यकता नहीं थी। व्यर्थ ही आँगनमें स्थान घेर रखा था उसने, शिक्षित मस्तिष्कने यही निश्चय किया था। तुलसी-चबूतरेसे आँगनकी शोभा कौन बिगाड़े। अब प्रातः न तो किसीको जल चढ़ाना पड़ता है और न वहाँ धूपकी सुगन्ध ही उड़ती है। सन्ध्या-समय दीप-दानके लिये न तो गृहिणी आती है और न उसके आँचलका छोर पकड़े हुए शिशु एकत्र होते हैं। पूजा गयी, श्रद्धा गयी, प्रार्थना गयी। अब तो चाय, समाचार-पत्र और शृंगार आ गये हैं!

......और साथ-ही सारा परिवार छिन्न-भिन्न हो गया। सब अलग हो गये। सब अपने-अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिये प्रयत्न करने लगे। अब वहाँ सुख-शान्तिके स्थानपर दुःख-दैन्य भर गया। जहाँ प्रेमकी सरिता प्रवाहित होती थी, वहाँ ईर्ष्याकी अजस्त्र धारा बहने लगी।

× × ×

धरित्रीपर पैर रखनेके लिये निशा काली चादर ओढ़ रही थी और उक्त परिवारकी वृद्धा गृहिणी अपने पड़ोसीके घर गयी थीं। उन्होंने देखा, वहाँ तुलसीका बिरवा लगा हुआ है आँगनके बीचमें चबूतरेपर और पूजा हो रही है। घरके समस्त बच्चे एकत्र होकर सिर झुका रहे हैं। परिवारमें सुख-शान्तिका निवास है। दुःख-दैन्यका नाम नहीं।

गृहिणीकी स्मृति उदित हुई है। उनकी आँखोंसे दो बूँद आँसू लुढ़क पड़े। उनके हृदयने कहा यदि मेरा आग्रह मान लिया गया होता, वह आँगनका चबूतरा बचा होता और उसपर होता हरा-भरा माता तुलसीका बिरवा......

तुलसी-महिमा

तुलसीकाननं चैव गृहे यस्यावतिष्ठते। तद्गृहं तीर्थभूतं हि नायान्ति यमकिङ्कराः॥
तुलसीमञ्जरीभिर्यः कुर्याद्धरिहरार्चनम्। न स गर्भगृहं याति मुक्तिभागी भवेन्नरः॥

जिसके घरमें तुलसी-वन होता है, वह घर तीर्थरूप हो जाता है, वहाँ यमदूत नहीं आते। जो मनुष्य तुलसीमंजरीसे भगवान् हरि-हरकी पूजा करता है, वह फिर गर्भमें नहीं आता, वह मुक्तिका भागी हो जाता है।

हिंदू-संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीमल्लिनाथजी शर्मा चोमाल)

बहुत-से विद्वानोंका मत है कि 'संस्कृति' और 'सभ्यता'—प्राय: एक ही अर्थके बोधक हैं; क्योंकि ये दोनों शब्द प्राय: मिलते-जुलते-से ही प्रतीत होते हैं। परंतु वे एक ही अर्थके बोधक न होकर कुछ भिन्नता रखते हैं। क्योंकि 'संस्कृति' शब्द तो किसी जाति या व्यक्तिके मानसिक, आत्मिक और बौद्धिक विकाससे सम्बन्ध रखता है और 'सभ्यता' शब्द उसके केवल भौतिक विकाससे।

संस्कृत-व्याकरणके आधारपर 'संस्कृति', 'संस्कृत' और 'संस्कार'—ये तीनों शब्द एक ही अर्थके वाचक और मिलते-जुलते-से ही प्रतीत होते हैं। 'संस्कृति' शब्दसे 'संस्कृत' शब्दका अर्थके विषयमें इतना ही भेद प्रतीत होता है कि 'संस्कृत' शब्दका प्रयोग बहुधा संस्कार की हुई वस्तुके अर्थमें ही होता है और 'संस्कृति' शब्दका प्रयोग संस्कार अर्थमें। अत: संस्कृति और संस्कार एक ही वस्तुके नाम हैं।

सभ्यता भी संस्कृतिमूलक ही है, सभ्यताका आधार संस्कृति ही है; क्योंकि जन्म-जन्मान्तरोंकी संस्कृतिके आधारपर जो क्रियात्मक आदर्श रखे जाते हैं, वे ही सभ्यता कहलाते हैं। उदाहरण यह है कि जैसे कोई जाति या व्यक्ति किसीका आदर-सत्कार आदि अच्छे काम करता है, तो वहाँ यही कहा जाता है कि इस जातिकी या इस व्यक्तिकी संस्कृति ऐसी ही है कि जो इनमें इस प्रकारकी सभ्यता चली आ रही है।

यहाँ 'संस्कृति' शब्द आत्मा, बुद्धि और मनके विकासको प्रत्यक्षरूपसे सूचित करता है और 'सभ्यता' शब्द उसके क्रियात्मक विकासको। अत: किसी जातिके ऐहलौकिक और पारलौकिक जीवन बितानेके ढंग और उस विषयके विचारोंको भी संस्कृति कहा जा सकता है। तथा इस प्रकार उस जातिके आन्तरिक भावों और जीवन-सम्बन्धी विचारों एवं उसके उच्च आदर्शोंको भी संस्कृति कहा जा सकता है। सभ्यता तो संस्कृतिमूलक है ही; क्योंकि संस्कृतिरूपी बीजका विकास ही सभ्यता कहलाता है। संस्कृतिके द्वारा ही जातियोंकी श्रेष्ठताकी परीक्षा होती है।

हिंदू-जातिकी संस्कृति अन्य जातियोंकी संस्कृतिसे भिन्न है। यह भिन्नता ही इसकी विशेषता है। सृष्टिके प्रारम्भिक कालसे ही इस जातिकी संस्कृति इसकी अमूल्य निधि रही है। इस अमूल्य निधिको पाकर ही वेदव्यास, याज्ञवल्क्य और वसिष्ठ-जैसे ब्रह्मर्षि तथा राजा जनक और श्रीरामचन्द्र-जैसे राजर्षि—ये सब वैभवशाली होनेपर भी जन्मभर त्यागवृत्तिसे एवं साधुवृत्तिसे ही रहे। क्या किसी अहिंदू जातिमें ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं।

हिंदू-जातिने अपनी संस्कृतिरूपी निधिके बलपर ही संसारको—

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

—का निमन्त्रण दिया था। क्या मिस्र, यूनान और समस्त यूरोप इस बातको भूल गये हैं कि इनको संस्कृति और सभ्यताका पाठ किसने पढ़ाया था? सार यह है कि संस्कृतिके बलपर ही हिंदू-जाति आजतक अपने अस्तित्वकी रक्षा कर सकी है।

हिंदू-संस्कृति मनुष्यके सामने विशाल और गहरे आदर्शोंको रखती है। हिंदू-संस्कृति बतलाती है कि शरीर आत्मोन्नतिका साधनमात्र है; परंतु अन्य जातियोंकी संस्कृतियाँ बतलाती हैं कि शरीर ही जीवनका आदि-अन्त एवं सर्वेसर्वा है। अर्थात् अन्य जातियोंकी संस्कृतियोंमें जीवनका जो अन्तिम ध्येय है, वह हिंदू-संस्कृतिमें अन्तिम ध्येयकी पूर्तिका केवल साधनमात्र है।

हिंदू-जातिको छोड़कर अन्य जातियोंमें शरीरकी उपासना अधिक मात्रामें पायी जाती है। वे केवल शरीरकी उपासिका हैं। शरीरकी उपासना ही उनका अन्तिम ध्येय है; परंतु हिंदू-जाति केवल शारीरिक उन्नतिको अपना लक्ष्य नहीं बनाती, वह शारीरिक उन्नतिको आध्यात्मिक उन्नतिका केवल साधन या सहायक मानती है। शारीरिक उन्नति करते हुए आध्यात्मिक उन्नति करना हिंदू-संस्कृतिका अन्तिम लक्ष्य है।

हिंदू-जातिकी संस्कृतिको छोड़कर अन्य जातियोंकी संस्कृतिमें आत्मविकासके लिये कोई स्थान नहीं। इसलिये वे अधूरी हैं। वे यह नहीं जानतीं कि आत्मविकासके बिना जीवनमें सुख और शान्ति कहाँ है; परंतु हिंदू-संस्कृतिमें आत्मविकासको प्रथम स्थान दिया गया है। इसीलिये अन्य संस्कृतियोंसे हिंदू-संस्कृति श्रेष्ठ और

दृढ़ है, तथा इससे आत्माको शान्ति और सुख मिलता है।

हिंदू-संस्कृतिका लक्ष्य है आवश्यकताओंको घटाना और उनको नियमित—नियन्त्रित करना; परंतु अन्य संस्कृतियोंका लक्ष्य है—आवश्यकताओंको बढ़ाना और उनको अनियमित और अनियन्त्रित करना। आवश्यकताओंके बढ़ानेको ही वे उन्नति मानती हैं। पाश्चात्त्योंमें किसी जातिकी उन्नतिका निर्णय उसकी आवश्यकताओंसे होता है। जिस जातिमें आवश्यकताओंकी जितनी भी अधिकता पायी जाती है वह उतनी ही उन्नत मानी जाती है।

हिंदू-संस्कृतिका लक्ष्य है 'जियो और जीने दो'; परंतु अन्य संस्कृतियोंका लक्ष्य इससे विपरीत है। वे कहती हैं कि 'हम जीयेंगी, किंतु दूसरोंको जीने नहीं देंगी।' यह लक्ष्य अधूरा एवं अपूर्ण है। अतः संसारकी समस्त जातियाँ जबतक हिंदू-संस्कृतिके लक्ष्यको ग्रहण नहीं करेंगी, तबतक उनको शान्ति और सुख मिलना कठिन है। हिंदू-संस्कृति तो अपनी श्रेष्ठताको अपने लक्ष्यके द्वारा ही प्रकट करती है—

सर्वे वै सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

यही नहीं, हिंदू-संस्कृतिमें ऐसे अनेक एवं असंख्य आदर्श भरे पड़े हैं। हिंदू-संस्कृति आदर्शोंका भण्डार है।

आदर्श शिष्य

(१)

मिट्टी बनायी द्रोण-मूर्ति भीलने थी; उसे श्रद्धासे सजीव, भक्तिसे भी किया भव्य सा;
साधन-निरत गुरुदेवकी दयासे हुआ विज्ञ शास्त्र-विद्यामें सदेह शौर्य नव्य-सा।
माँगा गया दक्षिणामें दक्षिण अँगूठा जब, माना गुरुभक्तने इसे भी भवितव्य-सा;
सादर अँगूठा काट द्रोणके करोंमें दिया, धन्य-धन्य शिष्य एक ही हो 'एकलव्य'-सा॥

(२)

'उपमन्यु' भी थे गुरु धौम्यके अनन्य भक्त, भूखे ही जिन्होंने गुरु वचन निभाया था;
आकके चबाके पत्र अन्ध हो गये थे, किंतु प्रतिबंध मान कभी अन्न नहीं खाया था।
'आरुणि' ने गुरुके निदेशसे शरीरको ही नीर रोकनेके लिये मेड़-सा बनाया था,
'वेद' ने भी सेवाकी अनूठी गुरुदेवजू की, तीनोंने सुयश, वरदान श्रेष्ठ पाया था॥

(३)

'कृष्ण' औ 'सुदामा' गुरुहेतु गये ईंधनको, वन घनघोरमें घटा भी घिर आयी थी;
संझाके समय झंझानिलका प्रकोप हुआ, लोप हुआ दिनका, न राह दी सुझाई थी।
क्लेश सहे साथ हाथ धर एक दूसरेका, भीगते हुए ही रात वनमें बितायी थी;
उदित प्रभात, गुरु मुदित खड़े थे पास; दोनोंको अभीष्ट शुभ आशिष सुनायी थी॥

(४)

सत्य था सेवासे रिझाया 'सत्यकाम' ने भी,
रामने भी गुरुको प्रमोद पहुँचाया है;
'कौत्स'ने, 'उतंक'ने, अनेक राव-रंकने भी
गुरु-चरणोंमें प्रेम परम बढ़ाया है।
विधि-हरि-हरकी उपाधि जिनको है मिली,
जीवमें जिन्होंने ज्ञान-ज्योतिको जगाया है,
उन गुरुदेवको प्रणाम है हमारा नित्य
जिनका महत्त्व श्रुतियोंने सदा गाया है॥

—'राम'

हिंदू-संस्कृति और जीवरक्षा

(लेखक—श्रीसैयद कासिम अली साहित्यालंकार)

हिंदू-संस्कृतिमें यह माना गया है कि सभी चराचर जीवोंमें ईश्वर व्याप्त है। आज तो अधिकांश चीजोंका सजीव होना विज्ञानसे भी सिद्ध हो चुका है। श्रीजगदीशचन्द्र वसु महोदयने वनस्पतियोंमें जीवका होना सिद्ध कर दिया था यह सभी जानते हैं। फिर कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी और मनुष्यको तो क्रमानुसार सभी जानते हैं। इनमें किसी-किसीके मतसे इन्द्रिय-न्यूनता भले ही हो; किंतु हैं सभी जीवधारी। जैसे हमें चोट लगनेपर दु:ख-दर्द होता है, वैसे ही प्राणिमात्रको होता है। तब इन सबकी रक्षा हमें क्यों नहीं करनी चाहिये। परंतु बड़े ही संतापका विषय है कि आज हमारे भारतमें सब प्राणियोंका प्राण मनुष्य स्वयं दूसरे मनुष्यकी हिंसा करके अपने धर्म, अपनी जाति और अपने ऐश्वर्यका साइनबोर्ड लगाये हुए हैं!

मारकेटिंग रिपोर्टके अनुसार हमारी गौ-माताकी संख्या १८ करोड़के लगभग थी और उसमें डेढ़ करोड़ मरनेवाली तथा पौन करोड़ वध की जानेवाली गौओंके चमड़ेका विवरण है। भारत ही भूमण्डलमें चमड़ेकी सबसे बड़ी मंडी है। गर्भिणी गौके भ्रूणोंतकके कोमल चमड़ेसे दस्ताने, बटुए, घड़ीके फीते, चप्पल और बूट तैयार होते हैं; बछड़ोंकी खालोंसे हैंडबेग, मनीबेग, अटैची, सिगरेट केस आदि बनते हैं! काफ क्रोम-लदर केवल गौकी ही खालके बनते हैं। भारतमें बारह बड़े कारखाने जूतोंके हैं, जिनमें ६०० लाख खालोंका व्यय होता है तथा लगभग ५० हजार जूते प्रतिदिन बनते हैं। लाखों खालें विदेशोंको जाती हैं। अभी २२ अप्रैल ४९ई० को भारत-सरकारने केवल पोलैंडको गायका कच्चा चमड़ा एक लाखकी संख्यामें देनेका निश्चय किया है। यह कच्चा चमड़ा वध की हुई गौओंका होता है। इसके अलावा सूखा मांस, हड्डी, सींग, खून और आँतोंको भी विदेशोंमें भेजकर कई लोग लखपती बन रहे हैं! अतः यह निःसन्देह सत्य है कि भारतकी गोमाता और उसका सहायक पशुधन चमड़ेके व्यापारकी घृणित बलिवेदीपर चढ़ चुका है! यह बूटभक्ति और क्रोम-लदरके जूते हमारे उपयोगी पशुधनको नष्ट कर रहे हैं!! पक्षी और जंगली जानवर शिकारके रूपमें अधिकांश मारे जाते हैं। धीमर और भोई जो कि उच्च घरोंमें भोजनालयकी स्वच्छता आदिका काम करते हैं, प्रतिदिन मछली पकड़कर बेचते हैं। कई धर्मात्मा जागीरदार अपनी कृषिकी रक्षाके लिये खुद नहीं तो, नौकरोंके द्वारा दीन-हीन पशुओंका वध कराते हैं; परंतु साश्चर्य खेद तो यह है कि सैकड़ों पूँजीपति जन्मजात अहिंसावादी होते हुए ब्याज और लेन-देनके व्यवसायमें मनुष्योंका पतन कर रहे हैं और कई साम्प्रदायिक व्यक्ति राजनीतिके ज्वारभाटेमें दिन-दहाड़े मानवोंका रक्त बहा रहे हैं। ऐसी दशामें इस प्रकारके क्रूर हृदयोंके क्रूरसमाजसे जीवरक्षाकी आशा करना कैसे सम्भव है? साधारण बातपर अथवा किसी पशुकी रक्षाके नामपर अथवा साम्प्रदायिक मुक्ति या स्वर्गके लालचमें मनुष्यका वध करने या करानेवाले कैसे जीवरक्षक हो सकते हैं। परंतु मनुष्य साहस करे और युक्तिसे काम ले तो कोई भी काम असम्भव नहीं है। यथार्थमें भारतका उद्धार शान्ति, अहिंसा अथवा जीवरक्षाके आदर्श सिद्धान्तपर ही हो सकता है; उसमें स्वार्थ, पक्षपात और लोभके साथ-साथ राजनीतिके दाँव-पेंचको भी छोड़ना होगा।

१-हमको इसके लिये 'जीवरक्षा-मण्डल' स्थापित करने चाहिये। ये जीवरक्षा-मण्डल हर-एक प्रान्त, जिला, तहसील और कस्बोंतकमें स्थापित हों और इनके द्वारा जीवरक्षाका साहित्य प्रचारित हो।

२-हर एक जीवरक्षा-मण्डलमें मांसाहारके विरोधी लोग सदस्य हों।

३-हर एक सदस्य ऐसे लोगोंको प्रोत्साहन दें, जो जीव रक्षामें सहयोग दें और पूर्ण विश्वास रखते हों तथा जीवहिंसकोंको नौकरी आदि न दिलायें और न अपने पास रखें।

४-ऐसा व्यवसाय न करें जिससे किसी भी प्राणीको असहनीय दु:ख हो।

५-यदि केन्द्रीय जीवरक्षा-मण्डल कोई परीक्षा प्रारम्भ करे और उसमें जीवरक्षक, उपकारी, कृपालु, दयासागर आदि उपाधि प्रदान करता रहे तो उससे भी लाभ हो सकता है।

६-जीवरक्षक, सभासद् प्रान्तीय और भारतीय सरकारको भी उनकी नीति, प्रेरणा तथा कार्यक्रमोंपर सम्मति दिया करें।

७-ऐसे अखबार, पुस्तकोंका प्रकाशन बढ़ाया जाय और वह ग्रामोंकी झोपड़ियोंतक पहुँचाया जाय। इस साहित्यमें जीवहिंसाकी बुराई तथा जीवरक्षाके लाभ बताये जायँ।

८-जीवरक्षक सदस्य पहले मानव-रक्षा, फिर उपयोगी पशु-पक्षियोंकी रक्षाकी शपथ लेकर अपना प्रण पूरा करें।

९-देहातोंके सदस्य आर्थिक झमेलोंकी समस्याका भी समाधान समय, स्थान आदिके अनुकूल करें।

१०-उपयोगी और अति उपयोगी पशु तथा गौओंकी रक्षाकी अटल प्रतिज्ञा की जाय और इनका बेचना भी रोका जाय तथा उन्हें बेचा जाय तो ऐसे लोगोंको जो कि स्वप्नमें भी वधिक-वर्गसे सम्पर्क न रखें और किसी भी लालचमें आकर उनको न दें!

११-जीवरक्षक सदस्य किसी जाति-धर्मके विरुद्ध निन्दित कार्य न करें।

१२-जीवरक्षाके प्रेमी ग्रामपंचायत, जनपद, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, म्युनिसिपलटी और कौंसिल आदिमें अपने अटल प्रतिज्ञाधारी व्यक्ति चुनें।

१३-जीवरक्षक व्यक्ति विधर्मी, विभिन्न भाषा-भाषी और परिगणित दलित तथा अछूत आदि जातियोंमें विशेष प्रचार करें।

१४-बाजार, मेला और सिनेमाओंके द्वारा जीवरक्षाके आर्थिक लाभ तथा स्वास्थ्यवर्द्धक दृश्य विशेष रूपसे बतलाये जायँ।

१५-जीवहिंसकोंके विरुद्ध शान्तिमय प्रदर्शन भी समयानुसार किये जायँ।

१६-उपयोगी और आदर्श पशुशालाएँ खोली जायँ तो और भी उत्तम हो।

१७-जीवरक्षक-मण्डल लोकोपकारी कामोंमें विशेष भाग लें।

१८-पशुओंकी बीमारी आदिको दूर करनेके लिये भी अधिक प्रयत्न किये जायँ।

१९-जीवरक्षाका कार्य रचनात्मक ढंगसे प्रारम्भ किया जाय और आवश्यकतानुसार पूँजीपतियोंसे सहायता भी ली जाय।

२०-सरकारसे भी आर्थिक सहायता आदि ली जा सकती है।

इन बातोंसे जीवरक्षा-प्रेमियोंको अवश्य सफलता मिल सकती है; परंतु पहले इसके संचालनके लिये संस्थापकोंकी आवश्यकता है, इसपर और पाठक भी अपने विचार प्रकट करें।*

संस्कृतिका स्वार्पणयज्ञ

(लेखक— पं० श्रीमंगलजी उद्धवजी शास्त्री, 'सद्विद्यालंकार')

ब्रह्मविद्यामें जीवनपर्यन्त रत रहनेवाले आर्योंका यह निवासस्थान भारतवर्ष कहलाता है। इस देशमें एक, दो, पाँच या सौ-दो सौ नहीं; किंतु लाखों नर-नारियोंने धर्म और संस्कृतिके लिये अपनी सत्ता, सम्पत्ति एवं मस्तकतकका हँसते-हँसते बलिदान कर दिया है। आज हमारे नेतृवृन्द जिनका यशोगान करते नहीं अघाते, उनसे कई-गुने अधिक बलिदानके दृष्टान्त हमारे प्राचीन इतिहास-पुराणादिमें भरे पड़े हैं। उन स्वार्पणयज्ञके अमर यजमानोंके न कीर्तिमन्दिर हैं और न तो कोई स्मारक ही; एवं न उन्हें जीवनकालमें किसी पद या अधिकारका ही लोभ था। उनका वह त्याग सच्चा यज्ञ था।

आजका त्याग और कष्ट-सहन तो एक व्यापारमात्र है, जो किसी-न-किसी वस्तुके बड़े प्रलोभनसे किया जाता है, जिसके न मिलनेपर क्षुब्ध हृदयसे उसे स्वत्व बतलाकर माँगा जाता है। इसीसे आज शासकवर्गमें कारागारभोगी लोगोंकी ही बहुलता है, फिर चाहे उनमें और कोई योग्यता न हो। उनपर कुर्बानीकी मुहर जो लगी है! वस्तुतः विचार करनेपर निश्चय होता है कि इसमें त्यागके नामपर भोगका ही विस्तार है!

हमारी आर्य-संस्कृति जो कुछ भी त्याग करनेकी आज्ञा देती है, हमारा धर्म जिस वस्तुका स्वार्पण माँगता है, उसे ही स्वार्पणयज्ञ कहा जा सकता है,चाहे वह समर्पण की हुई चीज छोटी-से-छोटी ही क्यों न हो। जिस कालमें, जिस किसी भी अवस्थामें धर्म और संस्कार स्वार्पणके लिये पुकार करता है, उसी कालमें, उसी अवस्थामें माँगी हुई प्रिय-से-प्रिय वस्तुका त्याग

* बम्बईमें 'जीवदयामण्डल' बहुत दिनोंसे स्थापित है और वह बहुत ही सुन्दर कार्य कर रहा है।

ही सच्चा स्वार्पण है।

हो सकता है कि हमारा धर्म, हमारी संस्कृति कभी छोटे से धागेका ही स्वार्पण चाहे और कभी मस्तकका बलिदान भी माँग ले; परंतु ऐसे अवसरपर भारतीय नर-नारियोंने अपनी प्यारी-से-प्यारी वस्तु, अपनी सर्वसम्पत्ति या अपना मस्तकतक भी दे डालनेमें कभी संकोच नहीं किया है। स्वार्पणकी भावनासे परिपूर्ण भक्तजन जितनी प्रसन्नतासे एक टूटा धागा दे देते हैं, उतनी ही प्रसन्नतासे वे अपने प्राणोंतकको न्योछावर कर देते हैं। इसी भव्यतासे तो आजतक हमारा मस्तक ऊँचा रहता आया है।

इसी बातको विशेष पुष्ट करनेके लिये यहाँ दो-एक उदाहरण दिये जाते हैं।

जूनागढ़के क्षत्रिय राजा राव महिपालदेव [राव दीयास] रणांगणमें धराशायी हुए। शत्रुसेना मार-मार करती हुई अन्तःपुरके अत्यन्त समीप आ पहुँची। इस समय अन्तःपुरमें रावका इकलौता पुत्र नौघड़ और राजरानी चिन्तातुर होकर रो रहे थे। अकस्मात् एक विश्वासपात्र मन्त्रीको कर्तव्यकी पुकार सुनायी पड़ी। उसने अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर रानी और कुमारको गुप्तमार्गसे बाहर निकाला और गिरनारकी भयानक घाटियोंको पार करके वे गिरिके जंगलमें स्थित एक छोटे-से गाँवमें जा पहुँचे।

गाँवमें देवायत नामका एक अहीर रहता था। उसको धर्मकी पुकार सुनायी पड़ी और उसने पतिहीना राजरानीकी एवं सुकोमल राजकुमारकी रक्षा करनेका वचन दिया।

मन्त्री निश्चिन्त होकर वहाँसे लौटा। बीचमें ही शत्रु-सेनाने उसे घेर लिया और भागी हुई महारानीसहित राजकुमारका पता बतानेके लिये उसपर जोर डाला गया। स्वामिभक्त मन्त्रीने इस बातको बतानेसे साफ इनकार कर दिया। शत्रु-सेनापतिने उसे अनेकों प्रलोभन दिये और पता न बतानेपर अन्तमें कत्ल कर डालनेका भय दिखाया; परंतु मन्त्री जरा भी विचलित नहीं हुआ। अन्तमें उसे कत्ल कर दिया गया। उसने हँसते-हँसते पुष्पमालाकी भाँति खड्गको अपना सिर अर्पण कर दिया! इसे कहते हैं सच्चा स्वार्पणयज्ञ।

कुछ ही दिनों बाद शत्रुदलको मालूम हो गया कि रानी और राजकुमार दोनों अमुक गाँवके देवायत नामके एक अहीरके संरक्षणमें रहते हैं। शत्रु-सेना वहाँ भी जा पहुँची। सेनाध्यक्षने अहीरको रानी और कुमारको सुपुर्द करनेकी आज्ञा दी; परंतु उस अहीरने इनकार कर दिया। अन्तमें सेनाध्यक्षने आज्ञा दी कि 'अहीरको बाँध लो और उसके घरके कोने-कोनेको छानकर कुमारका पता लगाओ।'

देवायतने मन-ही-मन तुरंत अपने धर्म और कर्तव्यका निश्चय कर लिया। पत्नीको बुलाकर उसने नेत्रके संकेतसे कुछ समझाया, तदनन्तर स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा दी—'कुमार नौघणको यहाँ हाजिर करो।'

चतुर अहीरनी अपने कठिन कर्तव्यको उसी क्षण समझ गयी। उसने अपने इकलौते पुत्रको कुमारके कपड़े पहनाकर उन अत्याचारियोंके सम्मुख उपस्थित किया। पुत्रको इस तरह यमदूतोंके हाथों सौंपनेमें अहीर-दम्पतिके चेहरेपर जरा भी विषादकी रेखा नहीं आयी। आश्चर्यकी बात तो यह थी कि उस ग्यारह-वर्षीय अहीरपुत्रने भी अपना परिचय निःसंकोच कुमार नौघणके नामसे ही दिया। निर्दयी सेनापतिने उस किशोर बालकको माता, पिता और एक छोटीसी बहिनके सामने ही कत्ल कर डाला; परंतु उनमेंसे किसीके नेत्रसे एक आँसू भी न गिरा। सभीके मुख अपने शरणागत राजकुमारकी रक्षा हो जानेके कारण प्रसन्न थे और था हृदयमें सच्चे त्यागका सन्तोष!

(२)

अब एक दूसरा उदाहरण लीजिये। कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा थी। एक गरीब किसानके खेतमें पहली फसलमें सर्वप्रथम एक ही नन्हा-सा तरबूज फला। उसे बेचनेके लिये वह बाजारको चला। घरमें अन्नका एक कण भी नहीं था। बाल-बच्चे भूखे थे। तरबूजका जो भी मूल्य आये, उसीसे थोड़े चावल लाकर उसे आजका नव-वर्षोत्सव मनाना था।

बाजारमें आते ही एक आदमीने उस छोटे-से तरबूजको खरीदना चाहा। बीचमें एक धनी सेठ आ धमके। सेठने भी उसी तरबूजको खरीदना चाहा और तुरंत मोल लगा दिया 'एक रुपया!'

एक रुपया कितना बड़ा था उस गरीब किसानके लिये! उसने तो इकन्नीकी ही आशा रखी थी; परंतु अब तो यह मामला स्पर्धामें आ पड़ा! होड़ लग गयी। सामनेवाले आदमीने कहा—'दो रुपये।'

बात बढ़ती ही गयी। एक ही तरबूजके सौ रुपयेतक दाम चढ़ गये। सेठजी चाहते थे, पहली ऋतुके पहले तरबूजके सागका स्वाद लेना और सामनेवाला आदमी चाहता था अन्नकूट-महोत्सवमें भगवान्को उस प्रथम तरबूजका भोग लगे। किसान तो ताकता ही रह गया। गाँवमें दूसरा तरबूज उस दिन मिलना असम्भव था, मौसिमकी शुरुआत जो थी।

आखिर किसानने उस साधारण आदमीसे पूछा—

'भाई! सेठजी तो धनी हैं, वे तो एक हजारके मूल्यपर भी इसे ले सकते हैं; आप तो इतने धनी भी नहीं दिखायी पड़ते। फिर इतनी कीमत देकर इस तरबूजके खरीद करनेपर क्यों तुले हो?'

उस आदमीने कहा—'देखो भाई! मेरे पास जो कुछ भी सम्पत्ति है, सब भगवान्की ही तो है। फिर मेरे जीवनकी यह सम्पूर्ण सम्पत्ति इन्हीं सौ रुपयोंमें समाप्त हो जाती है। आज मन्दिरमें उत्सव है। भगवान्के लिये अनेक शाक-पाक बने हैं। मैंने मन्दिरकी पाकशालामें देखा, सिर्फ तरबूजके सागकी ही कमी है। मैं भगवान्के लिये अपना सर्वस्व देकर भी इसीलिये, इसे खरीदना चाहता हूँ।'

किसानने सोचा—एक ओर तो रुपयोंका ढेर है; मैं इस समय यदि चाहूँ तो दो सौ रुपये भी ले सकता हूँ। परंतु भगवान्के प्रति मेरा भी तो कोई कर्तव्य है।........भगतजी कह रहे हैं कि आज भगवान्के अन्नकूटमें तरबूज नहीं है, और उसीके लिये वह अपना सर्वस्व दे देना चाहते हैं।

ज्यों-ज्यों किसान सोचता गया, उसके अन्तःकरणमें त्यों-ही-त्यों प्रकाश बढ़ता गया। आखिर उसने निश्चय किया—

'मेरा सर्वस्व भी तो एक इसी तरबूजमें है। भला मैं ही क्यों इस सर्वस्वको भगवान्के श्रीचरणोंमें समर्पित न कर दूँ? बच्चोंको आज खाना न मिलेगा,न सही; मैं भी भूखा रहूँगा; पर ऐसा सुअवसर भी तो रोज-रोज नहीं आता।

...फिर मैंने और मेरे बच्चोंने तो भरपेट खाया ही कब है! एक दिन और उपवास सही।' दोनों ग्राहक देखते रह गये, वह सीधा मन्दिरमें चला गया और बड़े प्रेमसे उसने उस तरबूजको भगवान्के सम्मुख रख दिया!

तरबूज क्या था? एक पाईकी ही तो चीज थी। पर किसानका तो उसीमें सर्वस्व था। आज यदि वह चाहता तो उसी एक तरबूजके मूल्यसे वह अपने कुटुम्बको छः महीनोंतक लगातार मिष्टान्न खिला सकता था; परंतु नहीं, सच्चे स्वार्पणमें स्वार्थकी दुर्गन्ध कैसी। यही तो सच्ची कसौटी है। और वह भी जीवनमें एक बार।

इन दोनों दृष्टान्तोंपर विचार करनेसे यह निश्चय होता है कि पहले दृष्टान्तमें अपने मस्तकका बलिदान देनेवाले मन्त्रीसे, अहीरपुत्रके स्वार्पणसे और उस अहीरदम्पतिके अपने इकलौते प्यारे पुत्रके बलिदानसे, दूसरे दृष्टान्तवाले किसानके एक तरबूजका मूल्य भी कोई कम नहीं है। समयपर किये हुए बलिदानका मूल्य समान ही होता है। क्योंकि वह सर्वस्वका स्वार्पण है! सो भी धर्म और संस्कृतिके लिये।

हमारा भारतवर्ष ऐसे ही अनेक स्वार्पण-यज्ञोंकी पवित्र यज्ञभूमि है। ऐसे महायज्ञोंसे ही हमारा मस्तक आजतक उन्नत रहा है और आगे भी रहेगा।

तृष्णाके त्यागमें ही सुख है

तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता। अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः। योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥

(महा० वन० २। ३४-३५)

तृष्णा सबसे बढ़कर पापिष्ठा है, सदा ही उद्वेग उत्पन्न करनेवाली मानी गयी है। उसके द्वारा अधिकतर अधर्ममें ही प्रवृत्ति होती है। वह बड़ी भयंकर है और पापकर्मोंमें ही बाँध रखनेवाली है। दुष्ट बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये जिसका त्याग अत्यन्त कठिन है, जो मनुष्यके बूढ़े होनेपर भी बूढ़ी नहीं होती—सदा जवान ही बनी रहती है, जो मानवके लिये प्राणोंका अन्त कर देनेवाले रोगके समान है; ऐसी तृष्णाको जो त्याग देता है उसीको सुख मिलता है।

हिंदुओंके मुख्य देवता

हमारे शास्त्र प्रत्येक पदार्थकी दृश्य जड सत्ताकी नियामक शक्तिको स्वीकार करते हैं। यह शक्ति चेतन है। यही उस पदार्थकी अधिदेव-शक्ति है। सर्वत्र व्यापक चेतन सत्ता तो सार्वत्रिक सर्वरूप है। पदार्थोंके स्वरूप, गुण, उपयोगके भेदोंका वह आधार नहीं हो सकती। पदार्थमें जिस चित्-सत्ताका अहंभाव हो, वही उसके गुण-रूपादिका आधार होगी। बिना चेतन आधारके जडकी कोई स्थिति नहीं हो सकती। शरीरमेंसे शरीराभिमानी चेतन जीव जब चला जाता है, तब शरीर रहता नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुके अधिष्ठातृ देवता हैं। उनके बिना वस्तुका अस्तित्व ही नहीं रहता।

इन देवताओंकी संख्या तैंतीस करोड़ कही गयी है। इनमें भी कुछ ही मुख्य हैं। त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) तथा उनकी शक्तियाँ (सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा) तथा सूर्य एवं गणेश तो भगवत्स्वरूप ही हैं। भगवान्‌के अवतार भी उनके नित्य सगुण लीलारूप हैं। इनको छोड़ देनेपर आधिदैविक जगत्‌के मुख्य देवता अष्ट लोकपाल (इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, अग्नि, निर्ऋति, मरुत् तथा अर्यमा), पूषा, भग अश्विनीकुमार तथा सोम (चन्द्र) का यज्ञोंमें प्रयोजन होनेसे श्रुतियोंमें इनका पर्याप्त वर्णन है।

देवगुरु बृहस्पति, देवसेनापति स्वामिकार्तिक—इन दोनोंकी आराधना होती है। दक्षिण-भारतमें स्वामिकार्तिक-की आराधनाका प्रचार मुख्यतः है। इस समय कामदेवकी उपासनाका लोप हो गया; किंतु भगवान् विष्णुके इस पुष्पधन्वा रूपकी आराधना तथा कामगायत्रीका कभी बहुत अधिक प्रचार था। प्रजापति दक्ष तो जगत्‌के प्रजापति हैं ही, यमराजजीके साथ उनके सहकारी चित्रगुप्तजीकी पूजाका विधान शास्त्र करते हैं। दैत्याचार्य शुक्रजी देवगुरु बृहस्पतिजीके समान ही पूज्य हैं। देवशिल्पी विश्वकर्माजी जैसे हिंदू-शिल्पसेवीमात्रके पूज्य हैं, वैसे ही दैत्य-शिल्पी मय ऐन्द्रजालिक तथा आसुर-शिल्पके आराधकोंके द्वापरके पीछेतक उपास्य रहे हैं।

प्रत्येक हिंदू अपने इष्टदेवताके साथ कुलदेवता, ग्रामदेवता, ग्रामकाली तथा ग्रामनागकी यथा समय पूजा करे—ऐसा शास्त्रीय आचार है। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकारकी कामनाओंकी पूर्तिके लिये उन कामनाओंको पूरा करनेवाले देवताओंकी उपासना की जाती है। इन देवताओंका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

देवराज इन्द्र

प्रत्येक मन्वतन्तरमें स्वर्गाधिपतिका यह पद बदलता है। इन्द्र शतक्रतु कहलाते हैं। सौ अश्वमेध यज्ञ करनेवाला चक्रवर्ती सम्राट् किसी मन्वन्तरमें इन्द्र होता है। अबतक वर्तमान कल्पके छः मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं। यह सप्तम मन्वन्तर चल रहा है। इस मन्वन्तरमें पुरन्दर देवराज हैं। इनकी पत्नी शची दैत्यराज पुलोमाकी पुत्री हैं। जयन्त और जयन्ती नामके इनके एक पुत्र और एक कन्या हैं।

देवराज इन्द्र वर्षाके अधिपति हैं। वृष्टिसे ही लोकका पोषण, जीवन चलता है। वैदिक कालमें महेन्द्रके निमित्त बृहत् यज्ञ होते थे। श्रुतियोंमें परमात्माका नाम इन्द्र तो आया ही है, देवराज इन्द्रकी भी स्तुतियाँ हैं। ये ऐरावतारूढ या मातलिद्वारा चलाये गये हरित वर्णके घोड़ोंसे जुते रथपर विराजमान हैं। त्रेतामें वानरराज वाली और द्वापरमें अर्जुन इन्हींके अंशसे उत्पन्न हुए थे। रावणपुत्र मेघनादने युद्धमें इन्हें पराजित किया था। द्वापरमें श्रीकृष्णचन्द्रने जब इनका यज्ञ बंद करवा दिया, तब रुष्ट होकर सात दिनतक ये प्रलय-वृष्टि करते रहे। भगवान्‌ने गोवर्द्धन धारण करके इनका दर्प मिटाया।

देवराज इन्द्रकी आराधना श्रुतियोंमें अनादि कालसे चली आती है। इन्होंने दीर्घकालतक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर ब्रह्माजीसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था। भारतीय अध्यात्मज्ञान मानव-जगत्‌में इन्हींकी कृपासे आया। यही आयुर्वेदके आदि उपदेष्टा हैं। भगवान् धन्वन्तरिने इन्हींसे आयुर्वेद प्राप्त किया था। अनेक शास्त्रोंका प्रवर्तन देवराजद्वारा जगत्‌में हुआ है। हमारी संस्कृति अधिदेवपर अधिष्ठित है। उसमें देवराजका पद अत्यन्त गौरवमय है।

राजराजेश्वर वरुण

सर्वप्रथम समस्त सुरासुरोंको जीतकर राजसूययज्ञ जलाधीश वरुणजीने ही किया था। ये सम्पूर्ण सम्राटोंके सम्राट् हैं। ये पश्चिमी दिशाके लोकपाल और जलोंके अधिपति हैं। पश्चिम समुद्र-गर्भमें इनकी रत्नपुरी विभावरी है। इनका मुख्य अस्त्र पाश है। इनके पुत्र

पुष्कर इनके दक्षिण भागमें सदा उपस्थित रहते हैं।

अनावृष्टिके समय भगवान् वरुणकी उपासना प्राचीन कालसे होती आयी है। वे जलोंके स्वामी, जलके निवासी हैं। श्रुतियोंमें इनकी अनेक स्तुतियाँ हैं। कुछ आचार्योंके मतसे केवल देवराज इन्द्रका पद कर्मके द्वारा प्राप्त होता है। वरुण, कुबेर, यम आदि लोकपाल कारक-कोटिके हैं। वे भगवान्‌के ही स्वरूप हैं।

धनाधीश कुबेर

महर्षि पुलस्त्यके पुत्र महामुनि विश्रवाने भरद्वाजजीकी कन्या इलविलाका पाणिग्रहण किया। उसीसे कुबेरजीकी उत्पत्ति हुई। भगवान् ब्रह्माने इन्हें समस्त सम्पत्तिका स्वामी बनाया। ये तप करके उत्तर दिशाके लोकपाल हुए। कैलासके समीप इनकी अलकापुरी है।

श्वेतवर्ण, तुन्दिल शरीर, अष्टदन्त एवं तीन चरणोंवाले, गदाधारी कुबेरजी अपनी सत्तर योजन विस्तीर्ण वैश्रवणी सभामें विराजते हैं। इनके पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रद्वारा नारदजीके शापसे मुक्त होकर इनके समीप स्थित रहते हैं। इनके अनुचर यक्ष निरन्तर इनकी सेवा करते हैं।

प्राचीन ग्रीक भी प्लूटो नामसे धनाधीशको मानते थे। पृथ्वीमें जितना कोष है, सबके अधिपति कुबेरजी हैं। इनकी कृपासे ही मनुष्यको भूगर्भस्थित निधि प्राप्त होती है। निधि-विद्यामें निधि सजीव मानी गयी है, जो स्वतः स्थानान्तरित होती है। पुण्यात्मा योग्य शासकके समयमें मणि-रत्नादि स्वतः प्रकट होते हैं। आज तो अधिकांश मणि, रत्न लुप्त हो गये। कोई स्वतःप्रकाश रत्न विश्वमें नहीं, आजका मानव उनको उपभोग्य जो मानता है। यज्ञ-दानके अवशेषका उपभोग हो, यह वृत्ति लुप्त हो गयी। कुबेरजी मनुष्यके अधिकारके अनुरूप कोषका प्रादुर्भाव या तिरोभाव कर देते हैं। भगवान् शंकरने इन्हें अपना नित्य सखा स्वीकार किया है। प्रत्येक यज्ञान्तमें इन वैश्रवण राजाधिराजको पुष्पांजलि दी जाती है।

परम भागवत यमराज

विश्वकर्माकी पुत्री संज्ञासे भगवान् सूर्यके यमराजजी, श्राद्धदेव मनु और यमुनाजी हुईं। यमराज परम भागवत, द्वादश भागवताचार्योंमें हैं। ये जीवोंके शुभ-अशुभ कर्मोंके निर्णायक हैं। दक्षिण दिशाके इन लोकपालकी संयमनीपुरी समस्त प्राणियोंके लिये, जो अशुभकर्मा हैं, बड़ी भयप्रद है। यम, धर्मराज, मृत्यु, अन्तक, वैवस्वत, काल, सर्वभूतक्षय, औदुम्बर, दध्न, नील, परमेष्ठी, वृकोदर, चित्र और चित्रगुप्त—इन चतुर्दश नामोंसे इन महिषवाहन दण्डधरकी आराधना होती है। इन्हीं नामोंसे इनका तर्पण किया जाता है।

चार द्वारों, सात तोरणों तथा पुष्पोदका, वैवस्वती आदि सुरम्य नदियोंसे पूर्ण अपनी पुरीमें पूर्व, पश्चिम तथा उत्तरके द्वारसे प्रविष्ट होनेवाले पुण्यात्मा पुरुषोंको यमराज शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी, चतुर्भुज, नीलाभ भगवान् विष्णुके रूपमें अपने महाप्रासादमें रत्नासनपर दर्शन देते हैं। दक्षिण-द्वारसे प्रवेश करनेवाले पापियोंको वह तप्त लौहद्वार तथा पूय, शोणित एवं क्रूर पशुओंसे पूर्ण वैतरणी नदी पार करनेपर प्राप्त होते हैं। द्वारसे भीतर आनेपर वे अत्यन्त विस्तीर्ण सरोवरोंके समान नेत्रवाले, धूम्रवर्ण, प्रलय-मेघके समान गर्जन करनेवाले, ज्वालामय रोमधारी, बड़े तीक्ष्ण प्रज्वलित दन्तयुक्त, सँडसी-जैसे नखोंवाले, चर्मवस्त्रधारी, कुटिल-भृकुटि, भयंकरतम वेशमें यमराजको देखते हैं। वहाँ मूर्तिमान् व्याधियाँ, घोरतर पशु तथा यमदूत उपस्थित मिलते हैं।

दीपावलीसे पूर्व यमदीप देकर तथा दूसरे पर्वोंपर यमराजकी आराधना करके मनुष्य उनकी कृपाका सम्पादन करता है। ये निर्णेता हमसे सदा शुभकर्मकी आशा करते हैं। दण्डके द्वारा जीवको शुद्ध करना ही इनके लोकका मुख्य कार्य है।

चित्रगुप्त

'पितः! मेरा नाम क्या है? मैं कौन-सा कार्य करूँ? मेरे लिये स्थानका निर्देश करें?' पितामह ब्रह्माजी सृष्टि-कार्य सम्पन्न करके परमतत्त्वका ध्यान कर रहे थे। जैसे ही उनका ध्यान भंग हुआ, उन्होंने देखा कि उनके शरीरसे प्रकट एक विचित्र वर्णका पुरुष मसिपात्र और लेखनी लिये उन्हें प्रणाम कर रहा है।

'मेरी कायासे उत्पन्न होनेके कारण तुम कायस्थ हुए। तुम्हारा नाम तुम्हारे वर्णके अनुसार चित्रगुप्त हुआ। जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंका अंकन करनेके लिये तुम यमपुरमें निवास करो! भगवान् ब्रह्माने आदेश दे दिया।

भट्ट, नागर, सेनक, गौड़, श्रीवास्तव्य, माथुर, अहिष्ठाण, शकसेन और अम्बष्ठ—ये नौ पुत्र चित्रगुप्तजीके हुए। कार्तिक शुक्ल द्वितीयाको चित्रगुप्तजीकी पूजा होती है। कायस्थ जाति इनको अपना मूलपूर्वज मानती है।

अग्निदेव

दक्षिण एवं पूर्वदिशाके मध्यका कोण अग्निकोण कहा जाता है। अग्निदेव उसके दिक्पाल हैं। विराट् पुरुषके मुखसे प्रकट होकर ये देव जगत्में धर्मकी पत्नी वसुभार्यासे उत्पन्न हुए। इनकी पत्नी स्वाहा हैं। मेढ़ा इनका वाहन है। अक्षसूत्र और शक्ति इनके आयुध हैं। अंगारवर्ण, पीतलोचन द्विमुख अग्निदेव यज्ञमें देवताओंकी आहुति वहन करते हैं।

अग्निके अनेक रूप हैं। प्राणियोंके भीतर ये जठराग्नि बनकर पाचन करते हैं। समुद्रमें बडवाग्निरूपसे निरन्तर प्रज्वलित रहते हैं। वनमें दावाग्निरूपसे और सूर्यमण्डलमें दिव्याग्निरूपसे विराजमान हैं। लोकमें यही व्यक्त एवं अव्यक्त सामान्य अग्नि हैं। मेघोंमें इन्हींकी शक्ति विद्युत् होती है।

व्यवहारमें आनेवाले अग्निके भी ब्राह्म, प्राजापत्य, गार्हस्थ्य, दक्षिणाग्नि और क्रव्यादाग्नि—ये पाँच रूप होते हैं। ब्राह्म अग्नि यज्ञमें अरणिमन्थनसे मन्त्रके द्वारा प्रकट होते हैं। ये आहवनीय अग्नि हैं। प्राजापत्याग्नि ब्रह्मचारीको अग्निहोत्रके लिये उपनयनके समय प्राप्त होते हैं। वानप्रस्थाश्रमतक इनकी रक्षा, आराधन और इनमें नित्य हवन उसका कर्तव्य है। गार्हस्थ्याग्नि विवाहके पश्चात् कुलमें प्रतिष्ठित होते हैं। गृहस्थके समस्त शुभ हवनादि इन्हींसे सम्पन्न होते हैं। चिताके अग्नि दक्षिणाग्नि हैं। इनमें शरीरकी अन्तिम आहुति दी जाती है। अभिचार यज्ञ भी इन्हींमें होते हैं। यज्ञ-मण्डपके बाहर उपद्रवोंके शमनके लिये दक्षिण भागमें यह अग्नि प्रतिष्ठित होते हैं। क्रव्यादाग्नि परित्याज्य हैं।

गति, तेज, प्रकाश, उष्णता, पाचन आदि एक ही शक्तिके विविध कार्य हैं। यह वर्तमान विज्ञानने सिद्ध कर दिया है। इस शक्तिके अधिदेवता अग्निदेव हैं। इनकी आराधनासे शक्ति, तेज, स्वास्थ्य और कान्तिकी प्राप्ति होती है। अग्निदेव ज्ञानस्वरूप हैं। इनका उपदिष्ट अग्निपुराण विश्वविद्याकोश कहे जाने योग्य है। अग्निदेव अनेक भारतीय जातियोंके कुलपुरुष हैं।

नैर्ऋत और निर्ऋति

नैर्ऋत्यकोणमें दिक्पाल निर्ऋत या दिक्स्वामिनी निर्ऋति दोनोंका वर्णन पुराणोंमें आता है। निर्ऋति लोकमें पुण्यशील एवं अपुण्यशील दो प्रकारके प्राणी रहते हैं। जो राक्षसयोनिमें जन्म लेकर भी हिंसादि नहीं करते, जो म्लेच्छ-चाण्डालादि होकर भी हिंसा, चोरी, जुआ और पर-पीड़नसे अपनेको दूर रखते हैं, वे इस लोकमें पुण्यात्माओंके भोग प्राप्त करते हैं।

दिक्पति निर्ऋति पूर्वजन्ममें विन्ध्याचलमें शबरोंके अधिपति पिंगाक्ष थे। वे यात्रियोंको सदा सुविधा प्रदान करते और उनकी हिंसक जीवों तथा दस्युओंसे रक्षा करते थे। एक बार वे अकेले वनमें घूम रहे थे। यात्रियोंका एक दल उनका नाम लेकर 'त्राहि', 'त्राहि' कर रहा था। वहाँ पहुँचनेपर ज्ञात हुआ कि पिंगाक्षके चाचा दस्युदलको लेकर यात्रियोंको लूट रहे हैं। पिंगाक्षने दस्युओंको रोका। फलतः उनका युद्ध दस्युओंसे हुआ। इस युद्धमें वे मारे गये। दूसरोंके लिये प्राण दे करके वे लोकपाल हो गये।

अमृत-मन्थनके समय समुद्रसे पापकी अधिदेवी निर्ऋतिकी उत्पत्ति हुई। वे महालक्ष्मीसे पहले उत्पन्न होनेके कारण ज्येष्ठा कही जाती हैं। उनकी प्रार्थनासे भगवान् विष्णुने निर्ऋतिको पीपलके वृक्षमें निवास दिया है। महालक्ष्मी वहाँ शनिवारको अपनी अग्रजाके समीप पधारती हैं।

मरुत्

दैत्यमाता दिति अत्यन्त दुःखी थीं। उनके दोनों पुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुका भगवान् विष्णुने संहार कर डाला। दितिका रोष इन्द्रपर था। इन्द्रके लिये ही तो उनके पुत्र मारे गये। बड़े संयम, प्रेम और दक्षतासे उन्होंने महर्षि कश्यपको प्रसन्न किया। पतिके तुष्ट होनेपर स्त्रीके लिये अप्राप्य क्या रहता। दितिने सन्तुष्ट पतिदेवसे ऐसा पुत्र चाहा, जो इन्द्रका वध कर सके। महर्षि अपने ही पुत्रका वध कैसे स्वीकार करें? उन्होंने दितिको पुंसवनःव्रतका आदेश दिया।

'माता दिति मेरे वधके निमित्त सन्तान-प्राप्तिके लिये सर्वात्माकी आराधना कर रही हैं।' इन्द्रकी चिन्ता बढ़ती गयी। वे व्रतस्था दितिकी सेवामें लगे थे। तनिक भी प्रमाद हो तो उद्देश्य नष्ट करनेका अवसर मिले, पर दिति व्रत-पालनमें अत्यन्त सावधान थी। वर्ष व्यतीत होनेमें कुछ दिन ही शेष रहे थे। एक दिन सन्ध्याकालमें श्रान्त दिति सो गयीं। इन्द्रने इस प्रमादसे अवसर प्राप्त किया। उन्होंने दितिके गर्भमें जाकर गर्भको वज्रसे उन्चास टुकड़ोंमें काट डाला। पर वे टुकड़े मरे नहीं। व्रतके प्रभावसे वे सब बालक हो गये।

इन्द्रने उन्हें सोमपायी देवता बना लिया।

वायुके उन्चास रूप हैं। उनके इतने ही अधिदेवता भी हैं। किसी कल्पमें ये रुद्र और वृश्निके पुत्र थे। इनके सब उपभेद मिलाकर १८० रूप होते हैं। इनकी आराधना शरीरमें स्वास्थ्य तथा जीवनमें सिद्धि और संसारमें उचित व्यवस्थाकी स्थापनाके लिये होती है।

पितृराज अर्यमा

अर्यमा पितरोंके अधिपति हैं। और ये नित्य पितर हैं। श्राद्धमें पितरोंकी तृप्ति इन्हींकी तुष्टिसे होती है। यज्ञमें मित्र और वरुणके साथ ये 'स्वाहा' का तथा श्राद्धमें 'स्वधा' का दिया हव्य-कव्य दोनों स्वीकार करते हैं। ये कश्यपजीकी पत्नी देवमाता अदितिके पुत्र हैं। दृश्य जगत्में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र इनका निवास-लोक शास्त्रोंमें कहा गया है।

अर्यमा 'मित्रता' के अधिष्ठाता हैं। मित्रकी प्राप्ति, मित्रत्वका निर्वाह आदि इनकी ही कृपासे कल्याणमय होता है। वंश-परम्पराकी रक्षाके लिये भी इनकी आराधनाका विधान है। किसी प्रकारकी पैतृक व्याधिकी शान्ति (पितृकोटिके प्रेतके उपद्रवकी शान्ति) अर्यमाकी पूजासे सहज हो जाती है।

पूषा

ये पशुओंके अधिष्ठाता दण्डहस्त, बकरेपर आरूढ़ तथा इन्द्रजाल-क्रियाके मुख्य देवता हैं। द्वादश आदित्योंमें ये भी एक आदित्य हैं। सूर्यमण्डलमें स्थित होकर निश्चित कालमें ये जगत्का परिदर्शन करते और पशुसम्पत्तिकी अभिवृद्धि करते हैं। दक्षयज्ञमें वीरभद्रने इनके दाँत गिरा दिये थे; क्योंकि ब्रह्मसभामें इन्होंने भगवान् शंकरका दाँत दिखाकर हँसते हुए अपमान किया था। इनको यज्ञमें चावलका चूर्ण (पिष्टान्न)दिया जाता है। भग ऐश्वर्यके अधिष्ठाता हैं। वीरभद्रने इन्हें नेत्रहीन कर दिया। मित्र (सूर्य) के नेत्रोंसे ही ये देखते हैं।

अश्विनीकुमार

त्वष्टाकी पुत्री सख्यु या संज्ञा भगवान् विवस्वान् 'सूर्य' की पत्नी हैं। पतिके असह्य तेजसे व्याकुल होकर वे अपनी छाया उनके समीप छोड़कर अश्विनी (घोड़ी) का रूप धारण करके तप करने चली गयीं। उनके अन्वेषणमें अश्वरूपसे सूर्यदेव वहाँ पहुँचे। उस समय संज्ञाको दो यमज सन्तान प्राप्त हुईं। माताके अश्विनीरूपमें होनेसे वे अश्विनीकुमार कहे जाते हैं। उनमें एकका नाम 'नासत्य' और दूसरेका नाम 'दस्र' है। ये आयुर्वेदके परमज्ञाता और देवताओंके चिकित्सक हैं।

आयु एवं आरोग्यके देवता हैं अश्विनीकुमार। इनके द्वारा उपदिष्ट अश्विनीकुमारसंहिता आयुर्वेदका उत्कृष्ट वाङ्मय है।

चन्द्रदेव

अमृत-मन्थनके समय क्षीर-सिन्धुसे चन्द्रमा निकले थे। जगज्जननी लक्ष्मीजीके इसीसे वे भाई हैं और इसीसे हम-आप सबके वे 'चन्दा मामा' भी हैं। ब्रह्माजीके मानस-पुत्र महर्षि अत्रिके तपसे उनका ऊर्ध्वगामी रेतः सोमरूपमें परिणत हुआ। ब्रह्माजीने अपने अंशभूत अधिदेव चन्द्रमाको उसमें स्थापित किया; क्योंकि महर्षि अत्रिको त्रिदेवोंने अपने-अपने अंशसे पुत्र होनेका वचन दिया था। महर्षिपत्नी अनसूया दिगन्त उज्ज्वल करनेवाले इस गर्भको रख न सकीं। पृथ्वीपर गिरे सोमको ब्रह्माजीने अपने रथपर बैठाया। वहाँ उस रथपर बैठकर चन्द्रमाने पृथ्वीकी २१ बार प्रदक्षिणा की। उस समय द्रवसोमका जो भाग भूमिपर गिरा, उसीसे ओषधियाँ उत्पन्न हुईं। भगवान् शंकरकी कृपासे इन्हें चन्द्रलोक (दृश्य चन्द्रमण्डल) का राज्य प्राप्त हुआ।

ज्यौतिषशास्त्र चन्द्रमण्डलको ही वृष्टिका जलाधार मानता है। समुद्रका ज्वार-भाटा चन्द्रमासे सम्बन्धित है, यह प्रत्यक्ष है। स्वर्गादि लोकोंसे प्राणी पृथ्वीपर चन्द्रमण्डलसे होकर जलवृष्टिके द्वारा ही आता है। चन्द्रदेवने अमृत-पानके समय देववेषधारी दैत्य राहुका संकेत कर दिया था भगवान्को। राहु उनके संकेतसे मारा गया। परंतु सिर धड़से अलग हो जानेपर भी अमृत पी लेनेके कारण वह मरा नहीं। इसीलिये राहु पूर्णिमाको इन्हें ग्रास करना चाहता है। जब भी वह कुछ सफल होता है, ग्रहण लगता है।

यूरोपीय विद्वान् मनुष्यजातिको हेमेटिक एवं सेमेटिक— दो जातियोंमें विभक्त करते हैं। ये शब्द हिरण्यगर्भ तथा सोमके अपभ्रंश हैं। सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश, भारतमें क्षत्रियोंकी यही दो परम्पराएँ हैं। चन्द्रदेव समस्त वनस्पतियोंके पोषक तथा अधिदेवता हैं। ग्रहोंमें ये सबसे तीव्रगामी हैं। इनके रथमें मृग जुड़े हुए हैं। ये अमृतरूप, सुधाकर हैं। ये मनके अधिष्ठातृ-देवता और

विराट् पुरुषके मन हैं। इनकी उपासनासे कफरोगोंकी शान्ति, वीर्यदोषकी निवृत्ति तथा मनकी एकाग्रताका सम्पादन होता है। शारीरिक कान्तिकी प्राप्तिके लिये इनकी पूजा अब भी होती है।

आज वैज्ञानिक चन्द्रलोककी यात्राकी बात करते हैं। समय ही बतायेगा कि यह आकाशकुसुम प्राप्त भी होता है या नहीं। वैसे चन्द्रबिम्बमें मनःसंयम करनेसे भूमण्डलकी समस्त घटनाओंका ज्ञान हो जाता है, यह योगशास्त्रका मत है। अनेक परिवर्तित रूपोंमें चन्द्रमाकी उपासना यहूदियों और उनकी धर्मपरम्परामें चलती रही है।

देवगुरु बृहस्पति

महर्षि अंगिराकी पत्नी अपने कर्मदोषसे मृतवत्सा हुईं। प्रजापतियोंके स्वामी ब्रह्माजीने उनसे पुंसवन व्रत करनेको कहा। सनत्कुमारसे व्रत-विधि जानकर मुनि-पत्नीने व्रतके द्वारा भगवान्‌को सन्तुष्ट किया। भगवान् विष्णुकी कृपासे प्रतिभाके अधिष्ठाता बृहस्पतिजी उनको पुत्ररूपसे प्राप्त हुए।

पीतवर्ण, तेजोमय, ज्योतिर्विज्ञानके आधार देवगुरुका आह्वान किये बिना यज्ञ पूर्ण नहीं होता। श्रुतियोंने इन्हें सूर्य एवं चन्द्रका नियन्ता बताया है। सम्पूर्ण ग्रहोंमें ये सर्वश्रेष्ठ, शुभप्रद माने जाते हैं। ये आठ घोड़ोंसे जुते अपने नीतिघोष रथपर आसीन होकर ग्रह-गतिका नियन्त्रण करते हैं। महर्षि भरद्वाज बृहस्पतिके औरस पुत्र हैं।

'बृहस्पति-संहिता' देवगुरुका इन्द्रको दिया हुआ दानधर्मपर विस्तृत उपदेशोंका संग्रह था। उसका बहुत सूक्ष्म अंश प्राप्त है। कुछ आचार्योंका मत है कि असुरोंको यज्ञ, दान, तप आदिसे च्युत करके शक्तिहीन बनानेके लिये चार्वाकमतका उपदेश भी इन्हीं देवगुरु बृहस्पतिजीने किया था।

स्वामिकार्तिकेय

षण्मुख, द्विभुज, शक्तिधर, मयूरासीन देवसेनापति कुमार कार्तिककी आराधना दक्षिण भारतमें बहुत प्रचलित है। ये ब्रह्मपुत्री देवसेना-षष्ठीदेवीके पति होनेके कारण सन्तानप्राप्तिकी कामनासे तो पूजे ही जाते हैं, इनको नैष्ठिकरूपसे आराध्य माननेवाला सम्प्रदाय भी है।

तारकासुरके अत्याचारसे पीड़ित देवताओंपर प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने पार्वतीजीका पाणिग्रहण किया। भगवान् शंकर भोले बाबा ठहरे। उमाके प्रेममें वे एकान्तनिष्ठ हो गये। अग्निदेव सुरकार्यका स्मरण कराने वहाँ उज्ज्वल कपोतवेशसे पहुँचे। उन अमोघवीर्यका रेतस् धारण कौन करे? भूमि, अग्नि, गंगादेवी सब क्रमशः उसे धारण करनेमें असमर्थ रहीं। अन्तमें शरवण (कास-वन) में वह निक्षिप्त होकर तेजोमय बालक बना। कृत्तिकाओंने उसे अपना पुत्र बनाना चाहा। बालकने छः मुख धारणकर छहों कृत्तिकाओंका स्तनपान किया। उसीसे षण्मुख कार्तिकेय हुआ वह शम्भुपुत्र। देवताओंने अपना सेनापतित्व उन्हें प्रदान किया। तारकासुर उनके हाथों मारा गया।

स्कन्दपुराणके मूल उपदेष्टा कुमार कार्तिकेय (स्कन्द) ही हैं। समस्त भारतीय तीर्थोंका उसमें माहात्म्य आ गया है। पुराणोंमें यह सबसे विशाल है।

स्वामिकार्तिकेय सेनाधिप हैं। सैन्यशक्तिकी प्रतिष्ठा, विजय, व्यवस्था, अनुशासन इनकी कृपासे सम्पन्न होता है। ये इस शक्तिके अधिदेव हैं। धनुर्वेदपर इनकी एक संहिताका नाम मिलता है, पर ग्रन्थ प्राप्य नहीं है।

कामदेव

स्वयं भगवान् विष्णु रमा-वैकुण्ठमें भगवती लक्ष्मीद्वारा कामदेवरूपमें आराधित होते हैं। ये इन्दीवराभ चतुर्भुज शंख, पद्म, धनुष और बाण धारण करते हैं। सृष्टिमें धर्मकी पत्नी श्रद्धासे इनका आविर्भाव हुआ। वैसे दैवजगत्‌में ये ब्रह्माजीके संकल्पके पुत्र माने जाते हैं। मानसिक क्षेत्रमें काम संकल्पसे ही व्यक्त होता है। संकल्पके पुत्र हैं काम और कामके छोटे भाई क्रोध। काम यदि पिता संकल्पके कार्यमें असफल हों तो क्रोध उपस्थित होता है।

कामदेव योगियोंके आराध्य हैं। ये तुष्ट होकर मनको निष्काम बना देते हैं। कवि, भावुक, कलाकार और विषयी इनकी आराधना सौन्दर्यकी प्राप्तिके लिये करते हैं। इनके पुष्पायुधके पंचबाण प्रख्यात हैं। नीलकमल, मल्लिका, आम्रमौर, चम्पक और शिरीष कुसुम इनके बाण हैं। ये सौन्दर्य, सौकुमार्य और सम्मोहनके अधिष्ठाता हैं। भगवान् ब्रह्मातकको उत्पन्न होते ही इन्होंने क्षुब्ध कर दिया। ये तोतेके रथपर मकर (मछली) के चिह्नसे अंकित लाल ध्वजा लगाकर विचरण करते हैं।

भगवान् शंकर समाधिस्थ थे। देवता तारकासुरसे पीड़ित थे। तारकका निधन भगवान् शिवके पुत्रसे शक्य था। देवताओंने कामको भेजा। एक बार मन्मथ पुरारिके

मदन-गोपाल (प्रस्तरमूर्ति, तेन्काशी)

गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण (प्रस्तरमूर्ति हलेबिद)

[त्रिवांकुर-कोचीन सरकारके सौजन्यसे

मनमें क्षोभ करनेमें सफल हो गये, पर दूसरे ही क्षण प्रलयङ्करकी तृतीय नेत्रज्वालाने इन्हें भस्म कर दिया। कामपत्नी रतिके विलापस्तवनसे तुष्ट आशुतोषने वरदान दिया—'अब यह बिना शरीरके ही सबको प्रभावित करेगा।'

कामदेव अनंग हुए। द्वारपरमें भगवान् श्रीकृष्णके यहाँ रुक्मिणीजीके पुत्ररूपमें ये उत्पन्न हुए। भगवान् प्रद्युम्न चतुर्व्यूहमेंसे हैं। वे मनके अधिष्ठाता हैं।

प्रजापति दक्ष

भगवान् ब्रह्माके दक्षिणांगुष्ठसे प्रजापति दक्षकी उत्पत्ति हुई। कल्पान्तरमें वही प्रचेताके पुत्र हुए। स्रष्टाकी आज्ञासे वे प्रजाकी सृष्टि करनेमें लगे। उन्होंने प्रजापति वीरणकी कन्या असिक्नीको पत्नी बनाया। सर्वप्रथम इन्होंने दस सहस्र हर्यश्व नामक पुत्र उत्पन्न किये। ये सब समान स्वभावके थे। पिताकी आज्ञासे ये सृष्टिके निमित्त तपमें प्रवृत्त हुए, परंतु देवर्षि नारदने उपदेश देकर उन्हें विरक्त बना दिया। दूसरी बार एक सहस्र शबलाश्व (सरलाश्व) नामक पुत्र उत्पन्न किये। ये भी देवर्षिके उपदेशसे यति हो गये। दक्षको रोष आया। उन्होंने देवर्षिको शाप दे दिया—'तुम दो घड़ीसे अधिक कहीं स्थिर न रह सकोगे।'

भगवान् ब्रह्माने प्रजापतिको शान्त किया। अब मानसिक सृष्टिसे वे उपरत हुए। उन्होंने अपनी पत्नीसे ५३ कन्याएँ उत्पन्न कीं। इनमें १० धर्मको, १३ महर्षि कश्यपको, २७ चन्द्रमाको, एक पितरोंको, एक अग्निको और एक भगवान् शंकरको विवाही गयीं। महर्षि कश्यपको विवाहित १३ कन्याओंसे ही जगत्के समस्त प्राणी उत्पन्न हुए। वे लोकमाताएँ कही जाती हैं।

भगवान् शंकरसे विवाद करके दक्षने उन्हें यज्ञमें भाग नहीं दिया। पिताके यज्ञमें रुद्रभाग न देखकर सतीने योगाग्निसे शरीर छोड़ दिया। भगवान् शंकर पत्नीके देह-त्यागसे रुष्ट हुए। उन्होंने वीरभद्रको भेजा। वीरभद्रने दक्षका मस्तक दक्षिणाग्निमें हवन कर दिया। देवताओंकी प्रार्थनापर तुष्ट होकर भगवान् शंकरने सद्योजात प्राणीके सिरसे दक्षको जीवनका वरदान दिया। बकरेका मस्तक तत्काल मिल सका। तबसे प्रजापति दक्ष 'अजमुख' हो गये।

दक्षता—निपुणताके उन अधीश्वरको भगवान् ब्रह्माने प्रजापतियोंमें श्रेष्ठ पद प्रदान किया है। देवता भी उनका सम्मान करते हैं। उनकी प्रसन्नता व्यक्तिमें दक्षताका विस्तार करती है।

आचार्य शुक्र

महर्षि भृगुके पुत्र शुक्राचार्यजीने बृहस्पतिजीसे प्रतिद्वन्द्विता रखनेके कारण दैत्योंका आचार्यत्व स्वीकार किया। बृहस्पतिके पुत्र कचने इनसे संजीविनी विद्या पढ़ी। दैत्यराज बलिके यज्ञमें भगवान् वामन जब भूमिदान लेने लगे, तब आचार्यने बाधा दी। दानमें बाधा देनेके अपराधसे, भगवान्ने इनके एक नेत्रको ज्योतिहीन कर दिया। तबसे इनका नाम एकाक्षताका द्योतक हो गया।

आचार्य शुक्र वीर्यके अधिष्ठाता हैं। दृश्य जगत्में उनके लोक शुक्र तारकका भूमि एवं जीवनपर प्रभाव ज्यौतिषशास्त्रमें वर्णित है।

आचार्य शुक्र नीतिशास्त्रके प्रवर्तक थे। इनकी शुक्रनीति अब भी लोकमें महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इनके पुत्र षण्ड और अमर्क हिरण्यकशिपुके यहाँ नीतिशास्त्रका अध्यापन करते थे।

विश्वकर्मा

प्रभास नामक वसुकी पत्नी महासती योगसिद्धा इन देवशिल्पीकी माता हैं। देवताओंके समस्त विमानादि तथा अस्त्र-शस्त्र इन्हींके द्वारा निर्मित हैं। लंकाकी स्वर्णपुरी, द्वारिकाधाम भगवान् जगन्नाथका श्रीविग्रह इन्होंने ही निर्मित किया। इनका एक नाम त्वष्टा है। सूर्यपत्नी संज्ञा इन्हींकी पुत्री हैं। इनके पुत्र विश्वरूप और वृत्र हुए। सर्वमेधके द्वारा इन्होंने जगत्की सृष्टि की और आत्मबलिदान करके निर्माण-कार्य पूर्ण किया।

समस्त शिल्पके ये अधिदेवता हैं। भगवान् श्रीरामके लिये सेतुनिर्माण करनेवाले वानरराज नल इन्हींके अंशसे उत्पन्न हुए थे। हिंदू-शिल्पी अपने कर्मकी उन्नतिके लिये भाद्रपदकी संक्रान्तिको इनकी आराधना करते हैं। उस दिन शिल्पका कोई उपकरण व्यवहारमें नहीं आता। बंगालमें यह पूजा विशेष प्रचलित है।

दानवेन्द्र मय

परम शैव, परम धार्मिक, दानव-विश्वकर्मा मय भगवान् शंकरकी कृपासे सुतलमें निर्द्वन्द्व निवास करते हैं। ये दैत्यकुलके शिल्पी हैं। इनकी कला विश्वकर्मासे किसी प्रकार कम नहीं है। इनके निर्माणने अनेक बार विश्वकर्मा तथा समस्त देवताओंको पराजित कर दिया।

मयका अद्भुत निर्माण इनका त्रिपुर था। स्वर्ण,

रौप्य और लौहके तीन विशालकाय नगर स्वेच्छापूर्वक आकाश, पृथ्वी तथा जलमें चल सकते थे। ये नगर इन्होंने अपने पुत्रोंको दे दिये। इन नगरोंका एक स्थानपर सहस्र वर्षोंमें एक बार स्वतः संयोग निश्चित था। उस संयोगके अर्धक्षणमें ही उनका विनाश हो सकता था। इन नगरोंमेंसे स्वर्णनगरमें एक अमृत-कूप था। भगवान् शंकरने नगरोंको भस्म कर दिया, परंतु मयकी उन्होंने रक्षा की।

मयकी पुत्री मन्दोदरी रावणकी पत्नी हुई। मयके दो पुत्र मायावी और दुन्दुभि त्रेतामें वानरराज वालीसे युद्धमें मारे गये। एक पुत्र व्योम द्वापरमें जाकर श्रीकृष्णचन्द्र द्वारा मुक्त हुआ।

अग्निकी प्रार्थनापर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन एक रथपर बैठकर खाण्डववन अग्निदेवको भेंट करने गये। उस समय दानवेन्द्र मय उसी वनमें तप कर रहे थे। अर्जुनकी बाणवर्षासे एक बिन्दु जल वनमें गिर नहीं पाता था। भागनेका प्रयत्न करनेवाला प्रत्येक प्राणी मारा जाता था। मयने श्रीकृष्णचन्द्रकी शरण ली। उन्हें परित्राण मिला। प्रत्युपकारस्वरूप मयने महाराज युधिष्ठिरके लिये दिव्यसभा-भवन निर्मित किया।

मय मायावियोंके परमाचार्य हैं। इन्द्रजाल तथा अनेक आसुरी सिद्धियोंका इन्होंने ही प्रवर्तन किया है। अब भी मयकी आराधना तामस एवं राजस सिद्धि देती है।

देवजातियाँ

देवता, गन्धर्व, अप्सराएँ—ये तीन सात्त्विक दिव्य जातियाँ मानी गयी हैं। यक्ष, किन्नर और दैत्य—ये राजस दिव्य जातियाँ हैं। राक्षस, नाग, प्रेत—ये तामस देवजातिके प्राणी हैं।

देवताओंमें पदार्थोंके अधिष्ठाता नित्य देवता और उनकी शक्तियाँ, इनमें लोकपाल, प्रजापति तथा ग्रामदेवतादि तथा शक्तियोंमें महाविद्या, योगिनी तथा उपनायिका और ग्रामकालीतक आती हैं। यज्ञोंके रक्षक ऋभुगण भी देवताओंमें हैं। दूसरे वे देवता हैं जो पुण्यसे स्वर्गमें केवल सुखोपभोगके लिये गये हैं।

गन्धर्व गानविद्याके आचार्य हैं। चित्ररथ इनके अधिपति हैं। ये लोग देवताओंके समान सुखोपभोग करते हैं। अप्सराएँ स्वर्गकी नृत्य करनेवाली नित्य कुमारियाँ हैं। देवांगना तथा गन्धर्व-कन्याएँ इनसे भिन्न हैं। उर्वशी, रम्भा, तिलोत्तमादि इनमें प्रधान हैं। यक्ष कुबेरके अनुचर हैं। ये एक प्रकारके असुर ही हैं। किन्नर देवताओंके स्तुति-गायक हैं।

दैत्य और दानव—ये दोनों अधोलोकोंमें स्वर्गाधिक सुखोपभोग करनेवाली दिव्य जातियाँ हैं। ये भी महर्षि कश्यपके पुत्र और देवताओंके ज्येष्ठ भ्राता हैं। अहंकार, क्रूरता तथा विषयोपभोगकी प्रधानतासे ही ये निकृष्ट माने गये। राक्षस महाक्रूर तथा दैत्योंके सेवक हैं। नाग दिव्य जातिमें ही माने गये हैं। शेष, वासुकि, कर्कोटकादि दिव्य नाग अधोलोकोंमें रहते हैं। ग्रामदेवता, ग्रामकालीके समान ही ग्रामके अधिदेव नाग भी होते हैं।

प्रेत, पिशाच, डाकिनी, शाकिनी, बेताल, भूत, भैरव, विनायक, कूष्माण्ड आदि भगवान् रुद्रके गण माने जाते हैं। ये क्रूर, उत्पीड़क तथा अपवित्र स्थानों तथा व्यक्तियोंसे रुचि रखनेवाले होते हैं। भयसे भीत होनेवालेपर इनका शीघ्र प्रभाव पड़ता है। प्रेतादि यातना-योनिके प्राणी हैं। स्वयं घोर कष्टमें रहते हैं।—सु०

भारतीय संस्कृतिकी रक्षा

(लेखक—श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार)

रामराज्यमें तीन बातें प्रधान थीं। दैहिक, दैविक, भौतिक ताप किसीको नहीं होता था। कारण सारी प्रजा सच्चरित्र, स्वधर्मनिष्ठ और साथ ही स्वास्थ्यके नियमोंका पालन करते हुए अपने कर्तव्यपर दृढ़ थी। अतः दैहिक ताप क्यों होता? रामराज्यमें सभीने सत्यमार्गका अनुसरणकर पशु-पक्षीतकको भी प्रेम-धारासे प्लावित कर दिया था। तब भौतिक ताप भी होना असम्भव था। दैविक ताप तो कर्तव्यविमुख और अधर्मरत होनेपर ही दण्डस्वरूप प्राप्त होते हैं। अतः रामराज्यमें दण्ड शब्दका प्रयोग संन्यासियोंके हाथमें रहनेवाले धर्मदण्डके लिये ही होता था, या प्रणामके साथ साष्टांग दण्डवत् करनेमें दण्ड शब्दका प्रयोग किया जाता था।

परंतु ये सब क्यों और कैसे ? इसका मूल कारण था—साक्षात् भारतीय भूदेवी गोमाताका अमित प्रभाव! 'हमारे वेद '**यतो गावस्ततो वयम्**' और जिस स्थानमें गौके दुःख-संतप्त श्वास निकलें या गोरक्त गिरे, उस स्थानके एक योजनकी परिधिमें सात्त्विक बुद्धिकी प्राप्तिके लिये किये गये धर्मानुष्ठान निष्फल होते हैं।' इन वाक्योंको रामराज्यकी प्रजा, आबाल-वृद्ध-वनिता राक्षसगणतक भी जानते थे और जब कभी राक्षसोंको देवताओंपर अपना आधिपत्य जमाना होता तो वे सर्वप्रथम गौ और ब्राह्मणका नाश करनेकी ही सोचा करते थे और इस '**यतो गावस्ततो वयम्**' और गोरक्तके सात्त्विकताविनाशक प्रभावको हटानेके लिये ही भारतमें समय-समयपर साक्षात् भगवान्‌ने अवतार धारण किया है।

अतः '**यतो गावस्ततो वयम्**' और गौके दुःखी श्वास निकलने और खून गिरनेसे हमारी सात्त्विक वृत्तिका नाश होगा और उससे हमारा सर्वनाश निश्चित है। यह बात प्रत्येक भारतवासीको भलीभाँति जान लेनी चाहिये। धर्मपूर्ण रामराज्यकी स्थापना और सफलताके लिये इसकी परम आवश्यकता है। मुझे दुःख है कि आज ऐसा समय आ गया कि जिसमें हमारे धर्मप्राण, हिंदूसमाजके एक दो व्यक्ति नहीं, अनेकों प्रतिष्ठित धनी पुरुष ऐसे हो गये हैं, जो वृद्ध, रोगग्रस्त अतः अनुपयोगी पशुओंको कत्ल कर देनेकी राय रखते हैं। क्योंकि उनके खयालमें खाद्यकी कमी इसी तरह पूरी हो सकती है। पता नहीं इस पाप-बुद्धिका क्या दुष्परिणाम होगा।

लेकिन पाश्चात्त्य शिक्षा और संग-प्राप्त इन विभ्रमित बुद्धिवाले विद्वानोंको यदि ठीक रास्ता दिखाना है तो '**यतो गावस्ततो वयम्**' और गौके दुःखी श्वास निकलने और रक्त गिरनेसे सद्बुद्धिके नाशके साथ हमारा नाश निश्चित है। यह बात समझानी होगी। पोस्टरों, लेखों और आध्यात्मिक, भौतिक विज्ञानके अन्वेषणोंद्वारा इनकी बुद्धिको सुधारनेके लिये प्रयत्न करना पड़ेगा। अतः भारतीय संस्कृति और धर्मानुयायी विद्वानोंसे प्रार्थना है कि वे इस विषयमें अपनी लेखनी उठावें और इसकी आवश्यकता स्वयं अनुभव करें और दूसरे लोगोंको भी अनुभव करावें। यह पाप यों ही चलता रहा तो भारतीय संस्कृतिकी रक्षा बड़ी कठिन हो जायगी। गोरक्षामें ही भारतीय संस्कृतिकी रक्षा है।

भगवान्‌के सगुण स्वरूप और अवतार

हिंदू-संस्कृति जिन श्रुति-शास्त्रोंपर अवलम्बित है, उनमें मूलतत्त्व सच्चिदानन्दस्वरूप द्विविधरूप माना गया है। एक रूप उसका निर्गुण, निराकार, मन तथा वाणीके अगोचर है। योगी अपने योगकी साधनासे निर्विकल्प समाधिमें उसका साक्षात्कार करते हैं। ज्ञानी तत्त्व-चिन्तनद्वारा समस्त दृष्ट-श्रुत पदार्थोंसे मनको पृथक् करके द्रष्टारूपसे उसमें अवस्थित होते हैं; पर सर्वसाधारण उसके इस रूपकी भावना नहीं कर सकते। जगत्‌का वह उत्पत्ति स्थिति, प्रलयका अहेतु हेतु दया करके या लीलाके लिये अनेक भावमय नित्य आनन्दघन रूपोंमें नित्य लीला करता है। उसके इन सगुण, साकार, चिन्मय रूपोंके ध्यान-स्मरण, नाम-जप, लीला-चिन्तनसे मानवहृदय शुद्ध हो जाता है। मनुष्य इन रूपोंमेंसे किसीको नैष्ठिकरूपसे हृदयमें विराजमान करके संसार-सागरसे पार हो जाता है।

सगुण-साकार प्रभुके ये रूप नित्य सर्वेश्वर तथा अवताररूप दोनों प्रकारके हैं। सृष्टि, स्थिति, प्रलयके लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपसे वे उपासित होते हैं। उनके साथ उनकी अभिन्न शक्तियाँ होती ही हैं। वही सूर्य और गणेश रूपसे भक्तोंद्वारा सेवित होते हैं। पंचदेवोपासनामें गणेश, शिव, शक्ति, सूर्य और विष्णु उन्हींके रूप हैं।

जगत्‌में धर्मकी स्थापना, ज्ञानके संरक्षण, भक्तोंके परित्राण तथा आततायी असुरोंके दलनके लिये एवं प्रेमी भक्तोंकी प्रेमोत्कण्ठा पूर्ण करनेके लिये वे प्रभु बार-बार अवतीर्ण होते हैं। उनके ये अवताररूप दिव्य, सच्चिदानन्दघन हैं। ये अवतार-लीलाएँ परम मंगलमय हैं।

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।

सत्त्वमूर्ति भगवान्‌के अवतारोंकी कोई संख्या नहीं।

१-मत्स्य, २-कच्छप, ३-वाराह, ४-नृसिंह,

५-वामन, ६-परशुराम, ७-श्रीराम, ८-बलराम, ९-बुद्ध और १०- कल्कि—ये दशावतार युगावतारोंके रूप शास्त्रोंने माने हैं। इनके अतिरिक्त ११-श्रीकृष्णका अवतार पूर्णावतार कहा जाता है। उसका कोई निश्चित समय नहीं। पिछले अट्ठाईसवें द्वापरमें यह अवतार हुआ था। अर्थात् इस श्वेतवाराह कल्पसे पूर्व कल्पमें श्रीकृष्णने अवतार-विग्रह धारण नहीं किया। १२-नर-नारायण, १३-सनकादि, १४-कपिल, १५-दत्तात्रेय, १६-यज्ञ, १७-ऋषभ, १८-हंस, १९-धन्वन्तरि, २०-हयशीर्ष,२१-व्यास—ये भगवान्के अवतार विश्वमें ज्ञान-परम्पराकी रक्षा, प्रसार तथा उसके आदर्श-स्थापनके लिये हुए । २२-पृथुरूपमें भगवान् लोक-व्यवस्थाके संचालनके लिये पधारे। २३-ध्रुवके लिये और २४-गजेन्द्रके लिये भगवान्का अवतार हुआ। इनके अतिरिक्त असुरोंको मोहित करनेके लिये भगवान्ने मोहिनीरूप धारण किया था।

हिंदू-शास्त्रोंने ही इस सगुण तत्त्वके रहस्यको समझा और स्वीकार किया। मूर्तिपूजा विश्वके प्रत्येक भागमें, प्रत्येक प्राचीन जातिमें प्रचलित थी और मानवस्वभाव मूर्तिपूजक होनेसे किसी-न-किसी रूपमें वह मनुष्यमात्रमें रहेगी ही;परंतु मनुष्यको यह स्वभाव उस दयामयने क्यों प्रदान किया? इसका उत्तर श्रुति एवं महर्षि ही दे सके। वह स्वयं सगुण-साकार है। उसके दिव्यरूपमें हमारी अनुरक्ति हो तो हम समस्त कष्टोंसे परित्राण पा जायँ। अवतार-रहस्यपर पृथक् विचार किया गया है। यहाँ भगवान्के नित्य दिव्य रूपों एवं चरितोंका अत्यन्त संक्षिप्त स्मरण मात्र करना है।

भगवान् गणपति

गणपति नित्य देवता हैं; परंतु विभिन्न समयोंमें विभिन्न प्रकारसे उनका लीलाप्राकट्य होता है। जगदम्बिका लीलामयी हैं। कैलासपर अपने अन्तःपुरमें वे विराजमान थीं। सेविकाएँ उबटन लगा रही थीं। शरीरसे गिरे उबटनको उन आदिशक्तिने एकत्र किया और एक मूर्ति बना डाली। उन चेतनामयीका वह शिशु अचेतन तो होता नहीं। उसने माताको प्रणाम किया और आज्ञा माँगी। उसे कहा गया कि बिना आज्ञा कोई द्वारसे अंदर न आने पाये। बालक डंडा लेकर द्वारपर खड़ा हो गया। भगवान् शंकर अन्तःपुरमें जाने लगे तो उसने रोक दिया। भगवान् भूतनाथ कम विनोदी नहीं हैं। उन्होंने देवताओंको आज्ञा दी बालकको द्वारसे हटा देनेकी। इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम आदि सब उसके डंडेसे आहत होकर भाग खड़े हुए—वह महाशक्तिका पुत्र जो था। इतना औद्धत्य उचित नहीं। भगवान् शंकरने त्रिशूल उठाया और बालकका मस्तक काट दिया।

'मेरा पुत्र!' जगदम्बाका स्नेह रोषमें परिणत हो गया। देवताओंने उनके बच्चेका वध करा दिया था। पुत्रका शव देखकर माता कैसे शान्त रहे। देवताओंने भगवान् शंकरकी स्तुति की।

'किसी नवजात शिशुका मस्तक उसके धड़से लगा दो।' एक गजराजका नवजात शिशु मिला उस समय। उसीका मस्तक पाकर वह बालक गजानन हो गया। अपने अग्रज कार्तिकेयके साथ संग्राममें उसका एक दाँत टूट गया और तबसे गणेशजी एकदन्त हैं।

अरुणवर्ण, एकदन्त, गजमुख, लम्बोदर, अरुण-वस्त्र, त्रिपुण्ड्र-तिलक, मूषकवाहन। ये देवता माता-पिता दोनोंको प्रिय हैं। ऋद्धि-सिद्धि इनकी पत्नियाँ हैं। ब्रह्माजी जब 'देवताओंमें कौन प्रथम पूज्य हो' इसका निर्णय करने लगे, तब पृथ्वी-प्रदक्षिणा ही शक्तिका निदर्शन मानी गयी। गणेशजीका मूषक कैसे सबसे आगे दौड़े। उन्होंने देवर्षिके उपदेशसे भूमिपर 'राम' नाम लिखा और उसकी प्रदक्षिणा कर ली; पुराणान्तरके अनुसार भगवान् शंकर और पार्वतीजीकी प्रदक्षिणा की। वे दोनों प्रकार सम्पूर्ण भुवनोंकी प्रदक्षिणा कर चुके थे। सबसे पहले पहुँचे थे। भगवान् ब्रह्माने उन्हें प्रथम पूज्य बनाया। प्रत्येक कर्ममें उनकी प्रथम पूजा होती है। वे भगवान् शंकरके गणोंके मुख्य अधिपति हैं। उन गणाधिपकी प्रथम पूजा न हो तो कर्मके निर्विघ्न पूर्ण होनेकी आशा कम ही रहती है।

पंचदेवोपासनामें भगवान् गणपति मुख्य हैं। प्रत्येक कार्यका प्रारम्भ 'श्रीगणेश' अर्थात् उनके स्मरण-वन्दनसे ही होता है। उनकी नैष्ठिक उपासनाा करनेवाला सम्प्रदाय भी था। दक्षिण भारतमें भगवान् गणपतिकी उपासना बहुत धूम-धामसे होती है। '**कलौ चण्डीविनायकौ।**' जिन लोगोंको कोई भौतिक सिद्धि चाहिये, वे इस युगमें गणेशजीको शीघ्र प्रसन्न कर पाते हैं। वे मंगलमूर्ति सिद्धिसदन बहुत अल्प श्रमसे द्रवित होते हैं।

भगवान् गणेश बुद्धिके अधिष्ठाता हैं। वे साक्षात् प्रणवरूप हैं। उनके श्रीविग्रहका ध्यान, उनके मंगलमय नामका जप और उनकी आराधना मेधा-शक्तिको तीव्र

करती है। महाभारतके यदि वे लेखक न बनते तो भगवान् व्यासके इस पंचमवेदसे जगती वंचित ही रह जाती।

भगवान् शंकर

जो अनादि है, अनन्त है, बुद्धिसे परे है, उसके चारु चरितोंका क्या कहीं अन्त है। उसीके चरित स्मरणीय हैं। अल्पशक्ति, अल्पप्राण सामान्य मानवका सामान्य चरित क्या अर्थ रखता है। उससे किसीका क्या लाभ। उन महिमामय चन्द्रचूड प्रभुके कुछ चरितोंका स्मरणमात्र किया जा सकता है। उनका वर्णन तो समाप्त होनेवाला है ही नहीं। कल्पभेदसे उन सर्वाधारके दैव जगत् (आधिदैविक जगत्) में आविर्भावके अनेक प्रकारके वर्णन शास्त्रोंमें हैं। किसी कल्पमें स्वयंभू ज्योतिर्लिंगरूपमें और कभी दूसरे प्रकारसे। वस्तुतः तो वे एक ही महेश्वर जगत्‌की सृष्टि, पालन और संहारके लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेशका त्रिविध रूप धारण करते हैं।

वर्तमान सृष्टिके आदिमें ब्रह्माजीने सर्वप्रथम मानसिक सृष्टि की सनकादि चारों कुमारोंकी । पहले ही पुत्रोंने सृष्टि करनेकी आज्ञा अस्वीकार कर दी। ब्रह्माजीको बड़ा रोष आया। उन्होंने अपने क्रोधको संयत करना चाहा। फलतः उनके भ्रूमध्यसे वह रोष नीललोहित कुमार बनकर प्रकट हो गया। उत्पन्न होते ही वे भगवान् भव रोने लगे। उन्होंने अपना नाम और स्थान पूछा। रोनेके कारण उनका नाम 'रुद्र' पड़ा। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा—**'रुद्राणां शंकरश्चास्मि'** और उन्होंने ही श्रीमद्भागवतमें **'रुद्राणां नीललोहितः'** कहा। इस प्रकार रुद्रोंमें भगवान्‌का नीललोहित रूप ही शंकरस्वरूप है, यह कहा गया।

मन्यु, मनु, महिनस, महान्, शिव, ऋतध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत-- ये एकादश रुद्ररूप हैं उन प्रभुके। हृदय, इन्द्रिय, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र और तप--ये उनके ग्यारह स्थान हैं। धी, वृत्ति, उशना, उमा, नियुति, सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती, सुधा और दीक्षा--ये क्रमशः उनकी पत्नियाँ हैं। ब्रह्माजीने उन्हें सृष्टि करनेकी आज्ञा दी। स्वभावानुरूप प्रेत, पिशाच, भैरव, विनायक, यातुधान, डाकिनी, शाकिनी, कूष्माण्ड, बेताल, विनायक, योगिनी आदिकी उन्होंने रचना की। ये सब उनके गण हुए। ब्रह्माजीने इस विकट सृष्टिसे रोककर उनको तप करनेका आदेश दिया।

प्रजापति दक्षने अपनी पुत्री सतीका विवाह भगवान् शंकरसे किया। ब्रह्म-सभामें दक्षके आगमनके समय भगवान् शंकरने उनका अभ्युत्थानसे आदर नहीं किया। रुष्ट दक्षने उन्हें शाप दिया कि 'आगेसे यज्ञमें इनको भाग नहीं मिलेगा।' जब दक्ष प्रजापतियोंमें श्रेष्ठ माने गये, उन्होंने यज्ञ प्रारम्भ किया। भगवान् शंकरको निमन्त्रण नहीं दिया गया था। विमानसे जाती देवांगनाओंद्वारा सतीने पिताके महोत्सवका पता पाया। वे अनिमन्त्रित थीं, भगवान् शिव मना कर रहे थे; फिर भी हठपूर्वक वे पिताके घर आयीं। वहाँ देखा कि यज्ञमें भगवान् शंकरको भाग नहीं दिया जा रहा है। पतिके अपमानसे क्षुब्ध होकर योगाग्नि प्रकट करके वे वहीं भस्म हो गयीं। रुद्रानुचर उत्पात अवश्य करते, पर महर्षि भृगुने दक्षिणाग्निसे ऋभुगण उत्पन्न किये। उन ऋभुओंने जलती लकड़ियोंकी मारसे रुद्रगणोंको भगा दिया।

भगवान् शंकरको समाचार मिला। उन प्रलयंकरने रोषसे अट्टहास करके एक जटा उखाड़ी। वीरभद्र प्रकट हुए। उन्होंने यज्ञ ध्वंस कर डाला। भृगुकी दाढ़ी उखाड़ ली। पूषाको दन्त और भगदेवताको नेत्रोंसे हीन कर दिया। दक्षका मस्तक आहुति बन गया। अन्तमें सब देवता भगवान् शंकरकी शरण गये। भगवान्‌के आदेशसे नवजात बकरेका सिर दक्षकी देहपर रखा गया। वे जीवित हो गये। यज्ञ पूर्ण हो गया।

भगवती सतीने दूसरा जन्म पर्वतराज हिमवान्‌के यहाँ धारण किया। देवर्षि नारदके उपदेशसे उन्होंने शंकरजीको प्राप्त करनेके लिये कठोर तप प्रारम्भ किया। वे उमा सूखे बेलपत्रको भी छोड़कर अपर्णा हो गयीं। देवताओंको आवश्यकता थी कि भगवान् शंकरका परिणय हो। असुर तारकने स्वर्गपर आधिपत्य कर लिया था। उसने ब्रह्माजीसे वरदान प्राप्त कर लिया था कि केवल शंकरजीके औरस पुत्र ही उसका वध कर सकेंगे। भगवान् शंकरका विवाह हो तो पुत्र हो। भगवान् तो समाधिमें स्थित हैं। देवताओंने कामको भेजा। वसन्तका प्रादुर्भाव हुआ। उसी समय वहाँ पार्वतीजी पहुँचीं। पुष्पधन्वाके बाणसे सम्मोहनास्त्र छूटा। तनिक विकार आया। समाधि भंग हुई। विकारका कारण इधर-उधर देखनेपर मदन दृष्टिगोचर हुआ। तृतीय

नेत्रकी ज्वालामें कामारिने उसे भस्म कर दिया। तभीसे काम अनंग हो गया।

श्रीपार्वतीजीकी तपस्या कामके भस्म होनेपर भी सफल हुई। भगवान् शंकरने उनका पाणिग्रहण किया। भगवान्‌के औरस पुत्र कुमार कार्तिकने तारकको संग्राममें मारा। भगवती पार्वतीसे सन्तुष्ट होकर शंकरजीने उन्हें अपने आधे शरीरमें ही स्थान दे दिया और अर्धनारीश्वर हो गये।

× × ×

क्षीरोदधिका मन्थन हो रहा था। सबसे पहले हालाहल प्रकट हुआ। समस्त प्राणी विषकी भीषण ज्वालासे जलने लगे। प्रजापतिगणने प्रार्थना की। आशुतोष द्रवित हुए। उन्होंने विषको एकत्र करके वाम करतलपर उठाया और पी लिया। विष कण्ठमें अवरुद्ध कर दिया गया, अतः कण्ठ नीला हो गया। भगवान् नीलकण्ठको समुद्रसे निकला शशि शिरोभूषण बनकर भूषित करने लगा।

× × ×

मयने स्वर्ण, रजत और लौहके तीन नगर बनाये थे। ये नगर गगनमें उड़ते रहते थे। मयके तीनों पुत्र इनके अधिपति थे। वे दानव पृथ्वीपर चाहे जहाँ नगरोंको उतारकर भूतलके प्राणियोंका नाश कर डालते। गगनमें देवताओंके विमानोंको तोड़ डालते। देवलोक तथा लोकपालोंकी दिव्य पुरियाँ उन विमानोंसे ध्वस्त होती रहतीं। सबने विवश होकर भगवान् विश्वनाथकी शरण ली। पिनाकपाणि प्रभु असुरोंसे युद्ध करने लगे।

मयने अमृत-रसका कूप बना लिया था। युद्धमें मृत दानव कूपमें डाले जाते और जीवित हो जाते। भगवान् विष्णुने गोरूप धारण किया, ब्रह्माजी बछड़े बने। इतनी सुन्दर गौका मोह दानव छोड़ न सके। गौने देखते-देखते कूपका समस्त रस पी लिया। देवमय रथपर भगवान् शंकर विराजमान हुए। तीनों पुर आधे क्षणके लिये परस्पर एकमें मिले। इसी समय बाण छूटा और वे भस्म हो गये।

× × ×

अन्धक, बाणासुर, मय—सभी असुर तो भगवान् शिवकी आराधनासे ही सफल हुए। मयसे बढ़कर कौन उनका नैष्ठिक सेवक रहा? सब गर्वोन्मत्त हुए, किंतु सबको उन दयामयकी दया ही प्राप्त हुई। बाणासुरके लिये वे स्वयं श्रीकृष्णसे संग्राम करने आये। रावणने कैलास ही उठाना चाहा था। अपने दस मस्तकोंकी आहुति देकर उसने त्रिलोकीका वैभव प्राप्त किया।

× × ×

भगवान् शंकरके अनेक रूप हैं, अनन्त नाम हैं, अनन्त चरित हैं। वे कुन्दगौर शिव हैं, वे नीललोहित रुद्र हैं, वे महाज्वालाकार प्रलयंकर हैं, महाकाल हैं। पुराणोंमें ही उनके इतने चरित हैं कि सबकी सूची ही एक ग्रन्थ हो जाय। उन्होंने समय-समयपर अवतार धारणकर शैवमतकी लोकमें स्थापना की है। अघोर, वामदेवादिरूपसे शैवाचार्य होकर वे धरापर पधारे हैं। नैष्ठिकरूपसे भगवान् शंकरकी आराधना कई शैव सम्प्रदायोंमें होती है।

भारतमें ऐसा कोई ग्राम कदाचित् ही होगा, जहाँ हिंदू-जातिके लोग हों और भगवान् शंकरकी लिंगमूर्ति न प्राप्त हो। वैसे तो पंचवक्त्र, एकवक्त्र आदि श्रीविग्रह भी प्राचीनकालसे पाये जाते हैं; किंतु भगवान् शिवका मुख्य उपासना-विग्रह उनकी लिंगमूर्ति ही है। यह अनादि ऋषिपरम्परामें प्रतिष्ठित लिंगोपासना श्रुति, स्मृति, पुराणसे प्रतिपादित है। स्मृतिकी पंचदेवोपासनामें भगवान् शंकर इसी रूपमें अर्चित होते हैं।

लिंगपूजा क्या है? शक्ति और शक्तिमान्‌का प्रतीक। पुरुष-प्रकृतिका सहज चिह्न। इसे कोई ऐन्द्रियक चिह्न मानकर अपने मनको विकृत करे तो यह उसके भीतरका ही कलुष है। प्रतिमा काल्पनिक नहीं हुआ करती। वह वास्तविककी प्रतिमूर्ति होती है। जगत्‌में वैज्ञानिक इस मूर्तिको अणु-अणुमें देख सकता है। ऋणात्मक एलेक्ट्रॉन या विद्युत् और धनात्मक प्रोटॉन या विद्युत् किस आकृतिपर युक्त होते हैं? चुम्बक जब लौहको खींचता है, दोनोंकी शक्तिका क्या रूप होता है? प्रकृतिमें वही प्रतीक है सर्वत्र। लिंगविग्रह शिवका शक्तिसमन्वित प्रतीक है। वह साधकको उस परमपुरुषमें एकाग्र कर देता है।

× × ×

सम्पूर्ण विद्याओं तथा कलाओंके भगवान् शंकर आदि आचार्य हैं। व्याकरण तो माहेश्वर सूत्रोंसे ही निकला है। संगीत उनके डमरूके नादकी देन है और ताण्डव तथा लास्य नृत्योंके वही विधायक हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद प्रभृति समस्त ज्ञान उनके द्वारा ही मानव और

देवताओंको प्राप्त हुए हैं।

निगम(श्रुति) भगवान् विष्णुकी निःश्वासभूतके हैं। उनके प्रतिपाद्य भगवान् विष्णु हैं। वैसे भगवान्‌के दूसरे सभी रूप श्रुतिसम्मत हैं। निगमके समानान्तर ही आगम (तन्त्र) का ज्ञान है। आगमके उपदेष्टा और आराध्य भगवान् शंकर हैं। श्रुतिकी भाँति ही तन्त्र भी भगवान्‌के समस्त रूपोंके आराधनकी स्वीकृति देता है।

भगवान् शंकरकी साकार करुणाके प्रतीक अब भी वे शाबर मन्त्र हैं, जिनको अपठित ग्रामीण बहुधा काममें लेते हैं। **'अनमिल आखर, अरथ न जापू।'** न तो उन मन्त्राक्षरोंसे कोई ठीक शब्द बनता और न उनका कुछ अर्थ होता है। उनके जपका कोई बड़ा विधान भी नहीं, किंतु उच्चारणमात्रसे वे प्रभाव उत्पन्न करते देखे गये हैं।

भगवान् विष्णु परम शैव, परम शिवाचार्य हैं और भगवान् शंकर परम वैष्णव, परम वैष्णवाचार्य। **'सेवक स्वामि सखा सिय पी के।'** वस्तुतः तो दोनों परस्पर अभिन्न हैं। एक ही एक मूर्तिमें जलनिधिमें शेषशायी बने हैं और दूसरी मूर्तिसे हिमप्रान्तमें शेषभूषणधारी। एक रूपसे वे सृष्टिपालक हैं, एक रूपसे इस अपनी लीलाको संवरण करनेवाले।

हिंदू-संस्कृति निगम-आगम दोनोंको प्रमाण मानकर मूर्त हुई है। भगवान् विष्णु और भगवान् शिव दोनों उसके आराध्य हैं। एक यज्ञके स्वरूप हैं, यज्ञसे आराधित होते हैं तो दूसरे तपोमूर्ति हैं, तपसे तुष्ट होते हैं। भगवान् विष्णु तपस्वियोंके सेवक, रक्षक हैं। भगवान् शंकर यज्ञके उच्छिष्ट भागके भोजी। 'यज्ञ और तप' इन दो शब्दोंमें सम्पूर्ण हिंदू-संस्कृति है। दोनोंके प्रतीक हैं—'विष्णु और शिव'।'

× × ×

सर्वेश्वरत्वे सति भस्मशायिने उमापतित्वे सति चोर्ध्वरेतसे।
वित्तेशभृत्ये सति चर्मवाससे निवृत्तरागाय नमस्तपस्विने॥

कर्पूरगौर, विभूतिलिप्तांग, चतुर्भुज, त्रिलोचन, शशांकशेखर, गंगाधर, अहिभूषण, नीलकण्ठ, मुण्डमाली, खर्परडमरु-त्रिशूल-वरदमुद्राकर, वृषभवाहन, वृषभध्वज, कृत्तिवास, श्मशानबिहारी, भूतनाथ, उमापति, आशुतोष—उन विश्वनाथको प्रणाम।

जिनके लिये क्रूरकर्मा असुर और सत्त्वमूर्ति सुर समान हैं, प्रलय जिनकी सहज क्रीडा है, जीवन जिनका स्मित वरदान है, अपनी पुरी काशीमें मरनेवाले समस्त कीटादिकोंको भी जो मोक्ष वितरित करते रहते हैं, उन नित्य निरपेक्ष, तपोविग्रह भगवान् शूलपाणिको प्रणाम। वे आशुतोष प्रसन्न हों।

महाशक्ति

श्रुतियोंने शक्ति-शक्तिमान् स्वरूप अद्वयतत्त्वका प्रतिपादन किया है। वही एक तत्त्व परमपुरुष और परा शक्तिरूपसे द्विविध है। वे परमपुरुष जगत्‌की सृष्टि, स्थिति,संहारके लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेशस्वरूप होते हैं तो उनकी शक्ति भी इन रूपोंके साथ सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती होती है। परतत्त्व जैसे विष्णु, शिव, राम, कृष्णरूपमें भिन्न होकर भी अभिन्न है, वैसे ही उन त्रिपुरसुन्दरी पराशक्तिके रमा, दुर्गा, सीता, राधा रूप भी नित्य हैं। भिन्न होकर भी अभिन्न हैं वे।

महाशक्तिकी नैष्ठिक उपासना करनेवाले शाक्त सम्प्रदायोंमें भी भगवतीके विविध रूप हैं। महालक्ष्मी, महासरस्वती, महाकाली, गौरी, काली, तारा, चामुण्डा, कूष्माण्डा, ललिता, भैरवी, धूमावती, छिन्नमस्ता, दुर्गा, मातंगी आदि रूपोंमें उनकी उपासना भिन्न-भिन्न विधियोंसे होती है। शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री—इन नवदुर्गारूपोंमें उन्हीं आदि शक्तिकी आराधना होती है। वही शाकम्भरी हैं, वही भ्रामरी हैं, वही कुलकुण्डलिनी हैं और वही योगमाया हैं। आश्विन एवं चैत्रके नवरात्रोंमें उनकी उपासना समस्त भारतमें व्यापकरूपसे होती है। महिषासुर, शुम्भ-निशुम्भ आदि प्रबल प्रचण्ड दैत्योंका वधकर आपने जगत्‌की रक्षा की थी। उनकी यह पवित्र गाथा मार्कण्डेयपुराणमें ग्रथित है। उसीका नाम 'सप्तशती' है, जिसके अनुष्ठानसे लौकिक-पारलौकिक एवं पारमार्थिक—सभी प्रकारके मनोरथ सिद्ध होते हैं।

× × ×

त्रिलोकव्यापी अकालको अपने शरीरसे उत्पन्न शाकोंसे पूर्ण करनेवाली वही महाशक्ति शाकम्भरी कही जाती हैं। उन्होंने ही असुर दुर्गको मारकर दुर्गा नाम धारण किया है। उनके चरित पुराणोंमें, तन्त्रग्रन्थोंमें सर्वत्र व्याप्त हैं। वही चेष्टा, बल, प्रतिभा, श्री, कान्ति आदिकी अधिष्ठात्री हैं। उनके द्विभुज, चतुर्भुज, अष्टभुज, दशभुज, शतभुज एवं सहस्रभुज अनन्त रूप हैं। वे

महाकरुणामयी जगन्माता श्रीविद्या अपने शिशुओंपर नित्य प्रसन्न ही रहती हैं।

भगवान् सूर्य

भगवान् विराट्के नेत्रसे जिनकी अभिव्यक्ति है, जो लोकलोचनके अधिदेवता हैं, जो उपासना करनेपर समस्त रोगों, नेत्रदोषों, ग्रहपीड़ाओंको दूर करके उपासककी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करते हैं, अनादि कालसे भारतीय कर्मनिष्ठ द्विजादि जिन्हें प्रतिदिन अपनी अर्घ्यांजलि निवेदित करते हैं, जो समस्त सचराचर जगत्के जीवनदाता और सम्पूर्ण प्राणियोंके आराध्य हैं, उन ज्योतिघन, जीवन, उष्णता और ज्ञानके स्वरूप भगवान् सूर्यनारायणको हमारा शतशः प्रणिपात।

दृश्य सूर्यमण्डल उनका एक स्थूल निवास है। विश्वमें कोटि-कोटि सूर्यमण्डल हैं। विज्ञान आकाशगंगाके प्रत्येक तारकको सूर्य कहता है। हमारे गगनकी आकाशगंगाके पीछे कितने ही नीहारिकामण्डल हैं। सब आकाशगंगा हैं। सब सूर्योंसे जगमगाती हैं। कोई नहीं जानता, उनकी संख्या कितनी है। उन सब सूर्योंके अधिष्ठाता भगवान् नारायण ही हैं। श्रीसूर्यनारायणकी आराधना इसी रूपमें आराधक करते हैं।

महर्षि कश्यप लोकपिता हैं। उनकी पत्नी देवमाता अदितिके गर्भसे भगवान् विराट्के नेत्रोंसे व्यक्त सूर्यदेव जगत्में प्रकट हुए। सूर्यमण्डलका दृश्यरूप भौतिक जगत्में उनकी देह है। विश्वकर्माकी पुत्री संज्ञासे उनका परिणय हुआ। संज्ञाके दो पुत्र और एक कन्या हुई—श्राद्धदेव (वैवस्वत) मनु और यमराज तथा यमुनाजी। संज्ञा भगवान् सूर्यके तेजको सहन नहीं कर पाती थी। उसने अपनी छाया उनके पास छोड़ दी और स्वयं घोड़ीका रूप धारण करके तप करने लगी। उस छायासे शनैश्चर, सावर्णि मनु और तपती नामक कन्या हुई। भगवान् सूर्यने जब संज्ञाको तप करते देखा तो उसे तुष्ट करके अपने यहाँ ले आये। संज्ञाके बड़वा (घोड़ी) रूपसे अश्विनीकुमार हुए। त्रेतामें कपिराज सुग्रीव और द्वापरमें महारथी कर्ण भगवान् सूर्यके अंशसे ही उत्पन्न हुए।

पक्षिराज गरुड़के बड़े भाई विनतानन्दन अरुणजी भगवान् सूर्यके रथको हाँकते हैं। रथमें सात उज्ज्वल घोड़े जुते हैं। अहर्निश यह रथ पूर्ण वेगसे चलता रहता है। 'सूर्य स्थिर हैं और पृथ्वी चलती है' वैज्ञानिक यूरोपने इस गणितके लिये काम चलानेको स्थिर किये भारतीय सिद्धान्तको विचित्र रूप दे दिया। सौरसिद्धान्त भी वस्तुतः सूर्यको गतिशील मानता है। विज्ञानके महान् विद्वान् अभी परस्पर इस सम्बन्धमें सहमत नहीं हैं। उनका अन्वेषण चल रहा है। नित्य नये सिद्धान्त वहाँ बनते जा रहे हैं।

भगवान् सूर्य अपने रथपर आसीन अविश्रान्त भावसे मेरुकी प्रदक्षिणा करते रहते हैं। उन्हींके द्वारा दिन, रात्रि, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदिका विभाग होता है। वही दिशाओंके भी विभाजक हैं।

भगवान् सूर्यकी उपासना बारह महीनोंमें बारह नामोंसे होती है। उस समय उनके पार्षद भी परिवर्तित हो जाते हैं। इन पार्षदोंमें ऋषि, अप्सराएँ, गन्धर्व, राक्षस, भल्ल और नाग हैं। ऋषि रथसे आगे चलते हुए भगवान्की स्तुति करते हैं। गन्धर्व गान करते हैं। अप्सराएँ नाचती हैं। राक्षस रथको पीछेसे ठेलते हैं। भल्ल रथयोजक बनते हैं और नाग रथको ले चलते हैं। यह सूर्यव्यूह निम्न है—

महीना	भगवान् सूर्यका मास-सम्बद्ध नाम	ऋषि	अप्सरा	गन्धर्व	राक्षस	भल्ल	नाग
मधु(चैत्र)	धाता	पुलस्त्य	कृतस्थली	तुम्बुरु	हेति	रथकृत्	वासुकि
माधव (वैशाख)	अर्यमा	पुलह	पुंजिकस्थली	नारद	प्रहेति	ओजः	कच्छनीर
शुक्र (ज्येष्ठ)	मित्र	अत्रि	मेनका	हहा	पौरुषेय	रथस्वन	तक्षक
शुचि (आषाढ़)	वरुण	वसिष्ठ	रम्भा	हूहू	शुक्र	चित्रस्वन	सहजन्य
नभ(श्रावण)	इन्द्र	अंगिरा	प्रम्लोचा	विश्वावसु	वर्य	श्रोता	एलापत्र
नभस्य(भाद्रपद)	विवस्वान्	भृगु	अनुम्लोचा	उग्रसेन	व्याघ्र	आसारण	शंखपाल
तप(आश्विन)	पूषा	गौतम	घृताची	धनंजय	वात	सुरुचि	सुषेण
तपस्य(कार्तिक)	क्रतु	भरद्वाज	वर्चा	पर्जन्य	सेनजित्	विश्व	ऐरावत
सह(मार्गशीर्ष)	अंशु	कश्यप	उर्वशी	ऋतसेन	विद्युच्छत्रु	ताक्ष्र्य	महाशंख

पुष्य (पौष)	भग	आयु	पूर्वचित्ति	स्फूर्ज	अरिष्टनेमि	ऊर्ण	कर्कोटक
इष (माघ)	त्वष्टा	ऋचीकतनय(जमदग्नि)	तिलोत्तमा	शतजित्	ब्रह्मापेत	धृतराष्ट्र	कम्बल
ऊर्ज(फाल्गुन)	विष्णु	विश्वामित्र	रम्भा	सूर्यवर्चा	मखापेत	सत्यजित्	अश्वतर

भगवान् सूर्यकी आराधना नैष्ठिक रूपसे करनेवाले उड़ीसामें थोड़े लोग मिलते हैं। सौर-सम्प्रदाय अब व्यापक रहा नहीं; किंतु सन्ध्या भगवान् आदित्यकी ही उपासना है और वह द्विजातिमात्रका अनिवार्य कर्तव्य है।

भगवान् सूर्य साक्षात् नारायण हैं। उन श्रुतिधामने वाजि (अश्व)- रूप धारण करके महर्षि याज्ञवल्क्यको शुक्ल यजुर्वेदका उपदेश किया। श्रीहनुमान्‌जीके विद्यागुरु भी वही हैं। भारतमें रविवारका व्रत खूब प्रख्यात है। अनेक आर्त उससे सफलकाम होते हैं।

भगवान् विष्णु

श्रुतिसारसर्वस्व वे आदिनारायण अपनी योगमायासे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयके लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेशके त्रिविध रूपोंमें व्यक्त होते हैं। परवैकुण्ठमें वही चिन्मय अष्टदल नित्य पद्मासनपर आसीन हैं। श्वेतद्वीपमें वही 'शशिवर्ण चतुर्भुज' रूपसे विराजमान हैं। क्षीरोदधिमें वे ही अनन्तशायी हैं और रमावैकुण्ठमें भगवती लक्ष्मीके साथ उन्हींका नित्यलीलाविलास चलता है।

वही प्रभु ब्रह्माण्डरूप विराट् पुरुष हैं और वही ब्रह्माण्डोदधिशायी नारायण हैं। सम्पूर्ण जल उन्हींसे प्रकट हुआ है। श्रुतियाँ उन्हींके निःश्वाससे निसृत हैं। वे ही श्रुतिके प्रतिपाद्य हैं। श्रुति उन्हींकी स्तुति करती है। वे ही यज्ञस्वरूप हैं। यज्ञ उन्हींसे व्यक्त हुए। वे स्वयं यज्ञके होता, ऋत्विक्, यजमान, अग्नि और उपकरण हैं। यज्ञोंद्वारा उन्हीं यज्ञ-पुरुषका यजन होता है। वही प्रभु जगत्पालनके लिये 'सशंख-चक्र चतुर्भुज मेघश्याम' रूपसे शेषशय्यापर विराजमान हैं। उन्हींकी नाभिसे पद्म प्रकट हुआ। पद्मसम्भव ब्रह्माजीने उसी पद्ममें निखिल लोक-कल्पना की है।

मधु-कैटभको मारकर ब्रह्मा तथा श्रुतियोंका उद्धार उन्हीं प्रभुने किया है। वही नाना अवतार धारणकर धराको भारमुक्त करते हैं। भगवान् शंकरको भस्मासुरसे उन्होंने बचाया। त्रिपुरका रसकूप पानकर त्रिपुरारिको विजयी किया और जलन्धरके संग्राममें भी शंकरजीकी विजय उन्हींके द्वारा हुई। समस्त धर्मोंसे उन्हींकी आराधना होती है। अतः जलन्धरपत्नी वृन्दाका पातिव्रत्य उनकी ही तो अर्चा थी। उन्होंने वृन्दाको तुलसी बनाकर अपने वक्षपर नित्य विलसित वनमालामें स्थान दिया, अपने चरणोंकी अधिकारिणी बनाया।

वही सच्चिदानन्द प्रभु देवताओंके परमाश्रय हैं। उन्होंने ही समुद्रमन्थनके समय वासुकिके मस्तक और पुच्छको पकड़कर समुद्र-मन्थन किया। कौस्तुभरत्न उन्हींके कण्ठको भूषित करता है। भगवती लक्ष्मी उनके वक्षमें वास करती हैं। वे ही श्रीवत्सलांछित प्रभु उन्मद असुरोंका दमन करते हैं और शरणागतोंका परित्राण करते हैं। त्रिदेवोंमें कौन श्रेष्ठ है—इसका निर्णय करनेके लिये महर्षि भृगुने उनके वक्षमें पाद-प्रहार किया। उन नित्य आनन्दघनमें रोष-कषाय कहाँ? विप्रका चरण प्रभुने करोंसे मर्दित करते हुए कहा—'इस कोमल पदको कष्ट हुआ होगा।' उन शोभासिन्धुके विशाल वक्षपर विप्रका वह चरण-चिह्न—भृगुलता नित्य भूषण हो गयी।

वे त्रिगुणातीत प्रभु जगत्-रक्षाके लिये सत्त्वके अधिष्ठाता हैं। समस्त शास्त्र उन्हींका गुणगान करते हैं। उनके नाम, गुण, चरितका वर्णन, कीर्तन भगवान् शेष सहस्र मुखोंसे करते रहते हैं। अनन्त कालमें भी समाप्त होनेवाले वे गुण नहीं हैं। उन निखिल सद्‌गुणगणैकधाम, सर्वरूप, सर्वमय, सर्वातीत, सर्वपर, सर्वेश्वर, शोभाधाम, लक्ष्मीकान्त नारायणके पावन पादपद्मोंमें शतशः प्रणाम।

अनादिकालसे श्रुतियाँ उन प्रभुका गुणगान करती हैं। उनकी नैष्ठिक आराधनाकी सम्प्रदाय-परम्पराएँ अनादि हैं। वैष्णव-सम्प्रदायोंको आचार्योंने न तो नूतन प्रतिष्ठित किया और न कुछ उसमें घटाया-बढ़ाया। द्वापरके अन्तमें ये परम्पराएँ क्षीण होने लगी थीं। '**न हि वैष्णवता कुत्र सम्प्रदायपुरःसरा।**' आचार्योंने लुप्त होती उन परम्पराओंको पुनः प्रचारितमात्र किया है। स्मृतियाँ श्रुतियोंकी अनुगामिनी हैं। स्मार्त धर्म पंचदेवोंमें किसी एकको नैष्ठिकरूपसे आराध्य बनानेका प्राणीको आदेश देता है। वैष्णव या भागवतधर्म श्रुति-स्मृति-पुराणप्रतिपादित अनादि धर्म है। हिंदू-समाजमें कलाके क्षेत्रमें वैष्णव-भावनाके अपार वरदान हैं। साहित्यमें तो सर्वश्रेष्ठ महापुरुषोंकी

वाणी भगवान्के ही पावन चरितसे परिपूत हुई है। '**रसो वै सः।**' उस रसरूपको छोड़कर रसका वास्तविक परिपाक जो अन्यत्र नहीं होता।

भगवती लक्ष्मी

श्रीश्यामसुन्दर सदाके कौतुकी हैं। गोलोकमें अपने नित्य रासमण्डलमें उन्होंने अपनी शक्तिको दो रूपोंमें प्रकट कर दिया। समान वेश, समान रूप, समान सौन्दर्य। वामांगसे व्यक्त शक्ति चतुर्भुज रमा और दक्षिणांगसे द्विभुज श्रीराधा। दोनोंकी तुष्टिके लिये स्वयं भी दो रूपोंमें व्यक्त हो गये। चतुर्भुज श्रीनारायणरूपसे रमावैकुण्ठमें आ विराजे रमाके साथ और द्विभुज श्यामसुन्दर-रूप तो नित्य गोलोकविहारी है ही।

महर्षि दुर्वासाके शापसे इन्द्रके साथ त्रिलोकीकी श्री नष्ट हो गयी। अब साक्षात् श्री ब्रह्माण्डमें पधारें, तब लोकोंको शोभा, शक्ति आदि प्राप्त हों। श्रीनारायणके निर्देशसे समुद्र-मन्थन चल रहा था। देव-दैत्य दोनों श्रान्त हो गये। वे आदिपुरुष ही एक हाथसे वासुकिका पुच्छभाग और दूसरेसे सिर पकड़कर मन्थन कर रहे थे। क्षीराब्धिमें महोर्मियाँ उठ रही थीं। प्रथम निकला कालकूट। भगवान् शंकर उसे पान कर गये।

अनेक वस्तुओंके अनन्तर सिन्धुसुता लक्ष्मीजी प्रकट हो गयीं। सभी मुग्ध थे, सभी उनकी कामना करते थे। किसीने आसन दिया, किसीने वस्त्र; किसीने स्नान कराया, किसीने अंगराग दिये। सबने माला, आभरण आदि अपनी उत्कृष्टतम वस्तुओंसे सत्कार किया। उन जगद्धात्रीने सबकी सेवाएँ स्वीकार कर लीं। सब उनके सेवक ही तो हैं।

'ये बड़े क्षुद्र हैं, ये चंचल हैं, ये अल्पसत्त्व हैं, ये पराधीन हैं।' हाथमें कमलोंकी माला लेकर वे अपने योग्य पुरुषका वरण करने चली थीं। ' ये क्रोधी हैं, ये कुरूप हैं, ये अल्पायु हैं, ये अमंगलरूप हैं, ये भयानक हैं।' देव, दैत्य, गन्धर्व, नाग, यक्ष, किन्नर, मानव, ऋषि—यहाँतक कि लोकपाल और स्वयं सदाशिव भी उनको उपयुक्त न जान पड़े। सबमें कोई-न-कोई खटकनेवाली बात थी।

'ये तो मेरी ओर देखते ही नहीं।' दोनों हाथोंमें वरमाला लिये महालक्ष्मी देखती रहीं उन वनमाली पद्मपलाशलोचन परम पुरुषकी ओर। वे समुद्र-मन्थनके अपने कार्यमें तल्लीन थे। उन्होंने रमाको देखकर भी नहीं देखा। एक ही सर्वगुणागार अनुकूल पुरुष और वह इतना निरपेक्ष! लक्ष्मीजीको तो दूसरा पुरुष दीखता ही न था। उन्होंने जयमाल डाल दी उनके कण्ठमें और सिर झुकाकर खड़ी हो गयीं। उन दयामयको दया आयी। उन्होंने अपनी चिरसहचरीको हृदयमें स्थान दिया। भगवान्के वक्षके वामभागपर जो स्वर्णिम रोमावली-आवर्त है, श्रुति उसे श्रीवत्स कहती है। वही महालक्ष्मीका अमर धाम है।

महालक्ष्मी भगवान्में नित्य स्थिर, कमलासना, गरुड़ासना या ऐरावतारूढा निखिलकल्याणधाम्नी हैं और भगवान्को भूलकर जब उनकी आराधना होती है, शास्त्र कहता है कि तब वे उलूकवाहना होती हैं। उनका आसन उलूक होता है। वे चंचला बन जाती हैं।

भगवान् शेष

सहस्रफणधारी, कमल-तन्तुके समान श्वेतवर्ण, मणिमण्डितमौलि, एककुण्डलधर, नीलवस्त्रधारी भगवान्का यह संकर्षणविग्रह जगत्का आधार है। सम्पूर्ण पृथ्वी भगवान् शेषके एक फणपर राईके समान स्थित है। प्रलयके समय उनके फूत्कारकी अग्निमें विश्व सूखे गोबरके समान भस्म हो जाता है।

प्रलयकालमें भगवान् विष्णु शेषजीके भोगपर शयन करते हैं। भगवती लक्ष्मी चुपचाप उनके श्रीचरणोंको दबाती हैं। शेषजी अपने पूर्व फणसे उनके नाभिनालके लोकपद्मको, उत्तर फणसे प्रभुके मस्तक एवं दक्षिण फणसे उनके चरणोंको आच्छादित किये रहते हैं। वे अपना पश्चिम फण फैलाकर सर्वेशको व्यजंन करते हैं तथा अन्य फणोंसे भगवान्के शंख, चक्र, गदा, पद्म, नन्दकखड्ग, दोनों तूणीर, धनुष, गरुड़ आदिको धारण किये रहते हैं।

पातालमें नागकन्याएँ भगवान् अनन्तके महाभोगको नाना प्रकारके सुगन्धित अंगरागोंसे उपलिप्त करती हैं। मुनिजन इष्टसिद्धिके लिये उनकी आराधना करते हैं। सनकादि उनसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रभुका यह रूप प्राणतत्त्वका अधिष्ठान है। वे समस्त बलके आश्रय हैं। वे ही जीवोंके परमोपदेष्टा आदिगुरु हैं।

भगवान् ब्रह्मा

'मैं कहाँ हूँ?' प्रलयाब्धिके मध्य एक सुमहत् प्रकाशमय अरुण कमल खिला था। उसकी कर्णिकापर एक पद्मके ही रंगका बालक बैठा था। बालकने चारों

ओर देखनेकी इच्छा की और वह चतुर्मुख हो गया। वहाँ उस कमल और समुद्रको छोड़कर कुछ नहीं था। तेज:पुंज पद्मके अतिरिक्त दिशाएँ अन्धकारमग्न थीं। बालकने कमलनालमें प्रवेश किया। कमलमूल जाननेकी उत्कण्ठा थी।

'तप! तप! तप!' सहस्रों वर्ष कमलनालमें नीचे जानेपर भी जब उसका अन्त न मिला, तब ब्रह्माजी लौट आये। सहसा अलक्ष्यवाणीने उन्हें तपस्याका आदेश दिया। युगोंके तपके पश्चात्, हृदयमें ही उन्होंने उस कमलनाभके दर्शन किये, जो सहस्रफणमौलि हिमश्वेत शेषकी शय्यापर सोये हुए कृपापूर्वक उनकी ओर देख रहे थे।

'सृष्टि तो बढ़ती ही नहीं।' ब्रह्माजीकी स्वाभाविक रुचि सृष्टिकर्ममें थी। वे बराबर अपने मनसे मानसिक सृष्टि कर रहे थे। मानसिक सृष्टिके प्राणी कल्पान्त अमर तो हो गये, पर उनकी प्रवृत्ति सृष्टिमें तबतक न हुई। अन्तमें स्वयं स्रष्टाने अपने दाहिने भागसे मनु और वाम भागसे शतरूपाको प्रकट किया। यह जोड़ी सृष्टि बढ़ानेमें प्रवृत्त हुई। मनुकी कन्या देवहूति महर्षि कर्दमको विवाही गयीं। इस प्रकार मानसिक सृष्टिका भी सहयोग क्रमशः मिला।

भगवान् ब्रह्मा असुरोंके उपास्य रहे हैं। सृष्टिकर्ममें लगे रहनेसे वे बहुत कठोर तप करनेपर ही तुष्ट होते हैं। इन्द्र और विरोचनने उन्हींसे तत्त्वज्ञान प्राप्त किया। सृष्टिमें सामंजस्य बनाये रखनेके लिये, असुरोंसे पराजित देवताओंकी रक्षाके लिये बार-बार उन्हें क्षीरसागरशायी प्रभुसे प्रार्थना करनी पड़ी है। पृथु या विश्वामित्रकी भाँति कोई समर्थ जब सृष्टिमें व्यतिक्रम करने लगता है, तब भी उन्हें आना पड़ता है उसे समझाने। वे हंसवाहन प्रभु नित्य ही जगत्‌के प्रति सचिन्त रहते हैं। उनके चरित पुराणोंमें बहुत अधिक हैं। समस्त कार्योत्पादनके वे ही अधिष्ठाता हैं।

भगवती सरस्वती

श्वेतपद्मपर आसीना, शुभ्रहंसवाहिनी, तुषारधवलकान्ति, शुभ्रवसना, स्फटिकमालाधारिणी, वीणामण्डितकरा, श्रुतिहस्ता वे भगवती भारती प्रसन्न हों, जिनकी कृपा ही मनुष्यमें कला, विद्या, ज्ञान तथा प्रतिभाका प्रकाश करती है। वही समस्त विद्याओंकी अधिष्ठात्री हैं। यश उन्हींकी धवल अंगज्योत्स्ना है। वे सत्त्वरूपा, श्रुतिरूपा, आनन्दरूपा हैं। विश्वमें सुख, सौन्दर्यका वही सृजन करती हैं।

वे अनादि शक्ति भगवान्, ब्रह्माके कार्यकी सहयोगिनी हैं। उन्हींकी कृपासे प्राणी कार्यके लिये ज्ञान प्राप्त करता है। उनका कलात्मक स्पर्श कुरूपको परम सुन्दर कर देता है। वे हंसवाहिनी हैं। सदसद्विवेक ही उनका वास्तविक प्रसाद है। भारतमें उनकी उपासना सदा होती आयी है। महाकवि कालिदासने उन्हें प्रसन्न किया था। प्रत्येक कवि उनके पावन पदोंका स्मरण करके ही अपना काव्यकर्म प्रारम्भ करता था, यह यहाँकी सनातन परम्परा थी।

प्रतिभाकी उन अधिष्ठात्रीके चरित तो सर्वत्र प्रत्यक्ष हैं। समस्त वाङ्मय, सम्पूर्ण कला और पूरा विज्ञान उन्हींका वरदान है। मनुष्य उन जगन्माताकी अहैतुकी दयासे प्राप्त शक्तिका दुरुपयोग करके अपना नाश कर लेता है और उनको भी दुःखी करता है। ज्ञान-प्रतिमा भगवती सरस्वतीके वरदानका सदुपयोग है अपने ज्ञान, प्रतिभा और विचारको भगवान्‌में लगा देना। वह वरदान सफल हो जाता है। मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। भगवती प्रसन्न होती हैं।

'भारतीय प्राचीन कला प्रायः मन्दिरोंमें व्यक्त हुई है।' पाश्चात्त्य विद्वानोंके ये आक्षेप ठीक ही हैं। भारतने नश्वर मनुष्य और उसके नश्वर अर्थहीन कृत्योंको व्यर्थ स्थायी करनेका प्रयत्न नहीं किया। भारतपर भगवती भारतीकी सदा समुज्ज्वल कृपा रही। मानव—अमृतपुत्र मानवको उन्होंने नित्य अमरत्वका मार्ग दिखाया। मानवने अपनी क्रियाका आधार उस नित्यतत्त्वको बनाया, जहाँ क्रिया नष्ट होकर भी शाश्वत हो जाती है। कला उस चिरन्तन ज्योतिर्मयसे एक होकर धन्य हो गयी। वह स्थूल जगत्‌में भले नित्य न हो, अपने उद्‌गमको नित्य जगत्‌में पहुँचानेमें सफल हुई। भगवती सरस्वतीके दिव्य रूपको न समझकर उनके मंजु प्रकाशके क्षुद्रांशमें भ्रान्त मनुष्य उस प्रकाशका दुरुपयोग करने लगा है। अन्धकारके गर्तमें गिरता तो कदाचित् कहीं अटकता भी; पर वह तो प्रकाशमें कूद रहा है नीचे घोर अतल अन्धकारमें।

भगवती शारदाके मन्दिर हैं, उपासना-पद्धति है, उनकी उपासनासे सिद्ध महाकवि एवं विद्वानोंके इतिहासमें चारु चरित हैं। यह सब होकर भी उनकी कृपा और

उपासनाका फल केवल यश नहीं। यश तो उनकी कृपाका उच्छिष्ट है। फल तो है परमतत्त्वको प्राप्त कर लेना। इसी फलके लिये श्रुतियाँ उन वाग्देवीकी स्तुति करती हैं।

भगवान् मत्स्य

इससे पूर्व कल्पकी बात है—भगवान् ब्रह्मा अपने दिनके कार्यसे श्रान्त होकर योगनिद्राका आश्रय ले रहे थे। श्रुतियाँ सहज अलस भावसे उनके मुखसे निकलीं। उन श्रुतिस्वरूपके मुखसे निद्रामें और प्रकट भी क्या होता। दितिपुत्र हयग्रीवने उन्हें स्मरण कर लिया। एक असुर श्रुतिका न शुद्धोच्चारण कर सकता और न उसका अर्थ-दर्शन। वह अपनी मलिन बुद्धिसे श्रुतियोंका अनर्थ करेगा। श्रुतियोंके उद्धारके लिये, उनकी परम्परा विशुद्ध रखनेके लिये भगवान् विष्णुने मत्स्यरूप धारण किया।

भुवन-भास्कर विवस्वान्‌के पुत्र राजर्षि सत्यव्रत जल पीकर घोर तपमें लीन थे। प्रातः स्नान करके कृतमाला नदीमें तर्पणके लिये उन्होंने अंजलि उठायी। हिलसा जातिकी स्वर्णवर्ण एक शफरी (छोटी मछली) उसमें आ गयी थी। राजर्षिने अंजलि विसर्जित कर दी।

'यहाँ हम छोटी मछलियोंको आहार बना लेनेवाले बहुत जन्तु हैं। उनसे डरकर मैं आपकी शरण आयी हूँ।' शफरी भागी नहीं। वह बोल रही थी। राजर्षिने उसे उठाकर कमण्डलुके जलमें रख लिया।

'मैं आपकी शरण हूँ। मेरी सुविधाका आपको प्रबन्ध करना चाहिये। यहाँ तो मैं हिल भी नहीं सकती।' आश्रममें पहुँचते ही मछलीने पुनः प्रार्थना की। वह इतनी बढ़ गयी थी कि कमण्डलुमें उसका हिलना कठिन था। क्रमशः उसे बड़े पात्र, कुण्ड, सरोवर और सरितामें रखना पड़ा। सब कहीं कुछ मुहूर्तोंमें वह स्थान उसकी वृद्धिसे पूर्ण हो जाता था। अन्तमें समुद्रमें छोड़ना पड़ा उसे।

'निश्चय ही आप सर्वेश हैं। जब आपने मुझपर कृपा की है, तब अपने इस शरीर-धारणका प्रयोजन बतायें।' राजर्षिने तब प्रार्थना की, जब समुद्रमें मत्स्यने अपने लिये मगर आदिका भय बताया। भला, कोई जलजीव इतनी शीघ्र यह आकार-वृद्धि कहाँ पा सकता था। भगवान् मत्स्यने बताया कि प्रलय सातवें दिन ही होनी है। भगवान्‌के आदेशानुसार राजर्षिने बहुत बड़ी नौका बनवायी। उसमें सम्पूर्ण वनस्पतियोंके बीज और प्राणियोंके जोड़े सुरक्षित किये। सातवें दिन चारों ओरसे बढ़कर समुद्रने पृथ्वीको प्लावित कर दिया। नौकामें इसी समय सप्तर्षि भी आकर बैठ गये। प्रबल पवनसे नौका चंचल हो उठी। उसी समय एक-शृंगधारी अयुत योजन विशाल स्वर्णोज्ज्वल भगवान् मत्स्य प्रलय-सागरमें प्रकट हुए। नागराज वासुकी पहलेसे नौकामें विराजमान थे। नौका उन महासर्पकी रज्जुसे मत्स्यके सींगमें बाँध दी गयी।

भूः-भुवः आदि सम्पूर्ण लोक जलमग्न हो गये थे। अन्धकारमें सागरकी उत्तुंग तरंगोंके बीच महामत्स्य प्रभु विचरण कर रहे थे। नौकामें ऋषियोंका तेज प्रकाश किये था। राजर्षिने प्रश्न किया और भगवान्‌ने उत्तर दिया। भगवान् मत्स्यका वही दिव्य उपदेश भगवान् व्यासने मत्स्यपुराणमें संकलित किया है। प्रलयकाल व्यतीत हुआ। समुद्र उतरा। भगवान्‌के आदेशसे हिमालयके एक शृंगमें राजर्षि सत्यव्रतने अपनी नौका बाँध दी! वह शृंग अब भी नौकाबन्धन शृंग कहा जाता है। राजर्षि सत्यव्रत इस मन्वन्तरके वैवस्वत मनु हैं। भगवान् मत्स्यने हयग्रीवका वध किया; क्योंकि सृष्टिकालमें असुरके समीप श्रुति रहना अभीष्ट नहीं था।

यहूदियोंके धर्मग्रन्थमें, बाइबिलमें और कुरानमें भी मनुकी इस जलप्रलय और नौकारोहणका प्रकारान्तरसे वर्णन है। चीनमें तथा प्राचीन आस्ट्रेलिया एवं अमेरिका-निवासियोंमें भी यह चरित प्रसिद्ध है। बहुत थोड़ा अन्तर कथामें इन स्थानोंमें हुआ है। कथाका सब कहीं मिलना बतलाया है कि सब जातियाँ भारतसे गयी हैं और मनुकी संतति हैं। देश, कालके प्रभावसे कथामें परिवर्तन स्वाभाविक है। भगवान् मत्स्य विश्व-संस्कृतिके ही इस प्रकार रक्षक एवं प्रतिष्ठापरक हैं।

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः
श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा।
दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यव्रतानां
तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि॥

(श्रीमद्भा० ८। २४। ६१)

भगवान् कच्छप

अहंकार और महज्जनोंकी उपेक्षा अनर्थोंके कारण होते ही हैं। महर्षि दुर्वासा प्रसन्न थे। उन्होंने ऐरावतपर जाते हुए इन्द्रको अपने कण्ठकी पुष्पमाला दी। महेन्द्रने उसे गजराजके मस्तकपर डाल दिया। ऐरावतने सूँड़से

उठाकर नीचे डाला और पैरसे कुचल दिया। 'तेरी श्री नष्ट हो जाय।' अपने प्रसादका अपमान देख महर्षिने शाप दिया और चले गये।

कहाँ ऋषिके अपमानसे श्रीहीन देवता और कहाँ आचार्य शुक्रके श्रद्धालु सेवक दैत्यराज बलि। दोनोंके युद्धमें देवता हार गये। स्वर्ग असुरोंका क्रीडोद्यान हो गया। बलिने तीनों लोकोंपर अधिकार कर लिया। देवता और क्या करते, वे ब्रह्माजीकी शरण गये। सबने मिलकर शेषशायी प्रभुसे प्रार्थना की।

'आप सब दैत्योंसे सन्धि कर लें। समस्त ओषधियाँ क्षीरसागरमें डालकर उसका मन्थन करें। मन्दराचलको मथानी बनावें और वासुकी नागको रस्सी। यह काम अकेले देवताओंसे न होगा। पहले महाविष निकलेगा, उससे भय मत करना। वस्तुओंमें लोभ करके लड़ना मत। अन्तमें जरा-मृत्यु-हारिणी सुधा प्रकट होगी।' भगवान्‌ने प्रकट होकर युक्ति बतायी।

इन्द्र गये दैत्यराजके समीप। कुशलतापूर्वक उन्होंने बन्धुत्वका स्मरण कराया। अमृतके लोभसे सन्धि हो गयी। देव-दैत्य दोनोंने मिलकर मन्दराचलको उखाड़ा। पर्वत अधिक दूर न जा सका। वह गिरा, बहुतसे लोग पिस उठे। अन्तमें वही भक्त-भयहारी स्मरण करनेपर पधारे। एक हाथसे उठाकर उन्होंने गरुड़पर मन्दराचलको रख लिया।

पर्वत क्षीराब्धि-तटपर आया। समुद्रमें डालनेपर वह डूबने लगा। समस्त देवता और दैत्य मिलकर उसे सम्हालनेमें असमर्थ थे। अन्तत: भगवान्‌ने नियुत योजन विशाल कच्छपरूप धारण करके मन्दराचलको पीठपर धारण किया। उनकी पीठपर स्थित पर्वतसे मन्थन सम्पन्न हुआ।

एक कथा और—प्रलयमें भगवान् शेषशय्यापर योग-निद्राका आश्रय किये हुए थे। उनके शरीरसे आद्याशक्ति प्रकट हुईं। उसीसे इस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रकट हुए। शक्ति शवरूपमें ब्रह्माके पास गयी। उसे उन्होंने चारों ओरसे देखा, फलत: वे चतुर्मुख हो गये। विष्णुने उसे दूरसे लौटा दिया। सौ बार शरीर बदलनेपर शिवने उसे स्वीकार कर लिया।

शक्ति स्थिर हो गयी; किंतु ब्रह्मा सृष्टि न कर सके— पृथ्वी जो नहीं थी। भगवान् विष्णुने कर्णमलसे दो दैत्य उत्पन्न किये। वे दोनों रुष्ट होकर ब्रह्माजीको मारने दौड़े। भगवान् विष्णुने उन्हें मार डाला। उन दैत्योंके मेदसे मेदिनी—पृथ्वी बनी। उनकी अस्थियाँ पर्वत बनीं। पृथ्वीको स्थिर करनेके लिये भगवान्‌ने कच्छपरूप धारण किया।

भगवान्‌के अवतार नित्य हैं। वही प्रभु पृथ्वीको धारण करते हैं, वही मन्दर धारण करके अमृत-मन्थनके हेतु बनते हैं। वही मनुष्यकी धृति बनते हैं और तभी मानव अक्षयधामके पथमें स्थिर होता है। सबके वही आधार हैं।

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयना-
निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिलेनाम्भसां
यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति॥

भगवान् वाराह

'भगवन्! हमारे लिये स्थान निर्देश करें!' स्वायम्भुव मनुने स्रष्टासे प्रार्थना की। चारों ओर महाप्रलयका समुद्र तरंगें ले रहा था। लोकमूल कमलपर ब्रह्माजीने मानसिक सृष्टि व्यक्त कर ली। मनुको सृष्टिकी आज्ञा हुई। मानव-सृष्टिके लिये स्थूल स्थान चाहिये। पृथ्वी तो जलमें डूब गयी थी।

'वे सर्वेश्वर ही इसका उद्धार करें।' भगवान् ब्रह्माने देखा कि रसा तो रसातलमें है। वे ध्यानस्थ हो गये। सहसा छींक आयी। अंगुष्ठके बराबर एक उज्ज्वल वाराह शिशु नासिकासे निकलकर आकाशमें स्थित हो गया।

'यह क्या है?' ऋषियोंके साथ ब्रह्माजी साश्चर्य देख रहे थे। वाराह क्षणभरमें हाथीके बराबर हो गया। वह बढ़ता जा रहा था। एक घनगर्जन-सी घुरघुराहट हुई। वाराहने सटाएँ हिलायीं और समुद्रमें प्रविष्ट हो गये।

× × ×

'आपको विष्णुका कुछ पता है?' जैसे काला पर्वत हो। सोनेकी भारी गदा लिये वह दितिका पीली आँखोंवाला छोटा पुत्र हिरण्याक्ष देवर्षि नारदसे पूछ रहा था। उसने वरुणदेवको युद्धके लिये ललकारा था। देवता उसकी हुंकार सुनकर स्वर्गसे भाग गये थे। समुद्र उसकी क्रीड़ासे चीत्कार कर उठा था। उसे कोई चाहिये, जिससे वह लड़े। उसका बल किसी योद्धाको चाहता था। युद्ध किये बिना उसे शान्ति नहीं थी। वरुणने भी कह दिया था कि वे वृद्ध हो गये हैं। उन्होंने

ही उसे विष्णुभगवान्‌के पास भेजा था।

'वे अभी श्वेत वाराहरूप धारण करके इसी समुद्रमें सीधे नीचे जा रहे हैं। तुम शीघ्रता करो तो पकड़ लोगे।' देवर्षिने दैत्यको देखा। भगवान्‌के पार्षद् जय और विजयने सनकादि-कुमारोंको वैकुण्ठ-प्रवेशके समय रोक दिया था। ऋषियोंने शाप दे दिया उन्हें असुर होनेका। अब वे दितिके गर्भसे प्रकट हुए हैं। उनमें एक तो यही है। देवर्षिको दया आयी। भगवान्‌के हाथसे मरकर यह दूसरा जन्म ले। तीन ही जन्ममें तो फिर अपने रूपको पा लेगा। इन जन्मोंसे जितनी जल्दी छूटे, उतना अच्छा।

'अरे, इसे कहाँ ले जाता है? यह तो स्रष्टाने हम रसातलवासियोंके लिये भेजी है।' दैत्य पाताल पहुँचा। भगवान् वाराहने पृथ्वीको अपने दाँतोंपर उठा लिया था। दैत्यको तो विवाद करना था, पर भगवान्‌ने जैसे कुछ सुना ही नहीं। वे पृथ्वीको लेकर चले। दैत्य पीछे-पीछे दौड़ा। 'तू इसे छोड़ दे, नहीं तो मारा जायगा।'

'अच्छा, अब तू अपने मनकी कर ले!' दैत्य पीछे दौड़ आया। भगवान्‌ने पृथ्वीको ऊपर स्थापित करके उसे ललकारा। दोनोंमें घोर संग्राम हुआ। अन्तमें दैत्य मारा गया। यह श्वेतवाराह-कल्पकी सृष्टि पृथ्वीकी उसी पुनःप्रतिष्ठाके समयसे प्रारम्भ हुई है।

भगवान् नृसिंह

धराके उद्धारके समय भगवान्‌ने वाराहरूप धारण करके हिरण्याक्षका वध किया। उसका बड़ा भाई हिरण्यकशिपु बड़ा रुष्ट हुआ। उसने अजेय होनेका संकल्प किया। सहस्रों वर्ष बिना जलके वह सर्वथा स्थिर तप करता रहा। ब्रह्माजी सन्तुष्ट हुए। दैत्यको वरदान मिला। उसने स्वर्गपर अधिकार कर लिया। लोकपालोंको मार भगा दिया। स्वतः सम्पूर्ण लोकोंका अधिपति हो गया। देवता निरुपाय थे। असुरको किसी प्रकार वे पराजित नहीं कर सकते थे।

'बेटा, तुझे क्या अच्छा लगता है?' दैत्यराजने एक दिन सहज ही अपने चारों पुत्रोंमें सबसे छोटे प्रह्लादसे पूछा।

'इन मिथ्या भोगोंको छोड़कर वनमें श्रीहरिका भजन करना!' बालक प्रह्लादका उत्तर स्पष्ट था। दैत्यराज जब तप कर रहे थे, देवताओंने असुरोंपर आक्रमण किया। असुर उस समय भाग गये थे। यदि देवर्षि न छुड़ाते तो दैत्यराजकी पत्नी कयाधूको इन्द्र पकड़े ही लिये जाते थे। देवर्षिने कयाधूको अपने आश्रममें शरण दी। उस समय प्रह्लाद गर्भमें थे। वहींसे देवर्षिके उपदेशोंका उनपर प्रभाव पड़ चुका था।

'इसे आपलोग ठीक-ठीक शिक्षा दें!' दैत्यराजने पुत्रको आचार्य शुक्रके पुत्र षण्ड तथा अमर्कके पास भेज दिया। दोनों गुरुओंने प्रयत्न किया। प्रतिभाशाली बालकने अर्थ, धर्म, कामकी शिक्षा सम्यक् रूपसे प्राप्त की; परंतु जब पुनः पिताने उससे पूछा तो उसने श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—इन नौ भक्तियोंको ही श्रेष्ठ बताया।

'इसे मार डालो। यह मेरे शत्रुका पक्षपाती है।' रुष्ट दैत्यराजने आज्ञा दी। असुरोंने आघात किया। भल्ल-फलक मुड़ गये, खड्ग टूट गया, त्रिशूल टेढ़े हो गये; पर वह कोमल शिशु अक्षत रहा। दैत्य चौंका। प्रह्लादको विष दिया गया; पर वह जैसे अमृत हो। सर्प छोड़े गये उनके पास और वे फण उठाकर झूमने लगे। मत्त गजराजने उठाकर उन्हें मस्तकपर रख लिया। पर्वतसे नीचे फेंकनेपर वे ऐसे उठ खड़े हुए, जैसे शय्यासे उठे हों। समुद्रमें पाषाण बाँधकर डुबानेपर दो क्षण पश्चात् ऊपर आ गये। घोर चितामें उनको लपटें शीतल प्रतीत हुईं। गुरुपुत्रोंने मन्त्रबलसे कृत्या (राक्षसी) उन्हें मारनेके लिये उत्पन्न की तो वह गुरुपुत्रोंको ही प्राणहीन कर गयी। प्रह्लादने ही प्रभुकी प्रार्थना करके उन्हें जीवित किया। अन्तमें वरुणपाशसे बाँधकर गुरुपुत्र पुनः उन्हें पढ़ाने ले गये। वहाँ प्रह्लाद समस्त बालकोंको भगवद्भक्तिकी शिक्षा देने लगे। भयभीत गुरुपुत्रोंने दैत्येन्द्रसे प्रार्थना की 'यह बालक सब बच्चोंको अपना ही पाठ पढ़ा रहा है!'

'तू किसके बलसे मेरे अनादरपर तुला है?' हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको बाँध दिया और स्वयं खड्ग उठाया।

'जिसका बल आपमें तथा समस्त चराचरमें है!' प्रह्लाद निर्भय थे।

'कहाँ है वह?'

'मुझमें, आपमें, खड्गमें, सर्वत्र!'

'सर्वत्र? इस स्तम्भमें भी?'

'निश्चय!' प्रह्लादके वाक्यके साथ दैत्यने खंभेपर घूसा मारा। वह और समस्त लोक चौंक गये। स्तम्भसे बड़ी भयंकर गर्जनाका शब्द हुआ। एक ही क्षण पश्चात्

दैत्यने देखा—समस्त शरीर मनुष्यका और मुख सिंहका, बड़े-बड़े नख एवं दाँत, प्रज्वलित नेत्र, स्वर्णिम जटाएँ, बड़ी भीषण आकृति खंभेसे प्रकट हुई। दैत्यके अनुचर झपटे और मारे गये अथवा भाग गये। हिरण्यकशिपुको भगवान्‌ने पकड़ लिया।

'मुझे ब्रह्माजीने वरदान दिया है!' छटपटाते हुए दैत्य चिल्लाया। 'दिनमें या रातमें न मरूँगा; कोई देव, दैत्य, मानव, पशु मुझे न मार सकेगा। भवनमें या बाहर मेरी मृत्यु न होगी। समस्त शस्त्र मुझपर व्यर्थ सिद्ध होंगे। भूमि, जल, गगन—सर्वत्र मैं अवध्य हूँ।'

'यह सन्ध्याकाल है। मुझे देख कि मैं कौन हूँ। यह द्वारकी देहली, ये मेरे नख और यह मेरी जंघापर पड़ा तू।' अट्टहास करके भगवान्‌ने नखोंसे उसके वक्षको विदीर्ण कर डाला।

वह उग्ररूप—देवता डर गये, ब्रह्माजी अवसन्न हो गये, महालक्ष्मी दूरसे लौट आयीं; पर प्रह्लाद—वे तो प्रभुके वरप्राप्त पुत्र थे। उन्होंने स्तुति की। भगवान् नृसिंहने गोदमें उठाकर उन्हें बैठा लिया। स्नेहसे चाटने लगे। प्रह्लाद दैत्यपति हुए।

भगवान् वामन

श्रीहरि जिसपर कृपा करें, वही सबल है। उन्हींकी कृपासे देवताओंने अमृत-पान किया। उन्हींकी कृपासे असुरोंपर युद्धमें वे विजयी हुए। पराजित असुर मृत एवं आहतोंको लेकर अस्ताचल चले गये। असुरेश बलि इन्द्रके वज्रसे मृत हो चुके थे। आचार्य शुक्रने अपनी संजीवनी विद्यासे बलि तथा दूसरे असुरोंको भी जीवित एवं स्वस्थ कर दिया। बलिने आचार्यकी कृपासे जीवन प्राप्त किया था। वे सच्चे हृदयसे आचार्यकी सेवामें लग गये। शुक्राचार्य प्रसन्न हुए। उन्होंने यज्ञ कराया। अग्निसे दिव्य रथ, अक्षय त्रोण, अभेद्य कवच प्रकट हुए।

आसुरी सेना अमरावतीपर चढ़ दौड़ी। इन्द्रने देखते ही समझ लिया कि इस बार देवता इस सेनाका सामना नहीं कर सकेंगे। बलि ब्रह्मतेजसे पोषित थे। देवगुरुके आदेशसे देवता स्वर्ग छोड़कर भाग गये। अमर-धाम असुर-राजधानी बना। शुक्राचार्यने बलिका इन्द्रत्व स्थिर करनेके लिये अश्वमेध-यज्ञ कराना प्रारम्भ किया। सौ अश्वमेध करके बलि नियमसम्मत इन्द्र बन जायँगे। फिर उन्हें कौन हटा सकता है।

'स्वामी, मेरे पुत्र मारे-मारे फिरते हैं!' देवमाता अदिति अत्यन्त दुःखी थीं। अपने पति महर्षि कश्यपसे उन्होंने प्रार्थना की। महर्षि तो एक ही उपाय जानते हैं—भगवान्‌की शरण, उन सर्वात्माकी आराधना। अदितिने फाल्गुनके शुक्ल पक्षमें बारह दिन पयोव्रत करके भगवान्‌की आराधना की। प्रभु प्रकट हुए। अदितिको वरदान मिला। उन्हींके गर्भसे भगवान् प्रकट हुए। शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज पुरुष अदितिके गर्भसे जब प्रकट हुए, तत्काल वामन ब्रह्मचारी बन गये। महर्षि कश्यपने ऋषियोंके साथ उनका उपनयन-संस्कार सम्पन्न किया। भगवान् वामन पितासे आज्ञा लेकर बलिके यहाँ चले।

नर्मदाके उत्तर-तटपर असुरेन्द्र बलि अश्वमेध-यज्ञमें दीक्षित थे। यह उनका अन्तिम अश्वमेध था। छत्र, पलाश, दण्ड तथा कमण्डलु लिये, जटाधारी, अग्निके समान तेजस्वी वामन ब्रह्मचारी वहाँ पधारे। बलि, शुक्राचार्य, ऋषिगण—सभी उस तेजसे अभिभूत अपनी अग्नियोंके साथ उठ खड़े हुए। बलिने उनके चरण धोये, पूजन किया और प्रार्थना की कि जो भी इच्छा हो, वे माँग लें।

'मुझे अपने पैरोंसे तीन पद भूमि चाहिये!' बलिके कुलकी शूरता, उदारतादिकी प्रशंसा करके वामनने माँगा। बलिने बहुत आग्रह किया कि और कुछ माँगा जाय; पर वामनने जो माँगना था, वही माँगा था।

'ये साक्षात् विष्णु हैं!' आचार्य शुक्रने सावधान किया। समझाया कि इनके छलमें आनेसे सर्वस्व चला जायगा।

'ये कोई हों, प्रह्लादका पौत्र देनेके कहकर अस्वीकार नहीं करेगा।!' बलि स्थिर रहे। आचार्यने ऐश्वर्य-नाशका शाप दे दिया। बलिने भूमिदानका संकल्प किया और वामन विराट् हो गये। एक पदमें पृथ्वी, एकमें स्वर्गादि लोक तथा शरीरसे समस्त नभ व्याप्त कर लिया उन्होंने। उनका वाम पद ब्रह्मलोकसे ऊपरतक गया। उसके अंगुष्ठ-नखसे ब्रह्माण्डका आवरण तनिक टूट गया। ब्रह्मद्रव वहाँसे ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट हुआ। ब्रह्माजीने भगवान्‌का चरण धोया और चरणोदकके साथ उस ब्रह्मद्रवको अपने कमण्डलुमें ले लिया। वही ब्रह्मद्रव गंगाजी बना।

'तीसरा पद रखनेको स्थान कहाँ है?' भगवान्‌ने

बलिको नरकका भय दिखाया। संकल्प करके दान न करनेपर तो नरक होगा ही।

'इसे मेरे मस्तकपर रख लें' बलिने मस्तक झुकाया। प्रभुने वहाँ चरण रखा। बलि गरुड़द्वारा बाँध लिये गये।

'तुम अगले मन्वन्तरमें इन्द्र बनोगे! तबतक सुतलमें निवास करो। मैं नित्य तुम्हारे द्वारपर गदापाणि उपस्थित रहूँगा।' दयामय द्रवित हुए। प्रह्लादके साथ बलि सब असुरोंको लेकर स्वर्गाधिक-ऐश्वर्यसम्पन्न सुतल लोकमें पधारे। शुक्राचार्यने भगवान्के आदेशसे यज्ञ पूरा किया।

महेन्द्रको स्वर्ग प्राप्त हुआ। ब्रह्माजीने भगवान् वामनको उपेन्द्र-पद प्रदान किया। वे इन्द्रके रक्षक होकर अमरावतीमें अधिष्ठित हुए। बलिके द्वारपर गदापाणि द्वारपाल तो बन ही चुके थे। त्रेतामें दिग्विजयके लिये रावणने सुतल-प्रवेशकी धृष्टता की। बेचारा असुरेश्वरके दर्शनतक न कर सका। बलिके द्वारपालने पैरके अँगूठेसे उसे फेंक दिया। पृथ्वीपर सौ योजन दूर लंकामें आकर गिरा था वह।

भगवान् परशुराम

'यह गौ आप मुझे दे दें।' हैहयराज सहस्रबाहु अर्जुन ससैन्य महर्षि जमदग्निके आश्रमके पाससे निकले थे। महर्षिने उनको आतिथ्यके लिये निमन्त्रित किया। आश्रमकी कामधेनुकी कृपासे सबका सत्कार हुआ। राजाके मनमें लोभ आया। जब महर्षिने गौ माँगनेपर भी न दी तो बलपूर्वक उसने छीन ली। वह अपने बलके गर्वसे उन्मत्त हो रहा था।

'राम, तुमने अधर्म किया। हम ब्राह्मण हैं। हमें क्षमा करना चाहिये।' परशुराम वनसे लौटकर राजाका अन्याय सह न सके थे। अकेले ही परशु लेकर ससैन्य सहस्रार्जुनका युद्धमें वध करके वे होमधेनु लौटा लाये थे। महर्षि जमदग्नि सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने पुत्रको वर्षभर समस्त तीर्थोंमें प्रायश्चित्तस्वरूप घूमनेका आदेश दिया।

'राम, हा राम!' भगवान् परशुराम यात्रासे लौटे। दूरसे माता रेणुकाके करुणस्वर उन्होंने सुना। अग्निशालामें ध्यानस्थ महर्षि जमदग्निको सहस्रार्जुनके पुत्रोंने मार दिया था और उनका मस्तक लेकर भाग गये थे। भगवान् परशुरामके नेत्रोंने अग्निवर्ण धारण किया। उन्होंने पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे हीन कर दिया। समन्त पंचक स्थानमें राजाओंके रक्तसे नौ सरोवर बन गये। परशुरामजीने यज्ञ किया। पिताके मस्तकको लाकर शरीरपर स्थापित करके मन्त्रपाठ किया। महर्षि जमदग्नि जीवित हुए। उन्हें सप्तर्षियोंमें पंचम स्थान प्राप्त हुआ।

'राम! तुम अब मेरी भूमिसे चले जाओ!' ऋषिगण बार-बार क्षत्रियोंके गर्भस्थ बालकोंकी रक्षा करते। उनको राजा बनाते। परशुरामजी उनका वध कर डालते। अन्तिम बार जब कश्यपजीको उन्होंने समस्त पृथ्वी दान कर दी तब महर्षि कश्यपने उन्हें आदेश दिया कि 'अब मेरी भूमिपर कभी रात्रिवास न करना।' तबसे परशुरामजी महेन्द्र-पर्वतपर निवास करते हैं। वे कल्पान्त अमर हैं। अनेक बार योग्य अधिकारी उनके दर्शन पाते हैं।

भगवान् श्रीराम

गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं पद्मपद्भ्यां प्रियायाः
पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां मृजितपथरुजो यो हरीन्द्रानुजाभ्याम्।
वैरूप्याच्छूर्पणख्याः प्रियविरहरुषाऽऽरोपितभ्रूविजृम्भ-
त्रस्ताब्धिर्बद्धसेतुः खलदवदहनः कोसलेन्द्रोऽवतान्नः॥

(श्रीमद्भा० ९। १०।४)

अयोध्याका सिंहासन शून्य होने जा रहा था। रघुकी सन्तति-परम्पराका इस प्रकार कहीं उच्छेद हो सकता है। महाराज दशरथने तीन विवाह किये, अवस्था अधिक हो गयी; किंतु उस चक्रवर्ती साम्राज्यका उत्तराधिकारी किसी रानीकी गोदमें न आया। रघुवंशके परम रक्षक तो महर्षि वसिष्ठ हैं। महाराजने अपने उन कुलगुरुकी शरण ली। गुरुदेवके आदेशसे शृंगी ऋषि आमन्त्रित हुए। पुत्रेष्टियज्ञका अनुष्ठान हुआ। साक्षात् अग्निदेवने प्रकट होकर चरु प्रदान किया। उस दिव्य चरुको ग्रहण कर रानियाँ गर्भवती हुईं।

देवता लंकाधिप पुलस्त्यके पौत्र राक्षसराज रावणसे सन्त्रस्त हो गये थे। अपने ऐश्वर्यमें मत वह कुबेरका छोटा भाई वेदज्ञ होनेपर भी राक्षस हो गया। दानवेन्द्र मयने अपनी पुत्री मन्दोदरी उससे विवाह दी। श्वशुरकुलसे ही उसकी प्रकृति एक हो गयी। ऋषियों, ब्राह्मणों, देवताओं तथा धर्मका वह शत्रु हो गया। यज्ञ बलपूर्वक रोक दिये गये, पूजनस्थल ध्वस्त किये गये। तपोवन राक्षसोंने जला दिये। ऋषि-मुनि राक्षसोंके भक्ष्य हो गये। देवराज इन्द्र पराजित हो चुके थे। लोकपालगण रावणकी आज्ञा माननेपर विवश थे। अन्ततः धरा यह अधर्म-भार कहाँतक सहे। पृथ्वीकी आर्त पुकार, देवताओंकी प्रार्थना, स्रष्टाकी चिन्ता—सबने उन परात्पर

दशावतार (हाथी दाँतकी मूर्ति, त्रिवन्द्रम्)

मत्स्य कूर्म वाराह नृसिंह वामन परशुराम राघवराम बलराम कृष्ण कल्कि

[त्रिवांकुर-कोचीन सरकारके सौजन्यसे

गरुड़ (काष्ठ-मूर्ति, पालूर)

सुदर्शन चक्र (कांस्यमूर्ति)

[त्रिवांकुर-कोचीन सरकारके सौजन्यसे

प्रभुको आकृष्ट किया। अयोध्यानरेश चक्रवर्ती महाराज दशरथकी बड़ी रानी कौसल्याकी गोदमें चैत्रकी रामनवमीके मध्याह्नमें वे साकेताधीश शिशु बनकर आ गये। उनके अंश भी आये— माता सुमित्राकी गोद दो स्वर्ण-गौर कुमारोंसे भूषित हुई और कैकेयीजीने भावमूर्ति नवजलधर वर्ण रूपराशि भरतको प्राप्त किया।

चारों कुमार बड़े हुए। कुलगुरुसे शास्त्र एवं शस्त्रकी शिक्षा मिली। सहसा एक दिन महर्षि विश्वामित्र आ पहुँचे। उनके आश्रममें प्रत्येक पर्वपर राक्षस उपद्रव करते थे। महर्षिको राम-लक्ष्मणकी आवश्यकता थी। केवल दो कुमार—अवधकी चतुरंगिणी सेनाको तपोवनमें ले जाना इष्ट नहीं था। चक्रवर्ती महाराजकी चाहे जितनी अनिच्छा हो, सृष्टि-समर्थ विश्वामित्रजीका आग्रह कैसे टले। श्रीरामने भाईके साथ प्रस्थान किया। राक्षसी ताड़का मार्गमें ही एक बाणकी भेंट हो गयी। मुनिवरका यज्ञ रक्षित हुआ। सदल सुबाहु मारा जा चुका था और उसका भाई मारीच रामके 'फल'-हीन बाणके आघातसे सौ योजन दूर समुद्र-तटपर जा गिरा था।

महर्षिको तपोवनमें ही विदेहराज जनकका आमन्त्रण मिला। उनकी अयोनिजा कन्या सीताका स्वयंवर हो रहा था। महर्षिके साथ दोनों अवध-कुमार मिथिलाको धन्य करने पधारे। गौतमाश्रममें पाषाणभूता अहल्या श्रीरामकी चरण-रजका स्पर्श पाकर पतिके शापसे मुक्त हो गयी। वह अपने पतिधाम चली गयी। 'जनकपुत्री भूमिसुता उसे वरण करेंगी, जो शंकरके महाधनुष पिनाकको तोड़ेगा।' मिथिलानरेशकी यह प्रतिज्ञा श्रीरामने पूर्ण की। श्रीपरशुरामजी अपने आराध्यदेवके धनुर्भंगसे क्रोधमें भरे आये और श्रीरामके शील,शक्ति, तेजसे गर्वरहित होकर लौट गये। अयोध्यानरेशको आमन्त्रण मिला। उनके चारों कुमार जनकपुरमें विवाहित हुए।

महाराज चाहते हैं, प्रजा चाहती है, गुरुदेव चाहते हैं कि श्रीरामका राज्याभिषेक हो; परंतु राम राज्य करें तो धराका भार कौन दूर करे? देवताओंने प्रेरणा की। माता कैकेयीको मोह हुआ। 'भरत-शत्रुघ्न ननिहाल हैं और चुपचाप रामको राज्य दिया जा रहा है!' सन्देह स्वयं पापमूल है। 'भरतको राज्य और रामको चतुर्दश वर्ष वनवास!' छोटी रानीने महाराजको वचनबद्ध करके वरदान माँगा। पिताके सत्यके रक्षार्थ रघुवंशविभूषण प्रातः वल्कलधारी होकर वनको विदा हुए। लक्ष्मण और श्रीजानकी उनसे पृथक् कैसे रह सकते हैं।

श्रीराम भाई एवं पत्नीके साथ वन गये। महाराजने प्रिय पुत्रके वियोगमें शरीर छोड़ दिया। भरत—उनकी दशा, दुःख, वेदना कौन कैसे कहे। गुरुका आदेश ननिहालमें चरने सुनाया था। अयोध्या आकर पिताकी अन्त्येष्टि करनी पड़ी। समस्त समाज लेकर श्रीरामको चित्रकूट लौटाने गये, पर वहाँसे भी चरण-पादुका लेकर लौटना पड़ा। भरत बड़े भाईकी चरण-पादुका लेकर लौटे। अयोध्याका चक्रवर्ती सिंहासन उन पादुकाओंसे भूषित हुआ। रामहीन अयोध्यामें भरत रहेंगे? उन्होंने नन्दिग्राममें '**महि खनि कुस साथरी सँवारी।**' और 'गोमूत्र-यावक' (गोबरसे निकले जौको गोमूत्रमें पकाकर) उसके आहारपर तप करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत करना स्थिर किया।

श्रीराम चित्रकूटसे आगे चले। अयोध्यासे ही महर्षियोंके दर्शनकी सुलालसा थी। प्रयागमें भरद्वाजजी, आगे महामुनि वाल्मीकिके दर्शन हुए ही थे। चित्रकूटके तो महर्षि अत्रि ही कुलपति थे। आगे शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्यादिके दर्शन करके दण्डकारण्यको पवित्र किया उन्होंने। असुर विराध चित्रकूटसे निकलते ही मिला और मारा गया। पंचवटीमें पर्णकुटी बनी। कुछ वर्ष वहाँ शान्तिसे व्यतीत हुए। गृध्रराज जटायुसे परिचय हुआ।

उस दिन रावणकी बहिन कुलटा शूर्पणखा कहींसे घूमती-घामती आ पहुँची। मर्यादा-पुरुषोत्तम वासना एवं दुष्टोंका निग्रह तो करते ही। नाक-कान कटनेपर उसने खर-दूषणसे पुकार की। वे असुर चौदह सहस्र सेनाके साथ आये और अकेले श्रीराघवेन्द्रके शरोंके भोग हो गये। शूर्पणखा रावणके पास पहुँची। रावणने मारीचको साथ लिया। स्वर्णमृगके पीछे श्रीजानकीकी इच्छासे श्रीराम दौड़े। मारीचका छल सफल हुआ। वह शराघातसे मरा, किंतु रावण एकाकिनी जानकीको हरण करनेमें सफल हो गया। लंकाके अशोकवनमें वह विश्वधातृ बंदिनी बनीं।

श्रीराम लौटे मृगकी वंचनाका दण्ड देकर। आश्रम शून्य था। अन्वेषण प्रारम्भ हुआ। आहत जटायु मिले। वे दशाननको रोकनेके प्रयत्नमें छिन्नपक्ष हुए थे। श्रीरामके चरणोंमें उनका शरीर छूटा। राघवने अपने हाथों उनकी अन्त्येष्टि की। कबन्ध असुरका वध और शबरीके बेरोंका आस्वादन करते वे पम्पासर पहुँचे।

वालीसे निर्वासित सुग्रीवको शरण मिली और दूसरे ही दिन जब वाली श्रीरामके बाणसे परधाम पधारे, सुग्रीव किष्किन्धाधीश हो गये। ऋष्यमूकपर राघवने वर्षा व्यतीत की। शरदागममें वानर-भालु सीतान्वेषणको निकले।

श्रीपवनकुमार शतयोजन सागरपार लंकामें विदेह-नन्दिनीका दर्शन कर आये। स्वर्णपुरी उनकी पूँछकी लपटोंमें जल चुकी थी। श्रीरामने ससैन्य प्रस्थान किया। मदान्ध रावणसे पादताड़ित विभीषण उन विश्व-शरणदकी शरण आ गये। सागरपर सेतु बना और वह सुरासुर-अगम्य पुरी वानर-भालुओंसे धर्षित होने लगी। राक्षस-सेनानी मारे जाने लगे। रणभूमिने रावणपुत्र इन्द्रजित् तथा कुम्भकर्णकी आहुति ले ली। अन्तमें दशाननका वध करके श्रीरामने सुरकार्य पूर्ण कर दिया।

भरत चौदह वर्षसे एक दिन अधिक प्रतीक्षा न करेंगे। उनके प्राण इस अवधिमें आबद्ध हैं। पुष्पक सज्जित हुआ। श्रीराम भाई तथा श्रीजानकी एवं सुग्रीव, विभीषण, हनुमान्, अंगदादि प्रधान नायकोंके साथ उस दिव्य विमानसे अयोध्या पधारे। पुरवासियोंकी, माताओंकी, भरतकी चिरप्रतीक्षा सफल हुई। श्रीराम कोसलाके चक्रवर्ति-सिंहासनपर वैदेहीके साथ विराजमान हुए।

'राम-राज्य'— सुशासन, सुव्यवस्था, धर्म, शान्ति, सदाचारादिकी पूर्णताके द्योतनके लिये आज भी मनुष्यके पास इससे सुन्दर शब्द नहीं। ग्यारह सहस्र वर्ष वह दिव्य शासन धराको कृतार्थ करता रहा। श्रीवाल्मीकीय रामायण और गोस्वामी तुलसीदासजीके श्रीरामचरितमानस श्रीरामके मंगलमय चरितसे लोकमें कल्याणका प्रसार करते हैं। भगवान् व्यासके अतिरिक्त अनेक संस्कृत, हिंदी तथा अन्य भाषाओंके कवियों, विद्वानोंने अपनी वाणी राम-गुण-गानसे पवित्र की है।

श्रीराम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। हिंदू-संस्कृतिकी पूर्ण प्रतिष्ठा उनके चरितमें हुई है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रके लिये उसमें आदर्श हैं। हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप 'श्रीरामचरित' के दर्पणमें ही पूर्णत: प्रतिबिम्बित हुआ है। भारतका वह आदर्श आज विश्व-मानवका गेय-ध्येय बने, तभी मानव सुसंस्कृत बन सकेगा।

भगवान् बलराम

श्रीकृष्णावतार तो पिछले द्वापरमें सत्ताईस कलियुगोंके पश्चात् हुआ था। द्वापरमें पृथ्वीका भार हरण करने तो भगवान् बलराम ही प्राय: पधारते हैं। उन्हींको श्रुतियाँ द्वापरका युगावतार कहती हैं। माता देवकीके सप्तम गर्भमें वे पधारे। योगमायाने गोकुलमें नन्दबाबाके यहाँ स्थित रोहिणीजीमें उन्हें पहुँचा दिया। इस प्रकार वे संकर्षण कहलाये। इनकी गोकुल, मथुरा और द्वारकाकी कई लीलाएँ बड़ी ही अद्भुत और आनन्ददायिनी हैं।

श्रीकृष्ण-बलराम परस्पर नित्य अभिन्न हैं। उनकी चरितचर्चा एक दूसरेसे पृथक् जैसे कुछ है ही नहीं। गोकुलमें दोनोंकी संग-संग बालक्रीड़ा और वहाँसे वृन्दावन-प्रस्थान। बहुत थोड़े चरित हैं, जब श्यामसुन्दरके साथ उनके अग्रज नहीं थे। ऐसे ही बलरामजी अपने अनुजसे पृथक् बहुत कम रहे हैं।

वह कंसप्रेरित असुर प्रलम्ब आया था। श्रीकृष्णको तो कोई साथी चाहिये खेलनेके लिये। एक नवीन गोप-बालकको देखा और मिला लिया अपने दलमें। असुरने श्यामके दैत्य-दलन-चरित सुने थे। उसे उनसे भय लगा। अपने छद्मवेशमें वह दाऊको पीठपर बैठानेमें सफल हुआ और भागा। जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका धारक है, उसे कौन ले जा सकता है। दैत्यको अपना स्वरूप प्रकट करना पड़ा। एक घूसा पड़ा तत्क्षण उसके मस्तकपर और फिर क्या सिर बच रहना था। उस दिन सखा कह रहे थे कि उन्हें पक्व ताल-फलोंकी सुरभि लुब्ध कर रही है। सखा कुछ चाहें तो वह अप्राप्य कैसे रहे। असुर-गर्दभ धेनुक और उसका सब गर्दभ-परिवार क्रीड़ामें ही नष्ट हो गये। प्रकृतिका उन्मुक्त दान कानन है। इन दुष्ट गर्दभोंने उसे पशुओंतकके लिये अगम्य बना दिया था। भगवान् बलरामने सखाओंको ताल-फल प्रदान करनेके बहाने सबके लिये निर्बाध कर दिया उसे।

कन्हैया तो महाचंचल है; किंतु दाऊ भैया गम्भीर परमोदार, शान्त हैं। श्याम उन्हींका संकोच भी करता है। वे भी अपने अनुजकी इच्छाको ही जैसे देखते रहते हैं। व्रज-लीलामें जब श्यामने शंखचूड़को मारा, उसने समस्त गोपनारियोंके सम्मुख उस यक्षका शिरोरत्न अपने अग्रजको उपहार रूपमें दिया। कुवलयापीड़—कंसका उन्मत्त गजराज दोनों भाइयोंकी थप्पड़ों और घूसोंकी भेंट हुआ और मल्लशालामें चाणूरको श्यामने पछाड़ा तो मुष्टिक बलरामजीकी मुष्टिकाकी भेंट हो गया।

दोनों भाइयोंने गुरुगृहमें साथ-साथ निवास किया।

जरासन्धको बलरामजी ही अपने योग्य प्रतिद्वन्द्वी जान पड़े और यदि श्रीकृष्णचन्द्रने अग्रजसे उसे छोड़ देनेकी प्रार्थना न की होती, वह पकड़ लिया गया था। बलरामजी उसे मारने ही जा रहे थे। जिसे सत्रह युद्धोंमें पकड़कर छोड़ दिया, उसीके सम्मुखसे अठारहवीं बार भागना कोई अच्छी बात नहीं थी। किया क्या जाय। श्रीकृष्णने प्रातःसे वह दिन पलायनके लिये स्थिर कर लिया था। कालयवनके सम्मुख वे अकेले भागे। जरासन्धके सम्मुख भागनेमें इतना आग्रह किया कि अग्रजको साथ भागना ही पड़ा।

'यह भी कोई बात है कि केवल हँसा जाय! जो बना-बिगाड़ न सकता हो, वह हँसे या पश्चात्ताप करे?' बलरामजीका विवाह हुआ। रेवतीजी सत्ययुगकी कन्या ठहरीं। स्वभावतः बहुत लंबी थीं। श्यामसुन्दर तो सदाके परिहासप्रिय हैं। बलरामजीने पत्नीको अपने अनुरूप ऊँचाईमें पहुँचा दिया।

'श्याम अकेला गया है?' कुण्डिनपुरके राजा भीष्मककी कन्या रुक्मिणीके विवाहमें शिशुपालके साथ जरासन्धादि ससैन्य आ रहे हैं, यह समाचार तो मिल ही चुका था। वहाँ अकेले श्रीकृष्ण कन्या-हरण करने गये, यह तो अच्छा नहीं हुआ। बलरामजीने यादवी सेना सज्जित की। वे इतनी शीघ्रतासे चले कि श्रीकृष्ण मार्गमें ही मिल गये। श्यामसुन्दरको केवल रुक्मिणीजीको लेकर चल देना था। शिशुपाल और उसके साथी तो रामके सैन्यसमूहसे ही पराजित हुए।

'कृष्ण! सम्बन्धियोंके साथ तुम्हें ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये।' बलरामजी राजाओंकी सेनाको परास्त करके आगे बढ़े तो रुक्मीकी सेना आ गयी। उसके साथ उलझनेमें कुछ विलम्ब हुआ। आगे आकर देखा तो छोटे भाईने अपने ही साले रुक्मीको पराजित करके रथमें बाँध रखा है। उसके केश, श्मश्रु आदि मुण्डित कर दिये हैं। बड़ी दया आयी। छुड़ा दिया उसको। परंतु आगे चलकर रुक्मीने अपने स्वभाववश बलरामजीका अपमान किया, तब वह उन्हींके हाथों मारा गया।

× × ×

दुर्योधन भी मदमत्त हो उठा था। क्या हुआ जो श्रीकृष्णके पुत्र साम्बने उसकी पुत्री लक्ष्मणाका हरण किया। क्षत्रियके लिये स्वयंवरमें कन्या-हरण अपराध तो है नहीं। अकेले लड़केको छः महारथियोंने मिलकर बंदी किया, यह तो अन्याय ही था। श्रीकृष्णचन्द्र कितने रुष्ट हुए थे समाचार पाकर। यदि वे नारायणी सेनाके साथ आ जाते—बलरामजीने छोटे भाईको शान्त किया। दुर्योधन उनका शिष्य था। सत्राजित्‌का वध करके शतधन्वा जब स्यमन्तकमणि लेकर भागा, श्यामसुन्दरके साथ बलभद्रजीने उसका पीछा किया। वह मिथिलाके समीप पहुँचकर मारा जा सका। मणि उसके वस्त्रोंमें मिली नहीं। बलरामजी इतने समीप आकर मिथिलानरेशसे मिले बिना न लौट सके। दो मासतक वहीं दुर्योधनने उनसे गदा-युद्धकी शिक्षा ली। वही दुर्योधन यदुवंशियोंको अपना कृपाजीवी, क्षुद्र कहकर चला गया था। भगवान् बलरामके सम्मुख ही यादव महाराज उग्रसेनके प्रति अपशब्द कहे उसने। क्रुद्ध हलधरने हल उठाया। हस्तिनापुर नगर घूमने लगा। वे धराधार नगरको यमुनाजीमें फेंकने जा रहे थे। '**पशूनां लगुडो यथा।**' पशु डंडेसे मानते हैं। दण्डसे भीत कौरव शरणापन्न हुए। वे क्षमामय दण्डका तो केवल नाट्य करते हैं। उन्हें भी क्या रोष आता है।

महाभारतमें वे किस ओर होते? दुर्योधन प्रिय शिष्य और दूसरी ओर श्रीकृष्ण। वे तीर्थयात्रा करने चले गये। नैमिष-क्षेत्रमें इल्वल राक्षसका पुत्र बल्वल अपने उत्पातसे ऋषियोंको आकुल किये था। उस विपत्तिसे उन तपस्वियोंको त्राण मिला। जब वे तीर्थयात्रासे लौटे, तब महाभारत-युद्ध समाप्त हो चुका था। भीम-दुर्योधनका अन्तिम संग्राम चल रहा था। दोनोंमेंसे कोई समझानेसे माननेको उद्यत नहीं था।

यदुवंशका उपसंहार होना ही था। भगवान्‌की इच्छासे अभिशप्त यादव परस्पर संग्राम कर रहे थे। भगवान् बलराम उन्हें समझाने—शान्त करने गये, पर मृत्युके वश हुए उन्होंने इनकी बात नहीं सुनी और नष्ट हो गये। अब लीला-संवरण करना था। समुद्र-तटपर उन्होंने आसन लगाया और अपने 'सहस्रशीर्षा' स्वरूपसे जलमें प्रविष्ट हो गये।

भगवान् श्रीकृष्ण

'तू जिसे इतने उत्साहसे पहुँचाने जा रहा है, उसीका आठवाँ पुत्र तुझे मारेगा!' आकाशवाणीसे कंस चौंका। सचमुच वह अपने चाचाकी छोटी लड़की देवकीको विवाह होनेपर कितने उत्साहसे पहुँचाने जा रहा था। दिग्विजयी कंस— मृत्युका भय शरीरासक्तको कायर

बना देता है। वह अपनी बहिनका वध करनेको ही उद्यत हो गया। वसुदेवजीने सद्योजात शिशु उसे देनेका वचन दिया। इतनेपर भी कंसने दम्पतिको रखा कारागारमें ही। विरोध करनेपर अपने ही पिता उग्रसेनको भी उसने बन्दी बनाया। वह स्वयं मथुराका नरेश बन गया।

बच्चे होते, सत्यभीरु वसुदेवजी कंसके सम्मुख लाकर रख देते । वह उठाकर शिलापर पटक देता। हत्यासे शिलातल कलुषित होता गया। छः शिशु मरे। सातवें गर्भमें भगवान् शेष पधारे। योगमायाने उन्हें आकर्षित करके गोकुलमें रोहिणीजीके गर्भमें पहुँचा दिया। अष्टम गर्भमें वह अखिलेश आया। धरा असुर-नरेशोंके अशुभ कर्मोंसे आकुल है, उसके आराधक उसीकी प्रतीक्षामें पीड़ित हो रहे हैं, तो वह आयेगा ही।

कंसका कारागार, भाद्रकृष्ण अष्टमीकी मेघाच्छन्न अर्धनिशा—जैसे प्रकृतिने सम्पूर्ण कलुषको मूर्ति दे दी हो। चन्द्रोदयके साथ श्रीकृष्णचन्द्र-प्राकट्य हुआ। बन्दियोंके नेत्र धन्य हो गये। वह चतुर्भुज देखते-देखते शिशु बना, शृंखलाएँ स्वतः शिथिल हुईं, द्वार उन्मुक्त हुआ, वसुदेवजी उस हृदय-धनको गोकुल जाकर नन्दभवन रख आये। कंसको मिली यशोदाकी कन्या और वे योगमाया, जब कंस शिलातलपर पटक रहा था उन्हें—गगनमें सायुधाभरण अष्टभुजा हो गयीं।

गोकुलकी गलियोंमें आनन्द उमगा। आनन्दघन नन्दरानीकी गोदमें जो उतर आया था। कंसके क्रूर प्रयास उस प्रवाहमें प्रवाहित हो गये। पूतना, शकटासुर, वात्याचक्र—सब विफल होकर भी कन्हैयाके करोंसे सद्गति पा गये। मोहन चलने लगा, बड़ा हुआ और घर-घर धूम मच गयी—वह हृदयचोर नवनीत-चोर जो हो गया था। गोपियोंके उल्लसित भाव सार्थक करने थे उसे। यह लीला समाप्त हुई अपने घरका ही नवनीत लुटाकर। मैयाने ऊखलमें बाँधकर दामोदर बना दिया। यमलार्जुनका उद्धार तो हुआ, किंतु उन महावृक्षोंके गिरनेसे गोप शंकित हो गये। वे गोकुल छोड़कर वृन्दावन जा बसे।

वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना-पुलिन, व्रज-युवराजकी मधुरिम क्रीड़ाके चलनेमें सबने और सहायता दी। श्रीकृष्ण वत्स-चारक बने। कंसका प्रयत्न भी चलता रहा। बकासुर, वत्सासुर, प्रलम्ब, धेनुक, अघासुर, मयपुत्र व्योमासुर आदि आते रहे। श्यामसुन्दर तो सबके लिये मोक्षका अनावृत द्वार है। कालियके फणोंपर उस व्रजविहारीने रासका पूर्वाभ्यास कर लिया। ब्रह्माजी भी बछड़े चुराकर उस नटखटकी स्तुति ही अन्तमें कर गये। इन्द्रके स्थानपर गोवर्धन-पूजन किया गोपोंने और गोपालने। देव-कोपकी महावर्षासे गिरिराजको सात दिन अँगुलीपर उठाकर व्रजको बचा लिया। देवेन्द्र उस गिरिधारीको गोविन्द स्वीकार कर गये। कंसके प्रेषित वृषासुर, केशी आदि जब गोपालके करोंसे कर्मबन्धन-मुक्त हो गये, तब उसने अक्रूरको भेजकर मथुरा बुलाया उन्हें। नन्दबाबा राम-श्याम तथा गोपोंके साथ मधुपुरी पहुँचे।

राजाको सन्देश मिला धोबीकी मृत्युसे श्यामके पधारनेका। उस दिनका उनका अंगराग मार्गमें ही उस चिर-चंचलने स्वीकार करके कुब्जाका कूबर दूर कर दिया। कंसका आराधित धनुष उसके गर्वकी भाँति तोड़ डाला गया। दूसरे दिन महोत्सव था कंसकी कूटनीतिका। रंगमण्डपके द्वारपर श्रीकृष्णचन्द्रने महागज कुवलयापीड़को मारकर उसका श्रीगणेश किया। अखाड़ेमें उन सुकुमार श्याम-गौर अंगोंसे चाणूर, मुष्टिक, शल, तोशल-से मल्ल चूर्ण हो गये। कंसके जीवनकी पूर्णाहुतिसे उत्सव पूर्ण हुआ। महाराज उग्रसेन बन्दीगृहसे पुनः राज्यसिंहासनपर आये।

श्रीकृष्ण व्रजमें कुल ग्यारह वर्ष, तीन मास रहे थे। इस अवस्थामें उन्होंने जो दिव्य लीलाएँ कीं, वे भावुकोंका जीवनपथ तो प्रशस्त करती हैं, पर आलोचककी कलुषित बुद्धि उनका स्पर्श नहीं कर सकती। वह इस वयके बालकमें या तो उन लीलाओंको समझ न पायेगा, या अपने अन्तरके कलुषमें डूबेगा। अस्तु, फिर तो श्याम व्रज पधारे ही नहीं। उद्धवको भेज दिया एक बार आश्वासन देने। अवश्य ही द्वारिकासे बलरामजी एक मास आकर रह गये एक बार।

अवन्ती जाकर श्यामसुन्दरने अग्रजके साथ शिक्षा प्राप्त की। गुरुदक्षिणामें गुरुका मृतपुत्र पुनः प्रदान कर आये। मथुरा लौटते ही कंसके श्वशुर जरासन्धकी चढ़ाइयोंमें उलझना पड़ा। वह सत्रह बार ससैन्य आया और पराजित होकर लौटा। अठारहवीं बार उसके आनेकी सूचनाके साथ कालयवन भी आ धमका। कहाँतक इस प्रकार युद्धमय जीवन सहा जाय। समुद्रके मध्यमें दुर्गम दुर्ग द्वारिका नगर बना। यादवकुलको वहाँ

पहुँचाकर श्रीकृष्ण पैदल यवनके सम्मुखसे भागे। पीछा करता हुआ यवन गुफामें जाकर चिरसुप्त मुचुकुन्दकी नेत्राग्निसे भस्म हो गया। उधरसे लौटते ही जरासन्ध सेना लेकर आ पहुँचा। श्रीकृष्ण आज रणछोड़ हो रहे थे। बलरामजीको भी साथ भागना पड़ा। दोनों भाई प्रवर्षणपर चढ़कर भाग छूटे।

श्रीकृष्णके विवाह तो लोकप्रसिद्ध हैं। रुक्मिणीजीका उन्होंने हरण किया था। स्यमन्तकमणिकी खोजमें जाम्बवन्तसे युद्ध करके उपहारस्वरूप जाम्बवतीजीको ले आये। 'मणि' के कारण कलंक लगानेके दोषसे लज्जित सत्राजित्‌ने अपनी पुत्री सत्यभामा स्वयं प्रदान की। कालिन्दीजी उनके लिये तप ही कर रही थीं। लक्ष्मणाजीके स्वयंवरका मत्स्यभेद करनेमें दूसरा कोई समर्थ ही न हो सका और नग्नजित् नरेशके सातों साँड़ एक साथ नाथकर उनकी पुत्री सत्यासे दूसरा कौन विवाह कर पाता। मित्रविन्दाजीको उन्होंने स्वयं हरण किया और भद्राजीको उनके पिताने सादर प्रदान किया। यह तो आठ पटरानियोंकी बात है। पृथ्वीपुत्र भौमासुरने वरुणका छत्र, अदितिका कुण्डल हरण किया था। उसका वध आवश्यक था। सत्यभामाजीके साथ गरुडारूढ होकर जब उसे निजधाम दे चुके, तब जो सोलह सहस्र नरेन्द्र-कन्याएँ उसने बन्दी बना रखी थीं, उनका उद्धार भी आवश्यक था। उनको अपनाये बिना उद्धार-कार्य कैसे पूर्ण होता। इस यात्रामें अमरावतीसे बलात् कल्पतरु द्वारिका ले आये। इन्द्रने युद्धकी धृष्टता की और वे पराजित हुए।

बाणासुरसे युद्ध विवश होकर करना पड़ा। अपनी सहस्र भुजाओंके मदमें वह अपने आराध्य भगवान् शंकरका अपमान करने लगा था। अनिरुद्धको बन्दी कर लिया था उसने। भक्तवत्सल भोलेबाबाने फिर भी युद्धमें उसका पक्ष ग्रहण किया। चक्रने असुरके हाथोंका वन काट डाला। वह चतुर्भुज हो गया। पौण्ड्रक, दन्तवक्त्र, शाल्व—ये सब मारे गये अपने ही अपराधसे। पौण्ड्रक वासुदेव ही बननेपर तुला था। युद्ध माँगा था उसने। दन्तवक्त्रने आक्रमण किया और शाल्व तो मय-निर्मित विमानसे द्वारिका ही नष्ट करने आया था। शिशुपाल भरी सभामें गालियाँ देने लगा तो कहाँतक क्षमा की जाय। सौ गालियोंके पश्चात् चक्रकी भेंट हो गया वह।

पाण्डवोंका परित्राण तो श्रीकृष्ण ही थे। राजसूय यज्ञ युधिष्ठिरका होता नहीं, यदि जरासन्ध मारा न जाता। राजसूयका वह सभास्थल—उसे वनमालीके आदेशसे मयने बनाया। द्यूतमें हारे पाण्डवोंकी पत्नी राजसूयकी सम्राज्ञी द्रौपदी जब भरी सभामें दुःशासनद्वारा नग्न की जाने लगी, वस्त्रावतार धारण किया उसने। दुर्योधनने दुर्वासाजीको वनमें भेजा ही था पाण्डवोंके विनाशके लिये, पर शाकका एक पत्र खाकर त्रिलोकीको तुष्ट करनेवाला वह पार्थ-प्रिय उपस्थित जो हो गया।

वह मयूरमुकुटी पाण्डवोंके लिये सन्धिदूत बनकर आया। विदुरपत्नीके केलेके छिलकोंका रसास्वाद कर गया। सुदामाके तन्दुलोंने प्रेमका स्वाद सिखा दिया था। युद्धारम्भ हुआ और वह राजसूयका अग्रपूज्य पार्थ-सारथि बना। संग्रामभूमिमें उस गीता-गायकने अर्जुनको अपनी दिव्य अमर वाणीसे प्रबुद्ध किया। भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामाके दिव्यास्त्रोंसे रक्षा की पाण्डवोंकी। युद्धका अन्त हुआ। युधिष्ठिरको सिंहासन प्राप्त हुआ। पाण्डवोंका एकमात्र वंशधर उत्तरापुत्र परीक्षित् मृत उत्पन्न हुआ। अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रने उसे प्राणहीन कर दिया था। श्रीकृष्णने उसे पुनर्जीवन दिया।

'यादवकुल पृथ्वीपर रहे तो वही बलोन्मत्त होकर अधर्म करेगा।' श्रीकृष्णको यह अभीष्ट नहीं था। ऋषियोंका शाप तो निमित्त बना। समस्त यादव परस्पर कलहसे कट मरे और आप देखते रहे। व्याधने पादतलमें बाण मारा तो उसे सशरीर स्वर्ग भेजनेका पुरस्कार दिया गया। इस प्रकार लीला संवरण की द्वारकेशने।

श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णपुरुष लीलावतार कहे गये हैं। भगवान् व्यासकी वाणीने श्रीमद्भागवतमें उनकी दिव्य लीलाओंका वर्णन किया है। शुकदेवजी-से विरक्त उस रसाम्बुधिमें मग्न रहा करते थे। श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णलीलाका अमृतपयोनिधि है। श्रीकृष्णका चरित पूर्णताका ज्वलन्त प्रतीक है। भगवत्ताके छः गुण—ऐश्वर्य, धर्म,यश, शोभा,ज्ञान, वैराग्य—सब उसमें पूर्ण हैं। त्याग, प्रेम, भोग, नीति—सब उन पूर्ण पुरुषमें पूर्ण ही हैं। हिंदू-संस्कृति निष्ठाकी पूर्णताको आदर्श मानती है। श्रीकृष्णमें समस्त निष्ठाओंकी पूर्णता होती है।

भगवान् बुद्ध

यह विवादास्पद विषय है कि पुराणोंमें जिस बुद्धावतारका वर्णन है, वह महाराज शुद्धोदनके पुत्र अमिताभ गौतम बुद्ध ही हैं। पुराणोंका बुद्धावतार कीकट

देशमें (गयाके पास) ही हुआ था, यह तो ठीक; किंतु उनके पिताको वहाँ 'अजिन' कहा गया है। जो भी हो, यहाँ तात्पर्य भगवान्‌के उस बुद्धावतारसे है, जिसका वर्णन पुराणोंमें है।

दैत्य प्रबल हो गये थे। स्वर्गपर उनका अधिकार था। दैत्येन्द्रने इन्द्रका पता लगाया और पूछा, 'हमारा राज्य स्थिर कैसे रहे?' इन्द्रने शुद्धभावसे उन्हें यज्ञ एवं वैदिक आचरणका उपदेश दिया। दैत्य यज्ञपरायण हो गये। वे यज्ञके प्रभावसे अजेय थे। संसारमें उनका उपद्रव बना था। विश्वमें आसुर-भाव बढ़ रहा था।

'राम-राम! तुमलोग यह क्या पाप करते हो! यज्ञमें कितनी हिंसा होती है। अग्निमें ही पता नहीं कितने कीट जलते हैं।' भगवान् विष्णुने बुद्धरूप धारण किया। वे एक हाथमें झाड़ू लिये मार्ग स्वच्छ करके पादक्षेप करते पहुँचे असुरोंके पास। उनके वस्त्र मलिन थे। स्नान वे करते न थे। दन्तधावनके बिना दाँत स्वच्छ न थे, सबमें हिंसा जो थी। दैत्योंको उनका वह तत्त्वबोध ठीक जान पड़ा। यज्ञ छूट गया। देवताओंने उन यज्ञहीन, मलिन, अल्पप्राण, प्रतिरोधहीन असुरोंको पराजित करके स्वर्गसे मार भगाया।

भगवान् कल्कि

कलिके अन्तमें सम्भल-ग्राममें विष्णुयश ब्राह्मणके यहाँ भगवान् कल्किका प्रादुर्भाव होगा। अभी कलिके पाँच सहस्रसे कुछ ही अधिक वर्ष बीते हैं। इस अवतारके होनेमें लाखों वर्ष अभी शेष हैं। उस समय श्रुतियोंका लोप हो चुकेगा। मानव सदाचारहीन, अल्पकाय, अल्पसत्त्व, अत्यन्त अल्पायु होंगे।

भगवान् परशुराम स्वयं कल्कि भगवान्‌को वेदोंका उपदेश करेंगे। भगवान् शिव उन्हें शस्त्रास्त्रकी शिक्षा देंगे। शंकरजीसे अश्व एवं खड्ग प्राप्तकर भगवान् पृथ्वीके समस्त आसुरी वृत्तिके प्राणियोंका वध कर डालेंगे। भगवान्‌के पृथ्वीपर होनेके कारण नूतन संतति शुद्ध भावापन्न तथा सबल होगी। इस प्रकार सत्ययुग प्रतिष्ठित होगा।

भगवान् नर-नारायण

तपसे ही लोककी सृष्टि है। तप ही लोकका धारण एवं रक्षण करता है। विनाशके अधिष्ठाता भगवान् शिव तो तपोमूर्ति हैं ही। आज युग शारीरिक तामस तपका है। वैसे बिना तप—कष्टके आज भी कोई कार्य नहीं होता। तप भगवान्‌का स्वरूप है। ऋषियोंने तपका महत्त्व जाना और कहा है। आज भी सृष्टि तपकी अज्ञात शक्तिपर ही प्रतिष्ठित है। बिना शुद्ध अन्तर्मुख चित्तके उस शक्तिका अनुभव नहीं होता। स्वयं श्रीहरिने सृष्टिके आदिमें धर्मकी पत्नी मूर्तिसे दो रूपोंमें अवतार धारण किया। शुक्ल-वर्ण, तापस-वेश दो शरीर होकर भी वे नर-नारायण रूप, रंग, स्वभावमें एक-से हैं। प्रकट होते ही वे उत्तराखण्डमें तपस्या करने चले आये। तपस्वियोंके वे वरदाता, परमाराध्य प्रभु तप करते हैं—अब भी तपोलीन हैं। उन्हींकी तपःशक्ति संसारको धारण करती है।

भगवान् नर-नारायण बद्रीनाथमें अविचल तप कर रहे हैं। द्वापरमें भी अधिकारी ही उनके दर्शन पाते थे और जो अधिकारी हों, वे आज भी पा सकते हैं। भगवान्‌का यह अवतार कल्पतक तप करनेको हुआ। हमारी संस्कृति त्याग एवं तपकी संस्कृति है। भगवान् स्वयं उसका आदर्श उपस्थित कर रहे हैं। जहाँ पृथ्वीमें देश-भेदसे आराध्यरूपके भेदका विधान शास्त्रोंने किया है, वहाँ तपोभूमि भारतके आराध्य भगवान् नर-नारायण ही कहे गये हैं।

भगवान् कपिल

'पुत्र! सृष्टिका अभिवर्द्धन करो। यही मेरी और श्रीहरिकी सेवा है।' भगवान् ब्रह्माको एक ही धुन है। वे स्रष्टा हैं। अपने सभी पुत्रोंको उनका एक ही आदेश है। कुमारोंकी भाँति महर्षि कर्दमने पिताकी आज्ञा अस्वीकार नहीं की। वे उसे स्वीकार करके बिन्दुसर तीर्थके समीप तप करने लगे। उस समय तप ही समस्त उद्देश्योंका दाता था। आजकी भाँति कीटप्राय प्राणी उत्पन्न करना किसीको अभीष्ट नहीं था। भगवान् प्रसन्न हुए। उन्होंने वरदान दिया। आदिराज मनु स्वयं आश्रममें पधारे और अपनी पुत्री देवहूतिका महर्षिसे परिणय कर गये।

'कल्याणी! तुमने मेरी सेवामें अपनेको सुखा दिया! अब तुम्हें जो अभीष्ट हो, माँग लो।' महर्षि कर्दमने भोग-बुद्धिसे विवाह किया ही न था। विवाहके पश्चात् वे अपने तपमें लग गये। राजकुमारी देवहूति उनकी परिचर्यामें लगीं। समिधाएँ, कुश, फल तथा जल वनसे संग्रह करना, आश्रम स्वच्छ रखना —ये सब उनके कार्य हो गये। एक दिन महर्षिका ध्यान पत्नीकी सेवापर गया। श्रम और कष्टसे वे दुर्बल हो गयी थीं।

मस्तकके सुगन्ध-सिंचित केश कहाँ थे, वे तो अब जटा बन चुके थे। केवल वल्कलधारिणी तापसी थीं वे। महर्षि प्रसन्न हुए।

देवहूतिको सन्ततिकी कामना थी। महर्षि कर्दमका योगप्रभाव प्रकट हुआ। दिव्य विमान, सहस्रों दास-दासियाँ, रत्नोपकरण—सभी लोकोत्तर ऐश्वर्य थे विमानमें। महर्षिने देवहूतिके साथ विमानारोहण किया। गार्हस्थ्यमें वर्षों व्यतीत हो गये। नौ पुत्रियाँ हुईं। उनमें कला मरीचि ऋषिसे, अनसूयाका अत्रिसे, श्रद्धाका अंगिरासे, हविर्भूका पुलस्त्यसे, गतिका पुलहसे, युक्तिका क्रतुसे, ख्यातिका भृगुसे, अरुन्धतीका वसिष्ठसे और शान्तिका अथर्वासे महर्षि कर्दमने विवाह कर दिया।

'देव! मैं इन्द्रियोंके विषयमें मूढ़ बनी रही। मैंने आपके परम प्रभावको नहीं जाना। फिर भी आप-जैसे महापुरुषोंका संग कल्याणकारी होना चाहिये।' देवहूति अत्यन्त व्याकुल हो रही थीं। उनके पति पुनः विरक्त होकर वनमें जा रहे थे। इस बार वे अकेले जायँगे। यह विषयोंमें लगकर तो जीवन व्यर्थ चला गया। उनमें वैराग्यका पूर्णोदय हुआ। उस देवदुर्लभ विमान तथा उसके ऐश्वर्यमें उनका कोई आकर्षण नहीं था।

'भद्रे! व्याकुल मत हो। तुम्हारे गर्भसे परम पुरुष प्रकट होनेवाले हैं । वे तुम्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे। मैं उनके दर्शन करके ही यहाँसे जाऊँगा!' महर्षिको उन सर्वेशके दर्शन हुए। वे आदेश लेकर तप करने गये। भगवान् कपिलने माताको तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। माताका समाधान करके वे उनकी आज्ञासे समुद्र-तटपर गये। समुद्रने उन्हें अपने भीतर स्थान दिया। माता देवहूति उन परात्पर प्रभुको पुत्ररूपसे प्राप्तकर धन्य हो गयीं। उन्होंने उस उपदिष्ट ज्ञानमें चित्तको एकाग्र कर दिया। कुछ दिन दूसरोंके द्वारा उनका शरीर सेवित, रक्षित होता रहा और कब वह वेणीकुसुमके समान गिर गया— इसका पता देवहूतिजीको लगा ही नहीं।

साठ सहस्र सगर-पुत्र अश्वान्वेषणके लिये पृथ्वी खोदते समय कपिलाश्रम पहुँचे और महर्षि कपिलकी नेत्राग्निमें भस्म हो गये। गंगासागर-संगमपर कपिलाश्रम-के दर्शन तो हो जाते हैं पर्वपर; किंतु महर्षि कपिलका दर्शन तो वे जिस अधिकारीपर कृपा करें, उसे ही हो सकता है। वे सांख्य-दर्शनके प्रवर्तक, ज्ञान-मार्गके परमाचार्य प्रभु जगत्‌के कल्याणके लिये वहाँ तपमें स्थित हैं।

भगवान् दत्तात्रेय

'जगत्‌के अधिष्ठाता प्रभु प्रसन्न हों! मुझे वे अपने समान सन्तति प्रदान करें।' महर्षि अत्रि तप कर रहे थे। उनके मनमें केवल पितामहकी सृष्टि वर्द्धित करनेका आदेश था।

'मैंने एक ही जगदाधारकी आराधना की है।' महर्षिको आश्चर्य हुआ। उनके सम्मुख वृषभारूढ़ कर्पूर-गौर भगवान् शशांकशेखर, हंसपर विराजमान सिन्दूरारुण भगवान् चतुरानन और गरुड़की पीठपर शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी मेघसुन्दर श्रीरमानाथ एक साथ प्रकट हुए थे। जगत्‌के तो तीनों ही अधिष्ठाता हैं। प्रभु त्रिमूर्तिमें ही जगत्‌का विनाश, सृष्टि और पालन करते हैं। महर्षिने तीनोंकी पूजा की। तीनोंकी स्तुति की। तीनोंके अंशसे सन्तान-प्राप्तिका उन्हें वरदान मिला।

महासती अनसूयाकी गोद तीन कुमारोंसे भूषित हुई। भगवान् शंकरके अंशसे तपोमूर्ति महर्षि दुर्वासा, भगवान् ब्रह्माके अंशसे सचराचरपोषक चन्द्रमा और भगवान् विष्णुके अंशसे त्रिमुख, गौरवर्ण, ज्ञानमूर्ति श्रीदत्तात्रेय प्रभु।

भगवान् दत्तात्रेय आदियुगमें प्रह्लादके उपदेष्टा हैं। अजगर मुनिके वेशमें प्रह्लादजीको उन्होंने अवधूतकी स्थितिका उपदेश किया है। महाराज अलर्कको उन्होंने तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। कुत्तोंसे घिरे, उन्मत्त-सा वेश बनाये, उन सिद्धोंके परमाचार्यको पहचानना बहुत उच्चकोटिके अधिकारीका ही काम है।

गिरिनार प्रभुका सिद्धपीठ है। दक्षिणमें दत्तात्रेय-की उपासनाका व्यापक प्रचार है। सिद्धोंकी एक परम्परा ही भगवान् दत्तात्रेयको उपास्य मानती आयी है। इनमें 'रस-सिद्धि' का बहुत प्रचार था। ये सिद्धियाँ भले लोगोंको प्रलुब्ध करें और कुतूहल या कामनावश सामान्य साधक इन्हींको लक्ष्य बनाते हों; परंतु भगवान् दत्तात्रेयके उपदेश मनुष्यको इन प्रलोभनोंसे सावधान करते हैं। साधनके द्वारा परमपुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति ही मनुष्यका सच्चा लक्ष्य है। योग-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ भगवान् दत्तात्रेयके कहे जाते हैं। दक्षिणमें भगवान् दत्तकी उपासनाका बहुत प्रचार है।

भगवान् यज्ञ

स्वायम्भुव मन्वन्तर— इस कल्पके प्रथम मन्वन्तरमें देवता अनाहारसे क्षीण हो रहे थे। देवताओंके दुर्बल

होनेसे व्यक्त जगत् नष्ट होता जा रहा था। वर्षा, अन्न, अग्नि, वायु और पृथ्वी—सब निःसत्त्वप्राय हो चले। यमराज क्या करें। उनके यहाँ प्राणियोंका एक ही अपराध था कि वे अशक्त थे। उनमें प्रमाद था। उनके सम्मुख कोई व्यवस्थित कृत्य भी तो नहीं था। तीनों लोक इस अवस्थामें त्रस्त हो रहे थे।

प्रभु तो सदासे आर्त-पुकार सुननेवाले हैं। उन्होंने प्राणियोंकी पुकार सुनी। महर्षि रुचिकी पत्नी आकूतिसे वे प्रकट हुए। उन्होंने अग्निहोत्रकी स्थापना की। उन्हींके नामसे अग्निहोत्र यज्ञ कहा जाने लगा। हवनसे देवता पुष्ट हुए। देवताओंकी शक्तिसे जगत् शक्तिसम्पन्न हुआ। देव-पूजा छोड़कर अपनी और पदार्थोंकी शक्तिका नाश करनेवाले वर्तमान युगके प्राणी इसे कैसे समझेंगे। पदार्थ आज चाहिये और देव-जगत्को छोड़ दिया गया। इस आसुरवृत्तिमें संघर्ष, उत्पीड़न और क्लेश ही तो मिलता है। वे यज्ञ-पुरुष प्रभु दया करें!

भगवान् ऋषभदेव

महाराज नाभिने सन्तान-प्राप्तिके लिये यज्ञ किया। तपःपूत ऋत्विजोंने श्रुतिके मन्त्रोंसे यज्ञ-पुरुषकी स्तुति की। श्रीनारायण प्रकट हुए। विप्रोंने उन सौन्दर्य, ऐश्वर्य, शक्ति-घनके समान ही नरेशको पुत्र हो, यह प्रार्थना की। उस अद्वयके समान दूसरा कहाँसे आये। महाराज नाभिकी महारानीकी गोदमें स्वयं वही परमतत्त्व प्रकट हुआ।

महाराज नाभि कुमार ऋषभदेवको राज्य देकर वनके लिये विदा हो गये। देवराज इन्द्रको धराका वह सौभाग्य ईर्ष्याकी वस्तु जान पड़ा। अखिलेशकी उपस्थितिसे पृथ्वीने स्वर्गको अपनी सम्पदासे लज्जित कर दिया था। महेन्द्र वृष्टिके अधिष्ठाता हैं। वर्षा ही न हो तो पृथ्वीका सौन्दर्य रहे कहाँ। शस्य ही तो यहाँकी सम्पत्ति है। देवराजको लज्जित होना पड़ा। वर्षा बंद न हो सकी। भगवान् ऋषभने अपनी शक्तिसे वृष्टि की। अन्ततः देवराजने अपनी पुत्री जयन्तीका विवाह कर दिया उन धरानाथसे। पृथ्वी और स्वर्गमें सम्बध स्थापित हुआ।

पूरे सौ पुत्र हुए ऋषभदेवजीको। इनमें सबसे ज्येष्ठ चक्रवर्ती भरत हुए। इन्हीं आर्षभ भरतके नामपर यह देश भारतवर्ष कहा जाता है। शेष पुत्रोंमें नौ ब्रह्मर्षि हो गये और इक्यासी महातपस्वी हुए। भरतका राज्याभिषेक करके भगवान्ने वानप्रस्थ स्वीकार किया।

काक, गौ, मृग, कपि आदिके समान आचरण, आहार-ग्रहण, निवासादि जडयोग हैं। ये सिद्धिदायक हैं और संयमके साधक भी। भगवान् ऋषभने इनको क्रमशः अपनाया, पूर्ण किया; किंतु इनकी सिद्धियोंको स्वीकार नहीं किया। उनकी तपश्चर्याका अनुकरण जो सिद्धियोंके लिये करते हैं, वे उन प्रभुके परमादर्शको छोड़कर पृथक् होते हैं।

आत्मानन्दकी वह उन्मद अवधूत अवस्था—बिखरे केश, मलावच्छन्न शरीर, न भोजनकी सुध और न प्यासकी चिन्ता। किसीने मुखमें अन्न दे दिया तो स्वीकार हो गया। जहाँ शरीरको आवश्यकता हुई, मलोत्सर्ग हो गया। उस दिव्यदेहका मल अपने सौरभसे योजनोंतक देशको सुरभित कर देता। जहाँ शरीरका ध्यान नहीं, वहाँ शौचाचारका पालन कौन करे। यह आचरणीय नहीं—यह तो अवस्था है। शरीरकी स्मृति न रहनेपर कौन किसे सचेत करेगा। शास्त्रसे परे है यह दशा।

मुखमें कंकड़ी रखे, निराहार, मौन, उन्मत्तकी भाँति भारतके पश्चिमीय प्रदेश—कोंक, वेंक, कुटकादिके वनोंमें भगवान् ऋषभदेव भ्रमण कर रहे थे। उनका शरीर तेजोमय, किंतु अनाहारसे कृश हो गया था। वनमें दावाग्नि लगी। देह आहुति बन गया।

जैनधर्म भगवान् ऋषभको प्रथम तीर्थंकर मानता है। उन्हींके आचारकी व्याख्या पीछेके जैनाचार्योंने की है।

भगवान् हंस

'चित्त स्वयं त्रिगुणात्मक है और तीनों गुण चित्तमें ही रहते हैं। इनका सम्बन्ध स्थायी है। ऐसी दशामें निस्त्रैगुण्यकी प्रतिष्ठा कैसे होगी?' सनकादि कुमारोंने लोकस्रष्टासे प्रश्न किया। यदि चित्त गुणहीन नहीं हो सकता तो मोक्ष किस प्रकार सम्भव है? हिंदू-धर्मका परम लक्ष्य तो मोक्ष है। यदि वही सिद्ध न हो तो सम्पूर्ण धर्म ही व्यर्थ हो जायगा। ब्रह्माजीने बहुत सोचा; परंतु प्रश्नमें कहाँ सन्देहका बीज है, पता न लगा। वे आदिपुरुषका ध्यान करने लगे।

'आप कौन हैं?' वहाँ एक महाहंस प्रकट हो गया, जैसे सहस्र-सहस्र चन्द्रज्योत्स्ना घनीभूत हो गयी हो। कुमारोंके साथ लोकस्रष्टाने अर्घ्य निवेदित करके परिचय जानना चाहा।

'मैं क्या कहूँ—यह आपलोग स्वयं निर्णय करें!'

हंसकी वाणीमें विचित्र भंगी थी। 'आत्मामें कोई भेद नहीं, कोई परिचय नहीं और शरीरकी दृष्टिसे भी सबमें वही पंचतत्त्व हैं। उनमें भी कोई विलक्षणता नहीं। आप सब ब्रह्मज्ञानी हैं। आप स्वयं सोचें कि गुणोंमें चित्त स्थित है और चित्तमें गुण हैं; पर मुझमें तो चित्त और गुण दोनों हैं तथा दोनों नहीं हैं। स्वप्नमें देखनेवाला, देखनेकी क्रिया और दृश्य—सब क्या भिन्न-भिन्न होते हैं?' भगवान्‌की वाणीने सन्देहका निराकरण कर दिया। ब्रह्माजीके साथ कुमारोंने उनकी विधिवत् पूजा की।

भगवान् धन्वन्तरि

बात समझमें आये या न आये; पर सत्य यही है कि सम्पूर्ण जड-चेतन जगत् दैवी जगत्‌से प्रकट हुआ है। वह परस्पर विकसित नहीं है। देवता एवं दैत्योंके सम्मिलित प्रयासके श्रान्त हो जानेपर क्षीरोदधिका मन्थन स्वयं क्षीरसागरशायी कर रहे थे। हलाहल, गौ, ऐरावत, उच्चैःश्रवा अश्व, अप्सराएँ, कौस्तुभमणि, वारुणी, महाशंख, कल्पवृक्ष, चन्द्रमा, लक्ष्मीजी और कदलीवृक्ष उससे प्रकट हो चुके थे।

अन्तमें हाथमें अमृतपूर्ण स्वर्णकलश लिये श्यामवर्ण, चतुर्भुज भगवान् धन्वन्तरि प्रकट हुए।

अमृत-वितरणके पश्चात् देवराज इन्द्रकी प्रार्थनापर भगवान् धन्वन्तरिने देव-वैद्यका पद स्वीकार कर लिया। अमरावती उनका निवास बनी। कालक्रमसे पृथ्वीपर मनुष्य रोगोंसे अत्यन्त पीड़ित हो गये। प्रजापति इन्द्रने धन्वन्तरिजीसे प्रार्थना की। भगवान्‌ने काशिराज दिवोदासके रूपमें पृथ्वीपर अवतार धारण किया। इनकी 'धन्वन्तरि-संहिता' आयुर्वेदका मूल ग्रन्थ है। आयुर्वेदके आदि आचार्य सुश्रुत मुनिने धन्वन्तरिजीसे ही इस शास्त्रका उपदेश प्राप्त किया।

भगवान् मोहिनीरूपमें

क्षीरोदधिका मन्थन हुआ। प्रत्येक वस्तुके लिये झगड़नेवाले दैत्य जैसे ही धन्वन्तरि प्रकट हुए, उनके हाथसे अमृतकलश छीनकर भागे। उनमेंसे प्रत्येक प्रथम अमृत-पान करना चाहता था। किसीको किसीपर विश्वास नहीं था। 'यदि एक ही सब पी जाय तो?' कलशपर छीना-झपटी चल रही थी। देवता निराश खड़े थे। असुर भी समझ रहे थे कि यदि यह द्वन्द्व न मिटा तो अमृत व्यर्थ गिरकर नष्ट हो जायगा। कोई समाधान ज्ञात नहीं होता था।

'सुन्दरि, हम सब महर्षि कश्यपके पुत्र हैं। हममें इस कलशस्थ द्रवके लिये विवाद हो रहा है। तुम्हारी बड़ी कृपा होगी—हममें इसका उचित विभाजन कर दो। हमने इसके लिये समान श्रम किया है। एक अपरूप लावण्यवती नारी वहाँ प्रत्यक्ष हुई। सब उसके रूपमें मुग्ध थे। सब उसे आकृष्ट करना चाहते थे। असुरोंने उसीको मध्यस्थ बनाना चाहा। सब परस्पर इस निर्णयसे सहमत थे।

'तुम्हें मेरे कुल, शील आदिका पता नहीं, तुम मुझपर कैसे विश्वास कर रहे हो?' नारीने अपने कोकिल-कण्ठकी मधुरिमा भ्रूविलास, मन्दहास्यादिसे पूर्ण कर दी। असुर इस प्रत्याख्यानसे अधिक विश्वस्त हुए।

'मैं उचित विभाजन करूँ या अनुचित— तुमलोग बीचमें बाधा न दो, तभी इस कार्यको करूँगी।' बात ठीक ही है। मध्यस्थके निर्णयमें अपनी सम्मति बाधा दे तो निर्णय कैसे होगा।

देव-दैत्य दोनों वर्गोंने स्नान किया, नूतन अनाहत वस्त्र धारण किये, अग्निको आहुतियाँ दीं, विप्रोंसे स्वस्तिपाठ कराया और तब पूर्वाग्र कुशोंके आसनोंपर पंक्तिमें बैठ गये। उस नारीके आदेशसे देवता पृथक् और दैत्य पृथक् पंक्तिमें बैठे।

'यह असुर है!' सूर्य एवं चन्द्रने नेत्रोंसे संकेत किया। नारी असुरोंके समीपसे चल रही थी और दूरस्थ सुरोंको अमृत-पान करा रही थी। असुरोंको उससे प्रेम पानेकी सम्भावना थी। वे उसकी भाव-भंगीसे मुग्ध थे। एक स्त्रीसे विवाद न करनेकी प्रतिज्ञा करके फिर झगड़ना उचित नहीं था। वे मौन बैठे थे। छायापुत्र स्वर्भानु (राहु) धैर्य न रख सका। वह देवताओंका रूप धारण करके चन्द्रमा और सूर्यके समीप जा बैठा। जैसे ही उसे अमृतघूँट मिला, दोनों देवताओंने संकेत कर दिया।

'यह तो विष्णु हैं'! असुर चौंके। नारी सहसा चतुर्भुज घनश्याम, पीताम्बरधारी पुरुष हो गयी। उन परम प्रभुके चक्रसे राहुका मस्तक कटा पड़ा था। असुरोंने शस्त्र उठाये। देवासुर-संग्राम होने लगा।

भगवान्‌की यह नित्य लीला है। जगत्‌में भी उसीका एक रूप है। '**कामिनां बहु मन्तव्यं संकल्प-प्रभवोदयम्**' कामनाके वश पुरुषके लिये अभीष्टसिद्धि ही सब कुछ है। यह दृश्य जगत्, इसके पदार्थ, यह आकर्षण—सब उसी मायापतिकी मोहिनी है। सब

कामके वश उसे भूलकर इस मायारूपमें मुग्ध हैं। यह आसुर भाव अमृतसे वंचित कर रहा है। वे प्रभु दया करें, तभी उनका वास्तविक रूप बुद्धिमें प्रतिष्ठित हो।

असदविषयमङ्घ्रिं भावगम्यं प्रपन्ना-
नमृतममरवर्यानाशयत् सिन्धुमथ्यम्।
कपटयुवतिवेषो मोहयन् यः सुरारीं-
स्तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि॥

(श्रीमद्भा० ८। १२। ४७)

भगवान् हरि

बात अधिदेव-जगत्की है—

क्षीरोदधिके मध्यमें विशाल द्वीप है। उसपर भगवान् वरुणका ऋतुमत्नामक क्रीड़ाकानन है। काननमें यूथपति गजेन्द्र अपनी हथिनियों, कलभों तथा दूसरे गजोंके साथ स्वेच्छापूर्वक घूमते रहते थे। महर्षि अगस्त्यको अभ्युत्थान न देनेसे राजा सुद्युम्न शप्त होकर इस कुंजरयोनिमें आये थे। उनके अमित पराक्रमके सम्मुख सिंहादि तुच्छ थे। वे उनके गण्डमण्डलकी मदधाराकी गन्धसे ही दूर भागते।

ग्रीष्म-ऋतु, मध्याह्नकाल, गजेन्द्रको प्यास लगी। सूँड़ उठाकर सूँघा। जलकी गन्ध मिली। मार्गके कदली-काननको कुचलते अपने यूथके साथ वे सरोवरतक पहुँचे। कमल-पुष्पोंसे भरा स्वच्छ सरोवर गजोंकी क्रीड़ासे क्षुब्ध हो गया। कलभ सूँड़ोंसे जल उछाल रहे थे। गजेन्द्र उन्हें स्नान कराते, अपनी सूँड़से जल पिलाते और स्वयं उनके द्वारा स्नात होते। सारा परिवार स्नेहसे उनका सत्कार कर रहा था।

पता नहीं कहाँसे एक मगरने गजेन्द्रका चरण पकड़ लिया। उन्होंने सूँड़ उठाकर चीत्कार की। बल लगाया। दूसरे हाथियोंने उन्हें अपनी सूँड़से सहायता दी, हथिनियाँ कभी जलमें, कभी बाहर दौड़ने लगीं। कोई सफल न हुआ। गन्धर्वश्रेष्ठ हूहू महर्षि देवलके शापसे ग्राह हो गये थे। उनका भी पराक्रम कम नहीं था। गजेन्द्र बाहर खींचना चाहते और ग्राह भीतर। जल कीचड़ होने लगा। कमल दल-मल गये। जलजीव व्याकुल हो गये। सहस्र वर्षोंतक यह संघर्ष चलता रहा।

गजेन्द्रका बल थकित हो गया। जलमें जलजीवसे कबतक वे युद्ध करें। अब डूब जायँगे—अब और नहीं टिका जा सकता। शिथिल शरीर खिंचा जा रहा था। सूँड़से एक कमल तोड़कर उठाया ऊपर और पुकार की 'विश्वेश्वर! जनार्दन! नारायण!'

भगवान्ने हरिमेधस ऋषिकी पत्नी हरिणीमें अवतार धारण किया था। वे गरुड़ारूढ़ प्रभु दौड़े। गजेन्द्र उन्हें पुकार रहे थे, ब्रह्मादि देव गजेन्द्रके साथ उनका स्तवन कर रहे थे। चक्र चमका और ग्राह अपने शरीरसे छूटकर पुनः गन्धर्वपद पा गया। गजेन्द्रको प्रभुने अपने हाथों उठाया। वे प्रभुका स्पर्श प्राप्त कर उनके दिव्य नित्य पार्षद हो गये।

भगवान् हयशीर्ष

कलप भेद हरि चरित सुहाए।

क्षीरोदधिमें अनन्तशायी प्रभुकी नाभिसे पद्म प्रकट हुआ। पद्मकी कर्णिकासे सिन्दूरारुण चतुर्मुख लोकस्रष्टा व्यक्त हुए। क्षीरोदधिसे दो विन्दु कमलपर पहुँच गये। वह चेतनात्मक नाभिपद्म—दोनों विन्दु सजीव हो गये। वे ही आदिदैत्य मधु-कैटभ थे। दैत्योंने कमलकर्णिकापर बैठे ब्रह्माजीको देखा। वे एकाग्र मनसे भगवान्के निःश्वाससे निकली श्रुतियोंको ग्रहण कर रहे थे। दैत्योंने श्रुतिका हरण किया और वहाँसे नीचे भाग गये। आदिमें ही अनधिकारियोंको श्रुतिकी प्राप्ति—ब्रह्माजी चंचल हुए। उन्होंने भगवान्की स्तुति प्रारम्भ की। प्रभु प्रसन्न हुए, उन्होंने हयशीर्षरूप धारण किया। दैत्योंको मारकर उन्होंने श्रुतिका उद्धार किया।

× × ×

दूसरे कल्पकी बात—

दितिपुत्र हयग्रीव सरस्वतीके तटपर उग्रतपमें संलग्न था। महामाया प्रसन्न हुईं। उन्होंने वरदान माँगनेको कहा। दैत्यको अमरत्व अभीष्ट था; किन्तु कोई भी आसुरभावापन्न होकर अमर कैसे हो सकता है। 'मुझे हयग्रीवके अतिरिक्त कोई न मारे!' दैत्यने समझा कि मैं स्वयं अपना वध क्यों करूँगा। देवीने 'तथास्तु' कह दिया। असुरको लगा, उसका छल सफल हो गया। वह अमर ही तो हो गया।

सात्त्विकता न हो तो अमरत्व जगत्के लिये अभिशाप बनेगा। दैत्य हयग्रीव निःसंकोच अपनी असुरता चरितार्थ कर रहा था। देवता उससे विजय नहीं पा सकते थे। धर्म एवं मर्यादाका विनाश हो रहा था। सर्वेश्वर कबतक यह अधर्म चलने देते। हयग्रीवने देखा कि अंगारतप्त जटाओं-जैसा, मुखसे ज्वाला निकालता हयशीर्ष पुरुष प्रकट हो गया है। दैत्य उस ज्वालामें

पतिंगेकी भाँति नष्ट हो गया।

भक्तश्रेष्ठ ध्रुवके लिये भगवान्‌का अवतार

वह ध्रुव जो समस्त मार्गनिर्देशकोंका मार्गदर्शक है, वह ध्रुव जो चल नक्षत्रोंमें स्थिर है, वह ध्रुव जो शुभ कार्योंमें स्मरण किया जाता है, वह ध्रुव जिसकी समस्त नक्षत्रमण्डल परिक्रमा करता है, भगवान्‌के उसी अविचल धामके अधिष्ठाताकी बात है—

मनुके पुत्र महाराज उत्तानपाद अपनी छोटी रानी सुरुचिपर अधिक आकृष्ट थे। बड़ी रानी सुनीतिके पुत्र ध्रुव पिताकी गोदमें बैठ गये थे। पतिप्रेम-गर्विता सुरुचिने बालकको गोदसे बलात् उतार दिया। 'तुझे पिताकी गोद या पिताका सिंहासन चाहिये तो भगवान्‌की आराधना करके मेरे उदरसे उत्पन्न हो। इनपर मेरे पुत्र उत्तमका अधिकार है।'

'तुम्हारी विमाताने ठीक ही कहा है। भगवान् ही तुम्हें पिताका सिंहासन या उसमें भी श्रेष्ठ पद देनेमें समर्थ हैं!' सुनीतिके नेत्र स्वयं क्षोभसे भर आये थे। उनका प्राणप्रिय पुत्र तिरस्कारके कारण हिचकियाँ ले रहा था। वे उसे और कैसे आश्वस्त करें।

'मैं वह पद चाहता हूँ, जिसे मेरे पिता, पितामह या और किसीने भी न पाया हो!' पाँच वर्षका बालक ध्रुव घरसे माताके वचनोंपर विश्वास करके वनको चल पड़ा था। मार्गमें देवर्षि नारदने उसे समझाया। लौटानेका प्रयत्न किया। सन्तोषकी शिक्षा दी। जब कोई बात ध्रुवके हृदयपर न बैठ सकी, तब वे द्रवित हुए। द्वादशाक्षरकी दीक्षा देकर मधुवन (मथुरा) में यमुनातटपर जानेका आदेश दे दिया।

ध्रुव बालक सही, पर वह आदियुगकी निष्ठा और विश्वास था। पहले महीने कपित्थ (कैथ) और बेर, दूसरे महीने सूखे पत्ते, तीसरे महीने जल, चौथे महीने केवल वायु— ये सब भी नित्य नहीं, इनको ग्रहण करनेकी अवधि भी बड़ी होती गयी। पाँचवें महीने तो वह बालक एक चरणसे खड़ा हो गया। श्वास लेना बंद कर दिया। मन्त्रके अधिष्ठाता भगवान् वासुदेवमें चित्त एकाग्र हो गया।

देवता विघ्न करते हैं उसे, जो बाहर देखता है। वर्षा, ग्रीष्म, वायु, शीत, सर्प, व्याघ्र या वसन्त और काम उसका क्या करें, जो श्वासतक नहीं लेता। जिसे शरीरका पता ही नहीं। देवताओंकी कठिनाई बढ़ती जा रही थी। ध्रुव जगदाधारमें एकाग्र होकर श्वासरोध किये हुए थे। देवताओंका श्वासरोध स्वतः हो रहा था। वे बहुत पीड़ा पा रहे थे। उन्होंने प्रभुसे प्रार्थना की उस बच्चेको तपसे निवृत्त करनेकी।

हृदयकी वह ज्योति अन्तर्हित हो गयी। व्याकुल ध्रुवने नेत्र खोले और चकित देखते रहे। वही सुनील, सुमधुर, चतुर्भुज, वनमाली, कमललोचन, रत्नकिरीटी बाहर प्रत्यक्ष खड़े थे। ध्रुव अज्ञान बालक—उसने हाथ जोड़े। सुना था कि भगवान्‌की स्तुति करनी चाहिये। क्या कहे? क्या करे? वह तो कुछ जानता नहीं। उन सर्वज्ञने मन्दस्मितके साथ अपना हाथ बढ़ाया। करस्थ श्रुतिरूप शंखसे बालकके कपोलका स्पर्श कर दिया। बालकके मानसमें हंसवाहिनी जाग्रत् हो गयीं।

ध्रुवको अविचल पदका वरदान मिला था; पर वे प्रसन्न नहीं थे। सर्वेश्वरको प्राप्तकर फिर याचना क्या। उनको ही सदाके लिये प्राप्त किया जा सकता था। महाराज उत्तानपाद तो जबसे ध्रुव वन गये, निरन्तर उन्हींका चिन्तन करते थे। अपनी भूल उनके हृदयका शूल बन गयी थी। ध्रुवका पिताने स्वागत किया। विमाता इस प्रकार मिलीं, जैसे ध्रुव उनके ही पुत्र हों। जिसपर विश्वेश प्रसन्न हों, उसपर सभी प्रसन्न रहते हैं। पिताने ध्रुवको सिंहासनपर अभिषिक्त किया और स्वयं वानप्रस्थ स्वीकार करके तप करने चले गये।

ध्रुव नरेश हुए। मृगयाको उनके छोटे भाई उत्तम वनमें गये थे। कुबेरके किसी अनुचरने उनको मार डाला। उत्तमकी माता पुत्रशोकसे वनमें गयीं और दावाग्निमें जल गयीं। ध्रुवने कुबेरपर भ्रातृवधसे क्रुद्ध होकर चढ़ाई की। बहुत-से यक्ष मारे गये। पितामह मनुने ध्रुवको शान्त किया। क्रोध शान्त होनेपर कुबेरने दर्शन देकर आश्वस्त किया, वरदान दिया।

संसारमें प्रारब्ध शेष हो गया। दिव्य विमान आया ध्रुवको लेने। विप्रोंके मंगलपाठके मध्य ध्रुव विमानारोहण करने जा रहे थे। 'मर्त्यलोकके प्रत्येक प्राणीका मैं स्पर्श करता हूँ।' मृत्युने प्रार्थना की। प्रार्थनासे अधिककी शक्ति थी नहीं। ध्रुव हँसे, 'तुम्हें मेरा स्पर्श प्राप्त हो!' मृत्युके मस्तकपर पैर रखकर विमानमें बैठ गये वे। मार्गमें अपनी माताका उन्हें स्मरण हुआ। भला, कहीं ऐसे पुत्रकी माता मर्त्यलोकमें रहेंगी। वे ध्रुवसे आगे जा रही थीं।

वह अविचल धाम ध्रुवको प्राप्त हुआ। ध्रुव वहाँ अब भी भगवान्‌की उपासना करते हैं। उत्तर दिशामें एक ही स्थानपर स्थित वही ज्योतिर्मय ध्रुव-धाम है, जो रात्रिमें निर्मल गगनमें दीख पड़ता है।

भगवान् आदिराज पृथुके रूपमें

'कुपुत्रकी अपेक्षा पुत्रहीन रहना ही भला था।' महाराज अंगने देवताओंका यजन करके पुत्र प्राप्त किया और वह पुत्र घोरकर्मा हो गया। प्रजा उसके उपद्रवोंसे त्राहि-त्राहि करने लगी है। ताड़नादिसे भी उसका शासन हो नहीं पाता। महाराजको वैराग्य हो गया। रात्रिमें ही वे चुपचाप अज्ञात वनमें चले गये।

'कोई यज्ञ न करे! कोई किसी देवताका पूजन न करे। एकमात्र राजा ही प्रजाके आराध्य हैं! आज्ञाभंग करनेवाला कठोर दण्ड पायेगा।' भेरीनादके साथ ग्राम-ग्राममें घोषणा हो रही थी। महाराज अंगका कोई पता न लगा। ऋषियोंने उनके पुत्र वेनको सिंहासनपर बैठाया। राज्य पाते ही उसने यह घोषणा करायी।

'राजन्! यज्ञसे यज्ञपति भगवान् विष्णु तुष्ट होंगे! उनके प्रसन्न होनेपर आपका और प्रजाका भी कल्याण होगा!' ऋषिगण वेनको समझाने एकत्र होकर आये थे। उस दर्पमत्तने उनकी अवज्ञा की। ऋषियोंका रोष हुंकारके साथ कुशोंमें ही ब्रह्मास्त्रकी शक्ति बन गया। वेन मारा गया। वेनकी माता सुनीथाने पुत्रका शरीर स्नेहवश सुरक्षित रखा।

'ये साक्षात् जगदीश्वरके अवतार हैं!' उन दूर्वादलश्याम, प्रलम्बबाहु, कमलाक्ष पुरुषको देखकर ऋषिगण प्रसन्न हुए। अराजकता होनेपर प्रजामें दस्यु बढ़ गये थे। चोरी, बलप्रयोग, मर्यादानाश, परस्वहरणादि बढ़ रहे थे। शासक आवश्यक था। ऋषियोंने एकत्र होकर वेनके शरीरका मन्थन प्रारम्भ किया। उसके ऊरुसे प्रथम ह्रस्वकाय, कृष्णवर्ण पुरुष उत्पन्न हुआ। उसकी सन्तानें निषाद कही गयीं। मन्थन चलता रहा। दक्षिण हस्तसे पृथु और वाम बाहुसे उनकी नित्य-सहचरी लक्ष्मीस्वरूपा आदि-सती अर्चि प्रकट हुईं।

'महाराज हम सब क्षुधासे मरणासन्न हैं। हमारी रक्षा करें!' विश्वमें प्रथम राजाके सम्मुख प्रजा पुकार रही थी। धरामें पहला अकाल पड़ा था। न फल थे, न अन्न। वन सूखते जा रहे थे। वेनके अत्याचारसे देवशक्ति क्षुभित हो गयी थी। देवताओंका रोष मानवके अभ्युदयका घातक होगा ही। समाज आचारहीन, कुकर्मरत हो गया। त्रेताके आदिमें पदार्थ उपभोगके लिये नहीं थे। सम्पूर्ण पदार्थ यज्ञार्थ थे। मनुष्य केवल यज्ञावशेषभोजी था। जब मनुष्यने पदार्थोंको अपने लिये समझना प्रारम्भ किया, धराने उनका उत्पादन बंद कर दिया।

'यह मेदिनी—यह मेरी अवज्ञा करती है!' पृथुने प्रजाकी पुकार सुनी। धरा अन्न देती क्यों नहीं? नेत्रोंमें बंकिमा आयी। आजगव धनुषपर बाण चढ़ाया उन्होंने! 'मैं इसके मेदसे सबको तृप्त करूँगा! लोकका धारण मेरी योगशक्ति करेगी!' उन्हींकी योगमाया तो लोक धारण करती है।

'देव, मुझे क्षमा करें।' काँपती, भीता गोरूपधारिणी शरणापन्न हुई।' मुझे समान करें, जिसमें वर्षाका जल टिक सके। योग्य वत्स हो तो मैं कामदुहा (अभीष्ट फल देनेवाली) हूँ।'

पृथुने पृथ्वीका दोहन किया। भूमि समान की गयी। कृषिका प्रारम्भ हुआ। मनुष्यने तरु एवं गुफाओंका स्वेच्छा-निवास छोड़ दिया। समाज बना। नगर, ग्राम, खेट, खर्वट आदि बसाये गये। इस प्रकार पृथुने प्रजाकी व्यवस्था की।

पृथुने धराको पुत्री माना। तबसे यह भूमि पृथ्वी कही जाती है। वे ही प्रथम नरेश थे। मनुष्यको नगर, ग्रामादिमें बसाकर वर्तमान संस्कृति एवं सभ्यताको उन्होंने ही जन्म दिया था। जीवन भोगके लिये नहीं, आराधनाके लिये है। उन आदि शासकका मानवके लिये यही आदेश है। जबतक मानव उनके आदेशपर चला, सुख एवं शान्ति उसे नित्य प्राप्त रही; आदेश भंग करके वह पीड़ा एवं संघर्ष, चिन्तामें उलझ गया।

भगवान् व्यास

महर्षि पराशरके पुत्र कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यास हैं। उत्पन्न होते ही वे मातासे आज्ञा लेकर तपस्या करने चले गये। द्वीपमें जन्म होनेसे व्यासजी द्वैपायन कहे गये। उनका वर्ण घननील है, अतः उन्हें कृष्णद्वैपायन कहा जाता है।

आदियुगमें वेद एक ही था। महर्षि अंगिराने उसमेंसे सरल तथा भौतिक उपयोगके छन्दोंको पीछे संगृहीत किया। यह संग्रह छान्दस, आंगिरस या अथर्ववेद कहलाया। शेष भाग एक ही रूपमें था।

भगवान् व्यासने उसमेंसे ऋचाओं, गायनयोग्य मन्त्रों और गद्यभागको पृथक्-पृथक् संकलित किया। इस प्रकार ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदका वर्तमान स्वरूप निश्चित हुआ। इस कार्यसे वे वेदव्यास कहलाये।

स्त्री, शूद्र तथा पतित द्विज (द्विजबन्धु) वेदपाठके अधिकारी नहीं थे। उत्तरोत्तर द्विजबन्धुओंकी संख्या बढ़ती जा रही थी। उनका उद्धार भी होना ही चाहिये। वेदार्थ-दर्शनकी शक्तिके साथ अनादि पुराण भी लुप्त हो रहे थे। भगवान् व्यासने पुराणोंका संकलन किया। निष्ठाके अनुकूल उनमें आराध्यके रूपकी प्रतिष्ठा हुई। वेदार्थ सबके लिये सहज-सुलभ हो गया। अष्टादश पुराणोंके अतिरिक्त बहुत-से उपपुराण तथा अन्य ग्रन्थ भी उन्हींके हैं।

पुराण बहुत विस्तृत हैं। उनमें कल्पभेदसे चरितोंमें भेद आया है। समस्त चरित इस कल्पके अनुरूप और समस्त धर्म-अर्थ-काम-मोक्षसम्बन्धी सिद्धान्त एकत्र करनेके विचारसे उन्होंने महाभारतकी रचना की। महाभारत पंचम वेद कहा गया। श्रुतिमें जो कुछ है, महाभारतमें भगवान् व्यासने उसको एकत्र कर दिया है। भगवान् व्यास बोलते जाते थे और साक्षात् गणेशजी लिख रहे थे। इस प्रकार यह पंचम वेद लिपिबद्ध हुआ।

उपासना तथा साधनकी प्रतिष्ठा दर्शनशास्त्रके द्वारा होती है। श्रुतियोंमें भगवान्के जिस निर्विशेष रूपका प्रतिपादन हुआ है, कोई दर्शन उसे व्यक्त नहीं करता था। भगवान् व्यासने उन सिद्धान्तोंको सूत्ररूपमें ग्रथित किया। वही सूत्रग्रन्थ वेदान्त-दर्शन या उत्तरपूर्वमीमांसा कहा जाता है। भारतके सम्प्रदायोंमें उसीको मानकर चलनेकी प्राचीन प्रणाली है।

भगवान् व्यास कल्पान्ततक रहेंगे। श्रीआद्य शंकराचार्यने उनके दर्शन पाये थे। और भी अनेक महापुरुषोंको उनका साक्षात् लाभ हुआ, यह वर्णन मिलता है। उनका स्थानीय आश्रम बद्रीनाथ धाम है, पर वे लोकमें पर्यटन करते रहते हैं। उच्च कोटिके अधिकारी उन्हें देख पाते हैं।

हिंदू-संस्कृतिका वर्तमान स्वरूप भगवान् व्यासद्वारा सँभाला एवं सजाया गया है। यह अनादि सनातन संस्कृति आज भगवान् व्यासके पुराणों, महाभारत तथा दूसरे ग्रन्थोंपर अवलम्बित है। भगवान्ने स्वयं इस रूपमें अवतार धारण करके कलिके मानवोंके लिये श्रुतिका तात्पर्य सरल कर दिया है।—सु०

कुछ आदर्श ऋषि-महर्षि

सनकादि कुमार

सृष्टिका आदिकाल ही था। भगवान् ब्रह्माने अपने तपसे श्रीनारायणका साक्षात्कार किया। वे सृष्टिमें संलग्न हुए। सर्वप्रथम उनके चार मानस पुत्र हुए— सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार। चारों नित्यसिद्ध, ज्ञानमय, नित्य-विरक्त। उन्होंने पिताकी आज्ञा होनेपर भी सृष्टिकार्य स्वीकार नहीं किया। वे सदा अपने योगबलसे अथवा निरन्तर '**हरिःशरणम्**' मन्त्रके जप-प्रभावसे पाँच वर्षके ही बने रहते हैं। जनलोकमें निरन्तर भगवच्चर्चाको छोड़ उन्हें दूसरा कोई कार्य नहीं। लोकोद्धारके लिये लोक-पर्यटन भी करते हैं।

'सनत्कुमारसंहिता' धर्मशास्त्रका मुख्य ग्रन्थ है। वैष्णव-धर्मके प्रधानाचार्योंमें ये कुमारचतुष्टय हैं। देवर्षि नारदको इन्होंने श्रीमद्भागवतका उपदेश किया। ज्ञानमार्गके तो ये आदिप्रवर्तक हैं ही। भगवान्के ये स्वरूप ज्ञान, वैराग्य, भक्तिकी प्रतिष्ठाके लिये हैं। शैशव ही निरपेक्षावस्था है। शैशव-भावके साथ वह अवस्था भी चिरस्थायी हो गयी इस रूपमें। जय-विजय इन्हींके शापसे तीन जन्मोंतक क्रमशः हिरण्यकशिपु-हिरण्याक्ष, रावण-कुम्भकर्ण और शिशुपाल-दन्तवक्त्र हुए। ज्यौतिष और आयुर्वेदका भी इन्हें आचार्य कहा गया है।

सप्तर्षि

सप्तर्षि-मण्डल आकाशमें सुप्रसिद्ध ज्योतिर्मण्डलोंमें है। इसके अधिष्ठाता ऋषिगण लोकमें ज्ञान-परम्पराको सुरक्षित रखते हैं। अधिकारी जिज्ञासुको प्रत्यक्ष या परोक्ष, जैसा वह अधिकारी हो, तत्त्वज्ञानकी ओर उन्मुख करके मुक्ति-पथमें लगाते हैं। प्रत्येक मन्वन्तरमें इनमेंसे कुछ ऋषि परिवर्तित होते रहते हैं। इनकी नामावली (विष्णुपुराणके अनुसार)इस प्रकार है—

प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरमें—मरीचि, अत्रि,

अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ।

द्वितीय स्वारोचिष मन्वन्तरमें—ऊर्ज्ज, स्तम्भ, वात, प्राण, पृषभ, निरय और परीवान्।

तृतीय उत्तम मन्वन्तरमें—महर्षि वसिष्ठके सातों पुत्र।

चतुर्थ तामस मन्वन्तरमें—ज्योतिर्धामा, पृथु, काव्य, चैत्र, अग्नि, वनक और पीवर।

पंचम रैवत मन्वन्तरमें—हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊर्ध्वबाहु, वेदबाहु, सुधामा, पर्जन्य और महामुनि।

षष्ठ चाक्षुष मन्वन्तरमें—सुमेधा, विरजा, हविष्मान्, उत्तम, मधु, अतिनामा और सहिष्णु।

वर्तमान सप्तम वैवस्वत मन्वन्तरमें—काश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज।

अष्टम सावर्णिक मन्वन्तरमें—गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृप, ऋष्यशृंग और व्यास।

नवम दक्षसावर्णि मन्वन्तरमें— मेधातिथि, वसु, सत्य, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, सवन और भव्य।

दशम ब्रह्मसावर्णि मन्वन्तरमें—तपोमूर्ति, हविष्मान्,सुकृत, सत्य, नाभाग, अप्रतिमौजा और सत्यकेतु।

एकादश धर्मसावर्णि मन्वन्तरमें—वपुष्मान्, घृणि, आरुणि, नि:स्वर, हविष्मान्, अनघ और अग्नितेजा।

द्वादश रुद्रसावर्णि मन्वन्तरमें— तपोद्युति, तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्ति, तपोनिधि, तपोरति और तपोधृति।

त्रयोदश देवसावर्णि मन्वन्तरमें—धृतिमान्, अव्यय, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, निर्मोह, सुतपा और निष्प्रकम्प।

चतुर्दश इन्द्रसावर्णि मन्वन्तरमें—अग्नीध्र, अग्निबाहु, शुचि, युक्त, मागध, शुक्र और अजित।

इन ऋषियोंमेंसे सब कल्पान्त-चिरजीवी, मुक्तात्मा और दिव्यदेहधारी हैं।

देवर्षि नारद

यह देवर्षिके तीसरे जन्मकी बात है—

भगवान् ब्रह्माकी सेवामें अप्सराएँ और गन्धर्वगण उपस्थित थे। वे नृत्य एवं गीतसे उन जगत्स्रष्टाकी आराधना कर रहे थे। गन्धर्वश्रेष्ठ उपबर्हण अपनी स्त्रियोंके साथ वहाँ पहुँचे। स्वरसौन्दर्य एवं कलाके गर्वने उन्हें प्रमत्त कर दिया था। आराधनाका भावमय संगीत केवल कला ही तो नहीं है। पितामहने देखा और शाप दिया 'तुम शूद्र हो जाओ!' शरीरकी सेवा— ऐन्द्रियक तृप्ति ही तो शूद्रत्वका कारण है।

देवर्षिका दूसरा जन्म—

एक तपस्वी विप्रका आश्रम था। आश्रम-सेविका एक शूद्रा दासीकी गोदमें छोटा-सा बालक था। दासी और बालक, इतना ही था यह परिवार। आश्रममें प्राय: परिव्राजक संत पधारते। बालकका चित्त उनकी सेवामें लगता था। जन्मसे ही उसका चित्त किसी अज्ञातकी ओर आकर्षित था। खेल-कूद तथा उपभोगके पदार्थोंमें रुचि थी नहीं। संतोंका उच्छिष्ट प्राप्त होता, उनकी वाणी कर्णोंको पवित्र करती, उनकी सेवाका सौभाग्य मिलता।

कुछ संतोंने चातुर्मास्य किया उस आश्रममें। बालक निरन्तर उनके समीप रहनेका प्रयत्न करता। सुशील सरल बालकपर महात्माओंका स्नेह स्वाभाविक ही था। चार महीने व्यतीत हुए। उन भ्रमणशील साधुओंको प्रस्थान करना था। बालककी श्रद्धा, व्याकुलताने द्रवित किया। महात्माओंने भगवान्‌का ध्यान तथा मन्त्रका उपदेश किया।

'मैं भी ऐसा ही बनूँगा!' जन्मसे बालककी महान् उच्च अभिलाषा विरक्तोंको देखकर उमड़ती थी। अब उसे एकान्त चाहिये। वन चाहिये। लेकिन माताका स्नेह—वह है भी तो चार-पाँच वर्षका ही। भगवान्‌को कृपा करनी होती है तो वे वय नहीं देखा करते । वह शूद्रा दासी सायंकाल अन्धकारमें गो-दोहन कर रही थी। एक सर्पने उसके पैरमें काट लिया।

'प्रभुने मुझपर बड़ी कृपा की!' बालकने देखा कि माता निष्प्राण हो गयी है। उसे उस मृत्तिकासे कोई मोह नहीं था। अब कोई उसको घड़ी-घड़ीपर ढूँढ़नेवाला नहीं। वहाँसे रात्रिमें ही वह चल पड़ा

सुन्दर सरोवरतट, अश्वत्थका अरुण पत्तोंसे भरा वृक्ष बालकको पसंद आया। वह प्राय: चलते-चलते थक चुका था। पीपलकी जड़में बैठकर ध्यान करने लगा। एक अलौकिक ज्योति हृदयमें विद्युत्‌की भाँति चमक गयी।

'तुम इस जन्ममें मेरा साक्षात् नहीं पा सकते थे। यह तो मैंने अनुग्रह करके दर्शन दिया।' बालक बराबर अत्यन्त व्याकुल होकर प्रयत्न कर रहा था। आकाशवाणी सुनकर उसने उस दिशाकी ओर मुख करके भूमिपर मस्तक रखा, जिधरसे शब्द आया था। अब उसे भगवद्गुण-गान करते लोकमें असंग विचरण करना था।

देवर्षिका वर्तमान स्वरूप—

सृष्टिके समय भगवान् ब्रह्माके मनसे देवर्षि उत्पन्न हुए। उन्होंने निवृत्तिमार्ग स्वीकार किया। भगवान् ब्रह्मासे प्राप्त वीणा लेकर बराबर भगवन्नाम-गुण गाते रहना ही उनका स्वभाव है। पहले वे आश्रम बनाकर निवास करते थे। प्रह्लादकी माता, जब प्रह्लादजी गर्भमें थे, देवर्षिके आश्रममें बहुत दिन रही थीं। प्रजापति दक्षके ग्यारह सहस्र पुत्रोंको निवृत्तिपथमें देवर्षिने लगा दिया। इससे क्रुद्ध होकर दक्षने शाप दे दिया कि वे कहीं दो घड़ीसे अधिक न ठहर सकेंगे। तबसे वे नित्य परिव्राजक हो गये।

देवर्षिका एक ही व्रत है—जीवमात्रका कल्याण। जो जैसा अधिकारी है, उसे वैसे मार्गमें लगा देते हैं वे। एक ओर वे बालक ध्रुवके उपदेष्टा हैं तो दूसरी ओर कंसके प्रेरक भी। सच्चे अर्थमें केवल वही अजातशत्रु हैं। देवता-दैत्य सभी उनका सम्मान करते हैं। सबका उनपर विश्वास है। सब उनसे सम्मति पानेको उत्सुक रहते हैं।

भागवत-धर्मका आधार पांचरात्र तो देवर्षिसे प्रवर्तित है ही, भक्तिमार्गके द्वादश आचार्योंमें मुख्य होनेके साथ आप संगीत-विद्या, ज्यौतिष, आयुर्वेद, नीति आदिके भी मुख्याचार्य हैं। उनकी संहिताएँ इन विषयोंके महत्त्वपूर्ण आधार हैं। वे लोकपर्यटक सदा ही अधिकारीको दर्शन देते हैं। हिंदू-संस्कृतिके व्यवस्थापक भगवान् व्यासके वे प्रेरक हैं।

महर्षि वसिष्ठ

मित्रावरुणके यज्ञमें अगस्त्यजीके साथ ही महर्षि वसिष्ठकी उत्पत्ति हुई। भगवान् ब्रह्माकी आज्ञासे उन्होंने सूर्यवंशका पौरोहित्य स्वीकार किया। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रके कुलगुरु होनेका सौभाग्य आपको ही प्राप्त था। महर्षि वसिष्ठ वर्तमान मन्वन्तरके आदिमें ब्रह्माजीके मानस पुत्र हुए।

वसिष्ठजीने परशुरामजीके कोपसे रघुवंशकी रक्षा की। विश्वामित्रने द्वेषवश उनके समस्त पुत्रोंका नाश कर दिया, पर उन्होंने क्रोध प्रकट नहीं किया। महर्षि वसिष्ठके पुत्र शक्ति, शक्तिके पराशर और पराशरजीके भगवान् व्यास हैं। वसिष्ठजी सप्तर्षिमण्डलमें अपनी पत्नी अरुन्धतीजीके साथ स्थित हैं। वसिष्ठ-संहिताके अतिरिक्त वसिष्ठजीके श्रौत-सूत्र, गृह्य-सूत्र, शुल्ब-सूत्र तथा वसिष्ठस्मृति—ये ग्रन्थ भी मिलते हैं। वसिष्ठजी भगवान् श्रीरामके समयतक पृथ्वीपर प्रत्यक्षरूपसे रहे। उन्होंने अपने तपोबलसे रघुवंशके चक्रवर्ती नरेशोंकी श्रीवृद्धि की तथा हिंदू-धर्मका सुयश विस्तीर्ण किया। भगवान् श्रीरामके साकेत पधारनेपर वे सप्तर्षिमण्डलमें ही स्थित हो गये।

भगवान् मनुजी

भगवान् ब्रह्मा सृष्टिकार्यमें सफल नहीं हो रहे थे। उनकी मानसिक सृष्टि ज्यों-की-त्यों थी। उसमें अभिवृद्धि नहीं हो रही थी। अन्तमें स्रष्टाने अपने दक्षिण भागसे मनु और वाम भागसे शतरूपाको उत्पन्न किया। इन स्वायम्भुव मनुसे ही मनुष्यजातिकी सृष्टि हुई। मनुष्योंके लिये उनके आचार-ज्ञानके निमित्त मनुने श्रुतिके तात्पर्यको स्पष्ट किया। आदि मनुके वे 'मानव-धर्म-सूत्र' अब उपलब्ध नहीं हैं। आदि मनुके प्रियव्रत, उत्तानपाद प्रभृति पुत्र तथा देवहूति आदि कन्याएँ हुईं।

मात्स्यकल्पमें भगवान्‌ने मत्स्यरूप धारण करके जिन राजर्षि श्राद्धदेवकी रक्षा की, वे विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र वैवस्वतजी इस मन्वन्तरके मनु हैं। महाराज इक्ष्वाकुप्रभृति उनके दस पुत्र हुए। वर्तमान मनुस्मृति इन्हीं मनुकी कृति है। इसका मूलाधार प्राचीन मानवधर्मसूत्र हैं और उनका उपदेश मनुने महर्षि भृगुसे प्राप्त किया था, यह मनुस्मृतिसे स्पष्ट ज्ञात होता है। मनुस्मृति धर्मशास्त्र एवं समाजशास्त्रका प्रधान आधार है।

महर्षि याज्ञवल्क्य

महर्षि वैशम्पायन पितृश्राद्ध होनेके कारण ऋषियोंकी गोष्ठीमें उपस्थित नहीं हो सके थे। नियमानुसार उन्हें अनुपस्थितिके कारण वाचिक ब्रह्महत्याका अपराध लगा। उन्होंने अपने सब शिष्योंको आज्ञा दी—'तुम सब मिलकर इसका प्रायश्चित्त कर लो।'

'ये बच्चे क्या प्रायश्चित्त करेंगे। मैं अकेला ही प्रायश्चित्त कर दूँगा।' याज्ञवल्क्यजीने अपने आचार्यसे कहा। वैशम्पायनजीके भानजे होनेके कारण कुछ धृष्ट हो गये थे वे।

'तू ब्राह्मण-बालकोंका अहंकारवश अपमान करता है। मेरी पढ़ायी हुई सब श्रुतियाँ त्याग दे।' वैशम्पायनजीने कुछ रोषसे कहा। याज्ञवल्क्यने श्रुतियोंका त्याग कर दिया। ऋषियोंने तीतर होकर उन श्रुतियोंका ग्रहण किया। वही कृष्ण-यजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखा हुई।

'मैं अब मनुष्यको गुरु नहीं बनाऊँगा।' याज्ञवल्क्यजीने तपस्याके द्वारा भगवान् सूर्यको सन्तुष्ट किया। अश्वरूपधारी भगवान् सूर्यने उन्हें शुक्लयजुर्वेदका उपदेश किया। इस शाखाको वाजसनेय शाखा कहा जाता है।

महर्षि याज्ञवल्क्यका आश्रम मिथिलामें था। महाराज विदेहके वे योगोपदेष्टा गुरु तथा कर्मकाण्डके प्रकाण्ड मर्मज्ञ थे। महाराज विदेहकी सभामें वाचक्नवी गार्गीसे उनका शास्त्रार्थ हुआ, जब वे विदेहराजकी सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ताको दी गयी सहस्र गायें ले जाने लगे थे।

महर्षिकी दो पत्नियाँ थी— मैत्रेयी और कात्यायनी। मैत्रेयीने इनसे ब्रह्मविद्या प्राप्त की। भरद्वाजजीको इन्होंने श्रीरामचरितमानसका उपदेश किया। इनकी याज्ञवल्क्यस्मृति स्मृतियोंमें प्रधान है। हिंदू-सम्पत्तिका उत्तराधिकार उसीसे निर्णीत होता है। इसके अतिरिक्त 'याज्ञवल्क्य-शिक्षा', 'शतपथ-ब्राह्मण', 'प्रतिज्ञासूत्र' और 'योगि-याज्ञवल्क्य' इनके अत्यन्त श्रेष्ठ शास्त्र हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यके व्याकरण, आयुर्वेद और धनुर्वेदसम्बन्धी ग्रन्थोंके नाम भी पाये जाते हैं।

महर्षि विश्वामित्र

'मैं आपको एक सहस्र कपिला गौएँ दूँगा, यह गौ आप मुझे प्रदान करें।' भगवान् परशुरामके मामा महाराज गाधिके पुत्र महाराज विश्वामित्रजीने महर्षि वसिष्ठसे उनकी नन्दिनी गौ माँगी। वसिष्ठजीने उस कामधेनुसुता नन्दिनीके प्रभावसे ही ससैन्य विश्वामित्रका तपोवनमें राजोचित सम्मान किया था। इतनी ऐश्वर्यमयी गौ तो राजसदनमें ही शोभा देगी।

'नन्दिनी मेरी पूज्या हैं। वे सम्पत्ति नहीं, जिसका विनिमय किया जा सके।' महर्षि वसिष्ठने किसी भी मूल्यपर अपनी होमधेनुको देना स्वीकार नहीं किया।

'मातः! स्वयं आप अपनी रक्षा कर सकें तो कर लें। ब्राह्मण प्रतीकार करनेमें असमर्थ होते हैं।' विश्वामित्र गौको बलपूर्वक ले जा रहे थे। गौ क्रन्दन कर रही थी। महर्षि वसिष्ठजीने भरे नेत्रोंसे उसकी ओर देखा। नन्दिनी क्रुद्ध हुईं। उनके नथुनोंसे सहस्रों सशस्त्र योद्धा प्रकट हुए। विश्वामित्र पराजित हो गये।

'सामान्य बलसे तपोबल श्रेष्ठ है। विश्वामित्रजी राज्य छोड़कर वनमें जाकर भगवान् शंकरकी आराधना करने लगे। भगवान् शिवने उन्हें धनुर्वेद और दिव्यास्त्र प्रदान किये। इन अस्त्रोंको लेकर वे वसिष्ठको मारने आये; किंतु महर्षि वसिष्ठके तेजोमयब्रह्मदण्डसे सब व्यर्थ हो गये।

'ब्रह्मबलके सम्मुख अस्त्रबल व्यर्थ है। मैं ब्राह्मणत्व प्राप्त करूँगा।' दक्षिण दिशामें जाकर पुनः वे तपस्या करने लगे।

'गुरुदेव! मैं आपकी शरण आया हूँ, मेरी इच्छा सशरीर स्वर्ग जानेकी है।' त्रिशंकु अपने कुलगुरु वसिष्ठजीसे निराश हो चुके थे। गुरुपुत्रोंने शाप देकर उन्हें चाण्डाल बना दिया था। वे विश्वामित्रजीकी शरण आये। तपोबलसे विश्वामित्रजीने उन्हें सशरीर स्वर्ग भेज दिया। स्वर्गसे देवताओंने त्रिशंकुको नीचे ढकेल दिया। विश्वामित्रजीने उन्हें गगनमें ही स्थिर कर दिया। वे अब भी वहीं नीचे मुख किये हैं। उनके मुखकी लारसे कर्मनाशा नदी उत्पन्न हुई है।

× × ×

'मैं ब्राह्मण नहीं हो सकता तो नवीन सृष्टिका ब्रह्मा बनूँगा।' विश्वामित्रने पूर्व दिशामें आकर कठोर तपके अनन्तर नवीन सृष्टि प्रारम्भ की। अन्न, तृण, तरु, पशु—सबमें कुछ जातियोंको उन्होंने उत्पन्न किया। भगवान् ब्रह्माने उन्हें तब आकर सृष्टिकर्मसे रोक दिया, जब वे मनुष्य-सृष्टि करने जा रहे थे।

'ब्रह्मर्षि तो वसिष्ठ ही बना सकते हैं।'भगवान् ब्रह्माने उनका ब्राह्मणत्व स्वीकार करके भी एक प्रतिबन्ध लगा दिया। विश्वामित्रजीने महाराज सुदासको शाप देकर बारह वर्षके लिये राक्षस बना दिया। इस राक्षसभावमें वह वसिष्ठके सभी पुत्रोंका भक्षण कर गया।

'धन्य हैं विश्वामित्र, जो इस नीरव ज्योत्स्नामें तप करते हैं।' महर्षि वसिष्ठ एकान्त तपोवनमें रात्रिको अपनी पत्नीसे वार्तालाप कर रहे थे। विश्वामित्रजी उन्हें मारने आये थे। 'एकान्तमें ऐसे शत्रुकी भी प्रशंसा करनेवाले ये महापुरुष—' विश्वामित्रजी सारे शस्त्र फेंक दिये। वे जाकर महर्षि वसिष्ठके चरणोंपर गिर पड़े।

'आपने मुझे पहले ही ब्रह्मर्षि क्यों नहीं स्वीकार किया?' आज वसिष्ठजीने विश्वामित्रको 'ब्रह्मर्षि' कहकर कण्ठसे लगाया था।

'आज आप अपने रजोगुण और उनके प्रतीक

शस्त्रोंसे पृथक् हो सके हैं।' महर्षि वसिष्ठने ब्राह्मणत्वका मुख्य धर्म क्षमा बताया।

× × ×

महाराज हरिश्चन्द्रके सत्यकी परीक्षा विश्वामित्रजीने ही ली। त्रेतामें अपने यज्ञकी रक्षाके लिये वे भगवान् श्रीराम तथा लक्ष्मणको अयोध्यासे ले आये थे। सीता-स्वयंवरमें श्रीरामको उन्होंने ही उपस्थित किया। भगवान् शंकरसे प्राप्त समस्त दिव्यास्त्र उन्होंने श्रीरामको दे दिये। भगवान् रामके साकेत पधारनेपर विश्वामित्रजी सप्तर्षिमण्डलमें प्रतिष्ठित हुए।

तपके द्वारा एक ही जन्ममें क्षत्रियसे ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेका अपूर्व आदर्श विश्वामित्रजीने ही स्थापित किया। उनके निर्मित धनुर्वेद तथा नीति एवं धर्मके ग्रन्थोंका नाम तो मिलता है, पर ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

महर्षि दधीचि

प्रजापति कर्दमकी कन्या शान्तिके गर्भसे अथर्वा ऋषिको परम तपस्वी, नैष्ठिक शिवभक्त दधीचि ऋषि-जैसी सन्तान प्राप्त हुई थी। महर्षि दधीचिने दक्षको बहुत समझाया, जब वे रुद्रभागसे हीन यज्ञमें प्रवृत्त हुए। प्रजापति दक्षने जब उनके आदेशको स्वीकार नहीं किया, तब वे यज्ञस्थल छोड़कर अपने आश्रमपर चले आये।

'दधीचि मेरा स्थान लेना चाहते हैं।' महेन्द्रको प्रत्येक कठोर तपस्वीसे यही आशंका होती है। उन्होंने अप्सराश्रेष्ठ अलम्बुषाको उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये भेजा। अप्सराका सम्पूर्ण नृत्य-गान, हाव-भाव व्यर्थ रहा। मदनके सम्मोहन शर और वसन्तकी शोभाका वहाँ कोई प्रभाव न पड़ सका। अन्तमें देवताओंके साथ इन्द्र उन तपस्वीको मार देनेपर उद्यत हुए। महर्षिको कोई प्रतिकार नहीं करना था, पर उनका तपस्तेज और उनके आराध्य त्रिशूलधारी महारुद्र अप्रमत्त नहीं हो सकते थे। वरुणपाश, यमदण्ड तथा इन्द्रकी अमोघशक्ति—सब व्यर्थ हुए। हीनतेज होकर वहाँसे देवता लौटे।

'हम आपत्तिमें पड़कर आपसे याचना करने आये हैं। हमें आपके शरीरकी अस्थि चाहिये।' वही इन्द्र, वही देवता वृत्रासुरसे पराजित होकर उन्हीं महर्षि दधीचिके यहाँ याचक हुए थे। उन उदारचेताने पिछले कृत्योंका स्मरणतक नहीं किया। योगके द्वारा शरीर छोड़ दिया, जिसमें देवेन्द्र उनकी अस्थि ले सकें। जंगली गायें उनके चर्मको चाट गयीं; तब इन्द्रने अस्थि ले जाकर वज्र बनाया।

आदिकवि वाल्मीकि

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

आदिकविके मुखसे प्रथम लौकिक श्लोक व्याधद्वारा क्रौंचपक्षीके जोड़ेमेंसे एकके मारे जानेपर दयाके आवेशमें निकला।

श्रीरामद्वारा निर्वासिता नित्य-निष्कलंका रजक-लांछिता श्रीजनकनन्दिनी तमसा-तटपर महर्षि वाल्मीकिके आश्रमपर ही रही थीं। यहीं लव-कुशकी उत्पत्ति हुई। महर्षिने उन्हें स्वरचित आदिकाव्य रामायणका गान भी शस्त्रविद्याके साथ सिखाया। वाल्मीकीय रामायण इतिहासके साथ ही संस्कृत साहित्यका अपूर्व काव्य है।

महर्षि वाल्मीकि ब्राह्मणसन्तान होनेपर भी डाकुओंके संगसे डाकू हो गये थे। यात्रियोंको लूटकर उन्हें मार देना उनका व्यवसाय था। हिंसा उनका स्वभाव बन गया था। एक दिन सप्तर्षि उस मार्गसे आये, जहाँ वाल्मीकि लूटपाट करते थे। स्वभावानुसार सप्तर्षियोंको इन्होंने पकड़ लिया। दयामय ऋषियोंने दया की। वाल्मीकिने समझा घरके सदस्योंसे पूछकर कि अपने पापके फल उन्हें स्वयं भोगने होंगे, उसमें कोई भाग नहीं लेगा।

'मरा मरा मरा.......।' वाल्मीकिके मुखसे 'राम' निकल नहीं पाता था, पर उनकी निष्ठा दृढ़ थी। वे एकासनपर लगे रहे जपमें। वर्षों व्यतीत हो गये। शरीर दीमककी मिट्टीमें छिप गया। अन्तमें भगवान् ब्रह्माने आदिकवि होनेका वरदान दिया। वल्मीक (दीमककी मिट्टीके ढेर) से निकलनेके कारण वे वाल्मीकि कहलाये।

मार्कण्डेय मुनि

मृकण्डु मुनिके पुत्र मार्कण्डेयजीका जन्म होनेपर पिताको ज्ञात हुआ कि पुत्र अल्पायु है, वह केवल बारह वर्षकी अवस्थामें मृत हो जायगा। जब मार्कण्डेयजी बड़े हुए, उन्होंने पिताको निश्चित करते हुए कहा—'मैं मृत्युपर विजय प्राप्त करूँगा।'

कल्पभेदसे पुराणोंमें मार्कण्डेयजीकी अमरत्व-प्राप्तिके भिन्न-भिन्न वर्णन हैं। एक कल्पमें सप्तर्षियोंने उन्हें ब्रह्माजीद्वारा दीर्घायु दिलायी। एक कल्पमें वे भगवान् विष्णुकी आराधनासे मृत्युको जीत सके। एक कल्पमें भगवान् शंकरने तपसे सन्तुष्ट होकर उनकी

यमराजसे रक्षा की।

मार्कण्डेयजीकी तपस्यासे भीत होकर इन्द्रने तपमें विघ्न करनेके लिये काम तथा अप्सराओंको भेजा। मन्मथके सब प्रयत्न व्यर्थ हुए। वे लौटकर देवसभामें महर्षिकी प्रशंसा करनेको बाध्य हुए। भगवान् नर-नारायण इन परम तापसके तपको सफल करने पधारे। महर्षिने वरदान माँगा—'मैं आपकी माया देखना चाहता हूँ।'

सायंकालका समय था। मुनि नदी-तटपर सन्ध्या कर रहे थे। सहसा वेगपूर्वक घोर आँधी आयी, चारों ओरसे समुद्र उमड़ता दीख पड़ा। पृथ्वी, नक्षत्रादि सब जलमग्न हो गये। उस निरालोक सागरकी उत्तुंग तरंगोंके थपेड़ोंसे ताड़ित एवं जलजन्तुओंसे व्यथित होते ऋषि सहस्त्रों वर्ष तैरते रहे। सहसा महोदधिमें एक वटवृक्ष दीख पड़ा। उसके ईशान कोणकी शाखामें पर्णपुटकमें स्थित एक ज्योतिर्मय नीलकमल-सुन्दर शिशु अपने चरणके अँगूठेको मुखमें लेकर चूस रहा था। मुनि जैसे ही उस बालकके पास गये, श्वासके साथ विवश होकर उसकी नासिकाके छिद्रमें खिंच गये। उस शिशुके उदरमें ससागरा पृथ्वी, समस्त पर्वत, सरिता, प्राणी, पूरा ब्रह्माण्ड देखा उन्होंने। वहाँ भी वे सहस्त्रों युग घूमते रहे। शिशुके श्वासके साथ पुनः सागरमें गिरे और फिर सहसा वट, शिशु, प्रलयसागर—सब कुछ तिरोहित हो गया। वे उसी नदी-तटपर थे। जैसे सब स्वप्न देखा हो।

भगवती पार्वतीके अनुरोधसे शंकरजीने मार्कण्डेयजीको दर्शन दिया। उन शशांकशेखरके वरदानसे मार्कण्डेयजी पुराणाचार्य हुए। वे कल्पान्त अमर हैं। उनका मार्कण्डेय पुराण तो प्रचलित ही है। उनकी पत्नीका नाम धूमावती है और उनके पुत्र वेदशिरा श्रुतियोंके द्रष्टा ऋषि एवं धर्माचार्य हुए।

महर्षि मुद्गल

'देव! आप महान् पुण्यवान् हैं। अपने इसी शरीरसे स्वर्गको कृतार्थ करें।' देवदूत विमान लाये थे। शिलोञ्छवृत्तिसे ३४ सेरसे अधिक अन्न न एकत्र करनेका व्रत लेकर केवल अमावस्या और पूर्णिमाको ही सपरिवार आहार ग्रहण करनेवाले मुद्गलजीके यहाँ पिछले छः पक्षोंसे दोनों पर्वोंपर महर्षि दुर्वासा अतिथि हो जाया करते हैं। पूरा संग्रह उनके आतिथ्यमें व्यय हो जाता है। ब्राह्मण-परिवार तीन महीनोंसे उपवास करके भी प्रसन्न, धर्मपर स्थिर है। ऐसे महापुरुषके पधारनेसे स्वर्ग सार्थक हो जायगा।

'मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। मुझे दुःखपूर्ण स्वर्ग या ब्रह्मलोक, कुछ नहीं चाहिये।' मुद्गलजीने देवदूतको लौटा दिया। पूछनेपर उन्हें पता लग गया था कि ऊर्ध्वलोकोंमें भी भय, ईर्ष्या, अभावबोध आदि हैं। जो शाश्वत सुखका अभिलाषी है, वह इन तुच्छ प्रलोभनोंपर कैसे लुब्ध होता। अपने त्याग-वैराग्यसे मुद्गलजीने परमपद प्राप्त किया।

महर्षि कणाद

वैशेषिक दर्शनसूत्रोंके निर्माता महर्षि कणादके सम्बन्धमें इससे अधिक और कुछ ज्ञात नहीं कि उनका वास्तविक नाम उलूक मुनि है। वे बाजारमें क्रय-विक्रय समाप्त होनेके पश्चात् जो दाने मार्गमें सबके चले जानेपर बिखरे होते थे, उनको चुनकर लाते थे। इन 'कणों' पर अपना निर्वाह करनेके कारण उनको 'कणाद' कहा जाता है। ऐसे वीतराग तापससे कैसे आशा की जा सकती है कि वे अपना कोई परिचय छोड़ जायँगे। भारतीय संस्कृतिमें नश्वर शरीरके नाम या रूपके लिये आसक्तिको स्थान कहाँ।

महर्षि गौतम

न्यायदर्शनके कर्ता महर्षि गौतम परम तपस्वी एवं संयमी थे। महाराज वृद्धाश्वकी पुत्री अहल्या इनकी पत्नी थी, जो महर्षिके शापसे पाषाणी बन गयी थी।

त्रेतामें भगवान् श्रीरामकी चरण-रजसे अहल्याका शापमोचन हुआ। वह पाषाणीसे पुनः ऋषि-पत्नी हुई।

महर्षि गौतम बाण-विद्यामें अत्यन्त निपुण थे। विवाहके कुछ काल पश्चात् वे बाण-विद्याका अभ्यास कर रहे थे। अहल्या उन्हें दूर गये बाण लाकर देती थीं। एक बार वे देरसे लौटीं। ज्येष्ठकी धूपमें उनके चरण तप्त हो गये थे। विश्रामके लिये वे वृक्षकी छायामें बैठ गयी थीं। महर्षिने सूर्यदेवपर रोष किया। सूर्यने ब्राह्मणके वेषमें महर्षिको छत्ता और पादत्राण (जूता) निवेदित किया। उष्णतानिवारक ये दोनों उपकरण उसी समयसे प्रचलित हुए।

महर्षि गौतम न्यायशास्त्रके अतिरिक्त स्मृतिकार भी हैं तथा उनका धनुर्वेदपर भी कोई ग्रन्थ था, ऐसा विद्वानोंका मत है। उनके पुत्र शतानन्दजी निमिकुलके आचार्य थे।

महर्षि पतंजलि

शरीरकी शुद्धिके लिये वैद्यकशास्त्रका, वाणीकी शुद्धिके लिये व्याकरणशास्त्रका और चित्तकी शुद्धिके लिये योगशास्त्रका प्रणयन करनेवाले महर्षि पतञ्जलिका जन्म माता गोणिकासे हुआ था। ये गोनर्द देशमें निवास करते थे। इन्होंने योगदर्शनके अतिरिक्त पाणिनिके व्याकरण (अष्टाध्यायी)पर महाभाष्य निर्मित किया।

भगवान् शेषने उसी समय अथर्ववेदसे आयुर्वेद प्राप्त कर लिया, जब श्रीहरिने मत्स्यावतार धारण करके वेदोंका उद्धार किया। भगवान् अनन्त गुप्तरूपमें पृथ्वीपर विचरण कर रहे थे। मनुष्यों तथा दूसरे प्राणियोंको शारीरिक एवं मानसिक रोगों एवं कष्टोंसे पीड़ा पाते देख प्रभुको दया आयी। वे पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए। उन्होंने शारीरिक व्याधिकी निवृत्तिके लिये आयुर्वेदको प्रकट किया। क्योंकि वे चरकी भाँति पृथ्वीपर पहले आये थे। आयुर्वेदकर्ताके रूपमें उनका नाम 'चरक' हुआ। उन्हीं भगवान् अनन्तने 'पतञ्जलि' नामसे योगदर्शन और महाभाष्यका निर्माण किया।

श्रीचरकजीने आयुर्वेदमें आत्रेय ऋषिकी परम्पराका प्रतिपादन किया है। आत्रेय मुनिके शिष्य अग्निवेशने आयुर्वेदपर अनेक ग्रन्थोंका निर्माण किया था। उन सबका सारतत्त्व चरकसंहितामें संकलित हुआ। इससे चरकसंहिताके अन्तमें उसके कर्ता अग्निवेश कहे गये हैं। भावप्रकाशके कर्ताने भी भगवान् चरकको चिकित्सा-ज्ञानका संकलनकर्ता बताया है।

आचार्य जैमिनि

आचार्य जैमिनिकी गिनती वज्रवारकोंमें है। ये महर्षि कृष्णद्वैपायन श्रीव्यासदेवके शिष्य थे। उनसे आपने सामवेद और महाभारतकी शिक्षा पायी थी। ये ही प्रसिद्ध पूर्वमीमांसा-दर्शनके रचयिता हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'भारतसंहिता' की भी रचना की थी, जो 'जैमिनिभारत' के नामसे प्रसिद्ध है। आपने द्रोणपुत्रोंसे मार्कण्डेयपुराण सुना था। इनके पुत्रका नाम सुमन्तु और पौत्रका नाम सत्वान् था। इन तीनोंने वेदकी एक-एक संहिता बनायी है। हिरण्यनाभ,पैष्पञ्जि और अवन्त्य नामके इनके तीन शिष्योंने उन संहिताओंका अध्ययन किया था।

महर्षि आयोद धौम्य और उनके आदर्श शिष्य

महर्षि धौम्यका आश्रम सेवा, तितिक्षा और संयमके लिये प्रख्यात था। ये अपने शिष्योंको सुयोग्य बनानेके लिये उनको तपमें लगाते थे। स्वयं महर्षि धौम्यकी तपःशक्ति केवल आशीर्वादसे शिष्यको शास्त्रज्ञ बनानेमें समर्थ थी। आरुणि, उपमन्यु और वेद—ये तीन शास्त्रकार ऋषि महर्षि धौम्यके ही शिष्य थे।

'आरुणि, तुम कहाँ हो?' महर्षिने अपने पांचाल देशके शिष्य आरुणिको कल सायंकाल वर्षा होनेपर अपने खेतोंसे जल न निकल जाय, इसलिये बाँध बनाने भेजा था। पूरी रात्रि व्यतीत हो गयी और वह छात्र लौटा नहीं। स्वयं महर्षि चिन्तित होकर उसका अन्वेषण करने प्रातः निकले थे।

'गुरुदेव! मैं यहाँ हूँ।' आरुणिने मेड़की बाँधके सहारे लेटे-लेटे ही उत्तर दिया। उनका शरीर शीत और जलसे अकड़-सा गया था। मेड़ बाँधनेमें वे सायंकाल सफल न हो सके। जलका वेग अधिक था। नवीन मिट्टी रखते ही प्रवाहमें चली जाती। अन्तमें वे स्वयं लेट गये मेड़के सहारे। रात्रिभर स्थिर पड़े रहे।

'वत्स! सम्पूर्ण श्रुतियाँ तुमपर प्रकाशित हों।' महर्षिने स्नेहगद्गद होकर शिष्यको कण्ठसे लगाया। आरुणि गुरुका प्रसाद प्राप्तकर धन्य हो गये। यही महर्षि उद्दालकके नामसे उपनिषदोंमें प्रख्यात हैं। इनके पुत्र श्वेतकेतु थे। श्वेतकेतु ब्रह्मविद्यामें प्रवीण थे। उन्होंने धर्मशास्त्रका प्रणयन किया।

× × ×

'वत्स! तुम क्या भोजन करते हो?' महर्षि धौम्यने अपने शिष्य उपमन्युसे, जो उनकी गायें चरानेपर नियुक्त थे, पूछा। महर्षि तो कुछ देते नहीं और बिना आहारके ऐसा स्वस्थ शरीर रह नहीं सकता।

'गुरुदेव! भिक्षान्नसे मेरा भली प्रकार निर्वाह हो जाता है।' उपमन्युने सरलतासे बतला दिया।

'मुझे निवेदित किये बिना तुम्हें भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिये।' आचार्यको तो तप कराना था शिष्यसे।

'तुम दूसरी बार भिक्षा माँगने जाते हो, इससे दूसरे भिक्षुकोंका स्वत्व मारा जाता है। गृहस्थोंपर अधिक भार पड़ता है।' उपमन्यु जो भिक्षा लाकर गुरुदेवके सम्मुख रखते, उसमेंसे उन्हें कुछ प्राप्त नहीं होता। दूसरी बार वे अपने लिये भिक्षा माँगते, पर उसे भी मना कर दिया गया।

'बछड़े बहुत दयालु होते हैं। तुम्हारे प्रेमके कारण

वे अधिक दूध फेन बनाकर गिरा देते होंगे। इससे उनको क्षुधाकी पीड़ा होती होगी।' उपमन्युने भिक्षा बंद होनेपर वह झाग लेना प्रारम्भ किया था, जो दूध पीनेपर बछड़ोंके मुखसे गिरता था। महर्षिने यह भी मना कर दिया।

'मैंने उपमन्युका सब भोजन बंद कर दिया। रुष्ट होकर वह अबतक आया नहीं। हम सब उसे ढूँढ़ लायें!' रात्रि हो गयी थी। उपमन्यु वनसे लौटा नहीं। महर्षिको चिन्ता हुई। वे शिष्योंके साथ वनमें पहुँचे।

'बेटा! तुम अश्विनीकुमारोंकी स्तुति करो!' बेचारा उपमन्यु जलहीन कूपमें गिर गया था। क्षुधाकी ज्वाला सह सकनेमें असमर्थ होकर उसने आकके पत्ते खा लिये थे। उन पत्तोंके विषने उसे अन्धा बना दिया था।

'तुम्हारे सब दाँत स्वर्णके हो जायँ! तुम्हारी नेत्रज्योति अबाध प्रकाशित हो!' स्वर्गके वे युगल देववैद्य अश्विनीकुमार कूपमें प्रकट हुए। उपमन्यु उनका स्तवन कर रहे थे। स्वयं महर्षि धौम्य ध्यान कर रहे थे। उन्हें आना ही था।

'समस्त श्रुतियाँ और समस्त धर्म-शास्त्र तुम्हारे हृदयमें प्रकाशित हों!'अश्विनीकुमारोंने बाह्य नेत्रज्योति दी थी, गुरुदेवने शिष्यको ज्ञान-नेत्र प्रदान किया। उपमन्यु गुरुकृपासे धर्मशास्त्रके आचार्य हो गये।

उत्तंक

'मैं ऋतु-स्नानसे निवृत्त हुई हूँ' आयोद धौम्यके तीसरे शिष्य वेदमुनिकी पत्नीने उनकी अनुपस्थितिमें उत्तंकके परीक्षार्थ कहा 'तुम्हारे गुरु बाहर गये हैं। उन्होंने अपना सारा काम तुम्हें करनेके लिये कहा है। मेरा ऋतु-काल व्यर्थ न जाय—तुम ऐसा प्रयत्न करो।' बड़ी कठिन परीक्षा थी।

नतमस्तक उत्तंकने अत्यन्त विनयसे कहा, 'मुझसे यह नहीं हो सकेगा, माँ!' उत्तंक परीक्षामें उत्तीर्ण हुए।

गुरुपत्नीके हर्षका पार न रहा।

× × ×

'भय मत करो, उतंक!' धर्मरूपी बैलपर चढ़े हुए इन्द्रने पथमें उत्तंकसे कहा। 'इस बैलका गोबर तुम्हारे गुरुने खाया है, तुम भी खा लो।'

इन्द्रकी आज्ञासे उन्होंने बैलका पवित्र गोबर और मूत्र पान कर लिया तथा साधारण आचमन करके चल पड़े।

'भीतर रानी नहीं।' उत्तंकने राजमहलको अच्छी तरह देख लिया था। उन्होंने पौष्यनरेशसे कहा 'आप मुझसे विनोद करते हैं।'

'स्नातक ब्रह्मचारीसे मैं विनोद नहीं करता।' नरेश बोल गये 'सती स्त्रियाँ उच्छिष्ट पुरुष और दुष्टको नहीं दीखतीं।'

उत्तंक लज्जित हुए। उन्हें गोबर खानेके बाद अच्छी तरह मुँह न धोनेका ध्यान आया। मुँह धोकर वे भीतर गये। रानी सामने थीं।

'आजसे चौथे दिन पुण्यक नामक व्रतके अवसरपर मेरी गुरुपत्नी आपका कुण्डल पहनकर ब्राह्मणभोजन कराना चाहती हैं। मुझे कुण्डल चाहिये।'

'सर्पोंका राजा तक्षक इन कुण्डलोंकी तलाशमें घूमा करता है।' कुण्डल सहर्ष देते हुए भक्तिमती रानीने कहा, 'सावधानीसे जाइयेगा।'

नदीपर नित्यकर्म करते समय तक्षकने मनुष्यके वेशमें कुण्डल ले लिये और पाताल-प्रवेश कर गया। इन्द्रकी सहायतासे उत्तंकने कुण्डल ठीक समयपर गुरु-पत्नीको समर्पित कर दिये। 'तुम्हें सब सिद्धियाँ प्राप्त हों। गुरु-पत्नीका आशीर्वाद मिला।

'इन्द्र मेरे मित्र हैं!' उत्तंकका वृत्तान्त सुनकर वेदमुनिने कहा। 'वह गोबर अमृत था, उसीके प्रभावसे तुम पातालमें जा सके। मैं तुम्हारे साहस और भक्तिसे प्रसन्न हूँ। अब तुम घर जाओ।' उत्तंकने गुरु-पद-धूलि ली और अपने घर आ गये।

उत्तंक त्याग-वैराग्यकी मूर्ति थे। तपस्या और ज्ञानमें ये बहुत आगे निकल गये थे। महाभारत-युद्धके अनन्तर द्वारका लौटते समय भगवान् श्रीकृष्णने इन्हें अपने विराट्‌रूपका दर्शन करा दिया था। —शि० दु०

महर्षि शुकदेव

परमानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र श्रीरासेश्वरीके साथ गोलोकधामसे व्रजभूमिपर पधारे। गोलोकमें नित्य-पार्षदोंका चित्त इस लीलाका दर्शन किये बिना कैसे माने। श्रीराधिकाके क्रीड़ाशुकने एक परम पावन शुकीके द्वारा शरीर धारण किया हिमालयके पावन प्रदेशमें। भगवती पार्वतीको श्रीकृष्णचन्द्रकी अमृतकथा सुननी थी। भगवान् शंकरने उस गुह्य रहस्यको एकान्तमें सुनाना चाहा। अमरनाथके निर्जन प्रान्तमें एक शुकीका अंडा भी है, इसपर ध्यान नहीं गया। भगवान् शंकर

आदर्श शिष्य आरुणि

[पृष्ठ ९३३

जल बहता लख खेतका स्वयं बन गया बाँध।
आरुणि! तेरी धन्य है श्रीगुरुभक्ति अगाध॥

आदर्श शिष्य उपमन्यु
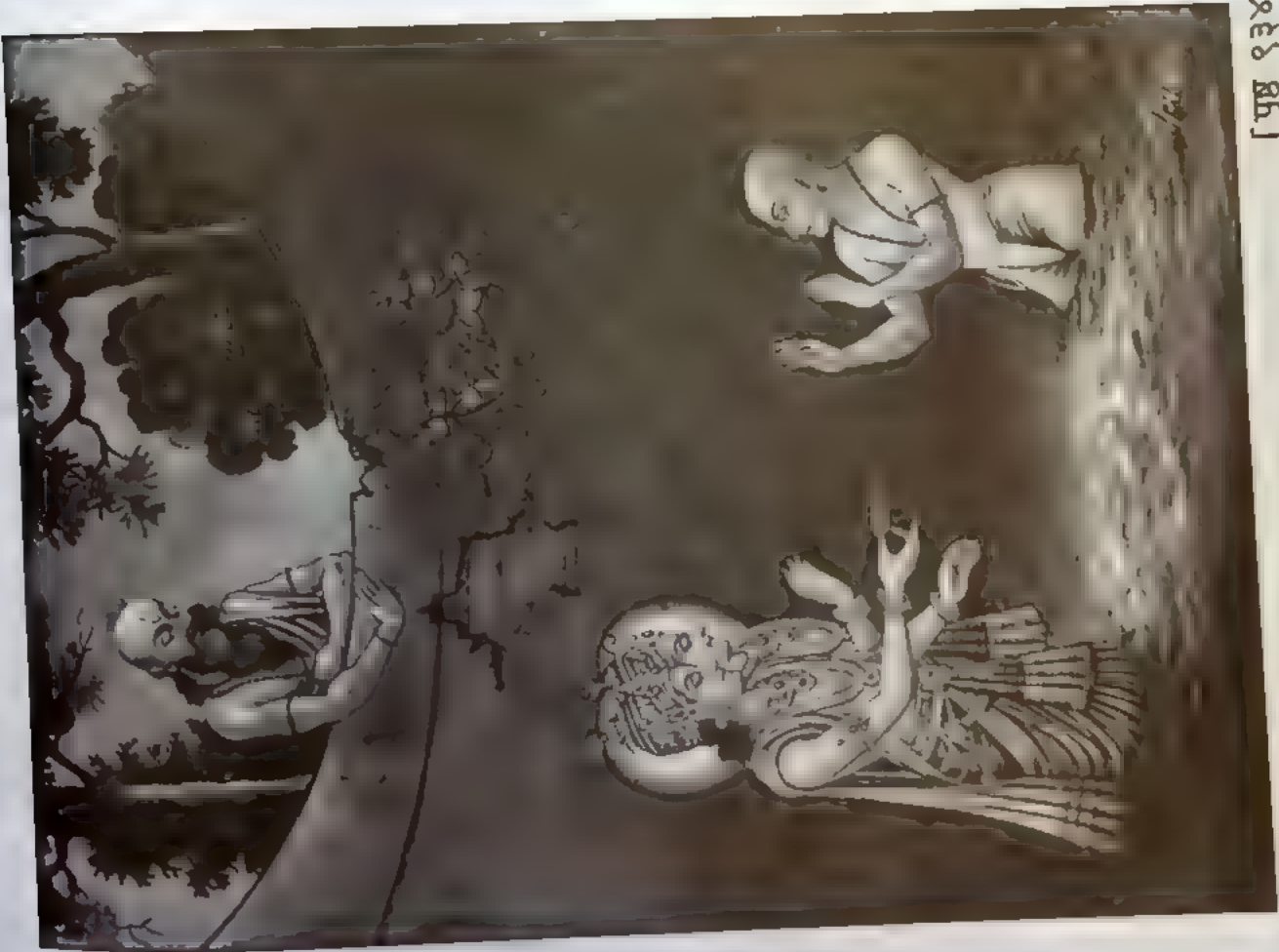
[पृष्ठ ९३४

गुरुसेवक उपमन्यु द्विज गिरा कूप हो अन्ध।
गुरुप्रसादसे सुरभिषक् करते नेत्र-प्रबन्ध॥

आदर्श शिष्य कृष्ण-सुदामा
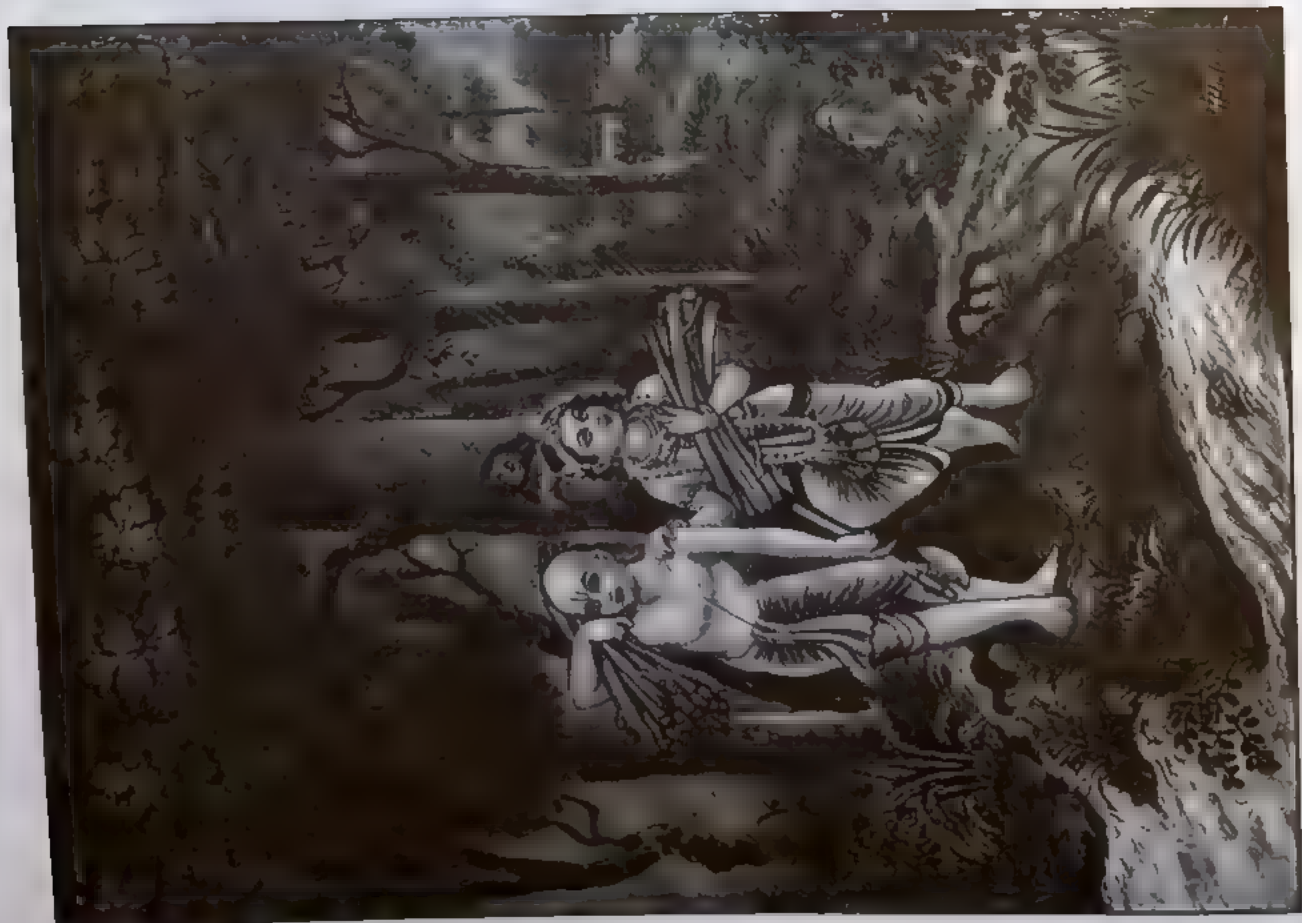
विपिन गहन सनसन पवन बरस रहा घन नीर।
गुरुहित समिधा ला रहे द्विज सुदाम यदुवीर॥
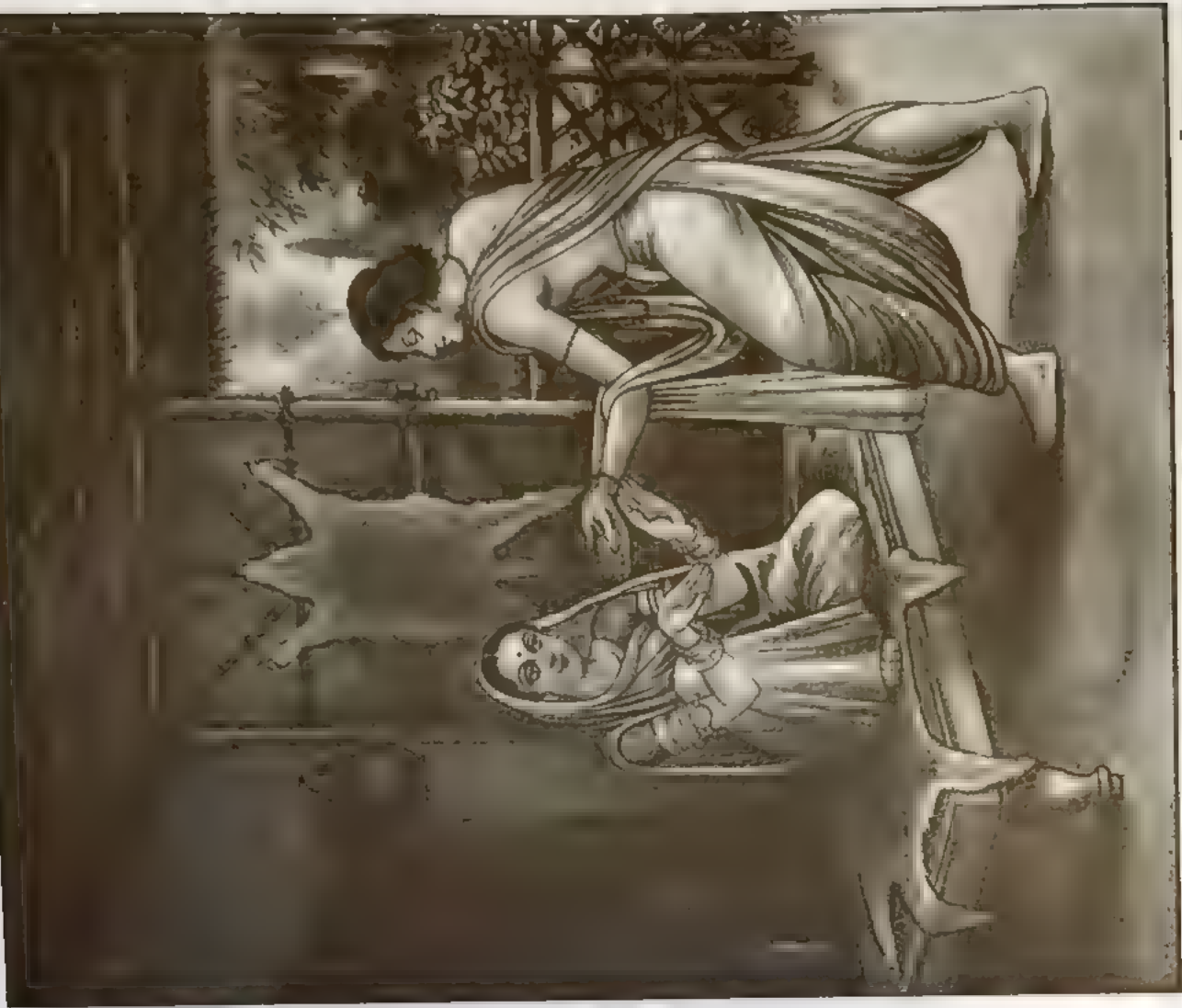
[पृष्ठ १३४

गुरु गौतमका भक्त अति था उत्तङ्क महान।
गुरु-पत्नीको कर रहा कुंडल दिव्य प्रदान॥

कथा सुनाने लगे। जब पार्वतीजी निद्रित हो गयीं, अंडेसे निकला शुक-शिशु 'हुंकार' देकर कथा सुनता रहा।

'तिर्यक्-योनिका प्राणी इस रहस्यका अनधिकारी है!' भगवान् शंकरने त्रिशूल उठाया और दौड़े। शुकशावक भगा और उड़ता हुआ व्यासपत्नी बटिकाके मुखमें प्रविष्ट हो गया।

'भगवन्! आपने मुझे पुत्रका वरदान दिया है।' व्यासजीने शंकरजीको शान्त किया। भगवान् शंकरने व्यासजीके कठोर तपसे प्रसन्न होकर उन्हें पहले ही परम तेजस्वी पुत्र होनेका वरदान दिया था।

× × ×

'पुत्र! तुम बाहर आओ। मैं तुम्हारा सुन्दर मुख देखनेको उत्सुक हूँ।' बारह वर्ष व्यतीत हो गये, पर व्यासपत्नीका गर्भस्थ बालक बाहर नहीं आता। भगवान् व्यासने समझाया, 'तुम अपनी माताको कष्ट मत दो। बाहर आनेपर भी तुम्हें माया नहीं सतायेगी।'

'श्रीकृष्णचन्द्र यदि आश्वासन दें तो मैं बाहर आऊँ!' गर्भस्थ बालक पूरा वेदज्ञ हो चुका था। श्यामसुन्दरको आकर आश्वासन देना पड़ा। बालक बाहर आया गर्भसे और नाल हाथमें उठाकर वनकी ओर चल पड़ा। जब मायाका प्रभाव नहीं तो आसक्ति और मोह कैसा। उसे तो एकान्तमें तप करना था।

'पुत्र!' व्यासजी विरह-कातर होकर पीछे चले; परंतु सभी वृक्षोंसे उन्हें सुनायी पड़ा—'पितः!' सर्वात्मभावप्राप्त उनके शुक क्या लौटाये जा सकते हैं।'

× × ×

'तुम यह पूरा श्लोक मुझे पढ़ा दो।' कुछ ब्रह्मचारी एक आधा श्लोक बार-बार पढ़ रहे थे। बड़ी सुन्दर श्यामसुन्दरकी शोभाका वर्णन था उसमें। शुकदेवने सुना और वे विद्यार्थियोंके पास आये। विद्यार्थियोंको तो आधा श्लोक ही ज्ञात था। उनके आचार्यके पास आना पड़ा।

'मैंने ऐसे अठारह सहस्र श्लोक बनाये हैं!' भगवान् व्यासने पुत्रको सम्पूर्ण भागवत पढ़ाया। शुकदेवजीको दूसरे उपायसे न बुलाया जा सकता था और न रोका ही।

'बिना गुरुके ज्ञान अधूरा रहता है। तुम महाराज जनकसे अध्यात्मविद्या प्राप्त कर लो!' शुकदेवजीने पिताकी यह आज्ञा स्वीकार की। मिथिलामें परीक्षा करके महाराज जनकने देख लिया कि वे समस्त भोगोंमें अनासक्त हैं। ब्रह्मविद्या ऐसे ही अधिकारीको प्राप्त कर सार्थक होती है।

परम विरक्त, साक्षात् नन्दनन्दनस्वरूप, गृहस्थके यहाँ गोदोहनमात्र रुकनेवाले शुकदेवजी परीक्षित्‌के समीप तब पहुँचे, जब वे उपवास करके गंगातीरपर आ बैठे थे, जब ऋषिके शापसे सातवें दिन तक्षक उन्हें काट लेनेवाला था। समस्त मुनिमण्डलीने उठकर उन तेजोमूर्तिका स्वागत किया। परीक्षित्‌के पूछनेपर सात दिनोंमें शुकदेवजीने उन्हें सम्पूर्ण भागवतका उपदेश किया। —सु०

कुछ प्राचीन आदर्श परोपकारी भक्त राजा और सत्पुरुष

महाराज इक्ष्वाकु

वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तरके श्राद्धदेव मनुके प्रथम पुत्र सुद्युम्न जब प्रजाके असन्तुष्ट होनेसे विरक्त होकर वनमें चले गये, तब मनुने सन्तानकी कामनासे तप किया। प्रजापतिकी कृपासे उनके इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूषक, नरिष्यन्ति, पृषध्र, नभग और कवि—ये दस पुत्र हुए। इनमें कवि विषयोंसे निःस्पृह होकर परिव्राजक हो गये। पृषध्र गुरुकी गायोंकी रक्षा कर रहे थे। अन्धकारमयी रात्रिमें गोष्ठमें व्याघ्रके आनेपर उन्होंने उसे मारनेका प्रयत्न किया। प्रातः देखा गया कि धोखेमें गोवध हो गया है। गुरुने शाप दिया कि इस कर्मसे वे चाण्डाल हो जायँ। शप्त होनेपर नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए वे भगवान्‌के भजनमें लीन हो गये। करूषसे उत्तराखण्डके राजाओंका वंश चला और धृष्टकी सन्तति अपने तपोबलसे ब्रह्मत्वको प्राप्त हुई। नृगके वंशमें सुमति, भूत, ज्योति,

वसु आदि हुए। नरिष्यन्तकी सन्तति-परम्परामें स्वयं अग्निदेव अग्निवेश्यके रूपमें अवतीर्ण हुए। नभगके पुत्र नाभागसे परम भक्त राजर्षि अम्बरीषका जन्म हुआ। दिष्टके पुत्रका नाम भी नाभाग था। इनके वंशमें आगे चलकर चक्रवर्ती महाराज मरुत्त हुए, जिनके महायज्ञमें सहस्र विप्र अखण्ड घृतधारा सहस्र वर्षोंतक देते रहे। इनके यज्ञमें समस्त उपकरण मण्डप आदि स्वर्णके थे। इस महान् यज्ञमें इन्द्रको सोमसे और अग्निको आज्य (घी) से अजीर्ण हो गया। शर्यातिकी पुत्री सुकन्याका विवाह च्यवन ऋषिसे हुआ।

मनुके उपर्युक्त दस पुत्रोंमें इक्ष्वाकु सबसे बड़े थे। मनुने अपना राज्य और भगवान् सूर्यसे प्राप्त ब्रह्मविद्याका उपदेश भी इक्ष्वाकुको दिया। इक्ष्वाकुने स्वयं मध्यप्रदेशका राज्य स्वीकार किया और शेष राज्य भाइयोंमें बाँट दिया। इनकी राजधानी अयोध्या थी। इनके सौ पुत्र हुए। सूर्यवंशीय क्षत्रियोंका इन्हींसे विस्तार हुआ। इनके मुख्य पुत्रोंमें विकुक्षि और निमिके नाम आते हैं। विकुक्षिका नाम ही आगे शशाद पड़ा। इनकी सन्तति ही अयोध्याकी राजगद्दीपर रही। महाराज रघुके पश्चात् इस वंशका नाम रघुवंश हो गया। निमि मिथिलानरेश हुए। महर्षि वसिष्ठके शापसे शरीर छोड़कर इन्होंने मनुष्योंके पलकोंपर वास पाया। इनके शरीर-मन्थनसे विदेहकी उत्पत्ति हुई।

महाराज इक्ष्वाकुके वंशमें अयोध्याकी परम्परामें ककुत्स्थ, चक्रवर्ती महाराज मान्धाता आदि अत्यन्त प्रसिद्ध नरेश हुए। निमिके सन्तानोंमें सभी आत्मविद्याके ज्ञाता नरेश हुए।

वीरवर ककुत्स्थ

महाराज ककुत्स्थ वैवस्वत मनुके प्रपौत्र, इक्ष्वाकुके पौत्र और विकुक्षिके स्वनामधन्य पुत्र थे। देवासुर-संग्राममें इन्होंने वृषरूपधारी इन्द्रके ककुत् (थूहे) पर चढ़कर असुरोंको पराजित किया था। इसीसे ये ककुत्स्थ नामसे प्रसिद्ध हुए। ये बड़े ही प्रतापी और वीर थे। इन्हींके नामपर इनके वंशज काकुत्स्थ कहलाते रहे।

सम्राट् मान्धाता

यावत्सूर्य उदेत्यस्तं यावच्च प्रतितिष्ठति।
सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते॥

(श्रीमद्भागवत)

बड़े गर्वसे अंग्रेज विद्वान् कहा करते थे 'अंग्रेजोंके शासनमें सूर्यास्त नहीं होता।' चाहे अंग्रेजोंके शासनमें सूर्यास्त न होता रहा हो; परंतु कभी भी ऐसा नहीं हुआ कि पृथ्वीपर अंग्रेजोंके समान शक्तिके प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र न रहे हों। छोटे राज्योंकी चर्चा छोड़ भी दें, तो भी कई महाराष्ट्र सदा ब्रिटेनके प्रतिद्वन्द्वी रहे ही हैं। सो भी केवल एक जम्बूद्वीप ही आजकी पृथ्वी है। सप्तद्वीपवती पृथ्वीके शासक तो भारतके क्षत्रिय सम्राट् ही रहे हैं। जहाँतक सूर्योदय होकर सूर्यास्त होता है, जहाँतक सूर्यका प्रकाश पहुँचता है, उस समस्त स्थानके शासक सम्राट् मान्धाता थे। वह सब उनका राज्य कहा जाता था। सम्राट् मान्धातासे पूर्व इक्ष्वाकु, प्रियव्रत आदि अनेक चक्रवर्ती सम्राट् हो चुके थे भारतमें।

सूर्यवंशी सम्राट् युवनाश्वके कोई सन्तति नहीं थी। ऋषियोंने पुत्रेष्टि-यज्ञका अनुष्ठान कराया। यज्ञकी पूर्णाहुति हो चुकी थी। महाराज तथा सभी लोग यज्ञीय कार्योंमें श्रान्त हो गये थे। रात्रिको महाराजको प्यास लगी। उन्होंने सेवकोंको जगाना उचित नहीं समझा। जल कहीं था नहीं। यज्ञीय कलशका जल उन्होंने पी लिया। पुंसवन-अभिमन्त्रित जल पीनेसे उन्हींकी दाहिनी कुक्षि फाड़कर समयपर एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ऋषियोंके प्रभावसे युवनाश्व मरे नहीं।

'यह किसका दूध पीयेगा!' ऋषियोंको चिन्ता हुई।

'अयं मां धास्यति।' देवराज इन्द्रने प्रकट होकर कहा—यह मेरे द्वारा पोषित होगा। देवराजने अपनी तर्जनी अँगुली बालकके मुखमें दे दी। उससे स्रवित होते हुए अमृतको पीकर बालक पुष्ट हो गया। इन्द्रने **'मां धास्यति'** कहा था, इसलिये कुमारका नाम 'मान्धाता' हुआ।

मान्धाता जन्मसे प्रबल पराक्रमी एवं परम तेजस्वी थे। सभी दिव्यास्त्र उनके सम्मुख स्वतः उपस्थित हो गये थे। अग्निके द्वारा उनको आजगव धनुष, अक्षय त्रोण और दिव्य कवच मिला। सम्राट् मान्धाताके प्रतापके सम्मुख रावण-जैसे दुर्दम राक्षस भी तुच्छ दस्यु हो गये थे। वे सम्राट्से नित्य भयभीत रहा करते थे। सम्राट्का नाम 'त्रसदस्यु' इसीलिये पड़ गया था कि उनसे सभी दस्यु त्रस्त रहते। भयके मारे कहीं कोई

अन्याय करते ही नहीं।

साम्राज्य भोगके लिये नहीं, सेवाके लिये है। ऐश्वर्यकी सार्थकता भगवान्‌की आराधनामें है। भारतके विमल हृदयोंने भलीभाँति इस बातको सीखा था। सम्राट् मान्धाताने बड़े-बड़े यज्ञ किये। उनकी अतिथि-सेवा प्रख्यात है। कभी उनके द्वारसे कोई अतिथि निराश होकर नहीं लौटा।

महाराज शतबिन्दुकी पुत्री बिन्दुमतीका सम्राट्‌ने पाणिग्रहण किया था। उनके तीन पुत्र पुरुकुत्स, अम्बरीष और मुचुकुन्द हुए थे। इन्हीं मुचुकुन्दने सहस्रों वर्षोंतक स्वर्गमें जाकर देवताओंके पक्षमें दैत्योंसे युद्ध किया। देवताओंके वरदानसे गिरिगुहामें आकर वे सो गये। द्वापरमें भगवान् श्रीकृष्णने उनके द्वारा कालयवनको नष्ट कराया और उन्हें दर्शन दिया। सम्राट् मान्धाताकी पचास कन्याएँ महर्षि सौभरिके साथ विवाही गयीं।

राजर्षि भरत

यह देश जिसे हम भारत कहते हैं, इसका प्राचीन नाम अजनाभखण्ड या अजनाभवर्ष है। भगवान् ऋषभदेवके एक सौ पुत्रोंमें सबसे बड़े भरत थे। उनके शासनकालसे यह भरतखण्ड या भारतवर्ष कहा जाने लगा। राजर्षि भरत पिताके समान प्रभावशाली, प्रजापालक तथा शास्त्रपरायण नरेश थे, यज्ञस्वरूप भगवान्‌की अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास्य, चातुर्मास्य, सोमयाग आदि नाना प्रकारके यज्ञोंसे निरन्तर उपासनामें वे लगे रहते।

राज्योपभोगका समय समाप्त हुआ। विश्वरूपकी पुत्री पंचजनीसे उनका परिणय हुआ था। पाँच पुत्र थे उनके। राज्यको पुत्रोंमें यथोचित विभक्त करके आप पुलहाश्रम (हरिहरक्षेत्र) में भगवदाराधन करने चले आये।

मनका कुछ ठिकाना नहीं। चक्रवर्ती सम्राट्‌ने साम्राज्य, अनुकूला पत्नी, सुन्दर सुकुमार सद्‌गुणी पुत्र तथा समस्त वैभवको तृणके समान त्यागकर काननवास किया था; पर एक हिरनमें आसक्ति जा अटकी। एक गर्भिणी मृगी जल पी रही थी। सिंहका घोर गर्जन सुनकर वह भयातुर भागी, गर्भ जलमें गिर पड़ा। मृगी मर गयी। नवजात शावक जलके वेगमें तड़पने लगा। समीप स्नान करते भरतने देखा यह सब। दयावश वे उस मृगशिशुको उठा लाये। दया स्नेहमें बदली। उस मृगके पोषणमें आनन्द आने लगा। मोह हो गया। सब यम-नियम धीरे-धीरे छूट गये, मृगकी चिन्ता रहने लगी। शरीर छूटते समय भी मृगकी ही चिन्ता थी, फलतः दूसरा जन्म मृगदेहमें हुआ।

श्रीहरिकी आराधना व्यर्थ नहीं जाती। मृगदेह मिला था कालिंजरमें, परंतु वहाँ भी पूर्वजन्मकी स्मृति थी। वहाँसे फिर पुलहाश्रम आये। सूखे पत्तोंका आहार करते। हरे तृणतक न छूते। काल-क्रमसे शरीर छूटा गण्डकी नदीके पुण्यजलमें। तीसरे जन्ममें ब्राह्मण-शरीर प्राप्त हुआ।

'दूधका जला छाँछ भी फूँक-फूँककर पीता है।' पिताको मोह न हो जाय, अतः परम ज्ञानी भरत अपनेको मूर्ख पागलकी भाँति दिखलाते। लौकिक शिक्षामें उनकी कोई रुचि नहीं थी। पिताके शरीरान्तके समय माता सती हो गयी। सौतेली माताके पुत्रोंको इनकी चिन्ता नहीं थी। ये उनके या किसीके द्वारा बताये कार्यमें लग जाते। जो कोई कुछ दे देता, आहार स्वीकार कर लेते। खेतकी रक्षामें बैठे हुए इनको एक शूद्रके सेवक देवीको बलि देने पकड़ ले गये। इनको तो शरीरका मोह था नहीं, पर भगवती ऐसे सर्वात्मभावापन्नकी बलि कैसे ले लें। चण्डिकाने प्रकट होकर दुष्टोंका शिरश्छेदन किया। सिन्धुराजके सेवक इन्हें राजाकी पालकी ढोने पकड़ ले गये। वहाँ वे सौवीरनरेश इनके उपदेशोंसे तत्त्वज्ञान प्राप्तकर कृतार्थ हुए।

सम्राट् भरत

ठीक-ठीक यह कहना कठिन है कि हमारे देशका नाम भारतवर्ष भगवान् ऋषभदेवके पुत्र भरतके नामपर पड़ा या दुष्यन्तपुत्र भरतके नामपर। दोनों चक्रवर्ती, परम प्रतापशाली, प्रजापालक, धर्मात्मा तथा भगवद्‌भक्त एवं शतशः बड़े-बड़े यज्ञोंके करनेवाले हुए हैं।

महर्षि विश्वामित्रको मेनका अप्सरासे एक कन्या हुई। अप्सरा उसे वनमें छोड़कर स्वर्ग चली गयी। पक्षी (शकुन्त) उस बालिकाको घेरकर अपने पक्षोंकी छायासे उसकी रक्षा कर रहे थे। फलतः बालिकाका नाम शकुन्तला हुआ। महर्षि कण्व उसे अपने आश्रममें उठा लाये। वहीं उसका पालन-पोषण हुआ।

महाराज दुष्यन्त आखेट करते हुए कण्वाश्रममें

पहुँचे। शकुन्तलाने उनका आतिथ्य किया। 'पुरुवंशियोंके चित्तमें अधर्म-वासना कभी उठती नहीं।' नरेशको अपने अन्तःकरणकी शुद्धिपर विश्वास था। मुनिकन्याके प्रति मनमें क्षोभ क्यों? उन्होंने परिचय पूछा और तब परस्पर सहमतिसे दोनोंका गान्धर्व-विवाह हो गया।

नरेश राजधानीको चले गये। महर्षिके आश्रममें ही शकुन्तलाको एक पुत्र हुआ। बचपनसे वह बालक अत्यन्त तेजस्वी था। सिंहिनीकी गोदसे उसके शावक बलात् छीनकर उनके साथ वह खेला करता। जब मनमें आता, एक छोटी लकड़ी लेकर सिंहके मस्तकपर पीटने लगता—'तू मुख खोल, मैं तेरे दाँत गिनूँगा।' महर्षि कण्वने उसका नाम सर्वदमन रखा।

शकुन्तला पुत्रको लेकर दुष्यन्तके समीप आयीं। नरेशने उनको अपने समीप रखना अस्वीकार कर दिया। वे गान्धर्व विवाहकी बात भूल गये थे। सहसा आकाशवाणीने स्मरण दिलाया—'शकुन्तलाका अपमान मत करो, यह तुम्हारा ही पुत्र है। इसका भरण करो।' राजाने भूल स्वीकार की। पुत्रका नाम इसलिये 'भरत' हुआ! क्योंकि आकाशवाणीने उसके भरणकी बात कही थी।

दुष्यन्तके पश्चात् भरत सम्राट् हुए। उन्होंने गंगातटपर ५५ और यमुनातटपर ७८ अश्वमेधयज्ञ किये। दिग्विजय यात्राके समय भरतने किरात, हूण, यवन, पौण्ड्र, कंक, खश, शक आदि अनेक म्लेच्छजातियोंको पराजित करके निर्जन प्रदेशोंमें भगा दिया। दानवोंने देव-कन्याओंका हरण किया था। पाताल जाकर भरतने उन देवांगनाओंका दानवोंसे उद्धार किया। सम्राट् भरत पृथ्वीके एकच्छत्र अधिपति थे। पातालके दानव उनसे भयभीत रहते थे और स्वर्गाधिपति देवेन्द्र उनके मित्र थे।

महाराज भगीरथ

महाराज सगरका सौवाँ अश्वमेधयज्ञ अधूरा पड़ा था। यज्ञीय अश्वका पता नहीं था। महाराजकी छोटी रानी सुमतिके साठ सहस्र पुत्रोंने अश्वका अन्वेषण किया। पृथ्वीपर अश्व हो तो मिले। देवराजने उसे हरण करके भूमिके नीचे कपिलाश्रममें बाँध दिया था। पिताके आदेशसे वे शूर भूमि खोदने लगे। भाग्यकी बात है, वे पूर्व दिशासे दक्षिणकी ओर खोदने लगे थे। फलतः उन्हें प्रायः पूरा जम्बूद्वीप चारों ओरसे खोदना पड़ा। जब वे दक्षिण, पश्चिम, उत्तर खोदते ईशानकोणमें लगभग वहाँ पहुँचे, जहाँसे खोदना प्रारम्भ किया था, भूमिके नीचे अश्व चरता दिखायी पड़ा। उन्होंने वहाँ ध्यानस्थ महर्षि कपिलको देखा। बड़ा क्रोध आया उन्हें और वे चिल्लाते हुए महर्षिको मारने दौड़े—'यह चोर है। यहाँ नेत्र बंद करके आ बैठा है।'

भगवान् कपिलने नेत्र खोले। उनका रोष नेत्रसे ज्वालाके रूपमें प्रकट हुआ। सब-के-सब वहीं भस्म हो गये। सगरपुत्रोंकी खोदी वह भूमि ही सागर कहलायी। भूतत्त्ववेत्ता स्वीकार करते हैं कि पहले दक्षिण-भारत, लंका, जावा, आस्ट्रेलिया, अमेरिका तथा दक्षिण अफ्रिकाको मिलाता एक पर्वतीय भूखण्ड था। किसी प्राकृतिक घटनासे वह जलमग्न हो गया। अब भी उसके भाग समुद्रमें हैं। यह भूखण्ड वह रेखा थी, जो सगरपुत्रोंके ईशानकोण तथा पूर्वमें खोदनेसे रह गयी थी।

महाराज सगर चिन्तित हुए। बड़ी रानी केशिनीके पुत्र असमंजसको वे निर्वासित कर चुके थे। उस निर्वासित पुत्रके लड़के अपने पौत्र अंशुमान्को उन्होंने भेजा। अंशुमान्को देवर्षि नारदने मार्गमें ही सब बातें बता दीं। वे भगवान् कपिलके समीप जाकर उनकी प्रार्थना करके, उनकी आज्ञासे अश्व ले आये। महाराज सगरका यज्ञ पूरा हुआ।

'इन सबका उद्धार गंगाजलके स्पर्शसे ही होगा।' महर्षि कपिलने अंशुमान्को बताया था। महाराज सगरके तपोवन जानेपर अंशुमान् नरेश हुए। जैसे ही उनके पुत्र दिलीप योग्य हुए, उनको राज्य देकर गंगाजीको लानेके लिये तप करने चले गये। दिलीपने भी पिताका अनुसरण किया और जब दिलीपके पुत्र भगीरथ सिंहासनासीन हुए, तब उन्हें भी वही चिन्ता हुई। पितामह तथा पिता जिस उद्देश्यमें लगे थे, भगीरथको वह सफल करना था। उनकी प्रजा सुखी थी। देवराज इन्द्र अनेक बार उनसे सहायता ले चुके थे। स्वर्ग जाकर इन्द्रके साथ एक सिंहासनपर बैठकर वे सोमपान कर चुके थे; पर उनका उद्देश्य तो गंगाजीको लाना था। अन्तमें मन्त्रियोंको राज्यका प्रबन्ध सौंपकर गोकर्ण तीर्थमें वे तप करने लगे। कल्पभेदसे ऐसा वर्णन है कि उन्होंने ब्रह्माजी, भगवान् नारायण अथवा श्रीकृष्णकी आराधना की।

अतिथिपरायण मुद्गल

[पृष्ठ ९३२

सपरिवार मुद्गलमुनिने सह क्षुधा-कष्ट अतिशय षट्मास।
प्राप्त हुआ आहार अतिथिगणको ही जिमा दिया सोल्लास॥

देवरक्षक दधीचि

[पृष्ठ ९३१

देवोंके उपकारहित स्वीकृत कर ली मीच।
स्वेच्छासे हैं दे रहे, अपनी अस्थि दधीच॥

अतिथिवत्सल रन्तिदेव
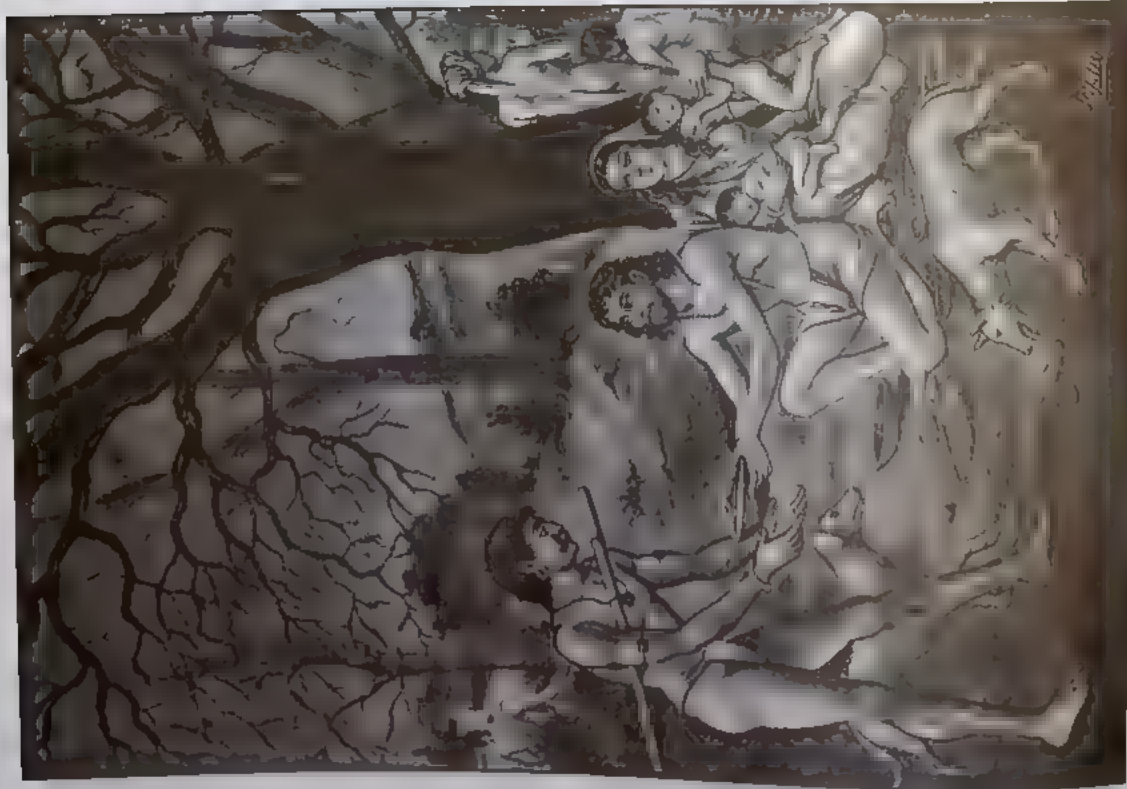
[पृष्ठ ९४५

मिला अन्न-जल रंच स्वजनयुत निराहार रह दिन उनचास।
वह सब दिया अतिथियोंको राजाने मनमें भर उल्लास॥

शरणागतवत्सल शिबि
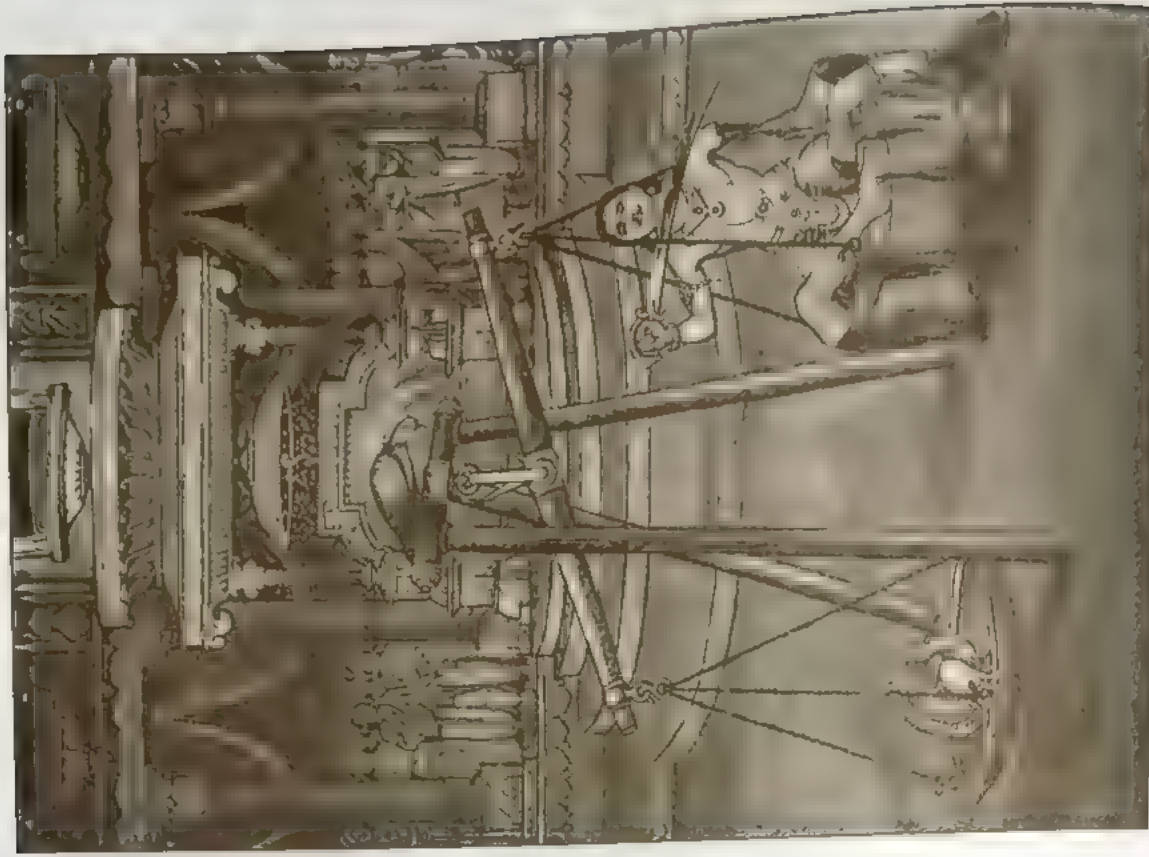
[पृष्ठ ९४४

जीवित रहे कपोत भी भोजन पाये बाज।
देते शिबि निज काट तन देखो परहित काज॥

'गंगाका वेग कौन धारण करेगा?' तपस्या सफल हुई। भगवान् ब्रह्मा हिमालयकी ज्येष्ठ पुत्री गंगाको धरापर भेजनेको प्रस्तुत हुए। भगीरथने पुनः तप करके गंगाजीको धारण करनेके लिये भगवान् शंकरकी स्वीकृति प्राप्त की। गंगाजी चलीं। उन्होंने अपने वेगमें भगवान् शंकरको बहाकर रसातल पहुँचनेकी इच्छा कर ली। भगवान् शंकर गंगाके गर्वको जानकर रुष्ट हो गये। उन्होंने अपनी जटाओंमें उन्हें धारण कर लिया। पूरे वर्षभर गंगाजी रुद्रकी जटाओंसे निकल न सकीं। भगीरथके प्रार्थना करनेपर शंकरजीने विन्दुसरकी ओर गंगाको छोड़ दिया। गंगाकी वहाँ सात धाराएँ हो गयीं। उनमें एक धाराने भगीरथका अनुगमन किया।

राजा भगीरथ दिव्य रथपर चढ़कर आगे-आगे चल रहे थे। पीछे गंगाजी आ रही थीं। सहसा राजाने देखा, पीछे जलका नाम नहीं है। गंगाजी जब जह्नु ऋषिके आश्रमके सपीपसे निकलीं, उन्होंने ऋषिके पूजाके उपकरण बहा दिये। ऋषिने रोषमें आकर उनको पी लिया था। भगीरथने प्रार्थना करके उन परम तापसको तुष्ट किया। ऋषिने अपनी दक्षिण जंघासे गंगाजीको निकाल दिया और उन्हें अपनी पुत्री कहा। जह्नु ऋषिकी पुत्री होनेसे गंगाजी जाह्नवी कही जाती हैं। महाराज भगीरथ रथसे गंगासागरके समीप पहुँचे। वहाँ गंगाजलके स्पर्शसे उनके पूर्वज सगरके वे साठ सहस्र पुत्र मुक्त हो गये। भगीरथद्वारा लायी गयी गंगाजी भागीरथी कही जाती हैं।

भगवती गंगा भगवान् वामनके विराट्रूपका चरणोदक बनीं। ब्रह्माण्डके बाहरका यह चिन्मय ब्रह्मद्रव राजा भगीरथकी उज्ज्वल कीर्ति-कौमुदीके रूपमें विद्यमान है। हिंदुओंकी ये परम उपास्य हैं। ऋषियोंने इनका भूरि-भूरि स्तवन किया है। 'गंगा' इस नामके स्मरणसे ही पाप नष्ट हो जाते हैं। शास्त्रोंमें जाह्नवीका अनन्त माहात्म्य है। इन्हें लानेवाले महाराज भगीरथ हिंदू-संस्कृतिके नित्य वन्द्य हैं।

महाराज रघु

'आज मैं कृतार्थ हुआ! आप-जैसे तपोनिष्ठ, वेदज्ञ ब्रह्मचारीके स्वागतसे मेरा गृह पवित्र हो गया। आपके गुरुदेव श्रीवरतन्तु मुनि अपने तेजसे साक्षात् अग्निदेवके समान हैं। उनके आश्रमका जल निर्मल एवं पूर्ण तो है? वर्षा वहाँ ठीक समयपर होती है न? आश्रमके नीवार समयपर पकते हैं तो? आश्रमके मृग एवं तरु पूर्ण प्रसन्न हैं न? आपका अध्ययन पूर्ण हो गया होगा। अब आपके गृहस्थाश्रममें प्रवेशका समय है। मुझे कृपापूर्वक कोई सेवा सूचित करें। मैं इसमें अपना सौभाग्य मानूँगा।' ब्राह्मणकुमार कौत्सका महाराज रघुने स्वागत किया था। महाराजके कुशल-प्रश्न शिष्टाचारमात्र नहीं थे। उनका तात्पर्य था। इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु, वनदेवता, पृथ्वी—सबको वे दण्डधर शासित कर सकते थे। तपोमूर्ति ऋषियोंके आश्रममें विघ्न करनेका साहस किसी देवताको भी नहीं करना चाहिये।

'आप-जैसे धर्मज्ञ एवं प्रजावत्सल नरेशके राज्यमें सर्वत्र मंगल सहज स्वाभाविक है। आश्रममें सर्वत्र कुशल है। मैंने गुरुदेवसे अध्ययनके अनन्तर गुरुदक्षिणा माँगनेका आग्रह किया। वे मेरी सेवासे ही सन्तुष्ट थे; पर मेरे बार-बार आग्रह करनेपर उन्होंने चौदह कोटि स्वर्ण-मुद्राएँ माँगीं; क्योंकि मैंने उनसे चतुर्दश विद्याओंका अध्ययन किया है। नरेन्द्र! आपका मंगल हो। मैं आपको कष्ट नहीं दूँगा। पक्षी होनेपर भी चातक सर्वस्व अर्पितकर सहज शुभ्र बने घनोंसे याचना नहीं करता। आप अपने त्यागसे परमोज्ज्वल हैं। मुझे अनुमति दें।' कौत्सने देखा था कि महाराजके शरीरपर एक भी आभूषण नहीं है। मिट्टीके पात्रोंमें उस चक्रवर्तीने अतिथिको अर्घ्य एवं पाद्य निवेदित किया था। यज्ञान्तमें महाराजने सर्वस्व दान कर दिया था। राजमुकुट और राजदण्डके अतिरिक्त उनके समीप कुछ नहीं था।

'आप पधारे हैं तो मुझपर दया करके तीन दिन मेरी अग्निशालामें चतुर्थ अग्निकी भाँति सुपूजित होकर निवास करें! रघुके यहाँसे सुयोग्य वेदज्ञ ब्राह्मण निराश लौटे, यह कैसे सहा जाय। कौत्सको महाराजकी प्रार्थना स्वीकार करनी पड़ी।

'मैं आज रथमें शयन करूँगा। उसे शस्त्रोंसे सज्जित कर दो! कुबेरने कर नहीं दिया।' यज्ञके अवसरपर सम्पूर्ण नरेश कर दे चुके थे। सम्पूर्ण कोश दान हो चुका। अतिथिकी याचना पूरी किये बिना भवनमें प्रवेश भी अनुचित जान पड़ा। कुबेर तो दूसरे देवताओंके समान स्वर्गमें नहीं रहते। उनकी अलका हिमालयपर ही तो है। तब वे भी चक्रवर्तीके एक

सामन्त ही हैं। कर देना चाहिये उन्हें। महाराजने प्रातः अलकापर आक्रमणका निश्चय किया।

'देव! कोशागारमें स्वर्ण-वर्षा हो रही है।' ब्राह्म-मुहूर्तमें महाराज नित्यकर्मसे निवृत्त होकर रथपर बैठे। उन्होंने शंखध्वनि की। इतनेमें दौड़ते हुए कोशाध्यक्षने निवेदन किया। वह कोशागारके प्रातःपूजनको गये थे। कुबेरने इस प्रकार कर दिया।

'यह द्रव्य आपके निमित्त आया है। ब्राह्मणके निमित्त प्राप्त द्रव्यमेंसे मैं या मेरी प्रजा कोई अंश कैसे ले सकती है।' महाराजका आग्रह ठीक ही था।

''मैं ब्राह्मण हूँ।' 'शिल' या 'कण' मेरी विहित वृत्ति है। गुरुदक्षिणाकी चौदह कोटि मुद्राओंसे अधिक एकका भी स्पर्श मेरे लिये लोभ तथा पाप है।'' ब्रह्मचारी कौत्सका कहना भी उचित ही था। आजके युगमें, जब मनुष्य दूसरोंके स्वत्वका हरण करनेको नित्य सोत्साह उद्यत है, यह त्यागमय विवाद कैसे समझ सकेगा वह। ब्रह्मचारी चौदह कोटि मुद्रा ले गये। शेष ब्राह्मणोंको दान हो गयीं।

× × ×

महाकवि कालिदासने रघुवंशमें पुराणोंकी वंशावलीको कुछ उलट-पुलट दिया है। पुराणोंके अनुसार खट्वांगके पुत्र दीर्घबाहु थे और उनके महाराज रघु। रघुके पुत्र अज और अजके महाराज दशरथ हुए। महाराज रघु परम पराक्रमी, अमित यशस्वी तथा पुत्रके समान प्रजाकी रक्षा करनेवाले थे। उनके नामपर ही सूर्यवंशीय क्षत्रियोंका कुल रघुवंशी कहलाया। भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम इसी महिमामय कुलमें अवतीर्ण हुए।

शरणागतवत्सल महाराज शिबि

उशीनर देशके महाराज शिबि अपने राजसदनमें आनन्दपूर्वक बैठे थे। सहसा एक कबूतर उड़ता हुआ आया और भयभीतकी भाँति उनके वस्त्रोंमें छिप गया। दो क्षण पश्चात् ही एक बाज उसके पीछे झपटता हुआ आया। बाजने स्पष्ट मनुष्य-वाणीमें कहा—'यह मेरा आहार है, आप इसे छोड़ दें।'

'यह मेरे शरण आया है!' महाराजने कबूतरको स्नेहसे थपथपाते हुए कहा। 'भला, कहीं शरणागतका त्याग किया जा सकता है।'

'मैं क्षुधातुर हूँ। आपका धर्म मेरे आहारका हरण करना नहीं होना चाहिये।' बाजने महाराजकी ओर नम्रतासे देखा।

'तुम दूसरे मांससे भी जीवित रह सकते हो। कितना मांस चाहिये तुम्हें?' क्या आवश्यकता कि बाजके लिये वह कबूतर ही मरे।

'महाराज! अन्ततः किसी प्राणीको तो मारा ही जायगा। आपकी तो सब प्रजा हैं। सब आपकी शरणमें ही हैं। जब एकका वध होना ही है तो इस कबूतरका ही क्यों न हो। मैं ताजा मांस खानेवाला प्राणी हूँ। इसके द्वारा मेरी तृप्ति होगी।' इस बार बाजने महाराजको धर्मसंकटमें डाल दिया। 'मैं कोई अपवित्र मांस ग्रहण नहीं करूँगा।'

'मैं जीवित हूँ मेरा मांस पवित्र भी है।' महाराज शिबिने सम्पूर्ण परिषद्को चकित कर दिया। 'मैं अपना ही मांस दूँगा। तुमको कितना मांस चाहिये?'

'आप सोच लीजिये! एक कबूतरके लिये आप चक्रवर्ती होकर अपना अंग-भंग करें, उचित नहीं।' बाजने गम्भीरतासे कहा। 'वैसे मैं इस कबूतरकी तौलके बराबर ही मांस चाहता हूँ।'

काँटा मँगवाया गया। कबूतर एक पलड़ेमें रखा गया। महाराज शिबिने तलवार उठाई। भला कौन उनके सुरपूजित शरीरसे शस्त्रका स्पर्श करानेका साहस करता। अपने हाथसे उन्होंने अपनी बायीं भुजा काटकर दूसरे पलड़ेपर रख दी। आश्चर्य! कबूतरका पलड़ा तनिक भी नहीं उठा। महाराजके मुखपर खेद या कष्टकी रेखातक नहीं आयी।

'यह व्यर्थ है। तुम स्वेच्छापूर्वक मेरे पूरे शरीरको खाकर अपनी क्षुधा शान्त कर लो।' महाराज शिबिका शरीर रक्तसे लथपथ हो गया था। उन्होंने अपने एक हाथके अतिरिक्त कटितक दोनों पैर क्रमशः काटकर पलड़ेपर चढ़ा दिये थे। कबूतर अब भी भारी था। उसका पलड़ा भूमिपर ही स्थित था। महाराजका चरणहीन शरीर भूमिपर रक्तकीचमें पड़ा था। उन्होंने खड्ग पृथक् कर दिया। मुकुट, आभूषण और कवच तथा वस्त्र उतार दिये और स्वयं दूसरे पलड़ेपर जा बैठे। अब महाराज शिबिका पलड़ा भारी होकर भूमिपर पहुँच गया था। उन धर्ममूर्तिकी तुलनामें समता करनेकी शक्ति उस छद्मकपोतमें नहीं थी।

'महाराज! आपका कल्याण हो।' महाराज जब बाजसे कहने जा रहे थे कि वह संकोच छोड़कर उनका भक्षण करे, उन्होंने देखा कि बाज साक्षात् देवराज इन्द्रके रूपमें बदल गया। कपोतके स्थानपर अग्निदेव खड़े थे। महराजका शरीर पूर्ववत् स्वस्थ हो गया था। दोनों देवता कह रहे थे—'आपका धर्म महान् है। आप हमारी परीक्षासे लोकमें विश्रुत होंगे।'

हिंदू-धर्ममें शरणागतकी रक्षा परम धर्म माना गया है। शत्रु भी शरणागत हो तो उसकी रक्षा करना और आवश्यक हो तो उसकी रक्षामें प्राणोंतकको उत्सर्ग कर देना सदा हिंदू-शूरोंका परम कर्तव्य रहा है। महाराज शिबि इस शरणागत-रक्षणके प्रतीक हैं।

अतिथिसेवी महाराज रन्तिदेव

'अतिथिदेवो भव!' श्रुतिके इस आदेशको सदा भारतने अपने हृदयमें स्थान दिया है। अतिथि-सत्कार हिंदू-संस्कृतिकी महान् विशेषता है। अतिथिकी सन्तुष्टिके लिये अपने सर्वस्व एवं शरीरतककी बलि देनेवाले महापुरुष भारतमें इतने हुए हैं कि उनकी संख्या करना कठिन है। विदेशियोंने मुक्तकण्ठसे भारतीय आतिथ्यकी प्रशंसा की है।

'जिस घरसे अतिथि निराश लौटता है, उस घरके सम्पूर्ण पुण्य वह अपने साथ ले जाता है। जिस घरमें तृण, जल तथा सुमधुर वाणीसे अतिथिका सत्कार नहीं होता, वह घर सर्पके बिलके समान व्यर्थ है।' शास्त्रोंके ये आदेश हिंदू-जातिके प्राणोंमें निवास करते थे। हिंदू-गृहस्थ केवल अतिथि-सत्कारके उद्देश्यसे गृहस्थाश्रम स्वीकार करता था।

महाराज संकृतिके पुत्र रन्तिदेव तो भारतीय आतिथ्यके मूर्तिमान् प्रतीक हो गये हैं। उनके राज्यकालमें उनके राजसदनमें नित्य सहस्त्रों अतिथि पधारते। महाराजका भवन अतिथिशाला बन गया था और अतिथि भी उनके यहाँ मेला लगाये रहते थे। महाराजने आगतकी इच्छा जानते ही इच्छित वस्तु दे देनेका व्रत ग्रहण कर लिया था। सहस्त्रों व्यक्तियोंमें वितरित होते-होते राज्यका कोष समाप्त हो गया। महाराजके पास देनेको कुछ नहीं बचा। जो एक दिन सम्राट् था, वह नितान्त अकिंचन हो गया।

क्षत्रिय नरेश भिक्षा नहीं माँग सकता। स्त्री और पुत्रके साथ महाराजने चुपचाप राजसदन छोड़ दिया। वे जनहीन वनके मार्गसे यात्रा करने लगे। कन्द, मूल, फल या कोई बिना माँगे कुछ दे दे तो वही उनकी आजीविका हो गयी। खानेके लिये एक मुट्ठी तो कौन कहे, एक दाना अन्न नहीं। महाराज ऐसे वनमें पहुँच गये थे जहाँ न कन्द थे, न फल और न जल ही। भूख और प्याससे व्याकुल होकर कोई कहाँतक चल सकता है। अन्ततः महाराज एक स्थानपर शिथिल होकर पड़ गये। सुकुमार महारानी, नन्हा-सा पुष्प-कोमल राजकुमार— प्यासके मारे प्राण निकले जाते थे। सब तड़प रहे थे। एक-दो नहीं पूरे अड़तालीस दिन बीत गये इस प्रकार।

महाराज रन्तिदेव तथा परिवारमें अब उठनेकी भी शक्ति नहीं। भगवान्का स्मरण करते हुए वह परम भगवद्विश्वासी परिवार अन्तिम समयकी प्रतीक्षा कर रहा है। उनचासवाँ दिन आया। भगवान् भास्करके निकलनेके थोड़े ही समय पश्चात् महाराजको एक व्यक्तिने आदरपूर्वक घृतमिश्रित खीर, संयाव (गुजरातकी ओर प्रचलित पक्वान्नविशेष) और शीतल जल निवेदित किया। कोई भी समझ सकता है कि इतने दीर्घ-उपवासी प्राणियोंको इतना स्वादिष्ट भोजन मिल जाय तो उनके चित्तकी क्या दशा होगी। लेकिन वे हम-आप-जैसे प्राणी नहीं थे। महाराजने बड़ी शान्तिसे उस सामग्रीको भगवान्के लिये मन-ही-मन अर्पण किया और सोचने लगे—'जीवनमें आज प्रथम बार क्या बिना अतिथिको भोजन कराये ही भोजन करना होगा?'

'राजन्! तुम्हारा कल्याण हो! मैं बहुत क्षुधातुर हूँ।' महाराजको तो जैसे उनके आराध्यने वरदान दिया हो। उन्होंने देखा कि प्रभुने उनकी प्रार्थना सुन ली है। एक ब्राह्मण-देवता भोजन करने आ गये हैं। बड़ी श्रद्धासे महाराजने उन्हें भोजन कराया। वे भली प्रकार भोजन करके, तृप्त होकर, महाराजको आशीर्वाद देते विदा हुए। ब्राह्मणके जानेपर महाराजने शेष पदार्थ स्त्री तथा पुत्रको उनके भागके अनुसार बाँट दिया। वे अपना भाग लेकर भोजन करने ही जा रहे थे कि एक शूद्र आ गया। वह भूखा था। महाराजने उसे भी भोजन कराया।

'महाराज! मैं और मेरे कुत्ते बहुत भूखे हैं!' शूद्रके जाते ही एक दूसरा अतिथि आ पहुँचा। उसके साथ कई कुत्ते थे। सचमुच कुत्ते बहुत भूखे थे। महाराज रन्तिदेवने जितना भोजन बचा था, सब उस अतिथिको दे दिया। भोजन पर्याप्त था। वह व्यक्ति और उसके कुत्ते तृप्त हो गये। अब महाराजके पास केवल थोड़ा-सा जल बच

रहा था। दीर्घ उपवाससे प्राण कण्ठगत हो चुके थे। उस जलसे ही महाराजने अपनी तृषा शान्त करनेका विचार किया।

'महाराज! मैं चाण्डाल हूँ! प्याससे मेरे प्राण जा रहे हैं। मुझे दो घूँट जल देनेकी कृपा कीजिये!' बड़ी करुणापूर्ण वाणी सुनायी दी। स्पष्ट था कि आगत चाण्डाल बहुत तृषार्त है। उसने बड़े कष्टसे यह बात कही थी।

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखा॥

स्वयं महाराज रन्तिदेवके प्राण कण्ठगत हो रहे थे। निश्चित था कि अब जल दे देनेपर जीवन नहीं रहेगा। उन्होंने-मन-ही-मन प्रार्थना की—'प्रभो! सर्वेश! सर्वाधार जगदीश्वर! मैंने अतिथिरूपमें सदा आपकी आराधना की है। मैं आपसे परमगति नहीं चाहता। अष्टसिद्धि या समस्त ऋद्धि भी मुझे नहीं चाहिये! आप मुझे मुक्त करें, इसकी मुझे कोई कामना नहीं। आप मेरा निवास प्राणियोंके हृदयमें कर दें (जैसे निमिका निवास पलकोंपर है)। मैं प्राणियोंके हृदयमें स्थित होकर उनके सब दुःख भोग लिया करूँ, जिससे सब प्राणी दुःखहीन हो जायँ।'

दैव मुझे ही सब दुख दे दे, जगजन सारे सुख पायें।
जो औरोंके कलुष-भोग हों, इस जनके ऊपर आयें॥

'भाई, तुम भली प्रकार जल पीकर अपने प्राणोंको तृप्त, करो!' महाराजने जलपात्र उठाया। चाण्डाल दूर खड़ा रह गया। बड़े साहस, धैर्यसे महाराज वहाँतक गये। उनके हृदयमें एक ही रट थी—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

'हे सर्वसाक्षिन्! मैं राज्य नहीं चाहता, स्वर्ग नहीं चाहता, मोक्ष नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ दुःखसे संतप्त प्राणियोंके क्लेशका नाश! यही मेरी एकमात्र अभिलाषा है।

क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च
दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तो-
र्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥

'सर्वव्यापी नारायण! इस जीवनकी लालसासे व्याकुल प्राणीके रूपमें तुम्हीं मेरे सम्मुख उपस्थित हो! मैं यह जल तुम्हींको अर्पण कर रहा हूँ। जीनेकी इच्छासे व्याकुल इस प्राणीको जल देनेसे मेरी क्षुधा, पिपासा, मानसिक तथा शारीरिक श्रम, दीनता, खिन्नता, विषाद, मूर्च्छा आदि सब दुःख दूर हो गये!' महाराजने चाण्डालको भरपेट जल पिला दिया। चाण्डालने पूरा जल पी लिया और चला गया। धन्य है इस परदुःखकातरता और त्यागको!

महाराज रन्तिदेव चाण्डालके जाते ही लड़खड़ाये, गिरे। यह क्या—उन्हें किन कोमल करोंने सँभाल लिया है? ये हंसपर स्थिति अरुणवर्ण भगवान् ब्रह्मा हैं, ये गरुड़ासनासीन सशंखचक्र सजल-जलदश्याम भगवान् विष्णु हैं, ये महिषपर विराजे साक्षात् दण्डधर धर्मराज हैं और सबसे पृथक् ये वृषभवाहन कर्पूरगौर चन्द्रशेखर भगवान् नीलकण्ठ हैं। महाराजको अपने अतिथियोंको पहचाननेमें भूल नहीं हो रही है। ब्राह्मण, शूद्र, कुत्तोंसे घिरे शिकारी और चाण्डाल बनकर यही अतिथि आये थे उनका दिव्य नैवेद्य स्वीकार करने।

आतिथ्य-धर्मकी उन गौरवमूर्तिको लेने आये थे वे त्रिभुवनके अधीश्वर। महाराज रन्तिदेवकी परदुःखकातरता और अतिथिसेवाने उन्हें आकर्षणकर खींच लिया था। ऐसे आतिथेयका आतिथ्य स्वीकार करनेका लोभ वे भी छोड़ नहीं सके थे। आतिथ्य-धर्म और उसके प्रतीक महाराज रन्तिदेव धन्य हैं।

भक्तवर अम्बरीष

'धनोन्मत्त अम्बरीष! तुमने मेरा अनादर किया है।' श्रीदुर्वासाने तपोबलसे जान लिया था कि कालिन्दी-कूलसे मेरे आनेके पूर्व ही इन्होंने श्रीहरिका चरणामृत ले लिया है। द्वादशी केवल एक घण्टा शेष थी। वर्षभरका एकादशी-व्रत आज सविधि पूर्ण हुआ था। वस्त्राभूषणोंसे सुसज्ज अनेकों गायें दान दी गयी थीं और सादर ब्राह्मण-भोजन कराया गया था। पारण-विधिकी रक्षाके लिये अम्बरीषने यह व्यवस्था ली थी, पर ऋषि क्रोधित हो गये। 'तू श्रीविष्णुका भक्त नही हैं। तू महा अभिमानी और धृष्ट है। आमन्त्रण देकर अनादृत करनेका दण्ड दिये बिना मैं नहीं रह सकूँगा।' ऋषिने अपनी जटाका एक बाल उखाड़कर पृथ्वीपर पटक दिया।

महाभयानक कृत्या हाथमें तीक्ष्ण खड्ग लिये उत्पन्न हो गयी। वह अम्बरीषपर झपटी ही थी कि तेजोमय चक्र चमक उठा, कृत्या वहीं राख हो गयी।

ऋषि प्राण लेकर दौड़े, पर वह तीव्र प्रकाशपुंज उनके पीछे पड़ गया था।

दसों दिशाओं और चतुर्दश भुवनोंमें ऋषि घूमते-घूमते थक गये, पर कहीं आश्रय नहीं मिला और वह सुदर्शनचक्र उनके प्राणकी क्षुधाके लिये आतुरतासे पीछे लगा था। श्रीविष्णुके चरणोंमें प्रणिपात करते ही उत्तर मिला, 'मैं विवश हूँ, महामुने! अपनी रक्षा चाहते हैं तो आप अम्बरीषसे ही क्षमा माँगें। वे ही आपको शान्ति दे सकते हैं।'

'समस्त प्राणियोंके आत्मा प्रभु मुझपर सन्तुष्ट हों तो ऋषिका संकट दूर हो।' अम्बरीषने रोते हुए प्रार्थना की। ब्राह्मणको अपना पैर स्पर्श करते देखकर वे काँप उठे थे। अत्यन्त दुःखसे एक वर्षसे वे केवल जलपर जीवन चला रहे थे। ऋषिके पीछे सुदर्शनचक्रको लगे इतना समय हो गया था।

'भगवान्‌के भक्तोंका स्वरूप मैंने अब समझा!' सुदर्शनके अदृश्य होनेपर ऋषिके मुँहसे निकल पड़ा। 'वे काँटोंपर सोकर भी दूसरेके लिये सुमन-शय्या प्रस्तुत कर देते हैं। दूसरेका सुख ही उनका अपना सुख है।'

ऋषिकी आँखें गीली हो गयी थीं। और श्रीअम्बरीषका मस्तक उनके चरणोंपर था।

× × ×

भक्तवर अम्बरीष वैवस्वत मनुके पौत्र महाराज नाभागके पुत्र थे। शि० दु०

महाराज जनक

महर्षि वसिष्ठके शापसे निमिने शरीर छोड़ दिया। देवताओंके तुष्ट होनेपर भी वे शरीर-बन्धन स्वीकार करनेको प्रस्तुत नहीं हुए। राजर्षि निमिके कुलका उच्छेद नहीं होना चाहिये, यह सोचकर ऋषियोंने उनके शरीरका मन्थन किया। फलतः उस शरीरसे एक बालक उत्पन्न हुआ। देहहीन निमिका पुत्र होनेसे वह विदेह, स्वयं उत्पन्न होनेसे जनक और मन्थनसे उत्पन्न होनेसे मिथि कहा गया। उसने बड़े होकर मिथिला राज्यकी स्थापना की। इस कुलके सब नरेश जनक तथा विदेह कहे गये।

निमिकुल परम ज्ञानियोंका कुल रहा। योगीश्वर याज्ञवल्क्यके अनुग्रहसे सभी मैथिल नरेश परम ज्ञानी हुए। इनमें जिनके हलकी नोकसे भूमिमेंसे सीताजीका प्रादुर्भाव हुआ, उन भूमिनन्दिनीके पिता जनकका नाम महाराज सीरध्वज हुआ।

महाराज जनक भगवान् शंकरके परम भक्त थे। शंकरजीने प्रसन्न होकर उन्हें अपना धनुष 'पिनाक' दिया था। श्रीसीताजीके स्वयंवरमें इसी धनुषको मर्यादापुरुषोत्तमने तोड़ा। महाराज जनक निरन्तर ब्रह्मस्वरूपमें स्थित रहते थे। शरीर और संसारकी आसक्तिका उनमें नाम नहीं था। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि उनसे ज्ञानचर्चा करने और ब्रह्मज्ञानका उपदेश प्राप्त करने आते थे।

द्वापरमें शुकदेवजी-जैसे परमज्ञानी, सहज वीतरागने भगवान् व्यासके आदेशसे जनकजीसे जाकर ज्ञानोपदेश प्राप्त किया। ब्रह्मज्ञानके साथ भगवद्भक्तिका अपार रससागर महाराज जनकके हृदयमें हिलोरें लिया करता था। श्रीरामको देखकर उनका वह आन्तरिक गुप्तभाव प्रकट हो गया था।

संसारमें कुशलतापूर्वक राग-द्वेष-अहंकारशून्य होकर यथोचित बर्ताव करनेवालोंके महाराज जनक आदर्श हैं। भगवान्‌ने गीतामें प्रवृत्तिमार्गके आदर्शके रूपमें जनकका नाम लिया है।

भीष्म

त्रिलोकपावनी भगवती सुरसरिने नारीरूप धारण किया। महर्षि वसिष्ठके शापसे वसुओंको जन्म ग्रहण करना था। पौरव चक्रवर्ती महाराज शन्तनुके पुत्ररूपमें वसु मानवयोनिमें आये। गंगाजी उन्हें उत्पन्न होते ही जलमें प्रवाहित करके पुनः उनके धाम भेज दिया करती थीं। द्यौ नामक अष्टम वसु जब उत्पन्न हुए, नरेशने गंगाजीसे एक पुत्र माँगा। पुत्रको पिताके पास छोड़कर गंगाजी चली गयीं।

'मेरी कन्यासे उत्पन्न पुत्रको आप सिंहासन देनेका वचन दें तो मैं उसका विवाह आपके साथ कर सकता हूँ।' दाशराजने महाराज शन्तनुके लिये एक समस्या उपस्थित कर दी। महाराज दाशराजकी पोषित पुत्री योजनगन्धा सत्यवतीपर मोहित हो चुके थे। विनयी, सद्‌गुणी, शूर, पितृभक्त, गंगा-पुत्र देवव्रतको अधिकार च्युत करना भी उन्हें प्रिय नहीं था।

'मैं सिंहासनका सदाके लिये त्याग करता हूँ।' देवव्रतको पिताकी म्लानताका कारण ज्ञात हो गया था। वे स्वयं दाशराजके समीप उन्हें सन्तुष्ट करने पहुँच गये!

'आपके पुत्र मेरी कन्याके पौत्रोंको सिंहासनपर नहीं रहने देंगे।' दाशराज तो अपनी पुत्रीकी सन्तति-परम्पराके लिये राज्य चाहते थे।

'मैं आजन्म अविवाहित रहनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ।' देवव्रतने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य स्वीकार किया। इस भीष्म-प्रतिज्ञाके कारण आकाशवाणीने उन्हें 'भीष्म' नाम दिया।

'पुत्र! तू इच्छामृत्यु हुआ। तेरी इच्छाके बिना मृत्यु तेरा स्पर्श नहीं कर सकेगी।' महाराज शन्तनुने भीष्मको वरदान दिया उनकी पितृभक्तिसे प्रसन्न होकर।

× × ×

'भीष्म! तुम अम्बाको स्वीकार कर लो।' भगवान् परशुरामने काशिराजकी पुत्रीका पक्ष लिया। भीष्मने स्वयंवरमें काशीनरेशकी तीनों पुत्रियोंका अपने छोटे भाईके लिये हरण किया था। उनमें सबसे बड़ी पहलेसे मद्रनरेशको चाहती थी। उसकी इच्छा जानकर भीष्मने उसे मद्रनरेशके पास भेज दिया, पर कोई भी भूपति दूसरेके द्वारा हरी गयी कन्याको पत्नी कैसे बना ले। अम्बा वहाँसे निराश लौटी। उसने भीष्मको वरण करना चाहा। ब्रह्मचारी भीष्मके अस्वीकार करनेपर वह परशुरामजीके शरणमें गयी। परशुरामजी अपने शस्त्र-विद्याके शिष्यके समीप आये।

'भय, दया, धनके लोभ या किसी भी कामनासे मैं अपना व्रत नहीं छोड़ सकता।' बड़ी नम्रतासे परशुरामजीको भीष्मने समझाया, परंतु परशुरामजी बराबर आग्रह करने लगे। वे धमकी देने लगे। अन्तमें भीष्मको आवेश आया—'आपने अकेले पृथ्वीके समस्त क्षत्रियोंको केवल इसलिये जीत लिया कि उस समय भीष्म नहीं था। आपकी ही कृपासे मैं आपका गर्व दूर करनेमें समर्थ हूँ।'

गुरु-शिष्यमें भयंकर संग्राम प्रारम्भ हो गया। दोनों दिव्यास्त्रोंके मर्मज्ञ, दोनों दृढ़चित्त, दोनों मृत्युकी शक्तिसे परे। पूरे तेईस दिन युद्ध अविराम चलता रहा। ऋषियोंने दोनोंको समझाया। भीष्मका उत्तर स्पष्ट था—'मैं युद्धमें पीठ दिखाकर कायरोंकी भाँति पीछेसे बाणोंका प्रहार सहता हुआ हट नहीं सकता।' देवताओंको बीचमें पड़कर युद्ध बंद कराना पड़ा। परशुरामजी भीष्मको पराजित नहीं कर सके।

× × ×

'बेटा! मेरी आज्ञासे तुम विवाह करके वंशकी रक्षा करो और सिंहासनपर बैठो।' सत्यवतीके दोनों पुत्र मर चुके थे। भरतवंशका कोई आधार नहीं था। पुरुवंशका सिंहासन सूना पड़ा था। पिताने पुत्रीके लिये जो वरदानरूप व्यवस्था की, वह अभिशाप बन रही थी। भीष्म यदि माताकी आज्ञा मान लें तो वंश बच जाय।

'माता! तू मुझसे यह आग्रह मत कर! पृथ्वी गन्ध, अग्नि, उष्णता, आकाश शब्द, वायु, स्पर्श, जल, आर्द्रता, चन्द्र शीतलता, सूर्य तेज, इन्द्र बल और धर्मराज धर्म चाहे छोड़ दें; किंतु तीनों लोकोंके राज्य या उससे भी महत्तर सुखके लिये भीष्म अपना व्रत नहीं छोड़ेगा।' भारतभूमि ही है, जो ऐसे लोकोत्तर पुरुषोंकी क्रीड़ास्थली बनती रही है।

× × ×

'श्रीकृष्ण ही सब प्रकार प्रथमपूज्य हैं।' धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें अग्रपूजाका प्रश्न उठनेपर पितामह भीष्मने बड़े दृढ़ शब्दोंमें अपना भाव व्यक्त किया। और जब शिशुपाल उन्हें कटुवचन कहते हुए आक्रमणको उद्यत हुआ, धर्मराज भी चिन्तित हो गये; पर भीष्म स्थिर थे। 'श्रीकृष्ण ही समस्त लोकोंकी उत्पत्ति और विनाशके कारण हैं,' इस निश्चयकी घोषणा उन्होंने की और अपने विश्वासपर अन्ततक हिमालयकी भाँति दृढ़ रहे।

महाभारतके युद्धमें ये अकेले दस दिनोंतक कौरव-सेनाका सेनापतित्व करते रहे, जब कि शेष आठ दिनोंमें द्रोणाचार्य, कर्ण और शल्य—ये तीन सेनापति बदल गये। भीष्मने दुर्योधनको अनेक बार समझाया, कर्णकी तो वे बराबर भर्त्सना ही करते रहे। महाभारतके संग्राममें पितामहने प्रतिज्ञा कर ली। 'कल श्रीकृष्णचन्द्रको शस्त्रधारणके लिये विवश कर दूँगा।'

दूसरे दिन युद्ध छिड़ा। भीष्मकी बाण-वर्षासे अर्जुन मूर्च्छित हो गये। भक्तवत्सल प्रभुने भक्तके लिये अपनी प्रतिज्ञा तोड़ी। श्रीकृष्णचन्द्र बार-बार सिंहनाद करते रथका टूटा चक्का हाथमें उठाकर भीष्मकी ओर दौड़े। उन चक्रधरके करोंमें वह पहिया सहस्रार चक्र बन गया। सेनामें सबके हृदय बैठ गये। सब चिल्लाने लगे 'भीष्म मारे गये! भीष्म मारे गये!'

भीष्म? उनके तो आनन्दका पार ही नहीं था।

आदर्श पुत्र

घोर प्रतिज्ञा देवव्रतने की तब वहाँ उठाकर हाथ,
'सत्यवतीका तनय हमारे कुरु-कुलका होगा नर-नाथ।
मैं न विवाह करूँगा, अपना छोड़ रहा हूँ नृप-अधिकार'
सुन सहसा सुर चकित हो गये बोल भीष्मकी जय-जयकार।

आदर्श क्षमा
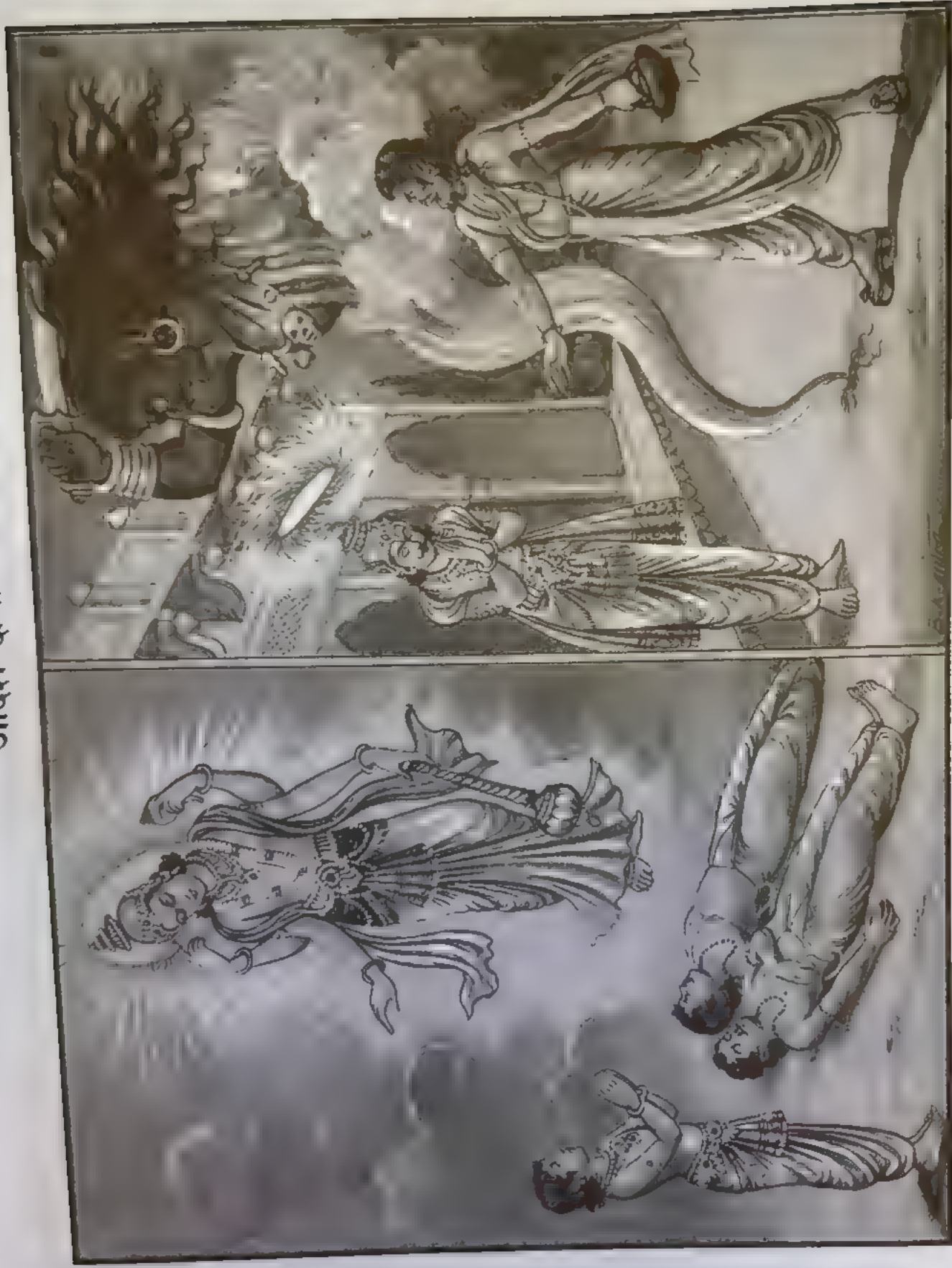
जीवित हों गुरुपुत्र मम पाकर कृपा-प्रसाद। प्रभुसे यह करते विनय क्षमा-मूर्ति प्रहलाद॥
दे न सका कोई शरण, भक्तद्रोही जान। अम्बरीषने ही किया मुनिको अभय-प्रदान॥

करुणाधामने उनके लिये अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी। वे धनुष पृथक् रखकर, दोनों हाथ जोड़कर, घुटनोंके बल बैठे प्रार्थना कर रहे थे—'पुण्डरीकाक्ष! पधारो। पधारो, पुरुषोत्तम! तुम आज मेरा वध करो! गोविन्द! कृष्ण! जगन्नाथ! तुम्हारे हाथसे मरनेपर मेरा सब प्रकार कल्याण होगा। मैं आज त्रैलोक्यमें सम्मानित हूँ। हे निष्पाप प्रभु! स्वेच्छापूर्वक मुझपर प्रहार करो।'

अर्जुनने दौड़कर पीछेसे भगवान्‌के पैर पकड़ लिये और उन्हें लौटाया। वे दयामय केवल भीष्मकी प्रतिज्ञा ही तो पूर्ण करने चले थे। वह पूर्ण हो गयी।

× × ×

'मैं शिखण्डीको सम्मुख पाकर धनुष रख देता हूँ।' अपने वधका उपाय स्वयं बताना पितामहकी ही उदारता थी। शिखण्डी स्त्रीरूपमें जन्मा था। कोई सच्चा शूर नारीपर आघात कैसे कर सकता है। अर्जुनने शिखण्डीको आगे करके प्रतिकारहीन पितामहपर शरवर्षा की। जब भीष्म रथसे भूमिपर गिरे, उनके शरीरका रोम-रोम बिंध चुका था। पूरा शरीर बाणोंपर उठा रह गया। यह थी उनकी शर-शय्या।

'वत्स! मेरे योग्य तकिया दो! मस्तकमें बाण नहीं लगे थे। वह नीचे लटक रहा था। दुर्योधनादि कोमल सहारा देना चाहते थे मस्तकको! पितामहने अर्जुनकी ओर देखा। पार्थने तीन बाण मारकर मस्तकको ऊपर उठा दिया। भीष्म अत्यन्त प्रसन्न हुए। अनेक शस्त्र-वैद्य दुर्योधनने वहाँ भेजे। वे बाणोंको निकालकर चिकित्सा करनेको प्रस्तुत थे, पर उस शूरने उन्हें लौटा दिया। क्षत्रियकी शोभा रणाङ्गणमें शरशय्या ही तो है।

× × ×

'प्रभु! आप किसका ध्यान कर रहे थे?' नीरव अर्धरात्रिमें श्रीकृष्णचन्द्रको आसनसे बैठकर ध्यान करते देख धर्मराज युधिष्ठिरको आश्चर्य हुआ। वे चुपचाप प्रतीक्षा करते रहे।

'शरशय्यापर पड़े नरशार्दूल भीष्म मेरा ध्यान कर रहे हैं।' उन भक्तवाञ्छाकल्पतरुने भरे लोचनोंसे उत्तर दिया—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

—की प्रतिज्ञा जो कर रखी है उन्होंने।

युधिष्ठिर भाइयोंके साथ रणाङ्गणमें पितामहके समीप धर्मोपदेश प्राप्त करने गये। भगवान्‌ने भीष्मसे अनुरोध किया। उनके कष्ट, ग्लानि, मूर्च्छादिको अपने प्रभावसे दूर किया और बताया—'मैं स्वयं उपदेश न करके इसलिये आपसे उपदेश कराना चाहता हूँ कि मेरे भक्तकी कीर्ति लोकमें विस्तृत हो।'

नीति, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदिका जो उपदेश पितामह भीष्मने दिया, वह महाभारतके शान्तिपर्वमें ही देखने योग्य है। अन्तमें उत्तरायणकाल आया। चतुर्भुज, नीलकमल-सुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रका दर्शन एवं स्तवन करते हुए उन्होंने शरीर छोड़ दिया। अन्तिम समयकी भीष्मकी वह स्तुति श्रीमद्भागवतमें इतनी भावपूर्ण है कि उसे मूलमें ही देखकर कण्ठस्थ कर लेना चाहिये।

× × ×

पितामह भीष्म सचमुच हिंदू-जगत्‌के पितामह ही हैं। श्राद्धके समय प्रत्येक हिंदू उन्हें पिण्डदान करता है। वे शौर्य, तेज, ज्ञानके साक्षात् विग्रह थे। जीवनमें उनसे केवल एक बार प्रमाद हुआ—कौरवसभामें द्रौपदीका वस्त्र खींचे जाते समय वे मौन रह गये थे। उन्होंने शरशय्यापर बताया था कि यह प्रमाद दुर्योधनके अन्नके दोषसे उनमें आया। नित्य श्रीकृष्णमें अखण्ड अनुराग रखकर कर्तव्यपर दृढ़ रहनेका उन्होंने उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया है।

धर्मराज युधिष्ठिर

धर्मके अंशसे देवी कुन्तीमें उत्पन्न पाण्डुके ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरके कीर्तन (स्मरणादि) से धर्मकी वृद्धि होती है। महाराज पाण्डुके वनमें परलोकगामी होनेपर भीष्मपितामह पाण्डवोंको हस्तिनापुर ले आये। आचार्य द्रोणने उन्हें शस्त्रशिक्षा दी। धृतराष्ट्रके अन्धे होनेके कारण पाण्डु राज्यके अधिकारी हुए थे। न्यायतः पाण्डुके पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्रको राज्य मिलना चाहिये। वैसे भी युधिष्ठिर कौरवोंसे बड़े थे। दुर्योधन राज्यलिप्साके कारण बचपनसे ही पाण्डवोंसे द्वेष करने लगा। धृतराष्ट्र अपने पुत्रके प्रेमवश उसका समर्थन करते थे।

युधिष्ठिर अजातशत्रु थे। संसारमें उन्होंने कभी किसीको अपना शत्रु नहीं माना। भीमको दुर्योधनने विष दिया, लाक्षाभवनमें पाण्डवोंको जलानेका प्रयत्न किया,

राजसूय यज्ञके पश्चात् छलपूर्वक जुएमें युधिष्ठिरको जीतकर पाण्डवसम्राज्ञी द्रौपदीको भरी सभामें अपमानित किया उसने। प्रत्येक दशामें युधिष्ठिर शान्त बने रहे। उन्होंने अपने भाइयोंको नियन्त्रित रखा। सत्य और धर्मपर वे अविचल बने रहे। वे इतने धर्मप्राण थे कि जिस देशमें रहते, वहाँ अकाल नहीं पड़ता और प्रजा सर्वथा सुखी रहती।

दुर्योधनकी दुष्टतासे वनवास मिला। वहाँ भी वह अपमानित करनेके लिये ससैन्य आ रहा था। गन्धर्वराज चित्ररथने उसे बंदी कर लिया। युधिष्ठिरको समाचार मिला। 'जो भी हो, है तो अपना भाई ही। दूसरोंके विरुद्ध हम सब एक हैं।' उन्होंने अर्जुनको भेजकर चित्ररथसे दुर्योधनको मुक्त कराया और बड़े सम्मानसे उसे विदा किया।

सरोवरपर जल लानेको गये हुए चारों भाई प्राणहीन पड़े थे। वहीं एक यक्ष दिखायी दिया। युधिष्ठिरके उत्तरसे संतुष्ट होकर यक्षने जब एक भाईको जीवित करनेको कहा, तब उन्होंने नकुलको जीवित कराना चाहा। माता माद्रीका उन्हें तब भी ध्यान था। यक्ष उनकी धर्मनिष्ठासे प्रसन्न हो गया। उसने सबको जीवित कर दिया। इसी प्रकार विराटने उनके ऊपर पासेसे प्रहार किया था; पर वे चिन्तित थे कि कहीं अर्जुनने देख लिया तो विराटनरेशका अनिष्ट होगा।

महाप्रस्थानके समय दिव्यरथ उन्हें लेने आया। उस समय उन्होंने अपने अनुगामी कुत्तेको छोड़कर स्वर्ग जानातक अस्वीकार कर दिया। उनकी धर्मनिष्ठा देखकर कुत्ता धर्मके रूपमें प्रकट हो गया। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिरका पूरा जीवन धर्म, शान्ति, क्रोधहीनता, निर्वैरता तथा समदर्शिताका मूर्तिमान् आदर्श है। उनके धर्म और भक्तिसे ही भगवान् श्रीकृष्ण उनके अपने हो गये थे।

महारथी अर्जुन

अर्जुनकी योग्यताका प्रमाण उसी दिन मिल गया, जब आचार्य द्रोण कौरव और पाण्डव—सब बालकोंकी शस्त्र-परीक्षा कर रहे थे। वृक्षपर कृत्रिम पक्षी बैठाया गया था। बाणसे उसके दाहिने नेत्रका वेध करना था। आचार्यने पूछा—'अर्जुन! तुम क्या देख रहे हो?'

'मुझे पक्षीके दाहिने नेत्रको छोड़कर कुछ दिखायी नहीं पड़ता।' लक्ष्यमें जिसकी इतनी एकाग्रता हो, वही जीवनका सफल योद्धा हो सकता है।

अर्जुनकी शूरताका ही वर्णन एक प्रकारसे महाभारतमें हुआ है। उनके दृढ़प्रतिज्ञ होनेका वह अद्वितीय उदाहरण था, जब वे बारह वर्षके लिये स्वेच्छापूर्वक वनवास करने चल पड़े थे अनेक कारणोंसे द्रौपदीका विवाह पाँचों पाण्डवोंसे हुआ था। विश्वमें भूमि और भामा (स्त्री)—यही दो संघर्षके मुख्य हेतु हैं। परस्पर कोई विवाद न उठ खड़ा हो, इसलिये पाण्डवोंने द्रौपदीके साथ रहनेकी एक निश्चित अवधि बना ली। यह नियम निश्चित हुआ कि यदि एक भाई द्रौपदीके पास हो और दूसरा वहाँ पहुँच जाय तो पहुँचनेवाला बारह वर्षका निर्वासन स्वीकार करे।

उस दिन एक ब्राह्मण दौड़ता हुआ आया। उसकी गौएँ दस्यु बलपूर्वक लिये जा रहे थे। अर्जुनने विप्रको आश्वासन दिया। दस्युओंको दण्ड देनेके लिये धनुष आवश्यक था। धनुष द्रौपदीके अन्तःपुरमें था और वहाँ युधिष्ठिरजी थे। अर्जुनने ब्राह्मणकी गौओंकी रक्षाके लिये भीतर जाकर धनुष उठाया। गायोंकी रक्षा हुई। लौटकर उन्होंने निर्वासन स्वीकार करके भाइयोंसे विदा माँगी।

'मैं तुम्हारा ज्येष्ठ भ्राता हूँ। द्रौपदीसे मैं सामान्य बातें ही कर रहा था। तुमने ब्राह्मणकी गायें बचाकर मेरे ही धर्मकी रक्षा की है।' धर्मराजने बहुत समझाया कि निर्वासन स्वीकार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

'धर्मपालनमें बहानेबाजी नहीं करनी चाहिये।' अर्जुनने नियम-भंग करना स्वीकार नहीं किया। वे स्वतः बारह वर्षोंतक हस्तिनापुरसे बाहर रहे।

× × ×

'अर्जुन मेरा अत्यन्त प्रिय पात्र है। उर्वशीको उस पुरुषश्रेष्ठको सन्तुष्ट करना चाहिये।' देवराज इन्द्रने चित्रसेनको आदेश दिया। अपने तप एवं पराक्रमसे भगवान् शंकरको सन्तुष्ट करके अर्जुनने उनके पाशुपतास्त्रको प्राप्त कर लिया था। लोकपालोंने उन्हें अपने दिव्यास्त्र दिये थे। स्वर्ग आकर उन्होंने असुरोंका दमन किया था। आज दिनमें देवसभामें जब अप्सराएँ उनके सम्मानमें नृत्य कर रही थीं, महेन्द्रने देखा था कि वे बार-बार उर्वशीकी ओर देख रहे हैं।

'मातः! देवराजको मेरा भाव समझनेमें भ्रम हुआ। राजसभामें मैंने आपको देखा तो मुझे स्मरण आया कि आप ही हमारे भरतकुलकी जननी हैं। मैं आपको नमस्कार

करता हूँ। उर्वशी स्वयं अर्जुनके शौर्य एवं सौन्दर्यपर मुग्ध थी। देवराजका आदेश पाकर वह एकान्त रात्रिमें शृंगार करके अर्जुनके पास पहुँची थी। स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी एकान्तमें आयी थी और निर्लज्ज होकर स्वयं कामयाचना कर रही थी। अर्जुनने उसके बार-बारके अनुरोधको अस्वीकार कर दिया। जिसे एक बार मातृभावसे देखा जा चुका, उसके प्रति अन्यथाभाव तो महापाप होगा। क्रुद्ध होकर उर्वशीने शाप दिया—'तू वर्षभर नपुंसक रहेगा और स्त्रियोंको नाचना-गाना सिखायेगा।'

धर्मपर स्थिर संयमीको कोई शक्ति कष्ट नहीं दे सकती। मंगलमय धर्म समस्त प्रतिकूलताओंको अनुकूल बना देता है। उर्वशीका शाप अर्जुनके लिये वरदान सिद्ध हुआ। अन्यथा उनके-जैसा ओजस्वी शूर विराट-नगरमें अपनेको वर्षभरतक छिपाये रखनेमें सफल कैसे हो सकता था।

× × ×

महाभारतका युद्ध आरम्भ होनेवाला था। अर्जुन और दुर्योधन दोनों साथ ही द्वारकामें श्रीकृष्णचन्द्रसे युद्धमें सहायता माँगने पहुँचे। दुर्योधन कुछ पहले पहुँचे थे। भगवान् शयन कर रहे थे, अतः वे सिरहाने एक आसनपर बैठ गये। अर्जुन पीछे पहुँचे। वे चरणोंके समीप धीरेसे जा बैठे। भगवान् उठे। दुर्योधनका कहना था कि वे पहले आये हैं; अतः उन्हें सहायता मिलनी चाहिये। अर्जुनको कुछ कहना नहीं था। श्रीकृष्ण स्वयं कह रहे थे कि मैंने पहले अर्जुनको देखा है।

'एक ओरसे समस्त नारायणी सेना सशस्त्र युद्ध करेगी और दूसरी ओर अकेला मैं रहूँगा। मैं न युद्ध करूँगा और न शस्त्र ग्रहण करूँगा।' लीलामयने निर्णय सुनाते हुए बताया कि पहले अर्जुनको ही पसंद करनेका अधिकार है।

'पाण्डवोंके सर्वस्व आप ही हैं। मैं आपको छोड़कर त्रिभुवनकी शक्ति भी स्वीकार नहीं कर सकता।' अर्जुनके मनमें कोई विकल्प था ही नहीं। दुर्योधन भी प्रसन्न हो गया। उसे नारायणी सेना ही अभीष्ट थी। चक्रधर श्रीकृष्णसे वह डरता था; उसके मनमें यह भी था कि शस्त्रहीन श्रीकृष्ण मेरा क्या भला करेंगे।

'अर्जुन! अब भी बहुत-से महारथी हैं। तुम मुझे लेकर क्या करोगे?' भगवान्ने हँसकर पूछा।

'बहुत दिनोंसे इच्छा है कि आपके हाथोंमें अपने रथकी रश्मि दे दूँ। अब आप रथ हाँकेंगे मेरा।' अर्जुन हँस पड़े। 'आपके श्रीचरण जहाँ हैं, वहाँ और किसी वस्तुकी अपेक्षा भी क्या है।'

इसी निर्भरताने श्यामसुन्दरको अर्जुनका रथ हाँकनेवाला सारथि बनाया। दूसरे समस्त ऋषि-मुनियोंको छोड़कर अर्जुनको ही भगवान्ने गीताके दिव्य ज्ञानामृतका अधिकारी यों ही नहीं बनाया था।

× × ×

'अर्जुन मेरा प्राण है। दारुक! तुम भली प्रकार समझ लो कि यदि कल युद्धमें अर्जुनकी प्रतिज्ञा सफल न हुई हो तो मैं अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर चक्र उठाऊँगा और सारे कौरवदलका संहार कर दूँगा। अर्जुनके लिये मुझे कोई कार्य करनेमें संकोच नहीं।' महाभारतके युद्धमें अभिमन्युकी मृत्युसे दुःखित अर्जुनने जब दूसरे दिन सूर्यास्तसे पूर्व जयद्रथका वध करनेकी प्रतिज्ञा कर ली, तब भक्तवत्सल प्रभुको रात्रिभर निद्रा नहीं आयी। उन्होंने अपने सारथि दारुकको अपना दिव्य रथ शस्त्र-सज्ज करके प्रस्तुत रहनेकी आज्ञा दी।

आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः।

अर्जुनके जीवनाधार श्रीकृष्ण ही हैं और श्रीकृष्णके प्राण अर्जुनमें निवास करते हैं। यह बात दुर्योधनने स्वयं स्वीकार की। महाभारतके युद्धमें श्रीकृष्णने पल-पल अर्जुनका ध्यान रखा। अर्जुनकी रक्षाके लिये वे सतत सचेष्ट रहे और अर्जुन तो उनके करोंमें रथके साथ जीवनकी भी रश्मि सौंप चुके थे।

श्रीकृष्णने नित्य अभिन्न, उन नारायणके नित्य सखा नर ही नहीं अर्जुनके रूपमें प्रकट हुए थे। उनका शौर्य, तेज, दृढ़ निश्चय, अटल प्रतिज्ञा और सबसे बढ़कर श्रीकृष्णपर अनन्य विश्वास—ये सब गुण दूसरे किसीमें एक साथ मिलने कठिन हैं। अर्जुन नरके अवतार कहे जाते हैं। सचमुच ही नर (मानव) के वे पूर्णतम आदर्श हैं।

वीरवर अभिमन्यु

वीरवर अभिमन्यु श्रीकृष्णसखा अर्जुनके पुत्र थे। इनका जन्म भगवान् श्रीकृष्णकी बहिन महाभागा सुभद्राजीके गर्भसे हुआ था। अभिमन्युका विवाह मत्स्यदेशके राजा विराटकी कन्या उत्तराके साथ हुआ। अभिमन्युने गर्भमें

ही माता-पिताके वार्तालापसे व्यूह भेदकर उसमें प्रवेश करनेकी कलाको सीख लिया था। महाभारत युद्धके समय अभिमन्युने असाधारण शूरत्वका परिचय दिया था। गुरु द्रोणने जब चक्रव्यूहकी रचना की, तब युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव, विराट, द्रुपद तथा धृष्टद्युम्न आदि पाण्डवपक्षके वीरोंमेंसे कोई लाख प्रयत्न करनेपर भी व्यूहमें प्रवेशलाभ नहीं कर सका था, पर अभिमन्युने उसे भेदकर उसमें प्रवेश किया और कौरवपक्षके असंख्य वीरोंको रणभूमिमें सुला दिया। सारी कौरवसेना विचलित हो उठी। तब अन्तमें द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा आदि सात महारथियोंने इनको चारों ओरसे घेर लिया और बार-बार हार खाते हुए बड़ी कठिनतासे अन्याययुद्ध करके इनका वध कर सके। उत्तरा उस समय गर्भवती थी। इसी गर्भसे पाण्डवोंके उत्तराधिकारी महाराज परीक्षित्‌का जन्म हआ था।

उद्धवजी

देवगुरु बृहस्पतिके शिष्य, भगवान् श्रीकृष्णके सखा और मन्त्री उद्धवजी मथुरासे भगवान्‌का संदेश लेकर व्रजमें आये थे। उस समयका वर्णन श्रीमद्भागवत तथा सूरदासजीके पदोंमें भक्तिकी धारासे आप्लावित है। भगवान् द्वारकासे निजधाम गोलोक जाने लगे। उद्धवजीको उन्होंने तत्त्वज्ञानका उपदेश करके आदेश दिया, 'आप बद्रीनाथमें तपस्या करते हुए अपनी शक्तिसे कलियुगमें मेरे भक्तोंका पोषण करें।'

उद्धवजी श्रीकृष्णचन्द्रके समीप बद्रीनाथके लिये चले। मार्गमें प्रेममयी व्रजभूमिने उन्हें आकर्षित किया। एक स्वरूपसे वे गिरिराज गोवर्धनके समीप लता-वल्लियोंमें अन्तर्हित हो गये और दूसरे रूपसे बद्रीनाथ चले गये। भगवान्‌के निजलोक पधारनेपर महाराज युधिष्ठिरने मथुराका राज्य श्रीकृष्णचन्द्रके प्रपौत्र वज्रनाभको प्रदान किया। वज्रनाभ श्रीकृष्णचन्द्रकी अवशिष्ट पत्नियोंके साथ व्रज पधारे। कालिन्दीके उपदेशसे गिरिराजके समीप उन्होंने हरिनाम-संकीर्तनका आयोजन किया। इस संकीर्तनमें उद्धवजी प्रकट हुए। उद्धवजीने सबको एक मासमें श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायी। कथाके अन्तमें सबने नित्य-लीलामें प्रवेश प्राप्त किया।

अपने दूसरे अलक्ष्य रूपसे उद्धवजी बद्रीनाथमें तप कर रहे हैं। उनकी तपःशिला उद्धवशिलाके नामसे वहाँ पूजित होती है। कलिके अन्तमें वे लोकमें भागवतधर्मको पुनः स्थापित करेंगे।

विदुरजी

जीवोंके नियन्ता धर्मराज महर्षि अणिमाण्डव्यके शापसे विचित्रवीर्यकी दासीके गर्भसे भगवान् व्यासके औरस-रूपमें उत्पन्न हुए। अन्ततक उन न्यायमूर्ति विदुरजीने बड़े भाई धृतराष्ट्रको नीति एवं धर्मपर चलनेका उपदेश किया। लाक्षाभवनमें पाण्डवोंको जलानेकी दुरभिसन्धि उन्हींकी चेतावनीसे असफल हुई। पाण्डवोंके वनवासके समय उनकी माता कुन्तीदेवी विदुरजीके समीप ही रहीं। सन्धिदूत बनकर श्रीकृष्ण जब पधारे, उन्होंने स्वतः विदुरपत्नीका आतिथ्य ग्रहण किया। दुर्योधनके द्वारा अपमान किये जानेपर विदुरजी अवधूत-वेशमें तीर्थाटन करने चले गये। उन्होंने तीर्थाटन करते समय उद्धवजीसे महाभारतके युद्ध और यदुकुलके उपसंहारका समाचार सुना। हरद्वारमें मैत्रेयजीसे ज्ञानोपदेश प्राप्तकर वे हस्तिनापुर लौटे। उन्हींके उपदेशसे धृतराष्ट्रको वैराग्य हुआ। धृतराष्ट्रके वन जानेपर विदुरजी भी चले गये। श्रीविदुरजीका नीति-उपदेश 'विदुरनीति' कहा जाता है। विदुरजी नीतिके साथ अध्यात्मज्ञानमें भी परम निष्णात थे। भगवान् श्रीकृष्णमें उनका अनन्य अनुराग था। उनके आदेशको धृतराष्ट्रने माना होता तो महासंहार बच गया होता।

संजय

सूतजातिमें गवल्गणके पुत्र संजय महाराज धृतराष्ट्रके मन्त्री थे। भगवान् व्यासने धृतराष्ट्रको महाभारतका युद्ध देखनेके लिये दिव्यदृष्टि देनी चाही। धृतराष्ट्रने अपने पुत्रोंका निधन देखनेसे अरुचि प्रकट की। व्यासजीकी कृपासे संजयको दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई। युद्धमें जो कुछ प्रत्यक्ष या परोक्ष होता था, वह सब संजय देख सकते थे। वे लोगोंके संकल्पके भी द्रष्टा हो सके थे। धृतराष्ट्रको उन्होंने ही सम्पूर्ण महाभारत सुनाया।

भगवान् श्रीकृष्णके अन्तरंग विश्वासपात्र थे। जहाँ भगवान्‌के अन्तःपुरमें कोई भी नहीं जा सकते थे, वहाँ इनको प्रवेशाधिकार प्राप्त था।

धृतराष्ट्र कुन्ती और गान्धारीके साथ जब विरक्त होकर वनमें चले गये, तब संजयने हस्तिनापुर छोड़ दिया और वे हिमालयमें तप करने चले गये। सु०

कुछ आदर्श हिंदू-देवियाँ

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न)

सती सावित्री

मद्रदेशके नरेश अश्वपति धर्मके प्राण थे। धर्मानुकूल पवित्र आचरण एवं इन्द्रिय-संयमपूर्वक भगवद्भजन ही उनके जीवनका आधार था। अठारह वर्षोंतक सावित्रीदेवीकी आराधना करके इन्होंने सन्तति-प्राप्तिका आशीर्वाद पाया था। सावित्रीने इन्हींकी सौभाग्यवती पत्नी (जो मालवनरेशकी कन्या थीं) के गर्भसे जन्म लिया था।

सावित्री अपूर्व गुण-शीलवती थी। वह क्रमशः बढ़ती हुई विवाहके योग्य हुई। उस समय वह बाह्याभ्यन्तर सौन्दर्यकी जीवित प्रतिमा-सी प्रतीत होती थी। अनुपम रूप-लावण्यके साथ उसमें अतुलनीय तेज भी उद्भासित हो रहा था, जिसके कारण लोग उसे देवकन्या समझ लेते थे और इसी कारण कोई भी राजकुमार उसका पति बननेका साहस नहीं कर सका।

सावित्रीको पूर्णवयस्का देखकर चिन्तित अश्वपतिने उसे स्वयं वर ढूँढ़नेका आदेश दिया। अत्यन्त लज्जा और संकोचसे माता-पिताके चरणोंका स्पर्श कर वह वृद्ध मन्त्रियोंके साथ रथारूढ़ होकर रमणीय तपोवनकी ओर चली। कुछ दिनोंके बाद जब वह लौटी, तब देवर्षि नारद उसके पिताके समीप बैठे हुए मिले। चरण-स्पर्श करनेपर अश्वपतिके साथ श्रीनारदजीने भी उसे प्रेमपूर्वक आशिष् दी।

अश्वपतिने सावित्रीको वरान्वेषणके लिये भेजा था, यह संवाद श्रीनारदजीको पहले ही बतला दिया गया था। उन्होंने सावित्रीसे धीरेसे कहा, बेटी! तुमने किसे पति चुना है, देवर्षिसे बता दो।'

सावित्रीने नतमुख हो अत्यन्त संक्षेपसे कहा—'शाल्वदेशके धर्मपरायण नरेश द्युमत्सेनके पुत्रका नाम सत्यवान् है। सत्यवान्ने जन्म तो नगरमें लिया था, पर उनका लालन-पालन तपोवनमें हुआ है। मैंने उन्हींके चरणोंमें अपनेको समर्पित करनेका निश्चय किया है। द्युमत्सेन नेत्रहीन हो गये हैं और उनके एक शत्रु राजाने उनका राज्य भी छीन लिया है। वे अपनी पतिव्रता पत्नी और शीलवान् तथा धर्मज्ञ सुपुत्रके साथ तपोवनमें निवास कर रहे हैं। इस प्रकार सत्यवान्का जीवन ऋषिकुमारों-सा हो गया है।'

उदास-मुँह होकर श्रीनारदजीने कहा—'राजन्! यह अत्यन्त खेदकी बात है। निश्चय ही सत्यवान् रूप, शील और गुणोंमें अद्वितीय हैं; किंतु एक वर्षके बाद ही उनकी आयु समाप्त हो जायगी। वे इस लोकमें नहीं रह सकेंगे।'

अश्वपति बोलना ही चाहते थे कि धर्मज्ञा सावित्रीने तुरंत कहा—'पिताजी! सत्यवान् दीर्घायु हों अथवा अल्पायु, गुणवान् हों अथवा निर्गुण, मैंने एक बार उन्हें अपना पति स्वीकार कर लिया। अब दूसरे पुरुषको मैं नहीं वर सकती।'*

सावित्रीका निश्चय सुन लेनेपर देवर्षि नारदजीने अश्वपतिसे कहा—'राजन्! सावित्री बुद्धिमती और धर्माश्रया है। आप इसे सत्यवान्के हाथों सौंप दें।' देवर्षि चले गये।

अश्वपति समस्त वैवाहिक सामग्रियोंके साथ द्युमत्सेनके आश्रमपर पहुँचे। द्युमत्सेनने इनका यथोचित्त सत्कार किया। वे सावित्रीके गुणोंपर मुग्ध होकर अश्वपतिका आग्रह नहीं टाल सके। उसी तपोवनमें सावित्रीका परिणय सत्यवान्के साथ विधिपूर्वक हो गया। अत्यधिक वस्त्राभूषण देकर अश्वपति विदा हुए।

पिताके जाते ही सावित्रीने आभूषणादि उतारकर वनोचित्त वस्त्र धारण कर लिये। वह तपस्विनी हो गयी। उसने अपने सद्गुण, विनय और सेवाके द्वारा सास-श्वशुरके मनपर अधिकार कर लिया। वह सास-श्वशुरकी आँखोंकी पुतली बन गयी। पति तो उसे प्राणकी तरह प्यार करते ही थे।

सावित्रीसे पूरा परिवार परम सन्तुष्ट था, वह स्वयं सन्तुष्ट और अत्यन्त सुखी दीखती थी; परंतु उसे श्रीनारदजीकी बात याद थी। उसका हृदय प्रतिक्षण अशान्त रहता था। पतिकी मृत्युकी स्मृतिसे उसका कलेजा काँप जाता था। उधर समय सरिताकी तीव्र धाराकी भाँति द्रुतगतिसे भागा जा रहा था।

* दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा। सकृद्वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥ (महा० वन० २९४। २७)

धीरे-धीरे वह समय भी आ गया जब सत्यवान्‌की मृत्युके चार दिन शेष रह गये थे। पतिप्राणा सावित्री अधीर हो गयी थी। उसने तीन रात्रिका निराहार व्रत धारण किया। चौथे दिन उसने प्रातःकाल ही सूर्यदेवको अर्घ्य दानकर सास-श्वशुर तथा ब्राह्मणोंका शुभ आशीर्वाद प्राप्त किया। इसके बाद देवर्षि श्रीनारदजीके वचनानुसार वही दिन आ गया, जिस दिन सत्यवान्‌को काल-ग्रास बनना था।

सत्यवान् समिधा लेने चले, तब सास-श्वशुरकी आज्ञा लेकर सावित्री उस दिन उसके साथ हो गयी। वनमें थोड़ी लकड़ी भी वे नहीं ले पाये थे कि उनका सिर चकराने लगा; सिरकी असह्य पीड़ाके कारण सत्यवान् सावित्रीकी गोदमें लेट गये। फूल-सी कोमल सावित्रीका हृदय हाहाकार कर उठा।

उसने देखा, सामने लाल वस्त्र पहने श्यामकाय एक देवपुरुष खड़े हैं। चकित होकर उसने प्रणाम किया तो उत्तर मिला, सावित्री! मैं यम हूँ। तुमने अपने कर्तव्यका पालन किया है। अब मैं सत्यवान्‌को ले जाऊँगा। इनकी आयु पूरी हो गयी है।'

यम सत्यवान्‌के सूक्ष्मशरीरको लेकर आकाशमार्गसे चल पड़े। अधीरा सावित्री भी उनके पीछे लग गयी। यमराजने उसे लौटनेके लिये कहा तो वह बोली, 'भगवन्! पतिदेवका साथ मुझे अत्यन्त प्रिय है। मेरी गति कहीं नहीं रुकेगी, मैं इनके साथ ही चलूँगी।'

सावित्रीकी धर्मयुक्त वाणी सुनकर यमने उससे सत्यवान्‌को छोड़कर अन्य वर माँगनेके लिये कहा तो सावित्रीने अपने श्वशुरकी नेत्रज्योति माँग ली, पर फिर भी उनके साथ चलती रही। यमने उसके कष्टको देखकर कहा, 'अब तुम लौट जाओ;' पर उसने उत्तरमें कहा, 'पतिके साथ आपका दुर्लभ संग छोड़कर मैं नहीं जा सकूँगी।' यमने पुनः उससे सत्यवान्‌के अतिरिक्त वरदान माँगनेके लिये कहा। सावित्रीने अपने श्वशुरका खोया राज्य माँग लिया।

यमने देखा वह अब भी पीछे चली आ रही है और रह-रहकर प्रार्थना करती हुई सत्संग-महिमा तथा धर्मयुक्त बातें कहती जाती है। प्रसन्न होकर यमराजने फिर वैसे ही वरदान माँगनेके लिये कहा तो उसने अपने निस्सन्तान पिताके लिये सौ औरस पुत्र माँग लिये। चौथी बार यमराज शर्त लगाना भूल गये, तब उसने अपने लिये भी सत्यवान्‌के वीर्यसे सौ पुत्रोंका वरदान प्राप्त कर लिया।

इतनेपर भी उसने यमका साथ नहीं छोड़ा। सतीत्वके कारण उसकी गति अबाध थी। उसने यमकी स्तुति करते हुए कहा, 'भगवन्! अब तो आप सत्यवान्‌के जीवनका ही वरदान दीजिये। इससे आपके ही सत्य और धर्मकी रक्षा होगी। पतिके बिना सौ पुत्रोंका आपका वरदान सत्य नहीं हो सकेगा। मैं पतिके बिना सुख, स्वर्ग, लक्ष्मी और जीवनकी भी इच्छा नहीं रखती।'

अत्यन्त सन्तुष्ट होकर यमने सत्यवान्‌को अपने पाशसे मुक्त कर दिया और अपनी ओरसे चार सौ वर्षकी नवीन आयु दे दी। सतीत्वके प्रभावसे नवीन प्रारब्ध बन गया।

इस प्रकार सावित्रीने अपने सुहागकी रक्षा की तथा अपने पातिव्रत्यसे पतिकुल और पितृकुल दोनोंको सुखी बनाया। पतिव्रताओंकी अमोघ शक्तिको तो उसने जगत्‌के सामने उपस्थित किया ही।

प्रातःस्मरणीया अनसूया

पुण्यश्लोका अनसूया स्वायम्भुव मनुकी पुत्री देवहूतिकी दुहिता थीं। महर्षि कर्दम इनके पिता थे। सिद्धेश्वर कपिल, जो भगवान् विष्णुके अवतार माने जाते हैं, इनके छोटे भाई थे। श्रीअनसूयाजी अत्यन्त सत्यपरायणा, धर्मशीला, शीलवती, सदाचारिणी, विनयवती, लज्जावती, क्षमाशीला तथा परमसहिष्णु थीं। ये समस्त दिव्य गुणोंसे सम्पन्न थीं। अत्यन्त संयमी तथा तपस्विनी थीं। यही कारण था कि ब्रह्माजीके मानस पुत्र परम तपस्वी महर्षि अत्रिको इन्होंने पतिरूपमें प्राप्त कर लिया।

महर्षिके चरणोंमें इनकी अनन्य प्रीति थी। ये सदैव ऋषिके मनोऽनुकूल उनकी सेवामें लगी रहती थीं। ऋषिके लिये ही इन्होंने अपने जीवनका उपयोग समझा था और इस प्रकार ये महर्षि अत्रिको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय थीं।

इन्होंने अपने जीवनमें पतिसेवाको ही प्रधानता दी। ये सतियोंमें सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं। एक बार उमा, रमा और ब्रह्माणीने इनके सतीत्वकी ख्यातिसे अपने-अपने पतियोंको इन्हें विचलित करनेके लिये भेजा। भगवान् शंकर, क्षीराब्धिशायी विष्णु और चतुरानन अपने-अपने

वाहनोंपर अलग-अलग महर्षि अत्रिके आश्रमपर पहुँचे। वहाँ तीनों मिले। त्रिदेवोंका एक ही उद्देश्य था।

वे साधुवेषमें भगवती अनसूयाके समीप पहुँचे। भगवती पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय लेकर आयीं तो इन लोगोंने स्वीकार नहीं किया। 'आप विवस्त्र होकर हमारा सत्कार करें तो आपकी पूजा स्वीकार की जा सकती है!' उन लोगोंका विचित्र प्रस्ताव सुनकर ये चकित हो गयीं।

सतीकी अपार महिमा है। श्रीअनसूयाजीने तनिक-सा ध्यान लगाया तो सब जान गयीं। उन्होंने कहा—'यदि मैं सच्ची पतिव्रता हूँ, भूलसे स्वप्नमें भी कामभावसे पर-पुरुषका चिन्तन न किया हो तो ये तीनों छः-छः मासके बच्चे हो जायँ।'

सतीका इतना कहना था कि त्रिदेव छः मासके बच्चे बन गये। अब विवस्त्रा होकर माताने दुग्ध पान कराया। महर्षिने आकर यह दृश्य देखा तो हँस पड़े। अब त्रिदेव माताके दुग्धपर जीवन धारण कर रहे थे।

उधर अधिक दिन बीत जानेपर उमा-रमा-ब्रह्माणी तीनों अपने-अपने पतियोंका पता लगाने चलीं, तो महर्षि अत्रिके आश्रमके समीप तीनोंका मिलन हो गया। तीनोंने माता अनसूयासे क्षमा माँगी। कृपापूर्वक अनसूयाने उनके पतियोंको वापस किया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश—तीनोंने अपने-अपने अंशसे उनका पुत्र बननेका वचन दिया।

पिताकी आज्ञासे भगवान् श्रीरामचन्द्रने जब वन-गमन किया था, तब वे महर्षि अत्रिके आश्रमपर भी ठहरे थे। वहाँ महर्षिने स्वयं अपने मुँहसे अनसूयाजीके लिये श्रीरामसे कहा था कि 'ये तुम्हारी माताकी भाँति पूजनीया हैं। जनकनन्दनी इनके पास जायँ, ये सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये वन्दनीय हैं।'

श्रीसीतादेवीने आश्रममें जाकर श्रद्धापूर्वक भगवती अनसूयाके चरणोंमें प्रणाम किया। पतिके साथ वनमें आनेका समाचार पाकर श्रीअनसूयाने अत्यन्त प्रसन्न होकर सीतादेवीसे कहा था—

नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः॥
दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः॥

(वा० रा० अयोध्या० ११७।२१-२२)

'स्वामी नगरमें रहें या वनमें, भले हों या बुरे हों—जिन स्त्रियोंको वे प्रिय होते हैं, उन्हें महान् अभ्युदयशाली लोकोंकी प्राप्ति होती है। पति बुरे स्वभावका, मनमाना बर्ताव करनेवाला अथवा धनहीन ही क्यों न हो—वह उत्तम स्वभाववाली नारियोंके लिये श्रेष्ठ देवताके समान है।'

श्रीसीताजीके मुँहसे सती-धर्मकी महिमा सुनकर भगवती अनसूया अत्यन्त प्रसन्न हुई थीं। उन्होंने श्रीसीताजीसे जो कुछ कहा, उसे भक्तप्रवर श्रीतुलसीदासके शब्दोंमें पढ़िये—

मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी॥
अमित दानि भर्ता बयदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥
बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥
धर्म बिचारि समुझि कुलु रहई। सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥

सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

सतीत्वकी महिमा बतलानेके बाद श्रीअनसूयाजीने श्रीसीतादेवीको अत्यन्त प्रेमपूर्वक सुन्दर वस्त्राभूषण और अनुलेपन प्रदान किये थे और अपने सामने ही धारण करवाये थे। ऋषिपत्नीद्वारा मातृसुख पाकर श्रीसीतादेवी बड़ी सुखी हुई थीं। उनसे विदा होते समय श्रीसीतादेवीकी आँखें बरबस गीली हो गयीं।

श्रीअनसूयाजीने अपने तपके प्रभावसे श्रीगंगाजीकी एक धारा प्रकट कर दी, जो मन्दाकिनीके नामसे प्रसिद्ध है एवं उसमें मज्जन-पानसे पाप-ताप शान्त हो जाते हैं।

सती दमयन्ती

विदर्भनरेश भीष्मकको महर्षि दमनकी सेवासे चार सन्तानें हुईं—तीन पुत्र और एक पुत्री। दम, दान्त और

दमन पुत्रोंके नाम थे। पुत्रीका नाम दमयन्ती रखा गया।

दमयन्ती अत्यन्त रूपवती थी। वह शील और सदाचारादि अनुपम गुणोंसे भी सम्पन्न थी। धीरे-धीरे उसने यौवनमें प्रवेश किया। उस समय एक दिव्य हंसने निषध-नरेश नलसे इनकी प्रशंसा करके उनके हृदयमें दमयन्तीके लिये प्रेमका बीज बो दिया और उसी हंसने दमयन्तीके सामने नलके गुण गा-गाकर उसे नलकी ओर आकृष्ट कर दिया। नल और दमयन्ती अपने-अपने निवासपर रहते हुए ही एक-दूसरेपर हृदयसे अनुरक्त हो गये और पारस्परिक मिलनकी कामना करने लगे।

भीष्मकने दमयन्तीको विवाहके योग्य देखकर उसके स्वयंवरकी तिथि निश्चित की। दमयन्तीके अपूर्व लावण्य एवं गुणोंकी प्रशंसा सुनकर देवलोकसे देवता और यक्ष तथा गन्धर्व भी विवाहकी कामनासे विदर्भ-राज्यमें पधारे। आमन्त्रण पाकर अन्य राजकुमारोंकी भाँति नल भी गये।

इन्द्रादि देवोंने लोकोत्तर रूप-सम्पत्तिसम्पन्न नलको देखकर उन्हें दमयन्तीके पास अपनेको पतिके रूपमें वरण करनेके लिये भेजा। उन्होंने नलको अन्तर्धान-विद्या प्रदान कर दी थी।

नल उक्त विद्याके सहारे महलमें दमयन्तीके सामने पहुँच गये। पूछनेपर दमयन्तीसे उन्होंने अपना स्पष्ट परिचय बता दिया और यह भी कहा कि 'इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम ऐसे देवोंसे अपनी रक्षा किसी प्रकार सम्भव नहीं। अतः तुम इनमेंसे किसी एकको पतिरूपमें स्वीकार कर लो।'

दमयन्ती रोने लगी। उसने अपना दृढ़ निश्चय व्यक्त किया, 'मैंने आपको पति मान लिया है। अब अन्यकी पत्नी नहीं बन सकूँगी।'

नल लौट आये। उन्होंने दमयन्तीकी सारी बातें स्पष्ट कह दीं। देवता नलके वेषमें स्वयंवरमें पधारे। दमयन्तीने एक स्थानपर नलके स्वरूप पाँच एक-सरीखे देखे, पर उसने सतीत्वके बलपर निषध-नरेशको पहचान लिया और उनके ही गलेमें वरमाला डाल दी। अन्य सभी निराश हो गये।

दमयन्तीका त्याग अपूर्व था। उसने मनसे निश्चित पतिके लिये देवताओंको भी ठुकरा दिया। धर्मज्ञ देवगण इससे प्रसन्न हुए और इन्द्रने यज्ञमें अपना दर्शन देनेके लिये नलको वरदान दिया। अग्निने कहा, 'तुम्हारे स्मरण करते ही मैं प्रकट हो जाऊँगा और मेरे ही समान प्रकाशमय लोक तुम्हें मिलेगा।' यमराजने कहा, 'तुम्हारे हाथकी रसोई मीठी होगी' और वरुणने वर देते हुए कहा कि 'तुम्हारी इच्छासे ही जल प्रकट हो जाया करेगा।' दमयन्ती नलकी राजरानी बनकर राज्यमें आ गयी और उन दोनोंका जीवन सुखपूर्वक बीतने लगा।

नल सर्वगुणसम्पन्न थे, परंतु द्यूत-क्रीड़ाका उनमें एक दोष भी था और यही कारण था कि कुछ ही दिन बीतनेपर वे एक दिन अपनेसे अलग रहनेवाले अपने भाई पुष्करके साथ जूआ खेलने बैठ गये। जूएमें सारा राज्य वे हार गये। एक वस्त्र पहनकर उन्हें राज्यका परित्याग करना पड़ा। साध्वी दमयन्ती भी एक साड़ी पहने उनके साथ चली। नगरनिवासी पुष्करके आदेशानुसार अपने राजाका स्वागत भी नहीं कर सके।

नल तीन दिनोंतक भूखे रहे। चौथे दिन उन्होंने स्वर्णपंखवाले कुछ पक्षी देखे। उन्हें पकड़नेके लिये उन्होंने अपनी धोती उनपर फेंकी तो वे धोती लेकर उड़ गये। अब एक साड़ीमें ही दोनों पति-पत्नी छिपकर रहने लगे।

अत्यन्त कोमलांगी दमयन्तीके मनमें पति-साहचर्यके कारण यद्यपि सुखकी ही अनुभूति हो रही थी, तथापि नलसे यह देखा नहीं गया। उन्होंने सोचा, 'यह सती है, सुरक्षित घर पहुँच ही जायगी।' इस विचारसे उन्होंने उसकी साड़ीका अर्द्ध भाग तलवारसे फाड़ लिया और उसे सोती छोड़कर चले गये।

निद्रा टूटनेपर दमयन्ती विलाप करने लगी। इसी बीचमें एक अजगर आ गया और वह मुँह फैलाकर दमयन्तीको निगलने लगा। यह दृश्य एक व्याधने देखा और उसने तुरंत अजगरको मार डाला। पर वह दुष्टबुद्धि था। वह दमयन्तीके सौन्दर्यको देखकर अधीर हो गया और उसने बलात्कार करना चाहा; किंतु दमयन्तीके तेजको वह नहीं सह सका। वहीं भस्म हो गया।

दमयन्ती रोती हुई दैवयोगसे चेदिनरेश राजा सुबाहुकी राजधानीमें जा पहुँची। खिड़कीसे राजमाताने उसे अपने पास बुला लिया और दमयन्तीके पातिव्रत्यपर आँच न आने पाये, ऐसी शर्तोंपर उसे अपने पास रखना स्वीकार कर लिया। कुछ ही दिनोंके बाद पता चला कि राजमाता दमयन्तीकी सगी मौसी थीं। उसके बाद ही दमयन्ती अपने पिताके घर चली गयी।

आदर्श पतिव्रता
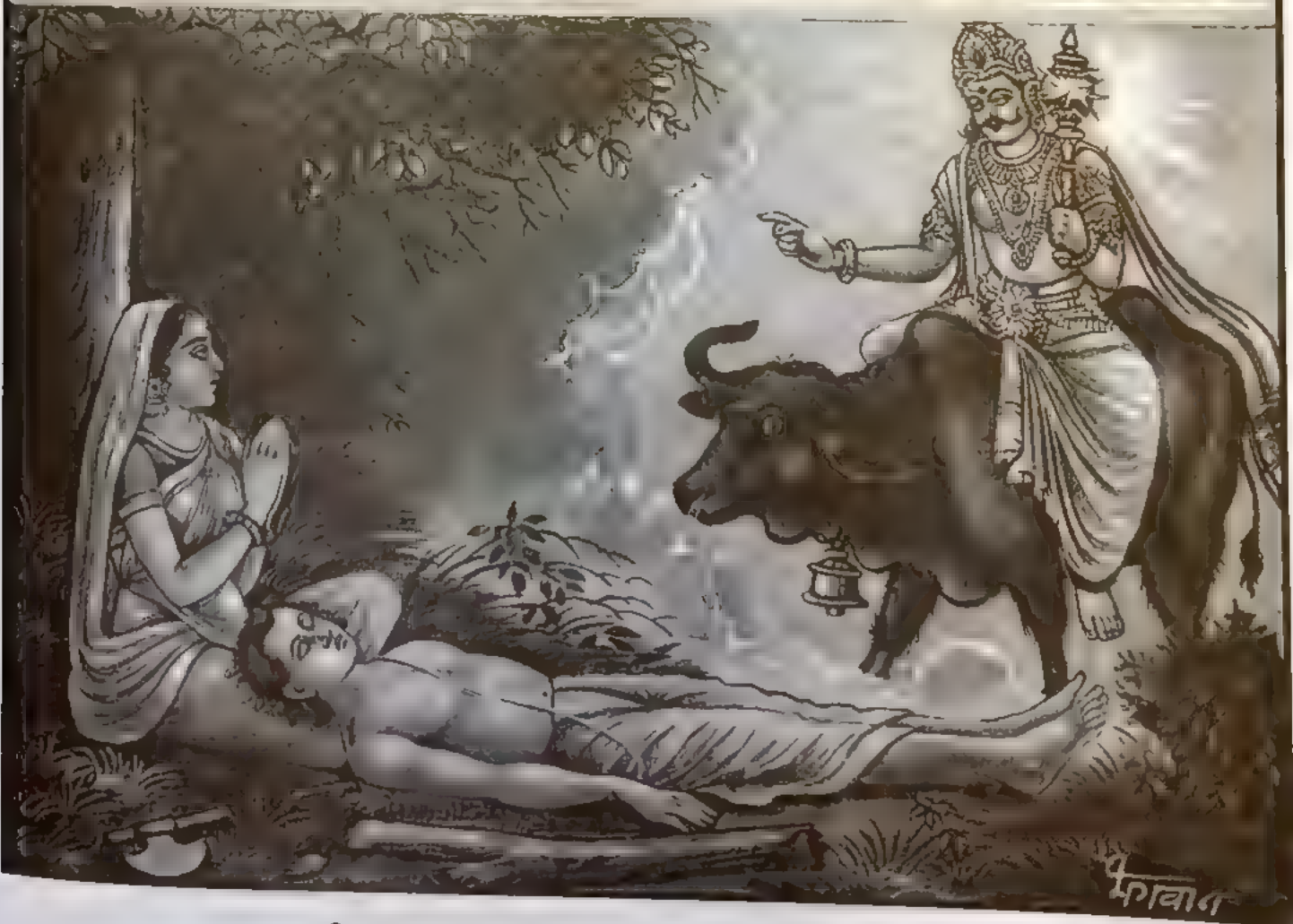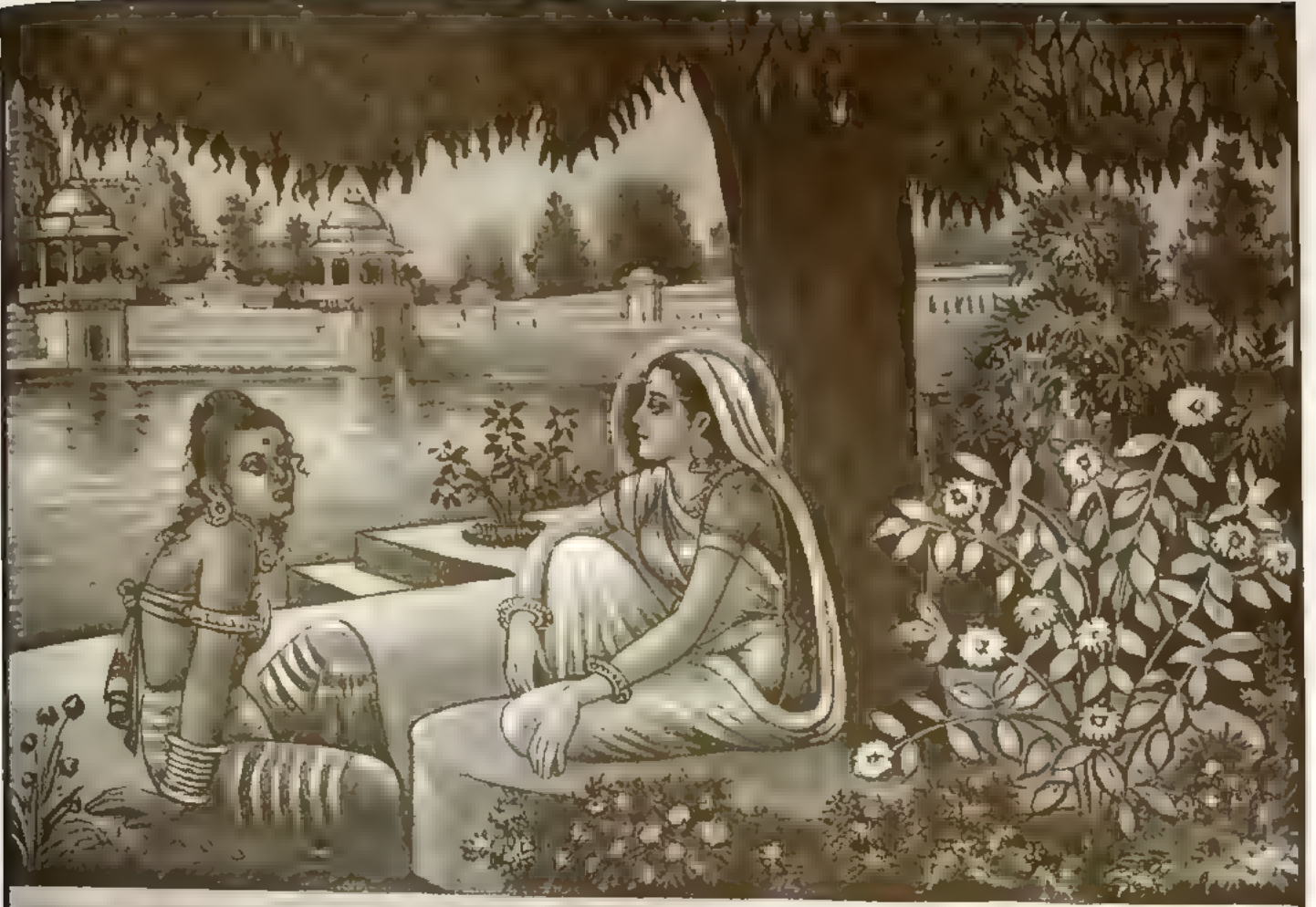
सीता सावित्री सतीके तप तेज विशाल।
वे निशिचर-कुल-काल हैं, इनसे हारा काल॥

आदर्श पतिव्रता
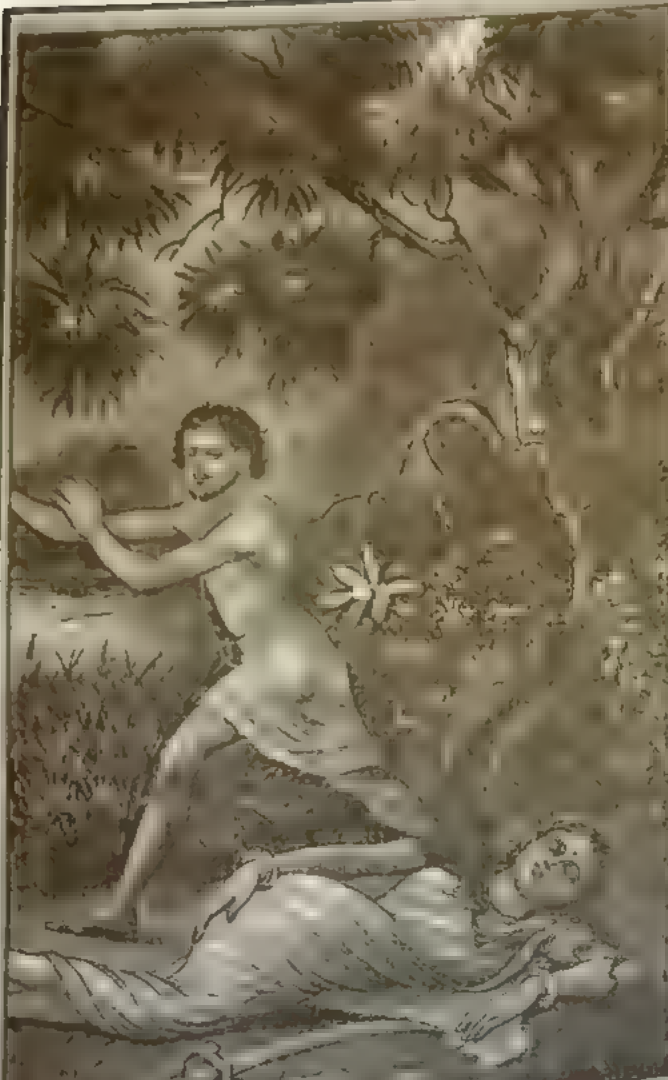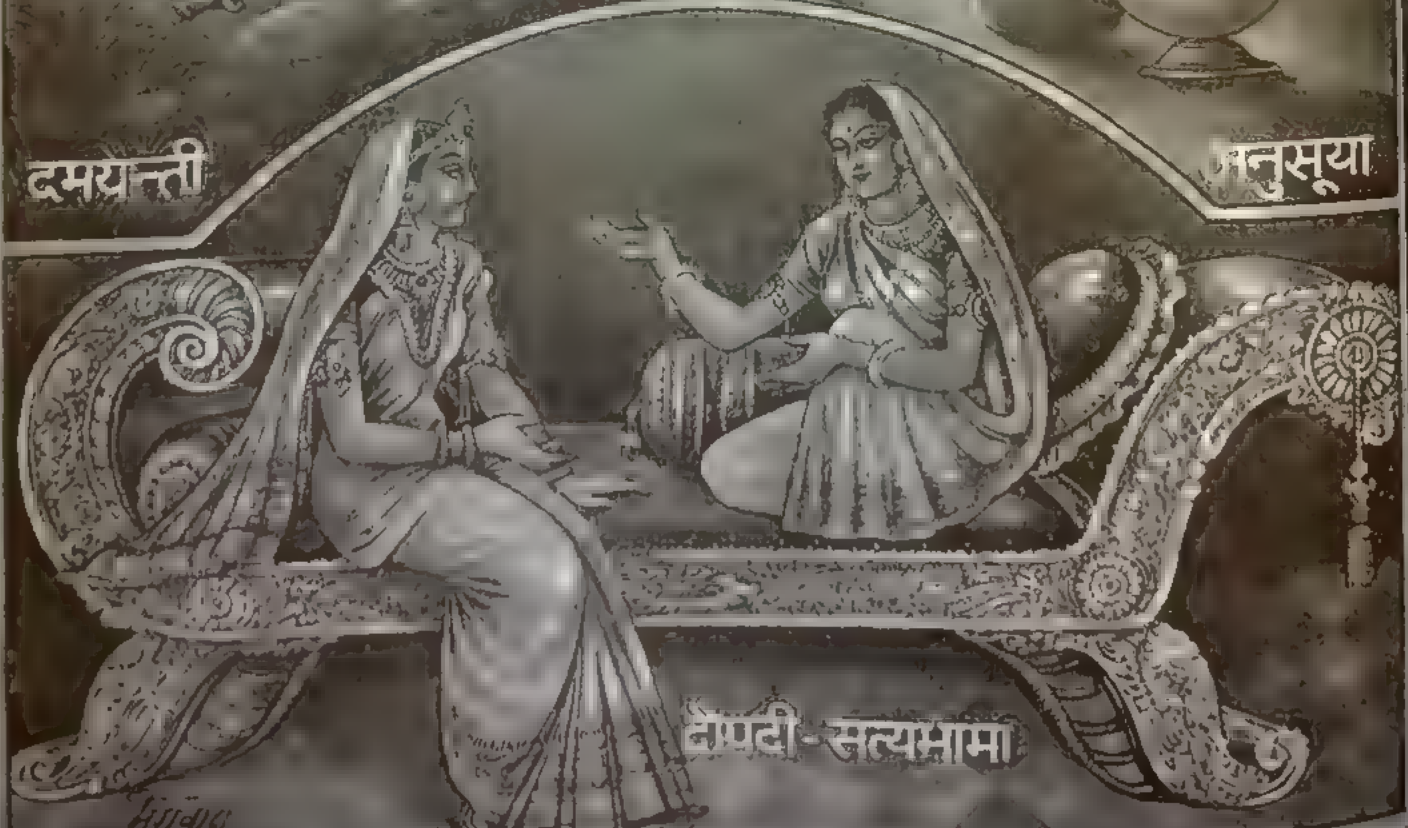
अनुसूया द्रुपदात्मजा दमयन्ती दुख-लीन।
निज सतीत्वके तेजसे चमक उठीं ये तीन॥

उधर नल दमयन्तीको छोड़कर आगे बढ़े तो वनमें सहसा दावाग्नि उठी। उसके भीतर नारदजीके शापसे कर्कोटक नाग पड़ा हुआ था। नलने उसकी रक्षा की और नागसे उनकी मैत्री हो गयी। उसने नलका रूप बदल दिया। वे काले हो गये और उसने उन्हें एक चद्दर भी दे दी, जिससे ओढ़ लेनेपर वे पुनः अपने पूर्वरूपमें हो सकते थे।

नागकी सम्मतिके अनुसार नलने अपना नाम बाहुक रख लिया और ऋतुपर्णकी राजधानी अयोध्यामें आकर प्रतिमास दस सहस्र स्वर्णमुद्रा वेतनपर अश्वशालाके अध्यक्ष बन गये।

दमयन्तीने नलको ढूँढ़नेके लिये अपने पिताके द्वारा अनेक ब्राह्मणोंको चतुर्दिक् भिजवा दिया। एक ब्राह्मण अयोध्या भी पहुँचा। उसे बाहुककी बातोंपर सन्देह हुआ और उसने यह समाचार दमयन्तीतक पहुँचा दिया। 'मैं पुनः स्वयंवर करूँगी। आप कलतक आ जायँ।' यह संवाद दमयन्तीने ऋतुपर्णके पास भिजवाया।

ऋतुपर्णने बाहुकको बताया। वे चिन्तित हो गये, पर तुरंत रथ तैयार किया और ऋतुपर्णको लेकर विदर्भके लिये प्रस्थित हो गये। रथ हवाकी तरह इतने वेगसे उड़ा जा रहा था कि ऋतुपर्णकी चादर गिरी। किंतु उसे उठानेके लिये झुके तबतक रथ कई कोस दूर चला गया था। रास्तेमें ही नलने ऋतुपर्णको रथ हाँकनेकी विद्या बता दी और नलने ऋतुपर्णसे द्यूतक्रीड़ामें विजय पानेकी विद्या सीख ली।

विदर्भ अयोध्यासे सौ योजन दूर था। पर बाहुक एक दिनमें ही वहाँ पहुँच गया। वहाँ स्वयंवरकी कोई बात नहीं थी। दमयन्तीने प्रत्येक रीतिसे परीक्षा करके देख लिया कि ये नल ही हैं। नलने इसे दमयन्तीके सामने स्वीकार किया ही था कि आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी। वायुदेवने पहले ही दमयन्तीके पातिव्रत्यका साक्ष्य दे दिया था।

कर्कोटकका वस्त्र पहनकर नल अपने पूर्वरूपमें हो गये। उनकी आकृतिपर दिव्यता झलकने लगी। सर्वत्र प्रसन्नता छा गयी।

नल दमयन्तीके साथ निषध पहुँचे और वहाँ जूएमें पुष्करको परास्त किया तथा पुनः निषध-नरेशका पद प्राप्त कर लिया। राजा होनेपर भी उन्होंने अपने उदार स्वभावके कारण पुष्करको निर्वासित नहीं किया।

भीषण विपत्तिमें भी अनुपम सौन्दर्यमयी दमयन्तीने अपने सतीत्वकी रक्षा की तथा अपने पतिको प्राप्त कर लिया—यह उसीका काम था। भारतकी इस पुण्य-नारीपर विश्वके पुरुषोंके मस्तक स्वतः नत हो जाते हैं।

जगज्जननी सीता

सती-शिरोमणि जगज्जननी श्रीसीतादेवी मिथिला-नरेश सीरध्वज जनक-जैसे परम धर्मात्मा एवं वैराग्यवान् पिताकी पुत्री थीं। अपने त्याग और ब्रह्मज्ञानके प्रभावसे जनकने राजर्षिकी उपाधि प्राप्त कर ली थी। यज्ञके लिये ये एक बार हल जोत रहे थे। उस समय चौड़े मुँहवाली सीता (हलके धँसनेसे बनी हुई गहरी रेखा)से परम रूप-लावण्यसम्पन्ना तेजस्विनी कन्याका प्रादुर्भाव हुआ। वे ही सीता कहलायीं।

श्रीसीतादेवी दिव्य गुणोंका अक्षय आगार थीं। इनके सरल स्वभाव, अविचल मातृ-पितृ-भक्ति और अद्भुत रूपके कारण माता-पिता तो इनपर मुग्ध थे ही; जो भी इन्हें एक बार देख लेता मुग्ध हो जाता। ये शुक्ल पक्षके चन्द्रकी भाँति धीरे-धीरे बढ़ने लगीं और समयपर विवाहके योग्य वयको प्राप्त हुईं।

मिथिलानरेश अपनी अनुपम पुत्रीके लिये उपयुक्त वर प्राप्त करना चाहते थे, इसलिये उन्होंने प्रतिज्ञा की कि श्रीशिवजीके धनुषको भंग करनेवाला ही सीताका पति होगा। धनुषभंग श्रीविश्वामित्रके साथ पधारे हुए अवधनरेश दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामचन्द्रने किया और सीतादेवी उनसे ब्याह दी गयीं। अब वे पितृकुलसे विदा होकर अयोध्यामें आयीं।

पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये भगवान् श्रीरामने चतुर्दश वर्ष वनमें व्यतीत करनेके लिये प्रस्थान करना चाहा। उस समय कौसल्यादेवी अपनी पुत्रवधू सीताका मुँह देखकर जिस प्रकार आकुल और अधीर हो गयीं, उससे स्पष्ट हो जाता है कि सीताके दिव्य एवं आदर्श सद्गुणोंसे सास-ससुर अत्यन्त प्रभावित थे। रोती हुई माता कौसल्याने कहा—

मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई॥
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई॥
. . . .
जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ॥

सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा।

भगवान् श्रीरामने सीताके सामने वनकी भयंकर विपत्तियोंका वर्णन किया तो वे अधीर हो गयीं। उन्होंने जिस दृढ़तासे अपने आन्तरिक प्रगाढ़ प्रेम और पति-पद-पद्मोंमें अनुरक्ति व्यक्त की थी, वह विश्वके नारी-समाजके लिये आदर्श है। उन्होंने कहा—

प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥
मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोगसम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥
खग मृग परिजन नगरु बनु बलकल बिमल दुकूल।
नाथ साथ सुरसदन सम परनसाल सुख मूल॥

....

बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥
अस जियँ जानि सुजान सिरोमनि। लेइअ संग मोहि छाड़िअ जनि॥
बिनती बहुत करौं का स्वामी। करुनामय उर अंतरजामी॥
राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान।
दीनबंधु सुंदर सुखद सील सनेह निधान॥

....

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू॥
ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

भगवान् विवश हुए और श्रीसीतादेवीको साथ चलनेकी स्वीकृति दे दी। श्रीसीता तो यही चाहती थीं। उनका यही सुख था, इसीमें शान्ति थी कि नित्य प्रभुके चरण-कमलोंकी भ्रमरी बनी रहें। भगवान् गंगाके पार पहुँचते हैं, वे अवध-नरेशके पुत्र होनेपर भी केवटको कुछ नहीं दे पाते, इस कारण अत्यन्त लज्जित होते हैं; पर सीता-जैसी अनुभवी और चतुरा गृहिणी तुरंत अपनी मणि-मुदरी प्रसन्नमन दे देती हैं। यह सर्वोत्तम आदर्श व्यवहार नारी ही कर सकती है। श्रीगोस्वामीजीके मुँहसे सुन लें—

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता। सीय रामु गुह लखन समेता॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥
पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥

प्राणप्रिय भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणके साथ श्री-सीतादेवी महर्षि अत्रिके आश्रमपर गयी थीं। वहाँ सती अनसूयाने इन्हें देखकर अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट की और पातिव्रत्यके दिव्य उपदेशके साथ प्रेमपूर्वक वस्त्राभूषण और अंगराग दिया तथा उसे अपने सामने धारण कराया।

इस प्रकार वे जहाँ भी गयीं, उनके शील, सरलता और स्नेहादि दिव्य गुणोंपर चराचर प्राणी मुग्ध होते गये।

श्रीसीतादेवी पतिके समीप रहकर भयंकर जन्तुपूरित भीषण वनमें भी पतिचरणोंके सामीप्यसे अत्यन्त सुखानुभव कर रही थीं, किंतु भगवान्‌को कुछ और ही लीला करनी थी। रावणकी बहिन शूर्पणखा सज-धजकर पंचवटीमें इस त्रिमूर्तिके सामने आयी। उसकी कुचेष्टासे विवश होकर श्रीलक्ष्मणने उसके नाक-कान काट लिये। वह राक्षसी खर, दूषण और त्रिशिराको चौदह सहस्र सैनिकोंको साथ ले आयी। वे सब भगवान् श्रीरामके तीक्ष्ण शरोंसे आहत होकर मर मिटे।

यह संवाद रावणको मिला। उसने छलका आश्रय लेकर श्रीसीतादेवीको चुरा लिया। श्रीसीतादेवीका कोई वश नहीं था। वे चिल्लाती रहीं, पर रावण उन्हें ले ही गया। वे अशोकवाटिकामें रखी गयीं।

इधर श्रीरामने सुग्रीवसे मैत्री स्थापित की। श्रीहनुमान् असंख्य बंदरोंके साथ जगज्जननीका पता लेने चले। समुद्र लाँघकर श्रीहनुमान् लंका पहुँचे। वहाँ अशोकवाटिकाके नीचे देखा, तपस्विनी सीता पतिवियोगमें सूखकर काँटा हो गयी हैं। वे निरन्तर रोते हुए प्रभुके ध्यानमें तल्लीन हैं।

कृसतनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी॥

अशोक-पल्लवकी ओटमें छिपे श्रीहनुमान्‌ने श्रद्धाभिभूत हृदयसे उन्हें मन-ही-मन प्रणाम किया। थोड़ी ही देरमें रावण वहाँ आया और बड़ी-बड़ी युक्तियोंसे उसने सीताको आकृष्ट करना चाहा; पर ऐसे क्रूर राक्षसके समीप एकाकी होनेपर भी उन्होंने जो कुछ उससे कहा, वह सीता-जैसी अद्वितीय पति-परायणा सती देवीके ही अनुरूप है। उन्होंने अत्यन्त दुःख और

क्रोधसे कहा—

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥
अस मन समुझु कहति जानकी। खल सुधि नहिं रघुबीर बान की॥
सठ सूनें हरि आनेहि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही॥

रावण यह वाग्‌बाण न सह सका। उसने कहा 'मैं तेरा सिर अपने कठोर कृपाणसे काट डालूँगा, नहीं तो मेरी बात मान ले।' पर श्रीसीतादेवीने तुरंत कहा—

स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा॥

इस सच्चे प्रणकी बलिहारी! धन्य थीं सीता और धन्य था उनका पातिव्रत्य! अंजनीनन्दनके नेत्रोंसे आँसू निकल पड़े। रावणके जाते ही उन्होंने माताको प्रणाम करके अपना परिचय दिया। फल खानेकी आज्ञा ली और अनेक राक्षसोंका संहार करते हुए लंकामें आग लगा दी। उसे जलाकर राख कर दिया। यह परिणाम निशाचरोंद्वारा उनकी पूँछ जलानेके उपक्रमसे हुआ था।

माताको सान्त्वना देकर श्रीहनुमान् श्रीरामके पास पहुँचे। सीताका करुण-संवाद सुनकर भगवान् अधीर हो उठे। वानरी सैन्यके साथ वे लंकापर चढ़ आये तथा समस्त प्रधान निशाचरोंके साथ रावणको मृत्यु-मुखमें डाल दिया। श्रीसीतादेवी लायी गयीं।

श्रीरामने कहा 'मैंने यह श्रम तुम्हें पानेके लिये नहीं, अपितु अपने कलंकको मिटानेके लिये किया है। तुमने राक्षसके अन्त:पुरमें इतने दिनोंतक निवास किया है, इस कारण मैं तुम्हें अपने पास नहीं रख सकूँगा। अपने इच्छानुसार तुम कहीं भी जा सकती हो।'

श्रीसीतापर जैसे वज्र गिर पड़ा। वे कुछ नहीं बोल सकीं। परमपवित्र और सर्वथा निर्दोष मातापर यह सन्देह लक्ष्मणको सह्य नहीं था, पर वे बड़े भाईके सामने विवश थे। उन्होंने माताके संकेतसे चिता तैयार कर दी। माताने अवरुद्ध कण्ठसे कहा—

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥

(वा० रा० युद्ध० ११६। २५)

'यदि मेरा हृदय कभी एक क्षणके लिये भी श्रीरघुनाथजीसे दूर न हुआ हो तो सम्पूर्ण जगत्‌के साक्षी अग्निदेव ही सब ओरसे मेरी रक्षा करें।'

प्रज्वलित अग्निमें श्रीसीतादेवी प्रवेश कर गयीं। इस दृश्यको देख समस्त वानर-भालू और राक्षस चीत्कार कर उठे। आकाशमें देव-समुदाय एकत्र हो गया था। स्वयं अग्निदेवने प्रकट होकर उनकी निर्दोषता सिद्ध की। स्वयं दशरथजीने आकर श्रीसीताकी पवित्रताका बखान करते हुए आशिष् दी।

पुष्पक-विमानपर सवार होकर श्रीसीतादेवी तथा समस्त वानरोंके साथ भगवान् अयोध्या पधारे। राज्यका शासन-सूत्र अपने हाथमें लिया। श्रीसीतादेवीके सद्‌गुणोंसे सभी उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति रखते थे।

समयपर श्रीसीतादेवी गर्भवती हुईं। पर एक साधारण धोबीके कथनको गुप्तचरोंद्वारा सुनकर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने प्रजारंजनके लिये बड़ी कठोरतासे काम लिया। उन्होंने श्रीसीतादेवीको वनमें छोड़ आनेके लिये लक्ष्मणको भेजा। लक्ष्मणने अपनी छातीपर पत्थर रखकर माताको वनमें छोड़ दिया और आँसुओंका भार लेकर लौट आये।

वनमें मूर्च्छिता सीतापर महर्षि वाल्मीकिकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने सीताको अत्यन्त प्रेमपूर्वक अपने आश्रममें रखा। वहाँ सीतादेवी फलोंपर जीवन बिता रही थीं। वहीं लव-कुश नामक दो वीर पुत्र उत्पन्न हुए। महर्षिने उन्हें सारी विद्याएँ प्रदान कर दीं।

श्रीरामके अश्वमेधके अश्वको इन दो वीर बालकोंने उनकी विपुल वाहिनीका संहार करके छीन लिया। फिर श्रीसीतादेवीने अश्वको वापिस कर दिया और उनके सैनिकोंको भी अपने सतीत्वके बलसे जीवित कर दिया।

श्रीरामके अश्वमेध-यज्ञमें लव-कुश भी गये थे। उनके मुँहसे रामायण सुनकर भगवान् बहुत प्रसन्न हुए और जब उन्हें पता चला कि ये मेरे ही पुत्र हैं तब बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने आग्रहपूर्वक महर्षि वाल्मीकिके साथ श्रीसीतादेवीको बुलवाया और उनसे शुद्धताके लिये शपथ करनेको कहा। यह सुनते ही महर्षि वाल्मीकि बोल उठे—

बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मया कृता।
नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली॥

(वा० रा० उ० ९६। २०)

'मैंने सहस्रों वर्षतक तपश्चर्या की है। यदि सीता दुष्ट आचरणवाली हों तो मुझे उस तपस्याका फल न मिले।'

सीतादेवी बहुत दुःखी थीं, वे भगवान्का दर्शन कर रही थीं, यही उनके लिये परम सुख था। उन्होंने पृथ्वीसे प्रार्थना करते हुए कहा कि 'यदि मैंने मन, वाणी और क्रिया-द्वारा कभी स्वप्नमें भी भगवान्के सिवा और किसीका चिन्तन न किया हो तो पृथ्वीमाता मुझे अपने अंकमें स्थान दें।'

श्रीसीताजीके कहते-कहते वहाँ पृथ्वी फट गयी—और वहाँसे एक दिव्य और परम सुन्दर सिंहासन प्रकट हुआ। सिंहासनको महापराक्रमी नागोंने अपने सिरपर धारण कर रखा था। सिंहासनके साथ साक्षात् पृथ्वीदेवी प्रकट हुईं। उन्होंने सीताको अपने अंकमें लिया और सिंहासनसहित धीरे-धीरे रसातलमें प्रवेश कर गयीं। आकाशस्थित देवगण भगवतीके जयनादका उच्च घोष करते हुए पुष्प-वर्षण कर रहे थे। अयोध्यानिवासी अवसन्न दृष्टिसे देखते रह गये।

इस प्रकार भगवती श्रीसीतादेवीने अपने जीवनमें अनेक कष्ट सहते हुए भी अपने धर्मपर दृढ़ रहकर विश्वके सामने जो आदर्श रखा, उसका अनुकरण और अनुसरण समस्त नारी-जातिके लिये अत्यन्त कल्याणप्रद है।

देवी द्रौपदी

द्रौपदीका प्रादुर्भाव महाराज द्रुपदके यहाँ यज्ञकुण्डसे हुआ था। ये अत्यन्त सुकुमार, सुन्दरी और परम साध्वी थीं। पाँचों पाण्डव इनके पति थे। कपट-द्यूतमें समस्त राज्यके बाद महात्मा युधिष्ठिर इन्हें भी दावमें हार गये। द्रौपदी उस समय एकवस्त्रा थीं, परंतु दुराचारी दुर्योधनके क्रूर आदेशसे भरी सभामें लायी गयीं। उनकी कातर प्रार्थना तथा बहते हुए नयनाश्रु उन पाषाण-हृदयोंको द्रवित न कर सके। दस सहस्र गजोंकी शक्ति रखनेवाला दुष्ट दुःशासन उनकी साड़ी पकड़पर खींचने लगा।

द्रौपदी काँप गयीं। उसकी आँखें मुँद गयीं और प्राण श्रीकृष्णके समीप चले गये। भगवान्का वस्त्रावतार हो गया और फिर—

दस हजार गज बल घट्यौ, घट्यौ न गज भर चीर।

दुःशासन लज्जित होकर पसीना पोंछते हुए बैठ गया!

× × ×

वनवासके समयकी बात है। दुर्योधनकी प्रेरणासे अति शीघ्र कुपित होनेवाले महर्षि दुर्वासा अपने दस सहस्र शिष्योंके साथ युधिष्ठिरके पास तब आये, जब भोजन समाप्त हो चुका था। युधिष्ठिरने प्रार्थना की 'स्नान कर आइये।'

विपत्तिमें पड़ी द्रौपदीके आँसू छलक पड़े। एकमात्र आधार श्रीकृष्णकी पुकार हुई। नन्दनन्दन दौड़े आये। 'भूख लगी है' श्रीकृष्णके कहनेपर द्रौपदीके मुँहसे निकल पड़ा 'तुम्हें भी इसी समय मजाक सूझी।'

धोया हुआ रिक्तपात्र सामने रख दिया। एक पत्ता सटा था उसीमें! श्रीकृष्णने मुँहमें डाल लिया और डकार ले ली। इधर शिष्योंसहित दुर्वासाका पेट फूल आया। उलटी-सीधी खट्टी डकारें आने लगीं। दुर्वासाकी आँखोंमें अम्बरीष घूम गये। बाहर-ही-बाहर प्राण बचानेके लिये सशिष्य सिरपर पाँव रखकर भाग खड़े हुए।

× × ×

सत्यभामाके साथ श्रीकृष्ण वनमें पाण्डवोंसे मिलने आये थे। सत्यभामाने द्रौपदीसे पूछा, 'बहिन, तुम्हारे पति सदा तुम्हारे वशमें रहते हैं। ऐसा कोई व्रत, तप, तीर्थ, मन्त्र, औषध, विद्या, जप, हवन या उपचार मुझे भी बता दो, जिससे पतिको अपने वशमें रख सकूँ।'

द्रौपदीको सत्यभामाका यह प्रश्न अच्छा नहीं लगा। अत्यन्त शान्तिसे उन्होंने कहा—'पतिको मन्त्र-यन्त्रसे वश नहीं किया जाता। मेरे पति जिस प्रकार प्रसन्न रहें, मेरा वही काम है। उनका सुख ही मेरा सुख है। मैं ईर्ष्या, अभिमान और कटुभाषण नहीं करती। स्त्रियोचित उत्तम गुण ही पुरुषोंको आकर्षित कर लेते हैं। सरलता, सज्जनता, सदाशयता, सच्चरित्रता, सत्प्रेम, सद्बुद्धि, सद्भावना, सेवा और पतिके सुखके लिये सतत सत्प्रयत्न ही उनको अपना बना देता है।'

द्रौपदी परम विदुषी, सदाचारिणी उदार, क्षमाशीला और भक्तिमती थीं। इनकी गणना पंचकन्याओंमें है।

चिरवन्दनीय मीराबाई

संवत् १५७३ के लगभग चोकड़ी नामक ग्राममें मेड़ताके राठौर श्रीरतनसिंहकी पत्नीके गर्भसे प्रातःस्मरणीया श्रीमीरादेवीने जन्म लिया था। आपका विवाह उदयपुरके राणा साँगाके ज्येष्ठ पुत्र महाराज कुमार भोजराजके साथ हुआ था, परंतु मीराका आन्तरिक और सच्चा सम्बन्ध वृन्दाविपिन-विहारी श्रीगिरिधरलालसे था। पति कुछ ही दिनोंमें इस संसारको छोड़ चले गये। फिर

तो मीरा खुलकर श्रीकृष्ण-स्मरण करने लगीं।

लोक-लाज और मिथ्या आडम्बरसे दूर हो आप संतोंके बीचमें पैरोंमें घुँघरू बाँध और करताल बजाकर नाच-नाचकर अपने प्रभुको रिझाने लगीं।

पग घुंघरु बाँध मीरा नाची रे।
लोग कहै मीराँ भई रे बावरी, सास कहै कुलनासी रे।

परिवारवालोंने अपने सम्मानकी रक्षाके लिये मीराके पास चरणामृतके बहाने विष भेज दिया। मीरा उसे समोद पान कर गयी। उन्होंने अपने ही मुँहसे कहा—

बिष को प्यालो राणाजी भेज्यो, पीवत मीराँ हाँसी रे॥
मैं तो अपने नारायण की आपहि हो गइ दासी रे।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर सहज मिल्या अबिनासी रे॥

अधिक असन्तोष देखकर मीरा चल पड़ीं वृन्दावनकी ओर, उनके एक हाथमें एकतारा और दूसरेमें करताल बज उठा।

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।

—उन्होंने स्पष्ट कह दिया।

वे जिधर गयीं, श्रीकृष्ण-प्रेमकी वर्षा होने लगी। पवित्रताका अजस्र स्रोत बह चला। आनन्दकी मन्दाकिनी लहरें लेने लगीं। मीराने अनेक पद गाये। एक-एक पद उनकी श्रीकृष्ण-प्रीतिके सन्देश हैं। नरसीजीका मायरा, गीत-गोविन्द-टीका, रागगोविन्द, राग सोरठ—ये चार पुस्तकें मीराकी कही जाती हैं। प्रेमयोगिनी मीराबाईके स्नेहपूरित पावन गायन, उनके स्मरण, उनके चिन्तन आज भी भगवद्‌भक्तोंको आनन्द-दान दे रहे हैं। भक्त-जगत्‌के सुनील गगनकी परम प्रकाशमयी उज्ज्वल तारिका अब भी भक्तोंके हृदयमें श्रीकृष्ण-प्रेमके लिये प्रेरणा दे रही है और सदा देती रहेगी।

महारानी लक्ष्मीबाई

मातृभूमिकी प्रेमोन्मादिनी वीरांगना लक्ष्मीबाईने कार्तिक कृष्ण १४ संवत् १८११ में जन्म लिया था। इनका बाल्यकाल नानासाहबके साथ बीता। बाजीराव पेशवाने इनकी शिक्षाकी सर्वोत्तम व्यवस्था कर दी थी। प्राचीन शिक्षा-प्रणालीके अनुसार बचपनमें ही इन्होंने लिखना-पढ़ना, अस्त्र-संचालन एवं अश्वारोहण सीख लिया था। ये थीं सुकुमार और स्नेहशीला सुन्दरी, पर वीरत्व इनके नस-नसमें व्याप्त हो गया था। दस-पाँच शत्रुओंको एक साथ पराजित कर देना इनके लिये अत्यन्त सरल था।

उस समय झाँसीमें गंगाधरराव राज्य कर रहे थे। लक्ष्मीबाई इन्हींकी परिणीता पत्नी हुईं। कुछ ही समय बाद ये विधवा हो गयीं। उस समय इनका जीवन संयम-नियम एवं भगवद्‌भजन तथा पूजा-पाठमें बीतने लगा।

कुछ दिनों बाद अपने दत्तक पुत्र दामोदरका इन्होंने धूम-धामसे उपनयन-संस्कार किया। दत्तकके लिये सात लाख जमा रुपयोंमेंसे अंग्रेज-सरकारने केवल एक लाख स्वीकार किया। राज्य हड़प लेनेका अंग्रेजोंका यह कुचक्र था। लक्ष्मीबाई इसे नहीं सह सकीं।

रानी युद्धक्षेत्रमें उतर पड़ीं। अंग्रेजी फौजने इनसे घनघोर युद्ध किया। कुछ विश्वासघाती मुसलमान तथा कृतघ्न राजपूतोंने भी शत्रुका साथ दिया, पर लक्ष्मीबाई भगवती काली बन गयी थीं। इनकी तोपोंके गोलोंसे शत्रुके प्राण समाप्त होने लगे। पतंगोंकी भाँति जलती-मरती अंग्रेजी फौज झाँसीके किलेमें प्रवेश करनेपर राखके सिवा कुछ नहीं पा सकी।

रानी सुरक्षित निकल गयी थीं और इन्हींकी सहायतासे नाना साहबने ग्वालियरपर अधिकार कर लिया था; पर जयाजीराव सिन्धियाने यहाँ छल किया। रत्नजटित कृपाण कटिमें कसे रानीने कर्नल स्मिथका सामना किया। अंग्रेजोंके सैनिक आँख फाड़कर रानीके रूप और रणकौशलको देखकर चकित थे। शत्रुओंका संहार करती हुई रानी आगे चली गयीं। दो शत्रु पीछे लगे। युद्ध करते हुए रानी पहले ही थक गयी थीं। शत्रुकी बर्छी रानीके सीनेमें धँस गयी। इतनेपर भी उन्होंने दोनों शत्रुओंके सिर उतार लिये। रानीका शरीर शिथिल पड़ गया। उनके नेत्र बंद हो गये।

महारानी लक्ष्मीबाईकी पवित्र स्मृतिसे आर्यधरा अपनेको पूर्ण गौरवान्वित समझती है।

सती पद्मिनी

पवित्र जौहर

'मैं अलाउद्दीनका रक्त पी जाऊँगा' चित्तौड़के राणा श्रीलक्ष्मणसिंहके चचा रत्नसिंह क्रोधसे काँप उठे। उनका मुखमण्डल लाल हो गया 'अब वह प्राण लेकर दिल्ली नहीं जा सकेगा।'

'आप नीति, धैर्य तथा बुद्धिसे काम लें' अनुपम सुन्दरी सती पद्मिनीने स्वामीके चरण पकड़ लिये

'शीशेमें मेरे रूपकी छायासे ही यदि सहस्रों पुरुषोंके प्राण और स्त्रियोंके सुहागकी रक्षा हो जाय तो आपत्ति नहीं करनी चाहिये।'

'तुम ठीक कहती हो' कुछ सोचकर रत्नसिंहने कहा। उन्होंने अपनी स्वीकृति अलाउद्दीनके पास भेज दी।

'परम बुद्धिमती पद्मिनीने अपने सतीत्व तथा पतिको बचा लिया और मुझे प्राण लेकर भागना पड़ा' यह अलाउद्दीन एक क्षणके लिये भी नहीं भूल सका। आँखकी किरकिरी और टूटे काँटेकी तरह यह बात उसे दुःख दे रही थी। फलतः यवनोंकी सजी विशाल सेना झूमती हुई चित्तौड़की ओर चल पड़ी।

वीर राजपूत युद्धमें डट गये। चार-चार मुसलमानोंका एक-एक राजपूतोंके हाथों वध होना वहाँ सामान्य बात थी, राजपूत योद्धाओंने यवनोंके उष्ण रक्तसे चित्तौड़की धरा सींच दी, पर उनकी संख्या कम थी, सैकड़ों मुसलमानोंका बलिदान कर श्रीरत्नसिंहने वीरगति प्राप्त की।

पद्मिनीको जैसे विश्वकी सम्पत्ति मिल गयी थी, वह अत्यन्त प्रसन्न थी। सामने सूखे काष्ठके पहाड़में अग्निदेव पहुँच गये थे। चतुर्दिक् अग्निकी विशाल लाल-लाल लपटें और ज्वाला-ही-ज्वाला दीखती थी। एक-दो-तीन.....चित्तौड़की समस्त स्त्रियाँ हँसती हुई कूदती जा रही थीं और साथ ही पद्मिनी-सी सुकोमल और लावण्यवती पद्मिनी भी उसमें समा गयी।

अलाउद्दीनको वहाँ मिली थी एक पद्मिनी नहीं, अनेक सती पद्मिनियोंकी केवल भस्म!!

कुछ आचार्य, महात्मा और भक्त

श्रीशंकराचार्य

'मा! मैं संन्यास लेना चाहता हूँ।' सात वर्षके बालक शंकरने मातासे आज्ञा माँगी। पाँचवें वर्षमें उनका यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न हुआ था और केवल दो वर्ष गुरुगृहमें रहकर उन्होंने चारों वेद, वेदांग एवं दर्शन-शास्त्रकी शिक्षा समाप्त कर दी थी। ऐसे लोकोत्तर बालकके लिये क्या अवस्थाका बन्धन हो सकता है?

माता सुभद्रा कैसे आज्ञा दें। वृद्धावस्थामें भगवान् शंकरकी आराधनासे उन आशुतोषने वरदानस्वरूप तो यह एक सन्तान प्रदान की उन्हें। बालक तीन वर्षका था, तभी उसके पिता श्रीशिवगुरुजी संसार छोड़कर कैलास पधार गये। यह क्या सामान्य बालक है माताकी गोदमें? साक्षात् शंकर ही तो पधारे हैं। एक वर्षकी अवस्थामें मातृ-भाषाका शुद्ध स्पष्ट ज्ञान, दो वर्षोंमें मातासे सुने पुराणोंको कण्ठ कर लेना और अभी तो सात ही वर्षके हुए न? माता ऐसे पुत्रको छोड़ कैसे दे। कैसे नेत्रोंसे पृथक् करे।

'मा! तू मुझे संन्यास लेनेकी आज्ञा दे दे, तो मगर मुझे छोड़ देगा!' विश्वको द्योतित करनेवाले सूर्य झोपड़ीमें बंदी नहीं हो सकते। माता नदीमें स्नान कर रही थी। शंकरका पैर मगरने पकड़ लिया। वे डूबते हुए भी शान्त, स्थिर बने रहे। मातासे उन्होंने संन्यासकी आज्ञा माँगी।

'तू मेरी मृत्युके समय आ जाना!' माताने आज्ञा दे दी। पुत्रका जीवन बचता हो तो ऐसा ही सही। उन्होंने केवल मृत्युके समय दर्शन चाहा। मगर तो उन योगिराजकी योगमायाकी क्रीड़ापुत्तलिका था। वहाँसे नर्मदातटपर आकर स्वामी गोविन्द भगवत्पादसे आठ वर्षकी अवस्थामें संन्यास ग्रहण किया। गुरुने उनका नाम भगवत्पूज्यपादाचार्य रखा। वहाँ गुरुके उपदिष्ट मार्गसे ये शीघ्र योगसिद्ध हो गये। गुरुदेवने काशी जाकर इनसे ब्रह्मसूत्रपर भाष्य करनेकी आज्ञा दी।

श्रीशंकराचार्यके प्रथम शिष्य काशीमें सनन्दनजी हुए। इनका नाम पद्मपादाचार्य हुआ। भगवान् विश्वनाथने आचार्य शंकरको चाण्डालरूपमें दर्शन दिया और जब आचार्यने उन्हें पहचानकर प्रणाम किया, प्रकट हो गये वे शशांकशेखर। ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखा गया। एक दिन सहसा एक वृद्ध ब्राह्मण एक सूत्रके अर्थपर शंका कर बैठे। शास्त्रार्थ होने लगा और वह आठ दिनतक चलता रहा। पद्मपादाचार्य आश्चर्यमें थे, कि उनके गुरुदेवसे इस प्रकार शास्त्रार्थ करनेवाला कौन आ गया। ध्यान करनेपर उन्हें ज्ञात हुआ, स्वयं भगवान् व्यास ब्राह्मणरूपमें

उपस्थित हैं। अतः उन्होंने प्रार्थना की—

शंकरः शंकरः साक्षाद् व्यासो नारायणः स्वयम्।
तयोर्विवादे सम्प्राप्ते न जाने किं करोम्यहम्॥

आचार्यने भगवान् व्यासको पहचाना, उनका वन्दन किया। व्यासजी प्रसन्न हुए—'तुम्हारी आयु केवल सोलह वर्षकी है। वह समाप्त हो रही है। मैं तुम्हें सोलह वर्ष और देता हूँ। धर्मकी प्रतिष्ठा करो!'

भगवान् व्यासके आदेशसे आचार्य वेदान्तके प्रचार, सनातनधर्मकी प्रतिष्ठा और विरोधी तार्किकोंको शास्त्रार्थमें पराजित करनेमें लग गये। काशी, कुरुक्षेत्र, बदरिकाश्रमसे दक्षिण-भारत—रामेश्वरतककी उन्होंने यात्रा की। प्रयागमें त्रिवेणीतटपर जब वे कुमारिल भट्टसे शास्त्रार्थ करने पहुँचे, आचार्य कुमारिल तुषाग्नि (भूसीकी अग्नि) में जलनेको बैठ चुके थे। उन्होंने कहा—'मण्डन मेरा शिष्य है। उसकी पराजयसे मैं ही पराजित हुआ, इस प्रकार मानना चाहिये।'

मण्डन मिश्रकी पत्नी भारती मध्यस्था हुईं। शास्त्रार्थमें पराजित होकर मण्डन मिश्रने आचार्यका शिष्यत्व स्वीकार किया। उनका नाम सुरेश्वराचार्य हुआ। आचार्य शंकरने फिर भी श्रीकुमारिल भट्टको श्रेष्ठ ही माना और अपने ग्रन्थोंमें उन्हें भगवत्पाद कहकर गुरुकी भाँति सम्मानित किया है।

'मेरी साधनाकी सफलताके लिये एक तत्त्वज्ञकी बलि आवश्यक है। आपको शरीरका कोई मोह है नहीं।' एक दिन एकान्तमें एक कापालिकने आचार्यसे प्रार्थना की।

'किसीको पता न लगे, अन्यथा लोग तुम्हें कष्ट देंगे। मैं स्वतः आ जाऊँगा।' उनको शरीरका क्या मोह। घोर अर्धरात्रिमें श्मशान पहुँच गये आचार्य। कापालिक बलिका विधान करने लगा। आचार्यने समाधि लगायी। कापालिक सिर काटनेवाला था, इतनेमें पद्मपादाचार्यमें उनके इष्टदेव भगवान् नृसिंहका आदेश हुआ। आवेशमें उन्होंने कापालिकको मार डाला।

सोलह वर्षकी अवस्थामें आचार्यने प्रस्थानत्रयीका भाष्य पूर्ण कर लिया था। शेष सोलह वर्षोंमें सम्पूर्ण भारतमें उन्होंने घूम-घूमकर धर्मकी स्थापना की। उस समय पूरे देशमें बौद्ध एवं कापालिकोंके मतका प्राबल्य था। अधिकांश नरेश बौद्ध हो गये थे। आचार्यने शास्त्रार्थके द्वारा बौद्ध पण्डितोंको पराजित किया। राजाओंने प्रजाके साथ उनके पावन उपदेशको स्वीकार किया। अशास्त्रीय उग्रतर सम्प्रदायोंका दमन हुआ। आचार्यके प्रभावसे देशव्यापी बौद्धमत लुप्तप्राय हो गया। भारतमें श्रुतिसम्मत सनातनधर्म प्रतिष्ठित हुआ।

आचार्यने पुरी, द्वारका, शृंगेरी और ज्योतिर्मठ (बद्रीनाथ) में पीठ स्थापित करके अपने एक-एक शिष्यको वहाँ धर्मकी रक्षाके लिये नियुक्त किया। बत्तीस वर्षकी अवस्थामें केदारनाथजीके समीप उन्होंने इहलोककी लीलाका संवरण कर लिया। आचार्यके बनाये एवं भाष्य किये ग्रन्थोंकी सूची बहुत लंबी है। उनके अद्वैतवादका देशपर व्यापक प्रभाव पड़ा। वैदिकधर्मके उद्धारके लिये उनका प्रयत्न अद्वितीय है और इसी प्रकार उनकी सिद्धान्त-स्थापन-प्रणाली विश्वके दार्शनिकोंमें अद्वितीय मानी जाती है।

अद्वैत-ज्ञानकी परम्परामें प्रथम नाम श्रीगौड़पादाचार्यजीका आता है। इनका कोई जीवनचरित प्राप्त नहीं है। माण्डूक्योपनिषत्कारिका आचार्य गौड़पादका प्रधान ग्रन्थ है। इनके शिष्य आचार्य गोविन्दभगवत्पाद ही श्रीशंकराचार्यके गुरुदेव हैं। कुछ विद्वानोंकी सम्मति है कि महर्षि पतंजलिका ही दूसरा नाम गोविन्दपादाचार्य है। आचार्य शंकरके प्रधान शिष्योंमें पद्मपादाचार्य, सुरेश्वराचार्य हैं। इनमें सुरेश्वराचार्यके बहुत अधिक ग्रन्थ हैं।

आचार्य शंकरके अद्वैत-ज्ञानकी परम्परा लोकोत्तर प्रतिभासम्पन्न विद्वानोंसे पूर्ण है। इनमें 'संक्षेप-शारीरक'-कार सर्वज्ञात्म-मुनि, वेदान्तके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भामती' के कर्ता वाचस्पति मिश्र, 'खण्डनखण्डखाद्य' के रचयिता श्रीहर्ष, श्रीचित्सुखाचार्य, आचार्य भारतीतीर्थ, आचार्य शंकरानन्द, 'पंचदशीकार' स्वामी विद्यारण्य, श्रीआनन्दगिरि, अप्पय्य दीक्षित, स्वामी मधुसूदन सरस्वती आदि अनेक आचार्य हैं। प्रायः इन सभी आचार्योंने अनेक ग्रन्थोंके भाष्य तथा टीकाएँ की हैं। वेदान्तके अतिरिक्त दूसरे दर्शनों तथा धर्मशास्त्रपर भी इनमेंसे अनेक आचार्योंके उत्तम ग्रन्थ हैं—जैसे श्रीविद्यारण्यजीने अपने पूर्वाश्रममें माधवाचार्यके नामसे 'कालमाधव', 'पराशरमाधव' आदि धर्मशास्त्रके ग्रन्थ लिखे हैं। वेदोंके सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्यजी विद्यारण्यजीके सहोदर भ्राता थे।

यदि अद्वैत-मतके मुख्य आचार्यों तथा उनके ग्रन्थोंकी सूची भी देना चाहें तो बहुत विस्तार होगा। श्रीशंकराचार्यजीके अद्वैतवादका देशमें एवं विदेशोंपर व्यापक प्रभाव पड़ा है। उनके मतके सम्बन्धमें सहस्रों ग्रन्थ लिखे गये हैं। विद्वानों एवं संतोंकी परम्परा अभी उसमें अविच्छिन्न चली आ रही है।—सु०

आचार्य कुमारिल भट्ट

किं करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति।

जब भारत बौद्धप्राय हो गया था, बौद्ध-सम्राट्की महाराज्ञी अपने अन्तःकरणकी व्यथा सचमुच किससे कहे? वेदों तथा सनातन धर्मका नाम लेना आरम्भ हो गया था। उस समय निर्णयात्मक वाणीमें 'मैं वेदोंका उद्धार करूँगा' यह आश्वासन देना आचार्य कुमारिलका ही साहस था।

बौद्धमतका खण्डन करनेके लिये आचार्यको बौद्ध विद्वानोंसे अध्ययन करना पड़ा और अपनी लोकोत्तर प्रतिभाके बलपर आचार्यने बौद्ध पण्डितोंको शास्त्रार्थमें पराजित करके अपने वेदोद्धारकी प्रतिज्ञाको सफल कर दिया। आचार्य कुमारिलकी विद्वत्ताके लिये उनके शिष्य मण्डन मिश्रका ही परिचय पर्याप्त है, जिनके आश्रमकी सारिकाएँ भी शुद्ध मन्त्र-पाठ करती थीं।

'मैंने गुरुद्रोह किया है।' आचार्य कुमारिलकी शास्त्रोंपर जो श्रद्धा थी, आजके युगमें उसकी कल्पना भी कठिन है। वेदोंकी रक्षा, सनातन धर्मकी स्थापनाके लिये जो कुछ किया गया, वह ठीक था। उद्देश्य पवित्र था; किंतु जिनसे अध्ययन किया, उन्हींका खण्डन तो गुरुद्रोह ही हुआ। आचार्यको न कष्टका भय था और न शरीरका मोह। उन्होंने प्रायश्चित्तका निश्चय किया। प्रायश्चित्त भी क्या? जब श्रीशंकराचार्य उनसे शास्त्रार्थ करने पहुँचे, वे प्रयागमें त्रिवेणीतटपर तुषाग्नि (चावलोंकी भूसीकी आग) में बैठे थे, जो बहुत धीरे-धीरे जलाकर प्राण लेती है।

आचार्य कुमारिलका जन्म दक्षिण भारतमें हुआ था। वे पूर्वमीमांसाके मुख्य आचार्य हैं। उनका मत मीमांसामें गुरुमत कहा जाता है। पूर्वमीमांसा-दर्शनके शाबर-भाष्यपर उनकी टीका है। इनका दूसरा ग्रन्थ, 'श्लोक-वार्तिक' है। श्रीशंकराचार्यने अपने ग्रन्थोंमें इन्हें गुरुकी भाँति भगवत्पाद कहकर स्मरण किया है।—सु०

श्रीरामानुजाचार्य

आपत्तियाँ महापुरुषोंके पथको प्रशस्त ही करती हैं। आचार्य श्रीरामानुजका जीवन प्रारम्भसे आपत्तियोंमें उलझा हुआ है और इन आपत्तियोंने उसे उज्ज्वलतर किया है। दक्षिण-भारतका तिरुकुन्नर ग्राम उनके आविर्भावसे पवित्र हुआ। बहुत छोटी अवस्थामें पिता केशवभट्ट परलोकवासी हो गये। कांची जाकर यादवप्रकाशजीसे ये विद्याध्ययन करने लगे। योग्य गुरु शिष्यकी प्रतिभासे प्रसन्न होता है; किंतु इनके शिक्षक अपना अपमान समझने लगे कि एक लड़का अपने तर्कोंसे उनके तर्कोंमें दोष निकाल दे। द्वेषवश इनके चचेरे भाई एवं सहाध्यायी गोविन्दभट्टको नियुक्त किया उन्होंने इनका वध करनेके लिये। काशीयात्राके बहाने वनमें यह घोर कृत्य होना था; पर वनमें क्या वे सर्वरक्षक नहीं रहते? एक व्याध और उसकी पत्नीने वनमें आचार्यकी रक्षा की।

महापुरुष आलवन्दार (श्रीयामुनाचार्य) ने आचार्यको स्मरण किया तब, जब वे श्रीनारायणके नित्यधाम पधारने लगे। आचार्य श्रीरंगम् पहुँचे। इससे पूर्व ही उनका महाप्रस्थान हो गया। आचार्यने देखा, आलवन्दारके हाथोंकी तीन अँगुलियाँ मुड़ी हुई हैं। उन्होंने संकेत समझ लिया और नम्रतासे सूचित किया 'मैं ब्रह्मसूत्र, विष्णुसहस्रनाम और दिव्यप्रबन्धम्' की टीका अवश्य लिखूँगा या लिखवा दूँगा। महापुरुषके हाथकी अँगुलियाँ सीधी हो गयीं।

आचार्यने श्रीयतिराजसे संन्यासकी दीक्षा ग्रहण की। तिरुकोट्टियूरके महात्मा नाम्बिने इन्हें अष्टाक्षर (**ॐ नमो नारायणाय**) मन्त्रकी दीक्षा दी। गुरुने आदेश दिया—'यह परम गोप्य श्रीनारायण-मन्त्र है। अनधिकारीको इसका श्रवण नहीं करना चाहिये। इसके श्रवणमात्रसे अधम प्राणी भी बैकुण्ठके अधिकारी हो जाते हैं।'

'सुनो! सुनो! सब लोग सुनो और स्मरण कर लो! भगवान् नारायणके इस मन्त्रके सुननेसे ही प्राणी वैकुण्ठका अधिकारी हो जाता है।' आचार्य मन्दिरके शिखरपर खड़े होकर भीड़का आह्वान करके उस परम गोप्य मन्त्रकी घोषणा कर रहे थे।

'रामानुज! तुमने यह क्या किया? मेरी आज्ञा भंग

आचार्य श्रीशङ्कर

स्वामी रामानन्द

महाप्रभु श्रीचैतन्य

श्रीरामानुजाचार्य

श्रीमध्वाचार्य

श्रीनिम्बार्काचार्य

श्रीवल्लभाचार्य

करनेका फल तुम जानते हो?' गुरुदेवने सुना तो बहुत अप्रसन्न हुए। इस प्रकार कहीं मन्त्र-घोषणा की जाती है?

'गुरुदेव! आपकी आज्ञा भंग करके मैं नरक जाऊँगा, यही तो? बेचारे इतने प्राणी श्रीहरिके धाम पधारेंगे! मैं अकेला ही तो नरककी यातना भोगूँगा?'

'आचार्य तो सचमुच तुम्हीं हो।' गुरुदेवने शिष्यको हृदयसे लगा लिया।

× × ×

आचार्यकी कीर्तिके साथ उनके शत्रु भी बढ़ते जा रहे थे। शत्रुओंने अनेक बार उनके वधका प्रयत्न किया, उनके भोजनमें विष मिलाया गया; पर प्रभुने सदा रक्षा की। आचार्यने सम्पूर्ण भारतकी यात्रा की। श्रीमहालक्ष्मीजीद्वारा प्रवर्तित प्रपत्तिमार्गके अनुसार उन्होंने प्रस्थानत्रयीका 'श्रीभाष्य' किया। आचार्यके प्रधान शिष्य कूरत्ताळ्वार (कुरेश) थे। कुरेशके दो पुत्र थे पराशर और पिल्लन। आचार्यकी आज्ञासे पराशरने विष्णुसहस्रनाम तथा पिल्लनने 'दिव्य प्रबन्धम्' की टीका की। इस प्रकार श्रीयामुनाचार्यकी तीनों इच्छाएँ आचार्यने पूर्ण कीं।

श्रीरंगम्पर उन दिनों चोलराज कुलोत्तुंगका अधिकार था। ये कट्टर शैव थे। वैष्णवोंके शत्रु होनेके कारण राजा आचार्यसे रुष्ट हो गये। उन्होंने आचार्यको अपने दरबारमें बुलाया। राजाकी दुरभिसन्धि स्पष्ट थी। कूरत्तालवार (कूरेश) ने गुरुके लिये बलिदान करनेका निश्चय किया। वे आचार्यके स्थानपर स्वयं पेरियनाम्बिके साथ राजाके यहाँ पधारे। राजा इनके वैष्णव-धर्मके समर्थनसे रुष्ट हो गया, उसने कूरेशकी आँखें निकलवा लीं। इन महापुरुषने धैर्यसे वह कष्ट सहन कर लिया।

चोळराजको अपनी क्रूरतासे सन्तोष नहीं हुआ। वे आचार्यकी खोज करने लगे; किंतु आचार्य उस समय मैसूर-राज्यमें शालग्राम नामक स्थानमें रहते थे। वहाँके नरेश भिट्टिदेव परम वैष्णव थे। आचार्य वहाँ बारह वर्ष रहे। आचार्यकी आज्ञासे राजाने तिरुनारायणपुरके प्राचीन मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया। वहाँ श्रीरामका जो विग्रह है, वह दिल्लीके बादशाहकी कन्याके पास था। आचार्यने उसे दिल्लीसे लाकर प्रतिष्ठित किया। राजा कुलोत्तुंगके देहान्तके पश्चात् आचार्य श्रीरंगम् पधारे। वहाँ उन्होंने श्रीरंगमन्दिरका विस्तार कराया, उत्सव नियत किये। इस प्रकार एक सौ बीस वर्षकी अवस्थातक श्रीरंगकी सेवा और भक्तिका प्रचार करके आचार्य उनके श्रीधाम पधारे।

आचार्य श्रीरामानुजने जिस विशिष्टाद्वैत मतका प्रचार किया, उसकी परम्परा पूर्वसे चली आ रही थी। द्वापरके अन्तसे उसमें 'आळवार' भक्तोंका क्रम मिलता है। सरोयोगी या पोयगै, भूतत्त और पेय—ये तीन अत्यन्त प्राचीन आळवारोंका वर्णन मिलता है। ये क्रमशः कांची, महाबलीपुर और मैलापुरमें हुए थे। इनके पश्चात् आचार्य 'तिरुमड़िशै' (भक्तिसार) का प्रादुर्भाव हुआ और फिर पाण्डयदेशके तिरुक्कुरुकूर नगरमें शठकोप स्वामी (नम्माळवार) का। शठकोप स्वामीके प्रधान शिष्य 'मधुरकवि' अत्यन्त प्रख्यात हैं। केरळप्रान्तमें कुलशेखर प्रसिद्ध आळवार हुए। विष्णुचित्त पेरिआळवार और उनकी पुत्री गोदा (आण्डाळ) की रचनाओंका तमिळमें अत्यन्त आदर है। श्रीयामुनाचार्यसे पूर्व द्रविड़ाचार्य, गुहदेव, टंक, श्रीवत्सांक प्रभृति वैष्णवाचार्योंके नाम मिलते हैं, जिन्होंने ब्रह्मसूत्रपर भाष्य किये थे। विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदायकी परम्परा श्रीमहालक्ष्मीसे विष्वक्सेन, श्रीशठकोपस्वामी, श्रीनाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष, श्रीराममिश्र स्वामी और श्रीयामुनाचार्य—इस क्रमसे एकसे दूसरेको प्राप्त हुई है।

आचार्य श्रीरामानुजकी परम्परामें महान् दार्शनिक एवं प्रकाण्ड विद्वानोंका क्रम चलता ही आया है। श्रीदेवराजाचार्य, श्रीवरदाचार्य, श्रीसुदर्शनव्यास भट्टाचार्य, श्रीवीरराघवदासाचार्य, श्रीवादिहंसाम्बुजाचार्य, श्रीवेंकटनाथ वेदान्ताचार्य, श्रीमल्लोकाचार्य, आचार्य वरदगुरु, वरदनायक सूरि, अनन्ताचार्य, दोद्दय महाचार्य रामानुजदास, सुदर्शनगुरु, तीनों श्रीनिवासाचार्य, बुच्चि वेंकटाचार्य, श्रीनिवास दीक्षित आदि आचार्योंने अपने ग्रन्थोंसे विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तको स्पष्ट एवं विस्तृत किया है। आचार्य बोधायन, आचार्य ब्रह्मनन्दी और द्रमिडाचार्यने विशिष्टाद्वैतके सिद्धान्त-ग्रन्थोंका बहुत बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण विस्तार किया है।

श्रीरामानुजाचार्यने शास्त्रीय आचार एवं भक्तिकी भारतमें पुनः प्रतिष्ठा की। बौद्ध एवं कापालिक धर्मसे वैदिक-धर्म क्षीणप्राय हो गया था। श्रीशंकराचार्यने सनातन धर्मको प्रतिष्ठित किया था, शास्त्रोंके प्रति श्रद्धा जाग्रत् कर दी थी; किंतु शास्त्रीय आचारकी ठीक प्रतिष्ठा होकर हिंदू-धर्मका पुनरुद्धार श्रीरामानुजाचार्यद्वारा ही पूर्ण हुआ।—सु०

श्रीमध्वाचार्य

विक्रम-संवत् १२९५ माघशुक्ल सप्तमीको मद्रासके मंगलूर जिलेके उडूपीक्षेत्रसे कुछ दूर वेललिग्राममें भार्गवगोत्रीय नारायणभट्टकी पत्नी माता वेदवतीकी गोद एक लोकोत्तर पुरुषके प्राकट्यसे धन्य हो गयी। पिताने बालकका नाम वासुदेव रखा। बचपनमें बालक वासुदेव खेलने-कूदनेमें अधिक रुचि रखते थे। वे वायुदेवके अवतार सुपुष्ट-शरीर अत्यन्त बलवान् थे। लोग उन्हें 'भीम' कहकर पुकारते थे। पढ़नेकी रुचि हुई और अल्पकालमें ही समस्त शास्त्र अनायास उपस्थित हो गये।

बालक वासुदेव संन्यास लेनेको प्रस्तुत हुए। माता-पिताका मोह स्वाभाविक है; किंतु जन्मसिद्ध पुत्रके चमत्कारों, योगसिद्धिके प्रभावोंको देखकर माता-पिताको स्वीकृति देनी पड़ी। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें श्रीअच्युतपक्षाचार्यजीसे संन्यास लेकर वासुदेवने पूर्णप्रज्ञ नाम धारण किया। वास्तविक अध्ययन तो संन्यासके पश्चात् प्रारम्भ हुआ। गुरुदेव इन्हें पढ़ानेमें असमर्थ हो जाते। शिष्य ही गुरुके मतका खण्डनकर प्रायः उन्हें ठीक अर्थ समझानेवाले हो गये।

'मैं गंगा-स्नान करने जाऊँगा। आचार्य पूर्णप्रज्ञने गुरुदेवसे अनुमति माँगी। परम प्रिय शिष्यके वियोगसे गुरुदेव व्यथित हो गये।

'आप व्याकुल न हों, सम्मुखके सरोवरमें परसों श्रीगंगाजी पधारेंगी। अतः ये यात्रा न कर सकेंगे।' अनन्तेश्वरजीने गुरुदेवको आश्वासन दिया। तीसरे दिन सरोवरका हरिताभ जल उज्ज्वल हो गया। उसमें लहरें स्पष्ट हो गयीं। यात्रा रुक गयी। अबतक बारह वर्षोंमें एक बार सरोवरमें गंगाजीका प्रादुर्भाव होता है।

आचार्यने कुछ दिनों पश्चात् यात्रा की। उन्होंने स्थान-स्थानपर शास्त्रार्थ करके भक्ति-मार्गकी स्थापना की। एक स्थानपर वेद, महाभारत और विष्णुसहस्रनामके उन्होंने क्रमशः तीन, दस और सौ अर्थ किया। गीताका भाष्य पूर्ण करके वे श्रीबद्रीनाथ-धाम पहुँचे। वहाँ भगवान् व्यासने इन्हें शालग्रामजीके तीन विग्रह देकर भक्तिकी स्थापनाका आदेश दिया।

आचार्यने अनेक श्रीविग्रहोंकी स्थापना की। भगवान् व्यासप्रदत्त शालग्राम-विग्रह सुब्रह्मण्य, उडूपी और मध्यतलमें पधराये गये। तुलुबके समीप जलमग्न जहाजमेंसे गोपीचन्दनसे ढकी श्रीकृष्णचन्द्रकी सुन्दर मूर्ति स्वप्नादेशके अनुसार निकलवाकर आचार्यने उडूपीमें स्थापित की। उडूपीमें और भी आठ मन्दिर आचार्यके बनवाये हैं। सरदन्तर स्थानमें जब आचार्य परमधाम पधारने लगे, तब उन्होंने पद्मनाभतीर्थ (सोहनभट्ट) को श्रीरामजीकी मूर्ति एवं भगवान् व्यास-प्रदत्त शालग्राम-विग्रह देकर द्वैतमतके प्रचारकी आज्ञा दी।

श्रीपद्मनाभाचार्य, श्रीजयतीर्थाचार्य, आचार्य व्यासराज स्वामी, व्यास रामाचार्य, श्रीराघवेन्द्र स्वामी, आचार्य वेदेशतीर्थ और आचार्य श्रीनिवासतीर्थने अपने ग्रथों, टीकाओंके द्वारा श्रीमध्वाचार्यके द्वैत-सिद्धान्तको सुपुष्ट एवं प्रसारित किया है।

आचार्य पूर्वप्रज्ञ (श्रीमध्वाचार्य) का सिद्धान्त शंकर-मतसे ठीक विपरीत-सा हो गया है। अद्वैत-मतमें भगवान् शंकराचार्य परम उपासक थे; किंतु कालक्रमसे ब्रह्मात्मैक्यका अर्थ शुष्क बौद्धिक विलास हो गया। आचार तथा परलोक बालकोंकी कल्पना मान लिये गये। शास्त्रका विचित्र अर्थ होने लगा। आचार्य मध्वने जीवकी नित्य पृथक् सत्ताका प्रतिपादन किया। जीव अपने संचालक स्वामी परमात्माकी आराधना करके ही नित्य शान्ति एवं आनन्द प्राप्त कर सकता है। इस सिद्धान्तसे उपासना, शास्त्र, परलोक, कर्म आदि सबका पोषण हुआ।—सु०

श्रीनिम्बार्काचार्य

भारतका दक्षिण-प्रान्त आचार्योंकी जन्म-भूमि रहा है। गोदावरी-तटपर वैदूर्यपत्तनके पास अरुणाश्रममें श्रीअरुणमुनिकी पत्नी जयन्तीदेवीके गर्भसे श्रीनियमानन्दका अविर्भाव हुआ। आगे यही आचार्य निम्बार्क नामसे प्रख्यात हुए। कुछ विद्वान् इनके पिताका नाम जगन्नाथ बतलाते हैं। इनके भक्त इनका प्रादुर्भाव द्वापरमें मानते हैं। कहते हैं कि स्वयं देवर्षि नारदने इन्हें श्रीगोपालमन्त्रकी दीक्षा दी।

'भगवन्! मुझे स्मरण नहीं रहा, बहुत विलम्ब हो चुका। अब आप प्रसाद ग्रहण करें।' आचार्यचरण मथुराके पास ध्रुवक्षेत्रमें निवास करते थे। एक दिन एक दण्डी महात्मा पधारे। दो शास्त्रज्ञ, अनुभवसम्पन्न महापुरुषोंमें परस्पर अध्यात्मचर्चा चलने लगी तो समयका ध्यान किसे रहे। सायंकालके पश्चात् आचार्यने अतिथिसे प्रार्थना की।

'अब तो सूर्यास्त हो गया।' दण्डी संन्यासी नियमतः

सूर्यास्त पश्चात् कैसे भिक्षा ग्रहण कर सकते थे।

'सूर्यनारायण अभी प्रकाशित हैं।' सहसा प्रकाश फैल गया। जैसे बादलोंमेंसे भगवान् भास्कर निकले हों। आश्रमके समीप नीमके वृक्षके ऊपर सूर्यमण्डल प्रत्यक्ष प्रकट हो गया था। आचार्यके साथ अतिथि तथा दूसरोंने भी वह दृश्य देखा। आचार्य गद्‌गद हो रहे थे। उनके मनमें अतिथिके अनाहारके कारण जो क्षोभ हुआ, उसे उनके आराध्यने दूर कर दिया। पता नहीं स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र सूर्यरूपमें नीमके वृक्षपर उपस्थित थे या उनका कोटिमार्तण्डमूर्ति सुदर्शनचक्र, जिसके आचार्य मूर्त अवतार थे। अतिथिने प्रसाद ग्रहण किया और सूर्यमण्डल अदृश्य हो गया। तबसे आचार्यका नाम निम्बादित्य या निम्बार्क हो गया।

आचार्यका एकमात्र ग्रन्थ वेदान्तसूत्रोंपर भाष्य—वेदान्त-पारिजात-सौरभ ही इस समय मिलता है। उनके शिष्य केशवभट्टके अनुयायी विरक्त होते हैं और हरिव्यासके अनुयायी गृहस्थ होते हैं। आचार्यने प्रस्थानत्रयीके स्थानपर प्रस्थानचतुष्टयको प्रधान माना और उसमेंसे चौथे प्रस्थान श्रीमद्भागवतको ही परम प्रमाण स्वीकार किया। श्रीनिवासाचार्य, आचार्य श्रीयादवप्रकाश, श्रीपुरुषोत्तमाचार्य, श्रीदेवाचार्य, श्रीकेशवाचार्य, आचार्य विश्वनाथ चक्रवर्ती आदि आचार्य श्रीनिम्बार्कके द्वैताद्वैतसिद्धान्तके प्रमुख व्याख्याता हुए हैं। इन आचार्योंने अपनी टीकाओं, व्याख्याओं तथा स्वतन्त्र ग्रन्थोंमें आचार्यके सिद्धान्तोंका विस्तार किया है।—सु०

श्रीवल्लभाचार्य

दक्षिण-भारतके काँकरवाड ग्राममें आकर भरद्वाजगोत्रीय तैलंग ब्राह्मणोंका एक सोमयाजी परिवार बस गया। श्रीलक्ष्मणभट्टकी सातवीं पीढ़ीसे सोमयाग बराबर चलता आया था। सौ सोमयज्ञोंकी पूर्तिके उपलक्षमें काशी जाकर एक लाख ब्राह्मणोंको भोजन करानेके लिये पत्नी श्रीइलम्माके साथ लक्ष्मणभट्टजीने यात्रा की। मार्गमें चम्पारण्यमें, जो छत्तीसगढ़के रायपुर जिलेमें है, श्रीवल्लभका जन्म हुआ। जो कुल सौ सोमयाग पूर्ण करता है, उसमें भगवदीय महापुरुषका आविर्भाव होता ही है।

ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही काशीमें श्रीमाधवेन्द्रपुरीसे श्रीवल्लभने समस्त शास्त्राध्ययन पूर्ण कर लिया। वहाँसे आप वृन्दावन चले आये और कुछ दिन व्रजवास करके तीर्थाटनको निकले। विजयनगरके राजा कृष्णदेवकी सभामें उपस्थित होकर आपने शास्त्रार्थमें बड़े-बड़े पण्डितोंको पराजित किया। यहीं वैष्णवाचार्यकी उपाधि स्वीकार की। विजयनगरसे आचार्य उज्जैन आये। वहाँ आपने जिस पीपलके नीचे निवास किया, वहाँ आचार्यकी बैठक है। विभिन्न स्थानोंमें आचार्यपादकी ऐसी बैठके अबतक हैं।

श्रीश्यामसुन्दरने स्वयं प्रकट होकर आचार्यके पुत्र बननेकी इच्छा प्रकट की। अट्ठाईस वर्षकी अवस्थामें आचार्यने विवाह किया। श्रीविट्ठलके रूपमें स्वयं विट्ठलभगवान् ही पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुए। आचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभुसे मिले थे; ऐसा कुछ विद्वानोंका मत है।

जीवनके अन्तिम दिनोंमें आचार्य काशीमें निवास करते थे। एक दिन हनुमानघाटपर वे गंगास्नान कर रहे थे। सहसा एक उज्ज्वलज्योति शिखा उठी और बहुत-से मनुष्योंने देखा कि आचार्य सशरीर ऊपर उठते जा रहे हैं। इस प्रकार ५२ वर्षकी अवस्थामें आचार्यने मर्त्यलोक छोड़ दिया।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजीके सात पुत्र हुए। १-गिरिधरराय, २-गोविन्दराय, ३-बालकृष्ण, ४-गोकुलनाथ, ५-रघुनाथ, ६-यदुनाथ, ७-घनश्याम। श्रीव्रजनाथ भट्टजीने आचार्यपादके अणुभाष्यपर 'मरीचिका' नामक वृत्तिकी रचना की है। गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी महाराजने अणुभाष्यकी बृहट्टीका 'भाष्य-प्रकाश' लिखी है। श्रीविट्ठलनाथजीके 'विद्वन्मण्डन' की भी इन्होंने टीका की तथा 'प्रस्थानरत्न' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा है।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज शुद्धाद्वैतसिद्धान्तके प्रतिष्ठापक हैं। आचार्यके अनुसार कार्य-कारणरूप जगत् ब्रह्म ही है। ब्रह्म अपनी इच्छासे ही जगत्‌रूप बना है। जगत् न मायिक है और न भगवान्‌से भिन्न। यह ब्रह्मका अविकृत परिणाम है। भगवान्‌की कृपासे ही मुक्ति प्राप्त होती है। भगवान्‌का अनुग्रह ही पुष्टि है। इसी अनुग्रहसे भक्तिका उदय होता है। भगवान्‌के अनुग्रहरूप पुष्टिको प्रधान माननेसे श्रीवल्लभाचार्यका मत 'पुष्टि-मार्ग' कहा जाता है।

श्रीवल्लभाचार्यजीके समयमें ही सूरदासजी उनके शरणापन्न हो गये थे। अष्टछापके कवि वल्लभीय सम्प्रदायके ही थे। उनके द्वारा हिंदी तथा हिंदू-धर्मकी जो सेवा हुई, वह सर्वविदित है।—सु०

आचार्य श्रीरामानन्दजी

महापुरुषोंका जीवन सामान्य व्यक्तिके लिये आदर्श होता है। महापुरुष स्थूलशरीरके प्रति इतने उदासीन होते हैं कि उन्हें उसका परिचय देनेकी आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती। भारतीय संस्कृतिमें शरीरके परिचयका कोई मूल्य नहीं है।

श्रीरामानन्दाचार्यजीका परिचय व्यापक जनोंको केवल इतना ही प्राप्त है कि उन तेजोमय, वीतराग, निष्पक्ष महापुरुषने काशीके पंचगंगाघाटको अपने निवाससे पवित्र किया। आचार्यका काशी-जैसी विद्वानों एवं महात्माओंकी निवास-भूमिमें कितना महत्त्व था, यह इसीसे सिद्ध है कि महात्मा कबीरदासजीने उनके चरण धोखेसे हृदयपर लेकर उनके मुखसे निकले 'राम'-नामको गुरु-मन्त्र मान लिया।

आचार्यने शिव एवं विष्णुके उपासकोंमें चले आते अज्ञानमूलक द्वेषभावको दूर किया। अपने तपःप्रभावसे यवन-शासकोंके अत्याचारको शान्त किया और श्रीअवधचक्रवर्ती दशरथनन्दन राघवेन्द्रकी भक्तिके प्रवाहसे प्राणियोंके अन्तःकलुषका निराकरण किया।

द्वादश महाभागवत आचार्यके मुख्य शिष्य माने गये हैं। इनके अतिरिक्त कबीर, पीपा, रैदास आदि परम 'विरागी' महापुरुष आचार्यके शिष्य हो गये हैं। आचार्यने जिस रामानन्दीय सम्प्रदायका प्रवर्तन किया, उसने हिंदू-समुदायकी आपत्तिके समय रक्षा की। भगवान्‌का द्वार बिना किसी भेदभावके, बिना जाति-योग्यता आदिका विचार किये सबके लिये खुला है, सब उन मर्यादापुरुषोत्तमको पुकारनेके समान अधिकारी हैं—इस परम सत्यको आचार्यने व्यावहारिक रूपमें स्थापित किया है।—सु०

श्रीचैतन्य महाप्रभु

बंगालका नदिया (नवद्वीप) ग्राम बंगीय वैष्णवोंका उसी दिन वृन्दावन हो गया, जब फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको सिंहलग्नमें श्रीजगन्नाथमिश्रके यहाँ माता शचीदेवीकी गोदमें गौर-सुन्दर निमाई प्रकट हुए। श्रीजगन्नाथमिश्रके बड़े पुत्र विश्वरूप युवा होते ही संन्यासी हो गये। मिश्रजीका शरीर पुत्र-वियोगमें टिक न सका। माता शचीके लिये निमाई ही आधार रह गये। चंचल, चपल, नटखट, परम सुन्दर, प्रतिभाकी मूर्ति निमाई छोटी अवस्थामें ही प्रकाण्ड पण्डित हो गये। उन्होंने अपनी पाठशाला स्थापित कर ली और उस दिन तो नवद्वीपका पण्डितवर्ग आश्चर्यमूढ़ रह गया, जब सबसे अल्पवयस्क, बालकों-से चपल निमाई पण्डितने दिग्विजयी पण्डितको पराजित कर दिया।

श्रीनिमाई पिताका श्राद्ध करने गया पधारे। पतिके वियोगमें उनकी पत्नी लक्ष्मीदेवी इहलोक छोड़ गयीं। जब निमाई लौटे, उनपर श्रीकृष्णभक्तिका पूरा रस व्यक्त हो गया था। नवद्वीप प्रेमोन्मत्त भक्तोंका निवास होने लगा। नित्यानन्द प्रभु भी नवद्वीप आ गये। माता शचीने जैसे अपना खोया ज्येष्ठ पुत्र प्राप्त कर लिया हो। श्रीअद्वैताचार्य, वासुदेव सार्वभौम-जैसे प्रकाण्ड विद्वान् महाप्रभुकी रसधारामें निमग्न हो गये। महाप्रभुने पुनः विवाह किया। श्रीविष्णुप्रियाजीकी प्रेम-साधना सफल हुई। जगाई-मधाई-जैसे दुष्टोंका उद्धार हुआ। वे संत बन गये महाप्रभुके प्रतापसे।

श्रीगौरांग कीर्तन करते-करते प्रेमोन्मत्त हो उठते। उस समय वे जिसे स्पर्श कर लेते, वह उसी समय अपनेको भूलकर नृत्य करता, रोता, लुण्ठित होता और मंगलमय श्रीकृष्णचन्द्रका नाम लेकर पुकारने लगता। अनेक बार महाप्रभुमें भगवदावेश हुआ। भक्तोंने अपने आराध्य रूपोंका उनमें अनेक बार साक्षात्कार किया। एक बार ऐसा आवेश पूरे अष्ट प्रहरतक बना रहा।

महाप्रभुने चौबीस वर्षकी अवस्थामें श्रीकेशव भारतीजीसे संन्यासकी दीक्षा ली। संन्यासका नाम श्रीकृष्णचैतन्य हुआ। नदिया छूटा और महाप्रभुने श्रीजगन्नाथधाममें निवास किया। यहाँसे काशी होते हुए एक बार वृन्दावन और एक बार दक्षिण एवं मध्यभारतकी महाप्रभुने यात्रा की। काशीमें वेदान्तके प्रकाण्ड पण्डित प्रकाशानन्द सरस्वती महाप्रभुके अनुगामी हो गये। जगन्नाथपुरीसे महाप्रभु एक बार नदिया भी पधारे थे।

श्रीमहाप्रभु अन्ततक जगन्नाथधाममें विराजे और जब यह लोक छोड़ना हुआ, वे जगन्नाथजीके श्रीविग्रहमें लीन हो गये। महाप्रभुका प्रेममय जीवन हिंदीमें

'चैतन्यचरितावली' में और बँगलामें 'अमिय निमाई-चरित्र' में देखनेयोग्य है। उसका कोई अंश ऐसा नहीं, जो छोड़ा जा सके। यहाँ चरित देना सम्भव नहीं है। श्रीमहाप्रभुके अनुयायियोंमें श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीअद्वैताचार्य, राय रामानन्द, श्रीरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी, श्रीरघुनाथ भट्ट, श्रीगोपाल भट्ट, श्रीरघुनाथदास, श्रीहरिदासजी तथा श्रीनरहरि सरकार मुख्य हैं।

श्रीमहाप्रभुने ब्रह्मसूत्रपर कोई भाष्य नहीं किया। वे श्रीमद्भागवतको ही गीता एवं ब्रह्मसूत्रका भाष्य मानते थे। श्रीरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी और श्रीजीव गोस्वामीने महाप्रभुके मतके अनुसार ग्रन्थोंका निर्माण किया। इनमें 'भक्तिरसामृतसिन्धु', 'भागवतामृत' 'षट्सन्दर्भ' आदि ग्रन्थ हैं। पीछे आचार्य बलदेव विद्याभूषणने ब्रह्मसूत्रपर गोविन्दभाष्य लिखा। इस प्रकार अचिन्त्यभेदाभेदवादकी पूर्ण प्रतिष्ठा आचार्य बलदेवने की। श्रीमहाप्रभुने भक्ति तथा श्रीकृष्ण-कीर्तनकी धारा प्रवाहित की और वह धारा मनुष्योंको पावन करती अविच्छिन्न प्रवाहित हो रही है।—सु०

श्रीकण्ठाचार्य

आचार्य श्रीरामानुजके विशिष्टाद्वैतसे कुछ पृथक्, पर उससे प्रायः मिलता हुआ, वैसा ही भक्तिप्रधान श्रीकण्ठाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें भगवान् शंकर ही परम तत्त्व माने गये हैं। श्रीकण्ठाचार्यने अपने भाष्यमें अपने पूर्वाचार्योंके रूपमें शैवाचार्य तथा श्रीश्वेताचार्यका नाम लिया है।

आचार्य श्रीकण्ठ श्रीरामानुजाचार्यसे पहले हुए हैं। वे श्रीशंकराचार्यके पूर्ववर्ती हैं, ऐसा भी कुछ विद्वान् कहते हैं। दक्षिण-भारतमें ही उनका निवास था। वे महायोगी थे और भगवान् शंकरके अंशावतार माने जाते थे। वे दहर-विद्याके आराधक थे। ब्रह्मसूत्रका शैवभाष्य और मृगेन्द्रसंहितावृत्ति—उनके दो ग्रन्थ हैं। उनके भाष्यकी भाषा अत्यन्त मधुर है और अपने भावोंको थोड़े—पर महत्त्वपूर्ण शब्दोंमें उन्होंने व्यक्त किया है। श्रीअघोरशिवाचार्यने श्रीकण्ठाचार्यकी मृगेन्द्रसंहिताकी व्याख्या लिखी है। सु०

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य

प्रत्यभिज्ञा-दर्शनके आचार्योंमें सोमानन्दनाथ, उदयकर सूनु, वसुगुप्ताचार्य, भट्ट कल्लटेन्दु, उत्पलाचार्य आदिके नाम मिलते हैं; पर इन आचार्योंके ग्रन्थ नहीं मिलते। केवल अभिनवगुप्ताचार्यका गीताभाष्य एवं शिवसूत्रोंकी व्याख्या मिलती है।

महर्षि कात्यायन तथा वररुचिके वंशमें परम विद्वान् सौचुकके पुत्र महात्मा भूतिराज श्रीअभिनवगुप्ताचार्यके पिता एवं गुरु भी थे। भगवान् शंकरका अपनी साधनाद्वारा साक्षात्कार करके ही आचार्य गीताभाष्यमें प्रवृत्त हुए थे। उनके प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्तका संक्षिप्त सारांश 'हिंदू-संस्कृति और दर्शनशास्त्र' शीर्षकमें दर्शनोंके परिचय-क्रममें दिया गया है।—सु०

श्रीभास्कराचार्य

महाराष्ट्रमें नासिकके पास एक ताम्रपत्र पाया गया है। उससे पता लगता है कि भट्टभास्कर ज्यौतिषाचार्य भास्करके पूर्व-पुरुष थे। ये शाण्डिल्य-गोत्रमें उत्पन्न हुए थे। इनके पिताका नाम त्रिविक्रम था। ये कविचक्रवर्ती कहे जाते थे। 'सिद्धान्तशिरोमणि'-कर्ता ज्योतिषी भास्कराचार्य इनकी छठी सन्तति-परम्परामें हुए। वेदान्तसूत्रपर इन्होंने भाष्य लिखा था। इन्होंने भेदाभेदवादकी स्थापना की। ये ब्रह्मको सगुण-निराकार मानते थे।—सु०

समर्थ रामदास स्वामी

श्रीसूर्याजी पन्तकी धर्मपत्नी रेणुका देवी धन्य हैं। उनके प्रथम पुत्र गंगाधरने नौ वर्षकी अवस्थामें ही श्रीहनुमान्‌जीका दर्शन प्राप्त किया। आगे जाकर वे 'श्रेष्ठ' या 'रामी-रामदास' के नामसे प्रसिद्ध हुए। दूसरे पुत्र नारायणने आठ वर्षकी अवस्थामें साक्षात् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके दर्शन पाये। श्रीरामने इन्हें स्वतः दीक्षा दी और इनका नाम 'रामदास' रखा।

'शुभ मंगल सावधान!' महाराष्ट्र-प्रथाके अनुसार रामदासजीके विवाहके समय ब्राह्मणोंने जैसे ही 'सावधान' कहा, सचमुच रामदास सावधान हो गये। वे विवाहमण्डपसे उस बारह वर्षकी अवस्थामें ही भाग पड़े। फिर तो बारह वर्षतक किसीको उनका कुछ पता नहीं लगा। पता लगे भी कैसे, पैदल पंचवटी पहुँचकर श्रीरामका स्तवन करके गोदा और नन्दिनीके संगमपर टाफलीमें एक गुफामें आसन लगा चुके थे। बारह वर्षकी तपस्याके पश्चात् श्रीसमर्थने तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। उन्होंने बद्रीनाथसे रामेश्वरतक भारतके सभी तीर्थोंकी

यात्रा की। जहाँ भी वे गये, उन्होंने तीर्थोंमें अपने मठोंकी स्थापना की। उनके मठ, जांब, चाफल, सज्जनगढ़ टाफली , तंजौर, डोमगाँव, मनपाडले, मिरज, राशिबड़े, पण्ढरपुर, प्रयाग, काशी, अयोध्या, मथुरा, द्वारिका, बद्रीनाथ, केदारनाथ, रामेश्वर और गंगासागर आदिमें हैं। ग्यारह स्थानोंमें उन्होंने मारुति-प्रतिष्ठा की है।

बारह वर्ष तीर्थयात्रा करके समर्थ गोदावरी-परिक्रमाको निकले थे। लोगोंसे माताके कष्टका वर्णन सुनकर वे घर गये। पूरे चौबीस वर्षपर माता-पुत्रका मिलन हुआ। माताको कपिलगीताका उपदेश करके उनकी आज्ञासे वे गोदावरीकी परिक्रमा करने गये। वह तीर्थयात्रा समाप्त करके वे माहुलीमें रहने लगे। यहाँ उनसे मिलने अनेक संत आते थे। जयराम स्वामी, रंगनाथ स्वामी, आनन्द स्वामी, केशव स्वामी और समर्थ—ये पाँच महापुरुष दासपंचायतन कहे जाते थे। यहीं श्रीतुकारामजी समर्थसे मिलने आये थे।

श्रीसमर्थने श्रीरामनवमी-महोत्सवका प्रारम्भ मसूरसे किया। उन्हीं दिनों चाफलके पास श्रीशिवाजी महाराजने उनके दर्शन किये। शिवाजी महाराजने श्रीसमर्थको गुरुरूपसे वरण किया और जब श्रीसमर्थ परली (सज्जनगढ़) में रहने लगे, तब शिवाजी बार-बार उनके दर्शनोंको आया करते। करंजगाँवसे पैदल श्रीसमर्थ एक दिन सतारेके राजद्वारपर पहुँचे। उन्होंने पुकारा 'जय-जय श्रीरघुवीर समर्थ।'

'आजतक मैंने जो कुछ अर्जित किया, सब स्वामीके श्रीचरणोंमें अर्पित है।' महाराज शिवाजीने एक पत्रपर लिखकर गुरुदेवकी झोलीमें डाल दिया। सचमुच वे दूसरे दिन झोली लटकाकर समर्थके पीछे भिक्षा माँगने चल पड़े।

'शिवा! साधु इस कागजका क्या करेगा? तू शासन करने, पीड़ितोंकी रक्षा करने आया है या भीख माँगने? राज्य मेरा हो गया, पर तू मेरी ओरसे इसका संचालन कर।' श्रीशिवाजीने गुरुदेवकी आज्ञा स्वीकार की, महाराष्ट्रका राष्ट्रध्वज गैरिक माना गया। राज्यमुद्रापर गुरुदेवका प्रतीक अंकित हुआ।

संवत् १७३९ माघ कृष्ण नवमीको समस्त परिचित अनुगत मण्डलीको समझाकर समर्थने श्रीराममूर्तिके सम्मुख आसन लगाया। इक्कीस बार 'हर' का उच्चारण करके जैसे ही उन्होंने 'राम' कहा, एक ज्योति उनके मुखसे निकलकर भगवान्‌के श्रीविग्रहमें लीन हो गयी।

श्रीसमर्थके जीवनमें अनेक चमत्कारोंका उल्लेख है। उनके अनेकों ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थोंमें 'दासबोध' बहुत प्रख्यात है। लेकिन सबसे बड़ी बात तो यह है कि औरंगजेब तथा दक्षिणके मुसलमान सूबेदारोंके उस अत्याचारपूर्ण समयमें श्रीसमर्थने हिंदू-धर्मकी रक्षा की। इतिहासके विद्वान् जानते हैं कि समर्थद्वारा स्थापित मठ केवल निवृत्तिनिरत साधुओंके स्थान नहीं थे। उनमें भगवत्परायण, धर्मप्रेमी, स्वस्थ, सबल श्रीमारुतिके उपासक रहते थे। अत्याचारपीड़ितोंकी रक्षा तथा दस्युदलसे जनताके त्राणके ये मठ आश्रयस्थल थे। दिल्लीसे शिवाजी इन मठोंकी सहायतासे ही सुरक्षित महाराष्ट्र पहुँचे थे। महाराज शिवाजीकी सफलतामें इन मठोंका बहुत बड़ा भाग था। श्रीसमर्थकी संगठनशक्ति अद्भुत थी और उससे अद्भुत ज्ञात होती है उनकी निर्लिप्तता, जब स्थितिपर विचार किया जाता है।—रा० श्री०

संत तुकारामजी

महाराष्ट्रके देहूग्राममें संवत् १६६५ में तुकारामजीका जन्म हुआ। इनके पिताका नाम बोलोजी और माताका नाम कनकाबाई था। तेरह वर्षकी अवस्थामें रखुमाईके साथ इनका विवाह हो गया। विवाहके पश्चात् ज्ञात हुआ कि रखुमाईको दमेकी बीमारी है, अतः माता-पिताने इनका दूसरा विवाह जिजाईके साथ कर दिया। तुकारामजीके बड़े भाई सावजी विरक्त प्रकृतिके थे; फलतः जब पिता वृद्ध हो गये, घरका भार तुकारामजीपर पड़ा। इनके छोटे भाईका नाम कान्हजी था।

इनकी सत्रह वर्षकी अवस्थामें माता-पिताका परलोकगमन हुआ। बड़े भाईकी स्त्रीका देहान्त होनेपर वे तीर्थ-यात्रा करने चले गये। तुकारामजीका मन गृहकार्यमें लगता नहीं था। बहुतोंका घरपर ऋण था। वे तकाजा करते थे। पैतृक सम्पत्ति अस्त-व्यस्त हो गयी थी। दूकानसे भी हानि ही हो रही थी। एक बार आत्मीयोंने सहायता की, दो-एक बार श्वशुरने सहायता की; परंतु अन्तमें दूकानका दिवाला निकल गया। एक बार मिर्च खरीदकर कोंकणमें बेची भी तो ठगोंने इन्हें पीतलके कड़े, सोनेके बताकर दे दिये और दाम ऐंठ ले गये। छोटी पत्नीने पितासे इनको दो सौ रुपये दिलाये। उसका नमक लेकर बेचनेपर पचास रुपये लाभ भी हुआ, पर भाग्यसे एक दुखी पुरुष मार्गमें मिल

गया। तुकारामजीने उसे सब रुपये दे दिये।

पूना जिलेमें भयंकर अकाल पड़ा। अन्न-जलका अभाव हो गया। उसी समय बड़ी स्त्री और इनका पुत्र भी चल बसे। घरमें कुछ रुक्के थे। कुछ लोगोंसे रुपया लेना था। तुकारामजीने छोटे भाईके भागके आधे रुक्के उसे दे दिये। शेष आधे रुक्के इन्द्रायणीमें फेंककर पूरे अकिंचन हो गये। अब दिनभर भजन, कीर्तन और स्वाध्याय चलने लगा। दिनभर भामनाथ पर्वतपर, गोण्डा पर्वत या भाण्डारा पर्वतपर भजन करते। सन्ध्याको गाँवमें आते और आधी राततक कीर्तन सुनते रहते। अपने हाथों पितामह श्रीविश्वम्भरके बनवाये विट्ठल-मन्दिरका इन्होंने जीर्णोद्धार किया।

'तुकारामको देहू छोड़ देना चाहिये! वह शूद्र होकर मराठीमें श्रुतिके अर्थ बोलता है तथा सब लोग उसकी पूजा करते हैं।' ब्राह्मणोंने स्थानीय शासकको उभाड़ा। कीर्तनके समय तुकारामजीके मुखसे अभंग निकलते थे। उनका सम्मान बढ़ गया था। कर्मकाण्डी पण्डितोंको यह सहन नहीं हुआ।

'जब अपनी इस कीर्ति-कथाको नष्ट ही कराना था तो मेरे मुखसे तुमने उसे प्रकट क्यों किया? तुका क्या कभी अपनी वाणी बोला है?' विट्ठलका वह लाड़ला भक्त उनके मन्दिरके सम्मुख एक शिलापर घरना दिये रूठा बैठा था। अन्न-जल छोड़ दिया गया था। ब्राह्मणोंके कहनेपर सब अभंग इन्द्रायणीमें तुकारामने फेंक दिये थे, पर अब वे अपने आराध्यसे उलझ पड़े थे। क्यों वह नटखट उन्हें इस प्रकार क्षुभित करता है?

'तुम्हारे अभंग इन्द्रायणी न डुबा सकती थी और न नष्ट कर सकती थी। मैं भक्तोंको उन्हें आज ही दे आया हूँ।' तेरह दिनोंके पश्चात् वे पण्ढरीनाथ प्रकट हुए। तुकारामके लिये तो वे दिन पलोंसे भी छोटे हो गये। उन नीलतमालअंग विट्ठलने उठाकर हृदयसे लगा लिया था उन्हें। ब्राह्मण रामेश्वर अभंगोंकी बहियाँ प्रवाहित कराके नागनाथजीका दर्शन करने जा रहे थे। मार्गमें अनगढ़शाह औलियाकी बावलीमें डुबकी लगाते ही उनके सारे शरीरमें भयंकर जलन होने लगी। वह जलन चिकित्सासे शान्त होनेवाली नहीं थी। तुकारामजीकी शरणमें आनेपर ही वह दूर हुई।

छत्रपति महाराज शिवाजी श्रीतुकारामजीको गुरु मानते थे। तुकारामजीने ही शिवाजीको श्रीसमर्थकी शरण लेनेका आदेश दिया था। जबतक तुकारामजी रहे, उनके मुखसे निरन्तर भगवद्गुणगानकी अमृतधारा प्रवाहित होती रही। संवत् १७०६ चैत्र कृष्ण २ के प्रातः तुकारामजी इस लोकसे चले गये। उनका मृतदेह किसीने देखा नहीं। जो सशरीर भगवद्धाम गये हों, उनका देह किसीको मिले कैसे। देहू और लोहगाँवमें तुकारामजीके स्मारक हैं। वारकरी सम्प्रदायके भक्त इन स्थानोंकी यात्रा करते हैं। तुकारामजीके अभंग महाराष्ट्रमें सबसे अधिक प्रिय हैं। उनमें ज्ञान एवं भक्तिका अनुपम सामंजस्य है। तुकारामजी महाराष्ट्रके भावकी मूर्ति हैं। उनकी वाणीमें महाराष्ट्रका निर्मल भगवन्मुख हृदय झंकृत होता है।—सु०

संत ज्ञानेश्वरजी

श्रीविट्ठलपन्तके तीन पुत्र तथा एक कन्या थी—निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपानदेव तथा मुक्ताबाई। निवृत्तिनाथजीने गैनीनाथजीसे आत्मबोध प्राप्त किया। शेष भाइयों तथा बहिनको उन्होंने ही दीक्षा दी। ज्ञानेश्वरकी अवस्था केवल पाँच वर्षकी थी, जब कि उनके माता-पिता परलोकवासी हुए। चारों बालक भिक्षामें कच्चा अन्न माँग लाते। भगवच्चर्चामें ही उनका पूरा समय व्यतीत होता था।

'यदि पैठणके ब्राह्मण तुम्हें शुद्धिपत्र दे दें तो हम सब भी तुमलोगोंको शुद्ध मान लेंगे।' ब्राह्मण इन बालकोंका उपनयन करानेको प्रस्तुत नहीं थे। इनके पिता विट्ठलपन्त पहले संन्यासी हो गये थे। गुरुके आदेशसे उन्होंने पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार किया था। ब्राह्मणोंके आदेशसे प्रायश्चित्तस्वरूप उन्होंने सपत्नीक प्रयाग आकर त्रिवेणी-तटपर प्राणत्याग किया। इतनेपर भी ब्राह्मणलोग उनके बालकोंको अस्पृश्य ही मानते रहे।

चारों बालक पैदल-पैदल दीर्घ यात्राका कष्ट उठाकर पैठण पहुँचे। पैठणके ब्राह्मणोंकी सभा हुई। ब्राह्मणोंने इन बालकोंको वेदका अनधिकारी बताया और भगवन्नामकीर्तन तथा भक्ति करनेका आदेश दिया। चारों भाई-बहिन इससे सन्तुष्ट हो गये, परंतु लोगोंने फिर भी छेड़ना बंद नहीं किया। ज्ञानेश्वरजीने एक भैंसेको आत्मरूप बताया और उसके मुखसे सस्वर शुद्ध वेदमन्त्रोंका उच्चारण करवा दिया। इस चमत्कारसे

ब्राह्मण लज्जित हुए। उन्होंने शुद्धिपत्र दे दिया। पैठणमें रहते हुए ज्ञानेश्वरजीने श्रीशंकराचार्यके भाष्य, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थ देख डाले।

शुद्धिपत्र तथा वेदोचारण करनेवाले भैंसेको लेकर ये लोग पैठणसे विदा हुए। भैंसेको आलें नामक स्थानमें समाधि दी गयी। नेवासेमें ज्ञानेश्वरजीने ज्ञानेश्वरी गीताका कथन किया। सच्चिदानन्दजीने उसे लिखा। वहाँसे ज्ञानेश्वरजी आलन्दी गये। वहाँ उनका बहुत सत्कार हुआ। ज्ञानेश्वरजीने पंद्रह वर्षकी अवस्थामें 'ज्ञानेश्वरी' गीताभाष्यका कथन किया। अपने जीवनमें उन्होंने अनेक चमत्कार दिखलाये।

भाइयों तथा बहिनके साथ ज्ञानेश्वरजीने तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। विसोबा खेचर, गोरा कुम्हार, चोखा मेला, नरहरि सुनार आदि अन्य संत भी उनके साथ हो गये। पण्ढरपुरमें साक्षात् विट्ठल भगवान्‌ने उन्हें दर्शन दिये। श्रीनामदेवजीको साथ लेकर उज्जैन, प्रयाग, काशी, गया, अयोध्या, मथुरा, द्वारिका, गिरिनार प्रभृति तीर्थोंकी यात्रा हुई। अनेक स्थानोंमें ज्ञानेश्वरजीने योगके चमत्कार दिखलाये। उस समयके प्रख्यात योगी चांगदेव भी इनके शरणापन्न हुए।

कुल इक्कीस वर्ष, तीन मास, पाँच दिनकी अवस्थामें संवत् १३५३, मार्गशीर्ष कृष्ण १३ को श्रीज्ञानेश्वरजीने जीवित समाधि ले ली। उनकी समाधिके एक वर्षके भीतर ही सोपानदेव, चांगदेव, मुक्ताबाई और निवृत्तिनाथ भी एक-एक करके परमधाम चले गये। श्रीज्ञानदेवजीके चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, हरिपाठके अभंग और चांगदेव-पैंसठी।

महाराष्ट्रमें ज्ञानकी धारा बहानेवाले श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी समाधिपर अब भी वहाँ मेला लगता है। उनकी 'ज्ञानेश्वरी' ज्ञानका समुद्र है। महाराष्ट्र-भक्तोंमें ज्ञानेश्वर महाराज आराध्यका सम्मान पाते हैं।—सु०

संत एकनाथजी

पैठण महाराष्ट्रके वारकरी सम्प्रदायकी तीर्थभूमि है। यहीं श्रीसूर्यनारायणजीकी पत्नी रुक्मिणीबाईने एकनाथ महाराजको जन्म दिया। माता-पिताका अति शीघ्र देहान्त हो जानेसे पितामह चक्रपाणिजीने एकनाथजीका लालन-पालन किया। ६ वर्षकी अवस्थामें यज्ञोपवीत हुआ। बाल्यकालमें ही रामायण तथा महाभारतकी शिक्षा प्राप्त हुई। बारह वर्षकी अवस्थामें तीव्र वैराग्यका उदय हो गया। आधी रातको घर-द्वार छोड़कर देवगढ़में जनार्दन स्वामीकी शरणमें पहुँचे। वहाँ दत्तचित्त होकर गुरुसेवा करने लगे।

'एकनाथ, एक पाईकी भूल मिलनेसे तुम इतने प्रसन्न हुए हो और संसार-जैसी महाभूलको अपनाये हो? यह भूल दूर हो तो कितना आनन्द हो।' जनार्दन स्वामीकी निद्रा ताली सुनकर खुल गयी थी। उन्होंने हिसाब-किताबका भार एकनाथको दे रखा था। उस दिन हिसाबमें एक पाई मिल नहीं रही थी। गुरुसेवासे निवृत्त होकर रात्रिमें एकनाथजी हिसाब मिलाने बैठे। भूलका पता लगनेपर इतनी प्रसन्नता हुई कि ताली बजाने लगे थे। गुरुदेवने जो उपदेश दिया, वह उनके हृदयमें प्रविष्ट हो गया।

'गुरुदेव ही दत्तात्रेय हैं और दत्तात्रेय ही गुरुदेव हैं।' एकनाथजीको जब भगवान् दत्तात्रेयके दर्शन हुए तो उन्होंने गुरुदेवसे अभिन्नरूपमें उन्हें देखा। गुरु जनार्दन स्वामीने उन्हें श्रीकृष्णोपासनाकी दीक्षा देकर शूलभंजन पर्वतपर जाकर तप करनेकी आज्ञा दी। घोर तपके पश्चात् भगवत्साक्षात्कार करके वे लौट आये गुरुदेवके समीप। गुरु-आज्ञासे ही वे तीर्थ-यात्राको निकले। यात्रामें चतुःश्लोकी भागवतपर ओवी छन्दोंमें उन्होंने एक ग्रन्थ लिखा और पंचवटीमें उसे गुरुदेवको सुनाया।

तीर्थ-यात्रा करते हुए जन्मभूमिके समीप एकनाथजी पिप्पलेश्वर महादेवमें ठहरे थे। पितामह तथा दादीने इन्हें वर्षों ढूँढ़ा था। वे वृद्ध दम्पति जनार्दन स्वामीसे एकनाथजीके लिये लिखित आज्ञा-पत्र ले आये थे कि एकनाथजी गृहस्थाश्रम स्वीकार करें। गुरु-आज्ञा शिरोधार्य करके एकनाथजी घर आये। वहाँ धूमधामसे गिरिजाबाईके साथ उनका विवाह हुआ।

'सब प्राणी भगवान्‌के ही साक्षात्स्वरूप हैं। गृहस्थाश्रमकी सफलता है साधु-ब्राह्मण तथा अतिथिकी निरन्तर सेवामें।' एकनाथजी इस सिद्धान्तके मूर्तिमान् आदर्श थे। इनके घर बराबर अन्न बँटता रहता। रात्रिमें कीर्तनमें आनेवाले श्रोता प्रायः इनके घर ही भोजन करते। एक दिन रात्रिमें बहुत-से ब्राह्मण घर आये। उन्होंने दिनमें भोजन नहीं किया था। अधिक वर्षाके कारण घरमें सूखा काष्ठ था नहीं। एकनाथजीने घरकी पलंगोंकी निवार पृथक् की और पाये तथा पट्टियाँ

लकड़ीके काम आ गयीं।

'सब भगवत्स्वरूप हैं तो किसीपर किसी भी दशामें रोष कैसे किया जा सकता है।' गोदावरी घाटके मार्गमें एक मुसलमान रहता था एक सरायमें। वह हिंदुओंको कष्ट देता था। एकनाथजी जब स्नान करके लौटते तो उनके ऊपर कुल्ला कर देता। वे हँसकर पुन: स्नान करने चले जाते। चार-पाँच बार नित्य उन्हें स्नान करना पड़ता। एक दिन तो एक सौ आठ बार कुल्ले किये उसने। ये बार-बार स्नानको लौटते रहे। अन्तमें लज्जित होकर वह इनके चरणोंपर गिर पड़ा।

'तुमने ब्राह्मणोंका अनादर किया है। हम ऐसे पतितके यहाँ भोजन नहीं करेंगे!' पितृ-श्राद्धके समय ब्राह्मण रुष्ट होकर चले गये। श्राद्धके लिये जो अन्न पहले बना था, उसकी सुगन्धसे मार्गमें चलते चार-पाँच महारों (चमारों) का मन लुब्ध हुआ था। 'ऐसा भोजन हमारे भाग्यमें कहाँ!' कहते हुए वे जा रहे थे। एकनाथजीने उन्हें बुलाकर भोजन करा दिया। दूसरा भोजन बना ब्राह्मणोंके लिये। ब्राह्मणोंने इसे अपना अपमान माना। योगिराज एकनाथजीने पितरोंका ध्यान किया। साक्षात् प्रकट होकर पितरोंने श्राद्ध-भोजन किया।

'मैंने भगवान् रामेश्वरको ही जल चढ़ाया है!' पैदल गंगोत्रीसे कन्धेपर गंगाजलकी काँवर लेकर रामेश्वरजीपर चढ़ानेको जाना कितने कष्ट, तप एवं श्रद्धाका कार्य है—यह कोई भी सोच सकता है। वह जल मरुभूमिमें प्याससे तड़पते एक गधेको एकनाथजीने पिला दिया। इतने श्रमके जलका यह उपयोग देखकर उनके साथी चौंके, पर एकनाथजी तो प्रसन्न हो रहे थे। जल पीकर गधा चला जा रहा था और वे देख रहे थे कि उन्होंने साक्षात् गंगाधर रामेश्वरको तृप्त कर दिया है।

× × ×

'महाराज, क्या इस पापिनीका घर भी श्रीचरणोंसे पवित्र हो सकता है?' कितने संकोच, कितने भावसे उस वेश्याने प्रार्थना की थी! महाराजकी कथामें उसने श्रीमद्भागवतके पिंगलोपाख्यानकी व्याख्या सुनी थी। उसे घृणा हो गयी अपने व्यवसायसे। घरका द्वार बंद किये परितापकी ज्वालामें जलते हुए कई दिन हो गये उसे। महाराज स्नान करके गोदावरीसे लौट रहे थे, यह उसने खिड़कीसे देखा था। नित्य इसी प्रकार दर्शन कर लेती है। आज हृदय नहीं माना। द्वार खोलकर महाराजके सम्मुख भूमिपर मस्तक रखा उसने।

'इसमें दुर्लभ बात क्या है!' वे पतित-पावन सीधे उसके गृहमें चले गये। 'राम-कृष्ण-हरि' की मंजुल ध्वनिसे उसका वह घर पवित्र हो गया।

× × ×

कीर्तनके समय भीड़में कुछ चोर आ बैठे थे। उनको अपने अवसरकी प्रतीक्षा थी। कीर्तन समाप्त होनेपर भोजनादिके उपरान्त वे भी दूसरे भक्तोंके साथ वहीं लेट रहे। सबके सो जानेपर उन्होंने अपना कार्य प्रारम्भ किया। दूसरे कमरोंमें जो मिला, लेकर वे देवगृहमें घुसे। एक मन्द दीपक जल रहा था। एकनाथजी भगवान्के सम्मुख बैठे थे। चोरोंने एक बार देखा और फिर तो उन्हें कुछ भी दिखायी देना बंद हो गया। नेत्रोंके आगे अन्धकार छा गया।

'तुम्हें आवश्यकता न होती तो भला इतनी रात्रिमें इतना श्रम कैसे करते। यह सब ले जाओ!' एकनाथजीने चोरोंको देखा। उनके नेत्रोंको अपने करस्पर्शसे दृष्टि प्रदान की और उनसे आग्रह करने लगे कि जो सामान उन्होंने एकत्र किया है, अवश्य ले जायँ। महाराजने अपनी अँगुलीकी अँगूठी भी निकालकर उन्हें दे दी। ऐसे महापुरुषका साक्षात्कार होनेपर क्या वे फिर चोर बने रह सकते थे।

संवत् १६५६ चैत्र कृष्ण ६ को एकनाथजीने गोदावरीके तटपर अपना शरीर छोड़ा। उस समय वे पूर्ण स्वस्थ थे। पहलेसे भक्तोंको परधामगमनकी बात उन्होंने कह दी थी। कथा, कीर्तन और हरिभक्तोंके जयनादके मध्य एकनाथजी दिव्य धाम पधारे। उनके ग्रन्थोंमें भागवत, एकादश स्कन्धका भाष्य, रुक्मिणी-स्वयंवर तथा भावार्थ-रामायण प्रसिद्ध हैं। कई छोटे ग्रन्थ और भी हैं। महाराष्ट्रमें 'एकनाथी भागवत' की प्राय: कथा हुआ करती है।—सु०

श्रीनामदेवजी

बड़े सौभाग्यसे मनुष्यकी भगवान्की ओर रुचि होती है। रुचि होनेपर भी साधन होना सहज नहीं और प्रेम तो वे दयामय प्रदान करें, तब कहीं हृदयमें आता है। कुछ ऐसे महापुरुष भी होते हैं, जो जन्मसे उस घनश्यामके अनन्य अनुरागी होते हैं। छीपी दामाशेटकी पत्नी गोणाईदेवीकी गोदमें नरसी ब्राह्मणी ग्राममें संवत् १३२७ की कार्तिक शुक्ला ११ को एक ऐसे ही

बालकका आगमन हुआ। यह परिवार परम्परासे 'विट्ठल' का भक्त था। बालक नामदेवके मुखपर 'विट्ठल' की धुन रहती। जब वे लिखने योग्य हुए, 'विट्ठल' नाम ही लिखा करते। बचपनमें ही भगवान्‌को इनके प्रेमसे विवश होकर इनके हाथों नैवेद्य ग्रहण करना पड़ता। घरके श्रीविग्रह इनके लिये साक्षात् प्रभु थे।

नामदेवजीका विवाह नौ वर्षकी अवस्थामें हो गया था। चार पुत्र हुए, पुत्रोंकी सन्तति हुई; परंतु नामदेवजी कभी गृहासक्त न हुए। वे गाँव छोड़कर पण्ढरपुर आ बसे थे। 'पण्ढरपुर ही सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र है। चन्द्रभागा ही पवित्रतम तीर्थ है। कटिपर कर रखकर ईंटपर विराजमान श्रीविट्ठल ही परम देवता हैं।' नामदेवजीका यह दृढ़ विश्वास था।

शिवरात्रिका पुण्य-अवसर था। नामदेवजी औढ़ियाँमें नागनाथ महादेवको कीर्तन सुना रहे थे। अभिषेक करनेवाले ब्राह्मणोंको अपने मन्त्रपाठमें बाधा जान पड़ी। उन्होंने डाँटकर हटा दिया नामदेवको। वे नम्र संत चुपचाप मन्दिरके पीछे जाकर कीर्तन करने लगे। भगवान् विश्वनाथको मन्त्र-पाठकी अपेक्षा वह हृदयसे निकलती अनुरागवाणी अधिक प्रिय थी। ब्राह्मण मन्त्र-पाठ करते रहे, पर मन्दिरका गर्भ-गृह घूम गया। द्वार हो गया नामदेवजीकी ओर। अब भी वहाँ नन्दीश्वर मन्दिरके पीछेकी ओर हैं।

श्रीपण्ढरीनाथके महाद्वारपर एक ब्राह्मण भागवत सुनाया करते थे। ये बार-बार सबको कहते 'परिसा भागवत' (सुनो भागवत), फलतः इसी नामसे पुकारे जाने लगे। नामदेवजीकी कीर्तिसे द्वेष होनेके कारण एक दिन व्यासासनसे इन्होंने नामदेवजीपर बहुत आक्षेप किये। नामदेवजीने इनके चरणोंपर मस्तक रखकर क्षमा माँगी। ब्राह्मणको बड़ा दुःख हुआ, जब घर जानेपर उसकी पत्नीने उसे नामदेवजीकी महत्ता समझायी। यही ब्राह्मण नामदेवजीके प्रथम शिष्य हुए। उन्होंने नामदेवजीकी कृपासे भगवान्‌के दर्शन पाये। उनका कहना है—'नामा और केशव एक ही हैं। नामदेव और विट्ठल दोनों एकरूप हैं।'

भगवान् पण्ढरीनाथकी आज्ञासे नामदेवजी श्रीज्ञानेश्वरजीके साथ तीर्थयात्राको गये। यात्रासे लौटते समय बीकानेरसे कुछ दूर कौलायतमें दोनोंको प्यास लगी। उस मरुभूमिमें एक कुआँ भी मिला तो सूखा। ज्ञानेश्वरजी योगबलसे कुएँमें उतरे। उन्होंने तलीका भेदन करके जल पिया। नामदेवजीके लिये भी वे जल लाना चाहते थे। नामदेवजीने कहा—'मेरे लिये तो विट्ठल ही जल भेजेंगे।' नामदेवने अपने विट्ठलको पुकारा। तली फोड़कर जलकी धारा कुएँको मुखतक भरती ऊपरसे प्रवाहित हो चली।

'तुम धन्य हो! तुमने अपने प्रेमसे भगवान्‌को अपना बना लिया है। तुम्हारे सत्संगके लाभके लिये ही मैं तीर्थयात्रा करने निकला हूँ।' ज्ञानेश्वरजीने नामदेवजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। ज्ञानेश्वरजीके समाधि ले लेनेपर नामदेवजी चालीस-पचास साधुओंको लेकर पंजाब चले गये। वहाँ उन्होंने भगवन्नामका प्रचार किया। पंजाबमें उनके कई मठ हैं। उनकी कविताओंका संग्रह 'नामदेवकी मुख-बानी' तथा उनका चरित 'नामदेवकी जन्म-साखी' गुरुमुखीमें हैं। गुरुग्रन्थसाहबमें उनके साठसे भी अधिक पद हैं। अठारह वर्ष पंजाबमें रहकर नामदेवजी पण्ढरपुर लौट आये। संवत् १४०७ में उन 'विट्ठल' के परम सेवकने श्रीविट्ठल-मन्दिरके महाद्वारकी सीढ़ियोंपर अपने पार्थिव शरीरको विसर्जित कर दिया।

श्रीनामदेवजीके पद भक्तिसे पूरित हैं। वारकरी सम्प्रदायमें तुकारामजीके पदोंके साथ ही उनके पदोंका कीर्तन होता है। महाराष्ट्र-भक्त अपने प्रदेशके महाभागवतोंका कीर्तन करते हुए कहते हैं—

ज्ञानेश्वर एकनाथ रामदास जय!
तुकाराम नामदेव पाण्डुरंग हरि!!

अर्थात् ज्ञानेश्वर, एकनाथ, समर्थ रामदास, तुकाराम और नामदेव—ये साक्षात् श्रीहरि पाण्डुरंगके स्वरूप हैं। सु०

श्रीगोरखनाथजी

संत महापुरुष नाम, वर्ण, जातिसे परे होते हैं। नाथ-पन्थका प्रारम्भ आदिनाथ भगवान् शंकरसे माना जाता है। आदिनाथजीसे मत्स्येन्द्रनाथजीको 'योग' प्राप्त हुआ। नैपाल राज्यके अधिष्ठाता गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं। वहाँ आपको 'आर्यावलोकितेश्वर' कहा जाता है। गुरु मत्स्येन्द्रनाथजीके प्रधान शिष्य गोरखनाथजी हैं।

गोरखनाथजीने तान्त्रिक पद्धतिके बदले तप एवं हठयोगको आदर दिया। उनके सम्प्रदायमें अनेक सिद्ध पुरुष हुए। कुण्डलिनी-जागरण, खेचरीमुद्रा आदिका नाथ-पन्थमें बड़ा प्रचार हुआ। 'रस' सिद्धिका भी आदर
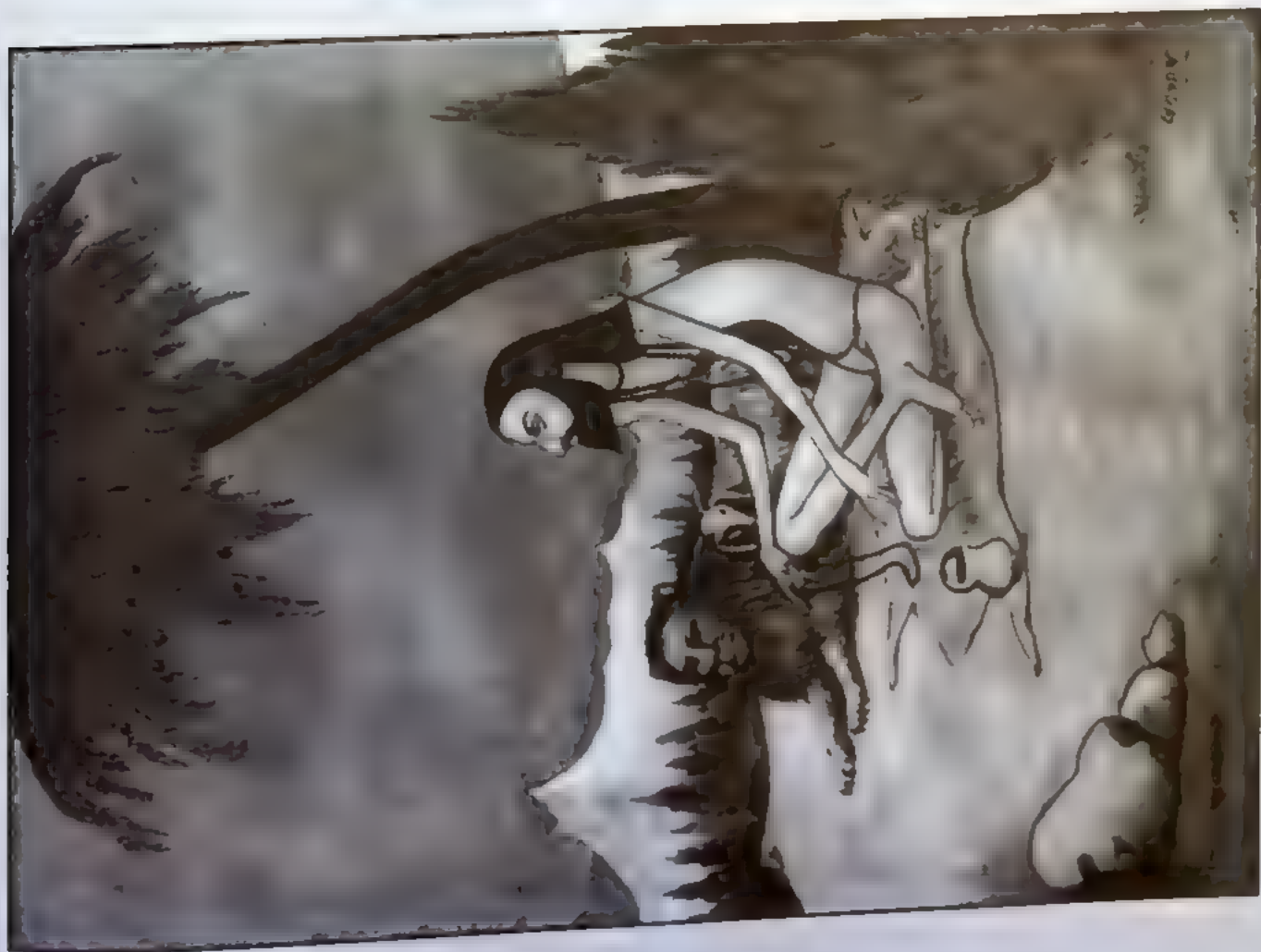
योगिराज श्रीश्रीमत्स्येन्द्रनाथजी

योगिराज श्रीश्रीगोरखनाथजी
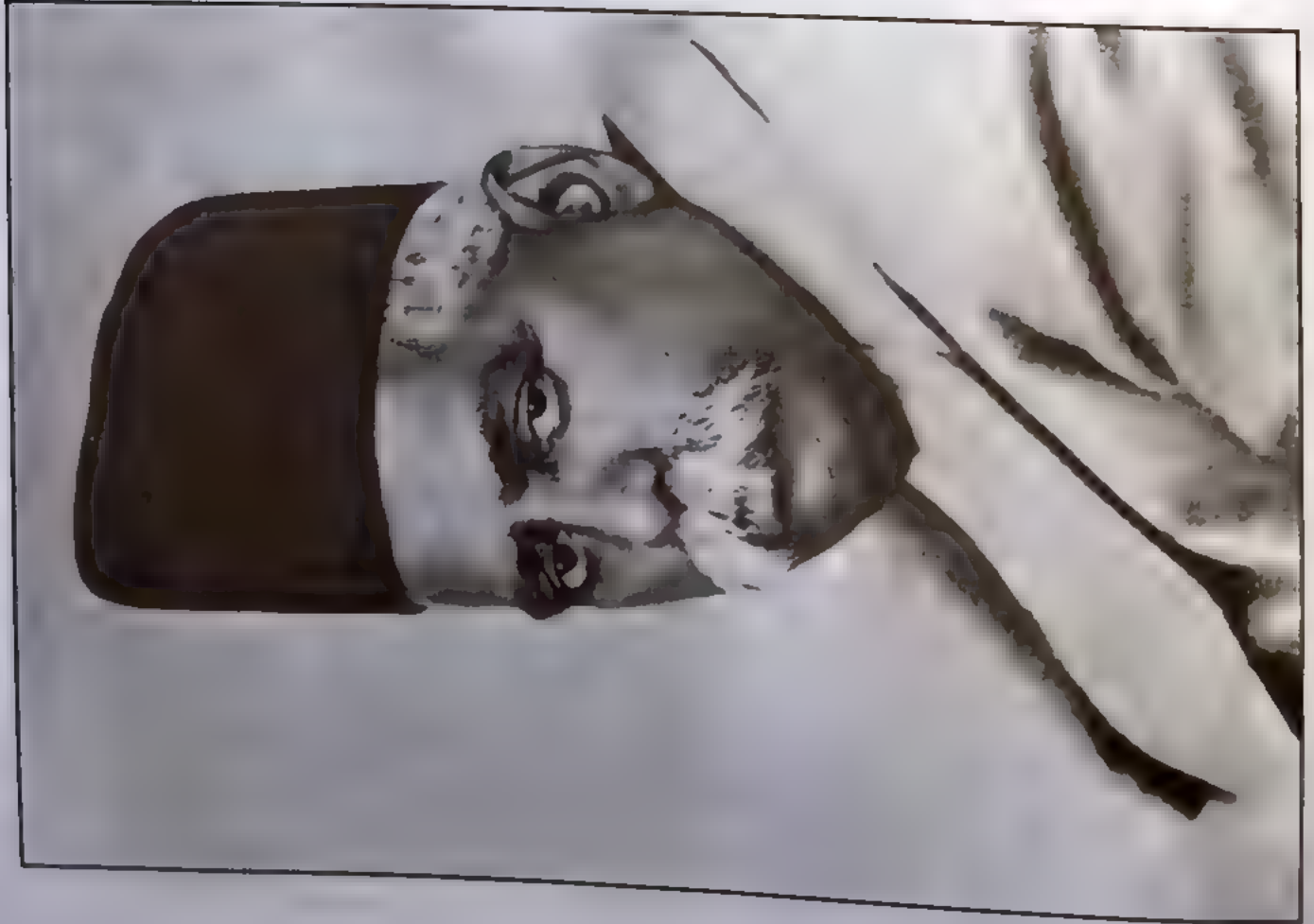
डा० केशवराव बलीराम हेडगेवार
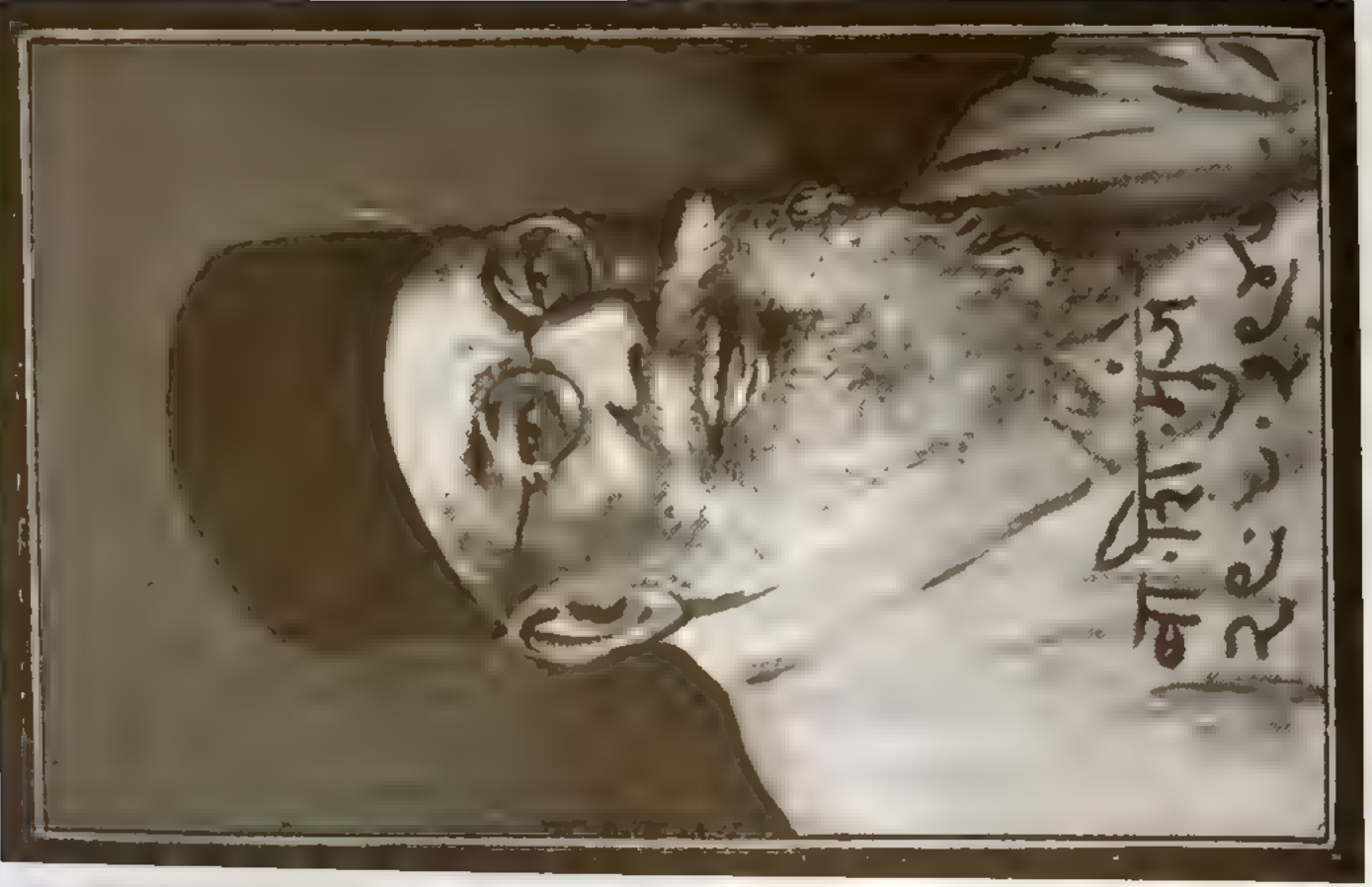
डा० बालकृष्ण शिवराम मुंजे

किया गया। भर्तृहरिजी बाबा गोरखनाथजीके ही शिष्य हैं। गोरखनाथजी परम सिद्ध और अमर माने जाते हैं। वे अधिकारी साधकको चाहे जब दर्शन दे सकते हैं। गोरखनाथजीके योग-शास्त्र-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ हैं।

कहा जाता है कि साधनकालमें एक बार सिद्धियोंके कारण गोरखनाथजीके मनमें अहंकार हो गया। उस अहंकारका नाश करनेके लिये गुरु मत्स्येन्द्रनाथजीने माया की। चारों ओर प्रसिद्ध हो गया कि मत्स्येन्द्रनाथजी साधुवेष त्यागकर संगलद्वीपकी सुन्दरियोंके साथ विषय-रत हो गये हैं। गोरखनाथजीको बड़ा दुःख हुआ। वे गुरुको सावधान करने अनेक कठिनाइयाँ उठाकर संगलद्वीप गये। वहाँ उन्होंने राज-ऐश्वर्यका उपभोग करते गुरुको देखा। किसी प्रकार समझाकर उन्हें ले आये। गोरखनाथजी जब योगाश्रम पहुँचे, गुरु-भाइयोंने उनका उपहास किया। गुरुदेव तो दीर्घकालसे समाधिमें स्थित हैं। अहंकार दूर हो गया।

बाबा गोरखनाथजीके अनेक स्थानोंमें आश्रम हैं। नैपाल, मद्राससे लेकर राजपूतानेतक उनका नाथ-सम्प्रदाय किसी समय अत्यन्त व्यापक था। महाराष्ट्रीय संतोंके मुकुटमणि ज्ञानेश्वरजी इसी नाथ-सम्प्रदायकी परम्परामें हैं। बौद्धकालमें योगकी आन्तरिक साधना तन्त्रके नामपर बहुत अधिक विकृत हो गयी थी। गोरखनाथजीने पुनः शास्त्रीय योग-मार्गको प्रतिष्ठित किया। उनका मत तप, कठोर त्याग एवं योगकी कठिन साधनाका मार्ग है। वे प्रमाद, आलस्य, भोग तथा बाह्य भेदोंके प्रबल विरोधी रहे हैं। सिद्धियाँ तो उनके पंथके अनेक पुरुषोंमें रही हैं।—सु०

महात्मा कबीरदास

काशीमें लहरताराके समीप नीरू जुलाहेको एक नवजात शिशु मिला। इसी बालकका नाम आगे जाकर 'कबीर' हुआ। कबीरदासजी एक दिन पंचगंगा घाटकी सीढ़ियोंपर प्रहरभर रात्रि रहते जाकर लेट गये। स्वामी रामानन्दजी वहींसे स्नान करने उतरा करते थे। रामानन्दजीका पैर कबीरके ऊपर पड़ा। वे 'राम-राम' कहकर चौंक पड़े। कबीरने इसीको गुरुमन्त्र मान लिया। कबीरदासजीने मुसलमान सूफी संत शेख तकी और पीर पीताम्बरदासका भी आदरपूर्वक स्मरण किया है। उन्होंने हिंदू-मुसलमानके भेदको छोड़कर सत्संग प्राप्त किया था।

कबीरदासजीकी पत्नीका नाम लोई था। इनके कमाल नामक एक पुत्र था। कमाल बड़े साधु-सेवी महापुरुष हुए। कबीरदासजी 'पढ़े-लिखे' नहीं थे। उन्होंने अपने कपड़ा बुननेके व्यवसायको बनाये रखा। महात्मा गोरखनाथजीसे सिद्धोंकी एक परम्परा चली आ रही थी। इन सिद्धोंका प्रभाव छोटी जातियोंपर अधिक था। कबीरदासजीपर इस परम्पराका पूरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने सिद्ध-परम्पराके समान ही बाह्याचार एवं बाह्य भेदकी उपेक्षा करके आन्तरिक उन्नतिपर बल दिया।

कबीरदासजीने सूफियोंकी प्रेम-साधना तथा नाथ-पन्थी योगियोंके शब्दमार्ग, कुण्डलिनी-जागरणका समन्वय किया। उनके पश्चात् संत-मार्गकी एक परम्परा ही चल पड़ी। दादू, पलटू आदि अनेक संत हुए। कबीरदासजीके ग्रन्थ रमैनी, सबद और साखी कहे जाते हैं। दूसरे संतमार्गी महापुरुषोंने भी 'साखी' तथा 'सबद' लिखे हैं।

वृद्धावस्थामें कबीरदासजीका काशीमें रहना लोगोंने कठिन कर दिया। वे मगहर चले गये और वहीं ११९ वर्षकी अवस्थामें शरीर छोड़ा।

जौं कबिरा कासी मरै तो रामहि कौन निहोरा।

भगवान्के चरणोंमें अविचल विश्वासका यह प्रतीक है।

कबीरदासजीकी वाणी अनुभूतिसे पूर्ण है। उन्होंने सब प्रकारके आडम्बर तथा दिखावेका खण्डन करके एक व्यापक तत्त्वके प्रति सच्चे अनुराग एवं सात्त्विक गुणोंका समर्थन किया है। बहुधा वे अपनी बात गूढ़ ढंगसे कहते थे। उनकी 'उलट बासियाँ' अत्यन्त दुर्बोध हैं। अपने आराध्यके अनुरागमें मस्त वे एक ऐसे अक्खड़ संत थे, जो कहीं किसीकी परवा नहीं करता। वे भारतीय सैद्धान्तिक सहिष्णुता एवं समन्वयवादके उच्च आदर्श हैं।—सु०

गुरु नानकदेव

संवत् १५२६ वैशाख शुक्ल ३ (१५ अप्रैल सन् १४६९) को राइभोइ तलबण्डी (ननकाना साहिब) में वेदी कालूचन्द पटवारीके गृहमें माता तृप्ताजीने एक महापुरुषको जन्म दिया। सिख-धर्मके प्रवर्तक यही गुरु नानकदेव हुए।

'तुमलोग कोई नवीन खेल खेलना चाहते हो तो मैं जैसे कहता हूँ, बैठकर मन-ही-मन 'सत्यकर्तार' कहते चलो।' गुरु नानकदेवका यह खेल था। पद्मासन लगवाकर साथी बच्चोंको बैठा दिया और सब समाधिमें

स्थित हो गये। बचपनमें एकान्त-सेवनमें ही उनका चित्त लगता था। पिताने संवत् १५३२ में गोपाल पण्डितके समीप इन्हें हिंदी पढ़ने, संवत् १५३५ में व्रजलाल पण्डितके पास संस्कृत पढ़ने और संवत् १५३९ में मौलवी कुतुबुद्दीन साहबके पास फारसी पढ़ने बैठाया। तीनों शिक्षक स्वतः इनके ही शिष्य हो गये उस पराविद्याका तत्त्व जाननेके लिये।

''मैंने ऐसा 'सच्चा सौदा' खरीदा है, जो कोई नहीं खरीद सकता।'' इन्हें पिताने कुछ रुपये देकर बाहर सौदा खरीदने भेजा था। मार्गमें एक विद्वान् संत मिल गये, जो कई दिनोंसे भूखे थे। सब रुपये उनकी सेवामें लग गये। घर लौटकर नानकजीने पिताको विवरण दे दिया। पिता बहुत रुष्ट हुए। उन्होंने इनको मारा। बहिन नानकीजी अपने भाईको साक्षात् ईश्वर-तुल्य मानती थीं। उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। अपने पति जयरामजीसे आग्रह करके गुरु नानकदेवजीको वे अपने पतिगृह सुल्तानपुर ले आयीं। लोगोंके कहनेसे गुरुजीने संवत् १५४२ में दौलतखाँ लोदीके मोदीखानेका कार्य सम्हाल लिया।

संवत् १५४४ में २४ जेठको मूलचन्दजीकी सुपुत्री श्रीसुलक्षणादेवीका आपने पाणि-ग्रहण किया। आपके दो पुत्र हुए—बाबा श्रीचन्द और बाबा लक्ष्मीदास। मोदीखानेका कार्य आप तबतक किसी प्रकार चला रहे थे। सामान बिना मूल्य कितना आप बाँटते थे, कुछ ठिकाना नहीं था। किसीको आवश्यकता हो तो क्या उसे मूल्यके बिना सामान देना अस्वीकार किया जा सकता है? इतनेपर भी हिसाब मिलानेपर सब ठीक मिल जाता था। संवत् १५५४ की बात है, गुरुदेव आटा तौल रहे थे। एक, दो, तीन, चार—इस प्रकार बारहतक तो गिनती ठीक आयी; पर तेरह आते ही आपने 'तेरा' 'तेरा' कहना प्रारम्भ किया। भला, विश्वमें अपना क्या है? उन्होंने सब आटा तौल दिया। उसी दिन मोदीखाना छूट गया।

'कोई हिंदू, न मुसलमान' बड़ी शीघ्रतासे गुरुजी ये शब्द प्रायः कह जाते। संवत् १५५४ में ईर्ष्या-द्वेष, वैर-विरोध, लोभ-मोहके जालमें तड़पते विश्वको शान्तिका संदेश देनेके लिये आपने देशाटन प्रारम्भ किया। आपकी चार यात्राएँ प्रसिद्ध हैं। प्रथम यात्रामें पहले ऐमनाबाद जाकर भाई लालो बढ़ईके घर ठहरे और वहाँसे हरद्वार, दिल्ली, काशी, गया तथा श्रीजगन्नाथपुरी आदि गये।

दूसरी यात्रामें दक्षिण भारतमें अर्बुदगिरि, सेतुबन्ध रामेश्वर, सिंहलद्वीप (सीलोन) आदि स्थानोंमें आपने धर्म-प्रचार किया। तीसरी यात्रा सरमौर, टेहरी, गढ़वाल, हेमकूट, गोरखपुर, सिकम, भूटान, तिब्बत आदि पर्वतीय प्रान्तोंमें हुई। चौथी यात्रामें आप बलोचिस्तान होते मक्केतक पश्चिममें गये। इस यात्रामें आपने रूम, बगदाद, ईरान, कन्धार, काबुल आदिमें 'सत्यनाम' का उपदेश किया।

गुरु नानकदेवकी उपदेश-शैली अद्भुत थी। कहते हैं, मक्केमें आप काबेकी ओर पैर करके लेटे हुए थे। वहाँके मौलाना, काजीलोग बिगड़े तो आपने कह दिया—'जिधर अल्लाहका घर न हो, उधर मेरे पैर कर दो।' लोगोंने जिधर उनके पैर घुमाये, काबा उधर ही घूमता गया।

पचीस वर्ष भ्रमण करके संवत् १५७९ में कर्तारपुरमें, जिसे उन्होंने ही सं० १५६१ में बसाया था, निवास करने लगे। उपदेशामृतके साथ यहाँ लोगोंको अन्न भी वितरित करनेके लिये 'लंगर' प्रारम्भ हुआ। यहीं इसी वर्ष गुरुजीके माता-पिताका शरीर छूटा। स्वयं गुरुदेवने आश्विन शुक्ल १०, संवत् १५९६ (२२ सितम्बर, सन् १५३९) को ७० वर्ष, ४ मास, ३ दिनकी अवस्थामें परधामगमन किया। अपनी गद्दीका अधिकारी किसी पुत्रको बनानेके बदले उन्होंने अपने योग्यतम शिष्य अंगदजीको बनाया था।

सिख, हिंदू तथा मुसलमान शिष्य गुरुदेवके अन्तिम संस्कारके लिये विवाद कर रहे थे। सभी उनको अपना गुरु मानते थे। सब उनकी अन्त्येष्टिका अधिकार प्रकट कर रहे थे। जिस महापुरुषने जीवनभर मेल एवं एकत्वका प्रचार किया था, उसीके शरीरके लिये यह विवाद अत्यन्त अशोभन था। उस दिव्यात्माने विवादका समाधान कर दिया। शरीरपर पड़ा वस्त्र उठाया गया तो वस्त्रके नीचे शरीर था ही नहीं। उस वस्त्रका आधा भाग लेकर हिंदू-सिखोंने संस्कार किया और मुसलमानोंने उसकी कब्र बनायी।

श्रीगुरु नानकदेवजीकी सम्पूर्ण वाणी पंचमगुरु श्रीअर्जुनदेवजीने गुरुग्रन्थसाहबमें संकलित की है। इनमें जपुजी, पट्टी, आरती, दक्षिणीय ओंकार, सिद्धगोष्ठी आदि प्रख्यात वाणियाँ हैं। गुरुजी हिंदू, मुसलमान, बौद्ध, जैन, ईसाई आदि सभी धर्मोंके केन्द्रीय तीर्थोंमें गये थे। सभी धर्मोंके संतोंसे वे मिले थे। सब कहीं उन्होंने

संत श्रीतुकाराम

संत श्रीज्ञानेश्वर

संत श्रीएकनाथ
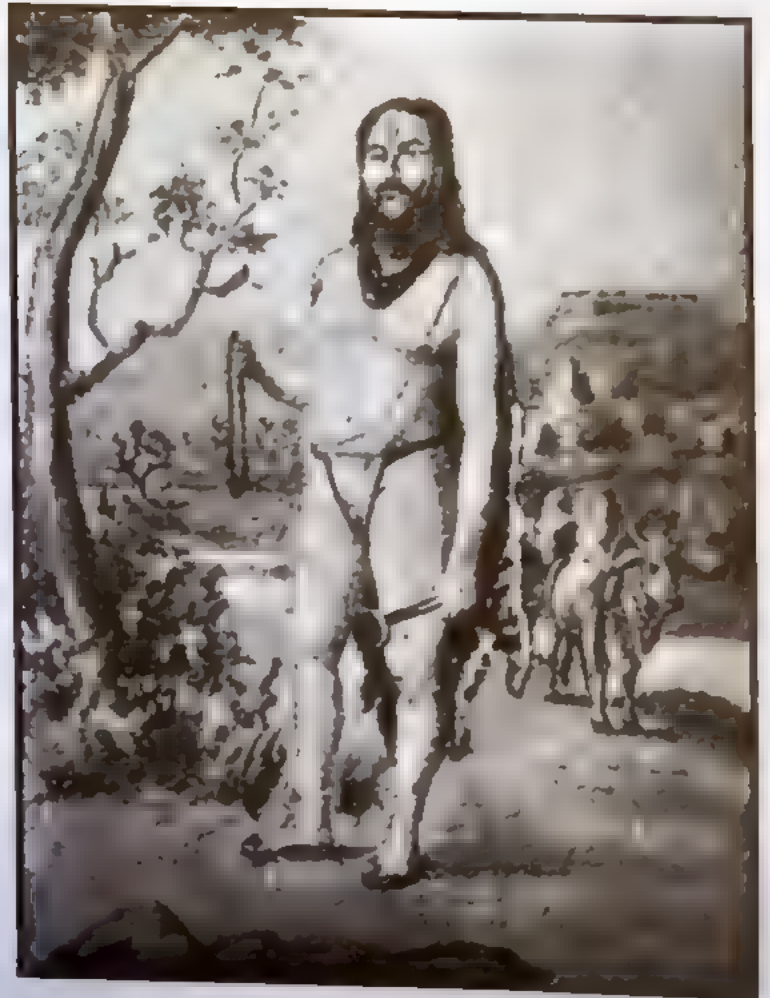
समर्थ रामदास

भक्त सूरदास

गोस्वामी तुलसीदासजी

संत कबीर

गुरु नानक

उस एक 'सत्य कर्तार' को स्मरण रखनेका उपदेश किया था।

हम नहिं चंगे, बुरा नहिं कोइ।

(गुरुग्रन्थसाहब)

'हम अच्छे नहीं हैं और जगत्‌में कोई बुरा नहीं है।' दूसरोंके दोष देखना छोड़कर मनुष्यको केवल अपने दोष देखने चाहिये और दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये। गुरुजीका यही आदर्श था। वे संकीर्णताके प्रबल विरोधी थे। ''एक 'कर्तार' और वही परम 'सत्य' है। समस्त जगत् उसी 'अकाल' पुरुषकी क्रीड़ा है। विवाद और द्वेष छोड़कर, आडम्बरों-दिखाओंको त्यागकर सचाईसे उसको हृदयमें स्मरण करना चाहिये।'' इस आधारपर व्यावहारिक एकत्वका महान् आदर्श गुरु नानकदेवजीने उपस्थित किया। उन्होंने जिस धर्मका उपदेश किया, वह एकत्व, भ्रातृत्व, सेवा और सादगीका निश्छल धर्म है। उसमें आत्मसंयम, आत्मालोचन एवं अन्तर्मुखताकी प्रबल प्रेरणा है। कबीरदासजीने जिस 'एकत्व' का दर्शन किया था, गुरु नानकदेवजीने उसीका साक्षात् करके उसे स्थापित करनेका महान् उद्योग किया।—सु०

सूरदासजी

हिन्दी-साहित्य-गगनमें सूर और तुलसीको विद्वानोंने सूर्य एवं चन्द्रकी उपमा दी है। बात है भी ऐसी ही। गोस्वामी तुलसीदासजीने मर्यादापुरुषोत्तमका वरण करके अपने 'मानस' के द्वारा लोकादर्शकी स्थापना की। उनकी वाणी सार्वभौम है। वे जीवनके प्रत्येक कोनेको प्रकाशित करते हैं। सूरदासजीके आराध्य हैं लीलापुरुषोत्तम। वे अपने नटनागरकी लीलामें तन्मय महापुरुष हैं। उनकी निष्ठा एकरूप है। उनके सम्मुख लोक ही नहीं तो लोकादर्श कहाँसे आये। विद्वानोंने स्वीकार किया है कि सूरने जिन रसोंको अपनाया है, विश्व-साहित्यमें दूसरा कोई उन रसोंमें उनकी समता नहीं कर सकता। बाल्य-वर्णन और वियोग-शृंगारके वे एकछत्र सम्राट् हैं। श्रीकृष्णकी विविध बाललीलाओंके वर्णनमें उनकी सूक्ष्म दृष्टि इतनी अन्तर्मुख सत्यदर्शिनी है कि कोई उसकी कल्पनातक नहीं कर सकता। गोपियोंके विरह-वर्णनमें वे पाषाणको भी रुला देनेकी शक्ति पदोंमें संचित कर लाये हैं।

कहा जाता है कि आगरा-मथुरा सड़कपर स्थित सीही ग्राममें सूरदासजीका जन्म हुआ था। उनके पिताका नाम रामदास था। वे सारस्वत ब्राह्मण थे। वे जन्मान्ध नहीं थे। किसी कारणवश पीछे अन्धे हो गये थे। मुसलमानोंके साथ इनके पिताका युद्ध हुआ। उसमें पिता तथा छः भाई मारे गये। ये इधर-उधर भटकते हुए एक कुएँमें गिर पड़े और वहीं छः दिन पड़े रहे। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने प्रकट होकर इन्हें निकाला, दृष्टि प्रदान की।

'जिन नेत्रोंसे आपके दर्शन किये, उनसे जगत्‌को न देखना पड़े।' वरदानमें फिर अपना अन्धत्व ही माँगा इन्होंने। मथुरामें गऊघाटपर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीकी इन्होंने शरण ग्रहण की। आचार्यचरणके गोलोक-गमनके अनन्तर उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजीकी छत्र-छाया इनके ऊपर रही। इन्होंने श्रीमद्भागवतके आधारपर श्रीकृष्ण-चरितका जिन पदोंमें गान किया, उन पदोंका संग्रह ही 'सूरसागर' कहा जाता है। सूरदासजीके साथ सदा एक लेखक रहता था, जो उनके मुखसे निकले पदोंको लिखता जाता था। कहा जाता है कि 'सूरसागर' में एक लक्ष पद हैं। अब तो दस-पंद्रह सहस्र पद ही उपलब्ध होते हैं।

उस समय व्रज श्रीकृष्ण-रस-रसिक महापुरुषोंकी क्रीड़ा-स्थली हो रहा था। श्रीवल्लभसम्प्रदायमें 'अष्टछाप' के महाकवि अत्यन्त प्रख्यात हैं। इनमें सभी उच्चकोटिके महापुरुष और भगवल्लीलादर्शी थे। उनकी वाणी हृदयकी वाणी है। सूरदासजीके अतिरिक्त इनमें नन्ददास, कृष्णदास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, परमानन्ददास, छीतस्वामी और गोविन्दस्वामीके नाम हैं। अष्टछापके अतिरिक्त उस समय तथा उसके पीछेतक श्रीकृष्ण-लीलाके गायक अनेक महापुरुष हुए हैं। रसखान, घनानन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सत्यनारायण तथा रीतिकाव्यके कवियोंमें देव, विहारी, पद्माकर प्रभृतिने भी अपनी वाणी श्यामसुन्दरके गुण-गानसे पवित्र की है। उन लीलामय, त्रिभुवनसुन्दरकी लीला स्वयं काव्य है। वही रसरूप हैं, अतः काव्यमें रसके आविर्भावके लिये वही आश्रय होते हैं; परंतु उन नवनीतचोरने जिनके हृदयको चुरा लिया है, वे काव्यके लिये उनकी कीर्तिकौमुदीका गान नहीं करते। वे तो मुग्ध हृदयकी प्रेम-वाणीमें बोलते हैं।

प्रेमकी परा वाणीमें नन्दनन्दनका भावमुग्ध गुण-

गान करनेवाले अनेक महाभाग हुए हैं। सूर उनके आचार्य हैं। वे उस नन्दनकाननके भृंगराज हैं। उनके पद काव्य नहीं, हृदयकी वाणी हैं। उनमें मानवके विशुद्ध हृदयके निर्मल स्निग्ध भाव हैं। अतएव वह वाणी किसी देश या काल-विशेषके लिये नहीं, वह सभी कालोंमें सम्पूर्ण मानव-जातिके आनन्दका स्रोत है। मानव-संस्कृतिके अन्तर-उल्लासके दिव्य गायक विश्वमें ऐसे बहुत कम हुए हैं। —सु०

गोस्वामी तुलसीदासजी

भारतमें हिंदू-धर्म उत्पीड़नका आखेट हो रहा था। जनताको अनेक अशास्त्रीय मतोंने भ्रान्त करना प्रारम्भ कर दिया था। हिंदू नरेश नाममात्रके नरेश रह गये थे। विद्वानोंने चाटुकारीको व्यवसाय बना लिया था। कविगण विलासी राजाओंकी स्तुतिके गान गाते या उनकी वासनाको उद्दीप्त करनेवाली शृंगारपरक रचनाएँ करते। उस युगमें एक महापुरुषका उदय हुआ। जगत्के राग-रोषसे ऊपर उठकर उन लोकोत्तर संतने **'स्वान्तःसुखाय'** अपने आराध्यकी अमल कीर्तिसे अपनी वाणीको पवित्र किया। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके आदर्श चरितने हिंदू-जातिको एक नवीन ज्योति दी। शास्त्रीय आदर्श उसके सम्मुख जाग्रत्रूपमें उपस्थित हुआ।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके जीवनके सम्बन्धमें निर्विवादरूपमें उतना ही ज्ञात हो सकता है, जितना उनके ग्रन्थोंमें यत्र-तत्र कुछ है। ऐसी सामग्री बहुत थोड़ी है। शेष बातें विवादास्पद हैं। उनके ग्रन्थोंसे यह जान पड़ता है कि वे ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुए थे। किसी भी कारण अत्यल्प वयमें माता-पितासे पृथक् हो गये। प्रारम्भिक जीवनमें अनेक स्थानोंपर शारीरिक आवश्यकतावश भटकते रहना पड़ा। उन्होंने अच्छी प्रकार अध्ययन किया और तीर्थाटन किया। उनके ग्रन्थ उनकी विद्वत्ता तथा देशभ्रमणके साक्षी हैं।

गोस्वामीजीका प्रारम्भिक जीवनमें विवाह हुआ था और गृहस्थाश्रममें कुछ समय रहकर वे विरक्त हुए थे। संवत् १६३१ में चैत्र शुक्ल नवमीको श्रीअयोध्याजीमें उन्होंने श्रीरामचरितमानसका लिखना प्रारम्भ किया। बहुत समयतक वे चित्रकूटमें रहे और जीवनके अन्तिम वर्ष उनके काशीमें व्यतीत हुए। काशीमें वे इससे पूर्व भी कई बार आये होंगे, ऐसा लगता है।

उन दिनों काशीमें एक राय टोडरमल (अकबरके मन्त्री राजा टोडरमलसे भिन्न) रहते थे। वे सम्पन्न और श्रद्धालु पुरुष थे। गोस्वामीजीमें इनकी श्रद्धा हो गयी थी। इन्होंने गोस्वामीजीके लिये काशीमें असीघाटके पास स्थान बनवा दिया था। अन्तिम समयतक गोस्वामीजी यहीं रहे। तुलसीदासजीके नामके साथ 'गोस्वामी' उपाधि क्यों लगी, यह कहना कठिन है। उत्तर-भारतमें ब्राह्मण गोस्वामी नहीं कहे जाते। **'तुलसी गोसाईं भयो'** कहकर इस पदके लिये गोस्वामीजीने खेद प्रकट किया है 'गीतावली' में।

गोस्वामीजीने काशीमें एक महामारीका वर्णन किया है। एक बार उनके बाहुमें भयंकर पीड़ा हो गयी। हनुमानबाहुक उसी समय लिखा गया। संवत् १६८० में काशीके असीघाटपर गोस्वामीजीने शरीर छोड़ा। उनके जीवनमें ही उनकी अत्यन्त ख्याति हो गयी थी। काशीके विद्वानोंने निरन्तर विरोधके पश्चात् उनका श्रेष्ठत्व स्वीकार कर लिया था।

गोस्वामीजीके अनेक ग्रन्थ हैं—रामलला नहछू, जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, कवितावली, विनय-पत्रिका, दोहावली, गीतावली और श्रीरामचरितमानस आदि। उस समय कविताके लिये दोहे, कवित्त-सवैया, छप्पय, गीति तथा चौपाई, दोहेकी विभिन्न प्रथाएँ थीं। गोस्वामीजीने सभी शैलियोंमें ग्रन्थ-रचना की। उन्होंने समानरूपसे व्रजभाषा तथा अवधीमें अपने काव्य लिखे। उनके गेय तो सदा श्रीराम ही थे। श्रीरामचरितमानस उनका मानस-धन है और हिंदू-जाति तथा विश्व-मानवके लिये वह महामूल्यवान् माणिक्य सिद्ध हो चुका है।

गोस्वामीजी किस सम्प्रदाय या किस सिद्धान्तके अनुयायी थे, यह प्रश्न ही व्यर्थ है। वे शास्त्रोंके प्रबल समर्थक थे। शास्त्रविरोधी कोई भी क्रिया, भाव तथा सिद्धान्त हो—उसका उन्होंने कड़े शब्दोंमें प्रतिवाद किया। श्रुति, स्मृति, पुराण सम्मत सनातनधर्म ही उन्हें इष्ट था। 'नानापुराणनिगमागम सम्मत' मत ही उनका मत था। सिद्धान्त, आचार, प्रथा, उपासना—सब स्मृति-पुराणसम्मत ही उन्हें अभीष्ट थी। श्रीरामचरितमानस इसीलिये श्रेष्ठ शास्त्र बन गया और इसीलिये उसके सम्बन्धमें अनेक मतवाद प्रश्रय पाते हैं; क्योंकि प्रस्थानत्रयीसे इन मतवादोंकी व्याख्या हुई है। यद्यपि साधारण जनोंकी भाषामें 'मानस'- जैसे शास्त्रको देनेके लिये गोस्वामीजीको बहुत विरोधका सामना करना पड़ा,

फिर भी उनका 'मानस' उसी समय श्रीमधुसूदन सरस्वती-जैसे विद्वान्‌का आदरपात्र हो गया था। झोंपड़ीसे राजसदनतक अबाध 'मानस' का प्रवेश है। सामान्य जनता धर्मका तत्त्व 'मानस' से ही प्राप्त करती है।

भक्त नरसी मेहता

'भगवद्विश्वास' इस एक शब्दमें नरसीदासजीका पूरा चरित है। बचपनसे उनमें भगवान्‌पर विश्वास था। भजन-कीर्तन छोड़कर उन्हें कोई कार्य अच्छा नहीं लगता था। घरवालोंने उन्हें उपार्जनका उद्योग करते न देख पृथक् कर दिया। अपने बाल-बच्चोंके साथ इस प्रकार पिताकी मृत्युके पश्चात् भाइयोंसे अलग होना पड़ा उन्हें।

काठियावाड़ प्रान्तके जूनागढ़ राज्यमें नरसीजीका जन्म हुआ था। भगवान् शंकरकी उपासना करके नित्य-रासविहारीके गोलोककी रास-क्रीड़ाका उन्होंने दर्शन पाया था। घरके व्ययकी चिन्ता, भला वे क्यों करते। भक्तोंके 'योग-क्षेम' के वहनकी प्रतिज्ञा करनेवाले श्यामसुन्दर क्या कभी प्रमत्त होते हैं, जो उनके जन उनके गुण-गानको छोड़ दूसरे कार्योंको सोचें।

नरसीजीके जीवनमें भगवद्विश्वास एवं भगवत्कृपाके चमत्कार बहुत अधिक हैं। द्वारिका जानेवाले यात्रियोंका रुपया लेकर आपने साँवलिया साहके नाम हुंडी लिख दी। रुपया तो साधुओंकी सेवामें लग गया। जब यात्री द्वारिका पहुँचे, उस द्वारिकाधीश साँवलिया (श्यामसुन्दर) को सचमुच सेठ बनकर हुंडी स्वीकार करनी पड़ी।

जूनागढ़के ब्राह्मण नरसीजीका सदा तिरस्कार करते थे। एक बार पिताके श्राद्धके समय उन लोगोंने पूरी जातिको भोजन करानेका इनसे आग्रह किया। नागर ब्राह्मणोंकी वहाँ बहुत बस्ती थी। श्राद्धके दिन कुछ घृत कम हो गया। नरसीजी घी लाने बाजार गये। मार्गमें कुछ संत भगवान्‌का कीर्तन करते मिले। नरसीजी उसमें सम्मिलित हो गये। नामामृतमें मग्न होनेपर किसे घरका स्मरण रहता है। घरमें भोजन बन रहा था। बेचारी ब्राह्मणी पतिकी प्रतीक्षा कर रही थी। भक्तवत्सल प्रभु नरसीके रूपमें घृत लेकर पहुँच गये। श्राद्ध, विप्रभोज आनन्दसे पूर्ण हुआ। पत्नीको आश्चर्य हुआ, जब रात्रिमें नरसीजी घी लेकर घर पहुँचे और विलम्बके लिये खेद प्रकट करने लगे।

इनके पुत्रका विवाह भी श्रीकृष्णचन्द्रको ही कराना पड़ा और पुत्रीके विवाहको भी उसी 'साँवरिया' ने पूरा किया। पुत्रीके यहाँ नरसीजी तो 'मायरे' (भात) में गोपीचन्दन, तुलसीमाला और रामनामी ही ले जा सके थे; लेकिन जिसके लिये वह विश्वेश स्वयं उपस्थित हो, उसके 'मायरे' के 'रत्नाभरण' से लदे हुए छकड़ोंको गिना कैसे जाय।

एक-एक करके स्त्री और पुत्रका शरीरान्त हो गया। नरसीजी जैसे पूर्ण निश्चिन्त हो गये अपने आराध्यमें लगनेके लिये। जूनागढ़के 'रा' माण्डलिकने एक बार इन्हें बुलाकर आग्रह किया—'तुम्हारे उपदेशोंके सम्बन्धमें बहुत-से विद्वान् सन्देह करते हैं। यदि भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये तुम्हारी ही बातें ठीक हैं और तुम सचमुच भक्त हो तो भगवान्‌के श्रीविग्रहके गलेमें माला डालो और प्रार्थना करो कि भगवान् वह माला तुम्हारे गलेमें पहना दें।'

नरसीजीमें अविश्वासके लिये स्थान ही नहीं था। उन्होंने सायंकाल भगवान्‌के शृंगारके समय उनके गलेमें माला पहना दी। रात्रिभर मन्दिरके द्वारपर कीर्तन करते रहे। प्रातः जब पहले दिनके शृंगारको उतारनेका समय हुआ, बड़े भारी जन-समूहके मध्य भगवान्‌ने यह माला अपने गलेसे निकालकर नरसीजीके गलेमें डाल दी।

'वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड़ पराई जाणे रे।'

'दूसरोंकी पीड़ामें जो दुःखानुभव करे, वही वैष्णव है।' सर्वत्र, सब समय, सबमें अपने आराध्यको देखनेवाले उन गुजराती संतकी यह महावाणी है। उनके पद पूरे भारतमें अत्यन्त प्रिय हैं।—सु०

श्रीनाभादासजी

'भगवान्‌के चरित तो सुलभ हैं, क्योंकि वे भक्त-भावन हैं; परंतु भाव-भेदसे प्रभुको अपना बनानेवाले संतोंके चरित अत्यन्त दुर्बोध हैं। गुरुकी कृपा और आज्ञासे ही मैं इस दुष्कर कार्यमें प्रयास करता हूँ।' नाभादासजीके ये अपने उद्‌गार हैं। भक्तोंके पावन चरितोंकी जो माला उन्होंने 'भक्तमाल' के रूपमें प्रस्तुत की, वह भगवान्‌के वक्षको तो विभूषित करेगी ही, उनके जनोंका सर्वदा कण्ठाभरण रहेगी।

श्रीनाभादासजी दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। उनका जन्म संवत् १५४० में हुआ था। वैराग्योदय होनेपर उन्होंने रामानन्द-सम्प्रदायके जयपुरकी 'गलता गादी' के महन्थ श्रीअग्रदासजी महाराजसे दीक्षा ग्रहण की थी। 'भक्तमाल'

पर अग्रदासजीकी पद्यात्मक टीका है, गुरुने शिष्यके ग्रन्थकी व्याख्या की—यह गुरुके संत-स्वभाव और ग्रन्थके महत्त्व दोनोंका सूचक है।

'भक्तमाल' में १०८ छप्पय हैं। इसमें संतसेवी भक्तोंकी अद्भुत कथाएँ हैं। श्रीनाभादासजी महाराज साधु-वेषके प्रति निष्ठा रखनेवाले संत थे। वे साधुओंका 'सीथ' (उच्छिष्ट) ग्रहण करते। 'साधु साक्षात् आराध्यके रूप हैं।' यह उनकी दृढ़ धारणा थी। 'भक्तमाल' में इसी भावको उन्होंने पुष्ट किया है।

भगवच्चरित्र तथा भक्त-चरित्र—यही दो गेय, स्मरणीय तथा चिन्त्य हैं। लौकिक चरित्र उपेक्षणीय हैं। भारतीय संस्कृतिकी यही परम्परा है। लौकिक महत्त्व चाहे किसीको कितना भी मिला हो, भारतने उसे स्मरण रखना आवश्यक नहीं माना। भगवच्चरित्रोंका अनेक संतोंने विविध प्रकारसे गान किया है। **'राम ते अधिक राम कर दासा।'** मानकर भक्त-चरितोंकी माला बनानेवाले नाभादासजी स्वयं अपनी मालाके सुमेरु हैं, यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं।—सु०

स्वामी दयानन्द सरस्वती

काठियावाड़के मोरवी राज्यमें टंकारा छोटा-सा गाँव है, जहाँ वेदपाठी, धर्मिष्ठ ब्राह्मण अम्बाशंकरके यहाँ उस बालकने जन्म लिया, जो आगे देशमें स्वामी दयानन्द सरस्वतीके नामसे विख्यात हुआ। बालकका घरका नाम मूलशंकर था। बालक मूलशंकर बचपनसे वीतराग एवं सत्यान्वेषी थे। विवाह-संस्कार सम्पन्न होनेका निश्चय किया पिताने और उन्होंने उस तिथिसे एक सप्ताह पूर्व ही घर छोड़ दिया। श्रीनर्मदा-तटपर स्वामी पूर्णानन्द सरस्वतीसे मूलशंकरने संन्यास ग्रहण किया। वे स्वामी दयानन्द सरस्वती हो गये। गुरुके आश्रममें पर्यटन करते हुए काशी होकर वृन्दावन पहुँचे। यहीं उन्हें प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्दजीके दर्शन हुए। वस्तुतः स्वामी दयानन्दजीके यही वास्तविक शिक्षा-गुरु हुए। इन्हींसे स्वामीजीने व्याकरण, वेदप्रभृतिकी शिक्षा प्राप्त की। इन्हीं गुरुदेवके आदेशसे वे वैदिक धर्मकी स्थापनामें प्रवृत्त हुए। सन् १८७६ के हरिद्वार-महाकुम्भके अवसरपर उन्होंने पहले-पहले अपने मतका प्रचार प्रारम्भ किया।

स्वामी श्रीदयानन्दजीने अपनी शैलीसे वेदोंका भाष्य प्रारम्भ किया। उनके द्वारा सर्वप्रथम बम्बई और लाहौरमें आर्यसमाजकी स्थापना हुई। पहले वे एनी बेसेंटके साथ कुछ दिनों कार्य करते रहे; किंतु वेदोंमें स्वामीजीकी अखण्ड निष्ठा थी। थियासफी-सम्प्रदायसे उनका मत मिल नहीं सका, वे पृथक् प्रचारमें लग गये। उनमें प्रकाण्ड प्रतिभा थी, उज्ज्वल त्याग था और उनकी वाणीमें अद्भुत शक्ति थी। जनतापर उनका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती महान् पुरुष थे; उनके-जैसे स्पष्टवादी निर्भीक वक्ता बहुत कम होते हैं। वेदोंमें, प्राचीनतम भारतीय संस्कृतिमें उनकी अगाध निष्ठा थी। उन्होंने भरपूर प्रयत्न किया हिंदू-धर्मकी रक्षाका। हिंदुत्वपर होनेवाले आक्रमणोंका उन्होंने प्राण-पणसे विरोध किया। एक विद्वान् नेताके शब्दोंमें—'आर्यसमाज हिंदूधर्मका चौकीदार है।' स्वामीजीने सचाईसे प्रयत्न किया हिंदूधर्मकी रक्षाका। इसमें सन्देहको स्थान ही नहीं है।

वे वीतराग महापुरुष—वे दो टूक वक्ता, असदाचरणसे उन्हें तीव्र घृणा थी। महाराज जोधपुरके निमन्त्रणपर वे जोधपुर गये। महाराजके आचरणका उन्होंने स्पष्ट प्रतिवाद किया। फलतः महाराजकी रखैल वेश्याने उन्हें विष दिला दिया। उन महापुरुषने विषके प्रभावसे १६ अक्टूबर सन् १८८३ को शरीर छोड़ा और मरते-मरते अपने घातकके लिये दयाका आदेश दे गये। दीपावलीकी वह रात्रि, दीपालोकोंमें ही वह दिव्यालोक निर्वापित हो गया।

मतभेद—यह तो हिंदू-धर्मकी परमोदारताका महान् स्वरूप है कि वहाँ सैद्धान्तिक मतभेदोंका सदा स्वागत किया जाता है। लेकिन यह सभीको सादर स्वीकार करना पड़ेगा कि सत्यको स्वीकार करनेके लिये प्रतिक्षण ऐसी उज्ज्वल तत्परता और वेदोंके प्रति अगाध श्रद्धाके स्वामी दयानन्दजी उच्चतम आदर्श हैं। वेदोंके प्रति उनका त्याग, उद्योग एवं सेवा महान् है।—रा० श्री०

स्वामी रामकृष्ण परमहंस

बंगालके हुगली जिलेमें एक ग्राम है कामारपुकुर। यहीं १८ फरवरी सन् १८३६ को बालक गदाधरका जन्म हुआ। गदाधरके पिता खुदीराम चट्टोपाध्याय निष्ठावान् गरीब ब्राह्मण थे। गदाधरकी शिक्षा तो साधारण ही हुई, किन्तु पिताकी सादगी और धर्मनिष्ठाका उनपर पूरा प्रभाव पड़ा। सात वर्षकी अवस्थामें ही पिता परलोकवासी हुए। सत्रह वर्षकी अवस्थामें बड़े भाई

परमहंस रामकृष्ण

स्वामी विवेकानन्द

महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय

महात्मा गान्धीजी

रामकुमारके बुलानेपर गदाधर कलकत्ता आये और कुछ दिनों बाद भाईके स्थानपर रानी रासमणिके दक्षिणेश्वर-मन्दिरमें पूजाके लिये नियुक्त हुए। यहीं उन्होंने माँ महाकालीके चरणोंमें अपनेको उत्सर्ग कर दिया। वे भावमें इतने तन्मय रहने लगे कि लोग उन्हें पागल समझते। वे घंटों ध्यान करते और माँके दर्शनोंके लिये तड़पते, एक दिन अर्धरात्रिको जब व्याकुलता सीमापर पहुँची, उन जगदम्बाने प्रत्यक्ष होकर कृतार्थ कर दिया। गदाधर अब परमहंस रामकृष्ण ठाकुर हो गये।

बंगालमें बाल-विवाहकी प्रथा है। गदाधरका भी विवाह बाल्यकालमें हो गया था; उनकी बालिका पत्नी जब दक्षिणेश्वर आयी, गदाधर वीतराग परमहंस हो चुके थे। माँ शारदामणिका कहना है—'ठाकुरके दर्शन एक बार पा जाती हूँ, यही क्या मेरा कम सौभाग्य है?' परमहंसजी कहा करते थे—'जो माँ जगत्का पालन करती हैं, जो मन्दिरमें पीठपर प्रतिष्ठित हैं, वही तो यह हैं।' ये उद्गार थे उनके अपनी पत्नी, माँ शारदामणिके प्रति।

अधिकारीके पास मार्गनिर्देशक स्वयं चले आते हैं। उसे शिक्षा-दाताकी खोजमें भटकना नहीं पड़ता। एक दिन सन्ध्याको सहसा एक वृद्धा संन्यासिनी स्वयं दक्षिणेश्वर पधारीं। परमहंस रामकृष्णको पुत्रकी भाँति उनका स्नेह प्राप्त हुआ और उन्होंने परमहंसजीसे अनेक तान्त्रिक साधनाएँ करायीं। उनके अतिरिक्त तोतापुरी नामक एक वेदान्ती महात्माका भी परमहंसजीपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उनसे परमहंसजीने अद्वैत-ज्ञानका सूत्र प्राप्त करके उसे अपनी साधनासे अपरोक्ष किया। परमहंसजीका जीवन विभिन्न साधनाओं तथा सिद्धियों-चमत्कारोंसे पूर्ण है; किंतु चमत्कार महापुरुषकी महत्ता नहीं बढ़ाते। परमहंसजीकी महत्ता उनके त्याग, वैराग्य, पराभक्ति और उस अमृतोपदेशमें है, जिससे सहस्रों प्राणी कृतार्थ हुए, जिसके प्रभावसे ब्राह्मसमाजके अध्यक्ष केशवचन्द्र सेन-जैसे विद्वान् भी प्रभावित थे, जिस प्रभाव एवं आध्यात्मिक शक्तिने नरेन्द्र-जैसे नास्तिक, तर्कशील युवकको परम आस्तिक, भारतके गौरवका प्रसारक स्वामी विवेकानन्द बना दिया।

स्वामी रामकृष्ण परमहंसजीका अधिकांश जीवन प्रायः समाधिकी स्थितिमें ही व्यतीत हुआ। जीवनके अन्तिम तीस वर्षोंमें उन्होंने काशी, वृन्दावन, प्रयाग आदि तीर्थोंकी यात्रा की। उनकी उपदेश-शैली बड़ी सरल और भावग्राही थी। वे एक छोटे दृष्टान्तमें पूरी बात कह जाते थे। स्नेह, दया और सेवाके द्वारा ही उन्होंने लोकसुधारकी सदा शिक्षा दी। १५ अगस्त सन् १८८६ को उन्होंने महाप्रस्थान किया। सेवाग्रामके संतके शब्दोंमें 'उनका जीवन धर्मको व्यवहारक्षेत्रमें उतारकर मूर्तस्वरूप देनेके प्रयासकी एक अमरगाथा है।'

—रा० श्री०

स्वामी विवेकानन्द

श्रीविश्वनाथदत्त पाश्चात्त्य सभ्यतामें आस्था रखनेवाले व्यक्ति थे। कौन जानता था कि उनके घरमें १२ जनवरी सन् १८६३ को उत्पन्न होनेवाला उनका पुत्र नरेन्द्रदत्त पाश्चात्त्य जगत्को भारतीय तत्त्वज्ञानका संदेश सुनानेवाला महान् विश्व गुरु होगा। रोमा रोलाँने नरेन्द्रदत्त (भावी विवेकानन्द) के सम्बन्धमें ठीक कहा है—'उनका बचपन और युवावस्थाके बीचका काल योरोपके पुनरुज्जीवन-युगके किसी कलाकार राजपुत्रके जीवन-प्रभातका स्मरण दिलाता है।' बचपनसे ही नरेन्द्रमें आध्यात्मिक पिपासा थी। सन् १८८४ में पिताकी मृत्युके पश्चात् परिवारके भरण-पोषणका भार भी उन्हींपर पड़ा। गरीब परिवार, कुशल थी कि नरेन्द्रका विवाह नहीं हुआ था। दुर्बल आर्थिक स्थितिमें स्वयं भूखे रहकर अतिथियोंके सत्कारकी गौरव-गाथा उनके जीवनका उज्ज्वल अध्याय है। नरेन्द्रकी प्रतिभा अपूर्व थी। उन्होंने बचपनमें ही दर्शनोंका अध्ययन कर लिया। ब्रह्मसमाजमें भी वे गये, पर वहाँ उनकी जिज्ञासा शान्त न हुई। प्रखर बुद्धि साधनामें समाधान न पाकर नास्तिक हो चली। उसी समय नरेन्द्रका स्वामी रामकृष्ण परमहंससे साक्षात् हुआ। परमहंसजी-जैसे जौहरीने रत्नको परखा। उन दिव्य महापुरुषके स्पर्शने नरेन्द्रको बदल दिया। कहा जाता है कि उस शक्तिपातके कारण कुछ दिनोंतक नरेन्द्र उन्मत्त-से रहे। उन्हें गुरुने आत्मदर्शन करा दिया था। जीवनके आलोकको जगत्के अन्धकारमें भटकते प्राणियोंके समक्ष उन्हें उपस्थित करना था।

पचीस वर्षकी अवस्थामें नरेन्द्रदत्तने काषायवस्त्र धारण किये। वे स्वामी विवेकानन्द हो गये। पैदल ही उन्होंने पूरे भारतकी यात्रा की। सन् १८९३ में शिकागोकी विश्व धर्म-परिषद्में भारतके प्रतिनिधिके रूपमें उपस्थित

होने वे पहुँचे। परिषद्में उनके प्रवेशकी अनुमति मिलनी ही कठिन हो गयी। उनको समय न मिले, इसका भरपूर प्रयत्न किया गया। भला, पराधीन भारत क्या सन्देश देगा—योरोपीय वर्गको तो भारतके नामसे ही घृणा थी। एक अमेरिकन प्रोफेसरके उद्योगसे किसी प्रकार समय मिला और ११ सितम्बर सन् १८९३ के उस दिन उनके अलौकिक तत्त्वज्ञानने पाश्चात्त्य जगत्को चौंका दिया। अमेरिकाने स्वीकार-सा कर लिया कि वस्तुत: भारत ही जगद्गुरु था और रहेगा। सन् १८९६ तक वे अमेरिका रहे। उन्हींका व्यक्तित्व था, जिसने भारत एवं हिंदू-धर्मके गौरवको प्रथम बार विदेशोंमें जाग्रत् किया।

'अध्यात्मविद्या, भारतीय धर्म एवं दर्शनके बिना विश्व अनाथ हो जायगा।' स्वामी विवेकानन्दका यह दृढ़ विश्वास था और विश्वने उनके सम्मुख मस्तक झुकाया। भारतमें तथा अमेरिकामें भी रामकृष्णमिशनकी अनेकों शाखाएँ स्थापित हुईं। अनेकों अमेरिकन विद्वानोंने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। धर्म एवं तत्त्वज्ञानके समान भारतीय स्वतन्त्रताकी प्रेरणाका भी उन्होंने नेतृत्व किया। वे कहा करते थे—'मैं कोई तत्त्ववेत्ता नही हूँ। न तो संत या दार्शनिक ही हूँ। मैं तो गरीब हूँ और गरीबोंका अनन्य भक्त हूँ। मैं तो सच्चा महात्मा उसे ही कहूँगा, जिसका हृदय गरीबोंके लिये तड़पता हो।'

४ जुलाई सन् १९०२ को उस महान् विभूतिने पार्थिव देह त्याग दिया; किंतु स्वामी विवेकानन्द तो भारतीय हृदयमें अमर हैं। अमर है उनका हिंदू-धर्म एवं भारतीय गौरवके लिये किया हुआ महान् उद्योग।—

रा० श्री०

आदर्श वधू और आदर्श पत्नी सीता

(रचयिता—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम')

(१)

सास जिसे पाके पास हियमें हुलास भरे,
ननद निहार नित्य आनँद पगी रहे;
श्वसुर जिसे हैं सुरवृन्दसे अधिक मान्य,
सेवामें समस्त स्वजनोंकी जो लगी रहे।
नयसे, विनयसे, उदार व्यवहारसे भी
प्रिय सबकी हो, बनी सबकी सगी रहे,
धन्य जानकी-सी आर्य-कुलकी वधू है वही,
स्वामीके सदा जो अनुरागमें रँगी रहे॥

(२)

देवी इन्दिरा-सी उतरी थी राजमन्दिरमें,
कान्ति-किरणोंका स्वर्णजाल-सा बिछाती थी,
लोल लालसाओंसे लुभाती रामका ही मन,
पाती प्रीति, उरमें उमंग उमगाती थी।
कैकयीकी सेविका, सुमित्राकी सुमित्रा बनी,
माता कौसलाका सदा हौसला बढ़ाती थी,
देवर थे देव, देव रानियाँ भी रानियाँ थीं,
सीता सबसे ही स्नेह सहज निभाती थी॥

(३)

आगे-आगे रह कुश-कंटक हटाऊँ दूर,
पंथमें पियाके चुन कुसुम बिछाऊँ मैं;
चरण दबाऊँ, करूँ अंचल-बयार मृदु
सहधर्मिणी हूँ सहधर्मको निभाऊँ मैं।
साथ रही सुखमें सदैव प्राणनाथके जो,
ए हो दैव! दुखमें न हाथ क्यों बटाऊँ मैं;
वनको बनाऊँ शत अवध समान आज,
मंदर-दरीको राज-मन्दिर बनाऊँ मैं॥

(४)

निश्चय यही ले चली संग रघुनंदनके,
नन्दनके देवकी वधू-सी छवि पाती थी;
नित्य वसुधामें जिसे सुलभ सुधाका स्वाद,
पतिका प्रसाद कंद-मूल-फल खाती थी।
रंच अभिमान नहीं, कंचन-सी काया लिये,
प्रिय चरणोंकी वह धूल बन जाती थी;
मुदित अमंद मुखचंद देख प्रीतमका
मैथिली-चकोरी बार-बार बलि जाती थी॥

(५)

देखा हनूमान्ने अशोक-शिंशपाके तले
सीता ध्यान-मग्न हैं, दृगोंका बंद पुट था;
वयस तरुण, विभा अरुण, लुनाई दिव्य!
दस्यु दसमुखका विवेक गया लुट था।
मन मैथिलीका मोह लेने या मनाने हेतु
विपुल विलासिनीका वृन्द गया जुट था;
फिर भी पतिव्रताका आसन हिला था नहीं,
पैरों तले लोट रहा लंकाका मुकुट था॥

(६)

तन-मन-प्राण रघुनाथमें लगाये जो थी,
तज रनवास वनवासिनी हुई सती;
हरण हुआ तो आमरण उपवास किये,
जीवनसे, जगसे उदासिनी हुई सती।
बंक हुई भ्रुकुटि, सुरासुर सशंक हुए,
लोभी लंकपतिकी विनाशिनी हुई सती;
संशय विलोक लोक-पावन चरित्रपर
अनल-परीक्षा दे प्रकाशिनी हुई सती॥

(७)

त्याग दिया प्रियने प्रजाकी प्रीति पाने हेतु,
दग्ध हो वियोगमें दुसह दुख पाती वह;
किंतु नहीं रोष था, न दोष देती प्रीतमको;
अपने कियेका फल मान पछताती वह।
'हाय! अब सेवा प्राणधनकी करेगी कौन,
सोच यही शोचसे अचेत हुई जाती वह;
पतिके अमंगल-निवारणकी कामना थी,
नित उठ पतिका ही मंगल मनाती वह॥

भगवान् गौतम बुद्ध

कपिलवस्तुके राजा महाराज शुद्धोदनकी पत्नी मायादेवीके उदरमें जो दिव्य तेज प्रविष्ट हुआ था, उसे वर्तमान नेपाल राज्यके 'लुम्बिनी' नामक स्थानमें सन्तानरूपसे प्राप्त करके इस लोकमें वे एक सप्ताहसे अधिक न ठहर सकीं। नवजात कुमार सिद्धार्थका पालन उनकी विमाता गौतमी देवीने किया। ज्योतिषियोंने बतलाया था कि राजकुमार या तो गृह त्यागकर परम वीतराग कोई अतिप्रख्यात महापुरुष होंगे अथवा चक्रवर्ती सम्राट् होंगे। उन्नत भाल, विशाल वक्ष, आजानुलम्बित बाहु, दीर्घ कर्ण—सभी उनमें महापुरुषोंके लक्षण थे। उन्होंने अपनी प्रतिभासे बहुत शीघ्र विद्याध्ययन समाप्त कर दिया। महाराज शुद्धोदन इसी चिन्तामें रहते थे कि कुमार कहीं विरक्त होकर गृहत्याग न करें। महाराजने इसकी पूरी व्यवस्था कर दी कि राजकुमारके सम्मुख दुःख, शोक, वृद्धावस्था, मृत्यु, पीड़ा आदिकी कोई बात कभी न आये। आनन्द, उल्लास, राग-रंग ही उनके चारों ओर बना रहे। परम सुन्दरी राजकुमारी यशोधरा (गोपा) से सिद्धार्थका विवाह कर दिया महाराजने।

राजकुमार सिद्धार्थ छोटेपनसे एकान्तप्रिय, परम दयालु और परदुःखकातर थे। वे अपने आमोदभवन और क्रीडोद्यानमें भी प्रायः एकान्तमें बैठ जाते। कोई अज्ञात शक्ति हृदयमें एक अस्पष्ट इंगित करती जान पड़ती। उन्होंने महाराजसे नगर देखनेकी इच्छा प्रकट की। महाराजने व्यवस्था की कि राजकुमारको नगरमें कोई अप्रिय दृश्य न दिखायी पड़े। सम्पूर्ण व्यवस्था होनेपर भी कुमारने पहली नगरयात्रामें एक वृद्धको देखा, दूसरीमें एक रोगीको और तीसरीमें एक शवको। सब वृद्ध होते हैं, सब रोगी हो सकते हैं; सब एक दिन मरेंगे—हम-आप सभी यह बात जानते हैं; किंतु महापुरुषकी बात ही भिन्न है। गौतमने इसपर विचार किया और उनके मनमें विश्वको इन बाधाओंसे मुक्ति दिलानेकी प्रबल प्रेरणा हुई।

राजकुमारी यशोधराने एक पुत्ररत्न पाया। इस शिशुका नाम राहुल था। सिद्धार्थने पुत्र हो जानेपर

गृहत्याग करनेका निश्चय किया। अर्धरात्रिमें सोती हुई पत्नी तथा पुत्रको छोड़कर वे अपने प्यारे घोड़े छन्दकपर बैठकर प्रिय सहचर छन्दके साथ राजसदनसे निकल गये। अनोमा नदीके तटपर जाकर उन्होंने आभूषण उतार दिये। सेवकको वस्त्र, अश्व तथा आभरणके साथ लौटा दिया। शिखा-सूत्र प्रवाहित कर दिये।

गौतमने अनेक प्रसिद्ध आचार्योंके आश्रमोंमें निवास किया। उनकी सच्ची जिज्ञासा कहीं तृप्त न हुई। अन्तमें उन्होंने कठोर तप करनेका निश्चय किया। शरीर क्षीण हो गया। शक्तिका ह्रास हो गया। अन्तमें केवल शरीरको कष्ट देना व्यर्थ समझकर उन्होंने सुजाताका पायस ग्रहण करके बोधिवृक्षके नीचे आसन लगाया। 'मार' ससैन्य पराक्रम करके पराजित हुआ। गौतमने यहीं 'बोध' प्राप्त किया। वे 'बुद्ध' हुए।

भगवान् बुद्धने काशीके निकट सारनाथमें अपना प्रथम उपदेश चतुर्वर्गीय भिक्षुओंको किया। उन्होंने आगे जाकर अनेक विद्वानों, तपस्वियों और नरेशोंको अपने मतकी दीक्षा दी। दीक्षित भिक्षुओंके लिये 'विहारों' की स्थापना हुई। पुरुष भिक्षुओंके अतिरिक्त भगवान् तथागतने स्त्रियोंको भी भिक्षुणी होनेका अधिकार दिया। स्त्रियोंके लिये पृथक् 'विहार' बने। इन विहारोंके नियमादिका स्वयं बुद्धने उपदेश किया है।

भगवान् बुद्ध जब 'बोध' प्राप्तिके पश्चात् कपिलवस्तु लौटे, उनकी पूर्वाश्रमकी पत्नी यशोधराने उनसे दीक्षा ग्रहण की। छोटा बच्चा राहुल भी सद्धर्ममें दीक्षित हुआ। राजकुलके प्रायः सभी स्त्री-पुरुषों और महाराज शुद्धोदनने भी कहा—

धर्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।
बुद्धं शरणं गच्छामि॥

भगवान् बुद्धने जिस-तत्त्वज्ञानका उपदेश किया, वह चार आर्य सत्य कहा जाता है। १—सब कुछ क्षणिक और दुःख रूप है। २—संसारके क्षणिक पदार्थोंकी तृष्णा ही दुःखोंका कारण है। ३—उपादानसहित तृष्णाका नाश होनेसे दुःखोंका नाश होता है। ४—हृदयसे अहंभाव और राग-द्वेषकी सर्वथा निवृत्ति होनेपर निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

भगवान् बुद्धने साधनके आठ अंग बतलाये हैं। वे आर्य अष्टांगमार्ग कहे जाते हैं। १—सत्यविश्वास, २—नम्रवचन, ३—उच्च लक्ष्य, ४—सदाचरण, ५—सद्वृत्ति, ६—सद्गुणोंमें स्थिति, ७—बुद्धिका सदुपयोग, ८—सद्ध्यान। भगवान् बुद्धने धर्म-प्रचारके लिये खूब प्रयत्न किया। उन्होंने अनेक कष्ट सहे। जब चालीस वर्षकी अवस्थामें शरीर क्षीण हो गया, तब संघकी सर्वसम्मतिसे चिरंजीव आनन्द उनकी सेवाके लिये सदा साथ रहने लगे। उन्होंने अन्ततक दृढ़ निष्ठासे भगवान्की सेवा की। ४५ वर्ष धर्म-प्रचार करके अस्सी वर्षकी अवस्थामें ईस्वी सन्से ५३५ वर्ष पूर्व, गोरखपुरसे कुछ दूर कुशीनगरमें भगवान्ने निर्वाण प्राप्त किया। उनके शरीरकी भस्मके लिये सभी ओरसे माँग आने लगी। सब उनका स्मारक बनवाना चाहते थे। भस्मके आठ भाग किये गये। देशके भिन्न-भिन्न आठ स्थानोंमें भस्मकी स्थापना होकर उसपर स्मारक बने।

भगवान् बुद्धने जिस जीवदया और अहिंसा-धर्मका उपदेश किया था, उनके अनुयायी भिक्षुसंघ तथा नरेशोंने उसका विस्तृत प्रचार किया। राजकुमार तथा सुकुमार राजकुमारियाँ राजसुख छोड़कर भिक्षु एवं भिक्षुणी बने। उन्होंने दूर-दूर देशोंमें जाकर तथागतका ज्ञान-सन्देश दिया। सिंहल, यवद्वीप (जावा), सुवर्णद्वीप (सुमात्रा), चीन तथा जापानतक भारतीय भिक्षु गये। ब्रह्मदेश, श्याम आदि तो मध्यमें थे ही। इन समस्त देशोंने तथागतका सन्देश आदरपूर्वक सुना। उनके धर्मकी छत्रछायामें आकर उन्होंने शान्ति प्राप्त की।

ईसामसीहने अहिंसाकी शिक्षा भारत आकर बौद्धमहा-विद्यालयमें प्राप्त की थी, यह अब इतिहासज्ञोंसे अज्ञात नहीं है। बुद्धधर्मके कारण भारतमें तथा भारतसे बाहर भी भारतीय धर्मभाव, साहित्य, कला एवं संस्कृतिका व्यापक प्रचार हुआ। मूर्तियों और ग्रन्थोंके रूपमें भारतीय संस्कृतिसम्बन्धी बहुत बड़ी सामग्री अब भी 'बृहत्तर भारत' के इन देशोंमें है।

भगवान् बुद्धकी धारणा थी कि वे शाश्वत सनातन धर्मका ही उपदेश कर रहे हैं। उन्होंने मनुष्यको पशुताकी ओर जानेसे वर्जित करके मानवताका सन्देश दिया है।

—सु०

भगवान् बुद्ध

भगवान् बुद्धका प्रथमोपदेश (सारनाथ)

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे गुप्तकाल—मथुरा-संग्रहालय]

भगवान् श्रीऋषभदेव

भगवान् महावीर

भगवान् महावीर

इक्ष्वाकुवंशके क्षत्रियोंमें अनेक शाखाएँ हो गयी हैं। उनमें ज्ञातवंशीय राजा सिद्धार्थकी राजधानी विहारप्रान्तका क्षत्रियकुण्ड नगर था। आजसे २,५३७ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ल त्रयोदशीको रानी त्रिशला देवीकी गोदमें एक महापुरुषका प्रादुर्भाव हुआ। ये महापुरुष थे तीर्थंकर भगवान् महावीर। माता-पिताने इनका नाम 'वर्द्धमान' रखा था। राजकुमार वर्द्धमानने युवावस्थातक समस्त क्षत्रियोचित कलाओंका अभ्यास कर लिया। माताके आग्रहसे समरवीर नामक नरेशकी कन्या यशोदा देवीसे इनका विवाह हुआ। इनके एक कन्या 'प्रिय-दर्शना' नामक हुई। उसका विवाह जमाली नामक राजपुत्रसे हुआ। भगवान् महावीरके इस जामाताने पीछे उनसे दीक्षा ग्रहण करके भी उनके विरुद्ध एक नवीन मतका प्रचार किया।

राजकुमार वर्द्धमान अट्ठाईस वर्षके थे, जब उनके माता-पिताने शरीर-त्याग किया। महावीर गृह त्यागकर 'निर्ग्रन्थ मुनि' होनेको दीर्घकालसे उत्सुक थे। भाई नन्दिवर्द्धनके आग्रहसे दो वर्ष और उन्हें घर रहना पड़ा। घर रहते हुए उन्होंने दीन-दु:खियोंमें राजकुलके संचित द्रव्यका दान प्रारम्भ किया। एक वर्षमें तीन अरब, अट्ठासी करोड़, अस्सी लाख स्वर्ण-मुद्राओंका दान कुमार वर्द्धमानने याचकोंको किया।

तीस वर्षकी अवस्थामें गृह त्यागकर राजकुमार वर्द्धमानने दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही उन्हें **'मन:पर्यायज्ञान'** (दूसरेके मनकी बात जाननेकी शक्ति) हो गया। मनपर सम्यक् विजय तथा सर्वज्ञताकी सिद्धिके लिये उन्होंने उग्र तप प्रारम्भ किया। यह तप साढ़े बारह वर्ष चला। इसमें कभी-कभी छ:-छ: महीने वे निर्जल उपवास करते रहे। कभी महीनों खड़े-खड़े ध्यान करते रहते। साढ़े बारह वर्षोंमें कुल चौंतीस बार उन्होंने आहार ग्रहण किया था।

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'—राजपुत्र वर्द्धमानके तपमें अनेक विघ्न आये। उन्हें मनुष्य, पशु, प्रकृति तथा देवताओंने नाना प्रकारसे उत्पीड़ित किया। जंगली आभीरोंने उनके पैरोंमें अग्नि लगा दी। उनके कानोंमें काष्ठकी कीलें ठोक दीं। सर्प, बिच्छू तथा दूसरे पशुओंने उन्हें भयंकर कष्ट दिये। आँधी, वर्षा, लू, ओले—सबने उन महामनस्वीको डिगानेका घोर प्रयास किया। 'संगम' नाम एक दुष्ट देवता (पिशाच) ने उनको नाना प्रकारसे यन्त्रणाएँ दीं। वे सामान्य मनुष्य नहीं थे। उनका निश्चय हिमालयकी भाँति अविचल था। इन्द्रने उनके धैर्य तथा मनोबलको देखकर ही उन्हें 'महावीर' कहा। अन्तत: तपस्या पूर्ण हो गयी। अन्त:करणके दोष एकान्तत: नष्ट हो गये। महावीर वीतराग, सर्वज्ञ एवं महासिद्ध हो चुके थे।

'भूतदया और अहिंसा'—भगवान् महावीरने लोकमें इस कल्याणमय धर्मका उपदेश प्रारम्भ किया। इन्द्रभूत-जैसे प्रख्यात विद्वानोंने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। बड़े-बड़े नरेश उनके उपदेशसे साधु हुए। सभी वर्ण, सभी जातिके लिये उनके धर्मका द्वार उन्मुक्त था। उनके शिष्योंमें चारों वर्णके मुख्य महापुरुष हुए हैं। राजगृह, श्रावस्ती, वैशाली-जैसे प्रमुख नगरोंमें भगवान्ने चातुर्मास्य लिया। मगध, बंगाल, बिहारकी प्रजाका उनके प्रति अगाध प्रेम था। राजा विम्बसार, नन्दिवर्धन, चण्ड, प्रद्योतन, चेटक, उदयन, प्रसन्नचन्द्र, अदीन-शत्रु प्रभृति नरेश महावीर स्वामीके शिष्य थे। तीस वर्षतक धर्म-प्रचार करके बहत्तर वर्षकी आयुमें कार्तिक कृष्ण अमावस्याको पावापुरीमें उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

'एक ही वस्तुमें देश, काल तथा अवस्था-भेदसे अनेक विरुद्ध या अविरुद्ध धर्मोंका होना सम्भव है। अत: एकान्त रीतिसे अमुक वस्तुका अमुक धर्म है, दूसरा नहीं—यह कहना ठीक नहीं।' इस 'स्याद्वाद' सिद्धान्तकी महावीर स्वामीने स्थापना की। समाजमें दया, परोपकार और अहिंसा तथा जीवनमें त्याग, तितिक्षा, तप, संयम, इन्द्रियनिग्रह—यही मनुष्य-जातिके लिये उनके अमृत-संदेश हैं। अहिंसाको जितने व्यापक एवं सार्वभौम रूपमें जैन धर्ममें ग्रहण किया गया है, उतने व्यापक रूपमें वह दूसरे किसी धर्ममें नहीं ली गयी। घोर तपस्या और उससे प्राप्त सिद्धियोंके लिये जैन महात्मा सदा प्रख्यात रहे हैं। भगवान् महावीरने मानव-संस्कृतिको अहिंसा और त्याग तथा तपका जो वरदान दिया, वह अनेक जातियोंके लिये आदर्श हुआ। मनुष्य अपनी दुर्बलतासे उसे भले अपना न सके; परन्तु यह स्वत:सिद्ध है कि उसकी उन्नति तथा कल्याण त्याग, संयम और हिंसासे निवृत्त होनेमें ही है।

अश्वमेधपराक्रम सम्राट् समुद्रगुप्त

मध्ययुगमें पुष्यमित्रने वैदिक ध्वजाको उन्नत किया और गुप्त नरेशोंने उस सनातन हिंदू-धर्मको उज्ज्वलरूपमें लोकविस्तृत किया। आज जो मूर्तियाँ, चित्र आदि प्राचीन कालके उपलब्ध हैं, उनमें हिंदू-मूर्तियों और चित्रोंमें अधिकांश गुप्त नरेशोंके समयके हैं। कला—श्रद्धामयी कला उस समय अपने सांगोपांग रूपमें प्रकट हुई है।

पक्षपातके कारण पाश्चात्त्य इतिहासकारोंने गुप्तकालके सर्वश्रेष्ठ, महान् प्रतापी सम्राट् समुद्रगुप्तकी बहुत कम चर्चा की है। सच तो यह है कि यूरोपके इतिहासमें इतना पराक्रमी, शूरमा और साथ ही परम उदार धार्मिक कभी हुआ ही नहीं; और द्वापरके पश्चात् जबसे इतिहास प्राप्त है, सम्पूर्ण भारतका इतना महान् सम्राट् भी कोई नहीं हुआ। महाकवि हरिषेणके अनुसार सम्राट् समुद्रगुप्त 'लिच्छविदौहित्र' हैं। वे चन्द्रवंशी सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथमके पुत्र हैं। पिताने अपनी अन्तिम अवस्थाके लगभग प्रेम एवं उल्लाससे उन्हें राज्यासन सौंपा, यह प्रयागमें प्राप्त प्रशस्तिसे ज्ञात होता है।

हिंदू-नरेशोंके लिये दिग्विजय सदा स्पृहाकी वस्तु रही है; किंतु हिंदू-धर्म नरेशोंको केवल विजयके लिये प्रोत्साहित करता है, नरेशोंके राज्यापहरणके लिये नहीं। सिंहासनपर बैठनेके पश्चात् समुद्रगुप्तने अपना अमित पराक्रम प्रकट किया। उत्तराखण्ड, दक्षिणापथ और सीमान्तके देशोंके नरेश उनकी शक्तिके सम्मुख झुकनेको विवश हुए। उज्ज्वल भारतीय परम्पराके अनुसार सम्राट्ने किसीके राज्यका अपहरण नहीं किया। उन्होंने केवल कर लेकर राजाओंको बने रहने दिया। उनकी दिग्विजययात्रा धर्मस्थापनार्थ थी और हिमालयसे दक्षिण-सागरतक उन चक्रवर्ती सम्राट्की छत्रछायामें हिंदू-धर्मकी उन्मुक्त ध्वजा फहराती थी। यज्ञोंके धूमसे दिशाएँ पवित्र होती थीं। पूरा गान्धार (आजका अफगानिस्तान) और उससे आगेतकका प्रदेश सम्राट्का करद प्रान्त था। नैपाल और ब्रह्मदेश उन्हें सार्वभौम मानते थे।

महाराज जनमेजयके पश्चात् पहली बार दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त अश्वमेध करनेमें सफल हुए। उस समय उन्होंने जो मुद्रा प्रचलित की, उसपर एक ओर अश्व एवं रानीका चित्र है और पीछे 'अश्वमेधपराक्रम' अंकित है। सम्राट्की उपाधि थी 'परम भागवत' और सचमुच वे परम वैष्णव थे। उनकी मुद्रामें उनकी शिखामें झूमती तुलसीकी माला तथा उनके द्वारा निर्मित मन्दिरोंकी अब प्राप्त मूर्तियाँ इसका प्रमाण हैं। सम्राट् अच्छे कवि एवं कुशल वीणावादक थे, यह भी मुद्राओं तथा प्रशस्तियोंसे सिद्ध है। हिंदू-धर्म कभी इतर धर्मोंके प्रति असहिष्णु रहा ही नहीं। परम वैष्णव सम्राट् समुद्रगुप्त महाश्रमण वसुबन्धुका पूरा-पूरा आदर करते थे और सिंहलनरेश मेघवर्माको बौद्धगयामें विहार बनानेकी उन्होंने अनुमति दी।

इतिहासकालके भारतके एकछत्र सम्राट् अश्वमेध-पराक्रम, अतुल-शौर्य समुद्रगुप्तकी उपेक्षा जान-बूझकर स्वार्थवश न होती तो आज यह पाश्चात्त्योंको कहनेका अवसर न रहता कि 'भारतको एक देशका रूप अंग्रेजोंने दिया।' सम्राट् समुद्रगुप्तके समयका वह गान्धार एवं मलयतक विस्तृत भारत, वह अपूर्व धर्मनिष्ठा, वह साहित्य एवं कलाका सात्त्विक चरमोत्कर्ष और हिंदू-धर्मका वह अकल्पित वैभव इतिहासज्ञोंके लिये अब भी खोजकी वस्तु है। सम्राट् समुद्रगुप्त-जैसा पराक्रमी, कलाप्रिय, कलाका आश्रयदाता और परम धार्मिक सार्वभौम फिर नहीं हुआ।

—रा० श्री०

नमस्कार

हे प्राचीन भारतभूमि! हे मानव-जातिकी पालन करनेवाली! हे पूजनीया! हे पोषणदात्री! तुझे नमस्कार है! शताब्दियोंसे लगातार चलनेवाले पाशविक अत्याचार आजतक तुझे नष्ट नहीं कर सके। तेरा स्वागत है। हे श्रद्धा, प्रेम, कला और विज्ञानकी जन्मदात्री! तुझे नमस्कार है।

—ऐम० लुई जेकोलियट

देवप्रिय सम्राट् अशोक

प्रियदर्शी सम्राट् अशोकके सम्बन्धमें यद्यपि इतिहास-कारोंने बहुत कुछ लिखा है, पर बहुत शेष है अब भी। उन 'जान-प्रियजन' (सामान्य नागरिकके लिये अशोक-कालीन शब्द) के उपदेशक और स्वयं सम्राट् होते हुए 'जान-प्रियजन' से शिक्षा-ग्रहणके उद्देश्यसे उनमें जानेवाले प्रियदर्शी सम्राट्की पूरी बातें अब भी प्रकाशमें आयी नहीं हैं।

सम्राट् बिन्दुसार बहुत बड़ा साम्राज्य छोड़ गये थे। चन्द्रगुप्त मौर्यके उन सुयोग्य पुत्रने अपनी विजय-ध्वजा हिमालयसे कन्याकुमारीतक विस्तीर्ण करनेका पूरा प्रयत्न किया था। अपने युवराज अशोकसे उन्हें बहुत बड़ी आशा थी और भय भी था। कठोर, उग्र, क्रूर प्रकृतिके अशोक जनतामें 'चण्डाशोक' विख्यात थे। सम्राट् बिन्दुसारकी मृत्युके चार वर्ष पश्चात् परिषद्की अनुमतिसे अशोक सिंहासनासीन हुए। अभिषेकके बादके बारह वर्ष अशोकके जीवनके क्रूरता, युद्ध, विजयके वर्ष हैं। अन्तिम युद्ध था कलिंगका। रण-भूमि शवोंसे पटती जा रही थी। कलिंगके देशभक्त शूर सहर्ष बलि हो रहे थे। सहसा अशोकका हृदय पलटा—विजेता अशोकने विजयके समीप पहुँचकर युद्ध रोक दिया। पश्चात्तापने विशुद्ध कर दिया उन्हें। सच ही तो है—भूमि, पर्वत, नदियोंकी सीमाओंसे सीमित राज्यकी अपेक्षा मानव-हृदयोंका साम्राज्य महान् है। अशोकने उस महान् साम्राज्यके लिये वहीं रणभूमिमें शस्त्र फेंक दिये और सचमुच मानव-हृदयोंके प्रियदर्शी महान् सम्राट् हुए। राज्याभिषेकके तेरहवें वर्षमें विजय-दुन्दुभिके स्थानपर अशोककी धर्म-दुन्दुभि बजी। स्वयं सम्राट् जनतामें धर्म-प्रचार, धर्म-शिक्षाके लिये घूमने लगे। सम्राट्के सगे भाई महेन्द्र और बहिन संघमित्रा बौद्ध-भिक्षु एवं भिक्षुणीके वेशमें सिंहल पहुँचे। नैपालमें स्वयं सम्राट् और उनके पश्चात् उनकी प्रियपुत्री चारुमतीने धर्म-प्रचार किया।

हिंसा, क्रूरता और उसके परिणामस्वरूप जो प्रतिक्रिया हुई, उससे स्वभावतः सम्राट् अशोक अहिंसा एवं जीव-दया-प्रधान बौद्ध-धर्मकी ओर झुके। उन्होंने बौद्ध-धर्मको राज्य-धर्म घोषित किया और वे अपना सर्वस्व लगाकर उसके प्रचारमें लग गये। अशोक—देवप्रिय प्रियदर्शी सम्राट् अशोक बौद्ध थे। वे राज्यके साथ 'संघ' का भी संचालन करते थे; परंतु वे थे भारतीय सम्राट्। उनमें शुद्ध हिंदू-रक्त और हिंदू-उदारता थी। उन्होंने ब्राह्मणों, मन्दिरों और वैदिक धर्मका कोई तिरस्कार नहीं किया। उनकी शिक्षा, उनका हृदय अब भी उनके उन शिलालेखोंसे स्पष्ट है, जो भारतके विभिन्न स्थलोंमें पाये जाते हैं। ये शिलालेख अपनी कलाकृतिके लिये भी प्रख्यात हैं।

सम्राट् अशोक चालीस वर्षतक सिंहासनपर रहे। इस अवधिमें उन्होंने स्वयं विभिन्न तीर्थोंमें घूमकर, उपदेशक भेजकर, शिला-लेख गाड़कर, अनेक प्रकारसे लोकमें सद्भावना एवं धर्म-प्रचारका प्रयत्न किया। तीन वर्षके अल्पकालमें चौरासी हजार स्तूपोंका निर्माण कराना प्रियदर्शी सम्राट्का ही कार्य था। गयाके समीप उन्होंने गुफाओंका स्थविर-आवास निर्मित कराया। सैकड़ों विहार, संघाराम उनके स्थापित किये हुए थे। अपने शिला-लेखोंमें उन्होंने माता-पिताकी एवं प्राणियोंकी सेवा, सभी सम्प्रदायोंकी परस्पर सद्भावना, परलोकके सुधार तथा सत्य, त्याग, तप आदि सार्वभौम धर्मोंपर ही पूरा बल दिया है। सम्राट् सचमुच 'देवप्रिय' थे; उन्होंने लोगोंको देवपथमें ले जानेका पूरा प्रयत्न किया। वे प्रियदर्शी थे। जनतामें जनतासे शिक्षा-ग्रहण एवं विचार-विनिमयकी भावनासे जाना उन्हीं-जैसे महत्तमका कार्य था।

चार सिंहोंके ऊपर स्थापित धर्मचक्र—अशोकके साम्राज्यका यह प्रतीक अब भारतका राष्ट्रिय प्रतीक है। चतुर्दिक्-व्यापी पराक्रमपर धर्मचक्रकी स्थापना अशोकने की, यह सब जानते हैं। उनका राज्य सम्पूर्ण भारतमें था और मिस्र, सिंहल, मलय आदिमें उनका नाम आदरसे लिया जाता था। उन्हींका पावन उद्योग चीन, जापानतक बुद्ध-धर्मका प्रसार कर सका।

तक्षशिला, कौशाम्बी, नालन्दा आदि महाविद्यालय उस धर्म-शासनमें ही समृद्ध हुए। सम्राट्ने स्वयं जीवनके अन्तिम दिन बौद्ध-भिक्षुके रूपमें राजगृहमें किसी बौद्ध-मठमें व्यतीत किये। उन्होंने एक आदर्श भारतीय सम्राट्का जीवन व्यतीत किया और भारतीय परम्पराके अनुसार ही अन्तमें वीतराग भिक्षु हो गये। एक चीनी यात्रीने बौद्ध-मठमें सम्राट्की भिक्षुरूपमें एक प्रतिमा देखी थी, ऐसा उसका वर्णन है। —रा०श्री०

सम्राट् हर्षवर्धन

स्थाण्वीश्वरके अधिपति उस समय भारतमें बहुत प्रख्यात नहीं थे, जब भाई राज्यवर्धनके युद्धमें मारे जानेपर मन्त्रिपरिषद्की सम्मतिसे हर्ष सिंहासनासीन हुए। अमितपराक्रम हर्षवर्धन—अपूर्व शौर्य, संगठित सैन्यशक्ति और अदम्य उत्साह; बहिन राज्यश्री-जैसी कुशल मन्त्रदात्री प्राप्त थी उन्हें; अल्पकालमें ही सिन्ध, सौराष्ट्र, कान्यकुब्ज, मिथिला, उड़ीसा, गौड़ तथा हिमालयके पर्वतीय प्रान्तपर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। दक्षिणापथके शासक पुलकेशीने उन्हें अपना सम्राट् स्वीकार किया। वे सार्वभौम नरेश हो गये। कुल छः वर्षोंमें यह सफलता प्राप्त की।

महाकवि बाणभट्टकी लेखनीने 'हर्षचरित' में सम्राट्की यशोगाथाका बड़ा भावपूर्ण वर्णन किया है। सम्राट् हर्ष स्वयं बौद्धधर्म स्वीकार कर चुके थे। चीनी बौद्ध आचार्य ह्वेनसांग उनके उपदेष्टा थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि सम्राट् हर्ष परम उदार थे और उनकी उदारता सभी धर्मोंके लिये समानरूपसे थी। प्रत्येक वर्ष सम्राट् प्रख्यात बौद्ध श्रमणोंकी परिषद् आयोजित करते, उसमें सद्धर्मके प्रचारपर पूरा विचार होता। प्रति पाँचवें वर्ष श्रीगंगा-यमुनाके संगमपर प्रयागमें सम्राट्की मोक्षसभा आयोजित होती। युद्धसामग्री और शस्त्रास्त्रको छोड़कर सम्राट् सर्वस्व दान कर देते थे। ह्वेनसांगने लिखा है—'जब सम्राट्के पास दान देते-देते कुछ नहीं बचा, तब उन्होंने बहिन राज्यश्रीसे एक पुराना वस्त्र लेकर उसे उत्तरीय बनाया।' यह सर्वस्व-दान उस सम्राट्का है, जिसके पीछे इक्कीस नरेश और सैकड़ों मण्डलेश्वर चलते थे और जो सिंहासनपर बैठनेपर रत्नस्तूप जान पड़ता था। इस महादानमें बौद्ध या ब्राह्मणका भेद सम्राट् कभी नहीं करते थे।

सम्राट् स्वयं श्रेष्ठ कवि थे। उनकी रत्नावली, नागानन्द आदि रचनाएँ प्रख्यात हैं। धर्मप्रचारके लिये उन्होंने अनेकों स्तूत बनवाये। आश्रम, संघाराम, विहार तथा मन्दिरोंको समानरूपसे उन्होंने दान किये। सुमात्रा, जावा, कम्बोडिया आदिसे उनका बराबर सम्बन्ध रहा और उनके प्रभावसे वहाँ हिंदू-संस्कृति समृद्ध होती रही। देशमें 'विहारों' में अध्ययन, धर्मचर्चा और आश्रमोंमें यज्ञ उनकी महत्सेवासे चलते रहे। उन्होंने धर्म, विद्या, कला—सबको पुरस्कृत, प्रोत्साहित और समृद्ध किया। कहा जाता था कि राज्यमें सम्राट् सबसे व्यस्त व्यक्ति थे; प्रजाकी चिन्ता, धर्म-प्रचारसे उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता था। —रा० श्री०

सम्राट् चन्द्रगुप्त

ग्रीक शासकोंसे भारतको स्वतन्त्र करनेवाले सम्राट् चन्द्रगुप्तके सम्बन्धमें इतिहासके विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। पाटलिपुत्र (मगध) नरेश नन्दके चन्द्रगुप्त पुत्र थे—यह तो प्रायः मान लिया गया है। कुछ विद्वान् उन्हें मुरा नामक दासीका पुत्र कहते हैं और कुछका कहना है कि नन्दकी एक पत्नी पर्वतीय नरेश 'मोरिय' की कन्या थीं। उनके गर्भसे ही चन्द्रगुप्तकी उत्पत्ति हुई। नन्दकी बड़ी रानीके नौ पुत्र थे। उन सौतेले भाइयोंने बचपनमें चन्द्रगुप्तको अनेक प्रकारके कष्ट दिये। कुछ विद्वानोंका मत है कि सौतेले भाइयोंके उत्पीड़नसे तंग आकर चन्द्रगुप्तको राजधानीसे भागना पड़ा। जब ग्रीकनरेश सिकन्दर (अलेक्जेण्डर) ने भारत-सीमान्तपर आक्रमण किया, उस समय चन्द्रगुप्तने उनसे भेंट की थी और उनकी यूनानी सेनाके रण-कौशलका ज्ञान प्राप्त किया था। जो भी हो, चन्द्रगुप्तको परम नीतिज्ञ आचार्य चाणक्यका सहयोग प्राप्त हुआ। चाणक्यकी नीति-कुशलतासे नन्दके नौ पुत्र मारे गये और चन्द्रगुप्त मगधके सिंहासनाधीश्वर हुए।

चन्द्रगुप्त-जैसा शूर, आचार्यसेवी नरेश और चाणक्य जैसा नीतिनिपुण, वीतराग सहायक—सोनेमें सुगन्ध स्थित हो गयी। आचार्य चाणक्य राज्यके सर्वस्व थे। चन्द्रगुप्त उनके विनम्र चरणानुगामी थे। किंतु चाणक्य ब्राह्मण थे, उनमें ब्राह्मणत्वका आदर्श त्याग था। वे एक उटज (झोपड़ी) में रहते तथा विद्यार्थियोंको शिक्षा देकर अपना निर्वाह करते थे। ऐसे समय देशकी समृद्धि अतुलित वृद्धि पानी ही थी। सुप्रसिद्ध विदेशी (ग्रीक)

राजदूत मेगस्थनीजने चन्द्रगुप्तके दरबारके ऐश्वर्यका वर्णन करते हुए लिखा है कि 'सम्राट् चन्द्रगुप्तके स्कन्धावारमें सदाचारी लक्ष पुरुष उपस्थित रहते थे।'

पाश्चात्त्य ऐतिहासिक विद्वानोंने अलेक्जेण्डर महान् (सिकन्दर) की शूरताको बहुत बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। यह भूलने योग्य नहीं है कि सिकन्दरने केवल भारती सीमान्तके कुछ साधारण नरेशोंको पराजित किया था। पुरुके साथ युद्धमें वह कठिनाईसे छल करके ही जीत सका था। पुरुका राज्य भी साधारण पर्वतीय राज्य ही था। किंतु उसी युद्धने यूनानी सैन्यका साहस तोड़ दिया। सिकन्दरको पीछे लौटना पड़ा। उसने विजित प्रदेशोंमें अपना शासक नियुक्त कर दिया।

सिकन्दरके लौटनेके कुछ ही दिन पश्चात् चन्द्रगुप्तने अपनी सैन्य सज्जित की। आचार्य चाणक्यकी कृपासे मगधके समस्त आन्तरिक कलह शान्त हो गये थे। सिकन्दरके सेनापति सिल्यूकस सिकन्दरद्वारा जीते हुए प्रदेशोंके शासक थे। चन्द्रगुप्तसे उनका संग्राम हुआ। सिल्यूकस इतनी बुरी तरह पराजित हुए कि उन्होंने चन्द्रगुप्तके साथ अपनी कन्याका विवाह करके गान्धार (अफगानिस्तान या कन्दहार) तकका समूचा देश चन्द्रगुप्तको भेंट कर दिया और वे यूनान लौट गये। ग्रीसके राजदूत होकर मेगस्थनीज पाटलिपुत्रकी सभामें उपस्थित हुए थे। उन्होंने लिखा है कि चन्द्रगुप्तने सिल्यूकसका (श्वशुर होनेके कारण) सत्कार करनेके लिये, उन्हें तीन सौ हाथी भेंट किये थे।

पाश्चात्त्य इतिहासकारोंने सिल्यूकसकी पराजय-को छिपाने तथा कम करनेका भरपूर प्रयत्न किया है। उन्होंने चन्द्रगुप्तको नीच कुलोत्पन्न सिद्ध करनेका प्रयास किया है। इतनेपर भी उन्हें स्वीकार करना पड़ा है कि उस महान् सम्राट्की सेनामें बीस हजार अश्वारोही, दो हजार रथ, चार हजार हाथी तथा दो लाख पदाति सैनिक थे। भारत-सीमान्तसे विदेशी सत्ताको सर्वथा पराजित करके भारतीयताकी रक्षा करनेवाले सम्राट् चन्द्रगुप्तने जैनाचार्य भद्रबाहु स्वामीसे दीक्षा ग्रहण की थी। उनके पुत्र बिम्बसार थे। सम्राट् अशोक उनके पौत्र थे। कुछ दिन जैन रहकर अशोक पीछे बौद्ध हो गये थे।—सु०

सम्राट् विक्रमादित्य

परदुःखभंजक, वेतालसिद्ध, न्यायादर्श शकारि सम्राट् विक्रमादित्य आजके ऐतिहासिकोंके लिये एक समस्या हैं। हमारा विक्रम-संवत् जिन लोकोत्तर मालवगणाधीश भगवान् महाकालेश्वरके परम सेवकने प्रचलित किया, आजके ऐतिहासिक उनका पता ही नहीं लगा पाते। चन्द्रगुप्त प्रथमने 'विक्रम' की उपाधि धारण की, इस कल्पनापर ही उनका संतोष हो जाता है। यह भूलने योग्य नहीं है की गुर्जरके विख्यात सम्राट् सिद्धराज जयसिंह सदा विक्रमका स्वप्न देखते रहे। विद्या एवं विद्वानोंके लोकविख्यात शरणद महाराज भोजके आदर्श सदा सम्राट् विक्रमादित्य रहे। भर्तृहरिशतकके निर्माता, योगिराज गोरखनाथजीके अमर शिष्य भर्तृहरिजी सम्राट् विक्रमके बड़े भ्राता कहे जाते हैं। बड़े भाईके विरक्त होकर सिंहासन त्याग देनेपर विक्रमादित्यने अवन्तिका (उज्जैन) का सिंहासन स्वीकार किया।

भारत शकोंके आक्रमणसे आक्रान्त होने जा रहा था। काश्मीरकी पवित्र भूमि दस्युओंसे दलित हो रही थी। विक्रमादित्यने उन दुर्दम शत्रुओंको अपने प्रबल पराक्रमसे केवल पराजित ही नहीं किया, उन्हें भारतके उत्तर सीमान्तसे भगा दिया। इसी शौर्यने उन्हें 'शकारि' नामसे भूषित किया और कहा जाता है कि इसी विजयके उपलक्षमें विक्रम-संवत् प्रचलित हुआ।

महाराज विक्रमादित्य अपने न्यायके लिये इतने प्रख्यात हैं कि उनके भूमिमें गड़े दिव्य सिंहासनके स्थानपर एक चरवाहा बैठ जाता तो वह भी उत्तम न्यायाधीश हो जाता था। राजा भोजने भूमिसे वह सिंहासन खोदकर निकलवाया। सिंहासनमें बत्तीस मणिपुत्तलिकाएँ पायोंके स्थानपर बनी थीं। भोजको उन पुत्तलिकाओंने मनुष्यकी भाँति सिंहासनपर बैठनेसे रोक दिया और सिंहासन ऊर्ध्वलोक चला गया।

सम्राट् विक्रमने अनायास वेताल सिद्ध कर लिया था। वे प्रत्येक दुःखीके कष्टको निवारण करनेके लिये

सदा प्रस्तुत रहते। सामान्य व्यक्तिके दुःख दूर करनेमें भी यदि प्राण जानेतकको बात हो तो सम्राट्को संकोच नहीं था। अपना सुख, अपनी सुविधा, अपना जीवन-जैसी कोई वस्तु वहाँ थी नहीं। अनेक आख्यायिकाएँ सम्राट् विक्रमादित्यके सम्बन्धमें प्रचलित हैं। सबका एक ही विषय है। सम्राट्ने किसीके कष्टके लिये अपनेको आपत्तियोंमें झोंक दिया और ऐसा लोकोत्तर पुरुष असफल तो हो ही नहीं सकता। इसी पर-दुःखभंजकताने विक्रमको भारतके हृदयमें प्रतिष्ठित किया, जहाँसे ऐतिहासिकोंके अल्प प्रयत्न उन्हें हटा नहीं सकते। डॉ० पीटर्सन, डॉ० व्यालूट तथा प्रो० पलीटने ईस्वी सन्से पूर्व सम्राट् विक्रमादित्यकी स्थिति मन्दसोरके शिलालेखके आधारपर स्वीकार की है। विक्रमादित्य शालिवाहनके पूर्ववर्ती हैं, यह इतिहाससिद्ध है। ऐतिहासिक अन्वेषक यह मानते हैं कि इनका बनवाया रामकूट नामक महल ख्रीष्टीय संवत्से लगभग आधी शती पूर्वका है—सु०

महाराज शालिवाहन

शक-संवत्सरके प्रवर्तक शकराज शालिवाहनको 'टॉड-राजस्थान' के कर्ता टॉड साहब गजनीके शकराजा 'गज' का पुत्र बतलाते हैं। इन्हीं 'गज' ने 'गजनी' नगर बसाया था। शत्रुओंद्वारा 'गज' जब युद्धमें मारे गये, तब उनके पुत्र शालिवाहन वहाँसे भागकर भारत चले आये। इन्होंने पहले अपने शौर्यसे पंजाबपर अधिकार कर लिया और धीरे-धीरे इनका राज्य दक्षिण-भारततक विस्तृत हो गया। शालिवाहनने गोदावरीके तटपर प्रतिष्ठानपुर (पैठण) को अपनी राजधानी बनाया।

यह स्मरण रखनेकी बात है कि उस समयतक विश्वमें केवल एक ही धर्म था—हिंदू-धर्म। ईसाई या मुसलमान-धर्म तबतक उत्पन्न नहीं हुए थे। हिंदू-धर्ममें जो नियमच्युत हुए, वे बहिष्कृत हो गये। शक, हूण आदि विदेशोंमें जाकर बसी हुई ऐसी ही बहिष्कृत जातियाँ थी। भारत आनेपर इन जातियोंके लोग विशेष प्रायश्चित्त करनेपर हिंदू-धर्ममें ले लिये जाते थे; क्योंकि वे हिंदू ही थे।

शालिवाहनने हिंदू-धर्ममें अपनेको पुनः सम्मिलित कर लिया। उसने अपने यहाँसे बहुतसे लोगोंको बुलाया। उनमें चारों वर्णोंके ही लोग थे। ये लोग उन-उन वर्णोंमें धीरे-धीरे सम्मिलित हो गये। इन लोगोंको 'मग' कहा जाता है।—सु०

महाराज पृथ्वीराज

दिल्लीके अन्तिम हिंदू-सम्राट् महाराज पृथ्वीराजके सम्बन्धमें महाकवि चन्दवरदाईने जो 'पृथ्वीराजरासो' लिखा है, उसकी ऐतिहासिकता सन्दिग्ध है। ऐतिहासिक प्रमाणोंसे चन्दके वर्णन मिलते नहीं। 'रासो' उच्चकोटिका जातीय शौर्यका महाकाव्य है; पर जान पड़ता है कि उसमें बहुत-सी भ्रान्त जनश्रुतियाँ मिल गयी हैं। पृथ्वीराजकी राजसभाके एक विद्वान्ने संस्कृतमें 'पृथ्वीराजविजय' नामक काव्य लिखा था। इतिहासके विद्वान् इस काव्यको प्रामाणिक मानते हैं। महाराज पृथ्वीराजके सम्बन्धमें इसी काव्यके आधारपर ठीक विवरण प्राप्त होता है।

पृथ्वीराजके पितामह अर्णोराज और पिता सोमेश्वर महाराज थे। पिताके परलोक पधारनेपर पृथ्वीराज अजमेरके सिंहासनपर सन् ११६९ ई० में अभिषिक्त हुए। सिंहासनासीन होते ही पृथ्वीराजने दिग्विजयका उपक्रम किया और अनेक राज्योंको जीता भी। गजनीके अधीश्वर सुल्तान मुहम्मद गोरीने सन् ११७५ ई० में मुलतानपर विजय प्राप्त की। इसी समय उनके मनमें भारत-विजयकी लालसा जगी। सन् ११७८ ई० में वे मुलतान होते अनहलवाड़पत्तन (नाहरवारा) की ओर आगे बढ़े। गुर्जरनरेश मूलराज तथा भीमदेवसे उनका घोर संग्राम हो ही रहा था कि पृथ्वीराजकी सेना गुर्जर-नरेशकी सहायताको पहुँच गयी। भारतकी पवित्र भूमि म्लेच्छोंसे अपवित्र हो, यह पृथ्वीराजको सह्य नहीं था। जिस समय गुर्जरनरेशके दूतने अजमेर पहुँचकर यवन-वाहिनीके पराजित होकर लौट जानेका संवाद दिया, पृथ्वीराज प्रसन्नतासे सिंहासनसे उठ खड़े हुए। उन्होंने दूतको बहुमूल्य पुरस्कारोंसे सन्तुष्ट किया।

मुहम्मद शहाबुद्दीन गोरीकी शक्ति बढ़ती जा रही

महाराजा पृथ्वीराज

महाराज छत्रसाल

गुरु गोविन्दसिंहज

वीर बहादुर बन्दा बैरागी

भक्तिमती मीराबाई

महारानी लक्ष्मीबाई

थी। उन्होंने खुरासान जीतकर 'सुल्तान मुइजुद्दीन' की उपाधि धारण कर ली थी। भारतमें हिंदू नरेशोंपर आक्रमण करनेमें भय था कि पृथ्वीराज उनकी सहायता करने आ पहुँचेंगे। सुल्तानने कूटनीतिसे काम लिया। उस समय लाहौरका राज्य महमूद गजनवीके वंशधर खुसरू मलिकके अधीन था। सुल्तानने इस मुसलमानी राज्यको हस्तगत करके दिल्लीके सीमान्तपर अधिकार करना ठीक समझा। जम्मूनरेश चक्रदेवने उनकी सहायता की और कहना यही चाहिये कि जम्मूनरेशकी सहायतासे ही सुल्तान लाहौरपर अधिकार कर सके। अन्यथा वे दो बार विफल होकर लौट चुके थे।

महाराज पृथ्वीराजका दिग्विजय-क्रम चलता रहा। उन्होंने चन्देलनरेश परमर्दिदेवको पराजित कर दिया था। कन्नौजनरेश जयचन्द्रके साथ उनका बहुत बड़ा संग्राम हुआ। इस युद्धमें विजयी होकर उन्होंने 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की।

पृथ्वीराज केवल अपने ऐश्वर्यके लिये महाराजाधिराज नहीं बने थे। उन महान् दूरदर्शीने सुल्तानकी बढ़ती शक्ति देख ली थी। 'भारतभूमि' की पावनताकी रक्षा करनेकी चिन्ता थी उन्हें। सन् ११९१ ई० में सुल्तानने तबरहिंद (त्राटिण्डा) पर अधिकार किया। महाराज पृथ्वीराज यह समाचार पाते ही दो लाख अश्वारोही तथा तीन सहस्र निषादी (गजसैन्य) के साथ जा धमके। सुल्तानके मित्र जम्मूनरेशको भी दण्ड देनेका उन्होंने निश्चय कर लिया था। सुल्तान पहले ही तबरहिंदसे चले गये थे। उनके दुर्गपति जियाउद्दीनने सामना किया। युद्ध चल ही रहा था कि सुल्तान भी अपनी विशाल वाहिनी लेकर 'तराइन' गढ़में आ गये। बड़ा विकट युद्ध हुआ। कन्नौजनरेश जयचन्द तथा जम्मूनरेश विजयदेवको छोड़कर सभी भारतीय नरेश पृथ्वीराजके पक्षमें थे। सब म्लेच्छ-वाहिनीके विरुद्ध महाराजाधिराजकी विजय चाहते थे। महासमरमें पृथ्वीराजके भाई दिल्लीपति गोविन्दरायका पराक्रम अतुलनीय था। उनके अव्यर्थ बाणने सुल्तानको आहत कर दिया। म्लेच्छ-वाहिनी पराजित हुई। महाराज पृथ्वीराज विजयी होकर लौटे।

सुल्तान मुहम्मद गोरी बड़ी निराशासे गजनी लौटे। उनको महाराजाधिराज पृथ्वीराजका बंदी होना पड़ा था। बहुत बड़ा अर्थदण्ड देकर उन्होंने प्राण-भिक्षा प्राप्त की थी। उनका और महमूद गजनवीके समयतकका भारतीय राज्य पृथ्वीराजने अधिकृत कर लिया था। अब सुल्तानमें उत्साह नहीं था; किंतु भारतकी भाग्यलक्ष्मी रूठ चुकी थी। इसी समय कन्नौज-नरेश जयचन्द्रका दूत उनके पास पहुँचा। द्वेषने कन्नौज-पतिको अंधा कर दिया था। उन्होंने अपने सम्पूर्ण अर्थ तथा सैन्यबलसे सहायताका आश्वासन दिया था। विद्वान्, विद्वानोंका सत्कार करनेवाले, आल्हा-ऊदल-जैसे शूरोंके शरणद कन्नौज-नरेश व्यक्तिगत द्वेषसे स्वदेशमें विधर्मियोंको आमन्त्रण दें—यह विधिकी विडम्बना ही थी।

सुल्तानको यह सुअवसर चूकना नहीं था। उन्होंने फिरसे अपनी सेनाका संगठन किया। महाराज पृथ्वीराज प्रमत्त नहीं थे। वे अपनी सेनाके साथ तबरहिंदके दुर्गसे आगे कुरुक्षेत्रमें आकर उपस्थित थे। उनकी सेनामें दो लक्ष राजपूत और अपगणस्थ (अफगानी) शूरमा थे। पुण्यतोया सरस्वतीके तटपर पुनः संग्राम हुआ। इस बार जम्मूनरेशके बदले उनके राजकुमार नरसिंहदेव सैन्य लेकर सुल्तानकी सहायता करने आये थे। कन्नौजनरेश जयसिंह भी ससैन्य आ गये थे म्लेच्छवाहिनीको सहायता देने। महावीर गोविन्दराय (दिल्लीनरेश) रणभूमिमें खेत रहे। महाराज पृथ्वीराज शत्रुके बंदी हुए। सुल्तानने उनके नेत्र फोड़ दिये, किन्तु अन्धे होनेपर भी उन महाशूरने अपने शब्दवेधी बाणद्वारा भरे दरबारमें सुल्तानको मार दिया। इस प्रकार भारतीय स्वाधीनताका वह अन्तिम उज्ज्वल प्रदीप सन् ११९३ ई० में निर्वापित हो गया।—सु०

इतने दुर्लभ हैं!

सिंहनके लँहड़े नहीं, हंसनकी नहिं पाँत।
लालनकी नहिं बोरियाँ, साधु न चलें जमात॥

सिद्धराज जयसिंह

मालवामें जो सुयश महाराज विक्रमादित्यका है, राजस्थानमें जो महत्ता महाराणा प्रतापकी है, गुर्जरमें वही सुकीर्ति सिद्धराज जयसिंहकी है। ये जयकेशीकी कन्या मैणालदेवीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। इनके पिता चौलुक्यवंशीय महाराज कर्णने इन्हें अल्पवयमें ही इनकी योग्यताके कारण राज्य दे दिया। इनके पिताके सहोदर भ्राता देवप्रसादने भी अपने पुत्र त्रिभुवनपालका भार इनपर छोड़ा और परलोकगामी हुए। जैनराज कुमारपाल इन्हीं त्रिभुवनपालके पुत्र थे।

बर्बरक नामक एक मुसलमान दस्यु अपने शिल्पनैपुण्यसे सिद्धपुरमें आकर प्रजापर अत्याचार करने लगा था। अन्तर्धानके राजाके छोटे भाई भी उसके समर्थक थे। सिद्धराजने ससैन्य आक्रमण करके उस दस्युको श्रीस्थल तीर्थमें परास्त किया। कहा जाता है कि यवन दस्युने कोई सिद्धि प्राप्त कर ली थी। उसे पराजित करनेसे पूर्व योगिनीको जयसिंहने सिद्ध किया। सुप्रसिद्ध वीर जगदेव परमार उनके सेनापति थे। इस महान् सेनापतिने उनको समरांगणमें बहुत अधिक सहायता दी।

'उज्जयिनीमें महामाली-मन्दिरमें भगवतीकी आराधना करके तुम महायश प्राप्त कर सकते हो। जयसिंहको योगिनीने आदेश दिया। जयसिंहने सैन्य सज्जित की। अवन्तिनाथ यशोवर्मा उनके हाथ बंदी हुए। उज्जयिनीके साथ धार तथा सिन्ध भी उन्होंने विजय किये। अनेक नरेशोंने अपनी कन्याएँ देकर उनसे सम्बन्ध स्थापित किया।

सिद्धराज जयसिंहने सरस्वती नदीके तटपर रुद्रमाल और महावीर स्वामीके मन्दिर बनवाये। इन जैन-मन्दिरोंके अतिरिक्त उन्होंने सहस्रलिंग सरोवर खुदवाया। नाना स्थानोंमें देव-मन्दिर निर्मित किये, सदाव्रत चलाये और विद्यालय स्थापित किये। उनकी राजसभामें जयमंगलके समान प्रसिद्ध कवि थे। जैनाचार्य हेमचन्द्र पहले उनके सभापण्डित रह चुके थे।

सन् ११४३ ई० में महावीर परमयशस्वी महादानी सिद्धराजने स्थिरचित्त होकर आराध्यके चरणोंमें मनको लगाया। वे अन्न-जल छोड़कर बैठ गये। अनशन-व्रत करके अपने नश्वर शरीरका उन्होंने त्याग किया। जीवनमें वे जिस प्रकार अदम्य, सबके सम्मान्य, अद्भुतविक्रम, उज्ज्वल-कीर्ति रहे थे, उनकी मृत्यु भी वैसी ही असाधारण, लोकोत्तर मानवके समान हुई।

सिद्धराज जयसिंहने अपने सम्मुख सदा परदुःखकातर, त्यागमूर्ति, दिगन्तविजयी शकारि महाराज विक्रमादित्यका आदर्श रखा। वे विक्रमके शौर्य, सुयश, विजय और साम्राज्यके समान ही उनकी शक्ति, दया, उदारताको भी अपनानेके लिये नित्य उत्सुक रहे। उन्होंने योगिनीसिद्धि दुःखियोंका दुःख निवारण करनेके लिये ही प्राप्त की थी।

जयसिंह धर्मके सम्बन्धमें परम निष्पक्ष शासक रहे। उन्होंने जैन एवं हिंदू, दोनों धर्मोंका समान आदर किया। दोनोंके मन्दिर बनवाये। दोनोंकी समृद्धिमें योग-दान किया। गुजरातमें वे उच्च सांस्कृतिक नरेश हुए हैं। अब भी उनकी यशोगाथा गुजरातके गौरवकी वस्तु है।—सु०

महाराज छत्रसाल

शिवा कौं सराहौं, कै सराहौं छत्रसाल कौं।

हिंदू-शौर्यके गायक राष्ट्रकवि भूषणने अपने समयमें सुयशगानके योग्य दो ही शूर पाये। वे किसी नरेशके गुणगायक नहीं थे। वे तो हिंदू-जातिके शौर्यके गायक थे और उस समय छत्रपति महाराज शिवाजी तथा बुन्देला-केसरी छत्रसालको छोड़कर और कोई इस शौर्यका प्रतीक नहीं हो सकता था।

'मेरे साथ रहनेसे तुम्हारी कीर्ति मेरी कीर्तिमें लुप्त हो जायगी! इस समय देशके प्रत्येक कोनेमें हमारे देवता, गौएँ और धर्म हमारी सेवा चाहते हैं। तुम अपनी जन्मभूमिमें अपना शौर्य प्रकट करो!' छत्रपति महाराज शिवाजीने युवक छत्रसालकी महत्ता शीघ्र अनुभव कर ली। छत्रसालमें हिंदू-धर्मकी सेवाकी तीव्र लगन थी और उनमें अविचल साहस था। वे महाराज शिवाजीकी कीर्ति सुनकर उनके धर्मोद्धारके कार्यमें यथाशक्ति सहायता करने गये थे। महाराज शिवाजीने उन्हें अपने संगठन और युद्धकौशलकी शिक्षा दी। समर्थ स्वामी रामदासका उन्हें आशीर्वाद प्राप्त हुआ।

पन्नामहाराज चम्पतरायके शरीरान्तके पश्चात् युवराज छत्रसाल सिंहासनपर बैठे। उस समय दिल्लीमें

मुगलसत्ता दुर्बल हो चली थी। छत्रसालको यवनोंकी चिन्ता नहीं थी। उन्होंने बलपूर्वक झाँसीपर अधिकार कर लिया। सन् १६७१ में जलायूनसे उनका संग्राम हुआ। सन् १६८० में हमीरपुर छत्रसालने जीत लिया। दामनी नगर उन्होंने नवाब मैरतखाँको पराजित करके सन् १७०० में अपने राज्यमें मिलाया। दिल्लीके बादशाह बहादुरशाहने सन् १७०७ में उन्हें झाँसीका शासक स्वीकार किया। मुसलमानोंने यह एक चाल चली थी उन बुन्देलकेसरीको शान्त करनेकी। सन् १७२३ में फरुखाबादके शासक अहमदखाँ बंगसने बड़ी भारी सेनाके साथ उनपर आक्रमण किया। नीतिज्ञ छत्रसालने पेशवा बाजीराव प्रभुसे सहायता माँगी। महाराष्ट्र एवं बुन्देलोंकी संयुक्त शक्तिने पूरे बुन्देलखण्डको स्वाधीन कर लिया। राज्यका तृतीयांश पेशवाको प्राप्त हुआ। दोनों शूरोंने सन्धि की कि पेशवा और उनके उत्तराधिकारी तथा छत्रसाल तथा उनके उत्तराधिकारी सदा एक-दूसरेके सहायक रहेंगे।

छत्रसालके राजकवि लालने 'छत्रप्रकाश' में महाराजके शौर्यका सुन्दर वर्णन किया है। पण्डितराज विश्वनाथने 'शत्रु-शल्य' काव्यमें उन हिंदू-मर्यादारक्षककी तेजस्वितासे कलाको पवित्र किया है। छत्रसाल विद्वानोंका अत्यधिक आदर करते थे। कहा जाता है कि महाकवि भूषणकी पालकी उन्होंने स्वयं एक बार उठायी। उनकी छत्रच्छायामें बुन्देलखण्डमें साहित्ययुगका निर्माण हुआ। सैकड़ों कवि या विद्वान् हुए उस समय। छत्रपुरमें महाराजके बनवाये एक मन्दिरका भग्नावशेष अब भी है।

महाराज छत्रसाल विद्वानोंके सेवक थे। महात्माओं और ब्राह्मणोंमें उनकी अपार श्रद्धा थी। दीन प्रजाके दुःखके लिये वे प्राणोत्सर्ग करनेको सदा उद्यत रहते। प्रजा उन्हें साक्षात् देवता मानती। दूर-दूरके लोग केवल उनके दर्शन करने आते थे। महाराजके मनमें हिंदू-धर्मके उद्धारकी तीव्र ज्वाला प्रज्वलित होती थी। उन्होंने भय क्या होता है, इसे जाना ही नहीं। विपक्षी उनके नामसे भयभीत होते थे। केवल उन्होंने महाराष्ट्रके हिंदू-धर्मके पुनरुद्धारका महत्त्व उस समय समझा था और उस महाकार्यमें सहयोग दिया था।—सु०

मेवाड़चूड़ामणि महाराणा सांगा

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव, बी० ए०)

महाराणा प्रताप कहा करते थे 'यदि मेरे पितामह और मेरे मध्य मेरे पिता न आये होते, दिल्ली चित्तौड़के चरणोंमें होती।' जिसके शरीरपर शस्त्रोंके चालीस आघातोंके भयंकर चिह्न थे, जिसने संग्राममें ही एक नेत्र, एक हाथ, एक पैर खो दिया था, उस परम पराक्रमी महाराणा संग्रामसिंहके समान कुशल एवं तेजस्वी सेनापति विश्वके किसी दूसरे देशने दिया ही नहीं। महाराणाकी सेवामें अस्सी हजार घुड़सवार सैनिक रहते थे और जोधपुर, मारवाड़, ग्वालियर, अम्बेर, चकेरी, आबू आदिके नरेश उन्हें अपना सिरमौर मानते थे। उस महासेनानीको एक ही धुन थी—'इस परम पावन भारतभूमिको यवनोंके अपवित्र शासनसे मुक्त करना।' लेकिन उनका व्यवहार मुसलमान प्रजाके साथ भी ऐसा ही था, जैसा पिताका पुत्रके प्रति होता है—इसे पाश्चात्त्य इतिहासज्ञोंने भी स्वीकार किया है।

मालवा और दिल्लीके शासकोंके विरुद्ध महाराणा सांगा अठारह बार युद्धमें विजयी हुए थे। उनके प्रधान शत्रु इब्राहीम लोदीने बकरोले और घटोलेके युद्धोंमें घुटने टेक दिये थे। मालवाके शाह मुजफ्फरको उसकी राजधानीमें ही उन्होंने बन्दी किया और रणथम्भोरके दुर्गका उद्धार किया।

वह कनवाहका अन्तिम युद्ध—बाबरके छक्के छूट चुके थे, उसके सैनिक विद्रोह करके भाग जानेको उद्यत थे, बाबरने अपने शराबके प्याले फोड़ डाले, कुरान लेकर सैनिकोंको उत्तेजित किया। इतनेपर भी कुछ होना नहीं था; किंतु दुर्भाग्य—राणाका हाथी सहसा युद्धभूमिसे भाग खड़ा हुआ। सेनापतिके हटते ही सेना अस्त-व्यस्त हुई और बाबर विजयी हुआ। महाराणा सांगा कनवाहकी पहाड़ियोंमें चले गये। विजय प्राप्त किये बिना चित्तौड़में चरण रखना उन 'मानके धनी' को प्रिय नहीं था।

महाराणा प्रतापने अपने उन्हीं पितामहका शौर्य प्राप्त किया था। राजस्थानका इतिहास आनपर मिटनेवाले शूरों और अग्निमें अपने सुकोमल शरीरकी हँसते-हँसते आहुति देनेवाली सतियोंका पावन इतिहास है और उस इतिहासमें महाराणा सांगाका शौर्य आदर्श एवं वन्दनीय माना जाता है।

अपहृत मुस्लिम-महिला और हिंदू

(रचयिता—'श्रीविप्र' तिवारी)

दूसरोंकी औरतोंको उड़ाकर अपनी बनानेकी कुप्रवृत्ति हिंदूकी नहीं है, उसके सामने तो '**परदारेषु मातृवत्**' का आदर्श है। आज तो अपहृत महिलाओंकी शोचनीय अवस्था देखकर हृदय रो उठता है; क्या उन लोगोंकी यही सभ्यता है? शिवाजीके सामने एक सर्वांगसुन्दरी मुस्लिम-महिला पकड़कर लायी गयी, उसे देखकर शिवाजीने कहा 'माता' यदि मेरा जन्म तेरे गर्भसे हुआ होता तो मैं भी आज कितना सुन्दर होता!' और उन्होंने उस महिलाको ससम्मान उसके पतिके पास पहुँचा दिया! यह है हिंदू-संस्कृति और हिंदू-धर्मकी मर्यादा।

(१)

कमनीय लेखनी यह कविके स्वकरकी
छूकर मसिपात्रको चलती है सर-सर!
हिंदू-सभ्यताके उन अंकोंको बनाती!
भव्य भारतीके जो भालपर चमकते हैं!
हिंदू-संस्कृतिके अंक[1], मुक्तासे प्रभावान,
नयनावलियोंको जो चकाचौंध करते!
हिंदू-संस्कृतिके उन जलते प्रदीपोंकी
ज्योतित शिखाओंसे विश्वने किये हैं
अपने मणि-मंदिरोंको शाश्वत ज्योतिर्मय;
पुरखोंने बाँधी जो हिंदूकी मर्यादा,
आज भी अखंड है!
चित्रकारकी यह, तूलिका विचित्रमयी
चित्रित करती है हिंदू-संस्कृतिका चित्र!

(२)

वीरवर शिवाके उस रोष-भूकम्पसे
कम्पित हो डोल उठे तख्त शहनशाहोंके! अस्त-
व्यस्त हो गयी शासनकी शृंखला; काँटोंकी राहोंमें
[2]हरमोंकी निवासिनी
दर-दर डोलती थीं वे न्योढ़ा 'हूर परियाँ'!
विश्वस्त परिचारक सम्मुख शिवाके, एक सुन्दर
सुललनाको लाया प्रमोदसे!
अपहृत मुस्लिम वह नारी थी सुन्दरी
चाँदको लजाती थी, लाज लजवंती थी; यौवन
वसंतका उसपर प्रभाव था;
खिलती गुलाब पीत केशरकी क्यारी-सी!
बोले शिवराज-वीर भृत्यसे क्रुद्ध हो—
'सैनिक! किया है तुमने निंदनीय कृत्य!'

(३)

अपहृत महिलासे फिर बोले शिवराज वीर
माता! यदि जन्म लेता तेरे ही गर्भसे,
तेरे ही समान होता मैं भी तो रूपवान;
मा अधिकारणी हो समुचित सम्मानकी;
कंठसे उतार अनमोल मणि-मालाको
मेल डाली मोदसे सुराही सुग्रीवमें;
बोले फिर गद्गद हो—'हिंदूने सीखा है
नारीके गौरवकी, नारीके धर्मकी
रक्षा करना ही, बस; अपनी हो, पराई हो;
माता हो, भगिनी हो, पुत्री हो, पत्नी हो;
सबका समादर वह करता है निर्विरोध!
अवनी और अम्बरमें, कण-कणमें, अणु-अणुमें—
हिंदू-सभ्यताकी जय, गूँज उठा जय-निनाद!!

---

१. अक्षर। २. अन्तःपुर।

महाराणा प्रताप

ध्रम रहसी, रहसी धरा, खिस जासे खुरसाण।
अमर बिसंभर ऊपरे रखिओ नहचो राण॥

—अब्दुलरहीम खानखाना

'धर्म रहेगा और पृथ्वी भी रहेगी, (पर) मुगल साम्राज्य एक दिन नष्ट हो जायगा। अतः हे राणा! विश्वम्भर-भगवान्के भरोसे अपने निश्चयको अटल रखना।'

महाराणाका वह निश्चय लोकविश्रुत है—

तुरक कहासी मुख पतो इण तनसूँ इकलिंग।
ऊगै जहाँईं ऊगसी, प्राची बीच पतंग॥

तात्पर्य यह कि भगवान् एकलिंगकी शपथ है, प्रतापके इस मुखसे अकबर तुर्क ही कहलायेगा। मैं शरीर रहते उसकी अधीनता स्वीकार करके उसे बादशाह नहीं कहूँगा। सूर्य जहाँ उगता है, वहाँ पूर्वमें ही उगेगा। सूर्यके पश्चिममें उगनेके समान प्रतापके मुखसे अकबरको बादशाह निकलना असम्भव है।

३१ मई सन् १५३९, वि० सं० १५९६ ज्येष्ठ शुक्ला १३ की वह तिथि धन्य है, जब मेवाड़की शौर्य-भूमिपर मेवाड़-मुकुटमणि प्रतापका जन्म हुआ। बाप्पा रावलके कुलकी अक्षुण्ण कीर्तिकी उज्ज्वल पताका, राजपूती आन एवं शौर्यका वह पुण्य प्रतीक, महाराणा सांगाका वह पावन पौत्र जब वि० सं० १६२८ फाल्गुन शुक्ला १५ ता० १ मार्च सन् १५७३ को सिंहासनासीन हुआ, अधिकांश राजपूत नरेश परम कूटनीतिज्ञ सम्राट् अकबरके दरबारमें उपस्थित हो चुके थे। अनेकोंने अपनी कन्याएँ देकर बादशाहसे सम्बन्ध कर लिया था। प्रताप—शौर्यकी मूर्ति प्रताप एकाकी थे। अपनी प्रजाके साथ और एकाकी ही उन्होंने जो, धर्म एवं स्वाधीनताके लिये ज्योतिर्मय बलिदान किया, वह विश्वमें सदा परतन्त्रता और अधर्मके विरुद्ध संग्राम करनेवाले, मान-धनी, गौरवशील मानवोंके लिये मशाल सिद्ध होगा।

सम्राट् अकबरकी कूटनीति व्यापक थी; राज्यको जिस प्रकार उन्होंने राजपूत-नरेशोंसे सन्धि एवं वैवाहिक सम्बन्धद्वारा निर्भय एवं विस्तृत कर लिया था, धर्मके सम्बन्धमें भी वे अपने 'दीन इलाही' के द्वारा हिंदू-धर्मकी श्रद्धा थकित करनेके प्रयासमें नहीं थे—कहना कठिन है। आज कोई कुछ कहे, किंतु उस युगमें सच्ची राष्ट्रियता थी हिंदुत्व; और उसकी उज्ज्वल ध्वजा गर्वपूर्वक उठानेवाला एक ही अमर सेनानी था—प्रताप। अकबरका शक्तिसागर इस अरावलीके शिखरसे व्यर्थ ही टकराता रहा—वह नहीं झुका, नहीं झुका।

अकबरके महासेनापति मानसिंह शोलापुर विजय करके लौट रहे थे। उदयसागरपर महाराणाने उनके स्वागतका प्रबन्ध किया। हिंदूनरेशके यहाँ, भला अतिथिका सत्कार न होता; किंतु महाराणा प्रताप ऐसे राजपूतके साथ बैठकर भोजन कैसे कर सकते थे, जिसकी बुआ मुगल-अन्तःपुरमें हो। मानसिंहको बात समझनेमें कठिनाई नहीं हुई। अपमानसे जले वे दिल्ली पहुँचे। उन्होंने सैन्य सज्जित करके चित्तौड़पर आक्रमण कर दिया।

'हल्दीघाटी'—राजपूतानेकी वह पावन बलिदान-भूमि, विश्वमें इतना पवित्र बलिदान-स्थल कोई नहीं। इतिहासके पृष्ठ रँगे हैं उस शौर्य एवं तेजकी भव्य गाथासे। भीलोंका अपने देश और नरेशके लिये वह अमर बलिदान, राजपूत वीरोंकी वह तेजस्विता और महाराणाका वह लोकोत्तर पराक्रम—इतिहासका, वीरकाव्यका वह परम उपजीव्य है। मेवाड़के उष्ण रक्तने श्रावण संवत् १६३३ वि० में हल्दीघाटीका कण-कण लाल कर दिया। अपार शत्रुसेनाके सम्मुख थोड़े-से राजपूत और भील सैनिक कबतक टिकते? महाराणाको पीछे हटना पड़ा और उनका प्रिय अश्व चेतक—उसने उन्हें निरापद पहुँचानेमें इतना श्रम किया कि अन्तमें वह सदाके लिये अपने स्वामीके चरणोंमें गिर पड़ा।

महाराणा प्रताप—वे प्रजाके आजसे शासक नहीं, हृदयपर शासन करनेवाले थे। एक आज्ञा हुई और विजयी सेनाने देखा—व्यर्थ है उसकी विजय। चित्तौड़ भस्म हो गया, खेत उजड़ गये, कुएँ भर दिये गये और ग्रामके लोग जंगल एवं पर्वतोंमें अपने समस्त पशु एवं सामग्रीके साथ अदृश्य हो गये। शत्रुके लिये इतना विकट उत्तर, यह उस समय महाराणाकी अपनी सूझ है। अकबरके उद्योगमें राष्ट्रियताका स्वप्न देखनेवालोंको इतिहासकार बदायूनी आसफखाँके ये शब्द स्मरण कर लेने चाहिये—'किसीकी ओरसे सैनिक क्यों न मरे, थे वे हिंदू ही और प्रत्येक स्थितिमें विजय इस्लामकी ही थी।' यह कूटनीति थी अकबरकी और महाराणा इसके समक्ष अपना राष्ट्रगौरव लेकर अडिग भावसे उठे थे।

महाराणा चितौड़ छोड़कर वनवासी हुए। महाराणी, सुकुमार राजकुमारी और कुमार घासकी रोटियों और निर्झरके जलपर किसी प्रकार जीवन व्यतीत करनेको बाध्य हुए। अरावलीकी गुफाएँ ही आवास थीं और शिला ही शय्या थी। दिल्लीका सम्राट् सादर सेनापतित्व देनेको प्रस्तुत था, उससे भी अधिक—वह केवल चाहता था प्रताप अधीनता स्वीकार कर लें, उसका दम्भ सफल हो जाय। हिंदुत्वपर दीन-इलाही स्वयं विजयी हो जाता। प्रताप—राजपूतकी आनका वह सम्राट्, हिंदुत्वका वह गौरव-सूर्य इस संकट, त्याग, तपमें अम्लान रहा—अडिग रहा। धर्मके लिये, आनके लिये अकल्पित है वह तपस्या। कहते हैं महाराणाने अकबरको एक बार सन्धिपत्र भेजा था, पर इतिहासकार इसे सत्य नहीं मानते। यह अबुलफजलकी गढ़ी हुई कहानीभर है।

अकल्पित सहायता मिली, मेवाड़के गौरव भामासाहने महाराणाके चरणोंमें अपनी समस्त सम्पत्ति रख दी। महाराणा इस प्रचुर सम्पत्तिसे पुनः सैन्य-संगठनमें लग गये। चितौड़को छोड़कर महाराणाने अपने समस्त दुर्गोंका शत्रुसे उद्धार कर लिया। उदयपुर उनकी राजधानी बना। अपने २५ वर्षोंके शासन कालमें उन्होंने मेवाड़की केशरिया पताका सदा ऊँची रखी।

'चित्तौड़के उद्धारसे पूर्व पात्रमें भोजन, शय्यापर शयन दोनों मेरे लिये वर्जित रहेंगे।' महाराणाकी प्रतिज्ञा अक्षुण्ण रही और जब वे वि० सं० १६५३ माघ शुक्ला ११, ता० २९ जनवरी सन् १५९७ में परमधामकी यात्रा करने लगे, उनके परिजनों और सामन्तोंने वही प्रतिज्ञा करके उन्हें आश्वस्त किया। अरावलीके कण-कणमें महाराणाका जीवन-चरित्र अंकित है। शताब्दियोंतक पतितों, पराधीनों और उत्पीड़ितोंके लिये वह प्रकाशका काम देगा। चित्तौड़की उस पवित्र भूमिमें युगोंतक मानव स्वराज्य एवं स्वधर्मका अमर सन्देश झंकृत होता सुन सकता है।

माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओधकै, जाण सिराणै साप॥

—रा० श्री०

छत्रपति शिवाजी

'मेरा शत्रु महान् सेनानी है। मैंने उन्नीस सालतक उसके विरुद्ध युद्धका संचालन किया, परंतु उसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।' —बादशाह औरंगजेब।

राजपूतोंका रक्त और वह भी विश्वके सर्वश्रेष्ठ मानधनी सीसोदिया कुलका—जहाँ भी उसने अपनेको प्रकट किया, उसका शौर्य अदम्य रहा है। महाराज सज्जनसिंह इसी कुलके थे, जिन्होंने वि०सं० १३७६ में चित्तौड़ छोड़कर दक्षिण-भारतको अपना निवास बनाया। भोंसला जाति आरम्भमें राणा कही जाती थी और वह महाराज सज्जनसिंहकी ही सन्तति है। महारानी जीजाबाईकी कुक्षिसे इसी कुलमें शिवाजीका जन्म हुआ। जन्मसे शूरवृत्ति शिवाजी 'मावली' बालकोंके साथ उनकी टुकड़ियाँ बनाकर युद्धके खेल ही खेलते। माता जीजाबाई-जैसी वीर-माताने उन्हें पुराणोंकी महान् गाथाओंसे प्रोत्साहित किया। दादाजी कोंड़देव-जैसे परमनीतिज्ञ एवं शूरमाके संरक्षणमें उन्होंने शस्त्र-शिक्षा प्राप्त की और समर्थ स्वामी रामदास-जैसे लोकोत्तर महापुरुषके करोंकी अभय छाया उन्हें प्राप्त हो गयी। देशपर, धर्मपर, गायोंपर, ब्राह्मणोंपर, मन्दिरोंपर, सती नारियोंपर और असहाय जनतापर जो अत्याचार निरंकुश यवन-शासकोंद्वारा हो रहे थे, शिवाजीका वीर हृदय उस आर्त क्रन्दनको सह नहीं सका। युवा होते-न-होते उन्होंने अपने बचपनके मावली-शूरोंका नेतृत्व सँभाला और धर्म, राष्ट्र एवं संस्कृतिके परित्राणके लिये 'भवानी' (शिवाजीकी तलवार) की शरण ली।

शिवाजीके पिता शाहजी बीजापुर नवाबके दरबारी सामन्त थे; किंतु शूर शिवाजी अन्यायी यवनको मस्तक झुका दें, यह सम्भव नहीं था। शिवाजीने बीजापुरके दुर्गोंपर आक्रमण करके अधिकार करना प्रारम्भ किया। शाहजीको नवाबने कैद कर लिया। धुरन्धर राजनीतिज्ञ शिवाजीने सीधे दिल्लीसे पत्रव्यवहार किया और फल यह हुआ कि शाहजहाँने शाहजीको अपना सामन्त घोषित कर दिया। बीजापुर-नवाबमें इतना दम नहीं था कि दिल्लीदरबारके सामन्तको कैद रख सकता।

महाराणा प्रताप

माई एहड़ा पूत जण जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो औधकै जाण सिराणे साँप॥

छत्रपति शिवाजी

पंजन पेलि मलिच्छ मले सब सोई बच्यो जेहि दीन ह्वै भाख्यो।
सो रंग है सिवराजबली जिन नौरँगमें रँग एक न राख्यो॥

छत्रपति शिवाजीका नारी-सम्मान

बीजापूर-नवाबका सेनापति अफजलखाँ सेना सजाकर बढ़ आया। धूर्ततापूर्वक उसने सन्धिके लिये शिवाजीको बुलाया। दोनों अकेले मिलनेवाले थे। यवन-सेनापतिने मिलते ही तलवार उठायी, परन्तु शिवाजी अबोध नहीं थे। यवनोंके विश्वासघातसे परिचित थे। उनके हाथके बघनखेने अफजलखाँकी कोख फाड़ दी। वनमे छिपे मराठे सैनिक टूट पड़े। यवन-सेना परास्त हुई। बीजापुरने विवश होकर सन्धि की। शिवाजीने मुगलोंके किले जीतने प्रारम्भ किये। दिल्लीसे बड़ी भारी सेनाके साथ शायस्ताखाँ भेजा गया, परंतु वह अपने ही गर्व और प्रमादसे परास्त हुआ। उसकी छावनीमें घुसकर मराठोंने आक्रमण किया और शिवाजीकी तलवारसे उसकी चार अँगुलियाँ कट गयी। औरंगजेबने राजकुमार मुअज्जम और जयसिंहको भेजा शिवाजीके विरुद्ध। हिंदू परस्पर ही लड़ें, यह महाराज शिवाजीको अभीष्ट नहीं था। सेनापति जयसिंहके परामर्शसे वे दिल्ली जानेको प्रस्तुत हो गये। औरंगजेबने उनका उचित सत्कार नहीं किया। दरबारमें पहुँचनेपर शिवाजी यह अपमान कैसे सह लेते। धूर्त औरंगजेबने उन्हें कैद कर लिया, पर कौशलसे वे निकल आये। महाराष्ट्र लौटनेपर रायगढ़ दुर्गमें सन् १६७४ ईस्वीमें महाराज शिवाजीका राज्याभिषेक हुआ। बीजापुरनरेशने कुछ जिले देकर उनसे मित्रता की। दक्षिणके शासकोंने उन्हें अपना अग्रणी स्वीकार किया। महाराज शिवाजीका ध्येय था 'हिन्दवी' स्वराज्यका संस्थापन और उसके लिये वे सतत संलग्न रहे।

खफीखाँ लिखते हैं कि 'शिवाजीने कभी किसी मस्जिद, कुरान अथवा किसी धर्मको माननेवाली स्त्रीको हानि नहीं पहुँचायी। यदि उनके हाथ कोई कुरानकी प्रति लग जाती तो वे उसे तुरन्त आदरपूर्वक किसी मुसलमानको दे देते।' छत्रपति शिवाजी महाराजके उद्योगको साम्प्रदायिक या संकीर्ण माननेवालोंको मुसलमान लेखकका यह मत पढ़ लेना चाहिये। कहा जाता है कि किसी युद्धमें सैनिकोंने एक परम सुन्दरी यवनराजकुमारी-को बंदी करके महाराजके सम्मुख उपस्थित किया। महाराज कुछ क्षण उसकी ओर देखकर बोले—'यदि मेरी माता ऐसी सुन्दर होतीं तो मैं इतना कुरूप न होता।' फिर सैनिकको डाँटकर कहा कि 'इसको सुरक्षित इसके घर पहुँचा दो।' उन्होंने उसे आदरपूर्वक उसके पिताके समीप भिजवाया। पर-स्त्रीमात्रमें मातृभावका यह उज्ज्वल आदर्श! महाराजका किसी धर्मसे द्वेष नहीं था। उन्होंने तो अत्याचार एवं अधर्मके विरुद्ध तलवार उठायी थी। उनका उद्योग राष्ट्रिय संस्कृतिकी सुरक्षाके लिये था।

५३ वर्षकी अवस्थामें रायगढ़ दुर्गमें ही उन हिंदूपतिने शरीर छोड़ा। उनका साम्राज्य—वह तो कभी उनका नहीं था। उसे तो उन्होंने अपने गुरु समर्थ स्वामी रामदासके चरणोंपर चढ़ा दिया था और समर्थके साम्राज्यकी ही प्रतीक है वह गैरिकध्वजा। महाराज एक प्रतिनिधिमात्र थे गुरुदेवके और इस रूपमें महाराज एक निःस्पृह महान् कर्मयोगी हैं इतिहासके पृष्ठोंमें।'

राखी हिन्दुआनी, हिन्दुआन को तिलक राख्यो,
स्मृति पुरान राख्यो बेद विधि सुनी मैं।
राखी रजपूती, राजधानी राखी राजन की,
धरामें धरम राख्यो, गुन राख्यो गुनी मैं॥
'भूषन' सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की,
देश-देश कीरति बखानी तब सुनी मैं।
साहके सपूत सिवराज! समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबिके दिवाल राखी दुनी मैं॥

—रा०श्री०

पेशवा बाजीराव

'कोई भी हिन्दू बाजीरावसे अधिक सचाई और सफलताके साथ हिंदुओंकी एकताके लिये प्रयत्न न कर सका।'

—वीर सावरकर

सन् १६९९ में महाराष्ट्रके श्रीवर्द्धन ग्राममें एक ब्राह्मण बालकने जन्म लिया। बचपनमें ही उसके पिता पेशवा बालाजी विश्वनाथने उसे सैनिक शिक्षा दिलायी और श्रीब्रह्मेन्द्रस्वामीने उसपर कृपा की। योगिराज ब्रह्मेन्द्रस्वामी उस हिंदूनरेशसे मिलतेतक नहीं थे, जिसके राज्यमें हिंदू-धर्मके तनिक भी तिरस्कारकी सम्भावना होती। पिताकी मृत्युके पंद्रह दिन पश्चात् यही बालक बाजीराव शाहूजी भोंसलेद्वारा पेशवा बनाये गये। उन्होंने सनद प्राप्त करके पूनामें अपना केन्द्र बनाया और उनके उद्योगसे पूना शीघ्र व्यापारिक केन्द्र हो गया।

एकच्छत्र हिंदू-प्रभुत्व—पेशवा बाजीरावका यही

आदर्श था। मुगल बादशाह, निजाम, मालवाके यवन सूबेदार और फिरंगी इसमें बाधक थे और अपनी नीतिकुशलता तथा शूरतासे पेशवा बाजीरावने इन सब बाधाओंको सुलझा लिया। उन्होंने मालवापर दो बार विजय प्राप्त की। कर्णाटक विजय की। निजामके षड्यन्त्रको विफल कर दिया, जो वह शाहूजीसे मिलकर करना चाहता था, और उसे युद्धमें पराजित किया। सन् १७२७ के युद्धमें निजामने घुटने टेक दिये। वहाँसे लौटते ही बुन्देलखण्डके शासक महाराज छत्रसालका पत्र मिला। मालवाके सूबेदार बंगशने बुन्देलखण्डपर आक्रमण किया था और बुन्देलकेसरीने हिंदुत्वकी एकताके उद्घोषक पेशवासे सहायता माँगी थी। पेशवा ठीक समयपर पहुँचे। बंगश मारा गया। महाराज छत्रसालने पेशवाको अपना तृतीय पुत्र कहकर राज्यका तीसरा अंश उपहार दिया।

होलकर, भोंसले, गायकवाड़, सिंधिया—सभी महाराष्ट्र-शासक पेशवाको अपना नेता और सेनापति स्वीकार कर चुके थे। पेशवाका हिंदू-संगठन बड़े सफलरूपमें चल रहा था। दिल्लीके बादशाहने उन्हें मौखिकरूपमें मालवाका शासक स्वीकार कर लिया, पर आज्ञापत्र देनेमें इधर-उधर करने लगा। पेशवाने सेना सजायी और धावा किया, पर दिल्ली-बादशाहके बुलानेसे निजाम और अवधके नवाब सआदतखाँने भी मराठोंको पराजित करनेका प्रयत्न किया; फिर भी तीनोंकी एक भी चली नहीं। बादशाह सन्धि करनेपर विवश हुए। हिमालयसे कन्याकुमारीतक पेशवाका प्रभाव व्यापक हो गया।

दिल्लीपर नादिरशाहने आक्रमण किया, यह समाचार पाते ही पेशवा बाजीरावने सेना सजायी और घोषित किया कि 'नादिरशाह हिंदू-मुसलमान दोनोंका शत्रु है।' यह घोषणा यह सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है कि पेशवा समस्त भारतकी विदेशी आक्रमणसे सुरक्षाके लिये कितने सचिन्त थे। इसी युद्धयात्रामें नर्मदा किनारे सन् १७४० की २२ अप्रैलको हिंदुत्वके इस महासेनापतिने शरीर छोड़ा। बीस वर्षतक वे पेशवापदपर रहे और जीवनके अन्तिम दिनतक उन्होंने हिंदू-जातिकी एकता और धर्मकी सुरक्षाके लिये अथक उद्योग किया।—रा० श्री०

गुरु गोविन्दसिंह

गुरु नानककी संतवाणीने सात्त्विक श्रद्धालुओंमें जो आत्मचेतना दी, दिल्लीके बादशाहोंके अत्याचारने उसे उद्दीप्त करके तलवार उठानेपर बाध्य किया। कोई भी सच्चा तत्त्वज्ञ निराश्रय उत्पीड़ितोंका आर्तनाद कैसे सह सकता है। गुरु अर्जुनदेवके द्वारा ग्रन्थसाहबका संकलन हुआ, उस समयतक दिल्लीका शासन अकबरके हाथमें था; किंतु जहाँगीरके सिंहासनपर आते ही गुरु हरगोविन्द धर्म एवं निराश्रयोंकी रक्षाके लिये भाला और तलवार उठानेको विवश हुए। सिखोंमें सैनिकवृत्ति उन्हींसे प्रारम्भ हुई। जहाँगीरने गुरु हरगोविन्दको बंदी किया और वे बारह वर्षोंतक ग्वालियरके किलेमें कैद रहे।

गुरु तेगबहादुर परम सौम्य एवं परहितचिन्तक महापुरुष थे। उन्होंने समझ लिया था कि धर्मकी रक्षा उनके पुत्रके द्वारा ही होगी। गुरु तेगबहादुर एक दिन उदास बैठे थे, बालक गोविन्दसिंहने उदासीका कारण पूछा। गुरुने बताया कि देश और धर्मको किसी महान् आत्माके बलिदानकी आवश्यकता है। बालककी तेजस्विता व्यक्त हो गयी—'आपसे बढ़कर संसारमें महान् आत्मा कौन है?' सचमुच गुरु तेगबहादुरने बालककी बात हृदयमें रख ली। मुसलमानोंके अत्याचारसे पीड़ित, शरणमें आये ब्राह्मणोंके द्वारा उन्होंने घोषित कराया—'हिंदुओंके नेता गुरु तेगबहादुर इस्लाम स्वीकार कर लें तो सब हिंदू मुसलमान हो जायँ।' क्रूर औरंगजेबने धूर्ततापूर्वक उन्हें दिल्ली बुला लिया और नृशंसतापूर्वक वध हुआ उनका। हँसते-हँसते उन्होंने शरीर छोड़ दिया।

गुरु गोविन्दसिंहपर पिताके बलिदानका प्रभाव तो पड़ा ही, साथ ही उन्होंने देख लिया कि औरंगजेबके अत्याचारसे हिंदू-धर्मकी रक्षा केवल संगठित सैनिक-शक्तिसे ही सम्भव है। नैनादेवीके पर्वतपर वर्षभरतक भवानीकी सन्तुष्टिके लिये यज्ञ किया गुरुदेवने और उसके पश्चात् उन वीरोंको चुन लिया, जो देवीके लिये स्वयं बलिदान होनेको उद्यत हुए। ये वीर 'खालसा' कहलाये। स्वयं गुरुदेवने इन्हें 'अमृत' पिलाया और उनके हाथसे पिया। 'खालसा' वही हो सकता है, जो पाँच खालसा बन्धुओंके हाथसे अमृत (कृपाणसे आलोड़ित जल) पी ले। सिख-जाति सम्पूर्ण सैनिक हो गयी। गुरु

गोविन्दसिंहने कंघी, कच्छ, कर्द (कड़ा), केश और कृपाण अनिवार्य कर दिया प्रत्येक सिखके लिये।

गुरु गोविन्दसिंह अमोघ निशान मारते थे। उनका बाण अचूक था। वे महाशूर थे और दो लंबी तलवारें बाँधते थे। उन्होंने नाहन, आनन्दपुर और चकोरमें अपने सैनिक आवास स्थापित किये। दुर्भाग्यसे कुछ पहाड़ी हिंदूनरेश गुरुदेवके विरुद्ध हुए। औरंगजेबने सरहिंद और लाहौरके सूबेदारोंको उनके विरुद्ध भेजा। गुरुदेवके दो बालक बंदी हुए। क्रूर पिशाचोंने उन होनहार बालकोंको जीते-जी मस्जिदकी दीवारोंमें चुन दिया। इस युद्धसे हटनेपर दमदमामें गुरु गोविन्दसिंहने सिखोंका 'दसवाँ ग्रन्थ' निर्मित किया। जीवनके अन्तिम दिन गुरु गोविन्दसिंहने दक्षिण-भारतमें गोदावरीतटपर 'हुजूर साहब' में बिताये। यहीं सोते समय दो पठानोंने, जिन्हें निराश्रित जानकर गुरुने आश्रय दिया था, विश्वासघात करके उनके पेटमें कटार मार दी। वही आघात उनके निर्वाणका कारण हुआ। इस विश्वासघातसे हिंदू-धर्मका महान् रक्षक, अद्वितीय शूरमा और माधवदास बैरागी (बन्दा बैरागी)-जैसे विरक्तका प्रेरक योगिराज महापुरुष उठ गया।

सकल जगतमें खालसा पंथ गाजै।
जगै धर्म, हिंदू, सकल भंड भाजै॥

—का महान् आदर्श सम्मुख रखकर गुरु गोविन्दसिंहने 'खालसा' को हिंदू-धर्मके रक्षक सैनिकोंके ही रूपमें संगठित किया था। वे किसी नवीन धर्मकी स्थापनामें नहीं लगे थे, यह 'दसवें ग्रन्थ' से सिद्ध है। सनातन धर्म एवं संस्कृतिकी रक्षाके लिये ही उन्होंने सिख जातिका सैनिक संगठन किया। 'वाह गुरुकी फतह' और 'सत् श्री अकाल' के युद्धघोष गौ, ब्राह्मण, मन्दिर और धर्मकी रक्षाके लिये ही गुरुदेवके आज्ञाकारियोंने गुंजित किये।

गुरु गोविन्दसिंह अच्छे सुकवि थे और हिंदू-धर्ममें उनकी गाढ़ निष्ठा थी। सुनीतिप्रकाश, सर्वलोहप्रकाश, प्रेमसुमार्ग, बुद्धिसागर, चण्डी-चरित्र आदि उनके ग्रन्थ केवल श्रद्धाके ही कारण नहीं, अपनी उन्नत रचनाके कारण भी आदरणीय हैं। उनकी वाणीमें धर्मनिष्ठा, श्रद्धा और ओज है। उनकी कृपाण तो सदा धर्मरक्षाके लिये ही खुली रही। धर्मके लिये, हिंदू-धर्मके परित्राणके लिये ही उन्होंने पिताकी, पुत्रोंकी और स्वयं अपनी आहुति दी।—रा० श्री०

महाराज रणजीतसिंह

'सुकरचकिया' उस समय पंजाबकी एक छोटी-सी जागीर थी, जब वीरवर महासिंहकी पत्नी मलबाईने दो नवम्बर सन् १७८० को रणजीतसिंहको जन्म दिया। बचपनमें ही चेचक निकलनेसे रणजीतसिंहका एक नेत्र नष्ट हो गया और उनका मुख दागोंसे भर गया। पाँच वर्षकी अवस्थामें ही उनका विवाह 'कन्दिया' की राजकुमारी 'महताबकुमारी' के साथ हो गया। और बारह वर्षकी अवस्थामें पिताके स्वर्गवासी होनेपर रणजीतसिंह सिंहासनपर बैठे। उन्होंने सत्रह वर्षकी अवस्थामें वस्तुतः राज्य सँभाला। इससे पूर्व पाँच वर्षतक उनकी सास 'सदाकुमारी' राज्यका संचालन करती रहीं। शूर, नीतिनिपुणा सासने उन्हें नीतिकुशल बनाया। रणजीतसिंहकी आगामी विजयोंमें उनकी सास स्वयं सेनाके साथ अनेक बार उनकी सहायता करती रहीं।

शासन सँभालते ही रणजीतसिंहको सबसे पहले उन स्वार्थी सरदारोंका दमन करना पड़ा, जो उनकी अल्पवयमें प्रभुत्व बढ़ा चुके थे। अफगानोंके आक्रमणसे उस समय पंजाबके सिक्ख सरदार पहाड़ोंमें भाग जाते थे। जब अफगान लौट जाते, तब वे पहाड़ोंसे लौटकर शासन-व्यवस्था चलाते। दुर्रानी सरदार जमानशाहके सिन्धुनद पारकर लाहौरकी ओर बढ़ते ही दूसरे सब सिक्खनरेश पहाड़ोंमें भाग गये। रणजीतसिंहको भी पलायन करना पड़ा। रणजीतसिंहने उसी समय इस भयसे पंजाबको मुक्त करनेका दृढ़ संकल्प कर लिया। उन्होंने पहाड़ोंमें छिपे सरदारोंको एकत्र करके मन्त्रणा की। शाह लाहौरमें ही था कि रणजीतसिंह पर्वतोंसे निकल आये और उन्होंने शाहके अधिकृत देशोंसे कर वसूल करना प्रारम्भ किया।

रणजीतसिंहके बढ़ते प्रभावने सहयोगी सरदारोंके मनमें ईर्ष्या उत्पन्न कर दी। उन्होंने षड्यन्त्र करके हस्मतखाँ नामक एक छट्टा जातिके सरदारको रणजीतसिंहके वधके लिये नियुक्त किया। षड्यन्त्र विफल रहा। हस्मतखाँ मारा गया; परंतु रणजीतसिंह समझ गये कि सरदारोंका संगठन करके मुसलमानोंके भयसे छुटकारा सम्भव नहीं

है। उन्होंने स्वयं पंजाबपर विजय करके उसे दृढ़रूप देनेका निश्चय किया। दूसरा उपाय नहीं था विदेशियोंके आतंकसे मुक्ति पानेका।

महाराज रणजीतसिंह केवल प्रारम्भिक कक्षातक ही पढ़े थे और विदेशियोंसे हिंदी तथा पंजाबियोंसे पंजाबी बोलते थे और उनके आज्ञापत्र गुरुमुखीमें लिखे जाते थे; परंतु वे अत्यन्त कुशल राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने लक्ष्यसिद्धिके सुअवसरोंका बड़ी निपुणतासे चुनाव किया। शत्रुके दुर्बल समय एवं स्थानको वे भली प्रकार पहचान सकते थे। वैसे वे परम उदार थे और उन्होंने ऐसे किसी नरेशके राज्यपर अधिकार नहीं किया, जिसने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। कर लेकर राजाओंको छोड़ देनेकी प्राचीन भारतीय परिपाटी उन्होंने बनायी रखी। सन् १७९९ में उन्होंने लाहौरपर अधिकार किया। इससे पूर्व अनेक छोटे राज्य उनके वशवर्ती हो चुके थे। सन् १८०१ में रणजीतसिंहका विधिवत् अभिषेक हुआ। उन्होंने 'महाराज' की उपाधि धारण की। उसी समय लाहौरमें उनके नामका सिक्का ढालनेवाली टकसाल स्थापित हुई। उन्होंने इस समय शासनका बड़ा व्यवस्थित प्रबन्ध किया।

अनेक युद्ध हुए पंजाबमें, अनेक छोटी-बड़ी रियासतें गुजरातसे पंजाबतक फैली थीं। नीतिकुशलता और शौर्यसे रणजीतसिंहने सबको अपने वशमें कर लिया। उन्होंने पूरे पंजाबपर आधिपत्य स्थापित किया। इस प्रकार 'सुकरचकिया' के सरदारके पुत्र होकर वे 'पंजाबकेसरी' हो गये। उनका संकल्प पूर्ण हुआ। अफगान अब पंजाबकी ओर देखनेका साहस नहीं कर सकते थे। अंग्रेजोंने उनके यहाँ दूत भेजा और लार्ड लेकने उनसे मित्रताकी सन्धि की। पटियाला, जींद आदिके सरदार जब महाराज रणजीतसिंहके विरुद्ध अंग्रजोंके प्रतिनिधिसे सहायता लेने गये, तब उसने स्पष्ट कह दिया कि वह केवल गुप्त सहायता दे सकता है, प्रकटरूपसे 'पंजाबकेसरी' का विरोध अंग्रेज नहीं करेंगे। यह समाचार जब महाराज रणजीतसिंहको मिला, तब उन्होंने स्वयं पटियाला आदिके सरदारोंको आमन्त्रित किया और उनसे मैत्री स्थापित की।

पंजाबके विस्तृत शासनमें महाराज रणजीतसिंहका जीवन प्रायः विद्रोही सरदारोंके साथ युद्ध करते ही व्यतीत हुआ। अंग्रेजोंकी शक्ति बढ़ रही थी। शतद्रू (सतलज) के दक्षिणी तटतक उन्होंने अपना पंजा फैला लिया था। महाराज रणजीतसिंहने भारतके मानचित्रको देखकर ठीक ही कहा था—'एक दिन यह सब लाल (अंग्रेजशासित) हो जायगा।' महाराज रणजीतसिंहको शतद्रूके उत्तर-तटतक ही अपनी राज्यसीमा रखनी पड़ी। वे परम नीतिज्ञ थे। उन्होंने एक बार इस विदेशी सत्ताको नीचे ढकेलनेकी इच्छा की; परंतु उन्होंने देखा कि दूसरे नरेश अंग्रेजोंके सहयोगी हैं। सब लोग साथ देंगे, इसकी आशा नहीं। विवश होकर उन्होंने अंग्रेजोंको मित्र बनाये रखना हितकर समझा। अंग्रेज शासक भी चेष्टा करके समझ चुके थे कि वे महाराज रणजीतसिंहको छेड़कर लाभ नहीं उठा सकते। अतः उनके जीवनकालमें शतद्रूको पार करनेका लोभ उन्हें भी दबाये ही रहना पड़ा। सन् १८०९ में अंग्रेजोंकी महाराज रणजीतसिंहसे जो सन्धि हुई, उसमें दोनोंने शतद्रूको राज्य-सीमा मान लिया।

नेपोलियन बोनापार्टके वाटरलूके संग्राममें पराजित होनेपर अनेक फ्रांसीसी युवक वहाँसे भागे और उन्होंने भारत आकर रणजीतसिंहकी शरण ली। विदेशियोंको रणजीतसिंहका आदेश था कि उनके यहाँ रहते हुए वे गोमांस-भक्षण न कर सकेंगे और न दाढ़ी बनवा सकेंगे। काश्मीरके शासक शाहशुजाको पराजित करके उन्होंने कोहेनूर हीरा प्राप्त किया था। उनकी इच्छा थी कि वह हीरा पुरीमें भगवान् जगन्नाथके श्रीविग्रहको भूषित करे। दुर्भाग्यवश महाराज जीवनकालमें उसे पुरी भेजनेकी व्यवस्था नहीं कर सके। महाराजके शरीरान्तके पश्चात् अधिकारियोंने हीरेको 'राज्यकी सम्पत्ति' कहकर भेजना अस्वीकार कर दिया।

सन् १८३१ में १६ अक्टूबरको रोपड़में दशहरा-दरबार हुआ। गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बैंटिंकसे इस समय महाराजकी भेंट हुई। इस समय महाराजकी अंग्रेजोंसे एक सन्धि हुई। अंग्रेजोंको सिन्धु नदीसे व्यापार करनेका अधिकार मिला। सन् १८३८ में महाराज रणजीतसिंहकी सहायतासे ही अंग्रेज-सेना अफगानिस्तानमें विजयी हुई और वहाँके सिंहासनपर शाहशुजाको बैठा पायी। इस युद्धके विजयोत्सवके उपलक्ष्में अतिथियोंके सत्कारके समय ही महाराजको लकवेका रोग हुआ। इससे पहले भी उन्हें इस रोगका एक बार आखेट होना पड़ा था। इसी बीमारीके क्रममें २८ जून सन् १८३९ को पंजाबका वह सूर्य अस्त हो

गया। महाराजकी अन्त्येष्टिमें दस लाख रुपये व्यय हुए। महाराजके साथ उनकी सन्तानहीन चार रानियाँ, सात बाँदियाँ तथा तीन और सेविकाएँ सती हुईं। ध्यानसिंह शोकावेगमें सपरिवार चितापर चढ़ने जा रहे थे। उन्हें बड़ी कठिनाईसे रोका जा सका।

महाराज रणजीतसिंह छोटे कदके अत्यन्त तेजस्वी पुरुष थे। विदेशियोंने उनके आतिथ्य-सत्कार और सुमधुर सम्भाषणकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अपने जीवनमें उन्होंने अनेक तीर्थोंकी यात्रा की। उनके लिये सिक्ख-गुरुद्वारे और हिंदू-मन्दिर समान थे। काशीमें भगवान् विश्वनाथके मन्दिर-शिखरको उन्होंने स्वर्णपत्रसे आच्छादित कराया। तीर्थयात्राके समय दुःखियों, दीनों तथा साधु-ब्राह्मणोंको उन्होंने लाखों रुपये वितरित किये। दुष्टोंको दमन करनेमें वे सदा दत्तचित्त रहे। जब भी उन्हें किसी नरेशके अत्याचारका समाचार मिला, उन्होंने अविलम्ब उसके दमनका उद्योग किया। पंजाबमें मुसलमानोंके आतंकसे सिक्ख एवं हिंदू-धर्मको निर्भीक करके पुनः शक्ति देनेवाले वे अन्तिम महापुरुष थे। वे नित्य ग्रन्थसाहबका पाठ करते तथा पर्वादिकृत्योंमें निष्ठा रखते थे। —सु०

बन्दा बैरागी

लीलामय प्रभुके इस अद्भुत रंगमंचपर एक-से-एक महत्तम पात्र आया ही करते हैं। त्याग, तटस्थता, शौर्य तथा उद्योगका जितना सुन्दर सामंजस्य बन्दाके जीवनमें हुआ है; भगवद्गीताके निष्काम कर्मयोगका वैसा उज्ज्वल आदर्श इस युगके इतिहासमें मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। गुरु गोविन्दसिंह जब तीर्थयात्रा करते हुए दक्षिणभारत पहुँचे, तब राजा लक्ष्मणराव उन्हें त्यागी, तपस्वीके वेशमें एक पर्वतपर मिले।

'अनाथ अबलाएँ तुमसे रक्षाकी आशा करती हैं। गोमाता आज म्लेच्छोंकी छुरियोंके नीचे तड़पती हुई तुम्हारी ओर देख रही हैं! हमारे देव-मन्दिर ध्वस्त किये जा रहे हैं। इस समय धर्म कार्यक्षेत्रमें तुम्हारी सेवाकी पुकार कर रहा है। यहाँ किस धर्मकी आराधना करोगे तुम?' एक प्रख्यात शूर, अचूक लक्ष्यवेधी धनुर्धर, अमित उत्साही सुयोग्य शासक इस धर्मपर आयी आपत्तिके कालमें राज्य छोड़कर कौपीन धारण करके वनवासी हो जाय—यह गुरु गोविन्दसिंहको अभीष्ट नहीं था।

'मैं आपका बन्दा हूँ!' लक्ष्मणरावने घुटने टेककर मस्तक झुकाया और उसी दिनसे वे सचमुच 'बन्दा' हो गये। कहा जाता है कि गुरु गोविन्दसिंहने स्वयं उन्हें अपनी तलवार प्रदान की।

दक्षिण भारतसे 'बन्दा' पंजाब आये। गुरु गोविन्दसिंह अस्वस्थ हो चुके थे। उनका शरीर अधिक दिनोंतक चल नहीं सका। इतिहासमें वह घटना भी क्या भूलनेकी वस्तु है, जब गुरु गोविन्दसिंहके छोटे-छोटे बच्चोंको जीवित ही दीवालमें चुन दिया गया था? बन्दा इस घटनासे अत्यन्त क्षुब्ध हो गये। उन्होंने सिक्ख शूरोंको उत्साहित किया, एकत्र किया और लाहौरपर आक्रमण कर दिया।

मुसलमान इतिहासकारोंने द्वेषवश बन्दाको अनेक प्रकारसे लांछित करनेका प्रयत्न किया है। वे उन महापुरुषको क्रूर जादूगर, पता नहीं क्या-क्या कहते हैं; पर उन्हें भी स्वीकार करना पड़ा है कि बन्दा लोकोत्तर शूर थे। उनके धनुषसे छूटे बाण कभी लक्ष्यच्युत नहीं होते थे। वे रणक्षेत्रमें सहसा प्रकट होते और विपक्षके प्रधान-प्रधान नायकोंको चुन-चुनकर लक्ष्य बनाते। जैसे वे महारुद्रकी भाँति समरक्षेत्रमें आते थे, वैसे ही आँधीकी भाँति सहसा अदृश्य हो जाते थे। बन्दा सदा बैरागी ही रहे। वे प्रायः युद्धभूमिके समीप पहाड़ीपर ध्यानस्थ बैठे रहते। उनका स्वभाव निरन्तर एकान्तमें ध्यान करनेका था। एक क्षण भी अनावश्यक दूसरे कार्यमें लगनेकी उनसे आशा नहीं की जा सकती थी। युद्ध-क्षेत्रमें जब शत्रु बलवान् पड़ते, तब सिखसेनाके नायक उनको ढूँढ़ते। वे अपने अश्वपर बैठकर तूफानकी भाँति आते थे और जैसे ही उन्हें लगता कि अब उनकी आवश्यकता नहीं है, वे लौट पड़ते और इस प्रकार पर्वतपर जाकर ध्यानस्थ हो जाते, जैसे कोई घटना ही नहीं हुई हो।

दिल्ली-सम्राट् बहादुरशाह प्रथमने स्वयं सेना लेकर बन्दाका सामना किया और वह उन्हें बन्दी करनेमें सफल भी हो गया। लोहेकी जंजीरोंमें बँधे बैरागीको हाथीपर ले जाया जा रहा था। बड़ी कठिनतासे छलपूर्वक बादशाह उस सिंहको बाँध सके थे। बन्दा—

महायोगी बन्दाने अपनेको सँभाला। प्राणोंको स्थिर किया और सुदृढ़ शृंखलाएँ, जिनमें वे जकड़े थे, तड़-तड़ करके टूट गयीं। किसीके सावधान होनेसे पूर्व समीपका यवन सैनिक घोड़ेसे भूमिपर फेंक दिया गया। उसकी तलवार लेकर अश्व-पीठपर बैठे बन्दाका—सावधान बन्दाका कौन सामना करता? बन्दाने अपने सभी बन्दी साथियोंको अकेले मुक्त कर लिया।

सिखसेना बन्दाके नेतृत्वमें दुर्दमनीय हो गयी थी। अनेक बार उसने यवन-दुर्गपतियोंको परास्त किया। अनेक बार अपार सम्पत्ति उनके हाथ लगी। कई बार सेनानायकोंने अनुभव किया कि उन्हें बन्दाका स्थायी नेतृत्व प्राप्त हो जाय तो अजेय सिख-साम्राज्य स्थापित हो सकता है। अनेक बार उन्होंने अनुरोध किया कि विजयमें मिले धनको वितरित न करके बन्दा स्वयं उसको स्वीकार कर लें और विजित दुर्गोंपर अधिकार करके उनके अधिपति बनें। बन्दामें ही शक्ति थी कि वे सिखसरदारोंको चाहे जब संगठित कर लेते थे।

'मैं बैरागी हूँ और गुरुका बन्दा। मुझे धन और राज्यका क्या करना है।' सचमुच वे महान् बैरागी थे। कभी विजयमें मिले धनका कोई अंश उन्होंने छुआ नहीं। उनकी निजी आवश्यकताओंका ध्यान भी दूसरोंको रखना पड़ता था। उनकी पत्नी तथा पुत्रका भरण-पोषण भी सरदारोंकी उस भेंटसे होता, जो वे स्वेच्छासे उनकी पत्नीको दे जाते थे। बन्दा तो दो स्थानोंपर मिलते थे—समर-क्षेत्रमें घोड़ेकी पीठकर या पर्वतकी शिलापर ध्यानस्थ।

दिल्लीके सिंहासनपर बहादुरशाहके बाद फरुखसियर बैठे। उन्होंने काश्मीरके सूबेदार अब्दुलसमदखाँको बन्दा बैरागीके विरुद्ध ससैन्य भेजा। अब्दुलसमदखाँने कूटनीतिसे काम लिया। उसने सिख-सरदारोंके पास सन्देश भेजा—'हमारी सिखोंसे कोई शत्रुता नहीं। सम्राट् सिखोंको उनके राज्य देनेको प्रस्तुत हैं। बन्दा सिख नहीं है। उसने सिखोंको भड़काकर सम्राट्का द्रोही बना दिया है। इससे सिखोंका विनाश हो जायगा। हम केवल बन्दाको पकड़ने आये हैं।'

बन्दाने देख लिया कि सिखोंमें बुद्धि-भेद उत्पन्न हो गया है। युद्धमें वे पूरा उत्साह नहीं दिखलाते। विवश होकर उन्होंने दुर्गका आश्रय लिया। समदखाँ अपनी भेदनीतिके सन्देश भेजनेमें लगा रहा। सिखोंने बन्दासे पूछा कि वह सिख है या नहीं। बन्दाका एक उत्तर था कि वह गुरुका बन्दा है। इससे न कम न अधिक। सिखोंने शत्रुके बहकानेमें आकर दुराग्रह किया कि बन्दा विधिपूर्वक सिखधर्म स्वीकार कर ले।

'धर्म स्वीकार किया नहीं जाता। वह हृदयसे स्वीकार होता है। मेरा धर्म किसी प्रकार त्रुटिपूर्ण नहीं और न किसी भी लौकिक कारणसे मैं उसे बदलनेको प्रस्तुत हूँ।' निर्भीक उत्तर था बैरागीका। सिखोंमें अनेक इससे रुष्ट हो गये। बहुत-से प्रधान नायक अपने दलके साथ दुर्ग छोड़कर निकल गये। अब्दुलसमदने उन्हें आश्वासन दिया था कि उनको चुपचाप जाने दिया जायगा; परन्तु उन्हें बन्दी बना लिया गया और बड़ी निर्दयतापूर्वक मारा गया।

बहुत थोड़े सिख थे, जो उस महापुरुषको ठीक समझ सके थे। उन्होंने बन्दाका अन्ततक साथ दिया। थोड़े-से सैनिक थे, दुर्गकी सामग्री समाप्त हो गयी थी। अन्ततः किसी अपने ही सैनिकने शत्रुके बहकानेसे दुर्ग-द्वार खोल दिया। बन्दा और उनके ७८४ साथी पकड़ लिये गये। इस बार सिंहके पिंजड़ेमें बन्दाको बंद करके हाथीपर दिल्ली भेजा गया।

'तुम हमारा धर्म स्वीकार कर लो, तुम्हें जीवनदान दिया जायगा!' सम्राट्के प्रलोभनको एक भी सिखने स्वीकार नहीं किया। बन्दाको उन्होंने धर्म-परिवर्तनका भी आग्रह छोड़कर अपनी सेनाके सेनापति पदको स्वीकार करनेको कहा। बैरागी क्या यवन-सम्राट्के अत्याचारोंमें योग देना स्वीकार कर लेते? प्रतिदिन १०० बैरागी सिख-शूरोंके सिर काटे जाते। सात दिनोंतक यही क्रम चला। धर्मके लिये मस्तक देना उन मनस्वियोंको गौरवमय प्रतीत हो रहा था। विधर्मीके प्रलोभन उनके सम्मुख तुच्छ सिद्ध हुए।

सन् १७१५ का वह मनहूस दिन आया। आठवें दिन बन्दा नगरसे बाहर लाये गये। निश्चित योजनाएँ इतनी पैशाचिक थीं कि बादशाह उन्हें देखनेका साहस न कर सके। बन्दाके सम्मुख उनके इकलौते पुत्रकी छाती फाड़कर जल्लादने उस बालकका कलेजा निकाल लिया और बलपूर्वक बन्दाके मुखमें ठूँस दिया। वे बैरागी अर्धोन्मीलित नेत्र किये जैसे कुछ देखते ही न हों। तपायी हुई लोहेकी शलाखोंसे बैरागीको पीटा गया और जब उनका पूरा शरीर झुलस गया, तब गरम

चींमटोंसे उनका मांस नोचा जाने लगा। बन्दा इतनेपर भी मुसकरा रहे थे। निजाबुद्दौलाने पूछा—'इतनी पीड़ा मिलनेपर भी तुम प्रसन्न कैसे हो?' बन्दाने कहा—'जो आत्माके स्वरूपको पहचानता है वह इस बातको जानता है कि आत्मा अमर है तथा दुःखातीत है।' इस उत्तरसे सभी चकित रह गये। बैरागीके मुखपर वेदनाका चिह्नतक नहीं था। वे शरीरके संसर्गसे कबके परे हो चुके थे। अन्तमें उनके शरीरको अत्याचारियोंने हाथीके पैरोंतले रुँदवाया। बन्दा सच्चे शहीद हो गये। धर्मकी रक्षाके लिये उनका यह बलिदान अमर है। —सु०

उदार हिंदू-धर्म

(रचयिता—श्रीसूरजचंदजी सत्यप्रेमी उपनाम डाँगीजी)

(१)

हमारा हिंदू-धर्म उदार।
संस्कृतियोंका संग्रह-मंदिर, सत्य-प्रेमका द्वार॥
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥ ध्रु०॥
नाग-द्रविड़-शक-हूण-देव या आर्य-अनार्य अनेक—
इन वर्गोंका सुन्दर संगम हिंदु-जाति सब एक॥
निराले सब आचार-विचार,
किंतु हैं सहयोगी-व्यवहार।
योग्यता या रुचिके अनुसार,
किया करते हम सदा सुधार॥
वैष्णव, शैव, शाक्त, गणपति, रविके पूजक सब सार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(२)

विधि, हरि, हर, गणराज, प्रभाकर, सिद्ध बुद्ध, सुरनाथ।
उमा, शारदा, श्री, सावित्री आदि शक्तियाँ साथ॥
अग्नि, जल, पवन, शून्य या स्थान,
मनुज, पशु, पक्षी—सभी महान।
विविध हैं वर्ण, विविध पहिचान,
विविध वाहन, सबका सम्मान॥
सबमें वह भगवान् बसा है, निराकार-साकार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(३)

काग-भुसुंडि, वराह, मत्स्य, हिमवान, गरुड़, जगदीश—
हमने सबका आदर सीखा, जंगम हो कि गिरीश॥
सभीमें पाया निर्गुण एक,
सफल हो गयी सगुणकी टेक।
जहाँ था भावोंका उद्रेक,
वहाँ भी छोड़ा नहीं विवेक॥
कहीं-कहीं अतिरेक हुआ पर, बना न भूका भार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(४)

व्यास, पतंजलि, जैमिनि, शंकर, गौतम, कपिल, कणाद—
नाना दर्शन-शास्त्र हमारे न्यारे-न्यारे स्वाद॥
कहींपर नित्य वेदका गान,
कहीं सर्वस्व ब्रह्म—भगवान।
कहींपर सांख्य-योगकी तान,
कहींपर आत्म-तत्त्वका मान॥
सबका ज्ञान समान हितङ्कर, सबमें सत्य विचार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(५)

नास्तिक-से-नास्तिक दर्शन भी रहे हमारे अंग।
सबको परखा, किंतु न छोड़ा कभी किसीका संग॥
इसीसे होता रहा विकास,
बढ़ाते गये आत्मविश्वास।
नहीं हम हुए व्यक्तिके दास,
बनाया हृदय विवेक-निवास॥
विविध हमारी परम्पराएँ, विविध पन्थ-विस्तार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(६)

कोई धर्मी, कोई प्रेमी, परमहंस या सिद्ध।
कोई अर्थी, कोई कामी, धन-जन-बल-से विद्ध॥
कहींपर है बहु-जनका स्वार्थ,
कहीं एकान्त पूर्ण परमार्थ।

हमारे पन्थ समष्टि-हितार्थ,
सभीमें जीवनके पुरुषार्थ॥
कर्म त्याग शुकदेव बनें या जनक कर्म-कर्तार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(७)

ब्रह्मचर्य, दाम्पत्य प्रेममय, वानप्रस्थ, संन्यास।
चारों आश्रम धर्म हमारे, समयोचित उल्लास॥
कभी अध्ययन, कभी गृह-कर्म;
कभी विश्रांति, कभी मुनिधर्म।
समझते हम जीवनका मर्म,
सदा सर्वत्र शान्ति या शर्म॥
हमें आत्मसन्तोष निरन्तर, ईश्वरका आधार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(८)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये वर्ण-व्यवस्था-भेद।
चिन्ता रहती नहीं वृत्तिकी, नहीं किसीको खेद॥
सभीके भिन्न-भिन्न व्यापार,
परस्पर करते पर-उपकार।
किसीका है न किसीपर भार,
चलाते सब मिलकर संसार॥
सबका सम सत्कार हृदयमें है, स्वाभाविक प्यार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(९)

विविध-शक्तियाँ, विविध लब्धियाँ, ऋद्धि-सिद्धिदातार।
विविध योग-विज्ञान आदि सब, मानस-बल संचार॥
सभीका ध्येय विश्व-कल्याण,
यही तप-ज्ञान-ध्यानका प्राण।
इसीमें है जीवनका प्राण,
जगत-हित बिना व्यक्ति म्रियमाण॥
शास्त्रोंका निर्माण हुआ अध्यात्म-दृष्टि-अनुसार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(१०)

ईसाई, इस्लाम, पारसी, जैन, बौद्ध-आचार।
जो पथ हितके हेतु बनाये, वे हमको स्वीकार॥
'चर्च' 'मस्जिद' या 'चैत्य' विहार,
शान्तिके हैं सब ही आगार।
'मसीहा', नबी, संत, अवतार—
हमारे प्रभुका सबपर प्यार।
सत्य प्रेमका अवलम्बन ले किया विश्व-उद्धार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(११)

कायर बनकर किया अहिंसाका न कभी अपमान।
जहाँ हुआ अन्याय, मचाया वहाँ घोर संग्राम॥
सत्यमें रक्खा हितका ध्यान,
प्रेममें रही न्याय-पहिचान।
नम्रताका न भूलकर मान,
बढ़ाया सदा आत्म-अभिमान॥
गुरु-जनका सम्मान किया, पर रहे स्वतन्त्र विचार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(१२)

सभी धर्म ऐसे उदार हैं, प्रेम सभीका मूल।
निर्मल नीर बादलोंमें, पर मिली धरापर धूल॥
हमारा पन्थ महान् विशाल,
किंतु हममें है दम्भ-कुचाल।
स्वार्थका फैला करके जाल,
अरे, हम व्यर्थ बजाते गाल॥
'सूर्य-चन्द्र' के सत्य-प्रेमसे ज्योतिर्मय संसार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

ज्ञान-योग-रत बन्दा वीर विकट त्यागी वैरागी था।
संस्कृति-धर्म-देशका सच्चा रक्षक औ अनुरागी था॥

लोकमान्य तिलक

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव, बी०ए०)

'स्वाधीनता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' भारतीय स्वाधीनताके इस मूल-मन्त्रके गायक लोकमान्य बालगंगाधर तिलकका जन्म महाराष्ट्रके कोंकण प्रदेशमें समुद्रतटके रत्नगिरि स्थानमें २३ जुलाई सन् १८५६ को हुआ। उनके पिता गंगाधरराव स्थानीय पाठशालाके शिक्षक थे। बचपनमें नियमपूर्वक पिता उन्हें श्लोक कण्ठ कराया करते थे। वे बाल्यकालसे तर्कशील एवं प्रचण्ड मनोवृत्तिके व्यक्ति थे। वकालत पास करके भी १८८५ ईस्वीमें फर्ग्युसन कॉलेजमें उन्होंने गणितका अध्यक्षपद स्वीकार किया। देशकी पराधीनता उनके प्राणोंको सदासे आकुल करती थी। सन् १८९१ में 'केशरी' और 'मराठा' का सम्पादन हाथमें लेकर उन्होंने महाराष्ट्रमें नवजीवन देना प्रारम्भ किया। उनकी लेखनी अग्निके वाक्य लिखने लगी। केवल इस सम्पादनकार्यको सँभालनेके चार वर्ष बाद सन् १८९५ ईस्वीमें वे बम्बई-धारा-सभाके सदस्य निर्वाचित हुए। लेकिन अंग्रेज-सरकारकी दृष्टिमें वे भयंकर सिद्ध हो चुके थे। प्लेगकमेटीके अध्यक्ष रेंडकी एक युवकने हत्या की और सरकारने लोकमान्यपर उसे उत्तेजित करनेका अभियोग लगाकर १४ सितम्बर सन् १८९७ को डेढ़ सालकी सजा दे दी।

लोकमान्य जेलसे छूटे। उन्हें महाराष्ट्रको जाग्रत् करना था। देशको विदेशी शासनके साथ विदेशी संस्कृतिसे मुक्त करनेकी धुन थी। महाराष्ट्रमें 'गणेशोत्सव' तथा 'शिवाजी जन्मोत्सव' उन्हींके प्रयत्नसे प्रारम्भ हुए। गोखले एवं रानडेकी नीति लोकमान्यको प्रिय नहीं थी। 'भीख माँगनेसे स्वाधीनता नहीं मिलती!' वे कांग्रेसमें गरमदलके अग्रणी थे और वह सूरत-कांग्रेसका अधिवेशन इतिहासमें अमर रहेगा, जिसमें आक्रमण करके लोकमान्यने दक्षिण पक्षसे कांग्रेस छीन ली। कांग्रेस प्रार्थना करनेवाली वैधानिक संस्थासे उसी समय स्वतन्त्र राष्ट्रिय संस्था बनी, उसके राष्ट्रिय स्वरूपके संस्थापक लोकमान्य ही हैं।

महात्मा गान्धीके शब्दोंमें 'लोकमान्य सदा मेरे लिये अथाह समुद्र रहे।' सचमुच उनका ज्ञान अथाह था। उनकी सूक्ष्म दृष्टिने विदेशी राज्यके दोषके साथ विदेशी संस्कृतिके दोष बड़ी स्पष्टतासे देख लिये थे। सनातनधर्म-प्रचार, गोवध-निषेध, शिवाजीकी राष्ट्रियता, विद्यार्थियोंमें व्यायाम एवं देश-प्रेमका प्रचार और गीताकी महत्ताका लोकमें व्याख्यान—वे प्रमुख आन्दोलन थे लोकमान्यके। लोकमान्यका ही प्रभाव था कि उस समयके क्रान्तिकारी युवक गीताकी पुस्तक लेकर फाँसीके तख्तेपर चढ़नेमें गौरव मानते थे। सरकार उनसे भयभीत हो गयी। वे १९०२ में फिर गिरफ्तार करके देशसे बाहर मांडले जेलमें भेज दिये गये। यहीं जेलमें उन्होंने अपना महान् ग्रन्थ 'गीता-रहस्य' लिखा। जेलसे लौटकर वे होमरूल-आन्दोलनमें सम्मिलित हो गये।

सन् १९१६ की लखनऊ-कांग्रेसमें लोकमान्य जर्मनयुद्धमें अंग्रेजोंको सहायता देनेके सर्वथा विरुद्ध थे। महात्मा गान्धी बिना शर्त सहायता देनेके पक्षमें थे। युद्धसमाप्तिपर भारतकी सहायताके बदले अंग्रेजोंकी ओरसे उसे रौलट एक्ट प्राप्त हुआ। देशने देखा कि लोकमान्यकी चेतावनी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। वे सदा स्वाधीनता एवं भारतीय संस्कृतिके लिये प्रयत्नशील रहे। देश आज स्वाधीन है, लोकमान्यका एक प्रयत्न पूर्ण हुआ; किंतु उनका गोवध-निषेध, भारतीय संस्कृतिके लिये प्रयत्न—क्या देशके अग्रणी उस महान् दिवंगत नेताको तुष्ट करेंगे?

लोकमान्यने खोजके सम्बन्धमें 'ओरायन' एवं 'आर्योंका आर्कटिक निवास'—ये दो ग्रन्थ लिखे सही, परंतु जीवनके पिछले दिनोंमें उन्होंने मान लिया था कि वे बहुत बड़ी भूलें कर गये हैं और इसका कारण अंग्रेजीकी पाश्चात्त्य अन्वेषकोंकी पुस्तकें हैं। हमें विश्वस्त सूत्रसे ज्ञात हुआ है कि वे उन भूलोंको सुधारना भी चाहते थे, परंतु ३१ जुलाई सन् १९२० को उन्हें परलोकका निमन्त्रण आ पहुँचा। बम्बईमें पाँच लाख जनताने समुद्रतटतक उनके शरीरको पहुँचाया। महात्मा गान्धी भी उसमें थे। कहते हैं, लोकमान्यकी जलती चितामें उनके वियोगसे व्याकुल एक मुसलमान युवक कूद पड़ा था। उनकी लोकप्रियताने ही उन्हें लोकमान्य बनाया था। स्वाधीनता-संग्राममें वे भारतीय सांस्कृतिक योधा थे और अब भी उनका कार्य अधूरा ही है।

लाला लाजपतराय

'लाला लाजपतराय व्यक्ति नहीं, संस्था थे। उन्हें अपने देश और सारे संसारसे प्रेम था।'—महात्मा गांधी

लाला राधाकृष्णराय विद्यालयोंके निरीक्षक थे। उनका घर था लुधियाना जिलेके जगरावाँ प्रान्तमें। २८ जनवरी सन् १८६५ को अपने ननिहाल ढोंडी ग्राममें उत्पन्न होनेवाले बालक लाजपतने अपने इन पिताका नाम इतिहासमें अमर कर दिया। पिताने उनकी शिक्षाकी समुचित व्यवस्था की। प्रतिभाशाली बालक लाजपतराय शीघ्र ही शिक्षाके क्षेत्रमें आगे बढ़ गये। जब वे लाहौरमें मुख्तारी करने पहुँचे, स्वामी दयानन्द सरस्वतीके शिष्य गुरुदत्तकी वहाँ बड़ी धूम थी। लालाजीके विचारोंपर आर्यसमाजका गम्भीर प्रभाव पड़ा और आगे चलकर वे स्वयं आर्यसमाजके प्रमुख नेता हो गये।

२३ वर्षकी अवस्थामें लाला लाजपतराय प्रयाग-कांग्रेसमें सम्मिलित हुए। उन्होंने कांग्रेस-मंचसे पहला प्रभावशाली भाषण हिंदीमें दिया। शीघ्र ही वे लोकमान्य तिलकके साथ हो गये; क्योंकि नरम दलकी नीति उन्हें चापलूसी जान पड़ती थी। सन् १९०५ में जो कांग्रेस-शिष्टमण्डल लंदन गया, लालाजी उसमें एक प्रमुख सदस्य थे। लंदनसे लौटकर उन्होंने लोकमान्यकी नीतिका जोरोंसे समर्थन और प्रचार प्रारम्भ किया। सरकार उनसे चिढ़ उठी। सन् १९०७ में देशनिकाला देकर उन्हें माण्डले-जेल भेज दिया गया। माण्डलेसे छूटनेपर लालाजी इंगलैंड चले गये।

सन् १९०९ में इंगलैंडसे लौटकर लालाजीने पण्डित मदनमोहन मालवीयजीके सहयोगसे हिंदूमहासभाकी स्थापना की। लालाजी राष्ट्रिय युद्धके सेनानी होनेके साथ सदा हिंदू-नेता रहे और उनकी स्वाधीनताका अर्थ सदा हिंदू-धर्म, हिंदू-संस्कृति एवं हिंदुस्थानकी सम्यक् स्वाधीनता था। वे हिंदू-संगठनके लिये सदा उद्योगशील रहे। सन् १९१२ में जब महात्मा गान्धीजीका दक्षिण-अफ्रिका-सत्याग्रह छिड़ा, तब लालाजीने महात्माजीको प्रचुर धन भेजकर सहायता की। उसी सत्याग्रहके सम्बन्धमें शिष्टमण्डलके साथ वे पुनः इंगलैण्ड गये और जब प्रथम जर्मन महासमरके समय उन्हें स्वदेश लौटनेका आज्ञापत्र देना ब्रिटिश सरकारने अस्वीकार कर दिया, तब वे वहाँसे अमेरिका चले गये। अमेरिकासे उन्होंने 'यंग इंडिया' पत्र निकालकर भारतीय स्वाधीनताकी माँगके लिये विदेशोंमें प्रचार किया। सन् १९१९ में पंजाब हत्याकाण्डका समाचार पाकर लालाजी भारत आनेके लिये व्यग्र हो उठे। उन्होंने ब्रिटिश सरकारकी बड़ी कटु आलोचना की। अन्ततः २० फरवरी सन् १९२० को वे बम्बई पहुँचे। देशने उनका हृदय खोलकर स्वागत किया। महात्माजीके असहयोग-आन्दोलनमें उन्होंने पूरा भाग लिया और उस समयके कलकत्ता कांग्रेस-अधिवेशनके वे अध्यक्ष हुए। असहयोगका वह आन्दोलन—लाहौरके उसी डी० ए० वी० कॉलेजकी सीढ़ियोंपर बैठकर लालाजी सत्याग्रह करते थे, जिस कॉलेजके पहले वही सर्वे-सर्वा थे। सन् १९२१ में सरकारने उन्हें डेढ़ वर्षका कारावास-दण्ड दिया, पर वे अवधिसे पूर्व ही छोड़ दिये गये। उन्हें पुनः गिरफ्तार किया गया और वे १९२३ में छोड़े गये। कांग्रेसमें सक्रिय भाग लेते हुए भी वे हिंदू-महासभाके लिये तत्परतापूर्वक कार्य करते रहे।

सन् १९२८ में वह कुख्यात साइमन कमीशन आया। कांग्रेसने उसके बहिष्कारका निर्णय किया। लालाजी काले झंडे लेकर लाहौरमें विरोध-प्रदर्शनका नेतृत्व कर रहे थे। पुलिस नृशंसतापूर्वक जुलूसपर लाठियाँ चला रही थी। लालाजी पीछे हटनेवाले शूर नहीं थे। एक अंग्रेज सार्जेंटकी लाठीने १७ नवम्बर सन् १९२८ को सदाके लिये उन्हें मातृभूमिकी गोदमें सुला दिया। लालाजी गये—राष्ट्रिय आन्दोलनका एक उच्चतम नेता और हिंदू-संगठनका प्रबल स्तम्भ चला गया। लालाजीके पश्चात् तो कांग्रेस स्वदेशी संस्कृतिसे तटस्थ ही होती गयी। लाला लाजपतराय, वे निर्भीक सत्यनिष्ठ महापुरुष—उनका अपने सम्बन्धका कथन सबके मनन योग्य है। वे कहा करते थे—''मेरा मत 'सत्य' है। मेरा धर्म स्वराष्ट्रकी पूजा है। मेरा न्यायालय स्वयं मेरा अन्तःकरण है।''

—रा०श्री०

श्रीबंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

श्रीबालगङ्गाधर तिलक
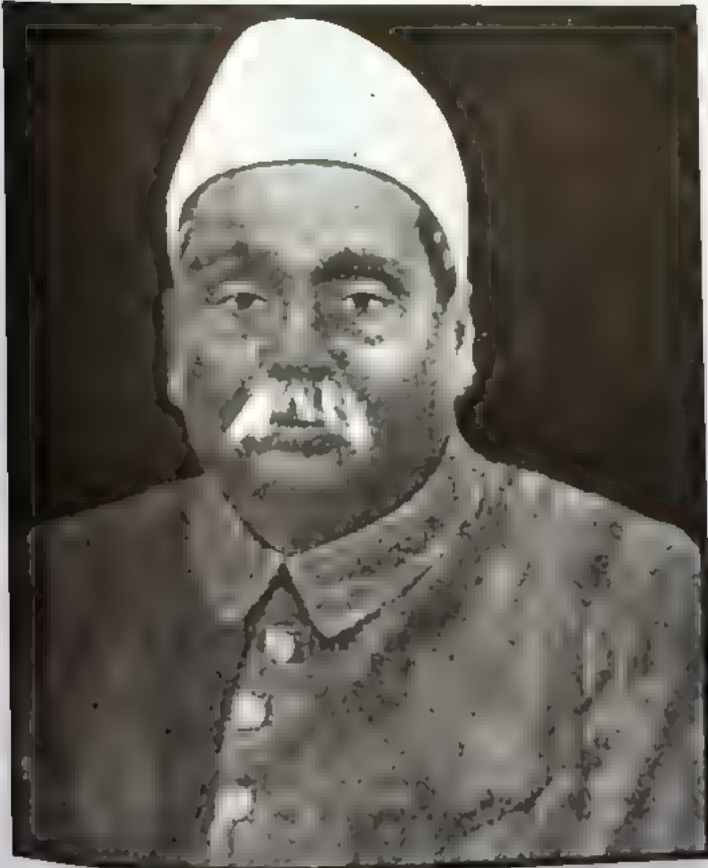
लाला लाजपतराय

पं० श्रीमोतीलाल नेहरू
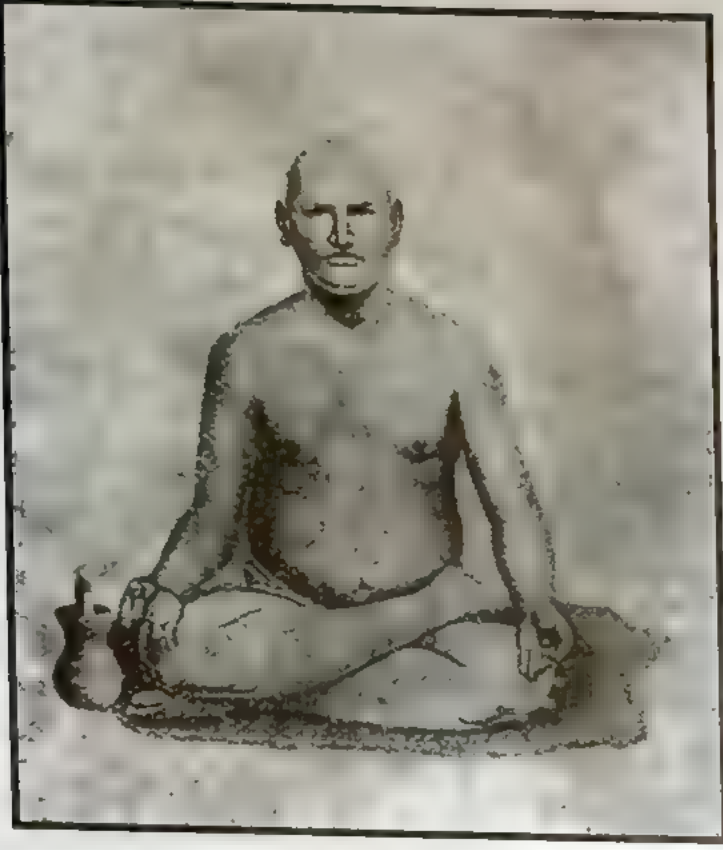
स्वामी दयानन्द

स्वामी श्रद्धानन्द

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर
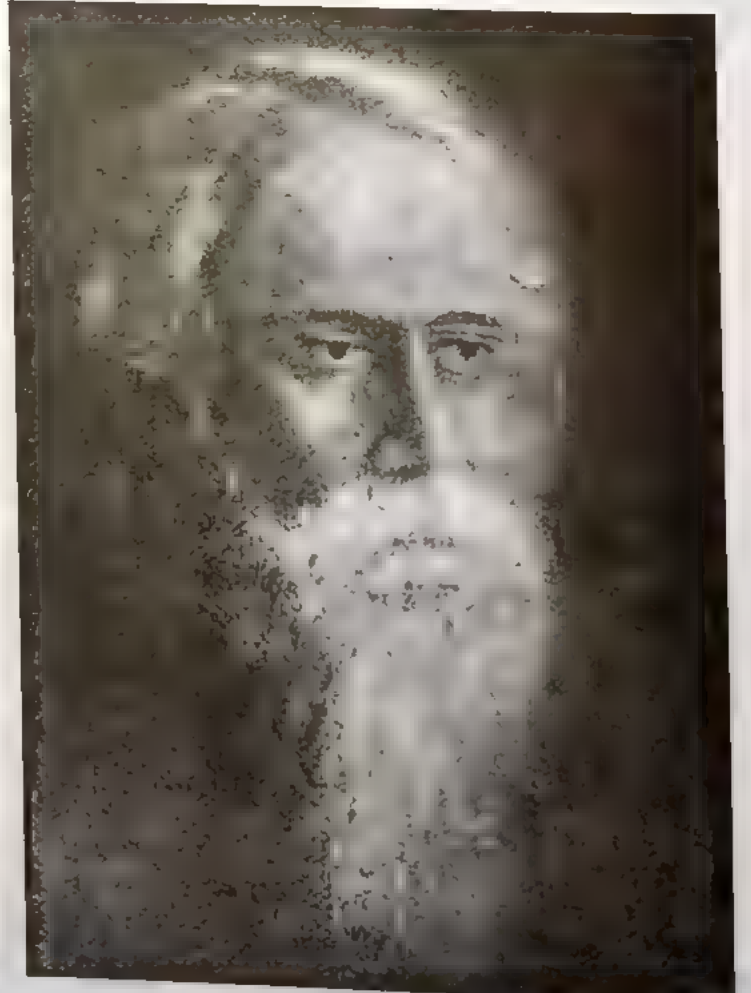
श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर

विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर

'हे विश्वजनो, हे अमृतपुत्रो, हे दिव्य-धाम-वासी देवगण! सुनो! मैं उस महान् पुरुषको जानता हूँ, जो अन्धकारसे सर्वथा परे, परम ज्योतिर्मय है। उसे जानो! उसे जानकर ही मृत्युके पार हम हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी राह नहीं है। हे मृत भारत! तेरे लिये भी यही एकमात्र पथ है, अन्य नहीं।'—रवीन्द्रनाथ

बंगालका 'ठाकुर-परिवार' अपनी उदात्त विचारधारा, परोपकारवृत्ति, जनसेवाके साथ विपुल ऐश्वर्य लिये भी प्रख्यात रहा है। 'गुरुदेव' इसी परिवारमें महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर-जैसे प्रमुख जननायक एवं गम्भीर विचारकके कनिष्ठ पुत्रके रूपमें ७ मई सन् १८६१ ई० को जोड़ासाँकूके विशाल राजप्रासादमें उत्पन्न हुए। भगवती लक्ष्मी एवं सरस्वती दोनोंका समान रूपसे यह कुल चिरकालसे कृपापात्र था। 'ब्रह्मसमाज' की विचारधाराका यही कुल प्रश्रय था। राजा-नवाबोंका अतुल ऐश्वर्य और वैसी ही शान-शौकतके साथ दार्शनिक चिन्तन, साहित्य-साधना, कला-सेवा और राष्ट्रोद्धार, समाज-सेवा, सुधारके आन्दोलनोंका नेतृत्व—ये ही सब ठाकुर-परिवारकी विशेषताएँ थीं। 'गुरुदेव' इसी वातावरणकी पृष्ठभूमिमें पले। यह ऐश्वर्य—स्वयं गुरुदेवका कहना था कि सेवकोंकी सेवा और निरीक्षण इतना अधिक था कि वह उनके लिये बन्धन बन गया था। वे तनिक भी अकेले या स्वतन्त्र न रह पाते थे। इस बन्धनने उन्हें गम्भीर और चिन्तनशील बना दिया। बचपनमें ही वे अद्‌भुत कल्पनाएँ करते और अपने कल्पनालोकमें निमग्न रहते।

भाई-बहिनोंसे भरा परिवार और उसमें भी सब-के-सब साहित्य एवं कलाके विनोदी, इस गोष्ठीने शैशवमें ही 'गुरुदेव' को कवि बना दिया। वे जब ग्यारह वर्षके केवल स्कूली विद्यार्थी थे, 'विद्यापति-पदावली' एवं ऐसी ही पुरानी रचनाओंके अनुकरणपर तुकबंदियाँ करने लगे थे। उस समय बंगालमें कवि विहारीलालके 'गीतकाव्य' बहुत सम्मान पा रहे थे। गुरुदेवने उसी शैलीपर अपनी रचनाएँ प्रारम्भ कीं। केवल चार-पाँच वर्षोंमें ही गीत, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचनादि साहित्यके सभी क्षेत्रोंमें एक साथ उन्होंने प्रयोगात्मक कृतियोंकी भरमार कर दी। बँगला-साहित्यका ध्यान उसी अवस्थामें उनकी ओर खिंच गया। 'भुवनमोहिनी' उपन्यास, 'बनफूल' पद्य—ये गुरुदेवकी प्रारम्भिक रचनाएँ हैं, जो 'ज्ञानांकुर', मासिक पत्रमें प्रकाशित हुईं। 'कालमृगया', 'वाल्मीकि-प्रतिभा' 'सन्ध्या-संगीत', 'छवि ओ गान', 'प्रकृतिर प्रतिशोध', 'बौ' ठाकुरानीर हाट' एवं 'कवि-काहिनी' प्रभृति प्रारम्भिक रचनाएँ बहुत प्रख्यात हैं और उन्हींमें वह अंकुर है, जो आगे विश्वतरुके रूपमें सबके सम्मुख आया।

बीसवीं सदीका वह युगारम्भ ही था, जब अपनी अन्तः-सर्जनाको कर्म-जगत्‌में मूर्त करनेके लिये गुरुदेव अपनी सहधर्मिणीके साथ अपने पूर्व-पुरुषोंकी उस तपोभूमि 'शान्ति-निकेतन' में आ गये थे। महाकवि उसे प्राचीन सांस्कृतिक शिक्षाकेन्द्रका मूर्तरूप देनेका स्वप्न लेकर आये थे। पाश्चात्य शिक्षाके दोषोंसे मुक्त उन्हें एक आदर्श सांस्कृत आश्रम स्थापित करना था। सन् १९०१ में इसी प्रकार 'बोलपुर ब्रह्मचर्याश्रम' की स्थापना हुई। यही आश्रम थोड़े ही दिनोंमें 'विश्वभारती'-जैसी अन्ताराष्ट्रिय संस्था बन जायगा, यह तब किसने सोचा था। गुरुदेवने इसकी स्थापनाके लिये सपत्नीक अद्‌भुत त्याग किया था। अपना पुरीवाला मकान, बहुमूल्य स्वर्णाभरण, पुस्तकें आदि सब बेचकर उन्होंने आश्रमकी आर्थिक कठिनाई दूर की और छात्रों तथा अध्यापकोंके साथ घुल-मिल गये। '**श्रेयांसि बहुविघ्नानि।**' एक वर्ष भी आश्रमकी स्थापनाको नहीं हुआ था कि सहधर्मिणी, दो बच्चे, एक मित्र तथा पूज्य पिता—सभी एक-एक कर परधाम पधारे। कवि-हृदयपर यह बार-बार होनेवाला आघात! लेकिन सुवर्ण तप्त होकर ज्योतिर्मय ही होता है, वेदनाकी महाज्वालामें तप्त भावना गम्भीरसे गम्भीरतम होती गयी। 'खेया', 'प्रायश्चित्त', 'राजा', 'गीतांजलि', 'गोरा', 'जीवनस्मृति', 'अचलायतन' और 'डाकघर'-जैसी उत्कृष्टतम कृतियाँ सन् १९०५ से १९१२ तकके अल्पकालमें निर्मित हुईं। सन् १९१२ में महाकविने विलायतयात्रा की। आयरिश कवि यीट्सने उनकी 'गीतांजलि' की ओर पाश्चात्य विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया। फलतः 'गीतांजलि' विश्वविश्रुत 'नोबेल पुरस्कार' से सम्मानित हुई। विश्वने भारतकी इस

दिव्यविभूतिको 'विश्व-कवि' स्वीकार किया। गुरुदेव जब स्वदेश लौटे, उनकी ख्यातिने उनके वास्तविक रूपमें उन्हें उपस्थित किया। बंगालने हृदय खोलकर अपने इस 'मानस-सम्राट्' का स्वागत किया।

प्रसिद्ध 'गीतांजलि' के अंग्रेजी अनुवादपर गुरुदेवको 'नोबेल पुरस्कार' मिला था; परंतु बँगला-काव्य-मर्मज्ञ महाकविकी उत्कृष्टतम रचना 'गीतांजलि' न मानकर 'खेया' को मानते हैं। इसमें कविकी रहस्य-भावनाका उच्चतम रूप प्रस्फुटित हुआ है। यह अपूर्व गीति-संग्रह तब लिखा गया था, जब बंग-भंग आन्दोलनमें राष्ट्रिय नेताके रूपमें थोड़े दिनोंके लिये वे मैदानमें आ गये थे। 'स्वदेशी समाज', 'राष्ट्रिय कोष', 'राखी-बन्धन' उसी जीवनकी ओजमयी कलाकृतियाँ हैं; किंतु उस कोलाहलपूर्ण संघर्षमय जीवनमें अपने स्थिर एकान्त कविरूपको तटस्थ रखकर 'खेया' का निर्माण तो सचमुच अद्‌भुत घटना है।

'गुरुदेव' विश्वमें सैनिक बनने नहीं आये थे। वे जनता एवं सैनिकोंके पथ-दर्शक अपनी भव्य भावमयी कलासे जीवन-प्रेरक गुरुदेव ही थे। आन्दोलनसे शीघ्र ही उनका तटस्थ हो जाना सहज स्वाभाविक था; किंतु देशका अनुराग तो उनका जीवन था। महात्माजीके सत्याग्रहसे पूर्व ही अपने 'धनंजय वैरागी' पात्रके रूपमें गुरुदेवने आदर्श सत्याग्रहीकी कल्पना प्रदान की, सरकारने—अंग्रेज सरकारने उन्हें 'सर' की उपाधि प्रदान की, जिसे जलियानवाला बागके काण्डके विरोधमें उन्होंने लौटा दिया।

देशकी दयनीय दशाके प्रति गुरुदेवके हृदयमें जितनी टीस थी, उतनी ही घृणा थी उन्हें संकुचित राष्ट्रियतासे। भारतीय स्वाधीनता उनके लिये अपनी स्वार्थ-सिद्धि नहीं थी। वे सदा उसके निखिल मानव-मुक्तिके रूपके आराधक थे। गुरुदेवने अटूट-अविरल रूपसे प्रतिवर्ष विभिन्न देशोंकी यात्राएँ कीं। इन सांस्कारिक यात्राओंका महत्त्व उनके साहित्य-सृजनसे कम महत्त्वका नहीं है। 'विश्व-बन्धुत्व'—'**वसुधैव कुटुम्बकम्**' की भावनाका प्रसार, पूर्व-पश्चिमके अन्तरका निवारण और विश्व-मानवकी प्रतिष्ठा इन यात्राओंका उद्देश्य था। प्रत्येक देशके विद्वानोंमें उन्हें असाधारण सम्मान प्राप्त था और 'एकत्व' की भावनाके प्रसारमें अपने व्यक्तित्वका उन्होंने पूरा उपयोग किया। प्रवचन, कवितापाठ, परस्पर बातचीत तथा पत्रव्यवहारद्वारा गुरुदेवने संकुचित राष्ट्रवृत्तिकी कठोर भर्त्सना करते हुए मानवकी एकता तथा विश्व-परिवारकी भावना जाग्रत् करनेका अजस्र उद्योग किया। उनके ऐसे पत्र, प्रवचन अनेक संग्रहोंके रूपमें प्रकाशित हैं।

अपनी जीवन-सन्ध्याके निकट 'गुरुदेव' का व्यक्तित्व और प्रोज्ज्वल हो उठा था। ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटीने उन्हें डी० लिट्‌की उपाधिसे सन् १९४१ में सम्मानित किया। इसके पूर्व ही शान्ति-निकेतनमें उनका 'उत्तरायण' नामक कुटीर देश-विदेशके यात्रियोंके लिये तीर्थभूमि बन चुका था और वे वहाँ चाँदी-जैसे श्वेत दीर्घ श्मश्रुधारी, झुर्री पड़े गौरवर्ण ऋषिकल्प 'गुरुदेव' के दर्शन करने पधारते थे। गुरुदेवकी आकृति जितनी भव्य थी, उनकी वेश-भूषा वैसी ही किसी कविके उपयुक्त थी। ८१ वर्षकी अवस्थामें रोगशय्यापर पड़े-पड़े भी उन महामानवकी चिन्ता स्वार्थकलुष विश्वके लिये ही थी। उस समय भी उन्होंने 'सभ्यतार संकट' नामक ओजस्वी निबन्ध मानवताको संदेश देनेके लिये लिखा। अन्तमें वह विदा-क्षण भी आया। ७ अगस्त सन् १९४१ को विश्वकवि 'गुरुदेव' ने कलकत्ता महानगरीमें इस धराका त्याग कर दिया। बंगाल या भारतका तो प्रश्न ही नहीं—मानवता रोयी, विश्व रोया और रोयी वह कलाकी अधिष्ठात्री, जिसकी गोदमें न केवल साहित्य, अपितु संगीत एवं चित्रकलाके क्षेत्रमें भी 'गुरुदेव' ने अनुपम निधियाँ अर्पित की थीं।

'**यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**' विश्वसंस्कृतिके उस महापुरोहितने अपने 'शान्तिनिकेतन' तथा अपनी संस्था 'विश्वभारती' के द्वारा इस आर्ष भावनाको सार्थक करनेका श्लाघ्य प्रयत्न किया। उनके कारण विश्वमानसमें बंगालका, भारतका, भारतीय ऋषि-संस्कृतिका, भारतीय चिन्तनशीलताका गौरव जाग्रत् हुआ। मानवताको उन्होंने अपनी मंजुकलाकी मधुर तानोंसे जगाया, प्रबुद्ध किया और उसे शान्तिका समुज्ज्वल पथ दिखाया। आज स्थूलके प्रति आसक्त, अस्थिपर लड़नेवाले कुत्तोंसे भी गया बीता मानव क्या गुरुदेवकी उस वाणीको सुनेगा? क्या उसके हृदयमें वह दिव्य झंकार उठेगी? मानवताके त्राणका दूसरा मार्ग तो है नहीं।—सु०

महात्मा गान्धीजी

विश्वमें अनेक सुख्यात राजनैतिक पुरुष हुए हैं और होते रहेंगे, किन्तु महात्माजीके समान विश्वकी संस्कृतियोंमें एक झंकार उत्पन्न कर देनेवाले महापुरुष सदा विश्वमें नहीं आया करते। ऐसे महापुरुष तो कभी-कभी मानव-समुदायको जाग्रत् करने, उसे दैवी प्रकाश प्राप्त करनेका दिव्य संदेश देने ही आते हैं।

'साधनकी चरम परिणति ही साध्य है; अतः अपवित्र, अनुचित, अनीतिपूर्ण साधनसे शुद्ध, पवित्र लक्ष्यकी प्राप्ति सम्भव नहीं। बुराईसे भलाईकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। लक्ष्य उच्च, पवित्र, आदर्श होना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है उसकी प्राप्तिके साधनका शुद्ध एवं पवित्र होना।' भारतके लिये यह नवीन बात नहीं है। धर्मसे ही धर्मकी प्राप्तिका हिंदू-संस्कृतिने अत्यन्त बलपूर्वक समर्थन किया है। युद्धमें भी असत्य, अन्याय यहाँ गर्हित माने गये हैं; किंतु आजके मोहग्रस्त अपवित्र साधनोंको ही आदर्श माननेवाले विश्वके सम्मुख साधनकी शुद्धिका परम गम्भीर रूपमें उद्घोष करनेवाला महापुरुष संस्कृतिकी अन्तर्निहित वाणीका मूर्त प्रकाश बनकर आया था जगत्‌में।

आश्विन कृष्ण १२, संवत् १९२६, (२ अक्टूबर, सन् १८६९ ई०) की वह पावन तिथि धन्य है, जब विश्वने उस महापुरुषको प्राप्त किया और धन्य है वह गुजरातकी महामान्य भारतीय भूमि, जहाँ वह आया। कोई विशेषता नहीं है मोहनदास कर्मचन्द गान्धीके उस बाल्यकालमें और कोई विशेषता नहीं है उनके लन्दन जाकर अध्ययन करनेमें तथा बैरिस्टर होकर भारत लौटनेमें; किंतु यह कहना सत्य नहीं होगा। सत्य, संयम, सादगीका उनका जीवन जन्मसे महापुरुषका जीवन है। सत्यपर स्थिरता, विलायतमें दृढ़ आचारनिष्ठा और सादगी—ये सामान्य जीवनकी बातें नहीं हैं और मातासे प्राप्त '**रघुपति राघव राजा राम**' तथा 'रामायण', 'गीता' एवं 'नरसी' के पदोंका बीज तो इसी समय पड़ा और पल्लवित हुआ। महात्माजी आजीवन 'राम' नामके जापक रहे। गीता और रामायण उनके परमादर्श ग्रन्थ थे। उनका सम्पूर्ण जीवन नरसीका वह 'वैष्णव' जीवन था, जिसके सम्बन्धमें उन्होंने कहा है—'**वैष्णव जन तो तेनें कहिये, जे पीड़ पराई जाणे रे।**' जैसे यह पद बापूके हृदयमें नित्य बोलता रहा हो।

'राम' नाम—महात्माजीके शब्दोंमें, वह उनका आपत्तिका सहायक और शक्तिका मूल स्रोत था। सत्य उनका लक्ष्य था। अहिंसा उनका साधन थी। सेवा उनकी वृत्ति थी। त्याग और संयम उनके धर्म थे; किंतु 'राम' नाम उनका जीवन था। महात्माजीके आदर्शपर विचार करते समय उनके 'राम' नामको छोड़ देनेपर हमारे सम्मुख उनका प्राण-हीन जीवन, क्रिया एवं शक्तिहीन आदर्श ही रह जाता है। वे इस दिव्य नामका जप, कीर्तन, स्मरण—सब करते। भगवान्‌पर अपार विश्वास ही उनके महान् धैर्य एवं कार्य-क्षमताका रहस्य है।

महात्माजी विलायतसे बैरिस्टर होकर लौटे, बैरिस्टरीके लिये ही दक्षिण-अफ्रिका गये थे। दक्षिण-अफ्रिकामें भारतीयोंका जो अपमान वहाँके गोरे करते थे, जो तिरस्कार वहाँ केवल सफेद चमड़ा न होनेसे सहना पड़ता था, उसका पद-पदपर अनुभव हुआ। 'मनुष्य-मनुष्यका यह अपमान क्यों करे?' मानवताकी पुकार वहीं कानोंमें पड़ी। 'अन्याय करना जितना बड़ा पाप है, उसे चुपचाप सह लेना भी उतना ही बड़ा पाप है!' महात्माजीने वहीं बड़ी दृढ़तासे अपने इस महावाक्यकी घोषणा की। जीवनमें वे इसी महावाक्यका संदेश विश्वके उत्पीड़ित दुर्बलोंको सुनाते रहे।

'अन्यायका विरोध करते हुए भी अन्यायीके प्रति सद्भाव रखना ही सच्ची मानवता है। अन्यायी एक भ्रान्त व्यक्ति होता है, वह दया और प्रेमका पात्र है। प्रेमके द्वारा उसके हृदयपर विजय पाना ही अन्यायका ठीक निराकरण है। अन्यायका निषेध बलपूर्वक करना और अन्यायीके प्रति रोष या दण्डका प्रयोग करना एक भ्रान्त उपाय है। उससे अन्याय रुक भले जाय, उसका बीज और गहराईमें चला जाता है।' बापूके इन विचारोंने ही उन्हें विश्ववन्द्य बनाया। दक्षिण-अफ्रिकामें ही उनके अन्यायके प्रतिकार करनेके नूतन अस्त्र 'सविनय अवज्ञा' का जन्म हुआ। उनका यह अस्त्र जीवनमें 'असहयोग', 'सत्याग्रह' आदिके रूपमें उपस्थित होता रहा। अपमान, मार सहना, जेल तथा अनेक दूसरी यन्त्रणाएँ सत्याग्रहीको मिलनी अनिवार्य हैं। दक्षिण-

अफ्रिकामें बेहद अपमान महात्माजी और उनके साथियोंको सहना पड़ा। गोरोंने उन्हें अनेक बार पीटा, एक बार अधमरा-सा कर दिया। उनके दो अगले दाँत एक गोरेकी मारसे ही टूटे पर वे सदा दृढ़ और शान्त रहे; उनका कहना जो था—'सत्याग्रह दुर्बल एवं कायरका शस्त्र नहीं, वह सबल एवं मनस्वीका अभेद्य कवच है।' अंग्रेजोंने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की, जब बोअर-युद्धमें वे स्वतः स्वयं-सेवक बन गये। विश्वने कभी सोचा ही न था कि अपनेपर अत्याचार करनेवाले विपक्षीकी आपत्तिमें कोई उसका सेवक भी बन सकता है और वह भी बिना शर्त—शुद्ध सेवाभावसे।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते'—जैसे गीताका यह वाक्य उनके जीवनमें ध्वनित होता हो। परिणाम क्या होगा, सहायक कितने हैं, प्रभाव क्या पड़ेगा—यह सब कुछ नहीं। कार्यकी माप उसके बाह्य परिणामसे नहीं, कर्ताके हृदयकी स्थितिसे होनी चाहिये। विशुद्ध साथी न मिलें तो अकेले प्रलयमारुतके सम्मुख स्थिरतासे खड़े होनेवाले उस महापुरुषको कितना समझा है किसीने! प्रवासी-भारतीय-समस्या, खिलाफत आन्दोलन, असहयोग-आन्दोलन, सत्याग्रह, पीड़ित-सेवा, ग्राम-सेवा और अन्तिम भीषण दिनोंकी वह नोआखाली समस्या—सबमें वही जागरूकता, दृढ़ता और श्रेयकी ओर निश्चित पदोंसे बढ़नेकी प्रवृत्ति। साधनकी विशुद्धता तथा औद्धत्य अन्यायका तीव्र प्रतिकार!

'विरोधीका हृदय परिवर्तन करना है और वह प्रेम तथा सेवासे ही होगा।' महात्माजीके इस सुनिश्चित सिद्धान्तको अनेकोंने भ्रान्त रूपमें देखा। अनेकोंने उसे चाटुकारी तथा पक्षपात कहा। भारतका दुर्भाग्य कि इसी विचारके वशीभूत एक हिंदू युवककी गोलियोंसे ही उन महापुरुषने शरीर छोड़ा! उस समय भी वे प्रार्थनाके लिये प्रार्थना-सभामें जा रहे थे। 'राम'—जिसका जीवन इस महामन्त्रसे ओत-प्रोत रहा हो, उसके जीवनका विलयन भी उसमें होना ही था।

अपने हाथसे कते सूतकी लँगोटी पहननेवाले; चर्खेको अहिंसाके प्रतीकके रूपमें स्वीकार करके भारतके प्राचीन ग्राम्योद्यम एवं ग्राम्य जीवनकी महत्ताको मशीनोंके वर्तमान युगमें भी उज्ज्वल करनेवाले; सहिष्णुता, त्याग; संयम और सादगीकी मूर्ति बापूके जीवनके सम्बन्धमें जितना लिखा गया है, उसके संग्रहसे एक पूरा बड़ा पुस्तकालय बन सकता है। भारतके उन राष्ट्रपुरुषकी स्वतः लिखी 'आत्मकथा' एक महापुरुषका आत्मजीवन है।

बापूने भारतको केवल स्वाधीनता ही नहीं दी। यद्यपि कांग्रेसके वे सदा प्राण रहे; हमारे आन्दोलन और हमारी स्वाधीनता उन्हींके तप, त्याग, मार्गदर्शन और लोकोत्तर व्यक्तित्वके पुरस्कार हैं, फिर भी राजनैतिक पुरुष (आजके शब्दोंमें कूटनीतिज्ञ) बापू कभी नहीं रहे। उन सत्यके शोधकका महत्त्व राजनीतिके क्षेत्रसे जीवनके क्षेत्रमें अधिक है। उन्होंने सुप्त भारतीय प्राणोंको इसलिये झकझोर दिया कि उन्हें विश्वास था कि स्वाधीन उद्‌बुद्ध भारत विश्वको शान्ति, अहिंसा, सत्यका सत्पथ दिखलायेगा। इसी महालक्ष्यको लेकर वे भारतीय स्वाधीनता-संग्रामके अमर सेनानी बने।

'हिमालय-जैसी भूल।' बापूकी यह महत्ता ही है कि वे अपनी भूलको कभी छोटी नहीं कहते थे। उन्होंने कभी अपनी भूलके लिये दुराग्रह करनेकी बात ही नहीं सोची। उनका जीवन ऋषियोंका-सा सादा, श्रमपूर्ण, नैतिक जीवन रहा है। उनके आदेश भारतके ग्रामोंको अपनी प्राचीन संस्कृतिकी ओर लौटनेकी प्रबल प्रेरणा देते हैं। उन्होंने अथक उद्योग किये हैं इसके लिये। 'दूसरोंके बदले अपने दोषको देखो! दूसरोंको क्षमा करो। उनकी सेवा करो। उनकी सहायता करो और आवश्यकता पड़नेपर अन्यायको दृढ़तापूर्वक—पर शान्तिसे अस्वीकार कर दो।' बापूका जीवनके लिये यह सजीव सन्देश है।

विश्वको ईश्वर-विश्वास, भगवन्नाम, सत्य, अहिंसा-का प्रशस्त मार्ग दिखानेवाले; जगत्‌के पीड़ित-दलित वर्गको 'सत्याग्रह' का दिव्यास्त्र देकर चैतन्य करनेवाले उन दिव्य पुरुषके प्रत्येक जीवन-कार्य एवं प्रयत्न ही आजके अशान्त जगत्‌को शान्ति दे सकता है, यदि मनुष्य उन्हें सचाईसे स्वीकार करे और अपनाये।—सु०

विपत्तिके मित्र

तुलसी असमयके सखा धीरज धरम बिबेक। साहित साहस सत्यब्रत रामभरोसो एक॥

—श्रीतुलसीदासजी

महामना मालवीयजी

'मैं तो मालवीयजी महाराजका पुजारी हूँ। यौवनकालसे आजतक उनकी देशभक्तिका प्रवाह अविच्छिन्न है। मैं उनको सर्वश्रेष्ठ हिंदू मानता हूँ। वे आचारमें नियमित और विचारमें बड़े उदार हैं। वे किसीसे द्वेष कर ही नहीं सकते। उनके विशाल हृदयमें शत्रु भी समा सकते हैं।' —महात्मा गान्धी

'मैं दावेके साथ कह सकती हूँ कि विभिन्न मतोंके मध्य केवल मालवीयजी महाराज ही भारतीय एकताकी मूर्ति बने खड़े हैं।' —ऐनी बेसेंट

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयका जन्म तीर्थराज प्रयागमें २५ दिसम्बर, सन् १८६१ को हुआ। उनके पूर्वज मालवासे प्रयाग आ बसे थे। उनके पिता श्रीव्रजनाथजी पक्के सनातनधर्मी एवं आस्तिक थे। उनका भगवद्विश्वास अखण्ड था। श्रीमद्भागवतकी कथा या पूजा-पाठ ही आजीविका थी। कोई स्वतः बुला ले जाय तो पण्डितजी चले जाते। धर्मपत्नीके यह कहनेपर घरमें भोजनके लिये कुछ नहीं है, उनका बँधा उत्तर था—'कोई कथा या पूजाके लिये बुलाये, तब कुछ प्रबन्ध हो।' लेकिन दान लेनेके वे इतने विरोधी थे कि उदार पड़ोसियोंकी सहायता भी मालवीयजीकी माता छिपाकर ही स्वीकार करती थीं। ऐसे विशुद्ध आस्तिक माता-पिताका प्रभाव मदनमोहनपर पड़ना ही था। मिर्जापुरके प्रख्यात सनातनी पण्डित श्रीनन्दरामजीकी कन्या कुन्दनदेवीसे मालवीयजीका विवाह हुआ। उनका दाम्पत्य-जीवन बड़ा सुखी व्यतीत हुआ। सती-साध्वी पत्नीने सदा उनका अनुगमन किया।

पूज्य मालवीयजी कट्टर हिंदू थे। हिंदू-सिद्धान्तोंकी उन्हें सजीव मूर्ति कहना चाहिये। आचारमें अत्यन्त संयमी और विचारमें परम उदार—हिंदू-धर्मकी यह विशेषता उनमें बहुत स्पष्ट थी। उनका स्पर्शास्पर्शका विचार इतना पूर्ण था कि बड़े जंकशनोंके प्लेटफार्मपर एक ओर चौका लगाकर स्वयं खिचड़ी बना लेना उनके लिये सामान्य बात थी। मालवीय-परिवारसे बाहर किसीके हाथका कच्चा भोजन वे नहीं करते थे। जब वे गोलमेजपरिषद्में महात्माजीके साथ लंदन गये, उनके साथ गंगाजल, मिट्टी और गौ भारतसे गयी और सब जानते हैं कि लंदनसे लौटनेपर उन्होंने समुद्रयात्राका सविधि प्रायश्चित्त किया था। इतने आचारप्रधान होनेपर भी उनका विचार इतना उदार था कि वे कभी किसी दूसरेपर कोई दबाव देते ही नहीं थे।

पूज्य मालवीयजीका गृह अपने अतिथि-सत्कारके लिये विख्यात था। उनके घरका चूल्हा प्रातः सूर्योदयके साथ जल जाता। कोई किसी समय प्रस्थान करनेवाला हो—जो आया है, उसे तो भोजन करके ही जाना चाहिये। रात्रिके एक बजेतक चौका चलता रहता। अतिथि, ब्राह्मण और गौ—यही तो हिंदूके आराध्य हैं। पूज्य मालवीयजीको लोग ब्राह्मणोंका पक्षपाती कहने लगे थे। वे कहा करते थे—'कोई ब्राह्मण मेरे पास किसी उद्देश्यसे आये और निराश लौटने लगे तो मेरे प्राण उससे पहले चले जाने चाहिये।' प्राणपणसे उन्होंने ब्राह्मणोंकी सेवा की और जीवनके अन्तिम दिनोंमें उनकी एक ही धुन थी—प्रत्येक समर्थ मिलनेवालेसे उस असमर्थ महाप्राणकी एक ही याचना होती थी—'मैं गायोंकी सेवा न कर सका। एक स्थानपर एक गोशालामें एक लाख गायें सुखसे पलें—मेरी यह लालसा रह गयी।' गो-सेवाके लिये, गोचरभूमिके लिये, गोशालाओंके लिये उनका उद्योग कम नहीं था। उनसे किसी सामान्य व्यक्तिने भी गौके नामपर कोई सहायता चाही तो उन्होंने कभी अस्वीकार नहीं किया। उनका कहना था—'प्रत्येक हिंदूके घरमें कम-से-कम एक गाय रहनी ही चाहिये।'

'मैं पुराणोंकी सत्यताके सम्बन्धमें प्रत्येक समय शास्त्रार्थ करनेके लिये तैयार हूँ।' महामनाकी यह घोषणा केवल मौखिक नहीं थी। पुराणोंपर उनकी अगाध श्रद्धा थी। श्रीमद्भागवतका पाठ उनका नियमित रूपसे चलता था। लंदनके अत्यन्त व्यस्त कार्यक्रममें भी उन्होंने अपने पाठमें विराम नहीं पड़ने दिया। उन्हें प्रायः सम्पूर्ण भागवत कण्ठ थी और जब वे गद्गद कण्ठसे भाव समझाते हुए श्रीमद्भागवतके श्लोक पढ़ने लगते थे, उनके दोनों नेत्रोंसे अजस्र अश्रुधारा चलती थी।

'एक साथ एक लाख ब्रह्मचारी एक स्थानपर सस्वर सामगान करें।' यह महत्त्वाकांक्षा थी, जिसने महामनाको काशी हिंदू-विश्वविद्यालयकी स्थापनामें लगाया। विश्वविद्यालय उनकी भारतको अमर भेंट है।

विश्वविद्यालयके लिये कुछ सहायता प्राप्त किये बिना वे भोजन नहीं करते थे। जीवनके अन्तिम वर्षोंतक उनका यह नियम चलता रहा और तभी बंद हुआ, जब वे सर्वथा असमर्थ हो गये।

वृद्धावस्था, रोगशय्या, इतना दुर्बल शरीर कि उठकर बैठना कठिन, श्रवण एवं नेत्रोंमें शक्ति नहीं, कोई बात स्मरण नहीं रहती थी और इस स्थितिमें भी महामना विश्वविद्यालयके गरीब छात्रोंके सहायक पिता थे, दुःखियोंके आश्रय थे, उत्पीड़ितोंके शरणद थे, राष्ट्रिय आन्दोलनके कर्णधारोंके मन्त्रदाता थे। सब उस पितामहके पास उस स्थितिमें भी पहुँच जाते और सन्तुष्ट होकर लौटते।

महामनाको राजनैतिक जीवनके लिये कालाकाँकर-नरेश राजा रामपालसिंहजीसे पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। कालाकाँकरमें ही महामनाके पत्रकार-जीवनका प्रारम्भ हुआ। वहाँसे प्रयाग आनेपर उन्होंने 'अभ्युदय' और 'इंडियन ओपिनियन' का सम्पादन हाथमें लिया। सन् १९३१ में गोलमेजपरिषद्में लंदन जानेसे पूर्व सत्याग्रह-आन्दोलनके वे प्रमुख कर्णधार रहे थे और उनके व्यापक प्रभावके कारण अंग्रेज-सरकारको बहुत सोचना पड़ा था उन्हें केवल कुछ दिनोंके लिये भी बन्दी बनानेके सम्बन्धमें। एकमात्र महामना ही ऐसे राष्ट्रिय कांग्रेसके प्रमुख नेता थे, जिनका प्रभाव देशके प्रत्येक वर्गपर समान रूपसे था। महात्मा गाँधी उन्हें बड़ा भाई कहते थे। राजे-महाराजोंके वे पूज्य थे। धार्मिक जनताके देवता और सम्पन्न वर्गके परम आदरणीय थे। सरकारके उच्च कर्मचारी उनके प्रभावसे परिचित थे और उनका पूरा सम्मान करते थे।

हिंदू-महासभाके तो महामना जन्मदाता थे। हिंदू-संगठन, हिंदू-धर्म उनका प्राण था। उनका सदा एक ही सन्देश था—'प्रत्येक हिंदू-घरमें एक गाय हो। प्रत्येक गाँवमें अखाड़ा हो। प्रत्येक हिंदू युवक बलवान् बने!' लेकिन उनके मनमें द्वेषको स्थान ही नहीं था। वे तो स्पष्ट कहते थे—'विदेशी मत पहनो, यह कहना ही द्वेषमूलक है। हमें तो कहना है—स्वदेशी ही पहनो! जातिगत विद्वेषको उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं दिया।

नोआखालीका वह पैशाचिक हत्याकाण्ड, जराजर्जर, रोगकृश महामनाने वह समाचार सुना और उनका हृदय विद्ध हो गया। वह धक्का सँभाल नहीं सके वे । यह सभी जानते हैं कि नोआखालीकाण्डने ही १२ नवम्बर सन् १९४६ को महामनाका बलिदान लिया। उनके अन्तिम सन्देशमें हिंदू-संगठन, हिंदू-जागरणकी कातर पुकार है। उन्होंने कहा था—'जो हिंदुओंको शान्तिके साथ नहीं रहने देना चाहते, उनके साथ किसी प्रकारकी सहिष्णुता नहीं हो सकती।"""हिंदू-संस्कृति और हिंदू-धर्म खतरेमें हैं। परिस्थिति संकटापन्न है। ऐसा समय आ गया है कि हिंदू एक होकर सेवा तथा सहायताके साधनोंको परिपुष्ट करें।' आज भी उन महापुरुषकी चेतावनी वैसी ही नहीं है—कैसे कहा जा सकता है।

एक सच्चा मानव, एक सच्चा आदर्श हिंदू, एक सच्चा महापुरुष आया और चला गया। भारतके राष्ट्रिय आन्दोलनने उससे बहुत कुछ पाया और बहुत कुछ पाया हिंदू-जातिने; किंतु यदि राष्ट्रके कर्णधार और हिंदू एक होकर उसके आदर्शको स्वीकार कर लेते, भारत सचमुच ऋषियोंका भारत हो जाता। हिंदू-संस्कृति पुनर्जीवन प्राप्त कर लेती; क्योंकि महामना स्वयं हिंदू-संस्कृति, सादगी, सदाचार एवं आदर्शकी जीवित प्रतिमा थे।

वन्द्य मालवीय! तुम्हें भूल न सकेंगे हम, दीनदुखियोंके सुखदायक तुम्हीं रहे।
पुरुष अनेक पुरुषोत्तम तुम्हीं थे एक, शर[1] है असंख्य किंतु सायक[2] तुम्हीं रहे॥
विश्वबन्धुताके गीत-गायक बहुत, पर सबके सुहृद, सब लायक तुम्हीं रहे।
होते जगतीमें जन-नायक अनेक, किंतु हिंदुओंके एक ही सहायक तुम्हीं रहे॥ (राम')

—रा०श्री०

---

१. सरकंडे। २. लक्ष्य बींधनेवाला बाण।

भारत-जननि

(रचयिता—श्रीशत्रुदमनप्रसादनारायण शर्मा, बी० ए०, एल-एल० बी०, विशारद)

शार्दूल-विक्रीडित छन्द

(१)

तू रत्नाकर-चीर-मण्डितशुभा गुह्य-त्रपा-रक्षिणी।
मातः कूट-पयोधरा प्रसवती गंगा-सुधा-धार तू॥
तू है हैम-किरीट-शोभित-शिखा आपूर्ण-धान्याज्ज्वला।
नाना-रत्न-मणि-प्रवाल-बहुला मातान्नपूर्णेश्वरि!

(२)

हे सूर्य्याग्नि-सुधाधर-त्रिनयने, पद्मासने, स्वानने!
शुभ्राकाश किरन्वितान तुझ पै है कीर्त्तनोंसे भरा॥
हैं सारे वन-देश-केश विलसे पुष्प-द्रुमोंसे गुँथे।
गंगा और सरस्वती रविसुता दीर्घा त्रिवेणी बनीं॥

(३)

क्या ही श्रीनगरी शुभा विलसती भूषा ललाट-स्थिता।
सौम्या तक्षशिला सु-पुष्करवती हैं भद्र कर्णेन्द्रियाँ॥
इन्द्रप्रस्थ बना त्वदीय मुख है, ऐश्वर्यका केन्द्र जो।
है कण्ठस्थल तीर्थराज, जिसमें थे वेद गाये गए॥

(४)

काशी नाभि बनी महर्घ-वसना आनन्द-चित्कानना।
औ यों दक्षिण-उत्तरा पथ बने तेरे भुजा-नाल हैं॥
बंग-प्रान्त, बिहार वक्रगतितः पद्मासनोपाङ्ग हैं
हे सर्वावयवे, प्रहृष्ट-वदने, कल्याण-संवर्द्धिके॥

(५)

सारी दिग्वधुएँ, अभीष्ट-वरदे! संकीर्तिमें हैं लगी।
सारे दिक्पति भी दशोपचरणोंसे अर्चनामें लगे॥
पञ्चोपासन पञ्चभूत करते कर्मेन्द्रियोत्सर्गतः।
भव्ये भारत-भूति भागवति! तू है भास्वती भारती॥

(६)

तेरे दिव्य अमूल्य दुग्ध-कणमें श्रीविष्णु-ब्रह्मेश हैं।
हैं देवर्षि, सुपद्म, शेष विलसे क्षीरोदमें मग्न हो॥
हैं वीणा-वर-दण्ड-मण्डित-करा वाणी बनी वाङ्मयी।
रुद्राणी शिव-शक्ति साधन-परा, रामा रमा हैं रमी॥

(७)

तेरे सौम्य शुभाङ्कमें पल चुके श्रीराम, श्रीकृष्ण हैं।
श्रीसीता, वृषभानुजा कर चुकी हैं भूमिकाएँ यहाँ॥
शुभ्रोध्या-व्रज-मध्य संस्करण हैं तेरे शुभादर्शके,
जो अद्यापि सचेत-से कर रहे सत्प्राण निष्प्राणके॥

(८)

तेरे ही जल-वायुमें प्रथमतः सद्ज्ञानकी ज्योतिमें—
दूर्वा-संस्कृति-वाटिका कलन-ती वासन्तिकोल्लाससे॥
तू ही प्राक्तन सभ्यता-प्रजननी अध्यात्म-भावान्विता।
है सीमा-प्रतिमुक्त तू विहरती भू-स्वर्ग-संस्कारिका॥

(९)

द्रुत-विलम्बित छन्द

जननि! जीवन दे, जय-दायिनि!
सुकृत-भाग्य-समुन्नति-दायिनि ।
स्तुति करूँ किस भाँति, न जानता;
कर रहा नति अर्पित पादमें॥

संस्कृतिके रक्षण और प्रसारमें बाधक तीन महाभ्रम

पाश्चात्त्य विद्वानोंने अज्ञानसे, मतिभ्रमसे, किसी कुटिल अभिसन्धिसे या अन्य किसी भी कारणसे हो—इन तीन महाभ्रमोंका प्रतिपादन, प्रचार और प्रसार किया—

(१)यहाँ आर्यजाति बाहरसे आयी है। भारतवर्ष उसका मूल निवास-स्थान नहीं है।

(२)चार हजार वर्षसे पहलेका कोई इतिहास नहीं है।

(३)जगत्में उत्तरोत्तर विकास—उन्नति हो रही है और भारतीय विद्वानोंके मस्तिष्कमें भी अधिकांशमें ये तीनों बातें प्रवेश कर गयीं। काल-प्रभावसे या दैवसंयोगसे उन्हीं विद्वानोंका सभी क्षेत्रोंमें प्रभाव बढ़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि जनतामें उत्तरोत्तर इन तीनों महाभ्रमोंका विस्तार होने लगा। इसीका यह फल है कि आज भारतीय लोगोंकी अपनी संस्कृति, अपने धर्म, अपने पूर्वज, अपने महाभारत-रामायणादि प्राचीन इतिहास, अपने धर्मग्रन्थों,—श्रुति-स्मृति और पुराण-ग्रन्थोंपर अवहेलना, अश्रद्धा और अनास्था बढ़ रही है!

हमलोग जब बाहरसे आये हुए हैं, तब यहाँकी भूमिपर हमारा कोई ममत्व क्यों होना चाहिये। यद्यपि आजके जगत्की देशभक्तिके प्रचारसे भारतवर्षको इस समय लोग अपनी जन्म-भूमि मानते हैं और इसके साथ अपनत्व भी है; परंतु जबतक इसे पूर्वजोंकी पवित्र पितृभूमि नहीं मानते, तबतक भावमें उतनी उच्चता नहीं आ सकती।

चार हजार वर्ष पहलेका कोई इतिहास नहीं, इसका परिणाम हुआ कि हमारे वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण—सभी चार हजार वर्षके अंदर-अंदर बने हुए माने जाने लगे और इनमें केवल कवि-कल्पनाकी भावना होने लगी। पूर्वजोंके सच्चे गुण-गौरव कल्पनाकी आँधीमें उड़ गये। काल छोटी-सी संकुचित सीमामें आबद्ध होकर हमारा विशाल ज्ञानभण्डार और गौरवपूर्ण अतीत सर्वथा निष्प्रभ और व्यर्थ हो गया।

तीसरे भ्रमने तो बहुत बड़ा अनर्थ किया। सृष्टिके आदिकालसे जगत्में उत्तरोत्तर विकास हो रहा है—इस मान्यताने अतीतके ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, सदाचार, आचार-विचार, बुद्धि-विवेक, शौर्य-वीर्य, त्याग-तपस्या, वैभव-ऐश्वर्य और भाव-प्रभाव—सभीपर पानी फेर दिया। आज जितनी उन्नति है, उतनी दस हजार वर्ष पहले नहीं थी; दस हजार वर्ष पहले जितनी थी, उतनी लाख वर्ष पहले नहीं थी। लाख वर्ष पहले जितनी थी, उतनी करोड़ वर्ष पहले नहीं थी। भ्रम तो यहाँतक फैलाया जा रहा था कि सृष्टिकी उम्र ही केवल चार-पाँच हजार वर्षकी है; परन्तु वह भ्रम तो अब टिक नहीं सका। इसलिये उसको तो लोग छोड़ रहे हैं, पर इस विकासवादका महाभ्रम अभी बड़े-बड़े मस्तिष्कोंमें भरा है।

इन तीन भ्रमोंने हम भारतवासियोंको सहज परमुखापेक्षी और परानुकरणपरायण बना दिया है। इसीका एक ताजा उदाहरण हमारा 'नवविधान' है। इसमें आदिसे अन्ततक केवल विदेशीय विधानोंका आश्रय लिया गया है, अपने प्राचीन ग्रन्थोंमें शासन और राजनीतिपर जो विशद विचार किया गया है उसकी ओर देखा भी नहीं गया। इन्हीं भ्रमोंके कारण बाहरसे स्वराज्य मिल जानेपर भी हमारा मस्तिष्क अब भी परतन्त्र है। नीयत बुरी न होनेपर भी और अपने प्राचीन गौरवकी बातें प्रिय लगनेपर भी हमें यह विश्वास नहीं होता कि आजके जगत्की अपेक्षा हमारा प्राचीन जीवन बहुत उन्नत था और हमारा ज्ञानभण्डार बहुमूल्य रत्नोंसे भरा था। आज भी खोज करनेपर उसमें ऐसे-ऐसे रत्न मिल सकते हैं, जिनकी अन्यान्य उन्नत कहानेवाले देशोंको कल्पना भी नहीं है। यह अविश्वास इसीलिये है कि हमारे मनमें यह बात दृढ़ताके साथ जँच गयी है कि जगत्में उत्तरोत्तर उन्नति हो रही है। आज जितनी उन्नति है, उतनी उन्नति पहले कभी थी ही नहीं। इसीलिये हम प्रत्येक विषयमें आजकी उन्नतिकी नकल करना चाहते हैं। यह घोर आत्मविस्मृति बड़ी ही बुरी है और इसीके कारण हमारे मस्तिष्कमें परतन्त्रताके विचारोंने अपना एक सुरक्षित स्थान बना लिया है।

भारतवासियोंको गम्भीर विचार करके अपने ज्ञानके प्रकाशसे इन तीनों भ्रमोंके अन्धकारका नाश कर देना चाहिये—नहीं तो उन्नतिके नामपर अवनतिकी प्रबल धारामें बहते जाना रुकेगा ही नहीं।

हिंदू-संस्कृति अध्यात्मप्रधान है

प्रधान लक्ष्य भगवत्प्राप्ति

जीवनके सभी क्षेत्रोंमें व्याप्त सनातन परम्परासे चली आती हुई अध्यात्मप्रधान धर्ममय सुसंस्कृत 'विचार और आचारप्रणाली' का नाम ही हिंदू-संस्कृति है। हिंदू-संस्कृतिकी यह निर्मल धारा अत्यन्त प्राचीनकालसे अविच्छिन्नरूपमें प्रवाहित है। अतएव हिंदू-संस्कृति सबसे प्राचीन और अपरिवर्तनीय सनातन भारतीय आर्य संस्कृति है, यही वास्तवमें मानव-संस्कृति है। इस संस्कृतिमें मनुष्य-जीवनका प्रधान और एकमात्र लक्ष्य है—मोक्ष, ज्ञान या भगवत्प्राप्ति। इसीसे इसमें जीवनकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टा इसी लक्ष्यपर ध्यान रखकर की जाती है। इसीलिये हमारे पुरुषार्थ-चतुष्टयमें अन्तिम स्थान मोक्षको दिया गया है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। सारांश यह कि हमारा अर्थ और काम (उपभोग) धर्मके द्वारा संयमित-नियमित होता है। धर्मरहित अर्थ और धर्मरहित उपभोग(काम) महान् अनर्थ उत्पन्न करके मनुष्यका विनाश कर देते हैं। रावण, वेन, कंस, दुर्योधन आदि इसके उदाहरण हैं। केवल 'अर्थ' और 'काम' से युक्त जीवन तो पशु-जीवन है। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि 'जब धर्म लुप्त हो जाता है, तब अर्थ और काममें फँसे हुए लोग कुत्तों और बंदरोंके समान वर्णसंकर हो जाते हैं।'[१] हिंदू-संस्कृतिमें अर्थ तथा कामका त्याग नहीं है। उनकी भी उपादेयता है, पर वे होने चाहिये धर्मके आश्रित। वाल्मीकीय रामायणमें भगवान् श्रीरामजी लक्ष्मणजीसे कहते हैं—

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा॥
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसन्निविष्टा
धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥

(अयोध्या० २१। ५६-५७)

'धर्मके फलस्वरूप सुख-सौभाग्यादिकी प्राप्तिमें जो धर्म'अर्थ, काम उपाय माने गये हैं, वे तीनों एक धर्ममें वर्तमान हैं। धर्मके अनुष्ठानसे इन तीनोंकी सिद्धि होती है, इसमें मुझे सन्देह नहीं है—जैसे पतिके अधीन रहनेवाली भार्या अतिथि-पूजनादि धर्ममें, मनोऽनुकूल होनेसे काममें और सुपुत्रवती होकर अर्थमें सहायिका होती है। जिस कर्ममें धर्म, अर्थ, काम—तीनों सन्निविष्ट न हों, पर जिससे धर्म बनता हो, वही कर्म करना चाहिये। धर्मको छोड़कर अर्थपरायण रहनेवालेसे लोग द्वेष करने लगते हैं और ऐसे ही कामात्मता भी प्रशंसाकी बात नहीं है।'

मनु महाराज कहते हैं कि जो अर्थ और काम धर्मके विरोधी हों, उन अर्थ और कामका त्याग कर देना चाहिये—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।

(४। १७६)

और धर्म—परम धर्म वस्तुतः वही है, जो मनुष्यकी जीवनधाराका मुख श्रीभगवान्‌की ओर मोड़ दे तथा जिससे अविराम गतिसे बिना किंचित् भी इधर-उधर भटके जीवनप्रवाह निरन्तर समुद्रकी ओर बहनेवाली गंगाजीकी धाराके सदृश उसी दिशामें बहता रहे[२]—

मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ।

इसी प्रकार भगवान्‌के निमित्त किये जानेवाले आसक्तिशून्य धर्मयुक्त कर्मोंका फल बन्धनमुक्ति, दिव्यलोकोंकी प्राप्ति, परमात्मरूप परम स्वातन्त्र्य (मोक्ष)-की प्राप्ति एवं शाश्वत शान्तिकी उपलब्धि होती है[३]। वेदमें कहा गया है—

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

१- तदाऽऽर्यधर्मश्च विलीयते नृणां वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः। ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां शुनां कपीनामिव वर्णसंकरः॥ (श्रीमद्भा०१।१८।४५)

२- स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥ (श्रीमद्भा० १। २ ।६)
'मनुष्योंके लिये सबसे बढ़कर परम धर्म वही है, जिससे श्रीभगवान्‌में अहैतुकी और कभी न टूटनेवाली भक्ति हो। ऐसी भक्तिसे सच्चिदानन्द परमात्माकी उपलब्धि करके वह कृतकृत्य हो जाता है।'

३- धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः। लोकान् विशोकान् वितरत्यथानन्त्यमसंगिनाम्॥ (श्रीमद्भा० ४।१४।१५)
'मनुष्य यदि मन, वाणी, शरीर और बुद्धिसे धर्मका आचरण करे तो वह धर्म उन्हें शोकरहित दिव्यलोक प्रदान करता है तथा यदि धर्म करनेवाले पुरुष स्वर्गादि लोकोंके भोगोंमें आसक्त न हो तो वही धर्म उन्हें मोक्षकी प्राप्ति करवा देता है।'

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(शुक्ल यजुर्वेद ४०।१-२)

'अखिल विश्वमें जो कुछ भी जड-चेतन जगत् है, यह सब ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरको साथ रखते हुए, त्यागपूर्वक भोगते रहो। इसमें आसक्त मत होओ। किसीके भी धनकी इच्छा मत करो। इस जगत्में इस प्रकार ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म करते हुए सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करो। यों त्यागभावसे किये गये कर्म तुझ मनुष्यमें लिप्त नहीं होंगे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।'

श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

(३।९)

'यज्ञ (भगवान्) के निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य कर्मोंसे बन्धनको प्राप्त होता है। अतएव अर्जुन! तुम आसक्ति-रहित होकर उस यज्ञ(भगवान्)-के लिये ही भलीभाँति कर्म करो।'

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

(११।२।३६)

'शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे अनेक जन्मों अथवा एक जन्मके स्वभाववश जो कुछ भी करे, सब परमपुरुष भगवान् श्रीनारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे।'

भगवान्ने गीतामें स्वयं समर्पणकी आज्ञा की है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(९।२७)

'अर्जुन! तुम जो कर्म करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान देते हो और जो तप करते हो, वह सब मेरे अर्पण करो।'

इस अर्पणका फल भी भगवान् वहीं बतलाते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(९।२८)

'इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्में अर्पण हो जाते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाले तुम शुभाशुभरूप कर्मबन्धनसे छूट जाओगे और उनसे छूटकर मुझको प्राप्त होओगे।'

हिंदू-संस्कृतिका प्रधान और मूल स्वरूप यही है। यह संस्कृति जीवको विषयासक्तिके नीचे स्तरसे उठाकर अध्यात्मके उच्च स्तरपर ले जाती है। इसका प्रत्येक साधन, विचार और कर्म आत्माको परमात्मातक पहुँचानेमें सहायक होता है।

धर्म और समवितरण

मोक्ष जीवनका ध्येय है। इसीलिये हिंदू-संस्कृतिमें धर्मके साथ जीवनका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। छोटे-से-छोटे कर्मसे लेकर बड़े-से-बड़े कर्ममें धर्म सदा संलग्न है। परम धर्म तो भगवान्की भक्ति ही है। पर उसके साथ कुछ ऐसे लक्षण धर्मके बतलाये गये हैं, जो सभीके लिये परम उपादेय हैं। श्रीमनुमहाराज कहते हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(२।१२)

जो वेद और स्मृतिके द्वारा प्रतिपादित, सत्पुरुषोंके द्वारा आचरित और अपनेको प्रिय लगनेवाला हो*—ऐसा चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण बतलाया गया है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६।९२)

'धृति, क्षमा, दम (मनका संयम), अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी(विज्ञान), विद्या (अध्यात्मविद्या), सत्य

* अपनेको प्रिय लगे, वैसा ही आचरण दूसरोंके प्रति करे। अपनेको सम्मान, प्रेम, हित, द्वेष-दम्भरहित सद्व्यवहार प्रिय लगता है, तो दूसरोंके साथ भी वैसा ही करना चाहिये। महाभारतमें आया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

धर्मका सर्वस्व— सार सुनना और उसे धारण करना चाहिये। जो कुछ भी अपनेसे प्रतिकूल हो, दूसरोंके साथ भी वैसा व्यवहार न करे।

और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं।'

'श्रीमद्भागवतमें इस मानवधर्मको तीस लक्षणोंसे बतलाया गया है—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥

(७।११।८—१२)

सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, निष्कपटता, सन्तोष, समदृष्टि, महापुरुषोंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे निवृत्ति, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंका फल विपरीत होता है—ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, अन्न आदि पदार्थोंका प्राणियोंमें यथायोग्य विभाजन, उन सभी प्राणियोंको—विशेष करके मनुष्योंको अपना आत्मा और इष्टदेव ही समझना, संतोंकी परमगति, भगवान्‌के गुण-माहात्म्यादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—यह सभी मनुष्योंके लिये परम धर्म है। इस तीस लक्षणवाले धर्मके पालनसे सबके आत्मारूप भगवान् प्रसन्न होते हैं।

इन लक्षणोंपर विचार करके देखिये। जिस संस्कृतिमें धर्मके ये लक्षण हों, उससे जगत्‌का कोई भी प्राणी कैसे दुःखी हो सकता है। मनुष्यमें ही नहीं, प्राणीमात्रमें आत्मबुद्धि या इष्टदेवबुद्धि रखना और अन्नादि पदार्थोंका सबमें समान भावसे यथायोग्य विभाग कर देना—इससे बढ़कर समवितरण और क्या हो सकता है?

श्रीभगवान्‌ने गीतामें तो यहाँतक कह दिया है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३।१३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष समस्त पापोंसे छूट जाते हैं; पर जो पापी मनुष्य अपने शरीर-पोषणके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो (अन्नकी जगह)पाप ही खाते हैं।'

इसीसे हिंदू-घरमें नित्य पञ्चमहायज्ञ होता है। संसारमें पाँच प्रकारके प्राणी हैं और उनके परस्पर सहयोगसे सबकी पुष्टि-तुष्टि और संरक्षण-संवर्धन होता है। ये पाँच हैं—देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और इतर समस्त प्राणी। देवताओंसे (भूमि, जल, सूर्य, चन्द्रमा आदिके द्वारा)संसारको इष्टभोग प्राप्त होते हैं। ऋषि-महर्षियोंसे ज्ञान मिलता है, पितरोंसे भरण-पोषण और परम हितकी सद्भावना प्राप्त होती है। मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके द्वारा एक-दूसरेकी सेवा करते हैं एवं पशु, पक्षी, वृक्ष-लतादि सबके सुखके लिये सदा अपनेको अर्पण किये रहते हैं। इन पाँचोंमें मनुष्य विशेषरूपसे योग्य और साधनसम्पन्न है। इसीलिये मनुष्यपर सबकी पुष्टिका दायित्व है। कर्मका उसीको अधिकार है। अतः मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ उपार्जन करे, उसमें सबका भाग समझे; क्योंकि वह सभीके सहयोगसे कमाता-खाता है—जीवन-यापन करता है। इसीसे यज्ञसे बचे हुए अन्नको अर्थात् इन पाँचोंके अपने-अपने भागोंको देनेके बाद जो बच रहता है, उस अन्नको जो खाता है, वह 'अमृत' खाता है। पर जो कमाईमेंसे दूसरोंका उचित भाग उन्हें न देकर सब अकेला हड़प जाता है, वह पाप खाता है।

आजकल कुछ लोग कहा करते हैं कि "हम तो इसीलिये 'साम्यवाद' चाहते हैं कि लोगोंको रोटी-कपड़ा मिले। हिंदू-संस्कृतिमें इस रोटी-कपड़ेकी कोई व्यवस्था नहीं है।" पर ऐसा कहनेवाले हिंदू-संस्कृतिके स्वरूपसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। असल बात तो यह है कि रोटी-कपड़ेकी जैसी व्यवस्था हिंदू-संस्कृतिमें है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं है। अन्य स्थानोंमें कहीं कुछ अधूरी व्यवस्था है तो वह किसी देश-विशेषकी सीमामें ही अवरुद्ध है। वह भी केवल मनुष्योंके लिये और उन मनुष्योंके लिये है, जो अपने मतके हैं। परन्तु हिंदू-संस्कृतिमें यह व्यवस्था प्राणिमात्रके लिये है। यहाँ तो प्रत्येक जीवको भगवान् मानकर उसकी सेवा करनेका आदेश है।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

व्यवहारमें सबसे अधिक ममत्वका व्यवहार सन्तानके प्रति होता है। देवर्षि नारदजी धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत्॥

(श्रीमद्भा० ७।१४।९)

'हरिन, ऊँट, गधा, बंदर, चूहा, साँप, पक्षी और मक्खी आदिको अपने निज पुत्रके समान समझे। उनमें और पुत्रोंमें अन्तर ही कितना है।'

कितनी उदार संस्कृति है यह, जिसमें प्राणिमात्रको अभयदान ही नहीं, सच्चा स्नेहदान है और सबके लिये यथायोग्य वितरणकी सुव्यवस्था है। आजकल तो 'अधिक अन्न उपजाओ' की तरंगमें बंदर, हरिण और नीलगाय-जैसे पशुओंके सामूहिक संहारकी राक्षसी व्यवस्था हो रही है। आजका स्वार्थी मनुष्य किस स्तरपर आ गया है! आश्चर्य यह कि इन बन्दरमार लोगोंको प्राणिमात्रको आश्रय देनेवाली समतासम्पन्न उदार हिंदू-संस्कृतिमें साम्प्रदायिकताकी बू आती है। और इसकी निन्दा करनेमें उन्हें सुख मिलता है!!

समता

यह अवश्य है कि हिंदू-संस्कृतिमें समता विवेकपूर्ण है। हिंदू इस बातको जानते हैं कि समता आत्मामें होती है, शरीरके व्यवहारमें नहीं होती। हिंदू दार्शनिकोंका यह अनुभव है कि सृष्टिकी स्थिति प्रकृतिकी विषमतामें ही है। जहाँ प्रकृतिका वैषम्य मिट जाता है, वहाँ जगत्का अस्तित्व ही लोप हो जाता है। वह तो महाप्रलयकी अवस्था है, जिसमें प्रकृति देवी परमात्माके अंदर प्रविष्ट होकर सो जाती है।

इसीलिये हिंदू विद्वान् जिन जीवोंके आकार-प्रकार, खान-पान, व्यवहार-बर्तावमें कभी समता हो ही नहीं सकती, उनमें भी ब्रह्म—परमात्माको समभावसे विराजित देखते हैं। भगवान् कहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५।१८)

'वे पण्डितजन विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मणमें, चाण्डालमें तथा गौ, हाथी और कुत्तेमें भी समदर्शी होते हैं।'

यहाँ कोई कह सकते हैं—'ब्राह्मण और चाण्डाल—दोनों ही मनुष्य हैं। इनमें समदर्शन ही क्यों, समान व्यवहार भी हो सकता है।'(यद्यपि यह संभव नहीं)उनसे यह कहना है कि मनुष्यकी बात तो ठीक है—पर गाय, हाथी, कुत्तेके साथ भी क्या सम व्यवहारकी बात कभी सोची जा सकती है? गौका दूध लोग चावसे पीते हैं, कुतियाका कोई नहीं पीता; हाथीकी सवारीमें गौरव माना जाता है, कुत्तेकी सवारी कोई नहीं करना चाहता। हाथी जितना खाता है, कुत्ता उतनेसे दबकर मर जा सकता है। हाथी, कुत्ते और गायके आकार-प्रकारमें भी बड़ा भेद है। इस अवस्थामें इनमें सम-व्यवहारकी बात कहना पागलपन मात्र है। पर व्यवहारमें विषमता होते हुए भी प्राणिमात्रमें एक ही आत्मा—एक ही भगवान् सदा विराज रहे हैं, इस बातको हिंदू देखता है। वह ब्राह्मणके साथ ब्राह्मणोचित, चाण्डालके साथ चाण्डालोचित तथा गौ, हाथी और कुत्तेके साथ उनके योग्य व्यवहार करता है; परन्तु उनमें नित्य एक ही परमात्माको देखनेके कारण किसीके साथ असद्व्यवहार नहीं करता और न व्यवहारकी विषमतासे उसके प्रेम और परमात्मभावमें ही न्यूनता आती है।

जिस प्रकार अपने मस्तक, हाथ, पैर आदि अंगोंमें आत्मभाव समान होनेके कारण मनुष्य उनके व्यवहारमें भेद रखता है—मस्तिष्कसे विचार करता है, मुँहसे खाता और बोलता है, हाथोंसे आदान-प्रदान करता, लिखता-पढ़ता है और पैरोंसे चलता है। एक अंगसे दूसरे अंगका काम नहीं लेता; क्योंकि वह जानता है कि यह संभव ही नहीं है। परन्तु सबके सुख-दुःखका समान रूपसे अनुभव करता है और समस्त शरीरमें समान प्रेम करता है। उसी प्रकार व्यवहारमें भेद रखता हुआ भी हिंदू प्रत्येक प्राणीके साथ आत्माके नाते सदा समभावापन्न रहता है और वह जैसे अपने योगक्षेम तथा कल्याणके लिये प्रयत्न करता है, वैसे ही अन्यान्य जीवोंके लिये भी करता है।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

'अर्जुन! जो योगी अपनी ही तरह समस्त भूतोंमें सम(आत्माको) देखता है और सुख या दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह परम श्रेष्ठ योगी माना गया है।'

यदि कहीं किसीके साथ कभी व्यवहारमें युद्धादि-जैसी क्रूर क्रिया करनी पड़ती है तो वैसे ही जैसे मनुष्य अपने किसी सड़े अंगका विकार निकालनेके लिये शस्त्रक्रिया (ऑपरेशन)कराता है। गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनको स्थान-स्थानपर युद्धके लिये आज्ञा दी है। पर साथ ही यह कहा है कि राज्यकी आशासे, कामनासे, आसक्तिसे और अहंकारके वशमें होकर युद्ध न करो। युद्ध करो मेरी आज्ञा मानकर, मेरे लिये, मेरी प्रसन्नताके लिये, मेरा कर्म मानकर। ऐसे विकट कर्ममें भी न आसक्ति रहे, न किसीके साथ वैर रहे—रहे केवल भगवत्परायणता, भगवद्भक्ति और भगवत्कर्म। इसीका नाम अनन्य भक्ति है। इसीसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है।[१]

यह हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है कि इसमें विषमतामें समता देखनेका तथा क्रूर कर्मोंमें भी अनासक्त और निर्वैर रहकर उन्हें भगवत्कर्म बनाने एवं उनमें भक्ति और परायणताका संयोग करनेका कौशल प्राप्त है।

व्यावहारिक अनेकतामें तात्त्विक एकता और प्रकृतिजनित जगत्‌की विषमतामें परमात्माकी नित्य समता देखना हिंदू-संस्कृतिकी विशेषता है। इसी संस्कृतिमें यह अनुभव करके बतलाया गया है कि यह सारा जगत् एक ही भगवान्‌से निकला है, उन्हींमें स्थित है और उन्हींमें समाता है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् ब्रह्म—

(तैत्तिरीय० ३। १)

एवं इस सर्वगत परमात्माकी अपने-अपने कर्मोंके द्वारा पूजा करके मनुष्य-जीवनकी परम और चरम सफलताको प्राप्त कर सकता है।[२]

वर्णधर्म

अपने-अपने कर्मोंके अनुसार भगवान्‌के विधानसे जीवको जिस वर्णमें (या जिस योनिमें) जन्म ग्रहण करना पड़ता है, उसके जो स्वाभाविक कर्म हैं, वही उसके 'अपने कर्म'(स्वकर्म) हैं। यही वर्णधर्म है। वर्णधर्ममें सबके लिये पृथक्-पृथक् रूपसे कर्म नियत हैं। वर्णधर्मके अनुसार जिस वर्ण या जातिकी जो पैतृक आजीविका है, उसीको अपनाकर उसीमें सन्तुष्ट रहना और उससे जो कुछ उपार्जन हो, उसको यथायोग्य रीतिसे समाजमें वितरण कर देना उसका कर्तव्य है। जन्मसे ही वृत्ति नियत होनेसे न तो किसीमें कभी प्रतिस्पर्धाका भाव आता है, न कोई किसीकी वृत्ति छीननेका प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त, वंशपरम्परासे आजीविकाके जो साधन चले आते हैं, स्वाभाविक ही उनमें उस वंशके लोग निपुण हो जाते हैं। उनके रक्त-मांसमें उसके भाव भरे रहते हैं। इससे उनका कार्य बहुत सुन्दर और सुचारुरूपसे सम्पन्न होता है।

वर्णोंमें न तो आत्माकी दृष्टिसे कोई भेद है और न कर्मभेदसे उनमें कोई छोटा-बड़ा है। अपने-अपने स्थानपर सभीका समान महत्त्व है। सभी अन्योन्याश्रित हैं, एक-दूसरेके पूरक और सहायक हैं तथा सभीकी अपने-अपने स्थानपर विशिष्ट उपयोगिता है। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबल तथा श्रमबलसे गौरवशाली है। यही इनका स्वधर्म है। इनकी उत्पत्ति भी एक ही भगवान्‌के दिव्य शरीरसे हुई है। ब्राह्मणकी भगवान्‌के श्रीमुखसे, क्षत्रियकी बाहुसे, वैश्यकी ऊरुसे और शूद्रकी चरणोंसे हुई है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋग्वेद १०। ९०। १२)

ये सब अपने-अपने कर्मका सुचारुरूपसे सम्पादन करते रहें तो जन्मान्तरमें वे उच्च वर्णके होते हैं। जैसे नाटक-मण्डलीमें किसी अभिनेताके द्वारा अपने जिम्मेका अभिनय सफलताके साथ सम्पन्न किये जानेपर उसे दूसरे श्रेष्ठ पात्रका अभिनय मिल जाता है, वैसे ही इस जगन्नाटकमें सफल अभिनेताको जन्मान्तरमें उच्च वर्णकी प्राप्ति होती है।

कर्म और पुनर्जन्म

हिंदू-संस्कृतिमें 'कर्म' और 'पुनर्जन्म' का सिद्धान्त अनुभव-सिद्धरूपसे मान्य है। कर्मका फल अवश्य भोगना

१-मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ (गीता ११। ५५)

अर्जुन! जो पुरुष मेरे ही लिये कर्म करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है, समस्त प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह (अनन्य भक्तियुक्त पुरुष)मुझ (भगवान्) को ही प्राप्त होता है।

२-यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ (गीता १८। ४६)

जिस (परमेश्वर)-से सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जो इस समस्त जगत्‌में व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।

पड़ता है और कर्मानुसार जन्मान्तरकी प्राप्ति होती रहती है एवं जबतक भगवत्प्राप्ति या मुक्ति नहीं हो जाती, तबतक यह जन्म-मरणका प्रवाह चलता ही रहता है। मरनेपर कर्मानुसार जीव आतिवाहिक देह प्राप्त करके तेज:प्रधान देव-देहसे स्वर्गादि लोकोंमें अथवा वायुप्रधान पितृ-प्रेतादि-देहसे पितृ-प्रेत-लोकोंमें जाता है; परंतु इसके सिद्धान्तमें अनन्तकालीन स्वर्ग या नरक नहीं है। स्वर्ग या नरकादिके सुख-दु:ख भोगकर जीव पुन: अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेता है।

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है और फलमें परतन्त्र है। निषिद्ध कर्माचरणसे अन्धकारमय दु:खप्रद नरकादि लोक और नीच पशु-पक्षी आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं और पवित्र वैध कर्मोंके फलस्वरूप सुखमय स्वर्गादि लोक और उत्तम श्रेष्ठ वर्णकी मानव-योनि प्राप्त होती है। छान्दोग्योपनिषद्‌में कहा है—

रमणीयचरणाः""""रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा""कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।

(५।१०।७)

'उन जीवोंमें जो अच्छे आचरणवाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं। वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं तथा जो अशुभ आचरणवाले होते हैं, वे तत्काल अशुभयोनिको प्राप्त होते हैं। वे कुत्तेकी योनि, शूकरयोनि या चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं।'

आश्रम-धर्म

वर्णव्यवस्थाकी भाँति ही हिंदू-संस्कृतिमें आश्रमव्यवस्था है। हिंदू-संस्कृतिका साध्य त्याग है, भोग नहीं। संसारके तुच्छ, अल्प, सीमित और दु:खमिश्रित भोगोंमें आसक्ति न रखकर जीवनको त्यागमय बनाना इसमें महत्त्वकी बात मानी जाती है। हिंदू-संस्कृतिमें स्वाभाविक ही भोगीकी अपेक्षा त्यागीका स्थान ऊँचा है। महान् सम्राट् भी त्यागी महात्माओंकी चरणधूलि सिरपर चढ़ानेमें अपना सौभाग्य समझता है। किसके पास कितना अधिक धन-ऐश्वर्य है, इसका कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व है इस बातका कि कौन कितना बड़ा त्यागी है। पाश्चात्त्योंके संगसे जबसे भारतने इस त्यागके महत्त्वको भुलाया और अपनी संस्कृतिके सिद्धान्तोंके विरुद्ध भोगैश्वर्यके पीछे पागल हुआ, तभीसे जीवनका लक्ष्य मानकर उसकी दृष्टि केवल अर्थ और अधिकारपर टिकने लगी और तभीसे अनाचार, दुराचार, चोरी, छल, कपट, चोर-बाजारी, रिश्वतखोरी आदि दोष आ गये और ये तबतक नहीं मिट सकेंगे, जबतक कि त्यागकी महत्ताका यथार्थ अनुभव न हो जायगा।

हमारे आश्रमधर्ममें आरम्भसे ही त्यागकी शिक्षा दी जाती है। 'ब्रह्मचर्याश्रम' में राजकुमार भी गुरुकुलमें उसी रूपसे रहता है, जिस रूपमें एक निर्धनका बालक और नियमत: ही वहाँ समस्त विलास-सामग्रियोंका—ऐन्द्रिय सुखोपभोगोंका त्याग और मन-इन्द्रियका संयम रखना पड़ता है। त्यागकी इस प्रथम घाटीको पार करके वह 'गृहस्थाश्रम' में आता है, यहाँ उसे भोगोंमें रहकर त्यागी बनना पड़ता है। धन कमाता है पर अपने लिये नहीं, सारे समाजके लिये, विश्वके लिये—भगवान्‌के लिये। पुत्रोत्पादन करता है, पर अपने लिये नहीं, समाजके लिये, धर्मके लिये, भगवान्‌के लिये। वह संयमी और जितेन्द्रिय होता है। वह सारे समाजका सेवक होता है। तीनों आश्रमोंका और प्राणिमात्रका आश्रय होता है।* सबकी सेवा करके प्रसादरूपसे जो प्राप्त होता है, उसीको अमृतरूप जानकर वह अपना काम चलाता है। इस आश्रममें जीवनका एक महान् उत्तरदायित्वयुक्त कर्मपूर्ण अंश बिताकर और अपने सुयोग्य त्यागभावापन्न उत्तराधिकारीपर घरका भार सौंपकर त्यागके पथमें और भी आगे बढ़नेके लिये वह 'वानप्रस्थ' आश्रममें पहुँचता है और अन्तमें चतुर्थाश्रम—संन्यासमें सम्यक् प्रकारसे सम्पूर्ण त्याग करके परमात्माके साथ एकात्मता प्राप्त

* यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तव:। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा:॥
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
स सन्धार्य: प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता। सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियै:॥ (मनु०३।७७—७९)

'जैसे सब प्राणी प्राणवायुका आश्रय लेकर जीते हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थाश्रमीका आश्रय लेकर जीते हैं; क्योंकि गृहस्थ ही नित्य विद्या और अन्नका दान देकर तीनों आश्रमवालोंको टिकाये रखता है, अत: गृहस्थाश्रमी पुरुष तीनों आश्रमोंसे श्रेठ है। जिसको स्वर्गके अक्षय सुखकी तथा इस लोकमें सुखकी इच्छा हो,उसको प्रयत्नपूर्वक गृहस्थाश्रम धारण करना चाहिये, जो अजितेन्द्रिय पुरुषोंके द्वारा धारण नहीं किया जा सकता।'

करता है। चारों आश्रम उत्तरोत्तर अधिकाधिक त्यागकी स्थितिमें ले जानेवाले हैं और अपने-अपने पूर्वाश्रमकी सुदृढ़ भित्तिके आधारपर स्थित हैं।

विवाह

हिंदू-संस्कृतिमें विवाह कभी न टूटनेवाला एक परम पवित्र धार्मिक संस्कार है, यज्ञ है। वह इन्द्रियसुखभोगके लिये नहीं, बल्कि पुत्रोत्पादनके द्वारा परलोकगत पितरोंको सुख पहुँचाने और देवताओंको तुष्ट करनेके लिये है। इसमें विवाह-विच्छेदकी बात तो दूर रही, जन्म-जन्मान्तरतक पति-पत्नीका पवित्र सम्बन्ध बना रहता है। इसीसे हिंदू-स्त्रियाँ पतिके शवके साथ हँसते-हँसते सती हो जाती हैं। इस गये-गुजरे जमानेमें भी सतियोंके चमत्कार होते ही रहते हैं*।

बड़ोंकी सेवा

हिंदू-संस्कृतिमें माता-पिता, गुरु और श्रेष्ठ पुरुषोंकी वन्दना तथा सेवाका बड़ा महत्त्व है। मनु महाराज कहते हैं—

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते॥

(मनु० २।२२५, २२६, २२७, २३२)

'आचार्य, पिता, माता और बड़े भाई—इनका, इनसे सताये जानेपर भी, अपमान न करे। ब्राह्मणको तो विशेषरूपसे इनका अपमान नहीं करना चाहिये। क्योंकि आचार्य ब्रह्माकी मूर्ति, पिता प्रजापतिकी मूर्ति, माता पृथ्वीकी मूर्ति और बड़ा भाई अपनी ही दूसरी मूर्ति है (इनका अपमान करनेसे उन-उन देवताओंका अपमान करना माना जाता है)। बालकोंको जन्म देकर उनका पालन-पोषण करनेमें माता-पिताको जो दुःख सहना

---

* अभी हालमें सीतापुरके चमखरि ग्राममें एक सती हो गयी है। इस सम्बन्धमें हमारे पास बहुत-से पत्र आये हैं। सभीमें लिखा है कि अग्नि अपने-आप प्रकट हो गयी थी। उन पत्रोंमेंसे एक पत्र यह है जो श्रीमनोहरलालजी वैश्यका लिखा हुआ है। हमने जाँचके लिये वहाँ अपने एक आदमीको भेजा था। उन्होंने भी इस घटनाको सर्वथा सत्य बतलाया है—

सतीका चमत्कार

ग्राम पाताबोझ-महोली (सीतापुर)निवासी श्रीरामचरणलालके पुत्र श्रीसरयूप्रसादजी वैश्यकी सुपुत्री श्रीजयदेवीका जन्म महोलीमें हुआ था। श्रीजयदेवीके पिता जूनियर हाईस्कूल महोलीमें आज भी अध्यापक हैं। श्रीजयदेवी बचपनसे ही भगवान्‌का भजन, साधन और रामायणपाठमें विशेष रुचि रखती थी। आजसे सात वर्ष आठ मास पूर्व उसका विवाह चमखरि ग्राम-निवासी श्रीद्वारकाप्रसादजी वैश्यके पुत्र श्रीराधेलालजीके साथ सम्पन्न हुआ। विवाह महोलीमें ही हुआ था।

श्रीजयदेवीजी चमखरि ग्राममें रहते हुए पातिव्रत-धर्मका पालन करती हुई पति एवं परिवारकी सेवामें अनुरक्त रहीं।

इस समय उनके पतिकी अवस्था २२ साल एवं श्रीजयदेवीजीका १९वाँ वर्ष पूरा हो रहा है। इनके पतिदेव श्रीराधेलालजीका पौषकृष्ण १२शुक्रवार ता०१६दिसम्बर सन् १९४९ को सन्ध्या-समय ४ बजे स्वर्गवास हो गया। तब श्रीजयदेवीजीने सबसे कहा कि 'बिना स्नान किये हुए कोई भी व्यक्ति मेरे पतिके शवको स्पर्श न करे एवं न स्नान किये बिना कोई घरमें ही प्रवेश करे और कोई भी रोये नहीं। फिर अपने श्वशुर श्रीद्वारकाप्रसादजीसे कहा कि 'आप पुलिस सीतापुर तथा महोलीको सूचना कर दीजिये, जिससे पीछे आपको कोई परेशान न करे।' इतनेमें तो यह समाचार चारों ओर फैल गया।

तदनन्तर श्रीजयदेवीजी स्नानादिसे निवृत्त होकर रात्रिभर श्रीरामायण-पाठ करती रहीं। दूसरे दिन बारह बजे मध्याह्नकालतक पाठ, स्वाध्याय, भगवन्नाम-कीर्तन इत्यादि होता रहा। बादमें रथी श्मशान-घाटको रवाना हुई। हजारों आदमियोंकी भीड़ साथ थी। पुलिसके अधिकारियोंने कई प्रकारके प्रश्न श्रीसतीजीसे किये।

श्रीसतीजीने केवल इतना ही कहा, 'ईश्वर! तुम्हीं सबके एकमात्र सहायक हो। तुम्हीं मेरा बेड़ा पार लँघाओ।' भगवत्प्रार्थना करती हुई वे शवके आगे-आगे ग्रामसे दक्षिण तीन फर्लांगतक गयीं।

पौषकृष्ण १३शनिवारको २ बजकर २० मिनटपर पतिका सिर अपनी गोदमें रखकर राम-राम करती हुई वे चितापर बैठ गयीं। सतीजीने पहले श्रीसूर्यभगवान्‌की ओर हाथ जोड़कर देखा। फिर नतमस्तक हो पुनः सूर्यभगवान्‌की ओर देखा। एकाएक उनके दोनों नेत्र अरुणिमामय हो गये, ललाट चमकने लगा। फिर अन्तिम बार सूर्यभगवान्‌की ओर देख दोनों हथेलियोंको घिसा। तुरंत ही अग्निदेव प्रज्वलित हो गये। सब लोग 'जय-जय' पुकार उठे।

उनके श्वशुर श्रीद्वारकाप्रसादजीने पूछा, 'बेटी! हमारे लिये क्या आज्ञा होती है? तो कहा—'सर्वसम्पत्तिमान् होओगे।' फिर पिता सरयूप्रसादजी तथा दारोगाको आशीर्वाद देकर भगवान्‌का स्मरण करने लगीं और थोड़ी ही देरमें अग्निमय होकर अपने पतिसहित परम धामको सिधार गयीं।

पड़ता है, उसका बदला सैकड़ों वर्ष सेवा करनेपर भी नहीं चुकाया जा सकता।'

'जो गृहस्थी (माता, पिता और गुरु) इन तीनोंकी सेवामें तत्पर रहता है, वह तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त करता है और स्वर्गमें सूर्यके सदृश अपने तेजस्वी शरीरके द्वारा प्रकाश करता हुआ आनन्दमें रहता है।'

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २।१२१)

'जो मनुष्य नित्य बड़ोंको प्रणाम करता है और उनकी सेवा करता है, उसके आयु, विद्या, यश और बल चारों बढ़ते हैं।'

हिंदू-संस्कृतिके कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षणोंका यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है। वस्तुतः हिंदू-संस्कृति अध्यात्मप्रधान है। व्यावहारिक लोकहितका पूरा ध्यान रखते हुए सत्य और न्यायपूर्ण साधनसे अनासक्त होकर लौकिक उन्नति करना और उसमें भी जीवनके चरम लक्ष्य भगवान्‌को कभी न भूलते हुए क्रमशः भगवान्‌की ओर बढ़ते रहना इसका प्रधान स्वरूप है। पवित्र भारतवर्षमें इस महान् संस्कृतिका उदय हुआ, इसीसे भारत धन्य है और धन्य रहेगा।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

(विष्णुपुराण २। ३।२४)

'देवतालोग भी निरन्तर यही गाया करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और मोक्षके मार्गभूत भारतवर्षमें जन्म लिया है, वे पुरुष हम देवताओंकी अपेक्षा भी अधिक सौभाग्यशाली हैं।'

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥
किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतै-
र्दानादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना।
न यत्र नारायणपादपंकज-
स्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात्॥
कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥

(श्रीमद्भा० ५।१९।२१—२३)

देवता भारतवर्षमें उत्पन्न हुए मनुष्योंकी इस प्रकार महिमा गाते हैं—'अहा! जिन जीवोंने भारतवर्षमें भगवान्‌की सेवाके योग्य मनुष्यजन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है? अथवा इनपर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये है? इस परम सौभाग्यके लिये तो निरन्तर हम भी तरसते रहते हैं। हमें बड़े कठोर यज्ञ, तप, व्रत और दानादि करके जो यह तुच्छ स्वर्गका अधिकार प्राप्त हुआ है—इससे क्या लाभ है? यहाँ तो इन्द्रियोंके भोगोंकी इतनी बहुलता है कि उससे दबे रहनेके कारण कभी श्रीनारायणके चरणकमलोंकी स्मृति होती ही नहीं। यह स्वर्ग तो क्या—जहाँके निवासियोंकी एक-एक कल्पकी आयु होती है, किंतु जहाँसे फिर संसार-चक्रमें लौटना पड़ता है, उन ब्रह्मलोकादिकी अपेक्षा भी भारतभूमिमें थोड़ी आयुवाले होकर जन्म लेना अच्छा है; क्योंकि यहाँ धीर पुरुष एक क्षणमें ही अपने इस मर्त्यशरीरसे किये हुए सम्पूर्ण कर्म श्रीभगवान्‌को अर्पण करके उनका अभयपद प्राप्त कर सकता है।'

जगत्‌के लोग निष्पक्ष भावसे इस संस्कृतिके भव्य और दिव्य स्वरूपको समझें तो उन्हें बड़ा भारी आश्वासन मिलेगा और यहाँके निवासियोंका तो यह परम कर्तव्य ही है कि वे— जो आज अपने घरकी महान् संस्कृति और उसके पावन सिद्धान्तोंसे अनभिज्ञ रहकर परमुखापेक्षी बन रहे हैं, अपनी पवित्र आर्य-संस्कृतिकी अवहेलना करके केवल 'अर्थ' और 'अधिकार' के पीछे प्रमत्त होकर 'सनातनधर्म' के विनाशमें ही कल्याणकी भावना कर रहे हैं एवं फलस्वरूप उत्तरोत्तर पाप-तापके मलिन और दुःखप्रद पंकमें फँसे जा रहे हैं—शीघ्र चेतें, अपनी संस्कृतिको जानें, समझें और अपनायें। भारतवर्षका सिर ऊँचा करनेके लिये उसके पास कोई वस्तु थी तो वह उसकी अध्यात्मप्रधान संस्कृति ही थी। इस अध्यात्मको अपनाकर अपना और इस आजके अशान्त जगत्‌को देकर उसका क्लेश दूर करके ही भारत अपने पुण्य कर्तव्यका पालन कर सकता है। भगवान् हमारी बुद्धिमें प्रकाश दें और अखिल विश्वका मंगल करें।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीभारत-सावित्री

(लेखक—स्वामी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज)

'श्रीमहाभारत' के स्वर्गारोहणपर्वका अन्तिम श्लोकचतुष्टय 'भारत-सावित्री' नामसे प्रसिद्ध है। जिस प्रकार वेदोंका सार श्रीसावित्री है, उसी प्रकार पञ्चम वेदस्वरूप 'महाभारत'का सार श्रीभारत-सावित्री है। जिस प्रकार श्रीसावित्री नित्य ही उपास्या है, उसी प्रकार श्रीभारत-सावित्री नित्य अनुस्मरणीया है। जिस प्रकार अगम तथा अनन्त शब्दसागरकी सारभूता श्रीसावित्री वेदचतुष्टयरूपमें परिणत हुई है, उसी प्रकार आख्यानों तथा उपाख्यानोंसे पल्लवित एवं सुशोभित होकर श्रीभारत-सावित्री भी महाभारतरूप कल्पवृक्षमें परिणत हुई है। लक्षश्लोकात्मक महाभारतका पारायण करनेका सौभाग्य बहुतोंको नहीं होता, परंतु इस श्लोकचतुष्टयका पाठ करके तथा इसके अर्थानुसन्धानसे अनायास ही श्रीभारतपारायणका फल कोई भी आस्तिक बुद्धिशाली प्राप्त कर सकता है। इस कारण व्याख्यासहित श्रीभारतसावित्री-रूप उपहार 'कल्याण' के पाठकोंको भेंट किया जाता है।

प्रथम श्लोक

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे॥

अनादि कर्मफलसे जीव संसारमें गमनागमन करते हैं। संसार-परम्परासे कर्मचक्रके आवर्तनके कारण जीव हजारों पिता-माता तथा सौ-सौ स्त्री-पुत्रोंका साक्षात्कार लाभ करके दुश्छेद्य ममतासम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसी रीतिसे बहुतेरे माता तथा पिता, स्त्री तथा पुत्र प्राणीने पाये थे; परंतु अतीत संसार-प्रवाहमें वे सब बह गये, आज भी बहे जाते हैं तथा जबतक ज्ञानदृष्टिके उन्मीलनसे संसारमोह नष्ट न होगा, तबतक इसी तरहसे बहते ही जायँगे।

द्वितीय श्लोक

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति च पण्डितम्॥

इस संसारमें अगणित आनन्दजनक घटनाएँ तथा अनन्त भीतिप्रद अवस्थाएँ नित्य ही उपस्थित होती हैं। जो लोग संसार-मोहसे विमूढ़ हैं, वे ही ऐसे आनन्दसे उत्फुल्ल तथा आतङ्कसे अभिभूत होते हैं। विचारोज्ज्वल-बुद्धिसम्पन्न पण्डितलोग उस हर्ष एवं भीतिसे आविष्ट नहीं होते।

तृतीय श्लोक

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

मैं हाथ उठाकर जोरसे पुकारकर कह रहा हूँ; परंतु कैसा आश्चर्य है कि कोई भी मेरी बात नहीं सुनता! मैं कहता हूँ कि एक धर्माचरणसे ही अर्थ तथा काम प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकारके फल देनेवाले धर्मका मनुष्य क्यों नहीं सेवन करता?

चतुर्थ श्लोक

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

काम, भय, लोभ तथा प्राणरक्षाके हेतु भी कदापि धर्म-त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म जीवकी शाश्वत सम्पदा है और सुख तथा दुःख आने-जानेवाले—अनित्य हैं। जीव नित्य पदार्थ है; परंतु इस जीवत्वलाभके उपकरण अथवा काम, भय तथा लोभके कारणसमूह अनित्य हैं। जिन देहोंको धारण करके प्राणी बड़े हुए हैं, जिन उद्दीपनाओं—काम, भय तथा लोभसे कभी भीत तथा कभी लुब्ध होते हैं, कभी हिताहित-विचाररहित हो जाते हैं, वे सब नहीं रहेंगे। सामयिक उद्दीपनासे जीवको धर्मपथसे भ्रष्ट करके वे सब अपना-अपना रास्ता लेंगे। परंतु जीवका अविनश्वर आत्मा रह जायगा तथा सुख-दुःखके नित्य सहचर धर्म तथा अधर्म जीवके साथ रहेंगे। परलोकके मार्गसे जिस समय जीव निःसङ्ग—एकाकी चलेगा, उस समय जो उसकी क्षुधाको अन्नरूपसे तथा पिपासाको जलरूपसे शान्त करेगा और

पिता, माता, स्त्री, पुत्र, कन्या, बन्धु-बान्धव, आत्मीयोंके मिलनसे प्राप्त आनन्दभोगमें अभ्यस्त जीव जिस समय इन सबकी वियोगयन्त्रणासे अत्यन्त व्याकुल होगा, उस समय जो उसको शान्ति देगा, अनाथोंके नाथ उस 'धर्म'का सामयिक मोहवश कदापि परित्याग न करना चाहिये—

'न हि धर्मात्परः कश्चित्।'

फलश्रुति

इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति॥

जो मनुष्य प्रातः उठकर इस भारत-सावित्रीका पाठ करता है, वह महाभारत-पारायणका समग्र फल प्राप्त करके परब्रह्मको लाभ कर लेता है।

जन्म-जन्मान्तरकी धारावाहिक संसारमत्तता दूरीभूत करनेके लिये श्रीभारतसावित्रीने प्रथम तथा द्वितीय श्लोकोंसे वैराग्यका उपदेश किया है। तृतीय श्लोकसे धर्माचरणके अभ्यासका उपदेश दिया है और चतुर्थ श्लोकसे अनित्य संसार, अनित्य सम्बन्ध, अनित्य सुख-दुःख तथा अनित्य भीतिका परित्याग करनेका उपदेश किया है। धर्म नित्य वस्तु है, नित्यप्रति इस नित्यधर्मके किसी भी प्रकार साधनाभ्याससे समय व्यतीत करना चाहिये। निरन्तर साधनसे प्रसन्न होकर यह धर्म अपना छद्मवेश त्यागकर 'तुम और मैं' इस व्यवधानका नाश करके परम धर्मरूपसे प्रकट होगा और जीवका चिरविफल जन्म तथा जीवन सफल हो जायगा—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।'
'अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन् किं करिष्यसि।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये॥''

(सिद्धान्त)

उपनिषदोंकी सूक्तियाँ

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

(ईश० १)

अखिल ब्रह्माण्डमें यह जो कुछ भी जड-चेतनरूप जगत् है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है; इसलिये हे शिष्य! तू त्यागपूर्वक इसे उपभोग कर, किसीके भी धनको लेनेकी इच्छा न कर।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईश० २)

इस लोकमें (ईश्वर-पूजार्थ) कर्म करता हुआ ही सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करे; इस प्रकार त्यागभावसे ईश्वरार्थ किये जानेवाले कर्म तुझ मनुष्यके लिये हैं, अन्यथा (अन्य मार्ग) नहीं। ऐसा करनेसे मनुष्य कर्मसे लिप्त नहीं होता।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।

(ईश० ७)

एकत्व देखनेवालेको मोह और शोक कहाँ?

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(ईश० ५)

वह चलता है, वह नहीं चलता; वह दूर है और पास भी है; वह इस सबके भीतर है और वही इस सबके बाहर है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

(ईश० ६)

जो सब प्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और सब प्राणियोंमें आत्माको देखता है, वह इस सम्यग् दृष्टिके कारण किसीसे भी घृणा नहीं करता।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥

(केन० २। ४)

बुद्धिकी समस्त वृत्तियोंके साक्षीरूपमें जिसने ब्रह्मको जान लिया है, वह अमृतरूप मोक्षको प्राप्त होता है, समाहित मनसे ज्ञानप्राप्तिका सामर्थ्यलाभ करता है और

उस विद्या (ज्ञान) से अमृतत्वको प्राप्त करता है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

(केन० २।५)

इस जीवनको पाकर भी जिसने आत्माका साक्षात्कार नहीं किया, वह आत्मघाती है।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। (कठ० १।१।२७)

धनसे मनुष्य कभी तृप्त होनेवाला नहीं है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

(कठ० १।२।५)

अविद्यामें स्थित होकर भी अपनेको धीर एवं पण्डित माननेवाले मूढ़लोग नाना योनियोंमें भ्रमण करते हुए उसी प्रकार भटकते और ठोकरें खाते हैं, जैसे अन्धे मनुष्यके द्वारा ले जाये जानेवाले अन्धे।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

(कठ० १।२।६)

धनके मोहसे मूढ़ हुए प्रमादी अज्ञानीको परलोक नहीं सूझता। यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला लोक ही सत्य है, इसके सिवा दूसरा कोई भी लोक सत्य नहीं है—यों माननेवाला अभिमानी मनुष्य बारंबार मेरे (यमराजके) वशमें आता है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(कठ० १।२।१६)

यह अक्षर ही तो ब्रह्म है,और यह अक्षर ही परब्रह्म है। इस अक्षरको जानकर जो जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसे वही वस्तु प्राप्त हो जाती है।

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(कठ० १।२।१८)

नित्य चैतन्यरूप आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है; न यह किसीसे हुआ है और न इससे कोई हुआ है—अर्थात् इसका कारण या कार्य नहीं है। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है और पुराण है; शरीरके मारे जानेपर भी यह मरता नहीं।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥

(कठ० १।२।२१)

बैठा हुआ ही दूर चला जाता है, सोता हुआ सर्वत्र चला जाता है; ऐश्वर्य-मदसे उन्मत्त न होनेवाले उस देवको मेरे सिवा (मुझ-जैसे आत्मज्ञ पुरुषोंके सिवा) दूसरा कौन जान सकता है? कोई नहीं।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(कठ० १।३।१२)

यह सबका आत्मरूप परम पुरुष परमात्मा समस्त प्राणियोंमें स्थित होकर भी मायाके पर्देमें छिपा रहनेके कारण प्रकाशमें नहीं आता। केवल सूक्ष्म तत्त्वोंको समझनेवाले पुरुषोंद्वारा ही वह अत्यन्त सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण बुद्धिसे देखा जाता है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

(कठ० २।२।९)

जैसे समस्त ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि नाना रूपोंमें उनके समान रूपवाला ही हो रहा है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा ब्रह्म एक होकर भी नाना रूपोंमें उन्हींके-जैसे रूपवाला हो रहा है और उनके बाहर भी है।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

(कठ० २। २। ११)

जैसे सब लोकोंका प्रकाशक सूर्य लोगोंके नेत्रोंके बाह्य दोषोंसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सब भूतोंका एक अन्तरात्मा परमेश्वर लोकोंके दुःखसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि वह सबमें रहकर भी सबसे अलग है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(कठ० २। २। १५)

उस स्वप्रकाश परब्रह्मके समीप यह सूर्य नहीं प्रकाशित होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं प्रकाशित होते, बिजलियाँ भी नहीं चमकतीं; फिर यह लौकिक अग्नि तो कैसे प्रकाशित हो सकता है। उसके प्रकाशित होनेपर ही (उसीके प्रकाशसे) सब प्रकाशित होते हैं, उसके प्रकाशसे ही यह सब प्रकाशित हो रहा है।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥

(कठ० २। ३। ७-८)

इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे व्यष्टि-बुद्धि श्रेष्ठ है, व्यष्टि-बुद्धिसे महान् आत्मा अर्थात् समष्टि-बुद्धि श्रेष्ठ है, समष्टि-बुद्धिसे अव्यक्त (मूल प्रकृति) उत्तम है; अव्यक्तसे श्रेष्ठ व्यापक और अलिङ्ग पुरुष है, जिसको जानकर जीव दुःखोंसे मुक्त होता तथा अमृतत्वरूप मोक्षको प्राप्त हो जाता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(कठ० २। ३। १४)

जब इस विद्वान्के हृदयमें स्थित सब कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मानव अमर हो जाता है और इसी शरीरमें ब्रह्मका अनुभव करता है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥

(कठ० २। ३। १५)

जब यहाँ इस जीवनमें ही इस विद्वान्के हृदयकी ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमृतस्वरूप हो जाता है। इतना ही वेदका उपदेश है, अधिक नहीं।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते॥

(प्रश्न० ४। ९)

यह जो देखनेवाला, छूनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला तथा कर्म करनेवाला विज्ञानस्वरूप पुरुष है, वह भी अविनाशी परमात्मामें भलीभाँति स्थित है।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥

(मुण्डक० १।१।६)

वह जो नित्य, सर्वत्र व्यापक, सबमें फैला हुआ, बहुत ही सूक्ष्म और अविनाशी परब्रह्म है, उस समस्त प्राणियोंके परम कारणको ज्ञानीजन सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥

(मुण्डक० १। २। १०)

इष्ट (यज्ञ-याग आदि) और पूर्त (कूप-उद्यानादिके निर्माण)-को श्रेष्ठ माननेवाले अत्यन्त मूढ़ मनुष्य उस सकाम कर्मके सिवा अन्य किसी वास्तविक श्रेयको नहीं जानते, वे पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गके उच्चतम स्थानमें जाकर वहाँके भोगोंका अनुभव करके इस मनुष्यलोक अथवा इससे भी हीनतर लोक (पशु आदि योनि)-में प्रवेश करते हैं।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥

(मुण्डक० २। १। २)

अजन्मा, दिव्य, अमूर्त पुरुष बाहर और भीतर

प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध, परम अक्षरसे भी परे है।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥

(मुण्डक० २। २। ३)

उपनिषद्में वर्णित प्रणवरूप महान् अस्त्र धनुषको लेकर, उसपर उपासनासे तीव्र किया हुआ बाण चढ़ाये और ब्रह्मभावकी निष्ठावाले चित्तके द्वारा उसे खींचकर हे सौम्य! उसी अक्षररूप लक्ष्यको बेधे।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

(मुण्डक० २। २। ४)

प्रणव—ॐकार धनुष है, बाण आत्मा है और बाणका लक्ष्य ब्रह्म कहा जाता है। जितेन्द्रिय पुरुषको उसे सावधानतापूर्वक बेधना चाहिये और बाणके समान तन्मय हो जाना चाहिये।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

(मुण्डक० ३। १। ५)

सत्य, तपस्या, यथार्थ ज्ञान तथा निरन्तर ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे इस शरीरके भीतर ही हृदय-गुहामें परम निर्मल ज्योतिर्मय स्वयंप्रकाश परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, जिसे सम्पूर्ण दोषोंका नाश हो जानेपर यत्नशील यति ही देख पाते हैं।

सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥

(मुण्डक० ३। १। ६)

सत्यकी ही विजय होती है, असत्यकी नहीं। सत्य-धर्मसे ही ब्रह्मलोककी प्राप्तिका विस्तृत मार्ग—देवयान प्रकट होता है, जिसके द्वारा आप्तकाम महर्षिगण उस परमधाममें गमन करते हैं। जहाँ वह सत्यका परम आश्रय परमात्मा अनावृतरूपसे स्थित है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

(मुण्डक० ३। २। ३)

वे परमात्मा केवल प्रवचनसे—शास्त्रोंकी व्याख्या करनेसे, धारणावती बुद्धिसे या अधिक शास्त्रोंके अध्ययनसे भी नहीं प्राप्त होते। वे स्वयं ही दया करके जिसे अपना लेते हैं, उसीको इनकी प्राप्ति हो सकती है; उसके समक्ष वे अपने स्वरूपको अनावृत कर देते हैं।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मुण्डक० ३। २। ८)

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें मिलकर विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार अविद्याकृत नाम-रूपसे विमुक्त होकर विद्वान् पर-से-पर दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(मुण्डक० ३। १। १)

दो पक्षी साथ-साथ रहते हैं, दोनों परस्पर सखा हैं; वे एक ही वृक्षका आश्रय लेकर बैठे हैं। इनमेंसे एक तो पीपलके फलको स्वाद ले-लेकर खाता है और दूसरा खाता नहीं, केवल देखता है।

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

(तैत्तिरीय० १। ११। १)

वेदका अध्ययन कराकर आचार्य शिष्यको शिक्षा देते हैं। सच बोल। धर्मका आचरण कर। स्वाध्यायसे प्रमाद मत कर। आचार्यके लिये प्रिय धन लाकर दे। सन्तान-परम्पराका उच्छेद मत कर। सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। आरोग्यादि शरीरकी कुशलतासे प्रमाद नहीं करना चाहिये। विभूतिसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। पढ़ने-पढ़ानेसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। देवकर्म और पितृकर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।

माताको देवताके समान पूजनेवाला हो। देवके समान पिताका पूजनेवाला हो। देवके समान आचार्यका पूजनेवाला हो। देवके समान अतिथिका पूजनेवाला हो। जो निर्दोष कर्म हैं, वे तुझे करने चाहिये। अन्य दोषयुक्त कर्म नहीं करने चाहिये। जो हमारे आचार्योंके सुन्दर आचरण हैं, वे तुझे नियमसे करने चाहिये, दूसरे (कर्म शाप देना आदि),यदि आचार्य करें, तो भी तुझे नहीं करना चाहिये।

रसो वै सः। रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। (तैत्तिरीय० २। ७। १)

वह निश्चय ही रस है, इस रसको पाकर ही मनुष्य आनन्दवाला होता है। जो हृदयाकाशमें यह आनन्द न हो तो कौन श्वास ले, कौन प्रश्वास ले। यही आनन्द देता है।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।

(तैत्तिरीय० २। ९। १)

ब्रह्मके आनन्दको जो जानता है, उसको किसीसे भय नहीं होता।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।

(छान्दोग्य० ३। १४। १)

यह सब निश्चय ब्रह्म ही है; इसीसे जगत् उत्पन्न होता है, इसीमें लय होता है और इसीमें चेष्टा करता है। इसलिये शान्त होकर उपासना करे; क्योंकि पुरुष निश्चयमय है। इस लोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँसे मरकर होता है; इसलिये वह क्रतु यानी पक्का निश्चय करे।

ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म। (छान्दोग्य० ४। १०। ५)

ॐ सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है।

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।

(छान्दोग्य० ५। १०। ७)

उनमें जो सुन्दर—विशुद्ध आचरणवाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं; वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं। तथा जो मलिन आचरणवाले होते हैं, वे भी यथासम्भव शीघ्र ही मलिन (अधम) योनियोंमें जन्म लेते हैं। वह कूकरयोनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि ग्रहण करते हैं।

पाँच प्रकारके महापातक मनुष्यको घोर पतनके गर्तमें गिरानेवाले होते हैं—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति।

स्वर्णकी चोरी करनेवाला, शराबी, गुरुपत्नीगामी, ब्रह्महत्यारा—ये चारों पतित होते हैं और जो इनके साथ संसर्ग रखनेवाला है, वह पाँचवाँ भी महापापी है।

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः।

(छान्दोग्य० ७। २३। १)

'जो भूमा है; वह सुख है; अल्पमें सुख नहीं है। भूमा ही सुख है, भूमाको ही जानना चाहिये।'

एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते।

(छान्दोग्य० ८। ५। ३)

'जिस आत्माको मनुष्य ब्रह्मचर्यसे प्राप्त करता है, वह आत्मा नष्ट नहीं होता।

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजि-

वत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। (छान्दोग्य० ८। ७। १)

'जो आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, भूखरहित, प्यासरहित, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प है, उसे खोजना चाहिये, उसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये।

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमयेति। (बृहदा० १। ३। २८)

असत्से मुझे सत्की ओर ले चलो, अँधेरेसे प्रकाशकी ओर ले चलो, मृत्युसे मुझे अमृतकी ओर ले चलो।

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। (बृहदा० १। ४। ८)

वह जो यह अन्तरतम आत्मा है, वह पुत्रसे भी अधिक प्रिय है, धनसे भी बढ़कर प्रिय है तथा अन्य सबसे भी अधिक प्रिय है।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳसर्वं विदितम्। (बृहदा० २। ४। ५)

अरी मैत्रेयी! सबकी कामनाके लिये सब प्रिय नहीं होते, आत्माकी कामनाके लिये ही सब प्रिय होते हैं। अरे! आत्माको देखना चाहिये, सुनना चाहिये, मनन करना चाहिये, ध्यान करना चाहिये। अरी मैत्रेयी! आत्माके देखने, सुनने, मनन करने और जाननेसे यह सब जान लिया जाता है।

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।

(बृहदा० ३। ७। १५)

जो सब भूतोंमें स्थित होकर सब भूतोंके भीतर रहता है, जिसको सर्वभूत नहीं जानते, जिसका सम्पूर्ण भूत शरीर है, जो सब भूतोंके भीतर रहकर उन्हें नियममें रखता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः। यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।

(बृहदा० ४। ४। ५)

वह यह आत्मा ब्रह्म है, विज्ञानमय है, मनोमय है, प्राणमय है, चक्षुर्मय है और श्रोत्रमय है। मनुष्य जैसा करनेवाला और जैसे आचरणवाला होता है, उसीके अनुरूप बन जाता है। शुभकर्म करनेवाला श्रेष्ठ पुरुष होता है और पापाचारी पापात्मा हो जाता है। पुण्यकर्मसे पुण्यात्मा होता है (पवित्र योनिमें जन्म ग्रहण करता है) और पापकर्मसे पापात्मा हो जाता है।

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे॥

(बृहदा० ४। ४। ६)

यह मनुष्य इस लोकमें जो कुछ कर्म करता है, परलोकमें उनका फल समाप्त करके उस लोकसे इस लोकमें फिर कर्म करनेके लिये आता है।

अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा। (बृहदा० ४। ५। १४)

अरी मैत्रेयी! यह आत्मा नाशरहित स्वरूपवाला है।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि-
रापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥

(श्वेताश्वतर० १। १५)

जैसे तिलोंमें तेल, दधिमें घी, स्रोतमें जल और अरणिमें अग्नि छिपा होता है, इसी प्रकार वह आत्मा अपने हृदयमें छिपा हुआ है। जो कोई साधक इसको सत्यसे और तपसे देखता है—चिन्तन करता रहता है, उसीके द्वारा यह आत्मा गृहीत होता है।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥

(श्वेताश्वतर० २। ८)

बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि सिर, गला और छाती—इन तीनों स्थानोंपर उभरे हुए शरीरको सीधा और स्थिर करके तथा समस्त इन्द्रियोंको मनके द्वारा

हृदयमें निरुद्ध करके ॐकाररूपी नौकाद्वारा सम्पूर्ण भयङ्कर स्रोतों (प्रवाहों)-को पार कर जाय।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥

(श्वेताश्वतर० २। १०)

समतल, सब प्रकारसे शुद्ध, कंकड़, अग्नि और बालूसे रहित तथा शब्द, जल और आश्रय आदिकी दृष्टिसे सर्वथा अनुकूल और नेत्रोंको पीड़ा न देनेवाले गुहा आदि वायुशून्य स्थानमें मनको ध्यानमें लगानेका अभ्यास करे।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

(श्वेताश्वतर० ३। ८)

मैं इस आदित्य-वर्णवाले, अन्धकारसे पर महान् पुरुषको जानता हूँ; इसको जानकर ही मनुष्य मृत्युको लाँघ जाता है। मोक्षके लिये अन्य मार्ग नहीं है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

(श्वेताश्वतर ० ३। १९)

बिना हाथ पकड़नेवाला है, बिना पैर तेज दौड़नेवाला है, बिना आँखके देखता है, बिना कानके सुनता है; वह जाननेयोग्यको जानता है, उसका जाननेवाला नहीं है। उसको आदि, महान् पुरुष कहते हैं।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥

(श्वेताश्वतर ० ६। ७)

उस ईश्वरोंके भी परम ईश्वर, उस देवताओंके भी परम दैवत, पतियोंके परम पति, भुवनोंके ईश्वर, स्तवनके योग्य देवको हम परात्पररूपसे जानते हैं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

(श्वेताश्वतर ० ६। १३)

जो एक नित्य चेतन परमात्मा बहुत-से नित्य चेतन आत्माओंके कर्मफल-भोगोंका विधान करता है, उस ज्ञानयोग और कर्मयोगसे प्राप्त करनेयोग्य सबके कारणरूप परमदेव परमात्माको जानकर मनुष्य सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम्॥

(ब्रह्मबिन्दु० २। ३)

मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है; विषयासक्त मन बन्धनके लिये है, और निर्विषय मन मुक्त माना जाता है।

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।

(कैवल्य० १। ३)

कर्मसे, संतानसे अथवा धनसे विद्वानोंने अमृतरूप मोक्ष नहीं प्राप्त किया है, किंतु एक त्यागसे ही उसे प्राप्त किया है।

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः
शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः।
अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि
निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य॥

(कैवल्य० १। ५)

एकान्त देशमें पवित्र-मन होकर सुखासनसे बैठकर गर्दन, सिर और शरीरको समान रखकर परमहंस आश्रमवाला संन्यासी सब इन्द्रियोंको रोककर और भक्तिसे अपने गुरुको नमस्कार करके—

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं
विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्॥

(कैवल्य० १। ६)

अपने भीतर रजोगुणरहित विशुद्ध एवं विकासयुक्त हृदय-कमलका चिन्तन करे; फिर उस कमलके मध्यभागमें निर्मल, शोकरहित, अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप,

हृदयमें निरुद्ध करके ॐकाररूपी नौकाद्वारा सम्पूर्ण भयङ्कर स्रोतों (प्रवाहों)-को पार कर जाय।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥

(श्वेताश्वतर० २। १०)

समतल, सब प्रकारसे शुद्ध, कंकड़, अग्नि और बालूसे रहित तथा शब्द, जल और आश्रय आदिकी दृष्टिसे सर्वथा अनुकूल और नेत्रोंको पीड़ा न देनेवाले गुहा आदि वायुशून्य स्थानमें मनको ध्यानमें लगानेका अभ्यास करे।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

(श्वेताश्वतर० ३। ८)

मैं इस आदित्य-वर्णवाले, अन्धकारसे पर महान् पुरुषको जानता हूँ; इसको जानकर ही मनुष्य मृत्युको लाँघ जाता है। मोक्षके लिये अन्य मार्ग नहीं है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

(श्वेताश्वतर ० ३। १९)

बिना हाथ पकड़नेवाला है, बिना पैर तेज दौड़नेवाला है, बिना आँखके देखता है, बिना कानके सुनता है; वह जाननेयोग्यको जानता है, उसका जाननेवाला नहीं है। उसको आदि, महान् पुरुष कहते हैं।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥

(श्वेताश्वतर ० ६। ७)

उस ईश्वरोंके भी परम ईश्वर, उस देवताओंके भी परम दैवत, पतियोंके परम पति, भुवनोंके ईश्वर, स्तवनके योग्य देवको हम परात्पररूपसे जानते हैं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

(श्वेताश्वतर ० ६। १३)

जो एक नित्य चेतन परमात्मा बहुत-से नित्य चेतन आत्माओंके कर्मफल-भोगोंका विधान करता है, उस ज्ञानयोग और कर्मयोगसे प्राप्त करनेयोग्य सबके कारणरूप परमदेव परमात्माको जानकर मनुष्य सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम्॥

(ब्रह्मबिन्दु० २। ३)

मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है; विषयासक्त मन बन्धनके लिये है, और निर्विषय मन मुक्त माना जाता है।

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।

(कैवल्य० १। ३)

कर्मसे, संतानसे अथवा धनसे विद्वानोंने अमृतरूप मोक्ष नहीं प्राप्त किया है, किंतु एक त्यागसे ही उसे प्राप्त किया है।

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः
शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः।
अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि
निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य॥

(कैवल्य० १। ५)

एकान्त देशमें पवित्र-मन होकर सुखासनसे बैठकर गर्दन, सिर और शरीरको समान रखकर परमहंस आश्रमवाला संन्यासी सब इन्द्रियोंको रोककर और भक्तिसे अपने गुरुको नमस्कार करके—

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं
विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्॥

(कैवल्य० १। ६)

अपने भीतर रजोगुणरहित विशुद्ध एवं विकासयुक्त हृदय-कमलका चिन्तन करे; फिर उस कमलके मध्यभागमें निर्मल, शोकरहित, अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप,

शान्त, अमृत, जगत्के कारण शिवका ध्यान करे।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दमेतज्जीवस्य यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः॥

(ब्रह्मोपनिषद्)

जिसको न प्राप्त होकर मनसहित वाणी लौट आती है, वह जीवका आनन्द है, जिसको जानकर विद्वान् मुक्त हो जाता है।

धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च।
ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किङ्कराः शिष्यकिङ्कराः॥

(मैत्रेयी० २। २४)

जो धनमें बड़े, आयुमें बड़े और विद्यामें बड़े हैं—ये सभी बड़े लोग ज्ञानमें बढ़े हुए पुरुषके किङ्कर हैं, उसके दासके भी दास हैं।

सच्चिदानन्दमात्मानमद्वितीयं ब्रह्म भावयेत्॥

(वज्रसूचिकोपनिषद्)

आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है, यह भावना करे।

रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता॥

(महा० ३। ३१)

मुने! यह शरीर बाहर और भीतर केवल खून और मांससे भरा है तथा एकमात्र नाशरूप धर्मवाला है। बताइये, इसमें क्या रमणीयता है?

द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते॥

(महा० ४। ७२)

बन्ध और मोक्षके दो ही आश्रय हैं—ममता और ममताशून्यता। ममतासे प्राणी बन्धनमें पड़ता है, और ममतारहित होनेपर मुक्त हो जाता है।

मनोव्याधेश्चिकित्सार्थमुपायं कथयामि ते।
यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते॥

(महा० ४। ८८)

मनरूप व्याधिकी चिकित्साका उपाय मैं तुम्हें बतलाता हूँ—जो-जो वस्तु अपनेको प्यारी है, उस-उसका त्याग करनेवाला मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है।

तस्माद्वासनया युक्तं मनो बद्धं विदुर्बुधाः।
सम्यग्वासनया त्यक्तं मुक्तमित्यभिधीयते॥

(मुक्तिक० २। १६)

वासनायुक्त मनको विद्वानोंने बद्ध बतलाया है और जो मन वासनासे सर्वथा शून्य हो चुका है, वह मुक्त कहलाता है।

श्रीवाल्मीकीय रामायणकी कुछ सूक्तियाँ

अयोध्याकाण्ड

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम्॥

(२१। १३)

यदि गुरु भी अभिमानमें आकर कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान खो बैठे और कुमार्गपर चलने लगे तो उसे भी दण्ड देना आवश्यक हो जाता है।

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमप्यैतत्पितुर्वचनमुत्तमम् ॥

(२१। ४१)

संसारमें धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है। धर्ममें ही सत्यकी प्रतिष्ठा है। पिताजीका यह वचन भी धर्मसे युक्त होनेके कारण श्रेष्ठ है।

संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा।
न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य तिष्ठता॥

(२१। ४२)

धर्मका आश्रय लेकर रहनेवाले पुरुषको पिता-माता अथवा ब्राह्मणके वचनोंका पालन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसे मिथ्या नहीं करना चाहिये। अतः मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता।

गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः
क्रोधात्प्रहर्षादथवापि कामात्।
यद् व्यादिशेत्कार्यमवेक्ष्य धर्मं
कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः॥

(२१। ५९)

लक्ष्मण! महाराज (दशरथ) हमलोगोंके गुरु,

राजा और पिता होनेके साथ ही वृद्ध भी हैं; अतः वे क्रोधसे, हर्षसे अथवा कामनावश भी यदि किसी बातके लिये आज्ञा दें तो उसे धर्म समझकर करना चाहिये। जिसके जीवन और आचरणमें क्रूरता नहीं है, ऐसा कौन पुरुष होगा, जो पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करेगा।

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यस्य किंचित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥

(२२।२२)

सुख-दुःख, भय-क्रोध, लाभ-हानि, उत्पत्ति-विनाश तथा इस प्रकारके और भी जितने विधान प्राप्त होते हैं, जिनका कोई कारण समझमें नहीं आता, वे सब दैवके ही कार्य हैं।

दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति॥

(२३।१७)

जो अपने पुरुषार्थसे दैवको दबा देनेकी शक्ति रखता है, वह दैवके द्वारा अपने कार्यमें बाधा पड़नेपर खेद नहीं करता—हतोत्साह होकर नहीं बैठता।

व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा।
भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत्॥

(२४।२५)

जो नारी जाति और गुणोंकी दृष्टिसे परम उत्तम है और सदा व्रत तथा उपवासमें ही तत्पर रहती है, वह भी यदि अपने पतिके अनुकूल रहकर उसकी सेवा न करे तो उसे पापियोंकी गति मिलती है।

भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम्।
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात्॥

(२४।२६)

देवताओंकी पूजा और वन्दनासे दूर रहनेपर भी जो स्त्री अपने स्वामीकी सेवामें लगी रहती है, वह उस सेवाके प्रभावसे उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त होती है।

शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता।
एष धर्मः स्त्रिया नित्यो वेदे लोके श्रुतः स्मृतः॥

(२४।२७)

नारीको अपने पतिके प्रिय और हितमें संलग्न रहकर सदा उसकी सेवा ही करनी चाहिये। यही स्त्रीका लोक और वेदमें प्रसिद्ध सनातन धर्म माना गया है। इसीका श्रुतियों और स्मृतियोंमें भी वर्णन है।

अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः।
पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सुव्रताः॥

(२४।२८)

देवि! तुम्हें सदा अग्निहोत्रके समय मेरे कल्याणके लिये फूलोंसे देवताओंका पूजन करना चाहिये और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंका भी यथावत् सत्कार करना चाहिये।

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा।
स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते॥

(२७।४)

(सीता कहती हैं—) आर्यपुत्र! पिता, माता, भाई, पुत्र तथा पुत्रवधू—ये सभी अपने पुण्यादि कर्मोंका फल भोगते हुए अपने-अपने प्रारब्धके अनुसार जीवन-निर्वाह करते हैं।

भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि॥

(२७।५)

नरश्रेष्ठ! स्वामीके भाग्यका अनुसरण तो केवल स्त्री ही करती है। अतः आपके साथ मुझे भी वनवासकी आज्ञा मिल गयी, यह आपको स्वीकार करना चाहिये।

न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥

(२७।६)

नारीके लिये इस लोक और परलोकमें एकमात्र पति ही सदा आश्रय देनेवाला है। पिता, पुत्र, माता, सखियाँ तथा अपना यह शरीर भी उसका सच्चा सहायक नहीं है।

श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां यशस्विनाम्।
इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महामते।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा॥

(२९।१८)

यशस्वी ब्राह्मणोंके मुखसे एक बड़ी ही पवित्र कहावत सुनी जाती है, वह इस प्रकार है—इस लोकमें पिता आदिके द्वारा जो कन्या जिस पुरुषको अपने धर्मके अनुसार जलसे संकल्प करके दे दी जाती

है, वह मरनेके बाद परलोकमें भी उसीकी स्त्री होती है।

साध्वीनां हि स्थितानां तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते॥

(३९।२४)

जो सत्य, सदाचार, शास्त्रोंकी आज्ञा और कुलोचित मर्यादामें स्थित रहती हैं, उन साध्वी स्त्रियोंके लिये एकमात्र पति ही परम पवित्र एवं सर्वश्रेष्ठ आश्रय है।

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत्॥

(३९।३०)

पिता, भ्राता और पुत्र—ये परिमित सुख प्रदान करते हैं; किंतु पति अपरिमित सुखका दाता है—उसकी सेवासे इह लोक और परलोक दोनोंमें कल्याण होता है। अतः ऐसी कौन स्त्री होगी जो अपने पतिका सत्कार नहीं करेगी।

गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः।
तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नेह विद्यते॥

(६१।२४)

स्त्रीका पहला सहारा पति है, दूसरा पुत्र है और तीसरे कुटुम्बीजन हैं; चौथा कोई सहारा उसके लिये नहीं है।

भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान्निर्गुणोऽपि वा।
धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षं देवि दैवतम्॥

(६२।८)

देवि कौसल्ये! अपना पति गुणवान् हो या गुणहीन, धर्मका विचार करनेवाली स्त्रियोंके लिये वह प्रत्यक्ष देवता है।

नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता।
उभयोर्लोकयोर्लोके पत्या या संप्रसाद्यते॥

(६२।१३)

(कौसल्या पतिसे कहती हैं—) महाराज! (मुझे क्षमा करेंगे) लोकमें परम श्लाघनीय बुद्धिमान् पति जिस स्त्रीको मनाता है, विनीत वचनोंसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा करता है, उस स्त्रीका इस लोकमें और परलोकमें कल्याण नहीं होता।

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम्।
शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः॥

(६२।१५)

शोक धैर्यका नाश करता है, शोक शास्त्रज्ञानको भी नष्ट कर देता है तथा शोक सब कुछ नष्ट कर डालता है; शोकके समान कोई शत्रु नहीं है।

अविज्ञाय फलं यो हि कर्म त्वेवानुधावति।
स शोचेत्फलवेलायां यथा किंशुकसेचकः॥

(६३।९)

जो फलको जाने बिना ही कर्मकी ओर दौड़ता है, वह फल-प्राप्तिके अवसरपर केवल शोकका भागी होता है—ठीक वैसे ही, जैसे पलाशको सींचनेवाला पुरुष उसका फल न पानेसे खिन्न होता है। (पलाशका फूल परम सुन्दर होता है—यह देखकर किसीने सोचा, इसका फल भी अपूर्व होगा; परंतु जब फल लगा, तब उस सारहीन फलको देखकर उस वृक्षके सींचनेवाले मालीको बड़ी निराशा हुई।)

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद्राजा विधीयताम्।
अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात्॥

(६७।८)

(राजा दशरथकी मृत्यु हो जानेपर राजमन्त्रियोंने वसिष्ठजीसे कहा—) इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारोंमेंसे किसीको आज ही राजा बना दिया जाय; अन्यथा बिना राजाका हमारा राष्ट्र विनाशको प्राप्त हो जायगा।

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्॥

(६७।३१)

बिना राजाके देशमें किसीकी कोई वस्तु अपनी नहीं रहती। मछलियोंकी भाँति सब लोग सदा परस्पर एक-दूसरेको अपना ग्रास बनाते—लूटते-खसोटते रहते हैं।

ये हि संभिन्नमर्यादा नास्तिकाश्छिन्नसंशयाः।
तेऽपि भावाय कल्पन्ते राजदण्डनिपीडिताः॥

(६७।३२)

धर्म-मर्यादाको भङ्ग करनेवाले नास्तिक भी राजदण्डसे पीडित होकर ईश्वरीय सत्ताके प्रति सन्देहरहित होकर आस्तिक बन जाते हैं।

यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते।

तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः॥

(६७।३३)

जैसे दृष्टि सदा ही शरीरके हितमें लगी रहती है, उसी प्रकार राजा राष्ट्रको सत्य और धर्ममें लगानेवाला होता है।

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्॥

(६७।३४)

राजा सत्य है, राजा धर्म है, राजा कुलीन पुरुषोंका कुल है, राजा ही माता और पिता है तथा राजा समस्त मानवोंका हित-साधन करनेवाला है।

न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया॥

(१९।२२)

पिताकी सेवा अथवा उनकी आज्ञाका पालन—यह जैसा धर्म है, इससे बढ़कर दूसरा कोई भी धर्म नहीं है।

न सत्यं दानमानौ वा न यज्ञाश्चाप्तदक्षिणाः।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्हिता॥

(३०।३५)

सीते! पिताकी सेवा करना जिस प्रकार कल्याणकारी माना गया है, वैसा प्रबल साधन न सत्य है, न दान-सम्मान हैं और न प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञ ही हैं।

स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्याः पुत्राः सुखानि च।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किंचिदपि दुर्लभम्॥

(३०।३६)

गुरुजनोंकी सेवासे स्वर्ग, धन, धान्य, विद्या, पुत्र और सुख—कुछ भी दुर्लभ नहीं हैं।

देवगन्धर्वगोलोकान् ब्रह्मलोकांस्तथा परान्।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः॥

(३०।३७)

माता-पिताकी सेवामें लगे रहनेवाले महात्मा पुरुष देवलोक, गन्धर्वलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक तथा अन्य लोकोंको भी प्राप्त कर लेते हैं।

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमिते रवौ।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम्॥

(१०५।२४)

लोग सूर्योदय होनेपर प्रसन्न होते हैं, सूर्यास्त होने पर भी खुश होते हैं, किंतु इस बातपर लक्ष्य नहीं करते कि प्रतिदिन अपने जीवनका नाश हो रहा है।

हृष्यन्त्यृतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिवागतम्।
ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयः॥

(१०५।२५)

नये-नये-से आये हुए ऋतुकालका प्रारम्भ देखकर मनुष्य हर्षमें भर जाते हैं, किंतु यह नहीं सोचते कि ऋतुओंके इस परिवर्तनके साथ-साथ प्राणियोंके जीवनका क्रमशः क्षय हो रहा है।

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे।
समेत्य तु व्यपेयातां कालमासाद्य कञ्चन॥

(१०५।२६)

जैसे महासागरमें बहते हुए दो काठ कभी एक-दूसरेसे मिल जाते हैं और मिलकर कुछ कालके बाद एक-दूसरेसे विलग भी हो जाते हैं—

एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः॥

(१०५।२७)

उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और धन भी मिलकर बिछुड़ जाते हैं। इनका वियोग अवश्यम्भावी है।

नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः।
इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति॥

(१०५।१५)

मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार कुछ नहीं कर सकता; क्योंकि यह पराधीन होनेके कारण असमर्थ है। काल इसे इधर-उधर खींचता रहता है।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥

(१०५।१६)

सभी संग्रहोंका अन्त क्षय है, बहुत ऊँचे चढ़नेका अन्त नीचे गिरना है। संयोगका अन्त वियोग और जीवनका अन्त मरण है।

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद्भयम्।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद्भयम्॥

(१०५।१७)

जैसे पके हुए फलोंको गिरनेके अतिरिक्त दूसरा कोई भय नहीं है, उसी प्रकार पैदा हुए मनुष्यको मृत्युके सिवा अन्यत्र भय नहीं है।

यथागारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वोपसीदति।
तथावसीदन्ति नरा जरामृत्युवशंगताः॥

(१०५।१८)

जिस प्रकार मजबूत खम्भेवाला मकान भी पुराना होनेपर गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जरा और मृत्युके वशमें पड़कर नष्ट हो जाते हैं।

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते।
यात्येव यमुना पूर्णं समुद्रमुदकार्णवम्॥

(१०५।१९)

जो रात बीत जाती है, वह फिर लौटकर नहीं आती— जैसे यमुना जलसे भरे हुए महासागरकी ओर ही बढ़ती जाती है, पीछेकी ओर नहीं लौटती।

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह।
आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः॥

(१०५।२०)

दिन-रात लगातार बीत रहे हैं, और संसारमें सभी प्राणियोंकी आयुका तीव्र गतिसे नाश कर रहे हैं—ठीक उसी तरह, जैसे सूर्यकी किरणें गर्मीमें शीघ्रतापूर्वक जलको सुखाती रहती हैं।

आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि।
आयुस्तु हीयते यस्य स्थितस्यास्य गतस्य च॥

(१०५।२१)

भाई! तू अपनी चिन्ता कर, दूसरेकी चिन्ता क्यों करता है। जो यहाँ मौजूद है और जो (हमारे दृष्टिपथसे दूर) चला गया है, सबकी आयु कम हो रही है।

सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति।
गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते॥

(१०५।२२)

मृत्यु साथ ही चलती है, वह साथ ही बैठती है और सुदूरवर्ती पथपर भी साथ-साथ जाकर साथ ही लौट आती है। (हम सदा ही उसके वशमें रहते हैं।)

गात्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः।
जरया पुरुषो जीर्णः किं हि कृत्वा प्रभावयेत्॥

(१०५।२३)

सब अङ्गोंमें झुर्रियाँ पड़ गयीं, बाल सफेद हो गये, बुढ़ापेने मनुष्यको जर्जर कर दिया; अब वह कौन-सा पुरुषार्थ करके प्रभुता स्थापित करेगा।

यथा मृतस्तथा जीवन् यथासति तथा सति।
यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात्परितप्येत केन सः॥

(१०६।४)

जैसे मरे हुए जीवका अपने शरीर आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार जीते-जी भी वह उसके सम्बन्धसे रहित है। जैसे वस्तुके अभावमें उसके प्रति राग-द्वेष नहीं होता, वैसे ही उसके रहनेपर भी मनुष्यको राग-द्वेषसे शून्य होना चाहिये। जिसे ऐसी विवेकयुक्त बुद्धि प्राप्त हो गयी है, उसको किससे संताप होगा।

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात्पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः॥

(१०७।१२)

क्योंकि बेटा 'पुम्' नामक नरकसे पिताका त्राण (उद्धार) करता है, इसलिये 'पुत्र' कहा गया है। वास्तवमें जो पितरोंका सब ओरसे परित्राण करता है, वही पुत्र है।

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः॥

(१०९।३)

जो पुरुष धर्म अथवा वेदकी मर्यादाको त्याग बैठता है, वह पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता है। उसके आचार और विचार दोनों ही भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिये वह सत्पुरुषोंमें कभी सम्मान नहीं पाता।

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम्।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाशुचिम्॥

(१०९।४)

मनुष्यका आचरण ही यह बतलाता है कि वह कुलीन है या अकुलीन, वीर है या कायर अथवा पवित्र है या अपवित्र।

अनार्यस्त्वार्यसंस्थानः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः।
लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानिव॥

(१०९।५)

पाखण्डी मनुष्य अनार्य होकर भी आर्यके समान मालूम हो सकता है, शौचाचारसे हीन होकर भी अपनेको परम शुद्ध रूपमें प्रकट कर सकता है; उत्तम लक्षणोंसे शून्य होकर सुलक्षण-सा दिखायी दे सकता है और बुरे स्वभावका होकर भी दिखावेके लिये

सुशील-सा आचरण कर सकता है।

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः॥

(१०९।१०)

सत्यका पालन ही राजाओंका दयाप्रधान धर्म है, उनका सनातन आचार है; अतः राज्य सत्यस्वरूप है। सत्यमें ही सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है।

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम्॥

(१०९।११)

ऋषियों और देवताओंने सत्यको ही आदर दिया है। इस लोकमें सत्य-भाषण करनेवाला मनुष्य अक्षय परमधामको प्राप्त होता है।

उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः।
धर्मः सत्यं परो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते॥

(१०९।१२)

लोग झूठ बोलनेवाले मनुष्यसे उसी प्रकार डरते हैं; जैसे साँपसे। संसारमें सत्य ही सबसे महान् धर्म है। वही सबका मूल कहा जाता है।

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदा श्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥

(१०९।१३)

जगत्‌में सत्य ही ईश्वर है। सदा सत्यके ही आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है। सत्य ही सबकी जड़ है, सत्यसे बढ़कर दूसरी कोई उत्तम गति नहीं है।

दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत्॥

(१०९।१४)

दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद—इन सबका आश्रय सत्य है; इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये।

एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम्।
मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते॥

(१०९।१५)

कोई लोकका पालन करता है, कोई कुलके पालनमें लगा रहता है, कोई नरककुण्डमें डूबता है और कोई स्वर्गलोकमें पूजित होता है।

असत्यसन्धस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः।
नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम्॥

(१०९।१८)

हमने सुना है कि जो अपनी प्रतिज्ञा झूठी करनेके कारण सत्यरूप धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है, उस चञ्चल चित्तवाले पुरुषके दिये हुए हव्य और कव्यको देवता और पितर स्वीकार नहीं करते।

कायेन कुरुते पापं मनसा संप्रधार्य तत्।
अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम्॥

(१०९।२१)

मनुष्य पहले मनमें विचार करके असत्यरूप पापको जिह्वासे कहता है फिर उसे शरीरद्वारा करता है; अतः मानसिक, वाचिक और कायिक—तीन प्रकारके पातक होते हैं।

भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि।
सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत्ततः॥

(१०९।२२)

भूमि, कीर्ति (बड़ाई), यश (ख्याति और लक्ष्मी—ये सत्यवादी पुरुषको प्राप्त करना चाहते हैं और उसीका अनुसरण करते हैं; अतः सदा सत्यका ही सेवन करना चाहिये।

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः॥

(१०९।३१)

सत्य, धर्म, पराक्रम, जीवोंपर दया, प्रिय भाषण तथा ब्राह्मण, देवता और अतिथियोंका पूजन—इन सबको साधु पुरुष स्वर्गका मार्ग बतलाते हैं।

धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेता-
स्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके
भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः॥

(१०९।३६)

धर्माचरणमें तत्पर, सत्पुरुषोंका संग करनेवाले, तेजस्वी, प्रधानतः दानरूप गुणको अपनानेवाले, अहिंसक तथा निष्पाप मुनि लोकमें पूजित होते और श्रेष्ठ माने जाते हैं।

कच्चित्सहस्रैर्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम्।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं महत्॥

(१००।२२)

क्या तुम एक हजार मूर्खोंको छोड़कर एक ही विद्वान् पुरुषको अपने पास रखना पसंद करते हो? क्योंकि अर्थसंकटके समय विद्वान् पुरुष बहुत बड़ा हित कर सकता है।

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते॥

(१००।३९)

वेदविरुद्ध दूषित ज्ञान रखनेवाले पण्डितमानी पुरुष प्रमाणभूत मुख्य-मुख्य धर्मशास्त्रोंके होते हुए भी कोरी तार्किक बुद्धिका आश्रय लेकर व्यर्थ बकवाद किया करते हैं।

नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः॥

(११७।२१)

अपने स्वामी नगरमें रहें या वनमें, भले हों या बुरे—जिन स्त्रियोंको वे प्रिय होते हैं, उन्हें महान् अभ्युदयशाली लोकोंकी प्राप्ति होती है।

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः॥

(११७।२२)

पति बुरे स्वभावका, मनमाना आचरण करनेवाला अथवा धनहीन ही क्यों न हो—वह उत्तम स्वभाववाली नारियोंके लिये श्रेष्ठ देवतास्वरूप ही है।

अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते।
स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम्॥

(३०।३३)

माता, पिता और गुरु—ये प्रत्यक्ष देवता हैं; इनकी अवहेलना करके अप्रत्यक्ष देवताकी विविध उपचारोंसे आराधना करना कैसे ठीक हो सकता है?

यत्र त्रयं त्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते॥

(३०।३४)

जिनकी सेवासे अर्थ, धर्म और काम—तीनोंकी प्राप्ति होती है, जिनकी आराधनासे तीनों लोकोंकी आराधना हो जाती है, उन माता-पिताके समान पवित्र इस संसारमें दूसरा कोई भी नहीं है; सीते! इसीलिये लोग इन प्रत्यक्ष देवता (माता-पिता)-की आराधना करते हैं।

किष्किन्धाकाण्ड

उत्साही बलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं बलम्।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुर्लभम्॥

(१।१२३)

(लक्ष्मणजी भगवान् श्रीरामसे कहते हैं—) 'भैया! उत्साह ही बलवान् होता है, उत्साहसे बढ़कर दूसरा कोई बल नहीं है। उत्साही पुरुषके लिये संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है।'

उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु।
उत्साहमात्रमाश्रित्य प्रतिलप्स्याम जानकीम्॥

(१।१२४)

उत्साही मनुष्य कठिन-से-कठिन काम आ पड़नेपर भी हिम्मत नहीं हारते। केवल उत्साहका सहारा लेकर हमलोग जनकनन्दिनीको पुनः प्राप्त कर लेंगे।

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तगे।
विमृशंश्च स्वया बुद्ध्या धृतिमान्नावसीदति॥

(७।९)

शोकमें, आर्थिक संकटमें अथवा प्राणान्तकारी भय उपस्थित होनेपर जो अपनी बुद्धिसे दुःखनिवारणके उपायका विचार करते हुए धैर्य धारण करता है, उसे कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

रजतं वा सुवर्णं वा शुभान्याभरणानि च।
अविभक्तानि साधूनामवगच्छन्ति साधवः॥

(८।७)

अच्छे स्वभाववाले मित्र अपने घरके सोने-चाँदी अथवा उत्तम आभूषणोंको अपने सन्मित्रोंसे अलग नहीं समझते।

आढ्यो वापि दरिद्रो वा दुःखितः सुखितोऽपि वा।
निर्दोषश्च सदोषश्च वयस्यः परमा गतिः॥

(८।८)

मित्र धनी हो या गरीब, सुखी हो या दुःखी अथवा निर्दोष हो या सदोष; वह मित्रके लिये सबसे बड़ा सहायक होता है।

धनत्यागः सुखत्यागो देशत्यागोऽपि वानघ।

वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम्॥

(८।९)

साधु पुरुष अपने मित्रका अत्यन्त उत्कृष्ट प्रेम देख आवश्यकता पड़नेपर उसके लिये धन, सुख और देशका भी परित्याग कर देते हैं।

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥

(१८।३१)

मनुष्य पाप या अपराध करनेके पश्चात् यदि राजाके दिये हुए दण्डको भोग लेते हैं तो वे शुद्ध होकर पुण्यात्मा पुरुषोंकी भाँति स्वर्गलोकमें आ जाते हैं।

शासनाद्वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापाद् मुच्यते।
राजा त्वशासन्पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम्॥

(१८।३४)

(चोर आदि अपराधी जब राजाके सामने उपस्थित हों, उस समय) राजा दण्ड दे अथवा दया करके छोड़ दे, पापी पुरुष अपने पापसे मुक्त हो जाता है; किन्तु यदि राजा पापीको उचित दण्ड नहीं देता तो उसे स्वयं उसके पापका फल भोगना पड़ता है।

यो हि मित्रेषु कालज्ञः सततं साधु वर्तते।
तस्य राज्यं च कीर्तिश्च प्रतापश्चापि वर्धते॥

(२९।१०)

जो राजा कब प्रत्युपकार करना चाहिये, इस बातको जानता हुआ मित्रोंके प्रति सर्वदा साधुताका बर्ताव करता है, उसके राज्य, यश और प्रतापकी वृद्धि होती है।

यस्य कोशश्च दण्डश्च मित्राण्यात्मा च भूमिप।
समान्येतानि सर्वाणि स राज्यं महदश्नुते॥

(२९।११)

राजन्! जिसकी दृष्टिमें खजाना, सेना, मित्र और अपना शरीर—ये सभी समान हैं, वही महान् राज्यका शासन एवं उपभोग करता है (उसके राज्यकी वृद्धि होती है)।

यो हि कालव्यतीतेषु मित्रकार्येषु वर्तते।
स कृत्वा महतोऽप्यर्थान्न मित्रार्थेन युज्यते॥

(२९।१४)

कार्य-साधनका उपयुक्त अवसर बीत जानेके बाद जो मित्रके काममें लगता है, वह बड़े-से-बड़े कार्यको सिद्ध करके भी मित्रता निभानेवाला नहीं माना जाता।

संत्यज्य सर्वकर्माणि मित्रार्थे यो न वर्तते।
संभ्रमाद् विकृतोत्साहः सोऽनर्थेनावरुध्यते॥

(२९।१३)

जो अपने सब कामोंको छोड़कर मित्रका कार्य सिद्ध करनेके लिये शीघ्रताके साथ प्रयत्न नहीं करता, अपितु हतोत्साह होकर बैठ जाता है, उसे अनर्थका भागी होना पड़ता है।

अर्थिनामुपपन्नानां पूर्वं चाप्युपकारिणाम्।
आशां संश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधमः॥

(३०।७१)

जो बल और पराक्रमसे सम्पन्न तथा पहले उपकार करनेवाले कार्यार्थी पुरुषोंको आशा देकर—उनका कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके पीछे उसे तोड़ देता है, वह संसारके सभी पुरुषोंमें नीच है।

शुभं वा यदि वा पापं यो हि वाक्यमुदीरितम्।
सत्येन परिगृह्णाति स वीरः पुरुषोत्तमः॥

(३०।७२)

जो अपने मुँहसे प्रतिज्ञाके रूपमें निकले हुए भले या बुरे हर तरहके वचनोंको सत्यरूपमें ग्रहण करता है—उन्हें सत्य कर दिखाता है, वह वीर समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ है।

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते॥

(३०।७३)

जो अपना स्वार्थ सिद्ध हो जानेपर अपने मित्रोंके कार्यको पूरा करनेकी परवा नहीं करते, उन कृतघ्न पुरुषोंके मरनेपर मांसाहारी जन्तु भी उनका मांस नहीं खाते।

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः॥

(६४।९)

मनको विषादग्रस्त नहीं बनाना चाहिये, विषादमें बहुत बड़ा दोष है। जैसे क्रोधमें भरा हुआ साँप बालकको काट खाता है, उसी प्रकार विषाद पुरुषका नाश कर डालता है।

यो विषादं प्रसहते विक्रमे समुपस्थिते।

तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न सिध्यति॥

(६४।१०)

जो पराक्रमका अवसर उपस्थित होनेपर विषादग्रस्त हो जाता है, उसके तेजका नाश हो जाता है; फिर उससे पुरुषार्थ नहीं होता।

सुन्दरकाण्ड

अनिर्वेदः श्रियो मूलमनिर्वेदः परं सुखम्।
अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तकः।
करोति सफलं जन्तोः कर्म यच्च करोति सः॥

(१२।१०-११)

हताश न होना ही सफलताका मूल है और यही परम सुख है। उत्साह ही मनुष्यको सर्वदा सब प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाला है और जीव जो कुछ कर्म करता है, उसे उत्साह ही सफल बनाता है।

लङ्काकाण्ड

आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(१८।२८,३३)

श्रीरामजी कहते हैं—शत्रु दुखी हो अथवा अभिमानी, यदि वह अपने विपक्षीकी शरणमें आ जाय तो शुद्ध चित्तवाले सत्पुरुषको अपने प्राणोंका मोह छोड़कर उसकी रक्षा करनी चाहिये। मेरा यह नियम है कि जो एक बार शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' यों कहकर मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ।

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति॥

(२।६)

जो पुरुष निरुत्साह, दीन और शोकाकुल रहता है, उसके सब काम बिगड़ जाते हैं और वह बहुत बड़ी विपत्तिमें पड़ जाता है।

धर्मात्प्रच्युतशीलं हि पुरुषं पापनिश्चयम्।
त्यक्त्वा सुखमवाप्नोति हस्तादाशीविषं यथा॥

(८७।२२)

जिसका स्वभाव धर्मसे भ्रष्ट हो गया है, जिसने पापाचरणका दृढ़ निश्चय कर लिया है, उसका त्याग करके साधु पुरुष सुखी होता है—जैसे सर्पको हाथसे हटा देनेपर मनुष्य निर्भय हो जाता है।

परस्वहरणे युक्तं परदाराभिमर्शकम्।
त्याज्यमाहुर्दुरात्मानं वेश्म प्रज्वलितं यथा॥

(८७।२३)

जिस प्रकार जलता हुआ घर त्याग देने योग्य है, उसी प्रकार जो पराया धन हड़पनेमें लगा हो और पर-स्त्रीके साथ बलात्कार करता हो, उस दुष्टात्मा पुरुषको भी त्याग देने योग्य बताया गया है।

परस्वानां च हरणं परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदामतिशङ्का च त्रयो दोषाः क्षयावहाः॥

(८७।२४)

दूसरोंके धनका अपहरण, पर-स्त्रीके साथ बलात्कार और अपने हितैषी सुहृदोंके प्रति घोर अविश्वास—ये तीनों दोष जीवका नाश करनेवाले हैं।

देशे देशे कलात्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

(१०१।१५)

प्रत्येक देशमें स्त्रियाँ मिल सकती हैं, हर देशमें जाति-भाई प्राप्त हो सकते हैं; परंतु ऐसा कोई देश नहीं दिखायी देता, जहाँ सहोदर भाई मिल सकता हो।

नैवार्थेन च कामेन विक्रमेण न चाज्ञया।
शक्या दैवगतिर्लोके निवर्तयितुमुद्यता॥

(११०।२५)

संसारमें फल देनेके लिये उन्मुख हुए दैवके विधानको कोई धन खर्च करके इच्छामात्रसे, पराक्रमके द्वारा अथवा आदेश देकर नहीं पलट सकता।

अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः।
भर्तः पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः॥

(१११।२४)

स्वामिन्! इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि समय आनेपर कर्ताको उसके पापका फल अवश्य मिलता है।

न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम्।
समयो रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्रभूषणाः॥

(११३।४३)

श्रेष्ठ पुरुष दूसरे पापाचारी प्राणियोंके पापको नहीं

ग्रहण करता—उन्हें अपराधी मानकर उनसे बदला लेना नहीं चाहता। इस उत्तम सदाचारकी सदा रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि सदाचार ही सत्पुरुषोंका भूषण है।

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति॥

(११३।४४)

पापी हो या पुण्यात्मा अथवा वधके योग्य अपराध करनेवाले ही क्यों न हों, उन सबके ऊपर श्रेष्ठ पुरुषको दया करनी चाहिये; क्योंकि ऐसा कोई नहीं है, जो सर्वथा अपराध न करता हो।

उत्तरकाण्ड

मातरं पितरं विप्रमाचार्यं चावमन्य वै।
स पश्यति फलं तस्य प्रेतराजवशं गतः॥

(१५।२१)

जो माता, पिता, ब्राह्मण और आचार्यका अपमान करता है, वह यमराजके वशमें पड़कर उस पापका फल भोगता है।

अध्रुवे हि शरीरे यो न करोति तपोऽर्जनम्।
स पश्चात्तप्यते मूढो मृतो गत्वाऽऽत्मनो गतिम्॥

(१५।२२)

यह शरीर क्षणभङ्गुर है; इसमें रहते हुए जो जीव तपका उपार्जन नहीं करता है, वह मूर्ख मरनेके बाद, जब उसे अपने दुष्कर्मोंका फल मिलता है, बहुत पश्चात्ताप करता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलमें अध्यात्ममूलक हिंदू-संस्कृति

(तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः)

(लेखक—पं० श्रीचन्द्रबलीजी पाण्डेय, एम०ए०)

राजा दुष्यन्तने सूतसे कहा था—

सूत यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः।

सारथि! मैं जबतक तपोवनवासियोंसे मिलकर लौटूँ, तबतक घोड़ोंकी पीठ ठण्डी (गीली) करो।

किंतु आश्रमके द्वारपर पहुँचे नहीं कि उनमें यह भावना जगी—

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥

यह तपोवन शान्त है और बाँह फड़क रही है। यहाँ इसका फल कहाँसे मिलेगा। अथवा भावीके लिये सब जगह द्वार हैं (सब जगह होनहार फल सकती है)।

भवितव्य होकर रहा और राजा दुष्यन्तको आमन्त्रण मिला 'परिभोग' का—

लतावलय! संतापहारक! आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय।

हे सन्तापको हरनेवाले लताकुञ्ज! फिर परिभोगके लिये मैं तुम्हें आमन्त्रित करती हूँ।

इस परिभोगका परिणाम हुआ विषाद—शकुन्तलाकी भर्त्सना और दुष्यन्तका पश्चात्ताप! किंतु इससे भी बढ़कर हुआ दुष्यन्तके चरित्रपर प्रहार। कण्वके आश्रममें उसका आचरण जैसा रहा, वैसा उससे क्यों हो गया—इसकी मीमांसा अधिक नहीं हुई। हाँ, शंका और समाधानका कार्य अवश्य होता रहा। पर सच पूछिये तो इसका रहस्य सामाजिककी आँखसे आजतक ओझल ही रहा। तुलनाके लिये एक दूसरा प्रसङ्ग भी लीजिये। यह मरीचिका आश्रम है। यहाँ भी राजा और सूतका ही प्रसङ्ग है। हाँ, यह राजाका अपना सूत नहीं, सखा इन्द्रका सूत है। और इसीसे परिस्थिति भी यहाँकी कुछ और है। यहाँ मातलि राजासे कहता है—

अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान् यावत्त्वामिन्द्रगुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि

इस अशोक-वृक्षके नीचे आप बैठें, जबतक मैं मरीचिसे आपके आगमनका निवेदन करनेके लिये अवसर देखूँ।

मातलि इतना कहकर तृप्त न हुआ। जाते-जाते इतना और कह गया—

आयुष्मन्! साधयाम्यहम्।

आयुष्मन्! मैं जाता हूँ।

मातलि गया और राजाकी चिन्ता जगी—

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते॥

मुझे मनोरथ पूर्ण होनेकी आशा नहीं। हे भुजा! व्यर्थ क्यों फड़कती है? मङ्गलका तिरस्कार पहले ही कर दिया, अब दुःख-ही-दुःख है (अथवा पहले तिरस्कृत कल्याण दुःखमें बदल जाता है)।

दूधका जला छाँछको फूँककर पीता है, पर भाग्यवश मक्खन मिल गया तो? पहले आश्रममें प्रविष्ट होते ही सुन पड़ा था—

इत इतः सख्यौ।

इस ओर, सखियो, इस ओर।

और राजाको सूझ पड़ा था—

अहो! मधुरमासां दर्शनम्।

अहो! इनकी कैसी मधुर आकृति है।

इस आश्रममें खड़े-खड़े सुनायी दिया—

मा खलु चापलं कुरु। कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम्॥

चपलता न करो। अरे! अपने स्वभावपर आ ही गया।

'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति'की यह झाँकी यहींतक नहीं रही। परिणाम भी दोनोंका सच्चा रहा। पहले राजाने निश्चय किया—

भव हृदय साभिलाषं संप्रति संदेहनिर्णयो जातः।
आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्॥

हे हृदय! साभिलाष हो जाओ। अब सन्देहका निर्णय हो गया। जिसे अग्नि समझते थे, वही यह स्पर्शके योग्य रत्न क्योंकर हो रहा है?

किंतु इस बार सोचा—

किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः॥

मेरे हृदयमें इस बालकके प्रति औरस पुत्रके समान स्नेह क्यों हो रहा है?

और निर्णय किया—

नूनमनपत्यता मां वत्सलयति।

निश्चय ही सन्तानहीनताके कारण यह वात्सल्य मेरे हृदयमें है।

पहलेका परिणाम हुआ 'रत्न' का तिरस्कार और 'सत्त्व'की अवहेलना, किंतु दूसरेका प्रतिफल मिला—

दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान्वर्धते।

धर्म-पत्नीके समागम और पुत्रके मुखदर्शनपर आयुष्मान्‌को बधाई है।

कारण संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि पहलेमें निरा दुष्यन्त और दूसरेमें 'सारथि' साथ है, और 'सारथि' का सङ्केत है बुद्धि। कारण—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

आत्माको रथारोही समझो और शरीरको रथ। बुद्धिको सारथि जानो और मनको लगाम।

बुद्धि तो सारथि सिद्ध हुई और यह स्पष्ट हो गया कि कण्वके आश्रममें जो कुछ हुआ बुद्धिरहित दुष्यन्तके द्वारा हुआ; पर अभीतक '**आर्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः**'का रहस्य कहाँ खुला? सो भी तो सामने ही है।

देखिये—

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

इन्द्रियोंको घोड़ा कहा है। विद्वान् आत्मा, इन्द्रिय और मनसे युक्तको भोक्ता कहते हैं।

अस्तु, बुद्धिरहित भोक्ता दुष्यन्तका रूप आपके सामने आ गया और आपने यह भी देख लिया कि वास्तवमें 'अभिज्ञानशाकुन्तल'का प्रतिपाद्य है—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

मनकी लगाम लिये हुए विज्ञान-सारथिसे युक्त मनुष्य मार्गके अन्तको (पा लेता है और वह) विष्णुके परम पदको पा लेता है।

निदान हमारा कहना है कि यदि वास्तवमें कालिदासका मर्म समझना है तो उनके 'अभिज्ञान'का अध्ययन इस ज्ञानसे करें और उनके अध्यात्मको आँखसे ओझल न होने दें। वाजिको शीतलकर 'सूत' की सुनें, अन्यथा परिभोग और परितापमें पड़े रहें। पार तो लग नहीं सकते, पातमें लगे रहें। वस्तुके अध्यात्मको आँखसे ओझल न होने देना हिंदू-संस्कृतिकी महत्ता है।

जगद्गुरु हिंदू

(लेखक—श्रीआनन्ददेवगिरिजी)

आज ईसाकी इस बीसवीं शताब्दीमें भारतीय नवयुवकोंके अंदर अपनी संस्कृति और धर्मके प्रति एक प्रकारकी घृणा हो चली है। उनकी दृष्टिमें अपना कुछ मूल्य ही नहीं रह गया है। उनकी बुद्धिपर एक ऐसी भयानक छाया आ पड़ी है, जिससे रोम और ग्रीसकी संस्कृति, अरब और ईरानकी संस्कृति ही सब कुछ दीखती और उनकी अपनी संस्कृति—विश्वविजयिनी हिंदू-संस्कृति उन्हें सबसे हेय और सब संस्कृतियोंकी जूँठन ज्ञात होती है। हिंदू-विद्यार्थी और नव-युवकोंके अंदर इस प्रकारका भ्रम उत्पन्न करनेका मुख्य कारण (१) स्वयं उनकी अपनी संस्कृतिके प्रति अज्ञता और (२) भ्रामक पाश्चात्य साहित्यका अध्ययन ही है। आजके प्रमुख साहित्यकारोंमें माने जानेवाले श्रीयुत एच्० जी० वेल्सने अपनी पुस्तक 'दि हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड'में हिंदू-संस्कृतिको विश्वकी अन्य संस्कृतियोंमें अग्रगण्य न मानकर रोमन और ग्रीस संस्कृतियोंको अग्रणी बताया है। पर इससे विद्वान् लेखककी अज्ञता ही प्रकट होती है और ज्ञात होता है कि उन्होंने हिंदू-संस्कृति और धर्मके अध्ययन करनेका कभी प्रयत्न ही नहीं किया। अतएव उनका उपर्युक्त कथन निश्चय ही निष्पक्ष नहीं माना जा सकता। भारतीय विद्वानोंके विचार तो अपनी संस्कृतिके पक्षमें होंगे ही। पर इस लेखका मुख्य उद्देश्य यूरोपियन और अमेरिकन विद्वानोंके कतिपय विचारोंद्वारा यह सिद्ध करना है कि वास्तवमें ज्ञानके प्रत्येक क्षेत्रमें हिंदू विश्वका जगद्गुरु रह चुका है।

आजसे युगों पूर्व स्मृतिकार मनुने विश्वको निमन्त्रण दिया था कि वह भारतके तपःपूत ऋषियोंसे आचार-विचारके सम्बन्धमें कुछ शिक्षा लें। यदि हम ध्यानसे देखें तो यह केवल वाग्जालमात्र नहीं है। वास्तवमें हिंदुओंमें ऐसी ही शक्ति थी और है भी (यदि वे अपनी यथार्थ शक्तिको जाग्रत्, प्रबुद्ध और प्रकट कर सकें)। जब विश्व असभ्य था यूरोप, अमेरिका, अफ्रिका आदि महाद्वीपोंके प्राणी गुफाओंमें निवासकर अपने नग्न शरीरोंको पत्तोंसे ढकते थे, उस समय सभ्य हिंदुओंने विश्वको जो प्रकाशकी किरणें दी थीं, उन्हें कुछ पूर्वी और पश्चिमी विद्वानोंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। हिंदू-सभ्यता और हिंदू-धर्मकी अतिप्राचीनतामें श्रीप्लाइनी (Pliney), श्रीअबुलफजल, श्रीहीरेन, (Prof. Heeren), मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) आदि विद्वान् सभी एकमत हैं। डा० गोकुलचन्द नारङ्गने अपनी पुस्तक 'रियल हिंदूइज्म' (Real Hinduism)-में लिखा है कि प्रो० मैक्समूलर आदि सभी विद्वानोंने इसे स्वीकार किया है कि प्राचीन विश्वके सभी राष्ट्रोंकी सभ्यताका मूल स्रोत भारत ही है। भारतने विश्वके हरेक भागमें उपनिवेश बसाये थे और यही उपनिवेश बादमें मिस्र, यूनान, पारस्य, अमेरिका आदि नामोंसे विख्यात हुए। यही नहीं, मुद्राविनिमय, गणित, अर्थशास्त्र, ज्यौतिषशास्त्र, साहित्य, अङ्कगणित, बीजगणित, अक्षर और अङ्कज्ञानदर्शन और चित्रकलाज्ञानके सभी अङ्गोंमें आजका विश्व हिंदुओंका ऋणी है।

हिंदुओंने ही पहले-पहल मुद्राका निर्माण किया, जैसा श्रीप्रिंसेप (Princep) ने कहा है। ईसाके ८०० वर्ष पूर्व भी हिंदुओंमें विनिमयकी सुव्यवस्थित प्रथा प्रचलित थी। उस समयकी आवश्यकताओंके अनुसार हिंदुओंद्वारा सङ्गठित सरकार सर्वश्रेष्ठ थी और उनके द्वारा निर्धारित न्यायके नियम ही इजिप्शियन, परसियन, रोमन और ग्रीक नियमोंके आधार थे। जब अभी विश्वको अक्षरज्ञान भी न था, तब नालन्दा, तक्षशिला, श्रीधन्य और कटकके विश्वविद्यालय छात्रोंसे परिपूर्ण रहा करते थे।

जहाँतक भाषाका प्रश्न है इसे डा० बेलेंटाइन (Dr. Ballantyne) और बाप्प (Bopp)-जैसे विद्वानोंने भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है कि 'संस्कृत ही एक ऐसी भाषा थी, जो विश्वभरमें प्रचलित थी और यही समस्त भारतीय और यूरोपियन (Indo European) भाषाओंकी जननी भी है। हिंदुओंको अक्षर और भाषाज्ञान अनादिकालसे है और ईसाके २४०० वर्ष तथा इब्राहीमके ८०० वर्ष पूर्वकी लिखी पुस्तकेंतक पायी गयी हैं।'

अब लीजिये हिंदुओंके साहित्यको। जहाँतक वेदका प्रश्न है, सभी विद्वानोंने उसे सर्वश्रेष्ठ माना है। प्रो० मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) ने कहा है कि 'इसकी समानतामें विश्वसाहित्यने अबतक कुछ भी नहीं दिया।' प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक श्रीवाल्टेयर (Voltaire)-ने जब ऋग्वेदको देखा तो वह आश्चर्यसे चिल्ला उठा कि 'केवल इसी देनके लिये पश्चिम पूर्वका सदा ऋणी रहेगा।' यदि वेदकी प्रशंसामें पश्चिमी विद्वानोंके विचारोंकी एक-एक पङ्क्ति भी लिखी जाय तो एक स्वतन्त्र पुस्तक प्रस्तुत हो सकती है। प्रसिद्ध व्याकरणशास्त्री सर मोनियर विलियम्स (Sir Monier Williams) ने पाणिनिका व्याकरण देखकर कहा—'इससे बढ़कर विश्वने व्याकरणके नियम कभी बनाये ही नहीं। इसका एक-एक सूत्र आश्चर्यचकित कर देता है।' काव्यमें विश्वके किसी राष्ट्रने ऐसा साहित्य नहीं उत्पन्न किया, जो रामायण और महाभारतकी समानता कर सके। वेदोंके अनुवादक प्रिन्सपल ग्रिफिथ (Griffith)-ने रामायणके बारेमें लिखा है—'विश्वके किसी भी काव्यमें कवित्व और नैतिकताका ऐसा सम्मिश्रण नहीं पाया जाता। रामायणकी समानता होमररचित तीन इलियड और महाभारतकी समानता बारह इलियड भी नहीं कर सकते।' भारतीय नाट्यशास्त्रपर सर विलियम जोन्स (Sir William Jones)-ने लिखा है कि 'भारतीय नाटकोंकी समानतामें आज विश्वके उन्नततम राष्ट्रोंके नाटक भी नहीं आ सकते।' अभिज्ञानशाकुन्तलको पढ़कर तो जर्मनीका प्रसिद्ध कवि गेटे (Goethe) गद्गद हो उठा और उसने स्वयं भी एक कविता लिख दी। उसके प्रसिद्ध नाटक (Faust)-की प्रस्तावना शकुन्तलाकी ही प्रेरणा है। हिंदुओंके गीत-काव्योंपर प्रो० हीरेनका मत है कि 'ग्रीक साहित्यकी तुकान्त और अतुकान्त दोनों प्रकारकी कविताएँ हिंदू गीत-काव्योंके सम्मुख परास्त हैं।' गीतगोविन्दको पढ़कर मन्त्रमुग्ध न होना किसीके लिये असम्भव है। मेघदूतके बारेमें श्रीफाउच (Fauche)-ने लिखा है—'यूरोपियन साहित्यमें इसका जोड़ नहीं।' कथा-साहित्यमें श्रीएलफिंसटनके मतानुसार हिंदू विश्व-शिक्षक है।

अब दर्शनको लीजिये। मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) जैसे विद्वान्‌ने कहा है—'हिंदू-जाति दार्शनिकोंकी जाति है।' डॉ० डफ (Dr. Duff) कहते हैं कि 'यूरोपियन दर्शन हिंदू-दर्शनका अत्यन्त ऋणी है।' प्रो० गोल्डस्टकर (Prof. Goldstucker)-को तो सब दर्शनोंका तत्त्व हिंदू-दर्शनोंमें मिलता है। सर मोनियर विलियम्सके अनुसार पिथागोरस और प्लैटो—दोनों अपने पुनर्जन्मसम्बन्धी प्रसिद्ध सिद्धान्तोंके लिये भारतीय दर्शनसे अत्यधिक प्रभावित हैं। प्राचीन पश्चिमीय दार्शनिक ही नहीं, बल्कि आधुनिक विश्व भी—और विशेषतः आजका यूरोपियन और अमेरिकन दार्शनिक जगत् भारतीय दर्शनसे बहुत प्रभावित है। स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्दके पर्यटनने तो अमेरिकाको विशुद्ध भारतीय दर्शनके बीच लाकर खड़ा किया है।

यह तो हुई दर्शनकी बात, पर विज्ञानकी कोटिमें भी प्राचीन भारत और हिंदू-संस्कृतिने बहुत कुछ दिया है। पहले चिकित्साशास्त्रपर दृष्टिपात कीजिये। लार्ड ऐम्पथिल (Lord Ampthile)-ने जो सन् १९०५में मद्रासके गर्वनर थे, कहा था, 'चिकित्सा-विज्ञानकी जन्मभूमि भारत है। यहींसे पहले अरबवालोंने इसे सीखा और १७वीं शताब्दीके अन्तमें यूरोपियन चिकित्सकोंने इसे अरबवालोंसे सीखा।' शल्य-चिकित्साके बारेमें मि० मैनिङ्ग (Mr. Manning)-ने लिखा है, 'हिंदुओंके शल्यसम्बन्धी यन्त्र अत्यन्त तीव्र हुआ करते थे। उनके द्वारा एक बालको भी दो बराबर भागोंमें बाँटना अत्यन्त सरल था।'

गणितमें भी हिंदुओंकी देन बेजोड़ है। वास्तवमें इस विज्ञानको इतना उन्नत करनेका श्रेय इन्हींको है। मि० मैनिङ्ग (Mr. Manning) लिखते हैं कि 'अरबोंने अङ्कगणित हिंदुओंसे सीखा और यूरोपवालोंने इसे अरबोंसे लिया।' सर मोनियर विलियम्सके कथनानुसार बीजगणित भी अरबोंने हिंदुओंसे सीखा। जहाँतक रेखागणितका प्रश्न है, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पीथागोरसका ४७ वाँ योरम हिंदुओंने कई शताब्दियों पूर्व ही हल कर दिया था।

ज्यौतिषके बारेमें श्रीवेबर (Prof, Weber) कहते हैं, 'अरब हिंदुओंके शिष्य थे।' मि० डेविसके गणनानुसार हिंदू ज्यौतिषविशारद पराशर ईसाके १३९१ वर्ष पूर्व हो

चुके हैं। मि० कोलब्रूकने लिखा है कि 'आर्यभट्टको पृथ्वीका अपनी धुरीपर घूमना ज्ञात था। उन्होंने सूर्य और चन्द्रग्रहणके वास्तविक कारणका भी पता लगाया था। १७०२ ई०में जयसिंह द्वितीयने पाँच वेधशालाएँ जयपुर, मथुरा, बनारस, दिल्ली और उज्जैनमें बनवायी थीं। उसने डी० ला० हायरद्वारा १७०२ ई० में प्रकाशित ज्यौतिष-सूचियोंका भी परिशोधन किया था।'

गानविद्याके बारेमें मि० कोलमैनका केवल यह वाक्य उद्‌धृत करना ही पर्याप्त होगा कि 'हिंदू-गानविद्याके सिद्धान्त हमारे सिद्धान्तों (यूरोपीय)-से कहीं अच्छे हैं। कहाँतक लिखा जाय, मछली पकड़नेसे लेकर खनिज पदार्थोंतक सभी विषयोंपर पुस्तकें लिखी गयी थीं।'

अब लीजिये चित्रकलाको। श्रीहावेल (Mr. Havell) लिखते हैं कि 'भारतीय चित्रकलाका स्थान यूरोप और एशिया—दोनोंमें सर्वश्रेष्ठ है।' वे आगे लिखते हैं कि 'यदि यूरोपियन चित्रकलामें कोई नयी प्रेरणा आती है तो यह निश्चय पुनः पूर्वसे आयेगी।' मूर्तिकलाके लिये तो भारत सदैवसे विश्वका अग्रणी रहा है। श्रीविन्सेन्ट स्मिथ, कर्नल टाड, प्रो० वेबर आदि भारतकी मूर्तिकलाको देखकर स्तब्ध रह गये हैं। अशोकका स्तम्भ, रामेश्वरम्‌का मन्दिर, इलोराकी गुफाएँ आज भी विश्वको चुनौती दे रही हैं। अजन्ताकी गुफाएँ आज भी भारतकी कीर्तिध्वजाको ऊँचा किये हैं।

हिंदुओंकी शासन-व्यवस्था, उनके राज्यनियम और न्यायविभागके सुगठनकी महत्ता तो निर्विवाद है। श्रीलूइ जेकोलियट (Louis Jacolliot) अपनी पुस्तक (Bible in India)-में लिखते हैं, 'मनुस्मृति वह नींव है जिसपर इजिप्शियन, परशियन, ग्रीक और रोमन न्याय और नियमोंका भव्य प्रासाद खड़ा है। और आधुनिक यूरोपपर भी मनुका एक विशेष प्रभाव है।'

यह तो पश्चिमी विद्वानोंकी राय है, जो उन्होंने हिंदुओंके प्राचीन गौरवपर दी है और आज अमेरिका-जैसे उन्नत राष्ट्र भी हिंदुओंकी विद्वत्ताको स्वीकार करते हैं। स्वामी विवेकानन्दके अमेरिका-प्रवास-कालमें उन्होंने जो सफलता प्राप्त की, वह तो महान् थी ही; लेकिन उसी समय अमेरिकाके एक प्रसिद्ध पत्र 'न्यूयार्क हेरल्ड' ने लिखा था कि 'यह कितनी मूर्खताकी बात है कि हम (अमेरिकन) भारत-जैसे विद्वान् देशमें अपने प्रचारके निमित्त मिशनरी भेजें।'

स्पष्ट है कि हिंदू जगद्‌गुरु रह चुके हैं और यह भी निश्चित ही है कि आजकी त्रस्त मानवता यदि कहीं त्राण पायेगी तो वह भारतमें ही और हिंदू-संस्कृति ही उसे त्राण देगी। लेकिन आज आवश्यकता है हिंदुओंके जाग्रत् होनेकी, अपनी सभ्यता और संस्कृतिके प्रति अधिकाधिक श्रद्धासम्पन्न और संस्कृतिके अनुसार ही सच्चे क्रियाशील होनेकी—साथ ही संगठित भी हो जानेकी। '**सङ्घे शक्तिः कलौ युगे।**' हिंदूका अतीत उज्ज्वल रह चुका है और उसके वर्तमानपर छाया हुआ यह अन्धकार भी दूर हो सकता है यदि वह अपनी संस्कृतिसे सच्चा प्रेम करना सीखे और उसके अनुसार जीवन बनाने लगे।

अन्तमें स्वामी विवेकानन्दद्वारा दिये गये भाषणसे मैं निम्नलिखित पङ्क्तियाँ उद्‌धृतकर लेखनीको विराम देता हूँ—'यह वही भूमि है, जहाँसे दर्शन और आत्म-ज्ञानकी ऊँची लहरोंने बार-बार उठकर समस्त विश्वको प्लावित कर दिया था और यह वही भूमि है, जहाँसे एक बार पुनः उस ज्वार-भाटेके उठनेकी आवश्यकता है, जो पतनोन्मुख मानवताको नव-जीवन और शक्ति दे सके।'

विपत्ति-सम्पत्ति क्या है?

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

कोई विपत्ति विपत्ति नहीं है और सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं है। भगवान् विष्णुका विस्मरण ही विपत्ति है और भगवान् नारायणकी स्मृति ही सम्पत्ति है।

युगभेदसे मानव-देहका अपकर्ष

(लेखक—श्रीनीरजाकान्त चौधरी देवशर्मा)

शास्त्रोंके अनुसार अनन्त कालके भीतर क्रमशः सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग बारंबार आते-जाते रहते हैं। और क्रमशः युगभेदसे मनुष्यकी परमायु और आकार आदिमें भी लघुता आती-जाती है। सत्ययुगमें मानवशरीर आजकलके हस्तप्रमाणसे इक्कीस हाथका होता था; त्रेतामें चौदह, द्वापरमें सात तथा कलिमें आजकल साढ़े तीन हाथका होता है। पञ्चाङ्गोंसे भी युगोंके वर्णनमें यही देखनेमें आता है।

विष्णुपुराणमें लिखा है कि राजा शर्यातिके वंशधर कुशस्थलीके राजा रैवत ककुद्मी बहुत अन्वेषण करनेपर भी अपनी कन्या रेवतीके योग्य पात्र न पा सके। अन्तमें इस विषयमें ब्रह्मासे जिज्ञासा करनेके लिये वे कन्याको साथ लेकर ब्रह्मलोक गये। वहाँ वेदगान हो रहा था, अतएव उनको प्रतीक्षा करनी पड़ी। तत्पश्चात् ब्रह्मा उनसे बोले कि 'जबतक तुम यहाँ प्रतीक्षा करते रहे, तबतक अनेकों मानवीय युग व्यतीत हो गये। तुम्हारा समकालीन वहाँ कोई भी जीवित नहीं रहा है।' फिर ब्रह्माने उनको पृथ्वीपर लौटने और श्रीकृष्णके अंशभूत माया-मानुष श्रीबलदेवके साथ रेवतीका विवाह करनेकी आज्ञा दी।

उच्चप्रमाणामिति तामवेक्ष्य
स्वलाङ्गलाग्रेण च तालकेतुः।
विनम्रयामास ततश्च सापि
बभूव सद्यो वनिता यथान्या॥

(विष्णुपुराण ४।१।३८)

'तालकी ध्वजावाले भगवान् बलदेवजीने उस रेवतीको बहुत लंबे शरीरवाली देखकर अपने हलास्त्रके द्वारा उसे नम्राकार कर दिया। तब रेवती तत्कालीन अन्य कन्याओंके समान छोटे आकारकी हो गयी।'

सूर्यवंशी भक्ताग्रगण्य अम्बरीषके भाई तथा सम्राट् मान्धाताके पुत्र राजा मुचुकुन्द सत्ययुगमें देवताओंके लिये असुरोंसे युद्ध करके थक गये। देवताओंने उनको वरदान दिया और उसके प्रभावसे वे एक गुफामें दीर्घ निद्रामें सो रहे थे। श्रीकृष्ण छल करके पीछा करनेवाले कालयवनको उस गुफामें ले गये। कालयवनने राजा मुचुकुन्दको भ्रमसे श्रीकृष्ण मानकर पैरोंसे मारा और उनकी दृष्टिमात्रसे जलकर भस्मकी ढेरी हो गया। मुचुकुन्दने भगवान्का स्तवनकर दूसरे जन्ममें जातिस्मरता और मोक्षप्राप्तिका वरदान प्राप्त किया।

इत्युक्तः प्रणिपत्येशं जगतामच्युतं नृपः।
गुहामुखाद्विनिष्क्रान्तः स ददर्शाल्पकान् नरान्॥
ततः कलियुगं मत्वा प्राप्तं तप्तुं नृपस्तपः।
नरनारायणस्थानं प्रययौ गन्धमादनम्॥

(विष्णुपुराण ५।२४।४-५)

राजा मुचुकुन्दने गुहासे बाहर आकर देखा कि दूसरे मनुष्य उनकी अपेक्षा बहुत छोटे आकारके हैं, और समझा कि कलियुगका आरम्भ हो गया है।

महाभारतके वनपर्वमें भी हनुमान्-भीम-संवादमें युग-भेदसे तेज, शक्ति और आकारके ह्रासकी बात आयी है।

पाश्चात्त्य विद्वानोंने आर्षशास्त्रोंके दीर्घ युग-परिमाण तथा पूर्वयुगके मानव-देहकी अत्यधिक उच्चताको लेकर कई जगह बड़ी हँसी उड़ायी है। इसका कारण यह है कि वे लोग Old Testament बाइबलके विश्वासी हैं। और बाइबलके मतसे पाँच हजार वर्षसे कुछ पूर्व पृथ्वीकी सृष्टि हुई थी।

आधुनिक क्रम-विकासवाद तथा जड-विज्ञानके प्रमाणके सामने हमें मौन हो जाना पड़ता है, और स्वभावतः हम शास्त्रवाक्योंकी सत्यताके विषयमें सन्देह करने लगते हैं!

परंतु अब अनुसन्धानके फलस्वरूप बाइबलकी सृष्टि-कथा पूर्णतया काल्पनिक प्रमाणित हो गयी है। बल्कि ऐसे और भी बहुतेरे नये तथ्योंका उद्घाटन हो रहा है, जिनसे निश्चयपूर्वक प्रमाणित होता है कि

प्राचीन कालमें मानव और अन्य जीवोंके शरीर बहुत बड़े आकारके थे, और वे क्रमशः छोटे होते जा रहे हैं।

भारतमें शवदाहकी प्रथा सदासे चली आती है। इस कारणसे यहाँ प्राचीन कङ्कालोंका प्राप्त होना बहुत कठिन है। तथापि बीच-बीचमें कहीं-कहीं कङ्काल मिल जाते हैं।

ह्वेनसांगका वर्णन

सप्तम शताब्दीमें प्रसिद्ध चीनी परिव्राजक ह्वेनसांगकी भारत-भ्रमणकी कथासे शास्त्र-पुराणोंकी बातकी ही पुष्टि होती है। उसने 'कुरुक्षेत्र' को धर्मक्षेत्र (**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः**) के नामसे वर्णन किया है। कुरुक्षेत्रके युद्धके सम्बन्धमें उसने जो विवरण दिया है, उसके प्रामाणिक न होनेपर भी बादमें लिखा है कि—

'मृतदेह लकड़ीके ढेरके समान स्तूपाकार हो गये थे; और तबसे आजतक इस प्रान्तमें सर्वत्र उनकी हड्डियाँ बिखरी हुई पायी जाती हैं। यह बहुत प्राचीन समयकी बात है, क्योंकि हड्डियाँ बहुत बड़ी-बड़ी हैं।'*

ह्वेनसांगने निश्चयपूर्वक कुरुक्षेत्र-युद्धमें मरे हुए व्यक्तियोंकी हड्डियाँ देखी थीं और वे तत्कालीन लोगोंके आकारकी अपेक्षा बहुत बड़ी थीं।

भारतमें प्राचीन अतिकाय कङ्काल

१९४१ ई० में कुरुक्षेत्रके समीप एक विलक्षण नर-करोटी पायी गयी थी। संवादपत्रोंमें उसका समाचार छपा था। खुदाई करनेसे सम्भव है कि भविष्यमें और भी चिह्न बाहर निकल सकें। भारतमें अन्यत्र भी बृहद् आकारके नरकङ्काल पाये गये हैं। प्रायः २५—३० वर्षों पहले मैंने समाचारपत्रोंमें पढ़ा था कि युक्त-प्रदेशमें किसी नदीकी धारके बीच एक अतिकाय नरकङ्काल पाया गया था, और वह जिला मजिस्ट्रेटके पास भेज दिया गया था। इस विषयमें मुझे कुछ अधिक स्मरण नहीं होता।

प्रायः दस वर्ष पूर्व मध्यप्रदेशके होशंगाबाद जिलेमें सोहागपुर नगरके समीप एक बृहद् आकारका कङ्काल पाया गया था। खेदकी बात है कि इस कङ्कालका फोटो या उसका कोई अंश रखा नहीं गया।

कोलोराडोका अतिकाय कङ्काल

ता० ९-८-४७ ई० के नागपुरके 'हितवाद' नामक पत्रमें न्यूयार्कके 'ग्लोब' पत्रमें प्रकाशित एक समाचार छपा था। उससे यह ज्ञात हुआ था कि अमेरिकाके कोलोराडो मरुभूमिकी गुफामें अनेकों ९ फुट लंबे कङ्काल पाये गये हैं। अनुमान किया जाता है कि वह स्थान लगभग ८००० वर्ष पहले किसी प्राचीन जातिके राजवंशका समाधिस्थल था। †

अफ्रिकामें अन्वेषण

इंग्लैण्डके प्रसिद्ध पत्र Illustrated London News के १९४७ ई० के ५ अक्टूबर और २ नवम्बर (५०४ पृ०)-के अङ्कोंमें इस विषयपर एक लेख और चित्र प्रकाशित हुए हैं। उससे पता चलता है कि दक्षिण अफ्रिकाके प्रसिद्ध नृतत्त्वविद् डाक्टर एल० एस० बी० लीकी (Dr. L.S. B. Leakey)-को १९४३ ई०में केनियाकी मैगजी झीलमें, अलरजेसलीमें, तथा उससे पहले टैनगनिकाके Oldway Gorge में प्रस्तरीभूत कङ्काल मिले थे। वहीं वेवून, हस्ती (सीधे दाँतवाले), मेष (भैंसके आकारका जीव) प्रभृति जीवोंके बहुत बड़े हाड़ और दाँत आदि भी पाये गये हैं।

डा० लीकीके मतसे प्रायः एक लाख पचीस हजार वर्ष पहले मनुष्यके साथ-साथ ये जीव भी रहते थे।

---

* Dead bodies were heaped together as sticks, and from that time till now the plains were everywhere covered by their bones. As this relates to a very remote period of time, the bones are very large ones. (Beal: *Hieuent sang*, p.186)

† *Remains of 9 ft.men found*

Newyork, Aug. 7—The remains of men 9 feet tall have been found in the caves of America,s Colorado desert, which is thought to be the burialplace of people who lived perhaps 8000 years ago.

Mummies and implements have been unearthed, along with skeletons of elephants and tigers. Hieroglyphic inscriptious in granite in the cave,believed to have been of a temple, may be a key to an ancient story.—'Globle'.

(Hitavada 9-8-47)

करेन अन्ततः मेषके द्वारा पाला हुआ प्राणी है। तुलनात्मक चित्रोंद्वारा यह दिखलाया गया है कि आधुनिक प्राणीके शरीरकी अपेक्षा ये कितने बड़े थे। इस विषयमें कलकत्तेके स्टेट्समैनने सन् १९४७ फरवरी मासमें जो आलोचना प्रकाशित की थी, उसे नीचे उद्धृत किया जाता है*—

'डार्विन-सिद्धान्तके अनुगामी बंदरको मनुष्यका पूर्व-पुरुष मानते हैं। इसको प्रमाणित करनेके लिये दोनोंके मध्यवर्ती ऐसे एक जीवकी आवश्यकता है, जिसमें इन दोनोंकी विशिष्टता पायी जाय। परंतु यह अदृश्य योगसूत्र पाया नहीं जाता। अतएव परवर्ती कालमें बहुतेरे प्राणि-विज्ञान-वेत्ता विश्वास करने लगे कि मनुष्य और वानर एक साधारण पूर्वपुरुषसे प्रायः एक ही कालमें पैदा हुए थे। परंतु इस युक्तिका समर्थन करनेवाले प्रमाण भी नहीं पाये जाते।

१९३०—३५ ई० के बीच, दक्षिण अफ्रिकाके नृतत्त्वविद् मि० लीकी घोषणा करते हैं कि उन्होंने केनियामें दस लाख वर्ष पुराने नर-कङ्कालका पता लगाया है। परंतु दूसरे अन्वेषक लोग इस प्राचीनताको स्वीकार नहीं करते।

परंतु सम्प्रति आक्सफोर्डके शरीर-तत्त्वके एक अध्यापकने दक्षिण अफ्रिकाकी एक गुफामें कुछ प्राग्-ऐतिहासिक शिलीभूत हड्डियोंको खोदकर निकाला है। उन्होंने इनका नाम दिया है—'ऑस्ट्राइपिथेकस्'। और वे भी इनके प्रायः उतने ही प्राचीनत्वका दावा करते हैं। उनका सिद्धान्त यह है कि लाखों वर्ष पूर्व भी पृथ्वीपर पुरुष-स्त्री थे, वे गलेको पीछे करके सीधे होकर चलते थे, बंदरकी तरह नहीं। वे खेती करते थे, कपड़े पहनते थे और आजकलकी प्राचीन जातियोंके समान व्यवहार करते थे। तथापि उनको ऑस्ट्राइपिथेकस् और वानरके बीचमें, खोज करनेपर भी, किसी सम्पर्कका पता न लगा।'

यवद्वीप (जावा) और चीनदेशमें नवीन खोज

यूनाइटेड स्टेट्स अमेरिकासे प्रकाशित होनेवाले 'लाइफ' (Life) पत्रके १९४६ ई० के २८ अक्टूबरके अङ्कमें जो निबन्ध प्रकाशित हुआ है,उसका भावानुवाद यहाँ दिया जाता है। इससे पूर्णतः प्रमाणित होता है कि पूर्वकालमें मनुष्य-शरीर बड़े आकारका था और क्रमशः छोटा होता जा रहा है।

'फॉन कोनिग्स्वाल्ड एक प्राणितत्त्ववेत्ता हैं। वे विगत द्वितीय महायुद्धके पूर्व स्विस् गवर्नमेंट और कार्नेगी इन्स्टीच्यूशनकी ओरसे यवद्वीप (जावा टापू)-में गवेषणा करते थे।'

वहाँ खुदाईके फलस्वरूप उनको प्राचीन कालके नर-कपालका एक टुकड़ा मिला। उसके बृहद् आकार और परिमाणसे जान पड़ता है कि चार लाख वर्षसे प्राचीन 'जावा मैन' (Pithecanthropus Erectus) के कङ्कालकी अपेक्षा भी ये प्राचीन हैं। इसका नामकरण हुआ है—पिथेकन्थ्रोपस् रोबस्टस् (Pithecanthropus Robustas)।

इसके अतिरिक्त उनको बड़े जबड़ेका टुकड़ा मिला

---

* The Darwinian theory that man is descended from the monkey required an intermediate creature showing the characteristics of both; and since this missing link could not be found,a number of later Biologists came to believe that the two species evolved out of a common ancestor at about the same time. Their hypothesis has also lacked verification. In the early thirties Mr. Leaky, the South African anthropologist, announced that be had discovered in Kenya human bones which were a million years old; but the date he wanted to assign to this specimen of homesapiens was disputed by other authorities. Now, however, the Professor of Anatomy at Oxford claims equal antiquity for what he calls Austraipithecus whose fossial remains have been dug out of a cave in South Africa and his conclusion is that more than a million years ago there were men and women in the world walking erect with their shoulders back, tilling the soil, wearing clothes and behaving more or less as primitive tribes behave today. Moreover he cannot discover any kinship between Austraipithecus and the ape."

—The Statesman, February, 1947

था। वह अनुमानतः ४॥ लाखसे ५ लाख वर्ष पुराना होगा। इस जातिके मनुष्यका नाम रखा गया है—मेगन्थ्रोपस (Meganthropus)। इसके चित्रसे जान पड़ता है कि वह आधुनिक मनुष्यकी करोटीसे ड्योढ़ा या दुगना बड़ा होगा।

कोनिग्स्वाल्डने चीनमें हांगकांग और कैंटन नगरोंकी औषधकी दूकानोंसे इसकी अपेक्षा भी अधिक प्राचीन तीन दाँत प्राप्त किये हैं। चीनमें इस प्रकारके प्राचीन दाँतोंसे वीर्यवर्द्धक औषध तैयार की जाती है और दाँत क्यांग्सि प्रदेशकी गुहासे पाये गये हैं। फोटोसे जान पड़ता है कि आधुनिक मनुष्यके दाँतसे इनकी लंबाई-चौड़ाई अन्ततः दुगुनी है। अबतक इनकी अपेक्षा प्राचीन नर-अस्थिका कहीं पता नहीं लगा है। इस मनुष्यका नाम रखा गया है—जिगेंटोपिथेकस् (Gigantopithecus)। यह सम्भवतः ४$\frac{१}{२}$ से ५ लाख वर्ष पुराना होगा।

पिथेकान्थ्रोपस् इरेक्टस्से लेकर जिगेंटोपिथेकस्पर्यन्त जो नर-कङ्कालके अवशेष पाये गये हैं, उनमें परवर्तीकी अपेक्षा पूर्ववर्ती क्रमशः अधिक बड़ा और भारी है।*

डारविनका क्रम-विकासवाद भ्रान्तिमूलक है

अबतक आधुनिक खोजोंके बारेमें जो कुछ कहा गया है, उससे डारविनके क्रमविकासवादकी सत्यताके सम्बन्धमें घोर सन्देह होता है। फलतः यह क्रम-विकासवाद भारतीय शास्त्रोंके सिद्धान्तोंके बिलकुल विपरीत है। यद्यपि डारविनने भगवान्‌को अस्वीकार नहीं किया, फिर भी उनके नवीन सिद्धान्तके सम्पर्कमें आकर बहुत-से लोग ईश्वरकी सत्तामें सन्देह करने लगे हैं।

परमेश्वर सर्वशक्तिमान् हैं, वे ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त विशाल सृष्टिकी रचना, पालन और संहार करते हैं। फिर वे क्या वानरके स्थानमें मनुष्यकी रचना नहीं कर सकते? दो वृक्षके पत्ते—यही क्यों, घासके दो तिनके कभी एक-से नहीं रचे गये। एक बूँद जलके बीच भी असंख्य जीव रहते हैं, जो केवल अणुवीक्षण-यन्त्रकी सहायतासे देखे जाते हैं।

आर्ष-शास्त्रोंमें मनुष्यका एक विशिष्ट स्थान, बल्कि प्राधान्य है; क्योंकि चतुर्दश भुवनोंमें एकमात्र पृथ्वी ही कर्मक्षेत्र है और मानव-शरीर ही एकमात्र कर्म करनेका साधन है। दूसरे सभी लोक भोगभूमियाँ हैं, और दूसरे सारे शरीर (यहाँतक कि देवशरीर भी) भोगशरीर हैं। उनमें तथा उनके द्वारा मुक्तिके उद्देश्यसे कोई कर्म नहीं होते। अतएव मनुष्य भगवान्‌की सृष्टिका श्रेष्ठ जीव है, नर-देह अत्यन्त दुर्लभ है। देवताको भी मुक्तिके लिये धराधाममें आकर मनुष्यदेह ग्रहणकर जन्म लेना पड़ता है।

हमलोगोंके लिये सामान्य ज्ञान लेकर तथा दो अक्षर अंग्रेजीके पढ़कर भारतके प्राचीन इतिहास और शास्त्र-सिद्धान्तको अवहेलनाकी दृष्टिसे देखना या उसकी हँसी उड़ाना उचित नहीं है। जगत्-पूज्य महर्षिगण केवल थोथी गल्प-रचना, भला किस उद्देश्यसे करते?

आज जो अनुसन्धान हो रहे हैं, उनसे पाश्चात्त्य अन्वेषकोंके मतसे भी निःसन्देह सिद्ध हो रहा है कि प्राचीन कालसे मानवदेह क्रमशः छोटा होता आ रहा है, तथा आजसे दस लाख वर्ष पूर्व भी सभ्य मानवका पृथ्वीपर अस्तित्व था। इससे शास्त्रोंमें जो युगभेदसे क्रमशः सब विषयोंमें अवनतिकी बात लिखी है, वह सर्वथा सत्य सिद्ध होती है।

---

* Each type, from Pithecanthropus Erectus back to Gigantopithecus is larger, more massive and more primitive than the one before it. If Weidenreich is right, man's earliest known ancestor is Gigantopithecus, a huge creature perhaps twice the size of a modern Gorilla. (Life, October 28, 1946, p. 10)

प्रशान्त महासागरके देशोंमें हिंदू-संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम० ए०)

इस महासागरके एक ओर चीनका विशाल प्राचीन देश है और दूसरी ओर अमेरिकाका महाद्वीप, जो आधुनिक संस्कृतिका द्योतक है। इन दोनोंके बीच, इसकी गोदमें, हजारों छोटे-बड़े द्वीप हैं। इन सबमें तरह-तरहकी संस्कृतियोंके नमूने देखनेमें आते हैं। परंतु इधर जो खोज हुई है, उससे पता लगता है कि इनमें सबसे प्रधान हिंदू-संस्कृति थी, जिसका प्रभाव उन देशोंके इतिहास तथा जीवनपर पूरी तरह पड़ा है। यहाँ कई हिंदू-राज्योंका उत्थान और पतन हुआ, जिनका स्मरण दिलानेके लिये आज भी जहाँ-तहाँ कितने ही चिह्न मिलते हैं। प्रायः लोगोंकी धारणा है कि बौद्धमतके प्रचार तथा विस्तारके साथ भारतसे बाहरके देशोंमें हिंदू-संस्कृतिका सूत्रपात हुआ; परंतु इन देशोंकी संस्कृतिके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि यह मत भ्रान्त है। बौद्धोंके प्रभावसे बहुत पहले यहाँ विशुद्ध हिंदू अर्थात् 'वैदिक संस्कृति' के चिह्न पाये जाते हैं। जैसे-जैसे इतिहासके इस पृष्ठपर खोजका प्रकाश पड़ता जा रहा है, वैसे ही हमारी आँखोंके सामने 'बृहत्तर' अर्थात् 'विशाल' भारतका चित्र स्पष्ट होता जाता है। इन देशोंमें वैदिक संस्कृतिके जो चिह्न प्राप्त हुए हैं, संक्षेपमें हम यहाँ क्रमसे उन्हींको दिखलानेका प्रयत्न करेंगे।

चीन

अपने यहाँके इतिहास-पुराणोंमें चीनकी चर्चा अति प्राचीन कालसे मिलती है। वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धाकाण्डमें सुग्रीवने जब वानरोंको विभिन्न देशोंमें सीताजीको खोजनेका आदेश दिया, तब उन्होंने उसमें चीनका भी नाम लिया है—

चीनान्परमचीनांश्च निहारांश्च पुनः पुनः।
अन्विष्य दरदांश्चैव हिमवन्तं तथैव च॥

महाभारतमें भी कई स्थानोंपर चीन तथा चीनियोंका उल्लेख मिलता है—

यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शबरबर्बराः।
(शान्ति० ६५। १३)

विष्णुपुराणमें भी कहा गया है—

प्रियङ्गवो ह्युदाराश्च कोरदूषाः सचीनकाः।
(१। ६। २१)

मनुने यवन, शक, किरात, चीनी आदिकोंको 'आचार-भ्रष्ट क्षत्रिय' बतलाया है—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥

कौटिल्यने भी अपने 'अर्थशास्त्र' में चीनके रेशमका उल्लेख किया है—

तथा कौशेयं चीनपट्टाश्च चीनभूमिजा व्याख्याताः।

ईसाके ५०० वर्ष पूर्व यहाँ 'ता-ओ' मतका बहुत प्रचार हुआ, जिसके प्रवर्तक लओ-त्से माने जाते हैं। 'ता-ओ' शब्द निर्विकार निरुपाधिक परमतत्त्वका द्योतक है। यह परम्परागत शिक्षा अद्वैत-वेदान्तसे बहुत मिलती है। इसका मार्ग निवृत्ति या वैराग्य है। 'ता-ओ' के मूल-ग्रन्थ 'यो-किङ्ग' की रचना ईसासे ३४६८ वर्ष पूर्व मानी जाती है। इसमें सृष्टिके उत्पादनके लिये दो तत्त्व बतलाये गये हैं—'याङ्ग' (लिङ्ग) और 'यीन' (योनि), जिनसे अभिप्राय पुरुष और प्रकृतिसे है। इसमें चार युगोंकी भी चर्चा आयी है। इसके समकालीन ही कनफ्यूशस (कोङ्ग-त्से या कुङ्ग मुनि)-का सम्प्रदाय है, जिसमें प्रवृत्तिमार्गपर जोर दिया गया है और पितरोंका पूजन तथा उनमें श्रद्धा मुख्य उपासना बतलायी गयी है। इस सम्प्रदायके उपदेशोंपर वैदिक सनातनधर्मका प्रभाव प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। मानवसमाजके कल्याणसाधनके लिये भगवान् मनुके सारगर्भित उपदेशोंपर ही इनकी शिक्षा अवलम्बित है। व्यवहारके लिये इसमें मुख्य सिद्धान्त यह बतलाया गया है कि 'किसीके साथ ऐसा बर्ताव न करो, जो तुम अपने लिये नहीं चाहते।' यह तो—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

—का अनुवादमात्र है। हिंदू-स्त्रीकी तरह प्राचीन

शैलीके अनुसार चीनी स्त्रीका भी यही कर्तव्य है कि वह बाल्यकालमें माता-पिता, विवाह हो जानेपर पति और विधवा होनेपर अपने पुत्रोंके अधीन रहे। मनुने भी यही बतलाया है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्राश्च स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

'दि बर्थ आफ चाइना' (चीनका जन्म) नामक अपनी पुस्तकमें डॉ० क्रील लिखते हैं कि प्राचीन चीनियोंके रीति-रिवाज और उपासनाओंमें वैदिक प्रतीकों और यज्ञोंकी झलक दिखलायी पड़ती है। सरदारोंके लिये चीनमें 'मण्डारिन' शब्दका प्रयोग होता है, जो 'मंत्रिन्' शब्दका विकृत रूप जान पड़ता है। बौद्धमतका प्रवेश तो वहाँ ईसासे दो सौ वर्ष पहले हुआ, जैसा कि अब प्रायः सभी विद्वान् मानने लगे हैं। इस तरह चीनमें प्राचीन वैदिक संस्कृतिका ही पता लगता है।

हिंदचीन

यह प्रदेश चीनके दक्षिणमें है। इसका आधुनिक 'अनाम' प्रान्तका प्राचीन नाम 'चम्पा' था। बहुत कालतक यह प्रदेश हिंदुओंके अधीन रहा। यहाँके हिंदू-नरेश अपनेको 'श्रीमार' के वंशज कहते थे, जिसका काल ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दी माना जाता है। इन्द्रवर्मन द्वितीयके एक शिलालेखमें, जो ७५७ शक-संवत्‌का है, बतलाया गया है कि प्रथम राजा ओजको स्वयं शिवने यहाँ भेजा। शिलालेखमें एक 'विचित्रसगर' का नाम आता है, जो द्वापरयुगके ५९११ वें वर्षमें बतलाया गया है। चौथी शताब्दीमें यहाँ मुख्य चार राज्य थे—कौठार, पाण्डुरङ्ग, विजय और अमरावती या इन्द्रपुरी। 'अनाम'की प्राचीन गाथाओंमें बतलाया गया है कि 'चम्पा' के प्राचीन निवासी वानरोंकी सन्तान हैं और इस सम्बन्धमें रामायणकी कथा संक्षेपमें दी हुई है। उन लोगोंका विश्वास था कि रामायणकी घटना चम्पामें ही हुई थी। यहाँके राजालोग शिवके उपासक थे। शिवकी मूर्ति तथा लिङ्ग दोनों रूपमें पूजन प्रचलित था। शिवके साथ शक्ति-उपासना भी चलती थी। इन देवताओंके अब भी यहाँ कितने ही विशाल मन्दिर टूटी-फूटी हालतमें मिलते हैं। यहाँके साहित्यमें रामायण, महाभारत, शिवपुराण, लिङ्गपुराणकी बहुत-सी कथाएँ आयी हैं। सिद्धान्तरूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य—ये चारों वर्ण माने जाते थे; परंतु व्यवहारमें ब्राह्मण, क्षत्रिय—इन दोका ही उल्लेख आता है। यहाँके हिंदू-नरेशोंका इतिहास डॉ० मजूमदारने सन् १९२७ में प्रकाशित अपने 'चम्पा' नामक ग्रन्थमें दिया है।

कम्बोडिया

इसके दक्षिण-पूर्वमें आधुनिक 'कम्बोडिया' देश है। यह भी पहले हिंदू-राज्य था और इसका नाम 'काम्बोज' था। यहाँके राजवंशके सम्बन्धमें कई कथाएँ प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि कौण्डिन्य नामक एक ब्राह्मणने, जिसको द्रोणपुत्र अश्वत्थामासे एक भाला प्राप्त हुआ था, यहाँ आकर नागकन्या सोमासे विवाह किया। उसीसे राजवंश चला। दूसरी अनुश्रुतिके अनुसार इन्द्रप्रस्थके राजा आदित्यवंशने अपने एक पुत्रको क्रुद्ध होकर देशसे निकाल दिया। उस राजकुमारने यहाँ आकर नागपुत्रीसे विवाह किया, जिससे राजवंशकी उत्पत्ति हुई। यह राजा अपनेको चन्द्रवंशी मानता था। इस राजघरानेका सम्बन्ध सूर्यवंशसे भी माना गया है। इस विषयकी ऐसी कहावत है—महर्षि कम्बु, स्वायम्भुव और अप्सरा मेराने, जिसे उन्होंने शिवके प्रसादसे प्राप्त किया था, यहाँ सूर्यवंशका प्रसार किया। 'वाकसेई चामक्रोम' शिलालेखमें इसका वर्णन इस तरह किया गया है—

स्वायम्भुवं नमत कम्बुमुदीर्णकीर्ति
यस्यार्कसोमकुलसंगतिमाप्नुवन्ति ।
सत्सन्ततिः सकलशास्त्रतमोऽपहन्त्री
तेजस्विनी मृदुकरा कलयाभिपूर्णा॥

अर्थात् कम्बु स्वायम्भुवकी प्रतिष्ठा करो, जो उत्कृष्ट महिमासे युक्त हैं और जिनका विश्रुत वंश सूर्यवंश और चन्द्रवंशमें सम्बन्ध पैदा करके सम्पूर्ण शास्त्रोंके अन्धकारको दूर करता है। इन्हीं कम्बुकी प्रजा 'कम्बुज' और उसीसे देश 'काम्बोज' कहलाया। ऊपर उद्धृत श्लोकमें मनुने भी 'कम्बोजों' का उल्लेख किया है। महाभारत 'शान्तिपर्व' में भी बतलाया गया है—

पौण्ड्राः पुलिन्दारभटाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः।'

आधुनिक इतिहासकारोंने इन घटनाओंका काल

ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दी माना है। तबसे लेकर चौदहवीं शताब्दीतक यहाँ हिंदुओंका शासन बना रहा। यहाँके राजा 'वर्मा' की उपाधि धारण करते थे, ये लोग भी शैव थे। साथ ही वैष्णव मतका भी प्रचार था। दोनोंका सम्मिश्रण 'हरिहर' की उपासनामें किया गया। सातवीं शताब्दीमें यहाँ बौद्धधर्मका प्रवेश हुआ और हिंदू-राजाओंने अपनी विख्यात उदारताके अनुसार इस मतको भी राज्यका संरक्षण प्रदान किया। कई नगरोंमें इन राजाओंने विशाल मन्दिर बनवाये थे। प्रसिद्ध नगर अङ्कोरमें, जिसका प्राचीन नाम 'यशोधारपुर' था, एक बड़ा भारी मन्दिर था, जो टूटी-फूटी हालतमें अब भी मौजूद है। इसके चारों ओर एक परिखा है, जो लगभग ७०० फुट चौड़ी है। इसको पार करनेके लिये सात सिरवाले नागके आकारके खंभोंपर ३६ फुट चौड़ा सेतु है। चार कोनोंपर १८० फुट ऊँची चार बुर्जें हैं। मन्दिरकी दीवारोंपर अप्सराओं और देवी-देवताओंके बड़े सुन्दर चित्र बने हुए हैं। सम्भवतः यह पहले विष्णु-मन्दिर था। अब हीनयान बौद्ध-मन्दिर बन गया है। देशभरमें यत्र-तत्र कितने ही शिलालेख मिले हैं, जो संस्कृतमें हैं और उनकी लेखनशैली साहित्यिक है। छठी शताब्दीके एक लेखमें बतलाया गया है कि ब्राह्मण सोमशर्माने एक स्थानपर रामायण, महाभारत और पुराणोंके प्रतिदिन पाठ चलते रहनेका प्रबन्ध किया। आज भी यहाँके राजमहलमें 'इन्द्रकी तलवार' रखी है, जिसकी रक्षा बड़ी सावधानीसे की जाती है। उत्सवोंपर उसका जुलूस बड़ी धूम-धामसे निकाला जाता है।

थाइलैंड

यह देश जो कम्बोडियाके पश्चिममें है, कुछ दिन पहले 'श्याम' के नामसे प्रसिद्ध था। इसका प्राचीन नाम 'द्वारावती' है। यहाँका प्राचीन इतिहास अभीतक पूर्णरूपसे नहीं प्राप्त हुआ है। ईसवी सन्‌की पाँचवीं तथा छठी शताब्दियोंके जो लेख मिले हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वैदिक धर्म और 'हीनयान बौद्धमत' दोनों ही उन दिनों प्रचलित थे। आजकल यद्यपि राजधर्म बौद्धमत ही है, तथापि रीति-रिवाजोंमें हिंदू-धर्मकी बहुत कुछ छाया दीख पड़ती है। यहाँके राजा रामचन्द्रके अवतार माने जाते हैं और उनका नाम भी प्रायः 'राम' पर होता है। राजा छठे रामने 'अयुथिया' (अयोध्या) नामक नगरको राजधानी बनाया। उत्तरी श्याममें 'लपबुरी' (लवपुरी) प्रसिद्ध नगर है, जिसके एक मन्दिरमें विष्णु, लक्ष्मी और कई ऋषियोंकी मूर्तियाँ हैं। सुखोदय और स्वर्गलोक नामक नगरोंमें भी कुछ मन्दिर हैं। यहाँकी आधुनिक राजधानी 'बैंकाक' में जो प्रधान बौद्धविहार है, उसके चाँदीके फाटकपर रामायणके दृश्य अङ्कित हैं। देशमें विकृतरूपसे रामायणकी कथाका भी प्रचार है। सन् १९२४ में प्रकाशित 'श्याम' नामक पुस्तकमें ग्रैहमने लिखा है कि यहाँ बारह-तेरह वर्षके बालकोंका एक संस्कार होता है, जिसमें शिखा-मुण्डन प्रधान है। उनकी रायमें यह संस्कार हिंदुओंके उपनयनसे बहुत मिलता है। वहाँ मुसलमानोंतकमें इसकी चाल है। सन् १९४१ में प्रकाशित अपनी 'थाइलैंड' नामक पुस्तकमें स्वामी श्रीसदानन्दजीने भी इसपर प्रकाश डाला है।

मलाया प्रायद्वीप

यह पतला-सा प्रायद्वीप एशियाका सबसे दक्षिणी भाग है, जो महासागरमें घुसा हुआ है। 'मलय' शब्दसे मलाया बना हुआ है। 'वायुपुराण' में छः द्वीपोंके नाम दिये हैं, जिनमें मलयद्वीपका नाम भी आता है। यहाँ ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दीसे हिंदुओंका पता लगता है। एक चीनी इतिहाससे ज्ञात होता है कि छठी शताब्दीमें यहाँ एक राज्य था, जिसमें संस्कृत भाषा प्रचलित थी। यहाँ 'कटाह' नामका भी किसी समय एक राज्य था। पुराणोंमें 'कटाहद्वीपका' वर्णन भी आया है। केडाह (कटाह) नामकी छोटी-सी' पहाड़ी है। उसपर एक टूटा हुआ मन्दिर पाया गया है, जिसमें दुर्गा, गणेश और नन्दीकी मूर्तियाँ मिली हैं। सन् १९२७में केम्ब्रिजसे प्रकाशित अपनी एक रिपोर्टमें श्रीइवान्सने लिखा है कि इससे यह सिद्ध होता है कि वहाँके प्राचीन निवासी हिंदू थे। डॉ० वेल्सकी राय है कि किसी समय इस प्रदेशमें हिंदुओंका पूरा प्रभाव अवश्य रहा होगा। आज भी 'श्रीथमरात' में ब्राह्मणोंकी कुछ बस्तियाँ हैं। रामायणका 'हिकायत सेरी राम' के नामसे यहाँ भी प्रचार है। जावा, सुमात्रा, श्याम आदि हिंदू-राज्योंसे इसका बहुत सम्बन्ध रहा। अभीतक क्रमबद्धरूपमें

इसका प्राचीन इतिहास उपलब्ध नहीं हुआ है।

मलक्का

यह मलय प्रायद्वीपका दक्षिणी भाग है। इसके भी प्राचीन इतिहासका पता नहीं है; परंतु पुर्तगाली अल्बुकर्कके दिये हुए विवरणोंसे पता लगता है कि उन दिनों यहाँका राजा 'परमीसुरा' (परमेश्वर) था, जिसने जावाकी राजकुमारीके साथ विवाह किया था। यह कुछ कालतक सिंगापुरमें, जिसका प्राचीन नाम 'तुमासिक' था, भी रहा था। कहा जाता है कि परमेश्वरने ही इस द्वीपका नाम 'मलक्का' रखा था, जो जावाकी भाषाका शब्द है और जिसका अर्थ है 'मिलनेका स्थान'। पंद्रहवीं शताब्दीमें मुसलमानोंका इसपर आधिपत्य हुआ, जिनसे पुर्तगालियोंने इसको छीन लिया। सन् १९३४ में प्रकाशित 'मलायाके इतिहास' में श्रीविन्सेंट लिखते हैं कि 'हिंदुओंके समयमें विद्वानोंका सम्मान होता था, धर्मका प्रचार था; परंतु मुसलमान शासकोंको लड़ाई-झगड़ों और स्त्रियोंसे ही अवकाश न मिलता था।' चीनी लेखक है-यूका कहना है कि सन् १५३७ तक यहाँके लोग देवनागरी अक्षरोंका प्रयोग करते थे। विन्सेंटके अनुसार जोहोर, तेराककी रियासतोंके सुल्तान अपने नामके आगे 'श्री' लिखते हैं। 'ब्रिटिश रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल' की संख्या ६१ में श्रीविलकिंसन लिखते हैं कि 'आज भी सरकारी भवनकी सीढ़ियोंपरसे एक पहाड़ीपर मकरकी मूर्ति दिखायी देती है, जो उस समयका स्मरण दिलाती है जब यहाँका राजा हिंदू था।'

सुमात्रा

'सुवर्णभूमि' या 'सुवर्णद्वीप' का उल्लेख अपने यहाँके प्राचीन ग्रन्थोंमें बहुत आता है। वाल्मीकिरामायणके 'किष्किन्धाकाण्ड' में यह नाम भी आया है—

सुवर्णरूप्यकं चैव सुवर्णाकरमण्डितम्।

'महाभारत, वनपर्व' में भी कहा गया है—

ततो गच्छेत्सुवर्णाख्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।

कौटिल्यने भी अपने 'अर्थशास्त्र' में लिखा है कि स्वर्णभूमिमें उत्पन्न होनेवाला चन्दन चिकना और पीला होता है—

कालेयकः स्वर्णभूमिजः स्निग्धपीतकः।

'कथासरित्सागर' की कई कथाओंमें 'सुवर्णद्वीप' का नाम आया है। बौद्धजातकोंमें भी इसकी चर्चा है। यह कहना बड़ा कठिन है कि यह 'सुवर्णद्वीप' कहाँ है। ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दीमें लिखे हुए अपने भूगोलमें सिकन्दरियाके 'तोलेमी' ने 'क्राइसकोरा' द्वीपका उल्लेख किया है, जिसका अर्थ होता है—'सुवर्णद्वीप'। अरब लेखक अलबेरूनीने लिखा है कि 'जाबज' द्वीपको हिंदूलोग 'सुवर्णद्वीप' कहते हैं। इससे तथा चीनियोंके वर्णनसे आधुनिक विद्वानोंका यह अनुमान है कि जावा, सुमात्रा, मलय आदिमेंसे ही किसीका नाम सुवर्णद्वीप है। डॉ० मजूमदारने ढाकासे १९३६ में प्रकाशित 'सुवर्णद्वीप' नामक पुस्तकमें इन सब मतोंपर विचार किया है और उनका कहना है कि सुमात्राको ही 'सुवर्णद्वीप' मानना ठीक है। यहाँ सोना भी निकलता है। सम्भव है इस ओरका द्वीपसमूह ही 'सुवर्णद्वीप' के नामसे प्रसिद्ध हो। वर्तमान सुमात्राद्वीप मलय प्रायद्वीपके दक्षिणमें है। कुछ मुसलमान लेखकोंने इसका 'समुद्र' नामसे भी उल्लेख किया है। सातवीं शताब्दीके चीनी लेखोंमें पहले-पहल सुमात्राके 'श्रीविजय' राज्यका वर्णन मिलता है। अरबोंने इसका नाम 'सरीबुज' दिया है। किसी समय 'श्रीविजय' एक विशाल साम्राज्य था, जिसमें सुमात्रा, जावा, मलय और श्याम भी शामिल थे। परंतु इस साम्राज्यका मूल स्थान कहाँ था, इसपर विद्वानोंमें बहुत मतभेद हैं। उन्हीं दिनों 'शैलेन्द्र' साम्राज्यका भी पता चलता है। कुछ विद्वान् 'श्रीविजय' और 'शैलेन्द्र' दोनोंको एक ही मानते हैं, कुछ अलग-अलग। ये दोनों विषय अभी विवादग्रस्त हैं; परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि किसी समय इस द्वीपसमूहमें एक विशाल हिंदू-साम्राज्य था, जिसका चौदहवीं शताब्दीमें अन्त हुआ। बतलाया जाता है कि 'श्रीविजय' के शासक 'हीनयान' बौद्धमतके अनुयायी थे। परंतु जान पड़ता है कि बौद्धमत प्रवेश होनेके पहले यहाँ भी हिंदू-धर्मका प्रचार था। श्रीलोयब लिखते हैं कि "यहाँके प्राचीन निवासी 'बटप' जातिके लोगोंने उच्च धार्मिक विचार भारतसे सीखे थे।" बौद्ध मूर्तियोंके साथ ही यहाँ भी हिंदू-मूर्तियाँ मिलती हैं। आसपासके

देशोंमें पहलेसे ही हिंदू-धर्मका प्रचार था। ऐसी दशामें अनुमान यही होता है कि बौद्धमतका प्रवेश यहाँ बादमें ही हुआ और 'श्रीविजय' तथा 'शैलेन्द्र' सम्राटोंका संरक्षण पाकर वह सुमात्राका प्रधान मत बन गया।

फिलिपाइन

बोर्नियोसे फिर उत्तरकी ओर बढ़नेपर फिलिपाइन द्वीपसमूह मिलता है, जिसमें छोटे-बड़े मिलाकर लगभग छः सौ द्वीप हैं। यहाँ अतिप्राचीन कालसे हिंदू-संस्कृतिके चिह्न मिलते हैं। सन् १९२८ के 'फिलिपाइन मैगजिन' में प्रो० बेयर लिखते हैं कि 'यहाँके आभूषणों' रीति-रिवाजोंको देखते हुए मेरा यह निश्चित मत है कि यहाँकी संस्कृतिका आदिस्रोत भारत है।' सन् १९१९में प्रकाशित 'पीपल्स आफ दि फिलिपाइन' नामक पुस्तकमें प्रो० क्रोबरका कहना है कि 'यहाँके धार्मिक विचार, रीति-रिवाज, नाम, शब्द, लेखन-शैली, कला-कौशल आदिपर हिंदू-प्रभाव प्रत्यक्ष है। यहाँके लोग ग्रहणका कारण राहुको मानते हैं और दिनके पाँच विभाग महेश्वर, काल, श्री, ब्रह्मा और विष्णुके नामसे करते हैं।' यहाँकी भाषा 'तगलॉग' में संस्कृत-शब्दोंकी भरमार है। तबेरा नामके एक विद्वान्ने ऐसे शब्दोंकी सन् १८८४में एक तालिका तैयार की थी, जिसमेंके कुछ शब्द इस प्रकार हैं—अन्तल=अन्तर, असा=आशा, वंग्सी=वंशी, मनुसिया=मनुष्य, मुकस=मोक्ष, पलिभाषा=परिभाषा, पाप=पाप, कोस=कोष, वानी=वाणी, सन्दन=चन्दन, सील=शील, सिन्ता=चिन्ता, यम्बू=जम्बू। यहाँ भी कितने ही हिंदू देव-देवियोंकी मूर्तियाँ मिली हैं। कुछ प्राचीन लेख भी प्राप्त हुए हैं। विद्वानोंका मत है कि ईसवी सन्की पहली शताब्दीसे ही यहाँ हिंदू-प्रभावका पता लगता है। कुछ दिनोंतक फिलिपाइन जावा तथा बोर्नियोके हिंदू-राज्योंके अधीन रहा था। जब इसपर स्पेनका अधिकार हुआ, तब वहाँके लोगोंने प्राचीन संस्कृतिके बहुत-से चिह्नोंको नष्ट कर डाला। जो कुछ अभी बचा हुआ है, श्रीहेरीके शब्दोंमें उससे यह स्पष्ट विदित होता है कि 'यहाँके निवासी अपनी प्राचीन संस्कृतिके लिये राष्ट्रोंकी माता—भारत—के ऋणी हैं।' सन् १९३० में प्रकाशित 'फिलिपाइन और भारत' नामक पुस्तकमें डॉ० रायने इस विषयपर अच्छा प्रकाश डाला है। (कहते हैं कि यहाँकी राजसभामें कानूनोंके आदि निर्माताके रूपमें 'मनु'का चित्र लगा है।)

जापान

यह 'सूर्योदयका देश' है। यहाँ बौद्धधर्मका प्रवेश ईसवी सन्की पाँचवीं शताब्दीमें हुआ। परंतु इसके बहुत पहलेसे यहाँ वैदिक धर्मके चिह्न मिल रहे हैं। जापानियोंके सामाजिक जीवन और रीति-रिवाजोंमें भी हिंदू-धर्मका प्रभाव झलकता है। यहाँ सूर्यकी उपासना मुख्य है, परंतु सूर्यको एक देवी माना जाता है। जापानी सम्राट् अपनेको 'सूर्यपुत्र' बतलाते हैं। यहाँका प्राचीन धर्म 'शिन्तो' है। इसमें पितृपूजन और राजभक्ति प्रधान है, जो वैदिक सनातन धर्मकी देन है। वंश-परम्परा पुरुषसे ही चलती है। गोद लेकर या जिस तरहसे भी हो, पुरुष-वंश चलाते रहना प्रत्येकका कर्तव्य है। जापानियोंकी मुख्य तीन प्राचीन श्रेणियाँ हैं।—'सिनवेत्सु' (देवपुत्र अर्थात् ब्राह्मण), 'वक्त्वोवेत्सु' (राजवंश अर्थात् क्षत्रिय) और 'वेनवत्सु' (विदेशी)। सरदारश्रेणीके लिये 'समुराई' शब्दसे भी समरसे सम्बन्ध होनेके कारण क्षत्रियोंका ही अनुमान होता है। 'शिन्तो' धर्ममें 'अश्वमेध' के ढंगका एक यज्ञ भी होता है। यहाँके प्रधान 'ईसी-मन्दिर' में 'अरणी' द्वारा अग्नि उत्पन्न की जाती है और अग्निका बराबर पूजन होता है। इस तरह यहाँकी भी संस्कृतिमें वैदिक संस्कृतिके चिह्नोंकी बहुलता है।

अमेरिका

प्रशान्तसागरकी पूर्वी सीमापर उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका है। यहाँके प्राचीन निवासी 'लाल भारतीय' (रेड इण्डियन) के जीवन और उनकी प्राचीन संस्कृतिके अध्ययनसे अब कई पाश्चात्य विद्वान् भी मानने लग गये हैं कि यहाँ किसी समय हिंदू-संस्कृतिका पूरा जोर था। इन लोगोंका सामाजिक जीवन बहुत कुछ भारतीयोंसे मिलता है। पहले उनके यहाँ भी स्त्रियोंके सती होनेकी चाल थी। मरनेपर प्रायः अग्निसंस्कार किया जाता था। सूर्यकी सर्वत्र उपासना

होती थी। दक्षिणी अमेरिकामें कई जगह शिवलिङ्ग भी मिले हैं। गणेश-पूजन और नाग-पूजनकी भी चाल थी। ग्रहण लगनेपर वे भी स्नान, दान करते थे। एक प्रकारकी वर्ण-व्यवस्था अब भी उनमें प्रचलित है वे भी मुख्य चार युग मानते हैं और समयका विभाग वर्ष, दिन आदिमें करते हैं। गिनती भी हिंदू-ढंगसे लिखी जाती है। इनके प्रमाणोंका श्रीचमनलालने 'हिंदू-अमेरिका' नामक पुस्तकमें अच्छा संग्रह किया है।

अमेरिकामें हिंदू-संस्कृति

(लेखक—श्रीव्रजभूषणजी सु० भट्ट)

यदि रहन-सहन, दर्शन-ज्ञान, शिक्षा-प्रणाली, जन्म और मृत्युसंस्कार, सतीप्रथा, आत्माके परलोक-गमनमें विश्वास, अग्नि प्रकट करना आदि मेक्सिकोकी अनेकों प्रथाओंको देखें तो वे भारतीय प्रथासे बहुत कुछ एकता रखती हैं और सिद्ध करती हैं कि निःसन्देह अमेरिका अपनी संस्कृतिके लिये भारतका ऋणी है। अमेरिकामें यूरोपीय जातिद्वारा वहाँकी मूल जातिके संस्कार तथा दूसरे चिह्न निर्दयतापूर्वक मिटा दिये गये हैं; परंतु जो स्पेननिवासी वहाँ प्रथम पहुँचे थे, उनमेंसे अनेकने वहाँकी स्थितिका वर्णन किया है। उन विद्वानोंके वर्णनका संक्षिप्त सार देनेसे यह सिद्ध हो जायगा कि अमेरिकाके मूल निवासी किस प्रकार भारतीय आचार-विचारका अनुसरण करते थे।

मध्य-अमेरिकाकी माया जाति, दक्षिण-अमेरिकाकी इन्का जाति और मेक्सिकोकी आस्तिक जाति—इन तीनोंकी शिक्षा-प्रणाली पूर्णतः हिंदुओंकी ऋषिकुल-शिक्षा-पद्धतिके समान थी। यह शिक्षा पुरोहितद्वारा दी जाती थी। बालक अपने घरोंसे पुरोहितके यहाँ भेज दिये जाते थे और वे वहीं रहते थे। उनका सबसे बड़ा कर्तव्य पुरोहितकी सेवा माना जाता था। उनका अधिकांश समय धार्मिक कृत्योंमें व्यतीत होता था और उन्हें कठोर नियन्त्रणमें रहना पड़ता था। बालकोंको ब्राह्ममुहूर्तमें उठना पड़ता और स्थानकी स्वच्छताके पश्चात् 'मग्वी विन्दुओं' (मेक्सिकन सोम)-को एकत्र करने जाना पड़ता। स्नानके पश्चात् अघमर्षण-क्रियाएँ करते। इस प्रकार पुरोहितके यहाँ बालकोंको उनके वर्ग (जाति)-के अनुसार भिन्न-भिन्न शिक्षा प्राप्त होती। बालक वहाँ बौद्धिक विकास, पुराण-पाठ, धार्मिक यज्ञ, अग्नि-रक्षण, युद्धकला आदिकी शिक्षा प्राप्त करते थे। सामरिक शिक्षणके विद्यापीठ पृथक् थे और उनमें सामन्त-पुत्र ही लिये जाते थे। यहाँ अनुशासन अत्यन्त कठोर रहता था। दूसरी शिक्षाओंके साथ यहाँ शारीरिक शिक्षणपर विशेष ध्यान रखा जाता था।

प्राचीन अमेरिकन सदाचार एवं सत्यके दृढ़ भक्त थे। स्पेनवासी वहाँ जाकर वहाँके लोगोंके उच्च आचार-विचार एवं असत्यसे घृणा देखकर स्तम्भित हो गये। फ्रेडरिक टॉमसनका कहना है—'यहाँके लोगोंकी धार्मिक भावना और असत्यसे घृणा देखकर स्पेनके लोग आश्चर्यमें पड़ गये। अभाग्यसे दोनों सभ्यताओं (अमेरिका और स्पेन)-के सम्पर्कने स्थानीय विधानको शीघ्र बौद्धिक ह्रासकी सीमापर पहुँचा दिया।'

सत्य और आचारकी रक्षाके लिये वहाँ बहुत ही कठोर नियम बने थे। मर्यादा-भङ्गपर जो दण्ड दिये जाते थे, उनको देखकर भारतीय स्मृतियोंके कठोर दण्ड-विधान स्मरण आ जाते हैं।

अमेरिकामें स्थान-स्थानपर देवमन्दिर थे। अनेक बार माता-पिता रोगी बालकको मन्दिरमें चढ़ा देते या पुरोहितको भेंट कर देते। इस प्रकार भेंट किया हुआ बालक देवताका सेवक माना जाता। उसे पूरा जीवन कठोर नियमोंका पालन करते हुए देव-सेवामें बिताना पड़ता था। वहाँ भारतकी भाँति देवदासी प्रथा थी। मन्दिरमें उपहृत कुमारियाँ अनेक कठोर नियमोंका पालन करतीं। उनका मुख्य कर्तव्य अग्नि-रक्षण था। वे दिनमें एक समय भोजन करतीं। छोटे केश रखतीं। विवाहसे पूर्वतक इस प्रकार सभी लड़कियोंको मन्दिरकी सेवा करनी पड़ती। वहाँ उनके आचारका अत्यन्त कठोरतासे रक्षण होता। यदि कोई युवक उनसे बातचीत करनेका प्रयत्न भी करता तो उसे तत्काल प्राणदण्ड दे दिया जाता।

स्पेनके इतिहासज्ञ कहते हैं कि नित्य भोजनसे पूर्व

प्रत्येक मेक्सिकोवासी अन्नका एक भाग लेकर उसे अग्निमें आहुति देता था। अपने सुखमय जीवनके लिये यह अग्निदेवताको कृतज्ञतापूर्वक दिया गया उपहार माना जाता था। इसी प्रकार युद्धसे पूर्व युद्धोद्यत सैनिकोंके एकत्र हो जानेपर पुरोहितद्वारा अग्नि प्रज्वलित की जाती और हवन करनेपर आक्रमण प्रारम्भ हो जाता।

मेक्सिकोके लोग भारतीयोंकी भाँति ही मृत्युके पश्चात्‌के जीवनमें विश्वास करते थे। वे भारतीय धारणाके अनुरूप ही युद्धमें मृत व्यक्तिकी श्रेष्ठ गतिमें विश्वास करते थे। ऐसे मृत पुरुषकी शव-यात्रामें हर्ष मनाया जाता था। वे आत्माके अमरत्व और पुनर्जन्मको मानते थे। भारतीय देवयान एवं पितृयान-गतियोंके समान ही जीवकी गति और उसके ले जानेवाले देवतादिकी भी उनकी एक अपनी मान्यता थी। वे इन्द्रदेवता और उनके स्वर्गमें विश्वास करते थे और पापी जीवकी यमलोककी कष्टमय यात्राको भी वे मानते थे। मेक्सिकोके लोगोंमें शवको जलानेकी साधारण प्रथा थी; किंतु विशेष स्थितिके लोगोंको जलाया नहीं जाता था। वे विशेष प्रकारकी समिधाओंमें रख दिये जाते थे। यह स्मरण कर लेनेकी बात है कि हिंदू-समाजमें भी साधु-संन्यासी तथा महामारी आदिसे मरे व्यक्ति जलाये नहीं जाते। राजाओंका दाह-संस्कार बड़ी धूम-धामसे होता था। उसमें बहुत-सी विधियाँ की जातीं। इन विधियोंसे हिंदुओंकी उस सोमपायी श्रोत्रिय विप्रोंकी दाह-विधिका स्मरण आता है, जो अब भारतमें भी प्रायः लुप्त हो चुकी है। शवदाहके दूसरे दिन हिंदुओंकी भाँति ही मेक्सिकोके लोग भी अस्थि-चयन करते थे। यहीं यह स्मरण रखनेकी बात है कि मेक्सिकन जातिमें सती होनेकी प्रथा थी। मृत व्यक्तिकी विधवा स्त्रियोंमें जिनकी इच्छा होती, वे मृत पुरुषके साथ चितामें जल जातीं। राजाके शवके साथ अवश्य कुछ स्त्रियाँ जलती थीं। लेकिन स्त्रियोंके लिये जलना आवश्यक नहीं था। जो मृत व्यक्तिके साथ नहीं जलती थीं, उन्हें अपना शेष जीवन हिंदू-विधवाओंकी भाँति स्वेच्छापूर्वक अत्यन्त सादगी, संयम तथा कठोर तपस्याके नियमोंको पालन करते हुए व्यतीत करना पड़ता था।

यों तो अमेरिकाके प्रायः सभी भारतीय संस्कार ईसाई धर्मके प्रभावसे अब नष्ट हो चुके हैं, किंतु अब भी वे अपनी पुरानी मृतक-श्राद्ध-प्रथाको किसी-न-किसी रूपमें बनाये हुए हैं। वहाँ वर्षमें एक दिन 'सर्व-आत्मा-दिवस' मनाया जाता है। इस दिन सभी मृतात्माओंके लिये प्रार्थना की जाती है। उनके निमित्त अनेक प्रकारके व्यञ्जन बनाकर सहभोज होता है।

अन्त्येष्टि-संस्कारकी भाँति जन्म एवं विवाह-संस्कार भी अमेरिकामें हिंदुओंके संस्कारोंसे मिलते हुए ही थे। वहाँ सम्मिलित परिवारकी प्रथा थी। वहाँके लोग विशाल परिवारकी कामना करते थे। पुत्रोत्पत्तिके समय देवपूजन, प्रसूतिकागृहमें अग्नि-स्थापन और एक प्रकारकी बालककी शुद्धिक्रिया प्राचीन अमेरिकन करते थे, जो नान्दीमुख श्राद्धसे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। यह हो जानेपर ज्योतिषी आकर बालकके भावी जीवनके सम्बन्धमें भविष्यवाणी करते थे। यह जन्मकुण्डली बनाने जैसी प्रथा थी। जन्मदिनके पीछे नामकरण होता था।

प्राचीन मेक्सिकोमें वर्तमान यूरोपीय प्रणयालापका सर्वथा अभाव था। विवाहका पूरा उत्तरदायित्व वर एवं कन्याके माता-पितापर था और वे ही उनका सम्बन्ध निश्चित करते थे। इस प्रकारके विवाहमें सबसे प्रथम एवं आवश्यक कार्य था ज्योतिषीको बुलाकर यह ज्ञात करना कि यह सम्बन्ध मङ्गलदायक होगा या नहीं। ज्योतिषीकी अनुकूल सम्मति होनेपर ही सम्बन्ध निश्चित होता था। यह प्रथा हिंदुओंको छोड़ विश्वकी और किसी जातिमें नहीं है; वर-कन्याकी कुण्डली देखकर सम्बन्ध निश्चित करना हिंदुओंकी ही विशेषता है। विवाहके कार्यमें मेक्सिकोके लोगोंकी कुछ प्रथाएँ हिंदुओंकी प्रथाओंसे अभिन्न हैं। विवाहके पूर्व चार दिनोंतक वर एवं कन्याको वहाँ ओषधियोंके जलसे स्नान कराया जाता था। विवाहके समय वर-वधूका ग्रन्थि-बन्धन (दोनोंके दुपट्टेके छोर एकमें बाँध देना) होता था। विवाहके उपरान्त वर जब वधूको लेकर घर आता, तब चार दिनोंतक दोनों संयमसे रहते और उस समय विभिन्न देवताओंकी उनसे पूजा करायी जाती। आज भी मेक्सिकोमें माता-पिताकी अनुमति विवाहसे पूर्व आवश्यक मानी जाती है।

शिव-पार्वती (वर्मा थातोन्‌में प्राप्त ईस्वी नवम शताब्दीकी मूर्ति)

चीनी तुर्किस्तानके खण्डहरोंमें प्राप्त महेश्वरका चित्र

ईरानका शिव-मन्दिर

यवद्वीपके पूर्व बलिद्वीपके शिव
(षोडश शताब्दीका प्रस्तरमय चित्र)

जावाद्वीपकी सरस्वती मूर्ति

शिव—श्यामदेशकी धातुमूर्ति
(बंकोक राजकीय चित्रशालामें रक्षित
द्वादश शताब्दी)

मेक्सिकोके प्राचीन निवासियोंमें पुरुषका एकसे अधिक स्त्रियोंसे विवाह करना बुरा नहीं माना जाता था। राजाओंकी अनेक रानियाँ होना वहाँ साधारण बात थी। हिंदू-समाजकी भाँति वहाँ भी स्त्रियाँ सम्मान्य मानी जाती थीं, किंतु उनका स्वतन्त्र रहना या घरसे कहीं भी अकेले जाना उचित नहीं माना जाता था। स्त्री घरसे पति, पिता, भाईके साथ ही कहीं जा सकती थी। आज भी मेक्सिकोकी स्त्रियाँ अपरिचित पुरुषसे मिलना या बोलना पसंद नहीं करतीं। आज भी बाजारमें जाते समय उन्हें किसी वृद्धा स्त्री या सेवकके साथकी आवश्यकता होती है। यद्यपि अब ये बन्धन शिथिल होते जा रहे हैं, फिर भी रात्रिमें मेक्सिकोकी कोई साधारण नारी घरसे बाहर तबतक नहीं निकलेगी, जबतक परिवारका कोई व्यक्ति साथ न हो।

एक स्पैनिश लेखकका कहना है कि 'मेक्सिकोमें पहले युवक शीघ्र विवाहित हो जाते थे।' इस प्रकार वहाँ भारतके समान बाल-विवाहकी प्रथा भी थी। स्त्री गृहस्वामिनी होती थी और घरके सब कार्य वही करती थी। वहाँ स्त्री यदि कोई उग्रतर अपराध न करे तो अवध्य मानी जाती थी और स्त्री तथा बालकका वध एवं उन्हें अकारण दण्ड देना बहुत निन्दनीय माना जाता था।

मेक्सिकोमें राज्याभिषेक हिंदू-समाजकी भाँति ही बड़ी धूम-धामसे और विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न होता था। वहाँ राज्यका अधिकारी मृत नरेशका ज्येष्ठ पुत्र ही माना जाता था। उस समय राज्याभिषेकका पूरा कृत्य पुरोहितपर निर्भर करता था। पुरोहित ही नवीन नरेशसे प्रतिज्ञाएँ कराता और फिर उनके सिरपर मुकुट रखता। इसके पश्चात् दूसरे सामन्तादि नरेशको स्वीकार करते थे। वे लोग उस समय नवीन नरेशको भेंट देते थे। इसी प्रकार साधारण परिवारोंमें भी भूमि मृत-पुरुषके ज्येष्ठ पुत्रकी मानी जाती और वह अपने भाइयोंके साथ उस भूमिका उपयोग करता था।

मेक्सिकोके समान ही पेरूमें भी हिंदू-संस्कृतिके अमिट चिह्न पाये जाते हैं। वहाँ ईसाई-धर्मके व्यापक होनेसे पहलेतक लोग पुनर्जन्ममें विश्वास करते थे। उनके समाजमें वर्ण एवं जातियोंके भेद थे और आश्रम-धर्मके पालनकी भी प्रथा थी। पेरूके लोग अपनी उद्योगशीलता, सदाचार, शिष्टता आदिके लिये विख्यात थे। यह 'वेश्याओंसे रहित देश' कहा जाता था। चोरी-डकैतीका वहाँ नामतक नहीं था। देवताओंमें उन लोगोंकी श्रद्धा थी।

सबसे अधिक ध्यान देनेकी बात है अमेरिकामें विजयादशमीका 'रामसीतव' महोत्सव। इस लेखके मूल लेखक श्रीचमनलालजी कहते हैं कि उन्होंने यह उत्सव स्वयं पेरूके 'चिलपनसिनको' नामक स्थानमें देखा है। इस दिन मेक्सिकोके लोग रंगमञ्चपर राम-रावण-युद्धका अभिनय करते हैं। कर्नल टॉडने इस सम्बन्धमें आलोचना करते हुए लिखा है—'यदि यह सम्भव हो कि गङ्गासे नील नदीकी भूमितकके किसी भी भागपरसे वह आवरण उठा दिया जाय जो इन प्राचीन आश्चर्योंको ढके हुए है तो रामकी विजय-यात्रा प्रारम्भसे इधरके आरगोनॉट्सके समान विदित होगी। यदि अलेक्जैंडर (सिकन्दर) सिन्धुके मुहानेसे इन समुद्रोंको पंजाबमें वृक्षोंकी छालसे बने निम्नकोटिके बेड़ेसे पार करनेका साहस कर सका तो क्या हम कोसल-सम्राट् सगर-वंशज समुद्रराजके नामसे प्रख्यात साठ सहस्र पुत्रोंके पितासे, जिनमें सब-के-सब पुत्र कुशल नाविक थे, कुछ आशा नहीं कर सकते?' टॉडके इस कथनका तात्पर्य इतना ही है कि टॉडके मतानुसार भारतके समुद्रराज नामक किसी अयोध्या-सम्राट्ने मिस्रमें अपना प्रभुत्व स्थापित किया और मिस्रसे वह प्रभाव अमेरिका पहुँचा।

अमेरिकन इतिहासके प्राचीन मान्य विद्वान् जोन्स कहते हैं कि 'यहाँ (पेरूमें) राम सूर्यवंशी, सीतापति और महारानी कौसल्याके पुत्र माने गये हैं। यह विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है कि यहाँकी पेरूवि 'इन्का' जातिके लोग अपनेको गर्वपूर्वक इसी वंशका मानते हैं, और राम-सीता-उत्सव मनाते हैं। इस प्रकार हम अनुमान कर सकते हैं कि अमेरिका उस एक ही जातिद्वारा बसा है जो कि एशियाके दूरस्थ स्थानोंके संस्कार और रामकी भव्य गाथाको साथ ले गये थे। ये सब सन्देहहीन प्रमाण यह साधार-समस्त उपस्थित करते हैं कि एथियोपिया (मिस्र) और भारत एक ही असाधारण जातिद्वारा बसाये गये थे। इसकी पुष्टिमें यह और जोड़ा जा सकता है कि बंगाल और बिहार

(पेलसा)-के पहाड़ी अपनी कुछ आकृतियोंमें, विशेषतः नासिका और ओष्ठकी बनावटमें, एबीसीनियन जिन्हें अरबके लोग 'कुश-सन्तति' कहते हैं, उनके समान हैं।'

पोकोकने अपनी पुस्तकके उपसंहारमें लिखा है—'मैंने अत्यन्त विश्वसनीय सावधानीके साथ अत्यन्त कठोर परीक्षण किये हैं। केवल सिद्धान्त ही नहीं, शब्दोंकी समानताने भी मुझे चकित किया है। यह कोरी कल्पना नहीं है; ऐसे परिणाम जो एकरूप होनेके साथ असंख्य हैं, इसे प्रमाणित करते हैं। प्राचीन जगत् (अमेरिका)-की मनोवैज्ञानिक जाँच ऐसा व्याकरण है, जिसके अध्ययनसे हमारी (यूरोपियन) जातिसे पूर्व (भारतीय) ऋषियोंके भ्रमणके महान् वृत्तान्त अबतक सत्यताके साथ पढ़े जा सकते हैं।'

'हिंदू अपने साथ मेक्सिकोमें पाण्डवोंका अठारह पर्वोंका वर्ष, वर्गव्यवसाय तथा भारतीय हाट-प्रणाली लाये थे।'—ह्युएट।

अमेरिकाके अन्वेषक कोलम्बसने लिखा है—'हिंदू और मंगोलियन आकृतिके सैकड़ों-हजारों मनुष्य हिंदू-रीति-प्रथाएँ, हिंदू-देवता गणेश-इन्द्र आदिका पूजन, हिंदू-शिक्षा-प्रणाली, पुरोहित-प्रथा, विवाह-संस्कार, शव-दाह, सती-प्रथाका यहाँ पालन करते हैं। इन सबकी उपस्थिति पूर्णतः सिद्ध करती है कि हिंदू और मंगोल स्थल या जलमार्गद्वारा बहुत बड़ी संख्यामें अमेरिका पहुँचे थे।'

इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अमेरिका किसी समय हिंदुओंका उपनिवेश था और वहाँके निवासी यूरोपियन लोगोंके पहुँचने तथा ईसाई-धर्मके व्यापक होनेसे पूर्व 'हिंदू-संस्कृति' का ही अनुसरण करते थे।

(श्रीचमनलालजीकी 'हिंदू-अमेरिका' के आधारपर)

बालिद्वीपकी दैनिक पूजा-विधि

(लेखक—डॉ० श्रीरघुवीरजी एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०, एट० फिल)

बालीमें पूजाविधिको 'पूजा-परिक्रम' कहा जाता है। कपड़े पहनते हुए '**ॐ तं महादेवाय नमः**' मन्त्रके उच्चारणसे वह आरम्भ की जाती है। उसके पश्चात् '**ॐ अं शिवस्थितिकाय नमः**' का उच्चारण करते हुए मेखला धारण करते हैं। तदनन्तर '**ॐ उं विष्णुसदाशिवाय नमः**' का उच्चारण करते हुए उत्तरीय वस्त्र पहना जाता है और '**ॐ मं ईश्वरपरमशिवाय नमः**' का पाठ करते हुए वक्षःस्थलपर वस्त्र डालते हैं। वस्त्र-धारणके पश्चात् '**ॐ अं कं क ईश्वराय नमः**' कहते हुए पादक्षालन, '**ॐ हः उं फट् अस्त्राय नमः**' कहते हुए आचमन और '**ॐ हः फट् अस्त्राय नमः**' कहते हुए हाथ धोये जाते हैं। वस्त्रधारण और क्षालन समाप्त होनेके उपरान्त '**ॐ ॐ पद्मासनाय नमः**' मन्त्रका जप करते हुए उपासक पद्मासन लगाता है। इसके पश्चात् शरीर-शुद्धिका मन्त्र आता है, जिसे बाली भाषामें '**मन्त्राणि शरीर**' कहा जाता है—

ॐ प्रसादस्थितिशरीरशिवशुचिनिर्मलाय नमः।

उपासकके सामने ढकी हुई पूजाकी थाली रखी रहती है। उसे अनावृत करनेके लिये ईश्वरको '**ॐ ई ईश्वरप्रतिष्ठां जनलीलाय नमः स्वाहा**' से नमस्कार किया जाता है। कुछ बीजोंका भी उच्चारण किया जाता है—

'स ब त इ न म शि व य अं ऊं मं'

पूजाकी थालीमेंसे उपासक '**ॐ उं ब्रह्मा अमृतदीपाय नमः**' का उच्चारणकर 'अमृतदीप' उठाता है। इसके पश्चात् '**ॐ उं रः फट् अस्त्राय नमः**'। **आत्मतत्त्वाय नमः**............' मन्त्रके उच्चारणसे हाथमें पुष्पोंको लिया जाता है। जहाँ-कहीं भारतीय सभ्यता पहुँची, वहाँ पूजाविधिमें पुष्पोंके प्रयोगको बहुत महत्त्व दिया गया। पुष्प शुद्धता और प्रसन्नताके प्रतीक हैं।

बालिद्वीपमें असंख्य हस्तमुद्राएँ प्रचलित हैं। प्रत्येक मुद्राका विशिष्ट अर्थ होता है। इनकी भाषा दार्शनिक और आध्यात्मिक है; परंतु बालिनिवासी उनका तात्पर्य भूल गये हैं।

पूजाका दूसरा क्रम तर्जनी शुद्ध करनेसे आरम्भ होता है। इसे बाली भाषामें 'करशुद्धिचतुरंगुल' कहते हैं।

इसका मन्त्र '**ॐ शोधाय मा''''ॐ अग्निरुद्राय नमः**' है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग-न्यास विशिष्ट मन्त्रोंके साथ किया जाता है। अर्घ्यपात्रके ऊपर कमल रखना, त्रिपादको उठाना, हाथ जोड़ना, त्रिपाद नीचे रखना, गन्ध-अक्षत डालना, प्रदीपकी ओर मुख करना,धूपपात्रके साथ अर्घ्यसे सात बार आरती करना, धूपके धूम्रको ग्रहण करना, पूजाके पात्रोंको ढकना, ढक्कन खोलना, पात्रमें जल भरना, अँगुलीसे जलपर लिखना, तीन बार परिषिञ्चन करना, गन्ध तथा अक्षत प्रदान करना और फिर '**ॐ अं नमः कुम्भक। ॐ उं नमः पूरक। ॐ मं नमः रेचक**' मन्त्रोंका उच्चारणकर कुम्भक, पूरक और रेचक किये जाते हैं। प्राणायाम ठीक विधिके अनुसार किया जाता है। इसके पश्चात् श्रीआत्माको शिवद्वारतक लाया जाता है। तदनन्तर—

ॐ शरीरं कुण्डमित्युक्तमन्तःकरणमिन्धनम्।''''''

मन्त्रोच्चारणकर दग्धीकरण किया जाता है। इसके पीछे कुछ श्लोक आते हैं, जिन्हें 'अमृतकरणी' कहते हैं। स्पष्टतया ये तान्त्रिक और शैव क्रियाएँ हैं। नवशक्तियोंकी भी पूजा होती है। उनकी पूजाके अनेक क्रमों और मन्त्रोंका यहाँपर पूर्ण विवरण देना असम्भव है। उपरिलिखित तो उदाहरण मात्र हैं।

बालीका उपासक सप्ततीर्थ भी जानता है—

ॐ अं गङ्गायै नमः। ॐ अं सरस्वत्यै नमः। ॐ अं सिन्धवे नमः। ॐ अं विपाशायै नमः। ॐ अं कौशिक्यै नमः। ॐ अं यमुनायै नमः। ॐ अं शरयवे नमः।

गङ्गा, सिंधु, अन्य नदियों और समुद्रके लिये भी इनके दस-बारह स्तोत्र हैं।

शरीरके प्रत्येक अङ्गपर भस्म लगाया जाता है।

जब भारतीय अपनी और बालीनिवासियोंकी सांस्कृतिक एकात्मताको हृदयङ्गम करेंगे, तब प्रत्येक सुसंस्कृत भारतीयके लिये बालिद्वीप तीर्थस्थान बन जायगा (आजकल तो यह अमेरिकन और यूरोपीय यात्रियोंके लिये केवल रम्य स्थान है)। बालीनिवासी हृदयसे हमारा स्वागत करेंगे; पर हमें उनकी आशाके योग्य बननेके लिये प्रयत्न करना होगा और उनके आध्यात्मिक ज्ञानकी लालसाकी तृप्ति करनी होगी।

उनकी पूजाकी गरिमा अद्वितीय है। रोमन कैथलिक पादरियोंने भी माना है कि पूजामें व्यस्त पेदण्डाको देखनेसे बढ़कर कोई गम्भीर दृश्य नहीं है। बालीमें हम अपनी आत्माका ही प्रतिबिम्ब पाते हैं। बालीनिवासी संस्कृत मन्त्रोंका अर्थ जाने बिना ही उनका प्रतिदिन श्रद्धासे पाठ करते हैं।

गत छः शताब्दियोंसे अपनी उपेक्षा और अधःपतनके कारण बालीसे हमारा सम्बन्ध टूट गया था। हमें पुनः उससे मिलना चाहिये। बाली हमारी आत्माओंको नवबल प्रदान करेगा।

स्याममें भारतीय संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीरघुनाथजी शर्मा, बैङ्कोक, स्याम)

यह स्याम अथवा थाई देश भारतीय-संस्कृतिसे सर्वाङ्गिण ओत-प्रोत है और इस देशके लोग इस बातको निर्विवाद स्वीकार भी करते हैं कि हमें भारतसे बहुत कुछ मिला है। उदाहरणके लिये यहाँका राजवंश श्रीरामचन्द्रजीके सूर्यवंशसे अपनी उत्पत्ति मानता है और राजा अपनेको रामाधिपति कहते थे। इस देशकी भाषामें, जिसे थाई-भाषाके नामसे व्यवहारमें लाया जा रहा है, प्रतिशत पचाससे ऊपर ही संस्कृत-शब्दोंका समावेश है और करीब पचीस प्रतिशत पालीशब्दोंका—जो संस्कृतके ही विकृत शब्द हैं—सम्मिश्रण है।

स्वर-मात्रा-व्यञ्जन 'अ, आ, इ, ई' तथा 'क, ख' आदि नामोंसे ही बोले जाते हैं। इस भाषामें सम्मिलित कुछ शब्द तो ऐसे हैं, जिनका न तो दूसरा कोई पर्यायवाची नाम ही है और न कोई दूसरा विकृत उच्चारण ही। जैसे—

आयु, प्रमाण, वेला, सामान्य, सामाजिक, साधारण,

शिल्प, एकजन, शुल्क, रथयन्त्र आदि। कुछ शब्द केवल उच्चारणके कुछ ही उलट-फेरसे व्यवहारमें आ रहे हैं—विशेष, गुण, दोष, राष्ट्र, राष्ट्रपाल, राष्ट्रमन्त्री, सहराष्ट्र, सुराष्ट्र, प्रजाराष्ट्र, समागम, गुरु, आचार्य, शास्त्राचार्य, प्रकृति, शून्य, चक्रयान, चराचर, शान्तिपाल, देशपाल, नगरपाल, धनागार, हरिण्यक, स्थानी, प्रेषणीय पत्र, दूर-लेख, दूर-शब्द, नायक, अधिपति, अधिकारपति, स्थापनिक, स्थापत्यकर्म, विश्वक, विश्वकर्म आदि अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनके पर्यायवाची दूसरे कोई शब्द शायद ही हों। पारिभाषिक शब्द तो इस भाषामें प्रायः संस्कृतके ही हैं, जो व्यवहारमें आ रहे हैं।

यहाँके पुरुषों, स्त्रियों, नगरों तथा सड़कों आदिके नाम भी प्रायः संस्कृतसे ही लिये गये हैं—जैसे क्रमशः भरत, कुमुद, सुमनजाति, शृष्टिकर, धर्मनिदेश, अशोक-मन्त्री, रेणु, प्रभा, आभा, वीणा, लक्ष्मी, मालिनी तथा सुराष्ट्रधानी, उत्तरदिश, लवपुरी, सुरेन्द्रपुरी, प्राचीनपुरी, नगरस्वर्ग; राजवंश०, अनुवंश०, सूर्यवंश०, अशोक०, अयोध्या०, जययश० होड़ आदि। दूसरे शब्दोंमें संस्कृत-भाषाका अधिकार तथा प्रभाव इस देशकी भाषापर पूर्णरूपसे है। इस देशके रीति-रिवाज तो प्रायः सब-के-सब भारतीय संस्कृतिके ही द्योतक हैं। प्रत्येक स्त्री-पुरुष एक-दूसरेसे भेंट-मुलाकातके अवसरपर बड़े नम्रभावसे दोनों ओरसे हाथ जोड़कर 'स्वस्ति' शब्दका उच्चारण करते हैं, और इस प्रथाके लिये इस देशमें 'स्वस्ति' शब्दको छोड़ दूसरा कोई भी शब्द व्यवहारमें आता ही नहीं। छोटे बड़ोंके सामने या तो नतजानु हो या थोड़ा झुककर इसका अनुसरण करते हैं। उत्तरमें 'स्वस्ति' ही कहा जाता है। भिक्षु होनेकी प्रथा इस देशवासियोंमें स्थायी अथवा अस्थायी दोनों रूपोंमें है। प्रत्येक भिक्षु प्रतिदिन प्रातःकाल भिक्षाके लिये जाता है और खानेके समय सब बाँटकर खाते हैं। भिक्षा दोनों हाथोंसे ही दी जाती है, और क्रमशः उपस्थितिपर ही भिक्षा ली जाती है। भिक्षा शेष हो जानेपर चाहे प्रतीक्षामें कितना भी समय क्यों न लग जाय, बाकी बचे सब-के-सब भिक्षु चुप-चाप आगे चले जाते हैं। भिक्षु-जीवनमें उन सब सद्गुणोंका अध्ययन तथा पारायण किया जाता है, जो मनुष्यजीवनको सार्थक बनानेमें उपयोगी होते हैं।

विवाहके लिये व्यवहृत शब्द यहाँपर 'स्वयंवर' है और इसकी प्रणाली भी बहुत कुछ भारतीय हिंदू-विवाहकी जैसी ही है। इस अवसरपर भिक्षुओं तथा वयोवृद्धोंद्वारा मन्त्रोच्चारण तथा आशीर्वादात्मक वचनोंका उच्चारण होता है, और जलाभिषेक आदि क्रियाएँ भी की जाती हैं। यह अवसर नाममात्रके खर्चसे ही सम्पन्न हो जाता है। परदेकी प्रथा इस देशमें नहीं है। व्याख्यानके लिये प्रयुक्त शब्द यहाँपर 'सुन्दर वचन' है तथा कथाके लिये 'कथा' ही है। ऐसे अवसरोंपर एकदम निस्तब्धता रहती है, सिवा वक्ताके किसी दूसरेकी आवाजतक नहीं आती। प्रत्येक मन्दिर-मठकी वार्षिक पूजा भी होती है, जो बड़े-बड़े उत्सवोंके रूपमें की जाती है।

शिष्टाचार इस देशका प्रधान गुण है, अर्थात् किसी भी वस्तुके आदान-प्रदानके अवसरपर बड़ी नम्रतासे 'कृतज्ञता' आदि शब्दोंका (जो इस भाषाके हैं) प्रयोग आवश्यकीय है। छोटा-मोटा अपराध हो जानेपर एक-दूसरेसे 'कृपया क्षमा' के अतिरिक्त दूसरा कोई रिवाज है ही नहीं।

'शव' (मुर्दे) को यहाँपर 'शव' ही कहा जाता है और शवको जलाया जाता है। 'मृत्यु' के लिये व्यवहृत शब्द 'दिवंगत' है। दिवंगत प्राणीका दाह-संस्कार मृत्युके कुछ दिन बाद होता है और इस बीच हर रोज शव-पूजन तथा मन्त्रोच्चारण, दान आदि किये जाते हैं, तथा दाहके दिन सम्मिलित भोजनकी भी प्रथा है।

यहाँपर शिल्पको शिल्प ही कहते हैं और यह इस देशका एक विशेष गुण तथा सौन्दर्य है। यहाँके मन्दिर, मठ, विहार, प्रासाद आदि यहाँकी शिल्पकलाके प्रतीक हैं। यहाँका प्रत्येक स्त्री-पुरुष शिल्पकलाविशारद है और यहाँका प्रत्येक घर तथा इनकी दूकानें इसके द्योतक हैं। नाट्यशालाओंके पट (पर्दे) यहाँके शिल्पके नमूने हैं। नाटक जो यहाँपर खेले जाते हैं, उनमें प्रायः सभी पुरातन भारतके हिंदू ऐतिहासिक नाटक ही होते हैं। कुछ ही महीने हुए यहाँकी शिल्पाकरण नाट्यशालामें 'सावित्री-सत्यवान्'का नाटक खेला गया था।

यहाँका अजायबघर जिसे स्यामीमें 'विविधभण्डारस्थान' कहते हैं और जो दो हजारके ऊपर वर्षोंकी बहुत-सी

वस्तुओंके संग्रहसे भरपूर है, उसमें प्रायः भारतीय पुरातन शिल्पवस्तुएँ ही प्रचुर मात्रामें दृष्टिगोचर होती हैं। उन्हें देखते ही दर्शकके चित्तपर भारतका पुरातन ऐतिहासिक चित्र अङ्कित हो उठता है।

यह देश इस समय बुद्ध-धर्मप्रधान है। राष्ट्र तथा राष्ट्रपाल यानी गवर्नमेन्टका एक ही धर्म है। बुद्ध-धर्मपर पूर्ण विश्वास है; पर साथ ही हिंदू-धर्मका भी शुरूसे ही इसमें इतना मेल-जोल है जो कि पूर्ण विश्वाससे खाली नहीं। जहाँ भगवान् बुद्धकी मूर्तियाँ दिखायी देंगी, वहाँ दूसरे हिंदू-देवताओंकी प्रतिमाएँ भी दिखायी देती हैं। यहाँके शिल्प-विभागका चिह्न गणेशजीकी मूर्ति ही है।

ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, नारायण, ईश्वर, लक्ष्मी, उमा, सरस्वती, गणेश, शेषनाग, नन्दीगण, कुबेर, कार्तिकेय आदि देवता इन्हीं नामोंसे यहाँपर सम्बोधित होते हैं।

रामायण-महाभारत—खासकर रामायणसे यहाँकी जनता उतनी ही परिचित है, जितनी भारतीय जनता। रामायणको यहाँपर 'रामकीर्ति' कहा जाता है। उसके पात्र श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, सीता, अङ्गद, हनुमान्, वाली, सुग्रीव, जामवन्त, नल, नील, दशकन्धर, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि नामोंसे ही बोले जाते हैं। रामलीलाका यहाँपर बहुत ही प्रचार है। प्रायः हर अवसरपर रामायणका ही खेल खेला जाता है। यदि 'रामलीला ही इस देशके अभिनय तथा नाट्यकलाका आधार है' कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। साथ ही इसके रामलीला यहाँपर जितनी जनप्रिय है, शायद उतनी भारतमें भी नहीं। एक छोटी-सी उपाख्यानिकासे मालूम हो जायगा कि यहाँका आबाल-वृद्ध इसकी जानकारी कहाँतक रखता है।

मेरे यहाँके प्रारम्भिक वर्ष ही थे, जब एक बार मैं अपने भारतीय कुछ मित्रोंके साथ एक स्थानपर खड़ा था (उन मित्रोंमेंसे अब भी दो-एक यहाँपर विद्यमान हैं) एक स्यामी लड़केसे, जिसकी उस समय आयु तेरह-चौदह सालसे ऊपर न थी, पास खड़े मेरे एक मित्रने पूछा, 'क्या तुम रामायणकी कथा जानते हो? उसने कहा—हाँ। तो बताओ कि 'जब सीता रावणके घर उसकी राजधानीमें थीं, तब रावणने निस्सहाय तथा अकेली होनेपर भी उनपर बलप्रयोग क्यों नहीं किया?' उत्तरमें उस लड़केने कहा—"सीता क्योंकि नारीश्रेष्ठ थीं तथा उनमें पातिव्रत-धर्म पूर्ण मात्रामें था, इसलिये रावण जब भी उनकी ओर आगे बढ़ता था, त्यों ही वही उनका 'व्रत' आगका गोला हो उनके शरीरसे निकलने लगता था और रावणतक पहुँच उसको वहीं रोक देता था।" फिर पूछा गया 'तब रामके स्पर्शपर भी ऐसा होता था क्या?' उसने कहा—'नहीं; यह इसलिये कि वह उनकी धर्मपत्नी थीं।' मुझे पूरा स्मरण है इस उत्तरसे हम सब-के-सब अवाक् रह गये थे। अस्तु—

यहाँका सामाजिक जीवन जातीयतासे ओत-प्रोत है और विशेषतया एक धर्म, एक जाति, रहन-सहनकी एकता, खान-पानकी एकता आदि यहाँ प्रोत्साहक हैं। स्त्रीजातिके लिये यहाँपर पूरा सम्मान है। देशके कोने-कोनेपर इस देशकी तथा विदेशियोंकी स्त्रियाँ यहाँपर बिना किसी इज्जत-अपहरणके भयसे बेखटके, बेरोकटोक, जहाँ भी चाहें, स्वच्छन्दतासे दिन अथवा रात घूम-फिर सकती हैं।

इस देशके विधानका आधार भी मनुशास्त्र ही है, जिसे यहाँपर 'रध्यमनु' कहते हैं। यह एक दिग्दर्शनमात्र है इस देश तथा भारतकी संस्कृति-समन्वयका। हम भारतीय इस प्रकार उस संस्कृतिको, जिसका हमें अभिमान है, अपने इन पड़ोसी देशोंमें सुरक्षित पा रहे हैं।

समर्थका उपदेश

हे मन! सत्यका त्याग कभी न कर, झूठका अनुमोदन कभी मत कर। वाणीसे जो कुछ सत्य है वही बोल और जो कुछ झूठ है उसको झूठ समझकर त्याग दे।

—समर्थ रामदास

चम्पामें भारतीय संस्कृति

(लेखक—श्रीशिवकण्ठलालजी शुक्ल 'सरस', एम० ए०)

प्राचीन कालमें भारतीय लोगोंने एशियाके भिन्न-भिन्न भागोंमें फैलकर उपनिवेश बनाये और वहाँके आदिम निवासियोंको एक नवीन स्थायी सभ्यता और संस्कृति प्रदान की। सुदूरपूर्वके द्वीपोंमें रहनेवालोंके आचार-विचार, भाषा तथा साहित्य और धर्म आदिमें जो भारतीयता मिलती है, वह स्पष्ट प्रमाणित करती है कि इन देशोंमें पूर्वकालमें भारतीय सभ्यता तथा संस्कृतिका प्रसार हुआ था। विष्णु, ब्रह्मा, गणेश तथा शिव आदिकी प्रतिमाओंसे भी इस कथनकी पुष्टि होती है। इन सुदूर पूर्वके द्वीपोंमें चम्पा अथवा अनामका वर्णन भी विशेष उल्लेखनीय है।

ऐतिहासिक खोजके अनुसार यह पता चलता है कि श्रीराम चम्पामें प्रथम हिंदू शासक हुआ है। उसके उपरान्त ३३६ ई० से लेकर ५२९ ई० तक पाँच और शासक हुए। उनके नाम फनवेन, भद्रवर्मन, गंगराज, देववर्मन तथा विजयवर्मन हैं। विजयवर्मनके उपरान्त रुद्रवर्मन तथा शम्भुवर्मन चम्पाके शासक हुए। उसके उपरान्त कन्दर्प धर्म-शान्तिप्रिय शासक हुआ। अन्तमें रुद्रवर्मन द्वितीयके मरनेपर (७५७ ई० में) चम्पाका राज्य दूसरे वंशके अधिकारमें चला गया।

नवीन वंशके शासक सत्यवर्मनने नष्ट मन्दिरोंको फिरसे बनवाया। इसके उपरान्त और भी राजा हुए। वे सब अधिकतर आसपासवालोंसे युद्ध करते रहे। सन् ८६०में अन्तिम राजा विक्रान्तवर्मनकी मृत्युके उपरान्त इस वंशका शासन भी समाप्त हो गया। इसके उपरान्त 'भृगुवंश'के लोग चम्पाके शासक हुए। इनमें इन्द्रवर्मन प्रतापी राजा हुआ। सन् ९७२ ई० में इन्द्रवर्मनकी मृत्युके उपरान्त जय परमेश्वरवर्मन देव ईश्वरमूर्ति नामक राजाने सन् ९८० ई० में एक नवीन वंशकी स्थापना की। इस वंशके रुद्रवर्मन चतुर्थने सन् १०६९ ई० तक राज्य किया।

सन् १०८१ ई० में चम्पाकी दशा डावाँडोल हुई। सारे राज्यमें विपत्तिके बादल छा गये। उसी समय श्रीराजेन्द्र राजाकी मृत्यु हुई और सन् ११३९ ई० में इन्द्रवर्मन राजा हुआ। वह बड़ा धार्मिक तथा उत्साही राजा था। उसने कई स्थानोंमें शिवलिङ्गोंकी स्थापना करायी। इसके उपरान्त चम्पा राज्यका भविष्य अन्धकारमें चला गया। आक्रमणकारियोंने चम्पाके शासकोंको पराजित करके अपने राज्योंमें मिला लिया। ११७० ई० में फिर जागृति हुई और इन्द्रवर्मनने कम्बुज राज्यके शासकको पराजितकर पुनः चम्पाका स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। इस प्रकार सदैव चम्पापर आक्रमण होते रहे और उसका भाग्य शासकोंकी शक्तिके अनुसार बनता-बिगड़ता रहा। जयपरमेश्वरदेव (१२२२), इन्द्रवर्मन दशम (१२५७) तथा महेन्द्रवर्मन (१३११) शक्तिशाली तथा प्रतापी राजा हुए। इन राजाओंने अपने समयमें आक्रमणकारियोंका सामना करके राज्यकी रक्षा की। इसके साथ ही राष्ट्रकी जर्जर कायाको भी नवजीवन प्रदानकर सशक्त बनाया। पर कभी भी चम्पाका राज्य युद्धकी विभीषिकाओंसे मुक्त न हो सका। सारा प्राचीन इतिहास रक्तरंजित कहानियोंसे भरा है। सन् १५०५—४३ में अन्तिम राजाकी मृत्युके उपरान्त चम्पाकी स्वतन्त्रता सदाके लिये अतीतके गर्भमें विलीन हो गयी। इस प्रकार हम देखते हैं कि चम्पामें भारतवासियोंने लगभग १५०० वर्षोंतक शासन किया। उसके उपरान्त उनका चिह्न भी नहीं मिलता। उनका सारा राज्य-वैभव गुलाबके फूलकी भाँति खिलकर विस्मृतिके उस पार छिप गया। पर हिंदू-संस्कृति और सभ्यता वहाँ अबतक जीती-जागती दिखायी पड़ती है।

चम्पामें भारतकी सबसे विशेष वस्तु है भारतवर्षका धर्म। अन्य द्वीपोंकी भाँति यहाँ भी भारतीय धर्मका प्रचार हुआ। शैव-धर्मकी प्रधानता अबतक मिलती है। जो शिलालेख मिलते हैं, उनमें शिव, विष्णु, ब्रह्मा तथा बुद्धका वर्णन मिलता है। पर उनमें शिवका अधिक वर्णन है। मन्दिर तथा शिलालेखोंमें महेश्वर, महादेव, पशुपति आदि अनेक नाम मिले हैं। शिवलिङ्गोंके नाम भी देवलिङ्गेश्वर, धर्मलिङ्गेश्वर आदि मिले हैं।

शिवके अतिरिक्त 'शक्ति' की भी उपासना होती थी। शक्तिके उमा, गौरी आदि नाम थे। शिव तथा शक्तिके अतिरिक्त गणेशकी भी पूजा होती थी। यहाँ वैष्णवधर्म और बौद्धधर्मका भी प्रचार हुआ था। शिवकी भाँति विष्णुकी भी पूजा होती थी। शिलालेखोंमें भगवान् विष्णुके कई नाम मिलते हैं। भारतवर्षकी भाँति वहाँ भी राम, कृष्णकी लीलाओंका प्रचार था। शिलालेखोंमें लीलाओंका वर्णन मिलता है। गरुड़ तथा वासुकिका भी वर्णन मिलता है। कई प्रतापी राजा तो अपनेको विष्णुका अवतार मानते थे। विष्णुके साथ ही लक्ष्मीकी भी पूजा होती थी। स्त्रियाँ लक्ष्मीपूजाको अधिक महत्त्व देती थीं। लक्ष्मीकी उत्पत्तिके विषयमें चम्पानिवासियोंकी धारणा भारतीय धारणासे कुछ भिन्न थी।

इसी प्रकार ब्रह्माका भी वर्णन मिलता है। शिलालेखोंपर उनकी मूर्तियाँ तथा कई एक नाम मिले हैं। चार मुखवाली मूर्तियाँ भी मिली हैं। इन सब मूर्तियोंको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि चम्पाकी मूर्तिकला भारतीय मूर्तिकलाकी भाँति ही थी। इन त्रिदेवोंके अतिरिक्त और भी बहुत-से देवी-देवताओंकी पूजा होती थी। इनमें सूर्य, चन्द्र, वरुण, अग्नि, कुबेर तथा यमराज आदि देवता प्रमुख थे। नागों और राक्षसोंकी भी पूजा होती थी। इन सबकी मूर्तियाँ बनती थीं और उन मूर्तियोंकी विधिपूर्वक पूजा होती थी।

कई स्थानोंपर बुद्धकी मूर्तियाँ मिलती हैं और उनसे विदित होता है कि उन मूर्तियोंकी उपासना की जाती थी। राजालोग बौद्धमठ और मूर्तियाँ बनवाते थे। बुद्धकी प्रतिमाएँ भी बहुत-सी मिलती हैं।

भारतीय धर्मके अतिरिक्त शासनप्रबन्ध तथा कला-कौशलका भी प्रभाव चम्पापर पड़ा। समाज भी अछूता नहीं बचा। धर्म, समाज, राजनीति तथा कला-कौशल—सभीपर भारतीयताकी गहरी छाप लगी थी। चम्पानिवासियोंके जीवनका कोई कोना भारतवर्षके व्यापक प्रभावसे बच न सका। भारतीय भवन-निर्माणकला तथा शिल्प-कलापर भारतीयताका प्रभाव प्रत्यक्ष मिलता है। वहाँके मन्दिर तथा मूर्तियाँ भारतीय ढंगसे बनी थीं। उनकी बनावट दक्षिण और उत्तरके मन्दिरोंसे मिलती-जुलती है। बुद्धभगवान्‌की प्रतिमाओंपर गान्धारकलाका प्रभाव है। शङ्कर, विष्णु आदिकी मूर्तियोंपर बंगाल तथा दक्षिण-भारतका प्रभाव था। मन्दिरोंकी छतें उत्तरी भारतके मन्दिरोंकी भाँति थीं। दक्षिण भारतीय भवन-निर्माण-कलाकी प्रधानता चम्पामें मिलती है।

चम्पाकी शासन-व्यवस्था भी भारतीय ढंगकी-सी थी। राजा साम्राज्यका सर्वेसर्वा होता था। प्रजा राजाको ईश्वरका अवतार मानती थी। सेनामें हाथी अधिक थे। राजालोग राजनीतिके ज्ञाता तथा धर्मधुरीण होते थे। अधिकतर राजालोग मनुकी आज्ञाके अनुसार कार्य करते थे।

चम्पाकी समाज-व्यवस्था भी भारतीय ढंगकी थी। भारतवर्षकी भाँति वहाँ भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। वहाँ भी ब्राह्मणोंका स्थान सर्वोच्च था। उनका सर्वत्र विशेष आदर था। ब्रह्महत्या महापाप समझा जाता था। धर्म-कर्मके नेता ब्राह्मण ही थे। विवाहका ढंग भी बहुत कुछ भारतीय था। वंश और गोत्रका ध्यान रखा जाता था। विवाह एक धार्मिक बन्धन माना जाता था। सतीप्रथाका भी चलन था। महीने भी भारतीय थे। वहाँकी भाषा भी भारतीय संस्कृत थी। कहीं-कहीं प्राचीन चम्पाकी भाषाका प्रयोग होता था, पर प्रधानता संस्कृतको ही प्राप्त थी। राजालोग शास्त्र-पुराण तथा वेदोंके ज्ञाता होते थे। व्याकरण-ज्यौतिषके भी अच्छे विद्वान् वहाँ थे। रामायण, महाभारत तथा धर्मशास्त्रोंसे चम्पानिवासी भलीभाँति परिचित थे। इसके अतिरिक्त और भी भारतीय बातें वहाँ पायी जाती थीं।

उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट हो गया कि चम्पा (अनाम) में भारतवासियोंने जिस सभ्यता तथा संस्कृतिका प्रसार किया था, वह आज भी वर्तमान है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि भारतीय संस्कृतिका प्रभाव अधिक व्यापक था। इसीलिये आज भी सारा विश्व उसके सामने नतमस्तक है।

चीनी यात्रियोंकी भारतसम्बन्धी जिज्ञासा

(लेखक—श्रीसीतारामजी सहगल)

इतिहासविशेषज्ञोंने बतलाया है कि प्राचीन भारतकी ऐतिहासिक परम्पराके अध्ययनके लिये जिस प्रकार संस्कृतके भिन्नकालीन मूलग्रन्थोंका पढ़ना आवश्यक है, उसी तरह विदेशी यात्रियोंके उल्लेख भी सम्माननीय हैं। इस दिशामें चीनी यात्रियोंके इतिहाससम्बन्धी ग्रन्थ और भी उपादेय हैं। इन यात्रियोंके नाम और उनकी कृतियाँ भारतीय इतिहासकी पूरक सामग्री हैं।

यह आश्चर्यकी बात है कि इन महान् यात्रियोंकी कृतियाँ यूरोपियन विद्वानोंके अनुवादसे पूर्व विस्मृतिके गर्भमें लीन थीं। श्रीजेम्स लेग, टामस वाटर्स, सेमूल बील और सेंट जूलियाँ आदि विद्वानोंने चीनी यात्रियोंकी कृतियोंके अनुवाद किये, जिससे भारतको अपने देशका प्राचीन इतिहास समझनेमें विशेष सहायता मिली। पुरातत्त्वके विशेषज्ञ प्रो० औरल स्टाइनने अपनी महत्त्वपूर्ण सेंट्रल एशियाकी खोजोंसे इन चीनी विद्वानोंके ग्रन्थोंकी प्रामाणिकताकी हृदयसे पुष्टि की। इन चीनी विद्वानोंके ग्रन्थोंका भारतकी कौन-सी भाषामें अनुवाद हुआ है, यह एक प्रश्न है?

सबसे पहले चीनके समर्थ यात्री श्रीह्वेन्‌स्वाङ्गने अपनी यात्राका वर्णन किया है, जिसमें तत्कालीन भारतकी संस्कृति-शिक्षा, राजनीति, सामाजिक नीति, कृषि तथा औद्योगिक विकासका विस्तारपूर्वक वर्णन है। यह चीनी यात्री शीलभद्रका प्रतिभाशाली योग्य और कर्मठ शिष्य था। उसके साथी इसकी सर्वतोमुखी प्रतिभासे इतने मुग्ध हो गये थे कि उसे नालन्दा-विश्वविद्यालयमें अध्यापक-पदसे सम्मानित किया। आजकी दुनियामें जो आदर यूनिवर्सिटी प्रोफेसर—डीनका होता है, वही प्रतिष्ठा और मान उस कालमें इस चीनी यात्रीका था। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि आजकलसे शिक्षाका उस समय आदर अधिक होनेसे इसका मान भी विशिष्ट था, और एक विदेशीको ऐसे प्रतिष्ठित पदपर रखना इसकी असाधारण प्रतिभाका द्योतक है। इस प्रकार यह चीनी यात्री भारत और चीनका अप्रतिम प्रेमपात्र बना। राष्ट्रकी संस्कृति और दर्शनशास्त्रकी सम्पत्तिका प्रचार इसने आशातीत रूपमें किया।

फा ही, स्वाङ्ग तथा इत्सिंगसे पूर्व और पीछे भी कई चीनी यात्री आठवीं शताब्दीतक आते रहे। यद्यपि इनके ग्रन्थ उपर्युक्त यात्रियोंके समान विस्तृत और सामग्रीपूर्ण नहीं हैं, तो भी इतिहासके छात्रके लिये उनकी उपयोगिता अमिट है। प्रो० लिंग चि च ओ नामक सुप्रसिद्ध समाजसुधारकने इन यात्रियोंके बारेमें पर्याप्त लिखा है, जिससे मालूम होता है कि इन विद्वानोंने चीन और भारतके पारस्परिक सम्बन्धोंको कितना बौद्धिक सूत्रोंसे गूँथा। उसने लिखा है—'मेरा सदा प्रयास रहा है कि मैं उन चीनी यात्रियोंको प्रकाशमें लाऊँ, जो अभीतक भारतमें अज्ञात रहे हैं और जिन्होंने भारतके साथ हमारे सम्बन्ध स्थापित करनेमें समय-समयपर विराट् यत्न किये। मेरी गवेषणाओंके अनुसार ८२ ऐसे यात्री विद्वान् हैं, जिनका ऐतिहासिकोंने अभीतक ऋण नहीं चुकाया।'

भारतीयताका अध्ययन करनेके लिये आजतक १८७ चीनी यात्री यहाँ आये, जिनमेंसे १०५ का ज्ञान हो सका है। शेष ८२ विद्वानोंके बारेमें जानना गवेषणाधीन है। इनमेंसे ३७ यात्रियोंका शरीर भारतमें आते अथवा जाते समय ही शान्त हो गया होगा, ऐसा अनुमान लगाया जाता है। छः चीनी यात्रियोंके बारेमें निश्चयसे कहा जाता है कि वे भारतमें मरे। मृत्युकी बड़ी संख्याका कारण तत्कालीन जलवायु रही होगी, जिसके कारण वे यात्री अपने कार्यमें असमर्थ रहे। जो यात्री अपने प्रचारमें सफल हुए, उन्होंने प्रसङ्गसे लिखा है ''मैं 'मो हो येन' के जंगलमें हूँ, जहाँ प्यासके कारण एक पग भी आगे बढ़ना असम्भव हो रहा है। मेरी मृत्यु किसी क्षण हो सकती है। इन निर्जन और घोर जंगलोंमें चारों ओर यात्रियोंको मनुष्यों और पशुओंके अस्थिपञ्जर देखनेको मिलते हैं। सामुद्रिक यात्रा अँधेरी और भयानक झंझावातोंसे पूर्ण है।'' फा ही जब भारतसे लौटा, तब उसे सामुद्रिक यात्रा करनी पड़ी। रास्तेमें उसे प्रचण्ड अँधेरीका

सामना करना पड़ा। नाविकने उन्हें सामान छोड़नेको कहा। इसने सब कुछ सामान छोड़कर बौद्ध साहित्यकी पुस्तकें तथा मूर्तियोंको अपने साथ बाँध लिया। इस प्रकार इन चीनी बौद्धने समुद्र, पर्वत तथा मरुस्थलके अनेक कष्टोंको झेला। उसकी ज्ञानपिपासा, धार्मिक निष्ठा, भारतीय प्रेम, विश्वास, धैर्य और साहसने उसे प्रेरणा प्रदान की और वह अपने पथपर निश्चल रहा।

कई चीनी यात्रियोंने तो अपनी यात्राओंका वर्णन स्वयं नहीं लिखा। कई यात्रियोंने लिखकर भी खो दिया। कुछ विद्वानोंकी कृतियाँ हमतक पहुँच सकी हैं। तो ये की चरितावली, त्वां चिनका भिन्न देशोंका वर्णन और फाँ युअङ्गकी यात्राओंके उल्लेख ही मिलते हैं। मूलग्रन्थ प्राप्य नहीं हैं। ह्वाई चोङ्गकी भारतके पाँच प्रदेशोंमें यात्राका वर्णन कई शताब्दियोंतक लुप्त रहा। हालमें इस ग्रन्थका उद्धार कं सु प्रदेशमें हुआ। कुछ हिस्सा जो मिला है, उसमें छः हजार शब्द हैं। श्री लो त्सेन युने इसे सम्पादित किया और यह महार्घ्य ग्रन्थ प्रकाशमें लाया गया है। जिन ग्रन्थोंकी आंशिक रक्षा हो सकी है, उनमेंसे वांग हसिंचेहका दस जिल्दोंमें हर्षवर्धनके साम्राज्यका वर्णन है। यह पूरा ग्रन्थ कहीं भी प्राप्त नहीं हो सका। इसके कुछ खण्ड तो शीद्वारा सम्पादित कथा-ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं।

प्राचीन कालमें बुद्धमतके विचारतत्त्वोंने इन दो देशोंको एक सूत्रमें जोड़ा था। इसलिये विद्वान् चीनी यात्री विद्या-सम्बन्धी बातोंमें ही लगे रहते थे। भारतीय इतिहासकी दूसरी बातोंमें उन्हें कम रुचि रहती थी। अतएव उनके द्वारा लिखी पुस्तकोंमें भारतकी सर्वाङ्गीण ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। उदाहरणार्थ हुई चि ओंकी 'प्रमुख बौद्धोंकी जीवनियाँ' नामक कृतिमें ऐतिहासिक सामग्रीके प्रासङ्गिक उल्लेख मिलते हैं, जो अपना महत्त्व अवश्य रखते हैं।

चीनी यात्रियोंके अतिरिक्त वहाँके इतिहासकार सु म चीने भी एक बृहद् इतिहास लिखा है, जिसमें उत्तर, पश्चिम और पड़ोसी राष्ट्रोंका इतिहास लिखा गया है। इसी मार्गपर चलते हुए उत्तरकालीन ऐतिहासिकोंने भी भारतके सम्बन्धमें लिखा है। इनमें पां कु तथा फां येने अपने-अपने इतिहास-ग्रन्थोंमें भारतके बारेमें लिखा है। वां सिउद्वारा लिखित वाईवंशके इतिहासमें भारतका प्रासंगिक वर्णन है। ल्यु हसुद्वारा लिखित तांगवंशके एवं तो केन तोद्वारा लिखित सुङ्ग-वंशके इतिहासमें सामग्री पायी जाती है। सिन तन शु तथा सुङ्गशी नामक लेखकोंमें क्रमशः काश्मीर और भारतके बारेमें ऐतिहासिक सामग्री मिलती है।

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त प्राचीन चीन राष्ट्रपर लिखी गयी पुस्तकोंमें भी भारतीय रीति-रिवाजपर प्रसङ्गतः प्रकाश डाला गया है। तु युद्वारा लिखित ताङ्ग-वंशके इतिहास तथा वंग चिन योके एक हजार जिल्दोंमें लिखे हुए इतिहासमें भारतीय इतिहासकी कुछ आंशिक सामग्री मिलती है। यदि इन ग्रन्थोंपर अनुसन्धान किया जाय तो अपने प्राचीन इतिहासपर अधिक प्रकाश पड़ सकता है। भारतीय दर्शन और विशेषतः बौद्ध-साहित्यके ज्ञानके लिये यह खोज महत्त्वपूर्ण होगी।

हिंदू-संस्कृति और प्रतीक

(लेखक—श्रीप्राणकिशोरजी गोस्वामी)

भारतीय हिंदू-धर्मने प्राचीनतामें ऐतिहासिकोंको विभ्रान्त कर रखा है। लिखित काष्ठ-लिपि, ताम्र-लिपि और प्रस्तरलिपिसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरातत्त्वके द्वारा संगृहीत तथ्य दिन-प्रतिदिन हिंदू-धर्मके अस्तित्वके विषयमें सुदूर अतीत कालकी ओर निर्देश करते हैं। शास्त्रोंने धर्मको सनातन और शाश्वत कहकर सन्तोष प्राप्त किया है। अनादि सनातन वेदमूलक हिंदू-धर्मके द्वारा, विभिन्न समाजोंके द्वारा, विभिन्न कालोंमें विभिन्न रूपसे परिगृहीत आचार और निष्ठाने इस धर्मके ऊपर विचित्र चिह्न अङ्कित किये हैं। धर्म जीवन-सत्ताका अत्यन्त निगूढ़ रहस्य है। उसको बाहर अभिव्यक्त करनेकी प्रचेष्टा बहुत प्राचीन कालसे चल रही है। अन्य

व्यक्ति या समाजके द्वारा परिचिन्तित धर्मसे अपनी विशेषताको बनाये रखनेके लिये अनेकों उपाय ग्रहण किये गये हैं। परम तत्त्व, पवित्र ज्ञान, अखण्ड आनन्द, विराट् सत्ताको विचित्र धारामें प्रकाशित करनेकी चेष्टा सभी समाजोंमें निर्बाध-रूपसे चलती आ रही है। उनके ज्ञान, कर्म अथवा उपासनाकी क्रम-परम्परामें उसी चिर-अनुसन्धेय, आकाङ्क्षणीय और परम सुन्दरका अनन्त रूपविलास आविष्कृत हुआ है।

प्रतीक या चिह्नोंके द्वारा अनन्तको सीमामें प्रकाशित करनेका प्रयास किया जाता है। असीम, अनिर्वचनीय, अव्यक्तको ससीम, वर्णनीय तथा अभिव्यक्त करनेके लिये कितने ही सङ्केतोंकी सृष्टि हुई है। ये विशिष्ट चिह्न या सङ्केत मानव-मनके अनभिव्यक्त भावकी व्यञ्जना करते हैं। विराट् समाजके सभी स्तरोंके मानव-मनमें सुपवित्र सुनिर्दिष्ट भावप्रेरणा लानेके लिये सर्वकालमें चिह्नका व्यवहार होता आया है। भावोंके समाहार तथा गोष्ठीकी प्रीतिके द्वारा विशेष-विशेष चिह्नों या प्रतीकोंने सुपुष्ट भावकी अभिव्यञ्जनामें अजेय गौरव प्राप्त किया है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(कठ० १। २। १५-१६)

'सारे वेद जिस पदका निर्देश करते हैं, जिसको लक्ष्य करके सारी तपस्या और ब्रह्मचर्य अनुष्ठित होते हैं, उस परम तत्त्वको संक्षेपमें कहता हूँ—वह 'ॐकार' है। यही अक्षर ब्रह्म है, यही परम अक्षर है; इस अक्षरको जान लेनेपर जिसकी जो इच्छा होगी, वह उसीको पा जायगा।' अनिर्वचनीय ब्रह्मका वाचक अक्षर ॐकार प्रत्येक वेदमन्त्रके आदि और अन्तमें उच्चारित और अङ्कित होकर वैदिक ऋषियोंके ब्रह्मानुभव और ब्रह्मदर्शनमें सहायक हुआ है। सृष्टिके किसी अज्ञात शुभारम्भके दिन स्रष्टा ब्रह्माके कण्ठसे, अनन्तकी प्रेरणासे यह प्रणवध्वनि उद्गीथ हुई थी। उसी अज्ञात अतीत कालसे वेदमें और धर्ममें नाद-ब्रह्मकी रूपाभिव्यक्ति प्रणव समादृत होता आ रहा है।

ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

'ॐकार' और 'अथ' शब्द मङ्गलवाचक हैं। ये दोनों शब्द सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माके कण्ठसे विनिर्गत हुए थे।'

वैदिक साधनाके प्रधान अवलम्बन, विश्वातीतके अत्यन्त प्रचुर प्रकाशक भगवान् सूर्यनारायण हैं। प्रतिदिन सन्ध्योपासनामें—क्या वैदिक, क्या तान्त्रिक—सर्वत्र उस सूर्यमण्डलको ही अवलम्बन करके उपस्थान, ध्यान, तर्पण, अर्घ्यदान आदि अनुष्ठित होते हैं। सूर्यको ही चर-अचर समस्त जगत्की आत्माके रूपमें स्वीकार किया जाता है। और भी देखा जाता है कि—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'आत्मघाती लोग मृत्युके बाद अज्ञान और अन्धकारसे परिपूर्ण, सूर्यके प्रकाशसे हीन, असूर्य नामक लोकको गमन करते हैं।' इससे यह पता लगता है कि वेदानुगामी साधुजन सूर्यमण्डलको किस श्रद्धाके साथ परमात्माके अभिव्यञ्जकरूपमें देखते थे। इस सूर्यको भी प्रणवरूपमें स्वीकार किया गया है।

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः। इत्यसौवा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति॥

(छान्दोग्य० १। ५। १)

ऋक्, यजु और साम—तीन वेद; भूः, भुवः और स्वः— तीन लोक; गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण—तीन अग्नि; यही क्यों? ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—जो कुछ हिंदू-धर्ममें है, यह ॐकार उन सबका ज्ञान करा देता है।

ओमित्येतत् त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः।
विष्णुर्ब्रह्मा हरश्चैव ऋक्सामानि यजूंषि च॥

(मार्कण्डेयपुराण)

कोई-कोई पण्डित यज्ञवेदी बनाकर उसके यज्ञकुण्डकी सप्तजिह्व यज्ञाग्निको वैदिकधर्मका प्रतीक मानते हैं। इस प्रकारका कोई चिह्न प्राचीन साधुजन व्यवहार करते हों, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता।

अतएव इसका यहाँ विचार नहीं किया जाता।

अन्यान्य समस्त चिह्नों या प्रतीकोंपर विचार करनेके पहले हिंदूमात्रके लिये स्वीकृत नाना प्रकारके शिलाचक्र, शालग्राम तथा शिवलिङ्गके सम्बन्धमें अवहित होना आवश्यक है। छोटी-से-छोटी गण्डशिला (शालग्राम)-में भी महत्तम सर्वव्यापक जगदीश्वरकी आराधना करनेकी रीति अतीतकालमें किस प्रकार किसकी प्रेरणासे प्रवर्तित हुई, यह पण्डितोंके लिये गवेषणाका विषय है। शिवलिङ्ग किस प्रकार योनिपीठसे संयुक्त होकर विश्वजनक-जननीके प्रतीकके रूपमें केवल भारतमें ही नहीं, बल्कि इससे बाहर भी चिरकाल पूर्वसे समादृत होता आया है—यह बात विद्वत्-समाजमें आज किसीको भी अविदित नहीं है।

पद्मपुराणमें लिखा है—

सौराश्च शैवगाणेशाः वैष्णवाः शक्तिपूजकाः।
मामेव ते प्रपद्यन्ते वर्षाम्भः सागरं यथा॥
एकोऽहं पञ्चधा भिन्नः क्रीडार्थं भुवने किल॥

भक्तवत्सल भगवान् कहते हैं कि 'संसारमें लीलाके लिये एक मैं ही पञ्चधा विभक्त हो रहा हूँ। वर्षाका पानी जिस प्रकार चारों ओरसे बहते-बहते एक समुद्रमें ही जाकर गिरता है, उसी प्रकार सौर, शैव, गाणपत्य, वैष्णव और शाक्त—सभीको आकर मुझमें ही आश्रय लेना पड़ता है।'

वेदानुगामी इन पञ्च उपासकोंमें प्रत्येकका एक विशिष्ट चिह्न या प्रतीक है। एक समवाय-परामर्शपूर्वक किसी चिह्नको विशिष्ट योग्यता दी गयी है, अथवा उसे अर्थयुक्त करके ग्रहण किया गया है—ऐसी भावना करना सत्यका अपलाप करना है।

ईसामसीहके जन्मके पूर्व, मूसाके जन्मके पूर्व फिनलैंडके निवासियोंको क्रॉस-चिह्न परिचित था। ईसाई-धर्मके प्रचारसे ही उसका उद्भव हुआ है, ऐसा समझना इतिहासकी मर्यादाके बाहरकी बात है। एक गोलाकार वृत्तरूप चिह्नको क्या कोई अपनी जातिका निजस्व मानकर दावा कर सकता है? वह समस्त जगत्का सुपरिचित चिह्न है। एक बिन्दुरूप चिह्न—वह भी किसी विशिष्ट सम्प्रदायका नहीं है, वह सभी मनुष्योंका है। बहुतेरे लोग समझते हैं कि स्वस्तिक चिह्नको बौद्धोंने ही भारतसे ले जाकर समस्त संसारमें फैलाया है। वस्तुतः प्रमाण मिलता है कि बौद्धधर्मके आविर्भावके पूर्व ही वैबिलन, मिस्र आदि देशोंमें लोग इस प्रकारके चिह्नसे परिचित थे।

सौर-सम्प्रदायका धर्मचिह्न सूर्यमण्डल है। यह प्राचीनतम वैदिक ऋषियोंके सविता देवतासे भिन्न नहीं है। सूर्यमण्डल द्वादश-कलायुक्त है। ऋतु-परिवर्तनके साथ सूर्यका वर्णपरिवर्तन होता है। जैसे—

वसन्ते कपिलः सूर्यो ग्रीष्मे काञ्चनसप्रभः।
श्वेतो वर्षासु वर्णेन पाण्डरः शरदि प्रभुः॥

'सूर्य वसन्तकालमें कपिलवर्ण, ग्रीष्ममें स्वर्णोज्ज्वल, वर्षामें शुभ्र, शरत्कालमें पाण्डुर, हेमन्तमें ताम्रवर्ण तथा शीतकालमें रक्तवर्ण होते हैं।'

जेन्दावस्ताका अनुगमन करनेवाले जरदुस्तके द्वारा प्रवर्तित पारसी लोगोंके धर्मचिह्नमें अग्निकुण्ड, अग्निस्थली, अहुर मज्दा (पक्ष विस्तृतरूप) और सूर्यमण्डलको स्थान मिला है। इससे समझमें आ सकता है कि इन्दो-एरियन (भारतीय आर्य) लोगोंके प्राचीनतम इतिहासके साथ अग्नि और सूर्य-चिह्न पृथ्वीके एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तको अतिक्रम कर चुके थे। ऐतिहासिक समालोचनासे पता चलता है कि अनेकों चिह्न या प्रतीक देश या समाजकी सीमाका उल्लङ्घन कर दूर-दूरतक फैल गये हैं।

किसी समय शैवलोग परिख्यात, पाशुपत, कालवदन और कपाली नामसे चार श्रेणियोंमें विभक्त थे। पीछे उनमें अनेकों प्रकारके सम्प्रदाय-भेद हो गये।

आद्यं शैवं परिख्यातमन्यत् पाशुपतं मुने।
तृतीयं कालवदनं चतुर्थं च कपालिनम्॥

(विद्वन्मोदतरङ्गिणी)

शिवका आयुध त्रिशूल सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके प्रभावसे निर्मुक्तिका सूचक है। वह धूम्रवर्ण है और शैवोंद्वारा विशेष समादृत चिह्न है। शिवालयके ऊपर इस प्रकारके चिह्न देखनेमें आते हैं। कोई-कोई शैव त्रिशूल-चिह्नाङ्कित शरीरमें शङ्करकी उपासना श्रेष्ठ समझते हैं और यथासमय उस चिह्नको धारण करते हैं। शैव साधु लोहेके बने त्रिशूलको दण्डके समान साथ लेकर चलते हैं। मोहन-जोदड़ोसे प्राचीनतम युगका

जो कुछ पता मिलता है, उसमें पशुपतिका चिह्न और वृषचिह्न भी प्राप्त होते हैं। उस अत्यन्त प्राचीन कालमें भी वृषभको धर्मके प्रतीकरूपमें ग्रहण करते थे, यह सिद्ध होता है। वृषरूपी धर्मके चार पैर हैं—तपस्या, शौच, दया और सत्य।

पृथ्वीकी प्रतीक गाय है। पृथुने गो-दोहनके द्वारा समस्त पार्थिव सम्पत्को प्राप्तकर प्रजाकी दुर्भिक्षसे रक्षा की थी। गणाधिपति गणनाथ या गणेशने वेदानुगामी सभी सम्प्रदायोंके ऊपर अपना प्रभाव डाला था। प्राचीन कालमें एक विशिष्ट समाज प्रधानतः इस प्रसिद्ध वैदिक देवता गणपतिकी ही उपासना करता था। उनका पृथक् अस्तित्व इस समय विशेषरूपसे परिलक्षित न होनेपर भी हिंदूमात्रके द्वारा किसी देव-देवीकी पूजा होनेके पूर्व गण-देवताकी पूजा धर्मतः अनिवार्य है। इसीके द्वारा यह अनुमान किया जा सकता है कि गणपतिका प्रभाव कितना है। भारतके महाराष्ट्र प्रदेशमें गणेशोत्सव एक प्रधान पर्व है। तन्त्रसारमें गणपतिके यन्त्रको सिन्दूर-वर्णसे अङ्कित करके उसमें गणेशजीकी पूजा करनेका विधान है। यह यन्त्र गणेशका प्रतीक है। गणेशने अपने गणोंके साथ एक परिवार बनाया है। सबके रूप एक प्रकारके हैं। उनकी शक्तियाँ भी संख्यामें अनुरूप ही हैं। वे रक्तमाला, रक्तवर्ण और रक्त आभूषण धारण करते हैं।

जो चिह्न हिंदू-धर्ममें अधिक परिमाणमें प्रचलित और परिगृहीत हैं, उनमें वैष्णवोंद्वारा समादृत पाञ्चजन्य भी एक है। पाञ्चजन्य शङ्ख भगवान् विष्णुका एक आयुध है। भागवतमें लिखा है कि प्रह्लादके भ्राता संह्लादकी पत्नी क्रतुके गर्भसे पाञ्चजन्य नामक दैत्यने जन्म ग्रहण किया था। वह समुद्रकी तिमि मछलीके आकारमें निवास करता था। उसका वध हो जानेके उपरान्त उसीकी अस्थिसे पाञ्चजन्य शङ्खकी उत्पत्ति हुई। इसे वेदमय तथा जलतत्त्वका प्रतीक कहा गया है। यह शङ्ख समस्त भारतमें मङ्गलचिह्नके रूपमें तथा इसकी ध्वनि पवित्र प्रणवध्वनिके समान आदृत होती है।

अस्थिभिः शङ्खचूडस्य शङ्खजातिर्बभूव ह।
नानाप्रकाररूपा च शश्वत्पूता सुरार्चने॥

शङ्खचूड दानवकी अस्थिद्वारा नाना जातिके शङ्ख उत्पन्न हुए—ऐसी कथा ब्रह्मवैवर्तपुराणमें मिलती है। शङ्ख वामावर्त और दक्षिणावर्तभेदसे दो प्रकारके होते हैं। पाञ्चजन्य दक्षिणावर्त्त है। इसके गुणोंका विचारकर ब्राह्मणादि श्रेणीभेद किया गया है। शङ्खके अस्थि होनेपर भी, उसमें जल लेकर भगवान्‌की आरती करने तथा उस जलसे पवित्र होनेका भी विधान किया गया है। दक्षिणावर्त शङ्ख महामूल्यवान् रत्न और सौभाग्यका प्रतीक माना जाता है। इस शङ्खचिह्नका भगवान् विष्णुके चरणतलमें ध्यान किया जाता है।

विष्णुके चक्रसुदर्शनने अन्यान्य चिह्नोंमें विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। प्रखर दीप्तिमन्त मार्तण्डको विश्वकर्मा अपने तेज यन्त्रमें डालकर उसकी प्रखरताको शान्त कर रहे थे। उससे एक तेज निकला। कहा जाता है कि उसीसे विष्णुका चक्र, शिवका त्रिशूल, कुबेरकी शिबिका, यमका दण्ड, कार्तिकेयकी शक्ति तथा अन्यान्य देवताओंके आयुध निर्मित हुए। मार्कण्डेयपुराणके वाक्य इस विषयमें विचारणीय हैं—

शातितं चास्य यत्तेजस्तेन चक्रं विनिर्मितम्।
विष्णोः शूलं च शर्वस्य शिबिका धनदस्य च॥
दण्डं प्रेतपतेः शक्तिर्देवसेनापतेस्तथा।
अन्येषाञ्चैव देवानामायुधानि स विश्वकृत्॥
चकार तेजसा भानोर्भासुराण्यरिशान्तये॥

सुदर्शन सहस्र अरोंसे युक्त होता है। साधारणतः उसे केशव आदि द्वादशमूर्ति विष्णुके प्रतीकके रूपमें द्वादश अरोंसे युक्त माना जाता है। उसमें मनस्तत्त्वका चिन्तन किया जाता है। भागवतमें इसे तेजस्तत्त्व कहा गया है। इसके मध्यस्थलमें नरसिंहमूर्ति अथवा विश्वरूप भगवान्‌का न्यास करनेका विधान है। भगवान् इस चक्रको दक्षिण हस्तमें धारण करते हैं। और उनके दक्षिण पदतलमें चिह्नरूपमें इसका उल्लेख मिलता है। विष्णुमन्दिरके ऊपर यह चिह्न व्यवहृत होता है। वैष्णवलोग दक्षिण बाहुमूलमें इस चिह्नको बड़े आदरके साथ अङ्कित करते हैं। कोई-कोई तप्तमुद्रा धारण करके देहको चक्राङ्कित करते हैं।

सौवर्णं राजतं ताम्रं कांस्यमायसमेव वा।
चक्रं कृत्वा तु मेधावी धारयेत विचक्षणः॥

(नवप्रश्न पाञ्चरात्र)

विष्णुकी प्रिय गदाका नाम कौमोदकी है। ओज और बलके सूचक मुख्य तत्त्व गदाको 'आयुधेश्वरी' नाम दिया गया है। दानव-वधमें इसका प्रयोग होता है। इस गदा-चिह्नको वैष्णवगण ललाटमें धारण करते हैं।

धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते।

—इस वाक्यसे भगवान्‌के कर-किसलयद्वारा संलालित लीला-कमलका रहस्य जाना जाता है। साधकके जीवनका निगूढ़ रहस्य भी इसी पद्ममें अन्तर्निहित है। योगशास्त्रके अनुसार मानव-देहमें मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रार प्रभृति चतुर्दल, षट्‌दल, दशदल, द्वादशदल, षोडशदल, द्विदल तथा सहस्रदल पद्म हैं। जीवनकी इच्छा, ज्ञान, क्रिया, काम और प्रेम—सभी इस पद्मके कोषमें अवस्थित हैं। साधनाके जीवनमें इस पद्मका सम्बन्ध अविच्छेद है, यह कहें तो अत्युक्ति न होगी। हिंदूके धर्म-कर्मके अनुष्ठानमें, मण्डलादिकी रचनामें, चित्रमें, शिल्पमें तथा अर्चनादिमें सर्वत्र किसी-न-किसी रूपमें पद्मको ग्रहण किया गया है। सूर्यके साथ पद्मका जैसा प्रेम-सम्बन्ध है, सविताके उपासक हिंदूका भी कमलके साथ भी वैसा ही सम्बन्ध होता है। विष्णुके लिये श्वेत पद्म तथा शक्तिके लिये रक्तपद्मका व्यवहार होता है। श्रीरामचन्द्रजीकी देवीपूजामें अष्टोत्तरशत नीलकमलकी ही प्रशंसा की गयी है।

श्रीरामोपासक वैष्णव धनुष और बाणके चिह्नको विशेष प्राधान्य प्रदान करते हैं—

यो वै नित्यं धनुर्बाणाङ्कितो भवति स पाप्मानं तरति स संसारं तरति स भगवदाश्रितो भवति स भगवद्रूपो भवति।

(श्रीरामचन्द्र परमवैदिक)

श्रीरामचरितमानसमें भी आया है—

रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ॥

गोपीचन्दनके द्वारा धनुष और दो बाणोंका चिह्न शरीरमें अङ्कित करना रामभक्तोंकी नित्यक्रियाका अङ्ग है।

गौड़ीय वैष्णवलोग महाप्रभु श्रीगौराङ्गके कीर्तनमें एक चिह्न धारण करते हैं, उसका नाम 'खुन्ती' है। कुछ लोग इस खुन्तीको हुसेनशाह बादशाहके समयका दिया हुआ हाथ-पञ्जा या फरमानका प्रतीक समझते हैं; परंतु इस चिह्नको वैष्णवलोग विशेष आदर देते आ रहे हैं। खुन्तीके अनुरूप चिह्न कभी-कभी मुसल्मान फकीर या दरवेश लोगोंके हाथोंमें भी देखा जाता है। यह चिह्न कहींसे भी आया हो, पर अब तो बंगालियोंका अपना चिह्न बन गया है।

स्वस्तिक चिह्न विश्वके एक छोरसे दूसरे छोरतक अनेकों जातियोंके द्वारा अभिनन्दित हुआ है। यह वस्तुतः भारतीय है और इसे भारतीय मानकर ही इसका भगवान्‌के चरणतलमें ध्यान करते हैं। स्वस्तिक मङ्गलचिह्न है, विभिन्न सम्प्रदायोंमें विभिन्न प्रकारोंसे अङ्कित होता है। मूलनीति एक ही है। सम्भवतः यह सूर्यकी गतिका निर्धारण करनेवाला हो। इस दृश्यमान जगत्‌में विराट्, ज्योति, सत्य, मङ्गल तथा सुन्दरकी धारणा करनेका अवलम्बन सूर्य और चन्द्रके समान दूसरा कौन होगा? हिंदुओंने सूर्यमण्डलको प्रधान माना है और मुसल्मानोंने चन्द्रमाको प्रधानता दी है। स्वस्तिवाचन हुए बिना हिंदू-धर्मका कोई भी कर्म अनुष्ठित नहीं होता। सबसे पहले स्वस्तिवाचन आवश्यक है। गृह-द्वार, मङ्गलघट—यहाँतक कि व्यवसायीकी लोहेकी तिजूरीतक भी स्वस्तिक-चिह्नसे चिह्नित होती है। किस प्रकारसे किस कालमें यह चिह्न हिंदू-धर्ममें अङ्गाङ्गिभावसे गृहीत हुआ है, यह बात रहस्यमें छिपी है। बारहवीं शताब्दीमें हेमचन्द्रने कहा है कि जैनियोंके द्वारा स्वीकृत चौबीस चिह्नोंमें स्वस्तिक एक प्रधान चिह्न है। जैसे—

वृषो गजोऽश्वः प्लवगः क्रौञ्चाब्जं स्वस्तिकं शशी।
मकरः श्रीवत्सः खड्गी महिषः शूकरस्तथा॥
श्येनो वज्रं मृगच्छागौ नन्दावर्तो घटोऽपि च।
कूर्मो नीलोत्पलं शङ्खं फणी सिंहोऽर्हतां ध्वजाः॥

हिंदू-धर्मके प्रभावसे परिवर्द्धमान जैनोंके सर्वविदित आठ मङ्गल-चिह्नोंका उल्लेख यहाँ अवश्य ही अप्रासङ्गिक नहीं होगा—जैसे (१) मत्स्ययुगलम्, (२) नन्दावर्त्त, (३) भद्रासन, (४) कुम्भ, (५) श्रीवत्स, (६) दर्पण, (७) सम्पुट, (८) स्वस्तिक। पुराणोंमें

प्राचीन कालसे ही बुद्धदेव भगवान्के एक अवतार माने गये हैं। वेदविरोधी कहकर बारंबार प्रतिहत होनेपर भी इस मतने सारे भारतके धर्मके ऊपर अपना प्रभाव डाला था, यह बात सभीको माननी ही पड़ती है। बौद्ध विहारोंमें स्तूप, बुद्धमन्दिरोंमें धर्मचिह्न, त्रिरत्न तथा स्वस्तिक इनके विशेष चिह्न हैं। बुद्धदेवके पदचिह्नके नामपर भी बहुतसे चिह्न प्रचलित हैं।

भारतमें उत्पन्न, हिंदू-धर्मके ही एक विशेष रूप कबीरपन्थके साधुलोग शुभ्र ध्वजाको अपनी पवित्रताका सूचक मानते हैं। उनकी यह पताका समाधि-स्थान और मठोंके ऊपर फहराया करती है। उनकी तिलकरेखा शुभ्र होती है। ग्रन्थादिमें श्रीसत्यनाम—यह चिह्न व्यवहृत होता है।

भारतीय जीवनके उच्छ्वलित आवेगने सिख-गुरुओंकी शिक्षाके द्वारा हिंदू-धर्मको पुष्ट बनाया है, इसे कौन नहीं स्वीकार करेगा? उनकी स्वाधीनताकी आकाङ्क्षा, कर्मप्रवणता, आलस्यहीनता, त्याग तथा अनुगमन (अनुशासन)-के आदर्श चिह्न चक्र, खाँडा तथा कृपाण—इन तीन अस्त्रोंके समन्वयरूप हैं।

दशनामी संन्यासी, जो आचार्य शङ्करके निर्देशानुसार जीवन-यापन करते हैं, गेरुआ वस्त्र धारण करते, सिर मुड़ाये रखते या जटा बढ़ाये रहते हैं तथा दण्डादि धारण करके त्यागमय जीवन बिताते हैं। इन लोगोंमें कहीं-कहीं गेरुआ रंगकी पताकामें रक्तवर्णका ॐकार लिखा हुआ देखा जाता है। प्रणवको छोड़कर अन्य कोई चिह्न ये व्यवहारमें लाते हों, यह ज्ञात नहीं। उदासी सम्प्रदाय अपने लाल झंडेके ऊपर मोर-पङ्खका व्यवहार करता है, ऐसा देखा जाता है।

भारतीय तत्त्वविद्यासमिति Theosophical Society ने गोलाकार वृत्तसे वेष्टित सर्पके बीच षट्कोणके भीतर स्वस्तिकका चिह्न अपनी विशेषताको प्रकट करनेके लिये स्वीकार किया है।

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके चरणतल और करतलमें जिन चिह्नोंका श्रीकृष्ण-भक्तगण स्मरण करते हैं, उनका उल्लेख किये बिना हिंदुओंके अर्थयुक्त चिह्नविशेषका वर्णन अधूरा रह जायगा। पद्मपुराणमें सोलह चिह्न कहे गये हैं, वाराहपुराणमें उल्लिखित चिह्नोंको मिलाकर यह संख्या उन्नीस होती है। (कहीं-कहीं ३२, ६४ और १०८ चरणचिह्नोंका उल्लेख मिलता है।) स्कन्दपुराणमें विष्णुके छः पद-चिह्नोंका उल्लेख आता है। (१) चक्र-चिह्न—भक्तोंके काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सररूप षड्रिपुओंके विनाशके लिये चिन्तनीय हैं, (२) पद्म—ध्यान करनेवालेके मन-भ्रमरको लुब्ध करता है, (३) अङ्कुश—भक्तके मदमत्त हस्तीके समान दुर्दान्त मनको वशमें करता है, (४) यव-चिह्न भोग और सम्पद्का प्रतीक है, (५) वज्र, (६) ध्वजा, (७) छत्र, (८) स्वस्तिक, (९) जम्बूफल, (१०) अष्टकोण, (११) ऊर्ध्वरेखा—ये भगवान्के दक्षिण चरणके चिह्न हैं। वाम चरणमें क्रमशः—(१) सर्वविद्याप्रकाशक शङ्ख, (२) आकाशमण्डल, (३) धनुष, (४) गोष्पद, (५) त्रिकोण, (६) कलश, (७) अर्द्धचन्द्र तथा (८) मत्स्यके चिह्नका ध्यान करना चाहिये।

श्रीकृष्णके समान श्रीराधारानीके चरणतलमें भी भक्तगण उन्नीस चिह्नोंका चिन्तन करते हैं, जैसे जौ, चक्र, छत्र, वलय, ऊर्ध्वरेखा, कमल, ध्वजा, पताका, लता, पुष्प, अङ्कुश, अर्द्धचन्द्र, शङ्ख, गदा, वेदी, शक्ति, पर्वत, रथ और मत्स्य। हिंदू धर्मके विभिन्न सम्प्रदाय विचित्र पुण्ड्र धारण करते हैं। पुण्ड्ररहित देवपूजा, होम, तर्पण-दान, ध्यानको शास्त्रमें विफल बतलाया है। पुण्ड्र जातीय और धार्मिक चिह्न है। वैदेशिक सभ्यताके प्रभावसे हिंदू इस जातीय चिह्नको भुलाने लगे हैं। सदाचारसम्पन्न साधुसमाजमें पुण्ड्र चन्द्राकार, वेणुपत्राकार, अश्वत्थ-पत्राकार, हरिपद या मन्दिरकी आकृतिमें, ऊर्ध्वपुण्ड्र या तिलकके रूपमें किया जाता है। पुण्ड्रके द्वारा उपासनाविशेषका परिचय प्राप्त होता है। विचित्र पुण्ड्रयुक्त साधुमण्डलको देखकर हिंदू-धर्मकी अनेक शाखा-प्रशाखाओंमें जो समप्राणता है, उसका प्रकृष्ट प्रमाण मिलता है।

देवार्चनके समय आवश्यक तान्त्रिक प्रक्रियाके आधारपर विभिन्न प्रकारके अङ्गन्यास और करन्यास उपदेश शास्त्रोंमें किया गया है। देवताकी आराधनामें आङ्गिक चेष्टाका अभिनव-समावेश मुद्राप्रदर्शनके द्वारा किया गया है। सभी जानते हैं कि अञ्जलि परम मुद्रा है।

अञ्जलि बाँधकर देवताके उद्देश्यसे हृदयकी दीनता और श्रद्धा निवेदित की जाती है। इसके अतिरिक्त पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, धूप, दीप आदि निवेदन करनेके लिये विभिन्न अङ्गसन्निवेशका विधान है। देवताके आयुध चक्र, गदा, पद्म, त्रिशूल, खड्ग आदि भी करतल और अङ्गुलिके संयोग-वियोगके द्वारा (मुद्राके रूपमें) देवताको प्रदर्शित किये जाते हैं। इससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि संकेतसे मनोभावोंको व्यक्त करनेका पारिभाषिक उपाय अतिप्राचीन कालमें इन मुद्राओंके प्रदर्शनकी रीतिके रूपमें निर्धारित किया गया था।

महाभारतके युद्धक्षेत्रके वर्णनमें देखा जाता है कि वीरलोग अपनी पताकाओंमें वीर्य, शौर्य, ज्ञान, कर्मकुशलता, क्षिप्रगति प्रभृतिके सूचक नाना प्रकारके चिह्न धारण करते थे। सिंह, वृष, मकर, वानर आदि जीवोंकी प्रतिकृति भी हिंदू-संस्कृतिके अङ्गमें अङ्गाङ्गिभावसे विजड़ित है। वर्ण और वस्तु हृद्गत भावोंके प्रकाशनके लिये प्रधान अवलम्बन हैं। विचित्र प्रकारके वर्णों और सामग्रियोंके समवायसे युग-युगमें मानव-मनके रहस्यमय भावोंका द्योतन होता है। सत्त्व, रज और तमोगुण शुभ्र, रक्त और कृष्णवर्णोंके द्वारा व्यञ्जित होते हैं। दूसरे देशोंमें ये ही पवित्रता, उत्सव और विषादके सूचक हैं। पीत भारतके उत्सवका वर्ण है, और गेरुआ त्यागका सूचक है। त्रिकोण, चतुष्कोण, वृत्त, विन्दु आदि चिह्नोंका उद्भव पहले-पहल प्राचीन कालकी यज्ञवेदियोंसे हुआ था या नहीं—यह ठीक-ठीक बतलाना सहज नहीं है। ये आजकल समस्त मानव-समाजकी सङ्केत-सम्पदा है।

स्वस्तिक

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव, बी० ए०)

स्वस्तिक चिरन्तन सत्य, शाश्वत शान्ति और अनन्त दिव्य ऐश्वर्य-सम्पन्न सौन्दर्यका माङ्गलिक चिह्न तथा प्रतीक है। इस प्रतीकका उपासक वही राष्ट्र होता आया है, जो दिव्य गुणों और शुभ-संस्कारोंसे युक्त रहा है। इसे धारण करनेमें आसुरी शक्ति सर्वथा असमर्थ है। सत्य और शान्तिका सन्देश तो कोई भाग्यशाली ही दिया करता है और यह सच बात है कि समय-समयपर सत्य और शान्तिका सन्देश देनेमें भारत सब देशोंसे आगे रहा है और यह भारतीय गौरवकी अक्षुण्ण ऐतिहासिकता है कि विश्वके आदिसाहित्य वेदमें 'स्वस्ति' मिलता है। सत्य, शिव और सुन्दरके रंगमञ्चपर अवस्थित होकर सोमका उन्माद नयनोंमें भरकर विवेकी आर्य ही सभ्यताके आदिकालमें कहनेका साहस कर सका था—

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु
स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं
नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥

(अथर्व० १।३१।४)

हमारी माताके लिये कल्याण हो। पिताके लिये कल्याण हो। हमारे गोधनका मङ्गल हो। विश्वके समस्त प्राणियोंका मङ्गल हो। हमारा यह सम्पूर्ण विश्व उत्तम धन और उत्तम ज्ञानसे सम्पन्न हो। हमलोग चिरकालतक प्रतिदिन सूर्यका दर्शन करते रहें। हम दीर्घजीवी हों।

आर्योंने ऐसे ही स्वस्ति वचनोंके बलपर समस्त विश्वके लिये सुख और शान्तिके साम्राज्य-स्थापनकी घोषणाकर जनकल्याणकी सिद्धि की थी। स्वस्तिक आर्योंका आदि माङ्गलिक प्रतीक है। स्वस्तिक आयु, प्रकाश, सूर्य और आकाशका मूर्त वाङ्मय है। जैन, बौद्ध तथा अन्य भारतीय धर्मग्रन्थोंमें भी स्वस्तिकके महत्त्वपर बड़ा प्रकाश डाला गया है। उनमें स्वस्तिकके विभिन्न आकार-प्रकार तथा रूप-रेखाकी जानकारी मिलती है।

'स्वस्तिक' शब्दकी ऐतिहासिकताके अध्ययनसे पता चलता है कि स्वस्तिक हठयोगका एक आसन है। यह एक प्रकारके यन्त्रका नाम है, जो शरीरमें गड़े हुए शल्य आदिको बाहर निकाल लेता है। चतुष्पथ अथवा

'चौराहा' के लिये भी इसका प्रयोग होता है। सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार यह एक माङ्गलिक चिह्नका नाम है, जो बहुत शुभ माना जाता है और गणेशपूजनसे पहले माङ्गलिक द्रव्योंसे विशेष उत्सवों और शुभ अवसरोंपर अङ्कित किया जाता है। भगवान् श्रीरामचन्द्र तथा भगवान् श्रीकृष्णके चरणमें इस प्रकारका चिह्न था। जैनी लोग जिन देवताके चौबीस लक्षणोंमेंसे इसे भी एक मानते हैं। स्वस्तिक प्राचीन कालकी एक प्रकारकी नावका भी नाम था, जो राजाओंकी सवारीके काममें आती थी। स्वस्तिकका अभिप्राय कुछ भी रहा हो, इस निबन्धमें तो उसकी माङ्गलिक चिह्नके रूपमें व्याख्या करनी है। स्वस्तिक स्वस्ति अथवा कल्याणका वाचक है। हिंदू-संस्कृतिसे सृष्टिके आदिकालसे उसका अविच्छिन्न और अमिट सम्बन्ध रहता चला आया है। विश्वकी समस्त सभ्य जातियोंमें हिंदू-जाति प्रतीक-उपासनाको अधिकाधिक विशेष महत्त्व देती है। जिस विषयको समझनेमें मस्तिष्क और जिह्वाके पंख झड़ जाते हैं, उसके बोधके लिये प्रतीकका हाथ पकड़ा जाता है। सीमित बुद्धि-क्षेत्रोंके काम न देनेपर तत्त्वबोध प्रतीकगत होनेसे सुगम और सरल हो जाता है।

स्वस्तिककी ऐतिहासिकताके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहकर मौन हो जाना पड़ता है कि यह उतना ही प्राचीन है, जितने प्राचीन वेद हैं। वेदोंमें प्रकाश, कल्याण, दीर्घायुके अर्थमें विशेष स्थलोंपर 'स्वस्ति' का प्रयोग मिलता है। कुछ विचारकोंका मत है कि कहीं-कहीं यह भ्रमणशील चक्रके आकारमें इसलिये दिखलाया गया है कि उससे सूर्यके प्रतीक होनेका बोध होता है। कुछ विद्वानोंका मत है कि स्वस्तिक उन दो अरणियों (काष्ठदण्डों)-का प्रतीक है, जिनसे यज्ञके लिये अग्नि पैदा की जाती है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि स्वस्तिक प्रकाशका प्रतीक है। दक्षिण भारतमें प्राचीन कालके बने हुए कुछ मिट्टीके पात्र मिले हैं, जिनपर स्वस्तिक अङ्कित है। 'स्वस्तिक' पुस्तकके लेखक श्रीविलहेजने लिखा है कि यह साधिकार नहीं कहा जा सकता कि पहले-पहल किस देशने स्वस्तिकका प्रयोग किया; पर इतना तो है कि यह विश्वजनीन प्रतीक है और गौतम बुद्धसे भी पहले भारतमें इसका प्रचार था। हेजका मत स्तुत्य है; पर इस सम्बन्धमें इतना और जोड़ा जा सकता है कि स्वस्तिकका जन्मस्थान भारत देश है और पुरातत्त्वविदोंके प्रयत्नसे तथा प्राचीन साहित्य-शास्त्रोंसे यह बात स्पष्ट हो गयी है कि हिंदू-जातिने ही विश्वके अनेक भागोंके अपने उपनिवेशोंमें इसका प्रचार किया। श्रीसतीशचन्द्र कालाने अपनी पुस्तक 'मोहन-जोदड़ो तथा सिन्धु-सभ्यता' में लिखा है कि 'मोहन-जोदड़ो' की खुदाईमें स्वस्तिका चित्रण मुद्राओं तथा पट्टियोंमें दीख पड़ता है। स्वस्तिक तथा चक्र सूर्यभगवान्‌के प्रतीक भी माने जाते हैं। स्वस्तिक और अग्निका सम्बन्ध भी सूर्यके कारण था। पारसियोंके एक प्राचीन मन्दिरके द्वारपर सूर्य, चन्द्र और स्वस्तिकके चिह्न बने हुए मिले हैं। इस कथनसे भी स्वस्तिककी प्राचीनताकी पुष्टि हो जाती है। श्री सी० जे० ब्राउनने अपनी पुस्तक 'क्वाइंस आफ इंडिया' में कुछ ऐसे सिक्कोंका विवरण दिया है, जो ईसवी सन्‌से चार सौ साल पहलेके हैं। उनपर स्वस्तिक, बोधिवृक्ष आदिके चिह्न अङ्कित हैं। सिक्कोंपर स्वस्तिक चिह्नका अङ्कन संकेत करता है कि चौबीस सौ साल पहले अशोककालीन भारतमें स्वस्तिकका सांस्कृतिक महत्त्व मान्य था। वैदिक कालसे ही प्रचलित स्वस्तिक-परम्परा अक्षुण्ण और जीवित थी। जिस सीमातक स्वस्तिकका हिंदू-संस्कृतिसे सम्बन्ध है, उसके आधारपर निस्सन्देह कहा जा सकता है कि महाकाव्यकालमें स्वस्तिक माङ्गलिक प्रतीकके साथ-साथ वस्तुके नाम तथा अन्य समाजोपयोगी चिह्नोंके रूपमें भी स्वीकार कर लिया गया था। संस्कृति और समाज दोनों क्षेत्रोंमें इसकी ख्याति बढ़ती गयी। श्रीविलहेजके कथनानुसार रामायणमें ऐसे जहाजका वर्णन मिलता है, जिसपर स्वस्तिकका चित्रण रहता था। महाभारतके सभापर्वमें जरासन्धवध-प्रकरणमें एक ऐसे नागका उल्लेख मिलता है, जिसका नाम स्वस्तिक था। शूद्रकरचित मृच्छकटिक नाटकका एक पात्र चोर चारुदत्तके घरमें सेंध लगाते समय विचार करता-सा चित्रित किया गया है कि स्वस्तिक सन्धि (सेंध) बनाये या घड़ेके आकारका सेंध लगाये। कुछ समय पहले

हस्तलिखित पुस्तकोंकी समाप्ति स्वस्तिक चिह्न अङ्कित कर सूचित की जाती थी। बौद्धों और जैनियोंने भी स्वस्तिक चिह्नको बड़ा महत्त्व दिया है। बौद्ध और जैन-लेखोंसे सम्बन्धित प्राचीन गुफाओंमें भी स्वस्तिकका चित्रण मिलता है। अशोकके शिला-लेखोंमें स्वस्तिकके प्रयोगका बाहुल्य है। जैनियोंके समस्त कर्म-विज्ञानका आधार स्वस्तिक है। जैनदर्शनके अनुसार एक-दूसरेको परस्पर काटनेवाली स्वस्तिकरेखाएँ (पुरुष और प्रकृति) आत्मा और पुद्गलकी प्रतीक हैं। दोनों रेखाओंके एक-दूसरेको परस्पर काटनेपर चार भाग हो जाते हैं, जो प्राकृत जगत्‌के चार क्रम—पूर्ववर्तीसर्ग, वनस्पतिसर्ग, मनुष्यसर्ग और देवसर्गके द्योतक हैं। मन्दिरोंमें पूजा करते समय जैन स्वस्तिक चिह्नका उपयोग करते हैं। आशीर्वाद अथवा स्वस्ति-दानमें भी वे स्वस्तिक चिह्नसे ही काम लेते हैं। बौद्धधर्ममें भी यह चिह्न अत्यन्त पूज्य माना जाता है। बुद्धभगवान्‌के चरणके लक्षणोंमें स्वस्तिककी परिगणना होती है। अमरावतीके स्तूपमें जो बुद्धपद चित्रित है, उसमें स्वस्तिक अङ्कित है। जापान, चीन आदि देशोंमें बुद्धभगवान्‌के चरणोंकी पूजा होनेसे विदेशोंमें स्वस्तिकका प्रचार सुगमतापूर्वक हो सका। विदेशोंमें स्वस्तिक-प्रचारके अन्य साधनोंमें भगवान् बुद्धका स्वस्तिक-अङ्कित चरण-पूजन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विशेष साधन रहा होगा। बौद्ध स्वस्तिकको बुद्धभगवान्‌के वक्षका भी एक शुभ लक्षण मानते हैं। निस्सन्देह भारतने ही अपने उपनिवेशों तथा विदेशोंमें स्वस्तिकका प्रचार किया। भिन्न-भिन्न देशोंमें स्वस्तिकके सम्बन्धमें विभिन्न मान्यताएँ प्रचलित हैं। विदेशमें स्वस्तिक व्यापारका भी शुभ चिह्न कहीं-कहीं स्वीकार किया गया है। अनेक देशोंके सिक्कोंमें भी इसका अङ्कन दीख पड़ता है।

आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंडमें माबरी जातिके लोग स्वस्तिकको अपने जीवनके शुभ प्रतीकोंमेंसे एक मानते हैं। जापानमें स्वस्तिक 'मनजी' कहलाता है। बुद्धकी प्रतिमाओंमें जापानी इसका अङ्कन विशेषरूपसे करते हैं। जापानमें परम पवित्र पहाड़ फ्यूजीयामाके शृङ्गपर जब तीर्थयात्री पहुँचते हैं, तब उन्हें ऐसे घड़ोंका जल पीनेके लिये दिया जाता है, जिनपर स्वस्तिकके चिह्न बने रहते हैं। यह जल दीर्घायु दान करता है। कोरियामें तो स्वस्तिक तामझाम और पालकी आदिमें चित्रित दीख पड़ते हैं। चीनमें स्वस्तिक असंख्यताका बोधक है, अधिकताका प्रतीक है। चीनी भी हिंदुओंकी ही तरह इसे कल्याण, दीर्घायु और प्रकाशका प्रतीक मानते हैं। हजार वर्षोंसे पहले भी चीनी स्वस्तिकका अङ्कन वृत्तिमें करते थे और उसे सूर्यका प्रतीक स्वीकारकर उपासना करते थे। टैंग शासक बूका आदेश था कि सारे चीनमें स्वस्तिककी प्रतीकोपासना हो। टैंग-कालकी जनता यत्न करती थी कि काठके सामानों तथा दैनिक उपयोगकी अन्य वस्तुओंपर मकड़ी अपने वृत्ताकार जालेमें स्वस्तिक बनाये। ऐसा होना परम सौभाग्य समझा जाता था। चीनियोंकी मान्यता है कि आकाशमें विशेष तारोंके परस्पर मिलनेपर स्वस्तिकके आकार-प्रकारका एक चित्र नित्य बनता रहता है। तिब्बतमें तो लोग अपने शरीरमें स्वस्तिकके आकारका गोदना गोदवाते हैं। स्वस्तिकका प्रचलन फारसमें भी है। पुरोहितोंके चोगोंपर स्वस्तिकके चिह्न बनाये जाते हैं। कैकय देशमें स्वस्तिकको परम पवित्रताका प्रतीक मानते हैं। अलजीरिया और मिस्रमें भी इसका बाहुल्य है। मिस्रनिवासियोंका विश्वास है कि स्वस्तिक उनके देशमें यूनानसे आया। यूनानमें मिट्टी, पीतल और सोनेके बर्तनोंपर स्वस्तिकका बाहुल्य था। यह उसके प्राचीन कालके इतिहाससे ऐसा पता चलता है। साइप्रेस द्वीपमें देवताओंकी मूर्तियोंपर स्वस्तिकके चिह्न मिले हैं। क्रीटके एक रजत-सिक्केमें स्वस्तिक अङ्कित है। इससे यूरोपमें स्वस्तिककी प्राचीनताका संकेत मिलता है। इटलीमें स्वस्तिकका प्रचलन संकेत करता है कि यहींसे यूरोपके अन्य देशोंमें इसका प्रचार हुआ। हेजका कथन है कि आदिम ईसाइयोंमें स्वस्तिक विशेष और अत्यन्त पवित्र प्रतीककी तरह अवश्यमेव प्रचलित था। स्काटलैंडमें एबरडीन शायरमें चालीस अक्षरोंका एक शिलालेख मिला है। अक्षरोंके मध्यभागमें स्वस्तिक है, अभीतक लिपिका पता नहीं चल सका है; सम्भव है कि इस शिलालेखमें स्वस्तिक किसी वर्ण या संख्याका सूचक हो। इस शिलालेखके आधारपर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन समयमें यूरोपने

प्रतीकके साथ-साथ स्वस्तिकको वर्ण या संख्याके रूपमें भी स्वीकार कर लिया था। अमेरिकामें यूरोपियोंके प्रवेशके पहलेसे ही स्वस्तिकका प्रयोग था। कुछ टीलोंकी खुदाईमें ऐसे सामान प्राप्त हुए हैं, जिनपर स्वस्तिक अङ्कित है। इससे कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि कोलम्बससे कई सौ साल पहले बौद्धधर्म-प्रचारकोंके साथ अमेरिकामें स्वस्तिकका भी प्रवेश हुआ है। अमेरिकामें भगवान् बुद्धकी एक प्रतिमा मिली है, जो स्वस्तिक आसनमें प्रतिष्ठित है। अभीतक यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि यह प्रतिमा भगवान् बुद्धकी है या किसी अन्य देवताकी है। यह भी सम्भव है कि प्रतिमा किसी हिंदू देवताकी हो। हठयोगमें स्वस्तिक एक विशेष प्रकारका आसन है, अतएव स्वस्तिक आसनमें देव-प्रतिमाकी प्रतिष्ठा आश्चर्यकी बात नहीं है। श्रीचमनलालने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदू अमेरिका' में यह तो सिद्ध ही कर दिया है कि अमेरिका हिंदुओंका एक उपनिवेश था। सामाजिक जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें अमेरिकाके मूल निवासी स्वस्तिकका उपयोग आजतक करते हैं। आर्योंका अन्य महादेशोंसे प्राचीन और मध्यकालमें व्यापार-सम्बन्ध स्थापित ही था, इसलिये साधिकार कहा जा सकता है कि जिन देशोंमें स्वस्तिकका प्रचलन है, उनमें भारतने ही सत्य, शान्ति और कल्याणका सन्देश किसी समय अवश्य पहुँचाया था।

स्वस्तिक सर्वथा स्वस्ति अथवा कल्याणकारी है। हिंदुओं तथा भारतेतर जातियोंके सांस्कृतिक; धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक जीवनमें स्वस्तिकका उपयोग दीख पड़ता है। विश्वने एक स्वरसे इसे माङ्गलिक प्रतीक स्वीकार कर लिया है। ईसाइयोंका क्रॉस स्वस्तिकका ही एक रूपान्तर है। ॐ शब्दकी बनावट और वैज्ञानिक आकारकी समीक्षा करनेपर ऐसा कहनेका साहस होता है कि यह भी एक प्रकारका स्वस्तिक ही है। ॐ अखण्ड चिन्दानन्दकी सत्ताका प्रतीक है, भगवान्‌का अक्षर-रूप है। निस्सन्देह स्वस्तिक ही ॐ रूपमें परमात्माका प्रतीकगत बोध है। परम सत्य शान्ति और स्वस्तिका आश्रय है। इतिहासकी पुनरावृत्ति तो होती रहती है। इसलिये निस्संकोच कहा जा सकता है कि विश्व एक दिन स्वस्तिकगत आदर्शोंको अपना सकता है। उसकी सबसे बड़ी चाह है सत्यकी प्राप्ति। उसकी सबसे बड़ी भूख है शान्तिकी अनुभूति। उसका लक्ष्य है आत्मराज्य अथवा स्वराज्य। स्वस्तिक विश्व-कल्याणका दूत है। हिंदुओंका आदि माङ्गलिक प्रतीक है। इसलिये यह निश्चित है कि विश्व शाश्वत शान्ति, चिरन्तन सत्य और जन-कल्याणके लिये स्वस्तिकके उपासक भारतके चरणोंपर नत-मस्तक होकर हिंदू-संस्कृतिकी विजयके गीत गायेगा। भगवान् करें—दैवी शक्तिसे सम्पन्न विश्वका शान्तिदूत स्वस्तिक बने!

स्वस्तिक सनातन शास्त्रीय दृष्टिसे प्रणवका स्वरूप है। डॉ० जीवनजी जमशेदजी मोदीका कहना है कि सूर्यकी गतिसे स्वस्तिकका सम्बन्ध है। सूर्यकी विभिन्न गतियोंको सूचित करनेवाला यह चिह्न है। आदित्य, अग्नि, आरोग्य और आबादीका मूल स्वस्तिक है, यह पारसी धारणा है। श्री मेकेंजीने स्वस्तिकको अनेक भावनाओंका सूचक माना है। उनमें चतुर्वर्ण, अग्निके भाव भी माने गये हैं। चारों वर्ण, चारों आश्रम, चारों वेद, यज्ञ एवं यज्ञके चारों होता, उद्गाता आदि कर्ता तथा चारों अग्नि इससे सूचित होते हैं। पारसी पवित्र अग्निसम्बन्धी 'बुई' कृत्यका इसे प्रतीक मानते हैं; क्योंकि उसमें अध्वर्यु इसी आकारमें अग्निके चारों ओर घूमते हैं। इसे पारसी चारों दिशा एवं चारों समयकी प्रार्थनाका भी प्रतीक मानते हैं।

जैन अक्षत-पूजाके समय स्वस्तिक बनाकर उसके ऊपर तीन विन्दु बनाते हैं। ये स्वस्तिककी रेखाओंको चारों गति (देव, नरक, तिर्यक् एवं मनुष्य)-का प्रतीक मानते हैं और विन्दुओंको रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र)-का। मध्य स्थानको वे मुक्तिका स्थान 'सिद्धिशिला' कहते हैं।

आकारमें सामान्य अन्तरसे स्वस्तिक, श्रीवत्स और नन्दावर्त—ये हिंदू-शास्त्रोंके भेद होते हैं इस चिह्नमें। पारसी इसे जिस रूपमें अङ्कित करते हैं, वह अपस्तिक कहा जाता है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थोंमें इसका एक और रूप मिलता है। स्वस्तिकके सम्बन्धमें अनेक विद्वानोंने अनेक ग्रन्थ एवं निबन्ध लिखे हैं। कुछके नाम यहाँ दिये जाते हैं—

१. श्रीमती सिन्क्लेयर स्टिवेन्सन् (Mrs. Sinclair Stevenson) कृत The Heart of Jainism, पृष्ठ ५३, ५६, ९७, २५१ और २७९।

२. प्रो० हेल्मुथ ग्लाजेनप (Prof. Helmuth Glassenap) कृत जर्मन ग्रन्थ 'Der Jainismus' पृष्ठ ३६२।

३. श्री डब्ल्यू. एम. टीप (Mr. W. M. Teape) कृत 'The Secret Lore of India and the one perfect life for all.' पृष्ठ ११४।

४. श्रीमती ब्लैवेटस्की (Madame Blavatski) कृत 'Secret Doctrines' नामक पुस्तकमें स्वस्तिकका उल्लेख है।

५. श्रीबर्डउड् (Birdwood) कृत 'Swa' नामक पुस्तकमें।

६. श्रीगेरिनो (Guerinot) कृत फ्रेंच ग्रन्थमें।

७. श्री एल० डी० मिल्लो (L. D. Milloue) कृत 'Annales du Musc'e Ginment.' नामक फ्रेंच ग्रन्थमें ।

८. श्रीकाउंट गोब्ले अल्वील्ला. (Count Gobletd' Alviella) कृत 'The Migration of Symbols.

इनके अतिरिक्त और भी ग्रन्थ हैं, जिनमें स्वस्तिकपर अनुसन्धानपूर्ण लेख हैं। अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओंमें भी बहुतसे महत्त्वपूर्ण लेख निकले हैं।

शिखा-रहस्य

(लेखक—पं० श्रीसत्यनारायणजी मिश्र)

हिंदूजातिके प्रमुख सोलह संस्कारोंमें 'चूडाकरण' भी एक विशेष संस्कार है। इसी संस्कारमें आर्यजातिके प्रतीक अथवा मुख्य जातीय चिह्न 'शिखाधारण' का विधान है। इसके धारणसे आयु, तेज, बल, ओज और पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है। **'चूडा क्रियते अनेन'** अथवा **'चूडायाः करणम्'** इस व्युत्पत्तिसे **'शिखा चूडा शिखण्डस्तु पिच्छबर्हे नपुंसके'** इस अमरकोषके प्रमाणसे 'चूडा' शब्दसे शिखा ही अर्थरूपेण गृहीत है। पारस्कर, आश्वलायन, वैखानस, बौधायन, अग्निवेश्य, आपस्तम्ब और जैमिनीय आदि स्मार्त सूत्रग्रन्थोंमें चूडाकर्मके अन्तर्गत शिखा रखनेका स्पष्ट विधान मिलता है।

अथैनमेकशिखस्त्रिशिखः पञ्चशिखो वा यथैवैषां कुलधर्मः स्यात्। यथर्षिः शिखा निदधातीत्येके।

—इत्यादि सूत्रोंमें चूडाकर्ममें शिखा रखनेका ही स्पष्ट उल्लेख है। आपस्तम्बने **'प्रतिदिशं वपति'** कहकर शिखाके चारों ओर केशमुण्डनका निर्देश किया है। बौधायनने—

चौलवत्तूष्णीं केशानोप्य स्नातं शुचिवाससं बद्धशिखं यज्ञोपवीतं प्रतिमुञ्चन् वाचयति।

—इस सूत्रमें शिखा रखनेकी आज्ञा देते हुए क्षौरका विधान बतलाकर कुमारके लिये **'बद्धशिखम्'** यह विशेषण देकर शिखास्थापनकी दृढ़ता सिद्ध की है। यद्यपि पारस्करगृह्यमतानुयायियोंके लिये **'मुण्डाश्चभृगवो मताः'** इत्यादि प्रमाण प्राप्त होते हैं, तथापि **'यथा मङ्गलं केशशेषकरणम्'** इस सूत्रके अनुसार वे भी मङ्गलसूचक शिखा धारण करते ही हैं। बहुत-से लोग अपने ऋषि, कुल और गोत्रके अनुकूल अनेक शिखाएँ रखते हैं; परंतु उनमें मध्य शिखाकी ही प्रधानता मानी गयी है, जैसा कि धर्मसिन्धुकारने कहा है—

मध्ये मुख्या एका शिखा अन्याश्च पार्श्वादिभागेष्विति यथाकुलाचारप्रवरसंख्यया शिखाश्चूडासमये कार्याः।

सिरके मध्यमें स्थित केश-समूह ही 'चूडा' कहलाता है। यही चूडा प्रधान शिखा मानी जाती है। वसिष्ठ गोत्रवाले मध्य शिखासे दक्षिण भागमें स्थित केश-समुदायको चूडा कहते हैं। अत्रि और कश्यप गोत्रवाले मध्यभागमें स्थित शिखाके उभय पार्श्व (अगल-बगल)-में स्थित केशोंको शिखा कहते हैं—

मध्ये शिरसि चूडा स्याद् वासिष्ठानां तु दक्षिणे।
उभयोः पार्श्वयोरत्रिकश्यपानां शिखा मता॥

उपनयनकालमें मध्यशिखाके अतिरिक्त अन्य गौण

शिखाओंके वपनका विधान 'निर्णयसिन्धु' में स्पष्टरूपसे पाया जाता है—

तासां मध्यशिखवर्जमुपनयने वपनं कार्यम्।

धर्मसिन्धुकारने भी—

उपनयनकाले मध्यशिखेतरशिखानां वपनं कृत्वा मध्यभाग एवोपनयनोत्तरं शिखा धार्या।

—इस उक्तिसे निर्णयसिन्धुकारके सिद्धान्तका ही समर्थन किया है। सन्ध्या करते समय अङ्गन्यासके अन्तर्गत आगमग्रन्थोंमें '**भुवः शिखायै वषट्**' इस मन्त्रद्वारा चोटीमें दक्षिण हाथके अङ्गुष्ठस्पर्शका विधान देखा जाता है। इन प्रमाणोंसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि चूडाकरण-संस्कारमें शिखा रखकर ही अन्य केशोंका मुण्डन कराना चाहिये। महर्षि हारीत कहते हैं कि जो लोग मोह, द्वेष या अज्ञानसे शिखा काट देते हैं, वे तप्तकृच्छ्र व्रत करनेसे शुद्ध होते हैं—

शिखां छिन्दन्ति ये मोहाद् द्वेषादज्ञानतोऽपि वा।
तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥

'काठक गृह्यसूत्र' और 'कौथुमि शाखा' में तो यहाँतक उल्लेख है कि यदि कोई पुरुष प्रमादवश शिखासहित क्षौर करा ले, तो वह ब्रह्मग्रन्थियुक्त कुशकी शिखा बनाकर दाहिने कानपर तबतक रखे, जबतक बाँधनेके लायक शिखा न बढ़ जाय—

अथ चेत् प्रमादान्निशिखं वपनं स्यात् तत्र कौशीं शिखां ब्रह्मग्रन्थिसमन्वितां दक्षिणकर्णोपरि आशिखाबन्धादवतिष्ठेत्।

इस उपर्युक्त दण्डविधानसे यह स्पष्ट प्रकट है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको शिखा, सूत्र और हिंदूमात्रको शिखा अवश्य धारण करनी चाहिये। बिना यज्ञोपवीत और शिखाके हिंदुओंका किया हुआ सभी सत्कार्य व्यर्थ हो जाता है और वह राक्षस-कर्म कहलाता है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

(देवलस्मृति)

विना यच्छिखया कर्म विना यज्ञोपवीतकम्।
राक्षसं तद्धि विज्ञेयं समस्ता निष्फलाः क्रियाः॥

(व्यासस्मृति)

शिखाके साथ बल, वीर्य, आयुवृद्धि, तेज और पराक्रमका गहरा सम्बन्ध है। इसीलिये हिंदुओंका यह सर्वोत्कृष्ट जातीय चिह्न माना गया है। जिस प्रकार फौजी सिपाहियोंका फौजी वेष वीरतासूचक, स्काउटोंका वेष स्फूर्तिसूचक, मुसल्मानोंकी दाढ़ी मुस्लिमपनकी सूचक और ईसाइयोंकी नेकटाई ईसाईमतकी सूचक है, ठीक उसी प्रकार हिंदुओंकी शिखा हिंदुत्वसूचक है। हिंदुत्व प्रतीक यह शिखा जिसके सिरपर नहीं है, जिस हिंदूने प्रभावोत्पादक इस हिन्दू-चिह्नको धारण नहीं किया, वह हिंदू 'शव'के समान है। सिरके मध्य-भागमें सुरक्षित, सुस्थिर शिखा चिरन्तन आर्यगौरव तथा हिंदुत्वकी द्योतक है। इसीलिये आर्यजातिके लिये शिखा रखना नितान्त आवश्यक है। हिंदूजाति ज्ञान-विज्ञानरूपी रससे परिपूर्ण एक घटके समान है। उस घटका वह रस, जिसके एक-एक कणसे विश्वके अनेक नदी और नदरूपी मत प्रादुर्भूत हुए हैं, ब्रह्मरन्ध्रद्वारा कहीं अन्तःस्थित निरन्तर विद्युत्प्रवाहसे प्रवाहित होकर बाहर निकल न जाय,अतः उसकी रक्षाके लिये इस चोटीरूपी ढक्कनका रखना परमावश्यक है।

सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार पदार्थमात्रमें देव या प्राणशक्ति मानी गयी है। इस स्थावर-जङ्गमरूप संसारमें देव या प्राणशक्तिसे व्याप्त कोई भी व्यक्ति किसी भी प्राणीके किसी भी योनिमें किये गये कर्मका प्रतिफल है, जो अपने कर्मानुसार उद्भिज्ज-संसारमें लता-वृक्षादिके रूपमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं। उद्भिज्ज-संसारके ये लता-वृक्षादि हमारी अतीत भुक्त योनिमें किसी समयके हमारे पूर्वज अवश्य हैं, जो स्वकर्मानुसार लता-गुल्मादिके रूपमें व्यवस्थित हैं। हमारी शिखा उद्भिज्ज-संसारका चिह्न है। नियमपूर्वक वेदादिके स्वाध्यायसे समुत्पन्न अमृत वायुवेगसे भी प्रबल तेजीसे शिखाके अधस्तलमें स्थित ब्रह्मरन्ध्रमें कर्णिकाद्वारा प्रविष्ट होता है। वह अमृत अपने केन्द्रस्थान सूर्यमें मिलनेके लिये बाहर निकलना चाहता है, किंतु शिखासङ्घर्षसे टकराकर वापस लौट आता है। अमृतसे सङ्घर्षित होनेके कारण शिखामें अमृतका लेश रह जाना स्वाभाविक है। निम्नकोटिकी स्थावर-चेतन योनियाँ इस अमृततत्त्वको प्राप्तकर उत्तरोत्तर उच्च योनियोंको प्राप्त करती जायँ,

इसीलिये हमारे पारदृश्वा महर्षियोंने देवर्षि-पितृतर्पणके साथ चित्ररूप शिखाके अमृतजलसे उद्भिज्ज-संसारमें प्रादुर्भूत लता-गुल्मादिरूपी पितरोंको तर्पण करनेका आदेश दिया है—

लतागुल्मेषु वृक्षेषु पितरो ये व्यवस्थिताः।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु मयोत्सृष्टैः शिखोदकैः॥

(संस्कारगणपति)

वेदान्त और योगदर्शनके सिद्धान्तानुसार शिखाका अधःस्थित भाग ब्रह्मरन्ध्र माना गया है। इस ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर सहस्रदल कमलमें अमृतरूपी ब्रह्मका स्थान है। विधिपूर्वक किये गये वेदादिके स्वाध्याय और सविधि श्रौत-स्मार्त-कर्मानुष्ठानसे समुत्पन्न अमृततत्त्व अतिक्रान्त वायुवेगसे सहस्रदल कर्णिकामें प्रविष्ट होता है। वह अमृततत्त्व सिरसे बाहर निकलकर ऊपरकी ओर अपने केन्द्रस्थान ऋग्यजुःसामस्वरूप सहस्ररश्मि सूर्यदेवमें मिलना चाहता है, परंतु शिखा रखनेसे वह अमृत शिखा-ग्रन्थिकी उलझनमें टकराकर सहस्रदलकी कर्णिकामें रह जाता है। यदि वेदाध्ययन या सत्कर्मानुष्ठान करते समय शिखा खुली रहती है तो वह अमृत शिखासे बाहर होकर पृथ्वीमें प्रविष्ट हो जाता है। शिखाके न रहनेपर वह अमृत सिरसे बाहर निकलकर ऊपरको उठता है, किंतु प्रबलशक्तिसम्पन्न न होनेके कारण वायुसे टकराकर वह अन्तरिक्षमें विलीन हो जाता है। फलस्वरूप अनियमित कालमें की गयी सन्ध्याकी तरह वह सत्कार्य विफल हो जाता है। इसीलिये मन्वादि धर्मशास्त्रकारोंने कहा है कि स्नान, दान, जप, होम, सन्ध्या, स्वाध्याय और देवार्चन करते समय शिखामें ग्रन्थि अवश्य लगानी चाहिये—

स्नाने दाने जपे होमे सन्ध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥

अस्तु, ऊपर बतलाया जा चुका है कि शिखाके निम्नतलमें ब्रह्मरन्ध्र और उसके ऊपर सहस्रदल कमलमें परमात्माका केन्द्रस्थान है। वर्तमान विज्ञानके अनुसार शिखास्थानके पीछे भीतर नीचेकी ओर ब्रह्मरन्ध्रके पीछे मस्तिष्कभागमें कामका केन्द्रस्थान है। इन उपर्युक्त दोनों स्थानोंमें गोखुर-प्रमाण शिखा रखनेसे आत्मिक शक्ति सुरक्षित रहती है और चिन्ताशक्ति (कामोद्रेकशक्ति) दबी रहती है। फलस्वरूप मनुष्य अपनी कामशक्तिको यथासाध्य दबाकर आध्यात्मिक जगत्में उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ शिखाद्वारा व्यापक ब्रह्मकी यथेष्ट शक्तिका आकर्षण करता है। वैदिक विज्ञानसे यह बात सिद्ध है कि सर्वव्यापी परेश परमात्माकी अप्रमेय शक्तिको आकृष्ट करनेका सर्वोत्तम साधन शिखा-धारण है। (सिद्धान्त)

शङ्खध्वनि और घण्टानाद

(लेखक—पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी)

शङ्ख

शङ्ख हिंदूधर्मके पावनतम प्रतीकोंमें है। हिंदू-देवमन्दिरमें श्रीविग्रहके सम्मुख शङ्खकी उपस्थिति सर्वत्र समानरूपसे पायी जाती है। सभी मङ्गल-कार्योंमें शङ्खध्वनि परम मङ्गलमय समझी जाती है और युद्धमें तो शङ्खनाद उसके प्रारम्भका सूचक है ही। भारतवर्ष अनादि कालसे शङ्खसे परिचित है। 'यजुर्वेद-संहिता' के अध्याय ३० में 'शङ्खध्म' शब्द आता है। अथर्ववेद-संहिता, बृहदारण्यक उपनिषद् आदि श्रौतग्रन्थोंमें शङ्खके पर्याप्त प्रसङ्ग हैं। शङ्ख बजानेके साथ 'कौशिकसूत्र' में आयुवृद्धिके लिये बालकके शरीरमें अभिमन्त्रित शङ्ख बाँधनेका भी विधान है। 'नक्षत्र-कल्प' (१०।२)-में शङ्खकी समुद्रसे उत्पत्ति बताकर वहीं '**शङ्खकृशनः पात्वंहसः**' आदि सूत्रोंसे शङ्खको पापहारी, रक्षोघ्न, मुख्यरत्न, महौषध तथा दीर्घायुःप्रद बताया गया है। अथर्ववेदमें शङ्खोंके उत्पत्ति-स्थान, गुण एवं महत्त्वका वर्णन है।

शंखनति—जनयति, अर्थात् जो कल्याणको उत्पन्न करता और अलक्ष्मीका शमन करता है, उसे शङ्ख कहा जाता है; 'शङ्ख' शब्दका यह अर्थ कोषकारोंने किया है। अमृत-मन्थनके समय समुद्रसे जो चौदह रत्न निकले, उनमें शङ्ख भी एक है और उसकी महत्ता इसीसे ज्ञात है कि भगवान् विष्णु उसे नित्य धारण करते हैं।

देव-पूजनमें शङ्खका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'वाराहपुराण' का आदेश है कि बिना शङ्खध्वनि किये देव-मन्दिरका द्वार नहीं खोलना चाहिये। जो मनुष्य शङ्खादिकी ध्वनि किये बिना भगवान्‌को जगा देता है, वह जन्मान्तरमें बहरा होता है। बिना शङ्ख बजाये भगवान्‌को जगाना, यह विष्णुपूजाके बत्तीस अपराधोंमेंसे एक अपराध है। 'बृहन्नारदीयपुराण' के अनुसार देवमन्दिरमें शङ्खध्वनि करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है।

शङ्खमध्यस्थितं तोयं भ्रामितं केशवोपरि।
अङ्गलग्नं मनुष्याणां ब्रह्महत्यायुतं दहेत्॥

'शङ्खमें स्थित जल भगवान् श्रीकेशवके ऊपर घुमाकर छिड़कनेसे उस जलके छींटे जिनके ऊपर पड़ते हैं, उनके सहस्रों ब्रह्महत्याके दोष नष्ट हो जाते हैं।' आरतीके पश्चात् शङ्खसहित भगवान्‌के ऊपर घुमाकर छिड़के हुए जलके छींटोंका यह महत्त्व तो पुराणोंमें है ही; साथ ही शङ्खमें जल लेकर भगवान्‌को अर्घ्य देने तथा शङ्खमें जल या दूध लेकर भगवान्‌को स्नान कराने, शङ्खमें चन्दन रखकर भगवान्‌को चढ़ानेका तथा शङ्खमें लेकर भगवान्‌को चढ़ाये हुए जल (चरणोदक) को पीनेका पुराणोंमें बहुत अधिक माहात्म्य बताया गया है। इसी प्रकार सभी देवताओंके पूजनमें शङ्खके जलसे अर्घ्य देने तथा स्नानादि करानेकी महिमा शास्त्रोंमें वर्णित है। भगवान् शङ्कर और सूर्यके पूजनमें शङ्खका उपयोग वर्जित है; किंतु उनके मन्दिरमें और पूजनके समय शङ्ख बजानेका बहुत अधिक माहात्म्य बतलाया गया है।

देवपूजाके पूर्व शङ्खकी पूजाका विधान है। भगवान् विष्णु या शालग्रामजीके पूजनमें शङ्खका होना आवश्यक माना गया है। महर्षि शौनकका मत है कि शङ्खको भूमिपर नहीं रखना चाहिये। उसे सदा आठ बार गायत्रीसे अभिमन्त्रित करके त्रिपदी (शङ्ख रखनेकी तिपाई) पर रखना चाहिये; क्योंकि शङ्ख वेदरूप है, वेदमय है। शङ्खके दर्शनसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं। गरुडपुराणने शङ्खको सर्वतीर्थमय बतलाया है। शङ्खको जलसे अस्त्र-मन्त्र (फट्) द्वारा बाहरसे धोना चाहिये। कवच-मन्त्र (हुम्) द्वारा भीतरसे धोना चाहिये और हृदय-मन्त्र (नमः) द्वारा उसमें जल भरकर गन्धादिसे उसका पूजन करके स्तुति करनी चाहिये।

पाञ्चजन्याय विद्महे पावमानाय धीमहि। तन्नः शङ्खः प्रचोदयात्॥

यह शङ्ख-गायत्री है। शङ्ख-पूजनमें इसका उपयोग होता है। इस मन्त्रके अतिरिक्त शङ्खमुद्रा* से शङ्खको अभिमन्त्रित करनेका विधान है। यह शङ्खमुद्रा भगवान् विष्णुकी उन्नीस मुद्राओंमें प्रमुख मुद्रा है। 'तत्त्वसार' ने शङ्खको ज्ञानप्रद बतलाया है।

शङ्ख भगवान् विष्णुका तो नित्यायुध है ही; उनके सभी अवतार-विग्रहोंका तथा सूर्य, महागणपति, कार्तवीर्य आदि देवविग्रहों एवं गायत्री, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती प्रभृति सभी शक्ति-विग्रहोंका भी निजायुध है। सभी देवता शङ्खकी कामना करते हैं, इसीसे इसे 'कम्बू' कहा जाता है। भगवान् विष्णुका शङ्ख तो वेदमय ही है। भगवान्‌ने पाँच वर्षके बालक ध्रुवके कपोलका अपने शङ्खसे स्पर्श कर दिया; फलतः ध्रुवको परमात्मज्ञान तत्काल प्राप्त हो गया। गोपालतापनीय-उपनिषद्‌के अनुसार श्रीकृष्णचन्द्रका पाञ्चजन्य शङ्ख पञ्चभूतात्मक रजोगुणरूप है। कृष्णोपनिषद्‌ने तो शङ्खको साक्षात् महालक्ष्मीका स्वरूप बताया है। महालक्ष्मी और शङ्ख एक साथ एक ही क्षीरसागरसे प्रकट हुए हैं, अतः दोनोंका एकत्व स्वतः सिद्ध है। तारसारोपनिषद्‌के अनुसार श्रीरामावतारमें श्रीभरतलालजीके रूपमें ही भगवान्‌के शङ्खका प्रादुर्भाव हुआ है।

शङ्ख-चिह्नाङ्कित शालग्राम-शिलामें श्रीलक्ष्मीजीका निवास शास्त्रोंने बताया है। भगवान् विष्णुके पूजनकी समस्त सामग्रीको शङ्खमें रखे जलसे प्रोक्षित करनेका विधान है और विष्णु-पार्षदोंमें विष्णुयन्त्रके आग्नेयकोणमें सर्वप्रथम शङ्ख-पूजनका आदेश है। देवपूजा और देवयात्रामें शङ्खनादका अपार महत्त्व है। सूर्य-मन्दिरमें दीर्घ नादवाले शङ्खको चढ़ानेका फल ब्रह्मलोककी प्राप्ति

*दाहिने हाथकी मुट्ठीसे बायें हाथके अँगूठेको पकड़कर बायें हाथकी अँगुलियोंको सटाकर सामने फैलाकर उनके द्वारा दाहिने हाथके सामने फैले अँगूठेको स्पर्श करनेसे शङ्खमुद्रा बनती है।

बताया गया है। सूर्य-मन्दिरमें शङ्खदानका महत्त्व सभी दानोंसे श्रेष्ठ बताया गया है। देवीपुराणमें शङ्खकी सूर्यमूर्ति बनाकर उसकी पूजाका विधान है। इसी प्रकार देवी-पूजन तथा भगवान् ब्रह्माके पूजनमें भी शङ्खका महत्त्व शास्त्रोंमें वर्णित है। इस सभी वर्णनोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अति प्राचीन कालसे हिंदुओंके धार्मिक आराधनादि कार्योंके साथ शङ्खका कितना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। देवाराधनके अतिरिक्त यज्ञमें भी शङ्खध्वनिका बड़ा महत्त्व है और योगमें 'अनाहतनाद' शङ्खके शब्दकी भाँति ही सुनायी पड़ता है, यह योगशास्त्रके ग्रन्थोंमें अनेक स्थानोंपर बताया गया है।

भारतीय जीवनमें शङ्खका स्थान केवल आराधनातक ही सीमित नहीं है। वह तो सदासे हिंदू-जीवनका अङ्ग है। राजनैतिक जीवनमें शङ्ख युद्धकी घोषणा तथा विजयकी सूचना दोनोंका प्रतीक है। प्राचीनकालमें प्रत्येक योद्धा अपने साथ सदा शङ्ख रखता था। सबके शङ्खोंके पृथक्-पृथक् नाम होते थे तथा सबके शङ्ख-वादनके विभिन्न प्रकार होते थे। भगवान् श्रीकृष्णके शङ्खका नाम पाञ्चजन्य था। गुरुपुत्रको ढूँढ़ते हुए समुद्रमें प्रवेश करके वहाँ पञ्चजन नामक दैत्यको मारकर उसके शरीरसे यह शङ्ख भगवान्ने ग्रहण किया था। अर्जुनके शङ्खका नाम देवदत्त था। इसी प्रकार अनेक शङ्खोंके नाम महाभारतमें हैं। शङ्ख-धारणके कारण भगवतीका एक नाम ही 'शङ्खिनी' पड़ गया है। देवासुर-संग्राम, दुर्गा-असुर-युद्ध, महाभारत तथा दूसरे सभी युद्धोंमें शङ्ख-नाद या तो युद्धारम्भ, युद्धाह्वानका सूचक है या युद्धमें विजयका। शङ्खचूडनामक दैत्यको मारकर भगवान् शङ्करने उसकी हड्डियाँ समुद्रमें फेंक दीं, उन्हीं अस्थियोंसे नाना प्रकारके शङ्ख उत्पन्न हुए। इसीसे शिवपूजामें शङ्खसे जल चढ़ाना वर्जित है। शेष सभी देवताओंको शङ्खोदक अत्यन्त प्रिय है। शङ्ख भारतका पुरातन राष्ट्रिय वाद्य है और यह सदा मङ्गलका प्रतीक माना गया है।

शङ्खका उपयोग यहाँतक सीमित नहीं है। माला बनानेकी अनेक वस्तुओंमें शङ्खका नाम भी है। छोटे शङ्खोंकी माला बनती है। इस मालाके द्वारा जप करनेसे धन और कीर्ति प्राप्त होती है, यह रुद्रयामलका मत है। तन्त्रोंमें और भी कई सकाम अनुष्ठानोंमें शङ्खकी मालापर जप करनेका आदेश है। शङ्खकी माला और शङ्खकी चूड़ियाँ आभूषणोंके काम आती हैं। बंगालमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनी जाती हैं। ज्यौतिषके ग्रन्थोंमें शङ्ख-धारणके मुहूर्त बताये गये हैं। औषधके रूपमें भी शङ्खका उपयोग अत्यन्त प्राचीन कालसे प्रचलित है। औषधमें श्वेत शङ्ख उत्तम माना गया है। गण्डमाला रोगमें शङ्ख घिसकर लगानेसे लाभ होता है, यह बताया गया है। ग्रह तथा अलक्ष्मीकी पीड़ा, क्षय, कृशता, विष तथा नेत्ररोगोंपर शङ्खको लाभदायी कहा गया है। यह शूल, गुल्म, संग्रहणी, दन्तरोग, आँखकी फूली और फोड़ोंको नाश करता है। शोधनादि करके शङ्ख-भस्म बनायी जाती है। सामुद्रिकशास्त्रमें भी शङ्खाकृति, शङ्खरेखादिका बड़ा विशद वर्णन है।

रत्न-शास्त्रोंमें हाथी, सर्प, मछली, बैर, बाँस, सीप, सूअर तथा मेघको भाँति शङ्खसे भी मोती निकलनेका वर्णन आता है। इस मोतीका रंग कुछ काला और आकार कबूतरके अंडेके समान बताया गया है। यह अनन्त ऐश्वर्यप्रद है और बहुत बड़ी तपस्याके फलरूपमें प्राप्त होता है। स्वयं शङ्खकी गणना रत्नोंमें है। यह हलके गुलाबी रंगका या सफेद होता है। गोलाई, चिकनापन और निर्मलता—ये शङ्खके तीन गुण हैं। भीतरके आवर्तमें यदि कोई खण्डित हो तो सोना लगा देनेसे वह दोष दूर हो जाता है। खुरदरे, बहुत भारी तथा बेडौल शङ्ख निकृष्ट माने जाते हैं। नदी और समुद्रमें जो छोटे शङ्ख होते हैं, उन्हें शङ्खनख कहा जाता है। शङ्खके दो भेद मुख्य हैं—वामावर्त और दक्षिणावर्त। सामान्यतः वामावर्त शङ्ख ही पाये जाते हैं। दक्षिणावर्त शङ्ख थोड़े मिलते हैं और बहुत दामोंमें बिकते हैं, अतः लोग अब नकली दक्षिणावर्त शङ्ख भी बनाने लगे हैं। ठीक दक्षिणावर्त शङ्खके उस छिद्रको जिसे मुखपर लगाकर बजाया जाता है, यदि कानपर लगाया जाय तो बड़ी मधुरध्वनि सुनायी पड़ती है। दक्षिणावर्त शङ्ख अत्यन्त पुण्यप्रद माना जाता है। उसमें जल लेकर अर्घ्य देनेका बड़ा माहात्म्य शास्त्रोंने बताया है।

शङ्खका दर्शन और यात्राके समय शङ्खध्वनि मङ्गलसूचक

मानी जाती है। शङ्खध्वनिसे संक्रामक रोगोंके जीवाणु नष्ट हो जाते हैं, यह कुछ वर्तमान चिकित्सकोंका मत है। शङ्ख भगवान् विष्णुका आश्रय है; अतः जहाँ शङ्ख रहता है, वहाँ भगवान् विष्णु तथा लक्ष्मीजीका निवास रहता है। स्त्री और शूद्रोंके लिये शङ्ख बजानेका निषेध है। वे यदि शङ्ख बजाते हैं तो लक्ष्मी रुष्ट होकर वहाँसे भाग जाती हैं, यह ब्रह्मवैवर्तपुराणका आदेश है।

शङ्खका उपयोग केवल भारतमें ही भले होता रहा हो; परंतु इसी प्रकारके वाद्योंका उपयोग अन्य देशोंके भी इतिहासमें पाया जाता है। आस्ट्रेलिया और पोलीनेशिया द्वीपके निवासी शङ्खके बदले 'टिटनटोनिस' नामक एक प्रकारके शम्बूक (घोंघे) को काटकर शङ्खकी भाँति बजाते थे। इसी प्रकार पाश्चात्त्य सभ्य जातियोंमें भी 'बुक्सिनम् व्हेल्क' नामक शम्बूक बजानेकी प्रथा है।

घण्टा-नाद

प्रातःकाल मन्दिरोंसे उठनेवाली दीर्घ प्रणव-नाद-सी सुमधुर घण्टा-ध्वनि भारतीय हिंदू-कर्णोंके लिये अनादिकालसे परिचित एवं प्रिय है। देवपूजनमें घण्टा या छोटी घण्टीका नाद आवश्यक माना गया है।

स्नाने धूपे तथा दीपे नैवेद्ये भूषणे तथा।
घण्टानादं प्रकुर्वीत तथा नीराजनेऽपि च॥

(कालिकापुराण)

'देवताके श्रीविग्रहके स्नान, धूपदान, दीपदान, नैवेद्य-निवेदन, आभूषणदान तथा आरतीके समय भी घण्टानाद करना चाहिये।' भगवान्के आगे पूजनके समय घण्टा बजानेसे उत्तम फलकी प्राप्ति होती है, यह शास्त्रका आदेश है। घण्टा घनवाद्यमें माना गया है। कांस्यताल (झाल), ताल (मजीरा), घटिका (घड़ियाल), जयघण्टिका (विजयघण्ट), क्षुद्रघण्ट (पूजाकी घण्टी) और क्रम (लटकनेवाला घण्ट)—ये घण्टाके भेद हैं और इनमेंसे प्रायः सभीका मन्दिरोंमें उपयोग होता है। छोटे घण्टे (पूजाकी घण्टी)-को पकड़कर बजानेके लिये ऊपरकी ओर धातुमय दण्ड होता है। उसमें ऊपरकी ओर गरुड, हनुमान्, चक्र या पाँच फणोंके सर्पकी आकृति होती है। इन मूर्तियोंमेंसे किसी एकके घण्टादण्डपर रखनेका विधान है और उसका महत्त्व भी है। लटकनेवाले घण्टेपर देवताओंके नाम-मन्त्रादि अङ्कित करनेकी विधि है। भगवान्की मूर्तिके आगे शङ्खके साथ छोटी घण्टीका रखना आवश्यक बताया गया है। इस घण्टीकी पूजाका भी विधान है। गरुड़की मूर्तिसे युक्त घण्टीका बड़ा महत्त्व बताया गया है। जहाँ यह घण्टी रहती है, वहाँ सर्प, अग्नि तथा बिजलीका भय नहीं होता।

देव-मन्दिरमें घण्टानाद करना अत्यन्त पुण्यप्रद बताया गया है। 'मरते समय जो चक्रयुक्त घण्टानाद सुनता है, उसके समीप यमदूत नहीं आते।' यह स्कन्दपुराणका वचन है। इस प्रकार पुराणोंमें घण्टानादका व्यापक माहात्म्य वर्णित है। देव-मन्दिरको दुन्दुभिनाद अथवा शङ्खनाद करके ही खोलना चाहिये। बिना दुन्दुभिनाद, शङ्खनाद आदिके मन्दिरद्वार खोलनेसे अपराध बताया गया है; किंतु यदि ये वाद्य न हों तो केवल घण्टानाद करके या घण्टी बजाकर द्वार खोलना चाहिये। घण्टा सर्ववाद्यमय एवं समस्त देवताओंको प्रिय है। हृदयमन्त्र (नमः) या अस्त्रमन्त्र (फट्) से घण्टा-पूजन करके उसे बजाना चाहिये। केवल देवी-पूजनके समय प्रणवयुक्त '**जयध्वनिमन्त्रमातः स्वाहा**' इस मन्त्रसे घण्टा-पूजनकी विधि है। सिद्धि चाहनेवालेको बिना घण्टीके पूजा नहीं करनी चाहिये। 'हलायुध' ने श्रीशालग्रामजीके पादोदकके लिये आठ अङ्ग आवश्यक बतलाये हैं—१-शालग्रामशिला, २-ताम्रपात्र, जिसमें शालग्रामजी विराजें, ३-जल, ४-शङ्ख, जिससे स्नान कराया जाय, ५-पुरुषसूक्त, ६-चन्दन, ७-घण्टी, ८-तुलसी। पूजाके समय घण्टीको वाम-भागमें रखना चाहिये और बायें हाथसे नेत्रोंतक ऊँचा उठाकर बजाना चाहिये।

भगवान् विष्णुको तो घण्टा प्रिय है ही, भगवान् शङ्कर तथा भगवती एवं दूसरे सभी देवताओंको वह अत्यन्त प्रिय है। शिवमन्दिर तथा दूसरे मन्दिरोंमें भी बड़े-बड़े घण्टे चढ़ाने, लटकाने तथा उन्हें बजानेका माहात्म्य पुराणोंमें बहुत अधिक है। घण्टेकी ध्वनि देवताओंको प्रसन्न करनेवाली, असुर-राक्षसादि अपकार-कर्ताओंको भयभीत करके भगा देनेवाली, पापनिवर्तक एवं अरिष्टनाशक बतायी गयी है। भगवतीके दशभुजादि रूपोंमें घण्टा उनके करोंके आयुधोंमें है। अनेक

कामनाओंकी पूर्ति तथा अरिष्टोंकी निवृत्तिके लिये विविध मुहूर्तोंमें मन्दिरमें घण्टा चढ़ानेका विधान पाया जाता है। देवपूजा, देवयात्रामें तो घण्टा-नादका वर्णन है ही, पितृ-पूजनमें भी घण्टानादकी विधि है। कुछ तन्त्रग्रन्थोंमें अपने रहनेके घरमें भी घण्टा बाँधने और उसका नाद सुननेका आदेश है। घण्टानाद मङ्गलमय है।

'पूजनके अतिरिक्त हाथियोंके गलेमें घण्टा बाँधनेकी प्रथाका उल्लेख सभी प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया जाता है। सेनामें या जहाँ भी हाथी चलें, उनके घण्टेकी ध्वनिका बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। रथ, छकड़ों आदिमें छुद्रघण्टिकाका वर्णन भी मिलता है। गायों, बछड़ों, साँड़ों आदिके गलेमें घण्टा बाँधनेका कौटिल्यने विधान किया है। इससे उनके चरनेका स्थान ज्ञात होगा और वन्यपशु उस ध्वनिसे डरकर भाग जायँगे। श्रीशुक्राचार्यने नीतिसारमें पहरेदारका एक काम यह भी बताया है कि वह समयपर घण्टा बजाया करे। यह प्रथा अब भी सर्वत्र प्रचलित है।

हिंदुओंके अतिरिक्त बौद्ध, जैन तो घण्टेका उपयोग करते ही हैं, ईसाई-धर्ममें भी इसका बड़ा महत्त्व है। भारतके अतिरिक्त बर्मा, चीन, जापान, मिस्र, यूनान, रोम, फ्रांस, रूस, इंग्लैंड आदिमें भी घण्टेका व्यवहार प्राचीन कालसे है। जैन-बौद्ध मन्दिरोंमें भी घण्टा लटकाया जाता है, जिसे लोग आते-जाते बजाया करते हैं। बर्मामें घण्टेमें लटकन नहीं होती है। वह हरिणके सींग या हथौड़ीसे बजाया जाता है। बर्मा आदिमें बहुत बड़े घण्टोंका प्रचार है। रंगूनके 'शूयेदागुन' मन्दिरमें ११५४ मन १५ सेरका घण्टा है। मेंगूनका घण्टा १८ फुट ऊँचा और लगभग २५०० मनका है। चीनकी प्राचीन राजधानी पेकिंगके एक छोटे मठमें १४४७ मन २२ सेरका घण्टा है। और उसपर चीनी भाषामें बौद्धधर्मके उपदेश खुदे हैं। इसी नगरमें सात घण्टे हैं, जिनमेंसे प्रत्येकका बोझ १३६५ मनके लगभग है।

मिस्र और यूनानमें भी प्राचीन कालमें घण्टेका प्रचार था। मिस्रमें 'ओरिसिसका भोज' नामक उत्सवकी सूचना घण्टा बजाकर दी जाती थी। यहूदियोंके प्रधान याजक 'आरत' अपने कुर्तेमें छोटी-छोटी घण्टियाँ सिलवाते थे। यूनानके सैनिक शिविरोंमें घण्टा बजता था। रोममें घण्टा बजाकर स्नानादिकी सूचना देनेकी प्रथा थी। कैम्पानियामें पहले-पहल बड़ा घण्टा बना और उसे 'कैम्पना' नाम दिया गया। इसीसे गिर्जाघरोंके उन बुर्जोंको, जिनमें बड़े घण्टे टँगे रहते हैं, 'कम्पेनाइल' कहते हैं। गिर्जाघरोंमें प्रार्थनाके समयकी सूचना घण्टा बजाकर दी जाती है। गिर्जाघरोंके कुछ घण्टे विशालताके लिये विश्वमें प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे रूसके मास्को नगरमें १७०६ घण्टे थे। इनमें एक ३६०० मनका था। इसकी लटकन हिलानेके लिये २४ आदमी लगते थे। एक बार गिरकर यह टूट गया और तब सन् १७९१में ८ लाख ७१ हजार रुपये लगाकर फिर ढाला गया। इस बार यह ६० फुट ९ इंच घेरेका, २ फुट मोटा और ४२८६ मन वजनका बना। तबसे इसका नाम 'घण्टाराज' पड़ गया। इसका एक भाग कुछ टूट गया है, जिससे उसमें दरवाजा-सा बन गया है। यह घण्टा आजकल 'छोटा गिर्जा' कहा जाता है। इसका टूटा अंश ही ११ मनका है। ईसाई भी प्राचीन कालसे घण्टेको पवित्र मानते आये हैं। घण्टा बनाते समय वे अनेक धार्मिक क्रियाएँ करते थे। बन जानेपर घण्टेका बपतिस्मा और नामकरण होता था। घण्टेपर वे पवित्र मन्त्र खुदवाते हैं। उनका विश्वास था कि घण्टेकी ध्वनिसे आँधी, बीमारी, अग्निभय आदि दूर होते हैं। संवत् १९०९ विक्रममें जब माल्टामें भयङ्कर आँधी आयी, तब वहाँके बिशपने समस्त गिर्जाघरोंमें घण्टा बजानेका आदेश भेजा। आँधी बंद करनेके लिये सब घण्टे कई घंटे लगातार बजते रहे। पहले किसीकी मृत्युके समय घण्टा बजानेकी प्रथा ईसाइयोंमें थी, पर वह धीरे-धीरे मृत्युसे एक घण्टे पूर्व बजानेकी हो गयी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि घण्टा-नादसे मृतककी देह पवित्र हो जाती है और पिशाचादि भाग जाते हैं। कहीं-कहीं अब भी मृतकके श्मशान पहुँचने तथा अन्त्येष्टि पूरी होनेतक घण्टी बजायी जाती है। गिर्जाघरोंमें प्रार्थना समाप्त होनेपर भी घण्टा बजता है। अन्तमें गिर्जाघरोंके घण्टेसे मृदु सङ्गीत-ध्वनि निकालनेका प्रयत्न हुआ। एक या अनेक घण्टोंकी ध्वनिसे सुस्वर सङ्गीत उत्पन्न किया जाता है।

इंग्लैंड-फ्रांसादिमें ऐसे घण्टे हैं। भारतकी भाँति यूरोपमें भी प्राचीन समयसे घोड़ों तथा दूसरे पशुओंके गलेमें घण्टा बाँधनेकी प्रथा मिलती है, इससे भटके पशु सरलतासे खोज लिये जाते हैं। इस प्रकार मुसल्मानोंको छोड़कर प्रायः सभी धर्मों और देशोंमें घण्टा बजानेकी प्रथा है और उसके नये-नये उपयोग बढ़ते जा रहे हैं। इतिहासके विद्वानोंकी धारणा है कि यह प्रथा भारतसे ही संसारमें फैली है।

संस्कृतिके प्रेरक

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'जय एकलिङ्ग!'

'जय एकलिङ्ग!' स्वभाववश प्रतिध्वनिकी भाँति कण्ठसे गम्भीर उत्तर निकलते-न-निकलते महाराणा अस्त-व्यस्त गुफाद्वारकी ओर दौड़े। यह चिरपरिचित स्वर, नाभिसे उठनेवाली परा वाणीका यह जयघोष राजस्थानके आराध्य चरणोंको छोड़कर दूसरे कण्ठसे निकल नहीं सकता। द्वारपर दण्डकी भाँति महाराणा पृथ्वीपर सवेग प्रणत हुए। उनका स्वर्ण-मुकुट पाषाणपर घर्षित होकर झङ्कृत एवं कान्तिमान् हो गया। जैसे विनतने अपनी शुभ्रता व्यक्त कर दी हो।

'कल्याणमस्तु!' महाराणाके मस्तकर जो वली-पलित कर आशीर्वाद देने फैल गया था, उसकी दिव्य छाया सुरपतिके लिये भी स्पर्धाकी ही वस्तु रहेगी।

'गुरुदेव!' पतिके चरणोंसे तनिक हटकर जीर्ण मलिन वस्त्रोंमें चित्तौड़की अधिष्ठात्रीने अपने यशोधवल भालसे भूमिका स्पर्श किया।

'सौभाग्यवती हो वीरमातः!' वृद्ध कुलगुरुकी दृष्टि नन्हे अमरकी ओर थी, जो उनके चरणोंपर मस्तक रखकर शीघ्रतासे गुफामें भाग गया था और अब एक नारिकेलपात्रमें जल लिये आ रहा था।

'तू क्या कर रहा है?' स्नेहसे गुरुदेवने पूछा।

'अर्घ्य दे रहा हूँ!' बालकने अपनी तोतली वाणीसे बताया। वह जलकी धारा गिराकर पात्र रिक्त कर चला था। वृद्धने स्नेहसे उसे खींच लिया। वे उसके मस्तकको वात्सल्यसे सूँघ रहे थे।

'प्रभु पधारें!' एक शिलापर महारानीने कुछ तृण बिछा दिये थे और बड़ी कठिनाईसे उनके भरे कण्ठसे ये शब्द निकलते थे। आज राजस्थान-सम्राट्के समीप दूसरा पात्र भी नहीं कि उससे कुलगुरुके चरणोदकका सौभाग्य प्राप्त हो। महारानीकी चिन्ता व्यर्थ नहीं थी; परंतु गुरुदेवके पादपद्म तो हिंदूकुलसूर्यने अपने नेत्रोंके जलसे धो दिये थे।

एक युग था। मानवको किसी उपकरणकी आवश्यकता नहीं थी। वह भगवती महाशक्तिकी खुली गोदमें निरन्तर महेश्वरका ध्यान करता था। उसके अन्तरकी श्रद्धा ही आराध्यका पूजोपकरण बनती और अतिथिका सत्कार! कुलगुरुने आसन स्वीकार कर लिया था। बालक अमर अभी उनकी गोदमें ही था। महाराणा उनके चरणोंके समीप मस्तक झुकाये हाथ जोड़े बैठे थे और बिना पीछे देखे भी वे जानते थे कि उनकी सहधर्मिणी उनकी ओटमें अपने अश्रु-प्रवाहको छिपानेका असफल प्रयास कर रही हैं।

'प्रताप! तुम्हारे त्यागने सत्ययुगकी उस सात्त्विकताको यहाँ साकार कर दिया है!' ब्राह्मणके दीप्त भालकी ज्योति दुगुनी जगमगा उठी। उनके नेत्र अर्धोन्मीलित हुए और निर्वात दीपशिखाकी भाँति उनका निष्कम्प चित्त महेश्वरके ध्यानमें एकाग्र हो गया।

'सृष्टिके आदिमें कुलपुरुष भगवान् भास्करने जिनकी आत्मरूपसे आराधना की, पितामह वैवस्वतसे लेकर रघुवंशके आराध्य भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने राजसूय अश्वमेधादि महामहायज्ञोंसे जिनकी अर्चा की, वे साक्षात् भगवान् वैश्वानर पधारे हैं, देवि!' महाराणाने पीछे देखा। उन्होंने सङ्केतसे ही पुत्रको गुरुदेवकी गोदसे नीचे बुला लिया था।

'अपने कंगाल कुटीरमें आज समिधाएँ भी कहाँ हैं?' राजमहिषीकी वेदना दूसरा कोई कैसे समझेगा। महीनोंसे महाराणा प्रातःकालीन हवन समिधाओंसे ही सम्पन्न कर रहे हैं। इस वनमें शाकल्य और घृत कहाँ। आज साक्षात् अग्नि-स्वरूप गुरुदेव पधारे हैं; परंतु गुफामें तो सूखी समिधाएँ भी नहीं हैं। केवल जलसे अपने कुलगुरुकी अर्चना पूरी करनी है। और वह भी उसे, जो चित्तौड़का राजमुकुट सिरपर धारण करता है। दैव! ········।

'प्रताप! धन्य हो तुम!' गुरुदेवके नेत्र कुछ क्षणोंमें ही खुल गये। 'तुम्हें स्मरण है न—प्रत्येक कुम्भपर्वपर तीर्थकी पावनभूमिमें भारतके सम्राट् अपना सर्वस्व दान कर दिया करते थे! एक ऐसे ही समय, जब महाराज रघुके समीप एक ऋषिकुमार पहुँचे, महाराजके समीप पाद्य एवं अर्घ्यके लिये केवल मृत्तिकाके पात्र थे!'

'गुरुदेव! महाकवि कालिदासकी वाणी जिस यशोगानसे परिपूत हुई है, उसे कैसे विस्मृत किया जा सकता है; किंतु प्रतापका सर्वस्व क्या? कंगाल है वह।'

'राणा! धर्मके सङ्कटकी पुण्यतिथिमें जिसने अपने सर्वस्वकी आहुति दे दी है, उस कंगालकी यशोगाथासे कवियोंकी वाणी पावन होगी! मैं आज चक्रवर्ती रघुके उस यज्ञान्तका स्मरण कर रहा हूँ।'

'देव! सन्तोष भी जिनके श्रीचरणोंसे प्रेरणा प्राप्त करता है, उनकी शाश्वत तुष्टिमें बाधा दे सके, ऐसी शक्ति कहाँ है!' महाराणाकी वाणी आगे कुछ कह न सकी; किंतु उनकी दृष्टि उस रिक्त नारिकेल जलपात्रपर थी, जो औंधा पड़ा था और वह दृष्टि अपनी व्यथा सुनानेके लिये वाणीकी अपेक्षा नहीं करती थी।

[२]

'जय एकलिङ्ग!' एक वन्य भीलने भूमिपर लेटकर प्रणाम किया और एक भूर्जपत्र आगे बढ़ा दिया। इस गुफामें इन निष्काम सेवकोंका प्रवेश अबाध है। अन्ततः इन्हींकी सेवा तो महाराणाको यहाँ निरापद रखती है।

'जय एकलिङ्ग!' महाराणाके कण्ठसे बड़ी कठिनतासे यह ध्वनि इधर निकलती है। वे इसके साथ ही चौंक पड़े। पत्रको ध्यानसे देखा, जैसे वह कोई विषैला जन्तु हो। 'पत्रमें पाँच तहें हैं, पाँच ही बार उनपर सूत्र लपेटा गया है। सूत्र भी पीत है, श्वेत नहीं। तब पत्र किसी अपने अनुचरका है।' दाहिने हाथमें पत्र ले लिया उन्होंने।

'एक राजपूतने दिया है! वह उत्तरकी प्रतीक्षा करेगा घाटीके उस पार! कहता था, दिल्लीसे आया है!' भीलके स्वरमें घृणा, तिरस्कार, उपेक्षा, उत्कण्ठा—पता नहीं क्या-क्या थी। वह स्थिर दृष्टिसे राणाकी ओर देख रहा था।

'दिल्लीसे आया है?' राणा चौंके। पत्र हाथसे छूट गया।

'दिल्लीसे पत्र!' महारानीने सुना और पास आ गयीं। उनके नेत्रोंमें विस्मय था।

'उस दिन वन-बिलावने तुम्हारी घासकी रोटी कुमारके हाथसे छीन ली और वह क्रन्दन कर उठा!' महाराणा नीचे गिरे पत्रकी ओर मस्तक झुकाये स्थिर देख रहे थे।

'रहने भी दीजिये! बालकोंकी रोने-गानेकी बातोंपर ध्यान देकर कहाँतक कोई कर्तव्यपर स्थिर रह सकता है!' वाणीमें चाहे जो कह लिया जाय, पर माताका हृदय क्या ऐसे स्मरण शान्तिसे सह पाता है?

'मैं भी अन्ततः मनुष्य ही हूँ—दुर्बल मनुष्य! मेरे धैर्यकी सीमा समाप्त हो गयी उस दिन। मैंने अकबरको पत्र भेज दिया।' महाराणा-जैसे किसी महापापकी गाथा सुना रहे हों।

'पत्र! अकबरको? क्या········'

'यही कि मैं उसकी राज्य-सत्ताको स्वीकृति दे दूँगा यदि·······।'

'यदि वह आपपर, आपके बच्चेपर, आपकी स्त्रीपर दया करे! आपको कोई दरबारमें बड़ा पद········।' जैसे वज्रपातसे सिंहिनी चीत्कार कर उठी हो। वह जंगली भील उस महाशक्तिके चरणोंकी ओर पृथ्वीपर मस्तक रखकर बड़े जोरसे चिल्ला पड़ा—'जय एकलिङ्ग।'

'मैं आज प्रातः गुरुदेवके दर्शनार्थ गया था।' महाराणा अपराधीकी भाँति मस्तक झुकाये कहते जा रहे थे। गुरुदेवके नामने महारानीको तनिक शान्त कर दिया।

'मेरे प्रणिपातका उत्तर नहीं मिला। गुरुदेव हवन-

कुण्डके समीप विराजमान थे। समिधाएँ प्रज्वलित नहीं हो रही थीं। धूम्रसे उनके नेत्र अश्रुपूर्ण एवं अरुण हो गये थे, जैसे उन दयामयने मेरे अपराधपर उठे रोषको भीतर ही रोक लिया हो। महारुद्रके समान वे लाल-लाल नेत्र अश्रुसे करुणापूर्ण हो गये थे।' महाराणाने दोनों हाथ मस्तकपर रख लिये। उनके नेत्रोंसे टप-टप बूँदें गिर रही थीं।

'पहली बार प्रतापको गुरुचरणोंसे आशीर्वाद नहीं मिला। उन तपोमयके आशीर्वादका अधिकारी अब मैं रहा ही नहीं। बड़ी ही वेधक करुणदृष्टिसे उन्होंने मेरी ओर देखा।' दो क्षणके लिये वाणी रुक गयी।

'आदियुगमें अग्निदेव ब्राह्मणके हृदयमें निवास करते थे। कल्मष था ही नहीं, तब शासन और पवित्रता किसकी की जाय। त्रेताके अन्ततक ब्राह्मणकी वाणी ही भगवान् वैश्वानरकी वाहन थी। नरेशोंकी विशुद्ध श्रद्धासे सम्पन्न हुए यज्ञोंमें विप्रोंके सङ्कल्पसे मूर्तिमान् अग्निदेव प्रकट हो जाते थे। देवता स्वयं अपना भाग आकर स्वीकार करते थे। द्वापरका अन्तिम चरणतक साक्षी था कि जनमेजयके सर्पसत्रमें भी अग्निज्वालाएँ मन्त्रपाठका अनुगमन करती थीं। ब्राह्मणके लिये अरणिमन्थन केवल उपचारमात्र था। अग्निदेव तो आह्वानकी प्रतीक्षा करते रहते थे। यह कलियुग है। अग्निका धाम ब्राह्मणका मुख हो गया है। प्रताप! केवल पवित्र शासन ही अग्निके उत्थानसे शुद्ध होता है। मैंने देखा है, तुम्हारी धर्मनिष्ठाने भगवान् हव्यवाह्का पथ नित्य प्रशस्त रखा है। मैंने देखा है कि मानसिंह अत्यन्त धार्मिक, श्रद्धालु एवं शुद्धाचारी हैं; पर उनके तपःपूत विप्रोंके आहवनीय कुण्डोंसे उठी धूम्र-शिखाएँ नेत्रोंको कलुषित, पीड़ित करती हैं, प्रताप!' गुरुदेवका वह सम्बोधन महाराणाके हृदयमें बाणकी भाँति अबतक चुभ रहा है। चुभता ही जा रहा है।

'भगवान् एकलिङ्गका पवित्र नाम लेनेमें उसी दिनसे जिह्वा काँपती है। आज गुरुदेवने मस्तक झुका लिया और अब यह पत्र आया है दिल्लीसे.......।' जैसे कोई अपने प्राणदण्डके आज्ञापत्रको देख रहा हो।

'उसमें धागेके पाँच फेरे हैं। ये धागे पीले हैं!' भीलको स्वयं भी आश्चर्य था कि दिल्लीका पत्र इस प्रकार क्यों है।

'जय एकलिङ्ग!' जैसे महाराणामें पुनः जीवन लौट आया हो। उन्होंने पत्र खोला बड़ी शिथिलतासे था; किंतु शीघ्र ही वह शिथिलता दूर हो गयी। मुखमण्डल हर्ष, उत्साहसे दमक उठा। हाथ मूछोंपर गये और फिर कटिमें बँधे खड्गकी मूठपर।

'सिंहके शिशु बंदी होकर भी शृगाल नहीं हो जाते! दिल्लीमें भी सिंह तो हैं। भगवान् एकलिङ्ग! गुरुदेव!' महाराणाने पृथ्वीराजका ऐतिहासिक पत्र चकित राजमहिषीकी ओर बढ़ा दिया। उनकी दृष्टि कृतज्ञतापूर्वक ऊपर उठी और श्रद्धासे मस्तक झुक गया।

× × × ×

'एकलिङ्गेश्वरकी जय!' वल्गा खिंचनेसे अश्वोंके अगले पैर एक क्षण उठे ही रह गये और वीरोंके कण्ठोंने आश्रमद्वारको जयघोषसे ध्वनित किया।

'जय एकलिङ्ग!' वृद्ध ब्राह्मणकी दृष्टि उठनेसे पूर्व राजस्थानका जाग्रत् शौर्य उनके पदोंमें प्रणिपात कर रहा था।

'महामन्त्री भामासाहका त्याग प्रतापका प्रोत्साहन बन गया है और भीलराजकी वन्यवाहिनी अदम्य है। विजयश्री तो श्रीचरणोंके आशीर्वादकी अनुगामिनी है!' महाराणा कुलगुरुके चरणोंके समीप सरल भावसे बैठ गये थे घुटनोंके बल। जैसे कोई आराधक अपने आराध्यके पदोंमें बैठा हो। महामन्त्री सङ्कुचित पीछे करबद्ध खड़े थे और आश्रमद्वारपर जानु टेके भीलराज अपनी पीछे खड़ी सेनाके आगे ऐसे लगते थे जैसे शूरताकी उत्तुङ्ग जलराशि इस सत्त्वके पुलिनसे पवित्र होने आयी हो और उसे मर्यादाने साकार होकर सीमित कर दिया हो।

'धर्म नित्य विजयी है! वह आशीर्वादकी अपेक्षा नहीं करता! भगवान् हव्यवाह् तुम्हारा मार्ग प्रशस्त करें!' आचार्य अब भी हवनके आसनपर ही खड़े थे। सम्मुख कुण्डमें आहुतितृप्त अग्निदेवकी निर्धूम लाल-लाल सीधी लपटें उठ रही थीं—लाल-लाल लपटें, ब्राह्मणके त्याग, तप, संयम एवं क्षत्रियके शौर्य, ओज, प्रचण्ड प्रतापकी प्रतीक। महाराणाने अतृप्त उल्लसित नेत्रोंसे दो क्षण अग्निदेवके दर्शन किये और फिर भूमिपर मस्तक रखा।

'ब्राह्मण—नित्य तुष्ट, प्रभुकी इच्छामें अपनी इच्छा विलीन करनेवाला, सबका शुभैषी होता है, प्रताप!' गुरुदेवकी वाणी स्नेह-स्निग्ध थी। 'उसके लिये न कोई शत्रु है, न मित्र। न दण्डनीय है और न स्नेह-पात्र; किंतु जब शासक शिथिल होता है, तब ब्राह्मणकी वृत्ति विकृत हो जाती है। उसकी शक्ति प्रकृतिके राजस क्षेत्रमें उन्मुक्त नहीं हो पाती!'

'गुरुदेव!' महाराणा इस वाणीका मर्म जानना चाहते हैं।

'ब्राह्मणकी तपस्या और पवित्रताके साथ शासकका अदम्य शौर्य अपेक्षित है, संस्कृतिके इस प्रोज्ज्वल प्रतीकको धूम्रहीन रखनेके लिये!'

'ओह!' महाराणाको विलम्ब नहीं लगा समझनेमें। उस दिन उन्होंने सोचा था कि गुरुदेवके हवनीय-कुण्डसे भी धूम्र क्यों उठना चाहिये और दयामय गुरुदेवने केवल सङ्केत किया था। आज इस यात्राके समय एक आदेश है इसमें उनके लिये। उन्होंने खड्ग खींच लिया और यज्ञाग्निके सम्मुख मस्तक झुका दिया। गुरुदेवका हाथ उनके मस्तकपर छाया करता फैल गया था।

इतिहास साक्षी है हिंदू-कुल-मुकुटमणिकी उस मूक प्रतिज्ञाका। वह शौर्य अन्ततक अग्नि-सा प्रज्वलित, प्रकाशमय, दुर्धर्ष रहा। सम्राट् अकबरका अपार अध्यवसाय उसमें आहुति बनकर रह गया!

हिंदू-धर्मका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—चौधरी श्रीशिवनारायणजी वर्मा)

सन् १७२५ की घटना है। भारतसम्राट् मुहम्मदशाह दिल्लीके सिंहासनपर आसीन थे। बादशाहका मीरमुंशी एक वैश्य था। सनम, शराब, शतरंज और सङ्गीतकी सुहबतसे वह मुसल्मान हो गया। हिंदू नाम था—रामजीदास सेठ। मुसल्मानी नाम मिला—मियाँ अहमदअली।

रामजीदासकी स्त्री मर चुकी थी। घरमें केवल एक कन्या थी। नाम था—किरन। उसने अपनी कन्याको बहुत समझाया; परंतु वह मुसल्मान होनेपर राजी न हुई, न हुई। अन्तमें काजीकी कचहरीमें अहमदने अर्जी दी कि 'जिस वक्त मैंने अपना मजहब तब्दील किया था, उस वक्त मेरी लड़की नाबालिग़ थी। इस्लामी कानूनके मुताबिक, मेरे मुसल्मान होते ही वह भी मुसल्मान हो गयी। अब वह बालिग़ है—इसलिये उसे बाक़ायदा इस्लाम मजहब हासिल कर लेना चाहिये। उसे इनकार करनेका हक नहीं है। मगर वह इनकार करती है। लिहाजा सरकार सरकारी दबावसे उसे मुसल्मान बनाये। यही मेरी दिली तमन्ना है।'

काज़ीने किरनको कचहरीमें बुलाया। उस षोडशवर्षीया बालाने आकर अदालतको जगमगा दिया। लड़की अत्यन्त सुन्दरी थी। वह निर्भय खड़ी थी और उसकी त्यौरी चढ़ी हुई थी।

काजी—तुम अहमदअलीकी लड़की हो?

किरन—जी नहीं।

काजी—फिर किसकी हो?

किरन—सेठ रामजीदासकी।

काजी—दोनों एक ही तो हैं?

किरन—जी नहीं। मेरा बाप तो उसी क्षण मर गया था कि जिस क्षण उसने हिंदू-धर्मका त्याग किया था।

काजी—अहमदअली तुम्हारा बाप नहीं है?

किरन—जी नहीं।

काजी—तुम उसके साथ रहना नहीं चाहती हो?

किरन—जी नहीं।

काजी—कहाँ रहोगी?

किरन—किसी हिंदूके घर रहना चाहती हूँ।

काजी—लड़की! गुस्सेको थूक दो और समझसे काम लो। तुम्हारे हिंदू-धर्मसे हमारा इस्लाम-धर्म बढ़िया है। इस्लाम कहता है कि खुदा एक है—हिंदू-धर्म कहता है कि ईश्वर सैकड़ों हैं!

किरन—सैकड़ों नहीं—करोड़ों! जितने जीव हैं, वे सब वास्तवमें ईश्वर हैं, यही हमारे धर्मकी शिक्षा है। हिंदू-धर्म कहता है कि ईश्वरके सिवा और कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार सूर्य और किरन! किरन भी तो सूर्य ही है। इसी प्रकार कहनेके लिये जीव और ईश दो हैं—वास्तवमें एक ही चीज है। हमारी गीतामें यही लिखा है।

काजी—अगर तुम मुसल्मान हो जाओ तो तुम्हारा नाम बजाय किरनके शमाँ रख दिया जायगा। वजीर साहबके लड़केके साथ तुम्हारी शादी करा दी जायगी। इस वक्त तुम एक 'अनाथ लड़की' हो। फिर—'वज़ीरज़ादी' कहलाओगी। भिखारिनसे रानी बन जाओगी।

किरन—अपने धर्ममें भिखारिन रहना अच्छा है—पराये धर्ममें जाकर रानी बनना अच्छा नहीं। वह 'धर्मप्रियता' नहीं—वह 'धर्मनिश्चय' नहीं, जो लोभ या भयसे बदला जा सके।

काजी—जिस वक्त तुम्हारा बाप मुसल्मान हुआ था, उस वक्त तुम्हारी क्या उम्र थी?

किरन—तेरह साल।

काजी—रजस्वला हुई थी या नहीं?

किरन—जी नहीं।

काजी—तब तुम उस वक्त नाबालिग थी?

किरन—जी हाँ।

काजी—तब तो तुम इस्लामी कानूनकी दफासे उसी वक्त मुसल्मान हो चुकी कि जब तुम्हारा बाप मुसल्मान हुआ था।

किरन—इस्लामी कानून इस्लामके सिरपर सवार हो सकता है, हिंदू-धर्मपर नहीं। मैं इस कानूनको नहीं मानती।

काजी—'इस्लाम-धर्मकी तौहीनमें इस लड़कीको जेलमें भेजो।' बेचारी किरन शाही जेलखानेमें भेज दी गयी।

× × × ×

यह सनसनीखेज समाचार सारे शहर दिल्लीमें व्यापक हो गया। वैश्यसमाजने कुपित होकर सारा कारोबार बंद कर दिया। बाजारोंमें हड़ताल कर दी गयी। वैश्य-समाजके नेताओंने किलेके नीचे जाकर धरना दे दिया। गोलमाल सुनकर बादशाहने खिड़की खोली। पूछा 'क्या मामला है?' सेठोंने सारी कहानी सुनायी। बादशाहने कहा—'इसी वक्त वह लड़की आपलोगोंकी सिपुर्दगीमें दे दी जायगी। कल हमारे दरबारमें यह मुकदमा पेश होगा, इतमीनान रखिये, मैं यह बात जानता हूँ कि जोर-जुल्म करनेवाली बादशाहत बादलकी छाँहकी तरह टिकाऊ नहीं होती।'

लड़कीको लेकर सेठलोग वापस चले गये।

× × × ×

दूसरे दिन बादशाहके दरबारमें वह लड़की पेश की गयी। काजीजी भी बुलाये गये। काजीसे बादशाहने पूछा—

बादशाह—इस हिंदू लड़कीको, जो खुशीसे इस्लाम कबूल नहीं करती, क्यों जबरन मुसल्मान बनाया जा रहा है?

काजी—जहाँपनाह! शरहके कानूनसे यह लड़की उसी वक्त मुसल्मान हो गयी कि जिस वक्त उसका बाप मुसल्मान हुआ। यह उस वक्त नाबालिग थी। रजस्वला नहीं हुई थी।

बादशाह—रजस्वला होना ही बालिग होनेका प्रमाण नहीं है। ऐसी भी लड़कियाँ हैं कि जो बालिग हैं, मगर रजस्वला नहीं हुईं।

काजी—गरीबपरवर! जो मुनासिब समझें, हुक्म दें।

बादशाह—शरहमें यह लिखा है कि जबरन किसीको मुसल्मान नहीं बनाना चाहिये। इसी दफाके मुताबिक हम इस लड़कीको बरी करते हैं। सेठ घनश्यामदासजीको यह लड़की सौंपी जाती है। वे ईमानदार तथा अच्छी चाल-चलनके आदमी हैं। वे जहाँ चाहें, इस कन्याका विवाह कर सकते हैं। लिहाजा मुकदमा खारिज और मिसिल दाखिल दफ्तर!

कन्या सेठजीके साथ चली गयी।

× × × ×

दूसरे दिन थी जुम्मेकी नमाज। जुम्मा मस्जिदमें एक लाख मुसल्मान जमा हुए। बादशाह भी गये थे। मुल्ला लोगोंने बादशाहको आड़े हाथों लिया और उनके

फैसलेको तार-तार कर दिया। इस्लामी बादशाही, वास्तवमें मौलवी लोगोंकी बादशाहत थी।

बादशाहने देखा कि मामला बिगड़ा जाता है। कहीं ऐसा न हो कि मुझे तख्त और ताजसे भी हाथ धोना पड़े। नरम पड़ गये और बोले—

बादशाह—आखिर आपलोग इस मामलेमें क्या चाहते हैं?

मौलवीलोग—यह मामला मजहबका है—राजनीतिका नहीं। इस मामलेका आखिरी फैसला 'जुम्मा मस्जिद'की अदालत यानी 'अंजुमने-मौलाना' ही कर सकती है।

बादशाह—तो अब क्या होना चाहिये?

मौलवीलोग—उस लड़कीको फिर हिरासतमें ले लीजिये। कल उसकी पेशी जुम्मा मस्जिदकी अदालतमें होगी। आयन्दा धर्मके मामलेमें आप दखल न किया करें।

किरनको फिर जेलमें बंद कर दिया गया।

× × × ×

एक टाटपर बैठी किरन भविष्यको सोच रही थी। कटार लिये एक जल्लाद आया। किरन खड़ी हो गयी और बोली—

किरन—तुम कौन हो?

जल्लाद—मैं जल्लाद हूँ।

किरन—यहाँ क्यों आये?

ज०—तुमको मारने।

किरन—किसके हुक्मसे?

ज०—मौलानालोगोंके हुक्मसे।

किरन—क्या हुक्म हुआ मेरे लिये?

ज०—न रहे बाँस न बजे बाँसुरी।

किरन—बादशाहके हुक्मके खिलाफ?

ज०—जुम्मा मस्जिदकी अदालत, बादशाहोंके बनाने और बिगाड़नेवाली अदालत है।

किरन—अच्छी बात है।

ज०—मुसल्मान हो जाओ या मरनेको तैयार हो जाओ!

किरन—मरनेको तैयार हूँ। अपना हिंदू-धर्म नहीं त्यागूँगी। जल्लादने कटार तानी।

किरन—तुम मत मारना। मेरा बदन एक यवन नहीं छू सकता।

ज०—फिर कौन मारेगा?

किरन—मैं खुद मर जाऊँगी। यह कटार मुझे दो।

ज०—खूब! यह कटार मैं तुमको दे दूँ, ताकि यह तुम्हारे सीनेमें न जाकर मेरे सीनेमें घुस जाये? चालाक तो तुम कम नहीं हो।

किरन—मुझे कटार भी नहीं चाहिये।

जल्लाद—तो फिर कैसे मरोगी?

किरन—ऐसे!

—कहकर उस कन्याने अपना सिर इतने जोरसे पत्थरकी दीवालमें दे मारा कि वह खरबूजेकी तरह फट गया। खूनका फव्वारा कोठरी भरमें बरसने लगा।

इस भयानक मौतको देखकर जल्लाद भी काँप गया। बोला—'शाबाश! हिंदू लड़की! शाबाश! हिंदू-धर्मके सिवा, इस तरहसे मरना और कौन सिखा सकता है।'

शहरके सेठोंने लाश माँग ली। रथीको खूब सजाया गया। कहते हैं कि उस कन्याके शवपर जनताने इतने फूल, फल, मेवा, बताशे और रुपये-पैसे न्यौछावर किये कि जितने किसी शवपर नहीं हुए थे!

सन् १७२५ ईस्वीकी गरमीकी मौसम थी। किरनने हकीकत रायकी भी धर्मप्रियता जी ली थी। हिंदू-संस्कृतिका यही आदर्श है कि 'प्राण भले ही चले जायँ, अपना धर्म न जाने पाये! क्योंकि जो धर्मका हनन करता है, धर्म उसका हनन कर डालता है।' धर्मपर न्यौछावर होकर किरनदेवी अपना नाम सुनहरे अक्षरोंमें अमर कर गयी है।

माताका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—मुखिया विद्यासागर)

इतिहासप्रसिद्ध महारानी मदालसाका विवाह काशी-नरेशसे हुआ था। द्विरागमनमें जब वह पतिगृह आयी, तब एक दिन काशीनरेशने सहवासकी इच्छा प्रकट की। उस समय आधी रातका समय था। पतिकी इच्छापर मदालसाने कहा—

महारानी—मैं ब्रह्मचर्यसे रहूँगी।

महाराज—तो विवाह क्यों किया था?

महारानी—विवाह मेरी माताने कर दिया। पिताजी मेरे पक्षमें थे।

महाराज—विवाहके बाद ब्रह्मचर्य सम्भव नहीं।

महारानी—क्यों सम्भव नहीं? इस संसारमें कितने ही दम्पति आजन्म ब्रह्मचारी रहे हैं।

महाराज—परंतु मुझे तो राजकुमारकी प्रतीक्षा है। सिंहासन खाली न हो जायगा?

महारानी—आप अपना द्वितीय विवाह कर सकते हैं।

महाराज—राजा लोग अनेक विवाह करते अवश्य हैं—किंतु काशी-राजवंशमें एकपत्नीव्रतको ही संस्कृतिका आदर्श माना गया है।

महारानी—जबतक मुझे सन्तोष न हो, मैं ब्रह्मचर्यसे रहनेकी प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ।

महाराज—आखिर तुमने ऐसी प्रतिज्ञा क्यों की? जबतक हम लोग सन्तान पैदा नहीं करेंगे, तबतक मातृ-पितृ-ऋणसे मुक्त न हो सकेंगे। यह भी एक आदर्श है। हिंदू-संस्कृतिका यह सन्तान-सम्बन्धी आदर्श है।

महारानी—पुत्र पैदा करनेमें मुझे एक डर है।

महाराज—वह क्या?

महारानी—न मालूम पुत्र कैसा पैदा हो!

महाराज—(हँसकर) यह कोई डर नहीं है।

महारानी—क्यों?

महाराज—तुम-सरीखी पवित्रहृदया माताका पुत्र, और मुझ-सरीखे पवित्र पिताका पुत्र अपवित्र कैसे होगा?

महारानी—स्वामिन्! वास्तवमें मैं अभक्त सन्तानसे घृणा करती हूँ। ईश्वर-विरोधी सन्तानसे मुझे जलन है। मेरा स्वभाव ही ऐसा है। पुलस्त्यके कुलमें रावणकी भाँति यदि किसी कारणवश ईश्वरद्रोही पुत्र हुआ तो मातृ-पितृ-ऋण अदा होगा या और बढ़ जायगा?

महाराज—अभक्त पुत्र न होगा।

महारानी—यदि हुआ तो?

महाराज—तुम विचित्र महिला हो।

महारानी—जी, मैं विचित्र स्त्री हूँ।

महाराज—तो तुम ही बताओ कि क्या करना चाहिये।

महारानी—हम दोनोंको ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिये।

महाराज—सिंहासनपर कौन बैठेगा?

महारानी—आप।

महाराज—मेरे बाद?

महारानी—आप मरेंगे ही नहीं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहीं मरता है? जो मर जाय—वह ब्रह्मचारी ही नहीं।

महाराज—हूँ! यह कैसे?

महारानी—बजरंगबली ब्रह्मचारी थे। आज भी वे मौजूद हैं। नारद, शुकदेव और दत्तात्रेय कब मरे थे?

महाराज—मुझे तुम्हारी बातोंसे सन्तोष नहीं होता।

महारानी—(मुसकराकर) आखिर आप क्या चाहते हैं?

महाराज—सन्तान।

महारानी—परंतु एक मेरी भी शर्त है।

महाराज—वह क्या?

महारानी—सन्तानपर आपका कुछ भी अधिकार न होगा। उसकी शिक्षा-दीक्षा सर्वथा मेरे हाथमें रहेगी।

महाराज—स्वीकार है।

महारानी—मैं चाहे जो करूँ—चाहे उसे मार ही डालूँ—आप बीचमें कोई दखल नहीं देंगे?

महाराज—स्वीकार है।

महारानी—त्रिवाचक कहिये।

महाराज—मेरी सन्तानपर, उसकी माताका पूर्ण अधिकार मुझे स्वीकार है! स्वीकार है!! स्वीकार है!!!

महारानी—'परमात्माको व्यापक और द्रष्टा मानकर मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ'—यह भी कहिये!

महाराज—परमात्माको व्यापक और द्रष्टा मानकर मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ।

महारानी—तो मुझे भी आपकी बात स्वीकार है।

× × × ×

सालभर बाद एक पुत्र उत्पन्न हुआ। महारानीने अपने कमरेमें देवताओं तथा महात्माओंके चित्र लगा रखे थे। राजकुमारके शिक्षक एक विरक्त ब्राह्मण बनाये गये। रानी भी उसे वैराग्यकी शिक्षा देती थीं। राजा भी—'जिसमें तेरी रजा, उसीमें मेरी रजा'के अनुसार ज्ञानोपदेश किया करते थे। फल यह हुआ कि बारह सालका होते-न-होते राजकुमार साधु बनकर महलसे निकल गया। आत्मानन्द नाम हुआ उसका।

तीन साल बाद दूसरा लड़का पैदा हुआ। उसका भी वही हाल हुआ।

तीन साल बाद तीसरा लड़का पैदा हुआ। एक दिन राजा-रानीमें फिर विचित्र बातचीत हुई—

महाराज—इस लड़केको साधु मत बना देना।

महारानी—अवश्य बनाऊँगी।

महाराज—तब तो सिंहासन सूना-का-सूना ही रहेगा। सन्तान पैदा करनेका लक्ष्य क्या था?

महारानी—मैं आपसे प्रतिज्ञा ले चुकी हूँ।

महाराज—मैं वह प्रतिज्ञा अस्वीकार नहीं करता। परंतु तुमसे पुनः प्रार्थना करता हूँ कि इस पुत्रको राजकीय शिक्षा दी जाय। इसकी शिक्षाका प्रबन्ध मेरे हाथोंमें दे दो।

महारानी—अच्छी बात है।

इस तीसरे कुमारका नाम था—अशोककुमार।

जब अशोककुमार एक सुयोग्य युवक हो गया, तब राजा और रानी उसे राजकाज सौंपकर वनमें तप करने चले गये। वे अपने बड़े कुमार आत्मानन्दके आश्रममें जा पहुँचे और वहीं रहने लगे। दूसरा कुमार न मालूम साधुओंके साथ कहाँ चला गया।

एक दिन आत्मानन्दने माता मदालसासे कहा—

आत्मा०—माताजी! आप कभी-कभी बहुत चिन्तातुर हो जाती हैं।

मदालसा—हाँ, मुझे तुम्हारे छोटे भाईकी चिन्ता सताती है। वह राजकाजमें पड़ा हुआ ईश्वरको भूल रहा है। यों ही रहा तो वह मरकर अवश्य नरकमें जायगा। क्योंकि—'तपसे राज्य और राज्यसे नरक!'

आत्मा०—आपकी चिन्ता कैसे दूर हो सकती है?

माता—तुम अपने मामाके पास जाओ। उनकी सेना लेकर अपने छोटे भाईपर चढ़ाई कर दो। उसे पराजित करके खुद राजा बन जाना और उसे वनमें तपके लिये भेज देना। जब तुम राजा हो जाओ, तब अपना विवाह कर लेना। एक पुत्र पैदा करना और उसे गद्दी देकर रानीके साथ यहाँ चले आना। इस प्रकार मेरी कोई सन्तान मूर्ख और पापी न रह सकेगी। मेरे तीनों पुत्र इस प्रकार भगवद्भजन कर सकेंगे और मुक्त हो सकेंगे। माताका आदर्श यही है कि जो जीव उसके गर्भमें आये—उसे मुक्त करा दे! उसे पुनः-पुनः जननी-जठरमें न आना पड़े। गर्भ भी एक नरक है।

आत्मा०—जो आज्ञा।

आत्मानन्द अपने मामाके पास गया। उसने सेना लेकर काशीपर चढ़ाई कर दी। अशोककुमार हार गया और बंदी हुआ। छः मास बाद आत्मानन्द अपने भाईके पास जेलमें गया और बोला—

आत्मा०—राजन्! मैं आज आपका राज्य आपको लौटाने आया हूँ।

अशोक०—(आश्चर्यसे) क्यों? आपने तो मुझे जीत लिया है। हस्तगत राज्य क्यों छोड़ना चाहते हैं? ऐसा तो कोई नहीं कर सकता।

आत्मा०—मैं संन्यासी था। मैंने सोचा कि शायद राज्यमें अधिक सुख होगा, इसीलिये आपपर चढ़ाई की थी। परंतु इस छमाहीमें अनुभव हुआ कि मैं पहले ईश्वरकी गोदमें बैठा था और अब मायाकी गोदमें बैठ गया हूँ। मुझे तो राजकाजमें कोई सुख प्रतीत नहीं होता। वह पक्का मूर्ख है कि जो तप छोड़ राज्यकी अभिलाषा करे। स्वर्ग छोड़ नरकमें रहनेकी अभिलाषा करना

मूढ़ता नहीं तो और क्या है?

अशोक०—तब तो मुझे भी तप करना चाहिये।

आत्मा०—जी नहीं। मैं तप करूँगा। आप अपना जंजाल सँभालें।

इतना कहकर आत्मानन्दने राजमुकुट उतारकर अशोकके सिरपर रख दिया। अशोकने पुनः उसे उतारकर आत्मानन्दके सिरपर रखा और कहा—

अशोक०—आप तप कर चुके हैं। आप राज्य कीजिये। अपने पुत्रको गद्दी देकर फिर तप कर लेना। मुझे तप करने दीजिये।

आत्मानन्द भी यही चाहते थे। भाईके मुखसे यह सब कहलानेके लिये ही उन्होंने नाटक रचा था।

अशोककुमारको माता-पिताके पास भेज दिया गया। वहाँ जाकर उसने जाना कि उसे उसके बड़े भाईने ही पराजित किया था। सो भी माताकी आज्ञासे।

आत्मानन्दने अपना विवाह किया। एक पुत्र भी पैदा हुआ। परंतु वह राज्यकाजमें ऐसा लवलीन हुआ कि माताकी आज्ञा ही भूल गया। वह राजकाजसे ही प्रेम करने लगा।

× × × ×

संन्यासिनीका रूप धारणकर एक दिन मदालसा काशी-नरेशके महलमें जा पहुँची।

आत्मानन्दने सत्कारकर पूछा—

आत्मा०—मेरे राज्यमें अकाल क्यों पड़ गया है?

संन्या०—राजाके पापसे अकाल पड़ता है।

आत्मा०—मैंने कौन-सा पाप किया है?

संन्या०—तुमने सबसे बड़ा पाप किया।

आत्मा०—वह कौन-सा?

संन्या०—तुमने अपनी माताको धोखा दिया है!

आत्मा०—हाँ, हाँ। मैं तो अपनी प्रतिज्ञा ही भूल गया था।

संन्या०—अपने पुत्रको गद्दी देकर पत्नीके साथ अपनी माताके पास चले जाओ। तब अकाल दूर होगा।

उसी दिन राजाने अपने राजकुमारको राजतिलक दे दिया। वह संन्यासिनीके साथ वनमें चला गया।

आश्रममें पहुँचकर आत्मानन्दने जाना कि संन्यासिनी स्वयं उसकी माता ही थी। तबतक दूसरा राजकुमार विनयकुमार भी समस्त तीर्थोंका दर्शन करके वहाँ आ गया।

एक दिन तीनों पुत्रों और पतिके समक्ष महारानी मदालसाने यह वक्तव्य प्रकट किया—

'यदि माता ज्ञानवती हो तो एक विराट् कुलको ज्ञानवान् बना सकती है। माता अज्ञानी हो तो वह एक विराट् कुलको नरकमें भेज सकती है। स्त्रियोंकी बड़ी भूल है कि वे धनवान् पति पसंद करती हैं। उनको चाहिये कि वे ज्ञानवान् पति पसंद किया करें।'

हिंदू-संस्कृतिका आदर्श माताके लिये यही है कि वह अपनी किसी सन्तानको ईश्वर तथा धर्मके विरुद्ध न चलने दे। नहीं तो सन्तान स्वयं नरकमें जायगी और माता-पिताको भी नरकमें घसीट ले जायगी।

आज मुझे पूर्ण सन्तोष है कि मेरे तीनों पुत्र तथा मेरे पतिदेव मेरे साथ तप कर रहे हैं! इससे बढ़कर एक साध्वी नारीका क्या सौभाग्य हो सकता है।

मैं जो अपने मातृ-आदर्शमें उत्तीर्ण हो सकी हूँ, उसमें मेरे पतिदेवने यथेष्ट सहायता पहुँचायी है। मैं ईश्वरसे प्रार्थना करती हूँ कि—

हे दयालु! हम पाँचोंको मुक्ति प्रदान करो!'

माताका उपदेश

तू शुद्ध है, तू बुद्ध है, तू है निरंजन सर्वदा। संसार-मायासे रहित तू है स्वरूपस्थित सदा॥
संसार सारा स्वप्न है अब मोह निद्रा त्याग तू। कह रही निज तनय से मा पुत्र सत्वर जाग तू॥

भ्राताका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

केवलपुरमें केवल एक घर ठाकुरोंका है। बड़े भाईका नाम श्यामसिंह और छोटे भाईका नाम रामसिंह। दोनोंमें अपार स्नेह। माता-पिता स्वर्ग चले गये थे। विवाह दोनों भाइयोंके हो चुके थे। छोटे भाईकी स्त्री मालती घरमें आयी तो अलग चूल्हा बनानेकी बात सोचने लगी। एक बार रातमें मालतीने अपने पतिसे कहा—

मालती—तुम्हारे बड़े भाई साहब केवल पूजा-पाठ किया करते हैं और खेतीका सारा काम तुम करते हो।

रामसिंह—पूजा-पाठका काम हिंदू-संस्कृतिमें प्रधान काम है। खेतीका काम दूसरे दरजेका काम है।

मालती—पूजा-पाठसे क्या होता है?

राम०—देवतालोग प्रसन्न रहते हैं।

मालती—देवता क्या करते हैं?

राम०—खेतीके काममें सहायता देते हैं।

मालती—हल तुम चलाते हो, खाद तुम डालते हो, बीज तुम बोते हो और सिंचाई तुम करते हो—देवता क्या करते हैं?

राम०—खेतीके काममें देवतालोग सहायता न करें तो एक दाना भी पैदा न हो।

मालती—सो कैसे?

राम०—धरती माता, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, पवनदेव तथा इन्द्रदेवकी सहायतासे खेती होती है। ये लोग विरोधी हो जायँ तो अच्छी खाद, अच्छी जुताई एक तरफ रखी रहेगी।

मालती—इसलिये दिनभर देवताओंकी पूजा करना ही बड़े भाई साहबका काम हो गया है?

राम०—पूजा-पाठके अलावा वे और भी काम करते हैं।

मालती—सो क्या?

राम०—मुकद्दमोंका काम वही करते हैं।

मालती—मुकद्दमें सालमें दो एक आते हैं, सो तुम भी कर सकते हो। मिडिल पास किया है। कायदा-कानून जानते हो।

राम०—घरका सारा इन्तजाम बतलाते हैं।

मालती—घरका इन्तजाम मैं बतला दिया करूँगी।

राम०—उन्नतिके विचार बतलाते हैं।

मालती—विचार करना भी कोई काम है?

राम०—विचार ही तो काम है। इस संसारका राजा विचार ही तो है। प्रत्येक बातमें विचार है। विचारमें त्रुटि आयी कि सत्यानाश हुआ।

मालती—मेरा विचार है कि मैं अलग चूल्हा बनाऊँ। तुम अपनी जमीन बँटा लो। रुपया-पैसा और जेवर बड़ी बहूके पास है, उसे भी आधा-आधा कर लो!

राम०—क्यों?

मालती—यों कि कल बाल-बच्चे होंगे और परसों उनका ब्याह होगा; हमारी गुजर साथमें नहीं हो सकती।

राम०—हिंदू-संस्कृतिका यह आदर्श नहीं है।

मालती—क्या आदर्श है?

राम०—बड़ा भाई पिता-समान, वही घरका मालिक। बड़ी भावज माता-समान, वही घरकी मालकिन।

मालती—और तुम?

राम०—सेवक, अनुचर, नौकर, दास!

मालती—और मैं?

राम०—सेविका, अनुचरी, नौकरानी और दासी।

मालती—कहाँ लिखा है?

राम०—रामायणमें!

मालती—आग लगे रमाइनमें और धुँआ उठे पराइनमें।

राम०—हैं, हैं—।

मालती—(क्रोधमें भरकर) कैसी हैं-हैं? मैं दासी हूँ? जोरावरसिंहकी लड़कीको दासी लिखा है—रमाइनमें? मैं घरमें 'रमाइन' रखूँगी ही नहीं। कल सुबह उसे उठाकर तालमें फेंक दूँगी।

राम०—(हँसकर) अगर तुम रामायण नहीं मानोगी तो तुम हिंदू नहीं मानी जाओगी।

मालती—तो कौन मानी जाऊँगी?

राम०—कुछ भी नहीं। कोई जाति नहीं।

मालती—कोई जाति नहीं? मेरी जाति है ठाकुर! मैं ठाकुरकी लड़की हूँ। असल क्षत्री—चौहानवंश! और तुम कहते हो कि मेरी जाति ही नहीं?

राम०—मालूम होता है कि तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है।

मालती—और तुम्हारा?

राम०—मेरा दिमाग खराब होनेका कोई कारण नहीं है।

मालती—मेरे खराब दिमागका कोई कारण है?

राम०—कारण प्रत्यक्ष है, नहीं तो तुम ऐसे विचार ही क्यों करती?

मालती—मेरे विचार ठीक नहीं—अच्छी बात है। कल मैं अपना विचार दिखलाऊँगी।

राम०—क्या करोगी?

मालती—अब क्या! अब तो मेरा दिमाग खराब ही है! जो जीमें आयेगा, वही करूँगी। क्योंकि मेरा दिमाग खराब है। अगर मेरा दिमाग खराब था तो मैंने दर्जा ४ कैसे पास किया था?

राम०—दर्जा ४ तो कोई चीज नहीं; यदि कोई संस्कृतमें एम० ए० भी पास कर ले तो क्या होगा। जिसके ऐसे विचार हैं, उसका दिमाग तो खराब ही माना जायगा।

× × × ×

प्रातः हल लेकर रामसिंह खेत जोतने चले गये। मालतीने अपनी जिठानीसे कहा—

मालती—मेरा विचार अलग रहनेका है। इस घरमें चार कमरे हैं। दो तुम ले लो और दो हम।

जिठानीका नाम था—माधवी। वह सकपकाकर बोली—'देवरजीकी राय ले ली है?'

मालती—उनकी रायसे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं। वे मेरा दिमाग खराब बतलाते हैं। जोरावरसिंहकी लड़कीका दिमाग खराब है, यह उनकी किताबमें लिखा है।

माधवी—मेरी समझमें तुम्हारी बात आयी नहीं, देवरानी!

मालती—आ जायगी। घबराओ मत। बर्तन कितने हैं?

माधवी—कभी गिने नहीं।

मालती—लाओ, मैं गिनती हूँ। चार थाली, चार लोटे और चार कटोरे। दो-दो हो गये। यह लो अपने हिस्सेके बर्तन।

माधवी—हिस्सा बाँट हम-तुम नहीं कर सकतीं।

मालती—और कौन करेगा?

माधवी—मर्द लोग।

मालती—मर्द जायें भाड़में। मर्दकी नजरमें औरत पागल तो औरतकी नजरमें मर्द पागल। जब पागलपनका प्रस्ताव पास किया गया, तब पागलपन ही सही। मैं भागकर इस घरमें नहीं आयी हूँ। मेरा विवाह होकर आया है। मेरा हिस्सा है।

माधवी—मैं मानती हूँ कि तुम्हारा हिस्सा है।

मालती—तो फिर बहस किस बातकी। उन दो कमरोंमें तुम रहो। इन दो कमरोंमें मैं रहूँगी।

माधवी—अच्छी बात है।

मालती—आधे बर्तन ले जाओ।

माधवी—ले जाऊँगी।

मालती—ले कब जाओगी। अभी उठाओ। अनाज कितने बोरे हैं?

माधवी—सात बोरा।

मालती—आधा-आधा कर लो। रुपया-पैसा और जेवर भी निकालो।

माधवी—जरा गम खाओ। मैं पूजावाली कोठरीमें जाकर तुम्हारे जेठजीसे राय ले आऊँ।

मालती—यह भी कह देना कि मैं वह देवरानी नहीं हूँ, जो जेठजीके सामने डेढ़ हाथका घूँघट निकालकर कोठरीमें भाग जाती है। अगर जेठजीने इन्साफ न किया तो झाड़ लेकर बात करूँगी।

× × × ×

मकानके बाहर पूजाकी कोठरी थी, जो बैठकके बगलमें बनी थी। माधवीने जाकर देखा कि उसके स्वामी महादेवजीपर बेलपत्री चढ़ाते जाते हैं और '**नमः शिवाय**' कहते जाते हैं।

माधवी—आप यहाँ पूजा कर रहे हैं और घरमें देवरानी हिस्सा-बाँट कर रही है।

श्यामसिंह—क्या बात है?

माधवीने सारा किस्सा कह सुनाया।

श्याम०—बहूसे कह दो कि आजसे वही मालकिन है। सारा रुपया-पैसा और जेवर उसे सौंप दो। वह पढ़ी-लिखी, होशियार है। तुमसे अच्छा प्रबन्ध करेगी।

माधवी भीतर गयी। रुपये-पैसे तथा जेवरवाला बक्स उठाकर मालतीके पास रख दिया।

मालती—जेठने क्या कहा?

माधवी—यह कहा कि बहू पढ़ी-लिखी है। आजसे वही घरकी मालकिन है। सारा माल-खजाना, घर-बार—सब उसीको सौंप दो। यह लो घरकी चाबियोंका गुच्छा। ये बक्स तुम्हारे सामने हैं। मुझसे जो कहो, सो करूँ।

मालती—धन-दौलतमें आधा हिस्सा तुम ले लो।

माधवी—मैं एक पैसा नहीं लूँगी।

मालती—क्यों?

माधवी—स्वामीकी आज्ञा नहीं है।

मालती—स्वामीकी आज्ञासे अपना हिस्सा छोड़ दोगी?

माधवी—अवश्य छोड़ दूँगी।

मालती—इस घरके सब लोग पागल दिखलायी पड़ते हैं। जेठजी भी '**स्वाहा-स्वाहा**' करने लगे। जिठानी भी लीकपर लीक चलाने लगीं! यानी जो बात मैं कहूँगी, उसे कोई नहीं मानेगा—अपनी-अपनी बात मेरे सिरपर थोपनेके लिये सभी तैयार हैं। मैं न तो दूसरेका हिस्सा लूँगी और न अपना हिस्सा दूँगी।

माधवी—ऐसा ही कर लेना। जल्दी क्या है। आज अलग रोटी बना लो। कल हिस्सा बाँट कर लेना। कल देवरको भी खेतपर न जाने दूँगी। चारों आदमी मिलकर हिस्सा कर लेना।

यह बात मालतीकी समझमें आ गयी। उसने अलग एक चूल्हा बनाया। उड़दकी दाल बनायी। रोटी बनायी। दोपहरको रामसिंह घरपर आये। श्यामसिंह भोजन करके कमरेमें लेटे हुए 'कल्याण' पढ़ रहे थे। रामसिंह स्नान करके भोजन करने जो घरमें गये तो दो चूल्हे दिखलायी पड़े। मालतीने उनको अपने चौकेमें बुलाया; परंतु वे भावजके चौकेमें चले गये और बोले—'आज क्या बनाया है, भौजी?'

माधवी—खिचड़ी बनायी है।

राम०—लाओ, परोसो।

माधवी—बहूने सुन्दर उड़दकी धोई हुई दाल बनायी है। हींगसे छौंकी है। रोटी बनायी है—तिरबेनीकी। गेहूँ, जौ और चनेका आटा मिलाकर तिरबेनी रोटी बनायी है। वहीं जाकर खाओ।

राम०—अलग रोटी क्यों बनायी?

माधवी—कहती है कि अलग रहूँगी।

राम०—रहेगी तो रहे अलग। परोसो मुझे खिचड़ी।

माधवी—उसे बुरा लगेगा।

राम०—मैं उससे बाततक न करूँगा।

माधवीने खिचड़ी परोस दी। रामसिंह खा-पीकर बाहर चले गये। मालतीने गुस्सेमें आकर रोटियाँ कुत्तेको डाल दीं। बेचारीको 'एकादशी' हो गयी।

× × × ×

रातको जब दोनों इकट्ठे हुए, तब यों बात-चीत हुई—

मालती—तुमने मेरे चौकेमें रोटी नहीं खायी और भावजके चौकेमें खिचड़ी खायी।

राम०—कहो एक बार कहूँ, कहो लाख बार और कहो तो पत्थरपर लिख दूँ।

मालती—क्या?

राम०—मैं अपनी स्त्रीको छोड़ सकता हूँ परंतु अपने भाईको नहीं छोड़ सकता।

मालती—क्यों?

राम०—हिंदू-संस्कृतिका आदर्श ही ऐसा है। श्रीलक्ष्मणजीने भाईके लिये पत्नीको चौदह वर्ष त्याग दिया था।

मालती—अच्छी बात है। तब मैं ही अपना हठ छोड़े देती हूँ। सुबह होते ही अपना चूल्हा फोड़ डालूँगी। सारे घरसे अलग रहकर मैं कौन-सा सुख पा लूँगी?

राम०—अब तुम्हारा पागलपन दूर हो गया।

तबसे आजीवन मालतीने हिस्सा-बाँटका नाम न लिया। माधवी कोई काम मालतीकी सलाह बिना न करती थी। चाबियाँ भी बहूके पास ही रहती थीं।

भक्तकन्याका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीअवधूतानन्दजी गिरनारी)

बुन्देलखण्डमें बलभद्रपुर नामकी एक रियासत थी। वहाँ एक राजकुमारी पैदा हुई थी, जिसका नाम था विमला-कुमारी। विमलाको एक गुरुजी संस्कृत तथा हिंदी पढ़ाते थे। दोपहरीको जब गुरुजी स्नान करके ठाकुरजीकी पूजा किया करते थे, तब विमला एकटक ठाकुरजीको देखा करती थी। एक दिन विमलाने कहा—

विमला—गुरुजी! ये ठाकुरजी मुझे दे दीजिये।

गुरु—तुम क्या करोगी?

विमला—पूजन किया करूँगी। बातें किया करूँगी।

गुरु—तुम अभी कन्या हो। गुड्डे-गुड्डीका ब्याह खेला करोगी। फिर बड़ी हो जाओगी, तब तुम अपनी ससुराल चली जाओगी; ठाकुरजीकी पूजाका अवसर तुमको कभी न मिलेगा।

विमला—क्या कन्याका यही आदर्श है, गुरुजी?

गुरु—नहीं, कन्याका आदर्श तो दूसरा ही है।

विमला—वह कौन-सा?

गुरु—माता, पिता और भ्रातासे सद्व्यवहार रखना कन्याका प्रथम आदर्श है। गुरु तथा ईश्वरकी भक्ति रखना कन्याका दूसरा आदर्श है। पति तथा पुत्रकी सेवा करना उसका अन्तिम आदर्श है।

विमला—सबसे बड़ा आदर्श कन्याके लिये कौन-सा है?

गुरु—सबसे बड़ा आदर्श तो माता-पिता, भ्राता, गुरु-शिष्य, पति-पुत्र, पत्नी—सबके लिये एक ही है और वह है श्रीठाकुरजीकी भक्ति सीखना।

विमला—क्यों?

गुरु—ठाकुरजी ही संसारके स्वामी हैं। हर एक जीव उनका नौकर है। जो नौकर अपने स्वामीकी सेवा नहीं करेगा, वह मेवा नहीं पायेगा। उसे कान पकड़कर निकाल दिया जायेगा।

विमला—तो ठाकुरजीकी सेवा करना सबका प्रधान आदर्श है?

गुरु—हाँ, बेटी! यही सबका प्रधान आदर्श है। यदि तुम ईश्वरकी भक्त बनोगी तो तुम्हारे आचरण स्वयं धार्मिक रहेंगे। ईश्वरकी छविकी छटाका नाम धर्म है। धर्म यानी कर्तव्य।

विमला—तब तो, गुरुजी! मैं इसी सबसे बड़े आदर्शको मानूँगी; बस, ये ठाकुरजी मुझे दे दो।

गुरु—नहीं। ये तो मेरे ठाकुरजी हैं।

विमला—और मेरे ठाकुरजी?

गुरु—तुम्हारे ठाकुरजी कल आ जायेंगे!

विमला—कैसे?

गुरु—कल सुबह मेरे साथ नर्मदाजी स्नान करने चलना। पाताल फोड़कर, नदीके द्वारा तुम्हारे ठाकुरजी आयेंगे।

गुरुजीने सोचा था कि नर्मदामें गोल-मोल पत्थरके टुकड़े पड़े रहते हैं, उन्हींमेंसे एक उठाकर दे दूँगा।

अपने ठाकुरजीकी प्रतीक्षामें विमलाको अपार आनन्द हुआ। प्रातः दोनों हाथीपर चढ़कर नर्मदास्नानके लिये गये। गुरुजीने जो डुबकी मारी तो एक श्वेत पत्थरकी गोल मूर्ति उनके हाथमें थी।

राजकुमारी चिल्लायी! 'हमारे ठाकुरजी आ गये!'

गुरुजीने बाहर निकलकर ठाकुरजी दे दिये।

विमलाने अपने ठाकुरजीके लिये सोनेकी संदूकची बनवायी, रेशमी कपड़े बनवाये और जवाहराती जेवर बनवाये। रोज फूल और धूप-दीपके साथ पूजा करने लगी।

राजा और रानीने विमलाके उत्साहमें और भी योग दे दिया। जो-जो उसने माँगा, राजा-रानी सब प्रसन्नतापूर्वक देने लगे। आजकलके मूढ़ माता-पिताकी तरह उन्होंने कन्याका भक्तिविलास रोका नहीं। पुत्र हो या पुत्री, हरिभक्तिसे किसीको रोकना नहीं चाहिये। इससे बढ़कर कोई पाप ही नहीं है। रामप्रेम रोकना ही महापाप है। कन्या तो जीव है, पशु-पक्षीतक रामसे प्रेम करते हैं।

× × × ×

विमला—गुरुजी! ठाकुरजी तो आपकी कृपासे मिल गये; परंतु इनका नाम क्या है?

गुरुजीने देखा कि कन्या बहुत सीधी है। सीधेको 'सिलबिल्ला' कहते हैं ग्रामीण भाषामें।

गुरु—तुम्हारे ठाकुरजीका नाम है 'सिलबिल्ले ठाकुर।'

विमला—बिसमिल्ले ठाकुर?

गुरु—वह तो फारसी भाषा हो गयी। सिलबिल्ले कहो।

विमला—सिलबिल्ले ठाकुरजी!

× × × ×

एक दिन विमलाका विवाह हो गया। वह बारातके साथ ससुरालको चली। मार्गमें बारातने दोपहरी देखकर पड़ाव डाल दिया। राजकुमारीका पति पालकीके पास आया। राजकुमारीको अत्यन्त रूपवती देखकर बहुत प्रसन्न हुआ।

राजकुमार—इस सोनेकी संदूकचीमें क्या है?

राजकुमारी—ठाकुरजी!

राजकुमार—देखूँ।

राजकुमारीने चाबी लेकर ताला खोला। रेशमी कपड़ोंमें फूलोंकी गद्दीपर पत्थरकी एक गोल बटरिया रखी थी। राजकुमार हँसा। उसे नयी दुनियाकी हैवानी हवा लगी थी। ईश्वर कहाँ है और यदि है भी तो वह अजर-अमर सच्चिदानन्द व्यापक होगा। और यह है नर्मदाकी बटिया। राजकुमारने कहा—'तुम बहुत सरल हो, राजकुमारी!'

इतना कहकर उसने ठाकुरजी उठा लिये। वहीं एक कुआँ था। हँसकर राजकुमारने उस ठाकुरजीको कुएँमें डाल दिया और चला गया।

× × × ×

ससुराल पहुँचकर राजकुमारीने भोजन करना छोड़ दिया। केवल जल पीकर रहने लगी। हरदम ठाकुरजीका ध्यान। 'हाय! हमारे सिलबिल्ले ठाकुरजी कब मिलेंगे?' यही चिन्ता। ससुरालवालोंने सोचा कि घरकी यादसे बहू भोजन त्याग बैठी है। एक रातको वह खिड़कीके द्वारा महलसे बाहर हो गयी। भागती हुई उसी कुएँके पास जा पहुँची, जिसमें ठाकुरजी पड़े थे।

राजकुमारी रोने लगी। उसने पुकारा—'सिलबिल्ले!' आवश्यकतासे अधिक सीधे व्यक्तिको 'सिलबिल्ला' कहा जाता है देहाती भाषामें। बहुत सम्भव है कि ईश्वर भी आवश्यकतासे अधिक सीधा व्यक्तित्व रखते हों। लिहाजा कुएँमेंसे जवाब आया—'वाह! मुझे यहाँ छोड़ तुम कहाँ चली गयी थीं?'

राजकुमारी—बाहर आ जाओ!

आवाज—तुम्हीं यहाँ आ जाओ।

राजकुमारी कुएँमें कूद पड़ी।

× × × ×

विमलाने देखा कि कुएँमें पानीकी जगह फूल-ही-फूल भरे पड़े हैं और बजाय पत्थरके साक्षात् ठाकुरजी विराजमान हैं। पीताम्बर, वनमाला, मोहनमुरली, मधुर मुसकान!

विमला—सिलबिल्ले!

ठाकुरजी—कहो, सिलबिल्ली!

विमला—मैं उस ठाकुरजीके विरोधी घरमें अब न जाऊँगी।

ठाकुरजी—तो ठाकुरजीके माननेवाले घरमें चलोगी?

विमला—नहीं, मैं तो अब तुम्हारे ही साथ रहूँगी। तुम्हीं मेरे सब कुछ हो।

श्रीकृष्ण—विमले! तुम राधारानीकी 'सरलता' से उत्पन्न हो। संसारकी समस्त स्त्रियाँ शक्तिके विविध अङ्गोंसे उत्पन्न हैं। आजकलके भयानक कलियुगमें तुम-सी सरलकी गुजर नहीं हो सकती। सरलको लोग बेवकूफ समझते हैं। मजा यह कि हैं खुद बेवकूफ!

विमला—तुम्हारा घर कहाँ है?

श्रीकृष्ण—गोलोकमें!

विमला—वह कहाँ है?

श्रीकृष्ण—पृथ्वीके ऊपर चन्द्र, चन्द्रसे दूर सूर्य, सूर्यसे ज्योति, ज्योतिके बाद गोलोक है!

विमला—बहुत दूर है।

श्रीकृष्ण—क्षणभरमें पहुँच चलेंगे।

इतना कहकर भगवान्ने विमलाके सिरपर हाथ फेरा। हाथके साथ ही उसकी आत्मा निकल आयी।

दोनों आकाशमार्गसे चले। यहाँ अपनी एक कहानी छोड़ गये।

जिन्ह कें रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

बहिनका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—श्रीजयतिपुरी)

मेरठमें दो भाई रहते थे। बड़े भाईका नाम था रामनारायण और छोटेका नाम था जयनारायण। एक बहिन थी—नाम था प्रेमा। रामनारायण जमींदारीका काम करते थे। माता-पिता मर चुके थे। जयनारायणको उन्होंने पढ़ा-लिखाकर एम० ए०, एल-एल० बी० करा दिया। वे वकालत करने लगे।

सबसे छोटी बहिन प्रेमा जब विवाहयोग्य हुई तो दोनों भाई उसके लिये वरकी खोज करने लगे। रामनारायण थे पुराने विचारोंके सनातनधर्मी, वे प्रेमाके लिये सनातनधर्मी घर-वर खोजने लगे। जयनारायणको नयी दुनियाकी हवा लगी थी। वे तलाश करने लगे सुधारक घर और वर। इसी बातको लेकर दोनों भाइयोंमें अनबन हो गयी। जयनारायणने वह घर छोड़ दिया। अपनी स्त्रीको लेकर दूसरे मुहल्लेमें रहने लगे। रामनारायणने प्रेमाका विवाह एक सनातनधर्मी युवकके साथ कर दिया। जयनारायण न तो विवाहमें शामिल हुए और न एक पैसा उन्होंने खर्च किया। दोनों भाइयोंमें बोल-चालतक बंद हो गयी थी।

× × × ×

सावनके दिन थे। प्रेमा अपनी ससुरालसे वापस आ गयी थी। एक दिन शामके समय प्रेमा एक नीमके वृक्षपर झूला झूल रही थी। किसी कार्यवश उधरसे जयनारायण बाबू कहीं जा रहे थे। जयनारायणकी तरफ प्रेमाकी पीठ थी। उन्होंने बहिनको देख लिया; परंतु प्रेमाने उनको नहीं देखा था।

वकील बाबूने सुना—प्रेमा सावन गा रही थी—

चंदनकी पटुली, रेशमकी डोरी,
कदम की शाखा पातली!
श्रीजयनारायण हैं मेरे भैया,
जिनकी बहिन मैं लाड़ली!

वकील बाबूने सोचा—'हैं! जिस बहिनको मैं भूल गया था, वह मुझे याद किये है। जिसके नामसे मुझे घृणा थी, वह मेरे नामको प्रेमसे स्मरण कर रही है!'

यह जरा-सी बात जयनारायण बाबूको खटकने लगी। उनकी सारी शत्रुता हवा हो गयी। बहिन और भाईके लिये वे तड़पने लगे। हर समय चिन्तामें रहने लगे। खाना-पीना छूट-सा गया। एक दिन जुकाम बिगड़ गया और चारपाईपर पड़ रहे।

एक सप्ताह बाद प्रेमाने सुना कि जयनारायण बहुत बीमार हैं। वह डरते-डरते बड़े भाईके कमरेमें गयी और बोली—

प्रेमा—बड़े भैया! छोटे भैया बहुत बीमार हैं?

राम०—सुना तो मैंने भी है।

प्रेमा—आप देखने नहीं गये?

राम०—न।

प्रेमा—क्यों? जिनको आपने पुत्र-समान मानकर खिलाया-पिलाया और लिखाया-पढ़ाया, उनको देखने भी नहीं गये?

राम०—वह बुलाता तो चला जाता!

प्रेमा—यदि न बुलायें?

राम०—तो नहीं जाऊँगा।

प्रेमा—मैं चली जाऊँ—देख आऊँ?

राम०—जिसने तुम्हारे विवाहमें कदम नहीं मारा, तुम बिना बुलाये उसके घर कदम रखने जाओगी? मान-अपमानका भी विचार नहीं है?

प्रेमा—मान-अपमान बार-बार आया-जाया करता है। भैया बार-बार नहीं मिलता।

प्रेमा रोने लगी।

राम०—तो रोती क्यों हो? मैं मना नहीं करता। परंतु मैं खुद नहीं जाऊँगा। लो, अभी गाड़ी मँगाये देता हूँ।

नौकर गया और एक घोड़ागाड़ी किराये कर लाया। प्रेमा बैठ गयी। नौकर साथ गया। वह वकील साहबका घर जानता था।

कमरेमें पहुँचकर प्रेमाने देखा कि पलँगपर छोटे भाई बेहोश पड़े हैं। एक तरफ उनकी स्त्री खड़ी है और

दूसरी तरफ एक डाक्टर खड़ा है।

डाक्टर—केस होपलेस! मगर घबराना नहीं चाहिये।

वकील बाबूकी स्त्रीका नाम था—रमा। वह बोली—

रमा—होपलेस! फिर भी न घबराऊँ? इसके क्या मानी?

डाक्टर—एक उपाय भी है।

रमा—वह क्या?

डाक्टर—इनके शरीरका रक्त सूख गया है।

रमा—जी हाँ। शरीरका ढाँचामात्र रह गया है।

डाक्टर—नसें खुलकर दिखायी दे रही हैं।

रमा—खाते-पीते कुछ नहीं। कभी-कभी थोड़ी-सी चाय लेते हैं।

डाक्टर—क्या कभी कुछ कहते भी हैं?

रमा—कुछ नहीं। कभी-कभी कह उठते हैं—

'जिनकी मैं लाड़ली!'

डाक्टर—इसका क्या मतलब?

रमा—मैं नहीं जानती।

डाक्टर—आई सी! यही सन्निपातका लक्षण है।

रमा—आप कौन-सा उपाय बतला रहे थे, डाक्टर साहब? मेरे पास जो कुछ है—सब ले लीजिये; परंतु इनके प्राण बचा दीजिये।

डाक्टर—प्राण बचाना परमात्माका काम है। डाक्टरका काम है कोशिश करना। वकील साहब खुद मेरे दोस्त हैं। मैं आपसे कुछ भी लेना नहीं चाहता।

रमा—उपाय बतलाइये।

डाक्टर—उपाय कठिन है। बहुत कठिन है।

रमा—कठिन-से-कठिन उपाय भी सरल हो जाता है।

डाक्टर—एक छटाँक शुद्ध खून चाहिये।

रमा—क्या कीजियेगा?

डाक्टर—वकील साहबके शरीरमें प्रवेश करा दूँगा। बस, फिर सब ठीक हो जायगा।

रमा—मेरे शरीरसे रक्त निकाल लीजिये।

डाक्टर—आप पहले तो गर्भवती हैं और दूसरे आप कृश हैं। गर्भवतीका खून लेना ठीक नहीं। कहीं आप भी बीमार पड़ गयीं, तो और भी परेशानी होगी।

'मैं मोटी हूँ—मेरा खून लीजिये!'

प्रेमाने आगे बढ़कर डाक्टरसे कहा।

डाक्टर—तुम कौन हो?

प्रेमा—वकील साहबकी छोटी बहिन।

डाक्टर—आप मोटी हैं। बहिन हैं, इसलिये खूनमें सजातीयता भी है और खून साफ, शुद्ध तथा लाभप्रद है।

रमा—आप रहने दीजिये।

प्रेमा—क्यों, भावज?

रमा—आपके विवाहमें हमलोग शामिल नहीं हुए थे।

प्रेमा—सो क्या हुआ?

रमा—आपको हमलोगोंने एक पैसातक नहीं दिया।

प्रेमा—सो क्या हुआ?

रमा—आपको हमलोगोंसे घृणा नहीं है?

प्रेमा—नहीं।

रमा—क्यों?

प्रेमा—बहिनका आदर्श यह नहीं है कि वह किसी भूलके कारण अपने भाईसे घृणा करे। भाई चाहे कैसा भी हो—वह भाई ही है।

रमा—वास्तवमें हमलोगोंसे भूल हो गयी।

प्रेमा—भूल तो फिर भी दुरुस्त हो सकती है। भाई कहाँ मिलेगा? वह भाई कि जिसके लिये भगवान् रामतक रोये थे!

'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता!'

भाई साहब बने रहेंगे तो मुझे मान भी दे सकते हैं, धन भी दे सकते हैं। या कुछ भी न दें—फिर भी वे मेरे भाई हैं। देना-लेना दूसरी चीज, प्रेम दूसरी चीज!

डाक्टर—आप खुशीसे अपना खून दे रही हैं?

प्रेमा—नि:स्वार्थ तथा हार्दिक प्रसन्नताके साथ।

डाक्टर—एक छटाँक खून?

प्रेमा—एक छटाँक—एक पाव—या जितने खूनसे

भाईको आराम हो जाये।

डाक्टर—शाबाश! बहिन हो तो ऐसी!

प्रेमा—किस जगहका खून लीजियेगा?

डाक्टर—हाथोंका खून अच्छा होता है। लेकिन शायद आपको हाथोंके खूनसे तकलीफ हो। इसलिये पैरोंका खून डाल दिया जायगा।

प्रेमा—पैरका खून! भाईके शरीरमें!

डाक्टर—तो फिर?

प्रेमा—मेरे कलेजेका खून लेकर मेरे भाईके कलेजेमें डाल दो, डाक्टर साहब!

डाक्टर—शाबाश! बलिहारी है इस त्यागकी!

प्रेमा—देर मत कीजिये।

डाक्टर—आपके दोनों बाँहोंकी नससे खून लिया जायगा।

प्रेमा—चाहे जिस अङ्गको काट डालिये।

डाक्टरने दोनों बाँहोंसे एक छटाँक खून निकाला। प्रेमाने 'उफ' तक न किया। वकील साहबके शरीरमें वह खून प्रवेश करा दिया गया।

× × × ×

एक सप्ताहमें ही जयनारायण बाबू स्वस्थ हो गये। वे रामनारायणके कमरेमें आये। प्रेमा भी वहीं बैठी थी।

जयनारायणने आकर रामनारायणके चरणोंपर अपना सिर रख दिया और रोने लगे। रामनारायणने उनको उठाया और छातीसे लगा लिया। रामनारायणकी आँखें भी बरस रही थीं।

जय०—भाई साहब! मेरी भूल क्षमा कीजिये। मैंने सुधारके भूतको विदा कर दिया है।

राम०—क्षमा किया।

जय०—मुझे फिर अपने घरमें रहनेकी आज्ञा दीजिये।

राम०—आज्ञा क्या देना, मकान तुम्हारा है। तुम्हीं चले गये थे। मैंने कब कहा था कि मकानसे निकल जाओ।

जय०—नहीं, आपने नहीं कहा था। आप पिताजीके समान हैं। आपने मुझे लिखाया-पढ़ाया और योग्य बनाया है।

राम०—आज ही आ जाओ।

जय०—प्रेमा बहिन!

प्रेमा—भैया!

जय०—मेरी हिम्मत नहीं पड़ती जो तुम्हारी नजरसे अपनी नजर मिलाऊँ?

'सन्मुख होइ न सकत मन मोरा!'

प्रेमा—क्यों?

जय०—मैं भाईका आदर्श भूल गया, परंतु तुम बहिनका आदर्श नहीं भूली।

प्रेमा—हिंदू-संस्कृतिके अनुसार बहिनका जो आदर्श है, उसीका पालन मैंने किया है। अपना कर्तव्य पालन किया है। इसमें यदि कोई तारीफ है तो मेरी नहीं—हिंदू-संस्कृतिकी तारीफ है।

× × × ×

दूसरे दिन जयनारायण बाबू इसी घरमें आ गये। तीन महीने बाद प्रेमाका द्विरागमन हुआ। वकील साहबने हजारों रुपये खर्च किये। बहिनको जेवर और कपड़े अलग दिये। बहनोईके चरण स्पर्श किये। घंटेभर उनसे बात-चीत करके उनके दिलका मैल भी धो डाला।

सच है—बहिनके प्रेमकी थाह नहीं है।

सबसे मिलकर चलिये

तुलसी यहि संसारमें भाँति भाँतिके लोग।
सबसों हिलमिल चालिये नदीनाव संजोग॥

क्षमा-प्रार्थना *

कई वर्षोंसे हिंदू-संस्कृति-अंकके प्रकाशनकी बात चल रही थी; परंतु विषय बहुत व्यापक होनेके कारण यह सोचा जा रहा था कि सब विषयोंपर पूर्णरूपसे विचार किया जाना तो सम्भव नहीं होगा। क्योंकि हिंदू-संस्कृतिका प्रत्येक विषय इतना विशद है कि उसपर पृथक् विशेषांक निकाला जा सकता है और कुछ अधूरे-से विषयोंका विशेषांक उपयुक्त नहीं होगा; परंतु हमारे आदरणीय ग्राहकों तथा मित्रोंने बहुत जोर दिया, तब हिंदू-संस्कृति-अंक प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया। विषय-सूची बहुत लम्बी बन गयी। काट-छाँट करनेपर जितने विषय रहे, उनपर लेख लिखवानेका प्रयत्न किया गया। परंतु उनमें भी बहुत-से विषय छूट गये। तथापि 'कल्याण' के प्रेमी विद्वान् महानुभावोंने परिश्रम करके जो लेख लिखे, वे बहुत ही उत्तम और मनन करने योग्य हैं। इस दृष्टिसे यह अंक हमारी तुच्छ बुद्धिके अनुसार अधूरा होनेपर भी बहुत उपादेय हो गया है। पाठकोंको कहाँतक सन्तोषप्रद होगा, यह तो उनके पढ़नेपर ही पता लगेगा।

इस अंकमें ऐसे बहुत-से विषयोंपर लेख प्रकाशित हुए हैं, जिनका सम्पादकोंको पूरा ज्ञान नहीं है। साथ ही लेखकोंने भी अपने-अपने ज्ञान, दृष्टिकोण तथा मतके अनुसार ही उनपर विवेचन किया है। ऐसी अवस्थामें लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये लेखक महानुभाव ही उत्तरदायी हैं। किन्हींको कोई सन्देह हो तो लेखक महोदयोंसे ही पूछना चाहिये।

हमारे परम आदरणीय संत-महात्माओं, आचार्यों विद्वानों, कवियों तथा सम्माननीय अधिकारियोंने कृपापूर्वक लेख, कविता, सन्देश आदि भेजकर जो हमारा उपकार किया है, इसके लिये हम हृदयसे उनके कृतज्ञ हैं। लेख इतने अधिक आ गये कि सबका प्रकाशित करना असम्भव हो गया; इससे बहुत-से लेख प्रकाशित नहीं हो सके हैं। बहुत-से अधूरे तथा बहुत-सा अंश छोड़कर प्रकाशित किये गये हैं। इसके लिये हम हाथ जोड़कर सब महानुभावोंसे क्षमा चाहते हैं। लेखक महोदय हमारी विवशता समझकर क्षमा करेंगे। लेखोंके सम्पादन और मुद्रणमें कहीं कोई भूल हो गयी हो तो लेखक महोदय कृपया क्षमा करें।

इस अंकके लिये सामग्री एकत्र करने, लेख लिखने-लिखवाने, चित्रादि संग्रह करने, छायाचित्र उतरवाकर भेजनेमें और चित्रोंके ब्लाक बनाकर प्रकाशित करनेकी अनुमति देने आदिमें हमें अपने बहुत-से कृपालु महानुभावोंसे तथा संस्थाओंसे बड़ी सहायता मिली है। इनमें महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, डिप्टी कलक्टर; श्रीशारदाप्रसादजी, मंत्री, मानस-संघ; स्वामीजी कृष्णानन्दजी महाराज, पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी, पं०श्रीगंगाशंकरजी मिश्र, पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी, डा० इन्द्रसेनजी, पं० श्रीवासुदेवजी उपाध्याय, डा०श्रीरघुवीर, श्रीशिवशरणजी, पं०श्रीनीरजाकान्त चौधरी देवशर्मा; श्रीविष्णुहरि वडेर, पं० श्रीरघुनाथजी शर्मा, बैंकोक (स्याम); पुजारी श्रीशोभानाथजी, श्रीचमनलालजी और पं० श्रीहनूमानजी शर्मा, भारतीय पुरातत्त्व-विभाग कोचीन त्रिवांकुर-सरकार, रेलवे बोर्ड और मानस-संघ, सतनाके नाम उल्लेखनीय हैं। इस सहायताके लिये हम उनके हृदयसे कृतज्ञ हैं।

कुछ लेख विभिन्न मासिक तथा साप्ताहिक पत्रोंसे लिये गये हैं, इसके लिये हम उनके सम्पादकों और संचालकोंके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

सम्पादन-विभागके मित्रोंमें सम्मान्य पण्डित श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे, पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री, श्रीसुदर्शन सिंहजी, श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी, श्रीशिवनाथजी दुबे, श्रीमाधवशरणजी, श्रीरामलालजी, श्रीदुलीचन्द दुजारी आदि सभी सहयोगियों और मित्रोंने बड़ी तत्परतासे काम किया; इसीके फलस्वरूप इतना सुन्दर अंक निकल सका है। अपने इन साथियोंको धन्यवाद देकर हम उनके निर्मल प्रेममें बाधा नहीं डालना चाहते।

बार-बार नुकसानकी बात सुनाकर हम अपने पाठकोंको दुःखी नहीं करना चाहते। परंतु इस बार कई कारणोंसे हमारे पहलेके अनुमानसे बहुत ही अधिक नुकसान रह गया है। यह केवल सूचनामात्र है।

अन्तमें इस अंकमें रही हुई त्रुटियोंके लिये हम पुनः क्षमा चाहते हैं और आशा करते हैं कि हमारे पाठक इस अंकसे हिंदू-संस्कृतिके महान् निर्मल, पवित्र, सर्वसुखदायी और कल्याणप्रद रूपका किंचित् आभास पाकर अपना कार्यक्रम निश्चय करेंगे और अपने जीवनको हिंदू-संस्कृतिके परम लक्ष्य श्रीभगवान्‌के विशेष समीप ले जायँगे।

सम्पादक— हनुमानप्रसाद पोद्दार
चिम्मनलाल गोस्वामी

* प्रस्तुत पुनर्मुद्रणमें परिशिष्टाङ्ककी सामग्री भी यथास्थान जोड़ दी गयी है। — प्रकाशक

गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
फोन : (०५५१) २३३४७२१, २३३१२५०; फैक्स : २३३६९९७

Code 518